

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या	अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
१३-कसी और श्यामपुरका उद्धार तथा भारदहीके द्वारा मगवान्की स्तुति	१५४		१८-बौरलोपर बरगमजीका शीप और साम्बा	५४८	
१८-मगवान्की ब्रह्मप्राप्ति	१५५		१९-देववि नारदजीका भगवान्की प्रशंसा देखना	५५४	
१-भीष्म-बछ्मप्राप्ति मगवान्का	१५६		२०-मगवान् भीष्मप्राप्ति निरवस्था और उनका पठ	५६	
२०-मगवान्की द्वारा मगवान् भीष्मप्राप्ति	१५७		२१-भीष्मप्राप्ति मगवान्का इन्द्रप्रस्थ पधारना	५६७	
२१-भीष्मप्राप्ति मगवान्की प्रवृत्ति	१५८		२२-पाण्डवोंके राज्यमें यज्ञ आशोक और	५७४	
२२-कुम्भार कथा अनुपम और वरुण पञ्चरत्न	१६४		कपलका उद्धार	५७४	
२३-कुम्भारकी कथा उद्धार और मगवान्की प्रवृत्ति	१६९		२३-अपठ पक्षे सेठसे घुटे हुए राजाओंकी विचार	५८	
२४-बाण, मुक्ति आदि प्रवृत्तियोंका तथा उद्धार	१७४		और मगवान्का इन्द्रप्रस्थ छोड़ जाना	५८	
२५-भीष्म-बछ्मप्राप्ति वरुणप्राप्ति और गुप्तकुम्भ-प्रवृत्ति	४		२४-मगवान्की अमृत्यु और चिन्ताप्राप्ति उद्धार	५८४	
२६-उद्धारकी प्रवृत्ति	४ १		२५-राज्यमें वरुण की पूर्ति और बुद्धिमानका सम्मान	५९१	
२७-उद्धार तथा गोविन्दकी वातपीठ और भस्मप्राप्ति	४२१		२६-वाल्मीकी काय पादोंका गुप्त	५९१	
२८-मगवान्का कुम्भ और अक्षुणीके पर जाना	४२१		२७-वाल्मीकी उद्धार	५९९	
२९-अक्षुणीका इतिहास जाना	४२१		२८-अक्षुणी और विदुरका उद्धार तथा तीर्थ	६४	
ब्रह्म ब्रह्म (उद्धारार्थ)			मागसे बरगमजीके हाथसे स्तुतिपत्र ब्रह्म	६४	
५-ब्राह्मणसे गुप्त और ब्राह्मणपुरीका निर्माण	४२९		२९-ब्रह्मप्राप्ति उद्धार और ब्रह्मप्राप्ति तीर्थयात्रा	६८	
५१-ब्रह्मप्राप्ति मगवान्की, गुप्तकुम्भकी कथा	४३६		८-भीष्मप्राप्ति द्वारा सुवर्णप्राप्ति स्वर्ण	६९२	
५२-ब्राह्मणप्राप्ति भीष्मप्राप्तिप्राप्ति विवाह तथा			८१-सुवर्णप्राप्ति देखनेकी प्राप्ति	६९८	
भीष्मप्राप्ति पाठ ब्रह्मप्राप्तिप्राप्ति उद्धार केकर			८२-मगवान् भीष्मप्राप्तिप्राप्ति गांधर्वप्राप्तिप्राप्ति मैत्र	६९९	
प्राप्तिप्राप्ति जाना	४५५		८३-मगवान्की पट्टाभिषेक काय द्रौपदीकी वातपीठ	६९	
५३-ब्रह्मप्राप्ति	४५		८४-अक्षुणीप्राप्ति पञ्चरत्न	६९७	
५४-विदुरप्राप्ति लयी राजाओंकी और अक्षुणीकी			८५-भीष्मप्राप्ति द्वारा अक्षुणीप्राप्ति ब्रह्मप्राप्ति	६९६	
द्वारा तथा भीष्मप्राप्तिप्राप्ति-विवाह	४५७		उद्धार तथा देवकीप्राप्ति का पुत्रोंको छोड़ा जाना	६९६	
५५-मगवान्का कर्म और राज्यप्राप्ति ब्रह्म	४५४		८६-सुवर्णप्राप्ति और भगवान्का मिथिलापुरीमें राज्य		
५६-साम्बाप्राप्तिप्राप्ति कथा ब्रह्मप्राप्ति और			कर्म और सुवर्ण ब्रह्मप्राप्ति पर एक ही		
ब्रह्मप्राप्ति काय भीष्मप्राप्तिप्राप्ति विवाह	४५९		काय जाना	६५४	
५७-साम्बाप्राप्तिप्राप्ति ब्रह्मप्राप्ति उद्धार और			८७-वैदस्तुति	६६२	
अक्षुणीकी विद्वत् द्वारा गुप्तता	४८४		८८-विद्वत्का लक्ष्मणप्राप्ति	६८९	
५८-मगवान् भीष्मप्राप्तिप्राप्तिप्राप्ति विवाहकी कथा	४९		८-अक्षुणीके द्वारा विद्वत्की प्राप्ति तथा मगवान्का		
५९-मगवान्का उद्धार और लोह उद्धार एक ही			मेरे हुए ब्राह्मण-ब्रह्मप्राप्तिका बापल जाना	६८९	
राजप्राप्तिप्राप्ति काय मगवान्का विवाह	४९७		९०-मगवान्का कर्मप्राप्ति कीर्ति-विवाहका वर्णन	६९९	
६०-भीष्मप्राप्ति-विवाह	५		पञ्चरत्न ब्रह्मप्राप्ति	७५	
६१-मगवान्की उद्धारिका ब्रह्म तथा अक्षुणीके			१-अक्षुणीकी प्राप्तिप्राप्ति काय	७५	
विवाहमें ब्रह्मप्राप्ति काय जाना	५१४		२-अक्षुणीप्राप्ति पाठ भीष्मप्राप्तिप्राप्ति जाना और		
६२-उपा अक्षुणीप्राप्ति	५१८		उद्धार काय कर्म तथा ली नारायणप्राप्ति उद्धार	७८	
६३-मगवान् भीष्मप्राप्ति काय मगवान्का गुप्त	५२१		जाना	७८	
६४-अक्षुणीप्राप्ति कथा	५२		३-गांधर्व प्राप्ति पर होनेके ब्रह्म तथा ब्रह्म		
६५-भीष्मप्राप्तिप्राप्ति ब्रह्मप्राप्ति	५२५		और ब्रह्मप्राप्तिप्राप्ति मिथिला	७२७	
६६-वैदस्तुति और प्राप्तिप्राप्ति उद्धार	५२९		४-मगवान्का अक्षुणीप्राप्ति कथा	७२६	
६७-वैदस्तुति और प्राप्तिप्राप्ति उद्धार	५३४		५-मगवान्का गुप्तकी प्राप्ति और मगवान्की		
			प्राप्तिप्राप्ति काय	७३४	

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-देवताओंकी म्हाबानुसे स्वयम् विधरनेके क्रिये प्रार्थना तथा यादबोधे प्रसादधेन जानेकी तैयारी करते देखकर उदयबन्ध म्हाबानुके पास आना	७३९	२९-मागल्ल भमोंका निरुपण और उदयबन्धीय बदरिक्कभमगमन	८८४
७-अवभूतोपाख्यान—गृध्रीसे लेकर कनूत्तक आठ गुहकोंकी कथा	७४१	३-यवुकुल्लक संहार	८९१
८-अवभूतोपाख्यान—अन्तरसे लेकर पिङ्गलक नौ गुहकोंकी कथा	७४७	३१-भीमगवानुक्क स्वयामगमन	८९७
९-अवभूतोपाख्यान—कुरसे लेकर मृद्धीक छात गुहकोंकी कथा	७५३	छात्रदा स्तम्भ	
१-ऐकिक तथा पारलौकिक भोगोंकी अस्तरताका निरूपण	७५९	१-कश्चियुगके राजवंशोंका वर्णन	९३
११-बद्ध मुक्त और मक्तकोंके लक्षण	७७५	२-कश्चियुगके धर्म	९७
१२-स्तुतकी मरिमा और कर्म तथा कर्मयोगकी विधि	७८२	३-राज्य, युगधर्म और कश्चियुगके दोहोंसे वक्कोका उपाय—नामसङ्कीर्तन	९१३
१३-ईशकसे सनकादिसे दिये हुए उपदेशका वर्णन	७८६	४-पार प्रकाशके प्रथम	९२
१४-भक्तियोगकी मरिमा तथा ध्यानविधिकवर्णन	७९२	५-भीमकुवेवकीय अन्तिम उपदेश	९२६
१५-मिन्न-मिन्न सिद्धियोंके नाम और लक्षण	७९८	६-परीक्षितकी परमगति, अनन्तकथा तर्पण और बेवोंके शास्तामेद	९२८
१६-मगवानुकी विभूतिवृद्धि वर्णन	८३	७-अपरिवेदकी शाखाएँ और पुराणोंके लक्षण	९३८
१७-बर्माभम-धर्म-निरूपण	८८	८-मार्कण्डेयकी तपस्या और वर-प्राप्ति	९४१
१८-बानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म	८९५	९-मार्कण्डेयकी माया-वर्णन	९४९
१९-भक्ति, ज्ञान और सम-नियमादि साधनोंका वर्णन	८२१	१०-मार्कण्डेयकी म्हाबानु-राष्ट्रका वरदान	९५४
२-ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग	८२८	११-मगवानुके अज्ञ, उपाह्व और आधुनिक रहस्य तथा विभिन्न वर्णनोंका वर्णन	९६
२१-गुह्य-दोष-स्वयंका स्वरूप और उद्घाटन	८३३	१२-भीमभगवतकी संक्षिप्त विषय-सूची	९६५
२२-तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति विवेक	८४	१३-विभिन्न पुराणोंकी लोको-संख्या और भीमभगवतकी मरिमा	९७३
२३-एक सिद्धि प्राप्तिका इतिहास	८४९	भीमभगवतमाहात्म्य	
२४-संख्ययोग	८५७	१-परीक्षित और ब्रह्मानन्दक समान, शाब्दिक मुक्तिके मुक्तसे मगवानुकी धर्मके रहस्य और ब्रह्मणिके महत्त्वका वर्णन	९७७
२५-तीनों गुह्योंकी इतिवृत्तका निरूपण	८६१	२-यमुना और भीमभगवतकी संसार, श्रीरत्नोत्पत्ति में उदयबन्धीय प्रकट होना	९८२
२६-पुरुषाकी वैराग्योक्ति	८६५	३-भीमभगवतकी परमरा और उक्तका माहात्म्य, मागवत-धर्मसे ओताओंके म्हाकथाकी प्राप्ति	९८६
२७-क्रियायोगका वर्णन	८६९	४-भीमभगवतका स्वरूप, प्रमाण, ओता-वक्ताके लक्षण, अर्थ-विधि और माहात्म्य	९९४
२८-परमार्थनिरूपण	८७६		

चित्र-सूची

१-गङ्गाप्रवरण	(बहुरंग)	३	९-भीष्म-व्रण तथा भीष्मा-व्रण (बहुरंग)	३१२
२-भीष्माभाषाकी लोको	(छन्द)	११३	१-माहायज-रथमय मगवानुकी	
३-अनुसुत बालक	(बहुरंग)	११२	अन्तरङ्गकी	३२३
४-योगमाया	"	१४	११-सतेवरमें भन्तकीके भगवद्दर्शन	३७२
५-मैत्रासे बरे हुए मगवानु	"	१७९	१२-ईश-उद्धार	३९८
६-ब्रह्माकी म्हाबानुसे दीनतापूर्ण कथा-प्रार्थना	"	२१४	१३-शुश्रूषेमणि भीष्म	४३९
७-कनैया शयन चरणन अत	"	२२५	१४-मुद्राभा-लक्षण	५१५
८-अश्वि नागर कथा	"	२३६	१५-परमभगमनके पूर्वकी लोको	७५
			१६-मार्कण्डेयपर राष्ट्रकी कथा	९३

धीरुजः शरणं मम

पंथीविमूषितकराश्रवनीरदाभात्

पीताम्बरदन्त्राभिम्बकलाधरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुमुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृप्यात्परं किमपि तत्त्वमहं न जान्ते ॥

जिनके कोमल हाथ मुरझीसे सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अङ्गोंकी
अमा नूतन चक्षुषोंके समान सँकड़ी है तथा जिनके पीले कबू,
बिम्बकलेके समान गहरे-गहरे ओठ, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश सुन्दर मुख
और कमल-बीसे झिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्णसे बड़कर मैं
दूसरे किसी तत्त्वको नहीं जानता ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
नयन स्कन्ध		आकर भविष्यवाणी करना	११९
१-बैबलत मनुके पुत्र राजा सुपुत्रकी कथा	३	५-गोकुलमें भगवान्का जन्ममहोत्सव	१४४
२-पुरुष आदि मनुके पाँच पुत्रोंका वध	७	६-पूतना-उच्चार	१४८
३-मर्त्यि प्यवन और मुद्रन्याका चरित्र राजा धर्मोत्तिष्ठका वध	१०	७-राष्ट्र मञ्जन और तुषाकर्म-उच्चार	१५६
४-नाभन और अम्भीयकी कथा	१४	८-नामकरण-सम्बर और बाळ्मीक	१६१
५-मुर्धाखकी कु-कनित्तुति	२२	९-भीष्मपुत्र ऊत्तकले बाँधा बना	१७६
६-इस्वाकुके बंधक वर्णन, मान्धाता और लौमरि श्रुतिकी कथा	२६	१०-यमधर्मनका उच्चार	१८४
७-राजा विराट् और हरिश्चन्द्रकी कथा	३२	११-गोकुलमें इन्द्रावन बना तथा कल्याण और वकासुरका उच्चार	१९
८-सगर-चरित्र	३५	१२-अपासुरका उच्चार	१९७
९-मागीरय-चरित्र और गाङ्गावतरण	३९	१३-अज्ञानीके मोह और उत्तक नाथ	२४
—अम्भान् भीरमकी बीकनोका वर्णन	४५	१४-अज्ञानीके द्वारा भगवान्की स्तुति	११४
१-मन्वान भीरमकी रोप बीकनोका वर्णन	५३	१५-केल्यसुरका उच्चार और माकबाबोके	
२-इस्वाकुबंधके रोप राजाओंका वर्णन ✓	५८	काकिनागके विषसे कथना	२२४
३-राजा निमिके बंधक वर्णन	५९	१६-काकिवर कथा	२३१
४-अन्धबन्धक वर्णन	६२	१७-अस्मिन्ने अस्मिन्ने हमें जानेकी कथा तथा भगवान्का ब्रह्मास्मिन्ने क्षान्तिसे कथना	२४१
५-शुचीक, अमरसि और परशुरामकी चरित्र	६७	१८-अस्मन्मासुर-उच्चार	२४५
६-परशुरामकी द्वारा क्षत्रिय-उद्धार और विद्यामित्रकी बंधकी कथा	७२	१९-गोमो और गोमोके राजानके कचाला	२४९
७-सप्तहृद खि आदि राजाओंके बंधक वर्णन	७६	२०-बर्षा और धार श्रुतका वर्णन	२५२
८-व्यासि-चरित्र	७८	२१-वेणुसिंह	२५८
९-यमपतिका प्रहत्या	८४	२२-वीरहरज	२६३
१०-पूतके बंध राजा शुष्मन् और मरुके चरित्रका वर्णन	८४	२३-महपतिचोपर कथा	२७४
११-मरुबंधका वर्णन राजा उन्निदेवकी कथा	८७	२४-इन्द्रयज्ञ निवारण	२८१
१२-पञ्चाङ्क, औरव और मन्वादेवीका राजाओंके बंधक वर्णन	९२	२५-गोवर्धनचरण	२८५
१३-अनु, सुसु, सुवर्ष और युवके बंधक वर्णन	९६	२६-मन्वाकासे गोमोकी भीष्मपुत्रके प्रभावके विषयमें बाळ्मीक	२८९
१४-विदर्भके बंधक वर्णन	१११	२७-भीष्मपुत्र काकिनेक	२९३
ब्रह्म स्कन्ध (पूर्वाध्याय)		२८-अपमकोके नन्दकीके सुदाकर कला	२९६
१-मन्वानके द्वारा पुष्पीको व्यासजन कुरुदेव देवकीका विवाह और कंधके द्वारा देवकीके ७ पुत्रोंकी कथा	११३	२९-राष्ट्रभीष्मका आरम्भ	२९९
२-मन्वानका गर्भ-प्रवेश और देवताओंद्वारा गर्भस्तुति	१२३	३०-भीष्मपुत्रके निरुद्धमें गोपियोंकी दशा	३८
३-मन्वान भीष्मपुत्रका प्राकट्य	१२६	३१-गोपिकागीत	३९५
४-कंधके हाथसे हूटकर योगमायाका आकाशमें	१२८	३२-भगवान्का प्रकट होकर गोपियोंको व्यक्तना देना	३९९
		३३-महाराज	३९३
		३४-सुदर्शन और शङ्खपूजका उच्चार	३९९
		३५-मुगकागीत	३४३
		३६-अग्निपुत्रका उच्चार और कंधका भीष्मपुत्रकी को ब्रह्म देवता	३४९

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या	अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
१०-देवी और ध्योमातुरका उद्धार तथा नारदजीके द्वारा मगवान्की स्तुति	१५४	१८-चौरबोर बलरामजीका वाप लौट आनाका विवाह	५४८		
१८-भनूजीकी ब्रह्मप्राप्ति	१८९	१९-देवर्षि नारदजीका मगवान्की पूजार्थ वैश्वना	५५४		
१-भीष्म-बलरामका मयुरागमन	१६५	७-मगवान् भीष्मकी मृत्युवर्षा और उनके पाठ करासम्बन्धके देवी रामाजीके वृत्तका आना	५६		
२-भनूजीके द्वारा मगवान् भीष्मकी स्तुति	१७२	७१-भीष्म मगवान्का इन्द्रप्रस्थ पञ्चरत्ना	५७७		
४१-भीष्मका मयुरासीमें प्रवेश	१७८	७२-पाण्डवोंके राज्याय ब्रह्मका आगमन और अयत्नका उद्धार	५७४		
४२-कुम्भार कृपा पतुपभञ्ज और कंठकी ध्वजपट्ट	१८४	७३-अपत पक्ष केच्छे घूटे हुए रामाजीकी सिद्धाई और मगवान्का इन्द्रप्रस्थ ओट आना	५८		
४३-कुम्भारानीका उद्धार और अन्धाईमें प्रवेश	१८९	७४-मगवान्की अमृतका औः शिष्टपात्रका उद्धार	५८४		
४४-पाण्डुर मुद्रिक आदि पक्षिमानोंका तथा कंठका उद्धार	१९४	७५-राजकुमारकी पुर्ति और दुर्गोदमका अपमान	५९१		
४५-भीष्म-बलरामका यशोवती और गुरुकुल प्रवेश	४	७६-शास्त्रके साथ सादरोंका युद्ध	५९६		
४६-उदयजीकी ब्रह्मप्राप्ति	४ ६	७७-शास्त्र-उद्धार	५९९		
४७-उदय तथा गोविन्दकी वधवीर और जलमयी	४११	७८-दन्तवक्त्र और विदुरका उद्धार तथा तीर्थ यात्रामें बलरामजीके हाथसे स्तुतीका वच	६ ४		
४८-मगवान्का कुम्भ और भनूजीके घर जाना	४२६	७९-बलरामका उद्धार और बलरामजीकी तीर्थयात्रा	६ ८		
४९-भनूजीका इतिहास (उत्तरार्ध)	४३१	८०-भीष्मके द्वारा मुरायाजीका स्वागत	६१२		
५-बलरामका युद्ध और दारकापुत्रीका निर्माण	४३९	८१-मुरायाजीके देवर्षीका प्राप्ति	६१८		
५१-बलरामका मरुतः मयुरकुम्भकी कथा	४४६	८२-मगवान् भीष्म-बलरामसे गोव-गोविन्दकी भेंट	६२३		
५२-दारकापुत्री भीष्मका स्तुति तथा भीष्मके पाप दक्षिणवर्तीका स्तुति लेकर आगमनका आना	४५५	८३-मगवान्की पराजितियोंके साथ द्रौपदीकी वधवीर	६३		
५३-दक्षिणवर्ती हत्य	४६	८४-समुद्रदेवीका यशोवती	६३७		
५४-शिष्टपात्रके लपटी पञ्चमोकी और दक्षिणीकी हत्य तथा भीष्म-दक्षिणवर्ती विवाह	४६७	८-भीष्मका उद्धार द्वारा समुद्रदेवीकी ब्रह्मप्राप्ति तथा देवर्षीके छः पुत्रोंका ओटा मन्ना	६४६		
५५-समुद्रका वध और दामरामका वध	४७४	८६-सुमन्त्राचार्य और भगवान्का मिथिलपुरीमें राजा जनक और भुवनेश्वर आगमनके घर एक ही साथ आना	६५४		
५६-समन्त्राचार्यकी कथा काम्यकती और नयनमायका साथ भीष्मका विवाह	४७९	८७-वैदस्तुति	६६२		
५७-समन्त्राचार्यका वधवन्धका उद्धार और भनूजीके स्थिते द्वाराका पुनर्जा	४८४	८८-शिष्टवीरा वृद्धवर्चन	६८१		
५८-मगवान् भीष्मके अयत्न विवाहोरी कथा	४९	८-सुग्रीवके द्वारा त्रिदेवीकी परीक्षा तथा मगवान्का भरे हुए आस-बाधकोंको बाधत जाना	६८६		
५-भीष्मका उद्धार और लंका हार एक ही राजवन्धकोंके साथ मगवान्का विवाह	४९७	९-भगवान्का उद्धारके बीच विवाहका वर्चन	६९१		
६-भीष्म दक्षिणवर्तीका	५ ४	पञ्चवृद्ध स्तुति			
६१-मगवान्की मंत्रीका वध तथा अनिरुद्धके (वारमें दक्षिणका साथ जाना	५१४	१-सुग्रीवका श्रुतिवर्तीका साथ	७ ५		
६२-उत्ता अनिरुद्ध मिथिल	५१८	२-समुद्रदेवीके पाप भिनारदक्षीका आना और उन्हें राजा जनक तथा नी योगीश्वरोंका मयाह भुजाना	७ ८		
६३-मगवान् भीष्मके साथ राजवन्धका युद्ध	५२३	३-माया मायामें पार होनेके उपर्य तथा ब्रह्म और कर्मप्राप्तिका निष्पन्न	७१०		
६४-राज गन्धी कथा	५३	४-भगवान्का अरुणके साथ	७२६		
६५-भीष्मका उद्धार ब्रह्मप्राप्ति	५३५	५-मन्त्रिणी पुनरी गति और मगवान्की पुनरीषिका वधन	७३१		
६६-वैदिक और दक्षिणवर्तीका उद्धार	५३				
६७-वैदिक उद्धार	५४४				

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या	अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-देवताओंकी म्हाभानुसे स्वप्नम विभारनेके छिप			२०-मागमय प्रयोगोंका निरूपण और उद्धवनीय		
प्रार्थना तथा यात्राको प्रमाणसेत्र जानेकी तैयारी			अद्विष्टाभ्रमगमन		८८४
करते देखकर उद्धवका म्हाभानुके पास खाना	७१९		३-यदुकुलका संहार		८९१
७-अवधूतयोगस्थान-पृथ्वीसे लेकर कश्चित्तक			३१-भीमभानुका म्हाभामगमन		८९७
आठ गुह्योकी कथा	७४९		छायाका स्वस्थ		
८-अवधूतयोगस्थान-अभ्यारसे लेकर विह्वलतक			१-कठियुगके राजशयोका वर्णन		९३
नौ गुह्योकी कथा	७९७		२-कठियुगके धर्म		९७
९-अवधूतयोगस्थान-कुरसे लेकर सञ्जीतक			३-राज्य, युगधर्म और कठियुगके होयोंसे		
सात गुह्योकी कथा	७९१		बचनेका उपाय-नामसङ्कीर्तन		९१३
१०-ऐतिहिक तथा पारलौकिक योगोंकी अगारत्वका			४-पार मन्त्रके प्रथम		९२०
निरूपण	७९९		५-भीष्मकदेवकीका अन्तिम उपदेश		९२६
११-बद्ध, मुक्त और भक्तियोंके उद्भव	७७५		६-परीक्षितकी परमगति, कनकेश्वरका सर्वतत्र		
१२-स्वर्गकी महिमा और कर्म तथा			और वैदिके शालासेद		९२८
कर्मत्यागकी विधि	७८२		७-अथर्ववेदकी शाखाएँ और पुराणोंके उद्भव		९३८
१३-ईश्वरके स्तुतिविधि दिये हुए उपदेशका			८-मार्कण्डेयकी तपस्य और वरप्राप्ति		९४१
वर्णन	७८५		९-मार्कण्डेयकी म्हाभानु-वर्णन		९४९
१४-महोदधिका महिमा तथा ध्यानविधिका वर्णन	७९२		१-मार्कण्डेयकी म्हाभानु-वर्णन		९५४
१५-मिन्न मिन्न विद्विषयोंके नाम और उद्भव	७९८		११-मगवानुके अङ्ग, उपाङ्ग और आधुनिक		
१६-मगवानुके विद्विषयोंके वर्णन	८३		रहस्य तथा विभिन्न स्तुतिगणोंका वर्णन		९६
१७-कर्माभ्रम-धर्म-निरूपण	८८		१२-भीमभानुका कठकी संक्षिप्त विषय-सूची		९६५
१८-बानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म	८९५		१३-विभिन्न पुराणोंकी स्तोत्र-वन्दना और		
१९-महि, धन और सम्पत्तिमादि साधनोंका वर्णन	८९१		भीमभानुका कठकी महिमा		९७३
२०-बानप्रस्थ, कर्मयोग और मक्तियोग	८९८		भीमभानुकायतमाहात्म्य		
२१-गुह्य-दोष-स्वस्वत्वाका स्वरूप और खल	८९३		१-परीक्षित और ब्रह्मनाम्न उपागम, धार्मिक		
२२-उत्तरीकी संस्था और पुनः-प्रवृत्ति-विशेष	८४		मुनिके मुक्तसे मगवानुकी भीष्मके रहस्य और		
२३-एक विद्विषय ब्राह्मणका इतिहास	८४९		वर्णनके महत्त्वका वर्णन		९७७
२४-संक्षिप्तमा	८५७		२-यक्षुना और भीष्मकपत्तिवर्णनका उपाङ्ग, भीष्मोत्सव		
२५-वीनों गुह्योकी विधियोंका निरूपण	८६१		में उद्धवकीका प्रथम देना		९८२
२६-मुक्तकी वैराग्योक्ति	८६५		३-भीमभानुका कठकी परमपरा और उद्धवका माहात्म्य,		
२७-विद्यायोगका वर्णन	८६९		मगवानु-अथर्वसे शोताओंके भगवद्भक्तकी प्राप्ति		९८६
२८-पद्मवर्णनिकल्प	८७६		४-भीमभानुका कठका स्वरूप, प्रमाण शोता-वन्दनाके		
			उद्भव, अथर्व-विधि और माहात्म्य		९९४

चित्र-सूची

१-गङ्गाकण्ठ	(बहुरंग)	३	१-भीष्मक-कण्ठ तथा श्रीपदा-वरण (बहुरंग)	३१२
२-भीष्मकावधामकी शौची	(मुनदप)	११३	३-गङ्गाकण्ठ-रतमय मगवानुकी	
३-भद्रमुक्त बालक	(बहुरंग)	१३२	अन्तरङ्गभीष्म	३२३
४-योगमाया	"	१४	११-उद्योगमें भद्रभीष्मके भगवद्दर्शन	३७२
५-मैयासे डरे हुए म्हाभानु	"	१७९	१२-कंस-उद्धार	३९८
६-ब्रह्माभीष्म म्हाभानुसे दीनतापूर्ण			१३-शुद्धिप्रेमणि भीष्मक	४३९
छमा-प्रार्थना	"	११४	१४-मुद्रामा-स्फुर	४३५
७-कद्वैद्य गङ्ग चरणन खट	"	२२५	१५-परमभामगमनके पूर्वकी शौची	७५
८-अस्मिन् नागवर कृपा	"	२३६	१६-मार्कण्डेयपर शङ्करकी कृपा	९३

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवतकी आरती

आरति अतिपावन पुरानकी ।

धर्म भक्ति-विज्ञान खानकी ॥

महापुरान भागवत निरमल ।

शुक-मुख-विगलित निगम-कल्प फल ।

परमानन्द-मुखा-रसमय कल ।

लीला-रति-रस रसनिधानकी ॥ आ •

कलि-मल-मथनि त्रिताप निवारिनि ।

जन्म-मृत्युमय भय भय-हारिनि ।

सेवत सतत सकल सुख कारिनि ।

सुमहोषधि हरि-चरित-गानकी ॥ आ •

विषय विलास विमोह विनाशिनि ।

विमल विराग विवेक विक्रशिनि ।

भागवत्तत्त्व-रहस्य प्रकाशिनि ।

परम ज्योति परमात्म ज्ञानकी ॥ आ •

परमहंस मुनि मन उल्लासिनि ।

रसिक-हृदय रस-रास विलासिनि ।

शुक्ति, मुक्ति, रतिप्रेम सुवासिनि ।

कथा अकिञ्चन प्रिय सुजानकी ॥ आ •



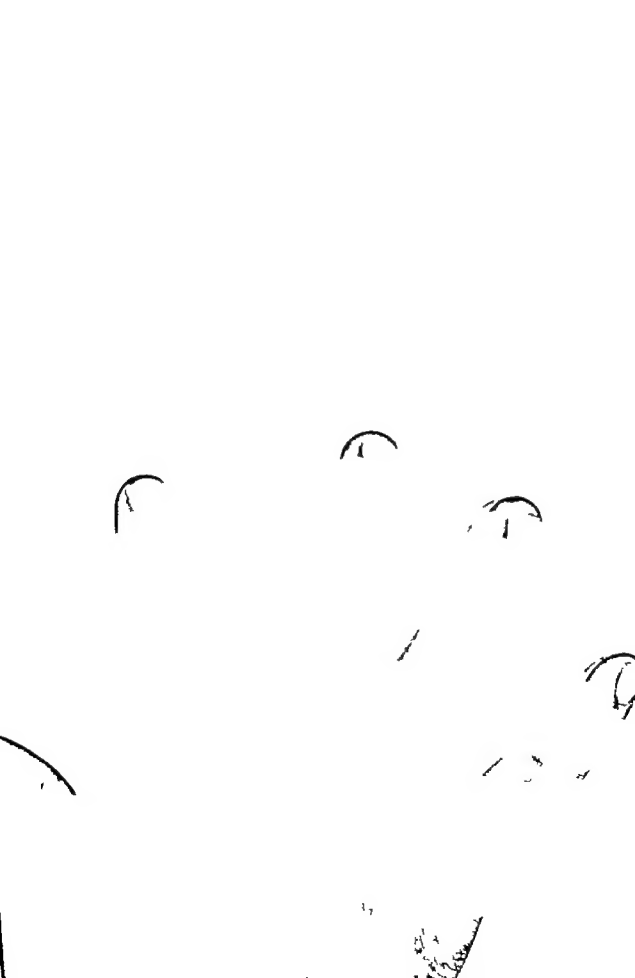
श्रीराधाकृष्णम्भो नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

नवमः स्कन्धः



लोकशोकापहाराय रावण लोकरावणम् ।
रामो मृत्वावधीयस्तं गोविन्दं विन्ता मन ॥



परवरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः ।

स एवासीद् विश्वं कल्पान्तेऽन्यथा किञ्चन ॥ ८ ॥

तस्य नामे समभवत् पद्मकोशो हिरण्यम् ।

तस्मिञ्च महाराज स्वयम्भुवतुरानन ॥ ९ ॥

मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः ।

दाक्षायप्या ततोऽदिस्थां विवस्वानभवत् सुतः ॥ १० ॥

ततो मनुः आददेव - महापुरुषो भारतः ।

यद्वायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान् ॥ ११ ॥

इक्ष्वाकुर्नृगदयातिदिष्टशृङ्गरूपकान् ।

नरिष्यन्तं पुंशश्च नभगं च कविं विश्वः ॥ १२ ॥

अप्रमत्स्य मनो पूर्वं वसिष्ठो भगवान् क्लिप्तः ।

मित्रावरुणयोरिति प्रजार्थमकरोत् प्रभुः ॥ १३ ॥

तत्र भद्रा मना पत्नी होतारं समयाचत ।

दुष्टिर्धर्मपुत्रागम्य प्रणिपत्य पयोयता ॥ १४ ॥

प्रपितोऽन्वयुष्मा हाता ध्यायन्तत् सुसमाहितः ।

हं त्रिपि ऋषयश्च तेन वषट्कारं गृह्णन्दिज ॥ १५ ॥

हातुन्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत् ।

तां विलोक्य मनुः आह नातिदृष्टमना गुरुम् ॥ १६ ॥

भावन् त्रिमिं जात कम वां भद्रवानिनाम् ।

विपयपमहा कञ्च भव ग्याव भद्राविक्रिया ॥ १७ ॥

गृय मन्त्रविने युक्तान्पसा दग्धकिन्त्रिषा ।

इत गन्धर्वपण्यमनृत विपुधन्वि ॥ १८ ॥

तस्मिन्पय पण्यमभ्य भगवान् प्रपितामहः ।

पुरुषः परमात्मा छटे-बहे सभी प्राणियोंके आत्मा हैं,

प्रलयके समय केवल बही थे, यह विश्व तथा धीर कुछ

भी नहीं था ॥ ८ ॥ महाराज ! उनकी नामसे एक

सुवर्णमय कमलकोष प्रकट हुआ । उसमें चतुर्मुख

ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ ॥ ९ ॥ ब्रह्माजीके मनसे

मरीचि और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए । उनकी धर्मपत्नी

दक्षानन्दिनी अतितसे विवस्वान् (सूर्य) का जन्म

हुआ ॥ १० ॥ विवस्वान्की संज्ञा नामक पत्नीसे आददेव

मनुका जन्म हुआ । परम मनस्वी राजा

आददेवने अपनी पत्नी भद्राके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न

किये । उनके नाम थे—इक्ष्वाकु, नृग, शर्षणि, दिष्ट,

वृद्ध, करुण, नरिष्यन्त, पृथग्, नभग और कवि ॥ ११ ॥ १२ ॥

वैवस्वत मनु पहले सन्तानहीन थे । उस समय

सर्वसमर्प भगवान् वसिष्ठने उन्हें सन्तान-प्राप्ति करानेके

लिये मित्रावरुणका यज्ञ करवाया था ॥ १३ ॥ पहले

आरम्भमें केवल दूध पीकर रहनेवासी वैकुण्ठ मनुकी

धर्मपत्नी भद्राने अपने होताके पास आकर प्रणामपूर्वक

याचना की कि मुझे कन्या ही प्राप्त हो ॥ १४ ॥ तब

अन्त्युकी प्रणामसे होता बन् हुए श्राद्धगने भद्राके कन्यका

स्मरण करके एकाम्र चित्तसे कष्टकरका उच्चारण करते

हुए यज्ञकुण्डमें आहुति दी ॥ १५ ॥ जब होताने इस

प्रकार विपरीत काम किया, तब पहले के फलस्वरूप पुत्रके

स्थानपर इच्छा नामकी कन्या ॥ १६ ॥ उस देवकी भद्रादेव

होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा यमापे रविनन्दनम् ॥१९॥
 एतत् सकल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः ।
 तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजास्त्व स्वतेजसा ॥२०॥
 एवम्यवसितो राजन् भगवान् स महायशः ।
 अस्तौपीडादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥
 तस्मै कामवर तुष्टो भगवान् हरिरीश्वरः ।
 ददाविलाभयत् तेन सुषुप्ताः पुरुषर्षभ ॥२२॥
 स एकदा महाराज विचरन् मृगायां बने ।
 शतः कृतिपयामात्पर्यभमारुह्य सैन्धवम् ॥२३॥
 प्रगृह्य रुचिरं चाप शरान्च परमाहुतान् ।
 दक्षितोऽनुसृग्य वीरो जगाम दिग्मसृचराम् ॥२४॥
 स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविशेश्वर ।
 यत्रास्ते भगवान्मृच्छर्वो रममाणः सहोमया ॥२५॥
 तस्मिन् प्रविष्ट एषासौ सुषुम्न परवीरह ।
 अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्व च वज्रवां नृप ॥२६॥
 तथा तदनुगा सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम् ।
 दृष्ट्वा विमनमोऽमृबन् वीक्षमाणा परस्परम् ॥२७॥

राजवाच

कथमेवं गुणो दृश्य केन वा भगवन् कृतः ।
 प्रभमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि न ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

एकदा गिरिश द्रष्टुमुपपत्तय सुप्रता ।
 दिग्गोषिविमिराभासा कुर्वन्त समुपायमन् ॥२९॥
 तान् विलोक्याम्बिका देवी विवासा त्रीहिताभुम्बु

जान लिया कि होताने विपरीत मङ्गरूप किया है । इसलिये
 उन्होंने वैषम्यत मनुसे कहा ॥ १९ ॥ 'राजन् ! तुम्हारे
 होताके विपरीत सकल्पसे ही हमारा सकल्प टीक-टीक
 पूरा नहीं हुआ । फिर भी अपने तपके प्रभावसे मैं तुम्हें
 श्रेष्ठ पुत्र दूँगा ॥ २० ॥ परीक्षित ! परम यशस्वी भगवान्
 बसिष्ठन ऐसा निश्चय करके उस इन्द्र नामकी कन्याको
 ही पुरुष बना देनेके लिये पुरुषोत्तम भगवान् नारायणकी
 स्तुति की ॥ २१ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने
 सन्तुष्ट होकर उन्हें मुँहमाँगा वर दिया, जिसके प्रभावसे
 वह कन्या ही सुषुप्त नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गयी ॥ २२ ॥

महाराज ! एक बार राजा सुषुप्त शिकार खेलनेके
 लिये सिन्धुदेशके घोड़पर सवार होकर कुछ मन्त्रियोंके
 साथ वनमें गये ॥ २३ ॥ वीर सुषुप्त कवच पहनकर
 और हाथमें सुन्दर धनुष एवं अत्यन्त बद्धुत बाण लेकर
 हरिनैका पीछा करते हुए उत्तर दिशामें बहुत आगे बढ़
 गये ॥ २४ ॥ अन्तमें सुषुप्त मेरुपर्वतकी तलहटीके एक
 वनमें चले गये । उस वनमें भगवान् शङ्कर पार्वतीके
 साथ विहार करते खड़े हैं ॥ २५ ॥ वनमें प्रवेश करते
 ही वीरक सुषुप्तने देखा कि मैं की हो गया हूँ और
 घोड़ा घोड़ी हो गया है ॥ २६ ॥ परीक्षित ! साथ ही
 उनके सब अनुचरोंने भी अपनेकी स्त्रीरूपमें देखा । वे
 सब एक-दूसरेका मुँह देखने लगे, उनका चित्त बहुत
 उदास हो गया ॥ २७ ॥

राजा परीक्षितसे पूछ—भगवन् ! उस मूखण्डमें
 ऐसा विचित्र गुण कैसे आ गया ? कितने बड़े ऐसा
 बना दिया था ? आप क्या कर हमारे इस प्रसन्न
 उत्तर दीजिये, क्योंकि हमें बड़ा कष्टग्रस्त हो रहा
 है ॥ २८ ॥

श्रीशुकनेवर्जने कहा—परीक्षित ! एक दिन भगवान्
 शङ्करका दशान बननेके लिये बढ़-बढ़ जनघापी अग्नि
 अपने तेजसे शिवाजीका अश्वकार सिपात हुए उस
 वनमें गये ॥ २९ ॥ उस समय अम्बिका देवी बलहीन
 थी । अनियोंको महत्ता आया देख वे अत्यन्त उन्मत्त हो



शिवजीने सायबाम हावर गङ्गाजीवर भयन मिरपट धारण किया

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

नवमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुके पुत्र राजा सुपुत्रकी कथा

राजोवाच

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वबोक्तानि भूतानि मे ।
वीर्याप्यनन्तवीर्यस्य हरस्तत्र कृतानि च ॥ १ ॥
योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजपित्रिर्विश्वधरः ।
ज्ञान योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया ॥ २ ॥
त वै विवस्वत पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम् ।
त्वत्तत्तस्य सुताभोक्ता इत्याहुर्मनुजा नृपा ॥ ३ ॥
तपां वशं पृथग् ब्रह्मन् वंद्यानुचरितानि च ।
कीर्त्यस्य महाभाग नित्यं श्रुभूषणां हि न ॥ ४ ॥
ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये ।
तेषां न पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वेद विष्णुमान् ॥ ५ ॥

सूत उवाच

पर्व परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम् ।
पृष्ट प्रोवाच भगवान्छुक् परमधर्मवित् ॥ ६ ॥
श्रीशुक उवाच
भूयतां मानवो वशं प्राचुर्येण परतप ।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतरपि ॥ ७ ॥

राजा परीक्षितले पूछा—भगवन् ! आपने सब
मन्वन्तरो और उनमें अनन्त शक्तिशाली भगवान्‌के द्वारा
किये हुए ऐश्वर्यपूर्ण चरित्रोक्त वर्णन किया, और मैंने
उनका श्रवण भी किया ॥ १ ॥ आपने कहा कि विद्वत्
कल्पके अन्तमें दक्षिण देशके स्वामी राजर्षि सत्यव्रत
भगवान्‌की सेवासे ज्ञान प्राप्त किया और वही इस कल्पमें
वैवस्वत मनु हुए । आपने उनके इत्याहु आदि नरपति
पुत्रोक्त भी वर्णन किया ॥ २ ॥ ब्रह्मन् ! अब आप
कृपा करके उनके वंश और वंशमें ज्ञानवाल्मीकि कल्प-
अन्त चरित्र वर्णन करिये । महाभाग ! हमारे हृदयमें
सर्वदा ही कथा सुननेकी उत्सुकता बनी रहती है ॥ ३ ॥
वैवस्वत मनुक वंशमें जो हैं पुत्रों हैं, इस समय विद्यमान
हैं और आगे होनेवाले हैं—उन सब पवित्रकीर्ति
पुरुषोंके पराक्रमका वर्णन करिये ॥ ५ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि श्रुतिगो ! इत्यादी
श्रुतिगोक्तों समामें राजा परीक्षितने अब यह प्रश्न किया,
तब धर्मके परम मन्त्र भगवान् श्रीशुकदेवजीने कहा ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित ! तुम मनुवंशका
वर्णन संक्षेपसे सुनो । विस्तारसे तो ऐक्यों वर्षों भी
उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ७ ॥ जो परम

परावरेण भूतानामात्मा य पुरुष पर ।
 स एवामीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यथा किञ्चन ॥ ८ ॥
 तस्य नामे समभवत् पद्मकोशो हिरण्यम् ।
 तस्मिञ्च महाराज स्वयम्भूतुरत्नन ॥ ९ ॥
 मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यप ।
 दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत्सुतः ॥ १० ॥
 ततो मनु भ्रातृदेव मङ्गायामास भारत ।
 भद्रात्मा जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान् ॥ ११ ॥
 इस्वाकृन्मृगशपातिदिष्टपृष्टकरूपकान् ।
 नरिप्यन्तं पृषधं च नभग च कविं विशुः ॥ १२ ॥
 अश्वत्थ मनो पूर्वं वसिष्ठा भगवान् किल ।
 मित्रावरुणपारिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभु ॥ १३ ॥
 तत्र भद्रा मनो पत्नी होतार ममयाचत ।
 दुहित्र्यर्धमुपागम्य प्रणिपत्य पयोयता ॥ १४ ॥
 प्रेपितोऽञ्जपुगाहाता प्यापस्तत् सुप्रमाहितः ।
 हविषि व्यषगत् तेन वषट्कारं गृणन्दिज ॥ १५ ॥
 हातुस्तद्वयभिवारणं कन्वेला नाम साभवत् ।
 तां दिलोक्य मनु ग्राहनातिहृष्टमना गुरुम् ॥ १६ ॥
 भगवन् किमिदं जातं कम वा भद्रवाप्तिनाम् ।
 विपश्यमहा सत्त्वं मेवं म्यात् भद्रविश्रिया ॥ १७ ॥
 गृपमन्त्रविना युतात्मवमा दग्धकिरिष्या ।
 इत मन्त्रवर्षम्यमनृतं विपुषन्विव ॥ १८ ॥
 मन्त्रिणाम्य पयन्त्य भगवान् प्रपितामह ।

पुरुष परमात्मा छेदे-बड़े सभी प्राणियोंके आत्मा हैं,
 प्रलयके समय केवल यही थे; यह विश्व तथा और कुछ
 भी नहीं था ॥ ८ ॥ मङ्गाराज । उनकी नामसे एक
 सुवर्णमय कमलकोष प्रकट हुआ । उसीमें चतुर्मुख
 ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ ॥ ९ ॥ ब्रह्माजीके मनसे
 मरीचि और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए । उनकी धर्मपत्नी
 दक्षानन्दिनी अदितिसे विवस्वान् (सूर्य) का जन्म
 हुआ ॥ १० ॥ विवस्वान्की संज्ञा नामक पत्नीसे ब्राह्मदेव
 मनुका जन्म हुआ । परित्तित् । परम मनस्वी राजा
 ब्राह्मदेवने अपनी पत्नी अश्वत्थके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न
 किये । उनके नाम थे—इस्वाकु, मृग, शपाति, दिष्ट,
 पृष्ट, कश्यप, नरिप्यन्त, पृषध, नभग और कवि ॥ ११ १२ ॥

वैवस्वत मनु पहले सन्तानहीन थे । उस समय
 सर्वसम्पूर्ण भगवान् वसिष्ठने उन्हें सन्तान-प्राप्ति करानेके
 लिये मित्रावरुणका यह करण था ॥ १३ ॥ यज्ञके
 आरम्भमें केवल दूध पीकर खड़ेवासी वैवस्वत मनुकी
 धर्मपत्नी भद्राने अपने होताक पास जाकर प्रणामपूर्वक
 याचना की कि मुझे कन्या ही प्राप्त हो ॥ १४ ॥ तब
 अश्वयुक्ती प्रणामसे होता बने हुए ब्राह्मणने भद्राके कन्यका
 स्मरण करके यज्ञमन्त्र विसर्जित करके उच्चारण करते
 हुए यज्ञकुण्डमें आहुति दी ॥ १५ ॥ जब होताने इस
 प्रकार विपरीत काम किया, तब यज्ञके फलस्वरूप पुत्रके
 स्थानपर इच्छा नामकी कन्या हुई । उसे देखकर ब्राह्मदेव
 मनुका मन कुछ विशेष प्रसन्न नहीं हुआ । उन्होंने अपने
 गुरु वसिष्ठजीसे कहा ॥ १६ ॥ 'भगवन् ! आपयोग
 तो ब्रह्मशरी हैं, आपका कर्म इस प्रकार विपरीत फल
 देनेवाला कैसे हो गया ? अरे, यह तो बड़ दुष्टकी
 बात है । वैदिक कर्मका ऐसा विपरीत फल तो कभी
 नहीं होना चाहिये ॥ १७ ॥ आपयोगोंका मन्त्रज्ञान
 तो पूरा है ही; इसके अनिरिक्त आपयोगा द्विसेन्द्रिय भी
 हैं, तथा तपस्याके कारण नियोग हो चुके हैं । देवप्राप्तिमें
 अमरपत्नी प्रापिके समान आपके सहस्रपुत्रका यह उल्टा
 फल कैसे हुआ ? ॥ १८ ॥ परित्तित् ! हमारे बृद्ध
 प्रपितामह भगवान् वसिष्ठने उनको यह बात सुनकर

होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥१९॥
 एतत् सकल्पवैपम्यं होतुस्ते व्यभिचारत ।
 तथापि साधयिष्य ते सुप्रज्जान्त्व स्यतेजसा ॥२०॥
 एवम्यवसितो रावन् भगवान् स महापथा ।
 तत्तोपीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥
 तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान् हरिरीश्वर ।
 ददाविलाभवत् तेन सुपुत्रं पुरुषर्षभः ॥२२॥
 स एकदा महाराज विचरन् श्रृंगयां वने ।
 श्रुत कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सन्धवम् ॥२३॥
 प्रगृह्य रुचिरं चाप दारांश्च परमाद्भुतान् ।
 दशितोऽनुसृग धीरो जगाम विशुद्धचरात् ॥२४॥
 स कुमारो वन मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह ।
 यत्रास्ते भगवान्छर्वो रममाणः महोमया ॥२५॥
 तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुपुत्र परवीरहा ।
 अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्व च वटवा नृप ॥२६॥
 तथा सद्युगा सर्वे आरमलिक्रविवर्षयम् ।
 दृष्ट्वा विमनसोऽमृषन् वीभमाणाः परस्परम् ॥२७॥

राजोवाच

कथमेव गुणो दृष्ट क्व वा भगवन् कृत ।
 प्रभमेन समाधत्स्व परं कौतूहलं हि नः ॥२८॥

श्रीशुक् उवाच

एकदा गिरिक्ष उष्टुमृषयस्तत्र सुप्रता ।
 दिशो व्रितिमिराभामा कुर्वन्त समुपागमन् ॥२९॥
 तान् विलाक्ष्याम्यिका देवी विधासा ग्रीहितामृषम् ।

जान लिया कि होताने विपरीत सकल्प किया है । इसलिये
 उन्हें वैषम्य मतनुसे कहा ॥ १९ ॥ 'यान्' । तुम्हारे
 ज्ञानके विपरीत सकल्पसे ही हमारा सकल्प ठीक-ठीक
 पूरा नहीं हुआ । फिर भी अपने तपके प्रभावसे मैं तुम्हें
 श्रेष्ठ पुत्र दूँगा ॥ २० ॥ परीक्षित ! परम यशस्वी भगवान्
 बसिष्ठन ऐसा निश्चय करके उस इला नामकी कन्याको
 ही पुरुष बना देनेके लिये पुरुषोत्तम भगवान् नारायणकी
 स्तुति की ॥ २१ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने
 सन्तुष्ट होकर उन्हें मुँहमार्ग पर दिया, जिसके प्रभावसे
 वह कन्या ही सुपुत्र नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गयी ॥ २२ ॥

महाराज । एक बार राजा सुपुत्र शिकार करनेके
 लिये सिन्धुदेशके घोड़पर सवार होकर कुछ मन्त्रियोंके
 साथ वनमें गये ॥ २३ ॥ वीर सुपुत्र कवच पहनकर
 और हाथमें सुन्दर धनुष एवं अत्यन्त अद्भुत बाण लेकर
 हरिणोंका पीछा करते हुए उत्तर दिशामें बहुत आगे बढ़
 गये ॥ २४ ॥ अन्तमें सुपुत्र कैरवर्षतकी लम्हटीके एक
 वनमें चले गये । उस वनमें भगवान् शङ्कर पार्वतीक
 साथ विश्रार करते रहते हैं ॥ २५ ॥ उसमें प्रवेश करते
 ही शिकर सुपुत्रने देखा कि मैं की हा गया हूँ और
 वाक्वा बाधी हा गया है ॥ २६ ॥ परीक्षित ! साथ ही
 उनके सब अनुचरोंने भी अपनेको स्त्रीरूपमें देख्य । वे
 सब एक-दूसरेका मुँह देखन लगे, उनका चित्त बहुत
 उदास हा गया ॥ २७ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—भगवन् ! उस भूतलमें
 ऐसा विचित्र गुण कैसे आ गया ? किन्तुने उसे पता
 बना दिया था ? आप कृपा कर हमारे इस प्रदमक
 उत्तर दीजिये, क्योंकि हमें धन्य कष्टदहक हा रहा
 है ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित ! एक दिन भगवान्
 शङ्करका दशम करमके लिये बड़-बड़ मनगरी अग्नि
 आग्ने सेजसे शिवाजीका अन्वकार मिलाते हुए उस
 वनमें गये ॥ २९ ॥ उस समय अम्बिका श्री कश्यपकी
 धी । अग्नियोंका सहसा आया देख वे अत्यन्त छद्मिन हा

भर्तुर्ज्ञात् समुत्थाय नीवीमाम्भय पर्यधात् ॥३०॥
 अपयोऽपि तयोर्वीर्य्य प्रसङ्ग रममाणया ।
 निवृत्ता प्रपद्युस्तस्मात्परनारायणाभयम् ॥३१॥
 तदिदं भगवानाह प्रियाया प्रियकम्पया ।
 स्यान्मय प्रविशेदेतन्मयै योपिव भवेदिति ॥३२॥
 तत ऊर्ध्वं यन् तद् वं पुरुषा वज्रयन्ति हि ।
 सा चानुधरसयुक्ता विश्वार वनाव् वनम् ॥३३॥
 अथ तामाधमाम्भयो चरन्ती प्रमदोत्तमाम् ।
 स्त्रीभिः परिवृतां वीर्य्य सक्रम भगवान् बुध ॥३४॥
 मापि त सक्रम सुभू सोमराजसुत पतिम् ।
 न तस्मां जनयामास पुरुरवसमात्मजम् ॥३५॥
 एव स्त्रीत्वमनुप्राप्त सुपुत्रो मानवो नृप ।
 मम्मर स्यकुलाचार वमिष्ठमिति द्युधुम् ॥३६॥
 न तस्य ता दद्या दद्या रूपया भूषणीवित ।
 सुपुत्रस्याशयन पुंस्त्वमुपाधात शङ्करम् ॥३७॥
 तुष्टमम्यं न भगवानुपय प्रियमावहन् ।
 स्यां च वाचमुक्तां कुर्वाणमाह विद्यापते ॥३८॥
 माम् पुमान्मम भविता मोक्षं स्त्री तव गोप्रस ।
 इत्थं व्यवस्यया काम सुपुत्राऽवतु मेत्तिनीम् ॥३९॥
 आचारानुब्रह्मन् काम लम्प्या पुंस्त्वव्यवस्यया ।
 पालयामास जगती नाम्भयन्न् स तव प्रजा ॥४०॥
 तन्मोक्तको गपा राजन विमलत्र सुताग्रय ।
 श्रिणागधराजानां यमूर्ध्वमवन्तमा ॥४१॥
 सत परिणत कामे प्रतिष्ठानपति प्रभु ।

गयी । ऋटपट उन्होंने भगवान् शङ्करकी गोदसे उठकर
 ब्रह्म धारण कर लिया ॥ ३० ॥ अपिर्नोने भी देखा कि
 भगवान् गौरीशङ्कर इस समय विहार कर रहे हैं, इस-
 लिये वहाँसे लौटकर वे भगवान् नर-नारायणके आश्रमपर
 चले गये ॥ ३१ ॥ उसी समय भगवान् शङ्करने अपनी
 प्रिया मायाकी अभिप्रेताका प्रसन्न करनेके लिये कहा कि
 मेरे सिवा जो भी पुरुष इस स्थानमें प्रवेश करेगा, वही
 की हो जायगा ॥ ३२ ॥ परीक्षित ! तभीसे पुरुष उस
 स्थानमें प्रवेश नहीं करते । अब सुपुत्र की हो गये थे ।
 इसलिये वे अपने की बने हुए अनुधरोंके साथ एक
 वनसे दूसरे वनमें विचरने लगे ॥ ३३ ॥ उसी समय
 सक्तिशाली बुधने देखा कि मेरे आश्रमके पास ही
 बहुत-सी स्त्रियोंसे घिरी हुई एक सुन्दरी की विचर रही
 है । उन्होंने इच्छा की कि यह मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ३४ ॥
 उस सुन्दरी स्त्रीने भी बादकुमार बुधको पति बनाना
 चाहा । इसपर बुधने उसके गर्मसे पुरुरवा नामक पुत्र
 उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥ इस प्रकार मनुपुत्र राजा सुपुत्र
 की हो गये । ऐसा सुनते हैं कि उन्होंने उस अवस्थामें
 अपने पुरुषपूजित वसिष्ठजीका स्मरण किया ॥ ३६ ॥
 सुपुत्रजी यह दशा देखकर वसिष्ठजीके इच्छामें कृपाका
 अत्यन्त पीडा हुई । उन्होंने सुपुत्रको पुनः पुरुष बना
 देनेके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना
 की ॥ ३७ ॥ भगवान् शङ्कर वसिष्ठजीके प्रसन्न
 हुए । परीक्षित ! उन्होंने उनकी अभिप्रेता पूर्ण
 करनेके लिये अपनी बाणिके स्वर रखते हुए ही
 यह बात कही ॥ ३८ ॥ धर्मिष्ठ ! तुम्हारा यह यजमान
 एक महीनेतक पुरुष रहेगा और एक महीनेतक स्त्री ।
 इस व्यवस्थासे सुपुत्र इच्छानुसार पृथ्वीपर पालन
 करे ॥ ३९ ॥ इस प्रकार वसिष्ठजीके अनुग्रहसे व्यवस्था
 पूर्वक अभीष्ट पुरुषत्व प्राप्त करनेके सुपुत्र पृथ्वीका पालन
 करने लग्य । परन्तु प्रजा उनका अभिन्नान्न नहीं करती
 थी ॥ ४० ॥ उनके तीन पुत्र हुए—उत्कल, गय और
 विम्ब । परीक्षित ! वे सब श्रद्धिणापयके राजा
 हुए ॥ ४१ ॥ बहुत दिनोंक बाद इन्द्रावस्था आनेपर
 प्रणिपन्न नगरीय अभिपति सुपुत्रने जनन पुत्र पुत्रका

पूरुवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम् ॥४२॥

को राज्य दे दिया और स्वयं तपस्या करनेके लिये
वनकी यात्रा की ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायां नवमस्कन्धे इत्योपाख्यानं
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

पृथग् भावि मनुके पाँच पुत्रोंका वंश

श्रीकृष्ण उवाच

एव गतेऽथ सुपुत्रे मनुर्वैवस्वत सुते ।

पुत्रकामस्तपस्तेषु यमुनायां क्षत समा ॥ १ ॥

ततोऽयज मनुर्वैवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम् ।

इत्थाङ्गपूर्वजान् पुत्रान्स्लमं स्वसदृशान् ददध ॥ २ ॥

पृथक्स्तु मनो पुत्रो गोपालो गुरुणा कृत ।

पालयामास गा यतो रात्र्यां धीरासनव्रत ॥ ३ ॥

एकदा प्राविशद् गाण्डं शार्दूलो निशि वर्षति ।

शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता वध्रमुर्वज ॥ ४ ॥

एकां अग्राह वलवान् सा जुकोश भयातुरा ।

तस्यास्तत् कन्दितं भुत्वा पृथगोऽभिसमार ॥ ५ ॥

स्वप्नमादाय तरसा प्रलीनोद्गुण निशि ।

अखानमहनद् वज्रा शिर शार्दूलश्चक्रया ॥ ६ ॥

व्याघ्रोऽपि वृकणभयणा निक्षिप्राग्राहसन्तव ।

निभक्राम भृश भीतो रक्त पथि समुत्सृजन् ॥ ७ ॥

मन्यमानो हत ध्यार्घ्यं पृथग् परधीरहा ।

अग्राधीत् स्वहतां वध्रु म्युष्टार्थानि शिबु खित ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णनेवमी कहते हैं—परीक्षित ! इस प्रकार जब

सुपुत्र तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये, तब वैष्णव
मनुने पुत्रकी कामनासे यमुनाके तटपर सौ वर्षतक
तपस्या की ॥ १ ॥ इसके बाद उन्होंने सन्तानक
लिये सबशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी आराधना की
और अपने ही समान तप्त पुत्र प्राप्त किये, जिनमें सबसे बड़
इत्थाङ्ग थे ॥ २ ॥ उन मनुपुत्रोंमेंसे एकत्र नाम था
पृथग् । गुरु वसिष्ठजीने उसे गावोंकी रक्षामें नियुक्त कर
रक्ख था, अतः वह रात्रिके समय बड़ी सावधानीसे
धीरासनसे बैठ रहता और गावोंकी रक्षा करता ॥ ३ ॥
एक दिन रातमें बर्फ़ हो रही थी । उस समय गावोंके
शुबमें एक बाघ घुस आया । उससे डरकर सोयी हुई
गाँवें उठ खड़ी हुई । वे गोशालामें ही डर-उपर मान
लगीं ॥ ४ ॥ बलवान् बाघने एक गायको पकड़ लिया ।
वह अत्यन्त भयभीत होकर चिल्लाने लगी । तब
वह क्रन्दन सुनकर पृथग् गायके पास दौड़ आया ॥ ५ ॥
एक तो रातका समय और दूसरे घमघोर घटाओंसे
आच्छादित होनेके कारण तारे भी नहीं दीक्षते थे ।
उसने हाथमें तन्बार उठाकर अनजानमें ही बड़ वेगसे
गायक सिर काट दिया । वह समझ रहा था कि यही
बाघ है ॥ ६ ॥ तबबारकी मोकसे बाघका भी कान
काट गया, वह अत्यन्त मयभीन होकर रातमें खून
मिश्रित हुआ वहाँसे निकल भागा ॥ ७ ॥ शत्रुमन
पृथग्न यह समझा कि बाघ मर गया । परन्तु रात
भीतमेपर उसने देखा कि मैंने तो गायको ही मार डाला

तं शृणुष्व कृताचार्यः कृतागसमकामतः ।

न क्षत्रबधुः क्षत्रस्त्व कर्मणा भवितामुना ॥ ९ ॥

एष श्रमस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्यात् कृताञ्जलि ।

अभारयद् व्रत वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् ॥ १० ॥

वासुदेवे भगवति सर्वतमनि परेऽमले ।

एकान्तित्व गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत् सम ॥ ११ ॥

विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा सयताङ्गोऽपरिग्रह ।

यदञ्जयापपक्षेन कल्पयन् बुद्धिमात्मानः ॥ १२ ॥

आत्मन्यत्मानमाधाय ज्ञानतृप्त समाहित ।

विचचार महीमेता जडान्बभधिराकृतिः ॥ १३ ॥

एषबुधो वन गत्वा दृष्ट्वा दावाग्रिमुत्थितम् ।

तनापयुक्तकरणा ब्रह्म प्राप पर मुनि ॥ १४ ॥

कवि कनीमान् विपद्बेषु निःस्पृहो

विसृज्य राज्यं सह बन्धुमिर्वनम् ।

निवेस्य विचे पुरुषं स्वरोषिषं

विवेक कैशोरभयाः परं गतः ॥ १५ ॥

करूपान्मानवादान् कारूणाः क्षत्रजातयः ।

उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या भर्गवत्सलाः ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा धार्ष्टममूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गत क्षितौ ।

नृगस्य बंधः सुमतिर्मूर्तज्योतिस्ततो बभूव ॥ १७ ॥

वसो प्रतीकस्तु पुत्र ओषधानोषधस्तिता ।

कन्या औषधती नाम सुदर्शन उवाह ताम् ॥ १८ ॥

पित्रसेनो नरिप्यन्ताप्यस्तस्य सुतोऽभवत् ।

है, इससे उसे बड़ा दुःख हुआ ॥ ८ ॥ यद्यपि प्रपञ्चे
ज्ञान-भूषण करवाया नहीं किया था, फिर भी कुरुपुरोहित
वशिष्ठजीने उसे शाप दिया कि 'तुम इस कर्मसे क्षत्रिय
नहीं रहोगे, जाओ, दूध हो जाओ' ॥ ९ ॥ प्रपञ्चे अपने
गुरुदेवका यह शाप आज्ञा कि बौधकर स्वीकार किया और
इसके बाद सन्तों के लिये मुनियोंको प्रिय लगानेवाले नैष्ठिक
व्रतचर्य व्रतको धारण किया ॥ १० ॥ वह समस्त प्राणियों
का औद्युक्त द्वितीय एवं सबके प्रति समान भावसे मुक्त
होकर मछिके द्वारा परम विशुद्ध स्वर्गस्थ भावान्
वासुदेवका अनन्य प्रेमी हो गया ॥ ११ ॥ उसकी
सारी आसक्तियों मिट गयीं । वृत्तियों शान्त हो गयीं ।
इन्द्रियों बरमे हो गयीं । वह कभी किसी प्रकारका संग्रह
परिग्रह नहीं रखता था । जो कुछ दैवका प्राप्त हो
जाता, उसीसे अपना जीवन निर्वाह कर लेता ॥ १२ ॥
वह आत्मज्ञानसे संसृष्ट एव अपने चित्तको परमात्मामें
स्थित करके प्रायः समाधिस्थ रहता । कभी-कभी जब,
अथे और बाहरेके समान पृथ्वीपर विचरण करता ॥ १३ ॥
इस प्रकारका जीवन व्यतीत करता हुआ वह एक दिन
वनमें गया । वहाँ उसने देखा कि 'नागनाड धक्का खा
है । मननशील प्रपञ्च अपनी इन्द्रियोंको उसी अग्निमें
मस्त करने पर ब्रह्म परमात्मको प्राप्त हो गया ॥ १४ ॥

मनुका सबसे छोटा पुत्र था कवि । किन्योंसे वह
अत्यन्त निःस्पृह था । वह राज्य छोड़कर अपने बन्धुओं
के साथ वनमें चला गया और अपने हृदयमें सत्यप्रकाश
परमात्मका विराजमान कर किशोर अवस्थामें ही परम
पदको प्राप्त हो गया ॥ १५ ॥

मनुपुत्र कल्पसे काश्यप नामक क्षत्रिय उत्पन्न हुए ।
वे बड़े ही ब्राह्मणमण्ड, धर्मप्रियी एवं दण्डराज्यके रक्षक
थे ॥ १६ ॥ ब्रह्मे धार्ष्ट नामक क्षत्रिय हुए ।
अन्तमें वे इस शरीरसे ही ब्राह्मण बन गये । नृगका
पुत्र हुआ सुमति, उसका पुत्र भूतज्योति और भूतज्योति-
का पुत्र बभूव था ॥ १७ ॥ बभूव पुत्र प्रतीक और
प्रतीकका पुत्र ओषधान् । ओषधान्के पुत्रका नाम भी
ओषधान् ही था । उनके एक ओषधती नामकी कन्या
भी थी, जिसका विवाह सुदर्शनसे हुआ ॥ १८ ॥
मनुपुत्र नरिप्यन्तसे पित्रसेन, उससे अश्व, अश्व

तस्य भीर्वास्तव कूर्च इन्द्रसेनस्तु उत्सुत ॥१९॥

वीतिहोत्रम्विन्दसेनात् तस्य सत्यश्रवा अभूत् ।

उरुभवा सुतस्तस्य दृढदत्तस्ततोऽभवत् ॥२०॥

सतोऽग्निवेश्यो भगवानग्नि स्वयममृतं सुत ।

कानीन इति विख्यातो जातुकर्मो महानृपि ॥२१॥

ततो ब्रह्मकुलं जलतपग्निवेश्यायनं नृप ।

नरिष्यन्ता वयं प्रोक्तो दिष्टवशमत शृणु ॥२२॥

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्य कर्मणा वैश्यतां गत ।

मलन्दन सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्मलन्दनात् ॥२३॥

वत्सप्रीते सुतं प्रांशुस्तत्सुत प्रमतिं विदुः ।

स्वनित्र प्रमतेस्तस्माच्छाशुपोऽथ विविशतिः ॥२४॥

विविञ्चतिसुतो रम्भ स्तनिनेत्रोऽस्य धार्मिक ।

करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप ॥२५॥

तस्याप्रीक्षितं सुतो यस्य मरुतश्चक्रवर्त्यभूत् ।

संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यकिरः सुत ॥२६॥

मरुतस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन ।

सर्वं हि रम्भयत्वासीद् यत् किञ्चिदास्य शोभनम् ॥२७॥

अमाद्यिन्द्र सोमन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।

मरुत परिषेष्टारा विश्वेदेवा सभासदः ॥२८॥

मरुतस्य दम पुत्रस्तस्यासीद् राज्ञ्यवर्धन ।

सृष्टितस्तसुतो अक्ष सौष्टतयो नर सुत ॥२९॥

तत्सुतः केवलस्तस्मात् यन्पुमान् धगवास्ततः ।

पुलस्तस्याभवद् यस्य तृणबिन्दुर्महीपति ॥३०॥

त मेघेऽलम्पुषा दधी भजनीयगुणालयम् ।

धराप्सरा यतं पुत्राः कन्या येऽपि द्वाभवत् ॥३१॥

तस्यामुत्यादयामास विभवा भनर्दं सुतम् ।

मीदृशान्, मीदृशान्से कृच और उससे इन्द्रसेनकी

उत्पत्ति हुई ॥ १० ॥ इन्द्रसेनसे वीतिहोत्र, उससे सत्यश्रवा,

सत्यश्रवासे उरुभवा और उससे देवदत्तकी उत्पत्ति

हुई ॥ २० ॥ देवदत्तके अग्निवेश्य नामक पुत्र हुए,

जो स्वयं अग्निदेव ही थे । आगे चलकर वे ही कानीन

एवं महर्षि जातुकर्मके नामसे विख्यात हुए ॥ २१ ॥

परीक्षित । ब्राह्मणोंका 'आग्निवेश्यायन' गोत्र उन्हींसे चला

है । इस प्रकार नरिष्यन्तके वंशका मैंने वर्णन किया,

अब दिष्टका वंश सुनो ॥ २२ ॥

दिष्टके पुत्रका नाम था नामाग । यह उस नामाग

से अख्या है, जिसका मैं आगे वर्णन करूँगा । वह

अपने कर्मके कारण वैश्य हो गया । उसका पुत्र

हुआ मलन्दन और उसका वत्सप्रीति ॥ २३ ॥

वत्सप्रीतिका प्रांशु और प्रांशुका पुत्र हुआ प्रमति ।

प्रमतिके स्वनित्र, स्वनित्रके शाशु और उनके विविशति

हुए ॥ २४ ॥ विविशतिक पुत्र रम्भ और रम्भके पुत्र

स्तनिनेत्र—दोनों ही परम धार्मिक हुए । उनके पुत्र

करन्धम और कान्वमके अभीक्षित । म्हायन परीक्षित ।

अभीक्षितके पुत्र मरुत चक्रवर्ती राजा हुए । उनसे

अक्षिपके पुत्र महायोगी संवर्त अग्निने यज्ञ करवा

या ॥ २५-२६ ॥ मरुतका यज्ञ जैसा हुआ, वैसा

और किरीका नहीं हुआ । उस यज्ञक समस्त छोटे-बड़े

पात्र अत्यन्त सुन्दर एवं सोनेके बने हुए थे ॥ २७ ॥

उस यज्ञमें इन्द्र सोमपान करने मगवाले हो गये थे और

दक्षिणाओंसे श्रावण वृत्त हो गये थे । उसमें परस्नेत्राले

थे मरुत और विश्वेदेव समासद थे ॥ २८ ॥

मरुतके पुत्रका नाम था दम । दमसे राज्ञ्यवर्धन, उससे

सृष्टि और सृष्टिसे नर नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई ॥ २९ ॥

नरसे केवज, केवजसे बन्धुमान्, बन्धुमान्से वगवान्, वगवान्-

से बन्धु और बन्धुसे राजा तृणबिन्दुका जन्म हुआ ॥ ३० ॥

तृणबिन्दु आदर्श गुणोंके मण्डार थे । अस्पृश्योंमें

श्रेष्ठ अलम्पुषा दधीन उनको वरण किया, जिससे उनके कई

पुत्र और इक्षिका नामकी एक कन्या उत्पन्न हुए ॥ ३१ ॥

मुनिवर विद्यवाने अपने पागेधर निता पुत्ररूपीसे उत्पन्न

प्रादाय विद्या परमाप्तुपियेतिश्वरात् पितुः ॥३२॥
 विशाल शून्यधुश्र धूमकेतुश्च तत्सुताः ।
 विशालो बंधकश्च राजा वैशाली निर्मम पुरीम् ॥३३॥
 हेमचन्द्र सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मज ।
 तत्पुत्रात् संयमदामात् कश्चाच्च सहदेवज ॥३४॥
 कश्चाच्च तत् सामांघोऽभूद् योऽश्मघैरिडस्पतिम् ।
 इष्टा पुरुषमापादयं गतिं योगेश्वराभितः ॥३५॥
 सौमदक्षिस्तु सुमतिस्तत्सुतो जनमेजयः ।
 एते वैशालभूपालास्तथक्विन्दोर्यश्वाधरा ॥३६॥

विद्या प्राप्त करके इडविद्याने गर्भसे लोकागच्छ कुबेरका
 पुत्ररूपमें उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥ महाराज मृगशिरसि
 अपनी धर्मपत्नीसे तीन पुत्र हुए—विशाल, शम्भुबन्धु
 और धूमकेतु । उनमेंसे राजा विशाल बंधक हुए और
 उन्होंने वैशाली नामकी नगरी बनायी ॥ ३३ ॥ विशालसे
 हेमचन्द्र, हेमचन्द्रसे धूम्राक्ष, धूम्राक्षसे संयम और संयमसे
 दो पुत्र हुए—हृषणश्च और देवज ॥ ३४ ॥ कश्चाक्षके
 पुत्रका नाम था सोमदक्ष । उसने अश्वमेध यज्ञोंके द्वारा
 यज्ञपति मगधानकी आराधना की और योगेश्वर संतोका
 आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त की ॥ ३५ ॥ सोमदक्ष
 का पुत्र हुआ सुमति और सुमतिसे जनमेजय । ये सब
 मृगशिरसि की कीर्तिकी बढ़ानेवाले विशालबंधी राजा
 हुए ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्स्यां संबिताया

नवमस्कन्धे द्वितीयाध्याय ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्याय

महर्षिं धृषण और सुकन्याका करिष राजा शर्यातिक का

श्लोक उवाच

शर्यातिमानवा राजा श्रमिष्ठः स बभूव ह ।
 या वा अक्षिरतां सत्र द्वितीयमह ऊचिषान् ॥ १ ॥
 सुकन्या नाम तस्यासीत् कन्या कमललोचना ।
 तया साध धनगतो ब्रह्मगन्धर्वनाथमम् ॥ २ ॥
 सा मत्स्यमि परिवृता विभिन्यस्पृक्षिषान् वन ।
 वल्मीकराध ददृश स्वपाते ह्य ज्यातिषी ॥ ३ ॥
 न देववादिता बाला ज्यातिषी पण्डितन वै ।
 अविष्म मृगभाजन मुन्नाधामुक् तदा यद् ॥ ४ ॥
 गच्छन्त्यनिराभाऽभून् मनिकानां च तत्पणान् ।

श्रीसुकन्याकी कहते हैं—श्रीशिव । मनुष्य
 राजा शर्याति वेदोंका निष्ठवान् विद्वान् था । उसने
 अक्षिरा गोत्रके श्रवियोंके यज्ञमें दूसरे दिनकर कर्म कलत्रया
 का ॥ १ ॥ उसकी एक कमललोचना कन्या थी । उसका
 नाम था सुकन्या । एक दिन राजा शर्याति अपनी
 कन्याका माथ कमरे गूँसे-धूपते ध्वजन श्रविके आश्रमपर
 जा पहुँच ॥ २ ॥ सुकन्या अपनी सखियोंके साथ वनमें
 भूम-भूषण हर्षोषद सौन्दर्य दाख रही थी । उसने एक
 स्थानपर देखा कि यौवी (दीमकोंकी एकप्रति की हुई मिट्टी)
 के छेदमेंसे जुगनूकी तरह दो जयन्तियों दीख रही
 हैं ॥ ३ ॥ देखी कुछ ऐसी ही प्रेरणा थी, सुकन्याने
 भानुमुलम वपश्चात्से एक कौंटेके क्षण उन ज्योतिर्वीजों
 में छिप लिया । इससे उनमेंसे बहुत-सा मूल बह निकल ॥ ४ ॥
 उसी गगन राजा शर्यातिक सिनिकोंका मन्त्र-मन्त्र रुक

राजर्विस्तृप्तालस्य पुरुषान् त्रिभिस्तोऽप्रवीत् ॥ ५ ॥

अप्यभद्र ने युष्माभिर्भार्गवस्य विषेष्टितम् ।

व्यक्त कनापि नमस्तस्य कृतमाभ्रमदूषणम् ॥ ६ ॥

सुकन्याप्राहपितरभीता किञ्चित् कृतं मया ।

द्रे ज्योतिषी अज्ञानन्त्या निर्भिन्ने कष्टकन वै ॥ ७ ॥

दुहितुस्तद् वच धृत्वा क्षर्पातिर्जातसाध्वसः ।

मुनिं प्रसादयामास परमीकान्तर्हितं धनै ॥ ८ ॥

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाव् दुहितुः सुने ।

कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुनः प्रायात् समाहित ॥ ९ ॥

सुकन्या प्यवन प्राप्य पतिं परमकोपनम् ।

प्रीणयामास चित्तज्ञा अभ्रमत्तानुवृत्तिभि ॥ १० ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य नास्त्यावाभ्रमागतौ ।

तौ पूजयित्वा प्राञ्चल वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥ ११ ॥

ग्रह ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपौ ।

क्रियतां म वयो रूप प्रकृतानां यदीप्सितम् ॥ १२ ॥

वाढमित्युषतुर्विभ्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ ।

निमज्जतां भवानस्मिन् इदं सिद्धिर्निमित्ते ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा जरया ग्रस्तदहो धमनिसन्तत ।

इत् प्रवेशिताऽधिम्यां बलीपलितविप्रिय ॥ १४ ॥

गया । राजर्वि शर्पातिकं यह टखकर वडा आभय हुआ, उन्होंने अपने मैत्रिकोसे कहा ॥ ५ ॥ 'अरे, तुममेरोने कहाँ यह पि प्यवनजीक प्रणि कहा अनुक्ति व्यपहार ता नहीं कर दिया ? मुझ तो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि हममेरोमेसे किनी-न-किसीने उनके आग्रहमें कोई अनप किया है ॥ ६ ॥ तब सुकन्याने अपन पितासे बरते-बरते कहा कि 'पितानी ' मैंने कुछ अपराध अवश्य किया है । मैंने अनजानमें दो ओनियोको कोटेसे छुद दिया है ॥ ७ ॥ अपनी कन्याकी यह बात सुनकर शर्पाति घबरा गये । उन्होंने धीरे-धीरे स्तुति करके बाँबीमें छिप हुए प्यवन मुनिको प्रसन्न किया ॥ ८ ॥ तदनन्तर प्यवन मुनिको अभिप्राय जानकर उन्होंने अपनी कन्या उन्हें समर्पित कर दी और इस सङ्कटसे छूटकर बड़ी साधवानीसे उनकी अनुमति लेकर वे अपनी राजधानीमें चल आये ॥ ९ ॥

इस सुकन्या परम कोवी प्यवन मुनिको अपन पतिके रूपमें प्राप्त करके बड़ी साधवानीसे उनकी सेवा करती हुई उन्हें प्रसन्न करने लगी । वह उनकी मनो वृत्तिको जानकर उसके अनुसार ही बर्ताव करती थी ॥ १० ॥ कुछ समय बीन जानपर उनके आश्रमपर दोनों अधिनीकुमार आये । प्यवन मुनिने उनकी यथोक्ति सत्कार किया और कहा कि 'आप दोनों समर्थ हैं, इसलिये मुझ मुवा अवस्था प्राप्त कर लिये । मेरा रूप एवं अवस्था एसी कर दीजिये, जिसे पुत्री बियाँ चाहती हैं । मैं जानता हूँ कि आपयोग सोमपालके अधिकारी नहीं हैं, फिर भी मैं आपका यज्ञमें सोमसङ्ग मांग दूँगा ॥ ११ १२ ॥ येषामिहोमणि अहिनीकुमारोने यह पि प्यवनका अभिमन्दन करने कहा, 'ठीक है ।' और इसके बाद उनसे कहा कि—'यह सिद्धोंके द्वारा बनाया हुआ कुण्ड है, आप इसमें स्नान कीजिये' ॥ १३ ॥ प्यवन मुनिक शरीरका मुकापने घर रक्खा था । सब ओर मर्से दीख रही थी, धुरियों पड़ जान एवं बालक जानके कारण वे देखनेमें बहुत मर्द लगते थे । अधिनीकुमारोंने उन्हें अपन माप

पुरुषास्त्रय उत्तस्युरीच्या धनिताप्रिया ।

पद्मस्रज कुण्डलिनस्तुल्यरूपा सुवामयम् ॥१५॥

तान् निरीक्ष्य वरारोहा मरुपान् सूर्यवर्चसम् ।

अजानती पतिं सारथीं अश्विनौ शरणं ययौ ॥१६॥

दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिप्रत्येन सोपितौ ।

श्रुपिमामन्त्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम् ॥१७॥

यस्यमाणाऽथ दशार्तिन्यवनस्याश्रमं गतः ।

ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥१८॥

राज्ञा दुहितरं ग्राह कृतपादाभिबन्दनाम् ।

आग्निपद्माप्रपुञ्जानां नातिप्रीतमना इव ॥१९॥

चिक्रापितं ते किमिदं पतिस्त्वया

प्रलम्बिता लाङ्गनमस्तृता मृनिः ।

यत् न्व जराप्रन्तममन्त्यमम्भत

विहाय जारं भजसऽमुमध्वगम् ॥२०॥

कथं मनिम्नवगतान्यथा सतां

कुन्तप्रभूते कुन्तदूषणं त्विदम् ।

विभर्षिं जारं यदपप्रया कुल

पितुषु भतुषु नयन्मथनम् ॥२१॥

पुं प्रपातं तिर्यक् क्षयमाना गुणिमिता ।

उवाच सात श्रमाणा तस्य भृगुनन्दनः ॥२२॥

गर्भं नयन् तन् गर्भं यथाशक्तिभ्रमन् ।

गिम्बितं पद्मप्रान्धनर्पां परिपृच्छत ॥२३॥

मायनं यावत्पुनः शीर्षं ग्रहं मायम्नं प्राप्स्यताम् ।

लेकर कुण्डलें प्रवेश किया ॥ १४ ॥ उनी ममप कुण्डले
तीन पुरुष बाहर निकले । वे तीनों ही कमजोरी माला,
कुण्डल और सुन्दर वस्त्र पहने एक-से मालूम होते थे ।
वे बड़े ही सुन्दर एवं शिष्टोक्तों प्रियछानेवाले थे ॥ १५ ॥
परम साथी सुन्दरी मुक्तपाने जब देखा कि ये तीनों ही
एक आहृष्टिके तथा सूर्यके समान तेजस्वी हैं तब अपने
पतिको न पहचानकर उसने अश्विनीकुमारोंकी शरण
ली ॥ १६ ॥ उसके पातिप्रत्येसे अश्विनीकुमार बहुत
सन्तुष्ट हुए । उन्होंने उसके पतिको बतला दिया और
सिद्ध प्यवन मुनिसे आज्ञा लेकर विमानके द्वारा वे स्वर्गको
चले गये ॥ १७ ॥

कुछ समयके बाद यज्ञ करनेकी इच्छासे राजा शर्षाति
प्यवन मुनिके आश्रमपर आये । वहाँ उन्होंने देख कि
उनकी कन्या सुपत्न्यके पास एक सूर्यके समान तेजस्वी
पुरुष बैठा हुआ है ॥ १८ ॥ मुक्तपाने उनके चरणोंकी
कनना की । शर्षातिने उसे आशीर्वाद नहीं दिया और
कुछ क्षणसमयसे होकर बोले ॥ १९ ॥ 'दुष्ट ! यह दूने
क्या किया ? क्या दूने सबके बन्धनीय प्यवन मुनिको
घोषा दे दिया ? जस्य ही दूने उनको भूका और
अपने कामका म समझकर छोड़ दिया और अब दू इस
यह बोलते बार पुरुषकी सेवा कर रही है ॥ २० ॥
तेरा नाम तो बड़ ऊँचे कुलमें हुआ था । यह उछड़ी
बुद्धि तुझे कैसे प्राप्त हुई ? तेरा यह व्यवहार तो कुलमें
बनष्ट लगानेवाला है । अरे राम-राम ! दू निर्बल होकर
बार पुरुषकी सेवा कर रही है और इस प्रकार अपने
पिता और पति दोनोंके बशको घोर नरकमें ले
जा रही है ॥ २१ ॥ राजा शर्षातिके म प्रकर कहने-
पर परित्र मुमक्षनवासी मुक्तपानं सुमयकाकर कहा—
'मित्राजी ! ये आपका मामला स्वयं भृगुनन्दन महर्षि
प्यवन ही हैं ॥ २२ ॥ इसके बाद उसने अपने पितासे
मर्षि प्यवनके यौवन और मांन्त्यकी प्राप्तिसे मारा
शृगल पर गुनाह । मैं मर गुनरय राजा शर्षाति
अप्यन्त विमिश्र हुए । उन्होंने बड़ प्रमत्ते अपनी पुत्रीय
गनने लगा लिया ॥ २३ ॥

शर्षाति प्यवनसे वीर शर्षातिने शोषपद्मका अनुष्ठान

असोमपारप्यमिनोश्च्यवन स्वन तत्रसा ॥२४॥

हन्तुं तमाददे धञं सद्योमन्युरमर्षित ।

सधञं स्तम्भयामास सृजमिन्द्रस्य भार्गव ॥२५॥

अन्वजानंस्तत मर्वे ग्रहं सोमस्य चाभिधोः ।

मिपत्राविति यत् पूष सोमाहुत्या बहिष्कृतौ ॥२६॥

सचानवहिरान्तो मूरिपेण इति त्रय ।

धर्षावरभवन् पुत्रा आनर्ताव रवतोऽभवत् ॥२७॥

सौज्यं समुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशन्वतीम् ।

आम्यितोऽसृङ्ग विषयानानर्तादीनरिन्दम ॥२८॥

तस्य पुत्रश्चतं ब्रजे ककुषिज्येष्ठमुत्तमम् ।

ककुषी रेवतीं कन्यां श्वामादाय बिभृशतः ॥२९॥

कन्यात्वं परिग्रह्युं ब्रह्मलोकमपावृतम् ।

आवर्तमाने गान्धर्वे सितोऽलम्बध्वजः क्षणम् ॥३०॥

तदन्त आधनानस्य स्वाभिप्रायं बवेदयत् ।

सच्छ्रुत्वा भगवान् प्रज्ञा प्रहस्य तमुवाच ह ॥३१॥

अहो राजन् निरुद्धास्त कालेन हृदि य कृताः ।

तत्पुत्रप्राप्तनसृणां गोत्राणि च न शृण्वहे ॥३२॥

ब्रह्मलोऽभिषातस्त्रिणवषत्तुर्युगमिकस्वितः ।

तद् गच्छ देवदवांशो धलद्वजो महाधलः ॥३३॥

कन्यारत्नमिदं राजन् नररत्नाय दहि भो ।

सुसो भरावताराय भगवान् मृतमाधनः ॥३४॥

भवतीर्णो निज्राशनं दृष्यध्वजवर्तिनः ।

कतथाय और सोमपानके अधिकारी न होनेपर भी अपने प्रयाससे अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया ॥ २४ ॥

इन्द्र बहुत नन्दी कोष कर बैठते हैं । इसलिये उनसे यह सहा न गया । उन्होंने विद्वत् शयतिको भारनके लिये कन्न उठाया । मर्षि च्यवनने कन्नक साथ उनके हाथको बहाँ स्तम्भित कर दिया ॥ २५ ॥ तब सब देवताओंने अश्विनीकुमारोंको सोमया माग देना स्वीकार कर लिया । उन क्षोर्णोने वैष होनेके कारण पहले अश्विनीकुमारोंका सोमपानसे बहिष्कार कर रक्खा था ॥ २६ ॥

परीक्षित ! धर्षणिके तीन पुत्र थे—उत्तानवर्हि, आनत और मूरिपेण । आनतसे रेवत हुए ॥ २७ ॥ महाएव । रेवतने समुद्रके मीतर कुशस्थली नामकी एक नगरी बसायी थी । उसीमें रहकर वे आनत आदि देशोंका राज्य करते थे ॥ २८ ॥ उनके सी श्रेष्ठ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े थे ककुषी । ककुषी अपनी कन्या रेवतीको लेकर उसके लिये घर धूनेके उद्देश्यसे ब्रह्माजीके पास गये । उस समय ब्रह्मलोकका राजा ऐसे लोगोंके लिये बेरोक-टोक था । ब्रह्मलोकमें गाने-बजानेकी धूम मची हुई थी । बातचीतके लिये अक्षर न मिग्ननेके कारण वे कुछ क्षण वहीं ठहर गये ॥ २९, ३० ॥ ठहरनेके अन्तमें ब्रह्माजीका नमस्कार करते उन्होंने अपना अभिप्राय निवेदन किया । उनकी बात सुनकर भगवान् ब्रह्माजीने ईसकर उनसे कहा ॥ ३१ ॥ ‘महाएव ! तुमने अपने मनमें त्रिन क्षोर्णिके विषयमें सोच रक्खा था, वे सब तो कालके गालमें चले गये । अब उनका पुत्र, पीत्र अपना नालियोंकी तो बात ही क्या है गोशोंके नाम भी नहीं सुनायी पड़ते ॥ ३२ ॥ इस बीचमें सत्तार्धस चतुष्पतीका समय भीत चुका है । इसलिये तुम जाओ । इस समय भगवान् मातरणके अशाकपर ध्यावनी बलदेवजी पृथ्वीपर विद्यमान हैं ॥ ३३ ॥ राजन् ! उन्होंने मरणको यह कन्यारत्न तुम समर्पित कर दो । जिसके नाम, दीया आदि का ध्यान कीर्तन बड़ा ही पवित्र है—वे ही प्राणियोंके जीवनमय्य भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अपने अंशत अक्षीर्ण हुए हैं । राजा ककुषीने ब्रह्माजीका यह आदेश प्राप्त करके उनके

इत्यादिष्टोऽभिवन्दार्जं नृप स्वपुरमागतः ।

त्पक्तं पुष्पजनत्रासाद् भ्रातृभिर्द्विष्यन्मित्रैः ॥ ३५ ॥

सुतां दम्भान्नवधाङ्गी वल्लभ वल्लभालिने ।

वदर्यास्म्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम् ॥ ३६ ॥

घरणोंकी कन्दना की और अपने नगरमें चल आये ।
उनके वधवोंने पक्षोंके भयसे वह नगरी छोड़ दी थी
और जाहॉ-तहाँ यों ही निवास कर रहे थे ॥ ३४ ३५ ॥
राजा ककुषीने अपनी सर्वाङ्गसुन्दरी पुत्री परम वल्लभाङ्गी
कम्बाम्बनीको सौंप दी और स्वयं तपस्या करनेके लिये
मगधान् नर-भारयणके आश्रम बदरीवनकी ओर चल
दिये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

नाभाग और अम्बरीषकी कथा

श्रीभुक्त उवाच

नाभागो नमगापत्यं य तत्तं आतरं कविम् ।

यविष्टं व्यभजन दार्यं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥ १ ॥

आतरोऽमाङ्ग किं मर्षं भजाम पितरं तव ।

त्वां ममार्यास्तत्तामाङ्गमुमां पुत्रकं वहायथा ॥ २ ॥

इमं बहिरम सत्रमासतऽद्य सुमेधसः ।

पण्डं पण्डमुपपादः कव्यं प्रुषन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥

तांस्त्व घंसय सक्ते इ वैद्यदे महात्मनः ।

त स्वपन्था धन सत्रपरिक्षापितमात्मन ॥ ४ ॥

दासन्ति तऽप तान् गण्ड तथा स कुतवान् यथा ।

तस्मिं दत्त्वा ययु स्वग त सत्रपरिक्षापितम् ॥ ५ ॥

श्रीभुक्तदेवजी कहते हैं—श्रीभिक्षु ! मनुष्य
नमगाय पुत्र या नाभाग । जब वह दीर्घकालक ब्रह्म-
चर्यका पावन करके छूटा तब वड़े माहोंने अपनेसे
छोटे किन्तु बिहान् माहोंको हिस्सेमें केवल पितृको ही
दिया (सम्पत्ति तो उन्होंने पहले ही आपसमें बाँट ली
थी) ॥ १ ॥ उसने अपने माहोंसे द्रव्य—‘माहयो !
आपलोगोंने मुझे हिस्सेमें क्या दिया है ?’ तब उन्होंने
उत्तर दिया कि ‘इमं त्वम्भारे हिस्सेमें पितृजीको ही तुम्हें
देते हैं ।’ उसने अपन पितृसे जाकर कहा—‘पिताजी !
मेरे बड़े माहोंने हिस्सेमें मेरे लिये आपको ही दिया
है ।’ पितृने कहा—‘बेटा ! तुम उनकी बात न
मानो ॥ २ ॥ देखो, ये बड़े मुद्रिमन् बहिरम-गोत्रके
ब्राह्मण इस समय एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं ।
परन्तु मेरे किशान् पुत्र ! वे प्रत्येक उठे दिन अपने
कर्ममें मूल कर बैठते हैं ॥ ३ ॥ तुम उन महात्माओंके
पाठ जाकर उन्हें वैद्यदेवसम्बन्धी दो सूक्त वक्तव्य दो,
जब वे स्वर्ग जान लगे, तब यज्ञसे बचा हुआ अपना
सारा धन तुम्हें दे देंगे । इसलिये जब तुम उन्हींके पास
चले जाओ ।’ उसने अपने पितृके आज्ञानुसार ऐसा
ही किया । उस बहिरमगोत्री ब्राह्मणोंने भी यज्ञका बचा
हुआ धन उसे दे दिया और वे स्वर्गमें चले गये ॥ ४-५ ॥

तं कश्चित्स्त्रीकरिष्यन्त पुरुष कृष्णदर्शन ।

तथाचोचरतोऽमेत्य ममेदं वास्तुर्कं वसु ॥ ६ ॥

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि सा मानव ।

स्वाभौ तं पितरि प्रभ्रं पृष्टवान् पितर तथा ॥ ७ ॥

यद्यवास्तुगर्तं सर्वमृच्छिष्टमुपय कश्चित् ।

चक्रुर्विभागं रुद्राय न ददं सर्वमर्हति ॥ ८ ॥

नाभागस्त प्रजम्बाह तवेष्ट फिल वास्तुकम् ।

इत्याह मे पित। ब्रह्मश्चिरसा त्वां प्रसादये ॥ ९ ॥

चत् ते पितावदव धम त्व च मत्प्र प्रभापसे ।

ददामि ते मन्त्रद्वये ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥ १० ॥

गृह्णन् द्रविणं दत्तं मन्त्रे परिशेषिष्वम् ।

इत्युक्त्यान्तर्हितो रुद्रा भगवान् सत्यवत्सलः ॥ ११ ॥

य एतत् संस्मरेत् प्रातः साय च मुममाहितः ।

कविर्मवति मन्त्रद्वयो गतिं चैव तथाऽऽत्मनः ॥ १२ ॥

नाभागादम्बरीपाऽमूनमहाभागवत कृती ।

नास्तृशब्दं ब्रह्मसापोऽपि यन प्रतिहतं कश्चित् ॥ १३ ॥

राजोवाच

भगवन्मोक्षमुच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमत ।

न प्राप्नुव्यं यत्र निर्मुक्तो भगवद्व्या दुरत्ययः ॥ १४ ॥

१ मन्त्रे ।

जब नामाग उस धनका लेन लगा, तब उत्तर दिशा-
से एक काले रंगका पुरुष आया । उसने कहा—'इस
यक्षभूमिमें जो कुछ बचा हुआ है, वह सब धन
मेरा है ॥ ६ ॥

नाभागने कहा—'श्रुतियोंने यह धन मुझ दिया है,
इसलिये मेरा है ।' इसपर उस पुरुषने कहा—'हमारे
विनादके नियममें तुम्हारे पितासे ही प्रश्न किया जाय ।'
तब नामागने जाकर पितासे पूछा ॥ ७ ॥ पिताने कहा—
'एक बार दक्षप्रजापतिके यज्ञमें ऋषिलोग यह निश्चय
कर चुके हैं कि यक्षभूमिमें जो कुछ बच रहता है, वह
सब रुद्रदेवका हिस्सा है । इसलिये वह धन तो
महादेवजीको ही मिलना चाहिये' ॥ ८ ॥ नामागने
जाकर उन काले रंगके पुरुष रुद्रभागवान्को प्रणाम किया
और कहा कि 'प्रभो ! यक्षभूमिकी सभी वस्तुएँ आपकी हैं,
मेरे पिताने ऐसा ही कहा है । भगवन् ! मुझसे अपराध
हुआ, मैं तिर झुककर आपसे क्षमा माँगता हूँ ॥ ९ ॥
तब भगवान् रुद्रने कहा—'तुम्हारे पिताने धर्मके अनुकूल
निर्णय दिया है और तुमने भी मुझसे सत्य ही कहा
है । तुम वेदोंका अर्थ तो पहलेसे ही जानते हो । अब
मैं तुम्हें सनातन ब्रह्मत्वका ज्ञान देता हूँ ॥ १० ॥
जहाँ यज्ञमें बचा हुआ मेरा जो अंश है, वह धन भी मैं
तुम्हें ही दे रहा हूँ; तुम इसे स्वीकार करो ।' इतना
कहकर सत्यमेवी भगवान् रुद्र अन्तर्जन्म हो गये ॥ ११ ॥
जो मनुष्य प्रातः और सायंकाल एकप्रचित्तसे इस
आख्यानका स्मरण करता है, वह प्रणिमादकी एवंवेदका
तां हाता ही है, साधु ही अपने लक्ष्यको भी जान लेता
है ॥ १२ ॥ नामागके पुत्र हुए अम्बरीष । वे भगवान्के
बड़े प्रेमी एवं उत्तर धर्मात्मा थे । जो ब्रह्मसाधु कभी
कहीं रोका नहीं जा सका, वह भी अम्बरीषका स्पर्श
न कर सका ॥ १३ ॥

राजा परीक्षितसे पूछा—भगवन् ! मैं परमज्ञानी
रामर्षि अम्बरीषका शरित् सुनना चाहता हूँ । ब्राह्मणन
कोषित होकर उन्हें ऐसा दण्ड दिया, जो किसी प्रकार
टाळा नहीं जा सकता, परन्तु वह भी उनका कुछ न
विगाह सका ॥ १४ ॥

श्रीसुक उवाच

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवर्ती महीम् ।
अम्बरीषां च धियं लब्ध्वा विभवं चासुलं मुनि ॥१५॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुमां सर्वं सत् स्वप्नसंतुतम् ।
विद्वान् विभवं निर्वाणं तमा विव्रति सत्पुमान् ॥१६॥
वामुदेवे भगवति वदन्त्येव च साधुषु ।
प्राप्तो भाष परं विश्वयेनेद लोष्टवत् स्मृतम् ॥१७॥

स वै मनः कृष्णपदारविन्दधो
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
धृति चक्ररान्धुतसत्कथोदये ॥१८॥

सुकुन्दलिङ्गाकपदर्शने ह्यौ
तदुत्पत्त्यगात्रस्पर्शेऽक्षसङ्गमम् ।

प्राण च तत्पदसरोजसौरमे
श्रीमत्सुखा रसनां तदपि ॥१९॥
पादौ हर क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।

कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथासमश्लाकजनाग्रमा रति ॥२०॥

एवं सदा कर्मकृत्पामात्मनः
परऽधियस्ये भगवत्स्यधोमुखे ।

सर्वतमभारं विदुषामहीमिमां
तमिष्टविप्राभिहितं शशास ह ॥२१॥

ईजेऽधमचरधिपक्षमीधर
महाभिर्मूल्याश्चित्ताङ्गदक्षिणैः ।

सर्वैर्मिष्टामितमोक्षमादिभि
धन्यन्यभिघातमयीं सरस्वतीम् ॥२२॥

श्रीशुकनेवजीमे कथा—परीक्षित ! अम्बरीष बड़े
मायावान् थे । पृथ्वीके सातों द्वीप, अथवा सम्पत्ति और
अतुलनीय ऐश्वर्य उनको प्राप्त था । यद्यपि ये सब
साधारण मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएँ हैं, फिर
भी ये इन्हें सज्जनस्य समझते थे । क्योंकि वे जानते थे
कि जिस धन-वैभवंके लोभमें एककर मनुष्य घोर मरकमें
जाता है, वह केवल चार दिनकी धौंदनी है । उसका
दीपक तो मुझा-मुझाया है ॥ १५ १६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णमें
और उनके प्रेमी साधुओंमें उनका परम प्रेम था । उस
प्रेमके प्राप्त हो जानपर तो वह साधु किन्तु और इसकी
सम्पत्ति सम्पत्तियों मिट्टीके ढेरके समान जान पड़ती
हैं ॥ १७ ॥ उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके चरणा-
रविन्द युगलमें, बाणीको भगवद्गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरि
मन्दिरके मार्जन-सेवनमें और अपने कानोंको भगवान्
अप्युतकी मङ्गलमयी कथाके श्रवणमें लगा रक्खा था ॥ १८ ॥
उन्होंने अपने नेत्र सुकुन्दमूर्ति एवं मन्दिरोंके दर्शनमें
अक्ष-सङ्ग भावसङ्गके शरीर-स्पर्शमें, मासिक उनके
चरणकमलोंपर चढ़ी श्रीमती तुलसीके दिव्य गन्धमें और
रसना (मिठा) को भगवान्के प्रति अर्पित नैवेद्य
प्रसादमें संलग्न कर दिया था ॥ १९ ॥ अम्बरीषके
पैर भगवान्के क्षेत्र आदिकी पैदल यात्रा करनेमें ही लगे
रहते और व सिरसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी
कन्दना किया करते । राजा अम्बरीषने मन्त्र, चन्दन
आदि मोक्ष-सामग्रीको भगवान्की सेवामें समर्पित कर
दिया था । भोगनेकी इच्छासे नहीं, बल्कि इसलिये कि
इससे वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्रकीर्ति भगवान्के
निज-जन्ममें ही निवास करता है ॥ २० ॥ इस प्रकार
उन्होंने अपने सार कर्म पञ्चगुह्य, इन्द्रियकीर्ति भगवान्के
प्रति उन्हीं सर्वांग एवं सर्वस्वरूप समर्पण समर्पित कर
दिये थे और भगवद्भक्त आश्रयोंकी आज्ञाके अनुसार
वे इस पृथ्वीका शासन करते थे ॥ २१ ॥ उन्होंने
अन्ध भाग्यके निर्जल देशमें सरस्वती नदीके प्रवाहके
सामने वसिष्ठ, अश्विनी, गौतम आदि भिन्न-भिन्न आचार्यों
द्वारा भगवान् ऐश्वर्यके कारण सर्वज्ञपरिपूर्ण तथा बड़ी-बड़ी
दक्षिणाशाल अनेकों अधमेव यज्ञ करके यज्ञाधिपति

यस्य क्रतुषु गीर्वाणि सदस्या अश्विजो भना ।

तुल्यरूपाभ्यानिमिषा व्यदश्यत् सुवाससः ॥२३॥

स्वर्गो न प्रार्थिता यस्य मनुजैरमरप्रियः ।

मृण्मिरुपगायमिरुचमस्तोकेष्टितम् ॥२४॥

समर्द्धयन्ति तान् कामाः स्वराज्यपरिमोविता ।

दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्द इति वैश्वतः ॥२५॥

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः ।

स्वर्गमेव हरिं प्रीणन् सज्जान् सर्वाञ्छनैर्जहौ ॥२६॥

गृहेषु दारेषु सुतेषु वन्द्युषु

द्रिपोत्तमस्यन्दनवाजिपतिषु ।

अश्वत्थरत्नाभरण्याभुभावि

ध्वनन्तकोशेष्वकरोत्सन्मतिम् ॥२७॥

तस्मा अदभ्युत्थिषकं प्रत्यनीकभयान्वहम् ।

एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो मृत्पाभिरखणम् ॥२८॥

आरिराभयिषुः कृष्ण महिष्या तुल्यशीलया ।

युक्त सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥२९॥

भवान्ते क्वाचित्के मासि विरात्रं सद्युपोषित ।

आव क्वाचित् क्वालिण्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥३०॥

भगवान्की आराधना की थी ॥ २२ ॥ उनके यज्ञोंमें देवताओंके साथ जब सदस्य और अश्विज बैठ जाते थे, तब उनकी पत्नियों नहीं पड़ती थीं और वे अपने सुन्दर कपड़ों और बसे ही रूपके कारण देवताओंके समान दिखायी पड़ते थे ॥ २३ ॥ उनकी प्रजा मन्त्रमाओंके द्वारा गाये हुए भगवान्के उत्तम चरित्रोंका किस्ती समय बड़े प्रेमसे श्रवण करती और किस्ती समय उनका गान करती । इस प्रकार उनका रूपके मनुष्य देवताओंके अत्यन्त प्यारे स्वर्गकी भी इच्छा नहीं करते ॥ २४ ॥ वे अपने हृदयमें अनन्त प्रेमका दान करनेवाले श्रीहरि का नित्य-निरन्तर दर्शन करते रहते थे । इसलिये उन लोगोंको वह भोग-सामग्री भी हर्षित नहीं कर पाती थी, जो बड़े-बड़े सिद्धोंकी भी दुर्लभ है । वे वस्तुएँ उनके आत्मानन्दके सामने अत्यन्त तुच्छ और तिरस्कृत थीं ॥ २५ ॥ राजा अश्वरीष इस प्रकार तपत्यासे युक्त भक्तियोग और प्रजापालनरूप स्वधर्मके द्वारा भगवान्के प्रसन्न करने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने सब प्रकारकी वासक्तियोंका परित्याग कर दिया ॥ २६ ॥ घर, ली, पुत्र, माई-बन्धु, बड़े-बड़े हाथी, रथ, घोड़े एवं पैदलोंकी चतुरङ्गिणी सेना, अश्वय रत्न, आभूषण और आयुध आदि समस्त वस्तुओं तथा कमी समाप्त न होनेवाले कोशोंके सम्बन्धमें उनका ऐसा हृदय निश्चय था कि वे सब-कुछ अस्वल्प हैं ॥ २७ ॥ उनकी अन्य प्रेममयी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उनकी रक्षाके नित्य सुदर्शन अवस्थे नियुक्त कर दिया था, जो विरोधियोंको भयभीत करनेवाला एवं भगवद्भक्तोंकी रक्षा करनेवाला है ॥ २८ ॥

राजा अश्वरीषकी पत्नी भी उन्होंनेके समान धर्मशील, संसारसे विरक्त एवं भक्तिपरायण थी । एक बार उन्होंने अपनी पत्नीके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करने-के लिये एक वर्षीय द्वादशीप्रधान एकादशी व्रत करनेका नित्य प्रव्रण किया ॥ २९ ॥ उनकी समाप्ति होनेपर कार्तिक महीनेमें उन्होंने तीन रातका उपवास किया और एक दिन यमुनातीरेमें स्नान करके मधुवनमें भगवान्

महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा ।

अभिषिन्ध्याम्वराकृत्यैर्गन्धमास्त्यार्हणादिभि ॥३१॥

तद्गतान्तरभावेन पूजयामास कण्वम् ।

ब्राह्मणार्थं महाभक्तान् सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥३२॥

गवां रुक्मविपाणीनां रूप्याङ्घ्रिणां पुषाससाम् ।

पयःश्लिष्वभोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥३३॥

प्राहिणोत् साधु मित्रम्यो गृहेषु न्यर्षुदानि पद् ।

भोजयित्वा द्विजान्त्र स्वाङ्गन्नं गुणवत्तमम् ॥३४॥

लब्धकामैरनुष्ठात पारणम्योपचक्रमे ।

तस्य वर्त्ततिथि साध्याद् दुर्गाया भगवानभूत् ॥३५॥

तमानर्चातिथिं भूपः प्रस्तुस्थानासनाईने ।

यपाचेऽम्बवद्वाराय पादमूलमुपागतः ॥३६॥

प्रतिनन्द्य स रत्नाब्ज्यां कर्तुमावश्यकं गत ।

निमग्नः पृष्ठद् ध्यायन् कासिन्दीसलिल शुभे ॥३७॥

मुहूर्तावावृष्टिद्यायां द्वादश्यां पारण प्रति ।

धित्वयामास धर्मया द्विजैस्तर्द्धर्मसङ्घटे ॥३८॥

प्रातःप्रातिप्रम दाया द्वादश्यां यदपारण ।

यद् कन्या साधु म भूपादघर्मोपान मांस्तु ॥३९॥

श्रीकृष्णकी पूजा की ॥ ३० ॥ उन्होंने महाभिषेककी विधिसे सब प्रकारकी सामग्री और सम्पत्तिद्वारा भगवान् का अभिषेक किया और हृदयसे तन्मय होकर वक्त्र, आभूषण, अन्धन, माला एवं अर्घ्य आदिके द्वारा उनकी पूजा की । यद्यपि भगवाम्पुत्रान् ब्राह्मणोंको इस पूजाकी कोई आवश्यकता नहीं थी, खय ही उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं—वे सिद्ध थे—तथापि राजा अम्बरीषने भक्तिभावसे उनका पूजन किया । तत्पश्चात् पहले ब्राह्मणोंको सादिष्ट और अत्यन्त गुणकारी भोजन कराकर उन लोगोंके घर साठ कपड़े गौरेँ सुसज्जित करके भेज दी । उन गौबोंके साथ धूर्वासि और खुर चौंटीसे मङ्ग हुए थे । सुन्दर-सुन्दर बख उन्हें ओंका दिये गये थे । वे गौरेँ बड़ी सुशील, छोटी अबस्याकरी, देखनेमें सुन्दर, बल्लेवाली और खूब दूध देनेवाली थीं । उनके साथ दुहनेकी उपयुक्त सामग्री भी उन्होंने भेजवा दी थी ॥ ३१-३२ ॥ सब ब्राह्मणोंको सब कुछ मिला चुका, तब राजाने उन लोगोंसे आज्ञा लेकर प्रत्येक पारण करनेकी तैयारी की । उसी समय शाप और बरदान देनेमें समर्थ खय दुर्गासाजी भी उनके यहाँ अतिथिके रूपमें पचारे ॥ ३५ ॥

राजा अम्बरीष उन्हें देखते ही उठकर खड़े हो गये, आसन देकर बैठाया और विविध सामग्रियोंसे अतिथिके रूपमें आये हुए दुर्गासाजीकी पूजा की । उनके चरणोंमें प्रणाम करके अम्बरीषने मोहनके छिये प्रार्थना की ॥ ३६ ॥ दुर्गासाजीने अम्बरीषकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और इसके बाद आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होनेके छिये वे मदीतन्पर चले गये । वे मग्नका ध्यान करते हुए यमुनाके पवित्र जलमें स्नान करने लगे ॥ ३७ ॥ फिर द्वादशी केवल घड़ीभर दोन रह गयी थी । धर्मज्ञ अम्बरीषने धर्म-सङ्घटमें पककर ब्राह्मणोंके साथ परमार्थ किया ॥ ३८ ॥ उन्होंने कहा—“प्राणदेवताओ ! ब्राह्मणको बिना भोजन कराये खय भा लेमा और द्वादशी रहते पारण न करना—दोनों ही दोष हैं । इसमिय इस समय जैसा करनेसे भेरी मन्यई हो और सुख पाव न लगे, ऐसा कर्म करना चाहिये ॥ ३९ ॥

जम्भसा केवलेनाय करिष्ये धृतपारणम् ।
 प्राहुरम्भक्ष्य विप्रा क्षणित नाशित च तत् ॥४०॥
 इत्यप प्राप्य राजर्षिभित्तयन् मनसाप्युत्तम् ।
 प्रत्यक्षं कुरुमेष्ट द्विजागमनमेव स ॥४१॥
 दुर्वासा यमुनाह्लात् कृतावस्थक आगत ।
 राज्ञाभिनन्दितस्तस्य पुपुषे चेटितं धिया ॥४२॥
 मनुना प्रचलद्वात्रो ब्रह्मकुण्डलानन ।
 पुपुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमपात ॥४३॥
 अहो अस्य नृशंसस्य त्रियोन्मत्तस्य पश्यत ।
 धर्मव्यतिक्रम विष्णोरभक्तस्वेष्टमानिन ॥४४॥
 यो मामविधिमापातमातिथ्येन निमन्त्र्य च ।
 अदत्त्वा भुक्त्वास्तस्य सद्यस्ते दृश्ये फलम् ॥४५॥
 एवं ब्रुवाण उत्कृत्य अटां रोषविदीपित ।
 तैया स निर्ममे तस्मै कृत्वा कालानलोपमाम् ॥४६॥
 वामापवन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा सुषम् ।
 वेपथ्वन्तीं समुद्रीक्ष्य न चचाल पदान्नुप ॥४७॥
 प्राग्दिप्तं मृत्परिधायानां पुरुषेण महात्मना ।

तब ब्राह्मणोंके साथ विचार करके उन्होंने कहा—
 'ब्राह्मणो ! श्रुतियोंमें ऐसा कहा गया है कि जल पी
 लेना भोजन करना भी है, मही भी करना है । इसलिये
 इस समय केवल जलसे पारण किये लेना हूँ ॥४०॥
 ऐसा निश्चय करके मन-ही-मन भगवान्‌का चिन्तन करते
 हुए राजर्षि अम्बरीषने जल पी लिया और परीक्षित !
 ये केवल दुर्वासाजीके आनेकी बात देखन लगे ॥४१॥
 दुर्वासाजी आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होकर यमुनातटसे
 लौट आये । जब राजाने आगे बढ़कर उनका अभिनन्दन
 किया तब उन्होंने अनुमानसे ही समझ लिया कि
 राजाने पारण कर लिया है ॥४२॥ उस समय
 दुर्वासाजी बहुत मूढ़ थे । इसलिये यह जानकर कि
 राजाने पारण कर लिया है, वे क्रोधसे घर-घर काँपने
 लगे । मौहँकि यह जानेसे उनका मुँह विकट हो गया ।
 उन्होंने हाथ बोझकर खड़े अम्बरीषसे बातें कर कहा ॥४३॥
 'अहो ! देखो तो सही, यह कितना क्रूर है ! यह धनके
 मर्ममें मत्बाला हो रहा है । भगवान्‌की मक्ति तो इसे
 छूटन नहीं गयी और यह अपनेको बड़ा समर्थ मानता
 है । आज इसने धमका उछलन करके बड़ा अन्याय
 किया है ॥४४॥ देखो, मैं इसका अतिथि होकर आया
 हूँ । इसने अतिथिसत्कार करनेके लिये मुझ निमन्त्रण
 भी दिया है, किन्तु फिर भी मुझे खिलाये बिना ही हथ
 लिया है । अच्छा देख, तुमसे अभी इसका कुछ चलाप
 हूँ ॥४५॥ यों कहते-कहते वे क्रोधसे जल उठे ।
 उन्होंने अपनी एक नया उछाही और उससे अम्बरीष-
 को मार डालनेके लिये एक कृत्या उत्पन्न की । वह
 प्रलयकायकी आगके समान दहक रही थी ॥४६॥
 वह आगके समान अचली हुई, हाथमें तलवार लेकर
 राजा अम्बरीषपर दूट पड़ी । उस समय उसके पैरोंकी
 धमकसे पुष्पी काँप रही थी । परन्तु राजा अम्बरीष देख-
 कर उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए । ये एक पग
 भी नहीं हटे, ज्यों-के-त्यों खड़े रहे ॥४७॥ परन्तु राजा
 परमात्माने अपने सेवककी रक्षाके लिये पहलसे ही
 सुदर्शनचक्रको नियुक्त कर रक्खा था । जैसे आग प्रोचसे

धरीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्विय सत्पतिं यथा ॥ ६६ ॥

मत्सेवया प्रसीत च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णा हृदोऽन्यत्कालवित्तम् ॥ ६७ ॥

साधनो हृदयं मम साधूनां हृदय त्वं हम् ।

मन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनामपि ॥ ६८ ॥

उपाय कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत् ।

अयं आत्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान् ।

साधुषु प्रहृतं तेज प्रहृतं कुर्वतेऽश्विनम् ॥ ६९ ॥

तपो विद्या च विप्रज्ञां निःश्रेयसकरे उभे ।

ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कतुरन्यथा ॥ ७० ॥

प्रसस्तं गच्छ भद्रं ते नामागतनभ नृपम् ।

समापय महाभाग तव छान्तिर्मविष्यति ॥ ७१ ॥

कर्मनसे बाँध रखनेवाले सम्पदार्थ साधु मस्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ६६ ॥ मेरे अनन्यप्रेमी मक्त सेवार्थ ही अपनेका परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं । मेरी सेवार्थके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियों प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते, फिर सम्पदके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है ॥ ६७ ॥ दुर्वासानी ! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी मक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी मक्तोंका हृदय सत्य मैं हूँ । वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अनिष्ट और और कुछ भी नहीं जानता ॥ ६८ ॥ दुर्वासानी ! सुनिश्चये, मैं आपको एक उपाय बताता हूँ । जिसका अनिष्ट करनेसे आपको इस विपत्तिमें पड़ना पड़ा है, आप उसीके पास जाइये । निरपराध साधुओंके अनिष्टकी चेष्टासे अनिष्ट करनेवाले-का ही अवलम्ब होता है ॥ ६९ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणोंके लिये तपस्या और विद्या परम कल्याणके साधन हैं । परन्तु यदि ब्राह्मण उदरार्थ और अन्यायी हो जाय, तो वे ही दोनों उदरार्थ फल देने लगते हैं ॥ ७० ॥ दुर्वासानी ! आपको कल्याण ही । आप नाममननन्दन परम मायशक्ति राजा अम्बरीषके पास जाइये और उनसे क्षमा माँगिये । तब आपको शान्ति मिलेगी ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराणे पारमहंस्या संज्ञितायां नवमस्कन्धे-

अम्बरीषचरिते चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

दुर्वासानीकी दुःखनिवृत्ति

श्रीगुरु उवाच

एव भगवताऽऽदिष्टा दुर्वासामक्रतापित ।

अम्बरीषमुपाश्रित्य तत्पार्श्वं दुःखिताऽग्रहोत् ॥ १ ॥

तस्यै सोपमन धीरस्य पादभ्योऽश्विलजित ।

अलावीत् तद्वररत्नं कृपया पीडितोऽग्रम् ॥ २ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! जब महाशत्रुने इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुदशम चक्रकी आश्रयसे ब्रह्मते हुए दुर्वासानी कीन्कर राजा अम्बरीषके पास आये और उन्होंने आपन्त दुःखी होकर राजाके पैर पकड़ लिये ॥ १ ॥ दुर्वासानीकी यह चेष्टा देखकर और उनके चरण पकड़नेसे सन्नित होकर राजा अम्बरीष महाशत्रुके चक्रकी शक्ति फटने लगे । उस समय उनका हृदय दयावश अव्यक्त पीडित हो रहा था ॥ २ ॥

अमरीप उवाच

त्वमग्निर्मगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पति ।
 त्वमापस्त्व क्षितिर्ष्याम वायुमग्निन्द्रियाणि च ॥ ३ ॥
 सुदर्शनं नमस्तुभ्य सहस्राचार्युतप्रिय ।
 सर्वास्त्रिधातिव विप्राय स्वस्ति भूया इहस्पते ॥ ४ ॥
 त्वं धर्ममन्त्रमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽसिलयज्ञमुक्त् ।
 त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम् ॥ ५ ॥

नमः सुनामास्त्रिधर्मसेतवे

अधर्मशीलसुरधूमकेतवे ।

त्रैलोक्यगोपाय विष्णुद्वर्षसे

मनोज्ञवात्सल्यकर्मणे शृणु ॥ ६ ॥

त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं

तमः प्रकाशश्च धृतो महत्सनाम् ।

दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते

त्वद्रूपमेतत् सदसत् परावरम् ॥ ७ ॥

यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै

बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम् ।

बाहूदरोऽङ्घ्रिरोधराणि

शृङ्गशर्जं प्रधने विराजसे ॥ ८ ॥

स त्वं जगत्प्राण सलग्रहाण्ये

निरूपित सर्वसदो गदामृता ।

विप्रस्य आसत्कुलदैवहैतवे

विपदि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥ ९ ॥

पपत्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा खलुष्टिः ।

१ स्था ।

अमरीपने कहा—प्रभो सुदर्शन ! आप अग्निरूप
 हैं । आप ही परम समय सत्य हैं । समस्त नक्षत्रमण्डल-
 के अधिपति चन्द्रमा भी आपके स्वरूप हैं । जल, पृथ्वी,
 आकाश, वायु, पञ्चतन्मात्रा और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके रूपमें
 भी आप ही हैं ॥ ३ ॥ मगवान्के प्यारे, हजार दौतवाले
 चक्रदेव ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ । समस्त अन्न
 शर्माको नष्ट कर देनेवाले एवं पृथ्वीके रक्षक ! आप हम
 ब्राह्मणकी रक्षा करीजिये ॥ ४ ॥ आप ही धर्म हैं, मयुर
 एवं सत्य बाणी हैं, आप ही समस्त यज्ञोंके अधिपति
 और स्वयं यज्ञ भी हैं । आप समस्त लोकोंके रक्षक एवं
 सर्वलोकस्वरूप भी हैं । आप परमपुरुष परमात्माके श्रेष्ठ
 तेज हैं ॥ ५ ॥ सुनाम ! आप समस्त धर्मोंकी मर्यादाके
 रक्षक हैं । अधर्मका आवरण करनेवाले असुरोंको भस्म
 करनेके लिये आप साक्षात् अग्नि हैं । आप ही तीनों
 लोकोंके रक्षक एवं विद्वद् तेजोमय हैं । आपकी गति
 मनके वेगका समान है और आपके कर्म अमृत हैं ।
 मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आपकी स्तुति करता
 हूँ ॥ ६ ॥ वेदवाणीके अधीश्वर ! आपके वचनमें तेजसे
 अन्वकारका नाश होता है और सूर्य आदि मन्त्रपुरुषोंके
 प्रकाशकी रक्षा होती है । आपकी महिमाका पार पाना
 अत्यन्त कठिन है । ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़ेके भेद-भावसे
 मुक्त यह समस्त कार्यकरणसमक संसार आपका ही
 स्वरूप है ॥ ७ ॥ सुदर्शन चक्र ! आपका कोई निशान
 नहीं प्राप्त कर सकता । जिस समय निरञ्जन मगवान्
 आपको बलाते हैं और आप दीप्य एवं दानवोंकी सेनामें
 प्रवेश करते हैं उस समय युद्धभूमिमें उनकी सजा,
 सदर, जवा, चरण और गरदन आदि निरन्तर काटते
 हुए आप अत्यन्त शोभायमान होते हैं ॥ ८ ॥ विश्वका
 रक्षक ! आप रणभूमिमें सबका प्रहार सह लेते हैं,
 आपका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । गदाधारी
 भगवान् दुष्टोंके नाशके लिये ही आपको नियुक्त किया
 है । आप हृया करके हथियार कुण्डके मायादवसे लिये
 दुर्वासानीका कल्याण करीजिये । हमारे ऊपर यह आपका
 मन्त्र अनुग्रह होगा ॥ ९ ॥ यदि मैंने कुछ भी दान
 किया हो, यह किया हो अथवा अपने धर्मका पावन

भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशा

सहस्रशो यत्र षय भ्रमाम ॥५६॥

अहं मनःकुमारश्च नारदो भगवानज ।

कपिलोऽपान्तरगतो देवलो भर्म आसुरि ॥५७॥

मरीचिप्रभुत्वाद्यान्ते सिद्धेश पारदर्शना ।

विदाम न षय सर्वे यन्मायां माययाऽऽवृता ॥५८॥

तस्य विद्येश्वरस्येदं षष्ठं दुर्विपहं हि न ।

तमेव शरणं याहि हृग्स्ते ष विधास्यति ॥५९॥

ततो निराशो दुर्वासा पर्दं भगवतो ययौ ।

वैकुण्ठम्ययदध्यास्ते श्रीनिवासः भिया सह ॥६०॥

सदस्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना

तत्पादमूले पतित सवेपथु ।

आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो

कृतागमं याव हि विष्णुभावन ॥६१॥

अबानता ते परमानुभावं

कृतं मयाप भवत प्रियाणाम् ।

विधेहि तस्यापचितिं विधात

र्युच्येत यस्मान्मुदिते नारकोऽपि ॥६२॥

श्रीभगवानुवाच

अइ भक्तपराधीनो ह्यस्तन्त्र इव द्विज ।

साधुभिर्ग्रस्तहृदया भर्त्तुर्भक्तजनप्रिय ॥६३॥

नाहमारमानमाशासे मङ्गलैः साधुभिर्बिना ।

धिय च्चात्पन्तिकीं प्रसन्नं येषां गतिरहं परा ॥६४॥

ये दारागारपुत्राग्रामाणान् विचमिम परम् ।

हित्वा मा शरणं याता कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५॥

मयि निर्बद्धस्या साधव समर्प्यनाः ।

और समय आनेपर फिर उनका पता भी नहीं चलता, जिनमें हमारे-जैसे हजारों चक्र कटते रहते हैं—उन प्रभु के सम्बन्धमें हम कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते ॥५६॥

मैं, सनत्कुमार, नारद, भगवान् ब्रह्मा, कपिलदेव, अपान्तरगत, देव, भर्म, आसुरि तथा मरीचि आदि दूसरे सर्वज्ञ सिद्धेश्वर—ये हम सभी भगवान्की मायाके नहीं जान सकते । क्योंकि हम उसी मायाके घेरेमें हैं ॥ ५७-५८ ॥ यह चक्र उन विद्येश्वरका शस्त्र है । यह हम लोगोंके लिये असह्य है । हम उनकी शरणमें जाओ । वे भगवान् की तुम्हारा मङ्गल करेंगे ॥ ५९ ॥

क्योंकि मैं निराश होकर दुर्वासा भगवान्के परमवाम वैकुण्ठमें गये । लक्ष्मीपति भगवान् लक्ष्मीके साथ वही निवास करते हैं ॥ ६० ॥ दुर्वासाजी भगवान्के चक्रकी आगसे जल रहे थे । वे कौंपते हुए भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े । उन्होंने कहा—‘हे अमृत ! हे अनन्त ! आप संतोंके एकमात्र माङ्गल्य हैं । प्रभो ! विश्वके जीवनदाता ! मैं अपराधी हूँ । आप मेरी रक्षा करिये ॥ ६१ ॥ आपका परम प्रभाव न जाननेके कारण ही मैंने आपको प्यारे भक्तका अपराध किया है । प्रभो ! आप मुझ उससे बचाइये । आपके तो मामका हैं । उच्चारण करनेसे मारकी जीव भी मुक्त हो जाता है ॥ ६२ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—दुर्वासाजी ! मैं सर्वथा भक्तों के भवीन हूँ । मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है । मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है । भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे ॥ ६३ ॥ ब्रह्मन् ! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ । इसलिये अपने साधुलगाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्धाङ्गिनी विनाशरहित लक्ष्मीको ॥ ६४ ॥ जो भक्त श्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, मन, इहलोक और परलोक—सबका छोड़कर ब्रह्म मरी शरणमें आ गये हैं, वह छोड़नेका सहस्य भी मैं कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ६५ ॥ जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाशरी पतिको बशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम

पद्मीकुर्वन्ति मां भक्त्या सन्निवृत्तयः सत्यंति यथा ॥ ६६ ॥

मत्सेवया प्रवीत च सालोक्यादिभिरुपयम् ।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्वत्सम् ॥ ६७ ॥

साधवो हृदयं मया साधुना हृदयं त्वहम् ।

मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ ६८ ॥

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत् ।

अयं आत्माभिचारस्ते यद्यस्त यातु वै भवान् ।

साधुषु प्रदिवं तेज प्रहर्तुः कुर्वतेऽश्विषम् ॥ ६९ ॥

तपो विद्या च विप्राणां त्रिःश्रेयमकरे उभे ।

ते एव दुर्जिनीतस्य कल्पेते कसुरन्यथा ॥ ७० ॥

ममस्तु गच्छ भद्र तं नामागतनम नृपम् ।

धर्माय महाभागं सत आन्विर्भविष्यति ॥ ७१ ॥

बन्धनसे बाँध रखनेवाले सम्पदशी साधु मक्तिके द्वारा मुझे अपने कष्टों से कर छेदते हैं ॥ ६६ ॥ मेरे अनन्यप्रेमी मक्त सेवास ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं । मेरी सेवाके फलस्वरूप अब उन्हें सालोक्य-साल्क्य आदि मुक्तियों प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी लीककर करमान नहीं चाहते, फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है ॥ ६७ ॥ दुर्वासानी । मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी मक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी मक्तोंका हृदय क्षय मैं हूँ । वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अनिष्टिक और कुछ भी नहीं जानता ॥ ६८ ॥ दुर्वासानी । सुनिये, मैं आपको एक उपाय बताता हूँ । जिसका अनिष्ट करनेसे आपको इस निमित्तसे पड़ना पड़ा है, आप उसीके पास जाइये । निरपराध साधुओंके अनिष्टकी चेष्टासे अनिष्ट करनेवाले का ही अपमङ्गल होता है ॥ ६९ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणोंके लिये तपस्या और विद्या परम कल्याणके साधन हैं । परन्तु यदि ब्राह्मण उदम्व और अन्यायी हो जाय, तो वे ही दोनों उल्टा फल देने लगते हैं ॥ ७० ॥ दुर्वासानी । आपको कल्याण हो । आप नामगानन्दन परम मायाशाली राजा अम्बरीशके पास जाइये और उनसे क्षम्य माँगिये । तब आपको क्षति मिलेगी ॥ ७१ ॥

इति धीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे

अम्बरीशवरिते शतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

दुर्वासानीकी बुद्धिभिरुचि

श्रीभुक्त उवाच

एव भगवताऽऽदिष्टा दुर्वासामश्रुतापि ।

अम्बरीशमुपाश्रित्य सत्पादां दुःखितोऽग्रहीत् ॥ १ ॥

तस्यै सोऽयमन प्रीक्ष्य पादस्पर्शं विलसित ।

अन्तर्धात् तद्वररत्नं रूपया पीडितो भूत्तुम् ॥ २ ॥

श्रीभुक्तसेवाजी कहते हैं—परिचित । जब मगधान्ते इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुदर्शन चकती ग्वाहसे जलते हुए दुर्वासा छीन्कर राजा अम्बरीशके पास जाये और उन्होंने अप्यन्त दुखी होकर राजाके पैर पकड़ लिये ॥ १ ॥ दुर्वासानीकी यह चेष्टा देखकर और उनके चरण पकड़नेसे सन्निवृत्त होकर राजा अम्बरीश पद्मान्तेके चकती श्रुति करने लगे । उस समय उनका हृदय दयावद् अत्यन्त पीडित हो रहा था ॥ २ ॥

अम्यरीप उवाच

त्वमग्निर्मगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पति ।
 त्वमापस्त्वं धितिर्व्योम वायुर्माश्रिन्द्रियाणि च ॥ ३ ॥
 सुदर्शनं नमस्तुभ्यं सहस्रारान्युत्तमि ।
 सर्वास्त्रधातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इहस्पते ॥ ४ ॥
 त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञमुक् ।
 त्वं लोकपाल सर्वस्मा त्वं तेज पौर्यं परम् ॥ ५ ॥

नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे
 धार्मशीलसुरधूमकेतवे ।

त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे

मनोजवायामृतकर्मणे गृण ॥ ६ ॥

त्वचेक्षसा धर्ममयेन सहृतं

तमप्रकल्पय धृतो महात्मनाम् ।

दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पथ

स्वदूषमेतत् सदसत् परावरम् ॥ ७ ॥

यदा विदुष्टस्त्वमनङ्गनेन वै

वर्तं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम् ।

बाहूदरोवह्निशिरोभराणि

धृक्पद्मवत् प्रधने विराजसे ॥ ८ ॥

स त्वं जगत्प्राण खलप्रहाणये

निरूपित सर्वसहो गदामृता ।

विप्रस्य शास्त्रकुलदैवहेतवे

विचहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥ ९ ॥

यपसि दधमिन्त वा स्वधर्मो वा खलुष्ठितः ।

१ म्यो ।

अम्यरीपने कहा—प्रभो सुदर्शन । आप अस्मिरूप
 हैं । आप ही परम समय सूर्य हैं । समस्त नक्षत्रमण्डल-
 के अधिपति चन्द्रमा भी आपके स्वरूप हैं । जल, पृथ्वी,
 आकाश, वायु, पञ्चतन्मात्रा और सम्पूर्ण इन्द्रियों के रूपमें
 भी आप ही हैं ॥ ३ ॥ मगवान् के प्यारे, हजार दौतवाले
 चक्रदेव । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । समस्त ज्ञान
 शक्तिको नष्ट कर देनेवाले एवं पृथ्वीके रक्षक । आप इन
 ब्राह्मणकी रक्षा कीजिये ॥ ४ ॥ आप ही धर्म हैं, मधुर
 एवं सत्य वाणी हैं, आप ही समस्त यज्ञोंके अधिपति
 और स्वयं यज्ञ भी हैं । आप समस्त लोकोंके रक्षक एवं
 सर्वज्ञेश्वररूप भी हैं । आप परमपुरुष परमात्मके श्रेष्ठ
 तेज हैं ॥ ५ ॥ सुनाम । आप समस्त धर्मोंकी नर्मादाके
 रक्षक हैं । अधर्मका आचरण करनेवाले असुरोंको मरम
 करनेके लिये आप साक्षात् अग्नि हैं । आप ही तीनों
 लोकोंके रक्षक एवं विशुद्ध तेजोमय हैं । आपकी गति
 मनके वेगके समान है और आपके कर्म अदृष्ट हैं ।
 मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आपकी स्तुति करता
 हूँ ॥ ६ ॥ वेदवाणीके अधिपति । आपके धम्मय तेजसे
 जन्मकारका नाश होता है और सूर्य आदि महापुरुषोंके
 प्रकाशकी रक्षा होती है । आपकी महिमाका पार पाना
 अशक्तकठिन है । ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़ेके भेद-मापसे
 मुक्त यह समस्त कार्यकारणालम्बक संसार आपका ही
 स्वरूप है ॥ ७ ॥ सुदर्शन चक्र । आपपर कोई विजय
 नहीं प्राप्त कर सकता । जिस समय निरञ्जन भगवान्
 आपको चलाते हैं और आप दैत्य एवं दानवोंकी सेनामें
 प्रवेश करते हैं उस समय युद्धभूमिमें उनकी सुबा,
 सदा, जंघा, कर्ण और गरदन आदि निरन्तर कटते
 हुए आप अत्यन्त शोभायमान होते हैं ॥ ८ ॥ विभक्त
 रक्षक । आप रणभूमिमें सबका प्रहार सह लेते हैं,
 आपका कोई कुछ नहीं बिगड़ सकता । गदाधारी
 भगवान् दुष्टोंके नाशके लिये ही आपको नियुक्त किया
 है । आप ध्या करके हमारे कुशके मायोदयके लिये
 दुर्गसानीका कल्याण कीजिये । हमारे ऊपर यह आपका
 भगवान् अनुग्रह होगा ॥ ९ ॥ यदि मैंने कुछ भी दान
 किया हो, यह किया हो अथवा अपने धर्मका पावन

कृतं नो विप्रद्वैतं चेदु द्विजो भवतु विन्धव ॥१०॥

यदि नो भगवान् प्रीति एकः सर्वगुणाभयः ।

सर्वमूलात्मभावेन द्विजो भवतु विन्धव ॥११॥

श्रीकृष्ण उवाच

इति संस्तुयतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।

अद्यान्मत् सर्वतो विप्रं प्रदह्य राजयाज्यया ॥१२॥

स मुक्तोऽस्माभिरापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः ।

प्रसन्नं स तदुर्वीक्ष्य बुज्जान परमादिपः ॥१३॥

दुर्वासा उवाच

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमय मे ।

कृतांगसोऽपि बहु राजन् मङ्गलानि समीहसे ॥१४॥

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।

ये संगृहीतो भगवान् सात्वतामुपमा हरि ॥१५॥

यन्मामश्नुतिमात्रं पुमान् भवति निर्मलः ।

तस्य वीर्यपटः किं वा दासानामवधिष्यते ॥१६॥

राजभनुगृहीतोऽहं त्वयातिकरुणात्मना ।

मत्पुत्रं पृष्टुः कृत्वा प्राणा यमेऽभिरक्षिता ॥१७॥

राजा समकृताहारः प्रत्यागमनकङ्कसा ।

चरणाधुपसंगृह्य प्रसाद्य समभाजयत् ॥१८॥

साऽश्विवाऽऽधृतमानीतमातिथ्यं सायकामिकम् ।

दत्तात्मा नृपतिं प्राह मुन्यतामिति सात्वरम् ॥१९॥

१ अक्षि ।

किया हो, यदि हमारे वशके छेग प्राणोंको ही अपना आराध्यदेव समझते रहें हों, तो दुर्वासाजीकी जलन मिट जाय ॥ १० ॥ भगवान् समस्त गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं । यदि मैंने समस्त प्राणियोंके आत्माके रूपमें उन्हें दखा हो और वे मुझपर प्रसन्न हो तो दुर्वासाजीके हृदयकी सारी जलन मिट जाय ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णउवाच—जब राजा अम्बरीषने दुर्वासाजीको सब ओरसे जलानेवाले भगवान्के सुदर्शन चक्रकी इस प्रकार स्तुति की, तब उनकी प्रायनासे चक्र शान्त हो गया ॥ १२ ॥ सब दुर्वासा चक्रकी आगसे मुक्त हो गये और उनकी चित्त स्वस्थ हो गया, तब वे राजा अम्बरीषको जनकानेक उत्तम आशीर्वाद देते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥

दुर्वासाजीने कहा—वन्य है ! आज मैंने भगवान्के प्रभु मर्कोका महत्त्व देखा । राजन् ! मैंने आपका अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिये मङ्गल-कामना की कर रहे हैं ॥ १४ ॥ जिन्होंने भक्तसत्त्व भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंके दृढ़ प्रेमभावसे पकड़ लिया है—उन साधुपुरुषोंके लिये कौन-सा कार्य कठिन है ! बिनका हृत्प उदार है, वे महात्मा भव, किस वस्तुका परिष्कार नहीं कर सकते ॥ १५ ॥ जिनके मङ्गलमय नामोंके शरणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है—उन्हीं वीर्यपट भगवान्के चरणकमलोंके जो दास हैं, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य बेर रह जाता है ॥ १६ ॥ महासत्त्व अम्बरीष ! आपका दृढ़ चरणमात्रसे परिपूर्ण है । आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया । अहो, आपने मेरे अपराधको मुझपर मेरे प्राणोंकी रक्षा की है ॥ १७ ॥

परीक्षित ! जबसे दुर्वासाजी भागे थे, तबसे अमृतक रासा अम्बरीषने भोजन नहीं किया था । वे उनके कौनने की बात देख रह थे । अब उन्होंने दुर्वासाजीके चरण पकड़ लिये और उन्हें प्रसन्न करके निविष्टक भोजन कराया ॥ १८ ॥ राजा अम्बरीष बहु आदरसे अतिथि-योग्य सब प्रकारकी भोजन-सामग्री ले लाये । दुर्वासाजी भोजन करके तृप्त हो गये । अब उन्होंने आदरसे कहा—‘राजन् ! अब आप भी भोजन कीजिये ॥ १९ ॥

प्रीतोऽस्मधुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै ।
दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनारममेधसा ॥२०॥
कर्मविदावमेतत् ते गापन्ति स्वःस्त्रियो मूढु ।
कीर्तिं परमपुण्यां च कीर्तयिष्यति भूरियम् ॥२१॥

मिस्रु उवाच

पञ्च संकीर्त्य राजानं दुर्वासा परितोषित ।
ययौ विहायसाऽऽमन्य ब्रह्मलोकमर्हैतुकम् ॥२२॥
सवस्तराऽत्यगात् तावद् भावता नागतो गत ।
मुनिन्तर्दृशनाकाङ्क्षने राजाऽम्मद्यो बभूव ह ॥२३॥
गते च दुर्वाससि मोम्बरीषो

दिजोपयोगीतिषित्रिमाहरत ।

श्रद्धेर्विमोक्षं व्यसनं च पुष्ट्या

मेने स्त्रीर्य च परानुभाषम् ॥२४॥

एवंविधानेकगुण स राजा

परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे ।

क्रियाकलापै समुवाह भक्तिं

ययाऽऽविरिष्यन् निर्यायकार ॥२५॥

अधाम्बरीफन्तनयेपु राज्य

समानशीलेषु विसृज्य धीरं ।

वनं विदेशात्मनि वासुदेवे

मनो दधद् ज्वस्तगुणप्रवाहः ॥२६॥

इत्यतन् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस भूपते ।

संकीर्तयन्ननुष्ठापन् भक्तो भगवतो भवेत् ॥२७॥ । भगवान्मूढ मत्तं ॥ जाता है ॥ २७ ॥

अम्बरीष ! आप भगवान्के परम प्रमी भक्त हैं । आपके दर्शन, स्पर्श वातपीत और मनको भगवान्की ओर प्रवृत्त करनेवाले आतिथ्यसे मैं अत्यन्त प्रसन्न और अनुगृहीत हुआ हूँ ॥ २० ॥ स्वर्गकी देवाङ्गनारें बार-बार आपके इस उज्ज्वल चरित्रका गान करेंगी । यह पृथ्वी भी आपकी परम पुण्यमयी कीर्तिका संकीर्तन करती रहेगी ॥ २१ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—दुर्वासानिने बहुत ही

सन्तुष्ट होकर राजा अम्बरीषके गुणोंकी प्रशंसा की और उसके बाद उनसे अनुमति लेकर आकाशमार्गसे उस ब्रह्मलोककी यात्रा की, जो केवल निष्काम कर्मसे ही प्राप्त होना है ॥ २२ ॥ परीक्षित ! जब सुदर्शन चक्रसे मयमय होकर दुर्वासानिनी मनो थे, तबसे लेकर उनके लौनेतक एक वर्षका समय बीत गया । इतने दिनोंतक राजा अम्बरीष उनके दशमकी आकाङ्क्षासे केवल जरु पीकर ही रहे ॥ २३ ॥ जब दुर्वासानिनी चले गये, तब उनके मोहनसे बचे हुए अत्यन्त पवित्र अमकका उन्होंने मोहन किया । अपने कारण दुर्वासानिनीका दु खमें पड़ना और फिर अपनी ही प्राथनासे उनका छूटना—इन दोनों बातोंको उन्होंने अपनेद्वारा होनेपर भी भगवान्की ही मन्त्रिमा समझा ॥ २४ ॥ राजा अम्बरीषमें ऐसे-ऐसे अनेकों गुण थे । अपने समस्त कर्मोंके द्वारा वे परब्रह्म परमात्मा श्रीमद्भगवान्में भक्तिभक्तकी अमिद्विद्धि करते रहते थे । उस भक्तिके प्रभावसे उन्होंने ब्रह्मलोकतकका समस्त भोगोंका नरकका समान समझा ॥ २५ ॥ तदनन्तर राजा अम्बरीषने अपने ही समान भक्त पुत्रोंपर राज्यका भार छोड़ दिया और स्वयं व वनमें चले गये । वहाँ वे वही धीरताक साथ आत्मभक्त्य पर भगवान्में अपना मन लगाकर गुणोंके प्रवाहमय संसारसे मुक्त हो गये ॥ २६ ॥ परीक्षित ! महाराज अम्बरीषका यह परम पवित्र आख्यान है । जो हमका सङ्कीर्तन और स्मरण करता है, वह

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमर्ष्यो संक्षिप्तायां नवमस्कन्धेऽम्बरीषवर्चसि

माम पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

अथ पद्मोऽध्यायः

इक्ष्वाकुने वराहप्रवणम् मान्धाता और सौभरि अधिपति कथा

धीशुक उवाच

विरूप केतुमाञ्छन्मुरम्बरीपसुतास्त्रय ।

विरूपात् पृषदस्योऽभूत् तत्पुत्रस्तु रथीतर ॥ १ ॥

रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्पित ।

अक्षिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विन सुतान् ॥ २ ॥

एते क्षेत्रे प्रसूता वै पुनस्त्वाक्षिरसाः स्मृता ।

रथीतराणां प्रवरा क्षत्रोपेता द्विजातयः ॥ ३ ॥

क्षुवतस्तु मनोज्ञे इक्ष्वाकुर्भगवतः सुत ।

तस्य पुत्रशतवन्धेष्टा विदुश्चिनिमिदण्डका ॥ ४ ॥

तेषां पुरन्तादभवन्भार्यावर्ते नृपा नृप ।

पञ्चविंशति पद्माश्च त्रयो मध्ये परेऽन्यतः ॥ ५ ॥

स एकदाष्टकाभाट इक्ष्वाकुः सुतमादिषत् ।

मांसमानीयतां मर्षं विदुश्च गच्छ भाधिरम् ॥ ६ ॥

तथेति सवनं गत्वा मृगान् इत्या क्रियार्हणान् ।

भान्ता युद्धक्षिता वीरं दृष्टं पाददपस्पृशति ॥ ७ ॥

नेपं निवेदयामास विप्रं तेन च तहुरुः ।

पादितः प्रासगायाह बुष्टमेतदकर्मकम् ॥ ८ ॥

भीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । अम्बरियके तीन पुत्र थे—विरूप, केतुमान् और शम्भु । विरूपसे पृषदस्य और उसका पुत्र रथीतर हुआ ॥ १ ॥ रथीतर मन्तानहीन था । वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये उसने अक्षिरा अधिपतिप्राप्तमा की, उन्होंने उसकी पत्नीसे ब्रह्मसेज से सम्पन्न कई पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥ यद्यपि ये सब रथीतरकी भार्यासे उत्पन्न हुए थे, इसलिये इनका गोत्र वही होना चाहिये था जो रथीतरका था, फिर भी वे आक्षिरस ही कहलाये । ये ही रथीतर वंशियोंके प्रभू (कुन्मने सर्पश्रेष्ठ पुरुष) कहलाये । क्योंकि ये क्षत्रोपेत जातिजन थे—क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों गोत्रोंसे इनका सम्बन्ध था ॥ ३ ॥

परीक्षित । एक बार मनुजीके छिन्नेपर उनकी मासिकसे इक्ष्वाकु नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । इक्ष्वाकुके सौ पुत्र थे । उनमें सबसे बड़े तीन थे—विकुक्षि, निमि और दण्डक ॥ ४ ॥ परीक्षित । उनसे छोटे पचीस पुत्र भार्यावर्तके पूर्वभागके और पचीस पश्चिमभागके तथा उपर्युक्त तीन मध्यभागके अधिपति हुए । शेष सैंतालिस दक्षिण आदि अन्य प्रांतोंके अधिपति हुए ॥ ५ ॥ एक बार राजा इक्ष्वाकुने अष्टक-भाटके समय अपने बड़े पुत्रको आज्ञा दी—‘विकुक्षे ! शीघ्र ही जाकर आइके योग्य पक्षि पशुओंका मांस लाओ’ ॥ ६ ॥ वीर विकुक्षिने बहुत अच्छा कइकर बनकी यात्रा की । वहाँ उसने आइके योग्य बहुत-से पशुओंका शिकार किया । वह एक तो गया ही था, भूख भी लग आयी थी इसलिये यह जान भूख गया कि आइके लिये मारे हुए पशुको साथ में खाना लाहिये । उसने एक झरगोश ख लिया ॥ ७ ॥ विकुक्षिने बधा हुआ मांस लेकर अपने पिताको दिया । इक्ष्वाकुने जब अपने गुरुसे उसे प्रोक्षण करनेके लिये कहा, तब गुरुजी-न बतया कि यह मांस तो दूषित एवं आइके अयोग्य

ज्ञात्वा पुत्रस्य तत् कर्म गुरुणाभिहितं चप ।

देशाभिः समयामास सुतं त्यक्तविधिं ह्य । ९ ॥

स तु विप्रेण मन्वादे जापकेन समाचरन् ।

त्यक्त्वा कलेवर योगी म तेनावाप यत् परम् ॥ १० ॥

पितृपुत्रसेऽप्येस्य विकृष्टिः पृथिवीमिमां ।

आसदीजे हरिं यद्वै शश्वद इति विधुतः ॥ ११ ॥

पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरित ।

ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः शृणु नामानि कर्मणि ॥ १२ ॥

कृतान्त आसीत् समरो देवानां सह दानवैः ।

पार्ष्णिप्राहो वृत्तो वीरो देवैर्देव्यपराजितैः ॥ १३ ॥

वधनाद् देवदेवस्य विष्णोर्विद्यात्मन प्रभोः ।

वाहनत्वे वृत्तस्तस्य धूम्रवन्त्रो महावृषः ॥ १४ ॥

मर्मनद्धो धनुर्दिव्यमणाय विश्विन्वाञ्छितान् ।

स्तूयमान समौलस्य युयुत्सु ककुदि स्मित ॥ १५ ॥

तेजसाऽऽप्याफितो विष्णो पुरुषस्य परात्मन ।

प्रतोष्णां दिशिर्देव्यानां न्यरुणत् त्रिदशैः पुरम् ॥ १६ ॥

तेस्तस्य चार्मुत् प्रधनं तुमुलं लामहर्षजम् ।

ममाप भरलैरनयद् देव्यान् येऽभिययुर्मवे ॥ १७ ॥

तस्पेपुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवावर्णनम् ।

१॥ ८ ॥ परीक्षित ! गुरुजीके कहनेपर राजा शक्तापु-
त्रको अपने पुत्रकी करवतकर पता चले गया । उन्होंने
शास्त्रीय विधिगत उत्सव करनेवाले पुत्रको क्रोधवश
अपने देहासे निकाल दिया ॥ ९ ॥ तदनन्तर राजा
शक्तापुत्रने अपने गुरुदेव वसिष्ठसे ज्ञानक्रियका चर्चा की ।
फिर योगके द्वारा शरीरका परिष्कार करके उन्होंने परम
पद प्राप्त किया ॥ १० ॥ पिताका देहान्त हो जानेपर
विकृष्टि अपनी राजधानीमें लौट आया और इस पृथ्वीका
शासन करने लगा । उसने बड़े-बड़े यज्ञोंसे मगवान्की
आराधना की, और संसारमें शश्वदके नामसे प्रसिद्ध
हुआ ॥ ११ ॥ विकृष्टिके पुत्रका नाम था पुरञ्जय ।
उसीको योर्ह 'इन्द्रवाह' और कर्षे 'ककुत्स्थ' कहते हैं ।
मिन कर्मोंके कारण उसके ये नाम पड़े थे, उन्हें
सुनो ॥ १२ ॥

सत्ययुगके अन्तमें देवताओंका दानकोंके साथ घोर
संघाम हुआ था । उसमें सब-के-सब देवता दैत्योंसे हार
गये । तब उन्होंने वीर पुरञ्जयको सहायताके लिये अपना
मित्र बनाया ॥ १३ ॥ पुरञ्जयने कहा कि यदि देवता
इन्द्र मेरे वाहन बनें, तो मैं युद्ध कर सकता हूँ ।
पहले तो इन्द्रने बख्सीकर कर दिया, परन्तु दवताओंके
आराध्यदेव सर्वशक्तिमान् विश्वामा मगवान्की बात मानकर
पीछे वे एक बड़े मारी बैल बन गये ॥ १४ ॥ सर्वान्तर्यामी
मगवान् विष्णुने अपनी शक्तिके पुरञ्जयको भर दिया ।
उन्होंने कवच पहनकर दिव्य धनुष और तीखे बाण
ग्रहण किये । इसके बाद बैलपर चढ़कर वे उसके ककुद
(भील) के पास बैठ गये । जब इस प्रकार वे युद्धके
लिये तैयार हुए, तब तेजना उनकी स्तुति करने लगे ।
देवताओंको साथ लेकर उन्होंने पश्चिमकी ओरसे तैल्येय
मगर घेर लिया ॥ १५ ॥ १६ ॥ वीर पुरञ्जयका दैत्योंके
साथ अत्यन्त रोमाञ्चकारी घोर संघाम हुआ । युद्धमें
जो-जो दैत्य उनके सामने आये, पुरञ्जयने बाणोंके द्वारा
उन्हें यमराजके हाथोंसे कर दिया ॥ १७ ॥ उनका बाणों
की बर्षा कण्ठ थी, प्रलयकरमकी घघकनी हुई आग थी । जा
मी उसके सामने आया, छिन्न-भिन्न हो जाता । दैत्योंका

यिसृज्य दुनुवुदैत्या हन्यमानाः समालयम् ॥१८॥

जित्वा पुरं धनं सर्वं सभ्रीकं वज्रपाणये ।

प्रत्ययच्छत् स राजपिरिति नामभिराहुतः ॥१९॥

पुरजपस्य पुत्रोऽमृदनेनास्तत्सुतः पुत्रः ।

विश्वरन्विस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वश्च तत्सुतः ॥२०॥

शावन्तस्तत्सुतो येन शावन्ती निर्ममे पुरी ।

बृहदशस्तु शावन्तिस्ततः कुवलयाम्बकः ॥२१॥

यः प्रियार्थमुतङ्गस्य धुन्धुनामासुरं बली ।

सुतानामकर्विञ्चत्या सहस्रैरहनवृ कृतः ॥२२॥

धुन्धुमार इति स्थातस्तत्सुतास्ते च जन्वन्तु ।

धुन्धामुत्ताप्रिना सर्वे त्रय एवावशेषिताः ॥२३॥

रुद्राश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत ।

रुद्राश्वपुत्रो हर्षश्चो निकुम्भस्तत्सुतः स्मृतः ॥२४॥

पृथङ्मासो निकुम्भस्य कर्त्ताम्बाऽथास्य सेनधितः ।

युवनाम्बाऽभवत् तस्य साऽनपत्या धनराजः ॥२५॥

भार्वाश्वतेन निर्विण्णश्चपपाऽस्य कृपालवः ।

इति सा वर्तयाश्चतुरन्त्री ते सुसमाहिताः ॥२६॥

रात्रा तद्वृ यश्चमदनं प्रविष्टा निशि तर्पितः ।

रुद्राश्वपानान् विप्रास्तान् पर्पा मन्त्रमलं स्वयम् ॥२७॥

उत्थितास्तं निशम्बाथं स्पृष्ट्वा कलशं प्रभा ।

पत्रच्छु कस्य कर्मदे पार्तं पुंसवर्नं जलम् ॥२८॥

रात्रा पीतं पिदित्वाथ ईश्वरप्रदितेन त ।

साहस जाता रक्षा । ये रणभूमि छोड़कर अपने-अपने घरोंमें घुस गये ॥ १८ ॥ पुरजपने उनका नगर, धन और ऐश्वर्य—सब कुछ जीतकर इन्द्रको दे दिया । इसीसे उस राजर्षिको पुर जीतनेके कारण 'पुरजप', इन्द्रको वाहन बमानेके कारण 'इन्द्रवाह' और वैद्यके कस्तुरपर बैठनेके कारण 'कस्तुरस्य' कहा जाता है ॥ १९ ॥

पुरजपका पुत्र या अनेना । उसका पुत्र धृष्ट इन्द्रा । धृष्टके विश्वरन्धि उसका चन्द्र और चन्द्रके युक्ताश्व ॥ २० ॥ युवनाश्वक पुत्र हुए शावन्त, जिन्होंने शावन्तीपुरी बसायी । शावन्तके बृहदश और उसके कुवलयाम्बक हुए ॥ २१ ॥ ये बड़े बली थे । इन्होंने उतङ्ग श्वको प्रसन्न करनेके लिये अपन इसीसे हजार पुत्रोंको साथ लेकर धुन्धु नामक दैत्यका वध किया ॥ २२ ॥ इसीसे उनका नाम हुआ 'धुन्धुमार' । धुन्धु दैत्यके मुखकी आगसे उनके सब पुत्र जल गये । केवल तीन ही बच रहे थे ॥ २३ ॥ परीक्षित । बचे हुए पुत्रोंके नाम थे—रुद्राश्व, कपिलश्व और म्बाश्व । रुद्राश्वसे हर्षश्व और उससे निकुम्भका जन्म हुआ ॥ २४ ॥ निकुम्भके वर्णाश्व, उसके कृशाश्व, कृशाश्वके सेनधित और सेनधितक युवनाश्व नामक पुत्र हुआ । युवनाश्व सन्तानहीन था, इसलिये वह बहुत दुखी होकर अपनी सी बियोंके साथ वनमें चला गया । वहाँ श्रियोंने बड़ी कृपा करके युवनाश्वसे पुत्र प्राप्तिके लिये बड़ी एकाम्रताके साथ इन्द्रदेवताका यज्ञ कराया ॥ २५ २६ ॥ एक दिन रात्रा युवनाश्वको रात्रिके समय बड़ी व्यास लगी । वह यज्ञशालामें गया, किन्तु वहाँ देखा कि श्रिमोग तो सो रहे हैं । तब जब मित्रनेत्र और कोई उपाय न देख उमने वह मन्त्रसे अभिमन्त्रित उस ही पी लिया ॥ २७ ॥ परीक्षित । जब प्रातः काय श्रिमोग सोकर उठ और उन्होंने देखा कि कपशमें तो जल ही नहीं है, तब उन लोगोंमें पूछा कि 'यह किसका काम है ?' पुत्र उत्पन्न करनेकाय जब किसने पी लिया ॥ २८ ॥ अन्तमें जब उन्हें यह माश्रम हुआ कि भगवान्की प्रणामसे रात्रा युवनाश्वने ही उस जलको पी लिया है तो उन लोगोंमें भगवान्

ईप्साय नमधकुनहो दैवघलं बलम् ॥२९॥
 ततः काल उपावृत्तं कृधि निर्भिद्य दधिणम् ।
 युवनाश्रय्य तनपधकवर्ती जैजान ह ॥३०॥
 कं धासति कुमारोऽय मन्त्र्य रोरुयते मृगम् ।
 मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो वेदिनीमन्तात् ॥३१॥
 न ममार पिठा तस्य विप्रवेद्यप्रसादत ।
 युवनाश्रयाऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्त्रवात् ॥३२॥
 प्रसदस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम तस्य यै ।
 मसात् प्रसन्ति दुद्रिप्ता दम्पत्रो रावणाण्यः ॥३३॥
 यौवनान्द्रोऽय मान्धाता चक्रवर्त्तपत्नी प्रभुः ।
 सप्तद्वीपवतीमेकं गगामान्युततेजसा ॥३४॥
 इजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविष् सूरिदक्षिणैः ।
 सर्वदेवमय इव सर्वैर्मकमतीन्द्रियम् ॥३५॥
 द्रव्य मन्त्रो विधिर्यद्वो यजमानस्तथस्विज ।
 भर्मा देशश्च कालश्च सर्वमवतद् यन्तात्मकम् ॥३६॥
 बावत् स्रप उदेति स बावथ प्रतिविष्टति ।
 मव तद् यौवनाश्रय्य मान्धातुः क्षेत्रगुच्यते ॥३७॥
 क्षत्रभिन्नाहुं हितरि विन्दुमस्यामैधान्द्रूप ।
 पुरुकुलमम्परीपं मृजुहृन्दं च योगिनम् ।
 तेषां श्वसारः पञ्चाशन् मौभरिं धधिर पतिम् ॥३८॥
 मयुनान्तर्वल मप्रमन्थमान परतप ।
 निवृत्तिं मीनराश्रय्य बीक्ष्य मयुनधमिण ॥३९॥

चरणोमि नमस्कार किया और कहा—'अप्य ई ।
 मगवान्का यन् ही वास्तवमें बल है' ॥ २० ॥ इसके
 बाद प्रसन्न समय आनन्द युवनाश्रयी गदिनी को
 पञ्चक उमके एक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३० ॥
 उसे रोते देख आश्रयिने कहा—'यह बालक दूबके पिये
 बहुत रो रहा है, क्या मित्रका दूब दियेगा ?' तब
 इन्दने कहा, 'मेरा दियेगा (मां धाता)' 'धेग !' तब रो
 म्प ॥ यह कहकर इन्दने अपनी तजनी अँगुली उसके
 मुँहमें डाल ली ॥ ३१ ॥ बाह्य और देवताओंके प्रसाद
 से उस बालकके पिता युवनाश्रयी भी मृग्य नहीं हुई ।
 वह वही तपस्या करने मुक्त हो गया ॥ ३२ ॥ परीक्षित !
 इन्दन उस चाणक्य नाम रक्ष्या प्रसदस्यु, क्योंकि एवण
 आपि दस्यु (छुरे) उससे उद्दिम एव मयनीत रहते
 थे ॥ ३३ ॥ युवनाश्रय पुत्र मन्धाता (प्रसदस्यु)
 चक्रवर्ती राजा हुए । मगवान्के तेजसे तेजसी होकर
 उन्होंने अकले ही मातों द्वीपवाली पृथ्वीका शासन
 किया ॥ ३४ ॥ वे यद्यपि आत्महानी थे, उन्हें कम-
 कण्ठकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी—किन्तु भी
 उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे उन यज्ञसम्य
 प्रभुकी आराधना की जो सर्वप्रकाश, सर्वदेवसत्त्व,
 सर्वार्थ एवं इन्द्रियालीन हैं ॥ ३५ ॥ मगवान्के अनिरिक्त
 और ई ही क्या ? यहकी सामग्री, मन्त्र, विधि-विधान,
 यज्ञ, यजमान, अग्नि, धर्म, देश और यज्ञ—यह
 सब-कुछ-सब मगवान्का ही स्वरूप ही है ॥ ३६ ॥
 परीक्षित ! जहाँसे सूर्यका उदय होता है और जहाँ वह
 अस्त होते हैं, वह सप्त-क्षेत्र-माय भूमि युवनाश्रयके पुत्र
 मन्धाताके ही अधिकारमें था ॥ ३७ ॥

राजा मन्धाताकी पत्नी शत्रुविन्दकी पुत्री विन्दुमयी
 थी । उसका गर्भसे उनके तीन पुत्र हुए—पुरुकुल,
 अम्परीय (ये दूसरे अम्परीय हैं) और यामी मुजुहुन् ।
 इनकी पचास बहनें थीं । उन पचासोंने अकल मौमरि
 अरिक्त पतिव्रत रूपमें वरण किया ॥ ३८ ॥ परम
 तपस्वी सांभरिजी एक बार यमुनाजन्ममें हुआ
 तपस्या कर रहे थे । वहाँ उन्होंने लम्बे कि एक
 राम अन्ती पतिपौके साथ बहुत सुखी हा रहा है ॥ ३९ ॥

जातस्त्वहो नृप विप्रः कन्यामेकामयाप्त ।

मोऽप्याह शुद्धतां ब्रह्मन् कामं कन्यास्वयमे ॥४०॥

सं विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसंमतः ।

बलीपत्ति एवैतत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥४१॥

साधयिष्ये तथाऽऽत्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितम् ।

किं पुनर्मनुजन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥४२॥

मुनिः प्रवेशितः धत्वा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् ।

वृत्तं रात्रकन्याभिरेक पञ्चाशता वरः ॥४३॥

तामां कविरमूढ भूयास्तर्धेऽपोह सौहृदम् ।

ममानुरूपो नार्यं व इति तद्गतचेतसाम् ॥४४॥

म बहुचत्ताभिरपारणीय

तप भ्रियानर्घपरिच्छदेपु ।

गृहपु नानापवनामलाम्भः

सरस्तु सांगभिक्कसाननपु ॥४५॥

महाहर्षायामनवरूपपण

स्नानानुलेपाम्पवहारमात्यर्क ।

मनमृत्तमीपुरुषपु नित्यदा

रमऽनुगायद्दिनभृत्तन्दिपु ॥४६॥

पद्मादम्भं तु मन्वीक्ष्य सप्तद्वीपयतीपति ।

उसके इस सुखको देखकर ब्राह्मण सौमरिके मनमें ये विवाह करनेकी इच्छा जग उठी और उन्होंने राजे मान्यताके पास जाकर उनकी पचास कन्याओंमेंसे एक कन्या माँगी । राजाने कहा—'अबन् । कन्या स्वयंसे आपको चुन ले, तो आप उसे ले लीजिये' ॥४०॥ सौमरिके अग्नि राजा मान्यताका अभिप्राय समझ गये । उन्होंने सोचा कि 'प्राप्ताने इस लिये मुझे ऐसा सुखा जका दिया है कि जब मैं नृका हो गया हूँ, क्षीरमें क्षीरों पर गयी हूँ, बाल पक गये हैं और सिर काँपने लगा है । अब कोई भी मुझसे प्रेम नहीं कर सकती ॥ ४१॥ अच्छी बात है । मैं अपनेको ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याएँ तो क्या, देशजनाएँ भी मेरे लिये व्यग्रमति हो जायेंगी ।' ऐसा सोचकर सम्म सौमरिकीने बैठ ही किया ॥ ४२॥

फिर क्या था, अन्त पुरके धावने सौमरिके मुनिको कन्याओंके सजे-सजाये महलमें पहुँचा दिया । फिर वे उन पचासों राजकन्याओंमेंसे एक सौमरिको ही अपना पति चुन लिया ॥ ४३॥ उन कन्याओंका मन सौमरिकीमें इस प्रकार आसक्त हो गया कि वे उनके लिये आपसके प्रणामावको तिमिबद्धि देकर परस्पर कलह करने लगी और एक-दूसरेसे कहने लगी कि 'ये तुम्हारे योग्य नहीं, मेरे योग्य हैं' ॥ ४४॥ अतः सौमरिकेने उन सभीका पाणिग्रहण कर लिया । वे अपनी अरार तपस्याके प्रभावसे बहुमन्य सामप्रियोसे सुसज्जित, अनेक उपहारों और निर्वन्ध अन्धसे परिपूर्ण सरोवरोंसे युक्त एवं सौगन्धिक पुष्पोंके क्रीचोंसे घिरे महलमें बहुमन्य शय्या, आसन, बल, आभूषण, आन, अनुलेपन, सुकाहु भोजन और पुष्पात्मकोंके द्वारा अपनी पत्नियोंके साथ विहार करने लगे । सुन्दर-सुन्दर कषामृषण धारण किये की पुरुष सर्वत्र ठमकी सेवामें लगे रहते । कहीं पक्षी गहकने रहते, ता कहीं गीरे गुंजार करते रहते । और कहीं-कहीं क्रीडन ठमकी विदास्वीकृ मखान करते रहते ॥ ४५॥ ४६॥ सप्तद्वीपकी पृथ्वीक सामो मान्यता सौमरिकीकी इस गृहस्थीका दुम् दम्पतर

विमिश्र स्तम्भमग्रहात् सार्वभौमधियान्वितम् ॥४७॥
 एव गृहप्वभिरता विपयान् विविधै सुर्व ।
 सेवमानो न चातुष्यान्पस्तोर्कैरिबानल ॥४८॥
 त कदाचिदुपासीन आत्मापह्वमात्मनः ।
 ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥४९॥
 अहो इमं पश्यत मे' विनाश
 तपस्विन सञ्चरितव्रतस्य ।
 अन्तर्जले वारिषरप्रसङ्गात्
 प्रच्यावितं ब्रह्म विर भूत यत् ॥५०॥
 सङ्गस्पृजेत मिथुनव्रतिनां सुसुप्त
 सर्वान्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।
 एकधरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
 युञ्जीत तद्विषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः ॥५१॥
 एकस्तपस्व्यहमधाम्भसि मस्त्यसङ्गात्
 पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्गः ।
 नान्त ब्रजाम्मुपपकृत्यमनोरधानां
 मायागुणैर्हृतमतिविषयेऽर्थभाष ॥५२॥
 एष वसन् गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः ।
 वन जगामानुषपुस्तकस्य पतिदेवता ॥५३॥
 तत्र तप्त्वा तपस्ती' ह्यमात्मकर्तृममात्मबान् ।

आश्चर्यचकित हो गये । उनका यह गर्व कि, मैं सार्व-
 भौम संपत्तिक्र साधु हूँ, जाता रहा ॥ ४७ ॥ इस
 प्रकार सौमरिजी गृहस्थीक सुखमें रम गये और अपनी
 नीरोग इन्द्रियोसे अनेकों विन्योक्त सेवन करते रहे ।
 फिर भी जैसे धीकी बुँदोंसे आग वृत्त नहीं होनी, वैसे
 ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ ॥ ४८ ॥

श्रग्वेदाचार्य सौमरिजी एक दिन स्वस्थ चित्तसे
 बैठे हुए थे । उस समय उन्होंने देखा कि मत्स्यराजके
 क्षणभरके साँसे में किस प्रकार अपनी तपस्या तथा
 अपना आपातक खो बैठा ॥ ४९ ॥ वे सोचने लगे—
 'अरे, मैं तो बड़ा तपस्वी था । मैंने मन्त्रीमौलि अपने
 जनोंका अनुग्रह भी किया था । मेरा यह अब पतन तो
 देखो । मैंने दीर्घकालसे अपने ब्रह्मतेजको व्यष्टुण रक्खा
 था, परन्तु जलके भीतर विहार करती हुई एक मछलीके
 समसि मेघ वह ब्रह्मतेज नष्ट हो गया ॥ ५० ॥ अतः
 जिसे मोक्षकी इच्छा है, उस पुरुषको चाहिये कि वह
 मोगी प्राणियोंका सङ्ग सर्वथा छोड़ दे और एक क्षणके
 लिये भी अपनी इन्द्रियोंको बहिर्मुख न होने दे । अकेला
 ही रहे और एकान्तमें अपने चित्तको सर्वशक्तिमान्
 भगवान्में ही लगा दे । यदि सङ्ग करनेकी आवश्यकता
 ही हो, तो भगवान्के अनन्य प्रेमी निष्ठावान् महात्माओंका
 ही सङ्ग करे ॥ ५१ ॥ मैं पहले एकान्तमें अकेला ही
 तपस्यामें संलग्न था । फिर जलमें मछलीका सङ्ग होनेसे
 निराह करके पचास हो गया और फिर सन्तानोंके रूप
 में पौष हुआ । विन्योमें सत्ययुद्ध होनेसे मायाके
 गुणोंने मेरी बुद्धि हार ली । अब तो शोक और परलोकके
 सम्बन्धमें मेरा मन इतनी अलसताओंसे भर गया है कि
 मैं किसी तरह उमका पार ही नहीं पाता ॥ ५२ ॥
 इस प्रकार विचार करते हुए वे कुछ दिनोंतक तो घरेमें
 ही रहे । फिर निरक्त होकर उन्होंने संन्यास ले लिया
 और वे वनमें चले गये । अपने पतिके ही सर्वस्र
 माननेवासी उमकी पत्नियोंने भी उनके साथ ही
 वनकी यात्रा की ॥ ५३ ॥ बहों जाकर परम संपत्ती
 सौमरिजीने बड़ी बोर तपस्या की, शरीरको सुखा दिया

सहैवाग्निभिरहमानै युयोज परमात्मनि ॥५४॥

ता स्वपत्युमहारात्र निरोक्ष्याध्यात्मिकी गतिम् ।

अन्वीयुस्तत्प्रभावेण अग्निं श्रान्तमिवाग्निपः ॥५५॥

तथा आहवनीय आदि अग्नियोंके साथ ही अपने-आपको परमात्मामें लीन कर दिया ॥ ५४ ॥ परीक्षित । उनकी पत्नियोंने जब अपने-पति सौमरि मुनिकी आध्यात्मिक गति देखी, तब जैसे आगएँ श्रान्त अग्निमें लीन होती हैं—वैसे ही वे उनके प्रभावसे सती होकर उन्हेंमि लीन हो गयीं, उन्हींकी गतिको प्राप्त हुई ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते षष्ठापुराणे पारम्पर्यां संहितायां नवमस्कन्धे

मौमर्याख्याने पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

यथा विशाङ्कु और हरिश्चन्द्रकी कथा

श्रीमन् उवाच

मान्धातुः पुत्रप्रवर्गे योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः ।

पितामहेन प्रवृत्ता यौवनाश्रयस्तत्सुतः ।

हसीतन्तस्य पुत्रोऽभूमान्धातुप्रवरा इमे ॥ १ ॥

नर्मदा आहभिर्दत्ता पुरुकुत्सस्य योरगौः ।

तया रसातलं नीतो ब्रह्मगेन्द्रप्रयुक्तया ॥ २ ॥

गन्धर्वानवधीतु तत्र षण्णान् वै विष्णुशक्तिभूक् ।

नागात्लब्धवर सर्पादभय सरतामिदम् ॥ ३ ॥

व्रमहस्य पौरुस्तो योऽनारभ्यस्य देहकृत् ।

हर्षस्तत्सुतस्तस्मादरुणोऽथ त्रिबन्धनः ॥ ४ ॥

तस्य सत्यवतः पुत्रस्त्रिभूरिति विभूतः ।

प्राप्तवाण्डालतां घापाद्गुरो कौशिकतेजसा ॥ ५ ॥

सशरीरो गत स्वर्गमयापि दिवि ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । मैं वर्णन कर चुका हूँ कि मान्धाताके पुत्रोंमें सबसे श्रेष्ठ अम्बरीष थे । उनके दादा युवनाश्रयेने उन्हें पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया । उनका पुत्र हुआ यौवनाश्रय और यौवनाश्रयकी हारीत । मान्धाताके बंधुमें ये तीन अग्रन्तर गोत्रोंके प्रवर्तक हुए ॥ १ ॥ नामोंमें अपनी बहिन नर्मदाका विवाह पुरुकुत्ससे कर दिया था । नागराज आशुमिनी आह्लासे नर्मदा अपने पतिके रसातलमें ले गयी ॥ २ ॥ वही भगवाचकी शक्तिसे सम्पन्न होकर पुरुकुत्सने वध करनेयोग्य गन्धर्वोंको मार डाला । इसपर नागराजने प्रसन्न होकर पुरुकुत्सको क दिया कि जो इस प्रसन्नकर स्मरण करेगा, वह सपोंसे निर्मम हो जायगा ॥ ३ ॥ यथा पुरुकुत्सका पुत्र व्रमहस्य था । उसके पुत्र हुए अनारभ्य । अनारभ्यके हर्षस्य, उसके अरुण और अरुणक त्रिबन्धन हुए ॥ ४ ॥ त्रिबन्धनके पुत्र सत्यवत हुए । यही सत्यवत विशाङ्कुके नामसे विख्यात हुए । यद्यपि विशाङ्कु अपने पिता और गुरुके शापसे बाणशय हो गये थे परन्तु विद्यामित्रजीके प्रभावसे वे मशरीर जगमें बल गये । दक्षजाओंने उन्हें बहोने डके दिया और वे नीचेकी स्थिर किये हुए गिर पड़े; परन्तु विद्यामित्रजीने अग्नि तपोव्रतसे उन्हें आकाशमें ही स्थिर कर दिया । वे जब ३६ आकाशमें गये हुए

त्रैशङ्कधो हरिश्चन्द्रो विद्यामित्रवसिष्ठयोः ।

यन्मित्रममृषुः पुष्टं पश्चिर्धोर्धुवार्षिकम् ॥ ७ ॥

सोऽनपत्यो विपण्णात्मा नारदस्योपदेशतः ।

वरुणं ध्वरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो ॥ ८ ॥

यदि धीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति ।

तथेति वरुणेनाम्ब पुत्रो जातस्तु रोहित ॥ ९ ॥

जातः सुतोऽनेनाङ्गमां यजस्वेति सोऽजवीत् ।

यदा पशुनिर्देशं स्यादथ मेभ्यो भवेदिति ॥ १० ॥

निर्देशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽजवीत् ।

दन्ता पशोर्यजायेरथ मेभ्यो भवेदिति ॥ ११ ॥

जाता दन्ता यजस्वेति स प्रत्याहाय सोऽजवीत् ।

यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेभ्यो भवेदिति ॥ १२ ॥

पशोर्मिपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽजवीत् ।

यदा पशो पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः क्षुधिः ॥ १३ ॥

पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाय सोऽजवीत् ।

साभाहिको यदाराजन् राज्ञोऽथ पशुः क्षुधिः ॥ १४ ॥

इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितयेतसा ।

कालं वञ्चयता सं तमुक्तो देवस्तमैश्वर ॥ १५ ॥

रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म विकीर्षितम् ।

प्राणप्रसुर्धनुष्पाणिरररुणं प्रत्यपद्यत ॥ १६ ॥

त्रिशङ्कके पुत्र ये हरिश्चन्द्र । उनके लिये विद्यामित्र और वसिष्ठ एक दूसरेको शाप देकर पक्षी हो गये और बहुत वर्षोंतक जड़ते रहे ॥ ७ ॥ हरिश्चन्द्रके कोई सम्मान न था । इससे वे बहुत उदास रहा करते थे । नारदके उपदेशसे वे वरुण देवताकी शरणमें गये और उनसे प्राप्ता की कि 'प्रभो ! मुझे पुत्र प्राप्त हो ॥ ८ ॥ महाराज ! यदि मेरे वीर पुत्र होगा तो मैं उसीसे आपका यजन करूँगा ।' वरुणने कहा—'ठीक है ।' तब वरुणकी कृपासे हरिश्चन्द्रके रोहित नामका पुत्र हुआ ॥ ९ ॥ पुत्र होते ही वरुणने आकर कहा—'हरिश्चन्द्र ! तुम्हें पुत्र प्राप्त हो गया । अब इसके द्वारा मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब आपका यह यज्ञपशु (रोहित) दस दिनसे अधिककाल हो जायगा, तब उसके योग्य होगा ॥ १० ॥ दस दिन बीतनेपर वरुणने आकर फिर कहा—'अब मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब आपके यज्ञपशुके मुँहमें दाँत निकल आयेंगे, तब वह यज्ञके योग्य होगा ॥ ११ ॥ दाँत उग आनेपर वरुणने कहा—'अब इसके दाँत निकल आये, मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दूधके दाँत गिर आयेंगे, तब यह यज्ञके योग्य होगा ॥ १२ ॥ दूधके दाँत गिर जानेपर वरुणने कहा—'अब इस यज्ञपशुके दाँत गिर गये, मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दुधारा दाँत आ आयेंगे, तब यह पशु यज्ञके योग्य हो जायगा ॥ १३ ॥ दाँतोंके फिर उग आनेपर वरुणने कहा—'अब मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'वरुणजी महाराज ! क्षत्रिय पशु तब यज्ञके योग्य होता है, जब वह कर्षण भारण करने लगे ॥ १४ ॥ परीक्षित । इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र पुत्रके प्रसंगे हीन-हवास करके समय टालते रहे । इसका कारण यह था कि पुत्र-स्नेहकी पाँसीने उनके हृदयको जकड़ लिया था । वे जो-जो समय बताते, वरुण देवता उसीकी बात देखते ॥ १५ ॥ जब रोहितको इस बातका पता चला कि पिताजी तो मेरा बलिदान करना चाहते हैं, तब वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये हाथमें धनुष लेकर

पितरं वरुणप्रस्तु भुत्वा जातमहादरम् ।
 राहितो ग्राममेयाय तमिन्द्र प्रस्थपथत ॥१७॥
 भूमेः पर्यटनं पुष्प तीर्थक्षेत्रनिषेधौ ।
 श्रितायादिशृङ्गः सोऽम्बरण्येऽवसत्समासु ॥१८॥
 एवं द्वितीये वृत्तीये चतुर्थे पञ्चमे तथा ।
 अम्येन्धाम्येत्यस्य विप्रो भूत्वाऽऽह वृत्रहा ॥१९॥
 पण्डे संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहित पुरीम् ।
 उपपन्नमलीगर्तदिक्रीणान्मप्ययं सुतय ॥२०॥
 क्षुनःक्षेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत ।
 ततः पुत्र्यमेघेन हरिश्चन्द्रो महायज्ञाः ॥२१॥
 मुक्तोदरोऽयववृदेवान् वरुणादीन् महत्कथः ।
 विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन् होता चाप्यर्चुरात्मवान् ॥२२॥
 क्षमदभिरमूढ ब्रह्मा वसिष्ठोऽयास्य सामगः ।
 तस्यै तृणा वटाचिन्द्रः क्षातकौम्भमयं रथम् ॥२३॥
 क्षुनःक्षपस्य माहात्म्यमुपरिठात् प्रचक्षते ।
 सत्यसारां वृत्तिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ॥२४॥
 विश्वामित्रो मृश प्रीतो दवावविहतां गतिम् ।
 मनःपृथिव्यां तामङ्गिस्तेजसापोऽनिसेन तत् ॥२५॥
 खे वायुं धारयन्तश्च भूतदौ तं महात्मनि ।
 तस्मिन् ज्ञानकलां ध्यात्वा तया ज्ञानं विनिर्दहन् ॥२६॥
 हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणमुत्सर्गविदा ।

वनमें चला गया ॥ १६ ॥ कुछ दिनों के बाद उसे मन्त्र
 हुआ कि वरुणदेवता ने कुछ होकर मेरे पिताजी
 आक्रमण किया है—जिसके कारण वे म्होदर रोम
 पीड़ित हो रहे हैं, तब रोहित अपने नगरकी ओर च
 पका । परन्तु इन्द्र ने आकर उसे रोक दिया ॥ १७
 उन्होंने कहा—'बेटा रोहित ! यज्ञपशु बनाकर मरने
 अपेक्षा तो पवित्र तीर्थ और क्षेत्रोंका सेवन करके
 पृथ्वीमें विचरना ही अच्छा है ।' इन्द्रकी बात मानक
 ष्ट एक वर्षतक और वनमें ही रहा ॥ १८ ॥ इस
 प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें वर्ष भी रोहित
 अपने पिताके पास जानेका विचार किया, परन्तु वृ
 षाक्षणाका बैप धारणकर बार बार इन्द्र आते और उ
 रोक देते ॥ १९ ॥ इस प्रकार छ वर्षतक रोहित वन
 ही रहा । सतर्षे वर्ष जब वह अपने नगरको लौट
 आया, तब उसने जबीगर्तसे वनक मन्त्रोंसे पुत्र क्षुन
 शंभुको मोह ल लिया और उसे यज्ञपशु बनानेके छि
 अपने पिताको सौंपकर उनके चरणोंमें नमस्कार किया
 तब परम मन्त्रकी एक व्रत चरित्रवाले राजा हरिश्चन्द्र
 म्होदर रोमसे छूटकर पुरुषमेघ यज्ञाया वरुण आ
 देवताओंका पूजन किया । उस यज्ञमें विश्वामित्रजी होते
 हुए । परम सत्यकी जमदग्निने वज्रमुक्त का प्रम किया
 वसिष्ठजी ब्रह्मा बने और अयास्य मुनि सामान्य कर
 वाले उद्गाता बने । उस समय इन्द्रने प्रसन्न होकर
 हरिश्चन्द्रको एक सोनेका रथ दिया था ॥ २०—२३
 परीक्षित ! आगे चलकर मैं क्षुन-रोमका महात्म
 कर्णन कहूँगा । हरिश्चन्द्रको अपनी पत्नीके साथ सत्य
 व्रतपूर्वक स्थित देखकर विश्वामित्रजी बहुत प्रस
 हुए । उन्होंने उन्हें उस ज्ञानका उपदेश किया, जिसका
 कभी नाश नहीं होता । उसके अनुसार राजा हरिश्चन्द्र
 अपने मनको पृथ्वीमें, पृथ्वीका जलमें, जलको तेजमें
 तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें स्थिर करके
 आकाशको व्यापारमें लीन कर दिया । फिर व्यापार
 म्होदरमें लीन करके उसमें ज्ञान-कलाका ध्यान कि
 और उससे ज्ञानको मन्त्र कर दिया ॥ २४—२६
 इसके बाद निर्वाण-मुक्तकी अनुमृत्तिसे उस ज्ञान-कला
 की परित्याग कर दिया और समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो

अनिर्देश्याप्रवर्ण्येण तस्यै विष्वस्तवन्धनः ॥२७॥

वे धपने उस स्वरूपमें स्थित हो गये, जो न तो किसी प्रकार बनलाया जा सकता है और न उसके सम्बन्धमें किसी प्रकारका अनुमान ही किया जा सकता है ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे हरिश्चन्द्रो

पाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

सगर-चरित्र

श्रीशुक उवाच

हरितो रोहितसुतश्चैम्पस्तसाद् विनिर्मिता ।

चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥ १ ॥

मैरुक्तस्तत्सुतस्तसाद् वृक्तस्तस्यापि बाहुक ।

सोऽरिभिर्हृतम् राजा समार्यो वनमाविष्टत् ॥ २ ॥

वृद्ध त पञ्चर्षां प्राप्त महिम्पु न मरिम्पती ।

और्वेण जानताऽऽत्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥ ३ ॥

आह्वायाम्यै सपत्नीभिर्गरी दण्डोऽन्धसा सह ।

सह तेनैव संवात सगराख्यो महायशः ॥ ४ ॥

सगरश्चक्रवर्त्याप्रीत् सागरो यस्तुतै कृत ।

यस्तालजङ्गान् यवनान्छफान् दैहपर्वरान् ॥ ५ ॥

नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विरुसवेपिण ।

मुण्डाम्भुमधुधरान् कर्मिन्मुक्तकशार्धमुण्डितान् ॥ ६ ॥

अनन्तवापस काभिदबहिवाप्रसोऽपरान् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—रोहितक पुत्र या हरित ।

हरितसे चम्प हुआ । उसीने चम्पापुरी स्थायी की । चम्पसे सुदेव और उसका पुत्र विजय हुआ ॥ १ ॥

विजयका मरुत, मरुतका वृक्त और वृक्तका पुत्र बाहुक । शत्रुओंने बाहुकसे राज्य छीन लिया, तब वह अपनी पत्नीके साथ वनमें चला गया ॥ २ ॥ वनमें जानेपर मुझापेके कारण जब बाहुककी मृत्यु हो गयी, तब उसकी पत्नी भी उसके साथ सती होनेको उद्यत हुई । परन्तु महर्षि और्वकने यह माध्यम था कि इसे गम है । इसलिये उन्होंने उसे सती होनेसे रोक दिया ॥ ३ ॥ जब उसकी सौतेलीको यह बात माध्यम हुई, तो उन्होंने उसे मोहनके साथ गर (विर) दे दिया । परन्तु गर्भीपर उस विरका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि उस विरको लिये हुए ही एक बाल्यका जन्म हुआ, जो गरके साथ पैदा होनेके कारण 'सगर' कहलाया । सगर बड़े यशस्वी राजा हुए ॥ ४ ॥

सगर चक्रवर्ती सम्राट् थे । उन्होंने पृथ्वी खोज कर समुद्र बना दिया था । सगरने अपने गुरुदेव और्वक की आज्ञा मनुष्य ताउमह, यवन, शक, दैह्य और बबर जातिके लोगोंका बध नहीं किया, बल्कि उन्हें विरूप बना दिया । उनमेंसे कुछके शिर मुझा पिये, कुछके मुँह-दाही रखवा दी, कुछको सुने बायेबाय बना दिया तो कुछको बाधा मुझा पिया ॥ ५ ॥ कुछ लोगोंको सगरने पकड़ कर ओढ़नेकी ही आज्ञा दी, पहननकी नहीं । और

सोऽप्यमेघैरयत्र सर्ववेदसुरात्मकम् ॥ ७ ॥

और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।

तस्योत्सृष्ट पशुं यस्मै ब्रह्माराधय पुरन्दरः ॥ ८ ॥

सुमन्मान्नया हता पितुरादेशकारिणः ।

हयमवेपमाणास्त समन्तान्परवनन् महीम् ॥ ९ ॥

प्रागुत्पीर्यां दिशि इयं दह्यु कपिलान्तिक ।

एष वाजिहरश्चौर आस्त मीलितलोचन ॥ १० ॥

हन्पतां हन्पतां पाप इति पठिष्यसि ज ।

उत्तापुभा अभिपयुरुन्मिमेप तदा मुनिः ॥ ११ ॥

म्यद्वीराप्रिना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः ।

महदुत्पतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात् ॥ १२ ॥

न साधुनादा मुनिकापमञ्जिता

नृपन्त्रपृथा इति सचधामनि ।

कथं तमो रावमयं विभाष्यते

जगन्पविश्रमनि य रक्षा सुखः ॥ १३ ॥

यस्यगिता सांग्यमयी दृष्ट नो

यया समुत्सृष्टे दृग्गययम् ।

भक्तार्थं मृगुपथं विपथित

पगममृतम् कथं पृथक्पति ॥ १४ ॥

कुलको केवल छोंगी पहननेको ही कहा, ओढ़नेको नहीं । इसके बाद राजा सगरने और्व अधिक उपदेश-नुसार लक्ष्मण यज्ञके द्वारा सम्पूर्ण वेद एवं देवतात्म्य, आत्मस्वरूप, सर्वशक्तिमन् भगवान्की आराधना की । उसके यज्ञमें जो घोड़ा छोड़ा गया था, उसे इन्द्रने पुरा लिया ॥ ७-८ ॥ उस समय महारानी सुमतिके गर्भसे उत्पन्न सगरके पुत्रोंने अपने पिताके आज्ञानुसार घोड़ेके लिये सारी पृथ्वी छन बांटी । जब उन्हें कहीं घोड़ा न मिला, तब उन्होंने बड़े धर्मसे सब ओरसे पृथ्वीको खोद डाला ॥ ९ ॥ खोदते-खोदते उन्हें पूर्व और उत्तरके कोनेपर कपिल मुनिके पास अपना घोड़ा दिखायी दिया । घोड़ेको देखकर वे साठ हजार राजकुमार साथ उठाकर यह कहते हुए उनकी ओर दीड़ पड़े कि पृथ्वी हमारे घोड़ेके चुरानेवाला चोर है । देखो तो सही, इसने इस समय कैसे मौलें मूँद रखी हैं । यह पापी है । इसको मार डालो, मार डालो । उसी समय कपिल मुनिने अपनी पल्लके खोली ॥ १०-११ ॥ इन्द्रने राजकुमारोंकी मुक्ति कर ली थी, इसीसे उन्होंने कपिलमुनि-जैसे महापुरुषका तिरस्कार किया । इस तिरस्कारके फलस्वरूप उनके शरीरमें ही आग जल उठी, जिससे क्षणमरमें ही वे सब-के-सब जलकर खाक हो गये ॥ १२ ॥ परिशिष्ट । सगरके लड़के कपिलमुनिके कोपसे जल गये, ऐसा कहना उचित नहीं है । वे तो सुदृढसत्त्वगुणके परम आश्रय हैं । उनका शरीर तो जगत्को पवित्र करता रहता है । उनमें भय, क्रोधरूप तमोगुणकी सम्पापना कैसे की जा सकती है । भय, कहीं पृथ्वीकी धूम्रका भी आग्राशसे सम्बन्ध होता है । ॥ १३ ॥ यह समार-सागर एक मृगुमय पथ है । इसके पार जाना अत्यन्त कठिन है । परन्तु कपिलमुनिने इस जगत्में सांग्यशास्त्री एक ऐसी दृष्टि मात्र बना दी है, जिससे मुक्तिकी दृष्टि अपने पास की भी व्यक्ति उस समुद्रप पार जा सकता है । य पथ परम लक्ष्मी ही नहीं, स्वयं परमप्रा है । उनमें भय यह पथ है और यह नित्र—एक प्रवृत्तकी भ-मुक्ति की ही मार्ग है । ॥ १४ ॥

योऽसमञ्जस इत्युक्त स केचिन्त्या नृपास्तथ ।
 तस्य पुत्रोऽशुमान् नाम पितामहद्विते रत्न ॥१५॥
 असमञ्जस आत्मान दर्शयन्नममञ्जसम् ।
 चातिस्मर पुरा सङ्गत् योगी योगाद् विचालित ॥१६॥
 आचरन् गर्हितं लोक ज्ञातीनां कर्म विप्रियम् ।
 सरन्नां क्रीडतो बालान् प्राप्त्यदुद्वेज्यञ्जनम् ॥१७॥
 एवं ब्रूच परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोष वै ।
 योगैश्वर्येण बालांस्तान् दर्शयित्वा ततो ययौ ॥१८॥
 अयोध्यामिव सर्वे बालकान् पुनरागतान् ।
 दृष्ट्वा विसिम्भिरे रञ्जन राजा शोचन्वत्तप्यत ॥१९॥
 अशुमांशोदितो राजा तुरङ्गन्वेषणे ययौ ।
 पितृव्यस्वतानुपर्य भ्रमन्ति दृष्ट्वा हयम् ॥२०॥
 सत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलास्त्रमधोभ्रजम् ।
 अतोत् समाहितमनाः प्राञ्जलिः प्रणतो महान् ॥२१॥

अशुमानुपाय

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽञ्जनो
 न ब्रुष्यतेऽद्यापि समाधिपुत्तिभि ।
 कुतोऽपरं तस्य मनःशरीरधी

विमर्गमुष्टा धयमप्रकाशा ॥२२॥

सगरकी दूसरी पत्नीका नाम था केचिनी । उसके
 गर्भसे उन्हें असमञ्जस नामका पुत्र हुआ था । असमञ्जस-
 के पुत्रका नाम था अशुमान् । यह अपने दादा सगरकी
 आज्ञाओंके पालन तथा सन्दीपकी सेवामें लगा रहता ॥१५॥
 असमञ्जस पहले जन्ममें योगी थे । सङ्गके कारण वे
 योगसे विचलित हो गये थे, परन्तु अब भी उन्हें अपने
 पूर्वज मन्त्र स्मरण बना हुआ था । इसलिये वे ऐसे काम
 किया करते थे, जिनसे माइ-बाप उन्हें प्रिय न समझें ।
 वे कभी-कभी तो अत्यन्त निन्दित कर्म कर बैठते और
 अपनेको पागल-सा दिखलते—यहाँ तक कि खेलते हुए
 बच्चोंको सरयूमें डाल देते ! इस प्रकार उन्होंने लोगोंको
 उन्मिष्ट कर दिया था ॥ १६ १७ ॥ अन्तमें उनकी
 ऐसी करवृत्त देखकर पिताने पुत्रत्वेहको तिलाञ्जलि दे
 दी और उन्हें त्याग दिया । तदनन्तर असमञ्जस
 ने अपने योगशक्तसे उन सब बालकोंको जीवित कर
 दिया और अपने पिताको दिखाकर वे वनमें चले
 गये ॥ १८ ॥ अयोध्याके नागरिकोंने जब देख कि
 हमारे बालक तो फिर लौट आये, तब उन्हें असीम
 आश्चर्य हुआ और राजा सगरको भी बड़ा पन्थापाय
 हुआ ॥ १९ ॥ इसके बाद राजा सगरकी आज्ञासे
 अशुमान् घोड़ेको ढूँढ़नेके लिये निकल । उन्होंने अपने
 आचार्योंके द्वारा खोदे हुए समुद्रके किनारे-किनारे
 चलकर उनके शरीरके भस्मके पास ही घोड़ेको
 देखा ॥ २० ॥ वहाँ मगवान्के अन्तार कपिल मुनि
 बैठे हुए थे । उनको देखकर उदारहृदय अशुमान्ने
 उनके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर एकप्र
 मसे उनकी स्तुति की ॥ २१ ॥

अशुमान्ने कहा—मगवन् ! आप अदम्य ब्रह्मावी
 से भी परे हैं । इसीलिये वे आपको प्राप्यश नहीं देख
 पाये । देखनेकी बात तो अवग रही—वे समाधि करते-
 करते एवं युक्ति लडाते-लडाते हार गये, किन्तु आज
 तक आपको सम्पन्न भी नहीं पाये । हमन्वेग तो उमङ्ग
 मन, शरीर और मुदिसे हानेवादी सुष्टिके द्वारा बने
 हुए अज्ञानी जीव हैं । तब मन्वा हम आपको कैसे मम

ये देहमात्रसिगुणप्रधाना
गुणान् विवक्ष्यन्त्युत वा समम् ।

एन्मायया मोहितचेतसस्ते
विदुः स्वसंस्पर्शं न बहिःप्रकाशा ॥२२॥

तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव-
प्रबन्धस्तमायागुणभेदमोहै ।

सन्नन्दनाघैर्मुनिभिर्विभाव्यं
कथं हि मूढ परिभावयामि ॥२४॥

प्रधान्तमायागुणकर्मलिङ्ग-
मनामरूपं सदसद्विभुक्तम् ।

ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेह
नमामहे त्वां पुरुष पुण्ड्रम् ॥२५॥

त्वन्मायारचिते लोके वस्तुषुदृष्ट्या गृहादिषु ।
अमन्ति कामलोभेर्ष्याभोहविभ्रान्तचेतसः ॥२६॥

अथ नः सर्वमूर्तारमन् कामकर्मेत्रियाश्रय ।
मोहयाशो दृढश्लिष्टो भगवत्तव दर्शनात् ॥२७॥

श्रीमुक्त उवाच

इत्यंगीतानुभावमन्तं भगवान् कपिला मुनिः ।
अश्रुमन्तसुबायेदमनुगृह्य धिया नृप ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

अयोऽयं नीयतां वत्स पितृमहपशुस्तव ।
इमं च विदुः दग्धा गङ्गाभ्योऽहन्ति नेतरत् ॥२९॥

सकते हैं ॥२२॥ संसारके शरीरवादी सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुणप्रधान हैं । वे जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओंमें केवल गुणमय पदार्थों, विषयोंको और सुषुप्ति-अवस्थामें केवल अज्ञान-ही-अज्ञान देखते हैं । इसका कारण यह है कि वे आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं । व हिंमुख होनेके कारण बाहरकी वस्तुओंको तो देखते हैं, पर अपने ही हृदयमें स्थित आपको नहीं देख पाते ॥२३॥ आप एकरस, ज्ञानघन हैं । सनन्दन आदि मुनि, जो आत्म-स्वरूपके अनुभवसे मायाके गुणोंके द्वारा होनेवाले भेदभावको और उसके कारण अज्ञानको नष्ट कर चुके हैं, आपको निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं । मायाके गुणोंमें ही मूख हुआ मैं मूढ़ किस प्रकार आपको चिन्तन करूँ ? ॥२४॥ मत्स्या, उसके गुण और गुणोंके कारण होनेवाले कर्म एवं कर्मोंके संस्कारसे बना हुआ लिङ्ग शरीर आपमें है ही नहीं । न तो आपका नाम है और न तो रूप । आपमें न कार्य है और न तो कारण । आप सनातन आत्मा हैं । ज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही आपने यह शरीर धारण कर रक्खा है । हम आपको नमस्कार करते हैं ॥२५॥ प्रभो ! यह संसार आपकी मायाकी करामात है । इसके सत्य समझकर काम, लोभ, ईर्ष्या और मोहसे लोगोंका चित्त शरीर तथा घर आदिमें मटकने लगता है । लोभ इसीके चक्करमें पँस जाते हैं ॥२६॥ समस्त प्राणियोंके आत्म्य प्रभो ! आज आपको दर्शानसे मेरे मोहकी वह दृढ़ पकड़ी का गयी जो कामना, कर्म और इन्द्रियोंकी जीवन-दान देती है ॥२७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! अब अनुमान् ने भगवान् कपिलमुनिके प्रभावका इस प्रकार गान किया, तब उन्होंने मत-ही-मन-अनुमानपर बड़ा अनुपम किय और कहा— ॥२८॥

श्रीभगवान् कहते हैं—पशु ! यह घोड़ा तुम्हारे पितामहका यशस्व है । इसे हम ले नावो । तुम्हारे जैसे हुए आधाजोंका उदार केवल गङ्गाजलसे होगा,

त परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत् ।
 सगरस्तेन पशुना क्रतुशेष समापयत् ॥ ३० ॥
 राज्यमश्रुमति न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धन ।
 और्वोपदिष्टमार्गेण लेमे गतिमनुचमाम् ॥ ३१ ॥

और कोई उपाय नहीं है ॥ २९ ॥ अशुमान्ने बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रसन्न करके उनकी परिक्रम्य करी और वे बाँकेको ले आये । सगरने उस यक्षपशुके द्वारा यक्षकी शेर किया समाप्त की ॥ ३० ॥ तब राजा सगरने अशुमान्को राज्यका भार सौंप दिया और वे स्वयं विरपोंसे नि स्पृह एवं बन्धनमुक्त हो गये । उन्होंने महर्षि और्विके बन्धायें हुए मार्गसे परमपदकी प्राप्ति की ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमार्थ्यां संहितायां नवमस्कन्धे
 सगरोपाख्यानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

भगीरथ-चरित्र और गङ्गावतरण

श्रीशुक उवाच

अशुमान् तपस्तेपे गङ्गानयनकर्मभया ।
 कालं महावन्तनाशक्रीत् ततः कालेन संस्थितः ॥ १ ॥
 दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदद्यत् कालमेविवान् ।
 भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुबहवत् तपः ॥ २ ॥
 दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदासि ते ।
 इत्युक्तं स्वमभिप्रायं शशसाधनता नृपः ॥ ३ ॥
 कोऽपि भारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले ।
 अन्यथा भूतल भिक्षा नृप यास्ये रसातलम् ॥ ४ ॥
 किं चाहं न सुयं यास्ये नरा मथ्यामृजन्त्यधम् ।
 मृचामि तदर्थं कुत्र रार्जन्तश्च विचिन्त्यताम् ॥ ५ ॥

भगीरथ उवाच

साधनो न्यासिनः श्वा ता मस्मिन्नालोकपावना ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! अशुमान्ने गङ्गाजीको लानेकी कामनासे बहुत बरोंदक घोर तपस्या की । परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली, समय आनेपर उनकी मृत्यु हो गयी ॥ १ ॥ अशुमान्के पुत्र दिलीपने भी वैसी ही तपस्या की । परन्तु वे भी असफल ही रहे, समयपर उनकी भी मृत्यु हो गयी । दिलीपके पुत्र ये भगीरथ । उन्होंने बहुत बड़ी तपस्या की ॥ २ ॥ उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवती गङ्गाने उन्हें दशन दिया और कहा कि—‘‘मैं तुम्हें वर देनेके लिये जायी हूँ ।’’ उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने बड़ी नम्रतासे अपना अभिप्राय प्रकट किया कि आप स्वर्गलोकमें चलिए ॥ ३ ॥

[गङ्गाजीने कहा—] ‘‘अस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वी-तलपर गिरूँ, उस समय मेरे बेगको कोई धारण करने वाला होना चाहिये । भगीरथ ! ऐसा न होनेपर मैं पृथ्वीको पीड़कर रसातलमें जाती जाऊँगी ॥ ४ ॥ इसके अतिरिक्त इस कारणसे भी मैं पृथ्वीपर नहीं जाऊँगी कि लोग मुझमें अपने पाप डोयेंगे । फिर मैं उस पापको कहाँ डोऊँगी । भगीरथ ! इस विषयमें तुम स्वयं विचार कर लो ॥ ५ ॥

भगीरथने कहा—‘‘माया ! जिन्होंने मे कन्यारोक, धन-सम्पत्ति और जी-पुत्रकी कामनाका संन्यास कर दिया है, जो संसारमें उपरत होकर अपने आपमें शान्त

हरन्त्यथ तेऽङ्गसङ्गात् तेषास्ते अपभिश्रितः ॥६॥

भरयिष्यसि ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम् ।

यस्मिन्नेतमिदं प्रोतं विश्वं छाटीव तन्तुषु ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा स नृपो देव तपसाद्योपयच्छिष्यम् ।

कालेनात्सीयसा राजस्तस्यैषं समतुष्यत ॥ ८ ॥

तथेति राज्ञामिदं सर्वलोकहितः शिवः ।

दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरे ॥ ९ ॥

भगीरथः स रामर्षिर्निन्ये सुवनपावनीम् ।

यत्र खपितुर्मा देहा भस्मीभूता स शेरते ॥ १० ॥

रवेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती ।

देवान् पुनन्वीनिर्दग्धानासिञ्चत्सगरत्नजान् ॥ ११ ॥

यैजलस्पर्धमात्रेण प्रसदम्बहता अपि ।

सगरात्मजा दिव जग्मुः कैवलं देहमसभिः ॥ १२ ॥

भस्मीभूताङ्गसङ्गात् स्वर्पिताः सगरात्मजाः ।

किं पुनः भद्रया देवी ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥ १३ ॥

नक्षेत्तत् परमाभयं स्वर्धुन्या यदिहोदितम् ।

अनन्तचरन्नाम्नोऽप्रयत्नाया भवच्छिदः ॥ १४ ॥

संनिवेश्य मनो यस्मिन्प्रपद्यता सुनयोऽम्बसाः ।

हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और धार्मिक पवित्र करनेवाले प्रपन्नचरि
सज्जन हैं—वे अपने अङ्गस्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट
कर देंगे । क्योंकि उनके हृदयमें अवश्य अघातुरको
मरनेवाले भगवान् सबदा निवास करते हैं ॥ ६ ॥
समस्त प्राणियोंके आत्मा स्वदेव तुम्हारा वेग धारण
कर लेंगे । क्योंकि जैसे साडी सूतोंमें ओतप्रोत है,
वैसे ही यह साध विद्वान् भगवान् रुद्रमें ही ओतप्रोत
हैं ॥ ७ ॥ परीक्षित ! गङ्गाजीसे इस प्रकार कङ्कन
रत्ना भगीरथने तपस्याके द्वारा भगवान् शाङ्करको प्रसन्न
किया । चोढ़े ही दिनोंमें महादेवजी उनपर प्रसन्न हो
गये ॥ ८ ॥ भगवान् शाङ्कर तो सम्पूर्ण विश्वके द्वितीय
हैं, राजाकी बात उन्होंने 'तथास्तु' कङ्कन स्वीकार कर
ली । फिर शिवजीने सावधान होकर गङ्गाजीको अपने
सिरपर धारण किया । क्यों न हो, भगवान्के चरणोंका
सम्पर्क होनेके कारण गङ्गाजीका जल परम पवित्र जो
है ॥ ९ ॥ इसके बाद राजर्षि भगीरथ त्रिमुक्तपावनी गङ्गा-
जीको वहाँ ले गये, जहाँ उनके पितरोंके शरीर राखके
ढेर बने पड़े थे ॥ १० ॥ वे वायुके समान वेगसे चलने-
वाले रथपर सवार होकर आगे-आगे चले रहे थे और
उनके पीछे-पीछे मार्गमें पड़नेवाले देशोंको पवित्र करती
हुई गङ्गाजी दौब रही थीं । इस प्रकार गङ्गासागर-सङ्गम-
पर पहुँचकर उन्होंने सगरके जले हुए पुत्रोंको अपने
जलमें डुबा दिया ॥ ११ ॥ यद्यपि सगरके पुत्र शाङ्क-
नके तिरस्कारके कारण मरम हो गये थे, इसलिये उनके
वहारका कोई ठपाम न था—फिर भी केवल शरीरकी
राखके साथ गङ्गाप्रवक्त्र स्पर्श हो जानेसे ही वे स्वर्गमें
चले गये ॥ १२ ॥ परीक्षित ! जब गङ्गाजलसे शरीरकी
राखका स्पर्श हो जानेसे सगरके पुत्रोंको स्वर्गकी प्राप्ति
हो गयी, तब जो लोग अज्ञाके साथ नियम लेकर
श्रीगङ्गाजीका सेवन करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना
ही क्या है ॥ १३ ॥ मैंने गङ्गाजीकी महिमामें सम्बन्ध
में जो कुछ कहा है, उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं
है । क्योंकि गङ्गाजी भगवान्के उक्त चरणकमलोंसे
लिपकती हैं, निमकन अज्ञाके साथ मिलन करने के बड़े
बड़े मुनि निर्मल हो जाते हैं और तीनों गुणोंके कटिन

सोऽप्यपीऽञ्जलिनाऽऽद्याम गुरुं क्षप्तुं समुद्यतः ॥२३॥

वारितो मदयन्न्वापा कृशतीः पादयोर्बहौ ।

दिशः समवनीं सर्वं पद्मस्त्रीवमयं नृप ॥२४॥

राक्षसं भावमापन्न पादौ कर्मपातां गत ।

व्यवायकाल दृष्टे धनौकोदम्यती द्विजौ ॥२५॥

क्षुधातो अगृहे विप्र उत्पत्त्याहाकृतार्थवत् ।

न भवान् राक्षसः साक्षादिस्वाङ्ग्यां महारथः ॥२६॥

मदयन्त्या पतिर्भीर नाभर्मं कर्तुमर्हति ।

देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥२७॥

देहोऽय मानुषा राजन् पुरुषस्यासिद्धार्थदः ।

तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते ॥२८॥

एष हि ब्राह्मणा विद्वांस्तपःशीलगुणान्वित ।

आरिराभयिपुम्रंभ महापुरुषसंज्ञितम् ।

सर्वभूतारमभावन भूतेष्वन्तर्हित गुणैः ॥२९॥

सोऽयं ब्रह्मर्षिर्व्यस्त राजर्षिप्रवराणु विभो ।

कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मज ॥३०॥

तस्य माधोगपापस्य अणम्य ब्रह्मवादिनः ।

कथं वधं यथा वधार्मन्यते सन्मतो भवान् ॥३१॥

बारह वर्षके लिये कर दिया । उस समय राजा सीदास भी अपनी अङ्गुलिमें जल लेकर गुरु वसिष्ठको शाप देनेके लिये उद्यत हुए ॥ २३ ॥ परन्तु उनकी पत्नी मदयन्तीने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया । इसपर सीदासने विचार किया कि 'दिशार्ह, आकाश और पृथ्वी—सब-के-सब तो जीनमय ही हैं । तब यह तीक्ष्ण जल कहाँ छोड़े ?' अन्तमें उन्होंने उस जलको अपने पैरोंपर डाल लिया । [इसीसे उनका नाम 'मित्रसह' हुआ] ॥ २४ ॥ उस वक़्तसे उनके पैर काले पड़ गये थे, इसलिये उनका नाम 'कन्मापपाद' भी हुआ । धन ने राक्षस हो चुके थे । एक दिन राक्षस बने हुए रामा कन्मापपादमें एक कमवासी ब्राह्मण-दम्पतिको सहचरसके समय देख लिया ॥ २५ ॥ कन्मापपादको मूख तो लगी ही थी, उसने ब्राह्मणको पकड़ लिया । ब्राह्मण-पत्नीकी कामना अभी पूर्ण नहीं हुई थी । उसने कहा—'राजन् ! आप राक्षस नहीं हैं । आप महारानी मदयन्ती-के पति और इस्वाकुलशक्त वीर महारथी हैं । आपका ऐसा अचर्म नहीं करना चाहिये । मुझे सन्तानकी कामना है और इस ब्राह्मणकी भी कामनार्ह अभी पूर्ण नहीं हुई है । इसलिये आप मुझ सेठ यह ब्राह्मण पति दे दीजिये ॥ २६ २७ ॥ राजन् ! यह मनुष्यघरीर जीनको वर्म, अर्ध, कर्म और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करने-वाला है । इसलिये वीर ! इस शरीरका नष्ट कर देना सभी पुरुषार्थोंकी हत्या करी जाती है ॥ २८ ॥ फिर यह ब्राह्मण तो विद्वान् है । तपस्या, शील और बड़े-बड़े गुणोंसे सम्पन्न है । यह उन पुरुषोत्तम परब्रह्मकी समस्त प्राणियोंके आत्माके रूपमें आराधना करता चाहता है, जो समस्त पदार्थोंमें विद्यमान रहते हुए भी उनके पृथक्-पृथक् गुणों-से लिये हुए हैं ॥ २९ ॥ राजन् ! आप शक्तिशाली हैं । आप धमका मर्म मखीमौलि जानते हैं । जैसे पित्तके हाथों पुत्रकी मृग्य उचित नहीं, वैसे ही आप-जैसे सेठ राजर्षिके हाथों मेरे अथ ब्रह्मर्षि पतिव्रत वध किसी प्रकार उचित नहीं है ॥ ३० ॥ आपका साधु-समाजमें बड़ा सम्मान है । मम आप मेरे परीपकारी, निरपराध, भोत्रिय एवं ब्रह्मवादी पतिव्रत वध कैसे ठीक समझ रहे

यद्यपि क्रियते भक्षस्तर्हि मां स्वाद पूर्वतः ।

न वीक्षिष्ये विना येन क्षणं च मृतकं यथा ॥३२॥

एवं कुरुणमापिप्या बिलपन्त्या अनाथवत् ।

भ्याघ्रः पशुमिवान्मादत् सौदासं शापमोहित ॥३३॥

ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषु पुरुषादेन भक्षितम् ।

शोचन्त्यात्मानमुर्वीक्षमन्नपत् कुपिता सती ॥३४॥

यस्मान्मे भक्षितः पापकामातायाः पतिस्त्वया ।

तवापि मृत्युसाधनादकृतप्रश्नं दर्शित ॥३५॥

एवं मित्रसह शप्त्वा पतिलोकपरायणा ।

सदम्नीनि समिद्धेऽग्नौ प्राप्य मर्तुर्गतिं गता ॥३६॥

विग्रापा द्वादशमन्तरे मधुनाथ समुपत ।

विहाय ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारित ॥३७॥

तत ऊच्यते तत्पात्रं स्त्रीसुखं कर्मणार्जना ।

वसिष्ठस्तनुमातो मदबन्त्यां प्रजामभात् ॥३८॥

सा वै सप्त समा गर्भमभिभ्रम्य ज्यजायत ।

अध्नेऽश्मनादर तसां सोऽश्मकम्तेन कथ्यते ॥३९॥

अश्मकान्मूलका जज्ञय स्त्रीभिः परिरक्षित ।

१ मर्त्यगति । विहाय । १ प्रजम् ।

हैं : ये तो गौत्र समान निरीह हैं ॥ ३१ ॥ फिर भी यदि आप इन्हें खा ही बालना चाहते हैं तो पहले मुझ खा बालिये । क्योंकि अपन पतिके बिना मैं मर्त्यके समान हो जाऊँगी और एक क्षण भी जीवित न रह सकूँगी ॥ ३२ ॥ ब्राह्मणपत्नी वही ही कुरुणापूर्ण वाणीमें इस प्रकार कहकर अनापकी भौंति रोने लगी । परन्तु सौदासने शापसे मोहित होनेके कारण उसकी प्रार्थनापर कुछ भी ध्यान न दिया और वह उस ब्राह्मणको वैसे ही खा गया, जैसे बाघ किसी पशुको खा जाय ॥ ३३ ॥ जब ब्राह्मणीने देखा कि राक्षसन मेरे गर्भाधानके लिये उषन पतिको खा लिया तब उसे बड़ा शोक हुआ । सती ब्राह्मणीने श्रेष्ठ करक रत्नाको शाप दे दिया ॥ ३४ ॥ 'ये पापी ! मैं अभी कर्मसे पीड़ित हो रही थी । ऐसी अवस्थामें तुने मेरे पतिको खा डाला है । इसलिये मूर्ख ! जब तू बीसे सहवास करना चाहैग, तभी तेरी मृत्यु हो जायगी, यह बात मैं तुझ सुझाये देती हूँ ॥ ३५ ॥ इस प्रकार मित्रसहको शाप देकर ब्राह्मणी अपने पतिकी अश्विपोंको धक्कती हुई चितामें डालकर स्वयं भी सजी हो गयी और उसने वही गति प्राप्त की, जो उसके पतिदेवको मिली थी । क्यों न हो, वह अपन पतिको धक्कत और किसी लोकमें जाना भी तो नहीं चाहती थी ॥ ३६ ॥

बारह वर्ष बीतनेपर राजा सौमित्र शापसे मुक्त हो गये । जब वे सहवासके लिये अपनी पत्नीके पास गये, तब उसन इन्हें रोक दिया । क्योंकि उसे उस ब्राह्मणीके शापका पता था ॥ ३७ ॥ इसके बाद उन्होंने स्त्री-सुखका विस्तृत परिचय ही कर दिया । इस प्रकार अपने कर्मके फलस्वरूप वे सन्तानहीन हो गये । तब वसिष्ठजी न उनका कहनेमें मध्यस्तीकर गर्भाधान कराया ॥ ३८ ॥ मध्यस्ती सात वर्षक गर्भ धारण किये रही, परन्तु बच्चा पैदा नहीं हुआ । तब वसिष्ठजीन परसे उसका पन्ना लायात किया । इससे जो बालक हुआ, वह अश्म (पत्थर) की चोटसे पैदा होनेका कारण 'अश्मक' कहलाया ॥ ३९ ॥ अश्मकसे मूलका जन्म हुआ । जब परशुरामजी पृथ्वीका अभिपहीन कर रहे थे, तब शिवोंने उसे शिवायत

नारीकवच इत्युक्तो नि क्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥४०॥

ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐश्वर्यवस्तत ।

राजा विश्वसहो मस्य सत्प्राज्ञश्चक्रवर्त्यमूत् ॥४१॥

यो देवैरर्पितो दैत्यान्वधीय युधि दुर्जयः ।

सहृत्मायुर्जित्वैत्य स्वपुरं सदधे मन ॥४२॥

न मे ब्रह्मकुलात् प्राणाः कुलदैवाश्च चात्मजाः ।

न भियो न मही रान्यं न दराभ्यातिवह्नुभाः ॥४३॥

न बान्येऽपि मतिर्मममवमे रमते क्वचित् ।

नापश्यमुत्तमस्योक्रान्त्यत् किञ्चन वस्तुहम् ॥४४॥

देवैः कामवरो दत्तो महं त्रिमुषनेश्वरै ।

न हृणे तमहं काम भूतमावनभावनः ॥४५॥

ये विधिप्लेन्द्रिमधिया दवास्ते म्वादि स्थितम् ।

न बिन्दन्ति प्रियं श्वशुरात्मानं किमुतापरे ॥४६॥

अधेसुमापारचितेषु सप्तं

गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेयु ।

रूढं प्रकृत्याऽऽत्मनि विश्वकर्तुं

भावेन हिता तमहं प्रपद्ये ॥४७॥

इति म्यवसितो युद्धया नारायणगृहीतया ।

रस लिया था । इसीसे उसका एक नाम 'नारीकवच' भी हुआ । उसे मूकक इसलिये कहते हैं कि वह पृथ्वी-के क्षत्रियाहीन हो जानपर उस वंशका मूक (प्रवर्क) बना ॥ ४० ॥ मूककके पुत्र हुए दशरथ, दशरथके ऐश्वर्य और ऐश्वर्यके राजा विश्वसह । विश्वसहके पुत्र ही चक्रवर्ती सम्राट् सट्प्राज्ञ हुए ॥ ४१ ॥ युद्धमें उन्हें कोई जीत नहीं सकता था । उन्होंने देवताओंकी प्रार्थना से दैत्योंका वच किया था । जब उन्हें देवताओंसे यह आलस हुआ कि अब मेरी आयु केवल दो ही वर्षी बाकी है, तब वे अपनी राजधानी छोड़ आये और अपने मनको उन्होंने भगवान्में लगा दिया ॥ ४२ ॥ वे मम-ही-मन सोचने लगे कि मेरे कुलके इस देवता हैं ब्राह्मण । समसे बड़कर मेरा प्रेम अपने प्राणोंपर भी नहीं है । पत्नी, पुत्र, कन्या, राज्य और पृथ्वी भी मुझे उतने प्यारे नहीं लगते ॥ ४३ ॥ मेरा मन बचपनमें भी कभी अवर्धमान और नहीं गया । मैंने पवित्रकीर्ति भगवान्के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं देखी ॥ ४४ ॥ तीनों लोकोंके सभी देवताओंने मुझे मुँहमौग्य कर देने-को कहा । परन्तु मैंने उन भोगोंकी छत्रसा बिन्दु नही की । क्योंकि समस्त प्राणियोंके जीवनदाता श्रीहरिकी भावनामें ही मैं मग्न हो रहा था ॥ ४५ ॥ जिन देवताओंकी इन्द्रियों और मन विषयोंमें मटक रहे हैं, वे सत्त्वगुणप्रधान होनेपर भी अपने हृदयमें विराजमान, सदा-सर्वदा प्रियतमके रूपमें रहनेवाले अपने आत्मस्वरूप भगवान्को नहीं जानते । फिर मम्म जो रजोगुणी और तमोगुणी हैं, वे तो आम ही कैसे सकते हैं ॥ ४६ ॥ इस लिये अब इन विषयोंमें मैं नहीं रहता । ये तो मायाके लेख हैं । आकाशमें झूलत प्रतीत होनेवाले गन्धर्वनगरोंसे बड़ कर हमकी सत्ता नहीं है । ये तो ज्ञानवश चित्तपर बड़ गये थे । संसारके सन्ने रचयिता भगवान्की माफ्मा-में लीन होकर मैं विषयोंको छोड़ रहा हूँ और केवल उनकी शरण ले रहा हूँ ॥ ४७ ॥ परीक्षित । भगवान् ने राजा सट्प्राज्ञकी युद्धिको यहलसे ही अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था । इसीसे वे अन्तसमयमें ऐसा निश्चय कर सके । अब उन्होंने शरीर आदि

हित्वाऽन्यमात्ममङ्गलान् ततः स्वं भावमाश्रित ॥४८॥

यत्तद्वृक्ष परं सूक्ष्ममन्यून्यकरिष्यते ।

भगवान्वासुदेवेति य गृणन्ति हि मात्वता ॥४९॥

अनात्म पदार्थों जो अज्ञानमूलक आत्मभाव था, उसका परित्याग कर दिया और अपने वास्तविक आत्मस्वरूपमें स्थित हो गये ॥ ४८ ॥ वह स्वरूप साक्षात् परब्रह्म है ।

वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, शून्यके समान ही है । परन्तु वह शून्य नहीं, परम सत्य है । भक्तजन उसी वस्तुको 'भगवान् वासुदेव' इस नामसे वर्णन करते हैं ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यं संक्षिप्तार्था नवमस्कन्धे

सूर्यवंशानुवर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामकी सीतामोंका वचन

श्रीशुक उवाच

त्वद्वाङ्मातृ दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् प्रपुत्रवा ।

अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत् ॥ १ ॥

तस्मापि भगवानेव तस्माद् ब्रह्ममयो हरिः ।

अस्मांश्चेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ।

रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति सङ्गमा ॥ २ ॥

तस्मानुचरित राजन्पिभिस्त्वबदधिभिः ।

धुर्व हि वर्णित भूरि त्वया सीतापतेर्बुध् ॥ ३ ॥

गुर्वयं त्यक्त्वाज्यो व्यचरदनुवर्त

पप्रवृत्त्यां प्रियाया

पाणिस्पर्शाद्यमाभ्यां मृजितपथरुजो

या हरीन्द्रानुजाभ्याम् ।

पैरूप्याच्छूर्पणरुया प्रियविरहरुया

ऽऽरोपितभ्रूविबन्ध

प्रमाग्भिर्षट्सेतु ग्लहद्वयदहन

कोमलेन्द्राऽवतान्त्रः

॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । छट्पाक

पुत्र दीर्घबाहु और दीर्घबाहुके परम पदास्त्री पुत्र रघु

हुए । रघुके जन और जनके पुत्र महापुत्र दशरथ

हुए ॥ १ ॥ देवताओंकी प्रार्थनासे साक्षात् परब्रह्म

परमेश्वर भगवान् श्रीहरि ही अपन अंशोंसे चार रूप

धारण करके रामा दशरथके पुत्र हुए । उनके नाम

ये—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ॥ २ ॥ परीक्षित ।

सीतापति भगवान् श्रीरामका चरित्र तो तत्त्वदर्शा श्रुतियों

ने बहुत कुछ वर्णन किया है और तुमने अनेक बार

उसे सुना भी है ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीरामन अपन पितृ रामा दशरथके स्वरूप

की रक्षाके लिये राजपात्र छोड़ दिया और वे वन-वनमें

फिरते रहे । उनके चरणकमल इतने सुसुमार थे कि

परम सुकुमारी श्रीनानकीजीक करफमर्पण स्नान भी

उनसे महान नहीं होता था । वे ही चरण जब वनमें

चलते-चलते पक जाते, तब इनसान् और लक्ष्मण उन्हें

दबा-दबाकर उनकी यक़त्त मिटाते । दूषणायका मायकाम

काटकर बिल्कुल बर देनेके कारण उन्हें अपनी प्रियमा

श्रीनानकीजीका विषाग भी महामा पड़ा । इस विषागका कारण मोघकश उनकी मोहि तन गयी, त्रिद्वे

दशकर समुद्रतक मयपीन हो गया । इसके बाद उन्होंने समुद्रपर पुन बोधा और लक्ष्मणों जाकर हुए राक्षसों

जगतकर दावानिक समान दण्ड कर लिया । वे क्रोमुद्र मरेग हमारी रक्षा करें ॥ ४ ॥

विद्यामिश्राधरे मेन मारीचाया निष्ठाधराः ।

पश्यतो लक्ष्मणस्वैव इता नैर्धृतपुङ्गवा ॥ ५ ॥

यो लोकवीरसमिती धनुरैश्चमुद्रं

सीतास्वयंवरगृहे शिशुतोपनीतम् ।

अन्धाय बालगजलील इवेष्टुमर्षिं

सखीकृतं नृप विकृम्प्य बभञ्ज मन्थे ॥ ६ ॥

जित्वालुरूपगुणशीलबयोऽङ्गरूपां

सीताभिर्भा भ्रियमुरस्यभिलम्बमानाम् ।

मार्गे ब्रह्मन् सुगुपतैर्भ्यनक्त प्ररुद्धं

दर्पं महीमकुत यस्मिरराज्यबीजम् ॥ ७ ॥

य सत्पताम्बुपरिवीतपितुर्निर्दिष्टं

स्रैषत्वा चापि शिरसा बगृहे समार्यः ।

राज्यं भिषं प्रणयिनः सुहृदो निवासं

त्यक्त्वा ययौ वनमद्यनिष मुक्तसङ्ग ॥ ८ ॥

रक्ष स्वसुसर्म्भकृत रूपमशुद्धपुङ्खे

स्तस्ता स्वरभ्रिभिरदृक्पण्डित्यमन्वृत् ।

अग्ने चतुर्वक्षसहस्रमपारणीय-

कौटुम्बपाजिरटमान उपास कृष्णम् ॥ ९ ॥

१ जुक्त ।

मगवान् श्रीरामने विद्यामित्रके यज्ञमें लक्ष्मणके सामने
ही मारीच आदि राक्षसोंको मार डाला । वे सब बड़े-बड़े
राक्षसोंकी गिनतीमें थे ॥ ५ ॥ परीक्षित ! अनकपुमें
सीताजीका स्वयंवर हो रहा था । संसारके चुने हुए
वीरोंकी समामें मगवान् शङ्करका वह भयङ्कर धनुष रखा
हुआ था । वह इतना मारी बा कि तीन सौ वीर बची
कठिनाईसे उसे स्वयंवरसमामें ख सके थे । मगवान्
श्रीरामने उस धनुषको बाल-की-भातमें उठाकर उसपर
डोरी चढ़ा दी और चौधकर बीचोबीचसे उसके दो
तुकड़े कर दिये—ठीक वैसे ही, जैसे हाथीका बन्धा
खेकते-खेकते ईछ तोड़ डाले ॥ ६ ॥ मगवान्ने जिन्हें
अपने कष्ट स्वल्पर स्थान देकर सम्मानित किया है, वे
श्रीलक्ष्मीजी ॥ सीताके नामसे अनकपुमें अक्तीर्ण हुई
थी । वे गुण, शील, अवस्था, शरीरकी गठन और
सौन्दर्यमें सर्वथा मगवान् श्रीरामके अनुरूप थी ।
मगवान् धनुष तोड़कर उन्हें प्राप्त कर लिया । अयोध्या-
को छोड़ते समय मार्गमें उन पञ्चरामजीसे मेट हुई,
जिन्होंने इसीस बार पूष्णीको राक्षसके बीजसे भी रक्षित
कर दिया था । मगवान्ने उनके बड़े हुए गर्वको मट कर
दिया ॥ ७ ॥ इसके बाद पिताके वचनको स्मय
करलेके लिये उन्होंने कनकम स्त्रीकार किया । यद्यपि
मगवान् दशरथने अपनी पत्नीके अवीन होकर ही उसे
बैठा वचन दिया था, फिर भी वे उसके वचनमें रूँध
गये थे । इसलिये मगवान्ने अपने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य
की । उन्होंने प्राणोंके समान प्यारे राज्य, जमीनी, प्रम्वी,
हितैषी मित्र और मगवान्को छोड़कर अपनी पत्नीके साथ
वनकी यात्रा की, क्योंकि उन्हें किसीके प्रति कोई
आसक्ति न थी ॥ ८ ॥ वनमें पहुँचकर मगवान्ने
राक्षसराज रावणकी बहिन दूर्पणकाको विरूप कर
दिया । क्योंकि उसकी बुद्धि बहुत ही कदुभित,
कामवासनाके कारण अशुद्ध थी । उसके पक्षपाती ब्रह्म,
दूषण, मिथ्या आदि प्रधान-प्रधान मार्गोंके—जो
संसारमें चौदह हजार थे—आयमें मगवान् धनुष लेकर
मगवान् श्रीरामने मट कर डाला; और अनेक प्रकारकी
कटिगाइयोंसे परिपूर्ण वनमें वे धर-उपर विचरते

सीताकथावर्णनदीपितहृच्छयेन

सुष्ट विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ।

जघ्नेऽहूर्तवणपुष्पाऽऽभ्रमतोऽपकुट्यो

मारीचमाशु विश्लिखेन यथा कमुग्रः ॥१०॥

रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्ष

वन्देहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।

आत्रा वने कृपणवत् प्रियया विमुक्तः

स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथमं भवारः ॥११॥

दग्धाऽऽत्मकृत्यद्वत्कृत्यमहन् कबन्धं

सख्यं विधाय कपिभिर्दयिता गतिं तैः ।

पुत्रध्वार्धवालिनिरुते पुत्रगेत्र सैन्यै-

वैलमगात् स मनुकोऽब्रवार्चिताह्वि ॥१२॥

यद्रोयविभ्रमविबुधकटाक्षपात

सम्भ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णधोष ।

सिधु निरस्वर्ण परिगृह्य रूपी

पादाग्विन्दस्यगम्य यथाप एतत् ॥१३॥

न स्त्वां वय अबधियो नु विदाम भूमन्

कृत्यमादिपुरुष भगवामधीशम् ।

१ च १२ मन्त्राविरट्टपात १३ नृत् ।

हुए निवास करते रहे ॥ ९ ॥ परीक्षित ! जब रावणने सीताजीके रूप, गुण, सौन्दर्य आदिकी बात सुनी तो उसका हृदय कामवासनासे आतुर हो गया । उसने अमुक्त हरिनके वेपमें मारीचको ठनकी पर्णकुटीके पास भेजा । वह धीरे-धीरे मगवान्को वहाँसे दूर ले गया । अन्तमें मगवान्ने अपने बाणसे उसे बात-की-बातमें घैसे ही मार डाला, जैसे दक्षप्रजापतिको भीरभन्ने मारा था ॥ १० ॥ जब मगवान् श्रीराम जंगलमें घूर निकल गये, तब (लक्ष्मणजी अनुपस्थितिमें) नीच एकस एकगने मेढियेके समान बिदेहनन्दिनी सुकुमार श्रीसीताजीको डर लिया । तदनन्तर वे अपनी प्राणप्रिया सीताजीसे बिछुड़कर अपने भाई लक्ष्मणके साथ कन-वनमें दीनकी यौति घूमने लगे । और इस प्रकार उन्होंने यह शिक्षा दी कि जो बियोंमें आसक्ति रखते हैं, उनकी यही गति होती है ॥ ११ ॥ इसके बाद मगवान्ने उस जटायु का दाह-संस्कार किया, जिसके सारे कर्मबन्धन भगवत्सेवाकूप कर्मसे पहले ही भस्म हो चुके थे । फिर मगवान्ने ककचका संहार किया और इसके अनन्तर सुग्रीव आदि वानरोंसे मित्रता करके वाष्पिका वन किया, तदनन्तर वानरोंके द्वारा अपनी प्राणप्रियाका पता लगाया । प्रजा और राजारु निनके चरणोंकी कन्दना करते हैं, वे मगवान् भीराम मनुष्यकी-सी नीक करते हुए कंदरोंकी सेनाके साथ समुद्रतटपर पहुँचे ॥ १२ ॥ (वहाँ उपवास और प्रार्थनासे जब समुद्रपर कोई प्रभाव न पड़ा तब) मगवान् क्रोधकी लीला करते हुए अपनी उग्र एव टेढ़ी नजर समुद्रपर बानी । उसी समय समुद्रके बड़े-बड़े मार और कष्ट लक्षणियाँ ठठे । डर जानेके कारण समुद्रकी सारी गर्बना शान्त हो गयी । तब समुद्र शरीरघाती बनकर और अपने सिरपर बहुत-सी भेंटें लेकर मगवान्के चरणकमलोंकी 'गणगणें' लाया और इस प्रकार कहने लगा ॥ १३ ॥ जनन्त ! हम मूर्ख हैं; इसलिये आपके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते । जाने भी कैसे ? आप समस्त जगत्के एकमात्र स्वामी, आदिकारण एवं जगत्के समस्त परिर्वर्तने परकर रखेबाक हैं । आप समस्त गुणोंके स्वामी

मत्सत्त्वत सुरगणा रजस प्रजेशा

मन्योश्च भूतपतयः स भवान्गुणक्ष ॥१४॥

काम प्रयाहि वहि विभवसोऽवमेहं

प्रेलोक्यस्वर्गमवानुहि वीर पत्नीम् ।

वप्रीहि सेतुमिह ते यक्षसा वितत्वे

गायन्ति दिम्बिबसिनो यमुपेस्थ भूपाः ॥१५॥

वदूचोदभौ रघुपतिर्विषाधाश्चिह्नैः

सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितपूरुहाङ्गैः ।

सुग्रीवनीलहस्तमलप्रस्रवैरनीकै-

र्लङ्कां विभीषणद्वाराऽऽविशत्प्रदग्धाम् ॥१६॥

सा वानरेन्द्रबलरुद्विहारकोष्ठ

भीमवारगोपुरसदोबलभीषिटङ्का ।

निर्मज्जमानविषण्णवशैः मकुम्भ

मृज्जतका गजकुलैर्हृदिनीव घूर्णा ॥१७॥

रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ

धृमाक्षदुर्मूलसुरान्तनरान्तकादीन् ।

पुत्रं प्रहन्तमतिक्रयविकम्पनादीन्

सर्वानुगान् समहिनोदय कुम्भकर्णम् ॥१८॥

वां यातुधानपूतनामसिञ्चलचाप

प्रासटिंशक्तिशरतोमरसङ्गदुर्गाम् ।

सुग्रीबलहमणमरुत्सुतगन्धमाद

नीलाह्वदईपनसादिभिरन्विष्टोऽग्रात् ॥१९॥

१ सेते । २ को ।

हैं । इसलिये जब आप सत्त्वगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब देवताओंकी, रजोगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब प्रजापतियोंकी और तमोगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब आपके क्रोधसे रघुगणकी उत्पत्ति होती है ॥१४॥ वीरधियोगे । आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझे पर कर जाइये और त्रिलोक्यकी रूढ़ानेवाले विधवाके कुल रक्षणको भारकर अपनी पत्नीको पिरसे प्राप्त कीजिये । परन्तु आपसे मेरी एक प्रार्थना है । आप यहाँ सुम्भपर एक पुल बौध दीजिये । इससे आपके यशस्व विस्तार होगा और आगे चलकर जब बड़े-बड़े नरपति दिम्बिनय करते हूँ यहाँ आयेंगे, तब वे आपके यशका गान करेंगे ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीरामजीने अनेकानेक पक्षोंके शिखरोंसे समुद्रपर पुल बौवा । जब बड़े-बड़े कंदर अपने हाथोंसे पथत उठ-उठाकर लाते थे, तब उनके मुख और बड़ी-बड़ी चट्टानें पर-पर कौंपने लगती थीं । इसके बाद विभीषणकी सलाहसे भगवान्ने सुग्रीव, नील, हनुमान् आदि प्रमुख वीरों और वानरीसेनाके साथ लङ्कामें प्रवेश किया । वह तो श्रीहनुमान्जीके द्वारा पहले ही जन्मयी वा चुकी थी ॥ १६ ॥ उस समय वानरराजकी सेनाने लङ्काक सेर करने और खेम्बेके स्थान, अनेक गोदाम, खजाने, पखाजे, फटक, सामान, छप्पे और पक्षियोंके रहनेके स्थानतकको घेर लिया । उन्होंने वहाँकी केदी, खजारे, सोनेके कलश और जोराहे ताड़-फेड़ इत्यादि । उस समय लङ्का ऐसी मादम पड़ रही थी, जैसे झुंझके-झुंझ हाथियोंने किसी नदीको मग डाला था ॥ १७ ॥ यह देखकर राक्षसराज रक्षणने निकुम्भ, कुम्भ, घृसाक्ष, दुमुक्ष, सुरान्तक, नरगलक, प्रहस्त, अतिक्रय, विकम्पन आदि अपने सब अनुजों, पुत्र, मेघनाद और अन्तमें माई कुम्भकर्णको भी युद्ध करनेके लिये भेजा ॥ १८ ॥ राक्षसोंकी वह विशाल सेना सत्कार, शिखर, धनुष, प्रास, शक्ति, शक्ति, बल, भाले, सङ्ग आदि शस्त्र-जन्तुसे सुदृष्ट और अत्यन्त दुर्गम थी । भगवान् भीरामने सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान्, गन्धमादम, नील, अङ्ग, बाम्बवान् और पनस आदि वीरोंको अपने साथ लेकर राक्षसोंकी सेनाका सामना किया ॥१९॥

तेजनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे

द्वन्द्वं वरुधमिभपचिरथाभ्यपौषैः ।

बध्नुर्दुर्मैगिरिगदेपुभिरद्वाद्या

सीताभिर्मर्शहतमङ्गलरावणेशान् ॥२०॥

रक्ष'पति स्वचलनष्टिमवेक्ष्य कष्ट

आलम्ब्य यांनक्रमयाभिमतारामम् ।

स्नात्स्वन्दने शुभंति मातलिनोपनीचे

विभ्राजमानमहनभिधितै धुरप्रैः ॥२१॥

रामस्तमाह पुरयादपुरीष यमः

कान्ताममङ्गममतापहृताध्वेषत् ते ।

त्यक्तप्रपत्न्य फलमघ शुशुप्सितस्य

यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः ॥२२॥

एवं क्षिपन् धनुषि संवित्तुत्ससर्ज

बाण म यजमिव तवृष्टय विभेद ।

सोऽसृग् धमन् दशमुखैर्न्यपतव् विमाना-

द्वाहेति जल्पति जने सुकृतीष रिक्तः ॥२३॥

ततो निष्क्रम्य लङ्काया मातुषान्यः सहस्रश ।

मन्त्रेभ्यः समं तस्मिन् प्रेरुद्रस्य उपाद्रवन् ॥२४॥

स्वान् स्वान् वधून् परिष्वज्य लक्ष्मणेपुभिरदितान् ।

रुद्रः मुख्य दीना भन्त्य आमानमात्मना ॥२५॥

रघुवंशशिरोमणि मगवान् श्रीरामके जह्मर आदि सब सेनापति राक्षसोंकी चतुरङ्गिणी सेना—हापी, रण, भुङ्गसवार और पैदलोंके साथ द्वन्द्वयुद्धकी रीतिसे मिश्र गये और राक्षसोंको दृष्ट, पर्वतशिखर, गदा और बाणोंसे मारने लगे । उनका मारा जाना तो स्वाभाविक ही था । क्योंकि वे उसी रावणके अनुचर थे, जिसका मङ्गल श्रीसीतानीको स्पर्श करनेके कारण पहले ही नष्ट हो चुका था ॥ २० ॥

जब राक्षसराज रावणने देखा कि मेरी सेनाका तो नाश हुआ जा रहा है, तब वह क्रोधमें भरकर पुण्यक विमानपर आरुढ़ हो मगवान् श्रीरामके सामने आया । उस समय इन्द्रका सारथि मातलि बड़ा ही तेजस्वी दिव्य रथ लेकर आया और उसपर मगवान् श्रीरामजी विराज मान हुए । रावण अपने तीखे बाणोंसे उनपर प्रहार करने लगा ॥ २१ ॥ मगवान् श्रीरामजीने रावणसे कहा—भीष राक्षस ! तुम कुत्सेकी तरह हमारी अनुपस्थितिमें हमारी प्राणप्रिया पत्नीको हर लाये ! तुमने दुष्टताकी हद कर दी ! तुम्हारे-जैसा निलज्ज तथा निन्दनीय और कौन होगा । जैसे कान्छे कोई टाउ नहीं सकता—कर्त्तापमके लभिमानीको वह फल दिये बिना रह नहीं सकता, वैसे ही आन में तुम्हें तुम्हारी करनीका फल बख्शता हूँ ॥ २२ ॥ इस प्रकार रावणको फन्कारते हुए मगवान् श्रीरामने अपने धनुषपर चढ़ाया हुआ बाण उसपर छोड़ा । उस बाणने बरके समान उसके हृदय को विदीर्ण कर दिया । वह अपने दमों मुँहोंसे म्लून उगळता हुआ विमानसे गिर पड़ा—ठीक वैसे ही, जैसे पुण्यात्माभोग भोग ममाप्त होनपर स्वर्गसे गिर पड़ने हैं । उस समय उसके पुरबन-परिजन 'हाय-हाय' करके विस्मयने लगे ॥ २३ ॥

तदनन्तर हजारों राक्षसियाँ मन्त्रेभ्योके माथ रोखी हुई लङ्कासे निकल पड़ीं और लक्ष्मणसे आदी ॥ २४ ॥ उन्होंने देखा कि उनके स्वजन-सम्बन्धी लक्ष्मणजीक बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पड़ हुए हैं । वे अपने हाथों अपनी छाती पीट-पीटकर और अपने मग-मन्त्रियोंको हृदयसे लगा-गुलाकर उँचे स्वरसे शिण्य करने लगीं ॥ २५ ॥

हा इवा स धर्मं नाथ लोकरावण रावण ।

कं यायाच्छरण लङ्का त्वद्विहीना परादिता ॥२६॥

नैव वद महाभाग भवान् कामवशं गतः ।

तेजोऽनुभाष सीताया येन नीतो वक्षामिहाम् ॥२७॥

कुतूषा विधवा लङ्का धर्मं च कुलनन्दन ।

देह कृताऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥२८॥

श्रीगुरु उवाच

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोमले द्रानुमोदितः ।

पितृमेधविधानेन यदुक्तं माम्परायिकम् ॥२९॥

तता ददंगं भगवान्गोक्षनिर्काममे ।

क्षामा न्वविगृह्णामाधि शिशुपामूलमाम्पिताम् ॥३०॥

शमः प्रियतमां भाया दीनां वीक्ष्यान्मकम्पत ।

आत्ममदर्शनाद्वादिशमं मुग्धपञ्चजाम् ॥३१॥

आराप्यागतं ह पानं भ्रातृष्णां हनुमद्युत ।

विभीषणाय भगवान् दत्त राधागणगताम् ॥३२॥

उशुमायुमन्वान्तं पयो र्वाणघ्नं पुगीम् ।

अरुणयमानं वृमुर्मन्त्रोक्तान्निर्विणं पथि ॥३३॥

हाय हाय ! सामी ! आज हम सब बेनीस मारी गयी । एक दिन वह था, जब आपके मयसे समस्त लोकमें श्राद्ध श्राद्ध मच जाती थी । आज वह दिन था पहुँचा कि आपके न रहनेसे हमारे शत्रु छद्माकी दुर्दशा कर रहे हैं और यह प्रदन उठ रहा है कि अब लङ्का किसके अधीन रहेगी ॥ २६ ॥ आप सब प्रकारसे सम्पन्न थे, किसी भी बातकी कमी न थी । परन्तु आप कामके बरा हो गये और यह नहीं सोचा कि सीताजी किसनी तेजस्विनी हैं और उनका किना प्रभाव है । आपकी यही भूल आपकी इस दुर्दशाका कारण बन गयी ॥ २७ ॥ कभी आपके कर्मोंसे हम सब और समस्त राक्षसवंश आनन्दित होता था और आज हम सब तथा यह सारी लङ्का नगरी बिधवा हो गयी । आपका यह शरीर, जिसके छिये आपने सब कुछ कर डाला, आज गीर्षोत्त आहार बन रहा है और अपने अन्तर्मनसे आपने मरकत्त अधिकारी बना डाला । यह सब आपकी ही नासमझी और कामुकताका फल है ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परिस्तिट् ! कोसलवीरा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे विभीषणने अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका पितृयज्ञकी विधिसे शास्त्रके अनुसार अग्नयेष्टिकर्म किया ॥ २९ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीरामने अशोकान्धियारके आधममें अशोक हृद्यके नीचे बैठी हुई श्रीसीताजीको देखा । वे उनकी विरहकी म्मग्निसे गीहित एवं अत्यन्त दुर्बल हो रही थीं ॥ ३० ॥ अपनी प्राणप्रिया अर्धाङ्गिनी श्रीसीताजीको अत्यन्त दीन अभ्यासे देखकर श्रीरामराज स्वयं प्रेम और दयासे मर आया । श्वर भगवान्का दर्शन पाकर सीताजीका हृदय प्रेम और आनन्दसे परिपूर्ण हो गया, उनका मुखकमल स्मित उठा ॥ ३१ ॥ भगवान्ने विभीषणको राक्षसोंका आत्मनि, लङ्कापुरीका राज्य और एक कल्पयुगी आयु भी और हमके बाद पड़ेसे सीताजीका विमानपर बैठाकर अपने शानो भाई लम्पण तथा सुग्रीव एवं सेवक हनुमान्जीके साथ स्वयं भी विमानपर सवार हुए । इस प्रकार चौदह बर्षका वन पूरा हो जानेपर उन्होंने अपने नगरकी यात्रा की । उस समय मार्गमें द्रुपद आदि तपस्याराम्य उनपर बड़े प्रेमसे पुष्पोंकी बरसात कर रहे थे ॥ ३२ ३३ ॥

उपगीयमानचरितं द्रुतघृत्पादिभिर्मृदा ।

गोमूत्रयावकं भुत्वा आतरं धन्वलाभ्यरम् ॥३४॥

महाकाशगिकोऽसप्यत्कटिलं स्वप्निलेष्टायम् ।

भरतः प्राप्तमाकर्ष्य पौरामास्त्यपुरोहितैः ॥३५॥

पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम् ।

नन्दिप्रामावस्वधिविराट्प्रीतिवादित्रनिःस्वनैः ॥३६॥

श्लाघोषेण च सुदुः पठन्निर्घसवादिभिः ।

स्वर्गाक्षपताकामिहैर्मन्त्रिप्रध्वजै रथैः ॥३७॥

सदृशै रुक्मसभाहैर्मनैः पुरटवर्मभिः ।

भेषीभिर्वारिष्ठ्युपाभिर्युत्यैश्चैव पदानुगैः ॥३८॥

पारमंयुधान्युपादाय पण्थान्युवाचचानि च ।

पादयोर्न्यपतैव प्रेम्णा प्रक्षिन्नहृदयेक्षणः ॥३९॥

पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्वाष्पलाचनः ।

तमास्मिन्पथिरं दोर्म्मा आपयन् नेत्रजैर्बलैः ॥४०॥

रामो लक्ष्मणसीताम्ना विप्रेभ्यो येऽहंमत्तया ।

तेभ्यः स्वर्धं नमस्कृत् प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥४१॥

पुनन्व उधरासङ्गान्पतिं वीक्ष्य चिरागतम् ।

इवर तो ज्ञाता आदि बड़े आनन्दसे भगवान्की
छीलछोंक गान पत्र रहे थे और तब नम भगवान्को
यह माछम हुआ कि भरतजी केवल गोमूत्रमें पक्या
हुआ जौका दलिया खाते हैं, क्लकल पहनते हैं और
पृष्णोपर राम किछकर सोते हैं, एवं उन्होंने जटाएँ कदा
रन्धी हैं, तब वे बहुत दुखी हुए । उनकी दशाका
स्मरण कर परम करुणाशील भगवान्का हृदय भर आया ।
जब भरतको माछम हुआ कि मेरे बड़े भाई भगवान्
वीरमजी का रहे हैं तब वे पुरवासी, मन्त्री और
पुरोहितोंको साथ लेकर एवं भगवान्की पादुकाएँ सिरपर
रक्कर उनकी जगजानीके किये चल । जब भरतजी
अपने रहनेके स्थान नन्दिप्रामसे चले, तब लोग उनके
साथ-साथ मङ्गलमान करते, बाजे बजाते चलने लगे ।
केदवादी श्रावण बार-बार केदमन्त्रोंका उच्चारण करने लगे
और उसकी ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी । सुनहरी
कमन्दार पताकाएँ पहनने लगी । सोनेसे भरे हुए तथा
रंग-बिरंगी जवाबोंसे सजे हुए रथ, सुनहले साबसे
सजाये हुए सुन्दर घोड़े तथा सोनेके कमच पहने हुए
सैनिक उनके साथ-साथ चलने लगे । सेठ-साहूकार,
श्रेष्ठ बाणजानाएँ, पैदल चलनेवाले सेवक और महा-
राजाओंके योग्य छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ उनके साथ चक
रही थी । भगवान्को देखते ही प्रेम्के उद्वेगसे भरतजी-
का हृदय गदगद हो गया, नेत्रोंमें आँसू छल्लक आये, वे
भगवान्के चरणोंपर गिर पड़े ॥ ३४—३९ ॥ उन्होंने
प्रभुके सामने उनकी पादुकाएँ रख दीं और हाथ नोककर
बड़े हो गये । नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहती जा रही
थी । भगवान्ने अपने दोनों हाथोंसे पवनप्रत बहुत
देरतक भरतजीको हृदयसे छत्रये रक्खा । भगवान्के
नेत्रजलसे भरतजीका स्थान हो गया ॥ ४० ॥ इसके
बाद सीताजी और लक्ष्मणजीके साथ भगवान् वीरमजीने
श्रावण और पूजनिय गुरुप्रनोंको नमस्कर किया । तथा
सारी प्रजाने बड़े प्रेमसे सिर झुकाकर भगवान्के चरणोंमें
प्रणाम किया ॥ ४१ ॥ उस समय उत्तरकनेसठ देशकी
रहनेवाली समस्त प्रजा अपने साथ भगवान्को बहुत

उत्तरा कोसला मात्यैः किन्तो ननु तमुदा ॥४२॥
पादुक भरताऽगृह्णाद्यभिरभ्यञ्जनोत्तमे ।
विभीषण ससुग्रीय श्वतच्छत्रं मरुत्सुतः ॥४३॥
धनुर्निपज्ञाऽऽशुघ्नः सीता तीर्थकमण्डसु ।
अविघ्नदङ्गदः स्वह्नां हैमं चर्यध्वराणं नृप ॥४४॥
पुष्पकव्योऽन्वितः स्त्रीभिः स्तुयमानश्च वन्दिभिः ।
विरजे भगवान् राजन् ग्रहैश्च इवोदितः ॥४५॥
भ्रातृभिर्नन्दितः सोऽपि सात्सवां प्राविशत् पुरीम् ।
प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरम् ॥४६॥
गुरून् ययसावरजान् पूजितः प्रस्थपूजयत् ।
यदहो लक्ष्मणश्च यथावत् समुपयतुः ॥४७॥
पुत्रान् स्वमातरस्तास्तु प्राणास्तन्व इवोत्थिताः ।
अरोप्याङ्गुलिभिश्चन्दन्यो बाष्पीधैर्विबहुः शुषः ॥४८॥
जग निर्मुञ्च्य विधिवत् कुलशुद्धं समं गुरुः ।
अम्भपिञ्चदं यथैवेन्द्र चतुःसिंघुसलादिभिः ॥४९॥
एव कृतमिगः स्नानः सुयामा सगृह्यलङ्कृत ।
मनङ्कृत सुयामाभिभ्रातृभिर्मार्पया बभौ ॥५०॥
अप्रदादामनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादित ।

दिनेकि बाद आये दख अपने हुपड़े दिना-शिवकर
पुष्पोंकी बर्ग करती हुई आनन्दसे भाचन लगी ॥ ४२ ॥
मरुतमीने भगवान्की पादुकाएँ लीं, विभीषणने श्वेत
चक्र, सुग्रीवने पंखा और शीङ्गूयन्मीने श्वेत छत्र
ग्रहण किया ॥ ४३ ॥ परीक्षित ! शकुन्मीने धनुष
और उत्कल, सीतामीने तीर्थोके जलसे भरा कमण्डलु,
अङ्गुलने सोनेका छत्र और जम्भवान्ने डाल ले
ली ॥ ४४ ॥ इन लोगोंके साथ भगवान् पुष्पक विमान
पर विराजमान हो गये, चारों तरफ यथास्थान छियाँ बैठ
गयीं, बन्दीजन स्तुति करने लगे । उस समय पुष्पक
विमानपर भगवान् श्रीरामकी ऐसी शोभा हुई, मानो
प्रह्लोके साथ चन्द्रमा उदय हो रहे हों ॥ ४५ ॥
इस प्रकार भगवान्ने भाग्योक्त अमिनन्दन जीकर
करके उनके साथ व्योम्पापुरीमें प्रवेश किया । उस
समय वह पुरी आनन्दोत्सवसे परिपूर्ण हो रही थी । राम-
महर्षिमें प्रवेश करके उन्होंने अपनी माता कौसल्या, अन्य
माताओं, गुरुजनों, ब्राह्मणोंके मित्रों और छोटीका ययायोग्य
सम्मान किया तथा उनके द्वारा किया हुआ सम्मान स्वीकार
किया । श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीने भी भगवान्के साथ-साथ
सबके प्रति यथायोग्य व्यवहार किया ॥ ४६ ४७ ॥ उस
समय जैसे शूतकसीरीमें प्राणोंका सञ्चार हो जाय, वैसे
ही माताएँ अपने पुत्रोंके आगमनसे हर्षित हो उठीं ।
उन्होंने उनको अपनी गोदमें बैठवा लिया और अपने
बाँसुओंसे उनका अभिषेक किया । उस समय उनका
साथ शोक मिट गया ॥ ४८ ॥ इसके बाद वसिष्ठजीने
दूसरे गुरुजनोंके साथ विधिपूर्वक भगवान्की जटा
उतरवायी और बृहस्पतिने जैसे इन्द्रका अभिषेक किया
था, वैसे ही चारों समुद्रोंके जल आदिसे उनका अभिषेक
किया ॥ ४९ ॥ इस प्रकार सिरसे स्नान करके भगवान्
श्रीरामने सुन्दर वस्त्र, पुष्पाकारों और अम्भद्वार धारण
किये । सभी माइयों और धीनानकीजीने भी सुन्दर
सुन्दर वस्त्र और अम्भद्वार धारण किये । उनके साथ
भगवान् श्रीरामजी अपने शोभायुक्त हुए ॥ ५० ॥
मरुतमीने उनके चरणोंमें गिरकर उन्हें प्रसन्न किया
और उनके आग्रह करनेपर भगवान् धारामन राजसिंहासन

आचार्याय ददौ शेषां यावती सूक्तदन्तरा ।

मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽहंति निःस्पृहः ॥ ३ ॥

इत्यथ तदलङ्कारवासोन्मामवशेषितः ।

तथा राक्षसपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥ ४ ॥

ते तु ब्रह्मण्यदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम् ।

प्रीताः क्षिप्रधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं वमाचिरे ॥ ५ ॥

अप्रसं नस्त्वया किं नु भगवन् शुभनेश्वर ।

यन्मोऽन्तर्हृदयं विश्वं तमो हंसि खरोचिपा ॥ ६ ॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायानुष्ठमेधते ।

उत्तमश्लोकधुर्वाप न्यस्तदण्डार्पिताक्षये ॥ ७ ॥

कद्राचिस्लोकस्मिन्सुगुणो रत्न्यामलक्षितः ।

चरन् वाचोऽमृजोद् रामो भार्गवमिदं कस्यचित् ॥ ८ ॥

नाहं विभर्ति त्वां दुष्टामसतीं परवेषमगाम् ।

स्त्रीलोमी विमृशत सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥ ९ ॥

इति लोकाद् बहुमुखाद् दुराराध्यादसंविदः ।

पत्या भीतेन सा त्यक्त्वा ब्राह्मणं प्राचेतसाभ्रमम् ॥ १० ॥

अन्तर्वत्स्यागते काले यमौ सा सुपुत्रं सुतौ ।

उनके बीचमें गितनी भूमि बच रही थी, वह उन्होंने आचार्यको दे दी । उनका यह निश्चय था कि सम्पूर्ण भूमण्डलका एकमात्र अधिकारी निःस्पृह ब्राह्मण ही है ॥ ३ ॥ इस प्रकार सारे भूमण्डलका दान करके उन्होंने अपने शरीरके वस्त्र और अङ्गहार भी अपने पास रखे । इसी प्रकार महारानी सीताजीके पास भी केवल गण्डलिक वस्त्र और आभूषण ही बच रहे ॥ ४ ॥ जब आचार्य आग्नि ब्राह्मणोंने देखा कि भगवान् श्रीराम तो ब्राह्मणोंको ही अपना इष्टदेव मानते हैं, उनके हृदयमें ब्राह्मणोंके प्रति अनन्त स्नेह है, तब उनका हृदय प्रेमसे द्रवित हो गया । उन्होंने प्रसन्न होकर सारी पृथ्वी भगवान्को दौटा दी और कहा ॥ ५ ॥ 'प्रभो ! आप सब क्षेत्रोंके एकमात्र स्वामी हैं । आप तां हमारे हृदयके भीतर रहकर अपनी ज्योतिसे अज्ञानान्धकारका नाश कर रहे हैं । ऐसी स्थितिमें भय, आपने हमें क्या नहीं दे रक्खा है ॥ ६ ॥ आपका ज्ञान अमन्त है । पवित्र कीर्तिवाले पुरुषोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं । उन महात्माओंको, जो किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुँचाते, आपने अपने करणवत्क दे रक्खे हैं । ऐस्त होनेपर भी आप ब्राह्मणोंका अपना इष्टदेव मानते हैं । भगवन् ! आपके इस रामरूपका हम नमस्कार करते हैं' ॥ ७ ॥

परीक्षित ! एक बार अपनी प्रभार्वी स्थिति जाननेके लिये भगवान् श्रीरामजी उनके समय छिपकर किना किसीको बतलाये घूम रहे थे । उस समय उन्होंने किसीकी यह बात सुनी । वह अपनी पत्नीसे कह रहा था ॥ ८ ॥ 'अरी ! दू दुष्ट और कुख्यात है । दू पराये घरमें रह आयी हैं । श्री-श्रीभी राम भले ही सीताको रख ले, परन्तु मैं दुष्ट फिर नहीं रह सकता' ॥ ९ ॥ सत्यमुक्त सब ओरोंको प्रसन्न रखना टेढ़ी खीर है । क्योंकि मूलोंकी तो कमी नहीं है । जब भगवान् श्रीरामने बहुतोंके मुँहसे ऐसी बात सुनी, तो वे ओकापवादसे कुछ मयमातसे हो गये । उन्होंने श्रीसीताजीका परित्याग कर दिया और वे नामकी मुनिके आश्रममें रहने लगे ॥ १० ॥ सीताजी उस समय गर्भवती थीं । समय आनेपर उन्होंने एक साथ दो पुत्र उत्पन्न किये । उनके नाम हुए—कुश

कुशो लव इति स्यातां तयोश्चक्रे क्रियायुनिः ॥११॥

अङ्गदक्षिणकेतुश्च उद्गमणस्यात्मनौ स्मृतौ ।

तश्च पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥१२॥

सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः ।

गन्धर्वान् कोटिशो बभूव भरतो विजये दिशाम् ॥१३॥

तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ये न्यषेदयत् ।

शत्रुघ्नश्च मधो पुत्र लवण नाम राज्यम् ।

इत्वा मधुवने चक्रे मधुरां नाम वै पुरीम् ॥१४॥

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीतां मेघां विधासिता ।

प्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह ॥१५॥

तच्छ्रुत्वा मगवान् रामो रुन्धकपि धिया शुच ।

सरस्तस्या गुणांस्तां तां तां शक्रो बुरो बभूवमीश्वरः ॥१६॥

श्रीपुं प्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र प्राप्तमावह ।

अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥१७॥

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः ।

अयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमत्नच्छिवम् ॥१८॥

सराणां हृदि विन्यस्य विद्वं दण्डककण्टकैः ।

स्वपादपङ्क्तश्च राम आत्मन्योत्तिरगात् ततः ॥१९॥

नेदं यश्चो रघुपतेः सुरयान्त्रजयाऽऽप्त

लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तभासः ।

रक्षोवधो जलविधं धनमर्द्धपूरौ

किं तस्य शत्रुहने फलम् सहायाः ॥२०॥

और लव । बाष्पीकिं मुनिन उनके बातकर्मदि संस्कार
निते ॥१॥ लवणमजीके दो पुत्र हुए—अङ्गद और विक्रमेद ।

परीक्षित । इसी प्रकार भरतजीके भी दो ही पुत्र थे—तम
और पुष्कल ॥ १२ ॥ तथा शत्रुघ्नके भी दो पुत्र हुए—

सुबाहु और श्रुतसेन । भरतजीने दिग्विजयमें कतोंकों
गन्धर्वोंका संहार किया ॥ १३ ॥ उन्होंने उनका सब

धन लेकर अपने बड़े भाई मगवान् श्रीरामजी सेनामें
निवेदन किया । शत्रुघ्नजीने मधुवनमें मधुके पुत्र लवण

नाम्क राक्षसको मारकर वहाँ मधुरा नामकी पुरी
बसायी ॥ १४ ॥ मगवान् श्रीरामके द्वारा निर्वासित सीताजीने

अपने पुत्रोंको बाष्पीकिंजीके हाथमें सौंप दिया और
मगवान् श्रीरामके चरणकमलोंका ध्यान करती हुई वे

पृथिवीदेवीके लोकेमें चली गयी ॥ १५ ॥ यह समाचार
श्रुतकर मगवान् श्रीरामने अपने शोकव्यथको बुद्धिके द्वारा

रोकना चाहा, परन्तु परम सत्य होनेपर भी वे उसे रोक
न सके । क्योंकि उन्हें जानकीजीके पवित्र गुण बार-बार

स्मरण हो आया करते थे ॥ १६ ॥ परीक्षित । यह श्री
और पुरुषका सम्बन्ध सब कहीं इसी प्रकार दु स्फुट

करण है । यह बात बड़े-बड़े सत्य लोगोंके विषयमें भी
ऐसी ही है, फिर गृह्यासक्त किसी पुरुषके सम्बन्धमें तो

कहना ही क्या है ॥ १७ ॥

इसके बाद मगवान् श्रीरामने ब्रह्मचर्य धारण करके

तेराह बार वर्षाक अष्टपञ्चरूपसे अग्निहोत्र किया ॥ १८ ॥

तदनन्तर अपना स्मरण करनेवाले भक्तोंके हृदयमें अपने

उन चरणकमलोंको स्थापित करके, जो दण्डकवनके

कई-कई विध गये थे, अपने स्वयंकरा परम जोतिर्मय

धाममें चले गये ॥ १९ ॥

परीक्षित । मगवान्के समान प्रतापशाली और कोई

नहीं है, फिर उनसे बड़कर तो हो ही कैसे सकता है ।

उन्होंने वेक्ताओंकी प्रार्थनासे ॥ यह लीला-विग्रह धारण

किया था । ऐसी स्थितियें रघुकाशितोमयि मगवान् श्रीराम-
के लिये यह कोई बड़े गौरवकी बात नहीं है कि उन्होंने
अज्ञ-शक्तोंसे राज्योंको मार डाला या मनुष्यपर पुत्र बाँध
लिया । मर्यादा, उन्हें शत्रुओंको मारनेके लिये धर्मोंकी
सहायताभी भी आवश्यकता थी क्या ? यह सब उनकी
जीसा ही है ॥ २० ॥

यस्मामलं नृपसदस्सु यद्योऽबुनापि

गायन्त्यध्वन्नम्रपयो दिगिमेन्द्रपङ्कम् ।

तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट

पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

स वै सृष्टोऽभिष्टो वा मंविष्टोऽनुगतोऽपि वा ।

कोसलास्ते ययुःस्थान यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥२२॥

पुत्र्यो रामचरितं भवगौरुपचारयन् ।

आनुशस्यरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुक्त्यते ॥२३॥

राज्योपाय

कथं स भगवान् रामो भ्रतृन् वा स्वयमात्मनः ।

तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजा पौराश्च ईश्वर ॥२४॥

श्रीभुक्त उपाय

अथादिष्टाद् दिग्विजये भ्रातृस्त्रिभुवनेश्वरः ।

आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैश्वर्यं सानुगः ॥२५॥

आसित्तमाया गन्धेदैः करिणां मदध्याकरै ।

स्वामिन् प्राप्तमालोक्य मर्त्ता वा सुतरामिव ॥२६॥

प्राप्ताद्गोपुरमभाष्यैव्यद्वयगृहादिषु ।

नित्यस्तद्वैमकलयैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥२७॥

पूरां सङ्घन्तैरम्भामिः पङ्क्तिभिरनुवासासाम् ।

अप्यंशैश्च सग्भिः कृतकैस्तुक्करोत्तणाम् ॥२८॥

तमुपपुस्तय सत्र पौरा अर्हणपाणय ।

भगवान् श्रीरामकृष्ण निर्मल यश समस्त पापोंक
नष्ट कर देनवाला है । यह इतना फैल गया है कि
दिग्गजोंका व्यापक शरीर भी उसकी उज्ज्वलता
से चमक उठता है । आज भी बड़े-बड़े धर्म-गुरु
यन्त्राचार्योंकी समीप उसका गान करते रहते हैं । स्वर्ग
देवता और पृथ्वीके नरपति अपने कामनीय किरीटों
उनके शरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं । मैं उन
रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण प्रणम्य रहता
हूँ ॥ २१ ॥ जिन्होंने भगवान् श्रीरामकृष्ण दशन वं
स्पर्श किया, उनके सहवास अथवा अनुमन किया—
वे सबके-सब तथा कोसलदेशके निवासी भी उसी क्षेत्र
में गये, जहाँ बड़े-बड़े योगी योगसाधनाके द्वारा जा
ते हैं ॥ २२ ॥ जो पुरुष अपने कानोंसे भगवान् श्रीराम
चरित्र सुनता है—उसे सुरक्षा, कष्टमोक्ष आदि गुणों
प्राप्ति होती है । परीक्षित ! केवल इतना ही नहीं, व
समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—भगवान् श्रीराम स्वयं क
भाष्योंके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते थे ? त
भक्त आदि भाई, प्रजाजन और क्योप्याचार्यसी भगवा
श्रीरामके प्रति कैसा कर्त्तव्य करते थे ? ॥ २४ ॥

श्रीभुक्तदेवजी कहते हैं—त्रिभुवनपति महारा
श्रीरामने यन्त्राचार्य सखीकार करनेके बाद अपने भाई
को दिग्विजयकी आज्ञा दी और स्वयं अपने निजबनों
दशन देते हुए अपने अनुचरोंके साथ वे पुरीकी देखरे
करने लगे ॥ २५ ॥ उस समय क्योप्याचार्यके मा
सुगन्धित बल और हाथियोंके मदकणोंसे सिंचे रहते
ऐसा ज्ञान पड़ता, मानो यह नगरी अपने स्वामी भगवा
श्रीरामको देखकर अत्यन्त मत्तवर्ती हो रही है ॥ २६ ॥
उसके मण्डप, फाटक, समाम्बन, पिहार और देवाल
आदिमें सुवर्णके कलश रखे हुए थे और स्थान-स्थान
पताकाएँ फहरा रही थीं ॥ २७ ॥ यह दृश्यसुमेन सुपारं
कलेके खम्भे और सुन्दर बजोंके पटोंसे सजायी हुई थी
दर्पण वस्त्र और पुष्पमायाओंसे तथा माङ्गलिक कि
कारियों और वस्त्रधारियोंसे सारी नगरी जगमगा रही थी ॥ २८ ॥
नगरवासी अपने हाथोंमें सरह-सरहकी में से केवल म्मत्त
के पास आते और उनसे प्रार्थना करते कि 'देव ! यह

वाशिपो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक्स्वयौवृष्टताम् ॥२९॥

तव प्रजा वीक्ष्य पतिं विरागतं

दिदृक्षुषोऽसृष्टगृहा स्त्रियो नराः ।

आरुह्य हर्म्पाप्सरविन्दलोचनं

मठसनेया कृतुमैरवाकिरन् ॥३०॥

अथ प्रविष्ट स्फुटं जुष्टं सैः पूर्वरात्रिभि ।

अनन्ताखिलकोशाश्रमनध्योरुपरिच्छदम् ॥३१॥

विद्वमोऽङ्गुलरदारैर्नैर्द्व्यस्तम्भपङ्क्तिभि ।

संलैमारक्तैः स्वच्छैर्भस्मस्फटिकमिषिभिः ॥३२॥

चित्रस्रग्भि पङ्क्तिभिर्वासोमणिगणांशुकैः ।

मुक्ताफलैर्भिडुल्लसैः कान्तकामोपपत्तिभि ॥३३॥

घृपदीपै सुरभिर्भिर्मण्डितं पुष्पमण्डनै ।

स्त्रीपुम्भि सुरसंकाशैर्मुष्टं मृणमृणैः ॥३४॥

तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया ।

रेमे स्वारामधीरणाभूय भ सीतया क्लि ॥३५॥

मुमुक्षे च ययाकाल कामान् धर्ममपीदयन् ।

वर्षपुरान् बहून् नृणामभिध्याताहृदिपल्लव ॥३६॥

आपने ही बराहकूपसे पृथ्वीका उदार किया था, अब आप ही इसका पाछन कीजिये ॥ २९ ॥ परीक्षित ! उस समय जब प्रजाको मायूम होता कि बहुत दिनोंक बाद मगधान् श्रीरामजी इधर पवार हैं, तब सभी स्त्री-पुरुष उनके दर्शनकी छालसासे घर-द्वार छोड़कर दौड़ पड़ते । वे ऊँची-ऊँची अगस्तियोंपर चढ़ जाते और अत्यन्त नेत्रोंसे कमलनयन भगवान्को देखते हुए उनपर पुष्पोंकी बर्षा करते ॥ ३० ॥

इस प्रकार प्रजाका निरीक्षण करके मगधान् फिर अपने महलोंमें आ जाते । उनके वे महल पूर्ववर्ती राजाओं के द्वारा सेकित थे । उनमें इतने बड़े-बड़े सब प्रकारके खजाने थे, जो कभी सम्पन्न नहीं होते थे । वे बड़ी-बड़ी बहुमूल्य बहुत-सी सामग्रियोंसे सुसज्जित थे ॥ ३१ ॥ महलोंके द्वार तथा देहद्वारों में गोरी बनी हुई थी । उनमें जो खंभ थे, वे बेदूरमणिके थे । मरकत्तमणिके बड़े सुन्दर-सुन्दर फर्श थे, तथा स्फटिकमणिकी दीवारें चमकती रहती थी ॥ ३२ ॥ रंग-विरंगी मायूमों, फताकाजों, मणियोंकी चमक, शुद्ध चेतनके समान उज्ज्वल मोती, सुन्दर-सुन्दर मोम-सामग्री, सुगन्धित घूप-दीप तथा फूलों के गहनोंसे वे महल मूब सजाये हुए थे । आभूषणोंका भी यूरित करनेवाले वेवनाओंक समान स्त्री-पुरुष उसकी सेवामें लगे रहते थे ॥ ३३ ३४ ॥ परीक्षित ! मगधान् श्रीरामजी आत्माराम त्रितेन्द्रिय पुरुषोंके दिगोमगि थे । उसी महलमें वे अपनी प्राणप्रिया प्रमदयी पत्नि श्रीसीता जीके साथ विश्रार करते थे ॥ ३५ ॥ सभी स्त्री-पुरुष जिनके चरणकमलमें कर्पायन करते रहते हैं, वे ही मगधान् श्रीराम बहुत बरोंनक चमकी मर्यादाका पावन करते हुए समयानुसार योगोक्त उपमोग करने रह ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्ष्यां संहितायां नवमस्कन्धे श्रीरामोपाख्याने

एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

इक्ष्वाकुवंशके श्रेय राजाभोज्य वर्णन

श्रीगुरु उवाच

कुशस्य चातिथिस्तस्मात्पिपक्षस्तत्सुतो नभः ।
 पुण्डरीकोऽथ तरपुत्रः क्षेमभन्नाभवत्ततः ॥ १ ॥
 देवानीकस्तताऽनीह पारियात्रोऽथ तत्सुतः ।
 ततो बलम्बलस्तस्मात् वज्रनाभोऽर्क्षस्तम्भवः ॥ २ ॥
 स्वर्गस्तत्सुतस्तस्मात् विंशतिश्चाभवत् सुतः ।
 ततो हिरण्यनाभोऽभूत् योगाचार्यस्तु जैमिने ॥ ३ ॥
 शिष्यः कौमल्य आभ्यात्मं यादृक्वचनोऽप्यगात् यतः ।
 योग महोदयमृषिर्द्विदयग्रन्थिमेदेकम् ॥ ४ ॥
 पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत् ।
 सुदर्शनोऽधात्रिवर्ण शीघ्रस्तस्य मरु सुतः ॥ ५ ॥
 योऽसावास्ते वागसिद्ध कलापग्रामभाषितः ।
 कलेरन्ते ह्यवर्षश्च नष्ट भाषयिता पुनः ॥ ६ ॥
 तस्मात् प्रमुधुतस्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षण ।
 महस्तास्तत्सुतस्तस्मात् विश्वसाहोऽवजायत ॥ ७ ॥
 ततः प्रसेनवित् वस्मात् तक्षका भविता पुनः ।
 ततो वृहद्रत्ना यस्तु विश्रा ते समरे हतः ॥ ८ ॥
 एतं हीक्ष्वाकुभूपाला अतीता मृष्यनागान् ।
 वृहद्रथस्य भविता पुत्रो नाम वृहद्रथ ॥ ९ ॥
 उरुक्रियस्तत्सुतस्य वत्सवृद्धा भविष्यति ।
 प्रतिष्पामन्तता भानुर्निवाका वाहिनीपतिः ॥ १० ॥
 महदवन्तता धीरा वृहद्रथाऽथ भानुमान् ।
 प्रतीकाश्च भानुमत सुप्रताकाऽथ तत्सुतः ॥ ११ ॥

१ हीनः । २ विश्वविद्याभरतः । ३ वनम् । ४ तस्मात् प्रमुधुतपुत्रस्तु मरु । ५ प्राचीन प्रतिमे पठ्यते

पुनः यद् वृक्षाः नदी दे इत्यत्र स्थानत्र वर्तमान प्रथमं भाषा हुआ भविता 'विपक्षिन्' यद् धारद्वयो रथो दे इत्यनेन भी महदवन्त के स्थानमें मनुदेरी पात्र दे ।

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! कुशका पुत्र
 हुआ अतिथि, उसका निरथ, निपथका नम, नमका
 पुण्डरीक और पुण्डरीकका क्षेमभन्ना ॥ १ ॥ क्षेमभन्नाका
 देवानीक, देवानीकका अनीह, अनीहका पारियात्र,
 पारियात्रका बलम्बल और बलम्बलका पुत्र हुआ वज्रनाम ।
 यह सूर्यका अंश था ॥ २ ॥ वज्रनामसे स्वर्ग, स्वर्ग
 से विवृति और विवृतिसे हिरण्यनामकी उत्पत्ति हुई ।
 वह जैमिनिका शिष्य और योगाचार्य था ॥ ३ ॥
 कोसलदेशवासी यादृक्कस्य श्रद्धिने उसकी शिष्या क्षीकर
 करक उससे अप्यात्मयोगकी शिक्षा ग्रहण की थी ।
 वह योग इत्यकी गौड काट देनवाला तथा 'रम सिद्धि
 देनवाला' है ॥ ४ ॥ हिरण्यनामका पुष्य, पुष्यका
 ध्रुवसन्धि, ध्रुवसन्धिकका सुदर्शन, सुदर्शनका अमित्रर्ण,
 अमित्रर्णका शीघ्र और शीघ्रका पुत्र हुआ मरु ॥ ५ ॥
 मरुने योगसाधनासे सिद्धि प्राप्त कर ली और वह इस
 समय भी कलाप नामक ग्राममें रहता है । कलिगुणके
 अन्तमें सूर्यवंशके नष्ट हो जानेपर वह उसे फिरसे
 चलायेगा ॥ ६ ॥ मरुसे प्रसुप्त, उससे सन्धि और
 सन्धिसे अमर्षणका जन्म हुआ । अमर्षणका महत्मान्
 और महत्मान्का विश्वसाह ॥ ७ ॥ विश्वसाहका
 प्रसेनवित् प्रसेनवित्का तक्षक और तक्षकका पुत्र
 वृहद्रथ हुआ । परीक्षित ! इसी वृहद्रथको तुम्हारे पिता
 अभिमन्युने पुत्रमें मार बाध था ॥ ८ ॥

परीक्षित ! इक्ष्वाकुवंश' इतन नरपति हो चुके हैं ।

अब आनेवालोंके विषयमें सुना । वृहद्रथका पुत्र होगा
 वृहद्रथ ॥ ९ ॥ वृहद्रथका उरुक्रिय, उसका वत्सवृद्ध,
 वत्सवृद्धका प्रतिष्पाम, प्रतिष्पामका मानु और मानुका
 पुत्र होगा सेनापति निषाक ॥ १० ॥ निषाकका वीर
 साहय्य महदवन्त वृहत्थ, वृहत्थका मनुमान्,
 मनुमान्का प्रतीकाध और प्रतीकाधका पुत्र होगा

भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्कर ।
 तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्र सुतपास्तदमित्रजित् ॥१२॥
 बृहद्राजस्तु तस्यापि वर्हिस्तस्मात् कृतज्ञय ।
 रणक्षयस्तस्य सुतः सञ्जयो भविता तत ॥१३॥
 तस्मान्छाक्योऽथ शुद्रोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृत ।
 ततः प्रसेनजित् तस्मात् सुद्रको भविता तत ॥१४॥
 रणको भविता तस्मात् सुरथस्तनयस्ततः ।
 सुमित्रो नाम निद्रान्त एते बर्हिदलोन्वया ॥१५॥
 इक्ष्वाकूणामय वंश सुमित्रान्तो भविष्यति ।
 यतस्त्वं प्राप्य राजान सस्यां प्राप्स्यसि वै कलौ ॥१६॥

सुप्रतीक ॥ ११ ॥ सुप्रतीकका मरुदेव, मरुदेवका
 सुनक्षत्र, सुनक्षत्रका पुष्कर, पुष्करका अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष-
 का सुतपा और तमका पुत्र होगा अमित्रजित् ॥ १२ ॥
 अमित्रजित्से बृहद्राज, बृहद्राजसे वर्हि, वर्हिसे कृतज्ञय,
 कृतज्ञयसे रणक्षय और तससे सञ्जय होगा ॥ १३ ॥ सञ्जयका
 शाक्य, तसका सुद्रोद और सुद्रोका लाङ्गल, लाङ्गलका
 प्रसेनजित् और प्रसेनजित्का पुत्र सुद्रक होगा ॥ १४ ॥
 सुद्रकसे रणक, रणकसे सुरथ और सुरथसे इस वंशके
 अन्तिम राजा सुमित्रका जन्म होगा । ये सब बृहद्रथके
 वंशधर होंगे ॥ १५ ॥ इक्ष्वाकूका यह वंश सुमित्रक
 ही रहेगा । क्योंकि सुमित्रक यन्त्र होनेपर कल्पियुगमें
 यह वंश समाप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितयां नवमस्कन्धे इक्ष्वाकुवर्णनं
 नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

राजा निमिके वधका वर्णन

श्रीकृष्ण उवाच

निमिरिक्ष्वाकूतनयो वसिष्ठमहत्सर्व्विजम् ।
 आरम्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राङ्मुतोऽसि भोः ॥१॥
 तं निर्वर्त्सागमिव्यामि तान्त्रन्मां प्रतिपालय ।
 तूष्णीमामीदु गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मयम् ॥२॥
 निमिधलमिदं विद्वान् सत्रमारभतारमवान् ।
 अस्त्विग्निरपरैस्तावन्नागमव् यावता गुरु ॥ ३ ॥
 शिष्यच्यवतिक्रम वीक्ष्य निर्वर्त्त्य गुरुरागतः ।
 यद्यपत् पततादु दहो निमिः पण्डितमानिनः ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—परीक्षित् । इक्ष्वाकू पुत्र
 ये निमि । उन्होंने यह आरम्भ करके महर्षि वसिष्ठको
 अस्त्रिके रूपमें वरण किया । वसिष्ठजीने कहा कि
 ध्यान । इन्द्र अपन यज्ञके लिये मुझे पहले ही वरण
 कर चुके हैं ॥ १ ॥ उनका यह पूरा करक मैं तुम्हारे
 पास आऊँगा । तबतक तुम मेरी प्रतीक्षा करना । यह
 बात सुनकर राजा निमि जुप हो रहे और वसिष्ठजी
 इन्द्रका यह कहने बले गये ॥ २ ॥ विचारवान् निमिने
 यह सोचकर कि वीक्षन् तो क्षणमहूर् है, किन्तु करना
 उचित न ममत्ता और यह प्रारम्भ कर दिया । अपनक
 गुरु वसिष्ठजी न लौटें, तबतक मैं विष उन्होंने दूसरे
 अस्त्रिके वरण कर दिया ॥ ३ ॥ गुरु वसिष्ठजी
 अब इन्द्रका यह सम्पन्न करके लाट, ता उन्होंने देखा
 कि उनक शिष्य निमिने तो उनकी बात न मानकर यज्ञ
 प्रारम्भ कर दिया है । उस समय उन्होंने शाप दिया
 कि निमिको अपनी विचाररहितता और पाण्डित्यका बड़ा
 धर्म है इसलिये इसका शरीरपात हो जाय ॥ ४ ॥

निमि प्रतिददौ क्षापं गुरवेऽधर्मवर्तिने ।

तथापि पतवाद् देहो लोभाद् धर्ममवान्त ॥ ५ ॥

इत्युत्ससर्वं स्व देह निमिरप्मात्मकोविदः ।

मित्रावरुणयोर्बन्धे उर्वर्यां प्रपितामह ॥ ६ ॥

गन्धर्वस्तुषु तद्वदेहं निधाय मुनिसत्तमा ।

समाप्ते सत्रयागेऽथ देवास्तुः समागतान् ॥ ७ ॥

रक्षो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि ।

तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भू मे देहबन्धनम् ॥ ८ ॥

यस्य योगं न बाष्कन्ति वियोगमयकातरा ।

भजन्ति चरणान्भोज मुनयो हरिमेव च ॥ ९ ॥

देहं नावरुस्तेऽहं दुःखशोकमयौषहम् ।

सर्वत्रास्व बतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा ॥ १० ॥

देश उचुः

विदेह उप्यतां कर्म लोचनेषु शरीरिणास् ।

उ मेपणनिमेपाम्पां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥ ११ ॥

अराजकमय नृणां मन्यमाना महर्षयः ।

देह ममन्युः स निमि कुमारः समजायत ॥ १२ ॥

जन्मना जनकः सोऽमृद् वैदेहस्तु विदेहजः ।

निमिकी दक्षिमें गुरु वसिष्ठका यह शाप धर्मके अनुकूल नहीं, प्रतिकूल था। इसलिये उन्होंने भी शाप दिया कि 'आपने श्लेष्मका अपने धर्मका आधार नहीं किया, इसलिये आपका शरीर भी गिर जाय' ॥ ५ ॥ यह कहकर आत्मनिषाघं निपुण निमिने अपने शरीरका त्याग कर दिया। परीक्षित! श्वर हमारे हृदय प्रपितामह वसिष्ठजीने भी अपना शरीर त्याग कर मित्रावरुणके द्वारा उर्वशीके गर्भसे जन्म ग्रहण किया ॥ ६ ॥ राजा निमिक यज्ञमें आये हुए श्रेष्ठ मुनियोंने राजाके शरीरको सुगन्धित वस्तुओंमें रख दिया। जब सत्रयागकी समाप्ति हुई और देवताओंमें आये, तब उन श्रेष्ठोंने उनसे प्रार्थना की ॥ ७ ॥ 'भद्रानुभावो! आपकी सन्मर्ष हैं। यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमिक यह शरीर पुन जीवित हो उठे। देवताओंने कहा—'ऐसा ही हो।' उस समय निमिने कहा—'मुझ देहका बन्धन नहीं चाहिये ॥ ८ ॥ विचार-शील मुनिजन अपनी बुद्धिके पूर्णरूपसे क्षीमाश्रममें ही क्या बैठे हैं और उन्हींके चरणकमलमें भजन करते हैं। एक-एक दिन यह शरीर अवश्य ही टूटेगा—इस भयसे मीत होनेके कारण वे इस शरीरका भी संयोग ही नहीं चाहते, वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं ॥ ९ ॥ अत मैं जब दुःख, शोक और भयके मूल कारण इस शरीरके धारण करना नहीं चाहता। जैसे जलमें मछली-के लिये सर्प ही घृणुके अन्तर हैं, वैसे ही इस शरीरके लिये भी सब कही घृणु-ही-घृणु ॥ १० ॥

देवताओंने कहा—मुनियो! राजा निमि बिना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंमें अपनी इच्छाक अनुसार निवास करे। वे वहाँ रहकर सूक्ष्मशरीरसे समानाकार चिन्तन करते रहें। पलक उठने और शिनेसे उनके अस्थिलकड़ पता चलता रहेगा ॥ ११ ॥ इसके बाद महर्षिजोंने यह सोचकर कि राजाके न रहनेपर श्रेष्ठोंमें अराजकता फैल जायगी। निमिके शरीरका मन्थन किया, उस मन्थनसे एक कुमार उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ अन्त अनेके कारण उसका नाम हुआ जनक। विदेहसे उत्पन्न

मिथिलो मथनाज्ञातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥

तस्मादुदावमुन्तस्य पुत्रोऽमृषन्दिर्वर्धन ।

ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो महीपते ॥१४॥

तस्माद् वृहद्रथस्तस्य महावीर्यं सुवृत्तिपता ।

सुवृतेर्षुकेतुर्वै हर्यशोऽथ मरुत्तत ॥१५॥

भरो प्रतीपकन्तस्माज्ञात कृतिरथो यत ।

देवमीढन्तस्य सुतो विंध्यतोऽथ महावृत्ति ॥१६॥

कृतिरातन्ततस्तस्मान्महारोमाथ तत्सुतः ।

वर्णरोमा सुतन्तस्य हस्त्रोमा व्यजायत ॥१७॥

ततः सीरञ्चजो जग्ने यज्ञार्थं कर्षतो महीम् ।

सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरञ्चज स्मृतः ॥१८॥

कुशञ्चजन्तस्य पुत्रन्ततो धर्मञ्चजो नृप ।

धर्मञ्चजस्य द्वौ पुत्रौ कृतञ्चजमित्त्वजौ ॥१९॥

कृतञ्चजात् केशिञ्चज खाण्डिक्यस्तु मित्त्वज्जात् ।

कृतञ्चजसुतो राजन्मात्मविद्याविधारद ॥२०॥

खाण्डिक्य कर्मतत्त्वज्ञो भीतः कशिञ्चजाद् द्रुतः ।

भानुमास्तस्य पुत्रोऽमृष्यश्चतुष्पदस्तु तत्सुतः ॥२१॥

शुचित्तवनयस्तस्मात् सनद्वाजस्ततोऽभवत् ।

ऊर्ध्वकेतुः सनद्वाजादबाऽथ पुरुजित्सुत ॥२२॥

भरिष्टनेमिस्तर्स्यापि धृतायुस्तत्पुणार्थक ।

ततश्चित्ररथो यस्य क्षेममिर्मिथिलाधिप ॥२३॥

तस्मात् समरथस्तस्य सुतः सत्परथस्ततः ।

आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽमिर्तमव ॥२४॥

वस्त्रनन्ताऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत् सुभाषण ।

धृतस्ततो जयन्तस्माद् विजयोऽस्माद्यत सुतः ॥२५॥

शुनकन्तत्सुतो जग्ने वीरहम्पा प्रतिमन्त ।

बहुलाम्बा वृतेन्तस्य कृतिरस्य महावशी ॥२६॥

होनेके कारण 'वैदेश' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उसी वाछकका नाम 'मिथिल' हुआ । उसीने मिथिलपुरी बसायी ॥ १३ ॥

परीक्षित । जनकका उपासक, उसका नन्दिर्वर्धन, नन्दिर्वर्धनका सुकेतु, उसका देवरात, देवरातका वृहद्रथ, वृहद्रथका महावीर्य, महावीर्यका सुवृत्ति, सुवृत्तिक वृष्टकेतु, वृष्टकेतुका हर्यश और उसका मरु नामक पुत्र हुआ ॥ १४ १५ ॥ मरुसे प्रतीपक, प्रतीपकसे कृतिरथ, कृतिरथसे देवमीड, देवमीडसे विंध्यत और विंध्यतसे महावृत्तिक जन्म हुआ ॥ १६ ॥ महावृत्तिक कृतिरात, कृतिरातका महारोमा, महारोमाका वर्णरोमा और वर्णरोमाका पुत्र हुआ हस्त्रोमा ॥ १७ ॥ इसी हस्त्रोमाके पुत्र महाराज सीरञ्चज थे । वे जब यज्ञके लिये धरती जोत रहे थे, तब उनके सीर (हल) के अग्रभाग (फल) से सीताजीकी उत्पत्ति हुई । इसीसे उनका नाम 'सीरञ्चज' पड़ा ॥ १८ ॥ सीरञ्चजके कुशञ्चज, कुशञ्चज के धर्मञ्चज और धर्मञ्चजके दो पुत्र हुए—कृतञ्चज और मित्त्वज ॥ १९ ॥ कृतञ्चजके केशिञ्चज और मित्त्वजके खाण्डिक्य हुए । केशिञ्चज आत्मविद्यामें बड़ा प्रवीण था ॥ २० ॥ खाण्डिक्य या कलकाण्डक मर्मज्ञ । वह केशिञ्चजसे भयभीत होकर भाग गया । केशिञ्चजका पुत्र भानुमान् और भानुमानका चतुष्पद था ॥ २१ ॥ चतुष्पदसे शुवि, शुविसे सनद्वाज, सनद्वाजसे ऊर्ध्वकेतु, ऊर्ध्वकेतुसे अज, अजसे पुरुजित्, पुरुजित्से भरिष्टनेमि, भरिष्टनेमिसे धृतायु, धृतायुसे सुपादक, सुपादकसे चित्ररथ और चित्ररथसे मिथिलापति क्षेमविक्र जन्म हुआ ॥ २२ २३ ॥ क्षेमविक्रसे समरथ, समरथसे सत्परथ, सत्परथसे उपगुरु और उपगुरुसे उपगुप्त नामक पुत्र हुआ । यह अश्विक्र था था ॥ २४ ॥ उपगुप्तका वस्त्रमन्त, वस्त्रमन्तका युयुध, युयुधका सुभाषण, सुभाषण का शुन, शुनका जय, जयका विजय और विजयका शुन नामक पुत्र हुआ ॥ २५ ॥ शुनका शुनक, शुनकका वीरहम्पा, वीरहम्पाका प्रतिमन्त, प्रतिमन्तका बहुलाम्बा, बहुलाम्बा का वृति और वृतिक पुत्र हुआ महारथी ॥ २६ ॥

१ सीतो । २ प्रतीपक । ३ कुल । ४ विंध्यतो महावृत्ति । ५ रिद्वन्तस्तुतमम्बा । ६ तस्मान् ।

७ वीरहम्पातो राजन् पञ्चार्थ । ८ व्याधूत । ९ सुलब्धिन । १० वीरहम्पा । ११ बहुलाम्बा ।

पते वै मैथिला राज्ञात्मविद्याविश्रग्दा ।

योगेश्वरप्रसादेन इन्द्रैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥२७॥

परीक्षित । ये मिथिलके वंशमें उत्पन्न सभी नरपति
मैथिल कहलाते हैं । ये सब-के-सब आत्मज्ञानसे सम्पन्न
एवं गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी घुस-दुस आदि इन्द्रोंसे
मुक्त थे । क्यों न हो, याज्ञवल्क्य आदि बड़े-बड़े योगेश्वरों-
की इनपर महान् कृपा जो थी ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसा संहितायां नवमस्कन्धे निर्निर्वणानुर्णन
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

खम्बुवशाका सर्पजन

श्रीशुक उवाच

अथात धृयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः ।

मक्षिमैलादयो भूपा कीर्त्यन्तं पुष्पकीर्तयः ॥ १ ॥

सहस्रशिरम पुंसो नामिहदसरोरुहात् ।

जातस्यासीद्सुतोधातुरत्र पितृसमो गुणैः ॥ २ ॥

तस्य दग्धोऽमवत्पुत्रः सोमोऽमृतमय किल ।

विप्रौप्युद्गणानां ब्रह्मणा कल्पित पतिः ॥ ३ ॥

साऽपञ्चद्व राज्ञश्चपेन विजित्य सुयनययम् ।

पत्नीं बृहस्पतदर्पान् तारां नामाहरद्बलात् ॥ ४ ॥

यदा स दयगुरुणा मागिताऽभीष्टणशो मदात् ।

नात्यजन् तत्कृतं अथ सुखदानवविग्रहः ॥ ५ ॥

शुक्रा बृहस्पतेर्देवादिप्रदात् सासुराद्वयम् ।

इगुगुणं स्नहात् मरुमृतगणावृत ॥ ६ ॥

मर्वन्मृगणापता मद्भन्ता गुरुमन्वथान् ।

सुरागुविनाशमृत मयस्तारकामय ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । जन मे तुम्हें
चन्द्रमाके पावन वंशका वर्णन सुनता हूँ । इस वंशमें
पुकरवा आदि बड़े-बड़े पवित्रकीर्ति राजाओंका कीर्तन
किया जाता है ॥ १ ॥ सहस्रों शिरवाले विराट् पुरुष
नारमणके नामि-सरोकरके कमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति
हई । ब्रह्माजीके पुत्र हुए अत्रि । वे अपने गुणोंके कारण
ब्रह्माजीके समान ही थे ॥ २ ॥ उन्होंने अत्रिके नेत्रोंसे
अमृतमय चन्द्रमाका जन्म हुआ । ब्रह्माजीने चन्द्रमाको
ब्राह्मण, ओषधि और पक्षियोंका अधिपति बना दिया ॥ ३ ॥
उन्होंने तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त की और राजसूय
यज्ञ किया । इससे इनका घमंड बढ़ गया और उन्होंने
कमपूर्वक बृहस्पतिकी पत्नी तारुको हार लिया ॥ ४ ॥
देवगुरु बृहस्पतिने अपनी पत्नीको मीठा देनेके लिये
उनसे बार-बार याचना की, परन्तु वे इतने मत्तवाले हो
गये थे कि उन्होंने किसी प्रकार उनकी पत्नीको नहीं
लीया । ऐसी परिस्थितिमें उसके लिये देवता और
दानवोंमें घोर संग्राम छिड़ गया ॥ ५ ॥ शुक्रचार्यजीने
बृहस्पतिजीके देवसे असुरोंका साथ चन्द्रमाका पञ्च ले
लिया और महादेवजीने स्नेहवश समस्त भूतगणोंके
साथ अपने विद्यागुरु अग्निजीका पुत्र बृहस्पतिराज पक्ष
लिया ॥ ६ ॥ देवराज इन्द्रने भी समस्त देवगणोंके
साथ अपने गुरु बृहस्पतिजीका ही पक्ष लिया । ॥ ७ ॥
प्रखर तारुका निमित्तसे दक्ता और असुरोंका संग्रह
करनेवाला घोर संग्राम हुआ ॥ ७ ॥

निवेदितोऽप्याङ्गिरसा सोमनिर्मत्स्यं विंशकृत् ।

तारां स्वभ्रं प्रायच्छदन्तर्बन्तीमवैत् पति ॥ ८ ॥

त्यज त्यजान् दुष्प्रज्ञे मत्स्येवादाहितं परैः ।

नाह त्वां भस्मात् कुप्यांश्चिपसान्त्वानिक मति ॥ ९ ॥

तस्याज ब्रीहिता तारा कुमार कनकप्रभम् ।

स्यूहामाङ्गिरसश्च कुमारं सोम एव च ॥ १० ॥

ममार्यं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन् विवदमानयो ।

पप्रच्छुर्ध्वपयो देवा नैवोचे ब्रीहिता तु सा ॥ ११ ॥

कुमारा मत्सरं प्राह कुपिताऽलीकलजया ।

किं न वोचस्यसुवृक्ष आत्मावद्य वदाशु मे ॥ १२ ॥

ब्रह्मा तां रह आहूय समप्रादीव भान्त्वयन् ।

सोमस्येत्याह जनकं सोमस्तं तावदग्रहीत् ॥ १३ ॥

तस्यात्मयोनिरकृतं बुध इत्यभिधां नृप ।

बुधया गम्भीरया येन पुत्रेणापोऽङ्गारं मुदम् ॥ १४ ॥

ततः पुरुरवा जज्ञे इत्यार्या य उदाहृतः ।

तस्य रूपगुणौदार्यशीलव्रविणविक्रमान् ॥ १५ ॥

भुत्वोर्बशीन्द्रभवेन गीयमानान् सुर्षिणा ।

तदन्तिकमुपयाय देवी शरशरार्दिता ॥ १६ ॥

मदनन्तर अङ्गिरा अग्निं ब्रह्माजीके पास जाकर यह
मुख बंद करानेकी प्रार्थना की । इसपर ब्रह्माजीने चन्द्रमा
को बहुत डोटा-फटफटा और तारको उसके पति
बृहस्पतिजीके हवाले कर दिया । जब बृहस्पतिजीको
यह मालूम हुआ कि तारा तो गर्भवती है, तब उन्होंने
कहा—॥ ८ ॥ 'धुटे' मेरे क्षेत्रमें यह तो किसी दूसरेका
गर्भ है । इसे तू अभी त्याग दे, तुरंत त्याग दे । जर मत,
मैं तुझे जलाऊंगा नहीं । क्योंकि एक तो तू ही है और
दूसरे मुझे भी मन्तामकी कामना है । देवी होनेके कारण
तू निर्दोष सी है ही' ॥ ९ ॥ अपने पतिकी बात सुनकर
तारा अत्यन्त छिन्न हुई । उसने सोनेके समान चमकता
हुआ एक बालक अपने गर्भसे अलग कर दिया । उस
बालकको देखकर बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ही मोहित
हो गये और चाहने लगे कि यह हमें मिळ जाय ॥ १० ॥
अब वे एक दूसरेसे इस प्रकार जोर-जोरसे झगडा करने
लगे कि 'यह तुम्हारा नहीं मेरा है ।' अग्नियों और
देवताओंने तारासे पूछा कि 'यह किस्का लकड़ा है ?'
परन्तु ताराने लज्जाकर कोई उत्तर न दिया ॥ ११ ॥
बालकने अपनी ममाकी छुटी लज्जासे कोपित होकर
कहा—'धुटे । तू बतानी क्यों नहीं ? तू अपना
कुर्म मुझे शीघ्र-से-शीघ्र बतला दे' ॥ १२ ॥ उसी
समय ब्रह्माजीने ताराको एकान्तमें बुलाकर बहुत कुछ
सम्मान-बुझाकर पूछा । तब ताराने धीरेसे कहा कि 'चन्द्रमा-
का ।' इसलिये चन्द्रमाने उस बालकको ले लिया ॥ १३ ॥
परीक्षित् । ब्रह्माजीने उस बालकका नाम रक्खा 'बुध',
क्योंकि उसकी सुधि बची गम्भीर थी । ऐसा पुत्र प्राप्त
करके चन्द्रमाको बहुत आनन्द हुआ ॥ १४ ॥

परीक्षित् । बुधका इसा इन्द्रके गर्भसे पुरुरवाका
जन्म हुआ । इसका काल मैं पहले ही कर चुका हूँ ।
एक दिन इन्द्रकी समामे मेर्बि नारदजी पुरुरवाका रूप,
गुण, उदारता, शीघ्र-स्वभाव, धन-सम्पत्ति और पराक्रमका
गान कर रहे थे । उन्हें सुनकर उर्वशीके हृदयमें काम-
भावका उन्म हो आया और उससे पीड़ित होकर यह
देवाङ्गना पुरुरवाके पास चली आयी ॥ १५ १६ ॥

मित्रावरुणयोः शापादापञ्चा नरलोकात्ताम् ।

निर्धन्य पुरुषमेष्टं कन्दर्पमिव रूपिणम् ।

धृतिं विष्टम् उलना उपतस्थे सदन्तिके ॥ १७ ॥

स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः ।

उवाच स्रग्भया बाचा देवी हृष्टतनूतः ॥ १८ ॥

उवाच

स्वागतं ते वरारोहे आस्वतां करवाम किम् ।

संरमस मया सांफं रतिनीं क्षाप्तौ समाः ॥ १९ ॥

उर्वशुवाच

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर ।

यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवत इ रिरसया ॥ २० ॥

एतावुरणकौ राजन् न्यासौ रक्षस मानद ।

संरस्ये भवतौ साकं श्लाघ्यः क्षीणां वरः स्थितः ॥ २१ ॥

धृतं मे वीर भण्यं स्वात्नेष्टे त्वान्यत्र मे पुनात् ।

विवाससं तत् तथेति प्रतिपेदे महामनाः ॥ २२ ॥

अहा रूपमहा भावो नरलोकविमोहनम् ।

अ न सेवेत मनुष्या देवी त्वां स्वयमागताम् ॥ २३ ॥

तथा च पुरुषभग्नौ रमयन्स्था यथार्हतः ।

रमे सुविहारेषु काम चैत्रयादिषु ॥ २४ ॥

रममाणस्तथा दय्या पक्षिकुलसङ्गन्धया ।

१ या । २ नरैः सुखे या । ३ ता वरयन्त्युत्तमा । ४ तथा वति ।

यद्यपि उर्वशीको मित्रावरुणके शापसे ही मृत्युकोकमें आना पड़ा था, फिर भी पुरुषशिरोगणि पुरुषवा मूर्तिमान् कर्मदेवके सगाम सुन्दर हैं—यह सुनकर सुस्सुन्दरी उर्वशीने वैयं धारण किया और यह उनके पास बनी आयी ॥ १७ ॥ देवाङ्गना उर्वशीको देखकर राजा पुरुषराजे नेत्र हँसते खिल उठे । उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया । उन्होंने बड़ी मीठी वाणीसे कहा— ॥ १८ ॥

राजा पुरुषराजेने कहा—सुन्दरी ! तुम्हारा स्वागत है । बैठो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? तुम मेरे साथ बिहार करो और हम दोनोंका यह बिहार अनन्तकाल तक चलता रहे ॥ १९ ॥

उर्वशीने कहा—मनन् ! आप सौन्दर्यके मूर्तिमान् स्वरूप हैं । मलय, ऐसी कौन कमिनी है जिसकी दृष्टि और मन आपमें आसक्त न हो जाय ? क्योंकि आपके समीप आकर मेरा मन रमणकी इच्छासे अपना वैयं छो बैच है ॥ २० ॥ राजन् ! जो पुरुष रूप-गुण आदिके कारण प्रसन्ननीय होता है, वही स्त्रियोंको अभीष्ट होता है । अतः मैं आपके साथ अवश्य बिहार करूँगी । परन्तु मेरे प्रेमी महाराज ! मेरी एक शर्त है । मैं आपके धरोहरके रूपमें मेरेके दो बच्चे सौंपती हूँ । आप इनकी रक्षा करना ॥ २१ ॥ वीरशिरोगे ! मैं केवल भी आऊँगी और मैंपुनके अतिरिक्त और किसी भी समय आपका कसहीन न देख सकूँगी । परम मनस्वी पुरुषराजे 'ठीक है'—ऐसा कहकर उसकी शर्त स्वीकार कर ली ॥ २२ ॥ और फिर उर्वशीसे कहा—तुम्हारा यह सौन्दर्य अद्भुत है । तुम्हारा मास असीमित है । यह तो सारी मनुष्यसृष्टिको मोहित करनेवाला है । और वेति । क्या करके तुम अर्थ यहाँ आयी हो । फिर कौन ऐसा मनुष्य है, जो तुम्हारा सेवन न करे ? ॥ २३ ॥

परीक्षित ! तब उर्वशी कर्ममाञ्जोक्त पक्षिसे पुरुष भेष्ट पुरुषराजेके साथ बिहार करने लगी । वे भी देवताओं-की बिहारस्वकी चैत्रय, मन्दनकल आदि उपवनोमें उसके साथ सख्खन्द बिहार करने लगी ॥ २४ ॥ देवी उर्वशीके शरीरसे कर्मस्नेहस्रक्तीसी सुगन्ध निकल करती थी । उसके साथ राजा पुरुषराजे बहुत वर्षोंतक

त मुत्सामोदमुपितो मुमुदेऽहर्गणान् बहून् ॥२५॥

अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान् समचोदयत् ।

उर्वशीरहित मल्लमास्थानं नातिशोभते ॥२६॥

ते उपेत्य महारात्रे समसि प्रत्युपस्थिते ।

उर्वश्या उरगौ जह्नु-र्यस्तौ राजनि जायया ॥२७॥

निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयो ।

इतास्म्यहं कुनायेन नृपुंसा वीरमानिना ॥२८॥

यदिभस्मादहं नष्टा इतापत्या च दस्युभि ।

य शेते निशि संव्रत्तो यथा नारी दिवा पुमान् ॥२९॥

इति वाक्सायकैर्दिद्व प्रतोस्त्रैरिव कुञ्जर ।

निशि निखिंशमादाय विवस्त्रोऽम्भटवच्च रुषा ॥३०॥

ते विसृज्योरमौ तत्र व्यघ्रोत्तन्त स विधुत ।

आदाय मपावापान्तं नममैष्यत सा पविम् ॥३१॥

पेलोऽपि क्षयने जायामपश्यन् विमना इव ।

तच्चित्तो विह्वल शोचन् वप्रागोन्मत्तवन्महीम् ॥३२॥

स तां वीर्य्य कुरुक्षेत्रं सरस्यत्यां च तत्सखी ।

पञ्च प्रहृष्टवदना ग्राह्यं सक्तं पुरुरवा ॥३३॥

अहा जाये तिष्ठ तिष्ठ धारं न त्यक्तुमर्हसि ।

आनन्द-विहार किया । वे उसके मुखकी सुरभिते अपनी सुघ-सुघ सो बैठते थे ॥२५॥ इधर जब इन्द्रने उर्वशीको नहीं देखा, तब उन्होंने गन्धर्वोंको उसे खानेके लिये भेजा और कहा— 'उर्वशीके बिना मुझे यह स्वर्ग फीका जान पड़ता है' ॥ २६ ॥ वे गन्धर्व आभी रातके समय घोर अन्धकारमें बहों गये और उर्वशीके दोनों भेजोंको जिन्हें उसने राजाके पास धरोहर रखवा था, पुरुरव चन्ते बने ॥ २७ ॥ उर्वशीने जब गन्धर्वोंके द्वारा ले जाये जाते हुए अपने पुत्रके समान प्यारे भेजोंकी 'वै-वै' सुनी, तब वह कह उठी कि 'अरे, इस क्षयरको अपना स्वामी बनाकर मैं तो मारी गयी । यह नृपुंसक अपनेको बड़ा वीर मानता है, यह मेरे भेजोंको भी न बचा सका ॥ २८ ॥ इसीतर विधास करनेके कारण छुट्टे मेरे बच्चोंको छुटकर लिये जा रहे हैं । मैं तो मर गयी । देखो तो सही, यह दिनमें तो मर बनता है और रातमें ज्योंकी तरह डरकर सोया रहता है' ॥२९॥ परीक्षित । जैसे कई हाथीका अकुशासे बच जाके, वैसे ही उर्वशीने अपने बचन-बाणोंसे राजाको बीर दिख । राजा पुरुरवको बड़ा क्रोध आया और हाथमें तलवार लेकर कच्चीन अवस्थामें ही वे उस ओर दौड़ पड़े ॥ ३० ॥ गन्धर्वोंने उनके झपटते ही भेजोंको तो बर्बाद छोड़ दिया और खप बिजलीकी तरह चमकने लगे । जब राजा पुरुरव भेजोंको लेकर लौटे, तब उर्वशीने उस प्रकाशमें उन्हें बकाहीन-अवस्थामें देख लिया । (वर, वह उसी समय उन्हें छाकड़त खनी गयी) ॥ ३१ ॥

परीक्षित । राजा पुरुरवाने जब अपने शयनागारमें अपनी प्रियतमा उर्वशीको नहीं देखा तो वे धनमने हो गये । उनका चित्त उर्वशीमें ही बसा हुआ था । वे उसके लिये शोकसे विह्वल हो गये और उमसकी मौति पृथ्वीमें इधर उधर भटकने लगे ॥ ३२ ॥ एक दिन कुरुक्षेत्रमें सरस्वती नदीके तटपर उन्होंने उर्वशी और उसकी पौंस प्रसन्नमुखी सखियोंको देखा और बड़ी मीठी बाणीसे कहा— ॥ ३३ ॥ प्रिये ! तनिक ठहर जाओ । एक बार मेरी बात मान लो । निधुरे ! अब आद तो मुझ सुखी

स्वाली न्यस्य धने गत्वा गृहानाभ्यागतो निशि ।
 त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्र्यम्बर्षत ॥४३॥
 स्वालीस्नानं गतोऽधत्तं क्षमीगर्भं विलस्य सः ।
 तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥४४॥
 उर्वशी मन्त्रतो ध्यात्यक्षभारणिमुत्तराम् ।
 आत्मानमुभयोर्मध्ये यत् तत् प्रजनन प्रभुः ॥४५॥
 तस्य निर्मन्यनाज्ञातो जातवेदा विभावसुः ।
 त्रय्या स विधया राज्ञा पुत्रत्वेकल्पितस्त्रिभुव ॥४६॥
 तेनायुक्त यंज्ञेष्टं भगवन्तमधोऽव्ययम् ।
 उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम् ॥४७॥
 एक एव पुरा वेद प्रणव सर्ववाङ्मयः ।
 देवो नारायणो नाम्न्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४८॥
 पुरुषस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप ।
 अधिना प्रजया राज्ञा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥४९॥

रहे ॥ ४२ ॥ अब उन्हें होश हुआ, तब वे स्वालीको
 धर्ममें छोड़कर अपने मङ्गलमें खीट आये एव रातके समय
 उर्वशीका ध्यान करते रहे । इस प्रकार अब त्रेतायुगका
 प्रारम्भ हुआ, तब उनके हृदयमें तीनों वेद प्रकट
 हुए ॥ ४३ ॥ फिर वे उस स्थानपर गये, जहाँ उन्होंने
 वह अग्निस्थानी छोड़ी थी । अब उस स्थानपर शमीवृक्षके
 गर्भमें एक पीपलका वृक्ष उग आया था, उसे देखकर
 उन्होंने उससे दो अरणियों (मन्त्रमकाष्ठ) बनायीं ।
 फिर उन्होंने उर्वशीकोकत्री कामनासे भीचेकी अग्निको
 उर्वशी, ऊपरकी अग्निको पुरुरवा और बीचके काष्ठको
 पुत्ररूपसे चिन्तन करते हुए अग्नि प्रज्ज्वलित करनेवाले
 मन्त्रोंसे मन्त्रन किया ॥ ४४ ४५ ॥ उनके मन्त्रनसे
 'जातवेदा' नामका अग्नि प्रकट हुआ । राजा पुरुरवाने
 अग्निदेवताको त्रयीविधाके द्वारा आहूतकीय, गाहपत्य और
 दक्षिणाग्नि—इन तीनों मार्गोंमें विभक्त करके पुत्ररूपसे
 स्वीकार कर लिया ॥ ४६ ॥ फिर उर्वशीकोकत्री वृक्षसे
 पुरुरवाने उन तीनों अग्नियोंद्वारा सर्वदेवस्वरूप इन्द्रियातीत
 यज्ञपति मगवान् श्रीहरिका यजन किया ॥ ४७ ॥
 परीक्षित् ! त्रेताके पूर्व सत्ययुगमें एकमात्र प्रणव
 (ऋक्) ही वेद था । सारे वेद-शास्त्र उसीके अन्तर्भूत
 थे । देवता ये एकमात्र नारायण; और कोई न था ।
 अग्नि भी तीन नहीं, केवल एक था और वर्ण भी केवल
 एक 'हरि' ही था ॥ ४८ ॥ परीक्षित् ! त्रेताके प्रारम्भमें
 पुरुरवासे ही वेदत्रयी और आग्नित्रयीका आनिर्माण हुआ ।
 राजा पुरुरवाने अग्निसे सन्तानरूपसे स्वीकार करके
 गन्धर्वकोकत्री प्राप्ति की ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमार्थ्यां संहितायां नवमस्कन्धे ऐश्वर्याख्याने
 चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

शुद्धीक जयदग्नि और परशुरामश्रीक शरिर

श्रीर्षिक उवाच

श्रीपुरुषदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! उर्वशीके

ऐक्यस्य चोर्वशीगर्भात् पदासन्नाम्भजा नृप ।

आयु धृतायु सत्यायु रयोऽथ विजयो जयः ॥१॥

गर्भसे पुरुरवाके १ पुत्र हुए—आयु, धृतायु, सत्यायु

१ विजय । २ देवर्षि । ३ प्राचीन प्रतिमें इसके जगते 'श्वेदमर्षि' यह पाठ अधिक है । ४ बारहपविदवाच ।

धृतापोर्वसुमान् पुत्र सत्यायोश्च धृतञ्जय ।
 रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः ॥२॥
 भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्तत ।
 तस्य बहु सुतो गङ्गां गण्डूपीकृत्य योऽपिबत् ।
 बहोस्तु पूरुस्तत्पुत्रो षलाकमात्मजोऽजक ॥३॥
 ततः कुशः कुशस्यापि कृशाम्बुस्तनयो वसुः ।
 कृशनाभश्च शत्वतो गाधिरासीत् कुशाम्बुजः ॥४॥
 तस्य सत्यवती कन्यामृचीकोऽप्याचत द्विजः ।
 वरं विसर्धं मत्वा गाधिर्मर्गिवमग्रीत् ॥५॥
 एकत श्यामकर्माणां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
 सहस्रं दीपतां शुल्कं कन्याया कुशिका वयम् ॥६॥
 इत्युक्तन्तन्मर्तुं ज्ञात्वा गत स वरुणान्तिकम् ।
 आनीय दत्त्वा तानभ्यानुपयेम वराननाम् ॥७॥
 स श्वदि प्रार्थित पत्न्या श्वभूवा चापत्यकाम्यया ।
 धपयित्वाभयमन्त्रं भरुं स्नातुं गतो मुनि ॥८॥
 तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती ।
 भष्टं मत्वा तेषापच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम् ॥९॥
 तत्र विष्णाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकरणी ।
 पारा दण्डपरः पुत्रा भ्राता स प्रदद्विषयः ॥१०॥
 प्रसादित सत्यवत्या मेध मृदिति भागव ।
 मध तर्हि भवत् पौर्या अमदप्रिन्तताऽभवत् ॥११॥

रय, विजय और जय ॥ १ ॥ धृतायुक्ता पुत्र या वसुमान्,
 सत्यायुक्ता धृतञ्जय, रयका एक और जयका अमित ॥ २ ॥
 विजयका भीम, भीमका काञ्चन, काञ्चनका होत्र, और
 होत्रका पुत्र या अहु । ये बहुत बड़ी ये, ना गङ्गाजीको
 अपनी आङ्गुलिमें लेकर पी गये थे । अहुका पुत्र या
 पूरु, पूरुका षलाक और षलाकका अजक ॥ ३ ॥
 अजकका कुश या । कुशके चार पुत्र थे—कुशाम्बु,
 तनय, वसु और कुशनाभ । इनमेंसे कुशाम्बुके पुत्र
 गाधि हुए ॥ ४ ॥

परीक्षित ! गाधिकी कन्याका नाम या सत्यवती ।
 श्वचीक श्वनिने गाधिसे उनकी कन्या मोगी । गाधिने
 यह समझकर कि ये कन्याके योग्य वर नहीं हैं, श्वचीकसे
 कहा— ॥ ५ ॥ 'मुनिक ! हमने जो कुशिक वंशके हैं ।
 हमारी कन्या मिळनी कठिन है । इसलिये आप एक
 हजार ऐसे घोड़े वाकर मुझे धूमकरूपमें दीजिये, बिनका
 साथ शरीर तां स्वेत हो, परन्तु एक-एक काम श्याम
 वर्णका हो ॥ ६ ॥ जब गाधिने यह बात कही, तब
 श्वचीक मुनि उनका वाश्य समझ गये और वरुणके
 पास जाकर बैठे । घोड़े ले आये तथा उन्हें देकर
 सुन्दरी सत्यवतीसे विवाह कर लिया ॥ ७ ॥ एक बार
 महर्षि श्वचीकसे उनकी पत्नी और सात दोनोने ही
 पुत्रप्राप्तिके लिये प्रार्थना की । महर्षि श्वचीकने उनकी
 प्रार्थना स्वीकार करके दोनोके लिये अन्न-अन्ना मन्त्रोंसे
 चढ़ पकवा और जाग करनेके लिये बले गये ॥ ८ ॥
 सत्यवतीकी माने यह समझकर कि श्वनिने अपनी पत्नीके
 लिये श्रेष्ठ चढ़ पकवा होगा, उससे वह चढ़ मँग लिया ।
 इसपर सत्यवतीने अपना चढ़ तो मक्के दे दिया और
 मक्का चढ़ वह खप खा गयी ॥ ९ ॥ जब श्वचीक
 मुनिक इस बातका पता चला, तब उन्होंने अपनी पत्नी
 सत्यवतीसे कहा कि 'तुम्हने बड़ा अनर्थ कर बाधा ।
 अब तुम्हारा पुत्र तो खोखेको दण्ड देनेवाला और प्रहृ-
 त्त होगा और तुम्हारा मर्ह होगा एक श्रेष्ठ वसुदेव ॥ १० ॥
 सत्यवतीने श्वचीक मुनिको प्रसन्न किया और प्रार्थना
 की कि 'स्वामी ! ऐसा नहीं होना चाहिये ।' तब उन्होंने
 कहा— 'अष्टी जाग है । पुत्रके बन्ने तुम्हारा पीर

सा चाभूत् सुमहापुण्या कौशिकी लोकपावनी ।

रेवोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम् ॥१२॥

तस्यां वै भार्गवश्चपेः सुता वसुमदादयः ।

ययीयाश्छद्म एतेषां राम इत्यभिषिमुतः ॥१३॥

यमाहुर्वासुदेवाञ्च द्वैहयानां कुलान्तकम् ।

त्रिःसप्तकृतो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥१४॥

इष्टं धनं क्षुणो भारमब्रह्मण्यमनीनशत् ।

रत्नसमोऽवतमहन् फल्गुन्यपि कृतंऽहसि ॥१५॥

राजोवाच

किं तदहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः ।

कृतं येन क्लृप्तं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः ॥१६॥

भीष्मक उवाच

द्वैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ।

दद्य नरात्मणस्त्राणमाराम्य परिकर्मभिः ॥१७॥

मौहन् दसशतं लेभे दुर्धर्पत्वमराविषु ।

अप्याहतेन्द्रियौघं भीतेजोवीर्ययशोर्बलम् ॥१८॥

यागेऽश्वत्त्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः ।

पञ्चराण्याहवगलिलेकिषु पवनो यथा ॥१९॥

वैसा (घोर प्रकृति) होगी ।' सम्पन्न सत्यवतीके गर्भसे जमदग्निजन्म हुआ ॥ ११ ॥ सत्यवती समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली परम पुण्यमयी 'कौशिकी' नदी बन गयी । रेणुश्चनिकी कन्या थी रेणुका । जगदग्निने उसका पाणिग्रहण किया ॥ १२ ॥ रेणुकाके गर्भसे जमदग्नि ऋषिके वसुमान् आदि कई पुत्र हुए । उनमें सबसे छोटे परशुरामजी थे । उनका यश सारे ससारमें प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥ कहते हैं कि द्वैहयवशक अन्त करनेके लिये स्वयं मगवान्ने ही परशुरामके रूपमें अंशाकृतार ग्रहण किया था । उन्होंने इस पृथ्वीको इसीस बार क्षत्रियहीन कर दिया ॥ १४ ॥ यद्यपि क्षत्रियोंने उनका बोझ-सा ही अग्रगण्य किया था—किन्तु भी वे लोग बड़े दुष्ट, ब्राह्मणोंके अमृत, राजोगुणी और विशेष करके समोगुणी हो रहे थे । यही कारण था कि वे पृथ्वीके मार हो गये थे और इसीके फलस्वरूप मगवान् परशुराम-ने उनका नाश करके पृथ्वीका मार उतार दिया ॥ १५ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—भगवन् ! अक्षय्य ही उस समयके क्षत्रिय विपण्णोत्पत्ति हो गये थे, परन्तु उन्होंने परशुरामजीका ऐसा कौन-सा अग्रगण्य कर दिया, जिसके कारण उन्होंने बार-बार क्षत्रियोंके वंशका संहार किया ? ॥ १६ ॥

भीष्मकदेवजी कहने लगे—परीक्षित ! उन दिनों द्वैहयवशक अधिपति या कर्जुन । वह एक श्रेष्ठ क्षत्रिय था । उसने अनेकों प्रचुरकी सेवा-सुभूता करके मगवान् नायकणके अंशकृतार दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया और वनसे एक हजार मुबार्र वषा कोई भी शत्रु युद्ध में पराजित न कर सके—यह बरदान प्राप्त कर लिया । साथ ही इन्द्रियोंका अबाध बल, अतुल सम्पत्ति, सेवकता, नीत्या, कीर्ति और शारीरिक बल भी उसने उनकी कृपासे प्राप्त कर लिये थे ॥ १७-१८ ॥ वह योनेश्वर हो गया था । उसमें ऐसा ऐश्वर्य था कि वह सुभ्र-से-सुभ्र, स्थूल-से-स्थूल रूप धारण कर लेता । सभी सिद्धियाँ उसे प्राप्त थीं । वह सत्तारमें बापुकी तरह सब जगह अरोरु-टोरु विजय करता ॥ १९ ॥

श्रीरमैरावतः क्रीडन् रेवाम्भसि मदोत्कटः ।

वैद्यपन्तीं स्रजं विधत्त स्तोभं सरित् शुभैः ॥२०॥

विष्णुवितं स्वशिविरं प्रतिस्नोतःसरिजलैः ।

नामृष्यत् तस्य तद् वीर्यं वीरमानी दक्षाननः ॥२१॥

शूरीतो लीलया स्त्रीणां समर्थं कृतकिल्बिषः ।

माहिष्मत्पां संनिरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥२२॥

स एकदा तु मृगयां विचरन् विंशतिं वने ।

नष्टच्छयाऽऽश्रमपदं जमदग्नेरुपाविष्टत् ॥२३॥

तस्यैव नरदेवाय धुनिरर्हणमाहरत् ।

सत्सैन्यामत्यवहाय हविष्मत्या तपोधनः ॥२४॥

सं वीरस्तत्र तद् दृष्ट्वा आत्मैश्वर्याविष्ठापनम् ।

तन्माद्रियताप्रिहास्यां सामिलाप स हैहयः ॥२५॥

हविर्धानीमुपैर्ष्याभरात् हर्तुमशोदयत् ।

ते च माहिष्मतीं निन्युःसवस्तां क्रन्दन्तीं बलात् ॥२६॥

अथ राज्ञि निपति राम आश्रमं आगतः ।

श्रुत्वा तत् तस्य दौरात्म्यं पुक्रोधादिरिवाहवः ॥२७॥

धौर्महाय परहं सत्पणं धर्मं कार्यकम् ।

अन्यथावत् हुंघैर्षीं मुनेन्द्र इव यूषणम् ॥२८॥

एक बार गलेमें वैद्यपन्ती मात्स्य पड़ने सहस्रबाहु बर्जुन बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंके साथ बर्मदा नदीमें बल-विहार कर रहा था । उस समय मदीमत्त सहस्रबाहुने अपनी बौहोसे नदीका प्रवाह रोक दिया ॥ २० ॥ दशमुख रावणका शिविर भी वहीं कहीं पासमें ही था । नदीकी धारा उत्पटी यहने लगी, जिससे उसका शिविर डूबने लगा । रावण अपनेको बहुत बड़ा शीर तो मानता ही था, इसलिये सहस्रार्जुनका यह पराक्रम उससे सहन नहीं हुआ ॥ २१ ॥ जब रावण सहस्रबाहु बर्जुनके पास आकर घुरा मजा करने लगा, तब उसने स्त्रियोंके सामने ही खेल-खेजमें रावणको पकड़ लिया और अपनी राज-धानी माहिष्मतीमें ले जाकर बंदरके समान कैद कर लिया । पीछे पुच्छत्पत्तीके कहनुसे सहस्रबाहुने रावणको छोड़ दिया ॥ २२ ॥

एक दिन सहस्रबाहु बहुत दिक्कर लेज्जेके त्रिमे बड़े घोर जंगलमें निकल गया था । देवकदा वह जगदग्नि मुनिके आश्रमपर जा पहुँचा ॥ २३ ॥ परम तपस्वी जमदग्नि मुनिके आश्रममें कामधेनु रहती थी । उसके प्रतापसे उगहोंने सेना, मन्त्री और बाहनोंके साथ हैहयाधिपतिका खूब सागत-सत्कार किया ॥ २४ ॥ वीर हैहयाधिपतिने देखा कि जमदग्नि मुनिके ऐश्वर्य को मुझसे भी बड़ा क्या है । इसलिये उसने उनके सागत-सत्कारको कुछ भी बादर न देकर कामधेनुको ही ले लेना कहा ॥ २५ ॥ उसने जमिमानका जमदग्नि मुनिके भोगा भी नहीं, अपने सेवकोंके आश्रय की कि कामधेनुको छीन ले चले । उसकी बाधासे उसके सेवक बाँहके साथ धौं-धौं शक्तयष्टी हुई कामधेनुको बलपूर्वक माहिष्मतीपुरी ले गये ॥ २६ ॥ जब वे सब चले गये, तब परशुपत्नी आश्रमपर आये और उसकी दुष्टताका इलाका छुनकर चोट खाये हुए सौंपकी तरह क्रोधसे तिष्ठमिष्ठ सठे ॥ २७ ॥ वे कल्पा मसहूर परला, तरकस, बाछ एवं धनुष लेकर बड़े वेगसे उसके पीछे दीड़े—जैसे कोई किसीसे न दबनेवाला सिंह हाथीपर दूट पड़े ॥ २८ ॥

तमापन्त मृगुचर्ममोजसा
 धनुर्बर बाणपरश्वधायुधम् ।
 ऐणयचर्मम्वरमर्कधामभि
 युर्त अटाभिर्दृष्टे पुरीं विशन् ॥२९॥
 अचोदयदस्तिरथाभपविभि-
 र्गदासिबाणटिञ्चतमिश्रकिभिः ।
 अश्वौहिणीः सप्तदशाविमीपणा
 स्ता राम एको भगवानब्रह्मयत् ॥३०॥
 वतो वतोऽसौ प्रहरत्यरश्वधो
 मनोऽनिलौजा परचक्रसूदनः ।
 तवस्तवश्लिषमसुखोऽरुक्कन्धरा
 निपेतुरुष्या इतस्तवाहना ॥३१॥
 शूरा स्वसैन्य रुधिरौषकर्म
 रणाधिरे रामकुठारसायकैः ।
 विदुक्कचर्मचलचापविग्रहं
 निपातिव हैहय आपतत् रुपा ॥३२॥
 अपार्जुन पञ्चशतेषु बाहुभि-
 र्वन्तुःषु बाणान् युगपत् स सन्दधे ।
 रामाय रामोऽञ्जमृतां समग्रणी
 त्तान्येकधन्वेषुभिराच्छिन्नत् समम् ॥३३॥
 पुन श्वस्तैरचलान् मृचेऽक्षिपा
 तुक्षिष्य वेगादभिधावतो युधि ।
 सुमान् कुठारण कुठारनेमिना
 चिच्छेद राम प्रसम स्वहेरिव ॥३४॥
 उषवाहा शिरस्तम्य गिर शृङ्गमिवाहत् ।
 हत पितृनि तरुण्या अयुत दुःसुयुगमात् ॥३५॥

सहस्रबाहु अर्जुन अभी अपने नगरमें प्रवेश कर रहा था कि उसने देखा परशुरामजी महाराज बड़े वेगसे उसीकी ओर झपटे आ रहे हैं । उनकी बड़ी निष्पक्षता थी । वे हाथमें धनुस्-बाण और फरसा लिये हुए थे, शरीरपर काज मृगचर्म धारण किये हुए थे और उनकी बटाएँ सूर्यकी किरणोंके समान चमक रही थीं ॥ २९ ॥ उन्हें देखते ही उसने गदा, खड्ग, बाण, श्रद्धा, स्वस्ती और शक्ति आदि आयुधोंसे सुसज्जित एक हाथी, घोड़े, रथ तथा फदास्तिथोंसे युक्त अत्यन्त मज्झर सज्ज अश्वौहिणी सेना भेजी । मगवान् परशुरामने बात-की-बातमें अकेले ही उस साथी सेनाको नष्ट कर दिया ॥ ३० ॥ मगवान् परशुरामजीकी गति मन और बायुके समान थी । बस, वे शत्रुकी सेना काटते ही जा रहे थे । जहाँ-जहाँ वे अपने फरसेका प्रहार करते, वहाँ-वहाँ सारथि और बाहनोंके साथ बड़े बड़ कीरोंकी बाँहें, जोड़ें, कचे कट-कटकर धूँधीर गिरते जाते थे ॥ ३१ ॥ हैहयविपत्ति अर्जुनने देखा कि मेरी सेनाके सैनिक, उनके धनुस्, पञ्चरों और ढाल मगवान् परशुरामके फरसे और बाणोंसे कट-कटकर खूनसे लथ-पथ रणभूमिमें गिर गये हैं तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह अर्ध मिनटके लिये आ धमका ॥ ३२ ॥ उसने एक साथ ही अपनी हजार मुजाओंसे पाँच सौ धनुयोंपर बाण चढ़ाये और परशुरामजीपर छोड़े । परशुरामजी तो समस्त शस्त्रधारियोंके शिरमणि टूटते । उन्होंने अपने एक धनुस्पर छोड़ हुए बाणोंसे ही एक साथ सबको काट डाला ॥ ३३ ॥ अब हैहयविपत्ति अपने हाथोंसे पहाड़ और पेड़ उखाड़कर बड़ वेगसे युद्धभूमिमें परशुरामजीकी ओर झपटा । परन्तु परशुरामजीने अपनी तीली धारवाले फरसेसे बड़ी पुनर्तिके साथ उसकी सौपोंके समान मुजाओंका काट डाला ॥ ३४ ॥ अब उसकी बाँहें कट गयीं, तब उन्होंने पहाड़की कोटीकी तरह उसका ऊँचा शिर धड़से अलग कर दिया । फिनाके मर जानपर उसका दस्त हजार सड़के बरकर भग गये ॥ ३५ ॥

अमिहोत्रीमुपावर्त्य सत्तत्तां परवीरहा ।
 समुपेत्याभ्रमं पित्रे परिक्षिप्यं समर्पयत् ॥३६॥
 स्वकमेतद्वृत्तं रामं पित्रं ब्रह्मस्य एव च ।
 वर्षायामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निर्भाषत ॥३७॥
 राम राम महाबाहो भवान् पापमाकारपीड ।
 अन्धीभरदेवं यत सर्वदेवमयं वृथा ॥३८॥
 बवं हि ब्राह्मणास्ताव क्षममार्हणतां गताः ।
 यथा लोकगुल्देषः पारमेष्ठ्यमगात् पदम् ॥३९॥
 क्षमया रोचते लक्ष्मीप्राप्तिं सौरी यथा प्रभा ।
 क्षमिष्यामस्तु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥४०॥
 राक्षो मूधाभिषिक्तस्य क्वो ब्रह्मबधाद् गुरुः ।
 तीर्थसंसेवया चाहो जस्रज्जान्युतपेतनः ॥४१॥

परीक्षित ! निपक्षी बीरोंके माशक परशुरामजी
 पाछेके साथ कामधेनु छीटा छी । वह बहुत ही दुः
 हो रही थी । उन्होंने उसे अपने आश्रमपर लाने
 विताजीको सौंप दिया ॥ ३६ ॥ और माहिष्मती
 सहस्रबाहुन तथा उन्होंने जो कुछ किया था, सब का
 विनाशी तथा माश्योंको कष्ट घुनाय । सब कुछ सुन
 जमदग्नि मुनिने कहा—॥ ३७ ॥ 'हाय, हाय, परशुराम
 तुमने बड़ा पाप किया । राम, राम ! तुम बड़े बीर
 परन्तु सर्वदेवमय नरदेवका तुमने धर्म ही
 किया ॥ ३८ ॥ बेय । हमको ब्रह्मण हैं । क्षमा
 प्रमाकसे ही हम संसारमें पूजनीय हुए हैं । और
 क्या, सबके दाया कसानी भी क्षमाके बलसे ही ब्रह्म
 को प्राप्त हुए हैं ॥ ३९ ॥ ब्राह्मणोंकी शोभा क्षम
 दाया ही सूर्यका प्रमाक समान कमक उठती है । स
 शक्तिमान् भगवान् श्रीहरि भी क्षमावानोंपर ही श
 प्रसन्न होते हैं ॥ ४० ॥ बेय । सार्वभौम राजाका ।
 ब्राह्मणकी इत्यासे भी बहकर है । जानो, भगवान्
 स्मरण करते हुए तीर्थोंका सेवन करके अपने पापों
 को नष्ट ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संज्ञितायां नवमस्कन्धे

पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

परशुरामजीके द्वारा क्षमिसहस्रार और विष्णुमित्रजीके वधाकी कथा

श्रीशुक उवाच

पिश्रोपक्षिस्थितो रामस्तथेति कुरुनन्दन ।
 संवत्सरं तीर्थवात्रां चरित्वाऽऽश्रममाव्रजत् ॥१॥
 क्रदापिव रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम् ।
 गन्धवराजं श्रीहन्तमप्सरोभिरपकम्पत् ॥२॥
 बिलोक्यन्ती श्रीहन्तमुदकर्य नदीं गता ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! अपने पिता
 यह विष्ठा भगवान् परशुरामने 'ओ बाबा' कहा
 कर कर की । इसके बाद वे एक बरतक तीर्थया
 करके अपने आश्रमपर छोट आये ॥ १ ॥ एक दिन
 बात है, परशुरामजीकी माता रेणुका गङ्गातटपर गयी
 थी । वहाँ उन्होंने देखा कि गन्धर्वराज विभरव काम
 की माता पहले अप्सराओंके साथ विहार कर
 है ॥ २ ॥ वे जब छानेके छिये मदीतटपर गयी
 परन्तु वहाँ जस्रजीका करते हुए गन्धर्वको देखने

होमकेलां न सस्मर किञ्चिद्विप्ररथसुहा ॥ ३ ॥

अस्त्यर्प्य त विलोक्य मुने स्थापविध्विस्ता ।

व्रामत्य कलशं तस्यौ पुरोघाय कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

अभिचारं मुनिर्हृत्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽमयीत् ।

कैवलां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥ ५ ॥

रामः सम्बोद्धित पित्रा ब्रह्मन् मात्रा सहावधीत् ।

प्रभावहो मुने सम्यक् समाचेत्तपसेष्व न ॥ ६ ॥

परेष्वच्छन्दयामास प्रीत मत्स्यवतीसुतः ।

वत्र इवलां रामोऽपि जीवितं वास्मृतिं वधे ॥ ७ ॥

उपसृस्ते ह्यञ्जलिं निद्रापाय इवाञ्जसा ।

पितुर्विद्वांसपोनीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥ ८ ॥

येऽर्जुनस्य सुता राजन् सरन्त्यं स्वपितुर्वधम् ।

राक्षसीर्यं परामृता छेभिरे शर्म न कञ्चित् ॥ ९ ॥

पद्माऽऽश्रमतां रामे मन्त्रावतरी धनं गते ।

रं सिंहाग्रविपशो लम्बच्छिद्रा उपागमन् ॥ १० ॥

इष्टम्यरात आमीनमावेशितवर्धं मुनिम् ।

मपत्युपमस्रोके जघ्नुस्तं पापनिश्रया ॥ ११ ॥

और पतिदेवके हवनका समय हो गया है—इस बातको भूल गयीं। उनका मन कुछ-कुछ विप्ररथकी ओर खिंच भी गया था ॥ ३ ॥ हवनका समय बीत गया, यह जानकर वे महर्षि जमदग्निसे शापसे मयमित हो गयीं और तुरंत कहाँसे व्याघ्रपद वाली बाघीं। कहाँ जलका कलश महर्षिके सामने रखकर दाय जोड़ लकी हो गयीं ॥ ४ ॥ जमदग्नि मुनिने अपनी पत्नीका मानसिक व्यवहार जान लिया और क्रोध करके कहा—मेरे पुत्रो! इस पापिनीको मार डालो। परन्तु उनके किसी भी पुत्रने उनकी यह आज्ञा स्वीकार नहीं की ॥ ५ ॥ इसका बाद पिताकी आज्ञासे परशुरामजीने मरताके साथ सब भार्योंको भी मार डाला। इसका कारण था। वे अपने पिताजीके योग और तपस्याका प्रभाव मस्तीमस्ति मानते थे ॥ ६ ॥ परशुरामजीके इस क्रमसे सत्यकी-नन्दम महर्षि जमदग्नि बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—प्रेम! तुम्हारी जो इच्छा हो, कर दींगे। परशुरामजीने कहा—पिताजी। मेरी माता और सब भार्य जीवित हो जायें तथा उन्हें इस बातकी खबर न रहे कि मैंने उन्हें मारा था ॥ ७ ॥ परशुरामजीके इस प्रकार कहते ही जैसे कोई सोकर उठे, सबके-सब जनापास ही सज्जाल उठ बैठे। परशुरामजीने अपने पिताजीका लपोबख भालकर ही तो अपने सुहृदोंका वध किया था ॥ ८ ॥

परीक्षित! सबकाहु अर्जुनके को लड़क परशुरामजी से हारकर भाग गये थे, उन्हें अपने पिताके बचकी छद्म निरन्तर बनी रहती थी। कहाँ एक छणके लिये भी उन्हें कैम नहीं मिलता था ॥ ९ ॥ एक दिनकी बात है, परशुरामजी अपने भार्योंके साथ आश्रमसे बाहर बनकी ओर गये हुए थे। यह अवसर पाकर बैर साधनक लिये सहस्रबाहुके लड़के बहो आ पहुँचे ॥ १० ॥ उस समय महर्षि जमदग्नि अग्निराज्यमें बैठे हुए थे और अपनी समस्त वृत्तियोंसे परिवर्धित भगवान्के ही चिन्तनमें मग्न हो खे थे। उन्हें बाहरकी कोई सुब न थी। उसी समय उन पापियोंने जमदग्नि श्रमिकों मार डाला। उन्होंने पहलेसे ही ऐसा पापपूर्ण निभय पर

भाष्यमाना कृपणया राममात्रातिदारुणाः ।

प्रसन्न स्मिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः ॥१२॥

रेणुकादुःस्वशोकार्ता निमन्त्र्याऽऽत्मानमात्मना ।

राम रामेहि तातेति विजुक्रोशोचकैः सती ॥१३॥

तदुपश्रुत्य दूरस्था हा रामेत्यर्तवत्स्वैनम् ।

स्वरपाऽऽश्रममासाद्य तच्छ्रे पितर इतम् ॥१४॥

तद् दुःस्वरोपामर्षार्तिशोकवेगविमोहितः ।

हा तव माधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वासान् स्वर्गतो भवान् ॥१५॥

विलम्बैव पितुर्देहं निधाय आरुपु स्वयम् ।

प्रपूज्य परशुं राम क्षत्रान्ताय मनो दधे ॥१६॥

गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्ममणिहृतत्रियम् ।

तेषां स क्षीर्पभी गजन् मध्ये चक्रे महागिरिम् ॥१७॥

तद्भुक्तेन नदी चोत्तमस्वस्वमभयवद्वात् ।

हेतुं कृत्वा पितृवर्ष क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि ॥१८॥

त्रिःसप्तकृत्व प्रथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभु ।

समन्तपञ्चके चक्रे क्षाणितोदन् इदम् नृप ॥१९॥

पितुः कायेन मन्धाय स्मिर आहाय बहिषि ।

सर्वदेवमयं दधमात्मानमयधन्मसैः ॥२०॥

ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां विश्वम् ।

अश्वमेवे प्रतीचीं सै उद्गात्र उत्तरां विश्वम् ॥२१॥

अश्वेभ्योऽवान्तरदिशं कश्यपाय च मध्यत ।

रक्षता ॥ ११ ॥ परशुरामजी मत्ता रेणुका बड़ी

दीनतासे उनसे प्रार्थना कर रही थी, परन्तु उन सबने

उनकी एक न सुनी। वे बलपूर्वक महर्षि जमदग्नि

सिर काटकर ले गये। परीक्षित ! वास्तवमें वे नीच

क्षत्रिय अत्यन्त क्रूर थे ॥ १२ ॥ सती रेणुका

दुःख और शोकसे जातुर हो गयीं। वे अपने हाथों

अपनी छाती और सिर पीट-पीटकर जोर-जोरसे रोने

लगीं—'परशुराम ! बेटा परशुराम ! क्षीय आओ ॥ १३ ॥

परशुरामजीने बहुत दूरसे माताका 'हा राम !' यह

करुण-कन्दन सुन लिया। वे बड़ी शीघ्रतासे आश्रमपर

आये और वहाँ आकर देख कि पिताजी मार डाले गये

हैं ॥ १४ ॥ परीक्षित ! उस समय परशुरामजीको बड़ा

दुःख हुआ। साप ही कोच, असहिष्णुता, मानसिक

पीडा और शोकके बेगसे वे अत्यन्त मोहित हो गये।

'हाय, पिताजी ! आप तो बड़े म्हात्मा थे ! शिवाजी !

आप तो धर्मके सबेरे पुनारी थे। आप हमजैमोंको छोड़कर

स्वर्ग चले गये ॥ १५ ॥ इस प्रकार निष्पत्तकर उन्होंने

पिताका शरीर तो माथेको सौंप दिया और स्वयं हाथों

परसा चककर क्षत्रियोंका संसार कर डालनेका निश्चय

किया ॥ १६ ॥

परीक्षित ! परशुरामजीने माहिष्मती नगरीमें आकर

सहस्रबाहू अश्वमेध के पुत्रोंके सिरोंसे नगरके कीर्वाँ-धीप

एक बड़ा मारी पशत खड़ा कर दिया। उस नगरकी

घोमा तो उन ब्रह्मपाती नीच क्षत्रियोंके करुण ही नज

हो चुकी थी ॥ १७ ॥ उनके रक्तसे एक बड़ी मयङ्कर

नदी बह निकली, जिसे देखकर मादण्ड्यीक्षियोंका हृदय

भयसे काँप खड़ा था। भगवान् ने देखा कि वर्तमान

क्षत्रिय अत्याचारी हो गये हैं। इसलिये राजन् ! उन्होंने

अपने पिताके वधको निमित्त बनाकर इक्षीस बार पृथ्वी-

को क्षत्रियहीन कर दिया और कुम्भेश्वरके समस्तपञ्चकमें

ऐसे-ऐसे पाँच तालाब बना दिये, जो रक्तक बहसे मरे

हूए थे ॥ १८ ॥ १९ ॥ परशुरामजीने अपने पिताजीका

सिर काटकर उनके चकसे जोड़ दिया और पशोद्वारा

सर्वदेवमय आत्मरूप भगवान् का यजन किया ॥ २० ॥

पशुओंमें उन्होंने पूर्ण शिवा होताकर, दक्षिण दिशा

मार्तन्धरपुत्रे सदस्येभ्यस्तत् परम् ॥२२॥

कर्मवृत्तमुत्तमानविधूताशेषकिञ्चिप ।

सस्त्र्यां ब्रह्मणयां रेजे ज्यत्र इवांशुमान् ॥२३॥

वदेई जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम् ।

अग्नीषां मण्डले सोऽभूत् मत्तमो रामपूजितः ॥२४॥

बाल्मिन्योऽपि भगवान् राम कमरुलोचनः ।

बाष्पास्मिन्तरं राज्ञन् वर्तबिष्यति वै बृहत् ॥२५॥

बाल्मिण्यापि महेन्द्रादौ न्यस्तदण्ड प्रशान्तधी ।

उपवीयमानचरित सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥२६॥

एवं सृगुपु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर ।

अवीर्यं परं भारं सुवोऽहन् बहुशो नृपान् ॥२७॥

गावैर्मून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः ।

उपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्षसम् ॥२८॥

विश्वामित्रस्य चैवासन् पुत्रा एकद्वयं नृप ।

मन्त्रमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते ॥२९॥

पुत्रं कृत्वा शुनःक्षेपं देवराजं च भार्गवम् ।

आजीगर्तं सुवानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम् ॥३०॥

यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीत पुरुष पशुः ।

सुत्वा देवान् प्रजेशादीन् सुमुखे पाशमन्थनात् ॥३१॥

या रावा देवपक्षने देवैर्गाधिपु तापस ।

पक्षाको, पश्चिम दिशा अर्घ्यको और उत्तर दिशा साम
गाम करनेवाले उद्गाताको दे दी ॥ २१ ॥ इसी प्रकार
अग्निफोण आदि विदिशाएँ श्रुतिश्रौंको दी, कश्यपजीको
मय्यमृमि दी, उपद्रवको आर्यावर्त दिया तथा दूसरे
सदस्योंको अम्यान्त्र दिखाएँ प्रदान कर दी ॥ २२ ॥
इसके बाद यज्ञान्त-स्नान करके वे समस्त पापोसे मुक्त
हो गये और ब्रह्मणदी सरस्वतीके तन्पर मेवरहित सूर्यके
समाम शोभायमान हुए ॥ २३ ॥ महर्षि जमदग्नि
स्मृतिरूप सङ्कल्प्य शरीरकी प्राप्ति हो गयी। परब्रह्मणजी
से सम्मानित होकर वे सतरिंघोंके मण्डलमें सातवें श्रुति
हो गये ॥ २४ ॥ परीक्षित ! कमरुलोचन जमदग्नि-
नन्दन भगवान् परब्रह्मण आत्माजी मन्त्रान्तमें सतरिंघोंके
मण्डलमें रहकर केदोंका विस्तार करेंगे ॥ २५ ॥ वे
आज भी किसीको किसी प्रकारका दण्ड न देते हुए
छान्त विचसे मोहने पर्वतपर निवास करते हैं। वहाँ
सिद्ध, गन्धर्व और चारण उनके चरित्रका मधुर स्वरसे
गान करते रहते हैं ॥ २६ ॥ सर्वशक्तिमान् विश्वाम्त्र
भगवान् क्षीरिने इस प्रकार सृगुपसिंहमें अवतार ग्रहण
करके पृथ्वीके मारभूत रानाओंका बहुत बार बध
किया ॥ २७ ॥

महाराज गाविके पुत्र हुए प्रशक्ति अग्निके समाम
परम तेजस्वी विश्वामित्रजी। इन्होंने अपने तपोबलसे
क्षात्रियवक्त्र त्याग करके ब्रह्मतेज प्राप्त कर लिया ॥ २८ ॥
परीक्षित ! विश्वामित्रजीके सौ पुत्र थे। उनमें विचले
पुत्रका नाम था मधुच्छन्दा। इसलिये समी पुत्र
'मधुच्छन्दा' के ही नामसे विख्यात हुए ॥ २९ ॥
विश्वामित्रजीने सृगुपशी अजीगर्तके पुत्र अपने मानजे
शुन शेषको, जिसका एक नाम देवराज भी था, पुत्ररूपमें
स्वीकार कर लिया और अपने पुत्रोंसे कहा कि 'शुमयोग
इसे अपना बड़ा भाई मानो ॥ ३० ॥ यह बड़ी प्रसिद्ध
सृगुपशी शुन शेष था, जो हरिश्चन्द्रके यज्ञमें यज्ञपशुके
रूपमें श्रेष्ठ स्वरूप मया गया था। विश्वामित्रजीन
प्रयापति करण आदि देवताओंकी स्तुति करके उसे
पाशमन्थनसे छुड़ा लिया था। दक्ताओंके यज्ञमें यही

देवरात इति स्थात शुन श्रेयं स भर्माव ॥३२॥

ये मधुच्छन्दमो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत् ।

अश्वपत् तान्मुनिः क्रुद्धो म्सेच्छा भवत दुर्जनाः ॥३३॥

स होवाच मधुच्छन्दा सार्वं पञ्चाशता ततः ।

यमो भवान् संजानीते तस्मिन्निष्ठामहे वयम् ॥३४॥

ज्येष्ठे मन्त्रदत्तं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स हि ।

विश्वामित्रं सुतानाह धीरवन्तो भविष्यथ ।

ये मार्तं मेऽनुपृच्छन्तो धीरवन्तमर्कं माम् ॥३५॥

एष वः कृशिका धीरो देवरातस्तमन्वित ।

अन्ये चाष्टकहारीतजयक्रतुमहादयः ॥३६॥

एवं कौशिकगार्त्रं तु विश्वामित्रं पृथग्विधम् ।

प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि सर्वं प्रकल्पितम् ॥३७॥

शुन श्रेय देवरातोद्वारा विश्वामित्रजीको दिया गया था, अतः 'श्रेयं रात' इस व्युत्पत्तिके अनुसार गाथिकारों ने यह तपस्वी देवरातके नामसे विख्यात हुआ ॥३१-३२॥ विश्वामित्रजीके पुत्रोंमें जो बड़े थे, उन्हें शुन-शेपके बच्चा मारई माननेकी बात अच्छी न लगी । इसपर विश्वामित्रजी-ने क्रोधित होकर उन्हें शाप दे दिया कि 'शुनो ! तुम सब म्लेच्छ हो जाओ' ॥ ३३ ॥ इस प्रकार जब ठग्सस भर्मा म्लेच्छ हो गये, तब विश्वामित्रजीके चिकले पुत्र मधुच्छन्दाने अपनेसे छाने पचासों माइयोंके साथ कहा— 'पिताजी ! आप हमलोगोंको जो आज्ञा करते हैं, हम उसका पालन करनेके लिये तैयार हैं ॥ ३४ ॥ यह कहकर मधुच्छन्दाने मन्त्रदत्त शुन-शेपको बना मारई खिकार कर लिया और कहा कि 'हम सब तुम्हारे अनुयायी—छोटे मारई हैं ।' तब विश्वामित्रजीने अपने इन आवाहकरी पुत्रोंसे कहा—'तुमलोगोंने मेरी बात मानकर मेरे सम्मानकी रक्षा की है, इसलिये तुमलोगों-जैसे सुपुत्र प्राप्त करके मैं बन्धु हुआ । मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें भी सुपुत्र प्राप्त होंगे ॥ ३५ ॥ मेरे प्यारे पुत्रो ! यह देकरत शुन-शेप भी तुम्हारे ही गोत्रका है । तुमलोग इसकी आज्ञामें रहना ।' परीक्षित ! विश्वामित्रजीके अष्टक, द्वापित, जप और क्रतुमान् आदि और भी पुत्र थे ॥ ३६ ॥ इस प्रकार विश्वामित्रजीकी सन्तानोंसे कौशिकगोत्रमें कई भेद हो गये और देवरात को बच्चा मारई माननेके कारण उसका प्रकर ही इसरा हो गया ॥ ३७ ॥

इति भीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या मूर्ध्नितायां भवमर्कस्य
वीरशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ मसदशोऽध्यायः

रात्रपृथ रति आदि राजाओंके बहाक्य वर्णन

भीमो उवाच

भीमकदेवजी कहत हैं—परीक्षित ! राजेन्द्र

य पुरातन पुत्र आपुनसाधिवन् मुता ।

पुंगवकाय एक पुत्र था आपु । उनके पाँच लड़के हुए—

नहुष धनवृद्ध रजि रम्भ धीरमान् ॥ १ ॥

नहुष, धनवृद्ध, रजि, शक्ति-गाली रम्भ और जनेना । अब

१ बल । २ बल्य तना । ३ वीरवृद्धवत्तमा । ४ धनवीर प्रभिये इच्छते आगे 'परधुपमपरितं नाम' इत्यादि अधिक पाठ है । ५ वात्सल्यविक्रम ।

वनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रहृषोऽन्वयम् ।
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ २ ॥
 क्षत्रहृषो गृत्समद इति गृत्समदभूत् ।
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ३ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ४ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ५ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ६ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ७ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ८ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ९ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ १० ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ ११ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ १२ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ १३ ॥
 क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः ॥ १४ ॥

क्षत्रहृषोऽन्वयसात्तु सुहोत्रस्यात्मजाश्रयः । सुहोत्र-
 के तीन पुत्र हुए—काश्य कुश और गृत्समद । गृत्समदका
 पुत्र हुआ क्षत्रहृष । इसी क्षत्रहृषके पुत्र श्रग्वेदियोंमें श्रेष्ठ
 मुनिवर शौनकाजी हुए ॥ १—३ ॥ काश्यका पुत्र कशिश, कशिश-
 का राष्ट्र, राष्ट्रका दीक्षन्मा और दीर्घतमाके वन्ततरि । यही
 आयुर्वेदके प्रवर्तक हैं ॥ ४ ॥ ये यजुर्मात्रके मोक्ष और भगवान्
 वासुदेवके वंश हैं । इनके स्मरणमात्रसे ही सब प्रकारके
 रोग दूर हो जाते हैं । वन्ततरिका पुत्र हुआ केतुमान्
 और केतुमान्का भीमरथ ॥ ५ ॥ भीमरथका दिवोदास
 और दिवोदासका शुमान्—जिसका एक नाम प्रवर्दन
 भी है । यही शुमान् शत्रुजित्, वस्त, श्रुतध्वज और
 कुक्षध्वजके नामसे भी प्रसिद्ध है । शुमान्के ही पुत्र
 अर्क आदि हुए ॥ ६ ॥ परीक्षित । अर्कके सिन्धु
 और किसी राजासे छलछद्म द्वारा (६९०००) वर्षतक
 युवा रहकर पृथ्वीका राज्य नहीं छोड़ा ॥ ७ ॥ अर्कका
 पुत्र हुआ सन्तति, सन्ततिका सुनीष, सुनीषका सुकेतन,
 सुकेतनका धर्मकेतु और धर्मकेतुका सत्यकेतु ॥ ८ ॥
 सत्यकेतुसे वृद्धकेतु, वृद्धकेतुसे राजा सुकुमार, सुकुमारसे
 भीतिहोत्र, भीतिहोत्रसे र्मा और र्मासे राजा मार्गभूमिका
 जन्म हुआ ॥ ९ ॥

ये सबके-मह क्षत्रहृषके वंशमें कशिशसे उत्पन्न
 नरपति हुए । रम्भके पुत्रका नाम था रम्भ, उससे
 गम्भीर और गम्भीरसे अक्रियका जन्म हुआ ॥ १० ॥
 अक्रियकी पत्नीसे शाङ्गवरा वन्त । अब अनेनाका वंश
 सुना । अनेनाका पुत्र था शुभ्र, शुभ्रका शुचि, शुचिका
 विकसुद् और विकसुद्का धर्मसारथि ॥ ११ ॥ धर्म-
 सारथिके पुत्र थे शान्तरथ । शान्तरथ आत्महानी होनेके
 कारण इन्द्रहृष ये उन्हें मन्तानकी आवश्यकता न
 थी । परीक्षित । आयुके पुत्र रजिके आत्यस्त तेजस्वी
 पौत्र ही पुत्र थे ॥ १२ ॥ देवताओंकी प्रार्थनासे रजिने
 देवियोंका वध करके इन्द्रके सगका राज्य लिया । परन्तु
 वे अपन प्रह्लाद आदि शत्रुओंसे मयवीत रहते थे, इस
 लिये उन्होंने वह स्वर्ग फिर रजिके लीया दिया और
 उनके चरण पकड़कर उन्हींको अपनी रक्षाका भार भी
 सौंप दिया । अब रजिकी सूर्य हो गयी, तब इन्द्रके

वसंतपिभृगव शिष्योऽस्मान पितामहः ।

ममदाय धृतवती शूद्रो वेदमिवावसी ॥१४॥

एव शपन्ती शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत ।

रुपा श्वसन्तपुरङ्गीव धर्पिता ददृच्छता ॥१५॥

आत्मपुत्रमविद्याय कृत्यसे बहु भिक्षुकि ।

किं न प्रतीक्षसऽस्माकं गृहान् बलिभुजो यथा ॥१६॥

एवंविधं सुपरुषं शिष्याऽऽचापसुतां सतीम् ।

शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे वीस आदाय मन्युना ॥१७॥

तस्यां गतायां स्वगृहं ययाविर्मृगयां चरन् ।

प्राप्ता यच्छया कूप जलाधी तां ददर्श ह ॥१८॥

दत्त्वा मयुवरं वासस्तस्यै राजा विवाससे ।

गृहात्वा पाणिना पाणिमुञ्जहार दयापर ॥१९॥

त वीरमाहात्मनसी प्रमनिर्मरया गिरा ।

राजंस्त्वया गृहाता म पाणिः परपुरञ्जय ॥२०॥

हन्तप्राहाऽपरा मा भूद् गृहीतायाम्बया हि म ।

एव शृणुता वीर मम्बधा नो न पौरुष ।

यदिदं हानप्रापा भवता दर्शनं मम ॥२१॥

न ब्राह्मणा म भरिता हन्तप्राहा महाभुज ।

कथम् वाहम्यम्य गता नू यमज्ञप पुरा ॥२२॥

कन्दना और स्तुति करते हैं—उन्हीं ब्राह्मणोंमें हम सबसे श्रेष्ठ मृगवशी हैं । और इसका पितृ प्रपन्न तो असुर है, फिर हमारा शिष्य है । इसपर भी इस दुष्टाने जैसे शूद्र वेद पढ़ ले, उसी तरह हमारे कपड़ोंको पहन लिया है ॥ १२ १४ ॥ जब देवपानी इस प्रकार गाळी देन लगी, तब शर्मिष्ठा क्रोधसे तिष्ठमिष्टा ठही । वह चोट खापी हुई नागिनके समान लंबी साँस लेने लगी । उसने अपने दाँतोंसे होठ दबाकर कहा— ॥ १५ ॥ भिक्षुकिन । तू इतना कहकर रही है । तुझे कुछ अपनी जानका भी पता है ? जैसे कौए और कुत्ते हमारे दरवाजे पर छेटीके टुकड़ोंके चिये प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही क्या तुम भी हमारे घरोंकी ओर नहीं ताकती रहती ? ॥ १६ ॥ शर्मिष्ठाने इस प्रकार कभी-कभी बात कहकर गुरुपुत्री देवपानीका तिरस्कार किया और क्रायवश उसके कब्र छीनकर उसे कुर्रमें ढकेल दिया ॥ १७ ॥

शर्मिष्ठके बलि जानेके बाद संयोगवश शिखर लेफ्ते हुए राजा ययाति उठर आ निकले । उन्हें अपनी आश्चर्यचकितता थी, इसलिये कुर्रमें पड़ी हुई देवपानीका उन्होंने देख लिया ॥ १८ ॥ उस समय वह कलहिन थी । इसलिये उन्होंने अपना दुपट्टा उसे दे दिया और दया करके अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर उसे बाहर निकाल लिया ॥ १९ ॥ देवपानीने प्रेममयी बाणी से वीर ययातिसे कहा—वीरशिरोमणे राजन् ! आज आपने मेरा हाथ पकड़ा है । अब जब आपने मेरा हाथ पकड़ लिया, तब कुछ दूँसरा इसे न पकड़ । वीरज्येष्ठ ! कुर्रमें गिर जानेपर मुझ तो आपका अचानक दर्शन हुआ है यह अमानुषकी ही किया हुआ सम्भव समझना चाहिये । इसमें हमने गौरवी या और किसी मनुष्यकी कोई चेष्टा नहीं है ॥ २० २१ ॥ वीरज्येष्ठ ! पहले मैंने गृहस्थाविव पुत्र कथन श्राप न किया था, इसपर उसने भी मुझ श्राप दे दिया । इसी कारण ब्राह्मण मेरा पणिमण्डन नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

१ वसन्तपिभृगव ।

२ इत्यर्थः वीर । पुत्र कथन श्रापन करीत मृगवशीकी विद्या पण्य था । आपने मन्त्राल करने जब वह आने पर तब मन्त्राल देवपानीने हमें तब करवा कहा । वास्तव गुरुपुत्री होनेके कारण कथने उसका प्रस्ताव श्राप मरी ॥ १४ ॥ इत्यादि देवपानीने उसे श्राप दे । १५ ॥ उपरान्त पत्नी हुई विद्या निरुद्ध १८ ॥ १९ ॥ कथने भी उसे श्राप दिया कि वीरजी मन्त्राल तुम्हारे कर्तव्यसे शिष्टता न करोगे ।

साधिरनभिप्रेत दैवोपहृतसर्मात्मनः ।

येनस्तु तद्वत्तं ध्रुव्या प्रतिनग्राह सङ्घः ॥२३॥

गते रात्रिनि सा कीरे तत्र सा रुदती पितुः ।

नवेदयन् ततः सर्वमुक्त धर्मिष्ठया कृतम् ॥२४॥

इमं न भगवान् काव्य पौरोहित्य विगर्हयन् ।

स्तुवन इति च कापोती दुहित्रा स ययौ पुरात् ॥२५॥

इपपत्वा उमाङ्गाय प्रत्यनीकविषयितम् ।

गुरुं प्रसादयन् भूर्जपादयोः पतितः पथि ॥२६॥

धनार्घसन्पुर्णगवान् द्विष्य व्याघट मार्गवः ।

कामोऽस्माः क्रियतां राजन् नैनीं त्यक्तुमिहोत्सहे ॥२७॥

तथैत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम् ।

मित्रा दद्या यतो मास्ये सातुगा मातु मामतु ॥२८॥

सानां तत् सङ्घट वीक्ष्य तदर्धस्य च गौरवम् ।

दशयानी पर्यपरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥ २९॥

नाशुपाय सुतां दत्त्वा सह धर्मिष्ठयोऽभना ।

प्रसाद राक्त्वष्टमिष्ठामाधारतरुणे न कर्हिचित् ॥३०॥

यथास्मिन्ने शास्त्रप्रतिकूल होनेक कारण यह सम्बन्ध अभीष्ट
ता न था, परन्तु उन्होंने देखा कि प्रारम्भने स्वयं ही मुझे
यह उपहार दिया है, और मेरा मन भी इसकी ओर खिंच
रहा है । इसलिये यथाहिते उसकी वक्त मान ली । २३ ।

धीर राजा यथानि जब चले गये, तब देवयानी
रोती-पीटती अपने पित्त शुक्राचार्यके पास पहुँची और
धर्मिष्ठाने जो कुछ किया था, वह सब उन्हें कह
सुनाया ॥ २४ ॥ धर्मिष्ठाने व्याघ्रारसे भगवान् शुक्र-
चार्यजीका भी मन उचट गया । वे पुरोहितार्थकी निन्दा
करने लगे । उन्होंने सोचा कि इसकी अपेक्षा तो स्नेह
या बाजारमेंसे कन्नूतकी तरह कुछ बिनकर खा लेना
अच्छ है । अतः अपनी कृत्या देवयानीको साथ लेकर
वे नगरसे निकल पड़े ॥ २५ ॥ जब धृतराज्यको यह
माहम हुआ, तो उनके मनमें यह शङ्का हुई कि गुरुजी
क्यों शत्रुओंकी जीत न करा दें, अपना मुझे शपथ न
दे दें । अतएव वे उनको प्रसन्न करनेके लिये पीछे-पीछ
गये और रास्तेमें उनके चरणोंपर सिरके एक गिर
गये ॥ २६ ॥ भगवान् शुक्राचार्यजीका क्रोध तो
आवे क्षणकर था । उन्होंने धृतराज्यसे कहा—
पुत्रन् । मैं अपनी पुत्री देवयानीको नहीं छोड़ सकता ।
इसलिये इसकी जो इच्छा हो, तुम पूरी कर दो । फिर कुछ
लौट चलनेमें कोई आपत्ति न होगी ॥ २७ ॥ जब
धृतराज्यने शीक ही यहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर
ली, तब देवयानीने अपने मनकी बात कही । उसने
कहा—‘मित्रावी मुस जिम धिन्नीको दे ८ और मैं
नहीं-कहीं जाऊँ, धर्मिष्ठ अपनी सहयोगी साथ भी
सेनाके लिये वहीं बचे ॥ २८ ॥

धर्मिष्ठाने अपने परिवारवालोंका सङ्घ और उसके
कार्यका गौरव देखकर देवयानीकी बात स्वीकार कर ली ।
यह अपनी एक हजार सहयोगीके साथ दासीक सम्मान
उसकी सेवा करने लगी ॥ २९ ॥ शुक्राचार्यजीने देव-
यानीका विवाह राजा परमनिके साथ कर दिया और
धर्मिष्ठको दासीक रूपमें दत्त उनमें पर दिया—
पुत्रन् । इसको अपनी सेवका कभी न जान दना । ३० ।

विलास्योन्नतसौ राजन्धर्षिष्ठा संप्रजां कथित् ।

तमेव यत्र रहसि सख्या पतिमूर्ता सती ॥३१॥

राजपुत्र्यार्थिहोऽपत्ये धर्मचावेक्ष्य धर्मवित् ।

सरन्ध्रकवच काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥३२॥

यद् व त्वत्सु चैव देवयानी व्यस्रायत ।

द्वन्द्वं चानुं च पूरु च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥३३॥

गर्मसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय भानिनी ।

देवयानी पितुर्गेहं यया क्रोधविमूर्च्छिता ॥३४॥

मियामनुगतः कामी बचोभिरुपमन्त्रयन् ।

न प्रसादयितुं शोक पादसबाहनादिभिः ॥३५॥

शुक्रन्तमाह कुपित स्त्रीक्रमातृवपूरुष ।

त्वां जरा विश्रुतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥३६॥

ययातिरुवाच

अवृत्ताऽस्म्यद्य कामानां प्रदन् दुहितरि सा ते ।

व्यन्यस्यतां यथाकामं वयमा याऽभिभाष्यति ॥३७॥

इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं व्यतृप्तवशेषत ।

यदा हात प्रतीच्छतां अगं दहि निजं वयः ॥३८॥

मातामहृतां वत्स न स्मा निषयेष्वहम् ।

वयमा भवदीयन रंभ्ये कतिपयाः समाः ॥३९॥

यदुवाच

नामह जग्मा म्यातुमन्त्रा प्राप्ताया वय ।

१ मृगः ।

परीक्षित् ! कुछ ही दिनों बाद देवयानी पुत्रवती हो गयी । उसको पुत्रवती देखकर एक दिन शर्मिष्ठा ने भी अपने शत्रुकाजमें देवयानी के पनि यथातिसे एकमत्तमें सहवासकी याचना की ॥ ३१ ॥ शर्मिष्ठकी पुत्रके त्रिये प्रार्थना धर्मसम्पन्न है—यह देखकर धर्म राजा ययानि ने शुक्राचार्यकी बात बाद रहनेपर भी यही निश्चय किया कि सम्पन्न प्रारम्भके अनुसार जो होना होगा, हो जायगा ॥ ३२ ॥ देवयानीके दो पुत्र हुए—यद् और तुर्वसु तथा वृषर्षाकी पुत्री शर्मिष्ठाके तीन पुत्र हुए—दुसु, अनु और पूरु ॥ ३३ ॥ जब मानिनी देवयानीको यह भाव हुआ कि शर्मिष्ठाको भी मेरे पति के द्वारा ही गम रखा था, तब वह क्रोधसे बेसुव होकर अपने पिताके घर चली गयी ॥ ३४ ॥ कामी ययानि ने मीठी-मीठी बातें, अनुनय-विनय और धरण दबाने आदि द्वारा देवयानीको मनानेकी चेष्टा की, उसके पीछे-पीछे बहाने गये भी, परन्तु मना न सके । ३५ । शुक्राचार्यजी ने भी कावयें भरकर ययानिसे कहा—यह अत्यन्त स्त्रीहन्त्र, मन्त्रबुद्धि और छद्म है । जा, तेरे शरीरमें यह युक्ता आ जाय, जो मनुष्योंको कुम्पन कर देता है ॥ ३६ ॥

ययानिने कहा—श्वश्रुन् ! आपकी पुत्रीके साथ निरप-भोग पड़ते-पड़ते अभी मेरी तृप्ति नहीं हुई है । इस कारणसे तो आपकी पुत्रीका भी अनिष्ट ही है । इसपर शुक्राचार्यने कहा—अच्छा जहाँ जो प्रसम्पन्न से तुम्हें अपनी जगती द द, उससे अन्ना सुझाया गया ॥ ३७ ॥ शुक्राचार्यजीने जब ऐसी व्यवस्था दे ली, तब कामी राजाजीने आपन ययानिने अपन पुत्र यदुको पग—प्रेम । तुम अपनी जगती मुझे द न । और अपने नानास्र किया हुआ यह सुझात तुम स्वीकार कर न । क्योंकि मेरे प्यारे पुत्र । मैं अभी निरपेक्ष हूँ नही हुआ हूँ । इसीसे तुम्हारी आयु कम भय पुत्रावस्था और अन्तर्भोग ॥ ३८ ३९ ॥

यदुन कहा—निजजी ! जिना समयसे ही प्राप्त हुआ अन्तर सुझात देखते ही मैं जीना भी नहीं

वसित्वा सुखं प्राप्स्य वैतृष्य नैति पूरुषः ॥४०॥

हर्षमुदितः पित्रा द्रुमुभानुभ मारुत ।

प्रसाधस्युरधर्मज्ञा अनित्ये नित्यपुद्गलः ॥४१॥

वृष्ट्यै तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम् ।

न त्वमप्रवक्ष्व वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥४२॥

पूरुषाच

को जु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान् ।

प्रतिर्तुं धर्मो यस्य प्रसादात् विन्दते परम् ॥४३॥

उत्तमवित्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तुं मध्यमः ।

अधमोऽधमज्ञा कुर्यादकर्तोऽपरितं पितुः ॥४४॥

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाजरां पितुः ।

सोऽपि वदवसा कामात् यथावच्छुजुषे नृप ॥४५॥

सप्तश्रीपतिः सम्पक् पितृवत् पालयन् प्रजाः ।

यथापजोषं विपयाञ्छुजुषेऽभ्याहतेन्द्रियः ॥४६॥

देवयानाप्यनुदिन मनोवादेऽवस्तुभिः ।

प्रयस परमां प्रीतिमुवाह प्रयसी रह ॥४७॥

मयश्च यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्मूर्तिदक्षिणे ।

सर्वदेवमप देव सर्वदेवमय हरिम् ॥४८॥

चाहता । न्योनि कोई भी मनुष्य जन्मक नियम-सुकर अनुभव नहीं कर लेता, तत्काल उसे उससे वैरम्प नहीं होता ॥ ४० ॥ परीक्षित । इसी प्रकार तुर्यसु, द्रुमु और अनुने भी पिताकी आज्ञा असीम्बर कर दी । सच पूछे तो उन पुत्रोंको धर्मकर तब मन्त्रम नहीं था । वे इस अनित्य शरीरको ही नित्य माने बैठे थे ॥ ४१ ॥ अब यथातिन अवस्थामें सुयमे छोटे किन्तु गुणोंमें बड़े अपने पुत्र पूरुको सुझकर पूछ और कहा—पेटा । अपने बड़े माद्योंके समान तुम्हें तो मेरी बात नहीं टाळनी चाहिये ॥ ४२ ॥

पूरुने कहा—पिताजी ! पिताकी कृपासे मनुष्यको परम पदकी प्राप्ति हो सकती है । वास्तवमें पुत्रकर शरीर पिताका ही दिया हुआ है । ऐसी अवस्थामें ऐसा कौन है, जो इस संसारमें पिताके उपकारोंका बदला चुका सके ? ॥ ४३ ॥ उत्तम पुत्र तो वह है, जो पिताके मन की बात बिना कहे ही कर दे । वहनेपर श्रद्धाके साथ आज्ञापालन करनेवाले पुत्रका मध्यम कहते हैं । जो आज्ञा प्राप्त होनेपर भी अवज्ञासे उसका पावन करे, वह अधम पुत्र है । और जो किसी प्रकार भी पिताकी आज्ञाका पावन नहीं करता, उसको तो पुत्र कहना ही भ्रूत है । वह तो पिताका मन्त्र-मूत्र ही है ॥ ४४ ॥ परीक्षित । इस प्रकार कहकर पूरुने बड़ आनन्दसे अपने पिताका मुद्रणा स्वीकार कर लिया । राजा ययानि भी उसकी जबानी सेवत पूरुवत् विरयोंका सेवन करने लगे ॥ ४५ ॥ वे सातों ऋषीके एकद्वय सम्राट् थे । पिताके समान मन्त्रीमौलि प्रजाका पावन करते थे । उनकी इन्द्रियोंमें पूरी शक्ति थी और वे यथावसर यथा-प्राप्त विरयोंका यथेच्छ उपभोग करते थे ॥ ४६ ॥ देव-यानी उनकी विपणन फली थी । वह अपने विपणन ययानिके अपने मन, बाणी, शरीर और वस्तुओंका दारा निन-निन और भी प्रसन्न करने लगी । और एकद्वयमें सुख देने लगी ॥ ४७ ॥ राजा ययानि समस्त धर्मोंके प्रतिग्रह सर्वदेववत्प यज्ञपुरुष भावान् श्रीदक्षिण बहुत-से बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यजन किया ॥ ४८ ॥

यसिन्निर्दं विरचितं ध्योम्नीव जलदानलिः ।

नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥४९॥

तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेव गुहाश्रयम् ।

नारायणमपीवांस निराङ्गीरसश्च प्रभुम् ॥५०॥

एवं वर्षसहस्राणि मनःपट्टैर्मनःसुखम् ।

विदधानोऽपि नादृष्यत् सार्वभौमः कदिन्निवैः ॥५१॥

जैसे आकाशमें दल-के-दल बादल दीखते हैं और कभी नहीं भी दीखते, वैसे ही परमहमके स्वरूपमें यह जगत् स्वप्न, माया और मनोराज्यके समान प्रकटित है । यह कभी अनेक नाम और रूपोंके रूपमें प्रतीत होता है, और कभी नहीं भी ॥ ४९ ॥ वे परमात्म स्वयंके रूपमें निराजमान हैं । उनका स्वरूप स्वप्नसे भी सूक्ष्म है । उनकी सर्वशक्तिमान् सकलप्रापी भगवान् श्रीनारायणजी अपने हृदयमें स्थापित करके राजा क्यानिने निष्काम भावसे उनका यजन किया ॥ ५० ॥ इस प्रकार एक हजार वर्षक उनहोंने अपनी उच्छृङ्खल इन्द्रियोंके साथ मनको जोड़कर उसके प्रिय किम्योंको भोगा । परन्तु इतनेपर भी चक्रवर्त्ति सम्राट् यक्षकिरी भोगोंसे तृप्ति न हो सकी ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसा संहितायां नवमस्कन्धे-

अष्टदशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

यथासिद्धा गृहस्थाणाम्

श्रीशुक उवाच

स इत्यभाषरन् कामान् स्त्रीषोऽपह्वमारामनः ।

मुदृष्ट्वा प्रियायै निर्विण्णो गाधामेतामगाधत ॥ १ ॥

शृणु भार्गव्यम् गाथां मद्विधाधरितां हवि ।

धीरा यम्यानुशाचन्ति यने ग्रामनिषागिनः ॥ २ ॥

बन्धुकायने कबिदू रिभिन्वन् प्रियमारामनः ।

ददन् रूप पतितां स्वकमवगमामघाम् ॥ ३ ॥

तस्या उद्वेगापापं बन्धः कामी विचिन्तयन् ।

स्पृष्ट्वा त्रीधमुदृष्ट्य रिपागाग्रण राधमी ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! राजा क्याति इस प्रकार स्त्रीके चरामें होकर विन्योका उपभोग करते रहे । एक दिन जब अपने बन्धु फलनपर दृष्टि गयी तब उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और उन्होंने अपनी प्रिय कनी देव्यानीसे इस गथापत्र गान किया ॥ १ ॥ 'शृणु-मन्त्रिनी ! तुम यह गाथा सुनो । पृथ्वीमें गये ही सम्मन विन्मीर्य पर सत्य इन्द्रिस्त है । पेटे ही ममतासी विन्मी पुरुषोंके सम्बन्धमें बनवासी ब्रितेन्द्रिय पुरुष दुष्क साध विचार किया करते हैं कि इनका कल्याण करने होगा ॥ २ ॥ एक था यशस । य-यनमें अनेक ही आनेरय प्रिय प्यनेतारी वस्तुएँ हुईं हवा हुआ धूम रहा था । उमन हवा नि आन फलनरा पय परती कूरमे गिर गयी है ॥ ३ ॥ यह यशस यदा यशसि था । य-साधने व्या नि इस यशसीसे रिम प्रसर कूरमे निराग्र जाय । उमने अपने सौगत कूरमे कामारी गनी गा-रागी और गाना सदा कर पिया ॥ ४ ॥

गोपीयं कृपात् सुभोगी तमेव चक्रे किल ।
 वा इव ससुदीक्ष्य बह्व्योऽन्वाः कान्तकामिनीः ॥५॥
 यमन शम्यल प्रेष्टं मीद्वांस यावकोविदम् ।
 स मन्त्रोऽवपस्तामां बह्वीनां रतिवर्धन ।
 तमे कामव्रह्मस्त आत्मान नावशुष्यत ॥ ६ ॥
 तमे प्रेष्ठवमया रममाणमजान्यया ।
 निगोक्ष्य कृपसंविग्ना नासृष्यदु वस्तकर्मवत् ॥ ७ ॥
 व इहं सुहृदय कामिन क्षणसीदवम् ।
 शत्रिपारममुत्सृज्य स्वामिन दुःखिता ययौ ॥ ८ ॥
 शोभति चाजुगुतः क्षेमः कृपणस्तां प्रसादितुम् ।
 हर्षित्विवाकारं नाश्रुनोद पथि संधितुम् ॥ ९ ॥
 तस्मात्तत्र द्विषः कश्चिद्वास्त्रान्मच्छिनद् रुपा ।
 तन्मन्त्रं कृपयं मूय संदधेऽर्थाय योगवित ॥ १० ॥
 सम्प्रदाहृष्यः सोऽपि ब्रह्मया कृपलब्धया ।
 कलं बहुविधं भद्रं कामैर्नाद्यापि सुष्यति ॥ ११ ॥
 तयाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रिणः ।
 अत्मान नाभिवानामि मोहितस्तव मायया ॥ १२ ॥
 यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पद्मम् । स्त्रियः ।
 न दुष्यन्ति मनःप्रीतिं पुनः कामव्रह्मस्त से ॥ १३ ॥

जब वह सुन्दरी क्वरी कुर्से निकली, तो उसने उस
 क्वरसे ही प्रेम करना चाहा । वह दाढ़ी-मूँछमण्डित
 क्वरा हृष्ट-मुष्ट, जवान, क्वरियोंके सुख देनेवाला,
 किहारकुञ्जल और बहुत प्यारा था । जब दूसरी क्वरियों-
 ने देख कि कुर्से में गिरी हुई क्वरीने उसे अपना प्रेमात्र
 चुन लिया है, तब उन्होंने भी उसीको अपना पति बना
 लिया । वे तो पहलेसे ही पतिपत्नी तन्त्रारमें थीं । उस
 क्वरके सिरपर कामरूप पिशाच सवार था । वह अकल्प
 ही बहुत-सी क्वरियोंके साथ किहार करने लगा और
 अपनी सब सुख-सुख खो बैठा ॥ ५ ॥ ६ ॥ जब उसकी
 कुर्सेसे निकली हुई प्रियतमा क्वरीने देख कि मेरा
 पति तो अपनी दूसरी प्रियतमा क्वरीसे बिहार कर रहा
 है, तो उसे क्वरकी यह करतूत सहन न हुई ॥ ७ ॥
 उसने देख कि यह तो बड़ा कामी है, इसके प्रेमका
 कोई मरोसा नहीं है और यह मित्रके रूपमें शत्रुका काम
 कर रहा है । अतः वह क्वरी उस इन्द्रियगोष्ठ्य क्वर
 को छोड़कर वहाँ से उसे अपने पावनेवालेका पास चली
 गयी ॥ ८ ॥ वह दीन कामी क्वरा उसे मनानेके लिये
 भैंसे करता हुआ उसके पीछे-पीछे गया । परन्तु उसे
 काममें मत्ता न सका ॥ ९ ॥ उस क्वरीका कामी एक
 ब्राह्मण था । उसने क्वरकी जाकर क्वरके लटकते हुए
 अण्डकोयले बहट दिया । परन्तु फिर उस क्वरीका ही
 मन्त्र करनेके लिये फिरसे उसे जाइ भी दिया । उसे
 इस प्रकारके बहुत-से उपाय माश्रम थे ॥ १० ॥ प्रिय ।
 इस प्रकार अण्डकोयल कुछ जानेकर था वरता फिर कुर्से
 से निकली हुई क्वरीके साथ बहुत निरालोक विनय
 योग करता रहा, परन्तु आजन्म उसे सन्तोस न
 हुआ ॥ ११ ॥ सुन्दरी । मेरी भी यही रक्षा न ।
 तुम्हारे प्रेमाश्रममें बँधकर मैं भी अल्पन गीत हो गया ।
 तुम्हारी मायामें मोहित होकर मैं अपने-आपका भी
 भूल गया हूँ ॥ १२ ॥

प्रिये । पृथिवीमें जितने भी धाम्य (चापर, जा आदि),
 सुकर्ण, पद्म और निर्व्यां हैं—वे सबके-सब मित्र न भी
 उस पुरुषके मन्त्रसे सम्पुट नहीं कर सकते, जो कामनाओं-

भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तम विज्ञाम् ।

अभिपिच्यमाप्रजास्तस्य वक्षे स्याप्य वनं ययौ ॥२३॥

आसेवितं वर्षाणान् पद्मवर्गं विपयेषु सः ।

धनेन मुमुचे नीढं जातपथ इव द्विजः ॥२४॥

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग

आत्मानुभूत्या विवृण्विलिङ्गः ।

परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे

लेमे गतिं भागवतीं प्रसीतः ॥२५॥

भुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः ।

स्त्रीपुंसोः स्नेहवृद्ध्यात् परिहासमिवेरितम् ॥२६॥

सा संनिवास सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम् ।

विद्यापेक्षरतन्त्राणां मायाविरचित प्रेमोः ॥२७॥

सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौषम्येन भार्गवी ।

हृष्येभनः समावेदय व्यधुनोदिलङ्गयात्मनः ॥२८॥

नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।

सर्वभूताधिवासाय शान्ताय पृथ्वे नमः ॥२९॥ । तच्च है, उमे में नमस्कार करती हैं ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसी संहितायां नवमस्कन्धः

एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

पूतके पक्ष राजा दुष्यन्त और भरतर्षा अत्रिश्वा यजन

श्रीगुरु उवाच

एषां प्रकल्पामि यत्र आवाऽमि भारत ।

सारे भूमण्डलस्य समस्त सम्पत्तियोंके योग्यतम पात्र पूरुको अपने राज्यपर अभिषिक्त करके तथा वह मायोंको उसके अधीन बनाकर वे वनमें चले गये ॥ २३ ॥ यद्यपि राजा ययानि बहुत कौतुक इन्द्रियोंसे विन्योक्त सुख भोग था—परन्तु जैसे पौख निकल आनेपर पक्षी अपना पोसत्र छोड़ देता है, वैसे ही उन्होंने एक क्षणमें ही सब कुछ छोड़ दिया ॥ २४ ॥ वनमें जाकर राजा ययानिने समस्त वास्तवियोंसे छुटी पा छी । अत्म-साक्षात्कारके द्वारा उनका त्रिगुणमय मित्रदरीर नष्ट हो गया । उन्होंने माया-मत्से रहित परमेश परमेश्वर वासुदेवमें मित्र्य कर वह भागवती गति प्राप्त की, जो बड़े-बड़े भगवान्‌के प्रेमी सर्वोच्च प्राप्त होती है ॥ २५ ॥

जब देवयानीने यह श्रवण सुनी, तो उसने समझा कि ये मुझे निवृत्तिमार्गके उद्ये प्राप्तसाहित कर रहे हैं । क्योंकि श्री-गुरुमें परस्पर प्रेमेके कारण विरह होनेपर निवृत्तता होती है, यह सोचकर ही उन्होंने यह बात हँसी-हँसीमें कही है ॥ २६ ॥ स्वजन-सम्बन्धियोंका— जो ईश्वरके अधीन हैं—एक स्थानपर इयद्वा हो जाना बेसा ही है, जैसा प्याऊपर पसिकोंका । यह सब भगवान्‌की मायाका खेल और स्वप्नके समीप ही है । ऐसा समझकर देवयानीने सब पदार्थोंकी आसक्ति त्याग दी और अपने मनको भगवान्‌ की दृष्टिमें तन्मय करके बन्धनके हेतु मित्रदरीरका परित्याग कर दिया—बहु भगवान्‌का प्राप्त हो गयी ॥ २७-२८ ॥ उसने भगवान्‌ को नमस्कार करके कहा—‘समस्त ब्रह्मके रचयिता, सर्वान्तर्धारी, सबके आद्यप्रवर्ण्य सदाकिमन् भगवान् वासुदेवका नमस्कार है । जो परम शान्त और अनन्त

यत्र राक्षस्यो वक्ष्या प्रहवक्ष्याश्च क्षत्रिरे ॥ १ ॥
 जनमेजयोऽमृतं पुरोः प्रथित्वास्तत्सुतस्ततः ।
 प्रवीरोऽथ नमस्युर्वै तस्माच्छाश्वपदोऽभवत् ॥ २ ॥
 तस्य सुपुत्रमृतं पुत्रस्तस्मात् बहुगवस्ततः ।
 संयातिस्तस्माद्व्यापी रौद्राश्चस्तत्सुतः स्मृतः ॥ ३ ॥
 श्वतेयुस्तस्य हृषेयुः स्पण्डिलेयुः कृतेयुकः ।
 जळेयुः सन्ततेयुश्च भर्मसत्पद्मतेयवः ॥ ४ ॥
 दक्षेतेऽप्सरसः पुत्रा वनेपुष्पावयः स्मृतः ।
 घृताभ्यामिन्द्रियाधीव मुक्ष्यस्य अगदात्मनः ॥ ५ ॥
 श्वतेबोरन्तिभारोऽमृतं त्रयस्तस्मात्प्रजा नृप ।
 सुमतिर्हृषोऽप्रतिरथः कम्बोऽप्रतिरथारम्भः ॥ ६ ॥
 तस्य मेधाविस्तस्मात् प्रस्कम्पाया द्विजावयः ।
 पुत्रोऽमृतं सुयते रैम्या इष्पन्तस्तत्सुतो मतः ॥ ७ ॥
 इष्पन्तो भृगवा यावः कम्बाभ्रमपद गतः ।
 तत्रासीनां स्वप्रभया मन्थयन्तीं रमाशिव ॥ ८ ॥
 विडोक्ष्य संघो हृष्टो देवमायामिव क्षियम् ।
 वभाषे तां वराराहां भटैः कतिपयैर्हतः ॥ ९ ॥
 तदर्धनप्रसूतः संनिहृषपरिभ्रमः ।
 पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसन्सहस्रया गिरा ॥ १० ॥
 का त्वं कमलपत्राक्षि कस्मासि हृदयङ्गमे ।
 किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्यानिर्जने बने ॥ ११ ॥
 व्यक्त राजन्यतनयां वेदुम्यह त्वां सुमन्थमे ।
 न हि चेत्तः पौरवाणामभर्मे रमते कथित् ॥ १२ ॥

सकुन्तलप्रेषण

विश्वामित्रात्मजैवाह त्यक्त्वा मेनकया वने ।

१ रत्नितो २ रक्षितुं ३ हृष्टो ४ उक्तो ।

हुआ है । इसी वंशके वंशधर बहुत-से राजर्षि और
 ब्रह्मर्षि भी हुए हैं ॥ १ ॥ पूरुष पुत्र हुआ जनमेजय
 जनमेजयपुत्र प्रचिन्वान्, प्रचिन्वान्पुत्र प्रवीर, प्रवीरपुत्र नमस्
 और नमस्युक्त पुत्र हुआ चाश्वपद ॥ २ ॥ चाश्वपदसे सुपु
 सुपुसे बहुगव, बहुगवसे संयाति, संयातिसे अह्यानि और
 अह्यानिसे रौद्राश्च हुआ ॥ ३ ॥ परीक्षित ! जैसे
 विशालम्ब प्रधान प्राणसे दस इन्द्रियों होती हैं, वैसे ही
 घृताची अप्सराके गर्भसे रौद्राश्चके दस पुत्र हुए—श्वतेयु
 कुसेयु, स्पण्डिलेयु, कृतेयु, जळेयु, सन्ततेयु, वर्मेयु
 सत्येयु, प्रतेयु और सबसे छोटा वनेयु ॥ ४-५ ॥
 परीक्षित ! उनमेंसे श्वतेयुका पुत्र रत्नितार हुआ और
 रत्नितारके तीन पुत्र हुए—सुमति, ह्रुव और अप्रतिरथ ।
 अप्रतिरथके पुत्रकम्ब नाम था कम्ब ॥ ६ ॥ कम्बक
 पुत्र मेधातिथि हुआ । इसी मेधातिथिसे प्रस्कम्ब आदि
 शाकण उत्पन्न हुए । सुमतिक पुत्र रैम्य हुआ, इसी रैम्यक
 पुत्र इष्पन्त था ॥ ७ ॥

एक बार दुष्पन्त कनमें अपने कुछ सैनिकोंके साथ
 शिवर क्षेत्रके छिये गये हुए थे । उधर ही वे कम्ब
 मुनिके आश्रमपर जा पहुँचे । उस आश्रमपर देवमयाव
 समान मनोहर एक बी वैठी हुई थी । उसकी कक्षीवे
 समान अङ्गकान्तिसे यह आश्रम जगमग रहा था ।
 उस सुन्दरीको देखते ही दुष्पन्त मोहित हो गये और
 उससे बातचीत करने लगे ॥ ८-९ ॥ उसको देखते
 उनको वषा आनन्द मिश्र । उनके मनमें काम-वासन
 जाग्रत हो गयी । कम्बक दूर करनेके बाद उन्होंने वर्ष
 मयुर बाणीसे मुस्तकानते हुए उससे पूछा— ॥ १० ॥
 'कम्बक' उनके समान सुन्दर नेत्रेंवाली देखि ! तुम कौन
 हो और निम्नकी पुत्री हो ? मेरे हृदयके कक्षी ओर
 आकर्षित करनेवाली सुन्दरी ! तुम इस निर्जन कनमें
 रहकर क्या करना चाहती हो ? ॥ ११ ॥ सुन्दरी
 मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्य
 हो । क्योंकि पूरुषशिलोक्त चित्त कभी अकर्मकी ओर
 नहीं झुकता ॥ १२ ॥

शकुन्तलकनमें कहा—आपका कहना सत्य है । मैं

विश्वामित्रजीकी पुत्री हूँ । मेनका अप्सराने मुझे कनमें

वेदैतद् भगवान् कृष्णो वीर किं करबाम ते ॥१३॥

आसतां हरविन्दाश्च गृह्णतामर्हण च नः ।

धृन्वतां सन्ति नीबारा उप्यतां यदि रोचते ॥१४॥

दुष्यन्त उवाच

उपपन्नमिदं सुभु खाताया कुशिकान्वये ।

स्वयं हि वृणते राज्ञां कृन्त्यकाः सदृश वरम् ॥१५॥

आमित्युक्तं यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् ।

गाधर्वविधिना राजा देवकालविधानवित् ॥१६॥

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमावृचे ।

श्रोमूते म्यपुरं यातः कालेनाद्यत सा सुतम् ॥१७॥

कृष्णः कुमारस्ववने चक्रे समुचिताः क्रियाः ।

वृष्ट्वा मृगे द्रान्तरसा क्रीडति सप्त बालकः ॥१८॥

त दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा ।

हररंशोऽसम्भूत भर्तुरन्तिकमागमत् ॥१९॥

यदा न नष्टे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ ।

शृण्वतां सर्वमृषानां खे बागाहाशरीरिणी ॥२०॥

माता भस्त्रा पितु पुत्रो येन जातः स एष सः ।

भार्य पुत्र दुष्यन्त माधमया शकुन्तलाम् ॥२१॥

रवाभा पुत्रो नयति नरद्वय यमधयात ।

छोड़ दिया था । इस वानक साक्षी हैं मेरा पापन-गोपन करनेवाले महर्षि कृष्ण । वीरक्षिप्रमणे ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १३ ॥ कमन्यवन ! आप यहाँ बैठिये और हम जो कुछ आपका खाना-सव्यार करें, उसे स्वीकार करीजिये । आद्यममें कुछ नीबार (तिनीका भक्त) हैं । आपकी इच्छा हो तो मोचन करीजिये और जैचे तो यही रहिये ॥ १४ ॥

दुष्यन्तने कहा— 'सुन्दरी ! तुम दुर्दिक्कदमें उत्पन्न हुई हो, इसलिये इस प्रकारका आनिव्य-मत्कार तुम्हारे योग्य ही है । क्योंकि राजकन्यारों स्वयं ही अपने योग्य पतिको वरण कर लिया करती हैं ॥ १५ ॥ शकुन्तलका स्वीकृति मिल जानेपर देश, काउ और शस्त्रकी आह्वानों जाननेवाले राजा दुष्यन्तने गान्धर्व विधिसे धर्मोत्सार उत्सर्ग साथ निवाह कर लिया ॥ १६ ॥ राजर्षि दुष्यन्तका वीर्य अमाव था । रात्रिमें वहाँ रहकर दुष्यन्तने शकुन्तलका सहवास किया और दूसरे दिन सवरे वे अपनी राजधानीमें चले गये । समय आनपर शकुन्तलको एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥ महर्षि कृष्णने वनमें ही राजकुमारक जातकर्म आदि मत्कार विधिरूपसे सम्पन्न किये । यह बातक वधानमें ही इतना कथन था कि बड़े-बड़े सिंहोंको यत्नपूर्वक बोंध लमा और उनसे स्वेय करना ॥ १८ ॥

यह बातक भवान्का अंशोऽसम्भूत था । उनका बट-विक्रम आरिम्भि था । उसे आन माय कर रमणीय शकुन्तल अपने पतिक नाम गर्वी ॥ १९ ॥ जब राजा दुष्यन्तने अपनी निगौर पत्नी और पुत्रका स्वीकार नहीं किया, तब क्रिमका बन्धा नहीं दीया गदा था और सिने सब लोगोंने सुना, पत्नी आश्रयार्थी हुई ॥ २० ॥ पुत्र उत्पन्न करनेमें माता ता कबल बौध्मीक सम्यन है । पापकमें पुत्र निगार ही है । क्योंकि निग ही पुत्र सगमें उत्पन्न होय है । इमतिग दुष्यन्त 'तुम गान्धर्विक निगार न करा, अस पुत्रका भगन्यास करा ॥ २१ ॥ गतन् ' बंगरु' बुद्धि करने-ग पुत्र जान निगार नगयस गगर कदा

त्व चास धाता गर्भस्य सत्समाह सकुन्तला ॥२२॥

पितृपुत्रपते सोऽपि चक्रवर्ती महापद्माः ।

महिमा गीमत्त तस्य हररंशभुवो भुवि ॥२३॥

चक्र दक्षिणहस्तऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादपाः ।

इज महाभियक्तेज साऽभियिक्तोऽर्धिराट् विभुः ॥२४॥

पञ्चपञ्चाशता मेघपङ्क्त्यामनु वाशिभिः ।

सामवेय पुराधाप यमुनाधामनु प्रभुः ॥२५॥

अष्टसप्ततिमध्यामनु बभध प्रददधु वसु ।

भरतस्य हि दौष्यतेरग्निः साचीगुणधितः ।

सहस्र वदशो यस्मिन् प्राक्षणा गा विमेधिर ॥२६॥

त्रयस्त्रिंशच्छत द्वाभ्यान् बहून्वा विसापयन् नृपान् ।

दौष्यतिरत्यगामायां देवानां गुरुमायया ॥२७॥

मृगाभ्युद्वन्द्वत कृष्णान् हिरण्यन परीवृत्तान् ।

अदात् कर्मणि मन्थार निपुतानि चतुर्दश ॥२८॥

भरतस्य महत् कर्म न पूर्वं नापर नृपा ।

नेत्रापूर्वप्राप्त्यसि बाहुभ्यां त्रिण्य यथा ॥२९॥

द्विरागृह्णान् यवनान् भान् कद्रान् स्वग्राह्यवान् ।

अममग्नयान् नृपां धान् धम्पयान् दितेव त्रयऽम्बितान् ।

६ । शकुन्तलायाः कन्या विलुप्तः ठीक है । इस गमके धारण करनेवाले तुम्हीं हो ॥ २२ ॥

परीक्षित । पिता दुष्प्रसूतकी मृत्यु हो जानेके बाद वह परम यशस्वी याज्ञक चक्रवर्त्ती सम्राट् हुआ । उसके जन्म भगवान् के अंशसे हुआ था । आज भी पृथ्वी पर उसकी महिमा का गान किया जाता है ॥ २३ ॥ उसके दाहिने हाथमें चक्रका चिह्न था और पैरोंमें कमलकोरक । महाभियक्ती विधिते गजाधिराजके पदपर उसका अग्निमेक हुआ । मन्त बड़ा शक्तिशाली राजा था ॥ २४ ॥

भरतने ममनाके पुत्र दीधनमा मुनिके पुरोहित बनाकर गङ्गातटपर गङ्गासागरमें लेकर गङ्गोत्रीपर्यन्त पञ्चजन पक्षि अश्वमेध यज्ञ किये । और इसी प्रकार यमुनातटपर भी प्रयागसे लेकर यमुनोत्रीतक उन्होंने अच्छे अच्छे यज्ञ किये । इन सभी यज्ञोंमें उन्होंने अपार धनराशिके दान किया था । दुष्प्रसूतकुम्भार भरतका यज्ञीय अग्नि स्थापन करे ही उत्तम गुणवाले स्थानमें किया गया था । उस स्थानमें भरतने इन्हीं गौर्षे तल दी थी कि एक हजार बाबागौर्षों प्रत्येक श्रद्धागमने एक-एक कर (१३०८५) गौर्ष मिले थी ॥ २५-२६ ॥ इस प्रकार राजा भरतने उन यज्ञोंमें एक सौ तीनीस (५५+७८) घोड़े बौधकर (१३३ यज्ञ करके)

सम्पन्न नरपत्नियोंको अतीस आश्वर्षमें दान किया । इन यज्ञोंके द्वारा इस पक्षमें तो राजा भरतजी परम यशस्वी ही, अन्तमें उन्होंने मयापर भी विजय प्राप्त की और दक्षार्जक परमगुरु भगवान् श्रोत्रिक प्राप्त कर लिया ॥ २७ ॥ यन्में एक कम हाता है 'मन्थार' । यन्में भगवन सुवर्णमें विभूषित, 'यवन' शैलौबाउ तब यन्में रंगक चानक लाने हाथी दान किये ॥ २८ ॥ भगवन जा मारा कम किया, वह न तो पत्ते काट गया पर मयरा था और न था आगे ही काई पर मयरा । स्या कर्म का हाथों मयरा छ मयरा ॥ २९ ॥ भगवन विभिन्नर मयरा मयरा, हाथ, यन् अथ यन् मयरा, यन् अथ मयरा आदि

यातो यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥३८॥

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम् ।

अमुञ्चन् मरुतोऽविघ्नन् द्रष्टोऽयं वितथेऽन्वये ॥३९॥

नहीं, हम दोनोंका ही पुत्र है, इसलिये तुम्हीं इसका भरण-पोषण करो । इस प्रकार आपसमें विचार करते हुए माता-पिता दोनों ही इसको छोड़कर चले गये । इसलिये इस उद्यमेका नाम 'भरद्वाज' हुआ ॥ ३८ ॥ देवताओंके द्वारा नामका ऐसा निर्वाचन होनेपर भी मम्मने यही समझा कि मेरा यह पुत्र कितना कर्मात्मा था कि मैंने उसे छोड़ दिया । वह मरुतोंने उसका पालन किया और जब राजा भरतका वंश नष्ट होने लगा, तब उसे अकत उनको दे दिया । यही कितब (भरद्वाज) भरतका दत्तक पुत्र हुआ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहन्स्यां संहितायां नवमस्कन्धे
विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

भरतवधका वर्णन, राजा रन्तिदेवकी कथा

श्रीशुक उवाच

वितथस्य सुतां मनुषुर्हृत्स्वग्नौ क्षयस्ततः ।

महावीर्यो नरो गर्गः सङ्कृतिस्तु नरात्मजः ॥ १ ॥

शुरुश्च रन्तिदेवस्य सङ्कृतेः पाण्डुनन्दन ।

रन्तिदेवस्य हि यश्च इहासुत्रं च गीयते ॥ २ ॥

वियद्विषस्य ददतो लब्धं लब्धं पुमुक्षतः ।

निष्किञ्चनस्य धीरस्य सङ्कटदुग्धस्य सीदतः ॥ ३ ॥

अपतीपुरण्यत्वारिषदहान्यपिषतः किल ।

पूतपापमसंपावं तोषं प्रातरुपस्थितम् ॥ ४ ॥

कृन्प्रप्राप्तदुग्धस्य सुचूड्भ्यां आतपधधोः ।

अतिथिमान्न काले भाक्तुकामस्य चागमत् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवकी कहते हैं—परीक्षित । कितब अपना

भरद्वाजका पुत्र था मनु । मनुके पाँच पुत्र हुए—शुहृत्स्वग्न, जय, महावीर्य, भर और गर्ग । भरका पुत्र था संकृति ॥ १ ॥ संकृतिके दो पुत्र हुए—शुरु और रन्तिदेव । परीक्षित । रन्तिदेवका निर्मल पदा इस लिये और परलोकमें सब जगह गया जाता है ॥ २ ॥ रन्तिदेव अकतशके समान किना उपलोकके ही दैवका प्राप्त वस्तुका उपयोग करते और निर्मोदिन उनकी ईर्ष्या घटती जाती । जो कुछ मित्र जानत उसे भी दे रहते और साथ भूखे रहते । वे संप्रह-परिग्रह, ममत्वासे रहित तथा यह धैर्यराली थे और अपने दुःखोंके साथ दुःख भोग रह थे ॥ ३ ॥ एक बार तो व्याघ्रार जङ्गलकीस दिन ऐसे धीन गये कि उन्हें पानीनक पीनेको म मिश्र । उनकासमें दिन प्राप्त करत ही उन्हें कुछ भी, स्त्री, द्रव्य और जय मित्र ॥ ४ ॥ उनका परिवार बड़े सङ्कटमें था । मूला और प्याम्बे मारे थे प्रायः बौध रह थे । परन्तु ज्यों ही उन लोगोंने भोजन करना आहा, त्यों ही एक प्रायः अनिष्टिके रूपमें आ

तस्मै सर्वभजत् सोऽभमादस्य भद्रयाचितः ।

हरिं सर्वत्र संपश्यन् स शुक्त्वा प्रययौ द्विज ॥ ६ ॥

अधान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपते ।

विभक्तं व्यभजत् तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन् ॥ ७ ॥

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः सभिराहृत ।

राजन् मे दीयतामन्नं सगणाय शुमुद्यते ॥ ८ ॥

स मादस्यावशिष्टं यद् बहुमानपुरस्कृतम् ।

तच्च दत्त्वा नमस्क्रे श्वस्यः श्वपश्ये विशुः ॥ ९ ॥

पानीयमात्रमुच्छेयं तच्चैकपरितर्पणम् ।

पास्पतः पुष्कसोऽम्पागादपो देवशुर्मस्य मे ॥ १० ॥

सैस्य तां करुणां वाच निशम्य विपुलभमाम् ।

कृपया श्रुश्रुन्वत्त इदमाहामृतं वच ॥ ११ ॥

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा

मष्टर्दियुक्तामपुनर्मव वा ।

वार्तिं प्रपद्येऽन्विलवेहभाज-

मन्तःस्मितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ १२ ॥

शुचद्भ्रमो गात्रपरिधमथ

दैन्यं कलमः छाकृत्रिपादमादा ।

मर्वे निपृष्टा कृपणस्य अन्ता

मित्रीविपार्श्वप्रत्यापणामे ॥ १३ ॥

१ भव मे । २ तारपी वच ।

गया ॥ ५ ॥ रत्तिदेव सत्रमें धीमत्तान्त्रे ही रत्तन
पगते थे । अनपय उन्होंने बड़ी भद्रासे आग्रहपूर्वक
उसी अन्नमेंसे प्राश्नाग्रह भोजन कराया । प्राश्नाग्रह
भाजन करके चले गये ॥ ६ ॥

परीक्षित । अब यचे हुए अन्नको रत्तिदहन आपसमें
चौं श्रिया और भाजन करना चाहा । उसी समय एक
दूसरा राज्ञ अनिधि आ गया । रत्तिदेवन भगवान्
स्मरण करते हुए उस वचे हुए अन्नमेंसे भी कुछ भाग
घाटके रूपमें आये अनिधिय का श्रिय श्रिय ॥ ७ ॥
जय शब्द मन्त्रीयत्र चग गया, सब कुत्तोंके श्रिय हए
एक और अनिधि आया । उसने कहा—राजन् । मैं
और मरे ये कुत्ते बहुत भूखे हैं । हमें कुछ खानेका
श्रिये ॥ ८ ॥ रत्तिदेवन अत्यन्त आग्रहपूर्वक, जो
कुछ बच रहा था, सब काम-उत्ते दे दिज और
भगवन्स्य हाथर उन्होंने कुत्ते और कुत्तोंका स्वाधीन
रूपमें आये हुए भगवान्स्य नमस्कार किया ॥ ९ ॥
अब कब-उत्ते ही बच रहा था और बह भी कब-उ
एक मनुष्यका पीनेमरका था । व उने आपसमें चौक
पीना ही चाहत थे श्रिय श्रिय चाण्डाल और आ पहुँचा ।
उने कहा—मैं अत्यन्त नीच हूँ । मुझे जय श्रिय
श्रिय ॥ १० ॥ चाण्डालकी व पतंगदूग यागी,
जिसका उधारम भी बह अत्यन्त बड़ा पग था,
मुनरा रत्तिदेव त्यागे अत्यन्त मन्त्रन हा उर और ग
अपुनस्य बचन पगन गया ॥ ११ ॥ मैं भगवान्
आगे मित्रियोंमें युक्त पग गति नहीं चाहता । और
ता क्या, मैं माफरी भी पगना नहीं पगना । मैं
चाहता हूँ जो कब-उरी श्रिय मैं सद्गुण प्राप्ति
हृदयमें स्थित हो जाऊँ और उनका सुग दूग मैं ही
मन्त्र करते, जिसमें और श्रियी भी प्रार्थना दूग
म हो ॥ १२ ॥ पग-उत्त प्रार्थना करती बहरी जीना
पगना था । उर उर दन्त इमका जीनारी पग हा
श्री । उर उरी भू-पगमरी श्रिय, श्रियरी श्रिय,
श्रिय, श्रिय, श्रिय, श्रिय उर उर — मन्त्र-
उर उर ग । मैं सुग हा पग ॥ १३ ॥

इति प्रभाष्य पानीय त्रियमाणः पिपासया ।

पुनरुत्सायाददाहो'रो निसर्गकरुणो नृपः ॥१४॥

तस्य त्रिदिवनाभीशः फलदाः फलमिच्छताम् ।

आत्मानं दत्तामाश्रमोपाविष्णुमिनिर्मिताः ॥१५॥

स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः ।

बाह्यदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥१६॥

ईश्वरालम्बनं धिक् कुर्वतोऽनपराधसः ।

माया गुणमयी रात्रन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत ॥१७॥

तत्प्रवृत्तानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः ।

अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणा ॥१८॥

गर्गोच्छिनिस्तदा गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म क्षपर्वत ।

दुरितक्षया महावीरान् तस्य श्रम्यारुणिः कविः ॥१९॥

पुष्करारुभिरित्यत्र ये ब्राह्मणगार्गि गताः ।

पृथक्पृथक् पुत्रोऽभूदस्ती यदस्तिनापुरम् ॥२०॥

अश्वमीढा द्विमीढश्च पुरुमीढश्च इस्तिनः ।

अश्वमीढस्त्वर्षाः स्युः प्रियमेधाद्या द्विजाः ॥२१॥

अश्वमीढाद् पृथदिपुस्तस्य पुत्रो वृहदनु ।

पृथक्पापमत्तमस्य पुत्र आशीर्यत्र ॥२२॥

तत्सुता विशदस्तस्य सेनमित्रं समजायत ।

रुचिराश्वा वृहदनुः कदाद्या वत्सश्च तत्सुताः ॥२३॥

रुचिराश्चमुत्र पार वृधुसेनस्तदारमज ।

पारस्य तनया नीपस्तस्य पुत्रवत् तत्त्वयूत ॥२४॥

इस प्रकार बह्वक्षर रन्तिदेवने वह क्या हुआ जठ भी उस चाण्डालको दे दिया । यद्यपि जन्मके बिना वे स्वयं मर रहे थे, फिर भी स्वभावसे ही उनका हृदय इतना करुणापूर्ण था कि वे अपनेको रोक न सके । उनके धैर्यकी भी कोई सीमा है ॥ १४ ॥ परीक्षित । ये अतिथि वास्तवमें भगवान्की रबी हुई मध्यक ही निम्न रूप थे । परीक्षा पूरी हो जानेपर अपने मर्कटोंसे अभिलाषा पूर्ण करनेवाले त्रिमुक्तास्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों उनके सामने प्रकट हो गये ॥ १५ ॥ रन्तिदेवने उनके चरणोंमें नमस्कार किया । उन्हें कुछ लेना तो था नहीं । भगवान्की कृपासे वे आसक्ति और स्पृहासे भी रहित हो गये तथा परम प्रेम्णमय भक्तिभावसे अपने मनको भगवान् बाह्यदेवमें तन्मय कर दिया । कुछ भी मौन नहीं ॥ १६ ॥ परीक्षित । उन्हें भगवान् के सिवा और किसी भी वस्तुकी इच्छा तो थी नहीं, उन्होंने अपने मनको पूर्णरूपसे भगवान्में लगा दिया । इसलिये त्रिगुणस्थी माया जागतेर स्वप्न-व्ययक समान मह हुई गयी ॥ १७ ॥ रन्तिदेवके अनुयायी भी उनके सङ्गके प्रभावसे योगी हो गये और सब भगवान्के ही आश्रित परम भक्त बन गये ॥ १८ ॥

मनुपुत्र गर्गसे विनि और विनिसे गर्ग्यका जन्म हुआ । यद्यपि गर्ग्य क्षत्रिय था, फिर भी उससे ब्राह्मणवर्षा चत्र्य) महाकीर्म्यका पुत्र था दुरितक्षय । दुरितक्षयके तीन पुत्र हुए—ब्रह्मारुणि, कवि और पुष्करारुणि । ये तीनों ब्राह्मण हो गये । बृहस्पत्यका पुत्र हुआ इस्ती, उसीने इस्तिनापुर मत्ताया था ॥ १०-२० ॥ इस्तीके तीन पुत्र थे—अश्वमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ । अश्वमीढका पुत्रमें प्रियमेध आदि ब्राह्मण हुए ॥ २१ ॥ इस्ती अश्वमीढ एक पुत्रका नाम था वृहदनु । वृहदनुका पुत्र हुआ वृहदनु, वृहदनुका वृहदनु और वृहदनुका जयवह हुआ ॥ २२ ॥ जयवहका पुत्र हुआ विशा और विशाका सेनमित्र । सेनमित्रका पार पुत्र हुए—रुचिराश्च, वृहदनु, काश्य और वम ॥ २३ ॥ रुचिराश्चका पुत्र पार था और पारका वधुमेत । पारका दूसरे पुत्रका नाम नीप था । उससे

॥ कृत्वां शुक्रकन्यायां ब्रह्मदत्तमजीवनम् ।
संयागी गमि भार्यायां विष्णुसेनमभात् सुतम् ॥२५॥
जंगीयन्योपदक्षेन योगतन्त्र चकार ह ।
ददकन्धनस्तत्तत्साधु भद्रादो वाईदीपका ॥२६॥
यवीनरा द्विमीढस्य कृतिर्मास्तसुत स्मृत ।
नाम्ना सत्यवृत्तिर्यस्य ददनेमि सुपार्श्वकृत् ॥२७॥
सुपार्श्वान् सुमतिस्तस्य पुत्र मन्त्रिमास्ततः ।
कृतिर्द्विरेण्यनाभाद् यो यार्गं प्राप्य जगौ सा पद ॥२८॥
सहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ब्रह्मापुधस्ततः ।
तस्य क्षेप्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुञ्जयः ॥२९॥
ततो बहुरथा नाम पुरमीढाऽप्रजोऽभवत् ।
नलि यामज्जीदस्य नीलः क्षान्तिः सुवस्तव ॥३०॥
क्षान्ते सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुषोऽर्कस्ततोऽभवत् ।
भर्माक्षस्तनयस्तस्य पञ्चासं सुदृढलादयः ॥३१॥
यवीनरा बृहदिषु काम्पिल्यः सत्रय मुता ।
भर्माक्षः प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि ॥३२॥
विषयाणामलमिमं इति पञ्चालसंघिताः ।
सुदृढाद् यत्न निर्वृत्तं गाय मौढ्यसंश्रितम् ॥३३॥
मिथुनं सुदृढाद् भाम्याद् दिवोदासं पुमान्भूत् ।
अद्विपाकयका यसां शतानन्दस्तु गौतमात् ॥३४॥
तस्य सत्यवृत्ति पुत्रा धनुर्बेदविशारदः ।

सौ पुत्र ये ॥ २४ ॥ इसी नीपने (छाया) *शुनस्रीकन्य
इत्नीसे विवाह किया था । उससे ब्रह्मदत्त नामक पुत्र
उत्पन्न हुआ । ब्रह्मदत्त यज्ञ योगी था । उसने अपनी
पत्नी सरस्वतीके गर्भसे विष्णुसेन नामक पुत्र उत्पन्न
किया ॥ २५ ॥ इसी विष्णुसेनने जंगीयन्यके उपदेशसे
योगशास्त्रार्थ रचना की । विष्णुसेनका पुत्र था उष्ण
स्वन और उदकस्वनका मन्त्रद । ये सत्र बृहस्पिक वंशज
हूए ॥ २६ ॥
द्विमीढका पुत्र था यवीनर, पर्वनका इतिमान्,
इतिमानका मत्वधृति, सत्यधृतिका ददनेमि और ददनेमि-
का पुत्र सुपादव हुआ ॥ २७ ॥ सुपादवसे सुमति,
सुमतिसे सन्निमान् और सन्निमानसे इतिमन्त्र जन्म
हुआ । उसने द्विरेण्यनामसे योगविद्या प्राप्त की थी और
‘प्राप्यसाम्ना’ नामक ऋषिओंकी छ मंत्रितर्पण करी थी ।
इतिमन्त्रका पुत्र नीप था, नीपका उष्मापुध, उष्मापुधका क्षेप्य,
क्षेप्यका सुवीर और सुवीरका पुत्र था रिपुञ्जय ॥ २८ ॥
रिपुञ्जयका पुत्र था बहुरथ । द्विमीढक भाई पुरुमीढको
पढ़े सन्तान न हुई । अजमीढकी दूसरी पत्नीका नाम
था नन्दिनी । उसका गर्भसे नीडका जन्म हुआ । नीडका
क्षान्ति, क्षान्तिका सुशान्ति, सुशान्तिका पुरुज, पुरुजका
अक्ष और अक्षका पुत्र हुआ भर्माक्ष । भर्माक्षका गौध
पुत्र थे—सुदृढ, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य और सत्रय ।
भर्माक्षन बड़ा—ये मेरे पुत्र गौध दशोंका शासन
करनेमें समर्थ (पञ्च अयम्) हैं । इसविषय में पञ्चाल
नामसे प्रसिद्ध हुए । इनमें सुदृढसे ‘मौढ्य’ नामक ब्राह्मण
गोत्रकी प्रवृत्ति हुई ॥ ३०-३३ ॥
भर्माक्षका पुत्र सुदृढसे यमज (कुम्भ) सम्पन्न
हुई । उनमें पुत्रका नाम था शिखान्त और कल्पका
अद्विपा । अद्विपाका विराट् सम्राट् गौतमसे हुआ ।
गौतमका पुत्र हुआ शतानन्द ॥ ३४ ॥ शतानन्दका पुत्र
सत्यवृत्ति, सत्यवृत्तिके अप्सन्त रिपुञ्जय । सत्यवृत्ति
का पुत्रका नाम था शम्भु । शम्भु ने उरगिरा दान
से शम्भुका शीघ्र भूतल साम्राज्य प्राप्त किया । यमका पुत्र
सुन नामका पुत्र और पुरीका राजा हुआ । भर्माक्ष

१ पत्नी २ इतिमान ३ ददनेमि ४ यवीनर ५ उष्मापुध ६ क्षेप्य ७ सुवीर ८ रिपुञ्जय ९ सुदृढ १० यवीनर ११ बृहदिषु १२ काम्पिल्य १३ सत्रय १४ शिखान्त १५ कल्प १६ अद्विपा १७ शतानन्द १८ सत्यवृत्ति १९ रिपुञ्जय २० शम्भु २१ शम्भुका २२ भूतल २३ साम्राज्य २४ यमका २५ सुन २६ पुरीका २७ राजा २८ भर्माक्ष

शरस्तम्भेऽपतद् रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम् ।

तद् दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन् ।

कृपः कुमारः कन्धा च द्रोणपरन्मभवत्कृपी ॥ ३६ ॥

शन्तनुः उतपर दृष्टि पक्ष गयी, क्योंकि वे उतपर शिवर खेलनेके छिये गये हुए थे । उन्होंने दयाकर दोनोंमें ठक त्रिया । उनमें जो पुत्र था, उसका नाम कृपाकर्तृ हुआ और जो कन्या थी, उसका नाम हुआ कृपी । श्री कृपी द्रोणाचार्यकी फनी हुई ॥ ३५ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवतं म्हापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे

एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

पाञ्चाशत् कौरव और मगधदेशीय राजाओंके पक्षका वर्णन

मित्रिक उपाय

मित्रयुध दिवोदासाभ्यवनस्तस्मृतो नृप ।

सुदासः सहदेवोऽप सोमको जतुञ्जन्महत् ॥ १ ॥

तस्य पुत्रस्रतं तेषां यवीयान् पृपत सुतः ।

हृपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ॥ २ ॥

धृष्टद्युम्नाद् धृष्टकेतुर्माय्याः पञ्चालका इम ।

योऽब्रमीहसुता हन्य ऋक्ष संवरणस्ततः ॥ ३ ॥

तपस्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपति कुरुः ।

परीक्षित् सुचक्रुर्बहुनिपयाभ्यः कुरो सुताः ॥ ४ ॥

सुहाभ्रोऽभूत्सुचक्रुर्बभूवोऽप्यतत कृती ।

वसुस्तस्तापरिचरो बृहद्रथमुन्वास्ततः ॥ ५ ॥

कुशाम्भभस्वप्रत्यग्रचदिपायाश्च चदिपाः ।

बृहद्रथात् कुशाभ्रोऽभूत्पमस्तस्य तस्मृतः ॥ ६ ॥

अस्रस्रहिवोऽपत्यं पुष्पवांस्तस्मृता जहु ।

अयशां चापि मायायां शकले द्रुहद्रथात् ॥ ७ ॥

त मात्रा बहिरुसृष्ट अरया चामिसिधिते ।

जीय भीवति मीहन्त्या जरासचाऽमभत्सुतः ॥ ८ ॥

तप महरदाऽमृन् मामापरिष्यदुतभवा ।

श्रीशुकनेषजी कहत हैं—परिक्षित् ! निवेदासका पुत्र था मित्रेयु । मित्रेयुके चार पुत्र हुए—पुन्यन, सुदास, सहदेव और सोमक । सोमकका सौ पुत्र थे, उनमें सबसे बड़ा जन्तु और सबसे छोटा पृपत था । पृपतका पुत्र मुपद थे, मुपदके श्रीपदी नामकी पुत्री और धृष्टद्युम्न आदि पुत्र हुए ॥ १ २ ॥ धृष्टद्युम्नका पुत्र था धृष्टकेतु । मर्यादके बराने उपनह हुए ये नरपति भ्रातृछ पक्षयो अजमीहका दूसरा पुत्र था ऋक्ष । उनके पुत्र हुए संवरण ॥ ३ ॥ संवरणका विवाह सूर्यकी कन्या तपतीसे हुआ । उनकी गर्मसे कुरुक्षेत्रके स्वामी कुरुका जन्म हुआ । कुरुके चार पुत्र हुए—परीक्षित्, सुचक्रुर्, जहु और निपयाभ ॥ ४ ॥ सुचक्रुसे सुहाभ्र सुहाभ्रसे पुन्यन, पुन्यनसे कृती, कृतीसे उपरिचरक और उपरिचरकसे बृहद्रथ आदि कई पुत्र उपनह हुए ॥ ५ ॥ उनमें बृहद्रथ, कुशाम्भ, भस्व, प्रत्यग्र और नेपि आदि चेदिदेशके राजा हुए । बृहद्रथका पुत्र था कुशाभ्र, कुशाभ्रका श्वभ, श्वभका सपथित, सपथितका पुष्पान् और पुष्पान्के जहु नामका पुत्र हुआ । बृहद्रथकी दूसरी फलीके गर्मसे एक बरीरके दो दुपड़ उतार हुए ॥ ६-७ ॥ उन्हें मराने के लिये पिया । तब 'यरा' नामकी राक्षसीने त्रियो त्रियो इस प्रकार पहकर स्नेह-स्नेहमें उन दोनों दुपड़ोंका जादू किया । उसी जादू हुए मरत्यका नाम हुआ जरासन्ध ॥ ८ ॥ जरासन्धका सहदेव, सहदेवका

परीक्षिद्वनपत्योऽमृत सुरयो नाम आहवः ॥ ९ ॥
 तसो विद्वत्तस्तसात् सार्वभौमस्तसोऽभवत् ।
 अयसेनस्तघनयो राधिकोऽसोऽपुतो हामृत ॥ १० ॥
 ततश्च क्रोधनस्तसाद् देवातिथिरमुष्य च ।
 श्वेप्यस्तस्य दिलीपोऽमृत प्रतीपस्तस्य चात्मजः ॥ ११ ॥
 देवापिः शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः ।
 पिठरान्य परित्यज्य देवापिरतु वनं गतः ॥ १२ ॥
 अभवच्छन्तनुं राज्ञा प्राञ्जलाभिपसंक्षित ।
 यं यं कराम्यां स्पृशति क्षीणं यौवनमेति सः ॥ १३ ॥
 श्रान्तिमाप्नोति चैवायं कर्मणा तेन शन्तनुः ।
 समा द्वादश तद्राज्ये न वर्षं यदा विष्टुः ॥ १४ ॥
 शन्तनुम्राक्षणं रुक्मं परिवेत्तायमप्रहृक् ।
 राज्यं देवप्रजायाश्च पुराणैश्चिद्वये ॥ १५ ॥
 एवमुक्तो द्विनैर्ज्येष्ठं छन्दयामास साऽमवीत् ।
 तन्मन्त्रिप्रहितैर्विपर्वेदाद् विभ्रंक्षिता गिरा ॥ १६ ॥
 वेदवादातिषादान् वं वेदा देवा वर्षं ह ।
 देवापिमागमास्थाय कलाप्रग्राममाभित ॥ १७ ॥
 सामवश कलां नष्ट कृतादां म्यापयिष्यति ।
 बाह्लीकात् सामद्वोऽमृद् भूरिभूरिभवास्ततः ॥ १८ ॥

सोमपि और सोमपित्र पुत्र हुआ श्रुतग्रथा । बुरुके
 ज्येष्ठ पुत्र परीक्षितके कोई सन्तान न हुई । जमुष्य पुत्र
 था सुर ॥ ९ ॥ सुरपुत्र विद्वत्, विद्वत्पुत्र सावभौम,
 सार्वभौमपुत्र अयसेन, अयसेनपुत्र राधिक और राधिकपुत्र
 पुत्र हुआ अपुत ॥ १० ॥ अपुत्रपुत्र क्रोचन, क्रोचनपुत्र
 देवानिधि, देवानिधिराज्य, राज्यपुत्र दिलीप और दिलीप-
 पुत्र प्रतीप हुआ ॥ ११ ॥ प्रतीपके तीन पुत्र थे—
 देवापि, शन्तनु और बाह्लीक । देवापि अपना पैतृक
 राज्य छोड़कर वनमें चला गया ॥ १२ ॥ इसीसे उसके
 छोटे भाई शन्तनु राजा हुए । पूर्वजन्ममें शन्तनुका नाम
 म्हाभिर था । इस जन्ममें भी वे अपने हाथोंसे जिसे छू
 देते थे, वह बूझसे जवान हो जाता था ॥ १३ ॥ उसे
 परम श्रान्ति मिल जाती थी । इसी कारणतक कारण
 उनका नाम 'शन्तनु' हुआ । एक बार शन्तनुके राज्यमें
 बारह वर्षतक इन्तने वर्षा नहीं की । इसपर ब्राह्मणोंने
 शन्तनुसे कहा कि धुमने अपने बड़े भाई देवापिसे पहले
 ही विष्णु, अग्निहोत्र और राजपदको स्वीकार कर लिया,
 अब तुम परिवेत्ता हो, इसीसे तुम्हारे राज्यमें वर्षा नहीं
 होती । अब यदि तुम अपने नगर और राज्यकी उन्नति
 चाहते हो, तो शीघ्र-से-शीघ्र अपने बड़े भाईसे राज्य
 छोटा दो ॥ १४ १५ ॥ जब ब्राह्मणोंने शन्तनुसे इस
 प्रकार कहा, तब उन्होंने वनमें जाकर अपने बड़े भाई
 देवापिसे राज्य स्वीकार करनेका अनुरोध किया । परन्तु
 शन्तनुके मन्त्री अन्तरातन पहलेसे ही उनके पास कुछ
 पसे ब्राह्मण भेज दिए थे, जो वेदको दूतित करनेकाल
 वचनोंसे देवापिके वस्त्रागस्ते विचित्रित कर चुक थे ।
 इसका फल यह हुआ कि देवापि वेदोंके अनुसार गृहस्था-
 धर्म स्वीकार करनेकी जगह उनकी निन्दा करने लगे ।
 इसीसे वे राज्यका अधिकारसे वञ्चित हो गये और तब
 शन्तनुका राज्यमें वर्षा हुई । देवापि इस समय भी योग-
 साधना कर रहे हैं और योगियोंक प्रसिद्ध निवासस्थान
 कश्यपप्राममें रहते हैं ॥ १६ १७ ॥ जब बह्मिपुत्रने
 चन्द्रशेखर नाश हो जायगा, तब सत्ययुगक प्रारम्भमें वे
 फिर उसकी स्थापना करेंगे । शन्तनु छोटें भाई बाह्लीक-
 का पुत्र हुआ सोमदत्त । सोमदत्तक तीन पुत्र

१ श्वध । २ समुत्थम् । ३ लो ।

• दारपिद्वानमयमं बुरुके योऽग्रमे स्थिते । परिवेत्ता स त्रिमेया परिवेत्तिष्णु पुत्रक ॥

भयात् वा पुत्रा अतः बड़े भाईक रहत हुए उनके पहले ही विष्णु और अग्निहोत्रका गंवग करना । उन

परिवेत्ता वनना पादिने और ठमका बड़ा भाई परिवेत्ति कदलता है ।

अथ शन्तनोरासीद् गङ्गायां भीष्म आत्मवत् ।

सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ॥१९॥

वीरयूषाप्रणीर्येन रामोऽपि युधि गोपितः ।

शन्तनोर्दाशकन्यायां यश्च विश्राज्जद सुतः ॥२०॥

विचित्रवीर्यभाबरजो नास्ति विश्राज्जदो इतः ।

यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥२१॥

वेदगुप्तो ह्यनिः कृष्णो यदोऽहमिदमप्यगात् ।

दित्वा स्वशिष्यान् पैलाद्रीन् भगवान् बादरायणः ॥२२॥

सर्गं पुत्राय शान्ताय वरं शुद्धमिदं जगौ ।

विचित्रवीर्योऽथोवाह कश्चिराजमुते वलात् ॥२३॥

स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाभ्यालिके उमे ।

तयोरासकहृदया गृहीतो महमणा मृत ॥२४॥

धृष्टप्रजस्य व त्रातुमात्राका बादरायणः ।

धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यभीजनत् ॥२५॥

गांधाया प्रतराष्टस्य यश्च पुत्रछत उप ।

तत्र दुर्योधना ज्येष्ठा दुःशला चापि कन्यका ॥२६॥

शापान्मधुनरुद्धस्य पाण्डाः कुन्त्या महारथाः ।

आता घमानिलेन्नेम्पा युधिष्ठिरमुत्तामयः ॥२७॥

१ मृत ।

• पर १५५ वाक्यम उर्ध्वरश्मि वदक नीर्यम मरुत्पिक शर्मि उरुव हर्षे श्री विष्णु दाता (वगदो) व दाग पाण्डि
हन्म पर १५५ वाक्यम उरुव वदक नीर्यम ।

इए—भूरि, भूरिधरा और शत्रु । शन्तनुके द्वारा गङ्गावी-

के गर्भसे पैलिक ब्रह्मचारी भीष्मका जन्म हुआ । वे सम्प-

धर्मके सिंगौर, भगवान् के धर्म प्रेमी भक्त और परम इनी

थे ॥ १८ १९ ॥ वे संसारक सम्पन्न वीरोंके अग्रगण्य

नेता थे । औरोंकी ती बात ही क्या, उन्होंने अपने गुरु

भगवान् परशुरामको भी युद्धमें सन्तुष्ट कर दिया था ।

शन्तनुके द्वारा दाशराजकी कन्या का गर्भसे दो पुत्र हुए—

विश्राज्जद और विचित्रवीर्य । विश्राज्जदको विश्राज्जद नामक

गन्धर्वने मार डाला । इसी दाशराजकी कन्या सत्यवतीसे

पराशरजीके द्वारा मेरे पिता, भगवान् के कव्यकार स्वयं

भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी अवतीर्ण हुए थे ।

उन्होंने वेदोंकी रक्षा की । परीक्षित ! मैंने उन्हींसे स्त

श्रीमद्भागवतपुराणका अध्याय लिया था । यह पुराण परम

गोपनीय—अत्यन्त रहस्यमय है । इसीसे मेरे पिता भगवान्

व्यासजीने अपने पैल आदि शिष्योंको इसका अध्यायन

नहीं कराया, मुझे ही इसके योग्य अधिकारी समझा !

एक ता मैं उनका पुत्र था और दूसरे शान्ति अग्नि गुण

भी मुझमें विशेषरूपसे थे । शन्तनुक दूसरे पुत्र विचित्र-

वीर्यने कश्चिराजकी कन्या अम्बिका और अम्बिकासे

विवाह किया । उन दोनोंका भीष्मजी स्वयंसे कङ्कूक

आये थे । विचित्रवीर्य अपनी दोनों पत्नियोंमें इतना

आसक्त हो गया कि उसे गन्धर्वका रंग हो गया और

उसकी मृत्यु हो गयी ॥ २०—२४ ॥ माता सत्यवतीक

बहनेसे भगवान् व्यासजीने अपने सन्तानश्रीन माईकी

श्रियोसे धृतराष्ट्र और पाण्डु दा पुत्र उत्पन्न किये । उनकी

मातासे तीसरे पुत्र विदुरजी हुए ॥ २५ ॥

परीक्षित ! धृतराष्ट्रकी पत्नी थी गन्धारी । उसके

गर्भसे सा पुत्र हुए, उनमें सबसे बड़ा था दुर्योधन ।

कन्याका नाम था दुःशला ॥ २६ ॥ पाण्डुकी पत्नी की

कुन्ती । शत्रुघ्न पाण्डु की-सहवास नहीं कर सक्त थे ।

इसलिये उनकी पत्नी कुन्तीका गर्भसे धर्म, बापु और इन्द्र

का द्वारा क्रमशः युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन नामक

तीन पुत्र उत्पन्न हुए । ये तीनों-के-तीनों महारथी थे ॥ २७ ॥

नकुल सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदक्षयोः ।

द्रौपद्यां पञ्च पञ्चम्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ॥२८॥

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्म्य धृतसेनो वृकोदरात् ।

अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाहलिः ॥२९॥

सहदेवसुतो राजश्रुतकर्मा तथापरे ।

युधिष्ठिरात् तु पौरव्यां देवकोऽथ षटोत्कथः ॥३०॥

भीमसेनादिबिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः ।

सहदेवात् सुहोत्रं तु विजयाद्यत पार्वती ॥३१॥

करेभुमस्यां नह्लो निरमित्रं तथार्जुनः ।

श्रावन्तमुख्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ।

मथिपूरपतेः सोऽपि तस्य पुत्रिकासुतः ॥३२॥

तत्र तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत ।

सर्वातिरथजिह्वी भीर उत्तरायां ततो भवान् ॥३३॥

परिधीनेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्तेजसा ।

त्वच्चकृष्णानुभावेन समीको मोषितोऽन्तकात् ॥३४॥

तथेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकः ।

धृतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥३५॥

जनमजयस्त्वां विदित्वा तथकाभिधनगतम् ।

सर्पानवै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुपांस्त्रिषु ॥३६॥

काश्यपेयं पुराधाय सुरं सुरगमभयात् ।

समन्तान् पृथिवीं सर्वां भित्वा यक्ष्यति पाञ्चरैः ॥३७॥

तस्य पुत्र शतानीकायाश्चक्षयात् श्रयीं पठन् ।

अश्वघ्नान क्रियाघ्नान शौनकात् परमप्यति ॥३८॥

सहस्रानीकस्तस्युत्ततश्चैवाश्वमेधजः ।

पाण्डुकी दूसरी प्लीष नाम या मादी ।

दोनों अश्विनीकुमारोंके द्वारा उसके गर्भसे नकुल और

सहदेवका जन्म हुआ । परीक्षित ! इन पाँच पाण्डवोंके

द्वारा द्रौपदीका गर्भसे तुम्हारे पाँच चाचा उत्पन्न हुए ॥२८॥

इनमेंसे युधिष्ठिरके पुत्रका नाम या प्रतिविन्म्य, भीमसेनका

पुत्र या धृतसेन, अर्जुनका धृतकीर्ति, नकुलका शत्रुघ्नीक

और सहदेवका श्रुतकर्मा । इनके सिवा युधिष्ठिरके पौरीषी

नाम्पक्षि पत्नीसे देवक और भीमसेनके डिदिम्बासे षण्देवक

और कश्यपसे सर्वग नामके पुत्र हुए । सहदेवके

पर्जन्यकुमारी विजयासे सुहोत्र और नकुलके करेणुमतीसे

नरमित्र हुआ । अर्जुनका नामकया तक्षशीके गर्भसे

श्रावन्त और मणिपूर नरेन्द्रकी कन्यासे बभ्रुवाहनका जन्म

हुआ । बभ्रुवाहन अपने नानका ही पुत्र माना गया ।

क्योंकि पहलेसे ही यह बात तै हो चुकी थी ॥ २९-३२॥

अर्जुनकी सुभद्रा नामकी पत्नीसे तुम्हारे पिता अश्विन्म्य

का जन्म हुआ । वीर अश्विन्म्यसे समी अनिरयिकोंके जीत

त्रिय या । अश्विन्म्यके द्वारा उत्तराके गर्भसे तुम्हारा

जन्म हुआ ॥ ३३ ॥ परीक्षित ! उस समय कुरुवंशका

नामा हो चुका था । अश्वत्थामाके ब्रह्मास्ते तुम भी जन्म

ही चुके थे, परन्तु मगवान् धीकृष्णने अपने प्रभावसे

तुम्हें उस मृत्युसे जीता-जागता बचा लिया ॥ ३४ ॥

परीक्षित ! तुम्हारे पुत्र तो सामने ही बैठे हुए

हैं—इनका नाम हैं—जनमेजय, धृतसेन, भीमसेन और

उग्रसेन । ये सबके-सब बड़े पराक्रमी हैं ॥ ३ ॥ जब

असीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु तत्सुतः ॥३९॥
 गजाद्वये हते नद्या कौशाम्यां साधु वत्ससि ।
 उक्तस्तद्विभ्ररथस्तस्मात् कविरथः सुतः ॥४०॥
 तस्मात् इष्टिमांस्तस्य सुप्रेणोऽथ महीपतिः ।
 सुनीयस्तस्य भविता नृपसूर्यत् सुस्तीनलः ॥४१॥
 परित्यज सुतस्तस्मा मेधावी सुनपात्मजः ।
 नृपञ्जयस्ततो दुर्वस्तिमिस्तस्माञ्जनिम्यति ॥४२॥
 विमेषद्वयस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः ।
 क्षतानीकाद् दुर्वमनस्वस्मापत्यं बहीनरः ॥४३॥
 दण्डपाणिनिर्मिस्तस्य क्षेमको भविता नृपः ।
 मन्मथस्तस्य वै प्रोको वंशो देवर्षिस्तकृतः ॥४४॥
 क्षेमकं प्राप्य रावानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ।
 अथ मागभराद्धानो भवितारो वदामि ते ॥४५॥
 भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छुतप्रवाः ।
 ततोऽपुतापुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥४६॥
 सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद् बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् ।
 तत स्तञ्जपाद् विप्रः क्षुचिस्तस्य भविष्यति ॥४७॥
 क्षेमोऽथ सुम्रतस्तस्माद् धर्मद्वजः श्रौमस्तवः ।
 शुभस्तेनोऽथ सुमतिः सुषडो धनिता तवः ॥४८॥
 सुनीर्थ सत्यमिदं विप्रजिव यद् रिपुञ्जयः ।
 बार्हद्रथोऽथ मृपाला भाम्याः माहसवत्सरम् ॥४९॥

सहस्रानीकस्त अश्वमेज, अश्वमेजस्त असीमकृष्ण और
 असीमकृष्णका पुत्र होगा नेमिचक्र ॥ ३९ ॥ अथ
 इतिनापुर गङ्गाजीमें यह जायगा, तब वह पौरवध्वनीपुरीमें
 सुलक्ष्म्यक निवास करेगा । नेमिचक्रका पुत्र होगा विभ्ररथ,
 विभ्ररथका कविरथ, कविरथका इष्टिमान्, इष्टिमान्का
 राज्ञ सुप्रेण, सुप्रेणका सुनीय, सुनीयका मृच्छु, मृच्छुका
 सुस्तीनल, सुस्तीनलका परित्यज, परित्यजका सुनय, सुनयका
 मेधावी, मेधावीका नृपञ्जय, नृपञ्जयका दुर्व और दुर्वका पुत्र
 निमि होगा ॥ ४०-४२ ॥ निमिसे बृहद्रथ, बृहद्रथसे
 सुदास, सुदाससे शतानीक, शतानीकसे दुर्वमन, दुर्वमन-
 से बहीनर, बहीनरसे दण्डपाणि, दण्डपाणिसे निमि और
 निमिसे राज्ञ क्षेमकका जन्म होगा । इस प्रकार मैंने
 तुम्हें क्षत्रिय और क्षत्रिय दोनोंके उत्पत्तिस्थान सोमवशका
 वर्णन सुनाया । बड़े-बड़े देवता और ऋषि इस वंशका
 स्वरूप करते हैं ॥ ४३-४४ ॥ यह वंश कस्मिन्में
 राज्ञ क्षेमकके साथ ही समाप्त हो जायगा । अब मैं
 भविष्यमें होनेवाले महादेवके राजाओंका वर्णन सुनाऊँ
 हूँ ॥ ४५ ॥

अरास्यके पुत्र सहदेवसे मार्जारि, मार्जारिसे क्षुतप्रवा,
 क्षुतप्रवासे अपुतापु और अपुतापुसे निरमित्र नामका पुत्र
 होगा ॥ ४६ ॥ निरमित्रके सुनक्षत्र, सुनक्षत्रके बृहत्सेन,
 बृहत्सेनके कर्मजित्, कर्मजित्के स्तञ्जय स्तञ्जयके
 विप्र और विप्रके पुत्रका नाम होगा क्षुचि ॥ ४७ ॥
 क्षुचित्से क्षेम, क्षेमसे सुम्रत, सुम्रतसे धर्मद्वज, धर्मद्वजसे
 शम, शमसे शुभस्तेन, शुभस्तेनसे सुमति और सुमतिसे
 सुषड्का जन्म होगा ॥ ४८ ॥ सुषड्का सुनीय, सुनीयका
 सत्यजित्, सत्यजित्का विप्रजिव और विप्रजित्का पुत्र
 रिपुञ्जय होगा । ये सब बृहद्रथवंशके राजा होंगे । इनका
 शस्त्रनाम एक हजार वर्षके भीतर ही होगा ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यं संक्षिप्तायां

नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

मनु, धृष्ट, सुर्वसु और यदुके यशस्व वर्णन

श्रीशुक उवाच

अनोः समानरश्मः परोक्षश्च त्रयः सुताः ।
 समानरात् कालनरं सुंजयस्तस्मिन्सुतः ॥ १ ॥
 जनमेजयस्तस्य पुत्रो महावीरो महामनाः ।
 उशीनरस्तिष्ठुश्च महामनस आत्मजौ ॥ २ ॥
 शिषिर्वनः क्षमिर्दध्मत्वारोशीनरात्मजाः ।
 वृषादर्मः सुवीरश्च मद्रः कैकेय आत्मजाः ॥ ३ ॥
 शिबेष्टवार एषास्तस्तिष्ठोश्च रुद्रद्वयः ।
 यतो हेमोऽथ सुतया बलिः सुतपसोऽभवत् ॥ ४ ॥
 अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः सुहृद्वृण्वाश्चर्षिताः ।
 क्षत्रिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥ ५ ॥
 चक्रुः खनाम्नाविपयान् पठिमान् प्राच्यर्षाश्च ते ।
 खनपानोऽङ्गुतो बभूवसाव् दिविरथस्तवः ॥ ६ ॥
 सुतो धर्मरथो यस्य बभूवचित्ररथोऽप्रजाः ।
 रोमपाद इति रथावस्तस्मै दशरथः सखा ॥ ७ ॥
 शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदप्यश्वत्थ उवाच ताम् ।
 देवेऽनर्पति य रामा आनिन्युहरिणीसुतम् ॥ ८ ॥
 नात्यसङ्गीतवादिर्नर्तकमालिङ्गनार्हणीः ।
 स तु राघाऽनपत्यस्य निरूप्येष्टि मरुत्वतः ॥ ९ ॥
 प्रजामदाव् दशरथो येन लेमेऽप्रजाः प्रजा ।
 चतुरङ्गो रोमपादाव् पृथुलाश्वस्तु तत्सुतः ॥ १० ॥
 वृहद्रथो वृहत्कर्मा वृहन्नायुश्च तत्सुता ।
 भाषाव् वृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृत ॥ ११ ॥
 विजयस्तस्य मग्भूयां यतो वृषिरजापत ।

श्रीशुकनेवजी कहत हैं—परीक्षित ! यशस्विन्यन्त
 अनुके तान पुत्र हुए—समानर, चक्रु और परोक्ष ।
 समानरका काञ्जर, काञ्जरका सुहृद, सुहृदका
 जनमेजय, जनमेजयका महावीर, महावीरका पुत्र हुआ
 महामना । महामनाके दो पुत्र हुए—उशीनर एवं
 तिष्ठु ॥ १ २ ॥ उशीनरके चार पुत्र थे—शिषि, वन,
 शमी और दध्म । शिषिके चार पुत्र हुए—वृषादर्म,
 सुवीर, मद्र और कैकेय । उशीनरके माई तिष्ठुके
 रुद्रद्वय, रुद्रद्वयके हेम, हेमके सुतया और सुतयाके
 बलि नामक पुत्र हुआ ॥ ३ ४ ॥ राजा बज्रि पत्नीके
 गर्भसे दीर्घतमा मुनिने छ पुत्र उत्पन्न किये—अङ्ग,
 वङ्ग, कलिङ्ग, सुस, पुण्ड्र और अश्व ॥ ५ ॥ इन छेगोंने
 अपने-अपने नामसे पूर्व दिशमें छ देश मसये । अङ्गका
 पुत्र हुआ खनपान, खनपानका दिविरथ, दिविरथका
 धर्मरथ और धर्मरथका चित्ररथ । यह चित्ररथ ही
 रोमपादके नामसे प्रसिद्ध था । इसके मित्र थे
 अयोध्याधिराज महाराज दशरथ । रोमपादके कोई
 सम्पन्न न थी । इसीसे दशरथने उन्हें अपनी श्वन्ता
 नामकी कन्या गौर दे दी । श्वन्ताका विवाह अयोध्या
 मुनिसे हुआ । अयोध्या विष्णुशङ्कराचार्यके द्वारा
 हरिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । एक बार राजा रामनाथके
 राज्यमें बहुत दिनोत्तक बरस नहीं हुई । तब गणिकाएँ
 अपने कूप, संगीत, वाद्य, हाव-भाव, आभिरुचि और
 विविध उपहारसे व्यस्त कनक अयोध्याशङ्करों बहों ले
 आयीं । उनके आते ही बरस हो गयी । उन्होंने ही
 इन्द्र देवताका यज्ञ बनाया, तब सम्पन्नहीन राजा
 रोमपादको भी पुत्र हुआ और पुत्रहीन दशरथने भी
 उनकी प्रकल्पसे चार पुत्र प्राप्त किये । रामनाथका पुत्र
 हुआ चतुरङ्ग और चतुरङ्गका पृथुशङ्ख ॥ ६—१० ॥
 पृथुशङ्खके वृहद्रथ, वृहद्रथमाँ और वृहद्रथानु—तीन पुत्र
 हुए । वृहद्रथका पुत्र हुआ वृहत्कर्मा और वृहत्कर्माका
 जयद्रथ ॥ ११ ॥ जयद्रथकी पत्नीका मान था सम्भुनि ।

उता धृतव्रतस्तस्य मत्स्कर्माधिरथस्ततः ॥१२॥
 वोऽसौ गङ्गातटं धीमन् मञ्जुपान्तर्गर्धं विशुम् ।
 कुन्त्यापविद्ध कानीनमनपत्योऽकरोत् सुतम् ॥१३॥
 वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपतेः ।
 दुसोष तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ॥१४॥
 आरन्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः ।
 धृतस्य दुर्मनास्तसात् प्रचेताः प्राचेतसं धृतम् ॥१५॥
 म्लेच्छाधिपतयोऽभून्नुदीचीं दिक्षमाभिताः ।
 तुवंतोष सुतो बह्विर्वहेर्मगांश्च मौलुमान् ॥१६॥
 त्रिमानुस्तत्सुतोऽस्मापि करन्धम उदारधी ।
 मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्र पौरवमन्वभूत् ॥१७॥
 दुष्पन्तः स पुनर्मैत्रे स्वं वरुणान्वकाशुकः ।
 ययातेर्ष्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ ॥१८॥
 वर्जयामि महापुंश्च सर्वपापहरं नृबाध ।
 यदोर्वंशं नरः भुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१९॥
 यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ।
 यदोःसहस्रविरक्रोष्टा नलो रिपुरिति धृता ॥२०॥
 अन्वारः घन्यस्तत्र धौतमित् प्रथमारभजः ।
 महाहो वेणुहयो दैहयमेति तत्सुताः ॥२१॥
 धर्मस्तु दैहयसुतो नेत्रः कुन्तोः पिता ततः ।
 सोऽक्षिरभक्त कुन्तेमहिष्यान् भद्रसेनकः ॥२२॥
 दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यघः ।
 कृतान्नः कृतवर्मा च कृतौजा वनव ॥२३॥

उसक गर्भसे विजयका जन्म हुआ । विजयका पुत्र,
 धृतिका धृतमन्, धृतमन्का सत्कर्मा और मन्मर्षका पुत्र
 या अधिरथ ॥ १२ ॥ अधिरथको कोइ सन्तान न थी ।
 विन्ती पिन यह गङ्गातटपर क्रीडा कर रहा था कि दण्ड
 पण मिर्गामे नया-सा शिशु यहा धन जा रहा है ।
 वह बाध्य क्या था, निसे कुन्तीने मन्ववत्सने अपने
 होनेक कारण उस प्रकार बड़ा दिया था । अकिन्ते
 उसीका अपना पुत्र बना लिया ॥ १३ ॥ परीक्षित ।
 गन्धा कर्णके पुत्रका नाम था वृषसेन । कर्णके पुत्र
 दुसुते बभ्रुक जन्म हुआ । बभ्रुक सेतु, सेतुका
 आरन्ध, आरन्धका गान्धार, गान्धारका धर्म, धर्मका धृत,
 धृतका दुर्मना और दुर्मनाका पुत्र प्रचेता हुआ ।
 प्रचेताके सौ पुत्र हुए, ये उत्तर निशामे म्लेच्छोंके राज
 हुए । परातिके पुत्र तुर्वसुका बह्नि, बह्निका र्मा, र्माका
 मनुमन्, मनुमन्का त्रिमानु, त्रिमानुका उदारुमि
 करन्धम और करन्धमका पुत्र हुआ मरुत । मरुत
 सन्तानहीन था । इसलिये उसने वृक्षशी दुष्पन्तके
 अपना पुत्र बनाकर रखवा था ॥ १४-१७ ॥ परन्तु
 दुष्पन्त राज्याकी कामनासे अपने ही वंशमें छैट गये ।
 परीक्षित । अब मैं गन्धा ययान्तिके बड़े पुत्र यदुके वंशका
 वर्णन करता हूँ ॥ १८ ॥

परीक्षित । महाराज यदुका क्या परम पत्नि और
 मनुष्योंके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है । जो
 मनुष्य इसका शरण करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो
 जायगा ॥ १९ ॥ इस वंशमें सर्व मन्वान् परब्रह्म
 श्रीहृण्णने मनुष्यकेसे रूपमें अवतार लिया था । यदुके
 का पुत्र थे—सहजित्, कोटा, नव और रिपु ।
 सहजित्से शलजित्का जन्म हुआ । धनजित्के तीन
 पुत्र थे—महाहय, वेणुहय और दैहय ॥ २०-२१ ॥
 दैहयका धर्म धर्मका नेत्र नेत्रका कुन्ति, कुन्तिका
 माक्षि साहजित्का महिष्यान् और महिष्यान्का पुत्र
 भद्रसेन ॥ २२ ॥ भद्रसेनका दो पुत्र थे—दुर्म
 और नयके चार पुत्र हुए—कृतवीर्य, कृतान्न,
 कृतवर्मा, कृतौजा ॥ २३ ॥ कृतवीर्यका पुत्र वरुण

दक्षिण्याद्वरेरक्षात् प्रासयोगमहागुण ॥२४॥

नमूनंकार्त्तवीर्यस्य गतिं यासन्ति पार्ष्णिवा ।

यद्दानतत्पयोगंभूतवीर्यजयादिभि ॥२५॥

पञ्चाशीतिसहस्राणि दम्पाहतबलः समाः ।

अनष्टविचकारणो पुत्रलेऽव्ययपद्मसु ॥२६॥

तस्य पुत्रसहस्रेषु पञ्चैवार्चिता मृचे ।

जमव्ययः शूरसेनो वृषभो मधुरुजितः ॥२७॥

जयध्वजात् तालजङ्घस्तस्य पुत्रस्य त्वभूत् ।

धैर्यं यत् तालजङ्घास्यमौ वर्ततेऽपमहत्तम् ॥२८॥

तेषां ज्येष्ठा वीरिहोत्रो वृष्णि पुत्रा मधोः स्मृतः ॥

तस्य पुत्रवर्तत्वासीद् वृष्णिज्येष्ठं यत् कुलम् ॥२९॥

माधवा वृष्णयो राजन् यादवाधति संश्रिता ।

यदुपुत्रस्य च क्राप्ता पुत्रा वृजिनर्वास्तवः ॥३०॥

याद्विस्तृता कशेकुर्वे तस्य चित्ररथस्तव ।

शशभिन्नुर्महायानी महाभाजा महानभूत् ॥३१॥

चतुर्दशमहारत्नस्यैवर्त्यपराजित ।

तस्य पत्नीसहस्राणां दधानां मुमहायसा ॥३२॥

दधलसहस्राणि पुत्राणां ताम्रवीजिनत् ।

तेषां तु पद्मधानानां प्रभुभक्त्य आरमजः ॥३३॥

भर्मो नामाशना तस्य हयमधश्चतस्य याद् ।

भगवान्को कश्चनानार श्रीच्छात्रेयनीसे योगविद्या और
जणिमा-उविमा आनि बही-मयी सिद्धिबौ प्रात की
बीं ॥ २४ ॥ इसम सन्देह नहीं कि ससारका कोइ भी
सम्राट् यज्ञ, दान, तपस्या, याग, शस्त्रज्ञान, पराक्रम
और विजय आनि गुणोंमें कार्त्तवीर्य अर्जुनकी बराबरी
नहीं कर सकेगा ॥ २५ ॥ महत्तयाद् अर्जुन पचासी
हजार वर्षनक छहों इन्द्रियोंसे अश्वय विषयोंका भोग
करता रहा । इस बीचमें न तो उसका शरीरका कठ ही
क्षीण हुआ और न तो कभी उसने यही स्मरण किया
कि मेरे घनका नाश हो जायगा । उसके घनके नाशकी
तो बात ही क्या है, उसका ऐसा प्रभाव था कि उसका
स्मरणसे दूसरोंका खोया हुआ घन भी मिट जाता था ॥ २६ ॥
उसके इज्जतों पुत्रोंमेंसे कवल पौंच ही जीवित रह ।
शेष सब परधुरमजीकी क्रोधमग्निमें भस्म हो गये । बचे
हुए पुत्रोंके नाम थे—जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु
और रुजित ॥ २७ ॥

जयध्वजक पुत्रका नाम था ताऊजङ्घ । ताऊजङ्घ
मौ पुत्र हुए । व भाऊजङ्घ नामक क्षत्रिय कलजये ।
महर्षि और्यकी शक्तिसे राजा सगुने उनका महार कर
दाया ॥ २८ ॥ उन सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा था वीरिहोत्र ।
वीरिहोत्रका पुत्र मधु हुआ । मधुका सौ पुत्र थे । उनमें
सबसे बड़ा था वृष्णि ॥ २९ ॥ परीक्षित । इन्ही मधु,
वृष्णि और यदुक कारण यह था माधव, दार्पण्य और
यादव नामसे प्रसिद्ध हुआ । यदुनन्त क्रौन्डुक पुत्रका
नाम था वृजिनवान् ॥ ३० ॥ वृजिनवान्का पुत्र याद्वि,
याद्विका कशेकुर्वे कशकुर्वे चित्ररथ और चित्ररथक पुत्र-
का नाम था शशभिन्दु । वह परम यत्ना मग्न
योगध्यानमग्न और व्ययन पराक्रमी था ॥ ३१ ॥ वह
चीन्हा रत्नोंका खार्मी, चक्रवर्ती और युद्धमें अजय था ।
परम यशस्वी शशभिन्दुक टस हजार पत्नियों थी । उनमेंसे
एक-एकका पाल-पाल मन्तान हुई थीं । इस प्रसंग
उसका भी पता—एक अरब मन्तान उत्पन्न हुईं ।
उनमें प्रभुधवा आनि छ पुत्र प्रधान थे । प्रभुधवाक
पुत्रका नाम था म । भक्ता पुत्र आता हुआ । उनमें

१ योगी: म । २ मस्य । ३ क्षात्र । ४ यथापेय ।

५ चीन्हा रत्न थे हैं— हाथी चढ़ा १५ लीं बाण स्वर्णमा माया बन्ध हुआ दाँत, पादा गीज छत्र भेरे निमान ।

तदुक्तो रुचकस्तस्य पञ्चासत्प्रात्मज्ञा शृणु ॥३४॥

पुरुत्रिद्वयमरुक्रमपुष्टपुन्यामवसन्निताः ।

न्यामवस्वप्रज्ञोऽप्यन्यां भार्यां श्रेय्यापतिर्मयात् ॥३५॥

नाविन्दच्छुभबन्दाद् भोण्यां कन्यामहारपीत् ।

रथत्वां तां निरीक्ष्याद् श्रेय्या पतिममर्षिता ॥३६॥

केपं कृहक मत्स्नानं रथमारोपिषेति वै ।

स्तुवा तथेत्यभिहिते सप्तमी पतिमश्रवीत् ॥३७॥

अहं बभ्यासपत्नी च स्तुवा मपुन्यते कथम् ।

जनविषयसि यं राक्षि तस्येयमपुन्यते ॥३८॥

अन्वमोदन्त तद्विज्ञेदेवाः पितर एव च ।

श्रेय्या गममघात् काले कुमारं सुपुत्रे शुभम् ।

त विदम इति प्रोक्त उपमेमे स्तुवां सतीम् ॥३९॥

सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे । उसनाकर पुत्र हुआ रुचक ।

रुचकके पौत्र पुत्र हुए, उनके नाम सुनो ॥ ३२-३४ ॥

पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेय, पृथु और आत्मव । आत्मवकी पत्नी-

कर नाम या श्रेय्या । आत्मवके बहुत पित्रोत्तरक बोझ सत्मान

न हुई । परन्तु उसने अपनी पत्नीके भयसे दूसरा विवाह नहीं

किया । एक बार यह अपने शत्रुके घरसे भोग्या नामकी

कन्या हर लया । जब श्रेय्याने पतिके रथपर उस

कन्याको देखा, तब यह चिन्तित अपने पतिसे बोली-

कसटी ! मेरे बैठनेकी जगहपर आज किते बैठकर

जिये का रहे हो ? आत्मवने कहा-प्यह तो दुम्हारी

पुत्रवधू है । श्रेय्याने सुसुकरावत अपने पतिसे

कहा ॥ ३५-३७ ॥ धन तो जन्मसे ही बौझ हूँ और मेरी

कोई सौत भी नहीं है । फिर यह मेरी पुत्रवधू कैसे हो

सकती है ? आत्मवने कहा-पानी ! तुमसे जो पुत्र

होगा, उसकी यह पत्नी बनेगी ॥ ३८ ॥ राजा आत्मवक

इस कथनपर विस्मयेव और कितोनें अनुमोदन किया ।

फिर क्या पा, समपपर श्रेय्याको गर्म रखा और उसने

कहा ही सुन्दर बाज्य उरुन किया । उसका नम

हुआ विनम । उसीने श्रेय्याकी साची पुत्रवधू भोग्यसे

विवाह किया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते म्हापुराणे प्रारम्भस्थं संहितायां नवमस्कन्धं

यदुवशर्तुवर्गने प्रयाविशोऽध्याय ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्याय

विदर्भके वंशका कथन

श्रीभुक्त उवाच

तस्मां विदर्भोऽघनपत् पुत्रौ नाम्ना कुशकथौ ।

तृतीय रोमपादं च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १ ॥

रोमपादसुता बभ्रुवर्ध्नो कृतिरजायत ।

उषिकन्तनुनस्तस्माच्चद्विचंदादथो नृप ॥ २ ॥

क्रथम्यकुर्वाः पुत्राऽमृदं दृष्टिस्तस्याथ निर्हृतिः ।

तत्ता दशाशौ नाम्नामृतं तस्य श्योमः सुतस्ततः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं-भरीश्रित् । राजा विदर्भ-

की भोग्या नामक पत्नीसे तीन पुत्र हुए-कुश, कप और

रोमपाद । रोमपाद विदर्भवंशमें बहुत ॥ यद्येष्ट पुरुष

हए ॥ १ ॥ रोमपादका पुत्र कप, यक्षक वृक्षी, कृति

का उषिक और उषिकका चेदि । राम् । इस चेदिके

बालमें ही दमघोर एवं शिशुनाथ आदि हुए ॥ २ ॥

कपका पुत्र हुआ कुन्ति, कुन्तिकर पृथि, पृथिर निर्हृति,

निर्हृतिका दशार्ध और दशार्धका श्योम ॥ ३ ॥

जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथ सुत ।
 उता नवरथ पुत्रो आतो दशरथस्ततः ॥ ४ ॥
 क्रम्मिः शक्रनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मज ।
 देवघ्नस्ततस्तस्य मधु कुरुवर्मादनु ॥ ५ ॥
 पुच्छोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यापु सात्वतस्तत ।
 भद्रमानो भजिर्दिष्णो वृष्णिर्देवावृषोऽधक ॥ ६ ॥
 सात्वतस्य सुता सप्त महाभोजस्य भारिप ।
 भद्रमानस्य निम्लोचि किङ्किणो घृष्टिरेव च ॥ ७ ॥
 एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयः सुता ।
 यतामिष सहस्राभिदयुताभिदिति प्रभो ॥ ८ ॥
 धर्मर्देवावृषसुतस्तयो श्लोकौ पठन्त्यम् ।
 यथैव शृणुमो दरात् सम्प्रश्यामस्तथान्विकात् ॥ ९ ॥
 बभ्रु श्रेष्ठो मनुष्याणां देवर्देवावृषः समः ।
 पुरुषा पञ्चपटिष्व पद् सहस्राणि चाष्ट च ॥ १० ॥
 येऽमृतत्वमनुप्राप्ता धर्मोर्देवावृषादपि ।
 महाभोजोऽपि धर्मात्मा मात्रो आसस्तदन्वये ॥ ११ ॥
 चप्प्येः सुमित्रः पुत्रोऽमृद् युधामिष परंरथ ।
 शिनिस्तस्यानमित्रस्य निम्नोऽमृदनमित्रत ॥ १२ ॥
 सत्राजितः प्रसेनस्य निम्नस्याप्यासतु सुवी ।
 अनमित्रसुतो योऽन्य शिनिस्तस्याथ सत्यक ॥ १३ ॥
 युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणित्ततः ।
 युगन्वरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्तत ॥ १४ ॥
 शफल्कविप्ररथस्य गान्दिन्यां च शफल्कस्य ।
 अहूरप्रभुत्वा आसन् पुत्रा द्वादश विधुता ॥ १५ ॥
 आसङ्गः सारमेयस्य मृदुरो मृदुविद् गिरि ।
 धर्मवृद्ध सुकर्मो च क्षेत्रोर्महोऽरिमर्दन ॥ १६ ॥
 शृणुमो गन्धमादस्य प्रविषादुष्य द्वादश ।
 तेषां स्वसा मुषीरास्या द्वावजृग्मुतावपि ॥ १७ ॥

ध्योमक जीमूत, जीमूतस्य विकृति, विकृतिस्तस्य भीमरथ,
 भीमरथस्य नवरथ और नवरथस्य दशरथ हुआ ॥ ४ ॥
 दशरथसे शक्रनि, शक्रनिसे क्रम्मि, क्रम्मिसे देवरात,
 देवरातसे देवघ्न, देवघ्नसे मधु, मधुसे कुरुवर्मा और
 कुरुवर्मासे अनु हुए ॥ ५ ॥ अनुसे पुच्छोत्र, पुच्छोत्रसे
 आयु और आयुसे सात्वतस्य जन्म हुआ । परीक्षित !
 सात्वतके सात पुत्र हुए—मज्जमन, मज्जि, निष्य, वृष्णि,
 देवावृष, अन्वक और महाभोज । मज्जमानकी दो पत्नियाँ
 थीं । एकसे तीन पुत्र हुए—निम्लोचि, किङ्किण और
 घृष्टि । दूसरी पत्नीसे भी तीन पुत्र हुए—शतामित्र, सह
 सात्वित और अयुतानित् ॥ ६-८ ॥ देवावृषके पुत्रका
 नाम था बभ्रु । देवावृष और बभ्रुके सम्बन्धमें यह बात
 पक्षी ज्ञाती है—वृष्णे दूरसे जैसा सुन रक्ख था,
 अब वैसा ही निकटसे देखते भी हैं ॥ ९ ॥ बभ्रु
 मनुष्योंमें श्रेष्ठ है और देवावृष देवराजोंके समान है।
 इसका कारण यह है कि बभ्रु और देवावृषसे उपद्रव
 लेकर चौदह हजार पैसठ मनुष्य परम पदसे प्राप्त कर
 चुके हैं । सात्वतके पुत्रोंमें महाभोज भी बड़ा धर्मात्मा
 था । उसीके वंशमें भोजवर्षी यादव हुए ॥ १०-११ ॥

परीक्षित ! वृष्णिके दो पुत्र हुए—सुमित्र और
 युधानित् । युधानित्के शिनि और अनमित्र—ये नौ
 पुत्र थे । अनमित्रसे निम्नका जन्म हुआ ॥ १२ ॥
 सत्राजित् और प्रसेन नामसे प्रसिद्ध यदुवंशी निम्नक ही
 पुत्र थे । अनमित्रका एक और पुत्र था, जिसका नाम
 था शिनि । शिनिसे ही सत्यकका जन्म हुआ ॥ १३ ॥
 इसी सत्यकका पुत्र युयुधान थे, जो सात्यकि नामसे
 प्रसिद्ध हुए । सात्यकिका जय, जयका कुणि और कुणि
 का पुत्र युगन्धर हुआ । अनमित्रके तीसरे पुत्रका नाम
 वृष्णि था । वृष्णिके दो पुत्र हुए—अन्वक और विप्रवर्ध ।
 शफल्ककी पत्नीका नाम था गान्दिनी । उनमें सबसे श्रेष्ठ
 अमृतके अनिरिक बाह्य पुत्र उत्पन्न हुए—आसङ्ग, सारमेय,
 मृदुर मृदुविद् गिरि, धर्मवृद्ध, सुकर्म, क्षेत्रापेक्ष
 अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमादन और प्रतिघाट । इनका एक
 बहिन भी थी, जिसका नाम था मुषीरा । अमृतका दा

देववानुपदेवम् तथा चित्ररथात्मजा ।
 प्रपुर्विर्द्रथाद्याम् बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥१८॥
 कुङ्करो भजमानम् शुचि कम्पलवर्हिपः ।
 कुङ्कुरस्य सुतो वैद्विर्विलोमा तनयस्ततः ॥१९॥
 कपोतरोमा तस्यानुः सत्या यस्य च तम्बुरु ।
 अन्धको दुन्दुभिस्तस्मादरिघोष पुनर्वसु ॥२०॥
 तस्याहुकमाहुको च कन्या वैवाहुकात्मजौ ।
 देवकभाग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥२१॥
 देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्चनः ।
 तेषां स्वप्नार सप्तासन् वृत्तदेवादयो नृप ॥२२॥
 शान्तिदेवोपदेवा च भीदेवा दवरक्षिता ।
 सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥२३॥
 कंसः सुनामान्यग्रोध कङ्कः शङ्खः सुहृत्तथा ।
 राष्ट्रपालोऽथ सृष्टिश्च तृष्टिर्मानौग्रसेनयः ॥२४॥
 कमा कंसवती कङ्का शूरभू राष्ट्रपालिका ।
 उपसेनदुहितरो वसुदेवानुग्रक्षिणः ॥२५॥
 शूरा विद्रथादासीद् भजमानः सुतस्ततः ।
 शिनिस्तस्मात् स्वयम्भोजो हृदीकस्तसुतो मतः ॥२६॥
 दशबाहु शशधनु कृतवर्मैति वत्सुजा ।
 देवमोढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् ॥२७॥
 तस्यां स जनयामास दस पुत्रानकल्मषान् ।
 वसुदेव देवभागं देवधत्तसमानकम् ॥२८॥
 सृञ्जय श्यामर्क कर्जुं शमीर्क वत्सर्क वृकम् ।
 देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य अमनि ॥२९॥
 वसुदेव हरेः स्यान् वदन्त्यानकदुन्दुभिम् ।
 पूषा च धृमदेवा च धुतकीर्ति भुतभयाः ॥३०॥
 राजाभिर्द्वी धनेषां भगिन्य पञ्च कन्यका ।

पुत्र ये देवान् और उपदेव । यप्ररुक्ते माइ चित्ररथके
 पृथु, विदूरथ आदि बहुत-से पुत्र हुए—ओ वृष्णिनन्दनो मे
 मने जाते हैं । १८—१८ । सत्यवते के पुत्र अश्वत्थक वार पुत्र
 हुए—कुङ्कुर, मनमान, शुचि और कन्कलवर्हि । उनमें
 कुङ्कुरका पुत्र वद्वि, वद्विकका किलोम, किलोमका कपोत-
 रोम और कपोतरोमका अनु हुआ । तम्बुरु कम्पकके
 साथ अनुकी बड़ी मित्रता थी । अनुका पुत्र अश्वक,
 अश्वकका दुन्दुमि, दुन्दुमिका अरिषोत, अरिषोतका पुन-
 र्वसु और पुनर्वसुके आहुक नामका एक पुत्र तथा आहुकी
 नामकी एक कन्या हुई । आहुकके दो पुत्र हुए—
 देवक और उग्रसेन । देवकके चार पुत्र हुए । १९—२१ ।
 देवान्, उपदेव, सुदेव और देववर्चन । इनकी स्त्रियाँ
 बहिनें भी थी—वृत्तदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, भीदेवा,
 दवरक्षिता, सहदेवा और देवकी । वसुदेवजीने
 इन सबके साथ विवाह किया था ॥ २२—२३ ॥
 उग्रसेनक नौ छत्रके थे—कंस, सुनाम, स्वयम्भेव, कङ्क,
 शङ्ख, सुह, राष्ट्रपाल, सृष्टि और तृष्टिमान् ॥ २४ ॥
 उग्रसेनके पाँच कन्याएँ भी थी—कमा, कंसवती, कङ्का,
 शूरभू और राष्ट्रपालिका । इनका विवाह देवभाग कपि
 वसुदेवजीके छत्रे भ्रातृसे हुआ था ॥ २५ ॥

चित्ररथके पुत्र विदूरथसे शूर, शूरसे मज्जमन, मज्जमन
 से शिनि, शिनिसे स्वयम्भोज और स्वयम्भोजसे हृदीक
 हुए । २६ । हृदीकसे तीन पुत्र हुए—देवबाहु, शनकन्या और
 कृतवर्मा । देवकीके पुत्र शूरकी पत्निका नाम था मारिषा
 ॥ २७ ॥ उन्होंने उसके गर्भसे दस निष्ठाप पुत्र उत्पन्न
 किये—वसुदेव, देवभाग, देवधत्ता, आनक, सृञ्जय,
 श्यामक, कर्जु, शमीर, वत्सर और वृक । ये सभी के-
 साथ बड़े पुण्यात्मा थे । वसुदेवजीके जन्मक समय
 देवनागोंक नगरे और नौमन स्यं ही बनने लगे थे ।
 अतः व आनकदुन्दुमि भी पड़नाये । वे ही भ्रातृन्
 श्रीहृण्ग मिला हुए । वसुदेव आदि की पाँच बहिनें भी
 थी—पूषा (वृत्ती), धृमदेवा, धुतकीर्ति, धुतधत्ता
 और राजाधिपती । वसुदेवक पिता उग्रसेनका प्य मित्र
 था—मुन्तिभोज । मुन्तिभोजक काइ सुतान म थी ।

कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ॥३१॥

साऽऽप दुर्वासमो विद्यां देवहूतीं प्रतोपितात् ।

तंसा धीर्धरौघार्थमाजुहाय रविं शुचिम् ॥३२॥

सदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा ।

प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे ॥३३॥

अमोघं दर्शनं देवि आधिस्ते त्वयि चात्मबम् ।

योनिर्नृणां न दुष्येत् कर्ता ते मुमक्ष्यमे ॥३४॥

इति तस्मात् स आधाय गर्भं धूर्षो दिव गतः ।

सद्यः कुमारः संश्लो द्वितीय इव भास्कर ॥३५॥

तं सात्यव्रजदीतोमे कृष्णाल्लोकस्य विन्ध्यतो ।

प्रवितामहस्तामुवाह पाण्डुरै सत्यविक्रम ॥३६॥

श्रुतवेषां तु कारुणो हृदयार्मा समग्रहीत् ।

यस्यामभूद् दन्तवक्त्रश्चोपिगतो दिते सुत ॥३७॥

कैफ्यो घृष्टकतुम्भ श्रुतकीर्तिमविन्दत् ।

सन्तर्दनादयस्तस्य पञ्चासन् कैफ्याः सुताः ॥३८॥

राज्ञाधिदेव्यामाबन्धन्यौ संयसेनोऽजनिष्ट ह ।

दमवापश्चेदिराज श्रुतभवसमग्रहीत् ॥३९॥

शिशुपालः सुमस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भव ।

देवभागस्य कंभायां चित्रकेतुश्चण्डालौ ॥४०॥

इसलिये शूतेनने उन्हें पृथा नामकी अपनी सखसे घड़ी कन्या गोद दे दी ॥ २८-३१ ॥ पृथाने दुर्वासा ऋषि-को प्रसन्न करके उनसे देवताओंको सुखनेकी विद्या सीख ली । एक दिन उस विद्याके प्रमात्रकी परीक्षा लन-के लिये पृथाने परम पवित्र भगवान् सूर्यवर आवाहन किया ॥ ३२ ॥ उसी समय भगवान् सूर्य वहाँ आ पहुँचे । उन्हें देखकर कुन्तीका हृदय विस्मयसे भर गया । उसने कहा—'भगवान् ! मुझे क्षम करजिये । मैं तो परीक्षा करनेके लिये ही इस विद्याका प्रयोग किया था । अब आप पवार सकते हैं ॥ ३३ ॥ सूर्यदेवने कहा—'देवि ! मेरा दर्शन निष्फल नहीं हो सकता । इसलिये हे सुन्दरी ! अब मैं तुझसे एक पुत्र उत्पन्न करना चाहता हूँ । हाँ, अवश्य ही तुम्हारी योनि दूषित न हो, इसका उद्भव मैं कर दूँगा ॥ ३४ ॥ यह कहकर भगवान् सूर्य ने गर्भ स्थापित कर दिया और इसके बाद वे स्वर्ग चले गये । उसी समय उससे एक बड़ा सुन्दर एक तेजस्वी शिशु उत्पन्न हुआ । यह दृश्यमें दूसरे सूर्यके समान जल पड़ता था ॥ ३५ ॥ पृथा जैकमिन्दासे डर गयी । इसलिये उसने बड़ दु खसे उस बालकको नदीके जन्मे छोड़ दिया । परीक्षित ! उसी पृथाका विवाह तुम्हारे परदादा पाण्डुसे हुआ था, जो वास्तवमें बड़ सच्चे वीर थे ॥ ३६ ॥

परीक्षित ! पृथाकी छोटी बहिन धृतराष्ट्र विषह कन्य देवशके अभिषिक्त हृदयमयि हुआ था । उसके गर्भसे दन्तवक्त्रका जन्म हुआ । यह बड़ी दन्तवक्त्र है, जो पूरवन्धनें सनकादि ऋषियोंके शापसे क्षिप्याक्ष हुआ था ॥ ३७ ॥ वैजय देशके राजा नृपतेजुने धृतराष्ट्रसे विवाह किया था । उससे सन्तर्दन आदि पौत्र वैजय राजकुमार हुए ॥ ३८ ॥ राजाविदर्भीका विवाह जय मेनसे हुआ था । उसके दो पुत्र हुए—विन्ध्य और अनुकिन्द । वे दोनों ही अवन्तीके राजा हुए । चेदिगत्र दमवोने धृतराष्ट्रका पाणिग्रहण किया ॥ ३९ ॥ उसका पुत्र या शिशुपाल, कितना बचन में पड़े (सुप्त स्वप्न-में) कर चुका है । चण्डदेवजीके मादयमेसे चण्डमर्त्यकी फली कंताके गर्भसे दो पुत्र हुए—चित्रकेतु और

कंसवत्पां देवधनसः सुवीर इषुमास्तथा ।
 कङ्काम्यामानकाजायः सत्यसित् पुरुषित् तथा ॥४१॥
 सुस्रयो राष्ट्रपात्स्यां च इषुदुर्मर्यणादिकान् ।
 हरिकेशहिरण्याक्षी शूरभूम्यां च ध्यामकः ॥४२॥
 मिमिकेश्यामभरति इन्द्रादीन् वत्सकस्तथा ।
 तथपुष्करशालादीन् दुर्वास्यां इक आदधे ॥४३॥
 सुमित्रार्जुनपालादीन्कभीकाशु सुदामिनी ।
 कङ्कभ कर्णिकायां वै भूतभामजयावपि ॥४४॥
 पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इहा ।
 देवकीशमुखा आसन् पत्न्य आनकदुन्दुमेः ॥४५॥
 षड गद सारथ्य च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् ।
 वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीन्नुदपादयत् ॥४६॥
 सुमद्रो मद्रवाह्य दुर्मदो भद्र एव च ।
 पौरव्यास्तनया इति भूताया द्वावप्याभवन् ॥४७॥
 नन्दोपनन्दकृतकशराया मदिरारामजाः ।
 कौमल्या केशिनिं रवेकमष्टत कुलनन्दनम् ॥४८॥
 रोचनायामतो जाया इस्तद्देवमात्रादयः ।
 इलायामुरुवन्कादीन् यदुस्सुपानभीमनत् ॥४९॥
 विष्टो घृतदेशाधामेक आनकदुन्दुमेः ।
 क्षान्तिदवारमवा राज्ञश्चमप्रतिभुतादयः ॥५०॥
 राजानः कल्पवर्षाया उदङ्गालुषा दध ।
 वसुदेवसुवशायाः भीदेवायास्तु पदसुता ॥५१॥
 देवराचितया रुग्धा नय पात्र गदादयः ।
 वसुधेव सुतानष्टाबादध महदवया ॥५२॥
 पुनर्विभुतमुष्मांस्तु साक्षाद् धर्मो वधनिव ।
 पयुधस्तु दक्षयामद पुत्रानभीमनत् ॥५३॥
 कीर्तिमन्तं गुणं च भद्रसनमुत्तरीधः ।
 भद्रं सम्पन्नं भद्रं सर्वार्णमहीधरम् ॥५४॥

बृहद्रथ ॥ ४० ॥ देवधनसः पत्नी कंसवतीसे सुवीर
 और इषुमन् नामके दो पुत्र हुए । आनकवती पत्नी
 कङ्काके गर्भसे भी दो पुत्र हुए—शमुचित और
 मुक्तिवत् ॥ ४१ ॥ सुस्रयने अपनी पत्नी राष्ट्रपात्रिक
 गर्भसे छप और दुर्मर्यण आदि कई पुत्र उत्पन्न किये ।
 इसी प्रकार श्यामभने शूरभूमि (शूरम्) नामकी पत्नीसे
 हरिकेश और हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र उत्पन्न किये ॥४२॥
 मिमिकेशी अप्सराके गर्भसे वत्सकके भी एक आदि कई
 पुत्र हुए । वृकने दुर्वाक्षिकी गर्भसे तथ, पुष्कर और
 शाल आदि कई पुत्र उत्पन्न किये ॥ ४३ ॥ धर्मिककी
 पत्नी सुदामिनीने भी सुमित्र और अर्जुनशठ आदि कई
 बाल्य उत्पन्न किये । कङ्ककी पत्नी कर्णिकाके गर्भसे दो
 पुत्र हुए—भूतभाम और जय ॥ ४४ ॥

आनकदुन्दुभि वसुदेवकीकी पौरवी, रोहिणी, भद्रा,
 मदिरा, रोचना, इक्ष और देवकी आदि बहुतसी
 पत्नियों थी ॥ ४५ ॥ रोहिणीके गर्भसे वसुदेवजीके कथम,
 ग, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और इन आदि पुत्र
 हुए थे ॥ ४६ ॥ पौरवीके गर्भसे उनके बारह पुत्र हुए—
 भूत, सुमद्र, मद्रवाह, दुर्मद और भद्र आदि ॥ ४७ ॥
 नन्द, उत्तमन्द, कृतक, शर आदि मदिराके गर्भसे उत्पन्न
 हुए थे । कौसल्यने एक ही वंश-उन्नागर पुत्र उत्पन्न
 किया था । उसका नाम था केशी ॥ ४८ ॥ हस्तने
 रोचनासे हस्त और हेमाङ्ग आदि तथा इत्यसे उदङ्ग
 आदि प्रधान यदुवंशी पुत्रोंसे जन्म दिया ॥ ४९ ॥
 परीक्षित । वसुदेवजीके घृतपात्रके गर्भसे विष्टु नामका
 एक ही पुत्र हुआ और क्षान्तिदेवसे धम और प्रत्नि-
 क्षुत आदि कई पुत्र हुए ॥ ५० ॥ उपदेवाक पुत्र
 वज्रवज आदि दस गजा हुए और भीदवाक वसु, हंस,
 सुर्वग आदि ८ पुत्र हुए ॥ ५१ ॥ देवराक्षिकके गर्भसे
 ग आदि नौ पुत्र हुए तथा जैसे स्वयं धर्मि जाठ वसुधो-
 क उत्पन्न किया था, वैसे ही वसुदेवजीने सप्तपात्रके
 गर्भसे पुनर्विभुत आदि आठ पुत्र उत्पन्न किये । परम उत्तार
 वसुधवीन दक्षयिके गर्भसे भी आठ पुत्र उत्पन्न किये
 जिनमें सातके नाम हैं—कीर्तिमान्, सुग, मद्रमेन, भद्र,
 सम्पन्न मद्र और योग्यनारभीषज्जामनी ॥५२—५४॥

अष्टमन्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल ।

सुभद्रा च महाभागा तव राजन् पितामही ॥५५॥

यदा यदेह धर्मस्य ध्वयो वृद्धिश्च पाप्मन ।

तदा तु भगवानीश आन्मानं सृजते हरिः ॥५६॥

न ह्यस्य अन्मतो हतु कर्मणो वा महीपते ।

आत्ममायां विनेष्टस्य परस्य ब्रह्मात्मनः ॥५७॥

य मायाचेष्टिर्ष पुंसः स्थित्युत्पन्नवप्ययाव हि ।

अनुग्रहस्तमिषचेरात्मलामाय चेप्यते ॥५८॥

अधौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाम्छनै ।

सुष माक्रम्यमाणाया अमाराय कृतोद्यमः ॥५९॥

कर्माण्यपरिमेयाणि मनसापि सुरेश्वरै ।

सहस्रकर्षणशक्ते भगवान् मधुसूदन ॥६०॥

कक्षां जनिष्यमाणानां दुःखलोकाद्योत्पत्तयः ।

अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यभ्यस्तनोद् यशः ॥६१॥

यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थधर सकृत् ।

भोताञ्जलिरुपमृश्य ध्रुवते कर्मवासनाम् ॥६२॥

मात्रवृष्ण्यन्धकमधुशरसेनदशार्हकं ।

साधनीयेदित शश्वत् कुरुसूत्रयपाण्डुभि ॥६३॥

स्निग्धसितस्वितोदारैर्वोक्ष्यैर्विष्कमलीलया ।

नृलोक रमयामास मृत्यां सवाङ्गरम्यया ॥६४॥

उन दोनोंके आठवें पुत्र स्वयं श्रीमगवान् ही थे ।
परीक्षित । सुम्हारी परम सौभाग्यवती दादी सुम्हा भी
देवकीजीयी ही कन्या थी ॥ ५५ ॥

जब-जब संसारमें धर्मका हास और पापकी वृद्धि
होती है, तब-तब सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि अवतार
ग्रहण करते हैं ॥ ५६ ॥ परीक्षित ! भगवान् सके प्रश और
वास्तवमें जन्म लाल्या ही हैं । इसलिये उनकी आत्मस्वरूपिणी
योगमायाके अतिरिक्त उनके अन्ध अथवा कर्मका और कोई
भी कारण नहीं है ॥ ५७ ॥ उनकी मायाका विनाश
ही जीवके जन्म, जीवन और मृत्युका कारण है ।
और उनका अनुग्रह ही मायाको अन्ध करके आत्म-
स्वरूपको प्राप्त करनेवाला है ॥ ५८ ॥ जब असुरोंने
राजाओंका वेप धारण कर लिया और कई अधौहिणी
सेना इकट्ठी करके वे सारी पृथ्वीको रौंदने लगे, तब
पृथ्वीका मार उठारनेके लिये भगवान् मधुसूदन कदम्ब-
जीके साथ अवनीण हुए । उन्होंने ऐसी-ऐसी छिछोरे
की, जिनके सम्बन्धमें कोई-बाद देवता मनसे अनुमान
भी नहीं कर सकते—शरीरसे करनेकी बात तो अन्ध
रही ॥ ५९ ६० ॥ पृथ्वीका मर तो उतर ही, साथ
ही कनियुग्में पैदा होनेवाले मर्कटपर अनुग्रह करनेका
लिये भगवान्ने ऐसे परम पवित्र यशका विस्तार किया,
जिसका गान और श्रवण करनेसे ही उनके दुःख, शोक
और अज्ञान सब-कुछ नष्ट हो जायेंगे ॥ ६१ ॥
उनका यश क्या है, लोगोंको पवित्र करनेवाला श्रेष्ठ
तीर्थ है । सतोंके कानोंके लिये तो यह साक्षात् अमृत
ही है । एक बार भी यदि धनकी अश्रुजियोंने उसका
आचमन कर लिया जाता है, तो कर्मकी वासनाएँ
निर्मूल हो जाती हैं ॥ ६२ ॥ परीक्षित ! भोज, वृष्णि,
कम्पन, मधु, शरसेन, दशार्ह, कुरु, सुम्हय और
पाण्डुकी वीर निरन्तर भगवान्की सी-योंकी आत्मा
पूजक सगहना करते रहते थे ॥ ६३ ॥ उनका स्वामत शरीर
सर्वाङ्गसुन्दर था । उन्होंने उम मनोरम सिंहासे तथा
अपनी प्रमथी सुमयान, मधुर चित्रपन, प्रसादपूर्ण कचन
और पराक्रमपूर्ण छीयक द्वारा सारे मनुष्यवध-
का आनन्दमें सगृधर कर लिया था ॥ ६४ ॥

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्णं
 ब्राह्मस्फोलेमुमर्गसखिलासहासम् ।
 नित्योत्सव न तत्पुर्दृशिमि पिबन्त्यो
 नार्योनराधमुदिताः कुपिता निमेष ॥६५॥
 जाता गतः पितृगृहाद् ब्रजमेधिताथों
 हस्वारिपूत्सुतञ्जवानि कुतोरुदारः ।
 उत्पाद्य तेषु पुरुषः ब्रह्मिः समीने
 आत्मानमात्मनिगमं प्रथमञ्जनेषु ॥६६॥
 पृथ्व्या स वै गुरुमर्गं वृषणं कुरूणा-
 मन्तःसमुत्पत्तिना युधि भूपचम्भः ।
 दृष्ट्वा विषूष विजये जयमुद्रिषोष्प
 प्रोच्योद्देशाय च पर सममात् स्वधाम ॥६७॥

भगवान्के मुखमञ्जरी सोमा तो निगूथी ही पी ।
 मकरकुण्डल कुण्डलोसे उनके धन वढ़ कर्माय माइस
 पबते थे । उनकी आभासे कपोत्रोंका सौन्दर्य और भी स्त्रि
 उठता था । जब वे बिलसके साथ हँस देते, तो उनके
 मुखपर निरन्तर रहनेवाले आनन्दमें मनो बाढ़-सी आ
 जाती । सभी नर-नारी अपने नेत्रोंक प्यालोंमें उनके
 मुखकी माधुरीका निरन्तर पान करते रहते, परन्तु तृप्त
 नहीं होते । वे उसका रस से-सेकर आनन्दित तो
 होते ही, परन्तु पलकों गिरनेसे उनके गिरानेकाल निमिर
 खींचते भी ॥ ६५ ॥ लीखपुरुषोत्तम भगवान् अवतीर्ण
 हुए मयुरमें सुदेवकीके घर, परन्तु वहाँ रह नहीं,
 वहाँसे गेहकुलमें नन्दबाबाके घर चले गये । वहाँ अपना
 प्रयोजन—जो ग्वाल, गायी और गैबोंको सुखी करना
 था—सू करके मयुर लौट आये । ब्रजमें, मयुरमें
 तथा द्वारकामें रहकर अनेकों शत्रुओंका संशार किया ।
 बहुत-सी क्षियोंसे विवाह करके हजारों पुत्र उत्पन्न
 किये । साथ ही धर्ममें अपने स्वल्पका साक्षरकर
 करकेनाजी अपनी बाणीस्वरूप मुक्तिपोंकी मर्यादा स्थापित
 करनेके लिये अनेक यज्ञोंके द्वारा लय अपना ही धन
 किया ॥ ६६ ॥ कौरव और पाण्डवोंके बीच उत्पन्न
 हुए आपसके कलहसे उन्हेंनी पृथ्वीका बहुत-सा भार
 हटका कर दिया तथा युद्धमें अपनी दृष्टिसे ही गजाजों-
 की बहुत-सी अशीदृष्टियोंको धंस करके संसारमें
 अनुनकी जीतकर बंधन मिटा दिया । स्त्रि उद्वेग
 आनन्दलक्षण उपदेश किया और इसका काम ने अपने
 धाम धाममें स्थित गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराणे न्यामिष्यामश्वात्सराष्टक्यां पारमहंस्यां संनिपातं

नवमस्कन्धे श्रीसुपुसोमपातुनीने यदुर्बन्धनानि

आम यनुर्गिाऽष्टाध ॥ २४ ॥

इति नवम स्कन्ध सम्पूर्ण

हरिः ॐ नमः

श्रीराधाकृष्णभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत महापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(पृथग्व्यास)



देवक्या पालितो गर्भे लालितोऽङ्ग यशोदया ।
यशोदयायुता बालो गोपालो रमतां हृदि ॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(पूर्वार्धः)

अथ प्रथमोऽध्यायः

भगवान्के द्वारा पृथ्वीको आभासन, वसुदेव-देवकीका विवाह और कंसक द्वारा देवकीके छः पुत्रोंकी हत्या

राजीवाच

राजा परीक्षितसे पूछा—भावन ! आपने चन्द्रवश

कथिता वक्षविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।

राजां चाभयवद्वानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥

यदोष धर्मशीलस्य निवरां मुनिसत्तम ।

वप्राश्नेनावतीजस्य त्रिष्णोर्वीर्याणि श्रुतं नः ॥ २ ॥

अवतीर्य यदावशे भगवान् भूतभावन ।

कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नाशय विस्तरात् ॥ ३ ॥

और सूर्यवशके विस्तार तथा दोनों वशोंके राजाओंका आपस्त अद्भुत चरित्र वर्णन किया । भगवान्के परम प्रेमी मुनिवर ! आपने सप्तमके ही वप्राग्नेमी यदुवशका भी विशद वर्णन किया । अब कृपा करके उसी वंशमें आन अंश श्रीवत्सलामजीके साथ अश्वनीर्ग हुए भगवान् श्रीकृष्ण-के परम पक्कि चरित्र भी हमें सुनाइये ॥ १-२ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण सम्स्त प्राणियोंके जीवनदाता एवं सर्वरक्ष हैं । उन्होंने यदुवंशमें अक्षर लेख जो-जो कीजिएं की, उनका विम्वारसे हमजोगोंको श्रवण कराइये ॥ ३ ॥ जिनकी वृष्णाक्षी व्यास सम्प्रदायके शिष्य बुद्ध चुक्री हैं, वे जीव-मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेमसे अनुसृत रहकर गाव किया करते हैं, मुमुक्षुजनोंके शिष्य जो मन्त्ररोगका रामद्वयण औषध है तथा विन्सी जोगोंके शिष्य भी उनके वदन और मनको परम आह्लाद देनेवाय है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रक ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले, गुणानुपादसे पशुधानी अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कहे हैं जा विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे ॥ ४ ॥ (श्रीकृष्ण तो मेरे मुखदेय ही हैं ।) जब पुरक्षेत्रमें म्हाभारत-युद्ध हो रहा था और देवताओंको भी जीन खम्बेनाले भीष्म-पितामह आदि अभिरथियोंसे मेरे दादा पाण्डवोंका युद्ध हो रहा था, उस समय वीरबोंकी सेना उनका त्रिय अपार समुद्रके समान थी—जिसमें भीष्म आदि वीर यद्-वद् यद्गोंको भी मिला जानकाल निमित्तित पन्द्रोकी मति

निवृत्तपैरुपगोयमानात्

मधौपधान्छात्रमनोऽभिरामात् ।

क उचमक्षोकगुणानुवादात्

पुमान् विरज्येत विना पशुध्नात् ॥ ४ ॥

पितामहा मे समरऽमरञ्जयै

द्वैव्रतादातिरयंस्तिमिच्छते ।

दुरत्यय कौरवसैन्यसागर

कृत्वातरन् वत्सपदं स यस्तुवा ॥ ५ ॥

द्रौप्यस्त्रविप्लुष्टमिन्द्रं मदक्षं

सतानवीजं कुरुपाण्डवानाम् ।

सुरगोपं कुक्षिं गतं जातचक्रा

मातुष मे यः क्षरणं गताभ्याः ॥ ६ ॥

वीर्याणि तस्मात्त्रिलदेहभावा

मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।

प्रयच्छतो सुरयुगामृतं च

मायामनुप्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥

राहिण्यास्तनयः प्राक्ता रामः सकर्षणस्त्वया ।

देवक्या गर्भसम्भवं कृता देहान्तरं विना ॥ ८ ॥

कसां मुकुन्दा भगवान् पितुर्गोदाहूत्रं गतः ।

कवाप्तं प्रातिभिः साध कृतवान् सास्वतां पतिः ॥ ९ ॥

व्रजं वसन् किमकगमयुष्या च कश्चनः ।

प्रातरं चावभातं कर्षं मातुरद्वानुदर्शयम् ॥ १० ॥

दद मातुषमाभिरुप कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।

भय उत्पन्न कर रहे थे । परन्तु मेरे स्नानाभ्युपनिषद् भगवान् श्रीकृष्णके चरण कमलोंकी नीकतक आश्रय लेकर उस समुद्रका अनायास ही पार कर गये—छिक् बेटे ॥ जैसे कोई मार्गमें चन्दा हुआ क्षमासे ही बड़के सुर का गङ्गा पार कर जाय ॥ ५ ॥ महाराज ! मेरा यह शरीर—जो आपके सामने है तथा जो कौरव और पाण्डव दोनों ही वशोंका एकमात्र सहारा था—वत्सपद के ब्रह्माक्षसे जल चुक गया । उस समय मेरी मत्ता जब भगवान्की शरणमें गयी, तब उन्होंने हाथमें चक्र लेकर मेरी मत्ताके गर्भमें प्रवेश किया और मेरी रक्षा की । ६ । (केवल मेरी ही बात नहीं,) वे समस्त शरीरधारियोंके भीतर आत्मारूपसे रहकर अमृतत्वका दान कर रहे हैं और बाहर कालरूपसे रहकर मृत्युका * । मृत्युका रूपमें प्रतीत होना, यह तो उनकी एक छिन्ना है । आप उनकी इसी एकरूप और मधुरसे परिपूर्ण स्त्रीअर्थात् कर्ण कीजिये ॥ ७ ॥

मगन्तु ! आपने अभी बतलाया था कि बचरामजी रोहिणीके पुत्र थे । इसका बाद देवकीके पुत्रोंमें भी आपन उनकी गगना की । दूसरा शरीर धारण किस बिना ? माताओंका पुत्र होना कैसे सम्भव है । ॥ ८ ॥ अतुल्य की मुक्ति दनवाने और भक्तोंका प्रेम किरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण आपन वास्तव्य-स्थाने भरे हुए मित्रका घर छोड़कर व्रजम क्यों चले गये ? यदुवंशीरोमणि भक्तकण्ठ प्रमुने नन्द आनि गोप-बन्धुओंका सब कहों-कहों निवास किया ? ॥ ९ ॥ व्रज और राजारण्य भी राजसुत व्रजनवात प्रमुन व्रजमें तथा मधुपुरीमें रहकर व्रजन-व्रजन-सी लीअरों की ? और महाराज ! उन्होंने अपनी माता माई माया वंशुका आपन हाथा क्या घर काया ? वह माया हानके वरुण उनकी द्वारा मारे जान योग्य था नहीं था ॥ १० ॥ मनुष्याकार सधियानामय विग्रह प्रकट करने के शरकरुपमें यदुवंशीयोंके साथ उन्होंने

* माई ।

● समस्त यदुपरिगाह अपन इरकमें अन्तर्गामीयम भिन्न भगवान् उनकी जीअनद कारण है तथा बाहर वास्तव्यम भिन्न हुए थे ही उनका नाग करने हैं । अतः अब भगवानीयन अन्तर्दृष्टिद्वारा उन भगवानीयरी उत्पन्ना करत हैं, ये माधव वर भगवत्पद पात हैं और अब गिरिपरायण भगवानी पूरुष वायव्यदिने गिरिपविन्ननमें ही गये रहने हैं । ये व्रज-भगवत्पद मनुष्यक मर्त्य रूप हैं ।

यदुपुर्वा सहाधान्सीत् पत्न्य कस्यभवन्प्रभो ॥११॥

मत्तदन्त्यश्च सर्वं मे मृने कृष्णविचेष्टितम् ।

यक्तुर्मर्हसि सर्वज्ञ भद्रधानाय विम्वृतम् ॥१२॥

नैपातिदुःसहा धुन्मां त्यक्तादपि बाधते ।

पिबन्तं त्वन्मुलाम्मोज्ज्वल हरिकथामृतम् ॥१३॥

मृत उवाच

एवं निश्चयं मृगुनन्दन साधुवादं

वैवासकिः स भगवानभ विष्णुरातम् ।

प्रत्यर्घ्यं कृष्णवरितं कलिकरमपन्नं

क्याहर्तुमारभत मागवतप्रधानः ॥१४॥

मृगुक उवाच

सम्यग्मयवसिता बुद्धित्वं रात्रिर्षितचम ।

वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रति ॥१५॥

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषास्त्रीन् पुनाति हि ।

वक्तारं पूरुषकं स्वात स्तपादमलिलं यथा ॥१६॥

मूर्तिपुत्रनृप्या बर्दत्पानीकप्रतापुर्लः ।

आक्रान्ता मूर्तिमारण भ्रष्टार्ण धरण ययौ ॥१७॥

गोमूत्राभ्युपसी निभा फन्दन्ती करुणं विमोः ।

कितने बर्योक्त निजस प्रिया ' और उन सवशक्तिमान प्रमुखी पलियों कितनी थी ' ॥११॥ मुने ! मेने श्रीकृष्ण-की कितनी छीछणें पृथी हैं और जो नहीं पृथी हैं, ये सब आप मुसे विस्तारसे सुनाये, क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं और मैं बड़ी अज्ञाके साथ उन्हें सुनना चाहता हूँ ॥ १२ ॥ मागव ! अन्नकी तो घात ही क्या, मैंने जलका भी परित्याग कर दिया है । फिर भी वह अस्वस्थ मूख व्यास (जिसके कारण मैंने मुनिक गलेमें मृत सर्प डालनेका कृत्याप किया था) मुझ तनिक भी नहीं सता रही है ; क्योंकि मैं आपके सुखकर्मसे भरती हुई भगवान्की सुधापत्नी क्षीर-धाराका पान कर रहा हूँ ॥ १३ ॥

सुनबी कहते हैं—शौनकजी ! भगवान्के प्रेमियोंमें अग्रगण्य एवं सवज्ञ श्रीकृष्णदेवकी महाराजने परीक्षितका ऐसा समीचीन प्रश्न सुनकर (जो स्त्रियोंकी समामें भगवान्की लीजके वर्णनका हेतु हुआ करता है) उनका अमिनन्दन किया और भगवान् श्रीकृष्णकी उन छीछणोंका वर्णन प्रारम्भ किया, जो समस्त कलियुगमें सदाके लिये वो बाल्ही है ॥ १४ ॥

श्रीकृष्णदेवकीने कहा—भगवान्के क्षीर-रसके रसिक राजर्षे ! तुमने जो कुछ निश्चय किया है, वह बहुत ही सुन्दर और आदरणीय है, क्योंकि सबके द्वारा आप श्रीकृष्णकी क्षीर-कथा श्रवण करनेमें तुम्हें सहज एवं सुदृढ़ प्रीति प्राप्त हो गयी है ॥ १५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी कम्पके सम्बन्धमें प्रश्न करनेसे ही कष्ट, प्रदणकर्ता और आता तीनों ही पवित्र हो जाते हैं—जैसे गङ्गातीका जल या भगवान् दासकामका चरणामृत मभीको पवित्र कर देता है ॥ १६ ॥

परीक्षित ' उस सम्य अर्थों देखोंक करने धर्मही राजाओंका रूप धारण कर अपने मरी धरसे पृथ्वीको आक्रमण कर रख्य था । उससे प्राण पानेके लिये वह महाभीकी शरणमें गयी ॥ १७ ॥ पृथ्वीने उस सम्य गौत्र रूप धारण कर रख्य था । उसके नेत्रोंसे आँसू बह-बहकर सुँदर आ रहे थे । उसका मन तो क्षिप्त

उपमितान्तिष्ठ तस्मै च्यवन स्ममवोचत ॥१८॥

ब्रह्मा तदुपायोऽथ सह देवैस्तथा सह ।

अगाम मथिनयनस्तीरं धीरपयोनिध ॥१९॥

तत्र गत्वा जगन्मार्थं देवदेव वृषाकपिम् ।

पुरुष पुरुषदत्तेन उपतस्थे समाहितः ॥२०॥

गिर समाधौ गगने समीरितां

निशम्य वेवास्त्रिदशानुवाच ह ।

गां पौरुषीं स शृणुतामरा पुन

विधीयतामाशु तथैव मा धिरम् ॥२१॥

पुरं व पुसावष्टुषो धरान्वरो

भवद्भिरर्शर्यदुपपन्नपताम् ।

स यावदुर्ग्या भरमीधरेधर

स्वकालगतया क्षपयधरेषु भुवि ॥२२॥

बभूवद्वगृहे मायाद् भगवान् पुरुषः परः ।

अनिप्यत तत्रिप्रार्थं सम्भवेन्तु गुरुरग्रिय ॥२३॥

पापुद्वद्वगृहानन्त महम्भयदन स्वराट् ।

अग्रता भविता तत्रा हर प्रियचिदीर्यया ॥२४॥

विष्णोऽप्या भगवती यथा मग्मादिर्षं जगन् ।

आग्निं प्रवृत्तानं कार्पाथे सम्भविष्यति ॥२५॥

या ही शरीर भी बहुत क्षुद्र हो गया था । वह बड़ करुण खरसे रँगा रही थी । ब्रह्मजीके पास जबकि उसने उन्हें अपनी पूरी कथा कहानी सुनायी ॥ १८ ॥ ब्रह्मजीने बड़ी सहानुभूतिके साथ उसकी दुःख-गथा सुनी । उसके बाद वे भगवान् शङ्कर, स्वर्गके अध्यक्ष प्रमुख देवता तथा गौके रूपमें आयी हुई पृथ्वीको अपने साथ लेकर धीरसागरके तटपर गये ॥ १९ ॥ भगवान् देवताओंके भी आराध्यदेय हैं । वे अपने भक्तोंकी समस्त अम्बियापार्षे पूर्ण करते और उनके समस्त क्लेशोंको नष्ट कर देते हैं । वे ही जगत्के परमेश्वर स्वामी हैं । धीरसागरके तटपर पहुँचकर ब्रह्मा आदि देवताओंने पुरुषसूक्त के द्वारा उन्हें परम पुरुष सम्मितार्थकी प्रशंसा स्तुति की । स्तुति करते-करते ब्रह्मानी समाधिस्थ हो गये ॥ २० ॥ उन्होंने सम्बन्धि-अवस्थामें आकराजानी सुनी । इसके बाद जगत्के निर्माणकर्ता ब्रह्मजीने देवताओंसे कहा—देवताओ ! मैंने भगवान्की बाणी सुनी है । तुमझोग भी उसे मेरे द्वारा अभी सुन लो और फिर वैसा ही करो । उसके पावनमें किन्तु नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥ भगवान्को पृथ्वीके कष्टपर फूलेसे ही पना है । वे ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं । अतः अपनी ब्रह्मात्मिके द्वारा पृथ्वीपर भय हरण करते हुए वे जगत्क पृथ्वीपर छिप करे, तत्काल तुमअग भी अपने-अपने अंशोंक साथ पदचुम्बमें जम लेकर उनही छिपमें सदया ॥ २२ ॥ बभूवद्वगृहके घर संप पुरुषोत्तम भगवान् प्रगट होंगे । उनकी और उनकी प्रियस्व (धाराया)की सेवाके लिये देवताओं जम प्रण करें ॥ २३ ॥ स्वर्गप्रसन्न भगवान् क्षेम भी, जो भगवान्की प्रण जानेके कारण जनन हैं (वनमत्स्य अंश भी जगत्क ही हाथ में) और जिने भग्य सुन दें, भगवान्क प्रिय बाप बगवतिय उनसे प्राप्त ही उनके पद भगवत् रूपमें आश्रय प्रण करेंगे ॥ २४ ॥ भगवान्की पर पंथ गात्रिनी यगन्नाया भी, जिसन सारे जगत्क गात्रिनी बगवत्क हैं, उनकी आश्रय उनही गीर्गा बाप सम्पन्न करनेके लिये आत्म्यामें आश्रय प्राप्त करेंगी ॥ २५ ॥

भीष्म उवाच

इत्यादिभ्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभू ।
 मायास्त च महीं गीभि स्वधाम परमं ययौ ॥२६॥
 गुरसेना यदुपतिर्मपुरामावसन् पुरीम् ।
 मायुराष्टरसेनांश्च विपयान् पुञ्जजे पुरा ॥२७॥
 राजधानी तत सामूत् सर्वयादनभूञ्जजाम् ।
 मयुरा भगवान् यत्र नित्य संनिहितो हरि ॥२८॥
 तस्यां तु कर्हिचिन्धौरिर्वसुदेवः कुतोदह ।
 देवक्या सूर्यया मार्चं प्रयागे रथमारुहत् ॥२९॥
 उपसेनसुत कंसं म्वसु प्रियचिकीर्षया ।
 रथमीन् इवानां जग्राह रौक्मं रथस्रतर्षित ॥३०॥
 चतुःशत पारिवर्हं गजानां हममालिनाम् ।
 अश्वानामयुतं मार्चं रथानां च विपदशतम् ॥३१॥
 दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलकृते ।
 दुहित्रे देवक प्रादाद् याने दुहितृवरसलः ॥३२॥
 छद्मत्पुंमृदङ्गाश्च नेदुर्दुन्दुभय समम् ।
 प्रयागप्रक्रमे तावद् बरवधो सुमङ्गलम् ॥३३॥
 पथि प्रग्रहिणं कंसमामाप्पाहाशरीरवाक् ।
 अम्यास्त्वामश्रमा गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध ॥३४॥
 इत्युक्तः स स्वन पाया भोजानां कुर्यासनः ।
 भगिनीं हतुमारब्ध स्मरूपाणि कचेऽग्रहीत् ॥३५॥
 तं जुगुप्सिष्ठकर्माणं नृशंसं निरपश्रयम् ।
 वसुदेवा महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ॥३६॥
 वसुदेव उवाच
 स्रापनीयगुणः शूरैर्मवान् भोजयद्वस्करः ।

धीशुक्लदवजी कहने हैं—परीक्षित ! प्रजापतियोंके
 स्वामी भगवान् ब्रह्माजीने दशतार्कोंक इत प्रकार आका
 री और पृथ्वीको सम्पन्न-भुक्ताकर इन्द्रस वैवाया । इसके
 बाद व अपने परम धामको चले गये ॥ २६ ॥ प्राचीन
 कालमें यदुवंशी राजा थे दुरसेन । व मयुरपुरीमें रहकर
 मायुरमण्डल और दुरसेनमण्डलका राज्यशासन करते थे
 ॥ २७ ॥ उसी समयमें मयुरा ही समस्त यदुवंशी नरपतियों
 की राजधानी हो गयी थी । भगवान् श्रीहरि सर्वग्य बहो
 निराजमान रहने हैं ॥ २८ ॥ एक बार मयुरामें शरके
 पुत्र वसुदेवजी विवाह करके अपनी नवविवाहिता पत्नी
 देवकीके साथ घर जानेके लिये रथार सवार हुए ॥ २९ ॥
 उपसेनका बचवा था कंस । उमने अपनी चचेरी बहिन
 देवकीको प्रसन्न करनेके लिये उसके रथके घोड़ोंकी उस
 पकड़ ली । वह सब ही रथ हौंसेने लगा, यथनि उसके
 साथ सैकड़ों सोनेके घने हुए रथ चढ़ रहे थे ॥ ३० ॥
 देवकीके पिता थे देवक । अपनी पुत्रीपर उनका बड़ा
 प्रेम था । कल्पका विग करते समय उन्होंने उसे सोनेके
 हारोंमें अङ्कित चार सौ हाथी, पंद्रह हजार घोड़े, अठ
 राह सौ रथ तथा सुन्दर-सुन्दर बलामूपणोंसे विभूषित दो
 सौ सुकुमारी आसियों दहेजमें दीं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ विदार्द्र-
 क समय बार-बारके मङ्गलके लिये एक ही साथ शङ्ख,
 तुण्डी, मृदङ्ग और दुन्दुभियों बजने लगीं ॥ ३३ ॥ मार्गमें
 गिस समय घोड़ोंकी उस पकड़कर कंस रथ हौंके रहा
 था, उस समय आकाशवाणीने उसे सम्बोधन करके
 कहा—‘अरे मूर्ख ! जिसका व रथमें बैठाकर लिये जा रहा
 है, उसकी आठवें गर्भको उत्पन्न तुझे मार बालेगी’ ॥ ३४ ॥
 कंस बड़ा पापी था । उसकी दुष्टाकी सीमा नहीं थी ।
 वह भोजयद्वस्कर कहल ही था । आकाशवाणी सुनते ही
 उसने सज्जकार खींच ली और अपनी बहिनकी बोटी
 पकड़कर उसे मारनेके लिये तैयार हो गया ॥ ३५ ॥
 वह अत्यन्त क्रूर तो था ही, पाप क्रम करते-करते निर्लज्ज
 भी हो गया था । उसका यह क्रम देखकर महात्मा
 वसुदेवजी उसको शान्त करते हुए बोले— ॥ ३६ ॥
 वसुदेवजीमें कहा—राजकुमार ! आप भोजयद्वस्कर
 होनाकार बरभर तथा अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले

स कथं मगिनीं हन्यात् क्षिप्रमुद्राहर्षणि ॥३७॥

सुस्पृजन्मघटां वीर दहेन मह आपते ।

अथ बभ्रुद्वयान्ते वासुसुर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥३८॥

देहे पञ्चत्वमापन्ते देही कर्मानुगोऽवधः ।

देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वधुः ॥३९॥

ब्रह्मस्तिष्ठन् पठेकेन यदैवैकेन गच्छति ।

यथा तणजज्जैवं देही कर्मगतिं गत ॥४०॥

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृश

मनोरेवेनाभिनिर्दिष्टचतनः ।

दृष्टभुताभ्यां मनसालुचिन्तयन्

प्रपद्यते तत् किमपि अपस्पृति ॥४१॥

यतो यतो धावति दैवचोदित

मनो विफारात्मकमाप पञ्चसु ।

गुणेषु मापारचितेषु तद्वर्मा

प्रपद्यमानः सद्य तेन जायते ॥४२॥

ज्योतिर्यथैवात्कपार्थि वैष्णवः

मभीरवगानुगत विद्याप्यते ।

हैं । बड़े-बड़े शरीर आपके गुणोंकी सराहना करते हैं ।
इधर यह एक तो श्री, दूसरे आपकी वद्विन और तीसरे
यह विद्यावक्ता क्षुभ अवसर । ऐसी स्थितिमें आप इसे
कैसे मार सकते हैं ? ॥ ३७ ॥ वीरवर ! जो जन्म लेने
हैं, उनके शरीरक माप ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है ।
आज हो या सौ वर्षिक बाद— जो प्राणी है, उसकी
मृत्यु होगी ही ॥ ३८ ॥ जब शरीरका कन्त हो जाता
है, तब जीव अपने कर्मके अनुसार दूसरे शरीरको ग्रहण
करके अपने पहले शरीरको छोड़ देता है । उसे विज्ञा
होकर ऐसा करना पड़ता है ॥ ३९ ॥ जैसे चपटे सम्य
मनुष्य एक पैर जमाकर ही दूसरा पैर उठाता है और
जैसे बोंक बिट्ठी अगले तिनकेको पकड़ लेती है, तब
पहलेके पकड़े हुए तिनकेको छोड़ती है—वैसे जीव भी
अपने कर्मके अनुसार किसी शरीरको प्राप्त करनेके बाद
ही इस शरीरको छोड़ता है ॥ ४० ॥ जैसे कोई पुरुष
आम्रत् अवस्थामें राजाके ऐश्वर्यको देखकर और इन्द्राणिके
ऐश्वर्यको सुनकर उसकी अभिज्ञा करने लगता है और
उसका चिन्तन करते-करते उसी बातमें धुल-मिच्छा
एक हो जाता है तथा स्वप्नमें अपनेको राजा या इन्द्रके
रूपमें अनुभव करने लगता है, साथ ही अपने दरिद्र-
वस्थाके शरीरको भूल जाता है । कभी-कभी तो ब्राम्ह
व्यवस्थामें ही मन-ही-मन उन वानोंका चिन्तन करते-करते
तन्मय हो जाता है और उसे स्पष्ट शरीरकी सुधि नहीं
रहती । वैसे ही जीव कर्मजन्म वामना और वामनाजन्म
कर्मके बरा होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है और
अपने पहले शरीरको भूल जाता है ॥ ४१ ॥ जीवका
मन अनेक विकारोंपर पुञ्ज है । दृष्टान्तके सम्य वह
अनेक जगोंके सञ्चिन और प्रारब्ध कर्माँकी वामनाओंके
अधीन होकर मायाक द्वारा रच हुए अनन्त पादभेदिक
शरीरोंमें निम निम शरीरक चिन्तनमें लहीन हो जाता
है और मान बैठता है कि यह धर्म हैं, उमे रही दमि
ग्रहण करके जन्म लेना पड़ता है ॥ ४२ ॥ जैसे सूर्य
चन्द्रमा आदि जगत्त्रयी वस्तुएँ जरते भरे हुए घड़ोंमें
या तेज आदि तरल पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होती हैं और
हवाके झोंकेसे उनके जड़ आदिके स्थित-होनेपर उनमें
प्रतिबिम्बित वस्तुएँ भी चञ्चल जाय पड़ती हैं—वैसे ही

एष ममायारभितन्वसौ पुमान्

गुणपु रागानुगतो विमुच्यति ॥४३॥

तस्मात्प्रकल्पयिषु द्राह्माधरत् स तथाविधः ।

आत्मन ध्वेममन्विच्छन् द्रोमुषै परतो भयम् ॥४४॥

पपा तवानुजा पाला कृपणा पुत्रिकापमा ।

हन्तु नाहमि कल्याणीमिमां त्यं दीनवत्सलः ॥४५॥

श्रीशुक उवाच

एव स नामभिर्मेर्वाच्यमानाऽपि दारुणः ।

न न्यवतत कारुण्य पुरुषादाननुग्रहः ॥४६॥

निर्बन्धतस्तर्ह्यन्वा विचिन्त्या भक्तदुन्दुभिः ।

प्राप्त काल प्रतिव्याकुलिं तथान्वपद्यत ॥४७॥

मृत्युपुद्गिमनायाया यावद्वुद्धिबलादयम् ।

यद्यसौ न निर्वर्तेत नापराधाश्रितिरादिन ॥४८॥

प्रदाय मृ यय प्रयान माघय कृपणा मिमाम् ।

गुना म यमि जायन्त मृ शुभानमिषयत चतु ॥४९॥

विपर्यया या दि न सात् गतिपातुदुर्गत्या ।

उपम्विना निर्वर्तेत निवृत्त पुनरापतत् ॥५०॥

अग्नयेथा शरुविषागयागया

रदन्ताऽयम् निमिषमग्नि ।

जीव अपने स्वरूपक अज्ञानद्वारा रचे हुए शरीरमें राग करके उन्हें अपना आप मान बैठता है और मोहबद्धा उनके जाने-जानेको अपना जाना-जाना मानने लगता है ॥ ४३ ॥ इसप्रिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे विस्तीर्ण प्रोह नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीव बन्धने अजीन हो गया है और जो विस्तीर्ण भी प्रोह परेगा, उसको इस जीवनमें शत्रुसे और जीवनके बाद परलोकसे भयभीत होना ही पड़ेगा ॥ ४४ ॥ अतः । यह आपकी छोटी बहिन अभी बच्ची और बहुत दीन है । यह तो आपकी कल्याण सम्मान है । इसपर, अभी अभी इसका विवाह हुआ है, विवाहक मङ्गलचिह्न भी इसके शरीरपरसे नहीं उतारे हैं । ऐसी दशमें आप-जैसे दीनवत्सल पुरुष को इस क्वचारीकर बच करना उचित नहीं है ॥ ४५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परिक्षित् । इस प्रकार वसुदेवजीने प्रशंसा आदि सामान्यी और भय आदि धेनीतिसे बन्धको बहुत सम्प्राया । परन्तु वह मूर्ख तो उससोका अनुयायी हो रहा था, इसप्रिय उसने अपने घोर सङ्कल्पक नहीं छोड़ा ॥ ४६ ॥ वसुदेवजीने बन्धका विवृत हठ देखकर यह विचार किया कि विस्तीर्ण प्रकर यह समय तो एक ही दत्ता चाहिये । तब वे इस निश्चयपर पहुँच ॥ ४७ ॥ 'युद्धिमान् पुरुषः, जहोमि' उसरी मुदि और बड़ साध दें, मृत्युकर दानन प्रपन्न करना चाहिये । प्रपन्न परनगर भी वह न टूट सक, तो फिर प्रपन्न परनगलेन करे दोर नही रहता ॥ ४८ ॥ इसप्रिय इस मृत्युकर बन्धको अपने पुत्र न दनरी प्रनित करन में इस रीति परनरी बना रहे । यदि मर पड़क होग और नकनर यह परन स्वयं नहीं मर जायग, वह क्या होगा ॥ ४९ ॥ सम्भव है, उग्र्य ही हो । मर पड़क ही इस मर डाल । क्योंकि विधाता विधानन पर बना बहुत परनित है । मृगु सामन अरु भी टूट जाती है और टूट ही भी और अभी ८ ॥ ५० ॥ निम समय बनने अग अग्नी है, तम समय बनेकी अग्नी जय अग बनेकी न जय, दम्य ज राय और समय बच रह—इन सब बनेमें अग्नि विधा

एवं हि अन्तोरपि दुर्विभाष्यः

शरीरसंयोगविभोगहेतुः ॥५१॥

एव विमृश्य स पापं यावदारमनिदर्शनम् ।

पूषणामास वै शौरिर्वहुमानपुरःसरम् ॥५२॥

प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंस निरपत्रपत्नम् ।

मनसा ह्यमानेन विहसन्निदमब्रवीत् ॥५३॥

कसुदेव उवाच

न ब्रह्मास्ते भव सौम्य यद् वागाद्वाञ्छुरिणी ।

पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भवमुरितयम् ॥५४॥

भीमक उवाच

स्वसुर्वभान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित् ।

वसुदेवोऽपि स प्रीतः प्रशस्य प्राविशद् गृहम् ॥५५॥

अथ काल उपावृत्त देवकी सर्वदेवता ।

पुत्रान् प्रसुप्तं चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥५६॥

कीर्तिमन्त प्रथमम् वसुदेवोऽपि विदुषां किमपेक्षितम् ।

प्रपंयामास कुप्रेण सोऽनुतादतिविह्वलः ॥५७॥

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् ।

किमप्य कदर्याणां दुस्त्यज किं वृतात्मनाम् ॥५८॥

एषा सप्तत्वं तच्छारेः सत्ये चैव प्यवस्थितिम् ।

कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥५९॥

और कोई कारण नहीं होता । मेरे ॥ किन्तु प्राणीक
पीन-सा शरीर बना रहेगा और किन्तु हेतुसे वैन-सा
शरीर नष्ट हो जायगा—इस बातपर फटा छद्म केना
बहुत ही कठिन है ॥ ५१ ॥ अपनी बुद्धिके अनुसार
ऐसा निश्चय करके कसुदेवजीने बहुत सम्मानके साथ पापी
कंसकी बड़ी प्रशंसा की ॥ ५२ ॥ परीक्षित ! कंस बड़ा
भूत और निर्लज्ज था, अतः ऐसा करते समय कसुदेवजी-
के मनमें बड़ी पीड़ा भी हो रही थी । फिर भी उन्होंने
ऊपरसे अपने मुख-कमन्त्रों प्रफुल्लित करके हँसते हुए
कहा—॥ ५३ ॥

कसुदेवजीने कहा—सौम्य ! आपका देवकीसे तो
कोई मय है नहीं, जैसा कि आकाशवाणीने कहा है ।
मय है पुत्रोंसे, तो इसके पुत्र में आपको अकर सौप
दूँगा ॥ ५४ ॥

भीष्मकजीने कहा है—परीक्षित ! कंस जानता
था कि कसुदेवजीके वचन छूटे नहीं होते और इन्होंने
जो कुछ कहा है, वह युक्ति-संगत भी है । इतिहासे उसने
अपनी बहिन देवकीको मारनेका विचार छोड़ दिया ।
इससे कसुदेवजी बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करके
अपने घर चले आये ॥ ५५ ॥ देवकी बड़ी सती-साध्वी
थी । सारे देवता उसके शरीरमें निवास करते थे । समय
आनेपर देवकीके गर्भसे प्रतिवर्ष एक-एक करके अष्ट
पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई ॥ ५६ ॥ पहले पुत्रका
नाम था कीर्तिमान् । कसुदेवजीने उसे अकर कंसको
दे दिया । ऐसा करते समय उन्हें कष्ट तो अवश्य हुआ,
परन्तु उससे भी बड़ा कष्ट उन्हें इस बातका था कि
कहीं मेरे वचन छूट न हो जाय ॥ ५७ ॥ परीक्षित !
सत्यसन्ध पुरुष बड़-से-बड़ा कष्ट भी सह सके हैं, जानियों
का मित्रता बातकी अपेक्षा नहीं होती, नीच पुरुष धुरे-से-
धुरे काम भी कर सकते हैं और जो भित्ति-निर्धर हैं—
जिन्होंने भगवान्‌की हान्यमें धारण कर रखी है वे सब
कुछ त्याग सकते हैं ॥ ५८ ॥ अब कंसने देखा कि
कसुदेवजीका अपने पुत्रों की वजह से और मृत्युमें समान माय
है एवं वे सत्यमें पूर्ण निष्ठावान् भी हैं, तब वह बहुत
प्रसन्न हुआ और उसने हँसकर बोला ॥ ५९ ॥

प्रतिपातु कुमारोऽयं न ह्यसादति मे भयम् ।

अष्टमाव युवयोगैर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ॥६०॥

सद्येति सुतमादाय यथावानकबुन्दुभिः ।

नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽभिनितात्मनः ॥६१॥

नन्दाद्या ये वज्रे गोपायाधामीपां च योषितः ।

भूम्यो वसुदेवाद्या दशक्याद्या यदुस्त्रिय ॥६२॥

सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत ।

झातयो वयुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥६३॥

एतत् कंसाय भगवान्छशसाम्येत्य नारदः ।

भूमेभारायमाप्तानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥६४॥

श्रुपेर्विनिर्गमे कंसो यद्वन् मत्वा सुरानिति ।

देवक्या गर्भसन्मूर्तं विष्णु च स्ववर्षं प्रति ॥६५॥

देवकीं वसुदेव च निगृह्य निगतेर्गृहं ।

वात जातमहन् पुत्र तयोरवनशङ्कया ॥६६॥

मातर पितर भ्रातृन् मयाद्य सुहृदस्तथा ।

भन्ति ह्यसुतपा लुम्बा राजानः पायसो भुवि ॥६७॥

आत्मानमिह सजात बानन् प्राग् विष्णुना हृतम् ।

महामुर कालनेमि यदुभि म व्यरुध्यत ॥६८॥

उग्रसेन च पितर यदमाजान्धकाधिपम् ।

वसुदेवजी ! आप इस मन्त्र-से सुकुमार वाक्य-को ले जाइये । इससे मुझे कोई भय नहीं है । क्योंकि आकाशवाणीने तो ऐसा कहा था कि देवकीके आठवें गर्भसे उत्पन्न सन्तानके द्वारा मेरी मृत्यु होगी ॥ ६० ॥ वसुदेवजीने कहा—‘ठीक है’ और उस वाक्य-को लेकर वे झूट खाये । परन्तु उन्हें मन्त्र या कि कंस बड़ा दुष्ट है और उत्पन्न मन उसके हाथमें नहीं है । वह किसी क्षण मर डल सकता है । इसलिये उन्होंने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया ॥ ६१ ॥

परीक्षित ! इधर भगवान् नारद कंसके पास आये और उससे बोले कि ‘कंस ! ब्रजमें रहनेवाले मन्द आदि गेय, उनकी स्त्रियों, वसुदेव आदि बुद्धिबन्दी यादव, देवकी आदि यदुवधकी स्त्रियों और नन्द, वसुदेव दोनोंके सञ्जातीय कपु-वाक्य और सो-सम्बन्धी—सबके-सब देवता हैं, जो इस समय तुम्हारी सेवा कर रहे हैं, वे भी देवता ही हैं ।’ उन्होंने यह भी वक्तव्य कि ‘दैत्योंके कारण पृथ्वी पर मर चक गया है, इसलिये देवताओंकी ओरसे जब उनके वक्की तैयारी कर आ रही है ॥ ६२-६४ ॥ जब देवर्षि नारद इतना कहकर चले गये, तब कंसको यह निश्चय हो गया कि यदुवधकी देवता हैं और देवकीके गर्भसे विष्णुमन्त्र ही मुझ मारनेके लिये पैदा होनेवाले हैं । इस लिये उसने देवकी और वसुदेवको हफकड़ी-बेड़ीसे बन्धकर कैदमें बाँध दिया और उन दोनोंसे जो-जो पुत्र हाते गये, उन्हें वह मारता गया । उसे हर बार यह ईश्वर कनी रहती कि कहीं विष्णु ही उस वाक्यके रूपमें न आ गया ॥ ६५-६६ ॥ परीक्षित ! पृथ्वीमें यह बात प्रायः दृष्टी जाती है कि अपने प्राणोंपर ही पोषण कर मन्त्रालयेमी राजा अपने स्वार्थके लिये मन्त्र-दिग्गज, माइ-कपु आदि अपन अल्पन दिग्गमी इष्ट-मित्रोंकी भी हत्या कर बाधन हैं ॥ ६७ ॥ कंस जानता था कि मैं यह कहनेमि आसुर या आदि विष्णुने मुझ पर बाध था । इससे उसने यदुवधियोंसे घोर विरोध करने लिय ॥ ६८ ॥ कंस बड़ा कष्टान् था । उसने यदु, मांज और अन्धक-

१ कनीर्षद्य । २ या पुत्राय । ३ वाक्यजनक । ४ यानुप्रवचनमात्र नार । ५ मुह्यन् मन्त्रि ।

॥ वदनात्मकम् ।

स्वयं निगृह्य पुष्टजे शूरसेनान् महाबलः ॥ ६९ ॥

शरके अविनायक अपने पिता उग्रसेनको कैद कर दिया और शूरसेन-देशका राज्य वह स्वयं करने लगा ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारम्पर्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्णि

श्रीकृष्णारोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान्ब्रह्म गर्भं प्रवेष्टा और देवताओंद्वारा गर्भ-स्तुति

श्रीकृष्ण उवाच

प्रलम्बवक्त्राणूरुपावर्तमहाधनैः ।

मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिचेतुकैः ॥ १ ॥

अपैबासुरमूपलैर्वज्रमौमादिभिर्पुतः ।

यदूनां कदन चक्रे बली मागधसंभवः ॥ २ ॥

ते पीडिता निविबिभुः कुरूपञ्जालकेकयान् ।

शस्त्रान् विदर्भान् निपभान् बिदेहान् कोसलानपि ॥ ३ ॥

एके तमजुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते ।

इतेषु पदसु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥

सप्तमो वैष्णवं भाम यमनन्त प्रचक्षते ।

गर्भो बभूव देवक्या हर्षलोकविषयन ॥ ५ ॥

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसस्य भयम् ।

यदूनां निब्रनाथानां यागमौर्धा समादिशत् ॥ ६ ॥

गण्ड देवि प्रसं भद्रं गावगोभिरलकृतम् ।

राक्षिणी वसुदेवस्य भायाऽऽन्ते नन्दगाकुले ।

श्रीकृष्णदेवकी कहते हैं—परीक्षित ! कंस एक तो

स्वयं बड़ा कष्टी था और दूसरे, माकरेश जगत्सर्वत्र उसे बहुत बड़ी सहायता प्राप्त थी । तीसरे, उसके साथी थे—प्रलम्बासुर, कम्बसुर, चाणूर, दृगार्कत, अबासुर, मुष्टिक, अरिष्टसुर, क्षिप्रि, पूतना, केजरी और चेतुक । तथा बाणसुर और भीमसुर आदि बहुत-से दैत्य राजा उसके सहायक थे । इनको साथ लेकर वह यदुवंशियोंको नष्ट करने लगा ॥ १-२ ॥ वे अंग मयपीत होकर कुक, पाण्डव, केकय, शम्बर, विदर्भ, निषध, विदेह और कोसल आदि देशोंमें जा बसे ॥ ३ ॥ कुछ अंग ऊपर ऊपरसे उसके मनके अनुसार काम करते हुए उसकी सेवामें लगे रहें । जब कन्से एक-एक करके देवकीके छ अलक मार डाले, तब देवकीके सातवें गर्भमें भगवान्के अस्वरूप श्रीशेषमी—विष्णु जनन्त भी कहते हैं—पवारे । आनन्दस्वरूप शेषमीके गर्भमें आनेके कारण देवकीको स्वाभाविक ही हृदय दुःख । परन्तु कंस शापद्वारे से भी मार डाले, इस समयने उनका शोक भी बढ़ गया ॥ ४-५ ॥

विश्वात्मा भगवान् तब कि मुझे ही अपना स्वामी और सर्वत्र माननेवाले यदुवंशी कंसका द्वारा बहुत ही सहाय्ये जा रहे हैं । तब उन्होंने अपनी यागमायाको यह आदेश दिया—॥ ६ ॥ 'देवि ! कन्याणी ! तुम प्रसन्न जाओ । वह प्रदेस जहाँ और यौगोंसे सुशोभित है । वहाँ नन्दबान्के गोमुखमें वसुदेवकी पत्नी रोक्षिणी निवास

१ स्कन्धे प्रथ । २ हासुरैः । ३ मित्रा ।

● रोष भगवान्ने विश्वात्मा किन्ना कि व्यागवत्तारमें मैं ज्ञात मारू बना इसीसे मुझे बड़े मार्दवी आभा माननी पड़ी और मन करनेसे मैं उन्हें राह नहीं छोड़ा । श्रीकृष्णवत्तारमें मैं बड़ा मार्दव भगवान्की अच्छी सेवा कर सकूँगा । १' इसलिये वे भीष्टाने पक्ष ही गर्भमें आ गये ।

अन्याश्च कंससविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥ ७ ॥
 देवक्या जठरे गर्भं क्षेपात्स्थ भाम भामकम् ।
 तत संनिक्षुप्य रोहिण्या उदरे संनिवेश्य ॥ ८ ॥
 अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ।
 आप्स्यामि त्वं यदोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥ ९ ॥
 अचिंष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेभरीम् ।
 पृथोपहारवलिभिः सर्वकामवरेप्रदाम् ॥ १० ॥
 नामधेयानि कुर्वन्ति स्नानानि च नरा मुनि ।
 दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥ ११ ॥
 कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ।
 माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥ १२ ॥
 गर्भसंस्कर्षणात् त वै प्राहुः संस्कर्षण मुनि ।
 रामेति लोकरमणाद् बलं बलवदुत्पन्नात् ॥ १३ ॥
 संदिष्टैर्ब भगवता तथेत्योमिति तद्वचः ।
 प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत् ॥ १४ ॥
 गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।
 अहा विस्मिता गर्भे इति पौरा विशुकुशु ॥ १५ ॥
 भगवानपि विष्णोर्मा भक्तानामभयद्वार ।
 आविवेशांशभागेन मन आनन्ददुन्दुभे ॥ १६ ॥
 स विभ्रत् पौरुषं घाम आज्ञमाना यथा रवि ।
 दुराग्रदाऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्भभूव ह ॥ १७ ॥

करती हैं । उनकी और भी पत्नियाँ कंससे बरकर गुप्त
 स्थानमें रह रही हैं ॥ ७ ॥ इस समय मेरा बड़ अंश
 जिसे शेष कहते हैं, देवकीके उदरमें गर्भरूपसे स्थित
 है । उसे कहेंसे निकालकर तुम रोहिणीके पेटमें रख
 ने ॥ ८ ॥ कल्याणी ! अब मैं अपने समस्त ज्ञान, कष्ट
 आदि अंशोंके साथ देवकीका पुत्र वर्णन और तुम
 नन्दबाबाकी पत्नी यशोदाके गर्भसे जन्म लेना ॥ ९ ॥
 तुम लोगोंको मुँहमोंगे करदान देनेमें समर्थ होओगी ।
 मनुष्य तुम्हें अपनी समस्त अभिप्रायोंको पूर्ण करने-
 वाणी जानकर धूप-दीप, नैवेद्य एवं अन्य प्रकारकी
 सामग्रियोंसे तुम्हारी पूजा करेंगे ॥ १० ॥ पृथ्वीमें लोग
 तुम्हारे उिये बहुतसे स्थान बनायेंगे और दुर्गा, मद्रकाली,
 विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी,
 कन्या, माया, नारायणी, इशानी, शारदा और अम्बिका
 आदि बहुतसे नामोंसे पुकारेंगे ॥ ११ १२ ॥ देवकीके
 गर्भमेंसे बच्चे जानेके कारण शेषजीको लोग संसारमें
 'संस्कर्षण' कहेंगे, लोकवर्द्धन करनेके कारण 'राम' कहेंगे
 और बलवानोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण 'बलम्भ' भी
 कहेंगे ॥ १३ ॥

जब भगवान्ने इस प्रकार आदेश दिया, तब योग-
 मायाने 'ओ आज्ञा'—ऐसा कहकर उनकी वस्तु शिरोधार्य
 की और उनकी परिक्रम्य करके वे पृथ्वीकेकने चली
 आयी तथा भगवान्ने जैसा कहा था, वैसे ही
 किया ॥ १४ ॥ जब योगमायाने देवकीका गर्भ ले जाकर
 रोहिणीके उदरमें रख दिया, तब पुरातनी बड़ दु खके
 साथ आपसमें कहने लगे—हय ! बेवारी देवकीका
 यह गर्भ तो नष्ट ही हो गया ॥ १५ ॥

भगवान् मर्कटोंको अमय करनेवाले हैं । वे सर्वत्र
 सब रूपमें हैं, उन्हें कहीं आना-जाना नहीं है । इसलिये
 वे कपुदेवजीके मनमें अपनी समस्त कथनोंके साथ
 प्रयत्न हाँ गये ॥ १६ ॥ उसमें विषमान् रहनेपर भी
 अपनेकी अन्यक्तमें व्यक्त पर लिया । भगवान्की ग्यतिसे
 धारण करनेके कारण कपुदेवजी सूर्यके समान तेजस्वी
 हो गये, उन्हें देखकर लोगोंकी आँखें चौंधिया जाती ।
 कोर भी अपने बड़, बाजी या प्रयागसे उन्हें नष्ट नहीं

सर्वो अगन्मङ्गलमभ्युतांश
समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्वात्मकमात्मभूत
काष्ठा यथाऽऽनन्दकर मनस्तः ॥१८॥
सा देवकी सर्वजगभिधास
निवासभूता निवरां न रेजे ।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव कदा
सरस्वती ज्ञानसले यथा सती ॥१९॥
तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाभितान्तरां
विरोचयन्तीं भवनं क्षुभिसिताम् ।
आहैप मे प्राणहरो हरिर्गुहां
ध्रुव भित्तो यत्र पुरेयसीच्छी ॥२०॥
किमद्य तस्मिन् करणीयमाद्य मे
यदर्धतन्द्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
क्षिया स्वसूर्युल्लमस्या बभोज्य
यद्यः भिर्य इन्त्यनुकालमायुः ॥२१॥
स यप जीवन् स्तु सत्परेतो
वर्तेत योज्यन्तनुशसितेन ।
ददे मृते तं मनुष्या क्षयन्ति
गन्ता तमोऽन्वतनुमानिनो ध्रुवम् ॥२२॥
इति घोरतमाद् भाषात् सनिष्ठः स्वयप्रभु ।
आस्ते प्रतीधन्तजम हरेर्वैरानुषङ्कत् ॥२३॥

१ शिखे ।

● यह वंश विष्णुके मङ्गलविशेषों का धारण की हुई देवकी का गण बाटनेके उपयोगसे न दिखना बरी भाव इतना तन्निष्ठतासे हो गया इतना बड़ा बाध है । अतएव ही अतएव न किन्तु देवकीसे देव रहा है उसके अन्तरात्मे—

सकता था ॥ १७ ॥ मगवान्के उस ज्योतिर्मय अंशको, जो जगत्का परम मङ्गल करनेवाला है, वसुदेवजीके द्वारा व्याधान किये जानेपर देवी देवकीने प्राण किया । जैसे पूर्वदिशा चन्द्रदेवको धारण करती है, वैसे ही सुख सखसे सम्पन्न देवी देवकीने विष्णु मनसे सर्वथा एवं आत्मस्वरूप मगवान्को धारण किया ॥ १८ ॥ मगवान् सारे जगत्के निवासस्थान ॥ देवकी उनका भी निवासस्थान बन गयी । परन्तु वड़े आदिके भीतर कंद किये हुए दीप्तका और अपनी विद्या दूसरेको न देनेवाले ज्ञानसखी श्रेष्ठ विद्याका प्रकाश जैसे चारों ओर नहीं फैला, वैसे ही कंसके करगृहमें कंद देवकीकी भी उतनी शोभा नहीं हुई ॥ १९ ॥ देवकीके गर्भमें मगवान् विराजमान हो गये थे । उसके मुखपर पवित्र मुस्कान थी । और उसके शरीरकी कान्तिसे कंदीमङ्गल प्रकाशने लगा था । जब कंसने उसे देखा, तब वह मन-ही-मन कहने लगा—'किसी बार मेरे प्राणोंके प्राणक विष्णुने इसके गर्भमें अवश्य ही प्रवेश किया है, क्योंकि इसके पहले देवकी कभी ऐसी न थी ॥ २० ॥ अब इस विषयमें शीघ्र-से-शीघ्र मुझे क्या करना चाहिये ? देवकीको मारना तो ठीक न होगा; क्योंकि वीर पुरुष सार्व-ज्ञा अपने पराक्रमसे कलङ्कित नहीं करते । एक तो यह भी है, दूसरे बहिन और तीसरे गर्भवती है । इसके मारनेसे तो तत्पक्ष ही मेरी कीर्ति, छद्मी और बाध पड़ हो जायगी ॥ २१ ॥ वह मनुष्य तो जीवित रहने-पर भी मरा हुआ ही है, जो अल्पतः भूतकाव्य व्यवहार करता है । उसकी धूलुके बाद लोग उसे गली दते हैं । इतना ही नहीं, वह देहाभिन्नानियोंके योग्य होर नरकमें भी अवश्य-अवश्य जाता है ॥ २२ ॥ यद्यपि कंस देवकीको मार सकता था, किन्तु स्वयं ही वह इस अल्पतः भूतको विचारसे निवृत्त हो गया । अब मगवान्के प्रति दृढ़ बैरका भाव मनमें गौटमर उनके

नमक प्वाय मत् प्रयति

म्यं मनिधानं न्यमनुग्रहम् ।

न्यापया मंहृतयेतमस्त्वां

पपन्ति नाना न विपथिता य ॥२८॥

त्रिभिर्पि रूपाण्यववाध आत्मा

धमाय नाकस्य चराचरस्य ।

मन्त्राण्यश्नानि सुम्बावहानि

मताममद्राणि सुदु खलानाम् ॥२९॥

न्यप्यम्पुत्राद्यादिन्मन्त्रधाम्नि

ममाभिनाऽऽश्रितयेतसंक् ।

रक्षत्यादपावन मदत्कृतेन

हैं—जीव और ईश्वर ॥ २७ ॥ इस संसाररूप कृत्रिम
उत्पत्तिके आधार एकमात्र आप ही हैं । आपने ही
इसका प्रणय होता है और आपको ही अनुग्रहसे इसरी
रक्षा भी मिली है । भिनका चित आपकी मयसे आहत
हो रहा है, इस सत्यको सम्मनेरी शक्ति मय है—
व ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मादि
दृष्टाओंको अनेक देखते हैं । तत्त्वज्ञानी पुरुष तो सबको
स्वयं कत्र आपका ही दर्शन करते हैं ॥ २८ ॥
आप ज्ञानस्वरूप आपका हैं । चराचर जगत्क प्रत्यायके
जिये ही अनेकों रूप धारण करते हैं । आपके वे रूप
विगुद अप्राहत मत्स्वय हाते हैं और मंत्र पुरुषोंको
बहुत सुख देते हैं । माय ही दृष्टोंको उनको दृष्टाका
दण्ड भी देते हैं । तबक जिये अमद्भ्यम्प भी होते
हैं ॥ २९ ॥ यमको सम्मन क्रोम अनुग्रहमे नेयेंकले
प्रमो । कुछ बिन्दु लोप ही आपके समस्त पदों और
प्राप्तिोंके आद्यप्रत्यय रूपमें दूग प्यगम्भासे अना
चित लय पात हैं और आपको चरणमयरी ज्ञाज-
क आधार लेय इस संसारसागरको घट्टके सुरा
गङ्गे सम्मन अनापस ही पार कर जाते हैं । क्यों न

त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्मया

विनामकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥३३॥

सर्वं विशुद्धं ययते भवान् स्थितौ

सुरीरिणां श्रेयतपायनं वपुः ।

वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि

स्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥३४॥

सत्त्व न चेद्वातरिदं निर्धं भवेद्

विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।

गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्

प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥३५॥

न नामरूप गुणजन्यकर्मभि

निरूपितस्यैव तस्य साक्षिणः ।

मनोबबोन्मामनुमेयवर्त्मना

देव क्रियायां प्रतिबन्त्यथापि हि ॥३६॥

भूषन् गुणान् मन्मथयश्च चित्तयन्

नामानि रूपाणि च मङ्गलानि तै ।

क्रियासु येस्त्वष्टरणारविन्दया

गविष्टयेता न भवाय कल्पते ॥३७॥

दिष्टया हरऽस्या भवत पदा सुषा

भागऽपनाहम्ब जमनगिहः ।

१ गुणजन्यकर्मभिनि १५ ५ ११ पुष्पधर १४ विष्ट ।

मार्गसे गिरते नहीं । प्रभो ! वे घड़-घड़े विप्र शब्दन-
पाठोंकी सेनाके सत्कारोंके सिरपर पेर रखकर निर्मय
विचरते हैं, कोई भी विप्र उनके मार्गमें रुकावट नहीं
शाह सकते, क्योंकि उनका रक्षक आप जो हैं ॥ ३३ ॥
आप सत्सारकी स्थितिमें उग्र समस्त देवधारियोंके परम
कल्याण प्रदान करनेवाला विशुद्ध सत्त्वमय, सच्चिदानन्द
मय परम दिव्य मङ्गल-विग्रह प्रकट करते हैं । उस
रूपके प्रकट होनेसे ही आपके मऊ वे, कमलपत्र,
अष्टाङ्गयोग, तत्सया और समाधिके द्वारा आपकी आराधना
करते हैं । बिना किसी आश्रयक वे किसीकी आराधना
करेंगे ? ॥ ३४ ॥ प्रभो ! आप सबके विवता हैं । यदि
आपका यह विशुद्ध सत्त्वमय निज स्वरूप न हो, तो
अज्ञान और उसका द्वारा होनेवाले भेदभावकी गड़ बरने-
वाला अरुण ज्ञान ही किसीको न हा । ब्रह्ममें
दीखनेवाले तीनों गुण आपका ही और आपके द्वारा ही
प्रकटित होते हैं, यह सत्य है । परन्तु इन गुणोंकी
प्रकाशक वृत्तिपोंसे आपके स्वरूपका कबल अनुमान ही
होता है, वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता ।
(आपके स्वरूपका साक्षात्कार ता आपके इस विशुद्ध
सत्त्वमय स्वरूपकी सेवा करनेवाले आपकी कृपासे ही
होता है) ॥ ३५ ॥ भगवन् ! मन और वेदशास्त्रोंके
द्वारा कबल आपके स्वरूपका अनुमानमात्र होता है ।
क्योंकि आप उनका ज्ञान दृश्य नहीं, उनका साक्षी हैं ।
इसलिये आपके गुण, जन्म और कर्म आदिक द्वारा
आपका नाम और रूपका निरूपण नहीं किया जा
सकता । फिर भी प्रभो ! आपके भक्तजन उक्तमना
आदि क्रियायाँगीक द्वारा आपका साक्षात्कार ता करते
ही हैं ॥ ३६ ॥ जो पुरुष आपके मङ्गलमय नामों और
स्वरूपोंके भक्त, वन्दन, स्मरण और प्यान करता है और
आपका कल्याणमय मेधासे ही अन्तर्गत चित्त लक्ष्मणे
रहता है—उसे फिर जन्म-मृत्युसंसार संस्कार करने
नहीं अना पकता ॥ ३७ ॥ भगवन् ! दुर्लभ इतना
भगवन् ! आप सर्वेश्वर हैं । यह पृथ्वी का आपका
चरणमय ही है । आपके अन्तर्गत इसका भार दूर
गया । धन्य है । प्रभो ! आप उग्र दृष्टि का बड़ा सामर्थ्य-

नयः प्रसन्नसलिला इदा अलरुहभियः ।

दिवालिङ्गलसनादस्तथा वनराज्यमः ॥ ३ ॥

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुष्पगन्धवहः शुचिः ।

अग्नयश्च दिवातीनां क्षान्तास्तत्र समिधत ॥ ४ ॥

मय हो रही थी ॥ २ ॥ नदियोंका जल निर्मल हो गया था । रात्रिके समय भी सरोवरोंमें कमठ खिंट रहे थे । कानमें हृषोक्ती पक्षियों रंग-बिरंगे पुष्पोंके गुच्छोंसे छटा गयी थी । कहीं पक्षी चहक रहे थे, तो कहीं और गुनगुना रहे थे ॥ ३ ॥ उस समय परम पवित्र और शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु अपने स्पर्शसे व्योमोंको सुखान करती हुई बह रही थी । ग्राहणोंके अग्निहोत्रकी कमी न सुझनेवाली अग्नियों जो कंसके अत्याचारसे बुझ गयी थी, वे इस समय अपने-आप जल उठी ॥ ४ ॥

२ नदियों का गङ्गाकीसे बहती थी—मुझे हमारे पिता पर्वत देखे हैं; अपने पिता भगवान् विष्णुके दर्शन करछो । गङ्गाकीने सुनी-अनसुनी कर दी । अब वे इच्छामे प्रवृत्त हो गयीं कि हम सब देख लेंगी ।

३ यद्यपि भगवान् समुद्रमें निष्पन्निवाह करते हैं फिर भी समुद्रका होनेके कारण वे उन्हें कहीं देख नहीं पाती । अब उन्हें पूर्ण रूपसे देख सकेंगी इच्छामे वे निर्मल हो गयीं ।

४ निर्मल हृदयको भगवान् मिलते हैं । इच्छामे वे निर्मल हो गयीं ।

५ नदियोंको जो सैमाय किरी मी अवतारमें नहीं मिले वह कृष्णावतारमें मिले । श्रीहृष्यकी चतुर्थ पटवनी हैं—भीष्मसिन्धी । अक्षर उठे ही समुनाधीके तटपर जाना, आकाश एवं गोपियोंके साथ बल-श्रीका करना; उन्हें अपनी पटवनी जानना—इन सब बातोंको सोचकर नदियों आनन्दसे भर गयीं ।

इह—

कस्मिन्-दमन करके कस्मिन्-दहका होचन आकाशको और अक्षरको बल-श्रीमें ही अपने स्वस्वमे दर्शन आदि ल-सम्पन्नी भीष्मश्रीका अनुसन्धान करके इन्होंने कमलके बहाने अपने प्रसुम्बित हृदयको ही भीहृष्यके प्रति अर्पित कर दिया । उन्होंने कहा कि ग्रामे । मछ ही हमें जेग अब समझा करें आप हमें कभी स्वीकार करेंगे । इस भावी सैमायके अनुसन्धानसे हम चहक्य हो रहे हैं ।

अग्नि—

१ इस अवतारमें भीहृष्यने व्योमावुह, तुनावर्त कस्मिके दमनसे आकाश, वायु और पृथ्वी शुद्ध की है । मृद् भस्वसे पृथ्वीकी और अग्निपालसे अग्निकी । भगवान् भीहृष्यने दो बार अग्निको अपने मुँहमें चालन किया । इस भावी मुक्तका अनुसन्धान करके ही अग्निदेव शान्त होकर प्रवृत्त होने लगे ।

२ देवताओंके लिये यह माग आदि बंद हो जानेके कारण अग्निदेव भी भूले ही थे । अब भीहृष्यावतारसे अपने मोक्ष मित्रनेत्री आत्मासे अग्निदेव प्रसन्न होकर प्रवृत्त हो उठे ।

वायु—

१ उदारधियेमपि भगवान् भीहृष्यके कर्मके अक्षररूप वायुने गुण क्षमता प्रारम्भ किया क्योंकि समान भीहृष्य ही मेरी होती है । जैसे व्याधीके सामने सेवक प्रबल अपने गुण प्रकट करके उसे प्रसन्न करती है वैसे ही वायु भगवान्के सामने अपने गुण प्रकट करने लगे ।

२ आनन्दरूप भीहृष्यकर्मके मुलाखितद्वार अब अभवनिता खेदविशु आ जायेंगे तब मैं ही शीतल मय मुग्ध गमिने ठम मुन्नाऊँगा—यह साधक परलेसे ही वायु सेताक अग्राह करने लगा ।

३ यदि मनुष्यको प्रभु परराष्ट्रिकके दर्शनकी इच्छा हो तो उसे विश्वी सेवा ही करनी चाहिये; मनेो यह उपदेश करवा हुआ वायु स्वामी सेवा करने लगा ।

४ रामाशारमें मर पुत्र दनुमानने भगवान्की सेवा की । हमने मैं इतार्थ ही हैं परन्तु इस अवतारमें मुने मय ही सेवा कर सनी चाहिये । इस विचारमें वायु व्योमोंकी गुण पर्वुथाने लगा ।

५ नम्रुच विश्वके प्राग पानुन चतुर्थ विश्वी औरने भगवान्के न्याय-न्यायसे प्रतिनिधित्व किया ।

मनांस्वाप्तं प्रसन्नानि साधूनामसुरद्विदाम् ।

आयमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिशि ॥ ५ ॥

बहु किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुः सिद्धचारणाः ।

विद्यार्थश्च ननुतुरप्सरोभिः समं तदा ॥ ६ ॥

मुमुक्षुर्दुन्दुभयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः ।

संत पुरुष पहलेसे ही चाहते थे कि असुरोंकी शक्ती न होने पाये । अब उनका मन सहसा प्रसन्नतासे भर गया ।

जिस समय भगवान्‌के आनिर्माकका अक्षर आया, स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभिर्माँ अपने-आप बज उठी ॥ ५ ॥

किन्नर और गन्धर्व मधुर स्वरमें गान छ्ये तथा सिद्ध और चारण भगवान्‌के मङ्गलमय गुणोंकी स्तुति करने लगे । विद्याधरियों अप्सराओंके साथ नाचने लगीं ॥ ६ ॥

मङ्गल-देवता और ऋषि-मुनि आनन्दसे भरकर पुण्योंकी

आकाश—

१ आकाशकी एकता, भावता, विशालता और समताकी उपाय हो उदाते ही भगवान्‌के साथ ही जाती थी परन्तु अब उसकी छठी नीळिमा भी भगवान्‌के आज्ञासे उपाय देनेसे परित्याग हो जावगी, इसलिये आकाश-ने मानो आनन्दोत्सव मनानेके लिये नीले रंगोपेमें छोरोंके समान चारोंकी छावमें उदका ली है ।

२ स्वामीके शुभागमनके अवसरपर बैठे एक एक स्वच्छ वैय-मूख धारण करते हैं और धान्त हो जाते हैं इसी प्रकार आकाशके सब नक्षत्र, यह तारे धान्त एवं निर्मल हो गये । एकता, अतिचार और मुद छोड़कर भीष्मका स्वागत करते लगे ।

महात्म—

मैं देवकीके गर्मिसे कम के रहा हूँ तो रोहिणीके संतोषके लिये कम-से-कम रोहिणी नक्षत्रमें कम तो लेना ही चाहिये । अथवा चन्द्रबर्धनमें कम के रहा हूँ, तो चन्द्रमाधी सबसे प्यारी पक्षी रोहिणीमें ही कम लेना उचित है । यह सोचकर भगवान्‌ले रोहिणी नक्षत्रमें कम किया ।

मन—

१ योगी मनका निरोध करते हैं, मुमुक्षु निर्बिषय करते हैं और विशुद्ध बाध करते हैं । तत्त्वज्ञान तो मनका उत्थानात्र ही कर दिया । भगवान्‌के अवतारका समग्र ज्ञानकर उसने साक्षात् भ्रम तो मैं अपनी पत्नी—इन्द्रिज्यों और विषम—वास-बन्धे सबके साथ ही भगवान्‌के साथ लेईगा । निरोध और बाधने पिब धूटा । इसीसे मन प्रसन्न हो गया ।

२ निर्मलमे ही भगवान्‌ मिलते हैं इसलिये मन निर्मल हो गया ।

३ बैठे धन्य, स्वर्ण कम रत्न, गन्धका परिष्कार कर देनेपर भगवान्‌ मिलते हैं । अब तो स्वयं भगवान् ही वह सब बनकर आ रहे हैं । कोटिक आनन्द भी प्रसूने मिलेगा । यह सोचकर मन प्रसन्न हो गया ।

४ बसुदेवके मनमें निवास करके ये ही भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं । वह हमारी ही कतिपय है, यह सोचकर मन प्रसन्न हो गया ।

५ सुमन (देवता और शुद्ध मन) को सुख देनेके लिये ही भगवान्‌का अवतार हो रहा है । यह ज्ञानकर सुमन प्रसन्न हो गये ।

६ संतोंमें, स्वर्गमें और उपक्रममें सुमन (शुद्ध मन देवता और पुण्य) आनन्दित हो गये । क्यों न हो, माधव (विष्णु और ब्रह्म) का आगमन जो हो रहा है ।

माधवात्म—

मैं अर्थात् कल्याणका देविवासा है । कृष्णतत्त्व स्वर्ण कृष्णसे समक है । आर्यी सिधि पहले कीन्हीच सन्नि-सकपर पड़ती है । यदि योगीजनोको प्रिय है । निर्णीय यक्षिणोच संन्यासक और उपरि के दो मन्मोकी सन्नि है । उस समय भीकृष्णके आतिमाकका अर्थ है—आत्मके घेर कल्पधरमें दिव्य प्रकाश । निधानाय चन्द्रके बंधन कम लेना है, तो निशाके मध्यमागमें अक्षरीय होना उचित भी है । आध्यात्मिक चन्द्रोदयका समय भी बड़ी है । यदि बसुदेवकी मेरा वातकर्म नहीं कर सकते तो हमारे बंधके आदिपुरुष चन्द्रमाय समुद्रज्ज्ञान करके अपने कर-किरजसे अमृतका स्तरण करें ।

मन्दं मन्दं बलभरा जगर्जुनसागरम् ॥ ७ ॥

निशीथे तमतञ्जते जायमाने अनार्दने ।

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाश्रयः ।

आविरासीदु यथा प्राच्यां दिक्षीन्दुरिव पुष्कलः ॥ ८ ॥

तमद्भुवं बालकमम्बुजेषण

चतुर्भुवं बह्वगदारुवायुधम् ।

भीवत्सलहस गलशोभिकौस्तुभ

पीताम्बरं सान्द्रययावसौभयम् ॥ ९ ॥

महाहवैर्द्विकीरिटकुम्बल

स्विपा परिष्कृतसहस्रकुन्तलम् ।

उदामकाञ्चपाङ्गदकङ्क्यादिभि-

र्विराजमानं बभूवेष एष्वत ॥ १० ॥

स विस्मयोत्कुल्लविलाचनो हरिं

सुत विलोकमानकपुनुमिस्त्वा ।

वर्ण करने लगे । जलसे भरे हुए बादल समुद्रके पत जाकर धीरे-धीरे गर्जना करने लगे । ॥ ७ ॥ जन्म-मरण के चक्रसे छुटानेवाला जनार्दनके अवतारका समय निशीथ । पारों ओर अन्यतरङ्गका साक्षात्प पा । उन्हें समय सबके हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णु देवकीके देवकीके गर्भसे प्रकट हुए, जैसे पूर्वदिशमें सेवों कल्पओंसे पूर्ण कन्दमूकका उदय हो गया था ॥ ८ ॥

बभूवेषवीने देख, उनके सामने एक बहुत बम्ब है । उसके नेत्र कमण्डके समान कोमल और विशाल हैं । चार सुन्दर हाथोंमें सङ्ग, गदा, चक्र और कम्ब निने हुए हैं । बम्ब म्बलपर भीवत्सका चिह्न—अपन्त सुन्दर सुवर्णमयी रखा है । गर्भमें कौस्तुभमणि झिलमिल रही है । वर्णश्रीन मेघके समान परम सुन्दर इयाम्बु हरि पर मनोहर पीताम्बर पहना रखा है । बहुमूल्य वैदूर्यमणि के त्रिरी और कुम्बलकी कान्तिसे सुन्दर-सुन्दर पुँवपने बाल सूर्यकी किरणोंके समान चमक रहे हैं । कमरमें चमकवाती कनकमीकी कड़ियाँ लटक रही हैं । बाँहोंमें बाणर और कलशयोंमें कङ्कण शम्भुयमन हो रहे हैं । इन सब आभूषणोंसे सुशोभित बाङ्गव अङ्ग-अङ्गसे कनोखी छटा छिटक रही है ॥ ९, १० ॥ जब बभूवेषवीने देखा कि मेरे पुत्रके रूपमें तो स्वर्ण भगवान् ही जाये हैं, तब पहले तो उन्हें कसीम आभर्य हुआ, फिर जानन्दसे उनकी ओरों झिझक उठी । उनकी रोम-रोम परमानन्दमें

१ गुणभयः । २ बापुशयुधम् ।

० अग्नि, मुनि और देवता सब अपने गुणकी बर्ण करनेके लिये मयुराक्षी और वीरे तथा उनके आनन्द भी पीके हुए गया और उनके पीके-पीके लौहने लगा । उन्होंने अपने निरोध और वाचस्पन्वी खरे विचार आनन्द मनकी श्रीकृष्णकी ओर जानेके लिये मुक्त कर दिया उनपर नौआकर कर दिया ।

† १ मेघ समुद्रके पास जाकर मन्द-मन्द गर्जना करते हुए कहते—कलनिये । यह तुम्हारे उपदेश (पात आने) का फल है कि हमारे पात बह-ही-मक हो गया । अब ऐसा कुछ उपदेश करो कि बेटे तुम्हारे भीतर भगवान् रहते हैं वैसे हमारे भीतर भी रहें ।

२ बादल समुद्रके पास जाते और कहते कि समुद्र ! तुम्हारे हृदयमें भगवान् रहते हैं हमें भी उनका दर्शन-पार प्राप्त करना हो । समुद्र उन्हें थोड़ा-सा मल देकर बह देता—अग्नी उद्यम सदासे देके देता जलो अभी विषमरी सेवा करके भक्त-करन शुद्ध करो तथा भगवान्के दर्शन होगे । स्वर्ण भगवान् मेरापना बनकर समुद्रके बाहर बहने मार रहे हैं । इस रूपमें उनपर लावा करेंगे अग्नी ऊँचों बरलाकर भीकन म्योत्कृष्ट करेंगे और उनकी वैदुरीके स्वरपर गावेंगे । अग्ने इस नैमिष्यका अनुक्षण करके बादल समुद्रके पास पहुँचे और मन्द-मन्द गर्जना करने लगे । मन्द-मन्द इतलिये कि वह अग्नि प्यार भीकनके कमोत्क न पहुँच जाय ।



अद्भुत बालक

य आत्मनो ह्यगुणेषु सन्निधि
 व्यस्यते सम्प्रतिरेकतोऽबुध ।
 विनाशुवाद न च तमनीपितं
 सम्यग्यवस्त्यक्तमुपाददत्तुमान् ॥१८॥
 स्वचोऽस्य अमस्त्रिविसंयमान् विभो
 वदन्त्यनीशदगुणादविक्रियात् ।
 त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
 त्वदाभ्यत्वादुपचर्यते गुणैः ॥१९॥
 स त्वं त्रिलोकस्त्रिये स्वमायया
 विभर्षि शुक्लं स्रुतं वर्धमात्मनः ।
 सर्गाय रक्तं रजसोपशुद्धितं
 कृष्णं च वर्णं समसा जनारभ्ये ॥२०॥
 स्वमस्य लोकस्य विभा रिरक्षिषु
 शुद्धैऽवतीर्णोऽसि ममालिङ्गेश्वर ।
 राक्षन्त्यसंज्ञासुरकोटिपृथगे
 निर्म्यूषमाना निहनिष्यसे चमूः ॥२१॥
 अयं त्वत्सम्पत्तव जन्म नो शुद्धे
 भुत्वाप्रजास्ते न्यम्बभीद् सुरेश्वर ।
 स तेऽवतारं पुरुषं समर्पितं
 भुत्वापुनैवाभिसरस्युदायुधः ॥२२॥

भीम उवाच

अर्पेनमारमर्जं वीर्यं महापुरुषतन्मणम् ।
 दयस्वी समुपाधात्तु कंसाद्भीता हृषिमिता ॥२३॥

१ हयवत् ।

दीक्षते हैं) ॥ १७ ॥ जो अपने इन दस्य गुणोंको
 अपनेसे प्रत्यक्ष मानकर सत्य समझता है, यह अज्ञानी है ।
 क्योंकि विचार करनेपर ये वेद-वेद आदि पार्व्य वाक्मिथस-
 के सिवा और कुछ नहीं सिद्ध होते । विचारके द्वारा
 जिस वस्तुका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, वस्तुिक जा व्यक्ति
 हो जाती है, उसको सत्य माननेवाला पुरा बुद्धिमन्
 कैसे हो सकता है ? ॥ १८ ॥ प्रभो ! कहते हैं कि
 आप स्वयं समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारोंसे रहित
 हैं । फिर भी इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय
 आपसे ही होते हैं । यह बात परम ऐश्वर्यान्वी परब्रह्म
 परमात्म्य आपके लिये असंगत नहीं है । क्योंकि तीनों
 गुणोंके आश्रय आप ही हैं, इसलिये उन गुणोंके कार्य
 आदिक आपमें ही आरोप किया जाता है ॥ १९ ॥
 आप ही तीनों लोकोंकी रक्षा करनेके लिये अपनी भाषसे
 सत्सम्पन्न शुक्लवर्ण (पोषणकारी विष्णुरूप) धारण करते
 हैं, उत्पत्तिके लिये रज प्रधान रक्तवर्ण (सृजनकारी
 ब्रह्मरूप) और प्रलयके समय तमोगुणप्रधान कृष्णवर्ण
 (संहारकारी रुद्ररूप) स्वीकार करते हैं ॥ २० ॥
 प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् और सच्चे स्वामी हैं । इस
 संसारकी रक्षाके लिये ही आपने मेरे घर बसतार लिया
 है । आजकल कोटि-कोटि शत्रु सेनापतियोंने राजस्थान
 नाम धारण कर रक्खा है और अपने ज्वीन बड़ी-बड़ी
 सेनाएँ कर रक्खी हैं । आप उन सत्तक संसार करेंगे ॥ २१ ॥
 देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो ! यह फल पडा दुष्ट है ।
 इसे जब मन्त्रम हुआ कि आपका अकार हमारे घर
 होनेवाला है, तब उसने आपके भयसे आपके बड़े मन्त्रयों-
 को मार डाला । अभी उसका दूत आपके अवतारका
 सम्बन्ध उसे सुनायेगा और वह अभी-अभी आपमें शरण
 लेकर दीक्षा आया ॥ २२ ॥

भीष्मकदेवजी कहत हैं—परीक्षित । श्वर देवकीने
 देखा कि मेरे पुत्रमें तो पुरुषोत्तम महाबाहूके समी लक्षण
 मौजूद हैं । कहते तो उन्हें बगसे कुछ भय मालूम हुआ,
 परन्तु फिर व बड़े पवित्र भावमें मुचरतासी हुई स्तुति
 करने लगे ॥ २३ ॥

देवस्युवाच

रूपं यत् तत् प्रादुरव्यक्तमाद्य

मद्य ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।

सचामात्रं निर्विशेषं निरोद्धं

स त्व साक्षाद् विष्णुरभ्यात्मदीपः ॥२४॥

नष्टे लोके द्विपरार्धतिसाने

महामृतेष्वादिमूर्तं गतेषु ।

व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते

भगवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥२५॥

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो

चष्टामाहुर्मष्टे येन विश्वम् ।

निमेपादिर्बत्सरान्तो मंहीयां

स्तं त्वेद्यानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥२६॥

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्

लाङ्घन् सर्वाभिर्यं नाभ्यगच्छत् ।

त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य

स्वस्यः श्रेते मृत्युरसादपैति ॥२७॥

स त्व चोरादुग्रसेनात्मबान्ध-

स्त्रादि त्रस्तान् मृत्युवित्रासहासि ।

रूपं वेद पौरुषं ध्यानविषयं

मा प्रत्यक्ष मांसदृशां कृपीष्टाः ॥२८॥

बन्धं त मर्त्यसौ पापो मा विद्यान्मधुघ्नदन् ।

समुद्रिजे भगदतो कसादहमधीरपीः ॥२९॥

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।

शङ्खचक्रादापघथिषा श्रुप्तं चतुर्भुजम् ॥३०॥

माता देवकीने कहा—प्रभो ! वेदोंने आपके जिस रूपको अव्यक्त और सबका कारण कहेया है, जो ब्रह्म, ज्योति स्वरूप, समस्त गुणोंसे रहित और विकारहीन है, जिसे विशेषणरहित—अनिर्वचनीय, निष्क्रिय एवं केवळ विभुद्र सत्ताके रूपमें कहा गया है—वही युक्ति आप्तिके प्रकाशक विष्णु आप स्वयं हैं ॥ २४ ॥ जिस समय ब्रह्माकी पूरी आयु—दो परार्ध समाप्त हो जाते हैं, कालव्यक्तिके प्रभावसे सारे लोक नष्ट हो जाते हैं, पञ्च भ्रामृत ब्रह्महारेमें, ब्रह्महारे मृतत्वमें और मृतत्वप्रवृत्तिमें लीन हो जाता है—उस समय एकमात्र आप ही शेष रह जाते हैं । इसीसे आपका एक नाम 'शेष' भी है ॥ २५ ॥ प्रवृत्तिके एकमात्र स्वरूप प्रभो ! निमेयसे लेकर कर्षपर्यन्त अनेक विभागोंमें विभक्त जो काठ हैं, जिसकी चेष्टासे यह सम्पूर्ण विश्व संचोद हो रहा है और जिसकी कोई सीमा नहीं है, वह आपकी हीडामात्र है । आप सर्वाशक्तिमान् और परम कल्याणके आश्रय हैं । मैं आपकी शरण लेती हूँ ॥ २६ ॥ प्रभो ! यह जीव मृत्युप्रसक्त हो रहा है । यह मृत्युरूप क्रूरका व्याडसे भयभीत होकर सम्पूर्ण अंक-श्रेयस्तरोंमें भ्रमरता रहा है, परन्तु इसे कभी कहीं भी ऐसा स्थान न मिल सका, जहाँ यह निर्भय होकर रहे । आच वड़ भगवसे इसे आपके चरणारविन्दोंकी शरण मिल गयी । जन जब यह स्वस्थ होकर सुखकी नीन् सो रहा है । औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी इस्से मयमीत होकर भाग गयी है ॥ २७ ॥ प्रभो ! आप हैं भक्तभयहारी । और हमजो इस दुष्ट कंससे बहुत ही भयमीत हैं । जन आप हमारी रक्षा कीजिये । आपका यह चतुर्भुज गिम्बर रूप ध्यानकी वस्तु है । इसे कंसक मंस-मज्जामय शरीर पर ही दृष्टि रखनेवाले देहाभिमानी पुरुषोंके सामन प्रकट मन कीजिये ॥ २८ ॥ मधुसूदन ! इस पापी कंसका यह बात माध्वन न हो कि आपका जन्म मेरे गर्भसे हुआ है । मेरा वैर्य दृढ़ रहा है । आपके शिष्य मैं कंससे बहुत डर रही हूँ ॥ २९ ॥ विश्वामन् ! आपका यह रूप अलौकिक है । आप शङ्ख, चक्र, गदा और कलशकी क्षामसे युक्त अपना यह चतुर्भुज स्था कीजिये ॥ ३० ॥



कृष्णावतारोत्सवसम्प्रमोऽस्पृष्टान्

मुदा द्विजेभ्योऽप्युतमान्मुतो गवाश् ॥११॥

अथैनमतौदवधार्थं पूर्य

परं नताङ्गः कुतभीः कृताञ्जलिः ।

स्वरोचिषा भारस्य स्रविष्कागुहं

विरोचयन्तं गतभीः प्रभावयित् ॥१२॥

वसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ।

केवलानुभवानन्दस्वरूप सर्वबुद्धिरक् ॥१३॥

स एव स्वप्रकृत्पेद सृष्ट्यात्रे त्रिगुणात्मकम् ।

तदनु त्वं सप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥१४॥

यथैमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह ।

नानावीर्याः पृथग्भूता विराज सनयन्ति हि ॥१५॥

सन्निपत्य सद्युत्पाद्य इदयन्तेऽनुगता इव ।

प्रागेव विद्यमानत्वात् तेषामिह सम्भवः ॥१६॥

पवं भवान् पुद्गलानुमेयतधर्मे-

प्रसौगुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ।

अनाहतत्वाद् बहिरन्तरं न ते

सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥१७॥

मम हो गया । श्रीकृष्णका जन्मोत्सव मनानेकी उताकथीमें उन्होंने उसी समय ब्राह्मणोंके छिये दस हजार गव्योंका सङ्कल्प कर दिया ॥ ११ ॥ परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण अपनी आज्ञाकान्तिसे सूतिकागुहको अगम्य कर रहे थे । जब वसुदेवजीको यह निश्चय हो गया कि ये ता परम पुरुष परमात्मा ही हैं, तब भगवान्का प्रभाव जान छेनेसे उनका सारा मय जाता रहा । अपनी बुद्धि स्थिर करके उन्होंने भगवान्के चरणोंमें अपना सिर टुका दिया और फिर हाथ जोड़कर वे उनकी स्तुति करने लगे—॥ १२ ॥

वसुदेवजीने कहा—मैं समझ गया कि आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम हैं । आपका स्वरूप है केवल अनुभव और केवल आनन्द । आप समस्त बुद्धियोंके एकत्रिय साक्षी हैं ॥ १३ ॥ आप ही सर्गके आदिमें अपनी प्रकृतिसे इस त्रिगुणमय जगत्की सृष्टि करते हैं । फिर उसमें प्रविष्ट न होनेपर भी आप प्रविष्टके समान ज्ञान पकते हैं ॥ १४ ॥ जैसे जलतक मूच्छल आदि कारण-तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं, तत्कत उनकी शक्ति भी पृथक्-पृथक् होती है, जब वे इन्द्रियादि सोडह विकारोंके साथ मिलते हैं, तभी इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं और इसे उत्पन्न करके इसीमें अनुप्रविष्ट-से जान पकते हैं, परन्तु सच्ची बात यह है कि वे किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करते । ऐसा होनेका कारण यह है कि उनसे बनी हुई या भी वस्तु है, उसमें वे पकलेसे ही विद्यमान रहते हैं ॥ १५-१६ ॥ ठीक वैसे ही बुद्धिके द्वारा केवल गुणोंका अङ्गणोंका ही अनुमान किया जाता है और इन्द्रियोंके द्वारा केवल गुणमय वियोंका ही ग्रहण होता है । यद्यपि आप उनमें रहते हैं, फिर भी उन गुणोंके ग्रहणसे आपका ग्रहण नहीं होता । इसका कारण यह है कि आप सब कुछ हैं, सबके अन्तर्गामी हैं और परमार्थ सत्य, आत्मस्वरूप हैं । गुणोंका आवरण आपको ढक नहीं सकता । इसलिये आपमें न चरहर है न भीतर । फिर आप किसमें प्रवेश करेंगे ? (इसलिये प्रवेश न करनेपर भी आप प्रवेश किये हुएके समान

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सधिति
 व्यवस्यते स्वम्यतिरेकतोऽपुधः ।
 विनानुवाङ्म न च सन्मनीपितं
 सम्मग्यवत्स्यक्तमुपादवत्पुमान् ॥१८॥
 त्वचोऽस्य च मस्यतिसंयमान् विभो
 वदन्त्वनीहादगुपादविक्रिवात् ।
 त्वयीश्वरे प्रह्मणि नो विरुध्यते
 त्वदाभयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥१९॥
 स त्वं त्रिलोकस्मितये स्वमाधवा
 विभर्षि शुक्लं त्वत्तु वर्णमात्मनः ।
 सर्गाय रक्तं रजसोपसृष्टितं
 कृष्णं च वर्णं वमसा अनात्सये ॥२०॥
 त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु
 गृहेऽचरीमोऽसि ममाखिलेश्वर ।
 रात्रन्यसंज्ञासुरकोऽपिपूधवै
 निर्मूर्खमाना निहनिष्यसे चमूः ॥२१॥
 अयं त्वसम्पत्तव जन्म नो गृहे
 धृत्वाप्रज्ञास्ते न्येवधीत् सुरेश्वर ।
 स त्वेऽवतार पुरुषः समर्पितं
 धृत्वाधुनैवाभिसरत्युदापुधः ॥२२॥

भीमक उवाच

अधेतमारमजं वीर्यं महापुरुषलक्षणम् ।
 दयकी तमुपाभावन् कंसाद्भीता शुचिमिता ॥२३॥

१ एतत् ।

दीखते हैं) ॥ १७ ॥ जो अपने इन दृश्य गुणोंको अपनेसे पृथक् मानकर सत्य सम्झता है, वह अज्ञानी है । क्योंकि विचारकरनेपर ये दृष्ट-नेष्ट आदि पदार्थ भ्रामि-जस-के सिवा और कुछ नहीं सिद्ध होते । विचारके द्वारा जिस वस्तुका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, वस्तिक जो वाचि-हो जाती है, उसको सत्य माननेवाला पुरुष बुद्धिमान् कैसे हो सकता है ? ॥ १८ ॥ प्रभो ! कहते हैं कि आप स्वयं समस्त कियवर्गों, गुणों और विकारोंसे रहित हैं । फिर भी इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपसे ही होते हैं । यह बात परम ऐश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मा आपके लिये असंगत नहीं है । क्योंकि तीनों गुणोंके आश्रय आप ही हैं, इसलिये उन गुणोंके कार्य आदिकर आपमें ही आरोप किया जाना है ॥ १९ ॥ आप ही तीनों लोकोंकी रक्षा करनेके लिये अपनी मयासे सत्त्वमय शुद्धकर्ण (पोषणकारी विष्णुरूप) धारण करते हैं, उत्पत्तिके लिये रजःप्रधान रक्षकर्ण (सृजनकारी ब्रह्मरूप) और प्रलयके समय तमोगुणप्रधान कृष्णकर्ण (संहारकारी रुद्ररूप) स्वीकार करते हैं ॥ २० ॥ प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् और सबके स्वामी हैं । इस संसारकी रक्षाके लिये हैं आपने मेरे घर अफतार किया है । आजकल कोटि-कोटि असुर सेनापतियोंने राजाका नाम धारण कर रक्खा है और अपने अधीन मड़ी-बड़ी सेनाएँ भर रक्खी हैं । आप ठम सबका संहार करेंगे ॥ २१ ॥ देवराजोंके भी आराध्यदेव प्रभो ! यह कंसा मर्षा दुष्ट है । इसे जब मारुन हुआ कि व्यापक बनवार हमारे घर होनेवाला है, तब उसने आपके मयसे आपके बड़े भाइयों-को मार डाला । अभी उसके दूत आपके अफतारकर सम्पहार उने सुगार्योग और यह अभी-अभी हाथमें हाथ लेकर दीहा आयेगा ॥ २२ ॥

भीमकदेवजी कहत हैं—परीक्षित । इस दंष्टरीन दण्ड नि मेरे पुत्रमें तो पुरुषोत्तम मगधनके सभी लक्षण योग्य हैं । पहले तो उन्हें कंसासे कुछ भय मारुन हुआ, परन्तु फिर वे बड़े पवित्र भावसे मुसकरापी हुई स्तुति करने लगे ॥ २३ ॥

देवक्युवाच

रूप यत् तत् प्रादुरन्यक्तमार्थं

प्रथमं ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।

सचामात्रं निर्विशेषं निरीहं

स त्व साक्षाद् विष्णुरभ्यात्मदीपः ॥२४॥

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने

महामूर्तेष्वादिभूतं गतेषु ।

अप्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते

भवानेकः क्षिप्यते शेषसङ्ग ॥२५॥

योऽयं कालान्तस्व तेऽव्यक्तबन्धो

चटामाहुर्भटत येन विश्वम् ।

निमेपादिर्वत्सरान्तो महीमां

स्तं त्वेज्जान धेमधाम प्रपद्ये ॥२६॥

मत्सो मृत्युव्यालभीतः पलायन्

लोकान् सर्वाभिर्मयं नाभ्यगच्छत् ।

त्वत्पादान्बन्धं प्राप्य बहच्छवाद्य

खल्वः श्वेत मृत्पुत्रस्मादपैति ॥२७॥

स त्वं घोरान्ध्रप्रसेनात्मजान्-

स्नाहि प्रस्तान् मृत्युविप्रासहासि ।

रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं

मा प्रस्पृश्य मांसच्छर्मां कृपीष्टाः ॥२८॥

धन्म त मयसौ पापो मा विधानमधुघहन ।

समुद्रिक्ते भवद्देवाः कंसान्द्रहमधीरधीः ॥२९॥

उपसंहर विश्वारमन्तदो रूपमलौकिकम् ।

अङ्गुलमङ्गुलपद्मभिषा क्षुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥

माता देवकीसे कहा—प्रभो ! वेदोंने आपके जिस रूपको अव्यक्त और समस्त कारण कल्पना है, जो ज्ञात, ज्योति स्वरूप, समस्त गुणोंसे रहित और विभ्ररहीन है, जिसे विशेषणरहित—अनिर्वचनीय, निष्क्रिय एवं केवल विद्युत् सत्ताके रूपमें कहा गया है—वही मुदि आदिके प्रकाशक विष्णु आप स्वयं हैं ॥ २४ ॥ जिस समस्त ज्ञाताकी पूरी आयु—दो परार्ध समाप्त हो जाते हैं, कालशक्तिके प्रभावसे सारे लोक नष्ट हो जाते हैं, पञ्च महाभूत अङ्गहारमें, अङ्गहार महत्त्वमें और महत्त्व प्रकृतिमें छीन हो जाता है—उस समस्त एकमात्र आप ही शेष रह जाते हैं । इसीसे आपका एक नाम 'श्वेत' भी है ॥ २५ ॥ प्रकृतिके एकमात्र सहायक प्रभो ! निमेयसे लेकर वर्णपर्यन्त अनेक विभागोंमें विभक्त ज्ये काल हैं, जिसकी चेष्टासे यह सम्पूर्ण विश्व सचेत हो रहा है और जिसकी कोई सीमा नहीं है, वह आपकी कीलकमात्र है । आप सर्वशक्तिमान् और परम कल्याणके आश्रय हैं । मैं आपकी शरण लेती हूँ ॥ २६ ॥ प्रभो ! यह नील मृत्युमत्स हो रहा है । यह मृत्युरूप कराळ व्याघ्रसे भयभीत होकर सम्पूर्ण लोक-लोकान्तोंमें भटकता रहा है, परन्तु इसे कभी कहीं भी पेता स्थान न मिल सका, नही यह निर्मय होकर रहे । आज वह मयसे इसे आपके चरणारविन्दोंकी शरण मिल गयी । अतः अब यह खल्व होकर सुखकी नींद सो रहा है । औरोंकी तो बात ही क्या, अन्य मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग गयी है ॥ २७ ॥ प्रभो ! आप हैं मक्तभयहारी । और इसलिये इस दुष्ट कंससे बहुत ही भयभीत हैं । अतः आप हमारी रक्षा करिये । आपका यह चतुर्भुज ग्ण्य-रूप ध्यानकी वस्तु है । इसे केवल मांस-मांसमाय शरीर पर ही दृष्टि रखनेवाले देहार्थिणी पुरुषोंके सामने प्रकट मत करिये ॥ २८ ॥ मधुसूदन ! इस पापी कंसको यह बात माणस्य न हो कि आपका जन्म मेरे गर्भसे हुआ है । मेरा धर्म टूट रहा है । आपका क्रिये में कंससे बहुत डर रही हूँ ॥ २९ ॥ विश्वास्यन् । आपका यह रूप अलौकिक है । आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमण्डली आभासे युक्त अपना यह चतुर्भुजस्वरूप श्रिया करिये ॥ ३० ॥

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निधान्ते

यथावकाशं पुर्याः परो भवान् ।

विमर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽयम्

ददौ नृलोकस्व विभस्मनं हि तत् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

स्वमेव पूर्वसर्गेऽयम् पुमिः स्वापम्भुषे सति ।

तदाय सुतपा नाम प्रद्यापतिरकल्मषः ॥३२॥

युवां वै प्रजापजोऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ।

संनिर्यन्धेद्विषग्रामं तेषां परमं तपः ॥३३॥

वर्षावातातपहिमधर्मकल्लगुणानजु ।

सहमानौ श्वत्सरोधविनिर्वृतमनोमौ ॥३४॥

शीर्णपर्जानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ।

मत्त कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीदृशुः ॥३५॥

एवं वां तप्यतोऽस्तीर्षं तपः परमदुष्करम् ।

दिष्यवर्षसहस्राणि द्वादशेऽयुर्मदात्मनोः ॥३६॥

तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुपानघे ।

तपसा भद्रया नित्यं भक्त्या च हृदि भाषितः ॥३७॥

प्रादुरार्षं वरदराद् युवयोः कामवित्तया ।

प्रियतां वर इत्युक्ते भारद्वौ वां वृतः सुतः ॥३८॥

अमुष्टप्राप्त्यविषयावनपत्यौ च दम्पती ।

न वज्राघेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया ॥३९॥

गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् ।

प्राप्त्यान् भोगानसृज्याथां युवां प्राप्तमनोरथौ ॥४०॥

अदृष्टान्यतमं लोके झीलौदार्यगुणैः समम् ।

प्रथमके समय आप इस सम्पूर्ण विश्वको अपने शरीरमें कैसे ही सामाजिक रूपसे धारण करते हैं, जैसे कोई मनुष्य अपने शरीरमें रखनेवाले छिद्ररूप वायुशक्ती । श्री परम पुरुष परमात्मा आप मेरे गर्भवासी हुए, यह आपकी अद्वैत मनुष्य-हीन नहीं तो और क्या है ! ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच—देनि । क्षाम्यन्तुव मन्तरमें जब मुम्हारा पक्ष्य अन्य हुआ था, उस समय तुम्हारा नाम था पुमिन और ये पक्ष्येव सुतपा नामके प्रजापति थे । तुम दोनोंके हृदय बड़े ही छुट्ठ थे ॥ ३२ ॥ जब प्रजाजीन तुम दोनोंका सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी, तब तुम जोगेंने इन्द्रियोंका दमन करके उत्कृष्ट तपस्या की ॥ ३३ ॥ तुम दोनोंने वर्षा, वायु, धाम, शक्ति, उष्ण आदि कलके विभिन्न गुणोंका स्नान किया और प्राणायामक द्वारा अपने मनके मूढ धो डाले ॥ ३४ ॥ तुम दोनों कभी सुले पत्ते खा लेते और कभी हवा पीकर ही रह जाते । तुम्हारा चित्त बड़ा शान्त था । इस प्रकार तुमश्रेणनि मुझसे कभीछ वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छासे मेरी आराधना की ॥ ३५ ॥ मुझमें चित्त ऊर्ध्वकर ऐसा परम दुष्कर और वार तप करते-करते देवताओंके वारह हजार वर्ष बीत गये ॥ ३६ ॥ पुण्यमयी देवि । उस समय मैं तुम दोनोंपर प्रसन्न हुआ । क्योंकि तुम दोनोंने तपत्या, अस्त्र और प्रेममयी भक्तिसे अपने हृदयमें नित्य-निरन्तर मेरी भावना की थी । उस समय तुम दोनोंकी अस्मिन्वा पूर्ण करनेके लिये वर देनेवालोंका राजा मैं इसी रूपसे तुम्हारे सामने प्रकट हुआ । जब मैंने कहा कि सुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो, तब तुम दोनोंने मेरे-जैसा पुत्र माँगा ॥ ३७-३८ ॥ उस सम्प्रत्यक्ष विषय-भोगोंसे तुम जोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ था । तुम्हारे कोई सन्तान भी न थी । इसलिये मेरी मायासे मोहित होकर तुम दोनोंने मुझसे मोक्ष नहीं माँगा ॥ ३९ ॥ तुम्हें मेरे-जैसा पुत्र होनेका वर प्राप्त हो गया और मैं बहोसे चञ्च गया । अब सत्सङ्गमनोरथ होकर तुमभोग विषयोंका भोग करने लगे ॥ ४० ॥ मैंने देखा कि संसारमें शीघ्र-समय, उदारता तथा अन्य गुणोंमें मेरे-जैसा इसरा कोई नहीं है

अहं सुतो वामभवं पृथ्निगर्म इति श्रुतः ॥४१॥

स्योवा पुनरेवाहमदित्यामाम कश्यपात् ।

उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामन ॥४२॥

चृतीयेऽग्निन् भवऽहं न तन्नय वपुपाथ वाम् ।

आतो भूयस्त्रयोरेव सत्य मे व्याहृत सति ॥४३॥

एतद् वा दक्षित रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ।

नान्यथा मद्भव ध्यान मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥४४॥

युवां मां पुत्रभावेन प्रदत्तभावेन चासकृत् ।

चिन्तयन्ती कृतस्तेदौ यास्यथ मद्रति पराम् ॥४५॥

श्रीसूक्त उवाच

इत्युक्त्वाऽऽसीद्वरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।

पित्रोः सम्पश्यतो सद्यो बभूव प्राकृतः निशु ॥४६॥

ततश्च शार्ङ्गिर्मगवत्प्रचोदितः

मुत समादाय स स्रविकागृहात् ।

यदा वहिगन्तुमियेष तर्धन्वा

या योगमायाश्च नि नन्दजायया ॥४७॥

तथा इतप्रत्ययमवृत्तिषु

दाःस्यपु पौरुषेपि शायित्वथ ।

द्वारम्तु सयाः पिदिता दुरस्यया

पुस्तकपाठायमुक्तीत्युक्तं ॥४८॥

ता कृष्णवर्षाद् समुद्रस्य आगतः

स्वयं व्यस्यन्त यथा तमा रवे ।

इसलिये मैं ही तुम दोनोंका पुत्र हुआ और उस समय मैं 'शृङ्गिण'क नामसे विख्यात हुआ ॥ ४१ ॥ फिर दूसरे जन्ममें तुम हुईं अग्नि और पशुपत हुए पत्न्य । उस समय भी मैं तुम्हारा पुत्र हुआ । मेरा नाम था 'उपेन्द्र' । दमरु छोटा होनेक कारण ध्वज मुस 'धामन' भी कहते थे ॥ ४२ ॥ सती देवकी । तुम्हारे इस तीसरे जन्ममें भी मैं उसी रूपमें फिर तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ* । मेरी बाणी सुनकर मत्स्य हार्ता है ॥ ४३ ॥ मैंने तुम्हें अपना यह रूप इसलिये दिखाना दिया है कि तुम्हें मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय । यदि मैं ऐसा नहीं करता, तो कबड मनुष्य-क्षत्रीसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती ॥ ४४ ॥ तुम दोनों मेरे प्रति पुत्रभाव तथा निरन्तर ब्रह्मभाव रक्खना । इस प्रकार वात्सल्य-रन्ध्र और किन्तनके द्वारा तुम्हें मेरा परम पदकी प्राप्ति होगी ॥ ४५ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहत हैं—भगवान् इतना बहसत
 हुए हैं गये । अब उन्होंने अपनी योगमयासे निर-
 माताक दखने-दखने सुस्त एक माधारण सिद्धांत मया
 भाग्य पर दिया ॥ ४६ ॥ तब बसुदेवजीने भगवान् की
 प्रेरणासे अपने पुत्र पर स्मृत सुनिश्चयसे ग्रह निश्चय-
 की इच्छा की । उसी समय मन्दारती यशोदा गमने
 उस यशोमाया पर जन्म हुआ, जो भगवान् की गति जाने
 कारण उनके सम्पन्न ही जन्म-दिन है ॥ ४७ ॥ उसी
 योगमयापान द्वारापत और पुरुषमियों की समस्त इन्द्रि-
 यनिर्दोषी चेतना हर की, व मया-मया अनन्य द्वारा
 सो गये । बर्हिगुरु सभी दूरपर हैं ये । उनमें बड़े
 बड़े विचार, अहेरी जंजीरों और तब नद हुए थे ।
 उनके बहर जन्म बड़ा ही बर्हिन था, तबु समुद्रदेवी
 भगवान् श्रीगुरु पर जन्मे स्मृत ज्यों ही उनके निर-
 पद्वेष्ट, त्यों ही व सब श्रवण करने-कर सुत गये ।
 दोर वेते ही, जैसे गुरु-गुरु हात ही अन्धकार दूर है

१ श्मश्रु । २ सा पुन । ३ पुष । ४ स्त्रीर्पन्ता ।

[illegible][illegible]

वर्षं पर्वन्त्य उपांशुर्गर्हितः

श्रेणोऽन्वगाद् धारि निवारयन् फणौ ॥४९॥

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुष्वा

गम्भीरसौम्यैश्चवोर्मिकेनिला ।

मयानकावर्तश्चताङ्गुला नदी

मार्गं ददौ सिन्धुरिष भिष पतेः ॥५०॥

नन्दमूर्ध्नं क्षौरिरुपेत्य तत्र तान्

गोपान् प्रसुप्तानुपलम्ब्य निव्रया ।

सुतं यद्योदासधने निभाय त

त्सुतोऽमुपादाय पुनर्गृहानगात् ॥५१॥

जता है । उस समय बादल धीरे-धीरे गरबकर जल्मी
पुकारे छेब रहे थे । इसलिये शेषनी अपने फलोंसे जल्मी
रोकते हुए भगवान्‌के पीछे-पीछे चलने लगे ॥४८-४९॥
उन दिनों धार-धार वर्षा होती रहती थी, इससे यमुनाजी
घड़त बढ़ गयी थीं । उनका प्रवाह गहरा और तेज
हो गया था । तरल तरलके कारण जलपर फेन-ही-फेन
हो रहा था । सैकड़ों मयानक भँकर पन रहे थे । जैसे
सीतापति भगवान् श्रीरामजीके समुद्रने मग्न दे दिया
था, वैसे ही यमुनाजीने भगवान्‌के मार्ग दे दिया ॥५०॥
यमुदेवजीने नन्दबानाके गोकुलमें जाकर देखा कि सब-
क-सब गोप नींदसे अवैत पड़े हुए हैं । उन्होंने अपने
पुत्रको कब्रिदान्जीकी शम्पापर सुख दिया और उनकी
नवजात कण्ठ लेकर वे कदीगृहमें छैट आये ॥ ५१ ॥

१ शिशु । २ सुतं समाया ।

१ यजमानजीने विचार किया कि मैं बड़ा भार्य क्ता तो क्या, सेवा ही मेरा मुख्य कर्मा है । इसलिये वे अपने गोप
रूपसे श्रीकृष्णके सत्र बनकर जल्मी निवारण करते हुए बस । उन्होंने सोचा कि यदि मेरे रहते मेरे स्वामीको कष्टिते का
पहुँचा तो मुझे बिकार है । इसलिये उन्होंने अपना सिर अपने कर दिया । अस्वा उन्होंने यह सोचा कि वे विष्णु
(आत्मदा) बावी मेष परोपकारके लिये अक्षयवृष्टि होना स्वीकार कर लेते हैं ; इसलिये बलिके समान सिरसे कन्दनीय हैं ।

† १ श्रीकृष्ण शिशुको अपनी ओर आते देखकर यमुनाजीने विचार किया—यज्ञा ! किनके प्रयोगकी बुद्धि
कपुरुषोंके मानस-ध्यानकर विषय है वे ही आत्म मेरे ऊपर आ रहे हैं । वे आनन्द और प्रेम्मे भर गयीं औरोंसे इतने
और निकले कि बड़ आ गयी ।

२ मुने बम्पककी बहिन समसकर श्रीकृष्ण अपनी ओर न कर लें, इसलिये वे अपने विशाख जीवनकर
प्रदर्शन करने लगीं ।

३ वे शेषावनके लिये गोकुलमें बस रहे हैं वे स्वस्त-स्वस्त खरियाँ गौरों छी तो हैं । वे उनकी समान
इनका भी जान करे ।

४ एक कामिकनाग तो मुझमें पहलसे ही है ; वह दूरे बागनाग आ रहे हैं । अब मेरी क्या गति होगी—यह
सोचकर यमुनाजी अपने ध्येइसे उनका निवारण करनेके लिये बड़ गयीं ।

† १ एकएक यमुनाजीके मनमें विचार आता कि मेरे अग्रपक्ष जल्मी देखकर कही श्रीकृष्ण बड़ न सोच लें
कि मैं इसमें सेइँगा कैसे इसलिये वे दूरत कही कष्टमर, कही गामिमर और कही पुत्रमोक्ष कल्याणी हो गयीं ।

२ जैसे दुली गनुष दयालु पुत्रके सामने अपना मग्न मोक्षकर रक्त देता है, वैसे ही कामिकनागसे ब्रह्म
अने इन्द्रका पुत्र निवेदन कर देनेके लिये यमुनाजीने भी अपना विशाख जीवनकर श्रीकृष्णके सामने रक्त दिया ।

३ मेरी गीरलता देखकर श्रीकृष्ण कही जल्मीबा करना और परायणी बनाया अम्मीकर न कर दें इसलिये
वे उच्छ्वस्तता छोड़कर बही किनपसे अपने इन्द्रकी उच्छ्वस्तपूर्ण रक्षित प्रकट करने लगीं ।

४ अब इन्होंने सूर्यवधमें रामाकाश प्रारण किया तो मार्ग न देकर पञ्चमाके शिता समुद्रको बाँध दिया था ।
अब वे पञ्चमाके प्रकट हुए हैं और मैं सर्वथी पुत्री हूँ । यदि मैं इन्हें मार्ग न दूँगी तो वे मुझे भी बाँध देंगे । इस डरसे
मनो यमुनाजी बाँध मार्गमें बैठ गयीं ।

५ कपुरुष करते हैं कि इन्द्रमें भगवान्‌का आ जानेकर अलौकिक सुख होता है । मनो उलीक उपभोग
करनेक लिये यमुनाजीने भगवान्‌का अपने भीतर ले लिया ।

६ मग्न नाम कृष्ण मेरा अब कृष्णा मेरे बाहर श्रीकृष्ण हैं । फिर मेरे इन्द्रमें ही उनकी स्मृति क्यों न हो ?
ऐसा जानकर मार्ग देनेक बहाने यमुनाजीने श्रीकृष्णको अपने इन्द्रमें ले लिया ।

देवक्याः शयने न्यस्य यमुदेनोऽथ दारिकाम् ।

प्रतिमुच्य पदोलोहमास्ते पूर्ववदाश्रुतः ॥ ५२ ॥

यशोदा नन्दपत्नी च जात परममुष्मत् ।

न तल्लिङ्ग परिभान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥ ५३ ॥

जेठमें पहुँचकर कमुदेवजीने उस कन्याको देवकीकी शय्यापर सुना दिया और अपने पैरोंमें बेड़ियों बन्ध लीं तथा पहलेकी तरह वे बंदीगृहमें बंद हो गये ॥ ५२ ॥
उधर नन्दपत्नी यशोदाजीको इतना तां माझम हुआ कि कोइ सन्तान हुई है, परन्तु वे यह न जान सकीं कि पुत्र है या पुत्री । क्योंकि एक तो उन्हें बड़ा परिश्रम हुआ था और दूसरे योगमायाने उन्हें अचेत बना दिया था ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संहितयां दशमस्कन्धे पूर्वोत्तरे
कृष्णवर्मनि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

कंसके हाथसे छूटकर योगमायाका आकाशमें जाकर भविष्यवाणी करना

श्रीकृष्ण उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारं सर्वा पूर्ववदाश्रुता ।

ततो बालध्वनिं श्रुत्वा शृङ्खलाः समुत्थिताः ॥ १ ॥

ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भस्थम् तत् ।

आचक्षुर्मोत्रावाय यमुद्रिग्नः प्रतीक्षते ॥ २ ॥

स तत्पत् त्वर्षमुत्थाय कालोऽपमिति विह्वल ।

धृषीगृहमगात् तप्त प्रस्त्रलन् सूक्तमूर्धनः ॥ ३ ॥

तमाह भ्रातरं देवी कृपया करुणं सती ।

स्तुपय तव करुणाय त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

भीष्मकनेपथी कहते हैं—परीक्षित ! जब कमुदेवजी दौड़ आये, तब नगरके बाहरी और भीतरी सब दरवान अपने-आप ही पहलेकी तरह बंद हो गये । इसके बाद नबनात शिशुके रोनेकी ध्वनि सुनकर द्वारपाथेकी नौद टूटी ॥ १ ॥ वे तुरत मोनराज कंसके पास गये और देवकीको सन्तान होनेकी बात कही । कंस तो बड़ी आकुलता और बकराहटके साथ इसी बातकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥ २ ॥ द्वारपाथेकी बात सुनते ही वह झटपट फेंगसे उठ खड़ा हुआ और बड़ी क्षीप्रगतिसे सूक्तिकगृहकी ओर गए । इस कर तो मेरे कण्ठका ही जन्म हुआ है, यह सोचकर वह विह्वल हो रहा था और यही कारण है कि उसे इस बातका भी ध्यान न रहा कि उसके बाट लिम्बे हुए हैं । रास्तेमें कद जगाह कद लक्षलक्षपर गिरते-गिरते गया ॥ ३ ॥ बंदीगृहमें पहुँचने पर सती देवकीने बड़े दुःख और करुणाके साथ अपने माइ कंससे कहा—‘मेरे द्वैतीय भाइ ! यह कन्या तो तुम्हारी पुत्रवधूक सम्पन्न है । श्रीजानिकर है; तुम्हें भीखी हत्या पढ़ानि नहीं करनी चाहिये ॥ ४ ॥

१ पुत्रम् । २ कृष्णवर्णरे तृतीयः । ३ श्रीकृष्णः । ४ भी ।

● मगवान् भीष्मकेने इस प्रसंगमें यह प्रकट किया कि जो मुझे प्रेमपूर्ण भावनें हृदयमें बाध कर रहा है उसका कथन गुप्त गते है जल्दी सुटकार निकाल दे बड़े-बड़े घटक हट गये हैं, परन्तु अंधका फला नहीं पल्ला भयनरीक्ष कर मन व्यथ है गोपुत्र (इन्द्रिय-उपदान) की हानियों तुम हो जाती हैं और माया हाथमें आ जाती है ।

बहवा हिंसिता आतः शिष्टवः पावकोपमाः ।

त्वया देवनिमृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥

नन्वा ते शवरवा दीना हतमुता प्रभो ।

दातुमर्हसि मन्दाया अज्ञेमां चरमां प्रक्षाम् ॥ ६ ॥

श्रीगुरु उवाच

उपगुह्यात्मजामेव रुदत्वा दीनवीनवत् ।

याचितस्तां विनिर्मत्स्यं हस्तादाविच्छिद्ये खलः ॥ ७ ॥

तं गृहीत्वा चरणयोर्बातमात्रां खसु सुताम् ।

अपोषयच्छिलापृष्ठे स्वार्थेन्मूलितसौहृदः ॥ ८ ॥

सा तद्वत्तात् ससुत्पत्य सधो देव्यम्बरं गता ।

अदृश्यतानुवा विष्णोः सायुधाष्टमहाशुभा ॥ ९ ॥

दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता ।

धनुःशूलेप्रचर्मासिद्धचक्रगदाधरा ॥ १० ॥

सिद्धचारणगन्धर्वैरधरः किमरोरणैः ।

उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमग्रवीत् ॥ ११ ॥

किं मया हतया मन्द आतः खलु तथान्तकृत् ।

यत्र कं वा पूर्वशत्रुमां हिंसीः कृपणान् वृषा ॥ १२ ॥

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती शुचि ।

बहुनामनिकेतपु बहुनामा बभूव ह ॥ १३ ॥

तथाभिहितमाकर्ण्य कस परमयसितः ।

देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रभितोऽग्रवीत् ॥ १४ ॥

येन ! तुमने देववश मेरे बहुत-से जन्मिके सम्मान लेन
वाछव मार डाले । अब केवल यही एक कष्ट
है, इसे तो मुझे दे दो ॥ ५ ॥ अवश्य ही मैं तुम
छेदी गइल हूँ । मेरे बहुत-से बच्चे मर गये हैं, इस
में जल्मल दीन हूँ । मेरे प्यारे और सम्बन्ध भाई !
मुझ मन्दमागिनीको यह जन्मिल सुतपन अ
दे दो ॥ ६ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! कल्पको अ
गोदमें छिपाकर देवकीजीने जल्मल दीनताके साथ
रोते याचना की । परन्तु कंस महा दुष्ट था । उ
देवकीजीको निकटकर उनके हाथसे वह कल्प
ली ॥ ७ ॥ अपनी उस नन्दी-सी नवजल मानव
पैर पकड़कर कंसने उसे बन्धे जोरसे एक चट्टानपर
मार । खाफे उसके हृदयसे सौहार्दको समूह उठ
फैल था ॥ ८ ॥ परन्तु श्रीकृष्णकी वह छोटी वां
साक्षरण कल्प तो थी नहीं, देवी थी, उसके हा
थकर तुरंत आकाशमें चली गयी और अपने बन्धे
काठ हाथोंमें लायुष लिये हुए दीख पड़ी ॥ ९ ॥
दिव्य माला, वस्त्र, चन्दन और मणिमय आभूषण
विभूषित थी । उसके हाथोंमें धनुष, त्रिशूल, बाण, द
लम्वार, शङ्ख, चक्र और गदा—ये काठ आ
ये ॥ १० ॥ सिद्ध, चरण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर व
नागगण बहुत-सी भेंटकी समझी समर्पित करके उस
स्तुति कर रहे थे । उस समय देवीने कंससे
कहा—॥ ११ ॥ ये मूर्ख ! मुझे मारनेसे तुझ क
मिच्छा : तेरे पूर्वजन्मका शत्रु तुझे मारनेके लिये कि
स्वयनपर पैदा हो चुका है ! अब तू व्यर्थ निर्दो
वाछवोंकी हत्या न किया कर ॥ १२ ॥ कंससे इ
प्रचण्ड कहकर भागनी योगमाया कहलै जन्तव्याम
गयी और पृथ्वीके अनेक स्थानोंमें विभिन्न नामोंसे प्रसि
हई ॥ १३ ॥

देवीकी यह बात सुनकर कंसको अतीव आश्च
र्य हुआ । उसने उसी समय देवकी और वसुदेवको कैद
छाड़ दिया और बड़ी मर्यादसे उनसे कहा—॥ १४ ॥

यागमाया



यह अपने बड़े-बड़े मान्द हाथोंमें आयुध लिये वीर्य पड़ी ।

अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना ।

पुरुषाद् द्वापस्य बंहवो हिंसिताः सुताः ॥१५॥

सत्त्वैः स्थक्कवारुप्यस्त्वक्कधातिसुहृत् खल ।

कौल्लोकान् वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ॥१६॥

दैवमप्यनृत वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ।

यद्विभ्रमादह पापः स्वसुनिहतवाञ्छिशून् ॥१७॥

मा श्लोचत महाभागावात्मजान् स्वैकृतम्युजः ।

अन्तवो न सर्वैकत्र देवाधीनास्तदाऽऽसते ॥१८॥

शुचि भौमानि भूतानि यया यान्त्यपयान्ति च ।

नायमात्मा त्वयैतेषु विपर्येति तथैव भूः ॥१९॥

यधानेवविदा मेदो यत आत्मविपर्ययः ।

देहयोगनियोगौ च ससुतिर्न निवर्तते ॥२०॥

तस्माद् भद्रं स्वतनवान् मया व्यापादिशानपि ।

मातुशोच यत सर्वः स्वकृत विन्दतेऽवयवः ॥२१॥

पाषदशोऽसि हन्तास्मीत्पातमानं मन्यतेऽस्त्वैवम् ।

तावत्तदभिमान्यहो बाध्यबाधकतामियात् ॥२२॥

मेरी प्यारी बहिन और बहनोईजी । हाय-हाय, मैं बड़ा पापी हूँ । राक्षस जैसे अपने ही वर्णोंको मार खाता है, वैसे ही मैंने तुम्हारे बहुत-से लड़के मार डाले । इस बातका मुझे बड़ा खेद है* ॥ १५ ॥ मैं इतना दुःख हूँ कि कल्याणक तो मुझमें क्या भी नहीं है । मैंने अपने माई-बन्धु और द्वितीयोत्तकत्र रयाग कर दिया । फल नहीं, अब मुझे किस नरकमें जाना पड़ेगा । बाल्यमें तो मैं ब्रह्मपातीके समान जीवित होनेपर भी मुर्दा ही हूँ ॥ १६ ॥ केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, विवाह भी झूठ बोलते हैं । उसीपर विश्वास करके मैंने अपनी बहिनके बन्धे मार डाले । ओह ! मैं कितना पापी हूँ ॥ १७ ॥ तुम दोनों महात्मा हो । अपने पुत्रोंके लिये शोक मत करो । उन्हें तो अपने कर्मका ही फल मिले है । सभी प्राणी प्रारब्धके अधीन हैं । इसीसे वे सदा-सर्वदा एक साथ नहीं रह सकते ॥ १८ ॥ जैसे मिट्टीके बने हुए पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं, परन्तु मिट्टीमें कोई बदल-बदल नहीं होती—वैसे ही शरीरका तो बनना-बिगड़ना होता ही रहता है; परन्तु आत्मापर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता ॥ १९ ॥ जो श्रेय इस संसारको नहीं जानते, वे इस अनारम्भ शरीरको ही आत्म मान बैठते हैं । यही उच्छ्रि बुद्धि अपना अज्ञान है । इसीके कारण जन्म और मृत्यु होते हैं । और जबतक यह अज्ञान नहीं मिटता, तबतक सुख-दुःखका संसारसे छुटकारा नहीं मिलता ॥ २० ॥ मेरी प्यारी बहिन ! यद्यपि मैंने तुम्हारे पुत्रोंको मार डाला है, फिर भी तुम उनके लिये शोक न करो । क्योंकि सभी प्राणियोंको विश्वास होकर अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है ॥ २१ ॥ अपने स्वरूपको न जाननेके कारण जीव जबतक यह मानता रहता है कि 'मैं मारनेवाला हूँ या मारा जाता हूँ', तबतक शरीरके जन्म और मृत्युका अभिमान करनेवाला वह अज्ञानी बाध्य और बाधक भावको प्राप्त होता है । अर्थात् वह दूसरोंका दुःख देता

* झुठले । २ झुठल । १ झुठल ।

● किन्ते गर्भमें मगधनने निवास किया किन्हे मगधानके गर्भमें हुए, उन देवकी वसुदेवके गर्भमेंका ही वह पक्ष है कि बंरके हृदयमें किनय विचार उदात्ता आदि सगुणोंका उदय हो गया । परन्तु जबतक वह उनके सामने रहा तभीतक वे लुप्त रहे । कुछ मन्त्रियोंके बीचमें गये ही वह फिर ज्यों-ज्यों-व्यों हो गया ।

समर्थं मम दौरात्म्यं साधवा दीनवत्सलाः ।

इत्युक्त्वाधुमुखः पादौ श्यालं स्वस्रोत्राग्रहीत् ॥२३॥

मोक्षयामास निगदाद् विभ्रमं कन्यकागिरा ।

देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्मात्मसौहृदम् ॥२४॥

ब्राह्मः समनुवृत्तस्य ध्यान्त्वा रोषं च देवकी ।

असुखं वसुदेवस्य प्रहस्य तद्वनाच्च ह ॥२५॥

एवमेतन्महामौगं यथा वदसि देहिनाम् ।

अज्ञानप्रभवाहंभी स्वपरति मिदा यतः ॥२६॥

शोकहर्षभयद्रूपलोभमोहमदान्विताः ।

मिथो म्रतं न पश्यन्ति भावैर्भावि पृथग्दृष्टाः ॥२७॥

धीशुक उवाच

कंस एव प्रमत्ताभ्यां विद्वद् प्रतिभाषित ।

दवक्रोषसुदवाम्यामनुष्ठातोऽविशब्दं गृहम् ॥२८॥

तस्यां रात्र्यां स्पृतीतायां कंस आहूय मन्त्रिण ।

तस्य आचष्ट तत् सव यदुक्तं यागनिद्रया ॥२९॥

आकृष्य भर्तुर्गदितं तमृषुर्देषपत्रम् ।

दधान् प्रति कृतामया दैतेया नातिक्रोविदाः ॥३०॥

एव चेत्तर्हि भाजन्तं पुराग्रामग्रजादिषु ।

अनिदगान् निर्दयाश्च हनिष्यामोऽप्य वं विशृणु ॥३१॥

किमुद्यमैः करिष्यन्ति दवाः समरधीरव ।

नित्यमुद्रिप्रमनसा ज्वापापघ्ननुपमव ॥३२॥

है और स्वयं दुःख भोगता है ॥ २२ ॥ मेरी यह दुष्टता तुम दोनों क्षमा करो, क्योंकि तुम यद्दे ही साधुस्वभाव और दीनोंके रक्षक हो ।' ऐसा कहकर कंसने अपनी वहिन देवकी और वसुदेवजीके चरण पकड़ लिये । उसकी आँखोंसे आँसू बह-बहकर मुँह तक आ रहे थे ॥ २३ ॥ इसके बाद उसने योगमायाके कचनोंपर विश्वास करके देवकी और वसुदेवको कैदसे छेड़ दिया और वह तरह तरहसे उनके प्रति अपना प्रेम प्रकट करने लगा ॥ २४ ॥ जब देवकीजीने देखा कि माई कंसको पद्माक्षप हो रहा है, तब उन्होंने उसे क्षमा कर दिया । वे उसके पहले अपराधोंको मूल गयीं और वसुदेवजीने हँसकर कंससे कहा— ॥ २५ ॥ 'मनस्वी कंस ! आप जो कहते हैं, वह ठीक वैसा ही है । जीव ज्ञानके कारण ही शरीर आदि को भौं मान बैठते हैं । इसीसे अपने-परायेका भेद हो जाता है ॥ २६ ॥ और यह भेदछिड़ हो जानेपर तो वे शोक, हय, मय, द्वेष, छेम, मोह और मदसे कचे हो जाते हैं । फिर तो उन्हें इस बातका पता ही नहीं रहता कि सबके प्रकर मगवान् ही एक मावसे दूसरे भावका, एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका नाश करा रहे हैं ॥ २७ ॥

धीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! जब वसुदेव और देवकीने इस प्रकार प्रसन्न होकर निष्कामभावसे कंसके साथ बातचीत की, तब उनसे अनुमति लेकर वह अपने मन्त्रियों चयन गया ॥ २८ ॥ वह रात्रि बीत जानेपर कंसने अपने मन्त्रियोंको बुलाया और यागमन्त्र्याने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया ॥ २९ ॥ कंसका मन्त्री पूर्णतया नीतिनिपुण नहीं थे । दैत्य होनेके कारण स्वभावसे ही वे देवजाओंके प्रति शत्रुताका भाव रखत थे । अपने स्वामी कंसकी बात सुनकर वे देवजाओं पर और भी बिड़ गये और कंससे कहन लगे— ॥ ३० ॥ 'माजराज ! यदि ऐसा बात है तो हम आज ही बड़े बड़े नगरोंमें, छोटे-छोटे गाँवोंमें, अश्विनीकी बलिपोंमें और दूसरे स्थानोंमें जिनन यन्त्र हूँ, वे यहाँ दस दिनसे अधिक रहें या कामसे, सबका आचरण कर देंगे ॥ ३१ ॥ ममभीष्ट दक्षिण गुहापाग करके ही क्या करेंगे ' वे ता अपन धनुरी टहलार सुनकर ही सन्त-मर्ग-मदरप

अस्य तस्ते शरघातेर्हन्त्यमानाः समन्तत ।
 मिथीविषय उत्सृज्य पलायनपरा ययु ॥३३॥
 केचित्प्राञ्जलयो दीनान्यस्तश्च द्वा द्विषौ क्रमः ।
 मुक्तकण्ठशिक्षाः केचिद् भीता स इति वादिनः ॥३४॥
 न त्वविस्मृतप्रज्ञास्त्रान् विरथान् भयसञ्चलान् ।
 ईक्षन्मासक्तविमुक्तान् भयचापानपुण्यत ॥३५॥
 किं धेमगुरैर्विपुचैरसंयुगविकृत्यनै ।
 रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौजसा ।
 किमिन्द्रेणान्यधीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्वता ॥३६॥
 तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ।
 ततस्तन्मूलमनने निपुङ्ग्वस्त्रास्त्राननुव्रतान् ॥३७॥
 यथाऽऽमयोऽङ्ग सप्तपेक्षिता नभि-
 नै शक्यते रूपदधिकित्सितुम् ।
 यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा
 रिपुर्महान् बद्धबला न चारुयते ॥३८॥
 मूल हि विष्णुर्देवानां यथ धर्म सनातनः ।
 तस्य च मद्र गाविग्रान्तपो यद्याः सदक्षिणाः ॥३९॥
 तस्मान् सवानमना राजन् प्राप्नोषान् मद्रवादिन ।
 तपस्विनो यतप्रीतान् गावश्च हन्मा इति

रहते हैं ॥ ३२ ॥ जिस समय युद्धभूमिमें आप चोट पर चोट करने लगते हैं, बाण-धरसि वायल होकर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये समराङ्गण छोड़कर देवताओंके पश्रयन-परायण होकर इधर-उधर भाग जाते हैं ॥ ३३ ॥ कुछ देवता तो अपने अक्ष-शस्त्र जमीनपर ग्राह देते हैं और हाथ छोड़कर आपके सामने अपनी दीनता प्रकट करने लगते हैं । कोई-काई अपनी चोटीके बाल तथा कण्ठ खोल्कर आपकी धरणमें आपक कहते हैं कि—
 'हम मयभीत हैं, हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ३४ ॥ आप उन शत्रुओंको नहीं मारते जो शस्त्र-अक्ष मूल गये हों, किन्तु रथ टूट गया हो, जो डर गये हों, या लोग युद्ध छोड़कर अत्यमनस्य हो गये हों, किन्तु चतुर टूट गया हो या किन्होंने युद्धसे अपना मुँह मोड़ लिया हो—
 उन्हें भी आप नहीं मारते ॥ ३५ ॥ देवता तो बस वही भीर बनते हैं, जहाँ कोई लड़ाई-लगावा न हो । रणभूमिके बाहर वे वही-वही डींग होंकते हैं । उनसे तथा एकान्तवासी विष्णु, वनवासी शङ्कर, जलमयी इन्द्र और तपस्वी ब्रह्मासे भी हमें क्या मप हो सकता है ॥ ३६ ॥ फिर भी देवताओंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—ऐसी हमारी राय है । क्योंकि हैं तो वे शत्रु ही । इसलिये उनकी जड़ उखाड़ फेंकनेके लिये आप हम-जैसे विश्वासपात्र मेवकोंको नियुक्त कर दीजिये ॥ ३७ ॥
 जब मनुष्यके शरीरमें रोग हो जाता है और उसकी चिकित्सा नहीं की जाती—उपेक्षा कर गी जाती है, तब रोग अपनी जड़ जमा लेता है और फिर वह असाध्य हो जाता है । अथवा जैसे इन्द्रियोंकी उपेक्षा कर देनेपर उनका दमन असम्भव हो जाता है, वैसे ही यदि पक्षसे शत्रुकी उपेक्षा कर दी जाए और वह अपना पौब चमक ले, तो फिर उसको हराना पड़ित हो जाता है ॥ ३८ ॥
 दबलाओंकी जड़ है विष्णु और पर वहाँ पता है, जहाँ सनातनधर्म है । सनातनधर्मकी जड़ है—वे, गी, ब्रह्मण, तस्या और व यत्, जिनसे दक्षिण दी जाती है ॥ ३९ ॥ इतिग्न भाग्यम् । हमारा कर्तव्य ब्रह्मण, तपस्वी, यज्ञि और यज्ञिक गि ई जति

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः क्षमः ।
 भद्रा दया विविधा च कृतवन्म हरेस्तनूः ॥४१॥
 स हि सर्वसुराण्यधो असुरदिब् गुहाश्रयः ।
 तमूढा देवताः सर्वाः सेधराः सन्तुर्मुखाः ।
 अथ वै तद्भयोपायो यदपीणां विहिंसनम् ॥४२॥

श्रीशुक उवाच

एवं दुर्मन्त्रिभिः कृतः सह सम्मन्य दुर्मतिः ।
 ब्रह्महिंसां हिंसां मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥४३॥
 संदिग्ध साधुलोकस्य कन्दने कन्दनप्रियान् ।
 कामरूपभरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविष्टान् ॥४४॥
 ते वै रत्नः प्रकृत्यस्तमसा मूढचेतसः ।
 सतां विद्वेषमाषेरुरारादागतमृत्तव ॥४५॥
 आयुः भिय यशो धर्मं लोकानाश्रिय एव च ।
 हन्ति भेषांसि सर्वाणि पुंसो महावतिक्रमः ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहर्ष्या संज्ञितार्वा दशमस्कन्धे

पृथर्षि चतुर्थाध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

शोकुल्लभे भगवान्कञ्ज जग्ममहोत्सव

श्रीशुक उवाच

नन्दस्त्वात्मन उत्यन्ते आताड्यादौ महामनाः ।
 आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृत ॥१॥

बर्त्से ॥ ४० ॥ ब्रह्मण, गौ, वेद, तपस्या, सत्य, इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह, धन्य, दया, तिनिष्ठा और यह विष्णुके शरीर हैं ॥ ४१ ॥ वह विष्णु ही सारे देवताओं-का स्वामी तथा असुरोंका प्रधान देवी है । परन्तु वह किसी गुफामें छिपा रहता है । महादेव, ब्रह्मा और सारे देवताओंकी जब बड़ी है । उसके मार डालनेका उपाय यह है कि शत्रुओंको मार डाल जाय ॥ ४२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् । एक तो कंसकी बुद्धि स्वयं ही बिगड़ी हुई थी, फिर उसे मन्त्री ऐसे मिले थे, जो उससे भी कबलर दुष्ट थे । इस प्रकार उनसे सलाह करके कल्लके फंदेमें फँसे हुए असुर कल्लने यही ठीक समझा कि ब्रह्मणोंको ही मार डाल जाय ॥ ४३ ॥ उसने हिंसाप्रेमी राक्षसोंको संतपुत्रोंकी हिंसा करनेका आदेश दे दिया । ये इच्छानुसार रूप धारण कर सकते थे । जब वे इधर-उधर चले गये, तब कल्लने अपने मन्त्रमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ उन असुरोंकी प्रकृति थी रजोगुणी । तमोगुणके कारण उनका चित्त उक्ति और अनुचितके निवेकसे रजित हो गया था । उनके सिरपर मौत नाच रही थी । यही कारण है कि उन्होंने संतोंसे द्वेष किया ॥ ४५ ॥ परीक्षित् । जो श्रेय मन्त्र संत पुत्रोंका अनादर करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, कक्षी, कीर्ति, धर्म, लोक-परबोक, निष्क-मोग और सब-के-सम धन्याणके साधनोंके नष्ट कर देता है ॥ ४६ ॥

नाशयित्वा स्वस्त्ययन जातकर्मार्त्तममस वै ।

कारयामास विविबत् पितृदेवार्चन तथा ॥ २ ॥

चेनूनां नियुते प्रादाद् विधेभ्यः समलंकृते ।

तिलाग्नीन् सप्त रत्नौषधातकौम्भाम्बराङ्गुष्ठान् ॥ ३ ॥

कालेन स्नानार्घ्याभ्याम्भासस्कारैस्तपसेन्यया ।

शुष्पन्ति दाने सन्तुष्टया द्रव्याण्यात्माऽऽत्मविद्यया ॥

सौमङ्गल्यगिरो विप्रा दत्तमागधवन्दिनः ।

गायकाश्च जगुर्नेदुर्मयो दुन्दुभयो बभूवुः ॥ ५ ॥

ब्रज सम्पृष्टसत्तिकद्वाराभिरगृहान्तरः ।

चित्रध्वजपताकासूचैलवल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥

गावो वृषा वत्सवरा हरिव्रातैलरूपिताः ।

विचित्रधातुवर्णैस्तगवस्त्राञ्जनमालिन ॥ ७ ॥

महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीपभूषिता ।

गावाः समापयू राजन् नानापायनवाणय ॥ ८ ॥

गोप्यथाकृम्य मुदिता यशोदायाः सुताश्च वम् ।

भात्मानं भूपयाश्चकुर्वन्नाकृष्याञ्जनादिभि ॥ ९ ॥

नवकुटुम्बकिञ्चलकुसुमपङ्कजभूतयः ।

बलिभिस्त्वरित अग्न्यः पृथुधाण्यधलन्कुचा ॥ १० ॥

किर वेदज्ञ ब्राह्मणोंको सुखाकर सन्निपाचन और अपने पुत्रपुत्र जातकर्म-संस्कार करवाया । साथ ही देवता और भित्तोंकी विविधपूर्वक पूजा भी करवायी ॥ १२ ॥ उन्होंने ब्राह्मणोंको बज और आभूषणोंसे सुसज्जित दो व्यल गोएँ दान कीं । रत्नों और सुनहले वस्त्रोंसे ढके हुए निष्के सप्त पहाड़ दान किये ॥ ३ ॥ (संस्कारोंसे ही गर्भशुद्धि होती है—यह प्रदर्शित करनेके लिये अनेक द्रव्यणोंका उल्लेख करते हैं—) सम्मसे (नूतन जड़, अशुद्ध भूमि आदि), स्नानसे (शरीर आदि), प्रक्षालनसे (कलादि), संस्कारोंसे (गर्भोदि), तपस्वसे (इन्द्रियादि), यज्ञसे (ब्राह्मणादि), दानसे (धन-धान्यादि) और सुतोपसे (मन आदि) द्रव्य शुद्ध होते हैं । परन्तु कार्त्तमाकी शुद्धि तो आत्मज्ञानसे ही होती है ॥ ४ ॥ उस समय ब्राह्मण, सूत, गायक और बंदिजन मङ्गलमय आशीर्वाद देने तथा स्तुति करने लगे । गायक गाने लगे । मेरी और दुन्दुभिपों वार वार बजने लगी ॥ ५ ॥ ब्रजमण्डलके सभी घरोंके द्वार, आँगन और भीतरी भग्न शाव-मुहार दिये गये, उनमें सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया, उन्हें चित्र-विचित्र ध्वजा-पताका, पुष्पोंकी मालाओं, रंग-किरोंसे बज और पन्थोंकी बन्दनवारोंसे सजाया गया ॥ ६ ॥ गाय, बैल और बछड़ोंके अङ्गुलि इन्दी-तेजस्व लेप कर दिया गया और उन्हें गेरू आदि रंगीन धातुरें, मोरपंख, झुल्लोंके हार, तरह-तरहक सुन्दर बज और सोनरी बंजीरोंसे सजा दिया गया ॥ ७ ॥ परीक्षित ! सभी स्त्रात बहुमूल्य बज, गहने, अलङ्कार और पण्डितोंसे सुसज्जित होकर और अपने हाथोंमें भेषजी बटन-सी सामग्रियों सस्त्रैव नन्दबालक घर आये ॥ ८ ॥

गणेशकी पुत्र हुआ है, यह सुनकर गारियोंका भी बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने सुन्दर-मुन्दर वस्त्र, आभूषण और अन्न आदिसे अपना शृङ्गार किया ॥ ९ ॥ गोनिषोंके मुखपश्च बड़ ही सुन्दर जान पड़त है । उनपर लगी हुई कुसुम पंखी लम्बी लम्बी पसपरी बदन है । उनका नितम्ब बड़-बड़ है । वे भेषजी समझी सस्त्रैव जल्दी-जल्दी यथागतीक गत करीं । उस समय

१ बिना विनु । २ या सत्काश हरि ।

१ पैगार । २ यशस्य बान करनेवाले । ३ मयमानुष उच्छिष्योय स्तुति करनेवाले भट । देवा इ वरा ६—

मृता पैगारिना मोना मागया बंशानमका । पैगारिनामयज्जना प्रभातमयमानय ॥

गोप्य सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य

विश्राम्बराः पथि शिखाच्युतभार्यवर्पाः ।

नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु

वर्पालालकुण्डलपयोधरद्वारशोभाः ॥११॥

ता आश्रितः प्रयुञ्जानाश्रितं पादोति बालके ।

हरिद्राचूर्णतैलाद्रि सिञ्चन्त्यो वनमुल्लगुः ॥१२॥

अवाचन्त विवित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।

कृष्णे विष्वक्धरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते ॥१३॥

गोपाः परस्परं दृष्ट्वा दधिडीरघृताम्बुभिः ।

आसिञ्चन्तो विलिम्पन्ता नवनीतैश्च धिधिषुः ॥१४॥

नन्दो महामनास्तेभ्यः वासाऽलङ्कारगोर्धनम् ।

सूतमागधत्रन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥१५॥

वर्तन्त कामरदीनारम्भा यथाशितमपूजयत् ।

दिप्पाराराधनापाथ्य मृगश्रुसोदयाय च ॥१६॥

रादिणा च महाभागा नन्दगापाभिनन्दिता ।

व्यपारद् दिम्पवाय मृगश्रुताभरणभूषिता ॥१७॥

ततः प्रारभ्य नन्दस्य यथा मयममृदिमान् ।

उनके पयोधर छिछ रहे थे ॥ १० ॥ गोपियोंक कमरमें चमकती हुई मणियोंके कुण्डल झिझमिझ रहे थे । गल्लमें सोनेके हार (हैफल या हुमेज) जगमग रहे थे । वे बड़े सुन्दर-सुन्दर रंग-भिरंगे वस्त्र पहने हुए थीं । कमरमें उनकी चोमियोंमें गुँथे हुए फूल बरसते जा रहे थे । हाथोंमें जबाऊ कंगन झल्ला ही चमक रहे थे । उनके कमरोंके कुण्डल, पयोधर और हार झिझते जाते थे । इस प्रकार नन्दबाबाके घर आते समय उनकी शोभा बड़ी अगुड़ी जान पड़ती थी ॥ ११ ॥ नन्दबाबाके घर आकर वे नवजात शिशुको आशीर्वाद देती 'पूछ विरजीवी हो, म्माबन् । इसकी रक्षा करो ।' और छेगोंपर हन्दी-तेलसे मिश्र हुआ पानी छिड़क देती तथा ऊँचे स्वरसे मङ्गल-गान करती थी ॥ १२ ॥

म्माबान् श्रीकृष्ण सम्पन्न जगद्के एकमात्र खामी हैं । उनके ऐश्वर्य, माधुर्य, बलसत्य—समी अनन्त हैं । वे जब नन्दबाबाके घरमें प्रकट हुए, उस समय उनके बलवत् म्मान् उल्लस मनपा गया । उसमें बड़े-बड़े विचित्र और मङ्गलमय बाजे बजाये जाने लगे ॥ १३ ॥ आनन्दसे मतवाले होकर गोपगण एक दूसरेपर दही, दूध, घी और पानी उड़छने लगे । एक-दूसरेके मुँहसे मक्खन मछने लगे और मक्खन फेंक-फेंककर आनन्दावस्य मनाने लगे ॥ १४ ॥ नन्दबाबा स्वभावसे ही परम उदार और मनखी थे । उन्होंने गोपोंको बहुत-से वस्त्र, आभूषण और गोरे दी । सूत-मागध-बन्दीबनों, दूध, बाघ आदि विद्याओंसे अपना जीवन-निर्वाह करनेवाले तथा दूसरे गुणीबनोंको भी नन्दबाबाने प्रसन्नपार्श्वक उनको मुँहमौली बस्तुएँ देकर उनका यथोक्ति सस्कार किया । यह सब करनेमें उनका उद्देश्य यही था कि इन कमरोंसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हों और मेरे इस मङ्गलान् शिशुका मङ्गल हो ॥ १५ ॥ १६ ॥ मन्त्रबाबाके अभिनन्दन करनेपर परम साधारणपटी राक्षिणीजी मिय बर भाग आर फरक भौनि-भौनिके रहनेसे सुसज्जित होकर गुप्त्यामिनीजी भौनि जाने-जानेवाली शिषोंका मङ्गल करती हुई निकर गयी थी ॥ १७ ॥ परिशिष्ट । उगी निम्ने नन्दबाबाक व्रतमें सप्त प्रसङ्गोंकी श्रद्धा मिदियों अङ्गगियों करने लगी और भगवान् श्रीकृष्णके

दरेनिवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्मृप ॥१८॥

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः ।

नन्दः कसस्य धार्पिक्यं करं दातुं शुरुग्रह ॥१९॥

वसुदेव उपभृत्य आतरं नन्दमागतम् ।

प्राप्त्वा दक्षकुरां रामे यथा तदधमोचनम् ॥२०॥

तं दृष्ट्वा सहस्रोत्थाय देहः प्राणनिवागतम् ।

प्रीतः प्रियतम दोम्पां सख्येन प्रमविह्वल ॥२१॥

पूजितः सुखमासीनः पृथ्वानामयमोदत ।

प्रसक्तधीः स्वारमत्रयारिदमाह विद्याम्पते ॥२२॥

दिष्ट्या आतः प्रवयम इदानीमप्रजस्य ते ।

प्रज्ञाशया निवृत्तस्य प्रज्ञा यत् समपद्यत ॥२३॥

दिष्ट्या ससारषयऽस्मिन् वर्तमान पुनमप ।

वपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥२४॥

नैऋत्य प्रियमंशाम सुरदां विप्रकर्मणाम् ।

आपन प्युषमानानां प्रवर्तनां स्यात्तथा यथा ॥ ५॥

कश्चित् पश्यति निरुत भूयन्मुनिगणोऽप्यम् ।

परद्वनं तदधुना यत्राम्भु म्यं गुरुद्वन ॥२६॥

निवास तथा अपने स्वाभाविक गुणोंके कारण वह छद्म-
जीव प्रीतिमय धन गया ॥ १८ ॥

परिशिष्ट । कुछ दिनोंके बाद नन्दबाबाने गांधुआली
रक्षापत्र भार तो दूसरे गांधोंको सीप लिया और व समय
कंसका शक्ति पर बुझानेके लिये मथुरा चले
गये ॥ १९ ॥ जय बसुदेवजीको यह मन्त्र हुआ कि
हमारे माता नन्दजी मथुरामें जाये हैं और राजा कंसको
उसका पत्र भी द चुके हैं, तब वे जहाँ नन्दबाबा टहरे
हुए थे, वहाँ गये ॥ २० ॥ बसुदेवजीका दम्पते ही
नन्दजी सहसा उठकर खड़े हो गये मानो मृतक शरीरमें
प्राण आ गया हो । उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने प्रियतम
बसुदेवजीका दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लिया ।
नन्दबाबा उस समय प्रेमसे बिह्वल हो रहे थे ॥ २१ ॥
परिशिष्ट । नन्दबाबाने बसुदेवजीका बड़ा स्वागत-सत्कार
लिया । वे आरक्षक आरामसे बैठ गये । उस समय
उनका चित्त अन्न पुत्रोंमें लगा रहा था । वे नन्दबाबासे
पुत्रार्थका प्रश्न करने लगे ॥ २२ ॥

[पसुत्रपञ्चने कथा—] 'भार । तुम्हारी अराम्य मंड
 घड़ी की और अवनत तुम्हें कोई मन्तन नहीं हुई थी ।
 यद्यपि कि अब तुम्हें सन्तनकी पाइ आया भी न
 थी । एव यह सीधम्पकी बात है कि अब तुम्हें सन्तन
 प्राप्त हो गयी ॥ २३ ॥ वा भी वह अनन्तका निरप
 है कि आज हमयोंश मित्रता हो गया । जाने
 प्रमिषोंका मित्रता भी क्या हुआ है । इस संगठका
 बन ही ऐसा है । इसे तो एक प्रकरण पुनर्वन्म ही
 समझना चाहिये ॥ २४ ॥ शिमे नगीरे प्रवत् प्रचन्दे
 सन्त हुए बेड़ और निरत मया एक साथ नगी रह
 मरत दोमे ही मयोमम्पकी अ प्रमिषोंश के एक
 सन्तन मना मन्म मनी है—यदि वा सुकर
 मित्र मन्म है । सन्ति सुकर प्रमिषोंश अन्त प्रमि
 हो है ॥ २५ ॥ अन्तरा तुम शिम मन्तनमे अन्त
 मन्म और मन्तनमे मन्तन हो, उममे २५ वम
 और मन्तनमे मन्तन हो है न ! वा वम मन्तनमे
 मि अन्त और मन्तन मन्तन मन्तन मन्तन

आतर्पम सुतः कश्चिन्मात्रा सह भवद्भजे ।

सात भवन्तं मन्वाना भवद्भूम्यामुपलालितः ॥२७॥

पुसस्त्रिगो विदितः सुहो धनुभाषितः ।

न तेषु क्षिप्यमानेषु त्रिगोर्धर्षा कल्पते ॥२८॥

नन्द उवाच

महो ते देवकीपुत्राः कसेन बहवो हताः ।

एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता ॥२९॥

नूनं सद्यनिष्ठोऽयमद्यपरमो जनः ।

अद्यमात्मनस्तरवं यो वेद न स ह्यपि ॥३०॥

बसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दसो रोज्ञे दद्यात्तु नृपः ।

नेह त्वेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताम् गोकुले ॥३१॥

श्रीभुक उवाच

इति नन्दद्वयो गोपाः प्रोक्तास्ते क्षीरिणा बभूवुः ।

अनोभिरनङ्गुर्कस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥३२॥

है ॥२६॥ माई ! मेरा छद्मवत् अपनी मा (रोहिणी) को साथ तुम्हारे ब्रजमें रहता है । उसका छद्म-पावन तुम और यशोदा करते हो, इसलिये वह तो तुम्हारे अपने पिता-माता मानता होगा । वह अन्धरी तरह है न ? ॥ २७ ॥ मनुष्यके स्थिये वे ही धर्म, धर्म और कर्म शास्त्रविहित हैं, जिनसे उसके स्वप्नोंको सुख मिले । जिनसे केवल अपनेको ही सुख मिष्टता है, निन्दु अपने स्वप्नोंको दुःख मिष्टता है, वे धर्म, धर्म और कर्म हितकारी नहीं हैं ॥ २८ ॥

नन्दबाबाने कहा—माई बसुदेव ! कंसने देवकीके गर्भसे उत्पन्न तुम्हारे कई पुत्र मार डाले । अन्तमें एक सबसे छोटी कन्या बच रही थी, वह भी सर्वा सिद्ध कर गयी ॥ २९ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि प्राणियोंका सुख-दुःख भाग्यपर ही अवलम्बित है । भाग्य ही प्राणीका एकमात्र आश्रय है । जो जन लेता है कि जीवनके सुख-दुःख का कारण भाग्य ही है, वह उनके प्राप्त होनेपर सेहत नहीं होता ॥ ३० ॥

बसुदेवकीसे कहा—माई ! तुमने राजा कंसको उसका साक्षात् कर चुका दिया । दान दोनों मिल भी चुके । अब तुम्हें यहाँ अविक दिन नहीं ठहरना चाहिये, क्योंकि आनन्दक गोकुलमें बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं ॥ ३१ ॥

श्रीभुकदेवकी कहते हैं—परिशिष्ट । जब बसुदेवजीने इस प्रकार कहा, तब नन्द आदि गोपोंने उनसे अनुमति ले, कैलसे चले हुए छपनोंपर सवार होकर गोकुलकी यात्रा की ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्या संहितायां दशमस्कन्धे धृतरि

नन्दबसुदेवसङ्गमे नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

पूतना-उच्चार

श्रीभुक उवाच

नन्दः पथि पथः क्षीरेन मूयेति विचिन्तयन् ।

१ राको । २ मन्दबसुदेवसङ्गमात्रा पञ्च ।

श्रीभुकदेवकी कहते हैं—परिशिष्ट । नन्दबाबू जब मथुरासे चले, तब रास्तेमें विचार करने लगे कि

हरिं जगाम शृङ्गमुत्पातागमशङ्कितः ॥ १ ॥

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालधातिनी ।

विशृङ्खलार निघ्नन्ती पुरग्रामेवमादिपु ॥ २ ॥

न यत्र भवणादीनि रक्षोमानि स्वकर्मसु ।

कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यथ सत्र हि ॥ ३ ॥

सा खेचर्यैकदोषैस्य पूतना नन्दगोकुलम् ।

यापित्वा मापयाऽऽरमानप्राविशत् कामधारिणी ॥ ४ ॥

तां केद्वबध्मविपक्तमल्लिकां

पृहमितम्बस्तनकुचप्रमथ्यमाम् ।

सुवाससं कम्पितकर्णमूषण

त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥ ५ ॥

वशगुक्षितापाङ्गविसर्गबोधितै

र्मनो हरन्ती वनिता प्रबोकासाम् ।

अमंसवाग्भाजकरेण रूपिणी

गोप्यः धियद्रुमुविवागतां पतिम् ॥ ६ ॥

बालप्रहस्तत्र विचिन्वती शिष्टान्

यदन्लपा नन्दगृहसदन्तकम् ।

बाल प्रतिष्ठमनिवारुतत्रमं

दर्शनं तन्पदनिमिषादित भसि ॥ ७ ॥

विपुस्य तां बालकमारिकाप्रद

चराचरामाऽऽम निमाहितेषुण ।

कमुदेवजीवा कसन मृत्य नहीं हो सकता । इसने उनके मनमें उत्पन्न होनकी आशा ही हो गयी । तब उन्होंने मन-ही-मन भगवान् ही धरण हैं, वे ही रक्षा करेंगे ऐसा निश्चय किया ॥ १ ॥ पूतना नामकी एक बड़ी मूर् राक्षसी थी । उसका एक ही काम था—बच्चोंको मारना । कंसकी आज्ञासे यह नगर, ग्राम और छडीरोंकी वस्तिपोंमें बच्चोंको मारनेक छिये गुमा करती थी ॥ २ ॥ जहाँके छेग अपने प्रतिदिनके यामोंमें राक्षसोंके मयको दूर भगालेवाले भक्तवत्सल भगवान्क नाम, गुण और शीलजोका धरण, धर्मन और स्मरण नहीं करते— वही एसी राक्षसियोंका यन्त्र चरता है ॥ ३ ॥ वह पूतना जाग्रदामासे चढ़ सकती थी और अपनी इष्टवक अनुसार रूप भी बना लेती थी । एक दिन नन्दबामाके गोकुलके पास जाकर उसने मयासे अपनेका एक सुन्दरी पुत्री बना दिया और गोकुलके भीतर घुस गयी ॥ ४ ॥ उसने बड़ा सुन्दर रूप बनाया था । उसकी चोपियोंमें केलेके फूल गुंथे हुए थे । सुन्दर वस्त्र पहने हुए थी । जब उसके कर्णकुण्डल झिल्लते थे, तब उनका कमरसे मुखकी ओर लम्बी हुई आँखों और भी शोभायमान हो जाती थी । उसके निनम्य और चुचकाया ऊँचे-ऊँचे थे और कमर पतली थी ॥ ५ ॥ वह अपनी मधुर मुसकान और कटाक्षद्वारा चित्तमनसे जननासियोंका चित्त चुग रही थी । उस रूपकी मयीका हावमें कमर लेका जाने कम गोपियों एसी उत्पन्ना करने लग्ने, मानो स्वयं लक्ष्मीजी आन पतिवत् स्थान करनेर गिये आ रही हैं ॥ ६ ॥

पूतना वाच्योप विराग्य समान थी । वह इधर उधर वाच्योप होनी का अनायाम ही नन्दबाबू का घुस गयी । बने मन रूप दि वाच्य धीरुप शायद माय हुए हैं । परिचित 'मगलान् धीरुप दुष्टोप पात्र हैं । वाच्य तब 'वग मगरी' शीर्ष आन का विचार हुए हैं कम ही रूप समान उन्होंने अपने प्रकाश तबका विराग्य का ॥ ७ ॥ भगवान् धीरुप का अथ मयी प्राप्तिमें लगे हैं । नमिप उन्होंने यही धृग पान किया कि रूप प्रकाश मग मगलान्

अनन्तमारोपयद्भूमन्तर्कं

पूतना-ग्रह है और अपने नेत्र बंद कर लिये । * जैसे कोई पुरुष भगवत् सोये हुए सोपकने रस्सी समझ कर उठा ले, वैसे ही अपने कलरूप भगवान् श्रीकृष्णको पूतनाने अपनी गेदमें उठा लिया ॥ ८ ॥

यद्योरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुभीः ॥ ८ ॥

* पूतनाको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने नेत्र बंद कर लिये, इसपर मरु कवियों और टीकाकारोंने अनेकों प्रकारकी उल्लेखाएँ की हैं, जिनमें कुछ ये हैं—

१ भीमदूषणमाचमने सुषोभिनीमें क्या है—अविद्या ही पूतना है । भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि मेरी दृष्टिके सामने अविद्या टिक नहीं सकती फिर बीछा कैसे होगी, इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

२ यह पूतना बाह्य-पाश्विनी है 'पूतनासि यमसि' । यह पवित्र बाह्यको भी छे बाती है । ऐसा अप्रमत्त इनकारनेवाला कौन नहीं देखना चाहिये, इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

३ इस जन्ममें तो इसने कुछ खाया नहीं है । संभव है इससे भिन्नके लिये पूर्वजन्ममें कुछ किया हो । याने पूतनाके पूर्व-पूर्व जन्मोंके लक्षण देखनेके लिये ही श्रीकृष्णने नेत्र बंद कर लिये ।

४ भगवान्ने अपने मनमें विचार किया कि मैंने पापिन्धिका दूध कभी नहीं पिया है । अब जैसे जेब में ऑल बंद करके चिपपठेका कढ़ा पी जाते हैं, वैसे ही इसका दूध पी पी जाऊँ । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

५ भगवान्ने उदरमें निराश करनेवाले अत्यन्त कोटि ब्रह्मचर्योंके बीच यह जानकर फरा गये कि स्वामनुष्यर पूतनाके धनमें क्या हक हक विष पीने का रहे है । अतः उन्हें समझानेके लिये ही श्रीकृष्णने नेत्र बंद किये ।

६ श्रीकृष्णशिष्टने विचार किया कि मैं गोकुलमें यह सोचकर आया था कि मालिन मिमी कार्जुन्य । जो छोटीके दिन ही विन पीनेका अवसर आ गया । इसलिये ऑल बंद करके मानो शहरबीका व्यसन किया कि आज आज अपना अमृत विष पान करलिये, मैं दूध पीऊँगा ।

७ श्रीकृष्णके नेत्रोंने विचार किया कि परम स्वतन्त्र ईश्वर इस दुहाको अपनी-बुरी चाहे जो गति दे दें, परन्तु हम दोनों इसे चन्द्रमार्ग अथवा सूर्यमार्ग दोनोंमेंसे एक भी नहीं होंगे । इसलिये उन्होंने अपने द्वार बंद कर लिये ।

८ नेत्रोंने सोचा पूतनाके नेत्र हैं तो हमारी जातिके परन्तु ये इस मूर राक्षसीकी शोभा बढ़ा रहे हैं । इसलिये अपने होनेपर भी ये दृष्टानके शोभ्य नहीं हैं । इसलिये उन्होंने अपनेको पल्लवसे ढक किया ।

९ श्रीकृष्णके नेत्रोंने क्षिप्त चर्मात्मा निमिने उस दुहाको देखना उचित न समझकर नेत्र बंद कर लिये ।

१ श्रीकृष्णके नेत्र राज-बंद हैं । उन्हें कभी पूतनाके धारण करनेकी कोई उत्कण्ठा नहीं थी । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

११ श्रीकृष्णने विचार किया कि बाहरसे तो इसने मातात्म-वा रूप धारण कर रक्ता है परन्तु हृदयमें असत्य मृत्यु भर हुआ है । ऐसी बीछा मुँह न देखना ही उचित है । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१२ उन्होंने सोचा कि मुझे निहार देकर कहीं यह ऐसा भयमना शब्द कि इसका ऊपर मेरा प्रभाव नहीं लडा और फिर कहीं छोट न जाय । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१३ बास-सीस के प्रारम्भमें पहले-पहल लीते ही मुठभेड़ हो गयी, इस विचारसे विरक्तिपूर्वक नेत्र बंद कर लिये ।

१४ श्रीकृष्णके मनमें यह बात आयी कि कदावा दृष्टिसे देखूँगा तो इसे मारूँगा जैसे, और उग्र दृष्टिसे देखूँगा तो यह भागी मरना ही चाहेगी । बीमापी दृष्टिके लिये नेत्र बंद कर सना ही उत्तम है । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१५ यह पापीका नेत्र धारण करके आयी है मारना उचित नहीं है । परन्तु यह और ग्राह्यपाश्विनी मरिगी । इसलिये इसपर यह नेत्र देने किना ही मार काटना चाहिये । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१६ वह से-बड़ा अन्ध्र योगसे निरुद्ध हो जाता है । उन्होंने नेत्र बंद करके मानो योगद्वि सम्पादित की ।

१७ पूतना यह निश्चय करके आयी थी कि मैं कबके करे शिष्टमार्गसे मार काँटूँगी परन्तु मकरध्वजपत्र मयमूर्त्यु इसमें बरबाद एक भी शिष्ट उसे दिखायी नहीं दिया और बाह्यको लोकनी दुर्ग बर सीमापक्षिकी

तां तीक्ष्णपिचामतिवामचेष्टिता

वीक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत् ।

वरक्षिय तत्प्रमया च धर्षिते

निरीक्षमाणे जननी दृढिष्ठताम् ॥ १० ॥

तस्मिन् तान दुर्जरवीर्यमुत्पन्नं

घोराङ्गमादाम शिखोर्ददावच ।

गाढ कराम्यां भगवान् प्रपीब्य तत्

प्रायैः सम रोपसमन्विषोऽपिबत् ॥ १० ॥

सा मुञ्च मुञ्चाठमिति प्रभापिणी

निष्पीब्य गानां त्विलज्जीवमर्मणि ।

मस्तकी म्यानके भीतर छिपी हुई तीखी भारवादी तट्कारके सम्मान पूतनाका हृदय तो बड़ा कुट्टिष्ठ था, किन्तु ऊपरसे वह बहुत मधुर और सुन्दर न्यक्शर कर रही थी । देखनेमें वह एक भद्र महिलाके समान जान पड़ती थी । इसीसे रोहिणी और यशोदाजीने उसे घरक भीतर बायी देखकर भी उसकी सौन्दर्यप्रभासे हतप्रतिम-सी होकर कोई रोक-टोक नहीं की, चुपचाप छड़ी-छड़ी देखती रही ॥ ९ ॥ इधर म्यानक रक्षसी पूतनाके बाळक श्रीकृष्णको अपनी गोदमें लेकर उनके मुँहमें अपना स्तन दे दिया, जिसमें बड़ा मयङ्गूर और किसी प्रकार भी पच न सकनेवाला विष लगा हुआ था । भगवान्ने क्रोध-को अपना सापी बनाया और दोनों हाथोंसे उसके स्तनोंको जोरसे दबाकर उसके प्राणोंके साथ उसका दूध पीने लगे (वे उसका दूध पीने लगे और उनका सापी क्रोध प्राण पीने लगा ।) * ॥ १० ॥ अब तो पूतनाके प्राणोंके आश्रयभूत सभी मर्मस्थान फटने लगे । वह पुकारने लगी—धरे छोड़ दे, छोड़ दे, अब बस कर !

प्रेरणासे वीची नृत्यक्रममें आ पहुँची, तब भगवान्ने लेखा कि मेरे मऊका हुरा करनेकी बात तो दूर रही, जो मेरे मऊका हुरा लेना है उस दुष्टका मैं मुँह नहीं देखता' तब-बाळक सभी श्रीकृष्णके ललाटे, परम मऊ है; पूतना उनके मारनेका चङ्कल करने लगी है, इसलिये उन्होंने नेत्र बंद कर लिये ।

१८ पूतना अपनी भीषण आकृतिको छिपाकर राक्षसी भावासे दिग्ग रमणी रूप बनाकर आयी है । भगवान्की दृष्टि पड़नेपर मया रहेगी नहीं और इसका अस्वी म्यानक रूप प्रकट हो जायगा । उसे सामने देखकर यशोदा मैया डर आयी और पुत्रकी अनिश्चयतासे बड़ी डमके हटाए गए निकल आये इस आशङ्कसे उन्होंने नेत्र बंद कर लिये ।

१९ पूतना प्रियदर्शन हृदयसे आयी है, परन्तु भगवान् उसकी दृष्टिको लिये उपयुक्त दण्ड न देकर उसका प्राण-वधमात्र करके परम कल्याण करना चाहते हैं । भगवान् समस्त लक्षणोंके प्रणहार हैं । ज्यने घृष्टा आदि देवैर्यंज केय भी नहीं है; इसीलिये पूतनाक कल्याणार्थ भी उसका प्राण-वध करनेमें उन्हें रुका नहीं है । इस लज्जसे ही उन्होंने नेत्र बंद कर लिये हैं ।

२ भगवान् अग्रिस्ता हैं—अमुर-राक्षसादि भी उनकी सन्तान ही हैं । पर वे लक्ष्मी लक्ष्मण और उदण्ड हो गये हैं इसलिये उन्हें दण्ड देना आवश्यक है । स्नेहमय माया-पिता वह अपने लक्ष्मण पुत्रको दण्ड देते हैं तब उनके मनमें दुःख होता है । परन्तु वे उसे मय दिलभनेके लिये उसे बाहर प्रकट नहीं करते । इसी प्रकार भगवान् भी जब अनुपेक्षे मारते हैं तब पिताके नाते उनका भी दुःख होता है पर वृद्ध अनुपेक्षे मय दिलभनेके लिय वे उसे प्रकट नहीं करते । भगवान् बाप पूतनाका मारनेवाले हैं परन्तु उनकी मृत्युकाशीन पीडाका अपनी औला देखना नहीं चाहते इसीसे उन्होंने नेत्र बंद कर लिये ।

२१ हाट बाळकोछ मयमाव है कि वे अपनी माक लामने लूच लेखते हैं पर किसी अरविचिदम देवकर डर जाते हैं और नेत्र मूँच लते हैं । अरविचिद पूतनाका देवकर इसीलिये बाळकीछ-पिण्डी भगवान्ने नेत्र बंद कर लिये । यह उनकी बाळकीछका माधुर्य है ।

● भगवान् उनके साथ पूतनाके प्राणोंके लक्षित स्तन-पटन करने लगे, इसका वह अर्थ प्रतीत होता है कि रोप (रोपविनाश देवता कत्र) ने प्राणोंका पान किया और श्रीकृष्णने जनक ।

विहृत्य नेत्रे धरणां सुखौ मुहुः

प्रसिन्नगात्रा धिपती क्रोद ह ॥११॥

तस्याः स्तनेनाविगभीररहसा

साद्रिर्मही यौध चचाल सग्रहा ।

रसा दिक्षुश्च प्रतिनेदिरे अना

पेतुः धितौ वधनिपातछङ्कया ॥१२॥

निशाचरीत्यं व्यथितस्तना व्यसु

व्यादाय कञ्चांशरणी सुखावपि ।

प्रसार्ध गोष्ठे निजरूपभाषिष्ठा

वज्राहता वृत्र इवापवन्नृप ॥१३॥

पतमानाऽपि तद्वह्निगध्यूत्यन्तरङ्गमान् ।

चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत् तद्वह्नुतम् ॥१४॥

ईषामात्रोग्रदष्टास्यं गिरिकन्दरनासिकम् ।

गण्डशैलस्तन रौद्र प्रकीर्णारुणमूर्ध्वजम् ॥१५॥

अभकूपगभीराशं पुलिनाराहभीषणम् ।

वदसेतुमुधोर्वह्नि शूयतायद्वदम्बरम् ॥१६॥

मत्तप्रसु स तद्वीक्ष्य गापा गाप्यः कलवरम् ।

पूष तु नमि स्वनितभिन्नदृक्कर्णमस्तकाः ॥१७॥

बाल च तस्या उगमि क्रीडन्तमकुताभयम् ।

१ तुर्मिःशिवम् ।

● पुनरात्र पतागालर भीहा बरत हुए माना मन-ही-मन कर रहे थे—

मन्त्रधयम् मृत एव जीविता दत्तलक्ष्या ग स्वयमानने भय ।

मता च पीठ स्थिते यदि राया किं वा ममागं स्वयमत्र कथ्यताम् ॥

ने कुचपरा । पृष्ठ हूँ स्तनगत ही मेरी जीविता ह । तुमने स्वयं अपना मन मर मुँहमें ह दिया आर मैन रिता ।

इत्यम यदि तुम मर जाती हो तो मरने मुझसे क्या भय भयावह ह ।

गता बर्तनी कथं धी स्वयमानम् । यज्ञायायामे क्षाम्य भगवन्तु देवत उरुत हृदयम् पुष्यनरुता भाव उदय हा

भय । पर मन ही मन अभिमान च मे लगी कि यदि मुझ पर क्या कथ्य हूँ और मैं उन जन्म निपातें तो मुझ बड़ी प्रसन्नता

वह बार-बार अपने हाथ और पैर फट-फटकर रोने लगी । उसके नेत्र उल्ट गये । उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया ॥ ११ ॥ उसकी चिह्नाहटका वेग बड़ा मय्यकर था । उसके प्रभावसे पहाड़ोंके साथ पृथ्वी और अग्नि के साथ अन्तरिक्ष डगमग उठ । सारों पाताल और दिशाएँ गूँज उठी । बहुत-से लोग वज्रातकी लज्जाह्वासे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥ परीक्षित । इस प्रकार निशाचरी पूतनाके स्तनोंमें इतनी पीका हुई कि वह अपनेको छिपा न सकी, राक्षसीरूपमें प्रकट हो गयी । उसके शरीरसे प्राण निकल गये, मुँह फट गया, नाउ बिखर गये और हाथ-पैर फैल गये । जैसे हनुके वस्त्रसे बाध्य होकर वृत्रासुर गिर पड़ा था, वैसे ही वह ब्रह्मर गोष्ठमें आवन्न गिर पड़ी ॥ १३ ॥

उज्ज्वल । पूतनाके शरीरने गिरते-गिरते भी छ कोसके भीतरके वृक्षोंको कुचकुच किया । यह बड़ी ही अद्भुत घटना ॥ १४ ॥ पूतनाका शरीर बड़ा म्यानक था, उसका मुँह हलके समान तीक्ष्ण और मय्यकर दावोंसे युक्त था । उसके नयुने पहाड़की गुफाके समान गहरे थे और स्तन पहाड़से गिरी हुई चट्टानोंकी तरह बड़े-बड़े थे । छत्र-छात्र बाळ चारों ओर बिखरे हुए थे ॥ १५ ॥ ओंठें अंधे कुर्रके समान गहरी, नितम्ब नदीके कतराकी तरह मय्यकर, मुनारों, ओंठों और पैर नदीके पुलके समान तण फेर सुले हुए सरोवरकी भोति जान पड़ता था ॥ १६ ॥ पूतनाके उस शरीरको देखकर सब के-सब आत्मा और गोपी डर गये । उसकी मय्यकर चिन्महट सुनकर उनके हृदय, काम आर सिर तो पहल ही फट-से रहे थे ॥ १७ ॥ जब गिरियोंने देखा कि बाण्य श्रीकृष्ण उसकी छातीत निर्भय हाथों स्पर्श रहे, हँ च तब वे बड़ी घबराहट और

गोप्यस्त्वण ममस्येस्य जगृह्वीतिसम्भ्रमा ॥१८॥

यशोदारोहिणीभ्यां ताः मम बालस्य सर्वतः ।

रक्षां निदधिर सम्मग्नोपुच्छभ्रमणादिभिः ॥१९॥

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गारुडसार्मकम् ।

रक्षां चक्षुष्य शकृता दादम्राक्षसु नामभिः ॥२०॥

गोप्यः ससृष्टसलिला अक्षपु करयोः पृथक् ।

न्यस्यात्मन्यथ बालस्य धीजन्पासमकुर्वत् ॥२१॥

अभ्यादक्षाऽङ्गुलि मणिमालां ज्ञान्वधोरु

यक्षोऽप्युतः कनितं जटं हवासाः ।

इत् कैशवस्त्वहुर इष्ट इतस्तु कण्ठं

विष्णुर्ध्वजं सुन्मस्रुकम इभरः कम् ॥२२॥

चक्रप्रभतः सहगदो हरिस्तु पञ्चात

त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मयुहाजनश्च ।

कोणेऽप्युत उरुगाय उपर्युपन्त

स्वाह्यः शिर्ताहलभर पुरुषः समन्तात् ॥२३॥

इन्द्रियाणि हृषीकक्षः प्राञ्जान नारायणाऽवतु ।

श्वेतद्वीपपतिभिर्न मना यागधराऽवतु ॥२४॥

बृहन्निर्यस्तु ते पुदिमात्मानं भगवान् परः ।

श्रीहन्तं पातु गाविन्दः क्षयान् पातु माधवः ॥२५॥

ब्रह्मन्तमव्याद्वैद्विष्य भाषीर्न त्वां धियः पतिः ।

सुञ्जान यक्षसूक् पातु सयग्रहभयकरः ॥२६॥

हासिन्या यातुधा यक्ष इमाण्डा ययंकप्रहा ।

मृतप्रतपिगात्राध यक्षगर्वादिनायका ॥२७॥

कातरा रवती ज्येष्ठा पूनना मातृफादयः ।

उमादा य वपम्पारा उहप्राणान्द्रियकुहा ॥२८॥

उतायथीक साय स्रष्टु वक्षोः पट्टेय गयी तथा धीकृष्णक

उय त्रिया ॥ १८ ॥ इसक यत् यशोदा और राजिणी-

क साय गोविर्गोने गापयि रूछ बुधने आदि उपायोंसे

मात्रक धीकृष्णक अक्षोर्गो सम प्रपन्नसे रक्षा की ॥ १९ ॥

उन्होंने पहले बाष्क धीकृष्णको ग्रामसे रानन पराया,

निर सम अक्षोर्गो गो-रत्न छत्रकी और निर बाक्षों अक्षोर्गो

गोस्र छत्राकर भगवान् यदक्ष आदि नामोंसे रक्षा

की ॥ २० ॥ इसय बाष्क गाविर्गोने आचमन करके 'अज'

आदि म्पारु धीज-मन्त्रोंसे अपन धरीरोंमें अज्या-अज्या

अक्षन्त्रस एव वरन्पास निर और निर बाक्ष्यकर अक्षो-

र्गो धीजन्पास किया ॥ २१ ॥

वे पहले रक्षा—'अज्या भगवान् हर पैरोंकी रक्षा

करें, मणिमान् धुमोर्गो, यक्षपुरुष जौँयोंकी, अच्युत

कर्मकी, हयभीष पेयकी, पञ्चय इदयकी, ईश कृष्ण-स्र-

ष्टकी, गृह्य कर्मकी, विष्णु वीर्यकी, उष्मन् सुप्तकी और

ईशर सिङ्गी रक्षा करें ॥ २२ ॥ चक्रपर भगवान् रक्षाक त्रि

शरे आगे रें, गात्राधी धीरि पीछे, ममस्र धनुष और म्पार

धरण वरन्पास भगवान् मयुगुप्त और अजान दोनों

यग म्में बाक्ष्यारी उरुगाय बाधें वरन्गो, उष्मन् ऊपर, हय-

धर प्रथीपर और भगवान् कर्मपुरुष सेरे सुय आर रक्षाक

त्रिय रें ॥ २३ ॥ हरिकक्ष भगवान् इन्द्रियोंकी और

नारायण प्राणोंकी रक्षा करें ॥ २४ ॥ श्वेतद्वीपक अधिपति चित्त-

की और यागधर मनकी रक्षा करें ॥ २५ ॥ ब्रह्मर्गमें तेरी

सुदिनी और परमात्म भगवान् त्व अक्षोर्गो रक्षा करें ।

मन्त्र समय गाविन् रक्षा कर, ज्ञान समय माधव रक्षा

करें ॥ २६ ॥ चक्षु ममस्र भगवान् मयुगुप्त और धृष्ट

समय भगवान् धीरनि रक्षा रक्षा करें । भाजनय समय

ममस्र अक्षोर्गो मयभीष वरन्पास यदमाता भगवान् रक्षा

रक्षा करें ॥ २७ ॥ दाहिनी, बायीं और कृष्णरत्न

आदि बाष्क, मृत, प्रत, निजध, यक्ष, गद्यम और

निनायक, वरन्ग, रवनी, ज्येष्ठा, पूनना, चक्रपरा आदि,

हरीर, प्राण तथा इन्द्रियोंका नाम वरन्पास उरुगा-

(पागकन) एवं अगम्बर (मूर्ती) आदि राग,

१ शरा । २ गा म्रम । ३ वरु । ४ मन्त्र । ५ कण ।

हारी । बाष्क भगवान् अपन अक्ष कीरोंमें पुष्पीष्ट इन मन्त्रावली मन-की म्में अनुष्ठान किया । करी बाष्कमें पूनना

कुं और कृष्णक रत्नम उरुकी मयमस्र कुं कुं ।

स्वप्नदृष्टा महोत्पत्ता वृद्धबालग्रहाश्च ये ।

सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरेखणम् ।

पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेष्टयदात्मजम् ॥३०॥

तावन्नन्दादयो गोपा मधुरावा ब्रजं गताः ।

विलोक्य पृतनादेह बभूवुरसिनिश्चिताः ॥३१॥

नून वसविः संभ्रातो योगेशो वा समास सः ।

स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकङ्कुन्दुभि ॥३२॥

कलेवरं परद्वुभिश्चित्त्वा तचे बभौकसः ।

दूरे क्षिप्तवस्त्रयवश्चा न्यदहन् कामुधिक्षितम् ॥३३॥

दक्षमानस्य देहस्य भूमभागुरुत्तौरभः ।

उत्थित कुष्पनिर्मुक्तसपथाहतपाप्मनः ॥३४॥

पृतना लाकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना ।

त्रिपांसमापि हरय स्तनं दक्ष्णाऽऽप सद्गतिम् ॥३५॥

किं पुनः भद्रया मक्ष्म्या कुष्माय परमात्मने ।

यच्छन् प्रियतमं किं नु रक्तास्तनमावरा यथा ॥३६॥

पदुभ्यां भक्तद्विदस्याभ्यां वन्याभ्यां लाकबन्दिनैः ।

मद्ग यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ॥३७॥

१ निर्दुःख ।

● इत मधुरावा पदकर मातृक भक्त भगवान्ने कहता है—‘ममत्वम् ! धन पड़ता है आपकी मधुरा भी आपके नाम से यदि अधिक है क्योंकि आप क्षित्ति-प्रीति रक्षा करते हैं और नाम आपकी रक्षा कर रहा है ।

स्वप्नमें देखे हुए मयान् उत्पात वृद्धमह और बालग्रह आदि—ये सभी क्षिति-भगवान् विष्णुकर मामोधारण करनेसे मयगीत होकर मह हो जायेंगे ॥ २७-२९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! इस प्रकार गोपियोंने प्रेमाश्रमे बंधकर भगवान् श्रीकृष्णकी रक्षा की गता यमोदाने अपने पुत्रको स्तन निखर्य और सिर पाखनेपर सुल्य दिया ॥ ३० ॥ इसी समय मन्दबल और उनके साथी गोप मधुरावे गोकुलमें पहुँचे । ब्रज उन्होंने पूतनाकर भगद्वर शरीर देखा, तब वे आश्चर्यचकित हो गये ॥ ३१ ॥ वे कहने लगे—‘यह तो क्या आश्चर्य की बात है, कल्प ही बसुदेवके रूपमें किसी क्षत्रियने जन्म ग्रहण किया है । कल्पा सम्भव है बसुदेवकी पूर्व-जन्ममें कोई योगेश्वर रहे हों; क्योंकि उन्होंने वैसा कहा था, वैसा ही उत्पात यहाँ देखनेमें आ रहा है ॥ ३२ ॥ तबतक मय्याधियोंने पुनःहाथीसे पूतनाके शरीरको टुकड़े टुकड़े कर बाण और गोकुलसे दूर ले जाकर छत्रद्वियों-पर रखकर जल दिया ॥ ३३ ॥ जब उसका शरीर जलने लगा, तब उसमेंसे ऐसा धूलों निकला, जिसमेंसे खगरवी-सी सुगन्ध आ रही थी । क्यों न हो, भगवान्ने जो उसका दूध पी लिया था—जिससे उसके सारे प्राप लक्ष्य ही नष्ट हो गये थे ॥ ३४ ॥ पूतना एक राक्षसी थी । लोगोंके बच्चोंको मार डालना और उनका स्तन पी जाना—यही उसका काम था । भगवान्का भी उसने मार डालनेकी इच्छासे ही स्तन निखर्य था । सिर भी उसे बड़ परम गति मिली, जो मनुष्योंको मिलती है ॥ ३५ ॥ ऐसी स्थितिमें जो परब्रह्म परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको भद्रा और भक्तिसे माताक समान अनुत्तमपूजक अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और उनपर प्रिय लगनेवाली वस्तु समर्पित करते हैं, उनका सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥ ३६ ॥ भगवान्क चरणकमल सबक बन्दीय भद्रा, शङ्कर आदि देवताजिक द्वारा भी बन्दिता है । ये भक्तों-क हृदयपर पहुँची हैं । उन्हीं चरणोंसे भगवान्ने पूतनाकर शरीर दण्डकर उसका स्तन-पान किया था ॥ ३७ ॥

यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप ज्वनीगतिम् ।

कृष्णशुक्लतन्त्रीरा किमु गावो नु मातरः ॥३८॥

पयांसि मासामपिबत् पुत्रस्नेहश्रुता यलम् ।

भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्योद्यत्खिलप्रद ॥३९॥

सासामविरत कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ।

न पुनः कल्पते राक्षन् संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥४०॥

कटधूमस्य सौरभ्यमवधाय ब्रह्मौकसः ।

किमिदं कुत एवेति वदन्तो ब्रह्मसाधयुः ॥४१॥

ते तत्र वर्णित गोपैः पूतनागमनादिकम् ।

श्रुत्वा तमिधनस्वस्ति शिशोऽमासन् सुविभिताः ॥४२॥

नन्द स्वपुत्रमादाय श्रेष्ठागतमुदारधीः ।

मूर्धन्युपाधाय परमां मुदं लेभे कुरुदह ॥४३॥

य एतद् पूतनामोक्षं कृष्णसार्मकममुच्यम् ।

श्रुत्वापराष्ट्रया मत्स्यो गोविन्दे लभते रतिम् ॥४४॥

याना कि वह गधारी थी, परन्तु उसे उत्तम-उत्तम गति—जो मत्तको मित्रिणी चाहिये—प्राप्त हुई । फिर जिनके स्तनभङ्ग दूध मगवान्ने वह प्रेम्मे पिया, उन गौओं और माताओंकी तो बात ही क्या है ॥ ३८ ॥ परीक्षित ! देवकीनन्दन मगवान् कैवल्य आदि सब प्रकार की मुक्ति और सब कुछ देनेवाले हैं । उन्होंने ब्रह्मकी गोपियों और गौओंका वह दूध, जो मगवान्के प्रति पुत्र-भाव होनेसे वात्सल्य-स्नेहकी अविकल्पके कारण स्वयं ही करता रहता था, मरपेट पान किया ॥ ३९ ॥ राजन् ! वे गौएँ और गोपियों, जो निरन्तर-निरन्तर मगवान् श्रीकृष्ण-को अपने पुत्रके ही रूपमें देखती थी, फिर जन्म-मृत्यु-रूप संसारके चक्करमें कभी नहीं पक सकती, क्योंकि यह संसार तो कल्पनके कारण ही है ॥ ४० ॥

नन्दकाके साथ आनेवाले ब्रह्मपातियोंकी नाकमें क्या चित्ताके घूर्णकी सुगन्ध पहुँची, तब यह क्या है ? कहाँसे ऐसी सुगन्ध आ रही है ? इस प्रकार कहते हुए वे ब्रह्ममें पहुँचे ॥ ४१ ॥ वहाँ गोपोंने उन्हें पूतनाके आनेसे लेकर मरनेवाला सारा वृत्तान्त कह सुनाया वे जेग पूतनाकी मृत्यु और श्रीकृष्णके पुष्टार्थक वच आनेसे बत सुनकर बड़े ही आश्चर्यचकित हुए ॥ ४२ ॥ परीक्षित ! उदारसिरोमणि नन्दब्रह्मने मृत्युके मुखसे बचे हुए अपने काव्यको गोदमें उठा लिया और बार-बार उसका सिर सूँघकर मन-ही-मन बहुत आनन्दित हुए ॥ ४३ ॥ यह 'पूतना-मोक्ष' मगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत वात्सल्य है । जो मनुष्य अद्वैतार्थक इतना अभय करता है, उसे मगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम प्राप्त होना है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संहितायां दशमस्कन्ध

पूर्वर्षि पद्योऽप्यय ॥ ६ ॥

१ निशम्य अद्वैता । २ पूतनामोक्षः ।

• जब ब्रह्मजी स्वासवाह और बछड़ों के दूध के गये तब मगवान् स्नान ही बछड़ों और गायकाय का गद उस समय अपने विभिन्न रूपोंसे उन्होंने अपने नाथी अनेकों गाय और बछड़ोंकी माताभोजन स्तनदान किया । इन्द्रियों को बहुत-बहुत प्रथमा किया गया है ।

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! एक बार भगवान् श्रीकृष्णके वरपर बद्धवनेका अभिषेक-उत्सव मनाया जा रहा था । उसी दिन उनका जन्मसूत्र भी था । वरमे बहुत-सी त्रियोंकी भीड़ लगी हुई थी । गङ्गा-यन्त्राला हो रहा था । उन्हीं त्रियोंके बीचने खड़ी हुई सती साष्णी यशोदाजीने अपने पुत्रपर अभिषेक किया । उस समय ब्राह्मणलग्न मन्त्र पढ़कर आशीर्वात् दे रहे थे ॥ ४ ॥ मन्त्रगुनी यशोदाजीने ब्राह्मणोंका स्तूत्र पूजन-सम्पन्न किया । उन्हें अन्न, वस्त्र, मद्य, गाय आदि मुँहभोगी वस्तुएँ दी । जब पशोदाने उन ब्राह्मणों-द्वारा खस्तिवाचन कराकर स्वयं पाउरके नहलने

अन्नाद्यवास स्रगभीष्टचेनुभि

सबातनिद्रासमशीघ्रयच्छने ॥ ५ ॥

भौत्थानिकैस्तुक्कमना मनसिनी

समागतान् पृथयती ब्रजौकस ।

नैवामृणोद् वै रुदित सुतस्य सा

रुदन् स्तनार्थं चरणानुदक्षिपत् ॥ ६ ॥

अथः श्रवानस्य शिशोरनोऽप्यक

प्रबालमुद्बुद्धिहतं व्यवर्तत ।

विष्वस्तनानारसकुप्यभाबन

व्यत्यस्तचक्राक्षभिन्नदूबरम् ॥ ७ ॥

हृष्टा यशोदाप्रभृता ब्रजस्त्रिय

भौत्थानिके कर्मणि पाः समागताः ।

नन्दादयश्चानुतर्क्षनाकुलाः

कथं खय वै चकटं विपर्ययात् ॥ ८ ॥

रुधुरव्यवसितमतीन् गोपात् गोपीबालकाः ।

रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥

न ते अर्धिरे गोपा बाडभापितमित्युत ।

अप्रमेय बल तस्य बालकस्य न ते विदुः ॥ १० ॥

रुदन्तं सुतमादाय यशोदा प्रहृष्टहिता ।

आदिकर्यं सम्पन्नं यत् क्षिप्रं, तव वत् देखकर किं मेरे लक्ष्यके नष्टमें नींद आ रही है, अपने पुत्रको धीरेसे शय्यापर सुखा दिया ॥ ५ ॥ यार्ही देरमें दयामसुन्दरकी ओंसें खुशी, तो वे स्तन-पानके छिये रोने लगे । उस समय मनसिनी यशोदाजी उससकमें आये हुए ब्रजवासियोंके स्वागत-सत्कारमें बहुत ही तन्मय हो रही थीं । इसछिये उन्हें धीकृष्णका रोना सुनायी नहीं पड़ा । तब श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने पौत्र उछाड़ने लगे ॥ ६ ॥ शिशु धीकृष्ण एक छकहेके नीचे सोये हुए थे । उनके पौत्र जमी छाऊ-छाऊ कोंछोंके समान बड़े ही कोमल और नन्दे-नन्दे थे । परन्तु वह नन्हा-सा पौत्र क्याते ही विशाळ छकड़ा उछट गया* । उस छकड़ेपर दूध-दही आदि अनेक रसोंसे मरी हुई मृदकियों और दूसरे कर्नन रखे हुए थे । वे सबके-सब फट पड़े गये और छकहेके पड़िये तथा घुरे लट्ठ-म्यस्त हो गये, उसका जूझा फट गया ॥ ७ ॥ फटकर बदलनेके उससकमें जितनी भी स्त्रियाँ जाती हुई थी, वे सब, और यशोदा, रोहिणी, नन्दाबाबा और गेपगण इस विचित्र घटनाको देखकर व्याकुल हो गये । वे आपसमें कहने लगे—
‘अरे, यह क्या हो गया ? यह छकड़ा अन्ते-आप कैसे उछट गया ? ॥ ८ ॥ वे इसका कोई कारण निश्चित न कर सके । कहाँ खेतसे हुए बाजकोंने गोपों और गेपियोंसे कहा कि इस कृष्णने ही तो रोते-रोते अपने पौत्रकी ओकरसे इसे उछा दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ९ ॥ परन्तु गोपोंने उसे स्वाङ्क्योंकी वस्तु मानकर उसपर विश्वास नहीं किया । ठीक ही है, वे गाय उस बाजकोके अन्तर्गत बजको नहीं जानत थे ॥ १० ॥

यशोदाजीने समझा यह किसी मूढ़ आदिकार उन्हात है, उन्होंने अपने रोते हुए आँखोंसे आँखों गोदमें

* दिव्यासक्त पुत्र या उसकन । वह बहुत बलवान् एवं मोक्ष-सहाय था । एक बार माया करने समय उसने क्षेमरा श्रुतिके भाग्यमके हस्तोंको कुचक बाँध । क्षेमरा श्रुतिके श्लेष करके घाय दे दिया—अरे बुध । जा न देहर्षित हो न । उसी समय सौवके बँचुकके समान उलका धारीर भिन्ने लगा । वह बलामसे क्षेमरा श्रुतिके चरणोंपर गिर पड़ा और प्रार्थना की—कृपाक्षिण्ये ! मुझपर कृपा कीजिये । मुझे बापक प्रत्यवध जान नहीं था । मेरा शरीर सौदा कीजिये । क्षेमराजी प्रसन्न हो गये । महात्माओंका घाय भी कर हा जाता है । उन्होंने कहा—
‘शैवस्तव मन्त्रधरमें श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शसे तेरी मुक्ति हो जायगी । बारी अगुर उच्छेदमें आकर बैठ गया था और मगान् श्रीकृष्णके चरणस्पर्शसे मुक्त हो गया ।

कृतम्वन्त्ययनं विप्रैः सृत्तै स्तनमपाययत् ॥११॥

पूर्ववत् स्थापितं गार्पर्वलिभि सपरिच्छदम् ।

विप्रा हुत्वा र्चपां च कुर्वाण्यस्य तद्वशांश्चुभि ॥१२॥

येऽस्य पान्दवदम्मेर्ष्यादिसामानविभर्जिता ।

न तेषां सत्यशीलानामाश्रितो विफला कृता ॥१३॥

इति बालकमादाय सामर्ष्यशुरुपाकृतैः ।

जलैः पवित्रोपधिभिरभिषिष्य द्विजोत्तमैः ॥१४॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः ।

हुत्वा चामिद्विजातिभ्यः प्रादादन्नमहागुणम् ॥१५॥

गावः सर्वगुणोपेता वासः स्रग्भुक् कमालिनीः ।

आत्मजास्युदयार्याय प्रादाचे चान्वयुञ्जत ॥१६॥

विप्रामन्त्रविदो युक्तास्तैर्षा प्रोक्तामन्त्राऽऽश्रितः ।

ता निष्कला भविष्यन्ति न कदापिदपि स्फुटम् ॥१७॥

पृच्छाऽऽराहमारुढं लालयन्ती सुतं मती ।

गरिमार्णं शिशुर्वोढुं न सेह गिरिकूटवत् ॥१८॥

मृमा निधाय त गावा विमिता भारपीडिता ।

महापुष्पमाचर्या अगतामाम कर्मसु ॥१९॥

रम्यानाम्ना उगायतः र्धमभ्युद्यः प्रणान्ति ।

पञ्चगत्यरूपेण जहारागीनममकम् ॥२०॥

लेख्यं ब्राह्मणोंमे वेदमन्त्रोंके द्वारा शान्तिपाठ कराया और फिर ने न्ये स्तन लिखने आया ॥ ११ ॥ बलवान् गोपोंने छकड़को फिर सीधा कर लिया । उसपर पहले की तरह सारी सम्पत्ती रख दी गयी । ब्राह्मणोंने हवन किया और गृही, अक्षत, कुश तथा जलके द्वारा मगवान् और उस छकड़ेकी पूजा की ॥ १२ ॥ जो विद्वत्की गुणोंमें दोष नहीं निकलते, शूठ नहीं धोले, दम्भ, इर्ष्या और ईर्ष्या नहीं करते तथा अमिमनसे रहित हैं—उन सत्यशील ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता ॥ १३ ॥ यह सोचकर नन्दबाबाने बालकको गोदमें उठा लिया और ब्राह्मणोंसे साम, शक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा सत्कृत एवं पवित्र ओषधियोंसे युक्त जलसे अभिषेक कराया ॥ १४ ॥ उन्होंने बकी एकामनासे स्वस्त्ययनपाठ और हवन कराकर ब्राह्मणोंको अति उत्तम अन्नका मोहन कराया ॥ १५ ॥ इसके बाद नन्दबाबाने अपने पुत्रकी उन्नति और अमिद्विधी कामनासे ब्राह्मणोंको सर्वगुणसम्पन्न बहुतसी गौएँ दी । वे गौएँ बक, पुष्पश्रवण और सोनेके द्वारोंसे सजी हुई थी । ब्राह्मणोंने उन्हें अपनीर्वाद दिया ॥ १६ ॥ यह बात स्पष्ट है कि जो वेदवेत्ता और स्याचारी ब्राह्मण होते हैं, उनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता ॥ १७ ॥

एक दिनकी कल ई, सनी यशोदाजी अपने प्यारे ललाचके गद्दमें खरत दुखर रही थी । सहसा धीकृष्ण बालकके समान मारी बन गये । वे टनकर मार न सह सकी ॥ १८ ॥ उन्होंने मारसे पीड़ित होकर धीकृष्णका घृणीपर बैठा दिया । इस नयी कृपासे वे कल्पित चरित हो रही थी । इसके बाद उन्होंने भगवान् पुरुषोत्तमका स्मरण किया और गरक कर्ममें लगी गयी ॥ १९ ॥

गुणयन मामका एव हैव वा । पञ्चगत्यरूपेण निजि मेव वा । र्धमर्षा प्रणान्ते ही बरहण रूपेण कर्तुमे कया अर्धमर्षा इव बन्धु धीकृष्णका उदाहर

गोष्ठल सर्वमापृष्वन् मुष्णध्वृषि रेणुभि ।
 इरपन् मुमहापारमन्दन प्रदिश्या दिशं ॥२१॥
 सुहृत्तमभवद् गोष्ठं रजसा समसाऽऽवृतम् ।
 सुतं पशोदा नापश्यत्तस्मिन् न्यस्तवती यत् ॥२२॥
 नापश्यत् कथनात्मान पर चापि विमादित ।
 वृणावर्तनिसृष्टाभि शर्कराभिरुपहृत ॥२३॥
 इति मारपवनचक्रपातुष्वर्षे
 सुतपदवीमषलाविलस्य माता ।
 अतिकरुणमनुसरन्त्यशोचद्
 सुविपतिता मृतयत्सका यथा गां ॥२४॥
 रुदितमनुनिगम्य तत्र गाप्या
 मृशमनुवत्तपियोऽश्रुपूर्णमुन्यः ।
 रुद्ररुपलस्य नन्दसुनु
 पवन उपातप्राप्तुवपवैगे ॥२५॥

वृणावर्तः शान्तरया यात्यारूपधरा इव ।
 कृष्ण नभाशकागन्तुं नाशत्राद् भूतिभारमृत् ॥२६॥
 तमस्मान मन्यमान भामना गुग्मकया ।
 गन् गृहात् उन्मथ्युं नाशत्राद्दुहतामकम् ॥२७॥
 गन्प्रहानिःपरा दक्ष्या निगमनापन ।
 बभ्रुवरासा पपवत् महताया स्पृगुमत् ॥२८॥

आश्रयमे ले गया ॥२०॥ उमने प्रत्यक्षमे मार गातु -
 का त्र पिया आर मयोरि दानरि गमि हा पी ।
 उसय अयन्त भयद्वर क्षासे तसो निशारे वीर उरी
 ॥ २१ ॥ सारा वन दा घडीतर रन आर तमसे दगा
 रहा । यगादारीने अवन पुत्ररा जौं दगा पिया ग
 यहाँ गातर दगा ना श्रीरुग्ण वही नही थ ॥ २२ ॥
 उस समय तुगपतने बरदक्ष्मणमे इनरी बद् उग
 रस्की दी कि सुभे नाग अयन्त उद्गि अर म्पुत्र हा
 गय थ । उद्दे अनामसाय पुत्र भा नही सुख गा
 पा ॥ २३ ॥ उस जाररी जौं आर घूरी परामे
 अवन पुत्ररा पना न पारत यशागरा बदा गार
 हुआ । ये अने पुत्ररा यद् यतर म्पुत्र ही तल हा
 गयो और बटइर म जानार म्परी जा तग हा
 जानी ह, वी दगा उनरी हा गयी । य घूरीर निर
 पदी ॥ २४ ॥ परतर शन दानर जरा घूरी
 परास वग वन हा म्प, मर वगागीर गनरा ग
 सुनरा दुसरी गापीर तौं दा अदी । नगा
 द्यम्पुनर श्रीरुग्ण न हा र उनर ह वन भी
 बदा मेशर हुआ, जौंम अगूरी दगा वन त्री ।
 थ का कृतर गन त्री ॥ २५ ॥

इस वृणावर्त वीरकण्य जरा म्पवन् श्रीरुग्ण
 आश्रयमे उग ॥ २० ॥ ना म्परा मी दानरा -
 म्परा म्पनरा वरा म्परा का म्पन पी म्प ।
 वर अरि वर न म्परा ॥ २६ ॥ गृहात् ॥ २७ ॥
 दी नही इनर वरा निगमनापन नही पी ह
 म्पन हा । म्पन म्परा ॥ २८ ॥
 वर म्परा म्पुत्र आता म्परा ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ म्पन इन म्परा म्परा ॥ ३१ ॥
 म्परा वर म्परा म्परा म्परा ॥ ३२ ॥
 म्परा म्परा म्परा म्परा ॥ ३३ ॥
 म्परा म्परा म्परा म्परा ॥ ३४ ॥
 म्परा म्परा म्परा म्परा ॥ ३५ ॥

१ २१ ।

• एतद्वर्तमे म्पुनर म्परा वर म्परा ॥ २० ॥ ना म्परा मी दानरा -
 म्परा म्पनरा वरा म्परा का म्पन पी म्प ।
 वर अरि वर न म्परा ॥ २६ ॥ गृहात् ॥ २७ ॥
 दी नही इनर वरा निगमनापन नही पी ह
 म्पन हा । म्पन म्परा ॥ २८ ॥
 वर म्परा म्पुत्र आता म्परा ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ म्पन इन म्परा म्परा ॥ ३१ ॥
 म्परा वर म्परा म्परा म्परा ॥ ३२ ॥
 म्परा म्परा म्परा म्परा ॥ ३३ ॥
 म्परा म्परा म्परा म्परा ॥ ३४ ॥
 म्परा म्परा म्परा म्परा ॥ ३५ ॥

तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां
 विक्षीर्णसर्वावयवं कराभम् ।
 पुर यथा रुद्रशरेण बिभ्र
 क्षियो रुद्रस्यो ददृशुः समेताः ॥२९॥
 प्रादाप मात्रे प्रतिहृत्य विक्षिताः
 कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम् ।
 तं स्वन्तिमन्तं पुर्यादनीत
 बिहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ।
 गोप्यञ्च गोपाः किल नन्दमुख्या
 लब्ध्वा पुनः प्रापुरसीव मोदम् ॥३०॥
 अहो वतास्पृष्टतमेव रक्षसा
 बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुन ।
 हिंस्र स्वपापेन विहिंसित स्वलः
 साधुः समत्वेन भयात् बिभ्र्यते ॥३१॥
 किं नस्तपस्वीर्णमभोक्षनार्जन
 पूर्तेष्टदचमुत भूतसौहृदम् ।
 यस्तस्यरेतः पुनरेव बालको
 दिष्टधाम्बन्धून् प्रणयन्नुपस्थित ॥३२॥

दृष्ट्वा द्रुतानि बहुधा नन्दगोपो दृष्टवान् ।
 वसुदेवश्च भूषा मानयामास विक्षितः ॥३३॥

एकदामकमादाय म्याद्रुमाराप्य भामिनी ।

प्रस्तुतं पापयामास स्तनं क्रूरपरिप्लुता ॥३४॥

पातप्रापस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।

वहाँ जो क्षियों इकट्ठी होकर रो रही थीं, उन्होंने देखा कि यह विकराल दैत्य आकाशसे एक पहाड़नपर गिर पड़ा और उसका एक-एक अङ्ग चकनाचूर हो गया—ठीक वैसे ही, वैसे भगवान् शङ्करके बाणोंसे आहत हो त्रिपुरासुर गिरकर चूर-चूर हो गया था ॥ २९ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण उसके कंधे खरकर छटक रहे थे । यह देखकर गोप्त्रियों निमित्त हो गयीं । उन्होंने झटपट वहाँ आकर श्रीकृष्णको गेदमें ले लिया और अकर उन्हें माताको दे दिया । बाळक द्रुत्युके मुखसे सजुवाव छैट आया । यद्यपि उसे राक्षस आकाशमें उठा ले गया था, फिर भी वह बच गया । इस प्रकार बाळक श्रीकृष्णको फिर पाकर यशोदा आदि गोप्त्रियों तथा नन्द आदि गोप्त्रोंको अत्यन्त आनन्द हुआ ॥ ३० ॥ वे कहने लगे—अहो ! यह तो बड़े आश्चर्य-की बात है । देखो तो सही, यह कितनी अद्भुत घटना घट गयी ! यह बाळक राक्षसके द्वारा द्रुत्युके मुखमें बाळ दिया गया था, परन्तु फिर जीता-जमाना आ गया और उस हिंसक दुष्टको उसके पाप ही ख गये । सच है, साधुपुरुष अपनी सम्तासे ही सम्पूर्ण भयोंसे बच जाता है ॥ ३१ ॥ हमने ऐसा कौन-सा तप, भगवान्की पूजा, प्याऊ-पौसख, कूब-कबकी, वगैरह के आदि पूत, यज्ञ, दान अथवा नीमोंकी भजना की थी, जिसके फलसे हमारा यह बाळक मरकर भी अपने खजनोंका सुखी करनेके लिये फिर छैट अत्य ! अक्षय ही यह बड़ सौभाग्यकी बात है ॥ ३२ ॥ जब नन्ददावाने दृष्ट कि म्हावनमें घटत-सी अद्भुत घटनाई घटित हो रही हैं तब आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वसुदेवजीकी यातथ्य बार-बार समर्पन किया ॥ ३३ ॥

एव तिनकी बात है, यशोदाजी अपने प्यारे शिशु-को अपनी गोम्में लेकर यह प्रेम्से स्तन-पान करा रही थी । व वासुदेव-स्वरूपसे इस प्रकार सरापोर हो रही थीं कि उनका स्तनोसे अपने-आप ही दूध भरता जा रहा था ॥ ३४ ॥ जब वे प्रायः दूध पी चुक थीं माता यशोदा उनका रुचिर मुक्कनसे मुक्त मुक्कन चूम रही थी

मूलं लालपती रात्रञ्जृम्भतो ददशे इदम् ॥३५॥

ख रोदसी ज्योतिरनीकमाश्रयः

धूपेन्दुबह्विषसनाम्बुधीम् ।

द्वीपान् नगांस्तदुद्विचूर्वनानि

भूतानि यानि म्पिरञ्जमानि ॥३६॥

सा श्रीक्ष्म विश्व सहसा रात्रन् संजातवेषधुः ।

सम्मीक्ष्य मृगशावादी नेत्रं प्रासीत् सुविस्मिता ॥३७॥

उसी समय श्रीकृष्णको जैमाइ आ गयी और माताने उनके मुखमें यह देखा * ॥ ३५ ॥ उसमें आकरा, क्तरिक्ष, आतिर्मण्डल, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदियाँ, वन और समस्त चराचर प्राणी स्थित हैं ॥ ३६ ॥ परीक्षित ! अपने पुत्रके मुँहमें हम प्रकार सहसा सारा जगत् देखकर मृगशावकनपनी यथादावीय शरीर क्यों उठ । उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें बंद कर लीं † । वे अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गयी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे

तृणाकर्णमेलोन्नाम सप्तमेऽध्याय ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्याय

नामकरण-संस्कार और बाउलीका

श्रीकृष्ण उवाच

गर्गः पुरोहितो रात्रन् यदूनां सुमहावता ।

ब्रह्मं बगाम नन्दस्य वसुदेवप्रबोदितः ॥ १ ॥

त दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रपुत्राय कृताञ्जलिः ।

औनर्चाधोक्ष्वाधिपा प्रणिपातपुरस्सरम् ॥ २ ॥

क्षपविष्टं कृतातिथ्य गिरा घनृतपा मुनिम् ।

नन्दयित्वाप्रवीदु ब्रह्मन् पूर्णस्य करबामकिम् ॥ ३ ॥

श्रीपुत्रदेवकी कहते हैं—परीक्षित ! यदुर्बल्लोक कुम्भ-पुरोहित ये श्रीगर्गाचार्यजी । वे बड़े तपस्वी थे । वसुदेवजीकी प्रेरणासे व एक दिन नन्दबाबाक गोकुलमें आये ॥ १ ॥ उन्हें देखकर नन्दबाबाको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए । उनके चरणोंमें प्रणाम किया । इसके बाद 'य स्वयं भगवान् ही हैं—' इस भावसे उनकी पूजा की ॥ २ ॥ जब गर्गाचार्यजी आरामसे बैठ गये और निर्विकल उनका आतिथ्य सत्कार हा गया, तब नन्दबाबाने बड़ी ही मधुर वाणीसे उनका अभिनन्दन किया और कहा—'भगान् । आर तो स्वयं पूर्णकाम हैं, फिर मैं आपकी क्या सेवा

१ शपथपूर्वावर्तकम् । २ बाह्यपूजावर्तकम् । ३ अन्त्यध्यायः ।

० लोहमयी बननी और लोहक मद्य मूले भगवान् । उन्हें वृष पीनेसे वृत्ति ही नहीं देखी थी । माक मनमें धाढ़ा हुई—'बही अधिक पीनेसे अरथ न हो सके । मेम सर्वथा अनिष्टही आगच्छा उत्पन्न करता है । भीष्टप्यने करने मुलमें निषेध दिलाकर कहा—'अरी मेया । तेव वृष में अकेले ही नहीं पीता हूँ । मेरे मुलमें बैठकर समूर्ण विश्व ही इसका फल कर रहा है । तू पकवा मत'—

साम्यं दिव्यं विहाति भूयैर्धर्म्येति कतिपयमावययत्त बननी रिपाय ।

विहाति विमगि पबयेऽस्य न केरळऽइमसादरति हरिया किमु निष्मास्ये ॥

† बालक्यमयी यथोक्त मत्ता अपने स्थानक मुलमें विश्व देखकर डर गयी परन्तु बालक्य प्रमत्त-मदित दृश्य होनेसे उन्हें विभाग नहीं हुआ । उन्होंने यह विचार किया कि यह विश्वका वषेका दृश्य है मुझे नहीं आता । शन हो यह मेरी इन निगाही आँखोंकी ही गड़बड़ है । यन्नी इसील उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये ।

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनवेदसाम् ।

नि श्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा कश्चित् ॥ ४ ॥

ज्योतिषामपन साक्षाद् यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् ।

प्रणीत मबला येन पुमान् वेद परावरम् ॥ ५ ॥

तं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि ।

बालयोरनयोर्नर्णा जन्मना प्राप्नोति गुरुः ॥ ६ ॥

गर्ग उवाच

यदनामहमाचार्यः ख्यातश्च सुवि सर्वतः ।

सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम् ॥ ७ ॥

कतः पापमतिं सख्यं तव चानकदुन्दुभेः ।

देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥ ८ ॥

इति संविन्तपश्रुत्वा देवक्या दारिक्रावचः ।

अपि हन्ताऽऽगताश्चक्रेत्तर्हि तन्नोऽनयो भवेत् ॥ ९ ॥

नन्द उवाच

अठविताऽसिन् रहसि मामकैरपि गाग्रज ।

इह द्विजातिमंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥ १० ॥

श्रीगुरु उवाच

एव सम्प्रार्थिता त्रिषु म्यधिकीर्षितेषु तत् ।

चकार नामकरणं गृहा रहसि बालयोः ॥ ११ ॥

१ धे-३ १२ भावः ।

कर्त्तव्यं ॥ १ ॥ आप-जैसे महात्मजोंका हमारे-जैसे गृहस्थोंके घर आ जाना ही हमारे परम कल्याणकर कारण है । हम तो घरोंमें इतने उज्ज्वल रहे हैं और इन प्रपञ्चोंमें हमारा चित्त इतना दीन हो रहा है कि हम आपके आश्रमसक्त जा भी नहीं सकते । हमारे कल्याणके सिद्ध आपके आगमनकर और कोई हेतु नहीं है ॥ ४ ॥ प्रभो ! जो ज्ञात साधारणत इन्द्रियोंकी पहुँचके बाहर है अपना भूत और मनुष्यके गर्भमें निहित है, वह भी ज्योतिष-शास्त्रके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान ही जाती है । अपने उसी ज्योतिष-शास्त्रकी रचना की है ॥ ५ ॥ आप ब्रह्मवेदाओंमें श्रेष्ठ हैं । इसलिये मेरे इन दोनों बालकोंके नामकरण-आदि संस्कार आप ही कर दीजिये, क्योंकि ब्रह्मण जन्मसे ही मनुष्यमात्रका गुरु है ॥ ६ ॥

गर्गाचार्यजीने कहा—नन्दजी ! मैं सय जगह यहु बलियोंके आचार्यके रूपमें प्रसिद्ध हूँ । यदि मैं तुम्हारे पुत्रके संस्कार करूँगा, तो खेग समझेंगे कि यह तो देवकीका पुत्र है ॥ ७ ॥ कतकी बुद्धि बुरी है, वह पाप ही सोचा करती है । कसुदकजीके साथ तुम्हारी बड़ी वनिष्ठ मित्रता है । जबसे देवकीकी कन्यासे उसने यह बात सुनी है कि उसको मारनेवाला और कहीं पैदा हो गया है, तबसे वह यही सोचा करता है कि देवकीके आठवें गर्भसे कन्याका जन्म नहीं होना चाहिये । यदि मैं तुम्हारे पुत्रका संस्कार कर दूँ और वह इस बालकको कसुदेवजीका लड़का समझकर मार डाले, तो हमसे बड़ा कल्याण हो जायगा ॥ ८ ॥ ९ ॥

नन्द्याचाने कहा—आचार्यजी ! आप जुपचाप इस पकड़त गोत्र-गर्भमें केवल म्यभिवाचन करके इस बालक-का द्विजातिसमुचित नामकरण-संस्कारकर कर दीजिये । औरोंकी कठिने कहें, मेरे सगे-सम्बन्धी हम मारने न जानने पायें ॥ १० ॥

श्रीगुरुजी कहत हैं—गर्गाचार्यजी तब संस्कार करना चाहते ही थे । जब नन्दशासन उनसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने पञ्चान्तमें टिगकर गुमरासे दोनों बालकोंका नामकरण-संस्कार कर दिया ॥ ११ ॥

गर्ग उवाच

अथ हि रोहिणीपुत्रा रमयन् सुहृदो गुणै ।

आस्थास्यते राम इति पलाभिकया ह भलविदुः ।

यदनामपुत्रभावात् सकर्षणमुन्नत्युत ॥१२॥

आसन् वर्णाश्रयो ह्यस्य गृहतोऽनुपुर्गं तनुः ।

शृङ्खो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१३॥

प्रागय वसुदेवस्य कचिज्जातन्तबारमञ्जः ।

वासुदेव इति धीमानभिज्ञा सम्प्रचक्षते ॥१४॥

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।

गुणकमानुरूपाणि तान्यहं वेद नो वनाः ॥१५॥

एष व धृप आधाम्यद् गापगोमुलनन्दन ।

अनेन सर्वद्रुगाणि यूयमञ्जलरिम्पथ ॥१६॥

पुराणेन ब्रह्मपत साधवो दस्युपीठिता ।

अराजकरस्यमाणा विष्णुर्दस्युन् समधिता ॥१७॥

यत्तस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुरन्ति मानवा ।

नारायाऽभिवर्त्येतान् विष्णुपशानिबाधुरा ॥१८॥

तस्मादन्तरामवाऽयं त नारायणममा गुर्ण ।

गर्गाचार्यजीने कहा—यह रोहिणीका पुत्र है ।

इसलिये इसका नाम होगा रोहिण्ये । यह अपन सगे-सम्पन्नी और मित्रोंको अपने गुणोंसे अत्यन्त आनन्दित करेगा । इसलिये इसका दूसरा नाम होगा 'राम' । इसके बच्ची कोई सीमा नहीं है, अतः इसका एक नाम धृप भी है । यह वादलोंमें और तुमछोगोंमें बड़ा मेधावान नहीं रहनेगा और छोगोंमें फट पड़नेपर मेरा फराखेगा, इसलिये इसका एक नाम 'संवरण' भी है ॥ १२ ॥ और यह जो सौवज्य-सौवज्य है, वह प्रत्येक युगमें क्षीर, ग्रहण करता है । पिछले युगमें इसने क्रमशः 'चेत', 'रक्त' और 'पीत'—ये तीन विभिन्न रंग स्वीकार किये थे । अबकी यह कृष्णवर्ण हुआ है । इसलिये इसका नाम 'कृष्ण' होगा ॥ १३ ॥ नन्दजी ! यह तुम्हारा पुत्र पहले कभी वसुदेवजीके घर भी पैदा हुआ था, इसलिये इसका रहस्यका जाननेवाले लोग इसे 'धीमान् वासुदेव' भी कहते हैं ॥ १४ ॥ तुम्हारे पुत्रके और भी बहुत-से नाम हैं तथा रूप भी अनेक हैं । इसके निम्न गुण हैं और जितने कर्म, उन सबके अनुसार अज्या-अज्या नाम पड़ जाते हैं । मैं तो उन नामोंको जानता हूँ, परन्तु संसार के साधारण लोग नहीं जानते ॥ १५ ॥ यह तुमयोंके घरम बह्मण्य करेगा । समस्त गाँव और गाँवोंके यह बहुत ही आनन्दित करेगा । इसकी सहायतासे तुमभ्रम बड़ी-बड़ी विपत्तियोंकी बड़ी सुखानामे फर कर छोड़े ॥ १६ ॥ ब्रह्मराज ! पहले युगकी बात है । एक बार पृथ्वीमें बड़े राजा नहीं रह गया था । दसुजोंने चारों ओर छट-छटात मचा रक्की थी । तब तुम्हारे इसी पुत्रने सज्जन पुरुषोंकी रक्षा की और इसने पण्डितों उन लोगोंने छुट्टेगें निजय प्राप्त की ॥ १७ ॥ जो मनुष्य तुम्हारे इस सौवज्यमान सिंगुने प्रन करने दें, वे यह कष्ट-कष्ट हैं । जेने विष्णुसम्पन्न करनसेदों एतप्रपमें रहनरने दशजोर अमुक नहीं जीत सज्जन, देम ही हमने प्रन करनसेदों भीक या बार सिमी की प्रन क गुनु मते जीत सज्जन ॥ १८ ॥ नन्दजी ! यह जिस दशमे गने—गुमें, कर्णों और क्षीरक्षीर, क्षीर और प्रपने दशमे दश सज्जन सज्जन सज्जन

भिया क्रीत्यानुभावेन गोपायस्य समाहितः ॥१९॥

इत्यात्मानं समादिश्य गर्भे च स्वगृह गते ।

नन्दः प्रसूदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥२०॥

कालेन प्रज्ज्वारयेन गोहृले रामकेशवौ ।

वानुस्मां सह पाणिस्मां रिङ्गमाणौ विजहत्तुः ॥२१॥

तावद्ध्रियुग्ममनुकृप्य सरीसृपन्तौ

घोषप्रचोपरुचिरं प्रसक्तदंष्ट्रेषु ।

तस्मादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं

सुग्धप्रभीतवदुपेयसुरन्ति मात्राः ॥२२॥

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्तुबन्त्यौ

पङ्काङ्गरागरुचिराधुपशुभा दोर्म्याम् ।

दस्वास्तनं प्रविशतोः स सुखं निरीक्ष्य

सुग्धसिताल्पदध्नं ययतुः प्रमोदम् ॥२३॥

यर्षाङ्गनादर्शनीयकुमारलीला

वन्तर्गते तद्वत्सा प्रसृष्टीतपुच्छे ।

वत्सरितस्तव उभावनुकृप्यमाणौ

प्रमुन्य उन्निहतगृहा जहपुर्दसन्त्य ॥२४॥

गारायणके सम्मन है । तुम सबी सखधानी और तत्परतासे इसकी रक्षा करो ॥ १९ ॥ इस प्रकार नन्द स्वामी मयीभौति सम्भावकर, आदेश देकर गर्गाचार्यजी अपने आश्रममें छीट गये । उनकी बात सुनकर नन्दबाबू सबी ही आनन्द हुआ । उन्होंने ऐसा सम्मन कि मेरी सब आश-अच्छाई पूरी हो गयी, मैं अब हृत्कृत्य हूँ ॥ २० ॥

परीक्षित । कुछ ही दिनोंमें राम और श्याम छुनों और हाथोंके बड़ बकौरी चञ्चलकर गोकुलमें खेले लगे ॥ २१ ॥ दोनों माई अपने नन्द-नन्दे पाँवोंको गोकुलकी कीचड़में घसीटते हुए चले । उस समय उनके पाँव और कमरके जूँवर रुनरुन करने लगे । वह शब्द सबी मज्ज मज्ज पकता । वे दोनों स्वयं वह चनि सुनकर खिन्न उठते । कमी-कमी वे रास्ते चले किन्ती अज्ञात व्यक्तिके पीछे हो लेते । फिर जब देखते कि यह तो कोई दूसरा है, सब एक-से रह जाते और डरकर अपनी माताओं—रोहिणीजी और यशोदाजीके पास छीट आते ॥ २२ ॥ माताएँ यह सब देख-देखकर स्नेहसे भर जाती । उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती थी । जब उनके दोनों नन्द-नन्दे-से शिशु अपने शरीरमें कीचड़का अङ्गण लगाकर छीटते, तब उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी । माताएँ उन्हें आते ही दोनों हाथोंसे गोदमें लेकर हृदयसे लगा लेती और स्तन पान कराने लगती । जब वे दूध पीने लगते और बीच-बीचमें मुसकरा-मुसकराकर अपनी माताओंकी ओर देखने लगते, तब वे उनकी मन्द-मन्द मुसकान, छोटी-छोटी दँतुछियाँ और भोख-भाख मुँह देखकर आनन्दके समुद्रमें डूबने-उठाने लगती ॥ २३ ॥ जब राम और श्याम दोनों कुछ और बड़े हुए, तब बजमें घरके बाहर ऐसी-ऐसी कम्प्रीआँ करने लगे, किन्हीं गोपियों देखती ही रह जाती । जब वे किन्ती धीरे हुए बड़ेकी रूँछ पकड़ लेते और बड़े डरकर इधर उधर भागते, तब वे दोनों और भी जोरमें रूँछ पकड़ लेते और बड़े उन्हें बसीटते हुए दौड़ने लगते । गोपियों अपने घरपर बाम-धमा छोड़कर यही सब देखती रहती और हँसते-हँसते

पृथग्प्रिदृष्टयसिमतद्विजकण्टकेभ्यः

क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निपेक्षधुम् ।

गृहाणि कर्तुमपि यत्र न सज्जनयौ

शैलात् प्रापतुर्लभं मनमोऽनवस्थाम् ॥२५॥

कालेनाद्येन रान्ये रामः कृष्णाय गाङ्गुले ।

अष्टद्वानुभिः पङ्क्तिर्विचक्रमतुर्गुह्यसा ॥२६॥

छोटपोट होकर परम आनन्दमें मग्न हो जाती ॥ २४ ॥
कभीया और बड़बड़ दोनों ही बड़े चञ्चल और बड़े
स्त्रियही थे । वे कहीं हरिन, गाय आदि सींगवाले
पशुओंके पास दौड़ जाते, तो कहीं घबघरी हुई आगसे
खेजनेके छिये कूट पड़ते । कभी दौनसे फटनेवाले
कुत्तोंके पास पहुँच जाते, तो कभी बाँस बचाकर तड-
कार उठा लेते । कभी कुर्रें या गड्डेके पास ब्रह्ममें गिरते-
गिरते बघते, कभी मोर आदि पक्षियोंके निकट चले
जाते और कभी कौंटोंकी ओर बढ़ जाते थे । मत्तएँ
उन्हें बहुत बरजतीं, परन्तु उनका एक न चञ्चरी ।
ऐसी स्थितिमें वे बरका कम-बर्बा भी नहीं सम्हाल
पातीं । उनका चित्त बर्बोंके मयकी वस्तुओंसे बचानेकी
विमत्तासे अत्यन्त चञ्चल रहता था ॥ २५ ॥

रान्ये । कुछ ही दिनोंमें फलोदा और रोहिणीके
छाड़ले छाड़ घुटनोंका सहारा न्ये बिना अनन्यास ही
खड़े होकर गोकुलमें चढ़ने-चिन्ने छो ॥ २६ ॥

१ गोपब ।

० अब स्वामिन्तर घुटनोंका सहारा न्ये बिना चढ़ने छो ठब वे अपने घरमें अनेकों प्रकारकी वस्तुक्रम्यी
धीन करने लगे—

एतत् चोरकत् न्वत्तं निगच्छे देवज्ञानं मयिस्वामि स्वस्तिविष्णुमीश्वरवत्स्तेनैव चाहं मिया ।

प्राप्तमां वद मातरं मम सम्ये मागस्तवापीदितो मुकुत्स्वत्पाक्यतो हरे कम्बजो मया रक्षः कृतो ॥

एक दिन लौरे-छोने कम्बजकुमार श्रीकृष्णवालाकी अपने घरे घरमें स्वयं ही मालन पुन रहे थे । उनकी
इति मयिके लन्नेमें पड़े हुए अपने प्रतिविम्बपर पड़ी । अब तो वे डर गये । अपने प्रतिविम्बसे बल— अरे भय ।
मेरी मिलाते कहियो मत । तेरा माग भी सर करार ही मुझे स्वीकार दे ले ला । ला ले मैया । यथेष्ट मया अपने
कम्बजी तोलती बोली पुन रही थी ।

उन्हें दबा आश्चर्य हुआ वे घरमें भीतर पुन आयी । माताको देखते ही श्रीकृष्णने अपने प्रतिविम्बको निताकर
बल बरल ही—

मया क एत नवनीतमिदं स्वदीपं लोभेन चोरस्मिन्मया यदं प्रविष्ट ।

महाराज म मनुते मयि रोपमात्रि रोपं लोभेति म हि मे नवनीतयेम ॥

मैया । मैया ॥ यह कौन है । स्वामय्य ग्रहारा मालन पुननेके लिये आब घरमें पुन आया है । मैं मया
कम्बजी हा मालन नहीं है और मैं कोष करता हूँ तो यह भी कोष करता है । मैया । तुम कुछ और मत भ्रमना ।
मेरे मनमें मापनना लनिक भी लोभ नहीं है ।

अने दुष-मैरे दिष्टाकी प्रतिमा देखकर मैया बातस्य-नरेके आनन्दमें मग्न हो गयी ।

× × × × × ×

एक दिन राममुन्दर माताके दाहर जानेपर घरमें ही मापन-वटी कर रहे थे । इननेमें ही देवराय परांगनी
छोर आयी और अपने हाइके लालछे न देखकर पुनरने लगी—

इत्थं । अति कथमि कि निरिति अने मनुर्बव नदह ननीयौ-बल विम्व दामरीन् ।

मया कम्बजप्रदायमाया पनियमलक्यते संनय मयनीभ्यामर्चये विम्व निगति ॥

‘करीया । करेया । अरे ओ मेरे बप । कहाँ है क्या कर रहा है । —महादी पर बल पुन ॥ मालनके
भीष्टा हर गये और मालन-वटीमें आग हा गये । फिर योही देर पुन रहकर यथेष्टाकीने बप— मैया ही मैया ।

ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्ब्रजपालकैः ।

सहरामो ब्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम् ॥२७॥

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम् ।

भृङ्गवत्याः किल तन्मातुरिति होतुः समागताः ॥२८॥

ये ब्रजवासियोंके कहैया खर्य भावान् ॥ परम सुन्दर और परम मधुर । अब वे और कहराम अपनी ॥ उनके माछवाळोंको अपने साथ लेकर लेखनेके छिये ब्रजमें निकल पड़ते और ब्रजकी मायवती गोपियोंको निहाल करते हुए तरह-तरहके खेल खेलते ॥ २७ ॥ उनके वक्षनकी चञ्चलताएँ बड़ी ही मनोछी होती थी । गोपियोंको तो वे बड़ी ही सुन्दर और मधुर लगती । एक दिन सब-की-सब इकट्ठी होकर नन्दबाबाके घर आयीं और पशुपदा मन्त्रको सुना-सुनाकर कहैयाके

यह जो हमने मेरे बच्चनमें पढ़ाया कहा दिया है, इसकी जगहसे मेरा हाथ बन्ध रहा था । इसीसे मैंने इसे मात्तनके मदकमें बाँधकर हुआ था ।

मत्तय पर मधुर मधुर कहेवाली तोठकी बोली सुनकर मुग्ध हो गयीं और 'आयो वेदा । देवा करकर हस्तस्ते गेरमें उठा लिया और प्यारसे चूमने लगी ।

× × × × × ×

शुश्रूषायां करकुबम्भेन विगच्छाभ्यामुदगम्य कश्चुं हुं हुमिति बहकृत्कुहरदत्तकानिभ्रमः ।

गङ्गातो नक्षत्रिजीवकुटुम्बे ग्रामस्थिताः स्वाश्वेनामुक्तास्य मुक्तं स्रैवतसिद्धं पश्यति कथं कथा ॥

एक दिन माताने मात्तनचोरी करनेपर क्यामुक्ताकरके बसकथा, बौद्ध-कथन । कथ दोनो नैमति औसुओकी हाड़ी लगा गयी । कर-कमलसे औसुओ मछने लगे । छँ-छँ-छँ करके रोने लगे । गला रँच गया । हुँहसे रोष नहीं आता था । कत, मत्ता पछोरान्न वैर्य हुट गया । अपने औसुओके अपने काका कहेवाला और पौछा और बड़े प्यारसे गले लगाकर बोली— काका । यह सब तुम्हारा ही है, यह चोरी नहीं है ।

एक दिनकी बात है—पूर्वकालकी बौद्धनीसे मज्जिम औगन कुछ गया था । बशोदा मैयाके लय गोपियोंकी गोदी बुझ रही थी । बड़ी लेकले-लेकले कृष्णचन्द्रकी हथि चन्द्रमपर पड़ी । उन्होंने पीछेसे भाकर बशोदा मैयाके चूँपट उठार लिया । और अपने कोमल कपड़े उनकी चोटी सोफकर लीचने लगे और बार-बार पीठ बचपाने लगे । मैं हूँगा, मैं हूँगा—तोठकी बोलीसे इतना ही करते । अब मैयाकी समझमें बात नहीं आती तब उसने स्नेहार्थ हथिमें पाव बैठी चन्द्रिनीकी ओर देखा । अब वे बिनयसे प्यारसे पुनवत्कर भीक्षुवको अपने पाव ले आती और बोली— त्यत्त । हम क्या चाहते हैं वृष । भीक्षुव—'प्ता' । क्या बहिया रही ? 'प्ता' । 'क्या सुरप्पन ?' 'प्ता' । 'मत्ताई !' 'प्ता' । 'ताव मत्तय !' 'प्ता' । 'गच्छिन्ति ब्रह्म—भेदा । ब्रह्मे मत, रोओ मत । जो मोंगोरो छो डेरी । भीक्षुवने धीरेसे कहा—'परकी वस्तु नहीं चाहिये' और औगुछी उठाकर चन्द्रमाकी बार चक्रेड कर दिया । गोपिनी बोली—'ओ मेरे बाप ! यह कोई मात्तनका सींठा चोड़े ही है । हाय । हाय । हम यह कैसे डेरी ? यह छे प्यार-प्यार इस आकाशके स्तोत्रमें डेर रहा है । भीक्षुवने कहा—'मैं भी तो रोहनेके छिये इस दहके ही मोंग रहा हूँ, भीक्षुव करो । पार बानेक पूर्ण ही मुझे ला रहे ।

अब और भी मज्जिम गये । परतीपर पौब पीठ पीठकर और हाथोंसे गळा पकड़-पकड़कर दो-दो' करने लगे और पढ़ने भी अधिक रहने लगे । दूसरी गोपिनीने कहा—'भेदा । राम-राम । इन्होंने हमको बरदा दिया है । पर चम्पल नहीं है यह तो आकाशमें ही रहनेवाला चम्पल है । भीक्षुव इट कर बैठे—'मुदा ल पारी रो मेरे मनमें इनके लय रोहनेकी बड़ी लयला है । अभी रो अभी बा !' जब बहुत रहने लगे तब बशोदा मावान गन्धमें उठा निवा और प्यार करके बोली—'मर मत्तय । न व' यवईग दे और म तो चम्पल । दे व' मत्तय ही परन्तु हमको देने काय नहीं है । देता हमसे यह काय-कामा गिय लया हुआ है । इलम बहिया दोनेवर भी हमें कोई नहीं लाता है । भीक्षुवने कहा—'मेया । मेया । हमसे गिय देने लय गया ।' बा बरक गयी । मैयाने गदरमें भेकर मधुर-मधुर लयने क्या कृताना प्रदत्त किया । मा-बन्धे प्रलोत्तर देने लगे ।

पत्नान् सुञ्चन् कचिदसमये क्रोशसजातहासः

स्तेयस्वाद्रस्यथदधिपय कचिपतैः स्तेययोगैः ।

मकान् भाक्ष्यन् विभजति स येनाचि भाण्डं भिनचि

द्रव्यालामे स गृहकुपिता यात्युपक्रोडपयोकान् ॥ २९ ॥

हस्ताग्राह्य रक्षयति विधिं पीठफोक्सलार्थै

शिल्पद्रं सन्तर्निहितवपुनः शिष्यभाण्डेषु लघुवित् ।

करयत कइने छयो ॥ २८ ॥ 'अरी पशोदा ! यह तेरा कण्ठा बड़ा नटाकट हो गया है । गाय दुहनेका समय न होनेपर भी यह बछड़ोंको खोख देता है और हम बौंटती हैं, तो छटा-छटाकर हँसने लगता है । यह चोरीके बड़-बड़ उपाय करके हमारे मीठे-मीठे दही-दूध चुरा चुराकर खा जाता है । केसब अपने ही खाना तो भी एक भाग भी, यह तो सारा दही-दूध बानरोंको बौंट देता है और जब वे भी पेट भर जानेपर नहीं खा पाते, तब यह हमारे माँयोंको ही फोड़ डालता है । यदि घरमें कोई वस्तु इसे नहीं मित्रनी तो यह घर और बरबाजोंपर बहुत खीरना है और हमारे बच्चोंको रुगकर मार जाता है ॥ २९ ॥ जब हम दही-दूधको छीकेंगे रख देती हैं और इसका छाने-छोटे हाथ बहाना नही पहुँच पाते, तब यह बड़-बड़ उपाय रचता है । वहाँ दो चार पीढ़ोंको एकके ऊपर एक रख देता है । वहाँ उखलपर चढ़ जाता है तो वहाँ उखलपर पीड़ा रख देता है, (कभी-कभी तो अपने किसी साथीके कंधेपर भी चढ़ जाता है ।) जय इतनेपर भी काम नहीं चलाता, तब यह सीचेसे ही उन बर्तनोंमें छेन्न कर देता है । इसे इस बानसी पत्नी पहचान रही है कि जिस छीचैकर जिस बर्तनमें क्या रक्खा है । और ऐसे ढंगसे छेद करना

पशोदा—भयस्य । एक सीर-सागर है ।
भीरुण्य—मेरा । बड़ कैसा है ।
पशोदा—वेदा । यह जो तुम बूष देना रहे हा इलाका एक समुद्र है ।
भीरुण्य—मेरा । किसी गायने बूष दिया होगा अब समुद्र बना होगा ।
पशोदा—अरे मेरा । बड़ गायका बूष नहीं है ।
भीरुण्य—अभी मेरा ! तुम मुझे बहाना रही है मगर सिता गायके बूष कैसे !
पशोदा—अस्य ! बिगने गल्लोंमें बूष बनाया है बर गायके सिता भी बूष बना गइया है ।
भीरुण्य—मेरा । बड़ कौन है ।
पशोदा—वह मगगाय है परन्तु अंग (उनके दाँत बर्तन नहीं खतना । अथवा भा बार रविता) है ।
भीरुण्य—अच्छा ठीक है आगे बग ।
पशोदा—एक बार देखा और देखनेमें लड़ाई हुई । अगुवाका बर्तित करनेक शिव मगगायने धीरगायका मया । मगगायका रई बनी । गानुकि गानगी रली । एक बार देखा लगे दूरी बार बानर ।
भीरुण्य—जैसे गल्लोंकी दही मणनी है बनी देना ।
पशोदा—हो वेदा ! उलीमें बासगुद नामका शिव बैठा हुआ ।
भीरुण्य—मेरा । शिव का लोंमें देना है दूधमें कैसे निरुणा !
पशोदा—वेदा ! जब बाइर मगगायने दही शिव की निच तब उसकी ब गुदगा धर्मकर शिव दहा कर देकर लगे शिवर हा गत । ल अंग । मगगायकी ही लमी कोई लीने दे शिव दूधनेग शिव निरुणा ।
भीरुण्य—अच्छा देना ! यह ल कीक है ।
पशोदा—अंग । (पशोदा और शिवर) यह मगगाय भा उगाय निरुणा है । लीने दे दहागा शिव हमने भी ली लता । देना दहा हमका लता बानर बनी है । लीने देना लता ही मगगाय बानर ।
बन मुनो मुनो बानरगायकी भा लीने देना लता और लीने देना लता लता ।

धान्तागारे धृतमणिगर्भं स्वाङ्गमर्धप्रदीप

काले गोप्यो यदि गृहकृत्येषु सुखप्रविष्टाः ॥१०॥

एवं भाट्यन्युद्यति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ

स्तेषोपायैर्विचिन्तयतिः सुप्रतीकोपयाऽऽप्ते ।

इत्थं स्त्रीभिः समपनयनभीष्टलाभोकिनीभि

र्ष्यास्वातार्था प्रहसितमुन्नी न सुपालम्भुमैच्छत् ॥३१॥

* भगवान्की छिन्नपर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान्की छिन्नचर्म, मगवान्की छिन्नपात्र, भगवान्की छिन्नशरीर और उनकी छिन्न प्राणत नहीं होती । भगवान्में वेद-देशीय भेद नहीं है । महाभारतमें आया है—

म भूतसहस्रस्थानो देवस्य परमात्मना । यो वेत्ति धीरैकं वेदं कृष्णस्य परमात्मना ॥

स सर्वस्य च बहिष्कार्यः श्रीमद्भागवतविभागतः । मुक्त तस्यापलोपयापि सदैवः आगमाचरेत् ॥

परमात्मका शरीर मूलसमुदायसे बना हुआ नहीं होता । जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्मके शरीरको भौतिक ज्ञानरूप-मानता है, उसका समस्त भौत-स्पर्श करोसि बहिष्कार कर देना चाहिये क्योंकि उसका विद्वी भी शरीरोंप करने अविचार नहीं है । क्योंकि कि उसका मुँह देखनेपर भी सदैव (बन्धसहित) स्नान करना चाहिये ।

श्रीमद्भगवत्में ही प्रज्ञानीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

अस्यापि देव बहुषो मन्त्रुप्रहस्य स्वेकस्मामयम्य न तु भूतमयम्य कोऽपि ॥

‘आपने मुझपर हस करकेने जिये ही यह स्वेष्टाग्रय सविद्वान्स्वरूप प्रकट किया है, यह पाश्चात्तिक फदासि नहीं है ।’

जानता है कि विद्वीको फतातक न चले । जब हम अपनी वस्तुओंको बहुत धैर्यमें छिपा देती हैं तब नन्दरानी । हमने जो इसे बहुत-से मणिमय धाम्पण पहना रखे हैं, उनके प्रकाशसे अपने-आप ही सब कुछ देख लेता है । इसके शरीरमें भी ऐसी जोति है कि जिससे इसे सब कुछ दीख जाता है । यह इतना वाञ्छक है कि कम कौन कहीं रहता है, इसका पता रखता है और जब हम सब घरके काम-धंधोंमें उलझी रहती हैं, तब यह अपना काम बना लेता है ॥ १० ॥ ऐसा करके भी ठीक-ठीक बातें करता है—उम्हरे हमें ही चोर बनाता और अपने चरका माछिक बन जाता है । इतना ही नहीं, यह हमारे छिपे-मुते स्वच्छ घरोंमें मूत्र आदि भी कर देता है । तनिक देखो तो इसकी ओर, कहीं तो चोरीके अनेकों उपग्र घरक काम बनाता है और यहाँ मच्छन हो रहा है मनो फरफरी मूर्ति लकी हो ! बाह रे मोले-मले साधु !’ इस प्रकार गोपियों कहती जाती और श्रीकृष्णके भीत-चमिन् नेत्रोंसे मुक्त मुखमच्छने देखती जाती । उनकी यह दशा देखकर नन्दरानी फोदाजी उनके मनका माव ताड़ लेती और उनके हृदयमें स्नेह और आनन्दकी बग्न आ जाती । वे इस प्रकार हैंसने लगती कि अपने खड्डे कट्टीको इस बातका उछाहना भी न दे पाती, बँटने-की बातक नहीं सोच पाती * ॥ ११ ॥

एकदा श्रीब्रह्मानास्ते रामाया गोपदारकाः ।

एक दिन ब्रह्मा आदि षोडश श्रीहृण्णके साथ

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌का सभी कुछ अप्राकृत होता है । इसी प्रकार यह माखनचोरीकी ध्वजा भी अप्राकृत—दिव्य ही है ।

यदि भगवान्‌के नित्य परम धाममें अभिन्नरूपसे नित्य निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे न देखकर केवल साधनसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे देख जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी बड़ी थी, उनकी ध्याना इतनी अनन्य थी, उनके प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लग्न इतनी सच्ची थी कि मकराभ्युदयप्रसङ्ग प्रेमसम्पन्न भगवान्‌ उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये माखनचोरीकी ध्वजा करके उनकी इच्छित पूजा प्रवृत्त करें, चौराहरण करके उनका रहस्य व्यक्तानका परदा उठ दें और रसलीला करके उनके दिव्य सुख पहुँचायें तो कोई बड़ी बात नहीं है ।

भगवान्‌की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियोंके अनिष्ट बहुत-सी ऐसी गोपियों और थी, जो अपनी मगान्‌ साधना के फलस्वरूप भगवान्‌की मुक्तजन-आश्रित सेवा करनेके लिये गोपियोंके रूपमें अपनीर्ण हुए थीं । उनमेंसे कुछ पूर्वजन्मकी देवकन्याएँ थीं, कुछ स्मृतियों थीं, कुछ तपस्वी और ये और कुछ अन्य मत्तजन । इनकी कन्याएँ विभिन्न पुराणोंमें मिलती हैं । स्मृतिकर्ता गोपियों, जो वेनिनेनिके द्वारा निरन्तर परमेश्वर वर्णन करते रहनेपर भी उन्हें साक्षात्‌रूपसे प्राप्त नहीं कर सकती, गोपियोंके साथ भगवान्‌के दिव्य रसमय विहारकी बात जानकर गोपियोंकी उपासना करती हैं और अन्तमें स्वयं गोपीरूपमें परिणत होकर भगवान्‌ श्रीहृण्णके साक्षात्‌ अपने प्रियतमरूपसे प्राप्त करती हैं । इनमें मुख्य स्मृतियोंके नाम हैं—उद्गीता, सुवित्ति, कल्पीता, कथकम्पिका और विषखी आदि ।

भगवान्‌के श्रीरामकृतारमें उन्हें देखकर मुग्ध होनेवाले—अपने-आपको उनके स्वरूप-सौन्दर्यपर न्यस्तकर कर देनेवाले सिद्ध आश्रित, जिनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करनेका वर दिया था, वरमें गोपीरूपसे अवतीर्ण हुए थे । इसके अतिरिक्त मिथिअकी गोपी, कोसलकी गोपी, ज्योत्स्नाकी गोपी—पुण्ड्रिगोपी, रघुबैकुण्ठ, इक्ष्वाकु आदिकी गोपियों और जाञ्जरी गोपी आदि गोपियोंके अनेकों दूत थे, जिनकी बड़ी तपस्या करके भगवान्‌से वरदान पाकर गोपीरूपमें अवतीर्ण होनेका सौमन्य प्राप्त हुआ था । परंपरागतके परमश्रेष्ठमें बहुत-से ऐसे आश्रितोंका वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्य आदि करके अनन्तों करके वांछित गोपीस्वरूपको प्राप्त किया था । उनमेंसे कुछके नाम निम्नलिखित हैं—

१ एक उग्रनामा नामके आश्रित थे । वे अग्निहोत्री और बड़े दृढव्रती थे । उनकी तपस्या अद्भुत थी । उन्होंने पञ्चदशाक्षरमन्त्रका जाप और रासोमन्त भगवद्‌गीता पर ध्यानपूर्वक ध्यान किया था । सौ वर्षों-के बाद वे सुनन्दनामक गोपीकी कन्या 'सुनन्दा' हुए ।

२ एक सत्पनमा नामके मुनि थे । वे सस्ते पत्थर रखकर दशधरमन्त्रका जाप और श्रीरामजीक दोनों हाथ पकड़कर नाचते हुए श्रीहृण्णका ध्यान करते थे । दस वर्षोंके बाद वे सुमन्तनामक गोपीकी कन्या 'सुमन्ता' हुए ।

३ हरिभामा नामके एक आश्रित थे । वे निराहार रहकर 'श्री' कर्मधीयसे युक्त विंशधारी मन्त्रका जाप करते थे और मधुवीनन्दनमें कौमो-कौमो पत्थरोंकी कन्यापर लेटे हुए युगल-संगमरका ध्यान करते थे । तीन वर्षोंके पश्चात्‌ वे सारङ्गनामक गोपीका घर 'पुण्ड्रवेणी' नामसे अवतीर्ण हुए ।

४ जगन्नि नामके एक ब्रह्महमी आश्रित थे, उन्होंने एक बार विष्णु वनमें विचरते-विचरते एक जगद्वरुण मरी बावरी देखी । उस बावरीने पश्चिम गङ्गा बहक नीचे एक तेजस्विनी युवती की बड़ी तपस्या कर रही थी ।

बह बनी सुन्दर थी । चन्द्रनक्षत्री शुभ चित्रणोंके समान उसकी चौदनी चारों ओर छिटक रही थी । उसका बायो शप अपनी कमरपर था और दाहिने हाथसे वह ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए थी । आकाशिके बनी नम्रताके साथ धूमनेभर उस तापसीने बतझषा—

ब्रह्मविद्याद्वयमुक्त योगीश्वर्यो ॥ मूर्धन्यते । सार्धं हरिपद्मभोजकाम्यया सुखिरं तथा ॥

ब्रह्मानन्देन पूर्वाहं तेजानन्देन दत्तधीः । चराम्यसिन्दुपणे चोरे व्यापन्ती पुरुषोत्तमम् ॥

तथापि शून्यमात्मानं मये कृण्वरति बिना ॥

‘मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे थड़े-थड़े योगी सदा ब्रूँवा करते हैं । मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये इस घोर वनमें उन पुरुषोत्तमपर ध्यान करती हुई दीर्घकालसे तपस्य कर रही हूँ । मैं ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्दसे परितृप्त है । परन्तु श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपनेको शून्य देखती हूँ ।’ ब्रह्मज्ञानी जानाछिने उसके चरणोंपर गिरकर दीक्षा ली और फिर ब्रह्मविद्यामें विहरनेवाले भगवान्‌का ध्यान करते हुए वे एक पैरसे खड़े होकर बड़ी पट्योर तपस्या करते रहे । नौ कल्पोंके बाद प्रचण्डनामक गोपके घर वे ‘विभ्रगान्धा’के रूपमें प्रकट हुए ।

५ कुन्दाचननामक ब्रह्मर्षिके पुत्र शुचिधरा और सुकर्ण देवनन्द थे । उन्होंने शीर्षसन करके ‘ही’ ईश-मन्त्रका जाप करते हुए और सुन्दर वन्दर्प-सुम्प गेकुन्धासी दस वर्षकी उसके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए घोर तपस्या की । कल्पके बाद वे ब्रजमें सुवीरनामक गोपके घर उत्पन्न हुए ।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियोंके पूर्वजन्मकी कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारमयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया । भगवान्‌के लिये इतनी तपस्य करके इतनी ज्ञानके साथ कर्णोत्तक साधना करके जिन त्यागी मन्त्रवेत्तियोंने गोपियोंका तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अमित्रया पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द दान देनेके लिये यदि भगवान् उनकी मन-काशी छीन करते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनाचारकी कौन-सी बात है ? रस्तखीजके प्रसङ्गमें स्वयं भगवान्ने श्रीगोपियोंसे कहा है—

न पारयेऽहं निष्कषयसमुद्रां लसत्पुङ्खस्य विबुधापुत्राणि नः ।

या माभजन्त दुर्बलैरोहन्त्युच्छ्वाः सङ्कल्प्य तत् वा प्रतियासु साधुना ॥

(१ । १९ । २९)

गोपियों ! हमने ओक और परलोकके सारे बच्चोंको कष्टकर मुक्तसे निष्कार प्रेम किया है; यदि मैं हमसेसे प्रत्येकके लिये जन्मा-जन्मा अनन्त कष्टोत्तक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेमका बदल चुकना चाहूँ तो भी नहीं चुक सकता । मैं मुन्धारा श्रणी हूँ और श्रणी ही रहूँगा । तुम मुझे अपने साधुत्वमात्रसे श्रणरहित मानकर और भी श्रणी बना दो । यही उत्तर है ।’ सर्वलोकमादेवर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन मन्त्राभ्या गेभियोंके श्रणी रहना चाहते हैं, उनकी इच्छा, इच्छा जानेसे पूर्ण ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है ।

मन्त्र विचारिये तो सही श्रीकृष्णगणप्राणा, श्रीकृष्णरसमाहितमणि गोपियोंके मनकी क्या स्थिति थी । गेभियोंका तन, मन, धन—सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था । वे संसारमें जीती थी श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थी श्रीकृष्णके लिये और करके सारे काम करती थी श्रीकृष्णके लिये । उनकी निर्मल और योगीन्द्रधर्म पक्कि बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं । श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सम्पत्तीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी देखकर वे सुखी होती थी । प्रताःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थी, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थी । यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी । स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मयूर और

राक्षस कीज देखती और अनुमत्त करती थीं । राक्षसों दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छविक प्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी यह अभिप्राय करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके भ्रिये उसे नित्रोकर मैं बढ़िया-सा और यहूत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही उज्ज्वल छीकेर रक्खूँ, जितनेर श्रीकृष्णके हाथ आसानीसे पहुँच सकें । फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन छूँ और अपने सखाओं और बंदरोंको छुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस छीअके अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफा करूँ और फिर अचानक ही पकड़कर हृदयसे छ्पा लूँ । सुरदासजीने क्या है—

मेरा ही मोहि माखन भावै । जो मेरा पकवान कहति तू, मोहि नहीं हथि भावै ।
मत्त-मत्तकी हूँ फटै छापी, सुखत लाम की बात । सब-मन कहति कहूँ अपने घर, देखी माखन पाव ।
बैरै बाहूँ मयनिपोक विग मैं तब रही छपावी । सुरदास प्रभु नंदरामा ग्वाकनि-मन की छापी ।

एक दिन श्यामसुन्दर कह रहे थे, 'मैया । मुझे माखन मक्ता है; तू मेरा-पकवानके भ्रिये कहती है, परन्तु मुझे तो वे रुचते ही नहीं ।' वही पीछे एक गोपी लड़ी श्यामसुन्दरकी बात सुन रही थी । उसने मन-ही-मन कामना की—'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी, ये मयानीके पास जाकर बैठोगे, तब मैं छिप रहूँगी ।' प्रभु तो अन्तर्धाम्य हैं, गोपीके मनकी जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घरका माखन खकर उसे सुख दिया—'गये श्याम निम्नि ग्वाकनि मैं घर ।'

उसे इतना आनन्द हुआ कि वह झूठी न समायी । सुरदासजी गाते हैं—

झूठी किरति ग्वाकि मनमें ही । किरति सखी परस्पर बाँटे पावो बरवो कसू कहुँ मैं ही ।
पुष्पित रोम रोम गद्गद्ग सुख बानी कहत न भावै । पैसो कहा भाहि स्नेह सखि ही, हम बी की न सुनावै ।
तब म्भारा त्रिष पक हजारी हम तुम पकै रूप । सुरदास कहै ग्वाकि खकिनि लौ बैक्यो रूप अनूप ।
बह सुधीसे छक्कर छगी-छगी सिरने छपी । आनन्द उसके हृदयमें समा नहीं रहा था । सखियोंन पृथक्—'अरे, तुसे पकड़ी कुछ पक्का घन मिठ गया क्या ?' कह तो यह सुनकर और भी प्रेमविदग्ध हो गयी । उसका रोम-रोम खिंट उठ्य, वह गद्गद हो गयी, मुँहसे बोधी नहीं निकली । सखियोंने कहा—'सखि । ऐसी क्या बात है, हमें सुनायी क्यों नहीं ! हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं । भग, हमसे छिपानेकी कौन-सी बात है ?' तब उसके मुँहसे इतना ही निकल्य—'मेने आज अनूप रूप देखा है ।' कम, फिर बाणी रूप गयी और प्रेमके औसू बहने लगे ! सभी गोपियोंकी यही दशा थी ।

मत्त बर-बर मगरी वह बात । हथि माखन जोरी करि ले हरि ग्वाक सखा सँग बात ।
मत्त-मत्तवा बह मुनि मन हरित, सदन हमारेँ आवै । माखन खात अचानक बावै सुख भरि खाहि छुटायै ।
मनहीं मन अभिलाष कहति सब हृदय घटित वह ध्यान । सुरदास प्रभु की घर में के देखी माखन पान ।
चकी मत्त पर-बाधि वह बात । नंद-सुख सँग सखा बीनैँ जोरि मारन लाम ।
कोउ कहति, भरे भजन भीतर अबहि वैदे पाहूँ । कोउ कहति मोहि देखि हारै बसहि गए बराहूँ ।
कोउ कहति किहि भाँति हरि की देखी अपने पास । हेरि माखन देखैँ आधी, ग्राहूँ त्रितनी ल्याम ।
कोउ कहति मैं देखि पारैँ भरि परो अंकसार । कोउ कहति मैं बाँधि राखी, को सदैव निरावार ।
सुर प्रभु के मित्रन कारण कहति निषिध विचार । जोरि कर विधिही मवाधति पुन्य नंदरामार ।
रानों गोरियों जग जागृत मान कउ हामरी बाज दावती । उनका मन श्रीकृष्णमें लग रहता । मन काउ जहरी-जहरी दही मगर, माखन निकाल्यर हीकर गन्ती, वही प्राणधन आपन दीन न जायें, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करती और श्यामसुन्दरकी प्रार्थनामें व्यकुल होती हुई मन-ही-मन सोचती—'हा । आज प्रणमियतम क्यों नहीं आय । इतनी देर क्यों हो गयी ! क्या आज इस दासीका घर फिर

कृष्णो मुहं भवितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥३२॥ खेत रहे थे । उन लोगोंने मा यशोदाके पास आकर कहा—‘मा ! कहीयाने मिठी छपी है’ * ॥ ३२ ॥

न करेंगे ! क्या आज मेरे समर्पण मिले हुए इस सुष्ठु माखनत्रय भोग व्याकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे ? कही यशोदा मैमाने तो उन्हें नहीं रोक लिया * उनके घर तो नौ खास गौरों हैं । माखनकी क्या कमी है ! मेरे घर तो वे कृपा करके ही जाते हैं ! इन्हीं विचारोंमें आँसु बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दीड़कर दरवाजेपर आती, धब धबकर रास्तेकी ओर देखती, सड़ियोंसे छूटती । एक-एक निमेष उसके त्रिये युगके समान हो जाता । ऐसी अगव्यकी गोपियोंकी मन-कामना भाग्यन् उनके घर पधारकर पूर्ण करते ।

सुरदासजीने गाया है—

मखन चरी हरि माखन-चोरी । न्यायिनि मय हृष्य करि पुरव, अणु जने मय चोरी ॥

मखमें बही विचार करव हरि मय घर-घर सब जाई । गोकुल जगम किचौ मुख-अरव, सबै माखन जाई ॥

बाक्यन बसुमति सीदि जानै गोपिनि मिथि मुख भोग । सुरदास मधु कहव प्रेम लीं ये मीरे मय भोग ॥

अपने निकरन ब्रजवासियोंको सुखी करनेके लिये ही तो भगवान् गोकुलमें पधारे थे । माखन तो नन्दबालके घरपर कम न था । अल-अल गौरों थीं वे चाहे कितना खाते-छुटाते । परन्तु वे तो केवल नन्दबालके ही नहीं, सभी ब्रजवासियोंके अपने थे, सभीको सुख देना चाहते थे । गोपियोंकी अलसा पूरी करनेके लिये ही वे उनके घर आते और चुप-चुपकर माखन खाते । यह बातकमें चोरी नहीं, यह तो गोपियोंकी पूजा-पद्धतिक्रम भगवान्के द्वारा स्वीकार था । मत्तकस्तु भगवान् मत्तकी पूजा स्वीकार कैसे न करें ?

भगवान्की इस दिव्यकीर्ति—माखनचोरीकर रहस्य न जाननेके कारण ही कुछ लोग इसे अदृष्टिके विपरीत बतलाते हैं । उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, यह विस्तारि होती है और कैरन करता है । चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरेकी कोई चीज, उसकी इच्छाके बिना, उसके अनजानमें और आगे भी वह जाल न पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है । भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके घरसे माखन लेते थे उनकी इच्छासे, गोपियोंके अनजानमें नहीं—उनकी जानमें, उनके देखते-देखते और आगे जनानेकी कोई बात ही नहीं—उनके सामन ही दौड़ते हुए निकल आते थे । दूसरी बात यह है कि संसारमें या संसारके बाहर ऐसी कैरन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान्की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं । गोपियोंका तो सर्वस्व श्रीभगवान्का था ही, सारा जगत् ही उनका है । वे मज, किसीकी चोरी कर सकते हैं ! हाँ, चोर तो वास्तवमें वे भोग हैं, जो भगवान्की वस्तुको अपनी मानकर मन्त्रवासरतमें फँसे रहते हैं और दण्डके पात्र बनते हैं । वास्तव सभी दृष्टियोंसे यही सिद्ध होता है कि माखनचोरी चोरी न थी, भगवान्की दिव्य कीर्ति थी । अतएव गोपियोंने प्रेमकी अविकलतासे ही भगवान्का प्रमत्त नाम स्मरण रख दिया था, क्योंकि वे उनके चितचोर तो थे ही ।

जो भोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमश्लाघनमें वर्णित भगवान्की अक्षर विचार करनेका फेर है अथिक्तर नहीं है, परन्तु उनकी दृष्टिसे भी इस प्रसङ्गमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है । क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय व्यामग दोस्तीन कर्क के बन्धे थे और गोपियों अत्यधिक स्नेहके कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर स्नेह देखना चाहती थीं । आशा है, इससे शंका करनेवालोंको कुछ संतोष होगा । —इन्दुमानप्रसाद पोद्दार

* मूढ मखनके देह—

१—भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि मुझमें कुछ लक्षण ही रहता है और आगे बहुत-से शब्दगुणी कर्म करने हैं । उनके लिये पोड़ा-सा रस लय कर लें ।

२—संस्कृत-पद्मिनीमें पृथ्वीका एक नाम ‘भ्रमा’ भी है । श्रीकृष्णने देखा कि व्यामगाध कुम्हार मेरे घाय कोलते हैं। कभी-कभी अयमाल भी कर बैठते हैं । उनके साथ ब्रमांश कारण करके ही श्रीबा कभी चाहिये किसी फेर विज न पड़े ।

तो गृहीत्वा करे कृष्णमुपालम्ब्य हितैषिणी ।

यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेषणाधुमभाषत ॥३३॥

कस्मान्मुदमदान्तात्मन् भवान् मखितवान् रहः ।

वदन्ति तावका घोते कुमारस्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥३४॥

भीष्म उवाच

नाहं मखितवानम्भ सर्वे मिथ्याभिर्भंसिनः ।

यदि सत्यगिरस्ताहिं समर्थं पश्य मे सुखम् ॥३५॥

यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः ।

व्यादृताभ्याहतैर्भयः क्रीडामनुजवाचकः ॥३६॥

हितैषिणी यशोदाने श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया* । उस समय श्रीकृष्णकी ओंखें बरके गये नाच रही थीं । यशोदा मैयाने बौटकर कहा—॥३३॥ क्यों रे नन्द ! तू बहुत डीठ हो गया है । तुने अकेलेमें छिपकर मिठी क्यों खायी ? देख तो तेरे दलके तेरे सख क्या कह रहे हैं । तेरे बड़े भैया बछ्छाऊ भी तो ठन्हीकी ओरसे गवाही दे रहे हैं ॥ ३४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—यह । मैंने मिठी नहीं खायी । ये सब झूठ बक रहे हैं । यदि तू हम इन्हीकी बात सच मानती हो तो मेरा मुँह तुम्हारे सामने ही है, तू हमनी ओंखोंसे देख ओ ॥ ३५ ॥ यशोदाजीने कहा—अच्छी बात । यदि ऐसा है, तो मुँह खोल । मातके ऐसा कहनेपर मत्मान् श्रीकृष्णने अपना मुँह खोल दिया । परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य अमल है । वे केवल छीलके छिये ही मनुष्यके बाळक

१ गृहीत्वा करे पुनमुपा ।

१—संस्कृत मायामें पुष्पीको पल्लव भी कहते हैं । श्रीकृष्णने लाथा लक रस तो के ही चुका हैं, अब रतान-पल्लव आलस्यजनक हैं ।

४—इस अवसरमें पुष्पीका क्षित करना है । इसलिये उसका कुछ भंश अपने मुखमें (मुलमें स्थित) बिजों (दंतों) को पकड़े दान कर देना चाहिये ।

५—जासय छुड़ खलिक कर्ममें लगा रहे हैं अब उन्हें अनुपेक्ष संहर करनेके लिये कुछ राखन कर्म भी करने चाहिये । बरी ध्वित करनेके लिये मानो उन्होंने अपने मुलमें स्थित बिजोंको (दंतोंको) रखते चुक किया ।

६—पहले निप मत्तग किया था मिठी लाकर उसकी रखा की ।

७—पहले गोमिर्चक मक्खन लाया था उसकाहना देनेपर मिठी ला ली, जिससे मुँह लाक हो गया ।

८—मत्मान् श्रीकृष्णके उदरमें खनेवाले कोटि-कोटि ब्रह्माण्डके बीच ब्रह्मरथ—गणपतिके चारपाई रथ—ग्रास करनेके लिये व्याकुल हो रहे थे । उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये मत्मान्ने मिठी लायी ।

—भगवान् स्वयं ही अपने मल्लोकी चरण-रथ मुलके द्वारा अपने हृदयमें बाण करते हैं ।

१ —छोटे बाळक स्वभावसे ही मिठी ला लिया करते हैं ।

* यशोदाजी जानती थी कि इस शयने मिठी लानेमें अशुभता की है । चोरका लहायक भी चोर ही है । इसलिये उन्होंने हाथ ही पकड़ा ।

† यशोदाके नेत्रमें खूँ और सम्प्रसाद निवास है । वे कभी लाठी हैं । उन्होंने सोचा कि पण नहीं श्रीकृष्ण मिठी लाना स्वीकार करेंगे कि मुँह खोलेंगे । अब हमारा कृत्य क्या है । इसी प्रकारसे गृहित करते हुए उन्होंने नेत्र पकड़ने लगे ।

‡ १—यह ! मिठी लानेके लक्षणमें ये मुख अकेलेका ही नाम ले रहे हैं । मैंने लायी तो अपने लायी देख लो मेरे मुखमें लक्ष्मी निरख ।

२—श्रीकृष्णने निवार किया कि बस दिन मेरे मुखमें बिहर देलकर ग्यायने अपने नेत्र बंद कर लिये थे । आज भी यह भी अम्मा मुँह लाँटिया, तब यह अपने नेत्र बंद कर लेगी । इस विषयसे मुख खोल दिया ।

सा तत्र दृष्ट्वा विश्वं श्रगत् स्वास्तु च स्वं दिश ।

सा त्रिद्वीपान्धिभृगोल सबाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥२७॥

न्योतिष्यत् खल तेजो नभस्यान् विषदेव च ।

वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः ॥२८॥

एतद् विचित्रं सह जीवकाल

स्वभावकर्माश्रयलिङ्गमेवम् ।

छनोत्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये

ब्रजं सहात्मानमवाप शङ्कात् ॥२९॥

किं स्वप्न एतदुत देवमाया

किं वा मदीयो बत बुद्धिमोह ।

अथो ब्रह्मण्यैव ममार्थकस्त

यः कथनौत्पत्तिक आरमयोगः ॥३०॥

अथा यथात्मन विवर्तगोचरं

चेतामनःकर्मचोभिरञ्जसा ।

यदाभयं येन यतः प्रतीयते

सुदुर्बिभान्यं प्रणवांसि तपुपदम् ॥३१॥

अहं ममासौ पविरेप मे सुतो

ब्रजेश्वरसास्त्रिलविचया सती ।

गाप्यथ गापाः सहगोधनाथ मे

यन्मापयेत्तं कुमतिः स म गतिः ॥३२॥

इत्थं निदितसन्ध्यायां गाविकायां स इधर ।

वैष्णवीं ध्यतनां मायां पुत्रस्नेहमयीं विदुः ॥३३॥

सपानष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम् ।

प्रहृदन्तदकलितहृदयाऽऽसीद् यथा पुरा ॥३४॥

ग्रम्या चापनिपट्रिय सांख्ययोग्यं सात्वतः ।

उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥३५॥

वने हुए हैं ॥ ३६ ॥ यशोदाजीने देखे कि उनके मुँह

पर-अपर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है । आकाश (वा

शून्य जिसमें किसीकी गति नहीं), दिशाएँ, पवन

द्वीप और समुद्रोंके सहित सारी पृथ्वी, अग्निवायु

वैष्णव, अग्नि, चन्द्रमा और सारोंके साथ सम्पूर्ण श्रोत्रिर्गण

जल, तेज, पवन, दिवत् (प्राणियोंके चरने-सिरनेके

आकाश), वैधरिक अङ्गुष्ठारके कर्ष्य वेक्ता, मन-इन्द्रिय

पञ्चतन्माशर्ष और तीनों गुण श्रीकृष्णके मुखमें दीप्त

पङ्क ॥ ३७-३८ ॥ परिशिष्ट ! जीव, कष्ट, सम्मन,

कर्म, उनकी वासना और शरीर आदिके द्वारा निम्न

रूपोंमें दीक्षनेच्छा यह सारा विचित्र संसार, सम्पूर्ण मन

और अपने-आपको भी यशोदाजीने श्रीकृष्णके नन्हे-से

सुले हुए मुखमें देखा । वे बड़ी शङ्कामें पड़ गयीं ॥ ३९ ॥

वे सोचने लगीं कि 'यह कोई ज्ञान है या भगवन्की

माया ? कहीं मेरी बुद्धिमें ही तो कोई भ्रम नहीं हो गया

है ? सम्भव है, मेरे इस अज्ञानमें ही कोई जन्म-मृत

योगसिद्धि हो' ॥ ४० ॥ जो चित्त, मन, कर्म और

काणीके द्वारा ठीक-ठीक तथा सुगमतासे अनुमानके विषय

नहीं होते, यह सारा विश्व जिनके आवृत्ति है, जो इसके

प्रेरक हैं और जिनकी सहायसे ही इसकी प्रतीति होती

है, जिनका स्वरूप सर्वाधि अकल्प्य है—उन प्रभुको मैं

प्रणाम करती हूँ ॥ ४१ ॥ यह मैं हूँ और ये मेरे पति

तथा यह मेरा लक्ष्य है, साथ ही मैं भजराक्षत्री सम्पन्न

सम्पत्तियोंकी स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ, ये गोदियें, गोप

और गोधन मेरे अधीन हैं—जिनकी भावसे मुझे इस

प्रकाशकी कुमति घेरे हुए है, वे भगवान् ही मेरे एकमात्र

आश्रय हैं—मैं उनकी शरणमें हूँ ॥ ४२ ॥ जब इस

प्रकाश यशोदा माता श्रीकृष्णका तत्त्व समझ गयी । तब

सर्वशक्तिमान् सर्वध्यायक प्रभुने अपनी पुत्रस्नेहस्य

वैष्णवी योगमायाका उनके हृदयमें संसार कर दिया ॥ ४३ ॥

यशोदाजीको ह्रस्त यह घटना भूत गयी । उन्होंने अपने

दुखारे छात्रका गोदमें उठ लिया । जैसे पहले उनके

हृदयमें प्रभुका समुद्र उमड़ता रहता था, वैसे ही फिर

उमड़ने लगा ॥ ४४ ॥ सारे वेद, उपनिषद्, सांख्य,

योग और भक्तजन जिनके माहात्म्यका श्रुत गूढ-गूढ

अपाते नहीं—उन्हीं भगवान्को यशोदाजी अपना पुत्र

मानती थी ॥ ४५ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीकृष्णस्य उवाचसे बाँधा आगम

श्रीकृष्ण उवाच

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगोहिनी ।
कर्मन्तरनिपुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥ १ ॥

यानि यानीह गीतानि सञ्चालचरितानि च ।
दधिनिर्ममन्थने काले सारन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥

धौमं वासः पृथुकटितटे
विभ्रती सूत्रनर्द्ध

पुत्रस्नेहस्तुतङ्कचपुगं
वातकर्म च सुभ्रुः ।

रन्जाकर्मभमसुत्रचलत्
कङ्कषी कुण्डले च

रिवर्धं वक्त्रं कवरविगल-
न्मासती निर्ममन्थ ॥ ३ ॥

श्रीगुह्येवमी कहते हैं—परीक्षित । एक सम्म-
न्धी बात है, नन्दरानी यशोदाजीने घरकी दासियोंको तो
दूसरे कमरेमें छाया दिया और स्वयं (अपने छत्रकी
ममलन स्थितिके छिये) दही मन्थने लगी ॥ १ ॥
मैंने तुमसे अन्ततः भगवान्की जिन-जिन बात-की-बातोंका
वर्णन किया है, दधिमन्थनके समय वे उन सबका
स्मरण करतीं और गङ्गी भी जाती थी ॥ २ ॥
वे अपने लघू कटिभागमें सुतेसे बाँधकर रेसमी कर्षण
पहनने हुए थीं । उनका स्नानमेंसे पुत्र-स्नेहकी अविच्छादसे
दूध चूस जा रहा था और वे कौप भी रहे थे । नेत्र
खींचते खनेसे बाँहें कुछ बक गयी थीं । हाँपों काँप
और कानोंके कर्णाग्र छिछ रहे थे । मुँहपर पसीनेकी
बूँदें बहक रही थीं । चोटीमें गुँथे हुए माखनीके सुन्दर
पुष्प गिरते जा रहे थे । सुन्दर मौँझाकी कपड़ेवा इस
प्रकार दही मथ रही थीं ॥ ३ ॥

१. कदम्बपिप्लवाय ।

● इस प्रसङ्गमें 'एक समय' का तात्पर्य है कालिक मास । पुराणोंमें इसे 'वामदेवमास' कहते हैं । इन्द्र-नगके
अन्तरपर बालिवीच वृक्षे कमरेमें छाया बना स्वामन्थिक है । 'नीपुक्तासु'—इस पक्षसे अनित होता है कि कपड़ेवा मथाने
कर्म-वृत्तकर दासियोंकी दूधने कमरेमें छाया दिया । 'यशोदा'—नाम उसके करनेका अभिप्राय यह है कि अपने विद्वत्
वातस्वप्रेमके व्यवहारसे पदार्थरक्षाकी भगवान्की भी प्रेमाधीनता मन्थनस्वभावे कारण अपने मन्थनके क्षणों में वे अपने
'प्राण' की बेटी हैं । 'प्रेमस्व' मन्थनके वातस्वप्रेमके आकर्षणसे लक्षितमन्थ-परमानन्दस्वस्व श्रीमद्भागवत मन्थनस्वस्वसे
कर्ममें अन्तरीक्ष होकर कर्मके क्षेत्रोंको आनन्द प्रदान करते हैं । कर्मस्व इस अभावात् परमानन्दका रसास्वादन करनेमें
मन्थनका ही कारण है । उन मन्थकी दधिभी होमेसे इन्हें 'अन्तर्गोहिनी' कहा गया है । लघु ही मन्थ गेहूँकी और 'रिवर्ध'-
ये वा पद इस बातके सूचक है कि दधि-मन्थनकर्म उनके योग्य नहीं है । फिर भी पुत्र-स्नेहकी अधिकतासे वह सोचकर
कि मैंने अन्तर्गोहिनी होकर मन्थन ही मन्थ है, वे स्वयं ही दधि मथ रही हैं ।

† इस शब्दकर्म मन्थके स्वस्वस्व निरूपण है । शरीरसे दधिमन्थनकर्म सेवाकर्म हो रहा है, इन्द्रायें स्तरकी बाप
छठ प्रकाशित ही रही है बायीं बास-परिचयका संगीत । मन्थके जन, मन वक्त्र—उस अपने प्यारेकी सेवामें लम्पन है ।
लघु अमूर्त पदार्थ है । वह सेवाके रूपमें ही व्यक्त होता है । स्नेहके ही निजलनिरोध है—लघु और संगीत । यशोदा मन्थ-
के बीचमें इस समय राम और मेघ दोनों ही प्रकट हैं ।

‡ कर्ममें रेसमी कर्षण जोरीसे कलकर बैठा हुआ है अर्थात् जीवनें व्याख्य, प्रमाद, मन्थनका भी नहीं है । सेवा-
कर्ममें पूरी लक्ष्यता है । रेसमी कर्षण दधिमें पाने हैं कि कौन प्रकारकी अपवित्रता यह गयी तो मैंने कदम्बको कुछ हो
बायगा ।

माथके इन्द्रायें लघु-स्नेह—दूध कानके मुँह का छाया है जुहुमा रहा है बाहर लौक रहा है । स्पामसुन्दर भावें
उनकी दधि पक्षे मुहुर पक्षे और वे पक्षे माथका व कलकर हुसे ही पीने—यही उसकी लक्ष्यता है ।

कानके कौन्तेका अर्थ यह है कि उसे जर भी है कि कौन मुने नहीं मिया तो ।

तांस्तन्यकाममासाद्य मध्वन्तीं जननीं हरिः ।

गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यपेक्षत् प्रीतिमावाहन् ॥ ४ ॥

तमङ्गमास्तुमपाययत् स्तनं

म्लेहस्तुतं सखितमीषवी धृतम् ।

अस्तुमस्तुम्य जवेन सा यया

बुत्तिष्यमाने पयसि त्वधिभिते । ५ ॥

संज्ञातकोपः स्फुरितारुणाक्षर

संदधय दग्निर्दधिमन्थमाजनम् ।

१ छन्दः । २ उक्ता । ३ ययः ।

कङ्कय और कुङ्कल मच-नाथकर मैयाको बघाई दे रहे हैं । बघोया मैयाके हाथोंके कङ्कय इसविधे संकर जनि कर रहे हैं कि वे आज उन हाथोंमें रह कर बन्ध हो रहे हैं कि वो हाथ भगवान्की सेवामें लगे हैं । और कुङ्कल यद्यदा मैयाके ब्रह्मसे छीका-गान कुनकर परमानन्दसे मिलते हुए कानोंकी लक्ष्मणाकी च्चना दे रहे हैं । हाथ पही धन्य हैं जो भगवान्की सेवा करें और कम वे धन्य हैं किन्तमें भगवान्के छीका-गुण-गानकी सुभाषाया प्रवेश करती रहे । मुँहमें स्नेह और माकलीके पुष्पोंके नीचे गिरनेका ध्यान माताको नहीं है । वह मङ्गल और धीरे भूल चुकी हैं । अथवा माकलीके पुष्प स्वयं ही चोखियोंसे कूटकर चारोंमें गिर रहे हैं कि ऐसी वात्सल्यमयी माके चरनोंमें ही रहना सोमन्य है, हम निरपरा रहनेके अधिभरी नहीं ।

● हरयमें छीकाकी सुखस्तुति हाथोंसे दधिमन्थन और मुहसे छीकागान—इस प्रकार मन तन बचन तीनोंका श्रीकृष्णके साथ एकठाउन संकीर्ण होते ही श्रीकृष्ण काकर 'मन्थ' पुकारने लगे । अथवा भगवान् श्रीकृष्ण अपने दु-पट्टे पे । माकली स्नेह-साधनाने उन्हें जगा दिया । वे निर्गुणसे लग्न हुए, मचलसे चढ़ हुए, निष्कामसे नशाम हुए स्नेहके भूले-प्राप्ति माके पाठ आये । क्या ही सुन्दर नाम है—'सात्विकम्' । मन्थन करते समय भय बैठी हाथोंके पाठ नहीं ।

लज्ज भगवान् साधनकी प्रेरणा देते हैं अपनी ओर आहूत करते हैं—परन्तु मयानी पकड़कर मैयाको रोक लिया । 'मम ! अब तेरी आचना पूर्व हो गयी । निष्-प्रेम करनेसे क्या स्वयं ? अब मैं मेरी खपनारा 'तन' अधिक मार नहीं कर सकता ।' मा प्रेमसे बच गयी—निहाल हो गयी—मेरा धन्य मुझे इतना पालना है ।

† मैया मना करती रही—लेक-का माकल तो निकल छेदे दे । ऊँ-ऊँ-ऊँ मैं तो दूध पीऊँगा—इतनी हाथोंसे मैयाकी कमर पकड़कर एक पोंच मुटनेपर रक्ता और गोदमें बंद गये । मनका दूध बरत पड़ा । मैया दूध नियन्त्रे लगी लाला मुसफ्फने लगे और मुसफ्फनपर कम गयी । 'सखी' पदम यह अभिप्राय है कि जब सखी मुँह उठाकर दंगला और मेरी औरों उधर लगी मिलेंगी तब बड़ा मुन होगा ।

समने पधनका गणका दूध मस हो रहा था । उसने सोचा—स्नेहमयी मा यद्यपि दूध बन्धी कम न हवा एवामुत्तरकी प्याल कभी मुझे नहीं । उनमें परस्पर दोह लगी है । मैं बैयरा मुग-मुगारा कम कमरा एवामुत्तरके दोहोका हर्षा करनेके लिये ब्याकुल तब तरकर मर रहा हूँ । अब इन जीवनम बसा साथ जो श्रीकृष्णक धन्य म आये । इससे भगवा है उनकी औरोंके श्रमने आगये बूढ़ पहना । आपके नेत्र धँस गये । दयाल माका श्रीकृष्णका भी धन्य न रहा उन्हें एक ओर काकर दोह पड़ी । यह भगवान्को एक ओर गणकर भी दुःखिपत्री रहा परम है । भगवान् मरुत ही रह गये । बस मणिके हृदय-रत्नने स्नेहने उन्हें बन्धी मुनि द' लगी है । लगी निगम उनका एक नाम दूध—'अमृत' ।

उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण स्तन पीनेके लिये दही मसती हुई अपनी माताके पास आये । उन्होंने अपनी माताके हृदयमें प्रेम और आनन्दको और भी बढ़ाते हुए दहीकी मयानी पकड़ ली तथा उन्हें मफनेसे रोक दिया ॥ ४ ॥ श्रीकृष्ण माता पयोदानी गोदमें बंध गये । वात्सल्य-स्नेहकी अविवक्षासे उनके स्तनोंसे दूध तो स्वयं सर ही रहा था । वे उन्हें नियन्त्रे लगीं और मन्द-मन्द मुसकानसे मुक्त बनकर मुह देखने लगीं । इतनेमें ही दूसरी ओर औरोंकीपर रखते हुए दूधमें उमग आया । उसे देखकर पयोदानी उन्हें अतुल ही छेबकर जन्मसे दूध उतारनेके लिये बन्धी गयीं ॥ ५ ॥ इससे श्रीकृष्णको कुछ कोष आ गया । उनके लक्ष्मण होठ फटने लगे । उन्हें दोनोंमें दबाकर श्रीकृष्णने पास ही पड़ हुए गेहसे दहीका

मिस्वा मृषामूर्ख्यदम्भना रहो

अथास हैयज्ञस्यमन्तरं गतः ॥ ६ ॥

उत्तार्य गोपी सुमृतं पयः पुनः

प्रविश्य संदश्य च दम्भमत्रकम् ।

ममं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म त

अज्ञास सं पापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥

उत्सललाङ्घनेरुपरि व्यवस्थित

मर्कय काम ददर्श क्षिपि स्थितम् ।

हैयज्ञं चौर्यविशङ्कितेक्षणं

निरीक्ष्य पश्चात् सुतभागमच्छनैः ॥ ८ ॥

तामाचपटिं प्रसमीक्ष्य सत्वर

स्ततोऽवकृत्पापसमार भीतवत् ।

मद्यत्र फोब-मद्य बाख, कनाबटी बौसू बौखमें मर
खिये और दूसरे घरमें जाकर अनेकमें बारी मरुन
खाने ख्यो ॥ ६ ॥

यशोदाजी बौटि हुए दूधको उतारकर फिर अपने
घरमें लथी आयी । वहाँ देखनी हैं तो दहीमय मद्यत्र
(कम्बेर) टुकड़े-टुकड़े हो गया है । वे समझ गयीं
कि यह सब मेरे छावकी ही करदा है । सच ही
उन्हें वहाँ न देखकर यशोदा माता हँसने लगी ॥ ७ ॥
हर-उपर हँसनेपर पता चला कि श्रीकृष्ण एक छट्टे
हुए ऊखपर लड़े हैं और छीकेरकर माखन ले-लेकर
बंदरोंको खूब छुटा रहे हैं । उन्हें यह भी बर है कि
कहीं मेरी चोरी कुछ न जाय, इसलिये चौकाने होकर
चारों ओर ताकते जाते हैं । यह देखकर यशोदाजी
पीछेसे धीरे-धीरे उनके पास जा पहुँची ॥ ८ ॥ जब
श्रीकृष्णने देखा कि मेरी मा हाथमें छड़ी लिये मेरी
ओर जा रही है, तब हात्से ओखड़ीपरसे झूट पड़े और

● श्रीकृष्णके होठ कड़के । क्रोध होनाका स्पष्ट पाकर कृष्ण रो गया । सब-सब होठ खेत खेत वृषकी हँसिमें
बसा दिखे गये मानो उत्सव रविवार पर शासन कर रहा हो । हाथपर धनिके दिशा दे रहा हो । वह क्रोध उठ
बहिष्करणके मटकेपर । तबमें एक असुर आ बैठा था । दम्भने कहा-काम क्रोध और अतृप्तिके बाद मेरी बारी है ।
वह औसू बनकर औलोंमें छलक आया । श्रीकृष्ण अपने मछलीको प्रति अपनी मम्माकी धारा उड़कनेके लिये
क्या-क्या माव नहीं अम्माते । वे काम क्रोध क्रोध और दम्भ भी आस ब्रह्म-संस्कार प्राप्त करके बन्य हो गये ।
श्रीकृष्ण घरमें सुककर बारी माखन गटकने लगे मानो माको दिला रहे हो कि मैं कितना भूखा हूँ ।

प्रेमी मछलीके पुत्रवर्ग मगवान् नहीं हैं, मगवान्की सेवा है । वे मगवान्की सेवाके लिये मगवान्की मी खाता
कर सकते हैं । मैयाके अपने हाथों कुछ हुआ यह पचगम्भा गानकी वृष श्रीकृष्णके लिये ही गरम हो रहा था । दोषी
देरके बाद ही उनको मिलना था । वृष उठन आया तो मेरे बाबा भूले रहेंगे—पेरेंगे, इवीमिये मगवान् उन्हें नीचे
उतारकर वृषका चँमास ।

† यशोदा माता दूधके पास पहुँची । प्रेमाका अद्भुत दृश्य । पुत्रको गोदसे उतारकर उसके पैरोंके प्रति इतनी
प्रीति क्यों ? अपनी छातीका दूध तो अपना है वह कभी जाता नहीं है । परन्तु यह धरती छटी हुई गायोंके दूधके
पासित पचगम्भा गायरा दूध फिर क्यों मिलेगा ? गुन्दाजनका दूध अपाकृत विषय प्रेममयलक्ष दूध—माको आते देतकर
धर्मसे बच गया । भयो ! आगमें कूदनेका सट्टस्य करके मैंने माके होहान्मयमें कितना बड़ा विष शस्त्र ! और मा
अन्ना आनन्द सादर मेरी रक्षाके लिये दोड़ी आ रही है । मुझे थिकार है । वृषका उठना बंद हो गया और वह
तत्काल अपने स्थानपर बैठ गया ।

‡ मा ! तुम अपनी गोदमें नहीं बैठाओगी तो मैं कितनी लक्ष्मी गोदमें जा देहूँ—बरी मेककर मनो
श्रीकृष्ण उम्मे ऊगगके ऊपर आ बैठे । उधार पुत्र मले ही लयेंगी मंगलमें जा बैठ परन्तु उनका धीम-
मय बरम्भा नहीं है । ऊगगपर बैठकर भी वे बम्बरोंको मगवान् बौटने लगे । मगवान् दे रामावतारके प्रति जो
हुज्जाता मार उठ्य हुआ था उसके बाव्य अथवा अभी-अभीक्रोध आ गया था उसका प्रावभित्त करनेके लिये ।

श्रीकृष्णके नेत्र हैं चौर्यविशङ्कित ध्यान करने धाम्य । वेमे तो उनके मज्जि बम्भि ठमिन् बम्भि, पमिन्
अरि अनेकों प्रसारक ध्येय नेत्र हैं परन्तु वे प्रेमी कर्तोंके दृश्यमें गरी चोट करने हैं ।

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।

पूर्वाग्रं बहिधान्तर्जगतो यो जगत्त यः ॥१३॥

नं मत्वाऽऽरम्भमध्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोऽक्षयम् ।

गोपिकोत्सवले दास्य। बचन्ध प्राकृत यथा ॥१४॥

तद्द शम वष्यमानस स्वार्मकस्य कृतागसः ।

द्रष्टुल्लोभमभूतेन संदधेऽन्यथा गोपिका ॥१५॥

भीष्मका मेकान्म वेलाकर मेकका हृदय भर भावा, वात्सव्य-स्नेहके सगुहमें न्यार आ गया । वे सोचने लगी—
छात्र मत्स्यत कर गया है । कहीं छेड़नेपर यह भागकर वनमें चला गया हो क्यों-क्यों मरकटा छिरेगा, सूखा-प्यावा रहेगा ।
इतकियं थोड़ी देरतक योंप्रर रख हैं । वृष-माखन वैपार होनेपर मना खेंगी । यही छेच-विचारकर मरुताने बौचनेका निम्न
किया । बौचनेमें वात्सव्य ही रेषा था ।

मरुतान्के ऐश्वर्यका अमान दो प्रकटका होता है, एक तो खाचारण प्राकृत जीवोंको और दूसरा मरुतान्के नित-
सिद्ध प्रेमी परिकरको । यद्योना मेका आदि मरुतान्की स्वस्मभूता किन्तुभी अक्षयके अप्राकृत नित सिद्ध परिकर हैं । मरुतान्के
प्रति वात्सव्यमव धिष्ट प्रेमकी गादुलाके कारण ही उनका ऐश्वर्य ज्ञान अभिभूत हो जाता है; अन्यथा उनमें अमान्ती
सम्भवना ही नहीं है । इनकी स्थिति दुर्गिमावस्था अथवा समाधिष्य भी अतिक्षम्य करके एवम प्रेममें रहती है । यहाँ प्राकृत
अमान, मोह रजोगुण और रमोगुणकी तो बात ही क्या, प्राकृत लक्ष्यकी भी गति नहीं है । इतकिये इनका अमान भी
मरुतान्की छीलाकी निश्चिन्ने लिये उनकी छीलापछिछ ही एक चमत्कारविशेष है ।

तभीतक हृदयमें जड़ता रहती है अस्तक वेतनका स्वरूप नहीं होता । भीष्मके हाथमें आ जानेपर पक्षेय
मरुताने यौनरी छोड़ी चेंक दी—यह सर्वथा स्वाभाविक है ।

मेरी तुमका अपान छोड़कर छोटी-छोटी बसुपर दृष्टि अमान केका अर्थ छानिक ही देव नहीं है, इसे ही
आँसुसे ओसल कर देवा है । परन्तु एक कुछ छोड़कर मेरे पीछे चौड़ना मेरी प्रातिपक देव है । क्या मेवाके बरिखे इस
बातकी सिद्धा नहीं भिद्यती ।

मुझ भागियोंारी भी बुद्धि नहीं पकड़ लक्ष्मी परन्तु जो एक ओरसे मुँह थोड़कर मेरी ओर चौड़वा है, मैं उठती
मुझमें आ जाता हूँ । यही छेचकर मरुतान् यद्योलाके हाथों पकड़े गया ।

० इम स्वरूपमें भीष्मकागी ब्रह्मरूपता बतायी गयी है । उपनिषदोंमें जैसे ब्रह्मका वर्णन है—अमूर्तम् अनपरम् अमरम्
अक्षयम् इत्यादि । यही बात यहाँ भीष्मके सम्पन्धमें है । वह सर्वाधिष्ठान, सर्वलक्ष्मी, सर्वान्वित, सर्वोपादान
एवं गर्वका मरु ही यद्योला माताके प्रेमके बाध रेंचने आ रहा है । कथनरुता होनेके कारण उनमें किसी प्रकारकी
अमानि या अनौचित्य भी नहीं है ।

† यह छि कभी कठिनतर आकर न बैठे इसके लिये ऊपरछोटे बौधना ही उचित है । क्योंकि ललका अधिक
का दोनस उगमे मनमें उद्वेग हो जाता है ।

यं उग नो पार ही है बर्ताइ इतने कटिपाके खोरी करनेमें गहाका नी है । दोनोरो कथनयोग्य दैतकर ही
यद्योला माताने दोनोरो बौधनेका उदाग किया ।

‡ यं न मया चो-चो आने स्नेह समझा आदि गुण (वस्तुओं या स्थितियों) से भीष्मका पेट आने
लक्ष्मी लो-लो अन्ती नित्यमुक्तता राजनका आदि कर्तुणोंमें मरुतान् आने स्वकपका प्रकट करने लगे ।

जिसमें न बाहर है न भीतर, न बादि है
और न अन्त, जो जगत्के पक्षे भी थे, बादमें भी
रहेगे, इस जगत्के भीतर तो हैं ही, बाहरी रूपोंमें भी
हैं, और तो क्या, जगत्के रूपोंमें भी स्वयं पक्षी हैं, *
पक्षी नहीं, जो समस्त इन्द्रियोंसे परे और अव्यक्त हैं—
उन्हीं मरुतान्को मनुष्यका-सा रूप धारण करनेके
कारण पुत्र सम्पन्नकर यद्योलाकी रस्तीसे ऊसऊमें छेक
जैसे ही बाँध देती हैं, जैसे कोई साधारण-सा कल्ला
हो ॥ १३ १४ ॥ जब मरुत यद्योला अने
ऊखी और नटखट कबकेको रस्तीसे लँबे
छन्ने, तब वह दो अंगुल छोटी पड़ गयी । तब
ऊन्होंने दूसरी रस्ती छकर छतमें जोड़ी ॥ १५ ॥

यदाऽऽसीत्तदपि न्यून तेनान्यदपि संबधे ।

तदपि द्रष्टुं न्यून यद् यदाश्च बन्धनम् ॥१६॥

एव स्वगेहदामानि यथोदा संबधत्यपि ।

गोपीनां मुसफन्दीनां सयन्ती विभिवामवत् ॥१७॥

स्वमातुः स्थिरगात्राया विस्तृतकधरस्रजः ।

जब वह भी छोटी हो गयी, तब उसके साथ और जोड़ीक । इस प्रकार वे ओं-ओं रस्ती छती और जोड़ी गयीं, त्यों-त्यों जुबनेर भी वे सब दो-दो अंगुल छेटी पकती गयीं ॥ १६ ॥ यथेद-रानीने घरकी सारी रस्तियों जोड़ बाँध, फिर भी वे भगवान् श्रीकृष्णको न बाँध सकी । तबसे वसकृष्णपर रोषनेवाली गोपियों मुसफराने लगी और वे स्वयं भी मुसफराती हुई आकर्षचकित हो गयीं ॥ १७ ॥ ॥ मागवान् श्रीकृष्णने देख कि मेरी मकान शरीर फसीनेसे छपप हो गया है, चोटीमें गुँथी हुई माथरें गिर गयीं

* १ संकृत-वाक्यमें भूगुण कम्पके अनेक अर्थ हैं—समुदाय उत्पन्न आदि गुण और रस्ती । स्रज रत्न आदि गुण भी भक्ति ब्रह्मचर्याक निरोधनाय भगवान्का दाव नही कर सकते । फिर वह छोटा-सा गुण (वो निरोध रस्ती) उन्हें कैसे बाँध सकता है । यही कारण है कि यथादा माताभी रस्ती पूरी नहीं पकती थी ।

२ संसारके विषय इन्द्रियोंको ही बाँधनेमें समर्थ हैं—विरिच्यति इति विख्या । वे हृदयमें स्थित भवतामी और धृष्टिसे नहीं बाँध सकते । तब ग्रे-कम्पक (इन्द्रियों वा यथोदा बाँधनेवाली) रस्ती या पति (इन्द्रियों वा गायोंक स्वामी) को कैसे बाँध सकती है ।

३ वेदान्तके सिद्धान्तानुसार अमृतत्वमें ही बन्धन होता है, अभिज्ञानमें नहीं । भगवान् श्रीकृष्णका उतर अनन्त-छेटी ब्रह्मचर्याक अभिज्ञान है । उसमें भ्रम बन्धन कैसे हो सकता है ।

४ भगवान् जिसको अपनी कृपापरायणपूर्ण इच्छासे देख लेते हैं, वही सर्वदाके लिये बन्धनसे मुक्त हो जाता है । यथोदा माता अपने हाथमें जो रस्ती उठातीं, उसीपर श्रीकृष्णकी इच्छा पड़ जाती । वह स्वयं मुक्त हो जाती फिर उसमें गाँठ कैसे बनाती ।

५ कोई चाहेक यदि अपने गुणके द्वारा भगवान्को रिक्तता पारे तो नहीं रिक्त करता । मानो वही व्यक्ति करनेके लिये कार्य भी गुण (रस्ती) भगवान्के उदरको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हुआ ।

† रस्ती दो अंगुल ही कम क्यों हुई ! इसपर कहते हैं—

१ भगवान्ने सेवा कि जब मैं छत्रछत्रय मकानोंको धारण होता हूँ तब मेरे साथ एकमात्र वस्तुगुणसे ही सम्बन्धकी स्मृति होती है रज और तमसे नहीं । इसलिये उन्होंने रस्तीका दो अंगुल कम करके अपना माथ प्रकट किया ।

२ उन्होंने विचार किया कि कौन नाम और कम होते हैं वही बन्धन भी होता है । मुक्त परमात्मामें बन्धनकी कल्पना कैसे ! बर कि ये बानों ही नहीं । दो अंगुलीक कमीक वही रहस्य है ।

३ दो इच्छा उद्धार करता है । वही कि वाञ्छित करनेके लिये रस्ती दो अंगुल कम पड़ गयी ।

४ भगवान्का ते देवानुपजी भी मुक्त हो जाता है और भगवान् भी प्रेम्से बंध जाता है । यही बन्धन भगवत्प्रेम के लिये रस्ती दो अंगुल कम हो गयी ।

५ यथादा माताने छोटी-बड़ी अनेकों रस्तियों अलग-अलग और एक साथ भी भगवान्की कमरमें समझाया, परन्तु वे पूरी न पड़ी क्योंकि भगवान्ने डाट-बहेक करके भेद नहीं है । रस्तीमें कदा-भगवान्के समान अनन्तता बनादिता और विमुक्त इत्यर्थोंमें नहीं है । इसलिये इनको बाँधनेकी बात बंद करा । अथवा वेन मणियों समुद्रमें समा जाती हैं तेरे ही करे गुण (नारी रस्तियों) अनन्तगुण भगवान्ने जीन हो गये अपना नाथ-रूप को बँडे । यही दो मात्र वस्तु करनेके लिये रस्तियोंमें दो अंगुलभी न्यूनता हुई ।

‡ वे मन-ही-मन लोचनी—इसकी कमर मुड़ीमर की है फिर भी लेकहो हाथ लंबी रस्तीने घर नहीं बंधता है । कमर तिर्यग्गम भी मेरी नहीं होती रस्ती एक अंगुल भी छोटी नहीं होती फिर भी वह बंधता नहीं । ऐसा आश्चर्य है । हर बार दो अंगुली ही कमी होती है न तीनसे न चारकी, न एककी । यह सेवा अजीबक चमत्कार है ।



मैयासे छरे हुए भगवान्

न चान्तर्न परिहस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।

पूर्वाग्रं महिमान्तर्जगतो यो जगद्य यः ॥१३॥

नं मत्वाऽऽत्मब्रमन्वत्सं मर्त्यलिङ्गमभोद्यजम् ।

गोपिकोल्लसले दास्य। बबन्ध प्राकृत यथा ॥१४॥

तद्व दाम बध्यमानस्य स्यामकस्य कृतागसः ।

द्वयहुलानमभूतान मन्दवेऽन्यथ गोपिका ॥१५॥

निसमें न बाहर है न भीतर, न बादि है और न अन्त, जो जगत्के पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे, इस जगत्के भीतर तो हैं ही, खड़ी रूपमें भी हैं, और तो क्या, नमस्तक रूपमें भी खायं बसी हैं, * यही नहीं, जो समस्त इन्द्रियोंसे परे और अन्यक्त हैं—उन्हीं भगवान्को मनुष्यकृत्सा रूप धारण करनेके कारण पुत्र समग्रकर यशोदाराणी रस्तीसे छलकमें छेक बेसे ही योंच देखी हैं, जैसे कोई साधारण-स्र बळका हो ॥ १३ १४ ॥ जब माता यशोदा अपने ऊपर ही और नटखट छलकेको रस्तीसे बाँधने लगीं, तब वह दो अंगुल छोटी पड़ गयी । तब उन्होंने दूसरी रस्ती धाकर उसमें जोड़ी ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णका मोक्षान देलकर मैयाका डरब मर गया, बात्सल्य-स्नेहके समुद्रमें स्वार आ गया । वे सोचने लगीं—सका अस्सत् डर गया है । कहीं छाड़नेपर यह मागकर बनमें खड़ा गया तो कहीं-कहीं मरकटा फिरंग भूला-प्लाटा रहेग । इन्तिय पाकी देरतक चौकडर रण हैं । दूध माकन वैमार होनेपर म्मा खूँगी । यही खेच-विचारकर माताने बाँधनेअ निम्न किया । बाँधनेने बात्सल्य ही देव था ।

भगवान्क देशर्षका अङ्गन दो प्रकृतका होता है, एक तो खचारण प्राकृत कौनोंके और दूसरा भगवान्के नित्य सिद्ध प्रेमी परिहरको । यशोदा मैया आनि भगवान्की स्वस्मयूता किमभी कीजके अग्राकृत नित्य-सिद्ध परिहर हैं । भगवान्के प्रति पात्सल्यभार शिशु प्रेमरी गद्गताके कारण ही उनका देशर्ष-कान अभिभूत हा जाता है अन्वया उनमें भगवान्की धन्यवता ही नहीं है । इनरी स्थिति तुरीयावस्था अवका समाधिअ भी अतिक्रमण करके चहब प्रेममें रहती है । यही प्राकृत अङ्गन। मां रजोगुण और समानुषधी ता बल ही क्या प्राकृत करमी भी गति नहीं है । इसलिये इनकर अङ्गन भी भगवान्की सीमाती निद्रिके लिये उनमी कीजयकिष्ठा ही एक वास्तव्यविशेष है ।

तभीकट हृदयमें खड़ा रहनी है अवतक केतनका खुरन नहीं होता । श्रीकृष्णके हाथमें आ जानेपर यशोदा माताने बाँधरी छड़ी पेंक दी—या गर्वा स्वाभाविक है ।

मरी तुमका प्रसन्न छोड़कर छोटी छोटी बस्तुअ दखि हाकन केक अर्पणनिअ ही देव नहीं है मुझे मी भौंन्तमे भक्त्य पर देव है । परन्तु तब कुछ छोड़कर मेरी पीछे छोड़ना मेरी प्रातिष्ठा देव है । क्या मैयाके बरितसे हम बागरी प्रिया नहीं मिनी ।

दूध कागिरी भी बुद्धि नहीं पकड़ लक्ष्मी परन्तु जो तब ओरसे मुँह मोड़कर मेरी आर छोड़ता है, मैं उसरी मुझमें आ जाता हूँ । यही स्वप्न भगवान् यशोदाक हाथों पकड़े गये ।

● इस स्थितिमें श्रीकृष्णरी प्रसन्नका बतायी गयी है । उपनिषदमें जैसे ब्रह्मरूप वर्णन है—परार्थ्य अनपरम् अन्तराय अलक्ष्म इति । श्री बाउ यों श्रीकृष्णक सगुणमें है । पर नवाधिज्ञान धर्माधी सगौन, सगौतायमी, सगौयदान पर गर्वक प्रस ही यशो । माताक प्रेमके बल बँधने आ रहा है । कथनक होनेके कारण उनमें निनी प्रभारपी भगवती या श्रीनिधि भी नहीं है ।

† पर धि कभी उगलार अरु न बैठ इसके लिये उठाएने बाचना ही उचिता है । क्योंकि लक्ष्मी अधिक लड़ हा सर उगम काने उग हा जाता है ।

यद उग ॥ ५ पर ही है कर्त्तव्य इगने कटोयके पीछे करनेमें गहारा की है । सोनोरो कथनयोग देलकर ही बाउ माताने दान हा कथनका उदाग दिया ।

+ या ग माउ 'गे' के आने सेह म्मा अदि मुझे (गद्गुता वा रहिगो) ने श्रीकृष्णक पैठ मरने लगे लगे अमी निद्रकता हाकनक अ कटुगने भगवान् भरने स्वकनक प्रकट करने को ।

यदाऽऽसीचदपि न्यून तेनान्यदपि संदधे ।

तदपि द्रव्यकुलं न्यून यद् यदाश्च पथनम् ॥१६॥

एष खगेददामानि यशोदा संदधत्यपि ।

गोपीनां सुसपन्तीनां सयन्ती विक्षिताभवत् ॥१७॥

स्वमातुः स्विभगात्रापा विस्तस्तकवरस्रज ।

जब यह भी छोटी हो गयी, तब उसके साथ और जोड़ी। इस प्रकार वे ज्यों-ज्यों रस्ती छसी और ब्योझी गयीं, त्यों-त्यों सुहनेर भी वे सब दो-दो अंगुल छोटी पड़ती गयीं ॥ १६ ॥ यशोदा-रानीने करी सारी रस्तियाँ जोड़ बाँधी, फिर भी वे भगवान् श्रीकृष्णको न बाँध सकीं। उनकी असफलतापर देखनेवाली गोपियों मुसकराने लगीं और वे खप भी मुसकराती हुई आश्चर्यचकित हो गयीं ॥ १७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरी माता शरीर पलीमेसे व्यथित हो गया है, चोटीमें गुँथी हुई मान्यरें गिर गयीं

* १ संस्कृत-साहित्यमें 'गुण' शब्दके अनेक अर्थ हैं—स्वगुण तब आदि गुण और रस्ती। तब, तब आदि गुण भी मजिह ब्रह्मन्वायक शिखेरीनाथ भगवान्का स्वर्ग नहीं कर सकते। फिर वह छोटा-सा गुण (जो किचोरी रस्ती) उन्हें कैसे बाँध सकता है। यही कारण है कि यशोदा माताकी रस्ती पूरी नहीं पड़ती थी।

२ खंवारके नियम इन्द्रियों ही बाँधनेमें समर्थ हैं—निद्रियमि इति सिन्धवाः। ये हृदयमें स्थित अस्त्यामी और सद्योके नहीं बाँध सकते। तब ग्रे-कणक (इन्द्रियों या गवर्णों बाँधनेवाली) रस्ती गढ़ पति (इन्द्रियों या गवर्णों स्वामी) का कैसे बाँध सकता है।

३ वेदमन्त्रके सिद्धान्तानुसार अभ्यस्यमें ही कथन होता है, अभिधानमें नहीं। भगवान् श्रीकृष्णका उदर मन्त्र-कोटि ब्रह्माण्डोंका अभिधान है। उसमें भला कथन कैसे हो सकता है।

४ भगवान् बिलोके अपनी कृपाप्रसादपूर्ण दृष्टिसे देख लेते हैं, यही दर्शनके लिये कथनसे मुक्त हो जाता है। यशोदा माता अपने हाथमें जो रस्ती कटाती, उसीपर श्रीकृष्णकी दृष्टि पड़ जाती। वह स्वयं मुक्त हो जाती फिर उसमें गोंठ कैसे लगाती।

५ कोई चापक यदि अपने गुणोंके द्वारा भगवान्को रिताता चारे तो नहीं रिता सकता। मानो यही सूचित करनेके लिये कोई भी गुण (रस्ती) भगवान्के उदरका पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हुआ।

† रस्ती दो अंगुल ही कम क्यों हुई। इसपर कहते हैं—

१ भगवान्ने सोचा कि जब मैं शूद्रहृदय भक्तकोंको धर्मान देता हूँ तब मेरे चाप एकमात्र शरगुणसे ही सम्भवकी दृष्टि होती है, तब और तमसे नहीं। इसलिये उन्होंने रस्तीका दो अंगुल कम करके अपना भय प्रकट किया।

२ उन्होंने विचार किया कि क्यों नाम और रूप होते हैं यही कथन भी होता है। मुक्त परमात्मामें कथनकी कल्पना कैसे। जब कि य दोनों ही नहीं। दो अंगुलकी कमीका यही प्रत्यक्ष है।

३ दो हथौड़ा उठार करना है। यही किया सूचित करनेके लिये रस्ती दो अंगुल कम पड़ गयी।

४ भगवत्कृपासे देवतानुगामी भी मुक्त हो जाता है और भयङ्ग भी घेसते देव जाता है। यही दानों मध्य सूचित करनेके लिये रस्ती दो अंगुल कम हो गयी।

५ यशोदा माताने छोटी-बड़ी अनेकों रस्तियों अग्रा-अग्रा और एक माथ भी भगवान्की कमरमें लगायी, परन्तु वे पूरी न पड़ी क्योंकि भगवान्ने छोटे-बड़ेका कोई मेल नहीं है। रस्तिमयि ब्रह्म—भगवान्के समान अनन्तता अनादिता और विमुक्ता हमेशागोमें नहीं है। इसलिये इनको बाँधनेकी बात बंद कर। अपरा बेत मर्षों समुद्रमें समा जाती हैं वेते ही छोटे गुण (मापी रस्तियाँ) अनन्तगुण भगवान्में लीन हो गये अपना नाम-रूप तो बैठे। यही दो भय सूचित करनेके लिये रस्तिमयि दो अंगुलकी म्यूनता हुई।

† वे मन-ही-मन सोचतीं—इसकी कमर मुझीपर की है फिर भी सैकड़ों हाथ लंबी रस्तीने यह नहीं बँधता है। कमर सिन्धवा भी मंडी नहीं होती रस्ती एक अंगुल भी छोटी नहीं होती फिर भी वह बँधता नहीं। क्या आश्चर्य है। हर बार दो अंगुलकी ही कमी होती है न लीनमें न बाधकी, न एककी। यह कैसा अत्यधिक चमत्कार है।

इष्टा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने ॥१८॥

एवं संदर्शिता ब्रह्म हरिणा मृत्युबन्धता ।

स्वबन्धेनापि कृष्णेन मृत्युदेव सेव्यः पश्ये ॥१९॥

हैं और वे बहुत थक भी गयी हैं; तब कृष्ण परके वे स्वयं ॥ अपनी माँके बन्धनमें बँध गये ॥ १८ ॥
परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण परम सततम् हैं । मरणात्, इष्ट अस्तित्वे साप यह सम्पूर्ण जगत् उनके वशमें है । फिर भी इस प्रकार बँधकर उन्होंने संसारको यह बन्ध दिखाई दी कि मैं अपने प्रेमी मर्कोंके बन्धमें हूँ ॥ १९ ॥

१ भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि जब माँके हृदयसे हँस मचाना बुर नहीं हो रही है, तब मैं स्वयं अपनी अलक्षता क्यों मरुत करूँ । वो मुझे बड़ा सम्मत्ता है उसके बिने बड़ा होना ही उचित है । इसलिये वे बँध गये ।

२ मैं अपने मरुके छोटे-से गुणको भी पूर्ण कर देता हूँ—यह सोचकर भगवान्ने मरुका मरुके गुण (रस्ती) को अपने बँधने योग्य बना लिया ।

३ यद्यपि मुझमें अमृत, अमृत्यु कल्याण-गुण निवास करते हैं, तथापि उनका वे भगुरे ही खाते हैं, कलक मेरे मरु अपने गुणोंकी मुहर ऊपर नहीं लगा देते । यही सोचकर पशोरा मरुका गुणों (बालक्य, छेद आदि और रक्त) से अपनेको पूर्वोदर-शमोदर-बना लिया ।

४ भगवान् श्रीकृष्ण इतने योग्यहृदय हैं कि अपने मरुके प्रेमको पुत्र करनेवाला परीश्रम भी करने नहीं करते हैं । वे अपने मरुको परिश्रमसे मुक्त करनेके बिने स्वयं ही कल्याण स्वीकार कर लेते हैं ।

५ भगवान्ने अपने मरुमागमें कल्याण स्वीकार करके यह दर्शित किया कि मुझमें उत्कृष्टिसे कल्याण है ही नहीं क्योंकि वो बहुत भावे-पीछे, ऊपर-नीचे नहीं होती, केवल नीचेमें गहरी है, यह बहोती होती है । इसी प्रकार वह कल्याण भी बढ़ा है ।

६ भगवान् किसीकी शक्ति, साधन या खमयीसे नहीं बँधते । यद्योदासीके हाथों भामसुन्दरको न बँधते देखकर पक्ष-पक्षकी आक्षिप्त बहोती हो गयी और कल्याण की—यद्योदासी ! आत्मकी कला तो मुझीमरुकी ही है और छोटी-ही किसीकी इतने कन-धन कर रही है । अब वह इतनी दृष्टिकोसे नहीं बँधता तो जान पड़ता है कि विचित्राने इसके सहायमें कल्याण किया ही नहीं है । इसलिये अब हम यह उद्योग छोड़ दो ।

यद्योरा मैमाने कहा—चाहे कल्याण हो जब और गौवमरुकी रस्ती क्यों न बहोती करनी पड़े; पर मैं तो इसे बँधकर ही छोड़ूँगी । यद्योदासीका यह इष्ट देखकर भगवान्ने अपना इष्ट छोड़ दिया । क्योंकि यहाँ भगवान् और मरुके इतने विरोध होता है, यहाँ मरुका ही इष्ट पूरा होता है । भगवान् बँधते हैं तब जब मरुकी वक्षन देखकर कृपामरुत हो जाते हैं । मरुके भ्रम और भगवान्की कृपाकी कभी ही वो भ्रमकी कभी है । यद्यपि जब भक्त आँकर कल्याण है कि मैं भगवान्की बँध करूँ, तब वह उनके एक भ्रमक बुर यह जाता है और मरुकी मरुत करनेवाले भगवान् भी एक भ्रमक बुर हो जाते हैं । जब यद्योरा भगवा एक गयी, उनका शरीर पलीनेसे क्षयपक्ष हो गया तब भगवान्की सर्व-शक्तिचक्रवर्तिनी परम मास्वरी मयवती कृपा-शक्तिने भगवान्के हृदयका मास्वरी के समान प्रकट कर दिया और स्वयं प्रकट होकर उठने भगवान्की कल्याण-संक्षिप्तता और विद्युताको अन्तर्हित कर दिया । इसीसे भगवान् बँध गये ।

† यद्यपि भगवान् स्वयं परमेष्ठन हैं तथापि प्रेम-परमेश्वर होकर बँध जाना परम चमत्कारकारी होनेके कारण भगवान्का भूला ही है, भूलन मही ।

आत्मदयाम होनेपर भी भूल जाना पूर्णभ्रम होनेपर भी अज्ञान रहना; छात्र सत्यत्वक होनेपर भी श्रेय करना; स्यादभ्य-उपमीसे मुक्त होनेपर भी चोरी करना । मरुकाय मय आक्षिप्त मय वैनेवाले होनेपर भी डरना और भगवान्। मरुसे भी हीन गतिवाले होनेपर भी मरुके हाथों पकड़ा जाना । आत्मदयाम होनेपर भी भुली होना । येना सर्वभ्यापक होनेपर भी बँध जाना—यह सप भगवान्की सामासिक भक्तवस्तुता है । वो छोटा भगवान्को नहीं जानते हैं उनके बिने तो इसका कुछ उपयोग नहीं है परंतु वो श्रीकृष्णको भगवान्के रूपमें पहचानते हैं उनके बिने यह अमृत चमत्कारकी बलु है और यह देखकर—यनकर उनका हृदय प्रकट हो जाता है; अधिकमसे उत्तरोर हो जाता है । अये । निरवैधर प्रभु अपने मरुके हाथों उल्लसमें बँध हुए हैं ।

नेमं विरिञ्चो न भवो न भीरव्यङ्गसंभया ।

प्रसदं लेभिरे गोपी यत्तु प्राप विमुक्तिदात् ॥२०॥

नाम मुस्तापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।

ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२१॥

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः ।

अद्राक्षीदर्शुनी पूर्वं गुणकौ भनदात्मसौ ॥२२॥

पुरा नारदश्चापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् ।

नलकूपरमणिग्रीवाविवि स्मृतौ श्रियान्वितौ ॥२३॥

व्याजिनी यशोदाने मुक्तिदाता सुमुन्दसे जो कुछ
वनिर्भवभीय क्याप्रसाद प्राप्त किन्तु यह प्रसाद
महा पुत्र होनेपर भी, शाहूँर जात्या होनेपर भी और
कष्ट स्वरूप विराजमान छप्पी अर्धाङ्गिनी होनेपर
भी न पा सके, न पा सके ॥ २० ॥ यह
श्रेष्ठिकानन्दन भगवान् अनन्यप्रेमी भक्तोंके लिये
जितने सुख हैं, उतने वैद्याम्बिनी कर्मवन्धी
एवं तपस्वियोंको तथा अपने स्वरूपमूल ज्ञानियोंके
लिये भी नहीं हैं ॥ २१ ॥

इसके बाद नन्दरानी यशोदाजी तो करक कर्म-बंधोंमें
उलझ गयीं और उलझमें बैठे हुए भगवान् श्यामसुन्दरने
उन दोनों कर्जुन-वृक्षोंको मुक्ति देनेकी स्तेषी, जो पहले
यक्षराज कुसेरके पुत्र थे ॥ २२ ॥ इनके नाम
थे नलकूपर और मणिग्रीव । इनके पास धन, सौन्दर्य
और ऐश्वर्यकी पूर्णता थी । इनका धर्मद देखकर ही
देवर्षि नारदजीने इन्हें शाप दे दिया था और ये वृक्ष
हो गये थे ॥ २३ ॥

इति धीमन्नागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वविं

श्रेणीप्रसादो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

१ शाल्मली इत्यामुन्मूलकण्यो नाम ।

२ इस लक्ष्यके तीनो मन्त्रोंका अन्वय छविरे शिवाके साथ करना चाहिये । न पा सके, न पा सके, न पा सके ।

† कानी पुरुष भी भक्ति करें तो उन्हें इन चतुर्गुण भगवान्की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु बड़ी कठिनाईसे ।
उलझ-बंधे भगवान् छगुन हैं । वे निर्गुण श्रेणीको कैसे मिलेंगे ?

‡ स्वयं बंधकर भी कथनमें पड़े हुए बन्धोंकी मुक्तिकी श्रित्या करना कष्टकरक नर्तया होय है ।

॥ यशोदा माताजी इष्टि श्रीकृष्णसे इतकर कुसेर पड़ती है तब ये भी किन्ही कुसेरको देखन लगते हैं और ऐश्व
अपम मन्नाते हैं कि उनकी इष्टि उनकी ओर लीच आये । देखिये पूनना मन्त्रानुर गुणावत आदिवा प्रम ।

§ ये अपने मक्त कुसेरके पुत्र हैं वृक्षसिंघ इनका कर्जुन नाम है । ये देवर्षि नारदक द्वारा इदित
हिये थे कुसेर हैं इन्होंने भगवान्को उनकी ओर देला ।

किसे पारके भक्तकी प्राप्ति हो सकती है उलझ कष्ट करनेके लिये स्वयं बंधकर भी भगवान् जाने हैं ।

अथ दशमोऽध्यायः

यमसाधुनक्ष उवाच

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः क्षापस्य कारणम् ।

यत्तद् विगर्हितं क्रम येन वा देवर्षेस्तमः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुष्ठौ धनदात्मजौ ।

कौलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाभूषितलोचनौ ।

श्रीजनैरनुगायद्भिश्चैरतुः पुष्पिते बने ॥ ३ ॥

प्रन्तः प्रविश्य शक्तयामभोजनरागिनि ।

चिक्रीडतुर्ध्रुवदिभिर्गन्धर्विषुः करेणुभिः ॥ ४ ॥

यदृच्छया च देवर्षिर्मगनास्तत्र कीरव ।

अपश्यन्तारदो देवौ धीवाजौ समपुण्यतः ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा व्रीहिवा देवयो विरक्षा क्षापसङ्क्षिताः ।

वासांसि पर्यधुः क्षीघ्रं विरस्त्रौ नैव गुहादौ ॥ ६ ॥

तौ दृष्ट्वा मदिरामनो भीमदाधौ सुगरमजौ ।

तपोरनुप्रदार्पाय क्षार्प दाम्पनिम् अगौ ॥ ७ ॥

राजा परीक्षितने पृष्ठ— भगवन् । आप कृपया यह बातछाये कि नञ्कूर और मणिग्रीवों आप क्यों सिख ? उन्होंने ऐसा क्षेत्र-सा निन्दित कर्म किया था, जिसके कारण परम शान्त देवर्षि नारदजीको भी क्रोध आ गया ? ॥ १ ॥

श्रीकृष्णदेवजीने कहा—परीक्षित । नञ्कूर और मणिग्रीव—ये दोनों एक तो बनापस कुम्हारके लक्ष्मण थे और दूसरे इनकी सन्तती हो गयी स्वभावमयके जलानरोंमें । इससे उनका चर्म बह गया । एक दिन वे दोनों मन्दाकिनीके तटपर बैकसके समीप उल्लसते बाण्णी मदिरा पीकर मदोन्मत्त हो गये थे । मद्यके कारण उनकी अँखि धुम रही थी । बाण्णीसी जियाँ उनके साथ ग-बन्ध रही थी । और वे पुष्पोंसे सदे हुए कमरे उनके साथ स्थिर कर रहे थे ॥ २-३ ॥ उस समय गङ्गाजीमें पौतके-पौत कलक सिक्रे हुए थे । वे जियोंके साथ जलके नीतर फुस गये और जैसे हर्मियोंका जोड़ा हर्मियोंका साथ जलछीटा कर रहा हो, वैसे ही वे उन ध्रुवतिथिके साथ तरह-तरहकी कीटा करने लगे ॥ ४ ॥ परीक्षित । संयोग-वशात् उससे परम सर्मर्ष देवर्षि नारदजी आ निकले । उन्होंने उन पक्ष-पुष्पकोको देख और स्मरत विष् कि ये इस समय मन्त्राले हो रहे हैं ॥ ५ ॥ देवर्षि नारदजी देखकर बलाहीन अपराध उजा गयी । शापक डरसे उन्होंने तो अपने-अपने बगड़ हटपट पहन डिये, परन्तु इन यक्षोंने कसके नहीं पहने ॥ ६ ॥ अब देवर्षि नारदजीने देख कि ये देवगर्जोंके पुत्र होकर श्रीकृष्णसे जंघे और मरिाफन वरके उम्पट हो रहे हैं, तब उन्होंने उनपर अनुग्रह करनेके लिये क्षाप देते हुए यह कहा— ॥ ७ ॥

१. मेगधीरेव । २. वात्तधुप ।

• देवर्षि नारदके क्षाप देनेमें दो हेतु थे—एक तो अनुग्रह—उनके मरका माया करमा और दूसरा अर्प—श्रीकृष्ण प्राप्ति ।

मेग प्राप्ति देगा है कि निजसन्दर्भों देवर्षि नारदने अपनी जनहर्मिये बह जन दिया कि इनर मगान्ता अनुग्रह देनेवाला है । इगल उन्हें मगान्ता मगरी कृपावश मगसकर ही उनके साथ छेड़-छाड़ की ।

नारद उवाच

न ह्यन्यो ज्ञपतो ज्ञोप्यान् बुद्धिर्भ्रंशा रजोगुणः ।

भीमदादामिघ्रात्पादिर्यत्र स्त्री घृतमासवः ॥ ८ ॥

हृषत् पशवो यत्र निदयैरजितात्मभिः ।

मन्वमानैरिमं देहमवगामृत्यु नश्वरम् ॥ ९ ॥

देवसंज्ञितमप्यन्ते कुमिषिद्भयसंज्ञितम् ।

भूतघ्नो वत्कुटे स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ १० ॥

देहः किमभ्यदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेष च ।

मातुःपितुर्वा बलिनः क्रतुरग्नेः क्षुनोऽपि वा ॥ ११ ॥

एव साधारणं देहमभ्यक्तप्रभवाभ्ययम् ।

को विद्वानात्मसात् कृत्वा हन्ति बन्तुर्नृतेऽसत ॥ १२ ॥

असतः श्रीमदाध्वस दारिद्र्यं परमञ्जनम् ।

भारसौषम्येन मृतानि ददितः परमीक्षते ॥ १३ ॥

यथा कष्टकविदाग्ने बन्तोर्नोप्यति तां व्यधात् ।

नारदजीने कहा—जो लोग अपने प्रिय विषयोंक
सेवन करते हैं, उनकी बुद्धिको सबसे बढ़कर नष्ट करनेवाला
है भीम—धन-सम्पत्तिको नष्ट । हिंसा आदि रजोगुणी
कर्म और कुशीलता आदिको अभिमान भी उससे बढ़कर
बुद्धि-भ्रंशक नहीं है, क्योंकि भीमदके साथ-साथ तो
स्त्री, जूआ और मदिरा भी रहती है ॥ ८ ॥ ऐश्वर्यमद और
भीमदसे कि होकर अपनी इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले
मूर्ख पुरुष अपने नाशवान् शरीरको तो अमर-अमर मान
केहते हैं और अपने ही-जैसे शरीरवाले पशुओंकी हत्या
करते हैं ॥ ९ ॥ जिस शरीरको 'मृदेव' 'भरदेव' 'देव'
आदि नामोंसे पुकारते हैं—उसकी अन्तमें क्या गति
होगी ? उसमें कीड़ पड़ जायेंगे, पक्षी खाकर उसे बिछ
बना देंगे या वह जलकर राखका ढेर बन जायगा । उसी
शरीरके लिये प्राणियोंसे शोह करनेमें मृत्यु अपना कौन
सा स्वार्थ सम्पत्तता है ? ऐसा करनेसे तो उसे नरककी
ही प्राप्ति होगी ॥ १० ॥ कतअबो तो सही, यह शरीर
निसकी सम्पत्ति है ? अब देख पावनेवालेकी है या
गर्माधान करनेवाले कीलकी ? यह शरीर उसे नौ महीने
पेटमें रखनेवाली माताका है अपना मस्तकको भी पैदा
करनेवाले मानाका ? जो कष्टवान् पुरुष कष्टार्थक इससे
कर्म करा लेता है, उसका है अपना दाम देकर खरी-
लेनेवालेका ? चित्तकी जिस चक्कती आगमें यह जल
जायगा, उसका है अपना जो कुछे-स्वर इसको भीष-भीष-
कर ख जानेकी आशा लगाये बैठे हैं, उनका ॥ ११ ॥
यह शरीर एक साधारण-सी वस्तु है । प्रहृतिसे पैदा
होता है और उसीमें समा जाता है । ऐसी स्थितिमें मूर्ख
पशुओंकी सिवा और ऐसा कौन बुद्धिमत् है जो इसको
अपना आत्मा मानकर दूसरोंको यह पहुँचायेगा, उनके
प्राण रक्षा ॥ १२ ॥ जो दुष्ट भीमसे कंचे हो रहे हैं,
उनकी औखोंमें व्याप्ति बाधनेके लिये दक्षिणा ही सबसे
बड़ा अन्न है; क्योंकि दक्षिणा यह देख सकता है कि
दूसरे प्राणी भी मेरे ही-जैसे हैं ॥ १३ ॥ जिसका शरीरमें
एक बार कौट्य गड़ जाता है, वह नहीं चाहता कि
बिस्ती भी प्राणीको कौट्य गड़नेकी पीड़ा सहनी पड़े,
क्योंकि उस पीड़ा और उसके द्वारा होनेवाले विकारोंसे

जीवसाम्य गतो लिङ्गेन तथाविद्वक्यकः ॥१४॥

दरिद्रो निरास्तम्भो युक्तः सर्वमदैरिह ।

कृच्छ्र यद्वच्छमाऽऽप्नोति तद्वि तस्य परं तपः ॥१५॥

नित्यं सुखायामदेहस्य दरिद्रस्यामकाङ्क्षिणः ।

इन्द्रिषाम्पुच्छप्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥१६॥

दरिद्रस्त्वैव पुण्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।

सद्भिः शिणोति सत्पथं तव आराधं विष्णुदूषति ॥१७॥

साधूनां समविद्यानां सुकुन्दचरणैर्विनाम् ।

उपेक्ष्यैः किं धनस्तन्मैरसन्निरसदाभयैः ॥१८॥

तदहं मयधोर्माध्या वारुण्या श्रीमदाभयोः ।

तमामर्दं हरिष्यामि स्त्रैययोरभितारमनोः ॥१९॥

यदिमौ लाकपालस्य पुत्री मूखा वमःपुत्रौ ।

न विनामसमात्मानं विमानोतः सुदुर्मदौ ॥२०॥

यह सम्झना है कि दूसरेको भी वैसी ही पीड़ा होती है । परन्तु जिसे कभी कँटा गया ही नहीं, वह उसकी पीड़ाका अनुमान नहीं कर सकता ॥ १४ ॥ दरिद्रों वमंड और बेवली नहीं होती, वह सब तपस्विके मर्दोंसे भ्रमा रहता है । यत्कि दैववश उसे जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह उसके लिये एक बहुत बड़ी तपस्या भी है ॥ १५ ॥ जिसे प्रतिदिन मोहनके लिये अन्न चुटाना पड़ता है, मूख-से जिसका शरीर दुःख-ग्रस्त हो गया है, उस दरिद्रकी इन्द्रियों भी अधिक विषय नहीं भोगना चाहती, सब जाती हैं और फिर वह अपने भोगोंके लिये दूसरे प्राणियों-को सुताता नहीं—उनकी हिंसा नहीं करता ॥ १६ ॥ यद्यपि साधु पुरुष सम्दर्शी होते हैं, फिर भी उनका सम्पन्न दरिद्रके लिये भी दुःख है; क्योंकि उसके भोग तो फलसे ही छूटे हुए हैं । जब संतोंके सक्ते उसकी अकस्मा-वृष्णा भी मिट जाती है और शीघ्र ही उसका अन्त-करण शुद्ध हो जाता है ॥ १७ ॥ जिन महात्मनों-के चित्तमें सबके लिये समता है, जो केवल महानाके चरणारविन्दोंका मन्त्र-रस पीनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं, उन्हें दुर्गुणोंके खजाने अपना दुर्गुणारिषोंकी भीमिका घबहानेवाले और धनके मर्से मन्त्राले दुष्टोंकी क्या आवश्यकता है ? वे तो उनकी उपेक्षाके ही पात्र हैं ॥ १८ ॥ ये दोनों यक्ष वारुणी मण्डित पल करके मनवाले और धीमन्से अंधे हो रहे हैं । अपनी इन्द्रियोंके अवीन रहनेवाले इन बी-स्पष्ट पक्षोंका अज्ञान बलित मद में घूर-घूर कर दूँगा ॥ १९ ॥ देखो तो सही, किन्तु अनर्थ है कि ये व्येकसाध कुम्हरेके पुत्र होनेपर भी मर्दोभय होकर अचेत हो रहे हैं और इनकी इस बातका भी पता नहीं है कि हा मन्त्राले नंग-अङ्ग

१ इतिष्ठा ।

● धनी पुरुषमें तीन दोष होते हैं—धन धनका अभिमान और धनकी तुष्ठा । दरिद्र पुरुषमें परम दो मही होते हैं—धन की कमी ही दोष रहता है । इतिष्ठिये सत्पुरुषोंके लक्षणसे धनकी तुष्ठा मिट जानेपर धनियोंकी अपेक्षा उच्छ्र धीम वरुणा हो भय हो ।

† धन मर्द एक दोष है । धनमें लक्ष्मणमें कहा है कि किनेने पेड मर जाय उमसे अधिग्रह अस्मा ममनेवास्य पर है और दण्डध पात्र है—एव स्तेना दण्डमर्हि । असाध भी करते हैं—असार में अनुग्रह करना है उग्रध धन तीन किंग है । इति सत्पुरुष प्रायः धनितोरी उग्रध करने हैं ।

मतोऽर्हतः स्थावरतां स्थातां नैव यथा पुनः ।

सृष्टिः स्वामृतप्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥२१॥

वासुदेवस्य सान्निभ्य लब्ध्वा दिव्यशरन्ध्रते ।

वृत्ते खलोक्तां भूयो लब्धमक्षी भविष्यतः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

पैवमुक्त्वा स देवर्षिर्गोतो नारायणाभमम् ।

नलकूबरमणिप्रोषावासतुर्गमलार्जुनौ ॥२३॥

श्रुपेर्भागवतमुत्स्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ।

जगाम धनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥२४॥

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।

तद्यथा साधयिष्यामि यद्गुणीतं महात्मना ॥२५॥

इत्यन्तरणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्यथौ ।

आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्वसमुत्खलम् ॥२६॥

बालेन निष्कर्षयतां न्वगुत्खल तद्

दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबधौ ।

निष्पेततुः परमबिक्रमिताखिवेप

स्कन्धप्रबालविटपी कुतचण्डशब्दौ ॥२७॥

हैं ॥ २० ॥ इसलिये ये दोनों अब वृक्षयोनिमें जानेके योग्य हैं । ऐसा होनेसे इन्हें फिर इस प्रकारका अभिमान न होगा । वृक्षयोनिमें जानेपर भी मेरी कृपासे इन्हें भगवान्की सृष्टि बनी रहेगी और मेरे अनुग्रहसे देवताओंके सौ वर्ष बीतनेपर इन्हें भगवान् श्रीकृष्णका सान्निभ्य प्राप्त होगा, और फिर भगवान्के चरणोंमें परम प्रेम प्राप्त करके ये अपने लोकमें चले आवेंगे ॥ २१ २२ ॥

श्रीशुकनेपजी कहते हैं—देवर्षि नारद इस प्रकार कहकर भगवान् नर-नारायणके आग्रहपर चले गये ॥ नलकूबर और मणिप्रोष—ये दोनों एक ही साप अर्जुन वृक्ष होकर यमअर्जुन नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम प्रेमी भक्त देवर्षि नारदबीची बात सत्य करनेके लिये धीरे-धीरे ऊखड़ घसीटते हुए उस और प्रस्थान किया, बिना यमअर्जुन वृक्ष से ॥ २४ ॥ भगवान्ने सोचा कि 'देवर्षि नारद मेरे कल्पित प्यारे हैं और ये दोनों भी मेरे भक्त कुन्नेके छबके हैं । इसलिये महात्म्य नारदने जो कुछ कहा है, उसे मैं ठीक उसी रूपमें पूरा करूँगा' ॥ २५ ॥ यह विचार करते भगवान् श्रीकृष्ण दोनों वृक्षोंके बीचमें घुस गये ॥ वे तो दूसरी ओर निकल गये, परन्तु ऊखड़ टेढ़ा होकर अटक गया ॥ २६ ॥ दामोदर भगवान् श्रीकृष्णकी कमरमें रस्ती बसी हुई थी । उन्होंने अपने पीछे छूटते हुए ऊखड़ को ओं ही तनिक जोरसे खींचा, त्यों ही पेड़ोंकी सारी जड़ें उखड़ गयीं ॥ समस्त स्रष्ट-विक्रमके बन्द भगवान्का तनिक-सा जोर छूटते ही पेड़ोंके तने, शम्भूई, छोटी-छोटी बालियाँ और एक-एक पत्ते कौप उठे और वे दोनों बड़ जोरसे तड़तड़ाते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २७ ॥

१ स्यात्तथा १२ स एवमुक्त्वा देव । ३ ता उगृह्यते । ४ बन्धितौ ।

० १ धार-वरदानसे उपस्था क्षीय होती है । नलकूबर-मणिप्रोषको धार देनेके पश्चात् नर-नारायण-आभमयी यात्रा करनेका यह अभिप्राय है कि फिरसे तब गच्छ कर लिया जाय ।

२ मैंने यक्षोंपर जो अनुग्रह किया है वह बिना उपस्थाके पूर्ण नहीं हो सकता है, इसलिये ।

३ अपने अग्रपरदेव एवं गुह्यदेव नारायणके समुत्तम अम्ना कृत्य निवेदन करनेके लिये ।

† भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कृपादक्षिण उन्हें मुक्त कर सकते थे । परन्तु वृक्षाके पाय जानेका कारण यह है कि देवर्षि नारदने कहा था कि तुम्हें वासुदेवका सान्निभ्य प्राप्त होगा ।

‡ वृक्षोंके बीचमें जाने का आग्रह यह है कि भगवान् बिनाके अन्तर्द्वेषमें प्रवेश करते हैं उनके बीचमें कष्टदाता सेव भी नहीं रहता । और प्रेम लिये बिना दोनोंका एक साथ उखड़ भी कैसे होय ।

§ या भगवान्के मुख (मातृ-भारम्बर आदि स्रवण या रस्ती) से पैदा हुआ है वह निर्वह्नि (पशु-पक्षी या देवी-बाणाया) ही कौन न हो—दुन्देरा उखार कर सकता है ।

धनने अनुयायीके द्वारा किया हुआ काम विना सहायक हातों के करना अपने हाथमें मल । मानो परी नेत्रधर अपने पीछे-पीछे चमनेका उल्लसक द्वारा उनका उखार करवाया ।

तत्र भिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ

सिद्धाद्युपेक्ष्य कृष्णमोरिष आशवेदाः ।

कृष्ण प्रणम्य शिरसात्त्रिलोकनाथं

बद्धाञ्जली विरजसाविदमूषतुः ॥२८॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।

अपक्ताव्यक्तमिदं विष्वक् रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥२९॥

त्वमेकः सवभूतानां देहास्त्रात्मेन्द्रियेश्वरः ।

त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरभ्यस ईश्वरः ॥३०॥

त्व महान् प्रकृतिः सृष्टमारब्धः सत्त्वतमोमयी ।

रजमेव पुरुषोऽप्यस्यः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥३१॥

गृहमाणैस्त्वमप्राप्तो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।

कान्विहार्हति विद्धातुं प्राक्सिद्धं गुणसंज्ञितः ॥३२॥

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय नमः ।

आत्मघातार्थगुणैरक्षमहिम्ने प्रक्षण नमः ॥३३॥

यस्यावतारा प्रायन्ते क्षीररज्यक्षरीरिणः ।

सन्तैर्गुणैराविशुषवीर्यदेहिष्वगमते ॥३४॥

म भवान् मवन्नाकस्य भवाय विभवाय च ।

भरतीर्गोत्रभागन मास्त्रय पतिराश्रियाम् ॥३५॥

१ भैरवे ।

उन दोनों वृक्षोंमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो स्त्रि-
पुरुष निकले । उनके चमकते हुए सौन्दर्यसे दिशायें
दमक उठीं । उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी महाशक्त
श्रीकृष्णके पास आकर उनके चरणोंमें स्त्रि रसकर प्रणम
किया और हाथ जोड़कर श्रुत इन्द्रियसे वे उनकी इस
प्रकार स्तुति करने लगे—॥ २८ ॥

उन्होंने कहा—सन्निधानन्दघनस्वरूप । सक्रो अपनी
और आकर्षित करनेवाले परम योगेश्वर श्रीकृष्ण । आप
प्रकृतिसे अतीत स्वयं पुरुषोत्तम हैं । वेदों ब्राह्मण यह बात
बोमते हैं कि यह व्यक्त और अव्यक्त सम्पूर्ण जगत् आपका ही
रूप है ॥ २९ ॥ आप ही समस्त प्राणियोंके शरीर, प्राण,
अन्त करण और इन्द्रियोंके स्वामी हैं । तब आप ही
सर्ववर्तिमान् कण्ठ, सबव्यापक एवं अविनाशी ईश्वर
हैं ॥ ३० ॥ आप ही महत्त्व और वह प्रकृति हैं, जो
अव्यक्त सूक्ष्म एवं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूपा
हैं । आप ही समस्त स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके कर्म,
भाव, धर्म और सत्ताको जाननेवाले सबके सखी परमत्मा
हैं ॥ ३१ ॥ वृत्तियोंसे प्रवृत्त किये जानेवाले प्रकृति
गुणों और विकारोंके द्वारा आप पदार्थमें नहीं आ सकते ।
स्थूल और सूक्ष्म शरीरके आकरणसे कबहुत ऐसा कौन
सा पुरुष है, जो आपको जान सके ? क्योंकि आप तो
उन शरीरोंके पहले थे एकलस विद्यमान थे ॥ ३२ ॥
समस्त प्रपञ्चके विधत्ता महाशक्त वासुदेवजी हम मन्त्रर
पत्रते हैं । प्रभो । आपके द्वारा प्रकटित होनेवाले गुणोंसे
ही आपने अपनी महिमा शिष्टा रखी है । परमस्वरूप
श्रीकृष्ण । हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ३३ ॥
आप प्राकृत शरीरसे रहित हैं । फिर भी जब आप ऐसे
परमप्रकट करते हैं, जो साधारण शरीरधारियोंके
जिये शक्य नहीं हैं और भिन्नसे बढ़कर तो क्या भिन्नसे
समान भी कोई नहीं कर सकता, तब उनके द्वारा उन
शरीरोंमें आपके अकारोंका पता चल जाता है ॥ ३४ ॥
प्रभो । आप ही समस्त लोकोंके अग्रपुरुष और निधे
अपने जिये इस समय अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंसे अकर्णी

नमः परमकरपाण नमः परममङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूर्ता पतये नम ॥३६॥

अनुजानीहि नौ भूमन्तबालुषरकिंकरी ।
दर्शनं नौ भगवत श्रपेरासीदनुग्रहात् ॥३७॥

वाणी गुणानुसूधने ध्वनौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तप पादयोर्नः ।

स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे

दृष्टि सतां दर्शनेऽस्तु भवचनुनाम् ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

हर्यं संकीर्तितस्तान्पां भगवान् गोकुलेष्वर ।
दान्ना चोद्धले बद्धः प्रहसन्नाह गुप्तकौ ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

ज्ञातं मम पुरैर्वैतदपिणा करुणारमना ।
यच्छ्रीमदान्धयोराग्निर्विभ्रंसाऽनुग्रहः कृतः ॥४०॥
साधूनां समविधानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनाभो भवन् बन्धः पुंसोऽप्याः सवितुर्यथा ॥४१॥

तद् गच्छतं मत्परमां नलकृषर सादनम् ।

सञ्जालो मयि भावो वाभीप्सितः परमोऽभव ॥४२॥

हुए हैं । आप समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं ॥ ३५ ॥ परम करपाण (साधु) स्वरूप ! आपके नमस्कार है । परम मङ्गल (सधन) स्वरूप ! आपके नमस्कार है । परम शान्त, सबके हृदयमें विश्वास करनेवाले यदुर्बलशिशोमणि श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥ ३६ ॥ अन्त ! हम आपके दासानुदास हैं । आप यह स्वीकार कीजिये । देवर्षि भगवान् नारदके परम अनुग्रहसे ही हम अपराधियोंको आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ ३७ ॥ प्रभो ! हमारी वाणी आपके मङ्गलमय गुणोंका वर्णन करती रहे । हमारे फलन आपके रसमयी कसामें लगे रहें । हमारे हाथ आपके सेवामें और मन आपके चरण-कमलोंमें स्थितिमें रम जायें । यह सम्पूर्ण जगत् आपके निवास-स्थान है । हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे । संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं । हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें ॥ ३८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सौन्दर्य-माधुर्यनिधि गोकुलेश्वर श्रीकृष्णने लक्ष्मण और मणिम्रीचके इस प्रकार स्तुति करनेपर रस्तीसे लक्ष्मणमें बँधे-बँधे ही बैठते हुए उनसे कहा— ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानने कहा—गुप्तभोग श्रीमानसे अचे हो रहे थे । मैं पहलेसे ही यह बात जानता था कि परम करुणिक देवर्षि नारदने हाथ वेकत तुम्हारा ऐश्वर्य मट कर लिया तथा इस प्रकार तुम्हारे ऊपर कृपा की ॥ ४० ॥ जिनकी बुद्धि सम्पद्विनी है और कृप्य पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दशमसे बन्धन होना दीव बसे ही सम्भव नहीं है, जैसे मूर्खों पर होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारग्रस्त होना ॥ ४१ ॥ इसलिये नलकृषर और मणिम्रीच ! गुप्तभोग मेरे परायण हाथ अपने-आपने धर जाओ । गुप्तभोगोंसे मंसुखचक्रने सुदानेनाम अल्प मक्तिमाधुर्य, जो तुम्हें अभीष्ट है, प्राप्ति हो गयी है ॥ ४२ ॥

१ नमस्ते विश्वमन्त्र । २ मे भगवन्मास्तु । ३ धर्म ।

• नां में मुक्त रहता है और बद्ध जीव मेरी स्तुति करत है । अन्ध में बद्ध है और मुक्त कीव मेरी स्तुति कर रहे हैं । पर विपरीत दशा देवभक्त भगवान्को देखी आ गयी ।

श्रीमूक उवाच

इत्युक्तौ तौ' परिक्रम्य प्रथम्य च पुनः पुनः ।

पक्षोद्धतलमामन्त्र्य जगत्तुर्दिग्बभूवुरात् ॥ ४३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब मन्त्रान्त्रे इस प्रकार कहा, तब उन दोनोंने उनकी परिक्रम की और बार-बार प्रणाम किया । इसके बाद उन्होंने वैश्वे हुए सर्वेश्वरी आज्ञा प्राप्त करके उन ओगोंने उत्तर दिशाकी पक्ष की * ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संक्षिप्तया दशमस्कन्धे
श्रुतिर्ध्वं नारदशापो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः -

गोक्षुब्धसे वृत्तावन खाता तस्य वत्सासुर
और बकासुरका उच्चार

श्रीमूक उवाच

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा ह्रुमयोः पततो रथम् ।

तत्रात्रगम्भः कुरुभेष्ट निर्घातमवसृज्जिताः ॥ १ ॥

भूम्यां निपतितौ तत्र दृष्टप्लुर्मलार्जुनौ ।

बभ्रुस्तद्विज्ञाय लक्ष्मं पतनकारणम् ॥ २ ॥

तल्लखल विकर्षन्तं दाम्ना बभ्रुं च बालकम् ।

कस्पेदं कृत आभयमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुल्लखलम् ।

विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यवहमहि ॥ ४ ॥

न ते तदुक्तं जगुर्दुर्न धरेवेति तस्य तत् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । वृक्षोंके गिरनेसे जो मयहूर शब्द हुआ था, उसे नन्दब्रह्मा आदि गोपोंने भी सुना । उनके मनमें यह शङ्का हुई कि कहीं बिजली तो नहीं गिरी । सब-के-सब मयभीत होकर वृक्षोंके फल खा गये ॥ १ ॥ वहाँ पहुँचनेपर उन ओगोंने देख कि दोनों कर्जुनके वृक्ष गिरे हुए हैं । यद्यपि वृक्ष गिरनेका कारण स्पष्ट था—वहाँ उनके सामने ही रस्तीमें बँध हुआ बाधक उत्पन्न होच रहा था, परन्तु वे समझ न सके । 'यह किसका काम है, ऐसी आश्चर्यजनक दुर्कर्मगा कैसे घट गयी ?'—यह सोचकर वे कातर हो गये, उनकी बुद्धि अस्ति हो गयी ॥ २ ॥ वहाँ कुछ बालक खेज रहे थे । उन्होंने कहा—'अरे, इसी बन्दैयका तो काम है । यह दोनों वृक्षोंके बीचमेंसे होकर निकल रहा था । उत्पन्न निग्रह हो जानेपर दूसरी ओरसे इतने उसे धीँचा और वृक्ष गिर पड़े । हमने तो हममेंसे निकलते हुए दो पुरुष भी देखे हैं ॥ ३ ॥ परन्तु गोपोंने बाज्रोंकी आज्ञा माँगी मानी । वे कहने लगे—'एक मन्त्र-सा बधा इतने बड़े वृक्षोंको उल्लङ्घ करे, यह कभी

१ त । २ ममलार्जुनमञ्जनं नाम । ३ बाधरायणिकवाच । ४ तिरश्चीनमुत् । ५ यदेति ।

● वृक्षोंने विचार किया कि अथवा वह त गुण (रानी) में वैश्वे हुए हैं । तभीतर हमें इनके दर्शन हो रहे हैं । निर्गुणसे तो हमने भया भी नहीं था मन्त्रा । इन्होंने मन्त्रान्त्रे वैश्वे रहने ही के लिये गये ।

मन्त्रपरतु उद्गारत सर्वदा श्रीहृष्णगुणायाम् एव भूया ।

उवाच । मन्त्राण्य कल्याण हा गुण गदा श्रीहृष्णके गुणोंमें वैश्वे ही रहा ।—ऐसा ऊपरसे ओ आशीर्वाद देकर वह भूमि पड़े गये ।

बालस्रोत्पाटनं तर्वां केचित् सदिग्धचेतसः ॥ ५ ॥

उल्लसल विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मसम् ।

विलोक्य नन्द प्रहसद्बदनो विमृशोच ह ॥ ६ ॥

गोपीभिः स्तोभितोऽनुस्यद् भगवान् बालवत् क्वचित् ।

उद्गायति कश्चिद्भृगुधस्तद्वधो दारुमन्त्रवत् ॥ ७ ॥

विमर्ति कश्चिदाश्रमः पीठकोन्मानपादुकम् ।

बाहुषेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमाचहन् ॥ ८ ॥

दर्शयस्तद्विदां लोक आत्मनो मृत्यवश्चरात् ।

ब्रजसोबाह वै हय भगवान् बालचेष्टितैः ॥ ९ ॥

क्रीणीहि भोः फलानीति ध्रुत्वासत्वरमभ्युतः ।

फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥ १० ॥

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम् ।

फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥ ११ ॥

सरिचीरगतं कुप्य भग्नार्जुनमथाह्वयत् ।

रामं च रोहिणीं देवीं क्रीडन्तैर्बालकैर्मृगम् ॥ १२ ॥

नोपेपातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ ।

सम्भव माहीं है ।' किसी-किसीके चित्तमें श्रीकृष्णकी पहलेकी छीछकोंकल स्मरण करके सन्नेह भी हो आया ॥ ५ ॥

नन्दबाबाने देख, उनका प्राणोंसे प्यार मन्ना रस्सीसे बँधा हुआ छल्ल घसीटता जा रहा है । वे हँसने लगे और जल्दीसे जाकर उन्होंने रस्सीकी गँठ खोल दी* ॥ ६ ॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् कभी-कभी गोपियोंके पुस्ताने-से साधारण बाछकोंके समान नाचने लगते । कभी मोले-माले अनजान बाल्यक्रीड़ा तरह करने लगते । वे उनके हाथकी बलपुतली—उनके सर्वश्रद्धाधीन हो गये थे ॥ ७ ॥ कभी उनकी आँखासे पीड़ा ले आते, तो कभी दुसरी आदि तीलनेके बटखरे उठा आते । कभी खड़ाकें ले आते, तो कभी अपने प्रेमी मर्कोंको आनन्दित करनेके लिये पहलवानोंकी मौति ताछ देंकने लगते ॥ ८ ॥ इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् अपनी बाल-छीछकोंसे ब्रजवासियों को आनन्दित करते और संसारमें जो ध्येय उनके रहस्यको जाननेवाले हैं, उनको यह दिखाते कि मैं अपने सेवकोंके कथमें हूँ ॥ ९ ॥

एक दिन कोई फल बेचनेवाली आकर पुकार उठी—'फल, ओ फल !' यह सुनते ही समस्त कर्म और उपसर्गोंके फल देनेवाले भगवान् अभ्युत फल खरीनेके लिये अपनी छोटी-सी अँडुलीमें अनाज लेकर दौड़ पड़े ॥ १० ॥ उनकी अँडुलीमेंसे अनाज तो रास्तेमें ही बिखर गया, पर फल बेचनेवालीने उनके दोनों हाथ फाँसे भर दिये । इधर भगवान् ने भी उसकी फल रखनेवाली दोकरी रत्नोंसे भर दी ॥ ११ ॥

तदनन्तर एक दिन यमप्रभुन हृष्टको ताँदनेवाले श्रीकृष्ण और ब्रजराज बाछकोंके साथ खेलते-खेदते यमुना-तटपर चले गये और खेलते ही रम गये, तब रोहिणीदेवीने उन्हें पुकारा 'ओ कृष्ण ! ओ ब्रजराज ! जल्दी आओ' ॥ १२ ॥ परन्तु रोहिणीके पुकारनगर भी वे आये नहीं, क्योंकि उनका मन खेलमें लग गया था । जब भुशनेर भी वे

ल मन्दबाबा इसलिये हँसे कि कहेबा नहीं यह खेबकर डर न बाप कि जब माने बाँध गिया तब निता करी अचर पीरने म रुई ।

माथने बाँधा और रिछाने छोड़ा । भगवान् श्रीकृष्णकी सीलने यह बात छिद्र हुई कि उनके स्वरुमें कथन और मुक्ती कथना करनेवाला हुआ ही है । वे स्वयं न बद्ध हैं न मुक्त हैं ।

यशोदां प्रेययामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम् ॥१३॥

क्रीडन्त सा सुत बालैरतिवेलं सहाग्रजम् ।

यशोदाप्राप्तौ कृष्ण पुत्रस्नेहस्तुतस्तनी ॥१४॥

कृष्ण कृष्णारविन्दाद्य तात एहि स्तन पिब ।

अलं विहारैः सुस्थान्तः क्रीडाभा गोडसि पुत्रक ॥१५॥

ह रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन ।

प्रतरेव कृताहारस्तद् भवान् भाषतुमर्हति ॥१६॥

प्रतीक्षते त्वां दाशार्हं भोक्ष्यमाणो ब्रह्माधिपः ।

एवावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान यात बालकाः ॥१७॥

बृलिष्वरिसाङ्गस्त्वं पुत्र मजनमावह ।

जन्मर्धमय भवतो विप्रेभ्यो देहि मा शुचि ॥१८॥

पश्य पश्य बयसांस्ते मातृमृष्टान् स्वलकृतान् ।

स्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलकृतः ॥१९॥

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं

मत्वा सुत स्नेहनिषट्भीर्नृप ।

इप्ते गृहीत्वा सदराममप्युतं

नीत्वा मयान् कृतवत्यथादियम् ॥२०॥

गोपशुद्धा महोत्पाताननुभूय पृथक्त्वेन ।

नन्दादयः समागम्य यज्ञकायममन्यन् ॥२१॥

दोनों बाग्यक नहीं आये, तब रोहिणीजीने वात्सल्य स्नेहमयी

यशोदानीको भेजा ॥ १३ ॥ श्रीकृष्ण और कज्जल

ग्याङ्गालेके साथ बहुत देरसे खेल रहे थे, यशोदाजीने

जाकर उन्हें पुकारा । उस समय पुत्रके प्रति वात्सल्यस्नेह

के कारण उनके स्तनोंमेंसे दूध बगुआ रहा था ॥ १४ ॥

ये जोर-जोरसे पुकारने लगीं—'मेरे प्यारे कन्हैया ! ओ

कृष्ण ! कर्मभक्षण ! द्याम्सुन्दर ! बेटा ! आओ, अपनी

माँक दूध पी लो । खेलते-खेलते पक गय हो । बेटा !

अब बस करो । देखो तो सही, तुम मूँसे दुक्के हो

रहे हो ॥ १५ ॥ मेरे प्यारे बेटा राम ! तुम तो सपूने कुक्के

आनन्द घेनेखले हो । अपने छोटे भाईको लेकर जन्दीसे

आ जाओ तो ! देखो, भाई ! आज तुमने बहुत खेरे

कलेज किया था । अब तो तुम्हें कुछ खाना चाहिये ॥ १६ ॥

बेटा कज्जल ! बजराम भोजन करनेके लिये बैठ गये ॥

परन्तु कभीतक तुम्हारी बान देख रहे हैं । आओ, अब

हमें आनन्दित करो । बाङ्को ! अब तुम खेग भी अपने

अपने घर जाओ ॥ १७ ॥ बेटा ! देखो तो सही,

तुम्हारा एक-एक काँज चुक्के ख्यपक हो रहा है ।

आओ, जन्दीसे स्नान कर लो । आज तुम्हारा जन्म-

नक्षत्र है । पक्कि होकर भासणोंको घेदल करो ॥ १८ ॥

देखो—देखो ! तुम्हारे सावियोंको उनकी मस्तकजोने नहान-

घुसकर, मीन-पीछकर कीसे सुन्दर-सुन्दर गहने पहना

जिये हैं । अब तुम भी नहा-बोकर, सज-गीकर, पहन

जोकर तब लैलना ॥ १९ ॥ परछिद् ! मना यशोदाक

सम्पूर्ण मन-माण प्रम-अभयसे बैठा हुआ था । वे बरगबर

जगत्के शिरोमणि म्माबलक बरना पुत्र समझनी और

इस प्रकार बहपत एक हापसे बजराम तथा दूसरे हापसे

श्रीकृष्णक पत्र इकर अपन घर ले आयी । इतक बाद

उन्होंने पुत्रके मङ्गलक म्मि जो कुछ करना था, वह

बाद प्रमते किया ॥ २० ॥

जब मन्त्राय आदि बहन् गायोंने दम्मा कि म्मावन

में ता बहन्के उन्मात हाने छोडे हैं, तब य म्मा इकरे

दाइत अर बजसिमियोंक बय बरना नादिने—इस

तत्रोपनन्दनामाऽऽह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः ।

देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृत् रामकृष्णयोः ॥२२॥

उत्थातम्पमितोऽस्माभिर्गोष्ठलस्य द्वितैषिभिः ।

आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशदेतवः ॥२३॥

युक्तः कथञ्चिद्वराक्षसा बालघ्न्या बालको हसौ ।

हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥२४॥

चक्रवातेन नीतोऽय दैत्येन विषदं वियत् ।

शिलायां पतितस्तत्र परिश्राव सुरेश्वरैः ॥२५॥

यस्य त्रियेव ह्रमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ।

असावन्पतमो वापि तदप्यभ्युत्तरघणम् ॥२६॥

यावदौत्पातिकोऽरिष्टो ब्रजं नाभिभवेदितः ।

तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः ॥२७॥

वनं हृन्दावनं नाम पद्मस्य नवकाननम् ।

गोवगोपीगवां सेव्यं पुष्पाद्रितृणवीरुधम् ॥२८॥

तप्तप्रादंय यास्यामः शक्यान् युक्ता माचिरम् ।

गापनान्यप्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥२९॥

तच्छुभं कथिया गापा साधु साध्विति वादिन ।

त्रियपर विचार करने लगे ॥ २१ ॥ उनमेंसे एक गोपका नाम था उपनन्द । ये अवस्थामें तो यह थे ही, ज्ञानमें भी बढ़े थे । उन्हें इस बातका पता था कि जिस समय जिस स्थानपर जिस वस्तुसे कैसा व्यवहार करना चाहिये । साथ ही वे यह भी चाहते थे कि राम और श्याम सुखी रहें, उनपर कोई निपटि न आवे । उन्होंने कहा—॥२२॥ 'भाइयो ! अब यहाँ ऐसे बड़-बड़ उत्पात होने लगे हैं, जो बच्चोंके लिये तो बहुत ही अनिष्टकारी हैं । इसलिये यदि हमझोगे गोष्ठल और गोकुलवासियोंका भला चाहते हैं, तो हमें यहाँसे अपना बैग ईडा उठाकर कूच कर देना चाहिये ॥ २३ ॥ देखो, यह सामने बैठा हुआ नन्दरायका व्यवहार सबसे पहले तो बच्चोंके लिये कष्ट-सम्पत्तिणी हत्यारी पूतनाक बंशुलसे किसी प्रकार छूट । इसके बाद भगवान्की दूसरी कृपा यह हुई कि इसके ऊपर उतना बड़ा छक्का गिरते-गिरते पड़ा ॥ २४ ॥ ब्रह्मरूपधारी दैत्यने तो इसे आकाशमें लं जाकर बड़ी भारी निपटि (घुसुके मुख) में ही डाल दिया था, परन्तु कहींसे जब वह चटानपर गिरा, तब भी हमारे कुल्के देशवरोने ही इस बाध्यकारी रक्षा करे ॥ २५ ॥ यमजानुन कृशोंके मित्रनेके समय उनके बीचमें आवत भी यह था और कोई बाधक न मरा । इसमें भी यही समझना चाहिय कि भगवान्ने हमारी रक्षा करे ॥ २६ ॥ इसलिये जतनक परेइ बहुत बड़ा अनिष्टकारी अरिष्ट हमें और हमारे ब्रजको नष्ट न करे तदनक ही हमयोग अपने बच्चोंको स्वतः अनुचरोंक साथ यहाँसे अन्यत्र चले चले ॥ २७ ॥ 'हृन्दावन' नामका एक वन है । उसमें छाने-छाने और भी बहुतसे नये-नये हरे-भरे वन हैं । वहाँ बड़ा ही पवित्र पर्वत, घास और हरी-भरी फ़ा-वनस्पतियाँ हैं । हमारे पशुओंक लिये तो वह बहुत ही हितकारी है । गाँव, गरीबी और गाँवोंक लिये यह केवल सुविधाका ही नहीं, मेहनत करनेवाला स्थान है ॥ २८ ॥ सा यदि तुम सब लोगोंक यह जान लेंचनी हो तो जान ही हमयोग कभीक लिय पूच करे । न न करें, बड़ी-छक्का जाने और फिर गयोंक जा हमारी उपग्रह सम्पत्ति है, वहाँ भज ॥ २९ ॥

उपनन्दकी वन सुनकर सभी गोपोंने एक मारमे कहा— बहुत हीन, बहुत हीन । स निरपमे मित्रोंक

प्रमान् स्वान् स्वान् समापुन्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥३०॥
 इदानीं बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च ।
 अनस्वारोप्य गोपाला यत्ता आचक्षरासनाः ॥३१॥
 गोधनानि पुरस्कृत्य मृगाभ्यापूर्य सर्वतः ।
 तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः ॥३२॥
 गोप्यो रुद्रया नृभृक्षचक्रमुमकन्तयः ।
 कृष्णलीलावगुः प्रीता निष्ककृष्य सुवाससः ॥३३॥
 तथा यशोदारो हिम्यावेकं शुक्रेणमास्थिते ।
 रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाभवनोत्सुके ॥३४॥
 इन्द्रावन सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् ।
 तत्र चमुर्यजावासं शुकदैर्बन्धनप्रबन्ध ॥३५॥
 इन्द्रावनं गोबर्धनं ययुनापुलिनानि च ।
 वीर्यासीदुत्तमा प्रीती राममाभवयोर्नृप ॥३६॥
 एव प्रजौकृषां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः ।
 कलवाक्यैः स्वकालेन वयसपालौ बभूवतुः ॥३७॥
 अबिदूरे प्रजमुतः सह गोपालदारकैः ।
 चारयामासतुर्ब्रह्मान् नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥३८॥
 कश्चिद् वादयता वेषु क्षेपणः क्षिपतः कश्चित् ।
 कश्चित् पारैः निक्षिणीभिः कश्चित् कृत्रिमगोवृषैः ॥३९॥

भी मतभेद न था । सब छेमोंने अपनी हुं-भी-हुं-
 गयें इकट्ठी कीं और छत्रोंपर घरकी सब सामग्री लदकर
 इन्द्रावनकी यात्रा की ॥ ३० ॥ परीक्षित् । गायत्रीं दूरों,
 कहीं, स्त्रियों और सब सामग्रियोंको छत्रोंपर चढ़ा दिया
 और स्वयं उनके पीछे-पीछे धनुष-बाण लेकर बड़ी साव-
 धानीसे चलने लगे ॥ ३१ ॥ उन्होंने गौ और भ्रूकोंको
 तो सबसे आगे कर लिया और उनके पीछे-पीछे सँग
 और सुरभी ओर-ओरसे बजाते हुए चले । उनके साथ
 ही-साथ पुरोहितयोग भी चक्र रहे थे ॥ ३२ ॥ गेयियों
 अपने-अपने बंध स्वच्छपर नयी केसर छत्रकर, सुन्दर
 सुन्दर वस्त्र पहनकर, गलेमें सोनेके हार धारण किये हुए
 रघोंपर सवार थीं और बड़े आनन्दसे मन्मन् श्रीकृष्णकी
 जीवज्योंके गीत गाती जाती थीं ॥ ३३ ॥ यशोदारार्ण
 और रोहिणीजी भी वैसे ही सब-सजकर अपने-अपने
 प्यारे पुत्र श्रीकृष्ण तथा भगवान् के साथ एक छत्रके
 शोभायमान हो रही थीं । वे अपने दोनों बालकोंकी तोतई
 बोझी सुन-सुनकर भी अवासी न थी, और-और सुनन
 चाहती थीं ॥ ३४ ॥ इन्द्रावन क्या ही सुन्दर मन है
 चाहे कोई भी चम्र हो, कहीं सुख-ही-सुख है । उसके
 प्रवेश करके गायत्रीने अपने छत्रोंको अर्द्धचन्द्राकार
 मण्डल बौधकर सजा कर दिया और अपने गोधनके रहने
 योग्य स्थान बना लिया ॥ ३५ ॥ परीक्षित् । इन्द्रावनका
 हरा-भरा बग, अत्यन्त मनोहर गोवर्धन पर्वत और यमुना
 नदीके सुन्दर-सुन्दर पुलिनोंको देखकर भगवान् श्रीकृष्ण
 और भग्यामजीके हृदयमें उत्तम प्रीतिकर उदय हुआ ॥ ३६ ॥

राम और क्याम दोनों ही अपनी तोतई बोझी और
 अत्यन्त मधुर वाद्येयित जीभज्योंसे गेयु-ध्वनि ही तरह
 इन्द्रावनमें भी ब्रजवासियोंको आनन्द देते रहे । पोरु ही
 दिनोंमें समय आनेपर वे यकड़े चराने लगे ॥ ३७ ॥
 दूसरे गायत्रीज्योंके साथ क्षेत्रनेके ठिये बहुत-सी सामग्री
 लेकर वे घरसे निकल पड़ते और गोष्ठ (गाव्योंके रहनेके
 स्थान) के पास ही अपने भ्रूकोंको चराते ॥ ३८ ॥
 क्याम और राम कहीं दौड़ती यत्रा रहे , तो कहीं मुक्रेड
 या देखलौससे देखे या गोभियों पेंक रहे हैं । किसी
 समय अपने पैरोंके मुँचरूपर तान छेड़ रहे हैं, ता कहीं
 बनाकरी गाय और बक बनकर खेड रहे हैं ॥ ३९ ॥

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः

स्निग्धाः सुश्लिग्धैर्विषाणवेषणवः ।

स्नान् स्नान् सहस्रोपरिसंस्पृशान् स्नान्

वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्घर्षुर्मुदा ॥ २ ॥

कृष्णवस्त्रैरसंस्पृशते रूपाकुस्य स्ववत्सकान् ।

चारयन्तोऽर्मलीलाभिर्विबुधैस्तत्र तत्र ॥ ३ ॥

फलप्रवालस्तपकसुमनःपिच्छवातुभिः ।

काचगुञ्जामभिस्वर्गमृपिता अप्यमृपयन् ॥ ४ ॥

सृप्यन्तोऽन्वोन्यशिक्षयादीन् ज्ञातानाराच विधिपुः ।

तत्रत्याग पुनर्वाद्दसन्तथ पुनर्दधुः ॥ ५ ॥

यदि दूरं गतः कुण्डो वनशोमेधजाय तस्य ।

अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

केचिद् वेणून् वादयन्तोऽमान्तः शृङ्गाणि केचन ।

केचिद् मुञ्चैः प्रगायन्तः कृञ्जन्तः कोकिळैः परे ॥ ७ ॥

विच्छायाभिः प्रभावन्तो गच्छन्तः साधु ईसकैः ।

षकैरुपविशन्तथ नृत्यन्तथ कलापिभिः ॥ ८ ॥

विकर्णन्तः क्रीडाशालानारोहन्तथ तैर्हुमान् ।

विकुर्वन्तथ तैः साकं प्रवन्तथ पलाशिषु ॥ ९ ॥

साकं मेकैर्विलङ्घ्यः सरित्प्रसवसम्प्लुताः ।

निकल पड़े ॥ १ ॥ श्रीकृष्णके साथ ही उनके प्रेमी
सहस्रों ग्वाल्वाळ सुन्दर छींके, बेन, साँग और बँसुरी
ज्येष्ठ तथा अपने सहस्रों कछुओंको धागे करके बसें
प्रसम्नतासे अपने-अपने घरोंसे चक्क पड़े ॥ २ ॥ उन्होंने
श्रीकृष्णके अगणित कछुओंमें अपने-अपने बछड़े मित्र
दिये और स्नान-स्नानपर बाजेचित खेळ खेळते हुए
विचरने लगे ॥ ३ ॥ यद्यपि सबके-सब ग्वाल्वाळ
कौंच, घुँघची, मणि और सुवर्णके गहने पहने हुए थे,
निर भी उन्होंने बुन्दारनके छाल-पीले-हरे फलोंसे, नपी-
नयी कोंपलोंसे, गुच्छोंसे, रंग-विरंगे फूलों और मेरुपत्तोंसे
तथा गेरू आदि रंगिन वातुकोंसे अपने-अपने सजा
लिया ॥ ४ ॥ कोई किसीका छींका चुग लेता, तो
कोई किसीकी बेत या बँसुरी । जब उन वस्तुओंके स्वामी-
को पता चलता, तब उन्हें तेनेवाळ किसी दूसरेके पास
दूर फेंक देता, दूसरा तीसरेके और तीसरा और भी दूर चौथेके
पास । फिर वे दूसरे हुए उन्हें छेड़ा देते ॥ ५ ॥ यदि स्वयं-
सुन्दर श्रीकृष्ण बनकी शोभा देखनेके लिये कुछ जाते
थक जाते, तो 'पहले मैं छुट्टाऊँ, पहले मैं छुट्टाऊँ'—
इस प्रकार आपसमें होकर कम्पकर सबके-सब उनकी
ओर दौब पड़ते और उन्हें छू-छूकर आनन्दमग्न हो
जाते ॥ ६ ॥ कोई बँसुरी बजा रहा है, तो कोई सींग ही
झँक रहा है । कोई-कोई मँरीके साथ गुनगुना रहे हैं,
तो बहुत-से कोपलोंके खरमें खर मिश्रकर 'कुड़-कुड़'
कर रहे हैं ॥ ७ ॥ एक ओर कुछ ग्वाल्वाळ व्याकर्मों
उबड़ते हुए पक्षियोंकी छायाके साथ दौब छा रहे हैं, तो
दूसरी ओर कुछ ईसोंकी चालकी नकल धरते हुए
उनके साथ सुन्दर गतिसे चक्क रहे हैं । कोई बगुलेके फल
उरीके समान ओंखें मूँदकर बैठ रहे हैं, तो कोई मोरोंको
नाचते देख उन्हींकी तरह नाच रहे हैं ॥ ८ ॥ कोई-
कोई बंदरोंकी पूँछ पकड़कर झीब रहे हैं, तो दूसरे
उनके साथ इस पेड़से उस पेड़पर भटक रहे हैं । कोई-
कोई उनके साथ मुँह बना रहे हैं, तो दूसरे उनके साथ
एक बालसे दूसरी बालपर छायींग मार रहे हैं ॥ ९ ॥
बहुत-से ग्वाल्वाळ तो नदीके किनारोंमें छाया खेळ रहे
हैं और उसमें प्रदूषते हुए मँरीकोके साथ साथ भी

विहमन्तःप्रतिच्छायाःशपन्तश्चप्रतिखनान् ॥१०॥

इत्थं सतां प्रसस्तुलानुभूत्या

दास्य गतानां परदेवतेन ।

मायाभितानां नरदारकेषु

साकं विबुधं कृतपुण्यपुञ्जाः ॥११॥

यत्पादपांसुर्वहुसन्मकुण्डलो

धृताश्मभिर्योगिभिरप्यलम्ब्य ।

स एव यद्वह्निवपय स्वयं स्थितः

किं वर्ष्मते दिष्टमतो प्रञ्चोकसाम् ॥१२॥

अधाघनाभाम्यपतन्महासुर

स्तेषां सुम्भक्रीडनवीक्षणोद्यमः ।

नित्यं यदन्तर्निब्रज्यवितेषुभि

पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्षन्ते ॥१३॥

दृष्टार्मकां कृष्णसुखानपासुरः

कषातुद्विष्टः स बकीवकानुजः ।

अथ तु मे सादरनाशकृपयो

र्दयार्ममैतं सखलं हनिष्ये ॥१४॥

पते यदा मस्तुहदोस्तिलाप

कृतास्तदा नष्टसमा प्रञ्चोकसः ।

प्रागे गते वर्ष्मसु का तु चिन्ता

प्रभासव प्राणमृता हि ये ते ॥१५॥

इति स्वपस्याजगरं शृद्धं वपु

॥ योजनायाममहाद्रिपीवरम् ।

धृत्वाद्भुतं व्याघ्रगुहाननं तदा

पथि स्पशेत् प्रसन्नाश्रया खलः ॥१६॥

फुटकर रहे हैं । कोई पानीमें अपनी परछाईं देखकर उसकी हँसी कर रहे हैं, तो दूसरे अपने शत्रुकी प्रति धनिके की। सुख-मय कह रहे हैं ॥ १० ॥ मगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी सर्वोक्त श्रिये स्वयं ब्रह्मानन्दके मूर्तिमान् अनुभव हैं । दास्यमावसे युक्त मर्कों श्रिये वे उनके आरुप्येव, परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर हैं । और माया-शोभित विस्मयार्थके श्रिये वे केवल एक मनुष्य-शालक हैं । उनकी मगवान्के साथ वे महान् पुण्यात्मा व्याख्यात तरु-तरुके लेश लेख रहे हैं ॥ ११ ॥ बहुत जन्मोत्पन्न भय और कष्ट उल्लङ्घन, चिन्तने, अपनी इच्छायों और अन्त करणवशे वशमें कर दिया है, उन योगियोंके श्रिये भी मगवान् श्रीकृष्णके वरणकर्मयोंकी रत्न अप्राप्य है । वही मगवान् स्वयं त्रिन ब्रह्मासी व्याघ्रशर्पकी लोखों सामने रहकर सग लेख लेखते हैं, उनके सौभाग्यकी महिमा इससे अधिक क्या कही जाय ॥ १२ ॥

परीक्षित ! इसी समय अशतुर नामका महान् दैत्य आ धमका । उससे श्रीकृष्ण और व्याघ्रशर्पकी सुखसुखी प्रीति देखी न गयी । उमक हृदयमें जटन होने लगी । वह इतना मयङ्कर था कि अमृतान् पत्रके अन्ध हुए देवता भी उससे अपने जीवनकी रक्षा करनेके श्रिये विनित्त रहा करते थे और इस घातकी बात लम्बते रहते थे कि किसी प्रकारसे इन्की मृत्युका अवसर आ जाय ॥ १३ ॥ अशतुर धृत्वा और ब्रह्मसुरका हाथ माई तथा कर्मका भेदा हुआ था । वह श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि व्याघ्रशर्पोंको दण्डकर मन ही-मन साचन व्याघ्र निष्करी मेरे सगे भाई और बहिनको मारनाका है । इस श्रिये आज मैं इन व्याघ्रशर्पोंके साथ इसे मार-बाटूँगा ॥ १४ ॥ जब ये सब मरकर मेरे उन शत्रुओं भाई-बहिनोंके मृत-सर्पणकी निश्वसति मन जायेंगे, तब ब्रजवासी अपने-आप मेरे जैसे हो जायेंगे । सुखान ही प्राणियोंका प्राण है । जब प्राण ही न रहे, तब शरीर कैसे रह्य ? इसकी मृत्युमें ब्रजवासी अपने-आप मर जायेंगे ॥ १५ ॥ ऐसा निश्चय करने के बाद दृष्ट दैत्य अशतुरका स्वयं धारण कर मार्गमें लग गया । उमका वह अशतुर-शक्ति एक योजन लंबे बड़े वपुपर समन बिगड़ पत्र मारा था । यह वपु ही अद्भुत था । उसकी नीचन मर व्याघ्रशर्पोंके निगड जानेकी थी, इसलिये समन सुख-मय मन्दन प्रसन्ना

आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसु वली ॥४८॥

कृष्णं महाबलप्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्चकाः ।

बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राण विचेतसः ॥४९॥

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद्

गोपालघ्नं पितरं जगद्गुरोः ।

वच्छर्द्धं सद्योऽतिरुणाश्रितं बभूव

स्तुब्धेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥५०॥

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो

दोर्म्यां बभूव कसमस्तं सतां पतिः ।

पश्यस्तु बालेषु ददत्त लीलया

मुदावहो वीरगवधुं दिगौकसाम् ॥५१॥

तदा वकारिं सुरलोकवासिनः

समाकिरन् नन्दनमखिलप्रदिभिः ।

समीक्षितं चानकप्रभसस्तवै

स्तद्वत् वीर्यं गोपालमुखा विसिम्भरे ॥५२॥

मुक्तं ब्रह्मास्त्रादुपलभ्य बालकं

रामादयः प्राणमिदं निद्रायो गणः ।

स्नानागतं च परिरम्य निर्मिताः

प्रणीय वस्त्रान् वस्त्रमेव तल्लघुः ॥५३॥

भुत्वा तद् विसिता गोपा गोप्यभातिप्रियावता ।

वहाँ आया था । उसकी चौंच बड़ी तीखी भी और बड़
खर्य बड़ा बलवान् था । उसने आप्रकर श्रीकृष्णको
निगल लिया ॥ ४८ ॥ जब बन्धाम आदि बालकोंने
देखा कि यह बड़ा भारी बगुन श्रीकृष्णको निगल गया,
तब उनकी बड़ी गति हुई जो प्राण निकल जानेपर
इन्द्रियोंकी होती है । वे अचेत हो गये ॥ ४९ ॥
परीक्षित ! श्रीकृष्ण अक्षयितामह ब्रह्माके भी पिता हैं ।
वे छीझसे ही गोपाल-भाऊ बने हुए हैं । जब व बालके
ताइके नीचे पहुँचे, तब वे आगके समान उसका ताइ
जलने लगे । अन उस दैत्यने श्रीकृष्णके शरीरपर
बिना किसी प्रकारका धातु किये ही अपना ठण्डें ताइ
दिया और फिर बड़े क्रोधसे अपनी कटोर चौंचसे उनपर
चोट करनेके लिये दूना पड़ा ॥ ५० ॥ कंसका सब
बन्धसुर अभी मकसस भगवान् श्रीकृष्णपर आप्र ही रहा था
कि उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे उसका दोनों ओर पकड़
लिये और व्याघ्रचर्मोंके देखते-देखते खेच-ही-खेचमें उसे
बैसे ही वीर डाङ, जैसे कोई वीरग (गौबर, जिसकी
जबका कस होता है) को वीर डाले । इससे वेकताओं-
का बड़ा आनन्द हुआ ॥ ५१ ॥ सभी दंक्ता भगवान्
श्रीकृष्णपर नन्दनबनके बेग, अपने-ही आदिके कूच
करसाने लगे तथा नगरे, शङ्ख आदि वजाकर एवं
स्तोत्रोंके द्वारा उनको प्रसन्न करने लगे । यह सब देख-
कर सबके-सम व्याघ्रका आश्चर्यचकित हो गये ॥ ५२ ॥
जब बन्धाम आदि बालकोंने देखा कि श्रीकृष्ण बगुलेके
मुँहसे निकलकर हमारे पास आ गये हैं, तब उन्हें
ऐसा आनन्द हुआ मानो प्राणोंके सम्भरसे इन्द्रियों सचेत
और जानन्दिता हो गयी हों । सबने भगवान्को अष्टा
अष्टा गले लगाया । इसके बाद अपने-अपने कछड़े
होंकर सव बन्ने जाये और वहाँ उन्होंने घरके
जगोंसे सारी घटना बड़ सुनयी ॥ ५३ ॥

परीक्षित ! बन्धसुरक बचकी घटना सुनकर सब-
के-सम गोपी-गोप आश्चर्यचकित हो गये । उन्हें ऐसा
जान पड़ा, जैसे कहींया सम्वाद मृत्युके मुखसे ही

प्रत्यागतमित्रोस्तु क्वादैक्षन्त वृत्तिवेषणाः ॥५४॥

अहो यथास्य बालस्य पश्यो मृत्युषोऽभयम् ।

अप्यासीद् विप्रिय तेषां कृतं पूर्वं यथा भयम् ॥५५॥

अथाप्यभिमन्यन्तेन नैव ते मोरदर्शनाः ।

विधांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥५६॥

अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।

यगो यदाह भगवानन्वमावि तथैव तत् ॥५७॥

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां श्रुत्वा ।

कुर्वन्तो रममाप्ताश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥५८॥

एव निहारैः कौमारैः कौमारं अहस्तुम्रजं ।

निठायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्सुबचनादिभिः ॥५९॥

छीटे हों । वे बड़ी उत्सुकता, प्रेम और आदरसे श्रीकृष्णको निहारने लगे । उनके नेत्रोंकी प्यास बढती ही नाली थी, किसी प्रकार उन्हें वृत्ति न होती थी ॥५४॥ वे आपसमें कहने लगे—**हयम् । हयम् ॥** यह कितने आश्चर्यकी कथा है । इस बालकको कई बार मृत्युके मुँहमें जाना पड़ा । परन्तु जिन्होंने इसका अनिष्ट करना चाहा, उन्होंने अनिष्ट हुआ । क्योंकि उन्होंने पहलेसे दूसरोंका अनिष्ट किया था ॥ ५५ ॥ यह सब होनेपर भी वे मगधकर अमुर इसका कुछ भी नहीं बिगड़ पाते । जाते हैं इसे मार बाजनेकी मीकतसे, किन्तु आगपर गिरकर पतियोंकी तरह उछटे स्वयं स्वाहा हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ सच है, ब्रह्मवेत्ता महारमाओंके बचन कभी झूठे नहीं होते । देखो न, महारमा गर्गचार्यने कितनी बातें कही, थीं, सब-कुछ-सब सोंझों जाने दीक उत्तर रही हैं ॥ ५७ ॥ नन्दबच्चा आदि ग्रामगण इसी प्रकार बड़े आनन्दसे अपने इयाम और रामकी बातें किया करते । वे उनमें इतने तन्मय रहते कि उन्हें संसारके दुःख-संकटोंका कुछ पता ही न चलता ॥५८॥ इसी प्रकार इयाम और बन्धाम म्याऊबन्धोंके साथ कभी आँखमिचौली खेलते, तो कभी पुछ बाँवते । कभी कंदरोंकी मौति उछलते-कूदते, तो कभी और कोई विचित्र खेल करते । इस प्रयत्नके बाधेचित्त छेड़से उन दोनोंने ब्रह्ममें अपनी आन्याबस्ता म्पतीत की ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्ये संज्ञितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्षि

कृतसकलशो नामैकत्रयोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथासुरका उवाच

धीशुक उवाच

कचिद् ब्रनाशाय मना दधन् यत्रात्

प्रातः समुत्थाय वयस्वस्तपान् ।

प्रबोधयन्मृदुरवेण चारुणा

विनिर्गता वस्तपुरःसरा हरिः ॥ १ ॥

धीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! एक दिन

नन्दनन्दन इयाम्मुन्दर वनमें ही कलेश्वर वरनेक विचारसे गये तबक उ गये और सीमाकी मयुर मनोहर अग्निसे अपने साथी म्याऊबन्धोंका मनपरीक्षा बात जनाते हुए उन्हें मगध्या और मछड़ोंका आगे करके वे ब्रह्ममन्त्रसे

तेनैव साकं पृथुका सहस्रशः

स्निग्धाः सुश्रिग्वेप्रविषाणषेणवः ।

स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्

वत्तान् पुरस्कृत्य विनिर्यपुर्षुदा ॥ २ ॥

कृष्णवत्सर्वसंख्यातैर्पृथीकृत्य स्ववत्सकान् ।

चारयन्तोऽर्मलीलाभिर्विचक्षुस्तत्र तत्र ॥ ३ ॥

फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः ।

काचगुडाममिस्वर्णमृपिता अप्यमृपयन् ॥ ४ ॥

सृष्टान्तोऽन्योन्यशिक्षयादीनृक्षातानाराधयिषिषुः ।

तत्रत्याग्य पुनर्द्वाराद्वसन्तथ पुनर्ददुः ॥ ५ ॥

यदि दूरं गतः कृष्णा वनशामेषणाय तम् ।

अहं पूर्वपदं पूर्वमिति सस्पृश्य रमिरे ॥ ६ ॥

कविद्वयैर्गुरुभारदयन्तःप्रागुक्तः शृङ्गाणि कथयन् ।

कविद्वयैर्गुरुभारदयन्तःप्रागुक्तः शृङ्गाणि कथयन् ॥ ७ ॥

रिच्छायाभिः प्रभासन्तो गन्धन्तः मापुर्हस्यन्ते ।

वर्षकविरिञ्चन्तथ नृपन्तथ कनापिभिः ॥ ८ ॥

रिद्धयन्तः क्षात्रावातानाराहन्तथ वधुमान् ।

विह्वलन्तथ मेः मारुतं वनन्तथ वनाशिषु ॥ ९ ॥

गार्ह मर्हन्तिह्वन्तः गग्निप्रवरमग्नुताः ।

निकट पड़े ॥ १ ॥ श्रीकृष्णके साथ ही उनके प्रेमी
सहस्रों ग्वाड़गुड़ सुन्दर छीके, बेन, सींग और बँसुरी
लेकर तथा अपने सहस्रों बछड़ोंको कागे फरक बर्षी
प्रसम्नासे अपने-अपने घरोंसे बच पड़े ॥ २ ॥ उन्होंने
श्रीकृष्णके अगणित बछड़ोंमें अपने-अपने बछड़े मिय
दिये और स्थान-स्थानपर बालोचित लेख लेखे हुए
विचरने लगे ॥ ३ ॥ यद्यपि सबके-सब ग्वाड़गुड़
कौब, भुँवची, मणि और मुकणके गहने पहने हुए थे,
किन्तु भी उन्होंने बुद्धावनके खल-पीले-हरे कपड़ोंसे, नयी-
नयी कोंफ़ोंसे, गुच्छोंसे, रंग-धिरंगे झूठों और मोरफँसोंसे
तथा गेरू आदि रंगीन धातुओंसे अपनेको सजा
लिया ॥ ४ ॥ कोई किसीका छीका चुग लेता, तो
कोई किसीकी बेत या बँसुरी । अब उन बलुओंके खामी-
को फटा चकता, तब उन्हें लेनेवाला किसी दूसरेके पास
दूर फेंक देता, दूसरा तीसरेके और तीसरा और भी दूर चौथेके
फेंक । फिर वे हैंसते हुए उन्हें छोटा देते ॥ ५ ॥ यदि स्थान-
सुन्दर श्रीकृष्ण कनकी श्रेया देखनेके लिये कुछ आगे
बढ़ जाते, तो पहले में छुड़का, पहले में छुड़का—
इस प्रकार आपसमें होइ खलकर सबके-सब उनरी
और दीव पकते और उन्हें छुड़का आनन्द हो
जाते ॥ ६ ॥ कोई बँसुरी बजा रहा है, तो कोई सींगही
झेंक रहा है । कोई-योंही मीरोंके साथ गुनगुना रह दे,
तो बहुतसे कोपणके स्वरमें स्वर मियकर 'बुद्ध-बुद्ध'
कर रहे हैं ॥ ७ ॥ पण और कुछ फाफ़ाउ आपसमें
ठकते हुए पछिपछी लपकते साथ गीत गाय रह दे, तो
दूसरी आर कुछ हँसोरी चान्दनी मरत मरत हँ
उमर साथ दूसर गतिमें बच रह दे । पार्श्व बगुनके फल
उगीन ममन औरों में बँसुरी बजा रहे हैं, तो कोई छोटीसी
माया दग उठोरी तब माच रहे हैं ॥ ८ ॥ पार्श्व
बगुन बँसुरी गीत गायकर सींग रह दे, तो दूसरे
उनका मग इस पेदम टग वेदम बजा रहे हैं । कोई
गोश उनका मग भुँव बना रह दे तो दूसरा उनका मग
पण बजा दूसरी बँसुरी औरों में बजा रहे हैं ॥ ९ ॥
पहले मग बँसुरी तो मगीन बँसुरीमें लपक गत रहे
हैं और हमने पणका हँ में गीत गाय मग मग

विहमन्तःप्रतिष्ठायाःक्षयन्तश्चप्रतिस्वनान्॥१०॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या

दास्य गतानां परदैवतेन ।

मायाभितानां नरदारकेण

साकं विबुधं कृतपुण्यपुङ्खाः॥११॥

यत्पादपांशुर्बहुस्त्वन्मकरुप्रतो

वृत्तारमभिर्भोगिमिरप्यलम्बः ।

स एव यद्वृत्तगिरयः स्वयं स्थितः

किं वर्ष्यते दिष्टमतो मज्जीकसाप् ॥१२॥

अधाधनामाम्भपतमहासुर

स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणालम्बः ।

नित्यं यदन्तर्निजक्रीवितेषुभिः

पीतामृतैरप्यमरैः प्रसीक्ष्यते ॥१३॥

हृद्भर्मकान् कृष्णसुखानपासुरः

कंसानुश्लिष्टः स बक्रीबकानुजः ।

अथ तु मे सोदरनाशकृच्छयो

द्वयार्ममैतं सबलं हनिष्ये ॥१४॥

एते यदा मत्सुहृदोस्तिलाप

कृतास्तदा नष्टसमा ब्रह्मकंसः ।

प्राणे गते बर्म्मसु का तु पिन्ता

प्रभासवः प्राणमृता हि ये ते ॥१५॥

इति ऋषसाक्षगरं पृष्ट्वा वपुः

स योजनानाममहाद्विपीवरम् ।

वृत्वाहृतं व्याघ्रशुभाननं सदा

पथि ऋष्यश्वेतं असनाक्षया खलः ॥१६॥

पुष्टक रहे हैं । कोई पानीमें अपनी परछाई देखकर उसकी हँसी कर रहे हैं, तो दूसरे अपने शम्भुकी प्रतिष्ठापनिको ही भुग-मय कर रहे हैं ॥ १० ॥ मगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी संतोंके लिये स्वयं ब्रह्मानन्दके मूर्तिमन् अनुभव हैं । दास्यभावसे युक्त मत्तोंके लिये वे उनके आराध्यदेव, परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर हैं । और मया मोहित निम्नकर्णोंके लिये वे केवल एक मनुष्य झञ्झ हैं । उन्हीं मगवान्के साथ वे मगवान् पुण्यात्मा गालजाल तरङ्ग-तरङ्गके खेल खेल रहे हैं ॥ ११ ॥ बहुत जन्मोंतक अम और कष्ट उलझकर बिहोने अपनी इन्द्रियों और अन्त करणको बशमें कर लिया है, उन योगियोंके लिये भी मगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी रज अप्राप्त है । वही मगवान् स्वयं जिन ब्रजवासी ग्वाध्वालोंकी आँखोंके सामने रखकर सदा खेल खेलते हैं, उनके सीमाग्यकी मझिम इससे अधिक क्या करी जाय ॥ १२ ॥

परीक्षित । इसी समय अवासुर नामक मगवान् दैत्य आ चमकर । उससे श्रीकृष्ण और ग्वाध्वालोंकी सुखमयी क्रीडा देखी न गयी । उसका हृदयमें जलन होने लगी । वह इतना मयङ्कर था कि अप्रत्यक्ष करके अमर हुए देवता भी उससे अपने जीवनकी रक्षा करनेके लिये चिन्तित रहा करते थे और इस बातकी बात देखते रहते थे कि किसी प्रकारसे इसकी मृत्युका अवसर आ जाय ॥ १३ ॥ अवासुर धृन्ता और बकसुरका छोटा भाई तथा कंसका मेधा हुआ था । वह श्रीकृष्ण, श्रीभामा आदि ग्वाध्वालोंको देखकर मन ही-मन सोचने लगा कि 'यही मेरे सगे भाई और बहिनको मारनेवाला है । इस लिये आज मैं इन ग्वाध्वालोंके साथ इसे मार बाँझूँगा ॥ १४ ॥ अब ये सब मकर मेरे उन दोनों भाई-बहिनोंके मृत-तर्पणकी मित्रालक्षि बन जायेंगे, तब ब्रह्मसती अपने-आप मरे-जैसे हो जायेंगे । सत्सत् ॥ प्राणियोंके प्राण हैं । जब प्राण ही न रहेंगे, तब शरीर कैसे रहेगा ? इसकी मृत्युसे ब्रजवासी अपने-आप मर जायेंगे ॥ १५ ॥ ऐसा निश्चय करके वह दृष्ट दैत्य अजगरदा रूप धारण कर मार्गमें लग गया । उसका वह अजगर शरीर एक योजन लम्बे बड़े पतक समान विराट् एवं मोटा था । वह बहुत ही बलुत था । उसकी नीचत सय गाय्योंको मित्त जानेकी थी, इसलिये उसने गुप्तक सम्भन अपना

धृषादनेनेति वक्षार्युध्न्युत्स

वीक्ष्योदसन्तः करवाहनैर्ययुः ॥२४॥

इत्थ मिथोऽतश्चमत्तञ्चभाषित

भृत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।

रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्सितः

स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे ॥२५॥

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तर

परं न गीर्षाः शिशवः सबत्साः ।

प्रतीक्षमाणेन वक्षारिवेशन

इत्सकान्तसरणेन रक्षसा ॥२६॥

तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलामयप्रदो

घनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान् ।

दीर्घांश्च मृत्योर्बेडारान्निघासान्

घृणार्द्रितो दिष्टकृतेन विस्मित ॥२७॥

कृत्यं किमत्रास्य ललस्य जीवन्

न वा अमीषां च सर्तां विहिसनम् ।

द्रव्यं कथं स्वादिति सविचिन्त्य च

ज्ज्ञात्वाविशुचुष्टमद्वेषहृत्परि ॥२८॥

तदा घनच्छदा देवा भयाद्दाहति शुमुद्यु ।

अप्येषं च कमाया कौण्ठान्धयमान्धवाः ॥२९॥

एक क्षणमें यह भी बक्षसुरके समान नष्ट हो जायगा । हमारा यह कर्तव्य है इसको छोड़कर पोरों ही ।' इस प्रकर कहते हुए वे ग्वालवाक बक्षसुरको मारनेवाले श्रीकृष्णका सुन्दर मुख देखते और ताड़ी पीट-पीटकर हँसते हुए अवासुरके मुँहमें घुस गये ॥ २४ ॥ उन अनजान यक्षोंकी आपसमें बड़ी हुई भ्रमपूर्ण बातें सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि 'अरे, इन्हें तो सच्चा सर्प भी सूख प्रतीत होता है ।' परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्ण जान गये कि यह राक्षस है । मन्त्र, उनसे क्या छिगा रहता है वे तो समस्त प्राणियोंके हृदयमें ही निवास करते हैं । अब उन्होंने यह निश्चय किया कि अपने सखा ग्वालवाक्योंको उसके मुँहमें जानेसे बचा लें ॥ २५ ॥ भगवान् इस प्रकार सोच ही रहे थे कि सक्-के-सब ग्वालवाक्य बक्षसोंके साथ उस असुरके घेम्में चले गये । परन्तु अवासुरने अभी उन्हें निगल्य नहीं । इसका कारण यह था कि अवासुर अपने भाई बक्षसुर और वहिन पूतनाके बचकरी याद करके इस ब्रतकी बाट देख रहा था कि उनको मारनेवाले श्रीकृष्ण मुँहमें धा जायें, तब सबको एक साथ ही निगल जाऊँ ॥ २६ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण सपका अप्प देनेवाले हैं । जब उन्होंने देख कि ये बेकारे म्याज्जा—जिनका एकमात्र रक्षक मैं ही हूँ—मेरे हाथसे निकल गये और जैसे कोई तिनका उड़कर आगमें गिर पड़े, वैसे ही अपने-आप मृत्युत्पन्न अवासुरकी बठारान्निके घास बन गये, तब दीर्घकृति इस विचित्र छीयार भगवान्को बड़ा विलम्ब हुआ और उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया ॥ २७ ॥ वे सोचन लगे कि 'अब मुझे क्या करना चाहिये ? ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे इस दुष्टकी मृत्यु भी हो जाय और इन संन्यस्यमात्र माय-माते म्याज्जोंकी हत्या भी न हो ? ये दानों काय कौन हो सकते हैं ?' परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्ण मृत, मरिय, बन्धन—सबका प्रणय दण्डते रहते हैं । उनके अंगे यह उपाय जानना कोई कठिन था । वे अन्ता कर्मन्त्र निश्चय करके अप्प उसका मुँहमें घुस गये ॥ २८ ॥ उस सम्प्य घासोंमें छिपे हुए देवता मयरा 'दाप-दाप' पुनर उठे और अप्पमुक्त छिनेरी कंस काटि राक्षस हर्ष प्रकट करने लगे ॥ २९ ॥

सन्धुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वभ्ययः सार्धवत्सकम् ।

पूर्णांचिक्रीर्पोतात्मानं तरसा वपुषे गले ॥३०॥

ततोऽतिक्रायस्य निरुद्धमार्गिणो

भुव्रीर्णष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्तत ।

पूर्णांश्चरन्ते पवतो निरुद्धो

मूर्धन् विनिग्रास्य विनिर्गतो बहिः ॥३१॥

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु

प्राप्तेषु वत्सलं सुहृदः परेतान् ।

दृष्ट्वा स्वपोतवाप्य तदन्वितः पुन

र्धक्वान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ॥३२॥

पीनादिभोगात्पित्तमद्भुतं भद्र

दृग्गोषिः स्वधाम्ना ज्वलयषु दिशो दध ।

प्रतीक्ष्य खेऽनस्यितमीदृग्विनिर्गम

विवेश तस्मिन् मिततां दिवौकशम् ॥३३॥

ततोऽतिदृष्टाः स्वकुतोऽकुतार्थं

पुष्पैः सुरा अम्बरसमं नर्तनै ।

गीतं सुगा वाद्यधराभ वाद्यनैः

स्त्वैव विप्रा अशनिःस्वनैर्गंगाः ॥३४॥

तदद्भुतस्तत्रसुराद्यगीतिका-

जपादिनैः कृतसकमङ्गलस्वनान् ।

भुत्वा स्वधाम्नाऽन्त्यज आगताऽचिरात्

दृष्ट्वा महीशम्य अगाम विमयम् ॥३५॥

रात्रन्नाश्रयणं पर्मं शुष्कं वृन्दावनं द्रुतम् ।

मन्त्राहमां बहुविधं वपुषाभीदगद्गम् ॥३६॥

एतन् कीमार्जं रूपं हररात्पादिपाद्यम् ।

अथासुर वृद्धों और आलस्योंके सहित भगवान् श्रीकृष्णजी अपनी बाइसें धक्काकर चूर-चूर कर डालना चाहता था । परन्तु उसी समय अविनाशी श्रीकृष्णने देवताओंकी ध्वाय-ध्वाय सुनकर उसके गलेमें अपने शरीरको बन्धी पुतांसे बन्धा लिया ॥ ३० ॥ इसके बाद भगवान्ने अपने शरीरको इतना बन्धा कर लिया कि उसका गल्ल ही रुँच गया । ओंखें उल्टी गयीं । वह व्याकुल होकर बहुत ही छटपटाने लगा । सौत झनकर सारे शरीरमें भर गयी और अन्तमें उसके प्राण अम्बरप्र प्लोचकर निकल गये ॥ ३१ ॥ उसी मांसि प्राणोंके साथ उसकी सारी इन्द्रियों भी शरीरसे बाहर हो गयीं । उसी समय भगवान् मुकुन्दने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे भरे हुए वृद्धों और ग्रासबाजोंको जित्त दिया और उन सबको साथ लेकर वे अथासुरके मुँहसे बाहर निकल आये ॥ ३२ ॥ उस अम्बरके स्थूल शरीरसे एक अप्सृत बहुत और म्हान् ज्योति निकली । उस समय उस ज्योति-के प्रकाशसे दसों गिर्णार्ण प्रज्वलित हो उठी । वह बोकी घेरतक तो आकाशमें स्थित होकर भगवान्को निकलनेकी प्रतीक्षा करती रही । जब वे बाहर निकल आये, तब वह सब देवताओंके देहले-देहले उन्हींमें समा गयी ॥ ३३ ॥ उस समय देवताओंने छूट करसाकर, अम्बरज्योति नाच कर, गन्धर्वोंने गायन, विद्याधरोंने बाजे बजाकर, ब्रह्मर्षोंने स्तुति-मन्त्रकर और पार्षदोंने जय-जयकारके नारे लगाकर बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णका अग्निन्दन किया । क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने अथासुरको मारकर उन सबका बहुत बन्धा घटम किया था ॥ ३४ ॥ उन बहुत स्तुतियों, सुन्दर वाजों, मङ्गलमय गीतों, जय-जयकार और आनन्दोत्पन्नोरी मङ्गलमयि ब्रह्मर्षीके पास पहुँच गयी । जब ब्रह्मजीने वह ज्योति सुनी, तब वे बहुत ही शीघ्र अपने माहानगर चङ्कर बहो आये और भगवान् श्रीकृष्णजी पर मदिग दमकर आश्चर्यचकित हो गये ॥ ३५ ॥ परीजित् । जब वृन्दावनमें अजगरा बड़ आम सूत गया, तब व- ब्रजवासियोंके लिये बहुत निनोतक रोउनेकी एक बहुत गुल्ल-सी पना रहा ॥ ३६ ॥ पर जो भगवान्ने अपने ग्रासार्तोंका मृत्युके मुतासे दक्षपा पा और अथासुरको मोक्ष-दान किया था, वह भीय भगवान्ने

मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्टेऽभिविभिता व्रजे ॥३७॥

नैतद् विचित्रं मनुजार्ममायिनः

परावराणां परमस्य वेधसः ।

अथोऽपि यत्स्पर्धनभौवपातकः

प्रापात्यसाम्पं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥३८॥

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तरादिता

मनोमयी भागवती ददौ शक्तिम् ।

स एव नित्यात्मसुखाहुभूयभि-

स्पृदस्तमाथोऽन्तर्गतो हि किं पुन ॥३९॥

सूत उवाच

इत्थं दिवा यादवदेवदत्तः

भुत्वा स्रगुत्तरितं विचित्रम् ।

पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुन्यं

वैयासकिं यमिगृहीतचेताः ॥४०॥

राजोवाच

प्रसन्न कालान्तरकृतं तस्काटीनं कथं भवेत् ।

यत् क्रौमारे हरिकृतं वगुः पौगण्डकेऽर्मकाः ॥४१॥

तद् मूढि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुप्तो ।

भूतमेतदरेरेव माया भवति नान्यथा ॥४२॥

आपनी कुम्भर अवस्थामें अर्थात् पौषके कर्म ही की थी ।
व्याख्याकारोंने उसे उसी समय देखा भी था, परन्तु पौगण्ड
अवस्था अर्थात् छठे कर्ममें अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर
व्रजमें उसका कर्णन किया ॥ ३७ ॥ अथासुर भूर्तिमान् अव
(पाप) ही था । भगवान् के स्पर्शमात्रसे उसके सारे पाप
पुष्ट गये और उसे उस सारूप्य-मुक्तिकी प्राप्ति हुई,
जो पापियोंको कभी मिल नहीं सकती । परन्तु यह कोई
आश्चर्यकी बात नहीं है । क्योंकि मनुष्य-बालकसे-ही छिन्न
रचनेवाले ये वे ही परमपुरुष परमात्मा हैं, जो व्यक्त-अव्यक्त
और कार्य-कारणरूप समस्त जगत् के एकमात्र निबन्ध
हैं ॥ ३८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके विस्ती एक वज्रकी
मायानिर्मित प्रतिमा यदि ध्यानके द्वारा एक बार भी हृदयमें
वैद्य की जाय, तो वह सत्येक्य, सामीप्य आदि शक्ति
दान करती है, जो भगवान् के बड़े-बड़े मन्त्रोंको मिलती
है । भगवान् आत्मानन्दके नित्य साक्षात्काररूप हैं ।
अप्य उनके पासतक नहीं पटक पती । वे ही सत्य
अथासुर के शरीरमें प्रवेश कर गये । नय अव भी उसकी
सद्गतिके विषयमें कोई संशय है । ॥ ३९ ॥

वृत्तकी कहते हैं—शौनकादि श्रुतिषो ! पशुपुत्र-
सिंहोपनि भगवान् श्रीकृष्णने ही राजा परीक्षितको
जीवन-दान दिया था । उन्होंने जब अपने रक्षक एवं
जीवनसर्वसक यह विशिष्ट चरित्र सुना, तब उन्होंने
पित्र श्रीकृष्णदेवकी मन्त्रावासे उनकीकी पत्निय कीर्त्यके
सम्बन्धमें प्रश्न किया । इसका कारण यह था कि
भगवान् की अमृतमयी छिन्नने परीक्षितके पित्रको अपने
कर्ममें कर रक्ख था ॥ ४० ॥

राजा परीक्षितने पूछा—भगवान् ! आपने कहा था
कि व्याख्याकारोंने भगवान् की हुई पौषके कर्मकी छिन्न
व्रजमें छठे कर्ममें जाकर कही । अब इस विषयमें आप
क्या करके यह बतलाइये कि एव समयकी छिन्न दूसरे
समयमें वर्तमानकालीन कैसे हो सकती है । ॥ ४१ ॥
महायोगीगुरुदेव ! मुझे इस आश्चर्यपूर्ण रहस्यको जाननेके
लिय बड़ा कौतूहल हो रहा है । आप क्या करके
बतलाइये । अवश्य ही इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी विशिष्ट
धर्मात्मको धटित करनेवाली मायाका कुछ-न-कुछ कम
होगा । क्योंकि और किसी प्रकार ऐसा नहीं हो सकता

वयं धन्यतमा लाके गुरोऽपि स्रवन्धवः ।

यत् पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यकृष्णकृष्णामृतम् ॥४३॥

सूत उवाच

इत्थं स पृष्टः स तु बादरायणि

स्तस्मारितानन्तद्वत्सलिलेन्द्रियः ।

कृष्णात् पुनर्लब्धवहिरसिः क्षनैः

प्रत्याह त भागवतोत्तमोत्तम ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमार्थ्यं संक्षिप्तं दशमस्कन्धे पूर्वो
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

प्रह्लादीका मोह और बसका नाश

श्रीकृष्ण उवाच

साधु पृष्ट महाभाग स्वया भागवतोत्तम ।

यन्नूतनयसीद्यस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥

सतामयं सारमृतां निसर्गो

पदर्थबाणीभूतियेतमामपि ।

प्रतिघ्न नश्यदभ्युतस्य यत्

मिया विग्नानामिष साधु वार्ता ॥ २ ॥

गृणुष्वचरितो रात्रमपि मुद्यं वदामि ते ।

मृषुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमभ्युत ॥ ३ ॥

॥ ४२ ॥ गुरुवेष ! यद्यपि क्षत्रियोचित वर्म ब्राह्मण-
सेवासे विमुख होनेके कारण मैं अपराधी नाम्मथका
क्षत्रिय हूँ, तथापि हमारा अहोभाग्य है कि हम आपके
मुखारविन्दसे निरन्तर भरते हैं परम पवित्र मधुमय
श्रीकृष्णकीअमृतका बार-बार पान कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

सूतजी कहते हैं—मगधनूके परम प्रेमी भक्तोंमें
श्रेष्ठ शौनधजी ! जब राजा परीक्षितने इस प्रकार प्रश्न
किया, तब श्रीशुकदेवजीको भगवान्की यह स्तुति स्मरण
हो आयी । और उनकी समस्त इन्द्रियों तथा अन्तः
करण विषय होकर भावान्की निस्पृहीअमें खिच गये ।
कुछ समयके बाद धीरे-धीरे अम और कहते उन्हें
बादशाह हुआ । तब वे परीक्षितसे भावान्की अमका
वर्णन करने लगे ॥ ४४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! तुम बड़े

मम्यवान् हो । भगवान्के प्रेमी भक्तोंमें तुम्हारा स्थान
श्रेष्ठ है । सभी तो तुमने इतना सुन्दर प्रश्न किया है ।
यों तो तुम्हें बार-बार भगवान्की अमका-कथन सुननेको
मिच्छी हैं, फिर भी तुम उनके सम्बन्धमें प्रश्न करके
उन्हें और भी सरस—और भी नूतन बना देते
हो ॥ १ ॥ रसिक संतोंकी भाणी, कवन और हृदय
भगवान्की अमके गान, अलग और चिन्तनके उद्योग
होते हैं—उनका यह स्वभाव ही होता है कि वे क्षण-
प्रतिक्षण भगवान्की अमकोंको अर्च्य रसमयी और
नित्य-नूतन अनुभव करते रहें—दीक देते ही, सीते
छप्प पुरुषोंको थियोंकी चपमि मयानय रस जान
पड़ता है ॥ २ ॥ परीक्षित ! तुम एतन्म विद्यते अलग
करो । यद्यपि भगवान्की यह श्रवण कल्प रहस्यमयी
है, फिर भी मैं तुम्हें सुनाता हूँ । क्योंकि दयालु आचार्य-
गण जाने प्रेमी शिष्योंको गुह्य रहस्य भी मनाय दिया

उपाधमदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान् ।

सरिष्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः

स्यकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् ।

स्फुटत्तरोग-भङ्गशालिपत्रिक-

ध्वनिप्रतिध्वानलसद्वद्भुमाकुलम् ॥ ५ ॥

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा कूटं सुषार्दिताः ।

वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु घनकैस्त्वणम् ॥ ६ ॥

तवेति पात्ययित्वा र्मा वत्सानारुध्य शाल्ले ।

सुक्त्वा शिष्यानि पुमुजुः सम भगवता मुदा ॥ ७ ॥

कुम्भास विष्वक् पुरुरात्रिमण्डलै

रम्पाननः कुल्लच्छो प्रबार्मकाः ।

सहोपविष्टा विपिने विरेलु-

श्छदा यथाम्मोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः ।

शिग्भिस्त्वग्भिर्हृषिक्रिष्य पुमुजुः कृतमाश्रनाः ॥ ९ ॥

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोन्धरुषि पृथक् ।

इत्यन्तो हासयन्तमाम्यवज्जुः सद्देशराः ॥ १० ॥

करते हैं ॥ ४ ॥ यह तो मैं तुमसे कह ही चुका हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने साथी ग्वाल्मालोंको मृदु रूप अवाप्तुरके मुँहसे वचा लिया । इसके बाद वे उन्हें यमुनाके पुष्पिणपर ले आये और उनसे कहने लगे—॥ ४ ॥ प्यारे प्यारे मित्रो ! यमुनाजीका यह पुष्पिण अत्यन्त रमणीय है । देखो तो सही, यहाँकी माछ, कितनी कोमल और साच्छ है । हम लोगोंके लिये खेलनेकी तो यहाँ सभी सामग्री विद्यमान है । देखो, एक ओर रंग-बिरंगे कमल खिले हुए हैं और उनकी सुगन्धसे खिचकर मीरे गुञ्जर कर रहे हैं, तो दूसरी ओर सुन्दर-सुन्दर पक्षी बसा ही मधुर कण्ठ्य कर रहे हैं, जिसकी प्रतिध्वनिले सुशोभित हुआ इस स्थानकी शोभा बढा रहे हैं ॥ ५ ॥ अब हमलोगोंको यहाँ भोजन कर लेना चाहिये । क्योंकि दिन बहुत बढ आया है और हमलोग भूखसे पीड़ित हो रहे हैं । कच्चे फली पीकर समीप ही घीरे घीरे हरी-हरी वास चरते रहें ॥ ६ ॥

ग्वाल्मालोंने एक स्वरसे कहा—‘ठीक है, ठीक है !’ उन्होंने कच्चीको फली खिचकर हरी-हरी वासमें छेद दिया और अपने-अपने छीके खोख-खोखकर भगवान् के साथ बड़े आनन्दसे भोजन करने लगे ॥ ७ ॥ सबके बीचमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठ गये । उनके चारों ओर ग्वाल्मालोंने बहुत-सी मण्डपधर पत्तियों बना ली और एक-से-एक सटकर बैठ गये । सबके मुँह श्रीकृष्णकी ओर थे और सबकी आँखें आनन्दसे खिन्न रही थी । बन-भोजनके सम्म श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए ग्वाल्माल ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो कमलकी कर्णिकारके चारों ओर उसकी छेदी-बड़ी पंमुकियों सुशोभित हो रही हों ॥ ८ ॥ कोई पुष्प तो कोई पत्ते वार कोई कोई पल्लव, अङ्कुर, फल, छीके, छाल एवं फलरोक पात्र बनाकर भोजन करने लगे ॥ ९ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और ग्वाल्माल सभी परस्पर अपनी-अपनी मिन्न-मिन्न रुचिकर प्रदर्शन करते । कोई कित्तीकर हँसा देता, तो कोई स्वयं ही हँसते-हँसते छेन्-छेन् ॥ जाना । इस प्रकार वे सब भोजन करने लगे ॥ १० ॥ (उस सम्म

विभ्रव वेणु सठरपटयो मृङ्गवेत्रे च कथे

वामे पावौ मसृणकवल सत्फलान्महुलीपु ।

तिष्ठन् मध्येस्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः

स्वर्गे लोकं निपति शुभले यद्गङ्गा बालकेलिः ॥११॥

भारतैव वत्सपेषु मुञ्जानेष्वधुतात्मसु ।

वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविधस्तृणलोभिताः ॥१२॥

पान् दृष्ट्वा भयसंघ्रस्तानूचे कृष्णोऽहं भीमयम् ।

मित्राभ्याञ्जान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ॥१३॥

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगङ्गरेष्वात्मवत्सकान् ।

विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवला ययौ ॥१४॥

अम्भोक्षमञ्जनिस्तदन्तरगतो मायार्मकस्येष्टितु

द्रष्टुमिच्छन् मद्विषमन्यदपि सद्रस्तानितो वत्सपान् ।

नीत्यान्यत्र दुरुद्वहान्तरदधात् खेऽवस्थिता यः पुरा

दृष्ट्वापातुरमाद्यर्णं प्रभवत् प्रातः परं विषयम् ॥१५॥

ततो वरमानदृष्ट्य पुलिनेऽपि च वरसपान् ।

उमावपि वनं कृष्णो विचित्राप समन्ततः ॥१६॥

श्रीकृष्णकी छटा सबसे निराखी थी ।) उन्होंने मुखमें तो कमरकी फेंकमें आगेसी ओर खोस छिया था । सींग और केत गालमें दबा छिये थे । बायें हाथमें धका ही पुर घुतमिश्रित दही-मातका प्राप्त था और अँगुलियोंमें अदरक, नीमू आदिके अचार-सुरभ्ये दबा रखे थे । गालबाछ उनके चारों ओरसे घेरकर बैठे हुए थे और वे स्वयं सबके बीचमें बैठकर अपनी विनोदमयी कहेसे अपने साथी गालबाछोंको हँसाते जा रहे थे । वो समस्त यहाँके एकमात्र मोक्ष हैं, वे ही भगवान् गालबाछोंके साथ बैठकर इस प्रकार बाछ-छिन्न करते हुए मोहन कर रहे थे और स्फुटिके देखा अक्षर्यचमिता होकर सब अलुन छीछ देख रहे थे ॥ ११ ॥

मत्तवंशशिरोमणे । इस प्रकार मोहन करते-करते गालबाछ भगवान्की इस रसमयी छिन्नमें लप्य हो गये । उसी समय उनके कड़े हरी-हरी नासके छलबत्ते धरे जंगलमें बड़ी दूर निकल गये ॥ १२ ॥ जब गालबाछोंका ध्यान उस ओर गया, तब तो वे मयमत्त हो गये । उस समय अपने भक्तोंके भयकरे मग्न देनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने कहा— मेरे प्यारे मित्रो । तुमसेग मोहन करना बंद मत करो । मैं अभी बछ्मोंको छिये आता हूँ ॥ १३ ॥ गालबाछोंसे इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें दही-मातका और छिये ही गालों, गुप्ताओं, कुँडों एवं अन्यन्य भयान्तर स्थानोंमें अपने तथा साथियोंके बछ्मोंको हँसाने चल गये ॥ १४ ॥ परीक्षित । ब्रह्मजी पहलेसे ही आकाशमें उपस्थित थे । प्रभुके प्रसन्नते आघातुरका माछ देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने सोचा कि छिन्नसे मनुष्य-बाछ बनने हुए भगवान् श्रीकृष्णकी कोई और मनोहर महिमामयी छिन्न देखनी चाहिये । ऐसा सोचकर उन्होंने पहले तो बछ्मोंको, और भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर गालबाछोंको भी, अन्यत्र से आकर रख दिया और स्वयं अक्षर्यचमिता हो गये, अलुन वे जोड़ कमरकी ही तो सन्तान हैं ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बछ्म मित्रोंपर यमुनाजीके पुत्रोंपर छिन्न आये, परन्तु यहाँ क्या देखते हैं कि गालबाछ भी बड़ी हैं । तब उन्होंने वनमें घूम-घूमकर

काप्यष्टान्तविपिनं वसन्तं पालांश्च विवक्षितम् ।

सर्वं विधिकृतं कृप्याः सहसावजगाम ॥१७॥

ततः कृप्यो मुदं कर्तुं तन्मातृणां च कस्य च ।

उभयापिवमात्मानं चक्रे विशकुशीलः ॥१८॥

यावद् वत्सपवत्सकाप्यकवपुर्यावत् कराङ्ग्यादिकं

यावद् पट्टिपिपाजपेषुदलशृङ्गं यावद् विमृषाम्बरम् ।

यावच्छीलशुभाभिधाकुटिपयो यावद् विहारदिकं

सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदम् । सर्वस्वरूपो बभौ ॥१९॥

स्वबमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिशार्पारम्यन्तपैः ।

क्रीडन्मत्तमविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् ॥२०॥

तच्चद्वत्सान् दृषद् नीत्वा तत्पदगोष्ठे निवेद्य सः ।

तत्पदमात्रमवद् राजंस्तत्तत्प्रभविष्टवान् ॥२१॥

तन्मातरो वेशुरवत्तरोरिवता

उत्थाप्य दोभिः परिरम्य निर्मरम् ।

स्नेहस्तुतस्तन्यपयःसुधासर्वं

मत्वा परं व्रजं सुतानपाययन् ॥२२॥

ततो नृपा-मर्दनमजलेपना

लङ्काररसातिलकाधनादिभिः ।

चारों ओर उन्हें बूझा ॥ १६ ॥ परन्तु जब व्याख्या
और कछड़े उन्हें कहीं न मिले, तब वे तुरंत जान गये
कि यह सब ब्रह्माकी करतल है । वे तो सारे विश्वके
एकमात्र जाना हैं ॥ १७ ॥ अब मगधान् श्रीकृष्णने
कछड़ों और ग्वाज्जाओंकी मत्ताओंको तथा ब्रह्माजीको
भी आनन्दित करनेके लिये अपने-आपको ही कछड़ों और
ग्वाज्जानों—दोनोंके रूपमें बना लिया* । क्योंकि वे ही
तो सम्पूर्ण विश्वके कर्ता सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं ॥ १८ ॥
परीक्षित ! वे बाल्य और कछड़े सद्योमें जितने थे,
जितने छोटे-छोटे उनके वरीर थे, उनके हाथ-पैर जैसे-
जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ, सींग,
बौसुरी, पते और छींके थे, जैसे और जितने बजाभूषण
थे, उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्थाएँ
जैसी थीं, जिस प्रकार वे खाते-पीते और कसते थे, ठीक वैसे
ही और उतने ही रूपमें सर्वस्वरूप मगधान् श्रीकृष्ण प्रकट
हो गये । उस समय क्या सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है—
यह वेदवाणी मानो मूर्तिमयी होकर प्रकट हो गयी ॥ १९ ॥
सर्वात्मा मगधान् स्वयं ही कछड़े बन गये और स्वयं ही ग्वाज्ज-
बाज । अपने आत्मस्वरूप कछड़ोंको अपने आत्मस्वरूप ग्वाज्ज-
बाजोंके द्वारा केकर अपने ही साथ अपने-के प्रकरके खेल
खेजते हुए उन्होंने ब्रजमें प्रवेश किया ॥ २० ॥ परीक्षित !
जिस ग्वाज्जाजके जो कछड़े थे, उन्हें उसी ग्वाज्जाजके
रूपसे अद्या-अद्या से जाकर उसकी बाल्यमें पुसा दिया
और विभिन्न बालकोंके रूपमें उनके मिस-मिस बरोंमें
चले गये ॥ २१ ॥

ग्वाज्जाओंकी मत्ताएँ बौसुरीकी तान सुनते ही जल्दी
से दौड़ आयीं । ग्वाज्जाउ बने हुए परमेश्वर श्रीकृष्णको
अपने बन्धे समझकर हाथोंसे उधरकर उन्होंने जोरसे
हृदयसे लगा लिया । वे अपने स्तनोंसे वात्सल्य-रन्नेहकी
अधिकताके कारण मुवासे भी मधुर और आसवसे भी
मदक जुजुवाता हुआ दूध उन्हें पित्रने लगी ॥ २२ ॥
परीक्षित ! इसी प्रकार प्रतिदिन सन्ध्यासमय
मगधान् श्रीकृष्ण उन ग्वाज्जागोंके रूपमें धनसे छी-
जाते और अपनी बाय्मुठम गीगाजोंसे मानाओंको

* मगधान् सर्ववर्ण हैं । वे ब्रह्माजीके पुत्रोंसे हुए ग्वाज्जाज और कछड़ोंसे बन गये थे । किन्तु हमसे ब्रह्माजीके भेद
दूर न होता और वे मगधान् ही उस विश्व मयाका एवम् न बेल लकटे जिनने उनके विश्वकर्मा होनेके अभिमानको
मगधिया । इसीलिये मगधान् उनकी ग्वाज्जाज और कछड़ोंको मगधकर स्वयं ही बंसे ही एवं उनने ही ग्वाज्जाज और कछड़े बन गये ।

संललितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्

सायं गतो यामयमेन माधवः ॥२३॥

गावन्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं

दुह्यारघोरैः परिहृतसङ्गतान् ।

स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन्

मुहुर्लिङ्गन्त्यः स्रबदौभसं पयः ॥२४॥

गागोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहार्दिका विना ।

पुरावदास्त्रपि हरेस्तोकता मायया विना ॥२५॥

प्रञ्जीकसां स्वतोकेषु स्नेहवङ्गयाम्दमन्वहम् ।

छनैर्निःसीम बहुवे यथा कुम्भे त्वपूर्ववत् ॥२६॥

इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽस्मान् वत्सपालमिवेष सः ।

पाठयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥२७॥

एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविष्टत् ।

पञ्चपासु विद्यामासु हायनापूरणीष्वनः ॥२८॥

ततो विदूराचरता गावो वत्सानुपव्रजन् ।

गोवर्चनाद्रिशिरसि चरन्त्यो दृढशुस्तुगम् ॥२९॥

दृष्ट्वा च तस्नेहवशोऽस्मृतास्या

स गोव्रमोऽप्यात्मपदुर्ध्वमार्गः ।

आनन्दित करते । वे माताएँ उन्हें ठकान ध्यानी, नष्ट
चन्दनका लेप करती और कण्ठे-अण्ठे बसों तक
गहनोंसे सजाती । दोनों मौखिके बीचमें बीठसे बचने
छिये काजकक बिठौना ध्या देती तथा मोहन करा
और तरह-तरहसे बड़ खड्ग-म्यारसे उनका खज्ज-पञ्ज
करती ॥ २३ ॥ ग्याङ्गिनोंके समान गौरों भी वज्र बंगलें
मेंसे चरकर गन्दी-बन्दी छोड़ती और उनकी दुष्ट
सुनकर उनके प्यारे बड़ड़े दौड़कर उनके पास आ बने
तब वे बार-बार उन्हें अपनी जीमसे बाटती और कल
दूध पिळती । उस समय स्नेहकी अविकताके कारण
उनके बनोसे स्वयं ॥ दूधकी चारा बहने लगती ॥ २४ ॥
इन गायों और ग्याङ्गिनोंका मातृमान पहले-जैसा ई
ऐक्यपञ्चानरहित और विशुद्ध था । हाँ, अपने अस्व
पुत्रोंकी अपेक्षा इस समय उनका स्नेह अवश्य अधिक
था । इसी प्रकार मगवान् भी उनके पहले पुत्रोंके समान
ही पुत्रमात्र दिखल रहे थे, परन्तु भगवान् ने उन बच्चों
के-जैसा मोहका भाव नहीं था कि मैं इनका पुत्र हूँ ॥ २५ ॥
अपने-अपने बाळकोंके प्रति प्रत्यक्षियोंकी स्नेह-वृत्ता दिन
प्रतिदिन एक वर्षतक धीरे-धीरे बढ़ती ही गयी । पहले
कि पहले श्रीकृष्णने उनका जैसा असीम और अत्यंत प्रे
मा, वैसा ही अपने इन बच्चोंके प्रति भी हो गया ॥ २६ ॥
इस प्रकार सर्वांगी श्रीकृष्ण बड़ड़े और ग्याङ्गिनोंके
ब्रह्मे गोपाळ बनकर अपने बाळकरूपसे वत्सरूपका
पाठन करते हुए एक वर्षतक वन और गोष्ठमें क्रीडा
करते रहे ॥ २७ ॥

जब एक वर्ष पूरा होनेमें पाँच-छ रतों केप भी,
तब एक दिन मगवान् श्रीकृष्ण कछरामजीके साथ बड़ड़ों
को चराते हुए वनमें गये ॥ २८ ॥ उस समय गौरों
गोवर्धनकी चोटीपर घास चर रही थी । बहसि
उठाने वनके पास ॥ घास चरते हुए बहुत दूर
जाने बड़ड़ोंको देखा ॥ २९ ॥ बड़ड़ोंको देखते
ही गौओंका वात्सल्य-स्नेह उमड़ गया । वे अपने-
आपकी सुध-सुख सो देती और बड़ड़ोंके रोकनेकी कुछ
भी परवा न कर बिसर ग्यसि वे न जा सकते थे, उस
मागसि हुंकर करती हुई बड़े वेगसे दौड़ पड़ीं । उस

द्रिषान् कङ्कटग्रीव उदासपुच्छो

ऽगाधुधृतैर्गन्धपत्रा जयेन ॥३०॥

समस्य गानोऽथा वत्सान् वत्सवत्सोऽप्यपाययन् ।

गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्त्रोभस पयः ॥३१॥

गोपान्तद्रोभनायासमौप्यलज्जोरुमन्युना ।

दुर्गाधकुरुद्वृतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्दहन्तुः सुतान् ॥३२॥

तदीक्षणोत्थमरसाप्लुताक्षया

मातानुरागा गतमन्यवोऽर्मकाः ।

उदुष्य दोर्मि परिरम्य मूर्धनि

प्राणैरबापुः परमां मुद ते ॥३३॥

तत प्रवयसो गोपान्तोक्ताश्लेषमुनिर्हता ।

कृष्णान्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदभवः ॥३४॥

ब्रजस्य राम प्रमर्देर्वीक्ष्यीकृष्यमनुष्यम् ।

मुक्तस्तनेष्वपस्तेष्वप्यहेतुविवक्षितयत् ॥३५॥

किमेतदद्भुतमिव बासुद्वेऽखिलात्मनि ।

प्रभस्य सात्मनस्ताकेष्वपूर्वं प्रम वर्धते ॥३६॥

केयं वा कुत प्रायाता देवी वा नार्पुतासुरी ।

समय उनके धनोसे दूध बहता जाता था और उनका
गरदन से सिफुलकर बीचमे मिछ गयी थी । वे दूँछ तथा
सिर उठाकर इतने बेगसे दौब रही थी कि माथम होता
था मनो उनके दो ही पैर हैं ॥ ३० ॥ जिन गौओंके
और भी कड़े हो चुके थे, वे भी गोवर्धनके नीचे अपने
पहले कर्णोंके पास दौब आयी और उन्हें स्नेहवश
अपने आप बहता हुआ दूध पित्रने लगी । उस समय वे
अपने बर्णोंका एक-एक आङ्ग ऐसे चावसे चाट रही थी,
माना उन्हें अपने फेमें गंध रेंगी ॥ ३१ ॥ गोयोंने उन्हें
रोकनेका बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उनका साग
प्रयत्न व्यर्थ रहा । उन्हें अपनी किस्मकाप कुछ लज्जा
और गायोंपर बड़ा क्रोध आया । जब वे बहुत क्रोध उत्प-
न्न उस कठिन भागसे उस स्थानपर पहुँचे, तब उन्होंने
कर्णोंके साथ अपने बाज्रोंको भी लेखा ॥ ३२ ॥
अपने बर्णोंको देखते ही उनका हृदय प्रेम-रससे सरावोर
हो गया । कर्णोंके प्रति अनुरागकी वजह आ गयी,
उनका क्रोध न जाने कहाँ हवा हो गया । उन्होंने
अपने-अपने बाज्रोंको गोपमें उठाकर हृदयसे छत्र किया
और उनका मस्तक सूँघकर अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ ३३ ॥
यूँसे गोयोंको अपने बाज्रोंके आच्छिन्नसे परम आनन्द
प्राप्त हुआ । व निहाल हो गये । फिर कबे कहसे उन्हें
क्रोधकर धीर-धीरे बहसि गये । जानेके बाद भी बाज्रोंके
और उनके आच्छिन्नके स्पर्शसे उनके नेत्रोंसे प्रमत्त
जाँसू बहते रहे ॥ ३४ ॥

ब्रजमानीने देखा कि ब्रजवासी गोप, गौर और
आच्छिन्नोकी उन सत्त्वानोंपर थी, जिन्होंने अपनी माका
दूध पीना छोड़ दिया है, शून्य-मनिशग प्रेम-सम्पत्ति और
उसके अनुगम्य उत्कण्ठ करती हैं जा रही है । तब वे
निवारण पद गये, क्योंकि उन्हें इसका कारण माथम
म था ॥ ३५ ॥ यह कैसी विचित्र बात है ! मर्त्या
ग्रीह्यमें ब्रजवासियोंका और मेरा जैसा अर्ध स्नेह है,
वैसा ही इन बाज्रों और कर्णोंपर भी बहना जा रहा
है ॥ ३६ ॥ यह कौन-सी भाषा है ? कहाँसे आयी है ?
यह किसी दबन्धकी है, मनुष्यकी है अथवा अमृतोकी ?
परन्तु क्या ऐसा भी सम्भव है ? नहीं-नहीं यह तो मेरे

प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्पा मेऽपि विमोहिनी ॥३७॥

इति सन्नित्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि ।

सर्वानाद्यष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन स ॥३८॥

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते

स्वमेव भासीष्ट भिदाभयेऽपि ।

सर्वं पृथक्त्व निगमात् कथं वदे

त्युक्तेन वृत्तं प्रश्रुणा बलोऽवैत् ॥३९॥

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन वृष्टयनेहसा ।

पुरोवदब्धं क्रीडन्तं दृष्ट्वा सकल हरिम् ॥४०॥

यावन्तो गोकुले बालाः सवरसाः सर्व एव हि ।

मायाभये क्षयात्ता मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥४१॥

इत एतेऽत्र कुत्रस्या सन्त्यापामोहितेधरे ।

तत्तन्त एव तत्राब्धं क्रीडन्तो विष्णुनासमम् ॥४२॥

एवमेतेषु मेवेषु चिर भ्यात्वा स आत्मभूः ।

सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥४३॥

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमाहनम् ।

स्वयैव मायमात्राऽपि स्वयमेव विमोहित ॥४४॥

प्रभुकी ही मया है । और किसीकी मायामें ऐसी सम्य
नहीं, जो मुझे भी मोहित कर ले ॥ ३७ ॥ ब्रह्मजीने
एसा विचार करके ज्ञानरूपिसे देख, ता उन्हें पत्र मर
हुआ कि इन सब कष्टों और व्याख्याओंने आपमें के
भीकृष्ण-ही-भीकृष्ण हैं ॥३८॥ तब उन्होंने श्रेष्ठ
कहा—भगवान् । ये व्याख्या और कष्ट न दफ्त ।
और न तो कोई श्रुति ही । इन भिन्न-भिन्न रूपों
आम्र लेनेपर भी आप अकेले ही इन रूपोंमें प्रकटि
हो रहे हैं । कृपा साष्ट करके बोझमें ही यह का
दीजिये कि क्या इस प्रकार कष्ट, व्याक, सीमा, त
आत्मिक रूपमें अज्ञ-अज्ञ क्यों प्रकटित हो रहे हैं
तब भगवान्ने ब्रह्माकी सारी करतल सुनायी
अन्तर्मज्जीने सब बातें ज्ञान सी ॥ ३९ ॥

परीक्षित । तबभ ब्रह्माजी ब्रह्मदेवसे ब्रह्मने
आये । उनके कष्टमनसे अत्यन्त केवल एक
(निननी देरमें तीसी सुइसे कमज्जरी पैलुकी छि
समय व्यतीत हुआ । उन्होंने देखा कि भग
भीकृष्ण व्याख्या और कष्टोंके साथ एक साज्से पड़े
मोति ही क्रीडा कर रहे हैं ॥ ४० ॥ वे सांचने छो-
गोकुलमें बिनने भी व्याख्या और कष्ट थे,
तो मेरी मायामयी शक्तपर सो रहे हैं—उनको
मने अपनी मायसे अकेल कर दिया था, वे त
अत्यन्त सचेत नहीं हुए ॥ ४१ ॥ तब मेरी म
मोहित व्याख्या और कष्टोंके अतिरिक्त ये उठने
हूतरे बाष्क तथा कष्टों के जा गये, जो एक सत
भगवान्के साथ लेते रहे ॥ ४२ ॥ ब्रह्माजीने दो
स्थानोंपर दोनोंको देखा और बहुत देरतक ध्यान क
अपनी ज्ञानरूपिसे उनका रहस्य खोजना चाहा, पर
इन दोनोंमें कौन-से पक्षके व्याख्या हैं और कौन
पीछे बना लिये गये हैं, इनमेंसे कौन सच्चे हैं और क
बनायी—यह बात वे किसी प्रकार न समझ सके ॥४३॥
भगवान् भीकृष्णकी मायामें तो समी मुग्ध हो रहे ।
परन्तु कोई भी मया-मोह भगवान्पर सत्ता नहीं
सकता । ब्रह्माजी उन्हीं भगवान् भीकृष्णको अपनी माय
मोहित करने वाले थे । किन्तु उनकी मोहित करना
हूँ रहा, वे अन्तर्मज्जीने भी अपनी ही मायसे अप

तस्यां तमोवन्नैहार स्वयोताक्षिरिषाहनि ।

महतीतरमायैश्वर्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥४५॥

सायत् सर्वे वत्सपाला पश्यतोऽजस्य सत्सृणात् ।

व्यदश्यन्त वनस्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥४६॥

चतुर्मुखा शङ्खचक्रगदारावीषपाणय ।

किरीटिनः कुम्भलिनो हारिणो वनमालिनः ॥४७॥

श्रीवत्साङ्गदोरोत्तनकम्बुकङ्कणपाणयः ।

नूपुरैः कटुकर्भावाः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥४८॥

आहिमस्तकमापूर्वास्तुलसीनवदामभि ।

कोमलैः सर्वगात्रपु मूरिपुण्यवदपिचैः ॥४९॥

चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुषापाङ्गुलीयकैः ।

स्वकाधानामिव रज सत्त्वाम्यां सटपालका ॥५०॥

आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमन्दिरभराचरैः ।

नृत्तगीताद्यनेकाहैः पृथक् पृथगुपासिताः ॥५१॥

अधिमार्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्बिभृतिभि ।

चतुर्बिम्बविमिस्तस्यै परीता महदादिभिः ॥५२॥

कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।

स्वमहिष्यस्तमहिर्बिभृतिमन्दिररुपासिता ॥५३॥

आप मोहित हो गये ॥ ४४ ॥ जिस प्रकार रातके घोर अन्धकारमें कुहरके अन्धकारका और दिनके प्रकाशमें लुगनुके प्रकाशका पता नहीं चल्ता, वैसे ही जब सुन्दर पुरुष महापुरुषोंपर अपनी मायाका प्रयोग करते हैं, तब वह उनका तो कुछ विगाह नहीं सकती, अपना ही प्रभाव खो बैठती है ॥ ४५ ॥

ब्रह्माजी विचार कर ही गये थे कि उनके देखते-देखते उसी क्षण सभी व्याघ्रका और बछड़ श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी पड़ने लगे । सबके-सब सबल बलवरके समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, शङ्ख, चक्र, गदा और पासे युक्त—चतुर्भुज । उसके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल और कण्ठमें मनोहर हार तथा वनमालाएँ शोभायमान हो रही थी ॥ ४६ ४७ ॥ उनके कपड़े स्वर्णरसुवर्णकी सुनहली रेश्म—श्रीवस्त्र, बाहुओंमें बाहुवस्त्र, कटुपट्टोंमें शङ्खाकर रत्नोंसे बहु कंठन, चरणोंमें नूपुर और कबूत, कमरमें कनकनी तथा अँगुलियोंमें अँगुलियों जगमगा रही थी ॥ ४८ ॥ वे नखसे शिखरक सम्पन्न अङ्गोंमें कोमल और नूतन तुलसीकी माळारें, जो उन्हें बड़े ममयशस्वी भक्तोंने पहनायी थी, धारण किये हुए थे ॥ ४९ ॥ उनकी मुसकान चोटीनीके सम्पन्न उज्ज्वल थी और रतनारे नेत्रोंकी कटाक्षपूर्ण चितवन बड़ी ही मधुर थी । ऐसा जान पड़ता था मनो वे इन दानोंके द्वारा सत्सृणु और रजोगुणस्ये स्वीकार करके मज्जनकोंक इत्यने सुन्दर अवस्थाएँ जगत्कर उनके पूर्ण कर रहे हैं ॥ ५० ॥ ब्रह्माजीने यह भी देखा कि उन्नीक-जैसे दूसरे ब्रह्मासे लेकर तुलताक सभी चराचर जीव मूर्तिमान् होकर माचसे-गासे अनेक प्रकारकी पूजासामग्रीसे अथवा अथवा मगधानुके उन सब रूपोंकी उपसना कर रहे हैं ॥ ५१ ॥ उन्हें अथवा-अथवा अणिम-महिमा आदि सिद्धियों, माया-विद्या आदि विभूतियों और महत्त्व आदि शोभियोंसे तत्त्व चारों ओरसे घेरे हुए हैं ॥ ५२ ॥ प्रकृतिमें शोभ उत्पन्न करनेवाला कष्ट, उसके परिणामका कारण स्वभाव वासनाओंके जगानेवाला संस्कार, वगमनाएँ, वम, विषय और कष्ट—सभी मूर्तिमान् होकर मगधानुके प्रत्येक रूपकी उपसना कर रहे हैं । मगधानुकी सदा और महत्ताक सामने उन सभीकी सत्ता और महत्ता

सस्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।

अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि धुपनिषद्वृष्टाम् ॥५४॥

एव सकृददर्शाच्च परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।

यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥५५॥

ततोऽतिकृतुकोद्वृत्त्युत्तिमितैकादशेन्द्रियः ।

तद्भास्नामूदयस्तृष्णीं पूर्वैर्यन्तीष पुत्रिका ॥५६॥

इतीरेक्षेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके

परब्राह्मणोऽवभिरसनमुत्सन्नप्रकमिती ।

अनीक्षेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा दृष्टमिति

चछादाजामात्वा सपदि परमोऽज्ञाजबनिकाम् ५७

ततोऽवाक्प्रतिलम्बाद्यः कः परेतवदुत्थितः ।

कृष्णानुमीन्य च हपीराचष्टेद सहात्मना ॥५८॥

मपयवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत्पुरःस्थितम् ।

अपना अस्तित्व को बैठी थी ॥ ५३ ॥ ब्रह्मजीने यह भी देखा कि वे सभी भूत, मक्षिष्यत् और वर्तमान कण्डके द्वारा सीमित नहीं हैं, त्रिकलज्वाकित सत्य हैं । वे सब-के-सब स्वयंप्रकाश और केवल अनन्त आनन्दस्वरूप हैं । उनमें जड़ता अपवा चेतनताका भेदभाव नहीं है । वे सब-के-सब एकरस हैं । यहाँतक कि उपनिषद्गीतत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टि भी उनकी अनन्त महिमाका रस नहीं कर सकती ॥ ५४ ॥ इस प्रकार ब्रह्माजीने एक रात ही देखा कि वे सब-के-सब उन परब्रह्म परमत्त्व श्रीकृष्णके ही स्वरूप हैं, जिनका प्रकाशसे यह सब चराचर जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥ ५५ ॥

यह अस्पृष्ट आश्चर्यमय रूप देखकर ब्रह्मजी तो चकित रह गये । उनकी ग्यारहों इन्द्रियों (पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन) झुञ्च एवं स्तब्ध रह गयीं । वे भगवान्‌के तेजसे निस्तेज होकर मौन हो गये । उस समय वे ऐसे स्तब्ध होकर खड़े रह गये मानो उनके अभिष्टानु-देवताके पास एक पुत्रकी खबर हो ॥ ५६ ॥ परीक्षित ! भगवान्‌का स्वरूप तर्कसे फल है । उसकी महिमा असाधारण है । वह सर्वप्रकाश, आनन्दस्वरूप और मयासे अतीत है । केवल भी साक्षत्वरूपसे उसका वर्णन करनेमें असमर्थ है, इसलिये उससे भिन्नकर नियेव करके आनन्दस्वरूप ब्रह्मका किसी प्रकार कुछ समझें करता है । यद्यपि ब्रह्माजी समस्त विचारार्थके अविरति हैं, तर्कसे भगवान्‌के दिव्यस्वरूप का वे तनिक भी न समझ सके कि यह क्या है । यहाँतक कि वे भगवान्‌के उन महिमात्मय रूपोंको देखनेमें भी असमर्थ हो गये । उनकी आँखें मूँद गयीं । भगवान्‌ श्रीकृष्णने ब्रह्माको इस गड़ और असमर्थताका ज्ञानकर किता किसी प्रयत्नसे तुरंत अपनी मायाका पराग हटा दिया ॥ ५७ ॥ इससे ब्रह्माजीको धाधकान हुआ । वे मानो मरकर फिर जी उठे । सचेत होकर उन्होंने ज्यों-ज्यों करके बड़ बड़से अपने नेत्र खोले । तब बड़ी उन्हें अपना शरीर और यह जगत् दिखी पड़ा ॥ ५८ ॥ फिर ब्रह्माजी जब आगे और देखन लगे, तब पहले दिशाएँ और उसके बाद तुरंत ही उनका सामने दृश्यमान

वृन्दावनं जनाजीघ्रमुमाकीर्णं समाप्रियम् ॥५९॥

यत्र नैतर्गदुर्वैराः सदासन् नृमृगादयः ।

मित्राणीनाशितावासद्वुतर्कदुर्षकादिकम् ॥६०॥

सप्राद्वहत् पशुपवशशिष्ठुस्त्वनाट्यं

ब्रह्मादय परमनन्तमगाधबोधम् ।

वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व

दक सपाणिक्वर्ल परमेष्ठयषट् ॥६१॥

दृष्ट्वा त्वरेण निजघोरणगोऽवतीर्थं

पृच्छ्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य ।

सृष्ट्वा चतुर्मुकुटकाटिमिरक्ष्मियुग्म

नत्वा मुदभुसुजलरकुटाभिषेकम् ॥६२॥

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयाः पतन् ।

आस्ते महित्व प्राग्दण्डं स्मृत्वा स्मृत्वा पुन पुनः ॥६३॥

शनैरयोत्थाय विमृश्य लाघने

मुकुन्दमुदीक्ष्य विनम्रकन्धर ।

कुताञ्जलिः प्रभयवान् समाहित

मधेपयुर्गहदपैलतेलय

॥६४॥

मिलीयी पडा । वृन्दावन सबके उये एक-सा प्याग है ।
जिबर देखिय, उधर ही जीर्णोको जीवन तेनेवाटे फा
और धूर्यसे छदे हुए, हरे-हरे पत्तोंसे लहलहात हुए
वृक्षोंकी पौन शोभा पा रही हैं ॥ ५९ ॥ भगवान्
श्रीकृष्णकी लीजभूमि होनेके कारण वृन्दावन धाममें क्रोध,
तृष्णा आदि ग्लोय प्रवेश नहीं कर सकते और वहाँ
समावेश ही परस्पर दुस्वयज बैर रखनेवाले मनुष्य और
पशु-पक्षी ये प्रेमी मित्रोंके समान हिल-मिचकर एक साथ
रहते हैं ॥ ६० ॥ ब्रह्मजीने वृन्दावनका दर्शन करनेके
बाद देखा कि अद्वितीय परब्रह्म गोपयत्क वात्सल्य-सा
नाट्य कर रहा है । एक होनेपर भी उसके सखा हैं,
अनन्त होनेपर भी वह इधर-उधर घूम रहा है और ठमका
ज्ञान लगाव होनेपर भी वह अपने स्वाभाव और कृष्णों
को हँस रहा है । ब्रह्मजीने देखा कि जैसे भगवान्
श्रीकृष्ण पहले अपने हाथमें लकीर-भानका बौंग लिये लहें
हूँक रहे थे, वैसे ही अब भी अकेले ही उनपर म्यानमें
लगे हैं ॥ ६१ ॥ भगवान्को देखने ही ब्रह्मजी अपने
बाहन हाँसपरसे कूद पड़े और सोनेके समान चमकते
हुए अपने क्षीरसे वृष्णीपर दण्डकी मौलि मिर पड़े ।
उन्होंने अपने चारों मुकुटोंके अग्रभागमें भगवान्के चरण
कमलोंका गद्गल करने नमस्कार किया और आनन्द
औंसुओंकी धारासे उन्हें नहाय लिया ॥ ६२ ॥ व
भगवान् श्रीकृष्णकी पहल देखी ॥ महिमाका वाग-धार
स्मरण करने उनका चरणोंपर मिला और उठ-उठकर
किर-किर मिर पड़ने । इसी प्रकार बहुत दानकवे भगवान्के
चरणोंमें ही पड़ गई ॥ ६३ ॥ फिर बीरे-वीरे उठ और
अपने नेत्रोंके औंसु गोंल । प्रेम और मुक्तिक पनमय
उद्गम भगवान्के स्मेयक उनपर मिर मुरु गम । व
वर्णन गे । अग्रति औरत वही नम्रता और प्यप्रताप
साथ गद्गल बागसे वे भगवान्की स्तुति करने लगे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहन्स्या मरिनायां दशमस्कन्धे

पूर्वार्धे त्रयान्दाशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

प्रह्लादीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति

महाबाच

नौमीढ्य सेऽध्ववपुषे तडिदम्पराय

गुञ्जावत्सपरिपिच्छलसमुत्थाय ।

बन्धस्रजे कवलवेशविपाणवेशु

लक्ष्मभिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

प्रसापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य

स्वेच्छामपस्य न तु भूतमबन्ध कोऽपि ।

नेष्टे महि त्वचसिर्तुमनसाऽऽन्तरेण

साक्षात्तवैव किमुतात्मसुम्भानुभूतः ॥ २ ॥

धाने प्रयासमुदपास्य नमन्त्य एव

वीचन्ति सन्मुखरिता मण्डीयवार्ताम् ।

ज्वाने स्थिताः भुतिगताः तनुवाचानोभि

ये प्रापशोऽक्षितत्रितोऽप्यसि तैलिलोक्याम् ३

श्रीप्रह्लादीने स्तुति की—प्रभो ! एकमात्र आप ही स्तुति करने योग्य हैं। मैं आपके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ। आपका यह शरीर वर्णवर्णशून्य मेघक समान श्याम है, इसपर स्थिर विजयिने समान सिन्धु-सिन्धु-मिथ करता हुआ पीताम्बर शोभा पाता है, आपके गलेमें गुँथपीची माला, कानोंमें मकराङ्गुलि कुम्हार तथा सिरपर घोरपक्षोक्त मुकुट है, इन सबकी कल्पिते आपके मुखर कनोष्ठी छटा छिटक रही है। वक्षःस्थल पर लटकती हुई कनमाला और नन्ही-सी हृद्येपर दही-मातका कौर। कानोंमें केन और सीमा तथा कमरकी फँटमें आरती पञ्चान कानेबाजी बीसुदी शोभा पा रही है। आपके कमर-से मुकुटोक्त परम मुकुम्भर चरण और यह गोपाक, कलकल सुमधुर केर। (मैं और कुछ नहीं जानता, क्या, मैं तो इन्हीं चरणोंपर निरुत्तर ॥ १ ॥ स्वयं-प्रकाश परमेश्वर ! आपका यह श्रीविष्णु भक्तजनोकी लक्ष्म्या-अभिलाषा पूर्ण करनेवाला है। यह आपकी किन्मयी इच्छाका मूर्तिमान् स्वरूप मुझपर आपका साक्षात् रूप-प्रसाद है। मुझे अनुग्रहित करनेके लिये ही आपने इसे प्रकट किया है। कौन कहता है कि यह पद्मभूतोकी रचना है ? प्रभो ! यह तो अप्रकृत शुद्ध सत्त्वमय है। मैं या और कोई समझि आकर भी आपके इस सच्चिदा नन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता। फिर अल्प-मन्त्रानुभवस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको तो कोई एकाग्रमनसे भी कैसे जान सकता है ॥ २ ॥ प्रभो ! जो ज्ञान के लिये प्रयत्न न करके अपने स्थानमें ही स्थित रहकर केवल सत्सङ्ग करते हैं और आपके प्रसी सत् पुरुषोंके द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाओं को उन जगैके पास रखनेसे अपने-आप सुननेको प्रियी है, शरीर, बाणी और मनसे विन्यासगत होकर सेवन करते हैं—यहाँ तक कि उसे ही आपका जीवन बना लेते हैं, उसके बिना जी ही नहीं सकते—प्रभो ! यद्यपि आपका त्रिलोक्यमें कोई कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकता, फिर भी वे आपका विजय प्राप्त कर लेते हैं, आप उनके प्रेम्हों



भेषासृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो

क्षिप्स्यन्ति ये केवलबोधलम्भये ।

तेषामसौ फलेच्छल एष क्षिप्स्यते

नान्यद्वयथा स्थूलसुषुप्तपाषाणिनाम् ॥ ४ ॥

पुरेह भूमन् पद्मवोऽपि योगिन

स्त्वदर्पितेहा निवृत्तकर्मलम्भया ।

विषुष्य भक्त्यैव कथोपनीतया

प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गर्ति पराम् ॥ ५ ॥

तथापि भूमन् महिमाशुष्यस्य ते

विबोद्धुमर्हस्यमलान्तरात्मभिः ।

अभिधिपात् स्वातुभवावरूपतो

अनन्यबोधात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥

गुणात्मनस्त्वोपि गुणान् विमातुं

दितावसीर्षस्य क ईश्वरेऽस्य ।

कालेन यैर्वा विमिताः सुकथ्यै-

भूर्पासवः खे मिहिका शुभासः ॥ ७ ॥

तचेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

सृजान एवात्मकस्य विपाकम् ।

अधीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥ भगवन् ! आपकी भक्ति
स्व प्रकाशके कल्याणकाम मूलसाधन—उद्गम है । जो
लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रम उठाते
और दुःख गोगते हैं, उनको बस, ब्रेश-ही-ब्रेश हाप
छटना है, और कुछ नहीं—जैसे पोपी भूसी
कूटनेवालेको केवल श्रम ही मिश्रा है, फायदा नहीं ॥ ४ ॥

हे अच्युत ! हे अनन्त ! इस लोकमें पहले भी बहुत-
से योगी हो गये हैं । जब उन्हें योगादिने द्वारा आपकी
प्राप्ति न हुई, तब उन्होंने अपने लैविक और वैदिक
समस्त कर्म आपके चरणोंमें समर्पित कर दिये । उन
समर्पित कर्मोंसे तथा आपकी छिन्न-कर्मसे उन्हें आपकी
भक्ति प्राप्त हुई । उस भक्तिके ही आपके स्वरूपका ज्ञान
प्राप्त करके उन्होंने वही सुगमतासे आपके परमपदकी
प्राप्ति कर ली ॥ ५ ॥ हे अनन्त ! आपके सगुण-निर्गुण
दोनों स्वरूपोंका ज्ञान कठिन होनेपर भी निर्गुण स्वरूप-
की महिमा इन्द्रियोंका प्रत्याहार करके सुखान्त कण्ठसे
जानी जा सकती है । (जाननेकी प्रक्रिया यह है
कि) विशेष आकारके परित्यागपूर्वक आत्मचरित्र अन्त
करणका साक्षात्कार किया जाय । यह आत्मचरित्र
घट-पट्टादि रूपके सम्मान केय नहीं है, प्रत्युत आत्मर-
ण-क मन्त्राद्य है । यह साक्षात्कार यह वस्तु है
जो आत्मके आनन्द हैं । इस प्रकार नहीं किन्तु स्वयंकरश-
रूपसे ही होता है ॥ ६ ॥ परन्तु भगवन् ! जिन समर्थ
पुरुषोंने अनेक जन्मोत्पत्ति परित्याग करके पृथीका एक-एक
परमाणु, आकाशके क्षिप्तका (अस्तित्व ईदं) तथा
उसमें सम्बन्धित नक्षत्र एवं सार्वतक्यके गिन बाध
हैं—उनमें भी भय, ऐसा कौन हो सकता है जो
आपके सगुण स्वरूपके अनन्त गुणोंको गिन सके ?
प्रभो ! आप केवल संसारके कल्याणके लिये ॥ अन्तीर्ण
हए हैं । सो भगवन् ! आपकी महिमाका ज्ञान तो क्या
ही कठिन है ॥ ७ ॥ इसलिये जो पुरुष क्षण-क्षणपर
नहीं उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही मयीमोति अनुभव
करता रहता है और प्राग्भवे अनुसार जो कुछ सुख या
दुःख प्राप्त होता है उसे निर्भिन्न मनसे भाग लेता है,

इदाम्बुपुमिर्विदधन्नमस्ते

जीवत या मुक्तिपदे स दामभाक् ॥ ८ ॥

पश्येद्य मजनार्थमनन्त आद्ये

परात्मनि त्वयपि मायिमायिनि ।

मायां वितत्पश्चितुमारमयैर्भक्ष

यद्द किपानैच्छमिवाचिरमी ॥ ९ ॥

अत समस्वाच्युत मे रजोद्युवो

सद्धानवस्वरपृथगीक्षमानिनः ।

अज्ञावलेपाधतमोऽन्धचक्षुष

पपाऽनुकम्प्यो मयि नाधवानिति ॥ १० ॥

फाड तमामहदहम्भयराग्निगर्भ

मवेष्टिताण्डयन्ससवितस्त्रिकाय ।

फेरन्निचाविगणिताण्डपराणुर्धरा

वाताध्वरामविवरम्भ च स महित्वम् ॥ ११ ॥

उद्धरण गमगतस्य पादया

किं कल्पने मातुरधाद्यभागस ।

विमिन्निनाम्पिपदेऽधुर्धितं

तरान्नि कुय त्रियदप्पनने ॥ १२ ॥

अगदयपान्तादधिगन्तवादे

नागपगम्पादग्नाभिनायान ।

एव जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद बाणी और पुष्किल शरीरसे आपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहत है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुनः ठीक वैसे ही आपके परम पुत्रका अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र । ॥ ८ ॥

प्रमो ! मेरी कुपित्वा तो देखिये । आप अनन्त अपि पुरुष परम्परा हैं और मेरे जैसे बड़े-बड़े मायावी मैं आपकी मायाक जकमें हूँ । फिर भी मैंने आपपर अल्प माया ऐश्वर्य आप्ता ऐश्वर्य देखना चाहा । प्रमो ! मैं आपके सामने हूँ ही क्या । क्या आपके सामन चिनगारीकी भी कुछ गिनती है ? ॥ ९ ॥ भावन् । मैं रजोगुणसे उत्पन्न हुआ हूँ । आपके लक्ष्यपथ में ठीक-ठीक नहीं जानता । इसीसे आपनेको आपसे कच्चा संसारका स्वार्थ मने बैठ था । मैं अज्ञाना अगतर्ता हूँ—इस मयावत मोहके घने अन्धकारसे मैं अंधा हो रहा था । इसलिये आप यह समझकर कि 'एक मेरे ही अधीन है—मेरा भूत है, इसपर क्या करनी चाहिये,' मेरा अपराध क्षमा करिये ॥ १० ॥ मेरे स्वामी ! ग्रहन्ति, मृच्छन्ति, अहङ्कार, आपराध, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीरूप आवरणोंसे घिरा हुआ यह क्वाण्ड ही मेरा शरीर है । और आप एक-एक गमक छिद्रमें ऐसे-ऐसे अगणिता क्वाण्ड उठीं प्रयत्न उद्घोषणसे रहते हैं, जैसे करोड़ोंकी जम्मेमेंसे आनेवाली सूर्यकी किरणोंमें रजक छटे-छटे परम्पु उड़ते हुए निम्बर्ध पड़ते हैं । वहाँ अपने परिष्माणसे सादे सान आपक शरीरका अल्पत क्षुद्र म, और वहाँ आगरी अनन्त महिमा ॥ ११ ॥ इतिर्वोक्तं पश्यमे म जानेवाला परमात्मन् । जब सचा पाताक फेमें रहता है, तब अज्ञानता अपने हाथ-पीर पीरता है परम्पु क्या सत्य उसे आगम समझती है वह उसका त्रिये वह परई अगता होता है ? 'ही' और 'नही' है—इन शब्दोंसे वही जाने-बन्दी बाड़ भी परम्पु उगी है क्या, जो आगरी कोणा भीतर म हा ! ॥ १२ ॥

इतिर्वोक्तं पश्यमे म जानेवाला परमात्मन् । जब सचा पाताक फेमें रहता है, तब अज्ञानता अपने हाथ-पीर पीरता है परम्पु क्या सत्य उसे आगम समझती है वह उसका त्रिये वह परई अगता होता है ? 'ही' और 'नही' है—इन शब्दोंसे वही जाने-बन्दी बाड़ भी परम्पु उगी है क्या, जो आगरी कोणा भीतर म हा ! ॥ १२ ॥

विनिर्गतोऽजस्तिष्ठति धाह न वै मृषा

किं स्वीमर त्वम विनिर्गतोऽसि ॥१३॥

नारायणस्त्व न हि सर्वदेहिना

मात्मासधीश्वस्त्रिलोकसाक्षी ।

नारायणोऽहं नरयूबलायना

वक्ष्यामि त्वस्य न त्वैव माया ॥१४॥

वक्ष्यञ्जलस्य तन सञ्जगद्गुः

किं मे न दृष्ट भगवंस्तदैव ।

किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव

किं नो सपद्येव पुनर्भ्यदर्शि ॥१५॥

अत्रैव मायावमनावतारे

हस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।

कुत्सनस्य चान्तर्जठरे अनन्या

मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥१६॥

यस्य कृष्णविदं सर्वं सात्म भास्ति यथा तथा ।

तत्पश्यपीह तत्सर्व किमिदं मायया विना ॥१७॥

अद्यैव त्वद्यतेऽस्य किं मम न ते

मायात्वमादर्शित

मेकोऽसि प्रथमं ततो यजसुदृष्ट

वत्साः समन्ता अपि ।

वावन्तोऽसि चतुर्मुखास्तदम्बिलैः

साकं मयोपासिता

मावन्त्येव जगन्त्यमृतदमिर्तं

प्रसादय शिष्यते ॥१८॥

यह कहना किसी प्रकार असम्भव नहीं हो सकता । तब आप ही कृष्णार्जुने, प्रभो ! क्या मैं आपको पुत्र नहीं हूँ ? ॥ १३ ॥ प्रभो ! आप सम्स्त जीवोंके आलय हैं । इसलिये आप नारायण (नार—जीव और अयन—आश्रय) हैं । आप सम्स्त जगत्के और जीवोंके अवीमर हैं, इसलिये आप नारायण (नार—जीव और अयन—प्रवर्तक) हैं । आप सम्स्त लोकोंके साक्षी हैं, इसलिये भी नारायण (नार—जीव और अयन—ज्ञाननेत्रार्थ) हैं । नरसे उत्पन्न होनेवाले जन्ममें निवास करनेवाला कर्मण जिनमें नारायण (नार—जन्म और अयन—निवासस्थान) कहा जाता है, वे भी आपको एक अंश ही हैं । वह अंश आपसे दीव्यता भी सत्य नहीं है, आपको माया ही है ॥ १४ ॥ भगवन् ! यदि आपको वह विराट् स्वरूप सचमुच उस समय जन्ममें ही था तो मैंने उसी समय उसे क्यों नहीं देखा, जब कि मैं कर्मभूतत्वके मार्गसे उसे सौ कर्त्तव्य जन्ममें देखा था ? फिर मैंने जब तपस्व्य ब्रह्मा, तब उसी समय मेरे हृत्पथमें उसका दर्शन कैसे हो गया ? और फिर कुछ ही क्षणोंमें वह पुन क्यों नहीं दीव्य, अन्तर्धान क्यों हो गया ? ॥ १५ ॥ मायाका माया करनेवाले प्रभो ! दूरकी बात कौन कहे—अभी इसी जन्ममें आपने इस बाहर दीव्यनेत्रज जगत्को अपने पैरोंमें ही दिखाना दिया, जिसे देखकर मनुष्य यथोदावहित हो गयी थी । इससे पक्की तो सिद्ध होना है कि यह सम्पूर्ण विश्व केवल आपकी माया-ही-माया है ॥ १६ ॥ जब आपके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जैसा बाहर दीव्यता है वैसा ही आपके उदरमें भी दीव्य, तब क्या यह सब आपको मायाक विना ही आपमें प्रतीत हुआ ? अल्प ही आपकी क्षीण है ॥ १७ ॥ उस निम्नरी मान जान दीव्य, आज्ञा ही दीव्य । क्या आज्ञा आपन में सामने अपने अनिमित्त सम्पूर्ण विश्वका अपनी मायाका खेद नहीं निवृत्तपा है ? पहल आप अकल्प य । फिर सम्पूर्ण गायत्रा, गृह्य और छन्दोग्य भी आप ही हो गये । उसके बाद मैं दृष्टा कि आपको प सब रूप यन्त्रमुक्त हैं और मेरेसहित सब-क-सब तत्त्व उनपर सेवा कर रहे हैं । आपन अत्र-अत्र उठने ही द्रष्टव्योंका रूप भी धारण कर लिया था, परन्तु अब आप कर्म-अभिनि अदिनीय स्वरूपमें ही प्रवेश कर रहे हैं ॥ १८ ॥

अज्ञानतां त्वत्पदवीमनात्म-

न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाय् ।

सृष्टानिवाहं अगतो विधान

इव त्वमेयोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥१९॥

सुरेष्टृपिबीध तथैव नृप्यपि

तिर्य्यगु यादस्तपि सेऽघनस्य ।

अमासतां दुर्मदनिप्रहाय

प्रभो विभातः सदनुप्रहाय च ॥२०॥

को वेचि भूमन् भगवन् परात्मन्

योगेश्वरोऽसीर्मवतस्त्रिलोक्याय् ।

क वा क्य वा कति वा क्वेति

विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाय् ॥२१॥

तस्मादिदं जगद्वैश्वमसत्स्वरूपं

स्वप्नाममस्तधिपयं पुरुषः स्वदुःखम् ।

त्वय्येव नित्यमुत्सवोभतनाशनन्ते

मायात उद्यदपि यत् सखिबाधभासि ॥२२॥

एकस्त्वभास्मा पुरुषः पुराणः

सत्यः स्वयंन्योतिरनन्त आद्यः ।

नित्याऽध्वरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः

पूर्वोऽध्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥२३॥

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि

स्वात्मानमात्मात्मवया विचक्षते ।

गुर्वकलम्भोपनिपत्सु चसुषा

ये ते वरन्दीव भवानुताम्युधिम् ॥२४॥

जो लोग अज्ञानवश आपका स्वरूपको नहीं जानते, उन्होंने आप प्रकृतिमें स्थित जीवके रूपसे प्रतीत होते हैं और ऊपर अपनी मायाका परदा बाधकर सृष्टिके समय मेरे (ब्रह्मा) रूपसे, पालनके समय अपने (विष्णु) रूपसे और संश्रवण समय इसके रूपमें प्रतीत होते हैं ॥ १९ ॥ प्रभो ! आप सारे अगतके स्वामी और विधाता हैं। अजन्मा होनेपर भी आप देवता, अग्नि, मनुष्य, पशु-पक्षी और जलचर आदि योनियोंमें अकस्मिक प्रवृत्त करते हैं—इसलिये कि इन रूपोंके द्वारा दुष्ट पुरुषोंका वशब्द तोड़ दें और सत्पुरुषोंपर अनुग्रह करें ॥ २० ॥ भगवन् ! आप अनन्त परमात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार करते क्षीय करने लाते हैं, उस समय क्रिश्चकीमें ऐसा कौन है, जो यह जान सके कि आपकी क्षीय कहाँ, किसलिये, कब और कितनी होती है ॥ २१ ॥ इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्नके समान अस्तित्व, अज्ञानरूप और दुःख-पर-दुःख देनेवाला है। आप परमानन्द, परम ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। यह मायासे उत्पन्न एवं विच्छिन्न होनेपर भी आपमें आपकी सदासे स्वरूपके समान प्रतीत होता है ॥ २२ ॥ प्रभो ! आप ही एकमात्र सत्य हैं। क्योंकि आप सबके वास्तव्य जो हैं। आप पुराणपुरुष होनेके कारण समस्त जन्मप्रतिस्कारोंसे रहित हैं। आप स्वयंप्रकाश हैं, इसलिये देश, काल और वस्तु—जा परप्रकाश हैं—किसी प्रकार आपकी सीमित नहीं कर सकते। आप उनके भी अति प्रकाशक हैं। आप अविनाशप्रति होनेके कारण नित्य हैं। आपका आनन्द अव्यय है। आपमें न तो किसी प्रकारका मल है और न अभाव। आप पूर्ण, एक हैं। समस्त उपाधियोंसे मुक्त होनेके कारण आप अघृतस्वरूप हैं ॥ २३ ॥ आपका यह ऐसा स्वरूप समस्त जीवोंका ही अपना स्वरूप है। जो गुरुस्वरूप सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूप दिव्य दृष्टि प्राप्त करते उससे अकस्मिक अपने स्वरूपका रूपमें साक्षात्कार कर लेते हैं, वे इस दृष्टे संसार-सागर को मनो पार कर आते हैं। (संसार-सागरके दृष्ट होनेके कारण इसमें पार जाना भी अविचार-दृष्टव्य

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां

तेनैव आतं निखिल प्रपञ्चितम् ।

ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते

रन्न्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥२५॥

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ

द्वौ नाम नान्यौ स्त स्मृतद्वभावात् ।

अज्ञज्ञचित्पात्मनि केवले परे

विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥२६॥

त्वात्मात्मानं परं भत्वा परमात्मानमेव च ।

आत्मा पुनर्बहिर्भूय अहोऽज्ञानताम्रता ॥२७॥

अन्तर्मवेऽनन्तं भवन्तमेव

क्षतपद्मन्तो मृगयन्ति सन्तः ।

असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण

सर्वं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥२८॥

अथापि ते देव पदाम्बुसद्वय

प्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।

बानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो

न चान्य एकोऽपि धिरविचिन्वन् ॥२९॥

तदस्तु मे नाय स भूरिभागो

भवेऽत्र बान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।

येनाहमेकोऽपि भवन्ननानां

भूत्वा निपेये त्वं पादपद्मबन्धु ॥३०॥

दृष्टिसे ही है) ॥ २४ ॥ जो पुरुष परमात्माको आत्मके रूपमें नहीं जानते, उन्हें उस अज्ञानके कारण ही इस नामरूपपात्मक निखिल प्रपञ्चकी उत्पत्तिक्रम हो जाता है । किन्तु ज्ञान होते ही इसका आत्यन्तिक प्रत्यक्ष हो जाता है । जैसे रस्सीमें भ्रमके कारण ही सर्पकी प्रतीति होती है और भ्रमके निवृत्त होते ही उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २५ ॥ संसार-सम्बन्धी बन्धन और उससे मोक्ष—ये दोनों ही नाम अज्ञानसे कल्पित हैं । वास्तवमें ये अज्ञानके ही दो नाम हैं । ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न अस्तित्व नहीं रखते । जैसे सूर्यमें दिन और रातका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चिस्वरूप केवल शुद्ध आत्मनस्त्वमें न बन्धन है और न तो मोक्ष ॥ २६ ॥ भगवन् ! जितने आश्चर्यकी बात है कि आप हैं अपने आत्म, पर लोग आपको परायण मानते हैं । और शरीर आदि है परये, किन्तु उनको आत्मा मान बैठते हैं । और इसके बाद आपको कहीं अज्ञा बूढ़ने लगते हैं । भगवन् ! अज्ञानी जीवोंका यह चिन्ता क्या अज्ञान है ॥ २७ ॥ हे अनन्त ! आप तो सबके अन्त कारणमें ही विरजमान हैं । इसलिये संतलोग आपके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका परित्यक्त करते हुए अपने भीतर ही आपको ईद्वेते हैं । क्योंकि यद्यपि रस्सीमें सर्प नहीं है, फिर भी उस प्रतीत्यमान सर्पको सिध्दा निश्चय किये बिना भय, कोई स्वरूप सभी रस्सीको कैसे जान सकता है ? ॥ २८ ॥

अपने भक्तजनोंके हृदयमें स्वयं स्फुरित होनेवाले भगवन् ! आपको ज्ञानका स्वरूप और महिम्न ऐसी ही है, उससे अज्ञानवन्धन जगत्का नाश हो जाता है । फिर भी जो पुरुष आपको गुण चरकमभेदक तन्निष्ठा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है—यही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमाप्रकाश ज्ञान सत्ता है । दूसरा कोई भी ज्ञान-वैशम्यादि साधनरूप अपने प्रयत्नमें बहुत वाञ्छित जितना भी अनुसन्धान करता रहे, वह आपको महिमाप्रकाश पर्यव ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २९ ॥ इसलिये भगवन् ! मुझ इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदि जन्ममें भी ऐसा सीमाव्य प्राप्त हो कि मैं आपको आत्ममें कोई पर दास हो जाऊँ और फिर आपके चरणप्रसंगों

अहाऽतिधन्या ब्रजगौरमण्यः

स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।

यासां त्रिभो नत्सतरात्मशात्मना

अचृतयेऽद्यापि न चालमध्वरा ॥३१॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपब्रजौकसाय ।

यमित्र परमानन्द पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥

उपां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता

मेकादशैव हि धनं बत भूरिभागा ।

एतद्वृषवीकचपकैरसकृत् पिबामः

शर्वादबोऽङ्गमुदञ्जमध्वमृतासवं ते ॥३३॥

तद्व भूरिभाग्यमिह ब्रह्म किमप्यन्यां

यद्व गोकुलेऽपि कृतमाङ्गिरजोऽभिषेकम् ।

यन्भीषितं तु निखिल भगवान् मुकुन्द

स्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमुग्यमेव ॥३४॥

गपां घोपनिवासिनामुत भवान् किं देश रातेति न-

श्चेता विश्वकसात् पल्लवदपरं कुत्राप्ययन् मुद्रति ।

सेवा कर ॥ ३० ॥ मेरे स्वामी ! जगत्के बड़े-बड़े या
सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अन्ततक आपको पूर्णतः कृत न
कर सके । परन्तु आपने ब्रजकी गाँवों और स्थानोंके
छछर एवं बालक बनकर उनके स्तनोंका अमृत-सा दूध
बड़े उमंगसे पिया है । वास्तवमें उन्होंने जीवन सफल
है, वे ही अत्यन्त धन्य हैं ॥ ३१ ॥ अहो, नन्द जी
ब्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं । वास्तवमें उनका अहो-
भाग्य है । क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण स्व
आप उनके अपने सगे-सम्बन्धी और मुहूर्त हैं ॥ ३२ ॥
हे अच्युत ! इन ब्रजवासियोंके सीमाभ्यन्तरी मन्त्रिण तो
अलग रही—मन आदि मयारह इन्द्रियोंके अविच्छिन्न
देवताके रूपमें रहनेवाले महादेव आदि हम्बजोग बड़े ही
महामुख हैं । क्योंकि इन ब्रजवासियोंकी मन आदि
मयारह इन्द्रियोंको प्याले बनाकर हम आपके चरणकमलों-
का अमृतसे भी मीठा, मदिरासे भी मीठाक मधुर मकरन्द
रस पान करते रहते हैं । जब उसका एक-एक इन्द्रियसे
पान करके हम धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियों-
से उसका सेवन करनेवाले ब्रजवासियोंकी तो बात ही
क्या है ॥ ३३ ॥ प्रभो ! इस ब्रजभूमिके किन्ती वनमें
और विशेष करके गोकुलमें किन्ती भी योनियों जन्म हो
जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात होगी ।
क्योंकि यहाँ जन्म हो जानेपर आपके किन्ती-न-किन्ती प्रेमी-
के चरणोंकी धृष्टि अपने ऊपर पड़ ही जायगी । प्रभो ! आपके
प्रेमी ब्रजवासियोंका सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है ।
आप ही उनके जीवनका एकमात्र सर्वस्व हैं । इसलिये उनके
चरणोंकी धृष्टि मित्रना आपके ही चरणोंकी धृष्टि
मित्रना है और आपके चरणोंकी धृष्टिसे तो भुविर्षी भी
अनादि कष्टसे अन्ततक मुँह ही रही हैं ॥ ३४ ॥
देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो ! इन ब्रजवासियोंको
हमकी सेवाके कष्टमें आप क्या फल देंगे ? सम्पूर्ण
परमेश्वर पल्लवदपर ! आपसे अक्षय और कोई फल तो
है ही नहीं, यह सोचकर मेरा चित्त मोहित हो रहा है ।
आप उन्हें अपना स्वस्व भी देकर उन्नत नहीं हो
सकते । क्योंकि आपके स्वस्वको तो उस पूतनाने भी

सद्योपादिष पूतनापि सङ्कला त्वामेव देवापिता

यद्दामार्थमुद्दिप्रियास्मत्तनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥३५॥

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।

ताव माहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न त्वे अना ॥३६॥

प्रपञ्चं निप्रपञ्चोऽपि विदम्बयामि भूतले ।

प्रपञ्चनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥३७॥

जानन्त एव जानन्तु किं बहुत्याना मे प्रभो ।

मनसो वपुषा वाचा नैमर्षं तव गोचरः ॥३८॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदङ्क ।

त्वमेव जगतां नाथ जगदेतत्तत्तत्परितम् ॥३९॥

भीकृष्ण भृङ्गिङ्गुलपुष्करजोपदायिन

स्मानिर्जरेद्विअपश्रूदधिभृदिङ्कारिन् ।

उदर्मशर्वरहर धिविराषसद्यु

गाकन्यमार्कमर्हन् मगधन् नमस्ते ॥४०॥

भीशुक उवाच

इत्थमिष्टम् भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयो ।

अपने सम्बन्धियों—अघासुर, कम्भसुर आदिके साथ प्राप्त कर लिया, जिसका केवल वेप ही साक्षी श्रीकृष्ण था, पर जो हृदयसे मगधन् भूत थी । फिर, जिन्होंने अपने घर, धन, खजान, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन—सब कुछ आपके ही चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आपने ही लिये है, उन ब्रह्मास्तियोंको भी यही फल देकर आप कैसे उद्धार हो सकते हैं ॥३५॥ सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर । तभीतक रागादय आदि दोग चोरोक समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं तभीतक घर और उसके सम्बन्धी कैसी तरह सम्बन्ध के बन्धनोंमें बँध रहते हैं और तभीतक मोह पैरवी बेहियोंकी तरह जकड़ रहता है—जबतक जीव आप का नहीं हो जाता ॥ ३६ ॥ प्रभो ! आप विश्वक वज्रोद्वेसे सर्वथा रहित हैं, फिर भी अपने शरणागत भक्त जनको अनन्त आनन्द क्लिष्टरण करनेके लिये पृथ्वीमें अवतार लेकर विश्वके समान ही क्लिष्टनिग्रस्तका विस्तार करते हैं ॥ ३७ ॥ मेरे स्वामी ! बहुत कहनेकी आवश्यकता नहीं—आ खेग आपकी महिमा जानते हैं, वे जानते हैं, मेरे मन, वाणी और शरीर तो आपकी महिमा जाननेमें सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ३८ ॥ सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण ! आप सबके साक्षी हैं । इसलिये आप सब कुछ जानते हैं । आप समस्त जगत्त्व स्वामी हैं । यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आपमें ही स्थित है । आपसे मैं और क्या कहूँ ? अब आप मुझे स्वीकार कीजिये । मुझे अपने लोकमें जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ ३९ ॥ सबके मन-प्राण-को अपनी रूप-मन्त्रपुरीसे आकर्षित करनेवाले श्यामसुन्दर ! आप मनुष्यरूप कम्पकते विकसित करनेवाले सूर्य हैं । प्रभो ! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशु-रूप समुद्रकी अगिबुद्धि करनेवाले चन्द्रमा भी आप ही हैं । आप पशुपतियोंके धर्मरूप रात्रिकर घोर अन्धकार नष्ट करनेके लिये सूर्य और चन्द्रमा दोनोंके ही समान हैं । पृथ्वीपर रहनेवाले राक्षसोंक नष्ट करनेवाले आप चन्द्रमा, सूर्य आप समस्त देवताओंक भी परम पूजनीय हैं । मगधन् ! मैं अपने जीवनमर, महाकन्यापयन्त आपका नमस्कार ही करता रहूँ ॥ ४० ॥

श्रीशुकवैद्यजी कहत हैं—परीक्षित ! संसारक सब पित्त प्रजाजीने इस प्रकार मगधान् श्रीकृष्णकी स्तुति

नत्वाभीष् जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥४१॥

ततोऽनुष्ठाप्य भगवान् स्वसुख प्रागवस्थितान् ।

वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसख स्वकम् ॥४२॥

एकस्मिन्नपि यातेऽन्धे प्राणेश्वरान्तराऽऽत्मनः ।

कृष्णमायाहता राजन् क्षुधार्थं मेनिरर्जकाः ॥४३॥

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।

यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्य विस्मृतात्मकम् ॥४४॥

ऊचुश्च सुहृदः कृष्ण स्वागतं तेऽतिरहसा ।

नैकोऽप्यभाजि क्वलं पृथीतः साधु मुन्यताम् ॥४५॥

ततः हसन् हृषीकेशाऽभ्यवहस्य सहाभिकैः ।

दर्शयधर्माग्रगर न्यवर्तत वनायु प्रजम् ॥४६॥

वर्षप्रश्ननवभातुविचित्रिताङ्ग

प्रादामयशुदलशृङ्गबोत्सवाद्य ।

वत्सान् गृणन्नुगगीतपवित्रकीर्ति

गौपीयगुम्बरणिः प्रविशेश गाष्टम् ॥४७॥

की । इसके बाद उन्होंने तीन कर परिक्रमा करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर अपने गन्तव्य स्थान सम्पन्न करने चले गये ॥ ४१ ॥ ब्रह्माजीने वृद्धों और ग्वालवार्योंको पहले ही यथास्थान पहुँचा दिया था । भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजीको विदा कर दिया और वृद्धोंको लेकर यमुनाजीके पुलिनपर आये, जहाँ वे अपने स्वप्नात्मार्थोंको पहले छोड़ गये थे ॥ ४२ ॥ परीक्षित ! अपने जीवनसर्वस्व—प्राणकल्मष श्रीकृष्णके विरोधमें यद्यपि एक वर्ष बीत गया था, तथापि उन व्याकुलताके सब समय आगे कृष्णके समान जान पड़ा । क्यों न हो, वे भगवान्की दिव्यविमोहिनी योगमायासे मोहित हो गये थे ॥ ४३ ॥ जगत्के सभी जीव उसी मयासे मोहित होकर शान्त और आचर्योंके बार-बार सम्माननेमें भी अपने आत्मबन्धों निरन्तर भूले हुए हैं । वास्तवमें उस मयाकी ऐसी ही शक्ति है । मया, उससे मोहित होकर जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते हैं । ॥ ४४ ॥

परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्णको देखने ॥ ग्वालवार्योंमें बड़ी उतावलीसे कहा—‘माई ! तुम मत्ते आये । स्वागत है, स्वागत । अभी तो हमने तुम्हारे बिना एक कौर भी नहीं खाया है । आओ, इधर आओ, आनन्दसे भोजन करो’ ॥ ४५ ॥ तब हँसते हुए भगवान्ने ग्वालवार्योंके साथ भोजन किया और उन्हें अपासुरके शरीरका दण्ड दिखते हुए बनसे लौट आये ॥ ४६ ॥ श्रीकृष्णके स्तिरपर मरपंखका मनोहर मुकुट और पुँछरत्ने बाधमें सुन्दर-सुन्दर मूर्त-मूर्त मँहँकते हुए पुष्प गुँब रहे थे । नयी-नयी रंगीन धातुओंसे श्याम शरीरपर चित्रकारी की हुई थी । वे बचने समय रास्तेमें लचकते सभी बौद्धि, कभी पते और कभी सींग धनाकर बाघोंसबमें मग्न हो रहे हैं । पीछे-पीछे ग्वालवार उनकी लाकड़कन कीर्तिका गान करते जा रहे हैं । कभी वे नाम लेते-लेते अपने वृद्धोंको पुकारते, ता कभी उनके साथ प्यार पड़ाने लगते । मार्गके दोनों ओर गाणियों लड़ी हैं; जब न कभी निरुद्ध नेत्रोंसे उनकी नजरमें नजर मिय देते हैं, तब गाणियों आनन्द-मुग्ध हो जाती हैं । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने गाष्टमें प्रवेष्टा किया ॥४७॥

अधानेन महाव्यालो यशोदानन्दसन्तुना ।

इतोऽविवाक्य चासादिति बाला व्रजे जगुः ॥४८॥

राजोवाच

ममन् परोऽहमे कृष्णे ह्यान् प्रेमा कथं भवेत् ।

याऽमृतपूर्वस्तोकेषु खोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥४९॥

श्रीभूक उवाच

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वरलभ ।

इतरेऽपत्यविद्याघातद्वन्द्वलभतयैव हि ॥५०॥

तव रामेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि वेदिनाम् ।

न तथा ममतालम्बिपुत्रविचगृहादिषु ॥५१॥

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।

यथा देह प्रियतमस्त्वया न ह्यनु ये च तम् ॥५२॥

देहोऽपि ममतामान् वेत्तुर्हसौ नास्मन्नत् प्रियः ।

यत्कीर्यत्यपि दहेऽस्मिन् जीविताद्या बलीयसी ॥५३॥

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि वेदिनाम् ।

तदर्थमेव सकलं अगदेतन्नाश्रयम् ॥५४॥

कृष्णभनमवेदि स्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।

नगद्विषासोऽप्यत्र ददीषाभाति मायया ॥५५॥

वस्तुतो बान्धतामत्र कृष्णं स्यात्सु चरिष्यु च ।

भगवदुपमसिद्ध नान्यद् वस्तिवह किञ्चन ॥५६॥

परीक्षित् ! उसी दिन वाष्कर्वेने ब्रजमें जाकर कहा कि 'आज यशोदा मैयाके लक्ष्मले नन्दनन्दनने धनमें एक बच्चा मारी कजगर मार डाल्य है और उससे हमजोगोंकी रक्षा की है' ॥ ४८ ॥

राजा परीक्षितने कहा—ममन् । ममवासिमेंके लिये श्रीकृष्ण अपने पुत्र नहीं थे, दूसरेके पुत्र थे । फिर उनका श्रीकृष्णके प्रति इतना प्रेम कैसे हुआ ? ऐसा प्रेम तो उनका अपने बालकजोर भी पहले कभी नहीं हुआ था । आप कृपा करके कन्यप्रप्रे, इसका क्या कारण है ? ॥ ४९ ॥

श्रीभूकवेचजी कहते हैं—राजन् । संसारके सभी प्राणी अपने आत्मसे ही सबसे बढकर प्रेम करते हैं । पुत्रसे, धनसे या और किसीसे जो प्रेम होता है—वह तो इसलिये कि वे वस्तु अपने आत्मको प्रिय लगती हैं ॥५०॥ राजेन्द्र । यही कारण है कि सभी प्राणियोंका अपने आत्मके प्रति जैसा प्रेम होता है वैसा अपन कल्लजनेवाले पुत्र, धन और गृह आदिमें नहीं होता ॥५१॥ सुप्रभेष्ट ! जो लोग देखकर ही आत्म मानते हैं, वे भी अपने शरीरसे जितना प्रेम करते हैं, उतना प्रेम शरीरके सम्बन्धी पुत्र-स्त्रि आदिसे नहीं करते ॥ ५२ ॥ जब विचारके द्वारा यह मन्त्र हो जाता है कि 'मैं शरीर में नहीं हूँ, यह शरीर मेरा है' तब इस शरीरसे भी आत्मके समान प्रेम नहीं रहता । यही कारण है कि इस देखके जीर्ण-शीर्ण हो जानेवाले भी जीनेकी आश प्रकट रूपसे बनी रहती है ॥ ५३ ॥ इससे यह ध्यान सिद्ध होती है कि सभी प्राणी अपने आत्मसे ही अपने बढकर प्रेम करते हैं और उसीके लिये इस सारे चराचर जगत्से भी प्रेम करते हैं ॥ ५४ ॥ इन श्रीकृष्णको ही हम सब आत्माओंका आत्मा समझो । संसारके कल्याणके लिये ही योगमायाका आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारीके समान जान पड़ते हैं ॥५५॥ जो लोग मगकन् श्रीकृष्णक वासाविक स्वरूपको जानते हैं, उनके लिये तो इस जगत्में जो कुछ भी चराचर पदार्थ हैं, अपना इसने परे परब्रह्मा, ब्रह्म, मारायण आदि जो भगवत्स्वरूप हैं सभी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं । श्रीकृष्णक अनिरिक्त और कोई माहन्-अप्राकृत वस्तु है ही नहीं ॥ ५६ ॥

सर्वेषामपि वस्तूनां भत्वार्थो भवति मितः ।

तस्यापि भगवान् कृष्णः किमवद्वस्तु रूप्यताम् ॥५७॥

समाभिता ये पदपल्लवपुष

महस्पद पुष्पयशोसुरारेः ।

भगम्बुधिर्वत्सपद परं पद

पद पद यद् विपदा न तेषाम् ॥५८॥

एतच्च सर्वमाख्यात यद् पृष्टोऽहमिह त्वया ।

यद् कौमारे हरिहृत पौगण्ड परिक्रीतितम् ॥५९॥

एतत् सुहृद्भिरितं धुरारे

रघोर्दानं द्वादशल्लेखनं च ।

अक्षतेरद रूपमबोधेभिष्य

मृषन् गृहन्तेति नरोऽसिलार्थान् ॥६०॥

एष विहारैः कौमारैः कौमार जहत्तुर्व्रजे ।

निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोष्ठबनादिभिः ॥६१॥

सभी वस्तुओंका अन्तिम रूप अपने कारणमें स्थित होता है ।

उस कारणके भी परम कारण हैं भगवान् श्रीकृष्ण । तब सब

कथाओं, किन्तु वस्तुका श्रीकृष्णसे भिन्न बन जाये ॥ ५७ ॥

विग्नान पुष्पकीर्ति मुकुन्द सुरारीके पदपल्लवकी नीकला

आश्रय प्रिया है, जो कि सत्युद्योग सक्ता है

उनके श्रिये यह भय-सागर कछेके सुरके गढ़के सम

है । उन्हें परमपदकी प्राप्ति हा जाती है और उनके मित्र

विपक्षियोंका निवासस्थान—यह संसार नहीं रहता ॥ ५८ ॥

परीक्षित । तुमने मुझसे पूछा था कि भगवन्के

पौचत्रै कर्षकी छिन्न ग्वालबालोंने छूटे कर्म कैसे करी,

उसका साग रहस्य मैंने तुम्हें कन्ध दिया ॥ ५९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी ग्वालबालोंके साथ वनक्रीडा, अक्सर

का मरना, हरी-हरी वाससे युक्त मृगपर बैठकर मोहन

करना, अष्टाक्षररूपधारी कछों और ग्वालबालोंका प्रसन्न

होना और क्लृप्तीका द्वारा की हुई इस महान् सृष्टिकी जो

मनुष्य सुनता और कहता है—उस-उसकी धर्म,

अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ६० ॥

परीक्षित । इस प्रकार श्रीकृष्ण और कछारामने कुमार

अवस्थाके अनुरूप आँखमिचौनी, सेतुबन्धन, मर्कटोंकी

मौलि उलझना-कूदना आदि अनेकों खेलों करके अपनी

कुमार-अवस्था कममें ही त्याग दी ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संहितायां त्रयमस्कन्धे पूर्वार्धे

ब्रह्मस्तुनिर्नाम बह्वृशोऽप्यय ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्याय

येनुरासुरका उदार और ग्वालबालोंको काखियोगाके विपत्तं यथासा

भीलुं उवाच

ततश्च पौगण्डवयः भित्तौ ब्रज

यमुषतुत्ती पशुपालसम्मतौ ।

गाधारयन्तौ सत्तिभिः सर्वं पदै

ईन्द्रावनं पुष्पमतीय चक्रतु ॥ १ ॥

भी-पुच्छेककी कहते हैं—परीक्षित ! अब बन्धाम

और श्रीकृष्णने पौगण्ड-अवस्थामें अर्थात् छूटे कर्ममें प्रवेश

किया । अब उन्हें गौरों परातेकी सीहरी मिठ गयी ।

वे अपने सख ग्वालबालोंके साथ गौरों पराते हुए हृन्दा-

वनमें आते और अपने जगणोंसे हृन्दावनको अस्फुट



तन्माधवो वेषमुदीरयन् वृत्तो

गोपैर्गृणद्भिः स्वयम्भो बलान्वितः ।

पश्यन् पुरस्कृत्य यशस्यमाविशद्

विहर्षकामः हस्तुमाकर वनम् ॥ २ ॥

तन्मन्त्रुपोपालिमृगद्विबाकुल

महन्मनःप्रसूययत्तरस्वता ।

वातेन जुष्टं श्रुतपत्रगन्धिना

निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥ ३ ॥

स तत्र तत्रारुयपल्लवभिया

फलप्रद्वनोरुभरेण पादयोः ।

स्पृष्टश्चित्तवान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा

अयमिवाहाप्रव्रजमादिपूरुषः ॥ ४ ॥

श्रीमगवानुवाच

अहो ब्रमी देववरामार्षितं

पादाम्बुजं ते सुमनःफलाईणम् ।

नमन्त्युपादाय शिलाभिरारमन्

स्तमाऽपहत्यै तरुव्रजम् यस्तुतम् ॥ ५ ॥

एतेऽलिनस्तत्र यशोऽखिललोकतीर्थं

गायन्त आदिपुरुषानुपदं यजन्ते ।

प्रापो अमीऽमुनिगणा भवदीयमुख्या

गूढं वनेऽपि न महत्पनधारामदैवम् ॥ ६ ॥

नृत्पन्त्यमीऽसिनि ईर्य मुदा हरिण्य

हर्षन्ति गोप्य इव ते प्रियमीश्वरेण ।

पश्यन् करते ॥ १ ॥ यह वन गैर्जोंके छिपे हरी-हरी वाससे युक्त एवं रंग-स्विरंगे पुष्पोंकी सन हो रहा था । आगे-आगे गौर, उनके पीछे-पीछे बौंसुरी बजाते हुए स्वाम-सुन्दर, तदनन्तर कवयाम और फिर श्रीकृष्णके यशस्व गान करते हुए ग्वालवाक्य—इस प्रकार बिहार करनेके छिपे उन्होंने उस वनमें प्रवेश किया ॥ २ ॥ उस वनमें कहीं तो और कहीं प्युर गुंजार कर रहे थे, कहीं हुंड़-के-हुंड़ हरिन चौकली मार रहे थे और कहीं सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहक रहे थे । वड़े ही सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे, दिनका जज ग्वात्माओंके हृदयके समान स्वच्छ और निर्मल था । उनमें खिले हुए कमलोंके सौरभसे सुवासित होकर शक्ति-फन्द-सुगन्ध बाँटते उस वनकी सेवा कर रही थी । इतना मनोहर था वह वन कि उसे देखकर भगवान्ने मन-ही-मन उसमें बिहार करनेका संकल्प किया ॥ ३ ॥ पुरुषोत्तम भगवान्ने देखा कि बड़े-बड़े वृक्ष फल और फूलोंके भारसे झुककर अपनी ढाड़ियों और नूतन कोंपलोंकी अद्विगलसे उनके चरणोंका स्पर्श कर रहे हैं, सब उन्होंने बड़े आनन्दसे कुछ मुसकताते हुए-से अपने बड़े भई कवयाम-जीसे कहा ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवसिरोमणि ! यों तो बड़े-बड़े देवता आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं; परन्तु देखिये तो, ये वृक्ष भी अपनी ढाड़ियोंसे सुन्दर पुष्प और फलोंकी सामग्री स्थिर आपके चरणकमलोंमें झुक रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं । क्यों न हो, इन्होंने इसी सौम्यके छिपे तथा अपना दर्शन एवं भजन करने-वालोंके आनन्दका नाश करनेके छिपे ही तो इन्द्रावन-छाममें वृक्ष-योनि प्रव्रज की है । इनका जीवन कल्प है ॥ ५ ॥ आदिपूरुष ! यद्यपि आप इस इन्द्रावनमें अपने ऐश्वर्यरूपको छिपाकर बाह्यकेंकी-सी छिप कर रहे हैं, फिर भी आपके श्रेष्ठ भक्त मुनिगण अपने इस दर्शनोपलक्षनकर यहाँ भी प्रायः मीलोंके रूपमें आपके सुख-भाजन यशस्व निरन्तर गान करते हुए आपके भजनमें लगे रहते हैं । वे एक क्षणके छिपे भी आपके नहीं छोड़ना चाहते ॥ ६ ॥ भइन्नी । वास्तवमें आप ही स्तुति करने योग्य हैं । देखिये, आश्रय अपने घर आप देख ये मार आपका दर्शनसे आनन्दित होकर नाच रहे हैं । हरिनियों भृगनयनी गानियोंके समान अपनी

सुत्तम कोकिलगणा गृहमागताय

धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥ ७ ॥

धन्येयमद्य भरणी सृजवीरुधस्तन्व

पादसूक्ष्मो हुमलतः करजाभिसृष्टा ।

नद्योऽद्रयः स्रगमृगाः सद्यवावलोके

गोप्योऽन्तरेण शुभ्रवोरपि यत्सूहा भीः ॥ ८ ॥

श्रीगुरु उवाच

एवं बुन्दावनं श्रीमत् कृष्ण प्रीतमनाः पश्यन् ।

रेमे सञ्चारयन्नेः सरिद्रोधस्तु साजुगः ॥ ९ ॥

कचिद् गायति गायन्तु मदा भालिष्वनुवतेः ।

उपगीयमानचरितः स्रग्वी सङ्घर्षान्वितः ॥ १० ॥

कचिच्च कलहंसानामनु कूजति कूजितम् ।

अभि नृत्सति नृत्यन्तर् बहिर्ण हासयन् कचिच्च ॥ ११ ॥

मेघगम्भीरया बाचा नामभिर्दूरगान् पश्यन् ।

कचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोऽपि ॥ १२ ॥

पक्षरक्षाञ्चक्राह्वयति भारद्वाजोऽपि बहिर्ण ।

अनुरोति स सप्तानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयाः ॥ १३ ॥

प्रेममयी तिरछी चितवनसे आपके प्रति प्रेम प्रकट कर रही हैं, आपको प्रसन्न कर रही हैं । ये कोकलें अपनी गधुर पुङ्ख-पुङ्ख ध्वनिसे आपको कितना सुन्दर स्वागत कर रही हैं ! ये बनवासी होनेपर भी धन्य हैं । क्योंकि सत्पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे घर जाये अतिथिको अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भेंट कर देते हैं ॥ ७ ॥ आज यहाँकी भूमि अपनी हरी-हरी घासके साथ आपके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके धन्य हो रही है । यहाँके वृक्ष, झर्राएँ और झाड़ियाँ आपकी अँगुलियोंका स्पर्श प्रकर अपना अहोमय्य मान रही हैं । आपकी दयामयी चितवनसे मदी, पर्वत, पशु, पक्षी—सब कृतार्थ हो रहे हैं और उनकी गोभियाँ आपके कष्ट स्थलका स्पर्श प्राप्त करके, जिसके जिये स्वयं कभी भी अलज्जित रहती हैं, धन्य-धन्य हो रही हैं ॥ ८ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परिशिष्ट ! इस प्रकार परम सुन्दर बुन्दावनको देखकर भागवान् श्रीकृष्ण बहुत ही आनन्दित हुए । वे अपने सखा गङ्गाज्योंके साथ गोवर्धनकी तराईमें, यमुनातटपर गौओंको चराते हुए अनेकों प्रकारकी छीजएँ करने लगे ॥ ९ ॥ एक ओर स्वाच्छाळ भागवान् श्रीकृष्णके चरित्रोंकी मधुर तान छेड़ रहते हैं तो दूसरी ओर अद्वयमयीके साथ वनमध्य पहने हुए श्रीकृष्ण मत्तबले मौरोंकी सुरीली गुनगुनाहटमें अपना स्वर मिलाकर मधुर संगीत अजयने करते हैं ॥ १० ॥ कभी-कभी श्रीकृष्ण कूजते हुए रानहंसोंके साथ स्वयं भी कूजने लगते हैं और कभी नाचते हुए मौरोंके साथ स्वयं भी ठुमक-ठुमक नाचने लगते हैं और ऐसा नाचते हैं कि मयूरको उष्णासायन बना देते हैं ॥ ११ ॥ कभी मेवके समान गम्भीर बाणीसे दूर गये हुए पशुओंको उनका नाम छे-छेकर बड़े प्रेमसे पुकारते हैं । उनके कण्ठकी मधुर ध्वनि सुनकर गधों और गायज्योंका चित्त भी अनेक कामें नहीं रहता ॥ १२ ॥ कभी कबूतर, कहीं (कतौकुड), चकवा, भरदूक और घेर आदि पक्षियोंकी-सी बोधी आये तो कभी बाघ, सिंह आदि पशुनासे डरे हुए जीवोंके समान स्वयं भी ययमीनकी-सी छीम

कश्चित् क्रीडापरिभ्रान्त गोपोत्सङ्गोपवर्णम् ।

खय विभ्रममस्यार्य पादसंवाहनादिभि ॥१४॥

नृत्तगतो गायतः कापि वृत्तातो युष्मतो मिथ ।

गृहीतहस्तौ गापालान् हसन्तौ प्रशस्तसतुः ॥१५॥

कश्चित् पक्ष्मवत्स्वपे निपुद्गभमकक्षितः ।

वृद्धमूलाभयः श्लेसे गोपोत्सङ्गोपवर्णः ॥१६॥

पादसंवाहनं चक्रुः केचित्सस्य महात्मनः ।

अपरे इतपाप्मानो व्यग्रनैः समवीक्षयन् ॥१७॥

अन्वे तद्विरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।

गायन्ति स महाराज स्नेहक्षिप्तधियः क्षनैः ॥१८॥

एवं निगूढात्मगतिं स्वमायया

गोपात्मवत्स्व चरितैर्विदम्बयन् ।

रेमे रमालालितपादपल्लवो

प्रान्यैः सर्वं प्रान्म्यवदीश्वरेणित ॥१९॥

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेल्ययोः सत्त्वा ।

सुबलस्तोककुष्णाद्या गोषा प्रम्णेदमभुवन् ॥२०॥

राम राम महापादो कृष्ण दुष्टनिर्षण ।

इताऽविदूरे सुमहद् वनं सालालिमङ्गलम् ॥२१॥

करते ॥ १३ ॥ जब बछरामजी खेलते-खेलते धनस्य
किस्ती ग्वाल्वाल्की गेहरके तनियेपर सिर रखकर लेट जाते,
तब श्रीकृष्ण उनके पैर दबाने लगते, पंख झलने लगते
और इस प्रकार अपने बड़े माईकी धनस्य दूर करते ॥ १४ ॥
जब ग्वाल्वाल्क नाचने-गाने लगते अपना हाथ ठेक-ठेक-
कर एक दूसरेसे कुत्ती लगने लगते, तब श्याम और राम
दोनों माई हाथमें हाथ बाँधकर खड़े हो जाते और हँस-
हँसकर 'वाह-वाह' करते ॥ १५ ॥ कभी-कभी स्वयं श्रीकृष्ण
भी ग्वाल्वाल्कोंके साथ कुत्ती लगते-लगते एक जाते तथा
किस्ती सुन्दर बृद्धके नीचे कोमल पङ्खोंकी सेवक किस्ती
ग्वाल्वाल्की गोदमें सिर रखकर लेट जाते ॥ १६ ॥
परीक्षित ! उस समय कोइ-कोई पुण्यके मूर्तिमान् स्वरूप
मकरजाल महात्मा श्रीकृष्णके चरण दबाने लगते और
दूसरे मित्राप बालक उन्हें बड़े-बड़े पत्तों पर आँगुलियोंसे
पंख झलने लगते ॥ १७ ॥ किस्ती-किस्तीके हृदयमें प्रेमकी
चारा उमड़ जाती तो वह धीरे-धीरे उदारद्विरोमणि
परममन्त्री श्रीकृष्णकी श्रियोंके अनुरूप उनके मनके
क्षिप लगनेवाले मनोहर गीत गाने लगता ॥ १८ ॥
महाभान्ने इस प्रकार अपनी योगमयासे अपने ऐश्वर्यमय
स्वरूपको छिपा रखता था । वे ऐसी छिपाएँ करते,
जो ठीक-ठीक गोपबालकोंकी-सी ही माझस पड़ती ।
स्वयं भगवन्ती लक्ष्मी जिनके चरणकमलोंकी सेवामें संतुष्ट
रहती हैं, वे ही भगवान् इन प्राणीय बालकोंके साथ
बड़े प्रेम्से प्राणीय खेल खेल करते थे ! परीक्षित !
ऐसा होनेपर भी कभी-कभी उनके ऐश्वर्यमयी छिपाएँ
भी प्रकट हो जाया करती ॥ १९ ॥

बछरामजी और श्रीकृष्णके सखियोंमें एक प्रधान गोप-
बालक थे श्रीदामा । प्य प्य उनोंने तथा सुबल और
सोकरुष्ण (छोटे कृष्ण) आदि ग्वाल्वाल्के 'राम और
रामसे बड़े प्रेमके साथ कहा—॥ २० ॥ 'हम गेहोंको सब
सुख पहुँचानेवाले बछरामजी ! आपके बाइ-बाई ता कोइ
पाह ही नहीं है । हमारे मनमोहन श्रीकृष्ण ! दुष्टोंको
मथ कर बाँझा ता गुप्ताग म्भवाव ही है । पड़ोसे पाँफी ही
दूरपर एक बड़ा भारी वन है । वस, उसमें गीत-के-गीत गावके

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।

सन्ति किञ्चिदुद्धानि चेनुकेन दुरात्मना ॥२२॥

सोऽविवीर्योऽसुरा राम हे कृष्ण स्वरूपपृक् ।

आत्मतुरबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्भूतः ॥२३॥

तस्मात् कुतनराहाराद् भीतैर्नृभिरभिग्रहन् ।

न सेम्पते पद्भुगर्भैः पश्चिसङ्घैर्विहसितम् ॥२४॥

विद्यन्तेऽमुकपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।

एष वै सुरभिर्गन्धो विपूचीनोऽवगृह्यते ॥२५॥

प्रपञ्च तानि नः कृष्ण गन्धलोमितचेतसाद् ।

बाम्छंस्तिमहती राम गम्भतां यदि रोचते ॥२६॥

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रवचिकीर्षया ।

प्रहस्य बग्मतुर्गोपैर्बुधैः तालवनं प्रभू ॥२७॥

बधः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन् ।

फलानि पातयामास मत्तङ्गवद् बभौबसा ॥२८॥

फलानां पततां शब्दं निश्चम्बासुररासभः ।

बम्बधावत् क्षितितल सनर्गपरिकम्पयन् ॥२९॥

समेत्य तरसा प्रेत्यगृह्णाम्यो पदुभ्यां बलं बली ।

निहृत्पोरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् स्वलः ॥३०॥

पुनरास्ताद्य सरम्भ उपक्रोष्ट पराक् स्थितः ।

चरणावपरी रागन् बलाय प्राक्षिपद् रुपा ॥३१॥

वृष्ट भरे पड़ हैं ॥२१॥ ज्यों बहुत-से तबके फल फल-फलकर गिरते रहते हैं और बहुत-से फल्लेके गिरे हुए भी हैं । परन्तु ज्यों घेनुक नामक एक दुष्ट दैत्य रहता है । उसने उन फलोंपर रोक लगा रखी है ॥२२॥ बग्मतु-भी और मैया श्रीकृष्ण ! वह दैत्य गवैके रूपमें रहता है । वह स्वयं तो बड़ा मजबूत है ही, उसके साथ और भी बहुत-से उसीके समान कछवान् दैत्य उसी रूपमें रहते हैं ॥२३॥ मेरे शत्रुवादी मैया ! उस दैत्यने अव्यक्त न जाने कितने मनुष्य खा डाले हैं । यही कारण है कि उसके डरके मारे मनुष्य उत्तक सेवन नहीं करते और पक्षु-पक्षी भी उस जंगलमें नहीं आते ॥२४॥ उसके फल हैं तो बड़े सुगन्धित, परन्तु हमने कभी नहीं खाये । देखो न, बाएँ ओर उन्नीकी मन्द-मन्द सुगन्ध फैल रही है । तनिक-सा प्यून देतेसे उसका रस मिठने लगा है ॥२५॥ श्रीकृष्ण ! उनकी सुगन्धसे हमारा मन मोहित हो गया है और उन्हें पानेके लिये मत्त हो रहा है । तुम हमें वे फल कल्प स्थिज्यो । दाख दादा ! हमें उन फलोंकी कड़ी उत्कट अभिलाषा है । आपकी इहे तो वहाँ कल्प स्थिज्ये ॥२६॥

जपने लगा जालजालोंकी यह बात सुनकर माकन् श्रीकृष्ण और कछामभी दोनों हँसे और फिर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनके साथ तालवनके लिये चले पड़े ॥२७॥ उस वनमें पहुँचकर कछामभीने अपनी बाँहोंसे उन तबके पेड़ोंकी फसल छिन्न और फलवाले हामीके बन्धोंके समान उन्हें बड़े जोरसे हिलकर बहुत-से फल नीचे गिरा दिये ॥२८॥ जब गवैके रूपमें रहनेवाले दैत्यने फलोंके गिरनेका शब्द सुना, तब वह पर्यंतोंके साथ सारी पृथ्वी-की कौस्तुभ हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥२९॥ वह बड़ा बज्जान् था । उसने बड़े बेगसे कछामभीके सामने आकर अपने फिल्ले पैरोंसे उनकी छतरीमें तुलसी मारी और उसके बड़ बड़ दुष्ट बड़े जोरसे रेंवता हुआ ज्योंसे हट गया ॥३०॥ राजन् ! वह तथा क्रोधमें भरकर फिर रेंवता हुआ दूसरी बार कछामभीके फल पहुँचा और उनकी ओर पीठ धरके फिर बड़े क्रोधसे अपने फिल्ले

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ।
 विश्लेषं पृणरात्राग्रे आमणस्यकजीवितम् ॥३२॥
 तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिरा ।
 पार्श्वस्थं कम्पयन् मघः स चान्यं सोऽपि चापरम् ॥३३॥
 बलस्य लीलपोस्तुष्टस्वरदेहहसाहताः ।
 तालाबकम्बिरे सर्वे महाघातेरिता इव ॥३४॥
 नैतच्चित्रं भगवति स्नानन्ते जगदीश्वरे ।
 भोतप्रोतमिदं मरिमस्तन्तुज्वलं यथा मटः ॥३५॥
 ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो घेनुकस्य ये ।
 क्रोद्यारोऽभ्यर्चयन् सर्वे संरब्धा हतबाभवाः ॥३६॥
 तालानापततः कृष्णो रामश्च रूपं लीलया ।
 गृहीतपद्माचरणान् प्राहिणोत्पृणरात्रसु ॥३७॥
 फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।
 रराव मूः सत्तालाप्रैर्वनैरिव नमस्तलम् ॥३८॥
 तपोस्तत् सुमहत् कर्म निशाम्य विबुधादयः ।
 सुसुप्तं पुष्पवर्पाणि चक्रुर्वाघानि तृपुषुः ॥३९॥
 अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाज्जसा ।
 एष च पशवश्चरुहृतधनुककानने ॥४०॥
 कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यधवणकीर्तनः ।
 स्तूपमानोऽनुगैर्गोपैः साप्रजो ब्रह्मामयम् ॥४१॥

पैरेन्त्री दुलती चलयी ॥ ३१ ॥ कथ्यमानेने अपने
 एक ही हाथसे उसके दोनों पैर पकड़ लिये और उसे
 आकाशमें फुमकर एक ताड़के पेड़पर दे मारा । फुमते
 समय ही उस गधेके प्राणपसेरु उड़ गये थे ॥ ३२ ॥
 उसके गिरनेकी चोटसे वह मरान् ताड़का बूझ—जिसका
 ऊपरी भाग बहुत गिराछ था—स्वयं तो तड़तड़ाकर
 गिर ही पड़ा, सटे हुए दूसरे बूझको भी उसने तोड़
 डाला । उसने तीसरेको, तीसरेने चौथेको—इस प्रकार
 एक-दूसरेको गिराते हुए बहुत-से तालबूझ गिर पड़े ॥ ३३ ॥
 कथ्यमानेकी लिये तो यह एक खेल था । परन्तु उनके
 द्वारा फेंके हुए गधेके शरीरसे चोट लग-लगाकर वहाँ सब-
 के-सब ताड़ ब्रिच गये । ऐसा जान पड़ा, मनी सबको
 ब्रह्माचालने झकझोर दिया हो ॥ ३४ ॥ भगवान् कथ्यमान
 स्वयं जगदीश्वर हैं । उनमें यह सारा संसार ठीक वैसा
 ही भोतप्रोत है, जैसे स्तूपमें बक । तब मघ, उनके
 लिये यह कर्म निशचर्यकी बात है ॥ ३५ ॥ उस समय
 घेनुकसुरके माई-कपु अपने माईके मारे जानेसे क्रोधके
 मारे व्यावन्तु हो गये । सबके-सब गधे कथ्यमानकी
 और श्रीकृष्णपर बड़े वेगसे दूट पड़े ॥ ३६ ॥ एमन् !
 उनमेंसे जो-जो पास आया, उसी-उसीको कथ्यमानकी और
 श्रीकृष्णने खेल-खेलेमें ही गिरले पैर पकड़कर ताड़बूझों-
 पर दे मारा ॥ ३७ ॥ उस समय वह मूनि ताड़के फलसे
 पट गयी और टूटे हुए बूझ तथा दैत्योंके प्राणहीन
 शरीरोंसे भर गयी । जैसे बादलोंसे आकाश ढक गया
 हो, उस भूमिमें वैसी ही शोभा होने लगी ॥ ३८ ॥
 कथ्यमानकी और श्रीकृष्णकी यह मज्जामयी बीज देखकर
 देवतागण उनपर क्रुद्ध बनाने लगे और बाजे बजा
 बजाकर स्तुति करने लगे ॥ ३९ ॥ जिस पिन घेनुकसुर
 मरा, उसी पिनसे लोग निबर होकर उस बनके ताड़का
 खाने लगे तथा पशु भी मरुत्तुनाक साथ घास चरने
 लगे ॥ ४० ॥

इसका बाद कमलपत्राक्षेचन भगवान् भीष्मण वह
 माई कथ्यमानकीके साथ बनमें आये । उस समय उनके
 साथी ग्वाडाडा उनके पीछे-पीछे चले हुए उनकी स्तुति
 करते जाते थे । क्यों न हो, भगवान्की स्तुतिजोका
 श्रवण-परिणम ही सबसे बढ़कर पवित्र जो है ॥ ४१ ॥

तं गोरवच्छुरितकुन्तलबद्धार्धं

बन्धप्रसन्नरुचिरक्षणचारुहासम् ।

वेषु कणान्तमनुगौरनुगीतकीर्तिं

गोप्सो दिव्यवस्त्रोऽम्बुगमन् समेता ४२

पीत्वा सुकुन्दमूर्तसारधामधिमूर्तै-

स्ताप बहुमिरहत्वं ब्रह्मयोषितोऽहम् ।

वत्सत्कृतिं समधियम्य विवेक्ष गोष्ठं

सत्रीन्निहासचिनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥४३॥

तयोर्यशोदारोद्दिप्यौ पुत्रयोः पुत्रवरसले ।

मयाकामं यथाकालं बन्धनां परमाश्रयः ॥४४॥

गताब्जानधमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।

नीवीं वसिष्ठा रुचिरां दिव्यसङ्गान्धमण्डितौ ॥४५॥

अनन्यपुङ्गव प्राक्ष्य स्वाद्वज्रमुपलालितौ ।

वविक्ष्य वरद्वयवामां मुनं सुपुपुत्रमज्ज ॥४६॥

एव स भगवान्कुण्डो हृन्दावनवरः कश्चित् ।

मयौ रामधृते राघवन् कालिन्दीं सन्निधिब्रुवतः ॥४७॥

अथ गावश्च गापाश्च निदाघातपपीडिताः ।

इष्टं कर्त्तुं पपुस्तस्यास्त्वपार्ता विषदूषितम् ॥४८॥

विषाम्भस्तदुपसृश्य दौषोपहृतयेतसः ।

निपेतुर्म्यसवः सर्वे सलिलान्ते हृत्कण्ड ॥४९॥

उस समय श्रीकृष्णजी पुँसुएकी अञ्जणेपर गौबोकें खुरेसे उब-उबकर धुटि पकी हुई थी, तिरपर मेरेपंक्का मुकुट या और बाजमें सुन्दर-सुन्दर बंगली पुष्प गुंथे हुए थे । उनके नेत्रोंमें मधुर चितवन और मुखपर मनोहर मुक्तन थी । वे मधुर-मधुर मुरली बजा रहे थे और सापी आभरण उनकी अश्रित कीर्तिकर ग्रान कर रहे थे । वंशीकी धनि सुनकर बहुत-सी गोपियाँ एक साथ ही ब्रह्मसे मगर निकल आयीं । उनकी आँसों में जलने कबसे श्रीकृष्णके दर्शनके छिये तरस रही थीं ॥ ४२ ॥ गोपियोंने अपने नेत्ररूप भ्रमसे भगवान्के मुखरविन्दक मकरन्द-रस पान करके दिनकरके विह्वली बलन श्वात की । और भगवान्ने भी उनकी अन्धमरी हँसी तथा क्लियसे कुछ प्रेममयी तिरछी चितवनका सत्कार स्वीकर करके ब्रह्ममें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥ उबर पद्मेदामैया और रोहिणी-जीका हृदय वास्तव्यस्नेहसे उमड़ रहा था । उन्होंने स्वाम और रामके घर पहुँचते ही उनकी हृष्टके अनुसार तथा सम्पत्के अनुरूप पहलेसे ही सोच-सँजकर रक्खी हुई वस्तुएँ उन्हें खिखरी-खिखरी और पहनायी ॥ ४४ ॥ मत्स्यजोने लेख-उच्छन आदि अण्णकर स्नान कराया । इससे उनकी दिनकर धूमने-तिरनेकी मर्माकी ककन हूर हो गयी । फिर उन्होंने सुन्दर कक पहनाकर दिव्य पुष्पोंकी माला पहनायी तथा चन्दन अञ्जया ॥ ४५ ॥ तत्पश्चात् दोनों भाग्योंने मन्त्रार्थका परीसा हुआ स्वादिष्ट अन्न भोजन किया । इसके बाद बड़े अन्न-प्यारसे दुकर-दुकर कर पशोदा और रोहिणीने उन्हें सुन्दर शय्यापर सुकन्य । स्वाम और राम बड़े आरामसे सो गये ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार हृन्दावनमें अनेकों छीकएँ करते । एक दिन अपने सख्य आलम्बकोंके साथ वे यमुनातटपर गये । रामन् ! उस दिन नन्दावमी उनके साथ नहीं थे ॥ ४७ ॥ उस समय जेट-त्रासदके घामसे गीरे और गलाखाल जलपत पीडित हो रहे थे । प्यासे उनकी कण्ठ सूख रहा था । इसलिये उन्होंने यमुनाजीका त्रिकैज जल पी लिया ॥ ४८ ॥ परीक्षित ! होनहारके वरा उन्हें इस बातका प्याल ही नहीं रहा था । उस लियेले अन्नक पीते ही सब गीरे और गला-काज प्राणहीन होकर यमुनाजीके तटपर गिर पड़े ॥ ४९ ॥

बोध्यतान् वै तथा भूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
 ईश्यामृतवर्षिण्या स्नानाथान् समन्वीयत् ॥ ५० ॥
 ते सम्प्रतीतस्मृतयः संमृत्वाय जलान्ति कात् ।
 आसन् सुविभिताः सर्वे बीधमाणाः परस्परम् ॥ ५१ ॥
 अन्वर्मसत तद् राबन् भोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।
 पीत्वा विपं परेतस्य पुनस्तथानामरमनः ॥ ५२ ॥

उन्हें ऐसी अवस्थामें देखकर योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अमृत बरसानेवाली दृष्टिसे उन्हें नीकित कर दिया । उनके स्वामी और सर्वत्र तो एकमग्न श्रीकृष्ण ही थे ॥ ५० ॥ परीक्षित ! केतना आनेपर ये सब यमुनाजीके तटपर उठ खड़े हुए और आश्चर्यचकित होकर एक-दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ ५१ ॥ राजन् ! अन्तमें उन्होंने यही निश्चय किया कि हममेग विरोध जब पी लेनेके कारण मर चुके थे, परन्तु हमारे श्रीकृष्णने अपनी अनुग्रहमयी दृष्टिसे देखकर हमें फिरसे जिव दिया है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमर्हस्या संक्षिप्तायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
 वेनुकथनो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

कालियपर कृपा

श्रीभुक्त उवाच

विभोक्त्वा दूयितां कृष्णं कृष्णः कृष्णादिना विभुः ।
 तस्मा विभुश्चिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवाप्तयत् ॥ १ ॥

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽग्राधे न्यगृह्णावु भगवानहिरम् ।
 स वै बहुयुगावाप्त यथाऽऽसीद् विप कथ्यताम् ॥ २ ॥

भगवान् भगवत्तत्स भूम्नः स्वच्छन्दचरितः ।
 गोपाष्ठोदारचरितं कस्तप्येतामृतं जुपन् ॥ ३ ॥

श्रीभुक्त उवाच

कालिन्यां कालियस्वासीदुग्रहः कथिवु विपाभिना ।
 मध्यमाणापया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः स्वगाः ॥ ४ ॥

श्रीभुक्तदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि महाविपन्न कालिय नागने यमुनाजीकर जल लीक कर दिया है । तब यमुनाजीको छुद करनेके निमित्तसे उन्होंने वहाँसे उस सर्पको निकाल दिया ॥ १ ॥

राजा परीक्षितसे पूछा—कथम् । भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीके अग्राध जलमें कित्त प्रकार उस सर्पको दमन किया ? फिर कालिय नाग तो जलचर जीव नहीं था, ऐसी दशमें वह अनेक युगोंतक जलमें क्यों और कैसे रहा ? सो कल्पवृक्षे ॥ २ ॥ ब्रह्मरूप महात्मन् । भगवान् जनन्त हैं । वे अपनी स्त्री प्रकट करके स्वच्छन्द निहार करते हैं । गोपालरूपसे उन्होंने जो उदार स्वीय की है, वह तो अमृतस्वरूप है । मध्य, उसके सेवनसे कौन तृप्त हो सकता है ? ॥ ३ ॥

श्रीभुक्तदेवजीने कहा—परीक्षित ! यमुनाजीमें कालिय नागका एक कुण्ड था । उसका जल निकरी गमसि खोला रहता था । यहीनक कि उसके ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी झुंझकर उसमें गिर जाया करते थे ॥ ४ ॥

विप्रमृता विपोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।

त्रिवन्ते तीरगा यस्य प्रायिनः स्थिरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

त चण्डवेगविपवीर्यमवेक्ष्य तेन

दुष्टां नदीं च स्तलसंयमनावतारः ।

कृष्णः कदम्बमधिरुक्त्वा ततोऽतितुङ्ग-

मास्फोट्य गाढरक्षनो न्यपतत् विपोदे ॥ ६ ॥

सर्पहृदः पुरुषसारनिपातवेग

संघोभितारगविपोच्छसिताम्बुराशिः ।

पर्यक्त्वुतो विपकपायविभीषणोर्मि-

र्धावन् धनुःक्षतमनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥

तंस हृदे विहरतो भुजदण्डधूर्ण

वार्षोपमङ्ग वरवारणचिक्रमस्य ।

आधुर्य तत्स्वसदनाभिर्भवं निरीक्ष्य

चक्षुः भवाः समसरत्तदमुष्पमाणः ॥ ८ ॥

त प्रवर्णयसुकुमारपनाबद्धार्तं

भीबरसपीतवसन सितसुन्दरासम् ।

क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलादराद्धि

सन्दन्य ममसु रुपा सुअया चलात् ॥ ९ ॥

१ कर्मिन् हरे ।

उसके विपैले जलध्वी उताळ तरङ्गोंका स्पर्श करके लज्जित होटी-छोटी हुई लेकर जब चक्षुः गहर करती और तटके घास-घात, हल्ला, पल्लु-पल्ली आदिभर स्पर्श करती, तब वे उसी समय मर जाते थे ॥ ५ ॥ परीक्षित । मगधान्का धनतार तो दुष्टोंका दमन करनेके लिये होख ही है । जब उन्होंने देख कि उस सौँके विपका के यका प्रवण्ड (मयकर) है और वह मगधानक विप ही उसका भगान् कह है तब उसके कारण मेरे निहारका स्थान मगुनाची भी धुंकि हो गयी है, तब मगधान् श्रीकृष्ण अपनी कमरका फेंटा कसकर एक बहुत ऊँचे कमरके वृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे तब ठेंककर उस विपैले जलमें कूद पड़ ॥ ६ ॥ मगुनाचीका जल सौँके विपके कारण फूलेसे ही खींच रहा था । उसकी तरङ्गें खल-पीछी और क्षणत मयङ्कर उठ रही थी । मुझोतम भगान् श्रीकृष्णके कूद पड़नेसे उसका जल और भी उछलने लगा । उस समय तो कालियदहमे जल हकर उकर खलज्जर बार सौ हस्तक फैल गया । कल्पित जलान्त बल्लाखी भगान् श्रीकृष्णके लिये इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ७ ॥ प्रिय परीक्षित । मगधान् श्रीकृष्ण कालियदहमें कूदकर बहुत बल्लप्रवृत्ति मत्वाले गजराजके सम्मन जल उछलने लगे । इस प्रकार जल-क्रीडा करनेपर उनकी मुजाबोंकी टकरासे जलमें बड़े जोरका हाव होने लगा । आँखसे ही सुननेवाले कल्पित नागने वह आवाज सुनी और देख कि कोई मेरे निकट-स्थानका निरस्तकर कर रहा है । उसे यह सहन न हुआ । वह विह्वल भगान् श्रीकृष्णके सामने आ गया ॥ ८ ॥ उसने देख कि सामने एक सौँक्य-सज्जना बाळक है । बर्षाकालीन मेघके सम्मन क्षणत सुषुम्बर शरीर है, उसमें क्षमतर आँखें हटनेका नाम ही नहीं लेती । उसके कण्ठ स्वप्नर एक सुनहली रेखा—धीरस्तका चिह्न है और वह पीछे रंगतर लक्ष धारण किये हुए है । बड़े मधुर एवं मनोहर मुखपर मन्द-मन्द मुसकान क्षणत शोभास्पद हो रही है । चरण इतने सुषुमार और सुन्दर हैं, मानो वसन्तकी गरी हो । इतना आकर्षक रूप होनेपर भी जब कात्रिय भागने देखा कि बाळक तनिब भी था बरकर इस विपैले जलमें मौजमे खेल रहा है, तब उसपर कोप और भी बढ़ गया । उसने श्रीकृष्णको सम्मनानेमें ईंसकर

त नागभागपरिबीतमदृष्टचेष्ट

मालोक्य तत्रिप्रयसस्ताः पशुपा भृशार्ताः ।

कृष्णोऽपितास्मसुहृदर्थकलत्रकामा

दुःस्वातुल्योक्तभयमूढभियो निपेतुः ॥१०॥

गाधोद्वा बत्सतर्षः कन्दमानाः सुदुःखिता ।

कृष्णे न्यस्तोद्भवा भीता क्लृप्त एव तस्मिन् ॥११॥

अथ ब्रजे महात्यातास्त्रिविधा कतिदाकृष्णाः ।

उत्पेतुर्मुषि दिव्यात्मन्वासकभयशंसिनः ॥१२॥

तानालक्ष्य भयोद्विष्टा गोपा नन्दपुरोगमा ।

विनारामेण गाः कृष्णं ह्यात्मा चारयितुं गतम् ॥१३॥

तैर्दुर्निमित्तैर्निधन मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।

तत्राणालम्बनस्कास्ते दुःस्वप्नोक्तभयातुराः ॥१४॥

भाशालवृद्धवनिता सर्वेऽङ्ग पशुहृत्पथ ।

निग्राहगोङ्कलाद्दीना कृष्णदर्शनकालसाः ॥१५॥

तांस्तथा कातरान् बीह्व भगवान् माभयो बलः ।

प्रदत्त किञ्चिन्मोक्षाय प्रमादज्ञानुबलस्य सः ॥१६॥

तेऽन्वेपमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदै ।

अपने शरीरके वन्धनसे उन्हें जकड़ दिया ॥१॥ भगवान् श्रीकृष्ण नागशाशने बँधकर निःशेष हो गये । यह देखकर उनके प्यारे सम्बन्धियों का बहुत ही पीड़ित हुए और उसी समय दुःख, पश्चात्ताप और भयसे मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । क्योंकि उन्होंने अपने शरीर, सुहृद्, धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, भोग और कामनाएँ—सब कुछ भगवान् श्रीकृष्णको ही समर्पित कर रक्खा था ॥ १० ॥ गाय, बैट, बछिया और बड़बड़ दुःखसे डकड़ाने लगे । श्रीकृष्णकी ओर ही उनकी टकटकी बँध रही थी । वे डरकर इस प्रकार खड़े हो गये, माना रो रहे हों । उस समय उनकी शरीर झिल्ला-झोप्ला तक न था ॥ ११ ॥

इस ब्रजमें प्रस्थी, आकश और शरीरोंमें बड़ भयङ्कर भयङ्कर तीनों प्रकारके उर्रात उठ खड़े हुए जो इस बातकी सूचना दे रहे थे कि बहुत ही शीघ्र कोई अशुभ घटना घटनेवाली है ॥ १२ ॥ नन्ददास आदि गेयोंने पहले तो उन अशक्तोंको देखा और पीछेसे यह जाना कि आज श्रीकृष्ण बिना बख्शक ही गाय चराने चले गये । वे भयमे व्याकुल हो गये ॥ १३ ॥ वे भगवान्क प्रभाव नहीं जानते थे । इसीछिड़ उन अशक्तोंको देखकर उनके मनमें यह बात आयी कि आज तो श्रीकृष्णकी मृत्यु ही हो गयी होगी । वे उसी क्षण दुःख, शोक और भयसे आतुर हो गये । क्यों न हों, श्रीकृष्ण ही उनके प्राण, मन और सबकुछ जाये ॥ १४ ॥ प्रिय परिचित ! ब्रजके नाटक, वृद्ध और बियोंकर स्वभाव गेयों-जसा ही वास्तव्यपूर्ण था । वे मनमें ऐसी बात आन ही अत्यन्त दीन हो गये और अपने प्यारे दाहैयक दम्भकी उत्कट व्यक्ततासे बरझार धाँककर निःसृत पड़े ॥ १५ ॥ बन्धाम-जी स्वयं भगवान्क स्वरूप और मन्त्रालिमन् हैं । उन्होंने जब ब्रजवासियोंको इतना घनतर और इतना आतुर किया, तब उन्हें हँसी आ गयी । परन्तु वे कुछ बोले नहीं, चुप ही रहे । क्योंकि वे जानते छाने मात्र श्रीकृष्णक प्रभाव मर्यादावि जानते थे ॥ १६ ॥ ब्रज-वासी अपने प्यारे श्रीकृष्णक हँसने लगे । बड़ अधिक कठिनाई भ हुई क्योंकि मागमें उन्हें भगवान्क चरणचिह्न

भगवत्सङ्गैर्जगमुः पदम्भा यमुनातटम् ॥१७॥

ते तत्र तत्रान्जयबाहुशानि

अधोपपन्नानि पदानि विष्णुतेः ।

मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे

निरीक्षमात्मा ययुरङ्ग सत्तराः ॥१८॥

अन्तर्द्वे सुखमोगपरीवमारात्

कृष्णं निरीहमुपलम्ब जलाशयान्ते ।

गोपांश्च मूढधिपणान् परितः पशून्

संक्रान्तः परमकर्ममलमापुरार्ताः ॥१९॥

गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्पनन्ते

तत्सौहृदमित्तविलोकगिरः सरन्त्यः ।

प्रस्तेऽहिना प्रियतमे मृगदु खतताः

शून्यं प्रियमपतिद्वतं ददृशुस्त्रिलाकम् ॥२०॥

ताः कृष्णमातरमपत्यमनु प्रविष्टां

तुल्यवन्धवाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।

ताम्ना प्रजप्रियकथा कथयन्त्य आसन्

कृष्णानन्तेऽर्पितदशा मृतकप्रतीकाः ॥२१॥

कृष्णप्राणान् निर्विशना नन्दादीन् धीरुप तद्वदम् ।

प्रप्यपधन्म भगवान् राधः कृष्णानुभावनिम् ॥२२॥

मिथसे आते थे । जो कर्म, अकुश आदिसे युक्त होनेके कारण उन्हें पक्षान होती जाती थी । इस प्रकार वे यमुना-तटकी ओर आने लगे ॥ १७ ॥

परीक्षित ! मार्गमें गौओं और दूसरोंके चरणचिह्नोंके बीच-बीचमें मगवान्के चरणचिह्न भी दीप्त आते थे । उनमें कर्म, जो, अकुश, वज्र और ध्वजाक चिह्न बहुत ही स्पष्ट थे । उन्हें देखते हुए वे बहुत शीघ्रसे चले ॥ १८ ॥ उन्होंने दूरसे ही देखा कि कर्मिण्ड्रमें कर्मिण्ड्र नागके शरीरसे बँचे हुए श्रीकृष्ण चेष्टाहीन हो रहे हैं । कुम्भके किनारेपर श्वात्मात् अवचेत हुए पड़े हैं और गौर, बैल, गधे आदि बड़े आर्तस्वरसे उफरा रहे हैं । यह सब देखकर वे सब गोप अस्सक्त व्याकुल और अन्तर्में दुर्लभ हो गये ॥ १९ ॥ गोपियोंका मन अनन्त गुणगानलिप्य भगवान् श्रीकृष्णके प्रेम्के रंगमें रंगा हुआ था । वे तो नित्य-निरन्तर भगवान्के सौहार्द, उनकी मधुर मुसकान, प्रेममयी कितवन तथा मीठी कान्तीकी ही स्मरण करती रहती थी । अब उन्होंने देखा कि हमारे प्रियतम श्वात्मात्तरके काने सौंपने जकड़ रक्खा है, सब तो उनके हृदयमें बसा ही हुआ और बकी ही अकल हुई । अपने प्राणकर्मज जीवनसर्वस्वके बिना उन्हें तीनों ओर सने दीखने लगे ॥ २० ॥ मत्ता कष्टान तो जाने लाइले अकले पीछे कर्मिण्ड्रमें कृष्णने ही जा रही थी, परन्तु गोपियोंने उन्हें पकड़ लिया । उनके हृदयमें भी बेसी ही पीड़ा थी । उनकी आँखोंसे भी आँसुझाँसी बगी लगी हुई थी । तपसी आँखें श्रीकृष्णके मुखकमलर लगी थी । बिनके शरीरमें चेतना थी, वे ब्रजभोजन श्रीकृष्णपरि पूजना-यव आदिकी प्यारी-प्यारी ऐश्वर्यकी लीलाएँ पढ़ करकर यशोदाजीके धीरज दौधाने लगी । किन्तु अभिज्ञता ता मुँहकी तरह पकड़ी गयी थी ॥ २१ ॥ परीक्षित ! नन्दाबापा आदिके जीवन प्राण मा श्रीकृष्ण ही थे । वे श्रीकृष्णक मिये कर्मिण्ड्रमें मृमने लगे । यह सबकर श्रीकृष्णका प्रभाव ज्ञाननेकाने भगवान् परमार्थ जीने किटीका समझा-मुझकर, किटीका मरुकर और किटीका उनर हृदयोंमें प्रणय करने गक मिया ॥ २२ ॥

इत्थ स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य

सखीकुमारमतिदुःस्वितमात्महेतोः ।

आम्नाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमान

स्वित्वा सुहृत्सुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥२३॥

तत्प्रवृत्तमानवपुषा न्यथितात्मभाग

स्त्यक्तवोभमम्य कुपितः स्वफणान् मुञ्चतः ।

तत्त्वौ स्वसम्पन्नमनन्त्रविषाम्बरीष-

स्तम्बेक्षणान्मुक्तमुत्सोहरिमीधमाण ॥२४॥

तं जिह्वा द्विद्विस्त्रया परिलेलिहान

द्वे सुक्विणी भक्तिकरालविपाग्निदष्टिम् ।

क्रीडन्मु परिस्सार यथा स्वगो-द्रो

बभ्राम साऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥

एवं परिभ्रमइतोऽसमुभ्रतांम

मानम्य तत्पुष्टिरः स्वधिरूढ आधः ।

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शतिष्ठः-

पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुर्ननर्त्त ॥२६॥

तं नर्तमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय

गार्धर्षसिद्धसुरधारणदेववधः ।

श्रीरत्या मृदङ्गवणवानकबाधगीत

पुष्पापहारनुविभिः महसोपसेदुः ॥२७॥

परीक्षित् । यह सौंपके शरीरसे बँध जाना ता
श्रीकृष्णकी मनुष्यों-जैसी एक लीज थी । जब उन्होंने
देखा कि नजके सभी लोग भी और वधोंके साथ मेरे
छिये इस प्रकार अत्यन्त दुखी हो रह हैं और स्वमुच
मेरे सिवा इनका कोई दूसरा सहारा भी नहीं है, तब वे
एक मुहूर्तक संपर्क सम्बन्धमें रहकर बाहर निकल
आये ॥ २३ ॥ मगान् श्रीकृष्णने उस समय अपना
शरीर पुष्टिकर गूँथ मोटा कर दिया । इससे सौंपका
शरीर टूटने लगा । वह अपना नागनाश छोड़कर अलग
सब हो गया और कोपसे आगवदूख हो अपने फण
ऊँचा करके पुष्करों मारने लगा । घात मिट्टे की
श्रीकृष्णपर चाट करनेके छिये वह उनकी ओर पकड़की
लगाकर देखने लगा । उस समय उसके नयनोंसे निम्की
पुझारें निकल रही थीं । उसकी आँखें स्थिर थीं और
इतनी अल-थल हो रही थीं, मानो मझीर तपस्य हुआ
कपडा हो । उसके मुँहसे आगकी लपटें निकल रही
थीं ॥ २४ ॥ उस समय कश्चित नाग अपनी दुहरी
जीम छपट्याकर अपन हाँठोंके दोनों किनारोंको चान
रहा था और अपनी कराख आँखोंसे निम्की आग उग-
लता जा रहा था । अपने बाहन गरुड़के समाम मगान्
श्रीकृष्ण उसके साथ लेखते हुए पैतरा बदलने लगे ।
और वह सौंप भी उनपर चोप करनेका दौब दलता
हुआ पैतरा बदलने लगा ॥ २५ ॥ इस प्रकार पैतरा
बदलते-बदलते उसका बड़ क्षीण हो गया । तब मगान्
श्रीकृष्णने उसके बड़-बड़ सिरोंको तलिक त्याग दिया और
उछलकर उनपर सवार हो गये । कश्चित नागक मस्तकों
पर बहुत-सी छात्र-छात्र मणियों थीं । उनका स्पर्शसे
मगान्के सुकुमार तलुओंकी छत्रिम् और भी बड़
गयी । तत्पश्चात् आनि समस्त वधोंके आनिप्रवर्तन
मगान् श्रीकृष्ण उसके सिरोंके कपटूर्य नृत्य करने
लगे ॥ २६ ॥ मगान्के प्यारे मठ गन्धर्व, सिद्ध,
देवता चरण और देवनागाओंने जब देखा कि मगान्
नृत्य करना चाहते हैं, तब वे बड़ प्रेम मृदङ्ग, डोर,
नगारे आनि बाजे बजाते हुए, सुन्दर-सुन्दर गीत गाते
हुए पुष्पोंकी बर्रा करते हुए और अनेकाने निष्पन्न
करते हुए मठ स-लेपर उसी समय मगान्के पास आ

यद् यच्छिरा ननमतोऽङ्ग श्रुतैकशीर्ष-

स्तत्तन् ममदं स्वरदण्डभरोऽङ्गप्रियातैः ।

धीणापुपो भ्रमत उद्वेगमासतोऽमुक्

नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥२८॥

तंसाधिमिर्गालमुद्रमतः शिरस्सु

यद् यद् मधुममति नि श्रमसो रुपोष्णैः ।

नृत्यन् पदानुनमयन् दमबाम्भभूष

पुष्पैः प्रपञ्चित इवेह पुमान् पुराणः ॥२९॥

तच्चित्रताण्डवविरम्भफल्पातपत्रो

रक्त भूस्तेरु वमन् नृप भग्नगात्रः ।

संस्था चराचरशुर्ग पुरुषं पुराण

नारायणं तमरुणं मनसा जगाम ॥३०॥

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्न

पार्थिवप्रहारपरिरुग्गफणातपत्रम् ।

दृष्टादिमाद्यमुवसेदुरमुष्य पान्य

भार्ताः स्रग्दसनभूषणकेतवन्धाः ॥३१॥

तान् सुविग्नमनमाऽथ पुरस्कृतार्माः

काय निधाय सुवि मृतपतिं प्रणेषुः ।

साध्व्यः कृताञ्जलिपुत्राः क्षमलस्य भर्तु

मार्थप्लवः गणद क्षरणं प्रपद्या ॥३२॥

मागपाम्भ उजुः

न्याप्या दि दण्डः कृतकिसिष्यपक्षि

मृतावतारः स्वल्पनिग्रहाय ।

पहुँचे ॥ २७ ॥ परीक्षित् । कत्रिय नागके एक सौ ए
सिर थे । वह अपने जिस सिरको नहीं छुकरा पा
उसीको प्रचण्ड दण्डधारी भगवान् अपने पैरोंकी चोटों
कुचड़ डालते । इससे कत्रिय नागकी जीवनशक्ति क्षी
हो गयी, वह मुँह और नधुनोंसे मृत उगजने लगा
अन्तमें चकराकर मरने-मरने वह बेहोश हो गया ॥ २८ ॥
तनिक भी वेग होता तो वह अपनी आँखोंसे बिना लग
कर लगा और कोवके मारे ओर-ओरसे फुसकारें मारें
लगाता । इस प्रकार वह अपने सिरोंमेंसे जिस सिरकें
ऊपर उठाता, उसीको नाचते हुए भगवान् भीक्षुओं पर
चरणोंकी ओरसे छुवकर रौंद डालते । उस सम्प
पुराण-मुरलीमत्त भगवान् भीक्षुओंके चरणोंपर जो स्तकी
हैं पक्षी की, उनसे ऐसा मधुम होता, मनो रक्त
पुणोंसे उनकी पूजा की जा रही हो ॥ २९ ॥ परीक्षित्
भगवान्के इस अद्भुत ताण्डव-नृत्यसे पार्थिकोंके मनका
छत्त छिन्न-भिन्न हो गये । उसका एक-एक अङ्ग चूर
चूर हो गया और मुँहसे मूत्रकी उन्नी होने लगी । अ
उसे सारे अत्यन्त आश्चर्यचकित पुराणपुरुष भगवान्
नारायणजी स्मृति हुई । वह मन-ही मन भगवान्की
शरणमें गया ॥ ३० ॥ भगवान् भीक्षुओंके उतरमें सम्पूर्ण
विश्व है । इसलिये उनका भरी बाहसे कत्रिय नागक
शरीरकी एक-एक गौंठ खींची पड़ गयी । उनकी पक्षियों
की चोटसे उसके छत्रके समान पण छिन्न-भिन्न हो गये ।
अपने पत्नीकी यह दशा देखकर उसकी पत्नियाँ भगवान्
की शरणमें आयीं । वे अत्यन्त आतुर हो रही थीं ।
यहके मरे उनके बलाभूषण अस्त्र-व्यस्त हो रहे थे और
केलाकी चापियों भी बिम्बर रही थीं ॥ ३१ ॥ उन सम्प
उन साध्वी मागपस्त्रियोंके चित्तमें बड़ी घबड़ाहट थी ।
अपने माययंत्रों आगे बढक वे धृष्टीपर चले गयीं और
हाथ जोड़कर उन्होंने समस्त प्राणियोंके पदमात्र स्नायी
भगवान् भीक्षुओंसे प्रणाम किया । भगवान् भीक्षुओंसे
शरणार्थक-व्यस्त अमकर जाने असाधनी पतिव्रते सुसने
की दृष्टिसे उन्होंने उनकी शरण प्रणम की ॥ ३२ ॥
मागपस्त्रियोंके कदा—प्रभा । आपका यह अवनार
ही दृष्टिसे दण्ड उनके किये हुआ है । इसलिये इस
अवतारका दण्ड जना सर्वथा उचित है । आपकी इतिमें



भगवान् भीष्मपुत्रं भरतेश्वरं आ गच्छन्ती धूम्रपत्नी थीं, उनसे मादृग होता, माने स्वकुसुमासे उगती गुला भी आ रही हो।
[पृष्ठ १४९]

भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥३९॥

ज्ञानविज्ञाननिधये प्रज्ञणेऽनन्तशक्तये ।

अगुणापाधिकाराय नमस्तुऽप्राकृताय च ॥४०॥

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।

विधाय तदुपद्रष्टृ तत्कर्त्रे विद्यहेतवे ॥४१॥

भूतमात्रनिद्रप्रप्राप्तमनोबुद्धयाशयारमणे ।

त्रिगुणनाभिमानेन गूढम्भात्प्राप्तुभूतये ॥४२॥

नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।

नानाबादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥४३॥

नमः प्रमाणमूलाय कचये आश्रयोनये ।

प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥४४॥

नमः कृप्याय रामाय वसुदेवसुताय च ।

कण्ठोंमें विराजमान होनेपर भी अनन्त हैं । आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंके आश्रय तथा सब प्राणिकों के स्थान भी विद्यमान हैं । आप प्रकृतिसे परे स्वयं परमेश्वर हैं ॥ ३९ ॥ आप सब प्रकारके ज्ञान और अनुभूतियोंके स्वप्नाने हैं । आपकी महिमा और शक्ति अनन्त है । आपका स्वरूप अप्राकृत—दिव्य चिन्मय है, प्राकृतिक गुणों एवं विकारोंका आप कभी स्पर्श ही नहीं करते । आप ही ब्रह्म हैं । हम आपको नमस्कार कर रही हैं ॥ ४० ॥ आप प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले कहल हैं, कर्मफलके आश्रय हैं । और कलके क्षण-कल्प आदि समस्त अवयवोंके साक्षी हैं । आप विद्यरूप होते हुए भी उससे अलग रहकर उसके दृष्ट हैं । आप उसके बनानेवाले निमित्त कारण तो हैं ही, उसके रूपमें बननेवाले उपद्रवकारण भी हैं ॥ ४१ ॥ प्रभो ! पञ्चभूत, उनकी तन्मात्राएँ, इन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि और इन सबका स्वभाव चित्त—ये सब आप ही हैं । तीनों गुण और उनके कर्णोंमें होनेवाले अभिमानके द्वारा आपने अपने साम्राज्य के जिया रक्खा है ॥ ४२ ॥ आप देश, काल और वस्तुओंकी सीमासे बाहर—अनन्त हैं । सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और कार्य-कारणोंके समस्त विकारोंमें भी एकतरफ, विकाररहित और सर्वज्ञ हैं । ईश्वर हैं कि नहीं हैं, सर्वज्ञ हैं कि अज्ञ हैं इत्यादि अनेक मतभेदोंके अतुल्य आप उन-उन मतप्रदियोंको उन्हीं-उन्हीं रूपोंमें दर्शन देते हैं । समस्त शब्दोंके अर्थके रूपमें तो आप हैं ही, शब्दोंके रूपमें भी हैं तथा उन दोनोंका सम्बन्ध जोड़ने वाली शक्ति भी आप ही हैं । हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४३ ॥ प्रत्यक्ष अनुमान अग्नि जितने भी प्रमाण हैं, उनको प्रमाणित करनेवाले मूल आप ही हैं । समस्त शक्त आपसे ही निकले हैं और आपका ज्ञान स्वतः सिद्ध है । आप ही मनको छात्रनेकी विविध रूपों और उसको सब कहीसे दृष्ट भेदनेकी आकाशके रूपों प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग हैं । इन दोनोंके मूल केन्द्र भी स्वयं आप ही हैं । हम आपको बार-बार नमस्कार करती हैं ॥ ४४ ॥ आप सुखसहस्रमय वसुदेवके पुत्र वासुदेव, सत्कर्षण एवं प्रभुम्न और जगन्निद्र भी हैं । इस प्रकार अतुल्यरूपके रूपमें आप भक्तों तथा शरणार्थियोंके स्वामी हैं । श्रीकृष्ण । हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४५ ॥

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मन्मन्त्रनाथ च ।

गुणवृक्षपुलक्याय गुणद्वये स्वमन्त्रिदे ॥४६॥

अन्याकृतविहाराय सर्वभ्याकृतसिद्धये ।

ह्रींकोश नमस्तेऽस्तु मनये श्रीनखीलिले ॥४७॥

परावरगतिहाय सर्वाङ्गिधाय ते नमः ।

अभिधाय च विधाय तद्वृक्षेऽस्य च हेतवे ॥४८॥

स्व ह्यस्व कर्मस्वितिसयमान् प्रमो

गुर्परनीहोऽकृतकालशक्तिवृक्ष् ।

वचस्वमावान् प्रतिबोधयन् सतः

समीक्ष्यमोक्षविहार ईहते ॥४९॥

तस्यैव तेऽमृस्तनवस्त्रिकोक्या

क्षान्ता अक्षान्ता तत मूढयोनयः ।

क्षान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनाविर्भु सतां

स्वातुष ते धर्मपरोपस्येहस ॥५०॥

अपराधः सकृद्भर्त्ता सोढम्यः स्वप्रभाकृतः ।

धन्तुमर्हसि क्षान्तस्मन् मूढस्य स्वामजानत ॥५१॥

अनुगृहीत्वा भगवन् प्राणास्त्रयति पक्षयः ।

आप अन्त करण और उसकी वृत्तियोंके प्रकाशक हैं, और उन्हींके द्वारा अपने-आपको ढक रखते हैं । उन अन्त करण और वृत्तियोंके द्वारा ही आपके स्वरूपका कुछ-कुछ संकेत भी मिश्रित है । आप उन गुणों और उनही वृत्तियोंके साक्षी तथा स्वयंप्रकाश हैं । हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४६ ॥ आप मूढप्रवृत्तिमें लिप्त विहार करते रहते हैं । समस्त स्थूल और सूक्ष्म ब्रह्मकी मिद्धि आपसे ही होती है । ह्रींकोश ! आप मननशील आत्माराम हैं । मौन ही आपका स्वभाव है । आपको हमारा नमस्कार है ॥ ४७ ॥ आप स्पष्ट, सूक्ष्म समस्त गणियोंके ज्ञाननेवाले तथा सबके साक्षी हैं । आप नामरूपात्मक विश्वप्रपञ्चके नियवकी अवधि तथा उसके अविघ्न होनेके कारण विश्वरूप भी हैं । आप विश्वके अन्ततः तथा अपवादके साक्षी हैं एवं अज्ञानके द्वारा उसकी सत्त्वप्रभ्रान्ति एवं स्वरूपज्ञानके द्वारा उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिके भी कारण हैं । आपको हमारा नमस्कार है ॥ ४८ ॥

प्रमो ! यद्यपि कर्तापि न होनेके कारण आप कोई भी कर्म नहीं करते, निष्क्रिय हैं—तथापि अन्तर्निःकण्ठ्याक्तिको स्वीकार करके प्रत्येक गुणोंके द्वारा आप इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रणयकी लीज करते हैं । क्योंकि आपको स्वीकार्य अमोघ हैं । आप सत्य सङ्कल्प हैं । इसलिये जीवोंके संस्काररूपसे छिपे हुए स्वभावोंके अपनी दृष्टिसे ज्ञापित कर देते हैं ॥ ४९ ॥ त्रिकोटीमें तीन प्रकारकी योनियाँ हैं—सत्त्वगुणप्रधान शान्त, रजोगुणप्रधान अशान्त और तमोगुणप्रधान मूढ । ये सबकी-सब आपकी वीर्यमूर्तियाँ हैं । फिर भी हम समय आपको सत्त्वगुणप्रधान शान्तजन ही विशेष प्रिय हैं । क्योंकि आपको यह अन्तार और ये वीर्यार्थ साधुजनोकी रक्षा तथा धर्मकी रक्षा एवं बिलारक प्रिये ही हैं ॥ ५० ॥ शास्त्रात्मन् ! स्वामीको एक बार अपनी प्रकाश शक्तिको सक्रिय करना चाहिये । यह मूढ़ है, आपका प्रकाशना नहीं है, इसलिये इसे क्षम कर दीजिये ॥ ५१ ॥ भगवन् ! कुछ वीर्यप्रिये अब यह सर्प मनेर्हीवाण है । साधु पुरुष समाप्ते हैं । हम अवयवजोष न्या करते आये

रियोः सुतानामपि तुल्यदृष्टं

धत्ते दम फलमेवानुक्षमन् ॥३३॥

अनुग्रहाऽय भवतः कृता हि नो

दण्डाऽसतां त स्तु कल्मषापहः ।

यद् दन्दशूक्यममुष्य देहि न

क्राधाऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥३४॥

तः सुतर्पं किमनेन पूर्वं

निरस्तमानेन च मानदेम ।

धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया

यथा भवांस्तुप्यति सर्वर्क्षाषः ॥३५॥

कस्तानुमावोऽस्य न देव विद्महे

वराहिरण्युस्पर्शाधिकारः ।

याम्बुजा धीर्लज्जनाऽऽचार्यस्यो

विद्वाय कामान् सुचिर धृतवता ॥३६॥

न नाकपुष्टं न च मार्चभीमं

न पारमेष्ठ्य न रमाधिपरम् ।

न वागविदीरपुनर्मथ वा

वाम्बुजानि वरपादरत्न प्रवक्षा ॥३७॥

वदथ नाथाप दुर्गापमन्यै

स्तमोजनिः क्रोधवशाऽप्यहीशः ।

संसारचक्र भ्रमणः क्षीरिणो

यदिच्छतः स्याद् विभवः समस्तः ॥३८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महारमने ।

शत्रु और पुत्रका कोई भेदभाव नहीं है । इसीसे आप जो किसीको दण्ड देते हैं, वह उसके पापोंका प्रायश्चित्त बनाने और उसका परम कल्याण करनेके लिये ही ॥ ३३ ॥

आपने हमयोगीपर यह वक्ता ही अनुग्रह किया । यह तो आपका कृपा प्रसाद ही है । क्योंकि आप जो दुष्टोंको दण्ड देते हैं, उससे उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

इस सर्पके अपराधी होनेमें तो कुछ संदेह ही नहीं है । यदि यह अपराधी न होता, तो इसे सर्वत्र यानि ही क्यों मित्सी ? इसीसे हम सच्चे हृदये आपके इस कोकरो भी आपका अनुग्रह ही समझती हैं ॥ ३४ ॥

अवश्य ही पूर्वजन्ममें इसने स्वयं मानवहित होकर और दूसरोंका सम्मान करते हुए कोई बहुत बड़ी तपस्या की है । अपना सब जीवोंपर दया करते हुए इसने कोई बहुत बड़ा धर्म किया है । तभी तो आप इसका ऊपर सम्मुख हुए हैं । क्योंकि सर्व-जीवस्वरूप आपकी प्रसन्नताका यही उपाय है ॥ ३५ ॥

भगवान् ! हम नहीं समझ पाती कि यह इसकी निम्न साधनाका फल है, जो यह आपके चरणक्रममें ही बहुत दूर पानेका अधिकारी हुआ है । आपके चरणोंकी रत्न इतनी दुर्लभ है कि उसके लिये आपकी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीजीसे भी बहुत निम्नोत्तम समस्त मागोंका त्याग करके निपमोक्ष पात्रन करते हुए तपस्या करनी पड़ी थी ॥ ३६ ॥

प्रभो ! जो आपके चरणोंकी धूलिकी शरण लज्जते हैं, वे भक्तजन स्वर्गका राज्य या पृथ्वीकी बरतगाही नहीं चाहते । न वे रत्नमय का ही राज्य चाहते और न तां प्रसन्नता का ही स्नेहा चाहते हैं । उन्हें अगिम्पति पाप-सिद्धियोंकी भी चाह नहीं होती ।

ज्योंकि वे नम-मृत्युमें सुझानेवाले वैभव-मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते ॥ ३७ ॥ स्वामी ! यह नामगान तथागुणी योगिनिं उत्पन्न हुआ है और अत्यन्त कर्त्री है । निर भी इसे आपकी यह परम पवित्र चरणरत्न प्राप्त हुए, जो दूसरोंके लिये सर्वत्र दुर्लभ है ; तथा जिसका प्राप्त करनेकी इच्छाक्रमे ही संग्रहणमें पड़ हुए जीवको संसारक वैभव-सम्पत्तिरी तो बन ही

क्या—मोक्षकी भी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३८ ॥

प्रभो ! हम अत्यन्त प्रसन्न करती हैं । आप अनन्त एवं अक्षित्य केन्द्रके नियन्त्रि हैं । आप सर्वत्र ज्ञान

भूतावासाय भूताय पराय परमारमने ॥३९॥

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।

अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥४०॥

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।

विश्वाय तदुपद्रष्टृ तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥४१॥

भूतमात्रेन्द्रियप्राप्तमनाबुद्ध्याश्चकारमने ।

त्रिगुणनाभिमानेन गूढस्थारमानुभूतये ॥४२॥

नमोऽनन्ताय सूर्याय कूटस्थाय विषभिते ।

नानावादानुरोधाय वाग्म्याय कलशक्तये ॥४३॥

नमः प्रमाणमूलाय कश्यपे क्षात्रायोनये ।

प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥४४॥

नमः कृष्णाय रामाय बसुदेवसुताय च ।

प्रमुग्धायानिरुद्धाय सात्वर्ताय पतये नमः ॥४५॥

कर्णोंमें निराश्रय होनेपर भी अनन्त हैं । आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंके व्याघ्रय तथा सब पदार्थके रूपमें भी विश्वमान हैं । आप प्रकृतिसे परे स्वयं परम्पर हैं ॥ ३० ॥ आप सब प्रकारके ज्ञान और अनुभवोंके धजाने हैं । आपकी महिमा और शक्ति अनन्त है । आपका स्वरूप अप्राकृत—दिन्य चिन्मय है, प्राकृतिक गुणों एवं विकारोंका आप कभी स्पर्श ही नहीं करते । आप ही सत्य हैं, हम आपको नमस्कार कर रही हैं ॥ ४० ॥ आप प्रकृतिमें खोम उदग्मन करनेवाले काल हैं, कलशक्तिके आश्रय हैं । और कालके छण-करूप आदि समस्त अन्तर्गतके सत्त्वही हैं । आप विश्वरूप होते हुए भी उससे भिन्न रहकर उसके द्रष्टा हैं । आप उसके बनानेवाले निमित्त-कारण तो हैं ही, उसके रूपमें बननेवाले उपादानकारण भी हैं ॥ ४१ ॥ प्रभो ! पञ्चभूत, तमकी तन्मात्राँ, इन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि और इन सबका सज्जाना चित्त—ये सब आप ही हैं । तीनों गुण और उनके कर्मोंमें होनेवाले अस्मिमानके द्वारा आपने अपने साक्षात्कार को छिपा रक्खा है ॥ ४२ ॥ आप देव, काल और वस्तुओंकी सीमासे बाहर—अनन्त हैं । सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और कर्ष-कारणोंके समस्त विकारोंमें भी एकजट, विकारहित और सर्वज्ञ हैं । ईश्वर हैं कि नहीं हैं, सर्वज्ञ हैं कि अज्ञान इत्यादि अनेक मतभेदोंके अनुसार आप उन-उन मतवादियोंको उन्ही-उन्ही रूपोंमें दर्शन देते हैं । समस्त शब्दोंके अर्थके रूपमें तो आप हैं ही, शब्दोंके रूपमें भी हैं तथा उन दोनोंका सम्मिश्र जोड़ने-आन्धी शक्ति भी आप ही हैं । हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४३ ॥ प्रत्यक्ष अनुमान आदि बितने भी प्रमाण हैं, उनको प्रमाणित करनेवाले मूल आप ही हैं । समस्त शक्त आपसे ही निकले हैं और आपका ज्ञान स्वन सिद्ध है । आप ही मनको उदग्मनेकी विधिके रूपमें और उत्कर्ष सब कहींसे हटा देनेकी आह्वानके रूपमें प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग हैं । इन दोनोंके मूल वेद भी स्वयं आप ही हैं । हम आपको बार-बार नमस्कार करती हैं ॥ ४४ ॥ आप शुद्धसत्त्वमय बसुदेवके पुत्र पासुदेव, साङ्ख्य एवं प्रमुग्ध और अनिरुद्ध भी हैं । इस प्रकार चतुर्भुजके रूपमें आप भक्तों तथा यात्रियोंके स्वामी हैं । श्रीकृष्ण ! हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४५ ॥

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।

गुणशृङ्खलास्याय गुणव्रत्ते स्वमविदे ॥४६॥

अम्पाकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।

हृषीकेश नमस्तेऽस्तु धनये यौनशीलने ॥४७॥

पराशरगतिहाय सर्वाङ्गसाय ते नमः ।

अविभाय च विश्वाय तद्ब्रह्मेऽस्य च हेतवे ॥४८॥

स्व सस्य अमस्यितिसयमान् प्रमो

गुणरतीहोऽकृतकालशक्तिवृक्ष् ।

तत्तत्स्यमावान् प्रतिबोधयन् सतः

ममीदृश्यामोषविहार ईदृसे ॥४९॥

तत्सर्वं तदमृत्तनवस्त्रिलाकषां

शांता अशान्ता उत मूढबोनय ।

गान्ता प्रियास्तं बाधुनाविभु मतां

स्यातुष्य ते धर्मवरीप्ययेदतः ॥५०॥

मपराधः मकदुर्भर्षा साङ्ग्यः स्वप्रसाकृतः ।

धन्तुर्मरिमा गान्तात्मन मूढस्य स्वामज्जनत ॥५१॥

मनुर्गृहीप्य भगवन् प्राणास्मिन्निति पद्मम् ।

आप अस्त करण और उसकी वृत्तियों प्रवराक हैं, और उन्होंने द्वारा अपने-आपको दक रखते हैं । उन अस्त करण और वृत्तियोंके द्वारा ही आपके स्वम्पाकृत कुल संकेत भी मिलता है । आप उन गुणों और उनकी वृत्तियोंके साक्षी तथा स्वप्रवराक हैं । हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४६ ॥ आप मूर्खवृत्तिमें निरप विह्वल करते रहते हैं । समस्त स्थूल और सूक्ष्म जगत्की सिद्धि आपसे ही होती है । हृषीकेश ! आप मननशील आत्मराम हैं । मीन ही आपको स्वमाय है । आपको हमारा नमस्कार है ॥ ४७ ॥ आप स्थूल, सूक्ष्म समस्त वृत्तियोंके ज्ञानेवाचे तथा सत्त्व साक्षी हैं । अथ नामरूपरूपक विद्यप्रपादके नियंत्रक अथवा तथा उसके अग्रिम ज्ञानके कारण विद्यारूप भी हैं । आप विद्यक अथवा तथा अक्वादके साक्षी हैं एवं अज्ञानक द्वारा उसकी सत्त्वभ्रान्ति एक स्वम्पाकृतक द्वारा उसकी शैत्यन्तिक निवृत्तिके भी कारण हैं । आपको हमारा नमस्कार है ॥ ४८ ॥

प्रमो ! यद्यपि कर्तापि न होनेके कारण आप कोई भी कम नहीं करते, निष्क्रिय हैं—तथापि अनादि कायार्थादिकों स्वीकार करके प्रमो के गुणोंके नाग आप इस विषयकी उत्तरति, स्थिति और प्रवराक की प्रवराक हैं । क्योंकि आपको हीगर्भ अमोष है । आप मन्त्र सङ्कल्प हैं । इसविषये जीवोंक मन्त्राङ्गणसे छिपे हुए स्वम्पाकृतके अपनी दृष्टिमें प्राप्त कर लते हैं ॥ ४९ ॥ विचारमें तीन प्रकारकी धारणा है—मत्स्यगुणप्रधान शान्त, राजागुणप्रधान अशान्त और तमागुणप्रधान मूढ । वे सब शरीरमय अथवा शरीरमूर्तियों हैं । फिर भी इन समय आपको सत्त्वगुणप्रधान शान्तजन ही विशेष प्रिय हैं । क्योंकि आपको यह अज्ञान और यथार्थ मानुजना की रक्षा तथा धर्मकी रक्षा एवं विस्तारक विषये ॥ ५० ॥ गान्तामन् 'स्वमीश्वर' पर कर अपनी प्रजापति जगत्पति मूढ तथा धारणा । पर मूढ है, आपकी प्रवराकता नहीं है इसविषये हमें आपकी परीक्षा ॥ ५१ ॥ मन्त्र 'शुभ' कीविषय अथवा मन्त्र मन्त्रेणरत्न है । मातु पुराणमें ही हम भवम्पाकृतक मन्त्र परने अने

स्त्रीणां नः साधुशोभनानां पतिः प्राण प्रदीयताम् ।

विषदि ते किङ्करीणामनुष्ठप तवाश्रया ।

बभ्रूदयानुतिष्ठन् न मुच्यते सप्ततामसात् ॥५३॥

भीमक उवाच

इत्थ स नागपत्नीभिर्मयवान् समभिपुष्टः ।

सृष्टिर्त भमश्चिरत् विवसर्वाश्चिद्वनैः ॥५४॥

प्रसिद्धचेन्द्रियप्रापः कालियः क्षनकैहरियु ।

कृच्छ्रत् सप्तसूत्रसन्दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥५५॥

वयं स्वलाः सङ्गोत्पत्ता तामसा दीर्घमन्यवः ।

स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसत्प्रहः ॥५६॥

त्वया सुष्टमिदं विषं धातुर्गुणविषम्वनम् ।

नानास्वभावकीर्यान्नीयोनिबीजास्तुमाकृति ॥५७॥

वयं च तत्र भगवन् सपा आत्युरुमन्यव ।

कथत्यनामस्त्रमावां दुस्त्यजामोदिताः स्वयम् ॥५८॥

भवान् दि करणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।

जनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तव विधेहि नः ॥५९॥

भीमक उवाच

इत्याकर्ण्य बन्धः प्राह भगवान् कार्यमातुष ।

नात्र स्येय त्वया सर्पं सद्ग्रहं याहि माचिरम् ।

हैं । अत आप हमें हमारे प्राणस्वरूप पतिदेवको दे दीजिये ॥ ५२ ॥ हम आपकी दासी हैं । हमें आप आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करें ? क्योंकि जो शत्रुके साथ आपकी आज्ञाओंका पालन—आपकी सेवा करता है, वह सब प्रकारके भयोंसे सुखकाष्ठ का लक्ष्य है ॥ ५३ ॥

भीमकदेवकी कहते हैं—परिश्रु । मगधके चरणोंकी ठाकरोंसे काश्चि नागके फण छिन्न-भिन्न हो गये थे । वह केवल हो रहा था । जब नागपत्नियोंने इस प्रकार मगधान्त्री स्तुति की, तब उन्होंने दण्ड करके उसे छत्र लिया ॥ ५४ ॥ धीरे-धीरे काश्चि नागकी इन्द्रियों और प्राणोंमें कुछ-कुछ चेतना आ गयी । वह बड़ी कठिनतासे वास लेने लगा और पोकी देरके बाद बड़ी दीनतासे हाथ जोड़कर मगधान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोला—॥ ५५ ॥ नाथ ! हम जन्मसे ही दुष्ट, तमागुणी और बहुत निरर्थक माने जाते हैं । हमें बड़ा भेदभाव बड़े क्रोधी क्षीण हैं । जीवोंके भिये अपना स्वभाव छोड़ देना बहुत कठिन है । इसीके कारण संसारके क्षेम नाना प्रकारके दुःखोंमें फँस जाते हैं ॥ ५६ ॥ विचित्रवृत्ता ! आपने ही गुणोंके भेदसे इस जगत्में नाना प्रकारके स्वभाव, वीर्य, कष्ट, यासि, पीडा, चिन्ता और आकृतियोंका निर्माण किया है ॥ ५७ ॥ मगध ! आपकी ही सृष्टिमें हम सर्प भी हैं । हम जन्मसे ही बड़े क्रोधी होते हैं । हम इस मायाके चक्करमें स्वयं मोहित हो रहे हैं । फिर अपने प्रपञ्चसे इस दुस्त्यज मायाका त्याग कैसे करें ॥ ५८ ॥ आप सर्वज्ञ और सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं । आप ही हमारा स्वभाव और इस मायाके कारण हैं । अब आप अपनी इच्छासे—जैसा ठीक समझे—कृपया दीजिये या दण्ड दीजिये ॥ ५९ ॥

भीमकदेवकी कहते हैं—काश्चि मगधकी बात सुनकर क्षीण-मन्य भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सर्प ! जब तुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये । तू अपने जाति—माई, पुत्र और स्त्रियोंके साथ शीघ्र ही यहाँसे समुद्रमें

सम्राट्पत्न्यदाराद्यो गोनुभिर्मुन्यता नदी ॥६०॥
 य एतत् समरं मर्त्यस्तुभ्य मदनुशामनम् ।
 कीर्तयन्तुभया सन्ध्योर्न्युपमवृभयमाप्नुयात् ॥६१॥
 योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रोडे देवादोस्तर्पयेज्जलैः ।
 उपोष्य मां सरभर्षेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६२॥
 द्वीपं रमणक हित्वा हृदयेऽसमुपाधित ।
 यद्भयात्समुपणस्त्वा नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम् ॥६३॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता कृष्णोनामुत्कर्षणा ।
 त पूजयामास मुदा नागपत्न्यथ साढरम् ॥६४॥
 दिव्याम्बरस्रक्वाणिभिः परार्च्यैरपि भूषणैः ।
 दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥६५॥
 पूजयित्वा जगन्माय प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।
 ततः प्रीतोऽभ्यनुष्ठातः परिक्रम्याभिवन्द्य च ॥६६॥
 सकलवसुहृत्पुत्रो द्वीपमन्वर्षगाम ह ।
 तदैव सामृतजला यमुना निर्विषामवत् ।
 अनुग्रहात् भगवतः क्रीडामानुषरूपिण ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्स्योऽसितान्तोऽष्टमस्कन्ध

पूर्वर्धे कालियमोक्षार्जुन नाम षोडशाऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

कालियक कालियदहमे भानकी कथा तथा भगवान्का प्रजपासिषोका बाधामलय पद्याना

राजायाच

राजा परीक्षितेन पूछा—भगवन् । कालियमात्र

नागालयं रमणं कम्पाद्यत्याज कालिय ।

मागेर निवासस्थान रमणक द्वीपक। कदो छोडा था !

इव किं या गुपणस्य तेन फनाममडामम् ॥ १ ॥

और उस जवहन ही गरुडकी पौन-मा अग्राध

धीमुक्त उवाच

उपहार्यं सर्वजनैर्मासि मासीह यो बलि ।
 वानस्पत्या महाबाहो नागानां प्राह् निरूपित ॥ २ ॥
 स्व स्व भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि ।
 गोपीयायात्मन मर्वे सुपर्णस्य महात्मने ॥ ३ ॥
 विषवीर्यमदाविष्टः काडवेयस्तु कालियः ।
 कर्दवीकृत्य गरुडं स्वयं तं द्रुमुजे बलिम् ॥ ४ ॥
 तच्छ्रुत्वा कुपिता राजन् भगवान् भगवत्प्रिय ।
 विजिवांसुर्महावेगः कालियं समुपाव्रवत् ॥ ५ ॥
 समापतन्तं तरसा विपायुधः
 प्रसम्भवाद्बुद्धितनैकमल्लकः ।
 दक्षिणं सुपर्णं च्छेदयत् दवायुध
 करालविह्वलसितोऽप्रलोचनः ॥ ६ ॥
 तं ताड्यपुत्रं तं निरस्य मन्युमानं
 प्रचण्डवेगा मधुसूदनासन ।
 पक्षेण सल्येन हिरण्यरोचिषा
 जघान कद्रुसुतसमुपबिभ्रमः ॥ ७ ॥
 सुपर्णपक्षाभिहतः कालिबोऽतीव विह्वलः ।
 ह्रदं विषेष्ट कालिन्यास्तदगम्य दुरासदम् ॥ ८ ॥

धीमुक्तवेद्यमीने कथा—परीक्षित ! पूर्वकालमें गरुडजीको उपहार स्वरूप प्राप्त होनेवाले सुपर्ण यह नियम कर लिया था कि प्रत्येक मासमें निर्दिष्ट वृश्चके नीचे गरुडको एक मण्डी में दे दी जाय ॥ २ ॥ इस नियमके अनुसार प्रत्येक अमावस्याको सारे सुपर्ण अपनी रक्षाके लिये महात्मा गरुडजीको अपना-अपना भाग देते रहते थे ॥ ३ ॥ उन सुपर्ण कद्रुका पुत्र कालिय माग अपने विष और बालक घमटसे मतवाला हो रहा था । उसने गरुडका तिरस्कार करके सब तो बलि देना दूर रहा—दूसरे सुपर्ण जो गरुडको बलि देते, उसे भी खा लेता ॥ ४ ॥ परीक्षित ! यह सुनकर भगवान्के प्यारे पार्षद शक्तिशाली गरुडको बड़ा क्रोध आया । इसलिये उन्होंने कालिय नागको मार डालनेके विचारसे बड़ वेगसे उसपर आक्रमण किया ॥ ५ ॥ विषकर कालिय नागने जब देखा कि गरुड बड़ वेगसे सुक्ष्मपर आक्रमण करने आ रहे हैं, तब वह अपने एक सौ एक पंख फैलाकर उसनेके धिये उनपर टूट पड़ा । उसके पास शस्त्र थे केवल दौत, इसलिये उसने दौतोंसे गरुडको बस लिया । उस समय वह अपनी मध्यवर्ती जीर्णें छपकपा रहा था, उसकी सौंसे छत्री चल रही थी और बाँधें बड़ी डरावनी जान पड़ती थी ॥ ६ ॥ तार्क्ष्यनन्दन गरुडजी त्रिभुवनात्मन्के बाहन हैं और उनका वेग तथा पराक्रम भी अनुबनीय है । कालिय नागकी यह छिछरई देखकर उनका क्रोध और भी बढ़ गया तथा उन्होंने उसे अपने शरीरसे छटककर फेंक दिया एवं अपने सुनहले बायें पंखसे कालिय नागपर बड़ जोरसे प्रहार किया ॥ ७ ॥ उनके पंखकी चाटसे कालिय मग्न घायल हो गया । वह घबड़ाकर वहाँसे मगा और यमुनाजीके इस कुण्डमें चला आया । यमुनाजीका यह कुण्ड गरुडके धिये अगम्य था । साथ ही वह इतना गहरा था कि उसमें दूसरे लोग भी नहीं जा सकते थे ॥ ८ ॥ इसी

१ वादरायणिकथा ।

● यह कथा इस प्रकार है—गरुडजीकी मरता कितना और लम्बी माला कद्रुमें परस्पर बेर था । माताका बेर सज्जन कर गरुडजी को सर्व मित्रता उम्मीदें पता चले । इससे व्याकुल होकर सब सुपर्ण गरुडजीकी शरणमें गये । तब गरुडजीने यह निश्चय कर दिया कि प्रत्येक अमावस्याको प्रत्येक सुपर्णपरिहार जारी-जारीसे गरुडजीको एक सुपर्ण बलि दिया करे ।

अथाष्टदशोऽध्यायः

प्रसम्भासुर उवाच

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णः परिवृतो द्वाविभिर्मुदितात्मभिः ।

अनुगीयमानो न्यविशद् ब्रजं गोष्ठलमण्डितम् ॥ १ ॥

ब्रजे विक्रीडतोरेव गापालच्छद्यमायया ।

ग्रीष्मो नामर्तुर्भवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् ॥ २ ॥

स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।

यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह फेष्टवः ॥ ३ ॥

यत्र निस्सरनिर्हादिनिवृत्तसनसिद्धिकम् ।

शश्वत्छ्रीकरजीपद्ममण्डलमण्डितम् ॥ ४ ॥

सरित्तरःप्रसवणोर्मिबाधुना

कह्लारकज्रोत्पलरेणुहारिणा ।

न विद्यते यत्र वनौकमा दद्या

निदाववह्वर्धर्मबोधतिष्ठाडले ॥ ५ ॥

अगाधतोपहविनीतटोर्मिभि

व्रतपुगीय्या पुलिनैः समन्ततः ।

न यत्र खण्डाशुकरा विपोत्त्रणा

मुबो रसं द्वादलितं च शृण्वते ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! अब जानन्दित
 ब्रजन सम्बन्धियोंसे विरे हुए एवं समके मुखसे अपनी
 कीर्तिक्रम गान सुनते हुए श्रीकृष्णने गोकुलमण्डित गोष्ठमें
 प्रवेश किया ॥ १ ॥ इस प्रकार अपनी योगमयसे
 गालका-सा वेध बनाकर राम और श्याम ब्रजमें क्रीडा
 कर रहे थे । उन दिनों ग्रीष्म ऋतु थी । यह शरीर
 चारियोंका बहुत प्रिय नहीं है ॥ २ ॥ परन्तु वृन्दावनके
 सामाजिक गुणोंसे वहाँ बसन्तकी ही छटा छिटक रही
 थी । इसका कारण था वृन्दावनमें परम मधुर भगवान्
 श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और वल्लभजी निवास जो करते
 थे ॥ ३ ॥ शीतगुणोंकी तीखी झंकार झरनोंके मधुर
 झर-झरमें छिय गयी थी । उन झरनोंसे सदा सर्वदा
 बहुत ठंडी जलकी फुहारियाँ उड़ा करती थीं, जिनसे
 वहाँके वृक्षोंकी हरियामी देखते ही बनती थी ॥ ४ ॥
 जिवर देखिये, हरी-हरी बूबसे पृथ्वी हरी हरी हो रही
 है । नदी, सरोवर एवं झरनोंकी लहरोंका स्पर्श करके
 जो वायु चलती थी उसमें झड-पीले-नीले, दुरतक
 खिले हुए, रंगके खिले हुए—कह्लार, उत्पल आदि
 अनेकों प्रकारके कमलोंका पराग मिला हुआ होता था ।
 इस इतल, मन्द और सुगन्ध वायुके कारण वनवासियों
 को गर्मीका किसी प्रकारका झेस नहीं सहना पड़ता
 था । न दावाभिका ताप लगता था और न तो सूयका
 घाम ही ॥ ५ ॥ नदियोंमें लगाव जल भर हुआ था ।
 बड़ी-बड़ी लहरें समके तटोंको धूम जाया करती थीं ।
 ये उनका पुलिनोंसे दूरीतों और उगई लफ्फ बना
 जातीं । उनका कारण आस-पासकी मृमि गिरी बनी रहती
 और सूर्यकी अत्यन्त उम तथा सीधी किरणें भी वहाँकी
 पृथ्वी और हरी मरी घासको नहीं सुखा सकती
 थीं, चारों ओर हरियामी छा रही थी ॥ ६ ॥

१ कार्यका झरनमें बग होता है । भगवान् के मुखसे आदि प्रकट हुआ—मुखाद् अभिरचयत । इससे भगवान् ने
 उसे मुखमें ही स्थापित किया ।

४ मुखके द्वारा अग्नि शान्त करके वह माघ प्रकट किया कि यव-श्यामिनीको शान्त करनेमें भगवान् के मुख-रूपानीय
 भासन ही समर्थ है ।

वनं कुसुमितं श्रीमन्मन्त्रिणमृगद्विजम् ।

गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥

क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः ।

वेषुं विरणयन् गोपैर्गोक्षनैः संवृतोऽविज्ञत् ॥ ८ ॥

प्रबालवर्हस्तबकस्रग्धस्तुकुतसूयणाः ।

रामकृष्णादयो गोपा ननुतुर्गुपुर्जगुः ॥ ९ ॥

कृष्णस्य नृत्यतः केचिजगुः केचिदवादयन् ।

वेषुपाणितलैः मृङ्गैः प्रहृष्टसुरभापरे ॥ १० ॥

गोपमातिप्रसिच्छन्मौ देवा गापालरूपिण ।

इदिरं कृष्णरामौ च नटाश्च नटं नृप ॥ ११ ॥

आमर्णालङ्घनं धेपरास्फोटनविकर्षणैः ।

चिक्रीडतुर्नियुद्धनं कञ्जमद्यभरौ कश्चित् ॥ १२ ॥

चचिन्मृतसु खान्यपु गायकी वादक्यं स्वयम् ।

शरं वतुर्महाराज साधु साध्विति पादिनौ ॥ १३ ॥

उस वनमें बुझोंकी पौत-की पौत फूलोंसे लद रही थी । जहाँ देखिये, वहाँसे सुन्दरता फूटी पकती थी । कहीं रंग-भिरंगे पक्षी चहक रहे हैं, तो कहीं तरह-तरहके इरित शौकती भर रहे हैं । कहीं मोर झूक रहे हैं, तो कहीं भैंर गुजार कर रहे हैं । कहीं कोयलें कुझक रही हैं, तो कहीं सारस खल्ला ही अपना खलाप छेद हुए हैं ॥ ७ ॥ ऐसा सुन्दर वन देखकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बळरामजीने उसमें विहार करनेकी इच्छा की । जाने-जाने गौएँ चलीं, पीछे-पीछे ग्वाड़बाल और बीचमें अपने बड़े भाईके साथ बौंसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण ॥ ८ ॥

राम, श्याम और ग्वाड़बालोंने नव पल्लवों, मोरखंके गुच्छों, सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंके झरो और गेरू खाति रंगीन चातुर्भोंसे अपनेको भोंसि भोंसिसे सजा लिया । फिर कोई धामन्दमें मग्न होकर नाचने लगा, तो कोई ताल ठोककर कुत्ती लड़न लगा और किसी किसीने राग खल्लापना शुरू कर दिया ॥ ९ ॥ जिस समय श्रीकृष्ण नाचन लगते, उस समय कुछ ग्वाड़बाल गाने छाते और कुछ बौंसुरी तथा सींग बजाने लगते । कुछ हथेलीसे ही ताल देते, तो कुछ 'वाह-वाह' करने लगते ॥ १० ॥ परीक्षित् । उस समय नट जैसे अपने मय्यककी प्रशंसा करते हैं, वैसे ही देवताछोग ग्वाड़बालोंका रूप प्रार्ण करके वहाँ आते और गोपप्रान्तिमें नम लेकर छिपे हुए बळराम और श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगते ॥ ११ ॥ पुँधराछी अलकोंगाले श्याम और बळराम कभी एक-दूसरेका हाथ पकड़कर कुन्हारक खाकती तरह चकर काटते—धुमरी-परेता स्नेहते कभी एक-दूसरेसे अधिक फौद नानेकी इच्छासे झूदत—झूँकी बाकते, कभी कहीं हाँद लगाकर दले पेंकते, तो कभी ताम टोंक टोंककर रस्साकसी करते—एक दस दूसरे दसके त्रिपतीत रस्सी पकड़कर खींचता और कभी कहीं एक-दूसरेसे कुन्नी मड़ते-झाते । इस प्रकार तरह-तरहके खेल स्नेहते ॥ १२ ॥ कहीं कहीं जब दूसरे ग्वाड़बाल नाचन लगते तो श्रीकृष्ण और बळरामजी गाते या बौंसुरी, सींग खाति बजाते । और महाराज । कभी-कभी वे 'वाह-वाह' कहकर समकी प्रशंसा भी करने लगते ॥ १३ ॥

कचिद् भित्तैः कचित् कुम्भैः कचामलकमुष्टिभिः ।

असूक्ष्मनेत्रमधायैः कचिन्मृगखगेहया ॥१४॥

कचिच्च दूरदूरावैर्विविधैरुपहासकैः ।

कदाचित्स्पन्दोलिक्रिया कर्हिचिन्तृपथेष्टया ॥१५॥

एव तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिधेरनुर्वने ।

नघद्रिद्रोणिक्कुञ्जेषु काननेषु सरस्तु च ॥१६॥

पञ्चभारवतोगोपैस्तद्वने रामकृष्णयो ।

गोपरूपी प्रलम्बोऽगादगुरस्तजिहीर्षया ॥१७॥

सं विद्वानपि दाक्षगर्हो भगवान् सयदर्शन ।

अन्वमोदत तत्सख्य वर्षं तस्य विचिन्तयन् ॥१८॥

तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित् ।

हे गोपा विहरिष्यामो इन्द्रीभूय यथायथम् ॥१९॥

तत्र चक्रुः परिवृद्धौ गोपा राममनादनौ ।

कृष्णसघट्टिनः केचिदासन् रामस्य पापरे ॥२०॥

आचैरुषिविधाः क्रीडा वासनाइफलशृणाः ।

यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिता ॥२१॥

वहन्तो वासमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् ।

भाण्डीरकं नाम वत् जग्मुः कृष्णपुरागमाः ॥२२॥

कभी एक-दूसरेपर बेज, जायफर या औबलेके

फल हाथमें लेकर फेंकते । कभी एक-दूसरेकी

बाँख बंद करके छिप जाते और वह पीछेसे हँडता—

इस प्रकार औखमिधौनी खेलते । कभी एक दूसरेको

झूनेके लिये बहुत दूर-दूरतक दौड़ते रहते और कभी

पशु-पक्षियोंकी खेद्युक्त अनुकरण करते ॥ १४ ॥

कहीं मेढकोंकी तरह फुदक-फुदककर चलते, तो कभी

मुँह बना-बनाकर एक दूसरेकी हँसी उठाते । कहीं

रस्सियोंसे वृक्षोंपर झूझ झालकर झूलते, तो कभी दो

बाँखोंको खड़ा कराकर उनकी बाँहोंके बलपर ही छटकने

लगते । कभी किसी रात्राकी मकल करने लगते ॥ १५ ॥

इस प्रकार राम और श्याम बुन्दाकनकी नदी, पर्वत,

घाटी, कुआँ, वन और सरोवरोंमें वे सभी खेल खेलते,

जो साधारण बच्चे संसारमें खेलते हैं ॥ १६ ॥

एक दिन जब बजराम और श्रीकृष्ण गाम्बालोंके

साथ उस वनमें गौएँ चरा रहे थे, तब ग्वालके वेपमें

प्रबन्ध गामका एक आसुर आया । उसकी इच्छा थी

कि मैं श्रीकृष्ण और बजरामको हार ले जाऊँ ॥ १७ ॥

गामान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं । वे उसे देखते ही पहचान

गये । फिर भी उन्होंने उसका मित्रताका प्रस्ताव स्वीकार

कर लिया । वे मन-ही-मन यह सोच रहे थे कि किस

शुक्तिसे इसका बच करना चाहिये ॥ १८ ॥ ग्वालबालोंमें

सबसे बड़े खिखड़ी, खंखोंके व्याचार्य श्रीकृष्ण ही थे ।

उन्होंने सब ग्वालबालोंको बुझाकर कहा— मेरे व्यारे

मित्रो ! आज हमको अपनेको उक्ति रीतिसे दो दलोंमें

बाँट लें । और फिर जानन्दसे खेलें ॥ १९ ॥ उस

खेलमें ग्वालबालोंने बजराम और श्रीकृष्णको मारक

बनाया । कुछ श्रीकृष्णके साथी बन गये और कुछ

बजरामके ॥ २० ॥ फिर उन लोगोंने तरह-तरहसे ऐसे

बहुत-से खेल खेले, जिनमें एक दलके लोग दूसरे दलके

जोगोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर एक निर्दिष्ट स्थानपर

ले जाते थे । जीसनेवाला दल बढ़ता या और हारनेवाला

दल होता था ॥ २१ ॥ इस प्रकार एक दूसरेकी

पीठपर चढ़ते-चढ़ाते श्रीकृष्ण आदि ग्वालबाल गौएँ

चराते हुए भाण्डीर नामक बच्चे पास पहुँच गये ॥ २२ ॥

रामसङ्ग्रहिणो यर्हि श्रीदामपुत्रमादय ।

क्रीडायां जयित्वांस्तान्नुदुः कृष्णादयो नृप ॥२३॥

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामान् पराजितः ।

पुत्रं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥२४॥

अविपक्षं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।

वहन् हुततर प्रागादवरोहणतः परम् ॥२५॥

तमुद्बहन् धरणिधरेन्द्रगौरव

महासुरो विगतरथो निज वपुः ।

स आन्वितः पुरटपरिच्छदो बभौ

तडिदुपमानुपविवाडिवाम्बुदः ॥२६॥

निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्

प्रदीप्तङ्गं झुकुटितटोम्रदण्डकम् ।

ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुम्भल

त्विषास्तुव हलधर ईषदत्रसत् ॥२७॥

अधागतस्त्वतिरमयो रिपुं बलो

विहायसार्धमिव हरन्तमात्मन ।

रुपाहनच्छिरसि दृढन मुष्टिना

सुराधिपो गिरिमिव भञ्जयत् ॥२८॥

स आहतः सपदि विन्नीर्णमस्तको

सुम्बाश्चमन् रुधिरमपस्सुसोऽसुर ।

परीक्षित् । एक बार बलरामजीके दलवाले श्रीराम,

पुत्रम आदि मालवालों ने खेदमें बाजी मार ली । तब

श्रीकृष्ण आपि उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाकर लेन लये

॥ २३ ॥ हारे हुए श्रीकृष्णने श्रीदामको अपनी पीठपर

चढ़ाया, भद्रसेनने कृष्णको और प्रलम्बने बलरामजीको

॥ २४ ॥ दानवपुङ्गव प्रलम्बने देखा कि श्रीकृष्ण ले

यहें बलवान् हैं, उन्हें मैं नहीं हरा सकूँगा । तब वह

उन्हींके पक्षमें हो गया और बलरामजीको लेकर पुनर्हि

माग चला, और पीठपरसे उतारनेके लिये जो स्थान

नियत था, उसमें आगे निकल गया ॥ २५ ॥ बलरामजी

बड़े भारी पर्वतके समान बाह्यवाले थे । उनको लेकर

प्रलम्बासुर दूरतक न जा सका, उसकी छात्र रुक

गयी । तब उसने अपना सामाधिक दैत्यरूप धारण कर

लिया । उसके काले शरीरपर सोनेके गहने चमक रहे

थे और गौरसुन्दर बलरामजीको धारण करनेके कारण

उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो बिजलीसे युक्त

कावा बादल वज्रमाको धारण किये हुए हो ॥ २६ ॥

उसकी ओंखें आगकी तरह चमक रही थीं और दाढ़ें

भीहोंतक पहुँची हुई बड़ी मयावनी थीं । उसके काले

बाज इस तरह बिखर रहे थे, मानो आगकी छपटे

उठ रही हों । उसके हाथ और पाँवमें बल, तिरार

मुष्टि और कानोंमें कुण्डल थे । उनकी कान्तिसे वह

बड़ा अन्तुन लग रहा था । उस भयानक दैत्यको वह

वेगसे आकाशमें जाते देख पहले लगे बलरामजी कुछ

चमकासे गये ॥ २७ ॥ परन्तु दूसरे ही क्षणमें अपने

स्वरूपकी याद आये ही उनका मग्न जाता रहा ।

बलरामजीने देखा कि जैसे और किसीका घन पुराकर

ले जाय, वैसे ही यह शत्रु मुझे पुराकर आकाश-मागि

लिये जा रहा है । उस समय जैसे इन्द्रने पर्वतोंपर

चक्र चलाया था, वैसे ही उन्होंने क्रोध करके उसके

तिरार एक घूँसा कसकर जमाया ॥ २८ ॥ घूँसा

मथाना था कि उसका गिर चूर चूर हो गया । वह

मुँहसे ग्लान उगलन लगा, चेतना जाती रही और बड़ा

महारव व्यसुरपतत् समीरयन्

गिरिर्यथा मधवत आयुधाहतः ॥२९॥

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।

गोपा सुविक्रिता आसन् साधु साध्वित्तिवादिनः ३०

आक्षिपोऽभिमृणन्तस्त प्रसृज्यस्तुतदर्शणम् ।

प्रत्यगावमिवालिकृत्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥३१॥

पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्हताः ।

अभ्यर्चयन् बलं माल्यैः क्षणं साधु साध्वित्ति ॥३२॥

मयङ्कर शब्द करता हुआ इन्द्रके द्वारा बजसे मार हुए पर्वतके समान वह उसी समय प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २९ ॥

बलरामजी परम बलशाली थे । जब ग्वालबालोंने देखा कि उन्होंने प्रलम्बासुरको मार डाला, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही । वे बार बार 'वाह-वाह' करने लगे ॥ ३० ॥ ग्वालबालोंका चित्त प्रेमसे विह्वल हो गया । वे उनके लिये छुम कम्पनाओंकी वर्षा करने लगे और मागो मरकर छोट आये हों, इस भावसे आक्षिप्त करके प्रशंसा करने लगे । वस्तुतः बलरामजी इसके योग्य ही थे ॥ ३१ ॥ प्रलम्बासुर मूर्तिमान् पाप था । उसकी मृत्युसे देवताओंको बड़ा सुख मिला । वे बलरामजीपर फूल बरसाने लगे और 'बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा किया' इस प्रकार कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसा संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्धे

प्रलम्बबधो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

गौडो और गोपीको ब्रह्मानन्दसे बचाना

श्रीकृष्ण उवाच

क्रीडासक्तं गोपेषु तद्वाचो ब्रह्मचरिणीः ।

स्वैरं चरन्त्यो विविधस्तृणलोमेन गह्वरम् ॥ १ ॥

अजा गावो महिष्यश्च निर्भिद्यन्त्यो वनाव वनम् ।

इषीकाटवीं निविशिशुः क्रन्दन्त्यो द्वायतपिताः ॥२॥

तेऽपश्मन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्संदा ।

जातानुधापानविदुर्मिथिवन्त्यो गवां गतिम् ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! तब समय जब ग्वालबाल खेल-कूदमें लग गये, तब उनकी गौरों बेरोक-रोक चरती हुई बहुत दूर निकल गयीं और हरी हरी घासके मोमसे एक गहन वनमें घुस गयीं ॥ १ ॥ उनकी बकरियों गावें और भैंसें एक वनसे दूसरे वनमें होती हुई जागे बढ़ गयीं तथा गर्मीके तापसे व्याकुल हो गयीं । वे बेसुच-सी होकर अन्तमें डकड़ती हुई मुष्काटवी (सरकंडेके वन) में घुस गयीं ॥ २ ॥ जब श्रीकृष्ण, बलराम आदि ग्वालबालोंमें देखा कि हमारे पशुओंका ता बड़ा पता-टिकना ही नहीं है, तब उन्हें अपने खेम-कूपर बड़ा पड़ताया हुआ और वे बहुत कुछ खेम-बीम करनेपर भी अपनी गौओंका

१ खड्गसाधु साधुस्विकम् । २ बाळकीबायामथा । ३ बादरायमिवाच । ४ तपिता । ५ स्ततः ।

सृणुस्तत्सुरदन्तिन्नैर्गोप्यदैरङ्घ्रितैर्गणाम् ।

मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचरतः ॥ ४ ॥

मुञ्जाटभ्यां अष्टमार्गं क्रन्दमानं स्वगोधनम् ।

मम्प्राप्य तृपिता भ्रान्तास्ततस्ते सर्ववर्तयन् ॥ ५ ॥

ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा ।

स्वनान्तां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिता ॥ ६ ॥

ततः समन्ताद् वनधूमकेतु

र्यदृच्छन्नाभूत् ध्वजकुप्वर्णोक्तसाम् ।

समीरितः सारयिनोन्वणोश्मृक्तं

विंलिहानं म्यिरजङ्गमान् महान् ॥ ७ ॥

तमापतन्त परितो दवाग्नि

गापाय गावः प्रममीक्ष्य भीताः ।

ऊचुध कृष्ण मवलं प्रपन्ना

यथा हरिं मृत्युभयादिता जना ॥ ८ ॥

कृष्ण कृष्ण महवीर इ रामामितविक्रम ।

दावाप्रिता दवानानान् प्रपन्नाः प्रातुमर्थ ॥ ९ ॥

मूलं स्वठाभया कृष्ण न शान्त्यप्यमीदितुम् ।

ययं हि मयमग्न स्वस्थाध्यास्तारापणाः ॥ १० ॥

पता न लगा सके ॥ १ ॥ गौरों ही तो ब्रजवासिनें
जीविकाका साधन थीं । उनके न मिलनेसे वे व्यस्त
हो रहे थे । अब वे गौओंके सूर और दौड़से कटी
हुई बांस तथा पृथ्वीपर बने हुए खुरोंके सिद्धोंसे उनका
पता लगाते हुए आगे बढ़े ॥ ४ ॥ अन्तमें उन्होंने
देखा कि उनकी गौरें मुञ्जाटवीमें रास्ता भूलकर डकड़
रही हैं । उन्हें पाकर वे जीटानकी चेष्टा करने लगे ।
उस समय वे एकदम थक गये थे और उन्हें प्यास भी
बढ़े औरसे लगी हुई थी । इससे वे व्याकुल हो रहे
थे ॥ ५ ॥ उनकी यह दृष्टा देखकर भगवान् श्रीकृष्ण
अपनी मेघके समान गम्भीर वाणीसे नाम ले-लेकर
गौओंको पुकारने लगा । गौरें अपने नामकी ध्वनि
सुनकर बहुत हर्षित हुईं । वे भी उत्तरमें पुकारने और
रैमाने लगी ॥ ६ ॥

परीक्षित । इस प्रकार भगवान् उन गायोंको पुकार
ही रहे थे कि उस वनमें सब ओर अकरमात् दावाग्नि
लग गयी, जो वनवासी जीवोंका काम ही होती है ।
साथ ही बढ़े जोरकी जौंधी भी चलकर उस अग्निके
बढ़नेमें सहायता देने लगी । इससे सब ओर फैली हुई
यह प्रचण्ड अग्नि अपनी मयङ्कुर छपटोंसे समस्त वनपर
जीवोंको भस्मसात् करने लगी ॥ ७ ॥ अब गायों
और गौजोंने देखा कि दावानल चारों ओरसे हमारी ही
ओर बढ़ता आ रहा है, तब वे अत्यन्त मयभीत हो
गये । और खुरोंके मयसे डर हुए जीव त्रिप्त प्रकार
भगवान्की शरणमें आते हैं, जैसे ही वे श्रीकृष्ण और
बन्धुसमीप शरणार्थी होकर उन्हें पुकारते हुए
बोले—॥ ८ ॥ 'महावीर श्रीकृष्ण ! प्यार श्रीकृष्ण !
परम ब्रह्मात्मा बन्धुसम ! हम तुम्हारे शरणगत हैं ।
देखो, हम समय हम दावानलसे अचना ही आहते हैं ।
तुम दोनों हमें इससे बचाओ ॥ ९ ॥ श्रीकृष्ण !
जिनके तुम्हीं भाइ बन्धु और सब कुछ हैं उन्हें ता
किमी प्रकारका बल नहीं हैना था । सब धर्मोंके
ज्ञाता श्यामसुन्दर ! तुम्हीं हमारे वरमात्र शयक एवं
साथी हो; हमें कष्ट तुम्हारा ही मोक्ष है ॥ १० ॥

भीष्मक उवाच

वधो निश्चम्य कृपणं वधूनां भगवान् हरिः ।

निमीलयत मा मैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥११॥

तथेति मीलिताश्लेषु भगवानग्निमुत्तपणम् ।

पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्रात् योगाधीशो ष्वमोचयत् १२

ततश्च तेऽध्वीभ्युन्मील्य पुनर्माण्डरीमापिताः ।

निश्चाम्य विस्मिता आसन्मात्मान गाम्भोषिताः ॥१३॥

कृष्णस्य योगवीर्यं तद्वृ योगमाषानुभावितम् ।

दावान्नेरात्मनः क्षेमवीक्ष्य ते मे निरेऽमरम् ॥१४॥

गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहारामो जनार्दनः ।

वेषुं विरगयन् गोष्ठमगात् गोपैरभिन्दुतः ॥१५॥

गोपीनां परमानन्द आसीद्व गोविन्ददर्शने ।

क्षण युगशतमिव यासां येन बिनाभयत् ॥१६॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—अपने सखा ग्वालबालोंके ये दीनतासे भरे बचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—
‘इतो मत, तुम अपनी ओसे बंद कर लो ॥ ११ ॥ भगवान् की आज्ञा सुनकर उन ग्वालबालोंने कहा ‘बहुत अच्छा’ और अपनी ओसे बंद कीं । तब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उस भयङ्कर आगको अपने मुँहसे पी लिया * और इस प्रकार उन्हें उस धार सङ्कटसे छुड़ा दिया ॥ १२ ॥ इसके बाद जब ग्वालबालोंने अपनी-अपनी ओसे छीलकर देखा, तब अपनेको भाण्डौर बन्नेके पास पाया । इस प्रकार अपने आपको और गौओंको दावानलसे बचा देख वे ग्वालबाल बहुत ही विस्मित हुए ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णकी इस योग सिद्धि तथा योगमायाके प्रभावको एवं दावानलसे अपनी रक्षाको देखकर उन्होंने यही सम्झा कि श्रीकृष्ण कोई देवता हैं ॥ १४ ॥

परीक्षित ! सायंकाल होमपर बलरामजीके साथ भगवान् श्रीकृष्णने गौपे छोटीयाँ और बंशी बजाते हुए उनके पीछे-पीछे ब्रजकी यात्रा की । उस समय ग्वालबाल उनकी स्तुति करते जा रहे थे ॥ १५ ॥ इधर ब्रजमें गोपियोंको श्रीकृष्णके बिना एक-एक क्षण सौ सौ युगके समान हो रहा था । जब भगवान् श्रीकृष्ण लौटे तब उनका दर्शन करके वे परमानन्दमें मग्न हो गयीं ॥ १६ ॥

इति भीमद्वागक्ते महापुराणे पारमहंसा संज्ञितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे

दावाग्निपान नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

१ वासुकीबायो दावानलविशेषको कहते ।

* १ भगवान् श्रीकृष्ण भस्त्रके द्वारा अर्पित प्रेम-भक्ति-मुखा-रत्न पान करते हैं । अतिके मनमें तभीकर स्वार केनेकी सम्पत्ति हो आती । इसलिये अपने स्वयं ही मुक्तमें प्रवेश किया ।

२ विप्राणि मुन्नाभि, और बाबाभि—तीनों पान करके भगवान्ने अपनी जितायनाशकी शक्ति व्यक्त की ।

३ जल्के रात्रिमें अग्निपान किया था वृक्षी बार दिनमें । भगवान् अपने भक्तकोंकर ताप हरनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं ।

४ परसी बार उनके लगने और वृक्षी बार उनकी ओसे बंद करके श्रीकृष्णने अग्निपान किया । इसका अभिप्राय यह है कि भस्त्रात् परेष्व और अपरोक्ष दोनों ही प्रकारसे वे भक्तकोंकर दित करते हैं ।

अथ विंशोऽध्यायः

वर्षा और शरदः ऋतुका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तयोस्तदद्भुतं कम दावाग्नेर्माक्षमात्मनः ।

गोपाः क्षीम्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥

गोपहृदाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्म्यं विमिताः ।

मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ ब्रजं गतौ ॥ २ ॥

ततः प्रावर्तत प्रावद् सर्वसम्पत्समुद्भवा ।

विद्योतमानपरिभिर्विस्फुर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥

सान्द्रनीलाम्बुदैर्ध्वोम सविष्टुस्तनयिस्तुभिः ।

अस्पृष्टन्योतिराच्छन्नं प्रद्योत सगुण बभौ ॥ ४ ॥

अष्टौ मासान् निपीतं यद्वृ श्रृम्बाभोदमयं वसु ।

स्वगोभिर्मोक्तुमारमे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥

तद्विस्वन्तो महामेवाधम्यस्तनवेपिताः ।

प्रीणनं जीवनं ह्यस्य सुमधुः करुणा इव ॥ ६ ॥

तपःकृत्वा देवमीढा आसीद्वृ वर्षीयसी मही ।

यथैव क्षम्यतपस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥

निशामुत्सेपु सद्योतात्ममा भान्ति न ब्रह्माः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित! गन्धर्वात्मनेन पर्व्वण्यकर अपनी मा, बहिन आदि जियोसे श्रीकृष्ण और कलरामने जो कुछ अद्भुत कर्म किये थे —दावानवसे उनको बचाया, प्रलम्बको मारना इत्यादि—सबका वर्णन किया ॥ १ ॥ बड़े-बड़े बड़े गोप और गोपियों श्री राम और श्यामकी अलौकिक लीलाएँ सुनकर विस्मित हो गयीं । वे सब ऐसा मानने लगे कि 'श्रीकृष्ण और कलरामको वेधमें कोई बहुत बड़े देवता ही ब्रजमें पधारे हैं' ॥ २ ॥

इसके बाद वर्षा ऋतुका सुभागमन हुआ । इस ऋतुमें सभी प्रकारके प्राणियोंकी बढ़ती हो जाती है । उस समय सूर्य और चन्द्रमापर बार-बार प्रकाशमय मण्डल बैठने लगे । बादल, वायु, चमक, कड़क आदिसे आकाश सुन्दर सा दीखने लगा ॥ ३ ॥ आकाशमें नीले और घने बादल फिर आते, बिजली कौंधने लगती, बार-बार गड़-गकाहट सुनायी पड़ती; सूर्य, चन्द्रमा और तारे डके रहते । इससे आकाशकी ऐसी शोभा होती, जैसे अक्षररूप हानेपर भी गुणोंसे डक जानेपर जीवकी होती है ॥ ४ ॥ सूर्यने राजाकी तरह पृथ्वीरूप प्रजासे बहुत महीनेतक जलका कर ग्रहण किया था, अब समय आनेपर वे अपने स्त्रिय-वर्गोंसे फिर उसे बैठने लगे ॥ ५ ॥ जैसे दण्डपुत्र जब देखते हैं कि प्रजा बहुत पीड़ित हो रही है, तब वे दयापरवश होकर अपने जीवन प्राप्त तक निग्रहर कर देते हैं—वैसे ही बिजलीकी चमकने शोभायमान घनघोर बादल तेज हवाकी प्रेरणासे प्राणियोंके कल्याणके लिये अपने जीवनस्वरूप अलक्रे बरसने लगे ॥ ६ ॥ जेठ-आषाढ़की गर्मसे पृथ्वी सूख गयी थी । जब जबकि जलसे सिंचकर वह फिर हरी-भरी हो गयी—जैसे सकलमहावसे तपस्या करते समय पहले तो शरीर दुर्बल हो जाता है, परन्तु जब उसका फल मिलता है, तब बल पुष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥ क्योंकि सायङ्काळमें बादलोंसे बना अँधेरा छा जानेपर ग्रह और तारोंका प्रकाश तो नहीं दिखायी पड़ता, परन्तु

यथा पापेन पातञ्जलं न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८ ॥

भुत्वा पर्जन्यनिन्दं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।

तृष्णींश्रयानाः प्राग्यश्वद्व्राक्षणा नियमात्पये ॥ ९ ॥

आसन्नुत्पथवाहिन्यः सुप्रनयोऽनुशुम्पतीः ।

पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहप्रविणसम्पदः ॥ १० ॥

हरिता हरिभिः श्वपैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।

उच्छिलीन्द्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव धूरभूत् ॥ ११ ॥

क्षेत्राणि सखसम्पन्निः कर्पकाणां मूर्धं ददुः ।

धनिनामुपतापं च देवाधीनमज्ञानताम् ॥ १२ ॥

जलस्यलौकमः सर्वे नववारिनिपेयया ।

अविभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिपेयया ॥ १३ ॥

सरिद्धिः सङ्गतं सिधुजुक्षुमेक्षसनोर्मिमान् ।

अपक्वयोगिनविषं कामाकं गुणयुग्ं यथा ॥ १४ ॥

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्ययुः ।

अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोऽश्वचेतसः ॥ १५ ॥

मागा वभूयुः सन्दिग्धास्तूर्णच्छा द्यसंस्कृताः ।

गुणान् नमकने ऋगते हैं—जैसे कलियुगमें पापकी प्रवृत्ति हो जानेसे पातञ्जल मतोंका प्रचार हो जाता है और वैदिक सम्प्रदाय छुट हो जाते हैं ॥ ८ ॥ ओ मंडक पहले पुपपाप सो रहे थे, अब वे बादलोंकी गरज धुनकर टर्-टर् करने लगे—जैसे नित्य नियमसे निवृत्त होनेपर गुरुके आदेशानुसार ब्रह्मचारी लोग वेदपाठ करने लगते हैं ॥ ९ ॥ छोटी-छोटी नदियों, जाजेठ-आपावमें बिम्बुल सुखनेको आ गयी थीं, वे अब डमक-डमककर अपने घरेसे बाहर बहने लगी—जैसे अजितेन्द्रिय पुरुषका शरीर और घन-सम्पत्तियोंका कुसर्गमें उपयोग होने लगता है ॥ १० ॥ पृष्णीपर कहीं-कहीं हरी-हरी घासकी हरि यात्री थी, तो कहीं-कहीं खोरबहूटियोंकी लालिमा और कहीं-कहीं बरसाती छत्रों (सफेद कुकुरमुत्तों) के कारण वह सफेद भासना देती थी । इस प्रकार उसकी ऐसी खोया हो रही थी, मग्नो किन्ती राजाकी रंग-बिरंगी सेना हो ॥ ११ ॥ सब खेत अनाजोंसे भरे-भरे लहलहा रहे थे । उन्हें देखकर किसान तो मारे आनन्दक झुले न समाते थे, परन्तु सब कुछ प्रारब्धके अधीन है—एक बात न आनेवाले क्षणियोंके चिन्तमें बड़ी अलग हो रही थी कि अब हम इन्हें अपने पंजेमें कैसे रख सकेंगे ॥ १२ ॥ नये बरसाती अलके सेवकसे सभी जलवर और पक्षर प्राणियोंकी सुन्दरता बढ़ गयी थी, जैसे भगवान्की सेवा करनेसे बाहर और भीतरके दोनों ही रूप सुबह हो जाते हैं ॥ १३ ॥ नर्ग-श्रुतमें हवाकें झोंकोंसे समुद्र एक तो यों ही उचाक तरङ्गोंसे युक्त हो रहा था, अब नदियोंके संयोगसे वह और भी क्षुब्ध हो उठा—टीक जैसे ही, जैसे वासनायुक्त योगीका विच चिरयोंका सम्पर्क होनेपर कज्जनाजोके उभारसे भर जाता है ॥ १४ ॥ मूसलधार नर्पाकी चोट खाते रहनेपर भी पत्थरोंके पर्यङ्ग व्याप नहीं होगी थी—जैसे दु खोंकी मरमर हानिपर भी लन पुरुषोंको किसी प्रकारकी व्याप नहीं होती, जिन्होंने अपना विच भगवान्का ही समर्पित कर रक्खा है ॥ १५ ॥ जो माग कभी सारा नहीं नित्य जात था, वे घाससे टक गये और डमक पदचालना कटित हो गया—जैसे अब दिनानि केनोयज अम्यास नहीं करने,

नाम्पसमानाः भुवयो द्विजैः कालहता इव ॥१६॥

लोकमन्त्रेषु मेघेषु विद्युत्तमलसौहृदाः ।

स्वैर्यन चक्रः क्रामिन्मः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥१७॥

धनुर्वियवि माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ।

व्यक्तं गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा ॥१८॥

न रराजोद्भवश्चक्रः स्रज्योस्त्नासाधितैर्धनैः ।

अहमस्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥१९॥

मेवागमोत्सवा दृष्टाः प्रत्यनन्दमिच्छामिहिनः ।

गृहेषु तसा निर्बिण्णा यथाभ्युत्थनागमे ॥२०॥

पीत्वापः पादपाः पङ्क्तिरासमानात्ममूर्तयः ।

प्राक्क्षामास्तपसा भान्ता यथा क्रामानुसेवया ॥२१॥

सरस्वच्चान्तरोधस्तु न्यूपुरजापि सारसाः ।

गृहेष्वचान्तकृत्वेषु ग्राम्या इव वुराष्टयाः ॥२२॥

अलौघैर्निरभिघन्त सेतवो वर्षतीक्ष्णरे ।

पास्वजिनामसद्वादेर्देहमार्गाः कलौ यथा ॥२३॥

व्यसृजन् बाधुभिर्नुका भूतेभ्योऽधामूर्तधनाः ।

यथाऽऽशिपो विश्वतयः काले काले द्विजैरिताः ॥२४॥

तब काळक्रमसे वे उन्हें मूख आते हैं ॥ १६ ॥ यन्मि
बादल बड़े जोकोपकारी हैं, फिर भी बिजमियों उसमें
स्विर नहीं रहती—ठीक वैसे ही, जैसे घण्ट बनुग-
वाली कामिनी कियों गुणी पुरुषोंक पास भी स्वर भाके
नहीं रहती ॥ १७ ॥ आकाश मेंबोके गर्जन-तर्जनसे
भर रहा था । उसमें निर्गुण (बिना बोरीके) इन्द्रधनु-
की वैसी ही शोभा हर, वैसी सत्त्व-रज आदि गुणोंके
स्रोतसे होमेवाले बिजके बछेदेमें निर्गुण प्रकटी ॥ १८ ॥
यन्मि चन्द्रमाकी सज्जब चोंदनीसे बादलोंक पता चल
था, फिर भी उन बादलोंन ही चन्द्रमाको ढककर सोम-
हीन भी बना दिया था—ठीक वैसे ही, जैसे पुरुषके
आमाससे आभासित होनेवाला अहङ्कार ही उसे तबकर
प्रकाशित नहीं होने देता ॥ १९ ॥ बादलोंके धुमागमन-
से मोरोंक रोम-राम खिख रहा था, वे अपनी कुहक और
कुरूपक द्वारा आगम्यास्तब मना रह दे—ठीक वैसे ही,
जैसे गृहस्थीके नवाक्रममें फँसे हुए लोग, जो अकिञ्चर
लीनों तापोंसे जल्ले और बबकाते रहते हैं, मगवान्के
मलोंके धुमागमनसे आनन्दमम हो जाते हैं ॥ २० ॥
जो बृह केठ-आपाकमें सूख गये थे, वे अब अपनी अर्धसे
अब पीकर पते, अब तथा बाकियोंसे अब सब भज
गये—जैसे सकाममाकसे तपस्या करनेवाले पहले तो
दुर्बल हो जाते हैं, परन्तु कर्मणा पूरी होमपर मोटे-तगड़े
हो आते हैं ॥ २१ ॥ परीखिन् । ताकाबोके तट कौटे
कीचब और अकके बहावके कारण प्रायः अज्ञान ही
रहते थे, परन्तु सारस एक क्षणके खिये भी उन्हें नहीं छोड़ते
थे—जैसे अशुद्ध इन्द्रबाके बिपयी पुरुष काम-धर्मोंकी
छाँटसे कभी सुत्कारा नहीं पाते, फिर भी धर्मोंमें ही पड़े
रहते हैं ॥ २२ ॥ वर्षा ऋतुमें इन्द्रकी प्रेरणासे मूस-
धार वर्षा होती है, इससे नदियोंके बाँध और सेतोंकी
में बूट-फूट जाती है—जैसे कस्मिणुगमें पास्वजियोंके
तख-तराङ्के मिथ्या मतवादोंसे वैदिक मार्गकी मर्मदा
हीनी पड़ जाती है ॥ २३ ॥ बाधुकी प्रेरणासे धने बादल
प्राणियोंके खिये व्यसृजतमय बजकी वर्षा करने लगते हैं—
जैसे बाधुकी प्रेरणासे धनीलोग समय-समयपर दानके
द्वारा प्रमाकी अमिकापाएँ पूर्ण करत हैं ॥ २४ ॥

एवं वन तद् वपिष्ठं पक्कम्बूरब्जम्भुमत् ।

गोगोपालैर्धृतो रतुं सफलः प्राविशद्वरिः ॥२५॥

धेनवा मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ।

ययुमगवताऽऽहूता द्रुतं प्रोत्था स्तुतम्पेनीः ॥२६॥

पनौक्म प्रमुदिता वनराक्षीर्मधुस्युतः ।

जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः ॥२७॥

कचिद् वनस्पतिक्राड गुहायां चाभिवर्षति ।

निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥२८॥

दृशार्दनं सभानीतं शिलायां मलिलान्तिक ।

मम्भाजनीपैर्धुञ्जे गोपैः सङ्घर्षणान्वितः ॥२९॥

शालोपरि संविश्य चर्षतो भीलितेक्षणान् ।

तस्मान् वृषान् वत्सवगन् गावश्चाधोमरधमाः ॥३०॥

प्रावृद्धिपं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाद् ।

भगवान् पूजयाञ्चक आत्मशक्त्युपवृद्धिताम् ॥३१॥

एवं निवसतास्तमिन् रामकेशवयोर्ध्वज ।

गरत् समभवद् व्यभ्रा म्बुलाम्बवक्ष्यानिता ॥३२॥

परादा नोरजात्पण्या नीराणि प्रकृतिं ययु ।

अग्रनाभिं चताभिं पुनर्योगनिपण्या ॥३३॥

वर्षा ऋतुमें वृन्दावन इसी प्रकार शोभायमान और एकें हुए खजूर तथा जामुनोंसे भर रहा था । उसी वनमें निहार करनेके लिये क्याम और बनरामने ग्वालवाल् और गौओंके साथ प्रवेश किया ॥ २५ ॥ गौएँ अपने धनोक मारी मारके कारण बहुत ही धीरे-धीरे चर रही थी । जब भगवान् श्रीकृष्ण उनका नाम लेकर पुकारते, तब वे प्रमत्तवश होकर जल्दी-जल्दी टौलन मगती । उस समय उनके धनोकें दूधकी घारा गिरती जाती थी ॥ २६ ॥ भगवान् ने देखा कि वनवासी मील और मीलनिर्वा आनन्दमग हैं । वृक्षोंकी पत्तियों मधुघारा उड़ेल रही हैं । पर्वतोंसे झर-झर करते हुए झरने झर रहे हैं । उनकी आवाज बड़ी सुरीली जान पड़ती है और साथ ही वर्षा हामपर छिपनके लिये बहुत-सी गुफाएँ भी हैं ॥ २७ ॥ जब वर्षा होने लगती, तब श्रीकृष्ण कभी किसी वृक्षकी गोमैं या खोखरमें जा छिपते । कभी-कभी किसी गुफामें ही जा बैठते और कभी कन्द-मूल-फल खाकर ग्वालवालोंके साथ खेलते रहते ॥ २८ ॥ कभी जल्क पास ही किसी घाटपर बैठ जाते और बनरामनी तथा ग्वालवालोंके साथ मस्कर करते क्या हुआ दही-मात टाल-छाक आदिके साथ खात ॥ २९ ॥ वर्षा ऋतुमें बैन, बछड़े और बनोंके मारी भारसे यकी हुई गौएँ बोड़ी ही देरमें मारये घास चर लेती और हरी-हरी घासपर बैठकर ही आँख मूँकर गुगायी करती रहती । वर्षा ऋतुकी सुन्दरता कपार थी । वह सभी प्राणियोंके सुख पहुँचा रही थी । इसमें सुन्दर बड़ी कि बह ऋतु, पय, वैश, बछड़—सब-क-सब भगवान् की लीलाके ही विकास थे । फिर भी उन्हें देखकर भगवान् बहुत प्रसन्न होते और बार बार उनकी प्रशम्भा करते ॥ ३० ३१ ॥

इस प्रकार क्याम और बच्यम यह आनन्दसे प्रभवे निवास कर रह थे । इसी समय वर्षा ऋतुपर शतद् ऋतु आ गयी । अब आकाशमें बादल नहीं रहे जय विमल हागया बाधु बड़ी गीमी गतिसे चन्दन लगी ॥ ३२ ॥ यह ऋतुमें कमजोरी तथा निसे जलशायी जल कपना सहज शरणा प्राप्त कर ली— टीक बने ही जेमे पागभज पुरुषोंका चित्त त्रिसे पागभज सेवन करनेसे

व्योमोऽयं मृतमृत्यस्य श्वः पञ्चमपां मलम् ।

शरत्तदाराभमिणां कृष्ये भक्तिर्यथाशुभम् ॥३४॥

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्षसः ।

यथा त्यक्तपणाः श्रान्ताः पुनयो मुक्तकिरिष्पः ॥३५॥

गिरयो मुमुक्षुन्तोम कचिन् मुमुक्षुः शिवम् ।

यथा श्रानामृतं काले श्रानिनो ददते न वा ॥३६॥

नैवाविदन् क्षीयमाणं अठ गाधबलेचराः ।

यथाऽऽसुरन्वहं क्षयं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥३७॥

गाधवारिचरात्तापमविन्दुश्छरदर्कजम् ।

यथा दरिद्रं कृपणं कुटुम्बविजितेन्द्रिय ॥३८॥

धनैः 'गनैर्जह्नुः पङ्क्तं' स्तलान्यामं च वीरुष ।

यथार्धममर्ता धीराः क्षीरादिप्यनारमसु ॥३९॥

निधत्ताम्युरभूत्पत्नीं समुद्रः क्षरदागमे ।

अत्मन्युपरते सम्पद्मुनिर्पुण्ड्रतगमः ॥४०॥

फटारम्यस्त्यपाऽगृह्णन् कपका दृष्टेस्तुभिः ।

यथा प्राणः स्वरज्जान तद्विराधेन यागिन ॥४१॥

निर्मल हो जाता है ॥ ३३ ॥ एतद् श्रुत्वे आकलने बादल, वर्षा-काण्डके वड़े हुए जीव, पृथ्वीकी कीचड़ और जलके मटमैलेपनको मद्य कर दिया—जैसे मगलकी मक्ति ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियोंके सब प्रकारके कष्टों और अशुभोंका श्रृंगार नाश कर देती है ॥ ३४ ॥ बादल अपने सर्वत्र जलका दान करने उच्छन्न कान्तिसे सुशोभित होने लगे—टीक जैसे ही, जैसे लोक-परलोक, बी-मुत्र और वन-सम्पत्तिसम्पत्ति विन्ता और कर्मनाशोंका परित्याग कर देनपर संसारके बन्धनसे छूट हुए परम शान्त संन्यासी क्षोमात्मक होते हैं ॥ ३५ ॥ वर्षा-वर्षातोंसे कहीं-कहीं सरने सरते थे और कहीं-कहीं वे अपने कल्याणकारी जलको नहीं मी बहाते थे—जैसे श्रान्ती पुरुष समयपर अपने अमृतमय श्रानका दान किसी अधिकारीको कर देते हैं और किसी-किसीको नहीं भी करते ॥ ३६ ॥ छन्दे-छोटे गर्भोंमें भरे हुए बालके बस्वर पक्ष नहीं जानते कि इस गम्भीर जल दिन-पर दिन सूखता जा रहा है—जैसे कुटुम्बके मरण-वोषणमें भूले हुए मूढ़ यह नहीं जानते कि इसारी वायु क्षण-क्षण क्षीण हो रही है ॥ ३७ ॥ बोहे जलमें रहनेवाले प्राणियोंको शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे बड़ी पीड़ा होने लगी—जैसे अपनी इन्द्रियोंके बशमें रहनेवाले कृपण एवं दरिद्र कुटुम्बीका तख-तखके ताप सताते ही रहते हैं ॥ ३८ ॥ पृथ्वी धीरे-धीरे अपना क्विचिद् छोड़ने लगी और वायु-वात धीरे धीरे अपनी कक्षाई छोड़ने लगे—टीक जैसे ही, जैसे निवेकसम्पन्न साधक धीरे धीरे शरीर आदि वनस्पति-पदार्थोंसे 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' यह कहंदा और मागता छोड़ देते हैं ॥ ३९ ॥ शाब्द श्रुतोंसे समुद्रका जल स्थिर, गम्भीर और शान्त हो गया—जैसे मनके ली सङ्कल्प हो जानपर आत्माराम पुरुष कर्मफलका हमेग छोड़कर शान्त हो जाता है ॥ ४० ॥ किशान खेतोंकी मिट्ट मजबूत करके जलका बहना रोकने लगे—जैसे यागीजन अपनी इन्द्रियोंको नियंत्रण और जानसे रोककर, प्राणाहार करके उलके द्वारा क्षीण होते हुए

शरदकांशुजांस्तापान् भूतानामुदुषोऽहरत् ।

देहामिमानञ्च बोधो मुकुन्दो अजयोपिषाम् ॥४२॥

स्वमशोभत निर्मेधं शरद्विमलतारकम् ।

सत्त्वयुक्तं यथा चिरं शब्दमहार्थदर्शनम् ॥४३॥

अस्वच्छमप्यलोलो व्योम्नि रराजोद्भगौ क्षत्री ।

यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिषक्रावृतो भुवि ॥४४॥

आग्निष्य समशीतोष्णं प्रसूतवनमारुतम् ।

जनास्तापं बहुगोप्यो न कृष्णहृत्षेतस ॥४५॥

गावोमृगाः स्वगानार्यः पुष्पिष्य शरदामवन् ।

अन्वीयमानाः स्वहृषै फलैरीशक्रिया इव ॥४६॥

उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुदं विना ।

गङ्गा तु निमया लोका रंभा दम्प्यन् विना नृप ॥४७॥

पुराग्रामेष्वाम्रपर्णैर्निर्यञ्च महोत्सवै ।

पशौभूः पक्षसंघाट्या कलाम्यां नितरां हरः ॥४८॥

वणिहमुनिनृपस्त्राता निगम्याथान् प्रपदिर ।

वर्षरुद्रा यथामिद्रा स्वपिण्डान् फल आगते ॥४९॥

ज्ञानकी रक्षा करते हैं ॥ ३१ ॥ शरद् ऋतुमें दिनके समय बड़ी बड़ी धूप होती, लोगोंको बहुत कष्ट होता; परन्तु चन्द्रमा रात्रिके समय लोगोंका सारा सन्ताप दैसे ही हर लेते—जैसे देहामिमानसे होनेवाले दुःखको ज्ञान और भगवत्प्रियसे होनेवाले गोपियोंके दुःखको शीघ्रण नष्ट कर देते हैं ॥ ३२ ॥ जैसे वेदोंके अर्थको स्पष्ट रूपसे जाननेवाला सत्त्वगुणी चित्त व्यपन्त शोभ्यमान होता है, वैसे ही शरद् ऋतुमें रातके समय मेघोंसे रहित निर्मल आकाश तारोंकी ज्योतिसे जगमगान लगा ॥ ३३ ॥ परीक्षित् । जैसे पृथ्वीतलमें यदुर्वंशियोंके बीच यदुपति भगवान् श्रीकृष्णकी शोभा होती है, वैसे ही आकाशमें तारोंके बीच पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होने लगा ॥ ३४ ॥ दूसरोंसे छद्द हुए हृष्ट और ललाओंमें होकर बड़ी ही सुन्दर वायु बहती, वह न अधिक ठंडी होती और न अधिक गरम । उस वायुके स्पर्शसे सब लोगोंकी जखन तो मिट जाती, परन्तु गोपियोंकी जखन और भी बड़ जाती, क्योंकि उनका चित्त उनके हाथमें नहीं था, शीघ्रणने उस चुप छिपा था ॥ ३५ ॥ शरद् ऋतुमें गौर्ष, हरिनियों चिरियों और नारियों ऋतुमती—सम्पत्तीसत्तिकी कामनासे मुक्त हो गयीं तथा सौंर, हरिन, पक्षी और पुरुष उनका अनुसरण करने लगे—ठीक वैसे ही, जैसे समर्थ पुरुषके द्वारा की हुई क्रियाओंका अनुसरण उनका फल करते हैं ॥ ३६ ॥ परीक्षित् । जैसे रामाका सुभागमनसे बाहु कोरोंके सिवा और सब लोग निर्मेय हो जाते हैं, वैसे ही सूर्योत्थानके कारण कुमुदिनी (कुँई या कीई) के अतिरिक्त और सभी प्रकारक कमल खिल गये ॥ ३७ ॥ उस समय बड़ बड़ शहरों और गाँवोंमें महाप्रमोद और श्रद्धासम्बन्धी उत्सव होने लगे । खेतोंमें अनाज पक गये और पुष्पी भगवान् श्रीकृष्ण तथा भवराजकी उपस्थितिसे व्यपन्त सुशोभित होने लगी ॥ ३८ ॥ साधना करने सिद्ध हुए पुरुष जैसे समय आनन्द अपने देव आदि शरीरोंका प्राप्त करते हैं, वैसे ही वैश्य, संन्यासी, राजा और क्षात्र—जो बर्णक कारण एक स्थानपर रुके हुए थे—वहाँसे चलकर अपने-अपने अभीष्ट काम काममें लग गये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराण पारमर्ष्या संहितायां दशमस्कन्ध पूर्वार्धे प्राक्
शरदर्जन नाम विंशोऽध्याय ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

वेणुगीत

श्रीकृष्ण उवाच

इत्थं शरत्सन्धेयं पथाकरमुगधिना ।

न्यविशद्वायुना वातसगोगोपालकोऽप्युतः ॥ १ ॥

कसुमितवनराविद्युष्मिभृङ्ग-

द्विजकुलधुप्रसरःसरिन्मृहीधम् ।

मधुपतिरवगात्र चारयन् गा

सहपशुपालबलभृङ्गश्च वेणुम् ॥ २ ॥

तद्ब्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीत सरोदयम् ।

कामित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥

तद्वर्णयितुमारम्भाः सरन्त्यः कृष्णचेतितम् ।

नाशकन् सारवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥

बर्हीषोऽनटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं

विभ्रद्वस्तः कनककपिष्ठवैद्ययन्तीं च मालाम् ।

रघान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपहन्तै

हृन्दारण्यं स्वपदमर्षं प्राविशद् गोतक्षीर्तिः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! शरद् ऋतुके कारण यह वन बड़ा सुन्दर हो रहा था । जल निर्मल था और जलाशयोंमें छिड़े हुए कमलोंकी सुगन्धसे सनझ वायु मन्द-मन्द चल रही थी । भगवान् श्रीकृष्णने गौओं और ग्वालबालोंके साथ उस वनमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे परिपूर्ण हरी-हरी वृक्ष-पत्तियोंमें मतवाले भीरे स्वाम-स्वामपर गुनगुना रहे थे और तब तरहके पक्षी हूँह-के-हूँह अलग-अलग कवरब कर रहे थे, जिससे उस वनके सरोवर, नदियों और पर्वत—सब-के-सब गूँजते रहते थे । मधुपति श्रीकृष्णने कृष्णजी और ग्वालबालोंके साथ उसके भीतर घुसकर गौओंको चराते हुए अपनी बौंसरीपर बसी मधुर तब छेकी ॥ २ ॥ श्रीकृष्णजी यह बंशीप्वनि भगवान्प्रति प्रेमभावसे, उनके मित्रकी आकाङ्क्षाको जगानेवाला थी । (उसे घुसकर गोपियोंका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो गया) वे एकान्तमें अपनी सखियोंसे उनके रूप, गुण और बंशीप्वनिके प्रभावका वर्णन करने लगीं ॥ ३ ॥ उनकी गोपियोंने बंशीप्वनिका माधुर्य आपसमें वर्णन करना चाहा तो अवश्य, परन्तु बरीकत स्तरण होते ही उन्हें श्रीकृष्णकी मधुर चेष्टाओंकी, प्रेमपूर्ण किम्बदन्ती, और किंकि हंशारे और मधुर मुसकान आदिकी याद हो आयी । उनकी भगवान्प्रति मित्रनेकी आकाङ्क्षा और 'श्री' कह गयी । उनका मन हाफसे निकल गया । वे मन-ही-मन वहाँ पहुँच गयीं, जहाँ श्रीकृष्ण थे । अब उनकी बाणी बोले कैसे ? वे उसके वर्णनमें असमर्थ हो गयीं ॥ ४ ॥ (वे मन-ही-मन देखने लगीं कि) श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ हृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं । उनके सिरपर मकर सिन्धु है और कर्णोंपर कनेरके पीले-पीले पुष्पा शरीरपर घुनहला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी वैद्ययन्ती माला है । रंगमण्डपपर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नटका-सा क्या ही सुन्दर रूप है ! बौंसरीके छिद्रोंको वे अपने अवरामृतसे भर रहे हैं । उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी ओकपाकन कीर्तिका गाव कर रहे हैं । इस प्रकार देकुण्डसे भी श्रेष्ठ यह हृन्दावनधाम उनके चरणचिह्नसे और भी रमणीय

इति वेशुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्
धृत्वा प्रजस्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ६ ॥

गोप्य जपुः

अक्षय्यतां फलमिदं न परं विदाम

सख्य पञ्चननु विवेक्षयतोर्वयस्यैः ।

वक्त्र प्रजेषुतयोरनुवेणु जुष्ट

वैवा निपीतमनुरक्तकणामोक्षम् ॥ ७ ॥

चूतप्रवालवर्हस्तनकोत्पलाञ्ज

मालानुष्टकपरिधानविचित्रवेपौ ।

मन्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां

रङ्गे यथा नटवरी क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥

गोप्यः किमाचरदयं कुञ्जल स वेणु

दामोदराभरमुधामपि गोपिकानाम् ।

सुप्ते स्वयं पदवशिष्टस इदिन्यो

हृष्यत्तचोऽधु सुमुनुस्तरभो यथाऽऽयाः ॥ ९ ॥

बन गया है ॥ ५ ॥ परीक्षित ! यह वंशीपनि जड़,
चेतन—समस्त भूतोंका मन पुरा लेती है । गोपियोंने
उसे सुना और सुनकर उसका वर्णन करने लगीं । वर्णन
करते-करते वे तन्मय हो गयीं और श्रीकृष्णको पाकर
आविष्टान करने लगीं ॥ ६ ॥

गोपियाँ आपसमें बातचीत करने लगीं—अरी
सखी ! हमने तो आँखबालोंके जीवनकी और उनकी
आँखोंकी बस, यही—इतनी ही सफ़रफ़ा समझी है;
और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है । वह कौन-सा
काम है ? वह यही है कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण
और गौरसुन्दर वसुधाम ग्वालबाळोंके साथ गावोंको
हॉककर वनमें ले जा रहे हों या छोटकर वनमें ला
रहे हों, उन्होंने अपने अघोरोंपर मुखी घर रक्खी हो
और प्रेममयी तिखी बितबनसे हमारी ओर देख रहे
हों, उस समय हम उनकी मुख-माधुरीका पान करती
रहें ॥ ७ ॥ अरी सखी ! जब वे आमकी मयी कोंपलें,
गोरोके पख, झुबोंके गुच्छे, रंग-बिरंगे कमल और
कुमुदकी माझाँ धारण कर लेते हैं, श्रीकृष्णके सौंदर्य
शरीरपर पीताम्बर और कन्धमके गेदरे शरीरपर नीलाम्बर
पहराने लगाता है, तब उनका वेप बड़ा विचित्र
बन जाता है । ग्वालबाळोंकी गोष्टीमें वे दोनों
बीचोबीच बैठ जाते हैं और मधुर सङ्गीतकी
तान छेड़ देते हैं । मेरी प्यारी सखी ! उस समय ऐसा
जान पड़ता है मानो दो चतुर नट रंगमञ्चपर अभिनय
कर रहे हों । मैं क्या बताऊँ कि उस समय उनकी
कितनी शोभा होती है ॥ ८ ॥ अरी गोपिया ! यह
वेणु पुरुषातिरिक्त होनेपर भी पूर्वजन्ममें न जाने
ऐसा कौन-सा साधन-मन्त्रन कर चुका है कि हम
गोपियोंकी अगम्य सम्पत्ति—दामोदरके अघोरोंकी सुधा
क्षयं ही इस प्रकार पिये जा रहा है कि हम लोगोंके
त्रिये चोड़ा-सा भी रस दोष नहीं रहेगा । इस वेणुको
अपने रससे सौंजनेवाली इदिनियों आज कमणोंके मिस
रोमाञ्जित हो रही हैं और अपने बशमें भगवत्प्रसी
सन्तानोंका देवकर श्रेष्ठ पुरुषोंके समान वृद्ध भी इसका
साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आँखोंसे आनन्दार्थ बहा
रहें ॥ ९ ॥

वृन्दावन सखि भूषो वितनोति कीर्ति

मधुदेवकी सुतपदाम्बुजलम्बलहिमा।

गोविन्दवेषुमनु मत्तमपूरनृत्यं

प्रेमयाद्रिसान्धपरतान्धसमस्तसन्धसु ॥१०॥

धन्वाः स मूढमतयोऽपि हरिण्य एता

या नन्दनन्दनमुपावविचित्रवेपसु ।

आकर्ष्य वेषुरक्तिं सहकृष्णसाराः

पूर्वा दधुर्विरचितां प्रणयावलोकाः ॥११॥

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपधील

भुक्ता च तत्कमितवेषुर्विचित्रगीतम् ।

देव्यो विमानगतयः सारनुसारा

अप्यत्रघनकवरा मधुहर्षिनीभ्यः ॥१२॥

बरी सखी ! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोकतक पृथ्वीकी कीर्तिका विस्तार कर रहा है । क्योंकि यशोदानन्दन श्रीकृष्णके चरणकमलोंके चिह्नोंसे यह चिह्नित हो रहा है । सखि ! जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजन्मोद्दिनी मुखी बजाते हैं, तब मोर मल्लासे होकर उसकी तन्मय माचने लगते हैं । यह देखकर पर्वतकी चोटियोंपर विचरनेवाले सभी पशु-पक्षी जुपचाप—शान्त होकर खड़े रह जाते हैं । बरी सखी ! जब प्राणवन्धन श्रीकृष्ण विचित्र वेष धारण करके बाँसुरी बजाते हैं, तब मूढ़ बुद्धिवादी ये हरिनियों भी बलीकी तब धुनकर अपने पति कृष्णसार धृगोंके साथ नन्दनन्दनके पास खड़ी जाती हैं और अपनी प्रेममयी बड़ी-बड़ी आँखोंसे उन्हें निरखने लगती हैं । निरक्षत्री क्या हैं, अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखें श्रीकृष्णके चरणोंपर निरूपण कर देती हैं और श्रीकृष्णकी प्रेममयी चितवनके द्वारा किया हुआ अपना सत्कर समझकर जाती हैं । वास्तवमें उनकी जीवन धर्म्य है । (इस वृन्दावनकी गोपी होनेपर भी इस प्रकार उनपर अपनेको निरूपण नहीं कर पाती, हमारे चरणसे कुछने लगते हैं । कितनी विहम्बला है !) ॥१०॥ ११॥ बरी सखी ! हरिनियोंकी तो बात ही क्या है—सर्गकी देवियों जब श्रुतियोंको आनन्दित करनेवाले सौन्दर्य और धीमेके खजाने श्रीकृष्णको देखती हैं और बाँसुरीपर उनके द्वारा गाया हुआ मधुर संगीत धुनती हैं, तब उनके चित्र-विचित्र आलप धुनकर वे अपने विमानर ही धुध-धुध खो बैठती हैं—मूर्छित हो जाती हैं । यह कैसे माक्षम हुआ सखी ! सुनो तो, जब उनके हृदयमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जग जाती है तब वे अपना धीरज खो बैठती हैं, थोड़ा हो जाती हैं; उन्हें इस बातका भी पता नहीं चलता कि उनकी चोटियोंमें गुप्ते हुए हृदय पृथ्वीपर गिर रहे हैं । यहाँतक कि उन्हें अपनी साक्षीय भी पता नहीं रहता, वह कतरसे छिसककर अजीबपर गिर जाती है ॥१२॥

आलिङ्गनस्वगितमूर्मिजैर्धुरारे

रुदन्ति पादपुगल कमरूपहाराः ॥१५॥

दृष्ट्वाऽऽतप ब्रजपशुं सह रामगोपैः

सम्भारयन्तमनु वैशुद्धीरयन्तम् ।

प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः

सस्युर्म्यमात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥१६॥

पूर्णाः पुलिन्य उरुगावपदाभ्रजराग

धीकुङ्कुमेन दपितात्तनमण्डितेन ।

दर्शनसररुजस्तृणरूपितेन

लिम्पन्त्य आननकृपेपु जहुस्तदाधिम् ॥१७॥

हन्तापमद्रिरज्जा हरितासवर्षी

यद् रामकृष्णचरणस्पर्शमोदः ।

रुक गया है । इन्होंने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी करीबनी सुन ली है । देखो, देखो ! ये अपनी तरफ़ोंके हाथोंसे उनके चरण पकड़कर कमरके कसोंका उपहार बना रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं, मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं ॥१५॥
अरी सखी ! ये नदियाँ तो हमारी धृष्णीकी, हमारे हृन्दावनकी वस्तु हैं, तनिक इन बाइबोंको भी रेलो । जब वे देखते हैं कि बभराजकुमार श्रीकृष्ण और कम्भारजजी आलम्बनोंके साथ घूमने गौरे गए थे हैं और साथ-साथ बौसुरी भी बजाते जा रहे हैं, तब उनके हृदयमें प्रेम उमड़ जाता है । वे उनके ऊपर पैरपने लगते हैं और वे श्यामवन अपने सखा बभ्रवान्के ऊपर अपना करीरको ही छाता बनाकर तान देते हैं । इतना ही नहीं, सखी ! वे जब उनपर नन्ही-नन्ही पुदियोंकी बर्षा करने लगते हैं, तब ऐसा जाल पड़ता है कि वे उनके ऊपर सुन्दर-सुन्दर स्नेह कुसुम बना रहे हैं । नहीं सखी, उनके बहाने वे तो अपना जीवन ही निछावर कर देते हैं ॥ १६ ॥

अरी भट्ट ! हम तो हृन्दावनकी इन भीवनिषोंको ही जम्प और कृतज्ञता मानती हैं । ऐसा क्यों सखी ! इसलिये कि इनके हृदयमें बड़ा प्रेम है । जब वे हमारे कृष्ण-प्यारेको देखती हैं, तब इनके हृदयमें भी उनके मित्रनेकी सीन आकाङ्क्षा जाग उठती है । इनके हृदयों में प्रेमकी स्थापि बग जाती है । उस समय ये कृष्ण वपाव करती हैं, यह भी सुन लो । हमारे प्रियतमकी प्रेक्षणी श्रेष्ठि अपने ब्रज स्वर्गोंपर जो केशर लगाती हैं, वह श्याम-सुन्दरके चरणोंमें मगी होती है और वे जब हृन्दावनके पास-पासपर चलते हैं, तब उनमें भी रम जाती है । ये सीमाव्यवती भीवनिषों उन्हें उन मिलनोपरते सुहाकर अपने स्वर्गों और मुक्तोंपर मग लेती हैं और इस प्रसन्न जगम हृदयकी प्रेम-मीमा क्षान्त करती हैं ॥ १७ ॥
अरी गारियो ! यह गिरिश्रम गोवर्द्धन तो भगवन्के मक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है । भग्य है इसक माय । यगनी नदी का, हमारे प्राणबल्लभ श्रीकृष्ण और अपनाभिराम बभ्रवान्के चरणबभ्रवोंका स्पर्श प्राप्त करके यह विनया आनन्दित रहता है । इसके मायगी सहाइना जीवन बर । यह तो उन दोनोंका—गद्यबद्यकी

मान तनोति सहगोगणयोस्तयोर्धत्

पानीयधूपवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१८॥

गा गोपकैरनुघनं नयतोस्वाम

वेणुस्रनैः कलपदैस्तनुमृत्सु सरस्यः ।

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तकृणां

निर्योगशशुकुतलछणयोर्विचित्रम् ॥१९॥

एवंविधा भगवतो या हृन्दावनचारिण ।

वर्षयन्त्यो मियो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसा संहितायां दशमस्कन्धे पूर्व्वे

वेणुगीतं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

वीरहरण

श्रीशुक उवाच

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिका ।

चेरुर्विष्यं सुझानाः कात्स्यायन्यर्चनप्रतम् ॥ १ ॥

आप्सुत्याम्भसि फालिन्द्या जलान्ते षोदितेऽरुणे ।

कृत्वा प्रतिकृतिं दधीमानर्षुर्नृप सकृतीम् ॥ २ ॥

वीर गौर्वोक्त बड़ा ही सत्कार करता है । स्नान-पानके लिये झरनोंका जल देता है, गौर्वोके लिये सुन्दर हरी हरी घास प्रस्तुत करता है । विभ्राम करनेके लिये कन्दएण्ड और खानेके लिये कन्द-मूल-फल देता है । घासबमें यह धन्य है । ॥ १८ ॥ अरी सुखी ! इन सौख्ये-गोरे किरातों की तो गति ही निराली है । जब वे सिरपर नोकना (दुहते समय गाएके पैर बाँधनेकी रस्ती) छपेटकर और कंधोंपर फटा (भागनेवासी गायोंको पकड़नेकी रस्ती) रखकर गायोंको एक बनसे दूसरे बनमें हॉककर ले जाते हैं, साथमें गालबाल भी होते हैं और मधुर मधुर संगीत गाते हुए बाँसुरीकी तान छेड़ते हैं, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, कप्य शरीरचारियोंमें भी चलनेवाले चेतन पशु-पक्षी और जड़ नदी आदि तो स्थिर हो जाते हैं तथा अचल-वृक्षोंको भी रोमाञ्च हो जाता है । जादूसी वशीकर और क्या कमखर सुनाऊँ ॥ १९ ॥

परीक्षित् । हृन्दावनविहारी श्रीकृष्णकी ऐसी-ऐसी एक नहीं, अनेक क्रीड़ाएँ हैं । गोमियों प्रतिदिन आपसमें उनका कर्णन करतीं और तन्मय हो जातीं । भगवान्की छीछाएँ उनके हृदयमें स्फुरित होने लगतीं ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् । अब हेमन्त ऋतु आया । उसके पहले ही महीनेमें अर्षत् मागशीर्षमें मन्त्रबाबाके व्रजकी कुमारियों कात्यायनी देवीकी पूजा और व्रज करने लगीं । वे केवल हविष्यात्म ही खाती थीं ॥ १ ॥ राजन् । वे कुमारी कन्याएँ पूर्व दिशका क्षितिज आल होते-होते यमुनाजलमें स्नान कर लेतीं और तन्पर ही देवीकी वासुक्रमयी मूर्ति बनाकर

आलिङ्गनस्यनिगममिदमेवैवरे

गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१५॥

इष्टाऽऽस्ये ब्रजपञ्चन सह रामगोपैः

सञ्चारयन्तमनु वेशुसुदीरयन्तम् ।

प्रेममद्वद उदितः कुसुमावलीभि

सम्पुष्पैश्चात् स्ववपुषाम्बुद आतपप्रभम् ॥१६॥

पूर्वाः पुलिन्य उरुगायपदाम्बराग-

भीकृद्भुजेन दमितास्तनमण्डितेन ।

सदर्शनसररुजम्बुनरूपितेन

लिम्पन्त्य आननकृषेण अहुस्तदाधिम् ॥१७॥

हन्तापमद्रिरवला

हरितासवर्षे

यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।

रुक गया है । इन्होंने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी बरीफ्त सुन ली है । देखो, देखो ! ये अपनी तरफ़ोंके हाथों उनके चरण पकड़कर कमलके फूलोंका उपहार ल रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं, मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं ॥१५॥ ली सखी । ये सदियों तो हमारी धृष्णीकी, हम बुद्धावनकी कस्तुरी हैं; तनिक इन बादलोंको भी देखो जब वे देखते हैं कि ब्रजराजकुमार श्रीकृष्ण के कलशमयी ग्लाकवालोंके साथ धूपमें गौएँ चरा रहे और साय-साय बौहुरी भी बनाते जा रहे हैं, तब उनके हृदयमें प्रेम उमक जाता है । वे उनके ऊपर मैकठ लगाते हैं और वे श्यामवन अपने सखा घनश्याम के ऊपर अपने शरीरको ही छाता बनाकर तान बैठे हैं इतना ही नहीं, सखी ! वे जब उनपर मन्दी-नन कुहियोंकी कर्मा करने लगते हैं, तब ऐसा जान पड़ है कि वे उनके ऊपर सुन्दर-सुन्दर श्वेत कुसुम ल रहे हैं । नहीं सखी, उनके बहाने वे तो अपना जीवन ही निछावर कर बैठे हैं ॥ १६ ॥

अरी मूट ! हम तो बुद्धावनकी इन भीकनियोंको ही घन्य और कृतकृत्य मानती हैं । ऐसा क्यों सखी ! इसलिये कि इनके हृदयमें बड़ा प्रेम है । जब वे हमारे कृष्ण-प्यरेको देखती हैं, तब इनके हृदयमें भी उनसे मिक्कनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठती है । इनके हृदयों में प्रेमकी आगि जग जाती है । उस समय ये क्या उपास करती हैं, यह भी सुन लो । हमारे प्रियतमकी प्रेम्सी गोमिर्षी अपने गच्छ स्वर्गोंपर जो केसर लगाती हैं, यह कृष्ण-सुन्दरके चरणोंमें लगी होती है और वे जब बुद्धावनके पास-पातपर चक्कते हैं, तब उनमें भी लग जाती है । ये सौभाग्यवती भीकनियों उन्हें उन तिमकनेरसे छुवाकर अपने स्वर्गों और मुखोंपर मक लेती हैं और इस प्रकार अपने हृदयकी प्रेम-सीमा शांत करती हैं ॥ १७ ॥ अरे गोपियो ! यह गिरिधर गोवर्धन तो कृष्णके भक्तोंमें बहुत ही प्रेष्ठ है । घन्य हैं इसके माग्य ! देखनी नहीं हो, हमारे प्राणबल्लभ श्रीकृष्ण और मफनामिराम बल्लभके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके यह कितना आनन्दित रहता है ! इसके माग्यकी सपनामा कोम करे ! यह तो उन दोनोंका—आकाङ्क्षा

मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्थत्

पानीपक्षयसकन्दरकन्दमूलैः ॥१८॥

गा गोपकैरुवनं नपतोरुदार

वेणुस्वनं कलपदैस्तनुमृत्सु सख्यः ।

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरुणां

निर्योगशशकुलक्षणयोर्विचित्रम् ॥१९॥

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनधारिण ।

वर्षवन्त्यो मिथोगोप्य क्रीडान्तन्मयतां ययुः ॥२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसा संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्धे

वेणुगीतं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

वीरहरण

वीरगुह उवाच

हेमन्ते प्रथम मासि नन्दप्रभुमारुका ।

पेरुहविष्यं सुप्राना कात्यायन्यर्चनघटम् ॥ १ ॥

आप्तुम्याम्भसि कानिन्दा अतान्त चोदितेऽरुण ।

कृत्वा प्रतिवृत्तिं दधीमाननुनृप मकतीम् ॥ २ ॥

और गौओंका बड़ा ही सत्कार करता है । स्नान-गानके लिये झरनोंका जल देता है, गौओंके लिये सुन्दर हरी हरी घास प्रस्तुत करता है । विधाम करनेके लिये कन्दराएँ और खानेके लिये कन्द-मूल-फल देता है । वास्तवमें यह कथ्य है ॥ १८ ॥ अरी सखी ! इन सौंकरे-गोरे किशोरों की तो गति ही निराखी है । जब वे सिरपर मोवना (दुहते समय गायके पैर बाँधनेकी रस्ती) छपेटकर और कंधोंपर फंदा (भगनेवासी गायोंको पकड़नेकी रस्ती) रखकर गायोंको एक बनसे दूसरे बनमें हॉककर ले जाते हैं, साथमें गालबाल भी होते हैं और मधुर मधुर संगीत गाते हुए बाँसुरीकी तान छेड़ते हैं, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, अन्य शरीरधारियों-में भी चलनेवाले खेनन पझु-पझी और जड़ नदी आदि तो स्थिर हो जाते हैं तथा अचल-वृक्षोंको भी रोमाञ्च हो आता है । जादूमी वंशीका और क्या चमत्कार सुनाऊँ ! ॥ १९ ॥

परीक्षित ! वृन्दावनविहायी धीवृष्णकी ऐसी-ऐसी एक नहीं, अनेक लीलाएँ हैं । गोपियों प्रतिदिन आपसमें उनका वणन करतीं और तन्मय हो जातीं । भगवान्की धीवृष्ण उनके हृदयमें स्फुरित होन लगतीं ॥ २० ॥

वीरगुहदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! जब हेमन्त ऋतु आयी । उसका पहल ही महीनेमें अर्पाद मागशीर्षमें मन्त्राबाधक व्रजकी कुमारियों फलत्यागनी देवीकी पूजा और व्रत करने लगीं । वे केवल हविष्यान्न ही खाती थीं ॥ १ ॥ राजन् ! वे कुमाठी कन्यारें पूर्वं शिष्टका शिनित्र त्याग हाटे-हाते समुनाग्रकर्म स्नान कर लेतीं और तन्मय हो देवीकी बायुक्रमपा मूर्ति बनाकर

गर्भमात्मैः सुरभिर्भिलिभिर्धूपदीपकैः ।

उद्यानचैषोपहारैः प्रवालफलसङ्कुलैः ॥ ३ ॥

कस्तूपायनि महात्माये महायोगिन्यधीश्वरि ।

नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।

इति मन्त्रं जपन्त्यस्ता पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥ ४ ॥

एवं मासं व्रतं चरुः कुमायः कृष्णचतस्रः ।

भद्रकालीं समानधुर्म्यामन्दसुतं पतिं ॥ ५ ॥

उपस्युरथाय गात्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।

कृष्णमुखैर्बर्गुर्गन्तयः कालिन्यां स्नातुमन्वहम् ॥ ६ ॥

नद्यां कदाचिदमात्यं तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।

वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजङ्गुः सलिले मुदा ॥ ७ ॥

भगवान्भद्रमिष्येत् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।

वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥ ८ ॥

तासां वासांस्पृशदाय नोपमारुह्य सस्वरः ।

इसङ्गिः प्रहसनं यातुं परिहासमुवाच ॥ ९ ॥

अत्रागतपावता कामस्यैर्वासाः प्रगृह्यताम् ।

सत्यमवाणि नो नमः यद्दूष्य व्रतकथिता ॥ १० ॥

न मपोदितपूष षा अनुष सदिमं त्रिदु ।

एकैकशः प्रताण्डध्वं सहैवाव सुमप्यमा ॥ ११ ॥

सुगन्धित चन्दन, झूलोंके द्वार, मोति-मोतिके नैवद्य, धूप-दीप, छोटी-बड़ी भेंटकी सामग्री, पल्लव, फल और चाकड़ आदिसे उनकी पूजा करती ॥ २ ॥ सच ही होकरमायनी । हे महात्माये । हे महायोगिनी । हे सबकी एकमात्र स्वामिनी । आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमसे पति बना दीजिये । जेबि । इस आपके घरगोमे ममस्कार करती हैं ।— इस मन्त्रका जप करती हुई ये कुमारिकाँ देवीकी आराधना करती ॥ ३ ॥ इस प्रकार उन कुमारिकाँ ने, भिनका मन श्रीकृष्णपर निछावर हो चुका था, इस सङ्कल्पके साथ एक गद्दीनेतक मक्काहीकी मन्त्रीमोति पूजा की कि 'मन्दनन्दन क्यामसुन्दर ही हमारे पति हों' ॥ ५ ॥ ये प्रतिदिन सवाकड़में ही नाम ले-लेकर एक-दूसरी सखीको पुकार लेतीं और परस्पर हाथ-में-हाथ डालकर ऊँच स्वरसे भगवान् श्रीकृष्णकी कृष्ण तथा नामोका गान करती हुई यमुनाजलमें स्नान करनेके लिये जातीं ॥ ६ ॥

एक दिन सब कुमारियोंमें प्रतिदिनकी मोति यमुनाजी-के तटपर जाकर अपने-अपने बख उतार दिये और भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंका गान करती हुई सब आनन्द से जल-क्रीडा करने लगीं ॥ ७ ॥ परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण उनकादि योगियों और शास्त्र आदि योगेश्वरोंके सी ईश्वर हैं । उनसे गोपियोंकी अभिप्राया छिपी न रही । वे उनका अभिप्राय जानकर अपने सखा गान्धर्वोंके साथ उन कुमारियोंकी साधना सफल करनेके लिये यमुना-तटपर गये ॥ ८ ॥ उन्होंने एकछे ही उन गोपियोंके सारे बख उठा लिये और बड़ी पूर्णसे वे एक कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये । साथी गान्धर्वोंक ठठ-ठठकर हँसने लगे और साथ श्रीकृष्ण ही हँसते हुए गोपियोंके हँसीकी बात कहने लगे ॥ ९ ॥ 'जरी कुमारियाँ ! तुम यहाँ आकर इच्छा हो तो अपने अपने बख ले जाओ । मैं तुमसेगोसे सच-सच कहता हूँ । हँसी बकसुन नहीं करता । तुमलोग मन करते-करते दुबनी हो गयी हो ॥ १० ॥ ये मेरे सखा गान्धर्वान् जानने हैं कि मैंने कभी कोई छठी बात नहीं कही है । सुन्दरियो ! तुम्हारी इच्छा हो तो अचग-बखग आकर अपने-अपम बख लो, या सब एक साथ ही जाओ । मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है ॥ ११ ॥

तस्य तत् स्वेष्टितं दृष्ट्वा गाप्य प्रमपरिप्लुता ।

श्रीश्रिता प्रक्ष्य चान्मोन्वं आतहासा न निर्बन्धुः ॥१२॥

एवं ध्रुवसि गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसा ।

आकण्ठमग्रा श्रीतोदे धेपमानास्तमध्रुवन् ॥१३॥

मानय भो कृपास्त्वांस्तु नन्दगोपसुतप्रियम् ।

जानीमोऽङ्गप्रवक्ष्याम्य देहि वामांसि धेपिता ॥१४॥

भ्याममुन्दर ते दास्य करवाम तथोदितम् ।

देहि वासांसि धर्मज्ञ ना चेद् राक्ष भुवामहे ॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ।

अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिसिता ॥१६॥

ततो जलागयात् सर्वादारिका शीतधेपिताः ।

पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोचरु शीतकर्शिता ॥१७॥

भगवानाहता वास्य शुद्धभाषप्रमादित ।

स्कन्धे निधाय वामांसि प्रीत प्रोवाच ममिव ॥१८॥

युयं विषया यदेषा धृतप्रता

म्यगाहस्तवत्तु देयहतनम् ।

वृष्याञ्जलि मूर्ध्निपनुसर्पेऽहस

कृत्वा नमाऽभा वमर्न प्रशृणुताम् ॥१९॥

भगवान्की यह हँसी-मसखी देखकर गोपियोंका हृदय प्रेमसे सखबोर हो गया । वे तनिक सङ्काकत एव-दूसरीकी ओर देखने और मुसकराने लगीं । जइसे बाहर नहीं निकलीं ॥ १२ ॥ अब भगवान्ने हँसी-हँसीमें यह बात कही, तब उनका निमोदसे कुमारियोंका चित और भी उनकी ओर खिच गया । वे ७३ पानीमें कण्ठ-तक हँसी हुई थीं और उनका शरीर पर-पर काँप रहा था । उन्होंने श्रोत्रगते कहा— ॥ १३ ॥ प्यारे श्रीहृष्य । तुम एसी जनीति मत करो । हम जानती हैं कि तुम नन्दबाबाके आइसे आल हो । हमारे प्यारे हो । सारे ब्रजवासी तुम्हारी सराहना करते रहते हैं । देखो, हम जाड़े के मारे ठिठुर रही हैं । तुम हमें हमारे बख दे दो ॥ १४ ॥ प्यारे श्यामसुन्दर । हम तुम्हारी दासी हैं । तुम जो कुछ कहोगे, उसे हम करनेको तैयार हैं । तुम ता धर्मका मर्म मखीमोसि जानते हो । हमें कष्ट मत दो । हमारे बख हमें दे दो । नहीं तो हम जाकर नन्दबाबासे कह देनी ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णन कहा—कुमारियो । तुम्हारी मुसकान पवित्रता और प्रेमसे भरी है । देखो, जब तुम अपनेको मेरी दासी खाकर करती हो और मेरी आज्ञा का पालन करना चाहती हो, ता यहाँ आकर अपन अपने बख ले लो ॥ १६ ॥ परीक्षित । वे कुमारियों ठहसे ठिठुर रही थीं, काँप रही थीं । भगवान्की एसी बात सुनकर वे अपने दोनों हाथोंसे गुत अङ्गोंका छिया कर यमुनाजीसे बाहर निकलीं । उस समय टंड ठण्डे बहुत हैं सदा रही थी ॥ १७ ॥ उनके इस श्रुद्ध भावसे भगवान् बहुत हैं प्रसन्न हुए । उनका जवन पास जायी देखकर उन्होंने गोपियोंके वस्त्र जवने कंधपर रख जिये और बड़ी प्रसन्नतासे मुसकराते हुए बोले— ॥ १८ ॥ 'जरी गोपियो ' तुमन जो मन दिया था, उमे कण्ठी तरह निमाया है—इसमे सम्दह नहीं । परन्तु इस अवस्थामें वस्त्रहीन होकर तुमन जन्ममें स्नात किया है, इससे ता जन्मक अभिजातुदवता वरगक तथा यमुनाजी-का अवराध हुआ है । अब अब इस दारकी क्षान्तिक जिये तुम जवने हाथ आइकर मिरसे गंगावा आर उम्हें शुरुकर प्रणम कर नमज्जर करने-अपने वस्त्र मे

इत्यप्युतेनाभिहितं यन्नाथला

मत्वा विषखापुर्बर्नं प्रतप्युतिम् ।

तप्युतिं कामास्तद्व्यपेक्षकर्मणां

साक्षात्कृत नेमुरषद्यमृगं यतः ॥२०॥

वास्तवावनसा हृद्भा भगवान् देवकीसुतः ।

वासांसि वात्म्यः प्रापच्छत् कुरुवस्तेन तोषितः ॥२१॥

हृदं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः

प्रतोभिता श्रीजनकश्च कारिताः ।

वस्त्राणि वैवापहृतान्पथाप्यसु

ता नाम्पक्षपन् प्रियसङ्गनिर्हृताः ॥२२॥

परिभय खवासांसि प्रेष्टसङ्गमसज्जिताः ।

गृहीतविषा नो चतुस्तस्मिँल्लज्जामितोषणाः ॥२३॥

वासां विद्वाय भगवान् स्ववादस्पर्शकाम्यया ।

वृत्तप्रदानां संकल्पमाह दामादरोऽबला ॥२४॥

संकल्प्या विद्रितः सांख्य्या भवतीनां मद्दर्शनम् ।

मयानुमोदितः साऽसां मर्या भवितुमहति ॥२५॥

न मर्यावेणितभिषां कामः कामाय फलपत ।

भविता वधिता धाना प्राया रीजाय नेप्यत ॥२६॥

आयो ॥ १९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उन ब्रजकुमारियोंने ऐसा ही समझा कि वास्तवमें वस्त्रहीन होकर स्नान करनेसे हमारे वस्त्रमें दुष्टि आ गयी । अब उसकी निर्बिम्ब पूर्तिके लिये उन्होंने समस्त कर्मोंके साक्षी श्रीकृष्णको नमस्कार किया । क्योंकि उन्हें नमस्कार करनेसे ही सारी दुष्टियों और अपराधोंका मार्जन हो जाता है ॥ २० ॥ अब यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि सब-की-सब कुमारियों मेरी आज्ञाके अनुसार प्रणाम कर रही हैं तब वे बहुत ही प्रसन्न हुए । उनके हृदयमें कष्टना उभर आयी और उन्होंने उनके कष्ट दे दिये ॥ २१ ॥ प्रिय परीक्षित ! श्रीकृष्णने कुमारियोंसे छलमी बातें कीं, उनका लज्जा-सङ्कोच छुड़ाया, ईंसी की और उन्हें कठपुनलियोंके समान बचाया; प्यौंताक कि उनके वस्त्रतक हर लिये । फिर भी वे उनसे उध नहीं हुईं, उनकी इन वेदनाओंको दोष नहीं माना, बल्कि अपने प्रियतमके सङ्गने वे और भी प्रसन्न हुईं ॥ २२ ॥ परीक्षित ! गायियोंने अपने-अपने वस्त्र पहन लिये । परन्तु श्रीकृष्णने उनके विचको इस प्रकार अपने वधमें कर रक्खा था कि वे बहसि एक पग भी न चल सकीं । अपने प्रियतमके समागमके लिये सबकर वे उन्हींकी ओर लगीकी वितचमसे निहारती रहीं ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उन कुमारियोंने उनके वरणकर्मोंके स्पर्शकी काम्यमासे ही लज्जा धारण किया है और उनके जीवनका यही एकमात्र सङ्कल्प है । तब गोपियोंके प्रेमक लीन होकर ऊन्मत्तकमें बँध जानेवाले भगवान् उनसे कहा— ॥ २४ ॥ 'मेरी परम प्रयत्नी कुमारिया ! मैं तुम्हारा यह सङ्कल्प जानता हूँ कि तुम मेरी पूजा करना चाहती हो । मैं तुम्हारी इस अभिप्राय-का अनुयोग्य करता हूँ तुम्हारा यह सङ्कल्प सत्य होगा । तुम मेरी पूजा कर सकोगी ॥ २५ ॥ जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रक्खा है उनकी काम्यमाँ उन्हें सांसारिक भाग्योक्षी और ऐं जानेमें समर्थ नहीं होती टीक वमे ही, जैसे मुने या उवाच हुए बीज कि अद्वैतके रूपमें उनको योग्य नहीं रह जाते ॥ २६ ॥

यस्ताबला घर्वं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपा ।

इसलिये कुमारियो! अब तुम अपने-अपने घर सौट जाओ।
तुम्हारी साधना सिद्ध हो गयी है। तुम आनेवाली शरद्
ऋतुकी रात्रियोंमें मेरे साथ विहार करोगी। सतिथो।
इसी उद्देश्यसे तो तुम-गोर्गोने यह व्रत और कात्यायनी
देवीकी पूजा की थी। १७ ॥ २७ ॥

यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेष्टार्यार्चनं सतीः ॥२७॥

* चौर-हरणके प्रसंगको लेकर कई तरहकी साझाएँ की जाती हैं, अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है। वास्तवमें बात यह है कि सच्चिदानन्दधन भगवान्की दिव्य मधुर रसमयी लीलाओंका रहस्य जाननेका सौम्यग्य बहुत थोड़े लोगोंको होता है। जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीला भी चिन्मयी ही होती है। सच्चिदानन्द-रसमय-साक्षात्कारके जिस परमोन्नत स्तरमें यह लीला हुआ करती है, उसकी ऐसी निष्कण्ठाता है कि कई बार तो ज्ञान-विज्ञानस्वरूप विद्युत् केतन परम ज्ञानमें भी उसका प्राकट्य नहीं होता और इसीलिये ज्ञान-साक्षात्कारको प्राप्त महारमा जग भी इस छीछा-रसका समासादन नहीं कर पाते। भगवान्की इस परमोन्नत दिव्य-रस-लीलाका यथार्थ प्रकाश तो भगवान्की स्वरूपमृता ह्लादिनी शक्ति नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीहृषमाण्डिनी श्रीराधाजी और तदङ्गमृता प्रेममयी गोपियोंके ही हृदयमें होता है और वे ही निरावरण होकर भगवान्की इस परम अन्तरङ्ग रसमयी लीलाका समासादन करती हैं।

यों तो भगवान्के अम-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं, परन्तु जबकी लीला, जन्ममें निकुञ्जलीला और निकुञ्जमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वश्रेष्ठतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरङ्ग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपी जनोंको ही है। अस्तु,

दशम स्कन्धके इसीसर्गमें अध्यायमें ऐसा वर्णन आया है कि भगवान्की रूप-मधुरी, वशीष्मि और प्रेममयी लीलाएँ देख-सुनकर गोपियाँ मुग्ध हो गयीं। बार्सर्गमें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये वे साधनमें लग गयी हैं। इस अध्यायमें भगवान् आकर उनकी साधना पूर्ण की है। यही चौर-हरणका प्रसङ्ग है।

गोपियों क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्णक प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, श्रीकृष्णक साथ इस प्रकार धुल-मिश्र आना कि उनके रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वशीष्मि की चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पक्षे ही महीनेमें अर्थात् भगवान्के बिभूनिस्वरूप मागशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो गयी। विजय उनके लिये असंभव था। माघके दिनमें वे प्राप्त कर ले गयीं आनन्द के लिये जातीं; उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी। बहुत सी कुमारी गाम्भिर्ण एक साथ ही जातीं, उनमें इर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे उन्हें घरसे श्रीकृष्णका नामकीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गौष और जालिवालोंका भय नहीं था। वे घरमें भी हविष्याभक्त्य ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माना पितातकका सङ्कोच नहीं था। वे निषिद्धक देवीकी बाहुकामयी पृथ्वी बसाकर पूजा और मन्त्र जप करती थीं। अपने इस कष्टका सर्वथा उचित और प्रशस्त मादमी थी। एक वाक्यमें—उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म सङ्कोच और व्यक्तिगत भगवान्के कारणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था। वे यही अपनी रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही। परन्तु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी। वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णक सामने नहीं आ रही थीं, उनमें थोड़ी शिक्षक थी। उनकी यही शिक्षक दूर करनेके लिये—उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण कराने के लिये उनका आचरण मङ्गल कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आचरणरूप चौर हर समा अस्ती

या और यही काम मगवान् श्रीकृष्णने किया । इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपने मित्र वाञ्छनाल्येके साथ यमुनातटपर पवारे थे ।

साधक अपनी शक्तिये, अपने बल और सङ्कल्पसे केवल अपने निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता । समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है । ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब मगवान् स्वयं जाकर वह सङ्कल्प स्वीकार करते हैं और सङ्कल्प करनेवालेको भी स्वीकार करते हैं । यही जाकर समर्पण पूर्ण होता है । साधकका कर्तव्य है—पूर्ण समर्पणकी तैयारी । उसे पूर्ण तो मगवान् ही करते हैं ।

मगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं, फिर भी अब अपनी लीला प्रकट करते हैं तब मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते, स्थापना ही करते हैं । विधिक अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता । परतु हृदयकी निष्कपन्ता, सच्चाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी शिथिल कर देता है । गोपियों श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी । वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लङ्घन करके नग्न काम करती थीं । यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी, तथापि मगवान्के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था । मगवान्ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया । जो लोग मगवान्के प्रेमके नामपर विधिका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यह प्रसङ्ग प्याससे पढ़ना चाहिये और मगवान् शास्त्रविधिक किन्ना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये ।

वैद्य भक्तिक पर्यवसान रागात्मिका भक्तिमें है और रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है । गोपियोंने वैद्य भक्तिका अनुष्ठान किया, उनकी हृदय तो रागात्मिका भक्तिसे भरा हुआ था ही । अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये । बीरहरणके द्वारा यही कार्य सम्पन्न होता है ।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वर्ग-परमाश्व, आति-कुल, पुरमन-परिजन और गुरुजनोंकी पसन्द नहीं की, जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना सर्वस्व निष्ठावर कर रक्खा है, जिनसे निराकरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा है, उन्हें निराकरण रसमय भगवन् श्रीकृष्णके सामने वे निराकरण भावसे न आ सकें—क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है ? है, अवश्य है । और यह समझकर ही गोपियों निराकरणरूपसे उनके सामने गयीं ।

श्रीकृष्ण चत्वर प्रकृतिके एकमात्र ज्वीवर हैं समस्त क्रियाओंके कर्ता, श्रेष्ठा और साक्षी भी यही हैं । ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है, जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो । यही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं । गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके यही आत्मा हैं । उन्हें खामी, गुरु, पिता, माता, स्वयं, प्रति आदिके रूपमें मानकर भोग उन्होंने ही संपादना करते हैं । गापियों उन्होंने मगवान्को नाम धृष्टकर कि यही मगवान् हैं—यही योगेश्वरवर, क्षरक्षरशीत पुरुषोत्तम हैं—प्रतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं । श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्धका अष्टाभाषसे पाठ कर जानेपर यह अर्थ बहुत ही स्पष्ट हो आती है कि गोपियों श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपका जानती थीं, पहचानती थीं । वेणुगीत, गोप्रीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्यामी हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है । जो लोग मगवान्को मगवान् मानते हैं उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं, उनके हृदयमें गोपियोंके इस ओकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति सच्चा ही कैसे हो सकती है ।

गोपियोंकी इस दिव्य श्रीकाका जीवन उच्च भोगीके साधकके लिये आदर्श जीवन है । श्रीकृष्ण जीनके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं । हमारी बुद्धि, हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है । इसलिये हम श्रीकृष्ण

और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकल्पित समझ बैठते हैं। उस अपार्षित और अप्राकृत लीला को इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट आना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकार परिणाम है। नीकता मम भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमागुणी प्रवृत्तियोंसे अभिमूल रहता है। वह विषयोंमें ही इधर-से-उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके राग-शोकसे व्याकान्त रहता है। अब कभी पुण्यकर्मोंके फल उदय होनेपर भगवान्की अविम्व अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है, तब भी वह दुःखालासे श्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंके शान्ति-मय चापमें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है। वह भगवान्के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्सङ्ग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छत्रपट्टी उस आकाङ्क्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े बेगसे परमत्मा की ओर चल पड़ती है। चिरकाञ्छसे विषयोंका ही अम्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विशेषोंका सामना करना पड़ता है। परन्तु भगवान्की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्की सच्चिद्विद्य अनुभव भी होने लगता है। पोषा-सा रसका अनुभव होते ही चित्त बड़े बेगसे अ-सर्दशमें प्रवेश कर जाता है और भगवान् मार्गदर्शकके रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केन्द्रके रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अमय, अपूर्णता और सीमाका वन्धन गढ़ हो जाता है, विद्युद्द आमन्द—विद्युद्द ज्ञानकी अनुमूर्ति होने लगती है।

गोपियों, जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्की अन्तरङ्ग लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकाञ्छसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिचासके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्की इच्छाके अनुसार उनके दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त मार्गोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्णकी धौंसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-झुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं। उनकी किंत्तनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे किताना प्रेम करते हैं—यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वक्त्रोंके रूपमें उनके समस्त संस्कारोंके आचरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर चढ़कर बैठ गये। गोपियों जन्म थीं, वे जन्मसे सर्वव्यापक सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस लक्ष्यको मूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जन्म ही नहीं हैं अपर जन्मस्वरूप भी वही हैं। उनके पुष्टने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जाननेमें बाधक हो रहे थे, वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ मूल गयी थीं परन्तु अबतक अपनेको नहीं मूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णका, परन्तु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियत्वके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है सर्वथा स्थानान्तरित, अबाध और अव्यक्त मिथुन। जहाँतक अपना स्वयं—इसका विस्तार चाहितना हो—प्रेमकी आकांक्षामें मग्न नहीं कर दिया जाता, जहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए, 'ध्रुव मात्रसे प्रसन्न हुए' (ध्रुवमात्रप्रसादित) श्रीकृष्णने कहा कि मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी मूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो? गोपियोंने मानो कहा—श्रीकृष्ण! हम अपनेको कैसे मूछें? हमारी जन्म-जन्मकी भारणएँ मुझ दे, तब न। हम संसारके जगाध जन्मों काकण्ठ मग्न हैं। आइका कछ भी है। हम आमा चाहनेपर भी नहीं आ पाती हैं। श्यामसुन्दर! प्राणोंके प्राण! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आकांक्षोंका पालन करेंगी। परन्तु हमें निराकरणकरके अपने सामने मत्त ठुलाओ।

तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। उनके सम्पर्कमें जाकर माया शुद्ध विद्या बन जाती है। संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। सब ब्रह्माका भय नहीं रहता। कोई भी कारण भगवान्‌क दर्शनसे बञ्चित नहीं रह सकता। नरक नरक नहीं रहता, भगवान्‌का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है। इसी स्थितिमें पहुँचकर बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषस्य समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी होकर गोपियों पुन वे ही वस्त्र धारण करती हैं जवना श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण करते हैं, परन्तु गोपियोंकी दृष्टिमें अब ये वस्त्र नहीं हैं, वस्तुतः वे ही भी नहीं—अब तो ये हस्ती ही वस्तु हो गये हैं। अब तो ये भगवान्‌क पावन प्रसाद हैं, पल-पलपर भगवान्‌का स्मरण करानेवाले भगवान्‌के परम सुन्दर प्रतीक हैं। इसीसे उन्होंने स्वीकार भी किया। उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाक ऊपर थी फिर भी उन्होंने भगवान्‌की इच्छासे मर्यादा स्वीकार की। इस दृष्टिमें विचार करनेपर ऐसा ज्ञान पड़ता है कि भगवान्‌की यह चरित्र-लीला भी अन्य लीलाओंकी मूर्ति उत्तमम मर्यादासे परिपूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल वे ही प्राचीन आर्यस्य प्रमाण हैं, जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है। उनमेंसे एक भी ऐसा प्रमाण नहीं है, जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्‌का वर्णन न हो। श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, यही बात सर्वत्र मिलती है। जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन प्रमाणोंकी भी नहीं मानते। और जो इन प्रमाणोंकी ही प्रमाण नहीं मानते, वे इनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण चरित्रकी समीक्षा करनेका अधिकार भी नहीं रखते। भगवान्‌की लीलाओंको मानवीय चरित्रके समकक्ष रखना शास्त्र-दृष्टिसे एक महान् अपराध है और उसके अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है। मानवबुद्धि—जो स्थूलार्थोंसे ही परिबेधित है—केवल जड़के सम्बन्धमें ही सोच सकती है, भगवान्‌की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना हो नहीं कर सकती। वह बुद्धि स्वयं ही अपना ठपकास करती है, जो समस्त बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले परमात्माकी दिव्य लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है।

हृदय और बुद्धिके सर्वथा विरहीत होनेपर भी यदि बोझी देके लिये मान लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे या उनकी यह छोटा मानवी थी, तो भी तब और बुद्धिके सामने ऐसी कोई बात नहीं निक पाती जो श्रीकृष्णके चरित्रमें छाया हो। श्रीमद्भागवतका पाराधन करनेवाले जानते हैं कि जन्ममें श्रीकृष्णन केवल ग्याह वर्गकी अवस्थानक हो निवास किया था। यदि रामसीताका समय उसी वर्ग मानें, तो जन्म वर्गमें ही चरित्र-लीला हुई थी। हम जानकी कान्ता भी नहीं हो सकते कि जाट-भौ वगैरे बाधकमें कमोत्तमना हो सकते हैं। गौवकी गौशरित ग्रास्थिनें, बहो वर्तमानकालकी भागवत मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक जाट-भौ वर्गके बाधकसे अनेक सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना करें—यह कदापि सम्भव नहीं दीक्षता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कज्जित वृत्ति थी, यह वतमान कज्जित मनोवृत्तिकी तरहना है। आजकल जैसे गौवकी छोटी छोटी छत्रियों धम्म सा कर और 'अधमग' सा देवर पानेके लिये देखी देखाओंकी पूजा करती हैं, वेसे ही उन कुमारीयोंने भी परम सुन्दर परम मधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देखी-पूजन और जप किया थे। इसमें दोनकी कौन-सी बात है ?

आजकी दान निराशी है। भोगप्रधान दानोंमें सा नग्नसम्पन्नाय और नग्नस्नानक ऋष भी बन हुए हैं। उनकी दृष्टि इन्द्रिय-नृनिग हो सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तमक एवं मन्त्रि ध्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक गौव जा कि पुरुषका ब्रह्मभवाय है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है, न मन्त्र स्नायात्—यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रोतृग्य नहीं चाहते थे कि गावियों शस्त्रके विरुद्ध आचरण करें। केवल गौविक जनप ही

मौनिक उपाय

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—श्रीश्रुत् । मग्नान्की

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।

यह आशा पाकर वे कुमारियाँ भगवान् श्रीकृष्णके चरण-
कमलोंका ध्यान करती हुई नानेकी इच्छा न होनेपर भी
बड़े कष्टसे मग्नमें गयीं । जब उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण
हो चुकी थी ॥ २८ ॥

ध्यायन्त्यस्तस्य दाम्भोर्जं कृच्छ्राभिविविशुर्ध्वजम् । २८ ।

महो—भारतीय ऋषियोंका वह सिद्धान्त, जो प्रत्येक वस्तुमें पृथक्-पृथक् देवताओंका अस्तित्व मानता है इस
मग्नस्थानकी देवताओंके विपरीत बतलाता है । श्रीकृष्ण जानते थे कि इससे वरुण देवताका अपमान होता है ।
गोमियों अपनी अमीह-सिद्धिके लिये जो तपस्या कर रही थीं, उसमें उनकी मग्नस्थान अनिष्ट फल देनेवाला था
और इस प्रपाक प्रभावमें ही यदि इसका विरोध न कर दिया जाय तो आगे चलकर इसका निश्चार हो सकता
है, इसलिये श्रीकृष्णने औचित्यके लिये निषेध कर दिया ।

गोमियों की आत्माओंको इस प्रपाकी धुरई किस प्रकार समझायी जाय, इसके लिये भी श्रीकृष्णने एक
मौखिक उपाय साधा । यदि वे गोमियोंके पास जाकर उन्हें देवतावादकी किण्वसन्धी समझाते, तो वे सरबस्तासे
नहीं समझ सकती थीं । उन्हें तो इस प्रपाके कारण होनेवाली विपत्तिके प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था । और
विपत्तिके अनुभव करानेके पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी बता दी तथा अज्ञाति बौध्दिक
क्षमा-आर्पणाकर प्रायश्चित्त भी करवाया । महापुरुषोंमें उनकी बाह्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिमा देखी जाती है ।

श्रीकृष्ण आठ-मी वर्षके थे, उनमें कामोत्थनना नहीं हो सकती और मग्नस्थानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके
लिये उन्होंने चोरहरण किया—यह उत्तर सम्भव होनेपर भी मूलमें जाये हुए 'काम' और 'रमण' शब्दोंसे
कई लोग भ्रमक उठते हैं । यह केवल शब्दकी पकड़ है, जिसपर महात्माओंमें ध्यान नहीं देते । धृतिमेंमें और
गीतामें भी अनेकों बार 'काम', 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है; परन्तु वहाँ उनका अस्वीकृत
व्यय नहीं होता । गीतामें तो 'धर्माविरुद्ध काम' को परमहत्माका स्वरूप बतलाया गया है । महापुरुषोंका
आनन्दरमण, आत्ममिथुन और आनन्दरति प्रसिद्ध ही है । ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भ्रमकना
विचारशील पुरुषोंका कर्म नहीं है । जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं उन्हें रमण और रति शब्दका
वर्ण केवल झूठा अथवा शिक्काव समझना चाहिये, जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है—पुनः प्रीत्यायम् ।

इष्टिमेवसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख सकती है । अप्यारमवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें
देखते हैं और गोमियोंको इष्टियोंके रूपमें । इष्टियोंका आचरण नष्ट हो जाना ही 'चोरहरण-लीला' है और
उनका आचरणमें रम जाना ही 'प्राप्त' है । इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है । भक्तोंकी
दृष्टिसे गोमियोंका विपत्तिपूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब मित्यस्वीकृत विमर्श है और अनादिकालसे
अन्यत्रकथक यह नित्य चलाता रहता है । कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नियम धाम और नित्य
सदा-सहचरियोंके साथ जोका-धाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण चिन्तन तथा आनन्द
मग्नचित्तों सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं । साधकोंके लिये किस प्रकार कृपा करके भगवान्
अनमद्वय और अनादिकालसे सधिन संस्काररूपको विद्वाद कर देते हैं, यह बात भी इस चोरहरण-लीलासे
प्रकट होती है । भगवान्की जोका रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे
उनकी मीनमें प्रविष्ट भगवान् मछ कुछ-कुछ जानते हैं । यहाँ तो शाखों और संतोंकी नाथीके आचारपर ही
कुछ स्थितकी प्रष्टता की गयी है ।

इन्दुमानप्रसाद पोद्दार

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः ।

इन्द्रधनान् मतो दूरचारयन् गाः सहस्रज ॥२९॥

निदाचार्यैः सिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।

आतपप्रापितान् वीक्ष्य ह्रमानाह्रजौकस्तः ॥३०॥

हे स्तोफकृष्ण हे अंधो भीदामन् सुबलार्जुन ।

विद्यालर्पम तेजस्विन् देवप्रस्य वरूप ॥३१॥

पश्यतवान् महाभागान् परार्थकान्तजीवितान् ।

वातवर्षतिपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥३२॥

अहो एषां वर सन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ।

सुजनस्येव येषां वै विमुक्ता यान्ति नार्धिन ॥३३॥

पत्रपुष्पफलच्छाया मूलवत्फलदारुभिः ।

गन्धनिर्वासमस्मात्स्विर्लोकमैः कामान् वितन्वते ॥३४॥

एतत्सन्मसात्स्य देहिनामिह देहिषु ।

प्रत्यैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥३५॥

इति प्रवालस्तवफलपुष्पदलोत्करैः ।

वरुणां नम्रशास्त्रानां मध्येन यमुनां गतः ॥३६॥

तत्र गाः पापमिखाप सुभृष्टाः शीतला क्षिबाः ।

ततो नृप स्वय गोपाः कामं स्नादुपपुर्जलम् ॥३७॥

तस्या उपवने कामं चारयन्त पशून् नृप ।

प्रिय परीक्षित ! एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण बछराम जी और ग्वालवालोंके साथ गीर्ण घाते हुए इन्द्रावनेसे बहुत दूर निकल गये ॥ २९ ॥ ग्रीष्म ऋतु थी । सूर्यकी किरणें बहुत ही प्रखर हो रही थीं । परन्तु घने-घने वृक्ष भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर छटेका काम कर रहे थे । भगवान् श्रीकृष्णने वृक्षोंको छाया करते देख स्तोफकृष्ण, अंध, भीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाख, श्याम, तेजस्वी, देवप्रस्य और वररूप आदि ग्वालवालोंको सम्बोधन करके कहा—॥ ३० ३१ ॥ भेरे प्यारे मित्रो ! देखो, ये वृक्ष कितने माफ्यवान् हैं ! इनका साथ जीवन कबल दूसरोंकी मर्झाई करनेके लिये ही है । ये स्वयं तो हवाके झोंके, बर्षा, छूप और पाखा—सब कुछ सहते हैं, परन्तु हमजोगोंकी वनसे रक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥ मैं कहता हूँ कि इन्हींका जीवन सबसे श्रेष्ठ है । क्योंकि इनके द्वारा सब प्राणियोंको सहारा मिलता है, उनका जीवन-निर्बाह होता है । जैसे किसी सज्जन पुरुषके घरसे कोई याचक आसी हाथ नहीं झौगता, वैसे ही इन वृक्षोंसे भी सभीको कुछ-कुछ मिष्ट ही जाता है ॥ ३३ ॥ ये अपने पत्ते, फूल, फल, छाया, सब, छमक, लकड़ी, गन्ध, गौर, रस, कोयला, लकड़ और कोंपलोंसे भी लोगोंकी कामना पूर्ण करते हैं ॥ ३४ ॥ मेरे प्यारे मित्रो ! ससारमें प्राणी तो बहुत हैं, परन्तु उनके जीवनकी सफलता इतनेमें ही है कि जहाँतक हो सके अपने घनसे, विवेक-विचारसे, वाणीसे और प्राणीसे भी ऐसे ही कम किये जायें, जिनसे दूसरोंकी मर्झाई हो ॥ ३५ ॥ परीक्षित ! दोनों ओरके वृक्ष नयी-नयी कोंपलों, गुच्छों, फल-फूलों और पत्तोंसे लद रहे थे । उनकी डाकियों पृथ्वीतक झुकी हुई थीं । इस प्रकार मायण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उन्होंने बीचसे यमुना-तटपर निकल जाये ॥ ३६ ॥ गजन् । यमुनाजीका बल बड़ा ही मधुर, शीतल और शक्त था । उन लोगोंने पहले गोधोंको पिनाया और इसके बाद स्वयं भी जी भरकर स्नादु जलका पान किया ॥ ३७ ॥ परीक्षित ! इस समय ये यमुनाजीके तटपर हरे-भरे उपवनमें बड़ी शत-शतसे अपनी गौर चरा रहे थे, उसी

कृष्णरामावुवागम्य शुभार्ता इदमब्रुवन् ॥३८॥ समय कुछ मूले श्वाशने भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम
जीके पास आकर यह बात कही— ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वो
गोपीबन्धनहारो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

यक्षपत्नियोपर कृपा

गोपा ऊचुः

राम राम महावीर्यं कृष्ण दुष्टनिर्वहण ।

एषा वै बाधते सुभक्तच्छान्तिं कर्तुमर्हयः ॥ १ ॥

मीथुक वक्ता

इति विज्ञापितो गोपैर्मगवान् देवकीसुतः ।

भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥ २ ॥

प्रवात देवयजनं ब्राह्मणं ब्रह्मवादिनः ।

सत्रमाङ्गिरसं नाम ब्रासते स्वर्गकाम्यया ॥ ३ ॥

तत्र गत्वौदनं गापा याचतस्तद्विसर्जिताः ।

कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम आभिभाम् ॥ ४ ॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा ।

कृताञ्जलिपुटा बिभ्रान् दण्डवत्पतिता ह्रवि ॥ ५ ॥

हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णसादेष्टकारिणः ।

प्राप्ताञ्जानीत भद्रं वो गापान् नो रामचोदितान् ॥ ६ ॥

गाभारयन्तावचिद्वर ओदनं

रामान्पुत्रौ वो लपतो बुधधितौ ।

श्वाल्मबाशने कहा—मयमामिराम बलराम ! तुम
बड़े पराक्रमी हो । हमारे चित्तभोर श्वात्मसुन्दर ! तुम्हें
बड़े बड़े दुष्टोंका संहार किया है । उन्होंने दुष्टोंके समान
यह मूल भी हमें खता रही है । बात तुम दोनों ऐसे
भी बुझानेका कोई उपाय करो ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—प्रीक्षित ! जब श्वात्मबाशने
देवकीसुतका भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की,
तब उन्होंने शृणुकी अपनी मन्त्र ब्राह्मणपत्नियोंपर
अनुमति करनेके लिये यह बात कही— ॥ २ ॥ 'मेरे प्यारे
मित्रो ! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वेदवादी ब्राह्मण स्वर्गकी
कामनासे आङ्गिरस नामका यज्ञ कर रहे हैं । तुम उनकी
यज्ञशास्त्रमें जाओ ॥ ३ ॥ श्वात्मबाशने ! मेरे मेहनतेसे
हाँ आकर तुम लोग मेरे बड़े भाई भगवान् श्रीबलराम-
श्रीकृष्ण और मया नाम लेकर कुछ थोका-सा भोजन—
'भोजनकी सामग्री माँग जाओ' ॥ ४ ॥ जब भगवान् ने
ऐसी आज्ञा दी, तब श्वात्मबाशने उन ब्राह्मणोंकी यज्ञशाला
में गये और उनसे भगवान् की आज्ञाके अनुसार ही अन्न
माँगा । पहले उन्होंने पृथ्वीपर गिरकर दण्डवत् प्रणाम
किया और फिर हाथ नोदकर कहा— ॥ ५ ॥ 'पृथ्वीके
मूर्तिमान् देवता ब्राह्मणों ! आपका कल्याण हो । आपसे
नियेदन है कि हम आपके आदेश हैं । भगवान् श्रीकृष्ण
और बलरामजी आज्ञासे हम आपके पास आये हैं । आप
हमारी बात सुनें ॥ ६ ॥ भगवान् बलराम और श्रीकृष्ण
गोपों प्यारे हुए यहाँसे थोड़ी ही दूरपर आये हुए हैं ।
उन्हें इस समय मूल स्थिति है और वे चाहते हैं कि

तयोर्विद्या ओदनमर्थिनोर्यदि

भक्षा च वो यच्छत धर्मविचाराः ॥ ७ ॥

दीक्षायाः पशुमंस्यायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।

अन्यत्र दीक्षितस्यापि नास्मभन्नं हि दुप्यति ॥ ८ ॥

इति ते भगवद्याज्ज्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रूषुः ।

क्षुद्राश्च भूरिकर्माणो बालिष्ठा बृद्धमानिनः ॥ ९ ॥

देवः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रस्त्रिबोऽद्ययः ।

देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ १० ॥

तं ब्रह्म परम साक्षाद् भगवन्तमधोऽयम् ।

मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यत्मानो न मेनिरे ॥ ११ ॥

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप ।

गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥ १२ ॥

तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः ।

प्यामहार पुनर्गोपान् दर्शयैल्लौकिकीं गतिम् ॥ १३ ॥

मां शपयत पत्नीभ्यः ससंकर्षणमागतम् ।

दास्यन्ति काममन्नं च स्निग्धमप्युपिताभिया ॥ १४ ॥

गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वाऽऽसीनाः स्थलकृताः ।

आपजोग उन्हें बोका-सा मात दे दें । ब्राह्मणों ! आप धर्मका मर्म जानते हैं । यदि आपकी भ्रष्टा हो, तो उस मोक्षमार्गियोंके लिये कुछ मात दे दीजिये ॥ ७ ॥ सज्जनो ! जिस यक्षद्वीक्षामें पशुभक्षि होती है, उसमें और सौत्रामणी यज्ञमें दीक्षित पुरुषका अब नहीं खाना चाहिये । इनके अतिरिक्त और किसी भी समय किसी भी यज्ञमें दीक्षित पुरुषका भी अब खानेमें कोई दोष नहीं है ॥ ८ ॥ परीक्षित ! इस प्रकार भगवान् के अब मँगनेकी बात सुनकर भी उन ब्राह्मणोंने उसपर कोई प्यार नहीं दिया । वे चाहते थे क्षत्रिणों के कुछ फल, और उनके लिये बड़े-बड़े कर्मोंमें उलझे हुए थे । सब बूझो तो वे ब्राह्मण ज्ञानकी दृष्टिसे थे बालक ही, परन्तु अपनेको बड़ा ज्ञानबृद्ध मानते थे ॥ ९ ॥ परीक्षित ! देश, काल, अनेक प्रकारकी सामर्थियों, मित्र-मित्र कर्मोंमें विनियुक्त मन्त्र, अनुष्ठानकी पद्धति, अस्त्रिज-भक्षा आदि यज्ञ करानेवाले, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म—इन सब रूपोंमें एक-मात्र भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं ॥ १० ॥ वे ही इन्द्रियादीस परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण स्वप्नस्थानबालोंके द्वारा भ्रत मँग रहे हैं । परन्तु इन बूझोंने, जो अपनेको शरीर ही माने बैठे हैं, भगवान् को भी एक साधारण मनुष्य ही माना और उनकी सम्मान नहीं किया ॥ ११ ॥ परीक्षित ! अब उन ब्राह्मणोंने 'हाँ या आ'—कुछ नहीं कहा, तब ब्राह्मणोंकी आशा टूट गयी, वे लौट आये और यहाँकी सब बात उन्होंने श्रीकृष्ण तथा बल्यमसे कहा दी ॥ १२ ॥ उनकी बात सुनकर सारे जगत् के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण हँसने लगे । उन्होंने ब्राह्मणोंको समझाया कि संसारमें अक्षरकथा तो बार-बार होती ही है, उससे निराश नहीं होना चाहिये; बार-बार प्रयत्न करते रहनेसे सफलता मिल ही जाती है ।' फिर उनसे कहा—॥ १३ ॥ 'मेरे प्यारे बालबालों ! इस बार तुम लोग उनकी पत्नियोंके पास जाओ और उनसे कहो कि राम और 'याम' यहाँ आये हैं । तुम कितना चाहते रहते हो भोजन वे तुम्हें देंगी । वे मुझसे बड़ा प्रेम करती हैं । उनकी मन सन्-सर्व-मुझमें लगा रहता है' ॥ १४ ॥

जबभी बार व्यापक परीक्षाक्रममें गये । वहाँ जाकर देखा तो ब्राह्मणोंकी पत्नियाँ सुन्दर सुन्दर बग और

नत्वा द्विजमतीगोपाः प्रभिता इदमब्रुवन् ॥१५॥

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत बर्चासि नः ।

इतोऽभिदूरे चरता कृष्णनेहेपिता वयम् ॥१६॥

गाभारयन् स गोपालैः सरापो दूरमागतः ।

बुधक्षितस्य तत्त्वान्न सातुगत्वं प्रदीयताम् ॥१७॥

श्रुत्वाभ्युत्थमुपायात् नित्यं तर्क्षन्तोस्तुकाः ।

तत्कृपाक्षितमनसो बभूवुर्बावसम्भ्रमाः ॥१८॥

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ।

अभिसन्नः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निजगाः ॥१९॥

निविष्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतेः ।

मगवत्पुत्रमस्त्रोके दीर्घश्रुतवृताश्रयाः ॥२०॥

बभूवोपवनेऽशोकनवपल्लवमम्बिते ।

विचरन्तं हृतं गोपैः साप्रजं ददृशुः स्त्रियाः ॥२१॥

कषामं हिरण्यपरिधिं वनमात्मबर्हि

भातुप्रवालनटवेपथुमुग्रवासे ।

विपस्तहस्तमितरेण घुनानमम्भं

कर्मालालककपोलमुत्थान्महासम् ॥२२॥

गहनोंसे सन-घमकर बठी हैं । उन्होंने द्विजपत्नियोंको

प्रणाम करके बड़ी नम्रतासे यह बात कही— ॥१५॥ आप

विप्रपत्नियोंको हम नमस्कार करते हैं । आप कृपा

करके हमारी बात सुनें । भगवान् श्रीकृष्ण यहाँसे कोसी

ही दूरपर आये हुए हैं और उन्होंने भी हमें आपके पास

मेवा है ॥ १६ ॥ वे ग्वालबाल और बलरामजीके साथ

गौरों चरते हुए इधर बहुत दूर आ गये हैं । इस समय

उन्हें और उनके साथियोंको भूख लगी है । आप उनके

लिये कुछ भोजन दे दें ॥ १७ ॥ परीक्षित । वे ब्राह्मणों

बहुत दिनोंसे भगवान्की स्मोहर कीकारें सुनती थीं ।

उनका मन उनमें लगा चुका था । वे सदा-सर्वदा इस

बातके लिये उत्सुक रहतीं कि किसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शन

हो जायें । श्रीकृष्णके आनेकी बात सुनते ही वे उतावली हो

गयीं ॥ १८ ॥ उन्होंने बर्तनोंमें अल्पन्त खादिष्ट और हितकर

मत्स्य, मोय्य, क्षेमा और घोष्य-चारों प्रकारकी भोजन

छामनी ले कीतया मार्ह-बन्धु, पति पुत्रोंके रोक्ते रहनेपर

भी अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके पास आनेके लिये

घरसे निकल पड़ी—ठीक वैसे ही, वैसे नदियों समुद्र

के लिये । क्यों न हो; न जाने कितन दिनोंसे पवित्र

कीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुण, क्षमा, सौन्दर्य और

प्रभुर्ष आरिका वर्णन सुन-सुनकर उन्होंने उनके

चरणोंपर अपना हृदय निछावर कर दिया था ॥ १९-२० ॥

ब्राह्मणपत्नियोंने आकर देखा कि घुमनाके तटपर मये-नये

कौपलोंसे शोभायमान अशोक-वनमें ग्वालबालोंसे भिरे

हुए बलरामजीके साथ श्रीकृष्ण इधर-उधर घूम रहे

हैं ॥ २१ ॥ उनके सौंभले शरीरपर सुनहला पीताम्बर

झिलमिल रहा है । गलेमें वनमाछा लटक रही है ।

मस्तकपर मोरपंखका मुकुट है । जङ्गल-जङ्गलमें रंगीन

प्रातुओंसे चित्रकारी कर रखी है । मये-नये कौपलोंके

गुच्छे शरीरमें लगाकर मटक-सा बेव बना रक्खा है । एक हाथ

अननेसखा ग्वालबालके कंधेपर रखे हुए हैं और दूसरे हाथ-

से कमलका फूल मचा रहे हैं । कपड़ोंमें कमलके फूलद्वारा

हैं, कपोलोंपर सुँभराही आलमें लटक रही हैं और मुख-

कमल मन्द-मन्द मुसकानकी रेखासे प्रसङ्गित हो रहा

प्रायः धृतप्रियतमोदयकर्मपूरै

पंसिन् निमग्नमनसस्तमथाधिरन्ध्रैः ।

अन्तः प्रवेश्य सुषिर परिभ्यतापं

प्राक्तं यथाभिमन्त्रो विहङ्गुरेन्द्र ॥२३॥

सास्तथा त्यक्तसर्वांशः प्राप्ता आत्मदिच्छया ।

विज्ञायास्त्रिलङ्घ्र्या प्राह ब्रह्मसिताननः ॥२४॥

स्वार्गव बो महाभागा आसर्ता कृतवाम किम् ।

यत्रो दिच्छयो प्राप्ता उपपन्नमिदं हि व ॥२५॥

नन्वद्वा मयि कुर्वन्ति कुष्ठमाः स्वार्थदर्शनाः ।

अर्हतुक्पण्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥

प्राणमुद्दिमन् भ्वासमदारापत्यभनादयः ।

यत्सम्पन्नं प्रिया भासंसततः को न्वपरः प्रिय ॥२७॥

तन् यात देवयजनं पतयो बो द्विजातयः ।

म्वस्रं पारपिप्यन्ति युष्माभिगृहमेधिन ॥२८॥

है ॥ २२ ॥ परीक्षित ! जब तक जाने प्रियतम इयम-
सुन्दरके गुण और बीज्यण अपने कानोंसे सुन-सुनकर
उन्होंने अपने मनको उन्हींके प्रेमक रंगमें रँग बाध्य था,
उसीमें सराबोर कर दिया था । अब मेत्रोंके मार्गसे उन्हें
भीतर ले जाकर बहुत देरतक वे मन-ही-मन समक
आविष्कार करती रही और इस प्रकार उन्होंने अपने
हृदयकी बलन शान्त की—धीक ऐसे ही, जैसे आपत्त
और सज्जन अवस्थाओंकी वृत्तियों 'यह मैं यह मेरा इस
भासे बहती रहती हैं, परन्तु सुपुत्रि-अवस्थामें उनके
अभिमायी प्राणको पाकर उसीमें मीन ॥ जाती हैं और
हिनकी सारी जलम मिट जाती हैं ॥ २३ ॥

प्रिय परीक्षित ! भगवान् सबके हृदयकी बात जानते
हैं, सबकी बुद्धियोंके साक्षी हैं । उन्होंने अब देखा कि
वे ब्राह्मणपरमियों अपने भाई-बन्धु और पति-पुत्रोंके रोक-
पर भी सब सगे-सम्बन्धियों और कियोंकी आज्ञा छोड़
कर कबल मेरे दर्शनकी चाहसे ही मेरे पास आयी
हैं, सब उन्होंने उनसे कहा । उस समय उनके मुखारविन्द
पर हास्यकी तरङ्ग बछलेडियों कर रही थीं ॥ २४ ॥ भगवान्
कहा—'महाभाग्यवती देवियो ! तुम्हारा स्वागत है । आओ,
बैठो । कहो, हम तुम्हारा क्या स्वागत करें ? तुम्होगे हमारे
दर्शनकी इच्छासे यहाँ आयी हो, यह तुम्हारे जैसे प्रम-
पूर्ण हृदयवालोंके योग्य ही है ॥ २५ ॥ इसमें स्पन्देह
नहीं कि संसारमें जगती सारी मन्त्राईको समझनेवाले
जितने भी बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे अपने प्रियतमक समान
ही मुझसे प्रेम करते हैं, और ऐसा प्रेम करने हैं, जिसमें
किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती—जिसमें किसी
प्रकारका व्यवधान, सङ्कोच, शिंकाव, दुविधा या हैत
नहीं होता ॥ २६ ॥ प्राण बुद्धि मन, शरीर, स्वजन,
जी, पुत्र और धन आदि संसारकी ममी बस्तुएँ जिसके
प्रिये और जिसकी सन्निधिसे प्रिय लगती हैं—उस
आत्मासे, परमात्मासे, मुझ भीष्मसे बढ़कर और और
भ्यार हो सकता है ॥ २७ ॥ इसलिये तुम्हारा जाना
व्यर्थ ही है । मैं तुम्हारे प्रमत्त अभिबन्धन करता हूँ ।
परन्तु अब तुमजोगेसा दर्शन कर चुकी । अब जगती
ममताओंमें खोज आओ । तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ
हैं । वे तुम्हारे साथ मिलकर ही जगता यह दूत कर
सकेंगे ॥ २८ ॥

परस्य उचुः

मेघ विभाज्यति भगवान् मदितुं नृशंसं

सस्यं कुरुष्व निगमंतस्य पादपूलम् ।

प्राप्ता वर्षं तुलसिदाम पदावसृष्टं

कैत्र्यैर्निषोद्धमतिष्ठत्यसमस्तमन्वृन् ॥२९॥

युद्धन्ति नो न पतयः पितरौ मुता वा

न आदुक्नुसुहृदः कुत एव चान्ये ।

तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो

नान्या भवेद् गतिररिन्दम तव विषेहि ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

पतयो नान्यद्येरेन् पिदुर्भावमुतादयः ।

लोकाय नो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥३१॥

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यज्ञसक्तो नृणामिह ।

तन्मनो मपि युञ्जाना अधिरान्मायवाप्स्यथ ॥३२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता मुनिपत्न्यस्ता यक्षघाटे पुनर्गताः ।

ते धानस्यसः स्वाभिः स्त्रीभिः सश्रमपारयन् ॥३३॥

तत्रैका विवृता भर्त्रा भगवन्तं यथाभ्युतम् ।

आश्चर्यपक्षियोंने कहा—अन्तर्यामी श्यामसुन्दर । आपकी यह बात मिथुनरत्नसे पूर्ण है । आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । श्रुतियों कहती हैं कि आ एक बार मगधान्को प्राप्त हो जाता है, उसे फिर उसमें नहीं छोड़ना पड़ता । आप अपनी यह वेदवाणी सत्य कीजिये । हम अपने समस्त सगे-सम्बन्धियोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके आपके चरणोंमें इसलिये आती हैं कि आपके चरणोंसे गिरी हुई तुलसीकी माला अपने केशोंमें धारण करें ॥ २० ॥ स्वामी । जब हमारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु और स्वजन-सम्बन्धी हमें स्वीकार नहीं करेंगे; फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है । वीरशिरोमणे । जब हम आपके चरणोंमें आ पड़ी हैं । हमें और किसीका सहारा नहीं है । इसलिये जब हमें दूसरोंकी चरणमें न जाना पड़े; ऐसी व्यवस्था कीजिये ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देखिये । तुम्हारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु—कोई भी तुम्हारा तितकार नहीं करेंगे । उनकी तो बात ही क्या, सारा संसार तुम्हारा सम्मान करेगा । इसका कारण है । जब हम मेरी ही गयी हो, मुझसे युक्त हो गयी हो । देखो न, वे देखता मेरी बातका अनुमोदन कर रहे हैं ॥ ३१ ॥ देखिये । इस संसारमें मेरा वज्र-सङ्ग ही मनुष्योंमें मेरी प्रीति या अनुगमन कारण नहीं है । इसलिये हम आओ, अपना मन मुझमें लगा दो । तुम्हें बहुत शीघ्र मेरी प्राप्ति हो जायगी ॥ ३२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । जब मगधान् ने इस प्रकार कहा, तब वे शास्त्रपक्षियों पक्षशास्त्रमें जाँच गयीं । उन शास्त्रोंने अपनी क्षियोंमें तमिक भी दोषवृत्ति नहीं की । उसके साथ मिश्रकर अपना पक्ष पूरा किया ॥ ३३ ॥ उन क्षियोंमेंसे एकको आनेके समय ही उसके पतिने बहुतपूर्वक रोका लिया था । इसपर उस शास्त्रपक्षीने भगवान्को हिंसे की स्वरूपका प्यान किया, जैसा कि बहुत दिनोंसे धुन रक्खा था । अब उसका प्यान जम गया, तब मन-ही-मन मगधान्का

इदोपगुप्त विबहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥३४॥

भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् ।

चतुर्विधेनाश्रयित्वा स्वयं च पुष्टये प्रभुः ॥३५॥

एवं लीलान्तरपुर्नुलोकमनुशीलयन् ।

रेमे गोमोषगोपीनां रमयन् रूपवाक्कुतैः ॥३६॥

अथानुसृत्य विप्रास्ते अम्बतप्यन् कृतागतः ।

यद् विश्वेश्वरयोर्वाञ्छामहन्म नृविहम्बयोः ॥३७॥

इष्टा स्त्रीणां भगवति कुण्डे भक्तिमलौकिकीम् ।

अत्मानं च तथा हीनमनुत्तमां व्यगर्हयन् ॥३८॥

धिग् बन्म नखिद्वद्विषां भिग् भर्तं भिग् बहुशृणुम् ।

भिक्षुर्लभिक्षुं कृपादाहय विमुक्ता ये स्वधोष्ठजे ३९

नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी ।

यद् वयं गुरो नृणां स्वार्थे शुद्धामहे द्विजाः ॥४०॥

अहो पश्यत नारीणामपि कुण्डे जगद्गुरौ ।

दुरन्तभार्ययोऽविष्यन्मृत्युपाशान् गृह्णामिधान् ॥४१॥

आच्छिन्न करके उसने कर्मके द्वारा बने हुए अपने शरीरको छोड़ दिया—(सुदृढसत्त्वमय दिव्य शरीरसे उसने मगवान्की सन्निधि प्राप्त कर ली) ॥ ३४ ॥

इधर भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणियोंके लिये हुए उस बार प्रकरके अपने पहले ग्वाछबाठोंको मोहन कराया और फिर उन्होंने स्वयं भी मोहन किया ॥ ३५ ॥

परीक्षित ! इस प्रकर श्रीब्रामनुज्य भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यकी-सी लीला की और अपने सौन्दर्य, माधुर्य, वाणी तथा कर्मसे गौरों, ग्वाछबाठ और गोपियोंको आनन्दित किया और स्वयं भी उनके अजैकिक प्रेमरसका आकाशम करके आनन्दित हुए ॥ ३६ ॥

परीक्षित ! इधर जब ब्राह्मणोंको यह माष्टम हुआ कि श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, तब उन्हें बड़ा पछतावा हुआ । वे सोचने लगे कि जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और बल्लभमकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके हमने बड़ा भारी अपराध किया है । वे तो मनुष्यकी-सी लीला करते हुए भी परमेश्वर ही हैं ॥ ३७ ॥ जब उन्होंने देखा कि हमारी पत्नियोंके हृदयमें तो भगवान्का अजैकिक प्रेम है और हमलोग उससे विस्तृत रीते हैं, तब वे पछता-पछताकर अपनी मिन्दा करने लगे ॥ ३८ ॥ वे कहने लगे—‘हाय ! हम भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं । बड़े ऊँचे कुन्ने हमारा अम्भ हुआ, गायत्री प्रवण करके हम द्विबासि हुए, वेदाध्ययन करके हमने बड़े-बड़े पद किये; परन्तु वह सब किस कामका ? पिछार है, पिछार है ! हमारी विषा व्यप गयी, हमारे मत धुरे सिद्ध हुए । हमारी इस बहुश्रुताको पिछार है । ऊँचे वशमें अम्भ लेना, कर्मकाण्डमें निपुण होना किसी काम न आया । इन्हें बार-बार पिछार है ॥ ३९ ॥ निश्चय ही, भगवान्की माया बड़े-बड़े योगियोंको भी मोहित कर लेती है । तभी तो हम कहमाते हैं मनुष्योंके गुरु और ब्राह्मण, परन्तु अपन सन्ने स्वार्थ और परमार्थके विषयमें विस्तृत मूढ़े हुए हैं ॥ ४० ॥

कितने आश्चर्यकी बात हैं ! देखो ता सही—यद्यपि ये क्षीय हैं, तथापि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने इनका किना अगाध प्रेम है, अलग्ग अनुताग है ! उसीसे उन्होंने गृहस्त्रीकी वह बहुत बड़ी फौसी भी कट राटी,

नासां द्विजादिसंस्कारा न निवासो गुरावपि ।

न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥४२॥

अथापि षष्ठमल्लोके कृष्ण योगेश्वरेश्वरे ।

मकिर्द्वा न चास्माकं संस्कारादिमयामपि ॥४५॥

नेत्रु स्वार्थविसृद्धानां प्रमत्तानां शुद्धेक्षया ।

अहानः स्तारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥४४॥

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याधाक्षिपां पतेः ।

इक्षितव्यैः किमस्माभिरीक्षस्यैतत् विद्वज्जनम् ॥४५॥

दित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शमिवा सकृत् ।

आत्मदोषापवर्गेण तदाज्ञा जनमोहिनी ॥४६॥

दशः कालः पूथग्न्यर्घ्यं मन्त्रतन्त्रस्त्रिजोऽप्ययः ।

देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥४७॥

स एष भगवान् माध्वाद् विष्णुर्योगेश्वरश्च ।

जो शुरुआत साय भी नहीं करती ॥ ४१ ॥ हमके न तो द्विधातिके योग्य यद्योपवीत आदि सस्कार हुए हैं और न तो इन्होंने गुरुकुलमें ही निवास किया है। न इन्होंने तपस्या की है और न तो आत्माके सम्बन्धमें ही कुछ विवेक-विचार किया है। उनकी बात तो दूर रही, इनमें न तो पूरी पवित्रता है और न तो धर्मकर्तृता है। ४२ ॥ फिर भी समस्त योगेश्वरोंके ईश्वर पुण्य-कीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें इनका बड़ प्रेम है। और हमने अपने सस्कार किसे हैं, गुरुकुलमें निवास किया है, तपस्या की है, आत्मानुसन्धान किया है, पवित्रताका निर्वाह किया है तथा अच्छे-बुरे कर्म किसे हैं, फिर भी भगवान्के चरणोंमें हमारा प्रेम नहीं है ॥ ४३ ॥ सभी बात यह है कि हमभोग गुरुकुलके काम चर्चोंमें मलबाले हो गये थे, अपनी मूर्खता और भुगर्भको विस्मृत मूल गये थे। अहो, भगवान्की कितनी कृपा है! मलकसूत्र प्रसूने आत्मबालोंको मेवकर हमके बचनोंसे हमें चेतावनी दी, अपनी पाद दिव्यता ॥ ४४ ॥ भगवान् स्वयं पूर्णकाम हैं और कैसम्पन्नोद्योपर्वन्त कितनी भी कामगार होती हैं, उनको पूर्ण करनेवाले हैं। यदि हमें सचेत नहीं करना होता तो उनका हम-सरीके कुछ चीजोंसे प्रयोजन ही क्या हो सकता था! अवश्य ही उन्होंने इसी उद्देश्यसे मौनोक्त कहावा बनाया। अन्यथा उन्हें मौनोक्ती क्या क्या आवश्यकता थी? ॥ ४५ ॥ स्वयं कृष्ण अन्य सब देवताओंको छोड़कर, और अपनी वाञ्छता, गर्व आदि दोषोंका परित्याग कर केवल एक बार उनके चरणकमलोंका स्पर्श पानेके लिये सेवा करती रहती हैं। वे ही प्रभु किसीसे मोहनकी याचना करें, यह लोगोको मोहित करनेके लिये नहीं ला और क्या है! ॥ ४६ ॥ देश, काल, पृथक्-पृथक् सामग्रियों, उन-उन कर्मोंमें निमित्त मन्त्र, अनुष्ठानकी पद्धति, श्रवित्त, जपित, देवता, यजमान, यह और धर्म—सब भगवान्के ही स्वरूप हैं ॥ ४७ ॥ वे ही योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् विष्णु स्वयं श्रीकृष्णके रूपमें पदुभक्तिमें अभ्यर्त्त

तो यदुष्विस्मृणुम्यस्य मृदा न विद्यते ॥४८॥

हो वयं धन्यतमा वेदां नस्तादृशीः स्त्रिय ।

यस्या यासां मतिर्जाता अस्माक निबला हरौ ॥४९॥

मस्तुभ्यं भगवते कृष्णायादृष्टमेधसे ।

न्मायामोहितचित्तो अमामः कर्मवर्मसु ॥५०॥

स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनसम् ।

अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्स्यतिक्रमसु ॥५१॥

इति स्वाध्यायस्तुत्य कृष्णो ते कुरुक्षेत्राः ।

दिदृक्षुर्गोऽप्यप्युतयोः कंसस्य भीतान् बाधकान् ॥५२॥

इष्ट है। यह बात हमन सुन रखी थी, परन्तु हम इतने मूढ़ हैं कि उन्हें पहचान न सके ॥ ४८ ॥

यह सब होनेपर भी हम धन्यानिधन्य हैं, हमारे अहो-
भाग्य हैं। तभी तो हमें वैसी पत्नियाँ प्राप्त हुई हैं।

उनकी भक्तिसे हमारी बुद्धि भी भगवान् श्रीकृष्णके
अविचल प्रेमसे मुक्त हो गयी है ॥ ४९ ॥ प्रभो !

आप अश्विन्य और अवन्त ऐश्वर्योके स्वामी हैं।
श्रीकृष्ण ! आपका ज्ञान अबाध है। आपकी ही मायासे

हमारी बुद्धि मोहित हो रही है और हम कर्मोंके
पक्षमें भटक रहे हैं ॥ ५० ॥

वे आदि पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हमारे
सम अपराधको क्षमा करें। क्योंकि हमारी बुद्धि उनकी

मायासे मोहित हो रही है और हम उनके प्रभावको
न जाननेवाले अज्ञानी हैं ॥ ५१ ॥

परीक्षित ! उन शास्त्रमोने श्रीकृष्णका तिरस्कार
किया था। अतः उन्हें अपने अपराधकी स्मृतिसे बड़ा

पश्चात्ताप हुआ और उनके हृदयमें श्रीकृष्ण-वल्लभके
दर्शनकी बड़ी इच्छा भी हुई; परन्तु कंसके डरके मारे

वे उनका दर्शन करन न आ सके ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हत्यां सहितायाम् दशमस्कन्धे पूर्वार्धे

यज्ञपैल्युद्धारणं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

हर्म्ययज्ञ-निवारण्य

श्रीकृष्ण उवाच

भगवानपि सत्रैव बलदेवेन संयुत ।

अपश्यभिवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥ १ ॥

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।

प्रभयावनतोऽपृच्छत् पृष्टान् नन्दपुरोगमान् ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—परीक्षित ! भगवान्

श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ हृन्दावनमें रहकर अनेकों
प्रकारकी छीछाई कर रहे थे। उन्होंने एक दिन देखा

कि जहाँकि सब गोप इन्द्र-यज्ञ करनकी तैयारी कर रहे
हैं ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण सबके अन्तर्दामी और

सर्वज्ञ हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं थी, वे सब जानते
थे। फिर भी विनयावगत होकर उन्होंने नन्दबाबा आदि

बड़े-बूढ़े गोपोंसे पूछा—॥ २ ॥ ‘पिताजी ! आपलोगोंकि

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागत ।

किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते ममः ॥ ३ ॥

एतद् मूढि महान् कामो मम श्रुत्यपवे पित ।

न हि गोप्य हि साधूनां कृत्य सर्वात्मनाभिह ॥ ४ ॥

अस्त्यस्त्रपरदष्टीनामभिवादान्मविद्विषाम् ।

उदासीनोऽरिषद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ॥ ५ ॥

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुसिष्ठति ।

विदुषः कर्मसिद्धिः स्वात्तया नाविदुषो भवेत् ॥ ६ ॥

तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।

अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥

नेन्द उवाच

पर्वमो भगवानिन्द्रा मेघास्तस्यात्ममूर्त्यम् ।

तेऽभिबर्षन्ति भूतानां प्रीणन जीवर्न पयः ॥ ८ ॥

तं ताव वषमन्ये च वार्षुचां पतिमीश्वरम् ।

द्रव्यैस्तव्रतसा सिद्धैर्यजन्ते ऋतुभिनराः ॥ ९ ॥

सच्छेपेणोपजीवन्ति विषर्गफलहृत्तप ।

पुंसां पुरुषकराणां पर्वेन्य फलभावन ॥ १० ॥

य एवं विदुज्ज् धम पारम्पयागत नरः ।

कामाद्याभाद् भयाद् द्रवात् ॥ ११ ॥ नामानि शोभनम् ॥ ११ ॥

सामन यह कौन सा बच्चा भारी क्रम, कौन-सा सस्य वा पहुँचा है ? इसका फल क्या है ? किस उद्देश्यसे, कौन लोग, किन साधनों के द्वारा यह यह किया करते हैं ? पिताजी ! आप मुझे यह अवश्य बतलाइये ॥ ३ ॥ आप मेरे पिता हैं और मैं आपका पुत्र । ये दोनों सुनमके लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठ थी है । पिताजी ! जो संत पुरुष सबको अपनी कल्प मानते हैं, जिनकी दृष्टिमें अपने और परायेका भेद नहीं है, जिनका न कोई मित्र है, न शत्रु और न उदासीन—उनके पास छिपानेकी तो कोई बात होती ही नहीं । परन्तु यदि ऐसी स्थिति न हो, तो यहल्यकी बात शत्रुकी भौंति उदासीनसे भी नहीं कहनी चाहिये । मित्र तो अपने समान ही कहा गया है, इसलिये उससे कोई बात छिपायी नहीं जाती ॥ ४ ५ ॥ यह ससारी मनुष्य समस्त बेसमसे अनेकों प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता है । उनमेंसे समस्त-नृपकर करनेवाले पुरुषोंके कर्म जैसे सफल होते हैं वैसे बेसमझके नहीं ॥ ६ ॥ अतः इस समय आपलोग जो क्रिययोग करने जा रहे हैं, वह सुबद्धके साथ विचारित—शास्त्रसम्मत है अथवा लौकिक ही है—यही यह सब जानना चाहिये, आप कृपा करके स्पष्टरूपसे बतलाइये ॥ ७ ॥

नन्दबाबाके कथा—केटा ! भगवान् इन्द्र वर्षा करने वाले मेवके स्वामी हैं । ये मेव उनकी अपन रूप हैं । वे सम्मत् प्राणियोंको तृप्त करनेवाला एवं जीवनदाय करनेवाला जल बरसाते हैं ॥ ८ ॥ मेरे प्यारे पुत्र ! हम और दूसरे लोग भी उन्हीं मेघपति भगवान् इन्द्रकी पक्षोंके द्वारा पूजा किया करते हैं । जिन सामर्थ्यमेंसे यह होता है, वे भी उनके बरसाये हुए सक्षिशामी जलसे ही उत्पन्न होती हैं ॥ ९ ॥ उनका यह करनेके बाद जो कुछ बच रहता है, उसी अन्नसे हम सब मनुष्य अर्ध, अर्ध और क्रमरूप विषर्गकी सिद्धिके लिये अपना जीवन निर्वाह करते हैं । मनुष्योंके खेती आदि प्रयत्नोंके फल देनवाले इन्द्र ही हैं ॥ १० ॥ यह धर्म हमारी कुल-परम्परासे चला आया है । जो मनुष्य क्रम, तप, भय अथवा द्वेषवश ऐसे परम्परागत धर्मोंको छाड़ देता है, उसका कभी मज्जल नहीं होता ॥ ११ ॥

श्रीगुरु उवाच

यचो निश्रम्य नन्दस्य तथान्धेषां प्रजोक्तसाम् ।
इन्द्राय मर्त्युं जनयन् पितरं प्राह केशव ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा नायते जन्तुः कर्मणो न मिलीयते ।
सुखं दुःखं भयं श्रेयं कर्मणैर्वाभिपद्यते ॥११॥

अन्ति चेदीश्वर कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।
कृत्वा भजते सोऽपि नशक्तुः प्रसहिं स ॥१२॥

किमिन्द्रपेह भूतानां श्रवकमानुवर्तिनाम् ।
अनीशेनान्धथाक्तुः स्वभावविहितं नृणाम् ॥१५॥

स्वभावतन्त्रौ हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।
स्वभावम्यमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१६॥

देहानुधावचाञ्जन्तुः प्राप्नोत्सुजति कर्मणा ।
शत्रुमित्रमुदाधीनं कर्मणः गुरुलीश्वर ॥१७॥

तस्मान्न मन्त्रजयत् कर्म स्वभावस्य स्वकर्मकृतं ।
अजया यन् पतंतं तदवाम्य हि देवतम् ॥१८॥

आजीर्ण्यहं भायं यन्त्रयमुपनीयति ।
न तस्मात् विभ्रतं धमं जार नायमना यथा ॥१९॥

यत्ते प्रपन्ना विप्रा राज्ञ्या गद्यया सुखं ।
१. वाचस्पतिवचनम् ।

धाम्नुकनेयया कदते हि—परीक्षित । प्रसा, शङ्कर
आदिक भी श्रामन करनेवाला यशस्व भगवान् नन्दस्य
और दूसरे मन्त्रासिषोंकी बात सुनकर इन्द्रको फोप
दिवानेके लिये अपने पिता मन्त्रवाचासे कहा ॥ १२ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—पिताजी ! प्राणी अपने कर्मके
अनुसार ही पंदा हाता और कर्मसे ही मर जाता है । उसे
उसके कर्मके अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मङ्गलके
निमित्तोंकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥ पण कर्मोंकी ही
सब कुछ न मानकर उनसे भिन्न जीवोंके कर्मका फल
देनेवाला ईश्वर माना भी जाय, ता वह कम करनेवालोंको
ही उनके कर्मके अनुसार फल दे सकता है । कर्म न
करनेवालोंपर उसकी प्रभुता नहीं चल सकती ॥ १४ ॥
जब सभी प्राणी अपने-अपने कर्मोंका ही फल भोग रह
हैं, तब हमने इन्द्रकी क्या आवश्यकता है ? पिताजी ।
जब वे पूर्वसंस्कारके अनुसार प्राप्त ज्ञानवाले मनुष्योंके
कर्म-फलको बदल ही नहीं सकते—तब उनसे
प्रयोजन ? ॥ १५ ॥ मनुष्य अपने स्वभाव (भूत-संस्कारों)
के अधीन है । वह उसीका अनुसरण करता है । यशोतक
कि देवता, असुर, मनुष्य आदिक लिये हुए यह साध
जगत् स्वभावसे ही स्थित है ॥ १६ ॥ जीव अपने कर्मों
के अनुसार उत्तम और अधम शरीरोंका ग्रहण करता
और छाड़ता रहता है । जाने कर्मके अनुसार ही 'यह
शत्रु है, यह मित्र है यह उग्रसीन है'—ऐसा व्यवहार
करता है । कदाचित् यहू, फल ही कुछ है और कर्म
ही ईश्वर ॥ १७ ॥ इसलिये पिताजी ! मनुष्यका बाह्ये
वि भूतसंस्कारोंके अनुसार अपने बग तथा आश्रमके
अनुकूल उर्वीरा पाठ्य करना हुआ कर्मका ही आश्र
करे । जिसने द्वारा मनुष्यके शरीरका सुगमनासे चली
है, वही उसका इष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥ जने अपने
विशदित पत्रिका छापकर जार पत्रिका सेवन करनेवाली
व्यवस्थाकी भी कभी गान्धिवाम नदी दग्धी, वेते ही
आ मनुष्य अपनी शारीरिक चरनेवाले पर धनका
छाड़कर किसी दूसरी जगमना करत है उससे उठे
कभी सुख नहीं पाता ॥ १९ ॥ ब्रह्मर्षी
अथवा प्रपन्न, अथवा पुत्र-पत्नी, अन्य कार्य

वैश्यस्तु वार्ताया जीवेच्छुद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥

कृषिधागिज्यगोरेषा कृसीद तुय्युच्यते ।

वार्ता चतुर्विधा तत्र त्रयं गोहृत्तयोऽनिष्टम् ॥२१॥

सत्त्व रजस्तम इति स्तित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।

रजस्तोत्पद्यते बिम्बमन्योन्य विविधं जगत् ॥२२॥

रजसा चोदिता मेवा वर्णन्त्यम्बुनि सर्वतः ।

प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यसि ॥२३॥

न न पुरो जन्यदा न ग्रामा न गृहा वयम् ।

नित्यं वनौकसस्ताव वनशैलनिवासिनः ॥२४॥

तस्माद् गवां प्राज्ञगानामद्रेभ्यारभ्यतां मत्सः ।

य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यातां मत्सः ॥२५॥

पच्यन्तां विविधा पक्काः क्षपन्ताः पावसादयः ।

सयावापूषश्चन्द्रन्य सर्वदोह्य शुक्लताम् ॥२६॥

हृष्यन्तामपयः सम्यग् प्राज्ञगैर्भक्ष्यादिभिः ।

अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो चेनुदक्षिणाः ॥२७॥

अन्येभ्यश्चाप्यचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हवः ।

यवसं च गवां दध्वा गिरये क्षीपतां शलिः ॥२८॥

स्थलकृता मुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुभाससः ।

प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥२९॥

एतन्मम मत्तं तस्य क्षिपतां यदि राघवे ।

अथ गाम्राक्षणाद्रीणां मम च दयितो मत्सः ॥३०॥

हृषिसे और शुद्ध माधव क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवासे
जपशी जीविकाका निर्वाह करें ॥ २० ॥ वन्येकी
वार्ताहृषि चार प्रकारकी है—कृषि, वाणिज्य, गोपक्षा
और ग्यान् लेना । हमझोग उम् चारोंमेंसे एक केम्
गोपाब्ज ही सदासे करते जाये हैं ॥ २१ ॥ पिताजी ।
इस ससारकी स्थिति, उत्पत्ति और अन्तके कारण क्रमशः
सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण हैं । यह विविध प्रकार
का सम्पूर्ण जगत् ओ-पुरुषके सयोगसे रजोगुणके द्वारा
उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥ उसी रजोगुणकी प्रेरणासे
मेघगण सब कहीं जल बरसाते हैं । उसीसे धूम और
धूपसे ही सब जीवोंकी जीविका चक्ती है । इसमें क्या
इन्द्रका क्या लेना-देना है ? वह क्या कर सकता
है ? ॥ २३ ॥

पिताजी । न तो हमारे पास किसी देशका वन्य
है और न तो बड़े-बड़े नगर ही हमारे अधीन हैं ।
हमारे पास गोंब या घर भी नहीं हैं । हम तो सदाके
वनवासी हैं, वन और पहाड़ ही हमारे घर हैं ॥ २४ ॥
इसझिये हमझोग गौबों, माधवों और गिरिजजनक पञ्चन
करनेकी तैयारी करें । इन्द्र-पञ्चके झिये जो सामझियों
इकट्ठी की गयी हैं, उन्हींसे इस यज्ञका अनुष्ठान होने
दे ॥ २५ ॥ अनेकों प्रकारके पकवान—खीर, हज्ज्या,
धूवा, धूरी आदिसे भेकर मूँगकी दालतक बनाये जायें ।
प्रत्येक सारा दूध एकत्र कर लिया जाय ॥ २६ ॥ वेद
वादी प्राज्ञाओंके द्वारा मखीमौति हवन करवाया जाय तथा
उन्हीं अनेकों प्रकारके धान, गौरें और दक्षिणाएँ दी
जायें ॥ २७ ॥ और भी, चाण्डाल, पतित तथा कुट्ट-
तकको यथायोग्य वस्तुएँ देकर गम्भीरको चारा दिया जाय
और फिर गिरिजानको भोग उगाया जाय ॥ २८ ॥
इसके बाद लूच प्रसाद खा-पीकर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र
पहनकर, गहनोसे सन्-सन्ना झिया जाय और बन्दम
झगाकर गौ, माधव, अग्नि तथा गिरिजान गोवर्धनकी
प्रदक्षिणा की जाय ॥ २९ ॥ पिताजी । मेरी तो ऐसी
ही सम्मति है । यदि आप लोगोंको रुचे, तो ऐसा ही
कीजिये । एसा वह गौ, माधव और गिरिजानको तो प्रिय
होगा ही; मुझे भी बहुत प्रिय है ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं विधांसता ।
 प्रोक्तं निश्चम्य नन्दाया साध्व्यष्टन्त तद्वचः ॥३१॥
 तथा च व्यदधुः मर्वं यथाऽऽह मधुघटनः ।
 वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्वद्रभ्येण गिरिद्विजान् ॥३२॥
 उपहृत्य बलीन् सर्वानारुता यवत गवाम् ।
 गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥३३॥
 अनांखनइष्टुकानि ते चारुख स्वलङ्कृता ।
 गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्भिर्जाशिषः ॥३४॥
 कृष्णस्त्वन्यतम रूपं गोपविभ्रमण गतः ।
 शैलोऽसीति ध्रुवन् भूरि बलिमादवु वृहद्वपुः ॥३५॥
 तस्मै नमो ब्रह्मजनैः सह चक्रे आत्मनाऽऽत्मने ।
 अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥३६॥
 एषोऽवबानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः ।
 हन्ति ह्रस्वै नमस्साम शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥३७॥
 इत्यद्रिगोद्विजमत्सं वासुदेवप्रणोदिता ।
 यथा विधाय ते गांषाः सहकृष्णा ब्रजं ययुः ॥३८॥

श्रीकृष्णवेशमी कहते हैं—परीक्षित ! कन्यात्मा
 भगवान्की इच्छा थी कि इत्येका घण्टा घूर घूर कर दें ।
 मन्दबाबा आदि गोपोंने उनको बात सुनकर बड़ी प्रसन्नता
 से स्वीकार कर ली ॥ ३१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने जिस
 प्रकारका यज्ञ करनेको कहा था, वैसा ही यह उन्होंने
 प्राप्त किया । पहले ब्राह्मणोंसे स्तुतिवाचन कराकर
 उसी सामग्रीसे गिरिराज और ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं,
 तथा गौबोंको हरी-हरी बास खिलायी । इसके बाद मन्दबाबा
 आदि गोपोंने गौबोंको आगे करके गिरिराजकी प्रदक्षिणा
 की ॥ ३२ ३३ ॥ ब्राह्मणोंका आशीर्वाद प्राप्त करके
 वे और गोपियाँ मळीमौलि शृङ्गार करके और कैलेशे जुनी
 गावियोंपर सवार होकर भगवान् श्रीकृष्णकी वीथियोंका
 गान करती हुई गिरिराजकी परिक्रमा करने लगीं ॥ ३४ ॥
 भगवान् श्रीकृष्ण गोपोंको विश्वास दिखानेके लिये गिरि
 राजक ऊपर एक वृक्ष विद्याक शरीर धारण करके प्रकट
 हो गये, तथा ये गिरिराज हैं । इस प्रकार कहते हुए
 सारी सामग्री आरोग्यने लगे ॥ ३५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने
 अपने उस स्वरूपको दूसरे ब्रह्म-वासियोंके साथ स्वयं भी
 प्रणाम किया और कहने लगे—‘देखो, कैसा आश्चर्य
 है । गिरिराजने साक्षात् प्रकट होकर हमपर कृपा की
 है ॥ ३६ ॥ ये चाहे कैसा रूप धारण कर सकते हैं ।
 जो कमवासी जीव इनका नियन्त्रण करते हैं उन्हें ये मछ
 कर बाँधते हैं । आशा, अपना और गौबोंका कल्याण
 करनेके लिये इन गिरिराजको हम नमस्कार करें ॥ ३७ ॥
 इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे मन्दबाबा आदि
 बड़े-बड़े गोपोंने गिरिराज, गौ और ब्राह्मणोंका विविध प्रकार
 पूजन किया तथा फिर श्रीकृष्णके साथ सब ब्रजमें लौट
 आये ॥ ३८ ॥

इति धीमन्नागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां दशमस्कन्ध पूर्वर्धे

चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

गोवर्धनधारण

श्रीकृष्ण उवाच

इन्द्रस्तदाऽऽत्मनः पूजां विधाय विदुतां मुप ।

श्रीकृष्णवेशमी कहते हैं—परीक्षित ! जब इन्द्रको
 पता लगा कि मरी पूजा बंद कर दी गयी है, तब वे

गोपेभ्यः कृष्णनाभेभ्यो नन्दादिभ्यश्चकोप सः ॥ १ ॥

गणं सार्वर्तकं नाम मेघानां शान्तकारिणाम् ।

इन्द्रः प्राचोदयत् कृद्धो वाक्पयं चाहेशमान्युत ॥ २ ॥

अहो भीमदमाहास्यं गोपानां काननौकसाधु ।

कृष्णं मर्त्यमुपाभित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥ ३ ॥

बषाह्रैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनोनिमैः ।

विद्यामान्वीक्षिकीं हिंस्वातिर्योयन्ति भवार्णवम् ॥ ४ ॥

वाचालं बालिशं सक्चमङ्गं पण्डितमानिनम् ।

कृष्णं मर्त्यमुपाभित्य गोपा मे चक्रुरभिप्रेतम् ॥ ५ ॥

एषां भियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मापितात्मनाम् ।

ध्रुवत भीमदस्तम्भं पशु नक्त संक्षयम् ॥ ६ ॥

अहं चैरावतं नानामारुहानुव्रजे प्रभम् ।

मरुद्गजैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठविषांसवा ॥ ७ ॥

भीमक उवाच

इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तचम्पनाः ।

नन्दगोकुलमासारै पीडयामासुराजसा ॥ ८ ॥

विषोदमाना विष्णुभिः स्तनन्तः स्तनयित्सुभिः ।

वीरैर्मरुद्गजैर्नुन्ता बह्वर्जलक्ष्मणैः ॥ ९ ॥

रूपणास्पृता वर्षधारा मुञ्चत्यग्नेष्वभीष्टण्डः ।

नन्दबाबा आदि गोपोंपर बहुत ही क्रोधित हुए । परन्तु उनके क्रोध करनेसे होता क्या, उन गोपोंके रहस्य तो खर्य भगवान् श्रीकृष्ण थे ॥ १ ॥ इन्द्रको अपने पदका बड़ा घमण्ड था, वे सम्मते थे कि मैं ही विश्वेश्वर ईश्वर हूँ । उन्होंने क्रोधसे त्रिभुवन पर प्रलय करनेवाले मेघोंके सार्वर्तक नामक गणको बरस पड़ाई करनेकी आज्ञा दी और कहा— ॥ २ ॥ 'बोह, इन जंगली गवालोंको इतना घमण्ड ! सचमुच यह बन्का ही मछा है । मछ देखो तो सही, एक साधारण मनुष्य कृष्णके लक्षपर उन्होंने मुझ देवराजका अपमान कर डाला ॥ ३ ॥ जैसे पृथ्वीपर बहुत-से मन्दबुद्धि पुरुष भक्तसागरसे पार जानेके सच्चे साधन त्रिभुवन तो छोड़ देते हैं और नाममात्रकी दृष्टि नाकसे— कर्ममय यज्ञोंसे इस घोर संसार-सागरको पार करना चाहते हैं ॥ ४ ॥ कृष्ण बकनादी, नादान, क्षमिणी और मूर्ख होनेपर भी अपनेको बहुत बड़ा इनी सम्मता है । वह खर्य मनुष्यका मांस है । फिर मैं सहीका सहारा लेकर इन जाहीरोंने मेरी अवहेलना की है ॥ ५ ॥ एक तो ये यों ही वनके मधेमें घूरे हो रहे थे, दूसरे कृष्णने इनको और बड़ावा दे दिया है । अब तुममेग जाकर इनके इस वनके घमण्ड और हेतकीको धूममें मिला दो तथा उनके पशुओंका संहार कर डालो ॥ ६ ॥ मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ऐश्वर्य हापीर चढ़कर नन्दके ब्रह्मका नाश करनेके लिये महापराक्रमी मरुद्गजोंके साथ जाता हूँ ॥ ७ ॥

श्रीशुक्रनेयजी कहते हैं— परीक्षित । इन्द्रने इस प्रकार प्रलयके मेघोंको आज्ञा दी और उनके चम्पन खोल दिये । अब वे वड़ केगसे मन्दबाबाके ब्रह्मपर चढ़ आये और मूसलबार पामी बरसाकर सारे ब्रह्मको पीक्षित करने लगे ॥ ८ ॥ चारों ओर विबलियों चमकन लगीं, बादल आपसमें टकराकर कबकने लगे और प्रचण्ड औंधीकी प्रणालसे वे बड़े-बड़े कोले बरसाने लगे ॥ ९ ॥ इस प्रकार अब दल-क-दल बादल बार बार आ-आकर खेमेके समान मोटी-मोटी बारों गिरने

बलौघै श्रान्यमाना मूर्तादृश्यत नतोन्नतम् ॥१०॥

अस्मासारातिवातेन पद्मवो जातवेपना ।

गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥११॥

द्विरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।

वेपमाना भगवतः पद्ममूलमुपाययुः ॥१२॥

कृष्ण कृष्ण महाभाग स्वभार्थं शोकुलं प्रभो ।

प्राप्तुमर्हसि देवामः कृपितास्तु भक्तवत्सल ॥१३॥

शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् ।

निरीक्ष्य भगवान् मेने कृपितेन्द्रकुत हरिः ॥१४॥

अवर्षत्युत्कर्णं वर्षमतिवात शिलावर्षम् ।

स्वपागे विहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥१५॥

तत्र प्रतिविधिं सम्पगात्मयोगेन साधये ।

लोकेऽस्मानिनां मौढ्याद्वरिष्ये श्रीमद् तमः ॥१६॥

न हि सद्भाषयुक्तानां सुराणामीश्वरिष्य ।

मघोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥१७॥

तस्मान्मच्छरणं गच्छं मन्मथं मत्परिग्रहम् ।

गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आदितः ॥१८॥

उभे, तब ब्रह्मभूमिका कोना-कोना पानीसे भर गया और कहाँ नीचा है, कहाँ ऊँचा—इसका पता चलना कठिन हो गया ॥ १० ॥ इस प्रकार मूसलधार बर्षा तथा झंझावातके झगड़ेसे अब एक-एक पक्ष ठिठुरने और कौपने लगा, ग्याल और ग्याबिनें भी ठंडके मारे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, तब वे सब-के-सब भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आये ॥ ११ ॥ मूसलधार बर्षासि सताये जानेके कारण सबने अपने-अपने सिर और कर्वाँको मिट्टककर अपने शरीरके नीचे छिपा लिया था और वे कौपते-कौपते भगवान्की शरणशरणमें पहुँचे ॥ १२ ॥ और बोले—‘प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम बड़े माय्यान् हो । अब तो कृष्ण ! केवल तुम्हारे ही माय्यसे हमारी रक्षा होगी । प्रभो ! इस सारे गोकुलके एकमात्र स्वामी, एकमात्र रक्षक तुम्हीं हो । मक्तवत्सल ! इन्द्रके क्रोधसे अब तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो ॥ १३ ॥ भगवान् ने देखा कि बर्षा और जोड़ोंकी मारसे पीड़ित होकर सब बेवश हो रहे हैं । वे समझ गये कि यह सारी कतलत इन्द्रकी है । उन्होंने ही क्रोधवशा ऐसा किया है ॥ १४ ॥ वे मन-ही-मन कहने लगे—‘हमने इन्द्रका यह मङ्गल कर दिया है, इसीसे वे ब्रह्मका नाश करनेके लिये बिना ऋतुके ही यह प्रचण्ड बायु और जोड़ोंके साथ धनधरे बर्षा कर रहे हैं ॥ १५ ॥ अच्छ, मैं अपनी योगमायासे इसका प्रसीमनि अबाध दूँगा । ये मूर्खतावश अपनेको लोकपाठ मानते हैं, इनके ऐश्वर्य और धनका घमण्ड तथा अज्ञान मैं चूर-चूर कर दूँगा ॥ १६ ॥ देवताभोग तो सत्प्रधान होते हैं । हमने अपने ऐश्वर्य और पदका अभिमान न होना चाहिये । वत यह उचित ही है कि इन सत्प्रगुणसे श्रुत दुष्ट देवताओंका मैं मान मङ्गल कर दूँ । इससे अन्तमें उन्हें शांति ही मिलेगी ॥ १७ ॥ यह सारा व्रत मेरे आश्रित है, मेरे द्वारा स्वीकृत है और एकमात्र मैं ही इसका रक्षक हूँ । अतः मैं अपनी योगमायासे इसकी रक्षा करूँगा । संतोका रक्षा करना तो मया व्रत ही है । अब उसके पालनका अवसर आ पहुँचा है’ ॥ १८ ॥

१ दनिष्ये ।

• भगवान् कहते हैं—

सहदेव प्राप्राय तमस्मीनि च याचते । अमर्षं तर्षभृतेभ्यो दद्यान्मृतं भयम् ॥

‘अब केवल एक बार मरी तरलमें आ ज्योता दे और मैं तुम्हारा हूँ । इस प्रकार याचना करता है, उसे मैं अमर्षं प्राप्तिवशे अमय कर दूँगा—यह मेरा व्रत है ।

इत्युक्तवैकन इस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।

दधार लीलया कृष्णश्रृङ्गाकमिन बालकः ॥१९॥

अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्भ तात व्रजौकसः ।

यद्योपजोर्षं विद्वत् गिरिगर्तं सगोधनाः ॥२०॥

न त्रास इह वः कस्यो मद्भस्ताद्रिनिपातने ।

वातवर्षभयेनालं तत्प्रलम्बं विहितं हि वा ॥२१॥

तथा निर्विविधगर्तं कृष्णभ्यासितमानसाः ।

यथावकाशं सधनाः सप्रजाः सोपजीविन ॥२२॥

धुचदम्पयां सुलापेक्षां हित्वा तैर्ब्रजवासिभिः ।

वीक्ष्यमाणो दधौवद्वि सप्ताहं नाचलत् पदात् ॥२३॥

कृष्णयोगालुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः ।

निःस्तम्भो ब्रह्मसङ्कल्प स्नान् मेघान् संन्यवारयत् २४

तं व्यग्रमुदितस्य वातवर्षं च दाक्षयम् ।

निशाम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत् ॥२५॥

निर्यातं स्पञ्जत त्रासं गोपाः सखीधनार्मकाः ।

उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाद्य निम्नगाः ॥२६॥

तवस्ते निर्यपुर्गोपाः स्व स्वमादाय गोधनम् ।

श्वक्रोडोपकरणं स्त्रीचालम्यविराः श्वनेः ॥२७॥

इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्णने खेड़-खेड़में एक ही हाथसे गिरिराज गोवर्धनको उठाकर जिया और जैसे छोटे-छोटे बाळक बरसाती छत्तेके पुष्पको उठाकर हाथमें रख लेते हैं, वैसे ही उन्होंने उस पर्वतको धारण कर लिया ॥ १९ ॥ इसके बाद भगवान्ने गोपोंसे कहा—‘मातामी, पितामी और ब्रजवासिधे ! तुमलोग अपनी गौओं और सब सामग्रियोंके साथ इस पर्वतके गड्ढेमें आकर आरामसे बैठ जाओ ॥ २० ॥ देखो, तुमलोग ऐसी शङ्का न करना कि मेरे हाथसे यह पर्वत गिर पड़ेगा । तुमलोग तनिक भी मत डरो । इस औंधी-पानीके डरसे तुम्हें बचानेक किये हैं । मैंति यह युक्ति रची है’ ॥ २१ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सबको आश्वासन दिया—‘डाकड़ बंधाय, तब सब-के-सब बाळ अपने-अपने गोधन, श्वक्रों, आभितों, पुरोहितों और भृत्योंको अपने-अपने साथ लेकर सुभीतेके अनुसार गोवर्धनके गड्ढेमें जा चुके ॥ २२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने सब ब्रजवासियोंके देखते-देखते मूक-प्यारकी पीड़ा, आराम-विश्रामकी आवश्यकता आदि सब कुछ धुनकर सत दिनतक लगातार उस पर्वतको उठाने रक्खा । वे एक डग भी बगैँसे इधर उकर नहीं हुए ॥ २३ ॥ श्रीकृष्णकी योगमायाका यह प्रभाव देखकर इन्द्रके आश्चर्यका ठिकाना न रहा । अपना सङ्कल्प पूरा न होनेके कारण उनकी सारी बेकरी बंद हो गयी, वे भीषणके-से रह गये । इसके बाद उन्होंने मेघोंको अपने-अपने बर्षा करनेसे रोक दिया ॥ २४ ॥ जब गोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि वह स्पष्ट और औंधी और धनघोर बर्षा बंद हो गयी, आकाशसे बादल छूट गये और सूर्य दीखन लगे तब उन्होंने गोपोंसे कहा— ॥ २५ ॥ ‘मेरे प्यारे गोपो ! जब तुमलोग निडर हो जाओ और धरनी क्षियों, गोधन तथा वस्त्रोंके साथ बाहर निकल जाओ । देखो, जब औंधी-पानी बंद हो गया तब नदियोंका पानी भी उतर गया’ ॥ २६ ॥ भगवान्की ऐसी आज्ञा पाकर अपने-अपने गोधन, क्षियों, वस्त्रों और भूतोंके साथ से तपा अपनी सामग्री छकड़ोंपर मारकर धीरे धीरे सब लोग बाहर निकल आये ॥ २७ ॥ सर्वशक्तिमान्

भगवानपि त शूलं स्वम्याने पूर्ववत् प्रभुः ।

पदपतां मर्वभूतानां म्यापयामाम लीलया ॥२८॥

त प्रमवेगाक्षिभृता प्रनौकमो

यथा समीपु परिरम्भणादिभि ।

गोप्यथ सम्नेहमपूजयन् मुदा

दध्ययताद्विर्पुयु सदाशिप ॥२९॥

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वर ।

कृष्णमालिङ्ग्य धुमुजुराशिपः स्नेहयतरा ॥३०॥

दिनि देवगणा माया सिद्धगन्धर्वचारणा ।

तुष्टुर्मृगुचुन्तुष्टा पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥३१॥

गद्गदुन्मुभयो नेदुर्दिवि देवप्रगोदिताः ।

जगुगर्धर्वपतपस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥३२॥

सत्ताऽनुक्तै पशुर्व परिधितो

राजन् स गोष्ठं सखलोऽग्रजद्धरि ।

सपाविधापस्य कृतानि गोपिका

गायन्त्य ईषुर्मुदिता हृदिस्पृश ॥३३॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी सब प्राणियोंके देखते-देखते खेल-खेळमें ही गिरिराजको पूर्ववत् उसके स्थानपर रख दिया ॥ २८ ॥

सबवासियोंका हृदय प्रेमके आवेगसे भर रहा था । पर्वतको रखते ही वे भगवान् श्रीकृष्णके पास दौड़ आये । कोई उन्हें हृदयसे छ्याने और कोई चूमने लगा । सबन उनका सम्कार किया । बही-भूही गोपियोंने बड़े आनन्द और स्नेहसे दही, चावन्, अल आदिसे उनको मङ्गल चिह्न किया और ठमुक हृदयसे छुम आशीर्वाद दिये ॥ २० ॥ यशोदाशरी, रोहिणीभी, मन्दबाबा और बलबानोंने श्रेष्ठ बन्ध्यामयीने स्नेहातुर होकर श्रीकृष्णका हृदयसे लगा दिया तथा आशीर्वाद दिये ॥ ३० ॥ परीक्षित ! उस समय आकाशमें स्थित देवता साय, मिद, गन्धर्व और चारण आदि प्रमत्त होकर भगवान्की स्तुति करते हुए उनपर कर्बोरी बर्षा करने लगे ॥ ३१ ॥ राजन् ! स्वर्गमें देवतालोक शङ्ख और नादन बजाने लगे । तुम्हूक आदि गर्धर्पुत्र भगवान्की मधुर लीलाका गान करने लगे ॥ ३२ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने सबकी यात्रा की । उनके बगलमें बन्ध्यामयी चन् १६ ये और उनके प्रती शशाङ्क उनकी सेवा कर रहे थे । उनक साथ ही प्रममयी गोपियों भी अलग-अलग आकर्षित करनेवाये, उसमें प्रम जगान बाले भगवान्की गोवदनधारण आदि लीलाओंका गान करते हुई बड़े आनन्दसे ब्रजमें लौट आये ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पादमस्यां मंदितप्या दशमस्कन्धे

पूर्वार्धे अष्टविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

बालकस्य यदेतानि कर्मण्यत्युत्तानि वै ।

कथमर्हत्सौ जन्म ग्राम्येऽप्यात्मगुण्यसितम् ॥ २ ॥

य सप्तदायनो बालः करेणैकेन लीलया ।

कथं विभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराशिष ॥ ३ ॥

तोकेनामीलितालेण पूतनाया महौजसः ।

पीतः स्तन सह प्राप्य कालेनेव वयस्तनो ॥ ४ ॥

दिन्वतोऽथः शयानस्य मासस्य चरणाबुदब् ।

अनोऽपसद् विपर्यस्त रुदत प्रपदाहतम् ॥ ५ ॥

एकायन आसीनो ह्यिमाणो विहायसा ।

दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ॥ ६ ॥

कचिर्दयङ्गवस्तन्य मात्रा बहु उखाबले ।

गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपाधयत् ॥ ७ ॥

वने मंचारयन् वरतान् मरामो बालर्षपूर्तः ।

हन्तुकामं वक् दोम्या सुमताऽरिमपाययत् ॥ ८ ॥

परसेषु परमरूपेण प्रविशन्त जिघांसया ।

हन्ता पयानयन् कपिधानि च लाडया ॥ ९ ॥

हन्ता गगभर्तृपं तद्वर्ण्यं यजान्वित ।

यद् वानपन धर्मं परिपक्वदत्ताभ्यनयत् ॥ १० ॥

लो ॥ १ ॥ इस बालकके ये कर्म बड़े क्लेशकित हैं । इसका हमारे-जैसे गिराव प्राणीगोमें जन्म लेना तो इसके लिये बड़ी निन्दाकी बात है । यह भण, कैसे उक्ति हो सकता है ॥ २ ॥ जैसे गजराज काई कमल उखाड़कर उसे ऊपर उठा ले और धारण करे, वैसे ही इस नन्हे-से सात वयके बालकमें एक ही हाथसे गिरिवर गोकर्णको उखाड़ लिया और खेल-खेलमें सात दिगोलक उठाये रक्खा ॥ ३ ॥ यह साधारण मनुष्यके लिये समझ कैसे सम्भव है ? प्रथम यह नन्हा सा बच्चा था, उस समय बड़ी मर्यादर उधसी पूतना आयी और इसने औंस बं किये-किये ही उसका स्तन तो दिया ही, प्राण भी पी डाले—ठीक वैसे ही, जैसे काल शरीरकी आयुको निगल जाता है ॥ ४ ॥ जिस समय यह केवल तीन महीनेका था और छकड़ेके नीचे सोकर रो रहा था, उस समय रोते-रोते इसने ऐसा पौरव सञ्चाला कि उसकी ओकरसे वह बड़ा भारी छकड़ा उखलकर गिर ही पड़ा ॥ ५ ॥ उस समय तो यह एक ही वर्षका था, जब दैत्य बरबरके रूपमें इसे बैठे-बैठे आकाशमें उड़ा ले गया था । तुम सब जानते ही हो कि इसने उस तृणावत दैत्यको गला बोंकर मार टाला ॥ ६ ॥ उस गिनकी बात तो सभी जानते हैं कि मासजघोरी करने-पर यशोदाश्रीमें इसे ऊखरसे बाँध लिया था । यह पुत्रकी वज्र बकियों की रते-नीचते उन दोनों विशाल अर्जुन वृक्षोंके बीचमेंसे निकल गया और उन्हे उलाड़ ॥ दाटा ॥ ७ ॥ जब यह ग्राहवाज और बचरामजीके साथ बल्लभोंकी चरानेके लिये वनमें गया हुआ था उस समय इसको मार डालनेके लिये एक दैत्य बहुतेक रूपमें आया और इसने दोनों हाथोंसे उसके दोनों टोरे पकड़ कर उसे निरङ्की तरह पीर डाना ॥ ८ ॥ जिस समय इसको मार डालनेकी इच्छासे एक दैत्य बछड़ेके रूपमें बटर्णोंके मुँहमें घुस गया था, उस समय इसने उस दैत्यको गोड़-ही-गोड़में मार डाला और उसे बैपके पेशोंपर पङ्कज उम पेशोंके भी गिरा दिया ॥ ९ ॥ इसन बचरामजीक साथ मित्रर मधुर रूपमें रहनेवाले धनुशालु राज उसके भ्रातृपुत्रोंका मार डाला और पके हुए रूपमें दूग तावजक वपने लिये उसमेंगी और मङ्गलमय बना दिया ॥ १० ॥ इसीने वनदाजी

प्रलम्भं घातमित्योत्रं मलेन बलशालिना ।
 अमोचयद् वज्रपद्मं गोपांश्चारण्यवह्निम् ॥११॥
 आशीविषतमाहीन्द्र दमित्वा विमद इदम् ।
 प्रसन्नोद्गम्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् ॥१२॥
 दुस्त्यज्जघानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो वज्रीकसाम् ।
 नन्द ते तनयेऽस्मास्तु तस्याप्यैत्यचिकः कथम् ॥१३॥
 क सप्तद्वयनो बालः क महाद्रिविधारणम् ।
 ततो नो जायते शङ्का वज्रनाथ तवात्मजे ॥१४॥

नन्द उवाच

श्रूयतां मे वचो गोपा ध्येतु शङ्का बबोऽर्मके ।
 एन कुमारमुद्दिश्य गगौ मे यदुवाच ह ॥१५॥
 वणाश्रयं किंलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
 शङ्को रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गत ॥१६॥
 प्रागय वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मज ।
 वायुदेव इति धीमानभिज्ञाः सम्प्रवक्ष्यते ॥१७॥
 बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
 शुनकमानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१८॥
 एष व धेय आधास्यद् गोपगोद्वलनन्दन ।
 मनेन सर्वदुर्गाणि यूयमस्मरिष्यथ ॥१९॥
 पुराणेन वज्रपते साधवो द्रक्ष्युपीडिता ।
 मराजक रस्यमाणा विमुर्दन्त्युनसमधिता ॥२०॥

वधरामजीके द्वारा मूर प्रलम्बासुरकी मरवा डाला तथा दावानलसे गौओं और ग्वालबालोंको उबार दिया ॥११॥ यमुनाजनमें रहनेवाला कृष्णिय नाग कितना विरिण पा । परशु इसने उसका भी मान मर्दन कर उसे बलपूर्वक दहसे निकाल दिया और यमुनाभीका जल सत्राके लिये विरहित—अमृतमय बना दिया ॥१२॥ नन्दजी । हम यह भी देखते हैं कि तुम्हारे इस सौबले बालकपर हम सभी वज्रशक्तियोंका अनन्त प्रेम है और इसका भी हमपर स्वाभाविक ही स्नेह है । क्या आप वतया समझते हैं कि इसका क्या कारण है ॥१३॥ भजा, क्यों तो यह सात वर्षका बच्चा—सा बालक और कहाँ इतने बड़े गिरिधजको सान दिगौतक उठाये रखना । वज्रधज । इसीसे तो तुम्हारे पुत्रके सम्बन्धमें हमें बड़ी शङ्का हो रही है ॥१४॥

नन्दपापाने कहा—गोपो । तुमसँग सावधान होकर मेरी बात सुनो । मेरे बालकके विषयमें तुम्हारी शङ्का दूर हो जाय । क्योंकि मूर्ध्नि गति है इस बालकको देखकर इसके विषयमें ऐसा ही कहा था ॥१५॥ 'तुम्हारा यह बालक प्रायेक युगमें शरीर प्रद्वज करता है । विभिन्न युगमें इसने ज्वेत, रक्त और पीत—ये भिन्न भिन्न रंग स्वीकार किये थे । इस बार यह कृष्णवर्ण हुआ है ॥१६॥ नन्दजी । यह तुम्हारा पुत्र पहले कहाँ बसुदेवक घर भी पैदा हुआ था, इसलिये इस रहस्यको जानन वाले लोग 'इसका नाम धीमान् वासुदेव है'—ऐसा कहते हैं ॥१७॥ तुम्हारे पुत्रके गुण और कमकि अनुरूप और भी बहुत-से नाम हैं तथा बहुत-से रूप । मैं तो उन नामोंको जानता हूँ, परन्तु संसारका साधारण लोग नहीं जानते ॥१८॥ यह तुमसँगोंका परम कल्याण करेगा, समस्त गोवर और गौओंको यह बहुत ही आनन्दित करेगा । इसकी सहायतासे तुमनाग बड़ी-बड़ी विरहितियोंको बड़ी सुगमतासे पार कर लोगे ॥१९॥ वज्रधज ! पूर्वकालमें एक बार पृथ्वीमें कोई राजा नहीं रह गया था । दासुजने वारों और मृत्यु-मृत्यु मरवा रक्खी थी । तब तुम्हारे इसी पुत्रने समस्त पुरुषोंकी रक्षा की और इसने बड़ पाकर इन लोगोंमें सुदृष्टि विरच प्राप्त

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।

नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपद्मानिवासुराः ॥२१॥

तस्माच्चन्द्र कुमारोऽयं नारायणसमो गुणैः ।

भिया क्रीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विषयः ॥२२॥

इत्यद्वा मां समादिक्ष्य गर्गे च स्वगृह गते ।

मन्ये नारायणसार्धं कृष्णमङ्घ्रिद्वारिणम् ॥२३॥

इति नन्दबचः श्रुत्वा गर्गगीतं ब्रह्मकृतः ।

इष्टश्रुतानुभावास्ते कृष्णसामितवेत्तवः ।

मुदिता नन्दमानर्धुः कृष्णं च गतविसयाः ॥२४॥

देवे वर्षति यद्भविष्यत्पुण्या

वज्राभ्रमपानिलैः

सीदत्यलपद्यन्नि आत्मधरणं

इष्टानुकम्प्युत्सयन् ।

उत्पादयैककरेण शैलमबलो

लीलोच्छिन्नीर्धं यथा

विभ्रवु गोष्ठमपान्महेन्द्रमदमित्

प्रीयाञ्च इन्द्रो गवाम् ॥२५॥

की ॥ २० ॥ नन्दबाबा ! जो तुम्हारे इस सौक्ये शिष्टसे प्रेम करते हैं, वे बड़े भाग्यवान् हैं । जैसे विष्णुभगवान् के कर्तव्यमूर्खोंकी छत्र-छायामें रहनेवाले देवताओंको वसुधैव कुटुम्बकम् की भाँति समझते, वैसे ही इससे प्रेम करनेवालोंको भीतरी या बाहरी—किसी भी प्रकारके शत्रु नहीं भीत सकते ॥ २१ ॥ मन्दन्ती ! बाहे जिस दृष्टिसे देखें—गुणसे, ऐश्वर्य और सौन्दर्यसे, क्रीडित और प्रमादसे तुम्हारा बाबूक स्वयं भगवान् नारायणके ही समान है । जब इस बाबूकके बलौकिक कर्तव्योंको देखकर आश्चर्य न करना चाहिये ॥ २२ ॥ गोपो ! मुझे स्वयं गर्गचार्यजी यह आदेश देकर अपने घर चले गये । तबसे मैं बलौकिक और परम सुखद कर्म करनेवाले इस बाबूकको भगवान् नारायणका ही अंश मानता हूँ ॥ २३ ॥ अब ब्रह्मवासियोंने नन्दबाबाके मुखसे गर्गजीकी यह बात सुनी, तब ठमकर विस्मय आता रहा । क्योंकि जब वे अमित ऐश्वर्यकी श्रीकृष्णके प्रभावको पूर्णरूपसे देख और सुन चुके थे । आनन्दमें भरकर उन्होंने नन्दबाबा और श्रीकृष्णकी मूर्ति-मूर्ति प्रार्थना की ॥ २४ ॥

जिस समय अपना यह मङ्गल हो जानेके कारण इन्द्र ओषधके मारे आग-बदूझ हो गये थे और मूसलधार वर्षा करने लगे थे, उस समय वज्रपात, ओषधोंकी बौछार और प्रकण्ड जौंधीसे की, पशु तथा ग्वाले अत्यन्त पीड़ित हो गये थे । अपनी धारणमें रहनेवाले ब्रह्मास्मिन्कोई यह दशा देखकर भगवान् का हृदय कण्ठासे भर गया । परन्तु फिर एक नयी बीड़ा करनेके विचारसे वे दुरंत ही मुक्तमाने लगे । जैसे कोई मन्दा-न्ता निर्द्वक बाबूक खेद-खेदमें ही बरसाती छत्तेका पुष्प उखाड़ ले, वैसे ही उन्होंने एक हाथसे ही गिरिजाम गोवर्द्धनको उखाड़ कर धारण कर लिया और सारे ब्रह्मकी रक्षा करी । इन्द्रका मद पुर करनेवाले थे ही भगवान् गोविन्द इन्द्रपर प्रसन्न हो ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पृथग्

पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अभिषेक

श्रीशुक उवाच

गावर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे ।
गोलाकादाव्रजत् कृष्णं सुरभि शक्र एव च ॥ १ ॥

विविक्त उपसङ्गस्य घ्रीडित कुतहेलन ।
पस्पर्श पदयोरेन किरीटेनार्कवर्षसा ॥ २ ॥

ष्टभुवानुभावोऽस्य कृष्णसामिततेजसः ।
नटत्रिलोकेष्वमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

इन्द्र उवाच

विशुद्धसध्व तव धाम शान्त
तपोमयं च्छस्तरजस्तमस्कम् ।

माशामयोर्ज्यं गुणसम्प्रवाहो
न विद्यते तेऽग्रहणानुषन्धः ॥ ४ ॥

इतो नु तद्वत्तव ईश तत्कृता
लोभादयो येऽधुबलिङ्गभावा ।

एषापि दण्डं भगवान् विभर्ति
धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥ ५ ॥

पिता गुरुस्त्व जगतामभीक्षो
दुरत्ययः काल उपाधदण्ड ।

दिवाप स्वेच्छातनुभिः समीहसे
मान विधुन्वज्जगतीशमानिनाम् ॥ ६ ॥

१. वरपदनिर्वाच । २. इन्द्र ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परिक्षित् ! अब भगवान् श्रीकृष्णने गिरिशान गोवर्धनको धारण करके मूसमधार बरसि व्रजको बचा लिया, तब उनके पास गेनोकसे कामयेनु (बघाई देनेके लिये) और सर्गसे देवान इन्द्र (अपने अपराधको क्षमा करानेके लिये) आये ॥ १ ॥ भगवान् का तिरस्कार करनेके कारण इन्द्र बहुत ही क्रोधित थे । इसलिये उन्होंने एकान्त-स्नानमें भगवान् के पास जाकर अपने सूर्यके समान तेजस्वी मुमुटसे उनके चरणों-का स्पर्श किया ॥ २ ॥ परमतेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव देख-सुनकर इन्द्रका यह धर्मद्व जता रहा कि मैं ही तीनों लोकोंका स्वामी हूँ । अब उन्होंने हाथ जाकर उनके स्तुति की ॥ ३ ॥

इन्द्रने कहा—भगवान् ! आपका स्वरूप परम शान्त, ज्ञानमय, रजोगुण तथा तमोगुणसे रहित एवं विशुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय है । यह गुणोंके प्रभावकूपसे प्रतीत होनेवाला प्रपञ्च केवल व्यापामय है । क्योंकि आपका स्वरूप न जामनेके कारण ही आपमें इसकी प्रतीति होती है ॥ ४ ॥ अब आपका सम्बन्ध अज्ञान और उसके कारण प्रतीत होनेवाले देहादिसे है ही नहीं, फिर तब देह आदिकी प्रसिके कारण तथा वन्हीसे होनेवाले लोभ-क्रोध आदि दोष तो आपमें हो ही बैठे सकते हैं ! प्रभो ! इन दोषोंका होना तो अज्ञानका लक्षण है । इस प्रकार यद्यपि अज्ञान और उससे होनेवाले जगत्से आप का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी धर्मको रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये आप अपना प्रहण करते हैं और निग्रह-अनुग्रह भी करते हैं ॥ ५ ॥ आप भगद् के पिता, गुरु और स्वामी हैं । आप जगत्का निष्पन्न करनेवाले दण्ड धारण किये हुए दुस्तर काम हैं । आप करनेवालोंकी लावसा पूरा करनेके लिये स्वच्छन्दतासे लीग-लीपि प्रकट करते हैं और जो लोग हमारी तरह करनेकी इच्छा मान बैठते हैं, उनके मान मर्दन करते हुए उनकी प्रकटकी लीग-लीपि करने दे ॥ ६ ॥ प्रभो !

ये मद्रिधाज्ञा जगदीश्वरमानिन

स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।

हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रमज्जन्त्यपस्मया

ईहा खलानामपि तेऽनुष्ठासनम् ॥ ७ ॥

स त्व ममैश्वर्यमदप्नुतस्य

कृतागस्तस्तेऽविदुषः प्रभात्वम् ।

घन्तुं प्रभोऽधार्हसि मूढचेतसो

मैव पुनर्भून्मतिरीक्ष मेऽसृषी ॥ ८ ॥

सबावतारोऽयमभोधजेह

स्वयम्भराणामुत्तुमारजन्मनाम् ।

चमूपतीनामभवाय देव

भवाय युष्मद्वरालुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥

नमस्तुभ्य भगवते पुरुषाय महात्मने ।

वास्तुदेवाय कृष्णाय सात्त्वतां पतय नमः ॥ १० ॥

स्वच्छन्दागात्तद्वक्ष्य विष्टदृष्टानमूर्त्ये ।

सर्वस्मै सर्वनीत्राय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ११ ॥

मयेद भगवन् गाढनाशायासारवायुभि ।

चष्टितं विहत यय मानिना सीयमन्युना ॥ १२ ॥

त्यपशानुगृहीताऽस्मि ध्वम्भस्तम्भो ब्रूयादयः ।

इष्यं गुरुमागमानं स्वामिदं गर्णं गतः ॥ १३ ॥

जो मेरे-मैंसे ब्रह्मानी और अपनेको बगत्का ईश्वर मानने-
वाले हैं, वे जब देखते हैं कि बड़े-बड़े भयके अवसरोंपर
भी आप निर्भय रहते हैं, तब वे अपना वर्मद छोड़ देते
हैं और गर्वरहित होकर संतपुरुषोंके द्वारा सेवित मक्ति-
योग्यता आश्रय लेकर आपका भजन करते हैं । प्रभो !
आपकी एक-एक चेष्टा दुष्टोंके लिये दण्डविभाग है ॥ ७ ॥
प्रभो ! मैंने ऐश्वर्यके मदसे घूर होकर आपका अपराध
किया है । क्योंकि मैं आपकी शक्ति और प्रभावके सम्मुख
में बिन्दुकुल जनान या । परमेश्वर ! आप कृपा करके
मुझ मूर्ख अपराधीका यह अपराध क्षमा करें और ऐसी कृपा
करें कि मुझे फिर कभी ऐसे दुष्ट ब्रह्मानुक्त शिक्कर
न होना पड़े ॥ ८ ॥ स्वयंप्रकाश, इन्द्रियातीत परममन् ।
आपका यह अवतार इसलिये हुआ है कि जो अज्ञ
सेनापति केवल अपना पेट पाकनेमें ही व्यग्र रहे हैं और पृथ्वीके
लिये बड़े मारी मारके कारण बन रहे हैं, उनका बच
करके उन्हें मोक्ष दिया जाय, और जो आपके आर्णवके
सेवक हैं—आज्ञाकारी मन्त्रजन हैं, उनका अभ्युदय
हो—उनकी रक्षा हो ॥ ९ ॥ भगवन् ! मैं आपको
नमस्कार करता हूँ । आप सर्वान्तर्मायी पुरुषोत्तम तब
सर्वान्त्य वास्तुदेव हैं । आप पदुर्बलियोंके एकमात्र आधी
मन्त्रासक्त एवं सबके चित्तको आकर्षित करनेवाले हैं
मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥ आपने
जीवोंके समान कर्मवश होकर नहीं, स्वतन्त्रतासे अपने
मन्त्रोंकी तथा अपनी इच्छाके अनुसार शरीर स्वीकृत
किया है । आपका यह शरीर भी विशुद्धज्ञानस्वरूप है ।
आप सब कुछ हैं, सबके कारण हैं और सबके आत्म
हैं । मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥
भगवन् ! मेरे अभिमनका अन्त नहीं है और मेरा
कोप भी बहुत ही तीव्र, मेरे बरक बाहर है । मैं
मैंने देखा कि मेरा यह तो मर कर गिया गया, तब मैं
भूमन्भार बर्ष और औषधीक द्वारा सारे ब्रह्मजन्मक
मर कर देना चाहता हूँ ॥ १२ ॥ परन्तु प्रभो ! आपने
मुझ बहुत ही अनुमद किया । मेरी चेष्टा व्यर्थ होमेरे
मैं बर्षकी अक्ष छूट गयी । आप मेरे स्वामी हैं, गुण
हैं और मेरे आत्मा हैं । मैं अब पर्यं शरण में हूँ ॥ १३ ॥

मीलक उवाच

एवं सङ्कीर्तितं कृष्णो मघोना भगवानमुहम् ।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहमभिदमन्व्रीत ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन् मत्समाङ्गोऽनुगृह्यता ।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रभिया मृक्षम् ॥१५॥
सामैश्वर्यमीमदान्भो दम्भपाणि न पश्यति ।
तं ब्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चोच्छाम्यनुग्रहम् ॥१६॥
गम्भतां शक्र भद्र वः क्रियतां मेऽनुग्रासनम् ।
भ्योयतां त्वाधिकारेषु युक्तैर्षं तन्मन्त्रजितैः ॥१७॥

अथाह सुरभि कृष्णमभिर्वैद्य मनस्विनी ।
स्वप्नानैरुपामम्य गोपहृषिणमीश्वरम् ॥१८॥

सुरभिलवाच

कृष्णकृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसंभव ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमभ्युत ॥१९॥
त्वं नः परमर्कं देवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
मयाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधव ॥२०॥
इन्द्रं नस्त्वामिपेक्ष्यामो प्रह्वाना नोदिता वयम् ।
भवतीर्णोऽमि विश्वात्मन् भूमभारापनुवाये ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! जब देवयान
इन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की, तब
उन्होंने हैंसते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे इन्द्रको
सम्बोधन करके कहा— ॥ १४ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—इन्द्र ! तুম ऐश्वर्य और धन
सम्पत्तिके मदसे पूरे-पूरे मतवाले हो रहे थे । इसलिये
तुमपर अनुमद करके ही मैंने तुम्हारा यह मङ्ग किया है ।
यह इसलिये कि अब तुम मुझे नित्य निरन्तर स्मरण रख
सकते ॥ १५ ॥ जो ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे
अवा हो जाता है, वह यह नहीं देखता कि मैं कामरूप
परमेस्वर हूँ। मैं दण्ड देकर उसके सिरपर सबार हूँ । मैं
जिसपर अनुमद करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्यभूत कर
देता हूँ ॥ १६ ॥ इन्द्र ! तुम्हारा मङ्गल हो । अब तुम
अपनी राजधानी अमरावतीमें जाओ और मेरी आज्ञाका
पावन करो । अब कभी धर्म न करना । नित्य-नित्य
मेरी सन्निधिरहो, मेरे सयोगका अनुभव करते रहना और
अपने अधिकारके अनुसार उचित रीतिसे मर्यादाका पावन
करना ॥ १७ ॥

परीक्षित ! भगवान् इस प्रकार आज्ञा दे ही रहे थे
कि मनस्विनी कामधेनुने अपनी सन्तानोंके साथ गोपवैद्य-
वासी परमेस्वर श्रीकृष्णकी बन्धना की और उनको सम्बोधित
करके कहा— ॥ १८ ॥

कामधेनुने कहा—सविदामन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! आप
महायोगी—योगेश्वर हैं । आप सत्य विश्व हैं, विश्वके
परमकारण हैं, जगत्पते हैं । सम्पूर्ण विश्वके स्वामी
आपको अपने रक्षकके रूपमें प्राप्तकर हम सनाथ हो
गयी ॥ १९ ॥ आप जगत्के स्वामी हैं । परन्तु
हमारे तो परम पूजनीय आराध्यदेव ही हैं । प्रभो !
इन्द्र त्रिलोकीके इन्द्र हुआ करे, परन्तु हमारे इन्द्र तो
आप ही हैं । अतः आप ही गो, ब्राह्मण, देवता और
सामुजनोंकी रक्षाके लिये हमारे इन्द्र बन आइये ॥ २० ॥
हम गीर्ण ब्रह्माजीकी प्रणामसे आपको अपना इन्द्र मान-
कर अभिषेक करेंगी । विश्वात्मन् ! आपन पूषीका भार
सत्कारमक लिये ही अवगत चरण किया है ॥ २१ ॥

त गृहीत्वानमद् मृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम् ।

अभिज्ञायामुरीं केलीं प्रविष्टमुदकं निशि ॥ २ ॥

पुक्रुमुत्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः ।

भगवांस्तदुपभृत्य पितरं वरुणादृतम् ।

संदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ॥ ३ ॥

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपलः सपर्यया ।

महत्या पूर्वस्त्विवाऽऽह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ ४ ॥

वरुण उवाच

अप मे निमृतो देहोऽद्यैवार्योऽभिगत प्रभो ।

त्वैत्यादमाहो भगवन्नवापुः पारमज्वनः ॥ ५ ॥

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।

न यत्र ध्रुवते माया लोकमुष्टिषिक्कयना ॥ ६ ॥

बभानश मामकेन भूतेनाकर्षयेदिना ।

भानीतोऽयं तव पिता तद् भवान्छन्तुमर्हति ॥ ७ ॥

ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यल्लेषणम् ।

गोविन्द नीयतामेप पिता ते पितृवत्सल ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

एव प्रसादित कृष्णो भगवानीश्वरेश्वर ।

नन्दबाबाको यह मात्स्य नहीं था कि यह असुरोंकी जेल है, इसलिये वे रातके समय ही यमुमानलमें घुस गये । उस समय वरुणके सेवक एक असुरने उन्हें पकड़ लिया और वह अपने खाभीके पास ले गया ॥ २ ॥ नन्दबाबा के खो जानेसे ब्रह्मके सारे गोप 'श्रीकृष्ण ! अब तुम्हीं अपने पिताको ला सकते हो, बल्लभ ! अब तुम्हारा ही भरोसा है'—इस प्रकार कहते हुए रोने-पीटने लगे । भगवान् श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं एवं सदासे ही अपने भक्तोंका भय भगाते आये हैं । जब उन्होंने ब्रह्मसिंघोंका रोना-पीटना सुना और यह जाना कि पिताजीको वरुणका कोई सेवक ले गया है, तब वे वरुणजीके पास गये ॥ ३ ॥ जब लोकपाल वरुणने देखा कि समस्त जगत्के अन्तरिक्ष और वह्निरिन्धियोंके प्रवर्तक भगवान् श्रीकृष्ण खड़े ही उनके यहाँ पवारे हैं, तब उन्होंने उनकी बहुत बड़ी पूजा की । भगवान्के दर्शनसे उनकी रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा । इसके बाद उन्होंने भगवान्से निवेदन किया ॥ ४ ॥

वरुणजीने कहा—प्रभो ! आज मेरा शरीर धारण करना सफल हुआ । आज मुझे सम्पूर्ण पुरुषार्थ प्राप्त हो गया । क्योंकि आज मुझे आपके चरणोंकी सेवाकर श्रम अवसर प्राप्त हुआ है । भगवन् ! किन्हीं भी आपके चरणकमलोंकी सेवाका अवसर मिना, वे यक्षसागरसे पार हो गये ॥ ५ ॥ आप भक्तोंके भगवान् वेदान्तियोंके ज्ञान और योगियोंके परमात्मा हैं । आपके चरित्रमें विभिन्न लोकसृष्टियोंकी कल्पना करनेवाली माया नहीं है—ऐसा श्रुति कहती है । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥ प्रभो ! मैं यह सेवक बड़ा मूढ़ और अनजान हूँ । वह अपने कर्तव्यको भी नहीं जानता । वही आपके पिताजीको ले आया है, आप क्या करके उसका अपराध क्षमा करिये ॥ ७ ॥ गोविन्द ! मैं जानता हूँ कि आप अपने पिताके प्रति बड़ा प्रेमभाव रखते हैं । ये आपके पिता हैं । इन्हें आप ले जाइये । परन्तु भगवन् ! आप सबके अन्तर्यामी, सबके साक्षी हैं । इसलिये विश्वसिमोहन श्रीकृष्ण ! आप मुझ दासपर भी कृपा करिये ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परिशिष्ट । भगवान् श्रीकृष्ण महा आत्मा ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं । लोकपाल वरुण

अदायागात् स्वपितरं कन्धूनां चावहन्मुदम् ॥ ९ ॥

नन्दस्त्वतीन्त्रिय इष्टा लोकपालमहोदयम् ।

कृष्णे च सभर्ति तेषां श्रासिम्यो निशितोऽग्रवीत् ॥

ते त्वीत्सुक्मधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।

अपि नः स्वगतिं सूक्ष्माद्युपाधास्यदधीश्वरः ॥ ११ ॥

इति स्वानां स भगवान् विद्यार्यालिलश्च स्ववत् ।

सहस्रसिद्धये तेषां कृपयैतदधिन्तयत् ॥ १२ ॥

जनो वै लोक एतस्मिन्निविद्याकामकर्मभिः ।

उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥ १३ ॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकप्रशिक्षा हरिः ।

दर्शयामास लोकं न्व गोपानां तमसः परम् ॥ १४ ॥

सत्सं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योति सनातनम् ।

यश्चि पश्यन्ति मृणपो गुणापाये समाहिताः ॥ १५ ॥

ये तु ब्रह्महर्दनीता मग्नाः कृष्णेन चोदयताः ।

ददृशुर्मग्नो लार्कं यत्राकरोऽध्यगात्पुरा ॥ १६ ॥

इस प्रकार उनकी स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया । इसके बाद भगवान् अपने पिता नन्दजीको लेकर अपने चले जाये और ब्रजवासी भाई-बन्धुओंको ध्यानप्रदित किया ॥ ९ ॥ नन्दजीने बहूणलोकमें लोकपालके इन्द्रियादी ऐश्वर्य और सुख-सम्पत्तिको देखा तथा यह भी देखा कि वहाँके निवासी उनके पुत्र श्रीकृष्णके कारणमें सुख-सुकर प्रणाम कर रहे हैं । उन्होंने कहा जिसपुत्र हुआ । उन्होंने ब्रजमें आकर अपने जनि-भ्रात्योंको सब बातें कह सुनायीं ॥ १० ॥ परीक्षित ! भगवान्के प्रेमी गोप यह सुनकर ऐसा समझने लगे कि अरे, ये तो स्वयं भगवान् हैं । तब उन्होंने मन-ही-मन कही उत्सुकतासे विचार किया कि क्या कभी जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हमलोगोंको भी अपना वह मायावर्तित लक्षण, जहाँ कल इनके प्रेमी मछ ही जा सकते हैं, दिखायेंगे ॥ ११ ॥ परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सर्वदर्शी हैं । मन्त्र, उनसे यह बात कैसे छिपी रहती ! वे अपने आत्मीय गोपोंकी यह कमिजाबा जान गये और उनका सहस्रसिद्ध करनेके लिये कृपासे भरकर इस प्रकार सोचने लगे ॥ १२ ॥ 'इस संसारमें जीव अज्ञानवश इसीमें आत्मबुद्धि करके भौतिक-भौतिकी कम्मा और उनकी भौतिकी लिये नागा प्रकारक कर्म करता है । फिर उनके फलस्वरूप देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ऊँची-नीची योनियोंमें भटकता फिरता है, अपनी अतन्नी गतिकी—आत्मस्वरूपको नहीं पहचान पाता ॥ १३ ॥ परमदय्य भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सोचकर उन गोपोंको मायावचकारसे अतीत अपना परमधाम दिखलया ॥ १४ ॥ भगवान्ने पहले तमको उस ब्रह्मरूप साक्षात्कार करवाया जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अमृत, सनातन और ज्योति स्वरूप है तथा समाभिनिष्ठ गुणातीत पुरुष ही जिसे देख पाते हैं ॥ १५ ॥ जिस अन्धारायमें अकूतकी भगवान्ने अपना स्वरूप दिखलया था, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्महृदमें भगवान् उन गोपोंको ले गये । वहाँ उन लोगोंको उसमें बुझकी लगयी । वे ब्रह्महृदमें प्रवेश कर गये । तब भगवान्ने उसमेंसे उनको निकालकर अपने परमधामका दर्शन कराया ॥ १६ ॥ उस दिव्य भगवत्स्वरूप व्येकको देखकर नन्द आदि गोप परमानन्दमें मग्न हो गये । वहाँ

नन्दाद्यस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्मुक्ताः ।

कृष्णं च सप्रच्छन्दोभिः स्तूयमानमुविस्मिताः ॥ १७ ॥

तन्होंने देखा कि सारे वेद मूर्तिमान् होकर भगवान् धीवृष्णकी स्तुति कर रहे हैं । यह देखकर वे सब-के-सब परम विस्मित हो गये ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्श्या संहितायां दशमस्कन्धे

पूर्वर्षिः श्वार्षिः शोऽध्याय ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

रासलीलाका आरम्भ

श्रीकृष्ण उवाच

भगवानपि ता रात्रीः श्रद्धोत्कृष्टमल्लिका ।

शीत्प रन्तु मनश्चक्रे योगमायासुपाभितः ॥ १ ॥

एतादृशाञ्चः कङ्कभः करैर्मुत्सं

प्राच्या विलिम्प्यभरणेन श्रुतमै ।

स वर्षणीनामुदगाच्छ्रुत्वा भुञ्जन्

प्रिय प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥

एषा कुमुदन्तमल्लमण्डलं

रमाननामं नवहङ्कमारुणम् ।

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! शरद् ऋतु थी । उसके कारण बेला, चमेली आदि सुगन्धित पुष्प खिलकर मई-मई महँक रहे थे । भगवान् ने खीर हरणके समय गोपियोंका भिन रात्रियोंका सकेत किया था, वे सब-की सब पुष्पीभूत होकर एक ही रात्रिके रूपमें उलझित हो रही थीं । भगवान् ने उन्हें देखा, देखकर दिव्य बनाया । गोपियों तो चाहती ही थीं । अब भगवान् भी अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाके सहारे उन्हें विभित्त बनाकर रसमयी रासलीला करनेका सङ्कल्प किया । अपनी होनेपर भी उन्होंने अपने प्रेमियों-की इच्छा पूर्ण करनेके लिये मन स्वीकार किया ॥ १ ॥ भगवान् के सङ्कल्प करते ही चन्द्रदेवने प्राची दिशाके मुखमण्डलपर अपने शीतल किरणरूपी वस्त्रमालोंसे आन्ध्रमाकी रोली-केशर मल दी, जैसे बहुत निमोह बाद अपनी प्राणप्रिया पत्नीके पास जाकर उसके प्रियतम पतिने उसे आनन्दित करनेके लिये ऐसा किया हो । इस प्रकार चन्द्रदेवने शय्य होकर न केवल पूर्ण-दिशाका, प्रत्युत ससारके समस्त चर-अचर प्राणिपौक्य संताप—जो दिनमें शालकशीन प्रखर सूर्यरश्मियोंके वक्राण बढ़ गया था—दूर कर दिया ॥ २ ॥ उस निम चन्द्रदेवका मण्डल अलण्ड था । पूर्णिमाकी रात्रि थी । वे नूतन वस्त्राक समान लाल-लाल हो रह थे, कुछ सङ्कोचमिश्रित अमिन्नासे युक्त नाम पहते थे । उनका मुखमण्डल रत्नमालीक समान मादम हो रहा था । उनकी कोमल किरणोंसे सारा जगत् अनुागके योगमें रँग गया था । वनक कोन

धनं च तस्मैमलमोऽभिरक्षित

जगौ फल वामदृष्टा मनोहरम् ॥ ३ ॥

निश्चम्य गीतं तदनन्तवर्षन

प्रवृत्तिः कृष्णगृहीतमानसाः ।

आश्वमुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः

स यत्र कान्तो जलोलकुण्डलाः ॥ ४ ॥

दुहन्त्वोऽभिययुः काभिव् दोई हित्वा समुत्सुकाः ॥

पयोऽधिभित्त्य संयत्नमुदात्तापरा ययुः ॥ ५ ॥

परिवेयन्त्यस्तद्वित्वा पाययन्त्यः शिघ्रन् पयः ।

शुभ्रपन्त्यः पतोन् काभिदभनन्त्योऽपास्वभोजनम् ॥ ६ ॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काभिलोषणे ।

भ्यस्त्वस्तवस्रामरणाः काभित् कृष्णान्तिकं ययुः ॥ ७ ॥

ता वायमाणाः पतिभिः पितृभिर्मातृवृधुभिः ।

कोनेमें उन्होंने अपनी चौदमीके द्वारा जमुतका समुद्र
उत्पन्न दिया था । भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्य उज्ज्वल
रसके उद्दीपनकी पूरी सामग्री उन्हें और उस कमरे
केलकर अपनी बाँसुरीपर मनसुन्दरियोंके मनको हारन करने-
वाली कामबीज 'की' की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेदी ॥ १ ॥
भगवान्का वह वशीवादन भगवान्के प्रेमकी, उनके
मिष्ठमकी स्मरसाको अत्यन्त उकसानेवाला—बढ़ानेवाला
था । यों तो श्यामसुन्दरने पहलेसे ही गोपियोंके मनको
अपने वशमें कर रक्खा था । जब तो उसका मनकी
सारी वस्तुएँ—मय, सङ्कोच, वैर्य, मर्यादा आदिकी
वृत्तियाँ भी—छीन लीं । बचीथमि छुनसे ॥ उनकी
विविध गति हो गयी । निम्नोंने एक साध साधना की
ही श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनके लिये, वे गोपियाँ
भी एक-दूसरेको सूचना न देकर—याज्ञिक कि एक
दूसरेसे अपनी चेष्टाको छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँ किसे
पता पड़ी । परीक्षित । वे इतना वेगसे चली दी कि
उनके कानोंके कुण्डल होंके आ रहे थे ॥ ४ ॥

बचीथमि छुनकर जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं,
वे अत्यन्त उत्सुकताका दूध दुहना छोड़कर चले
पड़ीं । जो चूल्हेपर दूध औंटा रही थीं, वे उफला हुआ
दूध छोड़कर, और जो कपसी पका रही थीं वे पकी
हुई कपसी बिना उतारे ही ओं-की-स्यों छोड़कर चले
दीं ॥ ५ ॥ जो मौजन परस रही थीं वे परसना छोड़कर,
जा छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पिलव रही थीं वे दूध पिलाना
छोड़कर, जो पतियोंकी सेवा श्रुश्रूया कर रही थीं वे
सेवा-श्रुश्रूया छोड़कर और जो खपे मानन कर रही थीं
वे भोजन करना छोड़कर अपने कृष्णव्यारेके पास चले
पड़ीं ॥ ६ ॥ कोई-कोई गोपी अपने स्त्रीरमें अङ्गण,
चन्द्र और उबटन लगा रही थीं और कुछ जालोंमें
अंजन लगा रही थीं । वे उन्हें छोड़कर तथा उबट
पछट चले भारणकर श्रीकृष्णके पास पहुँचनेके लिये
चले पड़ीं ॥ ७ ॥ पिता और पतिद्वेने, भर्ता और
माता-पुत्रद्वेने उन्हें रोक, उनकी मङ्गलमयी प्रेमयात्रा
में विघ्न डाला । परन्तु वे इतनी मोहित हो गयी थीं
कि रोकनेपर भी न रुकी, न रुक सकीं । रुकती

गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्याऽलम्बविनिर्गमाः ।

कृष्णं तस्माद्वनायुक्ता दम्भुर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥

दुःसहप्रपुत्रविरहवीप्रतापधुताश्रुभाः ।

प्लान्प्राप्ताच्युताश्लेषनिर्द्विष्या क्षीणमङ्गला ॥ १० ॥

वैभव परमात्मानं जारमुद्धृष्यापि सगताः ।

बहुगुणमयं ददौ मयः प्रक्षीणवचनता ॥ ११ ॥

गमोयाच

कृष्णं विदुः परं फान्तं न तु प्रपन्नतया भुज ।

गुणप्रवाहापरमस्तासां गुणधिया कथम् ॥ १२ ॥

नीगुण उगाध

उक्तं पुष्पादतस चैव मिद्धि यथा गत ।

॥ १३ ॥

कैसे ! विषमिहोदय श्रीकृष्णने उनके प्राण, मम और
आत्मा सब कुछका अग्रहरण जो कर दिया था ॥ ८ ॥

परीक्षित ! उस समय कुछ गोपियों घोंके भीतर थीं ।
उन्हें बाहर निकलनेका भाग ही न मिला । तब उन्होंने
अपने नेत्र मूँद लिये और बड़ी तन्मयतासे श्रीकृष्णके
सौन्दर्य, माधुर्य और स्वीकृतिपूर्ण ध्याम करने लगीं
॥ ९ ॥ परीक्षित ! अपने परम प्रियतम श्रीकृष्णके
असह्य विरहकी तीव्र वेदनासे उनके हृदयमें इतनी
व्यथा—इतनी जलन हुई कि उनमें जो कुछ अशुभ
संस्कारोंका लेशमात्र अवशेष था, वह भस्म हो गया ।
इसके बाद मुरत ही ध्यान लग गया । ध्यानमें उनके
सामने भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए । उन्होंने मन-ही-
मन बड़े प्रेमसे, बड़े आवेगसे उनपर आतिश्रुत किया ।
उस समय उन्हें इतना सुख, इतनी शान्ति मिली कि
उनके सब-के-सब पुण्यके संस्कार एक साथ ही क्षीण
हो गये ॥ १० ॥ परीक्षित ! यद्यपि उनका उस समय
श्रीकृष्णके प्रति आरमात्र भी था; तथापि वही साथ
वस्तु भी मायकी अपेक्षा रखती है ! उन्होंने विनम्र
आतिश्रुत किया, चाहे किसी भी भावसे किया हो, ये
स्वयं परमात्मा ही तो थे । इसलिये उन्होंने पाप और
पुण्यरूप कर्मके परिणाममें बने हुए गुणमय शरीरका
परित्याग कर दिया । (भगवान्की लीलामें सम्मिश्रित
होनेके योग्य पिण्ड अग्राह्य शरीर प्राप्त कर गिया ।)
इस शरीरसे भोगे जानेवाले कथकन्धन तो प्लान्धव समय
ही क्षिप्त भिन्न हो चुक था ॥ ११ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—भगवन् ! मणियों ता
भगवान् श्रीकृष्णको कब जगता परम प्रियतम ही बनती
थीं । उनका उनमें वप्रभाव मही था । इस प्रश्न
उनकी दृष्टि प्राशन गुणोंमें ही आसक्त थीं ।
ऐसी स्थितिमें उनका गिय गुणोंका प्रवाहक रूप
भगवत्की निवृत्ति केमे सम्भव है ? ॥ १२ ॥

श्रीगुणधरजीन बड़ा—परीक्षित ! मैं तुम्हें बताने
ही बंद नुसार हूँ कि यथार्थ गिगुण भगवान्
प्रति रूप भव सम्भव था ज्ञान प्रकृत गीतका
प्रवाहक अग्राह्य गीतमें सम्भव था ।

श्रीगुणधरजीन बड़ा—परीक्षित ! मैं तुम्हें बताने
ही बंद नुसार हूँ कि यथार्थ गिगुण भगवान्
प्रति रूप भव सम्भव था ज्ञान प्रकृत गीतका
प्रवाहक अग्राह्य गीतमें सम्भव था ।

द्विपक्षपि हृषीकेशं किमुताधोऽजप्रियाः ॥१३॥

नृणां निःश्रेयसार्थस्य भ्यक्तिर्मग्नततो नृप ।

अभ्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुण्यात्मनः ॥१४॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।

नित्य इरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

न चैव विस्मयः काव्यो भवता भगवत्पजे ।

योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत् एतद् विद्युष्मते ॥१६॥

ता दृष्ट्वान्तिकमावाता भगवान् प्रजयोपितः ।

अमदद् वदतां धष्टो नाचः पेशीर्निमोहयन् ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

म्यागतं वा महाभागाः प्रियं किं करवाणि च ।

प्रप्रस्तानामयं कथिद् भृतागमनकजरणम् ॥१८॥

स्थितिमें जो समस्त प्रकृति और उसके गुणोंसे वर्तित भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी हैं और उनसे अनन्य प्रेम करती हैं, वे गोपियों उन्हें प्राप्त हो जायें—इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है ॥ १३ ॥ परीक्षित । वास्तवमें भगवान् प्रकृतिसम्बन्धी बुद्धि विनाश, प्रमत्त-प्रमेय और गुणगुणीभावसे रहित हैं । वे अचिन्त्य अनन्त अप्राकृत परम कल्याणस्वरूप गुणोंके एकत्र आश्रय हैं । उन्होंने यह जो अपनेका तथा अपनी बीमाको प्रकट किया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जीव उसके सहारे अपना परम कल्याण सम्पादन करे ॥ १४ ॥ इसलिये भगवान् से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिये । वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो—कामका हो, क्रोधका हो या ममका हो; स्नेह, नातेदारी या सौहार्दका हो । चाहे जिस भावसे भगवान् में निरन्तर अपनी वृत्तियों को ही जायें, वे भगवान् से ही जुड़ती हैं । इसलिये वृत्तियों भगवन्मय हो जाती हैं, और उस जीवको भगवान् की ही प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥ परीक्षित । तुम्हारे-जैसे परम भागवत, भगवान् का रहस्य जाननेवाले भक्तोंके श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये । योगेश्वरोंके श्री ईश्वर अनन्ता भगवान् के लिये भी यह कोई आश्चर्यकी बात है ? जरे ! उनके सहस्रनामोंसे—मौलिके इशारेसे सारे जगत्का परम कल्याण हो सकता है ॥ १६ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि ब्रजकी अनुपम विमूर्तियों—गोपियों मेरे किमुत पास आ गयी हैं, तब उन्होंने अपनी विनोदमयी वाक्पातुलीसे उन्हें मोहित करने हुए कहा । क्यों न हो—मृत, मरिच्य और कृतयामकाक के जितने बच्चा हैं, उनमें वे ही तो सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महामाग्यकी गोपियो । तुम्हारा स्वागत है । बतलाओ, तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये मैं कौन-सा काम करूँ ? ब्रजमें तो सब कुशाच-मङ्गल है न ? कहो, इस समय यहाँ जानकी क्या नाच-दयकरा नच गयी ? ॥ १८ ॥ सुन्दरी

रक्त्वेया घोररूपा घोरसन्धनिषेविता ।

प्रतिपात घर्जं नेह स्वेयं स्त्रीभिः सुमन्त्रमाः ॥१९॥

मातरः पितरः पुत्रा आतरः पतयन् न ।

निक्लिबन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृद्वर्षं बन्धुसाधसम् ॥

हृष्टं वनं क्लृप्तमित राकेक्षकररक्षितम् ।

यस्मान्निललीलैश्चतुरूपल्लवशोभितम् ॥२१॥

तृपात माचिरं गोष्ठं शुश्रूषन् पतीन् सतीः ।

हन्ति वस्ता बालान् तान् पापयत दुष्टत ॥२२॥

वववा म्दभिस्तेहाव भवत्यो यन्त्रिताश्रयाः ।

आगता ह्यपन्न वः प्रीयन्ते मयि अन्तवः ॥२३॥

मर्तुः शुश्रूषन् स्त्रीणां परो धर्मो क्षमायया ।

तदन्तानां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४॥

इन्दीलो दुर्मनो हृष्टो जहो रोम्यधनोऽपि वा ।

पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेऽप्युभिरपातकी ॥२५॥

अतर्प्यमपशस्य च फल्गु कृच्छ्रं मयामहम् ।

शुश्रूषितं च सर्वत्र औपपत्यं क्लृप्तियाः ॥२६॥

गोपियो ! रातव्य समय है, यह खय है। क्या मयावना होता है और इसमें बड़े-बड़े मयावने जीव-जन्तु हवर उधर धूमते रहते हैं। अतः तुम सब दुरंत जनमें लौट जाओ। रातके समय घोर जंगलमें शियोंको नहीं रुचना चाहिये ॥ १९ ॥ तुम्हें न देखकर तुम्हारे मौ-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु हँस रहे होंगे। उन्हें मर्मे न आये ॥ २० ॥ तुमलोगोंने रंग-किरंगे पुष्पोसे छदे हुए इस वनकी शोभाको देखा। पूर्ण चन्द्रमाकी कोयल शिम्पोंसे यह रंग-रूपा है, मानो उन्होंने अपने हाथों चित्रकारी की हो, और यमुनाजीके अञ्जक स्पर्श करके बहनेवाले शीतल समीरकी मन्द-मन्द गतिसे झिल्लते हुए ये बुझोंके पत्ते तो इस वनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं। परन्तु अब तो तुमलोगोंने यह सब कुछ देख लिया ॥ २१ ॥ अब देर मत करो, शीघ्र-से-शीघ्र वनमें लौट जाओ। तुमलोग कुत्सीन की हो और खप भी सती हो, जाओ, अपने पतियोंकी और सतियोंकी सेवा कुसूया करो। देखो, तुम्हारे बरके नन्दे-नन्दे बन्धे और गौबोंके बछड़े रो-रँमा रहे हैं; उन्हें बूच सिखाओ, गौएँ दुहो ॥ २२ ॥ अपना पति मेरे प्रेमसे परवश होकर तुमलोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, यह तो तुम्हारे योग्य ही है। क्योंकि जगत्के पञ्च-पक्षीतक मुझसे प्रेम करते हैं, शृष देखकर प्रसन्न होते हैं ॥ २३ ॥ कल्याणी गोपियो! शियोंका परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई बन्धुओंकी निष्कण्टमात्रसे सेवा करें और सन्तानका वात्सल्य-पोषण करें ॥ २४ ॥ जिन शियोंको उत्तम धोक प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, वे पलायकीको छोड़कर और किसी भी प्रकारके पतिका परिपालन न करें। मले ही वह बुरे स्वभाववाला, भाग्यहीन, बूढ़, मूर्ख, रोमी या निधन ही क्यों न हो ॥ २५ ॥ कुत्सीन शियोंके छिये या रूषकी सेवा सब तरहसे निन्दनीय ही है। इससे जनक परलोक विगहता है, स्वर्ग नहीं मित्रता, इस लोकमें अपयश हाता है। यह दुर्गम खय तो अल्पत दृष्ट, क्षणिक है ही इसमें प्रत्यक्ष—कर्मजानमें भी कष्ट ही-कष्ट है। मोक्ष वांछिनी तो बात ही कैन करे, यह दाहाए परम मय—नरक आदिका हट है ॥ २६ ॥

अस्प्राह्म तत्प्रमृति नान्यसमक्षमङ्ग

स्यातुं स्वयाभिरमिता षट् पारयाम् ॥३६॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरसधकमे सुलखा

लम्बापि वक्षसि पदं किल मृत्पञ्चुष्टम् ।

यखाः स्ववीर्यजकृतेऽन्यसुरप्रवास

स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥

तमः प्रसीद हृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिभूतं

प्राप्ता निरुज्य बसतीस्त्वदुपासनायाः ।

त्वत्सुन्दरसितनिरीक्षणतीव्रकाम-

तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दासम् ॥३८॥

वीर्यालकावृतमुलं तव कुण्डलभी

गण्डस्वलापरसुषं हसितावलोकम् ।

दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य

बधः भियैरमण च भवाम दास्यः ॥३९॥

प्राप्त हुआ । जिस दिन यह सौम्य हमें मिला और
तुमने हमें स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी दिनसे
हम और किसीके सामने एक क्षणके लिये भी ठहरनेमें
असमर्थ हो गयी हैं—पति-पुत्रादिकोंकी सेवा तो पूरा
रही ॥ ३६ ॥ हमारे स्वामी ! निम्न कक्षीयिका
कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े देवता तपस्य
कासे रहते हैं, वही कक्षीयिका तुम्हारे बक्ष स्वयंसे बिना
किसीकी प्रतिवन्धिताके स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी
सौत तुलसीके साथ तुम्हारे चरणोंकी रज पानेकी अभिलाषा
किया करती हैं । अबतकके सभी मन्त्रोंने उस
चरणरजका सेवन किया है । वन्हींके समान हम भी
तुम्हारी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं ॥ ३७ ॥
मगबन् ! अबतक जितने भी तुम्हारे चरणोंकी शरण
की, उसके सारे कष्ट तुमने मिटा दिये । अब तुम
हमपर कृपा करो । हमें भी अपने प्रसादका भजन
बनाओ । हम तुम्हारी सेवा करनेकी आज्ञा-व्यवस्थासे
घर, गैर, कुटुम्ब—सब कुछ छोड़कर तुम्हारे सुगम
चरणोंकी शरणमें आयी हैं । प्रियतम ! वहाँ तो तुम्हारी
आराधनाके लिये अवकाश ही नहीं है । पुरुषभूषण !
पुरुषोत्तम ! तुम्हारी गहुर मुसकान और चार चितकने
हमारे हृदयमें प्रेमकी—मिथनकी आकांक्षाकी जग
बचका दी है, हमारा रोम-रोम उससे जक रहा है ।
तुम हमें अपनी दासीके रूपमें स्वीकार कर लो । हमें
अपनी सेवाका अवसर दो ॥ ३८ ॥ प्रियतम ! तुम्हारा
सुन्दर मुखकमल, जिसपर सुँघाकी अलकें झलक रही
हैं, तुम्हारे ये कमनीय कपोल, जिनपर सुन्दर-सुन्दर
कुण्डल अपना अमण्डल सौम्य देखे रहे हैं, तुम्हारे
ये गहुर ज्वर, जिनकी सुधा सुधाको भी छत्रामेवासी
है; तुम्हारी यह जयजयमोहारी चितवन, जो मन्द-मन्द
मुसकानसे उरकसित हो रही है, तुम्हारी ये दोनों
मुझाँ जो शरणागतोंको अमर्यदा देनेमें अक्षत
उदार हैं और तुम्हारा यह बक्ष स्वयं, जो कक्षीयिका—
सौम्यकी एकमात्र देविका मित्य कीर्तिस्वयं है, देखकर
हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं ॥ ३९ ॥

का स्त्र्यङ्ग ते कल्पदायतमूर्च्छितेन

सम्मोहिताऽऽर्चयिताम चलेस्त्रिलोक्याम्

त्रैलोक्यसौमगमिदं च निरीक्ष्य रूप

यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्पवित्रम् ॥४०॥

स्पर्कं भवान् ब्रजमयार्तिहरोऽभिवातो

देवो यथाऽऽदिपुरुष सुरलोकगोप्ता ।

तस्यो निचेद्वि करपङ्कजमार्तबन्धो

तप्तान्तेषु च शिरस्तु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

श्रीगुरु उवाच

इति चिह्नवितं तासां धृत्वा योगेश्वरेश्वर ।

प्रहस्य सद्य गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥

तामिः ममेतामिद्वारपेष्टित

प्रियेषणास्तुष्टमुन्मीभिरप्युत ।

उदारहासद्रिन्दुन्दरीधिलि

प्यराधर्तनाद् इवाद्भिषुत ॥४३॥

प्यारे श्या। सुन्दर । तीनों लोकमें भी और ऐसी कौन-सी भी है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह अवरोह-क्रमसे विविध प्रकारकी मूर्च्छनावर्णसे युक्त तुम्हारी बशीकी तान सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्तिको— जो अपने एक भूँद सौन्दर्यसे त्रिलोकीको सौन्दर्यका दान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिम भी रोमाञ्चित, पुलकित हो जाते हैं—अपने भेत्रोंसे निहारकर आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाय, कुछ-कुछ और झोकड़काको त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाय ॥ ४० ॥ हमसे यह बात छिपी नहीं है कि जैसे भगवान् नारायण देवताओंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम ब्रजमण्डलका मय और दुःख मिटानेके लिये ही प्रकट हुए हो । और यह भी स्पष्ट हो है कि दोन-दुखियोंपर तुम्हारा वड़ा प्रेम, बड़ी कृपा है । प्रियतम । हम भी बड़ी दुःखिनी हैं । तुम्हारे मिलनकी आकांक्षाकी आगसे हमारा वक्ष स्थल जल रहा है । तुम अपनी इस दासियोंके वक्ष स्थल और निरपर अपने कोमल करकमल रक्कड़ रहें अपना लो; हमें जीवनदान दो ॥ ४१ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शिवादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं । जब उन्होंने गोपियोंकी व्यापार और व्याकुलतासे मरी बाणी सुनी, तब उनका हृदय दयासे भर गया और यद्यपि वे आत्माग्राम हैं—अपन आपमें ही रमण करते रहते हैं, उन्हें अपन अनिष्टिक और किसी भी बाधा वस्तुकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी उन्होंने हँसकर उनके साथ प्रीति प्राप्त की ॥ ४२ ॥ भगवान् धीरव्रतन अपनी माय-मयी और घेरावें गोपियोंके अनुसृत कर दीं, फिर भी वे अपने राग्यमें व्योक्त लो एवरम स्थित थे अत्युत्तम थे । जब वे सुनकर हँसने लगे तब उनके उग्रव्रत-उग्रव्रत दोनों कुलकण्ठोंके समान जन पड़ने थे । उनकी प्रेममयी विनयवती और उनका दर्शनके आनन्दमें गणियोंका सुखमय प्रवृत्ति हो गया । वे उन्हें प्यारे प्यारे देखकर हँसी हो गयी । तब समय आरम्भ की पत्नी शायम इद, माना अपनी पत्नी तारिकाओंसे बिहे हुए

अवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भाषोऽनुकीर्तनात् ।

न तथा सभिकर्पेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

धीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ष्य गोप्सो गोविन्दभाषितम् ।

विपण्णा भग्नसङ्ख्याभिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥

कृत्वा सुत्वान्धव शुचः ससनेन शुष्यद्

विम्बाभराणि चरणेन ध्रुवं छित्वन्त्यः ।

अस्त्ररूपाचर्मपिभिः कृचकृमानि

तस्पर्धुषन्त्य उरुदुःस्वमराः सत्स्पीम् ॥२९॥

प्रेष्टं प्रियेतरमिव प्रतिभायमानं

कृष्णं तदर्धविनिवर्तितसर्षकामाः ।

नेत्रे विमृज्य रुदितोपहृते स किञ्चित्

संरम्भमवृग्दगिरोऽशुभतानुरक्ताः ॥३०॥

गोप्स उचुः

मैवं विमोऽर्हसि भवान् गदितुं नृशंसं

संत्यज्य सर्वविपयांस्तत्र पादमुलम् ।

भक्ता भसस्य दुरवग्रह मा स्यान्नामान्

देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते समुत्थुन् ॥३१॥

१ मन्त्रिने ।

गोपियो । मेरी लीला और गुणोंके अलगसे, रूपके दर्शनसे, उन सबके कीर्तन और ध्यानसे मेरे प्रति जैसे अलग-प्रेमी प्राप्ति होती है, वैसे प्रेमकी प्राप्ति पास रहनेसे नहीं होती । इसलिये तुमलोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ ॥२७॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्णका यह अप्रिय भाषण सुनकर गोपियों उदास, स्थिर हो गयीं । उनकी आशा टूट गयी । वे किन्तुके अथाह एव अपार समुद्रमें डूबने उतराने लगीं ॥ २८ ॥ उनके विम्बाफल (पके हुए कुँदरू) के समान अन्ध-अन्ध अन्ध शोकके कारण चलनेवाली छड़ी और गाम सँसरे सूख गये । उन्होंने अपने मुँह नीचेकी ओर झटका लिये, वे पैरके नखोंसे धरती कुदेदने लगीं । नेत्रोंसे दुःखके आँसू बह-बहकर कमलके साध बस लक्ष्म्य पौष्पके और वहाँ लगी हुई कैलासके घोंने लगे । उनका हृदय दुःखसे इतना भर गया कि वे कुछ बोल न सक्तीं, चुपचाप खड़ी रह गयीं ॥ २९ ॥ गोपियोंने अपने प्यारे क्याम्बुन्दरके लिये सारी कामनाएँ, सारे मोग छेव दिये थे । श्रीकृष्णमें उनका अनन्य अनुलग्न, परम प्रेम था । अब उन्होंने अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी यह निष्ठुरतासे भी बात सुनी, जो वही ही अग्नि-सी माखन ही रही थी, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ । आँखें रोते-रोते लाल हो गयीं, आँसुओंके मारे रूँच गयीं । उन्होंने वीरज धारण करके अपनी आँखोंके आँसू पोंछे और फिर प्रणयकोपके कारण वे गद्गद बाणीसे कहने लगीं ॥ ३० ॥

गोपियोंने कहा—प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम कब-कब व्यापी हो । हमारे हृदयकी बात जानते हो । तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरतासे बर्षान नहीं कहने चाहिये । हम सब कुछ छेवकर केवल तुम्हारे चरणोंमें ही प्रेम करती हैं । इसमें संदेह नहीं कि तुम सत्त्व और हठीले हो । तुमपर हमारा कोई क्या नहीं है । फिर भी तुम अपनी ओरसे, जैसे आदिपुरुष भगवान् माधवण कृपा करके अपने मुमुक्षु मनोंसे प्रेम करते हैं, वैसे ही हमें सीकार कर लो । हमारा त्याग मत करो ॥ ३१ ॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुचरिणः

स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तव्य।

अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीष्टे

प्रेष्टो भवांस्तनुमृतां किल वधुरात्मा ॥३२॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स आत्मनः

नित्यप्रिये पतिमुत्तादिभिरासिदै किम् ।

तव प्रसीद परमेश्वर मा सञ्छिन्वा

आद्यां मृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्रा ॥३३॥

चितं मुखेन भवतापहृत गृहपु

यन्निर्विशत्युत करावपि गृहकृत्ये ।

पादौ पदन चलतस्तव पादमूलाद्

याम कथं ब्रजमधो करवाम किं वा ॥३४॥

सिञ्चाद् नस्त्वदधरामृतपूरकण

हासावलोककलगीतजह्नुच्छयाग्रिम् ।

ना चेद्वक्ष्य विरहजान्मुपपुक्तदहा

ध्यानेन याम पदयो पदवीं सखेते ॥३५॥

पदम्पुजाय तव पादतलं रमाया

दत्तशृणं कश्चिद्वर्णमजनप्रियस्य ।

प्यारे इयामसुन्दर ! तुम सब धर्मोक्त रहस्य जानते हो । तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र और भाई बन्धुओंकी सेवा करमा ही कियोंका स्वधर्म है'—जल्दशा ठीक है । परन्तु इस उपदेशके अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये, क्योंकि तुम्हीं सब उद्देशोंके पद (चरम न्यय) हो, साक्षात् भगवान् हो । तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो ॥३२॥ आत्मज्ञानमें निगुण महापुरुष तुमसे ही प्रेम करते हैं, क्योंकि तुम नित्य प्रिय एवं अपन ही आत्मा हो । अमित्य एव दुःखद पति-पुत्रादिसे क्या प्रयोजन है ? परमेश्वर ! इसलिये हमपर प्रसन्न होओ । कृपा करो । कम्पनयन ! चिरकालसे तुम्हारे प्रति पाली-पौसी आशा अमिकापाकी बहलहाती बलाका छेदन मन करो ॥ ३३ ॥ मनमोहन ! अब तक हमारा चित्त घरके काम-बंधोंमें जगता था । इसीसे हमारे हाथ भी उममें रमे हुए थे । परन्तु तुमन हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त छूट लिया । इसमें तुम्हें कोई कठिनार्थ भी नहीं उठानी पड़ी, तुम तो सुखस्वरूप हो न ! परन्तु अब तो हमारी गति-मति निराखी हो जा गयी है । हमारे ये पैर तुम्हारे चरणकमलोंका छोड़कर एक पग भी हटनेके लिये तैयार नहीं हैं, नहीं हट रहे हैं । फिर हम ब्रजमें कैसे जायें ? और यदि वहाँ जायें तो करें क्या ? ॥ ३४ ॥ प्राणवत्कम ! हमारे प्यारे सखा ! तुम्हारी मन्द मन्द मधुर मुसकान, प्रेममयी चितवन और मनोहर संगीतने हमारे हृदयमें तुम्हारे प्रेम और मिलनकी आग धक्का दी है । उसे तुम अपने ज्वरोंकी रसधारासे बुझा दो । नहीं तो प्रियतम ! हम सब कहती हैं, तुम्हारी विरह-व्यापकी आगसे हम जलन-जलने शरीर जला देंगी और ध्यानके द्वारा तुम्हारे चरणकमलोंको प्राप्त करेंगी ॥ ३५ ॥

प्यारे कम्पनयन ! तुम वनवासियोंके प्यारे हो और वे भी तुमसे बहुत प्रेम करते हैं । इससे प्रायः तुम उन्हींक पास रहते हो । यहैलिय कि तुम्हारे दिन चरणकमलोंकी सेवाका अवसर स्वयं मर्यादीनों भी कभी-कभी ही मिलता है; उन्हीं चरणोंका स्पर्श हमें

अस्त्रास्त्रं तस्मिन् नान्यसमक्षमञ्ज

स्वात् त्वयामिरमिता बत पारयामः ॥३६॥

श्रीर्यस्यदाम्बुजरश्चक्रमे तुलसा

लम्बापि वक्षसि पदं किल सृष्यमुष्टम् ।

यस्याः स्वबीर्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास

स्तद्रूपं वयं च तव पादरजः प्रपन्ना ॥३७॥

सखः प्रसीद हृदिनार्दन तेऽङ्घ्रिर्मूर्धं

प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनायाः ।

त्वत्सुन्दरभितनिरिष्यतीवकाम-

तप्तहृत्तनां पुरुषभूषणं देहि दास्यम् ॥३८॥

वीक्ष्यालकावतमुत्सं तव कुम्भलम्भी

गण्डस्यलाधरसुखं हसितावलोकम् ।

दत्ताभयं च मुनदण्डयुगं विलोक्य

वधः भियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥

प्राप्त हुआ । जिस दिन यह सौम्य हमें मित्र और
तुमने हमें स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी दिनसे
हम और किसीके सामने एक क्षणके लिये भी ठहरनेमें
असमर्थ हो गयी हैं—पति-पुत्रादिकोंकी सेवा तो दूर
रही ॥ ३६ ॥ हमारे स्वामी ! जिन कृष्णीनीकर
श्याकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये बड़े बड़े देवता तपस्य
काते रहते हैं, वही कृष्णीनी तुम्हारे वक्षस्त्रमें बिना
किसीकी प्रतिहृदित्यके स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी
सौत तुच्छसीके साथ तुम्हारे चरणोंकी रज पानेकी अभिप्राय
किया करती हैं । अबतकके सभी भर्त्सने उस
चरणरजका सेवन किया है । उन्हें समान हम भी
तुम्हारी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं ॥ ३७ ॥
भगवन् ! अबतक जितने भी तुम्हारे चरणोंकी शरण
की, उसके सारे कष्ट तुमने मिटा दिये । अब तुम
हमपर कृपा करो । हमें भी अपने प्रसादका भाजन
बनाओ । हम तुम्हारी सेवा करनेकी आत्मा-अभिप्रायसे
पर, गैर, कुटुम्ब—सब कुछ छोड़कर तुम्हारे युगल
चरणोंकी शरणमें आयी हैं । प्रियतम ! वहाँ तो तुम्हारी
आराधनाके लिये अवकाश ही नहीं है । पुरुषभूषण !
पुरुषोत्तम ! तुम्हारी मधुर मुसकाम और चारु चित्तकने
हमारे हृदयमें प्रेमकी—मिलनकी आकांक्षाकी आग
बचका दी है, हमारा रोम-रोम उससे जल रहा है ।
तुम हमें अपनी दासीके रूपमें स्वीकार कर लो । हमें
अपनी सेवाका अवसर दो ॥ ३८ ॥ प्रियतम ! तुम्हारा
सुन्दर मुखकमल, जिसपर पुष्पाक्षी जलकों कलक रखी
है, तुम्हारे ये कमनीय कपोल, जिनपर सुन्दर-सुन्दर
कुम्भक अपना अमृत सौन्दर्य बिखेर रहे हैं, तुम्हारे
ये मधुर ज्वर, जिनकी सुधा सुधाको भी लजानेवासी
है, तुम्हारी यह नयनमनोहारी चितवन, जो मन्द-मन्द
मुसकामसे सज्जित हो रही है, तुम्हारी ये दोनों
मुमाँ जो शरणागतोंको अमरदान देनेमें आप्त
उदार हैं और तुम्हारा यह वक्षस्त्र, जो कृष्णीनीकर—
सौन्दर्यकी एकमात्र देवीका मित्य श्रीहासक है, देखकर
हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं ॥ ३९ ॥

का स्मृतं ते कलपदायतमूर्च्छितेन

सम्मोहिताऽऽर्चयन्ति तां चलेस्त्रिलोक्याम्

त्रैलोक्यसौमगमिदं च निरीक्ष्य रूपं

यद् गोक्षिज्जुमसृगाः पुलकान्पविमन् ॥४०॥

व्यक्तं भवान् ब्रजभयार्तिहरोऽभिजातौ

दधौ यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।

तथा निवेदि कृतपङ्कजमार्तबन्धौ

तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

श्रीगुरु उवाच

इति चिह्नवितं तासां ध्रुत्वा योगेश्वरेभ्यः ।

प्रदत्तं सदय गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥

तामिः समेतामिरुदारचेष्टित

प्रियेष्णोत्फुल्लमुखोभिरन्युत ।

उदारहासद्विजकुन्ददीधिति

व्यापयन्नाह इवोद्भिर्दृष्ट ॥४३॥

प्यारे स्वागुन्दर । तीनों आँकोंमें भी और ऐसी कौन-सी
की है, जो मधुर-मधुर पद और आरोग्य-आरोग्य क्रमसे
विभिन्न प्रकारकी मृच्छमात्रोंसे युक्त गुहारी वशीकी
ताम सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्तिको—
जो अपने एक बूँद सौन्दर्यसे त्रिलोककीसे सौन्दर्यका
दाल करती है एवं जिसे देखकर जो, पक्षी, वृक्ष और
हरिण भी रोमाञ्चित, पुलकित हो जाते हैं—अपने
नेत्रोंसे निहारकर आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाय,
कुच-कान और लोक्यजाको त्यागकर तुममें अनुरक्त
न हो जाय ॥ ४० ॥ हमसे यह बात छिपी नहीं है
कि जैसे भगवान् नारायण देवताओंकी रक्षा करते हैं,
वैसे ही तुम ब्रजमण्डलका भय और दुःख मिटानेके
लिये ही प्रकट हुए हो । और यह भी स्पष्ट ॥ है कि
दीन-दुखियोंपर तुम्हारा क्या प्रेम, बड़ी क्या है ।
प्रियताम । हम भी वही दुःखिनी हैं । तुम्हारे मिलनकी
आकांक्षाकी आगसे हमारा वक्ष स्थल जल रहा है ।
तुम अपनी इन दासियोंके वक्ष स्थल और सिरपर
अपने कोमल करकमल रखकर रहें अपना श्वे, हमें
जीवनदान दो ॥ ४१ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । भगवान्
श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शिवाग्नि योगेश्वरोंके
भी ईश्वर हैं । जब उन्होंने गोपियोंकी म्यपा और
म्याकुप्तासे भरी बाणी सुनी, तब उनका हृदय दयासे
भर गया और यद्यपि वे आत्माराम हैं—अपन-बापमें
॥ रमण करते रहते हैं, उन्हें अपने जन्मिष्ठ और
किसी भी बाध वस्तुकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी
उन्होंने ईश्वर उनके साथ जोड़ा प्रारम्भ की ॥ ४२ ॥
भगवान् श्रीकृष्णने अपनी यात्र-मङ्गी और चेष्टाएँ
गोपियोंके अनुकूल कर दीं फिर भी वे अपने रक्षणमें
ज्योत्स्न-स्वों एकरस स्थित थे अभ्युत्त थ । जब वे
सुषुप्ति होकर तब उनके उगम-उगमन दोत
कुन्दकीके समान जान पड़ने थ । उनकी प्रेममयी
विभवसे और उनका दर्शनके आनन्दसे गाण्डोत्र
सुषुप्ति प्रपुष्टि हो गया । वे उन्हें पारों आने
परकर गयीं हा गयीं । उस समय श्रीकृष्णकी पत्नी
श्यामा हुई, माना अपनी पत्नी तारिकाओंसे फिर हुए

उपगीयमान उद्गायन् धनिताक्षतपूथप ।

मालां विभ्रवु वैभ्रवन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥४४॥

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमबालकम् ।

रेमे उत्तरलानन्दमुमुदामोदवापुना ॥४५॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-

नीबीक्ष्णालभननर्मनस्त्राप्रपातैः ।

ह्येन्मात्रलाकहसितैर्ममसुन्दरीणा

मुचम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥४६॥

एवं भगवतः कृष्णाम्बुमाना मङ्गात्मन ।

आत्मार्जमनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽम्भधिकमुवि ॥४७॥

तामां तद् सौमगमर्बं वीक्ष्य मानं च केमुदः ।

प्रसपाप प्रसत्ताप तत्रैवान्तरधीयत ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसा संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्धे भगवतो
उत्सकीर्णवर्णनं मायैकोनविंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णक विरहमे गोपियोंकी वधा

श्रीगुरु उवाच

अन्तर्हिते भगवति मरुतेषु मज्जाङ्गना ।

१ उत्सकीर्णार्थां कृष्णान्वेषणेकोन ।

अथमा ही हों ॥ ४३ ॥ गोपियोंके दल-दल रूपके
स्वामी मगवान् श्रीकृष्ण बैजवन्ती माका रहने रुद्राक्ष
को शोभायमान करते हुए विचरण करने लगे । कभी
गोपियों अपने प्रियतम श्रीकृष्णके गुण और मीथानोंका
गान करतीं, तो कभी श्रीकृष्ण गोपियोंके प्रेम और
सौन्दर्यके गीत गाने लगते ॥ ४४ ॥ इसके बाद
मगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ यमुनाजीके पावन
पुष्पिनपर, जो कणूके समान चमकीली बाइसे जगमगा
रहा था, पदार्पण किया । वह यमुनाजीकी तरल तरङ्गों-
के स्पर्शसे छिन्न और कुमुदिनीकी सहज सुगन्धसे
सुवासित शायुके द्वारा सेवित हो रहा था । उस
आनन्दप्रद पुष्पिनपर मगवान्ने गोपियोंके साथ व्रीक्ष
की ॥ ४५ ॥ बाप कैमला, आच्छिन्न कर्मा, गोपियोंके
हाथ दबाना, सनकी छोटी, जोंब, नीमी और सन
वादित्र एषां कर्मा, विमोद कर्मा, मञ्जुल कर्मा,
विमोदपूर्ण बितवमसे देखना और सुसक्ताना—इस
विषयोंके द्वारा गोपियोंके दिव्य कर्मरसको, परमोज्ज्वल
प्रेमभावको उल्लेख करते हुए मगवान् श्रीकृष्ण उन्हें
स्त्रीवाहारा आनन्दित करने लगे ॥ ४६ ॥ उदत्तस्त्रोमणि
सर्वव्यापक मगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार गोपियोंका
सम्मान किया, तब गोपियोंके मनमें ऐसा भाव आया
कि संसारकी सम्पत्तियोंमें हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे
सुख और कोई नहीं है । वे कुछ मानवती हो गयीं
॥ ४७ ॥ जब मगवान्ने देखा कि इन्हें तो अपने
सुभागमत्त कुछ गर्व हो आया है और जब मान भी
करने लगी हैं, तब वे उनका गर्व शास्त करनेके लिये
तथा उनका मान बुर कर प्रसन्न करनेके लिये वहीं—
उनके बीचमें ही अन्तर्धान हो गये ॥ ४८ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । मगवान्
उल्लेख अन्तर्धान हो गये । उन्हें न देखकर ब्रह्मगुप्तियों

अतर्प्यस्तमचक्षणा करिष्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

गत्यानुरागसितविभ्रमेक्षितै

मनोरमाठापविहारविभ्रमैः ।

आधिपतिष्ठाः प्रमदा रसापते

स्तान्ता विचेष्टाजगुहस्तदारिभकाः ॥ २ ॥

गतिक्षितप्रेक्षणभाषणादिषु

प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढभूर्ययः ।

असावह स्वित्यबलात्प्राप्तिप्रका

न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव सहसा

विचिक्क्युन्मत्तकवधू वनाधू वनम् ।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं वहि

भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

एषो वा कश्चिदस्य प्रथमप्रोध नो मनः ।

नन्दन्ननुर्गता हत्वा प्रमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

कश्चित् कुरबकाशोकनागपुष्पागधम्पकाः ।

रामानुजो मानिनीनाम्रितो दर्पहरसितः ॥ ६ ॥

अधिगुलसि फल्पाणि गोविन्दचरणप्रिये ।

की वैसी ही दसा हो गयी, जैसे यूपपति गजरात्रके बिना हयिनियोंकी होती है । उनका हृदय बिहकी ज्वालासे जलने लगा ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी मदोन्मत्त गजरात्रकी-सी बाळ, प्रेममयी मुसकान, बिलासमयी चितवन, मनोरम प्रेमाठाप, मिस-मिस प्रकारकी लीलाओं तथा शृङ्गार-रसकी भाव-मन्त्रियोंने उनके चितको जुरा लिया था । वे प्रमकी मतभाली गोपियों श्रीकृष्णमय हो गयीं और फिर श्रीकृष्णकी विभिन्न चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं ॥ २ ॥ अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी बाळ-आळ, हास-बिलास और चितवन-वोल्सन आदियें श्रीकृष्णकी प्यारी गोपियों उनके समान ही बन गयीं, उनके शरीरों भी वही गति प्रति, वही भाव-भङ्गी उत्तर आयी । वे अपनेको सर्वथा मूलकर श्रीकृष्णस्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-निमासका अनुकरण करती हुईं मैं श्रीकृष्ण ही हूँ—इस प्रकार कहने लगीं । ॥ ३ ॥ वे सब परस्पर मिळकर ऊँच खरसे उन्हींके गुणोंका गान करने लगीं और मतभाली होकर एक बगसे दूसरे बनमें, एक झाड़ीसे दूसरी झाड़ीमें जा-जाकर श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं । परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण कहीं दूर चोढ़े ही गये थे । वे तो समस्त जड़ चेतन पदार्थोंमें तथा उनके बाहर भी आकाशके समान एकरस स्थित ही हैं । वे वही थे, उन्हींमें थे; परन्तु उन्हें न देखकर गोपियों वनस्पतियोंसे—वेड़-पौधोंसे उनका पता धुँढ़ने लगीं ॥ ४ ॥

(गोपियोंने पहले बड़े-बड़े वृक्षोंसे जाकर पूछा) 'हे पीपल, पाकर और बरगद ! नन्दनन्दन इषामसुन्दर बननी प्रेममयी मुसकान और चितवनसे हमारा मन जुराकर चले गये हैं । क्या तुममेंगोंमें उन्हें देखा है ? ॥ ५ ॥ कुरबक अशोक, माण्डेशर, पुष्पाग और कम्पा । कुररामकी छोटे मारें, बिमकी मुसकानमयसे बड़ी-बड़ी मानिमियोंका माममर्दन हो जाता है, इधर आये थे क्या ? ॥ ६ ॥ (अब उन्होंने श्रीकृष्णके पीपलसे कहा—) 'अहिल तुम्हारी ! तुम्हारा हृदय तो बड़ा कोमल है, तुम तो सभी माणिक्य कल्याण चाहती हो । भगवान्के चरणोंमें तुम्हारा प्रेम तो है ही, य भी

सहस्रालिङ्गैर्विभ्रद् द्यस्तेऽतिप्रियोऽन्युतः ॥७॥

मालस्पदर्शि वः कश्चिन्मल्लिके जातियुधिके ।

प्रीतिं वो जनयन् यावः करस्पर्शेन साधयः ॥ ८ ॥

भूतप्रियालपनसासनकोविदार

जम्ब्यर्कमिन्वयकुलाग्रकजम्बनीपाः ।

येऽन्ये परार्थभवका यद्मनोपकूलाः

श्वसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥

किं ते कृतं धिति तपो वत केचनारुघ्रि

स्वर्षोत्सवोत्पुलकितारुघ्रैर्विभासि ।

अम्बुध्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमात् वा

आहो वराहवपुषः परिरम्भजन ॥१०॥

अन्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रे

स्तन्वन् दृष्ट्वां सखि सुनिर्हृतिमन्युतो वः ।

कान्ताङ्गसङ्गकुचकुमरअतिवायाः

कुन्दसजः कुलपतेरिह काति गन्ध ॥११॥

पादु प्रियाम उपधाय गृहीतपद्मा

रामानुजस्तुलमिकालिकुन्मदाधैः ।

अनीयमान इह यन्मय प्रणाम

निंवाभिनन्दति पान्प्रणगागन्ध ॥१२॥

तुमसे बहुत प्यार करते हैं । तभी तो भैरोंके मँहारे रहनेपर भी वे तुम्हारी मात्मा नहीं छुटारते, सदा पकने रहते हैं । क्या तुमने अपने परम प्रियतम श्याम-सुन्दरको देखा है ? ॥ ७ ॥ प्यारी माळती ! मल्लिके ! जाती और गूहरी ! तुमछोत्रोंने कन्ताधिप हमारे प्यारे माधवको देखा होगा । क्या वे अपने कोमल कर्तसे स्पर्श करके तुम्हें आनन्दित करते हुए इधरसे गये हैं ? ॥ ८ ॥ 'रसाळ, धियाळ, कटहळ, पीतशाळ, कम्बनार, जामुन, आम, बेळ, मीळसिरी, आम, बदाम और नीम तथा अन्याम्य यमुनाके तटपर विराजमान सुखी तरुण्ये ! तुम्हारा जन्म-जीवन केवल परोपकारके लिये है । श्रीकृष्णके बिना हमारा जीवन सूना हो रहा है । हम बेहोश हो रही हैं । तुम हमें उन्हें पानेका मार्ग बता दो' ॥ ९ ॥ 'मगवान्की प्रेयसी पृथ्वीदेवी ! तुमने ऐसी कौन-सी तपस्या की है कि श्रीकृष्णके कारणकर्म-का स्पर्श प्राप्त करके तुम आनन्दसे मर रही हो और दण-भक्ता आदिके रूपमें अपना रोमाञ्च प्रकट कर रही हो । तुम्हारा यह उल्लस-विभस श्रीकृष्णक कारणस्पर्श-के कारण है अथवा नामानवतारमें विचरूप धारण करके उन्होंने तुम्हें जो माया या, ससके कारण है । कहीं उनसे भी पहले वराहमगवान्के अङ्ग-सङ्गके कारण तो तुम्हारी यह दशा नहीं हो रही है ?' ॥ १० ॥ 'वरी सखी ! हरिनियो ! हमारे श्यामसुन्दरके अङ्ग-सङ्गसे प्रणमा सौन्दर्यकी वारा बहती छाती है, वे कहीं अपनी प्राणप्रियाके साथ तुम्हारे गयनोंको परमानन्दका दान करते हुए इधरसे ही तो नहीं गये हैं ? देखो, देखो ! यहाँ कुचपति श्रोत्राङ्गी कुन्दकलीकी मात्माकी मनोहर गन्ध आ रही है, जो उनकी परम प्रेयसीके अङ्ग-सङ्गसे लगे हुए कुच-कुङ्कुमसे अनुरक्षित रहती है' ॥ ११ ॥ 'शुक्ररो ! उनकी माळाकी सुन्दरीमें ऐसी सुगन्ध है कि उसकी गन्धके कामी मनयसे भौर प्रत्येक क्षण उसपर मँहारे रहते हैं । उनके एक हाथमें लीलाकम्म होगा और दूसरा हाथ अपनी प्रियसीके कंठपर रखे होगा । हमारे प्यारे श्यामसुन्दर इधरसे बिचारे हुए आग्य गये होंगे । जाम पदना है, तुमनाग ठहरे प्रणाम करमके लिये ही शुक्रे हो । परन्तु उद्योने आनी प्रममरी निगनसे भी तुम्हारी न नाक अग्नि दम किया है

पृच्छतेमा लसा वाहनप्यास्त्रिष्टा वनस्पतेः ।

मूर्तं तत्करजसृष्टा विम्रत्युलकान्यहो ॥१३॥

इत्युन्मचवधोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।

लीला भगवत्तास्ता अनुचक्रुस्तदात्मिका ॥१४॥

कृत्वाभित् पूतनायन्त्याः कृष्णावन्त्यपिबत् स्तनम् ।

तोकायित्वा रुद्रत्यन्या पदाहङ्गकटायतीम् ॥१५॥

दैत्ययित्वा ज्वारान्यामेका कृष्णार्धभावनाम् ।

रिक्षयामास काप्यङ्घ्री कर्पन्ती चोपनि खनै ॥१६॥

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काचन ।

वेत्तायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु वकायतीम् ॥१७॥

माह्व दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुवर्ततीम् ।

वेषु कगन्तीं श्रीवन्तीमन्याः शंसन्ति साञ्जिति ॥१८॥

कृत्वाभित् स्वसुखं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।

कृष्णोऽह पश्यत गतिं ललितामिति सन्मनाः ॥१९॥

मा मेष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं निहितं मया ।

इत्युत्सर्वकेन हस्तेन यत्न्युभिदधेऽम्बरम् ॥२०॥

या नहीं ? ॥ १२ ॥ 'अभी सखी ! इन छात्रोंसे पूछो । ये अपने पति वृद्धोंको मुनपाशमें बाँधकर आम्बिज्ञ किये हुए हैं, इससे क्या हुआ ? इनके शरीरमें जो पुष्क है, रोमाञ्च है, वह तो भगवान्‌क नखोंके स्पर्शसे ही है । अहो ! इनका कैसा सौभाग्य है ॥ १३ ॥

परीक्षित । इस प्रकार मतवाली गोपियों प्रकाप करती हुई भगवान्‌ कीकृष्णको बुझते-बुझते कातर हो रही थी । अब और भी गाड़ आवेश हो जानेके कारण ये भगवन्म होकर भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका अनुकरण करने लगीं ॥ १४ ॥ एक पूतना बन गयी, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तन पीने लगी । कोई छकड़ा बन गयी तो किसीन बाणकृष्ण बनकर रोते हुए उसे पैरकी ठोकर मारकर ठकड़ दिया ॥ १५ ॥ कोई सखी बाणकृष्ण बनकर बैठ गयी तो कोई तुणावर्त दैत्यका रूप धारण करके उसे हर छे गयी । कोई गोपी पौष वसन्ति वसीनकर घुटनेके बल बकैलों चढ़ने लगी और उस समय उसके पायजैब रुनहुन-रुनहुन बोलने लगे ॥ १६ ॥ एक बनी कृष्ण, तो दूसरी बनी कप्याम, और बहुत-सी गोपियों ग्वाघ्वाघोंके रूपमें हो गयीं । एक गोपी बन गयी वत्सासुर, तो दूसरी बनी वकासुर । तब तो ग्रेषियोंने अज्या-अज्या श्रीकृष्ण बनकर वत्सासुर और वकासुर बनी हुई गोपियोंको मारनेकी कीष्टा की ॥ १७ ॥ जैसे श्रीकृष्ण बनने करते थे, वैसे ही एक गापी बौसुरी बना-बनाकर दूर गये हुए पशुओंको बुझानेका खेल खेलने लगी । तब दूसरी गोपियों 'वाह वाह' करके उसकी प्रशंसा करने लगीं ॥ १८ ॥ एक गोपी अपनेको श्रीकृष्ण समझकर दूसरी सखीके गलेमें बाँह बाँधकर चबूटी और गोपियोंसे कहने लगती— 'मित्रो ! मैं श्रीकृष्ण हूँ । तुमओग मेरी यह मनोहर चाँड देखो ॥ १९ ॥ कोई गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहती— 'अरे ब्रजवास्तिनो ! तुम औषी-पानीसे मत बरो । मैंने उससे बचनेका उपाय निकाल लिया है ।' ऐसा कहकर येवधन-धारणका अनुकरण करती हुई वह अपनी जोड़नी उठाकर ऊपर तान ली ॥ २० ॥

आरुह्यैक पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।

दुष्टाह गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दम्भष्टक् ॥२१॥

तत्रैकोवाच ह गोपा दाधामि पश्यतोन्मथम् ।

वधूप्याश्रपिदध्वं वो विधास्ये धेममञ्जसा ॥२२॥

पदान्मया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उच्छस्ते ।

भीता मुहक् पिधामास्यं मेजे भीतिविह्वलम् ॥२३॥

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरुन् ।

व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसुतोर्महात्मनः ।

लक्ष्यन्ते हि ज्वजाम्भाजवज्राङ्गुलसबादिभि ॥२५॥

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽवठाः ।

वज्राः पदैः सुपूक्तानि विलोक्यार्ताः समष्टवन् ॥२६॥

कसा पदानि चैतानि यातावा नन्दसनुना ।

असन्धस्तप्रकोष्ठाया करण्योः करिणा यथा ॥२७॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।

यस्यो विहाय गाविन्दः प्रीतो यामनयवृ रहः ॥२८॥

धन्या अहा ममी आरयो गोविन्दाह्वयश्चरेणयः ।

यान् ब्रह्मसो रमा दवी दधुमूष्यधनुषये ॥२९॥

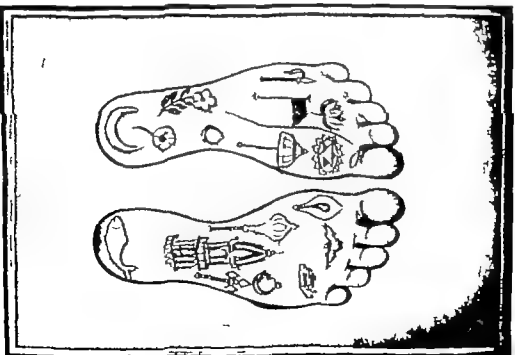
परीक्षित । एक गोपी बनी काखिय नाग, तो दूसरी श्रीकृष्ण वनकर उसके सिरपर पैर रखकर चढ़ी चढ़ी बोधने लगी—
रे दुध सोंप । तू यहाँसे खला जा । मैं तुझे का दमन करनेके लिये ।। तू अपने हुआ है ॥ २१ ॥ इतनेमें ही एक गोपी बोली—‘अरे ग्यालो । देखो, वनमें बनी मयङ्कर आग लगी है । तुमलोग जल्दी-से-जल्दी अपनी ओरों में दूँ तो, मैं जगामास ही तुमलोगोंकी रक्षा कर दूँगा’ ॥ २२ ॥ एक गोपी यशोदा बनी और दूसरी बनी श्रीकृष्ण । यशोदाने छल्लोंकी माछासे श्रीकृष्णको उच्छल्लमें बाँध दिया । जब वह श्रीकृष्ण बनी हुई सुन्दरी गोपी हाथोंसे मुँह टोंपकर मयकी नकल करने लगी ॥ २३ ॥

परीक्षित । इस प्रकार लीला करते-करते गोमित्री वृन्दावनके वृक्ष और जटा आदिसे फिर भी श्रीकृष्णका पता पूछने लगी । इसी समय उन्होंने एक स्वामपर भगवान्के चरणविह देखे ॥ २४ ॥ वे आपसमें कहने लगीं—‘अवश्य ही ये चरणविह उदारशिरोमणि मन्द मन्दन श्यामसुन्दरके हैं । क्योंकि इनमें पञ्चा, कमल, वज्र, बकुल और औ आदिके विह स्पष्ट ही दीख रहे हैं’ ॥ २५ ॥ उन चरणविहोंके द्वारा भगवद्धम भगवान्को पूँवती हुई गोपियों आगे बढ़ीं, तब उन्हें श्रीकृष्णके साथ किसी वनयुक्तीके भी चरणविह दीख पड़े । उन्हें देखकर वे व्याकुल हो गयीं और आपसमें कहने लगीं— ॥ २६ ॥ ‘जैसे हयिनी अपने प्रियतम गजराजके साथ गयी हो, वैसे ही मन्दनमन्दन श्यामसुन्दरके साथ उनके कचेपर हाथ रखकर खजनेवासी किन्तु बह-मागिनीके ये चरणविह हैं ॥ २७ ॥ अवश्य ही सर्व शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी यह ‘आराधिका’ होगी । इसीलिये इसपर प्रसन्न होकर हमारे प्राणप्यारे श्याम-सुन्दरने हमें छोड़ दिया है और इसे एकजन्ममें छे गये हैं ॥ २८ ॥ प्यारी सखियों ! भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरण कमलसे जिस रनका स्पर्श कर देते हैं, वह धन्य हो जाती है, उसके जहोमाय ॥ । क्योंकि अग्ना, शङ्कर और कश्मी आदि भी अपने अश्रुम नष्ट करनेके लिये उस रनको अपने





श्रीकृष्ण-चरण



श्रीराधा-चरण

तस्या अमृनि नः क्षोर्म कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।

यैकपहृत्प गोपीनां रहो मुह्येऽन्युत्ताधरम् ॥३०॥

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नून सृणाङ्कुरैः ।

लियत्सुआताह्वितलामुक्त्तिये प्रयसीप्रिय ॥३१॥

इमान्यधिकमप्राप्ति पदानि वहतो वधुम् ।

गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराकान्तस्य कामिनः ॥३२॥

प्रभावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।

प्रप्र प्रसूनावचय प्रियार्थे प्रेयसा कुतः ।

प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३३॥

केशप्रसाधनं स्वप्र कामिन्या कामिना कुतम् ।

तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३४॥

रमे तथा चात्मरत आत्मारामोऽप्यस्वखिन्त ।

कामिनां दर्शयन् दर्शन्यं स्त्रीणां चैव दुरत्तमताम् ॥३५॥

इत्येष दर्शयन्त्यस्तां चैरुर्गोप्यो विधेयतः ।

यां गापीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३६॥

सा च मने तदाऽऽरमानं यरिष्टं मर्षयापिताम् ।

हिता गोपीः कामयाना माममो भजत प्रिय ॥३७॥

सिरपर धारण करते हैं ॥ २९ ॥ अरी सखी ! चाहे कुछ भी हो—यह जो सखी हमारे सर्वस्व श्रीकृष्णको एकान्तमें ले जाकर अकेले ही उनकी अपर मुखाका रस पी रही है, इस गापीके ठमरे हुए चरणचिह्न तो हमारे हृदयमें बका ही क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ३० ॥ यहाँ उस गोपीके पैर नहीं दिखत्यभी देते । माध्यम होता है, यहाँ प्यारे श्यामसुन्दरने देखा होगा कि मेरी प्रयसीके सुकुमार चरणकमलोंमें बासकी नाक गड़ती होगी, इसलिये उन्होंने उसे अपन कंधेपर बका लिया होगा ॥ ३१ ॥ सखियो ! यहाँ देखो, प्यारे श्रीकृष्णके चरणचिह्न अधिक गहरे—भाङ्गमें कैसे हुए हैं । इससे सूचित होता है कि यहाँ वे किन्ती भारी वस्तुको ठककर चले हैं, उसीके बोझसे उनके पैर जमीनमें धँस गये हैं । हो-न-हो यहाँ उस कामीने अपनी प्रियतमाको अवश्य कंधेपर बकाया होगा ॥ ३२ ॥ देखो-देखो, यहाँ परमप्रमी भगवद्धुमने फूल चुननेके लिये अपनी प्रयसीको नीचे उतार दिया है और यहाँ परम प्रियतम श्रीकृष्णने अपनी प्रयसीके लिये फूल चुने हैं । उचक-उचककर फूल तोड़नेके कारण यहाँ उनके पंजे तो धरतीमें गड़े हुए हैं और एकीकर पत्ता ही नहीं है ॥ ३३ ॥ परम प्रमी श्रीकृष्णने कामी पुरुषके समान यहाँ अपनी प्रयसीके केशों से सँभारे हैं । देखो, अपने चुने हुए फूलोंको प्रयसीकी चोटीमें गूँथनेके लिये वे यहाँ अवश्य ही बैठे रहे होंगे ॥ ३४ ॥ परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं । वे अपने आपमें ही समुद्र और पूर्ण हैं । जब वे लक्ष्मण हैं, तबमें दूसरा कार्य है ही नहीं, तब उनमें कामकी कल्पना कैसे हो सकती है ! फिर भी उन्होंने कामियोंकी दीनता-क्षीपरवशात् और स्त्रियोंकी कुत्सिता लिखयते हुए यहाँ उस गोपीके साथ एकान्त में क्रीडा की थी—एक खेल रचा था ॥ ३५ ॥

इस प्रकार गोपियों मनगामी-क्षी होकर—अपनी सुध-मुध खोकर एक दूसरेका भगवान् श्रीकृष्णके चरणचिह्न लिखगयीं हुईं वन वनमें भटक रही थीं । फिर भगवान् श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंका वनमें छोड़कर त्रिम माणवकी गोपीकी एकान्तमें ले गए थे, उसने समझा कि मैं ही समस्त गोपियोंमें अग्र हूँ । इसीलिये ता हमारे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंका छोड़कर, जहाँ उन्हें जानना चाहती है, वहाँ मेरा ही मान काम है । मुझ ही

न खलु गोपिकानन्दनो भवा
नखिलदेहिनामन्तरात्मकः ।
विस्मयसार्थितो विश्वगुह्ये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥ ४ ॥
विरचिताभय शृण्णिषुर्य ते

चरणमीयुषां ससूतेर्मयात् ।

करसरोरुह कान्त कामद

धिरसि चेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मजनातिहन् वीर योषितां

निजजनसमर्थसंनमित ।

भब सखे भवस्मिद्धरीः स नो

बलरुहानन चारु दर्शय ॥ ६ ॥

प्रणवदेहिनां पापकर्षणं

ठणचराजुगं श्रीनिकेतनम् ।

फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं

कण्ठ कुचेपु नः कन्धि हन्धवम् ॥ ७ ॥

मधुरया गिरा वरगुवाक्यया

धुधमनोमया पुष्करेक्षण ।

विभिकरीरिमा वीर सुखती

रधरसीधुनाऽऽप्पाययस्य नः ॥ ८ ॥

तुम केवल यशोदानन्दन । महीं हो, समस्त शरीरवासि-
के हृदयमें रहनेवाले उनके साक्षी हो, अन्तर्मयी हो ।
सखे । ब्रह्मानीकी प्रार्थनासे विश्वकी रक्षा करनेके लिये
तुम यदुद्योगमें अवतीर्ण हुए हो ॥ ४ ॥

अपने प्रेमियोंकी अभिलषणा पूर्ण करनेवाले
अप्राप्य यदुद्योगशिरोमणे । जो लोग जन्म-मृत्युरूप
संसारके चक्रसे बरकर तुम्हारे चरणोंकी शरण प्राप्त
करते हैं, उन्हें तुम्हारे करकमल अपनी छत्रछायामें
लेकर अमय कर देते हैं । हमारे प्रियतम । सबकी
अवस्था-अभिलषणाओंको पूर्ण करनेवाला वही करकमल,
मिससे तुमने अन्धीनीका हाथ पकचा है, हमारे सिरपर
रख दो ॥ ५ ॥ ब्रह्मासियोंके दुःख दूर करनेवाले वीर
शिरोमणि क्यामसुन्दर । तुम्हारी मन्द-मन्द मुसकानकी
एक उज्ज्वल रेखा ही तुम्हारे प्रेमीजनोंके सारे मन-
मदको चूर चूर कर देनेके लिये पर्याप्त है । हमारे प्यारे
सखा । हमसे कठो मत, प्रेम करो । हम तो तुम्हारी
दासी हैं, तुम्हारे चरणोंपर निछाकर हैं । हम अवलम्बकों
अपना बह परम सुन्दर सौक्य-सौख्य सुकमल
दिखलाओ ॥ ६ ॥ तुम्हारे चरणकमल शरणगत प्राणियोंके
सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं । वे समस्त सौन्दर्य,
माधुर्यकी आन हैं और सब अन्धीनी उनकी सेवा करती
रहती हैं । तुम अन्धी चरणोंसे हमारे बल्लकों के पीछे-पीछे
चलते हो और हमारे लिये उन्हें सौंपके पत्नोंतकल
रखनेमें भी तुमने संकोच नहीं किया । हमारा हृदय
तुम्हारी निरह-भयवाकी आगसे जल रहा है, तुम्हारी
निम्नकी आकाङ्क्षा हमें सता रही है । तुम अपने मे
ही चरण हमारे बल्ल स्वल्पपर रखकर हमारे हृदयकी
आकाङ्क्षा शांत कर दो ॥ ७ ॥ कमलमयन । तुम्हारी
बाणी कितनी मधुर है । उसका एक-एक पद, एक-एक
शब्द, एक-एक अक्षर मधुरास्मिधुर है । बड़े-बड़े
विद्वान् उसमें रस पाते हैं । उसपर अपना सर्वज्ञ
निछाकर कर देते हैं । तुम्हारी सखी बाणीका रसास्वादन
करके तुम्हारी आकाङ्क्षासिनी दासी गोपियों मोहित हो
रही हैं । दानवीर । जब तुम अपना दिव्य अमृतसे भी
मधुर अमर-रस पिबकर हमें जीवन-दान दो, छत्र

तव कथामृत सप्तजीवन

कविभिरीदित कसमपापहम् ।

श्रवणमङ्गल भीमदातव

श्रुति शृणन्ति ते मूर्खिदा जनाः ॥ ९ ॥

प्रहसित मिय प्रेमवीर्येण

निहरण च ते ध्यानमङ्गलम् ।

रहित संविदो या इदिसृष्टः

इहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

चलति यद् ब्रजाधारमन् पश्यन्

नलिनसुन्दर नाथ ते पदम् ।

विलङ्घणाद्दुरैः सीदतीति नः

कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥

दिनपरिषये नीलकुन्तलै

र्वनरुद्धाननं विभ्रदावृतम् ।

धनरजस्रलं दर्शयन् सुदु

र्मनसि नः स्मरं धीर यच्छसि ॥ १२ ॥

प्रणवकामदं पणजाचितं

भरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।

परणपशुञ्जं श्रुन्तम च ते

रमण न स्तनेर्ष्यापिहन् ॥ १३ ॥

१ रि। रिदितं च ।

दो ॥ ८ ॥ प्रभो ! तुम्हारी लीलाकथा भी अमृतस्वरूप है । निरहसे सनाये हुए श्रोतोंके लिये तो यह जीवन सर्वस्व ही है । बड़े बड़े धार्मी महात्माओं—महा कवियोंने उसका गान किया है, यह सारे पाप-साप तो मिटाती ही है, साप ही श्रवणमात्रसे परम मङ्गल—परम कल्याणका दातृ भी करती है । यह परम सुन्दर, परम मधुर और बहुमत विस्तृत भी है । जो तुम्हारी उस लीला-कथाका गान करते हैं, वास्तवमें मूढोंकमें वे सबसे बड़े दाता हैं ॥ ९ ॥ प्यारे ! एक दिन यह था, जब तुम्हारी प्रेममयी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह तरहकी लीलाओंका ध्यान करके हम आनन्दमें मग्न हो जाया करती थीं । उनका ध्यान भी परम मङ्गलदायक है, उसके बाद तुम मिले । तुमने एकत्रमें हृदयस्पर्शां छिरोन्मेषों की, प्रसन्न की बातें कहीं । हमारे कपटी मित्र ! जब वे सब बातें पाद आकर हमारे मनको क्षुब्ध किये देती हैं ॥ १० ॥

हमारे प्यारे स्त्री ! तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकोमल और सुन्दर हैं । जब तुम गीर्वाण चरणके लिये मनसे निकलते हो तब यह सोचकर कि तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़, निलके और कुश-कौटे गड़ जानसे कम पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है । हमें क्या दुःख होता है ॥ ११ ॥ निम दृष्टेन जब तुम बनसे बर झँकते हो, ताँ हम देखती हैं कि तुम्हारे मुखमण्डल पर भीनी-भीनी अदृश्य छटक रही हैं और गीर्वाण सुरसे उड़-उड़कर बनी धूल पड़ी हुई है । हमारे धीर प्रियतम ! तुम अपना यह सौन्दर्य हमें दिख-दिखाकर हमारे हृदयमें भिन्नकी आकाङ्क्षा—प्रेम उत्पन्न करते हो ॥ १२ ॥ प्रियतम ! एकमात्र तुम्हीं हमारे सारे दुःखोंकी मित्रिने बाने हो । तुम्हारे चरणमल धरणागत मण्डोंकी समस्त अभिप्रायोंको पूर्ण करनेवाले हैं । सारे स्त्रीजीवनकी सेवा करती हैं और पृथ्वीके ताँ वे मूरग ही हैं ! आपत्तिके समय एकमात्र तुम्हीं चिन्तन करना उचित है, जिससे सारी अशक्तियों बट जानी हैं । कुछ रिहायी ! तुम जाने वे परम कल्याणमय चरणमल हमारे बस स्पर्शर स्पर्शर हृदयकी ध्वजा शान्त कर

ततो गत्वा वनोदेष्य दृष्ट्वा केवलमग्रवीत् ।

न पारयेऽहं चलिषु नम मां यत्र ते मन ॥३८॥

एवमुक्त प्रियामाह स्कन्ध आरुप्रसामिति ।

तत्त्वान्तर्दधे कृष्ण सा वधूरन्वतप्यत । ३९॥

हा नाथ रमग प्रष्टु कामि कासि महासुख ।

दास्यान्ते कृपणाया म मखे दक्षय सम्भिधिम् ॥४०॥

अविच्छन्त्या भगवता माग गोप्योऽविद्वत् ।

ददृशु प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सलीम् ॥४१॥

तया कथितमाकर्ष्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।

अवमानं च दौर्गत्याद् विस्मय परम ययु ॥४२॥

तताऽविशुन् वन चन्द्रज्यात्मना यावद्विभाष्यते ।

तम प्रविष्टमात्मन्य तता निरवृत्तु मिय ॥४३॥

तमनसं दाम्पत्यात्प्राप्तद्विष्टान्तमिमिका ।

आदर देखे हैं ॥ ३६ ३७ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा के शहरके भी शासक हैं । वह गोपी वनमें जलत करने प्रेम और सौभाग्यके मदसे मत्तबाही हो गयी और वहाँ श्रीकृष्णसे कहने लगी—‘प्यारे ! मुझसे अब तो और नहीं चला जाता । मेरे सुकुमार पौत्र धक गये हैं । अब तुम जहाँ चखना चाहो, मुझे अपने बंधेपर बंधाकर ले चलो’ ॥ ३८ ॥ अपनी प्रियतमाकी यह बात सुनकर श्यामसुन्दरने कहा—‘अच्छा प्यारी ! तुम अब मेरे कचेपर चढ़ लो ।’ यह सुनकर वह गोपी ज्यों ही उनके कंधेपर चढ़ने चली, त्यों ही श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और वह सौभाग्यवती गोपी रोने-पड़ताने लगी ॥ ३९ ॥ ‘हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रष्टु ! हा महासुख ! तुम कहाँ हो ! कहाँ हो ! मेरे सखा ! मैं तुम्हारी दीन-हीन दासी हूँ । शीघ्र ही मुझ अपने सान्निध्यका अनुभव कराओ, मुझे दर्शन दो’ ॥ ४० ॥ परीक्षित ! गोपियों भगवान् के चरणचिह्नके सहार उनके जाने का मार्ग ढूँढ़ती-ढूँढ़ती वहाँ जा पहुँची । बोरी दूरसे ही उन्होंने देखा कि उनकी सखी अपने प्रियरूपके वियोगसे दुखी होकर अचेत हो गयी है ॥ ४१ ॥ जब उन्होंने उसे जगाया, तब उसने भगवान् श्रीकृष्णसे उसे जो प्यार और सम्मान प्राप्त हुआ था, वह उनके सुनाया उसने यह भी कहा कि ‘मैंने कुटिलतावश सनका अपमान किया, इसीसे वे अन्तर्धान हो गये ।’ उसकी बात सुनकर ग्रापियोंके आश्चर्यकी सीमा न रही ॥ ४२ ॥

इसके बाद वनमें जहाँतक चन्द्रदेवकी चाँदनी छिटक रही थी वहाँतक वे ठहरे ढूँढ़ती हुई गयी । परन्तु जब उन्होंने देखा कि जगने घना अंधकार है—घोर जंगल है—हम ढूँढ़ती जायेंगी तो श्रीकृष्ण और भी उसके अंतर घुस जायेंगे तब ने उससे लौट आयी ॥ ४३ ॥ परीक्षित ! ग्रापियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था । उनकी बाकीमे कृष्णचर्चके अनिरुक्त और बारीक बात नहीं निश्चयी थी । उनका गहिरमे बसत श्रीकृष्णचरित्रऔर बसत श्रीकृष्णकी भावों का रहस्य था । कहानिच पहुँचें उनका

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुह स्तनेषु

भीताः शनैः प्रियदर्शीमहि कर्कशेषु ।

तेनाटवोमटसि तद्वृष्यथते न किंस्वित्

कूर्पादिभिर्घ्नमति धीर्मबढायुषां न ॥ १९ ॥

तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकुमार हैं । उन्हें हम अपने कठोर
स्तनोंपर भी डरते-डरते बहुत धीरेसे रखती हैं कि कहीं
उन्हें चोट न लग जाय । उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके
समय घोर जगमगे छिपे छिपे भटक रहे हो । क्या
कंकड़, पत्थर आदिकी चोट छानसे उनमें पीड़ा नहीं
होती ? हमें तो इसकी सम्भावनामात्रसे ही चक्कर आ रहा
है । हम अचेत होती जा रही हैं । श्रीकृष्ण !
श्यामसुन्दर ! प्राणनाथ ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये
है, हम तुम्हारे लिये जी रही हैं, हम तुम्हारी
हैं ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्धे रासक्रीडायां
गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

भगवान्कृष्ण प्रकट होकर गोपियोंको साम्बलना देना

श्रीकृष्ण उवाच

इति गाव्यः प्रगायन्त्य प्रलपन्त्यथ चित्रधा ।

रुद्र सुखर राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥

वासामाबिरम्बूधौरि सयमानमुखाम्बुज ।

पीताम्बरधर स्रग्वी साङ्खान्मन्मधमन्मथः ॥ २ ॥

त विलास्यगत प्रपन्नप्रीत्युत्फुल्लह्याऽवला ।

उत्पत्युपगमन् सवांस्तन्व प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥

काबिन् कराम्बुजं शीरञ्जगृहऽञ्जलिनामुदा ।

श्रीकृष्णदेवजी कहत हैं—परीक्षित । भगवन्की
प्यारी गोपियों बिरहके आवेशमें इस प्रकार भौंकि-भौंकिसे
गाने और प्रलाप करने लगीं । अपने कृष्ण-प्यारेके
दशमकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, कदगा
बनक सुमधुर स्वरसे फट फटकर राने लगीं ॥ १ ॥
श्रीकृष्ण, वसी ममय नलके, बीचोबीच, म्हाबान्, श्रीकृष्ण,
प्रकट हो गये । उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे
खिल हुआ था, गलमें बनमाला थी, पीताम्बर चारण
किये हुए थे । उनका यह रूप क्या था, सबके मनको
मग्न डालनेवाले कामदबके मनको भी मग्नवाला था
॥ २ ॥ कोटि-कटि कामोसे भी सुन्दर परम मनोहर प्राण-
बल्लभ श्यामसुन्दरका आवा देख गोपियोंके मग्न प्रेम और
आनन्दसे झिल उठे । वे सब-कहीं-सुब एक ही स्त्राय
इस प्रकार उठ खड़ी हुईं, माना प्राणहीन शरीरमें दिव्य
प्राणोंका सञ्चार हो गया हो दारीके एक-एक बज्रमें
नवीन चेतना—नूतन रक्ति आ गयी हा ॥ ३ ॥
एक गापीने बड़ प्रेम और आनन्दसे श्रीकृष्णके
करकमलको अपन दोनों हाथोंमें ल गिया और बड़

सुरतवर्धनं शोकनाशनं
 स्वरितवेणुना सुष्ठु जुम्बितम् ।
 इतरागविभारणं नृणां
 विवर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥
 अटति यद् भवानहि कानन
 जुष्टिर्गुणायते स्वामपश्यताम् ।
 कृदिलङ्घन्तुल भीमस्तं च ते
 बह उदीक्षतां पद्मकृषु चक्षाम् ॥१५॥
 पतिसुतान्वयन्नादृशान्धवा-
 नसिविलङ्घय तेऽन्त्यप्युवागताः ।
 गतिविदस्तबोद्गीतमोहिताः
 किञ्च योपित कस्त्यजेभिधि ॥१६॥
 रहसि संविद हृच्छमोदय
 प्रहसिताननं प्रमथीयणम् ।
 बहदुरः मियो वीक्ष्य धीम ते
 सुदुरतिस्पृहा मुद्यत मनः ॥१७॥
 प्रमथनीकसां व्यकिरङ्ग ते
 बुधिनहन्त्यर्ल विश्वमङ्गलम् ।
 स्पृम मनाङ्क नस्त्यत्स्पृहात्मनां
 व्यमनहदुर्जा यभिपूदनम् ॥१८॥

दा ॥ १३ ॥ वीरशिरोमणे ! तुम्हारा अधरामृत मिलनके
 सुखको, आकाङ्क्षाको बढानेवाळा है । यह विरहजय
 समस्त शोक-सन्तापको नष्ट कर देता है । यह गानेवाली
 बौधुणी मल्लीमौलि उसे चूमती रहती है । जिन्होंने एक
 बार उसे पी लिया, उन लोगोंको फिर दूसरों वीर दूसरोंकी
 आसक्तियोंका स्मरण भी नहीं होता । हमारे वीर !
 अपना बही अधरामृत हमें वितरण करो, पित्राज्य
 ॥ १४ ॥ प्यारे ! दिनके समय जब तुम कममें बिहार
 करनेके लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे
 लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और
 जब तुम सन्ध्याके समय झोटे हो तथा सुकाम
 अवस्थासे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम
 देखती हैं, उस समय पक्षियोंका मरना हमारे लिये मार
 हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी
 पक्षियोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख है ॥ १५ ॥ प्यारे
 श्यामसुन्दर ! हम अपने पति पुत्र, माई कष्ट और
 कुल-परिवारका त्याग कर, उनकी इच्छा और आज्ञाओंका
 खलङ्गन करके तुम्हारे पास आयी हैं । हम तुम्हारी
 एक-एक बात जानती हैं, सङ्केत समझती हैं और
 तुम्हारे गधुर गानकी गति समझकर, उसीसे मोहित
 होकर यहाँ आयी हैं । कसदी ! इस प्रकार रात्रिके
 समय आयी हुई युवतियोंको तुम्हारे सिद्ध और कौन
 छोड़ सकता है ॥ १६ ॥ प्यारे ! एकान्तमें तुम मिलनकी
 आकाङ्क्षा, प्रेमभावको जगानेवाली बातें करते थे ।
 छिपेछोपी करके हमें छेड़ते थे । तुम प्रेममयी चितवनसे
 हमारी ओर देखकर मुसकता रहे थे और हम देखती
 थीं तुम्हारा वह विशाल बल स्थल, जिसपर लक्ष्मीजी
 नित्य निरन्तर निवास करती हैं । तबसे अकनक निरन्तर
 हमारी लालसा बढ़ती ही जा रही है और हमारा मन
 अभिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है ॥ १७ ॥ प्यारे !
 तुम्हारी यह अभिव्यक्ति ब्रज जनवासियोंके सम्पूर्ण दुःख-
 तापको नष्ट करनेवाली और विश्वका पूर्ण मङ्गल करनेके
 लिये है । हमारा हृदय तुम्हारे प्रति लालसासे भर रहा है ।
 कुछ पोरी-सी ऐसी ओरधि दो, जो तुम्हारे निजजनो-
 के हृत्परीयोंको सर्वथा निर्मूल कर दे ॥ १८ ॥

विकसत्कुन्दमन्दारसुरम्यनिलपदपदम् ॥११॥

शरषन्त्रांशुसन्दोहप्यस्तदोपातमः शिवम् ।

कुण्याया हस्ततरलांचितकोमलवालुकम् ॥१२॥

तदर्शनाह्लादविभूतद्रुजो

मनोरथान्त द्युतयो यथा ययु ।

स्नेहचरीयैः कृपकृपुमाकृतै

रचीकल्पभासनमात्मकन्धवे ॥१३॥

तत्रोपविष्टा भगवान् स ईश्वरो

योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।

चक्रस्त गोपीपरिपङ्क्तवाञ्छित

स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपद वपुर्दभत् ॥१४॥

समादयित्वा समनङ्गरीपन

सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुषा ।

लेकर बड़ी ही शीतल और सुगन्धित मन्द-मन्द वायु
 चल रही थी और उसकी मूँहसे मतवाले होकर भौरे
 इधर-उधर मेंबरा रहे थे ॥ ११ ॥ शरशूर्पिणिके
 शरषमाकी चौदनी अपनी निराखी ही छटा दिखाने लगी
 थी । उसके कारण रात्रिके अन्धकारका तो फही पना
 ही न था, सर्वत्र आनन्द-महोत्सव ही साम्राज्य छाया
 था । वह पुष्टि नया था, यमुनाजीन स्वयं अपनी
 लहरोके हाथों मगवान्‌की छीप्रक छिये सुकोमल
 बालुकका रंगमन्त्र बना रक्ख था ॥ १२ ॥ परीक्षित !
 मगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे गोपियोंके हृदयमें इतन
 आनन्द और इतन रसका सन्दास हुआ कि उनका
 हृदयकी सारी आधिप्याधि मिट गयी । जैसे कर्मकाण्डकी
 मुनियों उसका भणन करते-करते अन्तमें भानकाण्डका
 प्रतिपादन करने लगती हैं और फिर वे समस्त मनोरथोंसे
 ऊपर उठ जाती हैं, कृतकृत्य हो जाती हैं—वैसे ही
 गोपियों भी पूर्णकाम हो गयीं । अब उन्होंने अपने
 कष्ट स्थलपर छाी हुई रोखी-कंठरसे चिह्नित ओढ़नीको
 अपने परम व्यारे सुहृद् श्रीकृष्णक विराननेके छिये
 सिद्ध दिया ॥ १३ ॥ वड़े-बड़े योगेश्वर अपने योग-
 साधनसे पवित्र किये हुए हृदयमें जिनके छिये आसनकी
 कल्पना करते रहते हैं, वित्तु फिर भी अपने हृदय-
 सिंहासनपर बिठा नहीं पाते, वही सर्वशक्तिमान् मगवान्
 यमुनाजीकी रेतोंमें गोपियोंकी ओढ़नीपर बैठ गये ।
 सहस्र-सहस्र गोपियोंके बीचमें उनसे पूजित होकर
 मगवान् वड़े ही शोभायमान हो रहे थे । परीक्षित !
 तीनों लोकमें—तीनों कश्चमें जितना भी सौन्दर्य
 प्रकाशित होगा है, वह सब तो मगवान्‌का किन्दुमात्र
 सौन्दर्यका आभासमर है । वे उसके एकमात्र आघस्य
 हैं ॥ १४ ॥ मगवान् श्रीकृष्ण अपने इस अडीचिक
 सौन्दर्यके द्वारा उनके प्रेम और आस्थाका और भी
 उमाड़ रहे थे । गोपियोंने अपनी मन्द-मन्द मुसकान,
 विद्युत्सर्प क्लिपक और निगड़ी मीलोंसे उनका सम्मन
 किया । बिस्तीने उनके चरणप्रत्यङ्गों अपनी गो-में
 रख दिया तो बिस्तीने उनके कटकमोंका । य उनका

काचिद् दधार तद्भातुर्मसे चन्दनरूपितम् ॥ ४ ॥

काचिदञ्जलिनागृह्णाचन्वी साम्बूलचर्चितम् ।

एका तदङ्घ्रिकमल सन्वता स्तनयोरधात् ॥ ५ ॥

एका झुकटिमावप्य प्रमसरम्भविह्वला ।

प्रतीवैश्वत् कटाक्षेपे संदोष्टमनच्छदा ॥ ६ ॥

अपरानिमिषदुष्टम्यां जुपाणा तन्मुग्धाम्बुजम् ।

आवीतमपि नाठप्यत् सन्तस्तचरण यथा ॥ ७ ॥

त काचिन्नेत्ररन्ध्रेण इदिकृत्य निमील्य च ।

पुलकाङ्गुपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥

सषांता कञ्जबालोक्परमात्मवनिर्हृता ।

अहुर्विरहं तापं प्राप्नोष्य यथा जनाः ॥ ९ ॥

ताभिर्विप्लवप्रसङ्गाभिमगवानप्युता श्रुत ।

स्पर्शनाधिक तात पुरुष शक्तिभियथा ॥ १० ॥

ताः समादाय कान्तिं या निर्विशय पुनिर्न विमुः ।

वीरे-धीरे उसे सहजाने लगी । दूसरी गोपीने उनके चन्दनचर्चित मुनदण्डको अपने कंधे पर रख लिया ॥ ४ ॥ तीसरी सुन्दरीने भगवान् का चषा । हुआ पल अपने हाथोंमें ले लिया । चौथी गोपी, जिसके हृदयमें भगवान् के चिरहसे बसी अलन हो रही थी, बैठ गयी और उसके चरणकमलको अपने बल स्तनपर रख दिया ॥ ५ ॥ पाँचवीं गोपी प्रणमकोपसे विह्वल हो कर, भौं चढ़ाकर, दाँतोंसे डोढ़ दबाकर अपने कान्ध-गर्भसे बीधती हुई उसकी ओर ताकने लगी ॥ ६ ॥ छठी गोपी अपने निर्निमेष मनमें उसे उनके मुख स्तम्भ मकरन्द-रस पान करने लगी । परन्तु जैसे संत पुरुष भगवान् के चरणोंके दर्शनसे कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उनकी मुख-माधुरीका निरन्तर पान करते रहनेपर भी तृप्त नहीं होती थी ॥ ७ ॥ सातवीं गोपी मन्त्रोंके स्पर्शसे भगवान् को अपने हृदयमें ले गयी और फिर उसने ओंसे बद कर भी । अब मन-ई-मन भगवान् का आच्छिन्न करनेसे उसका शरीर पुलकित हो गया, रोम-रोम खिल उठा और वह सिद्ध योगि कि समान परममन्दमें गम हो गयी ॥ ८ ॥ परीक्षित - जैसे मुमुक्षुव्रत परम ज्ञानी संत पुरुषको प्राप्त कर संसारकी पीड़ासे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सम्यक् गोपियोंको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे परम आनन्द और परम सद्भास प्राप्त हुआ । उनके चिरहके कारण गोपियोंको जो दुःख हुआ था, उससे वे मुक्त हो गयीं और शास्तिके समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं ॥ ९ ॥ परीक्षित । यों तो भगवान् श्रीकृष्ण अप्युत और परकृत हैं, उनका सीन्दूर और मधुप निरतिशय हैं; फिर भी चिरह-मधुपासे मुक्त हुई गोपियोंके वीधनें उनकी शय्या और भी बढ़ गयी । ठीक वैसे ही, जैसे परमेश्वर अपने निज ज्ञान, यम आदि शक्तियोंसे सेवित दानपर और भी शान्तायमान होता है ॥ १० ॥

सप्त वाग भगवान् श्रीकृष्णने उस मन्त्रसुन्दरियोंका साथ लेकर यमुनातीरे पुनिर्नमें प्रवेश किया । उस समय यिने हुए सुन्द और मन्त्रारणे पुण्डरीक स्तम्भ

संस्पर्धनेनाङ्कवाद्ग्रिहस्तयोः

मस्तुत्य ईप्सुपिता वभापिरे ॥१५॥

गोप्य ऊषुः

भक्तोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।

नोमयांश्च भजन्त्येक एतया ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

मियो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थकान्तोद्यमाहिते ।

न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा ।

धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥१८॥

भजतोऽपि न वै केचित् भजन्त्यभजतः कुतः ।

अत्मारामा क्षाप्तक्रामा भक्तज्ञा गुरुबुद्ध ॥१९॥

नाहं तु सम्प्यो भजतोऽपि जन्तु

भशाम्यभीषामनुवृत्तिवृत्तये ।

यथाधना लब्धधने विनष्टे

तथिन्तयान्प्रभिमृता न वेद ॥२०॥

सम्पर्शका आनन्द लेनी हूँ कभी-कभी का
उठनी थी—मित्रता सुकुमार है, मित्रता मधु
है। इसके बाद श्रीकृष्णके छिप जानेसे मन-ही-मन
तनिक खटखट उनके मुँहसे ही उनका दोष स्वीकार
करानेके छिये व फटने लगी—॥ १५ ॥

गोपियोंने कहा—नटनगर ! कुछ खेग तो ऐसे
होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं और
कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। पन्तु
कोई-कोई नेनोंसे ही प्रेम नहीं करते। प्यार ! इन तीनोंमें
तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है ? ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मेरी प्रिय सखियों ! जो
प्रेम करनेवाले प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग
स्वार्थको लेकर है। केन-केनमात्र है। न तो उनमें
सौहार्द है और न तो धर्म। उनका प्रेम केवल स्वार्थके
छिये ही है। इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन
नहीं है ॥ १७ ॥ सुन्दरियो ! जो खेग प्रेम न करने-
वालोंसे भी प्रेम करते हैं—जैसे सम्भवसे ही करुणाशील
सज्जन और मना-मिता—उनका हृदय सम्प्रादसे, क्षित्विप्तासे
मरा रहता है और सच पूछे, तो उनका व्यवहारमें
निष्कृष्ट सत्य एवं पूर्ण धर्म भी है ॥ १८ ॥ कुछ लोग
पसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते,
न प्रेम करनेवालोंका वो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं
है। ऐसे खेग बार प्रकरक होते हैं। एक तो वे, जो
अपने स्वल्पमें ही मस्त रहते हैं—जिनकी दृष्टिमें कभी
ईत मासता ही नहीं। दूसरे वे, जिन्हें ईत ता मासता
है, पन्तु जो इनदृष्ट हो चुक हैं, उनपर किसीसे बर्त
प्रयोजन ही नहीं है। तीसरे वे हैं, जो जानते ही नहीं
कि हमसे कौन प्रेम करता है और कौनसे वे हैं, जो
जान-बूझकर अपना जित करनेवाले परीपराही गुरुत्तम्य
क्षमासे भी मोह करते हैं, उनको स्नाना चाहते
हैं ॥१९॥ गोपिया ! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम
करता व्यवहार नहीं करता, प्रेमा करना चाहिये। मैं
पेसा केवय इसीछिये करता हूँ कि उमरी पितृवृत्ति और
भी मुझमें लगे, मित्तर लगी ही रह। जेमे निर्भन पुरुषका
कभी बहुत-सा धन मित्र जाय और मित्र का जाय तो
उमरा हृदय रोष हुण धनकी चिन्तासे मर जाता है,
येसे ही मैं भी मित्र-मित्रका छिप-छिप जाता हूँ ॥२०॥

मदर्थोऽग्निस्तलोकवेद

स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबला ।

या परोक्षं भनता विरोहितं

माघपितुं मारिधं तत् प्रिय प्रियाः ॥२१॥

न पारयेऽहं निरवयसपुजां

स्वसाधुकृत्य विबुधापुपापि वः ।

या साभजन् दुर्जरोऽभ्युक्ता

सहस्य तद् वः प्रविपातु साधुना ॥२२॥

गोपिया । इसमें सुन्दर नहीं कि तुमयोगोंने मेरे लिये लोक-मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी छोड़ दिया है । परी मैंने तुम्हारी मनाबूति और कहाँ न जाय, अपने सौन्दर्य और सुश्रृंगारी कितना न करने लगे, मुझमें ही रगी रहे—इसीलिये फोड़करसे तुम लोगोंने प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था । इसलिये तुमलोग मेरे प्रेममें गेय मत निकालो । तुम सब मेरी प्यारी हों और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ ॥२१॥ मेरी प्यारी गोपियो । तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थीकी उन बहियोंका तोड़ डाला है, जिन्हें वह-वह योगी-पति भी नहीं तोड़ पाते । मुझसे तुम्हारा यह मिश्रण, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निमग्न और सदा निर्योय है । यदि मैं अफर शरीरमें—अगर जीवनसे अनन्त कालक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका क्या लुप्तना चाहूँ ता भी नहीं चुक सकता । मैं जन्म-जन्मक लिये तुम्हारा श्रेणी हूँ । तुम अपने साम्य स्वभावमें, प्रेमसे मुझ उद्धार कर सकती हो । फल्यु मैं तो तुम्हारा श्रेणी ही हूँ ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यो संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्णि

रासक्रीडायां गार्गीस्तन्त्रनं नाम

त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

महापाम

श्रीगुरु उवाच

त्वं भगवतो गाम्य भुत्वा वाचः सुपुत्रता ।

दुर्विर्हजं ताप तदङ्गतेपचिताद्विप ॥ १ ॥

नारमत गोविन्दो रासक्रीडामनुवर्ततः ।

तोरस्तेरन्वितः प्रीतेरन्त्याम्बावदबाहुभिः ॥ २ ॥

सास्त्ववः सम्प्रवृत्ता गार्गीमण्डलमण्डितः ।

पापशरणं कृप्यन् तासां मय्य दयाईयाः ।

श्रीगुरुदेवता कथन है—गहन । गार्गी भगवा

नी इस प्रकार प्रेमकी सुपुत्रता की सुन्दरता को कुछ

विद्वद्भ्य नाम दय था, उमा की मुक्त । परी और

मौल्य-मधुपनिधि प्रणयारक अङ्ग-मङ्गल गन्त

मनाय हा गरी ॥ १ ॥ भगवा श्रीकृष्णजी १५वी

आर मेविक गार्गी एक-द्वयजी यौन-मैत्री १५

वर्षी थी । उन श्रीगनोक माय यमुनाजी १५

मगतजन अनी गमुषी गमुषीस प्राग्म यी ॥ ३ ॥

मपुग माग्रेक ब्यादी मगहन श्रीकृष्ण १५ गार्गीया

वाचम प्रसू हा गय और एक मय्य अना हाव आ

पिया । इस प्रकार एक गार्गी और एक श्रीकृष्ण, गरी



महाराष्ट्र—समय भगवानकी अन्तराङ्गीला

उष्णैश्चगुत्तर्यमाना रक्तकम्प्यो रसिप्रियाः ।

कृष्णामिमर्शमुदिता यद्रीतेनेवमावृतम् ॥ ९ ॥

काचित् समं मुकुन्देन स्वरसाक्षीरमिथिताः ।

उभिन्ये पृथिता तेन प्रीयता साधु साभिवि ।

तदेव ध्रुवमुभिन्ये तस्यै मानं च बहदात् ॥ १० ॥

काचिद् रामपरिभान्ता पार्श्वम्यस्य गदासृतः ।

अग्राह बाहुना स्कन्धं स्रष्टवलयमल्लिका ॥ ११ ॥

सर्वैकासगतं बाहुं कृष्णस्यात्पलसौरभम् ।

चन्दनालितमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥

कस्ताभिन्नाद्यविशितकुण्डलस्त्रिपमण्डितम् ।

गण्डं गण्डे सन्धत्वा अदाचाम्बूलचर्वितम् ॥ १३ ॥

नृस्पन्ती गापती काचित् कूजन्तूपुरमलला ।

पार्श्वम्यास्पुतहन्माहर्ज भान्ताधात् स्तनयोः शिबम् १४

गाप्या लम्बास्पुत काचं धिय एकान्तबल्लभम् ।

गृहीतकण्ठ्यमदार्या गायन्त्यस्त निजहिर ॥ १५ ॥

धी ॥ ८ ॥ गोपियेकत्र जीवन भगवान्की रति है, प्रेम है । ये श्रीकृष्णसे स्पर्कर नाचते-नाचते ऊँचे स्तरसे मधुर गान कर रही थीं । श्रीकृष्णका संस्पर्श पायाकर और भी आनन्दमग्न हो रही थीं । उनके राग-रागिणियोंसे पूर्ण गानसे यह सारा जगत् अब भी गूँज रहा है ॥ ९ ॥ कोई गोपी भगवान्के साथ—उनका स्तरमें नज़र मिश्र कर गयी थी । यह श्रीकृष्णके स्तरकी अपेक्षा और भी ऊँचे स्तरमें राग अत्यन्तें छपी । उसके विच्छाग और उत्तम स्तरको छुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और बाह-बाह करके उसकी प्रशंसा करने लगे । उसी रागमें एक दूसरी स्त्रीने छुपनेमें लगी । उसका भी भगवान्ने बहुत सम्मान किया ॥ १० ॥ एक गोपी नृत्य करते-करते पक गयी । उसकी कक्षाओंसे कंगन और चोड़ियोंसे वेचके फूल छिसकने लगे । तब उसने अपने कान्ठमें ही खड़े मुरझीमनोहर दयामुन्दरके कवचों अपनी बाँहोंसे कसकर पकड़ लिया ॥ ११ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपना एक हाथ दूसरी गोपीके कंधेपर रख रक्खा था । वह स्वभावसे तो कम्पके सम्मन ध्रुवचसे चुक या ही, उसका बड़ा सुगन्धित चन्दनका लेप भी था । उसकी ध्रुवचसे यह गोपी पुच्छित हो गयी, उसका रोम-रोम खिन्न ठहर । उसने अपने उसे चूम लिया ॥ १२ ॥ एक गोपी नृत्य कर रही थी । नाचनेके कारण उसके कुण्डल झिझ रहे थे, उनकी छात्रसे उसके कंगन और भी चमक रहे थे । उसने अपने कपड़ोंको भगवान् श्रीकृष्णके कंगोत्रसे सटा लिया और भगवान्ने उनके मुँहमें अपना चम्पा दूआ पान दे दिया ॥ १३ ॥ कोई गोपी नूपुर और कदलीके घुंमरुओंको सनकरती हुई नाच और गा रही थी । वह जब बहुत थक गयी, तब उसने अपने कंगोत्रों ही छड़-यामुन्दरके दीनक कदपस-उत्रों करने दोनों स्तनोंपर रख लिया ॥ १४ ॥

परीक्षित । गानियोंका सीमाप छापीलीसे भी बढ़कर है । छापीलीका परम प्रियतम पर्याप्त कष्टम भगवान् श्रीकृष्णको करने परम प्रियतमके रूपमें पाकर गानियों गान करती हुई उनके साथ निहार करने लगीं । भगवान् श्रीकृष्णने उनके गठोंमें अपने मुद्रागाने बाँध रखे थे, उस समय गानियोंकी बड़ी कर्त

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे मनिकर्टं स्त्रियः ॥ ३ ॥

यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसङ्कुलम् ।

दिवाँकसां मदाराणामौत्सुक्यापह्तात्मनाम् ॥ ४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतः पुष्पवृष्टयः ।

जगुर्गर्भर्वपतय सखीकास्तघ्नोऽपलम् ॥ ५ ॥

बलपानां नृपूराणां विह्विणीनां च योपिताम् ।

सत्रिपाणामभूच्छन्दस्तुमुलो राममण्डले ॥ ६ ॥

तथाविगुणुमे ताभिर्मगन्नाम् दधकीमुतः ।

मप्ये मणीनां ईमानां महामरुता यथा ॥ ७ ॥

पादपासंभुजविषुतिभिः समितर्ज्वितार्म

मंयमप्ययलद्वयवतः कुण्डलवर्णहन्तानि ।

न्रियमुष्प कषराग्रनाप्रथयः कृष्णवर्णो

गायन्धर्वमं नटिन इव ता यवपथ विरयु ॥ ८ ॥

कम पा । समी ।

हमारे प्यारे तो हः

सहस्र गोपियोंसे शः

रातोस्तथ प्रारम्भ हुआ

निमनोंकी भीड़ छाः

पत्नियोंके साथ वहाँ

छत्रसासे, उल्लुक्तासे

वा ॥ १४ ॥ खगर्भ

उठी । स्वर्गाप पुण्योर्क

अपनी-अपनी पत्नियोंके

फरने लगे ॥ ५ ॥ रु

प्रियतम श्यामभुन्दरके

कन्धयोंक कलत, पैरोंके पायल

छोटे पुष्प एक साथ बज उठ

इसलिये यह मधुर ध्वनि भी बढ़

थी ॥ ६ ॥ यमुनावाँकी रमणर

धीधमे मगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी

ऐसा जान पड़ता था, मनो अगणित

हई सुवर्ण-मणियोंके बीचमें व्योतिर्भ,

गई हो ॥ ७ ॥ इसके समय गोर्-

दुमुक्क-दुमुक्कर अपने पाँच कमी आगे व-

पीछे हटा लेती । कमी गनिके अनुसार

गम्भी, तो कभी बढ़ बेगसे, कमी चान

जानी, कमी अपने हाथ उठ-उठकर भा

कमी विभिन्न प्रथमसे उहँ बमरगनी ।

वज्रार्ण बगमे मुसकराते, तो कभी भीहि

माधते-नाथते उनरी पनरी पत्तर ऐसी ल-

धि, मनो दृष्ट गयी हो । छुलने, बेगने, उ

पजेरी पुनरि उनर म्मन रिउ रह थे तथा ॥

जा रहे थे । वानोंक पुष्प शिल्पितर व

जा जल थे । मानेर परिधममे उनर मुँहस

की झूँट मन्त्रन गयी थी । ऐसीही धारियों व

पन गयी थी । भीरीरी गोंरे गुनी जा रही

प्रशन्न नरक नन्मन्त्ररी वाम प्रकसी

राप न-गाइत माव रही थी । परी-

पन्ना जान पड़ता था मनो बहुतने

गौरने न-मगद है और उनर

ह-गरी गान्ती विजयी है

उपैर्जगुन्मृत्यमाना रक्तकण्ठो रतिप्रियाः ।

कृष्णामिर्मर्षमुदिता यद्रीतेनेदमाहम् ॥ ९ ॥

कचिद् सर्म सुहृन्देन खरजतीरमिथिताः ।

उन्मिन्ये पृजिता सेन प्रीयता साधु साभिषि ।

तदेव ध्रुवमुन्मिन्ये तस्यै मार्गं च बद्धवात् ॥ १० ॥

कचिद् रासपरिभ्रान्ता पार्श्वम्यस्य गढामृतः ।

वप्राह बाहुना स्कन्वं सयद्रलयमल्लिका ॥ ११ ॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।

चन्दनालितमाप्राप हृदरोमा क्षुब्धम् ॥ १२ ॥

कस्याभिन्नाद्यविशिष्टकण्डलस्वपमभितर्कम् ।

गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्तामूलचर्वितम् ॥ १३ ॥

नृत्यन्ती गायत्री कचिद् कृज्जन्पूरमल्लता ।

पार्श्वम्याभ्युदहन्मार्ज्य भ्रान्ताभात् सानयोः शिवम् १४

गायत्री सन्ध्याभ्युत्तं कास ध्रिय एकान्तबह्वम् ।

गृहीतकण्ठस्तदाभ्यां गायन्त्यस्तं विशदित ॥ १५ ॥

पी ॥ ८ ॥ गोपियोंका बीजन भगवान्की रति है, प्रेम है । वे श्रीकृष्णसे सम्पर्क नाचते-नाचते ऊँचे स्वरसे मधुर गान कर रही थीं । श्रीकृष्णका संस्पर्श पा-याकर और भी आनन्दभ्रम हो रही थी । उनके राग-भानिनोंसे पूर्ण गानसे यह सारा जगत् अब भी गुँज रहा है ॥ ९ ॥ कोई गेपी भगवान्के साथ—उनके स्वरमें स्वर मिश्र-कर ग्रा रही थी । वह श्रीकृष्णके स्वरकी अपेक्षा और भी ऊँचे स्वरसे राग व्यक्त करने लगी । उसके विश्रुण और उत्तम स्वरको सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और बाह-बाह करके उसकी प्रशंसा करने लगे । उसी रागसे एक दूसरी सखीने छुप्रमें गाया । उसका भी भगवान्ने बहुत सम्मान किया ॥ १० ॥ एक गोपी नृत्य करते-करते पक गयी । उसकी कजरीयोंसे कंल और चानियोंसे केअके फूल छिसकने लगे । तब उसने अपने कान्ठमें ही खड़े सुरधीमनोहर श्यामसुन्दरके कंधेको अपनी बाँहसे कसकर पकड़ लिया ॥ ११ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपना एक हाथ दूसरी गोपीके कंधेपर रख रक्खा था । वह स्वभावसे तो कमलके समान सुगन्धसे युक्त था ही, उसपर बड़ा सुगन्धित चन्दनका लेप भी था । उसकी सुगन्धसे वह गोपी पुष्कित हो गयी, उसका रोम-रोम खिन्न लख । उसने छटसे उसे चूम लिया ॥ १२ ॥ एक गोपी रूप कर रही थी । नाचनेके कारण उसके कुण्डल झिज रहे थे, उनकी छायासे उसके कानों और भी चमक रहे थे । उसने अपने कानोंके भागान् श्रीकृष्णके कानोंसे सटा दिया और भगवान्ने उसके मुँहमें अपना चबाया हुआ पान दे दिया ॥ १३ ॥ कोई गोपी नूपुर और कजरीकी मुँचकजोंक झनझनती हुई नाच और गा रही थी । वह जब बहुत पक गयी, तब उसने अपने कानोंसे ही खड़े श्यामसुन्दरके शीतल वस्त्रमन्त्रे अपने दोनों कानोंपर रख लिया ॥ १४ ॥

परीक्षित । गणियोंका सीमाय छद्मीयोंसे भी सम्पर्क है । छद्मीयोंके परम प्रियतम एकान्त कण्ठ भगवान् श्रीकृष्णको करने परम प्रियतमके रूपमें पापत्र गणियों गहन घटती हुई उनके साथ विशर करने लगती । भगवान् श्रीकृष्णने उनके गानोंसे करने मुक्तगानों बाँध रक्खा था, उस समय गणियोंकी बनी जाई

कर्णोत्पलालकविटङ्कपोलधर्म

वन्नभियो धलयन् पुरषोपवाधैः ।

गोप्यः समं भगवता नवृत्तः स्वकथ

स्रस्तम्बो अमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

एवं परिप्लव्णकराभिमुखं

स्निग्धेषणोदामविलासहासैः ।

रेमे रमेधा ब्रजसुन्दरीभि

र्यधार्मकं स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ॥१७॥

वदन्नसन्नप्रहृष्टाकुलन्दिषा

फेदान् दुर्कलं कुचपट्टिकां वा ।

भाञ्जः प्रतिम्योद्धमल भजस्त्रियो

विश्वस्तमालाभरणाः कुम्भह ॥१८॥

कृष्णविष्कीर्तितं योऽस्य मुसुहः शेषरक्षिय ।

कामार्दिताः स्रग्गङ्गाध मगना विम्विताऽभयत् ॥१९॥

कृत्वा नावन्तमात्मानं यावर्तागापयापित ।

रम म भगवन्माभिरामारामाऽपि लीन्या ॥२०॥

नामार्मनिशिरारण धातानां वदनानि म ।

प्रामुख्यं कलाः प्रमत्ता गुणभनाङ्ग पाणिना ॥२१॥

गाप्यं गृह्यगृह्यकृत्वा नूनन्विद्

गन्धधिया मुक्तिदागनिश्रियान ।

१०॥१००॥११॥१२॥

शोभा थी ॥ १५ ॥ उनके कानोंमें कमलके पुष्प
शोभायमान थे । घुँघराही अर्धके कसोनेपर छटा
रही थी । पसीनेकी बूँदें सलकनेसे उनके मुखकी छटा
निराखी ही हो गयी थी । व रासमण्डलमें भाग्यन्
धीरुणके साथ मूल्य कर रही थी । उनके कर्ण और
पायजनोंक बाजे बज रहे थे । और उनके तान्त्रिकोंसे
अपना सुर मित्रमन्त्र गा रहा था । और उनके जूतों
और चोटियोंमें गुँथे हुए झूल फिरते जा रहे थे ॥ १६ ॥
परीक्षित ! जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकारमात्रसे अपनी
परिधार्मिके साथ खेलता है, वैसे ही रमरमण मगन
धीरुण कभी उन्हें अपने हृदयसे छुटा लेते, कभी
हाथसे हनका अङ्गुलीय करते, कभी प्रमत्तरी लिखी
चितवनसे उनकी ओर देखते तो कभी छीनते उन्मुक्त
हँसी हँसने लगते । इस प्रकार उन्होंने मगनहृदयियोंके
साथ क्रीडा की, विहार किया ॥ १७ ॥ परीक्षित !
भाग्यन्के अङ्गोंका संस्पर्श प्राप्त करके शरीरियोंकी
इन्द्रियों प्रेम और आनन्दसे विह्वल हो गयी । उनके
केशा बिखर गये । कुरोंके द्वार टूट गये और गहने
जल-म्यल हो गये । वे अपने केश, वस्त्र और बस्तुनीयों
भी भूलतया सम्हालनेमें असमर्थ हो गयी ॥ १८ ॥
भाग्यन् धीरुणसी यह रासक्रीडा देखकर स्वर्गकी
देवाङ्गनाएँ भी मित्रनीय वरमानामे मोहित हो गयी और
समस्त तानों तथा मणों का प्रचण्ड चन्द्रमा चरित, तिमिर
हो गये ॥ १९ ॥ परीक्षित ! परम भाग्यन् अन्वगत
है—उन्हें अजन अनिरुक्त और निमीरि भी आप्ययता
मानी है—कि भी उन्होंने कितनी गरियों थी, उनके
ही गण गण गिने और गणनामें उनके हाथ इस
प्रकार गिर गिया ॥ २० ॥ जब पट्टा गतक रत्न
और मूल्य जाति गिर वतनक पणन मोनितो पर
नीय तब वरगण्य भगवन् धीरुणने सब प्रभवे सर्व
जाने सुगम वरगण्योका ज्ञान बना मुँह फेंके
॥ २१ ॥ परीक्षित ! भाग्यन् वरगण्य और
मगनानामे मोहित हो पडा आकाश पर । उन्होंने
जान उन वरगण्य धीरुण वरगण्य गतिग पुनः
चिन्तित रह ग ॥ २२ ॥ पुनः पुनः पुनः गीत है,

मानं दक्षस्य श्रपयस्य जगुः कृतानि

पुण्यानि तत्स्फुरद्दृश्यर्षप्रमोदाः ॥२२॥

ताभिर्द्युतः धममपाहितुमङ्गसङ्ग-

वृष्टस्रजः स कचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।

गन्धर्वपालिभिरनुवृत्त आचिषद् वा

भ्रान्तो गभीभिर्भिराक्षिभिरभसेत् ॥२३॥

सोऽम्भसलधुवतिभि परिपिच्यमानः

प्रप्योक्षितः प्रहसतोभिरितस्ततोऽङ्ग ।

वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीक्ष्यमानो

रेमे स्वयस्वरतिरश्च गजन्द्रीलिलः ॥२४॥

तस्य कृष्णोपवने जलस्यल

प्रसूतगन्धानिलशुद्धिक्वटे ।

चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो

यथा मदप्युद्दिरदः करेणुभिः ॥२५॥

एवं श्रृङ्गाह्रांशुविराजिता निशा

म मन्पकामाऽनुरताबलागण ।

तथा उस प्रेममयी चितवनसे, जो सुधासे भी मीठी
मुसकानसे उज्ज्वल हो रही थी, भगवान् श्रीकृष्णका
सम्मान किया और प्रसुकी परम पवित्र कीलधौंस
गान करने लगी ॥ २२ ॥ इसके बाद जैसे पक्ष हुआ
गजराज विनारोंको तोड़ता हुआ हृदिनीयोंके साथ
जलमें घुसकर क्रीड़ा करता है, वैसे ही शोक और
खेदकी मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाले भगवान्ने अपनी
चकन दूर करनेके लिये गोपियोंके साथ कलक्रीड़ा
करनेके उद्देश्यसे यमुनाके जलमें प्रवेश किया । उस
समय भगवान्की कमलाक्ष गोपियोंके अङ्गुली रगड़से
बुल बुल-सी गयी थी और उनके वक्ष स्पलकी
केसरसे बह रँग भी गयी थी । उसके चारों ओर
गुनगुनाते हुए भीरे उनके पीछे-पीछे इस प्रकार चल
रहे थे, मानो गन्धर्वराज उनकी कीर्तिक्रान्त करते
हुए पीछे-पीछे चल रहे हों ॥ २३ ॥ परीक्षित ।
यमुनाजलमें गोपियोंने प्रेममयी चितवनसे भगवान्की
ओर देख-देखकर तथा हँस-हँसकर उनपर श्वर-उधरसे
जलकी खूब बीछरें डालीं । जल ललीच-उन्नीचकर
उन्हें खूब नहालया । विनालोंपर चढ़े हुए देवता पुष्पोंकी
वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे । इस प्रकार
यमुनाजलमें स्वयं आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णने गजराजके
समान जगद्विहार किया ॥ २४ ॥ इसके बाद भगवान्
श्रीकृष्ण ब्रह्मयुवतियों और भौरोंकी मीढ़से चिरे हुए
यमुनाजलके उपवनमें गये । वह बड़ा ही रमणीय था ।
उसके चारों ओर जल और सलमें बड़ी सुन्दर सुगन्ध-
वाले फूल खिले हुए थे । उनकी सुवास स्वर मन्द
मन्द बाधु चर रही थी । उसमें भगवान् इस प्रकार
विचरण करने लगे, जैसे मरुमत्त गजराज हृदिनीयोंके
हृदके साथ घूम रहा हो ॥ २५ ॥ परीक्षित ।
शरद्वर्षी वह रात्रि जिसके रूपमें अनेक रात्रियाँ पुत्रीभूत
हो गयी थी, बहुत ही सुन्दर थी । चारों ओर चन्द्रमाकी
बड़ी सुन्दर चाँदनी छिन्न रही थी । कण्ठोंमें शब्द
शत्रुघ्न जिह्व रस-सामयियोंका वर्णन मिला है, उन
समीसे वह युक्त थी । उसमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी
प्रियी गोपियोंके साथ यमुनाजल पुनि, यमुनानी और

सिपेइ आरमन्ययकदुसौरस

सवाः शरत्काम्यकपारसाभवाः ॥२६॥

रौमोवाच

सम्पापनाथ धर्मस्य प्रशमायंतरस्य च ।

अवतीर्णो हि भगवानंघ्रेन जगदीश्वरः ॥२७॥

स कथं धर्मसेतुनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।

प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदारामिमर्शनम् ॥२८॥

आसक्तमो यदुपति कृतवान् वै सुगुप्तिवत् ।

किमभिप्राय एत नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

भीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमा इष्ट ईशराणां च साहसम् ।

तेजायमानं न दापाय बह्वः मर्यद्वज्जो यथा ॥३०॥

नैतत् ममाचरजातु मनसापि क्षणीश्वरः ।

विनेश्यस्याचरन् मां द्वापथारुद्रोऽम्बिजं विपद्य ॥३१॥

इशराणां वच मर्यं तर्पवाचरितं कश्चित् ।

तेषां यत् स्वरभाषुन मुदिमान् ममाचरत् ॥३२॥

उनके उपवनमें विश्रुत किया । यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् सत्यसाक्षर हैं । यह सब उनके चिन्मय सङ्कल्पकी ही चिन्मयी लीला है । और उन्होंने इस लीला में कामध्वज को उसकी चेष्टाओं को तप उसकी क्रियाओं को सर्वथा अपने अधीन कर रक्खा था, उन्हें अपने-आपमें कैद कर रक्खा था ॥ २६ ॥

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्! भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत् के एकमात्र स्वामी हैं । उन्होंने अपने को श्रीकृष्णमयी के सहित पूर्णरूपमें अकार प्रमाण किया था । उनके अवतारका उद्देश्य ही यह था कि धर्म की स्थापना हो और अधर्मका नाश ॥ २७ ॥ ब्रह्मन् ! वे धर्ममर्यादा का बनानेवाले, उपदेश करनेवाले और रक्षक थे । फिर उन्होंने स्वयं धर्म के निषीदित परस्परोंका स्पर्श कैसे किया ! ॥ २८ ॥ मैं मानता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे, उन्हें किसी भी वस्तुकी कामना नहीं थी, फिर भी उन्होंने किन्तु अभिप्रायसे यह निन्दनीय कर्म किया । परम ब्रह्मचारी मुनीश्वर ! आप क्या करके मेरा यह सन्देह मिटाइये ॥ २९ ॥

भीशुक ने यही कहते हैं—सूर्य, अग्नि आदि ईश्वर (समर्थ) कभी-कभी धर्मका उल्लङ्घन और सबलता कायम करने देखे जाते हैं । परन्तु उन धर्मोंसे उन तेजस्वी पुरुषोंको कुछ दोष नहीं होता । देखो, अग्नि सदा कुछ खा जाता है, परन्तु उन पदार्थोंके दोषसे अग्नि नहीं होता ॥ ३० ॥ जिन लोगोंमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें मनसे भी बेसी बड़ कभी नहीं सोचनी चाहिये, शरीरसे करना तो बुरा रहा । यदि मूर्खताका कोश ऐसा कायम कर बैठे, तो उसका नाश हो जाना है । भगवान् साक्षरने हस्याहल किन पी किया था, इसका कोई तिये तो बड़ जगत्पर मम्म हो जाएगा ॥ ३१ ॥ इसलिये इस प्रशङ्कक जो साक्षर आदि ईश्वर हैं, अपने अभिप्रायके अनुसार उनका बचनको ही स्वर मानना और उसीका अनुसार आचरण करना चाहिये । उनका आचरणका अनुपकरण तो बहो-बहो ही किया जाना है । इसलिये मुदिमान् पुरुषका चानिचि कि उनका जो आचरण उनका उपदेश अनुरूप हो,

कुशलाचरितेनैपामिह स्वार्थो न विद्यते ।

विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणा प्रभो ॥३३॥

किमुताखिलसञ्चानां तिर्यग्यर्षदिषौकसाम् ।

इति शुभसिद्धान्तानां कुशलाकुशलान्वय ॥३४॥

यत्पात्तपङ्कजपरागनिपेक्षतसा

योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।

स्वीरं चरन्ति मृनयाऽपि न नश्यमाना

स्तस्यच्छयाऽऽसवधुपः कुत एव बन्धः॥३५॥

गोपीनां तस्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।

योऽन्तरि सऽप्यसः क्रीडनेनेह दहमाक्॥३६॥

अनुग्रहाय मृतानां मानुष दहमाप्सिष्ठ ।

भजते तादृशी क्रीडा याः धृत्वा तत्परो भवेन् । ३७।

नामुपन् स्वलु कृष्णाय माहितास्तस्य मायया ।

मन्यमाना मरार्गस्यान् स्वान् ध्वान् दारान् प्रजौकप

प्रदगध उवाच न वामुदसानुमादिता ।

अनिष्टुल्पा ययुगात्प स्वगृहान् भगवन्निपा ३९.

उसीमें जीवनेमें उतारे ॥ ३२ ॥ परित्यक्त । वे सामान्यान् पुत्र अहङ्कारहीन होते हैं, शुभ्रम करनेमें उनका कोई सांसारिक स्वाध नहीं होता और अशुभ फल करनेमें अनर्थ (नुकसान) नहीं होता । वे स्वार्थ और अनर्थासे ऊपर उठे होते हैं ॥ ३३ ॥ जब उन्होंने सम्पत्त्यमें ऐसी बात है तब जा पशु, पक्षी, मनुष्य, दैत्या आदि समस्त चराचर जीवोंके एकमात्र प्रभु सर्वेश्वर भगवान् हैं, उनके साथ मानवीय शुभ और अशुभका सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है ॥ ३४ ॥ जिनके चरणकमलोंके रजः सेवन करके मुक्ति प्राप्त हो जाती है, जिनके साथ योग प्राप्त करके उसके प्रभावसे पापीजन अपने सारे कर्मफल धष्ट करते हैं और विचारशील हारीजन जिनके तत्त्वका विचार करने लगते हैं तो वे समस्त वस्तुओंसे मुक्त होकर स्थूल सूक्ष्म विचारते हैं, वे ही भगवान् अपने मकोंका इच्छासे अपना विष्णु श्रीविष्णु प्रसन्न करते हैं, तब भय, उनमें कमलधनीयता ही कैसा हा संपत्ती है ॥ ३५ ॥ गणितज्ञ, उनके प्रतिष्ठे और सम्पूर्ण क्षीरसागरोंमें अन्तर्गतोंमें जो आपत्तिसे निवृत्तमान हैं, जो सबके स्त्री और परमाणि हैं, यही ता अन्तःस्थि-विष्णु श्रीविष्णु प्रसन्न करके या शिव कह रहे हैं ॥ ३६ ॥ भगवान् जीवोंका हारा बनकर गिर ही जानकर मनुष्यदाम प्रसन्न करते हैं और पक्षी श्रेष्ठों करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवाणपण हा करें ॥ ३७ ॥ ब्रह्मानी यद्यपि भगवा आत्मामें तस्मिन् ही शरीरुद्धि नदी में । ४ उत्तरा वागमयते महिना एतद् पञ्च समस्त रह थ हि एतद् प्रतिरो हमर एत ही हैं ॥ ३८ ॥ एतद् गतिर एतद् व गति दीन गति । एतद्गति वया । यद्यपि गतिरौ ईश्वर जन पर एतद्गति गति या हि नी भगवान् श्रीरघुवंश प्रलय व आज अज पर वधि गने । यद्यपि व अन्तःस्थि घटम, एतद् गतिरौ वरत भगवान् हा प्रसन्न करना वरती ही ॥ ० ॥

विक्रीडित व्रजवधूमिरिदं च विष्णोः

भद्रान्वितोऽनुशृणुषाद्यथ वर्णयेत् यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाभ्यपद्मिनोऽस्यचिरेण धीरः ॥४०॥ श्रिये नष्ट हो जाता है ॥ ४० ॥

परीक्षित ! जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रास-किम्बदन्त श्रवणके साथ बार-बार श्रवण और कर्णन करता है, उसे भगवान्‌के धरणमें परा भक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदयके रोग—कामविकारसे छुटकारा पा जाता है । उसका कामकाय सर्वदाके सुखकरा पा जाता है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हत्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्षि
रामक्रीडामर्णनं नाम प्रपञ्चोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

१ रासक्रीडाका प्रवर्णन ।

* श्रीमद्भागवतमें ये रासक्रीडाके पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं । भगवान् श्रीकृष्णकी परम अन्तरङ्गलीला, निःस्वरूपमूला गोपिकार्यों और झाड़िनी शक्ति श्रीराधाजीक साथ होनेवाली भगवान्‌की दिव्यसिद्धि दिव्य क्रीडा, इन अध्यायोंमें कही गयी है । 'रास' शब्दका मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै स' । जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समासादन करे, एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आत्मजन एवं उदीपनके रूपमें क्रीडा करे—उत्कृष्ट नाम रास है । भगवान्‌की यह दिव्य लीला भगवान्‌के दिव्य धाममें दिव्य रूपसे निरन्तर हुआ करती है । यह भगवान्‌की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गंधकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्‌की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको हृतकृत्य कर सकें । इस पञ्चाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिस्तार, श्रीकृष्णके सब उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा लिये हुए बसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रणमका उत्तर, रासकृत्य, क्रीडा, नृत्यकेलि और नृत्यविहारका वर्णन है—जो मानवी मध्यमें हानपर भी वस्तुतः परम दिव्य है ।

समयके साथ ही मनन-मस्तिष्क भी पलटता रहता है । कभी अन्तर्दृष्टिकी प्रकटता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टिकी । आत्मका युग ही ऐसा है जिसमें भगवान्‌की दिव्य-लीलाओंकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान्‌के अस्तित्वपर ही अधिग्रस्त प्रकट विना जा रहा है । ऐसी स्थितिमें इस दिव्य लीलाका रहस्य न समझकर तब तो तबकी आशावादी प्रकट करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है । यह लीला अन्तर्दृष्टिसे और सुदृश्य भाग्यकृपासे ही समझने आती है । जिन मायवान् और मायकृत्याप्राप्त महत्माओंमें इसका अनुभव किया है, वे ज्ञेय हैं और उनकी चरण-भूमिके प्रतापसे ही अलोक्य धन्य है । उन्हींकी पुक्तियोंका आश्रय लेकर यहाँ रासक्रीडाके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् लिखनेकी श्रुता की जाती है ।

यह जान पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्‌का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड़ नहीं होता । जबकी सत्ता कबज जीवकी दृष्टिमें होती है भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं । यह दृष्ट है और यह देखी है, इस प्रकारका भेद भाग कबज प्रकृतिके राज्यमें हाथा है । अप्राकृत्य लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; जहाँ अचिदकी प्रतीति तो केवल चिद्विस्तार अथवा भगवान्‌की स्थिराकी सिद्धि के लिये होती है । इसलिये

स्थूलतामें—या यों कहिये कि जबराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब मजबूतकी व्याकुल स्थितिमें सन्तुष्टिमें विचार करने लगता है, तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जबराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और विमर्शोंकी ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्यस्थितिमें रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह उस वस्तु पर उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जब जगत्की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्में भी यह प्रकाश नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें ही इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका स्वरूपमय नहीं देखा जाता। इस परम रसकी रूढ़ि तो परम भवम्पी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूप गोपीजनोके मधुर हृदयमें ही होती है। इस रसकीत्यके यथार्थस्वरूप और परम भावपूर्ण आस्वाद उन्हेंको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भावान्के समान ही गोपियों भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जब दरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म दरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, वैकुण्ठसे अनुभव होनवाले मोक्ष—और तो क्या, जबतकी दृष्टिक ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको प्राप्त करनेका प्रेमामृत है। उनकी इस कथैविक स्थितिमें स्थूलदरीर, उसकी स्थिति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अज्ञ-साक्षी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देशामुक्तिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणचुम्बित स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शङ्कर, उदय और अनुजने गोपियोंकी उपासना करके भावान्के चरणोंमें बैठे प्रमत्त बरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिप्राय की है। उन गोपियोंके दिव्य मन्त्रों साधारण की-मुद्राके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भावान्के प्रति और बाह्यवर्णन से प्रतीति महान् अन्याय एवं अपराध है। इस अपराधसे बचनेके लिये भावान्की दिव्य धीत्वपूर्ण विचार करते समय उनकी व्याकुल दिव्यप्रकाश स्मरण रखना परमावश्यक है।

भावान्का चिदानन्दस्वरूप दरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भावस्वरूप ही है। इसी प्रकार गोपियों दिव्य जगत्की भावान्की स्वप्नमय अन्तरङ्गशक्तियों हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावान्की धीत्व स्थूल दरीर और स्थूल मनसे परे है। आचरण-भाक्के अन्तर अर्थात् वीरारण करके जब भावान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है।

प्राकृत देशका निर्माण होना है स्थूल, सूक्ष्म और धरण—इन तीन देशोंके संयोगसे। जन्म-धरण-दरीर रहता है, तबतक इस प्राकृत देशसे जीवने सुखपर नहीं मिलता। धरण-दरीर कहते हैं पूर्वजन्म केके उन संस्कारोंके, जो देश-निर्माणमें धरण होते हैं। इस धरण-दरीर के आधारपर जीवने बार-बार जन्म-मृत्युके बदलने पड़ना होता है और यह जब जीवने मुक्ति न होनेतक अथवा धरण का सबका अभाव न होनेतक चलता ही रहता है। इसी कर्मकालके धरण पाञ्चमीनिक स्थूलदरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्ति आदिसे मग और भयसे ढका होता है। प्राकृतिक राज्यमें जितने दरीर होते हैं, सभी वस्तु योगि और विन्दुके संयोगसे ही बनते हैं, फिर चाहे कोई कर्मजनित निष्ठ धैर्यसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता मगपुरुष सहस्रसे, विन्दुके अयोग्य होनेपर कर्मकालके अर्थ धैर्यसे हो, अथवा बिना ही धैर्यके मांस, हृत्, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, शिर, मस्तिष्क आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शसे केवल दृष्टिप्रसे अथवा बिना देगे केवल सहस्रसे ही उत्पन्न हो। ये धैर्य-अधैर्य (अथवा कर्म-कर्म की या पुरुष-दरीरके बिना ही उत्पन्न हानकाल) सभी दरीर हैं योगि और विन्दुके संयोगजनित ही। ये सभी धरण दरीर हैं। इसी प्रकार धैर्य-काल निर्मित 'निर्माण' धरण के-उत्पन्न शुद्ध है, जन्म से ही है प्राकृत ही। निर या देवोंके दिव्य ब्रह्मधर्मसे दरीर

भी प्राप्त ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबमें विच्छेद है, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते। और भगवद्देह तो सदा अप्रकृत रूप ही है। देह-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भास्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा विदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भङ्ग नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णका सुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनस भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पश कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे शरीरोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चक सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतन है। इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह सब अपनेको ही आकर्षित कर लेती है। फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हस्ति और वृक्ष-पुष्प पुलकित हो जायें, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के ऐसे स्वरूपमूल शरीरसे गन्दा मैथुनकर्म सम्भव नहीं। मुख्य जो कुछ खाना है, उससे क्रमशः रक्त, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुद्ध बनता है, इसी शुद्धके आचारपर शरीर रहता है और मैथुनक्रियामें इसी शुद्धका कारण हुआ करता है। भगवान्‌का शरीर न तो कर्म-जन्य है, न मैथुनी सृष्टिकार है और न देही ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विच्छेद भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं, अपणव उसमें शुद्ध भी नहीं है। इसलिये उसमें प्राकृत पाञ्चभौतिक शरीरोंवाले बी-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिये भगवान्‌को उपनिषद्में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' ब्रह्मचर्या गुरु है और इसीसे भगवत्‌में उनके लिये 'अचन्द्रसीरता' आदि शब्द जाये हैं। फिर कर्षे शब्दों से कि उनके स्नेह्य हजार एक सौ आठ रानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि वह सारी भगवत्की सृष्टि थी, भगवान्‌के साहस्यसे हुई थी। भगवान्‌के शरीरमें जो रक्त-मांस आदि दिखलगी पड़ते हैं, वह तो भगवान्‌की योगमायाका चमत्कार है। इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके रूप भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राम्यकी लीला है, लौकिक काम-लीला नहीं।

×

×

×

×

इन गोपियोंकी सक्ता पूर्ण हो चुकी है। भगवान्‌ने अगम्य रात्रियोंमें उनके सब विहार करनेका प्रेम-सङ्कल्प कर लिया है। इसीके सब उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्ध हैं, जो अनेकविधमें विचरिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य-धीत्वमें सम्मिश्रित करना है। वे अगम्य रात्रियाँ कौन-सी हैं, वह बात भगवान्‌की इष्टिके सामने है। उन्होंने क्षणद्वय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें 'स ऐशत एकोऽयं बहु स्यम्।'—भगवान्‌के इस ईशणसे जगत्की उत्पत्ति होती है, वैसे ही उसके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रमथीक्षणसे शारदात्मकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मक्षिक-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उदीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् वीक्षित नहीं, अव्यक्त—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेम-दान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी, दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है, जो रासलीलाके लिये दिव्य स्वप्न, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बँसुरी बजती है।

भगवान्‌की यौगुरी जहको चेतन, चेतनको जन्म, जन्मको अघट और अवचको चक्र, विधिपत्रों सम्पत्ति और सम्पत्तिकर विधित बजानी रहती है। भगवान्‌का प्रमाण प्राप्त करके गोपियाँ निरस्तङ्ग, निश्चित हानर करके वाममें लगी हुए थीं। वह गुरुकोंकी सेरा-शुभ्रा—अर्थात् वाममें लगी हुई थी, कोर गो-नोहन

आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृङ्गार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्षस्त्रधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थी अपने-अपने काममें, परन्तु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी फलार्थ चाहती न थी। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया, काम पूरा करके सब, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चतुर्षु उस साधक सम्पत्तिकी समान, निस्वार्थ हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। निस्तीन निस्तीसे पूछा नहीं, सत्यज्ञ नहीं थी, अस्त-म्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियों ब्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है ?

साधनाके दो भेद हैं—१—मर्यादापूर्ण वैध साधना और २—मर्यादारहित अवैध प्रमत्ताधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्तम्भ निम्न हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, स्नातन पद्धतिक, कर्तव्योंका और विविध पात्त्रीय कर्मोंका त्याग साधनासे ब्रह्म करनेवाला और मगान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रमत्ताधनामें इनका पालन कदापि नहीं होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मभक्तिके साधनोंको वह अवैध प्रमत्ताधनाका स्तम्भ जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच जानेपर स्नायविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमत् ही माना जाता है। ये सब साधन वहीतक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ स्वयं स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमग्न मगवान् की ओर झुकने लगी लग जाती हैं। इसीलिये मगवान्ने गीतामें एक जगह तो अर्थनसे कहा है—

न मे पापानि कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन । नानपातमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि इह न कर्तव्यं आतु कर्मण्यसिद्धतः । मम धर्मोऽनुवर्तते मनुष्याः पार्थ सर्वथा ॥
वस्तीदियुग्मे लोक न कुर्वी कर्म चेदहम् । सहस्य च कर्तास्यामुपहृष्यामिमां प्रजाः ॥
सङ्काः कर्मण्यपिदांसो यथा कुर्वन्ति भावः । कुर्वामिहास्तपासकर्मिणोऽपि कुर्वन्मम प्रहम् ॥

(३। ११-१५)

अर्जुन । यद्यपि तीनों लोकमें मुझे कुछ भी करना नहीं है, और न मुझे किसी वस्तुको प्राप्त ही करना है, जो मुझे न प्राप्त हो; तो भी मैं कर्म करता ही हूँ । यदि मैं साधवान् होकर कर्म न करूँ तो अर्जुन । मेरी देख-रेखी भोग कर्मोंको छोड़ बैठे और यों मेरे कर्म न करनेसे ये सारे लोक भ्रष्ट हो जायें तथा मैं इन्हें कर्ण-सङ्कर बनावेकथा और सारी प्रजाका नाश करनेवाला बनूँ । इसलिये मेरे इस आदर्शके अनुसार अनासक्त इन्हीं पुरुषोंकी भी लोकसंग्रहके लिये वैसे ही कर्म करना चाहिये, जैसे कर्ममें आसक्त लज्जानी लोग करते हैं ।

यहाँ भगवान् आदर्श लोकसंग्रही महापुरुषके रूपमें बोधते हैं, लोकनाशक बनकर सर्वसंग्रहणको शिक्षा देते हैं । इसीलिये कर्म अपना उदाहरण देकर लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करना चाहते हैं । ये ही भगवान् उसी गीतामें जहाँ अन्तरङ्गात्मी बात कहते हैं, वहाँ स्पष्ट कहते हैं—

सर्वधर्माणां परित्यज्य मामेक धारणं ब्रह्म ।

(१८। ६५)

‘सारे धर्मोंका त्याग करके तू केवल एक मेरी शरणमें आ जा ।’

यह मान सबक लिये नहीं है । इसीसे भगवान् १८। ६४ में इसे सबसे बड़का द्वितीयां दर्शित गुण बात (सर्वगुणतम) कहकर इसका बाधक ही श्लोकमें कहते हैं—

इह ते मातृपस्काय माभक्ताय कदाचन ।
न चाशुभ्रपणे चाचर्य न च मां योऽभ्यसूयति ॥
(१८ । ३७)

‘मैया धरुन ! इस सर्गगुह्यतम बातको जो इन्द्रिय-विजयी तपस्वी न हो, मेरा भक्त न हो, सुन्य न चढ़ता हो और मुझमें दोष ढ़गता हो, उसे न कहना !’

श्रीगोपीजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श भी । इसीसे उन्होंने देह-मोह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्म-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उत्खनन कर, एकमात्र परमकर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णसे ही पानेके लिये अभिस्रार किया था । उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्वकर्मका त्याग ही उनके सारे अनुरूप स्वधर्म है ।

इस सर्वकर्मत्याग रूप स्वधर्मका आवरण गोपियों-जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है । क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग कही कर सकते हैं, जो इसका पचासविध पूरा पाठन कर चुकनेके बाद इसके परमसब धनस्य और अविनश्य देवदुर्लभ भगवदोक्तके प्राप्त कर चुकते हैं, वे भी जल-भूषकर त्याग नहीं करते । सूर्य प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति जलता ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं । यह त्याग निरस्वररूपक नहीं, वर सुस्मिम्बक है । भगवदोक्तकी ऊँची स्थितिक यही स्वरूप है । वेदार्थि नारदबीक एक सूत्र है—

‘वेदानपि सम्प्रदायि, केवलमविच्छिन्नानुप्रायं कथते ।

‘जो वेदोंका (वेदानुसूक्त समस्त धर्ममार्गदर्शकोंका) भी भूमिभाँति त्याग कर देता है, वह अक्षय्य, असीम भगवदोक्तके प्राप्त करता है ।’

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुकार्य, वह मन्थ, किसी दूसरे धर्मकी ओर तात्पर्य कर और कैसे रुक सकता है ।

रोकनेवालोंने रोक भी, परन्तु द्विगुण्यसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धारमें क्या कोई रोक सकता है ? वे न रुकें, नहीं रोकें जा सकें । जिनके विषयमें कुछ प्राचीन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनविकारके कारण स्तरीय जानेमें समर्थ न हुए । उनका शरीर धरमें पका रह गया, भगवान् के नियोग-दु खसे उनके सारे कण्ठ धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान् के प्रेमनिम्ननसे उनके समस्त सौमनस्य परमसब प्राप्त हो गया और वे भगवान् के पास सतरीय जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान् के पास पहुँच गयीं । भगवान् में मिल गयीं । यह श्रद्धाका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-मुण्यके कारण ही कण्ठ होत्र है और शुभाशुभका भोग होता है । शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-मुण्य दोनों मग्न हो जाते हैं, तब जीवकी मुक्ति हो जाती है । यद्यपि गोपियों पाप-मुण्यसे रहित श्रीभगवान् की प्रेम-प्रतिमास्वरूप भी, तबपि कीचके लिये यह दिखाया गया है कि अपने द्विपक्षम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे, उनके विश्रान्त्यसे उनकी इतना भगवान् स्तुत्या हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पत्र मग्न हो गये । और द्विपक्षम भगवान् के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका पत्र मग्न गया । इस प्रकार पाप-मुण्योंका पूर्णरूपसे अग्राह होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी । चाहे किसी भी भवसे हो—कर्मसे मोक्षसे, धर्मसे—जो भगवान् के मङ्गलमय श्रीविग्रहका स्मिन्तन करता है, उसके मन्मथी अपेक्षा न करके वस्तुव्यतिसे ही उसका कल्याण हो जाता है । यह भगवान् के श्रीविग्रहकी विशेषता है । मायके द्वारा तो एक प्रसारपूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, किन्तु मायके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका स्वयं दान है ।

मगवान् हैं धड़े धीमग्न्य । जहाँ वे अखिष्ठ विषयोंके निजता ज्ञान-रिख आदिके भी कदनीय, निखिष्ठ जीवोंके प्रत्यक्षता हैं, वही वे धीमग्न्यनटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं । उनकी इच्छासे, उनकी प्रेमज्ञानसे, उनकी वशी-निष्पन्नसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं, परन्तु उन्होंने ऐसी भावमयी प्रकट की, ऐसा खौफ बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो । शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात, प्रेमकी बात सुनना चाहते हों । सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिथन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों । बहुत करके तो ऐसा भासता होता है कि कहीं लगे इसे साधारण बात न समझें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सम्मने रख दिया । उन्होंने कहा—पापियो ! जसमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है ? घरवाले डूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये । उनकी शोभा देख ली, अब क्यों और कड़बोका भी ध्यान करो । जसके अनुकूल मोक्षके सुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी सेवा छोड़कर कनमें दर-दर भटकना कियेके लिये अनुचित है । बीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, यह कैसा भी क्यों न हो । यही सनातन धर्म है । इसीके अनुसार तुम्हें चटना चाहिये । मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो । परन्तु प्रेमें शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है । ब्रह्म, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सन्निध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है । बाबो, तुम सनातन सदाचारका पालन करो । शर-उत्तर मनको मल भटकने दो ।

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारी-जातिके लिये है । गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही मगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे । इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानती, उनके पूर्णतया सनातन स्वरूपको भ्रष्टमूर्ति जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं—इस बातका किन्ना सुन्दर परिचय दिया, यह सब विषय मूझमें ही पठ करनेयोग्य है । सचमुच जिनके हृदयमें मगवान् के परमलज्जक वैरा अनुमन ज्ञान और मगवान् के प्रति वैरा महान् अनन्य अनुराग है और सच्चाई सत्य जिनकी बाणीमें वैसा उद्गार है, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं ।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरपर परमात्मके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसर लोग गुरु, स्वामी या मता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, वैसा ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं जो कि शक्तियों मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है । जब प्रेमेके सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकोंको स्वामि-स्वस्वदिके रूपमें मगवान् निश्चिन्ते हैं, तब गोपियोंने क्या अपाव किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और बाल्यस्य सबके-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उत्तम एवं सर्वत्र अन्तिम रूप है—न पूर्ण हो ? मगवान् ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको अर्पण रूपमें प्रकट करके गोपियोंके साथ मीठा की । उनकी मीठाका स्वरूप बतलते हुए कहा गया है—‘प्रेमे रमेता ब्रह्मसुन्दरीर्यपारमक सप्रतिबिम्बविधम्’ । जैसे नन्दा-स्त शिशु दपण अपना जसमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेला है, वैसा ही रमेता मगवान् और ब्रह्मसुन्दरियोंने रमण किया । अर्थात् सच्चिदानन्दधन सर्वव्यापी प्रेम्भक्त-स्वरूप, कीदरसम परमात्म मगवान् श्रीकृष्णान् अपनी हाणिनी-शक्तिरूपा आनन्द-बिम्बपरसप्रतिमाकिता अपनी ही प्रतिवृत्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियोंसे आत्ममीठा की । पूर्णतया सनातन रसस्वरूप रसराज रसिक-शेखर रसरत्नका अखिरसप्ततविप्रह मगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य मीठाका नाम ही रस है । इसमें न कोई जड़ शरीर था, न प्राकृत अन्न-सङ्ग था, और न इसके सम्बन्धका प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं । यह था चिदानन्दमय मगवान् का दिव्य विशार, जो दिव्य कीदरधाममें सदा हाते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है ।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद्र ही भगवान्की छीछमें बाधक हैं । भगवान्की दिव्य छीछमें मन और मद्र भी, जो कि दिव्य हैं, इसीछिये होते हैं कि उनसे छीछमें रसकी और भी पुष्टि हो । भगवान्की इच्छासे ही गोपियोंमें छीछानुरूप मान और मद्रका सञ्चार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये । जिनके हृदयमें वेदमन्त्र भी मद्र अवशेष है, नाममन्त्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्के सम्मुख रहनेमें अक्षिणी नहीं । क्या वे भगवान्का, पास रहनेपर भी, दर्शन नहीं कर सकते । परन्तु गोपियों गोपियों की, उनसे अलगके किसी प्राणीकी स्थितिमन्त्र भी सुझा नहीं है । भगवान्के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको एसमीछकर प्रत्येक पाठक जानता है । गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये । उनके प्रेमोन्मत्तका वह गीत, जो उनके प्रणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी मधुर मत्स्यके भावमन करके भगवान्के छीछलोकेमें पहुँचा देता है । एक बार सरस हृदयसे हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेवालेसे ही यह गमियोंकी मृत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है । गमियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अजैकिक प्रेमोन्मत्त'को देखकर श्रीकृष्ण भी अतर्हीत न रह सके, उनके सामने 'भक्त्यात्मन्यमनस्य' रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने सुकृष्णसे सीकर किम् कि गोपियों, मैं तुम्हारे प्रेममन्त्रका चिर श्रुती हूँ । यदि मैं अन्त कछुअत तुम्हारी सेवा करता रहूँ, तो मैं तुमसे उद्घण नहीं हो सकता । मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तके दुखाना नहीं क, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समुद्र करना था ।' इसके बाद एसमीछा प्रारम्भ हुई ।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका साध्या किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कफ-पृष्ठके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निमाण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृष्ठ-पृष्ठ कार्य कर सकते हैं । इत्यादि देवगण एव । सम्य अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर अनेक यन्त्रोंमें युगल आहुति सीकर कर सकते हैं । निश्चित योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ श्रद्धा करें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? जो श्रेष्ठ भगवान्के भावपर नहीं सीकर करते, वही अनेकों प्रकारकी शङ्का-कुशङ्कार्य करते हैं । भगवान्की निज छीछमें इन तर्कोंका सर्वथा प्रवेश नहीं है ।

गोपियों श्रीकृष्णकी खकीय की या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको सुझाकर ही उत्पन्न जाता है । श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि अमर्त्य वस्तुओंमें उनका हितसेदार दूसरा भी बीच हो । जो कुछ भी था, है और जागे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं । अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णदेवजीन वही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और नगण्यके समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मरूपसे, परमात्मरूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं । कर्म भ्रमसे अज्ञानसे भले ही श्रीकृष्णका पराया समझे वे निश्चिके पराये नहीं हैं, सच्चे अपने हैं, सब उनके हैं । श्रीकृष्णकी इच्छा, जो कि वास्तविक इच्छा है कई परकीया है ही नहीं, सब खकीय हैं, सब केवल अपना ही छीछविशेष हैं, सभी स्वरूपभूता अन्तर्यामि हैं । गमियों इस बातको जानती थी और स्वाम-स्वामपर उन्होंने ऐसा कहा है ।

ऐसी स्थितिमें 'जारभावा' और 'औरपणा' का कई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता । जहाँ कर्म नहीं है, अज्ञ-सज्ञ नहीं है, वहाँ 'औरपणा' और 'जारभावा' की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? गमियों परकीया नहीं थी, खकीय की परन्तु उनमें परकीया-भाव था । परकीया होनेमें और परकीयभाव होनेमें आकाश-प्रतापका अन्तर है । परकीयाभावमें तीन बाने यह मूलतः होती हैं—अपने विषयसमस्त निरन्तर चिन्तन, मित्रकी उत्कट उत्कण्ठ और दास्यविका सत्त्वा अभाव । शक्तिभावमें निरन्तर एक साथ रहनेका कष्टन य तीनों बाने

गौण हो जाती हैं, परन्तु परकीया-भाषमें ये तीनों भाव बने रहते हैं। कुछ गोपियों जाग्रमयमें श्रीकृष्णको चाहती थीं, इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मित्रोंके डिपे उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रपेय व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्व और है—यह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र एवं कन्याओंका पालन-पोषण, रक्षणालेक्षण पतिसे चाहती हैं। यह ममस्ती है कि इनकी देखरेख करना पतिका कर्तव्य है, क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं, और वह पतिसे पूरी आश भी रखती है। किन्तु ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीयमें यह सक्रममात्र छिन्न रहता ही है। परन्तु परकीया अपन प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आश नहीं रखती, वह तो केवल अपनेका देखर ही उसे सुखी करना चाहती है श्रीगोपियोंमें यह भाव भी मधीर्मांसि प्रसुष्टि न था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत-साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उल्लेखरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेक दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं, इसलिये गोपियोंपर परकीयभावका आरोप उनके भावके न समझनेके कारण है। बिसुने जीवनमें साधारण घमकी एक ठन्की-सी प्रकाशरेखा आ जाती है, उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके डिपे आदर्श-स्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियों, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कर्तव्योत्क साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सेवाविवर प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उन्मूलन कैसे कर सकती हैं। और समान धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मोन्मूलनका व्यव्रण कैसे व्यव्रण जा सकता है? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी दुर्बलताओं उनके दिव्य स्वभाव और दिव्यव्यक्तिके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासप्रबन्धाधीपर अत्यन्त अनेकानेक माध्य और टीकमें लिखी जा चुकी है—जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीकृष्णमहाचार्य, श्रीश्रीवरदास्वामी, श्रीजीवगोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासवैयकी महिमा समझायी है। किन्तुने इसे कायपर विषय कतग्रथा है, किन्तुने भगवान्का दिव्य विहार बजाया है और किन्तुने इसका आध्यात्मिक धर्म किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्मकार वृत्ति श्रीराज हैं और क्षेत्र आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका चारप्रताइरूपसे निरन्तर आत्मरस ही रास है। किन्तु भी दृष्टिसे देखें रासवैयकी महिमा अधिकविस्तृत प्रकट होगी है।

परन्तु इससे ऐसा नहीं मालना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण-प्रसङ्ग केवल रूपक या कल्पना मात्र है। यह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मित्र-नियतास्तिरूप शृङ्गारका रसात्मक ही हुआ था। 'मे' इतना ही है कि वह लैविकर की-मुद्राओंका मित्र न था। उसका नायक थे सबिरानन्दविग्रह, परावरतत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरङ्गुल लैविकरिहारी गोपीनाथ भगवान् मन्दनन्दन, और नायिका की स्वयं हृदिनीशक्ति श्रीराजनी और उनकी वयस्परकृपा, उनकी धनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अनन्वय इनकी यह स्मृति अग्रहण थी। सर्वथा मीठी मिथीकी अत्यन्त कबुल इन्द्रायग (रवे)-जैसी कोई आकृति बना ही आय, जो देखनेमें दोन दोन-जैसी ही मज्ज हो परन्तु इससे अत्यन्त क्या वह मिथीका रवे कबुल जोड़ ही हो जाता है? क्या रवेका आकारकी होनेसे ही मिथीके सामाजिक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है? नहीं-नहीं, वह किसी भी आकारमें हो—सर्वत्र सर्वदा और सबथा क्षेत्र मिथी-ही-मिथी है। कल्पि इसमें लीला-व्यक्तिकारी बात बकर है। लीला समस्त है कबुल रवे और होती है वह मधुर मिथी। इसी प्रकार अस्त्रिअसाधुतस्त्रिअ सबि'नन्दविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरात्मा अभिन्नस्वरूपा गोपियोंकी स्वीय भी देखनेमें जैसी ही क्यों न हो। परन्तु वह सबि'नन्दमयी ही है। उसमें सासारिक गे' ब्रमका कबुल खान है ही नहीं। हाँ, यह अत्यन्त है कि इस स्वीयकी नकल किसीको नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। नायिक पराधोंके द्वारा मायातीन भगवान्का अनुसरण कोई

कैसे कर सकता है । कहुए दैकेको चाह जैसी सुन्दर मिर्छाकी आहुति दे दी जाय, उसका कहुआसन कभी भिन्न नहीं सकता । इसलिये जिन मोहप्रसक्त मनुष्यों ने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरङ्ग-श्रीयशोका अनुकरण करने के नापक-नापिकर रासखानन करना चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा । श्रीकृष्णकी इन श्रियशोका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं । इसलिये शुक्लदेवीजीने रासखान्यपीके अन्तमें सुक्ते साधनान परते हुए कहा किया है कि भगवान्क उपदेश तो सत्य मानने चाहिये, परन्तु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण नहीं करना चाहिये ।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको केवल मनुष्य मानते हैं और कबल मानवीय मात्र एवं आदर्शकी कसौटीपर उनके चरित्रको घमना चाहते हैं वे पहले ही शत्रुसे विमुख हो जाते हैं, उनके चित्तमें घमना की धारणा ही नहीं रहती और वे भगवान्को भी अपना मुद्रिके पीछे बचना चाहते हैं । इसलिये साधकों के समने उनकी उक्ति-युक्तियोंकी कोई मूल्य ही नहीं रहता । जो शत्रुके 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इस वचनको नहीं मानता, वह उनकी श्रियशोकाके जिस आकारपर सत्य मानकर उनकी आलोचना करता है—यह समझने नहीं आता । जैसे मन्त्रकर्म, देवकर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त भी पृथक् होना है और भगवान्के चरित्रका परीक्षण उसकी ही कसौटीपर होना चाहिये । भगवान्का एकमात्र धर्म है—प्रेम-परब्रह्म, दयापरवशता और भक्तोंकी अभिप्रायकी पूर्ति । यशोदाके हाथोंसे ऊखअमें बँध जानेवाले श्रीकृष्ण अपने निजजन गदियोंके प्रेमके कारण उनके साथ नाचें यह उनका सख्त धर्म है ।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये, तो इसमें भी कोई आपत्तिक बात नहीं है । श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस कर्मके अग्रगण्य थी, जैसा कि मागवनमें स्पष्ट वर्णन मिलता है । गौर्वाणों रहनेवाले बहुत-से दस कर्मके बच्चे तो नगे ही रहते हैं । उन्हें काम-वृत्ति और बी-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता । लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, गुबुरी-गुबुरकी इग्ली करते हैं, बारात में जाते हैं और आपसमें मोह-भात भी करते हैं । गौर्वाणों के बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरञ्जन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता । ऐसे बच्चोंके युक्ती जियोँ भी बड़े प्रेमसे रखती हैं, आदर करती हैं, नहलती हैं, छिछती हैं । यह तो साधारण बच्चोंकी बात है । श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण श्रियशोकासम्पन्न बालक जिनके अन्तर मनुष्य वाच्यकारणों की प्रकट हो चुके थे जिनकी सम्पत्ति, चातुर्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे ब्रह्मास्तियोंने जगण पाया था, उनके प्रति बच्चोंकी जियोँ, नाच्छिकाओं और बाबूजोंका कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती । उनके सौन्दर्य, मधुर और देखते आहूँ होकर गौर्वाणों का अक-आच्छिर्ष्य उनके साथ ही रहती थी और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, लाल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरञ्जन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे । ऐसे ही मनोरञ्जनमेंसे रासखान्य भी एक थी, ऐसी सम्पत्ति चाहिये । जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह योगकी बात नहीं होनी चाहिये । वे उदारता और मुसिम्पनीके साथ मागवतमें आये हुए काम-रति आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है । वास्तवमें गोविन्दोंके निष्कार प्रेमका ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्णका आचरणका अपना उनकी दिव्य प्रीति ही रति है । इसलिये स्थान-स्थानपर उनके त्रिये विभु परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, वरम राम, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं—जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय ।

जब गदियों श्रीकृष्णकी वशीलानि सुनकर वनमें जान लगी थीं, तब उनके सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें जानेसे रोक था । रतमें अपनी नाच्छिकाओंको भय, कौन बाहर जाने देता । फिर भी वे बड़ी गम्भीर और इससे घर

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

सुदर्शन और वाङ्मयचक्रा उद्धार

श्रीनृक उवाच

पशुदा देवयायायां गोपाला ज्ञातकौतुका ।

अनोभिरनङ्गुक्तैः प्रयपुस्तेऽम्बिकावनम् ॥ १ ॥

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विशुम् ।

आनर्च्युर्हर्गर्मकस्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहने हैं—परीक्षित ! एक बार

नन्दबाबा आदि गोपोंने शिवरात्रिके अवसरपर वही उत्सुकता, कौतूहल और आनन्दसे भ्रमर वैनेसे सुती हुई गङ्गिणीपर सफर होकर अश्विक्वम्बनकी यात्रा की ॥ १ ॥ राबन् ! वहाँ उन धर्मोंने सरस्वती नदीमें स्नान किया और सर्वान्तर्गामी पशुपति महाशक्तिशालीका तथा भगवती अश्विक्वम्बीका वही भक्तिसे अनेक प्रकारकी सामर्थ्योंके द्वारा पूजन किया ॥ २ ॥

१ वाङ्मयचक्राच ।

वाङ्मयके विस्ती प्रकाशकी अवसरना नहीं हुई । और न तो उन्होंने श्रीकृष्णपर या गङ्गिणीपर विस्ती प्रकाशका सम्पन्न ही किया । उनका श्रीकृष्णपर, गङ्गिणीपर विश्वास था और वे उनके कथन और खेवोंसे परिचित थे । उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियों हमारे पास ही हैं । इससे दो प्रकारसे सम्पन्न स्वते हैं । एक तो यह कि श्रीकृष्णके प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्णके पास गोपियोंका रहना भी अपने ही पास रहना है । यह तो मानवीय दृष्टि है । दूसरी दृष्टि यह कि श्रीकृष्णकी योगमयाने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी, गोपोंके वे घरमें ही दीखी थीं । किसी भी दृष्टिसे रासप्रीला दूजिम प्रसङ्ग नहीं है, बल्कि अविकारी पुरुषके लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमन्त्रके नष्ट करनेवाला है । रासप्रीलाके अन्तमें कहा गया है कि जो पुरुष यदा-यदिपूर्वक रास-लीलाका भ्रमण और वर्णन करता है, उसके हृदयपर रोग काय बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भावनात्मक प्रेम प्राप्त होता है । भगवत्तमें अनेक स्थानपर ऐसा वर्णन आता है कि जो भगवान्की मायाका वर्णन करता है, वह मयासे पार हो जाता है । जो भगवान्के कामनयका वर्णन करता है, वह कामर विजय प्राप्त करता है । राजा परीक्षितने अपने प्रश्नोंमें जो शङ्कर की हैं, उनका उत्तर प्रभोंके अनुरूप ही अग्न्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अग्न्याय ३१ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है ।

उस उत्तरसे वे वाङ्मय तो हट गयी हैं, परन्तु भगवान्की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं सुझने पाया सम्पन्न उस रहस्यके गुप्त रहनेके लिये ही ३३ में अग्न्यायमें रासलीलाप्रसङ्ग समाप्त कर दिया गया । बस्तुतः इस वीरके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगतमें व्याख्या की भी नहीं जा सकती । क्योंकि यह इस जगत्की प्रीति ही नहीं है । यह तो उस दिव्य आनन्दमय समय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिसके भ्रमण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं । कुछ लोग इस लीलाप्रसङ्गका भागवत्तमें केवल मानते हैं, वे वाङ्मयमें दुराग्रह करते हैं । क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रसिद्धिमें भी यह प्रसङ्ग मिथ्या है और बरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है । भगवान् श्रीकृष्ण क्या करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमारे हृदय इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों ।

भगवान्के इस दिव्य-लीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अद्वैतक प्रसङ्ग, जो कि श्रीकृष्णकी ही सुख पहुँचाने लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्के समय दिव्यप्रीलाके लिये भगवान् के अनन्त प्रसङ्ग अनुभव करे । हमें रासलीलाका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शङ्का न करके इस मायाके अग्रावे रहना चाहिये । —इनुमानप्रसाद पोद्दार

गात्रो हिरण्यं वासांमि मधु मच्चक्षमादृताः ।
 ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो न प्रीयतामिति ॥ ३ ॥
 ऊषुः सरस्वतीतीरे भ्रलं प्राप्य भूतमृताः ।
 रजनीं तां महाभागा नन्दमुनन्दकादयः ॥ ४ ॥
 कश्चि महानद्विस्तस्मिन् विपिनेऽपि भुसुश्रित ।
 यदृच्छयाऽऽगतो नन्दं क्षयानमुरगोऽग्रसीत् ॥ ५ ॥
 स जुकोद्वाहिना प्रसूतं कृष्णं कृष्णं महानयम् ।
 सर्पो मां प्रसवे ताव प्रपन्नं परिमोचय ॥ ६ ॥
 तस्व चाक्रन्दितं भुत्वा गापत्ताः सहसोत्थिताः ।
 प्रसूतं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विभ्यषुर्नृमुकैः ॥ ७ ॥
 बलात्तैर्दक्षमानोऽपि नामुञ्चन्मुरङ्गमः ।
 तमस्पृशत् पदाम्बेस्य भगवान् सात्वतां पतिः ॥ ८ ॥
 स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्श इतामृभः ।
 भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याभराक्षितम् ॥ ९ ॥
 तमपृच्छवृष्टपीक्षः प्रणतं समुपस्थितम् ।
 दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥ १० ॥
 का भवान् परया लक्ष्म्या राषतेऽमृतदर्शनः ।
 कथं शुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवयः ॥ ११ ॥
 सर्व उवाच
 भद्रं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति धृतः ।

यहाँ उन्होंने आनरपूर्वक गौर, सेना, वस्त्र, मधु और मधुर
 अन्न आशाओंको दिये तथा उनको स्त्रिया-स्त्रिया ।
 वे केवल यही चाहते थे कि इससे देवाधिपति भगवान्
 शाहूँ हमपर प्रसन्न हों ॥ ३ ॥ उस दिन परम
 भाग्यवान् नन्द-मुनन्द आदि गोपोंने उपवास कर
 रख्खा था, इसलिये वे लोग केवल बल पीकर रातके
 समय सरस्वती नदीके नटगर ही केन्द्रके सो गये ॥ ४ ॥

उस अन्धकारमें एक बड़ा मारी अजगर रहता था ।
 उस दिन वह भूख भी बहुत था । दैवता वह उसके
 ही आ निकल और उसने सोये हुए नन्दजीको पकड़
 लिया ॥ ५ ॥ अजगरके पकड़ लेनेपर नन्दराफजी चिल्लाने
 लगे—प्येरा कृष्ण । कृष्ण । दीनो, दीनो । देखो क्या ।
 यह अजगर मुझे निगल रहा है । मैं तुम्हारी वरगमें
 हूँ । बन्दी मुझे इस सङ्कटसे बचाओ ॥ ६ ॥ नन्दबब-
 का चिल्लाना सुनकर सबके-सब गोप एकएक उठ खड़े
 हुए और उन्हें अजगरके मुँहमें देखकर घबड़ा गये ।
 अब वे लुकाटियों (अफकी छत्रियों) से उस
 अजगरको मारने लगे ॥ ७ ॥ किन्तु लुकाटियोंसे मारे
 जाने और जलनेपर भी अजगरने नन्दबबको छोड़ा
 नहीं । इतनेमें ही मच्छरसङ्घ भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ
 पहुँचकर अपने चरणोंसे उस अजगरको छू दिया ॥ ८ ॥
 भगवान्के श्रीचरणोंका स्पर्श होते ही अजगरके सारे
 अणुम भस्म हो गये और वह उसी क्षण अजगरका
 शरीर छोड़कर विद्याभराक्षित सर्वाङ्गसुन्दर रूपवान् बन
 गया ॥ ९ ॥ उस पुरुषके शरीरसे दिव्य ज्योति निकल
 रही थी । वह सोनेके हार पहने हुए था । जब वह
 प्रणाम करनेके बाद हाथ जोड़कर भगवान्के सामने
 खड़ा हो गया, तब उन्होंने उससे पूछा— ॥ १० ॥ भूम
 कौन हो ? तुम्हारे अङ्ग-अङ्गसे सुन्दरता फूटी पकड़ी है ।
 तुम देखनेमें बड़े अद्भुत जान पड़ते हो । तुम्हें यह
 अप्रत निन्दनीय अजगर-ज्योति क्यों प्राप्त हुई थी ?
 अक्षय ही तुम्हें निराश होकर इसमें आना पड़ा
 होगा ॥ ११ ॥

अजगरका शरीरसे निकला हुआ पुरुष बोला—
 भगवान् । मैं पहले एक विद्याधर था । मेरा नाम था

प्रिया स्वरूपसम्बन्धया विमानेनाचरं दिष्टः ॥१२॥

अपीन् विरूपानङ्गिरमः प्राहसं रूपदर्पितः ।

तैरिमां प्रापिता योनिं प्रलम्बैः स्वेन पाप्मना ॥१३॥

छापो मेऽनुप्रदायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ।

यदहं लोकरुणा पदा स्पृष्टो दृष्टाश्रुतः ॥१४॥

तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम् ।

आपृच्छे छापनिर्मुक्तः पादस्पर्शार्थमीवहन् ॥१५॥

प्रपन्नोऽस्मि महापाणिन् महापुरुष सत्पते ।

अनुमानाहि मां देव सर्वलोकेष्वरेष्वर ॥१६॥

प्रसदम्बाय विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ।

यशाम् गृह्णन्नलिलान् धोतुनात्मानमेव च ।

सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्ट पदाहि ते ॥१७॥

इत्थनुष्णाय दासाहं परिक्रम्याभिवन्द्य च ।

सुदर्शनो दिव पातः कृष्णभन्दश्च मोचितः ॥१८॥

निशाम्य कृष्णस्य तद्वरमर्चय

ब्रजोक्तो त्रिसितयेतसस्ततः ।

समाप्य तस्मिन् नियम पुनर्ब्रज

नुपायमुत्तत्र कथयन्त आहता ॥१९॥

कदाचिदय गोविन्द। रामभादृतविक्रम ।

सुदर्शन । मेरे पात सौन्दर्य तो था ही, छत्ती भी बहुत थी । इससे मैं विपन्नतर चढ़कर यहाँ-से-यहाँ घूमना रहता था ॥१२॥ एक दिन मैंने अङ्गिरा गोत्रके कुन्त्य श्रियोंने-को देखा । अपने सौन्दर्यके वषट्ठसे मैंने उनकी हँसी उठायी । मेरे इस अपराधसे कुपित होकर उन ध्येयोंने मुझे अचानक-योनिमें जानेकर शाप दे दिया । यह मेरे पापोंका ही फल था ॥ १३ ॥ उन हताश श्रियोंने अनुष्णके लिये ही मुझे शाप दिया था । क्योंकि यह उसीका प्रभाव है कि आब चरणरके गुरु स्वयं आपने अपने चरणकमलोंसे मेरा सदा निरत है, इससे मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये ॥ १४ ॥ समस्त पापोंका नाश करनेवाले प्रभो ! जो लोग जन्म-मृत्युरूप संसारसे भ्रममग्न होकर आपके चरणोंकी धरण प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें आप समस्त मयोंसे मुक्त कर दते हैं । जब मैं आपके श्रीचरणोंके स्पर्शसे शापसे छूट गया हूँ और अपने ध्येयमें जानेकी अनु-मति चाहता हूँ ॥ १५ ॥ गच्छतस्तु । महायोगेश्वर पुरुषोत्तम । मैं आपकी धरणमें हूँ । इन्द्रादि समस्त ध्येयोंके परमेश्वर । स्वयंभवशः परमस्मन् । मुझे आज्ञा दीजिये ॥ १६ ॥ अपने स्वरूपमें निरन्तर एतत्स रहनेवाले अच्युत । आपके दर्शनमात्रसे मैं ब्रह्मणोंके शापसे मुक्त हो गया, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि जो पुरुष आपके नामोंका उच्चारण करता है, वह अपने-आपको और समस्त श्रोताओंको भी तुरन्त पवित्र कर देता है । फिर मुझे तो आपने स्वयं अपने चरणकमलोंसे स्पर्श किया है । तब भद्र, मेरी मुक्तिमें क्या सन्देह हो सकता है ? ॥ १७ ॥ इस प्रकार सुदर्शनने भगवान् श्री-कृष्णसे किनगी की, परिग्रह की और प्रणाम किया । फिर उनसे आज्ञा देकर वह अपने ध्येयमें चला गया और मन्दबोध्य इस भाँती सङ्कटसे छूट गये ॥ १८ ॥ रावन् । जब ब्रजवासियोंने भगवान् श्रीकृष्णका यह अद्भुत प्रभाव देखा, तब उन्हें बड़ा विस्मय हुआ । उन ध्येयोंने उस क्षेत्रमें जो नियम से रखते थे, उनका पूर्ण चरके से चढ़े आदर और प्रेम्से श्रीकृष्णकी उस धीयका गान करते हुए पुनः ब्रजमें छीर आये ॥ १९ ॥

एक दिनकी बात है, अनैतिक धर्म करनेवाले

त्रिजहत्सुर्वने रात्र्या मन्थयौ ब्रजयोपिताम् ॥२०॥

उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।

खलुवावुल्लिखन्तौ सखिणौ विरजोऽम्बरौ ॥२१॥

निशामुत मानयन्तावुदितोदपतारकम् ।

मरिलकागन्धमचालि जुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥

जगतुः सवभूतानां मनःभ्रवणमकूलम् ।

सौ कल्पयन्तौ युगपद् स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३॥

गायन्तहीतमाकर्ष्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप ।

सस्रंदुल्लसमान सस्तकशस्रजं ततः ॥२४॥

एवं विक्रीडताः स्वरगायतोः सम्प्रमचवत् ।

सद्वपुड इति स्याता धनदानुपराऽम्पगात् ॥२५॥

तथानिरीयता राज्ञस्तथायं प्रमदावनम् ।

क्रान्तं क्षानयामास दिग्बुदीप्यामशङ्कित ॥२६॥

क्रान्तं कृष्ण रामनि तिलाक्ष्य स्वपरिग्रहम् ।

यथा गा दम्पुना प्रप्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥२७॥

मा मैत्र्यभयतासौ धामदमौ तरङ्गिनौ ।

मगलन् श्रीकृष्ण और खलुवाजी रात्रिके समय बने
गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे ॥ २० ॥ मगलन्
श्रीकृष्ण निर्मल पीताम्बर और खलुवाजी नीलाम्बर धारण
किये हुए थे । दोनोंके गल्लमें कल्लोंके सुन्दर-सुन्दर
हार लटक रहे थे तथा शरीरमें अङ्गराग, सुगन्धिन
चन्दन लगा हुआ था और सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहने
हुए थे । गोपियों बड़े प्रेम और आनन्दसे ललित खरमें
उन्हींके गुणोंका गान कर रही थीं ॥ २१ ॥ अभी-अभी
सायंकाल हुआ था । आकाशमें तारे उग आये थे और
चौदनी टिपक रही थी । बेजके सुन्दर गन्धसे मत्तल्ले
होकर भीरे इधर-उधर गुनगुना रहे थे तब अचानकमें
स्थिरी हुई कुमुदिनीकी सुगन्ध लेकर वायु मन्द-मन्द चल
रही थी । उस समय उनका सम्मान करते हुए मगलन्
श्रीकृष्ण और खलुवाजीने एक ही साथ निम्बर
राग बजाया । उनका राग आरोह-अवरोह
स्वरोंके चक्र-उतारसे बहुत ही सुन्दर लग रहा था ।
यह जगत्के सम्मान प्राणियोंके मन और धर्मोंके आनन्द
से भर देनेवाला ॥ २२-२३ ॥ उनका यह गान सुनकर
गोपियों मादित हो गयीं । परीक्षित ! उन्हें जान शरीर
की भी सुख नहीं रही कि वे उससे निम्नते हुए
क्यों और चानियोंसे मिलते हुए पुण्योक्त सन्धान
सकें ॥ २४ ॥

जिस समय कृष्ण और इसम दोनों महइ इस प्रकार
मगलन् गीत कर रहे थे और उमरवरी मीन ग रहे
थ, उसी समय कहीं दण्डवद नामका एक यज्ञ आया ।
बद पुकेषा अनुसर था ॥ २५ ॥ परीक्षित ! दोनों
माथोंके दाढ़ी-जाले का उन गायियोंके केश कच्छक
उत्तराई आर भग वग । जिनके पसपत्र स्वमी
भगवा श्रीकृष्ण ही हैं, वे गायियों उग समय तानावर
पिछान लगी ॥ २६ ॥ दोनों माथोंके दाढ़ी कि जैसे
काह गार गजेंस एतल जाय, धने ही का वध इयरी
प्रपमियोंके गिय जा गदाई आर व का वृष्ण । हा राम !
पुनराव ग-रही है । उरी समय तानो भाई उगरी
आर गीद व ॥ २७ ॥ मगलन् राम मन राम प्रसाद
अनन्तनी वरत हुए ताने सन्तान का उग वद

प्रासेदतुस्त तरमा त्वरितं गुणकाधमम् ॥२८॥

स वीर्यं साधनुप्राप्तौ कान्मृत्यु इवोद्विजन् ।

विसृज्य स्त्रीमन मूढं प्राद्रवस्त्रीवितेच्छया ॥२९॥

तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ।

विहीर्षुस्तच्छिरास्त्वं तस्यौ रघुन् स्त्रियो वनः ॥३०॥

अबिदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मन ।

सहारा मृष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विसृज्य ॥३१॥

शङ्खचूर्णं निहन्त्यैवं मणिमादाय भास्वरम् ।

अप्रयायाददान् प्रीत्या पश्यन्तीनां च यापिताम् ॥३२॥

येमसेक्षणमस्मै ही उस नीच यक्षके पास पहुँच गये ॥२८॥

यक्षने देख कि काठ और मृत्तुके समान ये दोनों भार्य

मेरे पास आ पहुँचे । तब वह मूढ़ बबका गया । उसने

गोपियोंको तो वहीं छोड़ दिया, स्वयं प्राग धावनेके लिये

गाया ॥२९॥ तब स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिये कञ्जम-

नी तो वहीं खड़े रह गये, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ-

जहाँ वह मगल्लर गये, उसके पीछे-पीछे दौड़ते गये ।

वे चाहते थे कि उसके स्तिरकी चूडामणि निकाल लें ॥३०॥

कुछ ही दूर जानेपर भगवान्ने उसे पकड़ लिया और

उस दुष्टके स्तिरपर कस्कर एक घूसा जमाया और

चूडामणिके साथ उसका स्तिर भी धक्के अट्टा कर

लिया ॥३१॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण शङ्खचूर्णको

मारकर और वह चमकीली मणि लेकर छोट आये तब

सब गोपियोंके सामने ही उन्होंने वह प्रेम्से वह मणि बड़

भार्य कञ्जमनीको दे दी ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराणे पारमहंस्या संज्ञितायां दशमस्कन्धे

पूर्वर्णिं शङ्खचूर्णको नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

युगबर्णीत

श्रीकृष्ण उवाच

गोप्यः कृष्ण वन पाते तमनुमुतथेतयः ।

कृष्णहीला प्रगापन्त्या निःशुद्धं खेनवासराज् ॥१॥

गोप्य उचुः

यामसाहुकृतवामकराजो वरिणतभूरधरापितवेणुम् ।

क्षमनाह्नुनिभिगाथतमाग गोप्य इत्यनि यत्र मुकुन्द

श्रीकृष्णरेयसी कहते हैं—परिमित । भगवान् श्री-

कृष्णके गौओंको बसानेके लिये प्रतिदिन कनमें चढ़ जाने-

पर उनके साथ गोपियोंका चित भी चढ़ जाता था । उनका

मन श्रीकृष्णका चिन्तन करना रहना और वे कर्णसे

उनकी छिद्यञ्जलि गूँन करती रहतीं । इस प्रकार वे

बड़ी कष्टनासि अना दिन बितातीं ॥ १ ॥

गोपियों कापसमें कहतीं—अरी सखी ! अपने प्रमी

जनोंके प्रेम वितरण करनेके लिये और हृदय करनेवालेनस्ते

भोक्ता द देनेवाले श्यामसुन्दर नन्दात्म जव अरन काये

कपाकरो यावीं बौद्धि आर लय्य दते हैं और अपनी

बौद्धि नचाते हुए बौद्धिमान अजोमे लगते हैं तथा अपनी

मुमुक्षु अंगुष्ठियोंका उमक छेदपर निरत हुए मधुर

तान छेदते हैं उम समय मिदराक्षियों काकरामें अपने

श्रीमयानवनिता सह सिद्धै

विमितास्तुपधार्थं सलक्षाः ।

काममार्गणसमर्पितचिन्ताः

कश्मल ययुरपस्मृतनीभ्यः ॥ ३ ॥

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेद

हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।

नन्दसुरयमार्तजनानां

नर्मदा यहि कृषितवेणुः ॥ ४ ॥

वृन्दस्रो व्रजवृषा मृगगावो

वेणुबाणहतचेतस आरात् ।

दन्तदण्डकबला घृतकर्णा

निद्रिता लिखितचित्रमिषासन् ॥ ५ ॥

बहिर्भस्तपक्कातुपलादै

पद्ममल्लपरिषर्हविदम्बः ।

कहिचिन् सफल आति ॥ गार्प

गाः समाहवति यत्र सुसुन्द ॥ ६ ॥

पनि सिद्धगोके सद्य विगानोंपर चढ़कर आ जाती हैं और उस तानको सुनकर अल्पत ही चकित तथा विस्मित हो जाती हैं । पहले तो उन्हें अपने पक्षियोंके सम रहनेपर भी चित्तकी यह दशा देखकर कृष्ण मन्त्रम होती है, परन्तु छगमरमें ही उनका चित काममाणसे विभ जाय है, वे त्रिश और अचेत हो जाती हैं । उन्हें इस बातकी भी सुधि नहीं रहती कि उनकी नीची झुक गयी है और उनके कण खिस्तक गये हैं ॥ २ ६ ॥

अरी ग्रेपियो ! तुम यह आश्चर्यकी बात सुना । ये नन्दनन्दन कितने सुन्दर हैं । जब वे हँसते हैं तब हास्यरेखाएँ हारका रूप धारण कर लेती हैं, सुख मोनी-सी कमरने लगती हैं । अरी वीर ! उनके वस्त्र स्थावर जड़ होते हुए हारमें हास्यकी किरणें बनकर लगती हैं । उनके वस्त्र स्थावर जो श्रीकृष्णकी सुनहली रेखा है, वह तो ऐसी जान पड़ती है, मानो श्याम मेघपर बिजली ही स्मिररूपसे बैठ गयी है । वे जब दुखीजनोको सुख देनेके लिये, विरहियोंके मृतक शरीरमें प्राणोंका सञ्चार करनेके लिये बौसुरी बजाते हैं, तब उनके मुँह के मुँह जैठ, गोंपे और हरिन उनके पास ही दौड़ आते हैं । केवल आते ही नहीं, सखी । दोनोंसे चबाय हुआ घासका प्रसन्न उनके मुँहमें श्लो-श्लो-श्लो पड़ा रह जाता है, वे उसे न निगल पाते और न तो उगल ही पाते हैं । दोनों कान लड़े करके इस प्रकार स्विमाकसे हाड़ हो आते हैं, मानो सो गोपे हैं या केवल मीनपर त्रिले हुए चित्र हैं । उनकी ऐसी दशा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह बौसुरीकी तान उनके चित्तको पुरा लेती है ॥ ४ ५ ॥

हे सखि ! जब वे नन्दक व्याकुले छाट अपने सिर पर मागपच्छा मुकुट बाँध लेते हैं, पुँघरादी अवक्रमे करके गुच्छे गोस लेते हैं, रंगीन धातुओंसे अन्ना अन्न-लज्ज रंग लट्ट हैं और मयेनये पल्लवोंसे ऐसा बेर सजा लेते हैं, जैसे कोई बहुत बड़ा फलवान हो और फिर बगमजी तथा गान्ध्यायें सद्य बौसुरीमें गौजोंका नाम लम्पक उन्हें पुनरने हैं उम समय प्यारी सखियों । मन्थिओंकी गति भी रुक जाती है । वे मानती हैं कि बापु उकाय हमारे प्रियतमके परमोंकी पृथि हमारे

तर्हि भगवतः सरितो वै

तत्पदाम्बुजराजोऽनिलनीतम् ।

स्पृहयतीर्वयमिवावदुपुण्याः

प्रमवेपितमुजा स्तिमिताः ॥ ७ ॥

अनुचरैः समनुचरिणदीर्घ

आदिपूरुष इवावसभूतिः ।

वनचरो गिरितटेषु चरन्ती

वैष्णुनाऽऽह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८ ॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं

व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।

प्रपन्नभारविटपा मधुधाराः

प्रमद्वदन्तवः ससृजुः स ॥ ९ ॥

दर्शनीयतिलको वनमाला

दिव्यगन्धतुलसीमधुमैः ।

भलिङ्गललघुगीतमभीष्ट

मात्रियन् यर्हि सन्धितवणु ॥ १० ॥

मरमि सारसहंमविद्वद्वा

आरुगाठद्वयैतस एत्य ।

पास पहुँचा दे और उसे पाकर हम निहाल हो जायें, परन्तु सखिया ! वे भी हमारे ही—जैसी मन्दमामिनी हैं । जैसे नन्दनन्दन श्रीकृष्णका आलिङ्गन करते समय हमारी मुगारों काँप जाती हैं और जबतारूप सञ्चारीभक्तका उदय हाँ जानेसे हम अपने हाथोंको हिल भी नहीं पातीं, वैसे ही वे भी प्रभुके कारण काँपने लगती हैं । दाँ चार बार अपनी तरङ्गरूप मुजाओंका काँपते-काँपते उठती तो अवश्य हैं, परन्तु फिर विवश होकर स्मिर हो जाती हैं, प्रभावेशसे स्तम्भित हो जाती हैं ॥ ६-७ ॥

अरी वीर ! जैसे देवता श्रेण अनन्त और अचिन्त्य ऐश्वर्यके स्वामी भगवान् नारायणकी शक्तियोंका गान करते हैं, वैसे ही म्हालयाज अनन्तसुन्दर नन्मग्न श्रीकृष्णकी श्रेष्ठशक्तिको गान करते रहते हैं । वे अचिन्त्य-ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीकृष्ण जब वृन्दावनमें विहार करते रहते हैं और बौंसुरी बजाकर गिरिराज गवर्वनकी तराईमें चरती हुई गौओंको नाम ले-लेकर पुकारते हैं, उस समय कनके वृक्ष और क्षारों फूल और फलोंसे छूट जाती हैं, उनके भारसे बालियाँ हुफफ़त घसीटने लगती हैं, मना प्रणाम कर रही हों, वे वृक्ष भार छुटाएँ अपन भीतर भगवान् विष्णुकी अभिव्यक्ति सूचित करती हुई-सी प्रससे फूल उठती हैं, उनका रोम-रोम स्थिर जाता है और सब-की-सब मधुचरारों के चूने लगती हैं ॥ ८-९ ॥

अरी स्त्री ! जितनी भी वस्तुएँ मनुष्यमें या उसके बाहर दृग्नेयेय्य हैं, उनमें सबसे सुन्दर, स्वप्ने मधुर, सवक सिरमणि हैं—य हमारे मनमाहन । उनका सौन्दर्य छद्मद्वय केमधुर और पितनी पकरी है—कस, देखनी ही आभा । कसमें पुनोत्सव लयती हुई कन मात्र, उसमें गिरीष्ये हुए तृप्तिरसि गिष्य गन्ध और मधुर मधुसे मन्त्राये होकर मुँह-के-मुँह मीरि बड़ मनाहर एवं उच्च स्तरसे गुंजार करते रहते हैं । हमारे नटनामक द्याम्सुन्दर भैरवी उस गुनगुनाइतवा आनर करते हैं और उन्हीके लयमें मर मियर अस्ती बौंसुरी कैंपत लगत हैं । उम मय सनि ' उम मुनिजनमाहन संन्यसके सुनर मरात्रमें गन्धेवाय सारस-हंस अनि पक्षियोंका भी मिल उनका हाथमें निबड जाता है, छिन्न

हरिमुपासत से भवचिन्ता

इन्त मीलितदृष्टो धृतमौनाः ॥११॥

सहस्रलः स्रगवतसविलासः

सानुपु क्षितिमृतो ब्रह्मदम्भ्यः ।

हर्षमन् बहिं वेणुरवेण

जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥

महदतिकमणसङ्कितचेता

मन्दमन्दमनुगर्भवति मेघः

सुहृदमभ्यवर्षत सुमनामि

गृहायया च विदधत् प्रथमम् ॥१३॥

विविधगापचरणपु विदग्धा

वेणुवाद्य उन्मथा निजश्लिषाः ।

तत्र मुन मनि यदाभरभिम्व

दत्तवधुरनमन् म्वरजातीः ॥१४॥

मवनसम्पदपथाय मुरगाः

अमन्दर्पपरमहिपुरागा

जाता है । ये विवश होकर प्यारे श्यामसुन्दरके पास बैठते हैं तथा बौंसें मूँद, चुपचाप, चित्त एकत्र करके उनकी आराधना करने लगते हैं—मानो कोई विद्वान्-वृत्तिक गसिक पगलूस ही हों, मन्त्र कहो तो यह वित्तन आश्चर्यकी बात है ॥ १० ११ ॥

अरी ब्रह्मदेवियो ! हमारे श्यामसुन्दर जब पुणोंक बुझल बनाकर अपने कानोंमें धारण कर लेते हैं और कञ्जामजीक स्रव गिरिराजक शिखरोंपर सह हाकर सारे जगत्को हर्षित करते हुए बौंसुरी बजाने लगते हैं—बौंसुरी क्या बजाते हैं, आनन्दमें भरकर उसकी ध्वनिके द्वारा सारे विश्वको आलङ्घन करने लगते हैं—उस समय श्याम मेघ बौंसुरीकी तानके साथ मन्द-मन्द गरजन से छाता है । उसके चित्तमें इस बातकी शङ्का बनी रहती है कि कहीं मैं जोरसे गर्जना कर उठूँ और वह कहीं बौंसुरीकी तानके विपरीत पड़ जाय, उसमें बेसुरापन लगे जाय, तो मुझसे महारमा श्रीकृष्णका अरगण हो जायगा । सखी ! यह इतना ही नहीं करता वह जब देखता है कि हमारे सखे धनस्यामकी धाम क्या रहा है तब वह उनका ऊपर आकर छाया कर लेता है, उनका छत्र बन जाता है । अरी बंध ! यह तो प्रसन्न होकर बड़े प्रमत्त उनका ऊपर आना प्यवन ही निद्वय कर रहा है—मन्त्री-मन्त्री पुष्टियोंके रूपमें एत बरतन लगता है, माना दिव्य पुणोंकी बर्षा कर रहा हो । कभी कभी कालोंकी ओटमें शिखर गन्तारोग भी पुणवर्षा कर जाता करते हैं ॥ १२ १३ ॥

मन्त्रीशिरोमणि यशोमती ! तुम्हारा सुन्दर कुँक । गन्तारोंक साथ गन्त मन्त्रोंमें बड़े निपुण है । गन्तारी । तुम्हारे लक्ष्मि गन्त स्रवक प्यार मो है ही, चतुर भी बहुत है । तथा, उन्होंने बौंसुरी बजाना विनीसे सीखा नहीं । अपन ही अनकों प्रकाशकी गन्त-गमिनीयों उन्होंने निकाल ली । जब व अपन पिन्नामन्त्र सदा लखलख अर्धोंपर बौंसुरी गउरत करण, निपाद भागि मन्त्रोंकी अनक जानियों बजान लगते हैं, उस समय बौंसुरी पम मन्त्रिनी आर नयी तान सुनकर दया, दाहुर आर इन्त आनि बड़े-बड़े दया भी—जा स्रवत है—उसे नहीं पन्धन । पात । व इतन मोहित हो जात है कि उनका चित्त

कन्य जानतश्चरषिता

कमलं ययुरनिमित्ततत्त्वा ॥१५॥

निघपदाब्जदलैर्ध्रुवध्वज-

नीरवाङ्मुखविषिप्रललामैः ।

वज्रध्रुवः क्षमयन् स्तुरधार्द

वर्मधुर्यगतिरीरितवेषुः ॥१६॥

प्रनति तेन बर्ष सविताम

वीक्षणार्पितमनोभववेगा ।

हृज्जगति गमिता न विदामः

कमलेन कमरं वसनं वा ॥१७॥

मणिधरः कचिदागजयन् गा

मालवा दयितगन्धतुलस्या ।

प्रणयिनोऽनुचरस्य कदासे

प्रधिपन् सुबभगायत यत्र ॥१८॥

कणितवेषुरवधितविद्याः

कृष्णमन्त्रसत कृष्णगृहिण्यः ।

गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो

गोपिका इय विमुक्तगुहायाः ॥१९॥

हृन्ददामकृतकौतुकवेपा

गोपगोबनहृदो बभूनावाष् ।

तो उनके गंजनेम भी उनके हाथमें निकलकर पड़ी
अग्निमें लपटीन हो ही जाता है, सिम भी सुप जाता है,
और वे अपनी सुष-सुष म्बेकर उसीमें तन्मय हो जात
हैं ॥ १४ १५ ॥

अरी वीर ! उनके चरणप्रमयमें भ्रजा, यत्र, कमल,
अङ्गुश आदिके विचित्र और सुन्दर-सुन्दर चिह्न हैं ।
जब प्रथमूमि गौओंके सुरसे सुद जाती है, तब वे
अपने सुसुमान चरणोंसे उसकी पीड़ा मिटाते हुए गज
रज्जके समान मन्दगतिसे आते हैं और बौसुरी भी बजाते
रहते हैं । उनकी यह वंशीध्वनि, उनकी यह चान और
उनकी यह त्रिजसमरी चितवन हमारे हृदयमें प्रेमका,
मित्रकी आकांक्षाका आवेग बसा देती है । हम उस
समय अपनी सुष, अपनी मोहित हो जानी हैं कि शिक-
होयक नहीं सकती, मानो हम जब हृष्ट हों । हमें तो
इस बातका भी पता नहीं चलता कि हमारा गुहा सुख
गया है या बँच है, हमारे शरीरपरका क्या उतार गया है
या है ॥ १६ १७ ॥

अरी वीर ! उनके गलेमें मणिधरकी माला बहुत ही
मयी माला होती है । तुम्हारी मधुर गन्ध उन्हें बहुत
प्यारी है । इसीसे तुम्हारी मालाको तो वे कभी छोड़ते
ही नहीं, सदा धारण किये रहते हैं । जब वे श्यामसुन्दर
उस मणिधरकी मालासे गौओंकी गिनती करते-करते किसी
प्रेमी सख्तके गलेमें बाँध बाँध देते हैं और मध्व कता-
कताकर बौसुरी बजाते हुए गाने लगते हैं, उस समय
बकनी हुई उस बौसुरीके मधुर स्वरसे मोहित होकर
कृष्णस्वर धुरंधरकी पत्नी हरिणियों भी अपना चित उनके
चरणोंपर निरुत्तर कर टपी हैं और जैसे हम ग्रेमियों
अपने घर-गृहस्थीकी आशा-अभिमत्या छोड़कर गुप्तस्तर
मागर मन्दनमन्दनकर घेरे रहती हैं, वैसे ही वे भी उनके
पास दौब जाती हैं और वहाँ एकटक देखनी हुई लकी
रह जाती हैं, स्मैटनेका माम भी नहीं लेतीं ॥ १८ १९ ॥

मन्दरानी यशोदायी ! बातावमें तुम वही पुण्यकी
। तभी तो तुम्हें ऐसे पुत्र मिले हैं । तुम्हारे वे
त्यदले कष्ट बड़ प्रमी है उनका चित बड़ा कर्मक
है । य प्रमी सम्पत्तियोंके गह-गहसे हास-परिहासक

नन्दसुरनघे तव वत्सो

नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥

मन्दवायुरुपवास्यनुकूलं

मानयन् मलयजस्पर्शेन ।

मन्दिनस्तमुपदेवगाया ये

वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥

वत्सला ब्रह्मगावां मदगाधो

वन्द्यमानचरणः पथि इवै ।

कृत्स्नगोचनमुपोद्य दिनान्ते

गीतवेणुरनुगोष्ठितकीर्तिः ॥२२॥

उत्सवं भ्रमरुवापि दृष्टीना

मुमपन् सुररजश्चुरितसक् ।

द्विस्त्वयैति सुहृदाक्षिप प्र

देवकीप्रठरमूरुहुरात्रः ॥२३॥

मदविधूर्णितलाचन ईषन्

मानदः स्वमुहृदां वनमाली ।

वदरपाण्डुवदनो मुदुगण्डं

मण्डयन् कनकमालकम्पा ॥२४॥

द्वारा सुख पहुँचाते हैं । कुन्दपद्मिनी हार पहनकर जब वे अपनेको विविध बेगमें सजा लेते हैं और ग्राह्य तथा गौओंके साथ यमुनाजीके तटपर खेलन आते हैं, उस समय मध्यज वन्दनके समान शीतल और सुगन्धित स्पर्शसे मन्द-मन्द अनुकूल क्लृप्त होकर आप तुम्हारे लम्बकी सेवा करती है और गर्व क्लृप्ति उपदेवना वंशीजनोंके समान गङ्गाकर ठहरे सन्तुष्ट करते हैं तथा अनेकों प्रचरकी भेंट देते हुए सब ओरसे घेरकर उनकी सेवा करते हैं ॥ २०-२१ ॥

अरी सखी ! क्यासुन्दर ब्रजकी गौओंसे क्या प्रेम करते हैं । इसीलिये तो उन्होंने गौर्धन चरण किता फ । जब वे सब गौओंको लौटकर आते ही होंगे, देखो, सपहल हो ब्रज है । तब इतनी देर क्यों होनी है, सखी ! रास्तेमें बड़े-बड़े जमा आदि क्योंहूँ और शहर आदि जानबूझ उनके चरणोंकी वन्दना जो करने लगते हैं । अब गौओंके पीछे-पीछे बौसुरी बजाते हुए वे आते ही होंगे । ग्राह्यता उनकी कीर्ति का गान कर रहे होंगे । देखो न, यह क्या कर रहे हैं । गौओंके सुरसे उड़-उड़कर बहुत-सी घूँस वनमलय पर गयी है । वे दिनभर जंगममें घूमते-घूमते एक गये हैं । फिर भी अपनी इस शोभासे हमारी आँखोंको किन्ना सुख, किन्ना आनन्द दे रहे हैं । देखो, ये यमोगीकी काखसे प्रकट हुए सक्के अप्पादित करने वाले चन्द्रमा हम प्रमी जनोंकी मध्यकि लिये हमारी आशा-अभिषयाओंको पूरा करनेके लिये ही हमारे पास आये आ रहे हैं ॥ २३-२४ ॥

सखी ! देखो कैसा सौन्दर्य है । मरमरी आँखें कुछ लकी हुई हैं । कुछ-कुछ लपट लिये हुए कैसी मग्नी जान पड़ती है । गलेमें वनमाया लट्का रही है । सोनके कुण्डलोंकी कान्तिसे वे अपने कोमल कपोलोंको जलकृत कर रहे हैं । इसीसे मुँहपर जलके घेरके समान कुछ पीचपन जान पड़ता है । और रोम-रोमसे विशेष करके मुखकमण्डले प्रसन्नता छड़ी पड़ती है । देखो अब वे अपने सखा ग्राह्यगौंका सम्मान करने

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो

यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।

मुदितवक्त्र उपयासि दुरन्त

माघयन् ब्रजगवां दिनसायम् ॥ २५ ॥

श्रीकृत उवाच

पर्वब्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायसीः ।

रेमिरेऽहःसु तच्चिन्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥ २६ ॥

ऊहें क्रिदा कर रहे हैं । देखो, देखो सखी ! ब्रज विभूषण श्रीकृष्ण गजराजके सम्पन्न मदमयी चालसे इस सन्ध्या वेष्टमें हमारी ओर आ रहे हैं । अब ब्रजमें गहनेवाली गौओंका, हमन्त्रोगोंका दिनभरका वस्त्रा विरह-ताप मिटानेके लिये उदित होनेवाले चन्द्रमाकी मूर्ति यं हमारे प्यारे श्यामसुन्दर समीप चले आ रहे हैं ॥ २४ २५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! बह्मजिनी गोपियोंका मन श्रीकृष्णमें ही लय रहता था । वे श्रीकृष्णमम हो गयी थीं । जब मत्तान् श्रीकृष्ण दिनमें गौओंको चरानेके लिये वनमें चले जाते, तब वे उन्हींका चिन्तन करती रहतीं और अपनी-अपनी सम्पत्तियोंके साथ अलग-अलग उन्हींकी लीछाओंका गहन करके उल्टीमें रम जातीं । इस प्रकार उनके मन हीन होते ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्धे

बृन्दाकनामनीयायौ गेयिकायुगलप्रीतिं नाम

पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

अथ पटत्रिंशोऽध्यायः

अरिष्टासुरका उदार और कंसका श्रीमद्भरजीको मल मेखना

श्रीकृत उवाच

अथ सर्वांगतो गाष्टपरिष्टो हृपमासुर ।

मही महाककुत्स्थयः कम्पयन् सुरविष्वताम् ॥ १ ॥

रम्भमाणः खरतरं पदा र्चं विलिम्बन् महीम् ।

उद्यम्प पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रण चोद्धरन् ॥ २ ॥

किञ्चित् किञ्चित् सुखं मूत्रयन् स्तम्भलोचनः ।

यस्य निहादितनाह निपुनुरण गवां नृणाम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ब्रजमें प्रवेश कर रहे थे और वहाँ जानन्दास्तपस्वी धूम मची हुई थी, उसी समय अरिष्टासुर नामका एक तैल बेचकर रूप धारण करके आया । उसका वस्त्र (कपेका पुष्टा) का धुआ और रीम-रीम दोनों ही बहुत बड़-बड़ थे । वह अपने सुरोंको इनन जोरसे कम्प रहा था कि उसमें घटती घटती गयी थी ॥ १ ॥ वह चढ़े जागे गज रहा था और फेंके घूट उग्रग्राह्य जाता था । पूँछ लकी किये हुए था और सींगोंसे चट्टानोंपारी, जेम्बोंकी मेड़ आदि तोड़ता जाता था ॥ २ ॥ बीच-बीचमें बार-बार मूत्र और गोबर छोड़ता जाता था । और फड़फड़ इधर उधर चला रहा था । परीक्षित् ! उसके जोरसे

१ प्राचीन प्रतिमें श्रीकृत उवाच से लेकर 'महाककुत्स्थ' तक का पाठ युद्धमें नहीं है । २ इन्द्रावन्नीलायां गयीरुद्ध नाम । ३ कालरायत्रिबन्ध । ४ अग्नि । ५ मृगम् ।

पतन्त्यं कलतो गर्भाः स्रवन्ति सा भयेन यं ।
 निर्विघ्नन्ति पना यस्य ककुपचलप्रवृत्त्या ॥ ४ ॥
 तं तीक्ष्णमृक्षुधीक्ष्ण गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ।
 पशवो दुर्दुषुर्भीता राक्षन् संस्पन्द्य गोह्वलम् ॥ ५ ॥
 कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे याविन्दं धरणं ययुः ।
 भगवानपि तद्वृक्षीक्ष्ण गोह्वलं भवविद्वुतम् ॥ ६ ॥
 मा मैष्टेति गिराऽऽश्वास इपासुरमुपाह्वयत् ।
 योपालैः पशुभिर्मन्दं प्रासितैः किमसत्तम ॥ ७ ॥
 बौलदर्पाहं बुधानां त्वद्विभानां दुरात्मनाम् ।
 इत्यास्त्रोत्थाप्युतोऽरिष्टं तल्लघ्वेन क्रोपयन् ॥ ८ ॥
 सत्सुरसि सुखाभोगं प्रसायात्तन्मितो हरिः ।
 सोऽप्येवं क्रोपिताऽरिष्टं सुरेणावनिमुल्लिखन् ।
 उद्यत्पुच्छमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाव्रजत् ॥ ९ ॥
 अग्रन्यस्तविषाणाग्रः सन्धासुस्तोचनोऽन्युतम् ।
 कटाक्षिप्याव्रजत्पूर्णमिन्द्रमुक्तोऽञ्जनिर्वथा ॥ १० ॥
 गृहीत्वा मृक्षयोस्त वा अष्टस्र पदानि सः ।
 प्रत्यपावाह भगवान् गजं प्रतिगलं यथा ॥ ११ ॥
 साऽपविद्धा भगवता पुनरुत्थाय मत्सरः ।
 आपतदं म्विमसबाह्वा नि सतन् काभमूर्धितः ॥ १२ ॥

हँसनेसे—निष्ठुर गर्जनासे भयवश स्त्रियों और गैजोंके
 तीन चार महीनेके गर्भ स्रवित हा जाते थे और पौं-
 छ महीनेके गिर जाते थे । और ता क्या कहें उनके
 बसुन्धको पर्वत सम्प्रकाश बदल उमर आकर छर
 जाते थे ॥ ३ ॥ परिश्रित ! उस तीखे तीक्ष्ण
 वैष्णो दक्षकर गोपियों और ग्राम सभी भयभीत हो
 गये । पशु तो इतने डर गये कि अपने रहनेका स्थान
 छोड़कर भाग ही गये ॥ ५ ॥ उस समय सभी कृष्णपक्षी
 'श्रीकृष्ण ! श्रीकृष्ण ! हमें इस भयसे बचाओ' का
 प्रकार पुकारते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आये ।
 भगवान्ने देख कि हमारा गोकुल क्षयन्त मरतुर हो
 रहा है ॥ ६ ॥ तब उन्होंने धरनेकी कोई शक्त नहीं
 है—यह कहकर सबको उलस बँचाया और फिर
 इपासुरको छत्रधार, धरे मूल ! आदुष्ट । ६ इन
 गौओं और स्वात्सेको क्यों डरा रहा है ? इस्से क्या
 होगा ॥ ७ ॥ देख, तुझ-जैसे दुरात्म दुष्टोंके कृष्ण
 घमंड चूर चूर कर देनेवाला यह मैं हूँ ।' इस प्रकार
 लज्जकारकर भगवान्ने उस ठोकी और उसे क्रोधित
 करनेके लिये वे अपने एक स्त्र्यके गलेमें बौल दाम्पर
 लपेटे हो गये । भगवान् श्रीकृष्णकी इस कुनैसीसे वह
 क्रोष्क मारे निकलिय उठा और अपने सूरसे बसे
 जासे धरती खदेता हुआ श्रीकृष्णकी ओर लपटा ।
 उस समय उसकी उठपी हुई पूँछके धक्केसे बाकाशके
 बदल सितर-भित्त होने लगे ॥ ८-९ ॥ उसने अपने
 तीखे मींग जागे कर लिये । लाल-लाल आँखोंसे एकटकी
 लज्जकर श्रीकृष्णकी ओर देखी मरसे देखता हुआ वह
 उमर इतने वेगसे दृष्ट मराने इन्द्रके हाथसे छोड़ा
 हुआ बाण ॥ १० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपन दोनों
 हाथोंसे उसके दोनों सींग पकड़ लिये और जैसे एक
 हाथी अपनेसे भिड़नेवाला दूसरे हाथीका पीछे हटा
 वना है वैसे ही उन्होंने उसे अग्रद पग पीछे टेक्कर
 मिला दिया ॥ ११ ॥ भगवान्ने इस प्रकार उस
 मरनपर वह सिर तुरंत ही उठ लड़ा हुआ और क्रोपसे
 अपने होकर सभी-सभी सौंस छोड़ता हुआ फिर उमर
 लपटा । उस समय उसका सारा शरीर पसीनेसे
 सजसज हो रहा था ॥ १२ ॥ भगवान्ने जब देख

समापतन्तं म निगृहा शृङ्गयोः

पदा ममाक्रम्य निपात्य भूतले ।

निष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमम्बरं

कृत्वा विषाणन जघान साऽपतत् ॥१३॥

असृग्धमन्मृष्यकृत् सद्यस्तुभन्

धिर्षभ पदाननवन्मिषेक्ष्य ।

जगाम कूर्चं निर्धृतेरथ ध्रुव

पुष्पं किरन्ता हरिमीडिरे सुराः ॥१४॥

एवं ककुद्भिमिन् इत्वा स्तूपमानः स्वप्राप्तिभिः ।

विवेक्ष्य गाष्ठं सखला गोपीनां नयनात्सव ॥१५॥

अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णनाभूतकर्मणा ।

कंठापाधाह भगवान् नारदा दृषददर्शनः ॥१६॥

पशोदापाः सुतां कन्यां दृषक्याः कृष्णमत्र च ।

रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदधेन विम्यता ॥१७॥

न्यस्तां स्वमित्रं नन्दं वयाम्यां च पुरुषा इताः ।

निशम्य तद्भाषयति कृपात् प्रचलितन्त्रियः ॥१८॥

निशातमसिमादसं वसुदधविर्षामया ।

निवारिता नारदन वत्सुता मृत्युमारमन ॥१९॥

घात्या लाहमप पातैर्विषं सह भाषया ।

प्रतिपाते तु दृषया कंम प्रामाण्य कश्चिन्म ॥२०॥

प्रययायाम इत्यर्ता भवता रामकथा ।

तदा मुष्टिकानूरगतताडनकादिभ्यः ॥२१॥

वि कह अय मुसपर प्रहार करना ही चाहता है, तब उन्होंने उमक सींग पकड़ लिये और उसे पतत मारकर अमीनपर गिरा लिया और फिर पैरोंसे दबाकर इस प्रकार उसका पक्ष्म निकाला, जैसे क्रोध गींथ काड़ा निचोड़ रहा हो । इसका बाद उसीका सींग उखाड़कर उसका खूब पीटा, जिससे वह पड़ा ही रह गया ॥१३॥ परिश्रित । इस प्रकार वह दैत्य मुँहसे लून उगड़ता और शंकर-मृत करता हुआ पैर पटकने लगा । उत्तरार्ध अर्धों उलट गयीं और उसका बड़ बलक मध्य प्राण पाई । अब देवकालोग मगवान् पूछ डरस-बरसाकर उनका स्तुति करने लगे ॥ १४ ॥ जब मगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कंक रूपमें जानेवाले अरिष्टसुरको मार डाला, तब सभी गोप उनकी प्रशंसा करने लगे । उन्होंने कृष्णमन्त्रीके साथ गोष्ठमें प्रवेश किया और उन्हें पञ्च-दशक गोपियोंक नयन-मन आनन्दसे भर गये ॥ १५ ॥

परिश्रित । मगवान्की लक्ष्य अशक्त बद्धमन है । इस जब उन्होंने अरिष्टसुरको मार डाला, तब भावमय नारदा आ लस्योकर गीम-मे-दीप्य भावमन्त्र दशन करात रहत है, कंक पास पहुँच । उन्होंने उससे कहा—॥ १६ ॥ 'कंम' जा कन्या तुम्हारे हाथमें छूटकर आकाशमें चली गयी, वह ता पशोदाकी पुत्री थी । अरि जगमें जा धीकृष्ण हैं, वे दृषकीक पुत्र हैं । क्यों जा कन्यामयी हैं व रोहिणीक पुत्र हैं । वसुदेवन तुममें इकर आन मित्र नन्दक मम उन गनोंका गप किया है । उन्होंने ही तुम्हारे अनुचर लस्योकर बंध किया है । यह बात सुनत ही कंसकी पकड़ इन्धिय ब्रजभ मारे कीर उठ ॥ १७-१८ ॥ उनमें वसुदेवका मार डालन दिवसुरम तीर्थ तत्रत उठती, परन्तु माददर्शन गऊ लिया । जब कंसका यह मारुत हा गया कि वसुदेव व लक ही हमरी वसुदेव कागा ह तब उनमें दहरी और वसुदेव गनों ही निजकीरा हमरी । अब बड़ीमे जहकत नि जस्ये डार लिया । जब लकीर जा वसुदेव नयनमन करीता वसुदेव और वसुदेव नयन जकर बन- रम और वसुदेव मार ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

अमात्मान् इति पांश्चैव समाहूयाह भोजराट् ।
 भा भा निश्चम्यतामेतद् धीरचाणूरमुष्टिकौ ॥२२॥
 नन्दप्रसे किलासाते सुतावानकदुन्दुमेः ।
 रामकृष्णौ ततो मद्यं मृत्युः किंल निदर्शित ॥२३॥
 भवदम्पामिह सम्प्राप्तौ हन्मेतां मल्ललीलया ।
 मन्त्राः कियन्तां विविधा महारुपपरिधिताः ।
 पौरा ज्ञानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥२४॥
 महामात्र स्वया मद्र रक्तद्वार्युपनीयताम् ।
 द्विपः कुबलयापीढो जहि तेन ममाहितौ ॥२५॥
 आरम्यतां धनुर्यागधतुर्दश्यां यथाविधि ।
 विश्वसन्तु पश्यन् मेभ्यान् मूतराजाय मीढुपे ॥२६॥
 इत्याह्वाप्याधतन्त्रस्य आहूय यदुपक्रमम् ।
 गृहीत्वा पाणिना पाणिं तताऽक्रूरमुवाच ह ॥२७॥
 भो भा दानपते मद्यं कियतां मैत्रमादत्त ।
 नान्यस्त्वच्चा हिततमा विधत् भाजशृण्विषु ॥२८॥
 अतस्त्वामाभित मीम्य कार्यगौगवमाधनम् ।
 यथेन्द्रा विष्णुमाभिय म्याधं मध्यममद्रु विश्व ॥२९॥
 गच्छ नन्दप्रसन्नं तत्र मुतावानकदुन्दुम ।
 बामागे ताविज्ञानेन रथनानय मा चिरम् ॥ ३०॥
 निमृष्टं चित्रं म मृम्युर्देवर्षिबुधसंभयः ।

कंसने मुष्टिक, चाणूर, शाल, तोशल, आदि फलफलों,
 मन्त्रियों और महावतोंको मुख्यकर कहा—धीरवर चाणूर
 और मुष्टिक। तुमयोग प्यानपूर्वक मेरी बात सुनो ॥२२॥
 कमुदेवके दो पुत्र कल्यण और कृष्ण नन्दके ब्रह्मे रहते
 हैं । उन्होंने हाथसे मेरी मृत्यु वधव्यापी जाती है ॥२३॥
 अतः जन ये यहाँ कार्य, तब तुमयोग उन्हें कुदृष्टि
 लक्ष्मणे-लक्ष्मणके स्थान पर बाल्मना । अब तुमयोग मौलि-
 मौलिके मंच बनाओ और उन्हें अस्त्रशस्त्रों के चारों ओर
 गोला-गोल सज्ज दो । ऊपर बैठकर नगरबासी और
 देशाधी दूसरी प्रजा इस लक्ष्मण दंगलको देखें ॥२४॥
 महावत ! तुम बड़े चतुर हो । देखो भाई ! तुम दंगलके
 घेरेके फलफलपर ही अपने कुबलयापीढ हाथको रखत
 और अब मेरे शत्रु उधरसे निकलें, तब उसीके हाथ
 उन्हें मरवा बाल्मना ॥ २५ ॥ इसी चतुर्दशीको विभि-
 पूर्वक धनुषयष्ट प्रारम्भ कर दो और उसकी सत्कृत्य
 छिपे बरदानी मूकनाय मरवको बहुतसे पवित्र पशुओंकी
 बलि चढ़ाओ ॥ २६ ॥

परिहित ! कंस तो केवल स्वार्थ-सुधनकर सिद्धान्त
 जानता था । इसलिये उसने मन्त्री, फलफलों और महावत-
 को इस प्रकार आश्वास देकर धोष पदुर्बशी अमूरको मुख्यकर
 और उनका हाथ अपने हाथमें रखकर बोला—॥२७॥
 अमूरजी ! आप तो बड़े उत्तम मनी हैं । सब तरहसे
 मेरे आदरणीय हैं । आज आप मेरा एक मित्रोचित काम
 कर लीजिय क्योंकि भाजवर्षी और बुधिवर्षी यादवों-
 में आपसे बड़कर मेरी अन्यत्र कनकाय नृपत कोई नहीं
 है ॥ २८ ॥ यह काम बहुत बड़ा है, इसलिये मेरे
 मित्र ! मन आपका आशय स्थिर है । टीन देते ही,
 जैसे इन्द्र समय हीनपर भी विष्णुका आशय स्थिर जानता
 स्वार्थ साधना करता है ॥ २९ ॥ आप नन्दरायके ब्रह्मे
 जाइय । वहाँ कमुदेवकी दो पुत्र हैं । उन्हें इसी रूप
 चढ़ाकर यहाँ ल आइय । अब, अब इस काममें दर
 मही होनी चाहिये ॥ ३० ॥ सुनत है, विष्णु मतोसे
 जीवनदाय दत्तज्योने उन मनीश मनी मृत्युका कारण
 निमित्त किया है । इसलिये आप उन मनीश तो मे

तावानप तम गोपैर्नन्दाद्यै साम्प्रपायनैः ॥३१॥

पातयिष्य इहानीती कालकल्पन हस्तिना ।

यदि मुक्तौ ततो मरुतैर्घातये वैपुतोपमैः ॥३२॥

तयोर्निहतयोस्तान् वसुदेवपुरोगमान् ।

तद्वचनं निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान् ॥३३॥

उग्रसेनं च पितर स्वविरं राज्यकायुकम् ।

तद्भातरं देवक च ये चान्ये विद्रिपो मम ॥३४॥

तत्तर्षपा मही मित्र भवित्री नटकृष्टका ।

जरासधो मम गुरुद्रिबिदो दयितः सन्मा ॥३५॥

शम्भरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदा ।

तैरह सुरपद्मीयान् इत्वा भोक्तृये महीं नृपान् ॥३६॥

एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्मकां ।

भनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरथियम् ॥३७॥

अथ उवाच

राजन् मनीषितसम्भक्तव स्वावधमार्जनम् ।

मिदगमिदया मर्मवृष्याद्दैर्घ्यदिक्कमाधनम् ॥३८॥

मनारथान् परात्पुनर्चजेना दैवहतानपि ।

१ परात्पुनर्चजेना

ही आये, साथ ही नन्द आदि गणोंको भी यही-यही मेंटोंके साथ ले आये ॥ ३१ ॥ यहाँ आनेपर मैं उन्हें अपने वाक्यके समान कुत्रयापीड हाथीसे मरवा बाँटूँगा । यदि वे वृन्दाचित् उस हाथीसे बच गये, तो मैं अपने बन्नेके समान मजबूत और पुतलिके पहलवान मुष्टिक-चाणूर आदिसे उन्हें मरवा बाँटूँगा ॥ ३२ ॥ उनके मारे जानपर वसुदेव आदि वृष्णि, भोज और दशार्हवंशी उनके भार्गवन्धु श्रेष्ठकुल हो जायेंगे । फिर उन्हें मैं अपने हाथों मार बाँटूँगा ॥ ३३ ॥ मेरा पिता उग्रसेन यों तो बूढ़ा हो गया है, परन्तु अभी उसको राज्यका छेद बना हुआ है । यह सब कर चुकनेके बाद मैं उसको, उसका भाई देवकको और दूसरे भी जो-जो मुझसे द्वेष करनेवाले हैं—उन सबको तख्खारके घाट उतार दूँगा ॥ ३४ ॥ मेरे मित्र अकूरनी । फिर तो मैं होऊँगा और आप होंगे, तथा होगा इस पृथ्वीका अक्षय्यक राज्य । जरासन्ध हमारे बड़े-बड़े समुर हैं और धनराज द्विज मेरे प्यारे सखा हैं ॥ ३५ ॥ शम्भरसुर, नरकासुर और बाणासुर—ये तो मुझसे मित्रता करते ही हैं, मेरा मुँह देखते रहते हैं; इन सबकी सहायतासे मैं देवताओंके पक्षरानी मरपनियों-को मारकर पृथ्वीका अक्षय्यक राज्य भोगूँगा ॥ ३६ ॥ यह सब अपनी गुप्त बातें मैं आपसे कतार दौ । अब आप जन्मी-से-जन्मी बडाम और हल्काको पढ़ों ले आये । अभी तो वे बच्चे ही हैं । उनका मार बाँटनेमें क्या छाना है ? उनसे केवल इतनी ही बात कहियेगा कि वे लोग धनुषयन्त्रक दान और यदुवर्धियों-की राजदानी मयुगरी शोभा दानके जिय बर्णों आ जायें ॥ ३७ ॥

अथर्जुन कदा—महामात ! आप अपनी वृद्ध, अन्ता अरिष्ट दूर करना चाहते हैं, इसलिये आराम ऐला सोचना हीन ही है । मनुष्यों के चरित्र कि बड़े सफ़ल हो या असफ़ल, दानोंके प्रति स्तुतिपर राजराज आना काम करना जय । मैं तो प्रज्ञामे नहीं, दीर्घ प्रज्ञामे सिद्ध हूँ ॥ ३८ ॥ मनुष्य परे-परे म्मारसेछे पुत्र दैवता राजा है दायित्व का मैं नहीं जानता कि देखते, प्राप्तिन हूँ मैं दायित्व ही मर कर रहा हूँ । यदि क्या

युज्यते हर्षशोकाम्नां तथाप्याह्नां कामि ते ॥ ३९ ॥

श्रीशुक उवाच

एवमादिभ्यश्चाहूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य स ।

प्रविशेश गृह कंसस्तथाहूरः स्वमालयम् ॥ ४० ॥

है कि कभी प्रारब्धके अनुकूल होनेपर प्रयत्न सफल हो जाता है, तो वह हर्षसे झूठ उठता है और प्रतिकूल होनेपर बिभ्रन् हो जाता है तो शोकप्रसूत हो जाता है । फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन तो कर ही रहा हूँ ॥ ३९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कंसने मन्त्रियों और अहूरजीको इस प्रकारकी आज्ञा देकर सबको बिदा कर दिया । तदनन्तर वह अपने म्हालमें चय्य गया और अहूरजी अपने घर लौट आये ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वर्धे अहूरसंश्लेषणं

नाम पट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

केशी मारं व्योमासुरका कञ्जार तथा मारुक्षीके द्वाप भगवान्की स्तुति

श्रीशुक उवाच

केशी तु कर्मप्रदितः सुरैर्मही

महाहयो निर्जरयन् मनोजव ।

सटावपूताभविमानसङ्कुलं

कुर्वन् नभो हेपितभीषिताखिल ॥ १ ॥

विजालनेत्रा विक्रान्तकोशे

शृङ्खलालो नीलमहाम्पुदाम ।

दुराशयः कंसहित धिक्कीर्ण

प्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥ २ ॥

त ग्रामपन्त भगवान् भृगाकुलं

सदपितृर्बानविपूणिताम्पुदाम् ।

आग्मालमात्रं भृगयन्तमश्रणी

रुपाह्वयन् स व्यनदन्मृगान्द्रवम् ॥ ३ ॥

१. कंसप्रदितः २. कञ्जारवर्षावयव ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । कंसने जिस

केशी नामक दैत्यसे भेजा था, वह बड़े भारी घोड़ेके रूपमें मनके सुगन्ध बेगसे दीक्षित हुआ प्रथम आया । वह अपनी टांगोंसे धरती खोदता था रहा था । उसकी गद्गदनेके छितराये हुए बाणोंके झटकेसे आकाशके बादल और किमानोंकी भीड़ निरन्तर-निरन्तर हो रही थी । उसकी भयानक दिनदिनाहटसे सब-कुछ-सब भयसे घँप रहे थे । उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थीं, मुँह क्या था, मनो विन्ध्य वृक्षका शोडर ही हो । उसे दानवेसे ही डर लगता था । बड़ी मोट्टी गद्गद थी । शरीर इतना विशाल था कि मादूम होता था बरसी-बरसी शान्तमयी घटा है । उसकी भीफनमें पाप भरा था । वह श्रीरूपको मारकर अपने साथी कंसका हित करना चाहता था । उसके चटनेसे भूकम्प होने लगता था ॥ १-२ ॥ भगवान् श्रीरूपने देखा कि उसकी दिनदिनाहटसे उनके आश्रित रहनेवाले गेबुन भयभीत हो गये हैं और उसकी घुँघुँक बाणोंसे बाण निकल निकल हो रहा है, तथा वह लड़नेके लिए उन्दीरो मुँह भी लगा है—तब मैं बहुरंग उसका गमने आ गये और उन्दीरो मिलान गमन भयानक उठे लज्जाम् ॥ ३ ॥

स तं निशाम्यामिस्तुतो मुखेन त्व

पिबन्निशाम्यद्रवदत्तमर्षण ।

अवाप्तं पद्म्यामरविन्दलोचन

दुरासदभण्डवधो दुरस्यय ॥ ४ ॥

तद् बभूवित्वा तमभोधुनो रुपा

प्रगृह्य दाम्प्यां परिविष्य पादयोः ।

सावहस्यस्तुज्य धनु क्षतान्तरे

यधोरगं तार्क्ष्यस्तुतो व्यनस्थितः ॥ ५ ॥

स लब्धसंभं पुनरुत्थितो रुपा

व्यादाप केशी तरसाऽऽपठद्वारम् ।

सोऽप्यस्य वक्त्रे मृजसुचर स्यन्

प्रवेक्षयामास यधोरगं बिभे ॥ ६ ॥

दन्ता निपेतुर्मगदद्वजस्तुद्ध-

स्ते कैश्चिन्मत्तमयाः स्फुर्यो यथा ।

पादुभ तरहगता महात्मनो

यथाऽऽमयः सवक्ष्ये उपस्थित ॥ ७ ॥

समेधमानेन स कृष्णनाहुना

निरुद्धवायुशरणांश्च विविषन् ।

प्रविभगाय परिप्लुलाञ्जन

पपात तण्डं विमृशन् धितो व्यसु ॥ ८ ॥

तरहत कर्कटिकाकलापमाह

म्यसारपाहृष्य भुज महाभुजः ।

मग्नान्को समयने आया देख यह और भी बिड़ गया
तथा उनकी ओर इस प्रकार मुँह फैलाकर दौड़ा, मनो
आकर शत्रुओं की जायगद । परीक्षित ! तब मुख करीब
वेग बढ़ा प्रचण्ड था । उसपर विनय पाना तो फटिन
था ही, उसे पकड़ लेना भी आसान नहीं था । उसने
मग्नान्को पाम् पहुँचकर मुट्ठी हाड़ी ॥ ४ ॥ फन्तु
मग्नान्तं उससे अपनेको बचा लिया । मग्न, वह इन्द्रिया
तीतको कैसे मार पाया ! उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे
उसके दोनों फिटले पैर पकड़ लिये और जैसे गड़ग
सौंको पकड़कर झट देत ॥ उसी प्रकार कोकसे
उसे धुमाकर बड़े अपमानक साथ चार मी हाथकी दूरी-
पर पेंक दिया और स्वयं अकड़कर खड़ा हो गये ॥ ५ ॥
पाड़ी ही देखके बाद केसी फिर सचेत हो गया और उठ
खड़ा हुआ । इसके बाद वह कोपसे निश्चिन्त और
मुँह फड़फड़ कर वेगसे मग्नान्की ओर लपटा । उसको
दौड़ते देख मग्नान् मुसकलन लगे । उन्होंने अपना
बाँया हाथ उसके मुँहमें इस प्रकार दबोका दिया, जैसे
सर्प बिना किसी आशाह्वाक अपने दिङ्में घुस जाता
है ॥ ६ ॥ परीक्षित ! मग्नान्का अकृत कण्ठ पर
कमठ भी उस समय ऐम्हा हो गया, मानो तलाया हुआ
खोहा हो । उसपर लगता हाथ ही केशीक दौत दू-
टकर गिर गये और जैसे जगेर राग उपेक्षा कर देने
पर बहुत मर जाता है, वैसे ही श्रीकृष्णरा मुजण्ड
उसके मुँहमें बकने लगा ॥ ७ ॥ अभिस्त्यक्ति मग्नान्
श्रीकृष्णका हाथ उसका मुँहमें इनता दब गया कि उसकी
सौम्य भी आन-जानकर भाग म रहा । जब ता दम
पुननेके कारण वह पैर पीटने लगा । उसका दर्जन
पक्षानसे लपका हा गया, औरोंकी पुनर्ग उग्र गयी,
वह मटप्यग करन लगा । पाड़ी ही लगे उसका दर्जन
निश्चेष्ट हाथ धुँकीर गिर पड़ा तब उसका प्राण
लगे उड़ गया ॥ ८ ॥ उसका निपाग गीत कर
हुआ इनकर कारण मित ही परी करदीर्घ तब पर
गया । मग्नान् मग्नान् श्रीकृष्णन तब दर्जामे अली
पुजा गीत की । उनके हमसे कुछ भी अधप या न
मगी हुआ । किता प्रपन्न ही सद्गुरु मान हा गया ।

अविस्मितोऽयस्नहसारिरुत्तरायैः

प्रसन्नवर्षेर्दिविपद्मिनीचितः ॥ ९ ॥

वैषर्षिकपसङ्गम्य भागवत्प्रवरो नृप ।

कृष्णमच्छिष्टकर्माणं रहस्येत्तदभाषत ॥ १० ॥

कृष्ण कृष्णप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर ।

वासुदेवाविलावास सत्त्वतां प्रवर प्रभो ॥ ११ ॥

स्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिबैधसाम् ।

गूढो गुहाश्रयः साक्षी महापुरुष ईश्वर ॥ १२ ॥

आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।

तैरिदं सत्प्रसक्त्यः सुब्रह्मस्त्वबसीश्वरः ॥ १३ ॥

स त्वं भूधरभूतानो दत्तप्रमथरससाम् ।

अवतीर्णा विनाशाय सेनान् रघुणाय च ॥ १४ ॥

दिएषा त निहन्ता दैन्या लीलयाय इषाकृति ।

यस्य हविमयस्यास्यवज्रम्यनिमिषादिबम् ॥ १५ ॥

गान्धर्वं मुष्टिकं चर मत्तान्पाय इमिनम् ।

देवताओंको लक्ष्य ही इससे बड़ा आश्चर्य हुआ । वे प्रसन्न हो-सोकर भगवान्‌के ऊपर पुष्प भरताने और उनकी स्तुति करने लगे ॥ ९ ॥

परीक्षित । देवर्षि नारदजी भगवान्‌के परम प्रेमी और समस्त जीवोंके सबे छितीपी हैं । कंसके यहाँसे बौद्धिक वे क्लृप्तायु ही मत्तत कर्म करनेवाले भगवान्‌ श्रीकृष्णके पास आये और एकमतमें उनसे कहने लगे—॥ १० ॥

स्वर्णिगन्धर्वरूप श्रीकृष्ण । आपका स्वरूप मन और वाणीका नियम नहीं है । आप योगेश्वर हैं । सारे भगवत् पद नियन्त्रण आप ही करते हैं । आप सबके हृदयमें निवास करते हैं और सब-के-सब आपके हृदयमें निवास करते हैं । आप सबोंके एकमात्र वास्तव्यनीय, यदुवच-रितोमणि और हमारे स्वामी हैं ॥ ११ ॥ जैसे एक ही अग्नि सभी वस्तुओंमें व्याप्त रहती है, वैसे एक ही आप समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं । आत्माके रूपमें होनेपर भी आप अपनेको छिपाये रहते हैं, क्योंकि आप पञ्च-कोशरूप गुणमयोंके भीतर रहते हैं । फिर भी पुरुषोत्तम-के रूपमें, सबके निष्ठाके रूपमें और सबके सच्चीके रूपमें आपका अनुभव होता ही है ॥ १२ ॥ प्रभो ! आप सबके अधिष्ठान और स्वयं अधिष्ठानरहित हैं । आपने सृष्टिके प्रारम्भमें अपनी मायासे ही गुणोंकी सृष्टि की और उन गुणोंकी ही स्वीकार करके आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते रहते हैं । पद उन करनेके लिये आपने अपनेसे अतिरिक्त और किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि आप सर्वशक्ति-मान् और स्वयंसाक्षर हैं ॥ १३ ॥ कही आप दीपः, प्रमथ और राक्षसोंका, त्रिहन्ता आजयन राजाओंका

बेर धारण कर रक्का है, विनाश करनेके लिये सब भयंकर शस्त्रोंकी रक्षा कराने लिये यदुवचने अतीत हुए हैं ॥ १४ ॥ यन् यद् अनन्तरं प्लन है कि आपन गे-द-ही-गे-ये-ये थाइने रूपमें रहनेवाले इस नेत्री देवता का नाम जान । इसकी निम्नितान्त्रसे उदयत दयता-नाम आता रमा छोड़कर भगवत्‌ जाना करते हैं ॥ १५ ॥

प्रथम 'अन पदों में आता लगे गावत्, मुनि

कसं च निहतं द्रुपे परसोऽहनि ते विभो ॥१६॥
 तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
 पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१७॥
 उद्धाहं वीरकन्यानां वीर्यशुक्रादिलखणम् ।
 नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥१८॥
 समन्तकस्य च मणेरालानं सह भार्यया ।
 मृतपुत्रप्रदानं च द्राक्ष्यस्य स्वधामतः ॥१९॥
 पौण्ड्रकस्य वध पश्चात् काश्रिपुर्याध दीपनम् ।
 दन्तवक्रस्य निधनं च घस्य च महाकृतां ॥२०॥
 यानि चामानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान् ।
 कर्ता द्रुप्याम्यहं तानि गेपाणि कविभिर्मुनिभिः ॥२१॥
 अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।
 अष्टौहिणीनां निधनं द्रुप्याम्यर्जुनसारथेः ॥२२॥

विशुद्धविज्ञानघन स्वसंम्यया

ममाप्तमवार्धममोषवाञ्छितम् ।

मृतजस्रा नित्यनिवृत्तमाया-

गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥२३॥

हरामाश्वरं स्वाधपमारममापया

रिनिर्मिताशेषपिदोषकल्पनम् ।

प्रोढार्धमवाप्तमनुप्यविप्रद

नताऽपि पुण्यसङ्गणितान्तरात् ॥२४॥

१. तन्मन्त्रं देवैः ।

दूसरे पहलवान, धुजड्यापीड हाथी और स्वयं पंजरो
 भी मरते देखेंगे ॥ १६ ॥ उसका बाद शशासुर, पशु-
 पवन, मुर और नरकमुराणा वध देखेंगे । आप स्वर्गसे
 पत्न्यपुत्र उखाड़ लायेंगे और इन्द्रके भी चपड़ करनेपर
 उनको उसपर मचा चलायेंगे ॥ १७ ॥ आप अपनी
 हृया, गीरता, सैन्द्य आदिवा द्रुपक देकर वीर-यत्नाओं-
 से विवाह करेंगे, और जगदीश्वर । आप द्वारकामें रहते
 हुए वृणको पापसे छुदायेंगे ॥ १८ ॥ आप जाम्बवतीके
 साथ स्वमन्तक मणिके जाम्बवान्से ले आयेंगे और अवन
 घामसे ब्राह्मणक मरे हुए पुत्रको ला देंगे ॥ १९ ॥
 इसके पश्चात् आप पौण्ड्रक—मिथ्यावासुदेवका वध
 करेंगे । कशीपुरीको जडा देंगे । युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें
 चेदिराज शिशुग्राहको और बहोसे छीनते समय उसका
 भीमेरे मूढ़ दन्तवक्रको मट करेंगे ॥ २० ॥ प्रभू !
 द्वारकामें निवास करते समय आप और भी बहुत-से
 फलप्रम प्रकट करेंगे, मिथि पृथ्वीके यज्ञे-यज्ञ हानी और
 प्रतिभद्गीठ पुरा आगे चक्कर लायेंगे । मैं यह सब
 देखूँगा ॥ २१ ॥ इसके बाद आप पृथ्वीका भार उतारने
 के उद्ये कल्पयसे अर्जुनके सारथि धरेंगे और अनर
 अष्टौहिणी सेनाका संहार करेंगे । यह सब मैं अपनी
 आँखोंसे देखूँगा ॥ २२ ॥

प्रभा । आप सिद्ध विज्ञानघन हैं । आपका व्यक्त्यमें
 और मित्रोंका अनित्य है ही नहीं । आप नित्य-निर्गुण
 अने परमनन्तस्वरूपमें स्थित रहते हैं । इसलिये सारे
 पण्य आपका नित्य प्राप्त ही है । आपका सहस्र
 लोभ है । आपकी क्षमता शक्तिर रसमें मय और
 मयमें होनेवाला यह मिश्रणन संसार का नियतिहृत्
 है—कभी हुआ ही नहीं । जमे अत्र अत्र, पत्रसु
 सविज्ञानस्वरूप निरतिप पञ्चमन्त्र भगवन्तः
 मैं आपका प्रण करता हूँ ॥ २३ ॥ अत्र मय अत्र
 रस अत्र निम्ना है । अने अने स्थित परम
 मान्य है । अत्र और अत्र अत्र निम्ना—
 अन्तरात्न मरे भवतिभक्तों का लला लला अत्र
 लोभ ही है । इस अन्तर अने अने मय प्रकट
 करनर विर म्भुनराज अन्तरात्न प्रकट निम्ना है ।
 और अत्र मय अन्तरात्न अन्तरात्न निम्ना है
 है । अत्र मय अन्तरात्न अन्तरात्न ॥ २४ ॥

स्तूपमानः सुरैर्गोपैः प्रविशेश स्वगोकुलम् ॥ ३४ ॥ बड़े-बड़े देवता और ग्वाल्थाल उनकी स्तुति करने लगे और भगवान् धीहृन्ग्य ब्रह्ममें चले आये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे

पूर्वर्धे ज्योत्स्नासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

अथाष्टत्रिंशोऽध्यायः

अमृताजीकी ब्रह्मपात्रा

भीमक उवाच

भीमकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! महामनि

अमृतोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ।

अमृताजी भी यह रात मधुपुरीमें वितस्कर प्रातः कर रहे होते ही रफार सवार हुए और नन्द्यामाके गोकुलकी ओर चले दिये ॥ १ ॥ परम भाम्पयान् अमृताजी

उपित्वा रथमात्म्याय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥

ब्रह्मकी यात्रा करते समय मर्ममें कमजोरपन भगवान् धीहृन्ग्यकी परम प्रमत्तगी मर्तिसे परिपूर्ण हो गये । वे इस प्रकार सोचने लगे—॥ २ ॥ मैंने पला ब्रह्म-सा

गच्छन् पथि महाभागो भगवत्पम्बुजेषुणे ।

ध्रुम कम किया है, ऐसी ब्रह्म-सी श्रेष्ठ तन्मया ब्रह्म है अथवा विष्णु सत्त्वब्रह्म पला ब्रह्म-सा महत्त्वपूर्ण दान

भक्तिं परामुपगत एवमेतदधिन्तपत् ॥ २ ॥

दिया है जिसके फलस्वरूप आज मैं भगवान् धीहृन्ग्यके दर्शन करूँगा ॥ ३ ॥ मैं बड़ा विनयी हूँ । ऐसी स्थितिमें, बड़े-बड़े सात्विक पुरुष भी जिनके गुणोंपर

किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्त परमे तपः ।

ही गान करते रहते हैं, शक्ति नहीं कर पाते—उन भगवान्के दर्शन मेरे लिये अप्सन्त दुःख है, टीक कैसे

किं वायाप्यर्हते दर्शयद् द्रव्याम्यथ केशवम् ॥ ३ ॥

॥ ४ ॥ परन्तु नहीं मुझ अफमकी भी भगवान् धीहृन्ग्यके दर्शन होंगे ही । क्योंकि जैसे नदीमें बहते हुए नौके

ममैतद् दुर्लभं मन्य उचमभोऽहदर्शनम् ।

कभी-कभी इस पारमे उस पार गया जाता है, मैंने ही सम्पत्के प्रकटने भी बर्तों काइ इस ममत्त्वब्रह्म पर

विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रबन्धनः ॥ ४ ॥

कर सकता है ॥ ५ ॥ अतएव ही भ्रम मेरे सारे अनुभूत हो गये । आज मया जन्म सत्त्व हो गया ।

मैव ममाधमस्सापि स्यादवाच्युतदर्शनम् ।

क्योंकि आज मैं भगवान्के उन चरण-यन्त्रमें स्थाव्र नमस्कार करूँगा जो बड़े-बड़े पवित्र-यन्त्रों की पर

द्वियमाणः कालनद्या कश्चित्तरति कथन ॥ ५ ॥

कर सकता है ॥ ५ ॥ अतएव ही भ्रम मेरे सारे अनुभूत हो गये । आज मया जन्म सत्त्व हो गया ।

ममाधममल्लं नष्टं फलवार्धैव मे भवः ।

क्योंकि आज मैं भगवान्के उन चरण-यन्त्रमें स्थाव्र नमस्कार करूँगा जो बड़े-बड़े पवित्र-यन्त्रों की पर

यममम्ये भगवतो पाणिभ्येषाह्वयिषुः ॥ ६ ॥

घटनके ही विषय हैं ॥ ६ ॥ अतः 'यमने' या अज मेरे ऊपर बड़ी ही इरादा है । मैंने ब्रह्म भ्रमने में इस भूतन्त्र अर्थात् स्वयं भगवान्के

कंसा यथापाकृत मज्ज्यनुग्रह

द्रव्येऽह्वयिषं प्रतिशोऽमुना हरः ।

१. वेदिकमन्त्रकः ॥

भगवान्के दर्शन मेरे लिये अप्सन्त दुःख है, टीक कैसे करूँगा ॥ ३ ॥ मैं बड़ा विनयी हूँ । ऐसी स्थितिमें, बड़े-बड़े सात्विक पुरुष भी जिनके गुणोंपर

ही गान करते रहते हैं, शक्ति नहीं कर पाते—उन भगवान्के दर्शन मेरे लिये अप्सन्त दुःख है, टीक कैसे करूँगा ॥ ३ ॥ मैं बड़ा विनयी हूँ । ऐसी स्थितिमें, बड़े-बड़े सात्विक पुरुष भी जिनके गुणोंपर

ही गान करते रहते हैं, शक्ति नहीं कर पाते—उन भगवान्के दर्शन मेरे लिये अप्सन्त दुःख है, टीक कैसे करूँगा ॥ ३ ॥ मैं बड़ा विनयी हूँ । ऐसी स्थितिमें, बड़े-बड़े सात्विक पुरुष भी जिनके गुणोंपर

कृतापतारस्य दुरत्यय सम

पूर्वेऽतरन् यमसमण्डलत्विषा ॥ ७ ॥

यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः

त्रियाश्च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।

गोधारपायानुचरैश्चरदु धने

यद् गोपिकानां कृष्णकृष्णाय ॥ ८ ॥

ब्रह्मामि नूनं मुकुपोलनासिकं

सिताम्बलोक्यरुणकज्जलोचनम् ।

मूलं मुकुन्दस्य मुञ्जालकाहत

प्रदक्षिण मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥ ९ ॥

अप्यय विष्णोर्मनुजस्वमीयुषो

भारतवताराय मुञ्जो निजेच्छया ।

लाभ्यधाम्नो भविताफलम्भनं

मम न न स्यात् फलमञ्जसा दृष्टः ॥ १० ॥

य ईश्विताहरहितोऽप्यसत्सवोः

स्रतेभसापास्तवमोभिदाभ्रयः ।

समायमाऽऽरमन् रचितैस्तदीक्षया

प्राणाक्षधीभिः नन्दनेष्वमीयते ॥ ११ ॥

वस्तुतया पञ्चन करके पहले सुगंध के अग्नि-मूर्ति इस अज्ञानरूप अपार अन्धकार-राशिकरे पार कर चुके हैं, स्वयं श्री भगवान् तो अन्धकार मूढण करके प्रकट हुए हैं ॥ ७ ॥ ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता जिन चरणवमर्शोंकी उपासना करते रहते हैं, स्वयं भगवन्की लक्ष्मी एक क्षणके छिये भी जिनकी सेवा नहीं ओढ़ती, प्रेमी मर्त्तोंके साथ बड़े-बड़े डानी भी जिनकी आराधनामें संजम रहते हैं—भगवान्के वे ही चरण-कमल गौओंको चरानेके लिये स्वाच्छात्रोंके साथ बन-कर्ममें विचरते हैं । वे ही सुर-मुनि-वन्दित श्रीचरण गोपियोंके कण स्पृश्य लगी हुई केसरसे रंग जाते हैं, विह्वल हो जाते हैं ॥ ८ ॥ मैं अवश्य-अवश्य उनका दर्शन करूँगा । भरकटमणिके समान सुस्निग्ध कर्त्तिमान् उनके कोमल कपोल हैं, तोतेकी ठोके समान लुकीछी नासिका है, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान, प्रेममयी स्मितफल, कमल-से कोमल रतनारे लोचन और करोड़ोंपर पुँचराखी अर्जुन के छटा रही हैं । मैं प्रेम और मुक्तिके परम दानी श्रीमुकुन्दके उस मुकुटमल्लका आन अवश्य दर्शन करूँगा । क्योंकि हरिन नेरी दायाँ ओरसे निकल रहे हैं ॥ ९ ॥ भगवान् विष्णु पृथ्वीका मत उतारनेके लिये स्वेच्छासे मनुष्यकी-सी कृति कर रहे हैं । वे सम्पूर्ण लवण्यके जम हैं । सौन्दर्यकी श्रुतिमन्त्र निधि हैं । आज मुझे उन्हींका दर्शन होगा । अवश्य होगा । आज मुझे लब्धनै ही आँखोंका फल मिल जायगा ॥ १० ॥ भगवान् इस काय-करणरूप जगत्के ब्रह्मात्मनः और ऐस होनेपर भी ब्रह्मापनकर आकाश उन्हें छूतक नहीं गया है । उनकी चिन्मयी शक्तिके अज्ञानके कारण होनेवाले भेदभ्रम अज्ञानसहित दूरसे ही निरस्त रहता है । वे अपनी योगमयासे ही अपने-आपमें भूक्तिस्मात्से प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदिके सहित अपने स्वरूप-भूत जीवोंकी रक्षा कर लेते हैं और उनके साथ ब्रह्मात्मनकी कुक्षीमें तथा गोपियोंके धरोमें तरह-तरहकी दीवर्ष करते हुए प्रतीत होते हैं ॥ ११ ॥

यस्यासिलाभीषहमि सुमङ्गले

वीचो विमिश्रा गुणकर्मजन्ममि ।

प्राप्नुन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति च अगद्व

यास्तद्विरक्ता श्रवणोभना मता ॥१२॥

स चावतीर्णः किल मास्वतान्वये

स्वसेतुपालामरवर्यधर्मकृत् ।

यथा वितन्वन् ब्रज आस्त इक्षरो

गायन्ति देवा यदक्षेपमङ्गलम् ॥१३॥

त त्वय नूनं महतां गतिं गुरुं

ब्रलाक्ष्यकालं दक्षिण महात्मवम् ।

रूपं दधान धिय इप्सिशास्त्रं

द्रव्ये ममावन्तुपस सुर्धना ॥१४॥

अधावरुद्ध मपदीडया रथात्

प्रधानपुनोदरणं स्थलम्भय ।

धिया धृत यागिभिरप्यहं ध्रुव

नमस्य आम्नां च मन्वीन धर्माकम् ॥१५॥

अप्यह्निमूल पठितस्य म विष्णु

दिरस्यधास्यधिरद्वैतपद्मम् ।

जब समस्त पापोंके नाशक उनके परम मङ्गलमय गुण,
कर्म और जन्मकी दीप्यधोसे युक्त होकर बाणी उनका
गान करती है, तब उस गानसे मंसारमें जीवकी स्फूर्ति
होने लगती है, शोभाकर सञ्चार हो जाता है, सारी
अपस्विताएँ धुलकर पवित्रताकर साक्ष्य हो जाता है,
परन्तु जिस बाणीसे उनके गुण, लीला और जन्मकी
कसौटी नष्ट गयी जाती, वह तो मुर्देकी ही दामित
करनवाली है, होनेपर भी नहींक सम्पन्न—धर्म
है ॥ १२ ॥ जिनक गुणगानकी ही ऐसा माहात्म्य है, व
ही भगवान् स्वयं यदुर्वशमें अवतीर्ण हुए हैं । किस्मिये ?
अपनी ही कल्पी स्पर्धाकर पड़न करनवाले धेष्ट
देवताओंका कल्याण करनेक लिये । वे ही परम
ऐश्वर्यशाली भगवान् आज ब्रजमें निवास कर रहे हैं
और वहीसे आपन पराका विस्तार कर रहे हैं । उनका
यथा कितना पवित्र है ! अहाँ, देवतायोग भी उस
सम्पूर्ण मङ्गलमय पराका गान करत रहते हैं ॥ १३ ॥
इसमें स्पष्ट नहीं कि आज मैं अवश्य ही उन्हें देखूँगा ।
वे बड़-बड़ सैन्य और हाकराओंके भी एकमात्र आश्रय हैं ।
सबक परम गुरु हैं । और उनका रूप-सौन्दर्य
सीनों लोभोंक मनका मोह अन्याय है । जा नम्रवाल
है, उनक त्रिप वह आनन्द और रसकर चरम सीमा
है । इसीमें स्वयं लक्ष्मीभी थी, या सौन्दर्यकी अधीश्वरी
है, उन्हें पानक त्रिप स्पर्शती रहती हैं । हाँ, ता मैं
उन्हें अवश्य देखूँगा । क्योंकि आज मेरा मङ्गल-प्रमाण
है, आज मुझ प्राण परासे ही अमृत-अमृत शकुन दीप्त
रहें ॥ १४ ॥

अब मैं उन्हें देखूँगा तब सर्वभद्र पुरुष ब्रह्मम तप
धीश्वरक चरणोंमें मान्यकर करनेक त्रिप मुरत गये
हूँ पूर्ण । उनक चरण पकड़ लूँगा । आह ! उनक
चरण पितन दुःख हैं । बड़-बड़ योग-यति अन्ध-
सञ्चारकरक त्रिप मन-ही-मन अन्न हृदयमें उनके चरणों-
की धारण करत हैं और मैं मैं ना उन्हें प्रपन्न पा
जाऊँगा और तब जाऊँगा उनकर । उन दोनोंक सुख ही
उनक धनदानी सुख एकदमक बरकरारक चरणोंकी भी
कामना करूँगा ॥ १५ ॥ मर अनात्म्य ! जब मैं उनक
चरणचरणोंमें निज जाऊँगा तब क्या मैं अन्ता परब्रह्म

दद्याम्य कालमुज्जरहसा

प्राद्विवातानां धरणीपिशां नृणाम् ॥१६॥

समर्पण यत्र निधाय काश्चिद्-

स्तथा बलिधाय अगत्ययेन्द्रताम् ।

यद् वा बिहारे ब्रजपापितां भयं

स्पृष्टेन सांगन्धिकान्पपाजुदत् ॥१७॥

न मय्युपैष्यत्यरिषुद्विमच्युतः

कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वरक् ।

याऽन्तर्वह्निवत्स एतदीहित

क्षेत्रज्ञ ईक्षस्यमलेन वसुपा ॥१८॥

अप्यद्भिर्मूलऽवहितं कृताञ्जलि

मामीषिता सस्वितमार्द्रया दृष्टा ।

सपथपञ्चस्तसमस्तकिन्त्रिषा

वाढा मुदं वीतविश्वरु ऊर्जिताम् ॥१९॥

सुहृद्यम ध्यातिमनन्यदंबतं

दान्मा वृहद्रथं परिरप्स्यत्तस्थ माम् ।

आत्मा हि तीर्थीक्रियत तन्व मे

बन्धव कमारमक उन्मुक्तित्यतः ॥२०॥

रुपधाह्नमर्हं प्रणतं कृताञ्जलि

मां वन्द्यतेऽमूर सतस्फुरभवाः ।

तदा वयं जन्मभूता महीयसा

नवाहता या धिगाम्य जन्म तद् ॥२१॥

मेरे सिरपर रख देंगे । उनके वे कनकमय उन व्योमके
सदाके श्रिये अममयान वे चुके हैं, जो कलकली लोके
मयसे अत्यन्त कवकककर उनकी शरण चाहते और कर्ण
आ आते हैं ॥ १६ ॥ इन्द्र तथा दैत्यराज बहने जगत्के
उन्हीं कनकमयमें पूजाधी भेंट समर्पित करके तीनों
व्योमके प्रमुख—इन्द्रपद प्राप्त कर लिये । मातृके
उन्हीं कनकमयोंने, जिनमेंसे दिव्य कनक—सी सुगन्ध
जाया करती है, अपने स्पर्शसे तत्स्थितक समय ब्रज-
पुत्रतिथ्येकी सारी पञ्चन मिट्टा दी थी ॥ १७ ॥ मैं
कंसका दूत हूँ । उसीके मंत्रनेसे उनके पास जा रहा
हूँ । वहाँ वे मुझे अपना शत्रु तो न समझ देंगे । राम
राम । वे ऐसा कदापि नहीं समझ सकते । क्योंकि वे
निर्विकार हैं, मर हैं, अमृत हैं, सारे विश्वके समीप
हैं, समस्त हैं, वे चित्तक बाहर भी हैं और भीतर भी ।
वे क्षेत्रज्ञपसे स्निग्ध होकर अन्त करणकी एक-एक चेष्टा-
को अपनी निर्गुण ज्ञानदृष्टिके द्वारा देखते रहते हैं ॥ १८ ॥
तब मेरी शब्दा अर्थ हैं । अक्षय ही मैं उनका करजोने
हाथ जोड़कर त्रिनीलमयसे बाधा हो जाऊँगा । वे मुसकरते
हुए दयायी स्निग्ध दृष्टिसे मेरी ओर देखेंगे । उस समय
मेरे जन्म-जन्मक समस्त अशुभ संस्कार उखी क्षण नष्ट
हो जायेंगे और मैं निःशङ्क होकर सदाके श्रिय परमानन्दमें
मग्न हो जाऊँगा ॥ १९ ॥ मैं उनका बुद्धिबल हूँ ।
और उनका अत्यन्त हित चाहता हूँ । उनके सिवा और
कोई मेरा आराध्यदेव भी नहीं है । ऐसी स्थितिमें मैं
अपनी लकी-लकी बौद्धोंसे एक-एककर मुझे अक्षय अपने
हृदयसे लगा लेंगे । अहा ! उस समय मेरी ता देह पवित्र
होगी ही, वह ब्रह्मरूप पवित्र कनकमायी भी क्या आपसी
और उसी समय—उनका आगिन् प्रसन्न होत ही—
मेरे कर्ममय मन्त्र, जिनके कारण मैं अनारिद्र्यसे मन्त्र
रहा हूँ, टूट जायेंगे ॥ २० ॥ जब वे मेरा आगिन् बर
चुकेँगे और मैं हाथ जोड़, सिर झुकाकर उनका सामना
करूँगा तो जाऊँगा तब मैं मुझ 'चाचा अमूर' । इस प्रकार
कनकमय सम्भाषण करेंगे । क्यों न हा, इसी पवित्र और
मधुर वक्ताक विमल कनक श्रिय ही तो मैं हीन बन
रह हूँ । तब मेरा जीवन शक्य हो जायगा । भगवान्
श्रीकृष्ण जिसका अपनापा नहीं जिसे आर नही
निया—उसका उस जन्मका, जीवनका धियार है ॥ २१ ॥

न तस्य कश्चिद् दयित मुह्यमो

न चाप्रियो ह्यप्य उपेक्ष्य एव वा ।

तथापि भक्तान् भजते यथा तथा

सुरद्वयो यद्वदुपाभितोऽर्थदः ॥२२॥

किञ्चाग्रजो मावनतं यदूचमः

सयन् परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ ।

गृहं प्रवेष्ट्वा तसमन्तस्तत्कृतं

सप्रसूयते कंसकृत स्वबन्धुषु ॥२३॥

भीष्मक उवाच

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णश्चक्रतनयाऽध्वनि ।

रयेन मोहल प्राप्तः स्वर्भास्तगिरिं नृप ॥२४॥

पदानि तस्मात्तिललोकपाल-

किरीटजुष्टामलयादरणाः ।

ददर्श गोष्ठं धितिकौतुकानि

विलक्षितान्यङ्गजयबाहुशार्धः ॥२५॥

तदर्शनाद्वादिषुदसम्प्रम

प्रम्योर्ध्वरामाभुक्लाङ्गुलेषुणः ।

रथादवस्कन्ध स तेष्वचेष्टत

प्रभारमून्यङ्घ्रिरजोत्पन्ना इति ॥२६॥

देहमृतामिपानर्थो हित्वा टम्भं भिय शुचम् ।

संदेष्टाद् यो हरेर्लिङ्गदशनभक्तादिभिः ॥२७॥

ददर्श कृष्ण राम च प्रजे गादाहनं गतौ ।

न तो उन्हें कोई प्रिय है और न तो अप्रिय । न तो उनका कोई आत्मीय सुख है और न तो शत्रु । उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है । फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालेको उनकी मुँह मोंगी वस्तु देता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजना है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी मर्त्तोंसे ही पूर्ण प्रेम करते हैं ॥२२॥ मैं उनके सामने विनीत भावसे सिर झुकाकर सजा हो जाऊँगा और कल्याणजी मुनकराते हुए मुझे अपने हृदयसे छद्म स्नेह और फिर मेरे दोनों हाथ पकड़कर मुझे घरके भीतर ले जायेंगे । वहाँ सब प्रकारसे मेरा स्त्वर करेंगे । इसके बाद मुझसे पूछेंगे कि 'कर्म हमारे घरवालोंके साथ कैसा व्यवहार करता है' ॥ २३ ॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—परिशिद् । अस्मत्तनन्दन अक्षर मार्गमें इसी चिन्तनमें डूबे-डूबे रूपमें नन्दगौर पडूँच गये और सूर्य अस्ताकल्प्य चले गये ॥ २४ ॥ जिनके चरणकमण्डल रजको सभी लोकात् अपने किरीटोंके द्वारा स्पर्श करते हैं, अक्षरजीने गोष्ठमें उनके चरणचिह्नोंके दर्शन किये । कमल, यम, अङ्कुरा आदि अस्तावारण चिह्नोंके द्वारा उनकी पञ्चाल हो रही थी और उनसे पृष्ठीकी शोभा बढ़ रही थी ॥ २५ ॥ तब चरणचिह्नोंके दर्शन करते ही अक्षरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सक, विह्वल हो गये । प्रेमके आगेसे उनका रोम-रोम खिड़ उठ, नेत्रोंमें आँसू भर आये और टपटप टपकने लगे । वे रफसे झूँक उस घूटिमें धँसने लगे और कहने लगे—'अहो ! यह हमारे प्रभुके चरणोंकी रज है' ॥ २६ ॥ परिशिद् । कर्मके संदेशसे स्वेक यहाँतक अक्षरजीके चित्तकी जैसी अवस्था रही है, यही जीवोंके गेह धारण करनेका परम लक्ष्य है । इसलिये जीवमात्रका यही परम कर्म्य है कि तम, मय और शोक त्यागकर भगवान्की मूर्ति (प्रतिमा, मत्त आदि) चिह्न, स्थान तथा गुणोंके दान-श्रवण आदिके द्वारा ऐसा ही भाव संगठन करें ॥ २७ ॥

जबमें पडूँचकर अक्षरजीने श्रीकृष्ण और कल्याण जीों भाषणोंका श्रवण सुनकर स्थानमें विराजमान लक्ष्य । स्थान-

पीतनीलाम्बरधरो शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥२८॥

किशारौ श्यामलम्बेतौ भीनिकेतौ वृद्धजौ ।

सुमुखौ सुन्दरवरो बालद्विरदक्षिमौ ॥२९॥

श्वज्वज्जङ्गुशाम्भोजैर्बिह्वितैरङ्घ्रिभिर्वज्रम् ।

शोभयन्तौ महात्मानावनुक्रोशसितेक्षणौ ॥३०॥

उदाररुधिरक्रीडौ स्रग्मिणौ वनमालिनौ ।

पुष्पगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरज्ज्वासतौ ॥३१॥

प्रधानपुरुषावाधौ जगद्धत् जगत्पती ।

अवतीर्णा जगत्पथे स्वांशेन बलकञ्जवौ ॥३२॥

दिशो वितिमिरा राजन् दुर्वाणौ प्रभया खया ।

यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाधितौ ॥३३॥

रथाचूर्णमबन्धुत्य साङ्गूरः स्नेहविह्वल ।

पपात चरणोपान्त दम्बवच्च रामकृष्णयो ॥३४॥

भगवद्दन्तनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ।

पुलक्यचित्ताङ्ग आत्कण्ठ्यात् स्वाभ्याने नाशकन्नुप३५

भगवान्ममभिप्रस्य रथाङ्गाश्रितपाणिना ।

परिरेमज्मुपाकृष्य प्रीतः प्रणतवस्सल ॥३६॥

मह्यपणश्च प्रणतमुपगुप्त महामना ।

गृहीत्वा पाणिना पाणी भ्रनयन् मानुजा गृहम् ॥३७॥

सुन्दर श्रीकृष्ण पीताम्बर पाणन किये हुए थे और गौर सुन्दर कञ्चाम्बर नीलाम्बर । उनके नेत्र शरदम्बरीन कमलके समान किये हुए थे ॥ २८ ॥ उन्होंने बड़ी निश्चिन्ता अकस्मात् प्रवेश ही किया था । वे दोनों गौर-श्याम निमित्त सौन्दर्यकी खान थे । छुटनोंका स्पर्श करनेवाली छड़ी-छड़ी मुजाएँ, सुन्दर बदन, परम मनोहर और गजराजपते समान लज्जित बाज भी ॥ २९ ॥ उनके चरणोंमें श्वज, कज, जङ्गुश और कमलके सिद्ध थे । जब वे चलेते थे, उनसे चिह्नित होकर पृथ्वी शोभायमान हो जाती थी । उनकी मन्द-मन्द मुसफ़्फ़न और कित्कन ऐसी थी, मनो दया बरस रही हो । वे ऊँचताकी तो मनो मूर्ति ही थे ॥ ३० ॥ उनकी एक-एक कृष्ण उगारता और सुन्दर कल्पसे मरी थी । गलेमें वनमाला और मणियोंके हार जगमग रहे थे । उन्होंने जमी-जमी स्नान करके निर्मल बल पहने थे और शरीरमें पवित्र अङ्गुराग तथा चन्दनका लेप किया था ॥ ३१ ॥ परीक्षित ! अमूल्य देख कि जगत्के आधिकारण, जगत्के परमपति, पुरुषोत्तम ही संस्कारकी रक्षाके लिये अपने सम्पूर्ण अंशोंसे कञ्चाम्बर और श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर अपनी अङ्गकान्तिते निश्चिन्ताके अन्धकार दूर कर रहे हैं । वे ऐसे मले मल्लम होते थे, जैसे सोनेसे मड़े हुए मयकनमणि और चाँदीके पर्वत जगमग रहे हों ॥ ३२ ३३ ॥ उन्हें देखते ॥ अमूल्यी प्रसङ्गसे अधीर होकर बसे हुए पड़े और भगवान् श्रीकृष्ण तथा ब्रह्मात्मक चरणोंके पास साधज्ज छेने गये ॥ ३४ ॥ परीक्षित ! भगवान्के दर्शनसे उन्हें इतना आह्लाद हुआ कि उनके नेत्र आँसूसे सर्वत्र भर गये । सारे शरीरमें पुत्रकञ्चरी छत्र गयी । तत्काल-वशा गद्य भर आनेके कारण वे अदना माम भी न बतल सके ॥ ३५ ॥ दशनागतकस- भगवान् श्रीकृष्ण उसका मनस माध जान गये । उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे चमकड़ित हाथोंके द्वारा उन्हें म्वाचन उग्रया और हृदयसे स्पर्श दिया ॥ ३६ ॥ इससे यात्रा जब वे परम मनमोही थीयरागमयी सज्जन स्मिति भावसे गये ही गये, तब उन्होंने उनको गद्य स्पर्श किया और उनका हृदय हाथ श्रीकृष्णने पकड़ा तथा दूसरा ब्रह्माग्नीने । दोनों भाद उन्हें घर ल गये ॥ ३७ ॥

पृष्ठाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरामनम् ।
 प्रधास्य विधिवत् पादौ मधुर्यर्काईणमाहरत् ॥३८॥
 निवेद्य गां चातिथये संवाह्य भान्तमाहरत् ।
 अन्नं बहुगुणं मेघ्यं भद्रयोपाहरत् विभु ॥३९॥
 तस्मै मुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मविद् ।
 सुलवासैर्गन्धमास्यैः परांप्रीतिं व्यधात् पुनः ॥४०॥
 पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं त्वं निरनुग्रहे ।
 कंसं जीवति दाशार्हं सौनपाळा इवावयः ॥४१॥
 योऽवधीत् स्वस्वसुतोक्तान् क्रोशन्त्या अमुषूत्सलः ।
 किं नु स्विच्छस्त्रजानां वः कुशलं विमुशामहे ॥४२॥
 इत्थं धनुतया वाचा नन्देन मुसभाजितः ।
 अक्षरः परिपृष्टेन बहवश्चपरिभ्रमम् ॥४३॥

घर ले जाकर भगवान्ने उनका यज्ञाभ्युपनिषत् कर
 किया । कुशल-मङ्गल प्रकृत श्रेष्ठ वासनपर देखा और
 विधिवत् उनके पाँव पखारकर मधुर्य (शुद्ध मित्र
 हुआ नहीं) आदि पूनाकी सामग्री मँट की ॥ ३८ ॥
 इसके बाद भगवान्ने अतिथि अक्षरजीको एक गाय दी
 और पैर दबाकर उनकी कक्षा पर की तथा बड़े
 आदर एवं भद्रासे उन्हें पवित्र और अनेक गुणोंसे युक्त
 अन्नका योजन करवाया ॥ ३९ ॥ जब वे भोजन कर चुके,
 तब धर्मके परम मर्त्य भगवान् अष्टमजीने बड़े प्रेमसे सुलवास
 (पान-इलायची आदि) और सुगन्धित माला आदि देकर
 उन्हें अत्यन्त आनन्दित किया ॥ ४० ॥ इस प्रकार
 सत्कर हो चुकनेपर नन्दरायजीने उनके पास आकर
 पूछा—अक्षरजी ! आपजोग निर्दयी कंसके जीते-जी
 मित प्रकर अपने दिन कटते हैं ? अरे ! उसके रहते आप
 जोगीकी क्या दशा है, जो कसाईद्वारा पायी हुई मेंबोंकी होती
 है ॥ ४१ ॥ जिस इन्द्रियराम पापीने अपनी क्लिष्टताई
 अपने नन्दे-नन्दे बच्चोंके मार बाध्य । आपजोग उसके प्रजा
 हैं । फिर आप सुखी हैं, यह अनुमान तो हम कर ही नहीं
 सकते हैं ॥ ४२ ॥ अक्षरजीने नन्दबाबूसे पहले ही कुशल-
 मङ्गल पूछ लिया था । जब इस प्रकार नन्दबाबूने मधुर
 वाणीसे अक्षरजीसे कुशल-मङ्गल पूछा और उनका सम्मान
 किया तब अक्षरजीके शरीरमें रास्ता चञ्चल हो कुछ
 क्लेश ही, वह सब दूर हो गयी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
 अक्षरगमन नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-वत्सलरामका मधुरागमन

श्रीमुख उवाच

मुखोपविष्टः पर्यङ्गे रामकृष्णोरुमानितः ।
 लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चक्षरः ॥ १ ॥
 किमलम्भं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।

श्रीशुक्रवैजयी कहत हैं—भगवान् श्रीकृष्ण और
 वत्सलजीने अक्षरजीका मर्त्यमौलि सम्मान दिया । वे आराम-
 से पर्यङ्ग पर बैठ गये । उन्होंने मार्गमें जो-जो अमिष्यार्थ
 की थी, वे सब पूरी हो गयी ॥ १ ॥ परिशिष्ट । स्वामीके
 आश्रयस्थान भगवान् श्रीकृष्णके प्रसन्न होनेपर ऐसी

तथापि तत्परा राजभूहि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥ २ ॥

सार्यतनाञ्जन कृत्वा भगवान् देवकीसुतः ।

सुहस्तु हृषं कंसस्य पप्रच्छान्पञ्चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

तत्त सौम्यागतः कश्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः ।

अरि स्वह्नासिषन्धूनामनमीवमनामयम् ॥ ४ ॥

किं तु नः कुलं पृच्छे एभमाने कुलामये ।

कसे मातुलनाम्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजामु च ॥ ५ ॥

अहो असदम्बु मूरि पित्रोर्बुधिनभार्ययो ।

यद्देतो पुत्रमरणं यद्देतोर्बन्धनं तयो ॥ ६ ॥

द्विष्टकर्म दर्शनं स्वानां मर्त्यं च सौम्य काङ्क्षितम् ।

मञ्जार्तं वर्धतां तत्त तवागमनकारणम् ॥ ७ ॥

श्रीसुक उवाच

पृष्टो भगवता मर्षं वर्णयामास माधव ।

वेदानुबन्धं यदुपु वसुदेववधोद्यमम् ॥ ८ ॥

यत्संदिग्धा यदर्थं वा दूतः सन्निहितः स्वयम् ।

यदुक्तं नारादेनास स्वयमानकदुन्दुभेः ॥ ९ ॥

कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त नहीं हो सकती ? फिर भी भगवान्‌के परमप्रमी भक्तजन किसी भी वस्तुका कामना नहीं करते ॥ २ ॥ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सायंकालका भोजन करनेका बाद अमूलजीके पास जकर अपने सज्जन-सम्बन्धियोंके साथ करके मन्त्रार और उसके अगले कार्यक्रमके सम्बन्धमें पूछा ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—चाचाजी ! आपका उदय क्या हुआ है । आपको यात्रामें कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? स्वागत है । मैं आपकी मङ्गलकामना करता हूँ । मयुराके हमारे आत्मीय सुहृद, कुटुम्बी तथा अन्य सम्बन्धी सब सकुशल और स्वस्थ हैं न ! ॥ ४ ॥ हमरा माम्माप्रका मन्त्र करत तो हमारे दुष्टके लिये एक मन्त्रकर म्पावि है । जबतक उसकी कृती हो रही है, तबतक हम अपने वंशवालों और उनके बाल-बच्चोंका कुशल-मङ्गल क्या पूछें ॥ ५ ॥ चाचाजी ! हमारे लिये यह सब केन्दकी बात है कि मेरे ही कारण मेरे निरपराध और स्नाचारी मन्त्र-वित्तको अनेकों प्रकारकी यातनाएँ सेवनी पड़ी—सरह-सरहके कष्ट उठाने पड़े । और तो क्या कहूँ, मेरे ही कारण उन्हें हफ्तकी-बेबीसे जकड़कर जेम्में बाल दिय गया तथा मेरे ही कारण उनके बच्चे भी मार डाले गये ॥ ६ ॥ मैं बहुत निनोसे चाहता था कि आपजोगीसे किसी-न-किसीका दर्शन हो । यह बड़ सौम्यमयी बात है कि आज मेरी यह जमिन्मया पूरी हो गयी । सौम्यमयाय चाचाजी ! अब आप कृपा करके यह कष्टार्थमें कि आपका सुभागमन किस्त निमित्तसे हुआ ? ॥ ७ ॥

श्रीसुकदेवजी कहते हैं—परितु ! जब भगवान् श्रीकृष्णने अमूलजीसे इस प्रकार प्रश्न किया, तब उन्होंने ज्ञाया कि कामने तां सभी यदुवर्षियोंसे घेर बेर ठग रकख है । यह वसुदेवजीके मार डखनेका भी उद्यम पर चुकरा है ॥ ८ ॥ अमूलजीने कंसका स्पदेश और निज उदेश्यसे उसने स्वयं अमूलजीके दूत कन्धवर भेजा था और मारदजीने निज प्रकार वसुदेवके घर श्रीकृष्ण-के जन्म लेनेका हुआत उसको बना दिया था, सो सब कह

भुत्वाकूटवचः कृष्णी बलम् परवीरहा ।

प्रहस्य नन्दं पितुं राज्ञाऽऽदिष्ट विजहत्तुः ॥१०॥

गोपान् समादिशत् सोऽपि शृङ्गतां सर्वयोरेसः ।

उपायनानि गृहीत्वा पुन्यन्तां छिष्टानि च ॥११॥

यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान् ।

द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्वयान्ति खानपदाः क्रिड ।

एवमाधोपयत् सत्त्वा नन्दगोपः स्वगोह्वले ॥१२॥

गोप्यस्तास्तदुपभृत्य बभूवुर्धर्मिता मृगम् ।

रामकृष्णौ पुरीं नेतुमकूरं प्रव्रजामगतम् ॥१३॥

काश्चित्कृत्वहृत्वापश्चात्सम्लानमुत्सथियः ।

संसृज्जुह्वलवलयकशर्प्रन्धम काश्चन ॥१४॥

अन्याश्च तदनुष्णाननिहृताऽपहृतयः ।

नाम्यज्ञानभिमं लाकृन्नामलाकं गता इव ॥१५॥

स्मरन्तस्मापराः प्रीरन्तुरागस्मिन्नरिता ।

इदिसृजधिवपदा गिराः मधुमुहुः क्षिय ॥१६॥

गतिं सुलतितां चेष्टां शिथिलामावलाकनम् ।

शाकापदानि नमानि प्रातामपरितानि च ॥१७॥

चित्पन्नया मुहुन्दस्य भीता विह्वलवरा ।

सुनाया ॥ ९ ॥ अमरजीकी यह बात सुनकर विपक्षी

शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण और अग्राम-

जी हँसने लगे और इसका अर्थ उन्होंने अपने पिता

नन्दजीको बतली आवाह सुना दी ॥ १० ॥ तब नन्द

बाबा ने सब गोयोंको आवाह दी कि 'सारा गोरस एकत्र

करो । येँकी सामग्री ले लो और एकत्रे जोड़ो ॥ ११ ॥

कम जान क्या ही हम सब मधुपुरी खज्रा करेंगे और

वहाँ चक्कर राना बँसवो गोरस दोगे । वहाँ एक बहुत

बड़ा उत्सव हो रहा है । उसे देखनेके लिये दशकी सारी

प्रजा इकट्ठी हो रही है । हमारा भी उसे देखेंगे ।'

नन्दबाबा ने गोयोंके घेतवातके द्वारा यह घोषणा सारे ब्रजमें

करवा दी ॥ १२ ॥

परिधिः । जब गोयोंने सुना कि हमारे मनमोहन

श्यामसुन्दर और गौरसुन्दर अग्रामजीको मथुरा ले जानेके

लिये अमरजी ब्रजमें आए हैं, तब उनके हृदयमें बड़ी

ध्या इई । वे व्याकुल हो गयीं ॥ १३ ॥ भगवान् श्री-

कृष्णके मथुरा जानेकी बात सुनते ही बहुतोंके हृदयमें

एसी ज्वन हुआ कि गरम सौस चढ़ने लगी, मुन्कमन्क

पुनहत्त गया । और बहुतोंकी ऐसा दशा हुई—वे इस

प्रकार ज्वेत हो गयीं कि उन्हें मिसरी हुई ओड़नी,

गिरत हुए कंल और ढील हुए जूँतकका पता न

रहा ॥ १४ ॥ भगवान्के सम्प्राप्य ध्यान आते ही बहुत-

सी गोयियोंकी चित्तवृत्तियाँ सपया निहत्त हो गयीं, मनो

बे सम्यगिति—आत्ममें स्थित हो गयीं, और उन्हें

अपन शरीर और संस्कारका कुछ ध्यान ही न रहा ॥ १५ ॥

बहुत-सी गावियोंके मामन भगवान् धारम्यग्न प्रम,

उमरि क-क- सुमरन आर ह-पर रान करन-

कागी विचिय एन्ते मुक्त मधुर बाणी माचन लगी । ब

उसमें तल्लीन हो गयीं । महित हो गयीं ॥ १६ ॥ गयियों

मनहीन भगवान्की श्रवण के च- भाव-भागी,

प्रमभरी सुमरन, चिनयन, सारे वरगैर मित्र दनरादी

छिन्नानियों तथा ठ-प्रणामी श्रीप्राज्ञोंस शिन्नन करने

लगी और उनक सिद्ध अपने करना हो गयी । उनका

हृदय, उमरन जीवन—सब कुछ भगवान्के प्रति समर्पित

समेता सङ्गशः प्राशुरधुमुत्थोऽप्युत्थशयाः ॥१८॥

गोप्य उचु

अहो विधातस्तत्र न कचिद् दया

संयाज्य मैत्र्या प्रणयनं देहिनिः ।

सांघाकृतथान् विपुनह्वयपार्थकं

विक्रीडितं तेऽमकचेष्टिषु यथा ॥१९॥

यस्त्वं प्रदद्यात्सितकुन्तलावृतं

मुहूर्न्दवक्त्रं मुकुपोलमुभयम् ।

शोकापनादस्मिन्नेवमुन्दरं

कदापि पारोक्ष्यममाधु त कृतम् ॥२०॥

मूर्त्त्यममूर्त्त्यममाप्स्यया अ न

मगुहि दत्त इरस यथाप्रयत्नः ।

यनरुदराऽवितन्मगवाष्ट्र

नदीपमद्राभ्यं यय मपुद्विष ॥२१॥

न नन्दयन् युगभङ्गमाहदः

मर्माग्रं न परुणातुगं यय ।

विदाय गदान् स्पृजनान् गुनान् पत्नी

मरान्ममदागताः नरप्रियः ॥२२॥

या । उनकी औखोसे औत्तू बह रहे थे । ये मुंड-की-मुंड
इकट्ठी होकर इस प्रकार बहने लगी ॥ १७-१८ ॥

गोपियोंने कहा—कन्य हो विधाता । तुम सब कुछ
निधान तो करते हो, परन्तु तुम्हारे हृदयमें दयाय को
भी नहीं है । पहले तो तुम सौहार्द और प्रेम्से जगत्क
प्राणियोंको एक-दूसरेके साथ जोड़ देते हो, उन्हें आपसमें
एक कर देते हो, मिला देते हो, परन्तु अभी उनकी
आशा-अभिधायणें पूरी भी नहीं हो पाती, वे तुम भी
नहीं हो पाते कि तुम उन्हें स्पर्श ही अलग-अलग कर
देते हो । सच है, तुम्हारा यह स्त्रियाँ बचोके लेखी
तरह स्पर्श ही है ॥ १९ ॥ यह कितने दु खकी बात
है । विधाता । तुमने पहले हमें प्रेमय किरण बरनेवाले
स्वाम्यमुन्दरफ मुखकमल दिखायी । कितना सुन्दर है
बह । बरनेवाले पुँचवाले बाँध बसोछोपर लटक रहे
हैं । मरकतमणिसे चिक्कने सुस्निग्ध फसोड़ और तोतेरी
चोंच-सी सुन्दर नासिका तथा अपरोपर मन्द-मन्द
मुखकमनकी सुन्दर रेखा, जो सारे दोनोंको लल्लाग
भगा देती है । बिना । तुमने एक मर ता हमें बर
परम सुन्दर मुग्नरमल निश्चया और अब उसे ही हमारी
औखोसे ओझर कर रह हो । मचमुच तुम्हारी यह
करत बहूत ही अनुचित है ॥ २० ॥ हम जानती
हैं, इसमें अनुरक्तता नहीं है; यह तो साक तुम्हारी क्रूरता
है । जाम्बवमें तुम्हारी अनुरक्त नामसे यहाँ आये हा जा
जानती ही श्री हई औने तुम हमसे मूर्त्तरी औनि
हीन रह हो । इनक इला हम काम्यमुन्दरक पन-दर
अहमें तुम्हारी सुगिरी सङ्गुल सौन्दर्य निहाली रहनी
ती । निगता । तुम्हें ऐसा नहीं कहिय ॥ २१ ॥

अह । मन्मन्मन् इत्यमुन्दरय भी नयनप लोपे
मे मेड लगनेकी चर पद गयी है । दाढ़ तो लड़ी—
इनका संग, इनका प्रप एक भुगमें ही बर्दा यय
गया । हम तो आने घर-दार, सखत-सम्पत्ति, पति-पुत्र
अन्धिय । इन्द्र इन्द्राणी यती अर इन्द्राणीके नि
अन्ध इन्द्राणी इ प शङ्कर हा रहा है । यमु य लेगे
है नि हर्ष अर दण्डेन गये ॥ २२ ॥

सुखं प्रमाता रत्नीयमाश्रितः

सत्या भूधुः पुरयोपिता ध्रुवम् ।

याः संप्रविष्टस्य मुक्तं प्रजस्वतेः

पात्यन्त्यपाङ्गोत्कलितसितासवम् ॥२३॥

वासां मुहुन्दो मधुमञ्जुभाषितै

गृहीतचित्तः परवान् मनस्व्यपि ।

कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला

ग्राम्याः सलज्जसितविभ्रमैर्ध्रुमन् ॥२४॥

अथ ध्रुवं तत्र दृष्टो भविष्यते

दाशार्हभोजान्धकपृष्णितात्वराम् ।

महोत्सवः श्रीरमण गुणास्पद

द्रक्ष्यन्ति ये चाच्चनि देवकीसुतम् ॥२५॥

भैतद्विधसाकरूपस्य नाम भू

दहूर इत्येतदसीव वारुणः ।

याऽसावनासास्य सुदुःखित जनं

प्रियातिप्रथं नेप्यति पारमध्वनः ॥२६॥

अनार्द्रधीरथ समासिता श्वं

तमन्वमी च स्वरयन्ति दुर्मदा ।

गाथा अनामि म्यत्रिरुपस्थितं

देवं च नाऽप्य प्रतिवृत्तमीहते ॥२७॥

१ नर्यथे ।

अ व त १ ४७—

आजकी रातकर प्रात करल मयुरकी बिर्योके छिये निश्चय
॥ कथा मङ्गलस्य होगा । आज उनकी बहुत दिनोंकी
अभिलाषाएँ अवश्य ही पूरी हो जायँगी । जब हमारे बन्धराज
श्यामसुन्दर अपनी निरुद्धि चितवन और मन्द-मन्द
मुसकानसे युक्त मुखरन्दिकर मादक मयु किरण करते
हुए मयुरपुरीमें प्रवेश करेंगे, तब वे उसका पान करके
कण्ठ-धन्य हो जायँगी ॥ २३ ॥ यद्यपि हमारे श्यामसुन्दर
वैर्यवान् होनेके साथ ही नन्दमया आदि गुरुजनोंकी
आशामें रहते हैं, तथापि मयुरकी पुवतिपौ अपने
मधुके समान मधुर वचनोंसे इनका चित्त बरबस
अपनी ओर खींच लेगी और ये उनकी सलज्ज मुसकान
तथा विध्यसपूर्ण भाव-मंथिसे बहरीं रम जायँगे । फिर
हम गँवार आश्विनोके पास ये छौटकर क्यों आने हगे
॥ २४ ॥ कथ्य है आज हमारे श्यामसुन्दरका दर्शन
करके मयुरके दाशार्ह, भोज, अन्धक और वृष्णिवशी
यादवके नेत्र अवश्य ही परमनन्दका साक्षात्कार करेंगे ।
आज उनके यहाँ मङ्गल उत्सव होगा । स्वप्न ही जो
लोग यहाँसे मयुर जाते हुए रमरमण गुणसागर
नटनागर देवकीनन्दन श्यामसुन्दरका मार्गमें दर्शन
करेंगे, वे भी निश्चाय हो जायेंगे ॥ २५ ॥

देखो सखी ! यह कबूर कितना निद्र, कितना
हृदयहीन है । इधर तो हम ग्रेपियों इतनी दुःखित हो
रही हैं और यह हमारे परम प्रियतम मन्दहुलारे
श्यामसुन्दरका हमारी आँखोंसे ओझा पतक बहुत दूर हो
जाना चाहता है और दो बान बहकत हमें धीरज भी
नहीं बँधना, आशामन भी नहीं दता । सचमुच ऐसे
अप्यन्त क्रूर पुरुषका 'अक्रूर' नाम नहीं हाना चाहिये
था ॥ २६ ॥ सखी ! हमारे ये श्यामसुन्दर भी तो मम
निद्र नहीं हैं । देव-नजो, वे भी रक्तर भैर मय ।
और मगबाले गोपगण इधर-वहाँ उनके साथ जानक
छिये कितनी जप्ति मक्ता रहे हैं । सचमुच ये मूख
हैं । और हमारे बह-भूद ! उन्होंने ता इन व्यगोच्य
अन्धकारी नेत्रका उपेक्षा कर दी है कि 'जाआ जो
मनमें लाये, वगे ।' अब हम क्या करें ? आज गिजाना
मर्कटा हमारे प्रतिवृत्त पाछ कर रहा है ॥ २७ ॥

निवारयामः समुपेत्य माधवं

किं नोऽकरिष्यन् कुलबुद्धमान्धवाः ।

मुकुन्दसङ्गाभिनिवार्यदुस्त्यजावू

देवेन विष्णुसिखीनघेतसाम् ॥२८॥

यस्यानुरागललितस्मितबल्युमन्त्र

लीलावलोकपरिरम्भणरासयाप्याम् ।

नीताः स नः क्षणमिव क्षणदा विना तं

गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तस् ॥२९॥

योऽहः धृये ब्रजमनन्तसखः परीतो

गोपैर्विशन् सुररत्नश्रुतितालकस्तक् ।

वेणुं कवन् सितकटाक्षनिरीक्षणेन

चित्तं क्षिप्तोऽस्यमुमुते नु कथं भवेम ॥३०॥

भीमक उवाच

एवं भुवाणा विरहातुरा मुधं

ब्रजस्त्रियः कृष्णविपक्तमानसाः ।

विसृज्य लज्जां रुद्रुः स सुखर

गाबिन्द दामोदर माधवेति ॥३१॥

स्त्रीणामिव रुदन्तीनामुदिसे सधितर्यथ ।

मक्रभोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥३२॥

गोपास्तमन्वसन्धन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः ।

आदायोपायनं भूरि कुम्भान् गोरससम्पृत्तान् ॥३३॥

अबे, हम सय ही चक्कर अपने प्राणप्यारे
स्यामसुन्दरको रोकेगी; तुम्हारे बड़े-बड़े और बन्धुजन
हमारा क्या कर लेंगे ? खरी सखी ! हम आपके हमके
लिये भी प्राणवन्धन नन्दनन्दनकर सङ्ग छोड़नेमें असमर्थ
थी । आज हमारे दुर्भाग्यने हमारे सामने उनका स्त्रियोग
उपस्थित करके हमारे चित्तको तिनह एवं धक्कन कर
दिया है ॥ २८ ॥ सखियो ! जिनकी प्रेममयी मनोहर
मुसकान, रहस्यकी मीठी-मीठी कर्त, विस्मयपूर्ण कितकन
और प्रेमालिङ्गनसे हमने रासकीवकी वे रात्रियाँ—जो
बहुत विशाल थीं—एक क्षणके सम्पन्न कित दी थीं ।
अब मलय, उनके बिना हम उनहीकी दी हुई वपार
विरहव्याकाश पार कैसे पावेंगी ॥ २९ ॥ एक दिनकी
नहीं, प्रतिदिनकी बात है, सत्यकृष्णमें प्रतिष्ठित वे
म्यलक्ष्मणसे घिरे हुए कल्याणकी साधन से गौर
चराकर छीटते हैं । उनकी काली-काली धुँवरकी अर्धों
और गलेके पुष्पाहार गौओंके सुरकी रजसे ढके रहते
हैं । वे बौंसुरी बजाते हुए अपनी मन्द-मन्द मुसकान
और तिरछी चितकनसे देख-देखकर हमारे हृदयका
वेव बखसे हैं । उनके किमा मलय, हम कैसे भी
सकेंगी ? ॥ ३० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । गोप्ति

वाणीसे तो इस प्रकार कहा रही थी, परन्तु उनका
एक-एक मनोभाव भागवन् श्रीकृष्णका स्पर्श, उनका
आलिङ्गन कर रहा था । वे विरहकी सम्भावनासे अत्यन्त
व्याकुल हो गयीं और अजब छोड़कर रहे गोविन्द ।
दामोदर ! हे माधव !—इस प्रकार जैसी आत्माके
पुकार-पुकारकर सुखस्थित स्त्रियोंसे राने काँटें ॥ ३१ ॥
गोप्तिमें इस प्रकार हो रही थी । रोते-रोते सारी छ
पीत गयी, सूर्पेन्द्रय हुआ । अक्रूरजी सम्प्रा-
आदि नित्य कर्मसे निवृत्त होकर रात्र रात्र सगार हुए
और उसे हाँक ले चले ॥ ३२ ॥ मन्वशाका अति
गोरोनि भी बूध, दही, मक्कन, श्री आदिसे भरे मटने
और भेंटकी बहुत-सी सामग्रियों ले थी तथा ।
छात्रोंपर चढ़कर उनके पीछे-पीछे चले ॥ ३३ ॥

गोप्यं दधित कृष्णमनुव्रज्यानुव्रजिता ।

प्रत्यावेष्टं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्वासस्थिरे ॥३४॥

तास्तथा तप्यतीर्षीह्य स्वप्रस्थाने यदुत्तमः ।

सात्स्वयामास सप्रमैरावास इति दौत्यकैः ॥३५॥

यावदात्मन्यते कैतुर्यावद् रेणु रथस्य च ।

अनुप्रस्थापितस्मानो छेस्त्वानीशोपलक्षिता ॥३६॥

ता निराशा निवृत्तुर्गोविन्दविनिर्वाते ।

विशोकं ब्रह्मी नित्युर्गामन्त्यः प्रियेष्वेष्टितम् ॥३७॥

भगवानपि सम्प्राप्तो रामाङ्कुरयुतो नृप ।

रथेन वायुवेगेन काठिन्दीमधनाश्रिनीम् ॥३८॥

तत्रोपसृष्टश्च पानीय पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ।

बुधपण्डसुवग्रज्य सरामो रथमाविष्टम् ॥३९॥

अङ्कुरस्तावुषामन्य निवेश्य च रथोपरि ।

कालिन्द्याद्दमागत्य ज्ञानं विधिबदाचरत् ॥४०॥

निमग्न्य सस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्मसनातनम् ।

तावेष दृष्टोऽङ्कुरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥४१॥

तौ रथसौ कपमिह सुतावानकदुन्दुभेः ।

इसी समय अनुरागके रंगमें रंगी हुई गोपियों अपने प्राणप्यारे श्रीकृष्णके पास गयीं और उनकी क्लिप्त, मुसकन आदि निरन्तर कुछ-कुछ सुखी हुईं । अब वे अपने प्रियतम श्यामसुन्दरसे कुछ सम्देश पानेकी आकाङ्क्षासे लगी खड़ी हो गयीं ॥ ३४ ॥ यदुर्वशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने देख कि मेरे मधुर जानेसे गोपियोंके हृदयमें लगी जलन हो रही है, वे सन्तप्त हो रही हैं, तब उन्होंने दूतके द्वारा श्री आर्जुना यह प्रेम-सन्देश भेजकर उन्हें घोरत बौधाय ॥ ३५ ॥ गोपियोंको सक्तक रक्सी पक्का और पड़ियोंसे ठकती हुई घूल दीखती रही, तक्तक उनके शरीर चित्रलिखित-से लगी ज्यों-के-त्यों खड़े रहे । परन्तु उन्होंने अपना चित तो मनमोहन प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके साथ ही भेज दिया था ॥ ३६ ॥ अभी उनके मनमें आशा थी कि शायद श्रीकृष्ण कुछ दूर जाकर छैट जायें । परन्तु अब नहीं छैटे, तब वे निराशा हो गयीं और अपने-अपने घर लगी आयीं । परीक्षित । वे रात-दिन अपने प्यारे श्यामसुन्दरकी वीक्षणार्थक गान करती रहतीं और इस प्रकार अपने शेषकस्त्यापको हन्का करतीं ॥ ३७ ॥

परीक्षित । इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी कलरमजी और अङ्कुरजीके साथ वायुके समान वेगवत्ते रथपर सवार होकर पापनाशिनी यमुनाजीके किनारे जा पहुँचे ॥ ३८ ॥ वहाँ उन जोगीने हाथ-मुँह धोकर यमुनाजीका शक्तमणिके समान नीला और अमृतके समान मीठा जल पिया । इसके बाद अङ्कुरमजीके साथ भगवान् शोधोके हृत्पुत्रमें लगे रथपर सवार हो गये ॥ ३९ ॥ अङ्कुरजीने दोनों माध्योंको रथपर बैठाकर उनसे आज्ञा ली और यमुनाजीके कुण्ड (अनन्त-तीर्थ या ब्रह्माब्द) पर जाकर वे विधिपूर्वक स्नान करने लगे ॥ ४० ॥ उस कुण्डमें स्नान करनेके बाद वे जलमें बुझपी छत्रकर गायत्रीका जप करने लगे । उसी समय उनके भीतर अङ्कुरजीने देख कि श्रीकृष्ण और अङ्कुरम दोनों यहाँ एक साथ ही बैठे हुए हैं ॥ ४१ ॥ अब उनके मनमें यह शङ्का हुई कि आशुदेवजीके पुत्रोंको तो मैं रथपर बैठा जाया हूँ, अब वे यहाँ जलमें कैसे आ गये ?

तर्हि स्त्रित् स्यन्दने न स्तइत्युन्मन्त्र्य व्यपष्ट सः ॥४२॥

तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।

न्यमन्त्र्य दर्शनं यन्मे मृपा किं मलिले तयोः ॥४३॥

भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तुयमानमहीश्वरम् ।

सिद्धचारणगन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥४४॥

सहस्रधिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् ।

नीलाम्बरं विस्रज्येत मृगैः श्वेतमिव म्बितम् ॥४५॥

तस्मैत्सङ्गे घनश्यामं पीतकैशेयवाससम् ।

पुरुषं चतुर्भुजं ज्ञान्त पद्मपत्रारणेक्षणम् ॥४६॥

चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ।

सुभ्रमसं चारुकर्णं मुकुपोलारुणाधरम् ॥४७॥

प्रलम्पपीवरमुजं तुङ्गासोरःस्थलभियम् ।

कम्पुकुण्डं निम्ननाभिं वलिमत्पङ्खादरम् ॥४८॥

वृहत्कटितटभोमिकरमोरुद्वयान्वितम् ।

चारुजलसुरां चारुजहायुगलसंयुतम् ॥४९॥

सुहृत्पुत्रारुणनन्ववातदीधितिर्मिहृतम् ।

नवाङ्गुलपङ्कटैर्षिलसत्पादपङ्कजम् ॥५०॥

सुमहार्दमणिवातकिरीटकटकाङ्गदैः ।

कनिष्ठत्रयसमुद्यदारान् पुरकुण्डलैः ॥५१॥

जब यहाँ हैं तो शायद रणपर नहीं होंगे । ऐस

सोचकर उन्होंने सिर बाहर निकालकर देखा ॥ ४२ ॥

वे उस रणपर भी पूर्ववत् बैठे हुए थे । उन्होंने क

सोचकर कि मैंने उन्हें जो जज्में देखा था, वह भ

ही रहा होगा, फिर डुकरी खापी ॥ ४३ ॥ परन्तु

फिर उन्होंने वहाँ भी देखा कि साराष्ट्र कन्तदेव

भीषेणजी किशोर्बमान हैं और सिद्ध, चरण, गन्धर्व एवं

असुर अपने-अपने सिर झुककर उनकी स्तुति कर

रहे हैं ॥ ४४ ॥ शेषजीके ह्वावर सिर हैं और प्रत्येक

फणपर मुकुट सुशोभित है । कमलनालके समान

उज्ज्वल शरीरपर नीलाम्बर धारण किये हुए हैं और

उनकी ऐसी शोभा हो रही है, मानो स्रज सिक्कसे

युक्त श्वेतगिरि कैलास शोभायमान हो ॥ ४५ ॥

जबूरजीने देखा कि शेषजीकी गोदमें श्याम मेकके

सम्पन्न घनश्याम किशोर्बमान हो रहे हैं । वे तस्मै

पीताम्बर पहने हुए हैं । बड़ी ही शान्त चतुर्भुज मूर्ति

है और कमलके रत्नछके सम्पन्न रत्नार नेत्र हैं

॥ ४६ ॥ उनका वदन बड़ा ही मनोहर और प्रसन्नका

स्मन है । उनका मुख हास्य और आकृष्टित

चितको पुराने जैसी है । मीहें सुन्दर और नास्ति

तनिक ऊँची तथा बड़ी ही सुवच है । सुन्दर का

कमल और लज्ज-लज्ज अवर्णनी छत्रा निरुद्धी ही

॥ ४७ ॥ वीहें घुटनोतक लंबी और हृदय-गुह हैं

कंचे ऊँच और कठ स्पष्ट लक्ष्मीवीक वाभ्यन्तान है

शङ्खके समान उत्तर चक्रवाक्य सुदौल गन्ध, गन्ध

नाभि और त्रिकलीपुष्प उदर पीपलके पत्तेके सम

शोभायमान है ॥ ४८ ॥ स्पृष्ट कटिप्रदेश और निम्न

हापीकी सूँठके समान जोंघें, सुन्दर घुटने एवं शिबि

हैं । एकीके ऊपरकी गोंठें उमरी हुई हैं और लज्ज-अ

नबोंसे दिव्य ओतिर्गम्य किरणें फैल रही हैं । चरण

कमलकी अंगुष्ठियों और अंगुठे मयी और केश

पैशुधियोंके सम्पन्न सुशोभित हैं ॥ ४९, ५० ॥ अफ

बहुमूल्य मणिजोंसे जड़ा हुआ मुकुट, कने, शङ्ख

करघनी, हार मृगुर और कुण्डलसे तथा यशोवती

का दिव्यमूर्ति अङ्कुरित हो रही है । एक हाथमें



सरोवरमें अकूलीको भगवद्दर्शन

प्राज्ञमानं पश्यकरं शङ्खचक्रगदाधरम् ।

भीवत्सवसुसं प्राज्ञत्वेस्तुर्म वनमालिनम् ॥५२॥

सुनन्दनन्दप्रसन्नैः पार्ष्णैः सनकादिभिः ।

सुरेन्द्रैर्मन्त्ररुद्राद्यैर्नभिमक्ष द्विजोत्तमैः ॥५३॥

प्राज्ञादनारदवसुप्रमृत्तैर्भागवतोत्तमैः ।

स्तुयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलत्सभिः ॥५४॥

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या क्रीत्वा तुष्टयेलमोर्जया ।

विद्ययाविद्यया क्षत्त्या मायया च निषेवितम् ॥५५॥

विलोक्य सुसृष्टं प्रीतो भक्त्या परमया युतः ।

हृष्यचक्रुहो भागपरिहृष्टारमलोचन ॥५६॥

गिरा गद्गदयास्तौपीत् सख्यमालम्ब्य सात्वतः ।

प्रणम्य मृज्जावहितः कृताञ्जलिप्लुतः क्षनैः ॥५७॥

श्रीमा पा रहा है और शेष तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा, कक्ष स्फुर्य श्रीकृतक चिह्न, गलेमें कौस्तुभ मणि और वनमाल्य छटक रही हैं ॥ ५१-५२ ॥ नन्द-सुनन्द आदि पार्ष्ण अपने 'स्वामी', सनकादि परमर्षि 'परब्रह्म', ब्रह्मा, महादेव आदि देवता 'सर्वेश्वर', गरीषि आदि नौ ब्रह्मण 'ब्रह्मपति' और प्रह्लाद-नारद आदि भगवान्‌के परम प्रेमी मक्त तथा आठों वसु अपने परम प्रियतम 'भगवान्' समझकर मित्र-मित्र भावोंके अनुसार निर्दोष वेदवाणीसे भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं ॥ ५३-५४ ॥ साथ ही क्षत्री, पुष्टि, सरस्वती, कान्ति, क्षीर्ति और तुष्टि (अर्थात् ऐश्वर्य, कृष्ण, हान, शी, यज्ञ और वैराग्य—ये पदैश्वर्यरूप शक्तियाँ), इत्य (सन्धिनीरूप पृथ्वी-शक्ति), उर्जा (क्षीयशक्ति), विद्या-अविद्या (जीवोंके मोक्ष और बन्धनमें कारणरूपा बहिरङ्ग शक्ति), ज्ञादिनी, संविद् (अन्तरङ्ग शक्ति) और माया आदि शक्तियाँ मूर्तिमान् होकर उनके सेवा कर रही हैं ॥ ५५ ॥

भगवान्‌की यह शौकी निरखकर जक्रुजीक इन्म परमानन्दसे लालाय मर गया । उन्हें परम भक्ति प्राप्त हो गयी । सारा शरीर हयविशसे पुनक्ति हो गया । प्रेममग्नय उद्रेक होनेसे उनके नेत्र औमसे मर गये ॥ ५६ ॥ अब अमृतजीने अपना साहस बटोरकर भगवान्‌के चरणोंमें सिर रखकर प्रणम किया और वे उसके पाद हाथ जोड़कर यही सावधानीसे धीरे-धीरे गद्गद स्वरसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वविष्ट

प्रनिधाने एवमेनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

भगवत्कीके द्वारा भगवान् श्रीहृष्णकी स्तुति

अनुर उवाच

नवाऽस्म्यहं त्वाविलहसुहसं

नारायणं रूपमाद्यमभ्ययम् ।

भगवत्की वास—प्रभो । आप प्रष्टी आपि सम्मन चरणोंके परम वर्य्य हैं । अथ ही अविनाशा पुण्योक्त नारायण हैं तथा आप ही अभिमतसे उन कृपावीर्य

यथाभिधातद्विन्दकोशात्

मद्याऽऽविरासीव यत् एष लोकः ॥ १ ॥

भूतोयमग्निः पवनः समादि

महानचादिर्मन इन्द्रियाणि ।

सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे

ये हेतवस्ते अगतोऽङ्गमूलाः ॥ २ ॥

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते

ब्रह्मादयोऽनात्मतया गृहीताः ।

अयोऽनुबद्धः स गुणैरन्नामा

गुणात् पर वेद न ते स्वरूपम् ॥ ३ ॥

त्वां योगिना यजन्त्यद्वा महापुरुषमीश्वरम् ।

साध्यात्म साभिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥ ४ ॥

त्रय्या च विद्यया केचित् त्वां वै वैतानिका द्विजाः ।

यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराम्यया ॥ ५ ॥

एके स्वाभिलक्ष्मणि संन्यसोपश्रमं गताः ।

ज्ञानिनो ज्ञानपथेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥ ६ ॥

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।

यजन्ति स्वामपास्तां वै बहुमूर्त्यैकमूर्तिकम् ॥ ७ ॥

स्वामेवान्ये शिवाकन मार्गेण शिवरूपिणम् ।

यद्वापापविमेदेन भगवन् समुपासते ॥ ८ ॥

सर्वे एव यजन्ति त्वां सब्रह्मण्येश्वरम् ।

आविर्भाव इत्या है, किन्हींने इस चराधर जगत्की स्तुति की है । मैं आपके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अद्भुत, महत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, इन्द्रिय, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियम और उनके अधिष्ठातृदेवता—यही सब चराधर जगत्

तथा उसके व्यवहारके कारण हैं और ये सबके-सब आपके ही अङ्गस्वरूप हैं ॥ २ ॥ प्रकृति और प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थ 'भूतवृत्ति' के द्वारा प्रलय किये जाते हैं, इसलिये ये सब अनात्म हैं । अनात्म होनेके कारण जब हैं और इसलिये आपको स्वरूप नहीं जान सकते । क्योंकि आप तो स्वयं आत्मा ही छवें ।

ब्रह्माभी अवश्य ही आपके स्वरूप हैं । परन्तु वे प्रकृतिके गुण रजस्से युक्त हैं, इसलिये वे भी आपकी प्रकृतिका और उसके गुणोंसे परेका स्वरूप नहीं जानते ॥ ३ ॥

साधु योगी स्वयं अपने अन्तःकरणमें स्थित 'अन्तर्मयी' के रूपमें; समस्त भूत-भौतिक पदार्थोंमें व्याप्त 'परमेश्वर'के रूपमें और सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवमण्डलोंमें स्थित 'भूतदेवता' के रूपमें तथा उनके साथी महापुरुष एवं नियन्ता ईश्वरके रूपमें साक्षात् आपकी ही उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

बहुतसे कर्मकाण्डी ब्रह्मण कर्ममार्गिक उपदेश करनेवाली श्रयीविद्याके द्वारा, जो आपके इन्द्र, अग्नि आदि अनेक देवताधक नाम तथा ब्रह्मस्त, सप्तर्षि आदि अनेक रूप अवस्थी है, बड़े-बड़े यज्ञ करते हैं और उनसे आपकी ही उपासना करते हैं ॥ ५ ॥ बहुतसे ज्ञानी अपने समस्त कर्मोंका संन्यस कर देते हैं और शान्तभावमें स्थित हो जाते हैं । वे इस प्रकार ज्ञानपथके द्वारा ज्ञानस्वरूप आपकी ही आराधना करते हैं ॥ ६ ॥

और भी बहुतसे संस्कारसम्पन्न अपना दृढचित्त देवाय-जन आपकी कृतग्रही इष्टपात्राद्य आदि विधियोंसे तन्मय होकर आपके अनुमूर्ख आदि अनेक और मारायनरूप एक स्वरूपकी पूजा करते हैं ॥ ७ ॥ भगवन् ! इससे योग शिवाकी द्वारा कृतग्रहे इष्ट मार्गसे, त्रिसक आचार्य भेत्से अनेक अवान्तर-भेद भी हैं । शिवस्वरूप आपकी ही पूजा करते हैं ॥ ८ ॥

सामिन् ! जो लोग दूसरे देवताओंकी मति करते हैं और उन्हें आपसे भिन्न समझते हैं, वे सब भी वास्तवमें आपकी ही आराधना

येऽप्यन्यदेवतामक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ ९ ॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिता प्रभो ।

विद्यन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वन्वा गतयोऽन्ततः ॥ १० ॥

सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।

तेषु हि प्राकृताः प्रोक्ता आमासस्यावरादयः ॥ ११ ॥

तुभ्य नमस्तेऽस्तुर्विपकटपदे

सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।

गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः

प्रवर्तते दबनृतिर्यगात्मसु ॥ १२ ॥

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं

सूर्यो नमो नामिरयो दिक्षु श्रुतिः ।

धौः कः सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवा

हृदिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १३ ॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा

मेघा परत्नाम्यिनस्तानि तेऽङ्गयः ।

निमेषणं राष्ट्रपह्नी प्रजापति

मैत्रेस्तु वृष्टिस्तव कीर्यमिष्यते ॥ १४ ॥

स्वयम्ययारम्भं पुरुषे प्रकल्पिता

साक्षा सपाठा बहुजीवसङ्कुला ।

यथा जले घट्टिहते जलाकृता

ऽप्युदुम्बर वा मनुक्का मनोमये ॥ १५ ॥

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनाथ विभर्षि हि ।

तैरामृतपुष्पा लोका मुदा गापन्ति ते यशः ॥ १६ ॥

पराते हैं, क्योंकि आप ही समस्त देवताओंके रूपमें हैं और सर्वेश्वर भी हैं ॥ ९ ॥ प्रभो ! जैसे पर्वतोंसे सब ओर बहने-सी नदियाँ निकलती हैं और वरक जड़से भरकर घूमती-घामती समुद्रमें प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही सभी प्रकारके उपासना-मार्ग घूम-घामकर तेर-स्वरे आपके ही पास पहुँच जाते हैं ॥ १० ॥

प्रभो ! आपकी प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । ब्रह्मासे लेकर व्याकरपर्यन्त सम्पूर्ण चरत्कर जीव प्राण हैं और जैसे वक्र सूत्रोंसे औतप्रोत रहते हैं, वैसे ही ये सब प्रकृतिके उन गुणोंसे ही औतप्रोत हैं ॥ ११ ॥ परन्तु आप सर्वस्वरूप होनेपर भी उनके साथ स्थित नहीं हैं । आपकी दृष्टि निर्दिष्ट है, क्योंकि आप समस्त वृत्तियोंके साक्षी हैं । यह गुणोंके प्रवाहसे होनेवाली सृष्टि अज्ञानमूल्य है और बहु देवता मनुष्य, पशु-पक्षी आदि समस्त योनियोंमें व्याप्त है; परन्तु आप उससे सर्वथा अलग हैं । इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥ अग्नि आपको मुख है । पृथ्वी चरण है । सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं । आकाश नाभि है । शिखर कान हैं । स्वर्ग स्तिर है । देवेन्द्रगगन मुनारों हैं । समुद्र कोष्ठ है और यह वायु ही आपकी प्राणदायिकी रूपमें उपासनाके लिये कथित हुई है ॥ १३ ॥ वृष्ट और ओषधियाँ रोम हैं । मेघ स्निग्धे वक्रा हैं । पवन आपके अम्बिसमूह और नय हैं । तिन और रज पटकोंका आवरण और धीमता है । प्रजापति जननद्विषय हैं और वृष्टि ही आपका पीप है ॥ १४ ॥ अविनाशी मरुत् । मैंसे जड़में बहुतसे जड़का जीव और पशु-पक्षियोंमें नहने-नहने कर रहे हैं, उसी प्रकार उपासना-विषय ब्रह्म आत्मका मनस्वय पुण्यरूपमें जनक प्रकारक जीव-जन्तुओंसे भर हुए धार और उनके व्यवसाय कथित किये गए हैं ॥ १५ ॥ प्रभो ! जन कीड़ा करनेके लिये पृथ्वीपर जो-जो रूप धारण करते हैं, वे सब जनकर आपकी शोकमहद्वय मोक्षदा देने हैं और तिन सब जीव का जनकमे आकर निज पालन करने

नमः करणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।

इयंशीर्षे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥

अक्षपाराय वृते नमो मन्दरधारिणे ।

क्षिप्तपुद्गारविहाराय नमः सुकरमूर्तये ॥१८॥

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।

वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥

नमो सुगुणां पतये दत्तसत्रबनच्छिदे ।

नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥

नमस्ते बासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमाहिने ।

म्लच्छप्रायस्रहन्त्रे नमस्ते कटिकरूपिणे ॥२२॥

भगवद्भीषलाकोऽर्थ माहितस्तत्र मायया ।

अहंममेत्यसद्वाहो भ्राम्यते कर्मवर्मसु ॥२३॥

अहं नामा मन्नागारदारार्थम्यजनादिषु ।

भ्रमामि मयप्रयेषु मूढः सत्यधिया विभा ॥२४॥

करते हैं ॥ १६ ॥ प्रभो ! आपने केरों, श्रियो, ओषधियों और सख्यता आदिकी रक्षा-दीक्षा के लिये मत्स्यरूप धारण किया था और प्रलयके समुद्रमें सञ्चर विहार किया था । आपके मत्स्यरूपको मैं नमस्कार करता हूँ । आपने ही मधु और कैटभ नामके ऋषोंका संहर करनेके लिये हृषीकेश अवतार ग्रहण किया था । मैं आपके उस रूपको भी नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥ आपने ही वह विशाल कच्छरूप ग्रहण करके मन्दरपर्वतको धारण किया था, आपको मैं नमस्कार करता हूँ । आपने ही पृथ्वीके उद्धारकी छीज करनेके लिये बज्ररूप स्वीकार किया था, आपको मेरे बार-बार नमस्कार ॥ १८ ॥ प्रह्लाद-जैसे साधुजनोंका भेदन्य मिटानेवाले प्रभो ! आपके उस अजीविकृत घुस्तिरूपको मैं नमस्कार करता हूँ । आपने वामनरूप ग्रहण करके अपने फाँसे तीनों लोक नाप लिये थे, आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १९ ॥ धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले धर्मही क्षत्रियोंके वनका छेदन कर देनेके लिये आपने रघुपति परशुरामरूप ग्रहण किया था । मैं आपके उस रूपको नमस्कार करता हूँ । रावणका नाश करनेके लिये आपने रघुवशने भक्तान् रामके रूपसे अवतार ग्रहण किया था । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥ वैष्णवजनों तथा यदुवंशियोंका प्रबलन-योग्य करनेके लिये आपने ही अपनेको बासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्भुजके रूपमें प्रकट किया है । मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥ दैत्य और दानवोंको मोहित करनेके लिये आप सुब्रह्म अहिसमर्थके प्रकटय बुद्धका रूप ग्रहण करेंगे । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । और पृथ्वीके क्षत्रिय जन म्लेच्छप्राय हो जायेंगे, तब उनका नाश करनेके लिये आप ही कटिके रूपमें अवतीर्ण होंगे । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥

मग्नत् । ये सप्त-ये-सप्त जीव आपकी मयासे मोहित हो रहे हैं और इस मोहके कारण ही यह मैं हूँ और यह मेरा है । इस छोटे दुराग्रहमें पँसकर धर्मके मार्गमें भटक रहे हैं ॥ २३ ॥ मेरे मामी ! इसी प्रकार मैं भी स्वप्नमें गीतगोपाल पण्डित समान भूते दहन्ते, पत्नी पुत्र और मन्त्रजन आश्रित सप्त समन्तर उगीत गीतमें पँस रहा हूँ और भटक रहा हूँ ॥ २४ ॥

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्बहिम् ।

द्रन्दारामस्तमोविद्यो न जानते त्वाऽऽत्मनः प्रियम् ॥२५॥

यथापुधो जल हित्वा प्रतिच्छन्न तदुद्भवैः ।

अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाह पराङ्मुख ॥२६॥

नोत्सहेऽहं कृपणभीः कामकर्महृत् मन ।

रोदधुं प्रमाथिभिर्बाह्वीर्यमप्यमिवस्त ॥२७॥

सोऽह त्वाह्व्युपगतोऽस्म्यसतां दुरागं

तथाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।

पुंसो मवेदु यदि संसरणापवर्ग

स्वव्यवज्जनाम सद्गुणामनया मति सात् ॥२८॥

नमा विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहृतये ।

पुरुषप्रधानाय प्रमाणजन्यशक्तये ॥२९॥

नमस्ते वासुदवाय सवभूतधपाय च ।

मेरी मूर्खता तो देखिये, प्रभो ! मैं अनित्य वस्तुओंको नित्य, अनामात्रके आत्मा और दुःखके सुख समझ लिया । मन्त्र इस उच्छ्ठी बुद्धिभी भी कोई सीमा है ! इस प्रकार अज्ञानवशा संसारिक सुख-दुःख आदि द्रन्द्वोंमें ही रम गया और यह जान निकलून भूल गया कि आप ही हमारे सच्चे प्यारे हैं ॥ २५ ॥ जैसे कोई जनज्ञान मनुष्य जल्क स्थिते तात्पर्यपर जाय और उसे उसीसे पैग हुए मित्रार आदि बातोंसे बहर देखकर ऐसा समझ ले कि यहाँ जल नहीं है, तथा सूर्यकी किरणोंमें घटमूठ प्रतीत होनेवाले जलके स्थिते मृगनृज्याकी ओर दौड़ पड़, वैसे ही मैं अपनी ही मायासे छिपे रहनेके कारण आपको छोड़कर विषयोंमें सुखकी आशसे भटक रहा हूँ ॥ २६ ॥ मैं अविनाशी अमर वस्तुके ज्ञानसे रहित हूँ । इसीसे मेरे मनमें जनक वस्तुओंकी परमता और उनके स्थिते फल बतानेके सङ्घर्ष उठते ही रहते हैं । इसके अनिरुद्ध ये इन्द्रियों भी जो बड़ी प्रबल एवं दुर्गमनीय हैं, मनको मय-मषकर बन्धुरक इधर उधर घसीट ले जाती हैं । इसीस्थिते इस मनफटे मैं राक नहीं पाता ॥ २७ ॥ इस प्रकार भगवता हुआ मैं आपके उन धारणकर्त्तव्योंकी लक्ष्यप्रयत्न आ पहुँचा हूँ, जो दुष्टोंके स्थिते दुःख हैं । मेरे स्वामी ! इसे भी मैं आपका इयप्रसाद ही मानता हूँ । क्योंकि परमात्म । जब जीवक संसारमें मुक्त होने-का समय आता है, तब सन्तुष्टोंकी उपासनासे विचलित अपने स्थाना है ॥ २८ ॥ प्रमा । अथ कवड विज्ञान स्वरूप है विज्ञानपद है । त्रिन्मी भी प्रतीतियों हानी है त्रिन्मी भी वृत्तियों है, उन सबका आप ही प्रमाण अथ अधिष्ठान है । जीवक रूपमें एवं जीवोंके सुख-दुःख आदि निमित्त पाद, धम, स्मार तथा प्रतीति रूपमें भी आप ही हैं । तथा आप ही उन सबके निष्कर्षा भी हैं । आपकी शक्तियों जनन ह । अथ सर्व ह । ॥ २९ ॥ प्रमा । अथ ही वस्तुका आप ही स्थान जीवोंके अन्तर (सङ्घर्ष) है । तथा आप ही मुक्ति का मनक अङ्गिष्ठम्

हृषीकेश नमस्तुभ्य प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥ ३० ॥

देवता हृषीकेश (प्रभुसु और अनिरुद्ध) हैं । मैं आपसे बार-बार नमस्कार करता हूँ । प्रभो ! आप मुझ शरणागतनी रक्षा करजिये ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽङ्कुर
स्तुतिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका मयुपजीमें प्रवेश

श्रीकृष्ण उवाच

स्तुवतस्त्व भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः ।

भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः ॥ १ ॥

सोऽपि चान्वर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मन्य सत्वरः ।

कृत्वा चावश्यक सर्वं विभितो रथमागमत् ॥ २ ॥

तमपृच्छहृषीकेशः किं ते दृष्टमिहानुतम् ।

भूमौ विपति वोधे वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥ ३ ॥

अकूर उवाच

अनृत्तानीह भावन्ति भूमौ विपति वा जले ।

त्वमि विद्यात्मकतानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥ ४ ॥

यत्रानुत्तानि सर्वाणि भूमौ विपति वा जले ।

तं स्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहानुतम् ॥ ५ ॥

इत्युक्त्वा बोदयामास सन्दर्शनान्दिनीसुतः ।

मयुरामनयद् राम कृष्ण चैव दिनास्थये ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! अकूरजी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे । उन्हें भगवान् श्रीकृष्णने जलमें अपने दिव्यरूपके दर्शन कराये और फिर उसे छिप छिप, ठीक वैसे ही, जैसे कोई नट अभिनयमें कोई रूप दिखाकर फिर उसे परदेकी ओरमें छिपा दे ॥ १ ॥ जब अकूरजीने देख कि भगवान् कह दिव्यरूप व्यक्त-वान हो गये, तब वे जलसे बाहर निकल आये और फिर जल्दी-जल्दी सारे आवश्यक कर्म समाप्त करके पर चले आये । उस समय व बहुत ही विस्मित हो थे ॥ २ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उनसे पूछा—“आकाश आपने पृथ्वी, आकाश या जलमें कोई बहुत बड़ा दो है क्या ? क्योंकि आपकी आकृति देखनेसे ऐसा जान पड़ता है” ॥ ३ ॥

अकूरजीने कहा—प्रभो ! पृथ्वी, आकाश, जलमें और सारे जगत्में जितने भी बहुत पदार्थ हैं, सब जगत्में ही हैं । क्योंकि आप विश्वरूप हैं । जब आपकी ही देख रहा हूँ तब ऐसी कौन-सी बहुत ब-रह जाती है, जो मेने न देखी हो ॥ ४ ॥ भगवान् जितनी भी बहुत वस्तुएँ हैं, वे पृथ्वीमें हों या अ-वयवा आकाशमें—सब-यही-सब जिनमें हैं, उन्हीं आप को मैं देख रहा हूँ । फिर भय, मेने जहाँ बहुत ब-रह कौन-सी देखी ? ॥ ५ ॥ गन्दिनीनन्दन अकूरजीने य-कहकर रण हौंक किया और भगवान् श्रीकृष्ण तब कम्पामयीको लेकर पिन दस्त-दस्त से मयुरापुरी में

ममो ग्रामजना राजस्तत्र तत्रोपसंगताः ।
 वसुदेवमुतौ वीर्यं प्रीता दृष्टिं न चाददुः ॥ ७ ॥
 तावत् प्रसौक्यस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः ।
 पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतसिरे ॥ ८ ॥
 तान् समेत्स्याद् भगवान्मूर्धं खगदीश्वरः ।
 गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रभितं ग्रहसन्निभ ॥ ९ ॥
 भवान् प्रविशतामग्रे सहयान् पुरीं गृहम् ।
 वयं त्विहावमुष्याम ततो ब्रह्मामहे पुरीम् ॥ १० ॥

अङ्क उवाच

नाहं भववृम्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मधुरां प्रमो ।
 त्यक्तुं नार्हसि मां नाय भक्तं ते भक्तवत्सल ॥ ११ ॥
 आगच्छ याम गेहान्नः सनाथान् कुर्मधोख्यम् ।
 सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृदम ॥ १२ ॥
 पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम् ।
 यच्छौचेनालुह्यन्ति पितरः साग्रयः सुराः ॥ १३ ॥
 भवनिन्याह्मिपुगलमासीच्छूलोक्त्यो बलिर्महान् ।
 ऐश्वर्यमसुतं लेभे गतिं वैशान्तिनां तु या ॥ १४ ॥
 आपस्तेऽह्मप्रयत्नेजन्यस्त्रीलंकाभ्युपयोऽपुनर्न ।
 शिरसापचया श्व स्वर्गताः सगरात्मजाः ॥ १५ ॥
 देवदेव जगन्नाथ पुण्यभरणकीर्तन ।
 यद्वृषभोत्तमश्चैव नारायण नमोऽस्तु ते ॥ १६ ॥

पहुँचि ॥ ६ ॥ परीक्षित ! मर्गमें स्थान-स्थानपर गँवोंके
 खेग भिन्नेके छिये आते और मगवान् श्रीकृष्ण तथा
 बल्लभामजीको देखकर आनन्दमग्न हो जाते । वे एकटक
 उनकी ओर देखने लगते, अपनी दृष्टि हटा न पाते ॥ ७ ॥
 नन्दकथा आदि प्रवर्तासी तो पहलेसे ही वहाँ पहुँच गये
 थे, और मयुरपुरीके बाहरी उपवनमें स्फुटत उनकी प्रतीक्षा
 कर रहे थे ॥ ८ ॥ उनके पास पहुँचकर नगदीश्वर
 मगवान् श्रीकृष्णने विनीतभावसे खड़े अग्रजकीज हाथ
 अपने हाथमें लेकर मुसकराते हुए कहा— ॥ ९ ॥
 'आचाजी ! आप रथ लेकर पहले मयुरपुरीमें प्रवेश
 कीजिये और अपने घर जाइये । हमलोग पहले यहाँ
 उतरकर फिर नगर देखनेके लिये आयेगे ॥ १० ॥

अङ्कुरजीने कहा—प्रमो ! आप दोनोंके बिना मैं
 मयुरामें नहीं जा सकता । स्वामी ! मैं आपका भक्त हूँ ।
 भक्तवत्सल प्रमो ! आप मुझे मत छोड़िये ॥ ११ ॥
 मगवन् ! आइये, चलें । मेरे परम प्रिये और सच्चे
 सुहृद् मगवन् ! आप बल्लभामजी, बालकालों तथा नन्द
 रायजी आदि अग्रभियंके साथ चलकर हमारा घर सनाथ
 कीजिये ॥ १२ ॥ हम गृहस्थ हैं । आप अपने घरणों-
 की वृत्तिसे हमारा घर पवित्र कीजिये । आपके घरणोंकी
 धोवन (गङ्गाजल या जलमृत) से जग्गि, देवता,
 पितर—सबके-सब रास हो जाते हैं ॥ १३ ॥ प्रमो !
 आपके गुण घरणोंको फलकर मगल्य वडिने वह यथा
 प्राप्त किया, जिसका गाल संत पुरय करते हैं । केवल
 यथा ही नहीं—उन्हें अतुलनीय ऐश्वर्य तथा बड़ गति
 प्राप्त हुई, जो जनम्य प्रमी मर्कोंको प्राप्त होती है ॥ १४ ॥
 आपके घरणोदक—गङ्गाजीने तीनों लोक पवित्र कर
 दिये । सबमुच वे मूर्तिमान् पवित्र हैं । उनकी स्पर्श-
 से समके पुत्रोंको सप्रति प्राप्त हुई और उसी वज्जो
 खयं मगवान् शावरन अपन सिरपर धारण किया ॥ १५ ॥
 यद्वृषभशिरामग ! आप दक्षज्योंके भी आराध्यदेव हैं ।
 नगदके स्वामी हैं । आपके गुण और दीर्घायुका शरण
 तथा कीर्तन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । उसम पुरय
 आपके गुणोंका कीर्तन करते रहते हैं । नारायण ! मैं
 आपसे नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

आयास्ये भवतो गेहमहमार्गसमन्वित ।

बहुचक्रद्वहं हस्ता वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽर्जुनो विमना इव ।

पुरीं प्रविष्टः कंसाय कमविद्य गृहं ययौ ॥१८॥

अथापराद्धे भगवान् कृष्णः सङ्कल्पेणान्वितः ।

मधुरां प्राविशद् गोपैर्दिग्भ्युः परिवारितः ॥१९॥

इदं च स्फाटिकतुङ्गगोपुर

द्वारां दृष्ट्वेमकपाटतोरणाम् ।

ताम्रारकोष्ठां परिस्त्रादुरासदा

सुधानरम्भोपवनोपसोभिताम् ॥२०॥

सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कटेः

श्रेणीसभामिर्मवनैरुपस्कृताम् ।

वैदूर्यवज्रामलनीलविभुमै

सुंकाहरिभिर्बलभीषु वेदिषु ॥२१॥

जुष्टेषु अस्त्रासुस्वरन्ध्रकुडिमै

आविष्टपारावतवर्णिनादिताम् ।

संसिक्तरम्भापणमार्गवत्परां

प्रक्षीर्णमास्याङ्कुरताजतण्डुलाम् ॥२२॥

आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोदितैः

प्रसूनदीपावलिभिः सपस्तकैः ।

सहन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुमिः

सखलवद्रा

सपदि

३॥

श्रीभगवानुमे कथा—चाचाजी ! मैं दाऊ मैंने
साथ आपके घर आऊँगा और पहले इस यशुवन्तिसे
प्रोक्षी कंसको मारकर तब अपने सभी सुहृद-सन्नों
प्रिय करूँगा ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परिश्रु ! भगवान्
इस प्रकार कहनेपर अकूरजी कुछ अनमने-से हो गये ।
उन्होंने पुरीमें प्रवेश करके कंससे श्रीकृष्ण और कृष्ण
के आनेका स्मरण निवेदन किया और फिर अपने घर
गये ॥ १८ ॥ दूसरे दिन तीसरे पहर जङ्गमजी और
आलम्बकी के साथ भगवान् श्रीकृष्णने मधुरापुरीको देखनेके
छिये नगरमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥ भगवान्ने देख कि
नगरके परकोटेमें स्फटिकमणि (किन्नोर) के बहुत ऊँचे
ऊँचे गोपुर (प्रधान दरवाजे) तथा चारों मी बड़े-बड़े
फाटक बने हुए हैं । उनमें सोनेके बड़े-बड़े किताब जो
हैं और सोनेके ही तोरण (लकड़ी दरवाजे) बने हुए
हैं । नगरके चारों ओर तबि वीर पीतलकी चहारदीवरी
बनी हुई है । स्वर्णके कारण और कहींसे उस नगरमें प्रवेश
करना बहुत कठिन है । स्थान-स्थानपर सुन्दर-सुन्दर
तखान और रमणीय उपवन (केवळ स्त्रियोंके उपयोगमें
आनेवाले बगीचे) शोभायमान हैं ॥ २० ॥ सुवर्णसे सजे
हुए औराष्ट्रे, धनियोंके माल, ऊँचीके साथके बगीचे,
काशीमणिके बैठनेके स्थान या प्रज्जर्गके समान-मन
(यतनरहित) और साधारण लोगोंके निवासस्थान नगरकी
शोभा बना रहे हैं । वैदूर्य, हीरे, स्फटिक (किन्नोर),
नीलम, मूंगे, मोती और पत्ते आदिसे बड़े हुए छत्र,
चक्र, त्रिशूल एवं पत्तों आदि जगमगा रहे हैं । उनपर
बैठे हुए कन्नूर, गोर आदि पक्षी मोंति-मोंतिकी बोधी
बोली रहे हैं । सबका, साधार, गंधी एवं औराष्ट्रोंपर स्व
छिन्नकाश किया गया है । स्थान-स्थानपर कुम्भोंके गवारे,
जवारे (जीके अङ्गुर), खीर और चाकड़ बिखरे हुए
हैं ॥ २१ २२ ॥ चारोंके दरवाजोंपर दही और चन्दन
आदिसे चर्चित जगमे मरे हुए कछुआ रखे हैं और वे
फल, दीपक, मधु-मधु की कोंफें, फलसहित केले और
सुपारीके वृक्ष, छोटी-छोटी बगियों और रेशमी बगोंसे
भरीमोंति सजाये हुए हैं ॥ २३ ॥

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ
वृत्तौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।

ब्रह्मं समीयुस्त्वरिता पुरस्त्रियो
हर्म्याणि चैवारुहदुर्ध्वोत्सुकाः ॥२४॥

काश्चिद् विपर्ययवृत्तवभूषणा
विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः ।

कृतैकपत्रप्रवणैकनूपुरा
नाहृत्वा द्वितीयत्वपराभ लोचनम् ॥२५॥

अशनन्त्य एकान्तदपास्य सोत्सवा
अभ्यज्यमाना अकुतोपमजनाः ।

खपन्त्य उत्थाय निश्चम्य निःस्नन
प्रपाययन्त्योऽर्ममयोऽ मातरः ॥२६॥

मनांसि वासामरविन्दलोचन
प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः ।

अहार मक्षश्चिदे त्रिविक्रमो
दृशा ददन्शीरमभारमनोत्सवम् ॥२७॥

दृष्ट्वा दृष्टुःश्रुतमनुद्वृत्तचेतसस्तं
तत्प्रेषणोत्सितमुधोषणलम्बमाना ।

आनन्दमूर्ध्विषपगुण दृष्ट्वाऽऽत्मलम्बं
हृष्यवयो अहुरनन्तमरिन्दमाधिमम् ॥२८॥

प्राप्तादग्निमाराब्दा प्रीत्युत्प्लुप्तमुवाभ्युजा ।

अम्यवर्षन् सौमनस्यं प्रमदा पणकशर्वा ॥२९॥

परीक्षित ! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और
बछरावजीने ग्वालघाणोंके साथ राजपथसे मथुरा नगरीमें
प्रवेश किया । उस समय नगरकी नारियों बड़ी उत्सुकतासे
उन्हें देखनेके लिये झटपट अटारियोंपर चढ़ गयीं ॥ २४ ॥
किस्ती-किस्तीने जदरीके कारण अपने वस्त्र और गहने
तख्ते पहन लिये । किस्तीने मूयसे कुण्डल, कर्ण आदि
जोड़से पहने जानेवाले आभूषणोंमेंसे एक ही पहना और
चल पड़ी । वगेड़े एक ही कदनमें पत्र नामक आभूषण
धारण कर पायी थी, तो किस्तीने एक ही पौवमें पाय
जैत्र पहन रक्खा था । वगेड़े एक ही औंसमें अञ्जन
औंज पायी थी और दूसरीमें बिना औंजे ही चढ़
पड़ी ॥ २५ ॥ कहरमणियों तो मोहन कर रही थीं, वे हाफका
कहर फैलकर चल पड़ी । सबका मन उत्सह और
आनन्दसे भर रहा था । वगेड़े-वगेड़े तकटन लगा रही
थीं, वे बिना स्नान किये ही दौड़ पड़ी । जो सो रही
थीं, वे कोछल्ल सुनकर उठ खड़ी हुईं और तसी
अवस्थामें दौड़ खड़ी । जो मन्थरें यहाँको बूध चित्र रही
थीं, वे उन्हें गेदसे हटाकर भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके
लिये चल पड़ी ॥ २६ ॥ पम्पजनपन भगवान् श्रीकृष्ण
भगवाले गजराजके समान बड़ी मस्तीसे चढ़ रहे थे ।
उन्होंने छमीको भी आनन्दित करनेवाले अपने द्यम-
सुन्दर विप्रदसे नगरमारियोंके नेत्रोंको बड़ा आनन्द दिया
और अपनी चित्रसूत्रा प्रगल्भ हँसी तब प्रममरी चित्रपन
से उनके मन भुरा लिये ॥ २७ ॥ मधुराकी स्त्रियों बहुत
निनोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत स्त्रीदर्श सुनती आ
रही थीं । उनके चित्त चिरकासे श्रीकृष्णके लिये चञ्चल,
व्याकुल हो रहे थे । आब उन्होंने उन्हें दम्ब । भगवान्
श्रीकृष्णने भी अपनी प्रममरी चित्रपन और मन्द मुसुरान
की सुषामें सौषकर उनका सम्मान किया । परीक्षित !
उन स्त्रियोंने नेत्रोंके द्वारा भगवान्को अतन हृदयमें लें
कर उनका आनन्दमय स्वप्नराज आनन्दित किया ।
उनका शरीर पुञ्जित हो गया अत बहुत निनोंकी
विह्वलप्राप्ति गन्त हो गयी ॥ २८ ॥ मधुराकी नारियों आन-
अनमद होकी अटारियोंपर चढ़कर बगल अत श्रीकृष्ण
पुणोंकी परां बगन लगी । उस समय उन स्त्रियों-
पुणोंकी प्रमद अवेगसे श्रित हो ॥ २९ ॥

दम्पयतेः सदेपात्रैः सन्मान्यैरभ्युपायनैः ।

तत्मानर्धुः प्रहृदिवास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥३०॥

ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत् ।

या हावावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥३१॥

रत्नार्कं कञ्चिदायान्तं रत्नकारं गदघ्राजः ।

दृष्ट्वापाक्ष वासांसि धौतान्पशुतमानि च ॥३२॥

देहावयोः सद्भक्तितान्मङ्ग वासांसि वार्हतोः ।

भविष्यति पर भयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥३३॥

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः ।

साक्षेपं रुपितः प्राह मृत्यो रम्यः सुदुर्मदः ॥३४॥

ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेश्वराः ।

परिधत्त किमुवृक्षा राजद्रव्याभ्यमीप्सव ॥३५॥

यावाश्च बालिश्वा मैवं प्रार्थ्य यदि निजीविषा ।

पश्यन्ति भन्ति तुम्यन्ति च राजकुलानि वै ॥३६॥

एव विकृत्यमानस्य रुपितो देवकीसुतः ।

रत्नकस्य करग्रण शिरः कायादपातयत् ॥३७॥

तस्मात्तुजीविनः सर्वे वासः कोशान् विसृज्य वै ।

ब्रह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंने स्नान-स्नानपर दही, कण्डू, जलसे मरे पात्र, फूलोंके हार, वन्दन और मेंटकी समष्टिमें से आनन्दमग्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण और कृष्णजीकी पूजा की ॥ ३० ॥ भगवान्को देखकर सभी पुत्तली आपसमें कहने लगे—'कथ्य है ! कथ्य है !' गोपोंने ऐसी कौन-सी गलत कृत्या की है, जिसके कारण वे मनुष्यमात्रको परमानन्द देनेवाले इन दोनों मन्त्र विशोरेको देखती जाती हैं ॥ ३१ ॥

इसी समय भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि एक घने जंगलमें रंगनेका भी काम करता था, उनकी ओर आ रहा है । भगवान् श्रीकृष्णने उससे कुछ दूर उत्तम-उत्तम काममें मँगी ॥ ३२ ॥ भगवान्ने कहा—'माई ! तुम हमें ऐसे कल दो, जो हमारे शरीरमें पूरे-पूरे आ जायें । कलमें हमें जंगल में उन कलोंके अधिकारी हैं । तुम सन्देह नहीं कि यदि तुम हमें जंगलमें कल दो, तो तुम्हारा परम कल्याण होगा ॥ ३३ ॥ परिशिष्ट । भगवान् सर्वत्र परिपूर्ण हैं । सब कुछ उन्होंने ही किया । फिर भी उन्होंने इस प्रकार मँगनेकी क्षीण की परन्तु वह मूर्ख राजा कंसका सेवक होनेके कारण मन्त्रज हो रहा था । भगवान्की वस्तु भगवान्को देना तो दूर रहा, उसने क्लेशमें भरकर आक्षेप करते हुए कहा—॥ ३४ ॥ भगवान्ने रहते ही सदा पञ्च और बंगलमें । क्या कहीं ऐसे ही कल पड़ते हैं ? तुममें बहुत उद्वेग हो गये हैं, सभी ऐसी कल-कलकर करते करते हैं । अब तुम्हें उद्वेग का कल पड़नेकी इच्छा हुई है ॥ ३५ ॥ जरे, मूर्खों ! जाओ, भग जाओ । यदि कुछ दिन बीतेकी इच्छा हो तो फिर इस तरह मत मँगाना । उद्वेगमेंचारी तुम्हारे जैसे उद्वेगमेंचारी कौन कर लेते हैं, मार खाते हैं और जो कुछ उनके पास होता है, छीन लेते हैं ॥ ३६ ॥ जब वह धोमी इस प्रकार बहुत कुछ कल-कलकर करते करत छत्र, तब भगवान् श्रीकृष्णने तनिक क्रुद्ध होकर उसे एक लम्बा जम्पा और उसका सिर पञ्चामसे पकड़ते नीचे आ गिरा ॥ ३७ ॥ यह देखकर उस धोमीके लीला काय परनेपत्ते सम-के-सम बदलने

दुःखः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽप्युत ॥३८॥

यसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे कृष्णं सङ्कर्षणस्तथा ।

शेषाप्यादश गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥३९॥

ततस्तु बायकः प्रीतन्तयोर्वेषमकल्पयत् ।

विचित्रवर्णैर्बैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥४०॥

नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतु ।

स्वलङ्कृतौ बालगङ्गा पर्वणीव सितेतरौ ॥४१॥

तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः ।

श्रियं च परमां लोके कलैर्धर्मस्मृतीन्द्रियम् ॥४२॥

ततः सुदान्नो भवनं मालाकारम् जग्मतु ।

तौ दृष्ट्वा स ससृत्वाय ननाम शिखरां भुवि ॥४३॥

तयोरासनमानीय पापं चाप्यार्हणादिभिः ।

पूजां सानुगयोबद्धं सक्त्यामृतानुलेपनैः ॥४४॥

प्राह नः सार्थकं जन्मपारितं च क्लृप्तं प्रभो ।

वितृप्त्यपयो मयं तृप्ता ह्यागमनेन वाम् ॥४५॥

भवन्तां किञ्च विपश्य जगत् कारणं परम् ।

अवतीणाविहांशेन धेमाय च भवाय च ॥४६॥

नहि वां विपमा दष्टि सुहृत्तार्जगदात्मना ।

समया सर्वमृतपु भवन्त भजतोरपि ॥४७॥

गङ्गा वहीं छोड़कर इधर उधर भाग गये । मगवान् ने उन वस्त्रोंको ले लिया ॥ ३८ ॥ मगवान् श्रीकृष्ण और बभ्रुवर्माजीने मनमाने वस्त्र पहन लिये तथा बचे हुए वस्त्रोंमेंसे बहुत-से अपने साथी ग्वाल्यारोंको भी दिये । बहुत-से काढ़े तो वहीं अभीनपर ही छोड़कर चले दिये ॥ ३९ ॥

मगवान् श्रीकृष्ण और बभ्रुवर्मा जब कुछ आगे बढ़े, तब उन्हें एक दर्जी मिला । मगवान् ने अनुपम सौन्दर्य देखकर उसे वहीं प्रसन्नता हुई । उसने उन रंग-किरग सुन्दर वस्त्रोंको उनके शरीरपर ऐसे ढगसे सजा दिया कि वे सब दीक-दीक पच गये ॥ ४० ॥ अनेक प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित होकर दोनों माइ और भी अधिक शोभमान हुए । ऐसे जान पड़ते, मानो उससबके सम्य श्वेत और लयम गनशावक भयीमानि सजा दिये गये हों ॥ ४१ ॥ मगवान् श्रीकृष्ण उस दर्जीपर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उसे इस ल्येकने भरपूर वन-सम्पत्ति, वन्द्य-वर्ष, अपनी स्तुति और दूरतक देखने-सुनने आदिपर इन्द्रियसम्बन्धी शक्तियों दी और मृत्युक बादक लिये अपना सारूप्य मोक्ष भी दे दिया ॥ ४२ ॥

इसके बाद मगवान् श्रीकृष्ण सुदान् मन्त्रीके घर गये । दोनों मार्योंको देखते ही सुदान् उठ खड़ा हुआ और प्रणामी हो खड़ा उन्हें प्रणाम किया ॥ ४३ ॥ फिर उनके आसनपर बैठाकर उनके पाँच पदारे, हाथ धुलये और तदनन्तर ग्वाल्यारोंके सहित सबकी छत्रोंके दार, पल, चन्दन आदि स्रग्भियोंमें विनिर्मुक्त पूजा की ॥ ४४ ॥ इसके पश्चात् उसने प्राप्ता की—प्रभो ! आप दोनोंके शुभगमने हमारा जन्म सुख हो गया । हमारा कुल पवित्र हो गया । आज हम दिन, रात्रि और देवताओंके श्रमसे मुक्त हो गये । वे हमारा परमस्तुष्ट हैं ॥ ४५ ॥ आप दोनों संपूर्ण जगत्के परम कारण हैं । आप ससारके अमृत-उत्पत्ति और नि श्रय-मोक्षके दिये ही हमपृष्ठापर करने जान, ब्रह्म आदि अंगोंके साथ अन्वीर्ग हुए हैं ॥ ४६ ॥ यद्यपि आप प्रम करनेवाओंसे ही प्रम करते हैं, मन्त्रन करनेवाओं ही भजने हैं—किन्तु मा आपकी दृष्टिमें विमत्ता नहीं है । क्योंकि आप सार जगत्के परम सुहृद् और वाम् हैं । आप समस्त प्राणियों और

तावाद्यापयतं मृत्यं किमहं कलबाणि वाम् ।

पुंसोऽप्यनुग्रहो ह्येव भवद्विर्भयमुन्मते ॥४८॥

इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः ।

श्रुतैः सुगन्धैः कुसुमैर्मालां विरचिता ददौ ॥४९॥

ताभिः स्वलङ्घितौ प्रीतौ कुण्डलामौ सहायुगौ ।

प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥५०॥

सोऽपि धमेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।

तद्भक्त्यै च सौहार्दं मृतेषु च दत्तां पराम् ॥५१॥

इति तस्यै वरं दत्त्वा भिय चान्वयवर्धिनीम् ।

बलमायुर्वसः कान्तिं निर्वाणाम सहायजः ॥५२॥

प्राप्त्यर्थे समरूपसे स्थित हैं ॥ ४७ ॥ मैं आपका दास
हूँ । आप दोनों मुझे आका दीजिये कि मैं आपकी सेवा
क्या सेवा करूँ । भगवान् । नीचपर आपका यह बहुत
बड़ा अनुग्रह है, पूर्ण कृपा-प्रसाद है कि आप उसे कृपा
देकर किसी कार्यमें नियुक्त करते हैं ॥ ४८ ॥ राजेन्द्र !
सुदामा माथीने इस प्रकार प्रार्थना करनेके बाद भगवान्
का अभिप्राय जानकर बड़े प्रेम और आनन्दसे स्पर्श
अर्पित सुन्दर-सुन्दर तथा सुगन्धित पुष्पोंसे गूँथे हुए
हार उन्हें पहनाये ॥ ४९ ॥ अब गालजाल और कण्ठ-
जीके साथ मगवान् श्रीकृष्ण उन सुन्दर-सुन्दर मङ्गलोंसे
अलङ्कृत हो चुके, तब उन कदापक प्रसुने प्रसन्न होकर
बिनीत और शरणागत सुदामाको श्रेष्ठ वर दिये ॥ ५० ॥ सुदामा
माथीने उनसे यही वर माँगा कि भ्रमो । आप ही समस्त
प्राणिमूर्खोंके आत्म है । सर्वस्वरूप आपके चरणोंमें मेरी
अकिञ्चन भक्ति हो । आपके भक्तोंसे मेरा सौहार्द, मैत्रीका
सम्बन्ध हो और समस्त प्राणिमूर्खोंके प्रति अद्वैतक दयाका
भाव बना रहे ॥ ५१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने सुदामाको
उसके माँगे हुए वर तो दिये ही—देसी धन्नी में बी,
जो कष्टपरम्पराके स्रप-साप कटती जाय और सब ही
कल, आयु, कीर्ति तथा कान्तिक में वरदान दिया ।
इसका बाद भगवान् श्रीकृष्ण कण्ठामजीके साथ बहसि
कि ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां सहितायां दशमस्कन्धे पूर्वविं

पुरप्रवेशो नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

कुम्भापर कृपा धनुषभङ्ग और कलकी ध्वराहट

भीर्तिक उवाच

अथ व्रजन् राजपथेन माधवः

स्त्रिय गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।

बिलोक्य कुम्भां धुवतीं वराननां

पप्रच्छ यान्तीं ग्रहसन् रसप्रदः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णनेवजी कहते हैं—परीक्षित ! इसके बाद
भगवान् श्रीकृष्ण जब अपनी मण्डलीके स्रप राजममसि
आगे गए, तब उन्होंने एक युवती कीको देखा ।
उत्सुक हुई तो मुग्ध या पम्पु यह शरीरसे कुचसी
थी । इसीसे उम्भ्र नाम पद गच्छ या 'कुम्भा' । यह
अपने हाथमें चन्दमय पात्र छिपे हुए था रही थी ।
भगवान् श्रीकृष्ण प्रमत्तका मन करनेवाले हैं, उन्होंने
कुम्भापर कृपा करनेके छिये हँसते हुए उससे पूछा— ॥ १ ॥

१ लक्ष्म्यम् । २ कं विरचितां । ३ प्राचीन एतिये 'पूर्वविं' यह मही है । ४ वादपयविकबाच ।

का स्व वरोर्वेतदु हानुलेपनं
कसाङ्गने वा कषयस्व साधु नः ।

देसावयोरङ्गविलेपमुत्तमं

अयस्तवस्ते नचिरावु भविष्यति ॥ २ ॥

सेरम्भुवाच

दासस्मयं सुन्दर कंससम्भवा

त्रिवक्रनामा हानुलेपकर्मणि ।

मद्भाविं भोजपतेरविप्रियं

विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ ३ ॥

रूपेष्ठलमाधुर्यं हसितालापवीक्षितैः ।

वर्तितामा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥ ४ ॥

तवत्तावज्जरागेन स्वर्णोत्तरञ्चोभिता ।

सम्प्राप्तपरभागेन हृष्टमावेऽनुरञ्जितौ ॥ ५ ॥

प्रमथो भगवान् कुम्भां त्रिवक्रां रुचिराननाम् ।

अर्जुनीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् ॥ ६ ॥

पद्मगामाकम्प प्रपदे द्रव्यकुन्तुतानपाणिना ।

प्रपृष्टां युमुकेऽन्धकारमसुदनीनमदभ्युत ॥ ७ ॥

सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहन्नोभिपयोधरा ।

सुहृन्दस्पर्शमात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥ ८ ॥

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम् ।

उत्तरीयान्तमाकृष्य सयस्तीं सातहृष्टया ॥ ९ ॥

‘सुन्दरी ! तুম यौन हो ’ यह चन्दन किस्से लिये ले जा रही हो ’ कल्याणी । हमें सब बात सच सच बताओ । यह उत्तम चन्दन, यह अङ्गराग हमें भी दो । इस दानसे शीघ्र ही तुम्हारा परम कल्याण होगा’ ॥ २ ॥

उत्तराज अविच्छिन्नायेवाङ्गी सेरम्भ्री कुम्भाने कहा—
‘परम सुन्दर ! मैं कसकी प्रिय दाती हूँ । म्भाराज मुझे बहुत मानते हैं । मेरा नाम त्रिवक्र (कुम्भा) है । मैं उनके यहाँ चन्दन, अङ्गराग लानेकर काम करती हूँ । मेरे द्वारा तैयार किये हुए चन्दन और अङ्गराग भोजराज कसको बहुत माते हैं । परन्तु आप दोनोंसे बहकर उत्तम और कोई उत्तम पात्र नहीं है’ ॥ ३ ॥ भगवान् के सौन्दर्य, सुकुमारता, रसिकता, मन्दहास्य, प्रमादप और चारु चितवनसे कुम्भाका मन हापसे निकल गया । उसने भगवान् पर अपना हृदय न्योछावर कर दिया । उसने दोनों महर्षोंका वह सुन्दर और गाढ़ा अङ्गराग द दिया ॥ ४ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने सौंथले शरीरपर पीले रंगका और कलामन्नीने अपने गहरे शरीरपर लाल रंगका अङ्गराग लगाया तथा नाभिसे ऊपरके भागमें अनुरञ्जित होकर वे अत्यन्त सुषोभित हुए ॥ ५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण उस कुम्भापर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने दर्शनकर प्रपृष्ट फल दिखानेके लिये तीन जगहसे टेढ़ी किन्तु सुन्दर मुखवात्री कुम्भाको सीधी करनेका विचार किया ॥ ६ ॥ भगवान् ने अपने चरणोंसे कुम्भा के पैरके दोनों पंजे दबा लिये और हाप ऊँचा करके दो अँगुलियों उसकी ठोड़ीमें लगायी तथा उसके शरीरको तनिक उचका दिया ॥ ७ ॥ उचकते ही उसके सारे अङ्ग सीधे और समान हो गये । प्रम और मुक्तिके दान्य भगवान् के स्पर्शसे वह तरल निशाङ्ग नितम्ब तथा पीन पयोधरोंसे युक्त एक उत्तम युवती बन गयी ॥ ८ ॥

उसी क्षण कुम्भा रूप, गुण और उदारतासे सम्पन्न हो गयी । उसके मनमें भगवान् के मित्रकी कामना जाग उठी । उसने उनके हुपरेन द्वारे पकड़कर

एहि वीर गृह यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।

स्वयोन्मथितचितायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥१०॥

एवं क्षिमा याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ।

सुनं बौहपातुगानां च प्रहसंस्तुमुवाच ह ॥११॥

एष्यामि ते गृहं सुभूः पुंसामाभिविर्कर्षणम् ।

सावितायौऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परात्पणम् ॥१२॥

विद्युन्व माध्म्या माध्म्यातां वज्रन् मार्गे वमिष्यथैः ।

नानोपावनताम्बूलस्रग्धन्वैः साग्रजोऽर्चितः ॥१३॥

वर्धनसरसोभादस्मानं नाविर्दन् क्षिपः ।

विस्तस्तवासः कषरवलयालेख्यमूर्तयः ॥१४॥

तत पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्नानमभ्युतः ।

तस्मिन् प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिषातृवस् ॥१५॥

पुरपैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ।

धार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसन्न धनुराददे ॥१६॥

करेण वामन सलीलमुपहृतं

सन्त्यज कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।

नृणां विकृष्य प्रथमञ्जु मध्मतो

यथेष्टुदण्डं मदकर्षुरुक्रमः ॥१७॥

धनुषो भन्यमानस्य दृष्ट्वा त्वं रोदसी दिष्टः ।

मुसकरासे हुए कहा— ॥ ९ ॥ श्रीविरोधो! क्यों घर चले। अब मैं आपसे यहाँ नहीं छोड़ सकता। क्योंकि आपने मेरे चिरको मग बाध है। पुत्रोत्पत्ति। मुझ दासीपर प्रसन्न होइये ॥ १० ॥ जब कर्मजकी सामने ही पुत्रजाने इस प्रकार प्रार्थना की, तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने साथी बालबालोंके मुँहकी ओर देखकर हँसते हुए उससे कहा— ॥ ११ ॥ सुन्दरी! इस घर संसारी लोभोंके लिये अपनी मानसिक व्यतिष्ठानेका साधन है। मैं अपना कर्षण पूरा करके आपसे यहाँ आऊँगा। हमारे-जैसे बेघरके बेटोंको तो तुम्हारा ही तो आसरा है ॥ १२ ॥ इस प्रकार मीठी-मीठी बातें करके भगवान् श्रीकृष्णने उसे क्रिदा कर दिया। अब वे व्यापारियोंके जानारमें पहुँचे, तब उन व्यापारियोंने उनका तथा बल्लभमजीका पान, धूर्तोंके हार, कदम और तरङ्ग-तरङ्गकी मेट—उपहारोंसे पूजा किया ॥ १३ ॥ उनके दर्शनमात्रसे स्त्रियोंके हृदयमें प्रेम्स आवेग, मित्रकी आकाङ्क्षा जग उठती थी। यहाँक कि उन्हें अपने शरीरकी भी छुच न रहती। उनके वस्त्र, शूद्र और कर्मज कीले पक्ष जाते थे तब वे चित्रलिखित मूर्तियोंके समान ओं-की-यों सभी बन गयी थी ॥ १४ ॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण पुरवासियोंसे धनुष-पक्षक स्थान पृच्छते हुए रगशास्त्रमें पहुँचे और वहाँ उन्होंने इन्द्रकुपके समान एक बहुत धनुष देखा ॥ १५ ॥ उस धनुषमें बहुत-सा वन छाया गया था, अनेक वृक्षस्य अङ्गुष्ठोंसे उसे सजाया गया था। उसकी लव पूजा की गयी थी और बहुत-से तैलिक उसकी रक्षा कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने रक्षकोंके रोक्नेपर भी उस धनुषको यज्जन्मसे उग्र लिया ॥ १६ ॥ उन्होंने सबके देखते-देखते उस धनुषमें बाणें हापसे ठठपा, उसपर डोरी चढ़ायी और एक क्षणमें खींचकर बीचों-बीचसे उसी प्रकार उसके दो टुकड़े कर डाले, जैसे बहुत बलवान् मत्तज हाथी खेज-ही-खेजमें ईशको तोड़ बाधता है ॥ १७ ॥ जब धनुष टूटा तब उसके शब्दसे आकरा, पृथ्वी और

पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥१८॥

तत्राक्षिपः सानुचरा कुपिता आततायिनः ।

ग्रहीतुकामा मावधर्गृह्णतां पश्यतामिति ॥१९॥

अथ तान् दुरभिप्रासान् विलोक्य बलकेशधौ ।

कुदौ धन्वन आदाय द्रकले तांश्च जगत्तुः ॥२०॥

कलं च कंसप्रहितं हस्वा झालमुखाचतः ।

निष्क्रम्य वेरुह्यै निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥२१॥

तपोस्तद्वृत्तं धीर्यं निश्चात्म्य पुरवासिनः ।

तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे बिभुधोचमौ ॥२२॥

तयोर्विचरतो स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान् ।

कृष्णरामौ इतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः ॥२३॥

गोप्यो मुहूर्तविगमे विरहातुरा ग

आश्रमताक्षिप मृता मधुपूर्यगूबन् ।

सम्पत्पतां पुरुषभूषणगत्रह्णी

हित्वेतरान्नु मज्जतश्चकमेऽयनं श्रीः ॥२४॥

अवनिकारुद्रिपुगलौ मुक्त्वा धीरोपसेधनम् ।

उग्रहस्तां सुखं रात्रिं द्वात्वा कंससिद्धिपितृम् ॥२५॥

दिशयें सर गयीं, उसे सुनकर कंस भी भयभीत हो गया ॥ १८ ॥ अत्र धनुषके रक्षक आत्तायी बसुर जाने उद्यायकर्मके साथ बहुत ही बिगड़े । वे भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर छोड़े हो गये और उन्हें पकड़ लेनेकी इच्छासे चिल्लने लगे—“पकड़ लो, मौं व लो, जाने न पाये ॥ १९ ॥ उनका दुष्ट अभिप्राय जानकर कृष्णमजी और श्रीकृष्ण भी तनिक क्षोभित हो गये और उस धनुषके टुकड़ोंको उठाकर उन्होंने उनका काम तमाम कर दिया ॥ २० ॥ उन्हीं धनुषखण्डोंसे उन्होंने उन अशुरोंकी छायापताके लिये कंसकी मेनी हुई सेनापर भी संहार कर बाध । इसके बाद वे पद्मराजके प्रधान द्वारसे होकर बाहर निकल आये और बड़े आनन्दसे मथुरापुरीकी शोभा देखते हुए निचरन लगे ॥ २१ ॥ जब नगरनिवासियोंने दोनों मायोंके इस अद्भुत पराक्रमकी बात सुनी और उनके तेज, साहस तथा अनुपम रूपको देखा तब उन्होंने यही निश्चय किया कि हो-न-हो ये दोनों कोई भेष देवता हैं ॥ २२ ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और कृष्णमजी पूरी आत्मश्रुतिसे मथुरापुरीमें निचरण करने लगे । जब सूर्यास्त हो गया तब दोनों मई मालखालोंसे घिरे हुए नगरसे बाहर अपने डेरपर, जहाँ छपड़े थे, छोट आये ॥ २३ ॥ तीनों व्यक्तिके बड़े-बड़े देवता चढ़ते थे सि लक्ष्मी हमें मिले, परन्तु उन्होंने सकल परिप्राग कर दिया और न चढ़नेवाले भगवान्का करण किया । उन्हींको सदाके लिये अपना निष्कम्पान बना लिया । मथुरावासी उन्हीं पुरुषभूषण भगवान् श्रीकृष्णके अङ्ग अङ्गका सौन्दर्य देख रहे हैं । उनका किन्तना सीमाय है । मन्त्रमें भगवान्की यात्राके समय गोपियोंने विरहातुर होकर मथुरावासीयोंके सम्पत्पते जो-जा वातें बड़ी धी, वे सब यहाँ अश्वरथ सव्य हुई । सधमुष वे परमानन्दमें मग हो गये ॥ २४ ॥ फिर हाव-पैर जोकर श्रीकृष्ण और कृष्णमजीने दूधसे बने हुए खीर कादि पदार्थोंका भोजन किया और कंस आगे क्या करना चाहता है, इस बातका पता लगाकर उस रात्रिकी बड़ी आरामसे सो गये ॥ २५ ॥

कंसस्तु भनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।

वर्ध निशम्य गोविन्दरामविक्रीडित परम् ॥२६॥

दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमिष्ठानि दुर्मतिः ।

बहून्यचणोभयथा मृत्योर्दोस्त्यकराणि च ॥२७॥

अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ।

असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥२८॥

छिन्नप्रतीतिच्छायायां प्राणभोषानुपश्रुतिः ।

स्वर्धप्रतीतिद्वेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥२९॥

स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गं स्वयान विपादनम् ।

यायाभक्तदमाद्येकस्तैलाभ्यक्तो दिग्गम्बरः ॥३०॥

अन्यानि चेत्यभूतानि स्वप्नजागरितानि च ।

पश्यन् मरुत्सन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥३१॥

भ्युषायां निद्रि कौरव्य सूर्ये चाङ्गण समुत्थिते ।

कारयामास वै कसो महक्रीडामहोरसवम् ॥३२॥

आनर्जुः पुरुषा रङ्गं तूर्पमेर्यम् अज्जिर ।

मन्त्राभालङ्कृता स्रग्भिः पलाकाचैलतोरणै ॥३३॥

तेषु पौरा ज्ञानपदा ब्रह्मयज्ञपुरोगमा ।

यथापजोर्धं विविङ्ग राजानस्य कृतासनाः ॥३४॥

जब कंसने सुना कि श्रीकृष्ण और कृष्णामने कृष्ण तोड़ बाण, रथकों तथा उनकी सहायताके लिये मेरी सेनाका भी संहार कर बाण और यह सब उनके लिये केवल एक खिलावा ही था—इसके लिये उन्हें कोई भय या कठिनाई नहीं लगनी पड़ी ॥ २६ ॥ तब वह बहुत ही डर गया; उस दुर्मुखको बहुत देरतक नींद न आयी । उसे आपत्-अवस्थामें क्या स्वप्नमें भी बहुत-से ऐसे अपश्रुत हुए, जो उत्तरी मृत्युके सूचक थे ॥ २७ ॥ आपत्-अवस्थामें उसने देखा कि जब या दर्पणमें शरीरकी परछाईं तो पकती है, परन्तु सिर नहीं दिखायी देता, अँगुली आदिकी आङ न होनेपर भी कम्बुमा, तारे और दीपक आदिकी ज्योतिषों से दो-दो दिखायी पकती हैं ॥ २८ ॥ छायामें छेद दिखी पकता है और कर्मोंमें अँगुली बाँटकर सुननेपर भी प्राणोंका घूँघूँ शब्द नहीं सुनायी पकता । कुछ सुनाने प्रतीत होते हैं और बाह्य या कश्चिकमें अपने पैरोंके चिह्न नहीं दीख पकते ॥ २९ ॥ कंसने स्वप्नभ्रमोंमें देखा कि वह प्रेतोंके गले लगा रहा है, गवेषण कर रहा है और विष खा रहा है । उसका सारा शरीर तेजसे तर है, गलेमें ज्वाकुसुम (जहङ्गुल) की मल्ल है और मल्ल होकर पड़ी जा रहा है ॥ ३० ॥ स्वप्न और आपत्-अवस्थामें उसने इसी प्रकारके और भी बहुत-से अपश्रुत देखे । उनके कारण उसे बड़ी चिन्ता हो गयी, वह मृत्युसे डर गया और उसे नींद न आयी ॥ ३१ ॥

परीक्षित । जब रात बीत गयी और सुर्जनारम्भ पूर्व समुद्रसे ऊपर उठे, तब राजा कंसने मन्त्र-क्रीडा (दंगल) का मन्त्रोत्सव प्रारम्भ कराय ॥ ३२ ॥ राज कर्मचारियोंने रंगमूकिकों भृङ्गीनीति सजाया । छपड़ी, मेरी आदि बाजे बजान लगे । खेदोंके बैठनेके मन्त्र छर्ये-के गजनों, झंडियों, वस्त्र और वन्यकर्मोंसे सजा दिये गये ॥ ३३ ॥ उनपर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नागरिक तथा ग्रामवासी—सब यथास्थान बैठ गये । राजाअंग भी अपने-अपने निश्चित स्थानपर जा बैठे ॥ ३४ ॥

कंस परिहृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत् ।
 मण्डलेभरमभ्यस्यो हृदयेन विदूयता ॥३५॥
 बाधमानसु तुर्येषु मल्लतालाचरेषु च ।
 मल्लः खलकृता घ्नाः सोपाग्यायः समाविशन् ॥३६॥
 चाणूरो मुष्टिकः कूटः क्षलस्तोक्षल एव च ।
 न आसेदुरुपस्यानं यस्तुवाद्यप्रहर्षिताः ॥३७॥
 नन्दगोपादयो गोपा भोक्षराजसमाहुताः ।
 निवेदितोपाभनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन् ॥३८॥

राजा कंस अपने मन्त्रियोंके साथ मण्डलेक्ष्मण (छोटे छोटे राजाओं) के बीचमें सबसे धेरें राजसिंहासनपर आ बैठा । इस समय भी अश्वत्थुनोंके कारण उसका चित्त घबराया हुआ था ॥ ३५ ॥ तब पहलवानोंके साथ लड़नेके साथ ही बाजे बजने लगे और गरवीये पहलवान खूब सज-धनकर अपने-अपने उस्तादोंके साथ अम्बुक्षेत्रमें आ उतरे ॥ ३६ ॥ चाणूर, मुष्टिक, कूट, शङ्ख और तोशङ्ख आदि प्रधान-प्रधान पहलवान राजाके समुपस्थित होनेसे उत्साहित होकर अम्बुक्षेत्रमें आ जाकर बैठ गये ॥ ३७ ॥ इसी समय भोजराज कंसने नन्द आदि गोरोंको बुलवाया । उन लोगोंने आकर उसे तरङ्ग-तरङ्गी में दी और फिर जाकर वे एक मञ्चपर बैठ गये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वविं

महाराजोपवर्जनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

कुशलयापीडक्य वदन्त और अन्धकारमें प्रवेश

श्रीकृष्ण उवाच

अथ कृष्णाय रामाय कृतशौचौ परन्तप ।
 मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं ध्रुवा द्रुमुमुपेयतुः ॥ १ ॥
 रङ्गदारं समाग्राय तस्मिन् नागमवमितम् ।
 अपश्यत् कुशलयापीडकृष्णोऽम्बष्ठप्रसोदितम् ॥ २ ॥
 यदुच्चा परिकरशौरि समुद्य कटितालफान् ।
 उवाच इत्थिप वाचा मधनादगभीरया ॥ ३ ॥
 अम्बष्ठाम्बष्ठ यार्गं नौ देक्ष्यप्रक्रम माधिरम् ।
 नो चेत् सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥
 एवं निर्मलितोऽम्बष्ठः कुपितः क्षोपितं गजम् ।

श्रीकृष्णदेवकी कहते हैं— कर्म-क्रियादि शत्रुओंको पराजित करनेवाले परीक्षित । अब श्रीकृष्ण और कर्मराम श्री लालाणि निर्यन्त्रसे निवृत्त हो दंगरके अनुसरण नगरेकी ध्वनि सुनकर रङ्गमूर्ति देखनेके लिये चउ पड़े ॥ १ ॥ भावान् श्रीकृष्णने रंगमूर्तिके दरवाजेपर पहुँचकर वक्ष कि कहीं महावक्त्र प्रेरणासे पुनश्चकीर्ण नामक हाथी खड़ा है ॥ २ ॥ तब भावान् श्रीकृष्णने अन्ती यमर कंस की और भुवराणी अन्धों समेत गी तदा मेवके समान गम्भीर वाणीसे महावक्त्रको स्तब्धकर कहा ॥ ३ ॥ महावक्त्र आ महावक्त्र । हम दोनोंको रास्ता दे द । हमारे मार्गसे हट जा । अरे, सुनता नहीं । दर मन कत । नहीं तो मैं हाथीके साथ अभी तुझे यमराजक घर पहुँचाता हूँ ॥ ४ ॥ भावान् श्रीकृष्णने महावक्त्रको जब इस प्रकार चण्डाया, तब वह क्रोधसे निःश्रमिय उग्र और लम्बे पाद, मृगु तथा यमराजक सम्मन व्यक्त

बोधयामास कृष्णाय कलान्तकयमोपमम् ॥ ५ ॥

करीन्द्रस्तमभिदुस्य करेष्वं तरसाग्रहीत् ।

कराद् विगलितः सोऽयं निहत्यालुघ्विवलीयत ॥ ६ ॥

संकुद्रस्तमचक्षानो ब्रह्मदृष्टिः स केक्षवस् ।

परासृष्टद् पुष्करेण स प्रसङ्गं विनिर्गतः ॥ ७ ॥

पुच्छे प्रगृह्णातिक्रान्तं धनुषः पञ्चविंशतिम् ।

विचर्क्य यथा नागं सुपर्णं इव लीलया ॥ ८ ॥

स पर्यावर्तमानेन सभ्यदक्षिणतोऽप्युतः ।

बभ्राम आभ्यमाणेन गोवत्सेनेन बालकः ॥ ९ ॥

ततोऽभिमुखमम्भेत्स्य पाणिनाऽऽहस्य वारणम् ।

प्राद्वबन् पातयामास स्पृश्यमानः पदं पदे ॥ १० ॥

स धावन् क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः ॥

त मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽह्नन्तिष्ठतिम् ॥ ११ ॥

स्वबिक्रमे प्रविहते क्रुद्धरेन्द्रोऽत्यमर्षितः ।

बोधमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद् रथा ॥ १२ ॥

तमापतन्तमास्ताद्य भगवान् मधुसूदनः ।

निगृह्य पाणिना इत्थं पातयामास भूतले ॥ १३ ॥

पतितस्य पदाऽऽक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।

दन्तमुपाटय तेनेमं हस्तिर्वाभिनन्दरिः ॥ १४ ॥

भयङ्कर कुक्कुट्यापीडको आहुताक्षी मारसे क्रुद्ध करने श्रीकृष्णकी ओर बढ़ाया ॥ ५ ॥ कुक्कुट्यापीडने मारने की ओर जायकर उन्हें बड़ी तेजीसे सूँढ़में छपेट लिया परन्तु भगवान् सूँढ़से बाहर सरक आये और उसे एक घूँसा जमाकर उसके पैरोंके बीचमें जा छिपे ॥ ६ ॥ उन्हें अपने सामने न देखकर कुक्कुट्यापीडको बड़ा क्रोध हुआ । उसने सूँढ़कर भगवान्को अपनी सूँढ़से टोके लिया और पकड़ा भी, परन्तु उन्होंने अलसपूर्वक अपने उससे छुड़ा लिया ॥ ७ ॥ इसके बाद भगवान् एक कलान्तक पीछे पकड़कर खेल-खेलमें ही उसे संभलते हैं ॥ ८ ॥ मिस प्रकार घूमते हुए कछुके का बालक घूमता है अथवा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मिस प्रकार खेलते हैं, ऐसे ही वे उसकी सूँढ़ पकड़कर उसे घुमाने और खेलने लगे । जब वह दायें घूमकर उनको पकड़ना चाहता, तब वे बायें जा गले और जब वह बायेंकी ओर घूमता, तब वे दायें घूम जाते ॥ ९ ॥ इसके बाद हाथीके सामने आकर उन्होंने उसे एक घूँसा जमाकर और वे उसे गिरानेके लिये एक प्रकार उसके सामनेसे भागने लगे, मानो वह जब एक लेता है, तब छुट्ता है ॥ १० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने दौड़ते-दौड़ते एक बार खेल-खेलमें ही पृथ्वीपर गिरनेका अभिनय किया और एक क्षण उठकर भगवन् बड़े हुए । उस समय वह हाथी कोचसे जल-मुन रहा था । उसने समझा कि वे गिर पड़े और बड़े जोरसे चलने लगे दौड़ते धरतीपर मारे ॥ ११ ॥ जब कुक्कुट्यापीडको का आक्रमण पार हो गया, तब वह और भी चिढ़ गया । महाबलोंकी प्रेरणासे वह क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्ण पर दृष्ट पड़ा ॥ १२ ॥ भगवान् मधुसूदनने जब उसे अपनी ओर झपटते देखा, तब उसके पास चले गये और अपने एक ही हाथसे उसकी सूँढ़ पकड़कर उसे धरतीपर पटक दिया ॥ १३ ॥ उसके गिर जानेपर भगवान्ने सिंहके समान खेल-खेलमें उसे पैरोंसे दबा कर उसने दौड़ उठाकर छिपे और उन्होंने हाथी और

वृत्तं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणि समाविशत् ।
 अंसन्यस्तविपाणोऽसृग्वाद्बिन्दुमिरक्षितः ।
 विलम्बस्वेदफणिकावदनाम्मुक्तो बभौ ॥१५॥
 इतो गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ ।
 रत्नं विविशत् राजन् गजदन्तवरायुधौ ॥१६॥
 मल्लानामशनिर्नुषा नरवरः
 स्त्रीणां सरो मूर्तिमान्
 गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिद्युजां
 छात्ता स्वपित्राः शिशुः ।
 मृत्युर्भोजपतेर्विराट्पुत्रां
 तत्त्व परं योगिनां
 हृत्प्रीतिनां परदेवतेति विदितो
 रत्नं गतः साम्रज्यः ॥१७॥
 इत कुलपापीडं हृष्टा तावपि दुर्बलौ ।
 कंसो मनस्वपि तदा मृष्टमृष्टिर्विके नृप ॥१८॥
 तौ रजत् रत्नगणौ महायुधौ
 विविधवेषाभरणस्रग्मयी ।
 यथा नगवृत्तमवेषधारिणौ
 मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥१९॥
 निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
 मश्रुस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
 प्रहर्षवेगोत्कलितेषुपाननाः
 पपुर्न तप्ता नयनैस्तदाननम् ॥२॥

परीक्षित ! मरे हुए हाथीको छेबकर भाग्यन् श्री-
 कृष्णने हाथमें उसके दाँत छिये-छिय ही रंगभूमिमें प्रवेश
 किया । उस समय उनकी शोभा देखने ही योग्य थी । उनके
 कपेर हाथीका दाँत रक्का हुआ था, शरीर रक्त और
 मदकी बूँदोंसे सुशोभित था और मुखवन्धपर पसीनेकी
 बूँदे झलक रही थी ॥ १५ ॥ परीक्षित ! भाग्यन्
 श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके ही हाथोंमें कुलपापीडके
 बड़े-बड़े दाँत शस्त्रके रूपमें सुशोभित हो रहे थे और
 कुछ आलसाल उनके साप-साप चढ़ रहे थे । इस प्रकार
 उन्होंने रंगभूमिमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥ जिस समय
 भाग्यन् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रंगभूमिमें पवारे, उस
 समय वे पहलवानोंको बलकटोर-शरीर, साधारण
 मनुष्योंको नर-रत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, श्रेष्ठोंको
 स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताके
 समान बड़े-बूँदोंको शिशु, कस्तुरीके मृत्यु, अहानियोंको
 निराट, योगियोंको परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि कृष्णि
 बशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े (सबने अपने-
 अपने भावानुरूप कम्मा पैदा, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य,
 वीर, वात्सल्य, मृग्यूनक, वीर्यस, शान्त और प्रेममत्ति-
 रसका अनुभव किया) ॥ १७ ॥ राजन् ! कैसे तो
 कम बड़ा धीर-वीर था, फिर भी जब उसने देखा कि
 इन दोनोंने कुलपापीडको मार बाँझ, तब उसकी सभ्र
 में यह बात आयी कि इनको जीतना तो बहुत कठिन
 है । उस समय वह बहुत धक्का मचा ॥ १८ ॥ श्री-
 कृष्ण और बलरामजी यदि वही लड़ी-लड़ी थी । पुणोंके
 द्वार, बल और आभूषण आदिसे उनका वेर विविध हो
 रहा था ; ऐसा जान पड़ता था, मनो उत्तम वेर धारण
 करने दो नष्ट अभिनय करनेके छिये धाये हों । जिनक
 नेत्र एक बार उनपर पड़ जाते, बस, धग ही जाते ।
 यही नहीं वे अपनी कान्तिसे उसका मन भी चुग लेते ।
 इस प्रकार दोनों रंगभूमिमें दायवपन्न हुए ॥ १९ ॥
 परीक्षित ! मञ्जोर जिनने खोग बैठे थे—वे मधुरक
 नागरिष और राष्ट्रने जन-समुदाय पुरुषोत्तम भाग्यन्
 श्रीकृष्ण और बलरामजीके देखकर इतने प्रसन्न हुए कि
 उनके नेत्र और मुखमत्र झिड़ उठे, टण्ठ-टण्ठसे भर
 गये । वे नेत्रोंके द्वारा उनकी सुभ्रयुतीका पान करने-

पिबन्त इव चक्षुर्म्यां लिहन्त इव जिह्वाया ।
 विघ्नन्त इव नासाभ्यां स्निग्धन्त इव बाहुभिः ॥२१॥
 ऊचु परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।
 तदुपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥२२॥
 एतौ भगवतः साक्षाद्दरेनारायणस्य हि ।
 अवतीर्णाविहाञ्जेन वसुदेवस्य वेष्मनि ॥२३॥
 एष वै किल देवस्यां आतो नीतश्च गोकुलम् ।
 कालमेतं वसन् गूढो बभूवे न दवेष्मनि ॥२४॥
 पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः ।
 अर्जुनौ गुह्यकः केश्री चेतुक्रोऽज्यं च तद्विधा ॥२५॥
 गावः सपाला एतेन दावतनेः परिमोचिता ।
 कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विषदः कुतः ॥२६॥
 सप्ताहमेकहस्तेन शृगोऽग्निप्रवरोऽमुना ।
 वर्षवाताश्चानिम्यश्च परिश्रुतश्च गोकुलम् ॥२७॥
 गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रश्रवणं मुखम् ।
 पश्यन्त्या विविधास्तापांस्तरन्ति स्वाभ्रमं मुदा ॥२८॥
 वदन्तवनेन वशाऽप्य यदो सुवहुभिभूतः ।
 श्रियं यशो महर्षं च लप्स्यत परिरक्षित ॥२९॥
 अयं चास्याग्रश्च भीमान् राम कमललाचन ।
 प्रलम्बा निहतो येन वत्सको ये वक्रादयः ॥३०॥
 जनेज्येयं मुवाणपु त्वयेषु निनदस्तु च ।
 कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमग्रवीत् ॥३१॥
 इ नन्दधना इ राम भवन्तौ वीरसंमता ।

करते तुम ही नहीं होते थे ॥ २० ॥ मन्त्र
 उन्हें नेत्रोंसे पी रहे हों, जिह्वासे चाट रहे ह
 नासिकासे सूँघ रहे हों और मुखाजोसे फक
 हृदयसे सट्टा रहे हों ॥ २१ ॥ उनके सौन्दर्य, गु
 माधुर्य और निर्गम्यमाने मानो दर्शकोंको उनकी अमर
 स्मरण पत्रा दिया और व लगे आपसमें उनके सम्बन्ध
 देखी-सुनी जाते बहने-सुनने लगे ॥ २२ ॥ ये दोनों
 साक्षात् भगवान् नारायणके अंश हैं । इस प्रकार
 वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २३ ॥ [अर्जुन
 सिखकर] ये सौक्य-सुखने कुमार देवजीके गले
 उलझ हुए थे । जनपते ही वसुदेवजीने इन्हें गोकु
 पहुँचा दिया था । इतने दिनोत्तक ये वहाँ छिपकर रहे
 और नन्दजीके घरमें ही पककर इतने बड़े हुए ॥ २४ ॥
 इन्होंने ही पूतना, गृणाकर्त, शङ्खचूष, केशी और चेतु
 आदिका तथा और भी कुछ दैत्योंका वध तथा यमवर्जित
 उद्धार किया है ॥ २५ ॥ इन्होंने ही गौ और गजोंके
 दावानलकी चालासे बचाया था । कश्चित् नागप्र दान
 और इन्द्रका मन-मर्दन भी इन्होंने ही किया था ॥ २६ ॥
 इन्होंने सात दिनोत्तक एक ही हाथपर गिरिज
 गोर्धनको उठाये रक्खा और उसके द्वारा औषधी-पानी
 तथा ब्रह्मपातसे गोकुलको बचा लिया ॥ २७ ॥ गेर्भ
 इनकी मन्द-मन्द मुसकान, मधुर चिन्तन और सर्वश
 एकरस प्रसन्न रहनेवाले मुखरविन्दके दर्शनसे जानन्दित
 रहती थीं और अनायास ही सब प्रकारके तपोंसे मुक्त
 हो जाती थीं ॥ २८ ॥ कहते हैं कि ये यदुवत्सके
 रक्षा करेंगे । यह विरूपान वंश इनके द्वारा मन्त्र
 स्मृति, यश और गौरव प्राप्त करेंगे ॥ २९ ॥ ये
 दूसरे इन्हीं श्यामसुन्दरके बड़े बड़े कलत्रपान श्रीवत्सम
 नी हैं । हमने किसी-किसीके मुँहसे ऐसा सुना है कि
 इन्होंने ही प्रलम्बासुर, कस्मसुर और वक्रसुर आदि
 मारा है ॥ ३० ॥

जिस समय दशकोंमें यह वर्षा हो रही थी और
 अशांतिमें तुरही आदि जागे बज रहे थे, उस समय
 चाणूरने भगवान् श्रीकृष्ण और कृष्णामको सम्बोधन
 करके यह बात कही— ॥ ३१ ॥ मन्दमन्दन श्रीकृष्ण
 और कृष्णामजी । तुम दोनों वीरोंके आदरणीय हो ।

नियुद्धकुलौ भुत्वा राष्ट्राऽऽहूता दिव्यशुणा ॥३२॥

प्रियं राष्ट्रं प्रकुर्वन्त्य भयोविन्दन्तिवै प्रजाः ।

मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥३३॥

नित्यं प्रष्टुदिवा गोपावत्सपाला यथा स्फुटम् ।

वनेषु मल्लयुदेन कीदन्वश्चारयन्ति गाः ॥३४॥

तस्माद् राष्ट्राः प्रियं यूय वयं च कुरुवामहे ।

मृतानि न प्रसीदन्ति सर्वमृतमयो नृपः ॥३५॥

वधिशम्याम्रवीत् कृष्णो देशकलौचित वचः ।

नियुद्धमात्मानोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ॥३६॥

प्रजा भाद्रपतेरस्य वर्षं चापि वनेचराः ।

कुरुवाम प्रिय नित्यं तस्मै परमनुग्रह ॥३७॥

शालावयं तुल्यवर्त्तं क्रीडिष्यामो यथाचितम् ।

भवेन्मियुद्ध माधर्मः स्पृशेन्मल्ल ममासद ॥३८॥

चाणूर उवाच

न शाला न दिशरन्ध्रं बलवत्पल्लिनां पर ।

लीलपथा इवा यत महमद्रिपमवमृत् ॥३९॥

तस्माद् भवद्भ्यामभिभियेद्व्यजानपाऽवर्त्त ।

मपि विक्रमं चाप्येष वनन मह मृष्टिः । ४०॥

इति धर्मशास्त्रे कर्मानुष्ठाने परमार्थस्य संहितायां दशमस्कन्धे प्रकीर्ते

सुवर्णचरितेन सप्तविंशतिः ॥ ४३ ॥

हमारे महाराजने यह सुनकर कि तुम लोग कुन्ती लड़नेमें बड़े निपुण हो, हमारा फौजदार देखनेके लिये तुम्हें यहाँ बुलवाया है ॥ ३२ ॥ देखो भाई ! जो प्रजा मल, बचन और कर्मसे राजाका प्रिय वर्य करता है, उसका भय होता है और जो राजाकी इच्छाके विपरीत काम करता है, उसे हानि उठानी पड़ती है ॥ ३३ ॥ यह सभी जानते हैं कि शत्रु और बड़ड़ घराणाले गालिये प्रतिदिन आनन्दसे जंगलोंमें कुन्ती लड़-लड़कर खेलते रहते हैं और शत्रु चराते रहते हैं ॥ ३४ ॥ इसलिये बाजो, हम और तुम मिच्छकर महाराजको प्रसन्न करनेके लिये कुन्ती लड़ें । ऐसा करनेसे हमपर सभी प्राणी प्रसन्न होंगे, क्योंकि राजा सारी प्रजाका प्रतीक है ॥ ३५ ॥

परिचित ! भगवान् धीमण तो चाहते ही थे कि इनसे दो-दो हाथ करें । इसलिये उन्होंने चाणूरकी बात सुनकर उसका अनुमोदन किया और देश-भरके अनुसार यह बात पड़ी— ॥ ३६ ॥ 'चाणूर ! हम भी इन भाद्रपद वंशकी वनचरों प्रिय हैं । हमें इनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये । इसीमें हमारा कल्याण है ॥ ३७ ॥ तब तो चाणूर ! हमलोग अभी बाधक हैं । इसलिये हम आनन्द समान बगलमें जाकरके साथ ही कुन्ती लड़नेका प्रयत्न करेंगे । कुन्ती लड़ना कष्टकरके सब ही शरीर चाहिये, जिससे देखने वाला समझनेसे अन्धापके समर्थर होनेका फल पा लगे ॥ ३८ ॥

चाणूरम कहता—अजी ! तुम आर वर्यम म बाधक हो आर न ता विज्ञार । तुम जानो वनचरोंमें भय है, तुमने अभी-अभी हत्यार हाथियार वर वनचरों को बुझा-पुझा किया है—ही-जानमें मर गया ॥ ३९ ॥ इसलिये तुम जानोसे हम हम वनचरों को रूप ही लड़ना चाहिये । हमें अन्धापके पराजित नहीं है । इसलिये धीमण ! हम सुनकर अन्ता आर अन्ता आ

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

चाणूर मुष्टिक भाषि पद्मलवामोका तथा कंसका उद्यार

भीमक उपाय

भीमकमेवजी कहते हैं—परीक्षित । मरु

एव चर्षितसङ्कल्पो भगवान् मधुसूदनः ।

आससादाय चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥ १ ॥

हन्ताभ्यां हस्तपौर्षवृन्वा पदुभ्यामेव च पादयोः ।

विषकर्पतुरपान्य प्रसन्न बिबिगीपया ॥ २ ॥

अरस्नी द्वे अरतिभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी ।

क्षिरः श्रोण्यां रसोरस्ताव योन्यमभिजगत्तुः ॥ ३ ॥

परिभ्रामणविधेयपरिरम्भावपातनैः ।

उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्य प्रत्यरुन्धताम् ॥ ४ ॥

उत्थापनैरुन्नपनैश्चालनैः व्यापनैरपि ।

परस्परं क्षिगीपन्तावपचक्रतुरात्मनः ॥ ५ ॥

तद् पद्मवलनमुदं समताः सूर्ययोपितः ।

ऊचुः परस्परं रावन् मानुर्कम्पा वरूथस्रः ॥ ६ ॥

मशानप यताधर्म एषां राजसभामदाम् ।

ये वनावलनमुदं राप्ताऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥ ७ ॥

ए पञ्चवारमार्गो मूर्छा शैलन्द्रमग्निर्भा ।

क पानिमुदमार्गो क्षिप्रार्गं नासर्पावनो ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णने चाणूर आदिके वक्ता निश्चित संपन्न क
 ल्पिया । जोइ वद दिये जानेपर भीष्म चाणूरसे कै
 मन्त्रामजी मुखिसे जा भिड़े ॥ १ ॥ वे छेग ए
 दूसरेको नीत लेनेसी इच्छासे हाथसे हाथ बाँकर और
 पैरोंमें पैर अबाकर मध्यक अपनी-अपनी ओर खींचे
 छगे ॥ २ ॥ वे पर्वोंसे पजे, छुटनोंसे छुटने, मध्ये
 मया और छतीसे छती मिबाकर एक-दूसरेपर चढ़े
 करने छगे ॥ ३ ॥ इस प्रकार दौड़-पौंच करते-करते
 अपने-अपने मोड़ीदारको पकड़कर इतर उतर कुम्हरे
 दूर ढकेल देते, जोरसे जकड़ लेते, छिन्न जाते, उखल
 पटक देते, छूटकर निकल मगते और कभी छोड़कर
 पीछे हट जाते थे । इस प्रकार एक-दूसरेको रोकके,
 प्रहार करते और अपने मोड़ीदारको पछाड़ देनेकी
 चेष्टा करते । कभी कोई नीचे गिर जाता, वो इसी
 उमे छुटनों और पैरोंमें दबकर उठ लेता । हाथोंसे
 पकड़कर ऊपर ले जाता । गलेमें छिपट जानेपर ढकेल
 देता और आकम्पकता होनेपर हाथ-पौंच इकट्ठे करके
 गौं बाँध देता ॥ ४ ५ ॥

परीक्षित । इस दमकको देखनेके भिमे मारसी
 बहुत-सी मद्दिछरें भी आयी हुई थीं । उन्होंने सब
 देखा कि बड़े-बड़े पद्मवलनोंके साथ ये छोटे-छोटे बन्
 हीन घाबरा लड़ाये जा रहे हैं, तब वे अजग-जग
 टाणियों बनाकर करुणावश आपसमें दानधन करने
 लगीं—॥ ६ ॥ 'यहाँ राजा कस्तके समसद् बहा भ्रम्य
 और अर्म पर रहे हैं । कितने लम्बी बात है कि
 राजाके सामने ही ये बड़ी पद्मवलनों और निर्जन
 थाक्योंके युद्धका अनुभूति करते हैं ॥ ७ ॥ बहिन !
 ग्रेष्म, इन पद्मवलनोंका एक-एक अङ्ग बरके समान
 पठार है । ये लखनमें बड़ मारी पर्वतसे मालूम होते
 हैं । परन्तु भीष्म और मन्त्राम अभी जान भी नहीं
 हुए हैं । इनकी निशोर अवस्था है । इनका एक-एक अङ्ग
 अफत छुपकार है । यहाँ ये और वहाँ य ॥ ८ ॥

धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।

यत्रार्धमः समुत्पिण्डेभ्य स्वेयं तत्र कर्हिचित् ॥ ९ ॥

न समो प्रविशेत् प्राज्ञः मभ्यदोषाननुसारन् ।

अमृवन् विद्युवज्जो नरः कित्त्वपमश्नुते ॥ १० ॥

वसगतः क्षत्रुमसितः कृपास्य वदनाम्बुजम् ।

वीक्ष्यतां भ्रमवार्पुषं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥ ११ ॥

किं न पश्यत रामस्य मृन्मताम्रलोचनम् ।

मुष्टिकं प्रति सामर्प्यं हासमरम्भञ्चोर्मितम् ॥ १२ ॥

पुण्या वत व्रजमुखो वदयं नृलिङ्ग

गूढः पुराजपुरुषो वनचित्रमात्मनः ।

गा पालयन् सहस्रलः कृपयश्च वेपुं

विक्रीडमाञ्चति गिरिवरमार्षिताङ्घ्रिः ॥ १३ ॥

गाप्यन्तपः किमश्नन् यदमुष्य रूपं

लावण्यसारमसमोर्ध्वमन्यसिद्धम् ।

रमि पिवन्त्यनुसवाभिर्नदुराव

मकान्तधामयज्ञस भिय एभरसः ॥ १४ ॥

जितने लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं, देख रहे हैं, उन्हें अवश्य-अवश्य धर्मोत्तुल्लसन्न पाप लोग । सखी ! अब हमें भी यहाँसि चक्र देना चाहिये । जहाँ अवर्मकी प्रकलता हो, वहाँ कमी न रहे, यही शास्त्र नियम है ॥ ९ ॥ देखो, शास्त्र कहता है कि बुद्धिमान् पुरुषको सम्प्रसर्दोंके दोषोंको जानते हुए, समामें जाना ठीक नहीं है । क्योंकि वहाँ जल्द उन अवगुणोंको कहना, जुप रह जाना अपना मैं नहीं जानता ऐसा कह देना— ये तीनों ही बातें मनुष्यको दोषमग्नि बनाती हैं ॥ १० ॥ देखो, देखो, श्रीकृष्ण शत्रुके चारों ओर पैतृ वदम रहे हैं । उनके मुखपर पसीन्की बूँदें ठीक वैैसे ही शोभ दे रही हैं, जैसे कमलकोशपर जलकी बूँदें ॥ ११ ॥ सखियो ! क्या तुम नहीं देख रही हो कि कल्याणजीका मुख मुष्टिकके प्रति क्रोधके कारण कुछ-कुछ झल झेचनेसे युक्त हो रहा है । फिर भी हास्य वनिरुद्ध भावोंके कितना सुन्दर लग रहा है ॥ १२ ॥ सखी ! सच पूछो तो वज्रमूर्ति ही परम पवित्र और धन्य है । क्योंकि वहाँ ये पुरुषोत्तम मनुष्यके वेपमें छिपकर रहते हैं । सर्व भगवान् शास्त्र और ऋषीजी जिनके कारणों-की पूजा करती हैं, वे ही प्रभु वहाँ रंग-विरंगे जंगली पुण्योंकी माला चारण कर लेते हैं तथा कल्याणजीके साथ बँसुरी बजाते, गीतें चरते और तरह-तरहके खेल खेलते हुए आनन्दसे विचरते हैं ॥ १३ ॥ सखी ! पता नहीं, गोपियोंने कौन-सी तपस्या की थी, जो नेत्रोंके दोनेसे नित्य-निरन्तर इनकी रूप-मञ्चुरीका पाम करती रहती हैं । इनका रूप क्या है, स्वप्नकाल सार । संसारमें या उससे परे किसीका भी रूप इनका रूपके समान नहीं है, फिर बदकर हानेकी तो बात ही क्या है । सो भी किसीके सँभारने-सज्जानसे नहीं, गहन कपड़ेसे भी नहीं, बल्कि सर्वसिद्धि है । इस रूपको देखने-देखने तुमि भी नहीं होनी । क्योंकि यह प्रति-क्षण नया हाजा जाता है, नित्य नूतन है । समग्र यश, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इसीके आश्रित हैं । सखिया ! परमा इतना दर्शन तो लोगोंके डिये बना ही दुर्लभ है । वह तो गोपियोंके ही भाग्यमें पना है ॥ १४ ॥

या दोहनेऽवहनने मयनोपलेप

प्रेक्षेन्नार्मरुदितोद्यममार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमतुरक्तधियोऽश्रुकण्ठो

धन्या ब्रजस्त्रिय उरुक्रमविषयानाः ॥१५॥

प्रातर्ब्रजाश्च ब्रजत आविष्टतश्च साय

गोभिः समं कणायतोऽस्य निश्चम्ब वेषुम् ।

निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि मृगिषुष्याः

पश्यन्ति ससितमूर्त्तंसदयावलोकम् ॥१६॥

एव प्रमापमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ।

धनुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान् भरतर्षभ ॥१७॥

सभयाः स्त्रीगिरः धृत्वा पुत्रसहस्रबाऽऽतुरौ ।

पितरावन्वत्प्येतां पुत्रबोरबुधौ बलम् ॥१८॥

तैस्तैर्निपुद्बविधिभिर्विधिघेरच्युतेतौ ।

युयुधाते यथान्वातन्वं तथैव बलमुष्टिकौ ॥१९॥

मगवद्वाग्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेपनिप्टुरैः ।

चाणूरो भज्यमानाङ्गा मुहुर्गर्लानिमषाप ह ॥२०॥

स श्येनवेग उत्पत्य गृहीकृत्य कराबुधौ ।

भगवन्त वासुदर्षं हृन्दा वधस्यबाधत ॥२१॥

सखी ! ब्रजकी गोत्रियाँ धन्य हैं । निर-
श्रीकृष्णमें ही चित्त लगा रहनेके कारण प्रेमभरे हृद-
योंऔरोंके कारण गद्गद कण्ठसे वे हृदीकी धीमन्त्र-
गान करती रहती हैं । वे दूध दुहते, दही मक्खे,
कूटते, घर छीपते, बालकोंको झूल झुल्लते, रोते
बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलते-मुछते, बर-
सावते-मुछारते—कहाँतक कहें, सारे काम-काज व
समय श्रीकृष्णके गुणोंके गानमें ही मग्न रा-
हें ॥ १५ ॥ ये श्रीकृष्ण जब प्रातः काल गौओं
भरानेके लिये बनसे बनमें जाते हैं और सायंकाल उ-
त्केर ब्रजमें लौटते हैं, तब बड़े मधुर स्वरसे कैं
कवाते हैं । उसकी डेर सुनकर गोत्रियाँ घरका स
काम-काज छोड़कर झपट रातमें दीक जाती हैं व
श्रीकृष्णका मन्द-मन्द मुसकान एवं दयामयी चितक-
युक्त मुखकमल निहार-निहारकर निहाल होती हैं
सबमुझ गात्रियाँ ही परम पुण्यवती हैं ॥ १६ ॥

भरतवंशशिरोग्णे ! जिस समय पुरवासिनी कि-
एए प्रकार बातें कर रही थीं, उसी समय योगेश-
्वर भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन शत्रुको मार डालनेके
निश्चय किया ॥ १७ ॥ त्रियोंकी ये भयपूर्ण बातें मग-
धिता देवकी म्बुदेव भी सुन रहे थे ॥ वे पुत्रस्नेह-
शेषसे विह्वल हो गये । उनके हृदयमें बड़ी जलन, ब-
पीका होने लगी । क्योंकि वे अपने पुत्रोंके क-
नहीं जानते थे ॥ १८ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और उनके
मित्रनारायण चाणूर दोनों ही मिश्र-मिश्र प्रकारके दौरे
पेकर प्रयोग करते हुए परस्पर जिस प्रकार लड़ रहे
थे, वेसे ही कथ्यमजी और मुखिक भी मिट्टे हुए थे ॥ १९ ॥
भगवान्के अङ्ग-प्रपङ्ग बलसे भी घटोर हो रहे थे । उनकी
रग-रसे चाणूरकी रग-रग हीन्ही पड़ गयी । बार-बार उसे पल-
मझम हो रहा था मग्नो उसवे शरीरके सारे कण-
टूट रहे हैं । उसे बड़ी व्यथि, बड़ी व्यथ ॥ २० ॥
जब वह अत्यन्त व्यथित होकर काजरी तरह झपट-
और दोनों हाथोंके घुँसे बाँधकर उसने भगवन् श्रीकृष्ण-
की छापीर प्रहार किया ॥ २१ ॥ परन्तु उसके प्रहारसे

• त्रियाँ बतों बातें कर रही थीं कहते निरुद्ध ही म्बुदेव-देवकी केद थे भगत थे उनकी बातें सुन लगे ।

नाचलचरप्रहारेण सोलाहत इव द्विप ।
 बाहोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो आमघ्नन् हरिः ॥२२॥
 मृष्टे पोषयामास तरसा धीणजीवितम् ।
 विस्तृताकल्पकेऽस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥२३॥
 तथैव मुष्टिकः पूष स्वमुप्याभिहितेन वै ।
 बलमद्रेण बलिना तलेनाभिहतो मृशम् ॥२४॥
 प्रवेपित ॥ रुभिरमुहमन् मुन्वतोऽर्दितः ।
 व्यसुः पपातोर्ष्युपस्ये वाताहत इवाक्षुधियः ॥२५॥
 ततः कूटमनुप्राप्त रामः प्रहरतां वर ।
 अवधील्लीलया राजन् सावर्द्धं वाममुष्टिना ॥२६॥
 तस्यैव हि शलः कृष्णपदापहतशीर्षकः ।
 द्विधा विदीर्णस्तोष्ठलक उभावपि निपेततुः ॥२७॥
 चाणूरे मुष्टिके कूट शले तोष्ठलके हते ।
 क्षेपाः प्रदुदुर्गुमृच्छाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥२८॥
 गोपान् वयस्यानाकल्पते संसुन्य विजहतुः ।
 वायमानेषु त्र्येषु वल्गान्ती हवन् पुरा ॥२९॥
 जना प्रमद्वपुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः ।
 श्वते कर्षन्निप्रमुम्प्या सावधः साधु साविति ॥३०॥
 हतेषु मरुतर्ग्येषु विद्वतषु च भावराट् ।
 न्यवारयत् स्वर्ग्याणि धार्यं चेदमुवाच ॥३१॥

भगवान् तनिक मी विचक्षित न हुए, जैसे कुठोंके गजरे
 की मारसे गजराज । उन्होंने चाणूरकी दोनों मुनारें पकड़
 लीं और उसे अन्तरिक्षमें बढ़ केगसे कई बार घुमाकर
 धरतीपर दे मारा । परीक्षित । चाणूरके प्राण तो घुमानेके
 समय ही निकल गये थे । उसकी वेन-भूषा अस्त-व्यस्त
 हो गयी, केश और माथों से छिड़ गयीं, वह इन्द्रध्वज
 (इन्द्रकी पूजाके छिये छोड़े किये गये बड़े ढंडे) के
 समान गिर पड़ा ॥ २२ २३ ॥ इसी प्रकार मुष्टिकने
 मी पहले कर्णामजीने एक हूँसा मारा । इसपर वज्री
 कर्णामजीने उसे बढ़ औरसे एक तम्बाचा जड़ दिया ॥२४॥
 तम्बाचा छानेसे वह कौन ठग और औंवीसे उछड़ हुए
 वृद्धके समान अल्पत व्यपित और अन्तमें प्राणहीन
 होकर मृत उगड़ता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥
 हे राजन् ! इसके बाद पौंड्राजोंने श्रेष्ठ भगवान् वज्राम-
 जीने अपने सामने आते ही कूट नामक पहलवानकी
 स्नेह-नेत्रों की कायें हाथके घूँसेसे उपेक्षापूर्वक मार
 बाटा ॥ २६ ॥ उसी समय भगवान् श्रीकृष्णने पैरकी
 ठेकरसे शङ्ख सिर घड़से अघ्न कर दिया और तोश-
 कों तिनकेकी तरह भीरकर दो टुकड़े कर दिया । इस
 प्रकार दोनों वराहायी हो गये ॥ २७ ॥ जब चाणूर,
 मुष्टिक, कूट, शल और तोशक—ये पाँचों पहलवान मर
 चुके, तब जो वज्र रहे थे, वे अपने प्राण बचानेके लिये
 स्वयं कहींसे भाग खड़े हुए ॥२८॥ उनके भाग जानेपर
 भगवान् श्रीकृष्ण और कर्णामजी अपने समक्षस्थ मार-
 काओंको खींच-खींचकर उनके साथ मिटने और नाच
 नाचकर मेरिष्णिके साथ अपने नृपुंर्यो जनगरकी
 मिथकत मण्डप्रीडा—कुदलीक में धरन गये ॥२९॥

भगवान् श्रीकृष्ण और कर्णामजी इस अशुभ वीर्यम-
 र्मकात् समी दृष्टांतेषां वदा आदत्त एव । अप-
 मारण और साथ पुरुष अन्य ई, अन्य ई—इस प्रपञ्च
 पहलवान प्रपञ्चा धरन गये । परन्तु कर्मका इसने यन्
 दुष्ट हुआ । वह और मी चिद गया ॥ ३० ॥ जब
 उसका प्रधान पहलवान मार टाके गए और वज्र हुए
 सप्त-सप्त भाग गए, तब मोजगात्र धंसन आन मार-
 गात्र वं वरा लिय और आन मेवगोंय पद आन

नि सारयत् दुर्बलौ वसुदेवात्मजौ पुरात् ।
 धनं हरत् गोपानां नन्दं वप्नीत दुर्मतिम् ॥३२॥
 वसुदेवस्तु दुर्मथा हन्यतामाश्रयसप्तम ।
 उपसेनः पिता चापि सानुगः परपथगः ॥३३॥
 एवं विकृत्यमाने वै कसे प्रकृपितोऽध्वयः ।
 लघिन्नोत्पत्य तरसा मञ्जुवृक्षमारुहत् ॥३४॥
 तमाविशन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् ।
 मनस्वी सहस्रोत्थाप जगृहे साऽसिचर्मणी ॥३५॥

त खड्गपाणिं विचरन्तमाशु
 ज्येन यथा दक्षिणसध्यमन्वरे ।
 समग्रहीदु दुर्बिपहोप्रतेजा
 यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसन्न ॥३६॥
 प्रगृह्य केन्द्रेषु चतुर्दिशि
 निपात्य रक्षापणिं तुङ्गमध्यात् ।
 तस्योपरिष्ठात् स्वयमभ्यजनाभ
 पपात विस्माधय आरमत्तत्र ॥३७॥
 त सम्परेत विचर्क्य भूमी
 हरिर्गन्धर्व नगता विपश्यतः ।
 हाहति शब्द गुमर्हन्मदाधु
 द्बुदीगितः गर्जजर्जरेन्द्र ॥३८॥
 ग निगदादिग्नभिषा तमीश्वर
 विराजदन्तारिगन्धर्वमनु ।
 ददनं यमायुधमप्रता य
 मद्य रूप दुराणमाप ॥३९॥

दी—॥ ३१ ॥ धरे, वसुदेवके इन दुश्चरित्र काफ़िले
 नगरसे बाहर निकाल दो । गोपोंका सारा धन छीन ले
 और दुर्मुदि नन्दको कैद कर ले ॥ ३२ ॥ वसुदेव
 भी बड़ा कुतुहल और दुष्ट है । उसे शीघ्र मार डालो
 और उपसेन मेरा पिता होनेपर भी अपने अनुयायियों
 साथ शत्रुजैसे मित्र भूला है । इसलिये उसे भी जीत
 मन छोड़ो ॥ ३३ ॥ कंस इस प्रकार बड़-बड़कर बसा
 कर रहा था कि अतिनाशी श्रीकृष्ण कुपित होकर पुनर्से
 वेगपूर्वक उछलकर धीत्रसे ही उसके ऊँचे मञ्जर व
 चढ़े ॥ ३४ ॥ जब मनस्वी कंसने देख्य कि मेरे मृत्युका
 भगवान् श्रीकृष्ण सामने आ गये, तब वह सहसा अपने
 सिंहस्तनसे उठ खड़ा हुआ और हाथमें ढाल तथा तख्तर
 उठा ही ॥ ३५ ॥ हाथमें तख्तर धरत वह चोरे करनेका
 अवसर ईदता हुआ पैतरा बदलने लगा । आकाशमें
 उड़ते हुए राजके समान वह कभी दायीं ओर जब
 तो कभी बायीं ओर । परन्तु भगवान्का प्रचण्ड तेज
 अत्यन्त दुस्तब्ध है । जैसे गरुड सौंस्तरे परत लेते हैं
 वैसे ही भगवान्का कण्ठपूर्वक उसे पकड़ लिया ॥ ३६ ॥
 इसी समय कंसका मुख पर गिर गया और भगवान्ने उसके
 केश पकड़कर उसे भी उस ऊँचे मञ्जरसे रंगमूर्तिमें गिरा
 दिया । फिर परम स्वतन्त्र और सारे विश्वके आश्रय भगवान्
 श्रीकृष्ण उसके ऊपर स्वयं फूट पड़ ॥ ३७ ॥ उनके
 झूठे ही कंसकी मृत्यु हो गयी । सबके देखते-देखते
 भगवान् श्रीकृष्ण कंसकी लशको धरतीपर उसी प्रकार
 घसीटने लगे, जैसे सिंह हारीक्रे घसीटे । नोट ।
 उस समय सबके मुँहसे श्वाप । हाय ! की बड़ी ऊँची
 आवाज सुनायी पड़ी ॥ ३८ ॥ परम नित्य-निम्नर बड़ी
 घबराहटके साथ श्रीकृष्णकी ही किन्तु बरत रहा
 था । वह गत-गीते, साधे-खरते, योगी और सौदा
 के—सब समय अपने समने घबराहटके गिरे भगवान्
 श्रीकृष्णकी ही दृष्टा रहता था । इस नित्य निम्नने
 पराक्रम—बराघाट दुर्गभाषने ही क्यों न किया गया
 हो—उसे भगवान्ने उनी गपकी प्राप्ति हुई शान्ति-
 मुक्ति हुई जितनी प्राप्ति पर उतनी तपनी पाणिनी रीति
 भी पड़ने है ॥ ३९ ॥



कंस-उद्धार

तस्यानुज्ञा आतरोऽष्टौ फङ्गन्यप्रोषकादयः ।
 बन्धभावमभिरुद्धा आसुर्विषयकारिणः ॥४०॥
 तथातिरभसान्तास्तु सयधान् रोहिणीसुता ।
 बह्वन् परिषमुपम्य पद्मनिव मृगाधिपः ॥४१॥
 नेतुर्मुद्गुभयो व्योम्नि ब्रह्मोद्या विभूतयः ।
 पुष्पैः किरन्तस्तप्रीताः क्षत्रसुर्ननुतः क्षियः ॥४२॥
 तेषां क्षिप्रो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः ।
 तत्राभीषुर्विनिम्रन्त्यः क्षीर्षाण्यधुविलोचनाः ॥४३॥
 क्षयानान् धीरश्रय्यायां पतीनालिङ्ग्यञ्चोचतीः ।
 विडेपु सुखरानाणैर्विदुजन्त्याधुःक्षुयः ॥४४॥
 हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ कुरुणानाथत्सल ।
 स्वया इतेन निहता बन्धं ते सगृहप्रजाः ॥४५॥
 स्वया विरहिता पत्या पुरीष पुरुषर्षभ ।
 न शोभते बयमिव निदुचोत्सवमञ्जला ॥४६॥
 अनागतां त्वभूतानां कृतवान् द्राह्मन्वषण्म् ।
 तेनेमां भा दक्षा नीतो भूतप्लुक्षा लभेत् क्षम् ॥४७॥
 सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः ।
 गोप्ता च तदवध्यामी न कश्चित् सुखमेधते ॥४८॥

धीशुक उवाच

राक्षसोपि आमास भगवाँल्लोकभावनः ।

यमाहर्लोकिकीं संस्थां इतानां समकारयत् ॥४९॥

कंसके फङ्ग और यथाप आदि बाढ छोटे गार्ह थे ।
 वे अपने बड़े मायिक बदला लेनेके लिये कोषसे आग-
 बल्ले होकर भगवान् श्रीकृष्ण और नक्षत्रात्मके ओर
 दौड़े ॥ ४० ॥ जब भगवान् कछामञ्जीने देख कि वे
 बड़े बेगसे युद्धके उद्ये तैयार होकर दौड़े आ रहे हैं, तब
 उन्होंने परिष उठाकर उन्हें वेसे ही मार डाला, जैसे
 सिंह पशुओंको मार डालता है ॥ ४१ ॥ उस समय
 आकाशमें दुन्दुभिणों बजने लगीं । भगवान्के विभूति-
 स्वरूप नक्षत्रा, शास्त्र आदि देवता बड़े आनन्दसे पुष्पोंकी
 वर्षा करते हुए उनका स्तुति करने लगे । अम्बरमें
 नाचने लगीं ॥ ४२ ॥ महाराज । कंस और उसके
 गणोंकी क्षियाँ अपने आत्मीय सज्जनोंकी मृत्युसे व्यथित
 हुईं । वे अपने सिर पीटती हुई आँखोंमें आँसु
 मरे लगीं । ॥ ४३ ॥ वीरशम्भुपर छोड़े हुए अपने
 पतियोंसे छिपकर वे शोकमग्न हो गयीं और घर-घर
 आँसु बहाती हुई उन्हें खरसे खिन्न करने लगीं ॥ ४४ ॥
 हा नाथ । हे प्यार । हे धर्मज्ञ । हे कुरुणामय । हे
 अनापकसल । आपकी मृत्युसे हम सत्री मृत्यु हो
 गयी । आज हमारे घर तनका गया । हमारी सुत्तल
 अनाथ हो गयी ॥ ४५ ॥ पुरुषश्रेष्ठ । इस पुरीके आप
 ही स्वामी थे । आपके निहते इसके उत्सव समाप्त हो
 गये और मङ्गलचिह्न उत्तर गये । यह हमारी ही मौलि
 विज्जा होकर शोमहीन हो गयी ॥ ४६ ॥ स्वामी ।
 आपने निरपराध प्राणियोंके साथ घोर द्रोह किया था,
 अन्यथा किया था, इसीसे आपकी यह गति हुई । सच
 है, जो जगत्के जीवोंसे द्राह करता है, उनका अहित
 करता है, ऐसा कौन पुरुष शान्ति पा सकता है ? ॥ ४७ ॥
 वे भगवान् श्रीकृष्ण जगत्के समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति
 और प्रलयके आकार हैं । यही रक्षक भी हैं । जो
 इनका भुग थापता है, इनका निरत्नकर करता है, वह
 कभी सुखी नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

धीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । भगवान्
 श्रीकृष्ण ही सारे संसारके जीवनदाता हैं । उन्होंने
 रानियोंको द्राव्य वैज्या, सैनिका दी, कि सामन्तानिके
 अनुसार मनेवालोंका जंज किया-कर्म होता है, वह

मातरं पितरं चैव मोक्षयित्वाथ बन्धनात् ।

कृष्णरामौ बन्धाते शिरसाऽऽसृष्ट्वा पादयोः ॥ ५० ॥

देवकी वसुदेवश्च विद्याप जगदीश्वरौ ।

कृतसंबन्धनौ पुत्रौ सख्यमाते न शङ्कितौ ॥ ५१ ॥

सब कराया ॥ ४९ ॥ तदनन्तर माधव श्रीकृष्ण और कल्याणजीने जेलमें जाकर अपने भ्राता-पिताओं बन्धनसे छुड़ाया और सिरसे स्पर्श करके उन्हें चरणोंकी बन्दना की ॥ ५० ॥ किन्तु अपने पुत्रों प्रणाम करनेपर भी देवकी और वसुदेवने उन्हें जगदीश सम्झकर अपने हृदयसे नहीं लगाया । उन्हें शाहू हो गयी कि हम जगदीश्वरको पुत्र कैसे समझें ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते म्हापुराणे पारमर्हस्यां संक्षिप्तायां दशमस्कन्धे पूर्वो

कस्तुर्वा नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-बलरामका यक्षोपवीत और गुरुकुलप्रवेश

श्रीगुरु उवाच

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरोचमः ।

मा भूदिति निजं मार्गं तत्तान जनमोहिनीम् ॥ १ ॥

उवाच पितरावेव सान्द्राः सास्वतर्षभ ।

प्रभयावनतः प्रीणन्मम तातैति सादरम् ॥ २ ॥

नासद्यो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितगोरपि ।

बाल्यप्रागण्डकंठारा पुत्राभ्यामभवन् कश्चिन् ॥ ३ ॥

न लम्बा दैवदत्तयोर्वासो नौ भवदन्तिके ।

यां बाला पितृगेहम्पा विन्दन्ते सालिता मुदम् ॥ ४ ॥

मर्षार्थमम्भो देहा अनितः पापिता यतः ।

श्रीगुरुदेवकी कहते हैं—परीक्षित ! भगवन् श्रीकृष्णने देखा कि भ्राता-पिताओं मेरे ऐश्वर्यमय, मैं भगवद्भाक्ता ज्ञान हो गया है । परन्तु इन्हें ऐसा होना ठीक नहीं, (इससे तो ये पुत्र-स्नेहका पुत्र नहीं पा सकेंगे—) ऐसा खेचकर उन्होंने उनपर अर्पण का योगमाया फैला दी, जो उनके सज्जनोंके सुख रखकर उनकी स्वीकृति सहायक होती है ॥ १ ॥ यदुक्तमस्मिन्मणि मगान् श्रीकृष्ण बड़े भाई कल्याणजीने साथ अपने माँ-बापके पास जाकर आनन्दपूर्वक और विनयसे हुक्कर 'मेरी अम्मा ! मेरे पिताजी !' इन शब्दोंसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहने लगे— ॥ २ ॥ 'पिताजी ! माताजी ! हम आपके पुत्र हैं और आप हमारे छिपे सखा अरुणित रहें हैं, फिर भी आप हमारे बाल्य, योग्य और निरोग अवस्था सुख हमसे नहीं पा सके ॥ ३ ॥ दुर्दैवका हमयोग्य आपके पास रहनका सौभाग्य ही नहीं मिल । इससे बापकीको भ्राता-पिताके घरमें रहकर जो माद-प्यारका सुख मिश्रता है, वह हमें भी नहीं मिल सका ॥ ४ ॥ पिता और माता ही इस शरीरको जन्म देते हैं और इसका आसन-ग्रासन करते हैं । तब कभी जानर का शरीर धम, अर्थ कम अवका मोक्षकी प्राप्ति का सुख

न तपोर्याति निर्वेद्यं पित्रोर्मर्त्यं क्षतायुषा ॥ ५ ॥

यमपोरात्मजं कृत्वा आत्मना च धनेन च ।

इति न दद्याच्च प्रत्यं ममार्गं म्नायन्ति हि ॥ ६ ॥

मातरं पितरं वृद्धं भाषा साध्वीं सुतं शिशुम् ।

गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कन्योऽपि घ्नन्मृतं मृत ॥ ७ ॥

तद्वाचक्यरयोः कमाभिव्यमुद्रिप्रचेतमोः ।

मोघमते व्यतिक्रान्ता विवशा वामनर्षता ॥ ८ ॥

तत् क्षन्तुमर्हन्मातु मातर्ना परतन्त्रयो ।

अकृर्वतावा गुधृषां छिद्योदुहृषा भृशम् ॥ ९ ॥

कौशुल उवाच

इति मायामनुष्यस्य हरविश्वात्मना गिरा ।

माहितावद्धमागम्य परिव्रज्यावसुर्मुदम् ॥ १० ॥

मिथ्यन्तावधुधाराभि स्नेहपाग्नं चावृत्ता ।

न सिद्धिरात्र राजन् वाप्यकच्छा विमाहिता ॥ ११ ॥

गम्यमाश्रम्य पितरौ भगवान् दयकीश्वर ।

मातामहं नृप्रमनं यत्नामररान् नृपम् ॥ १२ ॥

भारं चामान् महाराज प्रज्ञायाप्रसुमहमि ।

यपातिदाशश्च यदुभिनमित्यथ नृवामन ॥ १३ ॥

मयि भूय उतामीन भगवा विप्रपाण्य ।

वदि हरन्परतता हिमूतान्ये नगधिरा ॥ १४ ॥

बनना है । यदि कोई मनुष्य सी बातक जीकर माता और पिताकी सेवा करता रहे, तब भी वह उनके उपकारसे उच्छ्रय नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ जो पुत्र सामान्य रहते भी अपने माँ-बापकी शरीर और धनमें सेवा नहीं करता, उसके मरनेपर यमदूत उसे उसके अपने शरीरका मांस खिलाते हैं ॥ ६ ॥ जो पुरुष समस्त होकर भी बड़े माता-पिता, सती पत्नी, बाधक सम्पत्ति, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतक मरण-पोरण नहीं करता—बड़ जीता हुआ भी मुर्खके समान ही है ॥ ७ ॥ पिताजी ! हमारे इतने दिन व्यर्थ ही बीत गये । क्योंकि कंसके मयसे सदा उद्दिग्धचित्त रहनेके कारण हम आपकी सेवा करनेमें असमर्थ रहे ॥ ८ ॥ मेरी माँ और मेरे पिताजी ! आप दोनों हमें क्षमा करें । हाय ! कुछ कंसन आपकी इतने इतने फट्ट दिये, पशु हम परतन्त्र रहनेके कारण आपकी कोई सेवा-शुद्धा न कर सके ॥ ९ ॥

श्रीगुह्येशजी कहते हैं—परीक्षित । अपनी लीलासे मनुष्य बने हुए विषयमा धीरिरी इस पागीसे मोहित हो देखकी-बसुदेवन उन्हें गोश्वमे उद्या लिया और वसे विषयकर परमानन्द प्राप्त किया ॥ १० ॥ राजन् ! वे स्नेह-पाशसे बँधकर पूर्णत मोहित हो गये और औसुओंकी धारासे उनका अमिश्र करने लगे । यहीवत् कि औसुओंके कारण गन्ध रंध जानेसे वे कुछ पात्र भी न सके ॥ ११ ॥

पेरुमन्म मन्तान् धीरुष्णन इस प्रकार अपने माता-पिताको मन्तना केर अपने माता उपमेनरी यदुभिनियोंका राजा बना लिया ॥ १२ ॥ और उनसे कहा—महाराज ! हम आरती प्रता हैं । अब हमनगौर नामक कीनिये । राजा पयनिकर गप हानक कारण यदुधरी राजभिनमनर मही देर मरने (गन्तु मी एमी ही इच्छा है, हमपि अयस्य कई गप न होगी ।) ॥ १३ ॥ प्रप ममेरक यनर अरु मी मेर कन्य रहूँ न तब वह वह रेग भी निग गुहारर अरु मी रेग । दूसर नरगति र कामे ना वरना

सर्वान् स्वाम्नातिसम्पन्नान् दिग्मयः कर्ममयाद्गतान्
 यदुद्यम्य भक्तमधुदाशार्द्धकुरादिकान् ॥१५॥
 समानितान् समाम्नाय त्रिवेद्यावासकश्चितान् ।
 न्यवासयत् स्वगृहेषु विचैः संतर्प्य विश्वकृत् ॥१६॥
 कुप्यसंकर्षणमुजैर्गुप्ता लम्बमनोरथाः ।
 गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कुप्यरामगतन्वराः ॥१७॥
 वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम् ।
 नित्यं प्रसुविर्तं श्रीमत् मदयस्मितवीक्षणम् ॥१८॥
 तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानाऽतिबलौघतः ।
 विषतोऽघैर्मुकुन्दस्य सुखाम्बुजमुधां मुहु ॥१९॥
 अथ नन्दं नमामास भगवान् देवकीसुत ।
 संकर्षणस्य राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतु ॥२०॥
 वितर्पयाम्नां क्षिप्राम्नां पोषितौ लालितौ मृगम् ।
 पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरस्मज्जप्यात्मनोऽपि हि ॥२१॥
 स पिता मा च जननी यौ पुष्णीता म्यपुत्रवत् ।
 मित्रं च पुभिरुन्मृष्टानकन्यै पोषरक्षण ॥२२॥
 यात ययं व्रजं ताव वयं च म्महदुन्वितान् ।

ही न्या है ॥ १४ ॥ परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्ण ही
 सारे विश्वके विद्यामा हैं । उन्होंने, जो बंसके भस्मे
 व्याकुल होकर इधर-उधर भाग गये थे, उन यदु,
 वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्द्ध और कुकुर आदि बंसोंमें
 उत्पन्न समस्त सजातीय सम्बन्धियोंको हूँ-हूँकर
 बुझाया । उन्हें घरसे बाहर रहनेमें बड़ा क्रोध उठाना
 पड़ा था । भगवान् ने उनका सत्कार किया, सन्तान
 दी और उन्हें खूब धन-सम्पत्ति देकर दूत किया तथा
 अपने-अपने घरोंमें बसा दिया ॥ १५ ॥ १६ ॥ जब
 सारे-के-सारे यदुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके
 बाहुबलसे सुरक्षित थे । उनकी हयासे उन्हें किसी
 प्रकारकी भयना नहीं थी, कुछ नहीं था । उनके छोटे
 मनोरथ सफल हो गये थे । वे हर्षार्थ हो गये थे ।
 अब वे अपने-अपने घरोंमें आनन्दसे विश्रार करने लगे
 ॥ १७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका वदन आनन्दकर सदन
 है । वह नित्य प्रफुल्लित, कभी न कुन्धलमेवावस्थान
 कमल है । उसका सौन्दर्य अपार है । तदय हास
 और कितवन उसपर सदा नाचती रहती है । प्युषंसे
 दिन-प्रतिदिन उसका दर्शन करके आनन्दमग्न होते
 ॥ १८ ॥ मधुराके बृहत् पुरुष भी युवकोंके समान
 अत्यन्त प्रसन्न और उत्साही हो गये थे, क्योंकि
 वे अपने मेत्रोंके दोनोंसे बारंबार भगवान् के
 मुखपरिन्दक अमृतमय मकरन्द-रस पान करते
 रहते थे ॥ १९ ॥

प्रिय परीक्षित । जब देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण
 और बलरामजी दोनों ही नन्दबाबाके पास जाये और
 गले लगनेके बाद उनसे कहने लगे— ॥ २० ॥ पित्रमी !
 आपने और मैं यशोदाने बड़े स्नेह और दुष्पारसे
 हमारा व्यवहार-पाठ्य किया है । इसमें कोई सन्देह नहीं
 कि माता-पिता सन्तानपर अपने हृदयसे भी अधिक
 स्नेह करते हैं ॥ २१ ॥ जिन्हें पालन-पोषण न कर
 सकनेके कारण अजन-सम्बन्धियोंने त्याग दिया है, उन
 जानकोंको जो लगे अपने पुत्रके समान व्यवहारसे
 पावते हैं, वे ही बादावमें उनके माँ-बाप हैं ॥ २२ ॥
 मित्राजी ! जब आपलोग व्रजमें जायें । इसमें सन्देह
 नहीं कि हमारे विना वारम्बर-स्नेहके अजगत् आप

श्वतीन् षोडशमेष्वाभ्यो विधाप्य सुहृदा सुखम् ॥२३॥
 एवं सान्त्वय्य भगवान् नन्दः सत्रप्रमच्युतः ।
 वासोऽलङ्कारकृष्णधैर्ययामास सादरम् ॥२४॥
 इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ।
 पूरयन्मधुभिर्नित्रे सह गोपैर्वधु ययौ ॥२५॥
 अथ शरसुतो राजन् पुत्रयोः समकारयत् ।
 पुरोक्ष्वा ब्राह्मणैश्च यथावत् विजसंस्तुतिम् ॥२६॥
 तेभ्योऽद्वाद् दक्षिणा गावो रुक्ममालाः खलङ्कृताः ।
 खलङ्कृतेभ्य सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः ॥२७॥
 याः कृष्णरामजन्मर्षे मनोदत्ता महामतिः ।
 वाचादवादनुसृत्य कसेनाधर्मतो हृताः ॥२८॥
 वतश्च लम्बसस्कारौ द्विजत्व प्राप्य सुमतौ ।
 सर्गाद् वदुक्कलत्वार्याद् गावश्च वतमास्थितौ ॥२९॥
 प्रभवौ सर्वविधानां सर्वज्ञौ अगदीश्वरौ ।
 नान्यसिद्धामलङ्घानं गूढमानो नरहितैः ॥३०॥
 अथो गुरुकुलं वासमिच्छन्तामुपजग्मतुः ।
 काश्य सादीपर्णि नाम अवन्तीपुरवासिनम् ॥३१॥
 यथोपसाद्य सौ दान्तीं गुरौ वृचिमनिन्दिताम् ।

लोगोंको बहुत दुःख होगा । यहाँकें सुहृद्-सम्पत्तियोंको
 सुखी करके हम आपत्तियोंसे मिथनके छिये आवेंगे
 ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने नन्दबाना और दूसरे
 ब्रह्मवासियोंको इस प्रकार समझा-मुताकर बड़े आदरके
 साथ वस्त्र, आभूषण और अनक धातुओंके बन भरतन
 आदि देकर उनका सत्कार किया ॥ २४ ॥ भगवान्की
 बात सुनकर नन्दबाने प्रमसे अधीर होकर दोनों
 श्वशुरोंको गले लगा लिया और फिर नत्रोंमें औंस
 भरकर गोपोंके साथ ब्रजकें छिये प्रस्थान किया ॥ २५ ॥
 हं राजन् ! इसके बाद ऋषदेवजीने अपने पुरोहित
 गार्गाचार्य तथा दूसरे ब्राह्मणोंसे दोनों पुत्रोंका विधिपूर्वक
 द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत सत्कार कराया ॥ २६ ॥
 उन्होंने विविध प्रकारके वस्त्र और आभूषणोंसे ब्राह्मणोंका
 सत्कार करके उन्हें बहुत-सी दक्षिणा तथा बछड़ोंवाली
 गौरें दीं । सभी गौरें गलेमें सोनेकी माला पहने हुए
 थीं तथा और भी बहुत-से आभूषणों एवं रेशमी कर्जोंकी
 मालाओंसे विभूषित थीं ॥ २७ ॥ महामति ऋषदेवजीने
 भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके जनन-नक्षत्रमें जितनी
 गौरें मन-ही-मन सत्कार करके दी थीं, उन्हें पहले
 कसने कन्यापसे छीन लिया था । अब उनका स्मरण
 करके उन्होंने ब्राह्मणोंको वे कसते दीं ॥ २८ ॥ इस
 प्रकार यदुवंशके आचार्य गार्गजीसे संस्कार करकर बल-
 रामजी और भगवान् श्रीकृष्ण द्विजत्वको प्राप्त हुए ।
 उनका ब्रह्मचर्यजन अक्षय्य तो था ही, अब उन्होंने
 गावरीपूर्वक अध्ययन करनेके छिये उसे नियम्य स्वीकार
 किया ॥ २९ ॥ श्रीकृष्ण और बलराम जगद्के एकमात्र
 स्वामी हैं । सर्वज्ञ हैं । सभी विषयोंमें उन्हींसे निकली हैं ।
 उनका निर्गुण ज्ञान अत सिद्ध है । फिर भी उन्होंने
 मनुष्यकी-सी वीक्ष्य करके उसे छिया रक्खा था ॥ ३० ॥
 अब वे दोनों गुरुकुलमें निवास करनेकी इच्छासे
 काश्यगोत्री सान्दीपनि मुनिके पास गये, जो अश्वतीपुर
 (उज्जैन) में रहते थे ॥ ३१ ॥ वे दोनों माई त्रिविपूर्वक
 गुरुजीके पास रहने लगे । उस समय वे बड़ ही सुसं-
 यत, अपनी चेष्टाओंको सर्वथा नियमित रखते हुए थे ।
 गुरुजी तो उनका आदर करते ही थे, भगवान् श्रीकृष्ण

ब्राह्मन्तापुपेतौ स भक्त्या देवमिवापतौ ॥३२॥

तयोर्द्विजवरस्तुष्ट शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।

प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरु ॥३३॥

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथास्तथा ।

तथा चान्वीक्षिष्यीं विधां राजनीतिं च पट्विधाम् ॥३४॥

सर्वं नरवरभेष्टौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ ।

सकृन्निगदमात्रेण तौ संजगृह्णतुर्नृप ॥३५॥

अहोरात्रैश्चतुःपट्या सयसौ तावतीः फलाः ।

गुरुदक्षिणयाऽऽचार्यं छन्दसामासतुर्नृपः ॥३६॥

और बलरामभी भी गुरुजी उच्चम सेवा कैसे करती थादिये, इसका आदर्श जेभोंके सामने रखते हुए बड़ी भक्तिसे इष्टदेवके समान उनकी सेवा करने लगे ॥३२॥ गुरुवर सान्दीपमिजी उनकी छुद्रमात्रसे युक्त सेवासि बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने दोनों भाइयोंको छद्मों कक्ष और उपनिषदोंके सङ्ग्रह सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा दी ॥३३॥ इनके मित्र मन्त्र और देवताओंके ज्ञानके साथ धनुर्वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि, वेदोंका तात्पर्य कतखनेवाले शास्त्र, तर्कविद्या (व्याख्यात्मक) आदिभी की शिक्षा दी । साथ ही सन्धि, विप्रद, यन्त्र, आसन, द्रव्य और आभय—इन छ भेदोंसे युक्त राजनीतिवा भी अध्ययन कराया ॥३४॥ परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओंके प्रवर्तक हैं । इस समय केवल श्रेष्ठ मनुष्यका-सा व्यवहार करते हुए ही वे अध्ययन कर रहे थे । उन्होंने गुरुजीके केवल एक बार कहनेमात्रसे सारी विचारें सीधे लीं ॥३५॥ कबक चौसठ दिन-रातमें ही सम्पदीष्टियेमणि दोनों भाइयोंने चौसठों कक्षोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया । इस प्रकार अध्ययन समाप्त होनेपर उन्होंने सान्दीपमि मुनिसे प्रार्थना की कि आपकी जो इच्छा हो, गुरु

● जो कुछ कहाँ ये हैं—

१ गुरुविद्या २ वाद्य—मौलि-मों उनके बाने बनाना, ३ वृत्त ४ नाट्य ५ विप्रकारी ६ वेद-बूटे बनाना ७ वाद्य और पुष्पादिसे पूजाके उपहारकी रचना करना ८ पूज्यकी सेवा बनाना ९ दौत वक्ता और भक्तोंको रंगाना १० मन्त्रियोंकी पदवी बनाना ११ शास्त्रा-रचना १२ जलके बौध होना १३ विविध सिद्धिों दिखाना १४ छत्र-सज्ज आदि बनाना १५ ज्ञान और वादिके पूज्यके गहने बनाना १६ कपड़े और गहने बनाना १७ पूज्यके आभूषणसे श्रद्धाकर करना १८ ज्ञानके पदवीकी रचना करना १९ सुगन्ध वस्तुएँ—जल तैल आदि बनाना २० इन्द्रजाल—बादलों २१ चद्रे जेब धारण कर लेना २२ हाथकी कुट्टिके काम, २३ सज्ज-तराही खानेकी वस्तुएँ बनाना २४ तरा-तराही पीनेके प्याज बनाना २५ छत्रके काम २६ कठपुतली बनाना, नचाना २७ पहेली २८ प्रतिभा आदि बनाना २९ कूटनीति ३० मन्त्रोंके पढ़ानेकी कठपुतली ३१ नाटक, आख्यायिका आदिकी रचना करना ३२ समस्यापूर्ति करना ३३ पदवी लेत कप आदि बनाना ३४ गम्भीरसे बरी आदि बनाना, ३५ बकुली कारीगरी ३६ गृह आदि बनानेकी कारीगरी ३७ खेने कीही आदि बाद्य तथा होरे-फने आदि रत्नोंकी परीक्षा ३८ छेना-जोड़ी आदि बना लेना ३९ मन्त्रियोंके रंगको पहनाना ४० सान्दीपि पट्याना ४१ छद्मोंकी निरूपण ४२ मेका मुर्गा बटेर आदिसे कपानेकी रीति ४३ छेना-मैत्र आदिकी रोशनी बनाना ४४ उच्छादनकी विधि ४५ केवोंकी लक्ष्मण काँसा ४६ मुर्गीकी खीज या मनकी बात कथ लेना ४७ मन्त्र-काष्ठोद्य समझ लेना ४८ विविध देवीकी भूषण ज्ञान ४९ बाहुन-अपह्नुन बनाना प्रसोंके उपरमे छामाद्यमकलबनना ५० नाना प्रकारके मातृकमन्त्र बनाना ५१ रत्नोंको नाना प्रकारके आकारमें काटना ५२ लाङ्घनिक भाषा बनाना ५३ मनमें कटकरचना करना ५४ नर्तनकी बातें निरूपण ५५ लक्ष्मी काम निरूपण ५६ समस्त कोशोंका ज्ञान ५७ समस्त छन्दोंका ज्ञान ५८ बसोंको छिपाने या बदलनेकी विद्या ५९ वृत्तगीता ६० वृत्तके मनुष्य या वस्तुओंका आभूषण कर लेना ६१ वासुदेवके लक्ष, ६२ मन्त्रविद्या ६३ विप्रव प्राप्त करनेवाली विद्या ६४ वेदका आदिसे बधमें रखनेकी विद्या ।

द्विजस्तपोस्तं महिमानमद्भुत
 सलक्ष्य रात्रभविमानुषीं प्रतिम् ।
 सम्मन्त्र्य पत्न्या स महानृषिं मृत
 बलं प्रभासे वरयाम्ययूष ह ॥३७॥
 तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
 प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।
 वेलाद्युपव्रज्य निपीदतुः क्षणं
 सिन्धुर्विदित्वाईणमाहरत्तयो ॥३८॥
 तमाह भगवानाहु गुरुपुत्र प्रदीयताम् ।
 योऽस्मानिह त्वया प्रप्तो षालको महतोर्मिणा ॥३९॥
 समुद्र उवाच
 नैवाहार्पमहं देव दैत्य पञ्चजना महान् ।
 अन्तर्बलक कृष्ण शङ्करूपचरोऽसुरः ॥४०॥
 आस्ते तेनादौ नूनं वञ्छन्ता सत्वरं प्रभुः ।
 बलमाविश्य त इत्था नापश्यदुदरेऽर्मकम् ॥४१॥
 वदन्प्रभव शङ्कमादस्य रथभागम् ।
 तव संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ॥४२॥
 गत्वा जनार्दन शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुध ।
 शङ्खनिर्हादमाकर्ष्य प्रजासंयमनो यमः ॥४३॥
 वयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपवृंहिताम् ।
 उवाचतनतः कृष्णं सर्वभूताक्षयालयम् ।
 क्षीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः कृतवामकिम् ॥४४॥

श्रीभगवानुवाच

गुरुपुत्रमिहानीव निजकर्मनिबन्धनम् ।
 आनयन् महाराज मच्छासनपुरस्कृत ॥४५॥

दक्षिणा मौं ग लें ॥ ३६ ॥ महाराज ! सान्दीपनि मुनिने
 उनकी बहुत महिमा और अलौकिक बुद्धि का अनुभव
 कर लिया था । इसलिये उन्होंने अपनी पत्नीसे सल्लाह
 करके वह गुरुदक्षिणा मौंगी कि 'प्रभासक्षेत्रमें हमारा
 बालक समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसे तुमलोग ला
 दो ॥ ३७ ॥ बलरामजी और श्रीकृष्णका परक्रम
 अनन्त था । दोनों ही महारथी थे । उन्होंने 'मद्भुत
 अक्षर' कहकर गुरुजीकी आज्ञा स्वीकार की और रथपर
 सवार होकर प्रभासक्षेत्रमें गये । वे समुद्रतटपर जाकर
 क्षणभर बैठे रहे । उस समय यह जानकर कि ये
 साक्षात् परमेश्वर हैं, अनेक प्रकारकी पूजा-सामग्री
 लेकर समुद्र उनके सामने उपस्थित हुआ ॥ ३८ ॥
 भगवान्ने समुद्रसे कहा—'समुद्र ! तुम यहाँ अपनी
 बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे हमारे जिस गुरुपुत्रको बहा ले गये
 थे, उसे लकर शीघ्र हमें दो' ॥ ३९ ॥

मनुष्यवेषधारी समुद्रने कहा—'देवाविदेव श्रीकृष्ण !
 मैंने उस बालकको नहीं लिया है । मेरे जन्में पञ्चजन
 नामका एक बच्चा भारी दैत्य आत्माका असुर शङ्खके रूपमें
 रहता है । जबकि ही उसीने वह बालक चुरा लिया
 होगा' ॥ ४० ॥ समुद्रकी बात सुनकर भगवान् दुरंत
 ही जन्में आ धुसे और शङ्खासुरको मार डाला । परन्तु
 वह बालक उसके पैरोंमें नहीं मिला ॥ ४१ ॥ तब
 उसके शरीरका शङ्ख लेकर भगवान् रथपर चले
 आये । वहाँसे बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने यम-
 रावकी प्रिय पुरी संयमनीमें जाकर अपना शङ्ख बनाया ।
 शङ्खका शब्द सुनकर सारी प्रजाका शासन करनेवाले
 यमराजने उनका आगत विन्य और भक्तिभावसे
 भस्कर विधिपूर्वक उनकी बहुत बड़ी पूजा की ।
 उन्होंने नम्रतासे हुकूमत समस्त प्राणियोंके हृदयमें
 बिराजमान सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—
 'क्षीलासे ही मनुष्य बने हुए सर्वभयापक परमेश्वर । मैं
 आप दोनोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ४२-४४ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—'यमराज ! यहाँ अपने कर्म-
 बन्धनके अनुसार मेरा गुरुपुत्र आया गया है । तुम
 मेरी आज्ञा स्वीकार करो और उसके कर्मपर ध्यान
 न देकर उसे मेरे पास ले आओ ॥ ४५ ॥

सचेति तेनोपनीतं गुरुपुत्रं गृह्यमौ ।

दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तयूचतुः ॥४६॥

गुरुत्वात्

सम्पक् सम्पादितो वत्स भवद्व्यां गुरुनिष्कयः ।

को नु युष्मद्विभगुरोः कथमानामवशिष्यते ॥४७॥

गच्छत स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्धामस्तु पावनी ।

छन्दांस्यमातृपामानि भवन्तिव परत्र च ॥४८॥

गुरुमैवमनुज्जातौ रक्षेनानिष्ठरहसा ।

आपातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनिर्देन वै ॥४९॥

समनन्दन् प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ।

अपश्यन्त्यो बह्वहानि नटलम्बधना इव ॥५०॥

यमराजने जो 'आश्रय' कहकर यमराजका आदेश सीकर किया और उनका गुरुपुत्र का लिया । तब यदुबंसिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी उस बालकको लेकर उद्यमन लौट आये और उसे अपने गुरुदेवको सौंपकर कहा कि 'आप और जो कुछ चाहें, मोग लें ॥ ४६ ॥

गुरुजीने कहा—'बेटा । तुम दोनोंमें मझीमेंसे गुरुदक्षिणा दी । अब और क्या चाहिये । जो तुम्हारे जैसे पुरुषोत्तमोंका गुरु है, उसका कौन-सा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है ॥ ४७ ॥ बीरो ! अब तुम दोनों अपने घर जाओ । तुम्हें लोकोको पत्रित करने-वासी कीर्ति प्राप्त हो । तुम्हारी पत्नी हुई विद्या इस लोक और परलोकमें सदा नवीन बनी रहे, कभी विस्मृत न हो ॥ ४८ ॥ बेग परीक्षित । फिर गुरुजीसे आज्ञा लेकर आपुके समान बेग और मेवके समान शस्त्रबाजे रथपर सवार होकर दोनों भाई मधुपर्वमें लौट आये ॥ ४९ ॥ मधुपर्वी प्रवा बहुत दिनोंतक श्रीकृष्ण और बलरामको न देखनेसे अत्यन्त दुखी हो गयी थी । अब उन्हें आप्ता हुआ देख सबके-सब परमनन्दमें मग्न हो गये, मानो खोया हुआ बन निकल गये ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गुरुपुत्रानन्दनं

नाम पञ्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उदयजीकी प्रसयाजा

श्रीगुरु उवाच

वृष्णीनां प्रबरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सत्त्वा ।

शिष्यो वृहस्पतेः साध्यादुदयो बुद्धिसधमः ॥ १ ॥

यमाद् भगवान् प्रपुं भक्तमेकान्तिर्न कथित् ।

गुरीत्वा पाणिना पार्थिवं प्रपञ्चार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । उदयजी वृष्णिवंशिधर्मोंमें एक प्रधान पुरुष थे । वे साध्या वृहस्पतिजीके शिष्य और परम बुद्धिमान् थे । इनकी गहिराके सम्बन्धमें इससे बड़कर और कौन-सी बात बड़ी या सकती है कि वे यमात् श्रीकृष्णके प्यारे सखा तथा मन्त्री भी थे ॥ १ ॥ एक दिन शारङ्गातीके सारे दुख हटानेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने शिष्य भक्त और एकवन्तप्रणी उदयजीका हाथ अपने हाथमें

१ गुरुद्वन्द्वीयः पथ । २ वाहयपनिर्वाच ।

गच्छेद्वयं व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।

गोपीनां मद्वियोगाग्निं मत्संदिग्धैर्विमोचय ॥ ३ ॥

ता मन्मथस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।

(मामेष दवितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।)

वे त्यक्तलोकधर्माभि मदर्थे तान् विभर्म्यहम् ॥ ४ ॥

मयि ता प्रेयसां प्रेष्टे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।

सरन्त्योऽङ्गं विमुञ्चन्ति विरहौत्कम्पनिह्वला ॥ ५ ॥

धत्तयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।

प्रत्यागमनसंदिग्धैर्बहुभ्यो मे मदारिमकाः ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो रामन् सर्वज्ञं मर्तुरावृतः ।

आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ ७ ॥

प्राप्तो नन्दव्रजं भीमान् निम्लोचसि विभावसौ ।

छन्नयाम प्रविशतां पशूनां सुररेणुभिः ॥ ८ ॥

वासितायैऽभिपुष्पमिर्नादिषु श्रुप्तिभिर्हवैः ।

पावन्तीभिर्वासाभिरुधोमारैः स्ववत्सकान् ॥ ९ ॥

लेखत कहा—॥ २ ॥ 'सौम्यस्वभाव उद्धव ! तुम व्रजमें जाओ । वहाँ मेरे पिता-मृता नन्दबाबा और यशोदा मैया हैं, उन्हें आनन्दित करो, और गोपियों मेरे बिरहकी व्याधिसे बहुत ही दुखी हो रही हैं, उन्हें मेरे सन्देश सुनाकर उस वेदनासे मुक्त करो ॥ ३ ॥ प्यारे उद्धव ! गोपियोंका मन निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है । उनके प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ । मेरे लिये उन्होंने अपने प्रति-पुत्र आदि सभी सगे-सम्बन्धियोंको छोड़ दिया है । उन्होंने बुद्धिसे भी मुझको अपना प्यारा, अपना प्रियतम—मर्दा, नर्दा, अपना आत्मा मान रक्खा है । मेरा यह मत है कि जो लोग मेरे लिये लौकिक और पारलौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनका भ्रम-पीड़ा मैं खय करता हूँ ॥ ४ ॥ प्रिय उद्धव ! मैं उन गोपियोंका परम प्रियतम । हूँ मेरे यहाँ बसे आनेसे वे मुझे दूरस्थ मानती हैं और मेरा स्मरण करके व्यस्त हो जाती हैं, बार-बार मुँछित हो जाती हैं । वे मेरे बिरहकी व्याधिसे विह्वल हो रही हैं, प्रतिक्षण मेरे लिये उत्कण्ठित रहती हैं ॥ ५ ॥ मेरी गोपियाँ, मेरी प्रेयसियाँ इस समय बड़े ही कष्ट और यत्नसे अपने प्राणोंको किसी प्रकार रक्ष रही हैं । मैंने उनसे कहा था कि 'यही उनके जीवनका आधार है । उद्धव ! और तो क्या कहूँ, मैं ही उनकी आत्मा हूँ । वे निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं ॥ ६ ॥

श्रीशुकनेपजी कहते हैं—परिहित ! जब भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही, सब उद्धवजी बड़े आदरसे अपने जामीका सचेष्ट लेखन रणन स्मार हुए और मन्दगोकुलके लिये चल पड़े ॥ ७ ॥ परम सुन्दर उद्धवजी सर्पास्तके समय नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचे । उस समय जंगलसे गोएँ और खी धी । उनके सुतेके आवाजसे इतनी धूल उड़ रही थी कि उनका रथ ढक गया था ॥ ८ ॥ व्रजमूमिमें श्रुतमनी गौओंके लिये मतवाले सौंझ आपसमें छड़ रहे थे । उनकी गर्जनासे सारा व्रज गूँज रहा था । चोढ़ दिनोंकी व्याधी हुई गोएँ अपने बनोंके मारी मारसे दबी होनेपर भी अपने-अपने चटखोंकी ओर दौड़ रही थी ॥ ९ ॥

इतस्तवो विलङ्घयिष्येतिर्मण्डित सितैः ।

गोदोहश्रद्धाभिरव वेणूनां निःस्वनेन च ॥१०॥

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि चलकुण्डलोः ।

खलकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविरामितम् ॥११॥

अन्यर्काविधिगाविप्रपितृदत्तार्चनावितैः ।

धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपात्तासैर्मनोरमम् ॥१२॥

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनावितम् ।

हंसकारणवाकीर्णै पद्मपण्डैश्च मण्डितम् ॥१३॥

समागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।

नन्दः प्रीत परिष्वज्य वासुदेवधियाऽऽर्चयत् ॥१४॥

भोजितं परमान्नं सविष्टं कविषो सुखम् ।

गतधर्मं पर्यपुञ्छत् पादसंवहनादिभिः ॥१५॥

कण्ठिदग्धं महाभाग मत्वा न श्रुतनन्दनः ।

आस्तं कुशन्त्यपापपुञ्जा मुक्तः शुद्धद्वैतः ॥१६॥

दिष्टा रक्षा इह पापः सानुगं स्वेन पाप्मना ।

मापूर्वा धमनात्मानां यदुनां द्रष्टुं य मदा ॥१७॥

अपि मयि न कृष्णा मातरं गृहं गयीन ।

गोपालं प्रथं पाप्मनार्थं गता वृन्तानं गिरिम् ॥१८॥

सफेद रंगके बड़के श्वर-उपर उल्टा-कूद मचाते हुए बहुत ही भले मालूम होते थे । गाय कुइनेकी 'धर-धर' ध्वनिसे और बाँसुरियोंकी मधुर टेरेसे अब भी ब्रजकी कल्प शोभा हो रही थी ॥ १० ॥ गोपी और गोप सुन्दर-सुन्दर पक्ष तथा गहमोंसे सज-धजकर श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके मङ्गलमय चरित्रोंका गान कर रहे थे और इस प्रकार मक्खी शोभा और भी बढ़ गयी थी ॥ ११ ॥ गोपोंके घरोंमें अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, श्राद्धण और देव-पितरोंकी पूजा की हुई थी । धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी और दीपक जगमगा रहे थे । उन घरोंके पुष्पोंसे सजाया गया था । ऐसे मनोहर गृहोंसे सारा ब्रज और भी मनोरम हो रहा था ॥ १२ ॥ चारों ओर वन-पक्षियों के झुंझसे लय रही थी । पक्षी चहक रहे थे और और गुंजार कर रहे थे । वहाँ बल और स्नान दोनों ही कर्मोंके वनसे शोभायमान थे और हंस, वचस आदि पक्षी वनमें चिह्न कर रहे थे ॥ १३ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे अनुचर उल्लसजी ब्रजमें आये, तब उनसे मिठकर नन्दबाबा बहुत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने उल्लसजीको गले लगाकर उनका बेटे की सम्मान किया, मानो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आ गये हों ॥ १४ ॥ समयपर उत्तम अन्न भोजन कराया और जब वे आधाम्से पछोपर बैठ गये, सेवकों ने पौनःपुन्यकर, पंचम्य आदिकर उनकी पदार्चना कर ली ॥ १५ ॥ तब नन्दबाबान् उनसे पूछा—प्रायः मध्य-रात्रि उल्लसजी ! अब हमारे सम्बन्ध बसुदेवजी के गये छु गये । उनके आलीशान स्थान तथा पुत्र आदि उनका साथ है । इस समय वे सब कुशाग्रमें तो हैं न ? ॥ १६ ॥ यह बड़े सीधायकी बात है कि अपने पापोंके परामर्श पायी वस्तु अपने अनुपादियों पर माया गया । क्योंकि स्वभावसे ही धार्मिक परम गाय यदुपशिक्षणमें बह मग्न होय करता था ॥ १७ ॥ अन्त उल्लसजी ! श्रीकृष्ण कभी हमरोगोंकी भी याद करने हैं ? यह उनकी भी है अजबन-मग्नभी है गया है गाय है ; उल्लसजी अपना बगनी और गाय माननेवाला यह ब्रज है । उल्लसजी गौ, कृष्णायन और पद निद्रा है तथा वे कभी इनका स्मरण कराते हैं ? ॥ १८ ॥

अप्याप्तास्यति गोविन्द स्वजनान् मरुदीक्षितम् ।

तर्हि ब्रह्मण्यम तद्रूपं सुनसं सुमितेष्वणम् ॥१९॥

दावाग्नेर्वसिषर्षांश्च वृषमर्षांश्च रक्षिताः ।

दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णन सुमहात्मना ॥२०॥

मरुतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम् ।

हसितं भाषितं पाङ्गमर्वा नः शिथिला क्रिया ॥२१॥

मरिचैर्लवणोद्देशान् मृकुन्दपदभूषितान् ।

आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥२२॥

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोद्यमौ ।

सुराणां महदर्शय गर्गस्त वचनं यथा ॥२३॥

हंसं नामाद्युतप्राणं मल्लं गजपतिं तथा ।

अवधिर्गं लीलयैव पशुनिव मृगाधिपः ॥२४॥

मान्त्रय महामार धनुयष्टिमिषभराट् ।

वभर्जस्त इमेन ममाहमदधाइ गिरिम् ॥२५॥

आप यह तो जतनाये कि हमारे गोविन्द अपने
सुहृद्-मान्धवोंको देखनेके लिये एक बार भी यहाँ
आयेंगे क्या ? यदि वे यहाँ आ जाते तो हम उनकी
वह सुघर नासिक, उनकी मधुर हास्य और मनोहर
चित्रणसे युक्त मुक्कमल देख तो लेते ॥ १९ ॥
उद्धवजी ! श्रीकृष्णका हृदय उदार है, उनकी शक्ति
अनन्त है, उन्होंने दाषानलसे, औंसी-पामीसे, वृषासुर
और वज्रगर आदि अनेकों मृत्युके निमित्तोंसे—त्रिहैं
टाँकनेका कोई उपाय न था—एक बार नहीं, अनेक
बार हमारी रक्षा की है ॥ २० ॥ उद्धवजी ! हम
श्रीकृष्णके विचित्र चरित्र, उनकी कृपासंपूर्ण तिरछी
चित्रण, उमुक्त हास्य, मधुर भाषण आदिक स्मरण
करते रहते हैं और उसमें इतने तन्मय रहते हैं कि
अब हमसे कोई कर्म-काम नहीं हो पाता ॥ २१ ॥
जब हम देखने हैं कि यह बड़ी नदी है, जिसमें
श्रीकृष्ण जलक्रीडा करते थे, यह बड़ी गिरिगज है,
जिसे उन्होंने अपन एक हाथपर उठा लिया था, ये व ही
वनके प्रदेश हैं, जहाँ श्रीकृष्ण गौचरते हुए बौंसुरी बनाते
थे, और ये वे ही स्थान हैं, जहाँ वे अपने सखाओंके
साथ अनेकों प्रकारके खेल खेलते थे, और साथ ही
यह भी देखने हैं कि यहाँ उनके चरणचिह्न अभी
मिटे नहीं हैं, तब उन्हें देखकर हमारा मन श्रीकृष्णमय
हो जाता है ॥ २२ ॥ इसमें स्पन्द नहीं कि म
श्रीकृष्ण और ब्रह्मसख लक्ष्मणमणि मगना हैं और
यह भी मानना है कि वे दवताओंका कोई बहुत बड़ा
प्रयाजन सिद्ध करनेके लिये यहाँ आये हुए हैं । आप
भगवान् गंगाधायजीने मुझे पता ही कहा था ॥ २३ ॥
जैसे सिंह बिना किसी परिधमक पशुओंसे मार टाँका
है, वैसे ही उन्होंने गज-जर्मों ही उस हजारा हाथियों
बड़ गज-जर्म कम उसका शत्रुओं अथवा पशुपतों
और मगान् गज-जर्मों गजराज कुपय्यकीकृत मार
दिया ॥ २४ ॥ उन्होंने गीन नाच गये और ब्रह्म
हृद धनुससे मेरे हा नाच दान मेरे कान् हरी
गिरी छोड़ी तोड़ दान । हमारे गज श्रीकृष्णने एक
हाथसे सन गिरीनर शिखिगजका उखा रक्काया ॥ २५ ॥

प्रलम्बो घेनुकोऽरिष्टमृणावर्तो वक्रदयः ।

वैत्सा सुरासुरवितो हता येनेह स्त्रीलया ॥२६॥

श्रीकृष्ण उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।

अस्युत्कृष्टोऽभवत्सुषी प्रेमप्रसरविह्वलः ॥२७॥

यशोदा वर्ष्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।

शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्तुतपयाधरा ॥२८॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।

वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोदयो मुखा ॥२९॥

उवाच उवाच

युवां स्थाप्यतमौ नृतं देहिनाभिह मानद ।

नारायणोऽखिलगुरौ यत् कृता भविरीदृशी ॥३०॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी

रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।

अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य

ज्ञानस्य चेशत इमौ पुराणौ ॥३१॥

यसिञ्जनः प्राणविभागकाले

घृणं समावेश्य मनोऽविशुद्धयम् ।

निर्हृत्य कर्माश्रयमाणु याति

परां गतिं ब्रह्ममण्डोर्ब्रह्मणः ॥३२॥

वसिन् भयन्तावखिलात्मदेहौ

नारायणे कर्मणमर्त्यमृतां ।

यही सबसे देखते-देखते स्नेह-स्नेहमें उन्होंने प्रथम, घेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त और वक्र आदि उन बड़े-बड़े दैत्योंको मार डाला, जिन्होंने समस्त देवता और असुरोंपर विजय प्राप्त कर ली थी ॥ २६ ॥

श्रीकृष्णदेवकी कहते हैं—परीक्षित् ! नन्दाबाबूका हृदय यों ही भावान् श्रीकृष्णके अनुराग-रगमें रंगा हुआ था । जब इस प्रकार वे उनकी स्त्रीलयाओं एक-एक करके स्मरण करने लगे, तब तो उसमें प्रेमकी बाढ़ ही आ गयी, वे विह्वल हो गये और मित्रनेकी अत्यन्त उत्कृष्ट होनेके कारण उनका गला हँच गया । वं जुप हो गये ॥ २७ ॥ यशोदागनी भी बाहों बैठकर नन्द बाबूकी बातें सुन रही थी, श्रीकृष्णकी एक-एक बीज सुनकर उनके नेत्रोंसे आँसू बहते जाते थे और पुत्र-स्नेहकी बाढ़से उनके खानोंसे दूधकी धारा बहती जा रही थी ॥ २८ ॥ उदबजी मन्दबाबा और यशोदागनीके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कैसा जगाव अनुराग है— यह देखकर आनन्दमग्न हो गये और उनसे कहने लगे ॥ २९ ॥

उत्तरवाक्यमें कहा—हे मन्द ! इसमें संदेह नहीं कि आप दोनों समस्त क्षीरधारियोंमें अत्यन्त मान्यवान् हैं, सहायता करने योग्य हैं । क्योंकि जो सारे ब्रह्मण्ड के ज्ञानेश्वरों और उसे ज्ञान देनेवाले नारायण हैं उनके प्रति आपके हृदयमें ऐसा बाह्यस्वस्नेह—पुत्रभाव है ॥ ३० ॥ कर्माम और श्रीकृष्ण पुराणपुरुष हैं, वे सारे ससारके उपादानकारण और निमित्तकारण भी हैं । भावान् श्रीकृष्ण पुरुष हैं तो कर्मामजी प्रधान (प्रकृति) । ये ही दोनों समस्त क्षीरोंमें प्रकट होकर उन्हें जीवन दान देते हैं और उनमें उनसे अत्यन्त विश्रुति जो ज्ञानस्वरूप जीवन है, उसका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥ जो जीव मृत्युके समय अपने शुद्ध मनका एक क्षणके लिये भी उनमें लगा देता है वह समस्त कर्म-बासनाओं-का धो बहाता है और शीघ्र ही सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्रह्ममय होकर परम गतिके प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥ वे भावान् ही, जो सबके अलख और परम कारण हैं, मर्त्योंकी अस्थिरता पूर्ण करने और पृथ्वीका मार उतारनेके लिये मनुष्यका-सब शरीर प्रदण करके प्रपट

भावं विधत्तां नितरां महात्मन्

किं वावशिष्टं युवयो मुकुन्त्यम् ॥३३॥

अतामिध्यन्त्यदीर्घेण कालेन भवमभ्युत ।

प्रिय विधास्यते पित्रोर्मगवान् सन्धतां पतिः ॥३४॥

इत्वा कंसं रत्नमभ्ये प्रवीर्यं सर्वसात्वतम् ।

पदाह व समागत्य कृष्ण सत्त्वं करोति सत् ॥३५॥

या लिप्यत महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।

अन्तर्हृदि स मृतानामास्ते ज्योतिरिवैवसि ॥३६॥

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिन ।

नोत्तमो नाद्यमो नापि समानस्त्वासमोऽपि वा ॥३७॥

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुवादयः ।

नात्मीयो न परम्भापि न देहो जन्म एव च ॥३८॥

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्निभयोनिषु ।

क्रीडार्थं सोऽपि साधूनां परिश्राणाय कल्पते ॥३९॥

सत्त्वं रजस्तम इति भवते निर्गुणो गुणान् ।

क्रीडन्तीतोऽत्र गुणैः सुजन्तवति हन्त्यजः ॥४०॥

यथा भ्रमरिकादप्यथा भ्रातृपुत्रिव महीपते ।

विधे कर्तारि तत्रात्मा कर्तृवाह्विया स्मृत ॥४१॥

हृष्ट हैं । उनक प्रति आप दोनोंका ऐसा सुख वास्तव्य-
भाव है, फिर महात्माओं । आप दोनोंके लिये अब

कौन-सा शुभ कर्म करना दोष रह जाता है ॥ ३३ ॥

मत्तकस्तल यदुर्वशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण बोह ही

दिनोंमें ब्रजमें आवेंगे और आप दोनोंको—अपने मौ-

आपको आनन्दित करेंगे ॥ ३४ ॥ जिस समय उन्होंने

सम्पन्न यदुर्वशियोंके मोही कस्तको रंगमूमिमें मार डाला

और आपके पास आकर कहा कि 'मैं ब्रजमें आऊँगा',

उस कथनका वे स्वर्य करेंगे ॥ ३५ ॥ मन्दबोला और

मगना यतोदाजी ! आप दोनों परम भगवद्वासी हैं ।

खेद न करें । आप श्रीकृष्णको अपने पास ही

देखेंगे, क्योंकि वैसे काष्ठमें अग्नि सदा ही

व्यापक रूपसे रहती है, वैसे ही वे सम्पन्न प्राणियोंके

हृदयमें सर्वदा विराजमान रहते हैं ॥ ३६ ॥ एक शरीरके प्रति

अभिमान न होनेके कारण न तो कोई उनका प्रिय है

और न तो अप्रिय । वे सबमें और सबके प्रति समान

हैं, इसलिये उनकी दृष्टिमें न तो कोई उत्तम है और

न तो अधम । यहाँ तक कि विपत्ताका भाव रखनेवाला

भी उनके लिये विषम नहीं है ॥ ३७ ॥ न तो उनकी

कोई माता है और न पिता । न पत्नी है और न तो

पुत्र आदि । न अपना है और न तो परप्य । न वैश्य है

और न तो जन्म ही ॥ ३८ ॥ इस बोधमें उनका कोई

कर्म नहीं है फिर भी वे साधुओंके परिश्रानके लिये,

जीव्य करनेके लिये दण्डादि सात्त्विक, मत्स्यादि तामस

एवं मनुष्य आदि मिथ्य योनियोंमें शरीर धारण करते

हैं ॥ ३९ ॥ भगवान् ब्रजमें हैं । उनमें प्राकृत सत्त्व,

रज आदिसे एक भी गुण नहीं है । इस प्रकार इन

गुणोंसे कृतीत होनेपर भी स्त्रीपुरुषके लिये स्नेह-स्नेहमें वे

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका स्वीकार कर लेते

हैं और उनके द्वारा जगत्परी रचना, पावन और सहार

करते हैं ॥ ४० ॥ जब बच्चे घुमरीपरेता स्नेहमें लगते

हैं या मनुष्य वेगसे चक्कर लगाने लगते हैं, तब उन्हें

सारी शृष्णी घूमरी हूँ मान पड़ती है । वैसे ही शास्त्रमें

सब कुछ करनेवाला विद्य ही है परन्तु उस विद्यमें

आहँसुदि ॥ जानेक कारण, भगवत्परा उसे आत्मा—

अपना 'मैं' समझ लेनेक कारण, जीव अपनेको कर्ता

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः ।

सर्वेषामात्मजो आत्मा पिता माता स ईश्वर ॥४२॥

एष्टं धृत भूतभवद् भविष्यत्

व्यास्तुश्चरिष्युर्महदल्पकं च ।

विनाम्युताद् वस्तु तत्रां न वाच्यं

म एव सर्व परमार्थमृतः ॥४३॥

एवं निश्चा सा भुवतोर्वर्षीता

नन्दस्य कृष्णानुधरस्य राजन् ।

गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्

वास्तुर् नमम्यर्च्य दधीन्बभन्धन् ॥४४॥

ता दीपदीर्घमणिभिर्विरेज्

रन्जूर्विर्कर्षद्वलकङ्कणस्रजः ।

फलभित्तम्बस्तनहारकुण्डल

त्विपत्कपालारुणकुङ्कुमानाः ४५॥

उद्गायतीनामरविन्दलाचन

ब्रजाङ्गनानां दिवसस्पृशद् ध्वनि ।

दध्मन् निमग्ननन्दमिप्रितो

निरम्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥४६॥

भगवत्पुदित एषे नन्दशरि प्रजोक्तः ।

एष रथं शान्तकाम् कम्पायमिति श्रावन् ॥४७॥

अहूर भागतः किं वा य इमंस्वार्थमाधकः ।

१ भावम् ५५ ।

सम्पन्ने छाता है ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण केवल
आप दोनोंके ही पुत्र नहीं हैं, वे समस्त प्राणियोंके
आत्मा, पुत्र, पिता-माता और स्वामी भी हैं ॥ ४२ ॥
बाबा ! जो कुछ देखा या सुना जाता है—बढ़ चाहे
भूतसे सम्बन्ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे;
स्वाधर हो या जङ्गल हो, महान् हो अथवा अल्प हो—
ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णसे
पृथक् हो । बाबा ! श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई
वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें । वास्तवमें सब
वे ही हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं ॥ ४३ ॥

परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्णके सखा उदय और
नन्दबाबा इसी प्रकार आपसमें बात करते रहे और वह
रत बीत गयी । कुछ रात होर रहतेर गोपियों उठीं,
दीपक जलकर उन्होंने घरकी देखियोंपर वास्तुदेकन
पूजन किया, अपने बरोंका हाथ-मुहारकर सप्त स्त्रिय
और फिर दही मचने लगी ॥ ४४ ॥ गोपियोंकी
काम्ययोंमें बंगल शोभयमान हो रह थे, रस्ती खींचते
समय वे बहुत मस्ती माखस हो रही थी । उनके
नितम्ब, स्तन और गलेके हार झिल रहे थे । कानोंके
कुण्डल झिल-झिलकर उनका कुङ्कुमण्डित कपड़ेकी
झमिमा बका रह थे । उनके आभूषणोंकी मणियाँ
नीपककी ग्योनिसे और भी जगमगा रही थीं और इस प्रकार
वे अत्यन्त शोभासे सम्पन्न होकर लड़ी मच रही थीं ॥ ४५ ॥
उस समय श्रुतियों—कमलजनक भगवान् श्रीकृष्णके
माङ्गल्य चरित्रोंका गान कर रही थी । उनका वह
मङ्गीन दही मचनकी ध्वनिसे मिलकर और भी अद्भुत
हो गया तथा ग्यगलेकनका जा पहुँचा, त्रितकरी कर
पहरी सब और फलकर निशाओंका अमङ्गल मित्र देती
है ॥ ४६ ॥

‘जब भगवान् भुवनाभ्यस्तरका उभय इला, तब
ब्रजाङ्गनानोंने देखा कि नन्दबाबा करानेकर एक
मानका हाथका है । य एव-नूमेरे पुत्रने लगी पद
किनकर रथ है ।’ ॥ ४७ ॥ निती गोपीने बदा—‘यसका
प्रधान निद करनेकन अहूर ही तो बदी फिर नहीं

न नीलो मधुरी कृष्णः कमललोचन ॥४८॥

साधमिष्यस्यसाभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् ।

ति स्त्रीणां वदन्तीनामुदयोऽगात् कृताक्षिकः ॥४९॥

आ गया है ? जो कमलनयन प्यारे दम्पसुन्दरको
यहाँसे मधुरा ले गया था ॥ ४८ ॥ किसी इसी
गोपीने कहा—क्यों अब वह हमें ले जाकर अपने
घरे हुए खापी कंसका पिण्डदान करेगा ? अब यहाँ
उसके आनेका और क्या प्रयोजन हो सकता है ?
जनबासिनी कियों इसी प्रकार आपसमें बातचीत कर रही
थी कि उसी समय नित्यकर्मसे निवृत्त होकर उदयजी
आ पहुँचे ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्त्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
मन्दशोकपनयन नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

उदय तथा गोपिपौकी बातचीत और अमरगीत

भीष्म उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः

प्रलम्बवाहं नवकल्लोचनम् ।

पीताम्बरं पुष्करमालिनं लस

न्मृत्तारविन्दं मणिमूषकण्डलम् ॥ १ ॥

शुचिसिताः कोऽपमैपीन्यवर्धनः

कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ।

इति स सर्वा परिवव्रत्सुखा

स्तमुचमस्त्रोकपदाम्बुजाभयम् ॥ २ ॥

तं प्रभवेणावन्ताः सुसत्कर्त

समीढहासेष्वननूवादिभिः ।

रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने

विज्ञाय सन्दर्शयं रमापतेः ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णजी कहते हैं—परिचित् । गोपियोंने
देखा कि श्रीकृष्णके सेवक उदयजीकी आहूति और
वेषभूषा श्रीकृष्णसे मिलती-जुलती है । घुनौंसक लंबी
छवी मुबार हैं, नूतन कमलदलके समान कोमल नेत्र हैं,
शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, गलेमें कमलपुष्पोंकी
माला है, कर्णोंमें मणिजटित कुण्डल झलक रहे हैं और
मुखारविन्द अत्यन्त प्रफुल्लित है ॥ १ ॥ पतिव्रत मुसकान
बाखी गोपियोंने आपसमें कहा—यह पुरुष देखनेमें तो
बहुत सुन्दर है । परन्तु यह है कौन ? कहाँसे आया
है ? किसका इत है ? इसने श्रीकृष्ण-जीकी वेष-भूषा
क्यों धारण कर ली है ? सब-सब गोपियों उनका
परिचय प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो गयीं और
उनमेंसे बहुत-सी पक्षिप्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके धारण-
कर्मजोंके आश्रित तथा उनके सेवक-सखा उदयजीकी
चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ २ ॥ जब उन्हें
माझम हुआ कि ये तो रमारमण भगवान् श्रीकृष्णका
सन्देश लेकर आये हैं, तब उन्होंने चिनपसे हुक्म
सज्ज हास्य, चिनवन और मधुर वाणी आदिसे उदय-
जीका अत्यन्त सम्मान किया तथा प्यारान्तमें आसनपर
बैठाकर वे उनसे इस प्रकार कहन लगीं— ॥ ३ ॥

भानीमत्स्वां यदुपतेः पार्यदं समुपसातम् ।

भर्त्रेह प्रपित पित्रोर्मवल प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

अन्यथा गोघजे तस्य सरणीये न चरुमहे ।

स्नेहानुबन्धो बध्नां मुनेरपि सुषुप्त्यञ्च ॥ ५ ॥

अन्येष्वयंकृता मैत्री यावदर्धविदम्बनम् ।

पुष्पि स्त्रीपु कृता यद्वत्सुमनस्त्विव पदपदै ॥ ६ ॥

निस्त्वं त्यजन्ति गजिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।

अपीतविद्या आचार्यमुत्तिष्ठो दक्षदक्षिणम् ॥ ७ ॥

स्रगा वीतफलं हृषं भुक्त्वा आतिथयो गृहम् ।

दग्धं मृगास्तधारण्यं जलो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥ ८ ॥

इति गोप्या हि गोविन्द गतवाक्यमानसाः ।

कृष्णदत्ते यजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥

गायन्त्यः प्रियव्रमाणि उद्यन्त्यः गतद्विषः ।

तस्य संमृन्त्य ममृन्त्य यानि कंशारबालनयाः ॥ १० ॥

काचिमधुकरं दृष्ट्वा प्यायन्ती कृष्णमङ्गमम् ।

प्रियप्रम्यापितं दत्तं कल्पयिष्यदमयवीत् ॥ ११ ॥

‘उद्धवमी ! हम मानती हैं कि आप यदुनायके पार्यद हैं। उगहीकर संदेश देकर यहाँ पधारे हैं। आपका खासीने कम माता-पिताको सुख देनेके लिये आपको यहाँ भेजा है। अन्यथा हमें तो कम इस मन्दगोवने—गोवोंके खानेकी जगहमें उनका स्मरण करने योग्य कोई भी वस्तु मिली नहीं पकती, माता-पिता आदि सगे-सम्बन्धियोंके स्नेह-बन्धन तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी बड़ी कष्टमार्गसे खेन पाते हैं ॥ ५ ॥ बूखोंके साथ जो प्रेम-सम्बन्धन खन किया जाता है, वह तो किसी-न-किसी स्थावक लिये ही होता है। मैत्रिका पुष्पोंसे और पुरुषोंके लियेसे ऐसा ही स्थावक प्रेम-सम्बन्ध होता है ॥ ६ ॥ जब कल्प सम्पत्ती है कि जब मेरे यहाँ जानेवालेके पास मन नहीं है, तब उसे वह बता कर देती है। जब प्रजा देखती है कि यह यमा हमारी रक्षा नहीं कर सकत, तब वह उसका साथ छोड़ देती है। अल्पमन समस्त हा जानेर मिलने लिये अपने आचार्योंकी सेवा करते हैं। पक्षी दक्षिणा मिली कि अधिभक्तोंके चलते बने ॥ ७ ॥ जब हृषपर फल नहीं रहते, तब पक्षीमन बहसि किना कुछ सोचे-विचारे उड़ जाते हैं। भोजन कर लेनेके बाद अतिभोग ही गृहस्थकी ओर रुख करते हैं। वनमें भग खरी कि पशु माग खड़े हुए। बाहे कीके हृषमें किता भी भजुराग हो, मार पुरुष अपना कर्म बना लेनेके बर वनकर भी तो नहीं देखता ॥ ८ ॥ परीक्षित ! गोपियों के मन, बाणी और शरीर श्रीकृष्णमें ही लक्ष्मी थे। जब भगवान् श्रीकृष्णके दूत बनकर उद्धवमी वनमें आये, तब वे उनसे इस प्रकार कहने-कहते यह मूल ही गयीं, कि कौन-सी बात किता तह किताके समन कहनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने बचपनसे स्मर किताके बचसातक जितनी भी स्मर्यरं करी थीं, उन सम्पत्ती पाद कर-करके गोपियों उनका गान करन लगीं। वे आत्मविरहूत होकर श्री-मुसम लमाको भी भूख गयी और फट-फटकर रोने लगी ॥ ९ ॥ एक रोपीको उस समय स्मरण हा रहा था भगवान् श्रीकृष्णके मित्रन की लीनका। उसी समय उसने देखा कि पास ही एक भैंस गुनगुना रहा है। उसने ऐसा सम्प्रा मानो मुँह खड़ी हुई सम्प्राप्त श्रीकृष्णने मनानेके लिये दूत भेजा हा। वह गापी भोरसे इस प्रकार कहन लगी—॥ ११ ॥

गोप्युवाच

मधुप किञ्चिद्वक्त्रो मा स्पृशद्भिः सपत्न्याः

कुचविलुलितमालाकुङ्कुममधुभिर्नः ।

बभूव मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसाद

यदुसदसि विबन्धनं यस्य दूतस्त्वमीदृक् १२

सकृदधरमुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा

सुमनस इव सद्यस्तपजेऽस्मान् भवाहक् ।

परिक्रति कथं तत्पदपथं ॥ पथा

अपि बत हतचेता उच्यमानोऽहज्जलैः ॥१३॥

किमिह बहु पदद्वये गायसि त्वं बद्धा

मधिपतिमगृह्णामप्रतो न पुराणम् ।

व्रितयप्रवसतीनां गीयतां त प्रसङ्गः

अपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीऽमिषा ॥१४॥

गोपीने कहा—रे मधुप ! तू कम्पटीका सखा है;

इसलिये तू भी कम्पटी है । तू हमारे पीरोंको मत छू ।

झूठे प्रणाम करके हमसे अनुनय-विनय मन कर ।

हम देख रही हैं कि श्रीकृष्णकी जो वनमाला हमारी

सौतोंके पक्ष स्पृशके स्पर्शसे मसखी हुई है, उसका पीछ

पीछा कुङ्कुम तेरी मुँहोंपर भी लगा हुआ है । तू स्वयं

भी तो किसी कुसुमसे प्रेम नहीं करता, यहाँ-से-वहाँ

उड़ा करता है । जैसे तेरे खापी, वैसा ही तू ! मधुपति

श्रीकृष्ण मधुराक्षी मालिनी नायिकाओंको मनाया करें,

उनका वह कुङ्कुमरूप कृपा-प्रसाद, जो यदुवदियोंकी

समर्थ उपहास करनेयोग्य है, अपने ही पास रखे ।

उसे तेरे द्वारा यहाँ मेजनेकी क्या आवश्यकता है ? १२ ।

जैसा तू कहा है, वैसे ही वे भी हैं । तू भी पुष्पोंका

रस लेकर उड़ जाता है, वैसे ही वे भी निकले । उन्होंने

हमें केकड़ एक बार—हाँ, ऐसा ही खाता है—केकड़

एक बार अपनी तनिक-सी मोहिली और परम मदक

अधरमुधा पिछायी भी और फिर हम मोछी-माली गोपियों-

को छोड़कर वे यहाँसे चले गये । पता नहीं, सुकुमारी

लक्ष्मी उनके चरणकमलोंकी सेवा कैसे करती रहती है !

अक्षय ही वे छैल-छिलीले श्रीकृष्णकी चिकनी-चुपकी

बातोंमें आ गयी होंगी । धितचोरने उनका भी चित्त

चुरा लिया होगा ॥ १३ ॥ अरे भ्रम ! हवा वनवासिनी

हैं । हमारे तो घर-बार भी नहीं है । तू हमझोंके

सामने यदुवदविरोधमें श्रीकृष्णका बहुत-सा गुणगान

क्यों कर रहा है ? यह सब भला हमझोंको मनानेके

लिये ही तो ? परन्तु नहीं-नहीं, वे हमारे लिये कोई

नये नहीं हैं । हमारे लिये तो जाने-महचाने, किन्तुल

पुराने हैं । तेरी चापझसी हमारे पास नहीं बल्की । तू

जा, यहाँसे खया जा और जिनके साथ सदा विनय

रहती है, उन श्रीकृष्णकी मधुपुरवासिनी सखियोंके

सामने जाकर उनका गुणगान कर । वे नयी हैं, उनकी

भीछाई कम आती है और इस समय वे उनकी

प्यारी हैं, उनके हृदयकी पीड़ा उन्होंने मिग दी है ।

वे तेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगी तेरी चापझसीसे

प्रथम दोकर तुझे मुँहमाँगी बस्तु देगी ॥ १४ ॥

दिवि भुवि च रसायां काः स्निग्धस्तव दुरापाः

कपटरुचिरहास्तभ्रविजृम्भस्य याः स्युः ।

चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का

अपि च कृपणपक्षे शुचमस्योक्तशब्दः ॥१५॥

विस्तृत शिरसि पार्श्वे वद्वन्महं चातुकारै

रत्नपवित्रपुस्तकेऽन्त्येक्य दौत्यैर्द्वन्द्वत्वात् ।

स्तकृत इह विस्तृष्टपत्यपत्यन्यलोक्य

भ्यसृजदकृतपेताः किं नु संशेषमग्निम् ॥१६॥

मृगपुरिव कपान्द्रं विप्यभे सुधर्मा

गिर्यमस्तु रिग्पां शोभितः कर्मयानाम् ।

मैं । वे हमारे लिये छुपट रहे हैं, ऐसा द. कहे
है : उनकी कर्ममयी मनोहर सुसकम और
इशारेसे जो कामें न हो जायें, उनके पास दौड़ी न आने—
ऐसी कीम-सी स्त्रियों हैं : अरे अनजान ! कर्म
पाताकमें और पृथ्वीमें ऐसी एक भी छी नहीं है ।
औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं छम्भीजी भी उनके
चरणरजकी सेवा किया करती हैं ! फिर हम धीकड़के
लिये किन्तु गिनतीमें हैं : परन्तु द. उनके पास जग
कहना कि शुम्भार नाम तो 'उत्तमश्रेक' है, अपने
अच्छे जोग तुम्हारी कीर्तिकर गान करते हैं, परन्तु तुम्हें
सार्वकला तो इसीमें है कि तुम हीनोपर दया करो ।
नहीं तो कृष्ण ! तुम्हारा 'उत्तमश्रेक' नाम छूटा प
जाता है ॥ १५ ॥ अरे मधुकर ! देख, द. मेरे पैर
सिर मत टेक । मैं जानती हूँ कि द. अनुमति
करनेमें क्षम-याचना करनेमें बड़ा निपुण है । प्रसन्न
होता है द. भीष्टणसे ही यही सीककर आया है कि
कठे हुएका ममानेके लिये दूतको—सन्देशवाहकी
कितानी चादुकरिता करमी चाहिये । परन्तु द. सम्झ
कि यहाँ तेरी दास नहीं करनेकी । देख, हमने श्रीकृष्ण
के लिये ही अपने पति, पुत्र और दूसरे लोगोंको छोड़
दिया । परन्तु जन्में तनिक भी हताशता नहीं । वे ऐसे
निर्वाही निकले कि हमें छोड़कर चलते बने ! अब द.
ही बता, ऐसे बहलक सत्य हम क्या सन्धि करें !
क्या द. अब भी कहता है कि उनपर विस्मय करना
चाहिये ! ॥ १६ ॥ ऐ रे मधुप ! जब वे हम बन थे,
तब उन्होंने कपिराज बाह्यिके व्याधके समान छिरकर
बड़ी निर्यन्तासे मारा था । बेचारी शूर्पणखा कर्मसा
उनके पास आयी थी, परन्तु उन्होंने अपनी लीके का
होकर उस बेचारीक नाफ-काम फट लिये और उस
प्रकार उसे कुत्तप कर दिया । ब्राह्मणके घर कामने
रूपमें जन्म लेकर उन्होंने क्या किया : बनिने
ता उनकी पूजा की, उनकी मुँदमाँगी वस्तु दी और
उन्होंने उनकी पूजा ग्रहण करके भी उसे बह्मप्राप्तसे
बौगार पागाल्ये काम दिया । टीक बैसे ही, जैसे
बोधा यदि खतर भी नहीं देनपायेगा जान क्य

बलिमपि बलिमन्वावेष्टयन् ध्वाङ्गन्वयं य

स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थ ॥१७॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रद

सकृददनविधूतद्वन्द्वभर्मा विनष्टाः ।

सपदि गृहकुटुम्ब दीनमुत्सृज्य दीना

बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्या चरन्ति ॥१८॥

वयमुत्तमित्र जिह्मव्याहत भद्रधानाः

कुलिकरुतमिवाह्वा कृष्णवचो हरिष्यः ।

दक्षसकृदेतच्चमत्स्पर्धतीति

सररुच उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥

प्रियसत्त्वपुनरागा प्रेयसाप्रपित किं

वरप किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।

नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्थ

सततमुरसि सौम्य भोर्बधू साकृमास्ते ॥२०॥

आ. १०. १० १ ५३—

साधियोंके साथ मिलकर घेर लेता है और परेशान करता है । अच्छा, तो जब जाने दे, हमें कृष्णसे क्या, किसी भी काव्यी वस्तुके साथ मित्रतासे कोई प्रयोजन नहीं है । परन्तु यदि वह कहे कि 'जब ऐसा है तब तुम-लोग उनकी चर्चा क्यों करती हो ?' तो भ्रमर ! हम सब कहती हैं, एक बार जिसे उसका बसकर लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता । ऐसी दशामें हम चाहनेपर भी उनकी चर्चा छत्र नहीं सकती ॥ १७ ॥ श्रीकृष्णकी कीलकरूप कर्णाधूतके एक कणक भी जो रस-सादन कर लेता है, उसके राग-द्वेष सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं । यद्यपि कि बहुत-से लोग तो अपनी दुःखमय—दुःखसे सनी हुई घर-गृहस्थी छोड़कर अकिञ्चन हो जाते हैं, अपने पास कुछ भी संग्रह-परिष्कार नहीं रखते, और पक्षियोंकी तरह चुन चुनकर—मीस मोंगकर अपना पैर भरते हैं, दीन दुनियासे जाते रहते हैं । निर भी श्रीकृष्णकी कील-कथा छोड़ नहीं पाते । बास्तवमें उसका रस, उसका बसकर ऐसा ही है । यही दशा हमारी हो रही है ॥ १८ ॥ जैसे कृष्णसार भृङ्गकी पत्नी मोली-माली हरिनियों व्याधके सुमधुर गानका विश्वास कर लेती हैं और उसके जाछमें फँसकर मारी जाती हैं, वैसे ही हम मोली-माली गोमियों की उस छलिया कृष्णकी कपटमरी मीठी-मीठी बातोंमें आकर उन्हें सत्यके समान मान धँसा और उनके नखस्पर्शसे होने-वाली कामव्याधिका बार-बार अनुभव करती रहें । इसलिये श्रीकृष्णके दूत यौरे ! अब इस विषयमें व और कुछ मत कह । तुम कहना ही हो तो कोई दूसरी बात कह ॥ १९ ॥ हमारे प्रियतमके प्यारे सख ! जान पड़ता है तुम एक बार उधर जाकर निर लौट आये हो । अवश्य ही हमारे प्रियतमने मनानेके लिये तुम्हें भेजा होगा । प्रिय भ्रमर ! तुम सब प्रकारसे हमारे माननीय हो । कहो तुम्हारी क्या इच्छा है ? हमसे जो चाहो सो माँग लो । अच्छा तुम मन्च बताओ, क्या हमें वहाँ से चम्पना चाहते हो ? अजी, उनके पास आगर लौगना बड़ा कठिन है । हम तो उनके पास आ चुकी हैं । परन्तु तुम हमें वहाँ से आकर कटोरो क्या ? प्यारे भ्रमर ! उनके साथ—उनके बहुत स्पर्शपर तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मीजी सदा रहती हैं न ? तब

अपि नत मधुपुर्यामार्धपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते

सारति स पितृगेहान् सौम्य बन्धून् गोपान् ।

कचिदपि स कथा न किञ्चरीणां शृणीते

ब्रजमगुरुमुगधं मूर्च्छयन् वासत कदाचु ॥२१॥

श्रीमदुक्ता उवाच

अयोद्धनो निश्चम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।

सान्त्वयन् प्रियसद्वैश्वर्गोपीरिदमभाषत ॥२२॥

उद्धव उवाच

अहो यूयं स पूर्णार्धो भवत्यो लोकपूजिताः ।

बामुद्धवे भगवति यामामित्यपि तं मनः ॥२३॥

दानव्रतवपाक्षमजपम्याभ्याससंघर्षः ।

भयाभिर्विविधैर्धान्यं कृष्णं भक्तिर्हि साध्यते ॥२४॥

भगवत्पुत्रमङ्गाक भयसीभिरनुधमा ।

भक्तिः प्रयतिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥२५॥

दिष्ट्या पुत्रान् पत्नीन् दहान् मन्त्रनान् भवनानि च ।

दिन्याङ्गीनां यूयं यत् कृष्णार्घ्यं पुण्यं परम् ॥२६॥

गरामभासाः पिष्ट्या भवर्त्तनामप्युधत्त ।

विरहण महाभागा महान् मञ्जुश्रवः कृत ॥२७॥

यहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा ॥ २० ॥ अजय, हमारे प्रियतमके प्यारे दूत मधुकर । हमें यह बातमन्त्रों कि कार्यपुत्र भाषान् श्रीकृष्ण गुरुकुलसे छोटकर मधुपुरीमें अब सुखसे तो हैं न ? क्या वे कभी नन्दबाबा, मन्त्रेश्वरानी, यहाँके घर सगे-सम्बन्धी और मातामज्जोंकी भी याद करते हैं ? और क्या हम दासियोंकी भी कोई बात कभी कहते हैं ? प्यारे भग्न ! हमें यह भी बातमन्त्रों कि कभी वे अपनी बगलके समान दिव्य सुगन्धसे कुछ सुना हमारे सिरोंपर रखेंगे ? क्या हमारे जीवनमें कभी ऐसा क्षण कबसर भी आयेगा ? ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णके पक्षी कहते हैं—परीक्षित ! गोविन्दो भावन् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्सुक—मन्त्रास्थि हो रही थी, उनके लिये तबप रही थी । उनकी बातें सुनकर सद्बन्धीने उन्हें उनके प्रियतमका सुन्देश सुनकर सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥ २२ ॥

उद्धवजीने कहा—अहो गोविन्दो ! तुम इतक ह्य हो । तुम्हारा जीवन सरल है । देखिये ! तुम सरे संसारके लिये पूजनीय हो, क्योंकि तुम्हें जोगीने इस प्रकार भाषान् श्रीकृष्णको अपना हृदय, अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है ॥ २३ ॥ दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, ध्यान, धारणा, समाधि और कल्याणके अन्य विविध साधनोंके द्वारा भाषान्की भक्ति प्राप्त हो, यही प्रयत्न किया जाता है ॥ २४ ॥ यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हें जोगीने पवित्रकीर्ति मगधन् श्रीकृष्णके प्रति वही सर्वोत्तम प्रेममयि प्राप्त की है और उसीका आनन्द स्थापित किया है, जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २५ ॥ सबसुख यह जितने सौभाग्यकी बात है कि तुमने अपने पुत्र, पति, देह, अन्न और धरोको छोड़कर पुरुषोत्तम भाषान् श्रीकृष्णको, जो सबके परम पति हैं, पतिक रूपमें बल किया है ॥ २६ ॥ यथाभाष्यकी गोविन्द ! भाषान् श्रीकृष्ण के लिये गते तुमने उन इन्द्रियपीन परमात्मके प्रति सब माय प्राप्त कर लिया है, जो सभी वस्तुओंके रूपमें उनका स्थान करता है । तुमने जोगीय ब्रह्म में सरे समने की प्रवृत्ति हुआ, यह मेरे ऊपर तुम देखिये

भूयतां प्रियसंदेशो भवतीनां सुखावहः ।

यमाद्व्याप्तगतो भद्रा अहं भर्तुं रहस्करः ॥२८॥

श्रीमद्वाणुवाच

भवतीनां त्रियोमो मे नहि सर्वात्मना कश्चित् ।

यथा भूतानि भूतेषु त्वं वाय्वपिर्वलं मही ।

तथाहं च मत्ताम्रमभूतेन्द्रियगुणामयः ॥२९॥

आत्मन्वेवात्मनाऽऽत्मनं सृजे हन्म्यनुपाख्ये ।

आत्ममावानुमावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥३०॥

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।

सुषुप्तिस्मदाप्रक्षिर्मायाहृषिभिरीयते ॥३१॥

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत् सुपाख्यमबुद्धिरिषतः ।

तस्मिन्मन्त्रादिन्द्रियाणि विनिद्राः प्रत्यपद्यत ॥३२॥

एतदन्तः समाप्तायो योगः सार्धं मनीषिणाम् ।

स्वामस्तपो दमः सत्यं सद्ब्रह्मन्वा इषापगाः ॥३३॥

वही ही दया है ॥ २७ ॥ मैं अपने स्वामीका गुप्त काम करनेवाला बूत हूँ । तुम्हारे प्रियतम भावान् श्रीकृष्णने तुम्हेंगोके परम सुख देनेके लिये यह प्रिय सन्देश भेजा है । कल्याणियो । वही लेकर मैं तुम्हेंगोके पास जाया हूँ, अब उसे सुनो ॥ २८ ॥

अगस्त्यन् श्रीकृष्णने कहा है—मैं सबका उपादान कारण होनेसे सबका आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ, इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता । जैसे संसारके सभी भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हींसे सब वस्तुएँ बनी हैं और यही उन वस्तुओंके रूपमें हैं । जैसे ही मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय और उनके विन्योक्त आश्रय हूँ । वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ और सब जगह तो मैं ही उनके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ ॥ २९ ॥ मैं ही अपनी मायाके द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विन्योक्त रूपमें होकर उनका आश्रय बन जाता हूँ तथा स्वयं निमित्त भी बनकर अपने-आपको ही रचता हूँ, पाकता हूँ और समेट लेता हूँ ॥ ३० ॥ आत्मा माया और मायाके कर्मोंसे पृथक् है । वह विमुक्त ज्ञानस्वरूप, जब प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने ही अवांतर मेदोंसे रहित सर्वथा शुद्ध है । कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते । मायाकी तीन वृत्तियाँ हैं—सुषुप्ति, जाग्रत और आप्त । इनके द्वारा वही अक्षय, अनन्त बोधस्वरूप आत्म कभी प्राप्ति, तो कभी ऐश्वर्य और कभी विषयरूपसे प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥ मनुष्यों के चाहिये कि वह समझे कि स्वप्नमें टीखनेवाले पदार्थोंके सम्मान ही जाग्रत अवस्थामें इन्द्रियोंके विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं । इसीलिये उन विन्योक्त विस्तृत करनेवाले मन और इन्द्रियोंको रोक ले और मानी सोकर खड़ा हो, इस प्रकार जगत्के क्वातिक विन्योक्तोंके त्यागकर मेरा साक्षात्कार करे ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार सभी नदियाँ घूम-निरकर समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार मनकी पुरुषोंका वेदाम्यास, योग-साधन, आत्मज्ञानविवेक, त्याग, तपस्या, इन्द्रियसंयम और सत्य आदि समस्त धर्म, मेरी प्राप्तिमें ही सम्पन्न होते हैं । सबका सचा पञ्च है मेरा साक्षात्कार; क्योंकि वे सब मनको निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचते हैं ॥ ३३ ॥

यत् त्वहं भवतीनां वैदूरे वर्से प्रियो दृष्टाम् ।

मनसः संनिकर्षार्थं मदनुष्ठानकाम्यया ॥३४॥

यथा दूरचरे प्रेष्टे मन आविश्य वर्तते ।

स्त्रीणां च न तथा चेत् सनिकृष्टेऽक्षिणोचरे ॥३५॥

मय्यावेश्य मनः कुत्स्नं विद्वत्काष्ठेष्वृषि यत् ।

अनुसरन्त्यो मां नित्यमभिरान्माह्वपैष्यथ ॥३६॥

या मया क्रीडताराभ्यां वनेऽसिन् ब्रज आम्बिताः ।

असम्भरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मग्नौर्वचिन्तया ॥३७॥

श्रीभुक्त उवाच

एव प्रियतमादिष्टमाकर्म्म ब्रजयोषितः ।

ता ऊचुर्दद्वर्षं प्रीतास्तरसंवेष्टागतस्मृतीः ॥३८॥

गोप्य ऊचुः

दिष्टाहितो हवः कंसो यदूनां सानुगाऽष्वकुम् ।

दिष्टाऽऽसैर्लब्धसर्वार्थैः कृष्णस्यास्तेऽन्युतोऽधुना ३९

कथिन् गदाव्रजः सौम्य करोति पुरयोपिताम् ।

प्रीतिं न क्षिण्वन्प्रीतिदशासोदारवर्णाक्षित ॥४०॥

गोपियो ! इसमें संदेह नहीं कि मैं तुम्हारे नफे-
का भुक्ता हूँ । तुम्हारा जीवन-सर्वस्व हूँ । किन्तु मैं
जो तुमसे इतना दूर रहता हूँ, उसका कारण है । वह
यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सकते, शरीरसे दूर
रहनेपर भी यमसे तुम मेरी सन्निधिका अनुभव करो,
अपना मन मेरे पास रखते ॥ ३४ ॥ क्योंकि शिखें
और अन्यान्य प्रेमियोंका चित्त अपने परदेशी प्रियतमसे
जितना निष्काश भावसे छग्न रहता है, उतना ओंछके
सामने, पास रहनेवाले प्रियतममें नहीं लगता ॥ ३५ ॥
अशेष वृत्तियोंसे रहित सम्पूर्ण मन मुझमें लगाकर जब
तुम छोग मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही उदात्त स्थि-
ति मुझे प्राप्त हो जायेगी ॥ ३६ ॥ कल्याणियो ! जिस
समय मैंने हृन्दावनमें शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें रास-
क्रीडा की थी उस समय जो गोपियों सबनोंके एक
लेनेसे ब्रजमें ही रह गयीं—मेरे साथ रास-विहारमें
सम्मिलित न हो सकीं, वे मेरी लीलाओंका स्मरण करने-
से ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं । (तुम्हें भी मैं निरुद्ध
अवस्था, निरुद्ध होनेकी कष्ट बात नहीं है) ॥ ३७ ॥

श्रीभुक्तदेवकी कहते हैं—परीक्षित ! अपने प्रियतम
श्रीकृष्णका यह संदेश सुनकर गोपियोंको बड़ा आनन्द
हुआ । उनके सम्बन्धसे उन्हें श्रीकृष्णके स्वरूप और
एक-एक लीलाकी खबर आने लगी । प्रेम्से मत्कर
उन्होंने उद्वेगशीले कहा ॥ ३८ ॥

गोपियोंने कहा—उद्वेगशी । यह बड़े सौभाग्यकी
और आनन्दकी बात है कि यदुवर्तियोंको स्वतन्त्रता पायी
कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया । यह भी कम
आनन्दकी बात नहीं है कि श्रीकृष्णके कम्प-आनन्द
और गुह्यमार्गोंके सारे मनोरथ पूर्ण हो गये तथा जब
हमारे प्यारे स्वामीसुन्दर उनके साथ सकुशल निरगत
कर रहे हैं ॥ ३९ ॥ किन्तु उद्वेगशी एक बात आप
हमें बतलाइये । जिस प्रकार हम अपनी प्रेममी लीलाकी
मुसकाम और उमुक्त चित्तवृत्तसे उनकी पूजा करती
थी और वे भी हमसे प्यार करते थे, उसी प्रकार
सुखकी शिखेंसे भी वे प्रेम करते हैं या नहीं ? ॥ ४० ॥

य रतिविशेषम् प्रियम् धरयोपिताम् ।

नुपम्येत सदाकर्मविभ्रमेष्टानुभावित ॥४१॥

यि सरति न साधो गोविन्दः प्रस्तुते कश्चित् ।

गाष्टीमन्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ॥४२॥

ता किं निशाः सरति यासु सदा प्रियाभि-

र्विन्दावने कुमुदकुन्दस्रग्द्वारम्भे ।

रमे कृष्णचरणनूपुररासगोष्ठ्या

मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥४३॥

अप्येव्यतीह दाशार्दत्तमाः स्वकृतया दृष्टा ।

सर्ववीषयन् तु ना गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदं ॥४४॥

कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हतादिष ।

नरद्रुह्या उदात्त प्रीत सर्वसुदृष्टतः ॥४५॥

किमस्माभिवनोकाभिरयाभिर्ना महान्मन ।

श्रीपद्मपद्ममय प्रियेष्ठार्थं कृतान्मन ॥४६॥

तत्रतक दूसरी गोपी बोल उठी—‘जरी सखी ! हमारे प्यारे इयामसुन्दर तो प्रेमकी मोहिनी कल्पके विशेष हैं । सभी थोड़ा खियों उससे प्यार करती हैं, फिर भला जब नगरकी खियों उनसे मीठी-मीठी बातें करेगी और हाव-भावसे उनकी ओर देखेगी तब वे उनपर क्यों न रीझेंगे ? ॥ ४१ ॥ दूसरी गोपियों बोली—‘साधो ! आप यह तो बातभरते कि जब कभी नागरी नारियोंकी मण्डलीमें कोई बात चलती है और हमारे प्यारे सखन्दरूपसे, बिना किसी सङ्कोचके जब प्रेमकी बातें करने लगते हैं, तब क्या कभी प्रसंगवश हम गँवार ग्वाष्टियोंकी भी याद करते हैं ? ॥ ४२ ॥ कुछ गोपियोंने कहा—‘उद्धवनी ! क्या कभी धीरुष्ण उस रात्रियोंका स्मरण करते हैं, जब कुमुदिनी तथा कुन्दके पुष्प खिले हुए थे, चारों ओर चाँदनी छिंक रही थी और इन्दावन अत्यन्त रमणीय हो रहा था । उन रात्रियोंमें ही उन्होंने रास-मण्डल बनाकर हमलोगोंके साथ नृत्य किया था । कितनी सुन्दर थी वह रास-स्तीमा । उस समय हमलोगोंके पैरोंके नूपुर रुमरुन रुमरुन बज रहे थे । इन सब सखियों उन्हींकी सुन्दर-सुन्दर बीलाबोंका गान कर रही थी और वे हमारे साथ माना प्रकारके बिहार कर रही थी ॥ ४३ ॥ कुछ दूसरी गोपियों बोल उठी—‘उद्धवनी ! हम सब तो उन्हींके विरहकी आगसे जल रही हैं । देवराज इन्द्र जैसे जल बरसाकर बन्को हरा-भरा कर देते हैं, उसी प्रकार क्या कभी धीरुष्ण भी अपने कर स्पर्श आदिसे हमें जीवन-दान देनेके लिये यहाँ आनेगे ? ॥ ४४ ॥ तबतक एक गोपीने कहा—‘जरी सखी ! जब तो उन्होंने शत्रुओंको मारकर राज्य पा लिया है; जिसे देखो, वही उनका सुहृद् बना किता है । जब वे बड़े-बड़े नरपत्नियोंकी कुम्हारियोंसे विवाह करेंगे, उनके साथ आनन्दपूर्वक रहेंगे, यहाँ हम गँवारोंके पास क्यों जायेंगे ? ॥ ४५ ॥ दूसरी गोपीने कहा—‘नहीं सखी ! मझामा धीरुष्ण तो क्षय लगीपति है । उनकी सखी कम्पनचूर्ण ही है वे हनुराय दे । हम वनरामिनी गच्छिनों अपना दूसरी राजकुमारियोंसे उनका कोई प्रयोजन नहीं है । हम-गेष्टीक बिना उनका बीन-आ बजम अर्थ पड़ा है ॥ ४६ ॥

परं सौख्यं हि नैराश्र्यं स्वैरिष्यप्याह पिङ्गला ।

वखानतीनां नः कृष्णे सधाप्याशा दुरस्थया ॥४७॥

क उस्तदेव संत्यक्तुमुत्तमस्योक्तविदम् ।

अनिच्छयेऽपि यस्य श्रीरक्षणं च्यवते कथित् ॥४८॥

सतिष्ठैल्लवनोद्देशा भावो वेणुरवा इमे ।

संकर्पण्यसहायेन कृष्णोनाचरिता प्रभो ॥४९॥

पुनः पुनः भारयन्ति मन्वगोपसुतं वत ।

श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विसर्तुं नैव शक्नुमः ॥५०॥

गत्या उल्लिख्योदारहासलीलावलोकनं ।

माप्स्या गिरा हृत्पथिः कथं तं विस्तरामहे ॥५१॥

दे नोप दे रमानाथ प्रजनाभार्तिनाथन ।

देखो बेया होनेपर भी भिन्नत्वने क्या ही ठीक कहा है—‘ससारमें किसीकी वाशा न रहना ही सबसे बड़ा सुख है ।’ यह बात हम जानती हैं, फिर भी हम मगलान् श्रीकृष्णके छोटनेकी वाश छोड़नेमें असमर्थ हैं । उनके छुम्नगमनकी वाशा ही तो हमारा जीवन है ॥ ४७ ॥ हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने जिनकी कीर्तिका गान बड़े-बड़े महात्मा करते रहते हैं, हमसे एकजन्तमें जो मीठी-मीठी प्रेम्की बातें की हैं उन्हें छोड़नेका, सुझानेका उस्ताह भी हम कैसे कर सकती हैं ? देखो तो, वनकी हम्म न होनेपर भी लम् लम्कीजी उनके चरणोंसे छिन्दी रहती हैं, एक छम्के छिन्ने भी उनका ध्वज-सङ्ग छोड़कर कहीं नहीं जाती ॥ ४८ ॥ उदबजी ! यह वही नदी है, जिसमें वे विहार करते थे । यह वही पर्वत है, जिसका भिन्नतर पथकर वे बौदुरी बजाते थे । ये वे ही वन हैं, जिनमें वे रात्रिके समय रास-खिला करते थे, और ये वे ही गौरें हैं, जिनको चरणोंके छिन्ने से सुन्दर-श्याम ब्रम्भेगोंकी देखते हुए जाते-जाते थे । और यह ठीक वैसी ही बंधीकी तान हमारे कानोंमें गूँजती रहती है, वैसी वे अपने कर्तव्यके सुयोगसे छेका करते थे । ब्रम्भामजीके साथ श्रीकृष्णने हम समीक सेवन किया है ॥ ४९ ॥ यहाँका एक-एक प्रदेश एक-एक भूमिज उनके परम सुन्दर चरणकमलोंसे भिन्नित है । इन्हें जब-जब हम देखती हैं, मुगली हैं—दिनकर प्यारी तो करती रहती हैं—तब-तब वे हमारे प्यारे श्यामसुन्दर नन्दनन्दनको हमारे नेत्रोंके सामने काकर रख देते हैं । उदबजी ! हम किसी भी प्रकार—मकर भी उन्हें भूल नहीं सकते ॥ ५० ॥ उनकी यह हँसकी-सी सुन्दर भाव, उन्मुक्त हास्य, निरुसर्ग्य निरुक्त और पथुमयी बाणी । ओह ! उन सबने हमारा विष पुण किया है, हमारा मन हमारे बचने नहीं है; जब हम उन्हें यूँसे तो मिस तरह । ॥ ५१ ॥ हमारे प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम्हीं हमारे जीवनके साथी हो, सर्वज्ञ हो । प्यारे ! तुम व्यसनीनाथ हो तो क्या दुःख ! हमारे अग्रे तो मजनाथ ही हो । हम ब्रह्मगीर्णियोंके एक-मात्र तुम्हीं सच्चे साथी हो । श्यामसुन्दर ! तुम्हें बार-बार हमारी प्यवा मिटायी है, हमारे सङ्कट करते

मममदर गोविन्द गोकुलं वृजिनर्णवात् ॥५२॥

श्रीगुरु उवाच

ततस्तः कृष्णसद्वैद्यैर्यपेठविरहन्वरा ।

उद्धवं पूजयाञ्जकुर्वास्ताऽऽत्मानमधोक्षजम् ॥५३॥

उवाच कविक्लिप्तात्मान् गोपीनां विदुस्त्वृषः ।

कृष्णलीलाकथां गायन् रमयात्मास गोकुलम् ॥५४॥

पावन्त्वहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः ।

व्रजौकसां क्षणप्रायाभ्यासन् कृष्णस्य वार्तया ॥५५॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कृष्णमिहान् हुमान् ।

कृष्णं संभारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥५६॥

एष्वेषमादि गोपीनां कृष्णविश्रामविह्वलम् ।

उद्धवः परमप्रोक्तस्तान् नमस्तस्मिन् अगौ ॥५७॥

एताः परं तनुमृते सुवि गावधयो

गोविन्द पथ निरिहात्मनि रुदमावाः ।

हैं । गोविन्द ! तुम गोवर्धसे बहुत प्रेम करते हो । क्या हम गोवर्ध नहीं हैं ? तुम्हारा यह सारा गोकुल— जिसमें व्याजबाळ, पिता-माता, गौरे और हम गोवर्धों सब कोई हैं—तुम उसके अपार सागरमें डूब रहा है । तुम इसे बचाओ, जाओ, हमारी रक्षा करो ॥ ५२ ॥

श्रीगुरुवैद्यजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय सन्देश सुनकर गोवर्धोंके निरहकी व्यापा शान्त हो गयी थी । वे इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्णको अपने आत्माके रूपमें सर्वत्र स्थित समझ चुकी थीं । अब वे बड़े प्रेम और आदरसे उद्धवजीका सत्कार करने लगीं ॥ ५३ ॥ उद्धवजी गोवर्धोंकी विरह-व्यापा मित्रानेके स्थिरे कई महीनोंतक वहीं रहे । वे भगवान् श्रीकृष्णकी बनबों छीखें और बातें सुना सुनाकर व्रजवासियोंको आनन्दित करते रहते ॥ ५४ ॥ नन्दबाबाके व्रतमें जितने दिनोत्तक उद्धवजी रहे, उतने दिनोत्तक भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकी चर्चा होतै रहनेके कारण व्रजवासियोंको ऐसा ज्ञान पड़ा, मानो कभी एक ही क्षण हुआ हो ॥ ५५ ॥ भगवान् के परमप्रेमी भक्त उद्धवजी कभी नदीतटपर जाते, कभी कर्मोंमें निहते और कभी गिरिराजकी घाटियोंमें बिचरते । कभी रंग-विरंगे फूलोंसे भरे हुए वृक्षोंमें ही रम जाते और यहाँ भगवान् श्रीकृष्णान् कौन-सी लीला की है, यह पूछ-पूछकर व्रजवासियोंको भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी लीलाके स्मरणमें लम्ब कर देते ॥ ५६ ॥

उद्धवजीने व्रतमें रहकर गोवर्धोंकी इस प्रकारकी प्रेम-निकलता तथा और भी बहुत-सी प्रेम-व्येष्टि देदी । उनकी इस प्रकार श्रीकृष्णमें लम्बकर देखकर वे प्रेम और आनन्दसे मर गये । अब वे गोवर्धोंको नमस्कार करते हुए इस प्रकार गान करने लगे— ॥ ५७ ॥ इस पृथ्वीपर केवल हम गोवर्धोंका ही शरीर धारण करना छेड़ एवं सत्य है क्योंकि य सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रममप दिव्य महाभयमें स्थित हो गयी है । प्रेमकी यह ऊँची-से-ऊँची स्थिति संसारके भयसे भीम मुमुक्षुजनोंके चिन्ते ही नहीं, अति बड़-बड़ मुनियों—मुक्त पुरुषों तथा हम यक्षजनोंके चिन्ते भी कभी

वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो धर्म्यं च

किं ब्रह्मन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५८॥

कमाः स्त्रियो वनचरीर्ष्यभिचारदुष्टाः

कृष्णं च वैप परमारमनि रूढभावः ।

नन्वीभरोऽनुभजरोऽविदुषोऽपि साक्षा

प्रेयस्तनोत्पगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥

नार्यं भियोऽङ्ग उ न्तिष्ठान्तरतोः प्रसादः

स्वयंप्रियां नलिनमन्धरुषां कुतोऽन्या ।

रातोत्सवेऽस्य सुखदण्डगुहीतकण्ठ

लम्बाशिपां य उदगाद् ब्रजबलुवीनाम् ॥६०॥

आसामहो चरणरेणुशुषामह स्ना

इन्द्रावने किमपि गुग्मलतौपधीनाम् ।

या दुस्तर्जं स्वजनमार्थपथं च हिरवा

मेतुर्दुन्दुपदवीं धृतिभिर्विधुम्याम् ॥६१॥

वाञ्छनीय ही है । हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी । सत्य है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी स्त्री-वत् रसका चसका लग गया है, उन्हें दुष्टीनतकी, द्विजातिसमुच्चिन सरस्वरकी और बड़े-बड़े यज्ञ-यागमें दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है ? वपय यदि भगवान्की कमाका रस नहीं मिष्टा, उसमें रुचि नहीं हुई, तो अनेक महाकल्पोंतक बार-बार मृता होनेसे ही क्या छाम ? ॥ ५८ ॥ कहाँ ये वनचरी आचार, इन और प्राप्तिसे हीन गौकी गँवार म्बल्लिने और कहाँ सम्बिदानन्दधन भगवान् श्रीकृष्णमें यह अनन्य परम प्रेम ! अहो, धन्य है । धन्य है । इससे सिद्ध होता है कि कोई भगवान्के स्वरूप और रहस्यको न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे, वे वे स्वयं अपनी शक्तिसे, अपनी कृपासे उसका परम वरुण्य कर देते हैं, छीक बैठे ही, जैसे कोई कनकनमें भी वधूत पी ले तो वह अपनी वस्तु-शक्तिसे ही पीनेवालेको अमर बना देता है ॥ ५९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने रातोत्सवके समय इन ब्रजराजनाओंके गलेमें बाँह डाल-डालकर इनके मनोरथ पूर्ण किये । उन्हें भगवान्ने जिस कृपा-प्रसादका स्फुरण किया, उन्हें वैसा प्रेमदान किया, वैसा भगवान्की परमप्रेमकी मिलि-सन्निही कष्ट स्वल्पर किञ्चिमान लक्ष्मीनीको भी नहीं प्राप्त हुआ । कम्बुकी-सी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त वेवाङ्मनाओंको भी नहीं मिला । फिर इतनी क्षियोंकी तो बात ही क्या करें ? ॥ ६० ॥ मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस इन्द्रावन-वाममें कोई शाही, मर्या अपवा ओषधि—बड़ी-बूढ़ी ही बन जाऊँ । अहा यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन ब्रजराजनाओंकी चरणधूलि मिलकर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी । इनके चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा । धन्य हैं ये गोपियों । वेबो तो सही, जिनको छेड़ना अशक्य कठिन है, उन लज्ज-सम्पत्तियों तथा अंक-केन्द्री कार्य-मर्यादका परित्याग करके इन्होंने समाधानकी पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या—मगधराणी, उनकी मित्रासरूप समस्त धृतिषों, उपनिषदों में बभूवक भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको इहंती ही रखती हैं प्राप्त नहीं कर पाती ॥ ६१ ॥

या वै भिर्यात्विमत्रादिभिराप्तकामै-

योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।

कृष्णस्य तद् भगवत्तत्परणारविन्दं

न्यस्तं स्तनेषु विजह्नुः परिरम्य चापम् ॥६२॥

नन्दे नन्दब्रह्मस्त्रीणां पादरेषुमभीष्टाः ।

वासं हरिक्रयोद्गीर्तं पुनाति शुवनव्रजम् ॥६३॥

श्रीकृष्ण उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य भगोदां नन्दमेव च ।

गोपानामन्व दास्याहो यास्यभारुहे रथम् ॥६४॥

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणय ।

नन्ददयोऽनुरागेण प्रावोचकमुलोचनाः ॥६५॥

मनसा हृत्तमो न स्युः कृष्णपादाम्मुवाभ्रयाः ।

वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रहृणादिषु ॥६६॥

कर्मभिर्भ्राज्यमाणानां यत्र फापीश्वरेच्छया ।

मङ्गलाचरितैर्दानं रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥६७॥

एवं समाश्रितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।

उद्धवः पुनरागच्छन्मधुरां कृष्णपालिताम् ॥६८॥

स्वयं भगवती श्रुतीभी जिनकी पूजा करती रहती हैं, ब्रह्मा, शाङ्कर आदि परम समर्थ देवता, पूर्वकाम आत्मपराम और बड़े बड़े योगेश्वर अपने हृदयमें जिनका चिन्तन करते रहते हैं भगवान् श्रीकृष्णके उन्हीं चरणारविन्दों को रास-लीलाके समय गोपियोंने अपने वक्षःस्थलपर रख्य और उनका आलिङ्गन करके अपने हृदयपर जलन, बिह-व्यथा शान्त की ॥६२॥ नन्दबाबाके ब्रजमें रहनेवाली गोपाङ्गनाओंकी चरणचूम्बको मैं बारंवार प्रणाम करता हूँ—उसे सिरपर चढ़ाता हूँ । अहा ! इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है वह तीनों लोकोंकी पवित्र कर रहा है और सदा-सदैव पवित्र करता रहेगा ॥ ६३ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! इस प्रकार कई महीनोंतक ब्रजमें रहकर उद्धवजीने अब मधुरा जानेके लिये गोपियोंसे, नन्दबाबा और यशोदा मैयासे आजा प्राप्त की । रत्नलबानोंसे चिन्ता छेकर बहोसे यात्रा करनेके लिये वे रथपर सवार हुए ॥६४॥ जब उनका रथ ब्रजसे बाहर निकल्य, सब नन्दबाबा आदि गोपगण बहुत-सी मेंग्वी सामग्री छेकर उनके पास आये और ओम्बोंमें ओम्ब मरकर उन्होंने बड़े प्रमत्ते कहा—॥६५॥ 'उद्धवजी ! अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मनकी एक-एक हृत्ति, एक-एक सङ्कल्प श्रीकृष्णक चरणकमलमेंके आश्रित रहे । उन्हींकी सेवाके लिये ठठे और उन्हींमें लगी भी रहे । हमारी वाणी निर्य-निरन्तर उन्हींके नामोंका उच्चारण करती रहे और शरीर उन्हींकी प्रणाम करने, उन्हींके आङ्गा-गान्धन औरसेवामें लगा रहे ॥६६॥ उद्धवजी ! हम सब कहते हैं, हमें मोलकी इच्छा किन्तु नहीं है । हम भगवान्की इच्छासे अपने कर्मके अनुसार जाहे जिस योनिमें जन्म छे—वहाँ शुभ आचरण करें, दान करें और उसका फल यही पावे कि हमारे अपने ईश्वर श्रीकृष्णमें हमारी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे ॥६७॥ प्रिय परीक्षित ! नन्दबाबा आदि गोपोंन इस प्रकार श्रीकृष्ण-भक्तिके द्वारा उद्धवजीका सम्मान किया । अब वे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुकृत मधुरापुरीमें छोट आये ॥६८॥

कुम्भाय प्रणिपत्याह भक्तयुद्धेकं ब्रह्मैकताम् ।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको प्रणम किया और उन्हें ब्रह्मासिर्षोक्षी प्रेममयी मण्डित उद्धेक, जैसा उन्होंने देखा था, वह सुनाया । इसके बाद भन्दाबाबाने भेंटकी जो-जो सामग्री दी थी वह उमका, बसुदेवजी, बजरामजी और रामा उभेजनेकी दे दी ॥ ६९ ॥

बसुदेवाम रामाम राक्षे चोपायनान्यदात् ॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराणे पारमहंस्या संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
उद्धमप्रसियाने सतचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४७ ॥

अथाष्टत्वारिंशोऽध्याय

भगवान्पुत्र कुम्भा और ब्रह्मजीके घर आया

श्रीकृष्ण उवाच

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वारमा सर्वदर्शनः ।

सैरन्ध्याः कर्मवृत्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ॥ १ ॥

महार्होपस्करीराज्यं कर्मोपायोपवृत्तिरम् ।

मुक्तावामपताकभिर्विवानञ्जयनासनैः ।

यूपैः सुरभिभिर्दिवैः स्नेहमन्त्रैरपि मण्डितम् ॥ २ ॥

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य साऽऽसनात्

सद्यः समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा ।

यथोपसंगम्य सखीभिरच्युतं

सभाजयामास सदसनादिभिः ॥ ३ ॥

तपोद्भवः साधु तथाभिपूजिता

न्यपीदुर्ध्वामभिमुख्य चामनम् ।

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! तदनन्तर सबके

आगमा तथा सब कुछ देखनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपनेसे मित्रकी आकाङ्क्षा रखकर व्याकुल हुई कुम्भाको प्रिय करने—उसे सुख देनेकी इच्छासे उसके घर गये ॥ १ ॥ कुम्भाका घर बहुतसम सामग्रियोंसे सम्पन्न था । उसमें शृङ्गार-रसका उदीपन करनेवाली बहुतसी साधन-सामग्री भी थी हुई थी । मोतीकी श्रृङ्ग और स्वान-स्वानपर शब्दियों भी खी हुई थी । वंदने लगे हुए थे । सेजें बिजयी हुई थी और बैठनेके बिजे बहुत सुन्दर-सुन्दर आसन लगाये हुए थे । चूपकी सुगन्ध फल रही थी । दीपकको दिव्यदर्प जगमा रही थी । स्वान-स्वानपर फूलोंके झार और चन्दम रत्न हुए थे ॥ २ ॥ भगवान्को अपने घर आते देख कुम्भा तुरंत हड़बड़ाकर अपने आसनसे उठ खड़ी हुई और सखियोंके साथ जागे बहकर उसने विधिपूर्वक भगवान्को आगत-सत्कार किया । फिर श्रेष्ठ आसन व्याधि देकर विविध उपचारोंसे उनकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ ३ ॥ कुम्भाने भगवान्को परममह उद्धमजीकी भी समुचित रीतिसे पूजा की; परन्तु वे उसके सम्मानके बिये उसका निया हुआ आसन छुकर धरतीपर ही बैठ गये । (अपने श्वाभीके सामने उन्होंने आसनपर बैठना उचित न

कुण्डोऽपि तूर्णं श्रमन महाधनं

विवेश लोकचरितान्धनुमत्तः ॥ ४ ॥

सा मखनालेपदुकूलभूषण-

स्रमान्धताम्बूलमुधासवादिभि ।

प्रसाधितस्तमोपससार माधवं

सत्रीबलीलोत्पिप्तवधिप्रमेधितैः ॥ ५ ॥

आहूय कान्तां नवसङ्गमहिया

विशङ्कितं कङ्कणभूषिते करे ।

प्रगृह्य श्रमयामधिवेश्य रामया

रैमञ्जुलेपार्पणपुष्पलेखया ॥ ६ ॥

सानङ्गवस्तुचयोरुसस्तथाङ्गो-

र्विभ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।

दोम्भांस्तनान्तरगतं परिरम्य कान्त

मानन्दमूर्तिमबहदतिदीर्घतापम् ॥ ७ ॥

सैव कैवल्यानर्थं त प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।

अङ्गरागार्पणनाहो दुर्मगेदमयाचत ॥ ८ ॥

आहोष्यतामिह प्रेष्ट दिनानि कतिचिन्मया ।

रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥ ९ ॥

तस्यै कामधरं दृष्ट्वा मानयित्वा च मानदः ।

सहाद्देवेन सर्वेशः स्वधामागमद्विमत ॥ १० ॥

दुःसाराप्य समाराप्य विष्णुं सर्वधरेश्वरम् ।

समसा ।) भगवान् श्रीकृष्ण सञ्चिन्तनन्दस्वरूप होनेपर भी लोकचरितान्धनुमत्त बनकर आते हैं। तुरंत उसकी बहुमूल्य सेजपर ना बैठे ॥ ४ ॥ तब कुन्त्रा स्नान, अङ्गराग, वस्त्र, आभूषण, हार, गन्ध (इत्र आदि), ताम्बूल और सुधासवा आदिसे अपनेको स्वयं सज्जाकर लीलामयी लमीली मुसकान तथा हाव-भावके साथ भगवान्की ओर देखती हुई उनके पास आयी ॥ ५ ॥ कुन्त्रा नवीन मिठनके सहोचसे कुछ मिष्ठक खाई थी। तब श्यामसुन्दर श्रीकृष्णने उसे अपने पास बुला लिया और उसकी कङ्कणसे सुशोभित कानों पर पकड़कर अपने पास बैठ लिया और उसके साथ व्रीडा करने लगे। परीक्षित ! कुन्त्रामे इस जन्ममें केवल भगवान्को अङ्गराग अर्पित किया था, उसी एक शुभकर्मके फलस्वरूप उसे ऐसा अनुपम अवसर मिला ॥ ६ ॥ कुन्त्रा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको अपने कान-स्तम्भ हृदय, कक्ष स्थल और नेत्रोंपर रखकर उनकी दिव्य सुगन्ध लेने लगी और इस प्रकार उसने अपने हृदयकी सारी आविष्माधि शान्त कर ली। कक्ष स्थले से सटे हुए आनन्दमूर्ति प्रियतम श्यामसुन्दरका अपनी दोनों मुखाङ्गोंसे गाढ़ आच्छिन्न करके कुन्त्रामे दीर्घकाष्ठसे बड़े हुए विरह तपस्वी शास्त किया ॥ ७ ॥ परीक्षित ! कुन्त्रामे केवल अङ्गराग समर्पित किया था। वतनेसे ही उसे उस सर्वशक्तिमान् भगवान्की प्राप्ति हुई, जो कैवल्य-मोक्षके अनीश्वर हैं और जिनकी प्राप्ति अल्पतः कठिन है। परन्तु उस दुर्मगने उन्हें प्राप्त करके भी ब्रह्मगोपियोंकी भाँति सेवा न माँगकर यही माँग—॥ ८ ॥ प्रियतम ! आप कुछ दिन यहाँ रहकर मेरे साथ क्रीडा कीजिये। क्योंकि हे कमलनयन ! मुझसे आपका साथ नहीं छोड़ा जाना ॥ ९ ॥ परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण सबका मान रखनाले और सर्वेश्वर हैं। उन्होंने कभीयद न देकर उसकी पूजा स्वीकार की और फिर अपने प्यारे मकरन्दव्रीके साथ अपने सर्वसम्पन्नित धरपर झूट जाये ॥ १० ॥ परीक्षित ! भगवान् महा आदि समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उनको प्रसन्न कर लेना भी जीवके लिये बहुत ही कठिन है। नो कोइ उन्हें

यो वृणीत मनोप्राप्तममत्वात् कुमनीप्सुसौ ॥११॥

अक्रूरभवनं कृष्णः सहारामोद्भव प्रभु ।

किंचिचिकीर्षयन् प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥१२॥

स सन् नरवरभृष्टानाराद् वीक्ष्य स्वषान्भवान् ।

प्रत्युत्थाय प्रभुदित परिष्वज्याम्यनन्दत ॥१३॥

ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः ।

पूजयामास विभिवद् कृतासनपरिग्रहान् ॥१४॥

पादावनेमनीरापो धारयञ्छिरसा नृप ।

अहंशेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥१५॥

अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य पादावङ्गगतौ मृजन् ।

प्रभयावनशोऽक्रूरं कृष्णरामावभाषत ॥१६॥

दिष्टया पापो हतः कर्मः मानुगो वामिर्दुर्लभ् ।

भवदुःस्वाम्यवृष्टं कृष्णान् दुरन्ताच्च समेषितम् ॥१७॥

युवां प्रधानपुल्लौ अगदुपेतु जगन्मयी ।

भवदुःस्वामिं न विना किंचित् परमस्ति न चापरम् ॥१८॥

अज्ञममृष्टमिदं विषमन्त्राविश्वं स्वस्तर्किभिः ।

इयते बहुधा भद्रान् भुतप्रयस्यगोशरम् ॥१९॥

यथा हि भूतेषु पशवेषु

मघादया यानिषु भान्ति नाना ।

१ यय च । २ मा तस्य । ३ विनः ।

प्रसन्न करके उनमें विषय-सुख मँगता है, वह विषय ही दुर्लभ है, क्योंकि वास्तवमें विषय-सुख कल्पत गुप्त—नहीं के बराबर है ॥ ११ ॥

तदन्तर एक दिन सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण बक्रामजी और उदयजीके साथ अक्रूरजीकी अमित्रता पूर्ण करने और उनसे कुछ काम देनेके लिये उनके घर गये ॥ १२ ॥ अक्रूरजीने दूरसे ही देख लिया कि हमारे परम बन्धु मनुष्यलोकशितोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बक्रामजी आदि पचार रहे हैं । वे दुरंत उदयर आगे गये तथा आनन्दसे भरकर उनका अभिवादन और आच्छिन्न किया ॥ १३ ॥ अक्रूरजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बक्रामजीसे नमस्कार किया तथा उदयजीके साथ उन दोनों भाइयोंने भी उन्हें नमस्कार किया । जब सब स्नेह आरामसे आसनोपर बैठ गये, तब अक्रूरजी उन भोग्योकी विधिवत् पूजा करने लगे ॥ १४ ॥ परीक्षित । उन्होंने पहले भगवान् के चरण चोकर चरणोंसे दक सिरपर चारण किया और फिर अनेकों प्रकारकी पूजा-सामग्री, दिव्य वस्त्र, गन्ध, माता और अष्ट आभूषणोंसे उनका पूजन किया, सिर छुकर उन्हें प्रणम किया और उनके चरणोंको अपनी गोदमें लेकर दबाने लगे । उसी समय उन्होंने विनयावनत होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बक्रामजीसे कहा—॥ १५-१६ ॥ भगवान् । यह बड़े ही आनन्द और सीमावर्ती बात है कि पापी कर्म अपने अनुपायियोंके साथ मध्य गम्भीर । उसे मारकर आप दोनोंने पदुवशक्ती बहुत बड़े सहृदय बन्धु लिये हैं तथा उदय और सधृद किया है ॥ १७ ॥ आप दोनों अज्ञके कारण और अज्ञान, आदिपुरुष हैं । आपके अनिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है न कारण और न तो कार्य ॥ १८ ॥ परमात्मा । आपने ही अपनी शक्तिसे इसकी रचना की है और आप ही अपनी काल, माया आदि शक्तियोंसे इसमें प्रविष्ट होकर विभिन्न भी वस्तुएँ दत्ती और तुनी जानी हैं, उनके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं ॥ १९ ॥ जैसे पृथ्वी आदि कारणवस्तुओंसे ही उनके अर्थ स्यात्-अज्ञान शरीर बनते हैं वे उनमें अनुपविष्ट-से होकर अनेक रूपोंमें प्रतीत

एवं भवान् केवल आत्मयोनि-

प्रात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥२०॥

सृजस्यथो लुम्पमि पासि विश्व

रञ्जस्वम मन्वगुणै स्वशक्तिभि ।

न वध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा

ज्ञानारमनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥

दशाधुपाधेरनिरूपितत्वाद्

भवोन मास्मान्मिदाऽऽत्मन स्पष्ट ।

अतो न बन्धस्तव नैव मोक्ष

स्यात्तां निकामस्त्वपि नोऽविवेक ॥२२॥

त्वयादितोऽयं जगतो हिताय

यदा यदा वेदपथः पुराण ।

वाच्येत पातण्ड्यैरसङ्गि

स्तदा भवान् सत्त्वगुण विभक्तिं ॥२३॥

म त्व प्रमाऽद्य वसुदधगृहऽवतीर्ण

त्वांशेन भारमपनेतुमिहामि भूमे ।

अश्वीहिणीगतवचेन, सुरेतरांश

राग्राममुप्य च क्लृप्तस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥

अपद्य ना वमतप त्वन्तु भूरिभागा

य सबदेवपितृभूतवृद्धवृद्धि ।

यन्पादशोचमलिलं त्रिजगत् पुनानि

म त्वं जगद्गुणधोऽध्वन्या प्रविष्ट ॥२५॥

क पण्डितम्वदपर शरणं मयीपाद्

भक्तप्रियात्मनिर गुरुद वृत्तवान् ।

होते हैं, परन्तु वास्तवमें ये कारणरूप ही हैं । इसी प्रकार हैं तो केवल आप ही, परन्तु अपने कार्यरूप जगत्में स्वेच्छासे अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं । यह भी आपकी एक मीमांसा ही है ॥ २० ॥ प्रभो ! आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणरूप अपनी शक्तियोंसे क्रमशः जगत्की रचना, पावन और संहार करते हैं, किन्तु आप उन गुणोंसे अपना उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे बचनेमें नहीं पड़ते, क्योंकि आप शुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं । ऐसी स्थितिमें आपके लिये बन्धनकार कारण ही क्या हो सकता है ॥ २१ ॥ प्रभो ! सर्व आत्म वस्तुमें स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह आदि उपाधियों न होनेके कारण न तो उनमें जन्म-मृत्यु है और न किसी प्रकारका भेदभाव । यही कारण है कि न आपमें क्लेश है और न मोक्ष । आपमें अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार बन्धन या मोक्षकी जो कुछ कल्पना होती है, उसका कारण केवल हमारा अविवेक ही है ॥ २२ ॥ आपने जगत्के कल्याणके लिये यह सनातन वेदमार्ग प्रकट किया है । जब-जब इसे पातण्ड्य-पथसे चकनेवाले दुष्टों-के द्वारा छति पहुँचती है, तब-तब आप शुद्ध सत्त्वमय शरीर ग्रहण करते हैं ॥ २३ ॥ प्रभो ! वही आप इस समय अपने अंश श्रीवत्सराजकीके साथ पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये यहाँ कुरुदेवकीके घर अवतीर्ण हुए हैं । आप अधुरोंके अंशसे सद्यन्त नाममात्रके शासकोंकी सी-सी अधीक्षिणी सेनाका संहार करेंगे और पदुर्बलके पशुका विस्तार करेंगे ॥ २४ ॥ इन्द्रियातीत परमात्मन् । सारे देवता, विन्त, भूतगण और रामा आपकी मूर्ति हैं । आपका चरणोंकी धोवन गङ्गाकी तीनों व्यक्तियोंसे पवित्र करी है । आप सार जगत्के एकमात्र पिता और शिक्षक हैं । वही आज आप हमारे घर पधारे । इसमें संदेह नहीं कि आज हमारे घर सम्पन्न हो गये । उनके मीमांसकी सीमा न रही ॥ २५ ॥ प्रभो ! आज मेरी मर्लोक परम दिव्य, सम्पन्न, अमर, अमर, अमर और अमर हैं—जगत्की सेनाके भी मर्लोक हैं । मर्लोक, ऐसा वही बुद्धिमन् पुत्र है जो आपको ओदक विन्ती हमारे ही मर्लोक में आपका मर्लोक अमर

तेज ओजो बलं धीर्यं प्रभयपदींश्च सद्गुणान् ।

प्रज्ञानुरागं पार्थेय न सहस्रिषिकीर्षितम् ॥ ५ ॥

कृतं च धार्तराष्ट्रैर्वृ गददानापपेशलम् ।

आचम्भौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥ ६ ॥

पृथा तु आतरं प्रसप्तकूरुपसृत्य तम् ।

उवाच ब्रन्मनिलयं सरन्त्यधुकलेक्षणा ॥ ७ ॥

अपि सरन्ति नः सौम्य पितरौ आतरश्च म ।

भगिन्यो आतुपुत्राश्च जामयः सस्य एव च ॥ ८ ॥

आत्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्या भक्तवत्सल ।

पैतृष्यसेयान् सरति रामबाम्बुलहेक्षणाः ॥ ९ ॥

सापसमध्वे शाचन्ती वृक्षणा हरिणीमिव ।

सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥ १० ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विद्यात्मन् विद्यमत्वन ।

प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिर्बावसीदसीम् ॥ ११ ॥

नान्यत्तव पदाम्भोजात् पद्मामि क्षरण नृणाम् ।

विम्यतां मृत्युसंसारादींश्चरसापवर्गिणाम् ॥ १२ ॥

नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।

अकूरबीको कुन्ती और विदुरने यह बातय्या कि पृतराष्ट्रके लक्षके दुर्योधन आदि पाण्डवोंके प्रभाव, शस्त्रकौशल, बल, बीरता तथा विनय आदि सद्गुण देख-देखकर उनसे बड़ते रहते हैं। जब वे यह देखते हैं कि प्रजा पाण्डवोंसे ही विशेष प्रेम रखती है, तब तो वे और भी चिढ़ बसे हैं और पाण्डवोंका अनिय कर्त्तनेपर उताव्र हो बसे हैं। अबतक दुर्योधन आदि पृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंपर कई बार सिंघदान आदि बहुत-से आघात किए हैं और आगे भी बहुत कुछ करना चाहते हैं ॥ ५, ६ ॥

जब अकूरबी कुन्तीके घर आये, तब वह अपने माँके पास जा बैठी। अकूरबीको देखकर कुन्तीके मनमें अपने मायकेकी स्मृति जग गयी और नेत्रोंने बाँसू भर आये। उन्होंने कहा—॥ ७ ॥ भ्यारे माँ! क्या कभी मेरे माँ-बाप, माई बहिन, भतीजे, कुलवती स्त्रियों और सखी-सहेलियों मेरी याद करती हैं? ॥ ८ ॥ मैंने सुना है कि हमारे भतीजे महाबान् श्रीकृष्ण और कृष्णनयन बलराम बड़े हैं। भक्तवत्सल और शरणागत-रक्षक हैं। क्या वे कभी अपने इस फुफरे भार्योंको भी याद करते हैं? ॥ ९ ॥ मैं शत्रुओंके बीच विरकर श्रेष्ठकुल हो रही हूँ। मेरी बड़ी दशा है, जैसे कोई हरिनी मेवियोंके बीचमें पड़ गयी हो। मेरे बच्चे बिना बापके हो गये हैं। क्या हमारे श्रीकृष्ण कभी यहाँ आकर मुझको और इन कनाब बाण्डवोंको सान्त्वना देंगे? ॥ १० ॥ (श्रीकृष्णको अपने सामने समझकर कुन्ती कहने लगी—) ‘सन्निदानन्दसकृप श्रीकृष्ण! तुम महायोगी हो, विद्यात्म्य हो और तुम सारे विश्वके जीवनदाता हो। गोविन्द! अपने बच्चोंके साथ दुःख-पर-दुःख भोग रही हूँ। तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। मेरी रक्षा करो। मेरे बच्चोंको बचाओ ॥ ११ ॥ मेरे श्रीकृष्ण! यह संसार मृत्युमय है और तुम्हारे चरण मोक्ष देनेवाले हैं। मैं देखती हूँ कि जो लोग इस संसार से बरे हुए हैं, उनके लिये तुम्हारे चरणकर्मजोंके अतिरिक्त और कोई शरण और कोई सहाय नहीं है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण! तुम मयाके लेशसे रहित परम शुद्ध हो। तुम सत्य परब्रह्म परमात्मा हो। समस्त साधनों,

योगेश्वराय योगाय त्वामहं क्षरणं गता ॥१३॥

श्रीकृष्ण उवाच

इत्यनुस्मृत्य स्वर्कं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।

प्राकट्य दुःस्तिता राजन् भवतां प्रपितामही ॥१४॥

समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महापथाः ।

सन्त्ययामासतुः कूर्त्वा तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः ॥१५॥

वाक्स्व रावानमम्येत्य विपमं पुत्रलालसम् ।

अवदत् सुहृदां मन्ये कन्धुभिः सौहृदोद्विगम् ॥१६॥

अक्रूर उवाच

भो भो वैवित्रवीर्यं त्वं कुरुणां कीर्तिवर्धन ।

प्रातर्पुपरते पाण्डवाधुनाऽऽसनमासितः ॥१७॥

धर्मेण पालयन्तुर्वी प्रजा क्षीलेन रक्षयन् ।

वर्तमानं समं स्वेषु भयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥१८॥

अन्यथा त्वां परलोके गार्हितो यास्यसे तमः ।

तस्मात् ममत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥

नेह चास्पन्तमवासः कर्हिचित् केनचित् सह ।

योगेश्वर उपायोके क्षामी हो तथा स्वयं योग भी हो ।
श्रीकृष्ण । मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ । तुम मेरी रक्षा
करो ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णकेवली कहते हैं—परीक्षित ! तुम्हारी पर-
दादी कुन्ती इस प्रकार अपने सगे-सम्बन्धियों और बन्तमें
जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको स्मरण करके अत्यन्त
दुःखित हो गयी और फफक-फफककर रोने लगी ॥ १४ ॥
अक्रूजी और विदुरजी दोनों ही सुख और दुःखको
समान दृष्टिसे देखते थे । दोनों यद्यपि महात्माओंने
कुन्तीको उसके पुत्रोंके सम्पदाता धर्म, बापु आदि
देवताओंकी याद दिखायी और यह कहकर कि, तुम्हारे
पुत्र अवर्मका नाश करनेके लिये ही पैदा हुए हैं, बहुत
कुछ समझाना-सुझाना और सात्वना दी ॥ १५ ॥ अक्रूजी
जब मयुर जाने लगे, तब राजा घृताशूके पास आये ।
अकृतक यह स्पष्ट हो गया था कि राजा अपने पुत्रोंका
पक्षपात करते हैं और मतीजोंके साथ अपन पुत्रोंका-सा
वर्ताव नहीं करते । अब अक्रूजीने कौरवोंकी भी समान
श्रीकृष्ण और कृष्णरामजी आदिको द्वाितैयितासे मरा संदेश
कह सुनाया ॥ १६ ॥

अक्रूजीने कहकर—महादेव घृताशूकी । आप
कुद्वारियोंकी उम्मीद कीर्तिके और भी बढ़ाईये ।
आपको यह क्रम विशेषरूपसे इसलिये भी करना चाहिये
कि अपने भाई पाण्डुके परलोक सिवार जानेपर जब
आप धर्मसिंहासनक अधिकारी हुए हैं ॥ १७ ॥ आप
धर्मसे पूष्टीका पालन कीजिये । अपने सहचरवृद्धसे
प्रजाको प्रसन्न रखिये और अपने स्वजनको साथ समान
वर्ताव कीजिये । ऐसा करनेसे ही आपको लोकमें यश
और परलोकमें सद्गति प्राप्त होगी ॥ १८ ॥ यदि आप
इसके विपरीत आचरण करेंगे तो इस लोकमें आपकी
निन्दा होगी और मरणक बाद आपको नरकमें जाना
पड़ेगा । इसलिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंके साथ
समानताका वर्ताव कीजिये ॥ १९ ॥ आप जानते ही
हैं कि इस संसारमें कभी कहीं कोई किसीके साथ सगा
नहीं रह सकता । जिससे जुड़े हुए हैं, उनसे एक दिन

सर्वान् ददाति सुहृदो भवतोऽभिक्रमा-

नात्मानमप्युपचयापययौ न यस्य ॥२६॥

द्विष्टया जनार्दन भवानिह न प्रतीतो

योगेश्वरैरपि दुराधगतिः सुरेशैः ।

क्षिप्त्वाशु नः सुतकलत्रधनासंगेह

देहादिमोहरणानां भवदीपमायाम् ॥२७॥

श्रीकृष्ण उवाच

इत्यर्चितं संस्तुतव भक्तेन भगवान् हरिः ।

अहूरं सस्मृतं ग्राह गीर्भिः सम्मोहयन्निव ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं नो गुरु पितृव्यम् स्नात्वा बन्धुबन्धित्वदा ।

वयस्तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥२९॥

भवद्विद्या महाभगा निषेध्या जर्हसंभवाः ।

भेषस्कामैर्नृभिर्निर्त्य देवा स्वार्थान साधवः ॥३०॥

नक्षत्रमयानि क्षीर्धानि न देवा मुच्छिष्टामया ।

ते पुनन्तपुरुषलेन दशनादेव साधवः ॥३१॥

स भवान् सुहृदां व नः भेषाभ्युपयिकीर्यया ।

शिश्रासाश्चैषाण्डवानां गण्डस्तु त्वं गञ्जाङ्गयम् ॥३२॥

पितृपुं परस वाता सह यात्रा मुदु रिताः ।

मजन करनेवाले प्रेमी भक्तकी सम्पदा अधिष्ठाता हैं
कर देते हैं । क्योंकि किं जिसकी कभी क्षति हो
वृद्धि नहीं होती—नो एकरस है, अपने उस बाणका
मी आप दान कर देते हैं ॥ २६ ॥ मछलीके छत्र
मिश्रणवाले और जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्तनेके
प्रयोग ! बड़े-बड़े योगिराज और दमस्त मी अपने
स्वरूपको नहीं जान सकते । परन्तु हमें आपका सख्य
दर्शन हो गया, यह विजने सीमामयी बात है । प्रभो !
हम भी, पुत्र, धन, स्वजन, गेह और देह आदिके
मोहकी रस्तीसे बंधे हुए हैं । अबक्य ही यह आपकी
मायाका खेळ है । आप हम्रा करके इस गढ़े बन्धनसे
शीघ्र काट दीजिये ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परिशिष्ट । इस प्रकार
मत्त वाक्प्रीतिने भगवान् श्रीकृष्णजी पूजा और स्तुति
की । इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने सुतकराकर अपने
मुखर वाणीसे उन्हें मानो मोहित करते हुए कहा ॥२८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—‘ततः । आप हमें
गुरु—श्रितोपदेशक और चाचा हैं । हमारे बंधनमें आपका
प्रार्थनानेव तथा हमारे सदाके हितैषी हैं । हम तो अपने
बाणका हैं और सदा ही आपकी रक्षा, पावन और हमारे
पात्र हैं ॥ २९ ॥ अपना परम कल्याण चाहनेवाले मनुष्य
को आप-वैसे परम पूजनीय और महामहाम्यवान् सर्वोत्तम
सर्वदा सेवा करनी चाहिये । आप-वैसे सन देवताओं
मी अधिकार हैं, क्योंकि देवताओंमें तो सार्वं रहता है
परन्तु सर्वोत्तम नहीं ॥ ३० ॥ केवल जड़के तीव्र (नदी
सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं, केवल मृत्तिका ही
शिल्प आदि बनी हुई मूर्तियों ही देवता नहीं हैं
बाबाजी ! उनको तो बहुत दिनोंतक मन्त्रासे सेवा व
आप, तब ने पवित्र करते हैं । परन्तु संग्रहण व
अनेक दशनमात्रसे पवित्र कर देते हैं ॥ ३१ ॥ बाबाजी
आप हमारे हितैषी सुहृदोंमें सर्वोत्तम हैं । इसलिये आप
पाण्डवोंका हित करके छिये तथा उनका दुःख-मय
जाननेके लिये इक्ष्वाकुपुर जाइये ॥ ३२ ॥ हमने ऐसा
सुना है कि राजा पाण्डुके मर जानेपर अपनी मृत
कन्यीक माय यज्ञिष्ठिर आदि पाण्डव बड़े दुःखमें प

अलीताः स्वपुरं रात्रा वसन्त इति शुभम् ॥३३॥

तेषु राज्ञाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः ।

समो न वर्तते नून दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥३४॥

गच्छ ज्ञानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वमाधु वा ।

विज्ञाप तद्विधास्यामो यथा ह्यं सुदृढां भवेत् ॥३५॥

इत्थक् समदिश्य भगवान् हरिरीश्वरः ।

सह्यर्षोद्वाम्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥३६॥

गये थे ! जब रात्रा घुतराष्ट्र उन्हें अपनी राजधानी
हस्तिनापुरमें ले आये हैं और वे वहाँ रहते हैं ॥३३॥

आप जानते ही हैं कि रात्रा घुतराष्ट्र एक तो अंधे हैं
और दूसरे उनमें मनोबलकी भी कमी है । उमकत्र पुत्र

दुर्योधन बहुत दुष्ट है और उसके अधीन होनेके कारण

वे पाण्डवोंके साथ अपने पुत्रों—जैसा—समान व्यवहार

नहीं कर पाते ॥ ३४ ॥ इसलिये आप वहाँ जाइये और

माझ्य कीजिये कि उमकी स्थिति अच्छी है या बुरी ।

आपके द्वारा उनका समाचार जानकर मैं ऐसा उपाय करूँगा,
जिससे उन दुष्टोंको सुख मिले ॥ ३५ ॥ सत्रशक्तिमान्

भगवान् श्रीकृष्ण अमरजीको इस प्रकार आदेश देकर
बलधामजी और उदधधकीके साथ वहाँसे अपने घर

लौट आये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारम्पस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे

अष्टमोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अमरजीका हस्तिनापुर आना

श्रीकृष्ण उवाच

स गत्वा हस्तिनापुरं पौरवेन्द्रयज्ञोऽङ्कितम् ।

ददर्श तत्राम्बिकेयं समीपं विदुरं प्रथाम् ॥ १ ॥

सहपुत्रं च बाह्लीकं भरद्वाजं सगौतमम् ।

कस्य सुपाधनं द्रौणि पाण्डवान् सुहृदोऽपरान् ॥ २ ॥

यथावदुपसंगम्य धृष्टदिग्गन्धिनीसुत ।

सम्पृष्ट्वा सुहृदस्तां स्वयं चापृच्छद्रव्ययम् ॥ ३ ॥

उवाच कविर्ब्रह्मामान् राज्ञो वृत्तिवित्तमया ।

दुष्प्रवृत्त्यात्मनोऽस्मै सत्पृच्छन्दाजुवर्तिन ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णलेखजी कहते हैं—परीक्षित ! भगवान्के
आज्ञानुसार अमरजी हस्तिनापुर गये । वहाँकी एक-एक

वस्तुपर प्रसूचशी नरपत्नियोंकी अमरकीर्तिकी छाप छा
रही है । वे वहाँ पहले धृतराष्ट्र, भीष्म, बिदुर, कुन्ती,

बाह्लीक और उनके पुत्र सोमन्त, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य,
कस्य, दुर्योधन, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सुत्रिष्ठिर आदि पौत्रों

पाण्डव तथा अन्यत्र इष्ट मित्रोंसे मिले ॥ १ ॥ जब
गान्दिनीनन्दन अमरजी सब इष्ट-मित्रों और सम्पत्तिधियोंसे

मिलीगोति मिल चुके, तब उनसे उन लोगोंने अपने
मयुरावासी स्वजन-सम्पत्तिधियोंकी पुस्तक-पत्र पढ़ी । उनका

उत्तर देकर अमरजीने भी हस्तिनापुरवासियोंक कुशल-
मङ्गलके सम्बन्धमें पूछताछ की ॥३॥ परीक्षित ! अमरजी

यह जाननेके लिये कि, घुतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ क्या
व्यवहार करते हैं, कुछ महीनोंतक वहाँ रह । सब पूछो

तो घुतराष्ट्रमें अपने कुछ पुत्रोंकी इष्टके निरीत कुछ
भी करनेका साहस न था ' वे 'गान्धिनि आदि दुष्टोंकी

सहायके अनुसार ही काम करते थे ॥ ४ ॥

तेज ओजो फलं वीर्यं प्रथयादींश्च सदगुणान् ।

प्रमानुरातां पार्श्वेषु न सहस्रिभिकीर्यितम् ॥ ५ ॥

कृतं च धर्तराष्ट्रैर्यद् गरदानाद्यपेक्षलम् ।

आचक्ष्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥ ६ ॥

पृथा तु आतरं प्राप्तमक्षरमुपसृत्य तम् ।

उवाच ब्राम्हणिलवं सरन्त्यधुकलेक्षणा ॥ ७ ॥

अपि सरन्ति न सौम्य पितरौ आतरश्च मे ।

भगिन्यो ब्राह्मणश्च ब्राम्हणः सम्भ एव च ॥ ८ ॥

आत्रेयो भगवान् कृष्णः क्षरण्यो भक्तवत्सलः ।

पैतृष्यसेयान् सरति रामश्चाम्बुरुहक्ष्ण ॥ ९ ॥

सापन्नमध्वे क्षाचन्तीं वृक्षाणां हरिणीमिव ।

सान्त्वयिष्यसि मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥ १० ॥

कृष्ण कृष्ण महाभोर्निन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।

प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिर्भावसीदसीम् ॥ ११ ॥

नान्यत्तव पदाम्भोजात् पश्यामि क्षरण नृणाम् ।

विम्यतां मृत्युसंसारदीप्तरस्यापवर्गिकात् ॥ १२ ॥

नम कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मण परमात्मने ।

अकूरजीको कुन्ती और विदुरने यह बातलाया कि धृतराष्ट्रके लक्षके दुर्योधन आदि पाण्डवोंके प्रभाव, शास्त्रकौशल्य, बल, वीरता तथा विमय आदि सदगुण देख-देखकर उनसे प्रसन्न रहते हैं। जब वे यह देखते हैं कि प्रजा पाण्डवोंसे ही विशेष प्रेम रखती है, तब तो वे और भी चिन्तित होते हैं और पाण्डवोंका अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं। जबतक दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंपर कर्षण कर लिया आदि बहुत-से अयत्न कर किये हैं और आगे भी बहुत कुछ करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

जब अकूरजी कुन्तीके घर आये, तब वह वप माईके पास जा बैठी। अकूरजीको देखकर कुन्तीके मन में अपने मायकेकी स्मृति जग गयी और नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने कहा—॥ ७ ॥ प्यारे माई! क्या कर्म मेरे माँ-बाप, माई-बहिन, भतीजे, कुलकी स्त्रियों और सखी-सहेलियों मेरी यद्द करती हैं ॥ ८ ॥ मैंने सुना कि हमारे भतीजे भगवान् श्रीकृष्ण और कृष्णभक्त बलराम बड़े हैं। मध्वकसल और क्षणपगत-रक्षक हैं। क्या वे कभी अपने इन पुत्रोंके मायोंकी भी यद्द करते हैं ॥ ९ ॥ मैं शत्रुओंके बीच चिरकर शोककुल हूँ रही हूँ। मेरी बहो दया है, जैसे कोई हरिनी भेड़ियोंके बीचमें पक गयी हो। मेरे बच्चे बिना बापके हो गये हैं। क्या हमारे श्रीकृष्ण कभी यहाँ आकर मुझको और इन बन्नाप बालकोंके सान्त्वना देंगे ॥ १० ॥ (श्रीकृष्णको अपने सामने समझकर कुन्ती कहन लगी—) 'सन्निगन्तव्यरूप श्रीकृष्ण ! तुम महायोगी हो, विद्यावान् हो और तुम सारे विश्वके जीवनदाता हो। गोविन्द ! अपने बच्चोंके साथ दू खम्बर-तुल्य भोग रही हूँ। मुम्हारी दशगर्भे आयी हूँ। मेरी रक्षा करो। मेरे बच्चोंको बचाओ ॥ ११ ॥ मेरे श्रीकृष्ण ! यह संसार मृत्युमय है और तुम्हारे चरण मोक्ष देनेवाले हैं। मैं देखती हूँ कि जो लोग इस संसार से बड़े हुए हैं, उनके लिये तुम्हारे चरणकमलोंके अतिरिक्त और कोई शरण और कोई सहाय नहीं है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण ! तुम मायाके छ्पासे रहित परम शुद्ध हैं। तुम सत्य परब्रह्म परमात्मा हो। समस्त साधनों,

योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥१३॥

श्रीकृष्ण उवाच

इत्यनुस्मृत्य स्वप्नं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।

प्राप्स्यद् दुःखिता राजन् भवतां प्रपितामही ॥१४॥

समदुःखसुखोऽहो विदुरश्च महायज्ञाः ।

सन्त्वधामसतुः कुन्ती तत्पुत्रोत्पदिहेतुभिः ॥१५॥

यासन् राजानमन्येत्य विपमं पुत्रलालसम् ।

अवदत् सुहृदां मये कन्तुभिः सौहृदोदितम् ॥१६॥

अहो उवाच

भो भो वैचित्रवीर्यं त्वं कुरुणां कीर्तिवर्धन ।

प्रातर्धुपरते पाण्डवाधुनाऽऽमनमाम्बितः ॥१७॥

वर्मेषु पलपन्तुर्षी प्रजा धीलेन रक्षयन् ।

वर्तमानः समं स्वेषु भयः कीर्तिप्रवाप्समि ॥१८॥

अन्यथा त्वापरैर्लोकैर्गर्हिता याससे समः ।

तस्मात् समत्वे वर्तय पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥

नेह पात्यन्तमपास कर्हिषित् केनचित् महः ।

योगेश्वर सपायोंके खापी हो तथा स्वयं योग भी हो ।
श्रीकृष्ण । मैं तुम्हारी शरणमें आपी हूँ । तुम मेरी रक्षा
करो ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! तुम्हारी पर-
दायी कुन्ती इस प्रकार अपने सगे-सम्बन्धियों और जन्तमें
जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको स्मरण करके अत्यन्त
हुं स्मित हो गयी और परलोक-फलसकल रोने लगी ॥ १४ ॥
अहोरात्री और विदुरजी दोनों ही सुख और दुःखको
समान दृष्टिसे देखते थे । दोनों यशस्वी महात्माओंने
कुन्तीको उसके पुत्रोंके जन्मदाता भग, वायु आदि
देवताओंकी याद दिलायी और यह कहकर कि, तुम्हारे
पुत्र अवर्मका नाश करनेके लिये ही पैदा हुए हैं, बहुत
सुख सम्प्राप्य-मुखाया और साम्बना दी ॥ १५ ॥ अहोरात्री
जब मथुरा जाने लगे, तब राजा वृत्तराष्ट्रके पास आये ।
अन्ततः यह स्पष्ट हो गया था कि राजा अपने पुत्रोंका
पक्षपात करते हैं और मतीनोंके साथ अपन पुत्रोंका-सा
वर्तान नहीं करते । अब अहोरात्रीने कौरवोंकी भी समाने
श्रीकृष्ण और बलरामजी आदिका हितैरित्यसे भरा सन्देश
कहा सुनाया ॥ १६ ॥

अहोरात्रीने कहा—महाराज वृत्तराष्ट्रजी ! आप
कुरुक्षेत्रोंकी सम्पन्न कीर्तिके और भी बढ़ाइये ।
आपको यह काम विशेषरूपसे हमलिये ही करना चाहिये
कि अपने माई पाण्डुक परलोक सिंहास जानेपर अब
आप राज्यसिंहासनके अधिकारी हुए हैं ॥ १७ ॥ आप
धर्मसे पृथ्वीका पालन करिये । अपने सङ्ग्रहकारसे
प्रजाको प्रसन्न रखिये और अपने स्वजनोंके साथ समान
वर्तान करिये । ऐसा करनेसे ही आपका लोकमें यश
और परलोकमें सद्गति प्राप्त होगी ॥ १८ ॥ यदि आप
इसके विपरीत आचरण करेंगे तो इस लोकमें आपकी
मिन्दा होगी और मरनेके बाद आपको मरकमें जाना
पड़गा । इसलिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंका साथ
समानताका वर्तान करिये ॥ १९ ॥ आप जानते ही
हैं कि इस संसारमें कभी कहीं कोई किसीका साथ सगा
नहीं रह सकता । जिसमें कुछ हुए हैं, उनसे एक निम

राजन् स्वेनापि देहेन किञ्च जायतमजादिभिः॥२०॥

एकः प्रसूयते अन्तुरेक एव प्रसीयते ।

एकोऽनुसृष्टे सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२१॥

जधर्मोपचितं विचं हरत्स्यन्त्येऽप्यपेभसः ।

सम्भोजनीयापदेष्टैर्बलानीव जलौकसः॥२२॥

पुण्याति यानभर्मेण स्वपुण्या तमपण्डितम् ।

तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राजा रायः सुतादयः ॥२३॥

स्वयं किञ्चिपमादाय वैस्त्वको नार्थकोविदः ।

अग्निद्वार्यो विशत्यन्वं स्वधर्मविद्युत्स्वतमः ॥२४॥

तस्माच्छोक्तमिमं राजन् स्वममायामनारथम् ।

वीक्ष्यत्यस्यात्मनाऽऽस्मान् समः क्षान्ती भय प्रभा ॥२५॥

पुनराह उवाच

यथा वदति कल्याणीं वार्षं दानपते भवान् ।

तथानयानवृष्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥२६॥

तथापि घृता मौम्यं हृदि न स्वीयतं चले ।

पुत्रानुरागविषमं विपुन् सौदामनी यथा ॥२७॥

बिछुड़ना पड़ेगा ही । राजन् ! यह बात अपने स्त्रीसे
छिये भी सोझों जाने सत्य है । फिर भी, पुत्र, पुत्र
आदि छोड़कर जाना पड़ेगा, इसके विषयमें तो कहना
ही क्या है ॥ २० ॥ जीव अकेला ही पैदा होता है
और अकेला ही मरकर जाता है । अपनी करमी-भरमी-
का, पाप-मुण्यका फल भी अकेला ही मुग़लता है ॥२१॥
जिन जी-पुत्रोंको हम अपना समझते हैं, वे तो हम
तुम्हारे अपने हैं, हमारा भरण-पोषण करना तुम्हारा धर्म
है—इस प्रकारकी बातें बनाकर मूर्ख प्राणीके अन्तरमें
इच्छे किये हुए धमको छुट छेते हैं, जैसे जलमें खने-
वाले अन्तुओंके सबस बछ्को उनकी सम्झनी गल
जाते हैं ॥२२॥ यह मूर्ख जीव जिन्हें अपना समझकर
अधर्म करके भी पाकता-पोसता है, वे ही प्रण, पुत्र
और पुत्र आदि इस जीवको असन्तुष्ट छोड़कर ही चले
जाते हैं ॥ २३ ॥ जो अपने धर्मसे विमुख है—सब
छुडिये, तो वह अपना औक्तिक स्वार्थ भी नहीं जानता ।
जिनके छिये वह अधर्म करता है, वे तो उसे छोड़ ही
देगे, उसे कभी सन्तोषका अनुभव न होगा और वह
अपने पापोंकी गठरी सिरपर आदकर स्वयं घोर मरुतमें
जायगा ॥ २४ ॥ इसलिये महाराज ! यह बात समझ
लीजिये कि यह दुनिया चार दिनकी भाँदीनी है, अपने-
का स्मिन्वाह है, जायका तमारा है और है मनोऽप्य-
मात्र । आप अपने प्रयत्नसे, अपनी शक्तिके बिकरने
रोकिये ममताका पक्षपात न कीजिये । आप समर्थ
हैं, समत्वमें स्थित हो जाइये और इस ससारकी ओरसे
उपराग—शान्त हो जाइये ॥ २५ ॥

राजा धृतराष्ट्रने कहा—दानपते अङ्गूरी ! आप
मेरे कल्याणकी मन्त्रकी बात कह रहे हैं । जैसे मन्त्र-
वालेको अमृत मिल जाय तो वह उससे मृत नहीं हो
सकता वैसे ही मैं भी आपकी इन बातोंसे मृत नहीं
हो रहा हूँ ॥ २६ ॥ फिर भी हमारे द्वितीय अङ्गूरी !
मेरे अङ्गूरी बिलमें आपकी यह प्रिय शिक्षा तनिक भी
नहीं ठहर रही है, क्योंकि मेरा हृदय पुत्रोंकी ममताके
कारण अत्यन्त नियम हो गया है । जैसे रणभूमिके
शिरपर एक बार निजकी कौबती है और दूसरे ही
क्षण अन्तर्धान हो जाती है, वही दसा आपके उपदेशों-

इमस्स विधिं को नु विधुनोत्पन्न्यथा पुमान् ।
मूमर्मरिखताराय योऽवतीर्णो यदो कुले ॥२८॥

ओ दुर्निर्मर्षयथा निब्रमाययेदं

सृष्टा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्ट ।

तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र

समाश्चक्रगतये परमेस्वरस्य ॥२९॥

अमृत उवाच

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादव ।

सृष्टिं समनुष्ठातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥

शशस रामकृष्णान्यां धृतराष्ट्रविधेष्टितम् ।

पाण्डवान् प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥३१॥

की है ॥ २७ ॥ अकूरजी ! सुना है कि सर्वशक्तिमान्
मगवान् पृथ्वीका मार उतारनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण
हुए हैं । ऐसा कौन पुरुष है, जो उनके विजयनमें उल्ट
फेर कर सके ! उनकी जैसी इच्छा होगी, वही होगा ॥ २८ ॥
मगवान्की मायाका मार्ग अधिष्ठित है । उसी मायाके
द्वारा इस संसारकी सृष्टि करके वे इसमें प्रवेश करते हैं
और कर्म तथा कर्मफलोंका विभाजन कर देते हैं ! इस
संसार चक्रकी बेरोक-टोक शालमें उनकी अधिष्ठित कील-
शक्तिके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है । मैं उन्हें
परमैश्वर्यशाली प्रभुको नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

श्रीशुक्रदेवजी कहते हैं—इस प्रकार अकूरजी
मगवान् धृतराष्ट्रका अभिप्राय नामकर और कुलकी क्षत्रज-
सम्बन्धियोंसे प्रेमपूर्ण अनुमति लेकर मयुर झूट
जाये ॥ ३० ॥ परीक्षित ! उन्होंने वहाँ मगवान् श्रीकृष्ण
और कृष्णामजीके सामने धृतराष्ट्रका वह साधु व्यक्त
कर्ता, जो वे पाण्डवोंके साथ करते थे, कहा सुनाया ।
क्योंकि उनको हस्तिनापुर में बनेका शास्त्रकर्म उद्देश्य भी
याही था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे' वैयासिक्यामहादेशसाहस्र्यां पारमर्हस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वर्धे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

ममाप्तमिदं दशमस्कन्धस्य पूर्वार्द्धम्

श्रीकृष्णार्पणमस्तु





भीरापाठ्यव्याख्यानम् ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(उत्तरार्द्ध)



रुधानाऽगिनि शार्पिकरा द्रागसनी गत ।

रुतदागाऽप्युता दद्यात् मांषनर्ष्य मनमन्त्रम् ॥

अश्वोहिणीमि सस्पातं भटान्तरयच्छुरैः ।
 मागवस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता वलोद्यमम् ॥ ८ ॥
 एतदर्थोऽन्वतरोऽयं मूभारहरणाय मे ।
 संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥ ९ ॥
 अन्योऽपि धर्मगन्धर्वै देहः संक्षिपते मया ।
 विरामायाम्बधर्मस्य काले प्रभवत् कश्चित् ॥ १० ॥
 एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात् धर्मवर्षसौ ।
 रथायुपस्थितौ सद्यः सद्यस्तौ सपरिच्छदौ ॥ ११ ॥
 आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यच्छ्रद्धया ।
 दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कल्पमधमवीत् ॥ १२ ॥
 पश्मार्यं चसन्नं प्राप्तं यद्नां त्वावतां प्रभो ।
 एष ते रथ आयातो दधितान्वायुधानि च ॥ १३ ॥
 मानमास्याय जघतद्व्यमनस्तु म्वान् मयुद्धर ।
 एतदर्थं हि नां जंम माधूनामीदृशं धर्मकृत् ॥ १४ ॥
 प्रपोविश्रुत्पनीकारण्यं भूमेर्भारमपाकुरु ।
 एषे सम्मन्त्रय दाशार्हा दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥ १५ ॥
 निजममृतं म्यायुधान्मौ बलेनात्पीयसाऽऽवृत्तौ ।
 शङ्खं दध्मा विनिर्गन्धं हरिदालुकसतरधि ॥ १६ ॥

पास आ पहुँचा है । मैं इसका माहा करूँगा । मया
 अभी मगधराज बरासन्धको नहीं मारना चाहिये । क्योंकि
 यह नीति रहगा तो फिरसे जसुरोंकी बहुतसी सेना
 एकट्ठी कर आयेगा ॥ ७-८ ॥ मेरे कष्टकर को
 प्रयोजन है कि मैं पृथ्वीका मोक्ष इस्का कर दूँ, इस
 मन्त्रोंकी रक्षा करूँ और बुद्ध-दुर्बलोंका संहार ॥ ९ ॥
 समय-समयपर धर्म-रक्षाके लिये और बड़ते हुए धर्मके
 रोकनेके लिये मैं और भी अनेकों शरीर ग्रहण कर
 दूँ ॥ १० ॥

परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार विचार क
 ही रह थे कि आकाशसे सूर्यके समान चमकते हुए र
 थ आ पहुँचे । उनमें युद्धकी सारी सामग्रियाँ दृष्टि
 में थी और दो सारथी उन्हें हाँक रहे थे ॥ ११ ॥ त
 समय भगवान् के दिव्य और सनातन आयुध भी अपने
 आप वहाँ आकर उपस्थित हो गये । उन्हें देखकर मगध
 श्रीकृष्णने अपने बड़े मर्द कल्युगजीसे कहा— ॥ १२ ॥
 'मार्हती ! आप बड़े शक्तिशाली हैं !' इस समय जे
 युद्धकी आपकी ॥ अपना स्वामी और रक्षक बनते
 हैं, जो आपसे ही सनात हैं, उनपर बहुत बड़ी किति
 आ पड़ी है । देखिये, यह आपका रथ है और आपके
 प्यारे आयुध इन्ध-पुस्तक भी आ पहुँचे हैं ॥ १३ ॥
 जब आप इस रथपर सवार होकर शत्रु-सेनाका संहार
 करिणिय और अपने स्वर्गनोंके इस विपत्तिसे बचाव दें ।
 मगध ! साधुओंका कल्याण करनेके लिये ही हम
 दोनोंने कल्युग जन्म लिया है ॥ १४ ॥ जब जब
 आप यह तेरह अश्वोहिणी सेना, पृथ्वीका यह त्रिपु
 मार नष्ट करिणिये ।' भगवान् श्रीकृष्ण और कल्युगजी
 यह सभाह करके कलच घाटन किये और रथपर सवार
 होकर वे मयुघसे निकले । उस समय दोनों मर्द अपने-
 अपने आयुध लिये हुए थे और छोटी-सी सेना उनके
 साथ-साथ चले रही थी । श्रीकृष्णका रथ हाँक खा
 या दारुण । पुरीसे बाहर निकलकर उन्होंने बन्य
 पाण्डवोंका शङ्ख बजाया ॥ १५, १६ ॥ उनके शङ्खकी
 मयुद्धर ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षकी सेनाका भीरोका ह
 एक मारे धरा उठा । उन्हें देखकर मगधराज कलसन्ध

[illegible]



शूरशिरोमणि भीरुपुत्र

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(उत्तरार्धः)

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अरासन्धसे युद्ध और द्वारकापुरीका निमाण

भीष्मक उवाच

अस्ति प्राप्तिश्च फलस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।
 मृते भर्तुरि दुःस्वार्ते ईयतु स पितुर्गृहान् ॥ १ ॥
 पित्रे मगधराजाय वरार्नधाय दुःखिते ।
 वेदपात्रकृतु सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥
 स तदमियमाकर्ण्य शोकामर्षयुक्तो नृप ।
 अयादवीं महीं कतु चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥
 मघौहिणीमिविशत्या तिसृभिश्चापि मयूतः ।
 यदुराजधानीं मयुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम् ॥ ४ ॥
 निरीम्य तद्वल कृष्ण उग्रलमिव मागरम् ।
 मयूरं तन मंरुद्धं मयजनं च भयाकृन्तम् ॥ ५ ॥
 चिन्तयामास भगवान् हरिं कारणमानुष ।
 वरप्रकृष्टानुगुणं स्वारसारप्रयाजनम् ॥ ६ ॥
 हनिष्यामि वन क्षतदुःखि भारं समाहितम् ।
 पागपन ममानीत वरानां मयभूषणम् ॥ ७ ॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—भरतवंशशिरोमणि परीक्षित!
 कंसजी दा रानियों थीं—अस्ति और प्राप्ति । पतिकी मृत्युसे
 उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे अपने पिताजी राजधानीमें
 खली गयी ॥ १ ॥ उन दोनोंका पिता या मगधराज
 अरासन्ध । उससे उन्होंने बड़े दुःखके साथ अपने
 विधवा होनेके कारणोंका वर्णन किया ॥ २ ॥ परीक्षित!
 यह अग्रिय समाचार सुनकर पहले ता अरासन्धका बड़ा
 शोक हुआ, परन्तु पीछे वह क्रोधसे निडरिगा उठ्य ।
 उसने यह निश्चय करके कि, मैं पृथ्वीपर एक भी यदु
 वशी नहीं रहन दूँगा, युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की ॥ ३ ॥
 और तैरिम अघौहिणी सेनाक साथ यदुवंशियोंकी राज-
 धानी मयुराको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

मगरान् धीरुज्ज्वल दम्बा—अरासन्धकी सेना क्या
 है, उसका हुआ समुद्र है । उन्होंने या भी क्या हि
 उसने चारों ओरसे हमारी राजधानी घेर ली है और
 हमारे मयजन तथा पुरवासी भयभान हो रहे हैं ॥ ५ ॥
 भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वीराज और उत्तारनर त्रिपदी मनुष्य
 का-सा वर पारण किये हुए हैं । अब उन्होंने बिचार
 किया कि मरे अरासन्धका क्या प्रयाजन है और इस
 मनप इस मयजन का मुझ क्या करता करिग ॥ ६ ॥
 उन्होंने धाया यह बड़ा अल्प हुआ कि मगर
 अरमभजन जान अरिम्य मरिदिने की दम्बा, पुरमगर,
 रही और हदिने मयूर का अघौहिणी सेना इकट्ठी
 कर ली है । यह सब मैं पृथ्वीराज और ही उत्तर मरे

अधौहिणीभिः सख्यातं भटाम्बरयकुञ्जरैः ।
 मागमस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता वलोधमम् ॥ ८ ॥
 एतदर्थोऽथतप्तोऽयं भूभारहरणाय मे ।
 संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥ ९ ॥
 अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संश्रियते मया ।
 विरमायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः कवित् ॥ १० ॥
 एवं व्यावसि गोविन्द आकाशात् सूर्यवर्षसौ ।
 रथावपस्वितौ सद्यः सद्यो सपरिच्छदौ ॥ ११ ॥
 आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि सहस्रशः ।
 दद्यात्तानि हृषीकेशः सङ्कल्पमयाप्रवीत् ॥ १२ ॥
 पश्मार्यं ध्वंसनं प्राप्तं यद्वनो रथावतां प्रभो ।
 एष ते रथ आयता दमितान्वायुधानि च ॥ १३ ॥
 यानमास्थाय जघत्तु ध्वंसनात् खान् सद्युद्धर ।
 एतदर्थं हि नो ब्रह्म साधूनामीश धर्मकृत् ॥ १४ ॥
 त्रयोविंशत्स्वनीकास्त्रं भूमेर्भारमपाकृत ।
 एषं सम्मन्त्र्य दाशार्हं दक्षितौ रयिनौ पुरात् ॥ १५ ॥
 निरुपगतः स्वायुधाढ्यौ वलेनान्वीर्यसाऽऽवृत्तौ ।
 सङ्घं दध्मो विनिर्गत्य हरिद्वारकुन्तारभिः ॥ १६ ॥
 ततोऽमृत परसैन्यानां हृदि विश्रासधेयधुः ।

पास या पहुँचा है । मैं इसका नष्टा करूँगा । एत-
 नाभी मागवाम्बरसम्पत्को नहीं मारना चाहिये । क्योंकि
 यह भीत्रित रहेगा तो फिरसे अमृतोंकी बहुत-सी खेज
 झड़ती कर लियेगा ॥ ७-८ ॥ मेरे अन्तारकाश की
 प्रयोजन है कि मैं पृथ्वीका मोस इसका कर दूँ, सङ्-
 सज्जनोंकी रक्षा करूँ और दुष्ट-दुर्जनको संहार ॥ ९ ॥
 समय-समयपर धर्म-रक्षाके लिये और बबले हुए धर्मको
 रोकनेके लिये मैं और भी अनेकों हतियार भण्डन करा-
 दूँ ॥ १० ॥

परीक्षित । मगधान् श्रीकृष्ण इस प्रकार विचार कर
 ही रहे थे कि आकाशासे सूर्यके समान चमकते हुए दो
 रथ आ पहुँचे । उनमें युद्धकी सारी सामग्रियाँ सुसज्जित
 थी और दो सारथी उन्हें हाँक रहे थे ॥ ११ ॥ इसी
 समय भगवान्‌के दिव्य और सनत्तन अयुध भी अपने-
 आप वहाँ आकर उपस्थित हो गये । उन्हें देखकर मगधान्
 श्रीकृष्णने अपने बड़े माई बल्हाममीसे कहा— ॥ १२ ॥
 'माईनी ! आप बड़े शक्तिशाली हैं । इस समय जो
 युद्धकी आपकी ही अपना सामी और रक्षक मनते
 हैं, जो आपसे ही समाप्त हैं, उनपर बहुत बड़ी विपत्ति
 आ पड़ी है । देखिये, यह आपका रथ है और आपके
 प्यारे अयुध हस्त-मुक्त भी आ पहुँचे हैं ॥ १३ ॥
 अब आप इस रथपर सवार होकर शत्रु-सेनाका संहार
 करनिये और अपने ध्वननोंका इस विपत्तिसे बचाइये ।
 मगधन् । साधुओंका कल्याण करनेके लिये ही हम
 दोनोंने अन्तार भण्डन किया है ॥ १४ ॥ कन कन
 आप यह तेईस अधौहिणी सेना, पृथ्वीका यह विपुल
 भार नष्ट करनिये ।' मगधन् श्रीकृष्ण और बल्हाममीने
 यह सभाह करके कथंच धरतल किये और रथपर सवार
 होकर वे मधुरासे निकले । उस समय दोनों माई अपने-
 अपने आयुध लिये हुए थे और छोटी-सी सेना उनके
 साथ-साथ चल रही थी । श्रीकृष्णका रथ हाँक रहा
 था दारुक । पुरीसे बाहर निकलकर उन्होंने अपना
 पाण्डव्य रथ बजाया ॥ १५, १६ ॥ उनके शत्रुकी
 मगधर पथि धुनकर शत्रुपक्षकी सेनाके भीरोंका डरप-
 डरके मारे पर्यं उठा । उन्हें देखकर मगधराज अठसन्ध

गताह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥१७॥

न त्वया पादुमिच्छामि घालेर्नफन लज्जया ।

गुप्तमहि त्वया मत् न योस्तस्ये वाहि व पुहन् ॥१८॥

तव राम यन्नि भद्रा युध्यन्व धैर्यमुदह ।

हिन्यावा मच्छर्नश्छिन्नं दहं स्वर्पाहि मां बहि ॥१९॥

श्रीभगवानुवाच

न व त्वा विकथन्ते दर्शयन्त्येव पौरव्यम् ।

न शूरीमो वचो राजन्नातुरस्य सुसूर्यतः ॥२०॥

श्रीगुरु उवाच

वरासुतन्तावभिसृत्स्य माधवौ

महाबलीघन क्षीयमाऽऽवृणोन् ।

मयैन्ययानध्वजराजिमातपी

सुवानलौ बाधुरिवाभ्ररेणुभिः ॥२१॥

सुपगतम्लघ्नविहिता रथा-

यन्त्रयन्त्यो हरिराममाश्रय ।

गिर्य भुगद्वाक्कद्रम्यागुर्

ममाभिता मंमुमुहृ गुणोदिता ॥२२॥

इति परानीकरवायुवां मुह

गिर्नीमुभान्पुनरावर्षागितम् ।

मयैन्यमानाक्षय गुगमुगचिन्

प्यभृत्रपण्डाहारागनामम् ॥२३॥

१ ५१-१ ।

५ ५ २ ५१-

ने कहा—पुरुषाधम कृष्ण ! तू तो अभी निगा बग
है । अकेले तारे साथ लड़नेमें मुझे लज लग रही है ।

इतने दिनोंतक तू म जाने कहाँ-कहाँ छिपा बिगता था ।
और मन्द ! तू तो अपने मामाका हत्यारा है । इसलिये
मैं तेरे साथ नहीं लड़ सकता । जा, मेरे सामनेसे भाग
जा ॥ १७-१८ ॥ अन्त्याम ! यदि तेरे चित्तमें यह
शक्यता है कि युद्धमें मर्नेका स्वर्ग मित्रता द तो तू
आ, हिम्मत बौरकर मुझसे लड़ । मेरे कानोंमें छिन-भिन्न
हुए शरीरको यहाँ धीरे-धीरे स्वर्गमें जा अथवा यदि
तुझमें शक्ति है तो मुझ ही मार डाल ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णन कहा—मगराज ! जा शूरी
होते हैं, वे मुझारी तरह डीम नहीं होंयते व ता अपना
बल-वीर्य ही निखगत हैं । देख, अब मुझारी मृत्यु
मुझारे मित्र नाश गयी है । तुम वेम ही अक्बर पर
रहे हो, जैसे मनेक मयय शेर मन्त्रिगतक गयी पर ।
अब तू, मैं मुझारी बानर प्यान नहीं ॥ २० ॥

श्रीगुरुवक्त्रा कथन्तं—परीक्षित ! जमे वयु
वाल्मीके मूरत आर घूर्मि अगस्त नर ल्पनी है,
नित्य यान्त्रिक व नकते नदी, उनका प्रसंग कि
कथा ही है; वेमे हा माधराज जगन्मने भाग्यन
श्रीकृष्ण आर वज्रमके मानन आकर अर्जुन बहन बनी
वयवन् आर अयय मेनाक हाग उठे वगै आगमे
धर शिष्ट—यौनर वि उनरी मेना ग्य स्वरा गागै
और मुरगियेरा श्रीमन् श्रीबं हा गय ॥ २१ ॥ नगुगुर्ग
कनिर्गो अयन मन्त्रेरी अग्रियो लल्ले री कान्तर
वक्त्र पुहन् कान्तर ग्य था नी । जय उठेन हा
वि मुहभूमिमें मन्त्रान् श्रीकृष्णरी गन्त मन्त्रिदिन अ
वज्रमन्त्रेरी मन्त्रिदिने विन्त्रि वज्रमन्त्र २२ वने श्री
गद हे तव व वक्त्रक अक्वम मन्त्रिदिन हा गन् ॥ २२ ॥
जब अयवन् श्रीकृष्णन हा वि मन्त्रेरी कान्तर
मेनाक हा प्रसंग वन्त्रेरी कान्तर गद हा गन्
लल्ले वन्त्रेरी अग्रियो वृन्त्रे गान हा गने ।
हन्त्रेरी मेना मन्त्रेरी अयवन् मन्त्रिदिन हा गन्
तव उठेन हा गन् २३ ॥ अन्त्याम ॥ २३ ॥

गृह्यन् निपङ्गान्थं संदधन्छरान्
 विहृष्य मृच्चञ्चित्तवाणपूगान् ।
 निमग्नं रथान् कुञ्जरवाजिपत्नीन्
 निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥२४॥
 निर्भिन्नहृम्भाः करिणो निपतु
 रनेकप्राञ्चाः शरवृक्षगन्धरा ।
 रथा इताम्यजजसूतनायका
 पतातपश्चिन्मज्जोरुक्कन्धरा ॥२५॥
 मण्डिद्यमानद्विपदमवाजिना-
 मन्नप्रसूता क्षतप्राञ्चुमापगा ।
 मुजाहय पूरुषगार्धकच्छपा
 इतद्विपदीपहयग्रहानुला ॥२६॥
 यगारुमीना नरकशर्शवला
 धनुन्तरङ्गायुधगुन्ममकुला ।
 अञ्छरिकावतभयानक महा
 मणिप्रवराभरणामगर्जरा ॥२७॥
 प्रगतिता भीरुभयावहा मृच
 मन्यिना इपफरी परम्परम् ।
 विनिमताग्न मूमलन दूमदान
 मङ्गुणनापरिमयतज्जमा ॥२८॥
 पल शङ्कागरदुग्मपथ
 दुग्मपार्श्व मगधद्रुपान्निम् ।
 धवे प्रगानं यगुदगृथपा
 विर्यगतिं ननगताशया परम् ॥२९॥
 विपद्गान्धन भूतप्रयत्न य
 ममारनननगता भूतप्रयत्न ।

इसके बाद वे तरुप्रसूतसे शयन निवासमें, उन्हें धनुस्त्र
 चक्राने और धनुषकी डोरी खींचकर हुंडके-हुंड कर
 छोड़ने लगे। उस समय उनका वह धनुष इतनी पुनर्तिसे पुन
 रहा था, मानो कोई बड़े केसेसे अञ्जतचक्र (छुपारी) पुन
 रहा हो। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अराधनी
 धनुषिणी—हाथी, घोड़े, रथ और पैरुल सेनाका
 संहार करने लगे ॥ २४ ॥ इससे बहुतसे हाथियोंके
 सिर फट गये और वे मर-मरकर गिरने लगे। शर्शरी
 बीछरसे अनेकों घोड़ोंके सिर घड़से अच्य हो गए।
 घोड़े, श्वशा, सारथि और रथियोंके नष्ट हो जानसे बहुत-
 से रथ बेकाम हो गये। पंक्ष सेनाकी बाँहें, जाँघ और
 सिर आदि अङ्ग-अङ्ग कर-करकर गिर पड़े ॥ २५ ॥
 उस युद्धमें अफर लेखनी भगवान् कञ्जमतीन अपने
 मूमन्त्री चान्से बहुतसे मन्त्राले शायुओंसे मर-मरकर
 उनके अङ्ग-अङ्गसे निकले हुए मृत्यु की संज्ञाओं नगियों
 लगी थीं। वहाँ मृत्यु कर रहे हैं ता वहाँ हाथी और
 घोड़े अथवा रहे हैं। उन मरियोंमें मृत्युओंकी मुगारें
 सौंके सम्बन्ध जान पड़नीं और सिर इस प्रकार मध्य
 पड़ते, माना यस्तुओंकी भीड़ लगी गयी हा। मरे हुए
 हाथी शीप-वत्से और घोड़े अथवा समान जान पड़ने।
 हाथ और जीने मरियोंकी तरह, मृत्युओंके बंश
 मेघरके सम्बन्ध, धनुस्त्र तरुओंकी मौन और अग-अग
 लगी जब निनकोड़े सम्बन्ध जान पड़त। काने एमी
 मध्य पड़नी, मना भयानक भँवर हों। बहुतसे
 मरियों और अमृतण कपके राई तथ बौनोंके
 सम्बन्ध वह जा रहे थे। उन उन मरियोंका शेरार शय
 पुरा डर रहे थे और बीनोंका अमृतमें रथ उगल
 बढ़ रहा था ॥ २६-२८ ॥ यगुदिव 'वगमरारी'
 व मेना समुद्रक सम्बन्ध दुग्म भयान और वरी
 ब्रिजारीसे जीने लगी था। परंतु भगवान् श्रीकृष्ण
 और वगमरारीन बाइ ही गमपमें उगे नए वर दत्त।
 व मार वगमरारी हैं। उन व निन व मेना व वग
 वर वना वर वगमरारी हैं ॥ २९ ॥ वगमरारी
 वगमरारी वगमरारी हैं। वे वगमरारी हैं। वगमरारी
 वगमरारी वगमरारी वगमरारी हैं। उन व
 वगमरारी वगमरारी वगमरारी हैं। वगमरारी

न तस्य चित्रं परपद्मनिग्रह

स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥३०॥

ब्रह्म विरथं रामो वरासंघं महाबलम् ।

ह्रानीकायशिष्टास्तु सिंहः सिंहमिवौजसा ॥३१॥

वर्ण्यमान इतराति पाशैर्बन्धमानुर्यः ।

वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥३२॥

स मुक्तो लाकृताधाम्यां व्रीहितो वीरमम्मतः ।

तपसे कृतसंकल्पो वारितः पथि राजभि ॥३३॥

वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतेरपि ।

स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभव ॥३४॥

इतपु मर्वानीकपु नृपो बार्हद्वयस्तदा ।

उपश्रिता भगवता मगधान् दुर्मना ययौ ॥३५॥

सृष्ट्वाऽप्यक्षतबलो निम्नीणारिषट्ठाणव ।

विश्रयमाण इमुर्मसिद्वीरुमादित ॥३६॥ । कार्यस्य अनुमेदन ॥ वर मे न ॥ ३६ ॥

सेनाका इस प्रकार बात-की-बातमें सत्पानाश कर दें । तथापि जब वे मनुष्यका सा वेग धारण करके मनुष्य-सी छीटा करते हैं, तब उसका भी वर्णन किया ही जाता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार जरासन्धकी सारी सेना मारी गयी । रथ भी टूट गया । शरीरमें केवल प्राण बाकी रहे । तब भगवान् श्रीकृष्णमन्त्रीने जैसे एक सिंह दूसरे सिंहका पकड़ लेता है, वैसे ही कृष्णक म्हावली जरासन्धको पकड़ लिया ॥ ३१ ॥ जरासन्धने पहले बहुतसे निपन्त्री नरपत्नियोंका वच किया था, परन्तु आज उसे कृष्णमन्त्री कृष्णकी फौसी और मनुष्योंके वरोंसे बँध रहे थे । भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि यह छाड़ दिया जायगा तो और भी सेना इकट्ठी करके लायेगा तथा छाड़ दिया ॥ ३२ ॥ बड़े-बड़े शूरवीर जरासन्धका सम्मान करते थे । इसलिये उसे इस बातपर बड़ी कष्ट मालूम हुई कि मुझे छीटण और कृष्णमन्त्री तथा करके दीनकी मौति छोड़ दिया है । अब उसने तपस्या करनेका निश्चय किया । परन्तु रास्तेमें उसके साथी नरपत्नियों बहुत सम्झाया कि राजन् । यदुवंशियोंमें क्या रक्खा है ? वे आपसे किन्तु ही पराजित नहीं कर सकते थे । आपका प्रारम्भिक ही भीषा देकर पड़ा है । उन लोगोंने भगवान्की इच्छा, निर निश्चय प्राप्त करनेकी आज्ञा जाति बन्धक तथा शैविक दृष्टान्त एक मुक्ति दे देकर यह बात समझा दी कि आपको लगभग नहीं करनी चाहिये ॥ ३३ ३४ ॥ परिश्रित ! तब समय भगवान् जरासन्धकी सारी सेना मार चुकी थी । भगवान् कृष्णमन्त्रीने उपेक्षापूर्वक उसे छोड़ दिया था । इसमें क्या बहुत उदास होकर जाने दोगे माराका बात गया ॥ ३५ ॥

परिश्रित ! भगवान् श्रीकृष्णकी सेनाने किसीका बल भी बँध न हुआ और उन्होंने जरासन्धकी तम बन्धीदिगी सेनाका जा समुद्रके सञ्चन दी, छात्र ही विरय प्राप्त कर ली । तब समय बड़े-बड़े दण्ड उनपर मन्त्रकनके पुत्रोंकी जा और उनके इस मन्त्र

मापुरैर्यसङ्गम्य विज्वरैर्मुदित्वात्मभिः ।

उपगीयमानविजय स्रुतमागधवन्दिभिः ॥३७॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मैरीर्यार्प्यनेकशः ।

धीष्णवेषुमृदङ्गानि पुर प्रविशति प्रभो ॥३८॥

सिक्तमार्गा हृष्टजनां पताकभिरलकृताम् ।

निर्कुशं ब्रह्मघोषेण कौतुकचक्रवर्तोरणाम् ॥३९॥

निचीयमानो नारीभिर्मल्यपदभ्यक्षताङ्गुरैः ।

निरीक्ष्यमाण सस्नेहं प्रीत्युत्कलिग्लोचनैः ॥४०॥

आत्मोपनगत् विचमनन्तं वीरभूषणम् ।

यदुराजाय तत् सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥४१॥

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्पद्मोद्दिणीबलः ।

युधुषे मागधा राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥४२॥

अधिष्वस्तद्वलं मत्वं हृष्यन् कृष्णतेजसा ।

हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभिर्नृपः ॥४३॥

अष्टदशमसंग्राम आगामिनि तदन्तरा ।

नारदप्रपिबो वीरा यवनः प्रत्यहृष्यत ॥४४॥

स्तोभ मयुरामेत्य तिसृभिर्मल्लैश्चपाटिभिः ।

नृलाक पाप्रतिदन्दा वृष्णीभृष्ट्याऽऽत्मसम्मितान् ४५

१ विरीर्यमाय २ श्रीरूप ३ मिलिते ।

जरासन्धकी सेनाके परान्वयसे मथुरावासी मयरहित हो गये थे और भगवान् श्रीकृष्णकी विजयमें उनका रूप आनन्दसे भर रहा था । भगवान् श्रीकृष्ण जाकर उनमें मिल गये । सूत, मागध और बन्दीजन उनकी विजयके गीत गाय थे ॥ ३७ ॥ जिस समय भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया, उस समय शङ्ख, नगारे, मेरी, तुफ़ी, बीणा, बाँसुरी और मृदङ्ग आदि बाजे बजने लगे थे ॥ ३८ ॥ मथुराकी एक-एक सड़क और गलीमें छिन्नकच कर दिया गया था । चारों ओर हँसते-खेदते नागरिकोंकी चहल-पहल थी । सारा नगर छोटी-छोटी बंदियों और बड़ी-बड़ी विजय-स्ताकाओंसे सजा दिया गया था । शाहणोंकी केदधनि गूँज रही थी और सब ओर आनन्दोत्सवके सूचक बंदनवार बाँध दिये गये थे ॥ ३९ ॥ जिस समय श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, उस समय नगरकी नारियाँ प्रेम और उत्कण्ठसे मरे हुए नेत्रोंसे उन्हें स्नेहपूर्वक निहार रही थी और उनके हार, दही, अक्षत और जौ आदिके बकुलोंकी उनके ऊपर बर्षा कर रही थी ॥ ४० ॥ भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमिसे ऊपर घन और वीरोंके आभूषण से आवे थे । वह सब उन्होंने यदुवंशियोंके राजा उग्रसेनके फस में दिया ॥ ४१ ॥

परिधिम् । इस प्रकार सप्ताह बार तेज-तेज अक्षी दिणी सेना इकट्ठी करके मागधराज जरासन्धने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुवंशियोंसे युद्ध किया ॥ ४२ ॥ किन्तु यादवोंने भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिसे हार उसकी सारी सेना नष्ट कर दी । जब सारी सेना नष्ट हो जाती, तब यदुवंशियोंके उपेक्षापूर्वक छोड़ देनेपर जरासन्ध अपनी राजधानीमें लौट जाता ॥ ४३ ॥ जिस समय अठारहवाँ संग्राम छिड़ने ही जाय था, उसी समय नारदजीका मेला हुआ वीर काव्यजन दिसाया पड़ा ॥ ४४ ॥ युद्धमें काव्यजनके सामने लड़ा होनेका वीर संसारमें दूसरा कोई न था । उसने जब यह सुना कि यदुवंश हमारे ही-जैसे पञ्चान् हैं और हमारा सम्मान कर सकते हैं, तब तीन करोड़ स्नेहपूर्ण सेना लेकर उसने मथुराके ओर किया ॥ ४५ ॥

त दृष्ट्वाचिन्तयत् कृष्ण संकल्पणसहायवान् ।
 अहा यदनां वृजिनं प्राप्तं शुभयतो महत् ॥४६॥
 ववनाऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य सावन्महाबलः ।
 समाधोऽप्यद्य वासो वा परस्यो वाऽऽगमिष्यति ॥४७॥
 अतयोर्युष्मतोरस्य यथागन्ता सरस्तुत ।
 वपुर् वधिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुर क्ली ॥४८॥
 वस्त्राद्य विधास्यामो दुर्गं त्रिपटदुर्गमम् ।
 उग्र ज्ञातीन् समाधाय यवनं धातयामहे ॥४९॥
 इति मम्मन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम् ।
 अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकृतम् ॥५०॥
 अन्त्ये यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।
 रम्भाचत्वरवीथीभिर्यथात्वास्तु विनिर्मितम् ॥५१॥
 सुरद्वुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।
 इमं गृहं दिविसृग्भिः स्फाटिकाङ्गुलगोपुरैः ॥५२॥
 उग्रवारकृतैः कोष्ठैर्हैमकुम्भैरलंकृतैः ।
 गम्यन् गृहं हेमैर्महामरकतम्यलैः ॥५३॥
 पान्नाप्यतीनां च गृहैर्बलभीभिश्च निर्मितम् ।

कल्पयन्की यह असमय चढ़ाई देखकर भगवान्
 श्रीकृष्णने कटरामजीके साथ मिश्रकर विचार किया—
 'अहो ! इस समय तो यदुवंशियोंपर जरासन्ध और
 कल्यणन—ये दो-दो विपत्तियों एक साथ ही मेंबरा
 रही हैं ॥ ४६ ॥ आज इस परम कल्यण्ठी यकने हमें
 आकर घेर लिया है और जरासन्ध भी आज, कल
 या परसोंमें आ ही जायेगा ॥ ४७ ॥ यदि हम दोनों
 माई इसके साथ लड़नेमें लग गये और उसी समय
 जरासन्ध आ पहुँचा, तो वह हमारे कंधुओंको मार
 डालेगा या तो कैद करके अपने नगरमें ले जायेगा ।
 क्योंकि वह बहुत बखान् है ॥ ४८ ॥ इसलिये आज
 हमलोग एक ऐसा दुर्ग—ऐसा किला बनायेंगे, जिसमें
 किसी भी मनुष्यका प्रवेश करना अत्यन्त कठिन होगा ।
 अपने खान-सम्पन्नियोंको उसी किलेमें पहुँचाकर फिर
 इस यवनका वध करायेंगे ॥ ४९ ॥ कटरामजीसे इस
 प्रकार सज्जह करके भगवान् श्रीकृष्णने समुद्रके भीतर
 एक ऐसा दुर्गम नगर बनवाया, जिसमें सभी वस्तुएँ
 अव्युत्त थीं और उस नगरकी छयाई चौड़ाई अड़तालीस
 कोसकी थी ॥ ५० ॥ उस नगरकी एक-एक वस्तुमें
 विचित्रकर्म विज्ञान (वास्तुविज्ञान) और शिल्पकर्मकी
 निपुणता प्रकट होती थी । उसमें वास्तुशास्त्रके अनुसार
 बड़ी-बड़ी सड़कें, चौकहाँ और गलियोंका यथास्थान
 ठीक-ठीक विभाजन, किया गया था ॥ ५१ ॥ वह नगर
 ऐसे सुन्दर-सुन्दर उद्यानों और विचित्र-विचित्र उपवनोसे
 युक्त था, जिनमें देवताओंके मूर्त और छतारें लटकाती
 रहती थीं । सानेके इतने ऊँचे-ऊँचे विश्वाच थे, जो
 अक्षरशः घातें करते थे । स्तम्भमणिकरी कटारियों
 और ऊँचे-ऊँचे दरवाजे वड़ ही सुन्दर लगते थे ॥ ५२ ॥
 अमर खनेके छिये चोनी और पीतलके बहुत-से कंठे
 बने हुए थे । वहाँके मूर्त सोनेके बने हुए थे और
 उनपर कामगार सानेके फण्डा सजे हुए थे । उनके
 शिखर रत्नों के तथा गण पनेरी बनी हुई बहुत भड़ी
 गहम होती थी ॥ ५३ ॥ इमक अनिरुद्ध उस नगरमें
 वास्तुशास्त्रके मन्दिर और छजे भी बहुत सुन्दर-सुन्दर
 बने हुए थे । उसमें चारों पक्षके धाम निवास करते थे

चातुर्वर्ण्यजनाक्षीर्णं यदुदेषगृहोक्तसत् ॥५४॥

सुधर्मा पारिजातं च महेन्द्रः प्रादिषोद्धरः ।

मत्र चावम्बितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥५५॥

न्यामैककर्मान् वरुणो न्यामद्वन्द्वान् मनोजवान् ।

अष्टौ निधिपतिः कोशान् लोकपालो निजोदधान् ॥५६॥

यद् यद् भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ।

सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप ॥५७॥

तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः ।

प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रित ।

निर्जगाम पुरदारत् पद्ममाली निरामुषः ॥५८॥

और सत्रके बीचमें यदुवशिष्योंके प्रधान उपसेनजी, वसुदेवजी, कन्धामजी तथा भगवान् श्रीकृष्णके महज जगम्मा रहे थे ॥ ५४ ॥ परिशिष्ट । उस समय देव-राज इन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णके लिये पारिजात वृक्ष और सुधर्मा-समाको भेज दिया । वह समा ऐसी दिव्य वी कि उसमें बैठे हुए मनुष्यको मूख-प्रास आदि मर्त्यलोकके धर्म नहीं छू पते थे ॥ ५५ ॥ वरुणजीने ऐसे बहुत-से स्थेत घोड़े भेज दिये, जिनका एक-एक कान एक-वर्णका था, और जिनकी चाल मनके समान तेज थी । धनपति कुक्केजीने अपनी आठों निधियों भेज दी और दूसरे लोकपालोंने भी अपनी-अपनी विमूर्तियाँ भगवान् के पास भेज दी ॥ ५६ ॥ परिशिष्ट । सभी लोकपालोंके भगवान् श्रीकृष्णने ही उनके अधिकारके निर्वाहके लिये शक्तियों और सिद्धियों दी हैं । जब भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर खीख करने लगे, तब सभी सिद्धियाँ उन्होंने भगवान् के चरणोंमें स्पर्श कर दी ॥ ५७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने समस्त सन्तान-सम्पत्तियोंको अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योग मायाके द्वारा हारकमें पहुँचा दिया । होय प्रजापति रक्षके लिये कन्धामजीको मयुरापुरीमें रख दिया और उनसे सज्जह लेकर गलेमें कमलोंकी माला पहने, बिना कोई अन्न-शस्त्र लिये स्वयं नगरके बाड़े दरवाजेसे बाहर निकल आये ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्स्यां संहितायां दशमस्कन्धे सत्तराष्टं
दुर्गनिवेशनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चतुर्वर्ण्यधनकं भक्ष्यं दोषं मुमुक्षुर्नृपः कथा

श्रीगुरु उवाच

त विनाशाय विनिष्क्रान्तमुज्जिह्वानमिगोद्विषम् ।

दण्डनायकं न्याम पीतक्रीडेष्वामसम् ॥ १ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—श्रिय परीक्षित ! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण मयुरा नगरके मुख्य द्वारसे निकले, उस समय ऐसा मादूम पक्षी, माना दूर दिशसे चन्द्रीय हा रहा हो । उनका एकमात्र शरीर अप्सत ही स्थानीय था, उसका रेशमी पीनाम्बर ही छत्र निगरी

भीवत्सवधसं आजतकौस्तुभासुक्तकन्धरम् ।

पुद्गदीर्घचतुर्धां नवकञ्जारुणेष्वणम् ॥ २ ॥

नित्यप्रसूदितं भीमत्सुकगोलं शुचिषितम् ।

सुसारविन्दं विप्राण स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥

कसुदेवो ह्यपमिति पुमाञ्छ्रीवत्सलाञ्छनः ।

चतुर्ध्वजोऽरविन्दाक्षो वनमाख्यतिमुन्दर ॥ ४ ॥

लघुपैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।

नित्युपबलन् पद्मपां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥ ५ ॥

इति निश्चिय यवनः प्राद्रवन्तं परङ्मुखम् ।

अन्वधावञ्चिष्टुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥ ६ ॥

इत्प्रोत्सासिवात्मान हरिणा स पदे पदे ।

नीता दृश्यता दूर यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥ ७ ॥

पलायन मदकुले जलस्य तव नोषितम् ।

इति क्षिपकतुगातो नैन प्रापाइतायुधः ॥ ८ ॥

एवं क्षिप्ताऽपि भगवान् प्राविशद् गिरिकन्दरम् ।

माऽपि प्रविष्टमथान्वं शयानं दृष्ट्वा नरम् ॥ ९ ॥

नन्वमो दूरमानीय श्रोते मामिह मायुजम् ।

इति मन्याप्युत मृदम्नं पदा ममसाह्वयम् ॥ १० ॥

ही धी, कदा सत्पर कणरिखाके रूपमें श्रीकृष्ण-विह
शोभा पा रहा था और गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही
थी । चार मुजार्हे धी, जो लखी-लखी और कुण्ड मोटी
मोटी धी । हाँलके खिले हुए कमलके समान वनेम और
रतनारे नेत्र थे । मुखकमलपर एशि-राशि आनन्द खेक
रहा था । कपोलेंकी छटा निराधी ही धी । मन्द-मन्द
मुखकान देखनेवाओंका मन पुराये लेती धी । कानोंमें
पकराकृत कुण्डल झिजमिज-झिजमिज झञ्झ रहे थे ।
उन्हें देखकर काव्यवनने निश्चय किया कि 'यही पुरा
कसुदेव है । क्योंकि नारदजीने जो जा स्मरण वनत्रये
थे—यक्ष स्मलपर भीमत्सक चिह्न, चार मुजार्हे, कमलके-
से नेत्र, गलेमें वनमज और सुन्दरतापी सीमा, व तब
इसमें भिन्न रह हैं । इसलिय यह कहें दूसरा नहीं हो
सकता । इस समय यह बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके पैदल
॥ इस ओर चला आ रहा है, इसलिये मैं भी इसके
साथ बिना अस्त्र-शस्त्रके ही लूँगा ॥ १-१ ॥

ऐसा निश्चय करके जब काव्यवन भगवान् श्रीकृष्ण
की ओर दौड़ा, तब वे दूसरी ओर मुँह करके रणभूमिमें
भाग चले और उन यमिदुष्कर्म प्रभुको पकड़नेके लिये
काव्यवन उनके पीछे-पीछे लौटने लगा ॥ ६ ॥ रणछेत्र
भगवान् लीज करते हुए भाग रहे थे, काव्यवन पग-
पगपर यही समझता था कि अब पकड़ा, तब पकड़ा ।
इस प्रकार भगवान् उसे बहुत दूरतक एक पहाड़की गुरुमें
ले गये ॥ ७ ॥ काव्यवन पीछेसे बार-बार आक्षेप करता
कि 'अरे माइ ! तुम परम यशस्वी यदुवंशमें पैदा हुए हो,
तुम्हारा इस प्रकार मुझ छावक भगना उचित नहीं
है ।' परन्तु अभी उसका अयुध निक्षेप नहीं हुए था,
इसलिये वह भगवान्को पानेमें समर्थ न हो सका ॥ ८ ॥
उमके आक्षेप करते रहनेपर भी भगवान् उस पकड़ने
गुरुमें पुस गये । उनका पीछे काव्यवन भी पुस ।
बहाँ उसने एक दूसरे की मनुष्यको स्तेले हुए देखा ॥ ९ ॥
उसे देखकर काव्यवनने साधा 'देखा ता सही, यह
मुझे इस प्रकार हमनी दूर आया और अब इस
तरह—मानो इसे कुँट पना ही न हा—साधुवाक्य मनपर
तो रहा है ।' पर सोचकर उस मूढ़ने उसे कतकर

स उखाय चिर सुप्तः क्षनैरुन्मील्य लोचने ।

दिशो विलोक्यन् पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम् ॥११॥

स तत्तत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।

देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत् क्षणात् ॥१२॥

राजोवाच

को नाम स पुमान् ब्रह्मन् कस्य किंवीर्येष्वथ ।

कस्मात् गुहां गतः शिष्ये किं तेजो यथनार्दनः ॥१३॥

भीमो उवाच

स इत्वाङ्गुले जातो मान्धातुवनयो महान् ।

मुचुकुन्द इति स्मृतो ब्रह्मण्यः सत्यसत्तमः ॥१४॥

स यावत्तः सुरगणैरिन्द्राद्यैरुत्तरधमे ।

असुरेभ्यः परिश्रुतैस्तद्रथा सोऽङ्गोत्थिरम् ॥१५॥

लब्ध्वा गुहं ते स्वापात् मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।

राजन् विरमतां कृच्छ्राच्च भवान् नः परिपालनात् ॥१६॥

नरलोके परित्यज्य राज्यं निवृत्तकण्टकम् ।

अस्मान् पालयतो वीरकामाप्ते सर्व उन्निताः ॥१७॥

सुता महिष्यो भवतो क्षात्रयोऽमात्यमन्त्रिणः ।

प्रभाष्य तु स्यकालीमा नावुना मन्ति कालिताः ॥१८॥

कालो बलीयान् पत्निना भगवानीश्वरोऽप्ययः ।

प्रजाः कालयत श्रीवन् पशुपालो यथा पशून् ॥१९॥

एक छात मारी ॥ १० ॥ वह पुरुष वहाँ बहुत दिनोंसे सोया हुआ था । पैरफाँटी टोकर आगनेसे वह उठ पड़ा और धीरे-धीरे उसने अपनी जाँघें खोली । फिर-उभर देखनेपर पास ही काळव्यधन खड़ा हुआ दिखी दिया ॥ ११ ॥ परीक्षित ! वह पुरुष इस प्रकार टोकर मारकर जगाये जानेसे कुछ डट हो गया था । उसफाँटी दृष्टि पड़ते ही काळव्यधनके शरीरमें अग्नौ पैदा हो गयी और वह क्षणभरमें जलकर राखका ढेर हो गया ॥ १२ ॥

राजा परीक्षितसे पूछ—भगवन् ! जिसके दृष्टि-पातमात्रसे काळव्यधन जलकर भस्म हो गया, वह पुरुष कौन था ? किस बरह्मन् था ? उसमें कैसी शक्ति थी और वह किसका पुत्र था ? आप क्या मरके वह भी कतलवाये कि वह परीक्षित गुप्तमें जाकर क्यों सो रहा था ? ॥ १३ ॥

भीमशुक्लेष्टकी कहते हैं—परीक्षित ! वे इत्वाङ्गु-वर्धि म्भारान्ना मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द थे । वे ब्राह्मणोंके परम भक्त, सत्यप्रतिज्ञ, संप्रमद्विषयी और म्भ्रापुरुष थे ॥ १४ ॥ एक बार इन्द्रादि देवता बहुरसे अत्यन्त मयमित हो गये थे । उन्होंने अपनी रक्षाके लिये राजा मुचुकुन्दसे प्राचना की और उन्होंने बहुत दिनोंतक उनकी रक्षा की ॥ १५ ॥ जब बहुत दिनोंके बाद देवताओंको सेनापतिके रूपमें साम्प्रतिके सिद्ध गये, तब उन लोगोंने राजा मुचुकुन्दसे कहा—राजन् ! आपने हम लोगोंकी रक्षाके लिये बहुत श्रम और कष्ट उठाया है । अब आप विराम कीजिये ॥ १६ ॥ वीर शिशुगण ! आपने हमारी रक्षाके लिये मनुष्यश्रेष्ठक अपना अकर्मक राज्य छोड़ दिया और भीष्मकी अभिलषार्थ तथा भोगोक्त भी परित्यक्त कर दिया ॥ १७ ॥ अब आपके पुत्र, रानियाँ, कन्धु-बान्धव और अमत्य-मन्त्री तथा आपके सम्यक् प्रजामेंसे कोई नहीं रहा है । सब-के-सब कालके गाथमें गले गये ॥ १८ ॥ कष्ट समस्त कष्टानोंसे भी यज्जान् है । वह स्वयं परम समर्थ अविनाशी और अमरस्वरूप है । उसे मारने पशुओंको आपने बलासे रखते हैं, वैसे ही वह खेड-खेडोंमें सारी

वरं वृणीष्व भद्रं ते श्रुते कैवल्यमग्र न ।

एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरभ्ययः ॥२०॥

एवमुक्त स वै देवानभिवन्द्य महायज्ञाः ।

अश्रयिष्ठं गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥२१॥

स्त्रांपं यातं यस्तु मध्ये बोधयेत्स्वामपेतनः ।

स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्स्थणात् ॥२२॥

यवने भस्मसाक्षीति भगवान् सात्वतर्षभः ।

आत्मानं दर्शयामास सुबुद्धन्दाय धीमते ॥२३॥

तमालोक्य घनश्मामं पीतकौशेयवाससम् ।

श्रीवत्सवच्चसं ब्राह्मकौस्तुभेन विरान्वितम् ॥२४॥

क्षुर्बुधं रोचमानं वैजयन्तया च मालया ।

चारुसक्तवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२५॥

प्रेषणीयं नृलोकस्य सानुरागसितेषणम् ।

अपीप्सवयसं मत्तद्वृन्त्रोदारविक्रमम् ॥२६॥

पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः ।

शङ्कितः शनकै रान्ना दुर्धर्षमिव तेजसा ॥२७॥

मुमुक्षु उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगङ्गरे ।

पद्म्यां पद्मपलाशम्यां विचरस्युरुकण्टके ॥२८॥

किंविचेन्नस्थिनां तेजो भगवान् वा विभावसुः ।

स्यं सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥२९॥

प्रभाको अपने अधीन रखता है ॥ १९ ॥ राजन् ! आपका कल्याण हो । आपकी जो इच्छा हो हमसे मोंग लीजिये । हम कैवल्य-मोक्षके अतिरिक्त आपको सब कुछ दे सकते हैं । क्योंकि कैवल्य-मोक्ष देनेकी सामर्थ्य तो केवल अविनाशी भगवान् विष्णुमें ही है ॥ २० ॥ परम यशस्वी राजा मुमुक्षुन्दने देवताओंके इस प्रकार कहनेपर सनकी बन्दना की और बहुत पके होनेके कारण निद्राका ही कर मोंगा, तथा उनसे कर पाकर वे भीदसे भरकर पर्वतकी गुफामें जा सोये ॥ २१ ॥ उस समय देवताओंने कहा दिया था कि राजन् ! सोते समय यदि आपको कोई मूर्ख बीचमें ही जग देगा, तो वह आपकी दृष्टि पड़ते ही उसी क्षण भस्म हो जायगा ॥ २२ ॥

परीक्षित ! जब कालयज्ञ भस्म हो गया, तब यदुर्बलशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने परम बुद्धिमान् राजा मुमुक्षुन्दको अपना दर्शन दिया । भगवान् श्रीकृष्णका श्रीनिम्न वर्णकामीन मेवके समान सौकुमार्य था । रेश्मि पीताम्बर चारण किये हुए थे । वक्षःस्थल श्रीवत्स और गलेमें कौस्तुभमणि अपनी दिव्य ज्योति बिलेर रहे थे । चार मुबारों थीं । बैजपत्नी माळ अम्बा ही घुटनोतक लटक रही थी । मुखकमल अत्यन्त सुन्दर और प्रसक्त-से खिल रहा था । वरनोंमें मकराक्षत कुण्डल जगमगा रहे थे । होठोंपर प्रेममयी मुसकहाट थी और नेत्रोंकी चितवन अनुरागकी वर्ण कर रही थी । अत्यन्त दर्शनीय तक्षण अवस्था और मतवाले सिंहाके समान निर्माक था । राजा मुमुक्षुन्द पणपि बड़े बुद्धिमान् और धीर पुरुष थे, फिर भी भगवान्की यह दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्ति देखकर कुछ चकित हो गये—उनके तेजसे इतप्रतिम हो सकपक गये । भगवान् अपने तेजसे दुर्धर्ष जान पड़ते थे राजाने सनिक शङ्कित होकर पूछा ॥ २९—२७ ॥

राजा मुमुक्षुन्दने कहा—“आप क्यों हैं ? इस कौटोसे मरे हुए घोर जंगलमें आप कमन्के समान कोमल चरणोंसे क्यों बिचर रहे हैं ? और इस पर्वतकी गुफामें ही पधारनकर क्या प्रयोजन था ? ॥ २८ ॥ क्या आप समस्त तेजस्वियोंके धूर्तिमान् तेज अपना भगवान् अग्निदेव तो नहीं हैं ? क्या आप सूर्य, चन्द्रमा, देवराज

१ प्राचीन प्रतिमें श्वापं वातं २ मह पूष भोक मूर्ध्ने नहीं दिव्यधीमें स्थिता है । स्थानं यात के स्थानमें स्त्रापं वन्दं बह पाठमेव है । ३ तेजितम् । ४ अथैवा ।

मन्ये त्वा देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।

यद्वाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीप प्रभया यथा ॥३०॥

शुभ्रूयतामभ्यलीक्यमाक नरपुङ्गव ।

स्वधन्म कर्म गोत्रं वा कल्पतां यदि राक्षसे ॥३१॥

वर्षं तु पुरुषव्याघ्र ऐश्वराका क्षत्रवधव ।

मुमुक्षुन्द इति प्राक्ता यौवनाभ्यात्मज प्रभो ॥३२॥

विरप्रजागरान्तो निद्रयोपहृतेन्द्रियः ।

स्रयःसिन्धु विजने काम कलाप्युत्थापितोऽधुना ॥३३॥

साऽपि भस्मीकृता नूनमात्मीयेनैव पाप्मना ।

अनन्तरं भवाङ्घ्रीमान् लक्षितोऽमिश्रशौचनः ॥३४॥

तेजसा तजविषमग भूरि द्रष्टुं न शक्नुम ।

हर्ता ब्रह्मा महाभाग माननो योऽसि देहिनाम् ॥३५॥

एव सम्भाषिता राज्ञा भगवान् भूतभावनः ।

प्रपाह प्रहमन् वाण्या भवनादगभीरया ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

जमकमाभिधानानि सन्ति मज्झ महस्यश ।

न शक्नुवन्तं नुर्मन्पातुमनन्तन्वात्मयापि हि ॥३७॥

एतद्गुरांमिषिमम पार्थिवान्पुरुजन्मभि ।

गुणकमाभिधानानि न म जमानि कश्चिद्व ॥३८॥

स्रलप्रपापयानानि जमकर्षणि म नृप ।

प्रनुक्रमन्ता नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षय ॥३९॥

तथाप्यवगमनान्यद्ग गृह्य गदता मम ।

इन्द्र या कोई दुमरे लोकराल हैं ॥ २९ ॥ मैं तो ऐस

समझना हूँ कि आप देवताओंके आराध्यदेव ब्रह्मा, विष्णु

तथा शङ्कर—इन तीनोंमेंसे पुरुषोत्तम भगवान् नारायण ही

हैं । क्योंकि जैसे घट दीपक अँधेरेको दूर कर देता है, वैसे

ही आप अपनी अङ्गकान्तिसे इस गुहाका अँधेरा भगा रहे

हैं ॥ ३० ॥ पुरुषश्रेष्ठ ! यदि आपके रुचे तो हम

अपना जन्म, कर्म और गोत्र बतलाइये, क्योंकि हम सबने

हृदयसे उसे सुननेके इच्छुक हैं ॥ ३१ ॥ और पुरुषो-

त्तम ! यदि आप हमारे बारेमें पूछें तो हम इत्थाकुञ्जरी

क्षत्रिय हैं, मेरा नाम है मुमुक्षुन्द । और प्रभु ! मैं

युवनाभनन्दन महाराज माम्बातात्मज पुत्र हूँ ॥ ३२ ॥

बहुत दिनोंतक जागते रहनेके कारण मैं एक गय था ।

निद्राने मेरी समस्त इन्द्रियोंकी शक्ति छीन ली थी, उन्हें

देखना कर दिया था, इसीसे मैं इस निर्जन स्थानमें

निईन्द्र सो रहा था । अभी-अभी किसीने मुझे जगा

दिया ॥ ३३ ॥ अतएव उठकर पापोंने ही उसे जल्दकर

भस्म कर लिया है । इसके बाद शत्रुओंके नाश करने-

वाले परम सुन्दर आपने मुझे दशन दिया ॥ ३४ ॥

महामाग ! आप समस्त प्राणियोंके धननीय हैं । आपके

परम पिण्ड और अक्षय तेजसे मेरी शक्ति ली गयी है ।

मैं आपको बहुत श्रेष्ठतक देख भी नहीं सकता ॥ ३५ ॥

जब राजा मुमुक्षुन्दने इस प्रकार कहा, तब समस्त

प्राणियोंके जीवनरक्षा भगवान् श्रीकृष्णने हँसते हुए

मेघवर्णिके समान गम्भीर वाणीसे कहा— ॥ ३६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय मुमुक्षुन्द ! मेरे

हजारों नाम कम और नाम हैं । वे अनन्त हैं, इसलिये

मैं भी उनकी गिनती करके नहीं सकता ॥ ३७ ॥

यह सम्भव है कि कोई पुरा कहने अनेक जन्मोंमें

पृथ्वीक हाट-हाट भूत-वर्णोंकी गिनती कर वाले, परन्तु

मेरे जन्म, गुण, कर्म और नामोंका कोई कभी किसी

प्रकार नहीं गिन सकता ॥ ३८ ॥ राजन् ! तनका-

समन्वय आदि पर्यवर्तिण मेरे मित्रत्वमित्र जन्म और

कर्मोंका जगम करने रहते हैं परन्तु कभी उनका पार

नहीं पाने ॥ ३९ ॥ प्रिय मुमुक्षुन्द ! जग होनेपर भी

मैं करने कर्मदान जम, कर्म और मायोंका जगम करके

विहापितो विरिञ्चेन पुराह धर्मगुप्तये ।
 भूमेर्भारयमाणानामसुराणां ध्याय च ॥४०॥
 अश्वतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुमे ।
 वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुत हि माम् ॥४१॥
 कालनेमिर्हृत कंस प्रलम्बायाश्च सप्तद्विप ।
 अथ च यवनो दग्धा राज्ञस्ते तिग्मचक्षुषा ॥४२॥
 साऽह तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागत ।
 प्रार्थित प्रभुरं पूव त्वयाहं भक्तवत्सल ॥४३॥
 वरान् कृषीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते ।
 मां प्रपन्नो जन कश्चिन्न भूयाऽर्हति शोचितुम् ॥४४॥

श्रीसुक उवाच

इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वित ।
 व्रत्वा नारायणं देवं गर्गावाक्यमनुसरन् ॥४५॥

मुचुकुन्द उवाच

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
 त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।

सुत्वाय ह सप्रभवेण सज्जत

गृहपु शोपित् पुरुषश्च यश्चितः ॥४६॥

लम्बा जनो दुर्लभमत्र मानुषं

कथञ्चिदप्यङ्गमयसताञ्जनय ।

हैं, सुनो। पहले ब्रह्माजीन मुझसे धर्मकी रक्षा और
 पृथ्वीके मार बने हुए असुरोंका मंहार करनेके लिये
 प्रार्थना की थी ॥ ४० ॥ उन्होंनेकी प्रार्थनासे मैंने यदु
 बशमें वसुदेवजीके यहाँ अवतार ग्रहण किया है। अथ मैं
 वसुदेवजीका पुत्र हूँ, इसलिये लोग मुझ 'वासुदेव' कहते
 हैं ॥ ४१ ॥ अतएव मैं कर्णनेमि असुरका, जो कंसके
 रूपमें पैदा हुआ था तथा प्रलम्बा आदि अनेकों साधु
 मोही असुरोंका संहार कर चुका हूँ। राजन्! यह
 कल्पयवन था, जो मेरी ही प्रणालीसे तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टि
 पकड़े ही मर गया ॥ ४२ ॥ बन्दी मैं तुम्हारा क्या
 करनेके लिये ही इस गुप्तमें आया हूँ। तुमने पहले
 मेरी बहुत आराधना की है और मैं हूँ भक्तवत्सल ॥ ४३ ॥
 इसलिये राजर्षे! तुम्हारी जा अमिच्छावा हा, मुझसे माँग
 जो। मैं तुम्हारी सारी अल्लस्य, अभिन्नयाएँ पूर्ण कर
 दूँगा। जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है उसके लिये
 फिर ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसका लिये वह
 शोक करे ॥ ४४ ॥

श्रीमुचुकुन्दजी कहते हैं—अथ भगवान् धीवृष्णने
 इस प्रकार कहा, तब राजा मुचुकुन्दको बृह गणका
 यह कथन याद आ गया कि यदुवंशमें भगवान् अक्षतीर्ण
 होनेवाले हैं। वे जान गये कि ये स्वयं भगवान् नारायण
 हैं। आनन्दसे भरकर उन्होंने भगवान्क चरणोंमें प्रणाम
 किया और इस प्रकार स्तुति की ॥ ४५ ॥

मुचुकुन्दने कहा—प्रभो! जगत्के सभी प्राणी
 आपकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहे हैं। वे आपसे
 विमुख होकर अनर्थमें ही फँसे रहते हैं और आपका भजन
 नहीं करते। वे सुखके लिये घर-गृहस्तीक उन ब्रह्मणोंमें
 फँस जाते हैं, जो मारे दुष्टोंक मृत ग्यात हैं। इस
 तरह ही और पुरुष सभी टूटे जा रहे हैं ॥ ४६ ॥
 इस पाशव्य ससारसे सर्वथा रहित प्रभो! यह भूमि
 अप्यन्त पवित्र कर्मभूमि है, इसमें मनुष्यका जन्म होना
 अप्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य-जीवन इतना पूर्ण है कि
 उसमें भजनके लिये कोई भी अवधिना नहीं है। कन
 परम सौभाग्य और भगवान्की अर्द्धतक इनासे उसे
 बनायास ही प्राप्त करके भी जो अपनी मति, मति

पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-

र्तृहान्धरूपे पतितो यथा पशुः ॥४७॥

ममैव कालोऽञ्जित निष्कलो गतो

राज्यभियोक्तामदस्य भूपतेः ।

मर्त्यस्मिन्पुद्गेः सुतदारकोष्ठम्

प्यासलमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४८॥

कलेवरेऽस्मिन् घटस्थसभिमे

निरुद्धमानो नरदेव इत्यहम् ।

इतो रवेमाश्रयदास्यनीक्यै

गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः ॥४९॥

प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया

प्रवृद्धलोमं निपयेषु छातसम् ।

त्वमप्रमत्तं सहसाभिपद्यसे

सुखलिहानोऽहिरिषास्तुमन्तकः ॥५०॥

पुनर्यद्वैमपरिप्लव्यैभरन्

मवज्ज्वर्या नरदेवसंश्रितः ।

म एव कालेन दुरत्ययेन ते

कलेवरा निरुद्धमिमसंसंश्रितः ॥५१॥

असत् संसारमें ही, छा देते हैं और दुष्ट निबन्धनमें
जिये ही सारा प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्त्रीके वेषमें
कूरमें पड़े रहते हैं—मगधान्ते करणकर्मोंकी उपासना
मही करते, मनन मही करते, ये तो टीका उस पशुके सम्य
हैं, जो दुष्ट तुणके खेमसे वेषमें कूरमें प्रित गत
है ॥ ४७ ॥ भगवन् ! मैं राजा था, राज्यभयोके
मदसे मैं मगधाल्य हो रहा था । इस मरनेवाले सरीखे
ही तो मैं आत्मा—अपना स्वरूप समझ रहा था और
राजकुमार, रानी, खानाना तथा पृथ्वीके लोभ-मोहमें ही
फँसा हुआ था । उन वस्तुओंकी चिन्ता दिन-रात में
गले कमी रहती थी । इस प्रकार मेरे जीवनका यह
अमूल्य समय निरुद्ध निष्कल—स्वर्ग ब्रह्म गया ॥ ४८ ॥
जो शरीर प्रत्यक्ष ही सबे और मीतके समान मिथ्या
है और द्रव्य होनेके कारण उन्मत्तिक समझ अपनेमें
कल्प भी है, उसीको मैंने अपना स्वरूप मान लिया
था और फिर अपनेको मान बैठा था नरदेव । इस
प्रकार मैंने मदान्ध होकर आत्मको तो कुछ समझा ही
नहीं । रथ, हाथी, घोड़े और पैदलसे जलरत्नियों से
तथा सेनापतियोंसे बिरबर मैं पृथ्वीमें इकर-उबर हुआ
रहता ॥ ४९ ॥ मुझे यह करना चाहिये और यह नहीं
करना चाहिये, इस प्रकार विविध कर्तव्य और अकर्तव्य-
की चिन्तामें पड़कर मलुष्य अपने एकमात्र कर्तव्य
मागध्यासिसे विमुक्त होकर प्रमत्त हो जाता है, अज्ञानवान
हो जाता है । संसारमें बीच रखनेवाले नियमोंके
जिये उसकी आख्या दिन-रात चौगुनी बढ़ती ही जाती
है । परन्तु जैसे भूखके कारण जीम लक्ष्म्यादा इन्हें
सौंप अज्ञानधाम बूढ़को दबोच लेता है, वैसे ही
कालकृपासे सदा-सर्वदा साधनान् रहनेवाले आप एकदम
उस प्रमादप्रमत्त प्राणीपर दृष्ट पड़ते हैं और उसे से
धीतते हैं ॥ ५० ॥ जो पहले सोनेके रथोंपर बज्र
बड़े-बड़े गजरात्रोंपर चढ़कर घमत्ता था और मरण
कष्टकाता था, वही शरीर व्यपके अज्ञान कर्मकर्म मल
बनकर बाहर फेंक देनेपर पशुपतियोंकी विष्टा, धरतीमें गा
देनेपर सज्जन कीड़ा और जागमें जला देनेपर राक्षस

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो

वरत्सनस्यः समराजवन्दित ।

गृहेषु मैथुन्यमुखेषु भोषितां

क्रीडामृगः पूर्य ईश नीयते ॥५२॥

करोति कर्माणि तपस्तुनिष्ठितो

निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत् ।

पुनश्च भूयेयमहं स्वराविति

प्रहृदयर्षो न सुखाय कल्पते ॥५३॥

भवापवर्गोऽत्रमतो यदा भवे

जनस्य तर्ह्यनुत्तमसत्समागमः ।

सत्सङ्गमो यदि तदैव सङ्गतौ

परस्परेशे त्वयि जायते मतिः ॥५४॥

मन्ये ममातुप्रह ईश ते कृतो

रान्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।

यः प्रार्थ्यते साधुभिरैकचर्याया

वनं विविधकिरलशृङ्गमूमिषै ॥५५॥

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-

दक्षिणप्रार्थ्यतमाशु वरं विभो ।

भाराभ्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे

हृणीत आपोऽंशमात्मबन्धनम् ॥५६॥

तस्मात्तु विसृज्यादिषु ईश सर्वतो

रजस्तमसस्त्वगुणानुबन्धना ।

हर बन जाता है ॥ ५१ ॥ प्रभो ! जिसने सारी दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ली है और जिससे मङ्गल-शास्त्र संसारमें कोई रह नहीं गया है, जो श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठा है और बड़े-बड़े मरपति, जो पहले उसके समान थे, अब जिसके चरणोंमें सिर झुकते हैं, वही पुरुष अब विजय-मुख भोगनेके लिये, जो घर-गृहस्थीकी एक विशेष वस्तु है, स्त्रियोंके पास जाता है, तब उनके हाथका खिलौना, उनका पाखण्ड पशु बन जाता है ॥ ५२ ॥ बहुत-से लोग विनय-भोग छोड़कर पुनः राज्यादि भोग मित्रनेकी इच्छासे ही दान-गुण्य करते हैं और 'मैं फिर जन्म लेकर सबसे बड़ा परम स्वतन्त्र सम्पत् होऊँ ।' ऐसी कामना रखकर तपस्यामें मद्धीमौलि स्थित हो शुभकर्म करते हैं । इस प्रकार जिसकी राग्या बड़ी हुई है, वह कदापि सुखी नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥ अपने लक्ष्मणमें एकतरफ स्थित रहनेवाले मगधन् ! जीव जनादिकृष्णसे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें भटक रहा है । जब उस चक्रसे छूटनेका समय आता है, तब उसे सत्संग प्राप्त होता है । यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्संग प्राप्त होता है, उसी क्षण संयोग के आश्रय, कार्य-कारणरूप जगत्के एकमात्र स्वामी आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है ॥ ५४ ॥ मगधन् ! मैं तो ऐसा सम्पन्न हूँ कि आपने मेरे ऊपर परम अनुग्रहकी कर्पा की, क्योंकि बिना किसी परिश्रमके—जनात्यास ही मेरे राज्यका सम्पन्न हो गया । साधु-स्वभावके चक्रवर्ती राजा भी जब अपना राज्य छोड़कर एकान्तमें मगधन स्थापन करनेके उद्देश्यसे वनमें जाना चाहते हैं, तब उसके मगधन-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये बड़े प्रेमसे आपसे प्रार्थना किया करते हैं ॥ ५५ ॥ कन्तर्वायी प्रभो ! आपसे क्या छिपा है ? मैं आपके चरणोंकी सेवाके अतिरिक्त और कोई भी कर नहीं चाहता; क्योंकि जिसके पास किसी प्रकारका सम्पन्न-परिश्रम नहीं है जबकि जो उसके अभिमानसे रहित हैं वे लोग भी केवल उसीके लिये प्रार्थना करते रहते हैं । मगधन् ! मन्थ, वन्यादये तो सही—मोक्ष देनेवाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन छत्र पुण्य होगा, जो जननेसे बौधने वाले सांसारिक विषयोंका हर योग ॥ ५६ ॥ इसलिये प्रभो ! मैं सत्यगुण, रजोगुण और तमोगुणसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल मायाके

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं

त्वां श्रुतिमात्रं पुरय ब्रजाम्बहम् ॥५७॥

विरमिह ब्रजिनार्वस्तप्यमानोऽनुवापैः

रवितृपपदमित्रोऽलम्बशान्तिं कथञ्चित् ।

शरणदं समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-

नभसमृतमशोकं पाद्वि माऽऽपन्नमीक्ष ॥५८॥

श्रीभगवानुवाच

सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोज्जिता ।

वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥५९॥

प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् ।

न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥६०॥

युञ्जानानामर्मक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः ।

अधीणवासनं राजन् हृष्यते पुनरुत्थितम् ॥६१॥

विचरन्न महीं कामं मय्यावेक्षितमानसः ।

अस्त्वेव नित्यदा तुम्य भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥६२॥

द्याधर्ममितो जन्तु न्यधधीर्मृगयादिभिः ।

समादितस्तत्तपसा ब्रह्मार्थं मदुपाभय ॥६३॥

जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्पभूतमुद्वहम ।

भूत्वा द्विजवरम्ब पं माशुर्प्यसि केवलम् ॥६४॥

येषामात्र सम्बन्धसे रहित, गुणातीत, एक—अद्वितीय, विस्तररूप परमपुरुष आपकी शरण ग्रहण करते हैं ॥५७॥ भगवन् ! मैं अनादिकालसे अपने कर्मफलसे भोगते-भोगते बलवन्त आर्त हो रहा था, उनकी दुःख आशा रात-दिन मुझ जलपती रहती थी । मेरे छ शत्रु (पाँच इन्द्रिय और एक मन) कभी शान्त न होते थे, उनकी विषयोंकी व्यास बढ़ती ही जा रही थी । कभी किसी प्रकार एक क्षणके लिये भी मुझे शान्ति न मिली । शरणप्रदान ! अब मैं आपके भय, दृष्ट और शोकसे रहित चरणकमलमें शरणमें आया हूँ । सारे जगत्के एकमात्र स्वामी ! परमात्मन् ! आप छ शरणागतकी रक्षा कीजिये ॥ ५८ ॥

भगवान् धीकृप्यसे कहा—सार्वभौम महाराज ! तुम्हारी मति, तुम्हारा निश्चय बड़ा ही पक्का और ऊँची कोटिका है । यद्यपि मैंने तुम्हें बार-बार बर देनेका प्रयत्न दिया, फिर भी तुम्हारी बुद्धि कर्मनाशके अधीन न हुई ॥५९॥ मैंने तुम्हें जो बर देनेका प्रयत्न दिया, वह केवल तुम्हारी सावधानीकी परीक्षाके लिये । मेरे जो अनन्य मठ होते हैं, उनकी बुद्धि कभी कर्मनाशसे इधर-उधर नहीं भटकती ॥ ६० ॥ जो लोग मेरे मठ नहीं होते, वे चाहे प्राणायाम आदिके द्वारा अपने मनको बशमें करनेका किन्तना हूँ । प्रयत्न क्यों न करें, उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं, और राजन् ! उनका मन फिरसे विषयोंके लिये मचल पड़ता है ॥६१॥ तुम अपने मन और सारे मनोभावोंको मुझे समर्पित कर दो, मुझमें लगा दो, और फिर साधुद्वन्द्वरूपसे दृष्टीर विचरण करो । मुझमें तुम्हारी विषयवासनाशून्य निर्भक्त भक्ति सदा बनी रहेगी ॥ ६२ ॥ तुमने क्षत्रियधर्मका आचरण करते समय शिक्कार आदिके अश्रुतसे बहुत-से पशुभोका बंध किया है । अब एकप्रवृत्तिसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याके द्वारा उस पापको जो खाओ ॥ ६३ ॥ राजन् ! अगरसे जन्ममें तुम दानवानोंगे और समस्त प्राणियोंके साथे द्वितीय, परम सुख हावागे तथा तिर मुझ विदुद विज्ञानपन परमरगको प्राप्त करोगे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्त्योपां संहितायां दशमस्कन्धे अष्टाध्याये

मुमुक्षुर्दत्तनिर्वाणमयाशक्तोऽप्याय ॥ ५१ ॥

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भारतप्रगमनं श्रीवत्सलामञ्जीक्य विवाह तथा श्रीकृष्णके पास रुक्मिणीजीक्य सन्देश लेकर ब्राह्मणका माना

श्रीकृष्ण उवाच

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेद्वानकुनन्दन ।

स परिक्रम्य संनम्य निष्क्राम गुह्यामुखात् ॥ १ ॥

स वीक्ष्य मुकुक्षान् मर्त्यान् पशून् वीरुद्रनस्पतीन् ।

मत्वा कलियुग प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २ ॥

तप भद्रायुता धीरो नि मङ्गो मुक्तसद्यः ।

समाधाय मन कृष्णे प्राविशद् गन्धमादनम् ॥ ३ ॥

वदर्यामममाद्य नरनारायणालयम् ।

सर्वद्वन्द्वसह शान्तस्तपसाऽऽराधयद्भरिम् ॥ ४ ॥

मगवान् पुनराव्रज्य पुरीं यथनवेष्टिताम् ।

इत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तनीयं डारकां धनम् ॥ ५ ॥

नीयमाने धने गाभिर्भुविष्पुतचोदितं ।

आवगाम वरामधस्त्रयार्विग्न्यनीक्य ॥ ६ ॥

विष्ठाक्य वेगममं रिपुसन्धस्य भाधवां ।

मनुष्यवेष्टामायतां राजन् दुडुवतुडु तम् ॥ ७ ॥

विदाय वित्तं प्रचुरमभीर्ता भीरुभातवत् ।

पट्टपां पचपत्ताम्राभ्यां धेरतुष्टुवाञ्छनम् ॥ ८ ॥

पत्न्यामार्ता ता दृष्ट्वा मागध ग्रहमनु यता ।

श्रीकृष्णवेधजी कहते हैं—प्यारे परीक्षित ! मगवान्

श्रीकृष्णने इस प्रकार इक्ष्वाकुनन्दन राजा मुमुक्षुन्दपर

अनुग्रह किया । जब उन्होंने मगवान्की परिक्रमा की,

उन्होंने नमस्कार किया और गुफासे बाहर निकले ॥ १ ॥

उन्होंने बाहर आकर देखा कि सब-के-सब मनुष्य,

पशु, मत्वा और वृक्ष वनस्पति पहालेकी अपेक्षा बहुत

छोटे-छोट आकारके हो गये हैं । इससे यह जानकर

कि कलियुग आ गया, वे उत्तर दिशाकी ओर चल

दिये ॥ २ ॥ मगवान् मुमुक्षुन्द तपस्या, श्रद्धा, धैर्य

तथा अनासक्तिसे युक्त एवं संशय-सन्देहसे मुक्त थे ।

वे अपना विषय मगवान् श्रीकृष्णमें लगाकर गन्धमादन

पर्वतपर जा पहुँचे ॥ ३ ॥ मगवान् नर-नारायणके

नित्य-निश्चयस्थान वरिष्ठाग्रममें जाकर बड़े शान्तभावसे

गर्भ-सर्दी आदि द्वन्द्व सहते हुए व तनत्पाक द्वारा

मगवान्की आराधना करने लगे ॥ ४ ॥

इस मगवान् श्रीकृष्ण मधुरपुरीमें छौं आये ।

अनेक काव्यकनकी सेनाने उसे घेर रक्खा था । जब

उन्होंने म्लेच्छोंकी सेनाका संहार किया और उसका साथ

धन छीनकर श्रावकाको ले चले ॥ ५ ॥ जिस समय मगवान्

श्रीकृष्णके आशानुसार मनुष्यों और वैश्योंपर बहूँ चल

जाया जाने लगा, उसी समय मगधराज जरासन्ध फिर

(अग्रहणी बार) तबसे अश्रीहिणी सेना लेकर आ

धमका ॥ ६ ॥ परीक्षित ! मग-सेनाका प्रबन्ध वेग दे-

कर मगवान् श्रीकृष्ण और बन्ध्याम मनुष्योंकी-सी मीठा

करने हुए उसके सामनेमें बड़ी पुनक्ति साथ भाग

निकल ॥ ७ ॥ उनके समये तनिक भी भय न था ।

फिर भी मगने कृष्णन मयमीन हा गये हों—इस प्रकार

का नाश करते हुए, वह सब-य-सब धन बड़ी छापकर

जनक यात्राके वे अपने कमराने, समान सुकम्प

चारोंमें ही—श्रीकृष्ण मागत चल गये ॥ ८ ॥ जब

मगवान्की माधराज जरासन्धन दगा नि श्रीकृष्ण और

बन्ध्याम ता मग रहे हैं तब वह अपने लगे और

अन्वधावद् रयानीकैरीन्द्रयोरग्रमाणवित् ॥ ९ ॥
 प्रहृत्य दूरं संभ्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ।
 प्रवर्षणास्य भगवान् नित्यदा यत्र वर्षति ॥ १० ॥
 गिरौ निलीनवाम्नाय नाभियम्य पदं नृप ।
 ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥ ११ ॥
 सत उत्पत्य तरसा दह्यमानवटादुभौ ।
 दक्षैकयोजनोत्तुङ्गाभिपततुरधो ध्रुवि ॥ १२ ॥
 बलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन चवृत्तौ ।
 स्तपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिक्षां नृप ॥ १३ ॥
 सोऽपि दग्भाविति मृषा मन्वानो बलकेश्वरौ ।
 बलमाकृष्य सुमहन्मगवान् भागधो ययौ ॥ १४ ॥
 आनर्चाभिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम् ।
 ब्रज्या चोन्तिः प्रानाद् बलायेति पुरोदितम् ॥ १५ ॥
 भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुत्सह ।
 वैदर्भी भीष्मकमुतां धियो मात्रां स्वयंवर ॥ १६ ॥
 प्रमथ्य तरसा राम शान्वादीर्ध्वपथगान् ।
 पश्यतां मवलोकानां नाभ्यपुत्र मुधामिष ॥ १७ ॥
 रात्रौ रात्रि
 भगवान् भीष्मकमुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् ।
 रात्रगन विधानेन उपयेम इति ध्रुवम् ॥ १८ ॥
 भगवन्प्राप्तमिच्छामि कृष्णस्यामिततमम् ।

अपनी रथ-सेनाके साथ उमकत्र पीछा करने लग्य । उसे
 भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके ऐश्वर्य, प्रमाण आदि
 का ज्ञान म था ॥ ९ ॥ बहुत दूरतक दीवनेके करल
 दोनों माई कुछ थक-से गये । अब वे बहुत ऊँचे
 प्रवर्षण पर्वतपर चढ़ गये । उस पर्वतका अर्थ
 नाम इसलिये पड़ा था कि यहाँ सदा ही—मेघ वर्ष
 किया करते थे ॥ १० ॥ परीक्षित ! जब बलरामने
 देखा कि वे दोनों पहाड़में छिप गये और बहुत ईशनेस
 भी पथ न चला, तब उसने ईशमसे मरे हुए प्रवर्षण
 पर्वतके चारों ओर आग छात्राकर उसे जल दिया ॥ ११ ॥
 जब भगवान्ने देखा कि पर्वतके छोर जलने लगे हैं,
 तब दोनों माई बलरामकी सेनाके घेरेको छोड़ते हुए
 बड़े वेगसे उस ग्याह योगन (चौदहमीस कोस) ऊँचे
 पर्वतसे एकदम नीचे धरतीपर झूद आये ॥ १२ ॥
 राजन् ! उन्हें जरासन्धने बचना उसके किसी सैनिकने
 देखा नहीं और वे दोनों माई बहाँसे चककर फिर अपनी
 समुद्रसे बिड़ी हुई द्वारकापुरीमें चले आये ॥ १३ ॥
 जरासन्धने झूठ-मूठ ऐसा माम लिया कि श्रीकृष्ण और
 बलराम तो जल गये, और फिर वह अपनी बहुत बड़ी
 सेना लेकर मगधदेशको चला गया ॥ १४ ॥

यह बात मैं तुमसे पहले ही (नवम स्कन्धमें)
 कहा चुका हूँ कि आनन्ददेशके राजा श्रीमान् रैवतजीने
 अपनी रेवती नामकी कन्या ब्रज्याजीकी प्रेरणासे बलराम
 जीके साथ ब्याह दी ॥ १५ ॥ परीक्षित ! भगवान्
 श्रीकृष्ण भी स्वयंवरमें आये हुए शिशुपाल और उसी
 पक्षपाती शास्त्र आदि नरपणियोंको बञ्चूरक हराकर
 सबके देखते-देखते, जैसे गरुडने सुबाका हराकर
 था, वैसे ही बिदर्भदेशकी राजकुमारी रुक्मिणीको ह
 लाये और उनसे विवाह कर लिया । रुक्मिणीजी का
 भीष्मकजी कन्या और स्वयं भगवनी रुक्मिणीजीका बरत
 था ॥ १६ १७ ॥

राजा परीक्षित पूछ—भगवन् ! हमने सुना
 कि भगवान् श्रीकृष्णन भीष्मकनन्दिनी परमसुन्द
 रुक्मिणीजीको बञ्चूरक हराकर उनके राजमण्डलसे उन
 साथ रिचह किया था ॥ १८ ॥ महाशय ! अब
 यह सुनना चाहता हूँ कि परम तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण

यथा मागधशस्त्रादीन् जित्वा कन्यामुपाहरत् ॥१९॥

मगधं कृष्णकया पुण्या माध्वीलोकमलापहाः ।

ये नु त्वेव शृण्वान् ध्रुवद्वो नित्यनूत ना ॥२०॥

श्रीशुक उवाच

आसीद् भीष्मको नाम विदुर्भाभिपतिर्महान् ।

स पञ्चाभवन् पुत्रा कन्यैका च धरातना ॥२१॥

कन्यप्रजो रुक्मरथो रुक्मयाधुरनन्तर ।

रुक्मकेजो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वमा सती ॥२२॥

गोपभृत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणभिय ।

एवमेतैर्गीयमानास्तं मेने सद्यं पतिम् ॥२३॥

गो बुद्धिलक्ष्णौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम् ।

हृष्या सद्यो भार्या समुद्रोर्ध्वं मनो दधे ॥२४॥

कन्यनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप ।

कदा निवार्य कृष्णद्विद्वरुक्षी वंदयममन्यत ॥२५॥

रुक्मेन्यासितापाह्नी र्ददभी दुमना शृणुम् ।

जगत्सन्ध, शास्त्र आदि नरपतियोंको जीनकर किन्तु प्रकर रुक्मिणीका हरण किया ॥ १९॥ श्रुत्यै । मगधान् धीरुष्णकी स्त्रीजाओंके सम्बन्धमें क्या कहना है । वे स्वयं तो पवित्र हैं ही, सारे जगत्का मूल धो-बहाकर उसे भी पवित्र कर देनेवाली हैं । उनमें ऐसी लोकोत्तर माधुरी है, जिसे दिन-रात सेवन करते रहनेपर भी नित्य नयानया रस मिश्रता रहता है । मगध ऐसा कौन रुक्म, कौन मगध है, जो उन्हें सुनकर वृत्त न हो जाय ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । महाराज भीष्मक विदर्भदेशके अधिपति थे । उनके पाँच पुत्र और एक सुन्दरी कन्या थी ॥ २१ ॥ सबसे बड़े पुत्रका नाम था रुक्मी और चार छोटे थे—विनके नाम थे क्रमशः रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेय और रुक्ममाली । इनकी बहिन थी सुनी रुक्मिणी ॥ २२ ॥ जब उसने मगधान् धीरुष्णके सौन्दर्य, पराक्रम, गुण और वैभवकी प्रशंसा सुनी—तो उसके गहलमें आनन्दसे अनिमित्त प्रायः गाय ही करते थे—तब उसने यही निश्चय किया कि मगधान् धीरुष्ण ही मेरे अनुरूप पति हैं ॥ २३ ॥ मगधान् धीरुष्ण भी समझते थे कि 'रुक्मिणीमें बड़े सुन्दर-सुन्दर लक्षण हैं, वह परम बुद्धिमान् है, उदारता, सौन्दर्य, दृष्टेयस्वभाव और गुणोंमें भी अद्वितीय है । इसलिये रुक्मिणी ही मेरे अनुरूप पत्नी है । मैं मगधान् रुक्मिणीभीसे विवाह करनेका निश्चय किया ॥ २४ ॥ रुक्मिणीभीके माय-भानु भी चाहते थे कि हमारी बहिनका विवाह धीरुष्णसे ही हो । परन्तु रुक्मी धीरुष्णसे बड़ा द्वेष रखता था, उसने उन्हें विवाह करनेसे रोक दिया और शिष्टाचार ही अपनी बहिनके योग्य कर समझा ॥ २५ ॥

जब परमसुन्दरी रुक्मिणीका यह मायम हुआ कि मेरा बड़ा भाई रुक्मी शिष्टाचार साध मेरा विवाह करना चाहता है, तब वे बहुत उतावट हो गयीं । उन्होंने निमित्तन्याप्त दिवस कबित् कृष्णाय प्रादिणोन्वृत्तम् २६ बहुत कुछ साध-विचारका एक विद्युत्तराय सङ्गठन

द्वारकां स समम्येत्य प्रतीहारै प्रवेशित ।

अपश्यदाद्यं पुरुषमासीन काञ्चनासने ॥२७॥

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदवस्तमवरुण निजासनात् ।

उपवेश्यार्हयाश्चक्रे यथाऽऽत्मानं दिवौकस ॥२८॥

तं मुक्तवन्तं विभक्त्यमुपगम्य सतां गति ।

पाणिनाभिमृद्वन् पादावध्यग्रस्तमपृच्छत ॥२९॥

कश्चिद् द्विजवरभ्रेष्ठ धर्मस्ते श्रुत्वसम्मतः ।

वर्षते नातिक्रुश्रेण सतुष्टमनस सदा ॥३०॥

मंतुषो यदि वर्तेत ब्राह्मणो यन केनचित् ।

अहीयमानं स्वाद्धर्मात् स ह्यस्यास्त्रिलोकमधुक् ॥३१॥

अमंतुष्टाऽमकृद्धोकापान्नोत्पपि सुरेश्वर ।

अकिंचनोऽपि सतुष्टः गेह सयाङ्गनिज्वरः ॥३२॥

विप्रान् म्बलाभमंतुष्टान् साधून् भूतमुह्यमान् ।

निर्दंकारिण द्रान्तान् नमस्य शिगमामकृत् ॥३३॥

कश्चिद्दुःखः कुशलं प्रदत्तं राजता यस्य हि प्रजा ।

सुखं वमन्ति विषय पान्यमाना न भ प्रिय ॥३४॥

यनम्भमागता दुग्ग निम्नार्हं यच्छिष्टया ।

मय ना मृगगुप्तं नत् किं कायं कथाम त ॥३५॥

दुरंत श्रीकृष्णके पास भेजा ॥ २६ ॥ जब वे ब्राह्मण-
देवता द्वारकापुरीमें पहुँचे, तब द्वारपाछ उन्हें राजमहलमें
भीतर ले गये । वहाँ जाकर ब्राह्मणदेवताने देखा कि वहाँ
पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण सोनेके सिंहासनपर विराजम
हैं ॥ २७ ॥ ब्राह्मणोंके परममह भगवान् श्रीकृष्ण ६
ब्राह्मणदेवताओं देखते ही अपने आसनसे नीचे उतर ग
और उन्हें अपने आसनपर बैठाकर बैठी ही पूजा क
जैसे देवतालोग उनकी (भगवान्की) स्तुति कर
हैं ॥ २८ ॥ आदर-सत्कार, कुशल-प्रश्नके अनन्तर व
ब्राह्मणदेवता सा-पी चुके, आराम-विश्राम कर चुके ६
संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास ग
और अपने कठमक हाथोंसे उनके पैर सहस्यते हुए बड़े धन
भाषसे पूछने लगे— ॥ २९ ॥ ब्राह्मणशिरोगे ! आप
बिना तो सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहता है न ? आप
अपने पूर्वपुरुषोंद्वारा स्वीकृत धर्मका पालन करनेमें कौ
कठिनाई तो नहीं होती ॥ ३० ॥ ब्राह्मण यदि जो कुछ
मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहे और अपने धर्मका पालन
करे, उससे श्रुत न हो, तो वह सन्तोष ही उत्प
सारी कल्पनाएँ पूर्ण कर देता है ॥ ३१ ॥ यदि इन्द्र
पद पाकर भी किसीको सन्तोष न हो तो उसे दुखमें
निये एक लोकसे दूसरे लोकमें बार-बार भ्रमण पड़ेगा
वह कहीं भी क्षणितसे स्थिर नहीं सकेगा । परन्तु जिसने
पास तनिक भी समग्र-परिग्रह नहीं है, और जो उर्ध्व
अवस्थामें सन्तुष्ट है, वह सब प्रकारसे सम्हालकर
होकर दुःखकी नीच साता है ॥ ३२ ॥ जो स्वयं प्रा
हर्ष वस्तुसे सन्तोष कर लेते हैं, तिनका स्वयं
बड़ा ही मधुर है और जो समस्त प्राणियोंके परम प्रिय
अहङ्कारहित और शान्त हैं—उन ब्राह्मणोंको मैं स
सिर झुककर नमस्कार करता हूँ ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणदेवता
राजाकी ओरसे तो आपसगर्भोंसे सब प्रकारकी सुविधा
है न ? जिसके राज्यमें प्रजापति अच्छी तरह पालन होत
है और वह आनन्दसे रहती है, वह राजा सुख बहुत ही
विषय है ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणदेवता ! आप वहाँसे, जित
हेतुमें और किम् अभिप्रायमें इनका कष्टित भग्न त
करत वहाँ प्यारे हैं ? यदि वहाँ जान विना मन्त्री
न हा तो हमसे कहिये । हम जानती क्या से

एवं सम्पृष्टसम्प्रभो ब्राह्मण परमेष्ठिना ।

लीलावृक्षीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

रुक्मिण्युवाच

श्रुत्वा गुणान् सुबनसुन्दर शृण्वतां ते

निर्विद्वक् कर्णविधरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।

रूपं दृष्ट्वा दक्षिणतमसितार्थलभं

त्वय्यच्युताविस्मृति चित्तमपत्रपं मे ॥३७॥

अ त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप

विद्यात्वयोद्विगिणधामभिरात्मतुल्यम् ।

धीरा पतिं कुलवती न हृणीत कन्या

काले नृसिंहनरलोकमनोऽभिरामम् ॥३८॥

तन्मे भवत् खलु इव पतिरङ्ग आया

मात्मार्षितम् भवतोऽयं विभो विवेहि ।

मा वीरभाताममिमर्शतु चैव आराध

गोमायुवन्युगपतेर्बलमम्बुबाध ॥३९॥

पूर्वेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-

गुर्वर्चनादिभिरल भगवान् परेशः ।

भारताभितो यदि गदाग्रय एत्थ पाणि

गृह्णातु मे न दमघोषमुतादयोऽन्धे ॥४०॥

करे ॥ ॥३५॥ परीक्षित् ! लीलासे ही मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार ब्राह्मण-देवतासे पूछा, तब उन्होंने सारी बात कह सुनायी । इसके बाद वे भगवान्से रुक्मिणीजीका सन्देश कहने लगे ॥ ३६ ॥

रुक्मिणीजीने कहा है—त्रिभुवनसुन्दर ! आपके गुणोंको जो सुननेवालोंके कानोंके रास्ते हृदयमें प्रवेश करके एक-एक लक्ष्मके ताप, जन्म-जन्मकी बल्लन वृद्धा देते हैं तथा अपने रूप-सौन्दर्यको जो नेत्रवाले जीवोंके नेत्रोंके लिये धम, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके फल एवं स्वार्थ-परमार्थ सब कुछ हैं, श्रवण करके प्यारे लभ्युत । मेरा चित्त लज्जा, शर्म सब कुछ छोड़कर आपमें ही प्रवेश कर रहा है ॥ ३७ ॥ प्रेम्सरूप इन्द्रसुन्दर ! चाहे जिस दृष्टिसे देखें, कुल, शील, क्षमा, सौन्दर्य, विद्या, अवस्था, धन-धाम—सभीमें आप अद्वितीय हैं, अपने ही समान हैं । मनुष्य-लोकमें जितने भी प्राणी हैं, सबका मन आपको देखकर क्षणिकरूप अनुभव करता है, आनन्दित होता है । अब पुरुषभूषण ! आप ही कतलाइये—ऐसी कौन-सी कुल-वती, महागुणवती और धैर्यवती कन्या होगी, जो त्रिधाहके योग्य समय आनेपर आपको ही पसिके रूपमें धारण न करेगी ? ॥३८॥ इसीलिये प्रियतम ! मैं आपको वरमसमर्पण कर चुकी हूँ । आप अन्तर्यामी हैं । मेरे हृदयकी बात आपसे छिपी नहीं है । आप यहाँ पधारकर मुझे अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये । कर्मजनयन ! प्राणबल्लभ ! मैं आप-सरीसे वीरको समर्पित हो चुकी हूँ, आपकी हूँ अब जैसे सिंहका माग सिपार पूरा जाय, वैसे कहीं सिद्धपाथ निकटसे आकर मेरा स्पर्श न कर जाय ॥३९॥ मैं यदि जन्म-जन्ममें पूर्ण (कूर्जों, बाघकी आदि खुद बनाया), इष्ट (यथादि करना), दान, नियम, क्रतु तथा देवता, ब्राह्मण और गुरु आदिकी पूजाके द्वारा भगवान् परमेश्वरकी ही आराधना की हो और वे मुझपर प्रसन्न हों, तो भगवान् श्रीकृष्ण आकर मेरा पाणिग्रहण करेंगे । सिद्धपाथ अपना दूसरा कोई भी पुरुष मेरा स्पर्श

शोभाविनि त्वमञ्जितोद्गहने विदर्भान्

गुप्तः समेत्य पृथनापतिभिः परितः ।

निर्मम्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसन्न

मां राख्यसेन विधिनोद्गह नीर्यञ्ज्यकम् ॥४१॥

अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य कन्धू-

स्त्वामुद्गहे कथमिति प्रबहाम्युपायम् ।

पूर्वेपुरस्ति महती कुलदेवियात्रा

यस्यां वदिर्नवधूर्गिरिजामुपेयात् ॥४२॥

यस्याङ्गिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो

वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।

मर्षम्युजाय न लभेय भवत्प्रसन्नं

ब्रह्मामसन् प्रवक्ष्याञ्छतबन्मभिः स्यात् ॥४३॥

महापुरुष उवाच

इत्येते गुप्तसंदिग्धा यदुद्देश मयाऽऽहृताः ।

विमृश्य कर्तुं यथात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥४४॥

न कर सके ॥ ४० ॥ प्रभो! आप वञ्चित हैं। जिस दिन मेरा विश्वास होनेवाला हो उसके एक दिन पहले आप हमारी राखधानीमें गुप्तरूपसे आ जायें और फिर वड़े-बड़े सेनापतियोंके साथ शिशुपाम तथा बराहपक्षी सेनाओंको मार डालिये, तब-तब कर दीजिये और बलपूर्वक राखसविधिसे भीरताकत्र मृत्यु देकर मेरा पाणि-प्रक्षालन करिनिये ॥ ४१ ॥ यदि आप सोचते हैं कि 'तुम तो अन्तःपुरमें—भीतरके बनाने मण्डलोंमें पहले के अन्दर रहती हो, तुम्हारे मार्ग-बन्धुओंको मारे बिना मैं तुम्हें कैसे ले जा सकता हूँ,' तो इसका उपाय मैं आपको बतलाये देती हूँ। हमारे कुलका ऐसा नियम है कि बिवाहके पहले दिन कुलदेवीका दर्शन करनेके लिये एक बहुत बड़ी यात्रा होती है, सुखस निःकण्ठा है—जिसमें बिवाही जानेवाली कन्याको—दुबहिनको मारके बाहर गिरिजादेवीके मन्दिरमें जाना पड़ता है ॥ ४२ ॥ कम्पनयन! उमापति मन्मथन् शङ्करके सम्मन बड़े-बड़े महापुरुष भी आत्मसन्निधि के लिये आपके चरणमर्ममर्षी बूझते स्नान करना चाहते हैं। यदि मैं आपका यह प्रसाद, आपकी यह चरणचूष नहीं प्राप्त कर सकी तो अतृष्टा शरीरको दुःखाकर प्राण छोड़ दूंगी। वही उसके लिये सेकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें, कभी-न-कभी तो आपका यह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा ॥ ४३ ॥

ब्रह्मण्येषवताने कदा-यदुद्देशादितोमरे। यही इन्तिमार्ग-के अत्यन्त गोपनीय सन्देश हैं जिन्हें लेकर मैं आपके पास आया हूँ। इसके सम्बन्धमें जो कुछ करना हो, विचार कर लीजिये और तुरंत ही उसके अनुसार कार्य करिनिये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमार्थ्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

रुक्मिण्युद्गहप्रसावे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

रुक्मिणीहरण

ग्रहस पाणिना पाणि ग्रहसमिदममवीत् ॥ १ ॥

भीमगवान्वाच

तदाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निद्रि ।

वदहं रुक्मिणा द्वेपत्नमोद्वाहो निवारित ॥ २ ॥

तामानविष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान् मृषे ।

मत्परामनवद्याङ्गीमेवसोऽग्निशित्तामिव ॥ ३ ॥

भीमक उवाच

तदाहं च निद्राय रुक्मिण्या मधुच्छदनः ।

रयः संयुज्यतामाशु दासकेत्याह सारथिम् ॥ ४ ॥

स चाद्यैः शैम्यसुग्रीवमेवपुष्पबलाहकैः ।

युक्तं रयसुपानीय तस्यौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५ ॥

आरुह्य सान्दनं क्षौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णैः ।

आलस्यदिक्प्रायेण विदर्भानगमद्वयैः ॥ ६ ॥

राज्ञा स कृण्वन्पतिः पुत्रस्नेहवर्धं गतः ।

शिशुपत्याय स्वां कन्यां दास्यन् कर्माप्यकारयत् ॥ ७ ॥

पुरं सम्भृष्टसिक्तमार्गरभ्याश्चतुष्पथम् ।

भित्रप्यवपठाकाभित्तोरणैः समलङ्कृतम् ॥ ८ ॥

सम्प्राप्तमास्याभरणैर्विभोऽम्बरमूर्षितैः ।

शुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्वृद्धैर्युगुपूषितैः ॥ ९ ॥

पितृन् देवान् समम्यर्च्य विप्रांश्च विभिवन्नृप ।

भोवतिता यथान्यार्च वाचयामास महलम् ॥ १० ॥

सुनकर अपने हाथसे ब्राह्मणदेवताका हाथ पकड़ लिया और हँसते हुए यों बोले ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्राह्मणदेवता ! जैसे विदर्भराजकुमारी मुझे चाहती हैं, वैसे ही मैं भी उन्हें चाहता हूँ । मेरा चित्त उन्होंने व्यर्थ रहता है । कहीं-तक कहूँ, मुझे रातके समय नींदतक नहीं आती । मैं जानता हूँ कि रुक्मीने द्वेपत्ना मेरा विवाह ठेक दिया है ॥ २ ॥ परन्तु ब्राह्मणदेवता ! आप देखियेगा, जैसे लकड़ियोंको मयकर—एक-दूसरेसे रगड़कर मनुष्य उनमेंसे आग निकाल लेता है, वैसे ही युद्धमें उन नाम-धारी क्षत्रियकुलकलङ्कोंको तहस-नाहस करके अपनेसे प्रेम करनेवाली परमसुन्दरी राजकुमारीको मैं निकाल लूँगा ॥ ३ ॥

भीमकनेवही कहते हैं—परीक्षित ! मधुसूदन श्रीकृष्णने यह जानकर कि रुक्मिणीके विवाहकी छ्म परसों रात्रिमें ही है, सारथीको बधा दी कि 'दासक ! तनिक भी विराम न करके रथ जोत आओ' ॥ ४ ॥ दासक भगवान्के रथमें शैम्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके चार घोड़े जोतकर उसे में आया और हाथ जोड़कर भगवान्के सामने खड़ा हो गया ॥ ५ ॥ धूमपान श्रीकृष्ण ब्राह्मणदेवताको पहले रस्म चढ़ाकर फिर आप भी सवार हुए और उन शीघ्रगामी घोड़ोंके द्वारा एक ही रातमें आनन्दवेशसे विदर्भदेशमें आ पहुँचे ॥ ६ ॥

कुण्डिननरेश महाराज भीष्मक अपने बड़े लड़के रुक्मीके स्नेहवश अपनी कन्या शिशुपायाम्बे देनेके लिये विवाहोत्सवकी तैयारी करा रहे थे ॥ ७ ॥ नगरके राजपथ, भीराहे तथा गम्भी-शूचे ब्राह्म-मुहार दिये गये थे, उनपर छिन्नकान किया जा चुका था । भित्र-विभित्र, रंग-भिरंगी, छोटी-बड़ी लकड़ियों और पत्ताकारों लगा दी गयी थी । तोरल बाँध दिये गये थे ॥ ८ ॥ वहाँके श्री-गुरुय पुष्प माछा, हार, हस्त-श्लेष, चन्दन, गहन और निर्मल बहोंसे सजे हुए थे । वहाँके सुन्दर-सुन्दर घरोंमें आगके धूपकी सुगन्ध फैल रही थी ॥ ९ ॥ परीक्षित ! राजा भीष्मकने सितर और देवताओंका विभिन्न-विभिन्न ध्वन करके ब्राह्मणोंको योजन करवा और नियमानुसार सन्निवाचन भी ॥ १० ॥

सुस्नातां सुदर्शीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।
 अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥११॥
 चक्रं सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वच्चा रक्षां द्विषोत्तमा ।
 पुरोहितोऽप्यर्वविद् वै जुहाव ग्रहशान्तये ॥१२॥
 हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च शुद्धमभितान् ।
 भ्राताद् घेनूश्च विप्रेभ्यो राज्ञा विधिविदां वरः ॥१३॥
 एवं चेदिपती राज्ञा दमयोपः सुतस्य वै ।
 कारयामास मन्त्रहैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥१४॥
 मदभ्युद्भिर्गजानीकैः स्पन्दनैर्हममालिभिः ।
 पश्यन्सङ्कुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ ॥१५॥
 त वै विदर्भाधिपति समम्येत्याभिपूज्य च ।
 निवेशयामास मुदा कल्पितान्निवेशने ॥१६॥
 सत्र क्षान्तो वरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः ।
 आजगमुर्बैद्यपक्षीवा पौण्ड्रकाया सहस्रशः ॥१७॥
 कृष्णारामद्रिपो यथा कन्यां वैद्याम साधितुम् ।
 यथागत्य हरेत् कृष्णो रामाद्यैर्वहुर्मिहितः ॥१८॥
 योत्स्याम संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः ।
 आश्रयमुर्मस्रजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥१९॥
 भुत्स्येत्तद् भगवान् रामो निपक्षीयनुषोद्यमम् ।
 कृष्णं चैकं गतं हत कन्यां फलदसङ्कितः ॥२०॥

सुशोभित दौतोबाही परमसुन्दरी राजकुमारी
 रुक्मिणीजीको स्नात करवाया गया, उनके हाथमें मङ्गल
 सूत्र पहनाये गये, कोहल बनाया गया, दो नंगे
 गये वस्त्र उन्हें पहनाये गये और वे उत्तम-उत्तम वामूलों
 से विभूषित की गयीं ॥ ११ ॥ भ्रेष्ठ ब्राह्मणोंने सम्पत्ति
 और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे उनकी रक्षा की और वर्य
 वेदके विद्वान् पुरोहितने ग्रहशान्तिके लिये हुन किया ॥ १२ ॥
 राजा भीष्मक कुलपरम्परा और शाहीय विधियोंके जो
 जानकार थे । उन्होंने साना, चौदरी, वस्त्र, गुड़ मिष्ठान
 तिन और गौरों ब्राह्मणोंको दीं ॥ १३ ॥

इसी प्रकार चेदिनरेश राजा दमघोषने भी अपने पु
 त्रिष्णुप्राणके लिये मन्त्रज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने पुत्रके लिये
 सम्बन्धी मङ्गलकृत्य करवाये ॥ १४ ॥ इसके बाद वे म
 तुकासे हुए हाथियों, सोनेकी माल्यकोंसे सजाये हुए रत्ने
 पैदलों तथा घुसबाजोंकी चतुरङ्गिणी सेना साथ ले
 कुण्डिनपुर जा पहुँचे ॥ १५ ॥ विदर्भराज भीष्मक
 आगे आकर उनका स्वागत-सत्कार और प्रणयके अनुसार
 अर्चन-पूजन किया ॥ इसके बाद उन लोगोंको पहले
 ही निश्चित किये हुए जनवासोंमें आनन्दपूर्णक ठहरा
 दिया ॥ १६ ॥ उस बारहवें शतक, बारहसन्ध, दन्तक
 विदूरथ और पौण्ड्रक आदि विष्णुप्राणके सहस्रों नि
 वरपति आये थे ॥ १७ ॥ वे सब राजा श्रीकृष्ण के
 बलरामजीके विरोधी थे और राजकुमारी रुक्मिणी विष्णुप्रा
 णको ही मिले, इस विचारसे आये थे । उन्होंने अपने
 अपने मनमें यह पहचाने ही निश्चय कर लखा था कि
 यदि श्रीकृष्ण बलराम आदि यदुवंशीयोंके साथ बात
 कत्याको हरनेकी चेष्टा करेगा तो हम सब मिलकर
 उससे लड़ेंगे । यही कारण था कि उन राजाजोंने अपने
 अपनी पूरी सेना और रथ, घोड़े, हाथी आदि भी अपने
 साथ ले लिये थे ॥ १८ १९ ॥

निपक्षी राजाजोंकी इस तैयारीका पता मया
 बलरामजीको लगा गया और जब उन्होंने यह सुना कि
 भीमा श्रीकृष्ण लगेले हैं राजकुमारिक डरण करने
 लिये चल गये हैं, तब उन्हें बहो खड़ाई-लगानेकी च

बलेन महता सार्धं आतुस्नेहपरिप्लुतः ।

त्वरितं कुण्डिनं प्राप्ताद्यु गजाम्बरथपक्षिभिः ॥२१॥

भीष्मकन्या वरासोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरे ।

प्रत्यासत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ॥२२॥

अहं त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽज्जपराधम ।

नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेदुम्यत्र कारणम् ।

सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्संदेशहरो द्विज ॥२३॥

अपिमन्यन्वधात्मा हृष्ट्य किञ्चिज्जुगुप्सितम् ।

मत्पात्रिग्रहणे नूनं नाभाति हि कुतोद्यमः ॥२४॥

इर्मगाया न मे घाता नानुकूलो मद्देश्वरः ।

देवी वा विमुक्ता गौरी रुद्राणी गिरिकासती ॥२५॥

एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।

न्यमीलयत कालम्ना नेत्रे चाम्बुकलाकुले ॥२६॥

एवं वक्ष्या प्रतीक्षन्त्या गाविन्दागमनं नृप ।

बाम ऊरुध्रुवो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिण ॥२७॥

अथ कृष्णविनिर्दिष्टं स एव द्विजमवधम ।

अन्तःपुरचरी देवी राजपुत्रीं ददर्श ह ॥२८॥

सा तं प्रहृष्टवदनमप्यग्राभगतिं सती ।

आपृच्छा हर्ष ॥ २० ॥ यद्यपि वे श्रीकृष्णका बल-विक्रम जानते थे, फिर भी आतुस्नेहसे उनके हृदय भर आया, वे दुरंत ही हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर कुण्डिनपुरके लिये चल पड़े ॥ २१ ॥

इधर, परमसुन्दरी रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं । उन्होंने देखा श्री-कृष्णकी तो कौन कड़े, अभी ब्राह्मणदेवता भी नहीं छीटे । वे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं, सोचने लगीं ॥२२॥ 'अबो! अब मुझ अमांगिनीके विवाहमें केवल एक रासकी देरी है । परन्तु मेरे जीवनसर्कष कमलनयन भगवान् अब भी नहीं पधारे । इसका क्या कारण हो सकता है, कुछ निश्चय नहीं मालूम पड़ता । यही नहीं, मेरे सन्देश ले जानेवाले ब्राह्मणदेवता भी तो अभी तक नहीं छीटे । २३। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वल्प परम शुद्ध है और विदुष्य पुरुष हैं उनसे प्रेम कर सकते हैं । उन्होंने मुझमें कुछ-न-कुछ सुगई देखी होगी, तभी तो मेरा हाथ पकड़नेके लिये—मुझे खींचकर करनेके लिये उधत होकर वे यहाँ नहीं पधार रहे हैं' ॥२४॥ ठीक है, मेरे भाग्य ही मन्द हैं । विवाहा और भगवान् शहर भी मेरे अनुकूल नहीं जान पड़ते । यह भी सम्भव है कि रुद्रपत्नी गिरिकासकुमारी सती पावतीजी मुझसे अप्रसन्न हों' ॥ २५ ॥ परीक्षित 'रुक्मिणीजी इसी उधक-मुनमें पड़ी हुई थीं । उनके सम्पूर्ण मन और उनके सारे मनोभाव मज्जमनघोर भगवान्के चरण लिये थे । उन्होंने उन्हींको सोचते-सोचते 'अभी समय है' ऐसा समझकर अपने ओंठपरे नेत्र बन्द कर लिये ॥२६॥ परीक्षित ! इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं । उसी समय उनकी बायीं जोंब, मुत्रा और नेत्र पड़कने लगे, जो प्रियतमके आगमनका प्रिय संवाद सूचित कर रहे थे ॥ २७ ॥ इतनमें ही भगवान् श्रीकृष्णके भेजे हुए वे ब्राह्मणदेवता आ गये और उन्होंने अन्तःपुरमें राजपुत्री रुक्मिणीका इस प्रकार देखा माना कोई प्यार मन्मदशी हो ॥ २८ ॥ सती रुक्मिणीजी भगवान् ब्राह्मण-देवताका मुख प्रकृष्टित है । उनके मन और चेहरेपर

नानोपहारबलिभिः प्रदीपाबलिभिः पुष्पैः ॥४७॥

विप्रस्त्रिय पतिमतीन्तथा चैव समपूजयत् ।

तथापापपताम्भूलकण्टकप्रफलेभ्युभिः ॥४८॥

तस्यै स्त्रियन्ता प्रददुः शेषां युयुजुराक्षिप ।

ताम्मा देव्यं नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वपूः ॥४९॥

मुनिव्रतमथ त्वक्त्वा निधकापाम्बिकागृहात् ।

प्रगृह्य पाणिना मृत्पां रत्नमुद्रोपशोभिना ॥५०॥

तां दधमायामिव वीरमोहिनीं

सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् ।

श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां

भ्यञ्जितस्तनीं कुन्तलघट्टितेषणां ॥५१॥

शुचिमितां विम्बफलाधरघुति

शोणाममानद्विजङ्गमकुहमलाम् ।

पदा चञ्चलीं कलईसगामिनीं

त्रिअस्कलानुपुरधामशोभिना ।

विलास्य वीरा मुमुक्षुः समागता

यशस्विनस्तत्तद्वच्छयाश्रिता ॥५२॥

यां वाक्ष्ये तं नृपयन्मदुदारहाय

प्रादायान्तरङ्गमथ तम उज्जितवागा ।

१ कुहम् । २ शोभिनाम् ।

प्रकारके नैवेद्य, मंत्र और आरती आदि सामग्रियोंसे
अम्बिकादेवीकी पूजा की ॥ ४७ ॥ तदनन्तर उस
सामग्रियोंसे तथा नमक, पूआ, पान, कण्टक, फल और
ईखसे सुहागिन ब्राह्मणियोंकी भी पूजा की ॥ ४८ ॥
तब ब्राह्मणियोंने उन्हें प्रसाद देकर वाशीर्वाद दिये और
दुःखहिनने ब्राह्मणियों और माता अम्बिकाको नमस्कार
करके प्रसाद ग्रहण किया ॥ ४९ ॥ पूजा-अर्चकी
विधि समाप्त हो जानेपर उन्होंने मैत्रेय ऋषि को
खलबलित अँगूठीसे जगमगाते हुए करकमलके द्वारा एक
सहेलीका हाथ पकड़कर वे शिरिषामन्दिरसे बाहर
निकली ॥ ५० ॥

परीक्षित ! रुक्मिणीकी भगवान्की मायके सम्प
॥ बड़े-बड़े वीर-वीरोंको भी मोहित कर देनेवाली थी
उनका कटिभाग बहुत ही सुन्दर और पतल्य था
मुसलमण्डलपर कुम्हलोंकी शोभा जगमगा रही थी ।
किन्नोर और तरुण अम्बिकाकी सन्निधिमें स्थित थी
नितम्बपर जङ्गाड करवनी शोभायमान हो रही थी
वस्त्र-स्पर्श कुछ ठपरे हुए थे और उनकी छटि लटक
हुई अम्बिकाके कारण कुछ चञ्चल हो रही थी ॥ ५१ ॥
उनके हाथोंपर मनाहर मुसकन थी । उनके दोनों
पोंन थी तो कुन्दपत्तियोंके समान परम उज्ज्वल, परन्तु
पके हुए कुन्तलके समान काल-स्पर्श हाथोंकी चमकसे
उत्तर गी लालिमा आ गयी थी । उनके पोंनोंके फलके
चमक रहे थे और उनमें लगे हुए छोटे-छोटे सुन्दर
रत्नहनुन-रत्नमुन कर रहे थे । वे करने सुकुमार बाल-
कमलोंसे पैराल ही रावहमकी गतिसे चल रही थी ।
उनकी वह अर्ध छवि ललकत बहो आये हुए बड़े-बड़े
यशस्वी वीर सब मोहित हो गये । क्रमदेवने ही
भगवान्का कथन सिद्ध करनेके लिये अपने बगोंसे उनका
हृदय जर्जर कर दिया ॥ ५२ ॥ रुक्मिणीनी हम प्रसार
हम उमक-याशक बहान मन्द-मन्द गतिसे चला
भगवान् की शृङ्गार अना राशि-राशि मोन्दर्य निजस
कर रही थी । उन्हें शृङ्गार और उनकी सुगुणी सुमगन

पेतु द्वितौ गजरथमगता निमूढा

मात्रात्कलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५३॥

सैव शनैश्चलयती चलयश्चक्रेशौ

प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ।

उत्सर्प्य वामकरश्चैरलकानपाङ्गैः

प्राप्तान् प्रियैश्चत नृपान् दृष्ट्वेऽच्युत सा ॥५४॥

तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं

जहार कृष्णो द्विपतां समीक्षताम् ।

रथं समाराध्य सुपर्णलक्षणं

रात्रन्यश्चक्र परिभूय भाषयः ॥५५॥

ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः

सुगालमध्यादिषु भागद्वन्द्विभिः ॥५६॥

तं मानिनं स्वामिभवं यशःश्रव्यं

परे वरासंधवशा न सेहिरि ।

अहो विगम्यान् यद्य आपन्नवनां

गोपैर्हृतं कैसरिणां मृगैरिव ॥५७॥

तथा लमीली चितवनपर अपना चित छुटकर वे बड़े-
बड़े नरपति एवं वीर इतने मोहित और बेहोश हो गये
कि उनके हाथोंसे जख-शख छूटकर गिर पड़े और वे
स्वयं भी रथ, हाथी, तथा घोड़ोंसे घरतीपर आ
गिरे ॥ ५३ ॥ इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके
शुभागमनकी प्रतीक्षा करती हुई अपने कमलकी कलीके
समान सुकुमार चरणोंको बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ा
रही थीं । उन्होंने अपने बायें हाथकी अँगुलियोंसे
मुखकी ओर झुकती हुई अङ्गके हटायों और बहाँ बाये
हुए नरपतियोंकी ओर कमीली चितवनसे देखा । उसी
समय उन्हें इयामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके दशन
हुए ॥ ५४ ॥ राजकुमारी रुक्मिणीजी रथपर चढ़ना
हीं चाहती थीं कि भगवान् श्रीकृष्णने समस्त शत्रुओंके
देखते-देखते उनकी भीड़मेंसे रुक्मिणीजीको उठा लिया
और उन सैकड़ों राजाओंके सिरपर पोंच रखकर उन्हें
अपने उस रथपर बैठा लिया, जिसकी ध्वजापर गरुडका
चिह्न लगा हुआ था ॥ ५५ ॥ इसके बाद जैसे सिंह
सिंघारोंके बीचमेंसे अपना भाग ले जाय, वैसे ही
रुक्मिणीजीको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण वनरामजी आदि
यदु-मित्रियोंके साथ बहाँसे चल पड़े ॥ ५६ ॥ उस समय
अरासन्वके बराबरी अग्निपानी राजाओंको अपना पक्ष
बढ़ा मारी निरत्नकर और यद्य-कीर्तिक्र नाश सहन न
हुआ । वे सब-के-सब चिड़कर कहने लगे—'अहो,
हमें निरत्नकार है । आज हमलोग बहुत धरन करके खड़े
ही रहे और ये ग्वाले, जैसे सिंहके मागको हरिन ले
जायें उसी प्रकार हमारा साथ पश छीन ले गये ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्या संज्ञितार्था दशमस्कन्ध
उत्तरार्धे रुक्मिणीहरणे नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

अथ चतु पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पिण्डपादके सायी राजाओंकी और रुक्मीकी हार तथा श्रीहृष्य रुक्मिणी-विधाह

श्रीकृष्ण उवाच

इति सर्वे सुमरुद्धा बाहानास्त्र दक्षिता

श्रीकृष्णजी कहते हैं—परीक्षित । इस प्रसन्न
कह-सुनकर सब के-सब राजा क्रोधसे आगवन्ता हो
उठे और कथ पछनकर अपने-अपन बाहनोपर सवार

आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समष्ट्यञ्छच्छुचिसिता ॥२९॥

तस्मा आवेदयत् प्राप्तं श्रुत्वा यदुनन्दनम् ।

उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति ॥३०॥

तमागतं समाधाय वैदर्भी हृद्यमानसा ।

न पश्यन्ती आश्रयणाय प्रियमन्यक्तनाम सा ॥३१॥

प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्राहप्रेक्षणोत्सुकौ ।

अन्यथाचूर्णबोधेन रामकृष्णौ समर्प्यौ ॥३२॥

मधुपर्कमपानीय वासांसि विरजांसि सः ।

उपायनान्यभीष्टानि विभिवत् समष्ट्ययत् ॥३३॥

तयोर्निवेशनं श्रीमदुपकल्पं महामतिः ।

ससैन्ययोः सात्तुगयोरातिथ्यं विदधे यथा ॥३४॥

एव राज्ञां समेतानां यथावीय यथावम ।

यथाबलं यथाविचं सर्वैः कर्मैः समर्पयत् ॥३५॥

कृष्णमागतमाकर्ष्य विदर्मपुरवासिनः ।

आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तमुत्पङ्कजम् ॥३६॥

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा ।

असावप्यनयधारमा मैत्र्या समुचितं पतिः ॥३७॥

किञ्चिदुपरितं यमस्तनं तुष्टश्लोककृत् ।

किंती प्रकास्की घबराहट नहीं है । वे उन्हें देखकर
छक्ष्णोसे ही सम्प्र गयीं कि मगवान् श्रीकृष्ण अगये ।
स्त्रि प्रसन्नतासे श्लिष्टकर उन्होंने ब्राह्मणदेवतासे
पूजा ॥ २९ ॥ तब ब्राह्मणदेवताने निवेदन किया कि
'मगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधार गये हैं ।' और उनकी मूरि
मूरि प्रशंसा की । यह भी बतलाया कि 'शानकुमारीजी ।
आपको से जानेकी उन्होंने सत्य प्रतिज्ञा की है' ॥ ३० ॥
मगवान्के क्षुमागमनका समाचार सुनकर रुक्मिणीभी
हृदय आनन्दान्तरिकसे भर गया । उन्होंने इसके बरसे
ब्राह्मणके लिये मगवान्के अनिरिक्त और कुछ प्रिय न
देखकर उन्होंने केवल नमस्कार कर लिया । अर्चद
जगतकी सभ्य लक्ष्मी ब्राह्मणदेवताको सौंप दी ॥ ३१ ॥

राजा भीष्मकने सुना कि मगवान् श्रीकृष्ण और
कलारामजी मेरी कन्यका निहाल देखनेके लिये उत्सुक
का यहाँ पधार हैं । तब तुम्हीं, मेरी आदि बन्ने बन्नाते
हुए पूजाकी सम्प्री लेकर उन्होंने उनकी अगन्ती
की ॥ ३२ ॥ और मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा उत्तम-
उत्तम भेंट देकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ ३३ ॥
भीष्मकजी बड़े बुद्धिमान् थे । मगवान्के प्रति उनकी
बड़ी भक्ति थी । उन्होंने मगवान्को सेना और साधियोंके
सहित समस्त सामग्रियोंसे युक्त निवासस्थानमें ठहराया
और उनका यथावत् आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ३४ ॥
विदर्मराज भीष्मकजीके यहाँ निमन्त्रणमें आने राजा आये
थे, उन्होंने उनके पराक्रम, अकस्मा, कम और धनके
अनुसार सारी इच्छित वस्तुएँ देकर सबका सब सत्कार
किया ॥ ३५ ॥ विन्मदेशके नागरिकोंने जब सुना कि
मगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधार हैं, तब वे डोम मगवान्के
निवासस्थानपर आये और अपने अपने मयनोंकी अंशलिमें भर
भरकर उनके बदनारविन्दका मधुर मकरन्द-रस पान
करने लगे ॥ ३६ ॥ वे आपसमें इस प्रकार बातचीत
करते थे—रुक्मिणी इन्हींकी अर्धाङ्गिनी होनेके योग्य
है, और ये परम पवित्रमूर्ति क्षामसुन्दर रुक्मिणीके ही
योग्य पनि हैं । दूसरी कोई इनकी पत्नी होनेके योग्य
नहीं है ॥ ३७ ॥ यदि हमने अपने पूज्यम् य इस
जगमें कुछ भी सत्कर्म किया हो, तो त्रिकोण-निवासा

अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमन्थुत ॥३८॥

एवं प्रेमकलावद्धा वदन्ति स पुरौकस ।

कन्या चान्त पुराव प्रागात् भट्टैर्गुप्ताम्बिकालयम् ॥३९॥

पङ्कथां विनिर्घोषैर्द्रुं भवान्याः पादपङ्कजम् ।

सा चानुष्मापती सम्पद् सुहृन्दचरणाम्बुजम् ॥४०॥

भजन्त्याहमि' सार्धं सस्त्रीभिः परिवारिता ।

गुप्ता रात्रभट्टैः, धूरैः सम्पदैरुद्यतायुधैः ।

मृदङ्गवङ्कजपञ्चवास्तूर्पमेर्यम् अमिरे ॥४१॥

नानोपहारबलिभिर्वारिमुत्स्या सहस्रस्रः ।

सगन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्या स्वलङ्कृताः ॥४२॥

गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः ।

परिवार्य वर्षं जम्बुः स्रुतमागभवाग्निदिन ॥४३॥

वासाय देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा ।

उपसृज्य श्रुचि श्रान्ता प्रविशेश्वाम्बिकान्तिकम् ॥४४॥

तां वै प्रथयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोपित ।

भवानी चन्दयाश्चकुर्मवपत्नी भवान्विताम् ॥४५॥

नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीष्टार्ण स्वसन्तानयुतां शिवाम् ।

मृपात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥४६॥

अग्निर्गन्धाधैतैर्घृषैर्वास'सम्पाद्यमृपणैः ।

१ वैदर्भ्यां विधिकस्यापि । २ दीपिका ।

मा १० सं २, ५९—

भगवान् हमपर प्रसन्न हों और ऐसी कृपा करें कि श्याम-
सुन्दर श्रीकृष्ण ही विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीजीके
पाणिग्रहण करें ॥ ३८ ॥

परीक्षित ! जिस समय प्रम-परवश होकर पुरवासी
योग परस्पर इस प्रकार बातचीत कर रहे थे, उसी
समय रुक्मिणीजी अन्त पुरसे निकलकर देवीजीके
मन्दिरके शिथे खड़ी । बहुत-से सैनिक उनकी रक्षामें
नियुक्त थे ॥ ३९ ॥ वे प्रेममूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-
कमलके चिन्तन करती हुई मगधकी भवानीके पाद
पङ्कजोंका दर्शन करनेके लिये पैदल ही चली ॥ ४० ॥
वे सर्व मौन थीं और माताएँ तथा सखी-सहेलियाँ सब
जोरसे उन्हें घेरे हुए थीं । शूरवीर राजसैनिक हाथोंमें
अस्त्र-शस्त्र ठाठये, कलच धरने उनकी रक्षा कर रहे थे ।
उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, ढोल, तुम्हरी और मेरी आदि
बाजे बज रहे थे ॥ ४१ ॥ बहुत-सी श्रावणपत्नियाँ
पुष्पमाला, चन्दन आदि सुगन्ध द्रव्य और गहने-काजोंसे
सज्ज-भनकर साय-साय खड रही थीं और अनेकों
प्रकारके उपहार तथा पूजन आदिकी सामग्री लेकर
सहस्रों श्रेष्ठ वाद्ययंत्रों मी साय थीं ॥ ४२ ॥ गवैये
गाते जाते थे, अजैयाले बाजे बजाते खडते थे और स्तुत,
मगध तथा बंदीजन दुःखजिनके चारों ओर जय-जयकर
करते—किरद बखानते जा रहे थे ॥ ४३ ॥ देवीजीके मन्दिर
में पहुँचकर रुक्मिणीजीने अपने कमलके सदृश सुकोमल
हाथ-पैर जोये, आचमन किया; इसके बाद बाहर-भीतरसे
परित्र एवं शान्तमावसे युक्त होकर अम्बिकादेवीके
मन्दिरमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ बहुत-सी विधि-विधान
जाननेवाली बड़ी-बूढ़ी ब्राह्मणियाँ उनके साथ थीं ।
उन्होंने भगवान् शङ्करजी अर्द्धाङ्गिणी भवानीको और
मगधान् शङ्करजीको मी रुक्मिणीजीसे प्रणाम
करवाया ॥ ४५ ॥ रुक्मिणीजीने भगवतीसे प्रार्थना की—
‘अम्बिका माता ! आपकी गोदमें बैठे हुए आपके प्रिय
पुत्र गणेशजीको तथा आपके मैं बार-बार ममस्कार
करती हूँ । आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरी
अमिताया पूर्ण हो । भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे पति
हों ॥ ४६ ॥ इसके बाद रुक्मिणीजीने अन्न, गन्ध,
अक्षत, धूप, बत्त, पुष्पमाला, हार, आभूषण, अनेकों

नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥४७॥

विप्रक्षिप पविमरीस्तथा तैः समपूजयत् ।

लवणापूपताम्बूलकण्टकसूत्रफलेष्टुभिः ॥४८॥

सस्यै स्त्रियस्ताः प्रददु श्रेयां युधुमुराक्षिप ।

ताम्यो देव्यै नमस्कृत्य श्रेयां च अगृहे बधुः ॥४९॥

मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निष्क्रामाम्बिकागृहात् ।

प्रगृह्य पाणिना मृत्पां रत्नसुश्रोपशोभिना ॥५०॥

तां देवमायामिव वीरमोहिनीं

सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् ।

श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां

भ्यङ्गतस्तनीं कुन्तलखङ्कितेषणाम् ॥५१॥

शुचिस्नितां विम्वफलाधरसुखि

घोणायमानद्विबहुन्दुन्दुमलाम् ।

पदा चलन्तीं कलईसगामिनीं

विभक्तलान्पुरधामशोभिना ।

त्रिलोक्य वीरा मुमुदु समागत

यशस्विनस्तन्वृतहृष्टपादिता ॥५२॥

पां धीस्य ते नृपतपमदूदारहाम

भाहारताम्रतपेनम उन्मिताम् ।

१ सुवर्ण । २ शोभिनाम् ।

प्रकरके नैवेद्य, मंत्र और आरती आदि सामग्रियोंसे
अम्बिकादेवीकी पूजा की ॥ ४७ ॥ तदनन्तर उस
सामग्रियोंसे तथा नमक, पूज्य, पान, कण्टसूत्र, फल और
ईससे सुहागिन शास्त्रिणोंकी भी पूजा की ॥ ४८ ॥
तब शास्त्रिणोंने उन्हें प्रसाद देकर आशीर्वाद दिये और
दुलहिनने शास्त्रिणों और माता अम्बिकाको नमस्कार
करके प्रसाद ग्रहण किया ॥ ४९ ॥ पूजा-अर्चकी
विधि समाप्त हो जानेपर उन्होंने मौन ब्रत तोड़ दिया और
रत्नबदित अँगूठीसे जगमगाते हुए करकण्ठके द्वारा एक
सहेलीका हाथ पकड़कर वे गिरिनामन्दिरसे बाहर
निकली ॥ ५० ॥

परीक्षित । रुक्मिणीकी भगवान्की मर्यादे सम्म
ही बड़े-बड़े वीर-वीरोंको भी मोहित कर लेनेवासी थीं ।
उनका कटिभाग बहुत ही सुन्दर और पतला व
मुकाम्बुकर कुण्डलोंकी शोभा जगमग रही थी ।
किशोर और तरुण अम्बिकाकी सन्निधिमें स्थित थीं
नितम्बपर जबाऊ करवनी शोभायमान हो रही व
कमल स्पर्श कुछ उमरे हुए थे और उनकी दृष्टि मन्द
हई अम्बिकाके कारण कुछ चञ्चल हो रही थी ॥ ५१ ॥
उनके होठोंपर मनोहर मुस्कान थी । उनके दोहों
पोंत थी तो कुन्दकमरीके समान परम उज्ज्वल, पर
जके हुए कुन्दकके समान आल-मल होठोंकी चमक
उत्तर भी सन्निधि आ गयी थी । उनके पोंतोंके पाएने
वमक रहे थे और उनमें सगे हुए छोटे-छोटे पुँक
रुनरुन-रुनरुन पर रहे थे । वे अपने सुवर्ण वर
कमरमेंसे पैदल ही राश्ट्रसूत्र गनिते बंध रही थीं
उनकी बह अर्धं एति नेत्ररत्न बहो आये हुए बड़े-बड़े
यशस्वी वीर सब मोहित हो गये । क्रमदेवने ही
भगवान्का कार्य सिद्ध करनेके लिये अपने बाणोंसे उनका
हृन्ध जर्जर कर दिया ॥ ५२ ॥ रुक्मिणीकी इस प्रस
इस उमर-यात्रा वृत्तान्त मन्द-मन्द गनिते बन्ध
भगवान् श्रीरङ्गपर लगना राशि-राशि मौन्ये निद्रक
पर रही थी । उन्हें नेत्ररत्न और उनकी सुखी मुगमन

पेतुः क्षितौ गवर्वाभारता विमूढा

यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५३॥

सैव शनैश्चलयती चलयच्छकोशौ

प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ।

उत्सर्प्य वामकरचैरलक्षानपाङ्गै

प्राप्तान् प्रियैश्चत उपान् दृष्ट्वेऽप्युत सा ॥५४॥

तां रावकन्यां रथमारुहयतीं

अहार कृणो द्विपतां समीक्षताम् ।

रथं समाराप्य सुपर्णलक्षणं

राक्षस्यचक्रं परिभूय माधव ॥५५॥

ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः

सुगालमभ्यादिव भागद्वरि ॥५६॥

तं मानिनः स्वामिभवं यद्वक्ष्य

परे अरासंधवशा न सेहरे ।

अहो विगमान् यद आचधन्वनां

गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥५७॥

तथा लक्ष्मीं चितवनपर अपना चित छुटाकर वे बड़े बड़े नरपति एवं वीर इतने मोहित और बेहोश हो गये कि उनके हाथोंसे अक्ष-शस्त्र छूटकर गिर पड़े और वे स्वयं भी रथ, हाथी, तथा घोड़ोंसे घरतीपर आ गिरे ॥ ५३ ॥ इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके सुमंगलमन्त्रोंकी प्रतीक्षा करती हुई अपने कम्बलकी कस्तीके समान सुकुमार चरणोंको बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ा रही थीं । उन्होंने अपने हाथों हाथकी अँगुलियोंसे मुक्कड़ी और छत्रकी हुई अलकों हटायीं और वहाँ आये हुए नरपतियोंकी ओर लक्ष्मीजी चितवनसे देखा । उसी समय उन्हें क्षयामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए ॥ ५४ ॥ रावकुमारी रुक्मिणीजी रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि भगवान् श्रीकृष्णन समस्त शत्रुओंके देखते-देखते उनकी भीड़मेंसे रुक्मिणीजीको उठा लिया और उन सैकड़ों राजाओंके सिरपर पोंच रखकर उन्हें अपने उस रथपर बैठा लिया, जिसकी चक्रापर गरुडका चिह्न लगा हुआ था ॥ ५५ ॥ इसके बाद जैसे सिंहा सियारोंके बीचमेंसे अपना मार्ग छे जाय, वैसे ही रुक्मिणीजीको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण अकशमानी आदि यदुवंशियोंके साथ बहोसे चल पड़े ॥ ५६ ॥ उस समय जरासन्धके बराकतीं अभिमानी राजाओंको अपना यह बड़ा भारी सिरकार और यश-कीर्तिका मास सहन न हुआ । वे सब-के-सब चिढ़कर कहने लगे—'अहो, हमें विकार है । आज हमलोग वज्रुप धारण करके खड़े हो रहे और ये गाले, जैसे सिंहके मागको हरिन ले जायें उसी प्रकार हमारा सारा यश हीन ले गये' ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्या संहितायां दशमस्कन्धे

उत्तरार्धे रुक्मिणीहरणं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

अथ चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विगुणालके स्थायी राजाओंकी और दुष्कर्मकी हार तथा श्रीकृष्ण दक्षिणार्ध-विषाद

भीमरु उवाच

इति सर्वे सुर्मरन्धा पाहानारुह्य दक्षिता

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । इस प्रकार कइ-मुनकर सब वे-सब राजा प्रोचसे आगबमूला हा ठठे और बचव पहनकर अपन-अपन बाहनोपर सवार

अथाहं निश्चितैर्वायैर्गोपालस्य मुदुर्मतेः ।

नेष्ट्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसमं हुता ॥२२॥

विक्रममानः कुमस्त्रिभारस्याप्रमाणवित् ।

रघेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ लिप्तेत्यथाह्वयत् ॥२३॥

धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।

आह चारे क्षणं तिष्ठ यद्नां कुलपांसन ॥२४॥

कुञ्ज यासि स्वसारं मे द्रुपित्वा प्वाह्वयद्वयिः ।

हरिष्यस्य मदं मन्द माभिनः कूटयोधिनः ॥२५॥

यावन्न मे हतो बलैः क्षयीया मुञ्च दारिकम् ।

सयन् कृष्णां धनुश्छिन्वा पद्मभिर्विव्याध रुक्मिणसूरदं

अष्टभिस्तुरो बाहान् द्राम्यां घातं ध्वज त्रिभिः ।

स चान्यद् धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः ॥२७॥

तैस्तावितः शरौघैस्तु विच्छेद धनुरभ्युतः ।

पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिन्दं ध्वजः ॥२८॥

परिधं पङ्क्तिं शूलं चैर्मांसी शक्तितोमरौ ।

यद् यदापुधमादत्त तत् सर्वं सोऽच्छिन्नद्वरिः ॥२९॥

ततो रथादवप्लुत्य भङ्गपाणिर्निर्घांसया ।

कृष्णमम्पद्मवत् हुद्रे पतङ्ग इव पतकम् ॥३०॥

तस्य चापततः खड्गं सिलद्वयमर्धं सेषुभिः ।

धाम में अपने तीखे बाणोंसे उस छोटी मुद्रिवाले
गालके बलवीर्यका धर्मक पूर पूर कर दूँगा । देखो
तो उसका साहस, वह हमारी बहिनको कर्तृक
हर ले गया है ॥ २२ ॥ परीक्षित ! इसीकी मुद्रि
बिगड़ गयी थी । वह भावान्के तेज-प्रभावको किस्म
नहीं जानता था । इसीसे इस प्रकार बहक-बहककर
बातें करता हुआ वह एक ही रूपसे श्रीकृष्णके पास
पहुँचकर झुककरने लगा—‘‘सका रह । सका रह ॥’’ ॥२३॥
उसने अपने धनुषको कर्तृक लौंचकर भावान्
श्रीकृष्णको तीन बाण मारे और कहा—‘‘एक क्षण
मेरे सामने खड़ा ! यदुर्वाशियोंके कुलकण्ड । जैसे कौन
होमकी सामग्री चुराकर ठग जाय, वैसे ही तू मेरी
बहिनको चुराकर कहाँ भगा जा रहा है ! बरे मन्द !
तू कहाँ मायावी और कपट-मुद्रमें कुदस है । धाम में
तेरा सारा गर्व खर्च किये जायता हूँ ॥ २४-२५ ॥
देख ! जबतक मेरे बाण तुझे धरतीपर झुका नहीं देते
उसके पहले ही इस स्त्रीको छोड़कर भगा जा !’’
इसीकी बात सुनकर भावान् श्रीकृष्ण मुसकराने लगे ।
तन्होंने उसका धनुष काट डाला और उसपर छः बाण
छोड़े ॥ २६ ॥ साथ ही भावान् श्रीकृष्णने बाण
उसके चार ओरोंपर और दो सारपीपर छोड़े और तीन
बाणोंसे उसके रचकी रचकाको काट डाला । तब इसीने
हस्ता धनुष उठाय और भावान् श्रीकृष्णको पाँच बाण
मारे ॥ २७ ॥ उन बाणोंके लगनेपर तन्होंने उसका
वह धनुष भी काट डाला । इसीने इसके बाद एक
और धनुष लिया, परन्तु हाथमें लेते-ही-लेते वहिनारी
अभ्युतने उसे भी काट डाला ॥ २८ ॥ इस प्रकार
इसीने परिध, पङ्क्ति, शूल, दाम, तन्त्रार, शक्ति और
तोमर—जितने अस्त्र-शस्त्र उठाये, उन सभीको भावान्ने
प्रहार करनेके पहले ही काट डाला ॥ २९ ॥ अब
इसी क्रोधवश हाथमें तन्त्रार लेकर भावान् श्रीकृष्णको
मार डालनेकी इच्छासे रघुसे कूद पड़ा और इस प्रकार उसकी
ओर झपटा, जैसे पतिंगा जागकी ओर छपकता है ॥ ३० ॥
जब भावान्ने देखा कि इसी मुक्तपर चोट करना
जाहता है, तब तन्होंने अपने बाणोंसे उसकी दाँव-

छित्त्वामिमादद तिम रुक्मिण इन्तुमुद्यत ॥३१॥

दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योग रुक्मिणी मयविह्वला ।

पतित्वा पादयोर्मर्तुरुवाच करुण मती ॥३२॥

योगेश्वराग्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते ।

इन्तुं नार्हसि करुणाया भ्रातर मे महामुज ॥३३॥

श्रीगुरु उवाच

तथा परिव्रासविकम्पिताङ्गया

गुचापशुष्यमुत्तरद्वरकृष्टया ।

स्वातर्पविर्त्रमितद्वेहमालया

गृहीतपाद करुणो न्यवर्तत ॥३४॥

चैलेन यद्वा तममायुकारिण

ममभुक्तेषु प्रवपन् व्यरूपयत् ।

तवन्ममर्दु परसैन्यमद्भुत

यदुग्रवीरा नलिनी यथा गता ॥३५॥

कृष्णान्तिकमुपग्रन्थ ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ।

वधाभूत इत्यप्राय दृष्ट्वा मङ्गपणा विभु ।

विमुच्य यदं करुणा भगवान् कृष्णमग्रवीन् ॥३६॥

अमाधिर्दं न्यया कृष्ण कृतममन्शुगुप्मितम् ।

वपनं ममभुक्तेषां वैरप्य मुहदा यथ ॥३७॥

मेरुमान् मात्स्ययुधया भ्रातृवश्यपिन्धया ।

१. ममभुक्तेषां वैरप्य

तत्प्रायको विचित्रि करके यष्ट दिया और उसको मार
बातनके लिये हाथमें लीपी तलवार निकाल दी ॥३१॥

जब रुक्मिणीजीने देखा कि ये तो हमारे भाईके अव
मार ही बातना चाहते हैं, तब वे मरसे विह्व हो
गयीं और अपने प्रियतम पति भगवान् श्रीकृष्णक
चरणोंपर गिरकर करुण-मरमें बोली—॥ ३२ ॥

‘देवताओंके भी आराध्यदेव ! जगत्पते ! आप योगेश्वर
हैं । आपके स्वरूप और इष्टांशोंको कोई जान नहीं
सकता । आप परम बखान् हैं । परन्तु कल्याणस्वरूप
भी तो हैं । प्रभो ! मेरे भैयाके मारना आपके योग्य
काम नहीं है’ ॥ ३३ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—रुक्मिणीजीका एक-एक
अङ्ग मरके मारे पर-पर काँप रहा था । शोककी प्रवृत्ति
से मुँह सूख गया था, गंघा रुँध गया था । आतुरता
का सामेका द्वार गलेसे गिर पड़ा था और इसी अवस्थामें
वे भगवान्‌के चरणकमल पर दृढ़ हुए थीं । परमप्राय
भगवान् उन्हें मयभीन देखकर करुणामें द्रवित हो
गये । उन्होंने रुक्मीणी मार टालनेका विचार छोड़
लिया ॥ ३४ ॥ फिर भी रुक्मी उनके अनिष्टकी चपटसे
विमुक्त न हुआ । तब भगवान् श्रीकृष्णने उसको उठीके
दुपट्टे बाँध लिया और उसकी गद्दी-मूँछ तथा मेला
कर जगहसे मूँदकर उसे कुत्ता बना लिया । तबनर
यदुवशी धीरेने गुरुजी अद्भुत सेनाग्र तहम-नदस कर
बाग—टीक भमे ही जैसे हाथी यमग्यनका धी-
बागता है ॥ ३५ ॥ फिर वे राजा कथरसे तीव्र
श्रीकृष्णक पास आय, ता देव शि दामि दुपट्टे बैठा
हुआ अधमरी अवस्थामें पड़ा हुआ है । उसे नेगार
सपराविमान् मगरान् बग्यामरीन बड़ी ग्या आयी
और उन्होंने उसके कपन गोरवर उसे छोड़ दिया तथा
श्रीकृष्णसे कहा—॥ ३६ ॥ ‘राग ! तुमन पर अग्य
नहीं किया । पर निमित्त काय हमग्योरे यग्य नहीं
है । अन मग्यपीरी गद्दी-मूँछ मरदर उसे कुत्ता
कर बना, पर ता पर मरदर कर ही है’ ॥ ३७ ॥

इसका कारण रुक्मिणीजीने रुक्मिणीसे मग्यन कर
कहा—‘प्यपी ! तुम्हारे भाईका पर गिरत कर दिया

स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्दुर्तकार्ष्णिका ॥१॥

तानापतत आलोक्य यादवानीकयुथपाः ।

तस्युत्तमसंज्ञा राजन्विस्फुर्न्य स्वधनूनि वे ॥ २ ॥

अथपुष्टे गवस्फुन्वे रथोपस्थे च कोविदाः ।

सुधनुः क्षरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा ॥ ३ ॥

पत्युर्बलं वरासारंश्छर्षं वीक्ष्य सुमप्यमा ।

मग्नोदमैश्चन्द्रकनं भयविह्वललोचनम् ॥ ४ ॥

प्रहस्य भगवानाह मा सा मैर्धामलोचने ।

विनङ्गस्त्वधुनैवैतत् तत्त्वकैः क्षात्रवं बलम् ॥ ५ ॥

तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कुर्वणादयः ।

अवृप्स्यमत्या नाराचैर्बभूवैर्यगमान् रथान् ॥ ६ ॥

पेष्टुः शिरांसि रविनामभिनां गजिनां भुवि ।

सङ्कुण्डलकिरीटानि सोष्णीपाणि च कोटिष्ठः ॥ ७ ॥

हस्ताः सासिगदेष्वताः करभाऊ रथोऽङ्गुयः ।

अभ्राम्भतरनागोद्वस्तरभर्षशिरांसि च ॥ ८ ॥

हन्वमानबलानीका इष्टिभिर्ध्वजकाङ्क्षिभिः ।

रात्रानो विमुक्ता अगुर्वरास्तभ्युरासराः ॥ ९ ॥

शिष्टपाल समन्वेत्य हतदारमिवाधुरम् ।

नष्टदिवं गतोत्साहं क्षुब्धदहनमधुवन् ॥१०॥

भो भोः पुरुषशूद्रल दौर्मनस्वमिदं स्वज ।

न त्रिपाप्रियया राजन् निष्ठा देहिषु हृष्यते ॥११॥

हो गये । अपनी-अपनी सेनाके साथ सब धनुष लेके
मगवान् श्रीकृष्णके पीछे दौड़े ॥ १ ॥ राजन् । यह
यदुवंशियोंके सेनापतियोंने देखा कि शत्रुपक्ष हमपर क्या
का रहा है, तब उन्होंने भी अपने-अपने धनुषका ठहर
किया और धुमकर उनके सामने बट गये ॥ २ ॥
अरासन्धकी सेनाके अंग कोई घोड़ेपर, कोई हाथीपर तो
कोई रथपर चढ़े हुए थे । वे सभी धनुर्वेदके बड़े मर्मज्ञ
थे । वे यदुवंशियोंपर इस प्रकार बाणोंकी वर्षा करने
लगे, मानो हथ-के-दरु बादल पहाड़ोंपर मूसलधार पानी
बरसा रहे हों ॥ ३ ॥ परमसुन्दरी कनिनीबीने देखा
कि उनके पति श्रीकृष्णकी सेना बाण-वर्षासे बक गयी
है । तब उन्होंने लज्जाके साथ मयमीत नेत्रोंसे मगवान्
श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखा ॥ ४ ॥ मगवान्ने हँसकर
कहा—‘सुन्दरी । बड़े मर्त । तुम्हारी सेना अभी तुम्हारे
शत्रुओंकी सेनाको नष्ट किये बालूनी है’ ॥ ५ ॥ इस
गद् और सङ्कुर्वम आदि यदुवंशी वीर अपने शत्रुओंका
पराक्रम और व्यक्ति न सह सके । वे अपने बाणोंसे
शत्रुओंके हाथी, घोड़े तथा रथोंको छिन-छिन करने
लगे ॥ ६ ॥ उनके बाणोंसे रथ, घोड़े और हाथियोंपर बैठे निपट्टी
कीरोंके कुण्डल, किरीट और पगवियोंसे सुशोभित कानों
लिर, अङ्ग, गदा और धनुषपुच्छ हाथ, पहुँचे, जॉर्ज और पैर
का-काकर पृथ्वीपर गिरने लगे । इसी प्रकार बोंके
लम्बर, हाथी, छेँट, गव, और धनुष्योंके लिर भी का-काकर
रगूमिमें छोटने लगे ॥ ७-८ ॥ अन्तमें विनपक्षी
सभी आकाङ्क्षावाले यदुवंशियोंने शत्रुओंकी सेना तहस-
नहस कर बाली । अरासन्ध आदि सभी राजा मुहंठे
पीठ दिखाकर मग चढ़े हुए ॥ ९ ॥

उपर शिष्टपाल अपनी माथी पतीके छिन जानेके
कारण मरणासन्न-सा हो रहा था । म तो उसके हृदयमें
उत्साह ख गया था और न तो शरीरपर कान्ति । उसका
मुँह सूख रहा था । उसके पास आकर बरासन्न करने
लगा—॥१०॥ ‘शिष्टपालजी । आप तो एक भोष्ट पुरुष हैं,
यह उठासी छोड़ दीजिये । क्योंकि राजन् । कोई भी बात
सर्वदा अपने मनके अनुसार ही हो या प्रतिशुद्ध ही हो,

इस सम्बन्धमें कुछ सिरता किसी भी प्राणीके जीवनमें

यथा दारुमयी योपिनृत्पते कुहेच्छया ।
 एवमीभरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयो ॥१२॥
 धौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजित ।
 त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिम्ब एकमहं परम् ॥१३॥
 तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ।
 कालेन दैवयुक्तेन ज्ञान् विद्राचिवं जगत् ॥१४॥
 भवुनापि वयं सर्वे वीर्ययुधयुधपाः ।
 पराजिताः कस्त्युतन्त्रैर्यदुमि कृष्णपास्त्रितः ॥१५॥
 रिपवो विग्युरधुना काल आत्मानुसारिणी ।
 तदा वयं विजेष्मामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥१६॥
 एवं प्रबोधितो मित्रैर्धैर्योऽजात् सानुग पुरम् ।
 हवन्नेपाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्व पुरं नृपा ॥१७॥
 रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विद्वसहस्रसुः ।
 पृष्ठतोऽन्वगमत् कृष्णमधौहिण्या हतो बली ॥१८॥
 रुक्म्यमर्षी सुसंरम्भः शृण्वतां सर्वभूसन्धाम् ।
 प्रतिबद्धो महाबाहुर्दक्षितः सञ्चरासनः ॥१९॥
 अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूषं च रुक्मिणीम् ।
 कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद् अवीमि वः ॥२०॥
 इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः ।
 पादपाथान् यतः कृष्णस्तस्मै संयुगं भवेत् ॥२१॥

नहीं देखी जाती ॥ ११ ॥ जैसे कठपुतली बाजीरारकी
 इच्छाके अनुसार नाचती है, वैसे ही यह जीव भी
 भगवदिच्छाके अधीन रहकर सुख और दुःखके सम्बन्धमें
 यथाशक्ति चेष्टा करता रहता है ॥ १२ ॥ देखिये,
 श्रीकृष्णने मुझे तेईस-तेईस अश्वीहिणी सेनाओंके साथ
 सत्रह बार हरा दिया, मैंने केवल एक बार—अठारहवीं
 बार उनपर विजय प्राप्त की ॥ १३ ॥ फिर भी इस
 बातको लेकर मैं न तो कभी शोक करता हूँ और न
 तो कभी हर्ष, क्योंकि मैं जानता हूँ कि प्रारम्भके
 अनुसार कर्मभगवान् ही इस व्यवहार भगवत्को सकलभरते
 रहते हैं ॥ १४ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि हमलोग बड़े-
 बड़े वीर सेनापतियोंके भी नायक हैं । फिर भी, इस
 समय श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुबंसियोंकी चोकी-सी
 सेमने हमें हरा दिया है ॥ १५ ॥ इस बार हमारे
 यन्त्रधर्मीकी ही नीत हुई, क्योंकि कर्म उन्हींके अनुकूल
 था । जब काल हमारे दाहिने होगा, तब हम भी उन्हें
 नीत करेंगे ॥ १६ ॥ परीक्षित । जब मित्रोंने इस प्रकार
 सम्झाया, तब चेदिराज शिङ्गपाठ अपने अनुयायियोंके
 साथ अपनी राजचालीको बौट गया और उसके मित्र
 राजा भी, जो मरनेसे बचे थे, अपने अपने नगरोंको
 चले गये ॥ १७ ॥
 रुक्मिणीजीका बड़ा माई रुक्मी मगधन् श्रीकृष्णसे
 बहुत प्रेम रखता था । उसके यह बात किंकुल सहन
 न हुई कि मेरी बहिनको श्रीकृष्ण हरा ले जायँ और
 राक्षसीसिसे बन्धूक उसके साथ निष्ठा करें । रुक्मी
 बली तो था ही, उसने एक अश्वीहिणी सेना साथ ले
 ली और श्रीकृष्णका पीछा किया ॥ १८ ॥ महाबाहु
 रुक्मी कोषकेमारे जल रहा था । उसने कण्ठ पहनकर
 और धनुष धारण करके सम्पन्न मरपतियोंके सामने यह
 प्रतिज्ञा की— ॥ १९ ॥ मैं आप लोगोंके बीचमें यह शपथ
 करता हूँ कि यदि मैं युद्धमें श्रीकृष्णको न मार सकूँ और
 अपनी बहिन रुक्मिणीको न छोड़ सकूँ तो अपनी राजधानी
 कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा ॥ २० ॥ परीक्षित । यह
 कहकर वह रथपर सवार हो गया और सारथीसे बोला—
 'जहाँ कृष्ण हो वहाँ सीधे-से-सीधे मेरा रथ ले जाओ ।
 आज मेरा उसीके साथ युद्ध होगा ॥ २१ ॥

अथाह निशितैर्बाजैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः ।
 नेप्ये धीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसमं हता ॥२२॥
 विकल्पमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् ।
 रमेनैकेन गोविन्दं सिद्धं तिष्ठेत्पथाह्वयत् ॥२३॥
 धनुर्विकृष्य सुदृढं अघ्रे कृष्णं त्रिभिः शरैः ।
 आह चारे क्षणं तिष्ठ बदनां कुलपांसन ॥२४॥
 कुत्र चासि स्वसारं मे मुपित्वा श्वाङ्गचरुविः ।
 हरिष्येऽद्य मदं मन्दं माभिनः कृत्याभिन ॥२५॥
 चावक मे हतो वायैः शयीथा मुञ्च दारिकासु ।
 सयन् कृष्णो धनुश्छिन्नापद्भिर्विध्वयाथ रुक्मिण्यम् ॥२६॥
 अथभिमतुरो बाहान् दाम्प्यां स्तनं चर्चं त्रिभिः ।
 च दाम्प्यं धनुरादाय कृष्णं विध्वयाथ पञ्चभिः ॥२७॥
 वेस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरभ्युतः ।
 पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिन्दं व्यवधः ॥२८॥
 परिधं पट्टिच्छं श्लेष्ठं चैमाश्री क्षकित्तामरौ ।
 यद् यदायुधमादत्त तत् सर्वं सोऽच्छिन्नहरिः ॥२९॥
 ततो रथादवप्लुत्य स्वङ्गपाणिर्जिघांसया ।
 कृष्णमभ्यद्रवत् कुदं पतङ्ग इव पातकम् ॥३०॥
 तस्य पापततः स्वङ्गं तिलशर्ममं शेषुमि ।

आन मैं अपने तीखे बाणोंसे उस छोटी बुद्धिवाले
 ग्वालेके बलभीर्यका धमका चर चर कर दूंगा । देखो
 तो उसका साहस, वह हमारी बहिनको कर्णार्क
 हर ले गया है ॥ २२ ॥ परीक्षित । इसकी मुहि
 मियाह गयी थी । वह भगवान्‌के तेज-प्रभावको किन्तु
 नहीं जानता था । इसीसे इस प्रकार वह बहिनके
 बातें करता हुआ वह एक ही रूपसे श्रीकृष्णके पास
 पहुँचकर ललकारने लगा—'बहा रह । बहा रह ॥ २३ ॥
 उसने अपने वज्रको बलपूर्वक चौधकर भगवान्
 श्रीकृष्णको तीन बाण मारे और कहा—'एक क्षण
 मेरे सामने ठहर । यदुर्बलियोंके कुल्काज्ज । जैसे कैला
 होमकी सामग्री पुराकर ठक जाय, वैसे ही तू भी
 बहिनको पुराकर कहाँ मागा आ रहा है ? बरे मन्द ।
 तू क्या मायावी और कपट-मुद्गम कुशल है । आज मैं
 तेरा सारा रस खर्च किये जाऊँ ॥ २४-२५ ॥
 देख । जबतक मेरे बाण तुझे घरीपर घुम नहीं देंगे
 उसका पहले ही इस बन्धीको छोड़कर भाग जा ।'
 इसीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुसकाने लगे ।
 उन्होंने उसका धनुष काट डाला और उसपर छ बाण
 छोड़े ॥ २६ ॥ साप ही भगवान् श्रीकृष्णने बाँध बाण
 उसके चार बोरोंपर और दो सारपीपर छोड़े और तीन
 बाणोंसे उसके रथकी चक्रोंको काट डाला । तब इसीने
 इसका धनुष उठाया और भगवान् श्रीकृष्णको पाँच बाण
 मारे ॥ २७ ॥ उन बाणोंके लगानेपर उन्होंने उसका
 वह धनुष भी काट डाला । इसीने इसके बाद एक
 और धनुष लिया, परन्तु हाथमें छेदे-ही-छेदे जलियाशी
 अभ्युतने उसे भी काट डाला ॥ २८ ॥ इस प्रकार
 इसीने परिध, पट्टिश, शूष, डाक, सक्कार, शक्ति और
 तोमर—जितने अस्त्र-शस्त्र उठाये, उन सभीको भगवान्‌ने
 प्रहार करनेके पछले ही काट डाला ॥ २९ ॥ जब
 इसी कोधका हाथमें लम्बा लेकर भगवान् श्रीकृष्णको
 मार डालनेकी इच्छासे रूपसे कुद पडा और इस प्रकार उनकी
 और आपदा, जैसे परिणिता आगकी चोर क्षयकता है ॥ ३० ॥
 जब भगवान्‌ने देखा कि इसी मुक्तपर चोट करना
 चाहता है, तब उन्होंने अपने बाणोंसे उसकी डाक-

छिन्नामिमादय तिम रुक्मिणं हन्तुमुद्यत ॥३१॥

दृष्ट्वा भ्रातृवधायोग रुक्मिणी भयविह्वला ।

पतित्वा पादयोर्मर्तुरुवाच करुणं मती ॥३२॥

योगेश्वराग्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते ।

हन्तु नार्हसि करुणां भ्रातरं मे महाहज ॥३३॥

श्रीगुरु उवाच

तथा परित्रासविकम्पिताङ्गया

शुचावशुष्यन्मुखरुद्रकण्ठया ।

कातर्यविम्विमितहममालया

गृहीतपाद करुणो न्यवर्तत ॥३४॥

चैलेन बद्धा तममापुकारिण

मम्मभुकञ्च प्रवपन् व्यरूपयत् ।

तवन्ममदु परमेन्यमद्भुत

यदुप्रवीरा नलिनी यथा गजा ॥३५॥

कृष्णान्तिरुमुपग्रन्थ ददृशुमग्र रुक्मिणम् ।

तथाभूत इतप्राय दृष्ट्वा मधूपणो विभु ।

विमुच्य पटं कृष्णा भगवान् कृष्णमग्रवीन् ॥३६॥

अमापिर्दं त्वया कृष्ण कृन्ममन्तुगुप्तिहम् ।

वपनं मधुसूतानां वैरस्य गृहदा वध ॥३७॥

मैरामान्माप्यश्वेषा भ्रातुर्वदस्यपिन्धया ।

१ बरहस्पतिविरचितः ।

तयवारको निष्कलित करके काट दिया और उसका मार डालनेके लिये हाथमें सीखी क्षत्रवार निकाल ली ॥३१॥

जब रुक्मिणीजीने देखा कि ये तो हमारे भाईको अब मार ही डालना चाहते हैं, तब वे भयसे विस्म हो गयीं और अपने प्रियतम पति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरकर करुण-स्वरमें बोली—॥ ३२ ॥

‘देवताओंके भी आराध्यदेव ! जगत्पते ! आप योगेश्वर हैं । आपके स्वरूप और इच्छाओंको कोई जान नहीं सकता । आप परम धनवान् हैं । परन्तु कल्याणस्वरूप भी तो हैं । प्रभो ! मेरे भैयाको मारना आपके योग्य काम नहीं है’ ॥ ३३ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—रुक्मिणीजीका एक-एक आज्ञा मयके मारे पर-पर काँप रहा था । शोककी प्रबलता से मुँह सूख गया था, गला रुँध गया था । आतुरता-का सोनका हार गलेसे गिर पड़ा था और इसी अवस्थामें वे भगवान्के चरणकमल पकड़ हुए थीं । परमप्रायः भगवान् उन्हें मयकीन देखकर बरुणासे शक्ति हो गये । उन्होंने रुक्मीसे मार डालनका विचार छोड़ दिया ॥ ३४ ॥ फिर भी रुक्मी उनके अनिद्वेषी गद्यसे विमुक्त न हुआ । तब भगवान् श्रीकृष्णने उसको उसीक दुपटेसे बाँध लिया और उसकी दाढ़ी-मूँह तथा केस का जगहसे मूँहकर उसे कुम्हार बना दिया । तबपर यदुवशी कीरोने गानुकी अद्भुत सेनासे तहम-नहम कर दाग—टीक नमे ही जैसे हापी कमलमय ही बनता है ॥ ३५ ॥ फिर वे तब उधरमे मौजूद श्रीकृष्णके पाम आप, ता लग्न कि दामि दुपटेसे बंधा हुआ जधमी अवस्थामें पड़ा हुआ है । उसे दागर सयशक्तिमान् भगवान् बयामनीस बड़ी त्या बापी और उन्होंने उसको वधन गोरुकर उगे छोड़ दिया तथा श्रीकृष्णमे कहा—॥ ३६ ॥ रण ! तुमन यद अग्रा नहीं किया । यद निम्न कय दमालीस योग्य नहीं है । तबन मधुसूतीस गनीमूँह मूँहकर उम कुम्हार पर बना यद तो वर प्रहरण वर ही है ॥ ३७ ॥ इसका बाँ बयामनीने रुक्मिणीसे मधु न वर वदा—मधु ! तुम्हारे काका का निरत वर दिया

सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यत् स्वकृतमुक्त्तुमान् ॥४८॥
 यधुर्धार्दोपोऽपि न यधोर्धमर्हति ।
 त्याज्य स्वेनैव दोषेण हत किं हन्यते पुन ॥४९॥
 क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः ।
 आतापि आतर हन्याद् येन घोरतरस्ततः ॥५०॥
 राजस्य भूमेर्विचक्ष्य स्त्रियां मानस्य तेजसः ।
 मानिनोऽन्यस्य वा हेतो भीमदान्धाः क्षिपन्ति हि ॥५१॥
 तवेय विपमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हदाम् ।
 यन्मन्यसे सदाभद्र सुहृदां भद्रमश्नुवत् ॥५२॥
 आत्मभाहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया ।
 सुहृद् दुर्हृद्दासीन इति दहतरमानिनाम् ॥५३॥
 एक एव परा आत्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
 नानय गृहते मूर्धैर्यथा ज्वातिर्यथा नभ ॥५४॥
 देह आधन्तजानेय इन्द्र्यप्राणगुणात्मकः ।
 आत्मन्यरिषया क्लृप्त संसारमग्नि देहिनाम् ।

गया है, यह सोचकर हमसभोंसे भुग न मानना; क्योंकि जीवको सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है । उसे तो अपने ही कर्मका फल भोगना पड़ता है ॥४८॥
 अब श्रीकृष्णसे बोले—‘शुभ्र ! यदि अपना सगा-सम्बन्धी बंध धरनेयोग्य अपराध करे, तो भी अपने ही सम्बन्धियोंके द्वारा उसका माय जाना उचित नहीं है । उसे छोड़ देना चाहिये । वह तो अपने अपराधसे ही मर चुका है, मरे हुएको फिर क्या मारना ?’ ॥ ४९ ॥ फिर रुक्मिणीजीसे बोले—‘साष्ठी ! ब्रह्माजीने क्षत्रियोंका धर्म ही ऐसा बना दिया है कि सगा भाई भी अपने भाईको मार सकता है । इसलिये यह क्षात्रधर्म कल्पित घोर है’ ॥ ५० ॥ इसके बाद श्रीकृष्णसे बोले—‘भर्तृ कृष्ण ! यह ठीक है कि जो लोग धनके लोभसे भेद हो रहे हैं और अभिमानी हैं, वे राज्य, पृथ्वी, पैसा, की, मान, सेना अथवा किसी और कारणसे अपने कन्धुओंका भी स्त्रिरक्तर कर दिया करते हैं’ ॥ ५१ ॥ अब वे रुक्मिणीजीसे बोले—‘साष्ठी ! तुम्हारे भाई-कन्धु समस्त प्राणियोंके प्रति दुर्भाव रखते हैं । हमने उनके मद्भक्तके लिये ही उनके प्रति दण्डविधान किया है । उसे हम अज्ञानियोंकी मोति अमङ्गल मान रही हो, यह तुम्हारी बुद्धिभी चिन्मता है ॥ ५२ ॥ देख ! जो लोग मगधानजी मायासे मोहित होकर देखते हैं, आत्म मान बैठते हैं, उनकी ऐसा आत्ममोह होता है कि यह मित्र है, यह शत्रु है और यह उदासीन है ॥ ५३ ॥ समस्त देह पारिवर्तक जानना एक ही है और कार्य-कारणसे, मर्यादे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । जब और कहा जाति उपाधियोंके भूसे जैसे सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकाशयुक्त पदार्थ और आकाश भिन्न-भिन्न व्यञ्जन पड़ते हैं; परन्तु हैं एक ही, वैसे ही सूर्य लोग सारीके भूसे आत्मका भू मानते हैं ॥ ५४ ॥ यह शरीर जाति और अन्तर्भाव है । पञ्चभूत, पञ्चप्राण, तन्मात्रा और त्रिगुण ही इसका स्वरूप है । आत्मामें उसके अस्तित्वसे ही इसकी व्यपना हुआ है और वह पण्डित शरीर ही, जो उसे ‘मैं’ समझता है, उसका अन्त-मूयुक्त कारणमें ल जाता है ॥ ५५ ॥

नात्मनाऽन्येन मयोगो विपागश्चासति ।

नदत्तत्वात्प्रसिद्धैर्द्रुपाभ्या यथा रवे ॥४६॥

जन्माप्यस्तु देहस्य विक्रिया नात्मन क्वचित् ।

कलनामिव नैवेन्दोमृतिस्तस्य कुङ्करिष ॥४७॥

यथा शयान आत्मानं विपयान् फलमेष च ।

अनुमुह्यन्तऽप्यमर्त्यैर्तथाऽऽप्नोत्येषुधो भवम् ॥४८॥

नन्माश्चानर्तं शोकमात्मद्रोषविमाहनाम् ।

तत्त्वज्ञानेन निहत्य स्वप्ना भव गुचिन्मित ॥४९॥

श्रीगुरु उवाच

यं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिना ।

मनस्य परिणम्य मना युद्धया ममास्थ ॥५०॥

रागावशेष उन्मृण निड्भिर्दिव्यलप्रभ ।

मम विरक्तकरण विलभात्ममनास्थ ॥५१॥

भव भावकत्त नाम निशामाय मत्तु पृष्ठम् ।

प्रदत्ता दूतति कृष्णमग्रन्युय यथायमाय ।

रुचिरेन न प्रवक्ष्यामि न्युक्ता नशारगदृक् ॥५२॥

साक्षी ! नेत्र और रूप दोनों ही सूर्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं । सूर्य ही उभयका कारण है । इसलिये सूर्यक साथ नेत्र और रूपका न तो फर्की बियोग होता है और न मयोग । इसी प्रकार समस्त संसारकी सत्ता आत्मसत्ता-क कारण जान पड़ती है, समस्त संसारका प्रकाशक आत्मा ही है । फिर आत्माके साथ दूसरे अस्तु पदार्थों पर मयोग या वियोग हो ही कैसे सकता है ? ॥ ४६ ॥ जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बढ़कना, घटना और मरना—ये सारे विकार शरीरके ही होते हैं, आत्माके नहीं । जैसे कृष्णपद्मेमें कलमज्जोका ही क्षय होता है, चन्द्रमाका नहीं, परतु अमावस्याके दिन ब्यबहारेमें लोग चन्द्रमाका ही क्षय हुआ कहते-सुनते हैं, वैसे ही जन्म-मृत्यु आदि सारे विकार शरीरके ही होते हैं, परतु लोग उसे कम बरा अपना—जपन आत्माका मान लते हैं ॥ ४७ ॥ जैसे सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थक न होनेपर भी क्षममें मोक्षा, मोक्ष और मोक्षरूप फलके अनुभव करता है, उसी प्रकार आत्मानिकाग मृत्यु संसार चक्रका अनुभव करते हैं ॥ ४८ ॥ इसलिये साक्षी ! अज्ञानक कारण होनेवाले इस शोकमेरे त्याग दो । यह शान अंत करगयो मुझसे देता, है मोहित कर देता है । इसलिये इसे छोड़कर तुम अपने स्वर्गमें स्थित हो जाओ ॥ ४९ ॥

श्रीगुरुवर्यजी कहते हैं—संश्लिष्ट ! जब बल्यम-जीने इस प्रकार समझाया, तब परममुन्मदी इतिमगीर्जने अपनेमनका मीठ मित्रकर विवेक-मुद्रिते उसका समझान किया ॥ ५० ॥ इसीकी सेना और उभय तेजसा नाग हा चुका था । कष्ट प्राण बच रह था । उभय विचकरी मारी आगा भिगवर्षे ध्यय हा चुकी थी और दृष्टीने अग्रमानित करके गमे प्राण दिया था । उभे अपने विष्णु त्रिये जानरी कष्टगदक स्थिति नूत नगी पगी था ॥ ५१ ॥ अब उभय अन्न रहनेके लिए आश्रय नामकी एक बहुत बड़ी नगी बननी । उभय पहल ही यह प्रतिज्ञा कर गी था कि खुदि कष्टगद मर बिना और अपनी प्रिय जीवन्त का अग्र बिना मैं कुछ नगुर्तमें प्रवेश नहीं करूँगा । अन्तिम का-कष्ट बह दगी गने गता ॥ ५२ ॥

भगवान् भीष्मकस्तुतामेवं निजित्य भूमिपान् ।
 पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरुद्रह ॥५३॥
 तदा महोत्सवो नृणां यदुपुयां गृहे गृहे ।
 जमूदनन्यभाषतां कृष्णे यदुपतौ नृप ॥५४॥
 नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डला ।
 पारिवर्द्धपुपाञ्जहर्षरयोश्चित्रवत्ससो ॥५५॥
 सा वृष्णिपुपुचमितेन्द्रकेस्तुभि
 विविप्रमात्स्यान्कररत्नतोरणै
 बभौ प्रतिद्रास्युपस्तसमञ्जलै
 सारूर्णकुम्भायुरुपदीपकै ॥५६॥
 सिक्तमार्गा मदभ्युक्षिराहृतप्रेष्ठभूषणाम् ।
 शनैर्द्रास्तु परासुष्टरम्भापूगोपशोभिता ॥५७॥
 कुरुमुञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः ।
 मिथो मुमुक्षिरे तस्मिन् संभ्रमात् परिभावताम् ॥५८॥
 रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः ।
 राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्मृगमिषिस्ता ॥५९॥
 द्वारकायामभूत् राजन् महामोदः पुरौकसाम् ।
 रुक्मिण्या रमयोपेत दृष्ट्वा कृष्ण धियः पतिम् ॥६०॥

परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सब
 राजाओंको नीत छिया और विदर्भराजकुमारी रुक्मिणी-
 नीको द्वारकामें छाकर उनका विविधपूर्वक पाणिप्रक्षालन
 किया ॥ ५३ ॥ हे राजन् ! उस समय द्वारकापुरीमें
 घर-घर यथा ही उत्सव मनाया जाने लगा । क्यों न हो,
 वहाँके सभी खेगोंका यदुपति श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम
 जो था ॥ ५४ ॥ वहाँके सभी नर-नारी मणियोंके कमरोंमें
 कुण्डल धारण किये हुए थे । उन्होंने आनन्दसे भरकर वि-
 विचित्र वस्त्र पहने दुन्हा और द्रुक्छिनको कनेकों मेंकी
 सामग्रियों उपहारमें दी ॥ ५५ ॥ उस समय द्वारकाकी
 अर्ध शोभा हो रही थी । कहाँ बड़ी-बड़ी फाकर्ण
 बहुत उज्ज्वल पहारा रखी थी । चित्र-विचित्र माल्य,
 वस्त्र और रत्नोंके तोरन बँधे हुए थे । द्वार-द्वारपर दूध,
 खीर आदि मल्लकी वस्तुएँ सजायी हुई थी । जलमें
 कजरा, अरगबा और घूपकी सुगन्ध तथा दीपकमेंसे
 बकी ही निरञ्जुण शोभा हो रही थी ॥ ५६ ॥ मित्र
 नरपति आगन्धित किये गये थे । उनके मतवाले हार्मियों-
 के मदसे द्वारकाकी सबक और गच्छियोंका डिककाज हो
 गया था । प्रत्येक दरवानेपर केलोंके खने और सुपारीके
 पेड़ रांप हुए बहुत ही मजे मासूम होते थे ॥ ५७ ॥
 उस उत्सवमें कुलद्वयका इष्ट-इष्ट दौध-घूप करते हुए
 वन्द्युकरोंमें कुरु, सद्यय, कैकेय, विदर्भ यदु और कुन्ति
 आदि वैश्योंके लोग परस्पर आनन्द मना रहे थे ॥ ५८ ॥
 जहाँ-तहाँ रुक्मिणी-हरणकी ही गाथा गायी जाने लगी ।
 उसे सुनकर राजा और राजकन्याएँ अल्पत निस्मित हो
 गयी ॥ ५९ ॥ महाराज ! भगवती कम्पनीनीको रुक्मिणीके
 रूपमें साक्षात् कम्पनीपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ देखकर
 द्वारकावासी नरनारियोंको परम आनन्द हुआ ॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराण पारमर्ष्या संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

रुक्मिण्युद्वाहे चतु पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

प्रयुक्ताय जन्म और धाम्यरासुरकाज बाध

श्रीकृष्ण उवाच

कामस्तु वस्तुदेवाशो दग्धः प्रागु रुद्रमन्युना ।

श्रीकृष्णदेवकी कहते हैं—परीक्षित ! कामदेव भगवान्

वासुदेवके ही अंश हैं । वे पहले इस भगवान्की ओपासि-

देहोपपत्तये मृयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

स एव जातो वैदम्या कृष्णवीर्यसमृद्धव ।

प्रमुञ्च इति विन्म्यात् सर्वतोऽनवमः पितु ॥ २ ॥

त शम्बर कामरूपी इत्या लोकमनिर्दधम् ।

स विदित्वाऽऽत्मन शत्रुं प्राप्स्येदन्वत्यगाव् गृहम् ३

त निर्जगार बलवान् मीन सोऽप्यपरै सह ।

इवा जालेन महता गृहीतो मन्सजोविभिः ॥ ४ ॥

त शम्भराय कैवला उपाग्रहुरपावनम् ।

सदा महानर्तनीत्यावद्यन् स्वभित्तिनाम्नतम् ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा घटुन्ने बाल मायावत्यं न्यवेदयन् ।

नारदाऽकचयत् सन तस्या शङ्कितयेतस ।

वल्लिख तस्वद्व्यपि मन्स्योदरनिवेद्यनम् ॥ ६ ॥

सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी ।

पत्युर्निर्दग्धेऽस्य देहोत्पत्तिं प्रवीक्षती ॥ ७ ॥

निरूपिता शम्भरेण सा क्षपौदनसाधने ।

कामदर्शं शिष्टं पुद्ग्या चक्र स्नेहं सदारमके ॥ ८ ॥

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ण्वा रूढयौवनः ।

जनयामास नारीणां वीर्यन्वीनां च विभ्रमम् ॥ ९ ॥

सा तं पतिं पञ्चदलायतक्ष्णं

प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम् ।

से मस्य हो गया थे । जब फिर शरीर-मांसिके लिये उन्होंने अपने अंशी मगवान् वासुदेवका ॥ आश्रय लिया ॥ १ ॥ ये ही काम अवक्री बार मगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुमिणीजीके गर्मसे उत्पन्न हुए और प्रमुञ्च नामसे जगतमें प्रसिद्ध हुए । सौन्दर्य, भीय, सौशील्य आदि सद्गुणोंमें मगवान् श्रीकृष्णसे वे किसी प्रकार कम न थे ॥ २ ॥ बालक प्रमुञ्च अभी दस दिनके भी न हुए थे कि काम-रूपी शम्भरासुर बेप बलकर स्तम्भगृहसे उन्हें हर ले गया और समुद्रमें फेंककर अपने घर चैत्र गया । उसे माखन हो गया था कि यह मेरा भावी शत्रु है ॥ ३ ॥ समुद्रमें बालक प्रमुञ्चको एक बड़ा भारी मच्छ निगल गया । तदनन्तर मछुओंने अपने बहुत बड़े जालमें फँसाकर दूसरी मछुलियोंके साथ उसे मच्छको मँ पकड़ लिया ॥ ४ ॥ और उन्होंने उसे ले जाकर शम्भरगुह्य को मँके रूपमें दे दिया । शम्भरगुह्यके रसोदये उस अद्भुत मच्छको ठाकर रसोदरमें ले आये और पुनः शिरोसे उसे काटने लगा ॥ ५ ॥ रसोदरमें मस्यके पेटमें बाळक देखकर उसे शम्भरगुह्यकी दासी मायावती-का स्मर्पित किया । उसके मनमें बड़ी शंका हुई । तब नारदने आकर बाळकका कामदेव होना, श्रीकृष्णकी पत्नी रुमिणीके गर्मसे जन्म लेना, मच्छके पेटमें जाना सब कुछ कहा सुनाया ॥ ६ ॥ परीक्षित ! वह मायावती कामदेवकी यशस्विनी पत्नी रति ही थी । जिस दिन शङ्करजीके क्रोधसे कामदेवका शरीर मस्य हो गया था, उसी दिनसे वह उसकी दृष्टिके पुन उत्पन्न होनेकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ७ ॥ उसी रतिके शम्भरगुह्यने अपने यहाँ दाळ-भाल कानेके काममें नियुक्त कर रक्खा था । जब उसे माखन हुआ कि इस शिशुके रूपमें मेरे पति कामदेव ही हैं, तब वह उसके प्रति बहुत प्रेम करने लगी ॥ ८ ॥ श्रीकृष्णकुमार मगवान् प्रमुञ्च बहुत पाँच दिनोंमें जवान हो गये । उनका रूप-स्वावप्य इतना लज्जित था कि जो स्त्रियाँ उनकी ओर दृष्टि, उनके मनमें शृङ्गार-रसका उदीपन हो जाता ॥ ९ ॥ कामदेवके समान कामका एवं विशाल नेत्र, घुटनोत्तक लम्बी-लम्बी बाँहें और मनुष्यलोकमें सबसे सुन्दर शरीर । रति सकल

सप्रीतहासोचभिसम्भवेद्यती

प्रीत्योपवस्य रतिरङ्ग सौरतै ॥१०॥

तामाह भगवान् काष्णिमर्तस्ते मस्तिरन्यथा ।

मातृभावमतिक्रम्य सर्वसे कामिनी यथा ॥११॥

रतिरुवाच

भवान् नारायणसुतः शम्भुरेणाह्वो गृहात् ।

अहं तेऽधिकृता पत्नी रति कामो भवान् प्रभो ॥१२॥

पप त्वानिर्दश सिन्धवधिपञ्चशम्भरोऽसुरः ।

मन्सोऽग्रसीचदुद्रादित श्राप्तो भवान् प्रभो ॥१३॥

तमिम जहि दुर्घप दुर्जयं शत्रुमात्मन ।

मायाशतविदं त्व च मायाभिर्मोहनादिभि ॥१४॥

पश्चिन्नाचरि त माता दुरीव गतप्रजा ।

पुत्रन्महाकुला दीना विवत्मा गौरिबातुरा ॥१५॥

प्रभार्पयं ददौ पिपां प्रपुम्नाय महा मने ।

मायावती महामायां मवमायाविनाशिनीम् ॥१६॥

म च शम्भरमम्यय मपुगाय ममाहयन् ।

अरिपदंस्तमाद्यं धिरन गंधनयन् कल्पिम् ॥१७॥

मापिधिमाम् दुर्घयाभि पादाहम इवारम ।

निषक्राम गदापारिमशानामन्नायन ॥१८॥

हास्यके साथ भौंह मन्त्रकर उनकी ओर दखती और प्रेमसे मरकर स्त्री-मुखसम्बन्धी भाव व्यक्त करती हुई उनकी सेवा-शुभ्रार्थमें छगी रहती ॥१०॥ श्रीकृष्णनन्दन भगवान् प्रपुम्नने उसके मार्गमें परिवर्तन देखकर कहा—
‘देखि । तुम तो मेरी मौके समान हो । तुम्हारी मुद्रि ठलटी कैसे हो गयी ? मैं देखता हूँ कि तुम मन्त्रकर भाव छत्रकर कर्मिणीके समान हाव-भाव लिख रही हो ॥ ११ ॥

रतिने कहा—‘प्रभो ! आप स्वयं भगवान् नारायण पुत्र हैं । शम्भरासुर आपको सूक्तिकागृहसे जुग ध्वस्त था । आप मेरे पति स्वयं कर्मदेव हैं और मैं आपकी सदाकी धर्म-पत्नी रति हूँ ॥ १२ ॥ मेरे स्वामी । जब आप दस दिनके भी न थे, तब इस शम्भरासुरने आपको हरकर समुद्रमें डाल दिया था । यहाँ एक मच्छ आपको निगल गया और उसीके पेटसे आप यहाँ मुझे प्राप्त हुए हैं ॥ १३ ॥ यह शम्भरासुर सैकड़ों प्रकारकी माया जानता है । इसको अपने बशमें कर लेना या जीत लेना बहुत ही कठिन है । आप अपने इस शत्रुको मोहन आदि मायान्तों के द्वारा नष्ट कर डालिये ॥ १४ ॥ स्वामिन् ! अपनी स्तन्यन आपके लो जानेसे आपकी माता पुत्रस्तनहसे म्यकुल हो रही हैं वे आतुर होकर अत्यन्त दीनतासे रत्न-निषिन्ता करती रहती हैं । उनकी ठीक वैसी ही दृष्टि हो रही है, जैसी बच्चा लो जानपर दुरी पत्नीकी अवस्था बहुत सा जानेपर बच्ची मायकी होती है’ ॥ १५ ॥ मयावती रतिने इस प्रकार कहकर परमशक्तिपत्नी प्रपुम्नको महामाया नामकी पिपा भिगायी । यह पिपा पयी है जो सब प्रकारकी मयाओंका नाश कर देती है ॥ १६ ॥ अब प्रपुम्ननी शम्भरासुरके पास जाकर उसपर बड़े कटु-मटु आक्षेप करने लगे । ये बाह्यते प कि यह मिनी प्रकाश जगदा कर घेरे । इतना ही नहीं उन्हाने युद्धके लिये उसे लपटगपसे लगाना ॥ १७ ॥

प्रपुम्ननाक कटुवचनोंकी शान्ति शम्भरासुर तिर निग उठ्य । मना किम्भीन दिने सौराष्ट्र परमे टोवर मार गी हा । उनकी ओर प्रेमसे लाज हा गयी । यह हाथमें गंगा लेकर बाहर निकल आया ॥ १८ ॥

गतामाविष्य तरसा प्रद्युम्नाय महत्तमने ।
 प्रक्षिप्य व्यनदन्नलं वस्रनिष्पेपनिष्ठुरम् ॥१९॥
 तामापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम् ।
 अपास्य शत्रवे क्रुद्ध प्राहिणोत् खगदां नृप ॥२०॥
 स च मायां समाधित्य दैतेयीं मयदर्शिताम् ।
 मृद्वयेऽस्त्रमयं वर्षं कर्ण्णं वैहास्यसोऽसुर ॥२१॥
 बाध्यमानोऽस्त्रवपण रौक्मिणो यो महारथ ।
 सत्त्वारिमक्ख महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम् ॥२२॥
 ततो गौर्ध्रकणान्धर्वपैदाधौरगाराक्षसी ।
 प्रायुङ्क्त शतशो दैत्य कार्णिव्यधमयत्सता ॥२३॥
 निशतमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकण्डलम् ।
 शम्बरस्य क्षिर कायात् साम्रश्मज्जोजसाहरत् ॥२४॥
 आक्षीर्यमाणो दिविजैः स्तुवन्नि कुमुमोत्क्रे* ।
 भाययाम्बरधारिण्या पुरं नीतां विहायमा ॥२५॥
 अत पुरवर राजन् ललनाशतसंकुलम् ।
 विव्रत पत्न्या गगताद् विमुक्तेषु थलाहक ॥२६॥
 न ह्यत्र जलदश्यामं पातर्क्यपवाससम् ।
 प्रलम्बपादं ताम्राक्षं मुष्मिन् करिराननम् ॥२७॥
 मन्त्रैस्तुमुन्माभाजं नान्वक्त्रालम्बलिभि ।

उसने अपनी गदा धके जोरसे आक्षरामें धुमायी और
 इसके बाद प्रद्युम्नजीपर चला दी । गदा चखते समय
 उसने इतना कर्कश सिंहनाद किया, मानो बिजली
 कलक रही हो ॥ १९ ॥ परीक्षित ! भगवान् प्रद्युम्नने
 देखा कि उसकी गदा बड़े वेगसे मेरी ओर जा रही है ।
 तब उन्होंने अपनी गदाके प्रहारसे उसकी गदा गिरा
 दी और कोषमें भरकर अपनी गदा उसपर चलायी ॥ २० ॥
 तब वह दैत्य मयासुरकी बलश्रयी हुई आसुरी मयाका
 आश्रय लेकर आक्षरामें चला गया और वहीसे प्रद्युम्नजी
 पर अन्न-शालीको वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥ म्भारपी
 प्रद्युम्नजीपर बहुत-सी अन्न-वर्षा करके जब वह उन्हें
 पीड़ित करने लगा, तब उन्होंने समस्त मयाबोको शान्त
 करनेवाली सरस्वती महाविद्याका प्रयोग किया ॥ २२ ॥
 तदनन्तर शम्बरामुने पक्ष, गन्धर्व, पिशाच, नाग और
 राक्षसोंको सैकड़ों मायाबोका प्रयोग किया, परन्तु श्री-
 हृण्णकुमार प्रद्युम्नजीने अपनी म्भारविद्यासे उन सबका
 नाश कर दिया ॥ २३ ॥ इसके बाद उन्होंने एक
 तीक्ष्ण कलवार ठठापी और शम्बरामुनका किरिट एवं
 कुण्डलसे सुशोभित सिर, जो लाल-खाल दाढ़ी, मूँछोंसे
 बका मयङ्कर लगा रहा था, कटकर धड़से अलग कर
 दिया ॥ २४ ॥ देवता लोग पुरोंको बना करते हुए
 स्तुति करने लगे और इसके बाद मायावती रति, जा
 आक्षरामें धतना जानती थी, अपने पति प्रद्युम्नजीको
 आक्षरामार्गसे द्वारकापुरीमें ले गयी ॥ २५ ॥

परीक्षित ! आक्षरामें अपनी गोपी पत्नीके साथ सौक्ये
 प्रपुत्रजीकी एसी शोभा हो रही थी, मानो बिजली और
 मेघका आश हो । इस प्रकार उन्होंने भगवान्के उस
 उत्तम अन्न-पुरमें प्रवेश किया, जिसमें सैकड़ों शत्रु
 रमिणीयां निवास करती थी ॥ २६ ॥ अन्त पुरकी
 मारिचोंने म्भार प्रपुत्रजीका नहीं पराक्रमवीन मरक
 समान द्वापवर्ण है । रंगी पीताम्बर धारण किये हुए
 हैं । पुत्रोन्मत्त लकी मुखार्थ हैं रत्नार मय हैं और
 सुन्दर मुगार मन्द-मन्द मुमकनकी अन्दी ही उठा
 है । उनका मुखकिम्पर पुँवपायी और नीची अङ्गे
 इस प्रकार सामाप्यन हो रही हैं, यना भीरे मय रहे

कृष्णं मत्वा स्त्रियो हीता निलिख्युस्तत्र ह ॥२८॥
 अवधार्य धनैरीषद्वैलक्ष्येन योषित ।
 उपजग्मुः प्रमुदिताः सखीरत्न सुविस्मिता ॥२९॥
 अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वरगुभाषिणी ।
 अक्षरत् स्वमुतं नष्टं स्नेहस्तुतपयोभरा ॥३०॥
 को त्वचं नरवैर्दूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः ।
 शृत कया वा जठरं केयं लम्बा त्वनेन वा ॥३१॥
 मम चाप्यात्मजा नष्टा नीतो य क्षतिकारुण्यम् ।
 एतद्युस्मवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥३२॥
 कथं त्वनेन मंग्रातं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ।
 आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥३३॥
 न एव वा भवेन्नृतं यो म गर्भे धृतोऽर्मक ।
 जमुष्मिन् प्रीतिरिधिका वाम स्फुरति म भुज ॥३४॥
 एव भीमांसमानायां वैदम्या दम्बकीसुत ।
 देवस्यानरुदन्दुम्यामुषमदन्ताक आगमन् ॥३५॥
 विप्रातार्थाऽपि भगवांस्तुष्पीमास जनादन ।
 नागदोऽवधयन मय शम्भराहरणात्किम् ॥३६॥
 नन्दुरता मददाभय कृष्णान्तःपुरपापितः ।

हों । वे सब उन्हें श्रीकृष्ण समझकर सकुचा गयीं और
 धरमों इधर-उधर लुका-छिपी गयीं ॥ २७-२८ ॥ फिर
 धीरे-धीरे स्त्रियोंको यह मालूम हो गया कि ये श्रीकृष्ण
 नहीं हैं । क्योंकि उनकी अपेक्षा इनमें कुछ किञ्चुल्य
 अवश्य है । जब वे अत्यन्त आनन्द और विलम्बसे भ-
 फर इस श्रेष्ठ दम्पतिके पास आ गयीं ॥ २९ ॥ इसी
 समय वहाँ रुक्मिणीजी था पहुँची । परीक्षित । उनके
 नेत्र कमण्डले और बाणी अत्यन्त मधुर थी । इस नवीन
 दम्पतिको देखते ही उन्हें अपने छोपे हुए पुत्रकी याद हो
 आयी । बारम्बार स्नेहकी अविकलासे उनके स्तनोंसे
 दूध छरने लगा ॥ ३० ॥ रुक्मिणीजी सोचने लगी—यह
 नरत्न कौन है ? यह कमलधन्य किस्सका पुत्र है ? किन्तु वह
 रुक्मिणीजी इसे अपने गर्भमें धारण किया होगा । इसे वह
 कौन सी भाग्यवन्ती पत्नीरूपमें प्राप्त हुई है ? ॥ ३१ ॥
 मग मी एक नन्हा-सा शिशु हो गया था । न जाने
 कौन उसे सुनिकागुहसे उठा ले गया । यदि वह कहीं
 जीता-जागता होगा तो उसकी अवस्था तथा रूप
 भी इसीके समान हुआ होगा ॥ ३२ ॥ मैं तो इस बातसे
 हैरान हूँ कि इसे भगवान् श्यामसुन्दरकी-सी रूप-रेखा,
 आँखोंकी गठन, चाख-खाँक, मुस्कान-चितकन और शीन-
 चाख कहाँसे प्राप्त हुई ? ॥ ३३ ॥ हो-न-बो यह कही
 जासक है, जिसे मैंने अपने गर्भमें धारण किया था ।
 क्योंकि सामास्ये ॥ मेरा स्नेह इसके प्रति उमड़ रहा
 है और मेरी बायीं बाँह भी फँक रही है ॥ ३४ ॥

जिस समय रुक्मिणीजी इस प्रकार सोच-विचार
 कर रही थी—निश्चय और स्पष्टहृदयसे धृष्ट रही
 थी, उसी समय पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अपने
 मत्ता-रिपु देवकी-वसुदेवजीके साथ वहाँ पधारे ॥ ३५ ॥
 भगवान् धीरुष्ण सब कुछ जानते थे । परन्तु वे कुछ
 न बोले, पुरापाप छुड़ रहे । इतनेमें ही मादरी वहाँ
 आ पहुँचे और उन्होंने प्रपुत्रकीको शम्भरामुरका हर स
 जाना, समुद्रमें फेंक देना आदि भिन्नी भी घनारों
 घटित हुई थीं, वे सब यह सुनायीं ॥ ३६ ॥ नारदजी-
 के द्वारा यह म्हात् आधर्म्यकी घटना सुनकर भगवान्
 श्रीकृष्णके अन्त-पुरकी स्त्रियों चकिन हो गयीं और

अम्यनन्दन् बहुनन्दन् नष्टं मृतमिवागतम् ॥३७॥

देवकी वसुदेवम् कृष्णरामौ तथा स्त्रिय ।

दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥३८॥

नष्टं प्रसुप्तमायत्तमाकर्ण्य शरकौकस ।

अहो मृत इवापातो बालो दिष्टयेति हाश्रुवन् ॥३९॥

य वै मृदु पितृस्वरूपनिजेशभावा-

न्तन्मातरो यदभजन् रहस्यभावाः ।

चित्रं न तत् खलु रमास्पदविम्बविम्ब

काम सरेऽक्षिविपये किमुतान्यनार्यः ॥४०॥

बहुत बर्षों तक साथे रहनेके बाद लौटे हुए प्रसुप्तनीका इस प्रकार अमिनन्दन करने लगी, मानो कोई मरकर जी उठा हो ॥ ३७ ॥ देवकीजी, वसुदेवजी, भस्वान् श्री-कृष्ण, बजरामजी, रुक्मिणीजी और स्त्रियो—सब उस नव दम्पतिको हृदयसे छायाकर बहुत ही आनन्दित हुए ॥ ३८ ॥ जब शरकवासी नर-नारिणोंको यह माष्टम हुआ कि खोये हुए प्रसुप्तजी लौट आये हैं, तब वे परस्पर कहने लगे—'अहो, कैसे सौभाग्यकी बात है कि यह बालक मानो मरकर फिर लौट आया' ॥ ३९ ॥ परीक्षित । प्रसुप्तनीका रूप-रंग मगयान् श्रीकृष्णसे इतना मिळता-जुळता था कि उन्हें देखकर तमकी माताएँ भी उन्हें अपने पतिदेव श्रीकृष्ण समझकर मयुरमाधमें भग्न हो जाती थीं और उनके सामनसे हटकर एकान्तमें बची जाती थी । श्रीलिकेतन मगयान्के प्रतिविम्बरूप कामावतार मगयान् प्रसुप्तके दीख जानेपर ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । फिर उन्हें देखकर दूसरी स्त्रियोंकी विचित्र दशा हो जाती थी, इसमें तो कहना ही क्या है ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संज्ञितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे प्रपुष्पोत्पत्तिरूपेण

नाम पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

अथ पट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्यमन्तकमणिकी कथा आम्बवती और सत्यभामाके साथ श्रीकृष्णचर चिवाह

श्रीगुरु उवाच

सप्राजितं स्वतनयां कृष्णाय कृतत्रित्विष ।

स्यमन्तकमणिना न्ययमुद्यम्य दृष्टवान् ॥ १ ॥

राजोवाच

सप्राजितं किमकरोद् मदान् कृष्णस्य कित्विषम् ।

स्यमन्तकं कृतमन्य कम्पाद् दत्ता सुता हरः ॥ २ ॥

श्रीगुरु उवाच

मासीन् सप्राजितं स्यौ भक्तस्य परमं मरता ।

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । सप्राजित् श्रीकृष्णचर स्यौ कम्पाद् मगाया था । फिर उस अरण्याक्य मात्रन करनेके लिये उसने स्वयं स्यमन्तकमणिसहित अपनी कन्या सायमामा मगयान् श्रीकृष्णको सीप दी ॥ १ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—मगयन् । सप्राजित्ने मगयान् श्रीकृष्णचर कन्या अरण्या निषा था । उसे स्यमन्तकमणि बर्हसे मिठी । और उसन अपनी कन्या उन्हें क्यों दी ॥ २ ॥

श्रीगुरुदेवजीन कथा—परीक्षित । सप्राजित् मगयान् स्यौ बहुत बड़ा मछ था । वे उसकी मकितसे प्रसन्न

प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् सूर्यस्तुष्ट स्यमन्तकम् ॥ ३ ॥

स सविभ्रन् मणिं कण्ठे ब्राजमानो यथा रवि ।

प्रनिष्टो द्वारकां रात्रंस्तेजसा नोपलक्षित ॥ ४ ॥

त विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टेष्टम् ।

दिश्यतेऽर्धैर्मगवत् धर्धसुः सूर्यशङ्किताः ॥ ५ ॥

नारायण नमस्तेऽस्तु सङ्गन्तकगदाधर ।

दामादरारविन्दाश्च गोविन्द यदुनन्दन ॥ ६ ॥

एष आप्ताति सविता त्वां दिष्टसुर्वगत्यते ।

सृष्यन् गमस्तिचक्रेण नृणां चक्षुषि तिम्रगु ॥ ७ ॥

नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुर्धर्माः ।

ज्ञात्वाप गूढं यदुषु ब्रह्म त्वां यात्यन्तः प्रभो ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

निश्चिन्म बालवचनं ग्रहसामुज्ज्वलोजनः ।

प्राह नासौ रविर्देव सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ॥ ९ ॥

सत्राजिद्व सगुहं श्रीमत् कृतकौतुकमङ्गलम् ।

प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत् ॥ १० ॥

दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सुजति प्रभा ।

दुर्भिक्षमार्परिधानि सर्पाभिष्याभयोऽद्भुताः ।

होकर उसके बहुत बड़े मित्र बन गये थे । सूर्य भावन्ते ही प्रसन्न होकर बड़े प्रेमसे उसे स्वमन्तकमणि दी थी ॥ ३ ॥ सत्राजिद्व उस मणिको गलेमें धारणकर ऐसा कमलने लगा, मानो स्वयं सूर्य ही हो । परीक्षित ! जब सत्राजिद्व द्वारकामें आया तब क्षणतः तेजस्वित्वके कारण खेग उसे पहचान न सके ॥ ४ ॥ दूरसे ही उसे देखकर जोगोंकी ओरसे उसके तेजसे चौंभिया गयी । जोगोंने सम्प्राप्ति कि कदाचित् स्वयं भगवान् सूर्य का रहे हैं । तब जोगोंने भगवान्के पास आकर उन्हें इस बातकी सूचना दी । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण चौंसार लेन रहे थे ॥ ५ ॥ जोगोंने कहा—'शङ्ख चक्र गदा वी मारायण ! कमलनयन दामोदर ! यदुवंशसिंहेमणि गोविन्द ! आपको नमस्कार है ॥ ६ ॥ जगदीश्वर ! देखिये ! अपनी कमकीजी स्त्रिणोंसे जोगोंके नेत्रोंको चौंभियते हुए प्रचम्प्यरसिम भगवान् सूर्य आपका दर्शन करने का रहे हैं ॥ ७ ॥ प्रभो ! सभी श्रेष्ठ वेक्ता त्रिदशकीमें आपकी प्रसिद्ध मार्ग ढूँढते रहते हैं, किन्तु उसे पाते नहीं । जब आपको यदुवंशमें छिपा हुआ जानकर सब सूर्यनारायण आपका दर्शन करने का रहे हैं ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णनेबकी कहते हैं—परीक्षित ! जनमान पुरुषोंकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण हँसने लगे । उन्होंने कहा—'अरे, ये सूर्यदेव नहीं हैं । यह तो सत्राजिद्व है, जो मणिके कारण इतना चमक रहा है ॥ ९ ॥ इसके बाद सत्राजिद्व अपने सद्यः अपने जका आया । धरपर उसके सुवर्णमणिके उपकम्पमें मङ्गल-उत्सव मनाना जा रहा था । उसने शङ्खोंके द्वारा स्वमन्तकमणिको पञ्च देवमन्त्रिणमें स्थापित करा दिया । ॥ १० ॥ परीक्षित ! वह मणि प्रनिष्ठिन काट मारः सोना पिया करती थी । और जहाँ वह पूजित होकर रहती थी वहाँ दुर्भिक्ष, म्भावापी प्रहृषीबा स्वमय, मानसिक और

० भारका परिमाण इस प्रकार है—

अर्धमिहमिहगुणं गुणान्यथ फलं क्पान् ।

अथो परकमथो न कर्म तादृशुर फलम् ।

गुण्य फलार्त पादुमारं स्याद्विषयिस्तुका ॥

अर्थात्—यस कीजि (धान) की एक गुणा फलं गुणाथ एक कण भाउ फलथ एक धरण भाउ धरणा एक कण भार कर्मका एक पल नौ वकरी एक गुण और बीज गुणाथ एक भार कदमला ६ ।

न सन्ति मायिनस्तत्र यथास्तेऽभ्यर्षितो मणि ॥११॥

म माचितो मणि कापि यदुराजाय शौरिणा ।

नैवार्थक्यामुक्तं प्राप्ताद् याच्ञाभङ्गमतर्कयन् ॥१२॥

तमेकदा मणि कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् ।

प्रसेनो ह्यमात्यस्य भृगव्यां व्यचरद् यने ॥१३॥

प्रसेनं सहस्रं हत्वा ममिमाच्छिष्य कसरी ।

गिरिं विशङ्खाम्बवता निहतो मणिमिच्छता ॥१४॥

सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं धिले ।

अपश्यन् अस्तरं ज्ञाता सत्राजित् पर्यतप्यत ॥१५॥

प्रायः कृष्णं निहतो मणिग्रीवो वनं गतः ।

अज्ञाता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जना ॥१६॥

भगवांस्तदुपधुन्य दुर्ययो तिस्रस्तप्तमणि ।

मातुं प्रसेनपठवीमन्वपद्यत नागरं ॥१७॥

इतं प्रसेनमन्वं च वीक्ष्य कसरीणा वने ।

तं चाद्रिष्टुं निहतमृषण दह्युजना ॥१८॥

अश्वराजकिं भीममप्यन तमसाऽऽवृत्तम् ।

पक्ष विषम भगवानवध्याप्य बहिः प्रजा ॥१९॥

तत्र दृष्ट्वा मणिभट्टे वात्काडनकं वृत्तम् ।

इतु वृत्तमिदमिभमतस्त्वयमहान्तिक ॥२०॥

शारीरिक व्याया तथा मायाविशेष उपद्रव आदि भारों
मी बहुत नहीं होना था ॥ ११ ॥ एक बार भगवान्
श्रीकृष्णने प्रसङ्गवश कहा—‘सत्राजित् । तुम अपनी
मणि राजा उधसेनका दे दो ।’ परन्तु वह इतना अर्थ
लोभ—सोचो था कि भगवान्की आज्ञाका उल्टा करने
होगा, इसका कुछ भी विचार न करके उसे अस्वीकार
कर दिया ॥ १२ ॥

एक दिन सत्राजित्क भाई प्रसेनने उस परम प्रकाश-
मयी मणिको अपने गलेमें धारण कर लिया और फिर वह
घोड़ेपर सवार होकर शिकार क्षेत्रमें वनमें चला गया ॥ १३ ॥
वहाँ एक सिंहान घोड़ेसहित प्रसेनको मार डाला और उस
मणिको छीन लिया । वह अभी पर्वतकी गुफामें प्रवेश
कर ही रहा था कि मणिके लिये अश्वराज जाम्बवान्
उसे मार डाला ॥ १४ ॥ उन्होंने वह मणि अपनी गुफामें
ले जाकर बबोको छपनेके लिये दे दी । अपने भाई
प्रसेनक न जानेसे उसका भाई सत्राजित्का बड़ा दुःख
हुआ ॥ १५ ॥ वह कहने लगा, बहुत सम्भव है श्री
कृष्णने ही मेरे भाईको मार डाला हो । क्योंकि वह
मणि गलेमें बाँधकर वनमें गया था । सत्राजित्की यह
बात सुनकर लोग आपसमें कलह-झँझी करने लगे ॥ १६ ॥
जब भगवान् श्रीकृष्णने सुना कि यह कलहका टीका
मरे ही फिर लगी है, तब वे उसे धा-बहानेके
उद्यममें नगरक कुछ समय पुरोकोर साप लेकर प्रसेन
का झूँड़नेके लिये वनमें गये ॥ १७ ॥ वहाँ खोजते-
खोजते लगाने देखा कि वार जंगलमें निहत्त प्रसेन और
उसके भाईका मार लगी है । तब वे त्याग मित्रक
परोकर विद्र देउने हुए आगे बढ़े, तब उन लगाने पर
भी देख कि पर्वतपर एक गिड़ने भिरको भी मार डाला
है ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने सब लोगोंका बाहर ही विद्र
लिया और अकन ही वार अन्तरसे भी इस अश्व
राजकी मददर गुफामें प्रवेश किया ॥ १९ ॥ भगवान्ने
वहाँ जाकर देखा कि अत्र मणि स्थानपर ही पड़ोका
किटका बना दिया गया है । व उसका रक्तकी इच्छासे

तमपूर्वं नर इष्टा धात्री जुकोश्च भीतवत् ।

तच्छ्रुत्वाम्बुद्वयं कृदो जाम्बवान् बलिनां वरः ॥२१॥

स नै भगवता तेन युयुवे स्वामिनाऽऽत्मनः ।

पुरुष प्राकृतं मत्वा कुरितो नानुभाषवित् ॥२२॥

इन्द्रयुद्धं सुदुर्मूलम्भयोर्विजिगीषतोः ।

आयुवात्मदुर्मैदोभिः क्रष्यात्वं श्येनयोरिव ॥२३॥

आसीत्पदार्थाविज्ञाहमितरतरमुष्टिभिः ।

वज्रनिष्पेपपरुषैरविधममहर्निशम् ॥२४॥

कृष्णमुष्टिनिष्पातनिष्पिष्टास्तेरुन्धनः ।

धीनसत्त्वः स्विभगात्रस्तमाहतीव विस्मितः ॥२५॥

जाने त्वां सर्वमूतानां प्राण ओजः सहो बलम् ।

विष्णुं पुरास्वपुरुषं प्रमविष्णुमवीक्षरम् ॥२६॥

त्वं हि विश्वसुधां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत् ।

कालः कलयतामोक्षः पर आत्मा तथाऽऽत्मनाम् ॥२७॥

यस्येपदुष्कलितरोपकणाक्षमौर्वै-

र्वर्मादिप्रसूतं सुभितनकृतिमिहिलोऽब्धिः ।

सेतुः कृत स्वयं उज्ज्वलिता च लङ्का ।

रघुः शिरांसि हवि पतुरिषुषतानि ॥२८॥

जन्मेके पास जा खड़े हुए ॥ २० ॥ उस गुह्यमें एक
अपरिचित मनुष्यको देखकर जन्मेकी घाम भयभीतकी
गौति चित्स्थित उठी । उसकी चिन्माहट सुनकर परम
बली आश्चर्यजन जाम्बवान् कोषित होकर बहो दौड़
आये ॥ २१ ॥ परीक्षित जाम्बवान् उस समय कुरित
हो रहे थे । उन्होंने भगवान्की महिमा, उनके प्रभाव
पता न चला । उन्होंने उन्हें एक साधारण मनुष्य
समझ लिया और वे अपने स्वामी भगवान् की कृष्णसे युद्ध
करने लगे ॥ २२ ॥ जिस प्रकार मांसके लिये दो शाय
आपसमें लड़ते हैं, वैसे ही विजयाभिषाही भगवान् श्री-
कृष्ण और जाम्बवान् आपसमें घमासान युद्ध करने लगे ।
पहले तो उन्होंने एक-दूसरेका प्रहार किया, फिर
शिखरोंका । तत्पश्चात् वे युद्ध उदात्तकर एक दूसरेपर
फेंकने लगे । अन्तमें बाहुयुद्ध होने लगा ॥ २३ ॥
परीक्षित । वज्र-प्रहारके समान कट्टेर घूँसोंसे आपसमें
वे अट्टाईस दिनतक बिना विश्राम किये एत-दिन लड़ते
रहे ॥ २४ ॥ अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णके घूँसोंकी चोटसे
जाम्बवान्के शरीरकी एक-एक गाँठ टूट-टूट गयी ।
उत्साह जाता रहा । शरीर पसीनेसे छप्पप हो गया ।
तब उन्होंने अल्पत विस्मित—चकित होकर भगवान्
श्रीकृष्णसे कहा ॥ २५ ॥ प्रभो ! मैं जान गया । आप
ही समस्त प्राणियोंके स्वामी, रक्षक, पुराणपुरुष मात्स्व
विष्णु हैं । आप ही सबके प्राण, इन्द्रियबल, मनोबल
और शरीरबल हैं ॥ २६ ॥ आप विश्वके रचयिता ब्रह्मा
आदिके भी जननेवाले हैं । बनाये हुए पदार्थोंमें भी
सत्ताकासे आप ही विराजमान हैं । कालके जितने भी
अस्त्र हैं, उनके नियामक परम कर्म आप ही हैं और
शरीर-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीयमान अन्तरालज्योत्स्नेके परम
आत्मा भी आप ही हैं ॥ २७ ॥ प्रभो ! मुझे स्तब्ध
है, आपने अपने नेत्रोंमें तनिक-सा क्रोधकण मात्र स्फुर
निरखी दृष्टिसे समुद्रकी ओर देखा था । उस समय
समुद्रके अंदर रहनेवाले बड़े-बड़े नाक (बरिष्णव)
और मगरमच्छ कुम्भ हो गये थे और समुद्रने आपको
मार्ग दे दिया था । तब आपने उसपर सेठ बाँधकर
सुन्दर यशस्वी स्थापना की तथा लङ्काका विध्वंस किया ।
आपके बाणोंसे कट-कटकर दहतेकी स्तिर पृथ्वीपर लोट
रहे थे । (अबश्यही आप मेरे वे ही शायकी श्रीकृष्णके

इति विज्ञातविज्ञानमृश्वराजानमभ्युतः ।
 व्याजहार महाराज भगवान् देवकीसुतः ॥२९॥
 अभिसृज्यतविन्दाश्वः पाणिना श्लंकरणं तम् ।
 कृपया परया भक्तं प्रेममग्मीरया गिरा ॥३०॥
 मयिहेतोरिह प्राप्ता वयमृष्यपते विलम् ।
 मिथ्यामिश्रापं प्रसृज्यभारमनो मणिनामुना ॥३१॥
 इत्युक्तः स्त्रीं दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा ।
 अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥३२॥
 अरुण निर्गम शौरेः प्रविष्टस्य विलं जनाः ।
 प्रतीक्ष्य द्वादशमानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः ॥३३॥
 निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यनकदुन्दुभिः ।
 सुहृदो ब्रह्मपुत्रोऽश्वत्थमान् विलात् कृष्णमर्निवत् ॥३४॥
 सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः ।
 उपतप्त्युर्महामत्यां दुर्गां कृष्णोपलम्बये ॥३५॥
 तेषां तु दम्युपस्रानात् प्रत्यादिष्टाशिषा स च ।
 प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन् हरिः ॥३६॥
 उपलम्ब्य हृषीकेशं मृतं पुनरियागतम् ।
 सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे ज्ञातमहात्सवा ॥३७॥
 सत्राजित समाहूय सभायां राजसन्निधौ ।
 प्राप्तिं चाम्प्याय भगवान् मणिं तस्मै न्यवेदयत् ॥३८॥
 स चातिग्रीहिषो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः ।

रूपमें आये हैं १' ॥ २८ ॥ परीक्षित । जब आसुरजन
 नाम्बवान् ने भगवान् को पहचान लिया, तब यमजनयन
 श्रीकृष्ण ने अपने परमकल्याणकारी शील को बरकामलको
 उनके शरीरपर फेर दिया और फिर अर्हणकी कृपासे
 मरकर प्रेममग्मीरवाणीसे अपने मण जाम्बवान्
 नीसे कहा—॥ २९ ३० ॥ आसुरजन । हम मणिके लिये
 हैं तुम्हारी इस गुफामें आये हैं । इस मणिके द्वारा मैं
 अपनेपर लगे हुए कलहको मिटाना चाहता हूँ ॥ ३१ ॥
 भगवान् के ऐसा करनेपर नाम्बवान् ने बड़े आनन्दसे
 उनकी पूजा करनेके लिये अपनी कन्याकुमारी जाम्बवती
 को मणिके साथ उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ ३२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिन लोगोंको गुफाके बाहर छोड़
 गये थे, उन्होंने वारह दिनतक उनकी प्रतीक्षा की ।
 परन्तु जब उन्होंने देखा कि अवतक वे गुफामेंसे नहीं
 निकले, तब वे अत्यन्त दुखी होकर द्वारकाने लौट
 गये ॥ ३३ ॥ वहाँ जब माता देवकी, रुक्मिणी,
 वसुदेवजी तथा अन्य सम्बन्धियों और कुटुम्बियोंको यह
 माहूल हुआ कि श्रीकृष्ण गुफामेंसे नहीं निकले, तब
 उन्हें बड़ा शोक हुआ ॥ ३४ ॥ सभी द्वारकावासी
 अत्यन्त दुःखित होकर सत्राजितको मन्त्र-मुग्ध करने
 लगे और भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये महामत्या
 दुर्गादेवीकी धारणमें गये, उनकी उपासना करने
 लगे ॥ ३५ ॥ उनकी उपासनासे दुर्गादेवी प्रसन्न हुई
 और उन्होंने आशीर्वाद दिया । उसी समय उनके बीचमें
 मणि और अपनी मन्त्रवत् नाम्बवतीके साथ सप्तमनोरथ
 होकर श्रीकृष्ण सबको प्रसन्न करते हुए प्रकट हो
 गये ॥ ३६ ॥ सभी द्वारकावासी भगवान् श्रीकृष्णको
 पत्नीके साथ और गलेमें मणि धारण किये हुए देखकर
 परमानन्दमें मग्न हो गये, मानो कदा मरकर खैर आया
 हो ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् भगवान्ने सत्राजितको राजसभामें महापवन
 उपसेनके पास बुलवाया और जिस प्रकार मणि प्राप्त
 हुई थी, वह सब कथा सुनाकर उन्होंने वह मणि
 सत्राजितको सौंप दी ॥ ३८ ॥ सत्राजित अत्यन्त
 खजिन हो गया । मणि तो उसने ले ली, परन्तु उसका
 मुँह भीचेसी और छटक गया । अपने अपराधपर उसे

अनुवप्यमानो भवनमगमत् स्वेन पाप्यता ॥३९॥

सोऽनुप्यामंस्तदेवायं बलवद्विग्रहाकृतः ।

कथं मृशाम्पात्तरसः प्रसीदेत् वाष्पमुतः कथम् ॥४०॥

किं कृत्वासाधु सर्वं स्यान्न क्षपेद्वा जनो यथा ।

अदीर्घदर्शनं सुखं मूढं ब्रविष्यलोलुपम् ॥४१॥

इत्थे दुहितरं तस्यै स्त्रीरन्नं रत्नमेव च ।

उपायोऽयं समीचीनस्तस्य क्षान्तिर्न चान्यथा ॥४२॥

एवं व्यदसितो बुद्ध्या सत्राजित् स्तुतुतां शुभाम् ।

मयि च स्वयमुयम्य कृप्यायोफज्जहार है ॥४३॥

तां सत्यभामां भगवानुपयेभ यथाविधि ।

बहुभिर्याचितां क्षीररूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥

भगवानाह न मयि प्रतीच्छामो वयं नृप ।

तवाम्नां देवभक्तस्य वयं च कनभागिनः ॥४५॥

कहा पञ्चाचार्य हो रहा था, किसी प्रकार वह अपने घर पहुँचा ॥ ३९ ॥ उसके मनकी बौद्धिक सामने निरन्तर अपना अपराध माफ़ता रहता । बचनान्क साप विरोध करनेके कारण वह मयमीत भी हो गया था । जब वह यही सोचना रहता कि मैं अपने अपराधकर्म मार्गम कैसे करूँ ? मुझपर मगवान् श्रीकृष्ण कैसे प्रसन्न हों ॥ ४० ॥ मैं ऐसा कौन-सा काम करूँ, जिससे मेरा कल्याण हो और लोग मुझे कहेसे नहीं । सबकुछ मैं अदूरदर्शी, मूढ़ हूँ । जनके लोमसे मैं कभी मूढतामय काम कर बैठा ॥ ४१ ॥ जब मैं रत्नविर्गमें स्नान समान अपनी कृप्या सत्यभामा और वह स्वयम्भक्तमणि दोनों ही श्रीकृष्णको दे हूँ । यह उपाय बहुत अच्छा है । इसीसे मेरे अपराधकर्म मार्गम हो सकता है, और कोई उपाय नहीं ॥ ४२ ॥ सत्राजितने अपनी बिरह-बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके स्वयं ही इसके लिये उद्योग किया और अपनी कृप्या तथा स्वयम्भक्तमणि दोनों ही के आगत श्रीकृष्णको अर्पण कर दी ॥ ४३ ॥ स्वयम्भय शीघ्र-समाप्त, सुन्दरता, उदारता, अदि सद्गुणोंसे सम्पन्न थी । बहुत-से लोग चाहते थे कि स्वयम्भामा हमें मिले और उन लोगोंने उन्हें मोगा भी था । परन्तु जब मगवान् श्रीकृष्णने विधिपूर्वक उनका पाणिग्रहण किया ॥ ४४ ॥ परीक्षित । मगवान् श्रीकृष्णने सत्राजित से कहा—हम स्वयम्भयमणि न लेने । जगत् सर्व-मगवान्के भक्त हैं, इसलिए वह आपके ही पास रहे । हम तो केवल उसके परस्के, अर्थात् उससे निकले हुए सोनके अधिकारी हैं । वही आप हमें दे दिया करें ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

स्यमन्तकोपाख्याने पञ्चशतशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

व्ययमन्तक-हरणं शतपञ्चाशत् उत्तरार्धे और अष्टाश्विनीको जिससे शारदा पुत्र्यता

श्रीगुरु उपाय

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । वयसि माफ़त

पितामहोंऽपि भाविन्दा दग्धान्तर्य पाण्डवान् ।

श्रीकृष्णको इस बातका पता था कि व्यशाङ्गद्वयी आगसे पाण्डवोंका जल भी नष्ट नहीं हुआ है, तथापि अब

१ अनाप्यमाना । २ देहधृता । ३ लः । ४ तप । ५ भगवान् देवभक्त । ६ ये स्वयम्भयारम्भ परस्के ।

कुन्ती च कृत्यकरणे सहरामो ययौ कुरुन् ॥ १ ॥

भीष्मं कृपं समिदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च ।

तुल्यदुःखौ च सङ्गम्य हा कष्टमिति होषतुः ॥ २ ॥

लब्धैतदन्तरं राखन् शतवन्वानमूषतुः ।

अक्रूरकुतबर्माणौ मणिं कस्यस्य गृह्यते ॥ ३ ॥

योऽसम्य संप्रतिष्ठत्य कन्यारत्नं विगर्भ नः ।

कृप्यायादाय सत्राजित् कस्यैव आवरमन्विषात ॥ ४ ॥

एवं भिन्नमस्तितान्मां सत्राजितमसत्तमः ।

अयानमवभीहोभात् स पापः क्षीणवीवित ॥ ५ ॥

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत् ।

हत्वा पशून् सौमिकबन्मणिमादाय जग्मिवान् ॥ ६ ॥

सत्यमामा च पितर इत्थं वीक्ष्य शुचार्पिता ।

अलपचाय तातेति ॥ इषासीति मुञ्चती ॥ ७ ॥

वैलद्राण्या मृत प्रास्य जगाम गजसाहसम् ।

कृप्याय विदितायाय वत्साऽऽचम्यौ पितुर्बधम् ॥ ८ ॥

तदङ्गणैस्सर्गां राजभनुद्युत्य नृलोकाधाम् ।

अन्धोमे सुना कि कुन्ती और पाण्डव जड़ मरे, तब उस समयका कुन्त-परम्परोपिधत ध्वजहार करनेकालिये वे कल राम-जीके साथ हस्तिनापुर गये ॥ १ ॥ वहाँ जाकर भीष्म-पितामह, कृपाचार्य, विदुर, गान्धारी और शोणाचार्यसे मिलकर उनके साथ सम्मेलना—सहायमूर्ति प्रकट की और उन लोगोंसे कहने लगे—‘हाय-हाय ! यह तो बड़े ही दुःखकी बात हुई ॥ २ ॥

मगवान् श्रीकृष्णके हस्तिनापुर चले जानेसे शरकाभें अक्रूर और कुतबर्माको अक्सर मिला गया । उन लोगोंमें शतवन्वासे आकर कहा—‘तुम सत्राजितसे मणि क्यों नहीं छीन लेते ? ॥ ३ ॥ सत्राजितने अपनी श्रेष्ठ कन्या सत्यमामाका विशाह हमसे करनेका वचन दिया था और अब उसने हमलोगोंका तिरस्कार करके उसे श्रीकृष्णके साथ ब्याह दिया है । जब सत्राजित भी अपने माई प्रसेनकी तरह क्यों न मरपुटीमें जाय ? ॥ ४ ॥ शतवन्वा पापी था और जब तो उसकी मृत्यु भी उसके सिरपर नाथ रही थी । अक्रूर और कुतबर्माके इस प्रकार बहकावनेपर शतवन्वा उनकी बातोंमें जा गया और उस महाबुद्धिने जामका सोये हुए सत्राजितको मार डाला ॥ ५ ॥ इस समय किसी अनापके समान रोने-फिराजने लगीं; परन्तु शतवन्वाने उनकी और तनिक भी ध्यान न दिया, जैसे कसार्ई पशुओंकी हत्या कर डालता है, जैसे ही वह सत्राजितको मारकर और मणि लेकर वहाँसे भागते हो गया ॥ ६ ॥

सत्यमामाजीवने यह देखकर कि मेरे किता मार डाले गये हैं, बड़ा शोक हुआ और वे श्वाय पितानी । आप पितानी । मैं माथे गयी—‘इस प्रकार पुत्रका पुत्राकर भिजाय करने लगीं । धीक-धीकमें ये दोहा हो जानी और दोशमें आनेपर फिर क्रिया करना लगती ॥ ७ ॥ इसके बाद उन्होंने अपन पिताके शशरु तेउके कड़ाहमें रखवा दिया और आप हस्तिनापुरको गयीं । उन्होंने वह दुःखसे मगवान् श्रीकृष्णके अपन पिताकी हत्याकर इतना सुनाया—यद्यपि इन बातोंका मगवान् श्रीकृष्ण पहलसे ही जानत थे ॥ ८ ॥ परिश्रु ! सर्वशक्तियान् मगवान् श्रीकृष्ण और कन्यारत्नसे सब सुनकर मनुष्योंकी-सी पीड़ा करते हुए अपनी लोकोमें

अहो नः परमं कष्टमित्युवाचो बिलेपतुः ॥ ९ ॥

आगत्य भगवांस्तस्मात् सभार्यः साध्वजः पुरम् ।

शतधन्वानमारेमे इन्तुं इतुं मणिं ततः ॥ १० ॥

सोऽपि कृष्णोद्यमं धत्वा भीतः प्राणपरीप्सया ।

साहाय्ये कृतवर्मामयाचत स चाग्रभीतः ॥ ११ ॥

नाहमीश्वरयाः कृपां हेतुनं रामकृष्णयोः ।

को नु क्षेमाय कल्पेत् तयोर्हजिनमाचरन् ॥ १२ ॥

कंस सहानुगोऽपीतो यद्वेदात्पात्राजित भिषा ।

जरासंध सप्तदश संयुगान् विरयो गतः ॥ १३ ॥

प्रत्यागम्यातः स चाकूरं पार्थिवं ग्राहमयाचत ।

सोऽप्याह को विरुप्येत विद्वानीश्वरयोर्वलम् ॥ १४ ॥

य इदं लीलया विश्वं सृजत्ययति इन्ति च ।

चेष्टां विमसुन्वा यस्य न विदुर्माहिताजया ॥ १५ ॥

यः सप्तहायनः शैलमुत्पार्थकेन पाणिना ।

दधार लीलया पाठ उच्छिडी घमिरामक ॥ १६ ॥

नमन्मर्म भगवत कृष्णापाशुतर्कण्य ।

अनन्तापादिमृताय गृन्म्यापात्मने नमः ॥ १७ ॥

प्रपागम्यातः स तेनारि शतधन्वा महामणिम् ।

औस भर लिये और बिलाप करने को कि 'अहो ! हा
ओगोंपर तो यह बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी ।' ॥ ९ ॥
इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामानी और कन्दम-
जीके साथ हस्तिनापुरसे हारका छैट बाये और क-
धन्वाको मारन तथा उससे मणि छिननेका उद्योग करने
लगे ॥ १० ॥

जब शतधन्वाको यह मालूम हुआ कि भगवान्
श्रीकृष्ण मुझे मारनेका उद्योग कर रहे हैं, तब वह बहुत
कर गया और अपने प्राण बचानेके लिये उसने कृतवर्मासे
सहाय्य माँगी । तब कृतवर्माने कहा—॥ ११ ॥
'भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी सर्वशक्तिमान् हैं
हैं । मैं उनका सामना नहीं कर सकता । भय, ऐश
कौन है, जो उनके साथ है । बौधकर इस छेक
और परीक्षणों से कुछ छूट सकेंगे ।' ॥ १२ ॥ इस
जानते हो कि कंस उन्होंने द्वेष करनेके कारण राज्य-
लक्ष्मीको लो बैठा और अपने अनुचरियोंके साथ मर
गया । जयसम्भ-वैसे शूरवीरको भी उनके सामने कुछ कर
सैन्यमें हारकर बिना रणके ही अपनी राजधानीमें लौट जाना
पड़ा था ॥ १३ ॥ जब कृतवर्माने उसे इस प्रकार उछ-
सा जबाब दे दिया, तब शतधन्वाने सहाय्यके लिये
अकूरजीसे प्रार्थना की । उन्होंने कहा—'यार ! ऐसा कौन
है, जो सर्वशक्तिमान् भगवान् का कर्मचारी जल-
कर भी उनसे पैर-निवेदन करे । जो भगवान् सेन-सेनामें
ही इस विश्वकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं तब
जो कब क्या करता चाहते हैं—इस बातसे मरते
मोहित शत्रु आदि विष-विषाक्त भी नहीं सुन्न पते
जिन्होंने सारा कर्म ही अपने—जय वे निरे काम-
ये, एन हाथसे ही गिरिराज गोवर्द्धनको उछाड़ दिया
और जैसे गङ्गे मन्हे पथे बरसाती छत्तेको उछाड़कर
हाथमें रख लेती हैं, वैसे ही सेन-सेनामें सारा दिनेनक
उसे उछाये रखता, मैं तो सन भगवान् श्रीकृष्णको
गमस्कार करता हूँ । उनके कर्म बहुत हैं । वे अकाल,
अनादि, एतद और आत्मस्वरूप हैं । मैं उन्हें नमस्कार
करता हूँ ॥ १४ १५ ॥ अब इस प्रकार अकूरजीने
भी उसे वही जबाब दे दिया, तब शतधन्वाने स्वयं-त-

तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य क्षतयोजनगं ययौ ॥१८॥

गरुडञ्चक्रमारुह्य रथ रामजनार्दनौ ।

अन्वयातां महावेगैरश्वै रश्मन् गुरुद्वयम् ॥१९॥

मिथिलायामुपवने विसृज्य पतिर्ह हयम् ।

पद्मयामधावत् सप्रसक्त कृष्णोऽप्यन्वद्रवत् रुपा ॥२०॥

पदातेर्मगबांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।

चक्रेण क्षिर उत्कृत्स्व बाससोर्व्यधिर्नोन्मणिसु ॥२१॥

अलम्बमणिरामत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् ।

इया इतः क्षतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते ॥२२॥

तत आह बलो नूनं स मणि क्षतधन्वना ।

कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेप पुरं व्रज ॥२३॥

अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतम मम ।

इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दन ॥२४॥

तं दृष्ट्वा सहस्रोत्थाय मैथिलः प्रीतमानस ।

अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणः ॥२५॥

उवाच तसां कतिचिमिथिलायां समाविष्टः ।

मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।

तवोऽशिशुं गदां काले भार्तराष्ट्र सुयोधनः ॥२६॥

कञ्चवो द्वारकामेत्य निधनं क्षतधन्वनः ।

अप्राप्तिं च मणे प्राह प्रियायाः प्रियकृतं विभु ॥२७॥

मणि उन्होंनेके पास रख दी और आप चार सौ करोड़
छातापर चढ़नेवाले घोड़ेपर सवार होकर यहाँसे यहीं
पुनःसि मागा ॥ १८ ॥

परीक्षित ! मगधान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनों माई
अपने उस स्वरूप पर सवार हुए, जिसपर गरुडचिह्नसे
चिह्नित ध्वजा पहना रखी थी और बड़े वेगवाले घोड़े
छुते हुए थे । अब उन्होंने अपने समुद्र सत्राजितको
मारनेवाले शतधन्वाका पीछा किया ॥ १९ ॥ मिथिला
पुरीके निकट एक उपवनमें शतधन्वाका घोड़ा गिर पड़ा,
जब वह उसे छोड़कर पैदल ही भागा । वह अत्यन्त
मयमात हो गया था । मगधान् श्रीकृष्ण भी क्रोध करके
उसके पीछे दौड़े ॥ २० ॥ शतधन्वा पैदल ही भाग
रहा था, इसलिये मगधान् भी पैदल ही दौबकर
अपने तीक्ष्ण चारवाले चक्रसे उसका स्तिर उतार लिया
और उसके बज्रोंमें स्वमन्तकमणिको हँका ॥ २१ ॥
परन्तु जब मणि मिथी नहीं, तब मगधान् श्रीकृष्णने
बड़े माई बलरामजीके पास आकर कहा—“हमन शत-
धन्वाको धर्य ही मारा । क्योंकि उसके पास स्वमन्तक-
मणि तो है ही नहीं” ॥ २२ ॥ बलरामजीने कहा—
“हमने समझे नहीं कि शतधन्वान स्वमन्तकमणिको
किन्सीन-किन्सीके पास रख लिया है । अब तुम द्वारका
आओ और उसका पता लगाओ ॥ २३ ॥ मैं विदेह
राजसे मिलना चाहता हूँ, क्योंकि वे मेरे द्रुहृत ही प्रिय
मित्र हैं ।” परीक्षित ! यह कहकर यदुवधितोमणि
बलरामजी मिथिला नगरीमें चले गये ॥ २४ ॥ अब
मिथिजनरोदान देखा कि पूजनीय बलरामजी महाराज
पवारे हैं, तब उनका हृदय आनन्दसे भर गया । उन्होंने
हृत्पद्म अपने आसनसे उठकर अपने सामप्रियोंसे उनकी
पूजा की ॥ २५ ॥ इसका बात मगधान् यदुवधनी कई
बज्रोंतक मिथिजपुरीमें ही रहे । महात्मा जनकन बड़े
प्रेम और सम्मानसे उन्हें रक्खा । इसके बाद समयपर
भूताराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने बलरामजीसे गदायुद्धकी शिक्षा
ग्रहण की ॥ २६ ॥ अरुमी प्रिया सत्यमामात्र प्रिय कर्प
करके मगधान् श्रीकृष्ण इतर ८१ आयें और उनको
यह सम्पचार सुना दिया कि शतधन्वाका मार दाख
गया, परन्तु स्वमन्तकमणि उमक पास म निथी ॥२७॥

ततः स कारयामास क्रिया बधोर्हतस्य वै ।
सत्कंसुहृद्भिर्मगवान् या या स्युः साम्प्रदायिकाः ॥२८॥

अकूरः कुतवर्मा च भुत्वा शतधनोर्वधम् ।

च्युत्तुर्मयविग्रस्तां द्वारकाया प्रयोजकौ ॥२९॥

अकूरं प्रोपितेऽरिष्टान्यास्तन् वै द्वारकौकसाम् ।

क्षारीरा मानमास्तापा मुहुर्देविकभौतिकाः ॥३०॥

इत्यङ्गोपदिद्यन्त्येक विस्मृत्य प्रसुदाहृतम् ।

मुनिवासनिवासे किं घटसारिष्टदर्शनम् ॥३१॥

दधञ्जर्वसि काशीन्दः श्वफल्कायाम्नाय वै ।

स्वसुवां गान्दिनीं प्रादत् तवाञ्जर्वसु सा काशिपु ॥३२॥

तत्सुतस्तरप्रभावोऽसत्त्वकूरो यत्र यत्र ह ।

दवाऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः ॥३३॥

इति बृहद्वच भुत्वा नैतावन्निह कारणम् ।

इति मत्वा समस्ताप्य प्राहाकूरं जनार्दनः ॥३४॥

पूजयित्वाभिमान्यैर्न कथयित्वाप्रिया कथाः ।

विद्यान्तारिलक्षितं मयमान उवाच ह ॥३५॥

ननु दानरते न्यमस्तरय्यास्त गतधनवान् ।

इसके बाद उन्होंने भार्गवभुजोंके साथ अपने स्वयं
सत्राभितृकी वे सब और्वोदैक्षिक क्रियाएँ करवायीं, जिनसे
मृतक प्राणीका परलोक सुचरता है ॥ २८ ॥

अकूर और कुतवर्माने शतधनवाको सत्राभितृके वस्त्रों
लिये उत्तेजित किया था । इसलिये जब उन्होंने पूना
किं मगवान् श्रीकृष्णने शतधनवाको मार डाला है, तब
वे व्यसन्त मयमीत होकर द्वारकासे भाग खड़े हुए ॥ २९ ॥
परीक्षित् । कुछ लोग ऐसा म्मनते हैं कि अकूरके शस्त्र-
से चले जानेपर द्वारका-वासियोंके बहुत प्रकारके बलिष्ठों
और अरिष्टोंका सामना करना पड़ा । दैक्षिक और भौतिक
निमित्तोंसे बार-बार ज्योंके नागरिकोंको शारीरिक और
मानसिक कष्ट सहना पड़ा । परन्तु जो लोग ऐसा कहते
हैं, वे पहले कहीं हुई बातोंको भूल जाते हैं । मम्म,
यह भी कभी सम्भव है कि जिन मगवान् श्रीकृष्णमें समस्त
श्रुति-मुनि निवास करते हैं, उनके निवासस्थान द्वारका-
में उनके रहते कोई उपद्रव खड़ा हो जाय ॥ ३०-३१ ॥
उस समय नगरके बड़े-बड़े लोगोंने कहा—‘एक बार
काशीनरेशक राम्यमें क्या नहीं हो रही थी, तब पद
गया था । तब उन्होंने अपने राम्यमें आये हुए अकूरके
पिता श्वफल्कको अपनी पुत्री गान्दिनी ब्याह दी । तब
उस प्रदेशमें क्या हुई । अकूर भी श्वफल्कको ही पुत्र
है और इनका प्रभाव भी वैसा ही है । इसलिये जहाँ
जहाँ अकूर रहते हैं, वहाँ-वहाँ सब क्या होती है तब
किसी प्रमत्तका कष्ट और यह-मारी आदि उपद्रव नहीं
होते ।’ परीक्षित् । उन लोगोंकी बात सुनकर मगवान्
ने सोचा कि इस उपद्रवका यही कारण नहीं है यह
जानकर भी मगवान्ने पूना भेजकर अकूरकी ओर बुद्धिपूर्वक
और आन्तर उससे बातचीत की ॥ ३२-३४ ॥ मगवान्ने
उनका सब स्वागत-सत्कार किया और मीठी-मीठी प्रशंसा
कायें कहकर उससे सम्भाषण किया । परीक्षित् । मगवान्
सबका धितक एक-एक सहस्र देवते रहते हैं । इस-
लिये उन्होंने मुसकराते हुए अकूरसे कहा—‘‘ ३५ ॥
‘बापाजी ’ आप दान-धर्मके पावन हैं । हमें
यह बात पहचाने ही मादम है नि सगन्ता

स्यमन्तको मणिः धीमान् विदित पूर्वमेव न ॥३६॥

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद् गृहीतुर्दुर्द्विह सुता ।

दायं निनीयाप पिण्डान् विमृश्यान् च शेपितम् ॥३७॥

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वप्यास्तां सुप्रते मणि ।

किंतु मामग्रज सम्पद् न प्रत्येति मणिं प्रति ॥३८॥

दर्शयस्व महाभ्राता बन्धूनां शान्तिमावह ।

अभ्युच्छिन्ना मत्वास्तऽद्य वर्तन्ते रुमवेदय ॥३९॥

एवं सामभिरालम्ब्यः शफल्कस्तनयो मणिम् ।

आदाय वाससाच्छिन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम् ॥४०॥

स्यमन्तर्कं दर्शयित्वा स्थातिभ्यो रज आत्मन ।

विमृश्य मणिता भूपस्तस्मै प्रत्यर्पयत् प्रभु ॥४१॥

यस्तवेतद् भगवत ईश्वरस्य विष्णो

वीषादौ ईजिनहर सुमङ्गल च ।

आस्थानपठति शृणोत्यनुसारेद् वा

दुष्क्रीतिं दुरितमपोष याति शान्तिम् ॥४२॥

आपके पास वह स्यमन्तकमणि छोड़ गया है, जो वही ही प्रकाशमान और धन देनेवाली है ॥ ३६ ॥ आप मानते ही हैं कि सत्राजितके कोई पुत्र नहीं है । इसलिये उनकी लड़कीके लड़के—उनके नाती ही उन्हें तिकाजालि और पिण्डदान करेंगे, उनका श्राण चुकायेंगे और जो कुछ बच रहेगा, उसके उत्तराधिकारी होंगे ॥ ३७ ॥ इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टिसे यद्यपि स्यमन्तकमणि हमारे पुत्रोंको ही मित्रनी चाहिये, तथापि वह मणि आपके ही पास रहे । क्योंकि आप बड़े वननिष्ठ और पवित्रत्वा हैं तथा दूसरोंके लिये उस मणिको रखना अप्रयत्न कठिन भी है । परन्तु हमारे सामने एक बहुत बड़ी कष्टिमार्ग यह आ गयी है कि हमारे बड़े भाई वन्दरामजी मणिके सम्बन्धमें मेरी बातका पूरा विश्वास नहीं करते ॥ ३८ ॥ इसलिये महामाम्पयान् अक्रूरी । आप वह मणि दिखाकर हमारे इष्ट-मित्र—वल्लरामजी, सत्यभामा और जाम्बवतीका सन्देह दूर कर दीजिये और उनके हृदयमें शान्तिका सञ्चार कीजिये । हमें पता है कि उसी मणिके प्रतापसे जानकका आप लग्यतार ही ऐसे यह करते रहते हैं, जिनमें सोनेकी बेदियाँ बनती हैं ॥ ३९ ॥ परीक्षित ! जब मगधान् धीहृष्णने इस प्रकार सत्त्वनना देकर उन्हें समझाया हुआ था, तब अक्रूरीने वज्रमें लपेटती हुई सूर्यके समान प्रकाशमान वह मणि निकाली और मगधान् धीहृष्णको दे दी ॥ ४० ॥ मगधान् धीहृष्णने वह स्यमन्तकमणि अपन जानि भाईको दिखाकर अपना कठक दूर किया और उसे अपने पास रखनेमें समय होनेपर भी पुन अक्रूरीको स्नेह दिया ॥ ४१ ॥

सर्वाशक्तिमान् सकम्पायक मगधान् धीहृष्णके पराक्रमसे परिपूर्ण यह आस्थान समस्त पापों, वरदाओं और कष्टहृत्ता मार्जन करनेवाला तथा परम मङ्गलमय है । जो इसे पढ़ता, सुनता अपना स्मरण करता है, वह सब प्रकारकी अपयशैति और पापोंसे छुटकर शान्तिकर अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यो संहितायां दशमस्कन्ध उवाचै
स्यमन्तकोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके अम्याम्य विवाहोत्सवी कथा

श्रीकृष्ण उवाच

एकदा पाण्डवान् द्रुपं प्रतीतान् पुरुषोत्तम ।
 इन्द्रप्रस्थं गतः भामान् धृष्टकेतुमिभिर्भूतः ॥ १ ॥
 द्रुपः समागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् ।
 उच्यते धृष्टकेतुवीरा प्राणा मुस्यमिवागतम् ॥ २ ॥
 परिष्वज्यान्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतेनस ।
 सानुरागमिदं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः ॥ ३ ॥
 सुविष्टिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
 कस्त्युर्गुणं परिरम्भाय यमाम्यां चाभिवन्दित ॥ ४ ॥
 परमात्मनं आसीनं कृष्णं कृष्णमनिन्दिता ।
 नबोद्धा व्रीहिता किंचिच्छनैरेत्याम्यवन्दत ॥ ५ ॥
 तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः ।
 निपञ्चादासनेऽन्ये च पूजिता पर्युपासत ॥ ६ ॥
 पृथा समागत्य कृताभिवन्दन-
 स्तथाविहादार्द्रं दृष्ट्वाभिरर्म्मितः ।
 आष्टुर्वास्तां कुशलं सहस्रुपां
 पितृष्वसारं परिपृष्ट्वाभयः ॥ ७ ॥
 तमाह प्रमथं कृष्णं कृष्णं कृष्णं कृष्णं कृष्णं ।

श्रीकृष्णदेवकी कहते हैं—परीक्षित ! अब पाण्डवों-
 का पता चल गया था कि वे साक्षामवनमें बसे नहीं हैं ।
 एक बार मगधान् श्रीकृष्ण उनसे मित्रानेके लिये इन्द्रप्रस्थ
 पधारे । उनके साथ सात्यकि आदि बहुत-से यदुवर्गी भी
 थे ॥ १ ॥ जब भीर पाण्डवोंने देखा कि सर्वेश्वर मगधान्
 श्रीकृष्ण पधारे हैं तो असे प्राणका सञ्चार होनेपर सभी
 इन्द्रियों सचेत हो जाती हैं, जैसे ही वे सब-से-सब एक साथ
 उठ खड़े हुए ॥ २ ॥ भीर पाण्डवोंने मगधान् श्रीकृष्णका
 आच्छिन्न किया, उनके अङ्ग-सङ्गसे इनका सारे पाप-स्य
 धुल गये । मगधान्की प्रेममयी मुसकराहटसे सुशोभित
 मुख-सुवच्य देखकर वे आनन्दमें मग हो गये ॥ ३ ॥
 मगधान् श्रीकृष्णने सुविष्टि और भीमसेनके चरणोंमें
 प्रणाम किया और अर्जुनको हृत्से स्थाया । नकुल और
 सहदेवने मगधान्के चरणोंकी वन्दना की ॥ ४ ॥ अब
 मगधान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हो गये, सब
 परममुन्दरी क्यामर्णा श्रौपदी, जो नवविवाहिता होनेके
 कारण तनिक ऊँचा रही थी, धीरे-धीरे मगधान् श्री-
 कृष्णके पास आयी और उन्हें प्रणाम किया ॥ ५ ॥
 पाण्डवोंने मगधान् श्रीकृष्णके समान ही भीर सत्यकि
 भी स्वगत-सत्कार और अमिमन्दन-कन्दन किया । वे
 एक आसनपर बैठ गये । दूसरे यदुवर्षियोंका भी क्या
 योग्य सत्कार किया गया तथा वे भी श्रीकृष्णके चरणों
 और आसनोपर बैठ गये ॥ ६ ॥ इसके बाद मगधान्
 श्रीकृष्ण अपनी कृपा कुर्तीके पास गये और उनके
 चरणोंमें प्रणाम किया । कुन्तीजीने कल्पित रनेहस्य
 उन्हें अपने हृदयसे लगा लिया । उस समय उनके नेत्रोंमें
 प्रेमके आँसू छलक जाये । कुन्तीजीने श्रीकृष्णसे अपने
 माई-बन्धुओंकी कुशल-सोम पूछी और मगधान् भी
 उनका यथोचित सत्कार देकर उनसे उनकी पुत्रवधू
 श्रौपदी और स्वयं उनका कुशल-सम्बन्ध पूछा ॥ ७ ॥ उस
 समय प्रमथी विह्वलतासे कुन्तीजीका मन हँस गया था,
 नजोसे आँसू बह रहे थे । मगधान्की हृदयेपर उन्हें

तरन्ती तान् बहून् क्लेशान् लेखापायात्मदर्शनम् ॥८॥

इदं ब्रह्मलनोऽमृतसनाथास्ते कृता वयम् ।

शरीन् सरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया ॥ ९ ॥

न तेऽस्ति स्वपरभ्रातृर्विश्वस्य सुहृदात्मनः ।

तथापि सरतां श्वभूत् क्लेशान् हंसि हृदि स्थितः ॥१०॥

शुचिष्ठिर उवाच

किं न आचरितं श्रेयो न वेदः प्रमथीश्वर ।

योगेश्वरणां बुद्धिर्धो यन्नो यः कुमेभसाम् ॥११॥

इति वै वार्षिकान् मासान् रात्रा सोऽभ्यर्चितांस्तुलाम् ।

वनचन् नयनानन्दमिन्द्रप्रसौकसां विदुः ॥१२॥

एकदा रथमारुह्य विजयो वानरभ्वजम् ।

गाण्डीव धनुरादाय तूणीं चाक्षयसापकौ ॥१३॥

सत्तं कृष्णेन संनद्धो विहर्तुं निपिनं वनम् ।

बहुभ्याल्लसृगाक्षिणं प्राविशत् परवीरहा ॥१४॥

तथाविष्वक्शरैर्म्याघ्रान् घोरान् महिषान् चकृन् ।

शरमान् शयमान् स्वहान् दरिणान्छल्लसृगान् ॥१५॥

अपने पहिलेके क्लेश-पर-क्लेश याद आने लगे और वे अपनेको बहुत सम्हालकर, जिनका दर्शन समस्त क्लेशोंका अन्त करनेके लिये ही हुआ करता है, उन भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे— ॥ ८ ॥ श्रीकृष्ण ! जिस समय तुमने हमलोगोंको अपना कुटुम्बी, सम्बन्धी सम्पन्नकर स्मरण किया और हमारा कुशल-मङ्गल जाननेके लिये माई अश्रुको भेजा, उसी समय हमारा कल्याण हो गया, हम अनाथोंको तुमने सनाथ कर दिया ॥ ९ ॥ मैं जानती हूँ कि तुम सम्पूर्ण ब्रह्मके परम हितैषी सुहृद् और आत्मा हो । यह अपना है और यह परया, इस प्रकारकी भ्रान्ति तुम्हारे अंदर नहीं है । ऐसा होनेपर भी, श्रीकृष्ण ! जो सदा तुम्हें स्मरण करते हैं, उनके हृदयमें आकर तुम बैठ जाते हो और उनकी क्लेश-परम्पराको सदाके लिये मिटा देते हो ॥ १० ॥

शुचिष्ठिरजीने कहा—सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ! हमें इस बातका पता नहीं है कि हमने अपने पूर्वजन्ममें या इस जन्ममें कौन-सा कल्याण-साधन किया है ? आपका दर्शन कबे-कबे योगेश्वर भी वही कठिनायसे प्राप्त कर पाते हैं और हम कुतुहियोंको घर बैठे ही आपके दर्शन हो रहे हैं ॥ ११ ॥ राजा शुचिष्ठिरने इस प्रकार म्माभ्यन्तक सब सम्मान किया और कुछ दिन वहाँ रहनेकी प्रार्थना की । इसपर भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रप्रसन्नके नर-नारियोंको अपनी रूपप्रधुरीसे नयनानन्दका दान करते हुए बरसाव-के बार श्रुतिगतक सुखपूर्वक वहाँ रहे ॥ १२ ॥

परीक्षित । एक बार वीरशिरोमणि अर्जुनने गाण्डीव धनुष और अक्षयबाणवाले दो तरफत लिये तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ कवच पहनकर अपने उस रथपर स्थार हुए, जिसपर बासर-चिह्नसे विद्वित ध्वजा लगी हुई थी । इसके बाद निपक्षी शीरोंका नाश करनेवाले अर्जुन उस गहल वनमें शिकार लेज्मे गये, जो बहुत-से सिंह, बाघ आदि मयङ्कर जानवरोंसे मरा हुआ था ॥ १३ ॥ वहाँ उन्होंने बहुत-से बाघ, सूअर, भैंसे, कल्ले हरिन, शरभ, गणप (नीलाफन भिये हुए भूरे रंगका एक बड़ा हिरण) भैंसे, हरिन, खगोश और शम्भक (साही) आदि पशुओंपर अपने बाणोंका निशाना लगाया ॥ १५ ॥

तान् निन्युः किंकरा राक्ष येष्मान् पर्वण्युपागते ।

वृत्परीतः परिभ्रान्तो वीभत्सुर्यष्टुनामगात् ॥१६॥

वत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा धारि महारथौ ।

कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम् ॥१७॥

तामस्ताद्य वरारोहां सुदिक्षां रुचिराननाम् ।

पप्रच्छ प्रेषितः सख्यः फाल्गुन प्रमदोत्तमाम् ॥१८॥

का त्वं कस्यासि सुभोषि कुंतोजसि किं विकीर्णसि ।

मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ॥१९॥

कालिन्दीवास

अहं देवस्य सवितुर्द्विजा पतिमिच्छती ।

विष्णुं वरेष्यं वरदं तपः परममाखिता ॥२०॥

नान्यं पतिं वृणे वीरं तमृते श्रीनिकेतनम् ।

तुष्यतां मे स भगवान् सुकुन्दोऽजायसंभ्रमः ॥२१॥

कालिन्दीति समाख्याता वसामि यष्टुनाजले ।

निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदधनम् ॥२२॥

तथावदद् गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपिताम् ।

रथमारोप्य तद् विद्वान् धर्मराजशुपागमत् ॥२३॥

यदेव कृष्णः सदिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् ।

फारवामास नगरं विधित्रं विषकर्माणा ॥२४॥

भगवांस्तत्र निवसन् स्थानां प्रियधिकीपया ।

अप्रये स्वाण्डर्षं दातुमर्हन्स्थास सारथिः ॥२५॥

उनमेंसे जो यहके योग्य थे, उन्हें सेवकागमपर्वका समस्त आनन्द राजा युधिष्ठिरके पास ले गये । अर्जुन मित्रर खेलते-खेलते एक गये थे । अब वे पास लगनेस यमुनाजीके किनारे गये ॥१६॥ भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों महारथियोंने यमुनाजीमें हाथ-पैर धोकर उमका निमल जम् पीया और देख कि एक प्रसुन्दरी कन्या कहीं तपस्या कर रही है ॥१७॥ उस श्रेष्ठ सुन्दरीकी जवा, दाँत और मुस अत्यन्त सुन्दर थे । अपने प्रिय मित्र श्रीकृष्णके मेझनेपर अर्जुनने उसके पास जाकर पूछा—॥१८॥ 'सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? कहाँसे आयी हो ? और क्या करना चाहती हो ? मैं ऐसा समझता हूँ कि तुम अपने योग्य पति चाह रही हो । हे कन्यामणि ! तुम अपनी सारी बात बतलाओ ॥१९॥

कालिन्दीने कहा—मैं भगवान् सूर्यदेवीकी पुत्री हूँ । मैं सर्वश्रेष्ठ वरदात्री भगवान् विष्णुको पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती हूँ और इसीलिये यह कठोर तपस्या कर रही हूँ ॥२०॥ वीर अर्जुन ! मैं अपनीकी पसन्द आश्रय भगवान्को छोड़कर और किसीका अपना पति नहीं बना सकती । अमावस्यके एकमात्र सहारे, प्रेम किरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥२१॥ मेरा नाम है कालिन्दी । यमुनाबल्लभ मेरे पिता सूर्यने मेरे लिये एक मथन भी बनवा दिया है । उसीमें मैं रहती हूँ । जबतक भगवान्का दर्शन न होय, मैं यहीं रहूँगी ॥२२॥ अर्जुनने जाकर भगवान् श्रीकृष्णसे सारी बातें कहीं । वे तो पहलेसे ही यह सब कुछ जानते थे, अब उन्होंने कालिन्दीको अपने रथपर बैठा लिया और धर्मराज युधिष्ठिरके पास ले आये ॥२३॥ इसके बाद पाण्डवोंकी प्रार्थनासे भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके खनके लिये एक अत्यन्त अद्भुत और निधिर मगर विषकर्माके द्वारा बनवा दिया ॥२४॥ भगवान् इस बार पाण्डवोंको आनन्द देने और उनका हित करानेके लिये वहाँ बहुत दिनोंतक रहे । इसी बीच अग्निदेवको पाण्डव-जन दिखानेके लिये वे अर्जुनके सारथी भी

सोऽग्निस्तुष्टो घनुरदाद्रयाश्चक्षेत्तान् रथं नृप ।

अर्जुनायाश्च यौ तृणौ धर्मं चाभेद्यमस्त्रिभिः ॥२६॥

ममथ मोचितो बद्धेः सर्भां सख्यं तपाहरत् ।

यस्मिन् दुर्योधनस्वासीजलस्यलक्ष्मिप्रमः ॥२७॥

स तेन समनुष्ठात सुहृद्भिर्बालुमोदित ।

अंत्ययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रभुस्त्वैर्वृत ॥२८॥

अयोधयेमे कालिन्दीं सुपुष्पत्वंष्ट ऊर्जिते ।

वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम् ॥२९॥

विन्दानुविन्दत्वावन्त्यौ दुर्योधनवञ्जानुगौ ।

स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यपेधताम् ॥३०॥

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसु ॥

प्रसन्न इतयान् कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् ॥३१॥

नन्मजिन्नाम क्रौंसस्य आसीद् राजाविधार्मिकः ।

तस्य सत्याभवत् कन्या देवी नागनजिती नृप ॥३२॥

न तां श्रेष्ठनृपा बोधुमक्षित्वा सप्त गोश्वान् ।

शीघ्रगृह्णन् सुदुर्गपान् वीरगन्धासहान् खलान् ॥३३॥

तां धृत्वा वृषजिह्वस्या भगवान् सान्त्वतां पति ।

वगाम क्रौंसस्यपुरं मैन्यन मदता वृत् ॥३४॥

वन ॥ २५ ॥ छाण्डव-वनकां भोजन मिल जानेसे अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अञ्जुनको गाण्डीव वन्य, चार इकेत घोड़े, एक रथ, दो अट्ट वाणोंवाले तरकस और एक ऐसा कवच दिया, जिसे कोई अस्त्र-शस्त्रधारी भेद न सके ॥ २६ ॥ छाण्डव-दाहके समय अर्जुनने मय दानकको जलनेसे बचा लिया था । इसलिये उसने अर्जुनसे मित्रता परके उनके लिये एक परम अमृत सम्य बना दी । उसी समयमें दुर्योधनको वस्त्रमें स्वयं और स्वयंमें जलका भ्रम हो गया था ॥ २७ ॥

कुछ दिनोंके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी अनुमति एवं अन्य सम्बन्धियोंका अनुमोदन प्राप्त करके सात्यकि आदिके साथ शरका लौट आये ॥ २८ ॥ वहाँ आकर उन्होंने विवाहके योग्य शत्रु और ज्योतिषशास्त्रके अनुसार प्रशंसित पवित्र कनमें कालिन्दीजीका पाणिग्रहण किया । इससे उनके खजन-सम्बन्धियोंको परम मङ्गल और परमानन्दकी प्राप्ति हुई ॥ २९ ॥

अवन्ती (उज्जैन) देशके राजा ये बिन्द और अनुविन्द । वे दुर्योधनके वधवर्ती तथा अनुयायी थे । उनकी बहिन मित्रकिन्दाने स्वयंवरमें भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना पति बनाना चाहा । परन्तु बिन्द और अनुविन्दने अपनी बहिनको रोक दिया ॥ ३० ॥ परिशिष्ट ! मित्रकिन्दा श्रीकृष्णकी कृपा राजाधिदेवीकी कन्या थी । भगवान् श्रीकृष्ण राजाओंकी मरी समयमें उसे बहुत पूर्वक हर ले गये, सब लोग अपना-सा मुँह लिये देखते ही रह गये ॥ ३१ ॥

परिशिष्ट ! क्रौंसदेशके राजा ये मन्मजि । वे अत्यन्त धार्मिक थे । उनकी परम्पुन्दरी कन्याका नाम था सत्या ; मन्मजितकी पुत्री होमसे यह नागनजिती भी कहलाती थी । परिशिष्ट ! राजाकी प्रतिज्ञाके अनुसार सायं दुर्धन्त बैरोंर निद्रा प्राप्त न कर सकनेके कारण कोई रात्रा उस कन्यासे विवाह न कर सके । क्योंकि उनका सींग बहुत तीव्र था और ये बैर किसी भी पुरुषकी गन्ध भी नहीं सह सकते थे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ जब पदुर्गपशिधमि भगवान् श्रीकृष्णने यह समाचार सुना कि जो पुरुष उन बैरोंका जीन लगा, उसे ही सत्या प्राप्त होगी, तब वे बहुत बड़ी सेना लेकर

स कांसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः ।

अर्हणेनापि गुरुणा पूष्यन् प्रतिनन्दितः ॥३५॥

वरं विलोक्याभिमर्तं समागतं

नरेन्द्रकन्या चक्रमे समापसिम् ।

भूमादयं मे पतिराशिषोऽमलाः

करोतु सत्या यदि मे भूतो भवैः ॥३६॥

यत्पादपङ्कजैः स्निग्धा विभर्ति

भीरुञ्जयः सगिरिः सहस्रो कपालैः ।

लीलातनुः स्वकुलदेतुपरीप्सवेष्टः

काले दधत् स भगवान् मम केन मुप्येत ॥३७॥

अर्चितं पुनरित्याह नारायण अयत्पते ।

आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमन्यकः ॥३८॥

श्रीकृष्ण उवाच

तमाह भगवान् ईदृः कृतास्तनपरिग्रहः ।

मेघगम्भीरया वाचा सस्मिर्तं कुरुनन्दन ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

नरेन्द्र याच्या कविभिर्विगर्हिता

रात्मन्मन्त्रोर्निबद्धधर्मवर्तिनः ।

तथापि याचे तव सौहृदेच्छया

कन्यां त्वदीयानं हि ह्युत्कृष्टा वयम् ॥४०॥

कौसलपुरी (अयोध्या) पहुँचे ॥ ३४ ॥ कौसल्यमहेश्वरान्न
नग्नचित्तने बन्धी प्रसन्नतासे उनकी लग्नबानी की और काम
आदि देकर बहुत बन्धी पूजा-सामग्रीसे उनका सम्मान
किया । भगवान् श्रीकृष्णने भी उनका बहुत-बहुत
अभिमान किया ॥ ३५ ॥ राजा नमनजिन्की कन्या
सत्याने देखा कि मेरे फिर-अभिमुखित स्मारक मरान्
श्रीकृष्ण यहाँ पकारे हैं; तब उसने मन-ही-मन यह
अभिज्ज्ञा की कि 'यदि मैंने अत-नियम आदिक्र पावन
करके इन्हींका किन्तम किया है तो ये ही मेरे पति हों
और मेरी विद्युद्द लाजसाक्षी पूर्ण करें' ॥ ३६ ॥ नमन-
जिन्ती सत्या मन-ही-मन सोचने लगी — 'यहकती कन्या,
मन्त्रा, शास्त्र और वड़े-बड़े व्यक्तपाल मिलके पणपङ्कज
परम अपने सिरपर धारण करते हैं और जिन प्रभुने
अपनी बनायी हुई मर्यादाका पालन करनेके लिये ही
समय-समयपर कनेकरी व्यक्तपात्र प्रहण किये हैं, वे
प्रभु मेरे किस धर्म, अत अपना निमन्त्रे प्रसन्न होंगे ।
वे तो केवल अपनी कृपासे ही प्रसन्न हो सकते हैं' ॥ ३७ ॥
परीक्षित । राजा नमनजिन्ने भगवान् श्रीकृष्णकी विनि-
र्णक आर्चा-पूजा करके यह प्रार्थना की — 'आपके
एकमात्र स्थायी मारायण । आप अपने स्वरूपमें
आनन्दसे ही परिपूर्ण हैं और मैं हूँ एक तुच्छ मनुष्य ।
मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं — 'परीक्षित । राजा नमनजि-
का दिया हुआ आसन, पूजा आदि स्वीकार करके
भगवान् श्रीकृष्ण बहुत सन्तुष्ट हुए । उन्होंने मुसकुराते
हुए देवके समान गम्भीर वाणीसे कहा ॥ ३९ ॥

भगवाय् श्रीकृष्णने कहा — 'राजन् । जो क्षत्रिय
अपने धर्ममें स्थित है, उसका कुछ भी मोगना उचित
नहीं । धर्म विज्ञानोंने उसके इस कर्मकी निन्दा की
है । फिर भी मैं आपसे सौहार्दका — प्रेमका सम्बन्ध
स्थापित करनेके लिये आपकी कन्या चाहता हूँ । हमारे
यहाँ इसके बदलेमें कुछ द्रव्य देनेकी प्रथा नहीं
है ॥ ४० ॥

राजोवाच

कोऽन्यस्तेऽप्यधिको नाय कन्यावर इहेप्सितः ।

गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे धीर्वसुत्यनवायिनी ॥४१॥

किंत्वस्माभि कृतः पूर्वं समयः सात्वत्पथम् ।

पुंसां धीर्यपरीक्षार्थं कन्यात्तरपरीप्सया ॥४२॥

सपुंते गोवृषा वीर वुर्दान्ता वुरवग्रहाः ।

पतैर्मग्ना सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजा ॥४३॥

यदिमे निगृहीता स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ।

वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे प्रियः पते ॥४४॥

एवं समयमाकर्ण्य वदुष्या परिकर प्रभुः ।

आत्मानसमवा कृत्वा न्यगृह्णाछीलैव तान् ॥४५॥

वदुष्या तान् दामभिः शौरिर्ममदर्यान् हतौजसः ।

अकर्णछीलया वदन् बालो दारुमयान् यथा ॥४६॥

तव प्रीतं सुतां राजा ददौ कृष्णाय विहित ।

तं प्रत्यगृह्णाद् भगवान् विविक्तं सद्यो प्रभुः ॥४७॥

राजपत्न्यम दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् ।

लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्तम ॥४८॥

गृहमेवावच्छा नेदुर्गोवशाद्यद्रिजाग्रिष ।

नरा नार्यः प्रमुदिता सुषाम सगर्लकृता ॥४९॥

दसपुत्रसहस्राणि पारिवर्द्धमदाद् विभुः ।

युवतीनां विसाहस्यं निष्करीवसुषामसाम् ॥५०॥

राजा नम्रचित्तने कहा—अप्रमो ! आप समस्त गुणोंके धाम हैं, एकमात्र आश्रय हैं । आपके वंश स्वरूप भगवती छद्मी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं । आपसे बहुरूप कन्याके लिये जमीष्ट कर मला और कौन हो सकता है ? ॥ ४१ ॥ परन्तु यदुर्वशादिप्रमो ! हमने पहले ही इस विषयमें एक प्रण कर लिया है । कन्याके लिये कौन-सा कर उपयुक्त है, उसका बह-परीक्षण कैसा है—इत्यादि बातें जाननेके लिये ही ऐसा किया गया है ॥ ४२ ॥ वीरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! हमारे ये सातों कैठ त्रिस्तिकी वंशमें न जानेकाले और बिना सहाये हुए हैं । उन्होंने बहुत-से राजकुमारोंके अङ्गोंको लम्बित करके उनका उसका तोड़ दिया है ॥ ४३ ॥ श्रीकृष्ण ! यदि उन्हें आप ही माप लें, अपने वंशमें कर लें, तो लक्ष्मीपते ! आप ही हमारी कन्याके लिये जमीष्ट कर होंगे ॥ ४४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने राजा नम्रचित्तक ऐसा प्रण सुनकर कर्ममें फँट कर ही और अपने सात रूप बनाकर खेड़-खेड़में ही उन वैजोंको नाथ लिया ॥ ४५ ॥ इससे वैजोंका कण्ड खूब हो गया और उनका बह-परीक्षण भी जाता रहा । अब भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें रस्सी बौधकर इस प्रकार छींचने लगे, जैसे खेलते समय जन्हा-सा घाँक काठके बैजोंको घसीटता है ॥ ४६ ॥ राजा नम्रचित्तको बड़ा विस्मय हुआ । उन्होंने प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णको अपनी कन्याका दान कर दिया और सवशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने अनुग्रह पत्नी सत्याका विधिवृषक पाणिग्रहण किया ॥ ४७ ॥ राक्षसोंने दखा कि हमारी कन्याको उसको अत्यन्त प्यारे भगवान् श्रीकृष्ण ही पतिक रूपमें प्राप्त हो गये हैं । उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और चारों ओर बड़ा भारी उत्सव मनाया जाने लगा ॥ ४८ ॥ राजा, राजा, मन्त्रे वजने लगे । सब ओर गन्ना-बगाना होने लगा । बासुग जादीबाने देने लगे । सुन्दर बज, पुष्पोंक हार और गदनोंसे सज-धनकर मगरक नर-नारी जनमद मजाने लगे ॥ ४९ ॥ राजा नम्रचित्तने दस हजार गैर और तीन हजार पेसी नवपुत्री गदिपों, जा सुन्दर बज तथा गम्मे मन्हाए पड़ने हुए ही,

नवनागसहस्राणि नामाच्छतगुणान् रथान् ।
 रथाच्छतगुणानभानामाच्छतगुणान् नरान् ॥५१॥
 दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया हृतौ ।
 स्नेहप्रक्षिप्तहृदयो यापयामास कोसल ॥५२॥
 भ्रुवैतद्वल्लघुरूपया नयन्तं पथि कन्यकाश्च ।
 भन्तवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुर्मिर्गोहृपैः पुरा ॥५३॥
 तानस्रतः क्षत्रवार्तान् कन्धुप्रियकुदर्जुन ।
 गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रसृगानिव ॥५४॥
 पारिवर्त्तमुपायुष्म द्वारकामेत्य सत्यया ।
 रेमे यदूनमृपभो भगवान् देवकीसुतः ॥५५॥
 भ्रुवकीर्तः सुतां भद्रमुपवेमे पितृष्वसुः ।
 कैकेयीं आहर्भिर्दत्तां कृष्णः संतर्जनादिभिः ॥५६॥
 सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्ष्मणैर्युताम् ।
 स्वयं वरे महावैरैः स सुपणैः सुधामिव ॥५७॥
 अन्यान्मैत्रविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः ।
 भीमं हत्वा तन्निरोधादाहताभारदर्जना ॥५८॥

दहेजमें दी । इनके साथ ही नौ हजार हाथी, नौ स्र
 रथ, नौ करोड़ घोड़े और भी स्र सेवक भी दहेज
 दिये ॥ ५०-५१ ॥ कोसलनेश रामा नम्रचित्ने क
 और दामादकी रथपर चढ़ाकर एक बड़ी सेनाके स
 सिद्धा किया । उस समय उनका हृदय वास्तव्य-स्नेह
 उदेकते द्रवित हो रहा था ॥ ५२ ॥

परीक्षित ! यदुर्मर्षायोने और राजा नम्रचित्
 कैनेने पहले बहुत-से राजाओंकर बल-यौवन धूमने मि
 दिया था । जब उन राजाओंने यह समाचार सुना, त
 उनसे भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजय सहन न हुई
 उन लोगोंने जाग्नविती सत्याकी लेकर जाते समय क
 भगवान् श्रीकृष्णको घेर लिया ॥ ५३ ॥ और वे बड़े बे
 खनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । उस समय पाण्डव
 कर्जुनने अपने मित्र भगवान् श्रीकृष्णकर प्रिय करने
 लिये गाण्डीवी धनुष धारण करके—जैसे सिंह जैटेम
 पशुओंको खदेड़ दे, जैसे ही उन नरपत्तियोंको न
 पीटकर मगा दिया ॥ ५४ ॥ तदमन्तर यदुर्बलक्षिणेन
 देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उस दहेज और स्र
 साथ द्वारकामें लाये और वहाँ रहकर गृहस्थीकृत मि
 करने लगे ॥ ५५ ॥

परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा सुनकी
 केसव-देसमें व्याही गयी थी । उनकी कन्यका ना
 था मद्रा । उसके माई सन्तर्दन आदिने उसे स्वयं ।
 भगवान् श्रीकृष्णको दे दिया और उन्होंने उसका पाणि
 प्रण किया ॥ ५६ ॥ मद्रप्रदेसके राजाकी एक कन
 थी लक्ष्मणा । वह अत्यन्त सुच्छा पी । जैसे गरुड
 खगसे जम्बूतका हरण किया था, जैसे ही भगवान् श्री
 कृष्णने स्वयंवरमें लकेले ही उसे हर लिया ॥ ५७ ॥

परीक्षित ! इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी और
 राजाओं कीयों थी । उन परम सुन्दरियोंको वे भीमासुर
 मारकर उसके करीगृहसे छुड़ा लाये थे ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्श्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
 अष्टमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

अथैकोनपटितमोऽध्याय

भीमासुरका उद्धार और सोलह हजार एक सौ राजकुमारोंके साथ भगवान्का विवाह

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः ।

निरुद्धा एतदावक्ष्य विवर्धं क्षात्रधन्वन ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

इन्द्रश्च इत्युच्छ्रयण इत्यकुण्डलकन्धुना ।

इतामराद्रिविलेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम् ।

समायौ गरुडारूढ प्राण्योतिषपुरं ययौ ॥ २ ॥

गिरिदुर्गः सखदुर्गार्बलाग्न्यनिलदुर्गमेम् ।

सुरपाशापूर्वधोरैर्दंडैः सर्वत आश्रुतम् ॥ ३ ॥

गदया निर्विमेदाद्रौ सखदुर्गाणि मायकैः ।

चक्रगामि जलं वायुं सुरपाशास्तथासिना ॥ ४ ॥

शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनन्विनाम् ।

प्राक्ष्यं गदया गुम्फां निर्विमेद गदाधर ॥ ५ ॥

पाञ्चदशपथनि ध्रुवा युगान्ताग्निभीषणम् ।

राजा परीक्षितले पूछा—भगवन् ! भगवान् श्रीकृष्ण-
ने भीमासुरको, जिसने सन क्षियोंको वनीगृहमें डाल
रक्खा था, क्यों और कैसे मारा ? आप क्या करके
गार्ग्य-धनुषधारी भगवान् श्रीकृष्णका यह विविध अस्त्र
सुनायें ॥ १ ॥

भीष्मक्येवर्जनि कहा—परीक्षित ! भीमासुरने गरुड-
का छत्र, माता अदितिके कुण्डल और मेरु पर्वतपर
स्थित देवताओंका मणिपर्वत नामक स्थान छीन लिया
था । इसपर सबके राजा इन्द्र शरकरमें आये और
उसकी एक-एक करके उनोंने भगवान् श्रीकृष्णको
सुनायी । अब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिय पत्नी सत्य-
भामाके साथ गरुडपर सवार हुए और भीमासुरकी राख
धानी प्राण्योतिषपुरमें गये ॥ २ ॥ प्राण्योतिषपुरमें प्रवेश
करना बहुत कठिन था । पहले तो उसके चारों ओर
पहाड़ोंकी किलबंदी थी, उसके चारों ओर शस्त्रोंका घरा लगाया
हुआ था । फिर जगसे मरी खाई थी, उसके बाद
जग या बिबलीकी चहारतीवारी थी और उसके
भीतर वायु (गैर) बंध करके रक्खा गया था । इससे
भी भीतर मुर शैत्यन नगरके चारों ओर अपन अस्त्र
हजार घोर एवं सुदृढ़ फटे (जाल) बिछा रखे थे ॥ ३ ॥
भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गंगाकी खोसे पहाड़ोंको
तोड़-फोड़ डाला और शस्त्रोंकी मालबंदीका बागोंसे
छिन्न-भिन्न कर दिया । सबके द्वारा अग्नि, जल और
वायुकी चहारतीवारीको लहस-नहस कर दिया और
मुर शैत्यके फंशोंका तन्त्रारसे फट्ट फूटकर अग्रा राग
दिया ॥ ४ ॥ जा बड़-बड़ यन्त्र—मशहने बड़ी लगी
हुई थी उनका, तथा गीरपुष्पोंके हृदयका दण्डनासे
विगर्ग कर दिया और नगरके परकायका गन्धर
भगवान् अपनी भारी गंगासे पंख कर गला ॥ ५ ॥

भगवान्का पाञ्चदशपथ अस्त्रकी यनि प्रचाराग्नि
बिबलीकी पड़कक नामक माभयदूर था । उसे सुनकर

मुर गयान उत्तम्यो दैत्यः पञ्चगिरा जलात् ॥ ६ ॥
 त्रिगुलमुद्यम्य मुदुर्निर्गुणो
 युगान्तद्वयानिलाचिरुत्पन्नाः ।
 प्रमदिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखै
 रम्यद्रवचार्यमुत्तं यथारगः ॥ ७ ॥
 आरिष्य गूल् तरसा गरुमते
 निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पञ्चभिः ।
 म गदसी सर्वत्रिद्यान्तरं महा
 नापूर्यग्रण्डकटाहमावृणोत् ॥ ८ ॥
 वदापवद् यं त्रिशिखं गरुमते
 हरि गाराम्यामभिनत्त्रिधात्रमा ।
 मृगेषु न चापि शरंगताडयत्
 तमं गतं मासि स्या व्यमुञ्चत ॥ ९ ॥
 तामापवन्तीं गत्या गदां मृष
 गताप्रजा निर्विभिन् महम्भा ।
 उद्यम्य बाह्वभिसारनाडिन
 निर्गमि पक्रण जहार लान्था ॥ १० ॥
 व्यगुः पनाताम्भमि कचनीर्षा
 निरागृह्णात्त्रिबिन्तत्रगा ।
 तन्नामत्रा मम रितुरभापुग
 प्रनिक्रिपामरमुन ममुपना ॥ ११ ॥
 तामात्रान्ध्रि धागा शिभापु
 वयुनभन्तरमथ ममम ।
 नील दुग्धस्य वमतीं मृष
 धीरदुग्धं निगमन धृतापुषा ॥ १२ ॥

मुर दैत्यकी नींद टूटी और वह बाहर निकल आय ।
 उसके पाँच सिर थे और अबतक वह जलके भीतर से
 रहा था ॥ ६ ॥ वह दैत्य प्रत्यक्षतापीन सूर्य और
 अग्निसे समान प्रचण्ड तेजसी था । वह इतना मज्झर
 था कि उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी असान
 कर्म नहीं था । उसने त्रिशूल उठाया और इस प्रकार
 भगवान्की ओर दौड़ा, जैसे साँप गरुडनीपर दूट पड़े ।
 उस समय ऐसा माधूम होता था मनो वह अनेक पाँचों
 मुखोंसे त्रिगुलीको निगल जायगा ॥ ७ ॥ उसने आन
 त्रिगुल्यो बड़े वेगसे धुमाकर गरुडनीपर चढ़ाया और
 फिर अपने पाँचों मुखोंसे घोर सिंहाना करने लगा ।
 उसके सिंहानादकर महान् गर्ज पृथ्वी, आकाश, पाल
 और दसों त्रिशास्त्रोंमें फैलकर सारे ब्रह्माण्डमें भर गया ॥ ८ ॥
 भगवान् भीड़में देखा कि मुर दैत्य त्रिगुल गरुडनी
 ओर बड़े वेगसे आ रहा है । तब अपना हस्तसौं
 त्रिगुल पुनर्गति उन्नेने ने बाग मारे, त्रिसे वह
 त्रिगुल कटकर तीन टुक हो गया । इसके शप ही मुर
 दैत्यक मुखमें भी भगवान्ने बहुतसे बाग मारे । हमने
 वह दैत्य अत्यन्त दुःख हो गया और उसने भगवान्
 अपनी गंगा चढ़ा दी ॥ ९ ॥ परन्तु भगवान् त्रिगुल
 अपनी गंगाक प्रहासे मुर दैत्यसे लपटे अनेक वन
 पहुँचानके पहर ही गुर गुर कर दिया । अब वह आ
 हीनहा जानकर करण अपनी मुद्राओं फैलाकर घृष्टनी
 आग लीला और उन्होंने गन्धर्वोंमें ही चरमे उसके
 पाँचों सिर उगार दिए ॥ १० ॥ फिर गहते ही मुर
 दैत्यक प्रहाराप उड़ गया और वह हीर वैम
 हा जन्मे फिर पड़ा, 'मि इन्ने वरमे त्रिगुल
 गनर वर वर मममे त्रिगुल ही । म
 देवसे मर पुत्र ध—तब अमरि सार त्रिगुल
 वर मममन और उर । व अने त्रिगुल
 मनुम अर व वरगुल हा वर और त्रिगुल
 वर वर वर मममन वर वर वर वर वर
 मुर वर वर वर वर वर वर वर वर वर

प्रायुञ्जतासाय शरानसीन् गदा

पुच्छपृष्टिशूलान्यजिते रूपोत्त्वणाः ।

तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणे

रमोषवीर्यस्तिष्ठशस्त्रकर्तृ ॥१३॥

तान् पीठमुत्स्थाननयन् यमक्षयं

निकृत्तशीर्षोरुमुद्राहृन्निषर्षण ।

स्नानीकपानच्युतचक्रसायकै

स्तथा निरस्तान् नरको भ्रामसुतः ॥१४॥

निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदै

गजैः पयोधिप्रमथैर्निराक्रमत् ।

दृष्ट्वा समाय गरुडोपरि म्वितं

सूर्योपरिष्ठात् सतद्विबुधन यथा ।

कृष्णं स तप्तै व्यसृजच्छतश्रीं

योवाभ सर्वे युगपत् स विष्मयुः ॥१५॥

तद् मौममैन्य भगवान् गदाग्रजो

विचित्रबाह्वैर्निश्चितैः शिलीमुत्तैः ।

निकृत्तबाह्विरोन्ननिर्ग्रहं

चक्रार तस्यैव हताम्बुजुडरम् ॥१६॥

योनि योषैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि हस्तैश्च ।

हरितान्वाच्छिनवीक्ष्यैः क्षुरैरेकैश्चास्त्रिभिः ॥१७॥

उद्यमान सुपर्णेन पक्ष्याभ्यां निम्नता गजान् ।

गरुडमता हन्यमानास्तुण्डपक्षनर्गज्याः ॥१८॥

पुरमेवाविशभार्ता नरको युष्मयुष्मत् ।

दृष्ट्वा निद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम् ॥१९॥

वे वहाँ जाकर बड़े क्रोधसे भगवान् शीकृष्णपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, अष्टि और त्रिशूल आदि प्रचण्ड शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे । परीक्षित ! भगवान्की शक्ति यमोष और अनन्त है । उन्होंने अपने बाणोंसे उनके कोटि-कोटि शस्त्रास्त्र तिल-तिल करके काट गिराये ॥१३॥

भगवान्क शस्त्रप्रहारसे सेनापति पीठ और उसके साथी सैन्योंके सिर, बाँधे, मुखा, पैर और कंधा कट गये और उन सभीको भगवान् न यमराजक घर पहुँचा दिया । जब पृथ्वीके पुत्र नरकासुर (भीमासुर) ने देखा कि भगवान् शीकृष्णके चक्र और बाणोंसे हमारी सेना और सेनापतियोंका संहार हो गया, तब उसे असह्य क्रोध हुआ । वह समुद्रतटपर पैदा हुए बहुत-से नावसे हाथियोंकी सेना लेकर नगरसे बाहर निकल्य । उसने देखा भगवान् शीकृष्ण अपनी पत्नीके साथ आकाशमें गरुडपर स्थित हैं, जैसे सूर्यके ऊपर विजलीके साथ वर्षाकालीन स्थलमेंव शोभायमान हो । भीमासुरने तब भगवान्के ऊपर शतश्री नामकी शक्ति चलायी और उसके सब सैनिकोंने भी एक ही साथ उनपर अपने अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़े ॥१४१५॥ जब भगवान् शीकृष्ण भी चित्र-विचित्र पंखवाले तीले-तीले बाण चलाये लगे । इससे उसी समय भीमासुरके सैनिकोंकी मुखा, बाँधे, गर्दन और कंधा कट-कटकर गिरने लगे, हाथी और घोड़े भी मरने लगे ॥१६॥

परीक्षित ! भीमासुरके सैनिकोंने भगवान्पर जो-जो अस्त्र-शस्त्र चलाये थे, उनमेंसे प्रत्येकको भगवान्ने तीन तीन तीले बाणोंसे काट गिराया ॥१७॥ उस समय भगवान् शीकृष्ण गरुडजीपर सवार थे और गरुडजी अपने पंखोंसे हाथियोंको मार रहे थे । उनकी बाँधे, पंख और पंखोंकी मारसे हाथियोंका बड़ी पीड़ा हुई और वे सब-के-सब जात होकर युद्धभूमिसे भागकर नगरमें घुस गये । जब वहाँ लगेका भीमासुर ही कहता रहा । जब उसने देखा कि गरुडजीकी मारसे पीड़ित हाकर मेरी सेना माग रही है, तब उसने उनपर वह शक्ति चलायी, जिसने चक्रको भी चिन्न कर दिया था । परन्तु उसकी

१ प्राचीन प्रसिद्धि योनि योषैः अस्त्रास्त्रिभिः इत एकैककी अलग-अलग पाठ है—युक्तानि अस्त्राणि हस्तैश्च इति ।

त भौमः प्राहरच्छत्पया वज्रः प्रतिहतो यतः ।

नक्तम्पत तथा विद्धो मालाहत इव द्विपः ॥२०॥

शूलं भौमोऽप्युत हन्तुमाददे वितथोद्यमः ।

तद्विसर्गात् पूर्वमेव नरकस्य शिरा हरिः ।

अपाहरद् गजजम्बस्य चक्रेण घुरनेमिना ॥२१॥

सकुम्भल चारुकिरीटपूषणं

भभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत् ।

हा इति साञ्चित्यपुण्या सुरेश्वरा

माल्यैर्मुकुन्दं विक्रित्वा ईदृशं ॥२२॥

ततश्च भूः कुण्डमुपेत्य कुम्भले

प्रतप्तजम्बूनदरजभास्वरे ।

सर्वज्ञयन्त्या वनमालार्यायत्

प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥२३॥

अस्तौपीदध विश्वेन्द्रं देवी द्वावराचितम् ।

प्राञ्जलिं प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया ॥२४॥

मूर्ध्निस्थाप

नमस्ते देवदेवेन्द्र शङ्खचक्रगदाधर ।

मत्कच्छोपाचरुणाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते ॥२५॥

नमः पञ्चवनाभाय नमः पञ्चजमालिने ।

नमः पञ्चजनेशाय नमस्ते पञ्चजाक्षय ॥२६॥

नमा भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।

चोटसे पहिराव गरुड तमिफ भी बिचरित न हुए, मनो
किरीतीने मत्वाले गजराजपर कुल्लेकी माफसे प्रहार
किया हो ॥ १८-२० ॥ अत्र भौमघुरने देखा कि मेरी
एक भी चाख नहीं चल्ती, सारे उद्योग निपट होते चा
रहे हैं, तब उसने श्रीकृष्णको मार बाधनेके लिये एक
त्रिशूल उठाया । परन्तु उसे कभी वह छेद भी न पाया
कि मगवान् श्रीकृष्णने घुरेके सम्मन तीखी चारकले
कत्ते हाथीपर बैठे हुए मौमघुरका सिर काट डाला ॥२१॥
उसका जगमगाता हुआ सिर कुम्भल और सुन्दर किरीटके
सहित पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसे देखकर मौमघुरका
सगे-सम्बन्धी हाय-हाय पुकार उठे, अतिक्रमे भण्ड
साधु कहने लगे और वेकतायोग भगवान्पर पुष्पोंकी
क्या करते हुए स्तुति करने लगे ॥ २२ ॥

अब पृथ्वी भगवान्के पास आयी । उसने भगवान्
श्रीकृष्णके गलेमें वैजयन्तीके साथ वनमाल पड़ता दी
और अदिति मानाके जगमगाते हुए कुम्भल, जा तपसे
हुए सोनेके ण्व खजडित थे, भगवान्को दे लिये तथा
चक्रगदा छत्र और साध ही एक महामणि भी उनको
दी ॥ २३ ॥ राजन् ! इसके बाद पृथ्वीदेवी बड़-बड़
देवताओंके द्वारा पूजित निम्नेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको
प्रणाम करके हाथ जोड़कर भक्तिभावसे हृदयसे उनकी
स्तुति करने लगी ॥ २४ ॥

पृथ्वीदेवीने कहा—शङ्खचक्रगदाधारी देवदेवेश्वर ।
मैं आपको नमस्कार करती हूँ । परमात्मन् ! आप
अपने भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसीके अनुसार
रूप प्रकट किया करते हैं । आपको मैं नमस्कार करती
हूँ ॥ २५ ॥ प्रभो ! आपकी माभिसे कसल प्रकट हुआ है ।
आप कसलकी माछ पड़मते हैं । आपके नेत्र कसलसे
खिन्ने हुए और शतितानाय हैं । आपके चरण कसलके
सम्मन सुकुमार और भक्तोंके हृदयको शीतल करनेवाले
हैं । आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ ॥ २६ ॥
आप समस्त एश्वर्य, धर्म, यश, सम्पत्ति, ज्ञान और
विरामक आश्रय हैं । आप सर्वव्यापक होनेपर भी
खय वसुदेवनन्दनके लयने प्रकट हैं । मैं आपको नमस्कार

पुरुषायादिषीन्नाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥२७॥

अज्ञाय अनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।

परावरात्मन् मूढात्मन् परमारमन् नमोऽस्तु ते ॥२८॥

त्वं वै सिसृक्षु रज उत्कटं प्रभो

तमो निरोधाय विशर्ष्यसंवृतः ।

स्यानाय सत्त्व भगवो जगत्पते

कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः ॥२९॥

अहं पमो न्योतिरथानिलो नभो

मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।

कर्ता महान्तिस्पत्निल चराचर

त्वम्यद्वितीये भगवन्मयं भ्रमा ॥३०॥

तस्मात्प्रबोध्यं तव पादपङ्कजं

भीतः प्रपन्नार्तिहरोऽपसादितः ।

तत् पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं

शिरस्पद्मप्यालिलकमपापहम् ॥३१॥

भीमक उवाच

इति भूम्यार्थितो वाग्भिर्ममवान् भक्तिनम्रया ।

दश्वामयं मौमगृह प्राविशत् सकलर्क्षिमत् ॥३२॥

तत्र राक्षन्यकन्यानां पट्सहस्राधिकपुत्रम् ।

मौमाह्वानां विक्रम्य राजस्यो दृष्ट्वा हरि ॥३३॥

तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिताः ।

करती हैं । आप ही पुरुष हैं और समस्त कारणोंकी भी परम कारण हैं । आप स्वयं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं । मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥ २७ ॥ आप स्वयं तो हैं सम्मरहित, परन्तु इस जगत्के जन्मदाता आप ही हैं । आप ही अनन्त शक्तियोंके आश्रय ब्रह्म हैं । जगत्का जो कुछ भी कार्य-कारणमय रूप है, जितने भी प्राणी या अप्राणी हैं—सब आपके ही स्वरूप हैं । परमात्मन् ! आपके कारणोंमें मेरे बार-बार नमस्कार ॥ २८ ॥ प्रभो ! जब आप जगत्की रचना करना चाहते हैं, तब कल्प-रजोगुणको, और जब इसका प्रलय करना चाहते हैं तब तमोगुणको, तथा जब इसका पाप्मन करना चाहते हैं तब सत्वगुणको स्वीकार करते हैं । परन्तु यह सब करनेपर भी आप इन गुणोंसे ठकते नहीं, क्षिप्त नहीं होते । जगत्पते ! आप स्वयं ही प्रकृति, पुरुष और दोनोंके संयोग-विपणनके हेतु काल हैं, तथा उन तीनोंसे परे भी हैं ॥ २९ ॥ ममन् । मैं (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्राएँ, मन, इन्द्रिय और इनके अविच्छिन्न-देवता, अहङ्कार और महत्त्व—कहाँ तक कहूँ, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपके अद्वितीय स्वरूपमें अमके कारण ही प्रकृति हो रहा है ॥ ३० ॥ शरणागत-मम-भञ्जन प्रभो ! मेरे पुत्र मौमासुरका यह पुत्र मगदस अत्यन्त ममणीय हो रहा है । मैं इसे आपके करणकर्मके शरणमें ले आयी हूँ । प्रभो ! आप इसकी रक्षा कीजिये और इसके विरपर अपना कद करकमल रक्षिये जो सारे जगत्के समस्त पाप-तापोंको नष्ट करने वाला है ॥ ३१ ॥

भीमककोचजी कहते हैं—परीक्षित ! जब पृथ्वीने भक्तिभाक्से निमग्न होकर इस प्रकार मगवान् धीकृष्णकी स्तुति-मार्चना की, तब उन्होंने मगदसको अमयदान दिया और मौमासुरके समस्त सम्पत्तियोंसे सम्पन्न मगदसे प्रवेश किया ॥ ३२ ॥ वहाँ आकर मगवान्ने देखा कि मौमासुरने कल्पपूर्वक राजाओंसे सोलह हजार राजकुमारियों कोनकर अपने यहाँ रख छोदी थी ॥ ३३ ॥ जब उन राजकुमारियोंके अन्त-पुरमें पगारे हुए परशेष्ट मगवान् धीकृष्णको देख, तब वे मोहित हो गयीं और उन्होंने उनकी

मनसा नमिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादिसम् ॥३४॥

भूयात् पतिरयं मयं धत्ता वदनुमादताम् ।

इति सर्वा पृथक् कृणो भावेन हृदयं दधुः ॥३५॥

ताः प्राक्षिणोद् द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः ।

नरपानैर्महाकोशान् रथाभ्यान् द्रविषं महत् ॥३६॥

परान्तकुलेभाम् बहुदन्तान्तरस्किनः ।

पल्लवरांश्च कतुःपाटिं प्रपद्यामास केसवः ॥३७॥

गत्वा सुरेन्द्रमवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले ।

पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सम्रियः ॥३८॥

चोत्तितो भार्ययोत्पाद्य पारिषात् गदस्मति ।

आरोप्य सेन्द्रान् बिभुभान् निर्जित्योपानयत् पुरम् ३९

स्थापितः सत्यभामाया गुह्योद्यानोपशोभनः ।

अन्वगुर्ध्रमराः स्वर्गात् तप्तस्वासवलम्पटाः ॥४०॥

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः

पादौ स्पृशन्पुतमर्षसाधनम् ।

सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा

नहो सुरार्णा च तमी विगाढ्यताम् ॥४१॥

अधो मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः ।

जहाँ तक की कृपा तथा अपना सौभाग्य समझकर मन-ही-मन भगवान् को अपने परम प्रियतम पतिके रूपमें बना दिया ॥ ३४ ॥ तब राजकुमारियोंमेंसे प्रत्येकन कर्म-जन्म अपने मनमें यही निश्चय किया कि ये श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों और विवाहा मेरी इस जन्मिन्मरणको ही करें । इस प्रकार उन्होंने प्रेम-भावसे अपना हर भगवान् के प्रति निष्ठावर कर दिया ॥ २५ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने उन राजकुमारियोंको सुन्दर-सुन्दर निर्मल कलायूषण पल्लवाकर पाककियोंसे द्वारका में दे दिया और उनके साथ ही बहुत-से लज्जाने, रत्न, घोड़े तथा बहुत सम्पत्ति भी मेरी ॥ ३६ ॥ परान्तके वंशमें उत्पन्न हुए कल्पित केवल्यान् चार चार दौलतवाले सफेद रंगके बौद्ध हाथी भी भगवान् ने वहाँसे द्वारका में ॥ ३७ ॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अमरावतीमें स्थित देवराज इन्द्रके मन्त्रालयमें गये । वहाँ देवराज इन्द्रने अपनी पत्नी इन्द्राणीके साथ सत्यभामाजी और भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की, तब भगवान् ने अद्वितीय कुण्डल उन्हें दे दिये ॥ ३८ ॥ वहाँसे नीचे सम्य सत्यभामाजीकी प्रेरणासे भगवान् श्रीकृष्णने कल्पवृक्ष उखाड़कर गङ्गापर रख लिख और देवराज इन्द्र तथा समस्त देवताओंको नीतकर उसे द्वारकामें ले आये ॥ ३९ ॥ भगवान् ने उसे सत्यभामाके मन्त्रालयके कानिनेमें रखा दिया । इससे उस कानिनेकी सेवा अत्यन्त बढ़ गयी । कल्पवृक्षके साथ उसके गन्ध और मकरन्दके छोमी मीरे लगाते द्वारकामें बसे जाते थे ॥ ४० ॥ परीक्षित । देखो तो सही जब इन्द्रको अपना कर्म बनाना था, तब तो उन्होंने अपना सिर धुकाकर मुकुटकी मोफ्ते भगवान् श्रीकृष्णके कानोंपर स्पर्श करके उनसे सहायताकी मित्रा मीठी की, पन्द्र अब काम बन गया, तब उन्होंने वहाँ भगवान् श्री-कृष्णसे कहाई टाक की । सबमुच ये देवता भी वही लम्बेगुनी हैं और सबसे बड़ा दोष तो उनमें पताअन्ध-कार है । बिहार है ऐसी अनजानताको ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने एक ही मुहूर्तमें अपना अपना भगवोंमें अलग-अलग रूप धारण करके एक ही

पयोपयेमे भगवांस्तावद्वपधरोऽप्ययः ॥४२॥

गृहेषु तासामनपाप्यसर्कक-

भिरस्तसाम्पातिष्ठयेष्ववगम्यत ।

रेमे रमाभिर्निबक्रामसम्प्लुतो

यथेतरो गार्हकमेधिकां धरन् ॥४३॥

इत्वं रमापतिमवाप्य पतिं स्निग्धस्ता

ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।

मेष्ठुर्मुदाविरतमेधितयानुराग

हासावलोकनवसर्गमबल्ललजा ॥४४॥

प्रत्युद्गमासनवराईणपादशौच-

ताम्बूलविभ्रममयीजनगन्धमात्यैः ।

कञ्चप्रसारशयनस्नपनोपहार्यै

दर्मीश्रुता अपि विभार्विदधु स दासम् ॥४५॥

साथ सब राजकुमारियोंका शास्त्रोक्त विधिसे पाणिग्रहण किया । सर्वशक्तिमान् अविनाशी भगवान्के लिये इसमें आश्चर्यकी कौम-सी बात है ॥४२॥ परीक्षित । मगवान् की पत्नियोंके अलग-अलग मङ्गलमें ऐसी दिव्य सामग्रियों मरी हुई थीं, जिनके बराबर जगतमें कहीं भी और कोई भी सामग्री नहीं है, फिर अविकल्पी तो बात ही क्या है । उन मङ्गलमें रहकर मति-गस्तिके परेकी छीला करनेवाले अविनाशी भगवान् श्रीकृष्ण अपने आत्मानन्दमें मग रहते हुए लक्ष्मीबीकी अंशस्वरूपा उन पत्नियोंके साथ ठीक वैसे ही निहार करते थे, जैसे कोई साधारण मनुष्य घर-गृहस्त्रीमें रहकर गृहस्व-धर्मके अनुसार आचरण करता हो ॥ ४३ ॥ परीक्षित । ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी भगवान्के वास्तविक स्वरूपको और उनकी प्राप्तिके मार्गको नहीं जानते । उन्हीं रमारमण भगवान् श्रीकृष्णको उम स्त्रियोंने पत्तिके रूपमें प्राप्त किया था । अब नित्य निरन्तर उनके प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि होती रहती थी और वे प्रेममयी मुसकन्नाइट, मधुर वितकन, नवसमागम, प्रेमाख्य तथा माव बढ़ानेवाली लज्जासे युक्त होकर सब प्रकारसे भगवान्की सेवा करती रहती थीं ॥ ४४ ॥ उनमेंसे सभी पत्नियोंके साथ सेवा करनेके लिये सैकड़ों दासियाँ रहतीं, फिर भी जब उनके मङ्गलमें भगवान् पधारते तब वे स्वयं आगे जाकर आदरपूर्वक उन्हें बिठा जातीं, श्रेष्ठ आसनपर बैठातीं, उत्तम सामग्रियोंसे पूजा करतीं, चरणकमल पछाहतीं, पान लगाकर स्निग्धतीं, पौष दबाकर पकवान् दूर करतीं, पंखा झलतीं, इत्र-कुण्ड, चन्दन आदि छगातीं, फूलोंके हार पकवातीं, केश सँवहातीं, सुघातीं, आन करातीं और जगत्प्रकारके मोहन कराकर अपने ही हाथों भगवान् को सेवा करतीं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसा संज्ञितया दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

पारिजातहरणमरकतभा नाम एकमेवपठितम्-

अध्याय ॥ ५९ ॥

अथ षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-संवात्

श्रीकृष्ण उवाच

कर्हिचित् सुसमासीनं स्वतत्पस्थं जगद्गुरुम् ।
 पतिं पर्यचरन् मैत्रीं व्यजनेन सखीजनैः ॥ १ ॥
 यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सुवत्सल्यवतीश्वर* ।
 स हि जातः स्वसेतूनां गोपीशाय यदुष्वजः ॥ २ ॥
 तस्मिन्तर्गुहे आभन्तुक्तादामविलम्बिता ।
 विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥ ३ ॥
 मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफुल्लनादितैः ।
 जालरध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमैसोऽमलैः ॥ ४ ॥
 पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना ।
 धूपैरगुरुजै राजन् जालरध्रविनिर्गतैः ॥ ५ ॥
 पय फेननिभे शुभ्रं पर्यङ्गे कश्चिपूतमे ।
 उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ॥ ६ ॥
 बालव्यजनमादाय रत्नदण्डं समीकृतात् ।
 तन वीजयती देवी उपासाञ्चक ईश्वरम् ॥ ७ ॥
 मायापुत्र फणयती मणिनूपुराभ्यां
 रजःशुक्लीयवलयम्यग्रनाग्रहस्ता ।
 परान्तगूढचक्रदुमशोणहार
 भामा नितम्बपृष्ठपापपराध्वंकाञ्चया ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् । एक दिन समस्त
 जगत्के परमपिता और ज्ञानदाता भगवान् श्रीकृष्ण
 रुक्मिणीजीके फलंगपर आरामसे बैठे हुए थे । मैत्रि-
 नन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी सखियोंके साथ अपने पशिलेकी
 सेवा कर रही थीं, उन्हें पंखा झल रही थी ॥ १ ॥
 परीक्षित् । जो सर्वशक्तिमान् भगवान् खेल-खेलमें ॥ १ ॥
 जगत्की रचना, रक्षा और प्रलय करते हैं—वही ब्रह्म
 प्रभु अपनी बनायी हुई धर्म-मर्यादाओंकी रक्षा करनेके
 लिये यदुवशियोंमें अवनीर्ण हुए हैं ॥ २ ॥ रुक्मिणीजी
 मल्ल बजा ॥ सुन्दर था । उसमें ऐसे-ऐसे चँदोवतने हुए
 थे, जिनमें मोतियोंकी लकियोंकी झल्लें लटक रही थीं ।
 मणियोंके दीपक जगमगा रहे थे ॥ ३ ॥ बेला बनेकी
 फूल और हार में-मल्ल मल्ल कर रहे थे । फलंगपर सु-
 के-सुके मौर गुंजर कर रहे थे । सुन्दर-सुन्दर हठोल-
 की आलियोंमेंसे चन्द्रमाकी सुभ किरणें मल्लके मूल
 छिटक रही थीं ॥ ४ ॥ उद्यानमें पारिजातके उपवनकी
 सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द झितात वायु चल रही थी ।
 हठोलोंकी आलियोंमेंसे आरके धूपक धूलों बाहर निकल
 रहा था ॥ ५ ॥ ऐसे मल्लमें दूधके फेनके समान कोमल
 और तन्मूल बिजौनोंसे युक्त सुन्दर फलंगपर भगवान्
 श्रीकृष्ण बड़े आनन्दसे विराजमान थे और रुक्मिणीजी
 त्रिलोकीके क्षामीक पतिरूपमें प्राप्त करके उनकी सेवा
 कर रही थीं ॥ ६ ॥ रुक्मिणीजीने अपनी सखीके
 हाथसे वह चैकर ले लिया, जिसमें रत्नोंकी झड़ी लगी
 थी और परमरूपवती लक्ष्मीदेविनी देवी रुक्मिणीजी
 उसे दुग्ध-कुन्दाकर भगवान्की सेवा करने लगीं ॥ ७ ॥
 उनके करकमलोंमें जकाऊ जँगूटियाँ, बंगान और चँबर
 शोभा पा रहे थे । चरणोंमें मणिजडित पायजब रुमटुन
 रुमटुन कर रहे थे । अग्रयके नीचे त्रिपे हुए स्तनोंकी
 केशरवी साधिमामे हार साल-माल जान पड़ता था और
 चमक रहा था । नितम्बभागमें बहुमूल्य करपनीजी
 लकियों लटक रही थीं । इस प्रकार वे भगवान्के
 पास ही रहकर उनकी सेवामें मग्न थीं ॥ ८ ॥

तां रूपिणीं भ्रियमनन्मगति निरीक्ष्य

या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।

प्रीतः स्मयश्रलककुण्डलनिष्कफण्ड

वक्त्रोल्लसन्मिमतमुखां हरिराशभापे ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच

राजपुत्रीप्सिता भूर्पलोकपालविभूतिभि ।

महानुभावं श्रीमद्भ्री रूपांदार्यबलार्जितै ॥ १० ॥

तान् प्राप्तानर्धिनो हित्वा चैद्याप्दीन् स्मरदुर्मदान् ।

दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्माद्यो बह्व्येऽसमान् ॥ ११ ॥

राजस्यो भिन्मत सुभू सप्रुष्टं शरण गतान् ।

लवङ्गि कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥ १२ ॥

अस्पृष्टवरमनां पुंसामलोकपथमीषुषाम् ।

आसिताः पदवीं सुभूः प्रायः सीदन्ति योपितः ॥ १३ ॥

निष्किञ्चना वयं शशभिष्किञ्चनप्रनप्रिया ।

तस्मान् प्रायेण नम्राण्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥ १४ ॥

रुक्मिणीजीकी पुँधराखी अलकों, कानोंके कुम्हळ और गलेके स्वर्गाहार अत्यन्त विलक्षण थे । उनके मुखचन्द्रसे मुसकराहट्यकी अमृतवर्षा हो रही थी । ये रुक्मिणीजी छलैकिक रूपछावण्यवती लक्ष्मीजी ही तो हैं । उन्होंने जब देखा कि भगवान्ने लालके त्रिये मनुष्यक-सा शरीर ग्रहण किया है, तब उन्होंने भी उनके अनुरूप रूप प्रकट कर दिया । भगवान् श्रीकृष्ण यह देखकर बहुत प्रसन्न हुए कि रुक्मिणीजी मेरे परायण हैं, मेरी अनन्य प्रयसी हैं । तब उन्होंने बड़े प्रमत्ते मुसकराते हुए उनसे कहा ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—राजकुमारी ! बड़े-बड़े नरपति, जिनके पास लोकपालोंके समान पञ्चर्य और सम्पत्ति है, जो बड़े महानुभाव और श्रीमान् हैं तथा सुन्दरता, उदारता और बलमें भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं, तुमसे विवाह करना चाहते थे ॥ १० ॥ तुम्हारे पिता और भाई भी तुम्हींके साथ तुम्हारा विवाह करना चाहते थे, यहाँतक कि उन्होंने वाय्देन भी कर दिया था । शिशुसाक्ष आदि बड़े-बड़े बीरोंको, जो कामोत्त होकर तुम्हारे याचक बन रहे थे, तुमने छोड़ दिया और मेरे-जैसे व्यक्तिको, जो किसी प्रकार तुम्हारे समान नहीं है, अपना पनि स्वीकार किया । ऐसा तुमन क्यों किया ॥ ११ ॥ सुन्दरी ! देखो, हम जलसन्ध आदि राजाओंसे दूरकर समुद्रकी शरणमें आ बसे हैं । बड़े-बड़े ब्रह्मणोंसे हमने घेर बाँध रख्य है और प्रायः राज सिंहासनके अधिकारसे भी हम वञ्चित ही हैं ॥ १२ ॥ सुन्दरी ! हम किस मगके अनुयायी हैं, हमारा कौन सा मार्ग है यह भी छोड़ोको अच्छी तरह माझम नहीं है । हमलोग छैकिक व्यवहारका भी टीक-टीक पालन नहीं करते, अनुनय-विनयके द्वारा स्त्रियोंको रिशते भी नहीं । जो स्त्रियाँ हमारे-जैसे पुरुषोंका अनुसरण करती हैं, उन्हें प्रायः छोड़-ही-छोड़ा भोगना पड़ता है ॥ १३ ॥ सुन्दरी ! हम तो मगके अकिञ्चन हैं । न तो हमारे पास कभी कुछ था और न रहेगा । ऐसे ही अकिञ्चन लोगोंसे हम प्रेम भी करते हैं और वे हम भी हमसे प्रेम करते हैं । यही कारण है कि अपनको धनी समझनेवाले लोग प्रायः हमसे प्रेम नहीं करते हमारी सेवा नहीं

यथात्मसमं विचिन्तयन्मैत्र्याः कृतिर्यथाः ।

तयोर्विवाहो मैत्री च नाधमाधमयो कथितः ॥१५॥

बैदम्येत्तदविज्ञाय त्वयादीपसमीक्षया ।

इता वयं गुणैर्हीना मिथुमि स्थापिता मृषा ॥१६॥

अथात्मनोऽनुरूपं वै भवत्यध्वनिचर्यमम् ।

येन त्वमादिप सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥१७॥

नैघञ्जालवरासंभन्तवक्त्राद्यो नृपा ।

मम द्विपन्ति वामोरु लक्ष्मी चापि त्वाग्रजः ॥१८॥

तेषां नीयमदाधानां ध्यानां समनुत्तये ।

आनीतासि मया भद्र तेजोऽपहरतामताम् ॥१९॥

उदासीना वयं नूनं न स्म्यपत्न्यार्थकामका ।

अत्मलक्ष्म्याऽऽसह्यै पूर्णा गेहयोन्योत्तिरक्रिमाः ॥२०॥

कीर्तुक उवाच

एतत्तदुक्त्वा भगवान्नात्मानं वल्लभाभिः ।

स्म्यमानामविश्लेषात् सप्रेम उपारमत् ॥२१॥

इति त्रिलोकेशपतेस्तदाऽऽत्मनः

प्रियस्य वैश्यमुत्पूर्वमप्रियम् ।

आधुत्य भीता इदि जातवेपथु

विन्तां दुरन्तां रुदती अगाम इ ॥२२॥

पदा सुजातेन नलाहणभिया

सुख लिखन्त्यधुमिरञ्जनासितं ।

करते ॥ १४ ॥ जिनका धन, कुछ, एषय, सौन्दर्य और आप अपने सम्बन्ध होती है—उन्हींसे विवाह और मित्रताका सम्बन्ध करना चाहिये । जो अपनेसे भेद या अन्धम हों, उनसे नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥ निर्मल-कुमारी । तुमने अपनी अवदरशितके कारण इन जनोंके विचार नहीं किया और बिना जाने-भूते भिक्षुके मेरे शरीर प्रशंसा सुनकर मुझ गुणहीनको कल कर लिख ॥ १६ ॥ अब भी कुछ बिगाड़ा नहीं है । इस अपने अनुरूप किसी भेद क्षतिफल धरण कर दो । जिसके द्वारा तुम्हारी इच्छाके और परलोककी सारी आशा-व्यवहार पूर्ण हो सकें ॥ १७ ॥ सुन्दरी ! तुम जानती ही हो कि शिशुपाल, शात्त्व, अरुसन्ध, दन्तवक्त्र आदि नरपति और तुम्हारा क्या माई स्वामी—सभी मुझसे द्वेष करते थे ॥ १८ ॥ कल्याणी ! वे सब बन्ध-पौंड्रिकके मदसे अंधे हो रहे थे, अपने सामने किसीके कुछ नहीं धिन्ते थे । उन दुष्टोंका मन मर्दन करनेके लिये ही मैंने तुम्हारा हरण किया था । और कोई कारण नहीं था ॥ १९ ॥ निश्चय ही हम लक्ष्मीन हैं । हम भी, सत्यन और धनके कोट्य नहीं हैं । निष्किय और देह-बोहसे सम्बन्धित तीरथिष्ठके समान साक्षीमान हैं । हम अपने आत्मके साक्षात्पदसे ही पूर्णकाम हैं, कृतार्थ हैं ॥ २० ॥

श्रीशुक्रवक्त्रो कथते है—परीक्षित ! मगवान्

श्रीकृष्णके क्षणमरके लिये भी अज्ञा न होनेके कारण हस्तिमणीजीको यह अभिमान हो गया था कि मैं उनकी सबसे अधिक प्यारी हूँ । इसी गर्वकी श्रान्तिके लिये इतना कहकर मगवान् गुप्त हो गये ॥ २१ ॥ परीक्षित ! जब हस्तिमणीजीने अपने परम प्रियतम पति त्रिलोकेश्वर मगवामकी यह अप्रिय बाणी सुनी—जो पहले कभी नहीं सुनी थी, तब वे अत्यन्त सयमित हो गयीं, उनका हृदय बाधकने लगा, वे रोते-रोते विन्ताके अगाध समुद्रमें डूबने-उतरने लगी ॥ २२ ॥ वे अपने कर्मके समान कोमल और नर्लीकी सम्मिश्रमे कुछ-कुछ प्यार प्रतीत होनेवाले करणोंसे धरती कुदेवने मगीं । अज्ञानसे मिले

आसिञ्चती कुङ्कुमरूपितौ स्तनौ

तस्यास्त्रधोमुख्यस्यतिदु सरुद्धवाक् ॥२३॥

तस्या सुदुःस्वभयशोकविनष्टपुत्रे

ईस्तान्छल्यद्वलयतो व्यजनं पपात ।

देहस्य विह्वलधियः सहसैव मुपान्

रन्मेष बाधुविहता प्रविक्षीर्य केशान् ॥२४॥

तद् दृष्ट्वा भगवान् कृष्ण प्रियाया प्रेमबन्धनम् ।

हास्यप्रौढिमज्जानन्त्याः कल्याः सोऽन्वकम्पत ॥२५॥

पर्मङ्गादवस्त्राण्यु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।

केशान् समुच्च तद्वक्त्रं प्राप्तुञ्जत् पञ्चपाणिना ॥२६॥

प्रसृज्याधुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ मुखा ।

आस्त्रिप्य बाहुना राजभनन्वविपयां सतीम् ॥२७॥

सान्त्वयामास सान्त्वज्जः कृपया कृपणां प्रभु ।

हास्यप्रौढिभ्रमधिसामतदहं सतां गतिः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

मा मा वैदम्यसूयया जाने त्वां मत्परायणाम् ।

त्वद्वच भोतुकामेन श्वेल्याऽऽश्रितमङ्गने ॥२९॥

द्वारं च प्रममरम्मस्फुरिताधरमीक्षितम् ।

(हास्यः प्रोवेर्भं ।

हुए काले-काले जौसु केशरसे रंगे हुए बक्ष सलक्खे घोने लगे । मुँह नीचेको छटक गया । अल्पत दु उनके कारण उनकी बाणी रुक गयी और वे छिन्की-सी रह गयी ॥२३॥ अत्यन्त व्यथा, भय और शोक के कारण निवारशक्ति लुप्त हो गयी, विशेषकर सम्भावनासे वे तन्मूढ इतनी दुःखी हो गयी कि उनकी कर्मार्थक कर्मतक स्मिन्नक गया । हाथका बैवर गिर पड़ा, मुखकी विकलताके कारण वे एकाएक अचेत हो गयीं, कदा बिकर गये और वे वायु केगसे उछड़ हुए केलेके खमेकी तरह धरतीपर गिर पड़ीं ॥२४॥ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरी प्रियसी रुक्मिणीनी हृम्य-विनोदकी गम्भीरता नहीं सम्झ रही हैं और प्रेम-मादाकी उन्नताके कारण उनकी यह दशा हो रही है । खभावसे ही परम करुणिक भगवान् श्रीकृष्णका हृदय उनके प्रति यहगासे मर गया ॥२५॥ बार मुञ्जाबोवालं बे भगवान् उसी समय पछासे उतर पड़ और रुक्मिणीजीको उठा लिया तथा उनके लुटे हुए केशपावोंको बौधकर अपन शीन्ध करकर्मनेसे उनकी मुँह पोंछ दिया ॥२६॥ भगवान्ने उनके नेत्रोंके औसु और शोकके औँधुओंसे मीने हुए स्तनको पोंछकर अपने प्रति अनन्य प्रेममात्र रखनेवाली उन सती रुक्मिणीजीको बौँहोंमें मरकर छातीसे लगा लिया ॥२७॥ भगवान् श्रीकृष्ण सम्माने-मुक्तानेमें बड़ कुशल और अपने प्रमी मर्कोंके एकमात्र आश्रय हैं । जब उन्होंने देखा कि हास्यकी गम्भीरताके कारण रुक्मिणीजीकी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी है और वे अत्यन्त दीन हो रही हैं, तब उन्होंने इस अवस्थाके ब्यापय अपनी प्रमसी रुक्मिणी-जीको सम्भाया ॥२८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—त्रिदभनन्दिनी ! तुम मुझसे कुछ मन मानना । मुझसे लड़ना नहीं । मैं जानता हूँ कि तुम एकमात्र मेरे ही परायण हो । मेरी प्रिय सहचरी ! तुम्हारी प्रममरी बात सुननेके लिये ही मैंने ईँसी-ईँसीमें यह छटना करी थी ॥ २९ ॥ मैं मन्मना चाहता था कि मेरे यों बहनपर तुम्हारे स्पर्श-स्पर्श हाट प्रणय-क्रेपसे किस प्रकार पड़ने लगे हैं । तुम्हारे

कण्ठपारुणापात्रं सुन्दरभृङ्गटीतटम् ॥३०॥

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

मर्ममनोयते याम प्रियया भीरु भागिनि ॥३१॥

भीरुक उवाच

सर्वं भगवता राजन् वैदर्भी परिमान्विता ।

ज्ञात्वा तत्पण्डितमोक्तिं प्रियत्यागमय जहौ ॥३२॥

धमाप श्रुपम पुमां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् ।

सप्रीडहासरुधिरस्निग्धापाङ्गन भारत ॥३३॥

रुक्मिण्युवाच

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह

यदु वै भवान् भगवतोऽमरद्वी विभूज ।

कम्प महिम्नमिरतो भगवांस्त्वधीश

फाई गुणप्रकृतिरङ्गगृहीतपद्मा ॥३४॥

सप्य भयान्वि गुणम्य उरुग्रमान्त

शैत ममुत उपलम्भनमाश्र आत्मा ।

निर्म्य फदिन्द्रियगर्ज कृतनिग्रहम्प

नगसर्ववन्पदं किपुनं तमाञ्जयम् ॥३५॥

कटाक्षपूजक देखनेसे नेत्रोंमें कैसी छाया छ जाती और भीहि पड़ जानेके कारण तुम्हारा मुँह कैसा झुगमगाता है ॥ ३० ॥ मेरी परमप्रिये । सुन्दरी । ककाम-धर्मोंमें रात-दिन उगे रहनेवाले गृहस्थोंके लिये वगृहस्थीमें इतना ही तो परम लज्ज है कि अपनी प्रियवर्तीजिनीके साथ हान्म-परिहास करते हुए कुछ प्रिय सुखसे बिता ली जाती हैं ॥ ३१ ॥

श्रीगुणवेश्वरी कहते हैं—राजन् । जब ममका श्रीकृष्णने अपनी प्राणप्रियको इस प्रकार समझाच बुझाच, तब उन्हें इस बातका विश्वास हा गया कि मैं प्रियतमने केवल परिहासमें ही ऐसा कहा था । कउनके हृदयसे यह मय जाता रहा कि प्यारे हमें छोड देगे ॥ ३२ ॥ परीक्षित् । अब वे सत्यज्ज्ञात्य और प्रमथून मधुर चित्तनसे पुरुषभूषण भगवान् श्रीकृष्णक मुखरविन्द निरखती हुई उनसे कहने लगी—॥३३॥

रुक्मिणीजीने कहा—कमलनयन । आपका यह कहना ठीक है कि ऐश्वर्य आदि समस्त गुणोंसे युक्त, अमन्त ममान्के अनुरूप मैं नहीं हूँ । आपकी समानता मैं किसी प्रकार नहीं कर सकती । कहाँ तो अपनी अखण्ड महिमामें स्थित, तीनों गुणोंके लान्भ तथा ब्रह्मा आदि देवताओंसे सेक्ति अथ भगवान्, और कहाँ तीनों गुणोंक अनुरक्त लम्बाय रखनेवाली गुणमयी प्रकृति में, जिसकी सेवा कर्मजाओंके पीछ भक्तनेवाले जहानी लगे ही करते हैं ॥ ३४ ॥ भय, मैं आपक समान कथ हो सकती हूँ । क्षामिन् । वास्तव यह कहना भी ठीक ही है कि आप राजाओंके मध्ये समुद्रमें आ छिपे हैं । परन्तु राजा शास्त्रक अथ पृथीके राजा नहीं तीनों गुणरूप राजा हैं । मनो अथ उन्नीक भयसे अन्त-कण्ठरूप समुद्रमें सैन्यबन अनुभूतिरूप आत्माक रूपमें विराजमान रहते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि आप राजाओंसे नर मयते हैं परन्तु वे राजा फन हैं । यही अमरी दृष्ट इन्द्रिया । इनसे तो आपका धर है ही । और प्रथ ' आप राजसिंहासनसे गति हैं यह भी ठीक ही है क्योंकि आपर बरलों की सेवा करनेवाले भी राजाक पद पर घोर अज्ञानागरर ममग्रर दूरसे ही दुखर रहता है । फिर आपक

त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मृतीनां

वर्त्मास्फुटं नपशुभिर्ननु दुर्विभाष्यम् ।

यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य

मूर्मस्तवेहितमयो अनु ये भवन्तम् ॥३६॥

निष्किञ्चनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किञ्च

यस्मै बलिं बलिभूजोऽपि हरन्त्यब्राह्मण ।

न स्ता विदन्त्यसुतपोऽन्तकमद्वयतान्या

प्रभो भवान् बलिभूजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥३७॥

त्वं वै ममन्तपुरुषार्थमय फलार्त्ता

यद्वाञ्छया सुमत्तया विसृजन्ति कृत्स्नम् ।

तेषां विभा ममुचिता भवत समाञ्ज

धुम स्त्रियाश्च रक्तया मुग्धं चिन्तनं ॥३८॥

त्वं न्यस्तदण्डमुनिमिर्गणितानुभाष

आत्माऽऽत्मस्य जगतामपि मृदुनाऽपि

१ मिहिरि मरणात् ।

छिये तो कहना ही क्या है ॥ ३५ ॥ आप कहते हैं कि हमारा मार्ग स्पष्ट नहीं है और हम लौकिक पुरुषों-जैसा आचरण भी नहीं करते, यह बात भी निस्सन्देह सत्य है । क्योंकि जो ऋषि मुनि आपके पादपद्मोंका मकरन्द-रस सेवन करते हैं, उनका मार्ग भी असाध्य रहता है और विषयोंमें उलझे हुए परपशु उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते । और हे अनन्त ! आपके मार्गपर चउनेवाले आपके भक्तोंकी भी चपटों जब प्रायः अलौकिक ही होती हैं, तब समस्त शक्तियों और वेषयोंकी आश्रय आपकी चपटों अलौकिक हों इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ३६ ॥ आपने अपनेकी अकिञ्चन कलाया है, परन्तु आपकी अकिञ्चनता दरिद्रता नहीं है । उसका अर्थ यह है कि आपके अनिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण आप ही सब कुछ हैं । आपके पास रखनेके लिये कुछ नहीं है । परन्तु त्रिन ब्रह्मा आदि देवताओंकी पूजा सब लोग करते हैं, मंड देते हैं, वे ही ध्येय आपकी पूजा करते रहते हैं । आप उनके प्यारे हैं और वे आपके प्यारे हैं । (आपका यह कहना भी सर्वथा उचित है कि घनाश्रय लोग मेरा भजन नहीं करते,) जो लोग अपनी घनाश्रयोंके अभिमानसे अचे हो रहे हैं और इन्द्रियोंके सुख करनेमें ही लगे हैं, वे न तो आपका भजन-सेवन ही करते और न तो यह जानते हैं कि आप मृत्युके रूपम उनके मिरपर मशर हैं ॥ ३७ ॥ जगत्में जोके लिये वितने भी वाञ्छनीय पदार्थ हैं—धन, अर्थ, काम, मोक्ष—उन सबके रूपमें आप ही प्रकट हैं । और समस्त इतिषों—प्रवृत्तियों, साधनों, सिद्धियों और माध्यमोंके पदम्वरूप हैं । विचारणीय पुरुष आपको प्राप्त करनेके लिये सब कुछ छाक देते हैं । भगवन् ! उन्हीं विचकी पुरुषोंमें आपके सत्य सम्बन्ध जाना चाहिये । जो लम्बा श्री-पुरुषके सहस्रसमे प्राप्त होनेराम सुख का दुःख वर्त्तमान हैं, वे कल्पि आपका सम्बन्ध प्राप्त करने पाय नहीं हैं ॥ ३८ ॥ यह टीका है कि भिक्षुकीने आपकी प्रीति का है । परन्तु किन भिक्षुकीने ? उन परमात्मा सम्बन्धी महत्वाओंमें आपकी महिमा और प्रभावका पक्ष ही है कि होंन अगणी-से-अगणी व्यक्तिक भी लम्बा म करनेका निधाय पर गिय है । मने अदूरगमिहते नने हम बनका मन्त्रान हुप

हिंसा भवद्भुव उदीरितकालवेग

अस्ताक्षिणोऽञ्जमवनाकपतीन् कुतोऽन्ये ३९

आत्मं वचस्तव गदाग्रज यंस्तु भूपान्

विद्राक्ष्य क्षार्जनिनदेन सहर्ष मां त्वम् ।

मिहो यथा स्वलिमील पञ्चत् स्वभानं

तेभ्यो भयाद् यदुदधि क्षरणं प्रपन्नः ॥४०॥

यद्वाञ्छया नृपशित्तामणयोऽञ्जवैन्य

जापन्तनाहुपगयादय ऐकपत्यम् ।

रान्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुबाध

सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहाम्बिता किम् ॥४१॥

कान्यं भयेत तव पादसरोजगन्ध

माध्याय मन्मुन्मरितं अनतापवगम् ।

लक्ष्म्यालर्य स्वविगण्य गुणाउपम्य

मया मदारुभयमर्षविविक्तदृष्टिः ॥४२॥

आपको करण विन्ध है कि आप सारे जगत्के लक्ष्य हैं और अपने प्रेमियोंको आश्रयदान करते हैं । मैंने जब ब्रह्मकर उन मन्त्रा और वेवराज इन्द्र आदिको भी इसमें परिष्ठापन कर दिया है कि आपकी मूर्तियोंके इशारेसे पै होनेवाला काल अपने वेगसे उनकी आशा-आभिरुचि पर पानी फेर देता है । फिर दूसरोंकी—शिशुपाल दन्तवक्त्र या जरासन्धकी तो बात ही क्या है ! ॥ ३९ ॥

सर्वेश्वर आर्यपुत्र ! आपकी यह बात किसी प्रकार सुनि-सुन्नत नहीं मालूम होती कि आप राजाओंसे सम्बन्धित होकर समुद्रमें आ बसे हैं । क्योंकि आपने केवल अपने शार्ङ्गचतुर्वक्त्रके टङ्कारसे मेरे विघ्नाहके सम्म्य अपने इस समस्त राजाओंको भगाकर अपने करणोंमें समर्पित मुदासीनको उसी प्रकार हरण कर लिया, जैसे सिंह जर्जर कर्करा ज्वनिसे वन-पशुओंको भगाकर अपना भोग ले लवे ॥ ४० ॥ कर्मकनपन ! आप कैसे कहते हैं कि मैं मेरा अनुसरण करता है, उसे प्रायः कदा ही उलट पड़ता है, प्राचीनकालके अङ्ग, मयू, मत्त, प्यष्टि और गय आदि जो बड़े-बड़े राजराजेश्वर अपना-अपना एकत्र सम्वाज्य छोड़कर आपके पानेकी अभिलषासे उत्पन्न करने वनमें चले गये थे, वे आपके मार्गका अनुसरण करनेके कारण क्या किसी प्रकारका कष्ट उठा रहे हैं ॥ ४१ ॥ आप कहते हैं कि तुम और किसी राजकुमारका बरण कर लो । मगवन् ! आप समस्त गुणोंके एकत्र आश्रय हैं । बड़े-बड़े संत आपके चरणमल्लोरी सुगन्धकत्र कथान करते रहते हैं । उसका आश्रय लेने मात्रसे लोभ सत्कारके पाप-तापसे मुक्त हो जाते हैं । लक्ष्मी स्वर्ग उन्हींमें निवास करती हैं । फिर जब कल्पाहये कि अपने स्वार्थ और परस्परके मभीमें समन्वयेवाणी ऐसी कौन-सी थी है, जिसे एक बार उन चरणमल्लोरी सुगन्ध सूँघनेसे भिन्न जाय और फिर वह उनका निरस्तर करके ऐसे लोभोंको बरण करे जो सग मयू राग जन्म, जरा आदि भयोंसे मुक्त हैं । कोई भी बुद्धिमत् भी ऐसा नहीं कर सकती ॥ ४२ ॥

त त्वानुरूपमभर्जं जयतामधीश

मात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।

स्थान्मे तवाक्षिरर्णं सृतिभिर्भ्रमन्त्या

यो वै भञ्जन्तमुपयात्पनृतापवर्गः ॥४३॥

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः

स्त्रीणां गृहेषु त्वरगोमेषिबालमुत्था ।

यत्कर्णमूलमरिर्कपनं नोपवायाद्

युष्मत्कथा मृदविरिञ्चमभासु गीता ॥४४॥

त्वक्स्मधुरोभनलकेशपिन्दमन्त-

र्मासास्त्रिस्तकुमिविदूकफपिक्वतयम् ।

जीवच्छवं भवति कान्तप्रतिबिम्बम्

या ते पदाम्बजमकरन्दमञ्जिप्रती स्त्री ॥४५॥

अस्त्वम्पुत्राश्च मम ते शरणापुरात

आमन् रतस्य मयि ध्यानतिरिक्तदृष्टे ।

पदस्य वृद्धय उपाचरओऽतिमात्रा

मामीषसे तद् इ न परमानुकम्पा ॥४६॥

नैयालीकमई मन्ये यचन्ते मधुसूदन ।

अम्माया इव हि प्राय कन्यायाः स्यादुरति क्वचिन् ४७

प्रभो ! आप सारे जगत्के एकमात्र स्वामी हैं । आप ही इस ध्रुव और परलोकमें समस्त आशाओंके पूरा करनेवाले एक आत्मा हैं । मैंने आपके अपने अनुकूल समझकर ही वरण किया है । मुझे अपने कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें भटकना पड़, इसकी मुझको परवा नहीं है । मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि मैं सदा अपना मन्त्र करनेवालोंका मिया संस्कारम निवृत्त करनेवाले तथा उन्हें अपना स्वरूपतक दे बान्धनेवाले आप परमेश्वरके शरणोंकी शरणमें रहूँ ॥ ४३ ॥ अच्युत ! शत्रुसूदन ! गर्वोंके समान करके बोझा ढोनेवाले, कैर्णोंके समान गृहस्त्रीके व्यापारोंमें जुते रहकर कुछ उठनेवाले, कुर्तोंके समान तिरस्कार सहनवाले, विद्वज्जके सम्मान रूपण और हिसक तथा क्रीत दासोंके सम्मान कीकी सेवा करनेवाले मिथ्यापूज आदि रानालोग, जिन्हें वरण करनेके लिये आपने मुझे संकेत किया है—उसी अम्भगिनी कीके पति हों, जिनके घरानोंमें भगवान् वाङ्मय, ज्ञान आदि खेचरोंकी समामें गायी जानेवासी अपनी स्त्रीकृत्याने प्रवेश नहीं किया है ॥ ४४ ॥ यह मनुष्यका शरीर जीवित होनेपर भी मुदा ही है । ऊपरसे चमड़ी, दाँत-मूँछ, रोएँ, मस और केशोंसे ढका हुआ है, परन्तु इसके भीतर मांस, हड्डी, लून, रीढ़, मूत्र-मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे पड़े हैं । इसे बड़ी सूज ही अपना शिष्यप्रति शिष्यप्रति सेवन करती है, जिसे कभी आपके शरणारविन्दके मकरन्दकी सुगन्ध सूँघनेको नहीं मिली है ॥ ४५ ॥ कर्मजन्य । आप आत्मराम हैं । मैं सुन्धी अपना पुण्यनी हूँ, इन बातों पर आपकी दृष्टि नहीं जाती । अब आपका उपासीन रहना सामाजिक है, फिर भी आपके शरणमन्त्रोंमें मया सुन्द अनुग हो, यही मेरी अभिलाषा है । जब आप इस संसारकी अभिवृद्धिके लिये ठाकट रजोगुण स्वीकार करने मेरी ओर देखते हैं, तब कभी आपका परम अनुग्रह ही है ॥ ४६ ॥ मधुसूदन ! आपन कहा कि मित्री अनुग्रह करके वरण कर ता ! मैं आरुई इस बातको भी हूँ नहीं मालती । क्योंकि कभी-कभी एक पुरुषके द्वारा जीती जानेपर भी कार्यान्वयनी कन्या अम्माय सम्मन मित्री-मित्रीई दूसर पुष्पमें भी प्रीति

व्यूदायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नय नवम् ।

शुभोऽसती न विभ्रयात् तां विभ्रदुभयव्युतः ॥४८॥

श्रीभगवानुवाच

माभ्येतच्छ्रोतुस्त्वमेस्त्व राजपुत्रि प्रलम्बिता ।

मयोदित यदन्वात्थ सर्वं तत् मत्पमेव हि ॥४९॥

यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय भामिनि ।

सन्ति शकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥५०॥

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघ ।

यदाक्षयैश्चात्थमानाया न धीर्मन्यपकर्षिता ॥५१॥

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपमा व्रतचर्याया ।

कामात्मानोऽपवर्गेऽं मोहिता मम मायया ॥५२॥

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गमम्यद

वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् ।

ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां

मात्रममकृत्वाभिरयः सुसंगमः ॥५३॥

दिप्या गृहधर्यसकृन्मयि त्वया

कृतानुषङ्गिर्मवमोचनी स्वलैः ।

रहती है ॥ ४७ ॥ कुछटा कीकर मन तो किछ हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंकी ओर खिचना रहत है । युक्तिमन् पुरुषको चाहिय कि वह एसी कुछ बीछे अपने पास न रखे । उसे अपना नेहघ्न पुरुष बन् और परलोक गनों को पैरना है, उभयपक्ष हो जरा है ॥ ४८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—साध्वी । राजकुमारी । यही बानें सुननेके लिये तो मैंने तुमसे ईसी-ईसीमें तुम्हारी वखना की थी, तुम्हें छक्या था । तुम्हें मेरे कचनोंकी जैसी व्याख्या की है, वह अच्छास सब है ॥ ४९ ॥ सुन्दरी । तुम मेरी अनन्य प्रेमी हो । मेरे प्रति तुम्हारा ब्रह्म प्रेम है । तुम मुझसे जो-जो अभिप्रायों करती हो, वे तो मुझें सदा-सर्वदा प्राप्त हैं । और यह बात भी है कि मुझसे की हुई अभिप्रायों सांसारिक कामनाओंके समान ब्रह्मनमें दाखनेवाली नहीं होती, वल्कि वे समस्त कामनाओंसे मुक्त कर देती हैं ॥ ५० ॥ पुण्यमयी प्रिये ! मैंने तुम्हारा पतिप्रेम और पतिव्रत्य भी मलीमोसि देख लिया । मैंने उन्नी-सीही बात कल-कलकर तुम्हें विचखित करना कहा था, परन्तु तुम्हारी बुद्धि मुझसे तनिक भी इतर-उतर न हुई ॥ ५१ ॥ प्रिये ! मैं मोक्षका खामी हूँ । लोगोंके सत्कार-संगारने पार करवा हूँ । जो सत्काम पुरुष अनेक प्रकारके व्रत और तपस्या करके दाम्पत्य-जीवनके विषय-मुलकी अभिप्रायसे मेरा मदन करते हैं, वे मेरी मायसे मोहित हैं ॥ ५२ ॥ मानिनी प्रिये ! मैं मोक्ष तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंका आश्रय हूँ । अवीचर हूँ । मुझ परमप्रायसे प्राप्त करके भी जो लोग केवल विषय-मुलके साधन सम्पत्तिकी ही अभिप्राय करते हैं, मेरी परामर्श नहीं चाहते, वे बड़े मन्दभाग्यी हैं, क्योंकि विषयमुल तो नरकमें और नरकके ही समान सूकर कूकर आदि योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं । परन्तु उन लोगोंका मन तो विषयोंमें ही लगा रहता है, इस लिये उन्हें नरकमें जाना भी अच्छा जान पड़ता है ॥ ५३ ॥ गृहेश्वरी प्राणप्रिये ! यह बड़ा अनन्दकी बात है कि तुमने अकृतक निरस्तर सत्कार-ब्रह्मनसे मुक्त करनेवाली मेरी सेवा की है । तुम पुरुष ऐसा कभी नहीं कर

सुदुष्करामौ सुतरां दुराश्रितो

दुःसुम्भराया निरुतिजुष स्त्रिया ॥५४॥

न त्वाद्यां प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु

पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकारे ।

प्रासात् नृपानवगणरूप रहोहरो मे

प्रव्यापितो द्विष उपधृतसत्कथस्य ॥५५॥

प्रातुरित्थरूपकरणं युधि निजितस्य

श्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमखगोष्ठ्याम् ।

दु खं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या

नैवाग्रवी किमपि तेन वयं वितास्ते ॥५६॥

दृष्टस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविचिक्तमन्त्र

प्रव्यापितो मयि विरापति शून्यमेतत् ।

मत्वाभिहास इन्मङ्गलमनन्ययोम्य

तिष्ठेत तत्त्वमि वषे प्रतिनन्दयाम ॥५७॥

श्रीगुरु उवाच

ष मौरतर्मलार्पमर्गवाञ्छगदीश्वर ।

रता रमया रम नरलोकं विद्वन्वयन् ॥५८॥

धान्यासामपि विसृष्टेषु गृह्यानिव ।

वामितो गृहमधीयान् धमाछोकगुह्यहरि ॥५९॥

सक्ते । जिन शिष्योंका चित्त दूषित कर्ममात्रसे भरा हुआ है और जो अपनी उन्निर्गोष्ठी वृत्तिमें ही उगी रहनेके कारण अनेकों प्रकारके छल-छन्द रचती रहती हैं,

उनके लिये तो ऐसा करना और भी कठिन है ॥ ५४ ॥

यामिनि । मुझे अपने घरभरमें तुम्हारे समान प्रेम करने वाली भार्या और कोई दिखायी नहीं देती । क्योंकि जिस समय तुमने मुझे देखा न था, केवल मेरी प्रणता सुनी थी, उस समय भी अपने विवाहमें आये हुए

राजाओंकी उपेक्षा करके भाक्षणक द्वारा मेरे पास गुप्त सन्देश भेजा था ॥ ५५ ॥ तुम्हारा हरण करत समय मैंने तुम्हारे मरहूके युद्धमें जीतकर उसे विष्णु कर दिया था और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें चौमार खलते समय बलरामजीने तो उसे मार हा डपन । किन्तु हमसे

वियोग हो जानेकी आशाहृसे तुमने धुपधाप वह सारा दुःख सह लिया । मुझसे एक बात भी नहीं कही ।

तुम्हारे इस गुणसे मैं तुम्हारे क्या डा गया हूँ ॥ ५६ ॥ तुमने मेरी प्राप्ति लिये दूतके द्वारा अपना गुप्त सन्देश भेजा था, परन्तु जब तुमने मर पड़ैघनमें कुछ किन्त्र

होता देखा, तब तुम्हें यह सारा संसार मृना दीखने लगा । उस समय तुमने अपना यह सर्वाङ्गसुन्दर शरीर किसी दूसरेके योग्य न समझकर इसे छोड़नेका सङ्कल्प कर लिया था । तुम्हारा यह प्रेममय तुम्हारे ही अंदर रहे । हम हमका बदल्य नहीं चुक सकते । तुम्हारे इस सर्वोच्च प्रेम-भावका केवल अभिनन्दन करते हैं ॥ ५७ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित । जगदीश्वर भगवान् श्रीहृण्य आत्मराम हैं । वे जब मनुष्योंकी भी लीज कर रहे हैं, तब उसमें दाम्पत्य प्रमद बहानवाले विनोदमे कर्णावध भी परते हैं और इस प्रकार अर्धम-

गपिगी इक्षिमिगीभीके साथ बिहार करते हैं ॥ ५८ ॥ भगवान् श्रीहृण्य ममस्त जगत्पद गिज्ञा दनरमे और सर्वव्यापक हैं । वे इसी प्रकार दूसरी पतिपोक मङ्गलमे भी गृहस्थोंके समान रहते और गृहस्थोपिन धर्मरा

पात्र करते थे ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

शृण्वन्निगीमंशानां नाना पठित्वाऽप्यप ॥ ६० ॥

व्यूढायामपि पुंश्चर्या मनोऽभ्येति नव नवम् ।

वृधोऽसतीं न विमृषात् तां विभ्रदुभयभ्युत ॥४८॥

श्रीभगवानुवाच

साध्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलम्बिता ।

मपोदितं यदन्वात्थ सर्वं सत् सत्यमेव हि ॥४९॥

यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाथ भामिनि ।

सन्ति ब्रह्मन्तभक्तायस्तत्त्व कल्प्याणि नित्यदा ॥५०॥

उपलब्ध पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघ ।

यद्वाक्यैश्चाव्यमानाया न धीर्मन्यपकर्षिता ॥५१॥

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतधर्मया ।

कामात्मानोऽपवर्गेऽं मोहिता मम मायया ॥५२॥

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं

वाञ्छन्ति ये मम्पट एव तत्पतिम् ।

ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां

माश्रमकृत्वाभिरयाः सुसंगम ॥५३॥

दिएषा गृहभयमकृन्मयि स्वया

कृतानुवृत्तिमवमानो खलः ।

रहती है ॥ ४७ ॥ कुलटा लीक मन तो निवृद्ध हो जानपर भी नये-नये पुरुषोंकी ओर लिखना रहत है । मुसिमान् पुरुषको चाहिये कि यह ऐसी कुलटा बनी अपने पास न रखे । उसे अपना नेकल पुरुष मन् और परलोक दोनों को बैठना है, उभयपक्ष हो जय है ॥ ४८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—साध्वी । राजकुमारी । यही बातें सुननेके लिये तो मैंने तुमसे ही-हीमें तुम्हारी बखला की थी, तुम्हें छक्या था । तुमने मेरे बचनोंकी जैसी व्याख्या की है, यह अक्षरशः सत्य है ॥ ४९ ॥ सुन्दरी । तुम मेरी अनन्य प्रेमी हो । मेरे प्रति तुम्हारा अनन्य प्रेम है । तुम मुझसे जो-जो अभिप्रायों करती हो, वे तो तुम्हें सदा-सर्वदा प्राप्त ही हैं । और यह बात भी है कि मुझसे की हुई अभिप्रायों सांसारिक कामनाओंके समान बन्धनमें बाँधनेवाली नहीं होती, बल्कि वे समस्त कामनाओंसे मुक्त कर देती हैं ॥ ५० ॥ पुण्यम्मी प्रिये । मैंने तुम्हारा पतिप्रेम और पतिव्रत्य भी मन्वीमोति देख लिया । मैंने लक्ष्मी-सीसे बात कही-कहकर तुम्हें विचित्रित करना चाहा था, परन्तु तुम्हारी बुद्धि मुझसे तनिक भी इधर-उधर न हुई ॥ ५१ ॥ प्रिये । मैं मोक्षकृत्त्वामी हूँ । लोगोंको संसार-सागरसे पार करता हूँ । जो सत्तम पुरुष जेके प्रकाशके अन् और तपस्या करके दाम्पत्य-जीवनके विषय-मुल्लङ्घन अभिप्रायसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरी मायासे मोहित हैं ॥ ५२ ॥ मानिनी प्रिये । मैं मोक्ष तथा सम्पूर्ण सम्पत्तियोंका आश्रय हूँ, अक्षीकर हूँ । मुझ परमप्रेमके प्राप्त करके भी जो लोग केवल विषय-मुल्लङ्घन सम्पत्तिकी ही अभिप्राय करते हैं, मेरी परमप्रेम नहीं चाहते वे मन् मन्दभाग्य हैं, क्योंकि नियमसुख तो मरकमें और मरकके ही मन्मत्त सुख कूपर आदि यानियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं । परन्तु उन लोगोंका मन तो विषयोंमें ही व्याप्त रहता है, इसलिये उन्हें मरकमें जाना भी अच्छा जान पड़ता है ॥ ५३ ॥ गृहघरी प्राणप्रिये । यह बड़ आनन्दकी बात है कि तुमने अक्षर-निरक्षर संसार-अन्धनसे मुक्त करनेकी मेरी सेवा की है । दुष्ट पुरुष ऐसा कभी नहीं कर

सुदुष्कराणौ सुतरां दुराश्रितौ

असुम्भराया निकृतिरुष स्त्रिया ॥५४॥

न त्वाह्वीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु

पश्यामि मानिनि यथा स्वविवाहकाले ।

प्राप्तान् नृपान्त्वगणेषु रहोहरो मे

प्रस्थापितो द्वित्र उपभृतसत्कथस्य ॥५५॥

आतुर्विरूपकरणं युधि निजितस्य

प्रोद्वाहपर्वणि च तद्रथमङ्गगोष्ठ्याम् ।

दु त्व सद्युत्थमसहोऽसदयोगभीत्या

नैराग्रवीः किमपि तेन वर्यं जितास्ते ॥५६॥

दूतस्त्वयाऽऽत्मकमने मुविचिकमन्त्रः

प्रस्थापितो मयि शिरायति गृन्थमेवत् ।

मत्वाग्निहाम इदमङ्गमनन्ययोग्य

सिष्ठत तत्रापि वयं प्रतिनन्दयाम ॥५७॥

भीगुः उवाच

एव मौरतर्मलार्पर्मगवाङ्गगदीश्वर ।

स्वराता रमया रम नरत्वाकं विहम्बयन् ॥५८॥

तथान्ध्यामामपि विमुग्धेषु गृहवानिष ।

आश्रितो गृहमधीयान् धमाश्लाकगुरुहरि ॥५९॥ पात्रं कृत ये ॥ ५९ ॥

सकते । जिन श्रियोका वित्त दूषित कामनाओंसे भरा हुआ है और जो अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगी रहनेके कारण अनेकों प्रकारके छत्र-छन्द रक्षणी रहती है, उनके लिये तो ऐसा करना और भी कठिन है ॥ ५४ ॥ मानिनि । मुझे अपने घरमरमें तुम्हारे सम्मन प्रेम करने वाली भार्या और कोई दिखायी नहीं देती । क्योंकि जिस समय तुमने मुझे देखा न था, केवल मेरी प्रशंसा सुनी थी, उस समय भी अपने विवाहमें आये हुए राजाजैकी उपेक्षा करके ब्राह्मणके द्वारा मेरे पास गुप्त सुन्देश भेजा था ॥ ५५ ॥ तुम्हारा हरण करत समय मैंने तुम्हारे माह्वी युद्धमें जीतकर उसे विरूप कर दिया था और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें जाकर लड़ते समय वस्त्रप्रवीने तो उसे मार हा डाला । किन्तु हमसे क्रियोग हो जानेकी आशङ्कासे तुमने चुपचाप यह सारा दुःख सह लिया । मुझसे एक बात भी नहीं कही । तुम्हारे इस गुणसे मैं तुम्हारे बरा बरा गया हूँ ॥ ५६ ॥ तुमने मेरी प्राप्तिके लिये दूतके द्वारा अपना गुप्त सुन्देश भेजा था, परन्तु जब तुमने मेरे पहुँचनेमें कुछ क्रिय्य हाता देखा, तब तुम्हें यह सारा संसार मृता दीप्ति लया । उस समय तुमने अपना यह सर्वाङ्गसुन्दर गरि कित्ती दूसरेके योग्य न समझकर इसे ध्वेनेका मङ्गल्य कर लिया था । तुम्हारा यह प्रमत्ताव तुम्हारे ही अन्तर रहे । हम इसका बन्धा नहीं चुक सकते । तुम्हारे इन सर्वोच्च प्रम-भावका केवल अभिनन्दन करते हैं ॥ ५७ ॥

भीगुः उवाच । जगदीश्वर

भगवान् भीष्ट्या आत्माराम है । ये जब मनुष्योंकी मीठी बात कर रहे हैं, तब उनमें दास्य-प्रमत्ताव बगनबान्ने विनोदमे कर्त्तव्यता भी करते हैं और हम प्रकार कर्म-ग्यपिगी इक्षिमिगीवीक साथ बिहार करते हैं ॥ ५८ ॥

भगवान् भीष्ट्या ममत्ताव जगत्परा पिशा दनराजे और सर्वप्याक है । ये इसी प्रकार दूसरी पक्षियोंके मङ्गलमें भी गृहस्थोंके समान रहते और गृहस्थोंके भयान

इति श्रीभद्रागते महापुराणे वारमहर्ष्या संहितायां दृग्मस्कन्ध उत्तरपर्वे

इच्छन्तिनर्गिर्महात्मानं मानं पठित्वाऽप्यय ॥ ६० ॥

अथैकषष्टितमोऽध्यायः

भगवान्की स्तुतिकर वर्णन तथा अनिन्द्यके विवाहमें रुक्मजीका मारा जाना

श्रीशुक उवाच

एकैकशता कृष्णस्य पुत्रान् दश दशषालाः ।

अजीजनन्ननवमान्पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥ १ ॥

गृह्णादनपरां वीर्य्य राजपुत्र्योऽप्युतं स्त्रियम् ।

प्रपुं न्यमंसतं स्वं स्व न वचत्त्वविदः स्त्रिय ॥ २ ॥

चार्ध्वञ्जकोषवदनायसबाहुनेत्र

सप्रमहासरसवीक्षितवल्गुबन्धै ।

सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेषुं

स्वैर्विभ्रमैः समञ्जकन् धनिता विभूषः ॥ ३ ॥

सायावलोकलवदक्षितभावहारि

भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।

पत्न्यस्तु पौडशसहस्रमनङ्गबाणै-

र्येस्तेन्द्रिय विमथितुं करणैर्न श्रेष्ठः ॥ ४ ॥

इत्थ रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता

महादयाऽपि न विदुः पदवीं यनीयाम् ।

मेतुर्मुदाविरतमेधितयातुराग-

हासावलोकनवसङ्गमलालसाधम् ॥ ५ ॥

प्रत्युद्गमासनवराहणपादश्रीच-

ताम्पूलविधमणवीजनगन्धमाल्यै ।

श्रीशुकदेवजी कहत हैं—परीक्षित् ! भगवान्

श्रीकृष्णकी प्रत्येक पत्नीके गर्भसे दस-दस पुत्र उत्पन्न

हूए । वे रूप, बल आदि गुणोंमें अपन पिता भगवान्

श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम न थे ॥ १ ॥ रामकृष्णरिषे

देखतीं कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे मूँहसे कमी बहर

नहीं जाते । सदा हमारे ही पास बने रहते ॥ इससे वे

यही सम्झतीं कि श्रीकृष्णको मैं ही सबसे प्यारी हूँ ।

परीक्षित् ! सब पूछे तो वे अपने पति भगवान् श्रीकृष्ण-

का तत्त्व—उनकी महिमा नहीं समझनी थी ॥ २ ॥ वे

सुन्दरियों अपने आत्मानन्दमें एकरस स्थित भगवान्

श्रीकृष्णके कमल-कलीके समान सुन्दर मुख, विशाल

बाहु, कण्ठस्पर्शी नेत्र, प्रेमभरी मुसकान, रसमयी चितवन

और मधुर बाणीसे सब ही मोहित रहती थीं । वे अपने

शृङ्गारसम्बन्धी शायमणोंसे उनके मनको अपनी ओर

खींचनेमें सफल न हो सकीं ॥ ३ ॥ वे सोचते हृदयसे

अधिक थी । अपनी मन्द-मन्द मुसकान और ठिठ्ठी

चितवनसे मुक्त मनोहर मौखिक इशारेसे ऐसे प्रेम्के बाज

चलती थी जो काम-कलाके माणोंसे परिपूर्ण होते थे ।

परन्तु किसी भी प्रकारसे, किन्हीं साधनोंके द्वारा वे भगवान्के

मन एवं इन्द्रियोंमें खल्लस्ता नहीं उत्पन्न कर सकीं ॥ ४ ॥

परीक्षित् ! जसा आदि बड़-बड़े देवता भी भगवान्के

वास्तविक स्वरूपको या उनकी प्राप्तिके मागको नहीं

जानते । उनकी रमरमण भगवान् श्रीकृष्णको उन स्त्रियोंने

पतिके रूपमें प्राप्त किया था । जब नित्य निरन्तर उनके

प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि होती रहती थी और वे

प्रमथी मुसकराहट, मधुर चितवन, नयनमागमकी सम्पदा

आदिसे भगवान्की सेवा करती रहती थीं ॥ ५ ॥ उनमें

सभी पक्षियोंके साथ सेवा करनेके दिव्य सौकरों दासियों

रहतीं । फिर भी जब उनके महनमें भगवान् पधारत

तब य सब आगे जाकर आरम्भक उन्में उभा खाली,

श्रेष्ठ आनन्दपर बैठतीं, उत्तम सामर्थ्योंसे उनकी पूजा

केन्द्रप्रसारशयनरूपनोपहार्यै-

दासीशया अपि विभोर्विदधुः सा दासम् ॥ ६ ॥

तोसां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिता ।

अष्टौ महिषस्तत्पुत्रान् प्रमुखादीन् गृणामि ते ॥ ७ ॥

चारुदेष्वा सुदेष्मश्च चारुदेहश्च धीर्यवान् ।

सुचारुवारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापर ॥ ८ ॥

चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरे ।

प्रमुत्रप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नाभ्याः पितु ॥ ९ ॥

भानु सुभानुः स्वर्मानुः प्रभानुर्भानुर्मास्तवा ।

चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टम ॥ १० ॥

भीमानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश ।

साम्ब सुमित्रः पुरुजिच्छतविजिह्वसहस्रजित् ॥ ११ ॥

विजयविज्रकेतुश्च वसुमान् द्रविडः क्रतुः ।

जाम्बवत्याः सुता सते साम्नायाः पितृसंमता ॥ १२ ॥

वीरबन्धोऽश्वसेनश्च विप्रगुर्वेगवान् द्वय ।

असः शक्रवर्षुः भीमान् कृन्तिर्नामजितेः सुता ॥ १३ ॥

श्रुत कविर्द्वयो वीर सुबाहुर्मद्र एकलः ।

श्रान्तिर्दर्शः पूर्णमास कालिन्या सोमकोऽवरः ॥ १४ ॥

प्रधोपो गात्रवान्सिंहो बल प्रबल ऊर्ध्वग ।

मात्रया पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजित ॥ १५ ॥

हृको ह्योऽनिलो गृध्रो वर्षनोऽबाध एव च ।

महाशः पशवना वक्षिर्मित्रविन्द्यात्मजा क्षुधि ॥ १६ ॥

संप्रामक्षिष्वृहत्सेन शूर प्रहरणोऽरिजित् ।

जय सुभद्रा भद्राया वाम आयुध सत्यक ॥ १७ ॥

दीप्तिमांस्तार्क्ष्येताया राक्षस्यास्तनया हरेः ।

प्रमुखावानिरुद्धोऽमृतकम्बवत्यां महाबल ॥ १८ ॥

करती, धरणकमल पखारती, पान लगाकर खिजाती, पौष दयाकर बज्रकट दूर करती, पंखा झलती, इन फुल्ले, चन्दन आदि लगाती, फूलोंके द्वार पहनाती, केश सँभारती, सुखनी, स्नान कराती और अनेक प्रकार के भोजन कराकर अपने हाथों भगवान्की सेवा करती ॥ ६ ॥

परीक्षित । मैं कह चुका हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णकी प्रत्येक पत्नीके दस-दस पुत्र थे । उन रानियोंमें आठ पररानियों थीं, जिनके बिवाहका वनन मैं पहले कर चुका हूँ । अब उनके प्रपुत्र आदि पुत्रोंका वर्णन करता हूँ ॥ ७ ॥ रुक्मिणीके गर्भसे दस पुत्र हुए—प्रमुत्र, चारुदेष्वा, सुदेष्वा, पराक्ष्मी चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और दसवीं चारु । ये अपनपिता भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम न थे ॥ ८ ॥ सत्यभामाके भी दस पुत्र थे—भानु, सुभानु, स्वर्मानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, भीमानु और प्रतिभानु । जाम्बवतीके भी साम्ब आदि दस पुत्र थे—साम्ब, सुमित्र, पुरुजित् वनजित् सहस्रजित्, विजय, विज्रकेतु, वसुमान्, द्रविड और क्रतु । ये सब श्रीकृष्णको बहुत प्यारे थे ॥ १०-१२ ॥ नामजित् सत्याके भी दस पुत्र हुए—वीर, चन्द्र, अश्वसेन, विष्णु, केवलान्, हय, अस, शङ्ख, श्व और परम तेजस्वी कुम्भित ॥ १३ ॥ कालिन्दीके दस पुत्र थे थे—श्रुत, कवि, हय, वीर, सुबाहु, श्व, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सबसे छोटा सोमक ॥ १४ ॥ मद्रदेवकी राजकुमारी लक्ष्मणाके गर्भसे प्रधोप, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, बोन और अपराजित-का जन्म हुआ ॥ १५ ॥ मित्रविन्द्याके पुत्र थे—हृक, हय, अनिल, गृध्र, वनन अमरद महाश पशव, वक्षि और क्षुधि ॥ १६ ॥ मद्राके पुत्र थे—संप्रामजित्, वृहत्सेन शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम, आयु और सत्यक ॥ १७ ॥ इन पररानियोंके अतिरिक्त भगवान्की रोहिणी आदि सौत्यह हजार एक सौ और भी पत्नियाँ थीं । उसके दीप्तिमन् और तार्क्ष्य आदि दस-दस पुत्र हुए । रुक्मिणीनन्दन प्रमुक्ता मायावती

पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन् नास्ती भोजकटे पुर ।

एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः क्रोडिशो वृष ।

मातर कृष्णबाह्वानां सहस्राणि च पोटश ॥१९॥

राजोवाच

कथं रुक्मपरिप्रायं प्रादाद् दुहितरं युधि ।

कृष्णेन परिमूर्तं हन्तुं रघुं प्रतीक्षते ।

एतदास्याहि मे विदन् द्विपोर्वैवाहिकं मिथ ॥२०॥

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।

विप्रकृष्टं व्यबहितं सम्पक् पश्यन्ति योगिनः ॥२१॥

भीशुक उवाच

इतं मयं वरं साक्षादनज्जेज्जगुत्तमा ।

राघं समतान् निजित्य जहारैकरथो युधि ॥२२॥

यद्यप्यनुष्मरन् किं रुक्मी कृष्णावमानित ।

अप्यतरद् भागिनेयाय मुतां दुर्वन् स्वसु प्रियम् ॥२३॥

रुक्मिण्यान्तनयां राजन् कृतधर्मयुतो बली ।

उपयेम विद्यालक्ष्मीं कन्यां आरुमतीं किल ॥२४॥

रतिके अतिरिक्त भोजकट-नगरनिवासी रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीसे भी विवाह हुआ था । उसीके गर्भसे परम वध्याकी अनिरुद्धका जन्म हुआ । परीक्षित ! श्रीकृष्णके पुत्रोंकी माताएँ ही सोख्य हजारसे अधिक थीं । इसलिये उनके पुत्र-पौत्रोंकी संख्या करोड़ोंतक पहुँच गयी ॥ १८-१९ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—परम ज्ञानी मुनीश्वर ! मगधान् श्रीकृष्णने रणभूमिमें रुक्मीका बड़ा निरक्षर किया था । इसलिये वह सदा इस बातकी धातने रहता था कि कबसर मिलते ही श्रीकृष्णसे उसका बदला ले और उनका काम समाप्त कर डाले । ऐसी स्थितिमें उसने अपनी कन्या रुक्मवती अपने शत्रुके पुत्र प्रद्युम्नकीको कैसे प्यार दी ? क्या करके करताह्ये ! दो शत्रुओंमें—श्रीकृष्ण और रुक्मीमें फिरसे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध कैसे हुआ ? ॥ २० ॥ आपसे कोई बात छिपी नहीं है । क्योंकि योगीजन मृत, मविष्य और वर्तमानकी सभी बातें समीचीनतासे जानते हैं । उनसे ऐसी बातें भी छिपी नहीं रहती, जो इन्द्रियोंसे परे हैं, बहुत दूर हैं अथवा बीचमें किसी वस्तुकी आड़ होनेके कारण नहीं दीखती ॥ २१ ॥

भीशुकवेचारी कहते हैं—परीक्षित ! प्रद्युम्नकीमूर्ति मान् कर्मदेव थे । उसके सौन्दर्य और गुणोंपर शिक्कर रुक्मवतीने स्वयंवरमें उन्हींका चयनमा पटना दी । प्रद्युम्नकीने युद्धमें अकेले ही चारों एकट्टे हुए नरसिंहोंके जीत लिया और रुक्मवतीको हर लाये ॥ २२ ॥ यद्यपि मगधान् श्रीकृष्णसे अपमानित होनेके कारण रुक्मीके दुष्परी कोषामि शाप्त नहीं हुई थी वह अब भी उनसे बैर नहीं छोड़े हुए था, फिर भी अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपने भागज प्रद्युम्नको अपनी बेटी प्यार दी ॥ २३ ॥ परीक्षित ! इस पुत्रोंके अनिरिक्त रुक्मिणीकीके एक परम सुन्दरी बड़-बड़ नरोंकी कन्या थी । उसका नाम था आरुमती । एतदर्थके पुत्र कीज उनके माथ बिगाह किया ॥ २४ ॥

१ कट्टे । २ प्राचीन मतिमें इत-स्वयंवर - 'रथो युधि' पर आइ बधयनुस्मरन् - 'इत लेनी' कहते हैं ।

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्री रुक्म्यदटादरेः ।

रोचनां वद्वर्षरोऽपि मृतुः प्रियचिकीर्षया ।

जानभधर्मं तद् मौन स्नेहपात्रानुबन्धन ॥२५॥

तस्मिन्मृदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ ।

पुरं भोजकं जग्मु माम्प्रसूतकदयः ॥२६॥

तस्मिन् निवृत्त उद्वाह कालिङ्गप्रभुत्वा नृपा ।

श्मास्ते रुक्मिण प्रोषुर्बलमधैर्दिनिर्धय ॥२७॥

अनघन्नो ह्ययं राजभपि सद्भ्यसनं महत् ।

इत्युक्तो षलमाहूय तेनार्धं रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥

क्षत सहस्रमयुत रामस्तत्राददे पणम् ।

त तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्ग ग्राहसद् षलम् ।

दन्वान् संदंष्टयन्तुर्चैनस्मिन्पञ्चदशलायुधः ॥२९॥

ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद् षलः ।

वितवानहमिस्पाह रुक्मी कैतवमाभित ॥३०॥

मन्युना क्षुभित भीमान् समुद्र इव पर्वणि ।

भात्यारुणाधोऽतिरुपा न्यर्षुद म्लहमाददे ॥३१॥

त चापि वितवान् रामो धर्मेणच्छलमाभित ।

रुक्मी जितं मयात्रमे वदन्तु प्राप्तिरिति ॥३२॥

तदाश्ववीमभोषाणी बलेनैव जितो ग्लहः ।

परीक्षित् । रुक्मीका भगवान् श्रीहृष्यके साथ पुराना पैर था । फिर भी अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपनी पौत्री रोचनाका विवाह रुक्मिणीके पौत्र, अपने माती (दौहित्र) अनिरुद्धक साथ कर दिया । यद्यपि रुक्मीको इस बातका पता था कि इस प्रकारका विवाह-सम्बन्ध धर्मके अनुकूल नहीं है, फिर भी स्नेह-बन्धनमें बँधकर उसने ऐसा कर दिया ॥ २५ ॥ परीक्षित् । अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये भगवान् श्रीहृष्य, बलरामजी, रुक्मिणीजी, प्रद्युम्न, साम्ब आदि द्वारकावासी भोजकट नगरमें पधारे ॥ २६ ॥ जब विवाहोत्सव निर्विश्र समाप्त हो गया, तब कलिङ्गनरेश आदि धमडी नरपत्नियोंने रुक्मीसे कहा कि धूम बलरामजीको पासके खेलमें नीत हो ॥ २७ ॥ राजन् । बलरामजीको पासे डालने ता आते नहीं, परन्तु उन्हें खेलनेका बहुत बड़ा व्यस्तन है । उन लोगोंके कहकामेसे रुक्मीने बलरामजीको बुलवाया और वह उनके साथ चीसर खेलने लगा ॥ २८ ॥ बलरामजीने पहले सौ, फिर हजार और इसके बाद दस हजार मुहरोंका दौंव खेलाया । उन्हें रुक्मीने नीत लिया । रुक्मीकी नीत होनपर कलिङ्गनरेश दौंत दिखा-दिखाकर, टकाकर मार कर बलरामजीकी हँसी उड़ाने लगा । बलरामजीसे वह हँसी सहन न हुई । वे कुछ चिढ़ गये ॥ २९ ॥ इसके बाद रुक्मीने एक लाख मुहरोंका दौंव खेलाया । उसे बलरामजीने नीत लिया । परन्तु रुक्मी घृत्तासे यह कहने लगा कि 'मैंने जीता है' ॥ ३० ॥ इसपर भीमान् बलरामजी क्रोधसे निःशब्द ठठे । उनके हृदयमें इतना क्षोभ हुआ, मानो पूर्णिमाके दिन समुद्रमें सार जा गया हो । उनके नेत्र एक ता खमाबसे हो लाल-लाल हो, दूसरे अत्यन्त क्रोधके मारे वे और भी दहक ठठे । जब उन्होंने दस करोड़ मुहरोंका दौंव रक्खा ॥ ३१ ॥ इस बार भी बलरामजीने नीत किया । परन्तु रुक्मीने हल करके कहा—'मेरी जीत है । इस विजयके विशेषतः कलिङ्गनरेश आदि समासद् इसका निर्णय कर दें ॥ ३२ ॥ उस समय आकाशवाणीने कहा—'यदि धर्मपूषक कहा जाय, तो बलरामजीने ही यह जीत जीता

धर्मतो वचनेनैव श्रमो वदति नै मृषा ॥३३॥

तामानाद्यन्य वेदभो दुष्टगज्जन्वदितः ।

महर्षिण परिहसन् वभाषे काठचोदितः ॥३४॥

नैवाश्वमेविदा युष्म गोपाला वनगोचराः ।

अर्धैर्दीव्यन्ति राजानो बर्ह्येष न भवाद्यथाः ॥३५॥

रुक्मिण्यैवमधिष्ठितो राजमिवापहासितः ।

हृद्द परिब्रष्टव्यम्य जघ्ने तं नृस्यससदि ॥३६॥

अतिहृत्तरां तत्मा गृहीत्वा दशमे पदे ।

दन्वानपातयत् हृद्दो योऽहस्य विवृतेद्विजै ॥३७॥

अन्ने निर्मिषणाहृद्विरसा रुक्मिणोद्विताः ।

रावाना दुद्रुष्टर्भिता बलेन परिघार्जिता ॥३८॥

निहते रुक्मिणि स्थाळे नास्मीत् साध्वनस्तथा ।

रुक्मिणीवत्तयो राखन् स्नेहमङ्गमवाधरि ॥३९॥

ततोऽनिरुद्धं सह चर्यया परं

रथं ममारोप्य वधुः कुशकस्तीम् ।

रामदया भोजकृष्टाद् दण्डार्हा

मिद्वानिलार्था मयुखदनाधया ॥४०॥

है । रुक्मीका यह कहना सत्यतर हट है कि उसने जीता है ॥३३॥ एक तो रुक्मीके सिरपर पैर रख

थी और दूसरे उसके साथी दुष्ट राजाओंने भी उसे उ

पहास स्वका क । इससे उसने आकाशवाणीपर क्रोध फैल

न दिया और बभ्रुवामकीसी हँसी उठाते हुए कहा—॥३४॥

‘बभ्रुवामजी ! आश्विर आपलोग बन-वन भटकनेसे

गाले ही तो टहरे ! आप पासा खेचना क्या बाने !

पासों और बाणोंसे तो केवल राजाओं ही खेज करते

हैं आप-जैसे नहीं’ ॥३५॥ रुक्मीके इस प्रकार कोप

और राजाओंके उपहास करनेपर बभ्रुवामजी कोसे

बाणबर्षा हो उठे । उन्होंने एक सुदार उद्यम और

उस महाशक्ति समामें ही रुक्मीके मार बाध ॥३६॥

पहले कश्मिण्मरेश दौल दिख-दिखाकर हँस्ता क, जब

रामें भी देखकर वहसि भागा, परन्तु बभ्रुवामजीने दस

ही कदमर उसे पकड़ लिया और ओपसे उसके दौल

नोक काटे ॥३७॥ बभ्रुवामजीने अपने मुँहकी चोटसे

दुसरे राजाओंकी भी जीह, जीघ और सिर आदि लोक

नोक काटे । वे खूबसे क्षयप और मयसित होकर

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्त्ये संहितायां दशमस्कन्धे उक्ताः

अनिरुद्धविषादे रुक्मिणया नामैक्यद्विष्टोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्विपठितमोऽध्यायः

अथ अनिरुद्धमिश्रः

राजोपायः

राजा परीक्षितं पूर्य—प्राप्यगम्यक मुनीवर ।

यामल वनयाम्प्राप्तपेये यदुपमाः ।

येन ह्ना है नि यदुर्बसशिशोमणि अनिरुद्धजीने यामासु-

तत्र युद्धममूह घोरं हरिश्चक्रयोर्महत् ।

एतत् सप्त महायोगिन् समाख्यातु त्वमर्हसि ॥ १ ॥

श्रीगुरु उवाच

बाण पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मन ।

येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी ॥ २ ॥

तत्सौरस सुतो बल शिवभक्तिरत सदा ।

मान्यो वदान्यो धीमान् सत्यसंधो दृढव्रतः ॥ ३ ॥

शोणितान्ध्रे पुरे रम्ये स राज्यमकरोत् पुरा ।

तस्य शम्भो प्रसादेन किंकरा इव तेऽमराः ।

सहस्रबाहुर्बाधेन ताण्डवेऽतोपयन्मुहम् ॥ ४ ॥

भगवान् सर्वभूतेश शरण्यो भक्तवत्सल ।

वरेण्येष्टन्यामास स त वप्रे पुराधिपम् ॥ ५ ॥

स गच्छाऽऽह गिरिष्ठ पार्थस्य वीर्यदुर्मद ।

किरीटनार्कवर्णेन सस्पृशन्तत्पदाम्बुजम् ॥ ६ ॥

नमस्ये त्वां महादय लाकानां गुरुमीश्वरम् ।

पुणामपूजकामानां कामपूजमराद्ग्रिपम् ॥ ७ ॥

दोम्बहस्त स्वया दत्त पर भाराय मऽभयम् ।

त्रिलास्यां प्रतिपादार्त्तं न रे मे त्वदत्त समम् ॥ ८ ॥

की पुत्री ऊषासे विवाह किया था और इस प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्ण और बाहुरजीका बहुत बड़ा वमासान युद्ध हुआ था । आप कृपा करके यह वृत्तान्त विस्तारसे सुनाइये ॥ १ ॥

श्रीगुरुदेवधीम वक्ता—परीक्षित ! महात्मा बलिकी वक्ता तो हम सुन ही चुके हो । उन्होंने वामनरूपधारी भगवान्को सारी पृथ्वीका दान कर दिया था । उनके सौ लड़के थे । उनमें सबसे बड़ा था बाणासुर ॥ २ ॥ दैत्यराज बलिकी औरस पुत्र बाणासुर भगवान् शिवकी भक्तिमें सदा रत रहता था । सम्पन्नमें उसका बड़ा आदर था । उसकी उदारता और शुद्धिमत्ता प्रशंसनीय थी । उसकी प्रतिष्ठा अटल होती थी और सचमुच वह बलका धनी था ॥ ३ ॥ उन पितां का परम रमणीय शोणितपुरमें राज्य करता था । भगवान् बाहुरकी कृपासे इन्द्राग्नि देवता नीकर-वाकरकी तरह उसकी सेवा करते थे । उसने हजार मुनार्थें थीं । एक दिन जब भगवान् बाहुर ताण्डवराज्य कर रहे थे, तब उसने अपने हजार हाथोंसे अनेकों प्रकारके बाजे बनाकर उन्हें प्रसन्न कर लिया । सचमुच भगवान् बाहुर वड़े ही भक्तकसल और शरणागतप्रक हैं । समस्त भूतोंके एकमात्र स्वामी प्रभुने बाणासुरसे कहा—‘‘भगवन् ! आप यह नगरकी रक्षा करते हुए यहीं रहा करें’ ॥ ५ ॥

एक दिन बल-वीररूप वमडमें भूर बाणासुरन अपने समीप ही स्थित भगवान् बाहुरके चरणकमलोंको स्पर्श समान कमकीये मुकुटसे छुन्न प्रणाम किया और कहा—॥ ६ ॥ ‘‘देवादिदेव ! आप ममस्त चरणर जगत्प गुरु और इश्वर हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । त्रिन लागोंके मनोरथ अवनक पूरे नहीं हुए हैं, उनका पूरा करनेके लिये आप कृपावृत्त हैं ॥ ७ ॥ भगवन् ! आपन मुझ एक हजार मुनार्थें भी हैं, परन्तु वे मेरे लिये कष्ट भररूप हैं गरी हैं । क्योंकि त्रिपादमें आरकी छाहकर मुझ जमी बगवतीका काम शीर-यादा ही नहीं मिता,

कण्ट्या निमृत्तदोभिर्पुत्सुर्दिग्गजानहम् ।

आघामां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रबुधुषु ॥ ९ ॥

तन्मृत्वा भगवान् कृद् केतुस्ते भन्यते यदा ।

त्वर्ध्पन्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्सयेन ते ॥ १० ॥

इत्युक्तं कुमविर्हृष्ट स्वगृह प्राविशन्मृष ।

प्रतीक्षन् गिरिखादेशं स्ववीर्यनशनं कृषी ॥ ११ ॥

तसोपा नाम दुहिता स्वमे प्राप्नुजिना रविम् ।

कन्यालभत कान्तेन प्रगाष्टभुतेन सा ॥ १२ ॥

मा तत्र तमपश्यन्ती कासि कान्तेति वादिनी ।

सन्वीनां मध्य उच्यसौ बिह्वला ग्रीविता मृगम् ॥ १३ ॥

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता ।

मत्स्यपृच्छत मखीमृपां कौतूहलमन्विता ॥ १४ ॥

कं त्वं मृगयसं सुम् क्रीड्यस्त मनारथ ।

हन्तग्राहं न तऽद्यापि राजपुत्र ॥ १५ ॥

उपोष्य

एत कविभर मम

पौतामा २०५

जो मुझसे लड़ सके ॥ ८ ॥ आदिदेव ! एक बार मेरी बाहोंमें खम्बेके लिये इतनी खुशमन होई कि मैं दिग्गर्भकी ओर चला । परन्तु वे भी बरके मर मग खड़े हुए । उस समय मार्गमें अपनी बाहोंकी कटसे मेने बहुत-से पहाड़ोंको तोड़-फोड़ डाला था ॥ ९ ॥ बाणासुरकी यह प्रार्थना सुनकर भगवान् शङ्करने तनिक श्रोषसे कहा—ये मूढ़ ! जिस समय तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायगी, उस समय मेरे ही समान योद्धासे तेरा मुँह होगा और वह मुँह तेरा घमंड चूर चूर कर देगा ॥ १० ॥ परीक्षित ! बाणासुरकी मुझि इतनी बिगड़ गयी थी कि भगवान् शङ्करकी बात सुनकर उसे बड़ा हर्ष हुआ और वह अपने घर लौट गया । जब वह मूर्ख मगवान् शङ्करके आदेशानुसार उस युद्धकी प्रतीक्षा करने लगा, जिसमें उसके बल-वीर्यका नाश होनेवाला था ॥ ११ ॥

परीक्षित ! बाणासुरकी एक कन्या थी, उसका नाम था उपा । अभी वह कुम्भी ही थी कि एक दिन खजनेमें उसने देखा कि 'परम सुन्दर अनिरुद्धजीके साथ मेरा सम्बन्ध हो रहा है ।' आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उसने अनिरुद्धजीको न तो कभी देखा था और न सुना ही था ॥ १२ ॥ खजनेमें ही उन्हें न देखकर वह बोझ ठही—'प्राणप्यारे ! तुम कहाँ हो ?' और उसकी नीट टूट गयी । वह अत्यन्त विह्वलताके साथ उठ बैठी और यह देखकर कि मैं सखियोंके बीचमें हूँ, बहुत ही मन्त्रित हुई ॥ १३ ॥ परीक्षित ! बाणासुरका मन्त्रीका नाम था कुम्भाण्ड । उसकी एक कन्या थी, जिसका नाम था चित्रलेखा । उपा और चित्रलेखा एक-दूसरेकी सखियों थीं । चित्रलेखाने उपासे कन्याहलकरी पूछा—॥ १४ ॥ 'सुन्दरी ! राजकुमारी ! मैं देखती हूँ कि अभीतर किसीने तुम्हारा पाणिग्रहण भी नहीं किया है । तब तुम किसे ?' तो तो और तुम्हारे मनारथका क्या मतलब है ? ॥ १५ ॥

सुन्दर	सखी 'मिने खजनेमें एक मरत ही देखा है । उम	२०
सौवय	। नेत्र बमलगा	२ ।
गरीश्वर	ग्रीवाभर पद्मग	गुमारे
	गौरवविद्य	१५॥

तमहं मृगये क्रान्तं पाययित्वाधरं मधु ।

वापि यत् सृष्टयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णव ॥१७॥

चित्रलेखाया

व्यसतं वेऽपकरोमि त्रिलोक्यां यदि भाष्यते ।

तमानेष्वे नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥१८॥

इत्युक्त्या दवगाधवमिद्विधारणपञ्चगान् ।

ईत्पविद्याधरान् यस्मान् मनुजान् यथालिखत् ॥१९॥

मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम् ।

व्यलिरजद्रु रामकृष्णां च प्रपुष्पं वीक्ष्य लज्जिता ॥२०॥

अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योपाधाद्युखी हि या ।

मोऽसावमाविति प्राह स्मयमाना महीपत ॥२१॥

चित्रलेखा तमाप्राय पौत्रं कृष्णस्य यागिनी ।

ययां विहायमा राजन् द्वावकां कृष्णपानिनाम् ॥२२॥

तत्र सुप्तं सुपयद्मे प्रापुमिन् यागमाश्रिता ।

गृहान्वा गाणितपुं मर्ष्यं त्रिपमदधयन् ॥२३॥

मा य तं सुन्दरं विनाक्य मृत्तानना ।

इत्यस्य श्वगृहं पुंभी रम प्रापुमिन्ना ममम् ॥२४॥

१. मेवमम् ।

उसत पढ़े तो अपने अवरोधा मधुर मधु मुझे
विनया परन्तु मैं उसे अवाकर पी ही न पायी पी
कि वह मुझे दू लके मागमें दृष्ट्यन न जाने वहाँ
चत्र गया । मैं नरमनी ही रह गयी । सखी ! मैं अपने
उसी प्राणकर्मकर बूढ़ रही हूँ ॥ १७ ॥

चित्रलेखान कथा—सम्प्री । यन्नि तुम्हारा चित्रचार
त्रिलोकीमें वही भी होगा, और उसे तुम पक्ष्वात सखी,
तां मैं तुम्हारी निगृह्यवा अवश्य शान्त पत्र दूँगी । मैं
चित्र वनाती हूँ, तुम अपन चित्रचार प्राणकर्मकर
पक्ष्वातकर कथा दा । फिर वह चाह कही भी होगा,
मैं उसे तुम्हारे पास ले आऊँगी ॥ १८ ॥ यों कलकल
चित्रलेखाने धान की-धानमें बहुत-से नक्का गन्धर्व, मिद,
वारण, पञ्चा, नैय, विषाधर, पञ्च और मनुष्योंक चित्र
यना लिये ॥ १९ ॥ मनुष्योंमें उसने वृगिबन्धी वसुध
जीके पिता गूर, स्वयं वसुधबन्धी, वज्राम्बरी और भगवान्
श्रीकृष्ण आनिक चित्र बनाय । प्रमुञ्जस चित्र सन्त ही
ऊया कृष्ण हा गयी ॥ २० ॥ परीक्षित ' जय उमन
अनिरुद्धक चित्र देखा, जब ता कृष्णके मार उमक
मिग नीचा हा गया । फिर कृष्ण मुनयगत हए
उसने कहा— क्या वह प्राणकर्मकर यही है, यही
है ॥ २१ ॥

परीक्षित ' चित्रलेखा पाणिनी थी । यह जान गयी
कि ये भावान् श्रीकृष्णक पौत्र हैं । अतः वह अकर्म-
गमि रात्रिमें ही भावात् श्रीकृष्णक दाग मुगलिन
द्वारकपुरीमें पहुँची ॥ २२ ॥ वहाँ अनिरुद्धकी वदुन
ही मुग्ध परीक्ष सा गत । चित्रलेखा यन्मिदिक
प्रभावम उठे उग्रकर गाणितपुत्र न जयी और जानी
मयी उपासक उमक चित्रकर्मकर सान पता लिय ॥ २३ ॥
अपन परम मुग्ध प्राणकर्मकर पत्र अनिरुद्धकी
अश्रितम उमका मुनयगत गाणित हा गत और वह
अनिरुद्धकीर मग तन मर्ष्ये विहाय पता ली ।
परीक्षित ' यमक अन पुर इतन मुगलिन न कि
उमकी अत बाद पुनर् दृक्तर नही मरत ॥ २४ ॥

परार्थवत्सःसमान्धूपदीपासनादिभिः ।

पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शृङ्खर्याचरितः ॥२५॥

गूढः कन्यापुरे श्रमत् प्रवृद्धस्नेहया तथा ।

नादार्गणान् स वृषुषे ऊपयापहतेन्द्रियः ॥२६॥

तां तथा मदवीरेण मुन्यमानां हतव्रताम् ।

हेतुभिर्लक्ष्यांश्चक्रुःप्रीतां दुरवच्छदैः ॥२७॥

भटा आवेद्यांश्चह राजंस्ते दुहितुर्भवम् ।

विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ॥२८॥

अनपाविभिरसाभिर्गुप्तापाश्च गूढे प्रभा ।

कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्षाया न विषहे ॥२९॥

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितु श्रुतदूषणः ।

त्वरितः कन्यकागारं प्राप्ताऽप्राधीव यदुदहम् ॥३०॥

कामात्मजं स श्रवणैकमुन्दर

क्यामं पिशङ्गतम्परमम्पुञ्जक्षणम् ।

ऊनाका प्रेम दिन बुना रात चौगुना बढ़ता जा रहा था । वह बहुमूल्य वस्त्र, पुष्पोंके हार, इत्र-फुलेज, दूध-दीप, आसन आदि सामग्रियोंसे, सुमसुर पेय (पीनेयोग्य पदार्थ—दूध, शारङ्ग आदि) मोम्य (चबाकर खाने योग्य) और मक्ष्य (निगत जानेयोग्य) पदार्थोंसे तथा मनोहर बाणी एवं सेवा-शुश्रूषासे अनिरुद्धजीका बड़ा सत्कार करती । उगाने अपने प्रेमसे उनके मनको अपने वशमें कर लिया । अनिरुद्धजी उस कन्याके कन्त-पुत्रों छिपे रहकर अपने-आपको मूढ़ गये । उन्हें इस बातकी भी पता न चला कि मुझे यहाँ आये कितने दिन बीत गये ॥ २५-२६ ॥

परीक्षित ! यदुकुमार अनिरुद्धजीके सहायसे ऊनाका कुञ्जोरपन मछ हो चुका था । उसके शरीरपर ऐसे निच प्रकट हो गये, जो स्पष्ट इस बातकी सूचना दे रहे हैं और जिन्हें किसी प्रकार छिपाया नहीं जा सकता था । ऊना बहुत प्रसन्न भी रहने लगी । पहरदारोंने समझ लिया कि इसका किसी-न-किसी पुरुषसे सम्बन्ध बक्स हो गया है । उन्होंने जाकर बाणासुरसे निकेन निम्न-प्राप्तम् । हमलोगे आपकी अविवाहिता राजकुमारीका कैसा रग-रंग देख रहे हैं वह आपके कुञ्जर का खानेनाम्न ॥ ॥ २७-२८ ॥ प्रभो ! इसमें सन्देह नहीं कि हमलोगे किना कम दूटे, रात-दिन मल्लका खण्ड घेते खते हैं । आपकी कन्याको बाहरके मनुष्य देख भी नहीं सकते । फिर भी वह कलङ्कित कैसे हो गयी ? इसका कारण हमारी सम्झनें नहीं आ रहा है ॥ २९ ॥

परीक्षित ! पहरदारोंसे यह समाचार आकर कि कन्याका चरित्र दूषित हो गया है, बाणासुरके हृदयमें बड़ी पीड़ा हुई । वह शङ्कष्ट ऊनाके मुखमें आ पनका और वसला कि अनिरुद्धजी बड़ी धेठे हुए हैं ॥ ३० ॥ प्रिय परीक्षित ! अनिरुद्धजी खयं कमावतार प्रपुत्रके पुत्र थे । प्रियुवनमें उनके-जैसा सुन्दर और कोमल न था । सौमर-सलोना शरीर और ससपर पीताम्बर पहारा हुआ कलकदमक समान बड़ी-बड़ी कोमल और

पृष्ठं कुण्डलकुन्तलत्विषा

मितावलोकनेन च मण्डिताननम् ॥३१॥

दीर्घान्तमधैः प्रियमार्मि नृम्याया

तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमसज्जम् ।

बाहोर्दधानं मधुमस्तिक्यभितां

तस्मात्प्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥३२॥

स तं प्रविष्टं कृतमालतापिभि-

र्मटैरनीकैरवलोक्य माधवः ।

उद्यम्य मौर्वं परिधं व्यवस्थितो

यथान्तक्ये दण्डधरो जिघांसया ॥३३॥

जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः

शूनो यथा द्रक्ष्यमेषोऽश्नत् ।

ते हन्यमाना भवनाद् विनिर्गता

निर्भिन्नमूर्धोरुक्ष्माः प्रदुग्धुः ॥३४॥

तं नागपाशैर्षलिनन्दनो बली

हन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।

अथा भुशं शोकविपादविह्वला

बद्धं निशम्याधुकलाभ्यरोदिषीत् ॥३५॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमर्हस्या संक्षिप्तया दशमस्कन्धोऽष्टादशोऽध्यायः

अनिरुद्धकन्यो नाम द्विपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

अथ त्रिपष्ठितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके साध बाणासुरकम् मुख

श्रीकृष्ण उवाच

श्रीकृष्णपत्नी कहने हैं—परीक्षित ! बरसातक बार

अपश्यतां पानिरुद्धं तदा पुनो च भारत ।

महीन बीन गये । परन्तु अनिरुद्धजीका बह्नी पता न

१ निद्राया । २ श्रेष्ठिय ।

छवी-छवी मुजापै, कसोल्होपर धुँधराखी अख्ये और कुण्डलछोखी झिलझिलती हुई ज्योति, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान और प्रेममयी चितकनसे मुसकरी शोभा अनूखी हो रही थी ॥ ३१ ॥ अनिरुद्धजी उस समय अपनी सन ओरसे सब-भजनकर बैठी हुई प्रियतमा अयाके साथ पासे खेज रहे थे । उनके गलेमें बसंती केलाके बहुत सुन्दर पुष्पोंका हार सुशोभित हो रहा था और उस हारमें अयाके अङ्गका सम्पर्क होनेसे उसके वक्ष स्पर्शकी केदार लगी हुई थी । उन्हें अयाक सामने ही बैठ देखकर बाणासुर विस्मित-चकित हो गया ॥३२॥ जब अनिरुद्धजीने देखा कि बाणासुर बहुत-से आक्रमणकारी शाबाहसे सुसज्जित थीर सैनिकोंके साथ मध्यमें मुस खाया है, तब वे उन्हें बरशायी कर देनेके लिये ओढ़ेका एक मध्यकर परिध लेकर बट गये, मानो स्वयं कालदण्ड लेकर मृत्यु (यम) खड़ा हो ॥ ३३ ॥ बाणासुरके साथ आये हुए सैनिक उनको पकड़नेके लिये ज्यों-ज्यों उनकी ओर झपटते त्यों-त्यों वे उन्हें मार-मारकर गिरते जाते—ठीक जैसे ही, जैसे सुअरोंके दण्डका नायक कुत्तोंको मार डाले ! अनिरुद्धजीकी ओटसे उन सैनिकोंके सिर, मुखा, जघा आदि अङ्ग टूट-फूट गये और वे मल्लोंसे निकल मारे ॥ ३४ ॥ जब कभी बाणासुरने देखा कि यह तो मेरी सारी सेनाका संहार कर रहा है, तब वह क्रोधसे झिलझिला उठा और उसने नागपाशसे उन्हें बाँध लिया । अयाने जब सुना कि उसके प्रियतमको बाँध दिया गया है, तब वह अत्यन्त शोक और विषादसे बिह्वल हो गयी । उसके ननोंसे आँसूकी धारा बहने लगी, वह रोने लगी ॥ ३५ ॥

चत्वारो वार्षिका मामा अमतीयुरनुशोचताम् ॥ १ ॥
 नारदाचतुपाकर्ण्य वाता बद्धस्य कर्म च ।
 प्रभुः शोणितपुरं वृष्णायः कृष्णदेवता ॥ २ ॥
 प्रभुः युयुधानस्य गदं माम्बोज्य सारणः ।
 नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिन ॥ ३ ॥
 अशौहिणीभिर्द्वांशभिः समेता सर्वतोदिशम् ।
 रुधुर्वाणनगरं समन्तात् सात्वतर्षभाः ॥ ४ ॥
 भज्यमानपुराधानमाकाराकृतलंगोपुरम् ।
 प्रक्षमाणो ह्याविष्टस्तुल्यमैन्योऽभिनिर्ययौ ॥ ५ ॥
 बाणार्थे भगवान् रुद्रः संसृतैः प्रमथैर्वृतः ।
 आरुह्य नन्दिद्वपमं युयुधे रामकृष्णयोः ॥ ६ ॥
 आसीत् सुदुर्लभं युद्धममृतं रोमहर्षणम् ।
 कृष्णश्चक्रयोः राजन् प्रभुः प्रभुहयोरपि ॥ ७ ॥
 कुम्भाभ्यङ्गपकर्माभ्यां बलेन सह संयुगः ।
 साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणन सह मातृके ॥ ८ ॥
 ब्रह्मादयः सुरार्थीश मुनय मित्रचारणाः ।
 गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रुमागमन् ॥ ९ ॥
 शङ्करानुचराश्चौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् ।
 हाकिनीर्पातुधानां च वेतालान् सविनायकान् ॥ १० ॥
 प्रेतपातपिशाचाश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् ।
 द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शङ्खधनुश्च्युतैः ॥ ११ ॥
 पृथग्विधानि प्रायुक्तं पिनाकपलाणि शार्ङ्गिण ।
 प्रत्यक्षं क्षमयामास शार्ङ्गपाणिर्बिभ्रितः ॥ १२ ॥
 ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् ।

चक्र । उनके धरके श्रेयः, इस क्षणासे बहुत ही शोककृत
 हो रहे थे ॥ १ ॥ एक दिन नारदजीने अक्षर अनिष्टका
 शोणितपुर जाना, वहाँ बाणासुरके सैनिकोंको हल
 और फिर नागपाशमें बाँधा जाना— वह सारा समाचार
 सुनाया । तब श्रीकृष्णका ही अपना आराध्यदेव मननेल
 यदुर्बलियोंने शाणितपुरपर चढ़ाई कर दी ॥ २ ॥
 अब श्रीकृष्ण और बध्नामजीके साथ उनके अनुचर
 सभी यदुर्बल—प्रभु, सात्विक, गद, सन्ध, सारण, नन्द
 उपनन्द और भद्र आदिने वारह अशौहिणी सेनाके साथ
 न्यूह बनाकर चारों ओरसे बाणासुरकी राजधानीको घेरे
 स्थित ॥ ३ ॥ अब बाणासुरने देख कि यदुर्बलियोंकी
 सेना नगरके उथान, परकाटों, दुर्गों और सिंहद्वारोंको
 तोड़ फोड़ रही है, तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह
 भी वारह अशौहिणी सेना लेकर नगरसे निकल पड़ा ॥ ४ ॥
 बाणासुरकी ओरसे सुभ्रातृ भगवान् शङ्कर वृषभराज नन्दि
 सवार होकर अपने पुत्र कर्णिकेय और गगोंके साथ स्व
 भूमिमें पड़े और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण तथा बध्नामजी
 युद्ध किया ॥ ५ ॥ परीक्षित ! वह युद्ध इतना क्रूर
 और घमासान हुआ कि उसे देखकर रोमने बड़ ही
 नाते थे । भगवान् श्रीकृष्णसे शङ्करजीका और प्रभु
 साम्बिकार्तिकका युद्ध हुआ ॥ ७ ॥ कूष्माण्डजीसे रुद्र
 और कृष्णकी युद्ध हुआ । बाणासुरके पुत्रों को
 साम्ब और स्वयं बाणासुरके साथ सात्विक भिड़ गये ॥ ८ ॥
 ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता ऋषि-मुनि, सिद्ध चरम
 गन्धर्व जम्पराएँ और पक्ष विमानोंपर चढ़ चढ़कर युद्ध
 देखनेके लिये आ पहुँचे ॥ ९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने
 अपने शार्ङ्गानुचरोंके तीक्ष्ण नाकवाले बाणोंसे शङ्करजीके
 अनुचरों—भूत, प्रेत, प्रमथ गुह्यक, डाकिनी, पातुल,
 कंठल, विनायक, प्रेतगण, मातृगण, पिशुन, कूष्ण
 और ब्रह्मराक्षसोंको मार-मारकर खदेड़ दिया ॥ १० ॥
 पिनाकराणि शङ्करजीने भगवान् श्रीकृष्णपर मौलि-भौतिके
 अगणि अक्ष-शमोंका प्रयोग किया परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने
 बिना किसी प्रकारके विस्मयके उन्हें किसी भी शस्त्रसे
 शान्त कर लिया ॥ १२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मास्त्री
 क्षमतिके लिये ब्रह्मास्त्र वायव्यके लिये पार्वतास्त्र,

आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैत्रं पाशुपतस्य च ॥१३॥

माहयित्वा तु गिरिशं ब्रम्भणास्त्रेण ब्रम्भितम् ।

बाणस्य पृथनां शीरिर्जघानासिग्देपुभिः ॥१४॥

स्कन्दः प्रथमबाणौघैरर्धमानः समन्तत ।

असृग् विमुञ्चन् गात्रम्यः क्षिप्तिनापाक्रमद्वरणात् १५

कुम्भाण्डं कूपकर्णश्च पेतुर्मुसलादिसौ ।

दुधुवृत्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥१६॥

विक्षीयमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः ।

कृष्णमम्यद्रवत् संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥१७॥

धनुष्याकृष्य युगपद् बाणः पञ्चदशानि वै ।

एकैकस्मिच्छरो द्वौ द्वौ संदधे रणदुर्मदः ॥१८॥

तामि चिच्छेद् भगवान् धनुषि युगपद्वरिः ।

मारुधिं रथमस्त्रांश्च हत्वा द्रुहमपूरयत् ॥१९॥

तमाता काटरा नाम नद्या मुक्तिरिरुह ।

पुरोऽयतस्ये कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरुधया ॥२०॥

ततस्तिर्यङ्मात्रो नप्राप्तनिरीधन् गदाग्रमः ।

बाणश्च सत्त्वद् विरथगिच्छधन्वास्त्रिधन् पुरम् ॥२१॥

विद्राविते भूतगण ज्वरन्तु विशिरामिपात् ।

आग्नेयास्त्रके लिये पर्जन्यास्त्रका और पाशुपतास्त्रके लिये
नारायणास्त्रका प्रयोग किया ॥ १३ ॥ इसके बाद भगवान्

श्रीकृष्णने जम्भणास्त्रसे (जिससे मनुष्यको जैमाई-पर
जैमाई आने लगती है) महादेवजीको मोहित कर दिया ।

वे युद्धसे भित्त होकर जैमाई लेने लगे, तब भगवान्
श्रीकृष्ण शङ्खरानीसे छुडी पाकर सत्त्वार, गदा और

बाणोंसे बाणासुरकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १४ ॥

इधर प्रचुलने बाणोंकी बीटारसे स्वामिकार्तिकको धाकल
कर दिया, उनके जङ्ग-जङ्गसे रक्तकी धारा बह चली,

वे रणभूमि छत्रकर अपने बाहन मयूखाय भाग
निकले ॥ १५ ॥ बध्नामझीन अपने मुसलकी चोटसे

कुम्भाण्ड और कूपकर्णको धाकल कर दिया, वे रणभूमिमें
गिर पड़े । इस प्रकार अपने सेनापतियोंको हताहत

देखकर बाणासुरकी सारी सेना तितर-बितर हो गयी ॥ १६ ॥

अब रथपर सवार बाणासुरने देखा कि श्रीकृष्ण
आदिके प्रहारसे इगरी सेना नितर-नितर और तहस

नहस हो रही है, तब उसे बड़ा क्रोध आया । उसने
चिक्कर सात्यकिको छोड़ दिया और वह भगवान्

श्रीकृष्णपर आक्रमण करनेके लिये दौड़ पड़ा ॥ १७ ॥

परीक्षित । रणोत्तमच बाणासुरने अपने एक हजार हाथोंसे
एक साथ ही पाँच सौ धनुष स्वीचकर एक-एकपर दो-

हा बाण चढ़ाये ॥ १८ ॥ परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने
एक साथ ही उसके सारे धनुष काट डाले और सारथी,

रथ तथा घोड़ोंको भी धरशासी कर दिया जब शङ्ख
ज्वनि की ॥ १९ ॥ क्रोध नामझी एक देगी बाणासुरकी

धर्ममत्ता थी, वह अपने उपास्य पुत्रके प्राणोंकी रक्षाके
लिये जान चित्तेरकर नंग-धनुष भगवान् श्रीकृष्णके सामने

आकर खड़ी हो गयी ॥ २० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने,
इसलिये कि कहीं उसपर दृष्टि न पड़ जाय, अपना मुँह

पट लिय और वे दूसरी ओर देखने लगे । तबनक
बाणासुर धनुष काट जान और रथहीन हो नानक करण

अने मगरमें चला गया ॥ २१ ॥

अभ्यधात दाशार्हं दक्षिण दिक्षो दक्ष ॥२२॥

अथ नारायणा देवस्त दृष्ट्वा भ्यसृजन्ज्वरम् ।

मादेश्वरो वैष्णवश्च युगुधासे ज्वराधूमौ ॥२३॥

मादेश्वरः समाक्रन्दन् वैष्णवन भलादितः ।

अलन्ध्वामयमन्यत्र भीतो मादेश्वरो ज्वरः ।

शरणाधीं हृषीकेशं तुष्टाश्च प्रयताञ्जलिः ॥२४॥

अथ उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं

सर्वान्मानं केवलं वृत्तिमात्रम् ।

विश्रात्यचिम्बानसरोधनेतु

अथ द्रुमस्य प्रक्षालिजं प्रधानम् ॥२५॥

कालो देव कर्म जीवः स्वमात्रो

द्रव्यध्वं प्राण आत्मा विकारः ।

वृत्तसंज्ञातां वीजरोहभवाह

स्वन्मायैषा तन्निषध प्रपद्ये ॥२६॥

नानामार्गलीलपरोपपन्न

वेद्यान् मार्गैर्लोकसेतुन् विभक्तिं ।

हस्यु-मार्गान् हिंसया सर्वमानान्

अर्धवत्त भागद्वाराय धूमेः ॥२७॥

ततोऽहं स वेगसा दुस्सहिन

दान्तोप्रभात्पुरुषणन अवरण ।

तावन्नाया दहिनां सऽहमिमूल

ना सक्कन् यापदाभानुपदा ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

विमिरस्ते प्रगच्छाऽस्मि प्यतु स मन्त्र्यरात्रु भयम् ।

दसौ दिशाञ्जोक्ता जकाता हुजा-सा भगवान् श्रीकृष्णस्य
ओर दीक्षा ॥ २२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपनी
ओर लाते देखकर उसका मुकाबला करनेके लिये
अपना ऊपर छोड़ा । जब वैशाख और मादेश्वर दोनों
ऊपर आपसमें लड़ने लगे ॥ २३ ॥ अन्तमें वैष्णव एकके
तेजसे मादेश्वर ऊपर पीकित होकर चिह्नाने लगा और
अप्यन्त मगभीत हो गया । जब उसे अप्यन्त करी शब्द
न मिला, सब वह अत्यन्त नम्रतासे हाथ जोड़कर
शरणमें देनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करने
लगा ॥ २४ ॥

ज्वरसे कहा—प्रभो । आपकी शक्ति अनन्त है ।

आप ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी परम म्नेश्वर हैं । आप सबके
आत्मा और सर्वस्वरूप हैं । आप अद्वितीय और केवल
ज्ञानस्वरूप हैं । सत्तास्त्वय उत्पत्ति, स्थिति और संहराके
कारण आप ही हैं । श्रुतियोंके द्वारा आपका ही कर्त्तन
और अनुमान किया जाता है । आप समस्त विश्वमें
रहित क्षय कस हैं । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥२५॥

काल, देव (अद्भुत), कर्म, जीव, स्वभाव, सुखदुःख,

शरीर, सुप्तात्मा प्राण, अहङ्कार, एकदश इन्द्रियों और

पञ्चभूत—इन सबका संधान लिङ्गशरीर और वीजादुःस्वप्न-

के अनुमार उससे कर्म और कलसे फिर लिङ्गशरीरसे

उत्पत्ति—यह सब आपकी छाया है । आप सबके

निपत्रकी परम अवधि हैं । मैं आपकी शरण मेंलन करता

हूँ ॥ २६ ॥ प्रभो । आप अपनी वीकासे ही अन्यों

रूप धरण कर लेते हैं और देख्य, श्रापु तथा स्वरूप-

मार्गदाञ्जोका पालन-यागन करते हैं । सब ही उन्मार्ग-

गामी और हिंसक अमुरोंका संहार भी करते हैं । आपका

यह अकारण धृष्टीका मार उतारनेके लिये ही हुआ

है ॥ २७ ॥ प्रभो । आपका शान्त वर और अत्यन्त

भयानक दुस्सह तेज अरसे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहा

हूँ । भगवन् । देशपात्री जीनोंके तमीतक तप-सम्पत्ति

रहता है, जबतक वे वाशाक पशुमि वैसे रहनेके कारण

आपके अणयसम्योरी धरण नहीं प्रहण करते ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णन कहा—विमिर ! मैं तुमका

प्रगम हूँ । अब तुम मेरे अरसे निर्मग हो जाओ ।

यो नौ शरति मवादं तस्य त्वन्न भवेत् भयम् ॥२९॥

इत्युक्तोऽप्युत्तमानम्य गतो माहेधरो ज्वर ।

बाणस्तु रथमारूढ प्रागाद्योत्सञ्जनार्दनम् ॥३०॥

ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ।

सुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥३१॥

तस्यास्यतोऽस्त्राभ्यसकृच्चक्रेण धुरनेमिना ।

किञ्छेद् भगवान् बाहून् क्षास्त्रा इव वनस्पतैः ॥३२॥

बाहुपुच्छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः ।

भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभापत ॥३३॥

श्रीरुद्र उवाच

त्वं हि ब्रह्म पर ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि बाधये ।

य पश्यन्त्यमलान्मान आकाशमिव केवलम् ॥३४॥

नाभिर्नभोऽभिर्हृत्तमम्बु रतो

द्यौः शीर्षमाश्रा भुतिरह्विरुर्वी ।

चन्द्रो मनो यस्य दगर्क आत्मा

अह समग्रो जठर भुजेन्द्रः ॥३५॥

रोमाणि यस्यौपधयोऽम्बुवाहाः

केक्षा विरिञ्चो धिपणा विमर्ग ।

प्रभापतिर्हृदयं यस्य धर्म

म वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ॥३६॥

तवावधारोऽपमकृष्टधामन्

धमेस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।

धर्म च सर्वे भवतानुभाषिता

विभावयामां धृवनानि सप्त ॥३७॥

त्वमेक आद्य पुरुषोऽद्वितीय

मूर्त्यः स्यद्विषेतुरहतुरीश्व ।

संसारमें जो कोई इस दोनोंके संवादका स्मरण करेगा,

उसे तुमसे कोई भय न रहेगा ॥२९॥ भगवान् श्रीकृष्णके

इस प्रकार कहनेपर माहेधर ऊपर उठके प्रणाम करके

चला गया । तबतक बाणासुर रथपर सवार होकर

भगवान् श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये फिर आ पहुँचा ॥३०॥

परीक्षित । बाणासुरने अपने हथार हाथमें तरह-तरहके

हथियार ले रखे थे । अब वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर

चक्रपाणि भगवान् पर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥३१॥

जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि बाणासुरने तो बाणोंकी

वर्षा की लगी दी है, तब वे छुरेकी समान तीखी धारवाले

चक्रसे उसकी मुज्राएँ काटने लगे, मानो कोई किसी

पुच्छकी छोटी-छोटी डालियों काट रहा हो ॥३२॥

जब मकलसल भगवान् शाहूने देखा कि बाणासुरकी

मुज्राएँ काट रही हैं, तब वे चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णके

पास आये और स्तुति करने लगे ॥३३॥

भगवान् बाहुने कहा—प्रभो ! आप वेदमन्त्रोंमें

तात्पर्यरूपसे छिपे हुए परमभ्यानि स्वरूप परब्रह्म हैं ।

शुद्धहृदय महात्मागण आपके आकाशके समान सब

व्यापक और निर्विकार (निर्लेप) स्वरूपका साक्षात्कार

करते हैं ॥३४॥ आकाश आपकी नामि ह, अग्नि

मुख है और जल धीर्य । खर्ग सिर, शिशाएँ कान और

पृष्ठी चरण हैं । चन्द्रमा मन, सूर्य नेत्र और मैं दिव्य

आपका अहङ्कार हैं । समुद्र आपका पेठ है और इन्द्र

मुखा ॥३५॥ धान्याणि आपधियों रोम हैं, मेव केसा हैं

और ब्रह्मा मुखि । प्रभापति भिक्षु हैं और धर्म हृदय ।

इस प्रकार समस्त लोक और लोकान्तरेके साथ निरुक्त

शरीरकी तुलना की जाती है, वे परमपुरुष आप ही

हैं ॥३६॥ अस्मिन् अपेक्षि स्वरूप परमात्मन् ! आपका

यह अवतार धर्मकी रक्षा और संसारके अभ्युत्थ—

अभिद्विष्टिक लिये हुआ है । इस सब भी आपका प्रसन्नसे

ही प्रभावान्वित होकर सातों मुनियोंका पाठ्य करते

हैं ॥३७॥ आप सबज्ञतीय, विज्ञानीय और स्वगतभेदसे

रहित हैं—एक और अद्वितीय आदिपुरुष हैं । मयाकृत

नामस्य, क्षमा और सुपुत्रि—इन तीन अवस्थाओंमें

अनुगत और उनसे अतीत तुरीयस्वरूप भी आप ही हैं ।

आप किसी दूसरी वस्तुके द्वारा प्रकाशित नहीं होते,

प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं

स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्धये ॥३८॥

यथैव सूर्य पितृव्यश्चायथा मया

छाया च रूपाणि च सञ्जकास्ति ।

एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्व

मात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥

यन्मात्मानमाहितधियः पुत्रदत्तगृहादिषु ।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता बुभ्रिनाशये ॥४०॥

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमब्रितेन्द्रियः ।

यो नाद्विभेदं त्वत्पद्मौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥४१॥

अस्त्वां विसृजते मर्त्यं ब्रह्मार्जुनप्रियमीश्वरम् ।

विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विपमस्यमृतं त्वजन् ॥४२॥

अहं ब्रह्माय विबुधा मुनयश्चामलाश्रयाः ।

सर्वार्तमना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥४३॥

तं त्वा जगत्सित्पुदयान्तदेहं

समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।

अन्त्यमेकं जगद्वारमकैतं

भवापवर्गाय भवाम देवम् ॥४४॥

अयं ममदा दयितोऽनुवर्ती

मयाभयं दत्तममुष्य देव ।

स्वयं प्रकाश है । आप उसके कारण हैं, परन्तु आपका न तो कोई कारण है और न तो आपमें कारणपना ही है । भगवन् ! ऐसा होनेपर भी आप सभी गुणों की विभिन्न विपमताओंको प्रकाशित करनेके लिये अपनी मायासे देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि दृष्टिओंके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं ॥ ३८ ॥ प्रभो ! जैसे सूर्य अपनी छाया बादलोंसे ढीठ करता है और उन बादलों तथा विभिन्न रूपोंको प्रकाशित करता है उसी प्रकार आप तो सर्वप्रकाश हैं, परन्तु गुणोंके द्वारा मनो ठक-से जाते हैं और समस्त गुणों तथा गुण-विषयानी जीवोंको प्रकाशित करते हैं । वास्तवमें आप अनन्त हैं ॥ ३९ ॥

भगवन् ! आपकी मायासे मोहित होकर जेमा की-मुल, देह-मोह आदिमें आसक्त हो जाते हैं और फिर दुःखके जल समुद्रमें डूब-उतरने लगते हैं ॥ ४० ॥ संसारके मल-मल-को यह मनुष्य दृष्टी आपने जलान्त किया करके दिया है । जो पुरुष इसे पाकर भी अपनी इन्द्रियोंको बन्धने लगी करता और आपके चरणपद्मोंका आश्रय नहीं लेता-उसका सेवन नहीं करता, उसका जीवन जलान्त सावनीय है और वह सब अपने-आपको धोखा दे रहा है ॥ ४१ ॥ प्रभो ! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा, प्रियत्न और ईश्वर हैं । जो मृत्युका प्राप्त मनुष्य आपके जेब देव है और अनन्त, दुःखरूप एवं दुःख विषयोंमें दुःख-मुक्ति करके उनके पीछे मटकता है, वह इतना दूर है कि अप्रुतको छोड़कर फिर पी रहा है ॥ ४२ ॥ मैं ब्रह्मा, सारे देवता और विद्वद् ब्रह्मवाक्ये श्रुति-मुनि सब प्रकारसे और सर्वात्मिमायसे आपके शरणगत हैं । क्योंकि आप ही हमलोगोंके आत्मा, प्रियत्न और ईश्वर हैं ॥ ४३ ॥ आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रसङ्गके कारण हैं । आप सबमें सब, परम शान्त, सबके सुख आत्मा और हृदय हैं । आप एक, अद्वितीय और जगत्के आधार तथा अधिष्ठान हैं । हे प्रभो ! हम सब संसारसे मुक्त होनेके लिये आपका भजन करते हैं ॥ ४४ ॥ देव ! यह बाणासुर मया परमप्रिय, इष्टपात्र और सेवक है । मैंने इसे जमयान दिया है । प्रभो ! जिस प्रकार

सम्पाद्यतां तद् भवतः प्रसादो
यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसाद ॥४५॥

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवस्त्वक्ष करवाम प्रिय तव ।
भवतो यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४६॥
अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः ।
प्रहादाय वरो दधो न वध्यो मे तवान्वयः ॥४७॥
दर्पोपशमनायास्य प्रवृत्त्या बाहवो मया ।
स्रवितं च बल भूरि यच्च भागयितुं श्रुतः ॥४८॥
चत्वारोऽस्य भुजा श्लिष्टा भविष्यन्त्यमरामराः ।
पार्षदमुख्यो भवतो नकुलबिभ्रुवोऽसुरः ॥४९॥
इति लब्ध्वाभयं कृष्ण प्रणम्य शिरसासुरः ।

प्राशुर्नि रथमारोप्य स वज्रा समुपानयत् ॥५०॥

अशौहिण्या परिहृतं सुवासासमलङ्कृतम् ।

सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥५१॥

स्वराजधानीं समलङ्कृतां ययौ

सर्वतोरणैरुचितमार्गपत्तराम् ।

विषयः शङ्खानकदुन्दुभिस्वनै-

रम्युद्यत पौरसुखद्विधाविभि ॥५२॥

इसके परादा दैत्यराज प्रहादपर आपका कृपाप्रसाद है,
जैसा ही कृपाप्रसाद आप इसपर भी करें ॥ ४५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भगवन् ! आपकी बात
मानकर—जैसा आप चाहते हैं, मैं इसे निर्मय किये
देता हूँ । आपने पहले इसके सम्बन्धमें जैसा निश्चय
किया था—मैंने इसकी मुबारक कान्ठ पर उसीका अनु-
मोदन किया है ॥ ४६ ॥ मैं जानता हूँ कि बाणासुर
दैत्यराज बलिका पुत्र है । इसलिये मैं भी इसका बच
नहीं कर सकता, क्योंकि मैंने प्रहादको बच दे दिया
है कि 'मैं तुम्हारे वंशमें पैदा होनेवाले किसी भी दैत्यका
बच नहीं करूँगा' ॥ ४७ ॥ इसका घमंड घूर करनके
लिये ही मैंने इसकी मुबारक कान्ठ दी है । इसकी बहुत
बड़ी सेना पृथ्वीके लिये मार हो रही थी, इसीलिये
मैंने उसका संहार कर दिया है ॥ ४८ ॥ अब इसकी
चार भुजाएँ बच रही हैं । ये अबर, अमर बनी रहेंगी ।
यह बाणासुर आपके पार्षदमें मुख्य होगा । अब इसको
किसीसे किसी प्रकारका भय नहीं है ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णसे इस प्रकार अवयदान प्राप्त करके
बाणासुरने उनके पास आकर घरतीमें माथा टक्कर,
प्रणाम किया और अनिरुद्धजीको अपनी पुत्री ऊषाके
साथ रखकर बैठकर भगवान् के पास ले आया ॥ ५० ॥
इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने प्रहादजीकी मर्माग्निसे
बलाकङ्कारविमूढित ऊषा और अनिरुद्धजीको एक अश्वौ-
हिणी सेनाके साथ आगे करके द्वारकाके लिये प्रस्थान
किया ॥ ५१ ॥ इधर द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण आगिके
मुमामग्निकर समाचार सुनकर ऋषियों और तोरणोंसे
भरकर कोमा-कोमा सज्जा दिया गया । बड़ी बड़ी सड़कों
और नौराहोंको चन्द्रम-मिथिल जलसे सँच दिया गया ।
भरकरे भागरिकों, बन्धु-बान्धवों और प्राकृषोंन आगे
आकर मूढ़ धूमधामसे भगवान् के स्वागत किया । उधर
सम्पन्न राजा, नगाहों और हाथोंकी सुसज्ज घन हो रही
थी । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपनी राजधानीमें
प्रवेश किया ॥ ५२ ॥

म एव कृष्णविजय शङ्करेण च संयुगम् ।

संभरेत् प्रातरुषाय न तस्य स्वात पराजयः ॥ ५३ ॥

परीक्षित । जो पुरुष श्रीशङ्करजीके साथ भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध और उनकी विजयकी कथाका प्रसन्न काल उठकर स्मरण करता है, उसकी पराजय नहीं होती ॥ ५३ ॥

इति धीमन्नागवते म्हापुराण परमहंस्यो संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

ऽनिरुक्तानर्पणं नाम त्रिपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

अथ चतु पष्ठितमोऽध्यायः

द्वय राजाकी कथा

श्रीशुक उवाच

एकद्रोपवन राजन् जम्भुर्वदुकुमारका ।

विहर्तुं सान्प्रप्रमुञ्जचारुमानुगदादयः ॥ १ ॥

क्रीडित्वा सुषिरं तत्र विचिन्वन्त पिपासिता ।

बल निरुदके कूप ददृशुः सख्यममुतम् ॥ २ ॥

कुक्कुलस्य गिरिनिम वीक्ष्य विक्षितमानसाः ।

तस्य चाद्वरण यत्न चक्षुस्ते कृपयान्विता ॥ ३ ॥

चमज्जलान्तर्बः पादैर्षट्पञ्चा पतितमर्मकाः ।

नाशङ्कन् वन मसुदृशुः कृष्णायाचक्षुस्सुका ॥ ४ ॥

तत्रागत्यारविन्नाक्षो भगवान् विश्वभाषन ।

वीक्ष्याञ्जहार वामन तं करण म सीलया ॥ ५ ॥

म उत्तमश्लाघकगामिभृष्टा

विशय मयः कुक्कुलमङ्गम् ।

मत्तमनामाकरचारण

मगपुताञ्जहारणाभ्यरम्भ

॥ ६ ॥ और उत्तम शरीरपर अनुभूत बन्ध, आभूतान् और पुण्ड

मत्तमनामाकरचारण

॥ ६ ॥ और उत्तम शरीरपर अनुभूत बन्ध, आभूतान् और पुण्ड

मत्तमनामाकरचारण

पप्रच्छ विद्वानपि तस्मिन्निदान

जनेषु विस्मयापयितुं मुकुन्दः ।

कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो

देवोत्तम त्वां गणयामि नूनम् ॥ ७ ॥

दशमिमां वा कतमेन कर्मणा

सम्प्रापितोऽस्यदर्शः सुमद्र ।

आत्मानमाख्याहि विविक्ततां नो

यन्मन्त्रसे न धूममत्र वक्तुम् ॥ ८ ॥

मीरुक उवाच

इति स राजा सम्पूट कृष्णेनानन्तमूर्तिना ।

माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चमा ॥ ९ ॥

वृग उवाच

वृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिह्वाङ्कनय प्रभो ।

दानिष्कारुणावमानेषु यद्वि ते कर्ममसृजम् ॥ १० ॥

किं नु तेऽविदित नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।

कालेनाभ्याहृत्यो वद्वेऽद्यापि तवाङ्घ्र्या ॥ ११ ॥

यावत्पयः सिकता भूमेर्यत्तयोदिविवारका ।

यावत्पयो वषभाराध तावतीरददां स गाः ॥ १२ ॥

पयस्विनीस्तरुणीः क्षीलरूप

गुणोपपन्नाः कपिला हेमपङ्कजैः ।

न्यायार्जिता रूपसुरा सप्तसा

दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥ १३ ॥

सलंकृतेभ्यः गुणशीलवद्व्य

सीदत्कुटुम्बेभ्यः शतशतेभ्यः ।

तपःधृतप्रभवदान्यसद्व्य

प्रादां युवम्भो द्विषपुङ्गवेभ्यः ॥ १४ ॥

हरि शोभा पा रहे थे ॥ ६ ॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण जानते थे कि इस दिव्य पुरुषको गिरमिट-योनि क्यों मिली थी, फिर भी वह कारण सर्वसाधारणको मशूम हो जाय, इसलिये उन्होंने उस दिव्य पुरुषसे पूछा—
महाभाग ! तुम्हारा रूप तो बहुत ही सुन्दर है । तुम हो कैसे ? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि तुम अवश्य ही कोई श्रेष्ठ देवता हो ॥ ७ ॥ कल्याणमूर्ति ! किस्त कर्मके फलसे तुम्हें इस योनिमें आना पड़ा था ? वास्तवमें तुम इसके योग्य नहीं हो । हमन्त्रेण तुम्हारा इष्टान्त जानना चाहते हैं । यदि तुम हमन्त्रेणोक्ते वह वतलपना उचित समझो तो अपना परिचय अवश्य दो ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परिचित । जब अनन्त-मूर्ति भगवान् श्रीकृष्णने राजा वृगसे [क्योंकि वे ॥ इस रूपमें प्रकट हुए थे] इस प्रकार पूछे, तब उन्होंने अपना सूर्यके समान जाज्जलमान मुकुट हृदयकर भगवान्को प्रणाम किया और वे इस प्रकार कहने लगे ॥ ९ ॥

राजा वृगने कहा—प्रभो ! मैं महाराज इन्द्राकुल पुत्र राजा वृग हूँ । जब कभी किसीने आपके सामने दानियोंने गिनती की होगी, तब उसमें मेरा नाम भी अवश्य ही आपके कानोंमें पड़ा होगा ॥ १० ॥ प्रभो ! आप समस्त प्राणियोंकी एक-एक हृदिके साक्षी हैं । भूत और मनुष्यका व्यवहार भी आपका अखण्ड ज्ञानमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाल सकता । अब आपसे छिया ही क्या है ? फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये कहता हूँ ॥ ११ ॥ भगन् ! पृथ्वीमें जितने वृक्षिण हैं, आकाशमें जितने तारे हैं और जगत्में जितनी अम्बरी बाएण गिरती हैं, मैंने उतनी ही गौर दान की थी ॥ १२ ॥ वे सभी गौरें दुबार, नौनबान, सीपी, सुन्दर, सुलक्षणा और कपिला थीं । उन्हें मैंने ग्याएके जगसे प्राप्त किया था । सबके साथ वृद्धे थे । उनके सींगोंमें सोना पड़ा दिया गया था और सुरोंमें चाँदी । उन्हें बक, हार और गहनोंसे सजा दिया जाता था । ऐसी गौरें मैंने दी थी ॥ १३ ॥ भगन् ! मैं युवावस्थासे सम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मणकुमारोंको—जो सद्-गुणी, शीघ्रसम्पन्न, कष्टमें पड़ हुए कुटुम्बवासे, दम्भरहित

गामूहिरण्यायतनाद्यहस्तिन

कन्या मदासीस्तिलरूप्यद्वय्याः ।

पासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथा

निष्ट च यमैश्चरितं च पूर्वम् ॥१५॥

कस्यचिद् द्विजमुत्प्लव्य भ्राता गौर्मम गोघने ।

सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

तां नीयमानां तत्त्वामी दृष्ट्वा च ममेति तम् ।

ममति प्रतिप्रज्ञाह नृपो मे दत्तवानिति ॥१७॥

विप्रां विषदमानौ मामृचतु म्यार्थमाधकां ।

भवान् दत्तावहर्तेति तच्छ्रुत्वा मऽभवद् भ्रमः ॥१८॥

अनुनीतायुधौ विप्रां धर्मकृष्णगतन वै ।

गवां लघु प्रकृष्टानां दाम्याम्येषा प्रदीयताम् ॥१९॥

भयन्तावतुगृहीतां किङ्करम्यानिजानत ।

समुदरत मां कृष्णान् पतन्तं निरयेऽनुर्वा ॥२०॥

नाहं प्रताच्छ बराश्रमिषु कन्या म्याम्यपाकमन् ।

नान्यद् गरामप्यपुनमिच्छामीत्यपरा ययौ ॥२१॥

एतन्निधन्तः पाम्यदन्तीना यमधुषम् ।

यमन पृथग्याह यदव जगपन ॥२२॥

तपस्वी, वेदपाठी, शिष्योक्तो विद्यारान करनेवाला तथा सचरित्र होते—वस्त्राभूषणसे अलङ्कृत करता और उन गौश्रेका दान करता ॥ १४ ॥ इस प्रकार मैंने बहुत-सी गौएँ, पृथ्वी, सोना, धर, घोड़े, हाथी, दासियोंके सहित कन्याएँ, मित्रोंके पर्वत, चौदरी, शय्या, धन, रत्न, गृह-सामग्री और रथ आदि दान किये । अनेकों यज्ञ किये और बहुत-से कुर्यँ, वाक्यी आदि बनवाये ॥ १५ ॥

एक दिन किसी अप्रसिद्धी (दान न लेनेवाले), तपस्वी ब्राह्मणकी एक गाय बिछुड़कर मेरी गौश्रेके का मिली । मुझे इस बातका तत्त्वज्ञान पता न था । इसलिये मैंने अनजानमें उसे किसी दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया ॥ १६ ॥ जब उस गायको वे ब्राह्मण ने चले, तब उस गायके असली स्वामीने कहा—‘यह गौ मेरी है ।’ दान ले जानेवाले ब्राह्मण ने कहा—‘यह मेरी है, क्योंकि राजा युगल मुझे इसका दान किया है ॥ १७ ॥’ वे दोनों ब्राह्मण आपसमें झगड़ते हुए अपनी-अपनी बात बताने करनेके लिये मेरे पास आये । एकल कहा—‘यह गाय अभी-अभी आपने मुझे दी है’ और दूसरे ने कहा कि ‘यदि ऐसी बात है तो तुमने मेरी गाय चुरा ली है ।’ भगवन् ! उन दोनों ब्राह्मणोंकी बात सुनकर मेरा चित्त भ्रमिष्ठ हो गया ॥ १८ ॥ मैंने धन-संग्रहमें पड़कर उन दोनोंसे बड़ी अनुत्तम-प्रतिपत्ति की और कहा कि ‘मैं बड़ेलमें जब त्याग उत्तम देते हूँ । आपसे मेरे यज्ञ गाय दे दीजिये ॥ १९ ॥’ मैंने आत्म-संगोच सेवन हूँ । मुझसे अनजानमें यह कर्ता बन गया है । मुझसे आपसे गाय परित्याग और मुझे इस धार कर्मसे तथा धार न करने में मिलेने तथा मिलिये ॥ २० ॥ ‘यज्ञन् ! मैं इसका बन्धने पुत्र मही हूँगा ।’ यह कहकर गायका नाम भी धन गन् । पुत्र इसका बन्धने एक नाम ही मही, दत्ता इत्यादि और न ता भी मैंने स्मरण नहीं । इस प्रकार कहकर दूसरा ब्राह्मण भी चला गया ॥ २१ ॥ दत्तारि १ रत्न गीता । इसका नाम आपु गमाम हीनरत्न यमगर्भ दत्त । अब और मुझे कसपुर्ण न था । वही यमगर्भसे मुझे

गोभूरिष्मायतनाश्चदस्तिनः

कन्याः सदासौमित्ररूप्यश्रुत्याः ।

वासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथा-

निरं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम् ॥१५॥

कस्यचिद् द्विजमुष्णस्व भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।

सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

तां नीयमानां तत्स्वामी हृष्टोवाच ममेति तम् ।

ममेति प्रतिप्रत्याह नृगो मे दत्त्वानिति ॥१७॥

विप्रौ विषदमानौ मामूचतु स्वार्थसाधकौ ।

भवान् दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद् भ्रम ॥१८॥

अनुनीताद्युभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन वै ।

गवां लघु प्रकृष्टानां दास्याम्यथा प्रदीयताम् ॥१९॥

भवन्तावनुगृहीतां किंकरसाविबानत ।

समुदरत मां कृच्छ्रात् पठन्तं निरवेऽशुचौ ॥२०॥

नाहं प्रतीच्छ वै राक्षसित्पुक्त्वा स्वाभ्यपाक्रमत् ।

नान्यद् गवामप्यपुतमिच्छामीत्यपरा ययौ ॥२१॥

पतन्निभन्तरं याम्यर्द्धवर्तीता यमधुयम् ।

यमेन पृथग्राह दधदध जगत्पत ॥२२॥

तपस्वी, वेदपाठी, शिष्योक्तो विभक्तान करनेवाले का सम्बन्ध होता है—यज्ञाभूषणसे अलंकृत करता और उन गौबोंका दान करता ॥ १४ ॥ इस प्रकार मैंने बहुत सी गौएँ, पृष्णी, सोना, धर, भाङ्ग, हाथी, दासिपर्वे सहित कन्याएँ, तिलोंके पर्वत, चाँदी, शम्पा, रत्न, तब, गृह-सामग्री और रथ आदि दान किये । अनेकों का किये और बहुत-से कूँ, बापसी आदि बनवाये ॥१५॥

एक दिन किसी अप्रतिष्ठा (दान न लेनेवाले), तपस्वी ब्राह्मणकी एक गाय किन्तु ककर मेरी गौबोंमें आ गयी । मुझे इस बातका किन्तु पता न चला । इसलिये मैंने अनजानमें उसे किसी दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया ॥ १६ ॥ जब उस गायको वे ब्राह्मण ले चले, तब उस गायके असली स्वामीने कहा—‘यह मेरी भी है ।’ दान ले जानेवाले ब्राह्मणने कहा—‘यह तो मेरी है, क्योंकि राजा नृगने मुझे इसका दान दिया है ॥ १७ ॥’ वे दोनों ब्राह्मण आपसमें झगड़ते हुए अपनी-अपनी बात कायम करनेके लिये मेरे पास आये । एकने कहा—‘यह गाय अभी-अभी आपने मुझे दी है और दूसरेने कहा कि ‘यदि ऐसी बात है तो तुम्हें मेरी गाय चुन ली है ।’ मगन् ! उन दोनों ब्राह्मणोंकी बात सुनकर मेरा चित्त भ्रमिष्ठ हो गया ॥ १८ ॥ मैंने कर्ण-संक्रान्तिमें पककर उन दोनोंसे धकी अनुनय-निमन की और कहा कि ‘मैं बदलेमें एक त्यज उद्यम गौएँ दूँगा । आपलोग मुझे यह गाय दे दीजिये ॥ १९ ॥ मैं आप-लोगोंका सेवक हूँ । मुझसे अनजानमें यह अपराध बन गया है । मुझपर आपलोग क्या कीजिये और मुझे इस धोर कष्टसे तथा और नरकमें प्रितले बचा दीजिये ॥ २० ॥’ ‘शुनन् ! मैं इसके बदलेमें कुछ नहीं दूँगा ।’ यह कहकर गायका स्वामी चला गया । ‘तब इसके बदलेमें एक त्यज ही नहीं, दस हजार गौएँ और दो तो भी मैं लेनेका नहीं ।’ इस प्रकार बदलर दस हजार भी चला गया ॥ २१ ॥ देख-पिदेव जग दीधर ! इसके बाद आप समाप्त होनेपर यमराजक इत आये और मुझ यमपुरी ले गये । कहाँ यमराजने मुझसे

पूर्वं त्वमशुभं युद्धं संतापो नृपते शुभम् ।

नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भामव ॥२३॥

पूर्वं देवाशुभं युद्धं इति प्राह पतेति सः ।

तव दद्राक्षमात्मानं कुक्कुलासं पतन् प्रभो ॥२४॥

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य कञ्चव ।

स्मृतिर्नापि विच्यस्ता भवत्संदर्शनार्थिन ॥२५॥

स त्वं कथं मम विभोऽधिपथः परात्मा

योगेश्वरैः श्रुतिष्णामलङ्घ्यमान्यः ।

साध्याध्यायज उरुम्यसनान्धबुधः

स्यान्मेऽनुरक्ष्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषात्तम ।

नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकान्मुताच्यय ॥२७॥

अनुजानीहि मां कृष्ण भान्तं देवगतिं प्रभा ।

यत्र कापि सप्तश्वेतो भूषान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥

नमस्त सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।

कृष्णाय वासुदेवाय यागानां पतये नमः ॥२९॥

इत्युक्त्वा तपरिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा मर्मालिना ।

पुनः—॥ २२ ॥ राजन् ! तुम पहले अपने पापका फल भोगना चाहते हैं या पुण्यका ? तुम्हारे मन और धर्मके फलस्वरूप तुम्हें ऐसा तेजस्वी लोक प्राप्त होनेका है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है ॥ २३ ॥ मगन् ! तब मैं यमराजसे कहा—देव ! पहले मैं अपने पापका फल भोगना चाहता हूँ । और उसी क्षण यमराजने कहा—‘तुम गिर जाओ ।’ उनके ऐसा कहते ही मैं खासि गिरा और गिरते ही सम्य मैं देख कि मैं गिर गिरा हो गया हूँ ॥ २४ ॥ प्रभो ! मैं शास्त्रोंका सेवक उदार दानी और आपका भक्त था । मुझे इस बातकी उत्कट अभिप्रेक्षा थी कि किसी प्रकार आपके दर्शन हो जायँ । इस प्रकार आपकी कृपासे मेरे पूर्वजनोंकी स्मृति नष्ट न हुई ॥ २५ ॥ मगन् ! आप परमात्मा हैं । वह-वह धृष्ट-व्यस्य योगीश्वर उपनिषद्में इष्टिसे (अभेद इष्टिसे) अपने हृदयमें आपका ध्यान करते रहते हैं । इन्द्रियातीत परममगन् ! साक्षात् आप मेरे नन्नेके सामन कैसे आ गये ? क्योंकि मैं तो जनक प्रभारके ब्यसनों, दुःखद फलमें फँसकर अंधा हो रहा था । आपका दर्शन तो नव होता है, नव संसारके चक्रसे छुटकारा मिलनेका समय आता है ॥ २६ ॥ देवताओंकी भी आराध्यदेव ! पुरुषोत्तम गोविन्द ! आप ही एक और अन्यक्त ब्रह्म तथा जीवोंके स्वामी हैं । अविनाशी अप्युत ! आपकी कीर्ति पवित्र है । अन्तर्पामी नारायण ! आप ही समस्त वृत्तियों और इन्द्रियोंके स्वामी हैं ॥ २७ ॥ प्रभो ! श्रीकृष्ण ! मैं अब देवताओंके लोकमें जा रहा हूँ । आप मुझे आशा दीजिये । आप एसी कृपा करीजिये कि मैं जाहें कहाँ भी क्यों न रहूँ, मेरा चित्त सदा आपके चरणकमलोंमें ही लगा रहे ॥ २८ ॥ आप समस्त कार्य और कारणोंके रूपमें विद्यमान हैं । आपकी शक्ति अनन्त है और आप सर्व भव हैं । आपको मैं नमस्कार करता हूँ । सबिगानन्दस्वरूप सबभक्त्यामी वासुदेव श्रीकृष्ण ! आप समस्त योगोंके स्वामी, योगेश्वर हैं । आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

रामा तुलन इस प्रकार कहकर भगवन्की परिक्रमा की और अपने मुण्डसे उनके चरणोंका स्पर्श करके

गाभूहिरण्यायतनाभ्यहस्तिन

कन्या सदासीस्तिलरूप्यद्वय्याः ।

वासासि रत्नानि परिच्छदान् रथा-

निरं च यज्ञैश्चरितं च पूर्वम् ॥१५॥

कस्यचिद् द्विजमुष्णस्य अष्टा गौर्मम गोधने ।

सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

तां नीयमानां तत्सामी इष्टोवाच ममेति तम् ।

ममति प्रतिप्राह्वाह नृगो मे दक्षवानिति ॥१७॥

विप्रौ विवदमानौ मामूचतु स्वार्थसाधकौ ।

भवान् दत्तापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभयवृत्रम ॥१८॥

अनुनीताबुभौ विप्रौ धर्मकृष्णगतेन वै ।

गवां लब्धं प्रकृष्टानां दास्याम्यपा प्रदीयताम् ॥१९॥

भवन्तावनुगृहीतां किंकरसाविजानवः ।

समुद्वरत मां कृष्णात् पतन्त निरयेऽनुचौ ॥२०॥

नाहं प्रताच्छ ये राजमित्युक्त्वा स्वाभ्यामक्रमत् ।

नान्यद् गवामप्यपुतमिच्छामीत्यपरा ययौ ॥२१॥

पुनर्मिषन्तर याम्यर्ध्वतनीता यमधुपम् ।

यमन शृणुग्राह दक्षद्वज जगत्पत ॥२२॥

तपस्वी, वेदपाठी, शिष्यको विद्यादान करनेवाले तब सचरित्र होते—यसामृषणसे अलङ्कृत करदा और उन गौशोका दान करता ॥ १४ ॥ इस प्रकार मैंने बहुत-सी गौएँ, पृष्ठी, सोना, धर, घोड़े, हाथी, दासियोंके सहित कन्याएँ, सिन्धुके पर्वत, चाँदी, शय्या, मक, १६, गृह-सामग्री और रथ आदि दान किये । इनके साथ किये और बहुत से कूएँ, माकड़ी आदि बनवाये ॥ १५ ॥

एक दिन किसी अप्रसिद्धी (दान न लेनेवाले), तपस्वी ब्राह्मणकी एक गाय बिसुक्कर मेरी गौधेमें आ मिली । मुझे इस बातका किन्तु कुछ पता न था । इसलिये मैंने अनजानमें उसे किसी दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया ॥ १६ ॥ जब उस गायको वे ब्राह्मण ले चले, तब उस गायके असली स्वामीने कहा—‘यह मेरी गौ है ।’ दान ले जानेवाले ब्राह्मण कहा—‘यह तो मेरी है, क्योंकि राजा तुमने मुझे इसका दान दिया है ॥ १७ ॥’ वे दोनों ब्राह्मण आपसमें झगड़ते हुए अपनी-अपनी बात कायम करनेके लिये मेरे पास आये । एकने कहा—‘यह गाय अभी-अभी आपने मुझे दी है और दूसरेने कहा कि यदि ऐसी बात है तो तुमने मेरी गाय चुरा ली है ।’ भगवन् ! उन दोनों ब्राह्मणोंकी यह झुनझुन मेरा धित्त अभित्त हो गया ॥ १८ ॥ मैंने कन्तकटमें पककर उन दोनोंसे बड़ी अनुनय-स्निग्ध ढंग और कहा कि मैं बदलेमें एक त्यक्त उद्यम गौएँ दूँगा । आखिर मुझे यह गाय दे दीजिये ॥ १९ ॥ मैं ब्रह्म-योगीका सेवक हूँ । मुझसे अनजानमें यह अपराध बन गया है । मुझपर आपकी कृपा पड़िये और मुझे इस घोर कष्टसे तथा घोर नरकमें शिल्ले बचा लीजिये ॥ २० ॥ ‘शान् !’ इसका बदलेमें कुछ नहीं दूँगा । यह कहकर गायका स्वामी चला गया । ‘शान् !’ इसके बदलेमें एक मास ही नहीं, ‘तस हजस गौरे’ बार दो तो भी मैं लेनेका नहीं ।’ इस प्रकार कहकर दूसरा ब्राह्मण भी चला गया ॥ २१ ॥ दशदिशं यम दीधर ! इसका ध्यान आयु समस्त हानिपर समस्तजके दूत आये और मुझे यमपुरी ले गये । यहाँ यमराजने मुझे

न मं प्रह्वधनं मूमाद् यद् गृह्णन्वात्पायुपो नरा ।

पराजिताश्च्युता राज्याद् भवन्त्युद्विन्नोऽहं यः ॥ ४० ॥

विप्र कृतागसमपि नैव दुह्यत मामका ।

प्रान्त बहु श्रपन्तं वा नमस्कृत्य नित्यम् ॥ ४१ ॥

यथाहं प्रणमं विप्राननुकालं ममाहितः ।

तथा नमतं यूयं न योऽन्यथा मं स दण्डभाक् ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणाधोऽपहृता हर्तारं पातयस्यथः ।

मजानन्तमपि क्षानं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥ ४३ ॥

यस्य विधाव्य भगवान् सुकुन्दो द्वारकौकसः ।

पावनः सनत्काक्षां विवेकं निजमन्दिरम् ॥ ४४ ॥

इसलिये मैं तो यही चाहता हूँ कि ब्राह्मणोंका धन कमी भूलसे भी मेरे कोपमें न आवे, क्योंकि जो लोग ब्राह्मणोंके धनकी इच्छा भी करते हैं—उसे छीननकी बात तो अच्छी रही—वे इस जगमें अन्धानु, शत्रुओंसे परानित और राज्यभय हो जाते हैं और मृत्युके बाद भी वे दूसरोंको कष्ट देनेवाले सौंप ही होते हैं ॥ ४० ॥ इसलिये मेरे आत्मीया ! यदि ब्राह्मण अपराध करे, तो भी उससे द्वेष मत करो । वह मार ही क्यों न बैठे या बहुत-सी गालियाँ या शाप ही क्यों न दे, उसे तुमको सदा नमस्कार ही करो ॥ ४१ ॥ जिस प्रकार मैं वही सावधानीसे तीनों समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ, वैसे ही तुमको भी किया करो । जो मेरी इस आज्ञाका उल्लंघन करेगा, उसे मैं क्षमा नहीं करूँगा, दण्ड दूँगा ॥ ४२ ॥ यदि ब्राह्मणके धनका अपहरण हो जाय तो वह अपहृत धन उस अपहरण करनेवालेको—अनजानमें उसके द्वारा यह अपराध हुआ हो तो भी—अध-पतनक गढ़देमें डाल देता है । जैसे ब्राह्मणका गायने अनजानमें उसे लेनेवाले राजा नृगका नरकमें डाल दिया था ॥ ४३ ॥ परीक्षित ! समस्त धर्मोंका पति करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण शरकबासियोंका इस प्रकार उपदेश देकर अपने महलमें चले गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्स्यां संहितया दशमस्कन्ध उक्तार्थं
नृगाग्राह्यन नाम क्व पष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

अथ पञ्चपष्ठितमोऽध्यायः

भावनरामजीका पञ्चगमन

श्रीगुरु उवाच

श्रीगुरुपुत्रजी कहन हैं—परीक्षित ! भगवान् बट-

पञ्चभद्रः कुरुभद्र भगवान् रथमाश्रित ।

मुदरिष्टभुक्त्वष्टः प्रयथो नन्गाकृतम् ॥ १ ॥

परिप्लव्धमिन्द्राक्षरं गोपगोपीभिरथ च ।

राजकीके मनमें ब्रह्मक नन्गाबा आदि मन्त्रन-सम्प्रतिषो-
से मित्रनेई वही इष्टा और उत्कृष्ट थी । अब वे
रथपर सवार होकर द्वारकासे नन्गाबाक प्रदर्ये आये ॥ १ ॥
इस उक्त निये पञ्चवामी गौर और गायिका भी बहुत
गिनोसे उत्कृष्ट थी । उन्हें अपने पीछमें पाकर सबन

१० । दि यः १ शरकनबा । २ प्राधान प्रिये उक्तार्थे इत्या भग नही । ३ शरकन
१०५ । ६ मन्त्रने ।

रामोऽभिषाय पितरत्वाङ्गीभिर्भिनन्दित ॥ २ ॥

चिरं नः पाहि दाशार्हं सानुबो जगदीश्वरः ।

इत्यारोप्याङ्गमालिङ्ग्य नेत्रैः सिपिचतुर्जलैः ॥ ३ ॥

गोपवृदांश्च विधिवद् सविष्टैरभिषन्दित ।

यथावयो वधासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥ ४ ॥

समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तप्रहादिभिः ।

विधान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः ॥ ५ ॥

पृष्टव्धानामयं स्वेषु प्रमगद्दया गिरा ।

कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराक्षसः ॥ ६ ॥

कश्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुलस्मासते ।

कश्चित् सरथ नो राम पूर्यं दारसुतान्विता ॥ ७ ॥

दिष्टया कंठा इतः पापो दिष्टया मृत्का सुहृजनाः ।

निहस्य निजिन्त्य रिपून् दिष्टया दुर्गं समाभिताः ॥ ८ ॥

गाथ्यो हसन्त्यः पप्रच्छुः गमसन्दर्शनाधृताः ।

कषिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवत्सलमः ॥ ९ ॥

कश्चित् सरसिषा कन्धून् पितरं मातरं च सः ।

अप्यसौ मातरं त्रुष्टुं सकृदप्यागमिष्यति ।

अपि ना स्मरतः स्नाफमनुसेवां महाशुभः ॥ १० ॥

बड़े प्रेमसे गले लगाया । कल्यामजीने मृता यशोदा और नन्दबाबाको प्रणाम किया । उन लोगोंने भी बहरीन्द देकर उमका अभिनन्दन किया ॥ २ ॥ यह कहकर कि 'बलरामजी ! तुम जगदीश्वर हो, अपने छोटे भाई श्रीकृष्णके साथ सर्वदा हमारी रक्षा करते रहो', उनको गोदमें ले लिया और अपने प्रेमाधुनोंसे उन्हें मित्रे दिया ॥ ३ ॥ इसके बाद बड़े-बड़े गोपोंको बलरामजीने और छोटे-छोटे गोपोंने बलरामजीको नमस्कार किया । वे अपनी आसु, मेख-झोख और सम्बन्धके अनुसार सबसे मित्रे-बुले ॥ ४ ॥ ग्वालवार्योंके पास जाकर किसीसे हाथ मित्राय, किसीसे मीठी-मीठी बातें कीं, किसीको खूब हँस-हँसकर गले लगाया । इसके बाद जब कल्यामजीकी पकड़त दूर हो गयी, वे आरामसे बैठ गये, तब सब ग्वाल उनके पास आये । इन ग्वालोंने कल्यामजीने मगधन् श्रीकृष्णके लिये समस्त मोग, खग और मोक्ष-तक त्याग रक्खा था । बलरामजीने जब उनके और उनके करवालोंके सम्बन्धमें कुशलप्रश्न किया, तब उन्होंने प्रमगद्गद वाणीसे उनसे प्रश्न किया ॥ ५ ॥ 'बलरामजी ! कन्धूदेवजी आदि हमारे सब भाई-कन्धु सकुशल हैं न ? अब आपलोग श्री-पुत्र आदिके साथ रहते हैं, बाक-बन्धेदार हो गये हैं, क्या कभी आपलोगोंको हमरी याद भी आती है ? ॥ ७ ॥ यह कह कर सौम्यकी बात है कि पापी कंसको आपलोगोंन मार डाला और अपने सुहृद्-सम्बन्धियोंको बच कष्टसे बचा लिया । यह भी कम आनन्दकी बात नहीं है कि आपलोगोंने और मैं बहुतसे शत्रुओंको मार डाला या जीत लिया और अब अत्यन्त सुरक्षित दुर्ग (किले) में आपलोग निवास करते हैं' ॥ ८ ॥

परीक्षित ! मगधन् बलरामजीके दर्शनसे, उनकी प्रेममयी चित्तमनसे गोपियों निहल हो गयी । उन्होंने हँसकर पूछा—'क्यों बलरामजी ! मगर-नारियोंके प्राक्-मन्त्रमयीकृष्ण अब सकुशल तो हैं न ? ॥ ९ ॥ क्या कभी उन्हें अपने भाई-कन्धु और पिता-ममदाकी भी याद आती है ? क्या वे अपनी माताक दर्शनके लिये एक बार भी यहाँ आ सकेंगे ? क्या महाबाहु श्रीकृष्ण कभी हमलोगोंकी सेवाका भी कुछ स्मरण करते हैं ॥ १० ॥

मातरं पितरं भ्रातृन् पत्नीन् पुत्रान् स्वसुरपि ।

यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो ॥११॥

ता न सद्य परित्यज्य गतः संछिन्नतौ हृदः ।

कथं नु तावद्वा स्त्रीभिर्न यदीयेत भाषितम् ॥१२॥

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितारमनो

वच कृतमस्य पुधा पुरस्त्रियः ।

गृह्णन्ति वै क्षिप्रकथस्य सुन्दर-

स्वित्त्वलोकोच्छ्रितसारातुराः ॥१३॥

किं नस्तत्कथया गोप्य कथा कथयतापरा ।

यस्य साभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव न ॥१४॥

इति प्रहसितं श्रौरेर्जन्पितं चारु वीक्षितम् ।

गतिं प्रमपरिपङ्गं सरन्त्यां रुद्रु स्त्रिय ॥१५॥

संक्रपणलाः कृष्णस्य संदिग्धदयङ्गमैः ।

सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयक्यविदः ॥१६॥

शौ मासौ तत्र चारुत्सीन्मर्षु माधवमव च ।

राम धपाम् भगवान् गार्पिणां गतिमावहन् ॥१७॥

आप जानते हैं कि खवन-सम्बन्धियोंको छोड़ना बहुत ही कठिन है । फिर भी हमने उनको लिये मौ-बाप, भाई-भ्राता, पति-पुत्र और सहिन-वधियोंको भी छोड़ दिया । परन्तु प्रभो ! वे बात-की बातमें हमारे सौहार्द और प्रेम-का बंधन काटकर, हमसे नाता तोड़कर परदेस चले गये, हमजोगोंको बिल्कुल ही छोड़ दिया । हम चाहतीं तो उन्हें रोक लेतीं, परन्तु अब वे कहते कि हम तुम्हारे शत्रु हैं—तुम्हारे उपकारका वरुदा कभी नहीं चुका सकते, तब ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो उनकी मीठी-मीठी बातोंपर विचार न कर लेती ॥११॥ १२॥ एक गोपीने कहा—'कथारामजी ! हम तो गौंकी गैराराम्यिने ठहरीं, उनकी बातोंमें क्या गयीं ! परन्तु नगरकी स्त्रियों तो बड़ी चतुर होती हैं । मन्दा, वे बचक और हठम भीकृष्णकी बातोंमें क्यों रूँसने लगीं, उन्हें तो वे नहीं छका पाते होंगे ।' दूसरी गोपीने कहा—'नहीं सखी, भीकृष्ण बासें बनानयें तो एक ही हैं । ऐसी रंग बिरंगी मीठी-मीठी बातें गढ़ते हैं कि क्या कहना । उनकी सुन्दर मुसकराहट और प्रेमवरी नितवनसे नगर नारियों भी प्रेमवेशसे व्याकुल हो जाती होंगी और वे अवश्य उनकी बातोंमें आकर अपनेको निछाकर कर देती होंगी' ॥१३॥ तीसरी गोपीने कहा—'सखी गोपिणी ! हमजोगोंको उसकी बातसे क्या मतलब है ? यदि समय ही कटना है तो कोई दूसरी बात करो । यदि उस निन्दुरका समय हमारे बिना बीत जाता है तो हमारा भी उसीकी तरह, मले ही दु खसे क्यों न हो, कट ही जायगा ॥१४॥ अब गार्पियोंके भाव-नेत्रोंके सामने भगवान् श्रीकृष्णकी हँसी, प्रेमवरी चारों, चारु नितवन, अनूठी चारु और प्रमादिक्रान् आदि मूर्तिमान् होकर नाचने लगे । वे उन बातोंकी मधुर स्तुतिमें लमप होकर रेंगे लगीं ॥१५॥

परिचित ! भगवान् कथारामजी नाता प्रकारसे अनुनय-विनय करनेमें बड़ निपुण थे । उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके हृदयस्पर्शी और सुमयके सन्देश सुना-सुनाकर गार्पियोंका सम्बन्ध दी ॥१६॥ और बसन्तक दो महीने—प्रेम और वैशाख बहरीं जाताय । व अधिक समय गार्पियोंमें रहकर उनके प्रेमकी अभिवृद्धि करत । क्यों न हो, भगवान्

पूर्वचन्द्रकलासूत्रे कौमुदीगन्धवायुना ।

यमुनोपवने रेमे सेविते श्रीगणेश्वरः ॥१८॥

वरुणप्रेम्निा देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।

पतन्ती तपू वनं सर्वं स्रगन्धेनान्धवासवत् ॥१९॥

तं गन्धं मधुभारामा वायुनोपहृतं कलः ।

आध्रवोपयतस्तत्र ललनाभि संमं पपौ ॥२०॥

उपगीयमानवर्तितो धनिताभिर्हल्लुपः ।

वनेषु म्यचरत् स्त्रीषो मदविह्वललोचन ॥२१॥

सम्बोद्धुल्लो मधो वैजयन्त्या च मालया ।

विभ्रत् स्मितमुत्साम्भोजं स्वेदमालेयभूपिषम् ॥२२॥

त आद्यश्रव यमुनां जलश्रीदार्ढ्यमीधरः ।

निर्धं वाक्यमनाहत्य मध इत्यापगां कलः ।

अनागतं हलाप्रेण कुपितो विचर्क्य ह ॥२३॥

पापे त्वं मामवज्ञाय यथापासि मयाऽऽश्रुता ।

नेष्ये त्वां लाङ्गुलाप्रेण क्षतधा कामचारिणीम् ॥२४॥

एवं निर्भर्त्तिता भीता यमुना यदुन्ववन् ।

उषाच चकित्ता चार्चं पतिता पादयोर्नृप ॥२५॥

राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।

राम ही जो टहरे ॥ १७ ॥ उस समय कुशविरोधी
मुगन्ध लेकर मीनी-मीनी वायु चक्की खड़ी, एवं
चन्द्रमाकी चोंदनी छिटककर यमुनाजीके लटकाए ठक-
को ठक्कल कर खड़ी और भगवान् बलराम गोपियोंके
साथ वहाँ विहार करते ॥ १८ ॥ कण्ठदेवने कलौ
पुत्री वारुणीदेवीको वहाँ मेघ दिया था । वह एक
वृक्षके खोदरसे यह निकली । उसने अपनी मुगन्ध
सारे वनको मुगन्धित कर दिया ॥ १९ ॥ मुसुधारकी वह मुगन्ध
वायुने कलरामजीके पास पहुँचायी, मग्नो उसने उन्हें
उपहार दिया हो ! उसकी धँसके आकाश होकर
बलरामजी गोपियोंको लेकर वहाँ पहुँच गये और उनके
साथ उसका पान किया ॥ २० ॥ उस समय ग्रेनेव
कलरामजीके चारों ओर उनके चरित्र गन कर रही
थीं, और वे मत्वाक-से होकर वनमें निकर रहे थे ।
उनके नेत्र ध्यानन्दमयसे विह्वल हो रहे थे ॥ २१ ॥
गलेमें पुष्पोंका भार शोभा पा रहा था । वैजयन्तीकी
माला पहने हुए आनन्दोन्मत्त हो रहे थे । उसके एक
कानमें कुम्भकल झटक रहा था । मुसुधारमयपर मुस-
कराहटकी शोभा निराखी ही थी । उसपर पत्तीनेकी
रूँदे हिमकणके समान जान पड़ती थी ॥ २२ ॥ स-
शक्तिमन् बलरामजीने जलश्रीका करनेके लिये यमुना-
जीको पुकारा । परन्तु यमुनाजीने यह समझकर कि वे
तो मत्वाक हो रहे हैं, उनकी आवाज उलझन कर
दिया; वे नहीं आयीं । तब कलरामजीने खोदरके
अपने हल्की नोकसे उन्हें खीचा ॥ २३ ॥ और
कहा—‘पापिनी यमुने ! मेरे मुग्धनेपर भी तू मेरी
आवाज उलझन करके यहाँ नहीं आ रही है, अब
तिरस्कार कर रही है ! देख, अब मैं तुझे तेरे स्नेहप्रवाह
फस चलाता हूँ । अभी-अभी तुझे हल्की नोकसे खी-
सी टुकड़ लिये देता हूँ ॥ २४ ॥ अब बलरामजीने
यमुनाजीको इस प्रकार खींच-फटकार, तब वे चकित
और मयभीत होकर बलरामजीके चरणोंपर गिर पड़ीं
और भिक्षुगिहकृत प्रार्थना करने लगीं— ॥ २५ ॥ खेर
भिराम बलरामजी ! महाबाहो ! मैं जयका पराक्रम भूत

वस्यैकांशेन विभूता जगती जगतः पते ॥२६॥

परं भावं भगवतो भगवन् मामजानतीम् ।

मोक्षमार्गं विभक्त्यन् प्रपन्ना भक्तवत्सल ॥२७॥

ततो व्यसृज्य बभूव भक्तानां पाप्मनो भगवान् वल ।

विजगत् जलं क्षीमिः करणुभिरिविभरद् ॥२८॥

क्षमं विहृत्य सलिलादुत्पीपापासिताम्बरे ।

भूपणानि महाभाषि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ॥२९॥

वसित्वा वाससी नीले मालामाघृत्य काञ्चनीम् ।

रेजे स्खलङ्कृतो लिप्तो माहन्द् इव वारणः ॥३०॥

अपापि हृष्यते रजन् यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना ।

बलस्तानन्तवीर्यस्य वीर्यं खचपतोव हि ॥३१॥

एवं सर्वा निष्ठा याता एकत्र रमतो प्रज ।

रमसाक्षिसत्त्वित्स्य माधुर्यैर्धजयोषिताम् ॥३२॥

गयी थी । जगपते ! अब मैं जान गयी कि आपके अंशमात्र शेषनी इस सारे जगत्को धारण करते हैं ॥२६॥ भगवन् । आप परम ऐश्वर्यवाली हैं । आपके वात्सल्यिक स्वरूपको व जाननेके कारण ही मुझे यह अपराध बन गया है । सर्वस्वरूप मत्तमस्व । मैं आपकी शरणमें हूँ । आप मेरी मूल-भूक क्षमा करिये, मुझे छोड़ दीजिये ॥ २७ ॥

अब यमुनाजीकी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् कल्याणने उन्हें क्षमा कर दिया और फिर जैसे गजराज हथिनियोंके साथ क्रीडा करता है, वैसे ही वे गायियोंके साथ जलक्रीडा करने लगे ॥ २८ ॥ जब वे पच्छिम-दिशार करके यमुनासीसे बाहर निकले, तब कल्याणीने उन्हें नीलम्बर, बहुमूल्य आभूषण और सोनेका सुन्दर हार दिया ॥ २९ ॥ कल्याणीने नीले कल पहन लिये और सोनेकी माळ गलेमें बाळ ली । वे अङ्गराग लगाकर, सुन्दर मूषणोंसे विभूषित होकर इस प्रकार शोभायमान हुए मानो इन्द्रका स्वैतर्का देवका भागी हो ॥ ३० ॥ परीक्षित ! यमुनाजी अब भी कल्याणीके साथी हुई मार्गसे गइती हैं और वे ऐसी जान पड़ती हैं, मानो अनन्तशक्ति भगवान् कल्याणीका यश गाँन कर रही हों ॥ ३१ ॥ कल्याणीका चित्त ब्रह्मासिनी गायियोंके माधुर्यसे इस प्रकार मुग्ध हो गया कि उन्हें सम्मत्त कुछ ध्यान ही न रहा, बहुत-सी रात्रियाँ एक रातके समान व्यतीत हो गयीं । इस प्रकार कल्याणीजी ब्रजमें निहार करते रहे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमार्थ्या संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
बलदेवविजये यमुनाकर्षणं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

अथ पट्पष्टिमोऽध्यायः

पीनकूक और काशिराजका उच्चार

भीमक उच्चार
नन्दब्रज गते रामे करुणाधिपतिनृप ।

भीमकूकभी कहते हैं—परीक्षित । जब भगवान् कल्याणी नन्दबाबाके ब्रजमें गये हुए थे, तब पीछेसे करुण

वासुदेवोऽहमित्यङ्गो दूत कृष्णाय प्राहिषोत् ॥ १ ॥

त्वं वासुदेवो भगवान्वरीषो जगत्पतिः ।

इति प्रतोभितो बालैर्मन आत्मानमच्युतम् ॥ २ ॥

दूत च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाम्बुक्तवर्त्मने ।

द्वारकायां बधा बालो नृपो बालकृतोऽपुषः ॥ ३ ॥

इतस्तु द्वारकामेत्थ सभायामास्वितं प्रच्युम् ।

कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसद्विभक्तमश्वीम् ॥ ४ ॥

वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।

भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥ ५ ॥

यानि त्वमसन्निहानि मौढ्याद् विभर्षिंसात्सतः ।

त्वक्तव्यैहि मां त्वं शरणं नो चेद् बहि भमाह्वयम् ॥ ६ ॥

भीमक उवाच

कृतबन् तदनुपाकर्म्म पौण्ड्रकस्तान्पमेक्षतः ।

उग्रसेनादयः सम्प्रा उषकैर्जहसुस्तदा ॥ ७ ॥

उवाच दूर्त भगवान् परिहासकयामनु ।

उत्स्रास्ये मूढ विह्वानि यैस्त्वमेव विकृतयसे ॥ ८ ॥

सुखं तदपिधापय कङ्कशुधवटैर्द्वितः ।

प्रपिप्पसे इतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥

शवि इतस्तदाशेषं त्यामिने सर्वमाहरत् ।

नेशके अहानी राजा पौण्ड्रकने भगवान् श्रीकृष्णके प्रस
एक दूत मेजकर यह कहलया कि 'भगवान् वासुदे
में हूँ' ॥ १ ॥ मूर्खमेग उसे बहकया करते थे कि
जाप ही भगवान् वासुदेव हैं और जगत्पति रक्षक के लिये
पृथ्वीपर अस्तीर्ण हुए हैं । इसका फल यह हुआ कि
यह मूर्ख अपनेको ही भगवान् मान बैठे ॥ २ ॥ जैसे
बच्चे आपसमें खेलते समय किसी बालकको ही राजा
मान लेते हैं और वह राजाकी तरह उनके साथ व्यवहार
करने लगता है, वैसे ही मन्दमति अहानी पौण्ड्रकने
अस्मिन्प्राप्ति भगवान् श्रीकृष्णकी छिप्प और खाल न
जानकर द्वारकामें उनके पास दूत मेज दिया ॥ ३ ॥
पौण्ड्रकका दूत द्वारका आया और राजसभामें बैठे हुए
कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको उसने अपने राजाका
यह संदेश कह सुनाया— ॥ ४ ॥ 'एकमात्र मैं ही
वासुदेव हूँ । इसरा कोई नहीं है । प्राणियोंपर हम
करनेके लिये मैंने ही अन्तार प्रवण किया है । तुमने
छूट-गूट अपना नाम वासुदेव रख लिया है, अब उसे
छेक दो ॥ ५ ॥ यदुक्थी ! तुमने मूर्खताका मेरे
विषय धारण कर रक्खे हैं । उन्हें छोड़कर मेरी शरणमें
आओ और यदि मेरी बात तुम्हें स्वीकार न हो, तो
मुझसे युद्ध करो' ॥ ६ ॥

भीशुक्लेचजी कहते हैं—परीक्षित ! मन्दमति

पौण्ड्रककी यह बहक सुनकर उग्रसेन आदि सबछत्र
नोर-मोरसे हैंसने लगे ॥ ७ ॥ उन लगेकोई हँसी सम्प्र
होनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने दूतसे कहा—'तुम
आकर अपने राजासे कह देना कि मेरे मुख । मैं अपने कल
आदि विषय यों नहीं छोड़ूँगा । इन्हें मैं तुझपर छोड़ूँगा
और केवल तुझपर ही नहीं, तेरे उन सब सन्निधियोंपर
भी, जिनके बाह्यकायेसे तू इस प्रकार बहक रहा है ।
उस समय मूर्ख ! तू अपना मुँह छिपाकर—और मुँह
गिरकर चीख, गीध, बटेर आदि मंसमोजी पक्षियोंसे
भिरकर सो जायगा, और तू मेरा शरणदाता नहीं, उन
कुपोंकी शरण होगा, जो तेरा मंस चीप-बीपकर आ
आँगे' ॥ ८-९ ॥ परीक्षित ! भगवान् का यह तिरस्कार
सनाद मेजर पौण्ड्रकका दूत अपने स्वामीके पास गया
और उसे कह सुनाया । फिर भगवान् श्रीकृष्णने भी

भोजपि रथमास्थाय काशीमुपश्रगाम ॥११॥

गृह्येऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।

श्रीहिष्णीभ्यां संयुक्तो निष्काम पुरावृत्तम् ॥१२॥

त काशिमिस्त्रिंशत् पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नुप ।

श्रीहिष्णीभिस्तिसृभिरपश्यत् पौण्ड्रक हरिः ॥१२॥

क्षार्पसिगदास्त्रार्जधीवत्साधुपलक्षितम् ।

भ्रातृं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥

प्रेक्ष्येवत्ससी पीते वसानं गुरुवचम् ।

मृत्पमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥१४॥

यदा तमात्मनस्तुल्यवेपं कृत्रिममास्त्रितम् ।

था नट रङ्गगतं विज्जहत्स भृश हरिः ॥१५॥

स्त्रैर्गदाभिः परिवै शतपृष्टिप्रासतोमरैः ।

वसिभि पङ्क्तिर्बाणैः प्राहरन्मयो हरिम् ॥१६॥

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयो-

र्षलं गवस्यन्दनवाजिपतिम् ।

गदासिचक्रेषुभिरार्दयत् भृश

यथा युगान्ते हुतमुक् पृथक् प्रजा ॥१७॥

आयोक्तं सत्रयवाजिह्वार

द्विपस्त्वोर्ध्वरिणावसन्निवैः ।

बभौ क्तिं मोदयई मनस्विना-

माप्तीकनं भूतपतेरिवोत्थणम् ॥१८॥

यथाह पौण्ड्रकक्षीरिभौ भोः पौण्ड्रक मय भवान् ।

द्वत्वात्स्नेन मामाह तान्यस्त्राप्युत्सृजामि ते ॥१९॥

रथपर सत्तार होकर काशीपर चढ़ाई कर दी । (क्योंकि यह कर्तव्यका राजा उन दिनों वहाँ अपने मित्र काशिराजके पास रहता था) ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्णके आक्रमणका समाचार पाकर महारथी पौण्ड्रक भी दो अक्षौहिणी सेनाके साथ शीघ्र ही मगरसे बाहर निकल आया ॥ ११ ॥ काशीकर राजा पौण्ड्रकका मित्र था । अतः वह भी उसके सहायता करनेके लिये तीन अक्षौहिणी सेनाके साथ उसके पीछे-पीछे आया । परीक्षित ! अब भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकको देखा ॥ १२ ॥ पौण्ड्रकने भी शङ्ख, चक्र, तम्वार, गदा, शार्ङ्गचतुर्ण और श्रीकृष्णचिह्न आदि धारण कर रखे थे । उसके वक्षःस्थलपर वनाकटी कौस्तुभमणि और वनमाला भी लटक रही थी ॥ १३ ॥ उसने देखी पीछे क्या पहन रखे थे और रक्सी ध्वजापर गुरुवचन चिह्न भी क्या रक्खा था । उसके सिरपर अमृत्य मुकुट था और कानोंमें मकरकुल कुण्डल जगमगा रहे थे ॥ १४ ॥ उसका यह साथ-का-सा चेप वनाकटी था, मानो कोई अग्निता रंगमंचपर अभिनय करनेके लिये आया हो । उसकी चेप-भूय अपने समान देखकर भगवान् श्रीकृष्ण खिलखिलकर हँसने लगे ॥ १५ ॥ अब शत्रुओंने भगवान् श्रीकृष्णपर त्रिशूल, गदा, मुद्गर, शक्ति, श्रद्धि, प्रास, नेमर, तम्वार, पङ्क्ति और बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार किया ॥ १६ ॥ प्रत्येक समय जिस प्रकार बाण सभी प्रकारके प्राणियोंको जमा देती है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने भी गदा, तम्वार, चक्र और बाण आदि शस्त्रास्त्रोंसे पौण्ड्रक तथा काशिराजक हाथी रथ, घोड़े और पैदलकी चतुरङ्गिणी सेनाको तहस-महस कर दिया ॥ १७ ॥ वह रणभूमि भगवान्के चक्रसे कण्ड-कण्ड हुए रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य, गधे और उंटोंसे पट गयी । उस समय ऐसा मांस्य हो रहा था, मानो वह भूतनाथ शङ्करकी मयङ्कर कीड़ावली हो । उसे देख-देखकर शरवीरोंका उरसाह और भी बढ़ रहा था ॥ १८ ॥

अब भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकसे कहा—ये पौण्ड्रक ! तुने नूतके शत्रु काहमया था कि मेरे विरुद्ध अस्त्र-शस्त्रादि प्रेष दो । सो अब मैं उन्हें तुझपर छोड़ रहा हूँ ॥ १९ ॥

वासुदेवोऽहमित्पद्मो दूत कृष्णाय प्राहिणोत् ॥ १ ॥

त्वं वासुदेवो भगवान्मयीर्णो जगत्पतिः ।

इति प्रस्तोभितो बालैर्मन आत्मानमच्युतम् ॥ २ ॥

दूत च प्राहिणोन्मन्द कृष्णायान्यक्तवर्त्मने ।

द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽपुच ॥ ३ ॥

दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामासितं प्रथम् ।

कृष्ण कमलपत्रार्धं राक्सर्वेशमग्रवीत् ॥ ४ ॥

वासुदेवोऽवतीर्णाऽहमेक एव न चापर ।

भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥ ५ ॥

यानि त्वमस्मद्विद्वानि मौढ्याद् विभर्षि सात्वत ।

त्यक्त्वं हि मां त्वं शरणं नो येषु दहि ममाहवम् ॥ ६ ॥

श्रीनृक उवाच

कृतधनं तदुपाकर्ष्य पौण्ड्रकस्याल्पमधसः ।

उग्रसेनदयः सम्या उषर्कजहस्तदा ॥ ७ ॥

उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु ।

उत्तस्थे मूढ विद्वानि र्यस्त्वमव विकृतधसे ॥ ८ ॥

सुनं तदपिधापात्र कशूग्रधवटेभुवः ।

अपिप्यस इवस्तत्र भरिता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥

इति दूतमदाधपं ग्नामिन सरमाहरत् ।

वेशाके ध्वजानी राजा पौण्ड्रकने भगवान् श्रीकृष्ण एक दूत भेजकर यह कहकरया कि 'भगवान् मैं हूँ' ॥ १ ॥ मूर्खमेग उसे ध्वजकल्प करते आप श्री भगवान् वासुदेव हैं और जगत्पती रख पृथ्वीपर अक्षतीर्ण हुए हैं ।' इसका फल यह । वह मूर्ख अपनेको ही भगवान् मान बैठा ॥ २ ॥ अच्छे आपसमें सेजते समय किसी बान्धवको । मान जेते हैं और वह राजाकी तरह उनके साथ । करने लगा है, वैसे ही मन्दमति बहानी पौ ध्वजिन्मपति भगवान् श्रीकृष्णकी छीन और स जानकर द्वारकामें उनके पास दूत भेज दिया ॥ पौण्ड्रककल्प दूत द्वारका आया और राजसभामें बैस कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको उसने अपने ए यह सन्देश कह सुनाया—॥ ४ ॥ 'एकमात्र वासुदेव हैं । दूसरा कोई नहीं है । प्राणियोंपर करनेके लिये मैंने ही अवतार ग्रहण किया है ।' छूट-मूठ अपना नाम वासुदेव रख लिया है, अब ओष दो ॥ ५ ॥ यदुवंशी । तुमने मूर्खताका विद्व भारण कर रखे हैं । उन्हें छोड़कर मेरी छा आओ और यदि मेरी बात तुम्हें स्वीकार न हो, मुझसे युद्ध करो ॥ ६ ॥

श्रीपुण्ड्रेश्वरी कहते हैं—परीक्षित ! मन्दम पौण्ड्रककी यह बहक सुनकर उग्रसेन आत्ति सम्मत् जोर-जोरसे हैंसने लगे ॥ ७ ॥ उन लोगोंकी हैंसी सम्म होनेक बाद भगवान् श्रीकृष्णने दूतसे कहा—'तु जाकर अपने राजासे कह देना कि 'रे मूढ़ ! मैं अपने पर आदि विद्व यों नहीं छोड़ूंगा । इन्हें मैं तुम्हपर छोड़ूंगा और केवल तुम्हपर ही नहीं, तेरे उन सब साधियोंपर भी, जिनके बहकानसे तू इस प्रकार बहक रहा है । उस समय मूर्ख ! तू अपना मुँह छिन्नकर—ओषे मुँह गिरकर पीव, गीध, कटेर आत्ति पंसभोवी पक्षियोंसे गिरकर सो जाया, और तू मेरा शरण-न्ता नहीं, उन कुत्तोंकी शरण होगा, जो तेरा नास पीव-पीवकर खा जायेंगे ॥ ८ ॥' परीक्षित ! भगवान् यह निरस्तारदर्न सभा मेंजर पौण्ड्रककल्प दूत अपने स्वामीके पास गया और उसे कह सुनाया । पर भगवान् श्रीकृष्णने भी

तेऽपि रथमास्याय काशीमुपप्रगाम ॥१॥

कोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथ ।

हिंसीभ्यां संयुक्तो निष्काम पुरावृत्तम् ॥११॥

काश्चिपतिमित्रं पार्ष्णिप्रक्षोऽन्वयान्नुप ।

हिंणीभित्तिसुभिरपश्यत् पौण्ड्रकं हरिः ॥१२॥

पार्ष्णिगदाक्षार्क्षीवत्साधुपलक्षितम् ।

मत्तं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥

शेषवाससी पीते वसन्तं गुरुव्यजम् ।

रूपमौल्याभरणं स्फुत्स्मरककुण्डलम् ॥१४॥

तमात्मनस्तुन्यवेपं कृत्रिममास्त्रितम् ।

नटं रङ्गमत्तं विज्झातं भृशं हरिः ॥१५॥

जैर्दाभिः परिवैः श्वत्सुष्टिप्रास्ततोमरैः ।

सिभिः पट्टिश्चैर्बाणैः प्राहरन्मयो हरिम् ॥१६॥

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयो-

र्बलं गजस्सन्दनवाक्पिचिमत् ।

गदासिचक्रेभिरार्दयन् भृशं

यथा युगान्तं हुतमुक् पृथक् प्रजाः ॥१७॥

आयोधनं तत्रथवाक्पिङ्गुर

द्विपस्त्ररोष्ट्रैररिणाभसम्भितैः ।

कमौ चितं मोदयन् मनस्विना-

मण्डीवनं भूतपतेरिवोन्मथम् ॥१८॥

यथाह पौण्ड्रकं क्षीरिभो भो पौण्ड्रक यद्भवान् ।

एवास्म्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥

रथपर सवार होकर काशीपर चढ़ाई कर दी । (क्योंकि यह कर्णभक्त रामा उन दिनों वहाँ अपने मित्र काश्चि-राजके पास रहता था) ॥ १० ॥

मगवान् श्रीकृष्णके आक्रमणका समाचार पाकर महारथी पौण्ड्रक भी दो अक्षौहिणी सेनाके साथ शीघ्र ही मगरसे बाहर निकल आया ॥ ११ ॥ काशीका राजा पौण्ड्रकका मित्र था । अतः वह भी उसकी सहायता करनेके लिये तीन अक्षौहिणी सेनाके साथ उसके पीछे-पीछे आया । परिस्थित ! अब मगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकको देखा ॥ १२ ॥ पौण्ड्रकने भी शङ्ख, चक्र, तलवार, गदा, शार्ङ्गचक्र और श्रीकृष्णचिह्न आदि धारण कर रखे थे । उसके वक्षःस्थलपर वनमाली कौस्तुभमणि और वनमाला भी लटक रही थी ॥ १३ ॥ उसने रेशमी पीछे बन्ध पहन रखे थे और रथकी ओजदार गरुडका चिह्न भी ऊपर रक्खा था । उसके सिरपर कृष्ण मुखुट था और कर्णमें मकराकृत कुण्डल जगमगा रहे थे ॥ १४ ॥ उसका यह सारा-का-सारा वेप बनावटी था, मानो कोई अमिता रंगमंचपर अभिनय करनेके लिये आया हो । उसकी वेप-भूषा अपने समान देखकर मगवान् श्रीकृष्ण खिन्नखिन्न हो सन लगे ॥ १५ ॥ अब शत्रुओंने मगवान् श्रीकृष्णपर शिख, गदा, मुद्गर, शक्ति, शङ्ख, प्रास, तोमर, तलवार, पट्टिश और बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार किया ॥ १६ ॥ प्रथमके समय जिस प्रकार बाण सभी प्रकारके प्राप्तिमें-को जल देती है, वैसे ही मगवान् श्रीकृष्णने भी गदा, तलवार, चक्र और बाण आदि शस्त्रोंसे पौण्ड्रक तथा काशिराजके हाथी, रथ, घोड़े और पैदलकी चतुरङ्गिणी सेनाको तहस-महस कर दिया ॥ १७ ॥ वह रणभूमि मगवान्के चक्रसे खण्ड-खण्ड हुए रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य, गधे और ऊँटोंसे पट गयी । उस समय ऐसा माझ्य हो रहा था, मानो वह भूतनाथ शाहराकी भयङ्कर कीड़ाखली हो । उसे देख-देखकर शरीरोंका उरसाह और भी बढ़ रहा था ॥ १८ ॥

अब मगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकसे कहा—ये पौण्ड्रक ! तुने दूतके द्वारा कहावया था कि मेरे पिछे अस्त्र-शस्त्रादि छोड़ दो । तो अब मैं उन्हें तुझपर छोड़ रहा हूँ ॥ १९ ॥

त्याप्रविष्टेऽभिधानं मे यत्तयास्तु मृषा धृतम् ।
 व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥
 इति क्षिप्त्वा क्षितैर्वर्णैर्विरधीकृत्य पौण्ड्रकम् ।
 शिराऽब्रुवद् रथाङ्गेन वज्रणेन्द्रो यथा गिरे ॥२१॥
 तथा काश्रिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः ।
 न्यस्तयत् काश्रिपुर्या पद्मकोष्ठमिवानिल ॥२२॥
 एवं मत्सरिण इत्वा पौण्ड्रकं ससत्वं हरिः ।
 द्वारकामाविष्टत् सिद्धैर्गीयमानकथायुतः ॥२३॥
 स नित्यं भगवद्दधानप्रश्वस्ताखिलबन्धनः ।
 विभ्राण्यश्च हरे राजन् स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥
 शिरः पतितमालोक्य राजद्वार सङ्कुण्डलम् ।
 किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति सखिश्चिरजनाः ॥२५॥
 राज्ञ काश्रिपतेर्ज्ञात्वा महिष्य पुत्रबान्धवाः ।
 पौराण्यं ह्यहं रावन् नाय नाथेति प्रालुदन् ॥२६॥
 सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाभिधिं पितुः ।
 निहस्य सिद्धेऽन्तारं यास्माम्यपचितिं पितुः ॥२७॥
 इत्यात्मनाभिसंभाय सापाण्यायां महेश्वरम् ।
 सुदक्षिणाऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥
 प्रीताऽविमुक्तं भगवान्स्तस्मै वरमवाप् भव ।
 पितृहन्तृवभाषाय स वक्त्रं भरमीप्सितम् ॥२९॥

एने कुण्डल मेरा नाम रख दिया है । अतः तू
 जब मैं तुझसे उन नामोंको भी सुबाकर रहूँगा ।
 तेरे शरणमें जानकी बात, तो यदि मैं तुझसे कुछ
 कर सकूँगा तो तेरी शरण प्रार्थना करूँगा ॥ २० ॥
 भगवान् श्रीकृष्णन इस प्रकार पौण्ड्रकत्रय तिरस्कर कर
 अपने सीखे वाणोंसे उसके रथको तोड़-फोड़ कर
 चक्रेसे उसका सिर जैसे ही उतार दिया, जैसे ए
 अपने वज्रसे पहाड़की चोटियोंको उड़ा दिया था ॥ २१ ॥
 इसी प्रकार भगवान्ने अपने वाणोंसे काश्रिपते
 सिर भी चक्रेसे ऊपर उठाकर काशीपुरीमें गिरा दिया जै
 बाण कम्पन्कर पुष्प गिरा देती है ॥ २२ ॥ इस प्रकार
 अपने साथ बाह्य रखनवाले पौण्ड्रकत्रये और उसके साथ
 काश्रिनरेशको मारकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी उनका
 द्वारकामें लौट आये । उस समय सिद्धगम्प मायका
 अवतमयी कथाका गान कर रहे थे ॥ २३ ॥ श्रीभिर ।
 पौण्ड्रक भगवान्के रूपका, चाहे वह किसी मन्त्रसे हो,
 सदा चिन्तन करता रहता था । इससे उसके छो
 बन्धन कट गये । वह मगधान्क बनाकी तब ए
 किये रहता था, इससे बार-बार उसीका स्तन होने
 कारण वह भगवान्के साकृत्पत्न्यो ही प्राप्त हुआ ॥ २४ ॥
 श्वर काशीमें राजमहम्मके दरवाजेपर एक कुण्ड
 मण्डित मुण्ड गिरा देखकर भोग तरह-तरहका सके
 करने लगे और सोचने लगे कि यह क्या है, यह
 किसका सिर है ? ॥ २५ ॥ जब यह मण्डल हुआ कि
 वह तो काशिनरेशका ही सिर है, तब अनिर्य, ए
 कुमार, राजपरिवारके लोग तथा नागरिक रो-रोकर बिल
 करने लगे—‘हा नाथ ! हा राजन् ! हा-हाय !
 हमारा तो सर्वनाश हो गया’ ॥ २६ ॥ काशिनरेश
 पुत्र था सुदक्षिण । उसने अपने पितृका बन्धे
 संस्कार करके मन-ही-मन यह निश्चय किया कि बने
 पितृघातीको मारकर ही मैं पितृके श्रापसे उद्धार हो
 सकूँगा । निदान वह अपने कुण्डपुरेष्ठित और बाबायोंके
 साथ व्ययन्त एकप्रतासे भगवान् शङ्करकी वाताय
 करन लगा ॥ २७-२८ ॥ काशी नगरीमें उसकी व्य
 भनासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने वर देनेका कहा ।
 सुदक्षिणने यह अभीष्ट कर माँगा कि मुझ मेरे पितृघाती-

दक्षिणार्धं परिचर द्वाक्षणे सममृत्विजम् ।

अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥३०॥

साधयिष्यति संकल्पमन्त्राण्ये प्रयोजित ।

इत्यादिष्टया चक्रे कुण्डायाभिचरन् वती ॥३१॥

ततोऽधिकृत्यतः कुण्डान्मूर्तिमान्विभीषण ।

तत्ताम्रशिखाश्मधुरङ्गारोद्गारिलोचन ॥३२॥

दंष्ट्रोप्रभकुटीर्दण्डकठोरास्य सजिह्वा ।

बालिहन्सृक्किणी नम्रोविधुर्बस्त्रिखिलं ज्वलन् ॥३३॥

पद्मपां तालप्रमाणान्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।

सोऽभ्यधावद्ब्रूता मूर्तद्वारकां प्रदहन्दिश ॥३४॥

तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारफर्कसः ।

त्रिलाक्य तत्रसु सर्वे वनदाह मृगा यथा ॥३५॥

अथैः सभायां कीदन्त भगवन्त भयातुरा ।

ग्राहि ग्राहि त्रिलाक्यं वरुणं प्रददत पुरम् ॥३६॥

धुन्वा तञ्जनवैष्णव्यं रघ्ना म्नानां च साधसम् ।

उरष्य मन्त्रहस्याह मा भैष्टयविताभ्यहम् ॥३७॥

के वचका उपाय वत्साह्ये ॥ २९ ॥ भगवान् शङ्करने
कहा—धुम आह्वानोंके साथ मित्रकार यज्ञके देवता
अतिमृत दक्षिणाग्निकी अभिचारविधिसे आराधना करो।
इससे वह अग्नि प्रमथणोंके साथ प्रकट होकर यदि
आह्वानोंके अमकपर प्रयोग करोगे तो वह तुम्हारा सन्तुष्ट
सिद्ध करेगा । भगवान् शङ्करकी ऐसी आज्ञा प्राप्त करके
सुदक्षिणने अनुष्ठानके उपपुच्छ नियम प्रमाण किये और
वह भगवान् श्रीकृष्णके स्त्रिये अभिचार (मारणकर
पुरश्चरण) करने लगा ॥ ३० ३१ ॥ अभिचार पूर्ण
होते ही यज्ञकुण्डसे अति भीषण अग्नि मूर्तिमान् होकर
प्रकट हुआ । उसके केश और दन्ती-मूँछे तपे हुए तोंबेके
समान काल-काल थे । भौंहोंसे अगारे वारसरहे थे ॥ ३२ ॥
उस दाढ़ों और टेढ़ी भुकुटियोंके कारण उसके मुखसे
कूला टपक रही थी । वह अपनी जीमसे मुँहफ दोनों
कोने चट रहा था । शरीर रंग-धर्ग था । हाथमें
त्रिशूल लिये हुए था, जिसे वह बार-बार घुमाता जाता
था और उसमेंसे अग्निकी लपटें निकल रही थी ॥ ३३ ॥
ताबके पेड़के समान बड़ी-बड़ी टोंगे थीं । वह अपने
केशोंसे धरतीको कँपाता हुआ और ज्वालाओंसे दसों
दिशाओंको दग्ध करता हुआ द्वारकाकी ओर दौड़ा और
बात-बी-बान्तमें द्वारकाके पास जा पहुँचा । उसके साथ
बहुत-से भूत भी थे ॥ ३४ ॥ उन अभिचारकी आगको
बिल्कुल पास आयी हुई देख द्वारकावासी कैसे ही डर
गये जैसे जंगलमें आग लगनेपर हरिन डर जाते
हैं ॥ ३५ ॥ वे लोग मथभीत होकर भगवान्के पास
दौड़ हुए आये, भगवान् उस सन्तुष्ट समामें चौसर खल
रह गये । उन लोगोंने भगवान्से प्रायना की—तीनों
लोकोंके एकमात्र स्वामी ! द्वारका नगरी इस आगसे
भस्म होना चाहती है । आप हमारी रक्षा करिय ।
आपके सिवा इसकी रक्षा और कर नही पर
सकता ॥ ३६ ॥ शरणागतवत्सल भगवान्ने देखा कि
हमारे सज्जन भयभीत हो गये हैं और पुकार पुकारकर
निकरताभरे स्वरसे हमारी प्रायना कर रहे हैं, तब
उन्होंने हँसकर कहा—उठो मत, मैं तुम लोगोंका रक्षा
करूँगा ॥ ३७ ॥

त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वया मृषा वृत्तम् ।
 ब्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि सयुगम् ॥२०॥
 इति क्षिप्त्वा शितैर्बभ्रैर्विरभीकृत्य पौण्ड्रकम् ।
 शिराऽब्रुवन् रथाङ्गेन वज्रणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥
 तथा काशियुते कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः ।
 न्यशावत् पत्राक्षिपुषां पद्मकोशमिवानिल ॥२२॥
 एवं मत्सरिण इत्वा पौण्ड्रकं ससत्त्वं हरि ।
 द्वारकामाविशत् सिद्धैर्गोपमानकधाम्नुत ॥२३॥
 स नित्यं भगवद्वपानग्रजस्तस्मिन्नखिलवन्धनः ।
 विभ्राणध्वं हरं राजन् स्वरूपं तमयोऽभवत् ॥२४॥
 शिरः पवितमालाक्य राजद्वारं सकुण्डलम् ।
 किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति सक्षिप्तिरजनाः ॥२५॥
 राघु काशियुतर्ज्ञात्वा महिम्नः पुत्रमान्धवा ।
 पौराण्यं ह्यहं राजन् नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥२६॥
 सुदधिगस्तस्य सुतं कृत्वा सस्याविधिं पितुः ।
 निदम्य शिवद्वारं यास्याम्यपचिर्तिं पितुः ॥२७॥
 इत्यात्मनाभिसन्धाय साक्षात्प्राप्य महेश्वरम् ।
 सुदधिमाञ्चपामास परमणं समाधिना ॥२८॥
 तानागिमुक्तं भगवान्स्वस्म वामशङ्खं भव ।
 त्वदन्तरभाषाय स यम परमीप्सितम् ॥२९॥

एने छलमूढ मेरा नाम रख दिया है । वह
 क्षम मैं तुझसे उन नामोंको भी छुड़ाकर रखे ।
 तेरे शरणमें आनेकी बात, सो यदि मैं तुझसे
 कर सकूंगा तो तेरी शरण ग्रहण करूँगा ॥ २० ॥
 भगवान् श्रीकृष्णन इस प्रकार पौण्ड्रक
 अपने सीखे बाणोंसे उसके रफको तान-पेड़ कर
 धकसे उसका सिर बैसे ही उतार दिया, जैसे,
 अपने कपड़े पहनाइकी चोटियोंको उखा दिया ॥ २१ ॥
 इसी प्रकार भगवान्ने अपने बाणोंसे काशियुत
 सिर भी वक्त्रसे ऊपर उखाकर काशीपुरीमें गिरा दिया
 वायु कमलका पुष्प गिरा देती है ॥ २२ ॥ इस प्रकार
 अपने साथ उड़ा रखनेवाले पौण्ड्रकको और उसके साथ
 काशिनरेवाको मारकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी उरकी
 द्वारकामें छोड़ आये । उस समय सिद्धगण मरुत
 अमृतमयी कपाका गान कर रहे थे ॥ २३ ॥ पौण्ड्रक
 पौण्ड्रक भगवान्के रूपका, चाहे वह किसी मन्त्रो के,
 सदा किन्तन करता रहता था । इससे उसके को
 वन्धन कट गये । वह भगवान्का बनाइती वेग कर
 किये रहता था, इससे बार-बार उसीका समन होने
 कारण वह भगवान्के सारूप्यको ही प्राप्त हुआ ॥ २४ ॥
 शहर काशीमें राजमहलके दरवाजेपर एक कुम्हार
 मण्डित मुण्ड गिरा देखकर भोग तख्त-सरहज करने
 करने लगे और सोचने लगे कि यह क्या है ?
 किसका सिर है ? ॥ २५ ॥ जब यह मालूम हुआ
 कि तो काशिनरेवा ही सिर है, तब उनकी, उन
 कुम्हार, राजपरिवारके भोग तथा नागरिक धोखेकर फिर
 करने लगे—‘हा नाथ । हा राजन् । हम-हम
 हमारा तो सर्वनाश हो गया’ ॥ २६ ॥ काशिनरेवा
 पुत्र था सुदधिग । उसने अपने पिताका मन्त्र-
 संस्कार करके मन ही-मन यह निश्चय किया कि बने
 सिद्धवातीको मारकर ही मैं पिताका वृणसे उद्धार हो
 सकूँगा । निदान वह अपने कुत्रपुत्रेहित और वाचस्पत्य
 साथ अत्यन्त एकप्रकारसे भगवान् राघवारी आग
 करने लगा ॥ २७-२८ ॥ काशी नगरीमें उसकी अण-
 पनासे प्रसन्न होकर भगवान् राघवने वह दनरो कहा ।
 सुदधिगन यह अभीष्ट पर माना कि मुझे मर सिद्धकी

ननन्तस्त्राप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रष्टु ॥ १ ॥

भीमक उवाच

नरकस्य सत्त्वा कश्चिद् द्विविदो नाम वानर ।

सुग्रीवसचिव सोऽप्य भ्राता मन्दस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥

सक्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्रवम् ।

पुरग्रामाकरान् घापानदहद् बह्विमुत्सृजन् ॥ ३ ॥

कश्चित् स शैलानुस्पाद्य वैदेधान् समचूर्णयत् ।

भानवर्तन् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरि ॥ ४ ॥

कश्चित् समुद्रमप्यभ्यो दार्म्यामुत्खिप्य तल्लभम् ।

देशान् नागायुतप्राणो वेलाकूलानमल्लयत् ॥ ५ ॥

भ्रातृमानुपिमुक्थानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।

अदृष्यन्लुक् मूत्रैरग्नीन् वैदानिकान् सलः ॥ ६ ॥

पुरुषान् योषितो यतः रुमाभूदुद्रोणीगुहासु ॥

निविप्य चाप्यधार्ष्ट्यैः पद्मस्कारीष कीटकम् ॥ ७ ॥

एव दद्यान् विप्रकुवन् दूषयन् कुलखिय ।

धृत्वा मुल्लिख गीत गिरि रैवतकं ययौ ॥ ८ ॥

वप्रापश्यद् यदुपतिं राम पुष्करमाठिनम् ।

सुदृढनीयसवाङ्गं लतनायूषमप्यगम् ॥ ९ ॥

वाणीक विषय नहीं हैं । उनकी एक-एक छीज लोक-
मर्त्यदासे विच्छेदन है, अजोक्त है । उन्होंने और जो
कुछ बहुत कम किये हों, उन्हें मैं फिर सुनना चाहता
हूँ ॥ १ ॥

श्रीगुह्येयजीने कहा—परीक्षित । दिविद नामक
एक वानर था । वह भीमासुरका सख, सुग्रीवका मन्त्री
और मेन्दका शक्तिशाली भाई था ॥ २ ॥ जब उसने सुना
कि श्रीकृष्णने भीमासुरको मार डाला, तब वह अपने
मित्रका मित्रताके श्रृणसे उच्छ्वस होके छिये राष्ट्र-विश्व
करनेर उतावक हो गया । वह वानर बड़े-बड़े नगरों,
गोंबों, खानों और अहीरोषी बस्तिर्योंमें आग लगाकर
उन्हें जजने लगा ॥ ३ ॥ कभी वह बड़े-बड़े पहाड़ोंको
उच्छादकर उनसे प्रान्त-के प्रान्त चयनाधुर कर देता
और विशेष करके ऐसा काम वह आनर्त (कस्तियावाह) के
देशमें ही करता था । क्योंकि उसका मित्रको मारनेवाले
मर्यान् श्रीकृष्ण उसा दसमें निवास करते थे ॥ ४ ॥
दिविद वानरमें दस हजार हाथियोंका एक था । कभी
कभी वह दुष्ट समुद्रमें खड़ा हो जाता और हाथोंसे
इतना जोर डालता कि समुद्रतटक देश दूध जाते ॥ ५ ॥
वह दुष्ट बड़े-बड़े अग्नि-मुनिपोंके आश्रमोंकी सुन्दर-सुन्दर
आ-वनस्पतियोंका ताड़-मरादकर चौपट कर देता और
उनके पदसम्बन्धी अक्षि-कुशलोंमें मूत्र-मूत्र बाँधकर अक्षिपोंको
दूस्ति कर देता ॥ ६ ॥ जैसे चूड़ी नामक पतिज्ञा दूसरे
पतिपोंको से जाकर आग विष्में डेँ कर देता है, वैसे
ही वह मर्यान् वानर खियों और पुरुषोंका स ज्वर
पहाड़ोंकी घाटियों तथा गुफाओंमें डाल देता । फिर
बाहरसे बड़ी-बड़ी आगने रखकर उनका मुँह डेँ कर
देता ॥ ७ ॥ इस प्रकार वह दगावसियोंका ता निरस्त
करता ही सुग्रीव मित्रपोंका भी दूस्ति कर देता था ।
एक दिन वह दुष्ट सुग्रीव संगीत सुनकर रैवतक
जानकर गया ॥ ८ ॥

यहाँ उसने दृष्ट कि यदुवंदिनामक यत्रामजी
सुन्दर-सुन्दर गुरतिपोंक सुग्रीव सिगमन हैं । उनका
परमक अङ्ग ज्यस्त सुन्दर और रंगनाय है और
बहु लज्जर कतग्रीवी फल शूर रही है ॥ ९ ॥

सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्वा माहेश्वरी विभुः ।
 विज्ञाय तद्विषयार्थं पार्थस्य चक्रमादिशत् ॥३८॥
 तत् सर्वक्रेटिप्रतिमं सुदर्शनं
 जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।
 स्वतेजसा त्वं कङ्कभोऽथ रोदसी
 चक्रं सुकुन्दास्त्रमधामिमार्दयत् ॥३९॥
 कृत्वा नलं प्रतिहृतः सरथाङ्गपाणे-
 रस्त्रौजसा स नृप भगवतो निवृत्तः ।
 वारणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
 सर्विम्बजन समदहत् स्वकृवाऽभिचारः ॥४०॥
 चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं
 वारणसीं साङ्गसभालयापणाम् ।
 सपोपुराङ्गुलकक्रोष्ठसङ्कुलं
 सक्नेष्टहस्त्यम्बरयागमालाम् ॥४१॥
 दग्धा वाराणसीं सर्वा विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् ।
 भूयः पार्थस्य पातिष्ठत् कृष्णस्याङ्घ्रिदृक्कर्मणः ॥४२॥
 य एतच्छाब्देन्मर्त्यं उत्तमशोकविक्रमम् ।
 समाहिता वा मृशुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

परीक्षित ! भगवान् उसके बाहर-भीतर
 वाले हैं । वे जान गये कि वह काशीसे
 माहेश्वरी कृत्वा है । उन्होंने उसके प्रतिफल
 अपने पास ही बिगड़मान चक्रसुदर्शनके
 दी ॥ ३८ ॥ भगवान् सुकुन्दका प्यार बड़ा
 चक्र कोटि-कोटि सूर्यके समान तेजस्वी और प्र-
 भ्रमिके समान जाज्वल्यमान । उसके तेजसे
 दिशाएँ और अन्तरिक्ष चक्र उठ और सब उ-
 धमिचार अक्रिके कुचल डाल ॥ ३९ ॥
 श्रीकृष्णके चक्रसुदर्शनचक्रकी शक्तिके कृपास्वरूप
 मुँह टूट-टूट गया, उसका तेज मख हो ग-
 यो कुण्ठित हो गयी और वह वहाँसे झींकर क-
 गयी तथा उसने श्रुतिबल आचार्योंके साथ हुए
 जकाकर मरम कर दिया । इस प्रकार उसका
 उसीके विनाशका कारण हुआ ॥ ४० ॥ कृष्ण
 पीछे सुदर्शनचक्र भी काशी पहुँचा । चक्र
 विशाल नगरी थी । वह बड़ी-बड़ी बटारिहों, स-
 बाजार, नगरद्वार, द्वारोंके सिंहर, बहसी
 खजाने, हाथी, घोड़े, रथ और वनोंके
 सुसज्जित थी । भगवान् श्रीकृष्णके सुदर्शनचक्र
 काशीको जकाकर मरम कर दिया और कि
 परमाण्वन्दमयी जीज करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण
 झोट आपा ॥ ४१ ४२ ॥
 जो मनुष्य पुष्पक्षीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके रथ
 को एकप्रमथके साथ सुनता या सुनाता है, वह
 पापोंसे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्स्यां संहितायां वंशमस्तके चैतन्ये उच्यते
 पौष्पकप्रविभो नाम बटपट्टितमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

अथ सप्तपट्टितमोऽध्यायः

छिद्विषय उवाच

राजावाच

राजा परीक्षितसे पूछा—भगवान् बभ्रामयी
 शक्तिमान् एव सखि प्रकृष्यकी सीमासे परे, बनत
 उनका स्वरूप, गुण बीजा आदि मन मुनि

—१ भोतुमिच्छामि रामस्यानुतकर्मणः ।

१ तनुमिच्छामि तमदह । २ विष्णुचक्रं । ३ श्री पौष्पकप्रविभो नाम च ।

प्रनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥

भीष्मक उवाच

नरकस्य सत्त्वा कश्चित् द्विविदो नाम वानर ।

सुग्रीवसचिव सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥

सस्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्रबन्धु ।

पुरप्रामाकारान् घोषानदहद् बहिष्पुत्सुजन् ॥ ३ ॥

कश्चित् सशैलानुत्पाद्य वैदेक्षान् समचूर्णयत् ।

वानरान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ॥ ४ ॥

कश्चित् समुद्रमण्यस्यो दोर्म्यामुत्खिप्य लललम् ।

दशान् नागायुतप्राणो वेलङ्कलानमल्लयत् ॥ ५ ॥

आभमानुविमुक्ष्यानां कस्या भग्नवनस्पतीन् ।

अदृप्यच्छकृ मूर्ध्नरगनीन् वैतानिकान् खलः ॥ ६ ॥

पुरुषान् चोपितो ह्यस हमाभूषद्रोमीगुहामुसः ।

निक्षिप्य चाप्यधान्तेलैः पेक्षस्कारीव कीटकम् ॥ ७ ॥

एव देशान् विप्रकुर्वन् दृप्यंश्च कुलस्त्रियम् ।

धृत्वा मुनलित गीत गिरिं रैवतक ययौ ॥ ८ ॥

उप्रापश्यद् यदुपतिं राम पुष्करमालिनम् ।

मुदयनीयसंवाक्क उतनायुधमण्यगम् ॥ ९ ॥

वाणीके विषय नहीं हैं । उनकी एक-एक क्षीय क्षेक-
मर्मादासे विच्छिन्न है, व्यञ्जित है । उन्होंने और जो
कुछ अकृत कम किये हों, उन्हें मैं फिर सुनना चाहता
हूँ ॥ १ ॥

भीष्मकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! द्विविद नामक
एक वानर था । वह भीमासुरका सखा, सुग्रीवका मन्त्री
और मैन्दका शक्तिशाली भाई था ॥ २ ॥ जब उसने सुना
कि भीष्मकने भीमासुरको मार डाला, तब वह अपने
मित्रकी मित्रताके ऋणसे उन्मत्त होनेके लिये राष्ट्र-विज्व
करलेख उठाकर हो गया । वह वानर बड़े-बड़े नगरों,
गँवों, खानों और लहरीयोंकी वस्तियोंमें आग लगाकर
उन्हें जलने लगा ॥ ३ ॥ कभी वह बड़े-बड़े पहाड़ोंका
उच्छिन्नकर उनसे प्रान्त-के-प्रान्त चकनाचूर कर देता
और विशेष करके ऐसा काम वह आनर्त (कस्टियावाड़)
देशमें ही करता था । क्योंकि उसका मित्रपक्ष भारनेनाथ
भगवान् भीष्मका उसा देशमें निवास करते थे ॥ ४ ॥
द्विविद वानरमें दस हजार हारिष्योंका यज्ञ था । कभी-
कभी वह दुष्ट समुद्रमें खड़ा हो जाता और हाथोंसे
इतना जल उछाड़ता कि समुद्रतटक देश डूब जाते । ५ ॥
वह दुष्ट बड़े-बड़े अग्नि-मुनियोंके आश्रमोंकी सुन्दर-सुन्दर
कला-वनस्पतियोंको ताड़-माराइकर चीष्ट कर देता और
उनके पक्षसम्बन्धी अग्नि-कुण्डोंमें मट-मूत्र काश्कर अक्षियोंको
दूधित कर देता ॥ ६ ॥ जैसे यज्ञी नामक पर्वका दूसरे
पर्वोंको से जाकर अपने मित्रमें बँद कर देता है, वैसे
॥ ७ ॥ वह मरामत वानर शिपों और पुरुषोंका ल जाकर
पहाड़ोंकी घाटियों तथा गुफाओंमें आग देता । फिर
माहरसे बड़ी-बड़ी चट्टानें रखकर उनका मुँह बन्द कर
देता ॥ ८ ॥ इस प्रकार वह दगास्तियोंका ता निरस्त
करता ही कुर्धन शिपोंका भी दूधित कर देता था ।
एक दिन वह दुष्ट मुनिलि संगीत सुनकर रैवतक
जानकर गया ॥ ८ ॥

यहाँ हमन देख कि पदुपशक्तिकेनि वधामनी
सुन्दर-सुन्दर मुनियोंके सुन्दर विगमन हैं । उनका
पदुपक अङ्ग अस्मत् सुन्दर और गनीय है और
बहु मन्दर कमोंकी मल पट्टा रही है ॥ ९ ॥

सर्वसाम्प्रतिःसाध्या कृत्या माहेधरी विभुः ।

विद्याय तद्विपातार्थं पार्श्वस्थः पादमादिशत् ॥३८॥

तत् सर्व्यकोटिप्रतिभं सुदर्शनं

जाज्वर्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।

सतेजसा त्वं ककुभोऽयं गोदसी

चक्रं मुकुन्दाक्षमथाभिमार्दयत् ॥३९॥

कृत्वानल प्रतिहतः सरथाङ्गपाणे

रत्नैजिसाम नृप भयमुत्सो निवृत्तः ।

बाराणसी परिसमेत्य सुदर्शिनं तं

सर्व्विज्जनं सम्भूय शङ्कतोऽभिचारः ॥४०॥

चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं

बाराणसीं साङ्गसभालयापणाम् ।

सगोपुण्डालकोष्ठसङ्कुलं

सकोशहस्त्ययरबाभक्षालाम् ॥४१॥

दग्ध्वा बाराणसीं सर्वा विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् ।

भूयः पार्श्वमुपासिष्ठं कृष्णसाक्षिण्यकर्मण ॥४२॥

च एतच्छ्रावयेन्मर्त्यं उत्तमसोकविक्रमम् ।

समाहितो वा नृपुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवत्प्रे महापुराणे पारमार्थ्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरपर्वे
पौष्करादिनवो नाम षट्षष्टितमाऽध्यायः ॥ ६६ ॥

अथ सप्तपष्टितमोऽध्यायः

विश्विक्वच उवाच

उवाच

मृगान्दं भातमिच्छामि रामस्याहृतकर्मणः ।

* तमुत्तिष्ठमेतमहम् । २ विष्णुचक्रं । ३ ये पौष्करादिपरायणः नन् ।

परीक्षित । भगवान् उसके बाहर-भीतर
वाले हैं । वे जान गये कि यह कसीसे
माहेधरी कृत्या है । उन्होंने उसके प्रतिभने
अपने पास ही विराजमान चक्रसुदर्शनको
दी ॥ ३८ ॥ भगवान् मुकुन्दका प्यार वह
चक्र कोटि-कोटि सुरोंके समान तेजस्वी और
असिके समान जागृतमान) उसके तेषसे
दिशार्थ और अन्तरिक्ष चक्र उठे और अब उठने
अभिचार-अधिकांश कुशल बाल ॥ ३९ ॥
श्रीकृष्णके चक्र सुदर्शनचक्रकी शक्तिसे इत्यादि
मुँह टूट-टूट गया, उसका तेज नष्ट हो गया,
कुण्ठित हो गयी और वह वहाँसे कैदकर कर्ण
गयी तथा उसने अश्विन बाचत्योके साथ
जमाकर मरम कर दिया । इस प्रकार उसका
उसीके विनाशका कारण हुआ ॥ ४० ॥ कृष्णके
पीछे सुदर्शनचक्र भी कासी पहुँचा । कहीं
विशाक भगरी थी । वह वही-वही अटारिसे, सदा
बानार, नगरद्वार, द्वारोंके सिवार, बहालीका
कमाने, हाथी, कीड़े, रथ और वनोंके मेरे
सुसज्जित थी । भगवान् श्रीकृष्णके सुदर्शनचक्रने
कसीका जमाकर मरम कर दिया और फिर
परमानन्दम्भी लीला करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके
कैद जाया ॥ ४१ ४२ ॥

जो मनुष्य पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके इस
को एकाग्रताके साथ धुमत्त या धुमत्ता है, वह
पापोंसे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

नन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥

भीमक उवाच

रक्तस्य सत्त्वा कश्चिद् द्विविदो नाम वानर ।

सुग्रीवसचिव सोऽथ भ्राता मैन्दस्य धीर्यवान् ॥ २ ॥

सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राट्प्रविप्रवम् ।

पुरग्रामाकरान् घोपानदहद् बहिर्मुत्सृजन् ॥ ३ ॥

कचित् सञ्ज्ञैलानुत्पाद्य तैर्देशान् प्रमचूर्णयत् ।

वानरान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ॥ ४ ॥

कचित् समुद्रमण्यस्यो दार्म्यामुत्थिष्य तल्लभम् ।

दशान् नागायुतप्राणो वेलोकूलानमञ्जयत् ॥ ५ ॥

श्राधमानुपिहृष्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।

भूतपुण्ड्रान् भूतस्त्रीन् चैतलिकान् स्तलः ॥ ६ ॥

पुरुषान् योषितो ह्यस्माभूद्वीरो गुहामुस ।

निक्षिप्य चाप्यधाष्टैर्ले पञ्चस्वहारीष्वधीटकम् ॥ ७ ॥

एष दशान् विप्रकुर्वन् दूषयन् कुलत्रियम् ।

धृत्वा सुकलितं गोतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥ ८ ॥

वत्रापश्यत् यदुपतिं रामं पुच्छरमात्मिनम् ।

मुदन्नीयसराञ्च ततनायूपमप्यगम् ॥ ९ ॥

वाणीके निषय नहीं हैं । उनकी एक-एक छीज लोक-
मर्यादासे विच्छेदन है, अजीबिक है । उन्होंने और जो
कुछ अमृत काम किये हों, उन्हें मैं फिर सुनना चाहता
हूँ ॥ १ ॥

धीगुह्येयजीने कहा—परीक्षित ! द्विविद नामक
एक वानर था । वह भीमासुरका सख, सुग्रीवका मन्त्री
और मैन्दका शकिराजी भाई था ॥ २ ॥ जब उसने सुना
कि श्रीकृष्णने भीमासुरको मार डाला, तब वह अपने
मित्रकी मित्रताके श्रृणसे उन्मत्त होनेक जिये राष्ट्र-विच्छेद
करनेपर उताव्र हो गया । वह वानर बड़े-बड़े नगरों,
गाँवों, खानों और अहीरोंकी बस्तियोंमें आग ध्याकर
उन्हें जलने लगा ॥ ३ ॥ कभी वह बड़े-बड़े पहाड़ोंका
उत्खड्गकर उनसे प्राप्त-व प्राप्त चकनाचूर कर देता
और विस्फेद करके पसा करम वह आनर्त (कश्मिराकाई)
देशमें ही करता था । क्योंकि उसका मित्रको मारनेवाला
मगधान् श्रीकृष्ण उसी देशमें निवसत करते थे ॥ ४ ॥
द्विविद वानरमें दस हजार हाथियोंका बज था । कभी
कभी वह दुष्ट समुद्रमें खड़ा हो जाता और हाथोंसे
हलना जड़ टट्टाया कि समुद्रतटक देश डूब जाते ॥ ५ ॥
वह दुष्ट बड़े-बड़े शक्ति-मुनियोंके अश्रमोंकी सुन्दर-सुन्दर
अश्रम-मण्डपतियोंका ताड़-मराबकर चीष्ट कर देता और
उनके पञ्चसन्धी अग्नि-कुण्डोंमें मन्त्र-मन्त्र डालकर अग्नि-योंका
दहन कर देता ॥ ६ ॥ जैसे मन्त्री नामका परम, दूर,
कीर्तिका ले जाकर अपने विघ्नें धन कर देता है, वैस
ही वह मगधमत वानर शिष्यों और पुरुषोंका उ आकर
पहाड़ोंकी धाटियों तथा गुहाओंमें डाल देता । फिर
बाहरसे बर्षा-पानी चहाने राखत उनका मुँह बन्द कर
देता ॥ ७ ॥ इस प्रकार वह दशवाहियोंका ता निस्कार
करता ही कुर्धन शिष्योंकी भी दहन कर देता था ।
एक दिन वह दुष्ट मुदन्ति भूमि सुनकर रक्त
वन्धन मग्न ॥ ८ ॥

वहाँ उसका दण्ड कि पदपञ्चमिन्तन यज्ञकी
सुन्दर-सुन्दर दुरातियोंके शृङ्खलें गिराकर है । उनका
पञ्चक जड़ अस्त्र सुन्दर और मन्त्र ६ और
पञ्च स्वर कर्णोंकी मन्त्र कर रही है ॥ ९ ॥

गायन्तं वारुणी पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।

विभ्राजमानं वपुषा प्रभिममिव वारणम् ॥१०॥

दुष्टः श्लात्वाभृगः श्लात्वामारुहः कम्पयेन्नुमान् ।

धक्कं क्लिकिलाश्चन्द्रमात्मानसम्प्रदर्शयन् ॥११॥

तस्य धाट्यै कपर्वीक्ष्य तरुण्या जातिचापलाः ।

हासप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥

ता हेलयामास कपिर्भ्रूषैः सम्मुस्तादिभिः ।

दक्षयन् स्रगुद तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥

त ग्राभ्या प्राहरत् क्रुद्धो बल प्रहरतां वरः ।

स वज्रपित्वा प्राबाध मदिराकलशं कपि ॥१४॥

गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्त कोपयन् हसन् ।

निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्त्रास्काळयद् बलम् ॥१५॥

कदर्योक्त्य बलवान् विप्रचक्रं मदोद्धतः ।

तं तस्माविनयं दप्नू देशांश्च तदुपमुत्तान् ॥१६॥

क्रुद्धो मुसलमादय हल चारिषिपांसया ।

द्विविदोऽपि महावीर्यं शालमुद्यम्य पाणिना ॥१७॥

अन्येत्य तरसा तेन बलं भूर्धन्यसाहयत् ।

तं तु मर्कटं मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥

प्रतिप्रग्राह बलवान् सुनन्देनाहननं यम् ।

मुसलाहतमस्तिष्को विरन रक्तधारया ॥१९॥

गिरियथा गेरिकया प्रहारं नातुधित्वयन् ।

वे मधुपान फलके मधुर संगीत गा रहे थे और उनके वे आनन्दोन्मत्तसे विह्वल हो रहे थे । उनका शरीर प्रकाश होमायमान हो रहा था, मनो कोई फल गजराज हो ॥ १० ॥ वह दुष्ट वानर वृक्षोंकी शल्लोको चढ़ जाता और उन्हें झकझोर देता । कभी किसी सामने आकर कित्तवारी भी मारने लगता ॥ ११ ॥ युक्ती बियाँ स्वभावसे ही चञ्चल और हास-परिहसनोंसे रखनेवाली होती हैं । कल्याणजीकी बियाँ उस कालके बियाँ देखकर हँसने लगीं ॥ १२ ॥ कम वह कला मगधन् कल्याणजीके सामने ही उन बियाँकी कला करने लगा । वह उन्हें कभी अपनी गुदा दिखता तो कभी भीड़ें मटकता, फिर कभी-कभी गरज-दरजकर मुँह बनाता, धुक्कता ॥ १३ ॥ वीरशिरोमणि कल्याणजी उसकी यह चेष्टा देखकर क्रोधित हो गये । उन्होंने उसपर पत्थरका एक टुकड़ा फेंका । परन्तु द्विविने उससे अपनेको बचा लिया और झपटकर मधुकला उस स्थल तथा कल्याणजीकी अवहेलना करने लगा । उस भूलने मधुकलाशयो तो फोड़ ही बाल, बियाँके बल भी बल बाले और अब वह दुष्ट हँस-हँसकर कल्याणजीको क्रोधित करने लगा ॥ १४ १५ ॥ परीक्षित ! जब इस प्रकार कल्याण और मदनोन्मत्त द्विविद कल्याणजीसे नीचा दिखने तथा उनका घोर तिरस्कार करने लगा, तब उन्होंने उसने बियाँ देखकर और उसके द्वारा स्तनये हुए देशोंकी दुर्दृष्टापर विचार करके उस शत्रुको मार डालनेकी इच्छा कोषपूर्वक अपना हृदय-मूला उठया । द्विविद भी बल कल्याण था । उसने अपने एक ही हाथसे शल्लो पेड़ उखाड़ लिया और बड़े केसे दौबकर कल्याणजीके सिं- पर उसे दे मारा । मगधन् कल्याण पर्वतकी तराई धनिक खड़ा रहे । उन्होंने अपने हाथसे उस शत्रुको सिरफ गिरते-गिरते एकद्वि बियाँ और अपने सुनन्द नामक मूलासे उसपर प्रहार किया । मूला लगेसे द्विविदका मूला फट गया और उससे लूनपी धारा बहने लगी । उस सम्म उसकी पत्नी शोभा हुई, मना किसी पर्वतसे मेरुका सोता यह रहा हो । परन्तु द्विविदने अपने सिर फटनेकी फोड़ परना नहीं की । उसने कुम्भित होकर एक दूसा

नरन्त्यं समुत्थिष्य कृत्वा निष्पन्नमोजसा ॥२०॥

तेनाहन्त् सुसंकुहस्त वलः शतधाच्छिनत् ।

ततोऽन्येन रुपाबध्ने त वापि शतधाच्छिनत् ॥२१॥

एवं युष्मन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।

आकृष्य सर्वतो वृक्षान् निवृक्षमकरोषु वनम् ॥२२॥

ततोऽमुषाच्छिलावर्षं वलसोपर्यमर्षितः ।

तत् सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥

स बाहू सालसकाशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।

आसाद्य रोहिणीपुत्रं शार्ङ्गा वधस्वरक्तवत् ॥२४॥

यस्त्वनेन्द्रोऽपि तं क्षोभ्या त्यक्त्वा मुसललाञ्छले ।

अत्रावन्मर्दयत्कुहः सोऽपतवु उधिर वनम् ॥२५॥

चक्रम्ये तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः ।

पर्वतः कुलशार्दूल वायुना नीरिवाम्भसि ॥२६॥

अयश्चन्द्रो नमःशब्दः साधु साप्तिरि चाम्बर ।

सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत् सुसुमवर्णिनाम् ॥२७॥

एवं निहत्य द्विविदं जगद्भूम्यतिकरावहम् ।

संस्तूयमानो भगवाञ्जनैः स्वपुरमाविष्टत् ॥२८॥

वृक्ष उखावा, उसे सब-सबकर बिना पत्तेका कर दिया और फिर उससे कछारामनीपर बड़े जोरका प्रहार किया । कछारामनीने उस वृक्षके सैकड़ों टुकड़ कर दिये । इसके बाद द्विविदने बड़े क्रोधसे दूसरा वृक्ष चलाया, परन्तु भगवान् कछारामनीने उसे भी शतधा छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १६-२१ ॥ इस प्रकार वह उनसे युद्ध करता रहा । एक वृक्षके टूट जानेपर दूसरा वृक्ष उखावता और उससे प्रहार करनेकी चेष्टा करता । इस तरह सब ओरसे वृक्ष उखाव-उखावकर कड़ते-कड़ते उसने सारे वनको ही वृक्षहीन कर दिया ॥ २२ ॥ वृक्ष न रहे, तब द्विविदका क्रोध और भी बढ़ गया तथा वह बहुत निष्कर कछारामनीके ऊपर कड़ी-कड़ी चोटोंकी वर्षा करने लगा । परन्तु भगवान् कछारामनीने अपने मुसलसे उन सभी चोटोंको छेद-छेदमें ही चकनाचूर कर दिया ॥ २३ ॥ अन्तमें कम्पित द्विविद अपनी ताकके समान लम्बी बाँझोंसे घुँसा बाँधकर कछारामनीकी ओर बढ़ा और पास जाकर उसने उनकी छातीपर प्रहार किया ॥ २४ ॥ अब यदुर्वचशिरोमणि कछारामनीने हथ और मुसल छेका रख दिये तथा क्रुद्ध होकर दोनों हाथोंसे उसके जन्मस्थान (हँसछी) पर प्रहार किया । इससे वह वामर खून उगवता हुआ करतीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥ परीक्षित् । बाँधी जानेपर जैसे जड़ने बाँगी जगमगाने लगती है, वैसे ही उसके गिरनेसे बड़े-बड़े वृक्षों और चोटियोंके साथ सरा पर्वत झिड़ गया ॥ २६ ॥ आकस्मात् देवताके 'अप-जया', सिद्ध लोग 'नमो नम' और बड़े बड़े ऋषि-मुनि 'साधु-साधु'के नारे छाने और कछारामनीपर धूम्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ २७ ॥ परीक्षित् । द्विविदने जगत्में घडा उपद्रव तथा रक्ता पा, अतः भगवान् कछारामनीने उसे इस प्रकार मार काट और फिर वे शरकापुरीमें छूट आये । उस समय सभी पुरजम-परिजन भगवान् कछारामनी प्रार्था कर रहे थे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते महापुरुषे परमहंस्यं संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
द्विविदको नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

गायन्तं वारुणी पीत्वा मध्विह्वललोचनम् ।

विभ्राजमान वपुषा प्रभिक्षमिव वारणम् ॥१०॥

दुष्टः श्लाखामृगः श्लाखामारुढः कम्पयन् मुमान् ।

चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानसम्प्रदर्शयन् ॥११॥

तस्य धाट्यं कपेर्बाह्व्य तरुण्या जातिचापलाः ।

हासप्रिया विचहसुर्वलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥

ता हेलयामास कपिर्भूष्यै सम्मुखादिभि ।

दक्षवन् खगुर्दं तासां रामस्य च निरीक्ष्य ॥१३॥

त प्राप्या प्राहत् क्रुद्धो बल प्रहरतां वर ।

स वज्रमित्वा प्रावाण मदिराकलशं कपि ॥१४॥

गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन् ।

निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्पास्त्रकलयद् बलम् ॥१५॥

कद्बाहुत्व बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ।

तं तस्याविनयं दृष्ट्वा दंष्ट्रांश्च तदुपपुगान् ॥१६॥

क्रुद्धो मुसलमादय हल चारिर्बिबांसया ।

द्विविदोऽपि महावीर्यं शालमुषम्य पाणिना ॥१७॥

अभ्येत्य तरसा तेन बल मूर्धन्यताडयत् ।

तं तु संकर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥

प्रविभ्रमाह बलवान् सुनन्देनाहननं तम् ।

मुसलाहतमस्तिष्को विरजे रक्तधारया ॥१९॥

गिरियथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन् ।

वे मधुपान करके मधुर संगीत गा रहे थे और उनके नेत्र आनन्दोन्मादसे विह्वल हो रहे थे । उनका स्वर इस प्रकार शोभायमान हो रहा था, मानो कोई मधुर गजरान हो ॥ १० ॥ वह दुष्ट वानर वृद्धोक्ति शस्त्रों से चढ़ जाता और उन्हें झकझोर देता । कभी कियोंके सामने धाकर किलकिली भी मारने लगा ॥ ११ ॥ युवती कियों स्वभावसे ही चञ्चल और हास-प्रशिक्षण से स्वीकृत होती हैं । कल्याणजीकी कियों उस वानरकी छिटाई देखकर हँसने लगी ॥ १२ ॥ जब वह वानर मगवान् कल्याणजीके सामने ही उन कियोंकी कलह करने लगा । वह उन्हें कभी अपनी गुप्ता दिखाता वे कभी मोह में मटकता, फिर कभी कभी गरज-तरनकर मुँह बनाता, धुक्कता ॥ १३ ॥ वीरशिरोमणि कल्याणजी उसकी यह चेष्टा देखकर कोपित हो गये । उन्होंने उसपर प्रहरण एक टुकड़ा फेंका । परन्तु द्विजने उससे अपनेको बचा लिया और शपटकर मधुकल्याण उस स्थिति तथा कल्याणजीकी कलह करने लगा । उस स्थिति मधुकल्याणने तो फोड़ ही डाला, कियोंके वक्ता भी फड़ फड़े और जब वह दुष्ट हँस-हँसकर कल्याणजीको कोपित करने लगा ॥ १४ १५ ॥ परीक्षित । जब इस प्रकार कल्याण और मशोमत्त द्विज कल्याणजीको नीचा दिखाने तथा उनका घोर तिरस्कार करने लगा, तब उन्होंने उसकी छिटाई देखकर और उसके द्वारा सताये हुए देशोंकी दुर्दशापर विचार करके उस शत्रुको मार डालनेकी इच्छासे कोषपूर्वक अपना हल-मुसल उठाना । द्विज भी वही कल्याण ॥ । उसने अपने एक ही हाथसे शत्रुका पैर उखाड़ लिया और उसे बेगसे दौड़कर कल्याणजीके तिर पर उसे दे मारा । मगवान् कल्याण परतकी तरह विलम्ब कर रहे । उन्होंने अपने हाथसे उस वृद्धको शिर पर गिरते-गिरते पकड़ लिया और अपने सुनन्द नामक मुसलसे उसपर प्रहार किया । मुसल आनेसे द्विजका मस्तक फट गया और उससे खूनकी धारा बहने लगी । उस समय उसकी ऐसी शोका हुई, मानो किसी पर्वतसे गेरुका सोता बह रहा हो । परन्तु द्विजने अपने सिर फटनेकी कोई परवा नहीं की । उसने कुपित होकर एक दूसरा

चतुर्भिश्चतुरो नाहानेकैकेन च सारथीन् ।
 रथिनश्च महेष्वासालस्य सचेज्ज्यपूषयन् ॥१०॥
 तं तु ते विरथं चक्रुस्त्वारश्चतुरो हगान् ।
 एकस्तु सारथिं जग्मे विष्टेदान्यः श्वरासनम् ॥११॥
 तं बभूवा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।
 कुमारं सस्य कन्यां च स्रपुर्ं अयिनोऽविघ्नम् ॥१२॥
 तच्छ्रुत्वा नारदोऽकन राजन् संजातमन्यवः ।
 कुरुन् प्रत्युद्यमं चक्रुर्गमसेनप्रचोदिताः ॥१३॥
 सान्त्वयित्वा तु तान् रामः संनन्दान् वृष्णिपुङ्गवान् ।
 नैकैश्च कुरुणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥१४॥
 जगाम हासिनपुरं रथेनादित्यवर्षसा ।
 गच्छन्तः कलहदंश्च वृत्तमन्त्रं ह्य ग्रहे ॥१५॥
 गत्वा गवाह्वरं रामो बाह्योपवनमास्थितः ।
 उदरं प्रपयामास धृतराष्ट्रं धुस्तसया ॥१६॥
 सोऽभिषन्वात्मिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम् ।
 दुर्योधनं च विधिषद् राममागतमब्रवीत् ॥१७॥
 तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृदमम् ।
 तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणय ॥१८॥

प्रहार किया ॥ ९ ॥ उनमेंसे चार चार गण उनके चाह-चार घोड़ोंपर, एक-एक उनके सारथियोंपर और एक-एक उन मन्त्रान् धनुषधारी रथी धीरोंपर छोड़ा । साम्बक इस अश्रुत हस्तव्यवक्रो देखकर निपटरी धीर भी मुक्त-कण्ठसे उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥ इसक बाद उन छहों धीरोंने एक साथ मिश्रकर साम्बको रथीन कर दिया । चार धीरोंने एक-एक बाणसे उनके चार घोड़ोंको मारा, एकने सारथीको और एकने साम्बका धनुष काट बाध ॥ ११ ॥ इस प्रकार कौरवोंने युद्धमें बड़ी कठिनाई और कष्टसे साम्बको रथीन करके बाँध दिया । इसके बाद वे उन्हें तथा अपनी बन्ध्या लक्ष्मणाको लेकर जय मनाते हुए हस्तिनापुर लौट आये ॥ १२ ॥

परीक्षित ! नारदजीसे यह सम्पाचार सुनकर यदु धर्मियोंको बड़ा क्रोध आया । वे महाराज उग्रसेनकी आज्ञासे कौरवोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी करने लगे ॥ १३ ॥ कथरामजी कथरप्रधान कछियुगके सारे प्राप-तापको मिटाने-बल्ले हैं । उन्होंने कुम्भशिर्यो और यदुधर्मियोंके बड़ाई-भागड़े-को ठीक न समझा । यद्यपि यदुधर्म्य अपनी तैयारी पूरी कर चुके थे, फिर भी उन्होंने उन्हें शपथ कर दिया और स्वयं सूर्यके समान तेजस्वी रथपर सवार होकर हस्तिनापुर गये । उनके साथ कुछ ग्राहण और यदुवंशके बड़े-बड़े भी गये । उनके पीछेसे कथरामजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो कथराम उन्होंने विरे हुए हों ॥ १४ १५ ॥ हस्तिनापुर पहुँचकर कथरामजी नगरके कहर एक उप-वनमें ठहर गये और कौरवयोग क्या करना चाहते हैं, इस बातका पता लगानेके लिये उन्होंने उदयजीको पूता राक्षके पास भेजा ॥ १६ ॥

उदयजीने कौरवोंकी सभामें जाकर धृतराष्ट्र, भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य, बाह्लीक और दुर्योधनकी विधिर्यस्क अव्यर्था-कथना की और निवेदन किया कि 'कथरामजी प्यारे हैं' ॥ १७ ॥ अपने परम हितैषी और दिव्यतम कथरामजीका आगमन सुनकर कौरवोंकी प्रसन्नताकी सीमा न रही । वे उदयजीका विधिपूर्वक सत्कार करके अपने हाथोंमें मङ्गलिक समग्री लेकर कथरामजीकी

तं संगम्य यथान्यासं गामर्ष्यं च न्यवेदयन् ।

तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणोमः क्षिरसा बलम् ॥१९॥

य पून कृशलिनः श्रुत्वा पृष्ठाक्षिपमनामयम् ।

परस्परमथो रामो वभापेऽबिभ्रुव वचः ॥२०॥

उग्रसेनः क्षितीश्वरो यद् व आश्वापयत् प्रभुः ।

तदव्यग्रप्रियः श्रुत्वा कुरुर्ष्व भाविलम्बितम् ॥२१॥

यद् पूर्वं बहवस्त्वेकं क्तिवाभर्मेण भार्मिकम् ।

अवभीताथ तन्मृप्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥२२॥

वीर्यशौर्यबलोभद्रमात्मशक्तिसमं वचः ।

कुरवो बलदेवस्य निश्वस्योषुः प्रकोपिताः ॥२३॥

अहो महर्षिप्रमिदं कालगत्या दुरत्यया ।

आरुरुक्षुस्तुपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥

एते यौनेन सम्बद्धाः सहस्रध्यासनाधनाः ।

धृष्ययस्तुष्यतां नीता अस्मद्वचनपासनाः ॥२५॥

धामराम्यजने द्रुमावपत्रं च पाण्डुरम् ।

किरीटमासनं द्रुप्यां मुञ्चन्त्यस्यदुपेयया ॥२६॥

अतः यद्गतां नरदेवताम्बुनै-

दातुः प्रतीपैः फणिनामिषामृतम् ।

अगलानी करने चले ॥ १८ ॥ सिर अग्नी-अग्नी
अवस्था और सम्बन्धके अनुसार सब ध्योग बदलमई
मिले तथा उनके सत्कारके लिये उन्हें गौ अर्घ्य भी
एवं अर्घ्य प्रदान किया । उनमें जो ध्योग मगधन् क-
रामभीक्ष्र प्रभाव आनते थे, उन्होंने सिर मुकुट उर्ध्व
प्रणाम किया ॥ १९ ॥ तदनन्तर उन ध्योगों परस्पर

एक-दूसरेका कुशल-मङ्गल पूछा और यह सुनकर कि
सब भाई-बन्धु सकुशल हैं, वदरामजीने बड़ी वीरता और
गम्भीरताके साथ यह बात कही—॥ २० ॥ सर्वसम्म
राजाक्षिराज महाराज उग्रसेनने तुम्हें लोगोंके एक कल
दी है । उसे तुम्हारा एकप्रसा और सबवनीके सब
सुनो और अविलम्ब उसका फलन करो ॥ २१ ॥ उ-
ग्रसेनजीने कहा है—हम जानते हैं कि तुम्हें लोगों
कह्योंने मिलकर अवधमई अकेले धर्मार्थ साम्बको हथ
दिया और वंदी कर लिया है । यह सब हम इसलिये
सह लेते हैं कि हम सम्बन्धियोंमें परस्पर छट न पड़े
एकत्र बनी रहे । (अतः अब झगडा मत करो,
साम्बको उसकी नमस्कारके सब हमारे पास भेज दो) ॥ २२ ॥

परीक्षित । वदरामजीकी बाणी शीरसा, शिरा और
कक्ष-पौष्पके उत्कर्षसे परिपूर्ण और उनकी शक्तिके
अनुरूप थी । यह बात सुनकर कुरुर्ष्वी क्षोभसे वि-
मिश्र ठठे । वे कहने लगे—॥ २३ ॥ अहो, यह तो
बड़े आश्चर्यकी बात है ! सचमुच काजरी काजरी
कोई टाल नहीं सकता । तभी तो आज देखो वंदी
उस सिरपर पहना चाहती है, जो श्रेष्ठ मुकुटसे सुस-
जित है ॥ २४ ॥ इन यदुर्वशियोंके साथ किसी प्रकार
हमजोगोंने विषाद-सम्बन्ध कर लिया । वे हमारे सब
सोने-थोने और एक पक्षिम खाने लगे । हमजोगोंने ही
हमें राजसिंहासन देकर राजा बनाया और अपने क-
पूर बना दिया ॥ २५ ॥ ये यदुर्वशी बँकर, पंजा, पंजा,
देवदत्त, मुकुट, राजसिंहासन और राजोचित सम्बन्ध
उपयोग-उपयोग इसलिये कर रहे हैं कि हमने जान-बू-
झकर इस नियममें उपेक्षा कर रखी है ॥ २६ ॥ स-
बस, अब हां तुम । यदुर्वशियोंके पास अब राजसिंहा
रक्षेत्री आनन्दकला नहीं, उन्हें उनसे धीन सेवा
चाहिये । जैसे सौंपको दूध पिउनना मित्रनेवालेके मित्र
ही पातक है, वैसे ही हमारे दिने हुए राजसिंहा

येऽसत्प्रसादोपचिता हि यादवा

आद्यापयन्त्यथ गतश्रया वत ॥२७॥

कर्मिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।

अदधमवकुन्धीत सिंहप्रस्तमिवोरणः ॥२८॥

भीर्भुङ्कत उवाच

अन्मवन्धुभिषोमद्वमदास्ते भरतर्षभ ।

आमान्य रामं दुर्षाच्यमसम्भाः पुरमाविशन् ॥२९॥

दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्य भुत्वात्मानानि चाच्युतः ।

अवोचत् क्रोपसरम्भो दुःश्रेयस्य प्रहसन् सुहृः ॥३०॥

नूनं नानामदोभद्राः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधव ।

तेषां हि प्रसूमा दम्भः पशूनां लघुबो यथा ॥३१॥

महो महन् सुसंरम्भान् कृष्ण च कुपितं शनैः ।

सान्त्वयित्वाहमेतेषां क्षममिच्छमिहागतः ॥३२॥

त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।

तं मामवज्ञाय सुमुदुर्भाषान् मानिनाऽमुवन् ॥३३॥

नोप्रसेन किल विभुर्भोजश्चम्प्यन्धकेसरः ।

अकादयो लाकपाला यसादेष्टानुवर्तिनः ॥३४॥

सुधमाऽऽक्रम्यत येन पारिजाताऽभराब्धिपः ।

छेत्र ये यदुर्वशी हमसे ही विपरीत हो रहे हैं । देखो तो मन्त्र हमसे ही कृपा-प्रसादसे तो इनकी बसती हुई और अब ये निर्लज्ज होकर हमीपर हुकुम चलाते चले हैं । शोक है । शोक है । ॥ २७ ॥ जैसे सिंहाक प्रस फमी मेका नहीं छीन सकता, वैसे ही यदि भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि कौरवकीर जान-बूझकर न छोड़ दें, न दें तो स्वयं देवराज इन्द्र भी किसी वस्तुका उपभोग कैसे कर सकते हैं ? ॥ २८ ॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । कुरुवंशी अपनी कुलीनता, मान्धर्वों-परिवारवालों (भीष्मादि) के बड़ और वनसम्पत्तिके धर्मद्वयें चूर हो रहे थे । उन्होंने साधारण सिद्धाचारकी भी परवा नहीं की और वे भगवान् कल्याणजीको इस प्रकार दुर्वचन कहकर इस्तिनापुर लौट गये ॥ २९ ॥ कल्याणजीने कौरवोंकी दुष्टता-अशिष्टता देखी और उनके दुर्वचन भी सुने । अब उनका चेहरा क्रोधसे तमतमा उठा । उस समय उनकी ओर देखतक नहीं जाता था । वे बार-बार जोर-जोरसे हँसकर कहने लगे—॥ ३० ॥ 'सच है, बिन दुष्टोंको अपनी कुलीनता, अश्लील और घनका कर्म हो जाता है, वे शान्ति नहीं चाहते । उनको दमन करनेका, गुस्तेपर अनेक उपपय सम्मान-मुक्ताना नहीं, बल्कि दण्ड देना है—ठीक वैसे ही, जैसे पशुओंको ठीक करनेके लिये डंकेका प्रयोग आवश्यक होता है ॥ ३१ ॥ मन्त्र, देखो तो सही—सारे यदुर्वशी और श्रीकृष्ण भी क्रोधसे भरकर छाड़के छिये तैयार हो रहे थे । मैं उन्हें शनैः-शनैः समझा-बुझाकर इन लोगोंको शान्त करनेके लिये, सुध्द करनेके लिये प्योँ आया ॥ ३२ ॥ फिर भी ये मूर्ख ऐसी दुष्टता कर रहे हैं । उन्हें शान्ति प्यारी नहीं, कलह प्यारी है । ये इतने घमंडी हो रहे हैं कि बार-बार मेरा तिरस्कार करते गच्छियों बक गये हैं ॥ ३३ ॥ टीक है, भई टीक है । पृथ्वीके राजाओंकी तो यत ही क्या, त्रिवेदीके सामी इन्द्र आदि लोकपाल जिनकी आश्रय पाछन करते हैं, वे उपसेन राजाधिराज नहीं हैं, वे तो केवल भोज, रुचि और अन्धधर्म की पादबोंके ही सामी हैं । ॥ ३४ ॥ क्यों ? जा सुधर्मसभ्यको अधिकांशमें करक उसमें विराजते हैं और जो दक्षताओंके

ततः प्रविष्टः स्वपुर इलायुधः
 समेत्य कन्धूनुरक्तचेतसः ।
 क्षणं सर्वं यदुपपन्नानां
 मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥
 वपापि च पुर घेतत् स्रजयवु रामविक्रमम् ।
 समुन्नत दक्षिणत गङ्गायामनुदृश्यते ॥५४॥

जब कछरामजी द्वारकापुरीमें पहुँचे और अपने प्रमी त
 समाचार जाननेके लिये उसका कन्धूनुरक्तचेतसे मिले
 उन्होंने यदुवशियोकी मरी समामें अपना यह
 चरित्र कह सुनाया, जो इस्तिनापुरमें उन्होंने कैरेले
 साप किया था ॥ ५३ ॥ परीक्षित । यह इस्तिना
 आज भी दक्षिणकी ओर ऊँचा और गङ्गाजीकी स
 कुछ दूरका हुआ है और इस प्रकार यह मगधान् ककर
 जीके पराक्रमकी सूचना दे रहा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्या संज्ञितायां शमस्त्वर्धने उत्तरावे
 हास्तिनपुरकर्णरूपसङ्घर्षणविजयो नामाष्टादशितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

अथैकोनसप्ततितमोऽध्यायः

देवर्षिं नारदजीका भगवान्की गृहवर्षा देखना

श्रीभूक उपाय

श्रीभूकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । जब दे

नरक निहत ध्रुत्वा तथाद्वाहं च योपि साम् ।
 कृष्णेनैकेन वह्नीनां तव दिदृक्षुः स नारद ॥ १ ॥
 विप्र वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
 गृहेषु द्रष्टुमाहस स्त्रिय एक उदावहत् ॥ २ ॥
 इत्युत्सुका द्वारवतीं दशर्षिर्भृशुमागमत् ।
 पुष्पिवापयनारामद्विजालिबुलनादिताम् ॥ ३ ॥
 उत्पुन्तेन्दीवराभ्याजकह्वारकुमुदास्पलः ।
 छुरितेषु सरस्वतीं कृजितां इसमागमः ॥ ४ ॥
 प्रासादत्प्रेर्नवभिजुग स्फाटिकराजसै ।
 महाभरतप्रपञ्च स्मरणरत्नपरिच्छदः ॥ ५ ॥

नारदने सुना कि भगवान् श्रीकृष्णने नरकसुर (भैरव)
 को मारकर अकेले ही हजारों राजकुमारियोंके ।
 विच्छेद कर दिया है, तब उनके मनमें भगवान्की रा
 सइन देखनेकी बड़ी अभिलाषा हुई ॥ १ ॥ वे सो
 छा—जहाँ, यह कितने आश्चर्यकी बात है कि भा
 श्रीकृष्णने एक ही शरीरसे एक ही समय सोख ह
 महालयमें कलग-अज्जा सोख हजार राजकुमारि
 पाणिग्रहण किया ॥ २ ॥ देवर्षि नारद इस उसुका
 प्रसित होकर भगवान्की छीका देखनेके लिये द्वारका
 पहुँचे । वहाँक उपवन और वनान स्थिरे हुए रंग-
 पुष्पोंसे लबे वृक्षोंसे परिपूर्ण थे, उनपर लख-ल
 पक्षी बहक रहे थे और मोरे गुम्वार पर रहे थे ॥ ३ ॥
 निमग्न जलस भर सराबरीमें नीले, खान और स
 रंगक भौति-भौतिक कमल खिले हुए थे । कुमुद (५)
 और नवजात मगधारी मना भीष ही छपी हुई थी
 उनमें हंस और सारस कयब भर रहे थे ॥ ४ ॥
 द्वारकापुरीमें स्फटिकमणि और चौकीक मो मरु ।
 थे । य पद्म आदिमें जड़ी हृद महाभरतमणि (५)

की प्रभासे जगमगा रह थे और उनमें सान तथा ही

विभक्तस्थापथचत्तरापणैः

खालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।

ससिक्तमागाङ्गणवीथिर्दिहली

पतस्पताकाञ्चनधारितासपाम् ॥ ६ ॥

तस्यामन्तःपुरं भीमदक्षितं सर्वधिष्ययैः ।

हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कास्त्वेन दक्षितम् ॥ ७ ॥

तत्र पाङ्कशभिः सद्यसहस्रैः समलङ्कितम् ।

विद्यशैकतम श्रौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥ ८ ॥

विष्टम्भ विद्रुमस्तम्भैर्वैर्द्व्यफलकोचमैः ।

इन्द्रनीलमयैः कुडचैर्जगत्पा चाहसत्विषा ॥ ९ ॥

वितानैर्निर्मितस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।

दान्तरासनपञ्चमण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥ १० ॥

दासीभिर्निष्कण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कितम् ।

पुम्भिः सकञ्चुकाणापमुषस्त्रमणिकुण्डलैः ॥ ११ ॥

रत्नप्रदीपनिष्कण्ठुतिभिर्निरस्त-

भ्रान्त विचित्रवलयभीषु विग्वण्डिनोऽङ्ग ।

नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुभूपमर्ध-

नियान्तमीक्ष्य धनमुदय उभयदन्तः ॥ १२ ॥

१ विष्टम्भ । २ या प्रतिभे कर्तितत्त्वाम् ॥ इय सङ्कट वाद उक्तस्त्वष्ट्रापथचत्तरापणैः ।
पुरिःपुरा कस्मिन् नृजिता इत्यन्तरये ॥ पुष्पिणावनापमर्ध विद्रुमस्तम्भान् । इय इय सङ्कट वाद इ इय इय
नदी । ३ कर्तितत्त्वाम् पथचत्तरापणैः निमित्तम् । ४ जाडैर्भस्मलये । ५ ॥ मुषादमर्ध ।

बहुत-सी सामग्रियों शोभयमान थी ॥ ५ ॥ उसका राज
पथ (बड़ी-बड़ी सड़कें), गलियौं, चौगह और बाजार
बहुत ही सुन्दर-सुन्दर थे । पुष्पाङ्ग आदि पशुओंके
रहनेके स्थान, सम-भजन और दन-मन्दिरोंके कारण
उसका सन्दर्भ और भी धमक उठ्य था । उसकी
सड़कें, चौक, गली और दरवाजोंपर छिड़काव किया
गया था । छटी-छोटी मूर्तियाँ और बड़-बड़ मठ जगह
जगह पहरा रह थे, जिनके कारण राखोंपर धूप नहीं
आ पती थी ॥ ६ ॥

उसी शहरके नगरमें भगवान् श्रीकृष्णका बहुत ही
सुन्दर अन्तःपुर था । बड़-बड़ छोगाऊ उसकी पूजा
प्रशंसा किया करते थे । उसका निर्माण घरमें
विष्णुमूर्ति अपना सारा कर्म-कर्मण्ड, सारी करीगरी
धिया दी थी ॥ ७ ॥ उस अन्तःपुर (रनिवास) में
भगवान् की रनिर्णोक सोछ्छ हजारसे अधिक मूठ
शोभयमान थे, उनमेंसे एक बड़ भक्तमें दर्शन नारद
जने प्रवेश किया ॥ ८ ॥ उस मूठमें मूर्तोंके संगे,
बैदुपके उत्तम-उत्तम छजने तथा इन्द्रनील-मणि की दीपारों
जगमगा रही थीं और वहाँकी गल्लें भी पसी इन्द्रनील
मणियोंसे बनी हुई थीं, जिनकी चमक किसी प्रहार
कम नहीं जाती ॥ ९ ॥ विष्णुमूर्ति बहुत-से ऐसे
चौखि बना रखने थे, जिनमें मस्तीकी लज्जियोंके आदरों
लटक रही थीं । हाथीपत्तिक वन हुए आसन और
फर्शें थे, जिनमें ध्रष्ट-ध्रष्ट मणि जड़ी हुई थी ॥ १० ॥
बहुत-सी गलियोंके भक्तोंके द्वार पढ़ने और सुन्दर
कर्मोंसे सुसज्जित होकर तथा बहुत-से सेवक भी जाय
पगड़ी और सुन्दर-सुन्दर कप पहने तथा बड़ाऊ पुगड़
धारण किये अपने-अपने काममें व्यस्त थे और मूठकी
गामा बड़ा रह थे ॥ ११ ॥ अनेकों रत्न-ग्रन्थ अम्ली
जगमगाहटसे उसका अन्तराल दूर कर रह था । अगली
धूप एक कारण श्रोत्रोंसे धूआँ निकल रहा था ।
उसे एक रत्न-विशेष मणिमय छजोंपर बंध हुए मार
आजोंके भक्तोंके नूतन-नूतन नाचने लगाने ॥ १२ ॥

अनीय सृजते सोऽसौ न क्लिष्टायासनाईषः ॥३५॥

यस्य पादयुगं साक्षात् श्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।

स नाईति किल भोशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजबन्धोऽखिललोकापते

मैत्र्युचमैर्षुतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।

ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कञ्चा कलायाः

भीष्टचोदहेमचिरमस्य नृपासनं क ॥३७॥

सृजते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल ।

उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरुषः श्विरः ॥३८॥

अहो ऐश्वर्यमघानां मघानामिव मानिनाम् ।

असम्बद्धा गिरोरुधाः कः सहेतानुशासिता ॥३९॥

अथ निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।

गृहीत्वा हलमुचस्यौ दहन्निव अगत्रयम् ॥४०॥

लाङ्गलाग्रं नगरमुद्रिदार्ढ्यं गवाह्वयम् ।

विचर्क्य स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

जलपानमिवाधूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।

आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा आतसम्भ्रमाः ॥४२॥

उभेव शरणं अग्रे सङ्कुम्भा विनीविपयः ।

सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्नां प्राज्ञस्यः प्रभुम् ॥४३॥

वृक्ष पारिजातको उखाड़कर ले जाते और उसका उ-
पयोग करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण भी राज-सिंहासनके
अधिकारी नहीं हैं । अर्थात् वात है । ॥ ३५ ॥ उसे
अगत्की क्षामिनी भगवती छप्पी शरण बिनके भग-
वन्मूर्ति की उपासना करती हैं, वे छप्पीपति भगवन्
श्रीकृष्णचक्र छत्र, चक्र आदि राजोक्ति सामर्थ्यको
नहीं रख सकते ॥ ३६ ॥ ठीक है मई । निम्ने
चरणभूमिकी धूल संत पुरुषोंके द्वारा सेवित गङ्गा की
तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाली है, सारे लोकप्रद करने-
अपने छेद मुकुटपर बिनके चरणभूमिकी धूल कर
करते हैं, ब्रह्मा, शङ्कर, मैं और छप्पीकी बिनकी कल-
की भी कल्य हैं और बिनके चरणोंकी धूल स्वामिनी
धारण करते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके लिये मन्त्र,
राजसिंहासन कहाँ रक्खा है । ॥ ३७ ॥ बेचारे यदुवर्मा
तो कौरवोंका लिया हुआ पृथ्वीका एक टुकड़ा मंगते
हैं । क्या लू । हमलोग गद्दी हैं और ये कुम्हरी
लू सिर हैं ॥ ३८ ॥ ये लोग ऐश्वर्यसे लम्पट, कभी
कौरव पाल-सरीखे हो रहे हैं । उनकी एक-एक बात
कटुतासे भरी और बेसि-पैरकी है । मेरे जैसा पुत्र—
जो इनका शासन कर सकता है, इन्हें दण्ड देकर इनके
होश ठिकाने आ सकता है—अब, उनकी कर्तव्य
कैसे खान कर सकता है ? ॥ ३९ ॥ अब मैं सारी
पृथ्वीको कौरवहीन कर दूँगा, इस प्रकार कहते-कहते
कथामनी कोषसे ऐसे भर गये, मनो विवेकीको भूल
कर दोगे । वे अपना हल लेकर खड़े हो गये ॥ ४० ॥
उन्होंने उसकी नोकसे बार-बार चोट करके हस्तिनापुर-
को उखाड़ लिया और उसे बुनानेके लिये बड़े कोषसे
गङ्गाजीकी ओर खींचने लगे ॥ ४१ ॥

इन्से कीचनेपर हस्तिनापुर इस प्रकार कौंचने लग्य,
मनो जलमें कोई नाव डगमग रही हा । जब कौरवोंने
देखा कि हमारा नगर तो गङ्गाजीमें गिर रहा है, तब वे
चबका उठे ॥ ४२ ॥ फिर उन लोगोंने अन्धकारके
साथ साम्नाको जाने किया और अपने प्राणोंकी रक्षाके
लिये कुटुम्बके साथ हाथ जोड़कर सर्वराक्षिन्म-
न्त्री भगवन् कथामनीकी शरणमें गये ॥ ४३ ॥

आनीय मुज्यते सोऽसौ न किलाप्यासनाह्वयः ॥३५॥

यस्य पादयुग साध्यात् भीरुपास्तेऽस्तिलेचरी ।

स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरोऽस्तिललोफपादै

मौल्युत्तमैर्घृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।

प्रसा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः

श्रीशोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क ॥३७॥

मुञ्जते कुरुभिदं च भूल्लब्ध वृष्णयः किल ।

उपानहः किल वयं स्रय तु कुरवः क्षिरः ॥३८॥

अहो एभ्यर्ममत्तानां मत्तानामिव भानिनाम् ।

असम्भवा गिरोरुषा कः सहेतानुदासिता ॥३९॥

अथ निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।

गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥

लाङ्गलाग्रम नगरमुद्रिदार्थं गजाङ्घ्रयम् ।

विचर्क्य स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

जलयानमिवाधूय गङ्गायां नगरं पतत् ।

आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥

तमेव शरणं जग्मु सकुटुम्बा जिजीविषय ।

सलक्ष्मणं पुरस्तस्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभृम् ॥४३॥

वृक्ष पारिजातको उष्णवृक्ष ले खाते और उसका ज-
भोग करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण भी राज-
विश्रासके अधिकारी नहीं हैं । अथर्वी बात है । ॥ ३५ ॥ उसे
जगत्की सामिनी ममस्ती इसी सत्य जिनके कर्म-
कर्मल्लेखी उपासना करती हैं, वे लक्ष्मीपति मन्त्र
श्रीकृष्णचन्द्र छत्र, चक्र आदि राजोक्ति सामर्थ्यमें
नहीं रख सकते ॥ ३६ ॥ ठीक है माई । जिनके
चरणकर्मल्लेखी घूँस संत पुरुषोंके द्वारा सेवित गङ्गा की
तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवादी है, सारे लोककर्म करने
वपने श्रेष्ठ मुकुटपर जिनके चरणकर्मल्लेखी घूँस कम
करते हैं, मन्त्रा, शङ्कर, मैं और लक्ष्मीनी जिनकी कम-
की भी कर्म हैं और जिनके चरणोंकी घूँस सदा-सदा
धारण करते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके जिनके मन्त्र
राजविश्रासन कहाँ रखता है । ॥ ३७ ॥ बेचारे कुरा
तो कौरवोंका दिया हुआ पृथ्वीका एक दुकान लेते
हैं । क्या खूब ! हमलोग जूती हैं और वे दुकान
सत्य सिर हैं ॥ ३८ ॥ ये लोग देखते हैं उनका, सब
कौरव पगल-सरीखे हो रहे हैं । इनकी एक-एक क-
कटुतासे भी और बेसिर-बैरकी है । मेरे बैस पुन-
जो इनका शसन कर सकता है, हमें दण्ड देकर लगे
होश डिकाने का सकता है—भय, इनकी कर्मों
कैसे सदन कर सकता है ? ॥ ३९ ॥ अब मैं लौ
पृथ्वीको कौरवहीन कर दूँगा, इस प्रकार कहते-कहते
कथामजी कोषसे ऐसे मर गये, मनो जिजीवीको ल-
कर देने । वे अपना हल लेकर खड़े हो गये ॥ ४० ॥
उन्होंने उसकी नोकसे बार-बार चोट करके हस्तिना-
को उखाड़ दिया और उसे कुषानके जिनके बड़े कोसे
गङ्गाजीमें धोर लीधने लगे ॥ ४१ ॥

इससे लीधनेपर हस्तिनापुर इस प्रकार बर्बने लगे,
मनो जिनके कर्म नाश डगमग रही हा । जब कौरवोंने
देखा कि हमारा नगर तो गङ्गाजीमें गिर रहा है, तब वे
बचका ठठे ॥ ४२ ॥ फिर उन लोगोंने उसमें
साथ सामर्थ्य लगे किया और अपने प्राणोंकी रक्षा
लिये कुटुम्बके साथ साथ जोड़कर साराज्य
उन्हीं भगवान् कथामजीकी शरणमें गए ॥ ४३ ॥

विभक्तरध्यापथचस्त्ररापणैः

द्वालासभाभी रुचिगं सुरालयैः ।

संसिक्तमागाङ्गणवीथिदेहली

पतत्पताकाध्वजधारितासुषाम् ॥ ६ ॥

तस्यामन्तःपुरं श्रीमदक्षितं सर्वधिष्ण्यैः ।

हरेः स्वकौशलं यत्र त्याग्य कात्स्न्येन दर्शितम् ॥ ७ ॥

तत्र षोडशभिः सप्तसहस्रैः समलंकृतम् ।

विषशैकतम शौरः पत्नीनां भवन महात् ॥ ८ ॥

विष्णुश्च विद्रुमस्तन्मैवैर्द्व्यफलकोचमैः ।

इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या आहवत्विषा ॥ ९ ॥

वितानैर्निर्मितस्त्वप्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।

दान्तैरासन्नपर्यङ्गमप्युत्तमपरिष्कृतैः ॥१०॥

दासीभिर्निष्कङ्कषीभिः सुषासोभिरठकृतम् ।

शुद्धिं सकृज्जगन्नीपसुवस्रमणिकुण्डलैः ॥२२॥

रत्नप्रदीपनिष्करणविभिन्निरस्त-

अन्त विविधबलभीषु क्षिप्तवर्णिनाऽङ्ग ।

नृत्यन्ति यत्र विद्वितागुरुभूपमर्ष

नियान्तमीक्ष्य धनपुद्गल उग्रवन्त ॥१२॥

बहुत-सी सामाग्रियों शोभयमान थी ॥५॥ उसका राज
 पथ (बड़ी-बड़ी सड़कें), गलियों, चौराह और बाजार
 बहुत ही सुन्दर-सुन्दर थे । बुझसाउ आदि पशुओंके
 रहनेके स्थान, समा-भवन और दल-मन्दिरोंके कारण
 उसका सौन्दर्य और भी धक्का उठता था । उसकी
 सड़कों, चौक, गली और दरवाजोंपर छिड़काव किया
 गया था । छटी-छोटी संघियों और बड़-बड़ झड़ जगह
 जगह फहरा रहे थे, जिनके कारण शस्त्रोंपर धूप नहीं
 आ पाती थी ॥ ६ ॥

उसी शरका नगरमें भगवान् श्रीकृष्णका बहुत ही
 सुन्दर अन्त पुर था । वङ्ग-वङ्ग अयमाल उतकी पूज-
 प्रार्थना किया करते थे । उसका निर्माण करनेमें
 विश्वकर्मा अपना साग कष्ट-कोशख, साग करीगरी
 जगा दी थी ॥ ७ ॥ उस अन्त पुर (रनिवास) में
 मगवान्की रनियोंक सोलह हजारसे अधिक मूख
 शम्भुमन्त्र थे, उनमेंसे एक बड़ भयनेमें दक्षिण नारद
 जीने प्रवेश किया ॥ ८ ॥ उस मूखमें दूँगेक लम्हे,
 बैदुके उसम-उसम छज्ज तथा इन्द्रनील-मणिकी तीसरे
 जगमगा रही थी और कहींकी गर्भे भी ऐसी इन्द्रनील
 मणियोंसे कनी हुई थी, जिनकी चमक किसी प्रकार
 कम नहीं जाती ॥ ९ ॥ विश्वकर्माने बहुत-से पसे
 चूनेसे बना रखे थे, जिनमें मातीकी अड़ियोंकी झान्दरे
 छटक रही थी । हाथीनीलक वन हुए अमलन और
 पतंग थे, जिनमें धष्ट-धष्ट मणि जड़ी हुई थी ॥ १० ॥
 बहुत-सी तमिषी गरममें सानेका हार पहन और सुन्दर
 वस्त्रोंसे सुसज्जित होकर तथा बहुत-से सेवन भी जाम-
 फादी और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहन तथा जडाऊ कुम्हड़
 धारण किया अपने-अपने फरममें भ्रमस्त थे और मूखनी
 शम्भुका बड़ा रह थे ॥ ११ ॥ बनयों रत्न प्रणीय अपनी
 जगमगाइसे उसका अन्धकार दूर कर रह थे । अगमकी
 धूर दनक कारण शङ्गेयोंसे धूर्त भिन्न रह था ।
 उसे दक्षका रंग-भिने मणिमय उज्ज्वल बेट हुए मार
 शान्त्येक भयने कृष्ण-रुक्मिणी नाचन आत ॥ १२ ॥

१ पिपासा । २ प्रा प्रलम्बे कर्तित्वमा ॥ इमं शब्दं यद् अहं-मयी-सामर्थ्यात् नृपराजः ।
पुनरित्युक्तं अस्मन्-कृतिना इव-नारायणे ॥ पुनरित्यवनायाम्-प्रति-प्रमुखादिताम् । इमं शब्दं अहं-मा पाठः । इमं पदं
नहीं । अतो-मारा-परा-परा-काम-नयेन निमित्तम् । ४ जातो-मै-कदा-पये । ५ पा-मु-प-पद-नि ।

ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः

समेत्य बन्धूनुरक्तचेतसः ।

शशस सर्वं यदुपुङ्गवानां

मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥ ५३ ॥

अद्यापि च पुर श्वेतं सचयम् रामविक्रमम् ।

समुभय दक्षिणता गङ्गायामनुद्विषते ॥ ५४ ॥

अथ कथामभी शारङ्गपुरीमें पहुँचे और अपने प्रेमी तथा
समाचार जाननेके लिये उसका कन्धु-यन्त्रधरोसे मिले ।
उन्होंने यदुर्वशिर्षोक्ती मरी सम्मने अपना वह सारा
चरित्र कह सुनाया, जो हस्तिनापुरमें उन्होंने कैरवके
साथ किया था ॥ ५३ ॥ परीक्षित । यह हस्तिनापुर
आन भी दक्षिणकी ओर ऊँचा और गङ्गाकी ओर
सुन्दर शुका हुआ है और इस प्रकार यह भागन् कथाम-
बीके पराक्रमकी सूचना दे रहा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमोऽध्यायः
हस्तिनापुरकण्ठरूपसङ्कर्षणविजयो नामाष्टपञ्चमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

अथैकोनसप्ततितमोऽध्यायः

देवर्षि नारदजीका भगवान्की गृहवर्षा देखकर

भक्तिक उपाय

नारक निहत धृत्वा तथाद्राहं च यापिताम् ।

कृष्णनैकेन बह्वीनां तव दिदृक्षुः स नारदः ॥ १ ॥

चित्र बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।

गृहेषु द्रष्टुमाहस स्त्रिय एक उदावहत् ॥ २ ॥

इत्युत्सुका शारवती देवर्षिर्त्रिष्टुमागमत् ।

पुष्पितोपवनारामद्विशालिकुलनादिताम् ॥ ३ ॥

उत्पुच्छेन्द्रावरामावक्रहाङ्गमुदात्पलः ।

छुरितेषु सरस्वती रुजितां डसमारसं ॥ ४ ॥

प्रासादलघुर्नवभिजुग स्फाटिकराजते ।

महामरकतप्रम्यं स्वर्णरत्नपरिचर्द्धं ॥ ५ ॥

श्रीशुक्रदेवजी कहते हैं—परीक्षित । जब देवी
नारदने सुना कि भागन् श्रीकृष्णने नरकासुर (भौमसुर)
को मारकर अकेले ही हजारों राजकुमारियोंके लक्ष
लिच्छ कर लिया है, तब उनके मनमें भागन्की रहस्य-
सहन देखनेकी बड़ी अभिलाषा हुई ॥ १ ॥ वे सोचने
लगे—अहां, यह कितने आश्चर्यकी बात है कि भागन्
श्रीकृष्णने एक ही शरीरसे एक ही समय लोखड़ हज़ार
महलोंमें अष्टम-वक्रमा सोलह हजार राजकुमारियोंका
प्रणिग्रहण किया ॥ २ ॥ देवर्षि नारद इस उत्सुकतासे
प्रति होकर भगवान्की लीख देखनेके लिये द्वारका आ
पहुँचे । वहाँके उपवन और उद्यान मिले हुए रंग-मनमें
पुष्पोंसे लदे हुए शोसे परिपूर्ण थे, उनपर तट-तटके
कभी चहक रहे थे और भीरे गुप्तर कर रहे थे ॥ ३ ॥
निमग्न जडसे भरे सरोवरोंमें नीचे, ऊपर और समस्त
रंगके भौतिक-मानिक वस्तु देखे हुए थे । कुन्द (कर्म)
और नयनान फलार्थकी मन्तां भीड़ ही लगी हुई थी ।
उनमें हम और सारा पश्य कर रहे थे ॥ ४ ॥
शारङ्गपुरीमें स्फटिकमणि और चौकीक नी प्यदा मरुत
थ । य पदा आनिमि जडी लक्ष्म मरामरतमणि (कर्म)
की प्रभास गाम्गा रह थे और उनमें सान तथा हीरक

तस्मिन् ममानगुणरूपवयस्तुषेय

दासीतद्वत्तयुतयानुसर्गं गृहिष्या ।

विप्रो ददर्श चमरम्भजनेन रुक्म-

दम्बेन सात्वतपतिं परिबीजयन्त्या ॥१३॥

तं सनिरीक्ष्य भगवान् सहसास्थितः श्री-

पर्यङ्कत सकलधर्मसूतां वरिष्ठः ।

आनन्द पादयुगलं क्षिरसा किरीट

जुष्टेन साञ्जलिरिवीषिश्चदासने स्वे ॥१४॥

तस्मावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्त्ता-

विभ्रजगद्गुरुत्तरोऽपि सतां पतिर्हि ।

ब्रह्मण्यदेव इति यद्वगुणनाम युक्तं

तस्यैव यच्चरणशौचमक्षेपसीर्षम् ॥१५॥

सम्पूज्य देवत्रयपितृवर्मयिः पुराजो

नारायणा नरसत्त्वो विभिनोदितेन ।

वाग्वाभिभाष्य मितयामुत्तमिष्टया तं

प्राह प्रभा भगवते करवाम हे किम् ॥१६॥

नारद उवाच

नैवमृत्तुं त्वयि विमाऽखिललाकनाथे

मेत्री जनेषु सकलेषु दम स्वलानाम् ।

निःभयसाय हि जगत्स्वितरिद्यथाभ्यां

स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥

देवर्षि नारदजीने देख कि भगवान् श्रीकृष्ण उस मन्त्र-
की खामिनी रुक्मिणीजीक साथ बैठे हुए हैं और
अपने हाथों भगवान् को सोनेकी डोरीझले में रते
कर रही हैं । यद्यपि उस मन्त्रमें रुक्मिणीजीक सम्प-
त्ती गुण, रूप, अवस्था और वंश-भूषावली सब
दासियों भी हर समय विचान्न रहती थी ॥ १३ ॥

नारदजीको देखते ही समस्त धर्मिकोंके मुखमें
भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके पैरोंसे छला उठ गये
हुए । उन्होंने देवर्षि नारदक युगलचरणोंमें मुकुट
सिरसे प्रणाम किया और हाथ जांचकर उन्हें अपने
आसनपर बैठाया ॥ १४ ॥ परीक्षित । इसमें तब
नहीं कि भगवान् श्रीकृष्ण चराचर जगत्क परम गुण
हैं और उनक चरणोंका बोकन गङ्गाजल से जलदो
पनित्र करनेवाला है । फिर भी व परममहत्त्व और
संतोके परम आदर्श, उनके खामी हैं । उनका एक
अस्त्रधारण नाम ब्रह्मण्यदेव भी है । व ब्रह्मण्यको ही
अपना आराध्यदेव मानते हैं । उनका यह नाम उनके
गुणके अनुरूप एवं उचित ही है । तभी तो भगवत्
श्रीकृष्णने स्वयं ही नारदजीके तोंच पखारे और उनकी
चरणामृत अपने सिरपर धारण किया ॥ १५ ॥ म-
हेश्वरमणि नरके सखा सर्वदर्शी पुराणपुरुष भगवत्
नारायणने शाखोक्त निविसे देवर्षिशिरोमणि भगवत्
नारदकी पूजा की । इसक बाद अनुरते भी वे
किन्तु थोड़े शब्दोंमें उनका स्वागत-सत्कार किया और
फिर कहा—प्रभा । आप ता स्वयं समग्र ज्ञान, वैष्णव
धर्म, यश, धा और एवमपे पूर्ण हैं । आपकी ह-
क सेना करें ॥ १६ ॥

देवर्षि नारदने कहा—भगवन् । आप समस्त
लोकोंके एकमात्र खामी हैं । आपके लिये यह क्यों
नयी बात नहीं है कि आप अपने भक्तोंसे प्रेम
करते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं । परमेश्वरी प्रभो ।
आपने जगत्की स्थिति और रक्षाके शाय समस्त जीवोंका
कल्याण करनेके लिये स्वैच्छसे अक्षर प्रहण किया
है । भगवन् । यह बात हम मदीमति जानते

एष्ट तवाङ्घ्रिपुगल जननापवर्ग

ग्रथादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधवाधः ।

ससाररूपपतितोत्तरणापलम्ब

ध्यायन्भ्राम्यन्नुपगृहाण गथा स्मृति स्मात् ॥१८॥

तताऽन्यदाविद्याद् गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।

योगेश्वरभारत्याङ्गं यागमायाविचिन्तया ॥१९॥

दीव्यन्तमसैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।

पूजितं परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥

गृहस्थाविदुषेवासौ क्रदाऽऽयाता भवानिति ।

क्रियत किं तु पूणानामपूर्णरम्भदाविभिः ॥२१॥

अथापि गृहि ना गच्छन् जर्मतन्लाभन कुत ।

यतु मिश्रित उक्थाय तूष्णीमन्यदमाद् गृहम् ॥२२॥

तत्राप्यचष्ट गाविन्द तालयन्तं मुताञ्जितान् ।

तताऽन्यस्मिन् गृहस्पत्यं मज्जनाय कृतायमम् ॥२३॥

युद्धन्तं यमितामनान् यजन्तं पथभिर्मयं ।

भाजयन्तं द्विजान् कापि हृज्जानमरदापितम् ॥२४॥

१ विष्णु मुनिः ।

हैं ॥ १७ ॥ यह वह सौभाग्यकी बात है कि आज मुझे आपके चरणरत्नोंके दर्शन हुए हैं । आपका ये चरणकमल सम्पूर्ण जगत्पत्र परम साम्य, मोक्ष दानमें समर्प हैं । जिनके ज्ञानकी कोई सीमा ही नहीं है वे प्रसा, वाङ्मय आदि सदा-समदा अपने हृदयमें उनका चिन्तन करते रहते हैं । वास्तवमें वे भीचरण ही ससाररूप कूर्ममें गिरे हुए ताम्रकं काष्ठ नियन्त्रणके जिये अकटम्बन हैं । आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपका उन चरणरत्नोंकी स्तुति सर्वदा बनी रहे और य चाहे जहाँ जैसे रहें, उनके पगलमें तनप रहें ॥ १८ ॥

परीक्षित् । इसका बाद दक्षिण नारदजी योगेश्वरके भी ईश्वर भगवान् भीकृष्णकी योगमायाका रहस्य जाननेके जिये उनकी दूसरी पत्नीके म्हात्म्य गये ॥ १९ ॥ वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् भीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया और उद्वेगीक साप चौसर मंड रह हैं । वहाँ भी भगवान् ने सब होकर उनका स्थापन किया, आसनपर बैठा और विभिन्न सामग्रियोंद्वारा बड़ी भक्तिसे उनकी अर्चना की ॥ २० ॥ इसका बाद भगवान् नारद जीसे अन्यान्यकी तरह पूज्य—“आप यहाँ क्या पढ़ते ? आप तो परिपूर्ण आत्मा—आत्मज्ञ हैं और हमका हैं अज्ञ । ऐसी अवस्थामें मंत्र हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं ॥ २१ ॥ फिर भी प्रहमन् नारदजी ! आप कुछ-कुछ आज्ञा अवश्य कीजिये और हमें सेवाया अवसर मिला हमारा जन्म सफल कीजिये ॥ नारदजी यह सब दस-मुनकर चरित और विस्मृत हो रहे थे । व वहाँसे उठकर चुनचार दूसरे मन्दिर चले गये ॥२२॥ उस मन्दिरमें भी दक्षिण नारदजी कि भगवान् भीकृष्ण जन्म नन्दन ह वयागे दूसरा रह हैं । वहाँसे फिर दूसरे मन्दिर गए ता क्या पढ़ते हैं कि भगवान् भीकृष्ण स्नानकी तैयारी कर रहे हैं ॥ २३ ॥ (इस प्रकार दक्षिण नारदजी विभिन्न मन्दिरोंमें भ्रमण करते-करते आये ।) वहाँ व वहाँमें ही रह कर रहे हैं ता वहाँ अन्य पण्डितों का आचार्य आगता कर रहे हैं । वहाँ मन्दिरों में भजन करा रहे हैं ता वहाँ पढ़ते जाते-जाते भजन कर रहे हैं ।

फापि सध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।

एकत्र चासिचर्मम्भां चरन्तमसिवर्मसु ॥२५॥

अश्वैर्गजं रथं : कापि विचरन्तं गदाप्रजम् ।

कचिन्धमानं पर्यङ्कं स्तूपमानं च वन्दिभिः ॥२६॥

मन्त्रयन्तं च कर्मभिर्मन्त्रिभिर्भोद्धवादिभिः ।

जलक्रीडारतं कापि वारमुत्थापलावतम् ॥२७॥

कुत्रचिद् द्विजमुत्सेभ्या दत्तं गाः स्वलङ्कृतम् ।

इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥२८॥

हसन्तं हासकथया कदाचित् प्रियया गृहे ।

कापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥

ध्यायन्तमकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।

शुभ्रपन्तं गुरुन् कापि कौमैर्मोगः सपयया ॥३०॥

कुर्वन्तं विप्रदं कश्चित् संधिं चान्यत्र केशवम् ।

कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ॥३१॥

पुण्यां दृष्टितृणां च कालं विष्णुपयापनम् ।

दारौवरस्तत्तादृशैः कल्पयन्तं विमूर्तिभिः ॥३२॥

प्रस्थापनापानयनैरपत्यानां महात्सवान् ।

वीक्ष्य वागधरशस्य यथां लाका वितिसिर ॥३३॥

यजन्तं सकलान् दवान् कापि क्रतुभिरुज्जितं ।

पूतयन्तं कचिद् धर्मं ह्याराममटादिभिः ॥३४॥

चरन्तं मृगयां कापि ह्यमारग्य मैथवम् ।

गन्तं गन्तं पश्यन् मध्यान् परान् यदृष्टुर्नृप ॥३५॥

हैं ॥ २४ ॥ कहीं सप्या कर रहे हैं, तो कहीं मैन
होकर गायत्रीका जप कर रहे हैं । कहीं हाथोंमें छ-
तलवार लेकर उनको चलनेके पैतरे बदल रहे हैं ॥२५॥
कहीं घोड़े, हाथी वगैरा स्वार स्वार होकर भीड़-
विषरण कर रहे हैं । कहीं पर्यटनपर सो रहे हैं, तो कहीं
कदीमन उनकी स्तुति कर रह हैं ॥ २६ ॥ किसी
महलमें सज्ज वगैरा मन्त्रियोंके साथ किसी गम्भीर
विषयपर परामर्श कर रहे हैं, तो कहीं उत्सवमें
बारगजानोंसे घिरकर जलक्रीडा कर रह हैं ॥ २७ ॥
कहीं श्रेष्ठ माकड़ोंको कक्षामृगसे सुसज्जित गौर्ध्र
दान कर रहे हैं, तो कहीं मन्त्रयम इतिहास-पुराणोंमें
ध्यान कर रहे हैं ॥ २८ ॥ कहीं किसी जनीक महलमें
अपनी प्राणप्रियके साथ हास्य-विनोदकी बातें करके
हँस रहे हैं, तो कहीं धर्मका सेवन कर रहे हैं । कहीं
धर्मका सेवन कर रहे हैं—वन-संग्रह और धनद्विके
कार्यमें लगे हुए हैं, तो कहीं धर्मावतृक गृहस्थादि
विशेषका उपभोग कर रहे हैं ॥ २९ ॥ कहीं एकल
घोडकर प्रकृतिसे अतीत पुराण-पुरुषका ध्यान कर रहे
हैं, तो कहीं गुरुनन्दोंका इच्छित मोग-समयी सम्मेलन
करके उनकी सेवा-शुभ्रया कर रहे हैं ॥ ३० ॥ देखते
नारदने देख कि भगवान् भीष्मका किसीके साथ उड़की
बात कर रहे हैं, तो किसीके साथ सन्धिकी । कहीं
भगवान् कछारामजीके साथ घेठपर सत्पुरुषोंके वन्द्यमक
बारमें निचार कर रह हैं ॥ ३१ ॥ कहीं उत्पति सम्पन्न
पुत्र और कत्याश्रय उनके सदृश पत्नी और सौते
साथ बड़ी धूमधामसे विविक्त विवाह कर रहे हैं ॥३२॥
कहीं घरस वन्द्यवर्गोंके विवाह कर रहे हैं, तो कहीं
मुञ्जनेकी तपस्वीमें लगे हुए हैं । योगधर भगवान्
भीष्मका इन विराट् उत्सवोंका दृष्टपर सभी काम
विस्मय-भरित हो जाते थे ॥ ३३ ॥ कहीं बह-
वर्गोंके द्वारा अपनी वयस्य दंतवर्धन यजन्त रूख और
कहीं पूर्ण धनच तथा मठ आदि बनानेकर इत्यर्थ धर्मका
आचरण कर रह हैं ॥ ३४ ॥ कहीं मृग-यात्रासे शिकार
हण सिन्धुद्वीप याकृपर चढ़कर मृगया कर रह हैं, और
उसमें यज्ञक शिव मेघ पशुओंका ही कर रह रह

अभ्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।

कचिच्चरन्तं यागेन तत्पञ्चावपुष्टतया ॥३६॥

अधोवाच हृषीकेश नारदः प्रहमन्निव ।

यागमायादय वीर्य्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥३७॥

विदाम यागमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम् ।

यागश्चात्मन् निर्भातः भवत्पादनिषेवसा ॥३८॥

अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यक्षसाऽऽप्नुतान् ।

पर्यटामि तवाह्वयन् लीलां सुवनपावनीम् ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

असन् धर्मस्य यक्ताह कदा तदनुमादिता ।

तच्छिद्यैर्येष्टाकमिममाम्बितः पुत्र मा सिदः ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

इत्याचरन्तं मद्वमान् पावनान् गृहमेधिनाम् ।

तमेव मवगाहपु मन्त्रभेद ददर्श ह ॥४१॥

कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य यागमायामहादयम् ।

मुमुक्षुश्च अपिरमूषु निमित्ता जातकौतुक ॥४२॥

इत्यर्पिणामधर्मेषु कृष्णन भद्रितात्मना ।

मम्यद् मभाजित प्रीतस्तमवानुस्मरन् ययौ ॥४३॥

एव मनुष्यपदवीमनुव्रतमाना

नारायणाऽन्विता भवाय गृहीतगच्छिः ।

हैं ॥ ३५ ॥ और कहीं प्रजामें तथा अन्त पुरके महलोंमें
थेय बदलकर छिपे रूपसे सक्ता अभिप्राय जाननेके छिये
चिचरण कर रहे हैं । नयों न हो, भगवान् यागेवर जा
हैं ॥ ३६ ॥

परिशिष्ट । इस प्रकार मनुष्यपद-सी छीग करते हुए
हर्षिकेश भगवान् श्रीकृष्णकी यागमायाका ब्रमव देखकर
देवर्षि नारदजीन मुसकराते हुए उनसे कहा— ॥ ३७ ॥
यागेवर ! आत्मदेव ! आपकी योगमाया महावी आदि
बड़ बड़ मायाविषयोंके छिये भी अगम्य है । परन्तु हम
आपकी योगमायाका रहस्य जानते हैं, क्योंकि आपके
चरणकमलोंकी सेव्य करनेसे वह स्वयं ही हमारे सामने
प्रकट हो गयी है ॥ ३८ ॥ देवताओंके भी आराध्यदेव
मगान् ! चाहें मुक्त आत्मक सुयशसे परिकृण हा रहे
हैं । कम मुझे आश्चर्य्य निजिय कि मैं आपकी प्रियुष-
पावनी जीयकर गान करता हुआ उन लोकोंमें चिचरण
करूँ ॥ ३९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णन कहा— तर्षि नारदजी ! मैं ही
धमकर उपवशक, पावन करनेवाला और उसका अनुष्ठान
करनेवाला एक अनुमोदनकर्ता भी हूँ । इसलिये संसारको
धमकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे ही मैं इस प्रकार धर्मकर
आचरण करता हूँ । मेरे प्यारे पुत्र ! तुम मरी यह
यागमाया दम्भकर माहित मत होना ॥ ४० ॥

श्रीशुकदेवकी कहान है— इस प्रकार भगवान्
श्रीकृष्ण गृहस्थोंको पवित्र करनेवाला थेष्ट धमाका आचरण
कर रह थे । यद्यपि वे एक ही हैं, फिर भी तर्षि
नारदजीन उनका उनकी प्रत्यक्ष परीक्षेके महत्त्व अग-
अगम्य ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त
है । उनकी यागमायाका परम पथय बाह्य-वार मयकर
तर्षि नारदके निस्सय और वातहर्षकी सीमन रही ॥ ४२ ॥
आराधनेमें भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थकी भाँति पसा आचरण
करत थे माना धम स्वर्ग और कामरूप पुरुषार्थमें
उनकी बड़ा धदा हा । उन्होंने नेपि नारदका वचन
सम्मान किया । वे अत्यन्त प्रसन्न हाथर भगवान्

रमेऽङ्ग पोदशसहस्रवराङ्गनानां

सत्रीन्दसौहृदनिरिष्यन्हासजुष्टः ॥४४॥

बानीह विश्वविलमोद्भववृचिहेतुः

कर्मत्पिनन्यविषयाभि हरिभक्तार ।

यस्त्वङ्ग गायति मृणोत्पनुमोदते वा

भक्तिर्मवेव भगवति क्षपवर्गमार्गे ॥४५॥

स्मरण करते हुए वहाँसे चले गये ॥ ४३ ॥ राबन् ।
मगवान् मारायण सारे जगत्के कल्याणके लिये कर्त्त
व्यक्तिय महाशक्ति योगमायाको स्वीकार करते हैं और
इस प्रफुल्ल मनुष्योंकी-सी छीछ करते हैं । शरकामुमें
सोख्ड हनारसे भी अधिक पत्तियों अपनी सम्पन्न एवं
प्रेमभी चितवन तथा मन्द-मन्द मुसकानसे उनकी सेवा
करती थी और वे उनके साथ खिार करते थे ॥ ४४ ॥
मगवान् श्रीकृष्णने जो छीछाएँ की हैं, उन्हें दूसरा कार्य
नहीं कर सकता । परीक्षित ! वे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति
और प्रलयके परम कारण हैं । जो उनकी छीछवत्के
गान, श्रवण और गान-श्रवण करनेवालोंका हृदयमन
करता है, उसे मोक्षके मार्गस्वरूप मगवान् श्रीकृष्णके
चरणोंमें परम प्रमत्तकी भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायां दशमस्कन्धे' उत्तरार्धे
कृष्णगोर्हस्म्यदर्शन नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी मित्यवस्था और उनके पास बरासन्धके कैशरी राजाओंके वृत्तका भाना

श्रीकृष्ण उवाच

अथापस्युपवृत्तामां कुकुटान् कूजतोऽञ्चपन् ।

गृहीतकण्ठः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥

वयांस्परुलवन् कृष्ण बोधयतीष वन्दिनः ।

गायत्स्यलिप्पनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥ २ ॥

सुहृत् तं तु वैदर्भी नामृष्यदत्तिशोभनम् ।

परिरम्भणविश्लेषात् प्रियवाहन्तरं गता ॥ ३ ॥

प्राञ्च सुहृत् उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।

दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमस परम् ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णकेव ही कहत हैं—परीक्षित ! जब उनके
होने लगा, कुकुट (मुरगे) नेकने उठते, तब वे
श्रीकृष्ण-पत्तियों, जिनके कण्ठमें श्रीकृष्णने अपनी मुञ्ज
बाळ रखी है, उनके निजोहकी आवाहसे न्मकुट हो
जाती और उन मुरगोंको कोसने लगती ॥ १ ॥ उस
समय पारिजातकी सुगन्धसे सुकस्ति भीनी-भीनी बन
वहने लगती । और ताक्षरसे अपने सङ्गीतकी तान में
देते । पक्षियोंकी नींद उच्छ्रित जाती और वे बंदीबनोंकी
गोति मगवान् श्रीकृष्णको जगानेके लिये मधुर करते
कन्धव करने लगते ॥ २ ॥ कनिष्ठीकी अपने प्रियजनक
मुञ्जगाशसे बैठी रहनेपर भी व्यभिक्त्त छूट जानेकी
आवाहसे अत्यन्त सुहावने और पवित्र शब्दमुहूर्तसे भी
असह्य सगगने लगती थी ॥ ३ ॥ मगवान् श्रीकृष्ण
प्रतिदिन श्राद्धमुहूर्तमें ही ठठ बाते और हृत्-मुहूर्त भोजन
अपने मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करने लगते । उस
समय उनका रोम-रोग आनन्दसे छिन्न उठता था ॥ ४ ॥

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्यय

स्वस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।

ब्रह्मात्मयमस्याद्भवनाद्यहेतुभिः

स्वप्नकिमिर्लक्षितभावनिर्बुद्धिम् ॥ ५ ॥

अभास्तुतोऽम्भस्पमले यथाविधि

क्रियाफलाप परिधाय वाससी ।

चकार संज्योपगमादि सचमा

भूतानलो ब्रह्म सञ्जाप वाग्यतः ॥ ६ ॥

उपस्थापार्कं ध्वजन्तं सर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः ।

देवानृषीन् पितॄन् ब्रह्मन् विप्रान् भयर्च्य चारुप्रधान् ॥ ७ ॥

वेनूनां वनमश्वत्थीनां साध्वीनां मौक्तिकसमाय ।

पयस्विनीनां गृहीनां सक्त्सानां सुवाससाम् ॥ ८ ॥

ददौ रूप्यसुराग्राणां क्षमाभिनविलं सह ।

अठकृतेष्मा विप्रभ्यो बद्धं बद्धं दिनं दिनं ॥ ९ ॥

गायिपदवतावृद्धगुरून् भूतानि सपथ ।

१ म ४ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

परीक्षित ! गगनान्तरा वह आत्मस्वरूप सजातीय, विजृम्भीत और स्वयंज्योतिरूप से रहित एक, अखण्ड है । क्योंकि उसमें किसी प्रकारकी उपाधि या उपाधिके कारण होनेवाला अन्य वस्तुका अस्तित्व नहीं है । और यही कारण है कि वह अविनाशी सत्य है जैसे चन्द्रमा सूर्य आदि नेत्र-इन्द्रियके द्वारा और नत्र-इन्द्रिय चन्द्रमा सत्य आदिके द्वारा प्रकाशित होती है, वैसे वह आत्म-स्वरूप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश है । इसका कारण यह है कि अपने स्वरूपमें ही सदा-सर्वदा और कालकी सीमाके परे भी एकत्र ही स्थित रहनेके कारण अविनाश उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता । इसीसे प्रकाश्य-प्रकाशकभाव उसमें नहीं है । जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशकी कारणभूता ब्रह्मशक्ति, विष्णुशक्ति और रुद्रशक्तियोंके द्वारा केवल इस वातका अनुमन हो सकता है कि वह स्वरूप एकरस सत्त्वरूप और आनन्दस्वरूप है । उसीको समझानेके लिये 'ब्रह्म' नामसे कहा जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण अपने उसी आत्मस्वरूपका प्रतिदिन ध्यान करते ॥ ५ ॥ इसके बाद वे विधिवत्क निर्मल और पवित्र जलमें स्नान करते । फिर गुह्य धोती पहनकर, दुग्धा बोधकर यथाविधि नित्यक्रम सुष्य-वर्धन आदि करते । इसके बाद इकन करते और मौन होकर गायत्रीका जप करते । क्यों न हो, वे सत्पुरुषोंके पात्र आदर्श जो हैं ॥ ६ ॥ इसके बाद सूर्योदय होनेके समय सूर्योपस्थान करते और अपने वयस्वरूप देवता, शिव तथा विन्दोका स्तवन करते । फिर कुडके बड़े-बूटों और मालगोंरी विधिवत् पूजा करते । इसके बाद फम मनस्वी श्रीकृष्ण दुधार, पहल-पहल प्यासी दुध, अष्टशोकादी तीर्थी-शान्त गोमंत्र गान करते । उस समय उन्हें सुन्दर वस्त्र और मणिषोंकी माला पहनायी जाती । सोममें सोना और सुरमें चाँदी मङ्गल दी जाती । वे मालगोंरी बलाभूषणोंसे सुसज्जित करके रेशमी वस्त्र, मृत्तम और मिट्टके माथ प्रतिदिन लेख हजार चारसी गौर इस प्रकार गान करते ॥ ७-९ ॥ तदनन्तर अपनी विभूतिगण गौ, शकल वस्त्रा कुडक बड़े-बूट, गुरुन और समस्त

नमस्तुत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृष्टत् ॥१०॥

अत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।

वासोभिर्मूषणैः स्वीयैर्विव्यस्रगजुलेपनैः ॥११॥

अवेक्ष्यान्मं तथाऽऽदर्शं गोशृण्विषदेवताः ।

अमांश्च सधवर्णानां पौरान्तःपुरधारिणां ।

प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोप्य प्रत्यनन्दतः ॥१२॥

सविभवाप्रतोविप्रान् स्रक्ताम्बूलाजुलेपनैः ।

सुहृदः प्रकृतीर्दारुणपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥१३॥

तापत् घृत उपानीय स्यन्दनं परमाश्रुतम् ।

सुग्रीवाद्यैर्यैर्युक्तं प्रजम्पावस्वितोऽग्रतः ॥१४॥

गृहीत्वा पाणिना पापी सारबन्तमधारुहत् ।

सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पृष्ठात्रिमिव भास्करः ॥१५॥

इधितोऽन्तःपुरस्त्रीणां समीढप्रमवीक्षितैः ।

कच्छाव् विमुष्टो निरगाज्जातहासो हरन् मनः ॥१६॥

सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्बुध्निभिः परिवारितः ।

प्राविशद् यथिविधानां न सन्त्यङ्गपट्टमयः ॥१७॥

तत्रापविष्टः परमासने विभुः

संभो स्वभासा कर्तुं भाञ्जभासयन् ।

१ मन्त्रो भूते । २ श्रीधरे । ३ भो विप्रजम्पन् ।

प्राणियोंको प्रणाम करके मङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करते ॥ १० ॥ परीक्षित् । यद्यपि मगवान्के शरीरका सङ्गज सौंदर्य ही मनुष्य-लोकका अङ्गकार है, फिर भी वे अपने पीताम्बरदि दिव्य वस्त्र, कैलुमदि आभूषण, पुष्पोंके हार और चन्दनानि दिव्य अङ्गरसे अपनेको आभूषित करते ॥ ११ ॥ इसके बाद वे श्री और दण्डमें अपना मुखरन्ध्र देखते, गण्य, कैल, ब्राह्मण और देव-प्रसिद्धोंका दर्शन करते । फिर पुरवासी और अन्तःपुरमें रहनेवाले चारों वर्गोंके ओंकारोंकी अम्बिकापाएँ पूर्ण करते और फिर अपनी कण (ग्रामाक्षरी) प्रजापति की मन्त्रापूर्ति करके उसे स्तुति करते और इन सबको प्रसन्न देखकर स्वयं बहुत ही आनन्दित होते ॥ १२ ॥ वे पुष्पमाला, तन्मूल, चन्दन और अङ्गराग आदि वस्तुएँ पहले शायम्, स्वन्न-सम्बन्धी, मन्त्री और राजनियोंको बाँट देते; और उनसे बची हुई स्वयं अपने कमरेमें लेते ॥ १३ ॥ मगवान् पक्ष सब करते होते, तत्काल दाहक नामका सरपं सुग्रीव आदि घोड़ोंसे लुता हुआ हुआ अक्षय्य बहुत लाने जाता और प्रणाम करके मगवान्के समने उतर हो जाता ॥ १४ ॥ इसके बाद मगवान् श्रीराम सारपति और उद्धवकीके साथ अपने हाथसे सरपंका हाथ पकड़कर रथार सवार होते—टीक बसे ॥ जैसे मुचनभस्कर मगवान् सूर्य उदयावधपर अस्त हो रहे हैं ॥ १५ ॥ उस समय रत्नसुक्ती स्त्रियोंका एक प्रमसे मरी चित्तवन्तसे उन्हें निहारने लगती और बसे कहते उन्हें क्रिया करती । मगवान् सुसुक्ताकर उनके चित्तसे खुशते हुए पक्षसे निकलते ॥ १६ ॥

परीक्षित् । तन्मन्त्र भगवान् श्रीराम सफल यदुपशोधके साथ सुधर्मा नामकी सभामें प्रवेश करते । उस सभाकी ऐसी महिमा है कि जो लोग उस सभामें जा बैठते हैं, उन्हें भूय-प्राप्त, लोक-मोक्ष और जग-मृत्यु—ये सब उर्मियों नहीं सफलता ॥ १७ ॥ इस प्रथम भगवान् श्रीराम सब राजनियोंसे अङ्ग-प्रणम विना होकर एक ही मगमें सुधर्मा-सभामें प्रवेश करते और वहाँ अपर श्रेष्ठ सिंहासनपर विराज जाते । उनकी

धृतो नृमिहैर्यदुभिर्बद्धमो

यपोदुराजो दिवि सारकागणं ॥१८॥

तत्रोपमन्त्रिणो राजन् नानाहास्यरसैर्विभुम् ।

उपवस्थुनटाचाया नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥१९॥

मृदङ्गवीणासुरखवेणुतालदरस्वनैः ।

ननृतुर्जगुस्तुन्दुबुध स्रजमागधवन्दिन ॥२०॥

तत्राहुषाक्षभाः कचिदासीना ब्रह्म वादिनः ।

पूर्वेपां पुष्पयन्त्रसां राज्ञा चाकथयन् कथाः ॥२१॥

सत्रैक पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शन ।

निष्ठापितो भगवत्ते प्रवीहारैः प्रवेशितः ॥२२॥

स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।

गङ्गामावेदयद् दुःस्व जरासन्धनिरोधवम् ॥२३॥

ये च दिग्विजये तस्य सजतिं न ययुर्नृपाः ।

प्रसन्न रुद्रास्तेनासन्नपुत्रे द्वे गिरिभने ॥२४॥

कृष्ण कृष्णप्रमयात्मन् प्रपन्नभयमञ्जन ।

ययं त्वां शरणायामो भयभीताः पृथग्विभय ॥२५॥

लाञ्छ विक्रमनिरत कुञ्जल प्रमथ

कर्मभ्यर्प्य स्वतुदिते भवदर्शने स्वं ।

यस्तावदस्य पलवानिह जीवितायां

मयान्छिनयनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै २६

१ कृष्णाय । २ पति ।

अज्ञकर्मन्तिसे निष्ठां प्रकाशित होती रहती । उस समय यदुर्बशी कीरोंके बीचमें यदुर्बशशिरोमणि भगवान् धौकुम्हकी पत्नी शोभा होती, जैसे आषाशमें तारोंमें बिरे हुए चन्द्रनेत्र शोभायमान होते हैं ॥ १८ ॥ परीक्षित ! समामें विदुषकणोग विभिन्न प्रकारक हास्य विनोदसे, नटाचाय अभिनयसे और नर्तकियां कञ्चूर्ण नृत्योंसे अलग-अलग अपनी टाशियोंके साथ भगवान्की सेवा करती ॥ १९ ॥ उस समय मृदङ्ग, वीणा, पञ्चवज्र, बंसुरी, झाँझ और शङ्ख वज्रन उगते आर स्रज, मागव तथा वदीवन नाचत-गात और भगवान्की स्तुति करते ॥ २० ॥ कोइ-कोई म्बन्म्याकुण्डल शङ्ख बद्धों कठकर वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करत आर कञ्चू पृथक्कीन पवित्रकीर्ति नरपत्तियोंके चरित्र रख रखकर सुनाते ॥ २१ ॥

एक दिनकी बात है, शारकापुरीमें राजसम्भक द्वारपर एक नया मनुष्य आया । द्वारपालोंने भगवान्को उसका जानकी सूचना देकर उसे समाभवनमें उपस्थित किया ॥ २२ ॥ उस मनुष्यने परमेश्वर भगवान् धौकुम्हकी हाथ जोड़कर नमस्कार किया और उन गन्धार्थों, जिन्होंने जरासन्धक निम्निक्रमक समय उसका सामन सिर नहीं झुकाया था और कठपूजक की तरह नये गये थे, जिनकी संख्या बस हजार थी, जरासन्धक बंदी बनकर दूख धौकुम्हक सामने निधन किया—॥ २३-२४ ॥ पश्चिदानन्दलक्षण धौकुम्ह 'अप मन और चाणीके क्वाचर हैं । वा आपकी शरणमें आता है, उसका सारे भय आप नष्ट कर दल हैं । प्रभो इन्की भय-बुद्धि मिथी नहीं है । हम जन्म-मृत्युकुल संसारके चक्रसे भयभीत होकर आपकी शरणमें आये हैं ॥ २५ ॥ भगवन् 'अत्रिगण जीव ऐसे मराम आर निरिद कर्मोंमें रमि हुए हैं कि वे आपके नयनमें हुए अपने परम कल्याणकारी कर्म आपकी उपासनासे निमुख हो गये हैं और अपने जीवन एवं जीवनसम्बन्धी आशा-अभिप्रायोंमें जन्म-मरण रह हैं । परन्तु आप का यत्न है । आप कष्टमने सदा-सदा सात्त्विक रहकर उनकी आशा-अपराध गुरत स्मृत उच्छ्वर कर पात्र हैं । हम अत्यन्त उन

लोके मवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः

सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।

कश्चित् स्वदीपमतिपाति निदेशमीश

किं वा जनः स्तुतस्तुष्टवि सप्त विधः ॥२७॥

स्वमापितं नृपसुख परतन्त्रमीश

सम्पन्नयेन मृतकेन पुर वहाम ।

दित्वा तदात्मनि सुखं स्वदानीहसन्म्यं

क्षिप्त्वा महोऽतिरुपयास्तव माययेह ॥२८॥

तमो भवान् प्रगतशोकहराक्षिपुग्मो

ब्रह्मान् विमुक्तस्व मगधाह्वयकर्मपाश्चात् ।

वा भूषजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेका

विभ्रद् स्तोत्रभवेन मृगराक्षिवावी ॥२९॥

सो वै स्वयां दिनबक्रुष तदाचक्षक

भन्नो मृषे सखु भवन्तमनन्तवीर्यसू ।

कालरूपको नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥ आप स्वयं जगदीश्वर हैं और आपने जगत्में अपने ज्ञान, कृपा आदि कल्याणोंके साथ इसलिये अवतार ग्रहण किया है कि संतोंकी रक्षा करें और दुष्टोंको दण्ड दें । ऐसी अवस्थामें प्रभो ! जरासन्ध आदि कोई दूसरे उद्योग आपकी इच्छा और आज्ञाके विपरीत हमें कैसे कर रहे हैं, यह बात हमारी समझमें नहीं आती । यदि यह कहा जाय कि जरासन्ध हमें कुछ नहीं देख, उसके रूपमें—उसे निमित्त बनाकर हमारे अज्ञान कर्म ही हमें दुःख पहुँचा रहे हैं, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि जब हमलोग आपके अपने हैं, तब हमारे दुष्कर्म हमें कुछ देनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं ? इसलिये आप कृपा करके अवश्य ही हमें इस भ्रष्टे मुक्त कीजिये ॥ २७ ॥ प्रभो ! हम जानते हैं कि राजा आपने कुछ सुख प्रारम्भके अधीन एवं निरामय है । और सच कहें तो काम-सुखके समान अल्पतः कुछ और असत्य है । साथ ही उस सुखमें भोगनेवाला शरीर भी एक प्रकारसे मुर्दा ही है और इसके पीछे सदा-सर्वदा सैकड़ों प्रकारके भय लगे रहते हैं । परन्तु हम तो इसीके द्वारा जगत्के अनेकों मार डो रहे हैं और यही कारण है कि हमने अन्त करमके नियम भंग और निस्तुष्टि स्थितिसे प्राप्त होनेवाले असुखका परित्याग कर दिया है । सचमुच हम अल्पतः अज्ञानी हैं और आपकी मयाके फदेमें फँसकर भ्रष्ट पर भ्रष्ट भोगते जा रहे हैं ॥ २८ ॥ भगवन् ! आपके अमरगणका शरणागत पुरुषोंके सम्मुख शोक और माहोंको मह कर देनेवाले हैं । इसलिये आप ही जरासन्धरूप करके कथमसे हमें छुड़ाइये । प्रभो ! यह अकेल ही दस हजार हाथियोंकी शक्ति रखते हैं और हमलोगोंको उसी प्रकार बन्दी बनाये हुए हैं, जैसे सिंह मेकोंको घेर रखे ॥ २९ ॥ चक्रपाणे ! आपने अस्त्राह्वर जरासन्धको मुक्त किया और सगद कर उसका मान-मर्दन करनेके उसे छोड़ दिया । परन्तु एक बार उसने आपको जीत लिया । हम जानते हैं कि आपकी शक्ति, आपका कर्म-वीर्य अनन्त है । फिर भी मनुष्योंका सा आचरण करते हुए आपने शत्रुनेत्र

जित्वा नृलोकनिरत सकृद्वदपों

युष्मत्प्रजा रुप्रति नोऽग्रित तव विवेहि ॥३०॥

दूत उवाच

इति मागधसंज्ञा भवदर्शनप्रक्षिण ।

प्रपन्ना पादमूल ते दीनानां शं विधीयताम् ॥३१॥

भक्तिक उवाच

राजहते ध्रुवत्येव देवर्षिः परमधुतिः ।

विभ्रत् पिङ्गप्रदामार प्रादुरासीषु मथारविः ॥३२॥

त इन्द्र भगवान् कृष्ण सर्वलोकधरेभ्यः ।

वचन्द उदित्य श्रीर्णाससम्भः सालुगोमुदा ॥३३॥

सभाजयित्वा विविधत् कृतासनपरिग्रहम् ।

वभापे ध्रुवतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन् मुनिम् ॥३४॥

अपि सिद्ध लोकाणां प्रयाणामकुशभयम् ।

ननु भूपान् भगवता लज्जान् पयटतो गुण ॥३५॥

न हि तेऽत्रिदितं किञ्चिन्लाकेऽप्यीश्वरकटपु ।

अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥३६॥

भीमरद उवाच

इष्टा मया त बहुशा दुरस्यया

माया विभो विभसृजय मायिनः ।

अभिनय किया। परन्तु इसीसे उसका घमंड बढ़ गया है। हे अजित! अब यह यह जानकर हमलोगोंको और भी सताता है कि हम आपके भक्त हैं, आपकी प्रजा हैं। अब आपकी नैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये ॥ ३० ॥

दूतमे कहा—भगवान्! जरासन्धके बंदी नरपत्नियोंने इस प्रकार आपसे प्रार्थना की है। वे आपके चरणकमलोंकी शरणमें हैं और आपका दर्शन चाहते हैं। आप कृपा करके उन दीनोंका वन्दन करिये ॥ ३१ ॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—परीक्षित! राजाओंका दूत इस प्रकार कह ही रहा था कि परमदेवकी देवर्षि नारदजी यहाँ आ पहुँचे। उनकी सुनहरी जटाएँ चमक रही थीं। उन्हें देखकर ऐसा मन्त्रम हो रहा था, मनो साक्षात् भगवान् सूर्य ही उदय हो गये हों ॥ ३२ ॥ ब्रह्मा आदि समस्त लोकपालोंके एकत्रिय स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें देखते ही सम्यग्दर्शन और सेवाकर्मके साथ हर्षित होकर ठठ खड़े हुए और सिर झुककर उनकी वन्दना करने लगे ॥ ३३ ॥ जब देवर्षि नारद आसन लीकर करके बैठ गये, तब भगवान् ने उनकी विविधक प्रशंसा की और अपनी धृष्टसे उनकी सम्प्राप्त करते हुए वे मधुर वाणीसे बोले—॥ ३४ ॥ 'देवर्षे! इस समय तीनों लोकमें कुशाग्रमनस तो हैं न? आप तीनों लोकमें विचरण करते रहते हैं, इससे हमें यह बहुत बड़ा क्षम है कि घर बैठे सबका सम्बन्ध सिद्ध जाता है ॥ ३५ ॥ इश्वरके द्वारा रचे हुए तीनों लोकमें ऐसी कोश्रु नष्ट नहीं है, जिसे आप न जानते हो। अब हम आपसे यह ज्ञानना चाहते हैं कि युधिष्ठिर आदि पाण्डव इस समय क्या करना चाहते हैं ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने कहा—सुत्रधारक अनन्त! आप विभक्त निर्माता हैं और इनने यह मन्त्रकी है कि यह यह मन्त्रकी श्रद्धाजी आप भी आरंभ कर पाकर पार नहीं पा सकते। प्रमा! आप सबक घट-घटमें अपनी अजिम्ब्य शक्तिके मन्त्र रखते हैं—दीन बसे ही, जैसे

मृतेषु भूमधरत स्वशक्तिभि

बह्वरिष्यच्छभरुघो न मेऽनूतम् ॥३७॥

तवेहित कोऽर्हति साधु वेदितुं

स्वमायवेदं सुव्रतो नियच्छत ।

यद् विद्यमानात्मतयावभासते

तस्मै नमस्ते स्वबिलक्षणाय ॥३८॥

बीबस्व यः ससरतो विमोक्षणं

न ज्ञानतोऽनर्थवद्वाच्छरीरतः ।

लीलावतारैः स्वयञ्चः प्रदीपक

प्राज्वालयत्वा तमहं प्रपद्य ॥३९॥

अवाप्साधावये ब्रह्म नरलोकविद्वम्बनम् ।

राष्ट्र पैदम्बसेयस्य भक्तस्य च विकीर्णितम् ॥४०॥

यक्षयति स्वां मलेन्द्रेण राक्षसेन पाण्डवः ।

पारमेष्ठयकामो नृपसिंहश्च भवाननुमोदताम् ॥४१॥

तस्मिन् देव ऋतुनरं भवन्त वै सुरादयः ।

दिद्युतः समेष्वन्ति राजाननश्च यशस्विनः ॥४२॥

भयमात् कीर्तनाद् ध्यानात् पूज्यन्तेऽन्तेवसामिन ।

तप ब्रह्ममयस्येष्ट किमुतेषाभिमाविनः ॥४३॥

अग्नि लक्ष्मियोंमें अपनेको छिपाये रक्ता है । अग्नौ दहि सख आदि गुणोंपर ही बटक जाती है, इसे आपको ये नहीं देख पाते । मेने एक बार नहीं, अनेकों बार आपकी माया देखी है । इसलिये आप जो मैं अनजान बनकर पाण्डवोंका समाचार पूछते हैं, इसे मुझे कोई पकड़ नहीं हो रहा है ॥ ३७ ॥ महन् ! आप अपनी मायासे ही इस जगत्की रचना और संभार करते हैं, और आपकी मायाके यन्त्रण ही यह सब होनेपर भी उसके समान प्रतीत होता है । आप कम क्या करना चाहते हैं, यह बात मझीमंति कौन सम सकता है । आपका स्वरूप सर्वत्र अविन्तनीय है । मैं तो केवल बार-बार आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ३८ ॥ शरीर और इससे सम्बन्ध रखनेवाली वासनाओंमें फँसकर जीव बन्ध-मुक्त्युक्त के चक्रमें मटकता रहता है । तब यह नहीं जानता कि मैं इस शरीरसे कैसे मुक्त हो सकता हूँ । वासनामें उसीके चित्तके छिपे आप नामा प्रकरके लीलावतार ग्रहण करके अपने पवित्र फलका दौलत जम्ब देते हैं, जिसके सहारे यह इस अनर्थकारी शरीरसे मुक्त हो सके । इसलिये मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ ३९ ॥ प्रभो ! आप स्वयं परब्रह्म हैं तथापि मनुष्योंकीसी क्षीयका नाट्य करते हुए मुझसे पूछ रहे हैं । इसलिये आपके फुफेरे भाई और प्रेमी मऊ राजा सुविधिर क्या करना चाहते हैं, यह बात मैं आपको सुनाता हूँ ॥ ४० ॥ इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मकेकमें किसीको जो मोहा प्राप्त हो सकता है, वह राजा सुविधिरको यही प्राप्त है । उन्हें किसी वस्तुकी कामना नहीं है । फिर भी वे श्रेष्ठ यह राजसूयके द्वारा आपकी प्राप्तिके लिये आपकी आराधना करना चाहते हैं । आप कृप करके उनकी इस अभिप्रायका अनुमोदन करिये ॥ ४१ ॥ महन् ! उस श्रेष्ठ यक्षमें आपका दर्शन करनेके लिये वह-वह देवता और यक्षस्त्री नरपतिगण एकत्र होंगे ॥ ४२ ॥ प्रभो ! आप स्वयं विद्वानानन्दघन प्रद्य हैं । आपके अकण, परितन और ध्यान करनेवालेसे अत्यन्त भी प्रसन्न हो जाते हैं । फिर जो आपका दर्शन और स्पर्श प्राप्त करते हैं, उनके सम्मुखमें तो कदाही क्या है ॥ ४३ ॥

उद्यम उपाय

यदुक्तमुपिणा देव साधिन्यं यन्मतस्त्वया ।

कथं पैतृष्यसेयस्य रक्षा च धरणीपिणाम् ॥ २ ॥

यदृष्य राजसूयेन दिक्पद्मविना विभो ।

अतो जरासुतवच उभयार्थो मतो मम ॥ ३ ॥

असार्कं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।

यद्यथ तव गोविन्द रामो वदन् विमुञ्चतः ॥ ४ ॥

स वै दुर्विहो राजा नागाशुतसमो बले ।

बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥ ५ ॥

द्वैरेवे स तु जेतव्यो मा धृताद्यौहिणीयुतः ।

महाम्नोऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कश्चित् ॥ ६ ॥

असवेवधरो गत्वा त भिक्षेत हृकोदर ।

हनिष्यति न संदेहो द्वैरेवे तव सनिधौ ॥ ७ ॥

निमिषं परमीशस्य विषयसर्गनिरोधयोः ।

हिरण्यगर्भः सर्वथ कालस्यारूपिणस्तव ॥ ८ ॥

गापन्ति ते विशदकर्म गृह्य देव्यो

रामां स्वशत्रुवधमारमभिमुख्यं च ।

अथजोने कहा—भगवन् ! देवर्षि नारदजीने आप-

को यह सञ्छाद दी है कि कुफरे भाई पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें सम्मिलित होकर उनकी सहायता करनी चाहिये। उनका यह कथन ठीक ही है और साथ ही यह भी ठीक है कि शरणागतोंकी रक्षा अवश्यकर्तव्य है ॥२॥ प्रभो ! जब हम इस दृष्टिसे विचार करते हैं कि राजसूय यज्ञ यही कर सकता है, जो दसों दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ले, तब हम इस निर्णयपर बिना किसी दुस्विद्धके पहुँच जाते हैं कि पाण्डवोंके यज्ञ और शरणागतोंकी रक्षा दोनों बड़ोंके लिये जरूरतमन्त्रकी चीतना अत्यन्तक है ॥ ३ ॥ प्रभो ! केवल जरासुतको जीत लेनेसे ही हमारा मन्त्र उरस्य सफल हो जायगा, साथ ही उससे बंदी राजाओंकी मुक्ति और उसके कारण आपकी सुप्तावस्था भी प्राप्ति हो जायगी ॥ ४ ॥ राजा जरासुत कदम-छेगोंके भी दौत खड़े कर देता है, क्योंकि दस हजार क्षत्रियोंका वह उसे प्राप्त है। उसे यदि हरा सकते हैं तो केवल भीमसेन, क्योंकि वे भी दैते ही कभी हैं ॥ ५ ॥ उसे आपने-सामनेके युद्धमें एक ही जीत ले, यही सबसे अच्छा है। सौ अश्वोहिणी सेना लेकर जब वह युद्धके लिये खड़ा होगा, उस समय उसे जीतना असान न होगा। जरासुत बहुत बड़ा मन्त्रगामक है। यदि ब्राह्मण उससे किसी वस्तुकी याचना करते हैं तो वह कभी कहेरा जवाब नहीं देता ॥ ६ ॥ इसलिये भीमसेन ब्राह्मणके वेपमें जायँ और उससे युद्धकी भिक्षा माँगे। भगवन् ! इसमें सन्देह नहीं कि यदि आपकी उपस्थितिमें भीमसेन और जरासुतका द्वन्द्वयुद्ध हो, तो भीमसेन उसे मार डालेगा ॥ ७ ॥ प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् रूपरहित कालसरूप हैं। विषयी सुख और प्रथम आपकी ही शक्तिसे होता है। प्रथा और शास्त्र तो उसमें निमित्तमन्त्र हैं। (इसी प्रकार जरासुतका यह तो होगा आपकी शक्तिसे, भीमसेन केवल उसमें निमित्तमन्त्र कर्तव्य) ॥ ८ ॥ जब इस प्रकार आप जरासुतका वध कर डालेंगे, तब कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रातियों आपने मन्त्रोंमें आपकी इस निरुद्ध स्थिति गान करेंगी कि आपने उनके शत्रुस्य नाश पर पिय और उनके प्राणपतियोंको छुड़ा दिया। ठीक वैसे ही, जैसे

गोप्यम् कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः

प्रियोश्च लम्बशरणा मुनयो वर्यं च ॥ ९ ॥

बरासधवधः कृप्य भूर्यथापापकल्पते ।

प्रायः पाकविपाकन तय चाभिमतः क्रतु ॥१०॥

मीनक उवाच

इत्युद्वषषा राजन् सर्वताभद्रमच्युतम् ।

द्वर्षिर्वदुद्वदाद्य कृप्याध प्रत्यपूजयन् ॥११॥

अभादिशत् प्रयाणाय भगवान् दंष्ट्रीसुत ।

भूत्यान् दारुकजैत्रादीननुष्ठाप्य गुरुन् विधु ॥१२॥

निर्गम्य्याचरो भान् स्नान् समुत्तान् सपरिच्छदान् ।

संकर्षमनुष्ठाप्य यदुरार्जं च क्षुद्रहन् ।

सुतापनीर्व स्वरथमारुह्य गुरुन् च ॥१३॥

ततो रथद्विपभटसादिनायकै

करालया परिश्रुत आत्मसेनया ।

मृदङ्गमेवानकदङ्गगोमुनै

प्रषापपापितककुभा निराक्रमत् ॥१४॥

नृवाजिक्काञ्चनशिविकाभिरभ्युध

सहात्मजाः पतिमनु सुग्रथा ययुः ।

धराम्बराभरणविलपनसञ्चः

सुमधुता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥

नराद्रामाद्विषम्वराश्चतयन -

करणुभि परिजनवाग्योषित ।

मलकृता कटुकुम्भलाम्बरा

सुपम्कग ययुरभियुज्य सवन ॥१६॥

गोपियों शङ्खचूषसे सुबानेकी लीजका, आपके शरणागत मुनिगण गजेन्द्र और जानकीजीके ठदारकी लीजका तथा हमधेगे आपके माता-पितामहे कंसके यराग्रसे सुबानेकी लीजका गन् करते हैं ॥ ९ ॥ इसलिये प्रयो । बरासधका यध सय ही बहुत-से प्रयोजन सिद्ध कर देगा । बंदी नरपतियोंके पुण्य-परिणामसे क्षय बरासधके पाप-परिणामसे सन्निगनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण । क्षय भी तो इस समय रजस्य पक्ष होना ही पसंद करते हैं (इसलिये पहले आप वही पचारिये) ॥ १० ॥

श्रीकृष्णदेवभी कहते हैं—परीक्षित ! उद्वज्जीकी यह सलाह सब प्रकारसे हितकर और निर्दोषी । देवर्षि नारद, यदुवशके बड़े-बूढ़ और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी उनकी बातका समर्थन किया ॥ ११ ॥ अब अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने वसुदेव आदि गुरु-जनसे अनुमति लेकर दारुक, जैत्र आदि सेवकोंके ह्मप्रसन्न जानेकी तैयारी करनेके लिये आकाश ॥ १२ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने यदुराज ठप्पेल और कलामजीसे आज्ञा लेकर कट-बन्धोंके साथ रणियों और उनके सब सामानमें आगे चला दिया और फिर दारुकके लिये हुए गुरुन् रणपर स्वयं सम्भर हुए ॥ १३ ॥ इसके बाद रणों, हाथियों, घुड़सवारों और पैदलोंकी बड़ी भारी सेनाके साथ उन्होंने प्रस्थान किया । उस समय मृदङ्ग नगारे, बाण, शङ्ख और नरसिंहकी ऊँची ध्वनिले स्त्रियों शिर्षों गूँज उठी ॥ १४ ॥ सनीशिरामगि रुक्मिणीजी आदि सहस्रो श्रीकृष्ण-पत्नियों अपनी सन्तानों-के साथ सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण, चन्दन, अङ्गराग और पुष्पोंके हार आदिसे सज्ज-श्रवण शक्ति, रणों और सनिकी बनी हुई पात्रियोंमें बहुरंग अंगन पतिद्वय भगवान् श्रीकृष्णक पीछे-पीछे चली । पदम लिंगी हाथोंमें गङ्गा-नम्बार लेकर उनकी गङ्गा करते हुए चले गये ॥ १५ ॥ इसी प्रकार अनुचरोंकी शिर्षा और बाग-वृत्तों में मन्त्रि-मन्त्रि शृङ्गार करके गम आदि शोषणियों, मन्त्रि-भानिक नृपुत्रों, मन्त्रियों के बन्धों और धार्मिक-विद्वान् आदि की सम्मिलित दलों में, तथा और मन्त्रियों के साथ स्वयं गङ्गा उर लिये और धर्मियों

बलं ब्रह्मवपटलप्रचामरे

वरायुभाभरणकिरीटधर्मभिः ।

विवांशुभिस्तुलरवं बभौ रवे

यथार्थः क्षुभिततिमिक्त्रिलोर्मभिः ॥१७॥

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः

प्रथम्य त इदि विदध्व बिहायसा ।

निधम्य तद्वम्बसितमाहृतार्थो

मुकुन्दसंदर्शननिर्भूतेन्द्रियः ॥१८॥

राजद्वत्सुबाचेद भगवान् ग्रीणयन् गिरा ।

मा मैष्ट दूत भद्रं वो वातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥

इत्युक्तः प्रस्वितो दूतो यथावदवदन्नुपात् ।

तेऽपि संदर्शनं श्वरैः प्रत्यैक्षन् य मुमुक्षवः ॥२०॥

आनर्तसौवीरमरुन्तीर्त्वा विनष्टं हरिः ।

गिरीन् नदीरतीयाय पुरग्रामप्रवाकरान् ॥२१॥

तता द्यप्रतीं तीत्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।

पञ्चालानथ मत्स्यांश्च शङ्खप्रख्यमथागमत् ॥२२॥

तमुपागतमाकर्ष्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृपाम् ।

अज्रातश्रुतिरगात् मापाप्मायः सुहृद्वृतः ॥२३॥

गीतवादिप्रपाप्य प्रधपापेण भूयसा ।

सवार होकर कहीं ॥ १६ ॥ जैसे मगरमच्छों को
छहरोकी उलछ-बूदसे सुम्ब समुद्रकी शोभा होती है,
ठीक जैसे ही अक्षय्यत करोव्याहलसे परिपूर्ण, सखी
हुई बही-बही पताफाओं, छत्रों, चँबरों, श्रेष्ठ कवच-शत्रुओं,
बलामुपणों, मुकुटों, कवचों और दिनके समय ऊपर
पकती हुई सूर्यकी किरणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी सेव
अक्षय्यत शोभायमान हुई ॥ १७ ॥ देवर्षि नारदजी
भगवान् श्रीकृष्णसे सम्प्रार्थित होकर और उनके निबन्धसे
सुनकर बहुत प्रसन्न हुए । भगवान्‌के दर्शनसे उनका
हृदय और समस्त इन्द्रियों परमानन्दमें मग्न हो गयीं ।
विदा होनेके समय भगवान् श्रीकृष्णने उनका नाम
प्रकारकी सम्मनियोंसे पूजन किया । अब देवर्षि नारदने
उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया और उनकी दिव्य
मूर्तिके हृदयमें धारण करके वाक्यश्रमसे प्रसन्न
किया ॥ १८ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने नरसम्बके
बंदी नरपत्नियोंके दूतको अपनी मधुर वाणीसे आश्वस्त
देते हुए कहा—“दूत । तुम अपने राजाकोसे अच्छ
कहना—“बुरो मत । तुम लोगोंका कल्याण हो । मैं
नरसम्बको मरवा डालूँगा” ॥ १९ ॥ भगवान्‌की ऐसी
वाणी पाकर वह दूत गिरिजन का गन्ध और नरपत्नियोंके
भगवान् श्रीकृष्णका स्नेहश्रवणों-क-श्रवणों सुना दिए ।
वे राजा भी कारागारसे छूटनेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र
भगवान्‌के दूत दर्शनकी बात जोहने लगे ॥ २० ॥

परीक्षित । अब भगवान् श्रीकृष्ण आनर्त, सौवीर,
मरु, मुकुन्द और उनके बीचमें पड़नेवाले पर्वत, नदी,
नगर, गाँव बहिरोंकी वस्तुओं तथा खालोंको पर
करते हुए अपने बचने लगे ॥ २१ ॥ भगवान्
मुकुन्द मार्गमें दण्डवती एवं सरस्वती नदी पर करके
पाश्चात्य और मत्स्य देशोंमें होते हुए इन्द्रप्रस्थ आ
पहुँचे ॥ २२ ॥ परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन
अक्षय्यत दुर्धम है । जब बजाउरु नारायण मुनिछिको प
सम्प्रचार किया कि भगवान् श्रीकृष्ण पवार गये हैं, तो
उनका रोम-रोम आनन्दसे खिन्न उठ्य । वे अपने
वाचायों और अजन-सम्बन्धियोंके साथ भाग्यदृष्टी
वगलानी करनेके लिये नगरसे बाहर आये ॥ २३ ॥
मङ्गलगीत गायने जाने लगे, अपने बचने लगे, बहुत-से
आश्रम मित्रक उठके सारसे केमन्त्रोंका उच्चारण करने

अभ्ययात् स ह्यीकेष्टप्राणाः प्राणमिवावतः ॥२४॥

हृद्वा विह्वलहृदयः कृष्ण स्नेहेन पाण्डवः ।

चिरात् हृत्प्रियतमं सख्येऽथ पुनः पुनः ॥२५॥

दोभ्यां परिष्वज्य राममालम्ब्य

बृहन्मृगात् नृपतिर्हस्ताश्रुभः ।

तेभ्यो परां निर्हृतिमश्रुलोचनो

हृष्यन्नुर्विस्तृतलोकविभ्रम ॥२६॥

वं मातुलेय परिरम्य निर्हृतो

भीमः सप्त प्रेमज्ज्वाललेन्द्रियः ।

यमौ किरीटी च सुहृदमं सुदा

प्रहृष्टबाष्पाः परिरंभिर्यज्युत्सृग् ॥२७॥

अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाम्भ्यामभिवाहितः ।

शाल्योभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ॥२८॥

मानिता मानयामास कुलसृष्टयकैकयान् ।

वृषमाणभगन्धवा बन्दिन्यापमन्त्रिणः ॥२९॥

मृदङ्गमृदङ्गपटहवीणापणवगोमुनैः ।

शाल्याधारविन्दार्थं तद्वृणुनन्तजगुः ॥३०॥

एवं मुहुरिः पर्यस्त पुण्यश्राकशिलाभिः ।

संस्तूपमाना भगवान् विवेकाशक्तव पुरम् ॥३१॥

छो । इस प्रकार वे बड़े आदरसे ह्रीकेश भावान्कर लागत करनेके लिये चले, जैसे इन्द्रियों मुख्य प्राणसे मिलने जा रही हों ॥ २४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णको देखकर राजा युधिष्ठिरका हृदय स्नेहातिरेकसे गद्गद हो गया । उन्हें बहुत प्रियता अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था । अतः वे उन्हें बार-बार अपने हृदयसे छगने लगे ॥ २५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका भीतिग्रस्त ममता व्यक्तीकी पवित्र और एकमात्र निवासस्थान है । राजा युधिष्ठिर अपनी दोनों मुन्हाओंसे उसका आलिङ्गन करके समस्त पापोंसे छुटकारा पा गये । वे सर्वतोभावेन परमानन्दके समुद्रमें स्नान हो गये । नेत्रोंमें आँसू छट्क आये, अङ्ग-अङ्ग फुगित हो गये, उन्हें इस विश्व-प्रपञ्चके भस्म तनिक भी स्पर्श न रहा ॥ २६ ॥ तदनन्तर भीमसेनेने मुसफराकर अपने मन्त्रे मार्ग श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया । इससे उन्हें बड़ा आनन्द मिल । उस समय उनके हृदयमें इतना प्रेम उमड़ा कि उन्हें बाह्य विसृष्टि-सी हो गयी । नकुल, सहदेव और अर्जुनने भी अपने परम प्रियतम और हितैषी भगवान् श्रीकृष्णका बड़े आनन्दसे आलिङ्गन प्राप्त किया । उस समय उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी बाढ़-सी आ गयी थी ॥ २७ ॥ अर्जुनने पुनः भगवान् श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया, नकुल और सहदेवने अभिवादन किया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने शाल्यों और कुरुवंशी बूढ़ोंको यथायोग्य नमस्कार किया ॥ २८ ॥ पुरु, द्रुपद और केकय दशकं नर पतिर्जने भगवान् श्रीकृष्णका सम्पन्न किया और भगवान् श्रीकृष्णने भी उनका यथोचित उत्तर दिया । वृत्त, मृग, क्रीडन और शाल्य भगवान्की स्तुति करने लगे तथा गन्धर्व, नट, निरुक्त आदि मृदङ्ग, शङ्ख, नगादे, वीणा, ढोल और मरसिंग बजा-बजाकर यमजयन भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये नाचने-गाने लगे ॥ २९ ३० ॥ इस प्रकार परमपत्नी भगवान् श्रीकृष्णन आने से मुहूर्त-क्षणोंके ताप सप्त प्रहरसे सुसज्जित इन्द्रप्रसन्न नगरमें प्रथम किया । उस समय लग आससे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करत चले रहे थे ॥ ३१ ॥

ससिक्तवर्त्म करिणां मद्गन्धसायै

विश्रम्भजैः कनकतारणपूर्णाकुम्भैः ।

मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्र

ग्गर्घैर्नृभिर्पुष्पतिभिश्च विराजमानम् ॥३२॥

उद्गीमदीपचलिभिः प्रतिस्रजजाल

निर्यातघूपरुचिरं विलसत्पद्माकम् ।

मूर्धन्यद्भौमकलशं रत्नतोरुपद्मै-

र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुराजधाम ॥३३॥

प्राप्त निश्चम्य नरलाचनपानपात्र

माँत्सुक्यविसधितकेसदुकूलबन्धाः ।

सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतीत्य तस्ये

द्रष्टुं ययुर्व्यवतप आ नरन्त्रमार्गे ॥३४॥

तस्मिन् सुसंकुल इभाश्वरधद्विपक्षिः

कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरुदाः ।

नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसापगुल

सुम्बागत विदधुरुत्समपथीधितन ॥३५॥

ऊनु स्त्रियः पथि निरीक्ष्य गुह्यन्दपती

मारायवाङ्महः किमकार्यमूभिः ।

यद्यनुपां पुरुषमालिरुदारदाम

लीलावलाककुर्यान्सवमावताति ॥३६॥

सत्र तत्रापद्यम्य पीरा मङ्गलपाणयः ।

इन्द्रप्रस्थ नगरकी सबको और गठियों मस्तक
वायियोंके मद्से तथा सुगन्धित जलसे सींच दी गयी
थी । जगह-जगह रंग-विंगी इंदियों लगा दी गयी थी ।
सुनहले तोरन बीचों बीच और सोनेके बज्जारे कला
स्थान-स्थानपर शोभा पा रहे थे । नगरके नर-नारी न्हा-
घोकर तथा नये वस्त्र, आभूषण, पुष्पोंके हार, इन्द्र-पुष्प
आदिसे सज-धजकर घूम रहे थे ॥ ३२ ॥ घर-घरमें
ठौर-ठौरपर दीपक जलाने लगे थे, जिनसे दीपकदीप-
सी छटा हो रही थी । प्रत्येक घरके झरोखेसे घूँघरा
घूँघरा निकलता हुआ बहुत ही मधुर मधुर होला पा ।
सभी घरोंके ऊपर पताकियाँ फहरा रही थी तथा सोनेके
कलश और चाँदीके शिखर जगमगा रहे थे । भाकर
श्रीकृष्ण इस प्रकारके महलोंसे परिपूर्ण पाण्डवोंकी
राजधानी इन्द्रप्रस्थ नगरको देखते हुए आगे बढ़ रहे
थे ॥ ३३ ॥ जब युवस्त्रियोंने सुना कि मदन-नेत्रोंके
पानपात्र अर्थात् अत्यन्त दशनीय मादन् श्रीकृष्ण
राजपथपर आ रहे हैं, तब उनके दर्शनकी उत्सुकताके
आवेगसे उनकी चोटियों और साँझियोंकी गोठें झड़ी
पड़ गयी । उन्होंने घरका घरम-काज तो छोड़ ही दिया,
सेक्टर साये हुए अपने पसियोंको भी छोड़ दिया और
भावात् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये राजस्वर दौड़
आयी ॥ ३४ ॥ सबका हाथी, घोड़ा, रथ और पंख
सेनाकी भीड़ लग रही थी । उन स्त्रियोंने अग्रियोंपर
चढ़कर रानियोंके सहित भावात् श्रीकृष्णका दर्शन
लिया, उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की और मन-ही-मन
आडिङ्गन किया तथा प्रेमकी सुसज्जन एवं चितवनसे
उनका सुसागत किया ॥ ३५ ॥ नगरकी स्त्रियों राजस्व-
पर चन्द्रमाक साय विराजमान ताराओंके समान श्रीकृष्ण-
की पल्लियोंपर दण्डर आपसमें बहने लगी—सुधी ।
उन पदभगिनी रानियोंने न जाने पक्ष बौन-सा पुण्य
किया है, जिसके फलज पुरुषधिरामनि भावात्
श्रीकृष्ण जलन उमुक्त हास्य और मितसर्ग यदाभीसे
उनकी ओर दण्डर उनका नयनों परम अनन्त प्रेम
करत हैं ॥ ३६ ॥ इसी प्रकार भावात् श्रीकृष्ण रात्र-
पक्ष पत्र रहे थे । स्थान-स्थानपर बहने लगे निम्ना

चक्रुः सपर्यां कृष्णाय धेणीमुत्स्या इतैनस ॥३७॥

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललाचनैः ।

ससम्प्रमैरभ्युपत प्राविशद् राजमन्दिरम् ॥३८॥

पृथा विलास्य भ्रात्रयं कृष्ण त्रिभुवनेश्वरम् ।

प्रीतात्मात्थाय पर्यङ्गात् सन्नुपा परिपस्वज ॥३९॥

गोविन्दं गृहमानीय दधदधशमाश्रितः ।

पूजायां नाविदत् कृत्य प्रमादापहतो नृपः ॥४०॥

पितृष्वसुर्गुरुक्रीणां कृष्णधक्कऽभिवादनम् ।

स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवन्दितः ॥४१॥

अम्भा संवादिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः ।

आनर्च रुचिमणीं सस्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥४२॥

कालिन्दीं मिश्रविन्दां च सैन्धवां नागजितीं संतीम् ।

अन्याधाम्पागतायास्तु वासः स्रग्गण्डनादिभिः ॥४३॥

सुखं निवासयामास धर्मराजा जनार्दनम् ।

ससन्त्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नयं नयम् ॥४४॥

वर्षयित्वा स्वाण्डवनं वटिं फाल्गुनसंयुत ।

माचपित्या मय यन राज्ञ दिव्या सभा कृता ॥४५॥

उत्तास कठिचिमासान् राज्ञः प्रियचिच्छीषया ।

धनी-मनी और शिल्पजीवी नागरिकोंने अनेकों मातृशिल्प वस्तुएँ छ-छाकर उनकी पूजा-अर्घा और स्वागत-सत्कार किया ॥ ३७ ॥

अन्तःपुरकी स्त्रियों भगवान् श्रीकृष्णको दत्तकर प्रेम और आनन्दसे भर गयीं । उन्होंने अपने प्रेमविद्ध और आनन्दसे स्थिरे नेत्रोंके द्वारा भगवान्का स्वागत किया और श्रीकृष्ण उनकी स्वागत-सत्कार स्वीकार करते हुए राजमण्डलमें पवारे ॥ ३८ ॥ जब कुन्तीने अपने त्रिभुवन पति भतीजे श्रीकृष्णको देख, तब उनकी हृदय प्रमत्तसे भर आयी । वे फलंगसे उठकर अपनी पुत्रवधू द्रौपदीक साथ आगे गयीं और भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे छत्र स्त्रिया ॥ ३९ ॥ दधदधकर भगवान् श्रीकृष्णको राज मण्डलके अन्दर छाकर राजा युधिष्ठिर आरमात्र और आनन्दक उत्सुकसे आत्मविस्तृत हो गये, उन्हें इस बातकी भी सुवि न रही कि किन्तु प्रमत्तसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये ॥ ४० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी छत्रा कुन्ती और गुरुजनोकी पत्नियोंका अभिवादन किया । उनकी बहन सुभद्रा और द्रौपदीने भगवान्को नमस्कार किया ॥ ४१ ॥ अपनी सास कुन्तीकी प्रणयसे द्रौपदीन बस, आभूषण, मातृ आत्मिक द्वारा इन्तिमी, सत्यभामा भद्रा जाम्बवती, कल्पिदी, मिश्रविन्दा यक्ष्मणा और परम सात्या सत्या—भगवान् श्रीकृष्णकी इन परानिवासा तथा वहाँ आयी हुई श्रीकृष्णकी अन्यमय रानियोंका भी यथायथ्य सत्कार किया ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ भगवान् युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णका उनकी सेना, सेवक मन्त्री और पत्नियोंक साथ पस स्वानमं उदगया जहाँ उन्हें निवस नयी-नया सुखी सभप्रियाँ प्राप्त हों ॥ ४४ ॥ अनुनक साथ रहकर भगवान् श्रीकृष्णने स्वानुष फलक गच्छ करवाकर अग्निवत् तूम मियाँ च और मयसुरक उत्तसे घवापा च । परिश्रित ! उस मयसुरन ही धम्मात्र युधिष्ठिरक त्रिय भगवान्की जाइसे पर निष्प सभा नपाय कर गी ॥ ४५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरका आनन्दत करनक वि कइ मदीनेतर एतप्रस्तने हो रह । वे सन्त्य-सन्त्यर अनुनक साथ

विहारं रथमारुह्य फावगुणेन भर्तृवृत्तः ॥ ४६ ॥

रथपर सवार होकर विहार करनेके लिये श्वर-उपर चढ़ जाय करते थे । उस समय थोड़े-थोड़े श्वर सैनिक में उनकी सेनाके लिये साथ-साथ जाते ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमार्थ्या संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
कृष्णस्येष्टप्रस्थगमनं नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः

पाण्डवोंके राजसूययज्ञका अन्वयोजन और जरासन्धका उद्धार
श्रीकृष्ण उवाच

एकदा तु सभामध्ये आस्थितो मुनिभिर्हितः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्याम्राष्ट्रभिश्च युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
आचार्यैः कृतवृद्धैश्च द्वातिसम्बन्धिवान्धवैः ।
मृष्वतामेव चैतेषामामाप्स्येदमुवाच ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच

ऋतुराजेन गोविन्द राजद्वयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतिर्मन्वतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ॥ ३ ॥
त्वत्पादुके अविरतं परि मे चरन्ति
ध्यामन्त्यभद्रनक्षत्रे श्लुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग
मायासते यदि स आक्षिप ईश नान्ये ॥ ४ ॥
तद् देवदेव भवतश्चरणारविन्द
सेवानुभाषमिह पश्यतु साक एषः ।
ये त्वां भवन्ति न भजन्त्युत धामयथा
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृजयानाम् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णनेवमी कहते हैं—परीक्षित ! एक दिन
महाराज युधिष्ठिर बहुत-से मुनियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों,
वैश्यों, भीमसेन आदि मार्यों, आचार्यों, कुक्के के
कुलों, क्षत्रि-कृष्णों, सम्बन्धियों एवं कृतवृद्धोंके साथ
राजसभामें बैठे हुए थे । उन्होंने उसके समने ही
मगवान् श्रीकृष्णको सम्बोधित करके यह क
कही ॥ १-२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—गोविन्द ! मैं सर्वत्र
राजसूय यज्ञके द्वारा आपका और आपके परम प्रभु
विभूतिस्वरूप देवताओंका यजन करना चाहता हूँ । प्रभो !
आप कृपा करके मेरा यह सङ्कल्प पूरा कीजिये ॥ ३ ॥
कमलनाभ ! आपके चरणकमलोंकी पादुकाएँ समस्त
जगत्त्रयमें ही नष्ट करनेवाली हैं । जो लोग निरन्तर
उनकी सेवा करते हैं, ध्यान और स्तुति करते
हैं, वात्सल्यमें वे ही परिप्राप्त हैं । वे जन्म-मृत्युके
चक्रसे छुटकारा पा जाते हैं । और यदि वे संसारिक
विषयोंकी अभिलाषा करें, तो उन्हें उनकी भी प्राप्ति हो
जाती है । परन्तु जो आपके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण
नहीं करते, उन्हें मुक्ति तो मिलती ही नहीं, सांसारिक
भोग भी नहीं मिलते ॥ ४ ॥ देवताओंके भी वराध्यदेव !
मैं चाहता हूँ कि संसारी लोग आपके चरणकमलोंकी
सेवाका प्रभान देखें । प्रभो ! कुरुवंशी और सृजयवंशी
नरपत्नियोंमें जो लोग आपका भजन करते हैं, और जो
मही करते, उनका अन्तर आप जनताको दिखज

न ब्रह्मणः स्वपरमेष्ठमविस्तव स्यात्

सर्वतमनः समग्रः स्वसुखानुभूतेः ।

संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसाद

सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

सम्पग् ध्यवसितं राजन् भवता क्षत्रकुर्वन् ।

कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननु मैविष्मति ॥ ७ ॥

धृषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।

सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराढ्यम् ॥ ८ ॥

विजित्य नृपसीन् सवान् कृत्वा च जगतीं वशे ।

सम्पूत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥ ९ ॥

एते ते भ्रातरा राजन् लाकपालाश्चसम्भवाः ।

जितोऽस्मात्प्रत्मवता तेऽहं दर्जया याऽकुतारमभि ॥ १० ॥

न कश्चिन्मत्परं लाके तवसा यद्यसा भिया ।

विभूतिभिर्वाभिभवंतु दबाऽपि किमु पार्थिव ॥ ११ ॥

श्रीशुक उवाच

निशम्य भगवद्गीत प्रीतः कुलपुत्रान्मुञ्च ।

भ्रातृन्दिग्भिजयेऽयुधैर्विष्णुतत्रापष्टदिवान् ॥ १२ ॥

दीजिये ॥ ५ ॥ प्रभो ! आप उसके आत्मा, समदर्शी और स्वयं आत्मानन्दके साक्षात्कार हैं, स्वयं ब्रह्म हैं । आपमें 'यह मैं हूँ और यह दूसरा, यह अपना है और यह पराया'—इस प्रकारका भेदभाव नहीं है । फिर भी जो आपकी सेवा करते हैं, उन्हें उनकी भाषनाके अनुसार पत्र भिजता ही है—टीक वैसे ही, जैसे कल्पवृक्षकी सेवा करनेवालेको । उस पत्रमें जो 'यूनाधिकता' होती है, वह तो 'यूनाधिक' सेवाके अनुरूप ही होती है । इससे आपमें विषमता या निर्दयता आदि दोष नहीं आते ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—शत्रु-विजयी धर्मराज ! आपका निश्चय बहुत ही उत्तम है । राजसूय यज्ञ करनेसे समस्त धेक्योंमें आपकी महज्जम्पी कीर्तिका विस्तार होगा ॥ ७ ॥ राजन् ! आपका यह महायज्ञ श्रुतियों, पितरों, देवताओं, सगे-सम्बन्धियों, हमें—और बहोतक पक्षों, समस्त प्राणियोंको कभीष्ट है ॥ ८ ॥ महाराज ! पृथ्वीके समस्त नरपत्नियोंको भीतकर, सारी पृथ्वीको अपने वशमें करके और यद्योचित सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित करके फिर इस महायज्ञका अनुष्ठान कीजिये ॥ ९ ॥ महाराज ! आपके चारों भाइ बालु, इन्द्र आदि ध्वज-पाशोंके अंशसे पैदा हुए हैं । वे सब-के-सब बड़े वीर हैं । आप तो परम मनसी और संयमी हैं ही । आपयोगोंने अपने सद्गुणोंसे मुक्त अपन वशमें कर लिया है । जिन लोगोंने अपनी इन्द्रियों और मनका वशमें नहीं किया है, वे मुक्त अपन वशमें नहीं कर सकते ॥ १० ॥ मंसारमें कण्ड बड़-से-बड़ा दक्ता भी ठेक, यश, ऊन्नी, सौन्दर्य और ऐश्वर्य आत्मिक द्वारा मरे भक्तका तिरस्कार नहीं कर सकता । फिर कण्ड राजा उसका तिरस्कार कर दे, इसकी ता सम्भाषना ही क्या है ? ॥ ११ ॥

श्रीशुकवक्त्री कहते हैं—परीक्षित ! मारकन्दकी बात सुनकर महाराज युधिष्ठिरका रूप अन्धमसे भर गया । उनका मुक्तकमठ प्रसन्नित हो गया । अब उन्होंने अपने माणियोंकी निश्चिन्ता करनेका आदेश दिया । मारकान् श्रीकृष्णन कण्डियोंमें अपनी कठिना सब्द करके उनका

अनयोमातुलेयं मां कृष्ण जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥

एवमावेदितो राज्ञा जहासोष्चैः सा मागधः ।

आह चामपितो म-इ। युद्धं सहिं ददामिबः ॥३०॥

न त्वया भीरुया। सोत्स्ये युधि विज्ज्वचेतसा ।

मधुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं क्षरणं गतः ॥३१॥

अयं तु वयसा तुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।

अर्जुनो न भवेद् युद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।

द्वितीयां स्वयमादाय निर्बेगाम पुराद् बहिः ॥३३॥

ततः समे त्वले वीरौ सयुक्तावितरेतरौ ।

जम्बुवर्जकल्पाम्बां गदाम्बां रणवुर्मदौ ॥३४॥

मण्डलानि विविधानि सङ्घं दक्षिणमेव च ।

चरतोः शृष्टुमे युद्धं नटयोरिव रक्षिणोः ॥३५॥

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसंनिभः ।

गदयोः क्षिप्तयो राक्न् दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥३६॥

ते वै गदं सुजजवेन निपात्यमाने

अग्न्योन्मत्तोऽसकटिपादकरोरुजज्वन् ।

शूर्पायमूषतुरुपेक्ष्य पथार्कशाखे

संपुष्पतोर्विरदयोरिव दीप्तमन्यवोः ॥३७॥

इत्थं तयोः प्रहृतयोर्गदयोर्नृषीरौ

कृदौ स्वसृष्टिभिरयःस्पर्शैरपिपाद्य ।

इन दोनोंका ममेत भाइ तथा आपस पुराजा शत्रु रूप

हैं ॥ २९ ॥ जब मगवान् भीरुपणने इस प्रकार वस्त्र

परिचय दिया, तब राजा जरासन्ध ठठकर बैठने लगा ।

और चिक्कर बोला—धरे मूर्खों ! यदि तुम्हें युद्धकी

ही इच्छा है तो छोड़ो मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता

हूँ ॥ ३० ॥ परन्तु शृष्ण ! तुम तो बड़े बरपोक हो ।

युद्धमें तुम घबरा जाते हो । यहोंक कि मेरे बरसे

तुमने अपनी नगरी मथुरा भी छोड़ दी तथा समुद्री

क्षरण की है । इसलिये मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा । ३१ ।

यह कह्नुन भी कोई थोड़ा नहीं है । एक तो वयस्में

मुझसे छोटा, दूसरे कोई निशेय कल्यान् भी नहीं है ।

इसलिये यह भी मेरे जोबका वीर नहीं है । मैं इसके

साथ भी नहीं जाऊँगा । रहे भीमसेन, ये वयस्म ही मेरे

सम्यग कल्यान् और मेरे जोबके हैं ॥ ३२ ॥ जरासन्धने

यह कहकर भीमसेनको एक बहुत बड़ी गदा दे दी

और स्वयं दूसरी गदा लेकर मगरसे बाहर निकल

आया ॥ ३३ ॥ अब दोनों रणोन्मत्त वीर कलमें

आकर एक दूसरेसे भिड़ गये और अपनी कलके समान

कट्टेर गदाओंसे एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ३४ ॥

वे दायें-कयें तरङ्ग-तरङ्गके पैतरे बदलते हुए ऐसे रोमन्-

मन हो रहे थे—मनो दो श्रेष्ठ नट रंगमंचपर मुद्रा

अभिनय कर रहे हों ॥ ३५ ॥ परिशिष्ट । जब एकती

गदा दूसरेकी गदासे टकराती, तब ऐसा मन्दन होत

मनो युद्ध करनेवाके दो हाथियोंके दौत आसमें भिन्न

चटकाट रह हों, या बड़े जोरसे बिजली तक की

हो ॥ ३६ ॥ जब दो हाथी क्रोशमें मरकर लबने लगे

हैं और कसकसी शक्तियों तोक-तोककर एक-दूसरेपर प्रहार

करते हैं, उस समय एक-दूसरेकी चोटसे वे शक्ति

पूर-पूर हो जाती हैं, वैसे ही जब जरासन्ध और भीमसेन

बड़े जोरसे गदा चक्क चक्ककर एक-दूसरेके कयों, कयों,

पैरों, हाथों, जोंधों और इसलियोंपर चोट करने लगे,

तब समझी गदायें समके लज्जोंसे टकरा-टकराकर चकनाचूर

होने लगी ॥ ३७ ॥ इस प्रकार जब गदायें पूर-पूर हो

गयीं, तब दोनों वीर क्रोशमें मरकर अपने घुँसोंसे एक-

दूसरेको कुछ बासनेकी थोड़ा करने लगे । उनके घुँस

अनन्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासी

शिवात्तवज्रपरुषस्तलताहनोत्थः ॥३८॥

तयोरनं प्रहरतो समशिक्षाबलौजसोः ।

निर्विशेषममृद् युद्धमधीणप्रवयार्णव ॥३९॥

एवं तयोर्महाराज युष्पतो सप्तविंशतिः ।

दिनानि निराशस्तत्र सुहृदमिषि तिष्ठतो ॥४०॥

एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः ।

न शक्योऽहं जरासंधं निर्वेतुं युधि माधव ॥४१॥

शत्रोर्बन्धनमृती बिभान् जीवितं च जराकृतम् ।

पार्थमाप्याययन् स्वेन तेजसाचिन्तयद्भरि ॥४२॥

संचिन्तयारिबोधोपायं भीमस्त्रामोचदर्शनः ।

दर्शयामास चिटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४३॥

तद् विज्ञाय महासत्त्वा भीमः प्रहरतां वर ।

गृहीत्वा पादयाः शङ्खं पातयामास मूर्धले ॥४४॥

एकं पादं पदाऽऽक्रम्य दाम्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।

शुद्धतः पाटयामास शालामिव महागज ॥४५॥

एकपादारुहपणकटिपृष्ठस्तनांशक ।

एकबाह्विध्रूकणैः शकले दहन् प्रजा ॥४६॥

रक्षाकारा महानासीभिहतं भगवत्पर ।

पूजयामासतुभीमं परिरम्भं जयाभ्युतौ ॥४७॥

ऐसी चोट करते, मरने जोहेकर घन गिर रहा हा । एक-दूसरेपर खुरचकर चोट करते हुए दो हाथियोंकी तरह उनके घण्टों और घुँसोंका कटोर शब्द बिजलीकी फनकबाजके समान आन पड़ता था ॥ ३८ ॥ परीक्षित । जरासन्ध और भीमसेन दोनोंकी मदा-युद्धमें कुशाग्रता, बल और उत्साह समान थे । दोनोंकी शक्ति तनिक भी क्षीण नहीं हो रही थी । इस प्रकार लगातार प्रहार करते रहनेपर भी दोनोंमेंसे किसीकी जीत या हार न हुई । ३९ । दोनों कीर रातके समय मित्रके समान रहते और दिनमें छूटकर एक दूसरेपर प्रहार करते और बचते । महाराज । इस प्रकार उनके बचते-छड़ते सप्ताहस दिन बीत गये । ४० ।

मित्र परीक्षित । अष्टादसवें दिन भीमसेनने अपने ममेरे भाई श्रीकृष्णसे कहा— 'श्रीकृष्ण । मैं युद्धमें जरासन्धको जीत नहीं सकता ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण जरासन्धके जन्म और मृत्युका रहस्य जानते थे और यह भी जानते थे कि जरा राक्षसीने जरासन्धक शरीरके दो टुकड़ोंमें बाँटकर इसे जीवन-दान दिया है । इसलिये उन्होंने भीमसेनके शरीरमें अपनी शक्तिकर सञ्चार किया और जरासन्धके वक्त्र उपर्य सोचा ॥ ४२ ॥ परीक्षित । भगवान्का ज्ञान अवश्य है । अब उन्होंने उसकी मृत्युका उपाय जानकर एक वृद्धकी बाड़ीके भीषोभीषसे धीर दिया और शहरसे भीमसेनके दिखाने ॥ ४३ ॥ शीरशिरोमणि एवं परम शक्तिशाली भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णका अम्बिप्राय समग्र शिवा और जरासन्धके पैर एकद्वार उसे घसीटपर द मार ॥ ४४ ॥ फिर उसके एक पैरसे अपने पैरके नीचे दबाकर और दूसरेपर अपने दोनों हाथोंसे एकत्र किया । इसका अर्थ भीमसेनने उसे गुराकी ओरसे इस प्रकार धीर बाज, जैसे गजराज वृद्धकी बाड़ी धीर डाले ॥ ४५ ॥ व्यंग्येने दख कि जरासन्धके शरीरके दो टुकड़ हो गये हैं, और इस प्रकार उनका एक-एक पैर, जीव, कण्ठनाश, कम्म, पीठ, स्तन, कंधा, भुजा नत्र मूर्ध और यवन अङ्ग-अङ्ग हो गये हैं ॥ ४६ ॥ महागज जरासन्धकी मृत्यु का जानकर वहाँकी प्रजा बड़ जासे 'दाय-हाय !' पुकारने लगी । भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भीमसेन पर आतिथ्यन करके उनके सत्यपर किया ॥ ४७ ॥

सहस्रं दक्षिणस्यामादिशत् सह सुख्यै ।

दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सध्यसाधिनम् ।

प्राच्यां हुकोदरं मन्त्रैः केकयै सह मद्रकैः ॥१३॥

ते विप्रित्प नृपान् बीरा आजहुर्दिग्भ्य ओषसा ।

अवातशत्रवे भूरि द्रविण नृप यक्ष्यते ॥१४॥

श्रुत्वाक्षित जरासंधं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।

आहोपाय समेषां उदयो यमुनाय ह ॥१५॥

भीमसेनाऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधराक्षयः ।

जगमुर्गिरिग्रज तात बृहद्रथसुतो यतः ॥१६॥

ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायां गृहपु गृहमभिनम् ।

ब्रह्मस्य समयाचेरन् राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः । १७॥

राजन् विदूषविधीन् प्राप्ताभिनो द्रुमागतान् ।

तप्तः प्रसक्त भद्रं ते यद् वयं कामयामहे ॥१८॥

किं दुमर्षं वितिक्षणां किमकार्यमसाधुभिः ।

किं न देयवदान्यानां कः परः समदक्षिणाम् ॥१९॥

योऽनित्येन शरीरेण सतां गर्यं यज्ञा ध्रुवम् ।

नाशिनानि स्वयंकल्पः स वाच्यः शोच्य एव स ॥२०॥

इति धृत्रार्थीरुप उच्छ्वस्य शिबिर्धलिः ।

अत्यन्त प्रमादशास्त्री कना दिया या ॥ १२ ॥ फौज
युधिष्ठिरने सुख्यवशी बीरोंके साथ सहवेकरो दक्षिण
दिशामें दिम्बिबय करनेके लिये मेजा । नकुलको मद्र
देशीय बीरोंके साथ पश्चिममें, अर्जुनको कंसदेशीय
बीरोंके साथ उत्तरमें और भीमसेनको मद्रदेशीय बीरोंके
साथ पूर्व दिशामें दिम्बिबय करनेका आदेश दिया ॥ १३ ॥
परीक्षित् ! उन भीमसेन आदि बीरोंने अपने-अपने
सब ओरके नरपतियोंको भीत लिया और पक्ष करने
लिये उषत म्भाराज युधिष्ठिरको बहुत-सा वन अक्ष
पिया ॥ १४ ॥ जब म्भाराज युधिष्ठिरने यह सुना कि
अकनक जरासन्धपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकी, तब
वे क्षिप्तामें पड़ गये । उस समय भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें
वही उपाय कह सुनाया, जो उद्धवजीने कृष्णका ॥ १५ ॥
परीक्षित् । इसके बाद भीमसेन, अर्जुन और भगवान्
श्रीकृष्ण—ये तीनों ही ब्राह्मणका वेष धारण करके गिरिव
गये । वही जरासन्धकी राजधानी थी ॥ १६ ॥ राज
जरासन्ध ब्राह्मणोंका एक और गृहस्थोक्ति कर्मोंका पालन
करनेवाला था । उपर्युक्त तीनों क्षत्रिय ब्राह्मणका वेष
धारण करके अतिथि-अभ्यगताओंके उत्तरके सम
जरासन्धके पास गये और उससे इस प्रकार वक्तव्य
की— ॥ १७ ॥ भगवन् ! आपका कर्मव्रत ॥ १८ ॥
तीनों आपके अतिथि हैं और बहुत दूरसे आ रहे हैं ।
अनस्य ही हम यहाँ किसी विशेष प्रयोजनसे ही आये
हैं । इसलिये हम आपसे जो कुछ चाहते हैं, वह आप
हमें अनस्य दीजिये ॥ १८ ॥ तिसिद्ध पुरुष क्या नहीं
सह सकते । दुष्ट पुरुष बुरासे-बुरा क्या नहीं कर
सकते । उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते और सम्प्राप्ति
लिये पराया कौन है ? ॥ १९ ॥ जो पुरुष लय कर्म
होकर भी इस नाशवान् शरीरसे ऐसे बहिर्गामी कर्म
सम्पन्न नहीं करता, जिसका बड़े-बड़े सत्पुरुष भी गान
करें, सच पूछिये तो उसकी जितनी निन्दा की जाए,
सोयी है । उसका जीवन शोक करनेयोग्य है ॥ २० ॥
भगवन् ! आप तो जानते ही होंगे—राजा हरिश्चन्द्र
रुग्णवेष, केमल अक्षकें दाने बीन जुनकर निर्धन करने
वाले म्भारता मुद्रा, शिवि, धनि, व्याप और कपल
आदि बहुत-से धार्मिक धर्मियोंको अपना सर्वसम्पत्

म्याधः कपोतो बहवो बभ्रुवेण ध्रुवं गता ॥२१॥

भीमक उवाच

सुरैराकविभिर्लोस्तु प्रकोष्ठैर्न्याहैरपि ।

राजन्यबधून् विहाय ह्यपुत्रानचिन्तयत् ॥२२॥

राजन्यबन्धवो ह्यते प्रकलिङ्गानि विभ्रति ।

वदामि भिक्षित्वं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥

तेर्तुं भूयते कीर्तिर्वितता दिक्कलमपा ।

स्यपाव् अक्षितस्त्रापि विप्रम्याजनं निष्पुना ॥२४॥

भयं जिहीर्षतन्द्रस विष्णवे द्विजरूपिण ।

नान्नपि नही प्रादाव् वायमाणोऽपि दैत्यराट् ॥२५॥

जीवता ब्राह्मणाधाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।

वेहेन पतमानेन नेहता विपुलं यत् ॥२६॥

इत्युदारमतिं प्राद कृष्णार्जुनप्रकोदरान् ।

हेविप्र विपतां कामा इदाम्प्राप्तमशिरोऽपि च ॥२७॥

भीमक उवाच

युद्धं ना यदि राजन्द्र इन्द्रया यदि मन्यस ।

युद्धार्थिना रयं प्राप्ता राजया नायकद्विजः ॥२८॥

मर्षो इकादश पार्थस्तस्य भ्रातारुना हयम् ।

इस नाशवान् शरीरके द्वारा अविनाशी पदको प्राप्त हो चुक हैं । इसलिये आप भी हमजोगोंका निरुदा मत कीजिये ॥ २१ ॥

भीमकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! जरासन्धने उन ल्योगोंकी आवाज, सुरत-शफक और कलशध्वनि पर पड़े हुए धनुषकी प्रत्यक्षाकी राइके चिह्नोंको देखकर पहचान लिया कि ये तो शत्रुगण नहीं, क्षत्रिय हैं । अब वह सोचने लगा कि मैंने कहाँ-कहाँ इन्हें देख भी सक्य है ॥ २२ ॥ फिर उसने मन-ही-मन यह विचार किया कि ये क्षत्रिय होनेपर भी मेरे मयसे शत्रुगणका रूप बनाकर आये हैं । अब ये मित्रा भाँगेनेपर ही उताव हो गये हैं, तब चाहे जो कुछ माँग लें, मैं इन्हें दूँगा । योजना करनेपर अपना अल्पत प्यारा और दुस्त्यज शरीर देनेमें भी मुझ द्विजकिचिद्वट न होगी ॥ २३ ॥

विष्णुसम्मानने शत्रुगणका रूप धारण करके बलिभ्रम जन, देशर्ष—सब कुछ छीन लिया, फिर भी वज्रिणी पवित्र कीर्ति सब ओर फैली हुई है और आज भी लोग बड़े आदरसे उसका गान करते हैं ॥ २४ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि विष्णुसम्मानने दशराज इन्द्रकी राज्यशक्ती यल्लिसे छीनकर उन्हें छैटानेके उद्ये ही ब्राह्मणरूप धारण किया था । दैत्यराज बलिक्रम यह बात मालूम हो गयी थी और क्रुद्धाचार्यने उन्हें रोका भी; परन्तु उन्होंने पृथ्वीका दान कर ही दिया ॥ २५ ॥ मेरा तो यह पक्का निश्चय है कि यह शरीर नाशवान् है । इस शरीरसे जा विपुल यश नहीं बढ़ता और जो क्षत्रिय शत्रुगणके उद्ये ही जीवन नहीं धारण करता, उसका जीना मर्ष है' ॥ २६ ॥ परीक्षित ! सबमुच जरासन्धकी बुद्धि बड़ी उदार थी । उपर्युक्त विचार करके उसने शत्रुगण-विरुद्धी श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनसे कहा—'ब्राह्मणे ! आपयोग मन-चाही बल माँग लें, आप चाहें तो मैं आपजोगोंको अपना सिर भी द सकता हूँ' ॥ २७ ॥

अथवान् भीकृष्णन कथा—पाण्डव ! हमसग असक इच्छुक शत्रुग नहीं हैं, क्षत्रिय हैं, हम जानक पास युद्धके उद्ये आये हैं । यदि आपकी इच्छ हो तो हमें इच्छुदर्सी निष्ठा गैजिन ॥ २८ ॥ राज, वल्लभपुत्र भीमसेन हैं और यह इनका मय अटुन है, और मैं

अनयोर्मातुलेयं मां कृष्ण जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥

एषमावेदितो राजा अहासोष्णैः स मायध ।

माह चामर्षिता म० १। युद्धं सहिं ददामि वः ॥३०॥

न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विष्णुवधेतसा ।

मयुरां स्वपूरीं त्यक्त्वा समुद्र क्षरणं गतः ॥३१॥

अयं तु वयसा तुल्यो नासिसत्त्वो न मे समः ।

अर्जुनो न भवेष्टु योद्धा भीमस्तुर्यबलो मम ॥३२॥

इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।

द्वितीयां स्वपमादाय निर्जंगाम पुराव् बहिः ॥३३॥

ततः समे खले धीरौ संयुक्तावितरतरौ ।

अन्नतुर्वज्रकल्पाम्बां गदाम्बां रणदुर्मदौ ॥३४॥

मण्डलानि विचित्राणि सङ्घं दक्षिणमेष च ।

चरतां शृङ्गमे युद्धं नटयोरिव रत्नजिह्वाः ॥३५॥

ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसंनिभः ।

गदयोः क्षिप्तयो राजन् दन्तयोरिव दन्तिनाः ॥३६॥

त वै गद भुजजघेन निपात्यमाने

अन्योन्यतोऽसकटिपादकरोरुप्रभृन् ।

चूर्णाक्षभूततुरुपत्य यथार्कशास्त्रे

समुष्पताद्विरदयोरिव दीप्तमन्याः ॥३७॥

इत्थं तयाः प्रहृतयार्गदयार्नुवीरा

कुदां मयुष्टिभिरयः स्पर्शैरर्पिणाम् ।

इन दोनोंका ममेरा भाई तथा आपका पुराना शत्रु कृष्ण

हैं ॥ २९ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कृष्ण

परिषय दिया, तब राजा जरासन्ध ठठकर बैठने लगा ।

और चिन्तित बोला—‘धरे मूर्खों ! यदि तुम्हें युद्ध ही

ही इच्छा है तो जो मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता

हूँ ॥ ३० ॥ परन्तु कृष्ण ! तुम तो बड़े बरपोक हो ।

युद्धमें तुम बकरा जाते हो । यहाँतक कि मेरे बरसे

तुमने अपनी नगरी मयुरा भी छोड़ दी तथा समुद्रकी

क्षरण की है । इसलिये मैं तुम्हारे साथ नहीं कहूँगा । ३१।

यह कह्नु मैं कोई खेदा नहीं है । एक तो कृष्णने

मुझसे छोटा, दूसरे कोई विषय कृष्णान् भी नहीं है ।

इसलिये यह भी मेरे जोबबक धीर नहीं है । मैं इसके

साथ भी नहीं कहूँगा । रहे भीमसेन, ये कृष्ण ही मेरे

समान कृष्णान् और मेरे जोबबके हैं ॥ ३२ ॥ जरासन्धने

यह कहकर भीमसेनको एक बहुत बड़ी गदा दे दी

और खय दूसरी गदा लेकर नगरसे बाहर निकल

आया ॥ ३३ ॥ अब दोनों रणोन्मत्त धीर कृष्णने

कहकर एक दूसरेसे भिड़ गये और अपनी बज्रके समान

कटोर गदाओंसे एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ३४ ॥

वे दायें-बायें तरह-तरहके वैतरे बदलते हुए ऐसे शोभन-

मन हो रहे थे—मनो दो श्रेष्ठ नट रंगमंचपर उदम

अभिनय कर रहे हों ॥ ३५ ॥ परीक्षित ! जब एककी

गदा दूसरेकी गदासे टकराती, तब ऐसा मालूम होता

मनो युद्ध करनेवाले दो हाथियोंके दाँत आपसमें भिड़कर

भटभट रहे हों, या बड़े जोरसे बिजली तड़क रही

हो ॥ ३६ ॥ जब दो हाथी कोषमें भरकर लड़ने लगते

हैं और आकाशी बालियों तोड़-तोड़कर एक-दूसरेपर प्रहार

करते हैं, उस समय एक-दूसरेकी चोटसे वे बालियाँ

चूर-चूर हो जाती हैं, वैसे ही जब जरासन्ध और भीमसेन

बड़े वेगसे गदा चला-चलाकर एक-दूसरेके कंधों, कमरों,

पैरों, हाथों, जोंधों और इसत्रियोंपर चोट करने लगे,

तब उनकी गदाएँ उनक आँखोंसे टकरा-टकराकर चकनाचूर

होने लगी ॥ ३७ ॥ इस प्रकार जब गदाएँ चूर-चूर हो

गयीं, तब दोनों धीर कोषमें भरकर अपने घुँटोंसे एक-

दूसरेको कुचक बाधनेकी चेष्टा करने लगे । उनके घुँटों

शब्दस्तमोः प्रहरतोरिभयोरिवासी

मिषातवप्रपुरुषस्तलताहनोत्थ ॥३८॥

तयोरिव प्रहरतो समप्रिधाबलौजसोः ।

निर्विशेषमयूह युद्धमधीणववयोरुत्प ॥३९॥

एवं तयोमहाराज पुष्पतोः सप्तविंशतिः ।

विनानि निरगस्तत्र सुहृदभिधि सिद्धतो ॥४०॥

एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् बृकोदरः ।

न शक्नोऽहं वरासंघ निर्वैतं युधि माधव ॥४१॥

अत्रोर्जन्ममृती विद्वान् जीवित च वराहवत् ।

पार्यमाप्सामयन् स्वेन तेजसाचिन्तयद्गिरि ॥४२॥

संचिन्त्यारिभोपायं भीमस्लामोषदर्शनः ।

दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संक्षया ॥४३॥

तव विद्याय महासत्कां भीमः प्रहरतो वर ।

गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास मूले ॥४४॥

एकं पार्श्वं पदाऽऽक्रम्य दाम्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।

गुदवः पाटयामास श्लात्सामिव महागजः ॥४५॥

एकपादारुद्रपणकटिपृष्ठसर्नासके ।

एकपाद्विभ्रूकर्णे सकले दहन् प्रशा ॥४६॥

हाहाकारा महानासीभिहत मगधधर ।

पूजयामासतुर्भीम परिरम्य जयाप्युतो ॥४७॥

ऐसी चोट करते, मगधो छेदकर घन गिर रहा हो । एक-दूसरेपर लुब्धकर चोट करते हुए दो हाथियोंकी तरह उनके पंखों और घुँटोंपर कटोर शब्द बिम्बकी कलकलपड़के समान जान पड़ता था ॥ ३८ ॥ परिशिष्ट । जरासन्ध और भीमसेन दोनोंकी गदा-युद्धमें कुशलता, बल और उत्साह समान थे । दोनोंकी शक्ति तनिक भी क्षीण नहीं हो रही थी । इस प्रकार लगातार प्रहार करते रहनेपर भी दोनोंमेंसे किसीकी जीत का हार न हुई ॥ ३९ ॥ दोनों वीर युद्धके समय मित्रके सम्मान रहते और दिनमें छूटकर एक दूसरेपर प्रहार करते और कहते । आराज । इस प्रकार उनके छद्म-छद्मसे सप्ताह दिन बीत गये । ४० ।

धिय परिशिष्ट । अठारहवें दिन भीमसेनने अपने मगधे भाई श्रीकृष्णसे कहा— ‘श्रीकृष्ण ! मैं युद्धमें जरासन्धके जीत नहीं सकता ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण जरासन्धके जन्म और मृत्युका रहस्य जानते थे और यह भी जानते थे कि जरासन्धकीने जरासन्धके शरीरके दो दुर्गन्धोंसे जोड़कर इसे जीकन-दाल दिया है । इसलिये उन्होंने भीमसेनके शरीरमें अपनी शक्तिका सबार किया और जरासन्धके बंधन उपाय सोचा ॥ ४२ ॥ परिशिष्ट । भगवान्का ज्ञान बलवत् है । वह उन्होंने उसकी मृत्युका उपाय जानकर एक बृक्षकी डालीको बीचोबीचसे चीर दिया और इससे भीमसेनके दिखाय ॥ ४३ ॥ वीरशितोमणि एवं परम शक्तिशाली भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णका अमिषाय समझ लिया और जरासन्धके पैर पकड़कर उसे करतीपर दे मारा ॥ ४४ ॥ फिर उसके एक पैरको अपने पैरके नीचे दबाकर और दूसरेको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया । इसके बाद भीमसेनने उसे गुदाकी ओरसे इस प्रकार वीर बाज, जैसे गजराज बृक्षकी डाली चीर खाते ॥ ४५ ॥ अग्रेने देखा कि जरासन्धके शरीरके दो टुकड़े हो गये हैं, और इस प्रकार उनके एक-एक पैर, जीव, कण्ठनाश, कर्म, गीठ, स्तन, कंधा, मुखा, नय, मोह और पाद अलग-अलग हो गये हैं ॥ ४६ ॥ मगधराज जरासन्धकी मृत्यु का ज्ञानपर नहीं प्रज्वलित रहकर श्लाघा-श्लाघा पुनरने लगी । भगवान् श्रीकृष्ण और अश्वमेध भीमसेन का आतिथ्यन करने उतार सकते हैं ॥ ४७ ॥

सहदेवं सचनयं भगवान् भूतभाषण ।

अभ्यविश्वदमेयात्मा भगवानां पतिं प्रभुः ।

मोघयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ॥४८॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और विचारोंको कोई समझ नहीं सकता । वास्तवमें वे ही समस्त प्राणियोंके जीवनदाता हैं । उन्होंने जरासन्धके राजसिंह-सनपर उसके पुत्र सहदेवका अभिषेक कर दिया और जरासन्धने जिन राजाओंको कैदी बना रक्ख था, उन्हें कदागरसे मुक्त कर दिया ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्त्य्या संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
जरासन्धवधो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

जरासन्धके जेरुसे छूटे हुए राजाओंकी विपत्ति और भगवान्का इन्द्रमत्स्य खौट भाव

श्रीमुख उवाच

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित । जरासन्ध

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया बुधिनिर्वृताः ।

ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलभासस ॥ १ ॥

क्षुत्क्षामाः क्षुष्कवदनाः संरोधपरिकर्षिता ।

दृश्युस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥

भीरुत्साह चतुर्बाहु पद्मगभारुणेशणम् ।

चाठप्रसन्नवदन स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥

पद्महस्त गदाशङ्खरुपाङ्गैरुपलक्षितम् ।

किरीटशारङ्गकटकटिप्रभ्राज्जवाचितम् ॥ ४ ॥

भ्राधद्रमणिमूर्धं निवीत घनमालया ।

पिबन्त इव चक्षुम्या लिहन्त इव जिह्वाया ॥ ५ ॥

त्रिमन्त्र इव नासाम्यां रम्भन्त इव पादुभिः ।

अनायास ही बीस हजार आठ सौ राजाओंको जोतकर पहाड़ोंकी घाटीमें एक जिलेके भीतर कैद कर रक्ख था । भगवान् श्रीकृष्णके छेब देनेपर जब वे बहसि निकले, तब उनके शरीर और कल फैले हो रहे थे ॥ १ ॥ वे भूखसे दुर्बल हो रहे थे और उनके मुँह सूख गये थे । जेलमें बंद रहनेके कारण उनके शरीरका एक-एक अंग बीज पड़ गया था । बहसि निकलते ही उन परासियों-ने देख कि सामने भगवान् श्रीकृष्ण खड़े हैं । बर्द-काशीन मेवके समान उनका सौंका-सज्जेना शरीर है और उसपर पीले रंगका रेशमी बज पहारा रहा है ॥ २ ॥ चार मुजार्हे हैं—धिनमें गदा, शङ्ख, चक्र और कमंडलुशोभित हैं । वक्ष स्पष्टतर सुनहरी रेल—श्रीकृष्ण चिह्न है और कमंडलके भीतरी भागके समान घेनर, तनारे नेत्र हैं । सुन्दर बदन प्रसन्नताका सदन है । कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिलमिल रहे हैं । सुन्दर मुकुट, मोतियोंका हार, पङ्क, पटथनी और कान्दर अपने-अपने स्थानपर शोभा पा रहे हैं ॥ ३ ॥ गलेमें वीरसुभमणि जगमगा रही है और कमण्डल छटक रही है । भगवान् श्रीकृष्णको देखकर उन राजाओंकी ऐसी स्थिति हो गयी, मानो वे नेत्रोंसे उन्हें पी रहे हैं । जीभसे पात्र रहे हैं, नासिकासे सूँघ रहे हैं और पादुजोंसे आश्रित कर रहे हैं । उनके सारे पाप तो भगवान्के

प्रणेर्मुहूर्तपाप्मानो मूर्धभि पादयोर्हरेः ॥ ६ ॥

कृष्णसंदर्शनाद्वाङ्मन्त्रसंरोधनश्रमाः ।

प्रपन्नसुखीकेश गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपा ॥ ७ ॥

राजान ऊचुः

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराम्बय ।

प्रपन्नान् पाहिनः कृष्ण निर्विघ्नान् घोरसंसृते ॥ ८ ॥

नैनं नाधान्वक्ष्यामो मागध मधुसूदन ।

अनुग्रहो यद् भवतो राज्ञां राज्यप्युतिर्विभो ॥ ९ ॥

राजैर्धर्ममदोन्नद्धो न भयो विन्दते नृप ।

त्वन्मायाप्रोक्षितोऽन्तिम्य मन्यते सम्प्रदोऽबलाः ॥ १० ॥

मृत्युर्ध्मांश्च बाला मन्यन्त उदकाश्च मृ ।

एवं वैष्णविकीं मावामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥ ११ ॥

वयं पुरा भीमहनष्टष्टयो

जिगीषयासा इतरेतरस्पृह ।

भन्तः प्रजा सा प्रतिनिर्धृणाः प्रभो

मृत्यु पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥ १२ ॥

त एष कृष्णाद्य गभीररहसा

दुरन्तवीर्येण विचालिताः भियः ।

दर्शनसे ही भुल चुके थे । उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे ठम राजाओंको इतना अधिक आनन्द हुआ कि कैदमें रहनेका क्लेश विलुप्त जाता रहा । वे हाथ जोड़कर विनम्र भाणीसे भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे ॥ ७ ॥

राजाओंमें कहा—भगवाणतोंके सारे दुःख और मय

हर लेनेवाले देवदेवेश्वर । सच्चिदानन्दस्वरूप अमिनाक्षी श्रीकृष्ण । हम आपको नमस्कार करते हैं । आपने भगवत्त्वके फरागारसे तो हमें छुड़ा ही दिया, अब इस जन्म-मृत्युरूप घोर संसार-धक्के से भी छुड़ा दीजिये, क्योंकि हम संसारमें दुःखका कटु अनुभव करके उससे ऊच गये हैं और आपकी शरणमें आये हैं । प्रभो !

अब आप हमारी रक्षा करीजिये ॥ ८ ॥ मधुसूदन ! हमारे सामी । हम माघराज भगवत्त्वका कोई दोष नहीं देखते । भगवन् ! यह तो आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है कि हम राजा कहलायानेवाले भोग राजदरबारीसे श्रुत कर दिये गये ॥ ९ ॥ क्योंकि जो राजा अपने राज्य-ऐश्वर्यके मद्दसे उन्मत्त हो जाता है, उसको सच्चे सुखकी—कल्याणकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

यह आपकी मयासे मोहित होकर अनित्य सम्पत्तियोंको ही अथक मन बैठता है ॥ १० ॥ जैसे मूर्खभोग मृगशृङ्गाके जलको ही जलसम मान लेते हैं, वैसे ही इन्द्रियभोग्य और अज्ञानी पुरुष भी इस परिवर्तनशील मायाको साथ वस्तु मान लेते हैं ॥ ११ ॥ भगवन् !

पहले हमभोग धन-सम्पत्तिके नशेमें चूर होकर अचे हो रहे थे । इस पुष्पीको बीत लेनेके लिये एक दूसरेकी होब करते थे और अपनी ही प्रजाका नाश करते रहते थे । सबमुख हमारा जीवन व्यर्थ कृतसे भरा हुआ था, और हमभोग इतने अधिक मत्तहले हो रहे थे कि आप मृत्युरूपसे हमारे सामन खड़े हैं, इस बातकी भी हम तनिक परवा नहीं करते थे ॥ १२ ॥ सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण । काव्यकी गति बड़ी गहन है । यह इतना कव्यान् है कि किसीके दासे टख्खा नहीं । क्यों

न हो, यह आपका शरीर ही तो है । अब उसने हम-

कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया

दिनदृष्टिर्धरणी स्मराम ते ॥१३॥

अथो न राक्ष्यं मृगसृष्टिरूपितं

देहेन शशत् पतता रुजां शुषा ।

उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो

क्रियाफलं प्रत्य च कर्णरोचनम् ॥१४॥

त नः समादिशोपायं येन ते चरणान्धयोः ।

सृष्टिर्धया न विरमेदपि संसरवामिह ॥१५॥

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।

प्रणतश्लोचनाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

श्रीभक्त उवाच

संस्तूयमानो भगवान् रात्रिर्भक्तवन्दनैः ।

तानाह कलमस्तात शरण्यः शुकम्बरा गिरा ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

अद्यप्रभृति वा भूपा मय्यात्मन्यसिलेधरे ।

सुखदा जायते भक्तिवाङ्मार्गसिखं तथा ॥१८॥

दिष्टया न्यवसितं भूपा भवन्त श्रुतभाषिणः ।

धिपैश्चर्यमदान्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥१९॥

इहया नहुषा यना रावणा नरकाऽपरे ।

भोमदावृ भद्रिताः स्यान्नाहं द्रवदैत्यनरक्षरा ॥२०॥

जोगोंको श्रीहीन, निर्धन कर दिया है । वाक्सी श्रीभक्त
अनुकम्पासे हमारा धर्मब चूर चूर हो गया । अब हम
आपके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं ॥ १३ ॥ निवे !
यह शरीर दिन-दिन क्षीण होता जा रहा है । रोगोंकी
तो यह जन्मभूमि ही है । अब हमें इस शरीरसे भेजे
जानेवाले राज्यकी अभिषेका नहीं है । क्योंकि हम उन्नत
गये हैं कि यह मृगसृष्टीके जलके समान सर्वा मिथ्य
है । यही नहीं, हमें कर्मके फल खगादि जोगोंकी भी,
ओ मरनेके बाद मिलते हैं, इच्छा नहीं है । क्योंकि
हम जानते हैं कि ये निस्तार हैं, केवल सुननें ही
आकर्षक जान पड़ते हैं ॥ १४ ॥ अब हमें कुछ करके
आप वह उपाय बतलावें, जिससे आपके चरणकमलोंकी
बिस्मृति कभी न हो, सर्वदा स्मृति कनी रहे । चाहे हमें
संसारकी किसी भी योनिमें जन्म क्यों न लेना पड़े ॥ १५ ॥
प्रणाम करनेवालोंके स्नेहमय नाश करनेवाले श्रीकृष्ण,
वासुदेव, हरि, परमेश्वर एवं गोविन्दके प्रति हमारा कर
बार नमस्कार है ॥ १६ ॥

श्रीभक्तवत्सल कहते हैं—परीक्षित ! कर्मभारसे
मुक्त राजाओंने जब इस प्रकार कलमस्तान्नाय्य भक्त
श्रीकृष्णकी स्तुति की, तब शरणाग्रतरङ्गक प्रभुने कभी
मधुर वाणीसे उनसे कहा ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—नरपत्नियो ! तुमजोगोंने
जैसी इच्छा प्रकट की है, उसके अनुसार व्यवसे तुममें
तुम जोगोंकी निधय ही सुख मक्ति होगी । यह जान
ओ कि मैं सनका आदि और सनका स्वामी हूँ ॥ १८ ॥
नरपत्नियो ! तुम जोगोंने जो निधय किया है, वह
सचमुच तुम्हारे जिये बड़े सौभाग्य और बलवर्धकी
वस्तु है । तुमजोगोंने मुझसे जो कुछ कहा है, वह
किन्तु कुछ ठीक है । क्योंकि मैं देखता हूँ, घनसङ्घति
और ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर बहुतेरे लोग उन्माद
और मत्तबाले हो जाते हैं ॥ १९ ॥ इहय महुष,
वेन, रावण, नरकासुर आदि जनेमें देख, देव और
नरपति श्रीमदक यमराज अपने स्थानसे, परसे भुत हो

भयन्त एतद् विज्ञाय देहाधुत्याद्यमन्तवत् ।

मां यजन्तोऽप्यर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥२१॥

संतन्वन्तः प्रजातन्तु सुख दुःखं भवाभौ ।

प्राप्य प्राप्तं च सेवन्तो मयि चा विनरिष्यथ ॥२२॥

उदासीनाथ देहादावात्मारामा प्रतप्तता ।

मय्यावेक्ष्य मनः सम्पद् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥२३॥

श्रीगुरु उवाच

इत्यादिभ्य नृपान् कृष्णा भगवान् सुवनेश्वरः ।

तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियो मज्जनकर्मणि ॥२४॥

सपर्यां कारयामास सहदेवन भारत ।

नरदेवोचितैस्त्वैर्नृपैः सखिलपतैः ॥२५॥

भोजयित्वा वरान्नेन सुखावान् समलङ्कृतान् ।

भोगैश्च विविधैर्गुक्तास्ताम्रूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥२६॥

ते प्रसिता मुकुन्देन राजाना मृष्टकुण्डलाः ।

विरजुर्मोहिताः श्लेधात् प्रावृण्वन्ते यथा ब्रह्मा ॥२७॥

रथान् सद्भानारोप्य मणिकाम्बजनमूपितान् ।

प्रीणय्य घृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ॥२८॥

त एव माचिताः कृन्ध्रात् कृष्णान् सुमहारमणा ।

यपुलमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पत ॥२९॥

गये ॥ २० ॥ तुमझोग यह समझ लो कि शरीर और इसके सम्बन्धी पैदा होते हैं, इसलिये उनका नाश भी अवश्यम्भावी है। अतः उनमें आसक्ति मत करो। बड़ी सावधानीसे मन और इन्द्रियोंको बचाने रखकर यज्ञोंके द्वारा भोग यजन करो और धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करो ॥ २१ ॥ तुमझोग अपनी धन-परम्पराकी रक्षाले लिये, भोगके लिये नहीं, स्वतन्त्र उत्पन्न करो और प्रारम्भके अनुसार जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, आम-हानि—जो कुछ भी प्राप्त हों, उन्हें सम्मनभावसे भोग प्रसाद समझकर सेवन करो और अपना किछ मुझमें छापाकर भीकन कित्तो ॥ २२ ॥ देख और देखके सम्बन्धियोंसे विद्विष प्रकरकी आसक्ति न रखकर उदासीन रहो, अपने-आपमें, आत्ममें ही रमण करो और मजन तथा आत्मके योग कर्तव्य फालन करते रहो। अपना मन मञ्जीमाँति मुझमें छापाकर अन्तमें तुमझोग मुझ ब्रह्मरूपको ही प्राप्त हो जावोगे ॥ २३ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! मुझनेकर भगवान् श्रीकृष्णने राजाओंको यह आदेश देकर उन्हें स्नान आदि कृतानेके लिये बहुत-से की-मुरूप नियुक्त कर दिये ॥ २४ ॥ परीक्षित ! जरासन्धके पुत्र सहदेवसे उनको राजोचित कल-आभूषण, मध्य-चन्दन आदि दिखानेकर उनका स्नान सम्पन्न करवाया ॥ २५ ॥ जब वे स्नान करके कल-आभूषणसे सुसज्जित हो चुके, तब भगवान्ने उन्हें उत्तम-उत्तम पदार्थोंपर भोजन करवाया और फल आदि विविध प्रकारके राजोचित भोग दिखाने ॥ २६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार उन बंदी राजाओंको सम्मानित किया। जब वे समस्त क्लेशोंसे मुक्त हुए तब तब कर्नोमं क्लिप्तियते हुए सुन्दर-सुन्दर कुण्डल पहनकर ऐसे शोभायमान हुए, जैसे कर्णार्जुनका अन्त हा जानेर तारे ॥ २७ ॥ फिर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें सुषण और मणियोंसे भूषित एवं श्रेष्ठ घोड़ोंसे युक्त रथोंपर चढ़ाया, मधुर वाणीसे वृत्त किया और फिर उन्हें उनके देशोंमें भेज दिया ॥ २८ ॥ इस प्रकार उत्तराशिरामणि भगवान् श्रीकृष्णने उन राजाओंको मजान् करते मुक्त किया। अब वे जगत्पति भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण और क्षीयार्थोंका चिन्तन करते हुए अपनी-अपनी राजधानीमें

तवस्ते दययजन ग्राहणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।

कृष्टा तत्र यथाम्नाय दीक्षयाञ्चक्रिन् नृपम् ॥१२॥

ईमाः क्रिडापकरणं वरुणस्य यथा पुरा ।

इन्द्रादयो लाङ्गाला विरिञ्चभवसमुता ॥१३॥

सगगा प्रिद्धगन्धवा विद्याधरमहोरगा ।

मुनया यक्षरथांसि स्वर्गकिशरचाराणा ॥१४॥

राजानश्च समाहूता राजपरन्यथ सर्वश ।

राजभूयं समीपुः स राज पाण्डुमुनस्य वै ॥१५॥

मनिर कृष्णभक्तस्य सूपवन्मविमिताः ।

अयात्रयन् महाराज यात्रका दयवचस ।

राजमुपन विधिवन् प्राचेतसमिवामराः ॥१६॥

सात्यश्विन्यवनीपातो यात्रकान् सदसस्पतीन् ।

अत्रयन् महाभागान् यथावन् सुसमाहित ॥१७॥

सदस्याभ्यादणाह वै तिमृन्तः सभासदः ।

नाभ्यगच्छन्तैरान्त्यान् सदसदम्बदाप्रवीन् ॥१८॥

अस्ति दम्पुन भगुण भगवान् सास्वतां पति ।

एष वै दयता मया दयकाठधनादयः ॥१९॥

यदात्मकमिदं रिपं क्रूरं यदात्मकम् ।

अग्निगदुनयामरा माभ्ययागमयस्वराः ॥२०॥

यदात्मकमिदं रिपं क्रूरं यदात्मकम् ।

अग्निगदुनयामरा माभ्ययागमयस्वराः ॥२०॥

यदात्मकमिदं रिपं क्रूरं यदात्मकम् ।

अग्निगदुनयामरा माभ्ययागमयस्वराः ॥२०॥

इसके बाद अश्विन ग्राह्योंने सोनेके इन्से
यज्ञभूमिके उत्तमपत्र राजा युधिष्ठिरके यज्ञातुम्हा
यज्ञकी दीक्षा दी ॥ १२ ॥ प्राचीन कालमें जैसे
वरुणदेवके यज्ञमें सबके-सब यज्ञपात्र सोनेके बने हुए
थे, वैसे ही युधिष्ठिरके यज्ञमें भी थे । पाण्डुनन्दन
महापुत्र युधिष्ठिरके यज्ञमें निम्नत्रण पाकर ग्राह्य,
शङ्करजी, इन्द्रादि लोकेश्वर, अपने गणोंके साथ सिद्ध
और गन्धर्व, विद्याधर, नाग, मुनि, यक्ष, राक्षस, पक्षी,
किन्नर, चारण, बन्ध-बद्ध राजा और एनियों—ये सभी
उपस्थित हुए ॥ १३ १५ ॥ सबने बिना किसी
प्रकारके कौतुकपूर्ण यह बात मान ली कि राजसूय
यज्ञ करना युधिष्ठिरके योग्य ही है । क्योंकि भाग्य
धीरुष्णक भक्तके लिये ऐसा करना कोई बहुत बड़ी
बात नहीं है । उस समय देवताओंके समान सेवकों
पानकोंन भस्मात्र युधिष्ठिरसे निधिपूर्वक राजसूय पत्र
कराया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वजन्मे देवताओंने
वरुणसे कराया था ॥ १६ ॥ सोमयज्ञसे सब निराजनके
दिन महापुत्र युधिष्ठिरने अपने परम भाग्यवान् पान्यों
और यज्ञमन्त्री भूक्त-चूकन निरीक्षण करनेवाले
संसप्तस्त्रियोंका बड़ी सावधानीसे निरीक्षण करने
किया ॥ १७ ॥

अब सभासद लोग इस निवार विचार करने लगे
कि सदस्योंमें सबसे पहले किसकी दूता—अग्रदूत
होनी चाहिये । वितनी मति, उतन मन । इसमें
समझमतिसे वरुण निगल न हो सका । ऐसी स्थितिमें
सदसन कहा—॥ १८ ॥ पदुवसामिमेमि भक्त
भाग्य धीरुष्ण ही संस्थोमें सर्वप्रथम और अग्रदूत
जाय है क्योंकि वही समस्त दस्युओंके लक्ष्य है
और उसका कष्ट, धन जानि वितनी भी बहुर है
उन सबके लक्ष्य भी यही है ॥ १९ ॥ यह सब
विचार आरम्भ ही हुआ है । समस्त राजा भी धीरुष्ण-
भक्त ही हैं । भाग्य धीरुष्ण ही जति, बर्ग
और कर्णोंके लक्ष्य हैं । उनका और वनना—ये
लोग भी ॥ १९ ॥ प्राचीन ही है ॥ २० ॥
यदात्मकमिदं रिपं क्रूरं यदात्मकम् ।
अग्निगदुनयामरा माभ्ययागमयस्वराः ॥२०॥
यदात्मकमिदं रिपं क्रूरं यदात्मकम् ।
अग्निगदुनयामरा माभ्ययागमयस्वराः ॥२०॥

आत्मनाऽऽत्माधयः सभ्याः सुजस्यवति हन्त्यवः ॥२१॥

विविधानीह कर्माणि अनयन् यदवेयया ।

ईहते यदय सर्वः धेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥

तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।

एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदक्षिणे ।

देयं शान्ताय पूर्णाय दक्षशानन्त्यमिच्छता ॥२४॥

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूर्णीकृष्णानुभाववित् ।

वन्भूत्वा तद्वपुः सर्वे साधु साञ्चिति सचमाः ॥२५॥

धृत्वा द्विजेतितं राजा श्लात्वा हार्दं सभासदाम् ।

समर्हयद्वधूपीकेभ्यः प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥२६॥

तत्पादाववनिन्यापः शिरसा लाकपावनीः ।

सभायं सानुजामात्यं सकुडुम्नोऽब्रह्मदा ॥२७॥

पासाभिः पीतकीटपैर्धूमैश्च महाधनैः ।

अर्हयित्वाधुष्णावा नायकान् समवेधितुम् ॥२८॥

इत्थं सभावितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जना ।

नभा जपेति नमुनं निपतुः पुष्पदण्ड ॥२९॥

यह सम्पूर्ण जगत् उनकी साखरूप है । वे अपने-आपमें ही स्थित और जन्म, अस्तित्व, बुद्धि आदि में भाग-विभागसे रहित हैं । वे अपने आत्मस्वरूप सङ्कल्पसे ही जगत्की सृष्टि, पालन और संसार करते हैं ॥२१॥ सायं जगत् श्रीकृष्णके ही अनुग्रहसे अनेकों प्रकारके कर्मका अनुष्ठान करता हुआ धर्म, धर्म्य, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंका सम्पादन करता है ॥ २२ ॥ इसलिये सबसे महान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही आर्चना होनी चाहिये । इनकी पूजा करनेसे समस्त प्राणियोंकी तथा अपनी भी पूजा हो जाती है ॥ २३ ॥ जे अपने दान-धर्मको अनन्त भावसे युक्त करना चाहता हो, उसे चाहिये कि समस्त प्राणियों और पशुपक्षिके अन्तरात्मा, मेदमाषरहित, परम शक्त और परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्णको ही दान करे ॥ २४ ॥ परमार्थ । सहदेव भगवान्की महिमा और उनके प्रभावको जानते थे । इतना बख्खर वे चुप हो गये । उस समय धर्मराज युधिष्ठिरकी पद्मसभामें जितन सत्पुरुष उपस्थित थे, सबने एक स्वरसे बहुत दीक, बहुत दीक बख्खर सहदेवकी बातका समर्पण किया ॥२५॥ धर्मराज युधिष्ठिर ने भावार्थोंकी यह बाधा सुनकर तथा सभासदोंका अभिप्राय जानकर बड़े आनन्दसे प्रेमेप्रेमसे विह्वल होकर भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की ॥ २६ ॥ अपनी पत्नी, माइ, मन्त्री और कुटुम्बियोंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरने बड़े प्रेम और आनन्दसे भगवान्के पाँव पखरे तथा उनके अरण्यमन्त्रोंका छेन्नावन जत आने सिरपर धारण किया ॥ २७ ॥ उन्होंने भगवान्को पीले-शिले रेशमी वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण समर्पित किये । उस समय उनका नेत्र प्रेम और आनन्दके आँसुओंसे इस प्रकार भर गया कि वे भगवान्को मन्त्रोक्ति देख भी नहीं सकते थे ॥ २८ ॥ पद्मसभामें उपस्थित सभी लोग भगवान् श्रीकृष्णका इस प्रकार दृष्टि, करते देखकर हाथ जोड़ कर मनमें नमः । जय-जय । इस प्रकारक गये आनन्द उन्हें नमस्कार करने लगे । उस समय आनन्दमें सब ही पुनर्जन्म वर्तमान हैं ॥ २९ ॥

जगदुः प्रकृतिम्यस्ते महापुरुषेष्टितम् ।

यथान्वद्यासद् भगवांस्तथा चक्रुरवन्त्रिताः ॥३०॥

अरासंघं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।

पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन युक्तिः ॥३१॥

गत्वा तत्त्वाभ्यवप्रस्थं धृष्टान् वध्नुर्बितारय ।

हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदा चासुखावहाः ॥३२॥

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।

मेनिरे भागधं शान्त राज्ञा चासुमनोरथः ॥३३॥

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनवनादर्चनाः ।

सर्वमाभाषयांचक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥३४॥

निश्चम्य धर्मराजस्तत् केशवेनानुकम्पितम् ।

आनन्दाधुक्कलां मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चना ॥३५॥

चले गये ॥ २९ ॥ वहाँ जाकर उन लोगोंमें अपनी-
अपनी प्रजासे परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी बहुत
कृपा और लीला यह सुनायी और फिर वही साधवनीसे
भगवान्‌के आह्वानुसार वे अपना जीवन व्यतीत करने
लगे ॥ ३० ॥

परीक्षित् । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भीमसेनके
द्वारा जरासन्धका वध करवाकर भीमसेन और अर्जुनके
साथ जरासन्धनन्दन सहदेवसे सम्मानित होकर इस
प्रस्थके लिये चले । उन विजयी वीरोंने इन्द्रप्रस्थके पस
पार्थवकर अपने-अपने राज् बजाये, जिससे उनके
हृदयोंको सुख और शत्रुओंको कष्ट हुआ ॥ ३१ ३२ ॥
इन्द्रप्रस्थनिवासियोंका मन उस राज्
अनिकसे सुनकर खिल उठा । उन्होंने समस्त विप्र कि
जरासन्ध मर गया और अब राजा युधिष्ठिरका राजस्य
यह करनेका संकल्प एक प्रकारसे पूरा हो गया
॥ ३३ ॥ भीमसेन, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने
राजा युधिष्ठिरकी कष्टना की और यह सब हृदय यह
सुनाया, जो उन्हें जरासन्धके वधके लिये करना पड़ा
था ॥ ३४ ॥ धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके
इस परम अनुग्रहकी वस्तु सुनकर प्रेमसे भर गये,
उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी बूँदें टपकने
लगी और वे उनसे कुछ भी कह न सके ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्सवं संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

कृष्णाध्यायान्तो त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

अथ चतु सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान्‌की अप्रपूजा और शत्रुपालका उद्धार

भीष्मके उपाय

एवं युधिष्ठिरा राजा जरासंघवध विभोः ।

कृष्णस्य चानुभावं धृत्वा प्रीतस्तममवीत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उपाय

य स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकमहधराः ।

भीष्मकेयकी कहते हैं—परीक्षित् । धर्मराज
युधिष्ठिर जरासन्धका वध और सबशक्तिमान् भगवान्
श्रीकृष्णकी बहुत महिमा सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और
उनसे बोले ॥ १ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरन कहते—सविद्वानन्दसरूप
श्रीकृष्ण । त्रिलोककी सामी प्रभु, शत्रु और
इन्द्राणि लोकपाल—सब अप्रपूजा का उद्धार करने

बहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा त्रिरसंवातुशासनम् ॥ २ ॥

स भवानरविन्दायो दीनानामीश्वरानिनाम् ।

धत्तनुशासन भूमस्तदस्थन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥

न ह्यस्माद्वितीयस्य ब्रह्मण परमात्मनः ।

कर्मभिर्बर्धते तेजो हसते च यथा रवेः ॥ ४ ॥

न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति भावः ।

त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकुटा ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

इत्युक्त्वा यद्विषे काले वने युक्तान् स श्वत्विजः ।

कृष्णानुमोदितः पार्थो प्राक्षणात् प्रसन्नादिन ॥ ६ ॥

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गोतमाऽसितः ।

वसिष्ठश्च्यवन कश्यपो मैत्रयः कनकधितः ॥ ७ ॥

विश्वामित्रा वामदक्षः सुमतिर्जमिनिः क्रतु ।

पंडः पराशरा गंगो वैशम्पायन एव च ॥ ८ ॥

अथवा कदम्बपा भीष्मा रामा भागव आसुरि ।

बोदिहात्रो मधुच्छन्दा वीरसेनाऽकृतव्रजः ॥ ९ ॥

उपहृतास्तथा चान्ये त्राणभीष्मकपादय ।

शूराप्राः सहस्रता विदुरश्च महामतिः ॥ १० ॥

मादृषा घत्रिया वैशा शूरा ययदिष्टवः ।

वयसुः सर्वराजाना राजां प्रकृतया नृप ॥ ११ ॥

तस्मत्ते खते हैं और यदि यह मिला जाती है तो बड़ी
महासे उसको शिरोधार्य करते हैं ॥ २ ॥ अनन्त !
हमयोग हैं तो अत्यन्त दीन, परन्तु मानते हैं अपनेको
भूपति और मरपति । ऐसी स्थितिमें हैं तो हम दण्डके
पात्र, परन्तु आप हमारी व्याख्या स्वीकार करते हैं और
उसका पालन करते हैं । सर्वशक्तिमान् कमलधन
महाशक्तके लिये यह मनुष्य-वीर्यका अभिनययोग्य
है ॥ ३ ॥ जैसे उदय अवश अवस्यके कारण सूर्यके तेजमें
कटती या बढ़ती नहीं होती, वैसे ही किसी भी
प्रकारके कर्मसे न तो आपका उन्मत्त होना है और
न तो हास ही । क्योंकि आप सञ्जातीय, विजातीय
और सगतभेदसे रहित स्वयं परब्रह्म परमहम्य हैं ॥ ४ ॥
किसीसे पराजित न होनेवाले माधव । यह मैं हूँ और
यह मेरा है तथा यह तू है और यह तेरा—इस
प्रकारकी विचारयुक्त भद्रबुद्धि तो पशुओंकी होती है ।
जो आपके अनन्य भक्त हैं, उनके चित्तमें ऐसे
पागलपनके विचार कभी नहीं आते । फिर आपमें तो
होने ही कहेंगे : (इसलिये आप जा कुछ कर यह
है, वह खीला-ही-सीखा है) ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णवैपरी कथित हैं—परीक्षित । इस प्रकार

कहकर धर्मराज सुप्रसिद्धे महाशान् श्रीकृष्णकी
अनुमतिसे उनके साथ समय आनेपर उनके कर्मोंमें
निपुण वेदशरी प्राज्ञगणको श्वत्विज, वाचाय आदिके
कर्मों परण किया ॥ ६ ॥ उनका नाम ये हैं—
श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव, भरद्वाज, सुमन्तु, गोतम,
वसिष्ठ, वसिष्ठ, च्यवन, कश्यप, मैत्रेय, कश्यप, क्रतु,
विश्वामित्र, वामदक्ष, सुमति, जमिनि, क्रतु, पैड,
पराशर, गंग, वैशम्पायन, अथर्व, कश्यप, धर्म,
परशुराम, युधामन्यु, आसुरि, वसिष्ठ, मधुच्छन्दा,
वीरसेन और अकृतव्रज ॥ ७-९ ॥ इनके अतिरिक्त
धर्मराजने द्रोणाचार्य, भीष्मपितृवन्द्य, शूराचार्य, शूराश्रु
और उनका दुर्जयन आदि पुरों और म्हाति विदुर
आदिका भी कुछकहा ॥ १० ॥ राजन् ! उनमें
यह सब दशक करनक त्रि दशक सब राजा, उनके
मन्त्री तथा कनकरी, ब्रह्मण, धर्मिय, वयस्य—
सर्व-सर्व वही आये ॥ ११ ॥

इत्थं निश्चम्य दमघोषमुतः स्वपीठा

दुःस्थाय कृष्णगुण्यवर्णनजातमन्युः ।

उरिष्यप्य बाहुमिदमाह सदस्वमयी

सभाषयन् भगवते परुषाप्यभीतः ॥३०॥

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती भ्रुतिः ।

इदानीमपि बहू बुद्धिर्बालवाभ्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

युयं पात्रविदां भेष्टा मा मर्षं बालभाषितम् ।

सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत् सम्मतोऽर्हणे ॥३२॥

सपोविद्याप्रतपरात् ज्ञानविष्वस्तकश्मशान् ।

परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपातैश्च पूजितान् ॥३३॥

सदस्पतीनसिक्कंभ्य गोपालः कुलपांसनः ।

यथा काकः पुरोबाधं सपर्या कथमर्हति ॥३४॥

वर्णाभ्रमकुलापेतः सर्वभर्मवहिष्कृतः ।

स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्या कथमर्हति ॥३५॥

ययातिनैपा हि कुलं क्षणं सन्निर्धेहिष्कृतम् ।

इधापानरतं श्रम्यत् सपर्या कथमर्हति ॥३६॥

ब्रह्मर्षिसंवितान् देवान् हित्वैतेऽप्रजवर्चसम् ।

परीक्षित ! अपने आसनपर बैठ डुला शिव
यह सब देख-सुन रहा था । भगवान् श्रीकृष्णके
सुनकर उसे क्रोध हो आया और वह उठकर चला
गया । वह भी समझमें हाथ उठाकर बड़ी बसहि
मिन्तु निर्मपताके साथ भगवान्को सुना-सुनाकर वह
कठोर बातें कहने लगा—॥ ३० ॥ 'समस्त
छुतियोंका यह कहना सर्वथा सत्य है कि कल
ईश्वर है । उसका चेष्टा करनेपर भी वह अपना क्रम
ही लेता है—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमने देख लिया
यहाँ जहाँ और मूर्खोंकी बातसे बड़े-बड़े बयोद
ज्ञानबुद्धीकी बुद्धि भी चकरा गयी है ॥ ३१ ॥ पर
मनसा हूँ कि आपजोग आपसूनाके योग्य प्रत्यक्ष नि
करनेमें सर्वथा समर्थ हैं । इसलिये सदसस्पतियों ! आ
जोग आवश्यक सहदेवकी यह बात ठीक न मने कि वह
ही अमरुसके योग्य है ॥ ३२ ॥ यहाँ बड़े-बड़े तपस्
विद्वान्, कृतधारी, ज्ञानके द्वारा अपने समस्त पाप-जनों
शान्त करनेवाले, परम ज्ञानी परमर्षि, ब्रह्मनिष्ठ आ
तपस्वि हैं—जिनकी पूजा बड़े-बड़े लोकप्रिय भी करते
॥ ३३ ॥ यकी मूक-मूक कलनेवाले उन सदसस्पतियों
को जेकर यह कुछजगह मालूम भव्य, अमरुस
का अधिकारी कैसे हो सकता है ! क्या और
कभी यकी पुरोचयका अधिकारी हो सकता है ? ॥ ३४ ॥
न इसका कोई वर्ण है और न तो आत्म । कुछ न
इसका रेंबा नहीं है । सबे घरेसि यह बाहर है । वेद और
जेकरमादिजोका उल्लङ्घन करके मनमाना व्यवहार
करता है । इसमें कोई गुण भी नहीं है । ऐसी स्थितिमें
यह अमरुसका पात्र कैसे हो सकता है ? ॥ ३५ ॥
आपजोग जानते हैं कि यथा क्यासिने इसके बंसकी
शप दे रखता है । इसलिये सपुत्रोंने इस बंसका भी
बहिष्कार कर दिया है । ये सब सर्वदा व्यर्थ मधुपनमें
आसक्त रहते हैं । फिर ये अमरुसके योग्य कैसे हो
सकते हैं ? ॥ ३६ ॥ इन सभने ब्रह्मर्षियोंके द्वारा सेवित
मधुश जादि देशोंका परित्याग कर दिया और अज-
वर्चसक निरोधी (वेदव्यारहित) समुद्रमें किंच अज-

समुद्र दुर्गमाधित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥३७॥

एषमादीन्बभ्रावि वमापे नष्टमङ्गलः ।

नौवाच किंचिद् भयवान् यथा सिद्धः शिवास्तस्य ॥३८॥

मगधमिन्दनं सुखा दुःखं तत् समासदः ।

कर्मो पिपाय निधग्धुः क्षपन्तमेदिपं रुपा ॥३९॥

निन्दां भयवतः शृण्वन्त्यस्परस्य जनस्य वा ।

तवो नापैति यः सोऽपि वात्यथः सुकुताश्च्युतः ॥४०॥

ततः पाण्डुतुवाः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसुञ्जयाः ।

उदायुधाः समुत्स्युः शिष्टपाठविधार्सवः ॥४१॥

ततश्चैयस्त्वसम्भ्रान्तो अगृहं सङ्गचर्मणी ।

भर्त्सयन् कृष्णपद्मीवान् राक्षः सदसि भारत ॥४२॥

तावदुत्थाय भयवान् खान्निवार्य स्वयं रुपा ।

शिरः क्षुरान्तबद्धेण जहारापततो रिपोः ॥४३॥

शब्दः क्षोलाइलोऽप्यासीत् शिष्टपाठे हतमहान् ।

तस्मानुपायिनो भूया दुद्रुक्षीर्वितैपिणः ॥४४॥

चैयदेशोस्थित न्योतिषासुदेवशुपाविशत् ।

पश्यतां सर्वभूतानामुनकेषु भवि स्ताश्च्युता ॥४५॥

अन्मन्त्रयानुगुणितर्वरसरम्भया धिया ।

ध्यायन्त्यन्मयतां यातो भावो हि भयकरणम् ॥४६॥

कर रहने लगे । कहाँसे जब ये मगर निकलते हैं, तो बाकुबोंकी तरह सारी प्रजाको सताते हैं ॥ ३७ ॥

परीक्षित । सच पूछे तो शिशुपाय्यका सारा छुम नष्ट हो चुका था । इसीसे उसने और भी बहुत-सी कबी-कबी बातें भगवान् श्रीकृष्णको सुनायीं । परन्तु जैसे सिंह कभी सिंघरकी 'हुणों हुणों' पर ध्यान नहीं देता, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण जुर रहे, उन्होंने उसकी बातों-का कुछ भी उत्तर न दिया ॥ ३८ ॥ परन्तु समझदोंके लिये यगवान्की निन्दा सुनमा अच्छा था । उनमेंसे कई अपने-अपने कान बंद करके क्रोधसे शिशुपाय्यको गाली देते हुए बाहर चले गये ॥ ३९ ॥ परीक्षित । ओ भगवान्की या मगधनरायण मर्कोंकी निन्दा सुनकर कहाँसे हट नहीं जाता, वह अपने झुमकेमेंसे च्युत हो जाता है और उसकी अवोगति होती है ॥ ४० ॥

परीक्षित । अब शिशुपालको मार डालनेके लिये पाण्डव, मत्स्य, केकय और सुहृद्वर्षी नरपति क्रोधित होकर हाथोंमें हस्तिधार में ठठ खड़े हुए ॥ ४१ ॥ परन्तु शिशुपालको इससे कोई फायदा न हुई । उसने निना किसी प्रकारका आगा-पीछा सोचे अपनी हाथ-तलवार उठा ली और वह मरी समझमें श्रीकृष्णके पक्षपाती राजाबोंको छळकारने लगा ॥ ४२ ॥ उन लोगोंको छलते-छलते वेल् भगवान् श्रीकृष्ण ठठ खड़े हुए । उन्होंने अपने पक्षपाती राजाबोंको शान्त किया और स्वयं क्रोध करते अपने ऊपर झपटते हुए शिशुपाय्यका सिर धुरेके समान तीखी चारवाले चक्रेसे काट दिया ॥ ४३ ॥ शिशुपाय्यके मारे जानेपर कहाँ कहाँ बोझाहल मच गया । उसके बहुतवर्षी नरपति अपने-अपने प्राण बचानेके लिये कहाँसे भाग लड़े हुए ॥ ४४ ॥ जैसे व्याघ्रघाते गिरा हुआ खरू धरतीमें समा जाता है, वैसे ही सब प्राणियोंके देखते-देखते शिशुपाय्यका शरीरसे एक ओर निकलकर भगवान् श्रीकृष्णमें समा गयी ॥ ४५ ॥ परीक्षित । शिशुपाय्यके अन्त करणमें छल्लतार तीन जन्मसे बरमाकवी अभिषिद्धि हो रही थी । और इस प्रकार, बेरम्भसे ही सही, ध्यान करते-करते वह तन्मय हो गया—पायद का गया । सच है—यूयुक्त बाप होनेवाली गर्तिमें मग

श्रुतिगम्यः स सदस्मेभ्यो दक्षिणां विपुलामवात् ।

सर्वान् सम्पूज्य विधिवच्चक्रं स्वमृधमेकराद् ॥४७॥

साधयित्वा कर्तुं राघः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।

उवाच कतिचि मासान् सुहृद्विरभियाचितः ॥४८॥

वतोऽनुष्ठाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।

ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥४९॥

वर्षितं तदुपास्थानं मया ते बहुनित्तरम् ।

नैष्ठिकासिनोर्बन्ध विप्रश्चापात् पुनः पुनः ॥५०॥

राजसूयावसृज्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।

प्रसन्नप्रसभामभ्ये शृणुमे सुरराशिष ॥५१॥

राजा सभाजिताः सर्वे सुरमानवलोचराः ।

कृष्यं कर्तुं च संसन्तः स्रजामानि यंयुर्विदा ॥५२॥

दुर्पोधनमृते पापं कल्लिं कुरुकुलामयम् ।

यो न सेहे भियं स्त्रीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥५३॥

य इदं कीर्तयेद् विष्णोः कर्म चैव वधादिकम् ।

राममोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४॥

ही कारण है ॥ ४६ ॥ शिशुपावकी स्वर्गति । बाद चक्रवर्ती धर्मराज युधिष्ठिरने सदस्य वीर शक्ति पुष्कल दक्षिणा दी तथा सबका सत्कार करके विनियोजित-स्नान—अवसृज्य-स्नान किया ॥ ४७ ॥

परीक्षित । इस प्रकार योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण राज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ पूर्ण किया और सगे-सम्बन्धी वीर सुहृदोंकी प्रार्थनासे कुछ महीने बर्ती रहे ॥ ४८ ॥ इसके बाद राजा युधिष्ठिरकी न होनेपर भी सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने अनुमति ले ली और अपनी रानियों तथा मन्त्रियोंके इन्द्रप्रस्थसे शारङ्गपुरीकी यात्रा की ॥ ४९ ॥ परीक्षित यह उपास्थान तुम्हें बहुत विस्तारसे (सतर्पण) सुना चुका हूँ कि बैकुण्ठवासी जब और किस समय विष्णुके शरणसे बार-बार जन्म लेता था ॥ ५० ॥ राजा युधिष्ठिर राजसूयका यज्ञ-सत्कार करके ब्रह्मण्य और क्षत्रियोंकी समाने देवराज का सम्मान शोभयमान होने लगे ॥ ५१ ॥ राजा युधिष्ठिर देवता, मनुष्य और वाक्पशुचारियोंका मयायोग्य सत्कार किया तथा वे भगवान् श्रीकृष्ण एवं राजसूय का प्रशंसा करते हुए बड़े आनन्दसे अपने-अपने केश धो गये ॥ ५२ ॥ परीक्षित ! सब तो सुखी हुए पर दुर्पोधनसे पाण्डवोंकी यह उच्छ्वस राजसूयकी उल्लेख सहज न हुआ । क्योंकि वह स्वभावसे ही पापी, क्रूर प्रेमी और कुलकुलका नाश करनेके लिये एक भगवान् के ॥ ५३ ॥

परीक्षित । जो पुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीलाका—शिशुपतकथन, बरासम्भवन, वंदी राजाकी मुक्ति और यज्ञानुष्ठानका वर्तितन करेगा, वह समस्त पापोंसे छूट जायगा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संज्ञितया दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

शिशुपावकी नाम चतु सप्ततितमो-

अध्यायः ॥ ७४ ॥

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः.

राजसूय यज्ञकी पूर्ति और दुर्योधनका भयमान

राजोवाच

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम् ।

सर्वे सुसुदिने प्रहन् नृवेष्टा ये समागताः ॥ १ ॥

दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्पयः सुराः ।

इति श्रुतं नो भगवस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ २ ॥

अश्वत्थाम

पितामहस्य ते यज्ञे राक्षस्ये महात्मनः ।

शान्धवाः परिचर्यायां तस्मात्तु प्रेमबन्धनाः ॥ ३ ॥

भीमो महानसाध्वयो धनाध्यक्षः सुबोधनः ।

सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रुप्यसाधने ॥ ४ ॥

गुरुश्रुपणे क्षिप्नुः कृष्णः पादावनेजने ।

परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः ॥ ५ ॥

युयुधानो विकर्माश्च हार्दिक्यो विदुरादयः ।

बाह्योऽपुत्रा भूर्याष्टा ये च सन्तर्दनादयः ॥ ६ ॥

निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा ।

प्रवर्तन्ते स राजेन्द्र राज्ञः प्रियण्णिकीपयः ॥ ७ ॥

अस्मिन्सदस्यबहुविरसु सुहृत्पथेऽपि

क्षिप्तेऽपि अनुवसामहणदक्षिणाभिः ।

वैद्ये च सात्वतपतेष्वर्षणं प्रविष्टे

चक्षुस्तवस्त्ववमृयस्नपनं ध्रुनयाम् ॥ ८ ॥

मृदञ्जद्विपणवधुन्धुपानकमोमुखाः ।

यादित्राणि विधित्राणि नेदुरावमृथास्तस्ये ॥ ९ ॥

नर्तक्यो ननुतर्ह्यष्टा गायका युधयो जगुः ।

राजा परीक्षितने पूछ—भगवन् ! अजातशत्रु

वर्मास्य युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमहोत्सवके देखकर, जितने मनुष्य, नरपति, ऋषि, मुनि और देवता आदि आये थे, वे सब आनन्दित हुए । परन्तु दुर्योधनको क्या हुआ, वही पीछा हट्टे, यह बात मैंने आपके मुखसे सुनी है । भगवन् ! आप क्या करके इसका कारण बतावेंगे ॥ १ २ ॥

श्रीशुक्रनेपथी महापञ्चमे कथा—परीक्षित ! तुम्हारे दादा युधिष्ठिर वही महात्मा थे । उनके प्रेमबन्धनसे वैष्णव सभी कन्धु-शान्धवोंने राजसूय यज्ञमें विभिन्न सेवाकार्य स्वीकार किया था ॥ ३ ॥ भीमसेन भोजनाध्यक्षी देख-रेख करते थे । दुर्योधन कोपाध्यक्ष थे । सहदेव अन्धप्रतीके सागत-सुस्कारमें निपुण थे और नकुल विभिन्न प्रकारकी सामग्री एकत्र करनेका काम देखते थे ॥ ४ ॥ अर्जुन गुरुबनोत्तरी सेवा-शुश्रूषा करते थे और श्वय भगवन् श्रीकृष्ण आये हुए अतिथियोंकी पौष पखारनेका काम करते थे । देवी द्रौपदी भोजन परसनेका काम करती और उदारशिरोमणि कर्मा सुखे हाथों दान दिया करते थे ॥ ५ ॥ परीक्षित ! इसी प्रकार अस्मिन्, विकर्मा, हार्दिक्य, विदुर, भूरिम्बा आदि कर्माधिके पुत्र और सन्तर्दन आदि राजसूय यज्ञमें विभिन्न कर्ममें निपुण थे । वे सब-के-सब कैसा ही काम करते थे, जितने महाराज युधिष्ठिरका प्रिय और द्रिष्ट हो ॥ ६-७ ॥

परीक्षित ! जब ऋषिज, सदस्य और बहुत पुरुषों का तथा अपने इष्ट-मित्र एवं कन्धु-शान्धवोंका समुदाय वाणी विभिन्न प्रकारकी पूजा-सामग्री और दक्षिणा आदि से मन्थीमौलि सुस्कार हो चुका तथा शिन्दुशाक भक्ष-कसक भगवान्‌के चरणोंमें सज गये, तब धर्मराज युधिष्ठिर गङ्गातीमें यज्ञान्त-स्नान करने गये ॥ ८ ॥ उस समय जब वे ध्वज-यज्ञ-स्नान करने लगे, तब मृदञ्ज, शङ्ख, ढोल, नीलक, तगरे और नरसिंहे आदि तरह तरहके वाजे बजने लगे ॥ ९ ॥ नर्तकियों आनन्दसे

वीणावेपुतलोन्नादस्तेषां स दिवमसृजत् ॥१०॥

चित्रचक्रपताकाग्रैरिमेद्रस्रन्दनार्धभिः ।

खलङ्कृतैर्मटैर्भूषा निर्ययु रुक्ममालिन ॥११॥

यदुसृज्यकाम्बोजकुरुकेक्यकोसलाः ।

कम्पयन्तो शुभं सैन्यैर्यजमानपुरस्तराः ॥१२॥

सदस्त्रतिग्निद्वन्द्वभृता ब्रह्मघोषेण भूयसा ।

देवर्षिपितृमन्त्रार्वास्तुष्टुषुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥

खलङ्कृता नरा नायौ गन्धसम्पूषणाम्बरैः ।

विलिम्पन्त्योऽभिरिम्पन्त्यो विचक्षुर्विचित्रैरसैः ॥१४॥

वैलमोरसग बोदहरिद्रासान्द्रकुम्भैः ।

पुम्भिर्लिताः प्रलिम्पन्त्यो विचक्षुर्भारयोविचः ॥१५॥

गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतत्

देव्यो यथा विधि विमानवरैर्नृदेव्यः ।

ता मधुसेयसस्त्रिभिः परिपिच्यमानाः

सग्रीवहासविकसद्भदना विरेषुः ॥१६॥

ता देवराजुत सस्त्रीन सिपिपुर्वीसीभिः ।

क्षिन्नाम्बरा विहृतगात्रकुशोरुमण्णाः ।

रूप-रूपकर नाचने छाहीं । झुड़-के-झुड़ गसैये गने को
और बीणा, बाँसुरी तथा सौंस-मँजीरे बजने को । इसी
हुमुछ ध्वनि सारे आकाशमें गूँज गयी ॥ १० ॥ छेमे
के हार पहने हुए यदु, सुजय, कन्धेन, कुरु, केतु
और कोसल देशके नरपति रंग-किरंगी ध्वजा-प्रहरकों
युक्त और सूत्र सजे-धजे गजराजों, राँवों, घोड़ों तथा
सुसज्जित थीर सैनिकोंके साथ महाराज युधिष्ठिरको बने
करके पृथ्वीको कोंपते हुए चले रहे थे ॥ ११ ॥ १२ ॥
यज्ञके सदस्य, ऋत्विज और बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मण के
मन्त्रोंका ऊँचे स्वरसे उच्चारण करते हुए चले । देव
ऋषि, मित्र, गन्धर्व आकाशसे पुण्योंकी कर्वा करते ।
उनकी स्तुति करने लगे ॥ १३ ॥ इन्द्रप्रस्थके मर-
इन्द्र-कुलेख, पुण्योंके हार, रंग-किरंगी कण और बहुत
कामूषणोंसे सज-धक्कर एक-दूसरेपर जल, तेल, इ
मस्कन आदि रस बाँझकर मिश्र करके, एक-दूसरे
शरीरमें लगा देते और इस प्रकार कीड़ा करते हुए चल
लगे ॥ १४ ॥ वाद्यजानाँ पुरुषोंको तेल, घेर
हुगन्धित जल, हल्दी और गन्दी केसर मल देती थीं
पुरुष भी उन्हें अपनी बलुओंसे सराबोर कर देते ॥ १५ ॥

उस समय इस उत्सवको देखनेके लिये जैसे ठक
ठकन विमानोंपर चढ़कर आकाशमें बहुत-सी बेकि
आयी थी, वैसे ही सैनिकोंके हार सुरक्षित इन्द्रप्रस्थ
बहुत-सी राजमहिष्यरों भी सुन्दर-सुन्दर पञ्चमियों
सवार होकर आयी थी । पाण्डवोंके मनमें भाई श्रीकृष्ण
और उनके सखा उन रानियोंके ऊपर तरा-तराके रंग
आदि बाँध रहे थे । इससे रानियोंके मुख उज्ज्वल
मुसकराहटसे झिल उठते थे और उनकी कमी सोम
होती थी ॥ १६ ॥ उन क्षत्रियोंके रंग आदि बालोंके
रानियोंके कण भीग गये थे । इससे उनके शरीरके चर्मा
प्रणम—कण खल, जंभा और कटिभाग कुछ-कुछ रीझ-
रहे थे । ये भी पिचकारी और पातोंमें रंग मर-मरकर
अपने देवों और उनके सख्योंपर उड़ने लगी थी ।
प्रेमभी उत्सुकताके कारण उनकी चोटियों और चूतियों

औत्सुक्यमुत्कृष्टकराभ्युपमानमात्मनाः

श्रीमं दधुर्मलभियां रुचिरैर्विहारैः ॥१७॥

स सम्राट् रथमारुहः सदस्य रुक्ममालिनम् ।

अपराजित स्वपत्नीमि क्रियाभिः क्रतुराजिव ॥१८॥

पत्नीसंयाज्यामभुञ्चैश्चरितश ते समुत्तिष्ठः ।

आधान्तं स्नापयामाकृगङ्गायां सङ्ग कृष्णया ॥१९॥

देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ।

सुसुतु पुष्पवर्पाणि देवर्षिपितृमानवा ॥२०॥

सस्तुत्यत्र ततः सर्वे वर्णाभिमयुता नराः ।

महाशतक्यपि यतः सप्तो मुञ्चेत किञ्चिपात् ॥२१॥

अथ राजाहते श्रीमं परिभय खलकृतः ।

श्रुत्वाकृपदस्य विप्रादीनानर्थाभरणाम्परैः ॥२२॥

कन्युद्धातिनृपान् मित्रसुहृदः स्न्याथ सर्वतः ।

अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥२३॥

सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्र

गुण्णीपकम्बुकुटुहलमहाभ्यङ्गारा ।

नार्पथ कुण्डलपुमालकङ्कालुष्ट

वस्त्रभियः कनकमेखलया विरेजुः ॥२४॥

अर्षिर्जो महाशीलाः सदस्या प्रसन्नादिन ।

प्रसन्नयियविट्पुत्रा राजानो ये समागताः ॥२५॥

देवर्षिपितृमूर्वान् लोकपालाः सप्तानुगाः ।

कथन ठाले पड़ गये थे तथा उनमें गुंथे हुए कुछ गिरते जा रहे थे । परीक्षित् । उनका यह स्फुरि और पश्चिम दिशा देखकर मञ्जिन् अन्त करणवाले पुरुषोक्ता चित्त चञ्चल हो उठता था, कथम-मोहित हो जाता था ॥ १७ ॥

अक्षरवर्ती राजा युधिष्ठिर द्रौपदी आदि रानियोंके साथ सुन्दर शोर्कोसे युक्त एक सोनेके हारोंसे सुसज्जित रथपर सवार होकर ऐसे शोभमयमान हो रहे थे, मनो हार्य राजसूय यज्ञ प्रयाज आदि क्रियाओंके साथ मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया हो ॥ १८ ॥ श्रुतिज्ञोंने पत्नी-संयाज (एक प्रकारका यज्ञकर्म) तथा यज्ञान्त-स्नान सम्पत्की कर्म करवाकर द्रौपदीके साथ सम्राट् युधिष्ठिर को आचमन करवाया और इसके बाद गङ्गास्नान ॥ १९ ॥ उस समय मनुष्योंकी दुन्दुभियोंके साथ ही देवदुर्भोंकी दुन्दुभियों भी कल्पने लगीं । बड़े-बड़े देवता, अग्नि-मुनि, पितर और मनुष्य पुण्योंकी कर्मा करने लगे ॥ २० ॥ महाराज युधिष्ठिरके स्नान कर लेनेके बाद सभी वर्णों एवं आश्रमोंके लोगोंने गङ्गाजीमें स्नान किया, क्योंकि इस स्नानसे बड़े-से-बड़ा महापापी भी अपनी पाप-पशुसे उबारल मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥ तदनन्तर वनराज युधिष्ठिरने नयी रेवती घोड़ी और दुपहा धारण किया तथा विविध प्रकारके आभूषणोंसे अपनेको सजा लिया । तब श्रुतिज्ञ, सदस्य, ब्राह्मण आदिको बलाभूषण दे-देकर उनकी पूजा की ॥ २२ ॥ महाराज युधिष्ठिर भक्तस्वरायण थे, उन्हें सर्वमें मगवान्के ही दर्शन होते । इसलिये वे मर्त्य-कण्डु, कुटुम्बी, नरपति, इन्द्र-मित्र, द्वितीय और सभी लोगोंकी बार-बार पूजा करते ॥ २३ ॥ उस समय सभी लोग बड़ाक कुण्डल, पुण्योंके हार, पगारा, लक्ष्मी अंगारकी, दुपहा तथा मणियोंके बहुमूल्य हार पहनकर देवताओंके समान शोभायमान हो रहे थे । बिरोंके मुखोंकी भी दानों करनेके कर्माकृत और पुंकरात्री अत्र-अत्र नदी शोभ्य हो रही थी तथा उनके कष्टिभागमें सोनेकी करवनिर्भो तो बहुत ही भर्षा मध्यम हो रही थी ॥ २४ ॥

परीक्षित् । राजसूय यज्ञमें ब्रितने लोग आये थे—

प्रम शीतशान् श्रुतिज्ञ, ब्रह्मचारी सदस्य, ब्राह्मण, धर्मिय, वैश्य, वृत्र राजा देवता, अग्नि, मुनि, पितर तथा अन्य

पूजितास्तमनुष्ठाप्य स्वभामानि ययुर्नृप ॥२६॥

हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।

नैषाद्यप्यनृ प्रशंसन्त पिबन् मस्योऽमृतं यथा ॥२७॥

ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्प्रविधान्धवान् ।

प्रेम्णा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः ॥२८॥

भगवानपि तत्राङ्ग न्यवास्सीत्तस्मिन्प्रियकरः ।

प्रत्याप्य यदुषीरांश्च सान्नादींश्च कुशस्यलीम् ॥२९॥

इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।

सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद् गसन्वरः ॥३०॥

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः भियम् ।

अतप्यद् राजसूयस्य महित्य चाभ्युतात्मान ॥३१॥

यस्मिन् नरेन्द्रदिग्विजेन्द्रसुरप्रलङ्घनी

नाना विभान्ति किल विभ्रसृजोपबल्लभा ।

ताभि पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्ये

यसां विपक्तहृदयः कुरुराहतप्यत् ॥३२॥

यस्मिन्नुपशय मधुपतमद्विषोसहस्र

भाभीभरय दनकैः प्रमदसिन्धुभम् ।

प्राणी और अपने अनुयायियों के साथ दोकारा—स
सत्यकी पूजा महाराज युधिष्ठिर ने की । इनके बद में
श्वेग धर्मराजसे अनुमति लेकर अपने-अपने निवासस्थान-
को चले गये ॥२५-२६॥ परीक्षित ! जैसे मनुष्य समुत्त-
पान करते-करते कभी तृप्त नहीं हो सक्ता, वैसे ही
सब श्वेग भगवद्भक्त राजर्षि युधिष्ठिर के राजसूय महाभ-
क्त प्रशंसा करते-करते तृप्त न होते थे ॥ २७ ॥
इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिर ने वह प्रमत्ते अपने द्वैतीय
सुहृद्-सम्प्रविषों, माह्वन्धुओं और मगधन् श्रीकृष्ण को
भी रोक लिया, क्योंकि उन्हें उनके विश्वेश्वरी कर्मणासे
ही क्या दुःख होता था ॥ २८ ॥ परीक्षित ! मगधन्
श्रीकृष्ण ने यदुषीरी कीर साम्ब आदिको द्वारकपुरी में
दिया और स्वयं राजा युधिष्ठिर की वनिज्या पूर्व करने-
के लिये, उन्हें आनन्द देने के लिये वहीं रह गये ॥२९॥
इस प्रकार कर्मभूत महाराज युधिष्ठिर मनोरथों के महत्
समुद्रको, जिसे पार करना अत्यन्त कठिन है, मगधन्
श्रीकृष्ण की कृपासे अनाप्यस हो पार कर गये और
उनकी सारी कित्ता मिट गयी ॥ ३० ॥

एक दिन की बात है, मगधान् के परमप्रिय महाराज
युधिष्ठिर के अन्त पुरकी सौन्दर्य-सम्पत्ति और उन्मुख
यक्षरा प्राप्त महत्त्वको देखकर दुर्योधन का मन बल्लसे
जड़ने लगा ॥ ३१ ॥ परीक्षित ! पाण्डवों के लिये हम
दान देने जो मछल बना लिये थे, उनमें तरपति, दैत्य-
पति और सुरपतियों की विविध विभूतियों तथा शैव
सौन्दर्य स्थान-स्थानपर शोभयमान था । उनके द्वारा
राजराणी द्रौपदी अपने पतियों की सेवा करती थी । उस
राजभक्त ने उन दिनों मगधान् श्रीकृष्ण की सहस्रों रानियों
निवास करती थी । नितम्ब के भारी भार के कारण जब
वे उस राजभक्त ने भीरे-भीरे घाटन जगती थी, तब उनके
पापज्यों की जनक्य चारों ओर फैल जाती थी । उनका
कटिभाग बहुत ही सुन्दर था तथा उनके कण्ड सज्जर
थी वृद्ध केसरकी अम्बिकासे मोतियों के सुन्दर रंगत हार
भी छाड़-छाड़ जान पड़ते थे । गुण्डलों की और पुष्पराती
जम्बों की चञ्चलतासे उनका मुखरी शोभा और भी

मग्ये सुचारु कुचकुङ्कुमशोणहारं

भीममुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥३३॥

सभायां मयस्तृप्तायां कापि धर्मसुखोऽभिराट् ।

द्वतोऽनुजैर्धनुभिश्च कृष्णोनापि खचक्षुषा ॥३४॥

आसीनः काञ्चने साध्यादासने मधवानिव ।

पारमेष्ठ्यभिया ह्रुष्ट स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥३५॥

सत्रं दुर्योधनो मानी परीतो ब्राह्मिर्नृप ।

किरीटमाली न्यविद्यदसिहस्तः क्षिपन् रुपा ॥३६॥

सलेऽम्पगृह्णाद् वस्त्रान्तं बल मत्वा सलेऽपतत् ।

बले च सलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ॥३७॥

अहास भीमस्तं दृष्ट्वा क्षियो नृपतपोऽपरे ।

निवात्यमाजा अप्यङ्गराज्ञा कृष्णानुभोदिता ॥३८॥

स श्रीहितोऽवाप्सद्वन्द्वो रुपा ज्वलन्

निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गङ्गाह्वयम् ।

हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सत्वा-

मजातशत्रुर्विमना इवाभयत् ।

बभूव तूष्णीं भगवान् सुभो भर्तृ

समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति सा यदृष्ट्वा ॥३९॥

एतत्सन्निहित राजन् यत्पृष्टोऽहमिह स्वया ।

सुवाहनस्य दीरास्त्व रात्रय्ये महाकृतौ ॥४०॥

मह जाती थी । यह सब देखकर दुर्योधनके हृदयमें
यही जलन होती । परीक्षित् । सच पूछे तो दुर्योधन-
का चित्त द्रौपदीमें आसक्त था और यही उसकी जलन
का मुख्य कारण भी था ॥ ३२ ३३ ॥

एक दिन राजाविराट् महाराज युधिष्ठिर अपने माथों,
सम्बन्धियों एवं अपने नयनोंके तारे परम हितैषी भगवान्
श्रीकृष्णके साथ मयदानशक्ती बनायी समामें क्षणसिंहा
सनपर देवराज इन्द्रके सम्मान विराजमान थे । उनकी
योग-साम्पत्ती, उनकी राज्यव्यवस्था ब्रह्माजीके ऐश्वर्यके
समान थी । बंदीबन्ध उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३३ ३५॥
उसी समय अधिष्ठात्री दुर्योधन अपने दुःशासन आदि
मन्त्रियोंके साथ वहाँ आया । उसका सिरपर मुकुट,
कलेमें माल्य और हाथमें लखार थी । परीक्षित् । वह
कोचकश द्वारपालों और सेवकोंको निश्चक रहा था ॥ ३६॥
उस समये मयदानकने ऐसी माया फैला रखी थी कि
दुर्योधनने उससे मोहित हो स्पर्शको जल समझकर अपने
बल समेट लिये और जलको सल समझकर वह उसमें
गिर पड़ा ॥ ३७ ॥ उसको गिरते देखकर भीमसेन,
रावराजियों तथा दूसरे नरपति हँसने लगे । पक्षि
युधिष्ठिर उन्हें ऐसा करनेसे रोक रहे थे, परन्तु प्यारे
परीक्षित् । उन्हें इशारेसे श्रीकृष्णका अनुमोदन प्राप्त हो
जुका था ॥ ३८ ॥ इससे दुर्योधन अजित हो गया,
उसका रोम-रोम कोचसे जलने लगा । अब वह अपना
मुँह छटककर चुपचाप समाभवनसे निकलकर हस्तिना-
पुर चला गया । उस घटनाको देखकर सत्पुरुषोंने हाश-
काद मच गया और वर्षपञ्च युधिष्ठिरका मन भी कुछ
क्षिप्त-सा हो गया । परीक्षित् । यह सब होनेपर भी
भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे । उनकी इच्छा थी कि किसी
प्रकार पूर्णिका मर उठर जाय, और सच पूछे, तो
उन्हींकी दृष्टिसे दुर्योधनका वह भ्रम हुआ था ॥ ३९॥
परीक्षित् । तुमने मुझसे यह पूछा था कि उस महान्
राजसूय-यज्ञमें दुर्योधनका हाह क्यों हुआ ? जलन क्यों
हुआ ? तो वह सब मैंने तुम्हें यत्रत्र लिख ॥ ४० ॥

इति भीमप्राग्वते महापुरुषेण पारमार्थ्यां संदितायां दशमस्कन्धे

उत्तरार्धे दुर्योधनमनभङ्गो नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः

शास्त्रके साथ पादपोंका युद्ध

भीष्मक उवाच

अयान्मदपि कृष्णस्य शृणु कर्मभूतं नृप ।

क्रीडानरक्षरीरस्य यथा सौमपतिर्हितः ॥ १ ॥

शिङ्खपातसस्यः क्षान्त्यो रुक्मिण्युद्धाह आगतः ।

यदुभिर्निर्जितं सस्ये जरासंधादयस्तथा ॥ २ ॥

क्षान्त्यः प्रतिज्ञामकरोत् शृण्वतां सर्वभूषणाम् ।

अयादवीं हमां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥ ३ ॥

इति मूढः प्रतिज्ञाय देव पशुपतिं प्रभुम् ।

आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद्व्रसन् ॥ ४ ॥

सवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उभापतिः ।

वरेणच्छन्दयामास क्षान्त्यं क्षाण्णमागतम् ॥ ५ ॥

देवासुरमनुष्याणां गधर्वोरगरक्षसाम् ।

अमेघं कामगं वयं स यानं वृष्णिभीषणम् ॥ ६ ॥

तथति गिरिद्यादितो मघः परपुरज्जयाः ।

पुरं निमाय शास्त्राय प्राशस्त्यौभयमयस्यम् ॥ ७ ॥

स उच्छ्वा कामगं यानं तमाधाम दुरासदम् ।

भीष्मकरेवभी कहते हैं—परीक्षित् । अब मनुष्य-

की-सी छिन्न करनेवाले भगवान् भीष्मकाका एक और भी बहदुमन चरित्र सुनो । इसमें यह कथन जयस्य कि सौमनामय विमानका अधिपति शस्त्र विस्त प्रकर भगवान् के हाथसे मरा गया ॥ १ ॥ शस्त्र शिङ्खपात सस्य या और रुक्मिणीके विवाहके अवसरपर जरासन् शिङ्खपातकी ओरसे आया हुआ था । उस समय मनुष्यशिरोंने युद्धमें जरासन्ध आदिके साथ-साथ सत्कर्षी भी जीत लिया था ॥ २ ॥ उस दिन सब राजाओंके सामने शास्त्रने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं पूर्णसे यदुषियोंको भिद्यकर छाडूँगा, सब अंग मेरा कर पौरुष देखना ॥ ३ ॥ परीक्षित् । मनुष्य शस्त्रने इस प्रकार प्रतिज्ञा करके देवादिदेव भगवान् पशुपतिके आराधना प्रारम्भ की । वह उन तिनो तिनो केवल एक बार मुठ्ठीमर सस्य पौरुष क्रिया करता था ॥ ४ ॥ यों तो पर्वतीपति भगवान् शास्त्र आशुतोष हैं, और दानी हैं, फिर भी वे शास्त्रका घोर सङ्कल्प जानकर एक वर्षके बाद प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने शस्त्रज्ञ शस्त्रसे कर मँगानेके जिघे कहा ॥ ५ ॥ उस समय शास्त्रने यह कर मीगा कि 'मुस आप एक ऐसा विमान दीजिये जो देखता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंसे तोड़ा न जा सके, जहाँ इच्छा हो वही चय जाय और यदुषियोंके जिघे अत्यन्त मज्झ हो' ॥ ६ ॥ भगवान् शास्त्रने कह दिया 'पाचसु' । इसके बाद उनकी आकासे विपशियोंके नगर जीनेकने मय दानकने छोड़ेस सौमनामक विमान बनाया और शास्त्रने ये दिया ॥ ७ ॥ यह विमान कब या एक नगर ही था । यह इतना अत्यन्तमय था कि उसे रक्षना या परकना अत्यन्त यष्टिन था । यन्त्रेयत्र उसे जहाँ न जाना चाहता, वही यह उसने रक्ष

ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिर्कृतं सरन् ॥ ८ ॥

निरुद्ध सैन्या शाल्वो महस्था भरतर्षभ ।

पुरीं वमञ्जोपवनान्मुद्यानानि च सर्वशः ॥ ९ ॥

सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाङ्गालवोलिङ्गः ।

विहारान् स विमानाऽपाम्बिपेतुः शङ्खद्वय ॥ १० ॥

शिला द्रुमाभ्याशनयः सर्वा आसारघर्कराः ।

प्रषण्डबभ्रवः कशाऽभूद् रजसाऽऽच्छादिता विशः ॥ ११ ॥

इत्यर्चमाना सौमेन कृष्णस्य नगरी मृशम् ।

नाम्पपद्यत श्व राज्ञस्त्रिपुरेण यथा मही ॥ १२ ॥

प्रपुम्नो भगवान् वीर्य्य दान्यमाना निजा प्रजाः ।

मा मैटव्यम्यभाद् वीरो रथारूढो महार्पेश ॥ १३ ॥

सारथकिमारुदेष्णस्य सान्नाऽङ्कः सहानुज ।

हार्दिकपो भानुविन्दस्य गदस्य शुकसारणी ॥ १४ ॥

अपरे च महेशासा रथयूथपयूथपा ।

निर्ययुदशिता गुप्ता रथेभाश्चपदातिभिः ॥ १५ ॥

सतः प्रवृत्ते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।

यथामुखाणां विनुचैस्तुष्टूल लोमहणम् ॥ १६ ॥

ताम सौमपतेमाया दिव्यासौ रुक्मिणीमुतः ।

अपन नाशयामास नैश तम इवोष्णम् ॥ १७ ॥

विम्याथ पञ्चविंशत्या सर्वपुत्रैर्योग्मलैः ।

करते ही यथ जाता था । शल्वने यह विमान प्राप्त करके द्वारकापर चढ़ाई कर दी, क्योंकि यह वृष्णिप्रणी पादपोंद्वारा किये हुए बैरको सदा स्मरण रहता था ॥ ८ ॥

परीक्षित ! शल्वने अपनी बहुत बड़ी सेनासे द्वारकाको चारों ओरसे घेर दिया और फिर उसके फन्-छत्ते छदे हुए उपवन और उद्यानोंको उन्नाबने और नगरद्वारों, फाटकों, राजमहल्लों, व्य्थारियों, दीयारों और नागरिकोंके मनोविनोदके स्थानोंको नष्ट-भष्ट करने लगा । उस श्रेष्ठ विमानसे शाल्वको बड़ी उमा गयी ॥ ९ ॥ बड़ी-बड़ी चानों, वृक्ष, वन, सप और बोले बरसने लगे । वह जारका बरबदर ठठ खाड़ा हुआ । चारों ओर घूल-ही-घूल छ गयी ॥ ११ ॥ परीक्षित ! प्राचीन कालमें जैसे त्रिपुरासुरने सारी पृथ्वीको पीड़ित कर रक्खा था, वैसे ही शल्वके विमानने द्वारकापुरीको अत्यन्त पीड़ित कर दिया । वहाँके नर-नारियोंको कहीं एक क्षणके छिये भी शान्ति न मिलती थी ॥ १२ ॥ परमप्रभु श्री भगवान् प्रपुम्नने देखा—इसरी प्रजाको बड़ा कष्ट हो रहा है, तब उन्होंने रथपर सवार होकर सबको तन्त्रस बँधापा और कहा कि 'बड़े म्हा' ॥ १३ ॥ उनके पीछे-पीछे सारथिक, चारुदेष्ण, सान्ध, भूपोंके साथ अङ्कूर, वनपमा, भानुकिन्द, गद, शुक, सारण आदि बहूतसे वीर बड़े बड़े धनुष धारण करके निकले । ये सब के-सब म्हा-रपी थे । सबने कदम पकन रखे थे और सय्यी रक्षाके निचे बहुत-से रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना साथ-साथ चल रही थी ॥ १४ १५ ॥ इसके बाद प्राचीन कालमें जैसे देवताओंके साथ असुरोंका घण्टसान युद्ध हुआ था, वैसे ही शल्वके सैनिकों और यदुवर्धियोंका युद्ध होने लगा । उसे देख-कर लोगोंके रोंगट खड़े हो जाते थे ॥ १६ ॥ प्रपुम्न जीने अपने दिव्य अस्त्रोंसे शृणभरमें ही सीमपति शल्व-की सारी माया फाट डाली; टीक पड़े ही, जैसे सूर्य अपनी प्रखर मित्रणोंसे रात्रिका अन्धकार मिटा देते हैं ॥ १७ ॥ प्रपुम्नजीके शणोंमें सानक पक्ष पक्ष लाहक कष्ट होने हुए थे । उनकी नौदें जान नहीं पड़ती

शास्वस्य अजिनीपालं श्वरैः सनतपर्वभिः ॥१८॥

श्वतेनावाहयच्छास्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।

दशभिर्दशभिर्नेकुं बाह्नानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥

तदद्भुतं महत् कर्म प्रथमस्य महारमनः ।

दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे क्षपरसैनिकाः ॥२०॥

बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते ।

मायामयं मयकृतं दुर्विभाष्य परैरमृत ॥२१॥

कचिद् भूमौ कचिद् व्योम्नि गिरिर्मुनिं जले कचिद् ।

अलातचक्रवद् भ्राम्यत् सौम तद् दुरवस्थितम् ॥२२॥

यत्र यत्रोपलभ्येत ससौमः सहसैनिकः ।

शास्वस्तवस्ततोऽप्युच्चान् श्वरान् शास्वतयूधपाः ॥२३॥

श्वरैरम्य कंसं स्पृशेत् क्षीयिष्यदुरासदः ।

पीड्यमानपुशानीकः शास्वोऽप्युच्चान् परेरितै ॥२४॥

शास्वानीकपञ्चसौपेयैर्दृष्ट्विभीरा भृशार्दिताः ।

न तस्यज्जु रणं स्वं स्वं लोकप्रजिगीषवः ॥२५॥

शान्तामात्यो युमान् नाम प्रद्युम्न प्राक्प्रपीडितः ।

आसाद्य गदया मौढ्या व्याहरय व्यनद्वद् बली ॥२६॥

पी । उन्होंने ऐसे ही पचीस बाणोंसे शस्त्रके सेना-
पतिको घायल कर दिया ॥ १८ ॥ परममन्त्री प्रद्यु-
म्नजीने सेनापतिके साथ ही शास्वतजी भी लौ लाने लगे,
किर प्रत्येक सैनिकको एक-एक बौर छत्रपिण्डों

दस-दस तथा बाहनोंको तीन-तीस बाणोंसे कल-
किय ॥ १९ ॥ महामन्त्रा प्रद्युम्नजीके इस बहुत बड़े
महान् कर्मको देखकर अपने एवं पराये—सभी सैनिक

उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ २० ॥ परीक्षित ! ज-
दामवक्त बनाया हुआ शास्वतका वह विमान अत्यन्त

मायामय था । वह इतना विचित्र था कि कभी कभी
रूपमें दिखता तो कभी एक रूपमें, कभी दीखत था

कभी न भी दिखता । यदुपशियोंको इस कलकल पर
ही न चकता कि वह इस समय कहाँ है ॥ २१ ॥

वह कभी पृथ्वीपर था जाता तो कभी वायुमण्डलमें उड़ने
लगता । कभी पहाड़की चोटीपर चढ़ जाता, तो कभी

जलमें तैरने लगता । वह अत्यन्त-वक्रके समान—क्यों
कोई दुर्गम स्थानोंकी बनेसी मौज खा हो—बूझ

रहता था, एक क्षणके जिसे भी बड़ी छत्रत न
था ॥ २२ ॥ शास्व अपने विमान और सैनिकोंके साथ

जहाँ-जहाँ दिखायी पड़ता, वहाँ-वहाँ यदुबशी सेनापति
बाणोंकी बड़ी छा देते थे ॥ २३ ॥ उनके साथ सर्व

और व्यक्तिके समान अच्छे हुए तथा जिनसे सौंपी
तथा अच्छा होते थे । उनसे शास्वतका नगरकर विमान

और सेना अत्यन्त पीड़ित हो गयी, यद्यपि कि यदु
वशियोंके बाणोंसे शास्वत काय मूर्च्छित हो गया ॥ २४ ॥

परीक्षित ! शास्वके सेनापतियोंने भी यदुवशियोंके

साथ बाणोंकी वर्षा कर रखी थी, इससे वे अत्यन्त

पीड़ित थे; परन्तु उन्होंने अपना-अपना मोर्चा छोड़
नहीं । वे सोचते थे कि मरेंगे तो परस्परके बने और

जीनेगे तो विजयकी प्राप्ति होगी ॥ २५ ॥ परीक्षित !

शास्वके मन्त्रीसब नाम था युमान्, जिसे पहले प्रद्युम्न-
जीने पचीस बाण मारे थे । वह बहुत बली था । उसने

अपने-अपने प्रद्युम्नजीके अपनी पौरुषी भाँसे चढ़ जोते
प्रहार किया और फिर शिवा, मर किया चढ़कर

प्रमुम्न गदया क्षीर्णवक्ष्य सलमरिन्दमम् ।

अयोवाह रयात् स्रुतो धर्मविदु दासकात्मजः ॥२७॥

लम्भसंक्षो मुहूर्तेन कार्ष्णि सारथिममवीत् ।

अहो भसापिद स्रुत यदृ रणाभेऽपसर्पणम् ॥२८॥

न यदनां कुले जातः धृपते रणविच्युतः ।

विना मत् क्षीरविचन स्रुतेन प्राप्तकिल्बिपात् ॥२९॥

किं नु वक्ष्येऽभिसगम्य पितरौ रामकक्षौ ।

युद्धात् सम्पमपक्रान्तः पृष्टत्प्रात्मनः क्षमम् ॥३०॥

भ्यक्तं मे कपयिष्यन्ति हसन्त्यो ब्राह्मणमयः ।

कलैम्य कप कप वीर तनान्यैः कथ्यतां मुषे ॥३१॥

सारथिवाच

धर्मविज्ञानताऽऽपुष्मन् कुतमतन्मया विमो ।

स्रुतः कृष्णगत रवेर् रथिनं सारथि रथी ॥३२॥

पशुद विदित्वा तु भवान् मयापोषाद्रिषो रणात् ।

उपसृष्ट परेष्वति मूर्च्छितो गदया हतः ॥३३॥

गरजने ध्या ॥ २४ ॥ परीक्षित ! गदाक्षी चोटसे

शत्रुदमन प्रमुम्नजीका वक्ष्य स्वयं पट-सा गया । दासकात्मज

पुत्र उनका रूप हॉक रहा था । यह सारथिवर्मेके

अनुसार उन्हें रणभूमिसे हटा ले गया ॥ २७ ॥ दो

घडीमें प्रमुम्नजीकी मूर्छा टूटी । तब उन्होंने सारथीसे

कहा—‘सारथे ! तूने यह बहुत बुरा किया । हाथ,

हाथ ! तू मुझे रणभूमिसे हटा लिया है ॥ २८ ॥ स्रुत !

हमने ऐसा कभी नहीं सुना कि हमारे बंशका कोई भी

वीर कभी रणभूमि छोड़कर कच्चा हट गया हो । यह

कच्छका टीका तो केवल मेरे ही लिए लगा । सबमुक्त

स्रुत ! तू कायर है, नपुंसक है ॥ २९ ॥ कत्तब तो

सखी, अब मैं अपने ताक बलमन्वी और मित्रा

क्षीरकृष्णके सामने जाकर क्या कहूँगा ? अब तो सब

जोग यही कहेंगे न, कि मैं युद्धसे भाग गया ! उनके

पृष्ठनेत्र मैं अपने अतुरूप क्या उत्तर दे सकूँगा ॥ ३० ॥

मेरी मांमियों हैं सखी हुईं मुझसे साफ-साफ पूछेंगी कि

कहो, वीर ! तुम नपुंसक कैसे हो गये ! दूसरोंने मुझमें

तुम्हें नीचा कैसे दिखा दिया ! स्रुत ! अक्षय ही तुमने

मुझे रणभूमिसे भगाकर अक्षय्य अपराध किया है ॥ ३१ ॥

सारथीने कहा—‘अपुष्मन् ! मेने जो कुछ किया

है, सारथीका धर्म समझकर ही किया है । मेरे समर्थ

ब्राम्हणी । युद्धका ऐसा कर्म है कि सङ्कट पक्षनेत्र सारथी

रथीकी रक्षा कर ले और रथी सरथीकी ॥ ३२ ॥

इस कर्मको समझते हुए ही मैंने आपको रणभूमिसे

हटाया है । शत्रुने आपपर गदाका प्रहार किया था,

जिससे आप मूर्च्छित हो गये थे, वह सङ्कटमें थे,

हसीसे मुझे ऐसा करना पड़ा ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संज्ञितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

शान्तपुत्रे पटस्रस्रितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

शान्तपुत्र-उवाच

श्रीभू क उवाच

स त्वस्वरूप सलिलं दंष्ट्रितो धृतकार्मुकः ।

नय मां धुमतः पार्श्व वीरस्येस्याह सारथिम् ॥ १ ॥

श्रीशुक्लेवजी कहते हैं—परीक्षित ! अब प्रमुम्नजीने

हाथ-मुँह पोकर, कत्तब पक्ष पक्षुप भारण किया और सरथी

से कहा कि ‘मुझे वीर युष्मन्के पास फिरसे से कम्मे ॥ १ ॥

१ सप्तमस्तम् । २ स्रुत उवाच । ३ अथ सप्तमस्तम् । ४ शान्तपुत्र-उवाच ।

विधमन्त स्वसैन्यानि धुमन्तं रुक्मिणीमुतः ।
 प्रतिहत्य प्रत्यविष्यभारात्परिपथि स्रगन् ॥ २ ॥
 चतुर्भिश्चतुरो वाहान् द्रुतमकन चाहन् ।
 द्राम्यां धनुश्च केतुं च श्रेष्ठान्येन वै शिरः ॥ ३ ॥
 गदसप्त्यक्तिसाम्पादा बध्नु सौमपतेर्बलम् ।
 पेतुः समुद्रे सौमेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ॥ ४ ॥
 एष यद्नां शस्त्रानां निष्पत्तामितरतरम् ।
 युद्धं त्रिषवरात्र तदभूत्तुमुलमुत्थणम् ॥ ५ ॥
 इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूता धर्मघनुना ।
 रात्र्यहोऽथ निवृत्ते शिशुपाले च सस्थिते ॥ ६ ॥
 कुरुक्षेत्रानुज्ञाप्य मुनींश्च समुतां पृथाम् ।
 निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन् दारवर्ती ययौ ॥ ७ ॥
 आह चाहमिहायात आर्यमिभाभिर्संगतः ।
 रात्र्यान्धैषपक्षीया नूनं ह्ययुः पुरीं मम ॥ ८ ॥
 वीक्ष्य सत् कर्दनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।
 सौम च द्वात्वरात्रं च दारुकं प्राह केशवः ॥ ९ ॥
 रथं प्रापय मे द्रुतं द्वात्वस्त्रान्तिकमाशु वै ।
 सम्भ्रमस्ते न कर्तव्या मायावी सौभरादयम् ॥ १० ॥
 इत्युक्तबोदयामास रथमास्त्राय दारुकः ।
 विशृन्तं ददृशुः सर्वे स्व परे चारुणानुसम् ॥ ११ ॥
 द्वात्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायलेम्बरः ।

उस समय धुमन् यादवसेनाको तहस-नाहस कर ख
 ण । प्रयुक्तबीजे उसके पास पहुँचकर उसे ऐक करने
 रोक दिया और सुसक्ताकर आठ बाण मारे ॥ २ ॥ च
 बाणोंसे उसके चार घोड़े और एक-एक बाणसे उत्तरी,
 धनुष, पञ्च और उसका सिर कट गइल ॥ ३ ॥
 इधर गद, सार्यकि, साम्ब आदि यदुवंशी वीर भी शस्त्र-
 की सेनाका संहार करने लगे । सौम विमनस के
 हुए सैनियोंकी गरदन कट जाती और वे समुद्रमें गिर
 पड़ते ॥ ४ ॥ इस प्रकार यदुवंशी और शम्भुके सैनिक
 एक-दूसरेपर प्रहार करते रहे । क्या ही कष्टान और
 मयङ्कर युद्ध हुआ और वह व्यापार सप्ताहस निरन्तर
 चकता रहा ॥ ५ ॥

उन दिनों भगवान् श्रीकृष्ण कर्मराज पुत्रिके
 बुलनेसे इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे । राजस्य यह ही उज्ज
 वा और शिशुपालकी भी मृत्यु हो गयी थी ॥ ६ ॥ वहाँ
 भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि कड़े मयङ्कर व्यस्तलुन हो
 रहे हैं । तब उन्होंने कुरुवंशके बड़े-बड़ों, अग्नि-मुनियों,
 कुन्ती और पाण्डवोंसे अनुमति लेकर दारुकके स्थि
 प्रस्थान किया ॥ ७ ॥ वे मन-ही-मन कहने लगे कि
 'ये पूज्य महर्षि कर्मात्मकीके साथ यहाँ क्या किया । जब
 शिशुपालके पक्षपाती क्षत्रिय व्यक्त्य ही दारुकपर व्यक्त
 कर रहे होंगे ॥ ८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने दारुकमें
 पहुँचकर देखा कि सचमुच यादवोंपर वही विपत्ति काय
 है । तब उन्होंने कर्मात्मकीके नगरकी रक्षाके लिये
 नियुक्त कर दिया और सौभरति द्वात्वक्के देखकर कने
 सारवी दारुकसे कहा ॥ ९ ॥ 'दारुक ! तब शीघ्रसे
 शीघ्र मेरा रथ शम्भुके पास ले चले । देखो, यह कल
 क्या मायावी है, तो भी तुम तनिक भी मय न करना ॥ १० ॥
 भगवान्की ऐसी आज्ञा पाकर दारुक रथपर चढ़ गया और
 उसे शम्भुकी ओर ले चला । भगवान्के रथकी चाल गहन-
 चिकित्से सिद्धि थी । उसे देखकर यदुवंशीयों तथा शम्भुकी
 सेनाके ज्योंही युद्धभूमिमें प्रवेश करते ही भगवान्की
 पहचान किया ॥ ११ ॥ परिशिष्ट । कर्कश शम्भुकी
 सारी सेना प्रायः नष्ट हो चुकी थी । भगवान् श्रीकृष्णकी

प्राहरत् कृष्णस्रगात् शक्ति भीमरवां मुधे ॥१२॥
 वामापतन्ती नभसि महोष्कामिव रंहसा ।
 भासयती दिशः शौरिः सायकैः क्षतधाच्छिनत् ॥१३॥
 त्वं यो बद्धमिर्विदध्या बाधैः सौम्यत्वे प्रभत् ।
 अविष्मच्छरसन्दोहैः स्वर्ग्यं ह्य रश्मिभिः ॥१४॥
 शाल्वः शौरस्तु दोः सन्त्यं सघातं शार्ङ्गधन्वनः ।
 बिभेद न्यपतद्गतात् शार्ङ्गमासीत्तद्वृत्तम् ॥१५॥
 हाहाकारो महानसीद् भूतानां तत्र पश्यताम् ।
 विनष्ट सौभ्रातृचैरिदमाह जनार्दनम् ॥१६॥
 यत्त्वया मूढनः सस्युर्ब्रह्मैर्भाषां हतेष्वताम् ।
 प्रमत्तः स समामध्ये त्वया व्यापादितः सला ॥१७॥
 तं ह्वाद्य निक्षिप्तैश्चावैरपराक्षितमानिनम् ।
 नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि विन्देर्ममाग्रतः ॥१८॥

भीमभगवानुवाच

इवा त्वं कस्यसे मन्द न पश्यसन्तिकेऽऽतकम् ।
 पौरुषं दर्शयन्ति मे शूरा न बहुमापिणः ॥१९॥
 इत्युक्त्वा भयबाष्ठास्त्वं गदया भीमवेद्यया ।
 तदाह जप्रौ संरम्भः स नक्तम्ये वयन्नस्तुक् ॥२०॥
 गदायां सन्निहृतायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत् ।
 ततो मूर्ध्वं आगत्य पुरुषः क्षिरसाभ्युत्तम् ।

१ मित्रिर्बिष्णुः २ यथावत् ।

म ८ अ २ ७७—

देखते ही उसने उसके सारथीपर एक बहुत बड़ी
 शक्ति चढ़ायी । वह शक्ति बड़ा भयङ्कर शब्द करती
 हुई आकाशमें वड़े बेगसे चल रही थी और बहुत बड़े
 व्यक्तके समान जान पड़ती थी । उसके प्रकाशसे दिशायें
 चमक उठी थी । उसे सारथीकी ओर आते देख भगवान्
 श्रीकृष्णने अपने बाणोंसे उसके सैनिकों दुकने कर
 दिये ॥१२ १३॥ इसके बाद उन्होंने शाल्वको सोलह
 बाण मारे और उसके मित्रानको भी, जो आकाशमें घूम
 रहा था, अस्वस्थ बाणोंसे चकली कर दिया—एक
 बेसे ही, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे आकाशको भर देता
 है ॥ १४ ॥ शाल्वने भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी सुजामें,
 जिसमें शार्ङ्गमुत्त शोभायमान था, बाण मारा, इससे
 शार्ङ्गचतुर भगवान्के हाथसे छूटकर गिर पड़ा । वह
 एक अवमूत घटना घट गयी ॥ १५ ॥ जो लोग आकाश
 या पृथ्वीसे यह कुछ देख रहे थे, वे बड़े जोरसे 'हाय-
 हाय' पुकार उठे । सब शाल्वने प्रचण्ड भगवान् श्री-
 कृष्णसे यों कहा— ॥ १६ ॥ 'भूह ! तुने हमकोलोकोंके
 देखते-देखते हमारे मार्ग और सखा शिष्टागल्ब्यी फलीको
 हार छिया तथा भरी समामें, जन कि हमारा मित्र
 शिशुपाल असावधान था, तुने उसे मार बाधा ॥ १७ ॥
 मैं जानता हूँ कि तू अपनेको अजेय मानता है । यदि
 मेरे सामने खड़ा ग्य तो मैं आज तुझे अपने तीखे
 बाणोंसे वहाँ पहुँचा दूँगा, जहाँसे फिर कोई छूटकर
 नहीं जाता ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—(१९ मन्द ! तू इधर ही
 खड़ा रहा है । तुझे पता नहीं कि तेरे सिरपर मौत
 सज्ज है । शरथीर व्यर्थकी बकवाद नहीं करते, वे
 अपनी धीरता ही दिखलवा करते हैं ॥ १९ ॥ इस
 प्रकार कलकल भगवान् श्रीकृष्णने क्रोडित हो अपनी
 बाणधनु कोमती और भयङ्कर गन्धसे शाल्वके जटुस्थान
 (हँसनी) पर प्रहार किया । इससे वह खून उगल्य
 हुआ कौंपने लगा ॥ २० ॥ इधर जब गदा भगवान्के
 पास छोट आयी, तब शाल्व अतर्धान हो गया । इसके
 बाद तो वही धीरत-भीरुते एक म्नुष्यने भगवान्के पास
 पहुँचकर उनके सिर छुकाकर प्रणमन किया और वह

देवक्या प्रहितोऽसीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥२१॥
 कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता से पितृवत्सल ।
 बभूव्यापनीतः श्वाश्वेन सौनिकेन यथा वसु ॥२२॥
 निश्चम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।
 विमनस्त्रो घृणी स्नेहाय बभाप प्राकृतो यथा ॥२३॥
 कथं राममसम्प्रान्तं जित्वा ज्ञेयं सुरासुरैः ।
 श्वाश्वेनादपीयसा नीतः पितरं मे बलवान् विधिः ॥२४॥
 इति ब्रुवासे योविन्दे सौमराष्ट्रं प्रत्युपस्थितः ।
 बभूव देवमिदानीय कृष्णं चेदं ब्रुवाच सं ॥२५॥
 एष ते अनिता साता यदर्धमिह बीजसि ।
 वधिष्वे बीजतस्ते ऽमुमीश्वरवेत् पाहि पाणिभिः ॥२६॥
 एवं निर्मत्स्वं मायावी सङ्गेनानकबुन्दुमेः ।
 उत्कृत्पथिर आदाय स्वस्यं सौमं समाविशत् ॥२७॥
 ततो ब्रह्मं प्रकृतावुपप्लवः
 स्वबोध आस्ते स्वन्नानुपप्लवः ।
 महानुभावस्तद्वद्व्यासुरी
 मायां स श्वाश्वप्रसूतां मयोदिताम् ॥२८॥
 न तत्र ह्य न पितुः कलेवरं
 प्रबुद्धं बाजी समपश्यदप्युतः ।
 स्वान्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
 सौमस्यमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥

रोता हुआ बोळ—‘मुझे आपकी प्रसा देवकीकी
 भेजा है ॥ २१ ॥ उन्होंने कहा है कि अपने
 पिताके प्रति अत्यन्त प्रेम रखनेवाले महाब्र
 भीकृष्ण ! शास्त्र सुन्दारे स्त्रियाँ उसी प्रकार
 बौधकर ले गया है, जैसे कोई कसाई पशुको बँकर
 ले जाय ? ॥ २२ ॥ यह अधिय सम्भार सुनकर महाब्र भी-
 कृष्ण मनुष्यसे बन गये । उनके मुँहपर कुछ खरासी
 छ गयी । वे साधारण पुरुषके समान अत्यन्त कम
 और स्नेहसे कहने लगे— ॥ २३ ॥ ‘अहो ! मेरे भाई
 कल्याणजीको तो देवता अपना असुर कोई नहीं जीत
 सकता । वे सदा-सर्वदा सावधान रहते हैं । शत्रुम
 क-पीक्य तो अत्यन्त अल्प है । फिर भी हमने उन्हें
 कैसे जीत लिया और कैसे मेरे पिताजीके बौधकर ले
 गया ? सचमुच, प्रारम्भ बहुत कल्याण ॥ २४ ॥
 महाब्र भीकृष्ण इस प्रकार कह ही रहे थे कि शत्रु
 बभूवदेवकीके समान एक माम्बरचित मनुष्य केवल बाँ
 या पहुँचा और भीकृष्णसे कहने लगा— ॥ २५ ॥ पूर्वा
 देख, यही तुझे पैदा करनेवाला तेरा बाप है, जिसके
 लिये तू जी रहा है । तेरे देखते-देखते मैं इसका
 काम सम्भर करता हूँ । कुछ कल-पीक्य हो, तो इसे
 बचा ॥ २६ ॥ मायावी शास्त्रने इस प्रकार महाब्रभी
 पटकारकर मायारचित बभूवदेवका स्तिर तन्मारसे कट किया
 और उसे केवल अपने अकालमय निम्नपर ब
 बैठा ॥ २७ ॥ परीक्षित ! महाब्र भीकृष्ण सपसिद्ध
 शासकरूप और महाब्रुभाष हैं । वे यह घटना देखकर
 दो घड़ीके लिये अपने सत्जन बभूवदेवकीके प्रति अत्यन्त
 प्रेम होनेके कारण साधारण पुरुषोंके समान शोकने लग
 गये । परन्तु फिर वे जान गये कि यह तो शत्रुकी
 पैकयी हुई आसुरी मार ही है, जो उसे हम दानके
 कल्याणी भी ॥ २८ ॥ महाब्र भीकृष्णने पुनर्मूर्ति
 सचेत होकर देखा—न वहाँ दूत है और न शिरका
 का शरीर, जैसे साजने एक इष्य दीखकर फुट हो गया
 हो । तब वे उसका बच करनेके लिये तप
 हो गये ॥ २९ ॥

एवं षडन्ति रात्रिर्षे श्रुपय के च नान्विता ।

यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न सारन्त्युत ॥३०॥

क शोक्रमोहो स्नेहो वा भयं वा येऽहमम्भवाः ।

॥ आत्मण्डितविद्वान्दानैश्वर्यस्त्यस्यन्दितः ॥३१॥

मत्पादसेषोर्वितयाऽऽत्मविद्यया ।

हिन्वन्त्यनाद्यास्मदिपर्ययग्रहम् ।

लभन्त आसीयमनन्तसैश्वरं

कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥३२॥

तं क्षत्रपूगे प्रहरन्तमोजसा

प्रास्व धुरैः शौरिरमोषविक्रमः ।

विदूष्याञ्छिनत्तु वर्म धनुः क्षिरोमणि

सौमं च सप्रोर्गदया लोच ह ॥३३॥

तत् कुप्यहस्तेरिवया विधूर्णितं

पपात तौये गदया सहस्रभा ।

विसृज्य तद् भुवलासासितो गदा-

सुखम्य क्षात्त्वोऽन्युत्तमम्यगावृद्धतम्॥३४॥

आधात्वतः सगदं तस्य पादु

मह्यन् शिष्याथ रथाङ्गमङ्गुलम् ।

वधाय शाल्वस्य लयार्कसुनिर्म

विभ्रदु भभौ सारु इषोदयाचलः ॥३५॥

जहार तनैव शिरः सकृन्बलं

किरीटपुस्त पुरुमायिनो हरि ।

पद्मेण वृषस्य यथा पुरन्दरो

अमृतं हाति वषट्स्तदा नृणाम् ॥३६॥

प्रिय परीक्षित ! इस प्रकारकी कृत पूर्वापरका विचार न करनेवाले कोई-परोई श्रुति करते हैं । अथवा ही वे इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीकृष्णके सम्मुखमें ऐसा कहना उनकी वचनोक्ति विपरीत है ॥ १० ॥ कहाँ आधानियोंमें रहनेवाले शोक, मोह, स्नेह और भय, तथा कहाँ वे परिपूर्ण मगवान् श्रीकृष्ण-भिरुक्त ज्ञान, विज्ञान और ऐश्वर्य व्यस्तगिप्त है, एकरस है । (मध्य, उनमें कैसे भरोसी सम्भावना ही कहाँ है ?) ॥ ११ ॥ बड़े बड़े श्रुति-मुनि मगवान् श्रीकृष्णके वरणकर्मोंकी सेवा करके स्वल्पविषाका भलीभाँति सम्यादन करते हैं और उसके द्वारा शरीर आदिमें आत्मबुद्धिरूप वनादि आधान को मिटा जाते हैं तथा अमृतसम्बन्धी अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । उन संतोंके परम गतिस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णमें मध्य, मोह कैसे हो सकता है ? ॥ १२ ॥

अब शास्त्र भगवान् श्रीकृष्णपर बड़े उम्माह और बेगसे शस्त्रोंकी बर्षा करने लग्न था । अनेकशक्ति भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने बाणोंसे शस्त्रको घायल कर दिया और उसके कवच, धनुष तथा तिरकी मणिमें छिन्न-भिन्न कर दिया । साथ ही गदाकी चोटसे उसके किम्बदन्त भी बजर कर दिया ॥ ३३ ॥ परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंसे जलपयी हुई गदासे वह विमान बुर-बुर होकर समुद्रमें गिर पड़ा । निरनेके पहले ही शस्त्र हाथमें गदा लेकर धरतीपर कूद पड़ा और सावधान होकर बड़े बेगसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर झपटा ॥ ३४ ॥ शास्त्रको आक्रमण करतें देख उन्होंने भालेसे गदाके साथ उसका हाथ काट गिराया । फिर उसे मार बख्शनेके लिये उन्होंने प्रलयकाशीन सूर्यके समान तेजस्वी और अत्यन्त अद्भुत सुदर्शन चक्र धारण कर लिया । उस समय उनकी ऐसी शोभा हो रही थी, मनों सूर्यके साथ उदयपश्चिम शोभमान हो ॥ ३५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उस चक्रसे पस मपायी शस्त्रका कुण्डल-किरीटसहित सिर पड़से अलग कर दिया, टीक बैसे ही, जैसे इन्धने बरसे हुआसुरका सिर काट गला था । उस समय शस्त्रके सैनिक अत्यन्त दुःखसे 'हाय-हाय' चिल्ला उठे ॥ ३६ ॥

देवक्या प्रहितोऽसीति नत्वा प्राह वचा रुदन् ॥२१॥
 कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृषत्सल ।
 वदुष्वापनीतः शत्रवेन सौनिकेन यथा वदुः ॥२२॥
 निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।
 विमनस्को घृणी स्नेहाद् बभाष प्राकृतो यथा ॥२३॥
 कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाज्येयं सुरासुरैः ।
 शत्रवेनारपीयसा नीतः पिता मे बलवान् विधिः ॥२४॥
 इति भुशभे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।
 वसुदेवमिषानीय कृष्णं येदमुवाच सं ॥२५॥
 एष ते जन्तिता तातो यदर्धमिह बीजसि ।
 वभिन्ने बीजतस्तेऽमुमीशश्चेत् पाहिं बालिष्ठ ॥२६॥
 एव निर्मर्त्यं मायावी स्रष्टेनानकदुन्दुभेः ।
 उत्कृष्य खिर आदाय स्वस्य सौमं समाविशत् ॥२७॥
 एतो मुहूर्तं प्रकृताधुपप्लवः
 स्वबोध आस्ते स्वजनानुपप्लवः ।
 महानुभावस्तदुदुष्यासुरी
 मायां स शत्रवप्रसूतां मयोदिताम् ॥२८॥
 न तत्र हृतं न पितुः फलेभरं
 प्रपुद्ग माञ्जी समपक्ष्यदभ्युतः ।
 स्वोपन्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
 सौमस्यमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥

रोता हुआ बोळ—‘मुझे आपकी माता देवकीसे
 येव्य है ॥ २१ ॥ उन्होंने कहा है कि वत्से
 पिताके प्रति अत्यन्त प्रेम रखनेवाले महाबल
 श्रीकृष्ण । शत्रु तुम्हारे पिताको उसी प्रकार
 बौधपर ले गया है, जैसे थोड़े पत्ताई पशुको बँकर
 ले जाय ।’ ॥२२॥ यह अधिय सभाचार सुनकर भगवान् श्री-
 कृष्ण मनुष्यसे बन गये । उनके मुँहपर कुछ उदर
 झ गयी । वे साधारण पुरुषके समान अत्यन्त कम
 और स्नेहसे कहने लगे—॥ २३ ॥ ‘बहो ! मेरे माई
 कल्याणकी तो देकरा कथा असुर कोई नहीं जीत
 सकत । वे सदा-सर्वदा सावधान रहते हैं । शत्रुका
 कज-पीछा तो अत्यन्त अल्प है । फिर भी इसने उन्हें
 कैसे जीत लिया और कैसे मेरे पिताजीसे बौकर ले
 गया ?’ सबसुन, प्रारब्ध बहुत कमजूर है ॥ २४ ॥
 भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार कह ही रहे थे कि अन्न
 वसुदेवजीके समान एक मायारचित मनुष्य केवल माँ
 का प्युँसा और श्रीकृष्णसे कहने लगा—॥ २५ ॥ ‘पूई !
 देख, यही तुझे पैदा करनेवाला ठेग बाप है, जिसके
 छिये तू जी रहा है । तेरे देखते-देखते मैं इसका
 काम तमाम करता हूँ । कुछ कज-पीछा हो, तो इसे
 कथा’ ॥२६॥ मायावी शत्रुके इस प्रकार भगवान् को
 फटकारकर मायारचित वसुदेवका सिर उछारसे कट दिया
 और उसे केवल अपने आकाशस्थ विमानपर ल
 बैय ॥ २७ ॥ परिशिष्ट । भगवान् श्रीकृष्ण सर्वसिंह
 हानकरूप और महाबलवान् हैं । वे यह घटना देखकर
 दो बाँकी छिये अपने सन्न वसुदेवजीके प्रति अत्यन्त
 प्रेम होनेके कारण साधारण पुरुषोंके समान शक्तीमें ह
 गये । परन्तु फिर वे जान गये कि यह तो भगवन्की
 पैछणी हुई आसुरी मया ही है, जो उसे हम हानकरे
 करणी थी ॥ २८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने सुदुर्गमि
 सन्नेत होकर देख—न माँ हृत है और न पितृका
 का शरीर, जैसे सपनेमें एक दृश्य दीखकर छत हो ग
 हो । ऊपर देख तो शत्रु विमानपर कबल आकाशसे
 भिन्न रहा है । तब वे उसका बच करनेके छिये उत्प
 हो गये ॥ २९ ॥

पञ्चरूपमरिं हत्वा म्याधिं दहधर यथा ॥ ६ ॥

एव रूधेस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।

गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद् व्यनदध स ॥ ७ ॥

गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यद्दृष्ट्वा ।

कृष्णोऽपि तमहन् गुण्या कौमादक्या सनान्तरे ॥ ८ ॥

गदानिभिन्नहृदय उदमन् रुधिरं मृत्वात् ।

प्रसार्य कशशाह्वङ्मोन् धरण्यां न्यपतद् व्यसु ॥ ९ ॥

ततः घृक्ष्मतरं ज्योति कृष्णमाविशदद्भुतम् ।

पश्यतां सर्वमूतानां यथा चैषवधे नृप ॥ १० ॥

विदूथस्तु तद्भावा आवृशाकपरिप्लुतः ।

भागन्ददसिचमभ्यामुन्मृष्टसंस्तजिपांसया ॥ ११ ॥

तस्य चापतत कृष्णश्चक्रण धुरनेविता ।

धिरा जहार राज्ञश्च सक्रिटीटं सकुण्डलम् ॥ १२ ॥

एव सीमं चशान्न च दन्तवक्त्र सशानुजम् ।

हत्वा द्रुविषदानन्वरीहितः सुरमानव ॥ १३ ॥

मुनिमि मिदगर्धर्वविषाधरमहारगैः ।

अप्यराभि विदुगमयध किन्नरचार्य ॥ १४ ॥

उपगापमानत्रिजयः क्षुमुर्माभिरविशः ।

इत्यथ इन्निप्ररोरिवेशाड्भुजां पुरीम् ॥ १५ ॥

अने मित्रोंसे वडा प्रेम करता हूँ, उनका मुखापर आण
द । अब तुम्हें मारकर ही मैं उनके आणसे उद्धार हा
सकता हूँ ॥ ६ ॥ जैसे महावत अङ्गुठासे हाथीको
घायल करता है, वैसे ही दन्तवक्त्रने अपनी फाँसी
नालोंसे धीरुष्णको चोट पहुँचानेकी चेष्टा की और
फिर यह उनके सिरपर बड़ वेगसे गदा मारकर सिंहक
सम्मान गरज उठा ॥ ७ ॥ लम्बूमिमें गदाकी चोट
खकर भी भगवान् धीरुष्ण उससे-मम न हुए ।
उन्होंने अपनी बहुत बड़ी कौमोदकी गदा सम्हालकर
उससे दन्तवक्त्रके कंधे सलवार प्रहार किया ॥ ८ ॥
गदाकी चोटसे दन्तवक्त्रका कलेजा फट गया । वह
धुँहसे सून उगलने लगा । उसके बाँध फिस्स गये,
भुजारे और पैर फैल गये । निदान निष्प्राण होकर
वह फाँसीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥ परीक्षित ! जैसा कि
हिमुराज्यकी मूल्युके समय हुआ था, सब प्राणियोंके
सामने ही दन्तवक्त्रके मृत शरीरसे एक अत्यन्त सूक्ष्म
आपत्ति निगरी और वह बड़ी विचित्र रीतिसे भाग्यन्
धीरुष्णमें सम्म गयी ॥ १० ॥

दन्तवक्त्रके भद्रका नाम था विदूथ । यह अपने
माइकी मूल्युसे अत्यन्त श्रेष्ठपुत्र हो गया । अब यह
आपत्ति के बारे में तर्क-वर्तनी सँभल रहा हुआ थापमें हाउ-
तउधार करत भगवान् धीरुष्णको मर जानेकी
इच्छासे आया ॥ ११ ॥ राजेन्द्र ! जब भाग्यन् धीरुष्णने
देख कि अब यह प्रहार करना ही चाहता है, तब
उन्होंने अपने पुराक सम्मान लीपी धारण करके
गिरा और कुण्डलक साथ उनका सिर पकड़े जडा
कर लिया ॥ १२ ॥ इस प्रकार भाग्यन् धीरुष्णने
मृत, उसका निन्दन सीधे, दन्तवक्त्र और विदूथका,
निन्दे करना दूसरोंके शिरे अगस्त था, करत
शरणागतिमें प्रयास किया । उस समय राजा और
मन्त्र्य उसकी स्तुति कर रहे थे । बहन्व अग्निमुनि,
विदुग्मन्, विजय और क्षुमि कवि पद्मना,
अस्तुर्य, त्रिज, पञ्च किन्नर तथा पुराण उनका उत्तर
पुरीष की राजा हुए उसकी निन्दन करने लगे
थे । राजेन्द्र प्राणक जलकर पुरी गये मर
गये । राजा की और बहन्व इन्निप्ररोर दन्त वक्त्र
उनका दन्तवक्त्र ५३ १६ वे ॥ ११-१५ ॥

तस्मिन् निपतिते पापे सीमे च गदबा हते ।

नेदुर्दुन्दुभयो राघव् दिनि देवगणेरिताः ।

सत्सीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुपाभ्यगात् ॥ ३७ ॥

परीक्षित् । जब पापी शास्त्र भर गया और उसका
बिमान भी उसके प्रहारसे चूर चूर हो गया, तब
देवतालोग आकाशमें दुन्दुभियों बजाने लगे । ठीक
इसी समय दन्तवक्त्र अपने मित्र शिशुपाल आदिक
बदमाश केनेके लिये अक्षय्यत कोशित होकर
पहुँचा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्त्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

सौमवधो नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

अथाष्टसप्ततितमोऽध्यायः

दन्तवक्त्र और विदूरथका कलार तथा तीर्थयात्रामें बलरामजीके हाथसे सृष्टजीका वध

श्रीकृष्ण उवाच

श्रीकृष्णकेजी कहते हैं—परीक्षित् । शिशुपाल,

शिशुपालस्य धात्र्यस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।

परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ॥ १ ॥

एकः पदातिः संकुटो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।

पवृन्म्यामिमां महाराज महासज्जो व्यवहसत ॥ २ ॥

ततथाऽऽयान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।

अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धु धेलेष प्रस्थभात् ॥ ३ ॥

गदाघ्रयस्य कारुणां सुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।

दिष्टया दिष्टया भवानथ मम दृष्टिपथं गतः ॥ ४ ॥

स्य मातुलेपो न कृष्ण मित्रघृष्णां विभांससि ।

अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥

तदानृष्यमुपैम्यस्य मित्राणां मित्रवत्सल ।

शिशुपाल और पौण्ड्रकके बारे जानेपर उनकी मित्रताका
क्षण चुकानेके लिये मूर्ख दन्तवक्त्र अकेल ही पैर
मुदमुँसमें जा कमल । वह कोपके बारे बाग-बन
हो रहा था । शत्रुके नामपर उसके हाथमें एकत्र
गदा थी । परन्तु परीक्षित् । ज्योंही देख, वह इतना
शक्तिशाली है कि उसके पैरोंकी कमलसे पृथ्वी हिल
रही है ॥ १ ॥ २ ॥ भाग्यन् श्रीकृष्णने जब उसे इस
प्रकार आते देख, तब छटपट हाथमें गदा लेकर वे
रफसे दूढ़ पड़े । फिर जैसे समुद्रके तटकी मूँस उसके
आर-आटेको आगे बढ़नेसे रोक देती है, वैसे ही
उन्होंने उसे रोक दिया ॥ ३ ॥ बर्गबके नसेमें बुर
कल्पनरेश दन्तवक्त्रने गदा तानकर भाग्यन् श्रीकृष्णसे
कहा—‘अब सौभाग्य और आनन्दकी बात है कि
आज तुम मेरी आँखोंके सामने पड़ गये ॥ ४ ॥
कृष्ण । तुम मेरे सामने छड़के हो, इसलिये तुम्हें
मारना तो नहीं चाहिये परन्तु एक तो तुम्हने मेरे
मित्रोंको मार डाला है और दूसरे मुझे भी मारना चाहते
हो । इसलिये मरिचिम् । आज मैं तुम्हें अपनी वज्र-
कर्तृता गतासे चूर-चूर कर डेईगा ॥ ५ ॥ मूर्ख ।
वैसे तो तुम मेरे सम्बन्धी हो, फिर भी हो राहु ही,
जैसे अपने ही शरीरमें रहनेवाला कोई रोग हो । मैं

अथैर्मगमतो भूत्वा क्षिप्योऽधीत्य बहूनि च ।
 सेविहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥२५॥
 अद्वान्तस्याविनीतस्य ब्रूया पण्डितमानिनः ।
 न गुणाय भवन्ति स नटस्तेवाभितात्मनः ॥२६॥
 एतदर्धो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।
 बभूव मे धर्मव्यञ्जिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ॥२७॥
 एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधावपि ।
 भाविस्त्वाच कुष्माण्ण करस्त्वेनाहनत् प्रभुः ॥२८॥
 हाहेति वादिनः सर्वे धुनयः खिन्नमानसाः ।
 ऊचुः संकल्प्य देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥२९॥
 अस्य ब्रह्मासनं दक्षमस्त्राभिर्धुनन्दन ।
 आशुबास्माङ्गुलं तावद् भवत् सर्वं समाप्यते ॥३०॥
 अज्ञानतैवाचरितस्तथा ब्रह्मबभो यथा ।
 यागेभ्यस्तस्य भवतो नाम्नायाऽपि निवामकः ॥३१॥
 यद्यतवु ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकापावन ।
 चरिष्यति बर्हलोकासंप्रदोऽनन्यथोदितः ॥३२॥
 श्रीभगवानुवाच
 करिष्ये वधनिर्वैद्यं लोकांशुप्रहकाम्यया ।
 नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ॥३३॥

भगवान् व्यासदेवका शिष्य होकर इसने इतिहास,
 पुराण, धर्मशास्त्र आदि बहुत-से शास्त्रोंका अध्ययन
 भी किया है, परन्तु अभी इसका अपने मन-
 पर संयम नहीं है । यह विनयी नहीं, उदण्ड है ।
 इस अचित्तालम्बने झूठमूढ़ करनेको बहुत बड़ा पण्डित
 मान रक्खा है । जैसे नटकी सारी चेष्टाएँ अभिनयमग्न
 होती हैं, वैसे ही इसका सारा अध्ययन खोंगके छिये
 है । उससे न इसका स्वयं है और न किसी दूसरेका
 ॥ २५-२६ ॥ जो भोग धर्मका चिह्न धारण करते हैं,
 परन्तु धर्मका पावन नहीं करते, वे अधिक पापी हैं
 और वे मेरे छिये वध करनेयोग्य हैं । इस जगत्में
 इसीछिये मैंने अकतार धारण किया है ॥ २७ ॥
 भगवान् कथाम पचासि तीर्थयात्राके कारण दुष्टोंके वधसे
 भी अजग हो गये थे, फिर भी इतना कहकर उन्होंने
 अपने हाथमें सिक्त कुण्डली नोकसे उनपर प्रहार
 कर दिया और वे तुरन्त मर गये । दोनहार ही ऐसी
 थी ॥ २८ ॥ सूतजीके मरते ही सन आदि-मुनि हाथ-
 धाय करने लगे, सबके चित्त खिन्न हो गये । उन्होंने देवाधि-
 देव भगवान् कथामजीसे कहा—‘प्रभो ! आपने यह बहुत
 बड़ा अवर्म किया ॥ २९ ॥ यदुर्वशप्रियोगे ! सूतजीको
 हमी जोगेने ब्राह्मणोचित आसनपर बैठया या और
 अकतक हस्तर यह सत्र सम्पन्न न हो, तबतकके छिये
 उन्हें शारीरिक कष्टसे रक्षित आया भी वे दी थी ॥ ३० ॥
 आपने अनजानमें यह ऐसा कर्म कर दिया, जो अस-
 हत्याके समान है । इसजोग यह मन्ते हैं कि आप
 योगेश्वर हैं, वेद भी आपपर शासन नहीं कर सकता ।
 फिर भी आपसे यह प्रार्थना है कि आपका अवतार
 जोगोंको पवित्र करनेके छिये हुआ है, यदि आप किसीकी
 प्ररणाके बिना स्वयं अपनी इच्छासे ही इस ब्रह्महत्याका
 प्रायश्चित्त कर बेने तो इससे जोगोंको बहुत प्रिय
 मिलेगी ॥ ३१ ३२ ॥

भगवान् ब्रह्मरामने कहा—मैं जोगोंको प्रिय करनेके
 छिये, जोगोंपर अनुग्रह करनेके छिये इस ब्रह्महत्याका
 प्रायश्चित्त अवश्य करूँगा, वत इसके छिये प्रथम
 जोगीका जो प्रायश्चित्त हो, आपजोग उसीका विधान

एव योगेश्वरः कृष्णो भगवान्मृगदीश्वरः ।

ईयते पशुवृष्टीनां निर्धितो अयतीति सः ॥१६॥

श्रुत्वा युद्धोधर्मं रामः कुरुणां सह पाण्डवैः ।

तीर्थाभिषेकम्याजेन मण्यस्त्रः प्रययौ किल ॥१७॥

स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।

सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंघतः ॥१८॥

पृथूदकं विन्दुसरस्वितक्षुपं सुदर्शनम् ।

विद्यालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१९॥

यष्टनामनु यान्केव गङ्गामनु च भारत ।

अगाम नैमिषं यत्र श्रवणः सत्रमासते ॥२०॥

तमायतमभिषेत्स्व मुनयो दीर्घसत्रिणः ।

अभिनन्द्य यथान्यार्यं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥२१॥

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिव्रजः ।

रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैधृत ॥२२॥

अप्रत्युत्थायिनं वृत्तमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।

अध्यासीनं च तान् विश्रांश्चक्रोपोद्गीक्ष्य माधवः २३

कसादसाविमान् विप्रानप्यास्ते प्रतिलोमभाः ।

धर्मपातांस्तर्पयैवास्मान् धधमर्हति दुर्मतिः ॥२४॥

योगेश्वर एवं मृगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण इसी प्रकार कनेको खेल खेलते रहते हैं । जो पशुओंके सम्मान धर्मिके हैं, वे उन्हें कभी हारते भी देखते हैं । परन्तु वास्तवमें तो वे सदा-सर्वदा विजयी ही हैं ॥ १६ ॥

एक बार कज्जामजीने सुना कि दुर्योधनादि कैरव पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी तैयारी कर रहे हैं । वे मण्यस्त्र वे, उन्हें विस्तीकृत पक्ष लेकर छवना पसंद नहीं पा । इसलिये वे तीर्थमें स्नान करनेके लाने द्वाराकसे चले गये ॥ १७ ॥ वहाँसे कज्जर उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया; और तर्पण तथा ब्रह्म-मोक्षमके द्वारा देवता, ऋषि, पितर और मनुष्योंके वृत्त किया । इसके बाद वे कुछ ब्राह्मणोंके साथ विश्वसे सरस्वती नदी आ रही थी, उबार ही का पड़े ॥ १८ ॥ वे कम्प्य पृथूदक, विन्दुसर, त्रिक्लृप, सुदर्शनतीर्थ, विद्यालतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ, कक्षतीर्थ और पूर्वकाक्षिनी सरस्वती आदि तीर्थमें गये ॥ १९ ॥ परीक्षित ! तदनन्तर यमुनातट और गङ्गातटके प्रधान-प्रधान तीर्थमें होते हुए वे नैमिषारण्य क्षेत्रमें गये । उन दिनों नैमिषारण्य क्षेत्रमें कड़े-कड़े ऋषि सत्सङ्गरूप भवान् सत्र कर रहे थे ॥ २० ॥ दीर्घकम्पक सत्सङ्ग-सत्सङ्ग नियम लेकर बैठे हुए ऋषियोंने कज्जामजीको आया देख अपने-अपने आसनेसे उठकर उनका सागत-सत्कार किया और यथायोग्य प्रणाम-आर्चनार्च करके उनकी पूजा की ॥ २१ ॥ वे अपने साधियोंके साथ आसन ग्रहण करके बैठ गये और उनकी अर्चन-पूजा हो चुकी, तब उन्होंने देखा कि भगवान् व्यसके शिष्य रोमहर्षण ब्रह्मसगरीपर बैठे हुए हैं ॥ २२ ॥ कज्जामजीने देखा कि रोमहर्षणकी सहा-वासिमें व्यस होनेपर भी उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे ऊँचे आसनपर बैठे हुए हैं और उनके आनेपर न तो उठकर सागत करते हैं और न हाथ जोड़कर प्रणम ही । इसपर कज्जामजीको क्रोध आ गया ॥ २३ ॥ वे कहने लगे कि प्याह रोमहर्षण प्रतिलोम आतिथ्य होनेपर भी इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे तथा धर्मके रक्षक ब्रह्मकेसे ऊपर बैठ हुआ है, इसलिये यह दुर्युधि दुर्युद्धयुक्त पात्र है ॥ २४ ॥

भोमो वायुरमृद् रावन् पूयगन्धस्तु सर्वशः ॥ १ ॥
ततोऽमप्यमयं वर्षं वस्वलेन विनिर्मितम् ।
अभवद् यज्ञशालायां साऽन्वदधत्त शूलशूक् ॥ २ ॥
तं विलोक्य पृहत्कायं भिभाञ्जनचयापमम् ।
तप्तताम्रशित्वाश्मभुं दंष्ट्रोऽग्रमुकुटीमुन्मम् ॥ ३ ॥
सस्मार सुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ।
इलं च दैत्यदमनं त तूर्णमुपतस्थतुः ॥ ४ ॥
तमाकृष्य हलाग्रेण कञ्चल गगनेचरम् ।
सुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मवृह बलः ॥ ५ ॥
साऽपतद् मुनिं निर्मिन्नललाटोऽसृक् समस्तुञ्जनम् ।
मुञ्चन्नातस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥ ६ ॥
संस्तुत्य मुनयो रामं प्रमुन्यावितथाक्षिपः ।
अभ्यर्चिञ्चन् महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥
वैद्ययन्तीं ददुर्नालां भीषामाञ्छानपङ्कजाम् ।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥
अथ तैरस्मनुज्ञातः शैशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरावरमगाधु यतः सरसुरास्रवत् ॥ ९ ॥
अनुस्रोतेन सरयुं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा संतर्प्य देवादीन् अगाम पुलहाधमम् ॥ १० ॥

होने लगी और चारों ओरसे पीवकी दुर्गन्ध आने लगी ॥ १ ॥ इसके बाद यज्ञशालामें कञ्चल दानवने मज्ज-मृज् आदि अपक्वि वस्तुओंकी बर्गा की । तदनन्तर ह्यायमें त्रिशूल लिये वह स्वयं दिखयी पड़ा ॥ २ ॥ उसका बीज-बीज बहुत बड़ा था, ऐसा जान पड़ता मानो देर-कर-देर कलियुग इकट्ठा कर दिया गया हो । उसकी चोटी और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए तौके समान जल-जल थीं । बड़ी-बड़ी दाढ़ों और मौँछोंके कारण उसका मुँह बड़ा भयावना लगता था । उसे देखकर भगवान् कश्यपजीने शत्रु-सेनाकी कुनी करनेवाले मूढ़ और दैत्योंको चीर-मज्ज डालनेवाले हल्का स्मरण किया । उनके स्मरण करते ही वे दोनों शस्त्र सुरत बहों आ पहुँचे ॥ ३ ॥ कश्यपजीने आकाशमें विचरनेवाले कञ्चल दैत्यको अपने हल्के अगले भागसे खींचकर उस ब्रह्मशूरीके सिरपर बड़े क्रोधसे एक मुसल कसकर जमाया, जिससे उसका छोट फट गया और वह खून उगथता तथा आतखरसे चिरझता हुआ धरतीपर गिर पड़ा, रीक बैठे ही जैसे बज्रकी चाट खकर रोक्क आदिसे छाल हुआ कोई पहाड़ गिर पड़ा हो ॥ ५-६ ॥ नैमिशारण्यवासी महाभागवान् मुनियोंने कश्यपजीकी स्तुति की, उन्हें कभी, न ज्यर्ष हानेवाले आशीर्वाद दिये, और जैसे देकतालगे बैराज इन्द्रका अभिषेक करते हैं वैसे ही उनका अभिषेक किया ॥ ७ ॥ इसके बाद अग्निपोंने कश्यपजीको दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषण लिये तथा एक ऐसी वैद्ययन्ती माया भी ली, जो सौन्दर्यका आश्रय एवं कमी न मुकानेवाले कम्लके पुष्पोंसे युक्त है ॥ ८ ॥

तदनन्तर नैमिशारण्यवासी अग्निपोंसे विदा होकर उनके आज्ञानुसार कश्यपजी ब्रह्मणोंके साथ कश्मिरी नदीके तटपर आये । वहाँ ज्ञान करके वे उस सरोवरपर गये, जहाँसे सरयू नदी निकली है ॥ ९ ॥ वहाँसे सरयूके किनारे किनारे बहने लगे फिर उसे छोड़कर प्रयाग आये और वहाँ ज्ञान तथा नेत्रका, अग्नि एवं त्रिशूल तर्पण करके वहाँसे पुच्छाश्रम गये ॥ १० ॥

दीर्घमायुर्बतैतस्व सस्वमिन्द्रियमेव च ।

आश्वासितं यच्च मृत साधये योगमाधया ॥३४॥

कथय ऊचुः

अस्वस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।

यथा भवेद् वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥३५॥

भीमश्लाघानुवाच

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।

तस्मादस्य भवेद् वक्ता आयुरिन्द्रियसम्पवान् ॥३६॥

किं वः कामो मुनिभेष्टा मृताहं करवाप्स्यथ ।

अबानवस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां शुभा ॥३७॥

कथय ऊचुः

इत्थलस्य सुतो घोरो बल्लला नाम दानवः ।

स दूयपति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥३८॥

त पापं अहि दाद्याहं तन्नः क्षुभृण परम् ।

पूयशोणितविष्मूत्रसुरामांसाभिर्बर्षिणम् ॥३९॥

तव च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।

चरित्वा द्वादश मासांस्तीर्थस्नायी विष्टुद्यसे ॥४०॥

कीजिये ॥ ३३ ॥ आपखोग इस स्तकसे लंबी बाहु, कल, इन्द्रिय-शक्ति आदि जो कुछ भी देना चाहते हों, मुझे दत्त दीजिये, मैं अपने योगकर्मसे सब कुछ सम्पन्न किये देता हूँ ॥ ३४ ॥

श्रुतिपौत्रे कहा—कलामजी ! आप ऐसा कोई उपाय कीजिये जिससे आपका शत्रु, पराक्रम और इनकी मृत्यु भी व्यर्थ न हो और हमलोगोंने इन्हें जो बदल दिया था, वह भी सत्य हो जाय ॥ ३५ ॥

भगवान् बल्लरामने कहा—श्रुतियो ! केदोंका ऐसा कहना है कि आत्मा ही पुत्रके रूपमें उत्पन्न होता है । इसलिये रोक्कपूर्णके स्थानपर उनका पुत्र आपखोगोंके पुराणोंकी कथा सुनायेगा । उसे मैं अपनी शक्तिसे दीर्घायु, इन्द्रियशक्ति और कल दिये देता हूँ ॥ ३६ ॥ श्रुतियो ! इसके अतिरिक्त आपखोग और जो कुछ भी चाहते हों, मुझसे कहिये । मैं आपखोगोंकी इच्छा पूर्ण करूँगा । जननाममें मुझसे जो अपराध हो गया है, उसका प्रायश्चित्त भी आपखोग सोच-विचारकर करवाये । क्योंकि आपखोग इस विषयके विद्वान् हैं ॥ ३७ ॥

श्रुतिपौत्रे कहा—कलामजी ! इतकका पुत्र कलकल नामका एक मयहूर दानव है । वह प्रत्येक वर्ष पर यहाँ आ पहुँचता है और हमारे इस तन्त्रके दुष्ट कर देता है ॥ ३८ ॥ यदुनन्दन ! वह यहाँ कलकल पाव, खून, विछा, मूत्र, शरव और नासकी करों करते करता है । आप उस पापीको मार बाजिये । हमलोगोंने यह बहुत बड़ी सेवा होगी ॥ ३९ ॥ इसके बाद आप एकप्रमचित्तसे तीर्थोंमें स्नान करते हुए बारह महीनों तक भारतवर्षकी परिक्रमा करते हुए विहरण कीजिये । इससे आपकी शुद्धि हो जायगी ॥ ४० ॥

इति भीष्मागवते म्हापुराणे परमहंसां संज्ञिकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

अउदयचरित्रे अस्त्रकथोपक्रमे नामाऽऽसक्तिमोऽध्याय ॥ ७८ ॥

अथैकोनाशीतितमोऽध्याय

पत्न्यलक्ष्मण उवाच भीरुपामजीकी तीर्थयात्रा

भीष्म उवाच

ततः पर्वण्युपायुक्तं प्रचण्डः पर्वण्युवर्षण ।

भीष्मकथयती कहत है—परीक्षित ! पर्वण्य दि आमपर महा मयहूर अंधक करने लग्य । पूछती था

भोमो वायुरध्वं राजन् पूयगन्धस्तुं सर्वशः ॥ १ ॥
 ततोऽमप्यमरं वर्षं वरवलेन विनिर्मितम् ।
 अभवध्वं यम्यशालायां साऽन्वद्वश्यत् शूलधृक् ॥ २ ॥
 तं विलासपट्टहृत्कार्यं भिभाञ्जनवयापमम् ।
 तप्तताम्रशित्वाश्मभुं रंष्ट्राग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥
 ससारं मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ।
 हलं च दैत्यदमनं तं तूर्णमुपतखतुः ॥ ४ ॥
 तमाकृष्य हलाग्रेण वत्सल गगनेष्वरम् ।
 मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्ममुहं बलः ॥ ५ ॥
 सोऽपतद् मुवि निर्मिन्नललाटोऽसृक् सभ्रुत्सृञ्चन् ।
 मुञ्चन्नार्तस्वरं शैला यथा वज्रहसोऽरुणः ॥ ६ ॥
 सस्तुत्यं मुनयो रामं प्रयुञ्ज्यावितथाश्रियं ।
 मन्मथिञ्चन् महाभागा हृत्प्रघ्नं विषुभायथा ॥ ७ ॥
 वञ्चयन्तीं ददुमालं श्रीधामाञ्छानपङ्कजाम् ।
 रामाय वाससी दिव्ये दिव्याभ्याभरणानि च ॥ ८ ॥
 अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य आह्वयैः ।
 स्नात्वा सराधरमगाधं यत् सरयुरासवत् ॥ ९ ॥
 मनुसातेन सरयुं प्रयागमुपगम्य सः ।
 स्नात्वा सतर्प्य इवादीन् प्रणामपुलहाधमम् ॥ १० ॥

होने लगी और चारों ओरसे पीवकी दुर्गन्ध अपने
 लगी ॥ १ ॥ इसके बाद यज्ञशालामें बल्लभ दानवने
 मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा की । तदनन्तर
 हाथमें त्रिशूल लिये वह स्वयं स्निग्ध पी पड़ा ॥ २ ॥
 उसका शील-शील बहुत बढ़ा था, ऐसा जान पड़ता
 मानो ढेर-का-ढेर काछिख झट्टा कर लिया गया हो ।
 उसकी चाटी और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए तौंक सम्पन्न लल-
 ल्य थीं । बड़ी-बड़ी दाढ़ी और मौँछोंके कारण उसका
 मुँह बड़ा भयवना लगता था । उसे देखकर भगवान्
 कश्यापजीने शत्रु-सेनाकी कुली करनेवाले मुसल और
 दैत्योंको चीर-भङ्ग करनेवाले हलका स्मरण किया ।
 उनका स्मरण करते ही वे दोनों शस्त्र तुरंत वहाँ आ
 पहुँचे ॥ ३ ॥ कश्यापजीने आकाशमें विचरनेवाले
 बल्लभ दैत्यसे अपन हलके अगले भागसे स्वीचकर उस
 ब्रह्मलोहीके सिरपर बड़े क्रोधसे एक मुसल वस्तुकर
 जमाया, जिससे उसका ऊँचट पट गया और वह खून
 उगड़ता तथा आतखरसे चिन्मत्ता हुआ घरीतीपर गिर
 पड़ा, ठीक वैसे ही वैसे बजरकी चाट खाकर नेरु आदिसे
 म्लिष्ट हुआ कोई पहाड़ गिर पड़ा हो ॥ ५-६ ॥
 नैमिगारण्यवासी म्हाभ्यस्थान् मुनियोंने कश्यापजीकी
 स्तुति की, उन्हें कभी, न स्पर्श होनेवाले आशीर्वाद दिये
 और जैसे देवनाखेण देवराज इन्द्रका अभिषेक करते हैं
 वैसे ही उनका अभिषेक किया ॥ ७ ॥ इसके बाद
 अभियोंने कश्यापजीको दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषण
 दिये तथा एक ऐसी वैज्यन्ती मन्थ भी दी जो सौन्दर्यका
 आश्रय एवं कभी न मुरझानेवाले कमन्के पुष्पोंसे युक्त
 है ॥ ८ ॥

तदनन्तर नैमिगारण्यवासी अभियोस विना हाकर
 उनका आशानुसार कश्यापजी ब्रह्मणोक्त स्नान करके
 नगीक तटपर आये । वहाँ स्नान करके वे उस सरयवर
 गये, जहाँसे सरयु नदी निकरती है ॥ ९ ॥ वहाँसे
 सरयुक किनारे किनारे चञ्चल तथा फिर उसे छोड़कर
 प्रयाग आय और वहाँ स्नान तथा पूजा करि पर्व
 विधीय तथै करके वहाँसे पुरहाधम गये ॥ १० ॥

प्रविश्य स्वामगमद् यत्र माहिष्मती पुरी ।

मनुषीर्धनुषस्पृश्य प्रभाम् पुनरागमन् ॥२१॥

भुत्वा द्विजं कृष्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।

सर्वराजन्यनिधनं भार मन हृत युवः ॥२२॥

स भीमदुर्याधनवागदाम्पां युष्पतार्धम् ।

वारविष्यन् विनग्नं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥

युधिष्ठिरस्तु त इष्टा यमो कृष्णार्जुनावपि ।

अग्निवाद्याभवस्तूर्णो किंविबलुरिहागतः ॥२४॥

गदावापी उभौ इष्टा सरन्धौ विजयपिणौ ।

मण्डलानिविशित्राणि चरन्ताविदमग्रवीत् ॥२५॥

युवां तुल्यवलां वीरौ इ राजन् इ वृकादर ।

एकं प्राणाधिकं मन्य उतकं द्विष्टवाधिकम् ॥२६॥

तस्मादेकतरस्यह युवया ममवीर्याः ।

न तक्ष्यत जपास्या वा विरमस्वकृत्तारण ॥२७॥

न तडाक्ष्य अगृह्णतुवद्वरा दुर्योधनम् ।

अनुस्मान्ताग्न्यान्व दूकृतं दुष्कृतानि च ॥२८॥

दिप्य तदनुमन्यानां रागा दारवही ययौ ।

उग्रसनादिभिः प्रावशादिभिः ममुपागत ॥२९॥

त पुनर्नमिषं प्राहमृषयाऽप्यात्रयन् मुदा ।

गण्यमं आये ॥ २० ॥ वहाँ हाकर वे नमदाजीक
तत्पर गय । परीक्षित । इस पक्षि नदीक तत्पर ही
माहिष्मतीपुरी है । वहाँ मनुषीयमें स्नान करके वे फिर
प्रभासक्षेत्रमें चले आये ॥ २१ ॥ वही उन्होंने मद्रगोसे
सुना कि वीर्य और पाण्डवोंक युद्धमें अगिराश भूमियों-
पर संहार हो गया । उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि
अब पृथ्वीका बहुत-सा भार उतर गया ॥ २२ ॥ जिस
दिन रण-भूमिमें भीमसेन और दुर्योधन गंगापुद्गल पर रहे
थे, उसी दिन कश्यपजी उन्हें राक्षसेक त्रिपुद्वक्ष्य
का पहुँच ॥ २३ ॥

महाभारत युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण
और अर्जुनन कश्यपजीका देखकर प्रणाम किया तथा
बुल हो रहे । वे इतने हुए मन-ही-मन सोचने लगे कि
ये न जाने क्या कहेनेक त्रियेयहाँ पगारे हैं ! ॥ २४ ॥
उस समय भीमसेन और दुर्योधन दोनों ही हाथमें गदा
और एक-दूसरेको जीतनेक छिप छिपसे भरकर भोजि-
भोजिक फैले बगल रहे थे । उन्हें देखकर कश्यपजीने
कहा— ॥ २५ ॥ प्राजा दुर्योधन और भीमसेन ! तुम
मनो धीर हो । तुम दोनोंमें घञ-वाह्य भी समान है ।
मैं ऐसा सम्प्रसा है कि भीमसेनमें यत्र अग्नि है और
दुर्योधनमें गंगापुद्गलमें द्विष्टा अधिक पायी है ॥ २६ ॥ इसीसे
तुम दोनों-बेसे समान कश्यपजीमें सिखा एक-दूसरे जय या
पराजय नहीं हानी गीरजी । अब तुम दोनों स्पर्श
पुद्गल मत करो, अब इसे कं कर जा ॥ २७ ॥
परीक्षित ! कश्यपजीकी बात दलीक त्रिपुद्वक्ष्य की ।
परन्तु उन दोनोंका बरबाद इतना दृढ़ हो गया था
कि उन्होंने कश्यपजीकी बात न मानी । वे एक-दूसरेकी
फट्फटती और दुर्योधनकी तरफ स्पर्श करके टमक-म
हो रहे थे ॥ २८ ॥ भगवान् कश्यपजीने निश्चय किया
कि इनका प्रारण ऐसा ही हो; इसी व उभरक सम्प्रसा
सिन्धु आग्न न करके वे शरार लीक गय । शरारमें
उभयमें अग्नि पुद्गलनों तथा अन्य सम्प्रसातोंने बढ़
प्रसने जग जग उभरक शरारत किया ॥ २९ ॥
रानीम कश्यपजी कि नमिष-रम्य धर्मन गय ।
१ । अग्निने मिमन्त्रण—पुद्गलमि निरुत
कश्यपजीक उग्र वद प्रसम सब प्रसारक पद शरार ।

कृत्वङ्ग ऋतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहसु ॥३०॥

तेभ्यो विशुद्धमिष्टानं भगवान् व्यतरवु विशुः ।

येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वं चितुः ॥३१॥

स्वपत्न्यावसृष्टस्तातो ज्ञातिधनुस्तुष्टुवृष्टः ।

रेवे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्टुबलकृतः ॥३२॥

ईश्विधान्यसंख्यानि बलस बलघालिनः ।

अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामस्यस्य सन्ति हि ॥३३॥

योऽनुसरेत् रामस्य कर्माभ्यस्तुतकर्मणः ।

सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयिता भवेत् ॥३४॥

परीक्षित ! सच पूछे तो जितने भी यज्ञ हैं, वे ब्रह्मा-
मीके अंग ही हैं । इसलिये उनका यह यज्ञानुष्ठान अके-
संग्रहक लिये ही था ॥३०॥ सर्वसमर्थ भगवान् ब्रह्मामने
उन ऋषियोंका विशुद्ध तत्त्वज्ञानका उपदेश किया, जिससे
वे जग इस सम्पूर्ण विश्वको अपने-आपमें और अपने-
आपको सारे विश्वमें अनुभव करने लगे ॥३१॥ इसके
बाद ब्रह्मामनीने अपनी अपनी रेवतीक साथ यज्ञान्त-स्थान
किया और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहनकर
अपने सर्व-बन्धु तथा स्वजन-सम्बन्धियोंक साथ इस प्रकार
शांभायमान हुए, जैसे अपनी चन्द्रिका एवं नक्षत्रोंके
साथ चन्द्रदेव होते हैं ॥३२॥ परीक्षित ! भगवान्
ब्रह्माम स्वयं अनन्त हैं । उनका स्वरूप मन और बाणी
के परे है । उन्होंने लीलाके लिये ही यह मनुष्योंका-
सा शरीर ग्रहण किया है । उन ब्रह्मार्थ ब्रह्माममीके
ऐसे-ऐसे चरित्रोंकी गिनती भी नहीं की जा सकती ॥३३॥
जो पुरुष अनन्त, सर्वव्यापक, अव्यक्तकर्म भगवान्
ब्रह्माममीक चरित्रोंका साथ प्रातः स्मरण करता है, वह
भगवान्का अत्यन्त प्रिय हो जाता है ॥३४॥

इति धीमन्नागवते महापुराण पारमहंस्यो संक्षितायां दशमस्कन्धे ब्रह्मदेव-

तीर्थपात्रोन्निरूपणं नामैकोनशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

अथाशीतितमोऽध्यायः

धीहृष्यके द्वारा सुशामाजीका लागत

राजाशय

भगवान् यानि चान्यानि सुकुन्दस्य महात्मनः

वीर्याभ्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामह प्रभो ॥ १ ॥

उ भुत्वा सकृद्व ममन्तु धमशक्तसत्कथाः ।

। मत् विशेषज्ञा विपण्यः काममार्गणैः ॥ २ ॥

यज्ञा परीक्षितन पूछा—भगवान् ! प्रम और मुक्तिके
द्वारा परमेश्वर परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त
है । इसलिये उनकी श्रुतियों और ऐश्वर्यसे मरी लीजिए भी
अनन्त हैं । जब हम उनकी इसी लीला-
विनका कर्ण आपने अक्षतक नहीं किया है, सुनना
चाहते हैं ॥ १ ॥ ब्रह्मन् ! यह जीव विषय सुनकर
खोजते-खोजते अत्यन्त दुखी हो गया है । ये बाणकी
तरह इसके विषयमें पुनः रहते हैं । ऐसी स्थितिमें ऐसा
कीम-सा रसिक—रसिक विशेषज्ञ पुरुष होय, जो बार
बार परिवर्तित भगवान् श्रीकृष्णकी मङ्गलमयी लीलाओं
का भवण करके भी उससे विमुख होना चाहेगा ॥ २ ॥

सा वाग यया तस्य गुणान् गृणीते

करो च सत्कर्मकरो मनस ।

सरेव वसन्त स्थिरजङ्गमपु

भृजाति तत्पुण्यकथा स कर्म ॥ ३ ॥

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानस-

चदव यत् पश्यति तद्धि चक्षु ।

अङ्गानि विष्णोरेव सज्जनानां

पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥

सूत उवाच

विष्णुरातेन सम्भृष्टा भगवान् वादराषणिः ।

वासुदेव भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

कृष्णस्यासीत् सत्त्वाकथिद् ब्राह्मणा ब्रह्मचित्तम ।

विरक्त इन्द्रियायेंषु प्रशान्तात्मा जितन्द्रिय ॥ ६ ॥

यद्वच्छपापपन्नन वर्तमाना गृहाममी ।

तस्य भाषा कुचैलम्य धु-द्वामा च तथाविधा ॥ ७ ॥

पवित्रता पतिं प्राह म्नायता वदनन सा ।

दरिद्रा सादमाना सा वपमानाभिगम्य च ॥ ८ ॥

ननु प्रपन्नं भगवत् सत्त्वासायाच्छिष्य पति ।

प्रपश्यथ शरण्यथ भगवान् सात्वतपथः ॥ ९ ॥

वमुपदि महाभाग साधूनां च परापणम् ।

दाम्यति त्रविर्न भूरि सादन ते कुटुम्बिन ॥ १० ॥

आमन्त्र्युना शारवणं भावयन्त्यथकथर ।

१ न उदर । २ अथ ।

जो बाणी भगवान्‌के गुणोंपर गान करती है, वही सधी बाणी है । व ही हाथ सच्चे हाथ है, जो भगवान्‌की सेवाके लिये काम करते हैं । वही मन सधा मन है, जो चराचर प्राणियोंमें निवास करनेवाले भगवान्‌पर स्मरण करता है, और वे ही कर्म वास्तवमें कर्म करने योग्य हैं, जो भगवान्‌की पुण्यकथा पसन्दोंपर ध्यान करते हैं । ३ । वही सिर सिर है, जो चराचर जगत्‌पर भगवान्‌की चङ्ख-अचङ्ख प्रतिमा सम्पन्नकर नमस्कार करता है; और जो सबत्र भगवद्भिप्रेक्ष्य दर्शन करते हैं, व ही नम्र वास्तवमें नेत्र हैं । शरीरक जो अङ्ग भगवान्‌ और उनके मर्कोंक चरणादकक्ष्य सेवन करते हैं, व ही अङ्ग वास्तवमें अङ्ग हैं, सब धृष्टिये ता उन्हीपर हाना समुत्त है ॥ ४ ॥

सूतजी कहत हैं—शौनकादि क्षत्रियो । जब राजा परीक्षितने इस प्रकार प्रश्न किया, तब भगवान्‌ धीगुप्तदेव जीका हृदय भगवान्‌ धीकृष्णमें ही तर्झन हो गया । उन्होंने परीक्षितसे इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

भीष्मकृदयजीने कहा—परीक्षित ! एक श्राद्ध भगवान्‌ धीकृष्णक परम मित्र थे । व बड़े बलवन्ती, विराणसे विरक्त, शान्तचित्त और जितन्द्रिय थे ॥ ६ ॥ वे गृहस्थ होनेपर भी किसी प्रकारका सम्प्रदायविग्रह न रखकर प्रारण्यक अनुसार जो कुछ मित्र जात, उसीमें समुष्ट रहत थे । उनक बध तब फट-पुगने थे ही, उनकी ग्लीक भी बैसे ही थे । वह भी अपने पतिक सम्मान हा मूलसे दुवधे हा रही थी ॥ ७ ॥ एक दिन अस्त्रितारी प्रतिसृति दृष्टिजा पतिप्रता मूलक मार बरौनी हुई जाने पतिप्रक पास गया और मुखाप हूँ मुँस पायी—॥ ८ ॥ भगन् ! साधव् रश्मिरानि भगवान्‌ धीकृष्ण आरक सत्त हैं । वे भक्तदृष्ट्यात्मक, शरण्यमस्तु और श्रद्धागोचर मक हैं ॥ ९ ॥ मम भगवान्‌ अथवा ! व साधु-सत्तक, सत्तुक्तोक्त पश्यथ अधप है । आर उनके पस अथ । जब व जनेग कि आर पुत्रुप्ती हैं और भक्त म्ना दृष्ट हा रह है ना व आर्य ब्रह्म-म न ये ॥ १० ॥ अथवा व भाव हूँ और अथवा व दृष्टोक्त मनीक मने दृष्टोक्त हा मित्र म रह है । अर

सरत पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किन्त्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः ॥११॥
स एव भार्यया विधो बहुशः प्रार्थितो मूढ ।
मय हि परमो लाभ उत्तमश्चोक्तदर्शनम् ॥१२॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा रामनाथ मतिं दधे ।
मत्पुस्तपुपायनं किञ्चिद् गृहं कन्याणि दीयताम् ॥१३॥
याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकस्तुलान् ।
चैलखण्डन तान् धनुष्या भर्त्रे प्रादापुपायनम् ॥१४॥
स तानादाय विप्रायः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णमन्दर्शनं मम कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥१५॥
श्रीणिगुह्यमान्यवीपाय विस्रः कथाभ सद्भिजः ।
विप्राऽगम्या धकृष्णीनां गृहप्यच्युतधर्मिणाम् ॥१६॥
गृहं द्रव्यसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेचैकतमं धीमद् भजानन्दं गता यथा ॥१७॥
त विनाशयान्पुतो दूरान् प्रियापयश्चमास्थितः ।
महसात्थाय चाम्पस्य दाम्या पयप्रसी-मुदा ॥१८॥
सप्तपुः प्रियस्य विप्रैरग्नसङ्गातिनिवृत ।
प्राता व्यमुञ्चदं रन्दून् नशाम्यां पृच्छरथम् ॥१९॥

१ गुह्यं यन्त्रम्

इतने उदार हैं कि जो उनके चरणकमलोंका स्पर्श न
है, उन प्रेमी मर्त्तोको वे अपने-आपतात्पर्य दान
बाख्ते हैं । ऐसी स्थितिमें जगद्गुरु भगवान् श्री
अपने मर्त्तोको यदि धन और किम्प-सुख, जो अ
वाञ्छनीय नहीं है, दे दें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन
मत है ? ॥ ११ ॥ इस प्रयत्न जब उन ब्रह्मणदेवता
कृष्णीने अपने पतिदेवसे कई बार बड़ी नम्रतासे प्रा
र्थी, तब उन्होंने सोचा कि 'वनकी तो कोई कत्त
है, फलतु भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन हो जयप्रद,
तो जीवन्मुक्त बहुत क्या लाभ है ? ॥ १२ ॥ यही वि
चारके उन्होंने जानेकर निश्चय किया और अपनी पत्
नोले—धन्याणी । घरमें कुछ भेंट देनेयोग्य वस्तु
है क्या ? यदि हो तो दे दो ॥ १३ ॥ तब
कृष्णीने पास-पड़ोसके ब्राह्मणोंके घरसे चार
किड्डे मँगकर एक कतईमें बाँध दिये और भगवा
न दे देनेके लिये अपने पतिदेवको दे दिये ॥ १४
इसके बाद वे ब्रह्मणदेवता उन किड्डोंको लेकर दूर
के लिये चल पड़े । वे मगधमें यह सोचते जाते थे
'मुझे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन कैसे प्राप्त होंगे ?'
परिस्थित ! द्वारकामें पहुँचनेपर वे ब्रह्मणदेवता
ब्राह्मणोंके साथ सैनिकोंकी तीन छत्रनियों और
ओढ़ियों पार करके भागदरमियर पावन करने
अप्यक और बुद्धिबन्धी यादवोंके मङ्गलमें, जहाँ पहुँ
अप्यत करिण है, जा पहुँचे ॥ १६ ॥ उनके
भगवान् श्रीकृष्णकी साज्जद हजार रानियोंके मङ्गल
उनमेंसे एकमें उन ब्रह्मणदेवताने प्रवेश किया ।
मङ्गल गुरु सजा-सजाय—अप्यत शम्भुगुण
वसुमें प्रवेश करते समय उन्हें ऐसा मादम हुआ,
वे ब्रह्मण-के समुद्रमें डूब-उतर रहे हैं । ॥ १७ ॥
उस समय भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया रुक्मि
नीक परंगर निगुजे हुए थे । मादम देवतास
दी दाउरर न सहसा उठ खड़े हुए और उनका प्रसन्न
नई जानन्दसे उन्हें अपने मुनपाशमें बाँध लिया ॥ १
लीगिद । परमानन्दकृष्ण भगवान् अपने प्यारे
नोकरदेवताक अङ्ग-रानियोंके अप्यत आनन्दित हुए
उनक पसन्दक समय नरोसे प्रमद आनन्द





भगवान् भव पूजनार्थं व्यासजी लाकर मुनिमाजीकी पूजा की ।

अथोपवेश्य पर्यङ्ग स्वयं सस्युः समर्हणम् ।
 उपहृत्पावनिन्यास पादौ पादावनेषनीः ॥२०॥
 अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवोहोक्तावनः ।
 व्यलिम्प्य दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥२१॥
 धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
 अर्चित्वाऽऽवधत्ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥२२॥
 कुर्वेलं मलिनं क्षामं त्रिलं धमनिसत्ततम् ।
 देवी पर्यचरत् साक्षात्भारव्यजनेन वै ॥२३॥
 अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलक्षीर्तिना ।
 विस्मितोऽभूदतिग्रीत्स्वा अवधूतं सभावितम् ॥२४॥
 किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
 भिषा हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च ॥२५॥
 बोऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भूत ।
 पर्यङ्गस्यां धिर्यदित्वा परिष्वकोऽग्रजो यथा ॥२६॥
 कथयाच्चकतुर्गधाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
 आत्मनो ललिता राजन् कौं गुह्यं परस्परम् ॥२७॥

श्रीभगवानुवाच

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलात् भवता लब्धदक्षिणात् ।
 समावृत्तन धर्मज्ञ भार्गवा सद्यशी न वा ॥२८॥
 प्रापो गृहपुं ते चित्तमकामं विद्वत्तं तथा ।

ॐ ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! कुछ समयके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ले जाकर अपने फर्शपर बैठ दिया और स्वयं पूजनकी सामग्री लम्बर उनकी पूजा की । प्रिय परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण समीक्षा पत्रित करनेलागे हैं, फिर भी उन्होंने अपने हाथों ब्राह्मणदेवताके पाँच पत्थरकर उनका चरणोदक अपने सिरपर धारण किया और उनके शरीरमें चन्दन, अरगजा, केसर आदि दिव्य गन्धोंका छेदन किया ॥ २०-२१ ॥ फिर उन्होंने बड़े आनन्दसे सुगन्धित धूप और दीपावलीसे अपने मित्रकी आरती उतारी । इस प्रकार पूजा करके पान एवं गाय केसर मधुर कर्णोंसे गले पहारे ऐसा कहकर उनका स्वागत किया ॥ २२ ॥ ब्राह्मणदेवा फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे । शरीर अत्यन्त मलिन और दुर्बल था । दहकी सारी नसें दिखायी पड़ती थीं । स्वयं भगवती इक्ष्मिणीजी चँवर बुल्लकर उनकी सेवा करने लगीं । २३ । अन्त पुरकी स्त्रियों वह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गयीं कि पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अतिथि प्रमत्ते ॥ मले-कुचैरे अवधूत ब्राह्मणकी पूजा कर रहे हैं ॥ २४ ॥ वे आपसमें कहने लगीं—यस नग-जबंग निर्धन, निन्दनीय और निष्ठुर मित्रमग्ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिससे त्रिलोकी-गुरु श्रीनिवास्त श्रीकृष्ण स्वयं इसका आदर-सत्कार कर रहे हैं । देखी तो सखी, इन्होंने अपने फर्शपर सेवा करती हुई स्वयं स्वामी इक्ष्मिणी इक्ष्मिणीजीको छोड़कर इस ब्राह्मणको अपने बड़े माह वज्रामजीके समान हृदयसे ख्याता है । २५ । प्रिय परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण और वे ब्राह्मण दोनों एक-दूसरेका हाथ पकड़कर अपने पूर्वजीवनकी उन आनन्ददायक घटनाओंका स्मरण और वर्णन करने लगे, जो गुरुकुलमें रहते समय घटित हुई थीं ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धर्मके मर्मज्ञ ब्राह्मण-देव । गुरुदक्षिणा देकर जब आप गुरुकुलसे छूट आये, तब आपने अपने अनुरूप कीसे निवाह किया या नहीं ? ॥ २८ ॥ मैं जानता हूँ कि आपका चित्त गृहस्थीमें रहनेपर भी प्रायः श्रिय-भागिमें व्यस्त

नैवातिप्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ॥२९॥

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।

त्यजन्तः प्रकृतीर्देवीर्यथाहं लोकसंग्रहम् ॥३०॥

कश्चिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् सरसि नौ यतः ।

द्विवा विज्ञाय विद्वन् तमसः पारमभुते ॥३१॥

स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विवातेरिह सम्भवः ।

आद्योऽङ्ग यत्राभमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥

नन्वर्थकाविदा ब्रह्मन् वर्णाभिमवतामिह ।

ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यङ्गा भवार्णवम् ॥३३॥

नाहमिन्याप्रजातिभ्यां तपसोपद्यमेन वा ।

तुभ्येय सर्वभूतारमा गुरुश्रुधूपया यथा ॥३४॥

अपि नः सर्पते ब्रह्मन् बुधं निवसतां गुरौ ।

गुरुदारैश्चादितानामिधनानभने कश्चित् ॥३५॥

प्रनिष्ठानां महारण्यमपर्वैर्लुप्तमहम् द्विज ।

वातवपममृचीम निष्टूराः स्तनयिज्ञवः ॥३६॥

धर्मधासां गतस्तावन् तमया चायुषा दिष्टः ।

नहीं है । विद्वन् ! यह भी मुझे माझ्म है कि धन
आदिमें भी आपकी कोई प्रीति नहीं है ॥ २९ ॥

जगत्में बिरले ही लोग ऐसे होते हैं, जो मग्नान्ध
मायासे निर्मित विषयसम्बन्धी वासनाओंका त्याग कर
देते हैं और चित्तमें विषयोंकी तनिक भी वासना न
रखकर भी मेरे समान केवल लोकशिक्षाके लिये कर्म
करते रहते हैं ॥ ३० ॥ ब्राह्मणशिरोमणे ! क्या आपको
उस समयकी बात याद है, जब हम दोनों एक साथ
गुरुकुलमें निवास करते थे । सचमुच गुरुकुलमें ही
द्विजातियोंको अपने ज्ञातस्य वस्तुका ज्ञान होता है,
जिस्के द्वारा वे अज्ञानान्धकारसे पर हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

मित्र ! इस संसारमें शरीरका कारण—बन्धुता मित्रा
प्रथम गुरु है । इसके बाद उपनयन-संस्कार करके
स्वर्गोंकी शिक्षा देनेवाला दूसरा गुरु है । मैं मेरे ही समान
पूज्य हूँ । तदनन्तर ज्ञानोपदेश करके परमस्वको प्राप्त
करनेवाला गुरु तो मेरा स्वरूप ही है । यद्यपि विषयोंके
ये तीन गुरु होते हैं ॥ ३२ ॥ मेरे प्यारे मित्र ! गुरुके
स्वरूपमें स्वयं मैं हूँ । इस जगत्में कर्णाग्रिमिमें जो
लोग अपने गुरुदेवके उपदेशानुसार अपनापस ही मन्त्र-
सागर पार कर लेते हैं, वे अपने स्वार्थ और परमार्थके
सबे जानकार हैं ॥ ३३ ॥ प्रिय मित्र ! मैं स्वयं
आत्म हूँ, स्वयंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे निवासमान हूँ ।
मैं गुरुस्वके धम पञ्चमहायज्ञ आदिसे, ब्रह्मचरीके कर्म
उपनयन-वेदाभ्यास आदिसे, वानप्रस्थीके धम तपस्वसे
और सप्त ओरसे उपरत हो जाना—इस संन्यासीके
घरमें भी उतना समुदाह नहीं होता, जितना गुरुदेवकी
सेवा-श्रुधूपसे संतुष्ट होता हूँ ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! जिस समय हफ्तेग गुरुकुलमें निवास कर
रहें थे, उस समयकी यह बात आपको याद है क्या,
जब हम दोनोंको एक दिन हमारी गुरुस्त्रीने ईश्वर
जानेके लिये जंगलमें भेजा था ॥ ३५ ॥ उस समय
हमअंग एक ओर जंगलमें गये हुए थे और बिना श्रुतके
ही बड़ा भयङ्कर औषधी-मानी आ गया था । अरुणमें
विजयी पकड़ने लगी थी ॥ ३६ ॥ अब सूर्यस्त हो
गया, चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा फैल गया । रातीन

भयसां तस्य गुरुषु वासोऽस्यन्तविदम्बनम् ॥४५॥ आप वेदाध्ययनके लिये गुरुकुलमें निवास करें, व
मनुष्य-श्रीलक्ष्मी अभिनय नहीं तो और क्या है ! ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्स्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीदामचरितेऽष्टीतितमोऽध्याय ॥ ८० ॥

अथैकाशीतितमोऽध्याय

सुषामाजीको देवधर्यकी प्राप्ति

श्रीकृष्ण उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह सङ्गपयन् हरि ।
सर्वभूतमनोऽभिष्टः सममान उवाच तं ॥ १ ॥
ब्रह्मण्या ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणो नैव प्रथन् खलु सतां गतिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृह्यन् ।
अव्यप्युपाहतं भक्तैः प्रेम्णा भूयैव मे भवेत् ।
मूर्धन्यभक्तापहत न मे तापाय कल्पते ॥ ३ ॥
पत्र पुष्प फल तोषं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युद्दृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ४ ॥
इत्युक्ताऽपि द्विप्रस्तस्मै व्रीहिलः पतये प्रियः ।
पृथुर्न प्रसूतिं राजन् न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥
सर्वभूतात्मनश्चाध्यात् तस्यागमनकारणम् ।
विद्याप्राप्तिवन्तयन्नाय भीकामो माभक्ष्यत पुरा ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित ! मया

श्रीकृष्ण उसके मनकी बात जानते हैं । वे ब्रह्मण्यके
परम भक्त, उनके कल्याणोंके नाशक तथा संतोंके एक-
मात्र आश्रय हैं । वे पूर्वोक्त प्रकारसे उन ब्रह्मण्यके
साथ बहुत देरतक बातचीत करते रहे । अब वे अपने
प्यारे सखा उन ब्रह्मण्यसे तनिक मुक्तकरकर निवेद
करते हुए बोले । उस समय मयावन् श्रीकृष्ण उन
ब्रह्मण्यकेसाथ और प्रेममयी दृष्टिसे देख रहे थे ॥ १ ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्रह्मन् ! क्या करने
परसे मेरे लिये क्या उपहार करने हैं ? मेरे प्रेमी मत्त
जब प्रेम्से थोड़ी-सी वस्तु भी मुझे वर्णन करते हैं, तब
मैं मेरे लिये बहुत हो जाती हूँ । परन्तु मेरे जन्म
परि बहुत-सी सम्पत्ति भी मुझे भेंट करते हैं, वे उससे
मैं सन्तुष्ट नहीं होता ॥ ३ ॥ जो पुरुष प्रेम-भक्तिसे
फल-फल अथवा पचा-पानीमेंसे कोई भी वस्तु मुझे
समर्पित करता है, तो मैं कुछ-कुछ भक्तका वह
प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि तुरंत
भोग कर लेता हूँ ॥ ४ ॥ परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण
के ऐसा कहनेपर भी उन ब्रह्मण्य देवताने अजब-बजब
उन कृष्णपतिको वे चार मुट्ठी पिटके नहीं दिये ।
उन्होंने संकोचसे अपना मुँह नीचे कर लिया था । परीक्षित !
मयावन् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयपर एक-एक
सङ्कल्प और उपाय बगल भी जानते हैं । उन्होंने
ब्रह्मण्यके ज्ञानके कारण, उनके हृदयकी बात जान
ली । अब वे विचार करने लगे कि एक तो यह मेरा
प्यारा सखा है, दूसरे इतने पहले कभी कभी कभी कभी

पत्न्याः पतिप्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया ।

प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥ ७ ॥

इत्थं विधित्य वसनाबीरबद्धान्निजन्मन ।

स्वयं वशार किमिदमिति पृथुकतण्डुलाम् ॥ ८ ॥

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।

तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥ ९ ॥

इति मुष्टिं सकृज्जम्बा द्वितीयां जग्धुमाबधे ।

तावन्नीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥ १० ॥

एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समुद्भवे ।

अस्मिँल्लोकेऽथवाद्वाग्भिन् पुंसस्त्वचोपकारणम् ॥ ११ ॥

प्राक्ष्यपत्तां तु रश्मनीमुपित्वाच्युतमन्दिरे ।

धुक्त्वा पीत्वा सुखं मने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥ १२ ॥

इगोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दित ।

जगाम स्वात्मं तावप्यनुयज्य नन्दितः ॥ १३ ॥

स चालम्बा भन कृष्णान्तु माधितवान् स्वयम् ।

मृगशान् प्रोद्धितोऽगच्छ महर्षेर्ननिर्हृतः ॥ १४ ॥

अहो मद्रथ्यदेवस्य दृष्टा मद्रथ्यता मया ।

यत्पु दरिद्रतमो लक्ष्मीमाक्षिष्टो विप्रतोरसि ॥ १५ ॥

से मेरा मजन नहीं किया है । इस समय यह अपनी परिश्रिता पत्नीको प्रसन्न करनेके लिये उसीके आग्रहसे यहाँ आया है । अब मैं इसे ऐसी सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ५-७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा विचार करके उनके बकमेंसे चिपड़की एक पोटछी-में बँधा हुआ चिटठा ग्राह किया है—ऐसा कहकर स्वयं ही छीन लिया ॥ ८ ॥ और बड़े आनरसे कहने लगे—‘प्यारे मित्र ! यह तो तुम मेरे लिये अत्यन्त प्रिय गेट है आये हो । ये चिटड़ा न केवल मुझे, बल्कि सारे संसारको तुम करनेके लिये पर्याप्त हैं ॥ ९ ॥ ऐसा कहकर वे उसमेंसे एक मुट्ठी चिटठा ख गये और दूसरी मुट्ठी ओं ही भरी, त्यों ही रुक्मिणीके रूपमें स्वयं मगवती लक्ष्मीजीने भगवान् श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया । क्योंकि वे तो एकमात्र भाग्यन्तके परमण हैं, उन्हें छोड़कर और कहीं जा नहीं सकती ॥ १० ॥ रुक्मिणीजीने कहा—‘विश्वत्मान् ! वस-वस । मनुष्यको इस लोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि प्राप्त करनेके लिये यह एक मुट्ठी चिटठा ही बहुत है; क्योंकि आपके लिये इतना ही प्रसन्नताका हेतु बन जाता है ॥ ११ ॥

परीक्षित ! आक्षयदेवता उस रातको भगवान् श्रीकृष्णके गहलये ही रहे । उन्होंने बड़े आनरसे कहाँ खाय-पिया और ऐसा अनुभव किया, मानो मैं वैकुण्ठमें ही पहुँच गया हूँ ॥ १२ ॥ परीक्षित ! श्रीकृष्णसे आक्षण को प्रायश्चित्तमें कुछ भी न मिला । फिर भी उन्होंने उनसे कुछ माँगा नहीं ! वे अपने चित्तकी कद्रुतपर कुछ प्रकृत-से हाकर भगवान् श्रीकृष्णका दर्शनजनित आनन्द में इतने-उत्तारते अपने परसि और पठ पढ़ ॥ १३ १४ ॥ वे मन-ही-मन सोचन लगे—अहा, पिछले आनन्द और आश्चर्यकी बात है । आक्षयोंको अपना इन्द्रिय माननेवाला भगवान् श्रीकृष्णकी आक्षणमयि आज भी अपनी आँखों देख ली । फल्य है ! जिनके कष्ट स्वयं स्वयं लक्ष्मीजी सदा विराजमान रहती हैं, उन्होंने मुझ अत्यन्त दरिद्रको अपने हृदयसे छाड़ दिया ॥ १५ ॥

काहं ददितः पापीयान् ककुष्णः श्रीनिवेतनः ।

ब्रह्मचरि रिति साहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥१६॥

निवासितः प्रियाश्रुप्ते पर्यङ्गे आसरो यथा ।

महिष्पावीजितः भान्तो बालम्बननस्तथा ॥१७॥

शुभ्रपथा परमया पादसंघाहनादिभिः ।

पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥१८॥

स्वर्गपवर्गभोः पुसां रसायां सुवि सम्पदाम् ।

सर्वासामपि सिद्धीनां मूल तत्परणार्थनम् ॥१९॥

अनन्योऽयं धनं प्राप्य माप्नुष्वैवं मां करेत् ।

इति कारुणिको नूनं धनं मेऽमूरि नाददात् ॥२०॥

इति तश्चित्तवन्नन्तः प्राप्नो निमगुहान्तिकम् ।

सर्पान्तेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥२१॥

विधित्रोपवनोद्यानैः हृदयद्विभक्तलङ्काभिः ।

प्रोत्कुलकुमुदाम्भोजकङ्करोत्पलवारिभिः ॥२२॥

शुष्टं स्वलङ्कैः पुष्पिभिः स्त्रीभिश्च हरिणादिभिः ।

किमिदं कल वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥२३॥

एव मीमांसमानं च नरा नार्थोऽमरप्रभाः ।

प्रत्यगुद्गन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥२४॥

पतिमागतमाकर्ष्य पस्त्युदपातिसम्भ्रमा ।

कहाँ तो मैं व्यस्त पापी और दखि, और कहाँ जहाँ के एकमात्र आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण । परन्तु उन्होंने यह आश्चर्य है—ऐसा सम्भव मुझे अपनी मुनाज्जि भरकर हृदयसे कृपा लिया ॥ १६ ॥ इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे उस फलभर सुखया, जिसपर उनकी प्राणप्रिया रुक्मिणीजी शयन करती हैं । मनो मैं उनका संग थाई हूँ । कहाँतक कहूँ ? मैं बस हुआ था, इस स्थिती स्वयं उनकी पटरानी रुक्मिणीजीने अपने हाथों से मेरी कुलकर मेरी सेवा की ॥ १७ ॥ छोड़, देवत्यों के आराध्यदेव होकर भी आश्रयोंको अपना इष्ट देव माननेवाले प्रसुने पाँच दयाकर, अपने हाथों सिद्धि-सिद्धि कर मेरी अत्यन्त सेवा-शुश्रूषा की और देवत्यों के समान मेरी पूजा की ॥ १८ ॥ स्वर्ग, मोक्ष, पृथ्वी और रज-तल्लकी सम्पत्ति तथा समस्त योगसिद्धियोंकी प्राप्ति मूल उनके चरणोंकी पूजा ही है ॥ १९ ॥ फिर भी परम-दयालु श्रीकृष्णने यह सोचकर मुझे बोला—सा भी बन नहीं दिया कि कहाँ यह दखि बन पास किन्तु मन्त्र-मन्त्र न हो वाय और मुझे न भूल बैठे ॥ २० ॥

इस प्रकार मन-ही-मन विचार करते-करते आश्रय देवता अपने घरके पास पहुँच गये । वे कहाँ क्या देखते हैं कि सब-कुछ-सब स्थान सूर्य, अग्नि और वायुके समान तेजसी रत्ननिर्मित मण्डलोंसे भरा हुआ है । और और विश्व-विशिष्ट उपवन और उद्यान बने हुए हैं तथा उनमें हंस-के-हंस रंग-बिरंगे पक्षी कलरव कर रहे हैं । सरोवरोंमें कुमुदिनी तथा श्वेत, नील और सौगन्धिक—भौतिक-भौतिक कस्तुरि खिले हुए हैं, सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष बन-उनकर इधर उधर विचार रहे हैं । उस स्थान को देखकर आश्चर्यदेवता सोचने लगे—मैं यह क्या देख रहा हूँ ? यह निःसंशय स्थान है । यदि यह भी स्थान है, जहाँ मैं रहता था, तो यह ऐसा कैसे हो गया ॥ २१-२३ ॥ इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि देवताओंके समान सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष गजे-श्वरोंके साथ मन्त्रावलीत गाते हुए उस महाभाग्यवान् आश्रयकी अगमनी यत्रनेके स्थिती आये ॥ २४ ॥ पतिदेवता सुभ-गमन सुनकर आश्रयोंको आकर आनन्द हुआ और वह

निष्काम गृहार्ण रूपिणी श्रीरिवालयात् ॥२५॥

परिग्रहा पतिं दृष्ट्वा प्रमोक्ष्णामुलोचना ।

मीलिताक्ष्यनमद् बुद्ध्या मनसा परिपश्यजे ॥२६॥

पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देशीं वैमानिकीमिव ।

दासीनां निष्कम्प्यन्तीनां मध्ये भान्तीं स विस्मिताः ॥२७॥

प्रीतः स्वयं तथा युक्तः प्रविष्टा निजमन्दिरम् ।

मभित्तम्भश्रुतोपतं महेन्द्रभवनं यथा ॥२८॥

पयःपेलनिभाः क्षय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।

पयङ्गा इमदण्डानि चामरव्यञ्जानि च ॥२९॥

आसनानि च ईमानि मृदूपत्तरणानि च ।

मुक्तादामबिलम्पीनि वितानानि ध्रुमन्ति च ॥३०॥

स्वच्छस्फटिककुम्भेषु महामारुहतेषु च ।

रत्नदीपा भ्राजमाना ललनारत्नसंयुताः ॥३१॥

विजोक्त्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम् ।

वर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहेतुकीम् ॥३२॥

नून वतन्मम दुर्मगस्य

उभरित्रस्य समृद्धिहत ।

महाविमूत्रवलाकलाञ्ज्या

नैवापपद्यत यद्वचमस्य ॥३३॥

नन्वनुवाणा दिशत समग्र

याचिष्णव भूपति भूरिभाज ।

१ डि ।

हृदयवाकर जल्दी-जल्दी घरसे निकल आयी, वह ऐसी माधुर्य होती थी मानो मूर्तिमती लक्ष्मीजी ही कमलवनसे पधारी हों ॥ २५ ॥ पतिदेवकी देखते ही परिग्रहा पत्नीके नेत्रोंमें प्रेम और उल्लासके आँकड़ोंसे आँसू छलक आये । उसने अपने नेत्र बंद कर लिये । ब्राह्मणीने वही प्रेमभावसे उन्हें नमस्कार किया और मन-ही-मन आश्चर्य भी ॥ २६ ॥

प्रिय परीक्षित ! श्रावणपत्नी सोनेका हार पहनी दासियोंके बीचमें विमानस्थित देवाङ्गनाक समान अत्यन्त शोभायमान एवं देदीप्यमान हो रही थी । उसे इस रूपमें देखकर वे विस्मित हो गये ॥ २७ ॥ उन्होंने अपनी पत्नीके साथ वह प्रेमसे अपने मध्यमें प्रवेश किया । उनका मुख क्या था, मनो देवराज इन्द्रका निवासस्थान । इसमें मणियोंके सैकड़ों खंभे लगे थे ॥ २८ ॥ हाथीके दौतके बने हुए और सोनेके पातसे भेदे हुए पर्यावरण इसके फेनकी तरह श्वेत और कोमल किन्तीने किट रहे थे । बहुत-से चँवर वहाँ रक्ते हुए थे, जिनमें सोनेकी बँधियों लगी हुई थी ॥ २९ ॥ सोनेके सिंहासन शोभायमान हो रहे थे, जिनपर बड़ी कोमल-कोमल गहिरों लगी थी थी । ऐसे बँदोबे भी शिखरिणी रहे थे, जिनमें मणियोंकी लड़ियों लटक रही थी ॥ ३० ॥ रत्नकिरणिकी स्रष्ट भीतोंपर फनेकी पत्तीकाशी की हुई थी । रत्ननिर्मित कीमतीयोंके हाथों में रत्नोंके दीपक जगमग रहे थे ॥ ३१ ॥ इस प्रकार समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि दलकत और उत्कृष्ट काइ प्रत्यक्ष कारण न पाकर, बड़ी गम्भीरतासे ब्राह्मणदण्डा विचार करने लगे कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति कहाँसे आ गयी ॥ ३२ ॥ ये मन-ही-मन कहने लगे—मैं जन्मसे ही भाग्यहीन और दरिद्र हूँ । जिस मेरी इस सम्पत्ति-समृद्धिका कारण क्या है ? अदृश्य ही परमेश्वर्य थागी यदुपशान्तियोगि भगवान् श्रीकृष्णक कृपाकृतभक्त अनिरुद्ध और काइ कारण नहीं हो सक्ता ॥ ३३ ॥ यह सब कुछ उनकी परगात्री ही दन है । नव्य भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम और सर्वभोगि शान्तक कारण अनन्त भोगसमर्पणसे युक्त हैं । इसलिये वे याचक भक्त उसका मनका भ्रम जानकर बहुत कुछ दे दते

पर्वन्यवसत् स्वयमीक्षमाणो

दाशार्हकाणामुपभः सखा मे ॥३४॥

किंचित्करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं

सुहृत्कृतं फलमपि भूरिकारी ।

मयोपनीतां पृथुकैकमुष्टिं

प्रत्यग्रहीत् प्रीतिपुत्रो महारमा ॥३५॥

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री

दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।

महाभुगवेन गुणालयेन

विपञ्जितस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥३६॥

भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो

राज्यं विमूर्तानं समर्थयत्यञ्ज ।

अदीर्घबोधाय विचक्षणं स्वयं

पश्यन् निपातं धनिनां महोद्भवम् ॥३७॥

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्ताऽतीव जनार्दने ।

विपयाज्जायया स्पर्श्यन् नृमुञ्ज नातिलम्पटः ॥३८॥

तस्य धीं दृढदृढस्य हरयश्चपतः प्रभाः ।

ब्राह्मणाः प्रभवोर्दीर्घं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥

एव स विप्रा भगवत्सुहृत्सदा

पृष्टा स्वभूत्परजित्वा पराजितम् ।

हैं, परन्तु उसे समझते हैं बहुत घोषा, इसलिये सामने कुछ कहते नहीं । मेरे यदुवशतिरोमणि सख्य सम्म-
सुन्दर सख्यमुच उस मेघसे भी बढ़कर उदार हैं, जो समुद्रको भर देनेकी शक्ति रखनेपर भी किसानके समाने न बरसकर उसके सो जानेपर रातमें बरसता है और बहुत गरसनेपर भी घोषा ही समझता है ॥ ३४ ॥
मेरे प्यारे सख्य श्रीकृष्ण देते हैं बहुत, पर उसे मन्तते हैं बहुत घोषा । और उनका प्रेमी भक्त यदि उनके लिये कुछ भी कर दे, तो वे उसको बहुत मान लेते हैं । देखो तो सही ! मैंने उन्हें केवल एक मुष्टी चिट्ठा में भेंट किया था, पर उदार चित्तोमणि श्रीकृष्णने उसे कितने प्रेमसे खींचकर लिया ॥ ३५ ॥ मुझे जन्म-जन्म उन्हींका प्रेम उन्हींकी हितैक्षित, उन्हींकी मित्रता और उन्हींकी सेवा प्राप्त हो । मुझे सम्पत्तिकी आवश्यकता नहीं, उदा-
सर्कदा उन्हीं गुणोंके एकमात्र निवासस्थान महाभुग भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा अनुराग बद्धा जाय और उन्हींके प्रेमी भक्तोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो ॥ ३६ ॥
जन्म-जन्म भगवान् श्रीकृष्ण सम्पत्ति आदिके दोष जानते हैं । वे देखते हैं कि बड़े-बड़े धनियोक्त धन और ऐश्वर्यके मदसे पतन हो जाता है । इसलिये वे अपने अद्भुतदर्शी भक्तोंसे उसके गौंगते रहनेपर भी तरह-तरह की सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि नहीं देते । वह उनकी बड़ी कृपा है ॥ ३७ ॥ परीक्षित ! अपनी बुद्धिसे इस प्रथम निश्चय करके वे ब्राह्मणदेवता तपना पूर्वक कनासकमानसे अपनी पत्निके साथ भाग्यप्रस-
ख्य विमर्शको प्रहण करने लगे और दिनोदिन उनकी प्रेम-भक्ति बढ़ने लगी ॥ ३८ ॥

प्रिय परीक्षित ! देवताओंके भी आराध्यदेव भक्त-
भयकारी यशपति सवशक्तिमन् भगवान् स्वयं ब्रह्मणोर्ध्वे अपना प्रभु, अपना इष्टदेव मानते हैं । इसलिये ब्रह्मणो-
र्ध्वे बढ़कर और कोई भी प्राणी जगत्में नहीं है ॥ ३९ ॥
इस प्रथम भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सख्य उस ब्रह्मत्रने देख कि व्यवसि भगवान् अजित हैं, किसीके अधीन नहीं हैं फिर भी वे अपने सेवकोंक जीन हो जाते हैं, उनसे पराजित हो जाते हैं, जब वे उन्हींके प्यारमें

तद्व्याजवेगोवृत्तितात्मनन्धन

सुदाम लेमेऽचिरतः सतां यतिम् ॥४०॥

एतत् ब्रह्मण्यदेवस्य भुक्त्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।

लब्धभावां भगवति कर्मबन्धात् विमुच्यते ॥४१॥

तमय हो गये । ध्यानक आगेसे उनकी अविषाफी
गोंठ बट गयी और उन्होंने थोड़ा ही समयमें भगवान्‌का
धाम, जो कि संतोका एकमात्र आश्रय है, प्राप्त
किया ॥४०॥ परीक्षित । ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव मनने-
वाले भगवान्‌की कृष्णकी इस ब्राह्मणमतिकी ओ सुनता
है, उसे भगवान्‌को चरणोंमें प्रेमभाव प्राप्त हो जाता है
और वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे परमहर्षा संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे पृथुकोशकन्यान नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

अथ द्रुपदीतितमोऽध्यायः

भगवान्‌ कीकृष्ण-बलरामसे गोप-गोरियोंकी भेंट

भीष्मक उवाच

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।

सर्वोपरारागः सुमहानासीत् कल्पद्ये यथा ॥ १ ॥

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।

समन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः भेगोविधित्तया ॥ २ ॥

निःशत्रिचां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रमृतां वरः ।

वृषाणां रुधिरौषण यत्र चक्र महाहृदात् ॥ ३ ॥

इजं च भगवान् रामो यथास्पृष्टाऽपि कर्मणा ।

ठाकस्य प्रादयन्तीशा यथान्याऽघापनुषये ॥ ४ ॥

महत्यां तीर्थयात्रायां उयागन् भारतीः प्रजाः ।

दृष्णयम् तथाक्रवसुदवाङ्मुखादय ॥ ५ ॥

ययुर्भारतं तन् धर्मं स्वमयं धृपविष्णवः ।

भीष्मकदेवजी कहत हैं—परीक्षित । इसी प्रकार
भगवान्‌ कीकृष्ण और बलरामजी द्वारकामें निवास कर
रहे थे । एक बार सर्वथास सूर्यप्रकाश कम, जैसा कि
प्रलयक समय कम करता है ॥ १ ॥ परीक्षित ।
मनुष्योंको स्वातिशियोंकें द्वारा ठस प्रहल्लास पता
पहलेसे ही चत्र गया था, इसलिये सब लोग अपने-
अपने कल्याणके उद्देश्यसे पुण्य आदि उपार्जन करनेके
लिये समस्तपञ्चक-तीर्थं कुलक्षेत्रमें आये ॥ २ ॥
समन्तपञ्चक क्षेत्र वह है, जहाँ शस्त्रधारियोंमें धेर
परस्परमनीने सारी दुष्मियोंके धत्रियद्दीन करके राजाओंकी
रुधिरावासे पाँच बड़-बड़ कुण्ड बना दिये थे ॥ ३ ॥
जैसे बड़ साधारण मनुष्य अपने पत्थरकी निवृत्तिक
लिये प्रायश्चित्त करता है, वैसे ॥ सबदक्षिमान् भगवान्
परद्वारामें अपने साथ पर्यटन कुल सम्पन्न न जानकर
भी लोभमग्नापरी रक्षाकें लिये महीनर वज्र किया
था ॥ ४ ॥

परीक्षित । इस महान्‌ तीर्थयात्राके अवसरपर
भरतवर्षके सभी प्रान्तोंकी जनता कुलक्षेत्र आयी थी ।
उनमें अकूर, वसुन्धरा, उमसेन आदि बड़-बड़े तथा
गद, प्रयुन्, साम्ना आदि अन्य यदुबंदि भी अपने-
अपने पापोंका नाश करनेकें लिये कुलक्षेत्र आये थे ।
प्रयुन्-नन्दन अनिरुद्ध और यदुबंदि सेनापति युतधर्म-

गदप्रयुग्मनसाम्बोधाः सुचन्द्रशुक्लसारणैः ॥ ६ ॥
 आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायाम् कृतवर्मा च युधपः ।
 त रथैर्देवधिष्यामैर्हयैश्च तरुप्रुवै ॥ ७ ॥
 गजैर्नदग्निरभ्रामैर्नृभिर्विद्याधरघुभिः ।
 अरोचत महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ॥ ८ ॥
 दिव्यसम्बस्रसमाहाः कठघ्नैः खेचरा इव ।
 तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ॥ ९ ॥
 ब्राह्मणेभ्यो ददुर्घेनूर्वाश्रः स्रग्वक्त्रमालिनीः ।
 रामहृदेषु विधिवत् पुनराप्सु तस्य वृष्णयः ॥ १० ॥
 ददुःस्वन्न द्विजायेभ्यः कृष्ण नो भक्तिरस्त्विति ।
 स्वयं च तदनुयाता वृष्णयः कृष्णदवताः ॥ ११ ॥
 भुक्त्वापवित्रिशुः कामं श्लिग्धमृष्टायाब्धिपाद्भिषु ।
 तत्रागतस्त ददुः सुहृदमृषन्धिना नृपान् ॥ १२ ॥
 मत्स्यागानरकामस्यविदमकुटुसुञ्जयान् ।
 काम्बाजर्षकृपान् मन्त्रान्कुन्वीनानर्षकरत्नान् ॥ १३ ॥
 अन्यान्परात्मपरीयान् परांश्च नृपान् ।

ये दोनों सुचन्द्र, शुक्ल, सारण दानिक स्रव नगरी
 रक्षाके लिये द्वारकामें रह गये थे । यदुबंशी एक वे
 जगामसे ही परम तेजस्वी थे, दूसरे गलेमें सोनेकी
 माला, दिव्य पुष्पोंके छार, बहुमूल्य वस्त्र और कानमें
 सुसज्जित होनेके कारण उनकी शोभा और भी ब
 ग्नी थी । वे तीर्थयात्राके पथमें देवत्वर्ज्योक्त किम्बतके
 सम्मान रखों, समुद्रकी तरङ्गके समान चलनेवाले घोड़ों,
 बादलोंके समान विशालकाय एवं गर्जना करते हुए
 हाथियों तथा विद्याधरोंके समान मनुष्योंके द्वारा बोधि
 जानेवाली पालसियोंपर अपनी पत्नियोंके साथ इस
 प्रकार शोभायमान हो रहे थे, मन्त्रोक्तके देवता ही
 यात्रा कर रहे हों । महामाम्बवान् यदुवसियोंने कुन्
 क्षेत्रमें पहुँचकर एकप्रचित्तसे संयमपूर्वक स्नान किया
 और ब्रह्मणके उपलक्ष्यमें निश्चित कष्टकर उपवास
 किया ॥ ५-९ ॥ उन्होंने ब्राह्मणोंको गोपन किया ।
 ऐसी गौर्वाक्ष दान किया जिन्हें बर्बाकी सुन्दर-सुन्दर
 हस्ते, पुष्पमञ्जरें एवं सोनेकी जंजीरें पहना दी गयी
 थी । इसके बाद ब्रह्मणका मोक्ष हो जानेपर
 परशुरामजीके कनारों पर कुम्भोंमें यदुवसियोंने विभि
 न्पूर्ण कान किया और लगातार ब्राह्मणोंको सुन्दर-सुन्दर
 पमत्तानोंका भोजन करवाया । उन्होंने अपने मनमें सब
 सङ्कल्प किया था कि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें
 हृष्यरी प्रमत्तकी स्त्री रहे । भगवान् श्रीकृष्णसे ही
 अपना आदर्श और इष्टदश माननेवाले यदुवसियोंने
 ब्राह्मणोंसे अनुमति लेकर तब स्वयं भोजन किया और
 फिर घनी एवं ठंडी छायावाले वृक्षोंके नीचे अस्त्री-
 अपनी इच्छाके अनुसार उठ बैठकर दृष्टि गये ।
 परीक्षित ! विधायक वर मनक बन् यदुवसियोंने अपने
 सुहृद् और सम्बन्धी राजाओंसे मित्रता-भेदना शुरु
 किया ॥ १०-१२ ॥ यहाँ मत्स्य, उर्गनर, वीरसुत,
 विन्ध, युक्त, सुव्रत, यदुवन्ध, वैराय, मद्र, पुन्ति,
 आनर्त फल एवं दूसरे जनगण दशैक—अने
 पथक तथा शत्रु-धन—सबहों नरानि आये हुए
 थे । परीक्षित ! इनके अनिश्चित यदुवसियोंके परम
 दिनेरी यशु नम् आदि गीत तथा भगवान् दशनक

न्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीयोत्कण्ठिताभिरम् १४

अन्योन्यसदर्शनहर्षरंहसा

प्रोटकुलहृदयसरोरुहभिरः ।

आसिन्धु गाढ नयनैः सखलला

हृत्पञ्चवो रुद्रगिरौ ययुर्मुदम् ॥१५॥

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मियोऽविसौहृद-

सितामलापाङ्गदशोऽभिरभिरै ।

स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्कुरूपितान्

निहत्य दोर्मिः प्रणयाभ्रलोचनाः ॥१६॥

तवाऽभिवाद्य ते हृद्वान् यविष्ठैरभिवादिता ।

स्नागतं कुशलं पृष्ट्वा चतुः कृष्णकथा मिथः ॥१७॥

पृथा भ्रातॄन् स्वसृवीक्ष्य तत्पुत्रान् पितरावपि ।

भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकम्पया शुचः ॥१८॥

कुन्तुषाच

आर्य भ्रातरह माय प्रत्मानमकृताशिपम् ।

यद् वा आपत्सु मद्राता नानुसारथं सचमा ॥१९॥

सुहृदो ह्यवप पुत्रा आतर पितरावपि ।

नानुसरन्ति सज्जन यथा दैवमदधिष्णम् ॥२०॥

कुन्दश्च उवाच

अम्ब मासान्मद्यथा देवक्रीडनकान् नरान् ।

स्त्रिये चिरकालसे उत्कण्ठित गोपियो मी यदौ ध्यापी इह
पी । यदर्थोने इन सवको देख ॥ १३ १४ ॥

परीक्षित । एक-दूसरेके दर्शन, मिलन और वार्ताव्यपसे
समीको वषा आनन्द हुआ । सभीके हृदय-कमल एवं
मुख-कमल खिल उठे । सब एक-दूसरेको मुन्नाओंमें भरकर

हृदयसे व्याते, उनके नेत्रोंसे धौंसुओंकी झड़ी छा जाती,
राम-रोम खिल उठता, प्रेमके आवेगसे धौंधी बंद ॥

जाती और सब-के-सब आनन्द-स्मृतिमें डूबने-उठाने
व्याते ॥ १५ ॥ पुरुषोंकी भौंति स्त्रियों मी एक-दूसरेको

देखकर प्रेम और आनन्दसे भर गयी । वे अत्यन्त
सौहार्द, मन्द-मन्द मुसकान, परम पवित्र तिरछी

चितवनसे देख-देखकर परस्पर मेट-अँकवार मरने लगी ।
वे अपनी मुन्नाओंमें भरकर केसर लगे हुए वक्ष

स्पर्शको बूसरी स्त्रियोंक वक्ष स्पर्शसे दवाती और
अत्यन्त आनन्दका अनुभव करती । उस समय उनके

नेत्रोंसे प्रेमके आँसू छज्जने लगे ॥ १६ ॥ अवस्था
आदिमें छोटोंके बड़-बड़ोंको प्रणम किया और उन्होंने

अपनेसे छोटोंका प्रणाम स्वीकार किया । वे एक-दूसरेका
स्नागत करके तथा कुन्तु-पङ्कज आदि पूँछकर

फिर धीकृष्णकी मधुर लीजार्थे आपसमें कहने-सुनने
लगे ॥ १७ ॥

परीक्षित । पुन्ती वसुदेव आदि अपने माइयों,
बहिनों, उनके पुत्रों, माता-पिता, भूमियों और मगवान्

धीकृष्णको देखकर तथा उनसे बातचीत करके अपना
साथ दुःख मूँच गयी ॥ १८ ॥

कुन्तीने वसुदेवजीसे कहा—भैया ! मैं सचमुच
बड़ी अभागिनी हूँ । मेरी एक भी साथ पूरी न हुई ।

आप-जैसे साधु-सभाय सज्जन मई आपत्तिक समय
मेरी छुट्टि भी न लें, इससे बड़कर दुःखी घात क्या

होगी ? ॥ १९ ॥ भैया ! बिजाता जिसका बापें हा
जाता है, उसे सज्जन-सम्बन्धी, पुत्र और माता-पिता
भी मूँच जाते हैं । इसमें आप-अगोंका कोई दोष

नहीं ॥ २० ॥
वसुदेवजीने कहा—बहिन ! उग्रहत्या मत दो ।
हमसे मित्रा न मना । सभी मनुष्य दैवक छिड़ने

ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा ॥२१॥

कंसप्रतापिता सर्वे वयं माता विश्वं विश्वम् ।

एतर्ध्वं पुनः स्नानं दैवेनासाविताः स्वसः ॥२२॥

भीमक उवाच

वसुदेवोऽग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपा ।

आसन्नभ्युत्पद्यंश्च परमानन्दनिर्वाताः ॥२३॥

भीमो द्रोणाऽम्बिकापुत्रो गांधारी ससुता तथा ।

सदाराः पाण्डवा कुन्ती सुहृदो विदुर कृपः ॥२४॥

कुन्तिभोमो विराटश्च भीमको नम्रबिन्महान् ।

पुरुजिद्द्वुपदः श्वसो वृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥२५॥

दमघापो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकवौ ।

युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥२६॥

राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रता ।

ध्रीनिकेतवपुः क्षीरः सखीकं वीक्ष्य विस्मिताः ॥२७॥

अथ ते रामकृष्णान्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।

प्रशस्तसुर्मुखा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिव्रजान् ॥२८॥

अहो भोजपतं यूषं खन्मभाजो नृणामिह ।

यत्पश्यमासकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥२९॥

यदिधृतिः भुविनुतेदमलं पुनाति

पादावनेजनपथश्च घञश्च शास्त्रम् ।

हैं । यह सम्पूर्ण लोक ईश्वरके वशमें रहकर कर्म करता है, और उसका फल भोगता है ॥ २१ ॥ बलित । कंससे सताये जाकर हमलोग ईश्वर-उपर वन्दे विश्वज्योतिर्में भगो हुए थे । अभी कुछ ही दिन इस ईश्वरकृपासे हम सब पुनः अपना स्थान प्राप्त कर लगे हैं ॥ २२ ॥

भीमकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । जहाँ मिलने भी नरपति आये थे—यसुदेव, उपसेन आदि यदुवंशियोंने उनका स्तुत सम्मान-सत्कार किया । ये सब भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन पाकर परमानन्द और शक्तिका अनुभव करने लगे ॥ २३ ॥ परीक्षित । भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, दुर्योधनादि पुत्रोंके साथ गण्धारी, पत्नियोंके सहित युधिष्ठिर आदि पण्डव, कुन्ती, सुहृद, विदुर, व्यास, कुन्तिभोज, विष्ट, भीष्मक, महाराज नगनिध, पुरुजिद, द्वुपद, श्वस, वृष्टकेत, कश्यपनरेश, दमघोष, विश्वज्योति, मिथिलनरेश, मद्रनरेश, केकयनरेश, युधामन्यु, सुशर्मा, अपने पुत्रोंके साथ बाह्यीक और दूसरे भी युधिष्ठिरके अनुकूल वृत्ति भगवान् श्रीकृष्णका परम सुन्दर धीनिकेतन निमग्न और उनकी रानियोंको देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ २४—२७ ॥ अब वे क्षत्रजमी तथा भगवान् श्रीकृष्णसे मखीमोति सम्मान प्राप्त करके अपने वनवृत्त श्रीकृष्णके सखियों—यसुदेवियोंकी प्रशंसा करने लगे ॥ २८ ॥ उन लोगोंने मुख्यतया उपसेनजीको सम्बोधित कर कहा—भोजराज उपसेनजी । सच पूछिये तो इस जगत्के मनुष्योंमें आपलोगोंका जीवन ही उत्तम है, धन्य है । धन्य है । क्योंकि जिन श्रीकृष्णका दर्शन भगवन् योगियोंके लिये ही दुर्लभ है, उनकी आपलोग नित्य-निरन्तर देखते रहते हैं ॥ २९ ॥ येदोने यह आदरके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्ति प्रशंसन किया है । उनके चरणलोकका जगत् गङ्गाजल, उनकी वाणी—शब्द और उनकी कीर्ति इस जगत्को अत्यन्त पवित्र कर रही है । अभी हमलोगोंके जीवनकी

मूः कालभञ्जितमगापि यदहृषिपथ

स्पर्शोत्थश्चक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥३०॥

तदर्शनस्पर्शनानुपथप्रप्रवृत्त्य

ध्वन्यासनाश्चनस्योनसपिण्डबन्धः ।

येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः

स्वगोपवगविरमः स्वयमास विष्णु ॥३१॥

भीष्मक उवाच

नन्दस्तत्र यद्वत् प्राप्तान् ध्यात्वा कृष्णपुरोगमान् ।

तत्रागमद् वृतां गोपैरन म्पार्थैर्दिदृक्षया ॥३२॥

तं दृष्ट्वा शृण्वया हृष्टास्तन्व प्राणमिवोत्थिता ।

परिपत्नजिरे गाढं चिरदर्शनकावराः ॥३३॥

वसुदेव परिप्वज्य सम्प्रीत प्रमविह्वल ।

भ्रान् कंसकृतान् क्लृप्तान् पृथग्न्यास च गाकुल ॥३४॥

कृष्णरामौ परिप्वज्य पितरावभिवाद्य च ।

न किंचिनापतु प्रम्या साधुकण्ठो कुरुदह ॥३५॥

॥ यात है, सम्पर्क के फेरसे पृथ्वीका सारा सौभाग्य नष्ट हो
जुक्त था, परन्तु उनका चरणकमलोंके स्पर्शसे पृथ्वीमें
किर समस्त शक्तिमोक्ष सम्भार हो गया और अब वह
किर हमारी समस्त अभिन्नपाषाणों—मनोरथोंके पूर्ण
करने लगी ॥ ३० ॥ तमसेनबी ! आपलोगोंका
भीकृष्णके साथ वैवाहिक एवं गोत्रसम्बन्ध है । यही
नहीं, आप ॥ समय उमका दशन और स्पर्श प्राप्त
करते रहते हैं । उनके साथ चञ्चल हैं, बोलते हैं,
साते हैं, बैठते हैं और खड़े-पड़े हैं । यों तो आप-
लोग गृहस्थीकी श्रममें पँसे रहते हैं—जो नरकका
मार्ग है, परन्तु आपलोगोंके घर वे सर्वव्यापक विष्णु
भक्तान् मूर्तिमान् रूपसे निवास करते हैं, जिनके
दशनमयसे स्वर्ग और माक्षलककी अभिधाया सिद्ध
जाती है ॥ ३१ ॥

भीष्मकवचकी कहत है—परीक्षित । जब नन्दबाबू-
को यह बात मालूम हुई कि भीष्मका आदि यदुवशी
पुरुषदेवमें आये हुए हैं, तब वे गाँवोंके लोग अपनी
सारी सामग्री गावियोंपर अदकर अपने प्रिय पुत्र
भीष्मका-वत्सल आनन्द देखनके लिये वहाँ आये
॥ ३२ ॥ नन्द आदि गाँवोंका दलकर सबके-सब
यदुवशी आनन्दसे भर गये । वे इस प्रकार उठ खड़े
हुए, मानो मृत शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो ।
वे लोग एक-दूसरेसे मित्रताके लिये बहुत दिनोंसे आसुर
हो रहे थे । इसलिये एक-दूसरेका बहुत देतक
अप्यन्त गह्रभावसे आश्रित करते रहे ॥ ३३ ॥
यसुदेवजीने अप्यन्त प्रेम और जानमसे बिह्वल होकर
नन्दजीका हृदयसे लगा लिया । उन्हें एक-एक करके
सारी कमें पाद हा आपी—कंस जिस प्रकार उन्हें
सताता था और जिस प्रकार उन्होंने अपने पुत्रसे
गाकुलमें स जाकर नन्दजीके घर रस लिया था
॥ ३४ ॥ भक्तान् भीष्मका और वत्सलजीने साथ
परव्रत और निज नन्दजीके हृदयसे लगाकर उनका
चरणोंमें प्रणम किया । परीक्षित ! उस समय प्रमद
दृष्टसे गानों भावपूर्ण गाने रँध गये, वे पुत्र भी
घात न सक ॥ ३५ ॥ महाभाग्यवती पद्मावती और

वावास्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरम्य च ।

यशोदा च महाभागा सुतौ विजहत् शुचः ॥३६॥

रोहिणी देवकी चाथ परिरम्य प्रजेधरीम् ।

सरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठौ समुचतुः ॥३७॥

का विहारेत् वां मैत्रीमनिवृत्तां प्रजेधरि ।

अवाप्याप्यैन्द्रमैधर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥३८॥

एतामदृष्टपितरौ युवयोः सा पित्रोः

सम्प्रीनान्मुदयपोषणपालनानि ।

प्राप्योपतुर्मवति पक्ष्म इ यद्वदस्यो

न्यस्तावद्वचनमयौ न सतां परः स्वः ॥३९॥

भीतुक न्वाच

गोप्यथ कृष्णमुपलभ्य विरादभीष्टं

अप्रक्षमे दक्षिण पक्ष्मकूर्तं क्षपन्ति ।

रग्मिर्हृदीकृतमल परिरम्य सर्वा-

सम्प्राप्तमापुरपि निस्त्रयुजां दुरापम् ॥४॥

नन्दबाबाने दोनों पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठा लिया और मुजाबोंसे उनका गाढ़ आच्छिन्न किया । उनके हृदयों परिक्राश्रितक न मिथनेका जो दु ख था, वह सब मि गया ॥ ३६ ॥ रोहिणी और देवकीजीने कजेधरी यशोदाको अपनी अँकुरारमें भर लिया । यशोदाजीने उन अँगोंके ऊपर मित्रताका जो म्यमहार किया था, उसका समझ करते दोनोंका गह्य भर आया । च यशोदाजीसे कहने लगी—॥ ३७ ॥ यशोदारानी ! आपने और कजेधर नन्दजीने हमअँगोंके साथ जो मित्रताका म्यमहार किया है वह कभी मित्रने बाध्य नहीं है, उसका बदल इन्द्रका ऐश्वर्य फल भी हम मित्री प्रकर नहीं भुक्त सकती । नन्दरानीजी ! मज्ज देता कौन कृता है, जो आपके उस उपरस्ते भूख सके ? ॥ ३८ ॥ देवि ! जिस समय कर्मण और श्रीकृष्णने अपने म-बापको देखतक न था और उनके स्तिताने घरोहरके रूपमें इन्हें आप दोनोंके पास रख लेया था, उस समय आपने इन दोनोंकी इस प्रकार रक्षा की, जैसे फलकों पुतलियोंकी रक्षा करती हैं । तब आपअँगोंकी ही इन्हें लिख्या-मिख्या, दुखर किया और रिह्या, इनके मज्जके छिपे अनेकों प्रकारके उत्सव मनाये । सच छिपे तो इनके म-बाप आप ही अँगे हैं । आपअँगोंकी देख-रेखमें इन्हें मित्रीकी औषतकन अंगी, ये सर्वथा निर्मय रहे ऐसा करना आपअँगोंके अनुकूल ही था । क्योंकि तपुमनोंकी दृष्टिमें अपने-परापेक्ष भेद-भ्रम नहीं रहता । नन्दरानीजी ! सचमुच आपअँगे परम संत हैं ॥ ३९ ॥

भीतुकदेवकी कहते हैं—परीक्षित ! मैं कह चुका हूँ कि गोपियोंके परम प्रियतम, जीवनसर्वज्ञ श्रीकृष्ण ही थे । जब उनके दर्शनके समय नेत्रोंकी फलकों में पड़ती, तब वे फलकोंको कानामासेको ही कसेरने छपाती । उन्हीं प्रेमकी मूर्ति गोपियोंको बाज बहुत दिनोंके पक्ष मगधान् श्रीकृष्णका दर्शन हुआ । उनके मनमें इसके छिपे कितनी अक्षता थी, इसका अनुमन भी नहीं किया जा सकता । उन्होंने नेत्रोंके रास्ते अपने प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें ले जाकर गह आच्छिन्न किया और मम-ही-मम आच्छिन्न करते-करते तन्मय हो गयी । परीक्षित ! कहेतक कहूँ वे उस भवने प्राप्त हो गयी, जो नित्य-निरन्तर अन्यास करनेवाले गोपियोंके

सदनुसारणश्च त्वजीवकोशास्तमप्यगन् ॥४८॥

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्द

भोगेश्वरैर्हृदि विधित्त्यमगाधबोधैः ।

संसाररूपपतितोत्तरणावलम्ब

गेहञ्जुपामपि मनस्युदियात् सदानः ॥४९॥

गोपियोक जीवकोश—छिन्नशरीर नष्ट हो गया और वे भगवान् से एक हो गयीं, भगवान् को ही सदा-सर्वदा के लिये प्राप्त हो गयीं ॥४८॥ उन्होंने कहा—‘हे कमलनाम ! अगाधबोधसम्पन्न भड़े-बड़े भोगेश्वर अपने हृदय-कमलमें आपके चरणकमलोंका चिन्तन करते रहते हैं । जो लोग संसारके कुरीतियों में गिरे हुए हैं, उन्हें उससे निकलनेके लिये आपके चरणकमल ही एकमात्र बल-सम्पन्न हैं । प्रभो ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपका यह चरणकमल, घर-गृहस्थके धाम करते रहनेवाले भी सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें स्थापित रहें, हम एक क्षणके लिये भी उसे न भूलें ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्ये संज्ञितस्य दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
शुक्लिनोऽस्य नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः

भगवान्की पट्टाभिर्योके साथ प्रीतिहीन कीर्तन

श्रीकृष्ण उवाच

तथानुष्टुप् भगवान् गापीनां स गुरुर्गतिः ।

युधिष्ठिरमथापृच्छत् सवाच सुहृदोऽन्ययम् ॥ १ ॥

त एव लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृता ।

प्रसूनुर्हृदमनसस्तत्पादयोऽहतांससः ॥ २ ॥

कृताऽश्विनं त्वचरणाम्बुजासय

महामनसो मुखनि सर्वं कश्चित् ।

विबन्ति ये कणपुत्रैस्तं प्रभा

दरम्भतां दददस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णनेपथी कहते हैं—परीशित् ! भगवान् श्रीकृष्ण ही गोपियोंको शिक्षा देनेवाले हैं और यही उस शिक्षाके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु है । इसके पहले जैसा कि कर्णन किया गया है, भगवान् श्रीकृष्णने उनपर महान् अनुग्रह किया । कम उन्होंने कर्मात्म युधिष्ठिर तथा अन्य समस्त सम्बन्धियोंसे कुशल-मङ्गल पूछा ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका दर्शन करनेसे ही उनके सारे अन्तर्मन नष्ट हो चुके थे । अब जब भगवान् श्रीकृष्णने उनका स्तब्ध स्वरूप देखा, कुशल-मङ्गल पूछा, तब वे अत्यन्त आनन्दित होकर उनसे कहने लगे—॥ २ ॥ ‘भगवान् ! यह सब महापुरुष मन-ही-मन आपके चरणारविन्दपर मग्न रह कर रहते रहते हैं । कभी-कभी उनका मुखमण्डलसे धीज-धमके रूपमें ध्वनि उत्पन्न होती है । प्रभो ! यह इतना अत्यन्त पियर है कि यह भी प्राणी उसका भी तो वह जन्म-मृत्युके चक्रमें बाँधनेवाली विषयनि अथवा अविद्यासे नष्ट कर देता है । उसी समय जो लोग अपने घरों में गोनोमें भर भरकर जीभ पीते हैं, उनका अमङ्गली आकाश

हित्वाऽऽरमभामविधुतात्मकुतज्यवस्व-

मानन्दसम्पुवमस्वप्नमकुण्टवोधम् ।

फालापसृष्टनिगमावन आचयोग

मापाकृति परमहसगति नताः स ॥ ४ ॥

श्रुतिव्याप

इत्युत्तमभगकश्चित्तामि जने

अभिपुवत्स्वन्धककौरवस्त्रिय ।

समेत्य गाविन्दकथा मिथोऽगृणं

खिलाकगीता शृणु वर्षयामि त ॥ ५ ॥

श्रीपद्याप

ह वैदर्भर्ष्युता भद्र ह जाम्बवति कौसले ।

हे सत्यभामे कालिन्दि श्रन्वे रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६ ॥

हे कृष्णपत्न्य एतन्ता मृत वा भगवान् स्वयम् ।

उपयमे यथा लोकमतुङ्गवन् स्त्रमापया ॥ ७ ॥

श्रुतिव्याप

चयाप मापयितुमुपतक्रामुकपु

राजस्वजपभटशैलरिताहधिरणुः ।

नित्य मृगन्त्र श्व भागमजाविशूरात्

तन्प्राप्तिकृतचरणोऽस्तु यमार्चनाय ॥ ८ ॥

सत्यभामावाप

या मे सनभिवभवसहृदा वतेन

लिप्ताभिनाममनमाप्नुमुपाजहार ।

ही क्या है ? ॥ ३ ॥ भगवन् ! आप एकतरफ झानसरूप और अलण्ड आनन्दक समुद्र हैं । धुस्ति-धुस्तिकों के कारण होनेवाली आपत्त, खान, सुपुसि—ये तीनों अकस्मात् आपके स्वर्गप्रकाश स्वरूपतक पहुँच ही नहीं पाती, दूसरे ही नष्ट हो जाती हैं । आप परमईसोंकी एकमात्र गति हैं । समयके फेरसे बदोंका हास होते देखकर उनकी रक्षाके लिये आपने अपनी अचिन्त्य योग्यताके द्वारा मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण किया है । हम आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

श्रीगुणदेवजी कहते हैं—प्रीक्षित ! जिस समय दूसरे जेग इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे, उसी समय पादप और कौरव-कुल्यारी कियों एकत्र होकर आपसमें भाषान्त्री त्रिभुवन-विरूपित स्त्रीयवोंका धमन कर रही थी । अब मैं तुम्हें ऊन्हीकी यातें सुनाती हूँ ॥ ५ ॥

श्रीपद्मीन कहता—हे इन्मिणी, भद्र, हे जाम्बवती, सत्ये, हे सत्यभामे, कालिन्दी, शैल्ये, छत्रगो, रोहिणी और अन्यन्य धीकृष्णरक्षियो । तुमजोग हमें यह तो बताओ कि स्वर्ग भगवान् श्रीकृष्णने अपनी मायसे अगोत्र बनुरण करते हुए तुमअगोत्रा जिस प्रकार पाणिग्रहण किया ॥ ६-७ ॥

कश्मिणीजीन कहता—श्रीपद्मीन ! जपसुध आदि सभी राजा कहते थे कि मेरा निग्रह शिगुगजक साप हो; इसक अिय सभी राजासे सुसज्जित हाथर युद्धक अिये तैयार थे । परन्तु भगवान् मुझ बेटे की हर ल्यवे, जैसे सिंह बगरी और नहोंक हुरमेंसे अपना भाग छीन ले जाय । क्यों न हो—जगतमें जितने भी अजेय वीर हैं, उनक मुरटोंपर ऊन्हीकी चरणभूति शोभाफ्यान होती है । श्रीपद्मीन ! मैं तो यही अभियोग है कि भगवान्क व ही समस्त सम्पत्ति और सन्दिपोंके आभय शरणसमस्त जम-जम मुझ आरण्यना करनक अिये प्राप्त दात रहें मैं ऊन्हीकी सखन अरु रहूँ ॥ ८ ॥

सत्यभामान कहता—श्रीपद्मीन ! मेरे निग्रह अजन भाई प्रलेनकी मुरसे बहुत दुःख दा रह य, अत ऊन्होंने उनक वरस पादु भगवान् ही छयाय । उस कष्टदूर करनक अिये भगवान्ने श्रुतार

जिस्सर्धराजमथ रत्नमदात् स तेन

भीमः पितादिष्टत मां प्रमथेऽपि दद्याम् ॥९॥

आम्बवत्सुपाय

प्राज्ञाय देवकुदमु निजनाथदेव

सीतापतिं त्रिणवहान्मधुनाम्ययुष्यत् ।

ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्शं मां

पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

कमलिन्युपाय

तपभरन्तीमाझाय सपादस्पर्शनाश्रया ।

सख्योपेतमाग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्चनी ॥११॥

मित्रविन्दोपाय

यो मां स्वयंवर उपेत्य विक्षिप्य भूपान्

निन्द्ये अपूधगमिषात्मबलिं द्विपारिः ।

भ्रातृ भ मेऽयकुलः स्वपुत्रं धिपौक-

स्तसास्तु मऽनुभवमच्छपनेऽनन्तम् ॥१२॥

सत्योपाय

सप्तोद्यथाऽतिषलपीर्यसुतीक्ष्णमृङ्गान्

पित्रा कृतान् धितिरपीर्यपरीक्षणाय ।

वान् भीरुमदहनस्तरसा निगृह्य

क्रीडन् पथे हयथा गिरिषाऽजवाकान् ॥१३॥

जिह्वान्

जाम्बवान्पर विषय प्राप्त की और वह रत्न अक्षर मेरे पिताको दे दिया । अब तो मेरे पिताजी मिथ्य ब्रह्म उद्गमनेके कारण दर गये । अतः यद्यपि वे दूसरेको मेरा धर्मदान कर चुके थे, फिर भी उन्होंने मुझे स्वमन्त्रमणिके साथ भगवान्के चरणोंमें ही समर्पित कर दिया ॥ ९ ॥

१ जाम्बवतीमे कहा—श्रीपदीजी ! मेरे पिता अक्षर राज जाम्बवान्को इस बातपर पत्त न था कि यही मेरे स्वामी भगवान् सीतापति हैं । इसलिये वे इनसे सत्ताष्ट दिनतक लड़ते रहे । परन्तु जब परीक्षा पूरी हुई, उन्होंने ज्ञान लिया कि ये भगवान् राम ही हैं, तब इनके चरणकमल पक्षककर स्वमन्त्रमणिके साथ उद्गारके रूपमें मुझे समर्पित कर दिया । मैं यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्म इन्हींकी दासी बनी रहूँ ॥ १० ॥

११ कमलिनीने कहा—श्रीपदीजी ! जब भगवान्को यह मन्त्रमण्डप हुआ कि मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेकी आशय-अभिप्रायसे तपस्या कर रही हूँ, तब वे अपने सख्य बर्तुलके साथ यमुना-तटपर आये और मुझे स्वीकार कर लिया । मैं उनका घर बुझारनेवाली उनकी दासी हूँ ॥ ११ ॥

१२ मित्रविन्दोपायमे कहा—श्रीपदीजी ! मेरा स्वयंवर हो रहा था । वहाँ जाकर भगवान्ने सब राजाओंको जीत लिया और जैसे सिद्ध हनुमन्के-मुंह कुत्तामेंसे अपना भग ले जाय, वैसे ही मुझे अपनी शोभासम्पत्ति द्वाराकपुरीमें ले आये । मेरे मन्त्रोंने भी मुझे भगवान्से छुवाकर मेरा अपकार करना चाहा, परन्तु उन्होंने उन्हें भी नीचा दिखा दिया । मैं ऐसा चाहती हूँ कि मुझे जन्म-जन्म उनके पाँव पसारनेवाला सौम्याय प्राप्त होकर रहे ॥ १२ ॥

सत्योपायमे कहा—श्रीपदीजी ! मेरे पिताजीने मेरे स्वयंवरमें आये हुए राजाओंके मन्त्र-यौहवसी परीक्षाके लिये बड़े मज्दगान् और पराक्रमी, तीखे तीरगाले सात भेड़ रख लाए थे । उन भेड़ोंने बड़े-बड़े धीरोंका कर्म बुर-नूर कर दिया था । उन्हें भगवान्ने रोउ-खोम्मे की धन्तकर पकड़ लिया, नाथ लिया और पाँव दिया । ठीक वैसे ही, जैसे छाले-छोटे बच्चे बस्तीके नवोंको

य इत्थं वीर्यशुत्कां मां दासीभिर्भतुरङ्गिणीम् ।

पथि निर्जित्य राज्ञान् निन्ये तदास्यमस्तु मा ॥१४॥

भद्रेश्वर

पिता म मातुलेयाय स्वयमाह्वय दत्तवान् ।

कुंप्वा कुंप्वाय तच्चिन्तामयीक्षिण्या सखीजनैः ॥१५॥

अस्य मे पादसस्पर्शो भवेज्जमनि जन्मनि ।

कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छृणु आत्मनः ॥१६॥

छत्रमणोबाच

ममापि राज्यमुत्तजन्मकर्म

धृत्वा सुगुनारदगीतमास ह ।

विचरं दृक्कुन्दे किल पञ्चदस्तया

इतः सुसमृम्भ विहाय लोकापान् ॥१७॥

ज्ञात्वा मम मत साञ्चि पिता दुहितृमत्सलः ।

बृहत्सेन इति स्यात्सत्तत्रापायमधीकृतम् ॥१८॥

यथा स्वयमेव राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्यया कृतः ।

अथ तु परिहाराच्छत्रो दृश्यते स भले परम् ॥१९॥

धृत्वेतत् सर्वता भूपा आयुर्मन्थितः पुरम् ।

सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सापाण्यायाः सहस्रस्रः ॥२०॥

पित्रा सम्पूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।

आदनुः सशरं चाप वदं पर्यदि मद्रिषः ॥२१॥

पञ्च लेते हैं ॥ १३ ॥ इस प्रकार मगवान् वज्र-पीरुके द्वारा मुझे प्राप्त कर चतुरङ्गिणी सेना और दासियोंके साथ द्वारका ले आये । मार्गमें जिन क्षत्रियोंने विघ्न डाला, उन्हें जीत भी लिया । मेरी यही अभिप्राय है कि मुझे इनकी सेवाकर अवसर सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहे ॥ १४ ॥

भद्राने कहा—द्वीपिजी ! मगवान् मेरे मामाके पुत्र हैं । मेरा चित्त इन्हींके चरणोंमें अनुरक्त हो गया था । अब मेरे पिताजीकर यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने स्वयं ही मगवान्को धुत्ररुर अश्वोद्दिगी सेना और बहुत-सी दासियोंके साथ मुझे इन्हींके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ १५ ॥ मैं अपना परम कल्याण इसीमें समझती हूँ कि कर्मके अनुसार मुझे जहाँ-जहाँ जन्म लेना पड़े, सर्वत्र इन्हींके चरणकमलोंका संस्पर्श प्राप्त होता रहे ॥ १६ ॥

छत्रमणाने कहा—रानीजी ! दशरि नारद और वर मगवान्के अवतार और वीर्यशोक गान करते रहते थे । उसे सुनकर और यह सांचकर कि छत्री जीने समस्त लोकशोकोंका त्याग करके मगवान्का ही कर्ण किया, मेरा चित्त मगवान्के चरणोंमें अटक हो गया ॥ १७ ॥ साखी ! मेरे पिता बृहत्सेन मुझपर बहुत प्रेम रखते थे । जब उन्हें मेरा अभिप्राय मालूम हुआ, तब उन्होंने मेरी इच्छाकी पूर्तिक लिये यह उपाय किया ॥ १८ ॥ म्हारानी ! जिस प्रकार पाण्डवकी अवलुनकी प्रातिक लिये आपके पितान स्वयंवरमें मत्स्य-वेषकर भाग्योजन किया था, उसी प्रकार मेरे पिताने भी किया । आपका स्वयंवरकी अपेक्षा हमारे यहाँ यह निरोधता थी कि मत्स्य ग्राहसे ठकड़ा हुआ था, केकड़ जन्ममें ही उसकी परछाईं दिस पड़ती थी ॥ १९ ॥ जब यह समाचार राजाओंकर मित्र, तब सब ओरसे समस्त अश्व-शकोंक तत्त्वज्ञ हजारों राजा अपने-अपने गुरुओंक साथ मेरे पिताजीकी राज्यधानीमें आने लगे ॥ २० ॥ मेरे पिताजीने आये हुए सभी राजाओं-का वज्र-पीरु और अवस्थाके अनुसार मरीभौति म्गान-सम्पन्न किया । उन लोगोंने मुझ प्राप्त करनेकी इच्छासे स्वयंवरसमयमें रत्नम गुण धनुष और बाण उठये हैं ॥ २१ ॥

आदाय म्यसृजन् केधित् सज्यं कर्तुमनीम्वराः॥

आकोटि क्यां समुत्कृष्य पेतुरेकऽमुना इवाः॥२२॥

सज्यं कृत्वा परे धीरा मागधाम्प्रवृष्टेदिपाः ।

भीमा दुर्योधनः कर्जो नाविन्दस्तदवस्थितिम् ॥२३॥

मरसाभास जले वीक्ष्य हास्या च तदवस्थितिम् ।

पार्थो यत्तोऽसृजद् दार्षा नाच्छिनत् पश्यन्ने परम्॥२४॥

राजयेषु निवृषषु भग्नमानेषु मानिषु ।

भगवान् धनुरादाय सज्यं कृत्वाथ लीलया ॥२५॥

तस्मिन् सभाय विशिखं मस्म्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।

छित्त्वेपुमापातयत् सर्वे चाभिजिति म्यिते ॥२६॥

दिशि दन्दुभगा नदुर्जयश्म्ययुता श्रुति ।

दवाश्च ह्युमासारात् मुमुचुर्नपविर्हला ॥२७॥

तद् रङ्गमाविशमहं कलन्पूराभ्यां

पदुभ्यां प्रगृह्य कनकाञ्जलरत्नमालाम् ।

नून निनाय परिधाय च कीटिकाय

ममाट्टदामवदना कपरीधृतसक् ॥२८॥

उद्याय वक्ष्यमृदन्तलङ्घनल्वित्

गण्डधर्मेति शिरदामघ्नाधमार्थे ।

उनमेंसे कितने ही राजा तो धनुषपर तैल भी न खा सके । उन्होंने धनुषको ओढ़-का-त्यो रख दिया । क्योंकि धनुषकी बोरीको एक सिरेसे बाँधकर दूसरे सिरेको खींच तो लिया, परन्तु वे उसे दूसरे सिरेसे बाँध न सके, उसका छटक छानेसे गिर पड़े ॥ २२ ॥ रानीजी ! बड़े-बड़े प्रसिद्ध धीर—जैसे बरसम्भ, बम्भ-नरेश, शिशुपाल, भीमसेन, दुर्योधन और कर्ज—एत ज्योंने धनुषपर बोरी तो चढ़ा ही । परन्तु उन्हें मच्छरीकी स्थितिका पता न चला ॥ २३ ॥ पण्डवकी बर्जित जलमें उस मच्छरीकी परछाईं देख ली, और यह भी जान लिया कि वह कहाँ है । वही साधवानीसे उन्होंने बाण छोड़ा भी, परन्तु उससे जखमवेध न हुआ, उनके बाणने केवल उसका स्पर्शमात्र किया ॥ २४ ॥

रानीजी ! इस प्रकार बड़े बड़े बहिष्मनिर्घोष मन मर्दन हो गया । अधिकतर नरपक्षिमेंने मुझे पतने की खबरा एवं साध-ही-साध लक्ष्यवेधकी चेष्टा भी ली दी । तब मत्स्यमने धनुष उठाकर सेत-सेतने—अनायास ही उत्तर बोरी चढ़ा दी । यद्यत्न और जाने केवल एक बार मच्छरीकी परछाईं देखकर बाण मारा तथा उसे नीचे गिरा दिया । उस समय ठीक दाहर हो रहा था, सर्वावस्थापक 'अभिद्रिष्ट' नामक मुहूर्त भीत रहा था ॥ २५-२६ ॥ देखीजी ! उस समय पृथ्वीमें जय-जयशर होने लगा और आकाशमें दन्तुबिज यत्रने लगी । बड़े-बड़े दक्ष अन्नन्द-विह्वल होकर पुण्योरी बर्षा करने लगे ॥ २७ ॥ रानीजी ! उन समय मने रंगाराम प्रवेश किया । मेरे पोंक पापब्रह्म रुग्ण-रुग्ण यह रहे थे । मने नये-नय उत्तम रत्नय यत्र धारण कर रखे थे । मेरी चारिधर्मों मावर्षे मुँह दुःख भी और मुँहपर मन्त्रनिमित्त मुमराज भी । मैं जाने हाणोंमें कलौस तार पिय हुए दी, जो धीर-धीनमें 'म' हुए सानक कारण और भा समक रहा था । रानीजी ! 'म' समय मेरा मुहूर्तक वनी मुँहपर । 'म' मुमराज हा रहा था तब बर्षा 'म' मुमराज । 'म' जय-जय य और भी समक उद्य था । मने पर पर जाना मुह उद्यर रुग्ण-रुग्ण किया । मने

राज्ञो निरीक्ष्य परिवः शनकैर्धुरारे

रसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥२९॥

तावन्मूढरूपतटाः शङ्खमेर्षानकादयः ।

निनेदुर्नटनर्तक्या ननुतुर्गायिका जगुः ॥३०॥

एवं धृते भगवति मयेऽंशे नृपपुथवाः ।

न सेहिरे याद्वसेनि स्वर्धन्ता हृच्छपातुराः ॥३१॥

मां तावद् रथमारोप्य इयरत्नचतुष्टयम् ।

शार्ङ्गसुषम्ब संनक्षत्तत्त्वावाजौ चतुर्भुजः ॥३२॥

हारकभादयामास काञ्चनापस्करं रथम् ।

मिपतां भूद्वजां राक्षि मृगाणां मृगराजिव ॥३३॥

तेऽज्वसज्जन्त राजन्त्या निपेदुर्धुं पथि कचन ।

संपथा उदुष्टवेत्तासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥३४॥

वे शास्त्रन्वुवशाणीर्यैः कृचबाह्विक्थरा ।

निपतुः प्रथम कचिदक सत्यज्य द्रुमुवुः ॥३५॥

तव पुरी यदुपतिरत्पलंकुतां

रविच्छदध्वजपटचित्रतारणाम् ।

कुशम्बनीं दिवि रुवि चाभिस स्तुतां

समाविद्यतारणिरिव स्वफत्तनम् ॥३६॥

विता मे पूजयामास मुहुरसम्बधिवाधवान् ।

१ मदेन । २ मिच्छु । ३ कम्पयति ।

सुशीतल हास्यरेख और तिरछी जितवनसे चारों ओर
घिटे हुए राजाओंकी ओर देखा, फिर धीरेसे अपनी
वस्त्रालय भाग्यान्के गलेमें बांध दी । यह तो वह ही
जुकी हूँ कि मेरा हृदय पहलेसे ही भगवान्के प्रति
अनुरक्त था ॥ २८-२९ ॥ मेने ज्यों ही वस्त्रालय
पहनानी त्यों ही मृगज, पक्षपक्ष, शङ्ख, दोल, नगरे आदि
वाजे बजने लगे । मट और नतयियों नाचने लगीं ।
गलेमें गाने लगे ॥ ३० ॥

द्वौपतीजी । जब मेने इस प्रपन्न अपने खानी प्रिय-
तम भगवान्के परमाश्रय पहना दी, उन्हें वरण कर
लिया, तब कम्पातुर राजाओंको वधा डाल डाला । व
बहुत ही चिढ़ गये ॥ ३१ ॥ चतुर्भुज भगवान्ने अपने
घोष चार घोड़ोंवाले रथपर मुझे बैठा लिया और हाथमें
शार्ङ्गचतुष्टय लेकर तथा यशस्व पहनकर युद्ध करनेके लिये
वे रथपर चढ़ हो गये ॥ ३२ ॥ पर एनीजी । दाहवन
सानेक साज-सामानसे लदे हुए रथों सब राजाओंके
सामने ही हारकके लिये बाँक दिया, जैसे फोड़ सिंह
हरितोंके पीछसे अपना भग ले जाय ॥ ३३ ॥ उनमेंसे
कुछ राजाओंने धनुष लेकर युद्धके लिये सब-वज्जकर
इस उदरेस्पसे रास्तेमें पीछा किया कि हम भगवान्के
रोक दें, परन्तु एनीजी । उनकी चञ्च टीक बैसी ही
थी, जैसे धुत्ते सिंहकी ऐकता चाहें ॥ ३४ ॥ शार्ङ्ग-
चतुष्टयके दृष्टे हुए धीरेसे किसीकी बाँह बट गयी ता
किसीके पैर बटे और किसीकी गर्दन ही उतर गयी ।
यहुत-से अंग ता उस रणभूमिमें ही सगके लिये छा
गये और बहुत-से युद्धभूमि छोड़कर भाग खड़े
हुए ॥ ३५ ॥

तन्मन्तर यदुर्बशदिरामणि म्माधानुन स्यसि भोक्ति
अपने निवासस्थान मग और पृथ्वीमें सर्वत्र प्रशस्ति
द्वारकानगरमें प्रवेश किया । उस दिन वह विनेगकृपसे
सजायी गयी थी । इतनी संतियाँ, फासरी और लारण
लखे गये थे कि उनका कारण मृत्यु प्रशङ्ग परती-
नक नहीं था जान्य था ॥ ३६ ॥ श्री अभिषय पू
जा जानेसे निराशकी बहान प्रसन्नता हुई । उन्होंने बल
दित्यै-सुहर्गों, सग-सम्पत्तियों और भाइ-भ्रातृओं

महाईवासोऽङ्गकारैः क्षण्यासनपरिच्छदैः ॥३७॥

दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्मतेभारवाजिभिः ।

आयुधानि महाहापि ददौ पूर्णस्य भक्तियः ॥३८॥

आरमारामस्य तस्येमा वय ये गृहदासिका ।

सर्वसङ्गनिवृत्त्यादा तपसा च बभूविम ॥३९॥

महिष्य ऊचुः

भौमं निहत्य सगण युधि तेन रुद्धा

घ्रात्वाथ नः क्षितिजमे जितरात्रकन्याः ।

निर्दुष्य सप्तविमिमाश्चमनुसरन्ती

पादाम्बुज परिभिनाय य आप्तकामः ॥४०॥

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।

परान्य पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरः पदम् ॥४१॥

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः भिष ।

कुचकुटुमगन्धाढ्यं मूभा वातुं गदामृतः ॥४२॥

प्रभृच्छ्रियो यद्वा मण्डन्ति पुलिनवस्तृणवीरुधः ।

गावभारयता गापाः पादस्पर्शं महारमनः ॥४३॥

बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, शम्पा, अस्त्र और विभिन्न प्रकारकी सामग्रियों केकर सम्पन्नित किया ॥ ३७ ॥
मगधान् परिपूर्ण हैं—तथापि मेरे मित्राजीने प्रेमसे उन्हें बहुत-सी दास्तियों, सब प्रकारकी सम्पत्तियों, सनिक, हाथी, रथ, घोड़े एवं बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र-सम्पत्तित किये ॥ ३८ ॥ रानीजी ! हमने पूर्वजन्मसे उनकी आसक्ति छोड़कर कोई बहुत बड़ी तपस्या की होगी । तभी तो हम इस जन्ममें आत्माराम भगवत्की गुरु दास्तियों हुई हैं ॥ ३९ ॥

सोचने हजार गलियोंकी ओरस रोहिणीजीव कहा—भौमासुरने दिम्बिज्यके समय बहुत-से राजाओंकी जीतकर उनकी कन्या हमलोगोंको अपने मङ्गलमें बँधी बना रख्य था । मगधान्ने यह जानकर युद्धमें मैदान-सुर और उसकी सेनाका संहार कर हाथ और हथ-पूर्णसम्पत्त होनेपर भी उन्होंने हमलोगोंको बहोसे कुत्तार तथा पाणिग्रहण करके अपनी दासी बना लिया । रानीजी ! हम सदा-सर्वदा उनका उन्होंने चरणकमलोंमें चिन्तन करती रहती थी जो जन्म-मृत्युसम्पत्त संकटसे मुक्त करनेवाले हैं ॥ ४० ॥ साध्वि दौरीदबी ! हम साम्राज्य, इन्द्रज्य अपवा इन दोनोंका भाग, बन्धिम आदि ऐश्वर्य, ब्रह्माक्षर पद, माध्व अवका सन्तोष, साक्ष्य आदि मुक्तियों—कुछ भी नहीं चाहती । इन कवच इतना ही चाहती हैं कि अपने प्रियतम प्रभुके सुगन्धस चरणकमलोंकी वह भीरु सर्वदा अपने स्तित रहन किया करें, जो लक्ष्मीजीक वध स्त्रिय एवं ईश्वरकी सुगन्धसे युक्त है ॥ ४१ ४२ ॥ उन्मत्ति-मणि भगवान्क जिन चरणकमलोंका स्पर्श उनके गौर चरणसे समय गौर, गन्धियों, पीतियों, निनक और वास-उत्तारैतक परमा चाहती थी, उद्दीपि हम भी चाह ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराणे गरुडहस्तां सदित्यायं

चरमोऽध्याय उच्यते अष्टाश्रितमाध्याय ॥ ८३ ॥

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः

चतुर्वेदकीका पञ्चोत्सव

श्रीशुक उवाच

धृत्वा पृथा सुषलपुष्पथ बाधसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलारमणि हरौ प्रणयानुषन्ध
सर्वा विविस्पुरलमधुक्लङ्कलाक्ष्यः ॥ १ ॥
इति सन्मायमाणासुं स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृप ।
आयपुर्व्वनयस्तत्र कृष्णरामद्विरुष्या ॥ २ ॥
द्वैपायनां नारदश्च प्यवनो देवलोऽसितः ।
निश्चामित्रः क्षतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥
रामः सखिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो मृगुः ।
पुलस्त्यः कस्यपोऽग्निश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥
द्वितस्त्रितयैकतय ब्रह्मपुत्रास्तथाक्षिराः ।
अगस्त्यो बाह्वस्त्वथ चामदेवादयोऽपरे ॥ ५ ॥
तान् हृष्टा सहसात्वाप प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रजमुर्विभवन्दितान् ॥ ६ ॥
तानानर्घुर्यथा सर्वे सहस्रामोऽन्युतोऽर्घयत् ।
स्वागतासनपादार्यमात्स्यधूपानुत्थपनैः ॥ ७ ॥
उवाच सुसमासीनान् भगवान् धर्मशुक्लः ।
सदसस्तस्य महतां वतवाचाऽनुशृण्वतः ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

महा धय अन्मभृतां लब्धं कास्तन्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुष्प्रापं यद् यागेभ्यर्दक्षेणम् ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! सर्वसिद्ध भक्त-
भगवानी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति उनकी पत्नियोंका
क्षितना प्रेम है—यह बात कुन्ती, गन्धारी, द्रौपदी,
सुभद्रा, दूसरी राजपत्नियों और भगवान्की मित्रा
त्रेपियोंने भी सुनी । सबकी-सब उनका यह कलौविक
प्रम देखकर अत्यन्त मुग्ध, अत्यन्त विस्मित हो गयीं ।
सबके नेत्रोंमें प्रेमका औस उल्लस आये ॥ १ ॥ इस
प्रकार जिस समय त्रियोंसे त्रियों और पुरुषोंसे पुरुष
बालचील कर रहे थे, उसी समय बहुत-से ऋषि-मुनि
भगवान् श्रीकृष्ण और कज्जामजीका दर्शन करनेके लिये
आये ॥ २ ॥ उनमें प्रधान ये थे—श्रीकृष्णद्वैपायन
व्यस, देवर्षि नारद, प्यवन, देवल, अस्ति, निश्चामित्र,
क्षतानन्द, भरद्वाज, गौतम, अपने शिष्योंके सहित भगवान्
परशुराम, बन्धित, गङ्ग, मृगु, पुलस्त्य, कस्यप, अत्रि,
मर्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, सनक, सनन्दन
सनातन, सनत्कुमार, अक्षिर, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और
वामदेव इत्यादि ॥ ३—५ ॥ ऋषियोंका देखकर पल्लवे
बैठे हुए मरपत्तिगण, दुविष्टि आदि पाण्डव, भगवान्
श्रीकृष्ण और कज्जामजी सहसा उत्कट लड़े हो गये
और सबने उन विस्मयित ऋषियोंके प्रणम किया ॥ ६ ॥
इसके बाद सागत, आसन, पाद, अर्घ्य, पुष्पमाल्य, धूप
और चन्दन आदिसे सब राजाजोंने तथा कज्जामजीके
साथ स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उन सब ऋषियोंकी
विधिपूर्वक पूजा की ॥ ७ ॥ अब सब ऋषि-मुनि आरामसे
बैठ गये, तब धर्मशास्त्रके लिये अक्षरीय भगवान् श्रीकृष्णने
उनसे कहा । उस समय वह बहुत बड़ी सम्प्रदाय
भगवान्का भयण सुन रही थी ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अप्य हि ! इमज्जोगोका
जीवन सकट हो गया, आज जन्म लेनेका हमें पूरा-पूरा
फल मिल गया, क्योंकि त्रिन योगेश्वरोंका दर्शन बड़
बड़ देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है, उन्होंने

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।

दर्शनस्पर्शनप्रभप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥१०॥

न ब्रह्मवानि तीर्थानि न देवा मुच्छिलामयाः ।

ते पुनन्त्युरुक्कालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥

नाम्निर्न क्षयां न च चन्द्रतारका

न सूर्यलं स श्वसनोऽथ वायानः ।

उपासिता मेदकृतो हरन्त्यथ

विपश्चितो मन्ति शूद्रसंसेवया ॥१२॥

यस्सारमबुद्धिः कुप्यते त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौम इन्धधीः ।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिषि-

जनेष्वभिहृषु स एव गोखरः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

निश्चम्येत्यं भगवतः कृष्णसाकुण्ठमेधसः ।

यस्यो दुरन्त्यं विप्रास्तूष्णीमासन्न भ्रमद्वियः ॥१४॥

चिरं विमृशय मुनय इश्वरस्येक्षितव्यताम् ।

जनसंग्रह इत्युचुः स्मयन्तस्त भगवद्गुरुम् ॥१५॥

१ परम ।

दर्शन हमें प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥ निहोने बहुत बड़े तपस्य की है और जो लोग अपने इश्वरके सत्य प्राणियोंके हृदयमें न देखकर केवल मूर्तिविशेषमें ही लक्ष्य दर्शन करते हैं, उन्हें आपलोगोंके दर्शन, स्पर्श, कृष्ण-मल प्रणाम और पादपूजन आदिक सुब्रह्मसर मन्त्र का मिल सकता है ॥ १० ॥ केवल ब्रह्मस्य तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहल्यते और केवल मिट्टी या फलरकी प्रतिमों ही देवता नहीं होतीं, संत पुरुष ही वास्तवमें तीर्थ और देवता हैं, क्योंकि उनका बहुत सम्यक्ता सेन किया जाय, तब वे पवित्र करते हैं, परन्तु संत पुरुष तो दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं ॥ ११ ॥ बलि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, क्षी और मनके अविद्यात-देवता उपसन्ना करनेपर भी परमा पूरा-पूरा नाश नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी उपसन्ना-से मेद-बुद्धिका नाश नहीं होता, वह और भी बढ़ती है । परन्तु यदि धर्मी-दो-बर्मी भी ब्रह्मी महापुरुषोंकी सेवा की जाय तो वे सारे पाप-ताप मिट्टा देते हैं, क्योंकि वे मेद-बुद्धिके विनाशक हैं ॥ १२ ॥ महात्म्यो और समसूतो । जो मनुष्य वात, पित और कफ-ए-तीन धातुओंसे बने हुए शब्दरूप्य शरीरको ही ब्रह्म-भ्रमना भौम, बी-मुत्र आदिको भी अपना और मिट्टी, फल, काष्ठ आदि पार्थिव वस्तुओंको ही इश्वर मानता है तथा जो केवल जलसे ही तीर्थ समझता है—ब्रह्मी महापुरुषोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुजनों में नीच गण ही है ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । भगवान् श्री-कृष्ण अत्यन्त ब्रह्मसम्पन्न हैं । उनका यह गुण स्वयं सुमकर सबके-सब श्रमि-मुनि चुप रह गये । उनकी बुद्धि चक्षुरमें पड़ गयी, वे समझ न सके कि भगवान् यह क्या कह रहे हैं ॥ १४ ॥ उन्होंने बहुत देरतक विचार करनेके बाद यह निश्चय किया कि भगवान् सर्वेश्वर होनेपर भी जो इस प्रकार सामान्य, कर्म-परकण जीवकी भाँति व्यवहार कर रहे हैं—यह केवल उनके संभ्रमेके लिये ही है । ऐसा समझकर वे मुसकड़ाते हुए जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे ॥ १५ ॥

मुनय उचुः

यन्मायया तस्यविदुत्तमा धय

विमोहिता विमसृजामधीधराः ।

यदीदितम्यामवि गूढ ईदया

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥

अनीह एतद् बहुधैक आत्मना

सृजत्यवत्यपि न वक्ष्यते यथा ।

भौमैर्ह मूर्धिर्यद्भुतामरुषिणी

अहो विभूज्जरितं विहम्बनम् ॥१७॥

अथापि कालं स्वजनाभिगुप्तये

विभर्षिं सख्यं खलनिग्रहाय च ।

स्वलीलाया यदपथ सनातन

तगाभमन्मा पुरुषः परा भवान् ॥१८॥

प्रज्ञं ते ह्यस्य गुणैः तस्य स्वाध्यायमयमः ।

यथावलज्जं मयि व्यक्तमन्यक्तचतत परम् ॥१९॥

तस्माद्भ्रमप्रदुर्ध्रमज्ञानायातमवमायन ।

सभाजयमि सद्दाम तद्भ्रमप्रज्ञाप्रणीर्मवान् ॥२०॥

अथ नो नमसास्तस्य त्रिषायास्तपसा रजः ।

तस्या मंगम्य सद्गुणा यदन्तः भगवतो पर ॥२१॥

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकृष्टमधस ।

१ यः पदमस्यमयः ।

मुनियोंने कहा—भगवन् । आपकी मायासे प्रजा

पनियोंके लवीधर मरीचि आदि तथा बड़-बड़ तत्त्वज्ञानी

हमअंग माहित हो रहे हैं । आप स्वयं ईश्वर होते हुए

भी मनुष्यकी-सी चेष्टाओंसे अपनेकी छियाये रखकर

जीवकी भाँति आचरण करते हैं । भगवन् । सचमुच

आपकी जीव कल्पित मित्रि है । परम आश्चर्यमयी

है ॥ १६ ॥ जैसे पृथ्वी अपने निचरों—वृक्ष, पत्थर,

फल आदिके द्वारा बहुत-से नाम और रूप ग्रहण कर

लेती है, वास्तवमें वह एक ही है, वैसे ही आप एक

और चेष्टाहीन होनेपर भी अनेक रूप धारण कर लेते

हैं और अपने-आपसे ही इस जगत्की रचना, रक्षा और

संहार करते हैं । पर यह सब करते हुए भी इन कर्मोंसे

श्रित नहीं होते । जो सजातीय, विजातीय और स्वगन्त

भेदशून्य पथरस अनन्त है, उसका यह चरित्र जीव

मित्र नहीं तो और क्या है ? धन्य है आपकी यह

जीव । ॥ १७ ॥ भगवन् । यद्यपि आप प्रकृतिसे परे,

स्वयं परमेश्वर परमेश्वर हैं; तथापि समय-समयपर मनु-

जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये त्रिभुव

मरुत्तम्य धीविग्रह प्रकट करते हैं और अस्सी लीलायुक्त

द्वारा सनातन वैदिक मन्त्रकी रक्षा करते हैं, क्योंकि

सभी वर्णों और आश्रमोंके स्वयं आप स्वयं ही प्रकट

हैं ॥ १८ ॥ भगवन् । वर आपका निमुद हृदय है,

तत्त्व, व्याप्य, गणा, प्यान और सम्पत्तिके द्वारा

उत्तमि आपके सत्वर-निराकर स्वर और तानोंके

अग्निस्त्रिभुव परम परमात्मन साक्षरकर द्वान्

है ॥ १९ ॥ परमात्मन् । आपकी ही वेंकों आधारभूत

आपके स्वमयी उग्रस्थिक स्थन है ईश्वर आप

प्रादुर्गोक्त सम्मान करते हैं और इसीसे आप आपन-

मन्त्रोंमें जागृत भी हैं ॥ २० ॥ आप सर्वत्र व्यापक

मन्त्रोंकी वाम लीला है और मन पुरुषोंकी परमत्र

गति है । आपमें निरन्तर आत्र ईश्वर जन विन, तप और

मन सत्त हा मन् । वस्तुतः सबके वाम कर जग

ही है ॥ २१ ॥ प्रभा । आपका इन अनन्त है आप

स्वयं सत्त्वितान्त्रिकता परम परमत्र भगवन् है ।

स्वयोगमात्रयाच्छममहिम्ने परमात्मने ॥२२॥

न यं विदन्स्वमी भूया एकस्मादाथ धृष्यामः ।

मायाज्वनिक्काच्छममात्मान कालमीश्वरम् ॥२३॥

यथा ज्ञानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्ववक् ।

नाममात्रेन्द्रियाभाव न वेद रहितं परम् ॥२४॥

एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेभ्यः ।

माययाविभ्रमवित्तो न वेद स्पृष्टुपप्लवात् ॥२५॥

तस्माद्य ते दृष्टिमात्रमिन्द्रियमयं

तीर्थास्पदं इति कृतं सुविप्रयोगैः ।

उत्सिक्तभक्त्युपहृताश्रमजीवकोष्ठा

आधुर्मन्त्रप्रतिमधोऽनुगृहाण भक्तान् ॥२६॥

भीतिक उवाच

इत्यनुवाच्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।

राजर्षे स्वाभमान् गन्तुं सुनयो दधिरे मनः ॥२७॥

वत् पीड्य तानुपग्रन्थ वसुदेवो महायथाः ।

प्रणम्य चोपसंगृह्य वभापेद् सुयन्त्रितः ॥२८॥

आपने अपनी अविनश्य शक्ति योगमायके द्वारा ब्रह्म महिमा छिपा रखी है, हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ २२ ॥ ये सभामें बैठे हुए राजाज्ये और दूसरोंसे वे बात ही क्या, स्वयं आपके साथ आहार-निहार करने वाले यदुबंशी लोग भी आपको वास्तवमें नहीं जानते क्योंकि आपने अपने स्वरूपको—जो सबका बाह्य जगत्का आधिकारण और निपन्ता है—अपने परदेसे छिप रक्खा है ॥ २३ ॥ जब मनुष्य स्वप्न देखने लगता है, उस समय स्वप्नके सिप्पा फटावोंको ही सत्य समझता है और नाममात्रकी इन्द्रियोंसे प्रेरित होनेको अपने स्वप्नशरीरको ही वास्तविक शरीर मान बैठता है । उसे उतनी देरके छिये इस बातपर विवश ही पड़ नहीं रहता कि स्वप्नशरीरके अतिरिक्त एक जाम्बू-ज्वलन्त शरीर भी है ॥ २४ ॥ ठीक इसी प्रकार जाम्बू-ज्वलन्तों में इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप मायासे चित्त मोहित होकर नाममात्रके विषयोंमें भटकने लगता है । उस समय भी चित्तके चक्करसे विवेकशक्ति छिप जाती है और जीव यह नहीं जान पाता कि आप इस जाम्बू संसारसे परे हैं ॥ २५ ॥ प्रभो ! कब-कब क्षत्रि-मुनि अकल्प परिष्क योग-साधकोंके द्वारा आपके उन करणकरकेको हरकमें पारण करते हैं, जो समस्त प्राणशक्ति नष्ट करनेको गन्तव्यको भी आशयस्थान हैं । यह बड़ा सौभाग्यकी बात है कि आज हमें उनकी दार्शन दृष्टि मिल रही है । प्रभो ! हम आपके भक्त हैं, आप हमपर अनुग्रह कीजिये; क्योंकि आपके परम पदकी प्राप्ति उन्हीं लोगोंको होती है, जिनका शिष्टशरीररूप जीव-कोश आत्मकी उन्मुख शक्तिके द्वारा मद्य हो जाता है ॥ २६ ॥

भीशुकोदेवजी कहते हैं—राजर्षे ! भगवान्की इस प्रकार स्तुति करके और उनसे, राजा धृतराष्ट्रसे तथा धर्मराज युधिष्ठिरजीसे अनुमति लेकर उन लोगोंमें अपने आश्रमपर जानेका विचार किया ॥ २७ ॥ परम परास्त्री वसुदेवजी उनका जानेका विचार देखकर उनके पास आये और उन्हें प्रणाम किया और उनके चरण पकड़कर वही मन्त्रासे भिक्षेदन करने लगे ॥ २८ ॥

वसुदेव उवाच

नमो व सर्वदेवेभ्यः श्रवणः श्रोतुमर्हथ ।

कर्मणा कर्मनिर्हारी यथा स्वाच्छन्दस्यताम् ॥२९॥

भारद उवाच

नोविचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो ब्रुवत्सया ।

कृष्णं मत्त्वार्मकं यक्षः पूञ्छति श्रेय आत्मनः ॥३०॥

संनिकर्षो हि मर्त्यानामनाद्वरणकारणम् ।

गाङ्गां हित्वा यथान्यान्मस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥३१॥

यस्मानुमृतिः कालेन लयात्पश्चादिनास वै ।

स्वतोऽन्यथाश्च गुणतो न कुतश्चन रिच्यति ॥३२॥

तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै

रण्याहृतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।

प्राणादिभिः स्वनिभवरूपगूढमन्यो

मन्मेत दर्पमिह मेघहिमोपरागैः ॥३३॥

अपोर्धुनया राजभाभाभ्यानकदुन्नुमिम् ।

सर्वेषां शृङ्खलां राश्यां तथैवाप्नुतरामयोः ॥३४॥

कर्मणा कर्मनिर्हारी एष साधु निरूपितः ।

यच्छ्रद्धया यजेद् विष्णुं सर्वमङ्गेश्वरं मत्सैः ॥३५॥

चित्तस्वापन्नमोऽर्घं वै कविभिः शाल्यशमुपा ।

दर्शितः सुगमा योरो धर्मभारतमुदाहरः ॥३६॥

१ नापि चि ।

वसुदेवजीने कहा—श्रवणियो ! आपणोग सर्वदेव-
स्वरूप हैं । मैं आपजोगोंका नमस्कार करता हूँ । आप-
लोग कृपा करके मेरी एक प्रार्थना सुन दीजिये । यह
यह कि जिन कर्मोंके अनुष्ठानसे कर्मों और कर्मसाधनाओं-
का आत्यन्तिक नाश—मोक्ष हो जाय, उनका आप
मुझ उपदेश कीजिये ॥ २९ ॥

भारदजीने कहा—श्रवणियो ! यह कोई आश्चर्यकी
बात नहीं है कि वसुदेवजी भीष्मपक्षके अपना बाछ्य
समक्षकर शुद्ध विज्ञानप्रकाश भावसे अपने कल्याणका
साधन हमजोगोंसे पूछ रहे हैं ॥ ३० ॥ संसृजने बहुत
पास रहना मनुष्योंके अनादरका कारण हुआ करता
है । देखते हैं, गाङ्गातटपर रहनेवाले पुरुष गङ्गाजल
छोकर अपनी सुखिके लिये दूसरे तीर्थमें जाता
है ॥ ३१ ॥ भीष्मपक्षी अनुमृति समझके फरसे होने-
वासी जगत्की सुखि, स्थिति और प्रसन्नसे स्थितेवासी
नहीं है । वह स्वतः किसी दूसरे निमित्तसे, गुणोंसे
और किसीसे भी क्षीण नहीं होती ॥ ३२ ॥
उनका ज्ञानमय स्वरूप अविद्या, राग-द्वेष आदि क्लेश,
पुण्य-पापमय कर्म, सुख-दुःखदि क्लेश तथा सत्त्व
आदि गुणोंके प्रवाहसे ढकित नहीं है । वे स्वयं अद्वितीय
परमात्मा हैं । जब वे अपनेको अपनी ही शक्तियों—
प्राण आदिसे ढक लेते हैं, तब मूर्खयोग ऐसा समझते हैं
कि वे ढक गये, जैसे खरब, कुहरा या ध्वजके द्वारा
अपने नेत्रोंके ढक जानेपर स्वयंका ढका हुआ मन लेते
हैं ॥ ३३ ॥

परिश्रित ! इसका शब्द श्रवणियोंने भावान् भीष्म,
अश्वामनी और अन्यन्य राजाओंके सामन ही वसुदेव-
जीके सम्बोधित करके कहा— ॥ ३४ ॥ कर्मोंके द्वारा
कर्मसाधनाओं और कर्मकार्यका आत्यन्तिक नाश करने-
का सबसे अच्छा उपाय यह है कि यह आदिके द्वारा
समस्त यशोंके अधिपति भगवान् विष्णुकी धर्मात्मिक
आराधना करे ॥ ३५ ॥ निरालसदर्शी श्रवणियोंने शाल्य
हस्तिसे यही चित्तवृत्ति शान्तिकर उपाय, सुगम मोक्षसाधन
और चित्तमें आनन्दका उत्पन्न करनेवाला धर्म कथन

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।

यन्मृद्वयाऽऽविर्धेन शुक्लेनेन्येत पूरुयः ॥३७॥

वित्तैषणां यद्धदानैर्गृहैर्दारमुतैषणाम् ।

आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेव् पुषः ।

ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्भारान्तपोवनम् ॥३८॥

अत्रैस्त्रिभिर्द्विजो ज्ञातो देवर्षिपितृणां प्रभो ।

यथाभ्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्ष्य स्मञ्चन् पतेत् ॥३९॥

त्वं स्वयं मुक्तो द्वाभ्यां वै श्रविषित्रोर्महामते ।

यज्ञैर्देवर्षांस्तु न्युन्य निर्वर्धयोऽश्मरणो भव ॥४०॥

वसुदेव भवान् नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।

जगतामीश्वरं प्राचः स यव् वा पुत्रतां गतः ॥४१॥

भीमं क उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।

तान्पुनीनुत्तिवद्या वने मूर्ध्नाऽऽर्नम्य प्रसाद्य च ॥४२॥

त एनमृपयो राजन् हृता धर्मेण धार्मिकम् ।

तस्मिन्मयाजयन् क्षेत्रं मलैरुत्तमकल्पकैः ॥४३॥

तरीषायां प्रवृत्तायां वृक्षभयः पुष्करस्रजः ।

सावाः सुवासतो राजन् राजानः सुध्वलकूताः ॥४४॥

तं महिष्यथ मुदिता निष्कण्ठ्यः सुवाससः ।

है ॥ ३६ ॥ अपने न्यायार्जित मनसे भद्रार्थक पुष्पेन
मगानकी आराधना करना ही दिजानि—अरण्य, धर्म
और वैश्य गृहस्थके लिये परम कल्याणका म
है ॥ ३७ ॥ वसुदेवजी ! विचारवान् पुरुषको अहिंसकिक
दान आदिके द्वारा धनकी इच्छाको, गृहस्थोचित मोक्षार्थ
की-पुष्पकी इच्छाको और कल्याणसे लग्न की भां में
नष्ट हो जाते हैं—इस विचारसे लोकैषणाको त्याग दे ।
इस प्रकार धीर पुरुष धर्ममें रहते हुए ही तीनों प्रकारकी
एषणाओं—इच्छाओंको परित्यक्त करके तपोवनका उत्तम
स्थान करते थे ॥ ३८ ॥ समर्थ वसुदेवजी ! अण
शत्रिय और वैश्य—ये तीनों देवता, अग्नि और इन्द्र
का अण लेकर ही पैदा होते हैं । इनके अणोंसे ही
करा मित्रता है यज्ञ, अभ्ययन और सन्तानोत्पत्तिसे
इनसे उद्धारण हुए किता ही जो संसारका त्याग कर
है, उसका फल हो मत्त है ॥ ३९ ॥ परम मुदिक
वसुदेवजी ! आप अन्तक अग्नि और वित्तोंके शर्मसे
तो मुक्त हो चुके हैं । अब यहाँके द्वारा देवताओं
अण चुका दीजिये, और इस प्रकार सबसे उद्धार होकर
गृहस्थाण कीजिये, मगानकी धरम हो जाय ॥ ४० ॥
वसुदेवजी ! आपने अक्षय ही परम भक्तिये जगतीक
भगवानकी आराधना की है, तभी तो वे आप दानोंके
पुत्र हुए हैं ॥ ४१ ॥

भीमवसुदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! परम मनकी
वसुदेवजीने श्रविष्योंकी यह बात सुनकर, उनके वरणों-
में सिर रखकर प्रणाम किया, उन्हें प्रसन्न किया और
यज्ञके लिये श्रविष्योंके रूपमें उनका वरन कर
लिया ॥ ४२ ॥ राजन् ! जब इस प्रकार वसुदेवजीने
धर्मार्थक श्रविष्योंको वरण कर लिया, तब उन्होंने पुष्प-
क्षेत्र कुक्षेत्रमें परम धार्मिक वसुदेवजीके द्वारा उत्तमोत्तम
सामग्रीसे युक्त यज्ञ करवाये ॥ ४३ ॥ परीक्षित ! जब
वसुदेवजीने यज्ञकी दीक्षा ले ली तब यदुनरिष्योंने स्नान
करके सुन्दर वस्त्र और कर्मोंकी मञ्जर्यें धारण कर
लीं; राजाजग वस्त्राभूषणोंसे स्वयं सुसज्जित हो गये ॥ ४४ ॥
वसुदेवजीकी पत्नियोंने सुन्दर वस्त्र अन्नराग और सोनेके
हारोंसे अपनेको सजा लिया और फिर वे सब बने

दीक्षाशालासुपाज्जमुरालिता वस्तुपाणयः ॥४५॥

नेदुर्दृढपददशमेयानकादयः ।

ननुर्नटनर्तक्यस्तुप्सुषुः सत्तमागधाः ।

जगु मुकण्ठयो गन्धर्व्य संगीतंसहभर्तकाः ॥४६॥

तमम्यपिञ्चन् विधिवदक्तमम्यक्तसुत्विज ।

पत्नीभिरष्टदशभिः सोमराजमिवोद्भुभिः ॥४७॥

ताभिर्दुह्यलव्यैर्हारिणूपुरदुण्डलैः ।

स्रलंकृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंभृतः ॥४८॥

तस्यत्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः ।

ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽञ्जरे ॥४९॥

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैरनुभिरन्विता ।

रजतु ससुतेदारौर्दीर्घशोः स्वविभूतिभिः ॥५०॥

ईजऽनुययं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।

प्राकृतेर्वर्तव्यं त्रयन्प्रातःकियेश्वरम् ॥५१॥

अथतिग्मपाऽददान् काल यथाश्रात स दधिणा ।

स्रलंकृतम्याऽलंकृत्य गाम्भूक्या महापनाः ॥५२॥

पद्मार्पणावाभृष्यैथरित्वा से महर्षय ।

आनन्दसे अपने-अपने हाथोंमें माहृषिक सामग्री लेकर
यज्ञशालामें आयी ॥ ४५ ॥ उस समय मृदङ्ग,
पण्डन, शङ्ख, ढोल और नगरे आदि ध्वज वजन लगे ।
नट और नर्तकियाँ नाचने लगीं । मृत और मगध स्तुति-
गान करने लगे । गन्धर्वोंके साथ सुरीले गलेवाली गन्धर्व
पत्नियाँ गान करने लगीं ॥ ४६ ॥ वसुदेवजीने पहले
नेत्रोंमें अंजन और शरीरमें मक्खन लगा दिया; फिर
उनकी वक्की आदि अटल पत्तियोंके साथ उन्हें
अजिनबोने महाभिरकरी विधिसे बैसे ही अमृतक पराया,
जिस प्रकार प्राचीन कालमें नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमाका
अभिवेक्ष हुआ था ॥ ४७ ॥ उस समय पहले दीक्षित
होनेके कारण वसुदेवजी तो मृगचर्म धारण किये हुए
थे, परन्तु उनकी पत्नियाँ सुन्दर-सुन्दर साड़ी, बंगल,
हार, पायजम और कर्माफल आदि आभूषणोंसे नूत
सजी हुई थीं । वे अपनी पत्तियोंके साथ मन्त्रीमूर्ति
शोभापन्न हुए ॥ ४८ ॥ महाराज । वसुदेवजीके
अन्विज और सदस्य राजवदित अभूषण तथा रेशमी
का धारण करके बैसे ही सुरोमित हुए, जैसे पहले
इन्द्रके पहले हुए थे ॥ ४९ ॥ उस समय भगवान्
श्रीकृष्ण और कलामयी अपन-अपन भद्र-कन्यु और
श्री-पुत्रोंके साथ इस प्रकार शोभापन्न हुए, जैसे अपनी
शक्तियोंके साथ समस्त जीवोंके इतर स्वयं भगवान्
समष्टि जीवोंके अग्निनी भीसर्पण तथा अपन विभुद
नामपणस्वरूपमें शोभापन्न होते हैं ॥ ५० ॥

वसुदेवजीने प्रत्येक पक्षमें आग्निष्टोम, दश, द्वादश
आदि ग्राह्य यज्ञों, सौरस्यदि ईह्य यज्ञों और अग्नि-
होत्र आदि अन्यत्र यज्ञोंके द्वारा दध्य, क्षिप और उनक
ज्ञानक—मन्त्रोंके स्थायी विष्णुभगवन्की आराधना
की ॥ ५१ ॥ इसका बाद उन्होंने उचित समयमें
अजिनबोने यज्ञाङ्गागसे मुसन्निह रिया और
गन्धर्व अलम्बन बटन-रुई दधिना तथा प्रजु
धनक साथ अङ्गन गौरी, गृध्री और मुन्नी
पट्टोंकी ॥ ५२ ॥ इसका बाद उन्होंने
पद्मार्पण नामक यज्ञ और अर्चपूजन अर्थात्

बन्धुषु प्रविशतेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।

वीक्ष्य प्राङ्मुखासक्तां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥

अनेम्यः कथयांचकुर्यदुदेवमहास्रवम् ।

यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सदर्शनाविकम् ॥७१॥

अन सन बन्धु-कान्धव कहाँसे विदा हो चुके, उन भगवान् श्रीकृष्णको ही एकमात्र इहदेव मननेछे यदुवशियोंन यह देखकर कि अब कर्मा अष्ट व पहुँची है, द्वारकके लिये प्रस्थान भिन्न ॥ ७० ॥ कहाँ जायत उन्होंने सब छेगेंसे वसुदेवजीके क-महास्रव, स्वजन-सम्बन्धियोंके दर्शन भिन्न कदि तीर्थयात्राके प्रसङ्गको कह सुनाया ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

श्रीभगवान्के द्वारा वसुदेवजीको अष्टकानका उपवश तथा देवकीजीके उन पुत्रोंको बीडा जाना

श्रीबादरायमित्याद्य

अथैकदाऽऽत्मजौ प्राप्नौ कृतपादाभिवन्दनौ ।

वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्घर्षणाभ्युद्यौ ॥ १ ॥

सुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धर्मसूचकम् ।

तद्दीपैर्जलविध्रम्भः परिभाष्याम्यभाषत ॥ २ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्घर्षण सनातन ।

जाने वामस्य येत् साक्षात् प्रधानपुरुषा परा ॥ ३ ॥

यय येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा ।

सादिदं भगवान् साधात् प्रधानपुरुषश्चरः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित । इसके एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण और कञ्जामयी प्रतापकर्म प्रणाम करनेके लिये मत्ता-मिताके पास गये । प्रणाम कर केनेर वसुदेवजी कह प्रेमसे दोनों आर्पण अभिनन्दन करके कहने लगे ॥ १ ॥ वसुदेवजीने वह-वह श्रवणियोंके मुँहसे भगवान्की मन्त्रि सुनी थी तथा उनके ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र भी देखे थे । इससे उन्हें इस कतका इह विषय हो गया था कि ये सनातन पुरुष नहीं, स्वयं भगवान् हैं । इसलिये उन्होंने अपने पुत्रोंके प्रेमपूर्वक सम्बोधित करके यों कहा— ॥ २ ॥ 'सन्दिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण । महायोगीश्वर सङ्घर्षण । तुम दोनों सनातन हो । मैं जनता हूँ कि तुम दोनों सारे जगत्के साक्षात् करमस्वरूप प्रकट और पुरुषके भी नियामक परमेश्वर हो ॥ १ ॥ इस जगत्के आधार, निर्माता और निर्माणसमर्थ भी तुम्हीं हो । इस सारे जगत्के स्वामी तुम दोनों हो और तुम्हारी ही कीड़ाके लिये इसका निर्माण हुआ है । यह जिस समय, जिस रूपमें जो कुछ रहता है, होता है—वह सब तुम्हीं हो । इस जगत्में प्रकृति-रूपसे भोग्य और पुरुषरूपसे भाव्य तथा दोनोंसे परे दोनोंके नियामक साक्षात् भगवान् भी तुम्हीं हो ॥ २ ॥

एतस्मानाविधं विम्वमात्मसृष्टमधोऽध्वज ।

आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणा जीवो विभर्ष्यजः ॥ ५ ॥

प्राणादीनां विभसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।

पारतन्त्र्याद् वैसाहस्याद् द्वयोर्भट्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्त्वा कन्त्राग्न्यर्कैर्विद्युताम् ।

यत्स्पर्धेभूयतां भूमेर्हविर्गन्धोर्ध्वतो मवान् ॥ ७ ॥

तर्पयं प्रागनमपां देवत्वं ताम्र तत्रसः ।

ओज सहा बल वेष्टा गतिर्वायोस्तवेधर ॥ ८ ॥

दिष्टां त्वमवकाशोऽसि दिष्ट त्वं स्फोट आभयः ।

नाहो बर्षस्त्वमोकार आकृतीनां पृथक्कृतिः । ९ ॥

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाभ तदनुग्रहः ।

अवबोधो भवान् बुद्धिर्वाक्स्थानुस्मृतिः सती ॥ १ ॥

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजस ।

वकारिण विस्त्वानां प्रधानमनुशासिनाम् ॥ ११ ॥

नमरत्विह भावेषु तदसि त्वमनमरम् ।

इन्द्रियार्थित ! जन्म, अस्तित्व आदि भवविकारोंसे रहित परमात्मन् ! इस विभ्र-विचित्र जगत्का तुम्हीने निर्माण किया है और इसमें स्वयं तुमने ही आत्मरूपसे प्रवेश भी किया है । तुम प्राण (क्रियाशक्ति) और जीव (ज्ञानशक्ति) के रूपमें इसका शासन-योग्य कर रहे हो ॥ ५ ॥ क्रियाशक्तिप्रधान प्राण आदिमें जा बगत्की वस्तुओंकी सृष्टि करनेकी सामर्थ्य है, वह उनकी अपनी सामर्थ्य नहीं, तुम्हारी ही है । क्योंकि वे तुम्हारे समान चेतन नहीं, अचेतन हैं, स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र हैं । अतः उन चेष्टशील प्राण आदिमें केवल चेष्टामात्र होती है, शक्ति नहीं । शक्ति तो तुम्हारी ही है ॥ ६ ॥ प्रभो ! कन्त्रमकी कान्ति, अक्षिप्त तेज, सूर्यकी प्रभा, नक्षत्र और विषुव आदिकी स्फुरणरूपसे सत्त्वा, पर्तोंकी स्थिरता, पृथ्वीकी सघारण-शक्तिरूप इति और गन्धरूप गुण—ये सब वस्तुत्वमें तुम्हीं हो ॥ ७ ॥ परमेधर ! जन्मे तूम करने, जीवन देने और मृद करनेकी जो शक्तियाँ हैं, वे तुम्हारा ही स्वरूप हैं । ऋ और उरुका रस भी तुम्हीं हो । प्रभो ! इन्द्रियाशक्ति, कन्त-कलणकी शक्ति, शरीरकी शक्ति, उरुका क्षिप्ता-बलना, कन्त्रा-क्षिरना—ये सब वायुकी शक्तियाँ तुम्हारी ही हैं ॥ ८ ॥ दिष्टार्थ और उनके अवकाश भी तुम्हीं हो । अवकाश और उसका आश्रयभूत स्फोट—इन्द्रतन्त्रात्ता या परा कणी, नाद—पर्यन्ती, ओंकार—मध्यम तथा कर्ण (अक्षर) एवं पदसौंका अल्पा-अल्पा निर्देश करनेकले पश्य्य बसरी कणी भी तुम्हीं हो ॥ ९ ॥ इन्द्रियों, उनकी विषयप्रवर्तिनी शक्ति और अविच्छिन्न वक्ता तुम्हीं हो ! बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति और जीवकी विषुव स्थिति भी तुम्हीं हो ॥ १० ॥ मूर्त्यमें उनका कारण ताम्र अहङ्कार, इन्द्रियोंमें उनका कारण तैजस अहङ्कार और इन्द्रियोंके अविच्छिन्न-वेकताद्यमें उनका कारण सारिक अहङ्कार तथा र्त्तोंके अवय-गमनका कारण माया भी तुम्हीं हो ॥ ११ ॥ मगन् ! जैसे मिट्टी आदि वस्तुओंके विकार बका, इष्ट आदिमें मिट्टी निरन्तर कर्मण है और वास्तवमें वे कारण

सन् रामहरे विद्या यजमानपुरस्मराः ॥५३॥

स्नोतोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽष्टाशथा स्त्रियः ।

ततः सर्लङ्कृतो वर्षानामभ्योऽन्नेन पूजयत् ॥५४॥

कन्धून् सदारान् समुत्तान् पारिवर्हेष भूयसा ।

विदर्भकोसलङ्कुरुन् काशिकेकमसुखयान् ॥५५॥

सदस्सर्त्तविसुरगणान् नृभूषणपितृचारणान् ।

भीनिकेतमनुष्ठाप्य शंसतः प्रययुः क्रतुम् ॥५६॥

धृतराष्ट्रोऽनुबः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा वयौ ।

नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्सम्बन्धिवान्भवाः ॥५७॥

कन्धून् परिष्वज्य यवन् सौहृदात् क्रिभवेतसः ।

ययुर्विरहकृष्ण स्वदेष्टाभापरे जनाः ॥५८॥

नन्दन्तु सह गोपालर्षिहत्या पूजयार्चितः ।

कृष्णरामोऽग्रसेनाद्यैर्नवास्तीव्र बन्धुवत्सलः ॥५९॥

वसुदेवोऽजसोर्षीर्मानोरभमहार्णवम् ।

सुहृद्वृत्तः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥६०॥

वसुदेव उवाच

भ्रातरीयकृतः पादो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः ।

तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि यामिनाम् ॥६१॥

यद्वाप्त-स्नानसम्बन्धी अवशेष कर्म करार करुणेश्वरी

आगे करके परशुरामजीके बनाये हृदये—रामहरे

स्नान किया ॥ ५३ ॥ स्नान करनेके बाद वसुदेव

और उनकी पत्नियों बदीन्नोंको अपने सारे वस्त्रमाला

दे दिये तथा स्वयं नये वस्त्रामूषणसे सुसज्जित हाथ

उन्होंने ऋषियोंसे लेकर कुर्तोंतकत्रे भोजन कराया ॥ ५४ ॥

तदनन्तर अपने महर्षि-कन्धूओं, उनके श्री-पुत्रों तथा

विदर्भ, कोसल, कुरु, काशी, केवल और सुबल आदि

देशोंके राजाओं, सदस्यों, ऋषिजों, देवताओं, मनुजों,

भूतों, पितरों और चारणोंको विदाहिके रूपमें बहुत-सी

मेट देकर सम्मानित किया । वे लोग अग्नीपति मन्त्र

श्रीकृष्णकी अनुमति लेकर पक्षकी प्रशंसा करते हुए

अपने-अपने घर चले गये ॥ ५५-५६ ॥ परीक्षित ।

उस समय राजा धृतराष्ट्र, विदुर, युधिष्ठिर, भीम, कर्ण,

भीमप्रियतम, द्रोणचार्य, कुन्ती, नकुल, सहदेव, नरक,

भगवन्, अश्वदेव तथा दूसरे स्वजन, सम्बन्धी और

बान्धव अपने ब्रित्नी कन्धु पादवेष्टोंको ओढ़कर जलमें

अत्यन्त शिष्ट-व्यवहार अनुभव करने लगे । उन्होंने

अत्यन्त स्नेहार्थ चित्तसे यदुर्वर्तिप्रेम काञ्चिन्ना कि

और बड़ी कठिनाहसे किसी प्रकार अपने-अपने केशों

गये ॥ दूसरे लोग भी इनके साथ ही जाँसि रहना ही

गये ॥ ५७-५८ ॥ परीक्षित । भगवन् भीष्म, क-

रामजी तथा उपसेम आदिने नन्दकथा एवं अन्य सब

गोपोंकी बहुत बड़ी-बड़ी सामर्थ्यसे कर्षा-पूजा की

उनका उत्कर्ष किया, और वे प्रेम-पक्कड़ होकर बहुत

दिनोंतक वहीं रहे ॥ ५९ ॥ वसुदेवजी कनाकस ही

अपने बहुत बड़े मनोरपक महासुगन्ध पार कर गये थे ।

उनके आगन्तकी सीमा न थी । सभी जगदीश स्वयं

उनके साथ थे । उन्होंने नन्दकथाका हाथ पकड़कर

कहा ॥ ६० ॥

वसुदेवजीका कहार—महर्षि । भगवन्ने मनुष्योंके

धिये एक बहुत बड़ा कथन बना दिया है । उस कथन-

का नाम है स्नेह, प्रेमाश । मैं तो ऐसा सम्मान है

कि बड़े-बड़े शूरवीर और योगी-पति भी उसे तोड़नेमें

असाक्षप्रतिक्रमेय यत् कृताङ्गेषु सत्तमै ।

मैत्र्यर्पिताफला वापि न निर्वर्तेत कश्चित् ॥६२॥

प्रागकल्पाश्च कुशलं भ्रातृषो नाशराम हि ।

अधुना भीमदान्धाद्या न पश्यामः पुरः सतः ॥६३॥

भारान्यभीरभूत पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।

स्रज्जनानुत्त वन्धून् वानपश्यति ययान्धरक् ॥६४॥

महिरु उवाच

एवं सौहृदक्षैधिन्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।

रुोद तत्कृतां मैत्रीं सरसभुविलोचनः ॥६५॥

नन्दस्तु सस्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।

अथ च इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥६६॥

ततः क्रामैः पूर्णमाणः समजः सहबान्धव ।

परार्णाभरणद्योमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥६७॥

यसुदेवोपसेनान्मां कृष्णोद्भवतादिभिः ।

दशमाशाय पारिषद याकिता यदुभिर्भयौ ॥६८॥

नन्दा गाथाय गाप्यथ भाविन्दुश्चरण्याम्बुज ।

वनः विषं पुनर्हर्तुमनीता मधुरां ययुः ॥६९॥

असमर्थ हैं ॥ ६१ ॥ आपन हम अन्तर्होंके प्रति अनुपम मित्रताका व्यवहार किया है । क्यों न हो, आप-सरीखे संत-शिरोमणियोंका ता ऐसा स्वभाव ही होता है । हम इसका कमी बदल नहीं चुका सकते, आपको इसका कोई फल नहीं दे सकते । फिर भी हमारा यह मैत्री-सम्बन्ध कमी टूटनेवाला नहीं है । आप इसको सदा निमाते रहेंगे ॥ ६२ ॥ भाईजी ! पहले तो बड़ी गृहमें बंद होनेके कारण हम आपको कुछ भी प्रिय और हित न कर सके । अब हमारी यह दशा हो रही है कि हम वन-सम्पत्तिके नष्टसे—धीमदसे अचे हो रहे हैं । आप हमारे समने हैं तो भी हम आपको और नहीं देख पाते ॥ ६३ ॥ इसीको सम्मान देकर स्वयं सम्मान न चाहनेवाले भाईजी ! जो कल्याणकारी है उसे राज्यश्री न मिले—इसीमें उसका मज है, क्योंकि मनुष्य राज्यश्रीसे अंधा हो जाता है और अपने भाई-बन्धु, स्रजनोत्तमको नहीं देख पाता ॥ ६४ ॥

भीशुकरदेवकी कहते हैं—परीक्षित । इस प्रकार कष्ट-वद्धते कसुदेवकीका हृदय प्रेमसे गहृद हो गया । उन्हें नन्दबाबाकी मित्रता और उपकार स्मरण हो आये । उनके नेत्रोंमें प्रेमाशु उमड़ आये, वे रोने लगे ॥ ६५ ॥ नन्दजी अपने सख कसुदेवकीकी प्रसन्न करनेके लिये एवं मगधन् धीरुष्ण और कश्यपकीके प्रेमप्रसंगों बँचकर आज-कल परत-परत तीन महीनेका बर्बाद रह गये । यदुवाशियोंने जीमर उनका सम्मान किया ॥ ६६ ॥ इसके बाद मङ्गल्य आभूषण, रेशमी कपड़ा, नाना प्रकारकी उत्तमोत्तम सामग्रियों और भोगोंसे नन्दबाबाको, उनके प्रबन्धसी सपियोंको और बन्धु-बान्धवोंको सब पत्र किया ॥ ६७ ॥ कसुदेवजी, उपसेन, धीरुष्ण, कश्यप, उदय आणि यदुवाशियोंने अज-अज उन्हें अनेकों प्रकारकी भेंटें दीं । उनके विशा परनग उन सब सामग्रियोंको लेकर नन्दाबाबा अपने प्रबन्ध लिये रवाना हुए ॥ ६८ ॥ नन्दाबाबा, गणों और गोशियोंका विश भगदन् धीरुष्णक काण-कर्मजोंमें हुए प्रसन्न हुए कि वे फिर प्रसन्न परनग । भी उसे बर्बाद नैया म सक । सुनता भिना ही मनके । उन्होंने मधुराई यात्र की ॥ ६९ ॥

कन्धुषु प्रतिपातेषु कृष्णयः कृष्णदेवताः ।

वीक्ष्य प्रावृषमासभां मयुर्दरिवती पुनः ॥ ७० ॥

जनेभ्यः कथयांचक्रुर्धनुदेवमहोत्सवम् ।

यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्संदर्शनादिकम् ॥ ७१ ॥

जब सब कन्धु-नाम्न कहींसे विरा हो चुके, तब भगवान् श्रीकृष्णको ही एकमात्र इष्टदेव माननेके यदुर्वाशियोंने यह देखकर कि अब क्या बहुत बर्षोंकी है, द्वारकाके लिये प्रस्थान किया ॥ ७० ॥ कहीं जाकर उन्होंने सब जगहोंसे कसुदेवजीके सम्बन्धमें, स्वनन-सम्बन्धियोंके दर्शन-मिलन आदि तीर्थयात्राके प्रसङ्गोंको कह सुनाया ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

श्रीभगवाद्देवे द्वारा कसुदेवजीको प्रह्लादानका उपवेश तथा देवकीजीके छः पुत्रोंको छोटा बाला

मीमादरायमित्याद्य

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! इसके कर

अथैकदाऽऽत्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।

कसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाभ्युतौ ॥ १ ॥

सुनीनां च वचः श्रुत्वा पुत्रयार्थमसूचकम् ।

तदीर्यैवातविभ्रमः परिभाष्याम्यभाषत ॥ २ ॥

कृष्ण कृष्ण महायागिन् सङ्कर्षण सनातन ।

जाने वामस्य येत् साध्यात् प्रधानपुरुषो परा ॥ ३ ॥

यय यन यता यस्य यस्मै यद् यद् यथा यद् ।

सादिदं भगवान् साध्यात् प्रधानपुरुषश्च ॥ ४ ॥

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण और कस्यमजी प्रातः कर्मन प्रणाम करनेके लिये मत्स्य-प्रिताके पास गये। प्रणाम कर केनेर कसुदेवजी बड़े प्रेम्से दोनों मध्यम अमिनन्दन करके कहने लगे ॥ १ ॥ कसुदेवजीने बड़े बड़े श्रवणियोंके मुँहसे भगवन्की महिमा सुनी थी तब उनके ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र भी देखे थे। इससे उन्हें इस बातका दृढ़ विश्वास हो गया था कि ये सनातन पुरुष नहीं, स्वयं भगवान् हैं। इसलिये उन्होंने अपने पुत्रोंको प्रमुखक सम्बोधित करके यों कहा—॥ २ ॥ 'संस्थितानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण। महायोगेश्वर सङ्कर्षण। तुम दोनों सनातन हो। मैं अबतक है कि तुम दोनों सारे जगत्के साध्यात् वरजस्वरूप प्रधान और पुरुष भी नियमक परमेश्वर हो ॥ ३ ॥ इस जगत्का आधार, निष्ठा और नियामकमर्त्य भी तुम्हीं हो। इस सारे जगत्का स्थापन तुम दोनों ही और तुम्हारी ही धीमाके लिये हमारा निर्धन हुआ है। यह जिस समय, जिस रूपसे या कुछ रहता है, जानें—यह सब तुम्हीं हो। इस जगत्में प्रति-रूपसे भोग्य और पुरुषरूपसे भाव्य तथा ज्ञाते पर दोनों नियमक साध्यात् भगवान् भी तुम्हीं हो ॥ ४ ॥

१ यय यन यता यस्य यस्मै यद् यद् यथा यद् । २ यय यन यता यस्य यस्मै यद् यद् यथा यद् । ३ यय यन यता यस्य यस्मै यद् यद् यथा यद् । ४ यय यन यता यस्य यस्मै यद् यद् यथा यद् ।

एतस्मानाविर्घं विश्वमात्मसुष्टमधोऽक्षज ।

आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राप्नो व्रीहो विभर्ष्यजः ॥५॥

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्व साः ।

पारतन्त्र्याद् वैसाहदयाद् द्रयोऽप्यष्टैव षष्टताम् ॥ ६ ॥

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्रान्यर्कश्च निधुताम् ।

यत् स्वैर्यं भूमात् भूमेर्हृषिर्गन्धोऽर्धतो भवान् ॥ ७ ॥

तर्पणं प्रागनमपां देवत्वं ताम्र तप्रसः ।

ओजः सहो बलं वेष्टा गतिर्वायोस्त्वधर ॥ ८ ॥

दिक्षां त्वमवकाशोऽसि दिशः त्वं स्फोट आधयः ।

नादो धर्षस्त्वभोकार आकुटीनां पृथक्कृत्सिः । ९ ॥

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्व देवाश्च तदनुग्रहः ।

अवबोधो भवान् पुष्टेर्जीवसानुस्मृतिः सती ॥ १० ॥

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजस ।

धैर्यकारिका विकल्पानां प्रधानमनुष्ठाधिनाम् ॥ ११ ॥

नभरपिह भावेषु तदसि स्वमनश्चरम् ।

इन्द्रियतीत ! जन्म, अस्तित्व आदि मयविकारोंसे रहित परमात्मन् ! इस चित्र-विकित्र जगत्मा तुम्हीने निर्माण किया है और इसमें स्वयं तुमने ही आत्मारूपसे प्रवेश भी किया है । तुम प्राण (क्रियाशक्ति) और जीव (ज्ञानशक्ति) के रूपमें इसका पाउन-योगन कर रहे हो ॥ ५ ॥ क्रियाशक्तिप्रधान प्राण आदिमें जा जगत्परी वस्तुओंकी सृष्टि करनेकी सामर्थ्य है, वह उनकी अपनी सामर्थ्य नहीं, तुम्हारी ही है । क्योंकि वे तुम्हारे सम्मन चेतन नहीं, अचेतन हैं, सत्त्व नहीं, परतन्त्र हैं । अतः उन चेष्टाशील प्राण आदिमें केवल चेष्टामात्र होती है, शक्ति नहीं । शक्ति तो तुम्हारी ही है ॥ ६ ॥ प्रभो ! चन्द्रमाकी कान्ति, अक्षिर तेज, सूर्यकी प्रभा, नक्षत्र और विषुव आदिकी सृजनरूपसे सत्ता, पर्वतोंकी स्थिरता, पृथ्वीकी साधारण-शक्तिरूप वृत्ति और गन्धरूप गुण—ये सब वास्तवमें तुम्हीं हो ॥ ७ ॥ परमेश्वर ! जन्में तुम करने, जीवन देने और कुछ करनेकी जो शक्तियाँ हैं, वे तुम्हारा ही स्वरूप हैं । कल और उसका रस भी तुम्हीं हो । प्रभो ! इन्द्रियशक्ति, अन्तःकरणकी शक्ति, शरीरकी शक्ति, उत्पन्न हिकना-अज्ञाना, चक्षुषा-किरन—ये सब वायुकी शक्तियाँ तुम्हारी ही हैं ॥ ८ ॥ दिशार्थ और उनके अवकाश भी तुम्हीं हो । अवकाश और उसका अभ्यमूल स्फोट—शब्दतन्त्राया या परा वाणी, नाद—हृदयन्ती, ओम्कार—मध्यम तथा कर्मा (अक्षर) एवं परावोका अक्षर-अक्षर निर्देश करनेवाले पदरूप वाक्की वाणी भी तुम्हीं हो ॥ ९ ॥ इन्द्रियों, उनकी निम्नप्रकाशिनी शक्ति और अविच्छिन्न देवता तुम्हीं हो ! बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति और जीवकी विबुध स्मृति भी तुम्हीं हो ॥ १० ॥ भूतोंमें उनका कारण तामस अहङ्कार, इन्द्रियोंमें उनका कारण तैजस अहङ्कार और इन्द्रियोंके अविच्छिन्न-वेद्यबोधोंमें उनका कारण सत्त्विक अहङ्कार तथा जीवोंके अज्ञानमय कारण माया भी तुम्हीं हो ॥ ११ ॥ भगवन् ! जैसे मिट्टी अग्नि वस्तुओंके विकार मृदा, बृष्ट आदिमें मिट्टी निरन्तर कर्ममय है और वास्तवमें वे कारण

यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥१२॥

सर्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।

त्वय्यद्वा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥१३॥

तस्मान्न सन्त्यमी भावा रंहि स्वयि विकल्पिताः ।

त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाभ्यावहारिकाः ॥१४॥

गुणप्रवाह एतस्मिन्नुभास्त्वत्स्वच्छात्मनः ।

गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।

स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्मायवेश्वर ॥१६॥

असावहं ममैवैते दद्वे चासान्वयादिषु ।

स्नेहपादौर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत् ॥१७॥

युवां न न सुवो साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरी ।

भूभारध्वप्रथपण अवतीर्णा तथाऽऽत्थ इ ॥१८॥

तत्ते गताऽऽस्मरणमथ पदारविन्द

मायभर्ससुतिभयापहमातषन्भा ।

एतावतात्मसमिन्त्रियलासुन

मन्पारमरूपरूपि परेयदपत्यपुष्टिः ॥१९॥

(युक्तिः) रूप ही हैं—उसी प्रकार किन्ने :
विनाशवान् पदार्थ हैं, उनमें तुम कारणरूपसे अस्ति-
तत्त्व हो। वास्तवमें वे सब तुम्हारे ही स्वरूप
॥ १२ ॥ प्रभो ! सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गु-
ण और उनकी वृत्तियाँ (परिणाम)—मायत्वादि सब
परमत्त्वमें, तुममें योगमायके द्वारा कल्पित हैं ॥ १३ ॥
इसलिये ये जितने भी जन्म, अस्ति, बुद्धि, प्रति-
बिम्ब आदि माय-विकार हैं, वे तुममें सर्वथा नहीं हैं।
तुममें इनकी कल्पना कर ही जाती है, तब तुम।
विकारोंमें अलग्नात ज्ञान पड़ते हो। कल्पनाकी वि-
ष्टि हो जानेपर तो निर्विकल्प परमार्थस्वरूप तुम्हीं तुम।
जाते हो ॥ १४ ॥ यह जगत् सत्त्व, रज, तम—
तीनों गुणोंका प्रवाह है; देह, इन्द्रिय, कर्तृ-
सूक्ष्म, दुःख और राग-द्वेषादि उन्हींके कार्य हैं।
इनमें जो अज्ञानी तुम्हारा, सर्वव्यापक सूक्ष्मस्वरूप व
जानते, वे अपने देहप्रतिबिम्बनरूप अज्ञानके कारण।
कर्मोंके फलमें फँसकर बार-बार जन्म-मृत्युके चक्र
भटकते रहते हैं ॥ १५ ॥ परमेश्वर ! तुम्हें
प्रारम्भके अनुसार इन्द्रियवर्षिकी सामर्थ्यसे कुछ अल्प
दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ; किन्तु तुम्हारी मन्त्र-
बल होकर मैं अपने सच्चे स्वर्ण-परमवर्षिकी ही अज्ञान
हो गया और मेरी सारी बापु यों ही नीच गयी ॥ १६ ॥
प्रभो ! यह शरीर मैं हूँ और इस शरीरके सब
मेरे अपने हैं, इस बहला एव मन्त्रारूप स्नेह
पौष्टीसे तुमने इस सारे जगत्को बाँध रक्ता
॥ १७ ॥ मैं अज्ञान हूँ कि तुम दोनों मेरे पुत्र
हो, सम्पूर्ण प्रकृति और जीवोंके स्वामी हो।
भरमूल राजाओंके वाशक लिये ॥ तुमने
प्रवृत्ति किया है। यह जगत् तुमने मुझसे कही भी
॥ १८ ॥ इसलिये दानजनोंके हितार्थ, शरणार्थियों
में अब तुम्हारे शरणार्थियोंकी शरणमें है,
वे ॥ शरणार्थियोंके संस्कारभयसे भ्रान्त रहते हैं।
इन्द्रियोंकी मालुपतासे भर पाया। इच्छाके
मन धृष्टिक्रमसे इस शरीरमें आत्ममुक्ति कर
और तुममें, जो कि परमेश्वर हो, पुनर्पुष्टि ॥ १९ ॥

सतीपुत्रे ननु जगद् भवान्नो नौ

संजगद् इत्यनुयुगं निजधर्मगुण्यै ।

नानातन्त्रांगनवद् विदधजहासि

को वेद मून्त उक्ताय विमूढिमायाय ॥२०॥

भीष्म उवाच

आकर्ण्येत्थं पितृबांस्व भगवान् सत्त्वतर्पभः ।

प्रत्याह प्रभवान्नमः प्रहसन्स्वयया गिरा ॥२१॥

भीमवानुवाच

वचो व समवेतायं तातैतदुपमन्महे ।

यथाः पुत्रान् समुदिष्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥२२॥

अहं पूयमसत्त्वार्थ इमे व द्वारकौकसः ।

सर्वेऽप्येव यदुभय विमृश्याः सधराचरम् ॥२३॥

मातामाद्यक स्वर्गन्योतिनिस्त्वाऽन्यो निर्गुणा गुणैः ।

आत्मसृष्टैस्तकृतेषु भूतेषु यदुधेयते ॥२४॥

सं बाधुन्योतिरापो मूलस्तकृतेषु मधाश्रयम् ।

प्राविस्त्रिरोऽप्यमूर्त्येको नानात्वं यास्यसावपि ॥२५॥

प्रभो ! तुमने प्रसन्न-मुखमें ही हमसे कहा कि पितृ-
में अजन्म हैं, फिर भी मैं अपनी ही बनायी हुई धर्म-
भ्यादायी रखा करनेके लिये प्रायेक गुणमें तुम दोनोंके द्वारा
अवतार ग्रहण करता रहा हूँ । ' भगवन् ! तुम आकाशके
समान अनेकों शरीर ग्रहण करते और छोड़ते रहते
हो । वास्तवमें तुम अनन्त, एकरस सत्ता हो । तुम्हारी
आश्चर्यमयी शक्ति योगमन्त्राकार रहस्य भन्ना, कौन जान
सकता है ' सब लोग तुम्हारी कीर्तिकथा ही गान करते
रहते हैं ॥ २० ॥

भीष्मककेवकी कहते हैं— परीक्षित ! यमुदेवकीके
ये कथन सुनकर यदुवंशधियोमणि भक्तवत्सल भवान्
श्रीकृष्ण मुसकाने लगे । उन्होंने कियसे हृकन्तर मधुर
वाणीसे कहा ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णसे कहा— पितृजी ! हम तो
आपके पुत्र ही हैं । हमें छद्म करके आपने यह
ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया है । हम आपकी एक-एक
वक्ता बुद्धियुक्त मानते हैं ॥ २२ ॥ पितृजी ! आप-
जोग, मैं, मैया कछामजी सबेरे द्वारकामाती, सम्पूर्ण
चरणचर जगत्—सबके-सब आपने जैसा कहा, वैसा
ही हैं, सबको स्वरूप ही सम्झना चाहिये ॥ २३ ॥
पितृजी ! आप तो एक ही हैं । परन्तु वह अपनेमें
ही गुणोंकी सृष्टि कर लेता है और गुणोंके द्वारा
कनाये हुए पञ्चभूतोंमें एक होनेपर भी अनेक, स्वयं-
प्रकाश होनेपर भी दृश्य, अपना स्वरूप होनेपर भी
अपनेसे भिन्न, नित्य होनेपर भी अनित्य और निर्गुण
होनेपर भी सगुणके रूपमें प्रतीत होता है ॥ २४ ॥
जैसे आकाश बाधु अग्नि, जल और पृथ्वी—ये
पञ्चभूत आपने कर्षण बट कुण्डल आदिमें प्रकट
अवकट, बड़-छोटे, अधिक-थोड़े, एक और अनन्तसे
प्रतीत होते हैं—परन्तु वास्तवमें सत्त्वरूपसे वे एक
ही रहते हैं वैसे ही आत्मामें भी उपाधियोंके भेदसे
ही नानात्वकी प्रतीति होती है । इसलिये जो मैं
हूँ, वही सब हैं—इस दृष्टिसे आपका कहना ठीक
ही है ॥ २५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम् ।

श्रुत्वा चिनटनानाधीस्तूर्णीं प्रीतमना अभूत् ॥ २६ ॥

अथ तत्र कुरुभट्ट देवका सर्वदेवता ।

श्रुत्वाऽऽनीतगुरोः पुत्रमात्मजाम्नां सुविमिता ॥ २७ ॥

कृष्णरामौ समाभाष्य पुत्रान्कंसविहंसितान् ।

सरन्ती कृपण ग्राह वैकुण्ठादधुलोचना ॥ २८ ॥

देवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।

वेदाह वां विष्णुजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥ २९ ॥

कालविष्वस्तसप्तानां राज्ञां पृच्छास्रवर्णिनाम् ।

सूमेभारायमाणानामवतीर्णैः किलाद्य मे ॥ ३० ॥

मत्सांश्चांशभागेन विभोत्पचिलयादयाः ।

भवन्ति किल विभ्रात्मस्त त्वाद्याहं गतिं गता ॥ ३१ ॥

धिरान्मृतसुतादानं गुरुणा कालचोदितौ ।

आनिन्यधु पितृभ्यानाधु गुरव गुरुदक्षिणाम् ॥ ३२ ॥

तथा म कुरुत कामं युवां यागेश्वरधरौ ।

भाजराग्रहतान् पुत्रान् कामय ब्रह्ममाहवान् ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! मन्त्र

श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर वसुदेवजीने नम्र
 बुद्धि छोड़ दी, वे आनन्दमें मग्न होकर बाणसे के
 और मनसे निस्ताप हो गये ॥ २६ ॥ उसके
 उस समय वहाँ सर्वदेवमयी देवकीजी भी बैठी हुई थीं ।
 वे बहुत पहलसे ही यह सुनकर अत्यन्त विस्मित थे
 कि श्रीकृष्ण और कटरामजीने अपने मरे हुए पुत्रोंको
 यमलोकेसे वापस लिये ॥ २७ ॥ अब उन्हें ज्ञान
 उन पुत्रोंकी याद आ गयी, जिन्हें कंसने मार डाला
 था । उनके स्मरणसे देवकीजीका हृदय व्यथित हो गया
 नेत्रोंसे आँसू बहने लगे । उन्होंने बड़ ही कष्ट-
 खरसे श्रीकृष्ण और कटरामजीको सम्बोधित करके
 कहा ॥ २८ ॥

देवकीजीने कहा—योगेश्वर राम ! तुम्हारी
 शक्ति मन और बाणीके पर है । श्रीकृष्ण ! तुम योगेश्वरों
 भी ईश्वर हो । मैं जानती हूँ कि तुम दोनों प्रलयविरोधी
 श्री ईश्वर, आदि पुरुष नारायण हो ॥ २९ ॥ यह मैं तुम्हें
 निश्चित रूपसे मान्य है कि जिन लोगोंने कर्मकर्मसे अज्ञान
 धर्म, संस्रम और सत्त्वगुण लगे दिया है तथा शस्त्रों
 आज्ञाओंका उल्लंघन करके जो स्वेच्छाचारप्रमाण हो रहे
 हैं, मूर्खोंके भ्रमभूत उन राजाओंका नाश करनेके लिये
 ही तुम दोनों मेरे गर्भसे अवतीर्ण हुए हो ॥ ३० ॥
 विष्णुभक्त ! तुम्हारे पुरुषरूप ज्ञाते अपने हुई मूर्खों
 गुणोंकी उत्पत्ति होती है और उनके ज्ञानप्रसे जगत्की
 उत्पत्ति, विकास तथा प्रलय होता है । अज्ञ में सर्वत्र
 कर्मसे तुम्हारी शरण हो रही हूँ ॥ ३१ ॥ मेरे
 सुना है कि तुम्हारे गुरु सान्दीपनिजीके पुत्रोंके मरे
 बहुत दिन हो गये थे । उनको गुरुदक्षिण देनेके लिये
 उनकी आज्ञा तथा फलकी प्ररणसे तुम दोनोंने उनके
 पुत्रोंको यमपुरीसे वापस लिये ॥ ३२ ॥ तुम दोनों
 योगीश्वरोंके भी ईश्वर हो । इसलिये आज मेरी भी
 अभिप्रेक्षा पूर्ण करा । मैं चाहती हूँ कि तुम दोनों मेरे
 उन पुत्रोंको, जिन्हें कंसने मार डाला था, लौटाओ और
 उन्हें मैं भर आँसू देख लूँ ॥ ३३ ॥

अपिल्लान

वं सम्बोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।
मुल संविशितुषांगमावाप्नुयाभितौ ॥३४॥

तस्मिन् प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराज्
विधात्मदैवं सुवरां तथाऽऽत्मनः ।

तदर्शनाद्वापरिप्लुताश्रयः

सद्यः संयुत्थाय ननाम सान्त्वयः ॥३५॥

तयोः समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।

दधार पादावबन्धिन्य तज्जलं

सबृन्द आसन्न पुनश्च यदम्बु ॥३६॥

समर्हयामास स तौ विभूतिभि-

र्मर्हाईवस्त्राभरणानुलेपनैः ।

साम्बूलदीपामृतमधुमादिभिः

स्वगोत्रविधात्मसमर्पणेन च ॥३७॥

॥ इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं

विभ्रन्मुहुः श्रमविभिन्नया धिया ।

उवाच हानन्दजलाकुलधृणः

प्रहृष्टरोमा नृप गदगदाधरम् ॥३८॥

बलिहारा

नमोऽनन्ताय धूर्तते नमः कृष्णाय वेधसे ।

सार्धस्ययोगवितानाय मद्गण परमात्मने ॥३९॥

दर्शनं वा हि भूतानां दुष्प्रापं चोप्यदुर्लभम् ।

रजस्तमःस्वभावानां यमः प्राप्नोति यदृच्छया ॥४०॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित ! मन्त्रा
देवकीजीकी यह बात सुनकर भगवान् भीष्मजी और
कृष्ण दानोंने योगप्रयास आश्रय लेकर सुतच्छेकमें
प्रवेश किया ॥ ३४ ॥ जब दैत्यराज बन्धने देख कि
जगतके आत्मा और इष्टदेव तथा मेरे परम स्वामी
भगवान् भीष्मजी और कृष्णजी सुतच्छेकमें पड़े
हैं, तब उनका हृदय उनके दर्शनके अनन्दमें निमग्न
हो गया ! उन्होंने छटपट आने कुटुम्बके सभ्य आसनसे
उठकर भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३५ ॥
अत्यन्त आनन्दसे भरकर दैत्यराज बन्धने भगवान्
भीष्मजी और कृष्णजीको श्रेष्ठ आसन दिया और जब
वे दोनों म्हापुरुष उरुसर विराज गये, तब उन्होंने
उनके पौष पधारकर उनका चरणोदक परिवारसहित
अपने स्त्रिपर धारण किया । परीक्षित ! भगवान्के
चरणोंका जल श्लाघापयन्त सारे जगतके पतित्र कर देता
है ॥ ३६ ॥ इसके बाद दैत्यराज बन्धने बहुमूल्य वस्त्र,
आभूषण, अन्न, ताम्बूल, दीपक, अमृतक समान
मोजन एवं अन्य विविध समस्तियोंसे उनकी पूजा की
और अपने समस्त परिवार, जन तथा शरीर आदिके
उनके चरणोंमें स्पर्शित कर दिया ॥ ३७ ॥ परीक्षित !
दैत्यराज बन्धने बार-बार भगवान्के चरणपद्मोंका अपने
केश स्वस्व और स्त्रिपर रखने लगे, उनका हृदय प्रमत्ते
निहत्त हो गया । नेत्रोंसे आनन्दके औंस बहने लगे ।
रोम-राम खिड़ उठा । अब वे गद्गद स्वरसे भगवान्की
स्तुति करने लगे ॥ ३८ ॥

दैत्यराज बन्धने कहा—कृष्णजी ! आप अनन्त
हैं । आप इतने महान् हैं कि शेष आदि सभी विभ्र
आपके अन्तर्भूत हैं । सविदानन्दस्वरूप भीष्मजी ।
आप सकल जगत्के निर्माता हैं । क्षान्दयोग और मक्ति-
योग दोनोंके प्रकट आप ही हैं । आप स्वयं ही परमेश्वर
परमेश्वर हैं । हम आप दानोंका धार-धार नमस्कार
करते हैं ॥ ३९ ॥ भगवान् ! आप दानोंका दर्शन
प्राणिपोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है । फिर भी आपकी
कृपासे यह सुख ही जाता है । क्योंकि आज आपन
हृत्प करके हम राजागुणी एवं सम्राटगुणी स्वभावप्राप्त

दैत्यदानवगन्धर्वा सिद्धविद्याप्रचारणाः ।

मधुरस्यः पिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्वा त्वयि शास्त्रसरीरिणि ।

नित्यं निवद्धवैरास्ते वय चान्ये च सादृशाः ॥४२॥

केचनोद्धवैरेण भक्त्या केचन कामत ।

न तथा सत्त्वसंरन्धाः सनिकुटाः सुरादयः ॥४३॥

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर

न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कृतो वयम् ॥४४॥

तत्र प्रसीद निरपेक्षविमुक्त्युष्मत्

पादारविन्दविषमन्यगृहान्कङ्कपात्

निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्गुपलम्भहृदिः

क्षान्तो ययैक उव सर्वसत्त्वैश्वरामि ॥४५॥

क्षाप्यसानीक्षितश्लेष निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।

पुमान् यच्छ्रद्धायाऽऽतिष्ठभोदनाया विमुक्त्यते ॥४६॥

श्रीभागवानुवाच

आसन् मरीचेः पट् पुत्रा उर्गायां प्रथमेऽन्तरे ।

देवाः कं बहसुर्षास्य सुतां यमित्तमुद्यतम् ॥४७॥

तेनासुरीमगन् सोनिमपुनायधर्मभा ।

हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥४८॥

देवस्या उदरे जाता राक्षन् कंसमिहिसिताः ।

दैत्यैको भी दर्शन दिया है ॥ ४० ॥ प्रभो ! हम और हमारे ही सम्बन्ध दूसरे दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, निम्ब, धर, चारण, यक्ष, राक्षस, गिरिधर, भूत और प्रमथना आदि आपका प्रभसे भजन करना तो बुरा रहा, जहाँ सर्वदा दृढ़ वैरभाव रखते हैं, परन्तु आपका धीविश्व सम्भर वेदमय और विशुद्ध सत्त्वस्वरूप है । इसलिये हमजैसेसे बहुतोंने दृढ़ वैरभावसे, कुछने भक्तिसे और कुछने कर्मभासे आपका स्मरण करनेके उस पदको प्राप्त किया है, जिसे आपकी समीप रहनेवाले सत्त्वप्रधान देवता आदि भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ४१-४३ ॥ योगेश्वरके अधीश्वर ! बड़े-बड़े योगेश्वर भी प्रायः यह कह नहीं जानते कि आपकी योगमया यह है और ऐसी है, फिर हमारी तो बात ही क्या है ! ॥ ४४ ॥ इसलिये स्वामी ! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी चित्तवृत्ति आपके उन चरणसम्पर्कमें लग जाय, जिसे किसीकी कल्पे न रखनेवाले परमहंसयोग ईसा करते हैं, और उनका आश्रय लेकर मैं उससे भिन्न इस घट-मृदालीके जो कूँसे निकल जाऊँ । प्रभो ! इस प्रकार आपके चरणसम्पर्कमें, जो सबके जगत्के एकमात्र आश्रय । शरण लेकर शान्त हो जाऊँ और बनेज्ज ही बिक नहूँ । यदि कभी किसीका सङ्ग करना ही पड़े, सबके परम हितैषी सर्वोक्त ही ॥ ४५ ॥ प्रभो ! मैं समस्त बराबर जगत्के निष्पन्न और स्वामी हूँ । मैं अपने ब्रह्मा देकर निष्पाप बना दूँ, हमारे पार्ष्ण ना कर दीजिये, क्योंकि जो पुरुष ब्रह्माके साथ ब्रह्म ब्रह्मका पावन करता है, वह विधि-नियमके बन्धन मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—दैत्यराज ! स्वप्न मन्त्रमें प्रजापति मरीचिकी पत्नी उर्गाके गर्भसे पुत्र उत्पन्न हुए थे । वे सभी देवता थे । वे यह देख कि ब्रह्मजी अपनी पुत्रीसे सम्भोग करनेके लिये ठहरे हैं, ईसने लगे ॥ ४७ ॥ इस परिदृश्यका कारण उन्होंने ब्रह्मजीने शपथ दे दिया और वे असुर-योनि हिरण्यकशिपुके पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए । अब योगमया उन्हें आसि आकर देवकीके गर्भमें रख दिया और उनकी उत्पत्ति होते ही कंसने मार डाला । दैत्यराज

सा ताम्रोष्पतात्मजान् स्नात्त इमेऽप्यासतेऽन्तिकेऽ११

इत एतान् प्रपेय्यामो मातृशोकापनुषये ।

। शपात् विनिर्मुक्ता लोकं यासन्ति विन्धवा । ५० ।

मरोद्भीध परिष्वङ्गः पतङ्गः सुप्रभृद् धृषी ।

हिमे मत्प्रसादेन पुनर्पासन्ति सद्रविम् ॥ ५१ ॥

त्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पवित्रौ ।

नर्द्धारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥ ५२ ॥

। न् इष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्तुततनी ।

। रिष्वन्याङ्गमारोप्य मूर्ध्न्यजिप्रदभीक्ष्णसः ॥ ५३ ॥

प्रपाययत् स्नानं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता ।

मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥ ५४ ॥

रीत्वाध्वं पयस्तस्या पीतशेषं गदामृतः ।

नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रविलम्बात्मदर्शनाः ॥ ५५ ॥

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।

मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवीकृताम् ॥ ५६ ॥

तं इष्ट्वा देवकीं देवीं मृतागमननिर्गमम् ।

येन मुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप ॥ ५७ ॥

एवविधान्यहुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।

धीयान्मनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥ ५८ ॥

मता देवकीजी अपने उन पुत्रोंके लिये अत्यन्त शोकान्तर हो रही हैं और वे तुम्हारे पास हैं ॥ ४८ ४९ ॥ अतः आप अपनी माताका शोक दूर करनेके लिये इन्हें यहाँसे ले जायेंगे । इसके बाद ये शापसे मुक्त हो जायेंगे और आनन्दपूर्वक अपने लोकमें चले जायेंगे ॥ ५० ॥ इनके छ नाम हैं—स्मर, उद्भीध, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, सुप्रभृद् और धृषी । इन्हें मेरी कृपासे पुन सद्गति प्राप्त होगी ॥ ५१ ॥ परिशिष्ट । इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्ण जुप हो गये । दैत्यराज बलिन उनकी पूजा की, इसके बाद श्रीकृष्ण और कल्याणी बाळकोंने लेकर सिर हारका लैट आये तथा माता देवकीको उनके पुत्र सौंप दिये ॥ ५२ ॥ उन बाळकोंने देखकर देवी देवकीके हृदयमें बारम्बार स्नेहकी वाह आ गयी । उनके स्तनोंसे दूध बहने लगा । वे बार-बार उन्हें गोदमें लेकर छतीसे लगातीं और उनका सिर छूवतीं ॥ ५३ ॥ पुत्रोंके सारथिक आनन्दसे सराबोर एवं आनन्दित देवकीने उनकी स्तन-पान कराया । वे विष्णुभगवान्की उस मायासे मोहित हो रही थीं, जिससे यह सृष्टि-ब्रह्म चञ्चल है ॥ ५४ ॥ परिशिष्ट । देवकीजीके स्तनोंका दूध खाया अमृत था, क्यों न हो, भगवान् श्रीकृष्ण जो उसे पी चुके थे । उन बाळकोंने बड़ी अवृत्तमय दूध पिया । उस दूधके पीनेसे और भगवान् श्रीकृष्णके अङ्गोंका संस्पर्श होनेसे उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया ॥ ५५ ॥ इसके बाद उन योगिने भगवान् श्रीकृष्ण, मता देवकी, पिता समुदेव और कल्याणीजीसे नमस्कार किया । तदनन्तर सबके सामने ही वे देवकीनेसे बसे गये ॥ ५६ ॥ परिशिष्ट । देवी देवकी यह देखकर अत्यन्त विस्मिता हो गयी कि मेरे हुए बालक लैट आये और सिर चले भी गये । उन्होंने ऐसा निश्चय किया कि यह श्रीकृष्णका ही कोई लीज-वीसाउ है ॥ ५७ ॥ परिशिष्ट । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं परमात्म हैं, उनकी शक्ति अनन्त है । उनके ऐसे-ऐसे अव्युत्त चरित्र इतने हैं कि किसी प्रकार उसका पार नहीं पाया जा सकता ॥ ५८ ॥

सूत उवाच

य इदमनुमृणोति भावयेच्च वा सुरारे

भरितममृतक्षीर्तेर्धर्मितं व्यासपुत्रैः ।

जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं

भगवति कृतचिचो याति तत्स्वमेधाम ॥५९॥

सूतजी कहते हैं— शौनकादि ऋषियो ! भगवन् श्रीकृष्णकी कीर्ति अमर है, अमृतमयी है । उनका प्रति जगत्के समस्त पाप-तापोंको मिटानेवाला तथा भक्तवर्गों के कर्णकुहरोमें आनन्दसुखा प्रवाहित करनेवाला है । इसका वर्णन स्वयं व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीने किया है । जो इसका ध्यान करता है अथवा इसको सुनाता है, उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति मगानमें लगी जाती है और वह उन्हींके परम परमाणुस्वरूप धाममें प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्स्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

युताप्रबानर्णं नाम पञ्चशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

अथ पञ्चशीतितमोऽध्यायः

सुभद्रादत्तञ्च नौर भगवान्का मिथिलापुरीमें राजा जनक नौर भुवदेव ब्राह्मणके घर एक ही साथ जन्मा

रात्रौवाच

प्रसून् वेदितुमिच्छामः स्वसत्तं रामकृष्णयोः ।

ययोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

अर्जुनस्त्रीर्ययात्रायां पर्यटम्बनीं प्रभुः ।

गतः प्रभासमभूषोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥ २ ॥

दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ।

तच्छिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी दत्तकामगात् ॥ ३ ॥

तत्र वै वार्षिकान् मासानवात्सीत् स्वार्थसाधकः ।

पौरैः सभाजिताऽभीष्टं रामेणाजानता च सः ॥ ४ ॥

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ।

राजा परीक्षितने पूछा— भगवन् ! मेरे इस अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्ण और कल्यारामजीकी कब सुभद्राजीसे, जो मेरी दादी थीं, किस प्रकार विजय लीया ? मैं यह जाननेके लिये बहुत उत्सुक हूँ ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा— परीक्षित ! एक बार कल्यारामकी शक्तिशाली अर्जुन तीर्थयात्राके लिये पृथ्वीपर निकल करते हुए प्रभुसंक्षेत्र पहुँचे । वहाँ उन्होंने यह सुना कि कल्यारामजी मेरे मामाकी पुत्री सुभद्राका विजय दुर्योधनके साथ करना चाहते हैं और कसुदेव, शैब्य आदि उनसे इस विषयमें लड़मत नहीं हैं । अब अर्जुनके मनमें सुभद्राको पानेकी अत्यन्त जग लगी । वे त्रिदण्डी वैष्णवका केव धारण करके दारका पहुँचे । २१ अर्जुन सुभद्राको प्राप्त करनेके लिये वहाँ वर्षाकर्ममें लगे गङ्गानेतक रहे । वहाँ पुरवासियों और कल्यारामजीने उनका अल्प सम्मान किया । उन्हें यह पता न लगा कि ये अर्जुन हैं ॥ ४ ॥

एक दिन कल्यारामजीने अतिथ्यके लिये उन्हें निमन्त्रित किया और उनको वे अपने घर ले आये । त्रिदण्डी-

प्रदयोपहत मैथ्य बलेन बुध्बुजे किल ॥ ५ ॥

सोऽपश्यच्च महतीं कृत्वां वीरमनोहराम् ।

प्रीत्युत्कृष्टेक्षणस्तस्यां भावयुष्म मनो दधे ॥ ६ ॥

सापि त वचने वीक्ष्य नारीणां हृदयंगमम् ।

इत्यन्तो श्रीविशापाङ्गी सन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥ ७ ॥

तां परं समनुष्मायन्नतरं प्रप्सुरञ्जुनः ।

न लेमे श्रं भ्रमचित्तः कामनाविपलीयसा ॥ ८ ॥

महस्यां दशयात्रायां रथसां दुर्गनिर्गताम् ।

बहाराजुमत पित्रा कृष्णस्य च महारथ ॥ ९ ॥

रथसा धनुरादाय शरांश्चाकन्धता भटम् ।

विद्राम्य क्राशतां स्वानां स्वभागं मृगराश्वि ॥ १० ॥

सन्पृत्वा धुभितो राम पर्वणीव महार्णव ।

गृहीतपादः कृष्णं सुहृत्प्रियान्वशाम्पन् ॥ ११ ॥

प्रादिषोन् पारिपदाभि वगव्यामुदा बलः ।

महाधनारस्करभरपाथनरथापित

॥ १२ ॥

वेपथारी अर्जुनको बछारमजीने अस्फुट धडाके साथ भोजन-साग्री निवेदित की और उन्होंने बड़े प्रेमसे भोजन किया ॥ ५ ॥ अर्जुनने भोजनक समय वहाँ विराट्प्रयोग्य परम सुन्दरी सुम्भ्याको देखी । उसका सौन्दर्य बड़े-बड़े वीरोंका मन हरनेवाला था । अर्जुनके नेत्र प्रमसे प्रफुल्लित हो गये । उनका मन उसे पानेकी आकांक्षासे धुम्भ हा गया और उन्होंने उसे पत्नी बनानेका दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ६ ॥ परीक्षित ! तुम्हारे दादा अञ्जुन भी वैसे ही सुन्दर थे । उनका शरीरकी गठन, मांस-मज्जा शिथिलका हृदय स्पष्ट कर लेती थी । उन्हें देखकर सुम्भ्याने भी मनमें उन्हींका पति बनानेका निश्चय किया । यह तनिक मुसफराकर छद्मीली चितवनसे उनकी ओर दखने लगी । उसने अपना हृदय उन्हें समर्पित कर दिया ॥ ७ ॥ अब अञ्जुन वकल उसीका चिन्तन करने लगे और इस बातका अक्सर बूझने लगे कि इसे कब हर लें जाऊँ ! सुम्भ्याका प्राप्त करनेकी उत्कट कामनासे उनका चित्त चकर घटन लगा, उन्हें तनिक भी शक्ति नहीं मिलती थी ॥ ८ ॥

एक बार सुम्भ्याजी दश-दशानक डिये रथपर सवार होकर शरका-दुर्गसे बाहर निकली । उसी समय महारथी अञ्जुनने दशकी-सुदश और धीरुग्यकी अनुमतिसे सुम्भ्याका हरण कर लिया ॥ ९ ॥ रथपर सवार होकर वीर अञ्जुनन धनुर उठा लिया और जो सैनिक उन्हें एकनक डिये आय, उन्हें मार-गिराकर भग्न दिया । सुम्भ्याक निद्रा-जन राते-चिह्नात रह गये और अञ्जुन तिस प्रकार सिंह अन्ना भग्न करके कुछ दवा है, वैसे ही सुम्भ्याका करके चउ पड़े ॥ १० ॥ यह मनाचार सुनकर बछारमजी बहुत मिला । वैसे ही धुम्भ हा उठ, जैसे पूर्णिमाक दिन मसु । "पन्तु भगवन् धीरुग्य तदा अथ सुहृद्-मन्त्रेण्योन उनक पर पद-दकर उन्हें बहुत कुछ सम्प्राप्त-मुनाप, तब व "दन्त ह्य ॥ ११ ॥ इसका था बछारमजीन प्रसन्न होकर पर गधूक डिय बटन-स धन, छनदी हाथी, रथ, पाद और दासी-गल ददजन भज ॥ १२ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः भूतदेव इति भूतः ।

कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्घ्यः शान्त कविरलम्पटः ॥१३॥

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाभमी ।

जनीहयाऽऽगताहार्यनिर्वर्तितनिसक्रिय ॥१४॥

यात्रामार्गं त्वहरहर्देवादुपनमंस्तुत ।

नाभिकंठावतातुष्ट क्रियाभक्ते यथोचिताः ॥१५॥

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाम्भ इति भूत ।

मैथिलो निरहम्मान उभाभ्यप्युत्तप्रियौ ॥१६॥

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम् ।

आरुह्य साकं मुनिभिर्विद्वान् प्रययौ प्रभु ॥१७॥

नारदो वामदेवोऽपि कृष्णो रामोऽसितोऽरुणि ।

अहं बृहस्पतिः कृष्णो मैत्रेयश्चम्वनसद्वयः ॥१८॥

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा ज्ञानपदा नृप ।

उपवस्युः सार्धं हस्ता ग्रहे स्यमिवोदितम् ॥१९॥

आनर्तधन्वकुलजाङ्गलकङ्कमरह्य

पाञ्चालकुन्तिमधुङ्कयकोसलार्णा ।

अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-

स्त्रिगेषेष्टं नृप षष्ठश्चिन्मिन् नृनार्यः ॥२०॥

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टमिस्रदृग्मयः

धेमं त्रिलोकगुरुर्यदृष्टं च यच्छन् ।

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं— परीक्षित । विदेह

राजधानी मिथिलामें एक गृहस्थ ब्रह्मण थे । उनका नाम था भूतदेव । वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे । वे एकमात्र भगवद्भक्तियों की पूर्वमनोरथ, परम शान्त, ज्ञानी और विरक्त थे ॥ १३ ॥ वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी किसी प्रकारका उद्योग नहीं करते थे, जो कुछ मित्र आता, उसीसे अपना निर्वाह कर लेते थे ॥ १४ ॥ प्रारम्भिक प्रतिदिन उन्हें जीवन-निर्वाहभरके जिमे सम्पन्न मित्र जग्य करती थी, अविक नहीं । वे उलनेसे ही सम्पन्न भी थे, और अपने वर्णश्रमके अनुसार अन्नभोजन में तृप्त रहते थे ॥ १५ ॥ प्रिय परीक्षित ! उस दलक राजा भी, ब्रह्मणके सम्मान ही भक्तिपूर्ण थे । वैष्णव श्रमके उन प्रतिष्ठित नरपतिवत् नाम था बहुलाम्भ । उनमें अहङ्कारका लेश भी न था । भूतदेव और बहुलाम्भ दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे भक्त थे ॥ १६ ॥

एक बार भगवान् श्रीकृष्णने उन दोनोंपर प्रसन्न होकर दारुकेसे ॥ १७ ॥ मैत्रेया और उसपर स्वार होकर दारुकेसे विदेह देशकी ओर प्रस्थान किया ॥ १८ ॥ भगवान्के साथ नारद, वामदेव, अत्रि, वैशम्पत्य, पशुपति, अस्ति, आरुणि, मैं (कृष्णदेव), बृहस्पति, कम्ब, मैत्रेय, चम्बल आदि ऋषि भी थे ॥ १८ ॥ परीक्षित ! वे जहाँ-जहाँ पहुँचते वहाँ-वहाँकी नागरिक और वनवासी प्रजा पूजाकी सम्पत्ति लेकर उपस्थित होती । पूजा करनेवालोंके भगवान् ऐसे जान पड़ते, मानो प्रभु स्वयं साक्षात् सूर्यनाथपण उदय हो रहे हों ॥ १९ ॥ परीक्षित ! उस यात्रामें आनर्त, धन्व, कुलनाथ, कङ्क, मरह्य पाञ्चाल कुन्ति मधु, केसव, कोसल, कर्ण आदि अनेक देशोंके नर-नारिणोंने अपने नेत्रकाशी दोनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके उन्मुख हास्य और प्रेममयी स्मितकानसे कुछ मुखमन्दिनके मकरन्द-रसका पान किया ॥ २० ॥ त्रिशोकगुरु भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे उन लोगोंकी अज्ञानदृष्टि नष्ट हो गयी । प्रभु दर्शन करनेवाले नर-नारिणोंकी अपनी दृष्टिसे परम कल्याण और तत्त्वज्ञानका दान करते जा रहे थे । स्थान-स्थानपर मनुष्य और देवता

मृष्यन् दिगन्तधवलं सयशोऽशुभघ्न

गीव सुरैर्नुभिरगाच्छनकैर्विद्वहान् ॥२१॥

तेऽप्युतं प्राप्तमाकर्ष्य पौरा जानपदा नृप ।

अभीयुर्मुदितास्तमै गृहीतार्हणपाणयः ॥२२॥

इष्टा त उत्तमस्त्रोक प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ।

कंथृताञ्जलिभिर्नेष्टु ध्रुतपूर्वात्पथा धृनीन् ॥२३॥

म्यानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानो वं जगत्सुखम् ।

मैधिल ध्रुतदयश्च पादयाः पततुः प्रभा ॥२४॥

न्यमन्ययेतां दागार्हमातिथ्येन सह छिन्नैः ।

मैधिलः ध्रुतदेवश्च युगपद् संहृताञ्जली ॥२५॥

भगवान्तदभिप्रत्य इया प्रियचिकीर्षया ।

उभयाराविशुद् गहमुभाम्यां तदलक्षितः ॥२६॥

भ्रातुमप्यसतां दृगन् जनक मृगहृद्गतान् ।

जानीतप्यामनपयपु सुवासीनान् महामनाः ॥२७॥

प्रहृष्टभक्त्या उदपद्दयाम्बाविलक्षण ।

नत्वा तदङ्गमीन् प्रयाज्य तदपा लाकपावना ॥२८॥

सहृदुम्ना गहन मूष्णा पृजयौचक इत्यगन् ।

गभमाख्याम्प्राप्त्यप्युपनीषाध्यगावृषं ॥२९॥

पाषा मधुरया प्रीणप्रिदमाहात्मनपितान् ।

१ राग १२ मधुर १३ पश्य ८८५

भगवान्की उस कीर्तिकर गान करके सुनाते, जो समस्त दिशाओंको उज्ज्वल बनानेवाली एवं समस्त अशुभोंको विनाश करनेवाली है । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण धीरे-धीरे विदेह देशमें पहुँचे ॥ २१ ॥

परीक्षित । भगवान् श्रीकृष्णके शुभगनका समाचार सुनकर नागरिक और ग्रामवासियोंके आनन्दकी सीमा न रही । वे अपने हाथोंमें पूजाकी विविध सामग्रियों लेकर उनकी अगलानी करने आये ॥ २२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके उनके हृदय और मुखमें प्रेम और आनन्दसे छिछ उठे । उन्होंने भगवान्के तप उठ मुनिपोंके, जिनका नाम वंशज सुन रक्खा था, देखा न था—हाथ जोड़ मस्तक छुकर प्रणाम किया ॥ २३ ॥ मिथिलानरेश बहुलाक्ष और ध्रुतवधने, यह समझकर कि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण हममेंमें पर अनुग्रह करनेके लिये ही पधारे हैं, उनके चरणोंपर मित्रकर प्रणम किया ॥ २४ ॥ बहुलाक्ष और ध्रुतदेव दोनोंने ही एक साथ हाथ जोड़कर मुनि-मण्डलीके सहित भगवान् श्रीकृष्णका आतिथ्य प्रहण करनेके लिये निमन्त्रित किया ॥ २५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार करके दोनोंसे ही प्रसन्न परन्तु कि एक ही समय एक-एकफरसे दोनोंके घर पधारे और यह बात एक-दूसरेसे साझस न कि भगवान् श्रीकृष्ण मेरे घरके अनिरिक्त और यहाँ भी जा रहें ॥ २६ ॥ विन्ध्यराज बहुलाक्ष यह मन्वी था, उन्होंने यह दृष्टकर कि कृष्ण-दुर्गाचारी पुण्य जिनका नाम भी नहीं सुन सकते, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण और श्रुति मुनि मरे घर पधारे हैं, सुन्दर-सुन्दर असन में गये और भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रुति-मुनि आगमने उत्तम धन गये । उस समय बहुलाक्षकी विविध दत्ता था । प्रेम भक्तिक उदयसे उनका हृदय भर गया था । नगोंमें भी उग्रह रह था । उन्होंने अपने पुत्रसम अनिरिक्त चरणोंमें ममकार करके पाँच पहर और अपने पुत्रसम रूप उनके चरणोंसे स्पर्शकर नज मिलकर धारण किया और निज-नगल पर भगवान्के श्रुतिपौरोंका मन्त्र मन्त्र यह अष्टहारा पूरा किया अथवा, १३ अति समर्पित करके उनकी पूजा की ॥ २७-२९ ॥ जब सब धन

पादावङ्गगतौ विष्णोः संस्पृशन्मनकैर्मुदा ॥३०॥

राशोपाय

भवान् हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्ववृषिभो ।

अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं सरतां दर्शनं गतः ॥३१॥

स्ववचस्तद्वत् कर्तुमसद्वृद्ध्यगोचरो भवान् ।

यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः धीरजः प्रिय ॥३२॥

को नु त्वधरणाम्भोजंमेवविद् निसृजेत् पुमान् ।

निष्क्रिंचनानां श्रान्तानां मुनीनां भस्त्वमात्मदः ३३

योऽवतीर्य यदोर्वधे नृणां संसरतामिह ।

यस्यो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यहजिनापहम् ॥३४॥

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायानुष्ठमेभसे ।

नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईधुषे ॥३५॥

दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान् नो निवस द्विजैः ।

समेतः पादरजसा पुनीदीर्घं निमेषः कुलम् ॥३६॥

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवौल्लोकभावनः ।

उवास कुर्वन् कल्पार्थं मिथिलानरयोपि वाम् ॥३७॥

भोजन करके तृप्त हो गये, तब राजा बहुलवच मनन श्रीकृष्णके चरणोंके धूपने गोदमें लेकर बैठ गये । और बड़े ध्यानमदसे धीरे-धीरे उन्हें स्पर्श करते हुए भरी भक्ति भाणीसे भगवान्की स्तुति करने लगे ॥ ३० ॥

राजा बहुलवचने कहा—प्रभो ! आप स्वयं प्राणियोंके आत्मन्, साक्षी एवं स्वयंप्रकाश हैं । इस सदा-सर्वत्र आपके चरणकमलोंका स्पर्शन करते बैठे हैं । इसीसे आपने हमअंगोंको दर्शन देकर पूर्ण किया है ॥ ३१ ॥ भगवन् ! आपके कान हैं कि मेरा अनन्यप्रेमी भक्त मुझे अपने स्वरूप कल्पमय अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी और पुत्र कृष्णसे भी बड़ा प्रिय है । अपने उन बच्चोंको स्तुत्य करनेके लिये ही आपने हमअंगोंको दर्शन दिया है ॥ ३२ ॥ मन्त्र ऐसा कौन पुरुष है, जो आपकी इस परम दयलु और प्रेम-परवशताको जानकर भी आपके चरणकमलों परित्याग कर सके ? प्रभो ! जिन्होंने जगत्की स्वयं वस्तुओंका एवं शरीर आदिको भी मनसे परित्याग कर दिया है, उन परम शास्त्र मुनियोंको आप कबने तकको भी दे डालते हैं ॥ ३३ ॥ आपने स्वयं कल्पभार लेकर जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़े हुए मनुष्योंको उससे मुक्त करनेके लिये जगत्में ऐसे निष्ठुर फल विस्तार किया है, जो त्रिलोकीके पाप-तपको छान करनेवाला है ॥ ३४ ॥ प्रभो ! आप अकिन्त अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यकी निधि हैं, सबके लिये आपकी ओर आकर्षित करनेके लिये आप सबिद्वान् स्वरूप श्यामगङ्गा हैं । आपका ज्ञान अनन्त है । परम शक्तिका विस्तार करनेके लिये आप ही नारायण अधिके रूपमें तपस्या कर रहे हैं । मैं आपके नमस्कार करता हूँ ॥ ३५ ॥ एकरस अनन्त ! आप दुःख विनोक्त मुनिमण्डलके साथ हमारे यहाँ निकल करीजिये और अपने चरणोंकी धूलसे इस निर्मलको पवित्र करीजिये ॥ ३६ ॥ परीक्षित ! सबके बीच-बच भगवान् श्रीकृष्ण राजा बहुलवचकी यह प्रार्थना हीकर करके मिथिलवासी नर-नारियोंका कल्याण करते हैं कुछ निर्मोहक यहाँ रहे ॥ ३७ ॥

धृतदेवोऽन्युत प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।

नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्तत् ॥३८॥

तृणपीठपूसीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः ।

स्नातेनाभिनन्द्याम्भीन् सभार्याऽवनिजे मुदा ॥३९॥

तदम्भसा महाभाग आरमानं सगृहान्वयम् ।

स्नापपांचक उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥४०॥

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि

र्चदा सुरम्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।

आराधयामास यथोपयमया

सपर्यया सत्त्वविषर्पनान्भसा ॥४१॥

स तर्कयामास कृता ममान्वयूढ

गृहाधकूप पतितस्य सगमः ।

यः सर्वतीथास्पदपादशुभि

कृष्यन् चास्यारमनिकतमूसुरं ॥४२॥

धूपविष्टान् कृतातिथ्यान्धृतदध उपस्थितः ।

सभार्यमप्रनापत्य उवाचाङ्गुपभिमग्नान् ॥४३॥

धृतदध उवाच

नाथ ना दशन प्राप्तः पर परमपूरुषः ।

परीक्षं शक्तिभि सुष्टु प्रविष्टा दातुममक्षया ॥४४॥

यथा ध्यानः पुरुषा मनसश्चात्ममायया ।

१ वेणवः । २ यन्मया । ३ स्त्रीदः ।

प्रिय परीक्षिद् ! जैसे राजा बहुव्यय भगवान् श्रीकृष्ण और मुनि-मण्डलीक पचानेपर आनन्दमग्न हो गये थे, वैसे ही धृतदेव श्राद्धण भी भगवान् श्रीकृष्ण और मुनियोंका अपने घर आया देखकर आनन्दविह्वल हो गये, वे उन्हें नमस्कार करते अपने घर उल्टा-उल्टाकर भाचने लगे ॥ ३८ ॥ धृतदेवने चटाई, पीठे और कुशासन बिछाकर उनपर भगवान् श्रीकृष्ण और मुनियोंको बैठाया, स्नात-स्नान आदिक श्राद्ध उनका अभिनन्दन किया तथा अपनी फलीके साथ बड़ आनन्दसे सबके पाँच पखारे ॥ ३९ ॥ परीक्षिद् ! भगवान् सौभाग्यशास्त्री धृतदेवने भगवान् और ऋषियोंका चरणादक्ते अपने घर और कुन्दुम्बियोंका स्नान दिया । इस समय उनके सारे मनोरथ पूरा हो गये थे । वे हर्षतिरोक्ते मत्वाले हो रहे थे ॥ ४० ॥ तदनन्तर उन्होंने फल, गन्ध, खससे सुगन्धि निम्ब एष मधुर जल, सुगन्धित सिंघी, तुलसी, कुश, कमल आदि अनाफस-प्राप्त पूजा-साग्री और सत्त्वगुण कानेवाल अन्नसे सफरि आराजना की ॥ ४१ ॥ उस समय धृतदधजी मन-ही-मन तपना करने लगे कि मैं तो बल-गृहस्थीक जेवर कुर्रमें गिरा हुआ हूँ, अमग्न हूँ, मुझ भगवान् श्रीकृष्ण और उनके निवासस्थान ऋषि-मुनियोंका, जिनका चरणोंकी धूँ ही समस्त तीर्थोंकी तीर्थ कान्तकवि है, स्नान करने प्राप्त हुआ गया । ॥ ४२ ॥ अब सब प्रणम आनिष्ट स्वीकार करके आगमसे बैठ गया तब धृतदध अपने धी-मुन तथा अन्य सम्बन्धियोंका साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुए । व भगवान् श्रीकृष्णका चरणवन्द्येन सारा करते हुए करने लगे ॥ ४३ ॥

धृतदधन कहता—प्रभा ! आप जगत्-अन्यतरण प्रवृत्ति और जीवोंस पर पुरुषोत्तम हैं । मुझ ज्ञान ज्ञान ही दान दिया हा परीक्षा मान नहीं है । अब तो सर्वम सव मागें मिय हुए हैं बरग ज्ञान जन्ती । शक्तियोंका इस सब जगत्सर्व रचना परक आनन्दतक गये हैं इसने प्रवृत्ति किया है ॥ ४४ ॥ अब सोचा

सृष्टा लोके परं स्वप्नमनुविश्यावभासते ॥४५॥

मृष्यतां गदतां श्रद्धावर्चतां त्वाभिषन्दताम् ।

नृणां संवदतामन्तर्दि भास्वमलात्मनाम् ॥४६॥

इदिस्योऽप्यतिदूरः कर्मविशिसयेतसाम् ।

आत्मशक्तिभिरप्राप्तोऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥४७॥

नमोऽस्तु तेऽप्यत्मविदां परात्मने

अनात्मने सास्त्वभिभक्तमृत्पथे ।

सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे

स्वमाययासंबुधरदृष्टये ॥४८॥

स त्वं शशि स्वभृत्पान् नः किं देव करवामहे ।

पुनरन्ता नृणां क्लेशा यद् भवानधिगाधर ॥४९॥

श्रीभुक्त उवाच

वदुक्तमित्युपाकर्ष्य भगवान् प्रणतार्तिहा ।

गृहीत्वा पाणिना पाणि प्रहसन्मुमुषाच ह ॥५०॥

श्रीभगवानुवाच

प्रहसन्पुनःप्रापय सम्प्राप्तान् विद्वद्यमून मुनीन् ।

हुवा पुरुष समावस्थामे अविभावश मन-हीमन स्व-
जगत्की सृष्टि कर लेता है और उसमें सब जगत्
होकर अनेक रूपोंमें अनेक काम करता हुआ प्रकट
होता है, वैसे ही आपने अपनेमें ही अपनी ममसे
जगत्की रचना कर ली है और अब इसमें प्रकट
करके अनेकों रूपोंसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ४५ ॥
जो लोग सर्वदा आपकी धीलजगत्का ध्वज-चक्र
तथा आपकी प्रतिमाओंका ध्वजन-कन्दन करते हैं और
आपसमें आपकी ही चर्चा करते हैं, उनका हृदय
छुद्र हो जाता है और आप उसमें प्रकाशित हो जते
हैं ॥ ४६ ॥ जिन जगत्के चित्त धैर्य-वैरि-
तादि कर्मोंकी वासनासे बहिर्मुख हो रहा है, उनके
हृदयमें रहनेपर भी आप उनसे बहुत दूर हैं । किंतु
जिन जगत्के आपके गुणगानसे अपने अंत करके
संयुक्तसम्पन्न बना लिया है, उनके लिये चित्त-धैर्यसे
अप्राप्त होनेपर भी आप अत्यन्त निकट हैं ॥ ४७ ॥
प्रभो ! जो जगत् अस्तित्वको चाननेवाले हैं, उनके
आत्माक रूपमें ही आप स्थित हैं और जो उनके
आधिक्य ही अपना आश्रय मान बैठे हैं, उनके लिये
आप अनन्तकाले प्राप्त होनेवाली मृत्युक रूपमें हैं ।
आप मन्त्र-तत्त्व आदि कार्यद्रव्य और प्रकृतिरूप करनक
नियामक हैं—शासक हैं । आपकी मया आपकी
अपनी इष्टिपर फर्क नहीं देख सकती, किंतु उसने
इससेकी इष्टिबद्ध बंध रक्खा है । आपको मैं नमस्कर
करता हूँ ॥ ४८ ॥ स्वर्ग-पद-प्रभो ! हम आनंद
सेवक हैं । हमें आशा दीजिये कि हम आपकी कृपा
सेवक करें । नेत्रोंके द्वारा आपका दर्शन होनेका ही
जीवोंके क्लेश रहते हैं । आपके दर्शनमें ही समस्त
जगत्की परिसमाप्ति है ॥ ४९ ॥

श्रीभुक्त उवाच—संश्रित ! शरण-
भगवती भगवान् श्रीकृष्णने भुतदमयी प्राप्ति सुनकर
अपने हाथसे उनका हाथ पकड़ लिया और मुसकना
हुए कहा ॥ ५० ॥

भगवान् श्रीकृष्णन कहा—प्रिय भुतदम ! ये सब
बड़े शक्ति-मुनि तुम्हारे अनुग्रह करनक लिये ही पते

संचरन्ति मया लाक्रान् पुनः पादरेणुभिः ॥५१॥

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्थिनैः ।

शनैः पुनन्ति कालेन सदप्यश्चमयन् ॥५२॥

ब्राह्मणो ज्ञेय मना भेषान् सर्वेषां प्राणिनामिह ।

तपसा विषया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥५३॥

न ब्राह्मणान् दमित रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।

सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमया दारु ॥५४॥

दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमयजानन्त्यस्रयवः ।

गुरुं मां विप्रमारमानमचादापिज्मदृष्टयः ॥५५॥

षराचरमिदं विद्वन् भाषा ये चाम्य इतव ।

नदूपाणाति चेतसाधत्त विप्रा मदीधया ॥५६॥

तस्माद् अश्रद्धापानेतान् प्रहसन् मच्छ्रदयार्चय ।

एष वेदविताऽऽम्पद्वा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥५७॥

भीमैरु तपाय

स इत्थं प्रसुप्ताऽऽदिर महेकृष्णान्द्रिजानमान् ।

आराध्यतस्मभावन मथिलधाप सहतिम् ॥५८॥

एष न्यभक्षया राजन् भगवान् भक्षभक्षिमान् ।

पधार हैं । ये अपने चरणफलकोंकी धूलसे छेपें और
लोकोंको पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे
हैं ॥ ५१ ॥ देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो
दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदिके द्वारा धीरे-धीरे बहुत
दिनोंमें पवित्र करते हैं, परन्तु सत पुरुष अपनी दृष्टिसे
ही सबको पवित्र कर देते हैं । यही नहीं, दन्ता
आदिमें जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी उन्हें
सतोंकी दृष्टिसे ही प्राप्त होती है ॥ ५२ ॥ धृतराष्ट्र ।
जगत्में ब्राह्मण जन्मसे ही सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं ।
यदि वह तपस्या, विद्या, संतोष और मेरी उपासना—
मेरी भक्तिसे मुक्त हो तब तो कहना ही क्या है ॥ ५३ ॥
मुझे अपना यह क्षत्रमुज्जरूप भी ब्राह्मणोंकी अपेक्षा
अधिक प्रिय नहीं है । क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय है
और मैं सर्वदेवमय हूँ ॥ ५४ ॥ दुर्बुद्धि मनुष्य इस
भक्तको न जानकर कण्ठ मूर्ति आदिमें ही रङ्गमुद्रि
रखते हैं और गुणोंमें दोष निकालकर मेरे स्वरूप
जगद्गुरु ब्राह्मणका, जो कि उनका आरम्भ ही है,
शिरस्तर करते हैं ॥ ५५ ॥ ब्राह्मण मेरा सम्प्रदाय
करके अपने चित्तमें यह निश्चय कर लेता है कि यह
षण्चर जगत्, इमक सम्बन्धस्थि महीं भावनाओं और
इसके कारण प्रकृति-महत्तत्वाणि सत्-क-सत्त आत्मस्वरूप
भगवान् की रक्षा है ॥ ५६ ॥ "सर्वाय धृतदव । तुम
इन प्रसिद्धिमान् मेरा ही स्वरूप समझकर दूरी भ्रमसे
इनकी पूजा करो । यदि तुम ऐसा करोगे, तब तो तुमन
साक्षात् ज्ञाताम ही मेरा पूजन कर लिया, नहीं तो
नहीं-नहीं वन्मन्य सम्प्रदायोंसे भी मेरी पूजा नहीं हो
सकती ॥ ५७ ॥

भीमैरु तपाय कहत हैं—तर्जित् । भगवान्
आरम्भका यह जात्रा प्राप्त करके धृतराष्ट्र ने भगवान्
की पूजा की और उन दर्शित्वार्थ पञ्चालभयमे जराधना
की तथा उनकी हजम से भगवत्स्वरूप प्राप्त हो गए ।
गजा पन्थाने भा यर्ग गति प्राप्त की ॥ ५८ ॥
प्रिय भगवन् ! जैसे एक भगवान् की भक्ति करना है,
वैसे ही भगवान् भी नरकों की भक्ति करते हैं । य अन्त

उपित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥ ५९ ॥ दोनों मर्कोंको प्रसन्न करनेके लिये कुछ दिनोंके
मिथिलपुरीमें रहे और उन्हें सधु पुष्पोंके कर्ण
उपदेश करके वे द्वारका छूट जाये ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमार्थ्या संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
भुतदेवस्तुम्हो माम पदशीतितमोऽध्याय ॥ ८६ ॥

अथ सप्ताशीतितमोऽध्याय

वेदस्तुति

परीक्षितुंवाच

ममन् ममभ्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तय ।

कथं चरन्ति भुवयः साक्षात् सदसत परे ॥ १ ॥

भीमक उवाच

बुद्धान्द्रियमनःप्राप्तान् जनानामसृजत् प्रभुः ।

माप्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥ २ ॥

सत्ता व्यपनिषद् माझी पूर्वेण पूर्वत्रैवता ।

पञ्च परीक्षितने पूछा—भगवन् । मम कर्मों
कारणसे सर्वथा परे है । सत्त्व, रज और तम—
तीनों गुण उसमें हैं ही नहीं । मन और कर्में
सङ्केतत्वमें भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता
दूसरी ओर समस्त धृतियोंका विषय गुण ही है
(वे जिस विषयका वर्णन करती हैं उसके गुण, ज्योति
प्रिया अथवा सृष्टिकार ही निर्देश करती हैं) ऐसे
स्थितिमें धृतियों निर्गुण मन्त्रक प्रतिपादन किस प्रकार
करती हैं ? क्योंकि निर्गुण वस्तुका स्वरूप तो उनकी
पहुँचके परे है ॥ १ ॥

भीष्मकवेदजी कहते हैं—परीक्षित ! (भगवन्)
सर्वशक्तिमान् और गुणोंके निधन हैं । धृतियों सत्त्वः
सगुणका ही निरूपण करती हैं, परन्तु विचार करनेपर
उनका तत्पर्य निर्गुण ही निकलता है । विचार
करनेके लिये ही) भगवान्ने जीवोंके लिये बुद्धि
इन्द्रिय, मन और प्राणोंकी सृष्टि की है । इनका द्वारा
व स्वेच्छासे कर्म, धर्म, काम अथवा मोक्षका वर्णन
कर सकते हैं । (प्राणोंके द्वारा जीवन-भारण, भक्षण
इन्द्रियोंके द्वारा महाबाह्य आन्तरिक धर्म, मनक द्वारा
मनन और बुद्धिके द्वारा निश्चय करनेपर धृतियोंके तत्पर्य
निगुण स्वरूपका स्वरूपकार ही समझें । इसमें
धृतियों सगुणका प्रतिपादन करनेपर भी भगवान् निर्गुण-
परक हैं) ॥ २ ॥ कर्मका प्रतिपादन करनेपर
उपनिषद्का यही स्वरूप है । इसे पूर्वजों भी पूर्व
स्मरणान् धृतियोंके आत्मनिश्चयक द्वारा प्राप्त किया है ।

दुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया

उदयास्तमयौ विरुतेर्मृदि वाविकृतात् ।

श्रुपयो दधुस्त्वपि मनोवचनाचरित

नयथा भवन्ति सुवि दक्षपदानि नृणाम् ॥१५॥

तव सूरयस्त्र्यभिपतऽस्तिलोकमल-

तुपाभूतान्धिमवगाद्य सर्पासि जहू ।

उक्तिः । आरके सिता रेखा रेखा नील इत्यादि नदी मार लगे—नहीं पर कर लगे । वेद इस बात का गम्य करत रहते हैं ।
त सकल सन्तुष्टोऽसुप्तः ॥ १ ॥

• इतिवद्विरपीत्रमुखायाम् अग्निरिदं न भवेत्पुन्यवत् ।

समुद्रोत्थेभिः प्रशमयेत्स्वस्वमुत्पत्तिं विनिगच्छे ॥ २ ॥

प्रश्नः अग्निं मृतं इन्द्र आदि देवता तथा यह समूह कान् प्रजात हानस भी आरमे पुनरु नही है । उक्तिः
देवताओं का प्रतिपादन करने का वेद-मन्त्र इन देवताओं का नाम ले लूँ-पुनरु-पुनरु आदि ही विभिन्न नृत्तियों का वर्णन
है । वस्तुतः आर नमस्ते इति नृत्तियों का नाम भी आर का नम्य नहीं होता ॥ २ ॥

भा १६ १ ८५—

शरा इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का भी वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारे (धृतिपत्र) सारे मन्त्र अपवाद सभी मन्त्रों में श्रुति प्रतीत होनेवाले इस सम्पूर्ण जगत् को स्वस्वरूप ही अनुभव करते हैं । क्योंकि जिस समय यह सारा जगत् नहीं रहता, उस समय भी आप बच रहते हैं । जैसे घट, शराव (मिट्टी का प्याला—करोरा) आदि सभी विकार मिट्टी से ही उत्पन्न और उसी में लीन होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय आपमें ही होती है । तब क्या आप पृथ्वी के समान मिट्टी हैं ? नहीं-नहीं, आप तो एकतरफ—निर्विकार हैं । इसी से तो यह जगत् आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत है । इसलिये जैसे घट, शराव आदि का वर्णन भी मिट्टी का ही वर्णन है, वैसे ही इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का वर्णन भी आपका ही वर्णन है । यही कारण है कि विचारशील श्रुति, मन से जो कुछ सोचा जाता है और वाणी से जो कुछ कहा जाता है, उसे आपमें ही स्थित, आपका ही स्वरूप देखते हैं । मनुष्य अपना पैर चाहे कहीं भी रखे—हट, खर या कठार—होगा वह पृथ्वी पर ही, क्योंकि वह सब पृथ्वीस्वरूप ही है । इसलिये हम चाहे जिस नाम या जिस रूप का वर्णन करें, वह आपका ही नाम, आपका ही रूप है ॥ १५ ॥

भक्तम् । अग सत्य, रज, तम—इन तीन गुणों का माया से बन हुआ अष्ट-नुर भावों या अष्ट-सुरी क्रियाओं में उलझ जाया करते हैं, परन्तु आप तो उस माया नहीं का लार्मी, उसके न चानबाधे हैं । इसलिये विचार हीन पुरुष आपकी व्यवस्था का अवलोकन करते रहते हैं और इस प्रकार जाने सार प्राप्त कर पा-बहा दत हैं । क्यों न हाँ, आपकी अन्तःकरण सभी जीवों का

अपि चतु प्रवचनमेकं श्रुत्वा बोधोऽपरे ॥११॥

सनन्दन उवाच

स्वसृष्टमिदमापीय क्षयान सह शक्तिभिः ।

उदन्ते बोधयांचक्षुस्तद्विज्ञैः श्रुतयः परम् ॥१२॥

यथा क्षयानं सत्त्वाजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।

प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुसौकर्यैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥१३॥

श्रुत्य उवाच

जय जय अक्षयामवित दोषरुमीतगुणं

त्वमसि यदात्मना समषरुद्धसमस्तभगः ।

अगजगदोक्तसामखिलशक्त्यवबोधक ते

कचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेभिरगमः ॥१४॥

सनत्कुम्भर—ये चारों माई शास्त्रीय ज्ञान, तत्स्य और शील-स्वभावमें समान हैं । उन ज्योत्स्वी दृष्टिमें तब, मित्र और उदासीन एक-से हैं । फिर भी उन्होंने अपने-मेंसे सनन्दनको तो वक्ता बना लिया और शेष माई सुननेके इच्छुक बनकर बैठ गये ॥ ११ ॥

सनम्बनजीने कहा—जिस प्रकार प्रातः काल होने पर सोते हुए सम्राट् को जगानेके लिये अनुजीवी बंदीबान उसके पास आते हैं और सम्राट् के पराक्रम तथा सुष्ठु-का गान करके उसे जगाते हैं, वैसे ही जब पराक्रम अपने कनाये हुए सम्पूर्ण जगत् को अपनेमें क्रीन करके अपनी शक्तियोंके सहित सोये रहते हैं, तब प्रसक्त अन्तमें श्रुतियों उनका प्रतिपादन करनेवाले बनते हैं उन्हें इस प्रकार जगाती हैं ॥ १२ १३ ॥

श्रुतियों कहती हैं—अवित ! आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं । आपपर कोई विचय नहीं प्राप्त कर सकता । आपकी जय हो, जय हो । प्रभो ! आप स्वभावसे ॥ उक्त ऐश्वर्योसे पूर्ण हैं, इसलिये चरुचर प्राणियोंको फँसने वाली मायका नाश कर लीजिये । प्रभो ! इस गुणस्त्री मायाने दोषके लिये—जीवोंके आनन्दान्धिमय स्वरूपस्वभाव अशुद्धदण्डन करके उन्हें अज्ञानमें डालनेके लिये ही सत्त्वदि गुणोंको ग्रहण किया है । जगत्में भित्ति भी साधना, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ हैं, उन सबको जगानेवाले आप ही हैं । इसलिये आपके स्थिते बिना यह मया भिन्न नहीं सकती । (इस विषयमें यदि प्रमाण पूछा जाय, तो आपकी श्वासभूता श्रुतियों ही—हम ही प्रमाण हैं ।) यद्यपि हम आपको स्वरूप वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, परन्तु जब कभी आप मायका द्वारा जगत्की सृष्टि करके सृण हो जाते हैं या उसमें निषेध करके स्वरूपस्थितिही लीला करते हैं अपना अपना सन्धिवानन्दस्वरूप श्रीनिम्न प्रकट करके मीडा करते हैं, तभी हम यत्किञ्चित् आपका वर्णन करनेमें समर्थ होती हैं ॥ १४ ॥ इसमें स्पन्द नहीं कि क्षमरे

० इन मन्त्रोक्त श्रीभीषणजीने बहुत सुन्दर भाव निकाले हैं, वे अर्थतद्वित यहाँ दिये जाते हैं—

अयजयाजि

अगजगद्व्यावृत्तिमजामुपमीतमृगगुणम् ।

न हि मयन्तगुणे प्रमथनययी निगमगीतगुणार्थकता तव ॥ १ ॥

अजि । आपकी जय हो । अयज । बड़े गुण धारण करके पराचर ओदक आच्छादित करनेवाली इस मायाको नष्ट

बृहदुपलब्धमेतदवयवन्तपक्षेपतया

यत्त उद्दामान्तमयो विकृतेर्धृदि वाचिकतात् ।

अथ श्रूयते दधुस्त्वयि मनोवचनाचारित

कथमयथा भवन्ति सुवि दक्षपदानि नृणाम् ॥१५॥

इति तव सूरयस्त्रयपितृषु त्विललाकमन्त्र-

धुपयकथाभूतान्भिभवगात्रं तपांसि जहू ।

कर होवि । आरके बिना बेघारे बीर इसका नहीं मार सकेगे—नहीं पार कर सकेंगे । बेर इन बातों पर ध्यान करते रहते हैं कि आर बहुत लड्डूचोंक लड्डू है ॥ १ ॥

• दुर्धिनवद्वितीयप्रमुखाय न भवेत्पुनर्द्विष्यन् ।

बहुमुखीयैः कथयतेरक्तमुद्विष्यन्ति दिनिययत् ॥ २ ॥

जब आरक मृत इस आदि दक्षता तथा यह लक्ष्य आरक प्रजापति हानकर भी आरक मृत नहीं है । इसलिये अनेक दक्षताओं का प्रतिपादन करनेवाले वेद-स्मृत्य इन देवताओं के नामों पर दक्ष-पुत्र-मात्र ही विभिन्न मूर्तियाँ बन कर रहे हैं । इसलिये आरक मृत है उन मूर्तियों के रूप में भी आरक मृत नहीं होता ॥ २ ॥

शरा इन्द्र, वरुण आदि दक्षताओंका भी वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारे (सुमियाँके) सार मन्त्र अथवा सभी मन्त्रद्वारा श्रुति प्रतीति हानेवाला इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं । क्योंकि जिस समय यह शरा जगत् नहीं रहता, उस समय भी आप बच रहते हैं । जैसे घट, शराव (मिट्टीका प्याज—कटारा) आदि सभी बिकर मिट्टीसे ही उत्पन्न और उसीमें फँस होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलय आप ही होती है । तब क्या आप पृथ्वीके समान बिकरी हैं ? नहीं-नहीं, आप तो एकरस—निर्विकर हैं । इसीसे तो यह जगत् आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत है । इसलिये जैसे घट, शराव आदिका वर्णन भी मिट्टीका ही वर्णन है, वैसे ही इन्द्र, वरुण आदि दक्षताओंका वर्णन भी आपका ही वर्णन है । यही कारण है कि विचारशील श्रुति, मनसे जो कुछ सोचा जाता है और वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, उसे आपमें ही स्थित, आपका ही स्वरूप दखते हैं । मनुष्य अपना घर चाह यहाँ भी रहते—इष्ट, फल या कलश—होना वह पृथ्वीपर ही, क्योंकि वे सब पृथ्वीस्वरूप ही हैं । इसलिये हम चाह जिस नाम या जिस रूपका वर्णन करें, वह आपका ही नाम, आपका ही रूप है ॥ १५ ॥

मान् ! धन सत्य, राज, तम—इन तीन गुणोंकी मायासे कन इष्ट अन्ध-बुर माचों या अन्ध-बुरी क्रियाओं में उलझ जाया करते हैं परन्तु आप तो उस माय-नदीक क्षामी, उसका नष्टानकर हैं । इसलिये विचार शीघ्र पुरुष आपकी कीर्त्यकलाक अमृतसागरमें ग्रात लग्न रहते हैं और इस प्रकार अपने सार पाप-तापको धु-बहा देते हैं । स्मृति न हो, आपकी कीर्त्य-कला सभी जीवोंक

किमुत पुन म्वधामविधुताशयकालगुणाः

परम भजति ये पदमजससुस्तानुभवम् ॥१६॥

इत्य इव असन्त्यसुसुतो यदि तेऽनुविधा

महदहमादयाऽम्भससृजन् यदनुग्रहत ।

पुरुषविधाऽन्वयाऽत्र चरमाऽभमयादिषु यः

सदसतः परं त्वमथ यदप्सवशेषमुतम् ॥१७॥

मन्त्रमन्त्रो नष्ट करनेवाली जो है । पुरुषोत्तम ! जिस महापुरुषोंने अन्तमयानक द्वारा अन्त कर्मणक गमने आदि और शरीरक काळवृत्त जग-मरण आदि गेय मित्र दिये हैं और निरन्तर आपके उस मन्त्रमन्त्री अनुभूतिमें मग्न रहते हैं, जो अलण्ड आनन्दस्वरूप है, उन्होंने अपने पाप-तापोंको सदाक लिये शान्त, भस्म कर दिया है—इसके विषयमें तो कहना ही क्या है * ॥ १६ ॥ भगवन् ! प्राणवरिणोंके बीजकी सफाई इसीमें है कि वे आपका भजन-सेवा करें, आपकी आज्ञाका पालन करें, यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनका जीवन व्यर्थ है और उनके अन्तरम स्वासका चखना ठीक वैसा ही है, जैसा दुष्टकी घोंकनीमें हलका धाना-जना । मन्त्रतत्त्व, अहंकार कानि आपके अनुग्रहसे—आपके उनमें प्रवेश करनेपर ही इस व्यापककी सृष्टि की है । अक्षमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँचों क्षेत्रोंमें पुरुष-रूपसे रहनेवाले, उनमें 'मैं-मैं' की सृष्टि करनेवाले भी आप ही हैं । आपके ही अस्तित्वसे उन क्षेत्रोंके अस्तित्वका अनुभव होता है और उनके न रहनेपर भी अन्तिम अवस्थिरूपसे आप विद्यमान रहते हैं । इस प्रकार सबमें वस्थित और सबकी अवधि होनेपर भी आप अलग ही हैं । क्योंकि वास्तवमें जो कुछ इन्द्रियोंके द्वारा अस्ति अथवा नास्तिके रूपमें अनुभव होता है, उन सम्स्त काय-करणोंसे आप पर हैं । जेजि-नेजि क द्वारा इन सबका नियंत्रण ही होनेपर भी आप ही क्षेत्र रहते हैं क्योंकि आप उस नियंत्रक भी सदा ही हैं और वास्तवमें आप ही एकमात्र सत्य हैं । (इन्द्रिये वास्तव भजनक किना जीवका जीवन व्यर्थ ही है, क्योंकि वह इस मन्त्रान् सत्यसे अस्ति है) † ॥ १७ ॥

● सत्त्वबुद्धिमेवितसदुपसमिति

सर्वमनीषिकामा

रवाः ।

स्वयि मुमदगुणभवनविभिन्नम

पदसारण्येन

गत्तकम्याः ॥ १ ॥

मार् वेद आपका सङ्गृहण करने करते हैं । इन्द्रिये संसारके सभी विज्ञान आपके महद्भजन कर्मणकी गुणाके भजन, सारण आदिके द्वारा आपसे ही प्रेम करते हैं और आपके चरणोंका सारण करके लग्न करनेवाले मुक्त ही होते हैं ॥ १ ॥

† मरवपुः प्रतिपद्य बहि स्वयि भवमवर्जमसंसारणादिभिः ।

मयारं । न भवति नृणांमिदं दक्षिणदुष्कृतं विदुः तव ॥ ४ ॥

उदरमुपासत य श्वपिषत्सु कृपयन्

परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।

तव उदगादनन्तं तव धाम शिरः परम

पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

स्वकृतविचित्रयानिषु विशम्भिव हेतुतया

तरतमवधकास्सनलवदं स्वकृतानुकृति ।

अथ वित्ताम्यमृज्वित्तं तव धाम सम

विरजधियाऽन्वयन्त्यभिविषम्यव एकरसम् ॥१९॥

स्वकृतपुरष्वमीष्वबहिरन्तरसवरण

तव पुरुष वदन्त्यखिलवन्तिभूतोऽनुकृतम् ।

श्रमियोंने आपकी प्राणिक श्रिये अनर्क माग मान हैं । उनमें जो खूब दृष्टिवाले हैं, वे मगिसूक चक्रमें अग्निरूपसे आपकी उपासना करते हैं । अरुणवराच श्रमि समस्त नाशियोंके निकष्येके स्थान हृदयमें आपका परम सुमस्त्यम्ब दहर मध्यस्थ उपासना करते हैं । प्रभो ! हृदयसे ही आपका प्राप्त करनेवादा श्रेष्ठ भाग सुपुम्ना नाश्री वरानप्रतक गयी हुई है । जो पुरुष उस ज्योतिष्य मागको प्राप्त कर लेता है और उससे ऊपरकी ओर बढ़ता है, वह फिर अम-मृत्युक चक्रमें नहीं पड़ता ॥ १८ ॥ भगवन् ! आपने ही दक्षता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनिवाँ बनायी हैं । सप्त-सुवत्र सब रूपोंमें आप हैं ही, इसलिये कर्मरूपसे प्रवृत्ति न करनेवा भी आप परसे जान पड़त हैं, मानो उसमें प्रविष्ट हुए हों । सब ही विभिन्न आकृतियोंका अनुकरण करके वही उत्पन्न, तो वही अभ्यन्तरसे प्रतीत होते हैं, जैसे आग छोट-बड़ी व्यक्तियों और कर्मोंके अनुसार प्रचुर क्षया क्षय परिमाणमें या उत्पन्न-अभ्यन्तरमें प्रतीत होती है । इसलिये संत पुरुष लौकिक-पारलौकिक कर्मोंकी दृष्टानदायीसे, उनके फलोंसे विरक्त हो जाते हैं और अपनी निर्मल मुद्रिसे सत्य-असत्य, आत्म-अनात्मका पहचानकर जगत्के झूठे रूपोंमें नहीं फँसते, आपका स्वरूप पकड़ते, समभावसे स्थित सत्य-सम्पन्न साक्षात्कार करते हैं ॥ १९ ॥

प्रभु ! जीव जिन शरीरोंमें रहता है, वे उसके कर्मोंके द्वारा निर्मित होते हैं और वास्तवमें उन शरीरोंके वायु-वहणरूप आवरणोंसे बह रक्षित है, क्योंकि बन्धुता उन आवरणोंकी सत्य ही नहीं है । तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि सम्पूर्ण नाशियोंका शरण करनेवाला आपका ही वह सम्पन्न है । स्वल्प हानिक फरण भेदा

नरारे ! मनुष्य शरीर प्राप्त करके यदि जीव आनन्द भरण करने और सम्पन्न आदिक द्वारा भरण भोग नहीं करते ॥ शीतल शन मन्त्रा धीकनीक लम्पन ही गवया मय है ॥ ८ ॥

● उरार्द्धि य. पुत्रा चिन्तिता मुनि-जमि. ।

इति मृत्युमन्त्र इति इति मृत्युमन्त्र ॥ ५ ॥

मनुष्य श्रमियोंके द्वारा कृत्यकी हुई प्रवृत्तिसे उदर आदि स्थानोंमें विषय चिन्तन करते हैं और वे प्रभु उनके स्थान करनेवाले मनुष्य माग का नरारे हैं उन हृदयस्थानोंमें विषयमय प्रभु की मय उत्पत्ति करते हैं ॥ ५ ॥

† चिन्तिता भवेत् वारम्भ-चिन्तिता ।

गर्वाद्गुण-मन्त्र

मन्त्र

भयम् ॥ ६ ॥

इति नृगतिं विविच्य कथयो निगमावपनं

भरत उपास्ततेऽङ्घ्रिमभयं भुवि विवशिता ॥२०॥

दुरवधमास्तत्त्वनिगमाय सवाचतनो

अरितमहामृताम्बुपरिवर्तपरिश्रमणाः ।

न परिलपन्ति केचिदपवर्गमयीधर ते

चरणसरोर्वांसकुलसङ्गविन्दुपट्टहाः ॥२१॥

स्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव

धरति सयो मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।

न होनेपर भी उसे अश कहते हैं और निर्मित न होने पर भी निर्मित कहते हैं । इसीसे मुक्तिमान् पुनः जीवों यास्तमिक स्वस्वपर विचार करके परम विद्याके सार आपके चरणकमलोंकी उपासना करते हैं । सर्वों आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मोंके समस्तस्वरूप और मोक्षस्वरूप हैं * ॥ २० ॥ भगवन् ! परमस्वतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । उसका ज्ञान करानेके लिये आप विविध प्रकारके व्यक्तार प्रदान करते हैं और उनके द्वारा ऐसी छिन्न करते हैं, जो व्यक्तके महासागरसे भी मधुर और मजबूत होती है । जो छेग उत्सव सेवन करते हैं, उनकी खरी कम्पन शुरू हो जाती है, वे परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं । कुछ प्रेमी मनु तो ऐसे होते हैं, जो आपकी कृपा-कर्मजोषोंसे छोड़कर मोक्षार्थ भी अस्मिन्मया नहीं करते—स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है । वे आपके चरण-कमलोंके प्रेमी परमार्थोंके स्पर्शमें, जहाँ आपकी कृपा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उनके लिये स्वजीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्वीकृत भी पस्तिष्ठा कर देते हैं † ॥ २१ ॥

प्रभो ! यह शरीर आपकी सेवाका साधन होकर जब आपके पङ्कज अनुगामी हो जाता है, तब कल्प, जितनी, सुख और प्रिय व्यक्तिके समान आचरण करता है । आप जीवोंके सच्चे जितनी, प्रियतम और वरदा ही हैं और सदा सदा जीवोंको अपना देनेके लिये तैयार भी रहते हैं । इतनी सुगमता होनेपर तब अनुग्रह मानव-शरीरको पाकर भी छेग सम्पन्न हो आदिके द्वारा आपकी उपासना नहीं करते, आपमें नहीं रहते, बल्कि

अग्नेद्वारा निर्मित सम्पूर्ण कार्यमें जो न्यूनाधिक भेद-कनिष्ठक भगवत्से रहित एवं सबमें भरपूर है, इस रूपमें अनुभवमें अग्नेवाची निर्विशेष सत्त्वने रूपमें स्थित हैं, उन भगवत्कृपा हम मकन करते हैं ॥ १ ॥

● स्वर्गधाम

ममेधाम

भगवायानुसङ्गमम् ।

स्वर्गधामिदमादिभ्य

पदानन्द

निरुत्तम ॥ ७ ॥

मेरे परमानन्दरूप स्वामी ! मैं आपका भक्त हूँ । अग्ने चरणोंकी सेवाका आदेश देकर अपनी प्राणाके द्वारा निर्मित मेरे कथनको निष्ठुर कर ॥ ७ ॥

† स्वर्गधामिदमादिभ्यो

विहरन्त्य

महापुत्रः ।

पुरन्ति

कठिनः

कनिष्ठपुत्रः

तुलापत्रम् ॥ ८ ॥

भोरे भोरे फिरसे मुझ-वन्दन महापुत्र आपके अनुग्रहमें कथा-समुद्रमें विहार करते हुए परमानन्दमें मग्न रहते हैं और परम भयं काम, अर्थ—इन पार्श्व पुत्रोंको तब तक समान सुख बना देते हैं ॥ ८ ॥

न षत् रमन्त्यहो अस्तुपासनयाऽऽत्मह्नो

यदनुशया अमन्त्युरुभये कुशरीरमृत ॥२२॥

निमृतमरुन्मनोऽप्यष्टयोगयुजो इवि य-

न्मनय उपासते तदरयोऽपि ययु सरणात् ।

स्त्रिय उरगन्त्रभागसुअदम्बविपक्षधियो

वयमपि च ममा समष्ट्योऽहृषिसरात्रमुधाः ॥२३॥

क इह तु वद यतावरजन्मलयाऽग्रमरं

यत् उदगाहपियमनु इवगणा उभय ।

● सप्तमन्त्रि अग्रगण्य मन्मन्त्र रमन्त्रिद ।

करा मनेराज क्रम मनुष्य मन्मन्त्रि ॥ १ ॥

भार अग्रेष्ठ मन्त्रो है और अन्ती अन्त्य ही है । इस बीचमें ही मय मन् भारमें रम गये । मर मन्मा । नर मन्म मन्मन्त्र कर इन्द्र कर मुनि इस प्रकारका मनुष्य क्रम प्राप्त होगा ।

† अरजमन्त्र मन्त्र तत्र इव मुमुक्षुमन् ।

ययुः कश्चिन्मन्त्रो मन्त्र नृप-मन्मन्त्र ॥२॥

इस मिनारी और अस्तु शरीर तथा उसके सम्पत्तियोंमें ही रम जाते हैं, ऊर्हीकी उपासना करने लगते हैं और इस प्रकार अपने आत्मका हनन करते हैं, उसे अश्रेष्ठमें पहुँचाते हैं । मन्त्र, यह किन्तने कष्टकी बात है । इसका फल यह होता है कि उनकी सारी वृत्तियाँ, सारी वासनाएँ शरीर आदिमें ही लग जाती हैं और तब उनके अनुसार उनका पशु-पक्षी आदिक न जाने किन्तने गुरे-गुरे शरीर छेड़न करने पड़ते हैं और इस प्रकार अत्यन्त भयावह जन्म-मृत्युचक्र संसारमें भटकना पड़ता है* ॥ २२ ॥ प्रभो ! बड़-बड़ विचारशील योगी-यति अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंको बधमें करने दृढ़ यागन्यासक द्वारा हृदयमें आपकी उपस्थिता करते हैं । परन्तु आध्यात्मिक वस्तु तो यह है कि उन्हें जिस पक्षकी प्राप्ति होती है, उसीकी प्राप्ति उन शत्रुओंको भी हो जाती है, जो आपसे बैर-भाव रखने हैं । क्योंकि स्मरण तो व भी करते ही हैं । कहेँतक कहें, भाग्य ! वं शत्रुओं, जो अज्ञानवश आपका परिच्छिन्न मन्त्रों हैं और आपकी क्षेमागत समान मोटी, उनी तथा सुकुम्बर मुनाओंकी प्रति कामभावसे आसक्त रहती हैं, जिस परम पक्षकी प्राप्ति करती हैं, वही पर हम धृत्तियोंका भी प्राप्त होता है—पक्षी हम आपका सप्त-सप्त एकस्र अनुभव करती है और आपका चरणाकिन्दव करान्द रस पान करती रहती हैं । क्यों न हो, आप समदर्शी जो हैं । आपकी दृष्टिमें उग्रमकर परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न भवमें कोई अन्तर नहीं है* ॥ २३ ॥

भाग्य ! आप अनादि और अनन्त हैं । तिसरा जन्म और मृत्यु कल्पमें हीमि है, वह भय, आपका कैसे जान सकता है । स्वयं प्रजापति, निश्चितरूपका समस्तानि तथा प्रवृत्तिरूपका मर्मादि आदि भी बहुत पीछे जाते ही उत्पन्न हुए हैं । तब समय आप सबका समष्टिकर सा बात है, उस समय पक्ष काइ साधन नहीं रह जाता, तबसे उनका स्रप ही साध

तर्हि न सद्यः चासदुभयं न च कालजयः

क्रियमि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥

अनिमसत् सदा भृतिपुतात्मनि ये च भिदां

विषण्मृतं सरन्त्युपदिशन्ति त आरुपिते ।

त्रिगुणमय पुमानिति भिदा यदबोधकृता

त्वयि न ततः परत्र स भवेदबोधरसे ॥२५॥

सदिब मनस्विहृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्

सदभिसृक्षन्तमेषमिदमात्मतयाऽऽश्नमिदः ।

हुआ जीव आपस जान सक । क्योंकि उस स्वर
तो आकाशदि स्थित जगत् रहता है और न व
महतत्वादि सूक्ष्म जगत् । इन जनोंसे मन हुए तरी ओ
उनके निमित्त धर्म-मुद्रित आदि पत्रक का भी नहीं
रहता । उस समय पुत्र भी नहीं रहता । क्योंकि कि
शाय भी आपसे ही सम्बन्ध है (मेरी प्रकृति
आपस जानने की चयन करके आपस मन्त्र कर्म
ही सर्वोत्तम मन्त्र है ।) * ॥ २४ ॥ प्रभो ! कुछ कम
मानते हैं कि असत् जगत् की उत्पत्ति होती है और कुछ
योग कहते हैं कि स्व-स्वयं दुष्टों का नाश होने पर पुनः
मिथ्या है । दूसरे पाप अस्माकम् अनेक मानते हैं, वे
कई योग कर्मों के द्वारा प्राप्त ज्ञानवाचक श्रवण और प्रत्यक्ष
स्वयं व्यवहारका स्वरूप मानते हैं । इसमें स्पष्ट नहीं
कि ये सभी बातें भ्रमपूर्ण हैं और वे व्यर्थ करने की
ऐसा उपदेश करते हैं ।-पुनः त्रिगुणमय है-तब
प्रकारका भेदभाव कर्म अज्ञानसे ही होता है और वा
अज्ञानसे सर्वथा परे हैं । इसलिये ब्रह्मस्वरूप अपने
किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है । ॥ २५ ॥

यह त्रिगुणमयक जगत् मन की कल्पनामय है । केवल
यही नहीं, परमात्म और जगत्सं पृथक् प्रतीत होनेका
पुनः भी कल्पनामय ही है । इस प्रकार कल्पने
असत् होनेपर भी अपने स्वयं अधिष्ठान आपसी सत्ताके
कारण यह स्वरूप प्रतीत हो रहा है । इसलिये मोक्ष,
मोक्ष और दोनोंके सम्बन्धों सिद्ध करनेवाली त्रिविध

देव ! आपके चरणोंका प्रेमपूर्वक स्पर्श अत्यन्त दुर्लभ है यदि वेले-वेले में हो सके । मुझे तो आपके
चरणोंका स्पर्श दिन-रात बना रहे ।

● यहाँ 'बुद्ध्याधिरुद्ध' का न भ्रममयत्व ।
धीमन्त्यो ब्रह्मसिन्धो भक्ति मे तद्वरे विद्य ॥२॥

अनन्त ! कहीं कुछ आदि परिच्छिन्न उपधिप्रेत विद्य बुद्ध्या में और कहीं आपका मत, वाणी आदि के अन्तर्गत
स्वरूप । (आपका ज्ञान तो बहुत ही अतिम है) इसलिये ब्रह्मसिन्धु, ब्रह्मसिन्धु । नन्दरि देव ! मुझे तो अपनी भक्ति ही
ही विधि ।

† भिन्नातकैस्तुकेतिरित्यमृत्यादात्मकपरान्तर

भ्राम्यमानमतेरामृतमहिर्मात्मकानवर्मास्तुतम् ।

भीम्यामय ब्रह्मन् भिनयन् भीष्माहुर भीष्मे

गोविन्देति युवा तवन् मधुपते शुक्ल कृष्ण स्वाम्याम् ॥२॥

अनन्त महिमावासी प्रभो ! जो अनन्तमय पुनः बड़े लक्षों के द्वारा प्रेरित अत्यन्त कर्मों काद-विचारके फेर अन्त
करने मरक रहें हैं उनके लिये आपके ज्ञानका मार्ग स्पष्ट वास्तविक सम्भव नहीं है । इसलिये मेरे जीवनमें ऐसी लोभ-मोह
कहीं कम आकर्षण कि मैं भीम्यामय ब्रह्मन्, भिन्नेन भीष्माहुर भीष्मे गोविन्द- मधुपते-इत प्रकार आपकी मान्यतामें
मरकर पुनःपुनः हुआ शुक्ल हो जाऊँगा ।

नहि विकृतिं स्पृजन्ति कनकस्य तदात्मतया

स्वकृतिमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥२६॥

तव परि म चरन्त्यस्मिन्सत्त्वनिकेततया

त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निश्च्यते

परिव्रजे पशून्नि गिरा विपुधानपि तां

स्त्वपि कुतसोद्गदा गतु पुनन्ति नये विमुक्ताः ॥२७॥

त्वमकरणः स्वराड्बिलकारकश्चक्षिधर

स्त्व पलिमुद्गहन्ति समदन्त्यवयानिगिपाः ।

आदि जित्ना मी जगत् है, सबको आत्मज्ञानी पुरुष आत्मरूपसे सत्य ही मानते हैं । सोनेसे बने हुए कड़, कुण्डल आदि स्वर्णरूप ही तो हैं, इसलिये उनको इस रूपमें जाननेवाला पुरुष उन्हें छोड़ता नहीं, वह सम्झता है कि यह भी सोना है । इसी प्रकार यह जगत् आत्मामें ही कस्मिन्, आत्मासे ही व्याप्त है, इसलिये आत्मज्ञानी पुरुष इसे आत्मरूप ही मानते हैं॥ २६ ॥ भक्तन् ! जो लोग यह समझते हैं कि आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंके अविच्छिन्न हैं, सबके आकार हैं और सर्वव्यापकसे आपका भजन-सेवन करते हैं, वे घृष्टुको कुछ समझकर उसके स्तिरार धत मारते हैं अर्थात् उसपर विजय प्राप्त कर लेते हैं । जो लोग आपसे विमुख हैं, वे बाहे बिस्तन बड़ विद्वान् हों, उन्हें आप कर्माका प्रतिपादन करनेवाली धृतियोंसे पशुओंके समान बंध लेते हैं । इसके विपरीत जिन्होंने आपके साथ प्रभुका सम्बन्ध बाँध रखा है, वे न कन्त अपनेको बल्कि दूसरोंको भी पक्कि कर देते हैं—जगत्के बन्धनसे छुड़ा देते हैं । ऐसा सौमन्य भव्य, आपसे विमुख लोगोंको कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ २७ ॥

प्रभो ! आप मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि करणों-से—चिन्तन, कर्म आदिक सत्त्वोंसे सर्वथा रहित हैं । फिर भी आप समस्त अन्त-वस्त्रण और बाह्य करणोंकी शक्तियोंसे सृष्टि-सर्वदा समन्त हैं । आप स्वन सिद्ध ज्ञानवान्, स्वप्नप्रकाश हैं अतः कोई काम करनेके लिये आपको इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं है । जैसे छान्दे-छान्दे गवा अपनी-अपनी प्रजासे कर खर खर्यं भजन सम्राट्पद कर देते हैं, वैसे ही मनुष्योंक पूज्य दत्ता

● कर्मवत् कदाभाति कारेतद्वत् स्वतः ।
कदाभ्यगमश्चक्षिन् भगवन्तं मयाम कम् ॥ २२ ॥

यह भगवन् भजन स्वकर्म नाम और आह्वयिक कर्म अतत् है फिर भी विन अधिपान-गत्याही स्वयंसे यह कर्म भजन पड़ता है तथा जो इस भगव्य प्रसन्नने स्वकर्म रूपसे तदा प्रभावमान रहता है उस भगवत्पद हम भजन करते हैं ।

† वस्तु अत्र प्रवृत्त पत्तादन्तु लीयानि पदन्तु पागमन् ।

यस्तु शरीरिण्यु चरेद्दिप्तिं मित्ता नेत्रं गुणं नयति ॥ १४ ॥

सब पदार्थों आदि तत्त्वों एक ही परीसे गिरकर अभ्यस्त कर हैं, व्यर्थसे पर्यटन करे नष्टोंमें पड़ करे, पदार्थ हाथ पकन करे अथवा निषिद्ध म्तराशक हाथ आत्मने विचार करे वस्तु भाग्यत्क विना इस मनुष्य वस्तु व्यवहार कर नहीं करे ।

वर्षभुजोऽखिलवित्तपतेरिव

विश्वसृजा

विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२८॥

स्विरचरत्वावचः स्वरजसोत्थनिमित्तयुजो

विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त उतः ।

न हि परमस्य कमिदपरो न परस्य भवेद्

विपत् इवापदस्य त्वं क्षून्यतुलां दधतः ॥२९॥

अपरिमिता भूवास्तनुभूता यदि सर्वगता-

स्तुतिं न द्यास्ततेति नियमा भूव नेतरथा ।

और देवताओं के पूज्य ब्रह्म अग्नि भी अपने बलिष्ठ प्राणियों से पूजा स्वीकार करते हैं और मनुष्य के वर्ण होकर आपकी पूजा करते रहते हैं । वे इस प्रकार आपकी पूजा करते हैं कि आपने जहाँ जो कर्म करने लिये उन्हें नियुक्त कर दिया है, वे आपसे मनाई रहकर वहाँ यह काम करते रहते हैं ॥२८॥ निष्पुण । आप मयासीति हैं, फिर भी अब अपने इन्द्रगन्धर्व-सङ्कल्पमग्नसे मयाके साथ क्रीडा करते हैं, तब आप सङ्कत पाते ही जीवों के सूक्ष्म शरीर और उनके कर्म-सत्कार जग जाते हैं और चरकर प्राणियों उत्पत्ति होती है । प्रभो ! आप परम दयालु हैं । अकाल स्मरण सर्वमें सम होनेके कारण न तो कोई कर्म अपना है और न तो परमा । वास्तवमें तो अपने स्वरूपमें मन और वाणीकी गति ही नहीं है । अपने कर्म-कारणरूप प्रपञ्चक अमन होनेसे आप अपने आप शून्यके समान ही जल पड़ते हैं, परन्तु उन दृष्टिके भी अविच्छन्न होनेके कारण आप परम स हैं ॥ २९ ॥

भाक्त् । आप नित्य एकतरस हैं । यदि जीव कर्तव्य हों और सब-क-सब नित्य एवं सर्वव्यापक हों, तब वे आपके समान ही हों जायेंगे, उस हालतमें वे शक्ति हैं और आप शासक—यह बात मन ही नहीं सकते और तब आप उनका नियन्त्रण कर ही नहीं सकते । उनका नियन्त्रण आप तभी कर सकते हैं, जब वे आपसे उत्पन्न एवं आपकी अपेक्षा न्यून हों । इसमें संदेह नहीं कि ये सब-के-सब जीव तथा इनकी एकता व विभिन्नता आपसे ही उत्पन्न हुई है । इसलिये उन

* अग्निप्रियोऽग्नि ओ देवः सर्वकारकप्रतिष्ठा ।

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसिद्धं नमामि तम् ॥ १५ ॥

ओ प्रभु इन्द्रियरहित होनेपर भी समस्त ब्रह्म और आध्यात्मिक इन्द्रियकी शक्तियों कारण करछा है और सर्व एवं सर्वकर्ता है, उस लक्षके ऐक्यीय प्रभुओं में प्रणम्य करछा हूँ ।

† स्वर्गीयव्यवहारोभयानावोभितकर्मणि

अतान् संस्रवाः क्षिप्रान्तरां पक्षि मा पिता ॥ १६ ॥

उक्ति । आपके सुधि-वस्तुस्थिति मुख्य होकर मावाने कर्मोंके व्यवहार कर दिया है । उनकी कारण हम लोगोंका मन भूमा और मन भयानामनके चकारमें मरकर हम दुखी हो रहे हैं । विद्या । आप हमारी छा कीर्ति ।

अवति च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तु भवेत्

सममनुबानतां मदमथ मतदुष्टतया ॥३०॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषोरब्ज-
रुमयमुजा भवन्तमनुसृतो बलबुद्धवत् ।

स्वयि व इमे ततो विविधनामगुणैः परमे

सरित इषाणीवे मधुनि सित्पुनरोपरमाः ॥३१॥

॥ अन्तर्यम्वा सर्वोद्भवस्य गीता भुक्त्वा बुद्धत्वा वैच्येनावसेवः ।

यः सत्त्वः सर्ववर्तिर्नृतिः शीघ्रन्तं तं वेत्त्येवात्मन्ये ॥ ३७ ॥

मुनिने समस्त इत्यपराधके अन्तर्यामीके रूपमें किनका गहन किया है, और युक्तिये भी वेद्य ही निश्चय होता है । अ
सर्वं सर्ववर्ति और नृति—पुरुषोत्तम है, उसी सर्वतोन्मय-सामुपमिधि प्रत्यक्ष में मन-ही-मन आत्मन्ये प्रवेश करता है ।

† नमिन्नुपम् विष्णुमसि यत् शक्ति विष्णु व्यापरो
जीवोपेतं गुह्यकल्पया केवलसमावरोधे ।

अस्यत्वात् शक्तिः शक्त्या सित्पुनरितिमुपमये

मन्वेति च विमुच्यनगुह्यं माक्ये तं नृतिम् ॥ ३८ ॥

उनमें कारणरूपसे रहते हुए भी उनके नियन्त्रक हैं । वास्तवमें आप उनमें स्मरूपसे स्थित हैं । परन्तु यह जाना नहीं जा सकता कि आपको वह स्वरूप कैसा है । क्योंकि जो छेग ऐसा समझते हैं कि हमने ज्ञान लिया, उन्होंने वास्तवमें आपको नहीं जाना, उन्होंने तो केवल अपनी बुद्धिके विषयको जाना है, जिससे आप परे हैं । और सृष्टि ही शक्तिके द्वारा जिसकी वस्तुर्पे जानी जाती हैं, वे शक्तियोंकी विस्तारके कारण मिश्र-मिश्र होती हैं, इसलिये उनकी दुष्टता, एक स्तरके साथ दूसरे स्तरके विरोध प्रत्यक्ष ही है । अतएव आपको स्वरूप समस्त भावोंके परे है ॥ ३० ॥ स्वामिन् ! जीव आपसे ऊपर होता है, यह कहनेका ऐसा कर्म नहीं है कि आप परिणामके द्वारा जीव बनते हैं । सिद्धान्त तो यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अजन्मा हैं । अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप—जो आप हैं—कभी वस्तुओंके अंदर उत्तरता नहीं, जन्म नहीं लेता । सब प्राणियोंका जन्म कैसे होता है ! अज्ञानके कारण प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषको प्रकृति सम्मिलनेसे, एकका दूसरेके साथ संयोग हो जानेसे जैसे 'बुद्धबुद्धा' नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, परन्तु उत्पादान-कारण जब और निमित्त-कारण बाधक संयोगसे उसकी सृष्टि हो जाती है । प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृतिको व्यापस (एकमें दूसरेकी कल्पना) हो जानेके कारण ही जीवोंके विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं । अन्तमें जैसे समुद्रमें नदियाँ और मधुमें समस्त पुष्पोंके रस सम्मिलित होते हैं, वैसे ही वे सब-के-सब उपाधि-रहित आपमें समा जाते हैं । (इसलिये जीवोंकी मिन्नता और उनका घृष्य अस्तित्व आपके द्वारा नियन्त्रित है । उनकी घृष्य स्वतन्त्रता और सर्व-व्यापकता आदि वास्तविक सत्यको न जाननेके कारण ही गानी जाती है) † ॥ ३१ ॥

नृप तव मायया अममयीष्ववगत्य मृशं

स्वयि सुधियोऽमवे दधति भावमनुप्रभवम् ।

कथमनुवर्ततां मयमय तव यत् मुकुटि

सृजति मुहुस्त्रिणेमिरमवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरग

य इह पतन्ति यन्तुमतिबोलेमुपायसिद्धः ।

व्यसनशतान्विता समवहाय गुरोश्चरण

वणिज इवात्र सन्त्यक्तकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

म्वजनसुतारमदारधनधामभरासुरधै

स्वयि मति किं नृणां भयत आमनि सर्वरसे ।

श्रीशोक सहित यह उष्ण विष किमें उदय होता है और सुपुति आदि व्यक्त्याभासे विषयधे प्राप्त होख है उपा भन होता है; गुरुदेवकी करुणा प्राप्त होनेपर अब कुछ आत्माका जल होता है तब समुद्रमें नदीके समान उदय व किमें आत्मविक प्रकट हो प्राप्त हो जाता है उन्हीं त्रिपुवनगुरु रुखि मयावन्धो में अपने हृदयमें मयना करता है ।

० सधरचक्रकन्यैर्विहीर्षमुदीभनानामकटापतसम्

कथञ्चिदप्यभिह प्रपन्न त्वगुदर धीरुदरे नृशकम् ॥ ११ ॥

नृखि ! यह भीम सधर-चक्रके आगेसे टुकड़े-टुकड़े हो रहा है और नामा प्रकटके लालारिक पयोधे पचकरी हुई कपल छूट रहा है । यह आपत्तिमय जीव किसी प्रकार आपकी श्रृणुसे आपकी धरकमें आया है । आप इतना उदार कीर्ति ।

† क्या बयामन्त्रगुरु मयापदे पर मनो मे भगवैच्छमेत ।

तदा निरुद्धाशिलसाधनमय भयं लोचनं भवत कुपता ॥ २ ॥

भगवन् ! सभी जीव आपकी मायसे भस्मे पड़ रहे हैं, अपनेको आपसे पृथक् मानकर जन्म-मृत्यु चक्र चरत रहे हैं । परन्तु बुद्धिमत् पुत्र इस भस्मे समझ लेंगे हैं और सम्पूर्ण मक्तिमयसे वाक्सी कर प्रहण करते हैं । क्योंकि आप जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ानेवाले हैं । यद्यपि शीत, ग्रीष्म और गर्म—स तीन मार्गोपक्रम कालचक्र आपका ध्विक्समय हैं । यह सभीको मयमीत करता है, परन्तु वह उनकी बार-बार मयमीत करता है, जो आपकी करम नहीं लेते । जो आपके चरणगत मल हैं, उन्हें मल, जन्म-मृत्युरूप संसारका मय कैसे हो सकता है ? * ॥३२॥ अबन्मा प्रमो ! बिना योगियोंने अपनी इन्द्रियों को प्राणोंको बशमें कर लिया है, वे भी, जब गुरुदेवके चरणोंकी शरण न लेकर उच्छृङ्खल एवं अस्तव्यस्त मन-गुणको अपने बशमें करनेका यत्न करते हैं, उन अपने साधनोंमें सफल नहीं होते । उन्हें बार-बार सेक और सैकनों विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है । उनकी टीक कही दशा होती है, जैसी समुद्रमें बिना कलकाई नावपर यात्रा करनेवाले व्यापारियोंकी होती है । (तात्पर्य यह कि जो मनको बशमें करना चाहते हैं, उनका लिये कर्माधार—गुरुकी अनिर्घय अवस्थान है) † ॥ ३३ ॥

भगवन् ! आप अखण्ड आनन्दस्वरूप और शरण-गतके आत्मा हैं । आपके रहते सन्मन, पुत्र, वेद, धी, धन, मङ्गल, पृथ्वी, प्राण और रप आदिसे सब प्रयोजन है * जो लोभ इस सत्य सिद्धांतको न जानकर धी-पुरुषक सम्बन्धसे होनेवाले सुखोंमें ही रम रहे हैं, उन्हें

इति सदजानतां मियुनतो रतये चरतां

सुखयति को न्विह खविहते खनिरस्तमगे ॥३४॥

सुवि पुरुषुपतीर्थसदनान्प्रपयो विमदा-

न्त उत भवत्सदान्मुजह्वोऽचभिदङ्घ्रिजला ।

दधति सकृन्मनस्त्वपि य आत्मनि नित्यमुखे

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥

सत इदमुत्थितं

सदिति चेन्ननु तर्कद्वयं

व्यभिचरति क च

क च मृपा न तथाभययुक् ।

परमानन्दमय सुखदेव ! ममन् । अब नरा मन आपक पराओंमें स्थान प्राप्त कर लेगा तब मैं आरक्षी कृपाल कमल नाभोंके परिमलमें घुटकर पाकर परमानन्द प्राप्त करूँगा ।

● भक्तों के भवान् साधारणमानवचिरुपन ।

आमिष किमपि कृतं गुणधारकगुणदिशि ॥२१॥

अ भाषण करने के, उनके लिये आज स्वर्ग गार्हापत्य परमानन्दचिरुपन आत्मा ही है । इच्छिये उन्हें तुच्छ त्री उप भन भादिसे क्या प्रयोजन है ?

† उग्रधृतिवत्तमनिरा

यन्ता

मति

पता

त्यामय

यता

समिन्तयन्

गद्यमहात्मनाभयमनसम् ।

ससारमें मय, एसी कौन-सी वस्तु है, जो सुखी कर सकें । क्योंकि ससारकी सभी वस्तुएँ स्वभावसे ही विनाशशील हैं, एक-एक दिन मटियामेट हो जानेवाली हैं । और तो क्या, वे स्वभावसे ही सारहीन और सत्प्राहीन हैं, वं मय, क्या सुख द सकती हैं * ॥ ३२ ॥ ममन् ! जो पदार्थ, लक्ष्मी, विद्या, ज्ञाति, तपस्या आदिक धर्मद्वारा रक्षित हैं, वं सतपुरुष इस पृथ्वीतलपर परम पवित्र और सम्पन्न पवित्र करनेवाले पुण्यमय सुखे तीर्थ स्थान हैं । क्योंकि उनके हृदयमें आपक चरणारवि-सर्वदा किराजमान रहते हैं और यही कारण है कि उन संत पुरुषोंका चरणामृत समस्त पापों और तापोंका सदाके लिये नष्ट कर देनेवाला है । ममन् ! आप नित्य-आनन्दस्वरूप आत्मा ही हैं । जो एक बार भी आपका अपना मन समर्पित कर देते हैं—आपमें नन लग्न देते हैं—वे उन देख-नेहोंमें कभी नहीं पँसते अ जीवके विवर्ण, वैषम्य, वैर्य, क्षम और शान्ति आदि गुणोंका नाश करनेवाले हैं । वं तो वस, आपमें ही रम जाते हैं ॥ ३५ ॥

ममन् ! जैसे मिष्टीसे क्या हुआ वही मिष्टीरूप ही होता है, वैसे ही सत्यसे क्या हुआ जगत् भी सत् ही है—यह बात युक्तिसङ्गत नहीं है । क्योंकि कारण और कार्यका निर्देश ही उनके भेदका चोक्क है । यदि केवल भेदका निषेध करनेके लिये ही ऐसा कहा जा रहा हो तो मित्र और पुत्रों, पण्ड और घटनाशर्मों काय-धारण-मग्न होनेपर भी वं एक दूसरेसे भिन्न हैं । इस प्रकार कार्य-धारणकी एकता संवत् एक-सी नहीं देखी जाती । यदि कारण-रूपसे निमित्त-धारण न व्यक्त केवल उपादान-धारण लिये जाय—जैसे कुण्डलका सोना—तो भी यही-यही कारणों अस्वप्ना प्रमत्ति होती है जैसे रस्सीमें सर्प । यहाँ उपादान-धारणक सम्य होनेपर ही उत्सृज धारण सर्व स्वयं अस्वय है । यदि यह कहा जाय कि प्रतीति होनेवाले समय उपादान

अथ उपमीयते द्विविजजातिविकल्पपर्यै-

वितथमनोबिलासमृतमित्यवयवत्वयुधा ॥३०॥

स यदवया स्वयामनुवसीत गुणांश्च क्षुपन्

मद्वति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।

त्वमृत जहासि तामहिरिव स्वयमाचभगो

मद्वति महीमसेऽहगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥

वदि न समुद्वरन्ति यतयो हृदि कामजटा

दुरभिगमोऽसर्ता हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।

शब्द और सानेमें कुछबल आदि नाममात्र हैं, वास्तवमें मिथी, छोटा और सोना ही हैं । वैसे ही परमात्मामें वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मनकी कल्पना है । इसे नास्मक मूर्ख ही स्वरूप मानते हैं ॥ ३७ ॥

भगवन् ! जब जीव मर्यादे मोहित होकर अविद्याको अपना लेता है, उस समय उसके स्वरूपभूत क्लान्तद्विगुण इक जते हैं; वह गुणनग्न वृत्तियों, इन्द्रियों और चेष्टाओंमें फँस जाता है तथा ऊर्ध्वीको अपना आपा मग्नकर उनकी सेवा करने लगता है । अब उनकी जन्म-मृत्युमें अपनी जन्म-मृत्यु मानकर उसके चक्करमें पड़ जाता है । परन्तु प्रभो ! जैसे सौंप अपने कँठुकसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, उसे छोड़ देता है—वैसे ही आप माया—अविद्यासे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, उसे सदा-सर्वदा छोड़ रहते हैं । इसीसे आपके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सदा-सर्वदा आपके साथ रहते हैं । अग्निम आदि अद्वितीयोंसे युक्त परमेश्वरमें आपकी स्थिति है । इसीसे आपका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य अपरिमित है, क्लान्त है, वह देश, काल और वस्तुओंकी सीमासे बाधित नहीं है ॥ ३८ ॥ भगवन् ! यदि मनुष्य योगीभूति होकर भी अपने हृदयकी विकल्प-वासनाओंको उखाड़ नहीं फेंकते तो उन अज्ञानकोंके बिले आप हृदयमें रहनेपर भी वैसे ही दुर्धर्म हैं, जैसे खोद करत गलेमें मल्लि पहने हुए हो, परन्तु उसकी पाद न रहनेपर उसे हँसता फिर हार-उबर । जो सावक अपनी इन्द्रियोंको दृष्ट करनेमें ही लगे रहते हैं, जिनमेंसे विरक्त नहीं होते, उन्हें जीवन्मूक और जीवन्मूक कह

● मुकुटकुण्डलकण्ठमणिरत्न कनक पद्मवर्णः ।

महामहोदधिचामुण्डा तस्य नरहरः स परं परमायतन ॥ २४ ॥

ऊँचा मुकुट कुण्डल, कण्ठ और चिह्नियोंके रूपमें परिलत होनेपर भी वस्तुतः खेना ही है । इसी प्रकार उच्छि । अतएव अमरहर और आकाश, वायु आदिके रूपमें उपलब्ध होनेवाला वह समूहमें अपना वस्तुत्व आचरने स्थित नहीं है ।

† त्वयन्त्री तस्य वीरचन्द्रकमया अक्षरमावादिभि

गोवाल् तन्मरकतमोयुग्ममातृग्रीवमयी गह्वर ।

गामाकर्म पद्म शिरसिधर्मर ताम्रदंशपादुर

मया ते शरणं गतोऽस्मि नरहर त्वामेव तां शरण ॥ २५ ॥

मया ! आपकी वह माया आपकी हृदिके अधीनमें आकर नाच रही है और काल, स्वप्न आदिके द्वारा उत्पत्ती (प्रेयुषी) और तमोगुणी अनेकानेक भावोंका प्रदर्शन कर रही है । साथ ही वह मेरे विरपर लज्ज होकर मुझ अमररूपी कल-हंसे रोद रही है । उच्छि ! मैं आपकी शरणमें आका हूँ, आप ही इसे एक वीजिने ।

असुखमोगिनामुभयतोऽप्यसुख भगव

अनपगतान्तकान्नदन्तिरूपदात् भवत ॥३९॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्पत्त्युभाश्रययो-

गुणविगुणान्वयात्तर्हि देहमृतां च गिरः ।

अनुपगमन्वाह सगुण गीतपरम्परया

भवद्यसृतो भवत्स्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

धुपतय एव ते न यपुरन्तमनन्ततया

स्वमपि यदन्तराष्ट्रनिश्चया ननु सावरणाः ।

भी दुःखही-दुःख भोगना पड़ता है । क्योंकि व सुख नहीं, दुःख ही है, एव तो अभी उन्हें मृत्युसे छुटकारा नहीं मिल्य है, योगोंको रिसाने का ध्यान और कल्याण करने उठाने पड़ रहे हैं, और दूसरे आपका स्वरूप न जाननेके कारण अपने धर्म-धर्मका उल्लङ्घन करने पर धर्मके नरक आदि प्राप्त होनेका भय भी बना ही रहता है ॥ ३९ ॥

भगवन् ! आपके वास्तविक स्वरूपको जानकर पुरुष आपके दिये हुए पुण्य और पाप-कर्मके फल हुए एव दुःखोंको नहीं जानता, नहीं भोगता, वह स्वयं और भोक्तृत्वके भावसे ऊपर उठ जाता है । उस ऊपर विधिविधेयके प्रतिपादक शास्त्र भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि वे देहात्मिनिर्गोके लिये हैं । उनकी ओर तो उसका ध्यान ही नहीं जाता । जैसे उनके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि प्रसिद्ध आपकी प्रत्येक युगमें की हुई छिछकों, गुणोंका गन हन सुनकर उनके द्वारा आपका अपने हृदयमें बैठ जाता । तो अनन्त, अचिन्त्य, दिव्यगुणगणोंके निवासस्थान प्रभो ! आपका वह प्रेमी भक्त भी पाप-पुण्योंके फल सुख-दुःखों और विवि-निषर्षोंसे अतीत हो जाता है । क्योंकि वह ही उनकी मोक्षस्वरूप गति है । (परन्तु हम अभी और प्रेमियोंको छोड़कर और सभी शक्तिकर्ममें हैं तथा वे उसका उल्लङ्घन करनेपर दुर्गतिको प्राप्त होते हैं) ॥४०॥ भगवन् ! स्वर्गादि लोकोंके अधिपति स्वर्गात्मा प्रपुष्टि भी आपकी चाह—आपका घर न प सके, और आश्चर्यकी बात तो यह है कि जब भी उसे नहीं जानते । क्योंकि जब अन्त है ही नहीं, तब कोई जानेवाला कैसे ? प्रभो ! जैसे वाक्यरामें हृषिकेश के नन्दे-नन्दे कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आपमें ब्रह्म के लो

ॐ दम्भ्यासर्वमिषेण

वहितकर्म

मोक्षोपनिषत्पुत्र

उभयान्तमहर्षिणां

विरचितोद्योगसम्भोगपुत्रम् ।

आशास्त्रिनिगममहान्तमन्त्राध्यात्ममन्त्र

दीनानाय दयानिधान परमानन्द प्रभो पाद्वि मय् ॥ २५ ॥

प्रभो ! मैं दम्भ्यासर्वमिषेण बहाने योगोंको ठग रहा हूँ । एकमात्र योगही धिन्तासे ही आदर हूँ तथा रात-दिन नाना प्रकारके उद्योगोंसे रचनाशी यक्षपक्षसे व्याकुल तथा वे मुझसे रहते हैं । मैं आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता हूँ भगवन् ! मैं ब्रह्म ही हूँ और भगवन् ! योगोंके द्वारा प्राप्त धम्ममसे मैं मुक्त हूँ । ऐसा धम्म कर बैठता हूँ । दीनानाय, दयानिधान परमानन्द ! मेरी रक्षा कीजिए ।

† अथगमं तव मे विधि मायव सूर्यसि वध सुतामुल्लङ्घनम् ।

भवत्पवर्गमन्त्रमपि वा न हि मयापि यथा विधिक्रियते ॥ २७ ॥

स इव रज्ज्वांसि बान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-

स्वपि हि फलन्त्यवभितसनेन भवमिधनाः ॥४१॥

मीमांसानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आभुत्पात्मानुशासनम् ।

सन्तन्दनमभानर्तुः सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥४२॥

इत्यश्वेयसमास्नायपुराणोपनिषदसः ।

समुद्भूत पूर्वजन्तैर्ममोमवानैर्महात्मभिः ॥४३॥

तव चैतद् ब्रह्मदापादभद्रपाऽऽत्मानुशासनम् ।

धारयन्मर गां काम कामानां भर्जनं नृणाम् ॥४४॥

भीमक उवाच

एवं स श्रुतिपाऽऽदिष्टं गृहीत्वा भद्रपाऽऽरम्भवान् ।

पूर्णं धृतधरो राजप्राह वीरमतो मुनिः ॥४५॥

अपनेसे उत्तरोत्तर 'सुमुने' सत आचरणोंके सहित अस्मिन् ब्रह्माण्ड एक समय ही घूमते रहते हैं। तब मन्त्र, आपकी सीमा कैसे मिले। हम धृतिपूर्व भी आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता कायम सफ़्त हो जाती हैं॥ ४१ ॥

भगवान् नारायणसे कहा—देवों! इस प्रकार सनकादि ऋषियोंने आत्मा और ब्रह्मकी एकता कल्पनेवाला उपदेश सुनकर अत्यन्तस्वस्थको आत्मा और नित्य सिद्ध ज्ञानेश भी इस उपदेशसे कृतहृत्पसे होकर उन व्यङ्ग्ये सन्तन्दनकी पूजा की ॥४२॥ नारद! सनकादि ऋषि सुखिक आरम्भमें उत्पन्न हुए थे, अत्यन्त वे सुखके पूर्वव हैं। उन आकाशशरणी महाव्यङ्ग्योंने इस प्रकार समस्त वे, पुराण और उपनिषदोंका रस निचोड़ लिया है, यह सक्ता सार-सर्वज्ञ है ॥ ४३ ॥ देवों! तुम भी उन्हींके समान ब्रह्मके मनस-पुत्र हो—उनकी ज्ञान-सम्पत्तिक उत्तराधिकारी हो। तुम भी ब्रह्मके साथ ही ब्रह्मात्मविद्याको धारण करो और सञ्छन्दमायसे पृथ्वीमें निबरण करो। यह विद्या मनुष्योंकी समस्त वास्तव्योंको मग्न कर देनेवाली है ॥ ४४ ॥

भीष्मकदेवजी कहते हैं—परिहित! देवर्षि नारद बहु संतपी, ज्ञानी, पूर्णकर्म और नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। वे जो कुछ सुनते हैं, उन्हें उसकी धारणा हो जाती है। भगवान् नारायणन उन्हें जब इस प्रकार उपदेश किया तब उन्होंने बड़ी ब्रह्मसे उसे ब्रह्म किये और उनसे यह कहा ॥ ४५ ॥

माधव। आप मुझ अपने स्वरूपका अनुभव कराने बिलकुट फिर मुझ दुःखक संयोगकी सृष्टि नहीं होती। भयका मुझ अपने गुणोंक भयन और बर्जनका प्रेम ही बीजिय जिससे कि मैं विधि-निषेधक किङ्कर न होऊँ।

० शुपथय

सिद्धन्तमन्त्र

ते

म

च

भवाद्य

गिर

भुविमौल्यः ।

स्वपि

पञ्चनि

यत्ते

नम

इत्यथ

अथ

अनेति

अने

एव

उत्तरम् ॥ २८ ॥

हे भक्त! ब्रह्मा आदि देवता आपका भक्त नहीं जानते न आप ही जानते और न वे योंभी युक्त्यमि उपनिष दे जानती हैं क्योंकि आप अनन्त हैं। उन्निपदे 'नमो नम'। 'अथ हा अथ हा' यह कहकर आपमें परिचाय देती हैं। इतिमि मे भी 'नमो नम' अथ हा अथ हा' यही कहकर आपका चरित्र-भ्रमकी उपसन्ना करता हूँ।

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्षये ।

यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोपतीः कलाः ॥४६॥

इत्याद्यमुपिमानस्य तच्छिष्याश्च महात्मनः ।

ततोऽमादाभ्रमं साध्यात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।

तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुत्साहकृतम् ॥४८॥

इत्येतद् वर्धित राजन् यमः प्रभः कृतस्त्वया ।

यथा ब्रह्मन्निर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनभरेत् ॥४९॥

चाऽसोऽप्रेक्षक आदिमध्वनिघने योऽव्यक्तबीक्ष्यरो

यः सुष्टुदमनुप्रविश्य श्रुतिषा चक्रे पुरः शालिताः ।

य संपद्य जहात्यजामनुक्षयी सुप्तः कृत्स्नार्थं यथा

तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयप्याभेदजस्रं हरिम् ॥५०॥

देवर्षिं नारदने कहा—भगवन् ! आप सन्निपन्न स्वल्प श्रीकृष्ण हैं । आपकी कीर्ति परम पवित्र है । आप समस्त प्राणियों के परम कल्याण—मोक्षक होने कम्पनीय कलाकृतार धारण किया करते हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ४६ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार महात्मा देवर्षि नारद श्रुति मगधन् नारायणको और उनके शिष्योंको नमस्कार करके स्वयं मेरे पिता श्रीकृष्णद्वैपायनके आश्रित गये ॥ ४७ ॥ भगवान् केन्यासने उनका कक्षा सत्कार किया । वे आसन स्वीकार करके बैठ गये, उनके बाद देवर्षि नारदने जो कुछ भगवान् नारायणके मुखसे सुना वह सब कुछ मेरे मित्रजीका सुन दिया ॥ ४८ ॥ उबन् ! इस प्रकार मैंने सुनै कल्याण कि मन-वाणीसे अन्तर्धर और समस्त प्राप्त गुणसे रहित परम परमेश्वर वर्णन मुक्तियों किस प्रकार करती हैं और उसमें मनका कैसे प्रकाश होता है ? यही वे गुणारा प्रश्न था ॥ ४९ ॥ परीक्षित् ! भगवान् ही हैं निष्कल सङ्कल्प करते हैं तथा उसके अन्ति, मय वह अन्तर्मे स्थित रहते हैं । वे प्रकृति और जीव दान्ते स्वामी हैं । उन्होंने ॥ इसकी सृष्टि करके जीवके लक्ष्मण प्रवेश किया है और शरीरोंका निर्माण करके वे ही उनका नियन्त्रण करते हैं । जैसे गन्ध निद्रा—सुषुप्तिमें मग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसन्धान इस देव है, वैसे ही भगवान् के पक्षर यह जीव भाषासे कुछ ही अन्त है । भगवान् ऐसे विभु हैं, केवल किन्तु तब हैं कि उनमें जगत्के कारण माया अथवा प्रकृति रतीपर भी अस्तित्व नहीं है । वे ही वास्तवमें अमर-स्थान हैं । उनका चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या सहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

नारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः

शिवजीका समुद्रमोचन

राजापान

देवासुरमनुष्येषु य भजन्त्यशिवं शिवम् ।

प्रागस्ते धनिना भाजान तुलस्या पानं हरिम् ॥ १ ॥

पतन् वेदितुमिच्छाम मदेहाऽग्र महान् हि न ।

निरुद्धशीलया प्रभोविरुद्धा भजतां गति ॥ २ ॥

श्रीसुक उवाच

शिवं शक्तियुतं शयनं प्रिलिङ्गा गुणमयतः ।

पैकारिकस्त्वैजसश्च ताममभत्यहं त्रिधा ॥ ३ ॥

तदा विकारा अभवन् पाण्डशामांश्च कञ्चन ।

उपधानं विभूतीनां सर्वोपामानुत गतिम् ॥ ४ ॥

हरिर्हि निगुणः साध्यात् पुरुषं प्रकृतं परं ।

स सर्वेष्वपद्रवा त भवन् निर्गुणा भवत् ॥ ५ ॥

निद्रासम्बन्धमेषु राजा घृष्मन्पितामहः ।

मृष्यन् भगवता धमानश्छदिदमच्युतम् ॥ ६ ॥

स आह भगवांस्तस्म प्रीतं शुभ्रपत्रं प्रभु ।

नृणां नि भयसाधाप याऽवतीर्णो यदा कुल ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

यसाहमनुग्रहामि हरिष्य तद्वनं शनं ।

राजा परीक्षित उवाच—भगवन् ! भाषान् शङ्करन समस्त भोगोक्तं परित्यागं यत् रत्नम् है परन्तु वस्तु यह जाता है कि जो देवता, असुर अपना मनुष्य उनको उपासना करते हैं, वे प्राप्त धनी और भागसम्पन्न हो जाते हैं । और भाषान् विष्णु उत्तमपति हैं, परन्तु उनकी उपासना करनेवाले प्रायः धनी और भागसम्पन्न नहीं होते ॥ १ ॥ दोनों प्रभु त्याग और भगवत् शक्तिसे एक-दूसरेसे विरुद्ध समावसात हैं, परन्तु उनके उपासकों-को उनके सम्बन्धके विपरीत फल मिलता है । मुझे इस विषयमें बड़ा मदेह है कि त्यागीकी उपासनासे भाग और उत्तमपतिकी उपासनासे त्याग कैसे मिलता है ? मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ ॥ २ ॥

श्रीशुक्रदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! शिवजी सदा अपनी शक्तिसे युक्त रहते हैं । वे सत्त्व आदि गुणोंसे युक्त तथा अहङ्कारके अधिपति हैं । अहङ्कारक तीन भव हैं—वैश्वरिष्यं तैजसं अरं तामसं ॥ ३ ॥ त्रिविध अहङ्कारसे सत्त्व विराट् रुण—एत इन्द्रियो पञ्च महाभूत और एक मन । अब इन सबके अधिपति त्वन्मूर्धमिसे किसी प्रकार उपासना करनेपर समस्त फलयोगी प्राप्ति हो जाती है ॥ ४ ॥ परन्तु परीक्षित ! भगवान् श्रीहरि ता प्रकृतिसे परं स्वयं पुरुषात्परं एव प्राकृत गुणहित ॥ । वे सर्व तथा सबके अन्त करणोंके सार्थी हैं । जो उनका भजन करता है वह स्वयं भा गुणार्थीन हो जाता है ॥ ५ ॥ परीक्षित ' जय तुम्हारे ' तथा धमराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर चुका, तब भगवान्ने शिव-प्रकारके धर्मोक्त वर्णन सुनत समय उन्होंने भी यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥ परीक्षित ' भाषान् भाष्य मन्मथतिमान् परमेश्वर हैं । मनुष्योंके कन्यकाक निय ही उन्होंने यदुर्वाणामे अकारण कारण किया था । राजा युधिष्ठिर यह प्रश्न सुनकर ओं उनकी सुनकर इच्छा उत्पन्न उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक 'स प्रसन्न उत्तर दिया था ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ' त्रिसप्त धं हरा करता है 'सत्त्वं स्वयं मन शिव-परीक्षित एत एता

ततोऽधन स्यञ्जन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥८॥

स यदा वितथाद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेदया ।

मत्परं कृतमंत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥

तद्वृक्ष परम सूक्ष्म चिन्मात्र सदनन्तकम् ।

अतो मां सुदुराराध्य हित्वान्मान् भजते जनः ॥१०॥

तत्तत्त आश्रुतोपेभ्यो लब्धरान्यभियोद्धवाः ।

मत्ता प्रमत्ता वरदान् विसरन्त्यवजानते ॥११॥

धीशुक उवाच

ज्ञापप्रसादबोरीक्षा ब्रह्मविष्णुशिवात्मयः ।

सद्यःज्ञापप्रसादोऽङ्गं शिवा ब्रह्मा न चाप्युतः ॥१२॥

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

वृकासुराय गिरियो वरं दत्त्वाऽऽप सङ्कटम् ॥१३॥

वृको नामासुरः पुत्रः खड्गोः पथि नारदम् ।

दृष्ट्वाऽऽश्रुतोपं प्रपन्नं देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥१४॥

स आह देवं गिरिस्वपाधावाश्रु सिद्धयसि ।

योऽप्याम्नां गुणदोषाभ्यामाश्रुमुप्यसि कुप्यसि ॥१५॥

शास्त्रपाणयास्तुष्टः स्तुष्वतोर्वन्दिनोरिव ।

हैं । जब वह निर्वन हो जाता है, तब उसके स्नेह सम्बन्धी उसके दुःखाकुल चित्तकी परवाह न करके उसे छोड़ देते हैं ॥ ८ ॥ फिर वह धनक लिये उपाय करने लगाता है, तब भी उसका वह प्रयत्न भी निष्फल हो जाता है । इस प्रकार बार बार असफल होनेके कारण जब धन कमजोरसे उसका मन विरक्त हो जाता है, उसे दुःख समझकर वह उधरसे अपना मुँह मोड़ लेता है और मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मेरा स्नेह करता है, तब मैं उसपर अपनी कहीशुक कृपा की बरकत करता हूँ ॥ ९ ॥ मेरी कृपासे उसे परम सुख अन्तःसन्निधानन्दस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार मेरी प्रसन्नता, मेरी आराधना बहुत बढ़ती है । इसीसे साधारण लोग मुझे छोड़कर मेरे ही दूसरे रूप अन्त्यन्त देवताओंकी आराधना करते हैं ॥ १० ॥ दूसरे वंशता आश्रुतोप हैं । वे झटपट विघ्न पवते हैं और अपने भक्तोंको साक्षात्स्वामी द देते हैं । उसे पाकर वे उन्मत्त, प्रमत्त और उन्मत्त हो उठते हैं और अपने वरदाता शक्तियोंको भी भूल जाते हैं जब उनका तिरस्कार कर बैठते हैं ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—ये तीनों शाप और वरदान देनेमें समर्थ हैं, परन्तु इनमें ब्रह्मादेव और ब्रह्मा शीघ्र ही प्रसन्न होकर वरदान अथवा शाप दे देते हैं । परन्तु विष्णु मगलान् वैसे नहीं हैं ॥ १२ ॥ इस विषयमें ब्रह्मलोग एक प्राचीन इतिहास कथा करते हैं । मगल शङ्कर एक बार वृकासुरको वर देकर सङ्कटमें पड़ गये थे ॥ १३ ॥ परीक्षित ! वृकासुर शकुनिका पुत्र थे । उसकी धुक्ति बहुत सिंगी हुई थी । एक दिन वृको आते समय उसने देवर्षि नारदको देख लिया और उनसे पूछा कि 'तीनों देवताओंमें झटपट प्रसन्न होनेवाला कौन है ?' ॥ १४ ॥ परीक्षित ! देवर्षि नारदने कहा—'पुत्र भगवान् शङ्करकी आराधना करो । इससे तुम्हारा मनोरथ बहुत जल्दी पूरा हो जायगा । ये श्लोक ॥ गुणोपे शीघ्र-से-शीघ्र प्रसन्न और शोक ही अपराधसे दूरत होकर कर बैठते हैं ॥ १५ ॥ रागण और वृणासुरने कलक बंदिनको समान शङ्करजीकी कुछ स्तुतियों की थी । इसीसे वे उनपर प्रसन्न हो गये और उन्हें अनुकूल

पथममृतं दत्त्वा तत आप मुमूक्षुष्टम् ॥१६॥

इत्यादिप्लुतमसुर उपाधावत् स्वगावत ।

केदार आन्मरुष्यण जुह्वानोऽग्निमुग्र हरम् ॥१७॥

दक्षापलम्बिमप्राप्य निर्धेदात् सप्तमऽहनि ।

सिराऽवृभन् स्वधितिना तत्ताधक्लिभमूर्धजम् ॥१८॥

तदा महाकादृणिकं स धूवति

यथा वय चाप्रितियास्थिताऽनलान् ।

निगृह्य दाम्बा भुजयान्यभारयत्

तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृति ॥१९॥

तमाह चाङ्गालम् इणीष्य म

यथाभिक्रमं ब्रितशामि त वरम् ।

प्रीयय तायेन नृपां प्रपद्यता

महा त्वयाऽऽमा भूयमर्घ्येन वृथा ॥२०॥

दर्शं स वय पापीयान् वर भूतभयावहम् ।

यस्य यस्य कर ग्राप्सि धास्य म प्रियतामिति ॥२१॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृता दमना इव भारत ।

आमिति प्रहमन्मर्म्म ददऽहमृव यथा ॥ २२ ॥

इत्युक्तं साऽसुरा नूनं गोसाहरणनाम् ।

स तदपरीक्षाय गम्भामृप्तिं क्लृप्तासुरः ।

महस्तपातुभारन साऽरिभ्यन्स्वकृताच्छिन्न ॥२३॥

पथ्य दं पिय । ज्ञाने गद्यन्त वैग्रस उग्रने और
अणामुरकं नगरसि रक्षाकर भार लनसे वे उनक त्रिय
सङ्क्रमे भी पङ्क गय था ॥ १६ ॥

नारदजीस उग्रदश पादर वृक्षामुर कदारक्षवमे गया
और जलिनस भाषान् गङ्गासुग मुन मानसर अपन
शरीरस नास कान्-कान्तर उसने हकन करन लग्न ॥ १७ ॥
इस प्रकार ३ दिनतक उपास्त्या करनपर भी जब उसे
भाषान् शङ्करक शान न हुए, तब उसे वक्ष दु ख
हुआ । सतवें दिन कान्तीवमे स्नान करक उसन
अपन भोग बाउथाल मन्त्रकान् कुन्हाइसे पादकर
हकन करना चाहा ॥ १८ ॥ परिश्रित् । जसे ज्ञानने
काइ दु स्वयंश अग्रमहल्य करने जाना है ना हमयग
रक्षणवश उस कवा न्त है, वसे ही परम त्याग भगवन्
गङ्गाने वृक्षामुरक अल्लातक गङ्ग ही जलिकुण्डसे
जलिनदवक सम्मन प्रयत् हाकर अपन गानों हापसे उसक
गानों हा पन पिय और गत्य वग्नसे राक दिय ।
उनकर स्पर्श होते ही वृक्षामुरक अङ्ग अङ्ग-कल्पे पूय
हो गय ॥ १९ ॥ भाषान् गङ्गान वृक्षामुरसे कहा—
अगर वृक्षामुर । वस करा, वस करा बहुत हा गया ।
मं तुम्हे वर दना चाहता हूँ । तुम सुँहनाय वर माँग
ग । वर भाइ । मं ता अपन गङ्गागत मञ्जोर धव
ज व दानसे ही सन्तुष्ट हो जाय रहता हूँ । भाग,
तुम सुँहना अपन गङ्गावश स्वर्गपादा रहहा ॥ २० ॥
परिश्रित् । अन्तर्ग ग्रापी वृक्षामुर सम्मन प्राप्तिपौर
भयभन उग्रदश पाद वर माँग दि म बिसक सिंगर
हाय म्य हूँ, पही म्य जाय ॥ २१ ॥ परिश्रित् । उसका
यह वाक्या सुनकर भाषान् वृक्षामुर ना तु उ अनन्त-
से हा गय छि हस्तर रह पिय— अष्ट पक्ष ही
हा । पक्ष म वर उगने मलो साको अपन पिय
पिय ॥ २२ ॥

भाषान् गङ्गाक इस प्रकार कह गनर वृक्षामुर
जानने पर व्यग्र हो गया कि मैं पानी का ही दर
हूँ । पर असुर गङ्गाका वर माँगने के लिए शब्दों के
सिरे पर चलकर उद्वेग करने लगा । अब ता
महस्तपातुभारन साऽरिभ्यन्स्वकृताच्छिन्न ॥२३॥

तेनापसृष्ट सघ्नतः पराधावन मधेपथु ।

यावदन्त दिवा भूमेः काष्ठानामुदगादृक् ॥२४॥

अज्ञानन्तः प्रविविधितृष्णीयासन् सुरधरा ।

तता वैकुण्ठमगमद् भास्वरं तमस परम् ॥२५॥

यत्र नारायणः माध्वान्यामिनां परमा गति ।

शान्तानां न्यस्तपण्डानां यता नाचर्वत गत ॥२६॥

त तपाप्यमन दृष्ट भगवान् वृजिनार्दन ।

दृग्त् प्रत्युदियाद् भूत्वा वदुको यागमायया ॥२७॥

मेम्बलाजिनदण्डाधैस्तेजमागिरिव ज्वलन् ।

अभिवाद्यामाम च तं कुशपाणिर्विनीतयत् ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

ग्राह्णेय भवान् व्यक्तं धान्त किं दूरमागत ।

वृण विधम्पतां पुम आरमाय सर्वकामघृक् ॥२९॥

यदि नः धनवापालं युष्मदुन्मथमिष विभो ।

भम्पतां प्रायश्चः पुम्भिर्भूतैः स्वाधान समीहते ॥३०॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता पृष्टां वचमामृतवर्षिणा ।

गतकुमोऽमबीचस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥३१॥

गये ॥ २३ ॥ यद् अनन्तरं गीता पढ़ने लग्य और वे उससे डरकर कौपित हुए भागन लगे । वे पृथ्वी, स्वर्ग और दिग्गर्धोक अन्तर्गत गीकते गये परन्तु फिर वे उससे पीडा करते देखकर उत्तरकी ओर बढ़े ॥ २४ ॥ बढ़-बढ़ दबता इस सङ्कटकी दमनकर कम उग्र व दमकर जुग रह गय । अन्तमें वे प्राकृतिक प्रसङ्गसे परे परम प्रमत्तशम्य वैकुण्ठन्यायमें गय ॥ २५ ॥ वैकुण्ठमें स्वयं भगवान् नारायण निवास करते हैं । एकत्र व ही उन सन्ध्यसिर्षोर्क परम गति हैं, जो सारे जगत्में अभ्युदयान करके शान्तभावमें स्थित हो गये हैं । वैकुण्ठमें जाकर जीवको फिर लौटना नहीं पड़ता ॥ २६ ॥ मत्तमन्वारी भगवान् ने देखा कि शाङ्करजी तो बड़े सङ्कटमें पड़े हुए हैं । तब वे अपनी योगशक्त्यासे स्वर्गकी कनक दूरसे ही धीरे-धीरे वृक्षसुरकी ओर आने लगे ॥ २७ ॥ भगवान् मूँचकी मेखना, कस्तूर मृगवर्म, पण्ड और रुद्राक्षकी माय धारण कर रखी थी । उनके एक-एक अङ्गसे ऐसी शक्ति निकल रही थी, मन्त्रों का प्रकाश रही हो । वे हाथमें कुश लिये हुए थे । वृक्षसुरको देखकर उन्होंने बड़ी नम्रतासे झुककर प्रणम किया ॥ २८ ॥

श्रद्धाचारी संवन्धारी भगवान् ने कहा—शुकनि-
नन्त वृक्षसुरजी ! आप रख ही बहुत बन्धसे जल
पड़ते हैं । आज आप बहुत दूरसे आ रहे हैं स्वर्ग
तनिक विश्राम तो कर लीजिये । देखिये, यह शरीर ही
सारे सुखोंकी जड़ है । इसीसे सारी कामनाएँ पूरी होती
हैं । इसे अधिक बन्ध न देना चाहिये ॥ २९ ॥ अगर
तो सब प्रकारसे समर्थ हैं । इस समय आप क्या करना
चाहते हैं ? यदि मेरे सुनने योग्य कोई बात हो तो
कतनार्थ । क्योंकि संसारमें क्या जाता है कि योग
सहायकोंके द्वारा बहुत-से काम बना लिया करते
हैं ॥ ३० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! भगवान् ने
एक-एक शब्दसे अवगत करस रहा था । उनके इस
प्रकार पूछनेपर पहले तो उसने तनिक उत्तरकर अपनी
कमजोर दूर की उसका ज्ञान कमजोर अपनी तरफ,
बरदास-प्राप्ति तथा भगवान् शाङ्करके पीछे गीकनेकी बात
छाड़के बड़ा सुनायी ॥ ३१ ॥

भीमगवानुवाच

एव चेत्तर्हि तदाक्य न वयं भ्रष्टधीमहि ।
 यो दक्षशापात् पैशान्यं प्राप्नुः प्रतपिशाचराट् ॥३२॥
 यदि भन्तत्र विद्यम्भा दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।
 तमज्ञाशु स्वशिरसि हस्त यस्य प्रतीयताम् ॥३३॥
 यद्यसत्य वचः शम्भोः कथञ्चिद् दानवर्षभ ।
 तदैव जम्बसद्वाच न यद् वक्तानृतं पुन ॥३४॥
 इत्थ भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेक्षलैः ।
 भिक्षधीर्विस्मृतः क्षीर्णि स्वहस्त कुप्रतिव्यभात् ॥३५॥
 अधापतद् भिक्षाशिरा वज्राहत इव क्षणात् ।
 जयशब्दो नम शब्दः साधुशब्दोऽभवद् दिवि ॥३६॥
 सुमुञ्चुः पुष्पवपाणि हते पापे शुक्लामुर ।
 त्वर्षिपितृगन्धवा माचित सकृन्नाम्बिनः ॥३७॥
 सुक्तं गिरिञ्जमभ्याह भगवान् पुरुषात्तम ।
 अहा देव महादेव पापाऽयं स्वेन पाप्मना ॥३८॥
 हतः को नु महत्स्वीय जन्तुर्वै कृतकिल्बिष ।
 क्षमी स्यात्किमु विन्धेदे कृतागस्त्रो जगद्गुरौ ॥३९॥
 य एवमन्या कृतशक्त्युदन्वतः
 परस साक्षात् परमात्मना हर ।
 गिरिप्रमाद्य कथयेन्मृणाति वा
 विमुच्यते सस्मृतिभिस्तथारिभिः ॥४०॥

भीमगवान्मे कहा—‘अष्ट्र, पसी घात है । तब तो भाइ । हम उसकी जानपर विश्वास नहीं करन । आप नहीं जानते हैं क्या । वह तो दक्ष प्रजापतिक शत्रुसे शिरात्तभायकर प्राप्त हो गया है । आजकल वही प्रता और पिशाचोंका सम्राट् है ॥ ३२ ॥ ‘गानकशत्रु’ आप इतने बड़ होकर एसी छायी-छायी बातोंपर विश्वास कर लेंते हैं । आप यदि कब भी उसे जगद्गुरु मानत हो और उसकी बातपर विश्वास करते हों, तो इतना अपने शिरपर हानि रखकर परीक्षा कर लीजिये ॥ ३३ ॥ दानवशिरोगणे । यदि किसी प्रकार शत्रुका घात असत्य निकले तो उस असत्यवाणीका मार डालिये, जिसमे तब कभी कुछ हानि न बन सक ॥ ३४ ॥ परिश्रित । मगवान् पसी माफ़िन करनेका अर्हता और मीट्री घात कही कि उसकी विवेक-बुद्धि जानी रही । उस दुयुधिन शूत्रकर अपने ही शिरपर हाथ रख लिया ॥ ३५ ॥ वस, उसी क्षण उमका शिर फट गया और वह वही कर्णपर गिर पड़ा, मना उमर विजयी गिर पड़ी हा । उस समय आकाशमें त्रकालांग जय-जय, नमो नमो, साधु-साधु’ के नारे उठान लगे ॥ ३६ ॥ पापी शूकरादिकों मृत्युसे बचना, श्रुति, स्मृति और गन्धर्व अथवा प्रसन्न होकर पुण्योंका वर्षा करने लगे और भगवान् शत्रु उस विषय में कहते मुक्त हो गए ॥ ३७ ॥ अब भगवान् पुरुषात्तमन भयमुक्त गह्वरजीसे कहा कि ‘दक्षपितृव । बड़ इयकी बात है कि हम दूधका इतक पापोंने ही नष्ट कर लिया । परमेश्वर । भय, एसा करने प्राणी है जो महापुरुषोंका अपराध करने कुशादसे रह सक । फिर स्वयं जगद्गुरु विद्वत्का । आपका अराध करक तो बड़ा स्तुत्य रह ही कैसे सकता है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

भगवान् अनन्त शक्तियोंका स्मृति है । उनका एक एक शक्ति मन और बाणीकी सीमाक पर है । व प्रहस्मिने अतीत सब समझता है । उनका शत्रुजीका सङ्कटसे छुड़ानकी यह योग्यता का बड़ा कहना या सुनना है वह सम्मत्क कर्मों और शत्रुओंक भयसे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

इति भीमराजकन महापुर्ण पारमहर्ष्या संहिताया दशमस्कन्ध उत्तरार्ध

रुद्रमातुर्ण नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

अथैकोनवतितमोऽध्यायः

भृगुशोक द्वारा त्रिविधाकी परीक्षा तथा भगवान्‌का भरो हुए प्राद्वण-याचकोंको पापस क्षमा

श्रीभृगु उवाच

सरस्वत्यास्तटे राजन्नुपय सत्रमासस ।

वितर्कः समभूतपां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ १ ॥

तस्य त्रिद्वामया त वै भृगुं प्रहसुत नृप ।

तन्वृत्पर्यं प्रपयामासु साऽभ्यगाव् ब्रह्मणः सभासु ॥ २ ॥

न तस्मै प्रहृण स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।

तस्मै जुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तजसा ॥ ३ ॥

स ज्ञातमन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।

अक्षीष्टमवु यथा वहि स्वयान्या वारिणाऽऽत्मभू ॥ ४ ॥

ततः फौलासमगमत् स तं दद्या महेश्वर ।

परिरब्धु समारंभे उत्थाय आतर मुदा ॥ ५ ॥

नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति दधश्चक्राप ह ।

शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारमे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥

पतित्वा पादपादौषी सान्त्वयामास च गिरा ।

अथा जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो धनार्दनः ॥ ७ ॥

उपानं भिय उत्सह्य पदा बधुस्रवाडयत् ।

श्रीभृगुशोक की कहत हैं—परीक्षित् । एक कर

सरस्वती नदीके पावन तटपर यह प्रारम्भ करनेके लिये बैठे
वह भृगु-मुनि एकत्र होकर बैठे । उन लोगोंमें इस विषयपर
वात्-विवाद क्य कि ब्रह्मा, शिव और विष्णुमें सबसे बड़ा
कौन है ? ॥ १ ॥ परीक्षित् । उन लोगोंमें यह बात जाननेके
लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी परिक्षा लेनेके उद्देशसे
ब्रह्माके पुत्र भृगुजीको उनके पास भेजा । भृगु जी
सत्यसे पहले ब्रह्माजीकी सम्मति गये ॥ २ ॥ उन्होंने ब्रह्माजीके
वैर्य आदिषु परीक्षा करनेके लिये न उन्हें नमस्कार दिया
और न तो उनकी स्तुति ही की । इसपर देव महेश्वर
हुआ कि ब्रह्माजी आपन तेजसे दहक रहे हैं । उन्हें
क्रोध आ गया ॥ ३ ॥ परन्तु जब समर्थ ब्रह्माजीने देख
कि यह तो मेरा पुत्र ही है, तब अपने मनमें ठठे हुए
क्रोधको भीतर-ही-भीतर विवेकबुद्धिसे दबा लिया, ठीक
वैसे ही, जैसे कोई अग्निमन्त्रसे उत्पन्न अग्निको बड़से
मुखा दे ॥ ४ ॥

भृगुसि भृगु वैकुण्ठमें गये । देवविदेव महेश्वर
शाङ्करने जब देखा कि मेरे भाई भृगुजी आये हैं, तब
उन्होंने बड़े आनन्दसे खाड़े होकर उनका आतिथ्य
करनेके लिये मुझपर देख दौ ॥ ५ ॥ परन्तु भृगु
जीने उनसे आतिथ्य करना स्वीकार न किया और
कहा—तुम लोक और केन्द्री मर्त्याका उद्धार
करते हो, इसलिये मैं तुमसे नहीं मिलूँ । भृगुजीकी
यह बात सुनकर महेश्वर शाङ्कर क्रोधित हो कि भृगुजी
उठे । उनकी आँखें चढ़ गयी । उन्होंने त्रिशूल उठकर
भृगुको मारना कहा ॥ ६ ॥ परन्तु उसी समय
भगवती सतीने उनके चरणोंपर गिरकर बहुत अनुनय-
विनय की और किसी प्रकार उनका क्रोध शान्त किया ।
अब भृगु जी भगवान् विष्णुके निवासस्थान वैकुण्ठमें
गये ॥ ७ ॥ उस समय भगवान् विष्णु जम्बीरीकी गोमें
अपना सिर रखकर लेटे हुए थे । भृगुजीने जानकर

सत उत्याय भगवान् सह लक्ष्म्या सती गतिः ॥ ८ ॥

स्वतत्त्वाद्बद्धाभ ननाम क्षिरसा मुनिम् ।

आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदन्नासने क्षणम् ।

अप्रानतामगतान् वः श्रन्तुमर्थं न प्रभो ॥ ९ ॥

अतीव फोमलौ तात चरणां ते महामुने ।

इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना ॥ १० ॥

पुनोहि सहलाक मां लोकपालाभ मद्रतान् ।

पाद्वादकन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ११ ॥

अद्याहं भगवर्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।

वत्सस्थुरसि मे मूर्तिर्मवस्थाद्वहतांसः ॥ १२ ॥

श्रीभुक्त उवाच

एव ह्रवाण वैकुण्ठं भृगुस्तन्मद्रया गिरा ।

निवृत्तस्तपितस्त्वृष्णीं भक्त्युत्कण्ठाऽभुलाचनः ॥ १३ ॥

पुनश्च सत्रमाग्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।

स्नानुभूतमक्षेपेन राजन् भगुरवर्णयत् ॥ १४ ॥

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।

भूर्धामं धरधुर्विष्णु यतः शान्तिर्यथाऽभयम् ॥ १५ ॥

धमः साध्याय यथा शान्तवैराग्यं च तदन्वितम् ।

पश्य च पाटभा यसाव् यक्षश्चात्ममलापहम् ॥ १६ ॥

मुनीनां न्यसद्वृण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।

अकिंचनाना साधूनां यमाहु परमां गतिम् ॥ १७ ॥

सत्त्व यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्तिपदेवता ।

उनके मध्य स्थलपर एक तप्त वस्त्रपर जमा दी । भक्त-
वत्सल भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ ठठ बैठे और छटपट
अपनी शय्यासे नीचे उतरकर मुनिकों सिर छुकराया,
प्रणाम किया । भगवान्ने कहा—‘‘प्रभन् । आपका
स्वागत है, आप मझे पवार । इस आसनपर बैठकर कुछ
क्षण विधाम कीजिये । प्रभा । मुझ आपको धूमामसनकर
पता न था । इसीसे मैं आपकी अगवाणी न कर सका ।
मेरा अग्रपक्ष क्षमा कीजिये ॥ ८ ९ ॥ महामुने । आपके
चरणकमल अत्यन्त कर्मल हैं ।’ यों कहकर भृगुजीके
चरणोंको भगवान् अपने हाथोंसे सहज्यने कने ॥ १० ॥
और बोले—‘‘महर्षे । आपके चरणोंका जड़ तीर्थोंका भी
तीर्थ बनानेवाला है । आप उससे वैकुण्ठश्रेक, मुझ और
मेरे अंदर रहनेवाले लोकपालोंको पवित्र कीजिये ॥ ११ ॥
महान् । आपके चरणकमलोंक स्पर्शसे मेरे सारे पाप धुल
गये । आज मैं लक्ष्मीका एकमात्र आश्रय हो गया ।
अब आपके चरणोंसे विद्धित मेरे वक्ष स्वप्नर लक्ष्मी
सदा-सयना निगम करेगी ॥ १२ ॥

श्रीभृगुवक्षजी कहत हैं—‘‘अब भगवान्ने अत्यन्त
गम्भीर वाणीसे इस प्रकार कहा, तब भृगुजी परम सुखी
और तृप्त हो गये । भक्तिके उदकसे उनके गन्ध मर
आया, ओंखें ओंख लम्क आये और वे चुप हो
गये ॥ १३ ॥ परीक्षित । भृगुजी वहाँसे व्यंकर ब्रह्मचरी
मुनियोंक सत्सङ्गमें आये और उन्हें ब्रह्मा, शिव और
विष्णुभगवान्क यहाँ जो कुछ अनुभव हुआ था, वह सब
कह सुनाया ॥ १४ ॥ भृगुजीका अनुभव सुनकर सभी
अग्नि-मुनियोंका बड़ा विस्मय हुआ, उनका सम्बन्ध दूर
हो गया । तबसे वे भगवान् विष्णुकी ही सर्वश्रेष्ठ मानन
कने, क्योंकि वे ही शान्ति और अमरक उद्गमस्थान
हैं ॥ १५ ॥ भगवान् विष्णुसे ही साक्षात् धम, ज्ञान,
ब्रह्मण्य, आठ प्रकारक एश्वर्य और चितकर शुद्ध करन
वाला यथा प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ शान्त, समचित्त,
अकिंचन और सकल अमय दनवाले साधु-मुनियोंकी वे
ही एकमात्र परम गति हैं । ऐसा सार शब्द कहते
हैं ॥ १७ ॥ उनमें प्रिय मूर्ति है सत्त्व और इन्द्रज

भजन्यनाशिप शान्ता यवानिपुणमुदयः ॥१८॥

विनिधाकृतयन्त्रस्य राक्षसा असुरा सुराः ।

गुणिन्या मायया सृष्टा मन्त्रसत्तीर्थमाधनम् ॥१९॥

श्रीभुक्त उवाच

एष सारम्भता विप्रा नृणां सश्वयुतये ।

पुरुषस्य पदाम्बुजस्य तद्वर्ति गता ॥२०॥

सूत उवाच

इषेत्सुनितनयास्वपद्यगध

पीयूषं भवभयभित् परस्य पुस ।

सुभ्रमक भवणपुं विवत्पभीक्ष्ण

यासाऽप्यभ्रमणपरिभ्रम जहाति ॥२१॥

श्रीभुक्त उवाच

एकदा द्वाववस्थां तु निप्रपत्न्याः कुमारक ।

ज्ञातमाया शुर्वं मृष्टा ममार किञ्च भारत ॥२२॥

विप्रा गृहीता नृनकं राजद्वार्युपधाय म ।

इदं प्रावाच विठपभातुग दीनमानसः ॥२३॥

प्रशदिप प्रश्रयिषा तुन्धस्य विषयात्मनः ॥

धनवन्धु कमदापात्पञ्चमं मगताऽमक ॥२४॥

दिमाविहाय नृपति द्वा शालयजितन्द्रियम् ।

प्रवा भजन्य मीदन्ति दरिद्रान्निम्बद्विना ॥२५॥

या द्वितीय विप्रविन्दीयं श्वरमश्व प ।

विप्रव म नृपतिरिवा गायां समगायन ॥२६॥

हैं शक्राण । निष्काम, शान्त और निपुणमुद्रि (निर-
सम्पन्न) पुरुष उनपर भजन करते हैं ॥१८॥ भावन

की गुणमयी मायाने राक्षस, असुर और दक्ष—जन्म

ये तीन मूर्तियों बना दी हैं । इनमें सत्त्वमयी रूप

ही उनकी प्राप्तिका साधन है । वे स्वयं ही सम्पन्न

पुरुषावस्यस्य हैं ॥ १९ ॥

श्रीभुक्तवेवजी कहत हैं—परीक्षित । सर्वनीष्टक

अपि योंन अपन स्त्रिय नहीं, मनुष्योंका सद्यः मित्रन

स्त्रिय ही ऐसी युक्ति रखी थी । पुरुषात्मा भावन

चरणकर्मोंकी सेवा करके उन्होंने उनका परमार प्र

किया ॥ २० ॥

सूतजी कहत हैं—ज्ञानपरादि श्रुतियों । भावन

पुरुषोत्तमजी यह कमनीय कीर्ति-कथा जन्म-मृत्युका स्मर

क भयरसे मित्रनवाती है । यह व्यासस्मृतन भावन

धीष्टुष्टवकीक सुस्तरस्त्रिसे निकली दुष्ट सुगमिन

मनुष्यी सुकथा है । इस सत्कारक एवं पयकर जा बड़ी

अपन कर्तव्ये शोनासे इसका निरन्तर धन करता रहत है

उनकी सारी पण्यकट, जो जगत्में इधर उधर भटकते

हानी है, दूर हा जाती है ॥ २१ ॥

श्रीभुक्तवेवजी कहत हैं—परीक्षित । एक दिन

जात है, शरदपूरुषीं निस्त्री कलगीव गर्भसे एक पु

पेता हुआ, पशु यह उसी समय पृथ्वीर हर्षा

ही मर गया ॥२२॥ शक्राण अपन वस्त्रक मृत शरीर पर

गजम्भनक शरणर गये और वहीं उसे राक्षस प्र

आनुगत और दुःख मनसे शिक्षा करता हुआ

कहन लगा—॥ २३ ॥ धर्मसे स्मृद नहीं दि ॥ धर्म

भूत इयग आर शिपी राजा क यमगाते ही न

अनरही पापु है ॥ २४ ॥ या गया दिष्टम

दुर्गार और अजिवाय य दम्भ है उसे गन्ध मन

मेवा सनककी प्रता है । हास्य दुःख

नामही रहती है और उपरक सामन राक्षस

अन रहत है ॥ २५ ॥ परीक्षित । शरी प्रसार

सुख और तीव्र य एक ही पेता हात ही मर मन

यह कलम उद्धरि यश गजम्भनक

हन् गया और रही ॥ २६ ॥

वामर्शुन उपभृत्स्य कर्हिचित् केश्वान्तिके ।

परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥

किंस्विद् ब्रह्मस्त्वभिवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।

राजन्यबधुरते वै ब्राह्मणा सप्र आसते ॥२८॥

धनद्वारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।

ते वै राजन्यवपेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥२९॥

अह प्रजा वां भगवन् रक्षिष्ये दीनवारिह ।

अनिस्तीर्यप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्य हतकल्मषः ॥३०॥

ब्राह्मण उवाच

संकपन्ना वासुदेव प्रद्युम्नो धन्विनां परः ।

अनिरुद्धोऽप्रतिश्को न शतु शक्रुयन्ति यत् ॥३१॥

तद् कथं नु भवान् कर्म बुष्कर नगदीक्षरै ।

चिकीर्षसि त्व वालिभ्यात् तत्र भ्रष्टभ्रमे वयम् ॥३२॥

अर्जुन उवाच

नाहं सकर्षणा ब्रह्मन् न कृष्णः काष्णोरय च ।

अह वा अर्जुना नाम गाण्डीव यस्य वधु ॥३३॥

मावर्मम्या मम ब्रह्मन् वीर्यं श्रम्यकृतापणम् ।

मृत्युं विजित्स्य प्रधने आनेष्य त प्रजा प्रभा ॥३४॥

रय विश्रम्भिता पिप्रः फाल्गुनेन परंतप ।

वगाम स्वगृह ग्रीत पार्थवीय निजामयन् ॥३५॥

प्रयत्निक्षल भ्रामन्त भाषाया द्विजममयः ।

पाहि पाहि प्रजां मृत्यागिन्यादातुनमातुर ॥३६॥

नवें वाय्वक्ते मरनेपर जब यह कहाँ आया, तब उस समय भगवान् श्रीकृष्णक पास अर्जुन भी बैठे हुए थे । उन्होंने ब्राह्मणकी बात सुनकर उससे कहा— ॥ २७ ॥ 'ब्रह्मन् ! आपक निवासस्थान द्वारकामें कोई धनुषधारी क्षत्रिय नहीं है क्या ? माझूम होता है कि ये यदुवंशी ब्राह्मण हैं और प्रजापालनकर परिषाग करके किसी यज्ञमें बैठे हुए हैं ! ॥ २८ ॥ जिनक राज्यमें धन, श्री अथवा पुत्रोंसे मिलुक होकर ब्राह्मण दुखी होते हैं, वे क्षत्रिय नहीं हैं, क्षत्रियके वपमें पेट पालनेवाले नट हैं । उनकर जीवन व्यर्थ है ॥ २९ ॥ भगवन् ! मैं सम्मता हूँ कि आप श्री-मुरुष अपने पुत्रोंकी मृत्युसे दीन हो रहे हैं । मैं आपकी सन्तानकी रक्षा करूँगा । यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकूँ, तो आगमें कूदकर जल मरूँगा और इस प्रकार मेरे पापकर प्रायश्चित्त हो जायगा' ॥ ३० ॥

ब्राह्मणन कहा—अर्जुन ! यहाँ कटरामजी, भगवान् श्रीकृष्ण, धनुषधरोमणि प्रद्युम्न, अश्वितीय योद्धा अनिरुद्ध भी जब मेरे वाय्वक्ते रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, इन जगदीश्वरोंके लिय भी यह काम कठिन हो रहा है, तब तुम इसे कैसे करना चाहते हो ? सचमुच यह तुम्हारी मूर्खता है । हम तुम्हारी इस बातपर विस्फुट विस्वास नहीं करते ॥ ३१ ३२ ॥

अर्जुनन कहा—'ब्रह्मन् ! मैं कटराम, श्रीकृष्ण अथवा प्रद्युम्न नहीं हूँ । मैं हूँ अर्जुन, जिसका गण्डीव नामक धनुष विचित्रिष्मत्त है ॥ ३३ ॥ ब्रह्मणश्चक्रे ' आप मर बैठ-वीरुमय निरत्यर मत कीजिय । आप जानत नहीं, मैं अपने पराक्रमसे भगवन् शङ्करका स्मृष्ट कर चुका हूँ । भगवन् ! मैं आपसे अधिक क्या कहूँ, मैं शुद्धमें सशस्त्र मृत्युका भी जीतकर आपकी सन्तान का दूँगा ॥ ३४ ॥

परिचित्त ' जब अर्जुनन उस ब्रह्मणसे इस प्रकार विस्वास लियेगा तब यह लागेस उनक कटगौरवका भजन करना हुआ बर्ष प्रसन्ननामे अपने घर आएगा ॥ ३ ॥ प्रसन्नस समय निरट आनार प्रदण आनुष होकर अर्जुनक पास आया और यदा उग्र— 'इस बार तुम मर चुक्या मृत्युसे बचा ना' ॥ ३६ ॥

स उपस्पृश्य श्रुष्यन्मो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
 दिव्यान्मन्त्राणि संस्पृश्य सन्धं गाण्डीवमाददे ॥३७॥
 न्यरुणत् सृष्टिकागारं श्वरेर्नान्त्रायोजितैः ।
 त्रिर्भगूर्ध्वमधः पार्थश्वकार श्वरपञ्जरम् ॥३८॥
 ततः क्रुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन् युधुः ।
 सद्योजदर्शनमापदे सद्युरीरा विहायसा ॥३९॥
 तदाऽऽह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसंनिधौ ।
 मौढ्यं पश्यत मे योऽहं भव्ये स्त्रीवक्तृनमम् ॥४०॥
 न प्रभुम्ना नानिरुद्धो न रामो न च कञ्चवः ।
 यस्य श्रेष्ठः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेभर ॥४१॥
 विगर्जन् मृपावाहं विगात्मशृणुविनो धनुः ।
 दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीपति दुर्मतिः ॥४२॥
 एवं श्रपति विप्रपौं विद्यामास्थाय फाक्शुनः ।
 ययौ सयमनीमाशु यथास्ते भगवान् यमः ॥४३॥
 विप्रापत्यमषक्षणस्ततः पन्त्रीमगात् पुरीम् ।
 आग्नेयी नैश्वती सौम्यां वायव्यां बारुणीमध ।
 रसातल नाकपृष्ठं धिष्मन्पन्यान्पुदायुधः ॥४४॥
 तवाऽलन्धश्चित्रसुता एनिस्तीणप्रविधुत ।
 अग्निं विविशु कृष्णं प्रत्युक्तं प्रतिपेशता ॥४५॥
 दशयं द्विजघ्नस्त मावद्यात्मानमारमना ।

यह सुनकर अर्जुनने युद्ध करने का प्रयत्न किया, तब
 भगवान् शङ्करको नमस्कार किया । फिर दिव्य कर्ण
 स्मरण किया और गाण्डीव घतुपर डोरी का प्रयत्न उसे
 हाथमें ले लिया ॥ ३७ ॥ अर्जुनने बाणोंको बने
 प्रकाशके वस्त्र-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके प्रसन्न
 चारों ओरसे घेर दिया । इस प्रकार उन्होंने सृष्टिभूत
 ऊग्र-नीचे, अगल-आल बाणोंका एक पिंजरा-सा बना
 दिया ॥ ३८ ॥ इसके बाद श्वरपञ्जीके गरमसे एक श्वर
 पैदा हुआ, जो बार-बार रो रहा था । परन्तु देखते-ही-
 देखते वह सशरीर आकाशमें वन्तर्धान हो गया ॥ ३९ ॥
 अब वह श्वर भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनसे
 निन्दा करने लगा । वह बोला—मेरी मूर्खता को देखो,
 मैंने इस नपुंसकपरी शीतमरी बातोंपर विश्वास कर
 लिया ॥ ४० ॥ मध्य जिसे प्रभुम्न, अनिरुद्ध यौवक
 कि कब्राम और भगवान् श्रीकृष्ण भी न पक सके
 उसकी रक्षा करनेमें और कौन समर्थ है ? ॥ ४१ ॥
 मिथ्यावादी अर्जुनको विश्वास है ! अपने मुँह बन्नी
 कर्षा करनेवाले अर्जुनके घतुयको विश्वास है ॥ उसी
 दुर्बुद्धि तो देखो ! वह मूढतावश उस वक्त्रजो मूढ
 बना चाहता है, जिसे प्रारब्धने हमसे वक्त्र कर दिया
 है ॥ ४२ ॥

जब वह श्वर भगवान् इस प्रकार उन्हें भय-भुल करने
 लगा, तब अर्जुन योगबलसे तत्काल संतुष्टिपूर्वक गये
 जहाँ भगवान् यमराज निवास करते हैं ॥ ४३ ॥ वहाँ
 उन्हें श्वरपञ्ज कावक नहीं मिला । फिर वे स्वयं तेजः
 क्रमशः हय, अग्नि, मिश्रति, स्तेम, वसु और वक्त्र
 आदिकी पुरियोंमें, अस्तवदि नीचेके ओकेमें, सगले
 ऊपरक मण्डलोंकादिमें एव अन्यत्रस्थ स्थानोंमें गये ॥ ४४ ॥
 परन्तु कहीं भी उन्हें श्वरपञ्ज कावक न मिला ।
 उनसे प्रसिद्धा पूरी न हो सकी । अब उन्होंने अग्निमें
 प्रवेश करनेका विचार किया । परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने
 उन्हें ऐसा करनेसे रोकते हुए कहा— ॥ ४५ ॥ 'मर्त्य
 अयुन ! तुम अपने-आप अपना तिरस्कार मत करो ।
 मैं तुम्हें श्वरपञ्जके सब वाक्क अभी दिखाने दता हूँ ।

ये तेनः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥४६॥

इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।

दिभ्यं स्वरधमास्त्राय प्रतीचीं दिशमाविधत् ॥४७॥

सप्त द्वीपान् सप्त सिन्धून् सप्तसप्तगिरीनथ ।

लोहलोहं तथातीत्य विषयं सुमहत्तमः ॥४८॥

तत्राद्याः शैव्यसुग्रीधमेघपुष्पलताहकाः ।

तमसि अटगतयो बभूवुर्मरत्तर्पभ ॥४९॥

तान् दृष्ट्वा भगवान् कुप्यो महायोगेश्वरेश्वरः ।

सहस्रादित्यसंख्यं स्वयं प्राहिषोत् पुरः ॥५०॥

तमः सुषोर् गहनं कृत महद्

विदारयद् भूरिवरेण राषिषा ।

मनोजवं निर्विचित्रे सुदर्शनं

गुणध्वतो रामशरो यथा चमूः ॥५१॥

द्वारज चक्रानुपवेन उत्तमः

परं परं ज्योतिरनन्तपारम् ।

समष्टुवानं प्रसमीक्ष्य फाण्डुनः

प्रताडिताद्योऽपि दधेऽक्षिणी तम ॥५२॥

ततः प्रविष्टः सत्तिल नभस्वता

पत्नीयसैवद्वद्भर्मिभूषणम् ।

तत्राद्भुतं वै भवनं सुमहत्तमं

आजन्मजिस्तम्भसहस्रशाभितम् ॥५३॥

तस्मिन् महाभीममनन्तमद्भुतं

सहस्रमूर्धन्यकामाणिष्टुभिः ।

आज जो लोग तुम्हारी निन्दा कर रहे हैं, वे ही फिर हम-
लोगोंकी निर्मल कीर्तिकी स्थापना करेंगे ॥ ४६ ॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार समस्त-
ब्रह्माकाश अतुल्य साथ अपने दिभ्यं गम्भीर सत्वर हुए
और पश्चिम दिशाको प्रस्थान किया ॥ ४७ ॥ उन्होंने
सात-सात पर्वतोंवाले सात द्वीप, सात समुद्र और अत्यन्त-
लोफपर्वतको औषधर बार अन्धकारने प्रवेश किया ॥ ४८ ॥
परीक्षित ! वह अन्धकार इतना भार था कि उसमें
शून्य, सुग्रीव, मेघपुत्र और क्वाहक नामक चारों वीरों
अपना भाग भूलकर ऊपर ऊपर भागने लगे । उन्हें कुछ
सुझता ही न था ॥ ४९ ॥ योगेश्वरों की परमेश्वर
भगवान् श्रीकृष्णनं पाँचोंकी यह दृश्य देखकर अपने
सहस्र-सहस्र सूर्यों की समान तेजस्वी चक्रोंके आगे चलनेकी
आज्ञा दी ॥ ५० ॥ सुदर्शन चक्र अपने ज्योतिर्मय
तेजसे स्वयं भगवान्के द्वारा उत्पन्न उस वने एवं भगवान्
अन्धकारका चिरत ब्रह्मा मनके समान तीव्र गतिसे आगे-
आगे चला । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था, माना
भगवान् रामका बाण धनुषसे छूटकर रामसोंकी सेनामें
प्रवेश कर रहा था ॥ ५१ ॥ इस प्रकार सुदर्शन चक्रक
द्वारा कल्पये हुए मार्गसे चक्रर रय अन्धकारकी
अन्तिम सीमापर पहुँचा । उस अन्धकारक पार सर्वश्रेष्ठ
पाण्डवारहित न्यायक परम ज्योति जन्मग्र रही थी ।
उसे देखकर अतुल्यकी ओरों चीकिया गयी और उन्होंने
विषय होकर अपने नेत्र बंद कर लिये ॥ ५२ ॥
इसके बाद भगवान्के रयने दिभ्यं जगत्प्रसिद्ध प्रवेश
किया । वही तेज ओरों चक्रनेक कारण उस जलमें
बही-बही तरङ्गें उठ रही थी, जो बहुत ही भली मालूम
होती थी । वहाँ एक बड़ा सुन्दर मन्दार था । उसमें
मणियोंके सहस्र-सहस्र खेम चमक-चमककर उसकी
शोभा बढ़ा रहे थे और उसका चारों ओर बड़ी उज्ज्वल
ज्योति फैल रही थी ॥ ५३ ॥ उरी मन्दमें भगवान्
लेवनी निराजमान थे । उनका शरीर व्यक्त भगवान्क
और अद्भुत था । उनका सङ्घ स्तिर था और प्रत्येक
कणपर सुन्दर-सुन्दर मणियाँ अगम्य रही थी । प्रत्येक

विघ्नाजमानं त्रिगुणोन्मेषेण

सिताचलाम् शितिकण्ठं विह्वलम् ॥५४॥

ददर्श तद्भोगसुखासनं विश्व

महानुभाव पुरुषाचमोचयम् ।

सान्द्राम्बुदाम् सुपिण्डावासस

प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥५५॥

महामणित्रातकिरीटकुण्डल

प्रभापरिधिसहस्रहन्तलम् ।

प्रलम्बचार्यदृष्टुजं सकौस्तुम

श्रीवत्सलहंसं वनमालया वृतम् ॥५६॥

सुनन्दनन्दप्रसूतैः स्वपार्पदै

भक्तादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।

पुष्ट्या भ्रिया कीर्त्यज्वालितद्विभि

निवेद्यमाप्न परमहितां पतिम् ॥५७॥

वचन्द आत्मानमनन्तमच्युता

जिष्णुषः सङ्शेनजातसाध्वसः ।

तौवाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु

वृद्धाञ्जली सन्निवमूर्जया गिरा ॥५८॥

द्विजात्मजा मे युवयोर्द्विद्विषा

मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।

कलावतीणाववनमरासुरान्

हरवेह भूयस्त्वरयेतमन्त्रि म ॥५९॥

पूष्पाकामावपि युवां नरनारायणादृषी ।

धममाचरतां नित्यं यथाभी लांकसग्रहम् ॥६०॥

इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमहिता ।

आमिस्त्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥६१॥

सिरमें दो-दो नेत्र थे और थे वड़े ही भयङ्कर थे ।

उनका सम्पूर्ण शरीर कैलासके समान श्वेतवर्णका था

और गला तथा जीम नीले रंगकी भी ॥ ५४ ॥

परीक्षित ! अर्जुनने देखा कि शेषभस्मान्की सुसम्पन्नी

शम्पापर सर्वव्यापक गङ्गान् प्रभवशाली परम पुरुषात्म

भगवान् निराजमान हैं । उनके शरीरकी कान्ति कर्ण-

कालीन मेघके समान व्याप्त है । अत्यन्त सुन्दर पीज

का धारण किये हुए हैं । मुखपर प्रसन्नता केन रही

है और बड़े-बड़े नत्र बहुत ही सुहावने लगते हैं ॥ ५५ ॥

बहुमूल्य मणियोंसे जटित मुकुट और कुम्भलैकी कान्तिसे

सज्जों घुँघराखी जलकों घमका रही हैं । लंबी-लंबी

सुन्दर आठ मुचाएँ हैं, गलेमें कौस्तुभ मणि है, कर्ण-

स्वरूपर श्रीकसका विह्व है और धुनैतक कमल

छटक रही है ॥ ५६ ॥ अर्जुनने देखा कि उनके नत्र

सुनन्द आदि अपने पर्यट, चक्र-सुदर्शन आदि अपने

मूर्तिमान् आयुध तथा पुष्टि, श्री, कीर्ति और वज्र—

ये चारों शक्तियों एव सम्पूर्ण अद्वितीय अस्त्रों केकाञ्चोंके

अधीन भगवान्की सेवा कर रही हैं ॥ ५७ ॥ परीक्षित !

भगवान् श्रीकृष्णन अपन ही स्वरूप श्रीजनन्त भावन्तसे

प्रणम किया । अर्जुन उनके दर्शनसे कुछ नम्र हो

गये थे, श्रीकृष्णके यात्र उन्होंने भी उनके प्रणम किया

और वे दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये । जब अस्त्रों

केकाञ्चोंके स्वामी भूमा पुरुषन मुसकराते हैं तब

एवं गम्भीर बाणीसे कहा— ॥ ५८ ॥ श्रीकृष्ण ! तब

अर्जुन ! मैंने तुम दोनोंको देखनेके लिये ही अस्त्रोंके

यात्रोंके अपन पास मैंने डिये थे । तुम दोनोंने कर्मकी

रक्षाके लिये मेरी कथ्यकोंके साथ पृथ्वीपर अन्तार प्रणम

किया है, पृथ्वीके अन्तर्गत देवोंका संहार करके शीघ्र

से-शीघ्र मुझसे फिर मेरे पास आओ ॥ ५९ ॥

तुम दोनों अस्त्रों पर और नारायण हो । यद्यपि तुम

पूर्णपात्र और सर्वश्रेष्ठ हो, फिर भी जगत्की स्थिति

और लांकसग्रहके अथ धर्मका आचरण परो ॥ ६० ॥

जब भगवान् भूमा पुरुषन श्रीकृष्ण और अर्जुनको

प्रणम आदेश किया, तब उन लोगोंसे उसे सीकर

करके उन्हें नमस्कार किया और वह आनन्दक साथ

आवाण-आवाणके लेकर जिस रास्तेसे जिस प्रकार आप

न्यवर्ततां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम् ।

विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथावयः ॥६२॥

निश्चाम्य वैष्णव धाम पार्थ परमविस्मित ।

यत्किञ्चित् पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुफन्पितम् ॥६३॥

इतीह श्रान्तनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।

पुत्रुञ्च विपयान् ग्राम्यानीज चात्पूजितैर्मत्नैः ॥६४॥

प्रवदयास्तिलान् कामान् प्रजासु ज्ञाक्षणादिषु ।

यथाकालं यथैवन्त्रा भगवान्मैष्ठ्यमाम्भित ॥६५॥

इत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वा र्जुनादिभिः ।

अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभि ॥६६॥

ये, उसीसे वैसे ही द्वारकामें चैठ धाये । ब्रह्मणके वाञ्छा अपनी आसुके अनुसार बड़-बड़ हो गये थे । उनका रूप और आकृति वैसी ही थी, वैसी उनके जन्मक समय थी । उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने उनका पितृत्व सौंप दिया ॥ ६१-६२ ॥ भगवान् कृष्णके उस परमभक्त बंशकर अर्जुनक आश्चर्यकी सीमा न रही । उन्होंने उस अर्जुनको किया कि जीवोंने जा कुछ कह-गौरव है, वह सब भगवान् श्रीकृष्णकी ही कृपाका फल है ॥ ६३ ॥ परीक्षित ! भगवान्ने और भी ऐसी अनेकों प्रशंस्य और वीरतत्वे परिपूर्ण शैल्यएँ कीं । अंकरष्टिमें साधारण लोगोंक समान सांसारिक किम्पोंका भोग किया और बड़-बड़ मन्त्राज्जाओंके समान श्रेष्ठ-श्रेष्ठ यज्ञ किये ॥ ६४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने आदर्श मन्त्रापुराणोंका सा आचरण करते हुए ब्रह्मण आदि समस्त प्रजाओंके सारे क्लेशों पूर्ण किये, दीक वैसे ही, वैसे इन्द्र प्रजाके शिष्ये सम्प्रनुसार कर्मा करते हैं ॥ ६५ ॥ उन्होंने बहुत-से अधर्मी राजाओंको स्वयं मार डाल्य और बहुतों का अर्जुन आदिके द्वारा मरवा डाला । इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर आपि धार्मिक राजाओंसे उन्होंने अमाप्यस ही सारी पृथ्वीमें धर्ममार्गादकी स्थापना करा दी ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्भगवत् महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

त्रिबकुमारागनयन नाम एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

अथ नवतितमोऽध्यायः

भगवान् कृष्णके अस्त्रिका विद्यारक्त कथन

श्रीभुक्त उवाच

श्रीभुक्त उवाचो कहते हैं—परीक्षित ! द्वारकानगरीकी

सुप्त स्वपुत्रो निवसन् द्वारकायां धियः पतिः ।

सवसपत्समृद्धायां जुष्टायां शुष्णिपुष्पके ॥ १ ॥

स्त्रीभिश्चात्मवशपामिर्नवयौवनकान्तिभिः ।

फन्दुकादिभिर्मह्येषु क्रीडन्तामिस्तद्विभुभि ॥ २ ॥

छटा अत्यधिक थी । उसकी सड़क मरू चूते हुए मत-वाल हाथियों, सुसज्जित यादवों, घोड़ों और खनमय रथोंकी भीड़से सजा-सज्जा भरी रहती थी । विषय वक्ष्य, उधर ही हरे-भर उपवन और उद्यान शृङ्ग रह हैं । पौत-क-पौत वृक्ष फलसे लद हुए हैं । उनपर बैटकर भीरे गुनगुना रहे हैं और तरङ्ग-तरङ्गक पक्षी

नित्यं संकुलमार्गाणां मदप्युन्मिर्मतङ्गजैः ।

स्वलकुतैर्मटेरश्वै रथैश्च कनकाज्ज्वलैः ॥ ३ ॥

उद्यानोपवनाद्याणां पुष्पितद्रुमराजिषु ।

निर्विश्वसूक्ष्मविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥ ४ ॥

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकप्रसूतभः ।

सावद्वित्ररूपोऽसौ तद्वपुर्हेषु महर्षिषु ॥ ५ ॥

प्रोत्सृज्योत्पलकङ्कहारकुम्भदाम्भोजरेणुभिः ।

वासितामलतोयेषु कूजवृद्धिजकुलेषु च ॥ ६ ॥

विजहार विगाद्याम्भो हविनीषु महोदयः ।

कुचकुङ्कुमलिताङ्गः परिरम्भ्य योषिताम् ॥ ७ ॥

उपगीयमाना गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान् ।

वाद्यमृद्विर्मुदा चीणां स्रुतमागध्वन्दिभिः ॥ ८ ॥

सिन्धुमानोऽन्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स रश्मकैः ।

प्रतिपिबन् विचित्रोऽयं यथीभिर्धरादिव ॥ ९ ॥

ताः स्निग्धवस्त्रविपुलालङ्कारप्रदयाः

सिन्धुन्य उवृष्टवपुःस्फुरप्रसूताः ।

कन्धव कर रहे हैं । वह नगरी सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे भरपूर थी । जगहके श्रेष्ठ कीर यशस्वी उत्तम सेना करनेमें अपना सौभाग्य मानते थे । वहाँकी स्त्रियाँ सुन्दर वेश-भूषासे विभूषित थी और उनके कङ्क-कुम्भसे जवानीकी छत्र छिटकती जाती थी । वे जब जने मङ्गलमें गेद आदिके खेल खेलती और उनका कर्तव्य कभी दीख जाता तो ऐसी जान पड़ता, मनो निजमी बन रही है । सम्पत्ति मगवान्की स्त्री अपनी नगरी इतनी थी । इसीमें वे निवास करते थे । मगवान् श्रीकृष्ण सेवक बनारसे अधिक पत्नियोंके एकत्र प्राणवन्धन थे । उन पत्नियोंके कङ्का-कुम्भ मङ्गल भी परम ऐश्वर्य सम्पन्न थे । जितनी पत्नियाँ थीं, उतने ही कङ्कुत रूप धारण करके वे उनके साथ विहार करते थे ॥ १-५ ॥ सभी पत्नियोंके मङ्गलमें सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे । उनका निर्मल जल किले हुए नीले, पीले, श्वेत, काल आदि मौसि-मौसिके कलकोंके परागसे मङ्कटा रहता था । उनमें हृदय-के-हृद हंस, सारस आदि सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहकते रहते थे । मगवान् श्रीकृष्ण उन जलसम्पत्तियों तथा कभी-कभी नदियोंके जलमें भी प्रवेश कर अपनी पत्नियोंके साथ जलविहार करते थे । मगवान्के साथ विहार करनेवाली पत्नियाँ जब उन्हें जाने सुन-पाशमें बाँध लेतीं, आविष्कृत करतीं, तब मगवान्के श्रीवक्त्रमें उनके कङ्क-कुम्भों केसर आ जलती थी ॥ ६-७ ॥ उस समय गन्धर्व उनके यशस्व गान करने आते और स्रुत, मागध एवं कन्दीजन बने आनन्दसे मृदङ्ग, ढोल, नगारे और चीणा आदि वाजे बजाने आते ॥ ८ ॥

मगवान्की पत्नियाँ कभी-कभी ईसते-ईसते विष कारियोंसे उन्हें भिगो देती थीं । वे भी उनको तर कर देते । इस प्रकार मगवान् अपनी पत्नियोंके साथ मीठा करते, मनो यशराज कुबेर पक्षियोंके साथ विहार कर रहे हों ॥ ९ ॥ उस समय मगवान्की पत्नियोंके कङ्क-कुम्भ और जंघा आदि अङ्ग वस्त्रोंके भीम जानेके कारण उनमेंसे धूमकाने आते । उनकी यथी-नयी पाटियों और जलमेंसे गुंथे हुए कूट मिलने आते, वे उन्हें मित्रते-

कान्तं स रेजकप्रिहीरपयोपुष

जातसरोत्सवलसद्गदना विरेषुः ॥१०॥

कृष्णस्तु तत्स्तनविपजितकुङ्कुमस्रक्

क्रीडाभिपङ्गुतदन्तलघुन्दधन्यः ।

सिञ्चन् मुहुर्युवतिभिः प्रसिपिष्यमानो

रेमे करणभिरिवेभपतिः परीतः ॥११॥

नगानां नर्तकीनां च गीतपाद्योपवीशिनाम् ।

क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोद्गातस्य च स्त्रिय ॥१२॥

कृष्णस्यैव विहरतो गत्यालापक्षितस्मिते ।

नर्मस्वेतिपरिम्पन्ने स्त्रीणां किञ्च हता भियः ॥१३॥

ऊजुमुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मथवज्रजम् ।

चिन्तयन्त्याऽरविन्दाद्यं तानि म गदतः शृणु ॥१४॥

महिष्य ऊजुः

कुरारि विलपसि त्व वीतनिद्रा न शेषे

सपिति जगति राप्तामीशरो गुप्तबाधः ।

वयमिव सन्नि कश्चिन् गान्निर्निभपेता

नलिननयनहासादारलासेधितेन ॥१५॥

१ कश्चि २ त्रिय ऊजुः ।

मिणोते पिचनरी धीन लेनेके लिये उनके पास पहुँच जातीं और इसी वक़्तने अपने प्रियतमका आग्रिजन कर लेतीं । उनके सगर्भसे पलियोंके हृदयमें प्रेम-भजनकी अभिष्टति हो जाती, जिससे उनका मुखकमल खिल उठता । ऐसे अवसरोंपर उनकी शोभा और भी बढ़ जाया करती ॥१०॥ उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी वन माध उन रानियोंके कण्ठ स्थलपर ध्वनी हुई केसरके रंगसे रँग जाती । बिहारमें क्षयपतमन हो जानके कारण घुँघरायी अञ्चलें उमुक्त भावसे खराने लगतीं । वे अपनी रानियोंको बार-बार मिणो दते और रानियों भी उन्हें सरायोर पर लेतीं । भगवान् श्रीकृष्ण उनके साथ इस प्रकार बिहार करते, पानो फाड़ गवराज हृदिनियोंसे विरकर उनके साथ क्रीडा कर रहा हो ॥११॥ भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पलियों क्रीडा करनेके कद अपने-अपने कर्माभूषण उतारकर उन नटों और नर्तकियों-को दे दते, जिनकी जीविका केकल गाना-बजाना ही है ॥१२॥ परीक्षित् । भगवान् इसी प्रकार उनके साथ बिहार करते रहते । उनकी वाद्यदाह, वातवीत, चितवन-मुसकन, हास-मिअस और आठिजन आदिसे रानियोंकी चित्तुचि उन्हीकी ओर लिखी रहती । उन्हें और किसी बातका स्मरण ही न होत ॥१३॥ परीक्षित् । रानियोंके नीचन-सर्वज, उनके एकमात्र हृदयेवर भगवान् श्रीकृष्ण ही थे । वे कर्मजनक स्वयम-सुन्दरके चिन्तनमें ही इतनी मग्न हो जाती कि कई दलक तो चुप हो रहतीं और फिर उन्मत्तके समान अस्मकद फर्ते बहने लगतीं । कभी-कभी तो भगवान् श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें ॥ प्रमोन्मात्क कारण उनके बिरहका अनुभव धरन प्यतीं । और न जान क्या-क्या कहने लगतीं । म उनकी बात गुन्हे सुनाता हूँ ॥१४॥

रानियाँ कहतीं—अभी कुररी ! अब तो बड़ी रात हो गयी है । ससरायें सब आर सभाय श्रुत गयी हैं । देख, इस समय स्वयं भगवान् अपना अलण्ड बोध छिपाकर सो रहे हैं और तुम नीद्र ही नहीं आती ! तू इस तरह रात-रातभर जगमगर चित्तप क्यों कर रही है ! सखी ! कहीं कर्मजनक भगवान्क मधुर हास और धीप्रसी उगार (स्वीडमिच्छक) चितवनसे लेण हृदय भी हमारी ही तरह चिप तो नहीं गया है ॥१५॥

नेत्र निमीलयसि नक्तमदृष्टवन्तु

स्त्वं रोरवीपि करुणं वत् चक्रवाकि ।

दास्यं गता वयमिवाच्युतपादप्लुतां

किं वा स्रवं स्पृश्यसे कवरेण वोढुम् ॥१६॥

मा भोः सदा निम्नसे उदन्व

भलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।

किं वा मुकुन्दापद्मात्मलाम्बनः

प्राप्तां दक्षां त्वं च गतो बुरत्सयाम् ॥१७॥

त्व यस्मिन्ना बलवतासि गृहीत इन्दो

क्षीपस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोपि ।

कश्चि मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं

विस्मृत्य भोः स्वगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥१८॥

किन्त्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽग्रिमम् ।

गोविन्दापाङ्गनिभिन्ने हृदीरयसि नः सरम् ॥१९॥

मघ भीमंस्त्वमसि दयितो वादवन्त्रस्य नूनं

भीवत्साङ्गं वयमिव भवान् ध्यायति प्रमथः ।

अत्युत्कण्ठः शबलहृदयाऽम्भद्रिधापाण्यधारा

सुरवा स्मृत्या विमुञ्चसि मुहुर्दुःखदस्तप्रमङ्ग ॥२०॥

अरी यकली ! घने रातके समय अपने नत्र क्यों बंद कर छिपे हैं ? क्या तेरे पतिदेव कहीं विदेश चले गये हैं कि वृहस्पति प्रकार कल्प खरसे पुकार रही है ! हाय-हाय ! तब तो वृषभी दुःखिनी है ! परन्तु हो-न-हो तेरे हृदयमें भी हमारे ही समान भागान्तरि दासी होनेका माग जग गया है ! क्या अब वृहत्तके चरमोपर चलायी हुई पुष्पोंकी माला अपनी चोटियोंमें बाराग करना चाहती है ? ॥ १६ ॥

अहो समुद्र ! तुम निरन्तर गरजते ही रहते हो । तुम्हें नींद नहीं आती क्या ? जान पड़ता है तुम्हें उदा जागते रहनेका रोग लग गया है ! परन्तु नहीं-नहीं, हम सम्मग्न गम्भी, हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने तुम्हारे कैम गम्भीर्य आदि स्वामयिक गुण छीन लिये हैं । स्व स्त्रीसे तुम हमारे ही समान ऐसी व्याधिके शिकार हो गये हो । जिसकी कोई दवा नहीं है ! ॥ १७ ॥

चन्द्रदेव ! तुम्हें बहुत बड़ा रोग राजयत्ना हो गया है । इसीसे तुम इतने क्षीण हो रहे हो । अरे उम-उम अब तुम अपनी किरणोंसे अँधेरा भी नहीं हटा सकते ! क्या हमारी ही भौंति हमारे प्यारे श्यामसुन्दरकी मँटी-मीठी रहस्यकी बातें मूख जाननेके कारण तुम्हारी देखी बंद हो गयी है ? क्या उसकी कितासे तुम मौन हो रहे हो ॥ १८ ॥

ममयानिल ! हमने तेरा क्या निद्रा है, जो वृहत्त हमारे हृदयमें कर्मका संचार कर रहा है ? अरे वृहत्त जानता क्या ? भगवान्की सिद्धी चित्तसे हारा हृदय तो फूटनेसे ही घायक हो गया है ॥ १९ ॥

श्रीमन् मेघ ! तुम्हारे बरीरका स्नेह्य तो हमारे प्रियतम-जैसा ही है । अवश्य ही तुम पशुपतिप्रमणि भगवान्को परम प्यारे हो । तभी तो तुम हमारी ही भौंति प्रेमाश्रमे बँधकर उनका ध्यान कर रहे हो ! देखो-देखो ! तुम्हारा हृदय चित्तसे भर रहा है, तुम उनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हो ! तभी तो बार-बार उनकी याद करके हमारी ही भौंति औसरी धारा बहा रहे हो । दयामयन ! सधमुच फनरामसे नाता जोना घर अरे गीता मांजना ६ ॥ २० ॥

प्रियरात्रपदानि भाषसे मृत

संजीविकमानया गिरा ।

करवाणि किमद्य ते प्रियं

वद म वरिगतकण्ठ कोकिल ॥२१॥

न चलसि न वदस्युदारमुखे

धितिवरचिन्तयसे महान्तमर्थम् ।

अपि वत वसुदधनन्दनाम्नि

वयमिव कामपसे स्तनैर्विभर्तुम् ॥२२॥

शुष्यदूधदा कर्द्विता वत मिधुपत्न्यः

सम्प्रत्यपात्कमलभ्रिष इष्टभर्तु ।

यदद्व वयं मधुपतेः प्रणयावलोक-

मप्राप्य सुष्टुहृदयाः पुरुकर्णितः स्म ॥२३॥

इस स्नागतमास्वतां पिय पयो मूषङ्ग शीरेः कथां

त्वांनु विदाम कथिदजितः स्वस्यास्तउक्तपुरा ।

री कोयल ! तेरा गय बड़ा ही सुरीला है, पीछी बोझी बोलनेवाले हमारे प्राणप्यारेके समान ही मधुर सरसे वू बोझी है । सचमुच तेरी बोलीमें सुख बोली हुई है, जो प्यारेके किरहसे मरे हुए प्रमियोंको अश्रुन बांधी है । वू ही कता, इस समय हम तेरा क्या बिम करे ॥ २१ ॥

प्रिय पक्षी ! तुम तो वड उदार विचारके हो । तुमने ही पृथ्वीको भी धारण कर रक्खा है । न तुम झिझके-बोलते हो और न कुछ कहते-सुनते हो । जान पड़ता है कि किसी बड़ी वास्तविक चिन्तामें मग्न हो रहे हो । ठीक है, ठीक है, हम समझ गयीं । तुम हमारी ही मौजि चाहते हो कि अपने स्तनोंके समान बहुत-से शिखरोंपर मैं भी मगान् श्यामसुन्दरके चरणवमज धारण करूँ ॥ २२ ॥

सुसुपत्नी नदियो । यह प्रीत्य श्रुत है । तुम्हारे कुण्ड सूख गये हैं । अब तुम्हारे अंदर झिले हुए कमलों का सौन्दर्य नहीं दीखता । तुम बहुत दुःखी-पतनी हो गयी हो । जान पड़ता है, जैसे हम अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी प्रेममयी चितवन न पाकर अपना हृदय खो देती हैं और अत्यन्त दुःखी-पतनी हो गयी हैं, वैसे ही तुम भी मेवोंके द्वारा अपने प्रियतम सुसुपत्न जल न पाकर ऐसी दीन-हीन हो गयी हो ॥ २३ ॥

इस ! आआ, आआ ! मल जाये, स्नागत है । आसनपर बैठ, हा, दूध पियो । प्रिय हंस ! श्याम-सुन्दरको कइ बात तो सुनाओ । हम समझते हैं कि तुम उनके मृत हो । किसीक वशमें न हानकाले श्याम सुन्दर सकुशल तो हैं न ? अरे भाई ! उनकी मित्रता तो बड़ी अस्थिर है, धुणभट्टर है । एक दिन तो पत-व्यथो, उन्होंने हमसे कहा था कि तुम्हीं हमारी परम प्रियतम हो । क्या अब उन्हें यह ज्ञान याद है ! आआ, आआ ! हम तुम्हारी अनुनय-विनय नहीं सुनती । जब वे हमारी परा नही करते, तो हम उनके पीछ क्यों मरे ! मुद्रक दूत ! हम उनका पास नहीं जाती । क्या कहा ! व हमारी इच्छा पूरा करनेक उपाय ही आना चाहत हैं, अच्छ ! तब उन्हें तो यहाँ सुन्य जाना, हमसे कतें कराना ; परन्तु यहाँ कर्णको रूप न ले

। वा नवलमोहदः सरति रं कसाद् भ्रामा वयं

घोत्रालापय कामद धियमृते सर्वकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥

इतीदृशेन भावेन कृष्णे यागधरधर ।

क्रियमात्मान माधव्यो लेभिर परमां गतिम् ॥२५॥

श्रुतमात्रोऽपि य स्त्रीणां प्रसन्नाकर्षत मनः ।

उरुगायादगातो वा पयन्तीनां कृत पुनः ॥२६॥

याः सम्पद्यन्त प्रमृष्टा पादसंवाहनादिभिः ।

जगद्गुरुं भर्तृपुत्र्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥२७॥

एवं वेदोदितं धर्ममनुविष्टान् सतां गति ।

गृहं धर्मार्थकामानां सुदुष्पाददर्शयत् पदम् ॥२८॥

आसितस पर धर्मं कृष्णस गृहमभिनान् ।

आसन् पौडशसाहसं महिष्यश्च शताधिकम् ॥२९॥

तत्तां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ या प्रागुदाहृता ।

रुक्मिणीप्रमुखा राज्ञस्तत्पुत्राद्यानुपूर्वशः ॥३०॥

एकैकसां दश दश कृष्णोऽजीजनदारमजान् ।

यावत्स आरमना भार्या अमोघगतिरीश्वरः ॥३१॥

तेषामुदामवीर्याभामष्टादश महारथाः ।

आमनुदारयश्चसस्तथा नामानि न भूयु ॥३२॥

प्रमुग्धभानिरुद्ध दीप्तिमान् भानुरेव च ।

साम्बा मयुर्द्विभानुधिरभानुश्चादरुणः ॥३३॥

पुष्करा वदबाहुश्च भुतदपः सुनन्दनः ।

चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्याप एव च ॥३४॥

अन्ता । तत्र न्या वे व्यञ्ज्य श्रेष्ठतर एव नदी कन
वाहते । यह कैल्य न्या है । न्या सिधेने व्यञ्ज्य है
एक एतां हैं, विनय नगधन्ते अन्य प्रन है । न
हन्ते कोर एक मी वेदी नहीं है । ॥ २४ ॥

परीक्षित । श्रीकृष्णपत्नियोंकोशरेष भगवन् श्रीकृष्ण
में एत ही अन्य प्रन-मात्र रहती थी । एतासे उन्होंने
परमपद प्राप्त किया ॥ २५ ॥ भगवन् श्रीकृष्णकी
श्रेष्ठतर अनयो प्रसरते कनेको गतांशरा मन को गी
हैं । वे इतनी मधुर, इतनी मनोहर हैं कि उनके सुने-
मात्रसे कियोका मन बचत उनकी ओर खिच गया
है । फिर जो कियो उन्हें बरने नेहसे देखती थी, उनके
सम्पर्कसे तो कहना ही न्या है । ॥ २६ ॥ जिन व-
भगिनी कियोने जगद्गुरु भगवन् श्रीकृष्णको बत
पति मानकर परम प्रेम्से उनके करणकरकेको सुखय,
उन्हें नहलया-मुलया, खिन्नय-विजया, तर-तरसे
उनकी सेवा की, उनकी तपस्याका वर्णन तो भन, सि
ही कैसे जा सकता है ॥ २७ ॥

परीक्षित । भगवन् श्रीकृष्ण सपुत्रको एकत्र
आश्रय हैं । उन्होंने वेदोक्त धर्मका बार-बार उक्त
करके लगेको यह बात दिखाय दी कि वर ही र्म,
धर्म और काम—साधनका स्थान है ॥ २८ ॥ ए-
कियो वे गृहस्थोचित श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेकर व्यवहार
कर रहे थे । परीक्षित । मैं तुमसे कह ही चुन
कि उनकी रानियोंकी संख्या भी सोहक हजार एक से
अध ॥ २९ ॥ उन श्रेष्ठ कियोसे रुक्मिणी और एक
पटरानियों और उनके पुत्रोंका तो मैं पहले ही कहे
कणम कर चुका हूँ ॥ ३० ॥ उनके अतिरिक्त भगवन्
श्रीकृष्णकी और कितनी पत्नियों थीं, उनसे भी प्रत्येक
दस-दस पुत्र उत्पन्न किये । यह कोई आश्चर्य की
नहीं है । क्योंकि भगवन् सवशक्तिमान् और सत्सङ्ग
हैं ॥ ३१ ॥ भगवान् के परम पराक्रमी पुत्रोंमें अग्रत
तो म्भारथी थे, जिनका वरा सरे जगत्में गया हुआ
था । उनके नाम मुखसे सुनो ॥ ३२ ॥ प्रमुग्ध, अ-
रुद्ध, दीप्तिमान् भानु, साम्बा, मयु, गृहज्ञान, चित्रमनु,
पुष्कर, वरुण, पुष्कर, वरुण, पुनः, सुनन्दन, वि-
बाहु, विरुप, कवि और मयोध ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ तन्नेत्र ।

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुक्षिप ।
 प्रपुष्पन् आसीत् प्रथम पितृवद् रुक्मिणीसुतः ॥३५॥
 स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
 तस्मात् सुतोऽनिरुद्धोऽम्भारागयुतबलान्वितः ॥३६॥
 स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृह तवः ।
 वज्रसंस्त्रामवद् यस्तु मौसलावचशेषितः ॥३७॥
 प्रतिबाहुरभूत्तस्मात् सुपाहुस्तस्य चात्मजः ।
 सुबाहोः शान्तसेनोऽमृच्छतसेनस्तु तत्सुतः ॥३८॥
 न चेत्तस्मिन् कुले जाता अथना मधुप्रजाः ।
 अन्त्यायुषोऽन्पवीर्याम् अन्नद्वयाम् अक्षिरे ॥३९॥
 मधुवंशप्रसूतानां पुंसां विस्मयात्कर्मणाम् ।
 संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतेर्नृप ॥४०॥
 तिस्रः क्रोत्रः सहस्राभ्यामष्टाङ्गीतिष्ठानि च ।
 आसन् यदुक्ताचार्या कुमारानामिति श्रुतम् ॥४१॥
 संस्मान यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।
 यत्रायुतानामयुतलघेणास्ते स आहुकः ॥४२॥
 देवासुराद्वहता देवेषा ये सुदारुणाः ।
 ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा यन्ना ववाधिरे ॥४३॥
 तस्मिन्प्रथम इरिणा प्राक्ता देवा यदोः कुले ।
 प्रवर्तीणाः कुलशरं तेषामेकाधिकं नृप ॥४४॥
 तेषां प्रमार्शं भगवान् प्रहृत्त्वेनाभवद्भरिः ।
 ये चानुवर्तिनस्तस्य वश्यः सर्वयादवा ॥४५॥
 प्रस्थासनाटनालापकीडास्थानादिकमगु ।

भगवान् श्रीकृष्णके इन पुराणों में भी सबसे श्रेष्ठ रुक्मिणी
 नन्दन प्रपुष्पजी थे । वे सभी गुणोंमें अपने पिताक समान
 ही थे ॥ ३५ ॥ महारथी प्रपुष्पने रुक्मिणी
 कन्यासे अपना विवाह किया था । उसीके गर्भसे
 अनिरुद्धजीक जन्म हुआ । उनमें दस हजार हामिपोंका
 बल था ॥ ३६ ॥ रुक्मिणीके दौहित्र अनिरुद्धजीने अपने
 नानाकी पोतीसे विवाह किया । उसके गर्भसे वज्रका
 जन्म हुआ । शत्रुओंके शायसे पैदा हुए मृच्छके द्वारा
 यदुवंशका नाश हो जानेपर एकमात्र वे ही बच रहे
 थे ॥ ३७ ॥ वज्रके पुत्र हैं प्रतिबाहु, प्रतिबाहुके
 सुबाहु, सुबाहुके शान्तसेन और शान्तसेनके कतसेन ॥ ३८ ॥
 परीक्षित ! इस संशयमें कोई भी पुत्र देसा न हुआ जो
 वज्रकी संतानवाला न हो तथा जो निर्धन, अन्त्यायु
 और अल्पशक्ति हो । वे सभी ब्रह्मणोंके मक्त थे ॥ ३९ ॥
 परीक्षित ! यदुवशमें ऐसे-ऐसे यहासी और पराक्रमी
 पुत्र हुए हैं, जिनकी गिनती भी हजारों करोड़ों पूरी
 नहीं हो सकती ॥ ४० ॥ मैंने ऐसा सुना है कि यदुवशके
 बालकमेंसे शिक्षा देनेके लिये तीन करोड़ अठसी लाख
 वार्षिक्य थे ॥ ४१ ॥ ऐसी स्थितिमें महात्म यदुवंशियोंकी
 संख्या तो क्तापी ही कैसे जा सकती है ! खरं महाराज
 उम्रसेनके सप्त एक नीक (१०००००००००००००)
 के लगभग सैनिक रहते थे ॥ ४२ ॥

परीक्षित ! प्राचीन कालमें देवासुरसमूहमेंके समय
 बहुत-से मयदर असुर मारे गये थे । वे ही मनुष्योंमें
 उत्पन्न हुए और सबे घमंडसे जनताको सपान क्यो ॥ ४३ ॥
 उनका दमन करनेके लिये भगवान्की आज्ञासे देवताओंन
 ही यदुवंशमें अवतार लिया था । परीक्षित ! उनके
 कुलोंमें सत्त्व एक सौ एक थी ॥ ४४ ॥ वे सब भगवान्
 श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी एवं आराधन करते थे ।
 जो यदुवंशी उनके अनुयायी थे, उनकी सब प्रशंसे
 उनकी ॥ ४५ ॥ यदुवंशियोंका चित इस प्रकार
 भगवान् श्रीकृष्णमें व्यग्र रहता था कि उन्हें सने-ईदन,
 घृने-ईरने, भयन-भयने और गहाने-घाने आदि कर्मोंमें

नविदुः सन्तमात्मानं कृष्णयः कृष्णचेतसः ॥४६॥ अपने शरीरकी भी सुधि न रहती थी । वे जानते ही थे

तीर्थ चक्रे नृपोनं मदजनि यदुपु

स सरित्पादघौषं

विदिदस्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा

धीर्यदर्थेऽन्यथाः ।

ययामामङ्गलघ्नं ध्रुवमथ गदितं

यत्कुतो गोत्रधर्मः

कृष्णस्यैव चित्रं क्षितिभरहरणं

कालचक्रायुधस्य ॥४७॥

जपति जननिवासो देवकीजन्मवाद्यो

यदुवरपपत्सवैर्दोर्भिरस्यधर्मम् ।

स्विरचरपृत्रिनघ्नः सुसितधौमुखेन

प्रप्रपुरनितानां कर्षयन् कामदेवम् ॥४८॥

इत्थं परस्य निजपत्निरियथाऽऽप्त

नीतावनान्दनु रूपरिदम्बनानि ।

वे कि हमारा शरीर क्या कर रहा है । उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ यन्त्रके भाँति अपने-आप होती रहती थीं ॥ ४६ ॥

परीक्षित् ! भगवान्का चरणचोकन गङ्गाजी बनाने की समस्त तीर्थोंमें गङ्गान् एवं पवित्र हैं । परन्तु जब स्वयं परमतीर्थस्वरूप भगवान्ने ॥ यदुर्गमें बहकर प्रवृत्त किया, तब तो गङ्गाजलकी महिमा अपने-आप ही उनके सुपुत्रतीर्थकी अपेक्षा कम हो गयी । भगवान्के स्वरूपकी यह कितनी बड़ी महिमा है कि उनसे प्रेम करनेवाले भक्त और द्वेष करनेवाले शत्रु दोनों ही उनके स्वरूपको प्राप्त हुए । जिस व्यक्तिको प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े देवता फन करते रहते हैं, वे ही भगवान्की सेवामें नित्य-निरन्तर लगी रहती हैं । भगवान्का कम एक कर सुनने अथवा उच्चारण करनेसे ही सारे जगत्में फैल जाता है । आर्यियोंके मंत्रांशमें कितने भी वर्ण प्रचलित हैं, उनके संस्थापक भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । वे अपने हाथमें कालचक्र चक्र लिये रहते हैं । परीक्षित् ! ऐसी स्थितिमें वे पृथ्वीका भार उधार देते हैं, यह कैसा बड़ी बात है ॥ ४७ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त जीवोंके आश्रयस्थान हैं । पक्षि वे सरा-सर्वदा सर्व उपस्थित ही रहते हैं, फिर भी करनेके लिये उन्होंने देवकीजीके गर्भसे जन्म लिया है । यदुर्गके भीरु वर्णोंके रूपमें उनकी सेवा करते रहते हैं । उन्होंने अपने मुनिकसे आभयका अन्त कर लिया है । परीक्षित् ! भगवान् सम्प्रपत्से ही चराचर जगत्का दुःख मिटते रहते हैं । उनका मन्द-मन्द मुसकानसे मुक्त सुन्दर मुखरन्दिम ब्रह्मविष्य और पुरुषियोंके हृदयमें प्रेम-आकाश सञ्चार पतला रहता है । वास्तवमें सारे जगत्का भी विशयी हैं । उन्होंने ही जय हो । जय ॥ ॥ ४८ ॥

परीक्षित् ! प्रकृतिसे अतीत परमात्मने जानकर स्वानि धर्म-मर्षादारा रक्षा के लिये अन्य तीर्थ-शरीर प्राण किया और उसके अनुकूल अनर्गल भद्र-भूत परिशेष अभिप्रेत किया । उनका परम-पद परम स्मरण

कर्मणि कर्मफलानि यद्वत्तमस्य

भूपादमुष्य पदयोरनुचिचिमिच्छन् ॥४९॥

मर्त्यस्तमानुसवमेधितया सुकृन्ध

श्रीमत्कथाभवनकीर्तनचिन्तयैति ।

तद्वाम इत्तरकृतान्तप्रवापवर्ग

प्रामातृ वनं धितिसुजोऽपि ययुर्यदयोः ॥५०॥

करनेयार्थोंके कर्मफलनोंको कष्ट बाधनेवाला है । जो यदुषवाशिरामणि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाका अधिकार प्राप्त करना चाहे, उसे उनकी स्वीकृति-का ही अग्रण करना चाहिये ॥ ४९ ॥ परीक्षित ! जब मनुष्य प्रतीक्षण भगवान् श्रीकृष्णकी मनोहारिणी लीला-कथाओंका अविवशिक अग्रण, कीर्तन और चिन्तन करने लगता है, तब उसकी यही मति उसे भगवान्के परमधाममें पहुँचा देती है । यद्यपि कल्पकी गतिके परे पहुँच जाना बहुत ही कठिन है, परन्तु भगवान्के धाममें कल्पकी दाख नहीं गळती । यह वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता । उसी धामकी प्राप्तिके लिये कनेक सन्ध्याओंने अपना गुनपाट छोड़कर तपस्या करनेके उद्देश्यसे जंगलकी यात्रा की है । इसलिये मनुष्यको उनकी लीला-कथाका ही अग्रण करना चाहिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्याम्न्यद्वयसहस्रार्थां परमार्हत्यां

संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीकृष्णचरितानु-

वर्णन नाम नवविंशोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इति दशमस्कन्धोत्तरार्धः सम्पूर्णः

श्रीकृष्णार्पणमस्तु





श्रीराधाकृष्णम्भ्यां मया

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः



निरस्तनिस्त्रिषाञ्चानं शानाञ्चानवितुषणम् ।
पूषानन्द किमपि तथीलरत्नमहं भजे ॥



परमवामनमनक पूजकी शौकी

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

यदुपदिष्टं श्रुत्वा पार्थिवः

श्रीपादरायणिलया

कृत्वा त्रैलोक्यं कृष्ण सरामो यदुभिर्भूत ।
युष्मद्वतारयद् भारं त्रविष्टं जनयन् कलिम् ॥ १ ॥

यश्चापिता सुबहु पाण्डुमुता सपत्नं

दृष्ट्वाल्लनकचप्रहणादिभिस्तान् ।

कृत्वा निमित्तमितरतरतु समतान्

इत्यानृपान् निगृहत् क्षितिभारमीश ॥ २ ॥

भृभागाव्रतना यदुभिरस्त

शुभं व्यस्राहुभिरचिन्तयन् प्रमथ ।

मन्त्रयन्तनु गताऽप्यगत इि भारं

यद् पात्रं हनमहा त्रिपुण्ड्रमास ॥ ३ ॥

नगान्यत पतिभरादस्य भयतः कथञ्चि

मन्त्रभयम् विभगात्तदनस्य निन्यम् ।

अनं यदे यदुष्टस्य विधाय यणु

मन्त्रस्य पदिमिर शान्तिर्बुधमिधान ॥ ४ ॥

ध्यामन्तुन भगवान् श्रीगुरुद्वयजा यद्वत इ—
परिच्छिन्ने ! भगवान् श्रीकृष्णाने उद्यमव्री तथा अन्य
यदुष्टस्योके साय मिच्छन् बहुनसे त्वोक्तं लेशर
विषा तथा करस्य और पाण्डवोमे भी नीप्र मार रान्
मथानेवाय रूपन्त प्रवृत्त पश्य उत्पन्न करक प्रभास्य
मार उत्तार दिष्ट ॥ १ ॥ करकोन रणरूण लूम,
नरह-नरहके अप्पनोसे तथा श्रौर्गीफ तदा गचने
चाणि त्वाचारोसे पाण्डवोस्य अत्पन्त क्षाधित रर ग्या
षा । उक्ती पाण्डवोस्ये निमित्त जनार भगवन् श्रीकृष्णान
गेनो कथोमे एकर हूए गजाओस्य मथ्य तय तार
इस प्रसर वृधोस्य भर हलस कर ग्यि ॥ २ ॥
तन वाहुवयमे मुचिन्त यदुष्टस्योक्तं दश दृष्टक
भर—गजा और उनस्य मनास्य रिताग करक प्रमथो-
क दश जनक विषय न हानिस्त भगवन् श्रीकृष्णान
विचार ग्यि रि गरगदिस वृधस्य नर हूए न
वानय भयस्तुत मरी र्मिस र्मन्तर दूर नगी दृष्टा
स्वोक्ति रिताग वाद् विमर नगी दम रर नरन ॥
यदुष्टाग जन्म वृधोस्य विपन्न ॥ ३ ॥ यद् न मर
रति द जेत दृष्टी नई जन न ररि
रिन्त इनरक करण र हूए ॥ ४ ॥ ॥ ॥ ॥
रिन्त रर र्मिसे भी र्मिसे रिन्त दम रर रर
नदी द मर ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
अन्ति कस्तन इस यदुष्टाने न तत्तय रर रर
ररक रर र्मि दम कर नईए और इसक रर रर

एवं व्यवसितो राघवन् सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।

आपव्याजेन विप्राणां मज्जहे स्वकुलं विभु ॥ ५ ॥

स्वमृत्या लोकलावप्यनिर्मुक्त्वा लोचन नृणाम् ।

मीमिक्षां सस्तां चित् पदैस्तानीश्वतां क्रिया ॥ ६ ॥

आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोक वित्त्य ब्रह्मसानु कौ ।

तमोऽनया तस्मिन्तीत्यगात् स्व पदमीश्वरः ॥ ७ ॥

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं ब्रह्मापसेविनाम् ।

विप्रशप्त कथमभूद् ब्रह्मणीनां कृष्णवेषसाम् ॥ ८ ॥

यन्निमित्तः स वै क्षापो यादृशो द्वित्रसत्तम ।

कथमेकस्मिन्नां भेद एतत् सधं वदस्व मे ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

विभ्रष्ट धनुः सकलसुन्दरसंश्लेषं

कमापरन मुनि सुमन्त्रलमातृकम् ।

धामने जाउँगा ॥ ४ ॥ राजन् ! भगवान् सत्यसङ्कल्प और सत्यसङ्कल्प हैं । उन्होंने इस प्रकार अपने मम निश्चय कलके ब्राह्मणोंके शापक ध्वाने अपने ही कल संवार कर डाढ़ा, सम्बन्ध समेटकर अपने वाम से गये ॥ ५ ॥ परीक्षित ! भगवान् की वह मूर्ति क्रिष्णके सान्दयक तिरस्कार करनेवाली थी । उन्होंने वस्त्री सौन्दर्य-गाधुरीसे सबक नेत्र अपनी धोर चक्रीति ध धिये थे । उनकी धाणी, उनके उपदेश परम मनु दिव्यतिदिव्य थे । उनके द्वारा उन्हें स्मरण करनेवाले के चित्त उन्होंने छीन लिये थे । उनके चरणकमल निरु सुन्दर थे । जिसने उनके एक चरणचिह्नक भी स्पर्श कर लिया, उसकी बहिर्मुखता दूर भाग गयी, वह कर्म प्रपञ्चसे ऊपर उठकर उनकी सेवा में आ गया । उन्होंने अनायास ही पृथ्वीमें अपनी कीर्तिक किन्न कर दिया, जिसका वषे-वड़े सुकवियोंने कभी ही सुन्दर भागमें वर्णन किया है । वह इसलिये कि मेरे कले जानेके बाद खोग मेरी इस कीर्तिक गान, भवम और स्मरण करके इस अज्ञानरूप अन्धकारसे सुगमता पर हाजरी । इसके बाद परमेश्वरशाही भगवान् श्रीकृष्णने अपने वामको प्रणय किया ॥ ६-७ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—भावन ! यहुकी व ब्रह्मणमच्छ थे । उनमें कभी उदारता भी थी और वे अपने कुछबुद्धोंकी नित्य-निरन्तर सेवा करनेवाले थे । सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनका निच भगवान् श्रीकृष्णमें आया रहता था कि उनसे ब्रह्मणोंक अपराध कैसे बन गया ? और क्यों ब्राह्मणोंने उन्हें शाप दिया ? ॥ ८ ॥ भगवान् के परम प्रेमी विप्रवर ! उस क्षण कारण क्या था तथा क्या स्वरूप था ? समस्त मनु ब्रह्मणोंक आत्मा, स्वामी और श्रेष्ठतम एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे, फिर उनमें क्या कस्ते हुई ? इसी छिप्ते देखें तो ये सब श्रुति वद्वैतदर्शां थे, फिर उनकी ऐसी भेददृष्टि कैसे हुई ? यह सब आप क्या परके मुझे बतलाइये ॥ ९ ॥

श्रीशुकद्वयजीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने यह धर्मर धारण करके जिसमें सपूर्ण सुन्दर पराबोंन सन्निधाय था (नेत्रोंमें युगनयन, कन्धोंमें सिद्धस्थल, पदोंमें कज्जि-कर, चरणोंमें कमल आदिभय निवासण ।) पृथ्वीमें मन्त्रध्वज्य करवृष्णकारी कर्मोंक आचरण किया ।

आस्वाय धाम रममाण उदारकीर्ति*

सहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशय ॥१०॥

कमाणि पुष्पनिवहानि सुमङ्गलानि

गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।

कालात्मना निवन्ता यदुदवगह

पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टा ॥११॥

विभ्रामिग्रोऽसितः कम्बो दुर्वासा मृगुरक्तिरा ।

कम्पपो वामदधोऽध्विर्वमिष्टो नारदादय ॥१२॥

क्रीडन्तस्तापुपन्नस्य कुमारो यदुनन्दना ।

उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥१३॥

ते वेपयित्वा स्त्रीवर्षं भाम्य जाम्बवतीसुतम् ।

यथा पृच्छति वो विभ्रा अन्तर्वत्न्यसितेषुणा ॥१४॥

प्रभुं विलज्जती माधवत् प्रभूतामोषदक्षनाः ।

प्रसीप्यन्ती पुत्रकामा किंन्वित् सञ्जनमिष्यति ॥१५॥

एवं प्रलभ्या मुनयस्तान्पुः कुपिता नृप ।

जनमिष्यति धा मन्दा मुमलं कुलनाश्रनम् ॥१६॥

तच्छृण्वा तेऽसिसन्त्रन्ता विमुच्य महादादम् ।

साम्बस्य ददगुलमिन् मुसलं सत्त्वयस्ययम् ॥१७॥

किं कृतं मन्दभाग्यनः किं वदिष्यन्ति नो जना ।

वे पूजकम् प्रभु शरवणधामने रह्यर श्रीवा करते रहे और उन्होंने अपनी उदार कीर्ति की स्मृता की । (जो कीर्ति स्वयं अपने आश्रय तकम्भ गान कर सकें यह उदार है ।) अन्तमें श्रीहरिन् अपन पुत्रक संहार— उससंसारकी दृष्टा की, क्योंकि अब पृथ्वीका भार उतरनमें इतना ही कार्य शेष रह गया था ॥ १० ॥ भगवान् श्रीकृष्णन ऐसे परम मङ्गलमय और पुष्प-प्राप्य कम क्रिये, जिनका गान करनेवाले अगोंके सारे कलिमल नष्ट हो जाते हैं । अब भगवान् श्रीकृष्ण महाराज उससेनकी रत्नधानी शरवणपुरीमें बसुदेवजीके घर यान्हीं का संहार करनेके स्थित करल्लूपसे ही निवस कर रहे थे । उस समय उनके विदा कर देनेपर—विभ्रामित्र, अस्ति, कम्प, दुर्वासा, मृग, अक्षिरा, कम्प, वामदध, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि बड़-बड़ ऋषि शरवणक पास ही पिण्डारकक्षेत्रमें जाकर निवास करने लगे थे ॥ ११ १२ ॥

एक दिन यदुबध्मक कुछ उदय्य कुमार खल्ले-खल्ले उनके पास जा निकल । उन्होंने धनवती नक्षत्रासे उनके चरणोंमें प्रणाम करके प्रसन्न किया ॥ १३ ॥ वे जाम्बवतीनन्दन साम्बस्य कीक वेपमें सजाकर ले गये और कहने लगे, आश्रयों ! यह कन्नराय औखेवासी सुन्दरी गर्भकरी है । यह आपसे एक बात कहना चाहती है । परन्तु नयं पूछनेमें सकुचाती है । आपलोगोंका ज्ञान अमेक—जवाब है, आप सर्वज्ञ हैं । इसे पुत्रवत् बड़ी अलसा है और अब प्रसवका समय निकट आ गया है । आपकाग बताइये, यह कत्य बन्गी या पुत्र ? ॥ १४ १५ ॥ परीक्षित ' जब उन कुमारोंने इस प्रश्नपर उन ऋषि-मुनियोंके बोला दना बाधा, तब वे भगवत्परणासे कोपित हो उठे । उन्होंने कहा— ' मूर्खों ! यह एक ऐसा मूख बड़ा करणी, जो मुझारे मुख्य नाश करनवाया होगा ॥ १६ ॥ मुनियोंकी यह बात सुनकर वे आश्चर्य बहुत ही उर गये । उन्होंने तुरंत सम्बन्ध देन खालकर देख ता सचमुच उसमें एक ग्रहका मूख मिल्य ॥ १७ ॥ अब ता वे फलान लगे और कहने लगे— ' हम बड़े अभाग्य हैं । ' तब हमसंगीने

इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥

तद्योपनीय सदसि परिम्लानमुसभिष ।

रज्ज् आवदयाज्जङ्घु सवयादधसभिधौ ॥१९॥

भुन्वामोर्धं विप्रशार्पं द्यूता च मुसलं नृप ।

विमिता भयसन्त्रस्ता वभूधुद्धारकौकस ॥२०॥

तच्छूर्णयित्वा मुसलं यदुराज स आहुक ।

समुद्रसलिले प्रास्यन्ल्लोहं चास्वावशेषितम् ॥२१॥

कश्मिन्मत्स्योऽग्रसीन्लोहं चूर्णानि तरलैस्तत ।

उत्तमानानि घेलायां लभान्यासन् किलैरकाः ॥२२॥

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यधनैर्जालेनान्यैः सहाम्रिषे ।

तस्योत्तरगत लाहं ॥ शन्य लुम्बकोऽकरोत् ॥२३॥

भगवान्प्राप्तमवार्थं श्वराऽपि तदन्यथा ।

कन्तु नैच्छद् विप्रशार्पं कालरूप्यन्वमोदत् ॥२४॥

यह नया अनर्थ कर बाध्य । अब ध्येय हमें क्या करेंगे । इस प्रकरण वे बहुत ही धरारा गये तथा मुसल लेकर अपने निवासस्थानमें गये ॥ १८ ॥ उस समय उनका चेहरे पीके पड़ गये थे । मुख कुम्हछा गये थे । उन्होंने मरी समझमें सब यादोंके सामने ले जाकर वह मुसल रख दिया और राजा उत्प्रेमसे सारी करना कह सुनाया ॥ १९ ॥ राजन् ! अब सब लोगोंने प्रार्थनाके शपथकी बात सुनी और अपनी आँखोंसे उस मुसलमें देखा, तब सबके-सब हारकाजारी विस्मित और भयभीत हो गये, क्योंकि वे जानते थे कि प्रार्थनाका शपथ करना झूठ नहीं होता ॥ २० ॥ यदुराज उत्प्रेमसे उस मुसलको चूर-चूर करा बाध्य और उस चूरे तथा छोटे-कटे हुए छोटे टुकड़ोंको समुद्रमें फेंका पिया । (इसका सम्बन्धमें उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कोई सम्बन्ध न थी, ऐसी ही उनकी प्रेरणा थी) ॥ २१ ॥

परिधित् । उस बाहेके टुकड़ोंको एक मट्टी निगत गयी और चूर तर्जोंके साथ चूर-चूरकर समुद्रके किनारे आ लगा । वह पाँच दिनोंमें एक (बिना गाँठरी एक घास) के रूपमें वग आया ॥ २२ ॥ मछली मारने-वाले मछलीमें समुद्रमें दूसरी मछलियोंके सब उस मछलीको भी एकत्र किया । उसके फेंके जो बाहेर टुकड़ा था, उसको जरा नामक बंधने अपने बन्धन नोकमें छद्म किया ॥ २३ ॥ भगवान् सब कुछ जानते थे । व इस शपथमें उष्ट भी सकते थे । किन्तु उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा । कारणमर्थी प्रमत्त प्राणोंके अप्रत्यक्ष अनुमोदन ही रिया ॥ २४ ॥

इति भीमद्वागवत महापुराण पारमहंस्यो संहितायामग्रांशसप्तमे प्रपञ्चोऽध्यायः ॥ १

अथ द्वितीयोऽध्यायः

पशुपतीक पास भीमरूपीका आना और उन्हें राजा जनक तथा गोपनीभरौच्य संपाद मुत्तम

भीमद उगाध

भीमरूपीका कहत है—मुत्तम

मापिन्दुवृग्गुमापां दासतयां कुरुदद ।

नागरक मनमें भगवान् श्रीकृष्णकी तानिनिमि खनी वरी प्रपञ्च दी । इसलिये । भीमरूपी निज कुरुदद

अहं किल पुरानन्तं प्रजाधा मृवि मुक्तिदम् ।

अपूज्य न माध्वाय मोहिता देवमात्मया ॥ ८ ॥

यथा विचित्रध्वसनाद् भवद्विषिष्यतोभयात् ।

मुच्यम सखसंवादा तथा न शाधि सुयव ॥ ९ ॥

गीतुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रभो वसुदेवन धीमता ।

प्रीतस्तमाह त्वर्षिर्देव संसारितो गुणै ॥ १० ॥

नारद उवाच

सम्पगतवद् व्यवसितं भवता सात्वतपथ ।

यद् पृच्छसे भागवतान् धर्मास्त्वं विश्वभाषनान् ॥ ११ ॥

श्रुतोऽनुपठितो प्यत आरतो बानुमोदित ।

मया पुनाति सद्धर्मो देवविश्वदुहाऽपि हि ॥ १२ ॥

त्वया परमकल्याण पुण्यभयवर्णकीर्तन ।

स्मारितो भगवानय दशो नारदगणो मम ॥ १३ ॥

अथाप्युदाहरन्तीममितिहाम् पुरातनम् ।

आर्यभागां च सवार्दं विददस्य महान्मन ॥ १४ ॥

प्रियव्रतो नामसुतो मना स्वायम्भुवस य ।

तस्याप्रीध्रमता नाभिश्चपभन्तस्तुत स्मृत ॥ १५ ॥

तमाहुवामुदधां न माध्वमविबधया ।

संसारसे मुक्त हो जाय ॥ ७ ॥ पहले जन्ममें मेने मुक्ति देनेवाले भगवान्की आराधना तो की थी, परन्तु इसमें नहीं कि मुक्त मुक्ति मिले। मेरा आराधनाका उद्देश्य था कि वे मुझे पुनर्जन्ममें प्राप्त हों। उस सम्म में भगवान्की लीजसे मुक्त हो रहा था ॥ ८ ॥ सुक्त! अब जब मुझे ऐसा उपदेश मिलिये, जिससे मैं इस जन्म-मृत्युरूप भयावह संसारसे—जिसमें दुःख ही सुख की स्थिति और मोहक रूप धारण करके सामन जात हैं—जन्म-पास ही पार हो जाऊँ ॥ ९ ॥

श्री-गुरुदेवजी कहते हैं—राजन्! बुद्धिमान् कुरुदेवजीने भगवान्के स्वरूप और गुण आदिक भगवान्के अभिप्रायसे ही यह प्रश्न किया था। देवर्षि नारद उनका प्रश्न सुनकर भगवान्के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणोंके स्मरणमें तन्मय हो गये और प्रेम एवं वलनमें भरकर वसुदेवजीसे बोले ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—यदुर्वंशदिराममे ! तुम्हारा यह निश्चय बहुत ही सुन्दर है, क्योंकि यह भगवान् के सम्बन्धमें है, जो सारे विश्वको जीवन-दान देनेवाला है। पवित्र करनेवाला है ॥ ११ ॥ कुरुदेवजी ! यह भगवान्-धर्म एक पक्षी कस्तु है, जिसे बानोंसे सुनने, बर्णसे उच्चारण करने, लिखसे स्मरण करने, हृदयसे स्वीकार करने या कोइ इसका पाठन करने जा रहा हो वे उसका अनुमोदन करनेसे ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है—चाहे वह भगवान्का एक सारे संस्कार बोधी ही क्यों न हो ॥ १२ ॥ विनक गुण, स्वीय और नम आदिक ध्वन तथा कीर्तन पत्तिको भी पठन करनेका है, ठाही परम कल्याणस्वरूप मेरे आराध्यदेव भगवान् नारायणका तुमने आज मुझ स्मरण कराया है ॥ १३ ॥ वसुदेवजी ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है, 'सक सम्बन्धमें सत पुरुष एक प्राचीन इतिहास कहा करत हैं। यह इतिहास है—'श्रमम्' पुत्र नौ योगीश्वरों और गुरुगुरु निदहस्य शुभ सत्य ॥ १४ ॥ तुम जानत हो कि 'स्वायम्भुव' मनुके एक प्रसिद्ध पुत्र थे प्रियव्रत । प्रियव्रतक आग्नीध्र, आग्नीध्रक नाभि और नाभिक पुत्र हुए श्रमम् ॥ १५ ॥ शायें उनमें भगवान् वसुदेव का अंश कहा है। मोक्षधर्मका उपदेश करनेक लिये उन्होंने

अथतीण सुवशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारागम् ॥१६॥

तेषां वै भरता ज्येष्ठो नारायणपरायण ।

विन्यातं वपमसद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥१७॥

स युक्तभागा त्यक्तवमा निर्गतस्तपसा हरिम् ।

उपासीनस्तत्पत्नीं लेभे वै जन्मभिक्षिणि ॥१८॥

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्वतः ।

कर्त्तव्यप्रणतार एकाशीतिर्द्विबातय ॥१९॥

नवाभवन् महाभागा मुनयो क्षर्षद्वेसिन ।

भ्रमणा वातरक्षना आत्मविधाविश्रारता ॥२०॥

कविहरिन्तरिक्ष प्रबुद्ध पिप्पलायन ।

आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलभ्रमस करभाजन ॥२१॥

त एतं भगवद्रूपं विश्व सदसदामकम् ।

आत्मनोऽव्यतिरक्ता पश्यन्तो व्यचरन् महीम् ॥२२॥

अध्याहृतैस्तपः सुरसिद्धसाय

गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।

युक्ताभरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-

विधावरद्विजगवां सुपनानि क्रमम् ॥२३॥

। एकदा निम मध्रमुपश्रमुषष्टुष्या ।

वेतायमानमृषिभिरजनाम महामन ॥२४॥

अन् दृष्टान्नयसंकाशान् महाभागवतान् नृप ।

पञ्चमानाज्जनया विप्राः सव एवापतयिन् ॥२५॥

अक्षयार प्रवृणु कियत् यः । उनके सौ पुत्र थे और सव-
क-सव बंदेके पारदर्शी विद्वान् थे ॥ १६ ॥ उनमें
हजसे बड़ थे राजर्षि भरत । वे भगवान् नारायणक
वस प्रभू भक्त थे । उन्होंने नामसे यह मुनिवृणु, जो

बहल 'अजनामध्र' कह्यता था, 'पारातप' कह्यता ।
यह भारतवर्ष ही एक अत्यधिक स्थान है ॥ १७ ॥

राजर्षि भरतने सारी पृथ्वीका सम्भोग किया, परन्तु
अन्तमें इसे छोड़कर वनमें चले गये । वहाँ उन्होंने

उपस्थाक द्वारा भगवान्की उपासना की और तीन जन्मोंमें
व भगवान्को प्राप्त हुए ॥ १८ ॥ भगवान् आपनदेव-
कीक रूप निर्यानव पुत्रोंमें नौ पुत्र तो इस भारतवर्षक

सब आर स्थित नौ ग्रंथोंके अविष्टि हुए और इन्याही
पुत्र कम्मण्डक रक्षिता ब्रह्मण हो गये ॥ १९ ॥

शेष नौ सन्यासी हो गये । वे बड़े ही भागवान् थे ।
उन्होंने आत्मविधाके सम्पादनमें बड़ा परिश्रम किया था

और वास्तवमें वे उसमें बड़े निपुण थे । वे प्रायः
दिग्भ्रमर हो रहते थे और अधिकारियोंका परमाप-यस्तुका

उपदेश किया करते थे । उनके नाम थे—कवि, हरि,
अन्तरिक्ष प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिक, भ्रमस

और करभाजन ॥ २०-२१ ॥ वे इस कथ-कारण और
न्यक्त-अन्यक्त भावद्वारा जगत्का अपने आन्धसे अमिल

अनुभव करते हुए पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करत
थे ॥ २२ ॥ उनके छिपे कहीं भी रुक-टोक न थी ।

वे जहाँ चाहते, चल जाते । एकदा सिद्ध, सुष्य,
गन्धर्व यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नर्मोके लोकमें तथा

मुनि, चारण, सूक्तार्थ, विद्यावर, ब्रह्मण और गौओंक
म्यानमें वे व्यापृत विचरते थे । कमुदवती । वे सब-
के-सब जीवन्मुक्त थे ॥ २३ ॥

एक बारही बात है, इस अजनाम (भारत) कर्मों
विह्वलान् महात्मा निमि चढ़-चढ़ श्रमियोंके द्वारा एक

महान् पत्र बना रहे थे । श्रमोंक नौ यामीधर वृष्टि-
विचरण करते हुए उनक यत्रमें जा पहुँचे ॥ २४ ॥

यमुदवती । ये यामीधर भगवान्क परन प्रभा भक्त और
मृग्य मनन तेजस्वी थे । उन्हें अपने राजा निमि

आइन्दवीय आग्नि मृगमान् अग्नि और अवित्र अग्नि-
ब्रह्मण सय-क-सव उनक स्वागतमें लड़ हा गये ॥ २५ ॥

विदेहस्तानभिप्रत्य नारायणपरामणान् ।

प्रीतः सम्पूजयाञ्चके आसनम्वान् यथाहंतः ॥ २६ ॥

तान् रोचमानान् स्वरुषा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव ।

पप्रच्छ परमप्रीत प्रभवावनतो नृपः ॥ २७ ॥

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः सत्सत्पार्षदान् वो मधुद्विपः ।

विष्णोर्मूर्तानि ओम्नां पावनस्य वरन्ति हि ॥ २८ ॥

दुर्लभो मालुपो दहो देहिनां क्षणभङ्गुर ।

सत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदम्भनम् ॥ २९ ॥

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघा ।

मंसारेऽस्मिन् क्षणाधोऽपि सत्सत् शेषधिर्नृणाम् ३०

धर्मान् भगवतान् ब्रूत यदि न श्रुतये क्षमम् ।

यै प्रमत्त प्रपन्नास्य दत्सत्स्यात्मानमप्यवः ॥ ३१ ॥

भीमारद उवाच

पर्वते निमिना पृष्टा वसुदेव महाशमा ।

प्रतिपूज्याश्रुवन् प्रीत्या ससदस्वर्षिर्बन्धुपम् ॥ ३२ ॥

कविठ्ठाच

मन्येऽश्रुतमिदमप्यमध्युतस

पद्माम्बुजोपसदनमत्र नित्यम् ।

विदेहराज निमिने उन्हें भगवान् के परम प्रमी भक्त जानकर
मयायोग्य आसनोपर बैठाया और प्रेम तथा आनन्दसे
भरकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ २६ ॥ वे नवों
योगीश्वर अपने अंतर्मुखी वदन्तिसे इस प्रकार चम्क रहे
थे, मानो साक्षात् ब्रह्मजीके पुत्र सत्त्वदि मुनीश्वर ही
हों ! राजा निमिने निनपसे शुक्रवत् परम प्रेमके स्रव
उत्तसे प्रश्न किया ॥ २७ ॥

विदेहराज निमिने कहा—भगवन् ! मैं ऐसा समझता
हूँ कि आपजैसे मनुसुदन भगवान् के पार्षद ही हैं
क्योंकि भगवान् के पार्षद संसारी प्राप्तिपथोंको पवित्र करनेके
लिये निचरण किया करते हैं ॥ २८ ॥ जीवोंके लिये
मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना दुष्कर्म है । यदि यह प्राप्त
भी हो जाता है तो प्रसिद्ध मनुष्यका मय स्वरूप स्वर
रहता है ; क्योंकि यह क्षणमङ्गुर है । इसलिये अनिश्चित
मनुष्य-जीवनमें भगवान् के प्यारे और उनके प्यार करने-
वाले भक्तजनोंका, सत्ताका दर्शन तो और भी दुर्लभ
है ॥ २९ ॥ इसलिये त्रिलोकसाकन महाशयों ! हम
आपजैसेसे यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याणका
आरूप क्या है ? और उसका साधन क्या है ? इस सत्सत्से
आपके क्षणका सत्सत् भी मनुष्योंके लिये फल निमि
है ॥ ३० ॥ योगीश्वरो ! यदि हम सुननेके अविकारी
हों तो आप क्या करके भगवन्-धर्मोका उपदेश कीजिये,
क्योंकि उनसे अन्यथा विकरसे उचित, एकस माकन
श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और उन धर्माका प्राप्त करने-
वाले शरणागत भक्तोंको अपने-आप तत्काल दान न
करते हैं ॥ ३१ ॥

वैलर्वि नारायणीने कहा—वसुदेवजी ! जब राजा
निमिने उन भगवत्प्रेमी संतोंसे यह प्रश्न किया, तब उन
जोगीनि पक्ष प्रमत्तसे उनका प्यार उनके प्रभक्त नमस्कार
किया और सन्त्य तथा श्रुतिजोंके साथ बैठे हुए राजा
निमिसे बोले ॥ ३२ ॥

पहले उन भी योगीधर्मोंमेंसे कविजीने कहा—
राजन् ! भक्तजनोंके हृदयसे कभी दूर न हानेवाले
अप्युक्त भगवान् के चरणोंकी नित्य निरन्तर उपासना ही
इस संसारमें परम कल्याण—आत्यन्तिक क्षेम है और

उद्दिष्टपुद्गेरमदात्मभावात्

विद्यात्मना यत्र निवर्तते भी ॥३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया आत्मलम्बये ।

अञ्जः पुसामविदुषां विद्धि भगवतान् हि तान् ॥३४॥

यानास्यास्य नरो राजन् न प्रमाद्यत् कर्हिचित् ।

धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्तलेभ्य पतेदिह ॥३५॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा

पुद्गलाऽऽत्मना बालुसूतस्वभावात् ।

करोति यद् यत् सकलं परसै

नारायणायेति समर्पयेच्च ॥३६॥

भय द्वितीयाभिनिवेशत सा-

दीयादपतस्य विपर्ययोऽस्मृति ।

तन्माययातो बुध आभनेष

भक्त्यर्कयेष्टं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि दया

प्यातुर्धिया भ्रममनोरथा यथा ।

यत् क्रममकृत्यविकृत्यक मनो

पूषा निरुन्ध्यादभयं तत स्यात् ॥३८॥

सर्वथा मय गूढ्य है, ऐसा मेरा निश्चित मत है । देख, गेह आदि सुख एवं असत् पदार्थोंमें कईता एवं ममता ॥ ३३ ॥
जानेके कारण जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति उद्दिष्ट हो रही है, उनका भय भी इस उपासनाका अनुष्ठान करनेपर शून्यता निश्चित हो जाता है ॥ ३३ ॥
मगवान् मोक्ष-मार्गमें अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय अथवा श्रीमुखसे बतलाये हैं, उन्हें ही 'भागवत-धर्म' समझो ॥ ३४ ॥ राजन् ! इन भागवतधर्मका अवलम्बन करके मनुष्य कभी किन्हींसे पीड़ित नहीं होता और नेत्र बंद करके दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जाकर भी न तो मार्गसे सञ्चित हो जाता है और न तो पतित—कर्मसे बद्ध हो जाता है ॥ ३५ ॥ (भागवतधर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका कर्म ही करे ।) यह शरीरसे, धामीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतसे स्वभावशरीर वा जो करे, वह सब परमपुरुष मगवान् नाशयणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे । (यही सरल-से-सरल, सीधा-सा भागवतधर्म है) ॥ ३६ ॥ ईश्वरसे विमुख पुरुषका उनकी मायासे अपने स्वरूपकी विलुप्ति हो जानी है और इस विलुप्तिसे ही मैं देख्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकारका भ्रम—विपर्यय हो जाता है । इस देह आदि अन्य वस्तुमें अभिनिवेश, तन्मयता होनेके कारण ही बुढ़ाया, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं । इसलिये अपने गुरुको ही आपण्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्य मलिक द्वारा उस ईश्वरका भजन करना चाहिये ॥ ३७ ॥
राजन् ! सब पड़ो तो मगवान्के अतिरिक्त, अस्माक अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं । परन्तु न होनेपर भी इसकी प्रतीति इसका चिन्तन करनेवाला उसका चिन्तनक कारण, उधर मन छानक कारण ही होती है—जैसे स्वप्नक समय स्वप्नदृशकी कल्पनासे अपना जाग्रत अवस्थामें नाना प्रकारके मनस्त्वोंमें एक चिच्छिन्ना ही सृष्टि गीतने लगती है । इसलिये विचारवान् पुरुषका चाहिये कि सामाजिक अर्थके सम्बन्धमें सद्गुण-निरूप्य करनेवाला मनका शोक द—यै कर न । पर, एसा करता ही उसे अभय पदकी, परमात्मकी प्राप्ति ॥

मृश्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे

जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।

गीतानि नामानि तदर्थकानि

गायन् विठञ्जो विश्वेदेवसङ्गः ॥३९॥

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या

ज्ज्ञानुरागो ह्रस्वचित्त उच्यते ।

इत्यथो रोदिति रौति गाय

त्युन्मादवन्तुत्यति लोकमात्र ॥४०॥

स वायुमग्निं सलिलं महीं च

ज्योतींषि सञ्चानि विश्वो ह्युमासीन् ।

सरित्समुद्रांश्च हरे शरीर

यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥

भक्तिं परेशानुभवो विरक्तिं

रन्यत्र चैव पिक एककालः ।

प्रपद्यमानस्य यथाभवत्सु

स्तुतिः पुष्टिं ध्रुवपापाऽनुषामम् ॥४२॥

इत्यन्युताङ्गं भजताऽनुषङ्गा

भक्तिविरक्तिमगवत्प्रबोधः ।

नाम्नी ॥३८॥ संसारमें भगवान्‌के जन्मकी और कीर्ती बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं । उनके सुनते रहना चाहिये । उन गुणों और लीलाओंका सारा दिखानेवाले भगवान्‌के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं । काव्य-संग्रहोंमें छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये । इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें व्यसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये ॥ ३९ ॥ जो इस प्रकार विभुसङ्ग भक्त-नियम से होता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे अनुराग, प्रेमका बहुत उग आता है । उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है । अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है । लोगोंकी मन्त्रताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है । और दम्भसे नहीं, समानसे ही मन्त्र-मन्त्र होकर कभी खिचखिलाकर हँसने लगता है तो कभी हँस-हँसकर रोने लगता है । कभी उन्हें सारे भगवान्‌के पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है । कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमसे अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिसनेके जिये चाल भी करने लगता है ॥ ४० ॥ राजन् । यह व्याकृश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, प्रह्लाद, प्राणी, दिशएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सबके-सब भगवान्‌के शरीर हैं । सभी रूपमें सब भगवान्‌के प्रकट हैं । ऐसा समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावे—भगवान्‌के प्रणाम करता है ॥ ४१ ॥ जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक प्राप्तके साथ ही पुष्टि (भूति अपना सुख), पुष्टि (जीवन्मुक्तिका सुख) और सुधानिपुष्टि—ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनक प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एकसाथ ही प्राप्ति होती जाती है ॥ ४२ ॥ राजन् । इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक कृति का भगवान्‌के कर-कर्मोंका भजन करता है, उसे भगवान्‌के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारक प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम

भवन्ति वै भागवतस्य राजं

स्तवः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

राजोवाच

अथ भागवतं श्रुत् यदमो यादयो नृणाम् ।

यथा चरति यद् भूते यैर्लिंगैर्मगवत्प्रियः ॥४४॥

हरिश्चाच

सर्वभूतेषु य पश्येद् भगवद्भावमात्मन ।

भूतानि भगवत्पातमन्येष भागवतोद्यमः ॥४५॥

इषर उदधीनेषु वालिशेषु द्विपत्सु च ।

प्रममैश्रीकुपापक्षा य करोति स मध्यमः ॥४६॥

अर्चायामेव हरये पूजा यः भद्रयहते ।

न तद्भक्त्यु चान्येषु स भक्त प्राकृत स्मृत ॥४७॥

गृहीत्वापान्त्रिपरंभात् या न द्रष्टि न हृष्यति ।

विष्णुमायाभिद पश्यन् स वै भागवतोद्यमः ॥४८॥

दहन्निवप्राजमनाधिपां या

बन्माप्सपद्मपतवकृष्णै

भागवान्के स्वरूपकी स्मृति—ये सब अक्षय ही प्राप्त होते हैं, वह भागवत ही जाता है और जब ये सब प्राप्त हो जाते हैं, तब वह सब परम शान्तिकर अनुभव करने लगता है ॥ ४३ ॥

राजा निमिने पूछ—योगीश्वर ! अब आप क्या करके भगवद्रूपका लक्षण वर्णन कीजिये । उसके क्या धर्म हैं ? और कैसा स्वरूप होता है ? वह मनुष्योंके साथ व्यवहार करते समय कैसा आचरण करता है ? क्या बोलता है ? और किन लक्षणोंके कारण भागवान्का पार होता है ? ॥ ४४ ॥

अब भौ योगीश्वरोंमेंसे दूसरे हरिजी पोद्म—राजन् ! आत्मस्वरूप भागवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे—निष्काररूपसे स्थित हैं । जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्त्वों ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भागवान्में ही आधेयरूपसे अथवा अप्यस्तम्भरूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमें भागवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकारका भिन्नका अनुभव है, ऐसी भिन्नकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भागवान्का परमप्रपञ्च उत्तम भागवत सम्प्रदाना चाहिये ॥४५॥ जो भागवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुखी और अज्ञानियोंपर कृपा तथा भागवान्से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिकर भागवत है ॥४६॥ और जो भागवान्का अर्धाभिप्रेत—मूर्ति आदिकी पूजा तो भद्रासे करता है, परन्तु भागवान्का भक्तों या दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा शुभ्रता नहीं करना, वह साधारण भगीश्वर भागवान् है ॥ ४७ ॥ जो मात्र-नत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है; परन्तु अपनी इष्टार्थक प्रतिकूल विषयोंसे इन नहीं करता और अनुकूल विषयोंक निम्नतर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहनी है कि यह सब हमारे भागवान्की माया है—यह पुरुष उत्तम भागवान् है ॥ ४८ ॥ संसारक यम हैं—जन्म-मरण, भय-यज्ञ, भय और मृणा । य प्रमत्ता नहीं, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का प्राप्त हात ही रहते हैं । जो पुरुष भागवान्की स्मृतिमें इतना लक्ष्य रहता है कि

ससारधर्मैरविमुक्तमान

स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥

न कामकर्मवीजानां यस्य येतसि सम्भव ।

वासुदेवैकनिलय स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।

सख्यतेऽस्मिन्माहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥

न यस्य स्वः पर इति विचेष्टात्मनि वा भिदा ।

सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुम्भ

स्मृतिरभितात्मसुरादिभिर्विमुम्यात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दा-

छ्वनिमिपार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिस्ता-

नस्तमणिचन्द्रिकया निरस्तत्वापे ।

हृदि कथमुपसीदतां पुनः स

प्रभवति चन्द्र इवोदितऽर्कतापः ॥५४॥

विस्तृजति हृदयं न यस्य साक्षा-

दूरितवशाभिहितोऽप्यधीषणाग्रः ।

प्रणयरसनया भूताङ्घ्रिपथ

स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

इनके बार-बार होते-जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, परामृत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है ॥४९॥ जिसके मनमें किय-योगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीच नासनाशोंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ॥ निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है ॥ ५० ॥ जिनका इस सरीसमें न तो सत्पुरुषमें जन्म, तपस्या आदि कर्मसे तथा न कर्मा, व्यसन एवं जातिसे ही धर्माभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्का प्यार है ॥ ५१ ॥ जो धन-सम्पत्ति वस्त्र शरीर आदिमें प्यार अपना है और यह परायण—'इस प्रकारका भेद-भाव नहीं रखता, समस्त पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता रहता है, समभाव रखता है तथा किसी भी कृता अपवा सङ्कल्पसे विक्षिप्त न होकर स्थित रहता है, वह भगवान्का उत्तम भक्त है ॥ ५२ ॥ रामन् ! बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने कर्त्तव्यकरणको भगवन्मन्य बनाते हुए बिल्हे हुए होते रहते हैं—भगवान्को ऐसे चरमकर्मसे बाधे क्षण, बाधे पक्षके क्षिये भी जो नहीं इच्छता, निरुत्तर उन चरमकी संतिधि और सेवामें ही सख्य रहता है; यहाँक कि कोई क्षय उसे त्रिभुवनकी राजभस्मी दे तो भी वह भगवत्सुखिका तार नहीं तोड़ता, उस राजभस्मीकी ओर प्यान ही नहीं देता; बही पुरुष शास्त्रमें भगवत्प वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५३ ॥ उस क्षीणको जलसरपर नृत्य-गतिसे मूर्ति-मूर्तिके पाद-निर्वास करनेवाले निखिल सौन्दर्य-माधुर्य निम्नि भगवान्को कर्णोंमें बाहुभि-नक्षत्री मणि-चन्द्रिकासे जिन धारणागत भक्तकी हृदयका मिरहजन्य सताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह फिर कैसे वा सकता है ऐसे चन्द्रोदय होनेपर सूर्यका तप नहीं छग सकता ॥५४॥ निश्चयतासे नामोधारण करनेपर भी सम्पूर्ण व्य-पशितों नष्ट कर देनेवाले क्षय भगवान् कीहिर जिसके हृदको क्षणभरके क्षिये भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उसने प्रेमी रस्तीसे उनके चरण-कर्ममें तो बाँध रख है, यस्तमें ऐसा पुरुष ही भगवान्को भक्तिमें प्रधान है ॥ ५५ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

माया मायासे पार होनेके उपाय तथा ब्रह्म और कमयोगका निरूपण

राजेशास

राजा निमिने पूछ—भगवन् ! सर्वसक्तिमान् परम-

कारण विष्णुभगवान्की माया बड़े-बड़े मायाविषयोंकी भी मोहित कर देती है, उसे कोई पहचान नहीं पाता; (और आप कहते हैं कि भक्त उसे देख सकता है ।)

अब जब मैं उस मायाका स्वरूप जानना चाहता हूँ, आपयोग क्या करके बतलावेंगे ॥ १ ॥ योगीश्वरो ! मैं एक मृत्युका शिकार मनुष्य हूँ । संसारके तब-तबके तापोंने मुझे बहुत दिनोंसे तपा रक्खा है । आपयोग जो मग्नत्वका रूप अमृतका पान करा रहे हैं, वह उन तापोंको मिटानेकी एकमात्र ओषधि है, इसलिये मैं आपयोगीकी इस वाणीका सेवन करते-करते तृप्त नहीं होता । आप कृपया और कहिये ॥ २ ॥

अन्तरिक्ष उवाच

अब तीसरे योगीश्वर अन्तरिक्षजीने कहा—राजन् ! (भगवान्की माया स्वरूप अनिक्वचीय है, इसलिये उसके कार्याके द्वारा ही उसका निरूपण होता है ।) आदिपुरुष परमार्थ जिस शक्तिसे सम्पूर्ण भूतोंके कारण बनते हैं और उनके विषय-भोग तथा मोक्षकी सिद्धिक लिये अपना अपने उपासकोंकी उत्कृष्ट सिद्धिके लिये अनिर्मित पञ्चभूतोंके द्वारा नाना प्रकारके देव, मनुष्य आदि शरीरोंकी सृष्टि करते हैं, उसीको 'माया' कहते हैं ॥ ३ ॥ इस प्रकार पञ्चभूतोंके द्वारा बने हुए प्राणि-शरीरोंमें उन्होंने अन्तर्यामी रूपसे प्रवेश किया और अपनेको ही पहले एक मनके रूपमें और इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दस रूपोंमें विभक्त कर दिया तथा उन्हींके द्वारा विनियोग भोग करना लगे ॥ ४ ॥ वह देहाभिमानी जीव अन्तर्यामीके द्वारा प्रकाशित इन्द्रियोंके द्वारा विनियोग भोग करता है और इस पञ्चभूतोंके द्वारा निर्मित शरीरको आत्मा—अपना स्वरूप मानकर उसीमें आसक्त हो जाता है । (यह भगवान्की माया है) ॥ ५ ॥ अब वह कर्मेन्द्रियोंसे सकाम कर्म करता है और उनका अनुसार गुण कर्मका फल सुख और अगुणकर्मका फल दुःख भोग करने लगता है और शरीरधारी होकर इस संसारमें मग्न

परस्व विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।

मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु न ॥ १ ॥

नानुवृण्वे जुषन् युष्मद्वचो हरिकणामृतम् ।

संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तथापमेयब्रह्म ॥ २ ॥

अन्तरिक्ष उवाच

परिभूतानि भूततमा महाभूतैर्महासुख ।

ससर्जोन्मावचान्माधः स्वमाश्रतमप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।

एकधा दसधाऽऽत्मानं विभज्यन्नुपते गुणान् ॥ ४ ॥

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रयोरितैः प्रसुः ।

मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥

कमाणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि दहमृत ।

तत्तन् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमसीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान् ।

आभूतसम्प्रदात् सर्गप्रलयावश्रुतेऽवशः ॥ ७ ॥

भातृपुत्रव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।

अनादिनिधन कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥

शतवर्षा अनादिर्निष्पत्त्युत्पन्ना शुचि ।

तत्कालोपचितोप्याकों लोकस्त्रीन् प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥

पातालतलमारम्य संकर्षणमुत्थानलः ।

दहन्नुर्ध्वशिलो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः ॥ १० ॥

सावर्तको मेघगणो वर्पति स शतं समा ।

धाराभिर्हिस्तहस्ताभिर्भाषते सलिले विराट् ॥ ११ ॥

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।

अव्यक्तं विश्वे ब्रह्म निरिधन इवानलः ॥ १२ ॥

वायुना हवगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।

सलिलं तद्वृत्तरस ज्योतिष्ठापोपकल्पत ॥ १३ ॥

हवरूप तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रतीयते ।

हवस्वशोऽवकाशेन वायुनभसि तीयते ॥ १४ ॥

कालात्मना हवगुण नभ आत्मनि तीयते ।

जगता है । यह भगवान्की माया है ॥ ६ ॥ इस प्रकार यह जीव ऐसी बनेक अमङ्गलमय कर्मकर्मोंको, उनके फलोंको प्राप्त होता है और भगवान्को प्रकल्पित विषय होकर जन्मके बाद मृत्यु और मृत्युके बाद अन्तः प्राप्त होता रहता है—यह भगवान्की माया है ॥ ७ ॥ अब पञ्चभूतोंके प्रकल्पित सम्यक् धाता है, तब अन्ति और अनन्त फल स्थूल तथा सूक्ष्म द्रव्य एवं गुणरूप इस समस्त व्यक्त सृष्टिके अव्यक्तकी ओर, उसके फल कारणकी ओर खींचता है—यह भगवान्की माया है ॥ ८ ॥ उस समय पृथ्वीपर जगत्तार सौ कर्तव्य भयङ्कर रूप पकता है, वर्षा बिल्कुल नहीं होती, प्रकल्पितकी शक्तिसे सूर्यकी उष्णता और भी बढ़ जाती है तथा वे लोको कोकोंको तपाने लगते हैं—यह भगवान्की माया है ॥ ९ ॥ उस समय सेवनग—सहर्षणके सुँइसे अन्तरी प्रकल्पित निकलती है और वायुकी प्रेरणासे वे अन्तः प्रकल्पित से जलाना आरम्भ करती हैं तथा और भी उँच-ऊँची होकर चारों ओर फैल जाती हैं—यह भगवान्की माया है ॥ १० ॥ इसके बाद प्रकल्पितकी सावर्तक मेघगण हाथीकी सूँइके समान मोटी-मोटी धारोंसे सौ कर्तव्य भरसता रहता है । उससे यह विराट् अन्तः अन्तः रूप जाता है—यह भगवान्की माया है ॥ ११ ॥ राजन् ! उस समय जैसे बिना ईंधनके क्या बुझ जाती है, वैसे ही विराट् पुरुष ब्रह्मा अपने ब्रह्माण्ड-शरीरको छोड़कर सूक्ष्मरूप अव्यक्तमें धीन हो जाते हैं—यह भगवान्की माया है ॥ १२ ॥ वायु पृथ्वीकी गन्ध खींच लेती है, जिससे वह उसके रूपमें हो जाती है और जब नहीं वायु उसके रसको खींच लेती है, तब वह जब अपना कारण अग्नि बन जाता है—यह भगवान्की माया है ॥ १३ ॥ अब अव्यक्त अग्निके रूप धीन लेता है, तब वह अग्नि वायुमें धीन हो जाती है और जब अवकाशरूप आकाश वायुकी स्पष्ट-शक्ति धीन लेता है, तब वह आकाशमें धीन हो जाता है—यह भगवान्की माया है ॥ १४ ॥ राजन् ! तदनन्तर कर्मरूप ईश आकाशके शब्द गुणको हरण कर लेता है जिससे वह तामस ब्रह्मरूपमें धीन हो जाता है । इन्द्रियों और सुखि राजस ब्रह्मरूपमें धीन होती है । मन सात्त्विक

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।

प्रविशन्ति बह्वहारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५॥

एषा माया भगवतः सर्गमित्यन्तकारिणी ।

विषणावर्णितासाभिः किं भूयः भोतुमिच्छसि ? ६ ।

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकुतस्त्वभि ।

वरन्त्यस्य स्थूलधियो मह्य इदमुत्पत्ताम् ॥१७॥

प्रभु उवाच

कामाप्सारममाणानां दुःखइत्यै मुखाय च ।

पश्चेत् पाद्विपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८॥

निस्पातिंश्च विचित्रं दुर्लभेनात्ममृत्पुना ।

गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीति माधित्वमलं ॥१९॥

एवं ताकं परं विद्यानयारं ह्यनमितम् ।

अहङ्कारसे स्वयम् देवताओंके साथ सात्विक अहङ्कारसे प्रवेश कर जाता है तथा अपने तीन प्रकारके कर्माणि साथ अहङ्कार महत्त्वमें छीन हो जाता है । महत्त्व प्रकृतिमें और प्रकृति ब्रह्ममें छीन होती है । फिर इसीके उल्टे क्रमसे सृष्टि होती है । यह भगवान्की माया है ॥ १५ ॥ यह सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाली त्रिगुणमयी माया है । इसका हमने आपसे वर्णन किया । अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ १६ ॥

राजा भिमिने पूछ—महर्षिजी । इस भगवान्की मायाको पार करना उन लोगोंके लिये तो बहुत ही कठिन है, जो अपने मनको बशमें नहीं कर पाये हैं । अब आप क्या करके यह बताइये कि जो लोग दरीर आदिमें कामसुखी रहते हैं तथा जिनकी सपना मोटी है, वे भी बनायास ही इसे कैसे पार कर सकते हैं ? ॥ १७ ॥

अब बीधे योगीश्वर प्रभुद्विजी बोले—राजन् ! बी-पुरुष-सम्बन्ध आदि कथनोंमें मैंने हुए सगरी मनुष्य सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये बड़े-बड़े कर्म करते रहते हैं । जो पुरुष मायाके पार जाना चाहता है, उसको विचार करना चाहिये कि उनके कर्मोंका फल किस प्रकार विभीषित होता जाता है । बसुके बदले दुःख पाते हैं और दुःख-निवृत्तिके स्थानपर दिनों-दिन दुःख बढ़ता ही जाता है ॥ १८ ॥ एक वनको ही लो । इससे दिन-पर-दिन दुःख बढ़ता ही है, इसको पाना भी कठिन है और यदि किसी प्रकार मित्र भी जाय तो आत्मके लिये तो यह मृत्युसम्बन्ध ही है । जो इसकी उल्लङ्घनामें पड़ जाता है, वह अपने-आपको मूढ़ जाता है । इसी प्रकार घर, पुत्र स्वयं-सम्बन्धी, पशु-धन आदि भी अल्प और नाशवान् ही हैं; यदि कोई इन्हें कुछ भी ल तो इनसे क्या सुख-शान्ति मिल सकती है ? ॥ १९ ॥ इसी प्रकार जो मनुष्य मायासे पार जाना चाहता है, उसे यह भी समझ लेना चाहिये कि मनके बाह्य प्राप्त होनेवाले धन—खजाने भी उसे ही नाशवान् हैं । क्योंकि इस लालची वस्तुओंके समान वे भी कुछ क्षमिन् कमकि क्षमिन् फलदायक हैं । यहाँ भी पृथीक अग्ने-वायु वायुओंके समान वायुवायेंसे होकर

सत्सुखासिद्धयश्च यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु श्रेय उच्यते ।

छान्दे परे च निष्णात ब्रह्मभ्युपगमाभयम् ॥२१॥

तत्र भागवतान् धर्मान् सिद्धेर्गुर्वर्त्मदैवत ।

अमाययानुवृत्त्या वैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदोहरि ॥२२॥

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।

दयां मैत्री प्रभयं च भूतेष्वद्या यथोचितम् ॥२३॥

शौचं तपस्तिथिषां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं इन्द्रसंश्रयो ॥२४॥

सर्वशत्रुमेघरत्नीषां कैवल्यमनिकेतताम् ।

विविक्तपीरसत्तनं संतोषं येन केनचित् ॥२५॥

भद्रां भागयते शास्त्रं निन्दामन्यत्र चापि हि ।

अपना लाग-डोंट रहती है, अधिक ऐश्वर्य और सुखमेंसे प्रति छिद्रान्वेषण तथा ईर्ष्या-श्रेष्ठा भाव रहता है, कम सुख और ऐश्वर्यबालोंके प्रति घृणा रहती है एवं कर्मोंका फल प्राप्त हो जानेपर वहाँसे पतन तो होता ही है । उसका नाश निश्चित है । नाशका मय वहाँ भी नहीं छूट पाता ॥ २० ॥ इसलिये जो परम कल्याणका निष्ठा हो, उसे गुरुदेवकी शरण लेनी चाहिये । गुरुदेव ऐसे हों, जो शास्त्र-वेदोंके पारदर्शी विद्वान् हों, किसीसे ठीक-ठीक समझा सकें, और साथ ही परब्रह्ममें परिनिष्ठ तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभवके द्वारा प्रत्यक्ष रहस्यकी बातोंको बता सकें । उनका विश्व श्रुत हो, व्यवहारके प्रपञ्चमें विशेष प्रवृत्त न हो ॥ २१ ॥ जिज्ञासुको चाहिये कि गुरुको ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने । उनकी मित्रता-भक्तसे सेवा करे और उनके पास रहकर भागवतकर्मकी—मायानुवृत्ति प्राप्त करनेवाले भक्तिमार्गके साधनोंकी क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे । इन्हीं साधनोंसे सर्वभूता एवं नक्तको अपने आत्माका दान करनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥ पाहले शरीर, सन्तान आदिमें मनकी बनासक्ति सीधे । फिर भगवान्के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—बड़ा सीधे । इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति पशुधर्म दण्ड, मैत्री और विनयकी निष्कण्ट भक्तसे शिक्षा ग्रहण करे ॥ २३ ॥ मिट्टी, बरछ आदिसे बाध शरीरकी पवित्रता, उष्ण-कण्ट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता अपने धर्मका अनुष्ठान, सहमसक्ति, मैत्र, शास्त्र-सम्पत्ता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि इन्द्रोंमें हर्ष विषादसे रहित होना सीधे ॥ २४ ॥ सर्वत्र वर्षात् समस्त देश, कल और वस्तुओंमें चेतनरूपसे आत्मा और निष्कण्टरूपसे ईश्वरको देखना, एकत्र से एक पक्षी भेरा घर है—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ हो तो पवित्र कक्ष पहनना और त्यागी हो तो फटे-गुर्त पवित्र चिपड़े, जो कुछ प्रारम्भके अनुसार मित्र बतल उठीमें सन्तोष करना सीधे ॥ २५ ॥ भगवान्की प्राथमिक मार्ग बतलानेवाले शास्त्रोंमें भद्रा और दूसरे किसी भी शास्त्रकी मित्रता न करना, प्राणायामके द्वारा मनका मोनके द्वारा भागीका और वासनाहीनताका अभ्यास

मनोवाकर्मदण्डं च सत्यं श्रमदमाषपि ॥२६॥

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरनुसक्तकर्मणः ।

जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥

इष्टं दत्तं तपो जप्यं वृत्तं यथात्मनः प्रियम् ।

दारान्सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् २८

एष कृष्णात्मनाषेष्टु मनुष्येषु च सौहृदम् ।

परिष्कारं चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥

परस्परानुकथनं पालनं भगवद्यथः ।

मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निश्चिन्मिथ आरमनः ॥३०॥

सारन्तं सारयन्तश्च मिथाऽपौषहरं हरिम् ।

भक्त्या सज्जातया भक्त्या चित्रन्तुतुलकां सनुम् ३१

कश्चिद् रुदन्त्यन्तुतुलकान् कश्चि

इत्यन्ति नन्दन्ति वदन्त्यन्ताक्रियः ।

कर्मोंका समय करना, सत्य बोलना, इन्द्रियोंको अपने-अपने गोरुओंमें स्थिर रखना और मनको कहीं बाहर न जाने देना सीखे ॥ २६ ॥ यवन् ! मगवान्की व्रीहार्थें बहुत हैं । उनके जन्म-कर्म और गुण दिव्य हैं । उन्होंनेका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब मगवान्के लिये करना सीखे ॥ २७ ॥ यज्ञ, दान, तप, अथवा जप, सदाचारकर्म पावन और भी, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो—सब-कुछ-सब मगवान्के कर्णोंमें निवेदन करना, उन्हें सौंप देना सीखे ॥ २८ ॥ जिन संत पुरुषोंने सच्चिदानन्दस्वरूप मगवान् श्रीकृष्णका अपने आत्मा और स्नायीके रूपमें साक्षात्कार कर लिया हो, उनसे प्रेम और स्पर्श, जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणिपौंकी सेवा, विशेष करके मनुष्योंकी, मनुष्योंमें भी प्रत्येकद्वी सञ्चरोंकी और उनमें भी मगवान्की संतोंकी करना सीखे ॥ २९ ॥ मगवान्के फल पावन यशके सम्बन्धमें ही एक-दूसरेसे बातचीत करना और इस प्रकारके साक्ष्योंका इफटे होकर आपसमें प्रेम करना, आपसमें सम्पुष्ट रहना और प्रपञ्चसे निवृत्त होकर आपसमें ही व्याप्यमिक्त क्षण्तिरा अनुभव करना सीखे ॥ ३० ॥ यवन् ! श्रीकृष्ण राधिकाशिशि पापोंको एक क्षणमें मरम कर देते हैं । सब उन्होंनेका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करावें । इस प्रकार साधन भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रमोदकेसे पुञ्जित-शरीर धारण करते हैं ॥ ३१ ॥ उनके हृदयमें वही विविक्षण स्थिति होती है । कर्म-कामी वे इस प्रकार चिन्ता परन लगते हैं कि अबतक मगवान् नहीं मिले, क्या करें, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे ? इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं तब कभी मगवान्की धीकारों सहित हाँ जानसे ऐसा दृक्कर कि परमेश्वर-शायी मगवान् गारिपोंक उरसे टिप डूँ, स्थिरमिन्कर हूँसन लगते हैं । कभी-कभी उनके प्रेम और दानकी अनुभूति आनन्दमय हो आती है तो कभी साक्षात्

नृत्यन्ति

गायन्त्यनुशीलयन्त्यर्चं

भवन्ति तूष्णीं परमेस्य निर्धृताः ॥३२॥

इति भागवतान् धर्मान् सिद्ध्यन् भक्त्या सदुत्थया।

नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥३३॥

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।

निष्ठामर्ह्य नो वक्तुं सूर्यं हि ब्रह्मविद्यमाः ॥३४॥

पिप्पलायन उवाच

स्वित्पुद्गलप्रलयहेतुरहेतुरस्य

यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सव्यं पश्चिम ।

देहेन्द्रियास्तुब्धवानि धरन्ति येन

सञ्जीवितानि तद्वेषेहि परं नरेन्द्र ॥३५॥

नैतन्मनो विधत्ति वस्तुतः शङ्करात्मा

प्राणेन्द्रियाणि च यथानुक्रममर्षिणः स्वाः ।

भाषने स्थित होकर भगवन् के साथ बातचीत करने लगते हैं । कभी मानो उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणों का गान छेड़ देते हैं और कभी नाच-नाचकर उन्हें रीझाने लगते हैं । कभी-कभी उन्हें बचने पास में पकड़ कर उधर-उधर हँकुरने लगते हैं तो कभी-कभी उनसे एक होकर, उनकी सन्निधि में स्थित होकर परम सत्त्व अनुभव करते और चुप हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ रामन् । जो इस प्रकार भागवतधर्म की शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-महिम्ना प्राप्ति होती जाती है और वह भगवन् नामधेय के परायण होकर उस माया को कदापि ही पार कर जाता है, जिसके पीछे निकलना बहुत ही कठिन है ॥ ३३ ॥

राजा भिमिसे पूछा—महर्षिसे ! आपसे परमस्व-का वास्तविक स्वरूप जानने के लिये सर्वश्रेष्ठ है । इससे मुझे यह वस्तुवाक्य कि जिस परमस्व परमात्मका नामधेय नामसे वर्णन किया जाता है, उनका स्वरूप क्या है ? ॥ ३४ ॥

भव पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायन की ओर कहा—राजन् ! जो इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय निमित्त-कारण और उत्पादन-कारण दोनों ॥ ३४ ॥ है, वह यत्न भी है और बनाने वाला भी—परन्तु स्वयं करण रहित है, जो स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति-अवस्थाओं के उनके साक्षी के रूप में विद्यमान रहता है और उनमें अतिरिक्त समाधि में भी ओं-का-स्यो एकल होता है जिसकी सत्तासे ही सत्तावान् होकर शरीर, इन्द्रिय, मन और अन्तःकरण अपना-अपना कर्म करने में समर्थ होते हैं, उसी परम स्वयं वस्तु को आप 'प्राणम' समझिये ॥ ३५ ॥ जैसे चिमगाँवियों में तो अग्नि को प्रकाशित ही कर सकते हैं और न जल ही सकती हैं, वैसे ही इस परमात्मने आत्मस्वरूप में तो मन की गति है और न शरीर की नेत्र उसे देख नहीं सकते और बुद्धि सोच नहीं सकती, प्राण और इन्द्रियाँ तो उसके पास तक नहीं पहुँच पाती । नेत्रि-नेत्रि—क्या ही क्षुत्तियों के शरीर भी वह यह है—इस रूप में सत्ता वर्णन नहीं करते, बल्कि

सुन्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-

मयोक्तमाह यद्यते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥

सर्वं रजस्तम इति त्रिवेकमाहौ

सर्वं महानहमिति प्रबदन्ति जीवम् ।

ज्ञानक्रियार्थफलरूपतपोरुद्धति

ब्रह्मैव भाति सदसत्तपोः पर यत् ॥३७॥

नात्मा ज्ञान न मरिष्यति नैधतेऽसौ

न क्षीयते सर्वनविद् व्यभिचारिणां हि ।

सर्वत्र स्रग्धनपाप्युपलब्धिभार्य

प्राणो यथेन्द्रियमलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु

प्राणो हि जीवमुपचानति तत्र तत्र ।

१ निपनविद् व्यभिचारिणा ।

उसको बोध करनेवाले जितने भी साधन हैं, उनका निषेध करते तात्पर्यरूपसे अपना मूल—निषेधका मूल क्या देते हैं । क्योंकि यदि निषेधके आधारकी, आत्माकी सत्ता न हो तो निषेध कौन कर रहा है, निषेधकी इति किसमें है—इन प्रश्नोंका कोई उत्तर ही न रहे, निषेधकी ही सिद्धि न हो ॥ ३६ ॥ जब सुष्टि नहीं थी, तब केवल एक खाली था । सुष्टिक्रम निरूपण करनेके लिये उसीको त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम) मयी प्रकृति कहकर वर्णन किया गया । फिर उसीको ज्ञानप्रधान होनेसे सत्त्वत्तल, क्रियाप्रधान होनेसे सूक्ष्मात्मा और जीवकी उपाधि होनेसे अहङ्कारके रूपमें वर्णन किया गया । वास्तवमें जितनी भी शक्तियाँ हैं—वाहे वे इन्द्रियोंके अविद्यात-देवताओंके रूपमें हों, वाहे इन्द्रियोंके, उनके विषयोंके अथवा विरयोंके प्रकटशक्ती रूपमें हों—सब-सब-सब वह एक ही है । क्योंकि ब्रह्मकी शक्ति अनन्त है । कहाँतक कहाँ ! जो कुछ द्रव्य-मदस्य, कार्य-कारण, सत्य और असत्य है—सब कुछ वह है । इनसे पर जो कुछ है वह भी वह ही है ॥ ३७ ॥ वह ब्रह्मत्वरूप आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है । वह न तो बढ़ता है और न घटता ही है । जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं—वाहे वे द्रव्य, सङ्कल्प और उनके अभावके रूपमें ही क्यों न हों—सबकी मूल, मरिष्यत् और कर्मजन सत्ताका वह सक्षी है । सबमें है । देश-काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, अविनाशो है । वह उपलब्धि करनेवाला अपना उपलब्धिक्रम विन्य नहीं है । केवल उपलब्धिसरूप—ज्ञानसरूप है । जैसे प्राण तो एक ही रहता है, परन्तु स्थानभेदसे उसके अनेक नाम हो जाते हैं—वैसे ही ज्ञान एक होनेपर भी इन्द्रियोंके सङ्गयोगसे उसमें अनेकप्रकृति कल्पना हो जाती है ॥ ३८ ॥ जगत्में चार प्रकारके जीव होते हैं—अज्ञा प्रोक्कत पैदा होनेवाले पक्षी-सर्प आदि, नाभमें बँचे पैदा होनेवाले पशु-मनुष्य, धरती प्रोक्कत निकलनवाले वृक्ष-वनस्पति और पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले छत्रमल आदि । इन सारे जीव-शरीरोंमें प्राणव्यक्ति जीवके पीछे छपी रहती है । शरीरोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राण एक ही रहता है ।

कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते श्वगर्दं यथा ॥४४॥

नाशरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमङ्गोऽजितेन्द्रियः ।

विक्रमेणा द्वाधर्मेण सृष्टोर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽपितमीश्वरे ।

नैष्कर्म्या लभते सिद्धिं रोचनार्था फलधृति ॥४६॥

य आशु हृदयग्रन्थि निर्विहीर्षुः परात्मनः ।

विधिनोपशरेद् देश तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥४७॥

लम्भानुग्रह आचार्यात् तेन संदर्शितागम ।

महापुरुषमभ्यर्चन्मूर्त्त्याभिमतयाऽऽत्मनः ॥४८॥

शुचि सन्मुखनासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।

पिण्डं विशोष्य सन्त्यासकृत्तरुणोऽर्चयेद्भरिम् ॥४९॥

अर्चादौ हृदये चापि यथातन्त्रापचारकैः ।

द्रव्यद्वित्यात्मलिङ्गानि निष्याद्य प्राश्य चासनम् ॥५०॥

पापादीनुपश्रुत्याथ सनिधाप्य समाहित ।

देकर औपध स्त्रियाते हैं, वैसे ही यह अनभिज्ञको स्वर्ग आदिका प्रमोदन देकर श्रेष्ठ कर्ममें प्रवृत्त करता है ॥ ४४ ॥ जिसका अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियों वशमें नहीं हैं, वह यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परिष्कार कर देता है, तो वह विहित कर्मोंका आचरण न करनेके कारण विकर्मरूप अवर्ग ही करता है । इसलिये वह मृत्युके बाद फिर मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥ इसलिये फलकी अभिलाषा छोड़कर और विश्रामा भगवान्को समर्पित कर जो वेदोक्त कर्मका ही अनुष्ठान करता है, उसे कर्मकी श्रिष्टिसे प्राप्त होनेवाली शानरूप सिद्धि मिल जाती है । जो वेदोंमें स्वर्गादिकरूप फलका वर्णन है, उसका तात्पर्य फलकी स्तुत्यार्थमें नहीं है, वह तो कर्ममें रुचि उत्पन्न करानेके लिये है ॥ ४६ ॥

राजन् ! जो पुरुष चाहता है कि शीघ्र-से-शीघ्र मेरे ब्रह्मरूप आत्माकी इन्द्रिय-ग्रन्थि—मैं और मेरेकी कल्पित गौंठ छुड़ जाय, उसे चाहिये कि वह वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पद्धतियोंसे भगवान्की आराधना करे ॥ ४७ ॥ पहले सेवा आदिके द्वारा गुरुदेवकी दीक्षा प्राप्त करे, फिर उनके द्वारा अनुष्ठानकी विधि सीखे अपनेको भगवान्की जो मूर्ति प्रिय लगे, वसीह जाय पड़े, उसीके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान्की पूजा करे ॥ ४८ ॥ पहले स्नानादिसे शरीर और सत्त्वोद्वेग आदिसे अन्तःकरणको शुद्ध करे, इसके बाद भगवान्की मूर्तिके सामने बैठकर प्राणायाम आदिके द्वारा भूत-शुद्धि—नाडी-शोषन करे, तत्पश्चात् विभिर्द्रव्यैः मन्त्र, देवता आदिके न्याससे अक्षरशः करके भगवान्की पूजा करे ॥ ४९ ॥ पहले पुण्य आदि पण्योक्तान् अनुष्ठान आदि निष्कामकर, धूर्धाका सम्पार्जन आदिसे, अपनेका अन्त्य होकर और भगवान्की मूर्तिके पहलेकी पूजाक समो द्रव्य पण्योक्त श्रावण आदिसे पूजाक पोष्य बनाकर फिर आसनपर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़ककर पाय, अर्घ्य आदि पार्थको स्थापित करे । तदनन्तर एकप्रविष्ट होकर हृदयमें भगवान्का ध्यान करके फिर उसे सामनेकी श्रृंगमूर्तिमें चिन्तन करे । तदनन्तर इन्द्रिय, सिर, दिग्धा (इन्द्रिय भग, सिरसे स्वाहा) इत्यादि मन्त्रोंसे

इदाविभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥५१॥

सङ्क्षेपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।

पाषाण्यर्चमनीयंत्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥५२॥

गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्भूषदीपोपहस्तकैः ।

सङ्क्षेपं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमोदरिम् ॥५३॥

आत्मानं तन्मयं ध्यात्वा मूर्तिं सम्पूजयेद्दरेः ।

क्षेपामाभाय क्षिरसि स्वचामन्युद्रास्य सस्कृतम् ॥५४॥

एवमन्यर्कतोषादावतिथौ हृदये च यः ।

यजवीर्यरमात्मानमधिरान्मुच्यते हि सः ॥५५॥

ग्यास करे और अपने हृदयके मूल मन्त्रके द्वारा देव, काल आदिके अनुकूल प्राप्त पूजा-सामग्रीसे प्रतिम आदिमें अथवा हृदयमें भगवान्की पूजा करे ॥५०-५१॥

अपने-अपने उपास्यदेवके विग्रहकी इदंदि बाल, आयुषादि उपाङ्ग और पार्षदोंसहित उसके मूलमन्त्रादयः, धूप, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, कण्ड, बालूक, गन्ध, पुष्प, दधि-अक्षतके, तिक्क, कज्ज, धूप, दीप और वेनेष आदिसे विधिवत् पूजा करे तथा फिर स्तोत्रों-द्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान् श्रीहरिको नमस्कर करे ॥५२-५३॥ अपने आपको मूलमन्त्र ध्यान करते हुए ही भगवान्की मूर्तिको पूजन करना चाहिये । निर्मात्रको अपने स्तिपर रखे और अदरके साथ भगवद्विग्रहको कण्डस्थान स्थापित कर पूजा सम्यक् करी चाहिये ॥५४॥ इस प्रकार जो पुरुष अग्नि, सूर्य, चन्द्र, अतिथि और अपने हृदयमें आत्मरूप श्रीहरिकी पूजा करता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकदशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

भगवान्के भयतारोक्ष वर्णन

राजोवाच

मानि पानीह कर्माणि यैर्यै स्वच्छन्दजन्मभिः ।

चक्रे कराति कर्ता वा हरिस्तानि ध्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

हुंमित उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-

ननुक्रमिष्यन् स तु पातमुद्रिः ।

राजा निमित्ते पूछा—योगीश्वर ! भगवान् स्वच्छन्द से अपने मर्कोंकी भक्तिके बस होकर अनेकों प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और अनेकों लीक्यों करते हैं । आपलोग कृपा करके भगवान्की उन लीक्योंका वर्णन कीजिये, जो वे अवतक कर चुके हैं, कर रहे हैं या करेंगे ॥ १ ॥

अब सातवें योगीश्वर हुंमितजीने कहा— अनन्त ! भगवान् अनन्त हैं । उनके गुण भी अनन्त हैं । जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणोंकी गिन करूँगा, वह मूर्ख है । वाक्य है । यह तो सम्भव है कि

१ पादोर्नानाशोविभूषणैः । २ यजरी । ३ मुनिह ।

● विष्णुभगवान्की पूजामें अथर्वोक्त प्रयोग करण विप्रमर्तकरमें ही करना चाहिये पूजामें नहीं—नाथदेवचरित्रम् न केवलमात्रेधरम् ।

रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्

फालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥ २ ॥

भूतैर्वदा पञ्चभिरात्मसुष्टैः

शूर विराजं विरचय्य तस्मिन् ।

स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान

मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥

यत्काम्य एष भुवनत्रयसंनिवेशो

यत्सेन्द्रियैस्तनुसुताम्भयेन्द्रियाणि ।

क्षानं स्वतः भसनतो बलभोज ईहा

सत्त्वादिभिः सितिलयोद्भव आदिच्छा ॥ ४ ॥

अतस्त्वमूच्छन्तवृत्ती रजसास्य सर्गे

विष्णुः स्थितोऽस्तुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।

स्त्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य

इत्युद्भवसितिलयाः सततं प्रवाप्सु ॥ ५ ॥

धर्मस्य दक्षद्वितर्पजनिष्ट मूर्त्यां

नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।

नैर्ऋत्यलक्षणमुवाच चचार कर्म

योऽद्यापि चास्त ऋषिर्ननिगत्रिताहृष्टि ॥ ६ ॥

कोई किसी प्रकार पृथ्वीके घृष्टि-कर्णोंको गिन ले, परन्तु समस्त शक्तियोंके आश्रय भगवान्‌के अनन्त गुणोंका कोई कभी किसी प्रकार पार नहीं पा सकता ॥ २ ॥ भगवान्‌ने ही पृथ्वी, ब्रह्म, अस्ति, वायु, आकाश—इन पाँच मूर्तोंकी अपने-आपसे अपने-आपमें सृष्टि की है। जब वे इनके द्वारा विराट् शरीर, ब्रह्माण्डका निर्माण करके उसमें छिछसे अपने अंश अन्तर्यामिरूपसे प्रवेश करते हैं (मोक्षारूपसे नहीं, क्योंकि मोक्षा तो अपने पुण्योंके फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदि देव नारायणको 'पुरुष' नामसे कहते हैं, यही उनका पहला अवतार है ॥ ३ ॥ उन्हींके इस विराट् ब्रह्माण्ड शरीरमें तीनों ओर स्थित हैं। उन्हींकी इन्द्रियोंसे समस्त वेदधारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं। उनके स्वरूपसे ही स्वतः सिद्ध ज्ञानका सञ्चार होता है। उनके आस-प्रसाससे सब शरीरोंमें बह जाता है तथा इन्द्रियोंमें बोन (इन्द्रियोंकी शक्ति) और कर्म करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। उन्हींके सत्य आदि गुणोंसे संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रक्षय होते हैं। इस विराट् शरीरके जो शरीरी हैं, वे ही आदिकर्ता नायक्य हैं ॥ ४ ॥ पहले-पहल जगत्की उत्पत्तिके लिये उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा हुए, फिर वे आदिपुरुष ॥ संसारकी स्थितिके लिये अपने सत्त्वांशसे कर्म तथा ब्रह्माण्डके रक्षक एवमपि विष्णु बन गये। फिर वे ही तमोगुणके अंशसे अगत्के संसारके लिये रुद्र बने। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे परिवर्तनशील प्रजाकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते रहते हैं ॥ ५ ॥

दश प्रजापतिकी एक कन्याका नाम था मूर्ति। वह धर्मकी पत्नी थी। उसके गर्भसे भगवान्‌ने ऋषिश्रेष्ठ शान्तात्मा 'नर' और 'नारायण' के रूपमें अवतार लिया। उन्हीं आत्मत्वका साक्षात्कार करानेवाले उस भगवान्‌राधनरूप कर्मका उपदेश किया, नाशस्तवने कम-कमसे सुखानवाला और नैष्कर्म्य स्थितिको प्राप्त करानेवाला है। उन्हींने स्वयं भी मेरे ही कर्मका अनुष्ठान किया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके चरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं। वे आज भी बदरिकाश्रममें उसी कर्मका आचरण करते हुए विराजमान हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रो विश्वहृद्यमम धाम त्रिभूषणीति

कामं न्ययुक्तं सगणं स कर्तुं पास्वम् ।

गत्वाप्सरोगणवसन्तमुमन्दवातेः

स्त्रीप्रश्रयणपुमिरविष्मदतन्महिम्नः ॥ ७ ॥

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः

प्राह प्रहस्य गतविस्मय एवमानान् ।

मा मैष्ट भो मदन मारुत देववध्नो

गृहीत नो बलिमशून्यमिर्मकुरुष्वम् ॥ ८ ॥

इत्थं ह्रुवस्यभयदं नरदेव दंष्ट्रा

समीडनम्रशिरसं सघृणं तमूषु

नैतव् विभो त्वयि परेऽभिरुते विचित्रं

स्वारामभीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥

त्वां सेवतां सुरकुटा बहवोऽन्तरायाः

स्त्रौको विलङ्घ्य परम व्रजतां पदं त ।

नान्यस्य बहिषि वलीन् ददत स्वभागान्

धत्त पदं त्वमविता यदि विभ्रमूर्च्छि ॥ १० ॥

ध्रुवृद्धिक्कालगुणमारुतमैह्यशैल्या

नस्तानपारवलधीनसितीर्य फचित् ।

ये अपनी घोर तपस्याके द्वारा मेरा धाम छीनना चाहते हैं—
इन्द्रने ऐसी आशंका करके श्री, वसन्त आदि देव-कर्मों
साथ कामदेवको उनके तपस्यामें बिना डालनेके भिजे
मेला । कामदेवको मगधान्त्री महिमाका ज्ञान न था, इसलिये
वह अप्सरोगण, वसन्त तथा मन्द-सुगन्ध करनेके साथ
बदरिकाश्रममें जाकर भिज्योके कटाक्ष-बाणोंसे उन्हें प्रसन्न
करनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ७ ॥ आदिदेव नर-नारायणने
यह जानकर कि यह इन्द्रका कुचक्र है, मरसे कौनसे हुए
काम आदिकोंसे हँसकर कहा—उस समय उनके मनमें
किन्ती प्रकारका अमिमान या आश्चर्य नहीं था ।
कामदेव, मरकटमारुत और देवगुणान्धो ! तुम लोग बड़े
मत्त, हमारा आतिथ्य स्वीकार करो । वही यही खरो,
हमारा आग्रह सुना मत करो ॥ ८ ॥ एवम् ! जब
नर-नारायण श्रमिने उन्हें अमरपदाल देते हुए इस प्रकार
कहा, तब कामदेव आदिके सिर कज्जसे झुक गये ।
उन्होंने दयालु भावान् नर-नारायणसे कहा—प्रभो !
आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । क्योंकि
आप ग्यासे परे और निर्विकार हैं । बड़े-बड़े कामरूप
और घोर पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंमें प्रणम
करते रहते हैं ॥ ९ ॥ आपके भक्त आपकी भक्ति
प्रभावसे देवताओंकी राखवाली अमरपदीका उल्लेख
करके आपके परमपदको प्राप्त होते हैं । इसलिये जब
वे भजन करने लगते हैं, सब देवताओंका लज्जा-कारण
उनकी साधनामें बिना डालते हैं । किन्तु जो केवल
केवल कर्मकाण्डमें लगे रहकर यज्ञादिके द्वारा देवताओंको
बलिके रूपमें उनकी भाग देते रहते हैं, उन लोगोंके
मार्गमें वे किसी प्रकारका बिधा नहीं डालते । परन्तु
प्रभो ! आपके भक्तजन उनके द्वारा उपस्थित की हुई
विष्णु-वाधाओंसे गिरते नहीं । बल्कि आपके कर्म-
कर्मोंकी छत्रछायामें रहते हुए वे भिज्योके सिर
पर रखकर आगे बढ़ जाते हैं, अपने वस्त्रसे धुत
नहीं होते ॥ १० ॥ बहुत-से लोग तो ऐसे होते
हैं जो भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी एवं औषधीयानीके कष्टोंसे
तथा रसनेन्द्रिय और जनेन्द्रियके बेगौको, जो अगर
समुद्योग सम्मान हैं, सब लेते हैं—पार कर जाते हैं ।

क्रोधस्य यान्ति विफलस्य यशः पदे गो

मैरान्ति दुश्चरतपस्य ह्यधोत्सृजन्ति ॥११॥

इति प्रगृणतां तेषां क्षियोऽस्त्यद्भुतदर्शना ।

दर्शयामास द्युभूषां स्वर्चिता कुर्वतीर्विभुः ॥१२॥

ते देवानुचरा दृष्ट्वा क्षिप्यः भीरिव रूपिणी ।

गन्धेन सुसुहस्तासां रूपौदार्यहवभिषः ॥१३॥

तानाह देवदेवेश प्रपतान् प्रहसन्निव ।

आस्तामेकतमां वृक्षं सवर्णां स्वर्गमूपणाम् ॥१४॥

ओमित्पादेष्टमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः ।

उर्वशीमप्सरःभेष्टां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥१५॥

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकशाम् ।

अनुनिरात्मणवत्तं शक्रस्तत्रास विस्मित ॥१६॥

इसस्वरूपवददभ्युन आरमयाग

दशः कुमारश्चपभो भगवान् पिता नः ।

विष्णुः शिवाय अगतां कठयावतीर्ण

स्तेनाहता मधुभिदा ध्रुवयो इयास्ये ॥१७॥

पा ४ ल २-२२-

परन्तु फिर भी वे उस क्रोधके कशमें हो जाते हैं, जो गाण्के खुरसे बने गड्ढेके समान है और जिससे कोई छम नहीं है—आत्मनाशक है। और प्रभो ! वे इस प्रकार अपनी कठिन तपस्वको छोड़ बैठते हैं ॥ ११ ॥ जब कामदेव, वसन्त आदि देवताओंने इस प्रकार स्तुति की तब सर्वशक्तिमान् भगवान्ने अपने योगबलसे उनके सामन बहुत-सी ऐसी रमणियों प्रकट करके दिखलवाईं, जो बहुत रूप-जाक्यसे सम्पन्न और विचित्र कलाकृतियोंसे सुसज्जित थी तथा भगवान्की सेवा कर रही थीं ॥ १२ ॥ जब देवराज इन्द्रके अनुचरोंने उन लक्ष्मीयोंके सम्मान रूपकरी क्षियोंको देखा, तब उनके महान् सौन्दर्यके सामने उनका चेहरा पीका पड़ गया, वे धीहीन होकर उनके शरीरसे निकलनेवाली दिव्य सुगन्धसे मोहित हो गये ॥ १३ ॥ अब उनका सिर झुक गया। देवदेवेश भगवान् नारायण हैंसते हुए-से उनसे बोले—‘पुत्रस्योग इनमेंसे किसी एक लीजो, जो तुम्हारे अनुरूप हो, प्रणय कर जो। वह तुम्हारे स्वर्गलोककी शोभा बढ़ानेवाली होगी ॥ १४ ॥ देवराज इन्द्रके अनुचरोंने ‘ओ आह्ला’ कहकर भगवान्के आदेशको स्वीकार किया तथा उन्हें नमस्कार किया। फिर उनके द्वारा कनामी हुई क्षियोंमेंसे श्रेष्ठ अप्सरा उर्वशीको जाने करके वे स्वर्गलोकमें गये ॥ १५ ॥ वहीं पहुँचकर उन्होंने इन्द्रको नमस्कार किया तथा मरी सभामें देवताओंके सामने भगवान् नर-नारायणक कह और प्रणामकर वणन किया। उसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त मगधीत और चकित हो गये ॥ १६ ॥

भगवान् विष्णुने अपने स्वरूपमें एकरस स्थित रहते हुए भी सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिये बहुत-से कलावतार ग्रहण किये हैं। निदराज ! इस, दशवैय, सनक-सनन्दन-सनातन-सन्तकुमार और हमारे पिता श्रृण्मके रूपमें अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के साधनोंका उपदेश किया है। उन्होंने ही इक्ष्मीक-अवतार लेकर मधु-कैटभ नामक असुरोंका संहार करके उन लोकोके द्वारा जगत्में हुए केंद्रोंका उद्धार किया

गुप्तोऽप्यये मयुरिलौपधयश्च मात्स्ये

क्रौंढे हतो दितिविज उद्वरताम्भसः इमाम्।

कौर्मे धृतोऽद्विरमृतोन्मथने स्वपून्ते

ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्त्तम् ॥१८॥

संस्तुन्वतोऽग्निधपतितान्मृगणान्प्रीय

क्षकं च वृत्रवधतत्त्वमसि प्रविष्टम्।

देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा

जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥१९॥

देवस्तुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे

हत्वान्तरेण भुवनान्मदधात् कलाभिः।

मृत्वाथ वामन इमामहरतु वळेः इमां

याच्चाच्छलेन समदत्तदितेः सुतेभ्यः ॥२०॥

नि क्षत्रियामकुव गां च त्रि सप्तकृत्वो

रामस्तु हैहयकुलाप्यमभार्गवादिः।

सोऽम्बि वषन्ध दशपञ्चमहन् सलङ्गं

सीतापतिजयति लोकमलमकीर्तिः ॥२१॥

भूर्मर्मरावतरणाथ यशुष्वजन्मा

जातः फरिष्यति सुरैरपि हुष्कराणि।

ई ॥ १७ ॥ प्रलयके समय मात्स्याक्षर केवर उन्हे
भावी मनु सम्प्रत, पूष्णी और आश्विर्बोको—वन्धारी
की रक्षा की और वराहावतार प्रहण करके पूष्णी
रसातलसे उद्धार करते समय हिरण्याक्षका संहार किया।
कूर्मावतार प्रहण करके उन्हीं भगवान्ने अप्सर-मन्त्रका
कथन सम्पन्न करनेके लिये अपनी पीठपर मन्त्रका
धारण किया और उन्हीं भगवान् विष्णुन अपने शरणागत
एवं आत्म मन्त्र गजेन्द्रका प्रहसे छुड़ाया ॥ १८ ॥
एक बार बालसिम्य अपि तपस्या करते-करते कल्प
दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषिके लिये
समिधा छा रहे थे, तो एककर गाणके लुसे बने इस
गड्ढेमें गिर पड़े, मानो समुद्रमें गिर गये हों। उन्हे
जब स्तुति की, तब भगवान्ने अवतार केवर उन्का
उद्धार किया। वृत्रासुरको मारनेके कारण जब इन्द्रको
ब्रह्महत्या काी और वे उसके भयसे भगवन्त्र छिन गये,
तब भगवान्ने उस हत्यासे इन्द्रकी रक्षा की, और
जब असुरोंने अनाथ देवाङ्गनाओंको बन्दी बना लिया,
तब भी भगवान्ने ही उन्हे असुरोंके बन्धुसे छुड़ाया।
जब हिरण्यकशिपुके कारण प्रह्लाद आदि सप्त पुत्रोंको
भय पहुँचने लगा, तब उनको निर्भय करनेके लिये
भगवान्ने वृसिहावतार प्रहण किया और हिरण्यकशिपुको
मार बाधा ॥ १९ ॥ उन्हींने देवताओंकी रक्षाके लिये
देवासुरसम्प्रमर्मे दैत्यपतियोंका वध किया और विभिन्न
मन्वन्तरोंमें अपनी शक्तिके बनेको कथनवतार प्रहण
करके त्रिसुवनकी रक्षा की। फिर बामन-वतार प्रहण
करके उन्हेने याक्षमाके बहाने इस पृथ्वीको हैकर
बन्धिते छीन लिया और अदिति-नन्दन देवताओंको
दिया ॥ २० ॥ परशुराम-वतार प्रहण करके उन्
ही पृथ्वीको इसीस बार अग्निप्रीतिन किया। परशुरामकी
हैहयवंशका प्रलय करनेके लिये मानो रागुराममें अ
रुणसे ही अवतीर्ण हुए थे। उन्हीं भगवान्ने रामकक
स्सुखपर पुत्र बौध और रामन और उसकी राजन
छात्रको मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति स
लोकोके मन्त्रको नष्ट करनेवाली है। सीतापति मगर
राम सदा-सर्वदा, सर्वत्र विजयी-ही-विजयी हैं ॥ २१ ॥
रामन्। अजन्म होनेपर भी पृथ्वीका मार उद्धार
लिये वे ही भगवान् यदुवंशमें जन्म लेंगे और ऐसे
कर्म करेंगे, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सके

वद्विर्मोहयति यश्चकरोऽतदर्हन्

शृङ्गान् कलौ धितिसुखो न्यहनिष्यदन्ते ॥२२॥

एषविधानि कर्माणि वनमानि च खगत्पते ।

भूरिणि भूरिपशुखो वर्णितानि महासृज ॥२३॥

निर आगे जल्पर भगवान् ही बुद्धके रूपमें प्रकट होंगे और यज्ञके धनविकारियोंको यज्ञ करते देखकर बनेक प्रकारके तर्क-वितर्कसे मोहित कर देंगे और कज्जियुगके अन्तमें कस्मिन्-अवतार लेकर वे ही शत्रु राजाओंका भय करेंगे ॥ २२ ॥ महात्मादु विदेहराज ! भगवान्की कीर्ति अनन्त है । महात्माओंने जगत्पति भगवान्को ऐसे-ऐसे अनेकों जन्म और कर्माकर प्रचुरतासे गान भी किया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्की पूजाविधिका वर्णन
उद्योग

भगवन्तं हरिं प्राचो न भजन्त्यन्तमविचमाः ।

तेषामश्नान्तकामानां का निष्ठाविजितारभनाम् ॥ १ ॥

अनस उवाच

युत्सवाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्थाभ्यैः सह ।

चत्वारो जप्तिरे वर्णा गुणैर्विप्रादय पृथक् ॥ २ ॥

य एषो पुरुष सायादत्तमप्रभवमीधरम् ।

न भजन्त्यवजानन्ति म्यानाद् अष्ट पतन्त्यधः ॥ ३ ॥

दूरहरिः प्रायः केचिद् दूरपाच्युत्कीर्तनाः ।

राजा निमित्ते पूज्य—योगेश्वरो । आप्तयोग तो श्रेष्ठ आत्मज्ञानी और भगवान्के परमभक्त हैं । इसा करके यह कतलाहूये कि बिनकी कामनाएँ श्रान्त नहीं हुई हैं, लेकिन-पारलौकिक मोक्षकी सम्पत्ता मिटी नहीं है और मन एवं इन्द्रियों भी बसमें नहीं हैं तथा जो प्राय भगवान्का भजन भी नहीं करते, ऐसे लोगोंकी क्या गति होती है ? ॥ १ ॥

अथ आठवें योगेश्वर वसन्तजीने कहा—उक्त । निराद् पुरुषके मुझसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, मुन्नाओंसे सत्त्व-रजप्रधान क्षत्रिय, जौवोंसे रज-तमप्रधान वैश्य और चरणोंसे तम प्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है । उन्होंनेकी जौवोंसे गृहस्थाश्रम, हृन्पसे ब्रह्मचर्य, वध स्वतसे वान-प्रस्थ और मस्तकसे स्नपास—ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं । इन चारों वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता स्वयं योगवान् ही हैं । बही इतक स्तम्भ, निष्ठा और आत्मा भी हैं । इसलिये इन वर्ण और आश्रममें रहने-वाला जो मनुष्य भगवान्का भजन नहीं करता, यदि उच्छ्र्य उनका अनारर करता है, वह अपने स्थान, यग आश्रम और मनुष्य-मानसे भी प्युत हो जाता है उसका अथ पतन हो जाता है ॥ २ ॥ बहुत-सी जियाँ और गृह आदि भगवान्की कृपा और उनका भगवन्निन आदिसे कुछ दूर पद गये

त्रैवर्गिका षड्वर्गिका आत्मानं धातयन्ति ते ॥१६॥

एष आत्मह्नोऽश्नन्ता अश्नाने ज्ञानमानिनः ।

सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालञ्चस्तमनोरथा ॥१७॥

दित्वात्यायासरचिता गृहापत्यमुद्दिश्यः ।

तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ॥१८॥

राजोपाय

कस्मिन् काले स भगवान् किंवर्यः कीदृशो नृभिः ।

नास्मा वा केन विभिना पूज्यते तदिहोन्मताम् ॥१९॥

कल्पावन उवाच

कृत व्रता द्वापरं च कलिरित्येषु केषुवा ।

नानावर्णाभिभाकरो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥

उते शुक्लमलुर्बाहुर्बटिलो कल्कलाम्बरः ।

कृष्णानिनोपवीताक्षान् विभ्रव् दण्डकमण्डल ॥२१॥

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्बेराः सुहृदः समाः ।

यजन्ति तपसा देवं दमेन च दमेन च ॥२२॥

इंसु पुपर्णा वेङ्कण्डा धर्मो भागधरोऽमलः ।

ईश्वरः पुरुषोऽम्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥२३॥

उपरके । वे अथ, धर्म, काम—इन तीनों पुण्यों से रहते हैं, एक क्षणके लिये भी उन्हें क्षति नहीं मिलती । वे अपने हाथों अपने पैरोंमें कुम्हारकी मर रहे हैं । ऐसे ही लोगोंको आत्मवादी कहते हैं ॥ १९ ॥
अज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मवादियोंको शान्ति नहीं मिलती, इनके कर्मोंकी परम्परा कभी खत्म नहीं होती । कलमगवान् सदा-सर्वदा इनके मोलमें पानी फेरते रहते हैं । इनके हृदयकी जड़न, बिकर कर्म मित्रनेक नहीं ॥ १७ ॥ राजन् । जो लोग कलमगवान् कीकृपासे विमुक्त हैं, वे वास्तव परिश्रम करने गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इच्छा नहीं करते । परन्तु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहनेपर भी विवश होकर घोर नरकमें जाना पड़ता है । (भगवान् का भजन न करनेवाले किसी पुण्यकी यही गति होती है) ॥ १८ ॥

राजा निर्मिते पूज्य—योगीश्वर । अज्योतिष इन करके यह बातकाहे कि भगवान् किस समय किस रंग, कौन-सा आसन कीकार करते हैं और मनुष्य कि नामों और विधियोंसे उनकी उपासना करते हैं ॥ १९ ॥

अथ कर्मयोगीश्वर कल्पावनजीने कहा—राजन् । चार युग हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि । इन युगोंमें भगवान् के अनेकों रंग, नाम और बाहुतियाँ होती हैं जो विभिन्न विधियोंसे उनकी पूजा की जाती है ॥ २० ॥ सत्ययुगमें भगवान् के श्रीनिम्नरूप रंग होता है स्वतः । उनके चार मुनार और सिरपर जटा होती है, तथा वे कल्कलाम्बर ॥ २१ ॥ पहनते हैं । काले युगमें वे पक्षोपवीत, कृष्णकी मान्वा, दण्ड और कण्ठधनु पहनते हैं ॥ २२ ॥ सत्ययुगके मनुष्य धर्म शान्त, परत वैरहित, सबके द्वितीय और समदर्शी होते हैं । वे अश्रितियों और मनको बलमें रखकर ध्यानरूप समस्तके साथ सबके प्रकाशक परमात्माकी आराधना करते हैं ॥ २२ ॥ वे लोग ईशु सुपर्ण, वेङ्कण्ड, धर्म, योगेश्वर अमल, ईश्वर पुरुष, अम्यक्त और परमात्मा आदि नामोंके द्वारा भगवान् के गुण, कर्म आदिक गान करते हैं ॥ २३ ॥

प्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखल ।

हिरण्यकेशस्रज्यात्मा सूक्तसुवाणुपलक्षणः ॥२४॥

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।

यजन्ति विधया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥

विष्णुर्यज्ञं पृथिवीं सर्वदेव उरुक्रम ।

इपात्कपिर्वयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥२६॥

द्वापरे भगवाञ्छायाम पीतवासा निजमुधः ।

भीषत्सादिभिरङ्गैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥२७॥

तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षयम् ।

यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥२८॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२९॥

नारायणाय श्रुपये पुरुषाय महात्मने ।

विश्वधराय विद्याय सर्वभूतात्मने नमः ॥३०॥

इति द्वापर उर्वीशं स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।

नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा मृणु ॥३१॥

कृष्णवर्णं त्रिपाकृष्णं सौज्जवाङ्गास्त्रपापदम् ।

यजन् ! प्रेतयुगमें भगवान्को श्रीविष्णुका रंग होता है काज । चार मुजारे होती हैं और कट्टिमाममें वे तीन मेखना धारण करते हैं । उनके केश सुनहले होते हैं और वे वेदप्रतिपादित यज्ञके रूपमें राक्षस सुक्, सुबा आदि यज्ञ-पार्श्वको धारण किया करते हैं ॥२४॥ उस युगके मनुष्य अपने धर्ममें बड़ी निष्ठा करनेवाले और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें बड़े प्रवीण होते हैं । वे जोग श्रवण, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयीके द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं ॥ २५ ॥ प्रेतयुगमें अधिकारा जोग विष्णु, यज्ञ, पृथिवी, सर्वदेव, उरुक्रम, इपात्कपि, जपन्त और उरुगाय आदि नामोंसे उनके गुण और लीज आदिक कीर्तन करते हैं ॥ २६ ॥ यजन् ! द्वापरयुगमें भगवान्को श्रीविष्णुका रंग होता है सौम्य । वे पीताम्बर तथा शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने बायुध धारण करते हैं । यज्ञ स्वर्णपर धीरस्वरूप विद्, सृष्टा, करीस्तुममणि आदि लक्षणोंसे वे पहचाने जाते हैं ॥ २७ ॥ यजन् ! उस समय निजामु मनुष्य महाराजोंके विद् छत्र, चक्र आदिसे युक्त परमपुरुष भगवान्की वैदिक और तान्त्रिक विधिसे आराधना करते हैं ॥ २८ ॥ वे जग इस प्रकार भगवान्की स्तुति करते हैं—'हे ज्ञानस्वरूप भगवान् वासुदेव एवं क्रियाशक्तिरूप सङ्कर्षण । हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं । भगवान् प्रद्युम्न और अनिरुद्धके रूपमें हम आपको नमस्कार करते हैं । श्रुति नारायण, महात्मा नर, विश्वेश्वर, विद्वत्स्वरूप और सभभूतात्मा भगवान्को हम नमस्कार करते हैं ॥२९ ३०॥ यजन् ! द्वापरयुगमें इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान् की स्तुति करते हैं । जब कलियुगमें जनक लक्ष्मीके विधि-विधानसे भगवान्की जैसी पूजा की जाती है, उसका जगन सुनो—॥ ३१ ॥

कलियुगमें भगवान्का श्रीविष्णु हाता है कृष्णवर्ण—
काळे रंगका । जैसे नीलम मणिमेंसे उज्ज्वल कान्तिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनके अङ्गमें उज्ज्वल होती है । वे इन्द्र आदि देव, करीस्तुम आदि

स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवाण्यहम् ॥ ४ ॥

विप्रो राजन्त्यवैश्या च द्वरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।

धौतेन जमनाथापि दृष्टन्त्याभ्यायवादिनः ॥ ५ ॥

कर्मण्यकोविदाः स्तम्भा मूर्त्ताः पण्डितमानिनः ।

वदन्ति चादृक्कान् मूढा यथा माण्ड्या गिरोत्सुकाः ॥ ६ ॥

रत्नसा घोरसङ्कल्पा काम्यका अहिमन्यव ।

दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यन्युत्प्रियाण् ॥ ७ ॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो

गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाधिपः ।

यन्नन्त्यसृष्टाप्रविधानदक्षिणं

वृत्त्यै परं भन्ति पशुन्तद्विद ॥ ८ ॥

धिया विमृत्त्याभिजनेन विधया

त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।

जातसयेनान्धधियः सहस्यरान्

सताऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् स्वला ॥ ९ ॥

सर्वेषु शश्वत्तनुमृत्स्वव्यमित

यथा तस्मात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।

वदापगीतं च न शृण्वतऽपुधा

मनारथानां प्रददन्ति वातया ॥ १० ॥

हैं । वे आप-जैसे भगवद्दर्शनोंकी दृष्टिके फल हैं । आपबोग उन्हें कष्ट-कथितकी सुविधा देकर उत्तम उत्तर करें ॥ ४ ॥ श्रावण, धृष्टि और वैश्य जन्मे केदाप्यनसे तथा यज्ञोपवीत आदि सत्कारोंसे भगवन्के चरणोंके निकटतक पहुँच चुके हैं । फिर भी वे केदोंका असुखी तात्पर्य न समझकर कर्षवर्णमें बगल मोहित हो जाते हैं ॥ ५ ॥ उन्हें कर्मका बल माझ्य नहीं है । मूर्ख होनेपर भी वे अपनेको पण्डित मन्ते हैं और अहिमानमें कसने रहते हैं । वे वैश्यामीठी बातोंमें भूल जाते हैं और केवल क्लृप्त-शब्द-माधुरीके मोहमें पड़कर कटकीकी-मक्कीकी बर्त कटा करते हैं ॥ ६ ॥ रत्नोगुणकी अविकताके कारण उनके सङ्कल्प बड़ घोर होते हैं । कामनाओंकी व सीमा ही नहीं रहती, उनका क्रोध भी ऐसा होना है जैसे सौफल, क्वाकट और घमंडसे उन्हें प्रेम होना है । वे पापीलिंग भगवान्के प्यारे भक्तोंकी हँसी उगार करते हैं ॥ ७ ॥ वे मूर्ख बड़े-बड़ोंकी नहीं, बिल्कुली उपासना करते हैं । पत्नी नहीं, वे परस्पर एकट्ठे होकर उस घर-गृहस्त्रीके सम्बन्धमें ही बड़े-बड़े मतलबें बँटते हैं, जहाँकर सक्से बड़ा सुख की-सहवासमें ही संनिहित है । वे यदि कभी यह भी करते हैं तो अन्न-दान नहीं करते, विधिक उल्लङ्घन करते और दक्षिणतक नहीं देते । वे कर्मका रहस्य न जाननेवाले मूख केरा अपनी जीभको सन्तुष्ट करने और पेटकी मूख स्थिती-शरीरको पुष्ट करनेके लिये बेचारे पशुओंकी हड्डी करते हैं ॥ ८ ॥ धन-वैभवं, पुष्पिनता, निष्क, दान सोन्दर्य, यज्ञ और कम आदिके घमंडसे अप ही होते हैं तथा वे गृष्ट उन भगवन्की सर्वतो तप ईश्वर भी अपमान करते रहते हैं ॥ ९ ॥ राजन् ! वे मे इस बातको धार-धार दुहराया है कि भगवन् आरज्यसे सम्मन नित्य-निरन्तर समस्त शरीरधारियोंमें स्थित है । वे ही अपने आत्मा और दिव्यत्वं हैं । परन्तु वे इस भेद-पक्षीको तो सुनते ही नहीं और काज चरे-न मन्तारोंकी बात आपसमें बहस-मुनस रत हैं ॥ १० ॥

लोके व्यवयामिपमद्यसेवा

नित्यास्तु अन्तोर्नहि तत्र चोदना ।

व्यवसितित्तेषु विचारयद्वा

सुराग्रैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११॥

धनं च धर्मैकफलं यतो वै

ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रदान्ति ।

गृहेषु युञ्जन्ति कसेवरस्य

मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥१२॥

यद्वाप्यभक्षो विहितं सुराया-

स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।

एवं व्यवप्य प्रजम्भा न रत्ना

इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥१३॥

ये त्वनेवंविदाऽसन्तः सन्ध्या सदभिमानिनः ।

पशून् हृषन्ति विसम्भा प्रत्यग्नादन्ति ते च तान् १४

द्विपन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।

मृतकसानुयन्त्रेऽस्मिन् पदस्नेहा पतन्त्यथ ॥१५॥

यः कैयन्पतसम्प्राप्ता ये चात्तीताश्च मृदताम् ।

(वेद विधिके रूपमें ऐसे ही कर्मोंके करनेकी आज्ञा देता है, कि जिनमें मनुष्यकी सामाजिक प्रवृत्ति नहीं होती ।) ससारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मषकी ओर प्राणीकी सामाजिक प्रवृत्ति हो जाती है । तब उसे उसमें प्रवृत्त करनेके लिये विधान तो हो ही नहीं सकता । ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और सौत्रामणी यज्ञके द्वारा ही जो उनके सेवनकी व्यवस्था दी गयी है, उसका अर्थ है ओषधोंकी उष्णप्राण प्रवृत्तिकार नियन्त्रण, उनका मर्यादामें स्थापन । वास्तवमें उनकी ओरसे ओषधोंको हटाना ही धुत्तिके समीप है ॥ ११ ॥ धनका एकमात्र फल है धर्म, क्योंकि धर्मसे ही परमपुरुष ज्ञान और उसकी निष्ठा— अपरोक्ष अनुभूति सिद्ध होती है, और निष्ठामें ही परम शान्ति है । परन्तु यह कितने खेदकी बात है कि लोग उस धनका उपयोग घर गृहस्त्रीके सारोमें या कामयोगमें ही करते हैं और यह नहीं देखते कि हमारा यह शरीर मृत्युका शिकार है और यह मृत्यु किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती ॥ १२ ॥ सौत्रामणी यज्ञमें भी सुराको खूबनेको ही विधान है, पीनेका नहीं । यज्ञमें पशुका आत्मनः (स्पष्टमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं । इसी प्रकार अपनी धर्मपत्नीके साथ मैथुनकी आज्ञा भी नियमभोगके लिये नहीं, वार्षिक परम्पराकी रक्षाके निमित्त सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही दी गयी है । परन्तु जो लोग अर्थवादके बचनोंमें पँसे हैं, जिनकी हैं, व जानते इस विशुद्ध धर्मको जानते ही नहीं ॥ १३ ॥ जो इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते, वे धर्मही अस्तव्यस्त ता दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपनाको श्रेष्ठ । वे धोखेमें गिर डुप जाग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनक बाद वे पशु ही उन मारनवालोंको खाते हैं ॥ १४ ॥ यह शरीर धनक-शरीर है । इसका सम्बन्धी भी इसका साथ ही छूट जाते हैं । जो लोग इस शरीरसे ता धनकी गोंठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनशक्ते अपन ही आत्म्य एवं सनशक्तिमान मरानसे श्रेष्ठ करते हैं, उन मूर्खोंका अर्थ धन निश्चित है ॥ १५ ॥ जिन लोगोंन आत्मज्ञान सम्पादन करने के वैयस्य-मात्र नहीं प्राप्त किया है और जो गुरु-गुरु भी नहीं हैं, वे अपने न धरते हैं और न

श्रैवगिका श्रद्धाधिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥१६॥

एत अत्महनोऽश्नन्ता अद्याने ज्ञानमानिनः ।

सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ॥१७॥

हित्वात्पायास्तरचिता गृहापत्यसुहृद्भिः ।

तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ॥१८॥

उपशेष

कस्मिन् काले स भगवान् किंवर्णः कीदृशो नृभिः ।

नास्त्रा वा केन विधिना पूज्यते तदिहोन्मताम् ॥१९॥

कर्मभजन उपाय

कृत श्रेता द्वारं च कलिरिस्थेषु केशवः ।

नानावर्णाभिभाकरो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥

कृते शृङ्गधनुर्बुध्निलो कर्मकलाम्बरः ।

कृष्णाजिनोपवीताक्षान् विभ्रव् दण्डफणमाल ॥२१॥

मनुष्मास्तु तदा शान्ता निर्वेराः सुहृदः समाः ।

यजन्ति तपसा देवं ज्ञमेन च दमेन च ॥२२॥

इंसः सुपर्णो वैकुण्ठे धर्मो योगेश्वरोऽमलः ।

इश्वरः पुरुषोऽम्यकः परमात्मेति गीयते ॥२३॥

उपरके । वे अय, धर्म, कर्म—इन तीनों पुनर्जने
पैसे रहते हैं, एक क्षणके निये भी उन्हें शान्ति नहीं
मिलती । वे अपने द्वारों अपने परोंमें कुम्हारों मर रहे
हैं । ऐसे ही लोगोंको आत्मघाती कहते हैं ॥ १६ ॥
अज्ञानकी ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियोंको कभी
शान्ति नहीं मिलती, इनके कर्मोंकी परम्परा कभी खत्म
नहीं होती । कालमग्नान् सग-सर्वदा इनके मनोरंजन
पानी फेरते रहते हैं । इनके हृदयकी मलिन, विषाद कभी
मिटनेका नहीं ॥ १७ ॥ राजन् ! जो लोग कल्पकी
मग्नान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं, वे कल्पित परिजन करने
गृह, पुत्र, मित्र और धन-संपत्ति इच्छा करते हैं,
परन्तु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और
न चाहनेपर भी विषाद होकर बोर नरकमें जाया पड़ता
है । (भगवान्का मनन न करनेवाले किसी पुनर्जने
यही गति होती है) ॥ १८ ॥

राजा निमिने पूज्य—योगीश्वर ! अर्धयोग कर्म
करके यह बताइये कि मत्कान् किस समय किस रंगका,
कौन-सा आकार स्वीकार करते हैं और मनुष्य किस
नामों और विधियोंसे उनकी उपासना करते हैं ॥ १९ ॥

अब नवें योगीश्वर करमाजिनजीने कहा—राजन् ।
चार युग हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि । इन युगोंमें
मग्नान्को अनेकों रंग, नाम और आकृतियों होती हैं तथा
विभिन्न विधियोंसे उनकी पूजा की जाती है ॥ २० ॥
सत्ययुगमें मग्नान्को श्रीनिम्बक रंग होता है केश ।
उनके चार भुजाएँ और सिरपर मृदा होती है, तथा वे
कर्मकला ही कला पहनते हैं । काले मृगक कर्म
यशोपवीत, कृष्णकर्म माधव, दण्ड और कर्ममाला धारण
करते हैं ॥ २१ ॥ सत्ययुगके मनुष्य सबे सत्य, परस्पर
वैरहित, सबके द्वितीय और समदर्शी होते हैं । वे लोग
इन्द्रियों और मनको वशमें रखकर ध्यानरूप तपस्यके
द्वारा सबके प्रकाशक परमात्मकी आराधना करते
हैं ॥ २२ ॥ वे लोग ईश सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर,
अमल, ईश्वर, पुरुष, अम्यक और परमात्म आदि नामोंके
द्वारा मग्नान्को पुण, जीव आदिक गान करते हैं ॥ २३ ॥

प्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखल ।
 हिरण्यकेशश्च व्यात्मा स्रक्सूवाद्युपलक्षणः ॥२४॥
 तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
 यजन्ति विधया प्रय्या धर्मिष्ठा प्रज्ञावादिनः ॥२५॥
 विष्णुर्विश्वः पृथिवीर्गर्भं सर्वदेव उरुक्रमः ।
 वृषाक्षपिर्विजयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥२६॥
 द्वापरे भगवान्छायामः पीतवर्णा निजायुधः ।
 श्रीवत्सादिभिरङ्गैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥२७॥
 तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
 यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥२८॥
 नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कषणाय च ।
 प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्य भगवते नमः ॥२९॥
 नारायणाय शृपयं पुरुषाय महामने ।
 विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतान्तमने नमः ॥३०॥
 इति द्वापर उर्वीथ स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
 नानातन्त्रविधानेन कृत्वापि यथा शृणु ॥३१॥
 कृष्णवर्णं त्रिपाकृष्णं साक्षरपाङ्गास्त्रपादम् ।

राजन् । प्रेतायुगमें भगवान्के श्रीविष्णुका रंग
 होता है छल । चार गुजरों होती हैं और कटिभागमें
 वे तीन मेखला धारण करते हैं । उनके केश सुनहले होते
 हैं और वे वेदप्रतिपादित यज्ञके रूपमें रहकर लुक-
 धुवा आदि यज्ञ-पात्रोंके धारण किया करते हैं ॥२४॥
 उस युगके मनुष्य अपने धर्ममें बड़ी निष्ठा रखनेवाले
 और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें बड़े प्रवीण होते हैं ।
 वे ज्योत आग्नेय, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयीके
 द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिकी आराधना
 करते हैं ॥ २५ ॥ प्रेतायुगमें अधिकांश ज्योत विष्णु,
 यक्ष, पृथिवीर्गर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाक्षपि, जयन्त और
 उरुगाय आदि नामोंसे उनके गुण और लीला आदिक
 कीर्तन करते हैं ॥ २६ ॥ राजन् । द्वापरयुगमें भगवान्के
 श्रीविष्णुका रंग होता है सौंक्रम । वे पीताम्बर तथा
 शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने वायुध धारण करते हैं ।
 कल सङ्कर श्रीकृष्ण चिह्न, मृगवत्ता, कौस्तुभमणि
 आदि चिह्नोंसे वे पहचाने जाते हैं ॥ २७ ॥ राजन् ।
 उस समय विद्यासु मनुष्य महाराजोंके चिह्न छत्र, चक्र
 आदिसे युक्त परम्पुरुष भगवान्की वैदिक और तन्त्रिक
 विधिसे आराधना करते हैं ॥ २८ ॥ वे लोग इस
 प्रकार भगवान्की स्तुति करते हैं—॥ इन्द्राक्षरूप
 भगवान् वासुदेव एव क्रियाशक्तिकरूप सङ्कर्षण ।
 आपका बार-बार नमस्कार करते हैं । भगवान् प्रद्युम्न
 और अनिरुद्धक रूपमें हम आपको नमस्कार करते हैं ।
 श्रुति नारायण, महात्मा नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप और
 सर्वभूतात्मा भगवान्को हम नमस्कार करते हैं ॥२९ ३०॥
 राजन् । द्वापरयुगमें इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान्
 की स्तुति करते हैं । अब कलियुगमें अनेक तन्त्रोंके
 विधि-विधानसे भगवान्की जैसी पूजा की जाती है,
 उसका यगन सुनो—॥ ३१ ॥

कलियुगमें भगवान्का अधिपद होता है कृष्णवर्ण—
 काले रंगका । जैसे नीलम रंगमेंसे उज्ज्वल कान्तिधारा
 निकलती रहती है, वैसे ही उनके अङ्गकी उठा भी
 उज्ज्वल होती है । वे इन्द्र आदि अक्ष, कौस्तुभ आदि

यस्यै सङ्कीर्तनप्राप्यैर्बजन्ति हि सुमेधसः ॥३२॥

ध्येयं सदा परिभवद्भगवद्भक्तोऽहं

तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।

मृत्पार्तिहं प्रणतपाद भवाग्निभपोऽहं

बन्दे महापुरुषं ते चरणारविन्दम् ॥३३॥

त्वत्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितरान्जलस्त्रीं

धर्मिष्ठ आर्यवक्त्रा यदगादरघ्यम् ।

मायामृगं दधितयेप्सितमन्वभाववृ

बन्दे महापुरुषं ते चरणारविन्दम् ॥३४॥

एवं युगानुरूपाम्नां भगवान् युगवर्तिभिः ।

मनुर्वरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरा हरि ॥३५॥

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञा सारभागिनः ।

यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वं स्वार्थाऽमिलम्यते ॥३६॥

न ह्यत्र परमा लाभा दहिनां ब्राम्हणमिह ।

उपाङ्ग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पदोंसे संयुक्त रहते हैं । कलियुगमें श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे पदोंके द्वारा उगवर्ती आराधना करते हैं, जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है ॥ ३२ ॥

॥ ३२ ॥ वे ज्येष्ठ भगवान्की स्तुति इस प्रकार करते हैं—प्रभो ! आप चरणारविन्दरक्षक हैं । आपके चरणरविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करनेयोग्य, माया-श्रेष्ठके कारण होनेवाले सांसारिक पराजयोंका अन्त कर देनेवाले तथा मर्कटोंकी समस्त खमीर वस्तुओंका दान करनेवाले कामधेनुस्वरूप हैं । वे तीर्थोंकी भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरूप हैं, शिव, ब्रह्मा आदि ऋषयों के वक्त्र उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो भी उनकी शरणमें आ जाय, उसे स्वीकार कर लेते हैं । सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार-सागरसे पार आनेका न्त्रिये बहाब हैं । महापुरुष ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी कन्दमा करता हूँ ॥ ३३ ॥ भगवन् ! आपके चरणकमलोंकी मछियां खीन कर । एतावतारमें अपने पिता दशरथजीके बचनेसे देवताओंके न्त्रिये भी बाञ्छनीय और दुस्त्यज एम्पत्तसीसे ज्येष्ठकर आपके चरणकमल बन-बन घूमते फिरे । सचमुच आप धमनिष्ठताकी सीमा हैं । और महापुरुष ! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरणकमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे । सचमुच आप प्रेयसी सीमा हैं । प्रभो ! मैं आपका उन्हीं चरणारविन्दोंकी कन्दमा करता हूँ ॥ ३४ ॥

यश्न । इस प्रकार विभिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके अनुरूप नाम-रूपोंद्वारा विभिन्न प्रकारसे भगवान्की आराधना करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभी पुरुषार्थोंके एकत्र सामो भगवान् श्रीहरि ही हैं ॥ ३५ ॥ कलियुगमें केवल सङ्कीर्तनसे ही सारे साध और परमार्थ बन आते हैं । इसलिये इस युगका गुण जाननेवाले सारगाही भ्रष्ट पुरुष कलियुगकी यही प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा फल करते हैं ॥ ३६ ॥ देहाभिमानी जीव ससारचक्रमें बनादि कागधे मटक रहे हैं । उनका न्त्रिये भगवान्की सीमा

ततो विन्देत परमांशान्ति नश्यति ससृति ॥३७॥

कुतादिषु प्रजा राजन् कडाविच्छन्ति सम्भवम् ।

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥३८॥

कचित् कचिन्महाराज द्रविडेषु च मूरिषु ।

ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाज्ञा पयस्विनी ॥३९॥

कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ।

ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।

प्राया भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाक्षयाः ॥४०॥

देवर्षिभूतासृणां पितॄणां

न किञ्चरो नायसृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं

गता मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम् ॥४१॥

स्वपदमूलं भवत प्रियस्य

त्वक्तान्यभातस्य हरिः परस्य ।

विकर्म यद्येतेषां कथञ्चिद्

घुनाति सब हविः सन्निविष्टः ॥४२॥

नारद उवाच

धमान् भागवतान्तिथुः शुक्लाध मिथिलधर ।

जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतं सापाण्याया द्वापृजपत् ॥४३॥

तदाऽन्तर्दधिर मित्राः सर्वलाक्षस्य पश्यत ।

राजा धमानुपातिष्ठमवाप परमां गतिम् ॥४४॥

गुण और नामके कर्त्तनसे कृत्तर और कोई परम जग नहीं है; क्योंकि इससे संसारमें भटकना मिट जाता है और परम शान्तिकर अनुभव होता है ॥ ३७ ॥ राजन् ! सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुगमें हो, क्योंकि कलियुगमें कहीं-कहीं भगवान् नारायण के शरणगत—उन्हींके आश्रयमें रहनेवाले बहुत-से भक्त उत्पन्न होंगे । महाराज निवेद । कलियुगमें द्रविगदेशमें अविम मछ पड़े जाते हैं; जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाया, पयस्विनी परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नामकी नदियाँ बहती हैं । राजन् ! जो मनुष्य इन नदियोंका जल पीते है, प्राय उनका अन्त करण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् वासुदेवके भक्त हो जाते हैं ॥ ३८-४० ॥ राजन् ! जो मनुष्य प्यह करना चाही है, वह करना आसम्भव है—इत्यादि कर्म-वासनाओंका अथवा मनुष्यिक परित्याग करके सर्वज्ञानसे शरणागतकस्य, प्रेम्के शरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें जा गया है, वह देवताओं, ऋषियों, सितों प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके शरणसे उद्धार हो जाता है, वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके कचनमें नहीं रहता ॥ ४१ ॥ जो प्रमी मछ अपने प्रियतम भगवान् के चरणकर्मोंका अनन्यभावसे—दूसरी भक्तियों, आस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियोंका छोड़कर—भजन करता है, उससे पहली बात तो यह है कि फल प्राप्त होते हैं । नहीं पन्तु यदि कभी किसी प्रकार का भी ज्ञान तो परमेश्वर भगवान् भीहरि उसके हृदयमें बैठकर वह सब जो-कुछ देत और उनके हृदयमें छुद कर देते हैं ॥ ४२ ॥

नारदजी कहते हैं—वासुदेवजी ! प्रियलानरेश राजा

निमि नी योगीश्वरोंसे इस प्रकार भगवन्धर्मोंका कर्ण सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए । उन्होंने अन्त अस्त्रिज और आचार्योंके साथ आश्रमनन्दन नी यात्रीधर्मोंकी पूजा की ॥ ४३ ॥ इसके बाद सब लोगोंके सामने ही वे सिद्ध अन्तर्धान हो गए । विश्वराज निमिन उनसे सुन कर भगवन्धर्मोंका आचरण किया और परमाति प्राप्त

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताम्भुतान्।

भ्राम्यन्त भद्रया युक्तो नि सङ्गो यास्यसे परम् ॥४५॥

युवयो स्वस्त्यु दम्पत्योर्यशसा पूरित जगत् ।

पुत्रतामगमद् यद् वां भगवानीश्वरो हरिः ॥४६॥

दर्शनालिङ्गनालापैः श्रयनासनभोजनैः ।

आत्मा वां पावित कृष्ण पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥४७॥

वरेण य नृपतय शिशुपालपौण्ड्र

शास्त्रादया गतिविलासविलाफनादैः ।

भ्यायन्त आकृतधियः श्रयनासनौ

तत्साम्यमापुरतुरक्तधियां पुनः किम् ॥४८॥

मापत्यबुद्धिमद्व्याः कृष्ण संवत्समनीश्वर ।

मायामनुष्मभावन गूढंशर्मे परेऽन्यथे ॥४९॥

भूभारासुरराजान्यहन्तवे गुप्तय सत्ताम् ।

अस्ताप्यस्य निर्दुत्यै यशसा लाक वितन्यत ॥५०॥

श्रीगुरु उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागा वसुदेवाऽतिविस्मित ।

दवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मन ॥५१॥

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद् य समाहितः ।

की ॥ ४४ ॥ महाभाग्यवान् वसुदेवजी ! मेने तुम्हारे
अग्रे जिन भागवतधर्मोंका वर्णन किया है, तुम भी यदि
अद्वैतके साथ इनका आचरण करोगे तो अन्तमें सब
वासक्तियोंसे छूटकर भगवान्का परमार्थ प्राप्त कर
लोगे ॥४५॥ वसुदेवजी ! तुम्हारे और देवसीके स्वप्ने
तो सारा जगत् भरपूर हो रहा है क्योंकि सर्वशक्ति-
वान् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे पुत्रके रूपमें अवतीर
हुए हैं ॥ ४६ ॥ तुमलोगोंने भगवान्के दर्शन, काम्यजन
तथा वात्सल्य करने एवं उन्हें सुखाने, बैठाने, स्निहाने
आदिके द्वारा वास्तव्य-स्नेह करके अपना हरय पुत्र का
स्निह्य है, तुम परम पवित्र हो गये हो ॥४७॥ वसुदेवजी !
शिशुपाल, पौण्ड्र और शङ्ख आदि राजाओंने तो
वैरभावसे श्रीकृष्णकी चामर-ढाल, कीला-निजमल, चित्तक-
बोजन आदिकी स्मरण किया था । वह भी नियन्त्रित
नहीं, सोते, बैठते, चम्पते, किरते — बान्धविरूपसे
ही । फिर भी उनकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्णकर हो गयी
और वे सात्त्विक-मुक्तिके अधिकारी हुए । फिर जो म्लेच
प्रेमभाव और अनुग्रहसे श्रीकृष्णका चित्तन करते ॥
उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति होनेमें कोई संशय है क्या ॥४८॥
वसुदेवजी ! तुम श्रीकृष्णको केवल अपना पुत्र ही न
समझा । वे सर्वरक्षा, सर्वेश्वर, करुणाशील और अविनाश
हैं । उन्होंने श्रीकृष्णके निम्ने मनुष्यरूप प्रकट करके अन्न
एवम् श्रिया रक्ख है ॥ ४९ ॥ वे पूरवीके मारुत
राजवेषधारी असुरोंका नाश और संतोंकी रक्षा करनेके निम्ने
तथा जीवोंको परम शान्ति और मुक्ति देनेके निम्ने ही
अवतीरन हुए हैं और इसीके निम्ने जगत्में उनकी कीर्ति
भी गायी जाती है ॥ ५० ॥

श्रीगुरुदेवजी कहत हैं—प्रिय परीक्षित ! नारदजीक
मुखसे यह सब सुनकर परम भाग्यवान् वसुदेवजी और
परम भक्त्युक्ती देवसीजीने बड़ा ही विस्मय हुआ । उन्में
जो कुछ माया-मोह अन्धकार था, उसे उन्होंने लक्ष्म
छाड़ दिया ॥ ५१ ॥ राजन् ! यह इतिहास परम पवित्र
है । जो पत्रप्रचित्तसे इसे धारण करता है, वह अन्ता

स त्रिपुण्ड्रं शुभं प्रदत्तं भूयः कल्पत ॥५२॥ साय शोकमाह कृत् करकं प्रदत्तं प्राप्ता जाता
हे ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायामेकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ पष्ठोऽध्यायः

देवताभोक्त्रे भगवान्ते सधाम सिधारतेके जिये प्रायना तथा यादवोंको प्रभासद्वय
जानेकी सैयारी करतें दक्षकर उदयका भगवान्के पास मान्य

भीष्मक उवाच

भीष्मक उवाच कहेतें हैं—परीक्षित ! जब देवर्षि

अथ ब्रह्माऽऽत्मजं देवैः प्रलेष्टं राहुतोऽभ्यगात् ।

नारद बहुदेवजाका उपदेश करक बले गये, तब अपने

भवश्च भूतभक्ष्येष्टा ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥

पुत्र सनकादिकों, देवताओं और प्रजापतियोंके साथ

इन्द्रा मरुद्भिर्मगवानादित्या वसवोऽग्निनौ ।

ब्रह्मानी, भूतगणोंके साथ सर्वेश्वर महादेवजी और

अध्वबोऽग्निरतो रुद्रा विश्वं साध्याश्च दधताः ॥ २ ॥

मरुद्गणोंके साथ देवराज इन्द्र द्वारकानगरीमें आये । साथ

गन्धर्वाश्चरसा नागाः सिद्धचारणगुह्यका ।

ही सभी आश्रित्यगण, आठों ऋषि, अश्विनीकुमार, अमु,

अपय पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः ॥ ३ ॥

अश्विणके बंधन अग्नि, ग्याहों इन्द्र, विश्वदेव, साध्यगण,

दारकासुपसजगन् सर्वे कृष्णदिदधुवः ।

गन्धर्व, अस्तराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, अग्नि, क्रिार,

षट्पदा येन मगवान् नरलाकमनोरमः ।

विद्याधर और किन्नर भी वही पहुँचे । इन लोगोंके अग्रामनका

यदा विंतेन लाफ्यु सवलाकमलापहम् ॥ ४ ॥

उदेष्य यह था कि मनुष्यका-सा मनोहर वेग धारण करनेवाले

तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महद्दभि ।

और अपने श्यामसुन्दर विष्णुसे सभी लोगोंका मन अपनी

अप्यक्षताविद्विषाया कृष्णमनुतदशनम् ॥ ५ ॥

आर खींचकर रमा लेनेवाले भगवान् धीहृन्गका दर्शन

मार्गायानापर्मामार्यपलादयन्ता यदुत्तमम् ।

करें; क्योंकि इस समय उन्होंने अपना भीविष्णु प्रगट

गार्भिषियपदाथाभिस्तुष्ट्युजगदाभारम् ॥ ६ ॥

करके उसके द्वार तीनों अक्षरोंमें एसी पवित्र परीतिफ

वित्ताय त्रित्य है, जो समस्त लोगोंके उप-सामर्थ्ये सुनाक

त्रिये मित्र देनी है ॥ १ ॥ द्वारकापुरी सब प्रकारकी

सम्पत्ति और एष्योति सबूद तब अश्वेविक दीप्तिसे

दरीष्मन् हा रही थी । वहाँ आकर उन वागोंने अन्दी

श्रुतिसे युक्त मगवान् धीहृन्गक दर्शन किये । भगवान्

की रूप-माधुरीका निर्निमेष मनोसे पान करनार भी

उनके नर तन न हात थे । वे एकटक बहुत दूरतक

उन्हें देखत ही रह ॥ ५ ॥ उन लोगोंने स्वर्गके उषान

मन्त्रन-मन भंगरप आन्तिक निष्य पुण्योसे जगदीश्वर

भगवान् धीहृन्गका इक पिया और विप्र-विचित्र पदों

तब अर्पोंसे युक्त वागीक द्वार उनकी स्तुति करन

लगे ॥ ६ ॥

देवा ऊचुः

नता स ते नाथ पदारविन्द

बुद्धीन्त्रियप्राणमनोबुधोभि ।

यधिन्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै

ईशशुभि कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥

त्वं मापया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाष्यं

व्यक्त सूत्रसवसि लुम्पसि त्वुगुणस्यः ।

नैवैर्मवानशित कर्मभिरन्यते वै

यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽन्तवयः ॥ ८ ॥

शुद्धिर्नृणां न तु तथेभ्य दुराशयानां

विद्याश्रुताच्ययनदानतपः क्रियाभिः ।

सत्त्वात्मनामूपम ते यद्यति प्रबद्ध

सत्प्रदया भवणसम्भृतया यथा सात् ॥ ९ ॥

स्यान्नत्तवाद्दधिरशुभाश्रयधूमकेतुः

धेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोद्यमान ।

य सात्त्वतै समविमूढय आत्मवद्वि

प्यूहेऽर्चित सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥ १० ॥

यधिन्यत प्रयतपाणिमिरञ्चराम्नी

प्रप्या निरुक्तविभिन्नश हविगृहीत्वा ।

देवताओंने प्रार्थना की—स्वामी । क्योंकि किष्ट
पदोंसे छूटनेकी इच्छावाले सुमुखजन भक्ति-मयसे बने
हृदयमें जिसका चिन्तन करते रहते हैं, उसके उस
चरणममलको हृदयोंमें अपनी बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण,
मन और वाणीसे साक्षात् नमस्कार किया है । ओं ।
आश्चर्य है । * ॥ ७ ॥ अजित । आप भक्तिकरज आदि गुणोंमें
स्थित होकर इस अचिन्त्य नाम-रूपधर्म प्रपञ्चरी
त्रिगुणमयी मयाके द्वारा अपने-आपमें ॥ रचना करते
हैं, पाञ्चन करते और संहार करते हैं । यह सब करते
हुए भी इन कर्मोंसे आप छिन्न नहीं होते हैं, क्योंकि
आप राग-द्वेषादि दोषोंसे सर्वथा मुक्त हैं और वामे
निरावरण अस्पर्श स्वरूपमूल परमानन्दमें मग्न रहते
हैं ॥ ८ ॥ सुप्ति करनेयोग्य परमलम् । जिन मनुष्योंमें
चित्तवृत्ति राग-द्वेषादिसे कलुषित हैं वे उत्सना, वेग-
ध्वन, दान, तपस्व और पक्ष आदि कर्म मले ही करें
परन्तु उनकी वैसी शुद्धि नहीं हो सकती, वैसी शक्त
द्वारा संयुक्त शुद्धान्त करण सज्जन पुरुषोंकी कर्मों
की शक्त, कृतिके विषयमें दिनोदिन बढ़कर परिपूर्ण
होनेवाली बढ़ासे होती है ॥ ९ ॥ मननशील सुमुख
मोक्ष-प्राप्तिके लिये अपने द्वेषसे निकले हुए हृदयके हृदय
विन्हें लिपे-लिये फिरते हैं, पाञ्चपत्र विधिसे उम्भन
करनेवाले भक्तजन समान ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बाहुके
सङ्घर्षण, प्रणम और अनिरुद्ध—इस चतुर्भुजके रुतने
जिनका पूजन करते हैं और जितेन्द्रिय भीरुपुरुष कर्म
लोकात् अतिक्रमण करके भगवद्भक्त्ये प्राप्तिके लिये
तीनों समय जिनकी पूजा किया करते हैं, यद्यपि वे
तीनों केनके द्वारा कृत्ययी हुई विधिसे अपने तन
बायोंमें हविष्य दत्त यजुर्गुहमें आहुति दते और उन्हीं
चिन्तन करते हैं । अगरी अन्नमकरिणी मन्त्रके
त्रिशुल योगीजन हृदयक अन्तर्द्वारे दहरविषा आदि
द्वारा आपके चरणकमलमें ही ध्यान करते हैं और
आपक बड़-बड़ प्रेमी भक्तजन उन्हींका अन्तः परम

१ भक्तभक्तिः ।

२ यो वाच्यः प्रमाणसे तत्पर्य है —

दायाः पादाभ्यां शत्रुभ्यामुरग्य धिरता इत्य । मनस्य वषट्कं चेति प्रथमोऽक्षर इति ॥

३ यो न परतो न पुत्र्यो न वधाः स्वयम्, धिरते विधाते, मनस्य और वाणीसे—इन आठ अक्षरोंसे किया गया

काव्य प्रथम करण है ।

अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्मभाषां

त्रिष्णुभिः परमभागवतैः परीटः ॥११॥

पर्युष्टया तव त्रिभो जनमातयेयं

सत्सर्धिनी भगवती प्रतिपन्नित्तरीः ।

य सुप्रणीतपद्मयार्हणमाददधो

मूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाश्रयपूयकतु ॥१२॥

कतुत्रिविक्रमपुत्राक्षिपतत्पत्ताको

यस्ते मयाभयकरोऽसुरद्वयचम्बोः ।

स्वर्गाय साधुपुत्रलोप्तिविराग भूमन्

पादः पुनस्तु भगवन् भजतामर्ष नः ॥१३॥

नसोतगाव इव यस्य वज्रे भवन्ति

ब्रह्मादयस्तनुमृतो विपुरर्वमानाः ।

कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयो परस्य

सं नस्तनातु चरणं पुरुषोचमस्य ॥१४॥

असासि इतुरुदपम्पितिसंयमाना-

मम्पक्तजीवमद्वितामपि कालमाहुः ।

साज्यं त्रिणाभिरन्वितापचय प्रहृत

काला गभीरस्य उचमरूपस्त्वम् ॥१५॥

आराध्यदेव मानते हैं । प्रभो ! आपके वे ही चरणसम्पन्न
हमारी समस्त अंगुम जसनाओं—विम्वशासनाओंको
मम्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हैं । वे अग्नि के समान
हमारे पाप-साधोंको मल कर दें ॥ १० ११ ॥ प्रभो !
यह भगवती कक्षी आपके कक्ष स्वरूप मुरझायी हुई
बासी कमण्डलु से भी सीतकी तरह स्पर्श रखती हैं । फिर
भी आप उनकी परवा न कर भक्तोंके द्वारा इस बासी
मण्डल से की हुई पूजा भी प्रमत्त होकर करते हैं । ऐसे
मक्तकक्ष प्रभुके चरणसम्पन्न सुखदा हमारी विषय-
वासनाओंको जलनेवाला अग्निस्वरूप हैं ॥ १२ ॥ अनन्त !
बामनाश्वतरसे दीपराज बत्तिली दी हुई पृथ्वीसे नापनेके
लिये जब आपने अपना पाग उठाय था और वह सत्यवेक-
में पहुँच गया था, तब यह ऐसा जान पड़ता था, मानो
कोई बहुत बड़ा विद्रोहजन हो । मङ्गलीके पत्थरनेके
बाद उससे मिली हुई मङ्गलीके जलसे तीन घावरें
एसी जान पड़ती थीं, मानो उसमें छपी हुई तीन पत्तकारें
पड़र गयी हों । उसे देखकर अश्वुरोंकी सेना मपभीत
हो गयी थी और देशसेना निर्भय । आपका वह चरण-
सम्पन्न साधुसमाय पुरुषोंके लिये आपके भाग वैकुण्ठमेक-
की प्राप्ति और दुष्टोंके लिये अधोगति का कारण है ।
भगवन् ! आपका कही पादपत्र हम मन्न करनेवालोंके
सारे पाप-ताप धो-खा दे ॥ १३ ॥ ब्रह्म आदि जितने
भी शरीरवासी हैं, वे सत्य, रब, धर्म—इन तीनों गुणोंके
परस्पर विपरीत विविध भाषोंकी टक्करसे जीत-मरते जाते
हैं । वे सुख-दुःखके चक्करोंसे बाहर नहीं हैं और टीक
देसे ही आपके चरणों हैं, जैसे नये हुए धैर अपने
साथीक चरणों जाते हैं । जब उनके लिये भी बहस्यस्वरूप
हैं । उनके नीचनका आदि, मध्य और अन्त आपके ही
अधीन है । इतना ही नहीं, आप प्रकृति और पुरुषों से भी
परे स्वयं पुरुषोत्तम हैं । आपके चरणसम्पन्न हम अंगोंका
मन्त्राग करें ॥ १४ ॥ प्रभो ! आप इस जगत्की
उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयक परम कारण हैं, क्योंकि
आपोंने ऐसा कहा है कि आप प्रकृति, पुरुष और
महत्त्वक भी नियन्त्रण करनेवाला काज हैं । द्यौः,
पृथ्वी और पर्याकालस्वरूप तीन नावियोंका संकलनके
रूपमें स्वयं आपसी और स्र जानका काज आप
हा हैं । आपकी गति धर्म और गम्भीर है । आप

त्वत्तु पुमान् संमधिगम्य भया स्वधीर्यं

धत्त महान्तमिव गर्भममोघधीर्यं ।

सोऽय तयानुगत आत्मन आण्डकोशं

हेम सत्तर्जं बहिरावरणैरुपेतम् ॥१६॥

तत्तस्युपभ जगतश्च भवानधीशो

यन्माययातथगुणविक्रिययोपनीतान् ।

अर्थाञ्जुपन्नपि हृषीकपते न लिप्तो

येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिम्बवत्सि ॥१७॥

आयावलोकरूपदक्षितभावहारि

भ्रूमण्डलप्रहितसौरसमन्त्रघोषैः ।

पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै

र्वस्येन्द्रियविमवितुं करणैर्न विम्व्यः ॥१८॥

बिम्बस्तवामृतकषोदपहाखिलोक्याः

पादावनेऽस्तरितः क्षमलानि हन्तुम् ।

आनुभवं धृतिभिरङ्घ्रिभ्रमङ्गसङ्गै-

स्तीर्थद्वयं शुचिपदस्त उपसृशन्ति ॥१९॥

बादरायणिरुवाच

इत्यभिधूय विधुर्वैः सेधः क्षततिर्हरिम् ।

अभ्यभाषत गात्रिन्दं प्रणम्याम्बरमाधितः ॥२०॥

महाबाहो

मूमभाराववाराय पुंरा विष्ठापित प्रभो ।

१ अभ्यभिधूय २ सेधः निहन्तुम् ३ मुंरा

स्वयं पुरुषोत्तम हैं ॥ १५ ॥ यह पुनः

प्राप्त करके अमोघधीर्य हा जाता है और फिर

संयुक्त होकर विश्वके मूहत्तत्त्वरूप गमना स्वप्न

है । इसके बाद वह मूहत्तत्त्वं त्रिगुणों का

अनुसरण करके पुष्पी, जड, तेज, वायु, अग्नि

अहङ्कार और मनरूप सात अवस्थाओं (पदों) में

इस सुवर्णवर्ण महापण्डवी रक्षना करता है ॥ १६ ॥

इसलिये हृषीकेश ! आप समस्त कण

अधीन हैं । यही कारण है कि मयावी गुणवित्त

कारण बननेवाले विभिन्न पदार्थों का उपयोग करने

में आप उनमें लिप्त नहीं होते । यह केवल मैं

ही वास्तव है । आपके अतिरिक्त दूसरे वे

उनका स्वयं करके भी उन विषयों से दूरे हैं

॥ १७ ॥ सोच्छ्रवणसे अधिक शक्ति

रूप रखती हैं । वे सब अपनी मन्दन्द सुख

और तिरछी चित्तबलसे युक्त मनोहर मोहने लगी

और सुरतावर्णोंसे प्रौढ़ सम्प्रेषक कमल

हैं और कामकलावी विविध रीतियोंसे व्यस्त

व्याकर्षित करना चाहती हैं; परन्तु फिर भी वे

परिपुष्ट कामबाणोंसे आपका मन तनिक भी न हिला

वे असक्त ही रही ॥ १८ ॥ आपने विभिन्न

पाप-राशियों को धो बहानेके लिये दो प्रकारकी

नदियाँ बहा रखी हैं—एक तो आपकी कृष्ण

छिछसे भरी कल्याणदी और दूसरी आपके पाद-मण्डल

जलसे भरी गङ्गाजी । अतः सस्त्रसेवी विदेश

कर्मोंके द्वारा आपकी कल्याणदी और धरिरेके

गङ्गाजीमें गोला लगाकर दोनों ही तीर्थों का सेवन

है और अपने पाप-ताप मिटा देते हैं ॥ १९ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—परिश्रम ! समस्त देव

और भगवान् शास्त्रोंके साथ मत्तजीने इस प्र

माण्डवकी स्तुति की । इसके बाद वे प्रणाम

अपने धाममें जानेके लिये अन्तर्यामि स्थित हो

मगवान्से इस प्रकार कहने लगे ॥ २० ॥

महाजीने कहा—सर्वभूत प्रभो ! पहले हममें

आपसे अन्तर लेकर पुष्पीका भार उतारनेके

त्वमस्मामिरशेषात्मन्तर्धर्मोपादितम् ॥२१॥
 धर्मश्च स्थापित सत्सु सत्यसंघेषु वै त्वया ।
 कीर्तिश्च विष्णु विधिस्तु सर्वलाभमलापह ॥२२॥
 अवसोर्य यदाश्वे विप्रश्च रूपमनुचमम् ।
 कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृष्ण ॥२३॥
 यानि ते चरितानोष्ठ मनुष्याः साधवः कलौ ।
 शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तम ॥२४॥
 यदुवंशेऽवतीर्णस्य भयत पुरुषोत्तम ।
 शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशतिर्धर्मं प्रभो ॥२५॥
 नाधुना तेऽस्त्रिलाधार दवक्रायावशेषितम् ।
 क्लृप्तं च विप्रज्ञापेन नष्टप्रायमभूद्विदम् ॥२६॥
 एतं स्वधाम परमं विश्रव्य यदि मन्यसे ।
 सलोकौल्लोकराठान्न पाहि वैकुण्ठ किंकरान् ॥२७॥

श्रीभगवानुवाच
 अवधारितमेतन्म यदाश्व विनुद्यमर ।
 कृतं वः कार्यमन्विष्ट भूमभाराज्वलित ॥२८॥
 तदिदं यादवकुलं वायशौषभिषादितम् ।
 लाकं त्रिष्टुष्षष्टं रुष्टं म वलमय महार्थ ॥२९॥
 यपसद्वन्य घसानां यदूनां विपुलं कुलम् ।
 गन्तास्म्यनन लाङ्गण्यष्टदलन विनङ्गयति ॥३०॥
 इदानीं नाश्व आरन्ध्रं कुलम् दित्राणाम् ।
 यास्यामि भवनं मघ्नं नवदन्तं तत्रानय ॥३१॥

प्रार्थना की थी । सो यह काम अपने हमारी प्रार्थनाके अनुसार ही यथोचितरूपसे पूरा कर लिया ॥ २१ ॥
 आपने सख्यप्रसंग साधुपुरुषोंके कल्याणाय धर्मकी स्थापना भी कर दी और दसों दिशाओंमें ऐसी कीर्ति फैला दी, जिसे सुन-सुनाकर सब लोग अपने मनकर मैत्र मित्र दत्ते हैं ॥ २२ ॥ आपने यह सर्वोत्तम रूप धारण करके यदुवंशमें अवतार लिया और जगत्के हितके लिये उगारत और पराक्रमसे मरी बनेकों कीलएँ की ॥ २३ ॥ प्रभो ! कठिणगुमें जो साधुलमाव मनुष्य आपको इन कीजर्भोंका ध्वज-कीर्तन करेंगे, वे सुगमतासे ही इस अज्ञानरूप अन्धकारसे पार हो जायेंगे ॥ २४ ॥ पुरुषोत्तम सक्शकिमान् प्रभो ! आपको यदुवंशमें अवतार प्रदण किये एक सौ पचीस वर्ष बीत गये हैं ॥ २५ ॥ सर्वाधार ! अब इन्द्रगोत्रका ऐसा कोई काम बारी नहीं है, जिसे पून करनेके लिये आपके यहाँ रहनेकी आवश्यकता हो ।
 इन्द्रगोत्रके शापक कारण आपका यह कुत्र भी एक प्रफरसे नष्ट हो ही चुका है ॥ २६ ॥ इसलिये वैकुण्ठनाथ ! यदि अब उचित समझे तो अपने परम-धाममें पधारिये और अपने सेवक हम ज्यैशतार्योस तथा हमारे साक्योंका पावन-प्राणन कीजिये ॥ २७ ॥

भगवान् भीरुप्यन कहा—प्रह्लादी ! अब जस कहते हैं, मैं पहलसे ही बस निश्चय कर चुका हूँ । मैं आपजोगोंका सब काम पूरा करके पृथ्वीका भार उतार दिया ॥ २८ ॥ परन्तु अभी एक काम बारी है यह यह कि यदुवंशी कन्धकिय, शीरता-शरता और धन-सम्पत्तिसे उन्मत्त हो रहें हैं । ये सारे पृथ्वीका प्रस केनेर लुपे हुए हैं । इन्हें मैंने धीरे धीरे ही रात रमज है, जैसे समुद्रको उलक तपका नीन ॥ २९ ॥ यदि मैं धर्मकी ओर उन्मुख यदुवंशीयोंका यह विप्रज बंग नष्ट किये किता ही धन्य जाऊँगा तो य सब धर्मोंका उन्तङ्गन करके सार पायोंका महार पर जाऊँगे ॥ ३० ॥ निशान बदली 'अब इन्द्रगोत्र' कहते इस बदाय नाश प्रारम्भ हो चुका है । इसका अन्त हो जानस मैं आपक धाममें होकर जाऊँगा ॥ ३१ ॥

त्वत् पुमान् संमधिगम्य यया स्ववीर्यं

धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।

सोऽयं तवानुगत आत्मन आप्णोकोर्ध्वं

हेमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१६॥

तत्तस्युपमं जगतश्च भवानधीशो

यन्मावपात्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।

अर्थाञ्जुपमपि हृषीकपते न लिसो

वेऽन्ये स्वतः परिहृतदपि विम्बसि सा ॥१७॥

सायभलोकलक्षदक्षितभास्वहारि

भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशोणैः ।

पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनज्जवायौ

वर्त्येन्द्रियविमथितुं करगैर्नविम्ब्यः ॥१८॥

विम्बस्तवामृतकपोदवहाखिलोक्याः

पादावनेज्जसरितः क्षमलानि हन्तुम् ।

आनुभवं धृतिभिरङ्घ्रिजमज्जस्रै-

स्तीर्ध्र्यं शुचिपदस्त उपस्पृशन्ति ॥१९॥

बादरायणित्वाच

इत्यभिपूय विपुर्धं सेषः क्षततिर्हरिम् ।

अम्यभापत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाधितः ॥२०॥

महोवाच

भूमर्भाराधताराय पुंरा पिद्वापितः प्रभो ।

१ अम्यभिरूप । २ धमकं निहन्तुम् । ३ शूरः ।

स्वयं पुरुषोत्तम हैं ॥ १५ ॥ यह पुरुष आपसे स्त्री प्राप्त करके अमोघवीर्य हो जाता है और फिर मण्डके उस संयुक्त होकर विश्वके मूहत्तरूप गर्भक स्थान बन है । इसके बाद यह मूहत्तर त्रिगुणमयी मूहत्तर अनुसरण करके पृथ्वी, जल, तब, वायु, अग्नि, अहङ्कार और मनरूप सात आवरणों (परतों) को इस सुवर्णवर्ण ब्रह्माण्डकी रचना करता है ॥ १६ ॥ इसलिये हृषीकेश ! आप समस्त चराचर जगत् अवीचर हैं । यही कारण है कि मयाकी गुण-विक्रियों के कारण बननेवाले विभिन्न पदार्थोंका उपयोग करते हैं भी आप उनमें मिस नहीं होते । यह केवल आपकी ही बात है । आपके अतिरिक्त दूसरे को तो वह उनका त्याग करके भी उन विषयोंसे दूरे होते हैं ॥ १७ ॥ सोज्ज्वलित होनेसे अधिक रानियों को साथ रखती हैं । वे सब अपनी मन्द-मन्द सुस्मृति और तिरछी चितवनसे युक्त मनोहर मीठी स्मृति और सुरतअर्थोंसे प्रीति सम्मोहित कामनाय कर्त हैं और कामकलाकी विभिन्न रीतियोंसे आपका न आवर्णित करना चाहती हैं; परन्तु फिर भी वे अपने परिपुष्ट कामनाओंसे आपका मन तनिक भी न भिगा सकें वे असफल ही रहती ॥ १८ ॥ आपने जिनके भी पाप-राशियों को ज्वाले के लिये दो प्रकारकी पत्त नदियाँ बहा रखी हैं—एक तो आपकी बहुरूपी अग्निसे भरी कमानदी और दूसरी आपके पाद-महाअग्नि जलसे भरी गङ्गाजी । अतः समस्त जगत् की जिनके द्वारा आपकी कमानदीमें और शरीरके इन गङ्गाजीमें गोता लगाकर दोनों ही तीर्थोंका सेवन करते हैं और अपने पाप-ताप मित्र दते हैं ॥ १९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! समस्त देवता और भगवान् शहरके साथ राजाजीने इस प्रसन्न भगवान्की स्तुति की । इसके बाद वे प्रणाम करके अपने धाममें जानेके लिये आकरामें स्विता होकर भगवान्से इस प्रकार कहने लगे ॥ २० ॥

ब्रह्माजीने कहा—सर्वात्मन् प्रभो ! पहले हमसे आपसे अक्षतार लेकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये

तन्निरीक्ष्याद्वो राजन् धृत्वा भगवतोदितम् ।

रघारिणानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुग्रत ॥४०॥

विविक्त उपसगम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।

प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभापत ॥४१॥

उत्तम उवाच

देवदेवेश योगेश पुष्पधवणकीतन ।

सहस्रैतत् कुल नृल लार्क संस्पृश्यते भवान् ।

विप्रश्नाप समर्थोऽपि प्रत्यहम् यदीश्वर ॥४२॥

नाहं तवाङ्घ्रिकमल क्षणार्धमपि केचन ।

त्यक्तुं समुत्सह नाथ स्वधाम नय मामपि ॥४३॥

तव विक्रीडित कृष्ण नृणा परममङ्गलम् ।

क्षमपीपुषाम्बाघ त्यजन्त्यन्यसृष्टा जन ॥४४॥

शुभ्यामनाग्नम्पानखानक्रीडाशुनादिषु ।

रूप त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजमहि ॥४५॥

नृपापभुक्तस्त्रयान्धरापाण्डुकारचर्चिता ।

उच्छिष्टभाजिना दामस्तव मापां त्रयमहि ॥४६॥

परीक्षित ! उद्यवजी भगवान् धीकृष्णके बड़े प्रमी और सेवक थे । उन्होंने जब यदुवर्धनको यात्राकी तैयारी करते देखे, भगवान् की आज्ञा सुनी और अत्यन्त धीर अपराधुन दमे, तब वे जगत् के एकमात्र अधिपति भगवान् धीकृष्णके पास एकान्तमें गये, उनके चरभोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे ॥ ४०-४१ ॥

उद्यवजीने कहा—योगेश्वर ! आप देवाधिदेवोंके भी अधीश्वर हैं । आपकी लीलाओंके भवण-वर्तिनसे जीव पवित्र हो जाता है । आप सर्वशक्तिमन् परमेश्वर हैं । आप चाहते, तो शक्तियोंके शापको मित्य सकते थे । परन्तु आपने वैसा किया नहीं । इससे न यह समझ गया कि अब आप यदुवर्धन सवार करके, इसे समेटकर अवश्य ही इस लोकका परिष्कार कर देंगे ॥ ४२ ॥ परन्तु घुंघराही बलकोंशले श्यामसुन्दर ! मैं आप क्षणके लिये भी आपके चरणकमलोंके त्यागकी बात सोच भी नहीं सकता । मेरे जीवनसक्ल, मेरे साथी ! आप मुझे भी अपने वाममें ल चर्चित्वे ॥ ४३ ॥ प्यारे कृष्ण ! आपकी एक-एक जीव मनुष्योंके लिये परम मङ्गलमयी और कानोंके लिये अमृतस्वरूप है । जिसे एक बार उस रसका चस्मना त्या जाता है, उसके मनमें फिर किसी दूसरी वस्तुके लिये लालसा हा नहीं रह जाती । प्रभो ! हम तो उठते-बैठते, सोते-जागते, घूमते-फिरते आपके साथ रह हैं, हमने आपके साथ आन किया, लेख खेले, भोवन किया, कदाचित्त गिनाये, हमारी एक-एक चट्टा आपके साथ होती रही । आप हमारे विषयमें हैं, और ता क्या, आप हमारे अन्तर्गत ही हैं । ऐसी स्थितिमें हम आपके प्रभा भक्त आपका कसे छोड़ सकते हैं ? ॥ ४४-४५ ॥ हमने आपकी धारण की हुई मारा पहनते आपके त्याग हुए चन्दन मगये, आपके उतारे हुए कप पहन और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपन-आपको सजात रहे । हम आपकी नटन रानचाल सेवक हैं । इनानि हम आपकी मद्यार अवश्य ही किया प्रान कर लेंगे । (अन प्रभा ! हमने आपकी मद्यार उर नहीं है, उर है ता कवच व्यापक विद्यारर) ॥ ४६ ॥

१. नृपान्-पुत्रोंमें नहीं है । २. लक्ष्मण-नृपता वना ।

अ. ६ । २. १४—

श्रीभुक्त उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम् ।

सह देवगणैर्देषः स्वधाम समपद्यत ॥३२॥

अथ तस्यां महोत्पासन् द्वारवत्पां समुत्थितान् ।

विलोक्य भगवानाह यदुष्टद्वान् समागतान् ॥३३॥

श्रीभगवानुवाच

एते वै सुमहोत्पाता व्युत्थिष्ठन्तीह सर्वतः ।

घापय नः कुलखासीद् ब्राह्मणभ्यां दुरस्ययः ॥३४॥

न वस्तम्भमिहास्माभिर्विजिजीविषुभिरार्षकाः ।

प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्वामोऽद्यैव मा धिरम् ॥३५॥

यत्र स्नात्वा दक्षशपाद् गृहीतो यक्ष्मणाश्चरद् ।

विमुक्तं किन्विषात् सद्या मेजे भूयः कलोदयम् ॥३६॥

वयं च तस्मिन्नाप्नुस्त्य तर्पयित्वा पितॄन्सुरान् ।

भोजयित्वाऽग्निं च विप्रान् नानागुणवतान्भसा ॥३७॥

तेषु दानानि पात्रेषु भद्रयोप्त्वा महान्ति वै ।

इजिनानि तरिष्यामा दानैर्नोभिरिषार्षभम् ॥३८॥

श्रीभुक्त उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टां यादवाः कुलनन्दन ।

यन्तुं कृतभिवस्तीर्थं सन्दनान् समयुयुजन् ॥३९॥

श्रीभुक्तदेवजी कहते हैं—परिमित । जब बलि-
छेकाधिपति भगवान् श्रीकृष्णन इस प्रकार कहा, तब
ब्रह्मजीने उन्हें प्रणाम किया और देवताओं के साथ वे
अपने धामको चले गये ॥ ३२ ॥ उनके चले ही
द्वारकापुरीमें बड़े-बड़े अपराधुन, बड़े-बड़े उपासक उठ
खड़े हुए । उन्हें देखकर यदुवशके बड़े-बड़े भगवान्
श्रीकृष्णके पास आये । भगवान् श्रीकृष्णने उनसे यह
बात कही ॥ ३३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णन कहा—गुरुजनो ! जबकि
द्वारकामें जिवर देखिये, उकर ही बड़े-बड़े अस्तुन
और उपासक हो रहे हैं । आपभोग जानते ही हैं कि
ब्राह्मणोंने हमारे वंशको ऐसा शाप दे दिया है, जिसे
टाक सकना बहुत ही कठिन है । मेरा ऐसा निचर
है कि यदि हमभोग अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हों
तो हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये । अब किन्म करके
आत्मसंरक्षण नहीं है । हमभोग जान ही पर
पवित्र प्रभासछेत्रके जिये निश्चय पूर्व ॥ ३४-३५ ॥
प्रभासछेत्रकी महिमा बहुत प्रसिद्ध है । जिस समय दक्ष
प्रजापतिके शापसे चन्द्रमन्त्रके राजपत्न्य रोगने मर गि-
या, उस समय उन्होंने प्रभासछेत्रमें जाकर स्नान कि-
या, और वे तत्क्षण उस पानवन्ध्य रोगसे छूट गये । साथ
ही उन्हें कल्यणोंकी अभिवृद्धि भी प्राप्त हो गयी ॥ ३६ ॥
हमभोग भी प्रभासछेत्रमें चक्रकर स्नान करेंगे, देवता
एवं पितृदेवता तर्पण करेंगे और साथ ही अनेकों
गुणवाले पक्वान तैयार करके अनेक ब्राह्मणोंको
भोजन करायेंगे । यहाँ हमभोग उन उपासक ब्राह्मणोंको
पूरी श्रद्धासे बड़ी-बड़ी दान-दक्षिणा देंगे और इस
प्रकार उनके द्वारा अपने बड़े-बड़े सङ्कटोंको हल ही
पार कर जायेंगे, जैसे कोई जहाजके द्वारा समुद्र पार
कर जाय । ॥ ३७-३८ ॥

श्रीभुक्तदेवजी कहते हैं—कुलनन्दन । जब भगवान्
श्रीकृष्णने इस प्रकार आज्ञा दी, तब यदुवसिपौने एक
गस्तसे प्रभास जानेका निश्चय कर लिया और सब
अपने-अपने रख सबाने-बोताने लगे ॥ ३९ ॥

तन्मिरीक्षाद्वा राजन् भुत्वा भगवतोदितम् ।

दृष्टारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुमत ॥४०॥

विषिक्त उपसगम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।

प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभापत ॥४१॥

उद्भव उवाच

देवदेवेश येतेह पुण्यध्वजकीलन ।

सहस्रैतद् कुलं नूनं लार्कं संत्यक्ष्यते भवान् ।

विप्रश्नापं समर्थोऽपि प्रत्यहम् यदीश्वर ॥४२॥

नाहं तवाह्निकमलं ध्वजार्यमपि केवलम् ।

त्यक्तुं समुत्सहं नाथ स्वधाम नय मामपि ॥४३॥

तव विक्रीडितं कृष्णं नृणां परममङ्गलम् ।

कृष्णपीपुषाम्बाद्यं त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनः ॥४४॥

अस्यामनात्नम्भान्भ्रान्तक्रीडाश्रनादिषु ।

रूपं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजामहि ॥४५॥

त्वयापभुज्यमान्यवामाऽलंकारचञ्चिताः ।

उच्छिष्टभात्रिणा दामास्त्य भावां जयेमहि ॥४६॥

परीक्षित ! उद्भवजी भगवान् धीरुष्णके बड़े प्रेमी और सेवक थे। उन्होंने जब यदुर्वाशियोंको यात्राका तैयारी करते देख्य, भगवान्की आज्ञा सुनी और अत्यन्त घोर अपशकुन देख्य, तब वे जगत्के एकमात्र अधिपति भगवान् धीरुष्णके पास एकान्तमें गये, उनके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे ॥ ४०-४१ ॥

उद्भवजीने कहा—योगेश्वर ! आप देशाधिपतिमेंसे भी अधीश्वर हैं। आपकी लीलाओंके मन्त्र-कीर्तनसे जीव पवित्र हो जाता है। आप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आप चाहते, तो आकाशमें शपकें मिट्टा सकते थे। परन्तु आपने ऐसा किया नहीं। इससे मैं यह समझ गया कि अब आप यदुर्वश्वर संसार करके, इसे समेटकर अक्षय ही इस लोकका परिष्कार कर देंगे ॥ ४२ ॥ परन्तु घुँघराही बलकोंवाले श्यामसुन्दर ! मैं आपके धुणके लिये भी आपके चरणकमलोंके त्यागकी बात सोच भी नहीं सकता। मेरे जीवनसंरक्ष, मेरे स्वामी ! आप मुझे भी अपने धाममें ले चलिये ॥ ४३ ॥ प्यार कृष्ण ! आपकी एक-एक लीला मनुष्योंके लिये परम महिम्नपी और फानोंक लिये अप्रतारक है। जिससे एक बार उस रसका चस्का लगा जाता है, उसके मनमें फिर किसी दूसरी वस्तुके लिये लालसा ही नहीं रह जाती। प्रभो ! हम तो उठते-बैठते, सोते-जागते, नुस्ते-सिरते आपके साथ रहे हैं, हमने आपके साथ श्रान किया, मेक लेने, मोहन किया कष्टोंक गिनारें, हमारी एक-एक चढ़ा आपके साथ होती रही। आप हमारे प्रियतम हैं और ता क्या, आप हमारे आत्मा ही हैं। ऐसी स्थितिमें हम आपके प्रेम में आपकी फसे छाड़ सकते हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ हमने आपकी धारण की हुई माना पहनो, आपके त्याग हुए चन्दन लपटों आपके उठते हुए बार पहन और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपन-आपका सजावत रहे। हम आपकी जूटन छानने से सेवक हैं। श्रमण्य हम आपकी यादोंकर अक्षय ही विषय प्राप्त कर लेंगे। (अतः प्रभो ! हमने आपकी यादोंकर नहीं द, पर हं का कर्तव्य आपके विपरीत) ॥ ४६ ॥

वातरक्षणा य श्रुपयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।

अस्मात्संधाम ते यान्ति श्रान्ता सन्यासिनोऽमलाः ॥४७॥

वय त्विह महायोगिन् अमन्तः कर्मवर्षसु ।

त्वद्द्वार्तया तरिष्णामस्तत्त्वकैर्दुस्तर समः ॥४८॥

अमन्तः कीर्तयन्तमन्तं कृतानि गदितानि च ।

मस्युत्सितोद्यमस्वेति यन्नृलोकविदम्बनम् ॥४९॥

श्रीकृष्ण उवाच

एव विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः ।

एकान्तिर्न प्रिय मृत्युमुद्वहं समभाषत ॥५०॥

हम जानते हैं कि मायाको पार कर लेना बहुत ही कठिन है । बड़े-बड़े श्रमि-मुनि दिगम्बर रहकर और आनीस नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पाछन करके अष्टाश्रमियों के निम्ने व्यस्त परिश्रम करते हैं । इस प्रकारकी कठिन साधना-से उन संन्यासियोंके हृदय निर्मल हो पाते हैं और तब कहीं वे समस्त धृष्टियोंकी शान्तिरूप नैकर्म्य-वस्तुमें स्थित होकर आपके ब्रह्मनामक धामको प्राप्त होते हैं ॥४७॥ महायोगेश्वर ! हम जेग तो कर्म-मार्गमें ही भ्रम-भटक रहे हैं ! परन्तु इतना निश्चित है कि हम आपके मऊजनोंके साथ आपके गुणों और लीलाओंकी कर्चा करेंगे तब मनुष्यकी-सी बील्य करते हुए आपने जो कुछ किया था कहा है, उसका स्मरण-कीर्तन करते रहेंगे । साथ ही आपकी चाख-शुल, मुसकान-चितवन और हस-परिहासकी स्मृतिमें तन्मयेन हो जायेंगे । केवल इससे हम दुस्तर मायाको पार कर लेंगे । (इसलिये हमें मयसे पार आनेकी नहीं, आपके विश्वकी किन्ता है । आप हमें ओढ़िये नहीं, साथ ले चखिये) ॥ ४८ ४९ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहते हैं—प्रीति ! जब उद्वहनीने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने अपने अनुरोधमें सख्य एवं सेवक उद्वह-जीसे कहा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संवितायामेकदशस्कन्धे पञ्चेऽध्याय ॥ ९ ॥

अथ सप्तमोऽध्याय

मयपूतोपाख्यान—पृथ्वीसे लेकर कपूतगन्धक अठ गुरुओंकी कथा

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग सचिकीर्षितमव म ।

मद्या भवो लोकपाला स्वर्वासं मऽभिकाक्षिण्य ॥१॥

मया निष्पादितं सद्य देवकार्यमशेषतः ।

वदर्थमयतीर्थोऽहमंशेन प्रदण्यार्थित ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभागमयन् उद्वह ! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं बड़ी करुणा चाहत हूँ । मया दाक्षर और इन्द्रादि स्नेहसख भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके ओकोंमें होकर अपने काममें चला जाऊँ ॥ १ ॥ पृथ्वीपर देवताओंका जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर चुका । इसी कामका उधे मयादीक प्रार्थनासे मैं बल्यमन्त्रीक साथ अन्तिर्ग हुअ

कुलं वै आपनिदग्धं नक्षत्रत्यन्वोन्धविग्रहात् ।

समुद्र सप्तमेऽहचेतां पुरीं च भुत्वभिष्यति ॥ ३ ॥

यज्ञेवाच मया त्यक्तो ठाक्रेऽयं नष्टमङ्गल ।

भविष्यत्यचिरात् साधा कलिनापि निराकृतः ॥ ४ ॥

न बलस्य त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।

जनाऽधमरुचिमद्र भविष्यति कजौ युगे ॥ ५ ॥

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।

सर्वावेष्ट्य मनः सम्यक् समदग् विचारस्य गाम् ॥ ६ ॥

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्मां भवणादिभिः ।

नम्रं गृहमन्त्रं च विद्धि माया मनोमयम् ॥ ७ ॥

पुत्राऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।

रुमाकर्मनिकर्मेति गुणदोषभियो भिदा ॥ ८ ॥

तस्माद्युक्तस्त्रिप्रयामा युक्तचित्त इव जगत् ।

आत्मनोऽध्वं विततमात्मानं मय्यधीमर ॥ ९ ॥

ज्ञानविज्ञानमयुक्त आत्मभूत शरीरिणाम् ।

आत्मानुभवतुष्टमा नान्तरायविहन्यसे ॥ १० ॥

था ॥ २ ॥ अब यह यदुक्ता, जो बाह्योंके आपसे मस्य हा चुका है, पारस्परिक छूट और पुनःसे नष्ट हो जायगा । आजके सातवें दिन समुद्र इस पुरी-शरकरको कुनो दगा ॥ ३ ॥ प्यारे उदय ! जिस क्षण मैं मर्त्य-लोकका परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मङ्गल नष्ट हो जायेंगे और थोड़ा ही दिनोंमें पृथ्वीपर कलियुगका बोलबाला हो जायगा ॥ ४ ॥ जब मैं इस पृथ्वीका त्याग कर दूँ, तब तुम इसपर मत रहना, क्योंकि साष्ट उदय ! कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी ॥ ५ ॥ अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्यप्रमसे मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टिसे पृथ्वीमें लक्ष्यन्द विचारण करो ॥ ६ ॥ इस जगत्में जो कुछ मनसे साँचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है । सपनेकी तरह मनका विजस है । इतकिया मायावात्र है, निष्पत्ति है—ऐसा समझ जा ॥ ७ ॥ जिस पुरुषका मन अशान्त है, असुख है, उसीको पागलसी तरह अनेकों वस्तुएँ मात्स्य पकती हैं, शस्त्रवर्गें यह चित्तका भ्रम ही है । नमस्वका भ्रम हा जानकर ही यह गुण है और यह दाप' इस प्रकारकी कल्पना करनी पकती है । जिसकी बुद्धिमें गुण और दोषका भेद बैठ गया है, दृढ़मूढ़ हो गया है, उसीके लिय कम-अकर्मा और विकर्मरूपों में दृढ़ प्रतिपादन हुआ है ॥ ८ ॥ इन्द्रिये उदय ! तुम पहले अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें कर ले, उनकी बागडोर अपने हाथमें ले लो और कतल इन्द्रियोंको ही नहीं, चित्तकी समस्त वृत्तियोंको भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मान ही के हाथ हुआ है और आत्मा मुझ सर्वोत्तम इन्द्रियातीन मससे एक है, अभिन्न ॥ ९ ॥ अब देशोंके मुख्य नात्यर्थ-निधय-रूप ज्ञान और अनुभवरूप विज्ञानसे भरीमैति समझ होकर तुम अपने आत्माके अनुभवमें ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि दारिदरियोंके आश्रय हो जाओगे । इसलिय किसी भी विनसे तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे, क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करनेवाणकी

स्वजनस्यनम् ।

• चित्त कर्म । † चित्त कर्मका धर । ‡ निषिद्ध कर्म ।

दोषबुद्धयोभयात्तीता निषेधात् निवर्तते ।

गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्थम् ॥११॥

सर्वभूतसुखच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिष्पन्नः ।

पश्यन् मदत्मकं विश्वं न विपद्यत वै पुनः ॥१२॥

श्रीकृष्ण उवाच

इत्यादिष्टा भगवता महाभागवतो नृप ।

उद्वहः प्रमिपस्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥१३॥

उद्वह उवाच

योगश्च योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव ।

निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्वागः समासलक्षणः ॥१४॥

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् क्षमानां विपयात्मभिः ।

सुतरां त्वयि सर्वात्मनभक्तैरिति मे मतिः ॥१५॥

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ

स्वन्मायया विरचितारमणिं सालुनधे ।

तत्त्वज्ञाता निगदित भवता यथाहं

ससाधयामि भगवन्मुमुक्षाधि मृत्युम् ॥१६॥

सत्यस्य त स्वरूप आत्मन आत्मनान्य

पकारमीश विपुषन्वपि नानुषध ।

आत्मा भी तुम्हीं होगे ॥ १० ॥ जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धिसे अतीत हो जाता है, वह बावकके समान निषिद्ध कर्मसे निवृत्त होता है, परन्तु दोष-बुद्धिसे नहीं। वह विहित कर्मका अनुष्ठान भी करता है, परन्तु गुण-बुद्धिसे नहीं ॥ ११ ॥ जिसने भुक्तिमोके तत्पर्यथा यथाय ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर सिद्ध भक्ति उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो कुछ निष्पत्तिसे सम्पन्न हो गया है, वह समस्त प्राप्तिमें ही तैयारी सुख होता है और उसकी वृत्ति सभी सर्वथा शान्त रहती हैं। वह समस्त प्रतीयमान विद्वत्को मेरा ही स्वरूप—आत्मस्वरूप देखता है, इसलिये उसे फिर कभी जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णकेवली कहते हैं—परीक्षित! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान्के परम प्रेमी उद्वहजीने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति ईच्छते यह प्रश्न किया ॥ १३ ॥

उद्वहजीने कहा—भगवान्! आप ही समस्त योगियोंकी गुप्त दूबी, योगोंके कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगोंके आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परमकल्याणके लिये उस संयमस्वरूप व्याकरण उपदेश किया है ॥ १४ ॥ परन्तु अनन्त। जो लोग विषयोंके चिन्तन और सेवनमें मग्न रह गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय-योगों और कामनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन है। सर्वस्वकार! उनमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकारका त्याग सर्वथा असम्भव ही है—ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥ प्रभो! मैं भी ऐसा ही हूँ। मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि 'मद' मैं हूँ, यह मेरा ही। इस भावसे मैं आपकी भाषाके छेड़, धड़ और दहके सम्बन्धी ली, पुत्र, धन आदिमें डूब रहा हूँ। अब भगवान्! आपने जिस सम्प्राप्तका उपदेश किया है उसका तत्त्व मुझ सेवक इस प्रकार समझाये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ ॥ १६ ॥ मेरा प्रभो! आप भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालोंसे अबाधित, एकरस सत्य हैं। आप दूसरेके द्वारा प्रशंसित नहीं, स्वप्रकाश आत्मस्वरूप हैं। प्रभो! मैं समझ रहा हूँ कि मैंने आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला जगद अनिष्टक दक्षताओंमें भी काह नहीं दे। क्या यह

सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे

प्रसादयस्तनुमुता बहिरर्थात्मा ॥१७॥

तस्माद् भवन्तमनसधमनन्तपात्र

सर्वज्ञमीधरमकुण्डलिकुण्डलिण्यम् ।

निर्विण्णधीरेहम् इ धृतिनामितसो

नारायण नरसत्त्वं शरणं प्रथमं ॥१८॥

भीमगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोक्तश्चविचक्षणः ।

समुद्वरन्ति स्मात्मानमन्तमनैवाशुभाद्यथात् ॥१९॥

आत्मनो गुरुतमेव पुरुषस्य विज्ञेयः ।

यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भयोऽसावनुविन्दते ॥२०॥

पुरुषस्य च मां धीराः सांख्ययोगविहारदाः ।

आवित्तरां प्रपन्नान्ति सचक्षुस्तुपहृंहितम् ॥२१॥

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः ।

बह्वचः सन्ति पुर सुष्टान्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥२२॥

अत्र मां मर्मयन्त्यत्रा मुक्ता हतुभिराश्रयम् ।

प्रमाणैर्गुणैर्लिङ्गैर्प्राप्तमनुमानतः ॥२३॥

ब्राह्म्युदाहरन्तीममिच्छिदासं पुरातनम् ।

जितने बड़े बड़ देवता हैं, वे सब शरीरभिमानी होनेके कारण आपकी मायासे भ्रमित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि मायाके बलमें ही गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियोंसे अनुभव किये जानेवाले बाह्य विषयोंको सत्य मानते हैं। इसीछिये मुझे तो आप ही उपदेश कीजिये ॥१७॥
मगधन्' इसीसे चारों ओरसे दु खोंकी दावानलसे जलकर और बिराह होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप निर्गुण देव-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठशोकके निवासी एव नरके नित्य सुखा नारायण हैं। (अतः आप ही मुझे उपदेश कीजिये, ॥ १८ ॥

भगवान् धीकृष्णने कहा—उत्तर। संसारमें जो मनुष्य पद-बगल-क्या है? इसमें क्या हो रहा है? इत्यादि कालोंका निवार करनेमें निपुण हैं, व चित्तमें भी हुई अशुभ वासनाओंसे अपने-आपको सत्य अपनी विवेक-शक्तिके ही प्रायः बन्धा लेते हैं ॥ १९ ॥ समस्त प्राणियोंका विशेषकर मनुष्यका आत्मा अपने हित और अहितका उपदेशक गुरु है। क्योंकि मनुष्य अपने प्राप्त अनुभव और अनुमानके द्वारा अपने हित-अहितका निर्णय करनेमें पूर्णतः समर्थ है ॥ २० ॥ सांख्य-योगविहारद भी पुरुष इस मनुष्ययोगिनिर्दिष्टशक्ति, मन-शक्ति आदिके आश्रयभूत मुक्त आत्मतत्त्वको पूजित प्रकल्पते साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ २१ ॥ मैंने एक पैरबाल, दो पैरबाल, तीन पैरबाले, चार पैरबाले, चारसे अधिक पैरबाले और बिना पैरक—इत्यादि अनेक प्रकार के शरीरोंका निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्यका ही शरीर है ॥ २२ ॥ इस मनुष्य-शरीरमें एकप्रतिबिम्ब शरीरबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि प्रवृत्ति किये जानेवाले हेतुओंसे जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमानसे अज्ञात अर्थात् अदृष्ट आदि विषयोंसे भिन्न मुझ सबप्रवृत्तक ईश्वरको साक्षात् अनुभव करते हैं ॥ २३ ॥ इस विषयमें महामायाका एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। यह इतिहास परम

१ विह मुकु ।

२ अनुकूलजनके हां प्रश्नर है—(१) एक स्वयंकाय तत्त्वके भिन्न बुद्धि आदि यह पदार्थोंका प्रकाश नहीं हो सकया।
३ प्रश्नर अर्थात् अधिक द्वारा और (२) जैसे बलीका आदि औजार किये कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार यह

अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजस ॥२४॥
अवधूतं द्विजं कंचिद्वरन्तमद्भुतोभयम् ।

कविं निरीक्ष्य तं रूपं यदुः पश्यन् च घर्षयित् ॥२५॥
यं तुल्यमान

श्रुतो बुद्धिरियं ब्रह्मभक्तुः सुविशारदा ।

यामासाद्य भवोच्छोकों विदां धरति बालवत् ॥२६॥

प्राप्तो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवा ।

हेतुनेष समीहन्ते आद्युपो मधुसः भिषः ॥२७॥

त्वं तु कल्प कविर्दृष्ट सुभगाऽमृतभाषणः ।

न क्त्वा नेहसे किंचिद्वदोन्मत्तपिशाचवत् ॥२८॥

जनेषु दक्षमानेषु कामलोभदवाधिना ।

न तत्पक्षेऽधिना मुक्तो मज्जात्मनः स्वश्च द्विप ॥२९॥

त्वं हि नः पूज्यतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।

मूढि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलतात्मनः ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

यदुनेनं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।

पृष्ट सभाजितः प्राह प्रभयावनतं द्विशः ॥३१॥

तेजसी अवधूत दत्तात्रेय और रामा यदुके सम्बन्ध
रूपमें है ॥ २४ ॥ एक बार धर्मके मर्मज्ञ रामा यदुने
देखा कि एक त्रिवक्त्रमूर्धशी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय
विचार रहे हैं । तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया ॥ २५ ॥

रामा यदुने पूछा—ब्रह्मन् ! आप कर्म तो करते
नहीं, फिर आपको यह व्यस्त निपुण बुद्धि क्योंसे
प्राप्त हुई ? जिसका आवरण लेकर आप परम विद्वान् होने
भी ब्राह्मणके समान संसारमें विचरते रहते हैं ॥ २६ ॥ ऐसा
देखा जाता है कि मनुष्य बापु, यश अप्पन् सौन्दर्य,
सम्पत्ति आदिकी अभिलषणा लेकर ही धर्म, धर्म, धर्म
व्यथा तत्त्व-विज्ञानमें प्रवृत्त होते हैं, अकारण क्यों
किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती ॥ २७ ॥ मैं देख
रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ, विद्वान् और निपुण हैं ।
आपका माया और सौन्दर्य भी प्रशस्नीय है ।
आपकी वाणीसे तो मनो अमृत टपक रहा है । फिर
भी आप जब, वन्मत्त अवस्था पिशाचके समान रहते
हैं, न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं ॥ २८ ॥
संसारके अधिकांश भोग काम और लोभके दास्यमानसे
जस रहे हैं । परन्तु आपको देखकर ऐसा मालूम होता
है कि आप मुक्त हैं, आपका उसकी ओर भी नहीं
पड़ें च पत्नी, धीक धैसे ही जैसे कोई हाथी कनमें दागमि
जानेपर उससे छूटकर गल्लासकमें जाता हो ॥ २९ ॥
ब्रह्मन् ! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसारके स्पर्शसे भी रहित
हैं । आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूपमें ही स्थित
रहते हैं । हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको
कल्पे आत्मामें ही ऐसे अनिर्वर्धनीय आनन्दका अनुभव
कैसे होता है ? आप क्या करके अवश्य कृतकृत्य हैं ॥ ३० ॥
भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव ! हमारे पूर्वज
महाराज यदुकी बुद्धि सुदृढ़ थी और उनके हारसे
ब्राह्मणमति थी । उन्होंने परममम्यज्ञान् दत्तात्रेयकी
अप्यस्त स्तुति करके यह प्रश्न पूछा और बड़े निम-
ग्नसे सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये ।
अब दत्तात्रेयजीने कहा ॥ ३१ ॥

१ कल्पम् । २ प्राचीन प्रथिमें नहीं है ।

बुद्धि आदि योग्य किती कर्ताके द्वारा ही प्रयुक्त हो रहे हैं । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् आत्ममति
है । यह तो देहादिके विच्छेदन अथवा धर्मके योग्यकी बुद्धिमत्ता है

माधव उवाच

सन्ति म गुस्वाराजन् वहो मुद्रपपाभिता ।
 यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽहो महि वाञ्छन् ॥३२॥
 पृथिवी वायुराकाशमार्पाऽग्निश्चन्द्रमा रवि ।
 कपोतोऽजगर मित्यु पतङ्गो मधुकृद् गज ॥३३॥
 मधुहा हरिणा मान विक्रान्तो कुरोऽमक ।
 कुमारी श्वरकृत् सर्प ऊर्णनाभि सुपञ्चकृत् ॥३४॥
 एते मे गुरवा राज्ञश्चतुर्विंशतिराभिता ।
 शिक्षां हृदिभिरतेपामन्वशिक्षमिहात्मन ॥३५॥
 यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुपात्मज ।
 तत्तथा पुरुषस्याग्न निबोध कथयामि ते ॥३६॥
 भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगै ।

तद् विद्वान्न चलन्मागादन्वशिष्यं धितव्रतम् ॥३७॥

उभयपराधसबह परार्थकान्तसम्भव ।

मातु शिक्षित भूमता नगप्रिय परामताम् ॥३८॥

प्राणहृत्पय मनुष्यन्मुनिर्नवेन्द्रियप्रिय ।

प्रश्नवेत्ता वृत्तात्रेयजीन कथा—रात्रन् । मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ । तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो ॥ ३२ ॥ मेरे गुरुओंके नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, पशुपति, अजगर, समुद्र, पतंग, मीठ या मधुमक्खे, हाथी, शहद निकालनवाला, हरित, मछली, विप्लव वेद्य, कुर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सप, मकड़ी और चूँचूँ काट ॥ ३३ ३४ ॥ रात्रन् ! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इनकी व्यवहारसे इस लोके मैं अपने अपने शिक्षा ग्रहण की है ॥ ३५ ॥ वीरवर पयतिनन्दन ! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ओ-का-न्यो तुमसे कहता हूँ । सुनो ॥ ३६ ॥

मैंने पृथ्वीसे उसके धैर्यकी, क्षमाकी शिक्षा ली है । लगे पृथ्वीपर बिजला आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परन्तु वह न तो किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिखती है । संसारक सभी प्राणी अपने-अपने प्राण्यके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे सम्म-सम्मपर मित्र-भिल प्रकरसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं । धीर पुरुषको चाहिये कि उनकी निराशा स्मरण, न तो अपना धीरज छोड़े और न परेश करे । अपने मागपर ओ-का-न्यो बलता रह ॥ ३७ ॥ पृथ्वी-के ही विकार पर्वत और वृक्षसे मने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरों-के हितक प्रिय ही होती हैं, वरिष्ठों को कहना चाहिये कि उनका भय हो एकमात्र दूसरोंका हित कानक प्रिय ही हुआ है, सभी पुरुषों चाहिय कि उनकी शिक्षा मीचकर करके उनसे परास्तरकी शिक्षा ग्रहण कर ॥ ३८ ॥

मैंने गरिबों के भीतर रहनवाले बापु—प्राणहृत्पयसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह महात्म्यकी इच्छा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हो जाता है उसे ही साधककी भी चाहिय कि भितनेसे

ज्ञान यथा न नश्येत नावकीर्येत चाङ्गमन ॥३९॥

विषयेष्वाविशन् यागी नानाधर्मेषु मर्षत ।

गुणदोषव्यपत्तात्मा न विफज्जेत वायुवत् ॥४०॥

पार्थिवेऽपि देहपु प्रतिष्ठस्तवगुणाभय ।

गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्महक् ॥४१॥

अन्तर्हितश्च

स्मिरज्जमेपु

ब्रह्मात्मभावेन

समन्वयेन ।

प्राप्त्यात्मवच्छेदममङ्गमात्मनो

मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भाषयेत् ॥४२॥

तत्राङ्गनमयेभित्तैर्मेघार्धवायुनेरितैः ।

जीवन निर्वाह हो जाय, उतना भोजन कर ल । इन्द्रियों को तुल्य करनेके लिये बहुत-से नियम न चाहें । संशयमें उतने ही विषयोंका उपयोग करना चाहिये, जिनसे बुद्धि विवृत्त न हो, मन चञ्चल न हो और तानी व्यसक्त को व्यक्तमें न लग जाय ॥ ३९ ॥ शरीरके अन्तर रहनेवाले वायुसे मैंने यह सीखा है कि जैसे वायुको अनन्त स्थानोंमें जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसीका भी गुण-दोष नहीं जानता, वैसे ही साधक पुरुष भी वास्तव्यकृत होनेपर विभिन्न प्रकारके धर्म और स्वभाववाले विषयोंमें जान, परन्तु अपने स्वयं पर स्थिर रहे । किसीके गुण या दोष की ओर झुक न जाय, किसीसे आसक्ति या द्वेष न कर बैठे ॥ ४० ॥ गन्ध वायुका गुण नहीं, पृथ्वीका गुण है । परन्तु वायुको गन्धका ग्रहण करना पड़ता है । ऐसा करनेपर भी वायु झुका ही रहता है, गन्धसे उसका सम्पर्क नहीं होता । वैसे ही साधकका बन्धक इत पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तत्काल उसे इसको त्याग पीका और भूख-प्यास आदिकों में ग्रहण करना पड़ता है । परन्तु अपनेको शरीर नहीं, आत्माके रूपमें देखने वाला साधक शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्विस्त रहता है ॥ ४१ ॥

यद्यन् । जितने भी बट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहें कम हों या अधिक, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आकाश एक और अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है । वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्माके रूपसे सब स्थित होनेके कारण ब्रह्म सार्वभौम है । साधकको चाहिये कि सूक्तके मनियोंमें व्याप्त सूक्त समान आत्म्यको अखण्ड और अक्षय्यरूपसे देखे । वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाशसे ही की जा सकती है । इसलिये साधकको आत्माकी आवश्यकता की याचना करनी चाहिये ॥ ४२ ॥ बाग बगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायुकी प्रेरणासे बादल आदि आते और चले जाते हैं, यह सब होनेपर भी आकाश अदृष्टा रहता है । आकाशकी

न सृश्यते न भस्मश्च कालसृष्ट्यर्णौ पुमान् ॥४३॥

स्वच्छ प्रकृतित स्निग्धमाधुर्यस्तीर्थपूर्णताम् ।

धुनि पुनात्पपां मित्रमीशोपस्पर्शकीर्तनं ॥४४॥

तेजसी तपसा दीप्तो दुर्घर्षोदरभाजन ।

सर्वभक्षोऽपि युक्ततमा नादत्ते मलमग्नित् ॥४५॥

कचिच्छन्न कश्चित् स्पष्ट उपास्य श्रेयश्छताम् ।

मुहूर्त्ते सवत्र दातृणां दहन् प्रागुचराशुभम् ॥४६॥

समापया सृष्टमिदं सद्मल्लक्षणं विभुः ।

प्रतिष्ठ इयत् तप्तस्वरूपाऽग्निरिवैवसि ॥४७॥

इतिसे यह सब कुछ है ही नहीं । इसी प्रकार भूत, कृतमन्न और मविष्यके चक्रमें न जान किन-किन नामरूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं, परन्तु आत्माके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार जन्म स्वभावसे ही क्षुब्ध, चिक्ना, मधुर और पवित्र करनेवाला होता है तथा गङ्गा आदि तीर्थोंके दर्शन, स्पर्श और नानाचारणसे भी छेगे पवित्र हो जाते हैं—वैसे ही साधकका भी स्वभावसे ही शुद्ध, क्षिप्त, मधुरमापी और व्यवसायक होना चाहिये । जहाँ से दिव्या प्रहण करनेवाला अपने दर्शन, स्पर्श और नानाचारणसे छेगोंको पवित्र कर देता है ॥ ४४ ॥

उज्ज्वल ! मने बज्रिते यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी और अश्लेष होती है, जैसे उसे काँइ अपने तेजसे दया नहीं सहता, जैसे उसके पास समस्त परिष्कारके लिये काँइ पात्र नहीं—सब कुछ अपने पैरोंमें रख लेती है, और जैसे सब कुछ छापी लेनेपर भी विभिन्न वस्तुओंके दोषोंसे वह भ्रष्ट नहीं होती, वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्यासे वर्ण्यमान, इन्द्रियोंसे अपरामृत, भोजनमात्रका समष्टी और यथायोग्य सभी विषयोंका उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियोंका वशमें रखे, किसीका दाप अन्नमें न जाने दे ॥ ४५ ॥ जैसे बज्र कहीं (लकड़ी आदिमें) अंग कट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाय । वह कहीं-कहीं ऐसे रूपमें भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याण-कामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें । वह अग्निके समान हा मिश्रामय इवन करनेवालोंके अर्पित और भाषी अनुमते भस्म कर देता है तथा सबत्र अन्न ग्रहण करता है ॥ ४६ ॥ सागर पुरुषका इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि उषा चीहा, टंड़ी-सीढ़ी व्यक्तियोंमें रहकर उनका स्थान ही सीढ़ी-टंड़ी या उषा-चीहा दिखायी पड़ता है—वास्तवमें वह वैसी ही नहीं, बस ही सन्ध्यापक आत्मा भी अन्ती मायस रचे हुए काय-स्वरूपका जगत्में व्याप्त हानक करण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसंकोच स्मन्ध न हानकर भी उनका रूपमें प्रतीत होने योग्यता है ॥ ४७ ॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भाषा देहस्य नात्मनः ।

कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्तना ॥४८॥

कालेन द्योयवगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ।

नित्यत्वपि न दृश्यते आत्मनोऽग्नेर्यथाचिपाम् ॥४९॥

गुणैर्गुणानुपपद्ये यथाकालं विमुञ्चति ।

न तेषु युज्यते योगी गोभिगा इव गोपतिः ॥५०॥

पुष्पत स्वेन मेदन व्यक्तिस्य इव तद्रव ।

लभ्यते स्थूलमतिभिरत्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥५१॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गा वा कर्तव्यः कापि केनचित् ।

कुर्वन् विन्दत संतापं कषात इव दीनधीः ॥५२॥

कषात कथनारभ्य कृतनीदो वनस्पतौ ।

कषात्या भाषया माधुश्याम कतिचिन् मया ॥५३॥

मैंने चन्द्रमासे यह शिक्षा प्रहण की है कि कभी जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कम्पक प्रग्वक्से चन्द्रमाकी कट्यारें कटती-कटती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है वह न कटता है और न मरता ही है, वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवसरों हैं, सब शरीरकी हैं, अन्तमें उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ४८ ॥ जैसे अगली छप्पन अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है—उनका यह कम निरन्तर बहता रहता है, परन्तु दीपक नहीं पड़ता—वैसे ही जन्ममरणके समान केवलान् कलक द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु अज्ञानका वह दिखयी नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥

राजन् । मैंने सूर्यसे यह शिक्षा प्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जब घेरेते और सम्पर्क उसे करता करते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा सम्पर्क किरणोंका प्रहण करता है और सन्त आनेपर उनका त्याग—उनका दान भी मत देता है । किसी भी सम्पर्क उसे इन्द्रियके किसी भी बिन्दुमें आसक्ति नहीं होती ॥ ५० ॥ स्थूलबुद्धि पुरुषोंके जलके विभिन्न पत्रोंमें प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य उनकीमें प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखयी पड़ता है । परन्तु इससे सारूपत सूर्य अनेक नहीं हो जाता, वैसे ही यह अक्षय्य उपाधियोंके भेदसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें अल्प अल्प-अल्प है । परन्तु जिनमें ऐसा गहका होता है, उनकी बुद्धि मटती है । अस्तव बात तो यह है कि अल्प नृपक समान एक ही है । सारूपत उसमें कोई भेद नहीं है ॥ ५१ ॥

राजन् । यही किसीके सब अल्पत स्नेह अल्प आसक्ति न पड़नी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अल्प सात्वत्य स्वभाव दीन हो जायगी और उसे कर्तृत्वकी तरह अल्पत क्लेश उद्यमा पड़ेगा ॥ ५२ ॥ राजन् । निर्वि जंगलमें एक कर्तृत्व रहता था, उमने एक पेड़पर अपना बौद्धि बना रक्खा था । अन्ती मत्ता कर्तृत्वक साथ यह फड़ कर्तृत्व उसी बौद्धिमें रहा ॥ ५३ ॥

कपोता स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
 दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गनं बुद्धिं बुद्ध्या वन्द्यतु ॥५४॥
 श्रवणासनाटनम्यानवार्ताकीर्वाणनादिकम् ।
 मिथुनीमूष विसन्धौ श्वेतसुर्वनराजिषु ॥५५॥
 यं यं वाञ्छति सा राजस्तपयन्त्यनुकम्पिता ।
 त तं समानयत् कामं कुच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रिय ॥५६॥
 कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णीती काल आगते ।
 अण्डानि सुपुत्रे नीडे स्त्रपत्युः सनिधौ सती ॥५७॥
 तेषु काले भ्यजायन्त रचितानयना हरेः ।
 शक्तिभिर्दुर्विभाष्याभि कोमलाङ्गत्वनलुहाः ॥५८॥
 प्रजा पुपुषतुः प्रीता दम्पती पुत्रवत्सला ।
 मृष्यन्तौ कृजितं वासां निवृत्ती कलभापितैः ॥५९॥
 वासां पतत्रं सुस्पर्शं कृजितं मुग्धचेष्टितं ।
 प्रत्युद्गमरदीनानां पितरौ मुदभाषतुः ॥६०॥
 स्नेहातुषट्पददयानन्यान्धं विष्णुमायया ।
 विमादितो दीनधिषो गिञ्जल पुपुषतुः प्रजाः ॥६१॥
 एकदा जगत्तुलासामन्नाथ सौ कुटुम्बिनौ ।
 गितं काननं तस्मिन्मिथुनी श्वेतसुर्वनराजिषु ॥६२॥
 न्यक्तं कथिद् परच्छाला वनेनर ।

उस कनूतरेके जोड़ेके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी बुद्धि होती जाती थी । वे गृहस्थधर्ममें इतन आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरेकी दृष्टि-से-पछि, अङ्ग-से-अङ्ग और बुद्धि-से-बुद्धिकी बंध रक्खा था ॥५४॥
 उनका एक-दूसरेपर इतना विश्वास हो गया था कि वे निश्चाय होकर वहाँकी वृक्षाश्रममें एक छाप सोते, बैठते, वृमते-मिरते, द्यरते, वातपीत पारते, खेलते और खाले-पीते थे ॥ ५५ ॥ राजन् । कनूतरीपर कनूतरका इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कनूतर वही से-वहा कछ उठाकर उसकी कामना पूर्ण पत्रता, वह कनूतरी भी अपने कामुक पतिकी कामनाएँ पूरा करती ॥ ५६ ॥ समय आनेपर कनूतरीको पछल गम रहा । उसने अपने पतिके पास ॥ बोंसलेमें अंडे दिये ॥५७॥ भगवान्की अक्षित्य शक्तिसे समय आनेपर वे अंड छूट गये और उनमेंसे हाथ-पैरवाले बच्चे निकल आये । उनका एक-एक अङ्ग और तोएँ अत्यन्त कोमल थे ॥ ५८ ॥ अब उन कनूतर-कनूतरीकी ओँसि अपने बच्चोंपर लगा गयीं, वे बच्चे प्रेम और आनन्दसे अपने बच्चोंका छाजन-पालन, छाह-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुन-गुँ सुन-सुनकर आनन्दमग्न हो जाते ॥ ५९ ॥ बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं, वे जब अपने सुपुत्रार पंखोंसे मा-बापका स्पर्श करते, कूबसे, भाँकी-भाँकी चेष्टाएँ पत्रते और पुच्छ-पुदककर अपने मा-बापके पास दीक आते तब कनूतर कनूतरी आनन्दमग्न हो जाते ॥ ६० ॥ राजन् । सब पूछ तो वे कनूतर-कनूतरी भगवान्की मयासे श्रद्धित हो रहे थे । उनका हृदय एक-दूसरेके स्नेह-पथनसे बँध रहा था । वे अपने नन्द-नन्दे पक्षोंका पाजन-प्यारगर्भ इतन प्यार रहते कि उन्हें गीन-नुनिया, अक-पत्तानरि यद ही न आती ॥ ६१ ॥ एक दिन एतों नर-मारा अपने बच्चोंके चित्र धारा खने जंगलमें गप दूर थे । क्योंकि अब उनका पुत्र-मन्त्र बहुत बढ़ गया था । वे पारक डिय चिरकउकक जंगलमें चारों ओर विचरते रहे ॥ ६२ ॥ इधर एक बहिया पून्य-यूमा संयोग था उनके बोंमलकी ओर आ निकल । उसने गेज

जगृहे जालमास्तस्य चरत स्मालयान्तिके ॥६३॥

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ ।

गता पोषणमादाय स्वनीरमुपजग्मतुः ॥६४॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य घालफाङ्गालसंघटान् ।

तानम्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो मृशदुःखिता ॥६५॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया ।

स्वयं चावच्यत शिवा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥६६॥

कपातश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान् ।

भार्यां चात्मसमां दीनो विललापाविदुःखितः ॥६७॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ।

अवससाकृतवर्षस्य गृहसैवर्गिको हतः ॥६८॥

अनुरूपानुकूला च यस्म्य मे पतिदेवता ।

शून्यं गृहे मां संत्यज्य पुत्रैः स्वर्गतिं साधुभिः ॥६९॥

सोऽहं शूये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रब ।

जिजीविषे किमर्थं वा विधुरा दुःखजीवितः ॥७०॥

तांस्त्वधैरावृताभिलिभिमृत्युप्रस्थान् विषेष्ट ।

स्वयं च कृपणः शिषु पश्यन्मप्यभुजोऽपतत् ॥७१॥

किं घोंसलेके आस-पास कनूतरक बच्चे पुदक रहे हैं, उसने जाळ फैलाकर उन्हें एकत्र किया ॥ ६१ ॥ कनूतर-कनूतरी बच्चोंको खिलाने-खिलानेके लिये ॥ उस उतसुष रहता करते थे । अब वे चारा लेकर अपने घोंसलेके पास आये ॥ ६४ ॥ कनूतरीने देख कि उसके नन्हे-नन्हे बच्चे, उनके दूधके टुकड़ जाळमें फँसे हुए हैं और दुःखसे चैन-चैन कर रहे हैं । उन्हें स्त्री स्थितिमें देखकर कनूतरीके दुःखकी सीमा न थी । वह रोती-खिलती उनके पास दौड़ गयी ॥ ६५ ॥ भगवान्की मायासे उसका चित्त अप्रत दीन-दुखी हो रहा था । वह उमड़ते हुए स्नेहकी रस्तीसे बकरी हुई थी, अपने बच्चोंको जाळमें फँसा देखकर उसे अपने शरीरकी भी सुध-मुध न रही । और वह स्वयं ही जाकर जाळमें फँस गयी ॥ ६६ ॥ जब कनूतरीने देख कि मेरे प्राणोंसे भी प्यारे बच्चे जाळमें फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दृश्यमें पहुँच गयी, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर खिलप करने लगा । समुद्र उस समय उसकी दृष्टि अप्रत दर्शनीय थी ॥ ६७ ॥ मैं अभागा हूँ, दुर्मति हूँ । हाय, हाय ! मेरा तो जीवन नाश हो गया । देखो, देखो न मुझे अभी वृत्ति हुई और न मेरी आशायें ही पूरी हुई । तत्काल मेरा कर्ण, कर्ण और कामका मूख यह गृहस्वप्न ही नष्ट हो गया ॥ ६८ ॥ हाय ! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अन्त इच्छेव सम्मती थी; मेरी एक-एक बात मानती थी, मेरी इच्छाएँ नाचती थी, सब तरहसे मेरे योग्य थी । अब वह मुझे सुने घरमें छोड़कर हमारे सीने-छाते निकल बच्चोंके साथ जाग सिंघार रही है ॥ ६९ ॥ मेरे कर्म मर गये । मेरी पत्नी जाती रही । मेरा अब संसार क्या काम है ? मुक्त दीनकर यह विधुरजीवन—किन्ना गृहिन का जीवन जलनकर—मरवाकर जीवन है । अब इस सुने घरमें किसके लिये जीऊँ ? ॥ ७० ॥ कनूतरके बच्चे जाळमें फँसकर तड़फस रहे थे । स्व दीख रहा था कि वे जीतके पंजेमें हैं, परन्तु वह म कनूतर यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा कि स्वयं जान-भूलकर जाळमें फँस पड़ा ॥ ७१ ॥

तं लब्ध्वा तुल्यकं क्रूरं कपोतं गृहमेधिनम् ।
 कपोतकान् कपोतीं च मिद्वार्यं प्रययौ गृहम् ॥७२॥
 एवं कुटुम्बस्थान्ता मा द्रन्द्राराम पतस्त्रियत् ।
 पुष्पान् कुटुम्बं कृपणं सानुबन्धोऽवसीदति ॥७३॥
 यः प्राप्य मानुषं लोकं श्रुक्तिद्वारमपावृतम् ।
 गृहपुं स्वगवत् मत्तन्तमास्त्रच्युतं विदुः ॥७४॥

राजन् ! यह वहेटिया बड़ा क्रूर था । गृहस्थधर्मी कन्नूत
 कन्नूतरी और उनक बन्धोंक मित्र जानेसे उसे बड़ी प्रसन्नता
 हुई, उसन समझा भरा काम बन गया और यह उन्हें
 लेकर चला बना ॥ ७२ ॥ जा कुटुम्बी है, नियमों और
 लोगोंके सङ्ग-साथमें ही जिसे सुख मित्रता है उस अपने
 कुटुम्बक मरण-योगणमें ही जो सारी सुख-सुख छो बैय
 है, उसे कर्मा शान्ति नहीं मित्र सप्रती । यह उसी
 कन्नूतक समन अपने कुटुम्बक साथ कर पाता
 है ॥ ७३ ॥ यह मनुष्य-शरीर मुक्तिक मुखा हुआ द्वार
 है । इसे पाकर भी जा कन्नूतरपी तरह अपनी कर
 गृहस्थीमें ही फँसा हुआ है, यह बहुत जँचन
 चकर गिर रहा है । शराबकी भायामें यह 'आत्मा-च्युत'
 है ॥ ७४ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराणे पारमहंस्यं संहितायामेकदशस्कन्ध
 सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ पूर्वोपाख्यान—मङ्गलरसे लेकर विष्णुस्तक भी गुरुभोग्य किया

महापुत्र उवाच

मुल्लभन्निष्यकं राजन् मयि नरक एव च ।
 ददितां यद् यथा दत्तं तस्मान्नेच्छतस्तद् दुःखः ॥१॥
 प्राप्तं समुप्युतं विरतं महान्तं लोकमव या ।
 परस्पर्यवपतितं प्रसदाजगराऽक्रिय ॥ २ ॥
 धर्मीयानि भूमीणि निराहाराऽनुपक्रम ।
 यदि नापनमद् प्राप्ता महाहितं विष्टभूः ॥ ३ ॥

अथ पूर्वोपाख्यान—यहते हैं—राजन् ! प्राणियों-
 का जैसे बिना इच्छक, बिना किसी प्रयत्नके, ऐकनेकी
 चेष्टा करनेपर भी स्वयम्भुत्तसार दुःख प्राप्त होते हैं,
 वेते ही स्वर्गमें या नरकमें—यही भी हैं, उन्हें इन्द्रिय-
 सम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं । इसलिये सुख और
 दुःख रहस्य जाननकाल मुदिमान् पुरुषन काहिये
 कि इनक त्रिये इच्छा अपण किसी प्रसंगपर प्रकल न
 कर ॥ १ ॥ किना मोमें, किना इच्छा निय मय ही
 अनापास जा कुटु मित्र नाथ—यह चाह मख-सुखा
 हा, चाह बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अतिर हा या पास-
 मुदिमान् पुरुष अकारक सम्पन उसे ही स्वयं जान
 निर्याह पर ल और उदासीन रह ॥ २ ॥ यदि भावन
 न मित्र ता उसे भी प्रारब्ध-भाग सम्पनर किसी प्रसंगपर
 चय न कर बहुत निमोनक मूख ही पदा रह । उसे
 काहिय कि अजगरक सम्पन कर प्रारब्धक अनुसर
 प्राप्त हर भावनमें ही समुप्युत रह ॥ ३ ॥

आजःसहोवलपुतं निभ्रव् देहमकर्मकम् ।

शयाना वीतनिद्रश्च नेहेतन्त्रियवानपि ॥ ४ ॥

मुनि प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाहो दुरत्ययः ।

अनन्तपारो स्रष्टोम्य स्तिमितोद श्वार्थवः ॥ ५ ॥

समृद्धकामो हीना वा नारायणपरो मुनि ।

नेत्सर्पेत न शुष्येत सरिन्निखि सागरः ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा क्षिप्यं दवमायां तद्भावेरजितेन्द्रियः ।

प्रलाभित पतत्यधे तमस्यग्री पतङ्गवत् ॥ ७ ॥

यापिद्विरुपाभरणाम्बरादि

द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।

प्रलाभितारमा सुषभागमुद्रया

पतङ्गवत्प्रपति नष्टरुष्टि ॥ ८ ॥

भार्कं भार्कं प्रसदु श्रामं ददा वर्तेत यावता ।

गृहानर्हिमभानिष्टदु शूनि मायुर्ही मुनि ॥ ९ ॥

अनन्यथ मदद्रव्यं ग्राह्यं कुरुता नर ।

उसके शरीरमें मनोबुद्ध, इन्द्रियवत् जीर देहकर्म तन्तों में तब भी वह निश्चेष्ट ही रहे । निश्चरहित हानस भी उस दृष्ट्या-सा रहे और कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी उनसे कोई काम न करे । राजन् । मैंने अजरसे यही शिक्षा प्रदान की है ॥ ४ ॥

समुद्रसे मैंने यह सीखा है कि स्रष्टाको सर्व प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये, उसका मन अन्तःकरण और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्त से उसे क्षोभ न होना चाहिये । उसे धीक बैठे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तल्लोंसे स्थित स्वप्न समुद्र ॥ ५ ॥ देखो, समुद्र बरबाद होने नदियोंकी कण्ठे कारण बहुत नहीं और न प्रीत्य-प्राप्त होने पट्टा ही है, उसे ही भगवत्पूज्य स्रष्टाको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उनके कर्मसे उद्विग्न ही होना चाहिये ॥ ६ ॥

राजन् । मैंने पतिगोत्रसे यह शिक्षा प्रदान की है कि जैसे वह स्वप्न मोहित होकर आगमें छूट पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियोंसे बन्धन रखनेवाला पुरुष जब खीनसे देखता है तो उसके हाथ-माथपर छूटूँ ही जाता है और धार बन्धनराने, कर्मों गिरकर अपना सम्पन्नाश कर लेता है । सम्पुत्र को वेकताओंकी यह माया है, जिससे जीव भगवान् या नरकों परी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है ॥ ७ ॥ जो वह कामिनी-कथन, गहने-कमल आदि नागद्वय स्पर्श पण्यमि पँस हुआ है और जिसकी समूह विवर्धित उनके उपभागक उषे ही वाञ्छित है, वह अन्ती निरुत्तु मुदि स्वप्न पतिगोत्र सम्पन्न नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

राजन् । संन्यासीको चाहिये कि गृहस्थोंकी रिश्व प्रशस्त पत्र न दूर भारेगी तब अन्तःकरण निर्वाह करे । यह अजन शरीरक विर उन्मत्ती नेष्टक पुत्र दृष्टि यह पण्येस योग ३० ॥ ९ ॥ जिस प्रकार भौव विभिन्न पुण्योमे—अह । छोटे हो या बड़े— उनका सब समझ करना है, ऐसे ही मुन्तन् पुण्य

• नती प्रसन्न ही अनन्त कर्मपथे अलग ही अलग जो कार्यक समय उगमे वह ही अनन्त न १८ २३ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

सर्वत सारमादधात् पुण्येभ्य इव पदपदः ॥१०॥

सायतनं शस्तनं वा न संगृहीत भिक्षितम् ।

पाणिपात्रोदरामत्रो मधिकेव न संग्रही ॥११॥

सायतनं शस्तनं वा न संगृहीत भिक्षुक ।

मक्षिका इव संगृह्य सह तेन विनश्यति ॥१२॥

पदापि पुवर्ती भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि ।

स्पृशन् करीव बभ्येत करिष्या अङ्गसङ्गतः ॥१३॥

॥भिगच्छेन् स्त्रियं प्राप्ताः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।

लाभिकैः ॥ इत्येत गवैरन्यर्गजो यथा ॥१४॥

। देयं नापभोग्य च तुर्वैषु इव स्वसंक्षितम् ।

बुद्ध्वा तदपि तत्त्वान्पो मयुदेवार्थविन्मयु ॥१५॥

सुदुःस्वाप्राप्तिर्विचाराध्यामानां गृहादिपि ।

चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शक्नोंसे उनका सार—
उनका रस निचोड़ लें ॥ १० ॥ राजन् ! मैंने मधु
मक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको
सायहाज बचवा दूसरे दिनके लिये भिक्षाका सम्प्रदा न करना
चाहिये । उसके पास भिक्षा लेनेको कोई पात्र हो तो
केवल हाथ और रखनेके लिये कोई वर्तन हो तो पेट ।
यह कहीं सम्प्रदा न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियोंके
समान उसका जीवन ही बूझ हो जायगा ॥ ११ ॥
यह बात स्वयं सम्प्रदा लेनी चाहिये कि संन्यासी सबेरे
शामके लिये किसी प्रकारका सम्प्रदा न करे, यदि सम्प्रदा
करेगा, तो मधुमक्खियोंके समान अपने सम्प्रदाके साथ
ही जीवन भी गँवा बैठेगा ॥ १२ ॥

राजन् ! मैंने हाथीसे यह सीखा कि संन्यासीको
कमी पीरसे भी काठकी कमी हुई बीका भी स्पश न
करना चाहिये । यदि वह देख करेगा तो जैसे हाथी-
के अङ्ग-सङ्गसे हाथी रँव जाता है, वैसे ही वह भी रँव
जायगा ॥ १३ ॥ निवेकी पुरुष किसी भी बीको कभी
भी भोग्यकृपसे स्वीकार न करे; क्योंकि यह उसकी मूर्ति-
भत्ती बूझ है । यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे
हाथीकी तरह अधिक कष्टान् अन्य पुरुषोंके द्वारा मारा
जायगा ॥ १४ ॥

मैंने मधु निकरजनेवाले पुरुषसे यह शिक्षा ग्रहण
की है कि संसारके छोटी पुरुष यकी कठिनाईसे धनका
सम्पन्न तो करते रहते हैं, किन्तु वह सञ्चित धन न
किसीको दान करते हैं और न स्वयं उसका उपयोग
ही करते हैं । बस, जैसे मधु निकरजनेवाला मधु
मक्खियोंद्वारा सञ्चित रखने निकरज ले जाता है, वैसे
ही उनके सञ्चित धनको भी उसकी टोह रखनेवाला
कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है ॥ १५ ॥ तुम देखते
हो न कि मधुहाथी मधुमक्खियोंका जोश हुआ मधु
उनके खनेसे फाँले ही साफ कर जाता है वैसे ही
गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे सञ्चित किये पदार्थको, जिनसे

१ ना ।

• हाथी पक्कनेवाले दिनभरसे बड़ गुण गह्वर कागजकी दहिनी लकी कर देते हैं । उसे देखकर हाथी बड़ी भाता है
और गह्वरेमें प्रवेश कर लेता है ।

मधुदेवाग्रतो मुहूर्त यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचर क्वचित् ।

शिश्वेत हरिणाद् वदन्मृगयोगीतमोहितात् ॥ १७ ॥

नृत्यवादित्रगीतानि श्रुयन् ग्राम्याणि योपि साम् ।

आसां क्रीडनक्रोडस्य ध्वज्यशृङ्गो मृगीसुत ॥ १८ ॥

जिह्वास्तिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहित ।

मृत्युमुच्छत्यसत्पुद्गिमीनस्तु वचिर्गौर्या ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याह्नु निराहारा मनीषिण ।

वजयित्वा तु रसनं तभिरभस्स वर्धते ॥ २० ॥

तावज्जितन्द्रिया न स्यात् विजितान्वन्द्रियः पुमान् ।

न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जितं रसे ॥ २१ ॥

पिङ्गला नाम वैष्णोऽसीद् विदेहनगरं पुरा ।

तस्या मं जिहितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥ २२ ॥

सा स्वैरिष्मकदा फान्तं संकेत उपनेष्यती ।

अमृत् काल वदिर्द्वारि विभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २३ ॥

मार्ग आगच्छतो धीक्ष्य पुरुषान् पुरुषपथ ।

ये सुखभोगकी अभिख्या रखते हैं, उनसे भी पहले सन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं । क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही स्व भोजन करेगा ॥ १६ ॥

मैंने हरिनसे यह सीखा है कि बनवासी सन्यासीको कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये । वह इस बातकी शिक्षा उस हरिनसे ग्रहण करे, जो वनके गीतसे मोहित होकर बैब जाता है ॥ १७ ॥ मुझे इस बातका पता है कि हरिनीके गर्भसे पैदा हुए श्रमण मुनि कियोंका विषय-सम्बन्धी गाना बजाता, नाचना और देख-सुनकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथी कष्टयुतली बन गये थे ॥ १८ ॥

अब मैं तुम्हें मछलीकी सीख सुनाता हूँ । जैसे मछली कौंटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ोंके ओरसे लगे प्राण गँवा देती है, वैसे ही साधक अपनी बुद्धि मनुष्य में अपनी मनको कपकर व्याकुल कर देनेवाली जिह्वाके वशमें हो जाता है और मारा जाता है ॥ १९ ॥ बिनाकी पुन भोजन बंद करके दूसरी इन्द्रियोंपर तो बहुत धीमे नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसान्द्रिय वशमें नहीं होती । वह तो भोजन बंद कर देनेसे और भी प्रसन्न हो जाती है ॥ २० ॥ मनुष्य और उस इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तत्काल जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता । और यदि रसनेन्द्रियका वशमें कर लिये, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं ॥ २१ ॥

नृपनन्दन ! प्राचीन कालकी बात है कि विदेहनगरी विमिश्रमें एक वैश्य रहती थी । उसका नाम था पिङ्गल । मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ २२ ॥ वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपक्षी भी थी । एक दिन रात्रिके समय किसी पुरुषको अपने रम्यस्थानमें अपने किये लय बन-छनकर — उत्तम बजायुगमोंसे सज्जर गाहत देतकर अपने घरके बाहरी दरवाजेपर खड़ी रही ॥ २३ ॥ नरक ! उन्ने पुरुषकी नहीं बनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी दृढ़

ताम्रकृन्दान् विचवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुकान् ॥२४॥

आगतोऽपयातेषु सा संकेतोपजीविनी ।

अप्यन्या विचवान् कोऽपि मामुपैष्यति मूरिद ॥२५॥

एवं दुराशया अन्तनिद्रा द्वार्यधलेभ्वसी ।

निगच्छन्ती प्रविशन्ती निक्षीर्षं समपद्यत ॥२६॥

तस्या विचाराया शुष्पवृवक्त्राया गीनचेतसः ।

निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहंतुः मुन्नावहः ॥२७॥

तेन्या निविष्मचिचामा गीत शृणु यथा मम ।

निर्वेद आश्रयाशानां पुरुषस्य यथा क्षति ॥२८॥

न भद्राज्ञाननिर्वेदा देहबन्धं विहायति ।

यथा विज्ञानरहिता मनुजा ममतां नृप ॥२९॥

विद्वत्प्रकाश

अज्ञो म माहविवर्ति पश्यताविजिज्ञात्मन ।

या कान्तादमत कामे कामय येन बाळिश ॥३०॥

मन्त्रं ममोप रमणं रतिप्रदं

रतिप्रदं नित्यमिदं विहाय ।

१. नमिन्ते । २. विद्वत् । ३. तथा । ४. यह एवमप्य आर्जनं यदमे नही है ।

पृ. ४. ल. २. १६—

हा गयी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचनी थी कि यह कोई धनी है और मुझ धन देकर उपभोग करनेके लिये ही आ रहा है ॥ २४ ॥ जब जाने-जानेवाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह संकतजीविनी वेदया यही सोचती कि अवश्य ही अन्तर्य घर फाड़ ऐसा धनी घर पास आया जो मुझ बहुत-सा धन देगा ॥ २५ ॥ उसके चित्तकी यह दुराश कबूती ही जाती थी । वह दरवाजा बंद करके बैठती रहीं । उसकी नीन् भी जाती रहीं । वह कभी बाहर आती, तो धमी भीतर जाती । इस प्रकार अभी रात हो गयी ॥ २६ ॥ राजन् ! सचमुच अश्रय और सा भी अन्तर्य—बहुत बुरी है । धनीकी बाट जोहते-जोहते उसका मुँह खुल गया, चित्त व्याकुल हो गया । अब उसे इस हृत्तिसे बड़ा बेराम्य हुआ । उसमें कुछ-बुद्धि हो गयी । इसमें समझ नहीं कि इस बेराम्य का कारण चिन्ता ही थी । परन्तु ऐसा बेराम्य भी है जो सुखका ही हत ॥ २७ ॥ जब विद्वत्प्रकाश चित्तमें इस प्रकार बेराम्यकी भावना जड़त हुई तब उसने एक गीत गाया । यह मैं तुम्हें सुनाया हूँ । राजन् ! मनुष्य आश्रयकी परीक्षित एक जीव है । इसका लक्ष्यकारकी तरह बटनेवाली यन्त्र फाड़ बल्लु है तो वह कल्प बेराम्य है ॥ २८ ॥ प्रिय राजन् ! जिसे बेराम्य नहीं हुआ है जो इन बन्धनोंसे ऊँच नहीं है वह शरीर और इसका बन्धनसे उनी प्रकार मुक्त नहीं हैना चाहता उसे अज्ञानी पुरुष मन्त्रा शास्त्रज्ञ इत्यादि भी नहीं करता ॥ २९ ॥

विद्वत्प्रकाश यह गीत गाया था—हाय ! हाय ! मैं इन्द्रियोंके अर्जित हो गयी । भय ! मेरे माहका विस्तार ना लया, मैं इन दूर पुरुषोंसे जिनका बन्धन जड़त ही नहीं है विषयपुरुषों का बन्धन करती हूँ । जितने सुखकी भान है मैं ममनुष्य मूल हूँ ॥ ३० ॥ गीत गासरी मेरे चित्त-मे-निष्ठ इन्द्रियों का मेरे मन्त्र काया भयान् शिखरधन है । ये कान्तामे प्रम-मुक्त अर्थात् मन्त्रधन मुक्त मन भी मनरत है । प्रगतक पुरुष प्रमित्य है अर्थात् नित्य है । हाय हाय मन उनका

अकामर्दं दुःखभयाधिज्ञोक-

मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥३१॥

अहो मयाऽऽत्मा परिवापितो वृथा

साहस्यपृथ्याविविगर्षवार्तया ।

श्रीणाश्वराद् यार्थवृषाऽनुशोच्यात्

क्रीतेन विचं रविमात्मनेच्छती ॥३२॥

बदस्मिभिर्निर्मितवर्णवक्ष्य-

स्पृणं त्वचा रामन्स्वै पिनद्धम् ।

धरश्ववक्षारमगारमेतद्

विष्मूत्रपूर्णं मदुपैति कन्या ॥३३॥

विद्वहानां पुरे क्षमिन्महमेकैव मृदधीः ।

यान्यमिच्छन्त्यसत्यसादात्मवत् क्षममभ्युतात् ॥३४॥

सुहृत् प्रपुत्रमो नाभ आत्मा चायश्चरीरिणाम् ।

तं विच्छीयारमनैवाह रमेऽनेन यथा रमा ॥३५॥

क्रियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः ।

आघन्तवन्तो भाषाया देवा वा कालविद्रुता ॥३६॥

मूलं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।

निर्धेदाऽयं दुराश्रया यन्मे मातः सुखावहः ॥३७॥

तो छोड़ दिया और उन कुछ मनुष्योंका सेना मिल
जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते उन्हें
दुःख-भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं।
यह मेरी मूर्खताकी हद है कि मैं उनका सेना करती
हूँ ॥ ३१ ॥ बड़े खेदकी बात है, मैंने कल्पित मिन्दनीय
आनीविक्र वेद्यावृत्तिका आश्रय लिया और स्वयं
अपने शरीर और मनको नष्टो पिया, पीड़ा पहुँचयी।
मेरा यह शरीर बिक गया है। कष्ट, अमी और
मिन्दनीय मनुष्योंने इसे खरीद लिया है और मैं इसी
मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रखि-मुक्त चाहती
हूँ। मुझे भिन्न है। ॥ ३२ ॥ यह शरीर एक कर है।
इसमें वृद्धियोंके टेढ़े-तिरछे बौंस और हंसों को डर है,
घाम, रोएँ और नासूनोसे यह छया गया है। स्वयं
नी दरवाजे हैं, जिनसे मछ निकलते ही रहते हैं।
इसमें सज्जित सम्पत्तिके नामपर केन्द्र मल और मूत्र है।
मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन की है, जो इस लूटखोरक
अपना प्रिय समझकर सेना करेगी ॥ ३३ ॥ ये तो
यह विदेशीय—जीवनमुक्तोंकी नगरी है, परन्तु हमें
मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ, क्योंकि कहेजी मैं ही
तो आत्महानी, अविनाशि एवं परमप्रियतम परममनो
छोड़कर दूसरे पुरुषकी अभिप्राय करती हूँ ॥ ३४ ॥
मेरे हृदयमें विराजमान प्रभु, समस्त प्राणियोंके हित
सुख, प्रियतम, ज्ञानी और आत्मा हैं। जब मैं अपने
आत्मको देखकर इन्हें खरीद दूँगी और इनके साथ वे
ही बिछार करदूँगी, जैसे लक्ष्मीकी करती हूँ ॥ ३५ ॥
मेरे मूर्ख विच ! तू कदा तो स्त्री, आदमके प्रिय
योगोंने और उनको देनेवाले पुरुषोंने तुझे कितना सुख
दिया है। बरे ! वे तो सब ही पैदा होते ही
मरते रहते हैं। मैं केवल अपनी ही कल नहीं करती
मनस मनुष्योंकी भी नहीं, क्या देवदेवोंने ही योगोंने
द्वारा अपनी पत्नियोंका सम्पन्न किया है ? वे बेवारे तो सब
कालकालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं ॥ ३६ ॥ कल्प ही मेरे
कितनी घामकसे विष्णुमायान् सुखपर प्रसन्न हैं, तब
तो दुराश्रयसे मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। कल्प ही

मैवस्युर्मन्दभाम्यायाः फलेष्वा निर्वेदहृत्तवः ।

येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः श्रममुच्छति ॥३८॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः ।

त्यक्त्वा दुराशाः शरणं ब्रजामितमभीक्षरम् ॥३९॥

संतुष्टा भक्ष्येयवधालामेन जीवती ।

विहराम्यमुनैयाहमात्मना रमणेन वै ॥४०॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुपितेक्षयम् ।

प्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कालान्ब्रह्मातुमभीक्षरम् ॥४१॥

आत्मेव ब्रह्मात्मनो गोप्ता निर्विघ्नेव यदास्तिलात् ।

अप्रमत्त इव पश्येद् प्रस्तं कालाहिना जगत् ॥४२॥

श्लोक उवाच

एवं व्यवसितमतिदुराशां कान्तवपञ्चम् ।

छित्तोपशममास्याप शय्याद्वपविवेश सा ॥४३॥

जाज्ञा हि परमं दुःखं नैराशं परमं सुखम् ।

यथा सम्भिद्य कान्ताशां सुखमुप्त्वाप विज्ञता ॥४४॥

मेरा यह वैराग्य सुख देनेवाला होगा ॥ ३७ ॥ यदि मैं मन्दभागिनी होती तो मुझ ऐसे दुःख हीन उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है । मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही पर आदिक सब कथनोक्त कष्टकर शान्तिस्थान करता है ॥ ३८ ॥ अब मैं भगवान्‌को यह उपकार आदरपूर्वक स्तिर मुखपर स्वीकार करती हूँ और विष्णुमागोकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ ॥ ३९ ॥ अब मुझे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा भद्राके साथ रहूँगी । मैं अब किसी दूसरे पुरुषकी ओर न तावकर अपने हृदयेश्वर, आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी ॥ ४० ॥ यह जीव संसारके कूर्मे में गिरा हुआ है । विष्णुने इसे अवा बना दिया है, कर्मरूपी अन्नगरने इसे अपने मुँहमें देवा रक्खा है । अब भगवान्‌को छोड़कर इसकी रक्षा करनेमें दूसरा फल समर्प है ॥ ४१ ॥ जिस समय जीव समस्त विषयोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है । इसलिये बड़ी सावधानीके साथ यह देखत रहना चाहिये कि सारा जगत् कर्मरूपी अन्नगरसे भ्रष्ट है ॥ ४२ ॥

अवधूत ब्रह्मचर्यशी कदाह ई—रात्रन् ! विष्णु ब्रह्मने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियोंकी दुराश, उनसे भिक्षुके विषयका परित्याग कर दिया और शान्तभावसे जाकर वह अपनी सेजपर छा रही ॥ ४३ ॥ सबसुख आश ही समसे बड़ा दुःख है और निराश ही सबसे बड़ा सुख है, क्योंकि विष्णु ब्रह्मने जब पुरुषकी आश त्याग दी, तभी वह सुखसे छा सरा ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भगवत् महापुराणे शारङ्गस्य साहित्यायामेकदशस्कन्धोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—पुरुरस सरर भुगीतक सान गुदभौकी कथा

श्लोक उवाच

परिग्रहा हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम् ।

एवमेव नृके नृते ।

अवधूत ब्रह्मचर्यशी कदा—रात्रन् ! मनुष्येन जो वस्तु अन्ध प्रिय ध्याती है, उन्हें त्याग करना ही उनका दुःखाय कारण है । जो बुद्धिमान् पुरुष वह

अनन्तं सुखमाप्नोति तत् विद्वान् यस्त्वकिंचनः ॥ १ ॥

सामिपं कुररं बध्नुर्बलिनो ये निराभिधाः ।

तदामिपं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

न मे मानसमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।

आत्मक्रीड आत्मैरतिविचरामीह बालवत् ॥ ३ ॥

द्राक्वै चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आच्छतौ ।

यो विमुग्धो जडा बालो या गुणैर्म्यः परंगतः ॥ ४ ॥

कचित् कुमारी त्वत्मानं वृणानान् गृहमागवान् ।

स्वयं तानर्हयामास कापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

तेषामन्यवहारार्थं क्षालीन् रहसि पार्थिव ।

अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्याधकु क्षालाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

सा त्वेन्दुगुप्सितं मत्वा महती धीरिता ततः ।

बभञ्जैकैकशः क्षालान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

उभयोरप्यभूत् पोषो हवघ्नन्त्याः स क्षालयोः ।

तत्राप्येकं निरभिददकस्ताभाभवत् च्वनिः ॥ ८ ॥

अन्तश्चिमिमं तस्या उपदंष्टमरिन्दम ।

वात सम्प्रपन्न अविघ्नन भवसे रहता है—उत्तरीकी वे वात ही अलगा, मनसे भी किसी बस्तुका सम्प्र नहीं करता—उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्मकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥ एक कुरर पक्षी अपनी बोंचमें मांसका टुकड़ा छिये हुए था । उस समय दूसरे बाल्यान् पक्षी, बिनक पास मांस नहीं था, उससे छीननेके लिये उसे क्रोध चोंच मारने लगे । अब कुरर पक्षीने अपनी बोंचसे मांसका टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला ॥ २ ॥

सुख मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवारबाजोंको जो चिन्ता होती है, वह सुख नहीं है । मैं अपने आत्ममें ही रहता हूँ और अपने साथ ही क्रीडा करता हूँ । यह शिक्षा मैंने कल्पसे की है । अतः उसीक समान मैं भी मौजसे रहता हूँ ॥ ३ ॥ इस अगवर्ष दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चित और परमानन्दमें मग्न रहते हैं—एक तो भ्रष्टनाप निषेध नष्टास्य वास्तव और दूसरा वह पुरुष जो गुणप्रीति हो गया हो ॥ ४ ॥

एक बार किसी कुमारी कन्याके घर उसे कल करनेके लिये कई लज आये हुए थे । उस दिन उसके घरके लज कहीं बाहर गये हुए थे । इसलिये उसने स्वयं ही उनका आस्त्रियसत्कार किया ॥ ५ ॥ राजन् ! उनका भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी । उस समय उसकी कलाई में पक्षी शक्कर चूबियाँ जोर जोरसे ब्रब रही थी ॥ ६ ॥ इस शब्दको निन्दित समझकर कुमारीको बड़ी लज्जा महसूस हुई* और उसने एक-एक करके सब चूबियाँ ताक खा लीं और दोनों क्षणोंमें केवल दो-दो चूबियाँ रहन दी ॥ ७ ॥ अब वह फिर धन कूटने लगी । परन्तु वे दो-दो चूबियाँ भी बचने लगीं, तब उसने एक-एक चूबी और तोड़ दी । जब दोनों कज्ययोंमें केवल एक-एक चूबी रह गयी, तब किसी प्रकारकी अलज नहीं हुई ॥ ८ ॥ शिष्टमन्त ! उस समय क्षणोंका आधार-विचार निरसन-परकनेके लिये श्वर-उभय पुरुष-

१ मानापमानौ । २ आत्मरतो निपराभि । ३ तत् ।

* क्योंकि उससे उसके स्वयं धान कूटना रुकित होया था, जो कि उसकी दरिद्रताका चोटक था ।

लोकाननुचरन्नेतान् लाकृतचक्षुषिचित्तया ॥ ९ ॥

वासे वह्नां फलहो भवेद् वाता द्वयोरपि ।

एक एव चरत्सात् कुमाया इव फल्लुण ॥ १० ॥

मन एकत्र सयुज्याजितभासो जितासनः ।

चैराम्याम्यासयोगेन प्रियमाणमतन्द्रित ॥ ११ ॥

यस्मिन् मनो लम्बपदं यदेत

च्छनैर् शनैर्मुञ्चति कर्मेणून् ।

सत्त्वेन वृद्धन रजस्तमश्च

विषूय निवाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥ १२ ॥

तदैवमात्मन्यवरुद्धचिह्नो

न वद किंचिद् बहिरन्तरं वा ।

यथेष्टकारो नृपतिं प्रजन्त

मिषो गवत्तमा न ददधे पाश्वे ॥ १३ ॥

एकचार्यनिकृत् सादप्रमत्ता गुहादायः ।

प्रलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरकाञ्चनभाषण ॥ १४ ॥

गुहारम्भाऽतिदुःस्वाय पिफलथाधुवात्मन ।

सपः परकृतं वस्त्रं प्रविश्य सुखमधत् ॥ १५ ॥

एक नारायणो द्वे पृथग् भ्रमायया ।

संस्तुत्य स्रुतकृता चन्वान्त इदमाधरः ॥ १६ ॥

वामना में भी यहाँ पहुँच गया था । मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं, तब कलह होता है और दा आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत तो होती ही है, इसलिये कुमारी कन्याकी धृष्टीक समान अकेले ही विचरना चाहिये ॥ ९, १० ॥

राजन् । मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि असन और आसको जीतकर देराम्म और अम्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर ले और फिर वही सावधानीके साथ उसे एक लक्ष्ममें लगा दे ॥ ११ ॥ जब परममन्दस्वरूप परमात्मामें मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओंकी धूलको धो बहाता है । सत्त्वगुणकी वृद्धिसे राजोगुणी और तमोगुणी वृत्तिपेक्षा त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, वैसे ईश्वरके बिना अग्नि ॥ १२ ॥ इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्ममें ही स्थिर—निष्ठ हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता । मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही लकड़के साथ रावाकी सहायि निकल गयी और उसे पता तक न चला ॥ १३ ॥

राजन् । मैंने सौंपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीका सर्पकी भांति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँझरी चाहिये, मट्ट तो बनाना ही नहीं चाहिये । वह एक स्थानमें न रहे, प्रमाण न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय । किसीसे सहाय्य न लें और बहुत कम बात ॥ १४ ॥ हम अनित्य शरीरक निये पर कानून बंधनमें पड़ना स्पष्ट और दुःखी वद है । माँष दूधपेक बनाये पाले घुमकर वद आरामसे अपना समय काटता है ॥ १५ ॥

अब मरुतीसे गी २१ शिक्षा सुनी । सबक प्रसंगिक और अन्तर्गामी सवदात्मिक भगवन्ने दूरस्थानमें बिना किसी अन्य महापुरुष आनी ही माँगसे राजा हुए अष्टाङ्ग कर्मक भगवन्ने (प्रत्यक्ष उगमिन्

एक एवादितीयोऽभूदात्माधाराऽखिलाधयः ।

कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतास्तु शक्तिषु ।

सत्त्वादिष्वदिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥१७॥

परस्वराणां परम आस्ते कैवर्यसंश्रितः ।

कैवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥१८॥

कैवलसमानुभावन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।

संशोभयन् सृजत्त्वादौ तथा स्रष्टमरिदम ॥१९॥

तमाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विभक्तोऽमुसम् ।

यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥२०॥

ययोर्बानाभिर्हृदयाद्गणां संसृज्य वषट्पतः ।

तथा विहस्य भूयस्तां ग्रसत्येव महेश्वरः ॥२१॥

यत्र यत्र मनो देही चारयेत् सकलं धिया ।

स्रष्टावु द्वेपावु भयावु वापि याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥२२॥

क्रीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुब्जां तेन प्रवेशितः ।

याति तत्सात्त्वतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन् ॥२३॥

होनेपर) काश्चिद्व्यक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया—जो अपनेमें स्थित कर लिया और सनातन, निरन्तर तथा सगतमेदसे शून्य बनेले ही शेष रह गये । वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं । परन्तु सब अपने आश्रय—अपने ही आधारसे रहते हैं, उनका कोई दूसरा आधार नहीं है । वे प्रकृति और पुन दोनोके नियामक, कार्य और कारणप्रभू अर्थात् आदिकारण परमात्मा अपनी शक्ति काश्चके प्रभुत्वे सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियोंको साम्यवशसे खूब धेते हैं और सत्य कैवल्यरूपसे एक और अद्वितीयरूप गिराजमान रहते हैं । वे केवल अनुभवरूप और आनन्दधनमात्र हैं । किसी भी प्रकाशकी उपस्थिति उनसे सम्बन्ध नहीं है । वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति काश्चके द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मयको ध्रुव करते हैं और उससे पहले त्रिगुणात्मिकाप्रधान सृज (स्रष्टा) की रचना करते हैं । यह स्वरूप स्रष्टा ही तीनों गुणोंकी पक्षी व्यक्तिक है, वही सब प्रकारकी सृष्टि का मूल कारण है । उसीमें यह सारा विश्व, सत्य ताने-बानेकी तरह व्योतप्रोत है और इसीके करण जीको जन्म-मृत्युके चक्रमें पबना पवत है ॥१६-२०॥ जैसे मक्खी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाल फैलती है, उसीमें बिहार करती है और फिर उसे निष्कल करती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे बिहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें स्थित कर लेते हैं ॥ २१ ॥

राजन् । मैंने यन्त्री (निष्कली) कीजेंते यह विश्व प्रकृति की है कि यदि प्राणी स्नेहसे, हेतुसे कल्प मयसे भी ज्ञान-भूतक एकप्रकारसे अपना मन त्रितीयमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुपत्र स्वरूप प्राप्त हो सता है ॥ २२ ॥ राजन् ! जैसे यन्त्री एक कीड़ेको ले जाकर दीवारपर अपने खनेकी जगह बंद कर देता है और वह कीड़ा मयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले घरीरका त्याग किये बिना ही उसी घरीरसे तद्रूप हो जाता है ॥ २३ ॥

१ प्रधाना पुरुषेश्वरः । २ गुणां व्यक्तियु । ३ यपि स्वयम् ।

* जब कभी घरीरसे चिन्तन किये स्वकी प्राप्ति हो जाती है तब दूसरे घरीरसे तो बदना ही क्या है । इसीसे मनुष्यको भयंकर दुःख चिन्तन न करके केवल परमात्मका ही चिन्तन करना चाहिये ।

एव गुरुम्य एतेम्य एषा मे शिक्षितामतिः ।

स्वात्मोपदिष्टितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥२४॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहत

विभ्रतं स सत्त्वनिधनं सततार्थवर्धम् ।

उत्त्वान्यनेन विवृणामि यथा तथापि

पारस्ममित्यवसितो विश्राम्यसङ्गः ॥२५॥

बायात्मजार्थपशुमृत्पशूहासवर्गान्

पुष्पाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन् ।

स्वान्ते सकृद्भ्रमवरुद्धधनः म देहः

सुदृप्तस्य बीजमवमीदति शुद्धधमा ॥२६॥

त्रिहंक्रतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्पा

विभ्राऽन्यतन्वगुदरं ध्रुवण कुतश्चित् ।

प्राणाऽन्यतथपलटक् क्वच कमशक्ति

बद्धयः सपत्न्यश्च गहपतिं तुनन्ति ॥२७॥

सुद्रा पुराणि विविधान्यजयाऽऽरमद्रक्त्या

श्यान् मरीमुपपशून् स्वगन्गमन्साम् ।

राजन् ! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षाएँ
प्राप्त कीं । जब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा
है, यह तुम्हें बताता हूँ, साधवान् होकर सुनो ॥ २४ ॥
यह शरीर भी मेरा गुरु ही है, क्योंकि यह मुझ विवेक
और वैराग्यकी शिक्षा देता है । मरना और जीना ता
इसके साथ लगा ही रहता है । इस शरीरको पकड़
रखनेका फल यह है कि दुःख-मर-दुःख मांगते जाओ ।
यद्यपि इस शरीरसे तत्त्वविचार करनेमें सहायता मिलती है,
तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता, सर्वदा यही
निश्चय रहता है कि एक दिन इसे तैयार-कुत्ते खा
जायेंगे । इसीलिये मैं इससे अलग होकर विचरता
हूँ ॥ २५ ॥ बीज जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही
अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और काम करता है तब भी
पुत्र, धन-दौलत, बापी-बाढ़, नीकर-चाकर, घर-द्वार और
माह-बुझोंका बिस्तार करते हुए उनके पालन-पोषणमें
लगा रहता है । बड़ी-बड़ी कठिनाईयों सहकर धनसञ्चय
करता है । आप्य पूरी होकर भी शरीर स्वयं तो
नष्ट होता ही है, शृङ्गक सम्भ्रम दूसरे शरीरके लिये बीज
भोकर उसके लिये भी दुःखकी व्यवस्था कर जाता
है ॥ २६ ॥ जैसे बहुत-सी स्त्रियों के लिये एक पतिका
अपनी अपनी आर स्वीचती है वैसे ही जीवका जीभ
एक ओर—साष्टि पत्राकी ओर खींचती है ता
प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर जननद्रिय एक
ओर—जीसंयोगकी ओर ले जाना चाहती है ता
खवा, पत्र और स्नान दूसरी ओर—छान्न स्पर्श,
संजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं ।
नाक कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना
चाहती है ता चक्षक नत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर
रूप देखनेके लिये । इस प्रकार कर्मेन्द्रियों और
ज्ञानन्द्रियों दोनों ही इसे लगती रहता है ॥ २७ ॥
जैसे ता भगवान् अपनी अधिन्य शक्ति व्यापक शृङ्ग,
सर्पिल (रंगनाथ जन्तु) पशु, पक्षी, डोंस और
मछली आदि अनेकों प्रकारकी मत्तियों (धो), पत्तु
उनसे उन्हें संस्थापन हुआ । तब उन्होंने मनुष्य-

अथ दशमोऽध्यायः

लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंकी असंसारताका निरूपण

भीमगणानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाध्वयः ।

वर्षाभिमकुलाचारमक्षमास्मा समाचरत् ॥ १ ॥

अन्वीक्षत् विष्णुदात्मा देहिनां विपयात्मनाम् ।

गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २ ॥

सुप्तस्य विपयात्माकां श्यायतो वा मनोरथः ।

नानात्मकत्वाद् विफलत्वा मेदात्मधार्युणैः ॥ ३ ॥

निवृत्तं कम सेवत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजत् ।

विज्ञासायां सप्रवृत्ता नाद्रियत् कर्मपादनाम् ॥ ४ ॥

यमानभीक्ष्णं सवत नियमान् मत्पर कचिन् ।

मदभिर्गुणं शान्तमुपासात्त मदात्मकम् ॥ ५ ॥

भगवान् भीष्मप्य कहत हैं—प्यारे तद्वय ! साधक-
को चाहिये कि सब तरहसे मेरी शरणमें रहकर
(गीता, पाञ्चरात्र आदिमें) मेरे द्वारा उपदिष्ट अपने
अर्थात् साधनालीसे पाछन करे । साथ ही बहोतक
उनसे विरोध न हो वहौनक निष्कर्ममार्गसे अपने वर्ण,
आश्रम और कुण्डके अनुसार सदाचारका भी अनुष्ठान
करे ॥ १ ॥ निष्कर्म होनेका उपाय यह है कि
अधर्मोंका पाछन करनेसे कुछ हुए अपने चित्तमें यह
विचार करे कि ब्रह्मके विपयी प्राणी शम्भु, स्पर्श,
रूप आदि विषयोंको सत्य समझकर उनकी प्राप्तिके
लिये जो प्रयत्न करते हैं, उसमें उनकी उदर्य तो यह
होता है कि कुछ मिछे, परन्तु मिळता है कुछ ॥ २ ॥
इसके सम्बन्धमें ऐसा विचार करना चाहिये कि सप्त
अवस्थामें और मनोरथ करते समय जाम्रत-अवस्थामें भी
मनुष्य मन-ही-मन अनकों प्रकारके विषयोंका अनुभव
करता है, परन्तु उसकी यह सारी कल्पना वस्तुशून्य
होनेके कारण व्यर्थ है । वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा
होनेवाली भेदबुद्धि भी व्यर्थ ही है, क्योंकि यह भा
इन्द्रियजन्य और नाना वस्तुविषयक होनेके कारण
पूर्ववत् असत्य ही है ॥ ३ ॥ जो पुरुष मेरी शरणमें
है, उसे अन्तर्मुख करनेवाला निष्कर्म अपना निष्कर्म
हो करन चाहिये । उन कर्मोंका बिस्तृत परिष्कार कर
देना चाहिये जो बहिर्मुख बनानेवाला अपना सकाम
हो । जब आत्मज्ञानकी ठकठ इच्छा जमा ठठे, तब
तो कमसम्बन्धी विधि-विधानोंका भी आग्रह नहीं करना
चाहिये ॥ ४ ॥ अहिंसा आदि स्योंका तो आन्तर्यपूर्वक
सेवन करना चाहिये, परन्तु दास्य (पतिव्रता) आदि
विषयोंका पान्न शक्तिक अनुसार और आत्मज्ञानक
विरोधी न होनेर ही करना चाहिये । विज्ञासु पुरुषक
लिये यम और नियमोंक पान्नसे भी बढ़कर आवश्यक
बात यह है कि वह अनन्य गुरुको, जो मेरे सम्पास
जाननशून्य और शान्त हो गया हो सत्य समझकर

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममा दृढसौहृदः ।

असत्सरोऽर्धजिह्वासुरनद्यपुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

जायापत्यगृहधेयस्वजनद्रविणादिषु ।

उदात्तीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥ ७ ॥

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्मात् देहादात्मधितासहृक् ।

यथाग्निर्दाह्यादाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥

निरोधात्यस्यपुष्टहवानात्वं तत्कृतान् गुणान् ।

अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं दहगुणान् पर ॥ ९ ॥

याऽसौ गुणविरचितो दहोऽयं पुरुषस्य हि ।

संसारस्तभिनभोऽयं पुंसां विधान्छिदात्मनः ॥ १० ॥

सेवा करे ॥ ५ ॥ शिष्यको अभिमान न करना चाहिये । वह कभी किसीसे डाह न करे—किसीका गुण न सोचे । वह प्रत्येक कर्ममें कुशल हो—उसे काममें छू न जाय । उसे कहाँ भी ममता न हो, गुणोंमें दृढ़ अनुराग हो । कोई काम हववशात् न करे—उसे साधनासे पूरा करे । सदा परमार्थ सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा बनाये रखे । किसीके गुणोंमें दोष न निकाले और व्यर्थकी बात न करे ॥ ६ ॥ जिह्वासुका परम घन है अन्धता, इसलिये वह बी-गुप्त, घर-छेत, खजान और घन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक सम आकाशको देखे और किसीमें कुछ विशेषताका आरोप करके उससे ममता न करे, उदात्तीन रहे ॥ ७ ॥ उदाह ! जैसे जलनेवाली लकड़ीसे उसे जलाने और प्रकाशित करनेवाली अग्नि सर्वत्र अन्धता है । ठीक वैसे ही विचार करनेपर जान पड़ता है कि पञ्चभूतोंका बना स्थूलशरीर और मन-बुद्धि आदि सप्रज्ञ तत्त्वोंका बना सूक्ष्मशरीर दोनों ही अज्ञ और जड़ हैं । तथा उनको जानने और प्रकाशित करनेवाला आत्मा साक्षी एवं स्वयंप्रकाश है । शरीर अतिसूक्ष्म, अनेक एवं जड़ हैं । आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है । इस प्रकार देहकी अपेक्षा आत्मामें अज्ञान विस्मृतता है । अतएव देहसे वास्तव्य भिन्न है ॥ ८ ॥ जब आग लकड़ीमें प्रज्वलित होती है, तब लकड़ीके उत्पत्ति-भित्तिका, बर्बाई-छोट्टाई और अनेकछाँवरि समी गुण वह जल्यं प्रज्वलन कर छोटी है । परन्तु सब पूछे, तो लकड़ीके उन गुणोंसे भागकर कोई सम्बन्ध नहीं है । वैसे ही जब आत्मा अनेकछे छरि मान होता है, तब वह देहके जड़ता, अतिसूक्ष्म, स्थूलता, अनेकता आदि गुणोंसे सर्वत्र दूषित होनेपर भी उससे कुछ ज्ञान पड़ता है ॥ ९ ॥ ईश्वरके द्वारा निष्कृति मायाके गुणों ही सूक्ष्म और स्थूल शरीरका निर्माण किया है । जीवको शरीर और शरीरको जीव सब केनेके कारण ही स्थूलशरीरके जन्म-मरण और सूक्ष्म शरीरके आवागमनका आत्मपर आरोप किया जाता है । जीवको जन्म-मृत्युरूप संसार इसी भन अवस्थाके कारण प्राप्त होता है । आत्मक सत्त्वगज ज्ञान होनेपर उसकी जड़ कट जाती है ॥ १० ॥

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽरमानमात्मस्थं केवलं परम् ।

सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुषुद्धिं यथाक्रमम् ॥११॥

आचार्योऽरविराजः स्यादन्तर्वास्तुत्तरारणि ।

स्तुत्तभान प्रवचनं विद्यासन्धिं सुखावहः ॥१२॥

वैद्यारदी सावित्रिष्टुष्टुद्धि

वुनोति मायां गुणसम्प्रदायम् ।

गुणांभ सन्दृष्ट यदात्ममेतत्

स्वयं च शाम्यत्यसमिधु यथाग्निः ॥१३॥

अथैषां कर्मकर्तृणां भोक्तृणां सुखदुःखाः ।

नानात्वमथ नित्यत्वं लाफलागमात्मनाम् ॥१४॥

मन्यस सबभाषाणां संस्था द्यौत्पत्तिकी यथा ।

प्यारे उदय ! इस जन्म-मुख्यरूप संसारका कोई दूसरा कारण नहीं, केवल अज्ञान ही मूल कारण है । इसलिये अपने वास्तविक स्वरूपको, आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये । अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्से अतीत, त्रैतकी गन्धसे रहित एवं अपने आपमें ही स्थित है । उसका और कोई आधार नहीं है । उसे जानकर धीरे-धीरे स्थूल-शरीर, सूक्ष्म शरीर आदिमें जो सम्प्रवृद्धि हो रही है, उसे क्रमशः मिटा देना चाहिये ॥ ११ ॥ (यहाँ जव अग्निमन्थन करके अग्नि उत्पन्न करते हैं, तो उसमें नीचे-ऊपर दो छकड़ियाँ रहती हैं और बीचमें मन्थन-काष्ठ रहता है, वैसे ही) विष्णुरूप अग्निकी उत्पत्तिके लिये आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपरकी अग्निर्घो हैं तथा उपदेश मन्थनकाष्ठ है । इनसे जो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है, वह त्रैलोक्य सुख देनवाली है । इस यहाँ बुद्धिमत् शिष्य सद्गुरुक हाथ जो अत्यन्त विस्तृत ज्ञान प्राप्त करता है वह गुणोंसे बनी हुई वियर्थोंकी मायाको भस्म कर देता है । तत्पश्चात् वे गुण भी भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि यह संसार बना हुआ है । इस प्रकार सबके भस्म हो जानेपर जब आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी टीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूपमें शान्त हो जाती है, जैसे समिधा न खनेपर आग बुझ जाती है ॥ १२ १३ ॥

प्यारे उदय ! यदि तुम कानिचिद् कर्मोंके कर्ता और सुख-दुःखोंके माया जीतोंके अनेक तथा जगद, कल, वे और आत्माओंके नियन्त्र मानते हो; साथ ही समस्त पदार्थोंकी स्थिति प्रकाशसे नियन्त्र और यथाय स्वीकार करते हो तथा यह समझते हो कि प्रत्यक्ष आग्नि बाह्य आहुतिर्घो भन्से उनका अनुसार ज्ञान ही उत्पन्न होता और बढ़कता रहता है; तो ऐसे मतके माननेसे क्या अन्तर् हो जायगा । (क्योंकि इस प्रकार

० परीतक यह बात स्पष्ट हो गयी कि स्वयंप्रकाश ज्ञानमय नियन्त्र ही आत्मा है । कर्म, भोग, आदि चर्य दरेके कारण हैं । आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है वह अनित्य और मायामय है । इन्द्रिय भावजन दान ही ममत्ता विरहितोत्ते मुक्ति मिलेगी है ।

तत्तदाकृतिमेवेन जायत भिद्यत च धीः ॥१५॥

एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगत ।

कालावयवत सन्ति भाषा जन्मादयोऽसकृत् ॥१६॥

अत्रापि कर्मणां कर्तृरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।

भोक्तुमदुःखसुखयो को न्वर्थो विवर्श भजेत् ॥१७॥

न देहिनां सुखं किंचिद् विद्यते विदुषामपि ।

तथा च दुःखं मृदानां इथाहंकरत्वं परम् ॥१८॥

यदि प्राप्तिं विचारं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।

तेऽप्यद्वा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा ॥१९॥

को न्वर्थः सुखरत्येन कामा वा मृत्युरन्तिके ।

आचारं नापमानस वक्ष्यस्येव न तृष्टिः ॥२०॥

जगत्के कर्ता आत्माकी नित्य मत्ता और मन्-मनुष्ये चक्षरसे मुक्ति भी सिद्ध न हो सकेगी ।) यदि कदाचिद् ऐसा जीकार भी कर लिया जाय तो देह और संकल्पों का जायको के सम्बन्धसे होनेवाली जीवोंकी जन्म-मरण आदि व्यवहार भी नित्य होनेके कारण हू न हो सकेगी, क्योंकि तुम देहादि पदार्थ और कर्मोंकी नित्य जीकार करते हो । इसके सिवा, यहाँ भी कर्मोंका कर्ता तथा सुख-दुःखका भोक्ता जीव परस्पर ही दिखायी देता है, यदि वह स्वतन्त्र हो तो दुःखका फल क्यों भोगना चाहेगा ? इस प्रकार सुख-भोगकी समस्या सुलझ जानेपर भी दुःख-भोगकी समस्या तो ठीकी ही रहेगी । अतः इस मतके अनुसार जीवको कभी मुक्ति व स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकेगी । जब जीव कल्पः परतन्त्र है, विश्वास है तब तो स्वयं या परमार्थ को भी उसका सेवन न करेगा । अर्थात् वह स्वयं और परमार्थ दोनोंसे ही वञ्चित रह जायगा ॥१५-१७॥ (यदि यह कहा जाय कि जो ममीमेंसे कर्म करता जानते हैं, वे सुखी रहते हैं, और जो नहीं करते उन्हें दुःख भोगना पकटा है तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि) ऐसा देखा जाता है कि बने-बने कर्म-पुरुष विद्वानोंको भी कुछ सुख नहीं मिलता और मूर्खोंका भी कभी दुःखसे पावन नहीं पकटा । इसलिये जो लोग अपनी बुद्धि या कर्मसे सुख पानेका प्रयत्न करते हैं, उनका वह अभिमान व्यर्थ है ॥ १८ ॥ यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि वे लोग सुखसे प्राप्ति और दुःखके नाशका ठीक-ठीक उपाय जानते हैं, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी ऐसे उपयुक्त फल नहीं है, जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके और वे कभी मरें ही नहीं ॥ १९ ॥ जब मृत्यु उनके सिरपर नाच रही है, तब ऐसी कौन-सी योग-सामग्री या योग-कामना है जो उन्हें सुखी कर सके ! मन्, जिस मनुष्यको फौसीपर लटकानेके क्रिये बरखानपर से जाया जा रहा है, उसे क्या हस्त-कन्दन-की बन्दि पवार्ष सन्तुष्ट कर सकते हैं ? कदापि नहीं । (जो पूर्वोक्त मत माननेवालोंकी दृष्टिसे न सुख ही सिद्ध होय और न जीवका कुछ पुरुषार्थ ही रहेगा) ॥ २० ॥

भुतं च दृष्टव दृष्टं सधावसास्यभ्ययैः ।

पहन्तरामकामत्वात् कृपिवच्चापि निष्फलम् ॥२१॥

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः खलुष्ठितः ।

तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति सच्चक्षुः ॥२२॥

इष्टे देवता यमैः खलोकं याति याज्ञिकः ।

मुञ्जीव देववक्त्र भोगान् दिव्यान् निष्ठाञ्जितान् ॥२३॥

स्रपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।

गन्धर्वैर्विहरन् भग्न्ये दवीनां हृष्येपचूक् ॥२४॥

स्त्रीभिः कामगमानेन किङ्किणीजालमालिना ।

क्रीडन् न वदामपातं सुराक्रीडणु निर्द्वितः ॥२५॥

तवत् प्रमादत स्वर्गे यावत् पुण्य समाप्यते ।

धीमपुण्य पतस्यभागनिष्ठन् कालचालितः ॥२६॥

प्यारे उदय ! भौतिक सुखके समान फलैविकित सुख भी दोषयुक्त ही है, क्योंकि वहाँ भी बराबरीवायेंसे होइ सकती है, अधिक सुख भोगनेवायेंके प्रति वसुध होती है—उनके गुणोंमें दोष निकल आता है और छोटीसे धृष्टा होती है । प्रतिदिन पुण्य क्षीण होनेके साथ ही वहाँके सुख भी क्षयके निकट पहुँचते रहते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं । क्योंकि कर्मणा पूर्ण होनेमें भी यजमान, अश्विज और कर्म आदिकी वृत्तियोंके कारण बड़े-बड़े विघ्नोंकी सम्भावना रहती है । जैसे हरी-भरी खेती भी अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदिके कारण नष्ट हो जाती है, वैसे ही स्वर्ग भी प्राप्त होते-होते विघ्नोंके कारण नहीं मिल पाता ॥ २१ ॥ यदि एक-एकगुण धर्म बिना किसी विघ्नके पूरा हो जाय, तो उसके द्वारा जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उनकी प्रसिद्ध प्रशंसा में कतबस्ता हैं, सुनो ॥ २२ ॥ एक परनेवाला पुरुष प्योंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गमें जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा कर्माञ्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है ॥ २३ ॥ उसे उसके पुण्योंके अनुसार एक चमकीला विमान मिलता है और वह उसपर सवार होकर सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है । गन्धर्वगण उसके गुणोंका गाल करते हैं और उसके रूप-आवृण्णको देखकर दूसरोंका मन लुप्त जाता है ॥ २४ ॥ उसका विमान वह जहाँ बि जाता चाहता है, वही चञ्चल जाता है और उसकी चप्पियों घनघनकर दिशाओंका गुबारित करती हैं । वह अमरुतोंके साथ नन्दनवन अग्नि देवताओंकी विहार स्वर्गियोंमें श्रीहारे करते-करते इतना केसुध हा जाता है कि उसे इस बातका पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायेंगे और मैं यहाँसे वक्रेत दिया जाऊँगा ॥ २५ ॥ जकतक उसके पुण्य खप रहे हैं, तबतक वह स्वर्गमें चैनचढ़ी बंशी बजाता रहता है, परन्तु पुण्य क्षीण होते ही हृष्ट न रहनेपर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि कायकी शक्त ही पसी ॥ २६ ॥

यद्यधर्मस्त मङ्गलसतां वाजितेन्द्रियः ।

कामात्मा कृपणो लुब्धः स्रैणो मृतविर्हिसक ॥२७॥

पशूनविधिनाऽऽलम्ब्य श्रतमृतगणान् यजन् ।

नरकानवधो जन्तुर्गत्वा यात्युत्सर्णं तमः ॥२८॥

कर्माणि दुःखोदकाणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः ।

देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥२९॥

लोकानां लोकपालानां भद्रं भयं कल्पजीविनाम् ।

ब्रह्मणोऽपि भयं भवति द्विपरार्थपरायण ॥३०॥

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।

जीवस्तु गुणसंयुक्तो मुक्त्वैतं कर्मफलान्वसौ ॥३१॥

यावत् स्याद् गुणवैपम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।

नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥३२॥

शावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावद्दीश्वरतां भयम् ।

य एतत् समुपासीरस्ते मुच्यन्ति शुचापिंताः ॥३३॥

काल आत्माऽऽगमा लोक स्वभावो धर्म एव च ।

इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकर मति ॥३४॥

यदि कोई गनुष्य दुष्टोंकी सगतिमें पड़कर कम परायण हो जाय, अपनी इन्द्रियोंके वशमें होकर मनफर्न करने लगे, लोभवश दाने-दानेमें कृपणता करने लगे, लम्पट हो जाय अथवा प्राणिपक्षोंको छताने लगे और निधि-विरुद्ध पशुओंकी बलि देकर मृत और प्रेतोंकी उपमस्तानमें काम चाय, तब तो वह पशुजैसे भी गम-दीन हो जाता है और अन्त्य ही नरकमें जाता है । उसे अन्तमें धार अन्धकार, स्तब्ध और परमरुद्ध रहित अज्ञानमें ही भटकना पड़ता है ॥ २७-२८ ॥ जितने भी सकल और बहिरुक्त करनेवाले कर्म हैं, उनका फल दुःख ही है । जो जीव शरीरमें अज्ञान-मग्न करके उनकीमें काम जाता है, उसे कर-बार जन्म-मरण और मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती रहती है । ऐसी स्थितिमें कुछ धर्मा जीवको क्या सुख हो सकता है ! ॥ २९ ॥ उसे लोक और लोकपालोंकी आयु भी केवल एक क्षण है, इसलिये मुझसे मयमीत रहते हैं । औरोंकी तो बात ही क्या, सब ब्रह्मा भी मुझसे मयमीत रहते हैं, क्योंकि उनकी आयु भी काबसे सीमित—केवल दो पर्यंत है ॥ ३० ॥ सत्य, रज और तम—ये तीनों गुण इन्द्रियोंको उनके कर्मोंमें प्रेरित करते हैं और इन्द्रियों कर्म करती हैं । जीव अज्ञानवश सत्य, रज यदि गुणों और इन्द्रियोंका अपना स्वरूप नान बँटा है और उसके किये हुए कर्मोंका फल सुख-दुःख भोगने लगता है ॥ ३१ ॥ जबतक गुणोंकी विमलता है अर्थात् शरीरदिमें मैं और मेरेपनका अविभाज है, तबतक अज्ञानके एकत्वकी अनुभूति नहीं होती—बल्कि अनेक जान पड़ता है, और जबतक आत्मपद अनेक है, तबतक ता उन्हें कुछ अथवा कर्म किसीके बर्णन रहना ही पड़ेगा ॥ ३२ ॥ जबतक परतन्त्रता है, तबतक ईश्वरसे भय क्या ही रहता है । जो मैं और मेरेपनके भावसे प्रसन्न रहकर आत्माही अनेकता, परतन्त्रता आदि मानते हैं और ईश्वर न ध्यान करके बहिरुक्त करनेवाले कर्मोंका ही सेवन करते रहते हैं, उन्हें शाक और मोहकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥ प्यारे उद्यव ! जब मायाके गुणोंमें मोह होता है, तब मुझ आत्मपद ही कुछ जीव वेद, धर्म, समाज और धर्म आदि अनेक नामोंसे निरूपण करने लगते हैं । (ये सब मायामय हैं । वास्तविक स्वरूप मैं आत्मा ही हूँ) ॥ ३४ ॥

उदय उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि दहजेष्वनपावृतः ।

गुणैर्न बद्धयत दही यद्धयत वा कथं विभो ॥३५॥

कथं वर्तत बिहृत कर्वा ज्ञायत लक्षणं ।

किं ब्रह्मीतस्त विसृजेच्छयोतासीत याति वा ॥३६॥

एतदभ्युत मे ब्रूहि प्रज्ञं प्रज्ञविदां वर ।

नित्यब्रह्मको नित्यबद्ध एक एवेति मे ब्रूम ॥३७॥

उदयभीन पूछा—भगवन् । यह जीव दह आदि रूप गुणोंमें ही रह रहा है । फिर दहसे हानवान् क्यों या सुख-दुःख आदि रूप फलमें क्यों नहीं वैधता है ? अथवा यह आत्मा गुणोंसे निर्विशिष्ट है, देह आदिके सम्पर्कसे संयुक्त रहित है, फिर इसे बन्धनकी शक्ति कैसे होती है ? ॥ ३५ ॥ वद अथवा मुक्त पुरुष कस्ता कर्वाव करता है, वह कैसे विशार करता है, या वह किन्तु लक्षणोंसे पहचाना जाता है कैसे भोजन करता है ? और मद्य-स्नान आदि कैसे करता है ? कैसे साता है, कैसे कैला है और कैसे चला है ? ॥ ३६ ॥ अभ्युत ! प्रश्नकर हम ज्ञाननेतावासे आए श्रेष्ठ हैं । इसलिये आप मेरे इस प्रश्नकर उत्तर दीजिये—एक ही आत्मा अनादि गुणोंके संसर्गसे नियत भी मद्धम पकता है और असङ्ग होनेके कारण नित्यमुक्त भी । इस अतकसे लेकर मुझे भ्रम हो रहा है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संक्षिप्तानामेकादशस्कन्ध

भागवदुद्धवसनाव दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

बद्ध मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

बद्धो ब्रुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।

गुणस्य मायामूलस्यान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥

लोकमाही सुखं दुःखं देशपृथिव्य मायया ।

स्यन्तो यथाऽऽत्मनः स्थाति संसृतिर्न तु वास्तवी ॥२॥

विद्याविधं मम तन् बिदुषुद्धव शरीरिणाम् ।

भगवान् ब्रह्मिष्ठपूजने कहत—प्यार उदय । अस्तु बद्ध है या मुक्त है, इस प्रश्नकरके 'प्राज्ञ' या 'व्यवहार' मेरे अधीन रहनेवाले सत्त्वादि गुणोंकी उपारिसे ही होता है । वस्तुतः—तत्त्वदृष्टिसे नहीं । सभी गुण मायामूलक हैं—बद्धजाल हैं—जादूके लेखक समान हैं । इसलिये न मेरा मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन हो है ॥ १ ॥ जैसे खम बुद्धिकर विपिन ह—उसमें बिना हुए ही भासता है—मिथ्या है वसे ही शक-मोह, सुख-दुःख, 'तीरकी उत्पत्ति और मृत्यु—यह सब संसारकर बन्धन माया (अविद्या) के कारण प्रतीत हानकर भी वस्तुविप नहीं है ॥ २ ॥ उदय । 'भीरुभारिष्ये' मुक्तिकर अनुभव करनेवाली आशयविषया और बन्धनकर अनुभव करान्वाली अविद्या य 'मना ही भीरु जनाति शक्तिर्या ह । मनी

मोक्षबन्धकरी आये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।

बन्धोऽस्याविद्ययानादिविद्यया च तथेतरः ॥ ४ ॥

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।

विरुद्धधर्मिणास्तावत् स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥

सुपर्णाक्तौ सद्यौ सत्पायौ

यदन्त्यैतौ कुतनीडौ च वृक्षे ।

एकस्तयाः स्वादति पिप्पलान्न-

मन्यो निरभोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥

आत्मानमन्य च स वद विद्वा-

नपिप्पलादा न तु पिप्पलादः ।

याऽविद्यया युक्तस्तु नित्यबद्धो

विद्यामया यः स तु नित्यमुक्त ॥ ७ ॥

ददम्याऽपि न ददम्या विद्वान् मृणान् यथात्थिष्ठ ।

मायसे ही इनकी रचना हुई है । इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है ॥ ३ ॥ भाई ! तुम तो सर्व को मुक्तिमान् हो, विचार करो—जीव तो एक ही है । यह व्यवहारके लिये ही मेरे वंशके रूपमें कल्पित हुआ है, वस्तुतः मेरा स्वरूप ही है । आत्मज्ञानसे सम्पन्न होनेपर उसे मुक्त कहते हैं और आत्मज्ञान इनका होनेसे बद्ध । और यह ज्ञान अनादि होनेसे कल्प भी अनादि कहल्यता है ॥ ४ ॥ इस प्रकार तुम एक ही कर्ममें रहनेपर भी जो शोक और अनन्दरूप भिन्न धर्मस्थाने जान पड़ते हैं, उन बद्ध और मुक्त जीवों में अन्तर है ॥ ५ ॥ (यह भेद दो प्रकारका है— एक तो नित्यमुक्त ईश्वरसे जीवका भेद, और दूसरा मुक्त-बद्ध जीवका भेद । परब्रह्म सुनो) —जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्तके भेदसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही शरीरमें निपटता और नियन्त्रितके रूपसे स्थित है । ऐसा सम्झो कि शरीर एक वृक्ष है, इसमें इदम्भक्त वृक्ष बनाकर जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं । वे दोनों केतन होनेके कारण समान हैं और कभी न विद्वद्भवनके कारण सख हैं । इनके निवास करनेका कारण केवल स्नेह ही है । इसी समानता होनेपर भी जीव तो शरीररूप वृक्षके फल सुख-दुःख आदि भोगता है, परन्तु ईश्वर उन्हें न भोगकर केवल सुख-दुःख आदि से असङ्ग और उनका सङ्गीतमात्र रहता है । अन्तर होनेपर भी ईश्वरकी यह विशेषगता है कि वह इन, ऐश्वर्य, आनन्द और सन्मर्ष आदिमें भोग्य वीक्ष्ये का कर है ॥ ६ ॥ साथ ही एक यह भी विशेषगता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविकस्वरूप और एक अतिरिक्त जगत्को भी जानता है, परन्तु माका जीव न अपने वास्तविक स्वरूप जानता है और न अपने अतिरिक्तजगत् । इन दोनोंमें जीव तो अधिष्ठानेयुक्त शान्त कारण नित्यबद्ध है और ईश्वर विद्यमानरूप शान्त कारण नित्यमुक्त है ॥ ७ ॥ प्यार उद्वह ! इनसम्पन्न पुरुष भी मुक्त हो हैं; जैसे सख दूट जानकर जगा हुआ पुरुष सन्मर्षके सम्पन्न शरीरसे यह सम्पन्न नहीं रहता, ऐसे ही इसी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें रहनेपर भी उनसे किसी प्रकारका सम्पन्न नहीं रहता परन्तु अन्तर

अदहस्योऽपि देहस्यः कुमतिः स्वप्नमग्न्यथा ॥ ८ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।

गुणमापेक्ष्यहं कुर्याम विद्वान् यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥

दैवाधीने क्षरीरजसिन् गुणभाष्येन कर्मणा ।

वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तासीति निश्चक्षते ॥ १० ॥

एवं विरक्तः क्षयने आसनाटनमखने ।

वर्धनस्वर्धनप्रत्यभोजनभक्षणदिषु ॥ ११ ॥

न तथा बद्धयते विद्वांस्तत्र तत्राद्यन् गुणान् ।

प्रकृतिस्रोऽप्यसंसक्तो यथा त्व सवितानिष्ठः ॥ १२ ॥

वैश्वर्यवश्यात्संस्तुतया छिन्नसंस्तवः ।

प्रतिषुद्ध इव स्वप्नान्नात्वाच्च विनिवर्तते ॥ १३ ॥

यस्य स्तुर्णीतसंक्रन्त्याः प्राणान्द्रियमनोभियाम् ।

यूथयः संविनिष्ठका देहस्योऽपि हितवृत्तगुणैः ॥ १४ ॥

यस्यात्मा हिंस्यते हिंसेयं किंचिद् यदृच्छया ।

अर्च्यते वा कश्चित् न अप्सिक्रियत बुधः ॥ १५ ॥

पुरुष वास्तवमें शरीरसे काई सम्बन्ध न रखनेपर भी
अज्ञानके कारण शरीरमें ही स्थित रहता है, जैसे स्वप्न
देखनेवाला पुरुष स्वप्न देखते समय व्यापक शरीरमें बँध
जाता है ॥ ८ ॥ व्यवहारमें इन्द्रियों शब्द-स्पर्शादि
विषयोंको ग्रहण करती हैं, क्योंकि यह तो नियम ही
है कि गुण ही गुणको ग्रहण करते हैं, अस्मा नहीं ।
इसलिये जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूपको समझ
लिया है, वह उन विषयोंके ग्रहण-स्वागमें किसी प्रकार
का अभिमान नहीं करता ॥ ९ ॥ यह शरीर प्रारब्धके
अधीन है । इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी
कर्म होते हैं, सब गुणोंकी प्रेरणासे ही होते हैं । अज्ञानी
पुरुष झूठमूढ़ अपनेको उन ग्रहण-स्वाग आदि कर्मोंका
कर्ता मान बैठता है और इसी अभिमानके कारण वह
बँध जाता है ॥ १० ॥

यह उदाह । पूर्वोक्त पद्धतिसे विचार करके निवेकी
पुरुष समस्त विषयोंसे विरक्त रहता है और सोने-बैठने,
घूमने-सिरने, गहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने और
सुनने आदि क्रियाओंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता,
बल्कि गुणोंको ही कर्ता मानता है । गुण ही सभी
कर्मोंके कर्ता-मोक्षा हैं—ऐसा जानकर विद्वान् पुरुष
कर्मवासना और कर्मसे नहीं बँधते । वे प्रकृतिमें रहकर
भी बैसे ही असङ्ग रहते हैं, जैसे स्पर्श आदिसे आकाश,
जलकी आर्द्रता आदिसे सूर्य और गन्ध आदिसे वायु ।
उनकी विमल बुद्धिकी तन्त्रार असङ्ग-मयकाफी सानसे
और भी तीक्ष्ण हो जाती है, और वे उससे अपने सारे
संशय-सन्देहोंको धाट-कूटकर फेंक दते हैं । जैसे काई
खपसे जाग उठा हो, उसी प्रकार वे इस भेन्बुद्धिके
भ्रमसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ १२ ॥ जिनके प्राण,
इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सम्पन्न चेष्टाएँ बिना सङ्कल्पके
होती हैं वे देखमें स्थित रहकर भी उसक गुणोंसे मुक्त
हैं ॥ १३ ॥ उन तत्त्व मुक्त पुरुषोंके शरीरको चाहे
हिंसक खेग पीड़ा पहुँचाये और चाहे कभी कोई दैव-
योगसे पूना करने लगे—वे न तो किसीक सत्तानेसे
दुखी होते हैं और न पूना करनेसे सुखी ॥ १५ ॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।

वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समद्वन्द्वमृनिः ॥१६॥

न कुर्यान्न वदेत् किंचिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।

आत्मरामोऽनया वृत्त्या विचरेन्नृजवन्मृनिः ॥१७॥

शब्दब्रह्मणि निष्ठातो न निष्णायात् परे यदि ।

अस्तस्व भ्रमफलो ज्ञाचेतुमिव रक्षतः ॥१८॥

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्या

देहं पराधीनमस्तत्रजां च ।

विच त्वतीर्षाकुतमज्ञं वाचं

हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥१९॥

यस्यां न मे पावनमज्ञं कर्म

स्वित्युद्भवप्राणनिराधमस्य ।

लीलावतारेप्सितजन्म वा स्यात्

वक्ष्यां गिरं तां विभुसाध वीरः ॥२०॥

एवं विज्ञासवापोऽहं नानात्वभ्रममात्मनि ।

उपारमत् विरज मना मय्यर्प्य सर्वगे ॥२१॥

यद्यनीशो धारयितुं मना ब्रह्मणि निश्चलम् ।

मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥२२॥

भद्राहुर्मै कंषाः शृण्वन् सुभद्रा लोकर्षायनीः ।

गायन्नुत्तरन् कर्म जन्म चाभिनयन् सुदुः ॥२३॥

जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी मेहरबानि कर उठ गये हैं, वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और न बुरे काम करनेवालेकी निन्दा, न वे किसीकी अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरीबात सुनकर किसीको प्रियकरते ही हैं ॥१६॥ जीकमुक्त पुरुष न तो कुछ मन्त्र या मुरा काम करते हैं, न कुछ मन्त्र या मुरा कहते हैं और न सोचते ही हैं । वे व्यवहारमें अपनी समस्त वृत्ति रखकर अज्ञानमें ही मग्न रहते हैं और जबके समान मालो खेई मूर्ख हो इस प्रकार विचरण करते रहते हैं ॥ १७ ॥

प्यारे उद्भव । जो पुरुष वेदोंका तो पारंगामी निकल हो, परन्तु परमज्ञके ज्ञानसे शून्य हो, उसके परिष्कार कोई फल नहीं है वह तो पैसा ही है, जैसे किन्तु बुधकी गायका पाऊनेवाला ॥ १८ ॥ बुध न देनेवाली गाय, व्यभिचरिणी स्त्री, पराधीन स्त्री, दुष्ट पुत्र, सुपात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किये बुद्ध बन कर मेरे गुणोंसे रक्षित वाणी व्यर्थ है । इन वस्तुओंकी रक्षाकी करनेवाला दुःख-पर-दुःख ही मोगल होता है ॥ १९ ॥ इसलिये उद्भव । जिस बर्षमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रक्रमरूप की लोकपावन क्षीणकर्म वर्णन न हो और क्षीणकर्मों में मेरे अनेकप्रिय राम-कृष्णदि अन्तरोंका सिद्धिमें खे-गान न हो, वह वाणी कल्याण है । मुनिमान् प्रकृत वाहिये कि ऐसी वाणीका उच्चारण एवं ज्ञान न करे ॥ २० ॥

प्रिय उद्भव ! जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है आत्मविज्ञासा और विचारके द्वारा अज्ञानमें जो अनेककर्म भ्रम है उसे दूर कर दे और मुझ सर्वव्यापी परमात्म में अपना निर्मल मन लगा दे तथा संसारके व्यवहारोंसे उपराम हो जाय ॥ २१ ॥ यदि तूम अपना मन परमात्म स्थिर न कर सको, तो सारे कर्म निरपेक्ष होकर मेरे किं ही करो ॥ २२ ॥ मेरी कबार्हे समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली एवं कल्याणकरिणी । भद्राके साथ उठे सुनना चाहिये । बार-बार मेरे अन्तर और क्षीणकर्म गान, स्मरण और अभिनय करना चाहिये ॥ २३ ॥

मदर्थे धर्मकामार्थानाञ्चरन् मदपाश्रय ।

लभते निबला भक्तिं मय्युद्ध सनातने ॥२४॥

सत्संगलभ्या भक्त्या मयि मां स उपासिता ।

स वै मे दर्शित सन्निरञ्जना बिन्दते पदम् ॥२५॥

उद्धव उवाच

साधुत्वबोधमल्लोक मतः कीदृग्बोधः प्रभो ।

भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सन्निराहता ॥२६॥

एत मे पुरुषाण्यथ लोकान्यथ जगत्प्रभो ।

प्रजतामानुरक्तस्य प्रपन्नाय च कम्पताम् ॥२७॥

त्व प्रह परम व्योम पुरुषः प्रकृतेः पर* ।

अवतीर्षोऽसि भगवन् स्वच्छोपात्तपुष्पम्पुः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

कृपल्लुरकृतद्रोहस्तिष्ठिषुः सर्वदेहिनाम् ।

सत्यसारोऽनवघात्मा सय सर्वोपकारक ॥२९॥

कामैरहतधीर्दान्तो सुदुः शुचिरकिंचनः ।

मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिये धर्म, काम और कर्मेन्द्र सेवन करना चाहिये । प्रिय उद्धव ! जो ऐसा करता है, उसे मुझ अधिनाशी पुरुषके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥२४॥ भक्तिपरी प्राप्ति सध्वजसे होती है, जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है, वह मेरी उपासना करता है, मेरे सामिप्यका अनुभव करता है । इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतर्कित उपदेशोंके अनुसार उनके द्वारा बतये हुए मेरे परमप्रदको—नास्तिक स्वरूपको सहजहीमें प्राप्त हो जाता है ॥ २५ ॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! बड़े-बड़े संत आपकी कीर्तिक्रिया गाग करते हैं । आप कृपया वतलाइये कि आपके बिचारसे संत पुरुषका क्या क्लृप्त है ? आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिये, जिसका संस्कार आहर करते हैं ? ॥ २६ ॥ भगवन् ! आप ही ज्ञाना आदि श्रेष्ठ देवता, सत्यादि लोक और चराचर जगत्के स्वामी हैं । मैं आपका किनीत, प्रेमी और धरणागत भक्त हूँ । आप मुझे भक्ति और भक्तका रहस्य बतलाइये ॥२७॥ भगवन् ! मैं जानता हूँ कि आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ज्ञान हैं । आपसे निम्न कुछ भी नहीं है, फिर भी आपने श्रीलोकके लिये स्वेच्छसे ही यह भ्रमा शरीर धारण करके अवतार लिख्य है । इस लिये वास्तवमें आप ही भक्ति और भक्तका रहस्य वतना सकते हैं ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव ! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है । वह किसी भी प्राणीसे बैरभाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसक्तपूर्वक सहता है । उसके जीवनका सार है सत्य, और उसके मनमें किसी प्रकारकी पाशपासना कभी नहीं आती । वह समदर्शी और सबका भक्त करनेवाला होता है ॥२९॥ उसकी मुक्ति कतुमनाओंसे क्लृप्त नहीं होती । वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है । संप्रह-गरिष्ठसे सर्वथा दूर रहता है । किसी भी वस्तुके लिये वह कोई

१ सिन्धे । २ त्वयि प्रयुज्येत । ३ प्राचीन प्रतिये यह श्लोकार्थ इस प्रकार है—एतन्मे पुरुषेणाप प्रपन्नाय च कम्पताम् । ४ यह श्लोकार्थ प्राचीन प्रतिये नहीं है ।

नोपायो विद्यते सध्यह् प्रायणं हि सतामहम् ॥४८॥

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन ।

सुगोपमसि वक्ष्यामित्वं मे शृणुः सुहृत् सत्त्वा ॥४९॥

वाञ्छिये । प्राय इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसंग्रहसे पर-
होनेका और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि सत्सङ्ग
मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके
पास बना रहता हूँ ॥ ४८ ॥ प्यारे उद्भव ! अब मैं
तुम्हें एक अत्यन्त गोपनीय परम रहस्यकी बात बतलाऊँगा;
क्योंकि तुम मेरे प्रिय सेवक, हितैषी, सुहृद् और प्रे-
मिका हो, साथ ही सुननेके भी इच्छुक हो ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकदशस्कन्धे

एकदशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सत्संज्ञकी महिमा और कर्म तथा कर्मस्यागदी विधि

श्रीभगवानुवाच

नरोभयति मां योगो न सांख्य धर्म एव च ।

न स्वाध्यायस्तपस्स्यामो नेष्टाश्रितं न दक्षिणा ॥ १ ॥

प्रदानि यंश्चच्छन्दसि तीर्थानि नियमा भमा ।

यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

सत्सङ्गेन हि देवेषां यातुधाना मृगाः सगाः ।

गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाचारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥

विद्याधरा मनुष्येपु वैश्याः क्षत्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।

रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तसिन् युगेऽनघ ॥ ४ ॥

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवाद्यः ।

इपपर्वा बलिर्बाभो मयमाध विभीषणः ॥ ५ ॥

सुग्रीवो हनुमान्शो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।

व्याधः कुन्जा वज्रे गोप्यो यष्टपत्न्यस्तथापरे ॥ ६ ॥

ते नाधीतभृतिगणा नोपासितमहयमाः ।

अग्रदातृस्तपसः सत्सङ्गन्माधुपागताः ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्भव ।

जगत्में जितनी वासक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग तब पर-
वेता है । यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे
वशमें कर लेता है वैसा साधन न योग है न संन्यस, व-
धर्मपाठन और न स्वाध्याय । तपस्या, ध्यान, हस्त्य-
और दक्षिणसे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता । क्योंकि
कहूँ—मत, पक्ष, वेद, तीर्थ और फल-नियम भी सत्सङ्गके
समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ १-२ ॥
निष्ठाप ठहरावकी । यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी
एक-सी बात है । सत्सङ्गके द्वारा ही देव-रक्षक, ख-
पक्षी, गन्धर्व-अप्सर, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और
विद्याधरोंकी मेरी प्राप्ति हुई है । मनुष्योंमें केवल, सुहृ-
दों और वनस्पत आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके
बहुतसे जीवोंने मेरा परमेश्वर प्राप्त किया है । इन्द्राद-
प्रह्लाद, इक्ष्वाकु, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण,
सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गन्धर्व, नटयु, कुन्जर
वैश्य, धर्मन्याय, कुम्भार, ब्रजकी गोस्तियाँ, पक्षीस्तियाँ और
हृदरे जोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके
हैं ॥ ३-६ ॥ उन ज्योतिर्न तो केनोंका स्वाध्याय किया
था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना की थी ।
इसी प्रकार उन्होंने कृष्णपादात्मका आदि मत और कोई
तपस्य भी नहीं की थी । इस केवल सत्सङ्गके प्रभावसे ही

केवलं हि भावेन गोप्यो गत्वा नगा मृगाः ।

येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मासीयुरस्त्रसा ॥ ८ ॥

ये न योगेन सांख्येन दानवततपोऽप्यरैः ।

व्याख्यास्वाध्यायसन्धातैः प्राप्नुयाद् यज्ञधानपि । ९ ॥

रामेण सार्धं मधुरां प्रणीते

भारुक्किना भय्यनुरक्तचित्ताः ।

विषादभावेन न मे वियोग

तीव्राधयोऽन्यं ददन्तुः सुखाय ॥ १० ॥

तात्ता क्षपाः प्रष्टवमेन नीता

मयैव हृन्दावनगोषरेण ।

धुणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां

हीना मया कल्पसमा वमूषुः ॥ ११ ॥

ता नाविदन् मय्यनुपङ्गवद्

धियाः स्वभारमानमदस्तयदम् ।

यथा समाधी मुनयाऽन्धिताय

नय प्रविष्टा इव नामरूप ॥ १२ ॥

मत्कामा रमण जारमस्वरूपविदाऽषठा ।

नय मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रम् ॥ १३ ॥

तत्तात्त्वमुदवात्सृज्य चादनां प्रतिषादनाम् ।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च भातन्व धृतमेव च ॥ १४ ॥

वे मुझे प्राप्त हो गये ॥ ७ ॥ गोपियों, गाँवों, यमलज्जुन आदि वृक्ष, ननके हरित आदि पशु, कालिय आदि नाग—ये तो साधन-साधक के सम्बन्धमें सर्वथा ही मूढ़बुद्धि थे। इतने ही नहीं, ऐसे-ऐसे और भी बहुत हो गये हैं, जिन्होंने केवल प्रेमपूर्णभाव के द्वारा ही कन्यायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृतकृत्य हो गये ॥ ८ ॥ उदव ! बड़े-बड़े प्रफुल्लित साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, भुक्तियोगी व्याख्य, स्नाय्य और संन्यास आदि साधनों के द्वारा मुझे नहीं प्राप्त कर सकते, परन्तु सत्सङ्ग के द्वारा तो मैं अत्यन्त सुखम हो जाता हूँ ॥ ९ ॥ उदव ! जिस समय अकूतनी भैया बजरामजी के साथ मुझे ननसे मथुरा ले जाये, उस समय गोपियोंका इन्त्य गाँव प्रेमके कारण मेरे अनुराग के रगमें रंगा हुआ था। मेरे वियोगकी तीव्र व्याधिसे वे व्याकुल हो रही थीं और मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखकारक नहीं जान पड़ती थी ॥ १० ॥ तुम जानते हो कि मैं ही उनकी एकमात्र प्रियतम हूँ। अब मैं हृन्दावनमें था, तब उन्होंने बहुत-सी रात्रियाँ—वे रातकी रात्रियाँ मेरे साथ व्याध धुन के समान क्लिप्त दी थीं, परन्तु प्यारे उदव ! मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये एक-एक कल्प के समान हो गयीं ॥ ११ ॥ जैसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि समाधिमें स्थित होकर तथा गङ्गा आदि बड़ी-बड़ी नदियों समुद्रमें मिजकर अपने नाम-रूप को देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हें कोक-परजोक, शरीर और अपने पड़ोसनेवाल पति-पुत्रादियों की सुध-बुध नहीं रह गयी थी ॥ १२ ॥ उदव ! उन गोपियोंमें बहुत-सी तो ऐसी थीं जो मेरे भान्तिविक स्वरूपको नहीं जानती थीं। वे मुझ मगवान् न जानकर पण्डित प्रियतम ही सम्पत्ती थी और जारमावसे मुझसे मित्रनेत्री आराधना विधि करती थीं। उन साधनहीन सैकड़ों, हजारों अवल जोंने केवल मङ्ग के प्रभावसे ही मुझ परमेश परमात्माका प्राप्त कर लिया ॥ १३ ॥ इसलिये उदव ! तुम धुनि-स्मृति, विभिन्निपेय, प्रवृत्ति निवृत्ति और सुननेवाय तथा सुने हुए विषयकी भी पस्तिपात्र करके सर्वत्र मेरी ही श्रवना करते हुए समस्त प्राणियों-

मामेकमेव शरणमात्मान सर्वदेहिनाम् ।

याहि सर्वात्मभावेन मया स्था कुरुतोभयः ॥१५॥

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ।

न निर्वर्तत आत्मस्वा येन आम्यसि मे मनः ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः

प्राप्तेन बोधेण गुहां प्रविष्टः ।

मनोमय सूक्ष्मसूपेत्य रूपं

मात्रा स्वरो वर्ण इति स्वविष्टः ॥१७॥

यथान्तः खेऽनिलघन्धुरूपमा

बलेन दारुण्यधिमग्न्यमानः ।

अप्सुः प्रजातो हविषा समिधयत

तथैव मे व्यक्तिरियं हि बाणी ॥१८॥

एवं गदि कर्म गतिर्विसर्गो

प्राप्नो रसो हृक् स्पर्शः श्रुतिश्च ।

संकल्पविज्ञानमभाभिमानः

सूर्यं रश्मिः सत्त्वतमोविकार ॥१९॥

के आत्मस्वरूप मुक्त एकत्री ही शरण सम्पूर्ण रूपसे प्रहण करो, क्योंकि मेरी शरणमें वह जानेसे तुम सब निर्भय हो जाओगे ॥ १४ १५ ॥

उद्धवजीने कहा—सुनकरहि योगेश्वरोंके श्री परमेश्वर प्रभो ! यों तो मैं आपका उपदेश सुन रहा हूँ, परन्तु इससे मेरे मनका सम्यक् स्थिति नहीं रहा है । मुझे लक्ष्मणका पाठन करना चाहिये या सब कुछ छोड़कर आपकी शरण प्रहण करनी चाहिये, मेरा मन इसी दुविधामें छटक रहा है । आर कृपा करके मुझे लक्ष्मणमूर्ति समझाइये ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! जिस परमेश्वरका परोक्षरूपसे वर्णन किया जाता है, वे सम्यक् परोक्ष—प्रत्यक्ष ॥ १५ ॥, क्योंकि वे ही निश्चित वस्तुओंमें सत्ता-स्थिति—जीवन-दान करनेवाले ॥, वे ही पहले अनाहत नादस्वरूप पर बाणी नामक प्राणके सम मूलाधारप्रक्रममें प्रवेश करते हैं । उसके बाद मयिहृत्-वक्त्र (मामिस्थान) में आकर पद्मन्ती बाणीका मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करते हैं । तदनन्तर कण्ठरेखमें स्थित विद्युत्क नामक चक्रमें जाते हैं और वहाँ मध्यम चक्रके रूपमें व्यक्त होते हैं । फिर क्रमशः मुखमें बसकर ह्रस्व-दीर्घादि मात्रा, उदात्त-अनुदात्त आदि सर तथा ककारादि वण्यरूप स्थूल—बैद्यकी बाणीका रूप प्रहण कर लेते हैं ॥ १७ ॥ अन्तिम बाण्यरामें उच्च वरुण विद्युत्क रूपसे व्यप्यकरूपमें स्थित है । जब कर्णक काष्ठमन्त्रन किया जाता है, तब शायकी सहाय्यसे वह पृथ्वी व्यपन्त सूक्ष्म भिनगारीके रूपमें प्रकट होती है और फिर आवृत्ति देनेपर प्रचम्ब रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मैं भी शब्दब्रह्मस्वरूपसे प्रमश पर, पद्मन्ती, मध्यमा और वैद्यकी बाणीके रूपमें प्रकट होता हूँ ॥ १८ ॥ इसी प्रपञ्च बोधना, हाथोंसे क्रम करण, पैरोंसे चलना मूर्धेन्द्रिय तथा गुदासे मूत्र-मूत्र त्यागना, सूँघना, चम्बना, देखना, छूना, सुनना, मनसे संकल्पन-विकल्प करना, बुद्धिसे समझना, अहङ्कारके द्वारा अभिमान करना, मङ्गलचक्रके रूपमें सबका ताना-बाना बनना तथा सरस्वगुण, रजोगुण और तमोगुणक सारे चिन्तार; पञ्च-तन कहें—समस्त कर्ता, कारण और कर्म मेरी ही

अथ हि जीवस्त्रिबुद्धम्बन्धयोनि-

रम्यक एको वयसा स आथ ।

विस्मिष्टशक्तिर्बुधेष भाति

बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥२०॥

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोत

पटो यथा तन्तुविस्तानसस्यः ।

य एष संसारतक पुराणः

कर्मरामक पुष्पफले प्रवृत्ते ॥२१॥

इ अस्व बीजे श्वमूलसिनालः

पञ्चस्कन्ध पञ्चरसप्रवृत्ति ।

दशकक्षात्वा द्विसुपणनीढ

खिचरकलो द्विफलाऽर्कं प्रविष्ट ॥२२॥

अदन्ति चैक फलमस्य गृधा

ग्रामधरा एकमरम्यवासाः ।

इसा य एकं बहुरूपमिन्ध-

मायामयं धद स धद बद्धम् ॥२३॥

अ ४ ४ २ १९-

अभिन्वक्तिर्यौ हैं ॥ १९ ॥ यह सबको जीवित करने-
वाला परमेश्वर ही इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कर्मलका कारण
है । यह आदि-गुरु पदमे एक और अभ्यक्त था ।
जैसे उपनाटक क्षेत्रमें बोया हुआ बीज शाखा-पत्र-पुष्पादि
अनेक रूप धारण कर लेता है, वैसे ही कालाग्रेसे
मायाका आश्रय लेकर शक्ति-विभाजनके द्वारा परमेश्वर
ही अनेक रूपोंमें प्रतीत होने लगाता है ॥ २० ॥ जैसे
तागोंके ताने-बानेमें बस ओतप्रोत रहता है, वैसे ही
यह सारा विश्व परमात्मामें ही ओतप्रोत है । जैसे सूतके
बिना बकलक अस्तित्व नहीं है; किन्तु सूत बकलके बिना
भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत्के न रहनेपर भी
परमात्मा रहता है, किन्तु यह बगद परमात्मस्वरूप ही
है—परमात्मके बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं है ।
यह संसारबुद्ध अनादि और प्रवाहकपसे नित्य है ।
इसका स्वरूप ही है—कर्मकी परम्परा तथा इस बुद्धके
फल-फल हैं—मोक्ष और भोग ॥ २१ ॥ इस संसार
बुद्धके दो बीज हैं—पाप और पुण्य । अस्तित्व वासनार्थ
अङ्ग हैं और तीन गुण तने हैं । पाँच मूल इसकी
मोटी-मोटी प्रधान शाखाएँ हैं और शम्भूदि पाँच विभक्त
हैं, पञ्चरस इन्द्रियों शाखा हैं तथा जीव और ईश्वर—दो
पक्षी इसमें बँससा बनाकर निवास करते हैं । इस
बुद्धमें वात, पित्त और कफरूप तीन तरहकी छाज
है । इसमें दो तरहके फल लगते हैं—सुख और
दुःख । यह विशाल बुद्ध सूर्यमण्डलतक फैला हुआ है (इस
सूर्यमण्डलका भ्रम कर जानबूझ मुक्त पुरुष फिर
संसार-बन्धनमें नहीं पड़ते) ॥ २२ ॥ जो गृहस्थ धर्म
रूप-रस आदि निषेधोंमें पड़े हुए हैं । वे कर्मनासे मरे
हुए होनेक कारण गीनक समान हैं । वे इस बुद्धपर
बुद्धस्वरूप फल भागते हैं, क्योंकि वे जनक प्रकारके
कर्मके बन्धनमें पड़े रहते हैं । जो अरण्यवासी परमेश्वर
विषयोंसे विरक्त हैं, वे इस बुद्धमें एवमईसक सम्पन्न हैं
और वे इसका सुखरूप फल भोगते हैं । प्रिय उदक ।
वास्तवमें मैं एक ही हूँ । यह मेरा जो अनेकों प्रकारका
रूप है, वह तो वचन मायामय है । जो इस बातको
गुरुओंक द्वारा सम्मन स्था है, वही वास्तवमें समस्त

एवं गुरुपासनयैकभक्त्या

विद्याकुष्ठारेण क्षितेन धीरः ।

विवृश्य जीवाद्ययमप्रमथः

सम्पद्य चारमानमथ स्वजास्त्रम् ॥ २४ ॥

येदोक्तं रहस्य ज्ञाता है ॥ २३ ॥ कत उद्यत ।
तुम इस प्रकार गुरुदेवकी उपासनाकरुन बनस्य मणि
द्वारा अपने ज्ञानकी कुल्हाड़ीको तीखी कर के के
उसके द्वारा धैर्य एवं साधनानीसे जीवमात्रको का
बाधे । फिर परमात्मस्वरूप होकर उस वृत्तिरूप कर्मा
का भी छेद दो और अपने अक्षुण्ण स्वरूपमें ही स्थि
हो रहो ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यो संक्षिप्तयामेकदशस्कन्धे
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

हस्तरूपसे समकालिके विषये रूप उपदेशका वर्णन

श्रीभागवानुवाच

सत्त्व रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चारमन ।

सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥

सत्त्वाद् धर्मो भवद् बुद्धाद् पुता मग्नकिलक्षण ।

सात्त्विकापामया सत्त्व तता धर्मः प्रवर्तते ॥ २ ॥

धर्मा रजस्तमा हन्यात् सत्त्वशुद्धिरनुत्तम ।

आशु नश्यति सन्मूला दधर्म उभय इव ॥ ३ ॥

आगमाऽपः प्रवा दधः काल क्रमे च जन्म च ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्यत । सत्त्व
रज और तम—ये तीनों बुद्धि (प्रकृति) के गुण
हैं, आत्माके नहीं । सत्त्वके द्वारा रज और तम—तम
दो गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये । तदनन्तर
सत्त्वगुणकी शान्तवृत्तिके द्वारा उसकी दशा करि
वृत्तियोंको भी शान्त कर देना चाहिये ॥ १ ॥ जब
सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तभी जीवको मेरे भक्तिरूप
स्वधर्मकी प्राप्ति होती है । निस्तार सात्त्विक बलबल
लेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और तब
मेरे भक्तिरूप स्वधर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है ॥ २ ॥
जिस धर्मके पालनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही सत्त्व
धर्म है । वह धर्म रजोगुण और तमोगुणका मग्न
कर देता है । जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब
जहाँकी कारण होनेवाला अधम भी खीम हो मित्र बना
है ॥ ३ ॥ शास्त्र, जन्म, प्रजाजन, देश, समय, कर्म,
जन्म, प्याण, मन्त्र और संस्कार—ये दस प्रसूरी पति

● इन्धर भन्नी मायाक द्वारा प्रपञ्चरूपसे प्रवर्तित हो रहा है । इस प्रपञ्चके अन्त्योदय कारण ही योंही भन्नी
अभिप्रेत कर्मान् आदिनी भान्ति होती है । फिर यह क्या यह मत करो इस प्रकारके विभिन्न-विषय अभिप्रेत
होता है । तब भन्ना-प्रपञ्चकी वृद्धिके नियम क्रम फल—बहु बल की जाती है । जब भन्ना-प्रपञ्च गुप्त हो जाता
है तब क्रम-भन्नी गुणग्रह मिथ्याके नियम यह बात की जाती है कि भक्तिके विषय राजन-यः कर्मोंके प्रति
आरम्भार्थ छोड़कर हृदय विधायन भक्त क्रम । मन्त्रान्ति हो जानेपर कुछ भी कर्माध्ययन नहीं रह जाता । वही
रथ मन्त्रार्थ अभिप्रेत है ।

प्यानं मन्योऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४ ॥

तत्तत् सात्त्विकमवैषो यद् यद् ब्रह्माः प्रपद्यते ।

निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५ ॥

सात्त्विकान्येव सेवत पुमान् सत्त्वविद्वद्वये ।

ततो धर्मलतो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥

वेशुसंघर्षजो वह्निर्दग्धा श्राम्यति तद्गनम् ।

एवं गुणव्यस्यसजो देह श्राम्यति तत्क्रियः ॥ ७ ॥

उत्पद्य उत्पद्य

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम् ।

तथापि ब्रह्मते कृष्य तत् कथं अस्तराज्यत् ॥ ८ ॥

भीमगङ्गनुवाच

अहमित्यन्यथाशुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।

उत्सपति रजो धोरं ततो वैकारिकं मनः ॥ ९ ॥

रजायुक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः ।

ततः कामांगुणध्यानाद् दुस्तदः स्याद्वि दुर्मतः ॥ १० ॥

करोति कामवशम् कर्माण्यविजितनिग्रयः ।

दुःखादक्रान्ति सम्पद्यन् रजावगविसोदित ॥ ११ ॥

सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमागुणकी बुद्धि करती हैं ॥ ४ ॥

इनमेंसे शास्त्र महात्म्य जिनकी प्रशंसा करते हैं वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे तत्तुएँ राजसिक हैं ॥ ५ ॥

तब अपने व्याख्याता साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणोंकी निवृत्ति न हो, तबतक मनुष्यको चाहिये कि सत्त्वगुणकी बुद्धिके लिये सात्त्विक शास्त्र बादिक ही सेवन करे,

क्योंकि उससे धर्मकी बुद्धि होती है और धर्मकी बुद्धिसे अन्त करण छुट होकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

बाँसोंकी रगड़से आग पैदा होती है और वह उनके सारे धनको जलकर शान्त हो जाती है । वैसे ही यह शरीर गुणोंके वैयर्थसे उत्पन्न हुआ है ।

विचारद्वारा मन्थन करनेपर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणोंको मस करके खप भी शान्त हो जाती है ॥ ७ ॥

उत्पद्यतीति पृच्छा—भगवन् ! प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तिमेंके घर हैं,

निर भी वे कुत्ते, गधे और बकरोंके समान दुःख सहन करने भी उन्हींको ही मोगते रहते हैं । इसका क्या कारण है ? ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उत्पद्य ! जीव जब जन्मलवण धारण करके रूपको मूलकर इदयसे सूक्ष्म-स्थूलदि शरीरमें बंधधुसि कर बैठता है—तो कि सर्वथा भ्रम ही है—तब उसका सत्त्वप्रधान मन धार रजागुणकी ओर झुक जाता है, उससे व्यथित हो जाता है ॥ ९ ॥

तब, जहाँ मनमें रजोगुणकी प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प विकल्पोका लोता बँध जाता है ।

अब वह विषयोंका चिन्तन करने लगता है और अपनी बुद्धिके कारण कामके फँसेमें फँस जाता है, जिससे निर हृत्कषरा होना बहुत ही कष्टिन है ॥ १० ॥

अब वह अज्ञानी कामरत्न अपनेकी प्रकारकं कर्म करने लगता है और इन्द्रियोंके बश होकर यह जानकर भी कि इन कर्मोंका अस्तिम फल दुःख ही है, उन्हींको करता है, उस समय वह रजागुणके तीव्र वेगसे व्यथित

रजस्तमोष्मां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः ।

अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषघट्टिनं सज्जते ॥१२॥

अप्रमत्ताऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।

जनिर्विण्णो बंधाकालं जितश्चासौ वितासनः ॥१३॥

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।

सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्वाऽऽवेक्ष्यते यथा ॥१४॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केष्टव ।

योगमादिष्टवानेतद् रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ।

पप्रच्छुः पितरं स्रग्मां वागस्यैकान्तिकीं गतिम् ॥१६॥

सनकादय उवाच

गुणश्चाविशत वेतो गुणाश्चतसि च प्रभो ।

कथमन्यान्पसत्यागां सुमुक्षरसितित्विर्षोः ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टा महादय स्वर्पभूतभावनः ।

प्यापमानः प्रदन्तार्जं नाम्पपद्य कर्मधीः ॥१८॥

मोहित रहता है ॥ ११ ॥ यद्यपि विवेकी पुरुष का हित भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणके बेगसे विचलित होता है, तथापि उसकी निष्कर्षमें दोषघट्टि बनी रहती है, इसलिये वह बड़ी सावधानीसे अपने चित्तको एकत्र करनेकी चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी निष्कर्षमें आसक्ति नहीं होती ॥ १२ ॥ साधकको चाहिये कि वासन और प्राणायामपर नियम प्राप्त कर अपनी शक्ति और सम्पत्तिके अनुसार बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे मुक्त हो अपना मन जगावे और इस प्रकार व्यस्त करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी लज नहीं, बल्कि और भी हस्ताहसे उसमें पुनः जाय ॥ १३ ॥ प्रिय उद्धव ! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियोंने योगका भी स्वरूप बताया है कि साधक अपने मनको सब ओर से बंधीकर विषय आदिमें नहीं, साधन में मुक्त हो पूर्णरूपसे लगा दें ॥ १४ ॥

उद्धवजीने कहा—श्रीकृष्ण ! अपने हित सब हिस रूपांसे, समकालि परमर्षियोंको योगका आदेश दिया था, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! समकालि परमर्षि आत्मीयके मनस पुत्र हैं । उन्होंने एक बार अपने पितासे योगकी सूक्ष्म अन्तिम सीमाके सम्बन्धों इस प्रकार प्रश्न किये था ॥ १६ ॥

सनकादि परमर्षियोंने पूछा—पिताजी ! विप गुणों अर्थात् निष्कर्षमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक इच्छामें प्रविष्ट रहते ही हैं । अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुलें ही रहते हैं । ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसारसागरसे पार होकर मुक्ति-पद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक दूसरेसे अलग कैसे कर सकता है ? ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! यद्यपि आत्मीय सब दशताओंके शिरोमणि, ज्ञानम्पू और प्राणियोंक जन्मदाता हैं । फिर भी सनकादि परमर्षियों इस प्रकार सूक्ष्मतर प्यान करके भी वे इस प्रदन्त मूककरण न समझ सकें, क्योंकि उनकी बुद्धि बर्त-

स मामचिन्तयद् देव प्रभूपारतितीर्षया ।

तस्याहं ईसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥१९॥

दृष्ट्वा मां स उपमन्य कृत्वा पादाभिबन्दनम् ।

प्रक्ष्माणमप्रवः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥२०॥

इत्यहं मुनिभि पृष्टस्तत्त्वविज्ञासुभिस्तदा ।

यदबोचमहं तेभ्यस्तदुद्वेग निबोध मे ॥२१॥

वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः ।

कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आभयः ॥२२॥

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।

को भवानिति वः प्रश्नो वाच्यारम्भो धनवर्षकः ॥२३॥

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।

अहमेव न मत्तोऽन्यदिति धुञ्ज्यमञ्जसा ॥२४॥

गुणेष्वविशते भेतो गुणाश्चतसि च प्रजाः ।

जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥२५॥

गुणेषु चाविशश्चित्तमभीष्टं गुणसंघया ।

गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥२६॥

वज्रत् स्वप्नः सुपुप्तं च गुणतां बुद्धिबुधय ।

तासां विलधुणा जीव साधित्वेन विनिमित्तः ॥२७॥

प्रश्न पी ॥ १८ ॥ उद्वेग ! उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्तिभावसे मेरा चिन्तन किया । तब मैं ईसरूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ ॥ १९ ॥ मुझे देखकर सनकादि ब्रह्माजी-को आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणोंकी बन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं ?' ॥ २० ॥ प्रिय उद्वेग ! सनकादि परमार्थत्वके विज्ञासु ये, इसलिये उनके दृढ़नेपर उस समय मैंने जो कुछ कहा वह तुम मुझसे सुनो—॥ २१ ॥ 'ब्राह्मणो ! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तब अत्यन्तके सम्बन्धमें आप ज्योंका त्यों ऐसा प्रश्न कैसे युक्ति-संगत हो सकता है ! जपना मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोद्धे भी तो किस आति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिको आशय लेकर उत्तर दूँ ? ॥ २२ ॥ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि सभी शरीर पञ्चभूतसम्बन्ध होनेके कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थरूपसे भी अभिन्न हैं । ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं ?', आप ज्योंका त्यों प्रश्न ही केवल वाणीका व्यञ्जक है । विचारपूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है ॥ २३ ॥ मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है । यह सिद्धान्त आप ज्यों तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये ॥ २४ ॥ पुत्रो ! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं—उपाधि हैं । अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ २५ ॥ इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें व्यासक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविकसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥ ज्ञान, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ सत्तादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, सबिदामन्दका सम्मिश्रण नहीं । इन वृत्तियों-का साक्षी होनेके कारण जीव उनसे निष्कण्ठ है । यह सिद्धान्त स्मृति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है ॥ २७ ॥

यहिं संसृतिबन्धोऽयमात्मना गुणवृत्तिदः ।

मयि तुर्ये स्थितो ब्रह्मात् त्यागस्तत् गुणचेतसाम् ॥ २८ ॥

अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।

विद्वान्निर्विघ्नं संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ २९ ॥

यावन्मानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।

जागर्त्यपि स्वपन्नः स्वप्ने जागरणं यथा ॥ ३० ॥

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावत्वात् तैस्तुता मिदा ।

मतवो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृष्टो यथा ॥ ३१ ॥

यो जागरे बहिरनुधनधर्मिणोऽर्थान्

यच्छे समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृशान्

स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः

स्युत्पन्नव्याप्तिगुणवृत्तिद्विगुणोऽयम् ॥ ३२ ॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्यक्तस्था

ममायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।

क्योंकि बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन है आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है । इसमें तीनों अवस्थाओंसे विच्छेदन और उनमें अनुगत गुणों की रचना है और यही आत्माके परिपूर्ण रूप के अन्तर्गत और परमवन्द्यरूपको छिपा देता है । इस बातको जानकर निष्काम हो जाय । और अपने तीन अवस्थाओंमें अनुगत गुणोंके रूपमें होकर संसार की चिन्ताको छोड़ दे ॥ २९ ॥ ब्रह्मका पुष्कली भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सत्यबुद्धि, अहंबुद्धि, और ममबुद्धि वृत्तियोंके द्वारा निहित नहीं हो जाती, तबतक वह अपनी पत्नी जागता है तबपि सोता हुआ-सा रहता है—ऐसे सत्त्वावस्थामें जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ ॥ ३० ॥ आत्मासे अन्य देख आदि प्रतीकमय रूप-रूपका प्रपञ्चका कुछ भी अस्तित्व नहीं है । इसमें उनके कारण होनेवाले कर्माभ्यासिभेद, सांसारिक और उनके कारणमूल कर्म—ये सबके-सब इस आत्मके अन्तर्गत ही मिल्या हैं, जैसे सन्तदर्सों पुष्कले हुए देखे हुए सबके सब पदार्थ ॥ ३१ ॥

जो जाग्रत अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण अणुभूत पदार्थोंको अनुभव करता है और सत्त्वावस्थामें छायने ही जाग्रतमें देखे हुए वस्तुओंके सम्मान ही वासनामय चिन्त्योंका अनुभव करता है और सुषुप्ति-अवस्थामें वह सब चिन्त्योंको समेटकर उनके अन्तर्गत ही अनुभव करता है, वह एक ही है । जाग्रत अवस्थामें इन्द्रिय, सत्त्वावस्थाके मन और सुषुप्तिमें संस्कारवती बुद्धिका भी यही सामीप्य है । क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है । जिस में स्वप्न देखा, जो मैं सो रहा, यही मैं जाग रहा हूँ—इस स्थितिमें अन्तर एक ही आत्मका समस्त अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है ॥ ३२ ॥ ऐसा निश्चय करने की ये तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायसे मेरे अंशरूप जीवमें कल्पित की गयी हैं और आत्मामें ये

संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तिरीक्षण

ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाविस् ॥३३॥

इष्टेय भिन्नममिदं मनसो विलासं

दृष्टं विनष्टमविलोलमलात्तच्छक्रम् ।

विज्ञानमेकमुक्तेषु विभाति माया

स्वप्नद्विधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निश्चयदृष्ट्या-

स्वप्नी भवेन्निजमुत्पन्नानुभवो निरीहः ।

संशयते क्व च यदीदमवस्तुमुद्रया

त्यक्तं प्रमाथ न भवेत् स्मृतिरानिपातस्तु ॥३५॥

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्पित वा

सिद्धो न पश्यति यतोऽप्यगमत् स्वरूपम् ।

दैवादपेक्षमुत्त दैववशादुत्त

वासो यथा परिकृतं मदिरामदाधः ॥३६॥

द्वोऽपि दैववशगः स्तुत कर्म यावत्

स्वार्म्भकं प्रतिसमीक्ष्य एव सासुः ।

तं सप्रपञ्चमधिकद्वसमाधियाग

स्वप्नं पुनन भजत प्रविबुधवस्तु ॥३७॥

नितान्त असत्य है, ऐसा निश्चय करके तुम्हें लोग अनुमान, सत्पुरुषों द्वारा किये गये । उपनिषदों के ध्वज और तीक्ष्ण ज्ञान चक्रों के द्वारा सक्त्वं संशयों के आधार अर्हकारका छेदन करके हृदयमें स्थित मुक्त परमात्मका मनन करो ॥ ३३ ॥

यह अगत् मनका विव्यास है, दीखनेपर भी नष्ट प्राय है, अलातघटा (लुकारियोंकी बनेली) के समान अल्पत चञ्चल है और भ्रममय है—ऐसा समझे । ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रचित एक ज्ञानस्वरूप आत्म ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है । यह स्थूल शरीर इन्द्रिय और अन्त करणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान मायाका खेल है, आशानसे कल्पित है ॥ ३४ ॥ इसलिये उस चेष्टादिकरूप दृश्यसे इष्टि हटाकर तुम्हाराचित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवेमें मग्न हो जाय । यद्यपि कभी-कभी आहार आदिके समय यह चेष्टादिक प्रपञ्च देखनेमें आता है, तपामि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है । इसलिये वह पुन आत्मिमुखक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । चेष्टापातपर्यन्त केवल सत्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है ॥ ३५ ॥ जैसे मटिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया जैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीरसे उत्पन्न अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है, वह प्रारम्भिक ज्ञाता है, जेय है या दैववश कही गया या अन्य है—जन्मर शरीरसम्बन्धी इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता ॥ ३६ ॥ प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारम्भिक अधीन है । इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करना पड़ता है । परन्तु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योगमें आकर पुरुष, श्री, पुत्र, जन आदि प्रपञ्चके समित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता, जैसे जगा हुआ

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगया ।

आनीत मागतं यज्ञं धुम्पदमविषमया ॥३८॥

अहंयोगस्य सांख्यस्य सत्यस्य तस्य तेजसः ।

परायणं द्विजभेष्टाः भियः कीर्तेर्दमस्य च ॥३९॥

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपञ्चकम् ।

सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥४०॥

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।

सभाश्रयित्वा परया भक्त्यागुणत संस्तवैः ॥४१॥

तैरहं पूजितं सम्बद्धं संस्तुतः परमर्षिभिः ।

प्रत्येयास्य स्वकं धाम पश्यत परमेष्ठिनः ॥४२॥

पुरुष सप्तायस्यके शरीर आदिको ॥३७॥ सकल
श्रमियो । मैं तुमसे जो कुछ कहा है, वह छन
और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य है । मैं स्वयं कह
हूँ, तुम लोगोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये है
यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो ॥ ३८ ॥ निप्रसो !
योग, सांख्य, सध, श्रुत (मधुरमाष्य), तेज, चै,
कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह) इन सबकी क
गति—परम अविष्टम हूँ ॥ ३९ ॥ मैं समस्त गुणों
रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं करता । फिर मैं
साम्य, असङ्गता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं,
मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि मैं सबका हितैषी हूँ,
प्रियतम और आत्मा हूँ सब को, तो उन्हें गुण
कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे सबके गुणों
परिणाम नहीं हैं और नित्य हैं ॥ ४० ॥

प्रिय उदय ! इस प्रकार मैंने उनका ही मुनिकों
संशय मिटा दिये । उन्होंने परम मूर्खोंसे मेरी पूजा की
और स्तुतियोंद्वारा मेरी महिमाका गान किया ॥ ४१ ॥
जब हम परमर्षियोंने भस्मीमूर्ति मेरी पूजा और स्तुति
कर की, तब मैं ब्रह्मानीके सामने ही अदृश्य होकर अपने
धाममें छिंट आया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहत्स्यां संहिताप्रमेकादशस्कन्धे

अष्टादशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

भक्तियोगाद्धी महिमा तथा ध्याय विधिक्य वर्णन

उदय उवाच

यदन्ति कृष्ण भेषांसि बहूनि प्रज्ञावादिनः ।

तपां विद्वन्प्राधान्यमुताह। एकमुत्स्यता ॥ १ ॥

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियागाऽनपेक्षितः ।

निरस्य सर्वतः सङ्गं यन त्वय्याविशेन्यनः ॥ २ ॥

उदयजीव पृथक्—श्रीकृष्ण । ब्रह्मचारी महत्

आत्मकल्याणके करनेको साधन बतकते हैं । उनमें बर्णन
अपनी इष्टिक अनुसार सभी भेष्ट हैं अथवा किसी एक
प्रधानता है ॥ १ ॥ मेरे स्वामी ! आपने तो सभी-प्र
मक्तियोगको ही निरक्षेप एव सत्प्र साधन बतला
है; क्योंकि इसीसे सब अंतरसे आसक्ति छोड़कर म
आपमें ही लय हो जाता है ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

कस्मिन् नष्टा प्रलये वाणीर्यं वेदसंक्षिता ।

मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां सदात्मकः ॥ ३ ॥

तेन प्रोक्ता न पुत्राय मनसि पूर्वजाय सा ।

ततो भुम्बादयोऽगृह्णन् मत्त ब्रह्ममर्हयः ॥ ४ ॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुणका ।

मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥ ५ ॥

किंदेवा किंनरा नागा रक्षःकिम्बुरुपादयः ।

बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रक्षासत्त्वतमोद्भवाः ॥ ६ ॥

बांभिर्मृतानि भिद्यन्ते मृतानां मतवस्तथा ।

यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाच स्रजति हि ॥ ८ ॥

एव प्रकृतिर्वैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।

पारम्पर्येण कैमाञ्चित् पास्तप्स्तमतयोऽपर ॥ ८ ॥

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।

धेया बहन्त्पनेकान्तं यथाकर्म यथाकृचि ॥ ९ ॥

धर्ममेकं यश्चिन्तये काम सत्यं दमं क्षमम् ।

अन्यं वदन्ति स्वार्थे वा एष्यते स्वागमाञ्जनम् ॥ १० ॥

कश्चिद् यश्चतुर्पादान् व्रतानि निश्चयान् यमान् ।

भगवान् श्रीकृष्णो कथं—प्रिय उदय ! यह के-
वाणी समयके परसे प्रत्येक के समरपर सुत हो गयी
थी; फिर जब सुविज्ञा समय आया, तब मैंने अपने
सहस्रम्भसे ही इसे ब्रह्मको उपदेश किया, इसमें मेरे
योगवतधर्मका ही वणन है ॥ ३ ॥ ब्रह्माने अपने व्येष्ट
पुत्र क्षायम्भुष मनुको उपदेश किया और उनसे मृग,
वज्रिण, मरीचि, पुण्ड्र, अत्रि, पुनस्त्य और कटु—इन
सात प्रजापति-महर्षियोंने ब्रह्म किया ॥ ४ ॥ तदमन्तर
इन महर्षियोंकी सन्तान वंशता, दानव, गुह्यक, मनुष्य,
सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किन्देव, किन्नरा,
नाग, रक्षस और किम्बुरुपा आदिने इसे अपने पूर्वजों
महर्षियोंसे प्राप्त किया । सभी जातियों और व्यक्तियोंके
स्वभाव—उनकी असुनार्य सत्व, रज और तमोगुणके
कारण भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये उनमें और उनकी बुद्धि
शक्तियोंमें भी अनेकों भेद हैं । इसलिये वे सभी
अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उस वेदधर्मीका भिन्न
भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं । वह वाणी ही ऐसी अमैकिक
है कि उससे भिन्न अर्थ निकलना स्वाभाविक ही
है ॥ ५-७ ॥ इसी प्रकार स्वभावभेद तथा परम्परागत
उपदेशक केरसे मनुष्योंकी बुद्धिमें भिन्नता व्य-
जाती है और कुछ भेग तो बिना किसी विचारक वेदविद्वद्
पास्तपस्तमतवत्त्वकी ही जात हैं ॥ ८ ॥ प्रिय उदय !
सभीकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित हो रही है, इसीसे
वे अपने-अपन काम-संस्कार और अपनी-अपनी इच्छाके
अनुसार आत्मकल्याणके साधन भी एक नहीं अनेकों
मतवाते हैं ॥ ९ ॥ धर्ममीमांसक धर्मको, साहित्यचार्य
परम्परा, कामशास्त्री कामको, योगशास्त्री सत्य और क्षम-
दमादिको, दण्डनीतिकार एष्यको, स्वर्ग शास्त्रको और
योगशास्त्रिक भोगको ही मनुष्य-जीवनका स्वार्थ—परम
काम कतव्यत है ॥ १० ॥ कामयोगी भेग यह, तप,
दान, मत तथा यम-मित्र आदिको पुरुषार्थ कतव्यते
हैं । परन्तु ये सभी कर्म हैं, इनके फलस्वरूप जा भोग

१ क्षामि । २ वे ।

● भम और स्वेरादि शुभंभसे रहित होनेके कारण भिन्न-भिन्न व्येष्टेकता हैं या मनुष्य देव केन्द्रे हैं, वे ही मनुष्य
निर्वासी मनुष्य ।

† कुछ तथा धर्मकी आकृतिसे कुछ-कुछ मनुष्यक समान प्राणी ।

‡ कुछ-कुछ पुरुषक समान प्रतीत होनेवाला जानपति ।

आद्यन्तधन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।

दुःस्वोदकास्तमोनिष्ठा धुप्रानन्दाः शृङ्गारिणा ॥११॥

मध्यर्पितास्मनः सम्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।

मयाऽऽत्मना सुखं यच्च कृतं स्यात् विषयात्मनाम् ॥१२॥

अकिंचनस्य दान्तस्य श्रोतस्य समचेतसः ।

मया संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिव्यः ॥१३॥

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्यं

न सार्वभौम न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धिरपुनर्भव या

मध्यर्पितारभेच्छति मयि विनान्यत् ॥१४॥

न तथा भ प्रियतम असमयोनिन शंकर ।

न च संकल्पना न भ्रीर्नवास्या च यथा भवान् ॥१५॥

निरपथं धुनि दान्त निर्वर संमदर्शनम् ।

अनुयत्राम्यहं नित्यं वृषपत्यङ्घ्रिरेणुभि ॥१६॥

मिलते हैं, वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं । कर्मों
संग्रह हो आनेपर उनसे दुःख ही मिलता है
सब प्रभो, तो उनकी अन्तिम गति और आगम
है । उनसे जो सुख मिलता है, वह दुःख है—
है और वे लोक भोगके समय भी बस्य आदि
कारण शोकसे परिपूर्ण हैं । (इसलिये इन
साधनोंके फेरमें न पड़ना चाहिये) ॥ ११ ॥

प्रिय उद्भव ! जो सब ओर निरपेक्ष—के
हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदिकी वाक्य
नहीं रखता और अपने अन्तःकरणसे सब प्र
मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दसकल मैं
आत्मके रूपमें स्फुरित होने लगाता हूँ । इससे वह
सुखका अनुभव करता है, वह निरपेक्षेय प्रसन्न
किसी प्रकार मिला नहीं सकता ॥ १२ ॥ जो
प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित—अकिंचन है,
अपनी इन्द्रियोंपर विषय प्राप्त करके शान्त और उत्प
हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सन्निध्य का
करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण सन्तोषका अनुभव करता
उसके लिये वाक्यशक्त एक-एक कोना अन्तर्द्वारे
हुआ है ॥ १३ ॥ जिसने अपनेको मुझे सौंप
है, वह मुझे छोड़कर न तो मरना पद चाहता है
न देहत्याग इन्द्रका, उसके मनमें न तो सार्वभौम स
बननेकी इच्छा होती है और न वह किसी भी
रसात्मका ही सामी होने चाहता है । वह योग
बड़ी-बड़ी सिद्धियों और क्षेत्रज्ञकी अभिप्राय न
करता ॥ १४ ॥ उद्भव ! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रिय
चित्तने प्रियतम हूँ, उसने प्रिय मेरे पुत्र का, अ
शहर, सगे भाई बक्यामनी, स्वयं अर्धप्रियी कभी
और मेरा अपना व्याप्य भी नहीं है ॥ १५ ॥ जि
मिसीकी अपेक्षा नहीं, जो अगाध चिन्तनसे सब
उपजा होकर मेरे ही मनन चिन्तनमें लकीन था
और राग-द्वेष न रखकर सबक प्रति समान रहित
है, उस महात्म्यक पीछ-पीछे मैं निरन्तर यह सब
मुझ करता हूँ कि उसके चलनेकी भूत उद्भव ।

निष्कियना मय्यनुरक्तचेतसः

श्रुत्वा महान्तोऽखिलजीवतसलाः ।

कामैरनालम्भधियो जुपन्ति यत्

तन्नैरपेक्ष्य न विदुः सुखं मम ॥१७॥

बाध्यमानोऽपि मङ्गलको विपयैरजितेन्द्रियः ।

प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विपयैनाभिमूषते ॥१८॥

यथापिः सुसमृद्धार्थिः करोत्येधांसि भयसदात् ।

तथा भद्रिण्या भक्तिरुद्धवैनासि कृत्स्नशः ॥१९॥

न साध्यति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।

न स्वस्वाभक्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्मोक्षिता ॥२०॥

भक्त्याहमेकया प्राप्यः भद्रयाऽऽरमाप्रियः सताम् ।

किं पुनाति ममिहा शराकालपि सम्भवात् ॥२१॥

मः सत्पदयापेतो विद्या वा तपसान्विता ।

इह भक्त्यापवमात्मान न सम्भक् प्रपुनाति हि ॥२२॥

रुधं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।

विनाऽऽनन्दाभुक्तया शुभ्येव भक्त्या विनाऽऽक्षयः

ऊपर पद जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ ॥ १६ ॥ जो सब प्रकारके सप्राह-परिप्राहसे रहित हैं—महोत्तक कि शरीर आदिमें भी अर्थात्-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपनी मूर्खा-उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिपर स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूपका अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता, क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षासे ही प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

उद्धवजी ! मेरा जो भक्त अभी त्रितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे काया पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बहनेवाली मेरी प्रान्धन भक्तिके प्रभावसे प्रायः विस्मयेसे पराजित नहीं होता ॥ १८ ॥ उद्धव ! जैसे वचकती हुई जाग भक्तियोंके चढ़े ठेरको भी बलकर खींच कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप-राशिको पूर्णतया ब्रह्म कावती है ॥ १९ ॥ उद्धव ! योग-सूत्र, ज्ञान-मिथान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-स्योग मुझे प्राप्त करनेमें उतने सफल नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन कानेवाली जनम्य प्रेमायी मेरी भक्ति ॥ २० ॥ मैं संतोका प्रियतम आस्था हूँ, मैं जनम्य भद्रा और जनम्य भक्तिके ही एकत्रमें आता हूँ । मुझे प्राप्त करनेका यह एक ही उपाय है । मेरी जनम्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र—वांछितसे मुक्त कर देती है, जो जनम्य ही चाण्डाल हैं ॥ २१ ॥ इसके विपरीत जो मेरी भक्तिके वशित हैं, उनके चित्तको सुख और दयासे युक्त धर्म और तपस्यासे युक्त विद्या भी भरीमौलि पवित्र करनेमें असमर्थ है ॥ २२ ॥ जबतक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिक्कल गद्गद नहीं हो जाता, आत्मभक्तके जोसू ओंछोंसे छूटने नहीं लगते तथा अन्तरा और बहिरांग भक्तिकी बाढ़ने चित्त बहने-उत्तराम नहीं लगता, जबतक इसके प्रवृत्त होनेकी कोई सम्भावना

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं

रुदत्पभीक्ष्णं हसति कश्चिच्च ।

विलस्य उद्गावति नृत्यते च

मङ्गक्तियुक्तो भुवन पुनाति ॥२४॥

यथाग्निना हेम मलं जहाति

ष्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।

आत्मा च कर्मानुष्ठाय विभूय

मङ्गक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ

मत्पुष्पगाथाभ्रवणाभिधानैः ।

तथा तथा पश्यति वस्तु ध्रुवं

चक्षुर्यवैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥२६॥

विपयान् ध्यायतश्चित्तं विपयेषु विपजते ।

मामनुसारतश्चित्तं मय्येव प्रविर्लीयते ॥२७॥

तस्मादसदमिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।

द्वित्वा मयि समावृत्तमनो मङ्गलभाविताम् ॥२८॥

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।

धेम विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्त्रित् ॥२९॥

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धमान्यप्रसङ्गतः ।

यापिस्तङ्गाद् यथा पुंसां यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३०॥

उदय उवाच

यथा त्वामारविन्दाद्यथा धर्ष्यं वा यदात्मकम् ।

ध्यायन्मुमुक्षुरतम ध्यानां त्वं यत्कुमर्हसि ॥३१॥

नहीं है ॥ २६ ॥ जिसकी वाणी प्रेमसे गूँगद हो गई है, चित्त विषमकर एक ओर बढ़ता रहता है, एक जगह जिये भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं मन जेकर ऊँचे खरसे गाने लगता है तो कहीं माचने लगता है, मैया उदय । मेरा वह मक्त न कलक अपनेको बलि सारे संसारको पमित्र कर देता है ॥ २७ ॥ जैसे जगह सफ़नेपर सोना मैल छेब देता है—निरर यत्न है और अपने असमी सुद्ध रूपमें स्थित हो जाता है, मेरी मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्म्य कर्म-वासनाजैसे मुक्त होकर मुक्तो ॥ प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ ॥ २५ ॥ उदय । मेरी परमपावन लीला-कलाके श्रवण-कीर्तनसे ज्यों-ज्यों निराला मैल धुक्ता जाता है, त्यों-त्यों उसे स्वप्नमनोर-वास्तविक तत्त्वके दर्शन होने लगते हैं—जैसे बहनेके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उसमें सूक्ष्म वस्तुओंके देखनेकी शक्ति आने लगती है ॥ २६ ॥

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन मित्य करता है, उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें लब्धीन हो जाता है ॥ २७ ॥ इसलिये तुम दूसरे साधकों और फलार्थी निराला छेब दो । बरे भाई । मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ जान पड़ता है, वह छीक बैठा ही है जैसे स्वप्न अपना मनोरक्ता राख्य । इसलिये मेरे चिन्तनसे तुम अपना चित्त छुड़ कर मेरे और उसे ही रखते—एकप्रकारसे मुझमें ही लग्न हो ॥ २८ ॥ संकपी पुरुष विषयों और उनके प्रसिद्धि सङ्ग दूरसे ही छोड़कर, पमित्र एकान्त स्थानमें बैठकर बड़ी साधन-प्रतिभा मेरा ही चिन्तन करे ॥ २९ ॥ प्यारे उदय ! जिसके सङ्गसे और स्त्रीसङ्गियोंके—छप्टोंके सङ्गसे पुरुषों जैसे जेहा और बन्धनमें पबना पड़ता है, वैसा जेहा छोड़ फँसावट और कित्तीक भी सङ्गसे नहीं हटती ॥ ३० ॥

उदयजीन पूछा—कमलनयन स्वयमुन्दर । जब जग्य करते यह बतलाव्ये कि मुमुक्षु पुरुष भाग्य स्थिति रूपसे, कित्ती प्रकार और कित्त भवते ध्यान करे ! ॥ ३१ ॥

धीमगवानुशाथ

सम आसन आसीन समक्रायो यथासुखम् ।

हस्ताधुस्तङ्ग आधाय स्तनासाम्रकुतेक्षणः ॥३२॥

प्राणस्य शोभयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेषकैः ।

विपर्ययेणापि शनैरन्यसेभिर्वितेन्द्रियः ॥३३॥

हृदयविच्छिन्नमोक्षार्थं घट्टनार्थं विसोर्णवत् ।

प्राणोदीदीर्य सत्राय पुनः संवञ्जकेत् स्वरम् ॥३४॥

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समन्यसेत् ।

दक्षकुम्भस्त्रिपवर्णं मासद्दर्वाङ्गं जितानिलः ॥३५॥

इत्युष्णरीकमन्तःसमूर्ध्वनलमधोमुखम् ।

ध्यात्वोर्ध्वमुखमुभिद्रमष्टपत्र सकर्णिकम् ॥३६॥

कर्णिकया न्यसेद् धर्मसंग्रामीनुचरोत्तरम् ।

वह्निमध्ये सरेव रूपं ममैतव ध्यानमङ्गलम् ॥३७॥

समं प्रधानं सुसुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् ।

सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपालं शुचिसितम् ॥३८॥

समानकर्मविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।

हेमाम्बरं धनद्वयं भीवत्सधीनिकतनम् ॥३९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उदय ! जो न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ही—ऐसे आसनपर शरीरको सीधा रखकर आरामसे बैठ जाय, हाथोंको अपनी गोदमें रख ले और इष्टि अपनी नासिकाके अप्रमाणपर जमावे ॥ ३२ ॥ इसके बाद पूरक, कुम्भक और रेचक, तथा रेचक, कुम्भक और पूरक—इन प्राणायामोंके द्वारा नाभियोंका शोधन करे । प्राणायामका अभ्यास धीरे-धीरे करना चाहिये और उसके साथ-साथ इन्द्रियोंको वीतनेका भी अभ्यास करना चाहिये ॥ ३३ ॥ हृदयमें कम्पनात्मक पलके सुखके समान उत्पन्न करने, प्राणके द्वारा उसे ऊपर ले जाय और उसमें घट्टानादके समान स्वर स्थिर करे । उस स्वरका तौल्य दूटने न पावे ॥ ३४ ॥ इस प्रकार प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार उत्पन्नसहित प्राणायामका अभ्यास करे । ऐसा करनेसे एक महीनेके अंदर ही प्राणवायु बशमें हो जाता है ॥ ३५ ॥ इसके बाद ऐसा विन्यस्त करे कि हृदय एक कम्पन है, वह शरीरके भीतर इस प्रकार स्थित है मानो उसकी बंदी तो ऊपरकी ओर है और मुँह नीचेकी ओर। अब ध्यान करना चाहिये कि उसका मुख ऊपरकी ओर होकर स्थित गया है, उसके वाट दक्ष (पँखड़ियों) हैं और उनके बीचोबीच पीली-पीली अल्पत सुकुमार कर्णिका (गद्दी) है ॥ ३६ ॥ कर्णिकापर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अश्विना न्यास करना चाहिये । तदनन्तर अश्विने अंदर मेरे इस रूपका स्मरण करना चाहिये । मेरा यह स्वरूप ध्यानेके लिये बड़ा ही मङ्गलमय है ॥ ३७ ॥ मेरे अक्षयबोधि गठन कभी ही सुखोक्त है । ऐम-ऐमसे शान्ति उपवर्ती है । मुखकम्पन अल्पत प्रफुल्लित और सुन्दर है । घुटनोंतक ऊँची मनोहर धार सुचारु हैं । कभी ही सुन्दर और मनोहर गरदन है । सरकतमणिके समान सुसज्जित करोड़ हैं । मुखपर मन्द-मन्द सुलकनकी लगेसी ही छटा है । दोनों ओरके कान वरपर हैं और उनमें मकराकृत कुण्डल शिखमिश्र-शिखमिश्र का रहे हैं । कर्णिकाधीन मेथके समान श्यामल शरीरपर पीताम्बर पहना रहा है । भीवत्स एवं लक्ष्मीवीकृत विह वक्षः स्वप्नर दाये बायें विराजमान है । हाथोंमें क्रमशः राह, भक, गदा

शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
 नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥४०॥
 पुमस्किरीटकटकटिमुद्राङ्गदायुतम् ।
 सर्वाङ्गसुन्दरं इयं प्रसन्नसुमुखेक्षणम् ।
 सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥४१॥
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मन ।
 बुद्ध्या सारयिना धीरः प्रणयेन्मपि सर्वतः ॥४२॥
 तत् सर्वभ्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।
 नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुखितं भावयेन्मूलम् ॥४३॥
 तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
 तत्र त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥४४॥
 एवं समाहितमतिमनिवात्मानमात्मनि ।
 विशष्टे मपि सर्वात्मन् ज्योतिर्बोधिपि संयुतम् ॥४५॥
 ध्यानेनेत्वं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
 संयास्यत्पाद्यु निर्वाणं ब्रह्मज्ञानक्रियाभ्रम ॥४६॥

एवं पद्म धारण किये हुए हैं । गलेमें कमण्डलु लटक रही है । चरणोंमें नूपुर शोभा दे रहे हैं, गलेमें कौस्तुभकी जगमगा रही है । अपने-अपने स्थानपर चमकते हुए किरीट, कंगन, करधनी और बाजूबंद शोभामान हो रहे हैं । मेरा एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुन्दर एवं इष्टकारी है । सुन्दर मुख और प्यारमयी कितकन हवा-प्रसरणी कर्वा कर रही है । उद्भव ! मेरे इस सुकुमार रूपका ध्यान करना चाहिये और अपने मनको एक-एक अङ्गमें बाँधाना चाहिये ॥ ३८-४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मनको द्वारा इन्द्रियोंके उनके विषयोंसे खींच के और मनको बुद्धिरूप स्वरूपी स्थाय्यतासे मुक्तमें ही बाँधा दें चाहे मेरे निस्ती भी अपने क्यों न ज्यो ॥ ४२ ॥ जब सारे स्वरूपका ध्यान छोड़े, तब अपने चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और अन्य अङ्गोंका चिन्तन न करके केवल मन्द मन्द मुसकानकी छटासे युक्त मेरे मुखका ही ध्यान करे ॥ ४३ ॥ जब चित्त मुखरविन्दमें ठहर जाय, तब उसे बहोसि बटाकर आकाशमें स्थिर करे । तदन्तर आकाशका चिन्तन भी त्याग कर मेरे लक्ष्मणमें लक्ष्मण हो जाय और मेरे सिवा निस्ती भी बस्तुका चिन्तन न करे ॥ ४४ ॥ जब इस प्रकार चित्त समाहित हो जाता है, तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योतिसे मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही अपनेमें मुझे और तुझ सर्वभूतोंमें अपनेको अनुभव करने लगता है ॥ ४५ ॥ जो कोई इस प्रकार तीव्र ध्यानयोगको द्वारा मुक्तमें ही अपने चित्तका संयम करता है, उसके चित्तसे बलुकी बनेका, तत्सम्बन्धी ज्ञान और तमकी प्राप्तिके लिये होनेवाले कर्मोंका भ्रम शीघ्र ही मिट्टत हो जाता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यो संहितायामेकदशस्कन्ध
 चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

विष्णु-विष्णु स्त्रिययोके नाम और लक्षण

श्रीमद्भागवतम्

भगवान् ब्रह्मकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्भव ! अब साधक इन्द्रिय, प्राण और मनको अपने बशमें करके

चित्तेन्द्रियस्य युक्तस्य चित्तपासस्य योगिनः ।

मयि धारयतमेव उपसिद्ध्यन्ति सिद्धयः ॥ १ ॥

उद्धव उवाच

कया धारणाया कास्ति कथंस्ति सिद्धिरभ्युत ।

कस्ति वा सिद्धयो मूढि योगिनां सिद्धिदा भवान् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्राक्का धारणा योगपारमैः ।

सासाधौ मत्प्रधाना दत्तव गुणहेतवः ॥ ३ ॥

अणिमा महिमा मूर्तेर्लपिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।

प्राकाम्य ध्रुतदृष्ट्यु शक्तिप्रणमीशिता ॥ ४ ॥

गुणस्त्ववज्ञा यशिता मत्कामस्तद्वलति ।

एता मे सिद्धयः सौम्य प्रदौर्ध्वचिकित्सा मया ॥ ५ ॥

अनुर्मिमन्व ददौऽस्मिन् दूरभवनदर्शनम् ।

मनात्रयं कामरूपं परमप्राप्येष्टनम् ॥ ६ ॥

सम्पन्नन्दमृत्पुद्गेकानां सहक्रीडानुदशनम् ।

यथासकत्पुंससिद्धिरात्राप्रतिहता गति ॥ ७ ॥

त्रिकलपुत्रमद्रष्टं परचिन्तायभिज्जता ।

अपना चित्त मुझमें लगाने छाता है, मरी धारणा करने छाता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं ॥ १ ॥

उद्धवजीने कहा—अभ्युत ! कौन-सी धारणा करनेसे किन्तु प्रकार कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और उनकी संख्या किन्तनी है, आप ॥ योगियोंको सिद्धियाँ देते हैं, अतः आप इनका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! धारणायोग के पारगामी योगियोंने अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ कतज्यपी हैं । उनमें आठ सिद्धियाँ तो प्रचानरूपसे मुझमें ही रहती हैं और दूसरोंमें न्यून । और दस सत्त्वगुणके विकाससे भी मिल जाती हैं ॥ ३ ॥ उनमें तीन सिद्धियाँ तो शरीरकी हैं—‘अणिमा’, ‘महिमा’ और ‘लपिमा’ । इन्द्रियोंकी एक सिद्धि है—‘प्राप्ति’ । जैविक और पार जैविक पदार्थोंका इच्छालुसार अनुभव करनेवाली सिद्धि ‘प्राकाम्य’ है । माया और उसके कर्मोंको इच्छालुसार सम्बन्धित करना ‘ईशिता’ नामकी सिद्धि है ॥ ४ ॥ विषयोंमें रहकर भी उनमें आसक्त न होना ‘मशिता’ है और जिस-जिस सुखकी कामना करे, उसकी सीमा तक पहुँच जाना ‘कामावसायित्वा’ नामकी आठवीं सिद्धि है । ये आठों सिद्धियाँ मुझमें सम्भवसे ही रहती हैं और जिन्हें मैं देता हूँ, उन्हींको अंश प्राप्त होती हैं ॥ ५ ॥ इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धियाँ हैं । शरीरमें भूख, व्यास आदि कष्टों न होना, बहुत दूरकी वस्तु देख लेना और बहुत दूरकी वस्तु सुन लेना, मनके साथ ॥ शरीरका उस स्थानपर पहुँच जाना, जो इच्छा हो वही रूप बना लेना, दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, जब इच्छा हो तभी शरीर छोड़ना, जस्त्राओंके साथ हानेवाली द्रव्यविज्ञान प्रदान, सञ्चारी सिद्धि, सब जगह सबक जगह बिना ननुनचक अप्रमात्र—य दस सिद्धियाँ सत्त्वगुणक विद्या विमलसे होती हैं ॥ ६-७ ॥ भूत, भविष्य और जनमानकी ज्ञान जान लेना; ज्ञान-उत्पा, सुख-दुःख और शान्त-हृद आदि इन्द्रियोंके वशमें न होना, दूसरेक मन आदि की बात ज्ञान लेना अति. ॥ ८ ॥

अन्यकाम्बुविपादीनां प्रतिदम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥

एताभोदक्षतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।

यथाधारणयायासाद् यथा वा साधिवोधम् ॥ ९ ॥

मूतवृक्षमात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।

अभिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥ १० ॥

महत्पातमन्मयि परे यथास्तस्थं मनो दधत् ।

महिमानमवाप्नोति मूतानां च पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

परमाणुमये चित्तं मूतानां मयि रञ्जयन् ।

कालवृक्षमार्थतां यागी लब्धिमानमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

धारयन् मय्यहंतस्त्वे मनो वैकारिकेऽलिलम् ।

सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥ १३ ॥

महत्पातमनि यः सुप्तं धारयेन्मयि मानसम् ।

प्राकाम्यं पारमर्त्यं च विन्दतेऽभ्यक्तजन्मनः ॥ १४ ॥

आदिकी शक्तिको स्तम्भित कर देना और निरुद्धि में परामित न होना—ये पाँच सिद्धियाँ भी योगियों को प्राप्त होती हैं ॥ ८ ॥ प्रिय उद्धव ! योग-धारण करने जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका मैंने नाम-निर्देश के साथ वर्णन कर दिया । अब किसी धारणासे कौन-सी सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, यह कह्यता है, सुनो ॥ ९ ॥

प्रिय उद्धव ! पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मता मात्राएँ मेरा ही शरीर हैं । जो साधक केवल मेरे उसी शरीरकी उपलब्धि करता है और अपने मनको तदुत्तर करके उसमें लगा देता है अर्थात् मेरे कल्याणकर शरीरके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता, उसे 'अविद्या' नामकी सिद्धि अर्थात् परमेश्वरी च्छान्दा आदिमें भी प्रवेश करनेकी शक्ति—अणुता प्राप्त हो जाती है ॥ १० ॥ महात्त्वके रूपमें भी मैं ही प्रकाशित हो रहा हूँ और उस रूपमें समस्त व्यावहारिक ज्ञानोंका केन्द्र हूँ । जो मेरे उस रूपमें अपने मनको महात्त्वकार करके लग्न कर देता है, उसे 'महिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है और इसी प्रकार आकाशवादि पञ्चभूतोंमें—जो मेरे ही शरीर हैं—कल्याण-कल्याण मन लगानेसे उन-उनकी महत्ता प्राप्त हो जाती है, यह भी 'महिमा' सिद्धिके ही कर्तव्य है ॥ ११ ॥ जो योगी कसु आदि बार-भूतोंके परमाणुओंमें मेरा ही रूप समझकर चित्तको तदुत्तर कर देता है, उसे 'अविद्या' सिद्धि प्राप्त हो जाती है—उसे परमाणुका परमेश्वर समझन स्वयं कसु करनेका समर्थ प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥ जो सात्त्विक आहारको मेरा स्वरूप समझकर मेरे उसी रूपमें चित्तकी धारण करता है, वह समस्त इन्द्रियोंका अधिपति हो जाता है । मेरा चिन्तन करनेवाला भक्त इस प्रकार 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥ जो पुरुष सुप्त महात्त्वभिरुपे सुषुप्ततामें अपना चित्त स्थिर करता है, उसे सुप्त कल्याण-कल्याण (सुषुप्ता) की 'प्राकाम्य' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है—निरुद्धि इच्छासुख सही भाग प्राप्त हो जाते

१ चारक ।

• पृथ्वी आदिके परमाणुओंमें गुणका विद्यायाम रहता है । इसीसे उदका भी नियंत्र करनेके विवेक करने परमाणुकी समानता कहती है ।

विष्णो भ्रमोभरे चितं भारयेत् कालविग्रहे ।

स इक्षित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम् ॥१५॥

नारायणे तुरीयारम्भे भगवच्छब्दशब्दिते ।

मनो मय्यादधव् योगी मद्र्मा वक्षितामिमात् ॥१६॥

निगुण ब्रह्मणि मयि धारयन् विषद मन ।

परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥१७॥

क्षेत्रक्षेत्रीपपत्तौ चित्त शुद्ध धर्ममये मयि ।

धारयन्कृततां याति पद्मिर्निर्हितो नरः ॥१८॥

मय्याकाशात्मनि प्राण मनसा वायुमुग्रहन् ।

तत्रोपलब्धा भूतानां हमा वाच शृणात्यमौ ॥१९॥

बहुस्त्वद्वरि संयान्य स्वधरमपि चक्षुषि ।

मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्व पश्यति ब्रह्ममहक् ॥२०॥

मनो मयि सुसबन्ध दई तदनु वायुना ।

मद्धारमानुभावेन तत्रात्मा यत्र वे मन ॥२१॥

यदा मन उपादाय यद् भव रूपं शुभूषति ।

तद्यद् भव मनारूपं मयोगवत्तमाभय ॥२२॥

परकार्यं चिदन् मिद आत्मानं तत्र भावयेत् ।

हैं ॥ १४ ॥ जो त्रिगुणमयी मायाके लक्ष्मी मेरे कश्च-
करूप विस्वरूपकी वारणा करता है, वह शरीरों और
जीवोंको अपने इच्छानुसार प्ररित करनेकी समर्थ प्राप्त
कर लेता है । इस सिद्धि का नाम 'विशित्व' है ॥ १५ ॥
जो योगी मेरे नारायण-स्वरूपमें—जिसे तुरीय और
भगवान् भी कहते हैं—मनको छाड़ देता है, मेरे
सामाजिक गुण उसमें प्रकट होने लगते हैं और उसे
'वक्षित' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १६ ॥
निर्गुण ब्रह्म ही मैं ही हूँ । जो अपना निम्न मन मेरे
इस ब्रह्मस्वरूपमें स्थित कर लेता है उसे परमानन्द
स्वरूपिणी 'ध्यातृमाय्या' नामकी सिद्धि प्राप्त होती
है । इसकी मिश्रणर उसकी सारी कम्पनारें पूर्ण हो
जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं ॥ १७ ॥ प्रिय उदब ।
मेरा वह रूप, जो क्षेत्रक्षेत्रज्ञ लक्ष्मी है, अत्यन्त शुद्ध
और धर्ममय है । जो उसकी धारणा करता है, वह सूक्ष्म-
व्यस, जन्म-मृत्यु और शोक-मोह—इन छ वर्मियोंसे
मुक्त हो जाता है और उसे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होती
है ॥ १८ ॥ मैं ही समष्टि-प्राणरूप आकाशमाम हूँ ।
जो मेरे इस स्वरूपमें मनके द्वारा बनाइत नादका चिन्तन
करता है, वह 'पूरयण' नामकी सिद्धिसे सम्पन्न हो
जाता है और आकाशमें उपस्थित होनेवाली विविध
प्राणियोंकी बोली सुन-समझ सकता है ॥ १९ ॥ जो
योगी नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त कर देता
है और दोनोंके संयोगमें मन-ही-मन मेरा ध्यान करता
है, उसकी दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है, उसे 'दूरदर्शन'
नामकी सिद्धि प्राप्त होती है और वह सारे संसारको
देख सकता है ॥ २० ॥ मन और शरीरको प्राणव्युक्त
संज्ञित करे साथ संयुक्त कर दे और मेरी धारणा करे तो
इससे मनोज्ञ नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है । इसकी
प्रभावसे वह योगी जहाँ भी जानेका संकल्प करता है,
वहाँ उसका शरीर उसी धुन पर पहुँच जाता है ॥ २१ ॥
जिस समय योगी मनको उपादान-कारण बनाकर विद्वि
यकता आदिक रूप धारण करना चाहता है तो वह
अपने मनके वलुमुक्त हैस ही रूप धारण कर लेता है ।
इसका कारण यह है कि उसने अपने चित्तको मेरे साथ
जोड़ दिया है ॥ २२ ॥ जो योगी दूसरे शरीरमें प्रवेश
करना चाहे, वह ऐसी भावना करे कि मैं उसी शरीरमें

पिबन् हिंसा विशेत् प्राणो वायुमृतः पचक्षिषत् २३ ।
 पाष्ण्याऽऽपीव्य गुदं प्राणं हृदयः कण्ठमूर्धसु ।
 आरोप्य मद्यरन्ध्रेण मद्यं नीत्वोत्सृजेच्चतुम् ॥२४॥
 विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत् ।
 विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः ॥२५॥
 यथासंकल्पयेद् बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान् ।
 मयि सत्त्वे मनो युञ्जस्तथा तत् समुपाश्नुते ॥२६॥
 यो वै मद्भावमापनो ईशितुर्वशितुः पुमान् ।
 कुंठभिन्नं विहन्त्येव तस्य चाङ्गा यथा मम ॥२७॥
 मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविद्ः ।
 तस्य त्रैकालिकी बुद्धिश्च ममूत्सृपवृत्तिरा ॥२८॥
 अग्न्यादिभिर्न हन्येव मुनेर्योगमयं वपुः ।
 भेदागभान्तविषयस्य यादसाद्बुद्धकं यथा ॥२९॥
 मद्रिभूरीभिर्भ्याभन् भीमत्साक्षविभूषिताः ।
 अजातपत्रश्चजनैः स भवेदपराजितः ॥३०॥
 उपासकस्य मामभं योगधारणया मुनः ।

हैं । ऐसा करनेसे उसका प्राण वायुरूप धरण कर लेता है । और वह एक छूटसे दूसरे छूटपर जानेवाले तरीके सम्मिलन करना शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है ॥ २३ ॥ योगीका यदि शरीरका परिष्कार करता है तो एकीसे गुदाद्वारको दबाकर प्राणवायुको कण्ठ, हृदय, कण्ठ स्थल, कण्ठ और मस्तकमें ले जाय । फिर मद्यरन्ध्रेके द्वारा उसे मद्यमें लीन करके शरीरका परिष्कार कर दे ॥ २४ ॥ यदि उसे देवताओंके विहारस्थानमें क्रीडा करनेकी इच्छा हो, तो मेरे कुछ उत्कृष्ट सत्त्ववृत्ती भक्तका करे । ऐसा करनेसे सत्त्वगुणकी वंशवृक्षरूप सुर-सुन्दरियों विमानपर चढ़कर उसके पास पहुँच जाती हैं ॥ २५ ॥ जिस पुरुषने मेरे सत्त्वसङ्क्रमभक्तत्वे अपना चित्त स्थिर कर दिया है, उसीके च्चननें संभव है, वह अपने मनसे जिस समय जिस सङ्कल्प करता है, उसी समय उसका वह सङ्कल्प सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥ मैं 'ईशित्व' और 'वशित्व'—इन दोनों सिद्धियोंका स्वामी हूँ, इसलिये कभी कोई मेरी आज्ञा टाक नहीं सकता । जो मेरे उस रूपका चिन्तन करके उसी भक्तसे युक्त हो जाता है मेरे समान उसकी कान्ति भी कोई टाक नहीं सकता ॥ २७ ॥ जिस योगीका चित्त मेरी धारणा करते-करते मेरी मस्तिके प्रभमसे बुझ हो गया है, उसकी बुद्धि जन्म मृत्यु आदि बहल निर्विकल्प भी ज्ञान होती है । और तो क्या—भूत, मन्त्रि और कर्त्तमानकी समीप होने उसे मायूम हो जाती हैं ॥ २८ ॥ जैसे जन्मके द्वारा जन्ममें रहनेवाले प्राणियोंका मग्न नहीं होता, वैसे ही जिस योगीने अपना चित्त मुझमें धारण कर दिया है उसके योगमय शरीरको अग्नि, जल आदि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं कर सकता ॥ २९ ॥ जो पुरुष भीमस्त आदि चिह्न और शङ्ख-गदा-चक्र-तल आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा-छत्र-चक्र आदिसे सम्पन्न मेरे अन्तर्द्वारोक्त च्चक्रन करता है, वह जयें हो जाता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार जो विचारशील पुरुष मेरी उपासना करता है और योग-धारणाके द्वारा मेरा चिन्तन करता है,

सेद्वयः पूर्वकथिता उपलिष्ठन्त्यशेषः ॥३१॥

त्रितेन्त्रिमस्य दान्तस्य त्रितन्त्रासत्तमनामुनेः ।

मद्धारणां धारयतः कासासिद्धिं सुदुर्लभा ॥३२॥

बन्तरायान् वदन्त्येतां पुञ्जतो योगसूचकम् ।

मया सम्प्रद्यमानस्य कालवृषणहेतवः ॥३३॥

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्बाषिरीरिह सिद्धयः ।

योगेनाप्नोति साः सवा नान्वैर्योगगतिं व्रजेत् ॥३४॥

सवासामपि सिद्धीनां हेतुः पठिरहं प्रभुः ।

अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥३५॥

अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनाहतः सर्वदेहिनाम् ।

मया भूतानि भूतपु नहिरन्तः स्वयं तथा ॥३६॥

उसे वे सभी सिद्धियों पूर्णतः प्राप्त हो जाती हैं, जिनका वर्णन मैंने किया है ॥ ३१ ॥ प्यारे उदय ! जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो संपत्ति है और मेरे ही स्वरूपकी धारणा कर रहा है, उसके लिये ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो । उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त ही हैं ॥ ३२ ॥ परन्तु श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जो लोग मत्तियोग अपना कामयोगदि उत्तम योगोंका अभ्यास कर रहे हैं, जो मुझसे एक हो रहे हैं उनके लिये हम सिद्धियोंका प्राप्त होना एक किन्तु ही है; क्योंकि इनके कारण स्वयं ही उनके सम्पत्ति दुरुपयोग होता है ॥ ३३ ॥ नाशमें जन्म, मोक्ष, तत्त्वा और मन्त्रादिके द्वारा विवर्ती सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सभी योगके द्वारा मिल जाती हैं, परन्तु योगकी अन्तिम सीमा—मेरे सांख्य, सांख्य आदिकी प्राप्ति किन्ना प्रक्रमें विषय लक्ष्ये किसी भी साधनसे नहीं प्राप्त हो सकती ॥ ३४ ॥ अन्तर्दिष्टिने बहुत-से साधन बताये हैं—योग, सांख्य और भ्रम आदि । उनका एक समस्त सिद्धियोंका एकत्र में ही हेतु, साधन और प्रभु हैं ॥ ३५ ॥ जैसे स्थूल पञ्चभूतोंमें बाहर, भीतर—सर्वत्र सूक्ष्म पञ्चभूत ही हैं, सूक्ष्म भूतोंके अतिरिक्त स्थूल भूतोंकी कोई सत्ता ही नहीं है, वैसे ही मैं समस्त प्राणियोंके भीतर ब्रह्मरूपसे और बाहर इन्द्ररूपसे स्थित हूँ । मुझमें बाहर-भीतरका भेद भी नहीं है, क्योंकि मैं निरावरण, एक—अद्वितीय आत्मा हूँ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंसा संहिताप्रमेकादशस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ पौंडरीकोऽध्यायः

अथवाचो विभूतियोक्तुं वर्षम

उदय उवाच

स्वं ब्रह्म परमं साक्षरदनाद्यन्तमपाहृतम् ।

सर्वेषामपि भावानां प्राणसित्प्राणयोद्धवः ॥ १ ॥

उवाच तेषु भूतेषु दुर्ध्वमकृतात्मभिः ।

उदयजीम कहता—महात्मन् ! आप स्वयं परम हैं, मैं आपका आदि हूँ और न अन्त । आप आवरणरहित अद्वितीय तत्त्व हैं । समस्त प्राणियों और पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति, रक्षा और प्रत्येक कारण भी आप ही हैं । आप ऊँचे-नीचे सभी प्राणियोंमें स्थित हैं, परन्तु जिन लोगोंने अपने मन और इन्द्रियोंका प्रयोग नहीं किया

उपासते स्वा भगवन् बाधातप्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥

येषु येषु च भाषेयु भक्त्या स्वां परमर्षयः ।

उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तच्च वदस्व मे ॥ ३ ॥

गूढधरसि भूतात्मा भूतानां भूतभाषण ।

न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ॥ ४ ॥

याः क्वाच भूमौ दिवि वै रसायां

विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।

ता मममाख्यान्नुभावितास्ते

नमामि ते तीर्थपदाब्जप्रपद्यम् ॥ ५ ॥

श्रीमद्भागवत

एवमेतदहं पृष्टः प्रह्नं प्रह्नविदां धर ।

युयुत्सुना बिनश्चने सप्तनैर्धुनेन वै ॥ ६ ॥

ह्यत्वा ह्यतिवर्धं गर्भमधर्मं राज्यहेतुकम् ।

ततो निहृचो हन्ताहं इतोऽयमिति लौकिकः ॥ ७ ॥

स तदा पुरुषभ्यामो युक्त्या मे प्रतिबोधित ।

अम्यभापस मामेवं यथा त्वं रत्नमूर्धनि ॥ ८ ॥

अहमात्मोद्दवासीषां भूतानां सुहृदीधरः ।

अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्धारपाययः ॥ ९ ॥

अहं ततिर्गतिमतां कालः फलयतामहम् ।

गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिम्यौत्पत्तिको गुणः ॥ १० ॥

है, वे आपको नहीं जान सकते । आपकी कृपासे उपासना तो अवस्था पुरुष ही करते हैं ॥ १२ ॥ वड़े-वड़े श्रुति-स्मृति आपके जिन रूपों और विभूतियों परम भक्तिके साथ उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं, वह आप मुझसे कहिये ॥ ३ ॥ समस्त प्राणियों की कल्याणता प्रभो ! आप समस्त प्राणियों के कल्याण हैं । आप उनमें अपनेको गुप्त रखकर जीव करते रहते हैं । आप तो सबको देखते हैं, परन्तु बगलके प्रणी आपकी मायासे ऐसे मोहित हो रहे हैं कि वे आपको नहीं देख पाते ॥ ४ ॥ अतिसूक्ष्म परमेश्वर प्रभो ! पृथ्वी, सूर्य, पाताल तथा दिव्य-विदिवर्गोंमें आपके प्रभुत्वसे युक्त जो-जो भी विभूतियाँ हैं, आप इन सबसे मुझसे उनका वर्णन करिये । प्रभो ! मैं स्वयं उन चरणकमलोंकी कन्दना करता हूँ, जो समस्त जीवोंकी भी तीर्थ बनानेवाले हैं ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उग्र ! उन प्रह्लाद मर्म समझनेवालोंमें शिरोमणि हो । जिस समय कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय शत्रुओंसे युद्धके किये तत्पर कर्तुने मुझसे यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥ कर्तुनेके मनमें ऐसी धारणा हुई कि कुरुक्षेत्रोंको मारना और उसे भी राज्यके किये बहुत ही निन्दनीय कर्म है । उनका पुरुषोंके सम्मन यह यह सोच रहा था कि मैं मरनेवाला हूँ और ये सब मरनेवाले हैं । यह सोचकर वह युद्धसे उपरत हो गया ॥ ७ ॥ तब मेने रणभूमिमें बहुत-सी युक्तियाँ देकर भीर-शिरोमणि कर्तुनेको समझाया था । उस समय कर्तुने भी मुझसे यही प्रश्न किया था, जो हम कर रहे हो ॥ ८ ॥ उदयनी । मैं समस्त प्राणियोंका आत्मन्, शैली, सुहृद् और ईश्वर-नियमक हूँ । मैं ही इन समस्त प्राणियों और जगत्की रूपमें हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कारण भी ॥ ९ ॥ गतिहीन जगत्में मैं गति हूँ । अपने अधीन करनेवालोंमें मैं कष्ट हूँ । गुणोंमें मैं उनकी मूलस्वरूप सम्पदक हूँ और जितने भी गुणकान् पदार्थ हैं उनमें उनका

गुणिनामप्यहं स्रजं महतां च महानहम् ।
 स्रज्ज्वाणामप्यहं जीवा दुर्जयानामहं मनः ॥११॥
 हिरण्यगर्भो वदानो मन्त्राणो प्रणवस्त्रिषुत् ।
 अक्षराणामकाराऽसि पदानिच्छन्दसामहम् ॥१२॥
 इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वधूनामेसि हम्पवाद् ।
 आदिस्थानामहं विष्णु रुद्राणो नीललोहित ॥१३॥
 ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः ।
 देवर्षीणां नारदोऽहं इषिर्धन्वनिषि चेतुषु ॥१४॥
 सिद्धेश्वराणां कपिल सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम् ।
 प्रजापतीनां दक्षाऽहं पितृणामहमर्षमा ॥१५॥
 मां विदुषद्वयं दैत्यानां प्रह्लादमसुरधरम् ।
 साधं नक्षत्रौषधीनां धनेश्वर अथरथसाम् ॥१६॥
 ऐरावतं गजैन्त्राणां बाहसां वरुणं प्रभुम् ।
 हयसां ध्रुवसां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम् ॥१७॥
 उच्चैः प्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामसि काञ्चनम् ।
 यमः स्यमतां चाहं सर्पाणामसि वासुकि ॥१८॥
 नागेन्द्राणामनन्ताऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिर्दंष्ट्रिणाम् ।
 आधमण्यामहं तुर्यां वृणोनां प्रथमाऽनघ ॥१९॥
 वीर्यानां स्रावसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् ।
 आयुधानां धनुर्हं त्रिपुरघ्ना भनुष्मताम् ॥२०॥
 पिप्प्यानामस्म्यहं मरुगहनानां हिमालयः ।
 वनस्पतीनामधरथं शोषधीनामहं यवः ॥२१॥
 पुराधसां वसिष्ठाऽहं धर्मिष्ठानां बृहस्पति ।
 स्कन्दाऽहं सर्वेसिनान्यामग्रण्या भगवानज ॥२२॥
 यज्ञानां प्रदयज्ञाऽहं यतानामभिर्दिसनम् ।
 शास्त्रमप्यक्षाम्युवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ॥२३॥
 यागानामात्मसराषा मन्त्राऽसि त्रिविणीषताम् ।
 आन्वीक्षिषीं यज्ञतानां विक्रन्तः स्यान्निषादिनाम् ॥२४॥

सामासिक गुण हैं ॥ १० ॥ गुणसुक वस्तुओंमें में
 क्रियाशक्तिप्रधान प्रथम कार्य सृष्ट्या हैं और महानोंमें
 ज्ञानशक्तिप्रधान प्रथम कार्य महत्त्व हैं । सूक्ष्म वस्तुओंमें
 में जीव हैं और कठिनाइसे वशमें होनेवालोंमें मन
 हैं ॥ ११ ॥ में वेदोंका अभिव्यक्तिस्थान हिरण्यगर्भ हैं
 और मन्त्रोंमें तीन मन्त्राओं (अ+उ+म) बाव्य औरकार हैं ।
 में अधरोमें अकार, छन्दोंमें त्रिपदा गायत्री हैं ॥ १२ ॥
 सम्स्त देवताओंमें इन्द्र, अष्ट वस्तुओंमें अग्नि, इन्द्रा
 आदित्योंमें विष्णु और एकत्राश्रयोंमें नीललोहित नामका
 रुद्र हैं ॥ १३ ॥ में ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु,
 देवर्षियोंमें नारद और गौओंमें कामदेव हैं ॥ १४ ॥
 में सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पत्त्रियोंमें गरुड, प्रजापतियोंमें
 दक्ष, प्रजापति और क्तिरोंमें अर्यमा हैं ॥ १५ ॥ प्रिय
 उदक । पशुओंमें वैस्पराज प्रजाद, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा,
 शोषधियोंमें सामरस एवं यज्ञ-राक्षसोंमें कुन्नेर हैं—ऐसा
 सको ॥ १६ ॥ में गजराजोंमें ऐरावत, अज्जकस्त्रियोंमें
 उनका प्रभु वरुण, तपने और कमकनेश्वरोंमें सूर्य तथा
 मनुष्योंमें राजा हैं ॥ १७ ॥ में बोहोंमें उच्चैः श्रवा,
 धातुओंमें साना, वण्णधारियोंमें यम और सरांमि वासुकि
 हैं ॥ १८ ॥ मिष्ठाप उदकनी । में नागराजोंमें शेन्नाग,
 सीग और दाहकस्त्र प्राणियोंमें उनका राजा सिंह,
 आधमोंमें मन्पास और वगैरें प्रासग हैं ॥ १९ ॥ में
 तीर्थ और नगियोंमें गङ्गा, जम्पणोंमें समुद्र अथ-शत्रोंमें
 धनुष तथा शत्रुओंमें त्रिपुरारि दाहुर हैं ॥ २० ॥

में निवासस्थानोंमें सुम्ह, दुगम स्थानोंमें हिमालय,
 वनस्पतियोंमें वीर्य और धान्योंमें जौ हैं ॥ २१ ॥ में
 पुगेदितोंमें धर्मिष्ठ कवताओंमें बृहस्पति, सम्स्त सेना-
 पतियोंमें सामिकर्मीक और सम्मगप्रवृत्तोंमें भगवान्
 दया हैं ॥ २२ ॥ पञ्चप्रायोंमें प्रत्यय (स्नाय्यप-
 य) हैं श्रवणोंमें अहिंसजन और मुद वरनेवाट एतादृ-
 निव्यपुद पापु अग्नि मूष, जय, धर्म पञ्च ज्ञान्य
 हैं ॥ २३ ॥ अष्ट प्रकृतक पाण्डोंमें में मन्त्रानिगदय
 मन्त्रा हैं । विद्वयक इत्युक्तोंमें ऐह्यशय न मन्त्र
 (नील) पञ्च हैं, श्रोत्रोंमें अन्ध और अनन्तर
 विवरण्य श्रोत्र तथा कृपातिशयोंमें त्रिजना हैं ॥ २४ ॥

स्त्रीणां तु शतरूपाह पुंसां स्वायम्भुवो यनुः ।
 नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम् ॥२५॥
 धर्माणामसि सन्यासः क्षेमाणामवहिर्मतिः ।
 गुह्यानां धनृतं मौनं मिथुनानामजस्तवहम् ॥२६॥
 संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतानां मधुमाधवौ ।
 मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित् ॥२७॥
 अहं युगानां च कृतं धीरणां देवलोऽसितः ।
 दैवायनोऽसि व्यासानां कवीनां कश्च्य आत्मवान् २८
 वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
 किम्पुरुषाणां हनुमान् विद्याधराणां सुदर्शनः ॥२९॥
 रत्नानां पद्मरागोऽसि पद्मकोटः सुपेक्षसाम् ।
 कुण्डाऽसि दर्मजातीनां गन्धमान्य इषिः प्वहम् ॥३०॥
 यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ।
 तिविधासि तिविधूणां सत्त्वं सम्भवतामहम् ॥३१॥
 आज्ञा सहा बलवतां कर्माहं विद्वि सात्वताम् ।
 सात्वतां नवमूर्त्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥३२॥
 विश्वावसु पूर्वचिन्तिगन्धर्वप्यारसामहम् ।
 भूधराणामहं स्थैर्य गन्धमात्रमाहं भुवः ॥३३॥
 अपां रसश्च परमस्तजिष्ठानां विभावसु ।
 प्रभा घूर्णेन्दुताराणां शुब्दाऽहं नभसः परा ॥३४॥
 मन्त्रण्यानां चित्रिहं वीराणामहमनुज ।

मैं क्षियोंमें मनुजली शतरूपा, पुरुषोंमें सायम्भुव क
 मुनीश्वरोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनकुमार हैं ॥२५॥
 मैं धर्मोंमें कर्मसंन्यास अथवा एषणाश्रयके त्यागद्वारा सत्त्व
 प्राणियोंको अभयदानरूप तथा संन्यास हूँ । बलके
 साधनोंमें आत्मसत्त्वरूपका अनुसन्धान हूँ, अधिग्रह-लेखन
 सधनोंमें मधुर मधन एवं मौन हूँ और भी-मुक्तके
 जोड़ोंमें मैं प्रब्रजपति हूँ—जिनके शरीरके दो भागोंमें
 और बीजक पक्ष्य जोड़ा पैदा हुआ ॥ २६ ॥ आ
 सावधान रहकर जागनेवालोंमें संवत्सररूप काज मैं हूँ,
 अमुषोंमें वसुन्त, महीनोंमें मार्गशीर्ष और तबलोंमें
 अभिजित हूँ ॥ २७ ॥ मैं युगोंमें सत्ययुग, त्रिपैतल
 मूर्त्ति देवक और अस्ति, व्यस्तोंमें श्रीकृष्णदेवकी जन्म
 तथा कवियोंमें मनसी कुम्हारकर्त्ता हूँ ॥ २८ ॥ सुखी
 उत्पत्ति और क्य, प्राणियोंके जन्म और मृत्यु तथा निज
 और अस्मिकाके जाननेवाले भगवानोंमें (विरिष्ठ आ-
 पुरुषोंमें) मैं वासुदेव हूँ । मेरे प्रथम भक्तोंमें तुम (अहं)
 किम्पुरुषोंमें हनुमान्, विद्याधरोंमें सुदर्शन (जिसमें
 अन्नरूपके रूपमें नन्दबाबाको प्रस किया था । और फिर
 भगवान्‌क पदस्पर्शसे मुक्त हो गया था) मैं हूँ ॥२९॥
 रत्नोंमें पद्मराग (अलख), सुन्दर कस्तुरियोंमें कमखरी कर्क
 त्नोंमें कुण्ड और इक्षियोंमें गन्धर्व की हूँ ॥ ३० ॥
 मैं व्यापारियोंमें रहनेवाली छद्मी, छज-काष्ठ करनेवालोंमें
 भूतप्रेषक, तितिसुखोंकी तितिक्षा (कायसविष्णुत्व) और
 स्त्रीरूपक पुरुषोंमें रहनेवाला सत्ययुग हूँ ॥ ३१ ॥ मैं
 सत्त्वानोंमें उत्तम और पराक्रम तथा भाव्यकोंमें
 अधिकतम निष्काम कर्म हूँ । वैष्णवोंकी पूज्य कन्दुदेव,
 सत्कर्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, इक्ष्वाकु, स्याह, नृसिंह
 और ब्रह्मा—इन नौ मूर्त्तियोंमें मैं पहली एवं श्रेष्ठ मूर्त्ति
 वासुदेव हूँ ॥ ३२ ॥ मैं गन्धर्वमें त्रिराज्य और
 अस्मराओंमें मन्त्राधीन दरबारकी अष्टम पूर्वनिधि हूँ ।
 पक्षियोंमें स्थिरता और पृथ्वीमें सुब्र अतिरम्भी रूप मैं हो
 हूँ ॥ ३३ ॥ मैं जलमें रस, तबलियोंमें तम तैलमें
 अग्नि; सूर्य, चन्द्र और तारोंमें प्रभ तथा अश्वत्थ
 उसका एकमात्र गुण शम्भु हूँ ॥ ३४ ॥ उदासी । मैं
 सायगभक्तोंमें बडे, धीरोंमें अशुन और प्राणिकमें उनकी

१ अहं २ अ-जीन प्रथिमें यह शब्दार्थ है— विद्याधरः पूर्वचिन्तिगन्धर्वप्यारसामहम् ।

३ कर्मः । ४ मायौन प्रथिमें यह शब्दार्थ गतो है ।

पूतानां स्मिदिरूपचिरहं नै प्रतिसंक्रमः ॥३५॥

गत्युक्त्युत्तरसर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम् ।

मास्वादभुत्सबघाणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥३६॥

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्वातिरहं महान् ।

विकार पुरुषोऽप्यक्त रज सख तम परम् ॥३७॥

अहमेतत्प्रसक्त्यानं ज्ञान तत्त्वविनिश्चयः ।

मयस्मरण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।

सषात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥३८॥

त्रैक्यानं परमाणूनां कालन क्रियते मया ।

त तथा मेविमूचीनां सुव्रताऽब्धानि कोटिषः ॥३९॥

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यहीनस्वागः सौमगंभगः ।

शीर्षं विस्तिष्ठा विज्ञानं यत्र यत्र स मेऽशकः ॥४०॥

एतास्ते कीर्तिताः सदा संक्षुषण विभूतयः ।

मनोविकारा एव ते यथा बाबाभिभीमते ॥४१॥

बाधं बन्ध मना यच्छ प्रापान् यन्धन्त्रियाणि च ।

आरमानमात्मना यच्छ न भूयः क्ववत्सऽप्यने ॥४२॥

या वै बाह्मनसी सम्पगसयच्छन् धिया यति ।

१ ज्योती । २ यत्नम् ।

उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हैं ॥ ३५ ॥ मैं ही ऐतरेय
चन्दनकी शक्ति, वाणीमें खोखनेकी शक्ति, पापमें मर-
त्यगमकी शक्ति, हाथोंमें पकड़नेकी शक्ति और जनन-
निरयमें आनन्दप्रयोगकी शक्ति हैं । स्वप्नमें स्वर्शकी,
नेत्रोंमें दर्शनकी रसनामें स्वाद लेनेकी, कानोंमें ध्वनिकी
और नासिकामें सूँघनेकी शक्ति भी मैं ही हूँ । समस्त
इन्द्रियोंकी इन्द्रिय-शक्ति मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥ पृथ्वी, वायु,
आकाश, जल, तेज, अहङ्कार, महत्तत्त्व, पञ्चमहाभूत,
जीव, जम्पक, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और उनसे परे
रहनेवाला अज्ञ—ये सब मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥ इन
तत्त्वोंकी गणना, कृष्णोंश्वरा उनका ज्ञान तथा तत्त्व-
ज्ञानरूप उसका फल भी मैं ही हूँ । मैं ही ईश्वर हूँ,
मैं ही जीव हूँ, मैं ही गुण हूँ और मैं ही गुणी हूँ ।
मैं ही सकल आत्मा हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ । मेरे
कतिरिक्त और कदा भी पदार्थ कहीं भी नहीं है ॥ ३८ ॥
यदि मैं गिनने लूँ तो किसी समय परमाणुओंकी गणना
तो कर सकता हूँ, परन्तु अपनी विभूतियोंकी गणना नहीं कर
सकता । क्योंकि जब मेरे रचे हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी
भी गणना नहीं हो सकती, तब मेरी विभूतियोंकी गणना
तो हो ही कैसे सकती है ॥ ३९ ॥ ऐसा सम्झो कि
त्रिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग,
सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम तिनिका और विज्ञान आदि
श्रेष्ठ गुण हों, वह श्रेष्ठ ही अज्ञ है ॥ ४० ॥

उदबन्धी । मैं तुम्हारे प्रत्यक्ष अनुभूत संस्कारों
विभूतियोंका वर्णन किया । ये सब परमार्थ-वस्तु नहीं
हैं, मनाविकारमात्र हैं क्योंकि मनमें सोचा और वाणीसे
कही हुई कोई भी वस्तु परमार्थ (वास्तविक) नहीं
होती । उसकी एक कल्पना ही होनी है ॥ ४१ ॥
इसलिये तुम वाणीको खण्ड्यद्वयारणसे रोकते, मनक
सङ्कल्प-विकल्प बन्द करो । इसके लिये प्राणोंको बशमें
करो और इन्द्रियोंका दमन करो । सत्त्विक बुद्धिके द्वारा
प्रपञ्चाभिमुख बुद्धिको दायित्व करो । फिर तुम्हें संसारके
जन्म-मृत्युसुख-बीहङ्ग योगमें मटकना नहीं पड़ेगा ॥ ४२ ॥
जो साधक बुद्धिके द्वारा वाणी और मनको पूजना

तस्य घृतं तपो दानं स्रवण्यामघटाम्बुवत् ॥४३॥

तस्मान्मनोषचः प्राणान् नियच्छेन्मत्स्यरायणः ।

मद्भक्तियुक्ता पुद्गला ततः परिसमाप्यते ॥४४॥

कामें नहीं कर लेता, उसके मत, तब और दम में प्रकट लीन हो जाते हैं, जैसे कच्चे घड़ों में भाग्य जल ॥ ४३ ॥ इसलिये मेरे प्रमी भक्तों को कहिये कि मेरे परम्य होकर भक्तियुक्त मुझसे बणी, सब काम प्राणोंका संयम करे । ऐसा कर लेनेस फिर उसे करना शेष नहीं रहता । वह कृतार्थ हो जाता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते म्हापुराणे पारमर्हस्यां संहितायामेकदशस्कन्धे

पाञ्चोऽध्याय ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण

उत्पन्न वृक्षादि

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वङ्गकिलक्षणः ।

वर्णाभ्रमाधारवत्तां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥

यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ।

स्वधर्मेणारविन्दाश्च तत् समाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

पुरा किल महाबाहा धर्म परमकं प्रभो ।

यच्चन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यारथ माभूव ॥ ३ ॥

स इदानीं सुमहता फलनामिश्रकर्षण ।

न प्राया भविता मत्स्यलोफ प्रागनुज्ञासितः ॥ ४ ॥

पक्का कृतारिता नान्या धर्मस्याप्युत तं भूषि ।

सभायामपि वैरिञ्च्य। यत्र मूर्तिधरा फलः ॥ ५ ॥

इयापिवा प्रपञ्चा य भवता मधुमदन ।

म्यक्त महीतस इय पिनष्ट क प्रवस्यति ॥ ६ ॥

उत्सवजीने कहा—ब्रह्मचर्यनयन भीहृत्स्न । ज्ञाने
पहले वर्णाश्रम-धर्मका पाठन करनेकालमें के लिये और
सामान्यतः मनुष्यमनुष्यके लिये उस धर्मका उपदेश सिद्ध
था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है । अब आप
कहा करके यह कृतकर्मों के मनुष्य किस प्रकारसे ज्ञाने
धर्मका अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणोंमें उसे भक्ति
प्राप्त हो जाय ॥ १-२ ॥ प्रश्न । मन्त्रादि मन्त्र ।
पहले आपने इसकासे अवतार ग्रहण करके ब्रह्मचर्यसे
अपने परमवर्त्मका उपदेश किया था ॥ ३ ॥ विदुष्य ।
बहुत समय बीत जानेके कारण यह इस समय कर्म-
लोकमें प्रायः नहीं-सुख रहा गया है, क्योंकि ज्ञानसे उत्पन्न
उपदेश लिये बहुत दिन हो गये हैं ॥ ४ ॥ अनुत्तर ।
पृथ्वीमें तथा ब्रह्माखी उस सभामें भी, जहाँ सगुरु ब्रह्म
वर्तिमान होकर विराजमान रहते हैं, आपके अनिर्दिष्ट
ऐसा वार्त्ता भी नहीं है जो आपको इस धनरा प्रत्यक्ष,
प्रबचन अथवा सरक्षण कर सक ॥ ५ ॥ तत्पश्चात्
प्रकृतक, रक्षक और उपदेशक आप ही हैं । अब
पहले जैसे मनुष्य दैत्यरा मारकर बगैरी रक्षा की है,
वैसे ही आज मसी भी रक्षा रक्षित । लक्ष्मण
परमात्मन् ! जब आप पृथ्वीरासे ज्ञानी दीन संसार
कर सेने, तब तब इस धनरा न दी ही जगत्ता के

सर्वधर्मः सर्वधर्मश्च धर्मस्त्वङ्किलक्षणः ।

यथा यस्य विधीयेत तथा वर्ण्य मे प्रभो ॥ ७ ॥

श्रीभक्त उवाच

इत्थं स्मृत्युत्सयेन पृष्टः स भगवान् हरिः ।

प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानां सनातनान् ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म एव तव प्रश्नो नैःशेषसकरो नृणाम् ।

वर्णाभिमाचारवतां तमुद्भव निबोध मे ॥ ९ ॥

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।

कृतकृत्वाः प्रजा जाता तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥ १० ॥

वेदः प्रपञ्च एवाग्रे धर्मोऽहं रूपरूपकम् ।

उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां भुक्तकिञ्चिन्मया ॥ ११ ॥

त्रेतायुगं दशभ्यः श्रान्ते हृदयात्प्रसी ।

विद्या प्रादुरभूर्धसा अहमासं त्रिभुवनमसः ॥ १२ ॥

विप्रश्चिन्विदुः श्रान्ते सुखवाहुरुपादवाः ।

पैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥

गृहाभमां जघनतो ब्रह्मधर्मं हृदो यम ।

वैशः स्थानाद् घने वासो न्यासः शीर्षेण संसितः ॥ १४ ॥

किर उते कौन बतायेगा ? ॥ ६ ॥ आप समस्त धर्मों के धर्म हैं, इसलिये प्रभो ! आप उस धर्मका वर्णन कीजिये, जो आपकी मक्ति प्राप्त करनेवाला है । और यह भी बताइये कि किसके लिये उसका वैसा विधान है ॥ ७ ॥

श्रीभक्त उवाच कहते हैं—परीक्षित ! अब इस प्रकार भक्तशिरोमणि उद्भवनीने प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर प्राणियों के कल्याणके लिये उन्हें सनातन धर्मोंका उपदेश दिया ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्भव ! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है, क्योंकि इससे वर्णाश्रमधर्मा मनुष्योंके परमकल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है । अतः मैं तुम्हें उन धर्मोंका उपदेश करता हूँ, सम्भवतः होकर सुनो ॥ ९ ॥ जिस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ था और पहला सप्तयुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्योंका 'हंस' नामक एक ही वर्ण था । उस युगमें सब लोग ब्रह्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है ॥ १० ॥ उस समय केवल प्रपञ्च ही वेद था और तपस्या, शौच, दया एवं सत्पुरुष चार चरणोंसे युक्त मैं ही पुरुषरूपवारी धर्म था । उस समयके निष्ठा एवं परमस्त्री मत्तजन मुझ हंसरूप युद्ध परमेश्वारी उपसना करते थे ॥ ११ ॥ परम भाम्यवान् उद्भव ! सप्तयुगके बाद त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर मेरे हृदयसे शास-प्रभासके द्वारा श्रवण, सामन्त और यज्ञैरुपकार त्रयीविद्या प्रकट हुई और उस त्रयी-विद्यासे होता, अथर्व और उद्गाताके कमरूप तीन भेदोंवाले यज्ञके रूपसे मे प्रकट हुआ ॥ १२ ॥ विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, गुहासे क्षत्रिय, जघनसे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई । उनकी पहचान उनके सम्भ्रान्तुसार और आचरणसे होती है ॥ १३ ॥ उद्भवनी ! विराट् पुरुष भी मैं ही हूँ, इसलिये मेरे ही उद्भवसे गृहस्थाश्रम हृदयसे ब्रह्मजयाश्रम, यज्ञ स्थलसे वानप्रस्थाश्रम और मत्तकसे तप्याश्रमकी उत्पत्ति हुई है ॥ १४ ॥

१ कृतयुग । २ यमराज । ३ त्रेतायुग । ४ क्षत्र । ५ ब्रह्म-संज्ञावाले वातः कन्याकः पितृसि-
कितः ।

तस्य प्रवृत्तं तपो दानं स्रष्टस्यामघटाम्बुवत् ॥४३॥

तस्मान्मनोवचःप्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः ।

मग्नकिमुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥४४॥

कामें नहीं कर लेता, उसके मत, तप और दान जो प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जैसे कच्चा बरतें माँस जल ॥ ४३ ॥ इसलिये मेरे प्रेमी भक्तों को कहिये कि मेरे परमपूज्य होकर भक्तियुक्त बुद्धिसे बानी, माँस के प्राणोंका संयम करे । ऐसा कर तेजेर फिर उसे मुक्त करना शेष नहीं रहता । यह वृत्तवृत्त्य हो जाता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यो संहितायामेकदशस्कन्धे

चोद्देशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण

उद्भव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वग्निकिलक्षणः ।

वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥

यथानुष्ठीयमानेन स्वसि भक्तिर्नृणां भवेत् ।

स्वधर्मेणारविन्दाद्य तत् समाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो ।

यत्न हंसरूपेण ब्रह्मकेऽभ्यासं माधव ॥ ३ ॥

॥ इदानीं सुमहता कालेनाभिन्नकर्तुम् ।

न प्राया भविता मर्त्यलोकं प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याभ्युत से ह्यसि ।

समायामपि वैरिष्ण्यां यत्र मूर्तिधराः फलाः ॥ ५ ॥

क्रयावित्रा प्रपक्वा च भवता मधुसूदन ।

न्यन्ते महीतलं ह्येव विनष्टं क प्रवक्ष्यसि ॥ ६ ॥

उद्भवजीने कहा—कर्मजन्यन श्रीकृष्ण । जन्मे पहले वर्णाश्रम-धर्मका पाठन करनेमात्रके लिये और सामान्यतः मनुष्यमात्रके लिये उस धर्मका उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है । अब इस कृपा परके यह अवश्य है कि मनुष्य किस प्रकारसे अपने धर्मका अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणों में उसे भक्ति प्राप्त हो जाय ॥ १-२ ॥ प्रभो । महाबाहू मनुष्य । पहले आपने इसरूपसे अवतार ग्रहण करके स्वधर्मके रूपसे परमधर्मका उपदेश किया था ॥ १ ॥ विद्वत् । बहुत समय धीत जानेके कारण यह इस समय कर्म-लोकमें प्राप्त नहीं-रह गया है, क्योंकि आपको उसका उपदेश किये बहुत दिन हो गये हैं ॥ ४ ॥ वसुत । पृथ्वीमें तथा ब्रह्माक्षी उस समयमें भी, जहाँ सूर्य के मूर्तिमान् होकर निराकल्पन रहते हैं, आपके बहिरिख ऐश्वर्य की भी नहीं है जो आपको इस धर्मका प्रवक्ता, प्रपक्व अवस्था संरक्षण कर सक ॥ ५ ॥ इस लिये प्रकर्तक, रक्षक और उपदेशक आप ही हैं । अब पहले जैसे मनुष्य दैत्यका मारकर बेदोंकी रक्षा की थी, वैसे ही आप धर्मकी भी रक्षा करिये । लयप्रसन्न परमपूज्य । जन आप पृथ्वीतलसे अपनी मीमा संरक्षण कर लेंगे, तब तो इस धर्मका जोप ही हो जायगा जो

तच्च नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।

यथा यस्य विधीयत तथा वर्ण्य मे प्रभो ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

इत्थं स्मृत्युपक्रमेण पृष्ट स भगवान् हरिः ।

प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एव तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् ।

धर्माभिमाचारवतां समुद्रश्च निबोध मे ॥ ९ ॥

आदौ कृतयुगं वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।

कृतकृत्वाः प्रजा ज्ञात्वा तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥ १० ॥

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं रूपरूपकम् ।

उपासते तपोनिष्ठा हंस मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ ११ ॥

श्रेष्ठोऽहं महाभाग आत्मानं हृदयतमम् ।

विद्या प्रादुरभूर्त्तसा अहमास त्रिवृन्मलः ॥ १२ ॥

विप्रश्च त्रिपदिन्द्रास्तु सत्यवाहुरुपाब्जः ।

वैराजात् पुरुषाज्जाता य आरमाभारलक्षणः ॥ १३ ॥

गृहधर्मो अघनतो मद्रक्षय इदो मम ।

वैद्यस्यानाहू बने वासो न्यासः शार्पणिसंस्थितः ॥ १४ ॥ और मत्तकसे संप्यासधर्मही उत्पत्ति हुई है ॥ १४ ॥

फिर उसे कौन बतावेगा ॥ १५ ॥ आप समस्त धर्मों के मर्मज्ञ हैं, इसलिये प्रभो । आप उस धर्मज्ञ वर्णन कीजिये, जो आपकी भक्ति प्राप्त करानेवाला है । और यह भी बतलाइये कि जिसके लिये उसका कैसा विधान है ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णजी कहते हैं—परीक्षित ! जब इस प्रकार भक्तिसिरोमणि उदयजीने प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अल्पत प्रसन्न होकर प्राणियों के कल्याणके लिये उन्हें सनातन धर्मोंका उपदेश किया ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्व ! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है, क्योंकि इससे वर्णाश्रमधर्म मनुष्योंको परमकल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है । अतः मैं तुम्हें उन धर्मोंका उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ ९ ॥ जिस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ था और पृथ्वी सृष्टयुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्योंका 'हंस' नामक एक ही वर्ण था । उस युगमें सब लोग धर्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है ॥ १० ॥ उस समय केवल प्रणव ही वेद था और तपस्या, शौच, दया एवं सत्यरूप वार चरणोंसे युक्त मैं ही रूपमकरवीर धर्म था । उस समयके निष्पाप एवं परमात्मकी भक्तजन मुझ हंसस्वरूप शुद्ध परमात्मकी उपासना करते थे ॥ ११ ॥ परम मायावान् उद्व ! स्वयंभुवःका बाद, प्रेतायुगका आरम्भ होनेपर मेरे रूपसे वास-प्रचासक द्वारा 'वाक्', 'समवे' और यजुर्वेदरूप त्रयीविद्या प्रकट हुई और उस त्रयी-विद्यासे होना, अक्षय और उद्ग्रताके फलरूप तीन श्रेष्ठोपासने योग्यके रूपसे मैं प्रकट हुआ ॥ १२ ॥ विराट् पुरुषके मुखसे ब्रह्मण, भुजासे क्षत्रिय, वंशसे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई । उनही पृथ्वी उनका सम्मानानुसार और आचरणसे होती है ॥ १३ ॥ उदयजी ! विराट् पुरुष भी मैं ही हूँ इसलिये मेरे ही उद्ग्रहणसे गृहस्थाश्रम, वन्यसे व्रतध्यायधर्म, वन्य स्थलसे वानप्रस्थाश्रम

१ तमका सर्व । २ यस्मात् । ३ वेतायुग । ४ चत । ५ बध-सम्बन्धने याथा कन्याः स्त्रियः ।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारीणीः ।
 आसन् प्रकृतयो नणां नीचैर्नीचोचमोचमाः ॥१५॥
 दमो दमस्तपः शौचं सतापः ध्यान्तिरार्जवम् ।
 मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥
 तजो बलं वृत्तिः शौर्यं सितिद्यौर्दार्यमुद्यमः ।
 स्वयं ब्रह्मभ्यतैश्चर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥
 आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
 अतुष्टिर्यापिष्यैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥
 शूद्रपुष्पं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
 तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥
 भयौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शूद्रकृषिग्रहः ।
 कामः क्रोधश्च र्षपश्च सभाषोऽन्तेवैसायिनाम् ॥२०॥
 अहिंसा सत्यमस्तयमकामक्रोधलोभता ।
 भूतप्रियहितहा च धर्माऽयं सार्ववर्षिकः ॥२१॥
 द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याञ्जन्मापनयनं द्विजः ।
 वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥२२॥
 मन्त्रतामिनदण्डाद्यप्रसन्नश्चक्रमण्डलान् ।
 जटिलोऽधौतवद्भासाऽरक्तीयुक्तः कुशान् दधत् ॥२३॥
 स्नानभोजनहोमपुं जपोधार च वाग्यतः ।
 नच्छिन्द्यान्मन्त्रोमाणि कथापम्यगतान्यपि ॥२४॥

इन वर्ण और आश्रमोंके पुरुषोंके सम्भव ये जन्मस्थानोंके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हो गये । अर्थात् उत्तम स्थानोंसे उत्तम होनेवाले वर्ण और आश्रमोंके सम्भव उत्तम और अधम स्थानोंसे उत्तम होनेवाले के अधम हुए ॥१५॥ शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सत्य, क्षमाशीलता, सीधपन, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण वर्णके सम्भव हैं ॥१६॥ तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, श्रित्त, ब्रह्मणभक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्णके सम्भव हैं ॥१७॥ आस्तिकता, दानशीलता, दम्भनिवृत्ति, ब्रह्मगोपनी सेवा करना और वनतन्त्रसे संतुष्ट होना—ये वैश्य वर्णके सम्भव हैं ॥१८॥ शूद्र, गौ और देवताओंकी निष्कण्टकसेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें संतुष्ट रहना—ये शूद्र वर्णके सम्भव हैं ॥१९॥ अपवित्रता, दूत लेटना, चोरी करना, ईश्वर और परमेश्वरकी पराध न करना, दण्डमूठ झगड़ना और काम, मोह एवं त्यागके कर्म रहना—ये अन्त्यर्षोंके सम्भव हैं ॥२०॥ उद्वेग, चारों कर्मों और चारों आश्रमोंके लिये सम्भारण कर्म यह है कि मन, वाणी और कर्मासे किसीकी हित न करें, स्वयं पर हट रहें, चोरी न करें, काम, मोह तथा क्रोधसे बचें और जिन कर्मोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता और उनकी भय हो, वही करें ॥२१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णोंके लिये संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करने गुरुकुलमें रहे और अपनी इन्द्रियोन्मुखी रहने लगे । आचार्यके भुषणपर वेदका अध्ययन करे और उसके अर्थका भी विचार करे ॥२२॥ मन्त्र, मन्त्रार्थ, वर्णके अनुसार दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत और यज्ञपात्र धारण करे । सिरपर जटा रखे, शैवीकी लिये दाँत और बछ न धोये, रंगीन वस्त्रासन न धरे और कुशा धारण करे ॥२३॥ स्नान, भोजन, हवन, जप और मन्त्र-मन्त्र त्यागके समय घेन रह और बछ तथा गुप्तेन्द्रियके आच और नाभ्युत्थानोंकी परीक्षा करे ॥२४॥

१ पवित्रता । २ आश्रम । ३ गतयो नृणां । ४ निप्रसेवनम् । ५ हर्षम् । ६ मन्त्राध्यात्मिकम् । ७ याम्यम् ।

तो नावकिरेखातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ।
 वकीर्णोऽवगाह्याप्सु यथासुस्त्रिपदी जपेत् ॥२५॥
 गन्धर्वाचार्यगोविप्रगुरुष्टेदसुराष्टुचिः ।
 आश्रित उपासीत संध्ये च यतवाग् जपन् ॥२६॥
 आचार्यं मां विजानीयात्सत्सन्धेय कर्हिचित् ।
 न मर्त्यबुद्ध्याद्येव सर्वदेवमयो गुरु ॥२७॥
 सायं प्रातरुपानीय मैत्र्य तस्मै निषेदयेत् ।
 यन्मन्यदप्यनुह्रातमुपयुज्जीत समयः ॥२८॥
 शुभ्रूपमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् ।
 यानश्चम्यासनस्नानैर्नासिदूरे कृताञ्जलिः ॥२९॥
 एषं वृषो गुरुकुले वसेत् भोगविवर्जितः ।
 विद्या समाप्न्यते यावत् विभ्रव् व्रतमखण्डितम् ॥३०॥
 यद्यसौ छन्दसां लोक्रमारोक्ष्यन् ब्रह्मनिष्ठपम् ।
 गुरवे विन्यसेत् देहं स्वाभ्यायार्थं बृहस्पत ॥३१॥
 अग्नौ गुरावात्मनि च सधंभूतेषु मां परम् ।
 गृध्रगधीरुपासीत ब्रह्मवचस्म्यकृतमपः ॥३२॥

पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करे । स्वयं तो कभी वीर्यपात
 करे ही नहीं । यदि स्वप्न आदिमें वीर्य स्थलित हो
 जाय, तो जलमें स्नान करके प्राणायाम करे एवं
 गायत्रीका जप करे ॥ २५ ॥ ब्रह्मचारीको पवित्रताके
 साथ एकप्रप्रथित होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ,
 ब्राह्मण, गुरु, बुद्धजन और देवताजैकी उपासना करनी
 चाहिये तथा समयब्याज और प्रातःकाल मीन होकर
 सम्प्रोपासन एवं गायत्रीका जप करना चाहिये ॥२६॥
 आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार
 न करे । उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोषदृष्टि न
 करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है ॥२७॥ सायंकाल
 और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ मिश्रमें मिले वह
 व्यक्त गुरुदेवके आगे रख दे । केवल भोजन ही नहीं,
 जो कुछ हा सच । तदनन्तर उनके आश्रानुसार वह
 समयमें मिश्रा आदिकर यथोक्ति उपयोग करे ॥ २८ ॥
 आचार्य यदि चाहे हों तो उनके पीछे-पीछे चले, उनके
 सो जानेके बाद वही सावधानीसे उनसे बोरी दूरपर सोवे ।
 बके हों, ता पास बैठकर चरण दवावे और बैठे हों तो
 उनके आदेशकी प्रतीक्षामें शयन जोकर पासमें ही खड़ा
 रहे । इस प्रकार अल्पत छोटो व्यक्तिकी मूर्ति सेवा-शुश्रूष्यके
 द्वारा सदा-सर्वदा आचार्यकी आज्ञामें तत्पर रहे ॥ २९ ॥
 जस्तक विद्याभ्यसन समाप्त न हो जाय, तत्काल सब प्रकारके
 भोगोंसे दूर रहकर इसी प्रकार गुरुकुलमें निवस करे और
 कभी अपना ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित न हान दे ॥ ३० ॥

यदि ब्रह्मचारीका विचार हो कि मैं मूर्खमान् वेदोंके
 निवासस्थान ब्रह्मश्रेष्ठमें जाऊँ, तो उसे आजीवन नैष्ठिक
 ब्रह्मचर्य-मन ग्रहण कर लेना चाहिये । और वेदोंके
 स्वाध्यायके लिये अपना सारा जीवन आचार्यकी सेवामें
 ही समर्पित कर देना चाहिये ॥ ३१ ॥ ऐसा ब्रह्मचारी
 सचमुच ब्रह्मतेमसे सम्पन्न हो जाता है और उसके सारे पाप
 नष्ट हो जाते हैं । उसे चाहिये कि अग्नि, गुरु, अपन
 शरीर और समस्त प्राणियोंमें मेरी ही उपासना करे और
 यह भव रखे कि मेरे तथा सबके हृदयमें एक ही

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसलापस्वेलनादिकम् ।

प्राणिना मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥३३॥

शौचमाचमन स्नानं संध्योपासनमार्जवम् ।

तीर्थसेवा जपोऽस्तूपाभस्पासंभाष्यवर्जनम् ॥३४॥

सर्वाभमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।

मद्भावाः सर्वभूतेषु मनोवाक्यसयमः ॥३५॥

एव गृहद्वतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिषं ज्वलन् ।

मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माश्रयोऽमलः ॥३६॥

अथानन्तरमावेदपन् यथा जिज्ञासितागमः ।

गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नात्वा गुर्वनुमोदितः ॥३७॥

गृहं वनं वीरविष्टेत् प्रयजेत् वा द्विजोचमः ।

आभमादाभमं गच्छन्नान्यथा मत्परमरत् ॥३८॥

गृहाथी सदृशी भाषामुदहदनुगुप्सिताम् ।

परायमी तु पयगा वां सवणामनु क्रमात् ॥३९॥

परमाय्या विराजमान है ॥ ३२ ॥ ब्रह्मचारी, कर्मन्तः और संन्यासियोंको चाहिये कि वे स्त्रियोंको देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-मस्करी आदि कर्म दूरसे ही त्याग दें, मिथुन करते हुए प्राणियोंपर तो छिपातक न करें ॥ ३३ ॥ प्रिय उदय ! शौच, अचमन, स्नान, संध्योपासन, सरस्वता, तीर्थसेवन, जप, उक्त प्राणियोंमें मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीर सब संयम—यह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी-सभीके लिये एक-सा नियम है । वस्तुओंको न छूना, अभय कस्तुर्थोंको न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिये उनसे न बोलना—ये नियम भी उनके लिये हैं ॥ ३४ ३५ ॥ नैतिक ब्रह्मचारी ब्रह्मण इत नियमोंपर फलन करनेसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है । तब तपस्याके कारण उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, कृत करण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

प्यारे उदय ! यदि नैतिक ब्रह्मचर्य प्रवृत्त करनेकी इच्छा न हो—गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहत हो तो विधिवत्क वेदाध्ययन सम्पन्न करके आचार्यकी दक्षिण देकर और उनकी अनुमति लेकर सम्पत्ति-संस्कार करावे—स्नातक बनकर ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ दे ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे । यदि ब्रह्मण हो तो संन्यास भी ले सकता है । क्योंकि उसे चाहिये कि क्रमशः एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करे । किन्तु मेरा आश्वलाशरी भक्त बिना आश्रमके रहकर अथवा विपरीत क्रमसे आश्रम-परिवर्तन पर स्वेच्छापूर्वक न प्रवृत्त हो ॥ ३८ ॥

प्रिय उदय ! यदि ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थभ्रम स्वीकार करना हो तो ब्रह्मचारीको चाहिये कि अतः अनुकूल एवं शांताक स्थानोंसे सम्पन्न कुटीर बनसे विवाह करे । यह जरूरतमें जानते प्राणी और अनेक ही बगरी हानी चाहिये । यदि ब्रह्मण अप्य पदारी पत्न्यमे और विवाह करना हो, तो क्रमशः अनेक निम्न बगरी पत्न्योंसे विवाह पर संवत्स ॥ ३९ ॥

इज्याभ्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।

प्रतिग्रहोऽभ्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥४०॥

प्रतिग्रहं मयमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।

अन्याभ्यामेव जीवेत शिष्टैर्वा दोषहृत्सयोः ॥४१॥

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।

कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तमुत्साय च ॥४२॥

श्लोष्णहृत्पा परितुष्टभिषो

धर्मं महान्तं विरजं क्षुपायः ।

मर्यापितारमा शुद्ध एव विष्ट-

भाविप्रसक्तः समुपैति श्रान्तिम् ॥४३॥

समुद्गरन्ति ये विप्रं सीदन्तं भृतरायणम् ।

तानुद्गरिभ्ये न विरत्तापद्मयो नौरिवार्णवात् ॥४४॥

सवाः समुदरेषु रात्रा पितृष्वन्यसनात्प्रजाः ।

आत्मानमात्मना भीरो यथा गजपतिगजान् ॥४५॥

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्धसा ।

विष्वेदाशुर्म कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥४६॥

सीदन् विप्रा वणिग्भूयसा पण्यैरेनापद वरेत् ।

१ चित्ते ।

यज्ञ-यागादि, अभ्ययन और दान करनेका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योको समानरूपसे है । परन्तु दान लेने, पढ़ाने और यज्ञ करनेका अधिकार केवल ब्राह्मणोको ही है ॥ ४० ॥ ब्राह्मणको चाहिये कि इन तीनों कृतियोंमें प्रतिग्रह अर्थात् दान लेनेकी कृतिको तपस्या, तेज और यशस्व नाश करनेवाली समझकर पढ़ाने और यज्ञ करनेके द्वारा ही अपना जीवननिर्वाह करे और यदि इन दोनों कृतियोंमें भी दोषदृष्टि हो—परकम्पन, दीनता आदि दोष दीक्षते हों—तो कन कटनेके बाद क्षेत्रोंमें पड़े हुए दाने बीनकर ही अपने जीवनका निर्वाह कर ले ॥ ४१ ॥ उद्धव । ब्राह्मणका शरीर अल्पतुल्य है । यह इसलिये नहीं है कि इसके द्वारा कुछ विषय-योग ही भोगे जायें । यह तो जीवन-पर्यन्त कष्ट भोगने, तपस्व करने और अन्तमें अन्त आनन्दस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करनेके लिये है ॥ ४२ ॥ जो ब्राह्मण धर्ममें रहकर अपने गृहान् धर्मका निष्क्रममाणसे पाखन करता है और क्षेत्रोंमें तथा बाजारोंमें गिरे-पड़े दाने चुनकर सन्तोषपूर्वक अपने जीवनका निर्वाह करता है, साथ ही अपना शरीर, प्राण, अन्त करण और आत्मा मुझे समर्पित कर देता है और कहीं भी अल्पतुल्य अस्तित्व नहीं करता, वह बिना संप्राप्त लिये ही परमशान्ति-स्वरूप परमपद प्राप्त कर लेता है ॥ ४३ ॥ जो ध्येन विपत्तिमें पड़ कर या रहे मेरे मध्य ब्राह्मणको विपत्तियोंसे बचा लेते हैं, उन्हें मैं क्षीप्र ही समस्त आपत्तियोंसे उसी प्रकार बचा लेता हूँ, जैसे समुद्रमें डूबते हुए प्राणीको नौका बचा लेती है ॥ ४४ ॥ राजा भित्तके समान सारी प्रजाका फलसे उद्धार करे—उन्हें बचावे, जैसे गजराज दूसरे गजोंकी रक्षा करता है और धीर होकर स्वयं अपने आपसे अपना उद्धार करे ॥ ४५ ॥ जो राजा इस प्रकार प्रजाकी रक्षा करता है, वह सारे पापोंसे मुक्त होकर अन्त समयमें सर्वके समान तेजस्वी विमानपर बैठकर क्षग्रेयमें जाता है और इन्द्रके साथ तुल्य भोगता है ॥ ४६ ॥ यदि ब्राह्मण अभ्यापन अथवा यज्ञ-यागादिसे अपनी जीविका न कथ्य सके, तो वैश्य-कृषिक आश्रय ले ले, और जन्मक विपत्ति दूर न हो

सङ्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न शङ्कस्या कथंचन ॥४७॥

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि ।

चरेद् वा विप्ररूपेण न शङ्कस्या कथंचन ॥४८॥

शूद्रवृत्तिं भजेद् वैश्यः शूद्रः कौरुकटक्रियाम् ।

कृष्णान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेण कर्मणा ॥४९॥

वेदाभ्यायस्वधास्वाहावन्यभातैर्यथोदयम् ।

देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वाहं यजत् ॥५०॥

यदृच्छयौपपन्नेन शुक्लेनोपाखितेन ॥५१॥

धनेनापीडयन्भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् कृतम् ॥५२॥

कुटुम्बेषु न सज्जत न प्रमाद्यत् कुटुम्ब्यपि ।

विपन्निभ्रमरं पश्यद्दृष्टमपि शृण्वत् ॥५३॥

पुत्रदारासप्तभूतां सगमः पान्थसंगमः ।

अनुदहं रिपन्त्येते ममा निशानुगा यथा ॥५४॥

जय तत्सक करे । यदि बहुत बड़ी आपत्ति सम्भूत हो तो तत्काल उठकर धर्मियोंकी वृत्ति में अपना काम चला ले, परन्तु किसी भी व्यवसाय में नीचोंकी सेवा—जैसे 'भानवृत्ति' कहते हैं—न करे ॥ ४७ ॥ इसी प्रकार यदि क्षत्रिय भी प्रजापत्य आदिके इस अपने जीवनका निर्वाह न कर सके तो वैश्यवृत्ति स्वीकार आदि कर ले । बहुत बड़ी आपत्ति हो तो सिसरे द्वारा अपना विचारियोंको पढ़ाकर अपनी आपत्तिके दिन काट दे, परन्तु नीचोंकी सेवा, 'भानवृत्ति' का काम कभी न ले ॥ ४८ ॥ वैश्य भी आपत्तिके समय शूद्रोंकी वृत्ति सेवासे अपना जीवन-निर्वाह कर ले और एक चट्टाई बुनने आदि कुरुवृत्तिके आश्रय ले ले, परन्तु उद्योग । ये सारी बातें आपत्तिकालके लिये ही हैं । आपत्तिके समय शीत जानेपर निम्नवर्गोंकी वृत्तिसे जीविकोपार्जन करनेका धोम न करे ॥ ४९ ॥ गृहस्थ पुरुषको कहिये कि वेदाध्ययनरूप ऋतुयज्ञ, तर्पणरूप निदुयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, कृत्तव्य आदि भूतयज्ञ और अन्नदानरूप अतिथियज्ञ आदिके द्वारा मेरे स्वरूपभूत ऋषि, देव, पिता, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियोंकी वन्दना प्रतिदिन पूना करता रहे ॥ ५० ॥ गृहस्थ पुरुष अपनायस प्राप्त अन्न काजोळ रीतिसे उन्नत करने श्राव्य धनसे अपने मूल्य, अन्नित प्रयत्नरसे किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचावे हुए मध्य और शिमे कर ही पढ़ करे ॥ ५१ ॥

प्रिय उद्योग । गृहस्थ पुरुष कुटुम्बमें अलस न हो । बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी भजनमें प्रयत्न न करे । शुद्धिमान् पुरुषको यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जैसे इस धरती सभी बसुन् नारायण ही वसे ही सर्वादि परब्रह्मके भाग भी नारायण ही हैं ॥ ५२ ॥ यह जो धी-मुत्र, भार्दन्त्य और गुह्यनोय निष्क-उत्पन्ना हैं यह ऐसा ही है, जैसे किसी व्यापार दुःखीही इच्छते हैं गये हों । स्वयं जगत्प्रभार से जाना है । जैसे सप्त नीच दूष्टेन ही रहता है, जैसे ही इन मिथ्य बुद्धेयोंका सम्पत्ति ही पस, शरीर रहने-सक ही रहता है । फिर तो यौन विमता पूजा है ॥ ५३ ॥

इत्थं परिमुञ्चन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवत् वसन् ।

न गृहैरनुबन्धेन निर्ममो निरहंकृतः ॥५४॥

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्टा मामेष भक्तिमान् ।

तिष्ठेत् वनं वीपविष्टेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत् ॥५५॥

यत्त्वासक्तमतिगंहे पुत्रवित्तैपणातुरः ।

स्त्रैः कृपणधीर्बुद्धो ममाहमिति बध्यते ॥५६॥

अहो मे पितरौ बुद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः ।

यनावा मामृते दीनाः कर्म जीवन्ति दुःखिताः ॥५७॥

एवं गृहाश्रयाश्चित्तद्वन्द्वो मूढपीरयम् ।

बतुसत्त्वानुभ्यायन् मुक्तोऽन्वं विष्टते तमः ॥५८॥

गृहस्थको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थीमें कैसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्तता करने रहे मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो । जो शरीर आदिमें बंधन और घर आदिमें ममता नहीं करता, उसे घर-गृहस्थीके फंदे बाँध नहीं सकते ॥ ५४ ॥ भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करता हुआ करमें ही रहे, अपना यदि पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रममें बना जाय या संन्यासाश्रम स्वीकर कर ले ॥ ५५ ॥ प्रिय उदय ! जो लोग इस प्रकारका गृहस्थजीवन न निश्चय कर घर-गृहस्थीमें ही आसक्त हो जाते हैं, बी, पुत्र और उनकी कामनाओंमें फँसकर हाय-हाय करते रहते और मूढतावश जीवन्मृत और कृपण होकर मैं-मेरेके फेरमें पड़ जाते हैं, वे बँध जाते हैं ॥ ५६ ॥ वे सोचते रहते हैं—हाय ! हाय ! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गये, पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये दीन, अनाथ और दुखी हो जायेंगे; फिर इनका जीवन कैसे रहेगा ? ॥ ५७ ॥ इस प्रकार घर-गृहस्थीकी वासनासे जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ-बुद्धि पुरुष निम्नमार्गोंसे कभी तृप्त नहीं होता, उन्हींमें उलझकर अपना जीवन खो बैठा है और मरकर वोर समीप्य मरकमें जाता है ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकदशस्कन्धे उत्तरार्धे

सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म

श्रीभगवानुवाच

वनं विनिष्ठुः पुत्रपु भार्या न्यस्य सहैव वा ।

वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मन्त्रैर्वृक्षि प्रकल्पयेत् ।

वसीत बल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उदय ! यदि गृहस्थ मनुष्य वानप्रस्थ आश्रममें जाना चाहे, तो अपनी पत्नीको पुत्रोंके साथ साथ वे अपना अपने साथ ही ले के और फिर शान्त चित्तसे अपनी आयुत्र तिसरा भाग वनमें ही रहकर व्यतीत करे ॥ १ ॥ उसे वनके पत्र-पत्र, कन्द-मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करना चाहिये, बल्कली जगह वृक्षोंकी छाड़ पहिने अपना वास-मत्त और मृगशय्यासे ॥ कम निकल ले ॥ २ ॥

कञ्जरामनस्वश्मधुमलानि विभृयावृ दतः ।

न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकल स्पण्डिलेष्वपः ॥ ३ ॥

ग्रीष्मे तप्येत पश्चादग्नीन् वर्षास्त्रासारपाव् जले ।

आकण्ठमग्नः शिशिरे एषवृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥

अग्निपर्कं समभीयात् कालपक्षमथापि वा ।

उत्सललाग्मकुड्रो वा दन्तोत्सल एव वा ॥ ५ ॥

स्वयं संविनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।

वेद्यकालबलामिन्द्रो नाददीतान्यदाऽऽहृतम् ॥ ६ ॥

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान् ।

न तु धौतेन पशुना मां यजत घनाभमी ॥ ७ ॥

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्वमासश्च पूर्ववत् ।

चातुर्मास्यानि च मुनेराग्नावानि च नैगमैः ॥ ८ ॥

एवं चीर्णेन तपसा मुनिघमनिसवतः ।

मां तपामयमाराधय प्रपिलोकादुर्वति माम् ॥ ९ ॥

यस्त्येवत् कृच्छ्रतर्षणीं तपानिःश्रयसंमहत् ।

कामायात्योयसे युञ्ज्यान् पाठिञ् कोऽपरस्ततः ॥ १० ॥

वेश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढ़ीरूप शरीरके मन्त्रको इत्ये नहीं । दातुन न करे । जलमें घुसकर त्रिकल स्नान करे और धरतीपर ही पक रहे ॥ ३ ॥ ग्रीष्म ऋतुमें पश्चाग्नि तपो, वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें राखर बर्षकी वीछर सहे । जाड़के दिनोंमें गले तक जलमें डूब रहे । इस प्रकार घोर तपस्त्रमय जीवन व्यतीत करे ॥ ४ ॥ कन्द-मूलेको केकड़ आगमें मूनकर छल ले कबब सम्पन्नकर पके हुए फल आदिके द्वारा ही काम करे । उन्हें कूटनेकी आवश्यकता हो तो ओखलीमें या सिछर कूट ले, अन्यथा दौंतीसे ही चबा चबाकर खा ले ॥ ५ ॥ घनप्रस्थाभमीको चाहिये कि कौन-सा पार्श्व कहाँसे जाना चाहिये, किन्तु सम्म जाना चाहिये, कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—इन बातोंको जानकर अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वयं ही सब प्रकारके कन्द मूल-फल आदि ले आवे । देश-काल आदिसे अनुमति होगोसे अये हुए अपना दूसरे समयके सज्जित पापोंको अपने कर्ममें न ले ॥ ६ ॥ गीशर आदि जंगमी वस्तुसे ही चरु-पुरोडाश आदि तैयार करे और ऊँहीसे सम्पोजित आम्रपण आदि वैष्टिक कर्म करे । घनप्रस्थ हो जानेपर वेदविहित पशुओंद्वारा मेघ यजन न करे ॥ ७ ॥ वेदवेत्ताओंने वानप्रस्थीक लिये अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णिमास और चातुर्मास्य आदिकर वैष्ट ही विधान किया है, जैसा गृहस्थोंके लिये है ॥ ८ ॥ इस प्रकार घोर तपसा करते-करते मांस तृप्त जानेके कारण वानप्रस्थीकी एक-एक नस दीखने लगती है । यह इस तपसाके द्वारा मेरी आराधना करने पहले तो ऋषियोंके घोरमें बतल है और कहाँसे फिर मेरे पास आ जाता है, क्योंकि तब मेरा ही स्वरूप है ॥ ९ ॥ धिय उदय ! जो पुरुष बड़े पयसे किये हुए और मोक्ष देनेवाले इस म्हात् तपसासे स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि हो-ग्याटे पञ्चोंकी प्राप्तिके लिये करता है, उससे बड़कर मूर्ख और कौन होगा ! इसलिये तपस्त्रक अनुष्ठान निष्कामभावसे ही करना चाहिये ॥ १० ॥

१ स्वयं । २ कालचरितम् । ३ पूर्वमासः ।

० अर्थात् मुनि इस बातका जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे जाना चाहिये इस समय जाना चाहिय और कौन कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं स्वयं ही नवीन-नवीन कन्द मूल-फल आदिकर तपस करे । देश-काल आदिसे अनुमति होगो लये हुए अपना कामकायमें लग्न करे लिये हुए पदार्थोंके सेवनमें बाध आदिके कारण तपस्त्रमें विघ्न होने भावना है ।

यदासौ नियमेऽकृत्यो जरया जातचेपथुः ।

अत्मन्यग्नीन् समाराप्य मन्त्रिनोऽग्निं समाविशेत् ॥११॥

यदा कर्मविपाकपु लाकपु निरयात्मसु ।

विरागो जायते सम्यङ् न्यस्तामि प्रप्रवचतः ॥१२॥

इष्टा यथोपदेश मां दत्त्वा सर्वस्वमुत्तिजे ।

अग्नीन् स्वप्राण आचेश्य निरपेक्षः परिब्रजेत् ॥१३॥

विप्रस्य वै मन्यसतो देवा दारादिकृपिणः ।

विज्ञानं कुर्वन्त्ययं क्षत्रानाक्रम्य समिधात् परम् ॥१४॥

विमुपाश्वान्निर्वासः कौपीनाच्छादन परम् ।

स्वक्त न दृष्टवात्राम्यामन्यत् किंचिदनापदि ॥१५॥

इष्टिपूत न्यसेत् पाद बक्षपूतं पिण्डजलम् ।

सत्यपूतां वदन् वाच मनःपूतं समाचरेत् ॥१६॥

मौनानीहानिनायामा दण्डा वाग्दहयेतसाम् ।

प्यारे उद्धव । वानप्रस्थी जब अपने आश्रमोचित नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय, बुझपेक कारण उसका शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्निश्रौचको मात्राका द्वारा अपने अन्त करणमें आगोमित कर ले और अपना मन मुहमें लटकाकर अग्निमें प्रवेश कर जाय । (यह विधान कर्कश उनका छिये है, जो विरक्त नहीं हैं) ॥ ११ ॥ यदि उत्सर्ग समझमें यह बात आ जाय कि काम्य कर्मसि उनका फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, वे नगर्कोके स्मृति ही नृ सुपूर्ण हैं और मनमें ओक परलोकसे पूरा वरगुप्त हो जाय तो विभिन्नक यज्ञाग्निश्रौच परित्याग करके संन्यास ले ले ॥ १२ ॥ जो वानप्रस्थी संन्यासी होना चाहै, यह पहले वेदविधिके अनुसार आश्रम प्रकारके आद और प्राजापत्य यज्ञसे मेरा यज्ञ करे । इसके बाद अपना स्वस्त्यश्रितिको दे । यज्ञाग्निश्रौचको अपन प्राणोंमें लीन कर ले और फिर विस्ती श्रि स्थान, वस्तु और व्यक्तियोंकी अपेक्षा न रखकर स्वच्छन्द विषरण करे ॥ १३ ॥ उद्धवर्षी । जब ब्रह्मण संन्यास लेने लगता है, तब देवनात्यग स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धियोंका रूप धारण करके उसके संन्यास-महणमें किन बाधते हैं । वे सोचते हैं कि 'अर' यह तो इत्यर्थगर्भको अवहलता कर, इत्यर्थगर्भको उध्वर परमात्मको प्राप्त होने का राह है ॥ १४ ॥

यदि संन्यासी वह धारण करे तो कर्कश लैगेटी लगै और अधिक-से-अधिक उसके ऊपर एक ऐसा छोट-सा दुकाना छप्प ल कि विसमें लैगेटी डक जाय । तथा आश्रमोचित दण्ड और कर्मणालोक अनिरिक्त और कोइ भी वस्तु अपने पास न रखे । यह नियम आपत्ति-कालको छोड़कर सप्ताके छिये है ॥ १५ ॥ नग्नोसे अग्नी देखकर पैर रखे, कपड़ेसे छानकर जल निवे, मुँहसे प्रायेक वात सङ्ग्रहित—सङ्ग्रहसे पवित्र द्रव ही निकाले और शरीरसे जितने भी काम कर, सुदिर्दृष्ट—सोच-विचार कर ही करे ॥ १६ ॥ वाणीके छिये मीन, शरीरके छिये निदोष स्थिति और मनके छिये प्राणायाम दण्ड हैं । जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं हैं, यह केवल

नक्षते यस्य मन्त्यङ्गवेणुभिर्न भवेत् यति ॥१७॥
 भिक्षां चतुर्षु वर्षेषु विगमान् वर्जयन्नेतत् ।
 सप्तागारान् सफलान् स्तुभ्यस्तु धनं तावता ॥१८॥
 बहिर्जलाशय गत्वा तत्रापस्पृश्य वाग्यत ।
 विभज्य पावित श्रेय भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥१९॥
 एकभरं महीमेतां निस्सृज्य मयतेन्द्रिय ।
 आत्मकीदृ आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः ॥२०॥
 विविक्तमद्वयः मङ्गावविमलाद्वयः ।
 आत्मानं चिन्तयेदेकममदनं मया मुनिः ॥२१॥
 अन्वीक्षतात्मना वार्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
 बन्ध इन्द्रियविधया माधु एषां च समयः ॥२२॥
 तस्माद्विषम्य पद्वग मङ्गावेन चरे मुनि ।
 विरक्तं शुद्धकामेभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत् २३
 पुराप्रामप्रज्ञान् साधान् भिक्षाथ प्रविशन्धरत् ।
 पुष्पदशप्रच्छिन्नलवनाभमवती महीम् ॥२४॥
 ज्ञानप्रमयाभमपद्वगभीष्मं भक्ष्यमाचरत् ।
 मंसिभ्यरयाभममाह शुद्धसत्त्व शिवाभसा ॥२५॥

शरीरपर आँसुके दण्ड धारण करनेसे दण्डी लग
 नहीं हो जाता ॥ १७ ॥ सन्यासीका चाहिये कि
 जतिभ्युत और गोघाती आदि पतितोंको छोड़कर चा
 कणोंकी भिक्षा ले । कण्ड अनिश्चित सात बरोंसे जित
 मित्र जाय, उतनसे ही संतोष कर ले ॥ १८ ॥ स
 प्रकार भिक्षा कर बस्तीक बाहर जगत्पर जाय,
 वहाँ हाथपैर धोकर जलक द्वारा भिक्षा पत्रि कर ले,
 फिर शास्त्रांक पद्धतिसे जिन्हें भिक्षाका भाग देना चाहिये,
 उन्हें कर जो कुछ वह उसे मौन हाथर सब स
 दूसरे समयके लिये बचाकर न रखे और न अधिक
 मोंकर ही लय ॥ १९ ॥ सन्यासीका पृथ्वीपर अकसे
 ही निचरना चाहिये । उसकी वहाँ भी आसक्ति न
 हो, सब इन्द्रियों अपन वशमें हों । वह अपने
 आपमें ही मग्न रहे, आत्म-प्रममं ही तन्मय रह,
 प्रसिद्ध-से-प्रसिद्ध परिस्थितियोंमें भी धैर्य रख
 और सर्वत्र समानरूपसे स्थित परमेश्वरका अनुभव
 करना रहे ॥ २० ॥ सन्यासीको निर्बन्ध और निर्भय
 एकान्त-स्थानमें रहना चाहिये । उसका हृदय नित्य
 मेरी भावनासे विभुज बना रहे । यह अपने-आपमें
 मुक्तसे अस्मित और अद्वितीय, अलम्बके रूपमें क्लिप्त
 करे ॥ २१ ॥ वह अपनी ज्ञाननिष्ठसे विकल कल्प
 और मोक्षपर विचार करे तथा निश्चय करे कि इन्द्रियोंका
 विषयोंक लिये विक्षिप्त होना—बन्ध होना कल्प है
 और उनको समयमें रहना ही मोक्ष है ॥ २२ ॥ इस
 लिये सन्यासीको चाहिये कि मन एवं पाँचों इन्द्रियों-
 का जीत के, माँगोंकी क्षुद्रता समझकर उनकी ओसे
 मर्षणा मुँह मोड़ ले और अपने-आपमें ही परम अन्नद
 का अनुभव करे । इस प्रकार वह मेरी भावनासे भरकर
 पृथ्वीमें विपरीत रहे ॥ २३ ॥ केवल भिक्षाके लिये ही
 नगर, गाँव, अहीरोकी बस्ती या यात्रियोंकी टाकमें जाय ।
 पथिज दण्ड, नदी, पर्वत, वन और आश्रमोंसे दूर पृथ्वीमें
 किना वहाँ मग्न जोई धूमना-निरता रहे ॥ २४ ॥
 भिक्षा भी अधिकतर शून्यस्थायोंक आश्रमसे ही प्राप्त
 करे । क्याकि फटे हुए स्वयंसे जानसे की हुई भिक्षा
 नीच ही निचका शुद्ध कर नीच है और उससे बच
 मुका माह दूर हाथर सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २५ ॥

पु वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति ।

।सक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षिवात् ॥२६॥

।देष्टुं तस्मिन् जगन्मनोवाक्प्राणसहस्रम् ।

।अर्वायेति तर्केण स्वस्यस्त्यक्त्वा न तत् शरेत् ॥२७॥

।ज्ञाननिष्ठा विरक्तो वा मद्रक्तो वानपेक्षकः ।

।सलिङ्गानाधर्मास्त्यक्त्वा चरदविधिमाचरः ॥२८॥

।पुषो बालकवत् क्रीडत् कुसला जडवधरत् ।

।वेदेदुन्मथवद् विद्वान् गोचर्या नैगमधरेत् ॥२९॥

।वेदवादरतो न साक्ष्यं पातवन्धी न हंतुकः ।

।शुक्लवादिबाध न कंचित् पक्षं समाभयेत् ॥३०॥

।नाद्विजेत जनाद् धीरा ज्ञानं चाद्वयवत् ॥ ।

।अतिषाढान्तिषेधेन नाशमन्वत कचन ।

।देहसुरिभ्यः पशुपद् धरं कुर्यान्न कनचित् ॥३१॥

।एक एव परा ह्यस्मा भूतेष्व्यात्मन्यवस्थित ।

।यथेन्द्रुदपात्रपु भूतान्येकस्मिन्मन्त्रि च ॥३२॥
।अल्पज्ञानं निपीदेत कालं कालश्च न कचिन् ।

विचारवान् सन्यासी दृश्यमानं जगत्को सस्य वस्तु
कभी न समझे, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही नाशवान्
है । इस जगत्में कहीं भी अपने चित्तको टाँपे नहीं ।
इस व्यक्त और परलोकमें जो कुछ करने-ग्रनेकी इच्छा
हो, उससे विरक्त हो जाय ॥ २६ ॥ सन्यासी विचार
करे कि आत्मामें जो मन, वाणी और प्राणोंका सङ्घात-
रूप यह जगत् है, वह सारा-का-सारा माया ही है ।
इस विचारक द्वारा इसका वाव कर्त्तक अपने स्वरूपमें
स्थित हो जाय और फिर कभी उत्तम स्मरण भी न
करे ॥ २७ ॥ ज्ञाननिष्ठ, विरक्त सुसुद्ध और मोक्षकी भी
अपेक्षा न रखनवाय मेरा भक्त आधर्मोर्वी मर्यादामें बद्ध
नहीं है । वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नोंको
छोड़कर, बंद-शास्त्रक विधि निषेधोंसे परे होकर
सकृद् विचर ॥ २८ ॥ वह बुद्धिमान् होकर भी
बालकोंक समान खेले । निपुण होकर भी बड़बत् रह,
विद्वान् हाँफ भी पाण्डुकी तरह बातचीत करे और
समस्त बंद-विधियोंका जानकार हाँफ भी पशुवृत्तिसे
(अनियत आचारवान्) रह ॥ २९ ॥ उसे बाह्ये
कि कौनका फलकाण्ड-भागकी व्याख्यामें न छनो, पाण्ड
न करे, तब-कितनेसे तब और जहाँ कांश वाद-विवाद
हो रहा हो, वहाँ कांश पक्ष न उ ॥ ३० ॥ वह इतना
व्यवान् हो कि उसके मनमें किसी भी प्राणीसे उद्वेग न
हो और वह स्वयं भी किसी प्राणीको उद्दिग्न न करे ।
उसकी कोई निन्दा करे, ता प्रसन्नतासे सह ले, किसीका
अपमान न करे । प्रिय उद्वेग ! सन्यासी इस शरीरक
प्रिय किसीसे भी न कर । एक धर ता पशु फलते
हैं ॥ ३१ ॥ जैसे एक ही चन्द्रमा जगत्से भरे हुए
विभिन्न पार्श्वोंमें अधो-अधो स्थित ही होता है, वैसे ही
एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंमें और अपनेमें भी
स्थित है । सबकी आत्मा तो एक ही ही, पञ्चभूतोंसे
बने हुए शरीर भी सबका एक ही हैं, क्योंकि सब पाश्च-
भातिक ही तो हैं । (उसी अवस्थामें किसीसे भी वैर
निर्गोच करना अपना ही वर-विशेष है) ॥ ३२ ॥

प्रिय उद्वेग ! सन्यासीका किसी दिन यदि सम्पन्न
भोजन न मिले, तो उसे दुखी नहीं माना बाह्य और

लब्धवान् हृष्येद् वृत्तिमानुभय दैवतन्त्रितम् ॥३३॥

आहारार्थं समीहतं युक्तं तत्प्राणधारणम् ।

तत्त्व विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते ॥३४॥

यद्विष्णुसंयोगोपपन्नमप्यन्तर्मुखापरम् ।

तथा वासस्तथा शून्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥३५॥

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनवाचरेत् ।

अन्यांश्च नियमाञ्चानि यथाईलीलयेद्वर ॥३६॥

न द्वितस्त विकल्पाख्याया च मदीक्षया हता ।

श्राद्धान्तां क्वचित् रूपात्तिलत सम्पद्यते मया ॥३७॥

दृष्ट्वादर्केषु कामसु जातनिर्वेद भारमवान् ।

अभिज्ञासितमदमं गुहं मुनिमुपायवत् ॥३८॥

तावन् परिशरद् भक्तः भद्राधाननम्रयक ।

यावत् नम विज्ञानीयामास गुरुमाहृत ॥३९॥

यस्तसंपतपद्मं प्रणष्टन्त्रिपसारधि ।

यदि बराबर मिलता रहे, तो हर्षित न होता चाहिये । उसे चाहिये कि वह धैर्य रखे । मनमें हर्ष और विषाद दोनों प्रकटकर विकर न आने से, क्योंकि भोजन मित्रा और न मित्रा दोनों ही प्रारब्धके अधीन हैं ॥ ३३ ॥ मित्रा अथवा मींगनी चाहिये, ऐसा करना उचित ही है, क्योंकि मित्रासे ही प्राणांकी रक्षा होती है । प्राण रहनेसे ही तत्त्वज्ञ विचार होता है और तत्त्वविचारसे तत्त्वज्ञान होकर मुक्ति मिलती है ॥ ३४ ॥ संयमसंयम प्रारब्धके अनुसार अच्छी या बुरी—जैसी भी मित्रा मिल जाय, उसीसे फेद भर ले । बल और विद्वाने भी जैसे मिल जायें, उन्हींसे काम कल लें । उनमें कल्लेन या बुरेपनकी कल्पना न करे ॥ ३५ ॥ जैसे मैं परमेश्वर होनेसे भी अपनी सीत्त्रसे ही शौच आदि शतशोक नियमोंका पालन करता हूँ, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी शौच, आचमन, स्नान और दूसरे नियमोंका स्मरणसे ही आचरण करे । वह शास्त्रविरुद्ध अधीन होकर—विधि विकर होकर न करे ॥ ३६ ॥ क्योंकि ज्ञाननिष्ठ पुरुषको भेदकी प्रतीति ही नहीं होती । जो पहले भी, वह भी मुझ सर्वभूषण स्वभावकारसे नष्ट हो गयी । यदि कभी-कभी मरणपर्यन्त वांछित भेदकी प्रतीति भी होती है, तब भी दृष्टप्राप्त हो जानपर वह मुझसे एक हो जाता है ॥ ३७ ॥

उद्भवनी । (यह तो बृहद् ज्ञानवाग्द्वीकृत, अथ कलक बरामप्राणकी बात सुना) । त्रितन्त्रिय पुरुष, जब यह निश्चय हो जाय कि संस्तरक विरमक भगवत् पद दृष्टकी-नृत्त है तब वह निरक हो जाय और यदि वह भी प्रासिक साधनोंका न ज्ञान हो तो भगवत्निष्ठानमें तन्मय रहनेवाले प्रवृत्तिपुष्टि करण प्रवृत्ति करे ॥ ३८ ॥ वह गुरुकी दृष्टि भक्ति करे ब्रह्म रखे और उनमें शर कभी न निकाले । ज्येष्ठक प्रमद ज्ञान हो, तबनाक वह आत्मसे मुक्त ही गुरुक रूपमें समस्त दृष्टा उनकी सेवा कर ॥ ३९ ॥ त्रितु त्रितु पांच हिन्दुओं और मन, इन श्रद्धालु त्रिपय नहीं प्राप्त की है त्रिपय हिन्दुप्राप्त पाइ और युद्धिप्राप्त सारथी

ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥४०॥

सुरानात्मानमात्मस्थं निद्रुते मां च धर्महा ।

अविषककपायोऽसादृष्टमाद्य निहीयते ॥४१॥

मिक्षोर्धर्मः श्रमोऽर्हसा तप ईशा वनौकस ।

गृहिणो भूतरधेन्या द्विजसाचार्यसेवनम् ॥४२॥

ब्रह्मचर्य तपः शौच सन्तोषो भूतसौहृदम् ।

गृहसत्याप्युक्तौ गन्तुः सर्वेषां मनुपासनम् ॥४३॥

इति मां यः स्वधर्मेण भजेभित्थमनन्यभाक् ।

सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते षड्भास् ॥४४॥

भक्तपादबानपापिण्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सर्वोत्पत्त्ययस्य ब्रह्म कारणं भावयति स* ॥४५॥

इति स्वधर्मनिर्गिकसत्त्वा त्रिज्ञातमहतिः ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना नचिरात् समुपति मासु ॥४६॥

वर्णाधमवर्ता धर्म एष आचारतत्त्वण ।

स एष मङ्गलितयुता निःभयसकरः परः ॥४७॥

यत्तच्छाभिहितसाधो भवान् पृच्छति यथा भासु ।

यथा स्वधर्मसंपुक्ता भक्ता मां समियात् परम् ॥४८॥

विगड्ड हुए हैं और जिसके हृदयमें न ज्ञान है और न तो वैराग्य, वह यन्निद्रिणी सन्यासीका धन धारणकर पेट पाकता है तो यह सन्यासधर्मका सतानाश ही कर रहा है और अपने पूष दन्ताओंको, अपने-आपको और अपने हृदयमें स्थित मुक्तको छानेकी चेष्टा करता है । अभी उस वैराग्यक सन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनोंसे हाथ जो बैठा है ॥ ४०-४१ ॥ सन्यासीका मुख्य धर्म है—श्रुति और अहिंसा । जनप्रसूकी मुख्य धर्म है—तपस्व और भगवद्भाव । गृहस्थका मुख्य धर्म है—प्राणियोंकी श्रद्धा और यज्ञ-त्याग तथा ब्रह्मचारीका मुख्य धर्म है—आचार्यकी सेवा ॥ ४२ ॥ गृहस्थ भी केवल श्रुतवर्तमें ही अपनी शक्ति सहवास करे । उसके लिये भी ब्रह्मचर्य, तपस्व, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभाव—ये मुख्य धर्म हैं । मेरी उपासना तो समीकर करनी चाहिये ॥ ४३ ॥ जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभावेसे अपने वर्णाधमवर्गके द्वारा मेरी सेवाने लग रहता है और समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करता रहता है, उसे मेरी अविषक भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ४४ ॥ उद्धवजी ! मैं सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र स्वामी, सर्वशक्ति उत्पत्ति और प्रलयकर फल करण स्वामी । निष्प-निगन्तर कनेवाली अखण्ड भक्तिके द्वारा वह मुझ प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार वह गृहस्थ अपने धर्मपालनक द्वारा अन्त करणको मुझ करके मेरे एवमको—मेरे स्वरूपको जान लेता है और ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझ प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥ मैं तुम्हें यह साराधाररूप कणाधर्मियोंका धर्म कलत्रका है । यदि इस ध्यानुग्रहमें मेरी भक्तिक पृष्ठ भग ज्ञाय, तब तो इससे बनायास ही परम कल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ॥ ४७ ॥ साधुस्वभाव उद्धव ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया और यह कतार लिया कि अपने धर्मका पालन करनेवाला भक्त मुझ परमस्वरूपका किस्त प्रकार प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भगवत्से महापुराणे पारमर्हस्यो संहितायामेकादशस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

भक्तिः, ज्ञान और यम-नियमादि साधनोंका वर्णन

भीमङ्गवानुपाय

या विद्याभृतसम्पन्न आत्मवान् नानुभानिकः ।

मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि सन्त्यसेत् ॥ १ ॥

ज्ञानिनस्त्वहमवेप स्वाधो हेतुश्च संमतः ।

स्वर्गभैषापवर्गश्च नान्वाऽर्थो महते प्रियः ॥ २ ॥

ज्ञानविज्ञानसमिद्धाः पदं भेष्टं विदुर्मम ।

ज्ञानी प्रियतमोऽजो न ज्ञानेनः मौ विभर्ति माम् ॥ ३ ॥

तपस्तीर्थं दानं दानं पवित्रात्मीतराणि च ।

नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता ॥ ४ ॥

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्मरमानमुद्वह ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभाषितः ॥ ५ ॥

ज्ञानविज्ञानयज्ञानं मामिष्ट्वाऽऽत्मानमस्तमनि ।

मर्त्यस्यपतिं मां वै ससिद्धिं धुनयाऽगमन् ॥ ६ ॥

स्वयमुद्वहमाधयति यस्त्रिविधा विकारो

मायान्तराऽऽपतति नाष्टपद्वर्गयोर्वत् ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्वहजी ! जिसने उपनिषदादि शास्त्रोंके ध्वनन, मनन और निश्चिन्तनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जो श्रोत्रिय एवं श्रमणि है, जिसमें निश्चय केवल युक्तियों और अनुक्तोंपर ही निर्भर नहीं करता, दूसरे शब्दोंमें—जो केवल प्रतीतिज्ञानी नहीं है, वह यह जानकर कि सम्पूर्ण इत-प्रपञ्च और इसकी निश्चिति साधन श्रुतिज्ञान मयामत्र है, उन्हें मुझमें खीन कर दे, वे लोगों ही मुझ कल्मानें अच्युत हैं, ऐसा जान ले ॥ १ ॥ ज्ञानी पुरुषका अभीष्ट फलार्थ में ही है उसके साधन-साध्य, स्वर्ग और अस्वर्ग भी मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी भी पदार्थसे वह प्रेम नहीं करता ॥ २ ॥ जो ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न सिद्धपुरुष हैं, वे ही मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं । इसलिये ज्ञानी पुरुष मुझ समस्त प्रिय है । उद्वहजी ! ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा निरन्तर मुझ अपने अन्तःकरणमें धारण करता है ॥ ३ ॥ तत्त्वज्ञानके अस्मत्प्रकाश उदय होनेसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह तपस्या, तीर्थ, दान, भस्त्रा अन्तःकरणशुद्धिके और किसी भी साधनसे पूर्णतया नहीं हो सकती ॥ ४ ॥ इसलिये मेरे प्यारे उद्वह ! तुम ज्ञानके सहित अपने अस्मत्स्वरूपको जान ले और निरन्तर ज्ञान विज्ञानसे सम्पन्न होकर भक्तिभावसे मेरा मजन करो ॥ ५ ॥ यह-यह अवि-मुनियोंने ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञक द्वारा अपने अन्तःकरणमें मुझ सब यज्ञोंके अतिरिक्ति आत्मिक यजन करने परम सिद्धि प्राप्त की है ॥ ६ ॥ उद्वह ! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन विधियोंकी समष्टि ही दरीर है और वह सर्वत्र हमारे आभित है । यह पहले नहीं था और जन्तमें नहीं गहेगा, कलत्र वीचमें ही गीत रहा है । इसलिये इसे जादूके स्वरूप समझ माया ही समझनी चाहिये । इसके जो जन्मना, रहना, बढ़ना, बढना, बढ़ना और नष्ट

जमादयोऽस्य यदमी तव सस्य किं स्यु

रायतपार्दमताऽस्ति तदव मध्य ॥ ७ ॥

उदव उवाच

ज्ञान विशुद्धं विपुलं यथैत

द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।

आरूपादि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते

त्नद्रक्तियोग च महद्भिस्सुगम् ॥ ८ ॥

तौपत्रयेणाभिहितस्य चारे

सतप्यमानस्य भवाश्वनीश्व ।

पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि

द्वन्द्वातपत्रादमृताभिषयात् ॥ ९ ॥

दष्टं जनं संपतितं वित्तेऽग्निं

कालाहिना क्षुद्रसुम्नोत्तर्पम् ।

समुदरेन कृपयाऽऽपन्नमै-

र्वचोभिरासिञ्च महाभुवाव ॥ १० ॥

भीमगणानुवाच

इत्यमेतन् पुरा राजा भीष्म धर्मभृतां वरम् ।

अज्ञातशत्रु पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुभूषिताम् ॥ ११ ॥

निश्चयं भारते पुष्टे सुहृद्भिर्भनमिहल ।

धृत्वा धर्मान् बहून् पद्मान्मोक्षधर्मान्पृच्छत ॥ १२ ॥

तानह तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुत्तमान्मृतान् ।

ज्ञानवैराग्यविज्ञानभद्राभक्त्युपपद्भितान् ॥ १३ ॥

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु यन वै ।

होना—ये छ भावविकार हैं, इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, य विचार उसके भी नहीं हैं, क्योंकि यह स्वयं असत्य ॥ असत्य वस्तु तो पहल नहीं थी, खदमें भी नहीं रहेगी, इसलिये वीचमें भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता ॥ ७ ॥

उदवजीने कहा—विश्वरूप परमेश्वर ! आप ही विश्वके स्वामी हैं। आपका यह ज्ञाग्य और विज्ञानसे युक्त सनातन एवं विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकार सुखद ॥ जाय, उसी प्रकार मुझे स्वयं करके सम्प्राप्त्ये जोर उस अपने भक्तियोगवत् भी कर्णन कीजिय, जिसे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ईर्ष्या करते हैं ॥ ८ ॥ मेरे स्वामी ! जो पुरुष इस संसारके निश्चित मार्गमें तीनों तापोंक बपेड़ खा रहे हैं और भीतर-बाहर जट-मुन रहे हैं, उनक लिये आपके अमृतवर्षी युगल चरणारविन्दोंकी छत्र-छयाक अनिरित और कोई भी आश्रय नहीं दीखता ॥ ९ ॥ महत्सुभाव ! आपका यह अपना सेवक और कुर्ये पका हुआ ह, काकरूपी सपने इसे बस रक्ता है, फिर भी किस्यके क्षुद्र सुख-भागोंकी तीव्र तुल्य मिटती नहीं, बहती ही जा रही है। आप क्या करके इसका उद्धार कीजिये और इससे मुक्त करनेवाड़ी वाणीकी सुधा धारासे इसे सगवार कर दाजिये ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—उदवजी ! जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है, यही प्रश्न वसनाय युधिष्ठिरन धार्मिकक्षिरामणि भीष्मपितामहसे किया था। उस समय हम सभी लोग वहाँ निषण्ण थे ॥ ११ ॥ जब भारतीय महापुरुष समाप्त हो चुका था और गर्भराज युधिष्ठिर अपन जीवन-सम्बन्धियोंक संसारसे शोक-विह्वल हो रहे थे, तब उन्होंने भीष्मपितामहसे बहुत-से अनौपचारिक विवरण सुननेक पश्चात् मोक्षक साधनोंक सम्बन्धमें प्रश्न किया था ॥ १२ ॥ उस समय भीष्मपितामहक मुखसे सुने हुए मोक्ष धर्म में तुम्हें सुनाऊँगा। क्योंकि ये ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, अज्ञा और भक्तिके मार्गसे परिपूर्ण हैं ॥ १३ ॥ उदवजी ! जिस ज्ञानसे प्रकृति पुरुष, महत्तत्त्व अज्ञा और पञ्चलयात्रा—य ना, पाँच ज्ञानत्रय, पाँच कर्मेन्द्रिय और

१ माफीन प्रक्षिप्ते श्लोक १ तौपत्रयेणा

११ में श्लोकके पृथार्थ 'भयम्नां वरम्' । तद्वत् पाठ नहीं है ।

११ जलविज्ञानवैराग्य ।

ईधेताथैकमन्येषु तन्धानं मम निश्चितम् ॥१४॥

एतदेव हि विज्ञानं न सर्वैकेन येन यत् ।

स्वित्पुस्तकप्ययान् पश्येद् भाषानां त्रिगुणात्मनाम् ॥

अज्ञावन्ते च मन्यं च सृज्यात् सृज्यं यदन्विधात् ।

पुनस्तत्प्रतिसक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥१६॥

धृतिं प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।

प्रमाणध्वनयन्त्यानाद् विकल्पात् स विरन्यते ॥१७॥

कर्मणां परिष्कामिस्त्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् ।

विपश्चिन्मभर पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥१८॥

भक्तियागः पुरैर्भोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।

पुनश्च कथयिष्यामि मङ्गलं कारणं परम् ॥१९॥

भद्रास्तुतकथायां मे धृष्यन्मदनुकीर्तनम् ।

परिनिष्ठा च पूजार्थां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥२०॥

एक मन—ये म्याह, पाँच म्याभूत और तीन गु
अर्थात् इन अष्टाईस तत्त्वोंको मन्नासे लेकर तुम्हें
सम्पूर्ण फायोंमें देखा जाता है और इनमें भी एक परमम
तत्त्वको अनुगत रूपसे देखा जाता है—सब फलेश्चक्र
है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १४ ॥ जब जिस एक तत्त्वसे
अनुगत एकात्मक तत्त्वोंका ढल्ले देखता था, उनको ढल्ले
समान न देखे, किन्तु एक परमकारण मन्नाको ही
देखे, तब यही निश्चित विज्ञान (अन्तःज्ञान) कहा
जाता है । (इस ज्ञान और विज्ञानको प्राप्त करनेकी
युक्ति यह है कि) यह शरीर यदि जितने भी त्रिगुणात्मक
सम्पन्न पदार्थ हैं, उनकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रसन्न
विचार करे ॥ १५ ॥ वो तत्त्वस्तु सृष्टिके प्रारम्भमें
और अन्तमें कारणरूपसे स्थित रहती है, कभी मन्में
भी रहती है और कभी प्रतीकमन् वर्यसे प्रतीकमन्
कार्यन्तरमें अनुगत भी होती है । फिर उन कार्योंका
प्रत्यक्ष अवस्था बाध होनेपर उसके सक्षी एव वक्षिन्
रूपसे शेष रह जाती है । कभी सत्य परमार्थ वस्तु है, ऐसा
समझ ॥ १६ ॥ धृति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (म्हापुराणोंमें
प्रसिद्धि) और अनुमान—प्रमाणोंमें यह चार मुख्य हैं ।
इनकी कसौटीपर कस्तनेसे रूप प्रपन्न अस्तिर, नभर एवं
विचारी होनेके कारण सत्य सिद्ध नहीं होता, इच्छिमे
विकेकी पुरुष इस विविध कल्पनारूप अवस्था शब्दमन्त्र
प्रपन्नसे विरक्त हो जाता है ॥ १७ ॥ विकेकी पुरुषको
बाह्ये कि वह स्वर्गदि फल देनेवाले यज्ञादि कर्मोंके
परिणामी—नभर होनेके कारण कदाश्चेत्तर्पित कर्मादि
मुख—अदृष्टको भी इस प्रपन्न विगम-मुखके समान ही
अमङ्गल, दुःखदायी एव नाशवान् समझे ॥ १८ ॥

निष्ठाप उद्वहनी । मक्तियोगमन् कल्पन में तुम्हें पहले
ही सुना चुका हूँ । परन्तु उसमें तुम्हारी बहुत प्रीति है,
इच्छिमे में तुम्हें फिरसे भक्ति प्राप्त होनेका खेद सज्जन
कल्पना हूँ ॥ १९ ॥ जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता
हो, वह मेरी अमृतमयी कल्पामे भद्रा रखे, निरन्तर मेरी
गुण, धीय और नामोंका सङ्कीर्ण करे; मेरी पूजामें अल्पत
निष्ठा रखे और स्तोत्रोंका श्राव मेरी स्तुति करे ॥ २० ॥

आदरः परिधर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।

मङ्गलपूजाम्यधिका सर्वभूतेषु मन्मथिः ॥२१॥

मदर्थेऽप्यङ्गचेष्टा च वनसा मदगुणोरणम् ।

मप्यर्पणं च मनसः सर्वकामविषर्जनम् ॥२२॥

मदर्थेऽर्थपरित्यागा भोगस्य च मुत्स्य च ।

इष्टं दत्तं कृतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तप ॥२३॥

पञ्च धर्मर्षतुष्पाणां द्वादशात्मनिषेदिनाम् ।

मयि सजायते भक्तिः काऽऽर्थाऽऽस्वावधिष्यते ॥२४॥

यदाऽऽत्मन्यर्पितं चित्तशान्तं सत्त्वोपयुहितम् ।

धर्मे ध्यानं सर्वैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥२५॥

यदपि तं तद् विकल्पे इन्द्रिये परिभावति ।

रजसत्वं चासन्निष्टं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥२६॥

धर्मा मन्त्रकिंकृत् प्राक्काशान्धकारम्यदशनम् ।

गुणध्वमन्ना वरात्मयमधम चाणिमादय ॥२७॥

उच्यते उवाच

यमं कृतिविधौ प्राक्काशं नियमो वारिकर्षणं ।

कं शमं कादमं कृष्णं कावितिसाधुनि प्रभा ॥२८॥

किं दानं किं तपः शौचं किं मत्स्यमृतमुच्यते ।

१ या १८३० ।

५१ ५ १ १०४—

मेरी सेवा-पूजामें प्रेम रखते और सामने साधुज
छोटकर प्रणाम करे, मेरे भक्तोंकी पूजा मेरी
पूजासे बढकर करे और समस्त प्राणियोंमें मुझे ही
देखे ॥ २१ ॥ अपने एक-एक बाङ्गकी चेष्टा केवल मेरे
ही लिये करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे और
करना मन भी मुझे ही वर्णित कर दे तथा सारी
कामनाएँ छोड़ दे ॥ २२ ॥ मेरे लिये धन, भोग और
प्राप्त सुखका भी परिष्कार कर दे और जो कुछ यज्ञ,
दान, हवन, जप, स्नान और तप किया जाय, वह सब
मेरे लिये ही करे ॥ २३ ॥ उडवनी ! जो मनुष्य इन
धर्मोंका पाठ्यन करते हैं और मेरे प्रति आत्म-निवेदन
कर देत हैं, उनको हृदयमें मेरी प्रसन्नता भक्तिका उदय
होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसके
लिये और किन्तु दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता
है ॥ २४ ॥

इस प्रकारक धर्मोंका पाठ्यन करनेसे चित्तमें जब सत्य
गुणकी वृद्धि होती है और वह शान्त होकर आत्मामें
लग जाता है; उस समय साधकमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य
और एश्वर्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥ यह
संसार विविध कल्याणार्थोंसे भरपूर है। सब पृथक् तो
इसका नाम तो है, किन्तु कोई वस्तु नहीं है। जब
चित्त इसमें लग्न किया जाता है, तब इन्द्रियोंके साथ
इश्वर-उपर भग्नने लगता है। इस प्रकार चित्तमें राजागुण
की वृद्धि का जाती है, वह असत्य वस्तुमें लग जाता है
और उसके धर्म, ज्ञान आदि ता प्रगट हो जाते हैं, वह
अधम, अज्ञान और माहका भी धर बन जात है ॥ २६ ॥
उदह ! जिससे भी भक्ति हो, बही राम है, जिससे
मन्त्र और आत्मकी एवताया साधनकर हो, बही ज्ञान
है; नियोजसे असत्त्व—निर्जन रहना ही वैराग्य है और
अग्निमान्ति सिद्धियों की एश्वर्य है ॥ २७ ॥

उच्यते उवाच—विष्णुम्भन ! यम और नियम
चित्तमें प्रकरक है । धीरग्य ! ज्ञान स्वयं है । राम
स्वयं है । प्रभा ! निश्चिन्ता और शैव स्वयं है ॥ २८ ॥
आज मुझ नाम तन्मया गाना, कृप और चलाय भी

कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥ २९ ॥

पुसः किं स्विद्व बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केद्वच ।

का विद्या हीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥ ३० ॥

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च क ।

कः स्वर्गं नरकः कः स्विद्व को बन्धुवृत्त किं गृहम् ॥ ३१ ॥

क आत्मः को दरिद्रा वा कुपणः कः क ईश्वरः ।

एतान् प्रश्नान् मम श्रुति विपरीतांश्च सत्यते ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो हीरसचयः ।

आस्तिक्य ब्रह्मचर्यं च मौनं स्यैर्य धमाभयम् ॥ ३३ ॥

शौचं जपस्तपो होमः धृष्टाऽऽतिथ्यं भद्रचर्चनम् ।

तीर्थान्नं परार्थेहा तुष्टिचार्यासेवनम् ॥ ३४ ॥

एते यमाः मनियमा उभयोर्द्विदश स्मृताः ।

पुंमामुपावितास्ताव यथाकामं दुहन्ति हि ॥ ३५ ॥

शमा मधिष्ठता पुद्गलं इन्द्रियसंयमः ।

तिनिधा दुःखममर्षो जिह्वोपस्यजया श्रुतिः ॥ ३६ ॥

दण्डायाम परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।

श्वभावविजय गीय सत्यं च ममदर्शनम् ॥ ३७ ॥

श्रान्तं च मृन्ता वाणा कृत्रिभिः परिशीर्णिता ।

कमलमण्डपं शार्ङ्गस्याग मन्थाम उच्यते ॥ ३८ ॥

स्वरूपं नतज्जह्ये । त्याग क्या है ? बर्मीष्ट फल कौन-स

है ? यज्ञ किसे कहते हैं ? और दक्षिणा क्या कहते

हैं ? ॥ २९ ॥ श्रीमान् केवल्य । पुरुषका सत्ता क्या

है ? मा किसे कहते हैं ? और ज्ञम क्या कहते हैं ।

उत्तम विद्या, छज्ज, श्री तथा सुख और दुःख क्या

हैं ? ॥ ३० ॥ पण्डित और मूर्खके ज्ञान क्या हैं ? सुमर्षी

और कुमर्षिक क्या छज्ज है ? स्पर्षी और नरक क्या हैं ?

मार्ह-बन्धु किसे मानना चाहिये ? और घर क्या है ? ॥ ३१ ॥

फलवान् और निर्धन किसे कहते हैं ? कृपण कौन है ?

और ईश्वर किसे कहते हैं ? भक्तकस्तव प्रभो ! जग

मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये और साध । इनके

किरोपी भावोंकी भी व्याख्या कीजिये ॥ ३२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धम बारह हैं—अहिंसा,

सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असङ्गता, सज्ज,

असङ्ख्य (आवश्यक्तासे अधिक वन आदि न जोड़ना),

आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, धूम और अमय ।

नियमोंकी संख्या भी बारह ही हैं । शौच (बाहरी पवित्रता

और भीतरी पवित्रता), जप, तप, हवन, ब्रह्म,

अतिसिद्धि, मेरी पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चत,

सन्तोष और गुरुसेवा—इस प्रकार 'धम' और 'नियम' दोनों-

की संख्या बारह-बारह हैं । ये सकल और निष्कल

दोनों प्रकारके सधर्मोंके लिये उपदेशी हैं । उद्धवजी !

जो पुरुष इनका पालन करते हैं, वे स्व और नियम

उनके इच्छानुसार उन्हें भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त

करते हैं ॥ ३३-३५ ॥ बुद्धिक सुद्धमे का जान ही 'शम'

है । इन्द्रियोंके सम्प्रत्यय नाम धम है । व्यापसे प्राप्त दुःख

सहनेका नाम 'निश्चिन्ता' है । विद्या और ज्ञानेन्द्रियपर विजय

प्राप्त करना शौच है ॥ ३६ ॥ शिष्टीसे ब्रह्म न करना सवरो

अभय बना 'मन' है । यमनाओंपर त्यग करना ही 'तप' है ।

अग्नी यासनाओंपर विजय प्राप्त करना ही 'हवन' है । सत्य

सम्प्रत्यय, सत्यस्वरूप परमात्मब्रह्म दर्शन ही 'सङ्ग' है ॥ ३७ ॥

धर्म इष्ट धनं नृणां यद्धोऽहं भगवत्तमः ।

दक्षिणा ज्ञानसंदिग्धः प्राणायामः परं वरम् ॥३९॥

भगो मे पेशरो भावो लाभो मङ्गकिरुचमः ।

विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो शुश्रूषा हीरकर्मसु ॥४०॥

धीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुख दुःखसुखात्ययः ।

दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षयित् ॥४१॥

मूर्खो देहाघातबुद्धिः पन्था भस्मिगमः स्मृतः ।

उत्तरयद्विचक्षिपेयः स्वर्गः सत्त्वगुणादयः ॥४२॥

नरकस्तमज्ज्नाहा बन्धुर्गुरुहं सखे ।

गृह शरीरं मालुप्य गुणाख्यां बाह्य उच्यते ॥४३॥

द्वित्रो यस्त्वमस्तुष्टः कृपणो योऽखितेन्द्रियः ।

गुणवसक्तधारीश्च गुणसक्ता विपर्ययः ॥४४॥

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिता ।

किं धर्जितेन बहुना लक्षण गुणदापयाः ।

गुणदापयश्चिदापि गुणस्तूभयवर्जितः ॥४५॥

धर्म ही मनुष्योक्त समीप 'धन' है । मे परमेश्वर ही 'यश' है ।
ज्ञानका उपदेश देना ही 'दक्षिणा' है । प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'वच' है । ३९। मेरा ऐश्वर्य ही 'भग' है, मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम 'ध्या' है, सभी 'विद्या' बही है जिससे भ्रम और अशुभका भेद मित्र जाता है । पाप करनेसे घृणा होनेका नाम ही 'ज्ज्ञा' है ॥४०॥ निरपेक्षता आदि गुण ही शरीरका सच्चा सौन्दर्य—'शी' है, दुःख और सुख दोनोंकी सम्भावना सदाके लिये नष्ट हो जाना ही 'सुख' है । विषयभोगोंकी कामना ही 'दुःख' है । जो बन्धन और मोक्षका तत्त्व जानता है, वही 'पण्डित' है ॥ ४१ ॥ शरीर आदिमें जिसका मैमन है, वही 'मूर्ख' है । जो संसारकी ओरसे निवृत्त करके मुझे प्राप्त करा देता है, वही सच्चा 'धुमर्ग' है । चित्तकी बहिर्मुक्ता ही 'कुमर्ग' है । सत्त्वगुणकी वृद्धि ही 'स्वर्ग' और सखे । तमोगुणकी वृद्धि ही 'नरक' है । गुरु ही सच्चा 'बन्धु' है और वह गुरु मैं हूँ । वह मनुष्य-शरीर ही सच्चा 'घरा' है तथा सच्चा 'धनी' वह है, जो गुणोंसे सम्पन्न है, जिसका पास गुणोंका खजाना है ॥ ४२ ४३ ॥ जिसका चित्तमें अस्तित्व है, अभावका बोध है, वही 'पण्डित' है । जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही 'कृपण' है । समर्थ, स्वतन्त्र और 'शुद्ध' वह है, जिसकी चित्तवृत्ति विषयोंमें आसक्त नहीं है । इसके विपरीत जो विषयोंमें आसक्त है, वही सर्वथा 'असम्पर्क' है ॥ ४४ ॥ प्यार उद्धव । तुम्हने जितने प्रश्न पूछे थे, उनका उत्तर मैंने दे दिया, इनको समझ लेना मोक्ष-मार्गके लिये सहायक है । मैं तुम्हें गुण और दापोंका लक्षण अवगम-अध्या कर्त्तव्यक कर्ता हूँ । सबका सारांश इतनेमें ही समझ लो कि गुणों और दापोंपर दृष्टि जामा ही सबसे बड़ा दोष है और गुण-दापोंपर दृष्टि न जाकर अपन स्मृत नि सङ्कल्प स्वभाव

स्थित रह—वही सबसे बड़ा गुण है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराण पारमहंसा सहिताष्टमस्कन्धः

एकविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग

उदय उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीम्वरस्तु ते ।

अवेक्षतेऽरविन्दाद्य गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥

वर्णाश्रमविकल्पश्च प्रतिषेधोऽनुलोमव्ययम् ।

द्रव्यदेष्टव्यवत्कलान् स्मर्य नरकमेव च ॥ २ ॥

गुणदोषभिदाद्यष्टिमन्तरेण वचस्तथा ।

निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविभक्त्यञ्चम् ॥ ३ ॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चास्तुतेश्वरः ।

श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयारपि ॥ ४ ॥

गुणदोषभिदाद्यष्टिर्निगमात्ते नहि स्वतः ।

निर्गमेनापवादश्च भिदात्या इति ह भ्रमः ॥ ५ ॥

भीमश्राम उवाच

यागास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयाविधिस्तथा ।

ज्ञानकर्म च भक्तिश्च नापायाऽन्याऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥

निर्विघ्नानां ज्ञानयागा न्यासिनामिह कर्मसु ।

उदयश्रीने कथा—कर्मजन्यन श्रीकृष्ण । आप

सर्वशक्तिमन् हैं । आपकी आज्ञा ही वेद है, उसमें कुछ कर्मोंको करनेकी विधि है और कुछको करनेका निषेध है । यह विधि-निषेध कर्मोंके गुण और दोषकी परीक्षा करके हैं तो होता है ॥ १ ॥ वर्णाश्रम-भेद, प्रतिज्ञेय और अनुलोमव्यय वर्णस्मर, कर्मोंके उपयुक्त और अनुपयुक्त द्रव्य, वेश, वास्य और कन्न तथा वर्ग और मरकत्के भेदोंका बोध भी वेदोंसे हैं होता है ॥ २ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि आपकी वाणी ही वेद है, परन्तु उसमें विधि-निषेध ही तो मया कहा है । यदि उसमें गुण और दोषोंमें भेद करनेकी इष्टि न हो, तो वह प्राप्तिपूर्वक कल्याण करनेमें समर्थ ही कैसे हो ? ॥ ३ ॥ सर्वशक्तिमन् परमेस्वर ! आपकी वाणी वेद ही किन्तु देवता और मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ मार्ग-दर्शकका काम करता है, क्योंकि उसीके द्वारा वर्णाश्रम-आदि ब्रह्म वस्तुओंका बोध होता है और इस अनेकों में किसी कौन-सा साध्य है और क्या साधन—इसका निर्णय भी उसीसे होता है ॥ ४ ॥ प्रभो ! इसमें सन्देह नहीं कि गुण और दोषोंमें भेद इष्टि आपकी वाणी के लिये अनुसर है, किसीकी आपकी कल्पना नहीं, परन्तु प्रश्न तो यह है कि आपकी वाणी ही भेदका निषेध भी करती है । यह विरोध देखकर मुझे भ्रम हो रहा है । आप कृपा करके मेरा यह भ्रम मिटाइये ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—प्रिय उदय ! मैंने ही

वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारिभेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है । वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति । मनुष्योंके परम कल्याणक लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ॥ ६ ॥ उदयजी ! जो अंग कर्मों तक उनका फलसे निरल हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं । इसके विपरीत जिनका

तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ ७ ॥

यच्छ्रद्धया मत्कथादौ जातभद्रस्तु यः पुमान् ।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ ८ ॥

तावत् कर्माणि कर्त्तव्यं न निर्विण्णं यावता ।

मत्कथाभक्त्यादौ वा भद्रा यावत् जायते ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्यो यत्नं यच्चैरनाशीः काम उद्धव ।

न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यथा समाचरेत् ॥ १० ॥

अस्मिंल्लोकं वर्तमानः स्वधर्मस्योऽनघः श्रुतिः ।

ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति ममृक्तिं वा यच्छ्रद्धया ॥ ११ ॥

स्वर्गिणाऽप्येतन्मिच्छन्ति लोकं निरविण्णस्य वा ।

साधकं ज्ञानभक्तिम्यासुभयं तदसाधकम् ॥ १२ ॥

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षन्मार्गं वा विचक्षणः ।

नेमं लोकं च काङ्क्षत दहावेदन्तं प्रमाद्यति ॥ १३ ॥

एतद् विद्वान् पुरा मृत्यारमवाय घटेय सः ।

चित्तमें कर्मों और उनके फलसे वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें बुद्धि नहीं हुई है, वे सक्रम व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं ॥ ७ ॥ जो पुरुष न तो अल्पत विरक्त है और न अल्पत आसक्त है तब किसी पूर्वजन्मके पुण्यमर्मे से सौभाग्यवश मेरी लीज-कथा आदिमें उसकी सहा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है । उसे मक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मित्र सकती है ॥ ८ ॥ कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विविध-विधेय हैं, उनके अनुसार तभीतक कर्म करना चाहिये, जन्मक कर्मस्य जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले जगदि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय-अथवा जन्मक मेरी लीज-कथाके ध्वज-कीर्तन आदिमें सहा न हो जाय ॥ ९ ॥ उद्धव । इस प्रकार अपने कर्म और आश्रयके अनुसार कर्ममें स्थित रहकर क्योंकि द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके मेरी आराधना करता रहे और निरिद कर्मोंसे दूर रहकर केवल विहित कर्मोंका ही आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पकता ॥ १० ॥ अपने कर्ममें निष्ठा रखनेवाला पुरुष इस शरीरमें रहते-रहते ही निरिद कर्मका परित्याग कर देता है और रागदि कर्मोंसे भी मुक्त—पवित्र हो जाता है । इसीसे अनायास ही उसे आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुत-विष होनेपर मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ११ ॥ यह विनिमिषरूप कर्मका अधिकारी मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है । स्वर्ग और नरक दोनों ही लोकमें रहनेवाले जीव इसकी अधिकारता करते रहते हैं, क्योंकि इसी शरीरमें अन्त करणकी शुद्धि होनेपर ज्ञान अथवा भक्ति की प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग अथवा नरकस्य योगप्रदान शरीर किसी भी साधनके उपयुक्त नहीं है । बुद्धिमान् पुरुषका न तो स्वर्गकी अभिप्रेक्षा करनी चाहिये और न नरककी ही । और तो नष्ट, इस मनुष्य-शरीरकी भी फलना न करनी चाहिये, क्योंकि किसी भी शरीरमें गुणबुद्धि और अभिप्रेक्षा हो जानेसे अपन आध्यात्मिक स्वरूपकी प्राप्ति के साधनमें प्रमथ होने लगता है ॥ १२ १३ ॥ यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो मृत्युप्राप्त ही परन्तु इसके द्वारा परमार्थकी—सत्य वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि यह बात जानकर मृत्यु

अप्रमद्य इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥१४॥

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीढं धनस्पतिम् ।

स्वगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति बालम्पटः ॥१५॥

अहोरात्रैस्त्रिद्यमानं बुद्ध्याऽऽयुगयवेपथुः ।

मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्या निरीह उपशाम्यति ॥१६॥

तृदेहमाद्य सुखम् सुदुर्लभं

पुत्र सुकर्म गुरुकर्णधारम् ।

मयानुकूलेन

नभस्तोरेति

पुमान् भवाम्बिं न तरेत् स आरमहा ॥१७॥

यदाऽऽरम्भेषु निर्बिम्बो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।

अभ्यासेनारमन्तो योमी धारयेद्वचलं मनः ॥१८॥

धार्ममाणं मनो यर्हि आम्भदाश्चनवम्भितम् ।

यवन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवर्धं नयेत् ॥१९॥

मनोगतिं न विसृजेन्नित्यप्राप्तो जितेन्द्रियः ।

सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवर्धं नयेत् ॥२०॥

होनेके पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना करे, जिससे वह जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट जाय—मुक्त हो जाय ॥ १४ ॥ यह शरीर एक बंध है । इसमें घोंसल बनाकर जीवरूप पक्षी निकस करता है । इसे यमराजके दूत प्रतिक्षण फट रहे हैं । ऐसे पक्षी कटते हुए वृक्षको छोड़कर उड़ जाता है, ऐसे ही अनासक्त जीव भी इस शरीरको छोड़कर मोक्षका भगी बन जाता है । परन्तु असक्त जीव दुःख ही मोगा रहता है ॥ १५ ॥ प्रिय उदय ! ये दिन और रात क्षण-क्षणमें शरीरकी वायुको धीम कर रहे हैं । वह जानकर जो भयसे काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परमात्मका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर इसके जीवन-मरणसे निरपेक्ष होकर अपने आत्मार्थ ही शान्त हो जाता है ॥ १६ ॥ यह मनुष्य-शरीर सम्पन्न पुत्र पत्न्येकी प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुख हो गया है । इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये वह एक सुख नौका है । शरण-महणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केन्द्र बनकर पतवारका सम्भालन करने लगते हैं और स्तण-मात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे धक्का और बल देने लगता हूँ । इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—जब पतन कर रहा है ॥ १७ ॥

प्रिय उदय ! जब पुरुष दोषदर्शनके कारण क्रोधसे उद्विग्न और विरक्त हो जाय, तब जितेन्द्रिय होकर वह योगमें स्थित हो जाय और अन्धस—अन्धमनुसन्धनके द्वारा अपना मन मुक्त परब्रह्ममें निवसकरूपसे प्रणय करे ॥ १८ ॥ जब स्थिर करते समय मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब छटपट बड़ी सावधानीसे उसे मनाकर, सम्मत्त-मुद्राकर, पुनःपुनः अपने वशमें कर ले ॥ १९ ॥ इन्द्रियों और प्राणोंको अपने वशमें रखने और मनको एक क्षणके लिये भी सतत न छोड़े । उसकी एक-एक बाण, एक-एक इरकतको देखता रहे । इस प्रकार सत्त्वसम्पन्न बुद्धिके द्वारा और धीरे-धीरे मनको अपने वशमें कर लेना चाहिये ॥ २० ॥

एष वै परमो योगो मनसा संश्रुतः स्मृतः ।

इदमव्यक्तमन्विच्छन् दम्पत्येवार्वाता मुहुः ॥२१॥

सारूप्येन सर्वभाषाणां प्रतिलामालुलामतः ।

भवाप्यपावनुभवायेन्ननो यावत् प्रसीदति ॥२२॥

तिर्निर्गम्य विरक्तम्य पुरुषसोक्तवदिन ।

मनस्त्यजति दारात्म्यचिन्तितस्मानुचिन्तया ॥२३॥

यमादिमर्यादपधरात्वीक्षिष्या च विधया ।

ममाचापासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं करन्मनः ॥२४॥

यदि कृपान् प्रमादन् यागी कर्म विगर्हितम् ।

योगनव दहदहः नान्यतश्च कदाचन ॥२५॥

स स्वधिकार या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

कमणा वास्यशुदानामनन नियमः कृतः ।

गुणदापविधानन मङ्गलानां त्पावन-छया ॥२६॥

० दोषाश्च १२ स्तः ।

जैसे सवार घोड़े को अपने वशमें करते समय उसे अपने मनाभावकी पहचान करना चाहता है—अपनी इच्छाक अनुसार उसे धमना चाहता है और नार-नार पुस्तकपर उसे अपने वशमें कर लेता है, ऐसे ही मनको पुस्तकपर, उसे मीठी-मीठी बातें सुनाकर वशमें कर लेना भी परम योग है ॥ २१ ॥ सर्वव्यापकमें प्रकृतिके लेकर शरीरपर्यन्त सृष्टिकर जो कम क्तव्य गय है, उसका अनुसार सृष्टि चिन्तन करना चाहिये और जिस कमसे शरीर आदिकर प्रकृतिमें लय क्तव्य गया है, उस प्रकार व्य-चिन्तन करना चाहिये । यह कम तत्काल जारी रखना चाहिये, जबतक मन शान्त—स्थिर न हो जाय ॥ २२ ॥ जो पुरुष संसारसे विरक्त हो गया है और जिसे संसारके पदार्थोंमें दुःख-बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुवरोंके उपदेशका मन्वीर्षीति समझकर बार-बार अपने स्वरूपक ही चिन्तनमें संश्रम रहता है । इस अवस्थासे बहुत शीघ्र ही उसका मन अपनी वह चञ्चलता, जो अनात्म शरीर आदिमें आत्मबुद्धि करनेसे हुई है, छोड़ देता है ॥ २३ ॥ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गों, वस्तुतत्त्वत्र निर्दिष्टान्-परीक्षण करनेवाली अल्पविधासे तब मेरी प्रमिताकी उपासनासे—अर्थात् कमपांग, ज्ञानयोग और मक्तियागसे मन परमात्मका चिन्तन करने लगता है; और फल उपाय नहीं है ॥ २४ ॥

उद्वेगः । कमे त्वा यमि कर्मी फलं निश्चित कम फलता ही नहीं परन्तु यदि कर्मी उमसे प्रमत्तवश फल अंगर बन जाय तो योगक हाग ही गम पापनर जय प्राप्त, कृष्णान्-प्रायग आदि त्तर प्रायश्चित कर्मी न कर ॥ २५ ॥ अमन-अमन अधिकारमें जा निष्ठा है, वही गुण कहा गया है । इस गुण-गौर और विभिन्निष्ठाक विधानसे यही तत्त्वत्र निकटतम है कि किसी प्रकार विरपासकिय प्रमियाग हा जाय; क्योंकि फल तो ब्रह्मसे हा अगुह है, अनर्थके मूठ है । यत्रतः तत्त्वत्र उनका निष्पन्न निष्पन्न ही है । ब्रह्मत्व हा सक प्रकृतिया

जातभद्रो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।

वेददुःस्वात्मकान् कामान् परिस्वागेऽप्यनीधरः ॥२७॥

ततो भजेत मां प्रीत भद्रातुर्दनिभयः ।

श्रुपमाणश्च तान् कामान् दुःस्वोदकांश्च गर्हयन् ॥२८॥

प्राक्तन भक्तियागेन भवतो मासकृन्मुने ।

कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वं मयि हृदि स्थिते ॥२९॥

भिषते हृदयप्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

धीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥३०॥

तस्मान्मद्भक्तिपुक्तस्य योगिनो वै मेदात्मनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥३१॥

यत् कर्मभिर्बन्धपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।

योगेन दानधर्मेण श्रयोभिरितरैरपि ॥३२॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽश्वासा ।

स्वर्गापवर्गो मद्भक्त कथंचिद् यदि वाञ्छति ॥३३॥

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता वाक्यन्तिनो मम ।

वाञ्छन्त्यपि मया त्वत् कैवल्यमपुनर्मयम् ॥३४॥

नैरपेक्ष परं प्राहुर्निःशेषसमैनस्यकम् ।

तस्माभिराशिषा भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥३५॥

न मरुपेक्षान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।

संकोच ही करना चाहिये ॥ २६ ॥ जो साधक स्वयं
कर्मसे निरक्त हो गया हो, उनमें दुःखबुद्धि रहता है,
मेरी धीनतामक के प्रति भद्रात् हो और यह भी कहता
हो कि सभी भोग और मांगवस्तुएँ दुःखरूप हैं, किंतु
इतना सब जानकर भी जो उनके परिष्कारमें समर्थ न हो,
उसे चाहिये कि उन भागोंको तो भोग ले, परन्तु उन्हें
सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझे और मन-ही-मन उसकी
निन्दा करे तथा उसे अपना दुर्भाग्य ही समझे । सब ही
इस बुद्धिवाणी स्थितिसे छुटकर पानके लिये घड़ा, इष्ट
निधय और प्रमत्त में भजन करे ॥ २७-२८ ॥ इस
प्रकार मेरे कृतव्ये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा
भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें अकर बैठ जाता
हूँ और मेरे किरणमय होते ही उसके हृदयकी सारी
वस्तुएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं ॥ २९ ॥
इस तरह जब उसे मुक्त स्वर्गमाका साधक बन हो जाता
है, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे
संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्मवस्तुएँ सर्व
धीन हो जाती हैं ॥ ३० ॥ इसीसे जो योगी मेरी भक्तिसे
युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान
अपना वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती । उसका कल्याण
तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है ॥ ३१ ॥
कर्म, तत्परा, ज्ञान, वैराग्य, योगमय, दान, कर्म और
दूसरे कल्याणसाधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपर्णा, मेरा परम
पाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा
भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे ही, यदि चाहे तो, कल्याण
प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ३३ ॥ मेरे वनप्रप्रेम एव
धैर्यवान् साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं, यदि
मैं उन्हें दाना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो वे इसी
वस्तुको ही तो बात ही क्या—वे वैराग्य-मोक्ष ही नहीं
लेना चाहते ॥ ३४ ॥ उद्यमही । सबसे श्रेष्ठ एवं महान्
निःशेष (परम कल्याण) तो निरपेक्षता ही इसल
माय है । इसलिये जो निष्काम और निरपेक्ष होता है,
उसीको मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥ मेरे वनप्र-
प्रेमी भक्तों और उन सम्प्रदाय महाप्रभोक्त, जो बुद्धिसे
अतीत परमप्राप्तको प्राप्त हो चुके हैं, इन विधि और निरपेक्ष

साधूनां समचित्तानां बुद्ध परमपुण्याम् ॥३६॥

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।

धम विन्दन्ति मत्स्यान यद् ब्रह्म परम निबु ॥३७॥

होनेवाले पुण्य और पपसे बने सम्भव ही नहीं होता ॥ ३६ ॥ इस प्रकार जा लग मेरे कत्थने हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्ममार्गोंका अध्ययन लेते हैं, वे मेरे परम कल्याणस्वरूप धामको प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परम-तत्त्वका ज्ञान लेंते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते म्हापुराणे पारमर्हस्यो संहितायामेकदशस्कन्धे

विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप और रहस्य

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तियोगानक्रियात्मकान् ।

क्षुद्रान् कामांश्चैः प्रार्थयन्तः ससरन्ति त ॥ १ ॥

स्व स्वधिकारे या निष्ठा स गुण परिकीर्तित ।

विपर्ययस्तु दोषः सादृश्यादपि निश्चयः ॥ २ ॥

शुद्धयशुद्धी विधीयते समानेष्वपि यस्तुष्टु ।

ब्रह्मस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥ ३ ॥

धर्मार्थं व्यवहारार्थं मात्रार्थमिति चानय ।

दशितोऽयं मयाऽऽचारा धर्मयुद्धतां धुरम् ॥ ४ ॥

भगवान् भीरुपण्य कहते हैं—धिय उद्वह ! मेरी प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग । जो इन्हें छोड़कर चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा क्षुद्र मोग मोगते रहते हैं, य बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें भटकते रहते हैं ॥ १ ॥ अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत क्लृप्तिकार चञ्चल करना दोष है । तत्पर्य यह कि गुण और दोष दोनोंकी व्यवस्था अधिकारके अनुसार की जाती है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं ॥ २ ॥ वस्तुओंके समान ज्ञानमें भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ आदिकर जो विधान किया जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थका टीक-टीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके और उनमें सन्देह उत्पन्न नकरके ही यह योग्य है कि अपोष्य, सामाजिक प्रवृत्तिपर नियन्त्रित—संकुचित किया जा सके ॥ ३ ॥ उनका द्वारा धम सम्पादन कर सकें, समाजपर व्यवहार टीक-टीक कर सकें और अपने व्यक्तिगत जीवनके निर्वाहमें भी सुविधा हो । इससे यह अम भी है कि मनुष्य अपनी असन्तुष्टि सख्त प्रवृत्तियोंके द्वारा इनका आश्रम न पँसकर "ब्रह्मानुसार अपने जीवनपर नियन्त्रित और मनको बर्धभूत कर लेता है । निष्पाप उद्वह ! यह आचार देने ही मनु आदिकर रूप धारण करके धर्मपर और होनेवाले कर्म-बन्धोंके लिये उपदेश

भूम्यम्बुन्यनिलाकाशा भूतानां पञ्चधातव ।

आम्रहस्यावरदीनां शरीरा आत्मसंयुता ॥ ५ ॥

वेदेन नामरूपाणि विद्यमानि समेष्वपि ।

घातुपुद्गव कल्पन्त्ये एतेषां स्वार्थसिद्धय ॥ ६ ॥

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्त्वम ।

गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७ ॥

अकृष्णसारो देशानाम्रक्षप्पोऽशुचिर्मकेत् ।

कृष्णसाराऽप्यसौवीरकीकटार्मस्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥

कर्मण्या गुणवान् काला द्रव्यतः स्वत एव वा ।

यतो निवर्तते कर्म स दापाऽक्रमकः स्मृतः ॥ ९ ॥

द्रव्यस्य शुद्धयशुद्धी च द्रव्येण वषणेन च ।

संस्कारणाथ कालन महच्चान्यतयाधवा ॥ १० ॥

शक्त्याशक्त्याधवा पुद्गला समुद्भवा च यदात्मन ।

किया है ॥ ४ ॥ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अकाश—
ये पञ्चभूत ही ब्रह्मासे लेकर पतत-पुष्टपतन्त सभी प्राणियोंके
शरीरोंके मूलकारण हैं । इस तरह वे सब शरीरकी रचिसे
तो समान हैं ही, सबका अत्मा भी एक ही है ॥ ५ ॥
प्रिय उद्भव ! यद्यपि सबके शरीरोंके पञ्चभूत समान हैं,
फिर भी वेदोंने इनके वर्णाश्रम आदि अन्न-अन्ना नाम
और रूप इसलिये बना दिये हैं कि ये अपनी कसना-
मूलक प्रवृत्तियोंका संकुचित करके—नियन्त्रित करके कर्म,
कर्म, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर
सकें ॥ ६ ॥ साधुश्रेष्ठ ! देश, काल, फल, निमित्त,
अधिकारी और धान्य आदि वस्तुओंके गुण-दोषोंका विचार
भी मेरेद्वारा इसीलिये किया गया है कि कर्मोंमें ओगोंकी
उच्छिन्न प्रवृत्ति न हो, मर्यादापर भङ्ग न होने पावे ॥ ७ ॥
देशमें वह देश अपवित्र है, जिसमें कृष्णसार युग न हो
और जिसके निवासी ब्राह्मणमत्त न हों । कृष्णसार सारके
होनेपर भी, केवल उन प्रदेशोंको छोड़कर बाह्योस्त पुरुष
रहते हैं, वरिष्ठ देश अपवित्र ही है । संस्काररहित और
ऊँसर आदि स्थान भी अपवित्र ही होते हैं ॥ ८ ॥ सम्य
वही पवित्र है, जिसमें कर्म करने योग्य सामग्री मिल सके
तथा कर्म भी हो सके । जिसमें कर्म करनेकी सामग्री न
मिले, आगन्तुक दापोंसे अथवा क्षाम्रक्षिक दोषक कारण
निरासे कर्म ही न हो सके, वह सम्य अशुद्ध है ॥ ९ ॥
पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि द्रव्य, वचन, स्मरण, कर्म,
महत्त्व अथवा अल्पस्वसे भी होती है । (जैसे कोई पात्र
जलसे शुद्ध और मूत्रादिसे अशुद्ध हो जाता है । किसी
वस्तुकी शुद्धि अपना अशुद्धिमें शोक होनेपर ब्रह्मण्येके
वचनसे यह शुद्ध हो जाती है । अन्यथा अशुद्ध रहती है ।
पुष्पादि जब छिड़कनसे शुद्ध और सूँघनेसे अशुद्ध माने
जाते हैं । तत्प्राप्त्यक्त पक्वता हुआ अन्न शुद्ध और बर्षी
अशुद्ध माना जाता है । बड़े सरोवर और नदी आदिक
जल शुद्ध और छोटे गड्ढोंका अशुद्ध माना जाता है ।
इस प्रकार कर्मसे सम्यक् लेना चाहिये ।) ॥ १० ॥ शक्ति,
अशक्ति, मुक्ति आर बन्धनके अनुसार भी पवित्रता और
अपवित्रताकी व्यवस्था होती है । उद्योग भी स्थान और
उपयोग करनेवालेकी आयुष्य विचार करते हुए ही अशुद्ध

अथ कुर्वन्ति हि यथा दशत्रयस्थानुसारतः ॥ ११ ॥

धान्यदर्वस्थितन्तानां रसतैजसचर्मणाम् ।

कालमायमिमृशोयै पार्थिवानां पुतायुतैः ॥ १२ ॥

अमण्डलिर्षं यद् येन गन्धं लेपं व्यपोहति ।

भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावद्विद्यते ॥ १३ ॥

स्नानदानतपोऽथ स्वावीयसंस्कारस्त्वर्गभिः ।

मस्तुत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरणं द्विजः ॥ १४ ॥

मन्त्रस्य च परिश्रान्तं कर्मशुद्धिर्मद्वर्षणम् ।

भर्म सम्पद्यते पद्भिरभर्मस्तु विषययः ॥ १५ ॥

कश्चिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः ।

गुणदापाभनियमस्तद्विदामेव पाथते ॥ १६ ॥

समानकर्मचरणं पतितानां न पातकम् ।

१ तथा ।

वस्तुओंके व्यवहारका दोष ठीक तरहसे जाँचा जाता है ।
(जैसे कनी-दरिद्र, वल्ग्वान्-निर्बल, वृद्धिमान्-मूढ़, उपद्रव-
पूर्ण और सुन्दर देश तथा तरुण एव वृद्धावस्थाक मेरसे
शुद्धि और अशुद्धिको व्यवस्थामें अन्तर पड़ा जाता
है) ॥ ११ ॥ अनाज, छकरी, हाथीदाँत आदि हथी,
सूत, मधु, नमक, तेल, धी आदि रस, सोना-पारा आदि
तैजस पदार्थ, चाम और घड़ा आदि मिट्टीके बने पड़ाप
समस्त अपने-आप दृष्टा लगनेसे, आगमें जलनेसे, मिट्टी
लगानेसे अथवा जलमें घोलनेसे शुद्ध हो जाते हैं । देश,
काल और अवस्थाके अनुसार कहीं जल-मिट्टी आदि शोषक
सम्पत्तिके सयोगसे शुद्ध करनी पड़ती है तो कहीं-कहीं
एक-एकसे भी शुद्ध हो जाती है ॥ १२ ॥ यदि किसी
वस्तुमें कोई अशुद्ध पदार्थ लगा गया हो तो छीलनेसे या
मिट्टी आदि मल्लनेसे जब उस पदार्थको गन्ध और लेप न
रहे और वह वस्तु अपने पूर्वस्वरूपमें आ जाय, तब उसको
शुद्ध सम्पत्ति कहिये ॥ १३ ॥ स्नान, दान, तपस्व्य,
कर्म, सामर्थ्य, सत्कार, कर्म और मेरे स्मरणसे चित्तको
शुद्ध होती है । इनके द्वारा शुद्ध होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और
वैश्यके विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये ॥ १४ ॥
गुरुमुखसे सुनकर मूर्खोंमें ही ब्रह्मज्ञान कर लेनेसे मन्त्रकी
और मुझे समर्पित कर देनेसे कर्मकी शुद्धि होती है ।
उदाहरण ! इस प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्मा, मन्त्र
और कर्म—इन छहोंके शुद्ध होनेसे कर्म और अशुद्ध
होनेसे अकर्म होता है ॥ १५ ॥ कहीं-कहीं शास्त्रविधि-
से गुण दोष हो जाता है और दोष गुण । (जैसे ब्राह्मण-
के लिये सत्त्व्य वन्दन, गायत्री-जप आदि गुण हैं, परन्तु
शूद्रके लिये दोष हैं । और दूध अदिक व्यापार वैश्यके
लिये विहित है, परन्तु ब्राह्मणके लिये अस्वक निषिद्ध
है ।) एक ही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और
किसीके लिये दोषका विधान गुण और दोषोंकी वस्तु
विशेषताका सम्बन्ध पर होता है और इससे यह निश्चय
होता है कि गुण-दोषका यह भेद कल्पित है ॥ १६ ॥
जा खोग पतित हैं, वे पतितोंका-सा आचरण करते हैं
तो उन्हें पाप नहीं आता, जब कि श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये
यह सर्वथा त्याज्य होता है । जैसे गृहस्थोंके लिये

श्रीत्यक्तिका गुणः सङ्गो न शयान पतत्पथ ॥ १७ ॥

यता यता निवर्तेत विमृच्येत सतस्ततः ।

एष धर्मो नृणां धेमः शाकमोहमर्यापहः ॥ १८ ॥

विषयेषु गुणाध्यामात् पुंसः सङ्गत्ता भवत् ।

सङ्गाद्यत्र भवेत् काम कामादयः कलिनृणाम् ॥ १९ ॥

कलदुर्विषहः काधस्तमस्तमनुवर्तते ।

तस्मा प्रस्यते पुंसश्चतना भ्यापिनी दुतम् ॥ २० ॥

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।

ततोऽस्य स्वार्थविघ्नशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥ २१ ॥

विषयाभिनिवृत्तेन नात्मानं वेद नापरम् ।

बुध्वाविक्रया जीवन् व्यर्थं भस्त्रव यः शमन् ॥ २२ ॥

फलभुक्तिरियं नृणां न भया राघव परम् ।

भयानिरुधया प्राक्तं यथा भयन्यराघवम् ॥ २३ ॥

साम्प्रतिक हानेके कारण अपनी पत्नीका सङ्ग पाप नहीं है, परन्तु सन्यासीके भ्रिये घोर पाप है । उदधजी ! क्या तो यह है कि जो नीचे सोया हुआ है, वह मरेगा कहाँ ? जैसे ही जो पहलेसे ही पतित हैं, उनका अब और फल क्या होगा ? ॥ १७ ॥ जिन-जिन दोनों धीर गुणोंसे मनुष्यका चित्त उपरत हो जाता है, उन्हीं वस्तुओंके बन्धनसे वह मुक्त हो जाता है । मनुष्योंके भ्रिये वह निश्चितरूप धर्म ही परम कल्याणका साधन है; क्योंकि यही शोक, मोह और मयके मिष्टानेवात्म है ॥ १८ ॥

उदधजी ! जिसमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है । आसक्ति होनेसे उसे अपने पास रखनेकी कामना हो जाती है और इस कामनाकी पूर्तिमें किसी प्रकारकी बाधा पड़नेपर ओमें परस्पर कलह होने लगता है ॥ १९ ॥ कलहसे अस्त्र-क्रोधकी उत्पत्ति होती है और क्रोधके समय अपने हित-अहितका बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है । इस अज्ञानसे शीघ्र ही मनुष्यकी कार्यकामका निगम करने-वाली व्यापक चेतना-शक्ति छुट हो जाती है ॥ २० ॥ साधो ! चेतनाशक्ति अर्थात् सृष्टिके स्रोत हो जानेपर मनुष्यमें मनुष्यता नहीं रह जाती, पशुता आ जाती है और वह शून्यके समान अस्तित्वहीन हो जाता है । अब उसकी अवस्था वैसी ही हो जाती है, जैसे कोई मूर्च्छित या मुर्दा हो । ऐसी स्थितिमें न तो उसका स्वार्थ बनता है और न तो परमार्थ ॥ २१ ॥ जिसमें स चिन्तन करते-करते वह विषयभ्रम हो जाता है । उसका जीवन बुझाकर समान जड़ हो जाता है । उसके शरीरमें उसी प्रकार व्यर्थ शास चमत्ता रहता है, जैसे सुशरीर धौकलीनी रहता । उसे न अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरेका । यह सर्वथा आत्मव्यभिक्त हो जाता है ॥ २२ ॥

उदधजी ! यह स्वर्गात्मिक फलका भग्न करनेवाली भुक्ति मनुष्योंके भ्रिये उन-उन योगोंसे परम पुरुषार्थ नहीं बनती, परन्तु बहिर्मुख पुरुषोंके भ्रिये अन्तःकरणमुक्तिक द्वारा परम कल्याणमय मधुमयी सिन्धुसे ही कामि रुचि उत्पन्न करने के भ्रिये बना भग्न करनी दे । जैसे पहलेसे आ-मिम रुचि उत्पन्न करने के भ्रिये रोचक वास्तव बने जाते हैं । (नेत्र ! प्रसन्ने निःशयान वदता पी ता त्ते

उत्सर्ग्यैव हि कामपु प्राणपु खजनेपु च ।

आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनाऽनर्थहेतुपु ॥२४॥

स्तानविदुष स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाच्चनि ।

कथं युज्यात् पुनस्तेषु तांतमो विशतो बुध ॥२५॥

एवं व्यवसित कचिदविज्ञाय कुशुदय ।

फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदञ्चा वदन्ति हि ॥२६॥

कामिन कृपणालुब्धा पुन्येषु फलपुद्गय ।

अपिसुग्धा घूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते २७

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थ य इदं यत ।

उत्पश्यन्ना ह्यसुदृषा यथा नीहारवपुष ॥२८॥

ते मे मतमविज्ञाय परार्थं विषयात्मका ।

हिसायां यदि राग स्वादु यश्च एष न चादना ॥२९॥

हिसाविहारा क्षालार्थः पशुभि स्वमुखेच्छया ।

यजन्ते दवता यज्ञं पितृभूतपतीन् मन्त्राः ॥३०॥

तुम्हारी चोटी वड़ जायगी) ॥२१॥ इसमें उद्देश नहीं कि संसारके नियमोगोमं, प्राणोंमें और स्तो-
मन्त्रधियोंमें सभी मनुष्य जन्मसे ही आसक्त हैं और
उन अस्तुओंकी आसक्ति उनकी आत्मोचितमें बाधक
एवं अनयक कारण है ॥ २४ ॥ वे अपने परम
पुरुषार्थको नहीं जानते, इसलिये स्वार्थिक जो भग्न
मिष्टा है, वह ज्यों-का-त्यों स्वयं है—एसा विश्वास करके
वेदादि-योगियोंमें भटकते रहते हैं और फिर वृद्ध आदि
योगियोंके घोर अन्धकारमें आ पड़ते हैं । ऐसी अवस्थामें
कोई भी विद्वान् अपन वेद फिरसे उन्हें उन्हीं कियोंमें
क्यों प्रवृत्त करेगा ? ॥ २५ ॥ दुर्बुद्धिजोग (कर्मवादी)
वेदोंका यह अम्प्राय न समझकर कर्मसक्तिवश पुण्योंके
समान स्वार्थादि लोकोंका भग्न देखते हैं और उन्हींको
परम फल मानकर भटक जाते हैं । परन्तु वेदवेत्ता जोग
श्रुतियोंका ऐसा तात्पर्य नहीं कल्पते ॥ २६ ॥ विषय-
वासनाओंमें फँसे हुए दीन-हीन, जेमी पुरुष रग-विरगे
पुण्योंके समान स्वार्थादि लोकोंको ही सब कुछ समझ
केहते हैं, अग्निके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञ-यगादि
कर्मों ही मुग्ध हो जाते हैं । उन्हें अन्तमें देखेक,
पितृजोष आदिकी ही प्राप्ति होती है । दूसरी ओर
भटक जानेके कारण उन्हें अपने निजवास आत्मपदका
पता नहीं लगता ॥ २७ ॥ प्यरे उदव ' उनके पास
साधना है तो कसक कर्मकी और उसका कोई फल है
तो इन्द्रियोंकी तृप्ति । उनकी आँखें धुँवन्नी हो गयी हैं,
इसीसे वे यह बात नहीं जानते कि जिससे इस जगत्की
उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं इस जगत्के रूपमें है, वह
परमात्मा मैं उनके हृदयमें ही है ॥ २८ ॥ यदि हिसा
और उसके फल मांस-मक्षणमें रमा ही हो, उसका स्थान
न किम्ब आ सकता हो, तो यद्यपि ही करे—यह
परिस्थिति विधि है, स्वाभाविक प्रवृत्तिक संप्रोच है,
सन्ध्यवन्दनादिके समान अर्थ विधि नहीं है । इस
प्रकार मेरे परेश्वर अम्प्रायको न जानकर विषयभेदप
पुरुष हिसाका स्त्रियाह सेहते हैं और दुष्टाका अपनी
इन्द्रियोंकी तृप्तिक उिये सब किये हुए पशुओंके मांससे
यज्ञ करके देवता, फिर तथा भूतपतियोंके चरनका
योग करते हैं ॥ २९, ३० ॥

स्वभोपममर्षं लोकमसन्तं भवणप्रियम् ।

आशिपो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वषिकृ३१

स्वःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोभुपः ।

उपासत इन्द्रमुस्यान् देवादीन् न तथैव माम् ॥३२॥

इष्टे देवता यद्भर्त्वा रंस्यामहे विवि ।

तस्यान्त इह भूयास्म मंहाशाला महाकुलाः ॥३३॥

एवं पुष्पितया वाचा व्याधिसमनसा नृणाम् ।

मानिनां चोविस्तम्भानां मद्भार्तापि न रोषते ३४

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मेम च प्रियम् ॥३५॥

शब्दब्रह्म सुषुर्वोचं प्राणन्द्रियमनोमयम् ।

अनन्तपारं गम्भीरं दुर्बिग्राह्यं समुद्रवत् ॥३६॥

मयोपसृष्टित भूसा ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।

मृतपु घोपरूपम विसर्पणैव लम्पते ॥३७॥

उद्भवती । स्वर्गादि परलोक सृष्टिके लक्ष्य हैं, वास्तवमें वे अस्त हैं, केवल उनकी बातें सुनने बहुत मीठी लगती हैं । सक्राम पुरुष वहाँके भोगोंके लिये मन-ही-मन अनेकों प्रकारके स्वरूप कर लेते हैं और जैसे व्यापारी अधिक लाभकी आशासे मूढजनको भी खो बैठा है, वैसे ही वे सक्राम यज्ञोंद्वारा अपने धनका नाश करते हैं ॥ ३१ ॥ वे स्वयं रजोगुण, सत्त्वगुण या तमोगुणमें स्थित रहते हैं और रजोगुणी, सत्त्वगुणी अथवा तमोगुणी इत्यादि देवताओंकी उपासना करते हैं । वे उन्हीं सामर्थ्यसे उतने ही परिश्रमसे मेरी पूजा नहीं करते ॥ ३२ ॥ वे जब इस प्रकारकी पुष्पित बम्बी-रंग विरंगी मीठी-मीठी बातें सुनते हैं कि वह लोभ इस लोभमें यहाँके द्वारा देवताओंका यवन करके स्वर्गमें जायेंगे और वहाँ दिव्य आनन्द भोगेंगे, उसके बाद जब फिर हमारा जन्म होगा, तब हम वड़े कुलीन परिवारमें पैदा होंगे, हमारे वड़े-बड़े महल होंगे और हमारा कुटुम्ब बहुत सुखी और बहुत बड़ा होगा, तब उनका चित्त सुख्य हो जाता है और उन हेकाकी जतानेवाले क्षमियोंको मेरे सम्बन्धकी बातचीत भी धक्की नहीं लगती ॥ ३३ ३४ ॥

उद्भवती । वेदोंमें तीन कण्ड हैं—कर्म, उपसृष्टा और ब्रह्म । इन तीनों कण्डोंके द्वारा प्रतिपादित विषय है ब्रह्म और वास्तवकी एकता, समी मन्त्र और मन्त्रब्रह्म अथवा इस विषयको खोजकर नहीं, गुप्तमनसे बतलते हैं और मुझे भी इस बातको गुप्तरूपसे कहना ही बर्मीष्ट है ॥ ३५ ॥ वेदोंका नाम है शब्दब्रह्म । वे मेरी मूर्ति हैं, इसीसे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है । यह शब्दब्रह्म परा, परमस्ती और मध्यम शक्तीके रूपमें प्राण, मन और इन्द्रियमय है । समुद्रके समान समरहित और गहरा है । उसकी यह लगाना अत्यन्त कठिन है । (इसीसे जैमिनि अग्नि बड़-बड़े विद्वान् भी उसके तात्पर्यका ठीक-ठीक निगय नहीं कर पाते) ॥ ३६ ॥ उद्भव । मैं अनन्तशक्तिसम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ । मने ही वैश्वानरीका विस्तार किया है । जैसे फल-नालमें फल-सा सून होता है, वैसे ही यह वैश्वानरी प्राणियोंके अन्तःकरणमें अनाहतनादके रूपमें प्रपट होती

यथोर्बनाभिर्हृदयादर्णामुद्रमते सुखात् ।

भाकादासु घोफान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥३८॥

छन्दास्योऽमृतमय सहस्रपदवीं प्रभु ।

वाहाराद् व्यञ्जितस्पर्शस्योन्मान्त स्वभूषिताम् ॥३९॥

विविधभाषाविततां छन्दाभिधतुत्तरं ।

अनन्तपारां श्रुतीं सृजत्पाक्षिपत स्वयम् ॥ ४० ॥

मास्यपुष्पिमनुष्टुप् च श्रुती पङ्क्तिरेव च ।

त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दा इत्यष्टयतिजगद्विराट् ॥४१॥

किं विधत् क्रिमाचट क्रिमनृष पिकल्पयेत् ।

इत्यस्या हृदयं लोक नान्या मदु वेद कथन ॥४२॥

मां विधत्तभिधत् मां विकल्प्यापाप्तते स्वाहम् ।

एतान् सवर्णार्थं उच्यते आम्बाय मां भिन्नाम् ।

मायामात्रमन्यन्त प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥४३॥

॥ ३७ ॥ भगवान् विष्णुर्गर्भं स्वयं वेदमूर्तिं एष
अमृतमय है । उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत
शब्दके द्वारा ही उनकी धर्मव्यक्ति हुई है । जैसे मयकी
अपन हृदयसे मुखद्वारा जाला उगलती और फिर निगल
लेती है, वैसे ही व स्पर्श आदि वर्णोंका संकल्प करने-
वाले मनरूप निमित्तकारणके द्वारा हृदयाकाशसे अनन्त
अपार अनेकों भागोंवाली वैखरीरूप वेदवाणीको स्वयं ॥
प्रकट करत हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते
हैं । वह वाणी बहुत सूक्ष्म और करके द्वारा धर्मव्यक्त
स्पर्श ('क' से लेकर 'म' तक-२०), स्वर ('अ'
से 'औ' तक-९), ऊष्मा (श, प, स, ह) और
अन्तःस्व (य, र, ल, व)—इन वर्णोंसे विमूर्धित है ।
उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण
बद्ध होते हैं और उनका द्वारा विविध भाषाके रूपमें
वह विस्तृत हुई है ॥ ३८-४० ॥ (चार-चार अधिक
वर्णोंवाले छन्दोंमेंसे कुछ ये हैं—)माक्षी, उष्णिक्, अनुष्टुप्
श्रुती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अप्पष्टि,
अतिजगती और विराट् ॥ ४१ ॥ वह वेदवाणी कल्प-
कण्ठमें क्या विधान करती है, उपासनाकण्ठमें किन
दक्ताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकण्ठमें किन
प्रतीत्योक्त अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकारके
विकल्प करती है—इन बातोंको इस सम्बन्धमें धृतिके
राहस्यको मर अविरक्त और फाड़ नहीं जानता ॥ ४२ ॥
मैं तुम्हें स्पष्ट बतला दता हूँ, सभी धृतियों परमकण्ठमें
मरा ही विधान करती हैं । उपासनाकण्ठमें उपास्य
दक्ताओंका रूपमें वे मरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञान-
कण्ठमें आकाशपरिरूपसे मुक्तां ही अन्य वस्तुओंका
आराप करके उनका निषेध कर दती हैं । सन्तुष्ट
धृतियोंका यत्न, इतना ही तात्पर्य है कि वे मरा अथवा
स्वप्न मुक्तां भद्रका आराप करता हूँ, मयायात्र वहकर
उत्तम अनुवाद करती हैं और अन्तमें सत्यका निषेध
करके मुक्तां ही श्रमन्त ॥ जाती हैं और काल अधिष्ठान-
रूपसे मैं ही होय रह जाता हूँ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराण पारमहंस्यो संहितायामेकविंशस्कन्ध
पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

तत्त्वोक्ती सख्या और पुरुष-प्रकृति-विवेक

उदय उवाच

कति तत्त्वानि विश्वस्य संख्यातान्पृथिभिः प्रभो ।

नवैकादश पञ्च द्वाभ्यास्तथ त्वमिह ब्रूषुम ॥ १ ॥

कचित् पद्विंशतिं प्रादुरपरं पञ्चविंशतिम् ।

सप्तैके नव पद कचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥ २ ॥

केचित् सप्तदश प्रादुः षोडशैके त्रयोदश ।

एतावत्स्वं हि संख्यानामुपयो यद्विषयकम् ।

गायन्ति पृथगायुष्मन्भिर् नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भग्नान्ते ब्राह्मणा यथा ।

मात्मां मदीयामुवृण्वन् वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४ ॥

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।

एवं विवदतां हतुं शक्यो मं दुरत्ययाः ॥ ५ ॥

यत्सां व्यतिक्रान्तासीद्विचिन्त्यो वदतां पदम् ।

प्राप्ते क्षमदमऽप्येति वादस्तमनु श्राम्यति ॥ ६ ॥

परस्परालुप्रवेशात् सत्त्वानां पुरुषर्षभ ।

पोषापर्यग्रसंस्मानं यथा वक्तुर्निवसितम् ॥ ७ ॥

उदयजीने कहा—प्रभो ! विनयेन ! श्रुतिसे

तत्त्वोंकी संख्या कितनी कतलगी है ? आपने तो कभी (उनीसवें अध्यायमें) नौ, ब्याह, पाँच और तीन अर्थात् कुछ अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं । यह तो हम सुन चुके हैं ॥ १ ॥ किन्तु कुछ लोग छत्तीस तत्त्व कहते हैं तो कुछ पचीस; कोई सात, नौ अथवा छ लीकर करते हैं, कोई चार कहते हैं तो कोई ब्याह ॥ २ ॥ इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं श्रुति-मुनियोंके मतमें उनकी संख्या समझ है, कोई सोलह और कोई ठेक कहते हैं । सनातन श्रीकृष्ण ! श्रुति-मुनि इतनी भिन्न संख्याएँ किस अभिप्रायसे कहते हैं ? आप कृपा करके हमें बताइये ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उदयजी ! वेदों में

इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है; क्योंकि सभी तत्त्व सबमें व्यक्तभूत हैं । मेरी मन्त्रों लीकर करके क्या कहना असम्भव है ॥ ४ ॥ और तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, जो मैं कहता हूँ, वही यथा है—इस प्रकार जगत्के कारणके सम्बन्धमें विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियों—सत्त्व, रज आदि गुणों और उनकी वृत्तियोंका रहस्य भोग समझ नहीं पाते, इसलिये वे अपनी-अपनी मनोवृत्तिर ही कहकर बैठते हैं ॥ ५ ॥ सत्त्व आदि गुणोंके क्षोभसे ही यह विविध कल्पनारूप प्रपञ्च—जो बहुत नहीं केवल नाम है—उठ खड़ा हुआ है । यही कद-विवाद करने-बाध्योंके विवादका विषय है । जब इन्द्रियों अपने कर्तव्य हो जाती हैं तथा चित्त शान्त हो जाता है, तब यह प्रपञ्च भी निवृत्त हो जाता है और उसकी निवृत्तिक साध ॥ ६ ॥ सारे कद-विवाद भी मिट जाते हैं ॥ ६ ॥ पुरुषविरोधोंमें ! तत्त्वोंका एक दूसरेमें अनुप्रवेश है इसलिये यद्यपि तत्त्वोंकी कितनी संख्या कल्पना जाहता है, उसके अनुसार कारणके कार्यमें अथवा फलका कारणमें भिन्नकर अपनी इच्छित संख्या सिद्ध कर लेता है ॥ ७ ॥

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।

पूर्वस्मिन् वापरस्मिन् वा तथैव तत्त्वानि सर्वशः ॥ ८ ॥

पौर्वापर्यमतोऽभीपां प्रसख्यातमभीप्सताम् ।

यथा विविक्तं यद्वन्न गृहीमो युक्तिसम्भवात् ॥ ९ ॥

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।

सतो न सम्भवादन्त्यत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥ १० ॥

पुरुषेश्वरयारत्र न वैलक्षण्यमप्यपि ।

तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥ ११ ॥

प्रकृतिगुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।

सत्त्वं रजस्तम इति स्मित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ १२ ॥

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।

गुणमप्यतिक्रमः कालः स्वभावः संधर्मेव च ॥ १३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्भक्तमहङ्गतो नभोऽनिलः ।

ऐसा देखा जाता है कि एक ही तत्त्वमें बहुत-से दूसरे तत्त्वों-का अन्तर्भाव हो गया है । इसका कोई बन्धन नहीं है कि जिसका विस्तारमें अन्तर्भाव हो । कभी घट-पट आदि कर्म बस्तुओंका उनके कारण मिथी-सूत आदिमें, तां कभी मिथी-सूत आदिका घट-पट आदि कर्मोंमें अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ८ ॥ इसलिये आदी-प्रतिवादियोंमिसे बिसर्की वाणीने जिस कार्यको जिस कारणमें अथवा जिस कारणका जिस कार्यमें अन्तर्भाव करके तत्त्वोंकी वितनी संख्या स्वीकार की है, वह हम निश्चय ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका वह उपपादन युक्तिसंगत ही है ॥ ९ ॥

उदाहरणी ! जिन लोगोंने छन्दोस सख्या स्वीकार की है, वे ऐसा कहते हैं कि जीव अनादि कष्टसे अविद्यासे प्रसक्त रहता है । वह स्वयं अपने-आपसे नहीं जान सकता । उसे आत्मज्ञान करानेके लिये विस्ती अन्य सर्वशक्ति आवश्यकता है । (इसलिये प्रकृतिके कारणरूप श्रीवीस तत्त्व, पञ्चसत्ता पुरुष और छन्दोसत्ता ईश्वर—इस प्रकार कुछ छन्दोस तत्त्व स्वीकार करने चाहिये) ॥ १० ॥ पञ्चीस तत्त्व माननेवाले कहते हैं कि इस शरीरमें जीव और ईश्वरका अणुमात्र भी अन्तर था भेद नहीं है, इसलिये उनमें भेदकी कल्पना व्यर्थ है । यही ज्ञानकी बात, सां तो सत्तात्मिका प्रकृतिका गुण है ॥ ११ ॥ तीनों गुणोंकी साम्यवत्ता ही प्रकृति है, इसलिये सत्त्व, रज आदि गुण आत्माके नहीं, प्रकृतिक ही हैं । इन्हींके द्वारा जगत्की स्थिति, उत्पत्ति और प्रख्य हुआ करते हैं । इसलिये ज्ञान आत्माका गुण नहीं, प्रकृतिका ही गुण सिद्ध होता है ॥ १२ ॥ इस प्रसङ्गमें सत्त्वगुण ही ज्ञान है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहा गया है । और गुणोंमें क्षाम उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ही कर्म है और सूत्र अर्थात् मूलतत्त्व ही सभाष है । (इसलिये पञ्चीस और छन्दोस तत्त्वोंकी—दानों ही संख्या युक्तिसंगत है) ॥ १३ ॥

उदाहरणी ! (यदि तीनों गुणोंका प्रकृतिसे अलग मान लिया जाय, जैसा कि उनकी उत्पत्ति और प्रत्यक्ष देखते हुए मानना चाहिये ता तत्त्वोंकी संख्या स्वयं ही

ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नवा ॥१४॥

भोत्रं त्वन्दशन प्राणो विद्धेति ज्ञानशक्तयः ।

वाक्याण्युपमपात्यद्धिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥१५॥

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थाज्ञातयः ।

गत्युक्त्युत्सर्गश्चिन्त्यानि कर्मायतनसिद्धयः ॥१६॥

मगानै प्रकृतिमस्य कायकातरूपिणी ।

तत्त्वादिभिर्गुणैश्च पुरुषोऽन्वक्त ईक्षते ॥१७॥

व्यक्तादयो विदुर्वाणा धातवः पुरुषधया ।

सन्ध्यायां सृजनपण्डसहता प्रकृतेबलात् ॥१८॥

सर्गसं धातव इति तत्राभा पञ्च स्वादयः ।

ज्ञानमात्राभयापारम्यता दहन्त्रियामय ॥१९॥

परिन्पशापि भूतानि पञ्च पशु पर पुमान् ।

अत्यर्था हो जाती है । उन तीनोंके अतिरिक्त पञ्चमे (ये हैं—) पुरुष, प्रकृति, मूलतत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, तेज, बल और पृथ्वी—ये नौ तत्त्व मैं पहले ही गिना चुका हूँ ॥ १४ ॥ भोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही हैं । इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियों तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय । इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच—सब मित्यकर अत्यर्थास तत्त्व होते हैं । कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले पाँच कर्म—चक्ष्णा, श्रोक्ष्णा, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना—इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती । इन्हें कर्मेन्द्रिय-स्वरूप ही मानना चाहिये ॥ १५ ॥ १६॥ सृष्टिके आरम्भमें कर्ष (म्याह इन्द्रिय और पञ्चभूत) और कारण (मूलतत्त्व अदि) के रूपमें प्रकृति ही रहती है । यही सत्सगुण, रजोगुण और तमोगुणकी सहायतासे जगदकी स्थिति, उत्पत्ति और संहारसम्पन्नी अवस्थाएँ धारण करती है । अन्यक्त पुरुष तो प्रकृति का उत्तरी अवस्थाओंका केवल साक्षीमात्र बना रहता है ॥ १७ ॥ मूलतत्त्व आदि कारण धातुएँ विचारका प्राप्त होते हुए पुरुषके श्रवणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मित्त जाते हैं और प्रकृतिका आधाय लेकर उसीक वलसे सृष्टि करते हैं ॥ १८ ॥

उद्धवनी ! जो स्वयं तत्त्वोंकी सत्त्वा सत् स्वीकार करते हैं, वनक विचारसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच भूत, अथ जीव और सतर्था परमज्ञान—जो साक्षी जीव और मायव जगद दोनोंका अधिष्ठान है—ये ही तत्त्व हैं । येह इन्द्रिय और प्रकृति-उत्पत्ति तो पञ्चभूतोंसे ही हुए हैं [इसलिये वे हैं अज्ञ नहीं गिनते] ॥ १९ ॥ जो स्वयं तत्त्वों परमज्ञान परमपुरुष परममाय । यह परमान्न ज्ञान मनन हुए पञ्चभूतोंसे युक्त आकाश तद आग्नि की सृष्टि करत

तयुक्त आत्ममभ्यूतं सूक्ष्मं समुपाविशत् ॥२०॥

चत्वर्थेवेति तथापि तेज आयाञ्छमात्मन ।

जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविन खलु ॥२१॥

संख्याने सप्तदशक भूतमाग्रन्त्रियाणि च ।

पञ्च पञ्चकमनसा आत्मा सप्तदश स्मृत ॥२२॥

तद्वत् पोदशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ।

भूतन्त्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥

एकादशत्वं आत्मास्तौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।

अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवत्यथ ॥२४॥

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामपिभि कृतम् ।

सप्तन्याय्यं पुक्तिमश्वाद् विदूषां किमश्वभनम् ॥२५॥

उत्तर उवाच

प्रकृति पुरुषाभ्यां यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।

अन्यान्मायाध्वान् कृष्य दृश्यत न भिदा तवा ॥२६॥

प्रकृतौ लभ्यत मान्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि ।

हे आर उनसे जीवरूपसे प्रवेश करता है । (इस मन्त्रके अनुसार जीवका परमात्मामें और शरीर आदिको पञ्च भूतोंमें समावेश हो जाता है) ॥ २० ॥ जा व्यंग करणन रूपमें धार हो तत्त्व स्वीकार करते हैं, व कहते हैं कि आत्मासे तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है और जगत्में जितने पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं । ये सभी कर्माका इन्हींमें सम्प्रेषण कर लेते हैं ॥ २१ ॥ जो व्यंग तत्त्वोंकी सख्या सत्रह बतलाते हैं, वे इस प्रकार गणना करते हैं—पाँच भूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा ॥ २२ ॥ जा व्यंग तत्त्वोंकी सख्या सोलह बतलाते हैं, उनकी गणना भी इसी प्रकार है । अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्मामें मनका भी समावेश कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्वसंख्या सोलह रह जाती है । जो व्यंग तत्त्व मनते हैं, व कहते हैं कि आकाशदि पाँच भूत, धात्राणि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवाना और परमात्मा—य तत्त्व तत्त्व हैं ॥ २३ ॥ ग्यारह सत्य माननेवालोंने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और इनका अतिरिक्त एक आत्मका अस्तित्व स्वीकार किया है । जो व्यंग नौ तत्त्व मानते हैं, वे आकाशदि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार—ये आठ प्रकृतियाँ और नवौ पुरुष—इन्हींका तत्त्व मानते हैं ॥ २४ ॥ उद्बन्धी । इस प्रकार अग्नि-मुनिपुत्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है । सबका कहना उचित ही है, क्योंकि सबकी सख्या शुद्धिपुष्ट है । जा व्यंग तत्त्वजानी है, उन्हें किसी भी मन्त्रमें गुण नहीं दीर्घ्य । उनका जिये जा सब कुछ ठीक ही है ॥ २५ ॥

उद्बन्धीन कहा—याम्युत्तर । यपि स्वयन् प्रह्मि और पुरुष नामों एतद्भूतस मन्त्रा भिन्न हैं, तथापि ये आत्मामें इतने पुष्ट-किन्तु गये हैं कि स्थावरज जन्य भेद नहीं जान पड़ता । प्रह्मिमें पुरुष और पुरुषमें प्रह्मि अभिन्न-मे प्रतीत होत है । इसी भिन्नता रहस्यसे है ॥ २६ ॥ अमत्यन्त भ्रष्टा । मर इत्यनें इसी भिन्नता और अनिज्जगत्पर लक्ष्य बह्मना मन्द है ।

ज्योतिरायः स्थितिरिव तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥१४॥

भोत्रं त्वन्दर्शनं प्राप्नो जिह्वेति ज्ञानक्षक्तयः ।

वाक्पाण्युपस्वपात्यब्धिक्रमाप्यङ्गोभयं मनः ॥१५॥

शब्दः स्पर्शो रसो मन्वो रूप चेत्स्पर्शजातयः ।

गत्युत्तुत्सर्गशिव्यानि कर्मायतनसिद्धयः ॥१६॥

सर्गादौ प्रकृतिर्धस्य कायकारणरूपिणी ।

सत्त्वादिभिर्गुणैर्षचे पुरुषोऽन्यत्क ईधते ॥१७॥

व्यक्तादयो विकृर्वाणा घातवः पुरुषेषुषा ।

लम्बवीर्याः सूत्रन्त्यण्डं सहसाः प्रकृतेषस्तात् ॥१८॥

सर्तव पातव इति तंत्रार्थाः पञ्च त्वादयः ।

ज्ञानमात्माभयाधारस्तता दहद्वित्रियामव ॥१९॥

पडिपत्रापि भूतानि पञ्च पट्ट पर पुमान् ।

अट्ठईस हो जाती है । उन तीनोंके अतिरिक्त पञ्चस
ये हैं—) पुरुष, प्रकृति, मूलतत्त्व, अहङ्कार, जाग्रत,
वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये नौ तत्त्व में पहले ही
गिना चुका हैं ॥ १४ ॥ श्रोत्र, त्वचा, श्रुति, नासिका
और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों, वाक्, पाणि, पद,
पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन जो
कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही हैं । इस प्रकार कुल
मूलतत्त्व इन्द्रियों तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—
ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय । इस प्रकार तीन, नौ,
ग्यारह और पाँच—सब मिलकर अट्ठईस तत्त्व होते
हैं । कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले पाँच कर्म—चञ्चा,
बोझना, मल त्यागना, पेशाव करना और क्षम करना—
इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती । इन्हें कर्मेन्द्रिय-
स्वरूप ही मानना चाहिये ॥ १५ १६॥ सुद्धिके आरम्भमें
कार्य (ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चभूत) और कारण
(मूलतत्त्व आदि) के रूपमें प्रकृति ही रहती है । वही
सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी सहाय्यसे जगत्की
स्थिति, उत्पत्ति और संहारसम्बन्धी अवस्थाएँ धारण
करती है । अन्यत्क पुरुष तो प्रकृति और उसकी
अवस्थाओंका केवल साक्षीमात्र बना रहता है ॥ १७ ॥
मूलतत्त्व आदि कारण धातुएँ विकारको प्राप्त होते हुए
पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिल जाते हैं
और प्रकृतिको आश्रय लेकर उसीका बन्धन समझकी
सृष्टि करते हैं ॥ १८ ॥

उत्पन्ननी । जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सत्त सीकर
करते हैं, उनके विचारसे जाग्रत, जपु, तेज, जल और
पृथ्वी—ये पाँच भूत, छत्र जीव और सत्त्वों परमत्मा—
जो साक्षी जीव और साक्ष्य जगत् इतनोंका अविच्छिन्न
है—ये ही तत्त्व हैं । देह, इन्द्रिय और प्राणिकी
उत्पत्ति तो पञ्चभूतोंसे ही हुई है [इसलिये वे इन्हें
अलग नहीं गिनते] ॥ १९ ॥ जो अग वक्त्र छ तत्त्व
सीकर करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और
छत्र हैं परमपुरुष परमात्मा । यह परमात्मा अपने बनाए
हुए पञ्चभूतोंसे युक्त हाकर यह आदिकी सृष्टि करता

तैर्युक्त आत्मममूर्तं सृष्टं समुपाविशत् ॥२०॥

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपाऽऽमात्मन ।

जातानि तैरिदं जात उन्माथयविन खलु ॥२१॥

मम्याने समदृष्टं भूतमाध्वनिद्रियाणि च ।

पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा समदृष्टं स्मृत ॥२२॥

तद्वत् पादद्वयमम्याने जातमैव मन उच्यते ।

मूलेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयादृष्ट ॥२३॥

एकैकद्वयत्व आत्मासौ महाभूतन्द्रियाणि च ।

अथै प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नक्तयथ ॥२४॥

इति नानाप्रसङ्गान् तत्त्वानामुपिभि कृतम् ।

सयन्यास्यपुनिकमत्वाद् विदुषां किमशोभनम् ॥२५॥

उदय उच्यते

प्रकृति पुरुषाभां यद्यप्यान्वितलक्षणां ।

अन्यान्यापाधवात् कृष्ण इत्यत न भिन्नतया ॥२६॥

प्रकृतौलक्षणं यन्मा प्रकृतिथ तथाऽऽमनि ।

है और उनसे जीव रूपसे प्रथम करता है । (इस मतके अनुसार जीवका परमात्मामें और शरीर आदिका पञ्च-भूतमें समावेश हो जाता है) ॥ २० ॥ जा यग कारणक रूपमें चार ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्म्यसे तेज, जल और पृथ्वी उत्पत्ति हुई है और जगत्में त्रितन पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं । वे सभी कथ्याका इन्हींमें समावेश पर लत हैं ॥ २१ ॥ जा यग तत्त्वोंकी संख्या सत्रह बताते हैं, वे इस प्रकार गणना करते हैं—पाँच भूत, पाँच तन्मयार्थ, पाँच ज्ञानन्द्रियाँ, एक मन और एक अत्मा ॥ २२ ॥ जा जग तत्त्वोंकी संख्या साठ बताते हैं । उनमें गणना भी इसी प्रकार है । अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्म्यमें मनका भी समावेश पर लते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्वसंख्या साठ रह जाती है । जा यग तेरह तत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं कि आकाशदि पाँच भूत, आकादि पाँच ज्ञानन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवतन्म और परमात्म—य छह तत्त्व हैं ॥ २३ ॥ स्यात् संख्या माननेवालेने पाँच भूत, पाँच ज्ञानन्द्रियाँ और इनके अतिरिक्त एक आत्म्यका अस्तित्व स्वीकार किया है । जा जग नी तत्त्व मानते हैं, वे आकाशदि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार—य आठ प्रकृतियाँ और नव पुरुष—इन्हीं तत्त्व मानते हैं ॥ २४ ॥ उदयजी । इस प्रकार अग्नि-मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है । सरस रहसा उचिन् ही है, क्योंकि सबकी संख्या युक्तियुक्त है । जा जग तत्त्वज्ञानी है, उन्हें किसी भी मतमें युगल नहीं आती । उनके विषय हो सब कुछ ही है ॥ २५ ॥

उदयजीन कहा—सामान्य ! कयि मन्थन प्रहर्ष और पुरुष नामों परानुसंगे सत्य भिन्न है, तपति व अममें इन पुरुषों का गय है कि आकाश तत्त्व अग न मही जान पड़ता । प्रहर्षमें पुरुष और पुरुषमें प्रहर्ष अभिन्नम प्रतीत होत है । इनकी भिन्नता एवमहा ॥ २६ ॥ कतयत्त भाषण । मर इत्ये इनकी भिन्नता और अभिन्नता अत्र बहुत बड़ा मन्द है ।

एवं मे पुण्डरीकाय महान्तं संशयं हृदि ।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैर्गुणैः ॥२७॥
त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोयस्तऽत्र शक्तित ।
त्वमेव ह्येतन्ममात्मा गतिं केच न चापरः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चैति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणभ्यतिकरात्मकः ॥२९॥

ममाङ्ग माया गुणभ्यन्तरेकधा

विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।

वैकारिकस्त्रिविधोऽप्यत्ममेक-

मथाभिदैवमधिभूतमन्यत् ॥३०॥

एष रूपमार्कं वपुरत्र रात्रे

परस्परं सिध्यति य स्वतः स्वे ।

आत्मा यदेवमपरो य आद्यः

स्वयानुभूत्यास्त्रिलिङ्गसिद्धिः ।

एवं त्वगादि भवणादि चक्षु

र्जिह्वादि नासादि च विचयुक्तम् ॥३१॥

योऽसौ गुणघोभक्तो विकारः

प्रधानमूलान्महत्तः प्रकृतः ।

आप तो सर्वज्ञ हैं, अपनी युक्तियुक्त वाणीसे मेरे सन्देहका निवारण कर दीजिये ॥ २७ ॥ भगवन् ! आपकी ही इपासे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी मायाशक्तिसे ही उनके ज्ञानका नाश होता है । अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाकी विचित्र गति आप ही जानते हैं, और कोई नहीं जानता । अतएव आप ही मेरा सन्देह मिटानेमें समर्थ हैं ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उत्सवजी ! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा—इन दोनोंमें अल्पत मेद है । इस प्राकृत जगत्में जन्म-मरण एवं बुद्धि-हास आदि विकार जो ही रहते हैं । इसका कारण यह है कि यह गुणोंके क्षोभसे ही बना है ॥ २९ ॥ प्रिय मित्र ! मेरी माया त्रिगुणात्मिका है । वही अपने सत्त्व, रज आदि गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेदबुद्धियाँ पैदा कर देती है । यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी इस भिन्नरूपक सृष्टिको तीन भागोंमें बाँट सकते हैं । ये तीन भाग हैं—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ॥ ३० ॥ उदाहरणार्थ—नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उत्सव नियम रूप अधिभूत है और नेत्रगोचरमें स्थित सूर्यदेवताका अंश अधिदैव है । ये तीनों परस्पर एक दूसरेके अव्यसे सिद्ध होते हैं । और इसलिये अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं । परन्तु आकाशमें स्थित सूर्यमण्डल इन तीनोंकी अपेक्षासे मुक्त है, क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है । इसी प्रकार आत्मा भी उत्सुक तीनों भेदोंका मूककारण, जनक साक्षी और उनसे परे है । वही अपने स्वयंसिद्ध प्रकाशसे समस्त सिद्ध पदार्थोंका मूलसिद्धि है । उसीके द्वारा सकल प्रकृत्य हाता है । जिस प्रकार चक्षुके तीन मेद बताये गये, उसी प्रकार त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका और विष आदि के भी तीन तीन भेद हैं ॥ ३१ ॥ प्रकृतिसे गृह्यतल बनता है और गृह्यतलसे अहङ्कार । इस प्रकार यह अहङ्कार गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न हुआ प्रकृतिक्रम ही एक विकार है ।

१ देवेषां । २ ब्रह्ममनो योगमर्ति । ३ मयाधिभूतमधिदैवमन्यत् । ४ स्फोटोऽसौ ।

● तथा त्वचा रजसं और बायु अथवा वायु और विद्या जिह्वा, रज और वक्त्र नासिका गन्ध और भस्मी-
कुमार। चित् चिन्तनम नियम और बायुदेव मन मनश्च नियम और चन्द्रमा अहङ्कार, अहङ्कारश्च नियम और रज
उद्भिः समस्तनेत्र नियम और ज्ञान—इन सभी विविध तत्त्वोंसे आत्मका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अहं विष्णुमोहविकल्पहेतु

वैकारिकस्तामस येन्द्रियस्य ॥३२॥

आत्मापरिहृतानमयो विवक्षो

ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।

व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुसां

मय परावृत्तभिरां स्वलाकान् ॥३३॥

उद्वेग उद्वेग

त्वत् परावृत्तचित्तं स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो ।

उद्यत्तवान् यथा ब्रह्मन् गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥३४॥

तममाक्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः ।

न क्षेत्तु प्रायश्चो लाकं विशासः सन्ति वञ्चिताः ॥३५॥

भीमगयानुवाच

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।

लाक्षाच्छाकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥३६॥

ध्यायन्मनाऽनु विपयान् पृथान् शानुधुतानथ ।

अहंकारके तीन भेद हैं—सात्विक, तामस और राजस । यह अहंकार ही अज्ञान और सृष्टिकी विविक्षाका मूल-कारण है ॥ ३२ ॥ आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका इन पदार्थोंसे न तो कोई सम्बन्ध है और न उसमें कोई विवादकी ही बात है । अस्ति-नास्ति (है-नहीं), सगुण निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि रूपसे जितन भी वाद-विवाद हैं, सबका मूलकारण भेदबुद्धि ही है । इसमें संशय नहीं कि इस विवादका कोई प्रयोजन नहीं है; यह सर्वथा व्यर्थ है, तथापि जो लोग मुझसे—अपने वास्तविक स्वरूपसे विमुख हैं, वे इस विवादसे मुक्त नहीं हो सकते ॥ ३३ ॥

उद्वेगजीने पूछा—भगवन् ! आपसे विमुख जीव अपने दिले हुए पुण्य-पापोंके फलस्वरूप जैसी-नीची योनियोंमें जाते-आते रहते हैं । अब प्रश्न यह है कि व्यापक आध्यात्म एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जामा, अकर्ता-पद करना और नित्य-वस्तुका जन्म-मरण कैसे सम्भव है ? ॥ ३४ ॥ गाविन्द ! जो जोग ब्रह्मज्ञानसे रहित हैं, वे तो इस विषयको ठीक-ठीक सोच भी नहीं सकते । और इस विषयके विज्ञान संसारमें प्राय मिथ्ये नहीं, क्योंकि सभी जोग आपकी मायाकी मूढमुल्लेखमें पड़े हुए हैं । इसलिये आप ही कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाइये ॥ ३५ ॥

भगवान् धीकृष्णने कहा—प्रिय उद्वेग ! मनुष्योंका मन कर्म-संस्कारोंका पुत्र है । उन संस्कारोंके अनुसार भोग प्राप्त करनेके लिये उसके सप पाँच इन्द्रियों भी जगी हुई हैं । इसीका नाम है जिज्ञाशरीर । यही कर्मके अनुसार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक ध्येयसे दूसरे ध्येयमें जाता-जाता रहता है । आत्म इस जिज्ञाशरीरसे सबका पुष्पक है । उसका जाना-बाना नहीं होता, परन्तु जब वह अपनेको जिज्ञाशरीर ही समझ बैठता है, उसीमें अहंकार कर लेता है, तब उसे भी जन्मा ज्ञाना-जाना प्रतीत होने लगता है ॥ ३६ ॥ मन कर्मके अधीन है । वह देखे हुए या सुने हुए विषयोंका चिन्तन करने लगता है और क्षणभरमें ही उनमें तन्मय हो जाता है तथा

अथ ते स्वदुर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणाढयान् ॥ ६० ॥ श्री दुर्धेके द्वारा मिया हुआ निरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकृति अत्यन्त बलवती है ॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायामेकदशस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

एक तिसिद्ध ब्राह्मणका इतिहास

बादरायणविरचित

स एवमाशंसित उद्धवेन
भासवतमुद्धवेन दासार्हमुद्धवः ।
सभाजन् भृत्यवचो मुकुन्द
स्तमावभाषे भवणीकवीर्यः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

वार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।
दुरुक्तैर्मित्रमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥
न तथा तप्स्यते विद्वः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था हंसतां परुषेपवः ॥ ३ ॥
कथयन्ति महत्पुष्पमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबन्ध सुसमाहितः ॥ ४ ॥
केनचिद् भिक्षुणा गीत परिभूतेन दुर्जनैः ।
सरता धृतियुक्तं विपाकं निर्वर्ण्यमाणम् ॥ ५ ॥
अवन्तिषु द्विजैः कथिदासीदात्मसमः भिषा ।

वाताह्वयः कदर्यस्तु कामी लुम्बाऽतिशयनः ॥ ६ ॥

श्रावयोऽतिथपस्तस्य बाह्माश्रेणापि नाचिताः ।

श्रीशुक्रदेवजी कहते हैं—प्रीति । वासवमें मन्त्रानुसूची स्वीकृता ही श्रवण करने योग्य है । वे ही प्रेम और मुक्तिके दाता हैं । जब उनके परमप्रेमी मन्त्र उद्धवजीने इस प्रकार प्रार्थना की, तब यदुर्ध्वविभूषण श्रीभगवान् ने उनके प्रस्तावी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

भगवान् श्रीशुक्रजी कहते हैं—देवगुरु गृहस्थश्रितिके शिष्य उद्धवजी । इस संसारमें प्रायः ऐसे संत पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनको कटुबाणीसे विधे हुए अपने हृदयको संभाव सकें ॥ २ ॥ मनुष्यका हृदय मर्मभेदी बाणोंसे बिफनेपर भी उतनी पीडाकर अनुभव नहीं करता, जितनी पीडा उसे दुष्टजनोंके मर्यान्तक एवं कठोर वाक्याण पढ़ाते हैं ॥ ३ ॥ उद्धवजी । इस विषयमें भूतमात्रेण एक बड़ा पक्कि प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, मैं कभी सुनै सुनाऊँगा, तुम मन्त्र ऊँकर उसे सुनो ॥ ४ ॥ एक भिक्षुकको दुर्धेने बहुत सताया था । उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्मके फलेश्च फल समझकर कुछ अपने मानसिक द्वारा प्रकट किये थे । ऊर्ध्वोक्त इस इतिहासमें वर्णन है ॥ ५ ॥

प्राचीन समयकी बात है, उद्देनमें एक ब्राह्मण रहता था । उसने सेती-मृग्यार आदि करके बहुत-सी धन सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी । यह बहुत ही लूण, कामी और लोभी था । मोक्ष तो उसे बात-व्यक्तमें आ जाया करता था ॥ ६ ॥ उसने अपने जाति-श्रेष्ठ और अतिशिष्यको कभी भी नहीं बातसे भी प्रसन्न नहीं किया, स्वयने-स्वयनेही तो बात ही क्या है ? यह धन-कामसे रीत घरमें रहता

१ पुरु उवाच । २ वर्णः । ३ कथयन्ति । ४ अमर्ता । ५ निर्वर्ण्यमाणः । ६ नाप्यनर्कितः ।

अथ व १ १०७—

यथाम्भसा प्रचलता सर्वोऽपि चला इव ।

चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५३॥

यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ।

स्वप्नदृष्टाश्च दासार्हा तथा संसार आत्मनः ॥५४॥

अर्थे श्रविष्यमानेऽपि संसृष्टिर्न निवर्तते ।

अप्यतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५५॥

तस्मादुद्वेगमा भुङ्क्त्व विषयानसद्विनिर्ग्रयैः ।

अन्तमाग्रहणनिर्भरं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥५६॥

क्षिप्तोऽवमानितोऽसन्निः प्रलम्भोऽसूयितोऽर्षेवा ।

ताडितः सन्निधदो वा बुर्या वा परिहापितः ॥५७॥

निष्ठितो मूर्ध्नितो बाह्वैर्बहुधैर्ब प्रेकम्पितः ।

भयस्कामः कुच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्वरत् ॥५८॥

उद्वेग उवाच

यथैयमनुपुष्पेयं वद नो वदतां वर ।

सुदुस्सहमिमं मन्ये आरम्यसदतिष्ठमम् ॥५९॥

विदूषामपि निद्वारतमन् प्रकृतिर्हि श्लीयसी ।

जैसे नदी-तालाब आदिके जलके बहने या चंचल होने पर उसमें प्रतिबिम्बित तपके वृक्ष भी उसके साथ बहने-खेलने-से जान पड़ते हैं, जैसे घुमाये जानवाले नेत्रों के साथ-साथ पृथ्वी भी घूमती हुई-सी दिखायी देती है, जैसे मनके द्वारा सोचे गये तथा स्वप्नमें दखे गये भोग फल सब अलीक ही होते हैं, वैसे ही हे दासार्ह ! अन्तमाग्र विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा अस्तित्व है । आत्म तो निरूप-शुद्ध-मुक्त-सुकृतभाव ही है ॥५३-५४॥ विषयों के सत्य न होने पर भी जो जीव विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्युरूप संसार कदा कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्नमें प्राप्त अनर्प-परम्परा को बिना निवृत्त नहीं होती ॥ ५५ ॥

प्रिय उद्वेग ! इसलिये इन कुछ (कनी) तूत न होनेवाली इन्द्रियोंसे विषयोंको मत मोघे । अन्तमाके अज्ञानसे प्रती होनेवाला सांसारिक भेदभाव भ्रमरूप का ही है, ऐसा समझो ॥ ५६ ॥ असाधु पुरुष गर्दन फलकर बह निकल दें, बाणीद्वारा अपमान करें, उपहास करें, निन्द करें, मारें-पीटें, बाधें, आजीविका छीन छें, ऊपर पूक दें मृत दें अपना तरह-तरहसे विचलित करें, निष्ठसे छिगाने की चेष्टा करें, उनके किसी भी उपद्रवसे क्षुब्ध न होना चाहिये, क्योंकि वे तो बेचारे अज्ञानी हैं, उन्हें परमार्थ तो पता ही नहीं है । अतः जो अपने कल्याणका इष्टुक है, उसे सभी कठिनाइयोंसे अपनी विवेकशुद्धिद्वारा ही-किसी बाह्य साधनसे नहीं—अपने ही बल से हटा चाहिये । वस्तुतः आत्मदृष्टि ही समस्त विपत्तियोंसे बचने का एकमात्र साधन है ॥ ५७-५८ ॥

उद्वेगजीने कहा—महान् ! आप समस्त ब्रह्मजनों के शिरोमणि हैं । मैं इस दुःखजालसे किये गये तिरस्कारों से अपने मनमें अत्यन्त असह्य समझता हूँ अतः जैसे वे इसको समझ सकें, आपका उपदेश जीवनमें धारण कर सकें, वैसे हमें कल्याण ॥ ५९ ॥ विश्वाम्बर ! जो आपके भाग्यशर्मके आचरणमें प्रमूर्ख संज्म हैं किन्हीं आपके धरण-यत्नओं का ही आश्रय लें लिया है, उन दान्त पुरुषोंके अनिश्चित बड़-बड़ पिशानोंके शिरे

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।

इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥१५॥

यशो यशस्विनां पुद्गलाणां ये गुणिनां गुणा ।

लोभ स्वयोऽपि तान् हन्ति मिश्रो रूपमिवेप्सितम् ॥१६॥

अर्थस्य साधने सिद्ध उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।

नाशोपभोग आयासश्चासन्ति अभ्युत्थानम् ॥१७॥

स्तेपहिंसानृतं दम्भः क्रोधः अयो मदः ।

मेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥

एते पञ्चदशानर्था अर्थमूला मता नृणाम् ।

तस्मादनर्थमथास्य धेयोऽर्थी दूरतस्त्यजत् ॥१९॥

भिषन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।

एकास्त्रिधाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥२०॥

अर्थेनास्वीयसा हते सरम्भा दीप्तमन्यवः ।

त्यजन्त्याशु सृष्टो ज्ञन्ति सहमोत्सृज्य सौहृदम् ॥२१॥

लम्बा जन्मामरप्राप्य मानुष्यं तत्र द्विजापताम् ।

तदनादृत्य ये स्वाध मन्ति यान्त्यशुभा गतिम् ॥२२॥

व्यापारगपादारं प्राप्य लाकृमिं पुमान् ।

द्रविणं अनुपश्यत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥२३॥

देवर्षिपितृभूतानि योर्तान् रथं भाषिनः ।

अमभिभज्य चात्मानं यद्विजितः पतन्त्यथ ॥२४॥

न मेरे सुखभोगके ही काम आया ॥ १४ ॥ प्राय देख
जाता है कि कृष्ण पुरुषोंका धनसे कभी सुख नहीं
मिळता । इस लोकमें तो व धन कमाने और रक्षाकी
चिन्तासे जलते रहते हैं और मत्तेपर कर्म न करनेके
कारण नरकमें जाते हैं ॥ १५ ॥ जैसे घोडा-सा भी
कोई सवाकसुन्दर मस्तराको विगड़ देता है, वैसे ही
तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध पद और
गुणियोंके प्रशस्तनीय गुणोंपर पानी पड़ दता
है ॥ १६ ॥ धन कमानमें, पना लेनपर उसको
बढ़ाने, रखन एवं खर्च करनेमें तथा उसका नाश और
उपभोगमें—जहाँ देखो वही निरन्तर परिश्रम, मय,
विन्ता और भ्रमर ही सम्पना करता पड़ता है ॥ १७ ॥
चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार
भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, लज्जा, लम्पटता, नृणा और
शराव—ये पञ्च अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही मूल
गये हैं । इसलिये कल्याणकारी पुरुषको चाहिये कि
स्वार्थ पथ परमार्थके विरोधी अपनामवारी अनर्थको दूरसे
ही छोड़ दे ॥ १८ ॥ मद-क्रोध, की-मद, मातृ-हिंसा,
सगे-सम्बन्ध—जो स्नेहयन्त्रसे बँधकर विस्तृत एक
झर रहते हैं—सब-क-सब कोसीके कारण इतने फट
जाते हैं कि तुरत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं ॥ २० ॥
ये लोग बाइ-से धनक उठे भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते
हैं । यत्न-परि-यत्नमें सौभाग्य-सम्बन्ध छूट जाते हैं, अग-
हो-रखन प्यारे हैं और एक-एक प्राण लम्ब-देनेपर उताव
हो जाते हैं । यहैकर कि एक-दूसरेका सवनादा पर
बान्त हैं ॥ २१ ॥ दक्षयज्जोके भी प्रार्थनीय मनुष्य
कमना और उसमें भी शत्रु भावगर्भीर प्राप्त करक
जा उसका जनापर करते हैं और अपने सम्बन्ध
परमपर नाग करते हैं, व अगुम गतिपर प्राप्त हान
है ॥ २२ ॥ यह मनुष्यगर्भीर मान और स्वार्थ हार दे,
इसका पारर भा एसा धन बुद्धिमान मनुष्य है जो
अनर्थके धन शक करमें नैसा रहे ॥ २३ ॥ जो
मनुष्य दक्षय शत्रि, पितर, प्रणी, जन्मि-भाइ, पुत्र-पुत्री
और नरक दुस्म-भरिगणोंका जनस दान पर सम्पुष्ट
नहीं रहता जो न सारा ही जनस उपभोग करता है,
यह मनुष्य ममान धनकी रक्षामे परमदय रहता तो

अन्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः ॥ ७ ॥

दुश्शीलस्य कदर्यस्य दुष्टान्ते पुत्रवान्धवाः ।

दारादुदितो मृत्या विपण्या नाश्वरन् प्रियम् ॥ ८ ॥

तत्सर्वं यद्यविचस्य व्युत्सोभयलोकतः ।

धर्मकामविहीनस्य जुहुवुः पञ्चभागिनः ॥ ९ ॥

तदवब्रानविस्रस्तपुष्पस्कन्धस्य मूरिद ।

अर्थोऽप्यगन्धभिधनं बद्धायासपरिश्रमः ॥ १० ॥

झातयो जगद्गुहः किंचित् किंचिदुदस्य उद्वह ।

दैवतः कालव किंचिदुदस्य बन्धोर्नुपार्थिवात् ॥ ११ ॥

॥ एव त्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ।

उपेक्षितश्च स्वजनधिन्यामाप दुरत्ययाम् ॥ १२ ॥

तत्सर्वं भ्यायता दीय नष्टरायस्तपस्विनः ।

स्त्रियता पाप्मकण्डस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

अ चाहदमहा कर्पं वृथाऽऽत्मा मऽनुतापितः ।

न धर्माप न कामाप यसाधापास इच्छः ॥ १४ ॥

और स्वयं भी अपनी वन-सम्पत्तिके द्वारा सम्पन्न अपने शरीरको भी सुखी नहीं करता था ॥ ७ ॥ उसकी कृपणता और बुरे स्वभावके कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर चाकर और पत्नी आदि सभी दुखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्टचिन्तन किया करते थे । कोई भी उसके मनको प्रिय छानेका व्यर्थ नहीं करता था ॥ ८ ॥ वह धोके-फरोके दोनोंसे ही निर गया था । वस, यहाँकि समान कनकी रखवाजी करता रहता था । उस वनसे वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था । बहुत दिनोंतक इस प्रकार जीवन बिताने से उसपर पञ्चमहापद्मके मागी देवता विगड़ उठे ॥ ९ ॥ उदार उदबभी । पञ्चमहापद्मके मन्त्रिपत्रके तिरस्कारसे उसके पूर्व-पुण्योंका सारा—जिसके कत्ते अकतक वन टिका हुआ था—जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रमसे इकट्ठा किया था, वह वन उसकी आँखोंके सामने ही नष्ट-भर हो गया ॥ १० ॥ उस नीच ब्राह्मणका कुछ धन तो उसके कुतुम्हियोंने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये । कुछ आग लगा देने आदि देवी-कपेसे नष्ट हो गया, कुछ समयके फेरसे मरा गया । कुछ साधारण मनुष्योंने ले लिया और बचा-सुचा घर और दण्डके रूपमें शरास्त्रोंने इकट्ठा किया ॥ ११ ॥ उदबभी । इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही । न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे । फिर उसके सगे-सम्बन्धियोंने भी उसकी ओरसे मुँह मोड़ दिया । जब उसे बड़ी म्यानक चिन्ताने पेर दिया ॥ १२ ॥ धनके नाशसे उसका हृदयमें बड़ी जहन हुई । उसका मन खे-से भर गया । आँसुओंके फरफार गमन हो गया । परन्तु इस तरह चिन्ता परते-परते ही उसके मनमें संसारके प्रति महान् दुःखबुद्धि और उत्पट वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥ १३ ॥

अब यह ब्राह्मण मन-ही-मन पढ़ने लगा—धन । धन ॥ बड़ खे-री बात है, मेने इतने निर्रतक जानेसे भय ही इस प्रकार समझा । जिस धनक भिये मेने संसारक परिधम किया, वह न तो धर्ममें ही लग और

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।

इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकस्य च ॥१५॥

यद्यो यशस्विनां शुद्धं साध्या ये गुणिनां गुणाः ।

लोभः स्वप्नोऽपि तान् हन्ति क्षित्रोरूपमिवेष्टितम् ॥१६॥

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणं व्यये ।

नाशोपभोग आवासस्नासमिन्ता अमो नृणाम् ॥१७॥

स्तेय हिंसानृतं दम्भः क्रमः क्रोधः शयो मदः ।

भेदो वैरमविद्यासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥

एते पञ्चदशानर्था अर्थमूला मता नृणाम् ।

तस्मादनर्थमथास्म्य भयोऽर्था दूरतस्त्यजेत् ॥१९॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।

एकास्त्रिंशः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥२०॥

अर्थेनात्सीयसा क्षते संख्या दीप्तमन्यवः ।

त्यजन्त्याशुं स्पृधो ज्वन्ति सहसास्तुन्य सौहृदम् ॥२१॥

लज्जा जन्मामरप्रार्थ्य मानुष्य तत् द्विजाग्रयाम् ।

तदनाद्यस्य ये स्वार्थं प्रप्तिं यान्त्यशुभां गतिम् ॥२२॥

स्नगापवर्गयाद्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।

त्रविण कोऽनुपज्येत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥२३॥

देशपिपितृभूतानि ईर्षीन्धृष्यं भागिनः ।

असंविभज्य चात्मानं यद्विष पतस्त्वथ ॥२४॥

न मेरे सुखमोगके ही काम थाया ॥ १४ ॥ प्राय देख जाता है कि कृपण पुरुषोंको धनसे कमी सुख नहीं मिलता । इस लोकमें तो वे धन कमाने और रक्षाकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर धर्म न करनेके कारण नरकमें जाते हैं ॥ १५ ॥ जैसे घोड़ा-सा भी पक्षे सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको विणव देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणियोंके प्रशस्नीय गुणोंपर पानी फेर देता है ॥ १६ ॥ धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बचाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वही निरन्तर परिश्रम, मय, चिन्ता और भयका ही सामना करना पड़ता है ॥ १७ ॥ चोरी, धिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, क्रम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार भदबुद्धि, वैर, अविद्यास, स्वार्थ, लम्पटता, गूजा और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही मने गये हैं । इनमिले करुणायुक्तभी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके किरोधी अर्थनामवारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे ॥ १८ ॥ माइ-कूचु, की-पुत्र, मत्ता-निता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेहबन्धनसे बँधकर किमुल एक हुए रहते हैं—सबके-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं ॥ २० ॥ ये लोग बोझसे धनके लिये भी झुञ्च और कुद हो जाते हैं । यात-की-यातमें सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, व्यग-होठ रखने लगते हैं और एक-एक प्राण सेन-दनेर उत्सर्ग हो जाते हैं । यहाँ तक कि एक-दूसरेका सबनाश कर बाँधते हैं ॥ २१ ॥ दक्षप्रयोंके भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ क्लृप्तगशरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वाध-परमपूज्य नाश करते हैं, वे अशुभ गतिश्रा प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ यह मनुष्यशरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमन् मनुष्य है जो अनर्थके धाम धनके चक्करमें फँसा रहे ॥ २३ ॥ जो मनुष्य दक्ष, अग्नि पितर, प्राणी, जाति-मार्ग, कुटुम्बी और धनके दूसरे मणी-मणिके उनका भाग दकर सन्तुष्ट नहीं रहता और न स्वयं ही उमका उपभोग करता है, यह पक्षके समान धनकी रखवाही करनेवाला पुरुष तो

अर्थायार्थेहया विचं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।

कुशला येन सिष्मन्ति जरठः किं नु साधमे ॥२५॥

कस्मात् सङ्ग्रह्यते विद्वान् अर्थार्थेहयासक्तम् ।

कस्यचिन्मात्स्या नूनं लोकोऽयं सुविमोक्षितः ॥२६॥

किं धनैर्वनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।

मृत्युना प्रसमानस्य कर्मभिर्वैत अन्मदैः ॥२७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।

येन नीतो दशमेतां निर्बेदभात्मनः पुनः ॥२८॥

सोऽहं कालावशेषेण शोपयिष्येऽङ्गमात्मनः ।

अग्रमघोऽस्त्रिलस्यार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि ॥२९॥

तत्र मामनुमादेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।

सहस्रेन ब्रह्मलोकं स्वर्वाङ्गः समसाधयत् ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्थमिप्रस्य मनसा ब्राह्मन्स्था द्विजसत्तम ।

उन्मुच्य हृदयप्रधीन् शान्ता भिभुरभून्मनिः ॥३१॥

स चचार मदीमेतां सयतारमेन्द्रियानिल ।

भियार्थं नगरप्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविद्यत् ॥३२॥

अप्य ही अजोगतिको प्राप्त होत है ॥ २४ ॥ मैं अपने कर्तव्यसे श्रुत हो गया हूँ । मैंने प्रमादमें अपनी श्रुति, धन और मङ्गल-पौरुष को दिये । विवेकीके जिन सफलसे मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हींको मैंने वन इच्छा करनेकी वर्य्य श्रेष्ठमें खो दिया । अब मुझमें मैं कौन-सा साधन करूँगा ॥ २५ ॥ मुझे मायूम नहीं होता कि वह-वह विद्वान् भी धनकी वर्य्य तुष्णासे निरन्तर क्यों दुखी रहते हैं 'हो-न-हो, अप्य ही यह ससार मिटिनी मायासे व्यत्यस्त मोहित हो रहा है ॥ २६ ॥ यह मृत्यु-शरीर कर्मके विकल गल्लमें पड़ा हुआ है । इससे कनसे, वन देनेवाले देवताओं और ज्योतिसे, योग्यताओं और उनके पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुन-पुन अन्म-मृत्युके चक्रमें बाँधनेवाले स्वप्न कर्मोंसे अम ही क्या है ? ॥ २७ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं । तभी तो उन्होंने मुझे इस दशममें पहुँचाया है और मुझे जगत्के प्रति यह दुःख-मुक्ति और वैराग्य दिया है । कस्तुत वैराग्य ही इस संसार-सागरसे पर होनेके लिये नीकतके समान है ॥ २८ ॥ मैं अब ऐसी अवस्थामें पहुँच गया हूँ । यदि मेरी व्युत्पत्ति हो तो मैं ब्राह्मणमें ही स्मृष्ट रहकर अपने परमकी सम्पत्तमें स्वयंजन हो जाऊँगा और अब वो समय बच रहा है, उसमें अपने शरीरको तपस्वके द्वारा सुख जाऊँगा ॥ २९ ॥ तीनों लोकोंके स्वामी देवता मेरे इस सङ्कल्पक अनुमोदन करें । अभी निराश होनेकी कोई बात नहीं है, क्योंकि राजा स्वर्वाङ्गने तो दो बहीनें ही भगवद्भक्तों की प्राप्ति कर ली थी ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्भवनी ! उस उन्मैतनिवासी ब्राह्मणने मन-ही-मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं और 'मेरे' धनकी गैठ छोड़ दी । इसके बाद वह शान्त होकर मीनी संन्यासी हो गया ॥ ३१ ॥ अब उसके विषयमें किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्ति न रही । उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको बशमें कर लिया । यह पृथ्वीपर लक्ष्मणरूपसे विचरन आया । यह भिक्षुके लिये नगर और गाँवमें जाता अवश्य था, परन्तु इस प्रकार जाता था कि कोई

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।

इष्टा पर्यभवन् भद्र वहीभिः परिभूतिभिः ॥३३॥

केषिन्निषेणुं जगद्गुरोके पात्रं कमण्डलुम् ।

पीठं चैकऽक्षय्यं च कन्यां वीराणि केचन ॥३४॥

प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्वादधुर्धने ।

बलं च सैक्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्ते ॥३५॥

मृत्रयन्ति च पाविष्ठाः स्त्रीबन्त्यस्य च मूर्धनि ।

यतवाचं वाचयन्ति तावयन्ति न वक्ति चेत् ॥३६॥

तर्जयन्त्यपरे वारिभः स्तेनोऽयमिति वादिनः ।

वसन्ति रज्ज्वातं केचिद् वक्ष्यतां बभ्रतामिति ॥३७॥

विपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठ ।

धीवचिच इमां वृत्तिमग्रीत् सज्जनोऽङ्गितः ॥३८॥

अहो एष महासारो वृत्तिमान् गिरिराजिव ।

मौनेन साधयत्यर्थं वक्रवद्वदनिमयः ॥३९॥

इत्येके विहसन्त्यनमेक दुःखातयन्ति च ।

तं वनघुनिरुधुर्यथा फोरनकं श्लिजम् ॥४०॥

एव च भौतिकं दुःखं दैविकं दैविकं च यत् ।

भाक्कम्पमात्मना दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमपुष्पम् ॥४१॥

उसे पहचान न पाता था ॥ ३२ ॥ उद्वक्त्री ! वह भिक्षुक अवधूत बहुत भूता हो गया था । कुछ उसे देखते ही दूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करते उसे तग करते ॥ ३३ ॥ कोई उसका दण्ड छीन लेता, तो कोई मिश्रापात्र ही हाटक ले जाता । कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, इष्टाश-मात्र और कन्या ही लेकर भाग जाता । कोई तो उसकी कँठोटी और कक्को ही शर-उपर बांध देते ॥ ३४ ॥ कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई दिक्क-दिक्ककर फिर छीन लेते । जब वह अवधूत मनुकरी मोंसर जाता और बाहर नदी-उत्तर मोहन करने बैठता, तो पापी लोग कभी उसके सिरपर मूल देते, तो कभी धूक देते । वे लोग उस मैत्री अवधूतको तरह तरहसे बोलनेके लिये विवश करते और जब वह इसपर भी न बोलता तो उसे पीठते ॥ ३५ ३६ ॥ कोई उसे चोर कहकर बँटने-डपटने लगाता । कोई कहता 'इसे बाँध ले, बाँध ले' और फिर उसे रस्तीसे बाँधने लगते ॥ ३७ ॥ कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि 'देखो-देखो, अब इस क्षणने घमंका हाँग रहा है । वन-सम्पति जाती रही, की-पुत्रने घरसे निकाल दिया; अब इसने भीच मोंगनेकर रोन्गार लिया है ॥ ३८ ॥ जोष्टी ! देखो तो सही, यह मोटा-तगावा भिक्षुकी धैर्यमें बड़ भारी पबतके सम्मन है । यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है । सचमुच यह कुलेसे भी बड़कर हाँगी और इङ्गितययी है ॥ ३९ ॥ कोई उस अवधूतकी हँसी उड़ाता, तो कोई उसपर खोबायु छोड़ता । जैसे लोग तोठा-मैना आदि पाखण्ड पक्षियोंको बाँध लेते या पिङ्गुमें बंद कर लेते हैं, वैसे ही उसे भी वे लोग बाँध देते और घरोंमें बंद कर देते ॥ ४० ॥ किन्तु वह सब कुछ जुगनाप सझ बना । उसे कभी अगर आदिक कारण देखिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गरमी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठना पड़ता और कभी दुर्जन लोग आगमन आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते, परन्तु भिक्षुक मनमें इससे काइ बिचर न होता । वह समझता कि यह सब मेरे पूज्यमक परमपरा पत्र है और इसे

ग्रहैर्ग्रहस्यैव मदन्ति पीडां

कृष्यत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५४॥

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्

किमात्मनस्तद्वि जडाजडरवे।

दहस्त्वपि पुरुषोऽय सुपर्णः

कृष्येत् कस्मै नहि कर्ममूलम् ॥५५॥

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्

किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ।

नाम्नेहि सापो न हिमस्य तत् स्यात्

कृष्येत् कस्मै न परस्य इन्द्रम् ॥५६॥

न केनचित् कापि कथंचनास्य

इन्द्रापरताः परतः परस्य।

यथाहमः ससृतिरूपिणः स्या

देवं प्रपुद्गो न विमेषि भूतैः ॥५७॥

एतां स आत्माय परमनिष्ठा-

मष्पासितां पूर्वतममहर्षिभिः।

अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं

तमा मुकुन्दाद्धिनिषेवयैव ॥५८॥

भीमगणानुवाच

निर्विघ्न नष्टविणा गतक्लम

प्रव्रज्य गां पश्यमान इशम्।

ग्रहोंकी पीडा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीर की होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरोंसे सर्व परे है। तब मध्य, वह किस्तर कोष करे ॥ ५४ ॥ यदि कर्मोंको ही सुख-दुःख का कारण माने तो उसे आत्मका क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे तो एक प्रकारके अह और चेतन—उभयरूप होनेपर ही हो सकते हैं।

(जो वस्तु विकारयुक्त और अपना जितजित करनेकी होती है, उसीसे कर्म हो सकते हैं, अतः वह विकारयुक्त होनेके कारण जब होनी चाहिये और जितवित्तवान् बन रखनेके कारण चेतन ।) किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें फौरीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वत्र निरंतर और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मोंका तो कोई आचर ही सिद्ध नहीं होता। फिर कोष किस्तर करें ॥ ५५ ॥ यदि ऐसा माने कि काल ही सुख-दुःख का कारण है, तो आत्मपर उसका क्या प्रभाव ? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे आग आगको नहीं जल सकती, और बर्फ बर्फको नहीं गल सकती, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्मको ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किस्तर कोष किस्तर नाय ? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि इन्द्रोंसे सर्वत्र वर्तित है ॥ ५६ ॥ आत्मा प्रकृतिके स्वरूप, कर्म, कर्षण, लेश, सम्बन्ध और गन्धसे भी रहित है। उसे कभी कहीं किसीक द्वारा किसी भी प्रकारसे इन्द्रोंका स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकनेवाले आदमियोंको ही होता है। अब इस बातको जान लेता है, वह फिर किसी भी मनुष्यके निमित्तसे मयभीत नहीं होता ॥ ५७ ॥ बहुत-बहुत प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परमात्मनिष्ठाका आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रसन्नता के दाता भगवान्‌क चरणकमलमें सेनाके द्वारा ही इस दुरन्त आत्मानसागरको अनायास ही पार कर दूँगा ॥ ५८ ॥

भगवान् भीकृष्ण कहत हैं—उदबन्धी ! उस आकाशका धन क्या मछ बुझा, उसका सात स्तेर ही दूर हो गया। अब वह ससारसे निरक्त हो गया प और सम्पत्ति स्वर्ग पृथ्वीमें स्पष्टन्द निरत रहा प। यपति

निराकृतोऽसन्निरपि स्वधर्मा

दक्षमिवोऽयं मुनिराह गाथाम् ॥५९॥

सुखदुःखपदो नान्वः पुरुषस्यात्मविभ्रम ।

मित्रादासीनरिष्व संसारस्तमसः कृत ॥६०॥

तस्मात् सर्वस्मिन्ना तस्य निगूहाण मनो धिया ।

मय्यावेक्षितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः ॥६१॥

य एतां भिक्षुणा गीतां प्रज्ञनिष्ठां समाहित ।

धारयन्प्रावयन्पृथ्वन् ब्रूतेनैवाभिमूषते ॥६२॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकदशस्कन्धे
प्रयोगविशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

सांख्ययोगः

श्रीभगवानुवाच

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।

भव विज्ञाय पुमान् सद्यो जज्ञाद्यु वैकल्पिकं भ्रमम् । १ ।

मासीच्छान्तमथा ह्यर्थं एकमेवाविकल्पितम् ।

यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगोऽयुगे ॥ २ ॥

तमायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।

दुष्टोंने उसे बहुत सुताया, फिर भी वह अपने धर्ममें अटल रहा, तनिक भी विचलित न हुआ । उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकारका गीत गाया करता था ॥ ५९ ॥ उद्धवजी । इस संसारमें मनुष्यको कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्तका भ्रममात्र है । यह सारा समार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रुके भेद अज्ञानकल्पित हैं ॥ ६० ॥ इसलिये प्यारे उद्धव । अपनी बुद्धियोंको मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको वशमें कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ । वस, सार योगसाधनका इतना ही सार-संग्रह है ॥ ६१ ॥ यह भिक्षुकका गीत क्या है, मूर्तिमान् प्रज्ञान-निष्ठ ही है । जो पुरुष एकप्रचिन्तसे इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है वह कभी सुख-दुःखदि इन्द्रियोंके वशमें नहीं होना । उनके बीचमें भी वह सिंहके समान दहावता रहता है ॥ ६२ ॥

भगवान् श्रीहृण्य कहते हैं—प्यारे उद्धव ! अब मैं तुम्हें सांख्यशास्त्रका निर्णय सुनाता हूँ । प्राचीन कालके बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने इसका निश्चय किया है । जब जीव इसे मधीमोति समझ लेता है, तो वह भेदबुद्धि मुक्त सुख-दुःख आदिरूप भ्रमका तन्मय रूप धारण कर देता है ॥ १ ॥ तुम्हेंसे पूर्व प्रलयप्रलयमें आदिसत्पुरुष और जब कभी मनुष्य विवेकनिपुण होते हैं—एक सभी अवस्थाओंमें यह सम्पूर्ण दृश्य और द्रव्य, जगत् और जीव निरङ्गपदार्थ किसी प्रकारके भेदभावसे रहित केवल ब्रह्म ही होते हैं ॥ २ ॥ इसमें स्पष्ट है नहीं कि ब्रह्ममें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है, यह केवल—अद्वितीय सत्य है; मन और वाणीकी उसमें गति नहीं है । वह

भावनोऽगोचर सत्य द्विधा समभषष्टं ब्रूत ॥ ३ ॥
 तयारेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः साभयारिमिका ।
 ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥
 तमा रज सच्चमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ।
 मया प्रथोभ्यमावावाः पुरुषानुमतेन च ॥ ५ ॥
 तम्ब समभवत् स्र्यं महान् स्र्यण संयुतः ।
 ततो विह्वता जाताऽहकारो या विमोहनः ॥ ६ ॥
 वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चतुर्हं त्रिवृत् ।
 तमात्रन्द्रियमनमां कारणं विद्वच्चिन्मयः ॥ ७ ॥
 अर्थस्तन्मात्रिकाकृद् तामसादिन्द्रियाणि च ।
 तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकुण्ठात् ॥ ८ ॥
 मया संचोदिता भवाः सर्वं संहस्य कारिणः ।
 अहमुत्पादवानासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥
 तस्मिन्नाहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ ।
 मम नाम्नाममूत् पथं विश्वास्म्यं तत्र चारमभूः ॥ १० ॥
 साऽसृजवपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
 लाङ्गान्सपालान् विश्वात्मा भूः सुषः सरिति त्रिधा १ ।
 देवानामोक्त आभीत् स्वर्गूतानां च सुषः पदम् ।
 मत्पादीनां च भूर्लोकं सिद्धानां त्रितयान् परम् ॥ १२ ॥

मया ही माया और उसमें प्रतिबिम्बित जीवके रूपमें—
 पश्य और प्रद्योके रूपमें—दो भगवोंमें विभक्त हो
 गया ॥ ३ ॥ उनमेंसे एक वस्तुमें प्रकृति कहते हैं ।
 उसीने जगत्में कर्म और कारणरूप रूप धारण किया
 है । दूसरी वस्तुमें, जो ज्ञानस्वरूप है, पुनः कहते
 हैं ॥ ४ ॥ उद्भवनी । मेने ही जीवोंके शुभ-अशुभ
 कर्मोंके अनुसार प्रकृतिमें सुख किया । तब उससे
 सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुए ॥ ५ ॥
 उनसे क्रिया-शक्तिप्रधान सूत्र और ज्ञानशक्तिप्रधान महत्त्व
 प्रकट हुए । ये दोनों परस्पर मिले हुए ही हैं । महत्त्वमें
 विकार होनेपर अहङ्कार व्यक्त हुआ । यह अहङ्कार ही
 जीवोंको मोहमें डालनेवाला है ॥ ६ ॥ यह तीन प्रकृतियाँ
 हैं—सात्त्विक, राजस और तामस । अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा,
 इन्द्रिय और मनका कारण है, इसलिये वह जड़-केतन—
 तन्मात्रमय है ॥ ७ ॥ तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्र
 और उनसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति हुई । तब राजस
 अहङ्कारसे इन्द्रियों और सात्त्विक अहङ्कारसे इन्द्रियोंके
 अधिपत्य स्वरूप देवता ॥ प्रकट हुए ॥ ८ ॥ ये सभी
 पदार्थ मेरी प्रेरणासे एकत्र होकर परस्पर मिल गये और
 इन्होंने यह अमण्डलरूप अण्ड उत्पन्न किया । यह अण्ड
 मेरा उत्तम निवासस्थान है ॥ ९ ॥ जब वह अण्ड
 जलमें स्थित हो गया, तब मैं मारात्मरूपसे इसमें
 निराजमान हो गया । मेरी नामसे विभक्तजन्मी उत्पत्ति
 हुई । उसीपर ब्रह्मका आविर्भाव हुआ ॥ १० ॥ विभ-
 समष्टिके अन्त कारण ब्रह्माने पहले बहुत बड़ी तत्त्व
 की । उसके बाद मेरा कृपा-प्रसन्न प्राप्त करके (द्वौगुणके
 द्वारा भू, भुव, स्व अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और
 अग्न—इन तीन ओर्षोंकी और इनके ओर्षयोंकी रचना
 की ॥ ११ ॥ देवतार्थोंके निवासके लिये स्वर्ग, भू-
 प्रेत्यादिके लिये भुवर्ग (अन्तरिक्ष) और मनुष्य
 आदिके लिये भूर्लोक (पृथ्वीलोक) का निश्चय किया
 गया । इन तीनों ओर्षोंसे ऊपर मूर्तलोक, तमलोक आदि

१ त्रिधा मण्डलमय । २ या । ३ योज्यद्वारेति । ४ तत्र । ५ सलिलसंस्थिते ।

• पाँच अनेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार स्वरूप इन्द्रियोंके अधिपत्य स्वरूप देवता हैं ।

मयोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत्प्रभु ।

त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ॥१३॥

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।

महर्षिनक्षपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥१४॥

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत् ।

गुणप्रवाह एतस्मिन्तुन्मज्जति निमज्जति ॥१५॥

अशुद्धैर्बुद्धिः स्थूलो मो मो भावः प्रसिध्यति ।

सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥१६॥

यस्तु यस्मादिरन्तश्च स वै मर्ष्य च तस्य सन् ।

विकारो व्यवहारार्थो यथा सैजसपार्थिवाः ॥१७॥

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विद्धरुतेऽपरम् ।

मादिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते ॥१८॥

प्रकृतिर्ब्रह्मोपादानमाधारः पुरुषः परः ।

सतोऽभिग्नपञ्चकः फालो ब्रह्म तत्त्वितयं स्वहम् ॥१९॥

सर्गः प्रवर्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशुभः ।

महान् गुणविसर्गार्थः स्मिन्त्यन्तो यावदीक्षणम् ॥२०॥

विराम्यपाऽऽसाधमानो लोकस्त्वपिफल्यकः ।

सिद्धोंके निवासस्थान हुए ॥ १२ ॥ सृष्टिकार्यमें समर्थ
ब्रह्मानीने असुर और नागोंके छिये पृथ्वीके नीचे अतल,
त्रितल, सुनल अदि सत पाताल बनाये । इन्हीं तीनों
लोकमें त्रिगुणात्मक कर्मके अनुसार विविध गतियों
प्राप्त होती हैं ॥ १३ ॥ योग, तपस्या और सत्यासक्त
द्वारा महर्षिक, जनार्णव, तपश्चक और सत्यगुरु
उत्तम गति प्राप्त होती है तथा भक्तियोगसे मेरा परम काम
मिळता है ॥ १४ ॥ यह सारा जगत् कर्म और उनके
संस्कारोंसे युक्त है । मैं ही कालरूपसे कर्मोंके अनुसार
उनके फलका विधान करता हूँ । इस गुणप्रवाहमें
पङ्कज जीव कमी बूझ जाता है और कभी ऊपर आ
जाता है—कभी उसकी अवगति होती है और कभी
उसे पुण्यगति—उन्नतगति प्राप्त हो जाती है ॥ १५ ॥
जगत्में छोटै-बड़, छोटै-पतले—जितने भी पदार्थ बनते
हैं, सब प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही सिद्ध
होते हैं ॥ १६ ॥ जिसके आदि और अन्तमें जो है,
वही बीचमें भी है और वही सत्य है । विकार तो केवल
व्यवहारके छिये की हुई कल्पनामात्र है । जैसे काल
कुण्डल आदि सोनेके विकार, और घड़-सुकोरे आदि
मिट्टीके विकार पहले सोना या मिट्टी ही थे, बादमें भी
सोना या मिट्टी ही रहेंगे । अतः बीचमें भी वे सोना या
मिट्टी ही हैं । पूर्ववर्ती कारण (महत्त्व आदि) भी
जिस परम कारणको उपादान बनाकर ऊपर (अहंकार
आदि) कार्यकर्ताकी सृष्टि करते हैं, वही उनकी अपेक्षा
भी परम सत्य है । तात्पर्य यह कि जब जो जिस मिट्टी
भी कर्मोंके आदि और अन्तमें विद्यमान रहता है, वही
सत्य है ॥ १७-१८ ॥ इस प्रपञ्चका उपादान-कारण प्रकृति
है, परमात्मन अपिष्ठान है और इच्छा प्रकट करके शाला
का है । व्यवहार-कारणकी यह त्रिविक्रता वस्तुतः त्रि-
स्तरूप है और मैं वही हूँ प्रभु हूँ ॥ १९ ॥ नवतक
परमशक्तकी ईक्षणशक्ति अपना काम करती रहती है,
अवतक उनकी पावन-प्रवृत्ति बनी रहती है, तबतक
जीवोंके कर्मयोगके छिये कारण-कार्यरूपसे अपना कृता-
पुत्रादिके रूपसे यह सृष्टिचक्र निरन्तर चलाता
है ॥ २० ॥

यह सिद्ध ही विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति और
संहारकी धीमाभूमि है । जब मैं कालरूपसे इसमें व्याप्त

पञ्चस्त्राय विज्ञेयाय कल्पते मृगनैः सह ॥२१॥
 अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते ।
 धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥२२॥
 अप्सु प्रलीयते गन्ध आपम्ब स्वगुणे रसे ।
 लीयते ज्योतिरपि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥२३॥
 रूपं वागौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
 अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोन्येषु ॥२४॥
 योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे ।
 शब्दो भूतादिमन्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥२५॥
 स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवचनः ।
 तेऽभ्यक्ते संप्रलीयन्ते तत् काले लीयतऽभ्यये ॥२६॥
 काला मायामये जीवे जीव आत्मनि मयश्च ।
 आत्मा कबल आत्मस्यो विकल्पापायलक्षणः ॥२७॥
 एवमन्वीक्षमाणस्य कर्षं वैकल्पिकं भ्रम ।
 मनसो हृदि तिष्ठेत ज्योतीर्वाक्कादये तमः ॥२८॥
 एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिमेवैनः ।
 प्रविक्रामानुलोमाभ्यां परस्परदृष्ट्या मया ॥२९॥

होता हूँ, प्रत्ययका सवरूप करता हूँ, तब यह मुक्तोंके साथ विनाशरूप विभागके योग्य हो जाता है ॥ २१ ॥ उसके छीन होनेकी प्रक्रिया यह है कि प्राणियोंके शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें और भूमि गन्ध तन्मात्रमें छीन हो जाती है ॥ २२ ॥ गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें और तेज रूपमें छीन हो जाता है ॥ २३ ॥ रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श अकाशमें तथा आकाश शब्दतन्मात्रमें छीन हो जाता है । इन्द्रियों अपने कारण देवताओंमें और अन्ततः एक अहङ्कारमें समा जाती हैं ॥ २४ ॥ हे सौम्य । राजस अहङ्कार अपने नियन्त्र सात्त्विक अहङ्काररूप मनमें, शब्दतन्मात्र पञ्चभूतोंके कारण तामस अहङ्कारमें और सारे जगत्को मोहित करनेमें समर्थ त्रिविध अहङ्कार महात्तममें छीन हो जाता है ॥ २५ ॥ ज्ञानशक्ति और क्रियशक्ति-प्रधान महात्तम अपने कारण गुणोंमें छीन हो जाता है । गुण अभ्यक्त प्रकृतिमें और प्रकृति अपने प्रत्येक अविनाशक कर्ममें छीन हो जाती है ॥ २६ ॥ कलम मायामय जीवन और जीव मुक्त अवस्था आत्मामें छीन हो जाता है । आत्मा किसीमें छीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है । वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान एवं कर्ता है ॥ २७ ॥ उदबनी । जो इस प्रकार विवेकदृष्टिसे देखता है, उसके निम्न यह प्रपञ्चका भ्रम हो ही नहीं सकता । यदि कदाचिद् उसकी स्मृति हो भी जाय, तो वह अविक कल्पक हृदयमें ठहर कैसे सकता है ? क्या स्मरण होनेपर भी आकाशमें अन्धकार ठहर सकता है ॥ २८ ॥ उदबनी । मैं कर्म और कारण दोनोंका ही साक्षी हूँ । मेने तुम्हें सृष्टिसे प्रत्यक्ष और प्रलम्बसे सृष्टिकर्ता संशयविधि पतल दी । इससे स्पष्टदृष्टि गोंठ कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ २९ ॥

इति भीमप्रणवते महापुराणे पारमर्श्या संज्ञितायामेवमवधारकश्च चतुर्विधोऽप्यय ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निकषण

श्रीभगवानुवाच

गुणानामभिधायां पुमान् येन यथा भवेत् ।

तमे पुरुषवर्षेदमुपभारय शसतः ॥ १ ॥

शमोदमन्तिविशेषा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।

तुष्टिस्त्यागोऽस्तुष्टा श्रद्धा हीर्दयादिः खनिर्बुद्धिः ॥ २ ॥

काम ईहा मदस्तृष्णा तन्म आक्षीर्षिदा सुखम् ।

मदोत्साहा यज्ञः प्रीतिर्हास्य वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३ ॥

क्रोधो लाभाऽनुत्वं हिंसा याव्यादम्भः कलमः कलिः ।

शोकमोहौ विपादार्त्तौ निद्राऽऽद्या भीरुधुमः ॥ ४ ॥

सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वदः ।

बुधयो वर्णितप्रायाः संनिपातमधो शृणु ॥ ५ ॥

संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्बुध या मतिः ।

स्ववहारः संनिपादा मनोमाप्रन्त्रिमासुभिः ॥ ६ ॥

धर्मे चार्थे च काम च यदासौ परिनिष्ठितः ।

गुणानां संनिकर्षोऽयं धृष्टारसिधनावह ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिलघुन निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाभ्रम ।

स्वधर्मे चानुविष्ठव गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छयादिभिः ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषपर उदबन्धी । प्रत्येक व्यक्तिमें अन्तः-अन्तः गुणोंका प्रकाश होता है । उनके कारण प्राणियोंके स्वभावमें भी भेद हो जाता है । अब मैं बताता हूँ कि किस गुणसे कैसा-कैसा स्वभाव बनता है । तुम सत्त्वानीसे सुनो ॥ १ ॥ सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं—शम (मन संयम), दम (इन्द्रियनिग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता), वीर्य, तप, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, कियोंके प्रति अनिच्छा, यज्ञ, लज्जा (पाप करनेमें स्वाभाविक संकोच), आत्मरति, दान, विनय और सरलता आदि ॥ २ ॥ रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं—इच्छा, प्रयत्न, घम, तृष्णा (असन्तोष), ऐंठ या अकल, देवताओंसे घन आदिकी पूजना, भेदबुद्धि, किययोग, युद्धादिके क्रिये मद्रजित उत्साह, अपने यहाँ प्रेम, हास्य, पराक्रम और इच्छार्थक उद्योग करना आदि ॥ ३ ॥ तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं—मोह (असहिष्णुता), क्रोध, मिथ्यामार्गण, हिंसा, पापना, पाशुव, धम्म, फल, शोक, माह, विराट्, दीनता, निद्रा, आशा, मय और अकाम्यता आदि ॥ ४ ॥ इस प्रकार क्रमसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी अविवर्धन वृत्तियोंका पूषण पूषण वर्णन किया गया । अब उनके फलसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन सुनो ॥ ५ ॥ उदबन्धी । मैं हूँ और यह मेरा है । इस प्रकारकी बुद्धिमें तीनों गुणोंका मिश्रण है । जिन मन, शब्द आदि विषय, इन्द्रिय और प्राणोंके कारण पूर्वोक्त वृत्तियोंका उदय होता है, वे सत्त्व-रज-तम सात्विक, राजस और तामस हैं ॥ ६ ॥ जब मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें संयत रहता है, तब उसे सत्त्व गुणसे श्रद्धा, रजोगुणसे रति और तमोगुणसे घनकी प्राप्ति होती है । यह भी गुणोंका मिश्रण ही है ॥ ७ ॥ जिस समय मनुष्य सफ़ल काम, गृहस्थाश्रम और स्वधर्मचरणमें अधिक प्रीति रखता है, उस समय भी उसमें तीनों गुणोंका मंत्र ही सम्पन्ना आदि ॥ ८ ॥

मनसिक शान्ति और ब्रितेन्द्रियता आदि गुणोंसे सत्त्वगुणी पुरुषकी, कामना आदिसे रजोगुणी पुरुषकी

कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥	और कोष-हिंस्र आदिसे तमोगुणी पुरुषकी प्रकृति
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।	करे ॥ ९ ॥ पुरुष हो, चाहे स्त्री—जब वह निष्कम
त सत्त्वप्रकृतिं विधात् पुरुष स्त्रियमेष वा ॥ १० ॥	होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा मेरी वारण
यदा आश्रित आश्रया मां मजित स्वकर्मभिः ।	करे, तब उसे सत्त्वगुणी जानना चाहिये ॥ १० ॥
त रजःप्रकृतिं विधादिसामाश्रया तामसम् ॥ ११ ॥	सत्त्वमभावसे अपने कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करनेका
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।	रजोगुणी है और जो अपने शत्रुकी मृग्य आदिसे
विचित्रा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निश्चमते ॥ १२ ॥	लिये मेरा भजन-पूजन करे, उसे तमोगुणी सम्झना
यदेतरो जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।	चाहिये ॥ ११ ॥ सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके
तदा मुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥ १३ ॥	कारण जीवका चित्त है। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं
यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ।	है। इन्हीं गुणोंके द्वारा जीव शरीर अपना घन कदिये
यदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा धिया ॥ १४ ॥	आसक्त होकर कर्त्तव्यमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥ सत्त्व-
यदा जयेत् रजः सत्त्वं तमो मूर्धं लयं जडम् ।	गुण प्रकाशक, निर्मल और शान्त है। चित्त समय वह
युज्येत शक्रमोहान्मयां निद्रया हिंसयाऽऽश्रया ॥ १५ ॥	रजोगुण और तमोगुणको दबाकर बढता है, उस समय
तदा चित्तं प्रसीदत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः ।	पुरुष सुख, धर्म और ज्ञान आदिका भजन हो जाता
दहऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्व विद्धि मत्पदम् ॥ १६ ॥	है ॥ १३ ॥ रजोगुण मेदबुद्धिके कारण है। उसका
विदुर्बन् क्रियया चाधीरनिपुचिध येतसाम् ।	सम्भाव है आसक्ति और प्रवृत्ति। चित्त समय तमोगुण
गात्राम्नास्पर्शं मनो भ्रान्त रज एतेर्निशामय ॥ १७ ॥	और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढता है, उस समय
सीदपितं वितीयेत चतसो ब्रह्मोऽधमम् ।	म्लुथ्य दुःख, कर्म, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होता
मना नष्टं तमा म्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥ १८ ॥	है ॥ १४ ॥ तमोगुणका स्वरूप है अज्ञान। उसका

एषमाने गुणे सश्व देवानां बलमेधते ।

असुराणां च रजसि तमस्तुद्वयं रजसाम् ॥१९॥

सत्त्वाध्याकरणं विद्यात् रजसा स्वप्नमादिशेत् ।

प्रस्वाप तमसा चान्तोऽस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥२०॥

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ।

तमसाचोऽथ आसुराणां रजसान्तरचागिण ॥२१॥

सत्त्वे प्रजीनाः स्वर्गान्ति नरलोकं रजोलया ।

तमालयास्तु निर्णयं यान्ति मामेष निर्गुणा ॥२२॥

मदपणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ।

राजसं फलसंक्रन्तं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥२३॥

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं राजो वैकल्पिकं च यत् ।

प्राकृतं तामसं ज्ञानं मक्षिष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥२४॥

धनं तु सारिणो वासो प्राणा राजस उच्यते ।

तामसं द्यूतसदनं मक्षिकेतुं तु निगुणम् ॥२५॥

सारिणः कारकाऽसङ्गी रागाऽथा राजसः स्मृतः ।

तामसः स्मृतिविभ्रष्टा निगुणा मदपाभयः ॥२६॥

उत्तमजी ! सत्त्वगुणके बहनेर देवताओंका, रजोगुणके बहनेर असुरोंका और तमोगुणके बहनेर राक्षसोंका वज्र कह जाता है (वृत्तियोंमें भी क्रमशः सत्त्वादि गुणोंकी अधिकता होनेपर देखन, असुरत्व और राक्षसत्वप्रधान निवृत्ति, प्रवृत्ति अथवा मोहकी प्रधानता हो जाती है) ॥ १९ ॥ सत्त्वगुणसे जाग्रत-अवस्था, रजोगुणसे स्वप्नावस्था और तमोगुणसे सुषुप्ति-अवस्था होती है । तुरीय इन तीनोंमें एक-सा व्याप्त रहता है । वही शुद्ध और एकरस व्याप्त है ॥ २० ॥ वेदोंके अभ्यासमें तत्पर ब्राह्मण सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपरके लोकमें जाते हैं । तमोगुणसे जीर्णोक्त वृश्चादिपक्व अवोगति प्राप्त होती है और रजोगुणसे मनुष्यचरीरमिच्छा है ॥ २१ ॥ जिसकी मृत्यु सत्त्वगुणोंकी वृद्धिके समय होती है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; जिसकी रजोगुणोंकी वृद्धिके समय होती है, उसे मनुष्यलोक मिथ्या ॥ और जो तमोगुणोंकी वृद्धिके समय मरता है, उसे नरकमें प्राप्ति होती है । परन्तु जो पुरुष त्रिगुणतर्क-जीवन्मुक्त हो गये हैं, उन्हें मेरी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥ जब अपने धर्मका धारण मुझ समर्पित करके अपना निष्कर्ममार्गसे क्रिया जाता है, तब वह सात्त्विक होता है । जिस कर्मके अनुसारने किसी फलकी कामना रहती है, वह राजसिक होता है और जिस कर्ममें किसीका सुखने अपना दिखने आदि का मन रहता है, वह तामसिक होता है ॥ २३ ॥ शुद्ध आत्मिक ज्ञान सात्त्विक है । उससे कर्ता-मोक्षा समझना राजस ज्ञान है और उसे शरीर समझना तो सर्वथा तामसिक है । इन तीनोंसे विश्रुति मेरे स्वप्नका वास्तविक ज्ञान निगुण ज्ञान है ॥ २४ ॥ धनमें रहना सात्त्विक निवास है, गौरवमें रहना राजस है और ज्ञानधरमें रहना तामसिक है । इन सबसे बड़कर मेरे मन्दिरमें रहना निगुण निवास है ॥ २५ ॥ अनासक्तभरसे धर्म धरनेवाला सात्त्विक है, रागाद्वय धारक धर्म धरनेवाला राजसिक है और शून्यारविषारसे रहित होकर धरनेवाला तामसिक है । इनके अतिरिक्त जो पुरुष कष्ट मरी धरगम रहकर बिना अश्रुधारक धर्म धरता है, वह निगुण वता

सात्त्विक्याभ्यास्तिमकी भद्रा कर्मभद्रा तु राजसी ।

तामसभर्मे या भद्रा मरसेवायां तु निर्गुणा ॥२७॥

पथ्य पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं रसुतम् ।

राजस चेद्द्विप्रप्रपुं तामस चार्तिदाशुचि ॥२८॥

सात्त्विकं सुखमात्मार्थं विपश्येत्तु राजसम् ।

तामसं माहर्देनोत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥२९॥

द्रव्यं बुद्धः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारक ।

भद्रावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एष हि ॥३०॥

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषात्मकधिष्ठिताः ।

दृष्टं ध्रुवमनुष्यात् बुद्ध्या वा पुरुषार्थम् ॥३१॥

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धना ।

येनेमे निर्जिताः सौम्यगुणा जीवेन चित्तजाः ।

भक्तियोगेन यथिष्ठो मद्भाषाव प्रपद्यते ॥३२॥

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ।

गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणम् ॥३३॥

निस्तप्तो मां भवेद् विद्वानप्रमत्ता जितेन्द्रियः ।

रजस्तममभिजयेत् सत्यसत्सेवया मुनिः ॥३४॥

हे ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानविषयक भद्रा सात्त्विक भद्रा है, कर्मविषयक भद्रा राजस है और जो भद्रा कर्ममें होती है, वह तामस है तथा मेरी सेवामें जो भद्रा है, वह निर्गुण भद्रा है ॥ २७ ॥ आरोग्यवाक्य, पवित्र और अनायास प्राप्त भोजन सात्त्विक है। रसनेन्द्रियको इचिकर और स्वादकी इच्छासे युक्त अन्न राजस है तथा दुःखदायी और अपवित्र आहार तामस है ॥ २८ ॥ अन्तर्मुखतासे—आत्मचिन्तनसे प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है। वृद्धिमुखतासे—विषयसे प्राप्त होनेवाला राजस है तथा अज्ञान और दीनतासे प्राप्त होनेवाला सुख तामस है और जो सुख मुझसे मिलता है, वह तो गुणातीत और अप्राकृत है ॥ २९ ॥

उदावकी। द्रव्य (वस्तु), देश (स्थान), काल, कण, ज्ञान, कर्म, कर्ता, भद्रा, अवस्था, देव-मनुष्य-तिर्यगश्च शरीर और निष्ठ—सभी त्रिगुणवत्त्व हैं ॥३०॥ नररत्न ! पुरुष और प्रकृतिके आश्रित जितने भी भाव हैं, सभी गुणमय हैं—वे चाहे नेत्राणि इन्द्रियेण अनुभव किये हुए हों, शब्दोंके द्वारा अक्ष-अक्षन्तरोंके सम्बन्धमें सुने गये हों अथवा बुद्धिके द्वारा ज्ञेय-विचारे गये हों ॥ ३१ ॥ जीवको चित्तनी भी योनियों अन्तर्गतियों प्राप्त होती हैं, वे सब उनके गुणों और कर्मोंके अनुसार ही होती हैं। हे सौम्य ! सब-के-सब गुण भित्तसे ही सम्बन्ध रखते हैं (इसलिये जीव उन्हें अनायास ही जीत सकता है)। जो जीव उनपर विषय प्राप्त कर लेता है, वह भक्तियोगके द्वारा मुझमें ही परिनिष्ठित हो जाता है और अमृत मेरा वास्तविक स्वरूप, जिसे मनुष्य भी पहचाने हैं, प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥ यह मनुष्यावलीर बहुत ही दुर्लभ है। इसी अवलीमें तत्त्वज्ञान और उत्तम निष्ठावाक्य विद्वान्प्रति प्राप्त सम्भव है, इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुषोंसे गुणोंकी आसक्ति हटायकर भजन करना चाहिये ॥ ३३ ॥ विचारशील पुरुषको चाहिये कि मनी सख्यवनीसे सत्यगुणोंके सेवनसे रजोगुण और तमोगुणोंकी जीत ले, इन्द्रियोंका वशमें कर ले और मेरी स्तुत्यपदों सम्पन्न मेरे भजनमें लग जाय। आसक्तिनष्ट होना भी न रहने दो ॥ ३४ ॥

सत्त्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्यण शान्तधीः ।

सम्पद्यते गुणैर्मुक्ता जीवा जीव विहाय माम् ॥ ३५ ॥

जीवा जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः ।

मयैव प्रकृता पूर्णो न वह्निर्नन्तरमरेत् ॥ ३६ ॥

योगयुक्तिसे चित्तवृत्तियोंको शान्त करके निरपेक्षताके द्वारा सत्त्वगुणपर भी विजय प्राप्त कर ले । इस प्रकार गुणोंसे मुक्त होकर जीव अपने जीवभावको छोड़ देता है और मुक्तसे एक हो जाता है ॥ ३५ ॥ जीव जिज्ञासुरूप अपनी उपाधि जीवत्वसे तथा अन्तःकरणमें उदय होनेवाली सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंसे मुक्त होकर मुक्त आत्माकी अनुभूतिसे एकत्वदर्शनसे पूरा हो जाता है और वह फिर ब्रह्म अथवा आन्तरिक किंती भी नियममें नहीं जाता ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायामेकदशस्कन्धे
पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः पुरुषवाक्ये वैराग्योक्तिः

श्रीभगवानुवाच

महत्त्वज्ञानमिमं कथं लब्ध्वा भद्रम आसितः ।

आनन्दं परमात्मानमात्मस्य सधुपैति माम् ॥ १ ॥

गुणमग्न्या जावयान्स्या विमुक्ता ज्ञाननिष्ठया ।

गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्वस्तुतः ।

धृतमानाऽपि न पुमान् पुत्र्यवसेवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥

सङ्गं न कुर्यादसतां शिभोदरतृणां कथित् ।

तस्मात्तुगतमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ३ ॥

एतः सम्राट्किमां गाथामगायत ब्रह्मज्ञवाः ।

उर्वेशविरहादुपसन्नं निर्विष्यः शोकसंयमः ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उत्तमजी ! यह मनुष्य-वरी मेरे सम्बन्धानकी प्राप्ति—मेरी प्राप्ति मुझ साधन है । इसे पाकर जो मनुष्य सत्त्वे प्रमत्तसे मेरी मक्ति करता है, वह अन्तःकरणमें स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १ ॥ जीवोंकी सभी योगियाँ, सभी गतियाँ त्रिगुणमयी हैं । जीव ज्ञाननिष्ठके द्वारा उनसे सत्ताके छिड़े मुक्त हो जाता है । सत्त्व-रज आदि गुण जो दीख रहे हैं वे वास्तविक नहीं हैं, मायामय हैं । ज्ञान हा जानेके बाद पुरुष उनके बीचमें रहनेपर भी उनके द्वारा व्यक्त कर देनेपर भी उनसे वैधता नहीं । इसका कारण यह है कि उन गुणोंकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है ॥ २ ॥ साधारण व्योमको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जो व्योम विषयोंके सेवन और उदरपोषणमें ही लगे हुए हैं, उन व्यस्त पुरुषोंका सङ्ग कामी न करें, क्योंकि उनका अनुगमन करनेवाले पुरुषकी वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अंधेके सहारे अन्धेनाले अंधेकी । उसे जो घोर अन्धकारमें ही भटकना पड़ता है ॥ ३ ॥ उत्तमजी ! पहले तो परम यशस्वी सम्राट् इत्यनन्दन पुरुषका उर्वशीके विरहसे अप्रसन्न

त्यक्त्वाऽऽरमानं ब्रजन्तीं तानम उन्मत्तवन्तृपः ।

विलपन्नत्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विवृण्वः ॥ ५ ॥

कामान्वृत्ताऽनुगुणं धुक्कृन् वर्षयामिनीः ।

न वेद यान्तीर्नापान्तीरुर्बध्नाकृष्टवेषतनः ॥ ६ ॥

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकण्ठमलचेतसः ।

वेद्या गृहीतकण्ठस्य नायुः स्वप्नाहमे स्मृताः ॥ ७ ॥

नाह वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो बाम्युदितोऽमुया ।

सुपितो वर्षपूगानां शवाहानि गवान्युत ॥ ८ ॥

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योपितां कृतः ।

क्रीडामृगभक्षवर्ती नरदेवक्षित्वा मणिः ॥ ९ ॥

सपरिच्छदमारमानं हिंसा वृणमिवेभरम् ।

यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नम उन्मत्तवत् रुदन् ॥ १० ॥

कुतस्तस्यानुभावः सात् तज ईक्षत्वमेव वा ।

याऽन्वगच्छ स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः ॥ ११ ॥

किं विधया किं तपसा किं त्यागेन धृतनवा ।

किं विधित्तन मौर्जन स्त्रीभिर्षस्य मनो हवम् ॥ १२ ॥

स्वार्थसाक्षाविर्दधिर्भां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।

याऽहमाभरतो प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्रितः ॥ १३ ॥

येषुष हो गया था । पीछे शोक हट जानेपर उसे बस
पैराग्य हुआ और तब उसने यह गाथा गयी ॥ १ ॥

राजा पुरुरवा नम होकर पाण्डवी मूर्ति अपनेसे
छेड़कर भागती हुई उर्वशीके पीछे अत्यन्त विवृण्व होकर
दौबने लग्य और कहने लगा—‘देखि ! निष्ठुरहृदये ! घोरी
घेर खर जा, माग मत’ ॥ ५ ॥ उर्वशीने उनका चित
आकृष्ट कर लिया था । उन्हें वृत्ति नहीं हुई थी । वे
क्षुद्र विषयोंके सेवनमें इतने डूब गये थे कि उन्हें वर्षोंकी
रात्रियों न जाती मासूम पड़ी और न तो जाती ॥ ६ ॥

पुरुरवाने कहा—हाय-हाय ! मन्त्र, मेरी मूर्खता
तो देखो, कामवासनाने मेरे चित्तको कितना कलुषित कर
दिया । उर्वशीने अपनी बहुरङ्गसे मेरा ऐसा गन्ध फल्लस
कि मैंने आपुनके न जाने कितने वर्ष खो दिये । मोह !
विस्मृतिभी भी एक सीमा होती है ॥ ७ ॥ हाय-हाय !
इसने मुझे छुड़ लिया । सूर्य अस्त हो गया था उदित
हुआ—यह भी मैं न जान सका । बड़ खेदकी बात
है कि बहुत-से वर्षोंके दिन-पर-दिन बीतते गये और
मुझे मासूमतक न पड़ा ॥ ८ ॥ अहो ! आश्चर्य है !
मेरे मनमें इतना मोह बढ़ गया, जिसने नरदेव-सिंहासनि
भक्षकर्त्ता सम्राट् मुझ पुरुरवाको भी क्षीयका क्रीडामृग
(खिलौना) बना दिया ॥ ९ ॥ देखो, मैं प्रजासे
मर्यादामें रखनेवाला सम्राट् हूँ । वह मुझे और मेरे
राजशाटक तिनकेकी तरह छेड़कर जाने लगी और मैं
पाण्डु होकर नग-भ्रमण रोता-बिम्बस्ता उस बीके पीछे
दौड़ पड़ा । हाय ! हाय ! यह भी कोई जीवन है ! ॥ १० ॥
मैं गवेषी तरह दुष्टियों सहकर भी बीके पीछे-पीछे
दौड़ता रहा, फिर मुझमें प्रमाद, तेज और क्षाम्भिय भय,
फैले रह सकत है ॥ ११ ॥ बीके जिसका मन कुप
लिय, उसकी विषा व्यर्थ है । उसे तस्या, त्याग और
शस्त्राभ्याससे भी कोई व्यथ नहीं । और इसमें सन्देह
नहीं कि उसका एकाग्रसेवन और मौन भी निष्फल
है ॥ १२ ॥ मुझे अपने ही हानि-व्यमश पता नहीं,
फिर भी अपनेसे बहुत बड़ा पण्डित मानता हूँ । मुझ
मूर्खतां धिक्कार है ! हाय ! हाय ! मैं भक्षकर्त्ता सम्राट्
होकर भी गध और पैरवी तरह क्षीक पशुमें पड़

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् ।
 न तृप्यस्यात्मभूः कामो वहिराहुतिर्भिर्यथा ॥१४॥
 पुंसस्यापहृतं पितृ को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
 आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोऽयम् ॥१५॥
 बोधितस्यापि देव्या मे वृक्त्वाक्येन दुर्मतः ।
 मनोगतो महामोहो नापयात्सर्जितात्मनः ॥१६॥
 किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
 रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥
 कार्यं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याधारमकोऽद्भुतः ।
 क गुणाः सौमनस्याद्या द्रव्यातोऽनिघया कृतः ॥१८॥
 पित्राः किं स्वं तु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः शयूत्रयोः ॥
 किमरतमनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥१९॥
 तस्मिन् कलवरऽमप्य तुच्छनिष्ठे विपक्षते ।
 अहो सुभद्रं सुनसं सुसितं च सुखं स्त्रियाः ॥२०॥
 त्वह्मां मरुधिरस्नापुमदोमञ्जास्त्रिसंहतौ ।
 विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥२१॥
 अथापि नापसज्जेत स्नापुं स्त्रैणपु चार्थवित् ।

गया ॥ १३ ॥ मैं बर्षोंतक उर्वशीके होठोंकी मदक मदिरा
 पीता रहा, पर मेरी कामवासना तृप्त न हुई । सच
 है, कहीं आहुतियोंसे अग्निकी तृप्ति हुई है ॥ १४ ॥
 उस कुष्ठ्याने मेरा पितृ पुरा छिन्न । आत्माराम
 जीवमुक्तोंके स्वामी इन्द्रियातीत भगवान्को छोड़कर और
 ऐसा कौन है, जो मुझे उसके पदेसे निवृत्त करे ॥ १५ ॥
 उर्वशीने तो मुझे वैदिक सूक्तके वक्ताओंद्वारा यथार्थ बात
 कहकर समझाया भी था, परन्तु मेरी बुद्धि ऐसी मारी
 गयी कि मेरे मनका वह भयङ्कर मोह तब भी मिट्टा
 नहीं । जब मेरी इन्द्रियों ही मेरे हाथके बाहर हो गयीं,
 तब मैं सम्प्रज्ञा भी कैसे ॥ १६ ॥ जो रस्तीके स्वरूपको
 न जानकर उसमें सर्पकी कल्पना कर रहा है और दुष्टी
 हो रहा है, रस्तीने उसका क्या किताबा है ? इसी प्रकार
 इस उर्वशीने भी हमारा क्या विग्राह ? क्योंकि स्वयं मैं
 ही अन्तिरेन्द्रिय होनेके कारण अपराधी हूँ ॥ १७ ॥
 कहीं तो यह मैत्र कुक्ष्य, दुग्धसे मरा अविविध शरीर
 और कहीं सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुण्योक्ति
 गुण । परन्तु मैंने अज्ञानवश असम्भ्रममें सुन्दरका स्मरण
 कर लिया ॥ १८ ॥ यह शरीर मत्त-मृत्तका सर्वस्व
 है अथवा पत्नीकी सम्पत्ति ? यह स्वामीकी मोल की हुई
 वस्तु है, अगका ईश्वर है अथवा कुत्ते और गधोंका
 भोजन ? इसे अपना कर्त्तव्य अथवा सुहृद-सम्बन्धियोंका ?
 बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई निश्चय नहीं होता ॥ १९ ॥
 यह शरीर मत्त-मृत्ते मरा हुआ व्यक्त अविविध है ।
 इसका अन्त यही है कि पक्षी खरकर चित्र पर दे,
 इसके सब जानेपर इसमें कीड़ पक्ष ज्यों अथवा जव
 वेनेपर यह राक्षस डेर हो जाय । ऐसे शरीरपर खेग
 उद्भूत हो जाते हैं और कहने लगते हैं—'अहो ! इस
 जीका मुखका चित्ता सुन्दर है । नाक कितनी सुघर
 है और मन्द-मन्द मुखान चित्ता ममोहर है ॥ २० ॥
 यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु मेघा, मज्जा और
 इन्द्रियोंका डेर और मज्जा तथा पीचसे मरा हुआ है ।
 यदि मनुष्य इसमें रमता है, तो मज्जा-मृत्ते कीड़ोंमें और
 उसमें कन्तर ही क्या है ॥ २१ ॥ इसउपे अपनी
 मर्याद समझनेवाले विवेकी मनुष्यको चाहिये कि स्त्रियों
 और स्त्रीज्यप्य पुरुषोंका सङ्ग न करे । निस्य और

विपयेन्द्रियमयोगा मनः क्षुम्यति नान्यथा ॥२२॥

अदृष्टादधुताद् भावाश्च भाव उपजायते ।

असम्प्रयुज्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः ॥२३॥

तस्मात् सङ्गान् कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रौणेषु चेन्द्रियैः ।

विदुषां चाप्यविभक्त्य पद्वगो किमु मादृशाम् ॥२४॥

भीमङ्गावतानुवाच

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः

स उषशीलाकमथो विहाय ।

आत्मानमात्मयवगम्य मां वै

उपारमज्ज्ञानविधूतमाह ॥२५॥

तता दुस्मङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।

सन्त एतस्य विठ्ठन्ति मनाभ्यामङ्गमुक्तिभिः ॥२६॥

मन्ताऽनपद्या मयिता प्रशान्ता समदर्शिनः ।

निममा निरहङ्कारा निश्चिन्ता निष्परिग्रहा ॥२७॥

तैव नित्य महाभाग महाभागव मन्त्रधा ।

मम्भरन्ति हिता नृणां दुषणां प्रपूज्य स्वयम् ॥२८॥

ता य भूयान्ति गायन्ति धनुमादन्ति चारुताः ।

मयगाः भूयानाध भक्तिरिन्दति न मयि ॥२९॥

इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है, कल्पना विकारका कोई अक्सर ही नहीं है ॥ २२ ॥ जो कल्प कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके जिये मनमें विकार नहीं होता । जो लोग विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चय होकर शान्त हो जाता है ॥ २३ ॥ अतः कभी, कल और मन आदि इन्द्रियोंसे स्त्रियों और स्त्रीछम्पोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये । मेरे जैसे लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानोंके जिये भी अपनी इन्द्रियों और मन विश्वसनीय नहीं हैं ॥ २४ ॥

भगवान् भीरुङ्गावत कहते हैं—उदबजी । राजराजेश्वर पुष्करवाके मनमें जब इस तरहका उद्वेग उत्पन्न हो, तब उसने उर्वशी-लोकका परिष्ठापन कर दिया । अवज्ञानोदय होनेका कारण उसका मोह जाता रहा और उसने अपने हृदयमें ही आत्मस्वरूपसे मेरा सम्झावण कर लिया और वह शान्तभावमें स्थित हो गया ॥ २५ ॥ इसजिसे बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पुष्करवाकी भाँति कुसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे । संत पुरुष अपने सद्गुरुदेवोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्ट कर देंगे ॥ २६ ॥ संत पुरुषोंका ध्यान यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तुका अपेक्षा नहीं होती । उनका चित्त मुझमें लगा रहता है । उनके हृदयमें शान्तिकार आगम समुद्र स्रवता रहता है । वे सदा-सदा-सर्वत्र स्वयं सब रूपसे स्थित भगवान् का ही दर्शन करते हैं । उनमें भ्रष्टाचारका स्था भी नहीं होता, फिर ममताकी ता सम्भरना ही पड़ती है । वे सर्व-भूषण, सुख-दुःख आदि दुःखोंमें पकड़त रहते हैं तथा बौद्धिक, मनसिक, शारीरिक और पार्थक्य-सम्बन्धी किसी प्रसङ्गका भी परिग्रह नहीं रखते ॥ २७ ॥ परमभक्त्यन्त उदबजी । मनोंक लोभापयरी मयि पवन कह 'उनका पास सदा-सदा भी दीप्त-हृदय हुआ पड़ती है । मेरी वरुण-मनुष्यों के विषय परन हितकर है जो उनका मेहनत पड़ता है उनका सार गान-ध्यान का शक्ति है ॥ २८ ॥ ता काय और आरभ्यमान भी दीप्त-भक्तोंका ध्यान गान और अनुष्ठान करने है । वे सब भगवत का नाम है और मेरा मन । प्रमद

मर्क्ति लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।

मदयन्तगुणे ब्रह्मयानन्दानुभवात्मनि ॥३०॥

यथोपश्रयमाणस्य भगवत विभावसुम् ।

श्रीत भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवस्तथा ॥३१॥

निमज्जयोन्मज्जता घारे भवाब्धौ परमायनम् ।

सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौदृढाः सुमज्जताम् ॥३२॥

अर्चं हि प्राणिनां प्राण आतानां शरणं त्वहम् ।

धर्मा विशं नृणां प्रत्य सन्ताऽवाम् विभ्यताऽरणम् ॥३३॥

सन्ता दिशन्ति चक्षुषि बहिरर्कं समुत्थित ।

दधता बाधवा सन्त मन्त आत्माहमव च ॥३४॥

वैतसेनस्तताऽप्यवमुर्वश्या लाकनि स्पृहः ।

सुकमद्वा महीमतामसमारामवचार ह ॥३५॥

मक्ति प्राप्त कर लेते हैं ॥ २९ ॥ उदबन्धी । मैं अनन्त
अधिन्य कल्याणमय गुणगणोंका आश्रय हूँ । मेरा स्वरूप
ही—केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा । मैं
सम्प्राप्त परम हूँ । जिसे मरी भक्ति मित्र गयी, वह तो
संत हो गया । अब उसे कुछ भी पाना नैव नहीं
है ॥ ३० ॥ उनकी तो बात ही क्या—जिसने उन
संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी भी कमजबता,
संसारमय और अज्ञान आदि सबका निवृत्त हो जाते
हैं । भग्न, जिसने अग्निभस्मान्का आश्रय ले लिया उसे
शीत, मय अवका अव्ययरक्ष दुःख हो सकता है ॥ ३१ ॥
जो इस घोर संसारसागरमें डूब उतरा रहे हैं, उनका
छिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एकमात्र आश्रय हैं,
जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके छिये एक नौका ॥ ३२ ॥
जैसे अन्तसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं
ही दीन-दुखियोंका परम रक्षक हूँ, जैसे मनुष्योंके लिये
परलोकमें घम ही एकमात्र पूँजी है—वैसे ही जो प्राण
संसारसे भयभीत हैं, उनका छिये संतान ही परम
आश्रय हैं ॥ ३३ ॥ जैसे सूर्य आकाशमें उग्य होकर
लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नम्रदान
करता है, वैसे ही संत पुरुष अपनेको तथा
मग्नान्का देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं । संत
अनुग्रहशील देखते हैं । संत अपने हितैरी सुखी हैं ।
संत अपने प्रियतम आत्मा हैं । और अन्तिम क्या कहूँ,
मैं ही संतक रूपमें विद्यमान हूँ ॥ ३४ ॥ प्रिय
उदब । आत्मसाक्षात्कार हाते ही इत्यन्त पुनरुत्पत्ति
उपशान्तिकी प्रकटी स्पृहा न रही । उसकी सारी अस्त्विकी
मि गयी और वह आत्मराम होकर सत्त्वस्वसे इस
पृथ्वीपर विचरण करने लगा ॥ ३५ ॥

इति धर्मप्राग्वत् महापुराणे गारुडस्य सद्भिन्नयामरात्मक

पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

क्रियायोगका ध्यान

उदा उगय

क्रियायाग ममानस्य भवदाराधन प्रभा ।

उदयजान पूर्य—भक्तवत् आत्मा किम क्रिया

प्राप्त जायत एतत् त्रि भक्तजन त्रिम प्रसन्न त्रिम

शुचि सम्भृतसम्भार प्राग्दर्भं कल्पितासन ।

आसीन प्रागुद्गर्वाचैर्दर्शयामथ सम्मुख ॥१९॥

कृतपास कृतन्यासां मदर्चा पाणिनाऽऽमृजत् ।

कलशं प्राक्षणीय च यथाश्चदुपसाधयेत् ॥२०॥

तदग्निर्द्वेषजनं द्रव्याभ्यात्मानमेव च ।

प्रोक्ष्य पात्राणि श्रोत्रपद्मिस्त्वैस्तेर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥२१॥

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैक्षिक ।

हृदा क्षीप्याथ क्षिप्त्वा गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥२२॥

पिण्डं वाय्वभिसंशुद्धं हृत्पद्मस्थो परां भम ।

अग्नीं जीवकलां व्यापन्मादान्ते सिद्धभाषिताम् ॥२३॥

तथाऽऽस्मभूतया पिण्डं व्याप्त्यसम्पूज्य तन्मयः ।

प्राजापत्यादिषु स्यात्पन्यस्ताङ्गमां प्रपूजयेत् ॥२४॥

पापोपस्पृशाईजादीनुपचारान् प्रकल्पयेत् ।

उपासक पहले पूजाग्नी सामग्री इकट्ठा कर ले । फिर इस प्रकार कुत्ता विछाये कि उनके अगल भग्न पूरकी ओर रहें । तदनन्तर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके पवित्रतासे उन कुत्तोंके आसनपर बैठ जाय । यदि प्रतिमा अथवा हो तो उसके सामने ही बैठना चाहिये । इसके बाद पूजावस्त्र प्रारम्भ कर ॥ १९ ॥ पहले विधिपूर्वक अङ्गन्यास और कर्तन्यास कर ले । इसके बाद मूर्तिमें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमापरसे पूर्वसमर्पित सामग्री हटाकर उसे पोंछे । इसके बाद जलसे भरे हुए कलश और प्रोक्षणपात्र अग्निकी पूजा गन्ध-पुष्प आदिसे करे ॥ २० ॥ प्रोक्षणपात्रके जलसे पूजासामग्री और अपने शरीरका प्रोक्षण कर ले । तदनन्तर पाषाण, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पात्रमें कलशमेंसे जल भरकर रख ले और उनमें पूजा-पदार्थोंके अनुसार सामग्री डाले । (पाषाणपात्रमें श्यामाक—सौंके दाने, दूब, कसम, किण्णुकान्ता और चन्दन, तुलसीपत्र आदि, अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, अञ्जत, जौ, कुश, तिन्त्र, सरसों और दूब तथा आचमनपात्रमें जापमल, जौ आदि डाले ।) इसके बाद पूजा करनेकेलिये चाहिये कि तीनों पात्रोंको क्रमशः हृदयमन्त्र, शिरोमन्त्र और शिख्यमन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अन्तमें गायत्रीमन्त्रसे तीनोंको अभिमन्त्रित करे ॥ २१ २२ ॥ इसके बाद प्राणायामके द्वारा प्राणबायु और मूत्रनवाँ द्वारा शरीरस्य अग्निके शुद्ध हो जानेपर हृदयकलमें परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ दीपकशिखीके समान मेरी जीवकलका ध्यान करे । बड़े-बड़े सिद्ध अग्नि-मुनि उनके अङ्गर, उङ्गर, मङ्गर, किन्दु और नाद—इन पाँच कलमेंसे अन्तमें उसी जीवकलका ध्यान करते हैं ॥ २३ ॥ वह जीवकल आत्मस्यरूपिणी है । जब उसके तेजसे सारा कल करण और शरीर भर जाय, तब मानसिक उपचारोंसे मन-ही-मन उसकी पूजा करनी चाहिये । तदनन्तर तन्मय होकर मेरा व्यवहार करे और प्रतिमा आदिमें स्थापना करे । फिर मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास करके उसमें मेरी पूजा करे ॥ २४ ॥ उद्वहनी ! मेरे आसनमें धम आदि गुणों और विमल आदि शक्तियोंकी व्यवस्था करे । अर्थात् आत्मके चारों फलमें धर्म, धन, वैराग्य और ऐश्वर्यचार पाये हैं ; अर्घ्य, बहान,

धर्मादिभिः नवभिः कल्पयित्वाऽऽसन्नमम् ॥२५॥

पथमष्टदल तत्र कर्णिकाकंसरोज्ज्वलम् ।

उभाम्यां वेदत'गाम्यां मर्मां तुभयसिद्धये ॥२६॥

सुशृङ्गन पाञ्चजन्य गदासीपुभलुईलान् ।

सुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्स चानुपूजयेत् ॥२७॥

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च ।

महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥२८॥

दुर्गां विनायकं व्यासं विष्णुक्सेनं गुरुन् सुरान् ।

स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखां पूजयेत् प्राञ्चनादिभिः ॥२९॥

चन्दनोद्गीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासिष्ठैः ।

सलिलैः स्नापयन्मन्त्रनिर्गदा विभवे सति ॥३०॥

सर्षपमानुषाकनं महापुरुषविधमा ।

पौरुषेणापि सूक्तनं साममी राजनादिभिः ॥३१॥

वस्त्रापरीताभरणपत्रस्रग्माधलपनैः ।

मलकुर्वीत सप्रमं मद्रक्तो मां यथोषितम् ॥३२॥

पाषाणचर्मनीयं च गन्धं सुमनसोऽञ्जतान् ।

धूपदीपापहायाणि वृषान्मे भद्रवार्चकः ॥३३॥

गुडवापससर्पाणि उष्णुस्यापूपमादकान् ।

संपावदपिष्टपांश्च नवय सति कल्पयत् ॥३४॥

अथैराग्य और धनैर्धर्म—ये चारों दिशाओंमें ढंढे हैं, सत्त्व-रज-तम-मय तीन पटरियोंकी कनी हुई पीठ है, उसपर विष्णु, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्ला, सत्या, इशाना और अनुमदा—ये नौ शक्तियाँ विराजमान हैं । उस आसनपर एक अष्टदल कमल है, उसकी कर्णिका अल्पतः प्रकाशमान है और पीली-पीली वस्त्रोंकी छटा निराखी ही है । आसनके सम्बन्धमें ऐसी भावना करके पाषा, आचमनीय और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत करे । तदनन्तर भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये वैदिक और तान्त्रिक विधिसे मेरी पूजा करे ॥ २५ २६ ॥ सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे और कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्सन्चिह्नकी कक्ष स्वस्वर यात्रात्मान पूजा करे ॥२७॥ नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाकूट, कठ, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्श्वोंकी आठ दिशाओंमें, गरुडकी, सामने, दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्णुक्सेनकी चारों ओरोंमें स्थापना करके पूजन करे । बापी और गुरुकी और यथाक्रम पूर्वदिशि दिशाओंमें इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी स्थापना करके प्रोक्षण, अर्घ्यदान आदि क्रमसे उनकी पूजा करनी चाहिये ॥ २८ २९ ॥

प्रिय उद्भव ! यदि सामर्थ्य हो तो प्रतिदिन चन्दन, खस, कदूर, केसर और अरगदा आदि सुगन्धित वस्तुओंद्वारा सुवासित जलसे मुक्त स्नान कराये और उस समय 'धूर्वाय धर्म' इत्यादि सर्षपमानुषाक, किन्ते पुण्डरीकश्रा इत्यादि महापुरुषनिधा, 'सत्त्वसर्वज्ञं पुरुष' इत्यादि पुरुषसूक्त और 'ध्वन्द्वं नरो जेमविता इत्यन्त' इत्यादि मन्त्राक्त राजनादि सामग्रायनका पाठ भी करता रहे ॥ ३० ३१ ॥ मेरा भक्त वक्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माथ्र, गन्ध और चन्दनादिसे प्रमद्वत्क यथावत् मेरा शृङ्गार करे ॥ ३२ ॥ उपासक भद्रार्क साथ मुष्ट पाषा, आचमन, चन्दन पुष्प, अन्नत धूप, गीत आदि मामभिषेच समर्पित करे ॥ ३३ ॥ यदि हा सक नो गुह्यं, खीर, घृत, पूर्ण, शूर, उड्ड, हृदय, लही और दात

मसाक्षां ये यथार्चन्ति सात्वता सात्वतर्षभ ॥ १ ॥

एतद् वदन्ति मुनयो मुहुर्नि श्रयस नृणाम् ।

नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २ ॥

निस्तृत ते मुन्वाभोजाद् यदाह भगवानजः ।

पुत्रेभ्यो मृगुमुस्येभ्यो देव्यै च भगवान् भव ॥ ३ ॥

एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् ।

श्रेयसामुत्तमं मन्यं स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥ ४ ॥

एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ।

भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

न हन्ताऽनन्तपारस कमलपत्रस्य चोद्वह ।

संश्रित वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥

वैदिकस्तान्त्रिको मिथ इति मे त्रिविधो मत्स ।

प्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समचयेत् ॥ ७ ॥

यदा स्तनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ।

यथा यज्ञत मां भक्त्या भद्रया तस्मिन्बोध मे ॥ ८ ॥

अर्चायां त्वष्टिलेऽग्नौ वा हव्ये वाप्यु इति द्विजे ।

ब्रह्मण भक्तियुक्तोऽर्चत् स्वगुरुं माममायया ॥ ९ ॥

पूर्वं ज्ञानं प्रकुर्वीत भीतबन्तोऽङ्गमुद्वह ।

उभयैरपि च ज्ञानं मन्त्रैर्मृगहणादिना ॥ १० ॥

१ वैदिक । २ सुयज्ञा इति वा द्विजः ।

उदेत्यसे आपकी अर्चा-पूजा करते हैं, आप ज्ञान आराधनरूप क्रियायोगका वर्णन करिये ॥ १ ॥

नारद, भगवान् व्यासदेव और आचार्य बृहस्पति अपि नई श्रुति-मुनि यह बात बार-बार कहते हैं कि क्रिया योग द्वारा आपकी आराधना ही मनुष्योंके परम इच्छा साधना है ॥ २ ॥ यह क्रियायोग पहले-पहल व

मुखरविन्दसे ही निकल्य था । आपसे ही प्रथम । इसे ब्रह्मजीने अपने पुत्र मृगु आदि ऋषियोंको भगवान् शङ्करने अपनी अर्द्धाङ्गिनी भगवती पार्वती उपदेश किया था ॥ ३ ॥ मर्यादाशक्त प्रभे ।

क्रियायोग ब्राह्मण-श्रुति आदि वर्गों और ब्रह्मचरि-आदि आश्रमोंके लिये भी परम कल्याणकारी है ।

ता एसा समझता हूँ कि स्त्री-शूद्रादिके लिये भी । सबसे श्रेष्ठ साधना-गहति है ॥ ४ ॥ कमलपत्र नाम सुन्दर । आप शङ्कर आदि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर और मैं आपके चरणोंका प्रभु मत्स हूँ । आप ।

करके मुझे यह कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाली वि

क्तव्य है ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्वह ! कर्मबन्धन इतना विस्तार है कि उसकी कोई सीमा नहीं है, इसलिये मैं उसे ढोकेंमें ही पूर्णर-रूपसे विनिर्मुक्त करने करता हूँ ॥ ६ ॥ मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक तान्त्रिक और मिथित । इन तीनोंमेंसे मेरे भक्तों में भी अपने अनुकूल जान पड़े, उसी विधिसे मेरी आराधना करनी चाहिये ॥ ७ ॥ पहले अपने बन्धनमुक्त

शाओछ विधिसे सम्पन्न पशोपवीत-संस्कारके द्वारा संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करे, फिर भद्रा और नक्षिके साथ वह विष्ट प्रकार मेरी पूजा करे, इसकी विधि हम

मुझसे सुनो ॥ ८ ॥ भक्तिपूर्वक निष्कारण मन्त्रसे अपने पिता एवं गुरुवर्य मुझ परमात्मका पूजाकी समझनेके

द्वारा मूर्तिमें, बेनीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, इन्में अपना आराधना—चाहे किसीमें भी आराधना करे । ९ ।

उपासकको चाहिये कि प्रातः कल दण्डन करके पहले शरीरशुद्धिके लिये ज्ञान करे और फिर वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिथी और मत्स आदि

वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिथी और मत्स आदि

वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिथी और मत्स आदि

वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिथी और मत्स आदि

वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिथी और मत्स आदि

वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिथी और मत्स आदि

संशोषास्पादिकर्माग्निवेदनाचोदितानि मे ।

एवांतेः कल्पयेत् सम्यक्संकल्पः कर्मपावनीम् ॥११॥

झेलीदारुमयी लौही लेप्पा लेप्पा च सैकसी ।

मनोमयी मणिमयी प्रतिमाएविधा स्युता ॥१२॥

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।

उद्गासावाहने न ततः स्मिरायामुदघार्चने ॥१३॥

अस्मिरायां विकल्पः स्यात् स्वण्डिले तु भवेत् द्रवम् ।

अपनं त्वण्डिलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥१४॥

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मघागः प्रतिमादिष्वभायिनः ।

भक्तस्य च यथालब्धैर्हवि भावेन चैव हि ॥१५॥

आनालंकरणं प्रष्टमचायामव दूदध ।

स्वण्डिले सत्त्वविन्यासा वद्गावान्यप्सुर्तद्वि ॥१६॥

सर्वे चान्मर्षं प्रष्ट सलिले सलिलादिभिः ।

भद्रयोपाहृतं प्रष्ट भक्तन मम वार्षपि ॥१७॥

सूर्यप्यभक्तोपहृतं न म तापाय कल्पत ।

गन्धो धूप समनसा दीपाश्चाद्यं च किं पुनः ॥१८॥

लेप करके पुन स्नान करे ॥ १० ॥ इसके पश्चात्
वेदोक्त सन्ध्या-चन्दनादि निस्पृह करन चाहिये ।
उसके बाद मेरी आराधनाप्रार्थना ही सुदृढ़ सङ्कल्प करके
वैदिक और तान्त्रिक विधियोंसे कर्मकण्ठोंसे छुड़ानेवांछी
मेरी पूजा करे ॥ ११ ॥ मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी होती
है—पद्मकी, छत्रकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दन आदि
की चित्रमयी, आलुकायमयी, मनोमयी और मणिमयी ॥ १२ ॥
जल और अजल भेदसे दो प्रकारकी प्रतिमा ही सुव्रत
भक्तान्क मन्दिर है । उदवजी ! अजल प्रतिमामें
पूजनमें प्रतिदिन आवाहन और मिसर्जन नहीं करना
चाहिये ॥ १३ ॥ जल प्रतिमाके सम्बन्धमें विकल्प
है । चाहे करे और चाहे न करे । परन्तु आलुकायमयी
प्रतिमामें तो आवाहन और मिसर्जन प्रतिदिन करना
ही चाहिये । मिट्टी और चन्दनकी तथा चित्रमयी प्रतिमाओं-
में स्नान न करना, केवल मार्जन कर दे, परन्तु और
सबको स्नान करना चाहिये ॥ १४ ॥ प्रसिद्ध प्रसिद्ध
पदार्थोंसे प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा की जाती है, परन्तु
जो निष्कृत मक्त है, वह अनायास प्राप्त पदार्थोंसे और
आध्यात्मिकसे ही हृदयमें मेरी पूजा कर ले ॥ १५ ॥
उदवजी ! स्नान, वस्त्र, आभूषण आदि तो पापघ्न
अथवा धातुकी प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी हैं ।
आलुकायमयी मूर्ति अथवा मिट्टीकी बदीमें पूजा करनी हा,
तो उसमें मन्त्रोंके द्वारा अंग और उसके प्रवाह
देवताओंकी यथास्थान पूजा करनी चाहिये । तथा अग्निमें
पूजा करनी हो, तो घृतमिश्रित हवन सामग्रियोंसे आहुति
देनी चाहिये ॥ १६ ॥ सूर्यको प्रतीक मनकर की
जानेवाली उपासनामें मुख्यतः अश्वत्थान एव उपासना
ही प्रिय है और जलमें तर्पण आदिसे मेरी उपासना
करनी चाहिये । जब सुष कष्ट मक्त हार्दिक श्रद्धासे
जल भी पड़ाता है, तब म उसे बड़े प्रेमसे स्वीकार
करता है ॥ १७ ॥ यदि कष्ट अथवा सुष बहुत-सी
सामग्री निवेदन करे, तो भी मैं उससे स्तुष्ट नहीं
होता । जम में भक्ति-श्रद्धापूर्वक समर्पित जलसे ही
प्रसन्न हो जाता हूँ, तब गन्ध, पुष्प, धूप, गीत और
नैवेद्य आदि वस्तुओंके समर्पणसे तो पड़ना ही क्या
है ॥ १८ ॥

शुचि सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्शे कल्पितासन ।

आसीन प्रागुदग्वार्चदर्थायामथ सम्मुखः ॥१९॥

कृतन्यास कृतन्यासां मदर्चा पाणिनाऽऽमृजत् ।

कलशं प्रोक्षणीयं च यथाशुपसाधयेत् ॥२०॥

तदङ्घ्रिर्देवयजनं द्रव्याभ्यात्मानमेव च ।

प्राप्त्य पात्राणि त्र्योपप्लवितैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥२१॥

पाद्याभ्यां च मनीषा च त्रीणि पात्राणि दैक्षिक ।

हृदा शीघ्रं च क्षिप्य गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥२२॥

पिण्डे वाय्वभिसंशुद्धं हृत्पद्मत्वां परां मम ।

अर्घ्यां जीवकलां ध्यायेन्नादान्तसिद्धभाविताम् ॥२३॥

तथाऽऽत्मभूतया पिण्डं व्याप्तं सम्पूज्य तन्ममः ।

आवासाद्वर्चादिषु स्वाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥२४॥

पापोपस्पृश्यादीनुपचारान् प्रकल्पयेत् ।

उपासक पहले पूजायी सामग्री इकट्ठा कर ले । फिर इस प्रकार कुछ विष्टायें कि उनके कगले मन पूरकी ओर रहें । तदनन्तर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके पवित्रतासे उन कुशोंके आसनपर बैठ जाय । यदि प्रतिमा अच्छी हो तो उसके सामने ही बैठना चाहिये । इसके बाद पूजापर्य्य प्रारम्भ करे ॥ १९ ॥ पहले त्रिधिपूर्वक अङ्गन्यास और करन्यास करे । इसके बाद मूर्तिमें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमापरसे पूर्वसर्पित सामग्री हटाकर उसे पोंछ दे । इसके बाद जलसे मरे हुए कच्चा और प्रोक्षणपात्र आदिकी पूजा गन्ध-गुण्य आदिसे करे ॥ २० ॥ प्रोक्षणपात्रके अन्तरे पूज्यसामग्री और अपन शरीरका प्रोक्षण कर ले । तदनन्तर पाच, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पत्रमें कलशमेंसे जल भरकर रख दे और उनमें पूजा-मन्त्रिके अनुसार सामग्री डाले । (पाचपात्रमें श्यामाक—सौंके दाने, दूब, कमल, विष्णुकमल और चन्दन, तुलसीदल आदि, अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, अक्षत, बौ, कुश, तिल, सरसों और दूब तथा आचमनपात्रमें जायफल, लैंग आदि डाले ।) इसके बाद पूजा करनेवालेको चाहिये कि तीनों पत्रोंको क्रमशः हृदयमन्त्र, शिरोमन्त्र और शिख्यमन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अन्तमें गायत्रीमन्त्रसे तीनोंको अभिमन्त्रित करे ॥ २१ २२ ॥ इसके बाद प्राणायामके द्वारा प्राणवायु और मायनाओंद्वारा शरीरका अक्षिके छुद हो जानेपर हृदयकमलमें परम सुख और श्रेष्ठ नीपकविद्याके समान मेरी जीवकलाका ध्यान करे । बड़े-बड़े सिद्ध श्रुति-मुनि स्फुरके अक्षर, उकार, मकार, विन्दु और नास—इन पाँच कलमोंके अन्तमें उसी जीवकलाका ध्यान करते हैं ॥ २३ ॥ यह जीवकला आत्मस्वरूपिणी है । जब उसके सेजसे सारा अन्त करण और शरीर भर जाय, तब मानसिक उपचारोंसे मन-ही-मन उसकी पूजा करनी चाहिये । तदनन्तर तन्मय होकर मेरा आकाशन करे और प्रतिम आदिमें स्थापना करे । फिर मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास करके उसमें मेरी पूजा करे ॥ २४ ॥ उदवशी । मेरे आसनमें धर्म आदि गुणों और निमग्न आदि शक्तियोंकी मगना करे । अर्थात् आत्मके चारों करनेमें रमे, ज्ञान, नैराग्य और ऐश्वर्य्यका चार पाये दे, अर्चन अर्चन,

धमादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसन्नं मम ॥२५॥

पद्मपटदल तत्र कर्णिकसराञ्ज्वलम् ।

उभाम्बा वेदतगाम्या मदीं तृभयसिद्धये ॥२६॥

सुदधनं पाञ्चजन्य गदासीधुधनुहलान् ।

सुसल कौस्तुभ मालां भीवत्स चालुपूजयेत् ॥२७॥

नन्द सुनन्दं गरुडं प्रचण्ड चण्डमेव च ।

महाबलं बल चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥२८॥

दुर्गा विनायकं व्यासं विष्णुवत्सेनं शुक्रं सुरान् ।

स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्राक्षणादिभिः ॥२९॥

चन्दनोक्षीरकर्पूरकुङ्कुमागुल्वासिंहः ।

सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्निश्चदा विभवे सति ॥३०॥

स्वर्णचर्मामुवाकन महापुरुषविषया ।

पौरुषेणापि हस्तन सामभी राजनादिभिः ॥३१॥

वस्त्रोपवीताभरणपत्रसम्मान्धलपनैः ।

भलं कुर्वीत सप्रम मङ्गलको मां यथोचितम् ॥३२॥

पादमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽञ्जलान् ।

धूपदीपापहार्याणि दद्यान्मे भद्रयार्चकः ॥३३॥

गुहपायससर्पीणि शम्भुन्यापूपमोदकान् ।

संपावदधिघृषांश्च नवघ सति कल्पयेत् ॥३४॥

अत्रैवाय और अनर्थ—ये चारों दिशाओंमें बडे हैं, सत्वरज-तम-रूप तीन पटरियोंकी कनी हुई पीठ है, उमपर विमन्त्र, उत्कर्षणी, झाना, क्रिया, योग, प्रदी, सस्या, इशाना और अनुवाह—य नौ शक्तियों विराजमान हैं । उस आसनपर एक अष्टदल कमल है, उसकी कर्णिका अत्यन्त प्रकाशमान है और पीछे-पीछे कसरोकी छटा निराखी ही है । आसनके सम्मुखमें ऐसी भक्ता करके पाष, आचमनीय और अण्य आदि उपचार प्रस्तुत करे । तदनन्तर भोग और मोक्षकी सिद्धि के लिये वैदिक और तान्त्रिक विधिसे मेरी पूजा करे ॥ २५-२६ ॥

सुदधनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूस्त—इन आठ अयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे और कौस्तुभमणि, वैजपत्तीमाल तथा श्रीवत्सचिह्नकी वक्त्र स्वरूप यथास्थान पूजा करे ॥२७॥ नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पादोंकी आठ दिशाओंमें, गरुडकी, सामने, दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्णुके लिये चारों क्षेत्रोंमें स्थापना करके पूजन करे । बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्राणि आठ लोकपालोंकी स्थापना करके प्रोक्षण, क्षुब्धदल आदि क्रमसे उनकी पूजा करनी चाहिये ॥ २८-२९ ॥

म्रिय उद्धव ! यदि सामर्थ्य हो तो प्रतिदिन चन्दन, मूस, कूर, कसर और अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओंद्वारा सुवासित अर्घ्यसे मुझ स्नान कराये और उस समय 'सुवर्णं धर्मं इत्यादि स्वर्णचर्मामुवाक, त्रिनेत्रं पुण्डरीकश्च' इत्यादि महापुरुषनिवा, 'स्वस्त्यस्तु' इत्यादि पुरुषस्तु और 'इन्द्रं नरो नेन किता इक्षत' इत्यादि मन्त्रोंके राजनादि सामग्रायनका पठ भी करता रहे ॥ ३०-३१ ॥ मेरा मण्ड वक्त्र, यक्षोपवीत, व्यामूषण, पत्र, मात्र, गन्ध और चन्दनादिसे प्रमत्तक यथावत् मेरा शृङ्गार करे ॥ ३२ ॥ उपसक्त भद्राके साथ मुझे पाष आचमन, चन्दन पुष्प अक्षत, धूप, गीप आदि सामग्रियों समर्पित करे ॥ ३३ ॥ यदि मैं सक तो गुह, खीर, घृत, पूर्ण, पूर, अह्नि, हल, दही और दाह

अम्पन्नन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।

अंभाद्यगीधनृत्यादि पर्वणि स्युस्तान्वहम् ॥३५॥

विधिना विहिते कृण्वे मेस्त्रलागर्तवेदिभिः ।

अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम् ॥३६॥

परिस्तीर्याथ पर्युषेदन्वाधाय यथाविधि ।

प्रोक्ष्यन्त्याऽऽसाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याद्यौ भावयेत्त मासु ।

तप्तजाम्बूनदप्रसृतं शुक्लचक्रगदाम्बुजैः ।

लसत्तुर्ध्वजं ध्वान्तं पथकिञ्चनकवाससम् ॥३८॥

स्फुरत्किरीटकटक्कटिचूडनराज्जवम् ।

श्रीवत्सवधसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥३९॥

व्यायश्मभ्यर्च्य दारुणि हविषाभिघृतानि च ।

प्रास्यान्यभागावाहारौ दत्त्वा चोन्यप्लुतं हविः ॥४०॥

शुश्रूषामूलमन्त्रेण षोडशर्चाविधानतः ।

धर्मादिभ्यां यथान्यायं मन्त्रैः स्थितकृतं पुनः ॥४१॥

आदि विधिवन्यज्ञनोंकर नैवेद्य व्यापे ॥ ३४ ॥ माकनूके विप्रहृको दत्तुयन कराये, उदटन व्यापे, पक्कामृत अरिसे स्नान कराये, सुगन्धित पदार्थोंकर लेप करे, दर्पन दिखाये, मोग व्यापे और शक्ति हो तो प्रतिदिन अन्न पत्रोंके अवसरपर नाचने-गाने आदिकर भी प्रबन्ध करे ॥ ३५ ॥

उदधन्वी ! तदनन्तर पूजाके बाद शराबाध निषिद्ध करने हुए पुण्यमें अग्निहीन स्वापना करे । वह कुम्ह मेखल, गर्त और वेदीसे शोभायमान हो । उसमें हाथकी हवासे अग्नि प्रज्वलित करके उसका परिसमाह्वन करे, अर्थात् उसे एकत्र कर दे ॥ ३६ ॥ वेदीके चारों ओर कुशमृज्जिक करके अर्थात् चारों ओर बीस-बीस कुश विछकर मन्त्र पढ़ता हुआ उनपर जल छिड़के । इसके बाद विभिन्नवर्णक सम्मिश्रणोंकर आधानरूप अन्वाधान कर्म करके अग्निके उत्तर भूमिमें होमाप्यग्रेणी सामग्री रखे और प्रोक्षणीपात्रके जलसे प्रोक्षण करे । तदनन्तर अग्निमें मेघ इस प्रकार प्यान करे ॥ ३७ ॥ 'मेरी मूर्ति तपसे हुए सोनेके समान दम-दम दमक रही है । रोम-रोमसे वनस्पतिकी कर्मा हो रही है । त्वंजी और विश्वकार मुझपर शोभायमान हैं । उनमें शङ्ख, कक, गदा, पथ विरानमन हैं । कमण्डली केसरके समान पील-पील बन पहना रहा है ॥ ३८ ॥ सिरपर मुकुट, कन्धपर्योमें कान, कमरमें करवनी और नौहोंमें बाजूबंद शिखरिया रहे हैं । कण्ठ स्वर्णर भीकसका सिद्ध है । गर्भमें पौस्तुममणि जगमग रही है । छुटनोंकर वनमल पटक रही है ॥ ३९ ॥ अग्निमें मेरी इस मूर्तिका प्यान करके पूजा करनी चाहिये । इसके बाद सूखी समिधाओंको घृतमें गुणेर आहुति दे और अम्पमग और आवार नामक दो-दो आहुतियोंसे और भी हवन करे । तदनन्तर घीसे भिगोकर अन्य हवन-सामग्रियोंसे आहुति दे ॥ ४० ॥ इसके बाद अपने इहमन्त्रसे अपना 'अन्मो नारायणाय' इस आद्याक्षर मन्त्रसे तथा पुरुस्तुष्टके सोम्य मन्त्रोंसे हवन करे । सुक्षिमन्त्र पुराणोंके आदिये कि धर्मादि देवताओंक जिये भी विभिन्नवर्णक मन्त्रोंसे हवन करे और स्थितकृत आहुति भी दे ॥ ४१ ॥

१ अग्निकी गीतन्यादि मन्त्रवर्णि यथाहृतः । २ प्रोक्ष्यादियन्त्रद्रव्याणि प्रोक्ष्याभावात्तदेव मासु । ३ मुकुट ।

४ हविष्याणि घृतानि च । ५ आम्पमन्त्रतः ।

अम्यर्थाथ नमस्कृत्य पार्श्वेभ्यो बलिं हरेत् ।

मूलमन्त्रं जपेत् ब्रह्म स्मरन्भारायणात्मकम् ॥४२॥

दस्वाऽऽचमनमुन्मेषेयं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् ।

सुखवासं सुरभिम् ताम्बूलाद्यमार्हयेत् ॥४३॥

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम ।

मत्कथाः भाषयन्मृच्छन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥४४॥

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतेरपि ।

स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत् दण्डवत् ॥४५॥

शिरो मस्तदयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।

प्रपन्नं पादौ मामीदृशं भीतं मृत्युग्रहाणवात् ॥४६॥

इति शेषां मया दत्तां शिरसाधाय सादरम् ।

उद्गमयेत्केशदुदासीज्यातिर्नोतिपि सत्पुनः ॥४७॥

अवादिषु यदा यथा भद्रा मां तत्र चार्चयन् ।

सर्वभूतेष्वारमणि च सत्तारमाहमवस्थितः ॥४८॥

पञ्चक्रियायागपथं पुमान् वदिकृतान्त्रिकं ।

इस प्रकार अग्निमें अन्तर्यामिरूपसे स्थित भगवान्की पूजा करके उन्हें नमस्कार करे और नन्द-मुनन्द आदि पार्श्वदोनों ओरों दिशाओंमें हवनकर्माङ्ग बलि दे । तदनन्तर प्रतिभाके सम्मुख बैठकर परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका स्मरण करे और भगवत्स्वरूप मूलमन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' का जप करे ॥ ४२ ॥ इसके बाद भगवान्को आचमन करावे और उनका प्रसाद विष्वक्सेन को निवेदन करे । इसके पश्चात् अपने इष्टदेवकी सेवामें सुगन्धित ताम्बूल आदि मुखवास उपस्थित करे तथा पुष्पाञ्जलि स्मरति करे ॥ ४३ ॥ मेरी छीजोंको गन्धे, उनका वर्णन करे और मेरी ही छेजोंको अग्निय करे । यह सब करते समय प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगे । मेरी छीज-कपाड़ें त्वयं देने और दूसरोंको सुगावे । कुछ समयतक संस्तर और उसके राशों-काओंको मूँडकर मुझमें ही तन्मय हो जाय ॥ ४४ ॥ प्राचीन श्रुतियोंके द्वारा अथवा प्राज्ञा भक्तोंके द्वारा बनाये हुए छान्दे-बड़े स्तव और स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करके प्रार्थना करे—'भगवन् ! आप मुझपर प्रसन्न हों । मुझे अपने हृदयप्रसादसे सुरबोर कर दें ।' तदनन्तर दण्डवत्-मग्न करे ॥ ४५ ॥ अपना सिर मेरे चरणों-पर रख दे और अपने दोनों हाथोंसे—दायेंसे दाहिना और बायेंसे बायाँ चरण एकद्वय करे—'भगवन् ! इस संस्तर-सागरमें मैं डूब रहा हूँ । मृत्युत्पन्न मगर मेरा पीछा पर रहा है । मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ । प्रभो ! आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ४६ ॥ इस प्रकार स्तुति करके मुझे स्मरण की हुई मध्य आदरके साथ अपने सिरपर रखें और उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद समझ । यदि निन्दन करना हो तो पक्षी भक्ष्या करनी चाहिये कि प्रनिम्नमेंसे एक निम्न ग्योति निषन्धी है और वह मेरी हृदयस्थ ग्योतिमें लीन हो गयी है । बस, यही निन्दन है ॥ ४७ ॥ उदबन्धी । प्रनिम्न आनिमें जब जहाँ भद्रा हा तब, तहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मैं मन्त्राग्न हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ ॥ ४८ ॥

उदबन्धी । वा मनुष्य इस प्रकार बौद्ध, तान्त्रिक, त्रिप्रायोगक आदि सभी पूजा करता है, वह इस लोक

अर्धन्तुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दस्यभीप्सिताम् ॥४९॥
मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिर कारयेषु इष्टम् ।
पुष्पाद्यानानि रम्भाणि पूजायात्रोत्सवाभितान् ॥५०॥
पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथावहम् ।
क्षेत्रापण्यपुरग्रामान् दत्त्वा मरुतार्ष्टितामियात् ॥५१॥
प्रतिष्ठया सार्वभौम सधना सुवनप्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥५२॥
मामेव नैरपेरूपेण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभते एव य पूजयेत् माम् ॥५३॥
यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत् सुरविप्रयोः ।
धृतिं स जायते विद्वद्गुणपाणामनुतापुतम् ॥५४॥
कतुश्च सारथैर्हतारनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥५५॥

और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करव
॥ ४९ ॥ यदि शक्ति हो, तो उपासक सुन्दर
और सुदृढ़ मन्दिर बनवाये और उसमें मेरी प्रतिम
स्थापित करे । सुन्दर-सुन्दर फूलोंके बगिचे लगावे,
निष्पत्ती पूजा, पर्यटनी यात्रा और बड़े-बड़े उत्सवोंकी
व्यवस्था कर दे ॥ ५० ॥ जो मनुष्य पक्षोंके उत्सव
और प्रतिदिनकी पूजा लगातार चलनेके लिये मत्त,
बाजार, नगर अथवा गाँव मेरे नामपर स्मर्पित कर देते
हैं, उन्हें मेरे समान एकरूपकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥
मेरी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका एकत्र राज्य,
मन्दिर-निर्माणसे त्रिविक्रिका राज्य, पूजा आदिकी
व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक और तीनोंके द्वारा मेरी
समानता प्राप्त होती है ॥ ५२ ॥ जो निष्कर्ममनुष्य
मेरी पूजा करता है, उसे मत्त भक्तियोग प्राप्त हो जाता
है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर
लेता है ॥ ५३ ॥ जो अपनी दी हुई या दूसरोंकी दी हुई वस्तु
और ब्रह्मणकी जीविका हरण कर लेता है, वह करोड़ों
वर्षोंतक निष्पत्त कीड़ा होता है ॥ ५४ ॥ जो लोग
ऐसे कर्मोंमें स्थायता, प्रेरणा अथवा अनुमोदन करते
हैं, वे भी मरनेके बाद प्राप्त करनेवालेके समान ही फलके
भागदार होते हैं । यदि उनका हाथ अधिक रहा
तो फल भी उन्हें अधिक ही मित्रता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यं संहितायामेकदशस्कन्धे
सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अथाष्टविंशोऽध्यायः

परमाध-निरूपण

श्रीभगवानुवाच

भगवान् श्रीकृष्ण कहल हैं—उत्तरवी ! यणी
व्यवशायं पुरुष और प्रहृति—द्वय अरु च वरु भन्ते
न प्रकाशक जगत् जान वदता ह नानि परमर्ष
-व्यति जगन्तर यः स वरु अविज्यमान्य टी हे,

परमभारकमाणि न प्रथमप्र गदयन् ।

विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।

स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ २ ॥

उज्ज्वलेन्द्रियाऽऽपन्ने पिण्डस्या नष्टचतन ।

मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्रूपानार्थकं पुमान् ॥ ३ ॥

किं भद्र किमभद्रं वा द्वैतसायस्तुन क्रियत् ।

वत्सादित उदन्तु मनसा व्याकमेव च ॥ ४ ॥

छायाप्रत्याङ्ग्याभासाद्यन्ताऽप्यर्थकारिण ।

पुण्यं ददाद्या भासा यच्छन्त्यामृत्युता भयम् ॥ ५ ॥

आमरा नदिनं विपुं मृत्युन मृजति प्रभु ।

इसलिये किसीके शक्ति, धोर और मूढ़ सम्भव तथा उनके अनुसार कर्मोंकी न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा । सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिये ॥ १ ॥ जो पुरुष दूसरोंके सम्भव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अपना निम्न करता है, वे शीघ्र ही अपन यथार्थ परमप-साधनमे ध्युत हो जाते हैं, क्योंकि साधन तो इतक अभिनिवेश-का—उसके प्रती सत्य-मुद्रिण नियम करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्ताके भ्रमका कारण भी बन करती हैं ॥ २ ॥ उदबन्धी ! सभी इन्द्रियों राजस बह्मद्वारक कथ्य हैं । सब व निद्रित हो जाती हैं, तब शरीरका अभिप्रायी जीव चेतनामय हो जाता है अर्थात् उसे बाहरी शरीरकी स्मृति नहीं रहती । उस समय यदि मन बच रहा, तब तो वह सत्यक घूटे दृश्योंमें भटकने लगता है और वह भी धीन हो गया, तब तो जीव मृत्युक समान गड़ निद्रा—सुषुप्तिमें धीन हो जाता है । वैसे ही जब जीव अपन अद्वितीय आत्मा सम्पूर्ण भूषणर नात्मा वस्तुओंका दर्शन करने लगता है, तब वह सत्यक समान घूटे दृश्योंमें फँस जाता है अथवा मृत्युक समान अज्ञानमें धीन हो जाता है ॥ ३ ॥ उदबन्धी ! जब द्वैत नामकी काश वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अनुक वस्तु भगी है और अनुक सुरी, अथवा इतनी भरी और इतनी सुरी है—यह प्रभु ही नहीं उठ सकता । विषयी सब वस्तुएँ पाणीसे पड़ी जा सकती हैं अथवा मलमे साँधी जा सकती हैं; इसलिये इस एवं अनित्य होनेका कारण उनका निष्ठात्व तो स्पष्ट ही है ॥ ४ ॥ अर्थात्, प्रतिपत्ति और स्वीरी आदिमें साँधी अधिक आनन्द पवती है तब सत्य किया अस्तु उनका कारण मृत्युक दृश्यमें भयकाय आदिम सद्वर हो जाता है । वैसे ही दर्शाने सभी पशुओं हैं तब सत्य निष्ठा ही अस्तु ज्ञानक ज्ञानक ज्ञान इनका सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सक, इनकी ज्ञाननिष्ठ निवृत्ति नहीं हो सकती, अथवा वही अज्ञानियोंका भयभीत करती रहती है ॥ ५ ॥ उदबन्धी ! जो पुण्य प्रशंस या निन्द करता है वह आत्मा ही है । वही मर-मिटने नहीं है । जो पुण्य विष-मृति प्रदीप्त हो रहा है उसका वह निमित्त-कारण तो है ही

आद्यन्तयोरस्य यदथ कथल

कालश्च हतुश्च तदेव मध्ये ॥१८॥

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्

पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यमयस्य ।

तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं

नानापदेष्टैरहमस्तु तद्वत् ॥१९॥

विज्ञानमेतत्त्रिययवस्यमङ्ग

गुणत्रय कारणकार्यकर्त ।

समन्वयेन व्यतिरेकतश्च

येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥२०॥

न यत् पुरस्तादुत यच्च पश्चा

न्मध्ये च तत्र व्यवदेष्टमाश्रम् ।

भूतप्रसिद्धं च परेण यच्च यत्

तदेव तत् स्यादिति ममनीषा ॥२१॥

अविद्यमानोऽप्यवभाषते या

वैकारिको राजससर्ग एषः ।

महा स्वर्पन्थोतिरतो विभाति

महोन्निभार्पात्मविकारविश्रम् ॥२२॥

एवं स्फुटं महाविवेकहेतुभिः

परापवादेन विशारदेन ।

ध्वजानुकूलं युक्तियाँ, महापुरुषोंके उपदेश और त
नोनोंसे अधिकृत ज्ञानभूति भी प्रमाण है । संक्षेप
यही निकलता है कि इस संसारके आदिमें जा पा
अन्तमें जो रहगा, जो इसका मूल कारण और प्रकृत
है, यही अद्वितीय, उपाधिहीन परमात्म बीजमें भी है ।
उसके अतिरिक्त और कुछ यस्तु नहीं है ॥ १८ ॥
उदकजी । सोनेसे फलन, पुष्पल आदि बहुत-से वस्तु
बनते हैं, परन्तु जब वे गड़ने नहीं बन ये, तब भी स्नेह
ण और जब नहीं रहेंगे, तब भी सोना रहेगा । इसीमें
जब बीजमें उसके फलन-कुण्डल आदि अनेकों तम
रखकर व्यवहार करते हैं, तब भी वह स्नेहा ही है ।
ठीक ऐसे ही जगत्का आदि, अन्त और मध्य में ही है ।
वास्तवमें मैं ही सत्य तत्त्व हूँ ॥ १९ ॥ भाई उदक ।
मन की तीन अवस्थाएँ होती हैं—आपत्त, ज्ञान और
सुषुप्ति, इन अवस्थाओंके कारण तीन ही गुण हैं—
सत्य, रज और तम । और जगत्के तीन भेद हैं—
अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथिव्यादि) और
अधिदैव (कर्मा) । ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्तासे
सत्यके समान प्रतीत होती हैं और समानि आदिमें वह
त्रिविधता न रहनेपर भी जिसकी सत्ता बनी रहती है,
वह तुर्यसत्त्व—इन तीनोंसे परे और इनमें अलग
चौथा सत्त्व ही सत्य है ॥ २० ॥ जो उदकसे पहले
नहीं था और प्रत्येक पश्चात् में नहीं रहेगा, ऐसी
सम्मानना चाहिये कि बीजमें भी वह है नहीं—केवल
कल्पलामात्र, माममात्र ही है । यह निश्चित सत्य है कि
जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकटित
होता है, यही उसका वास्तविक स्वरूप है, यही उसकी
परमार्थ-सत्ता है—यह मेरा उद्देश्य निधाय है ॥ २१ ॥ यह
जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दीप्त
रही है । यह स्वर्पन्थका महा ही है । इसलिये इन्द्रिय,
विषय, मन और पञ्चभूतोंसे कितने विभिन्न-विभिन्न नाम-
रूप हैं उनके रूपमें वह ही प्रतीत हो रहा है ॥ २२ ॥
महाविचारके साधन हैं—ध्यान, मनन निदिध्यासन और
ज्ञानभूति । उनमें सहायक हैं—आत्मज्ञानी गुरुदेव । इनके
द्वारा विचार करके स्पष्टरूपसे यह हि अनन्त परापूर्व

छिन्नाऽऽत्मसर्वद्वेषपरमेव

स्वानन्दतुष्टोऽखिलकाङ्क्षकेभ्यः ॥२३॥

नत्तया वयुः पार्थिवमिन्द्रियाणि

देवा ह्यसुर्वापुजर्तं ह्युवाचः ।

मनोऽभमत्यं धिपणा च सत्त्व-

महंरुति तं छित्तिर्ब्रह्मात्मन् ॥२४॥

समाहितैः कः कर्तुर्गुणात्मभि

गुणो भवेन्मत्सुविचिक्रधानः ।

विधिप्यमाणैस्त किं नु रूपं

घनैरुपेतैर्विगतै रवैः किम् ॥२५॥

यथा नभो बाध्यन्तहाम्बुभृगुणै

गतामृतैर्बर्तुगुणैर्न सज्जते ।

तथाधरं सत्त्वरत्नस्तमोमलै

रहंमतेः संवृतिवित्तुभिः परम् ॥२६॥

तथापि सज्जः परिकर्षणीयां

गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।

मम्रक्तियोगेन दृढेन बाधवृ

त्रो निरस्पृह मनःकपायः ॥२७॥

यथाऽऽमपोऽसाधुचिकित्सितो नृणां

पुन पुनः संतुदति प्ररोहन् ।

१ भवेत्तु प्रकृति ।

मा ८० ब २११२—

निषेध कर देना चाहिये । इस प्रकार निषेधके द्वारा आत्मविषयक सन्नेहोंको छिन्न-भिन्न करके अपने आनन्द स्वरूप आत्ममें ही मग्न हो जाय और सब प्रकारकी विषयवासनाओंसे रहित हो जाय ॥ २३ ॥ निषेध करनेकी प्रक्रिया यह है कि पृथ्वीका विकार होनेके कारण शरीर व्यक्त नहीं है । इन्द्रिय, उनके अधिष्ठाता-देवता, प्राण, वायु, नक्ष, अग्नि एवं मन भी आत्मा नहीं हैं, क्योंकि इनका धारण-पोषण शरीरके समान ही अन्नके द्वारा होता है । बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं हैं, क्योंकि ये सब-के-सब दृश्य एवं जड हैं ॥ २४ ॥ उद्भवजी ! जिसे मेरे स्वरूपका मन्वीमोति ज्ञान हो गया है उसकी वृत्तियों और इन्द्रियों यदि समाहित रहती हैं तो उसे उनसे काम क्या है ? और यदि वे विच्छिन्न रहती हैं, तो उनसे हानि भी क्या है ? क्योंकि अन्तःकरण और बाह्यकरण—सभी गुणमय हैं और आत्मसे इनका क्या सम्बन्ध नहीं है । मद्य, आकाशमें बादलोंके ध्वजाने अथवा तितर-बितर हो जानेसे सूर्यका कण बनता-बिगड़ता है ॥ २५ ॥ जैसे वायु आकाशमेंसे सुख नहीं सकती अथवा नष्ट नहीं सकती, वृक्ष मिटो नहीं सकता, बल-शुर्मे मस्तीय नहीं कर सकते और शत्रुओंके गुण ग्रभी-सपी आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते—क्योंकि ये सब आने-जानेवाले क्षणिक माय हैं और आत्मका इन सबका एकरस अविच्छिन्न है—वैसे ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियों तथा कर्म अभिमायी आत्माका स्पर्श नहीं कर पावे, वह तो इनसे सर्वथा परे है । इनके द्वारा तो केवल बड़ी संसारमें मष्टकता है, जो इनमें अहङ्कार कर फैलता है ॥ २६ ॥ उद्भवजी ! ऐसा होनेपर भी तत्त्वतः इन मय्यानिर्मित गुणों और उनके कर्माका सज्ज सर्वथा त्याग देना चाहिये, अन्ततः मेरे सुख भक्तिधर्मके द्वारा मनका रजोगुणरूप मग्न एकत्म निकल न जाय ॥ २७ ॥

उद्भवजी ! जैसे मर्कटमोति चिकित्सा न करनेपर रोगमग्न समुद्र नाश नहीं होता, वह बार-बार उमरकर मनुष्योंसे सन्ध्या करता है, वैसे ही जिस मनकी बासनाएँ

प्रापते प्राप्ति विश्वात्मा हियते श्रुतीश्वरः ॥६॥

तसाश्चात्मनोऽन्यसादन्यो भावो निरूपितः ।

निरूपितेष त्रिविधा निर्मूला मोक्षिरात्मनि ।

इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥७॥

एतद् विद्वान् मनुदिक्षु ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।

न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥८॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमनारमसविदा ।

आद्यन्तवदसञ्ज्ञात्वा निस्संगो विचरदिह ॥९॥

उक्त उवाच

नैवात्मना न देहस्य सत्तिर्द्रष्टव्यया ।

अनात्मस्वरूपीश कस्य साधुपलम्पते ॥१०॥

आत्मात्मयोऽगुणः शुद्ध स्वयंज्यातिरनाश्रुतः ।

अप्रिवहाकवदचिरेहः कस्यह मसृति ॥११॥ मत्सर ई निसे ॥११॥

उपादान-कारण भी है । अर्थात् कही विश्व कत्त है और कही कनात्त भी है, कही रक्त है और रक्त भी कही है । सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और निस्सङ्ग संहार होता है, वह भी वे ही हैं ॥६॥
अवश्य ही व्यवहाररूपिसे देखनेपर आत्मा इस निम्नसे भिन्न है, परन्तु आत्मस्थिसे उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही नहीं है । उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका किसी भी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता और अनिर्वचनीय तो केवल कल्मस-रूप ही है, इसलिये आत्मामें सृष्टि-स्थिति-संहार अथवा अध्यात्म, अभिदैव और अभिभूत—ये तीन-तीन प्रकारकी प्रतीतियाँ सर्वथा निर्मूल ही हैं । न होनेपर भी यों ही प्रतीत हो रही हैं । यह सत्त्व, रज और तमके कारण प्रतीत होनेवाली दृष्ट-दृशन-दृश्य किसी त्रिविधता ममाका खेद है ॥७॥ उक्तकी । तुमसे मने ज्ञान और विज्ञानकी उत्तम स्थितिकर कर्तन निम्न है । जो पुरुष मेरे इन कवनोंकर रहस्य जान लेता है, वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा । वह जगत्में सूर्यके समान सममाके विचरता रहता है ॥८॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और आत्मनुभूति आदि सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि यह जगत् उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण अनित्य एवं कस्य है । यह बात जानकर जगत्में असङ्गभावसे विचरना चाहिये ॥९॥

ब्रह्मक्षत्रीमं पूरुषा—भगवन् । अज्ञान है दृष्ट और देह है दृश्य । आत्मा सर्वप्रकाश है और देह ॥ ब्रह्म । ऐसी स्थितिमें जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीरको हो सकता है और न आत्माको । परन्तु इसका ज्ञान भी उत्पन्न होता है । तब यह होता किसे है ॥१०॥ आत्मा तो अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणोंसे रहित, शुद्ध, सर्वप्रकाश और सभी प्रकारके आवरणोंसे रहित है तथा शरीर विनाशी, सगुण, अगुण, प्रकाश्य और अगुण है । आत्मा अग्निके समान प्रकाशमान है, तो शरीर कठरी तरह अचेतम । फिर यह जन्म-मृत्युरूप

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहंन्द्रियप्राणैरात्मनः सनिकर्षणम् ।

संसारं फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविषयिनः ॥१२॥

अर्थे षड्विधमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।

प्रायतो विषयानस्य मय्येऽनर्थागमो यथा ॥१३॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्ताया बह्वनर्थभृत् ।

स एव प्रतिबुद्धस्य न वै माहाय कल्पते ॥१४॥

शाकहर्ममयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।

अहंकारस्य हस्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥१५॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो

बीजाऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।

सर्व महाशक्तिरुपेव गीतः

संसारं प्राधावति कालतन्त्र ॥१६॥

अमूलमवद् बहुरूपरूपितं

मनोवचःप्राणधरीरकर्म

ज्ञानासिनोपासनया क्षितेन

भिक्षया मुनिगो विचरत्यष्टयः ॥१७॥

ध्यानं विवेको निगमस्तपश्च

प्रत्यक्षमैतिह्यमप्यनुमानम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने कह्य—वस्तुतः प्रिय उद्धव ! संसारका अस्तित्व नहीं है तथापि अज्ञातक देख, इन्द्रिय और प्राणोंके साथ आत्माकी सम्बन्ध भान्ति है, तत्त्वक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सत् स्फुरित होता है ॥१२॥ जैसे स्वप्नमें अनेकों विपत्तियाँ आती हैं पर वास्तवमें वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं भिद्यता, वैसे ही संसारके न होनेपर भी जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसारकी निश्चिन्ता नहीं होती ॥ १३ ॥ जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है, तब नींद टूटनेके पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, परन्तु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होनेवाले मोह आदि विकार ॥ १४ ॥ उद्धवजी ! अहंकार ही शोक, हर्ष, मय, क्रोध, छेम, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्युका विस्तार करता है । आत्मासे तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ १५ ॥ उद्धवजी ! देख, इन्द्रिय, प्राण और मनमें स्थित आत्मा ही जब उनका अभिमान कर बैठता है—उन्हें अपना स्वरूप मान लेता है—तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है । उस सूक्ष्मज्ञीसूक्ष्म आत्माकी मूर्ति है—गुण और कर्मोंका बना हुआ छिन्नशरीर । उसे ही कहीं सूत्रमन्त्र कहा जाता है और कहीं मन्त्रालय । उसके और भी बहुत-से नाम हैं । वही कण्डक परमेश्वरका अधीन होकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है ॥ १६ ॥ वास्तवमें मन, बाणी, प्राण और शरीर अहंकारके ही कार्य हैं । यह है तो निर्मूल, परन्तु देवता, मनुष्य आदि अनेक रूपोंमें इरीषी प्रदीप्ति होती है । मननशील पुरुष उपासनाकी ध्यानपर चक्रकर ज्ञानकी तज्ज्वारकी अत्यन्त तीक्ष्ण बना लेता है और उसके द्वारा दृष्टाभिमान-कर्म—अहंकारका मूकेश्वर करके पृथ्वीमें निर्द्वन्द्व होकर विचरता है । फिर उसमें निस्ती प्रकरकी व्याघ्र-तृष्णा नहीं रहती ॥ १७ ॥ आत्मा और अनात्मके स्वरूपको पृथक्-पृथक् भेदीभौति सन्ना केना ही ज्ञान है, क्योंकि विवेक होते ही द्वैतका अस्तित्व भिद्य जाता है । उसका साधन है तपस्याके द्वारा हृदयको शुद्ध करके केरादि दशावस्था अग्रण करना । इनके अतिरिक्त

आद्यन्तपोरस्य यद्व केषल

कालस्य इतुस्य तदस्य मन्वे ॥१८॥

यथा हिरण्यं स्वकृत पुरस्तात्

पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यमयस्य ।

तदेव मन्वे व्यवहार्यमाणं

नानापदेधैरहमस्य तद्वत् ॥१९॥

विज्ञानमेतत्त्रिययवस्वमङ्ग

गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।

समन्वयेन व्यतिरेकतश्च

येनैव तुर्धेय तदेव सत्यम् ॥२०॥

न यत् पुरस्तादुत यच्च पश्चा

न्मयं च तच्च व्यपदेशमाश्रम् ।

भूतप्रसिद्धं च परं यच्च यत्

तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा ॥२१॥

अविद्यमानाऽप्यवभाषते या

वेकारिका राजससर्गा एषः ।

मदा स्वयज्यातिरता विभाति

मदान्त्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥२२॥

एवं स्फुटं मदाविशेषइतुभि

परापवादन विशारदन ।

अथयानुक्तं युक्तियाँ, महापुरुषोंके उपदेश और त
दोनोंसे अधिकृत खानुमूर्ति भी प्रमाण हैं । सबका स
यही निकलता है कि इस संसारके आदिमें जा या त
अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाश
है, यही अद्वितीय, उपाविद्वान् परमात्म बीजमें भी है ।
उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥
उद्वज्जी ! सोनेसे कलन, कुम्हार आदि बहुत-से व्य
कनते हैं, परन्तु जब वे गड़ने नहीं बने थे, तब भी सेना
या और अब नहीं रहेंगे, तब भी सोना रहेगा । इसलिये
जब बीजमें उसके कलन-कुम्हार आदि अनेकों नाम
रखकर व्यवहार करते हैं, तब भी वह सेना ही है ।
ठीक ऐसे ही जगत्का आदि, अन्त और मध्य में ही हैं ।
वास्तवमें मैं ही सत्य तत्त्व हूँ ॥ १९ ॥ मैं उद्वज्जी !
मनकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और
सुषुप्ति इन अवस्थाओंके कारण तीन ही गुण हैं—
सत्य, रज और तम । और जगत्के तीन भेद हैं—
अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (धूम्रियाँ) और
अधिदैव (कर्मा) । ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्यसे
उसके समान प्रतीत होती हैं और समग्र आदिमें यह
त्रिविधता न रहनेपर भी जिसकी सत्ता बनी रहती है,
वह तुरीयतत्त्व—इन तीनोंसे परे और इनमें अज्ञात
चौथा अस्तित्व ही सत्य है ॥ २० ॥ जो उपरिसे पड़े
नहीं या और प्रत्येकके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐक्य
सम्पन्नता आदिये कि बीजमें भी वह है नहीं—केवल
व्यक्तनामाश्रय, नाममात्र ही है । यह निश्चित सत्य है कि
जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित
होता है, यही उसका वास्तविक स्वरूप है, यही उसकी
परमार्थ-सत्ता है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ २१ ॥ यह
जो नियन्त्रणकारी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दृश्य
रही है । यह स्वयंप्रकाश शक्त ही है । इसलिये इन्द्रिय,
विषय, मन और पञ्चभूतादि जितने विचित्र-विचित्र नाम-
रूप हैं उनका रूपमें मदा ही प्रतीत हो रहा है ॥ २२ ॥
मदाविधारके सावन हैं—अथवा, मनन, निरिच्छात्मन और
खानुमूर्ति । उनमें सहायक हैं—आत्मज्ञानी गुरु । इन
द्वारा विचार करके स्पष्टरूपसे दृष्टि अनन्त परापरा

छिन्वाऽऽत्मसदेहमुपारमेत

स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकैर्मयः ॥२३॥

नत्समा वपुः पार्थिवमिन्निष्पानि

देवा वसुधापुजलं हुताश्वः ।

मनोऽश्ममार्त्रं विषणा च सत्त्व-

महंकृतिः त्वं क्षितिरर्थसाम्पत् ॥२४॥

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-

गुणो भवेन्नस्तुषिबिक्तमान्नः ।

निक्षिप्यमाणैस्त किं नु दूषणं

वनैरुपेतैर्विगतै रथैः किम् ॥२५॥

वपा नभो वाय्वनछाम्बुयूगुणै

र्गतामसैर्वतुगुणैर्न सञ्जते ।

वपाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै

रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥२६॥

तथापि सङ्गः परिवर्त्तनीयो

गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।

मद्भक्तियोगेन दृढेन यावच्च

रजो निरस्पेक्ष मनःकषायः ॥२७॥

यथाऽऽमपोऽसाधुचिक्रिरिस्तो नृणां

पुन पुनः संतुदति प्ररोहन् ।

(भवेत्तु क्षितिः ।

भा व व ११११—

निषेध कर देना चाहिये । इस प्रकार निषेधके द्वारा आत्मनिषेधक सन्दर्भोंको छिन्न-मिन्न करके अपने आनन्द स्वरूप आत्मामें ही मग्न हो जाय और उस प्रकारकी निषेधसमाप्तावस्थासे रहित हो जाय ॥ २३ ॥ निषेध करनेकी प्रक्रिया यह है कि पृथ्वीका विकार होनेके कारण शरीर आत्म्य नहीं है । इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ-देवता, प्राण, वायु, जल, अग्नि एवं मन भी आत्म्य नहीं हैं, क्योंकि इनका धारण-गोपण शरीरके समान ही कर्मान्तेके द्वारा होता है । बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति भी आत्म्य नहीं हैं, क्योंकि ये सब-के-सब दृश्य एवं जड हैं ॥ २४ ॥ उदवनी ! जिससे मेरे स्वरूपका मध्यमोक्ति ज्ञान हो गया है, उसकी वृत्तियों और इन्द्रियों यदि समाहित रहती हैं तो उसे उनसे लाभ क्या है ? और यदि वे विक्षिप्त रहती हैं, तो उनसे हानि भी क्या है ? क्योंकि अन्तःकरण और बाह्यकरण—सभी गुणमय हैं और आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । मल, आकाशमें बादलोंके छ्य जाने अथवा क्षितिज-वितर हो जानेसे सूर्यका क्या कन्ता-विगन्ता है ? ॥ २५ ॥ जैसे वायु आकाशको छुला नहीं सकती आग जल नहीं सकती, जड़ मिट्टी नहीं सकता, धूल-धुएँ मट्टनैज नहीं कर सकते और श्रुतबोधके गुण गर्भ-सर्दी आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते—क्योंकि ये सब जाने-बूझनेवाले क्षणिक भव हैं और आकाश इन सबका एकत्र अवधिष्ठान है—जैसे ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियों तथा कर्म अविनाशी आत्मका सदा नहीं कर पाते; वह तो इनसे सर्वथा परे है । इनके द्वारा तो केवल अज्ञेय संसारमें मटकता है, जो इनमें अहङ्कार कर बैठता है ॥ २६ ॥ उदवनी ! ऐसा होनेपर भी तत्काल इन मायानिर्मित गुणों और उनके कर्षणोंका सङ्ग स्वेच्छा त्याग देना चाहिये, अतएव मेरे सुख मक्तिपापके द्वारा मनका रजोगुणरूप मल एकदम निकल न जाय ॥ २७ ॥

उदवनी ! जैसे मध्यमोक्ति विनिस्त न करन्तः रोगका समूह नाश नहीं होता, वह बार-बार उभरकर मनुष्यको सताया करता है; वैसे ही जिस मनकी वासनाएँ

एवं मनोऽपक्वकपायकर्म
 कृयागिनं विभ्यति सर्वसङ्गम् ॥२८॥
 कृयोगिनो ये विद्वान्तरायै-
 र्मुष्पभूतस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
 ते प्राक्तनाभ्यासवलेन भूयो
 पुञ्जन्ति योगं न तु कर्मवन्त्रम् ॥२९॥
 कराति कर्म क्रियते च खन्तुः
 कृत्वाप्यसौ चादित आनिपातात् ।
 न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्त्रितोऽपि
 निवृत्तवृष्णा स्वसुखानुभूत्या ॥३०॥
 तिष्ठन्मासीनमुत प्रवर्जन्
 शयानमुषन्वमदन्तमभम् ।
 स्वभावमन्यत् किमपीहमान-
 मात्मानमरमस्वमतिर्न वेद ॥३१॥
 यदि स पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
 नानानुमानेन निरुद्धमन्यत् ।
 न मप्यत वस्तुतया मनीषी
 म्याप्न योत्थाय सिरादधानम् ॥३२॥
 पूष गृहीत गुणकर्मचित्र
 मशानमात्मन्यविक्रिमज्ञ

और कर्मोंके संस्कार मिट नहीं गये हैं, जो बी-मुत्र
 आदिमें आसक्त है, वह बार बार कपूरे योगिकों के
 रहता है और उसे कई बार योगजड भी कर देता है ॥२८॥
 वेदार्थोंके द्वारा प्रेरित शिष्य-मुत्र आदिके द्वारा सिने
 हुए विज्ञोसे यदि कदाचित् अचूरा योगी मार्गमुत्त हो
 जाय तो भी वह अपने पूर्वाम्यसके कारण पुन योग-
 म्यसमें ही लग जाता है । कर्म आदिमें उसकी प्रवृत्ति
 नहीं होती ॥ २९ ॥ उद्धवजी ! जीव संस्कार आदिसे
 प्रेरित होकर जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त कर्ममें ही लग
 रहता है और उनमें इष्ट अनिष्ट-मुदि करके हर्ष-निरपद
 आदि विकारोंको प्राप्त होता रहता है । परन्तु जो
 तत्पक्ष साक्षात्कार कर लेता है, वह प्रवृत्तिमें स्थित
 रहनेपर भी, संस्कारानुसार कर्म होते रहनेपर भी उनमें
 इष्ट-अनिष्ट-मुदि करके हर्ष-निरपद आदि विकारोंसे मुक्त
 नहीं होता, क्योंकि आनन्दस्वरूप आत्मके साक्षात्कारसे
 उसकी संसारसम्बन्धी सभी आशा तृष्णार्थ पहले ही नष्ट
 हो चुकी होती हैं ॥ ३० ॥ जो अपने स्वरूपमें स्थित
 हो गया है, उसे इस बातका भी पक्क नहीं रहता कि
 शरीर स्वभा है या कैय, कल रहा है या सो रहा है,
 मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अन्ध और
 कोई सामासिक कर्म कर रहा है, क्योंकि उसकी इति
 तो आत्मस्वरूपमें स्थित—कर्मपर रहती है ॥ ३१ ॥
 यदि ज्ञानी पुरुषकी इष्टिमें इन्द्रियोंके विविध कर्म विन्य,
 जो कि असत्य हैं, आते भी हैं तो वह उन्हें अपने
 आत्मसे भिन्न नहीं मानता, क्योंकि वे इन्द्रियों, प्रमायों
 और ज्ञानभूतिसे सिद्ध नहीं होते । जैसे नींद दृष्ट
 जानेपर स्वप्नमें वेसे हुए और जागनेपर तिरोहित हुए
 पदार्थोंको कोई सत्य नहीं मानता, वेसे ही ज्ञानी पुरुष
 भी अपनेसे भिन्न प्रतीयमान पदार्थोंको सत्य नहीं
 मानते ॥ ३२ ॥ उद्धवजी ! (इसका यह अर्थ नहीं है
 कि अज्ञानी आत्मज्ञान त्याग कर दिया है और ज्ञानी
 उसको ग्रहण करता है । इसका तत्पर्य करन (त्याग
 ही है कि) अनसों प्रकरक गुण और कर्मोंसे मुक्त हो
 इन्द्रिय आदि पदार्थ पहले अज्ञानरु परल कर्मसे

निवर्तते तत् पुनरीश्वरैव

न गृह्यते नापि विमुञ्च्य आत्मा ॥३३॥

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां

तमो निर्हन्नाम तु सवृ विषये ।

एषं समीक्षा निपुणा सती मे

हन्त्याचमिसं पुरुषस्य बुध ॥३४॥

एष स्वयज्योतिरघोऽप्रमेयो

महाजुमृतिः सकलजुमृतिः ।

एकोऽद्वितीयो बचसां विरामे

येनेपिता वागसप्तधरन्ति ॥३५॥

एवावानात्मसर्वमाहो यद् विकल्पस्तु कचले ।

आत्मन्तु स्वमात्मानमबलम्बोन यस्व हि ॥३६॥

यस्मात्माहुविभिप्रायं यश्च यथानवाधितम् ।

व्यपेनार्थज्ञादा य इय पण्डितमानिनाम् ॥३७॥

अग्निमानं ज्ञेयं यथा धे, उनका विवेक नहीं था ।
अब आत्मदृष्टि होनेपर अज्ञान और उसका कारणोंकी
निवृत्ति ही जाती है । इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति ही
अर्थात् है । वृत्तियोंके द्वारा न तो आत्मका ग्रहण ही
सकता है और न त्याग ॥ ३३ ॥ जैसे सूर्य उदय होकर
मनुष्योंके नेत्रोंके समानसे अन्वधरका पराग दत्त
है, किसी नयी वस्तुका निर्माण नहीं करत, वैसे ही मरे
आत्माका एक अणुभ्रमण पुरातन बुद्धिगत अज्ञानका
आवरण नष्ट कर दत्ता है । वह इन्द्रपते किसी वस्तुका
अनुभव नहीं करता ॥ ३४ ॥ उदयत्री । आत्म नित्य
अपरोक्ष है, उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती । वह
स्वयंप्रकाश है । उसमें अज्ञान आदि किसी प्रकारके
विकार नहीं हैं । वह अनन्तरहित है अर्थात् कर्म किसी
प्रकार में वृत्तिमें आसक्त नहीं होता । इसलिये अग्रमेय
है । ज्ञान आदिके द्वारा उसका संस्कार भी नहीं किया
जा सकता । आत्ममें देश, काळ और वस्तुत्व परिच्छेद
न होनेके कारण अस्तित्व, बुद्धि, परिक्लान, हस्त और
स्निग्ध उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते । उसकी और
सब प्रकारकी अनुभूतियों आत्मस्वरूप ही हैं । जब मन
और बाणी आत्मका अपना अविग्रह सम्प्रकाश निवृत्त
हो जाते हैं, तब वही सत्वादीय, विद्यादीय और स्वप्न
भद्रसे घ्राण एक अद्वितीय रह जाता है । व्यवहारदृष्टिसे
उसके स्वरूपका बाणी और प्राण आदिके प्रजनकत्वं रूपमें
निरूपण किया जाता है ॥ ३५ ॥

उदयत्री ! अद्वितीय आत्मस्वरूपमें अपर्याप्त नामोंके
द्वारा विविधमान रत्ना ही मनका भ्रम है, अज्ञान है ।
सकलमूर्ति यह बहुत बड़ा मोह है, क्योंकि अपने आत्मक
अतिरिक्त उस भ्रमका भी और कोई अविग्रह नहीं है ।
अविग्रह-सत्तामें अव्यक्तकी सत्ता ही ही नहीं । इसलिये
सब कुछ अज्ञान ही है ॥ ३६ ॥ बहुतसे पण्डितानिजानी
लेग ऐसा कहते हैं कि यह पाश्चात्त्यैतिक दैव विभिन्न
नामों और रूपोंके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया
गया है, इसलिये सत्य है । परन्तु यह तो अपर्याप्त
बाणीय आत्मस्वरूप है क्योंकि तत्त्व ही इन्द्रियोंकी
पुष्टि सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, फिर वे किसीको
प्रमगित कहे परेगी ॥ ३७ ॥

यागिनाऽपस्त्रयागस्य युञ्जतः कस्य उत्थितैः ।

उपसर्गविहन्यत तत्राप्यं विहिता विधि ॥३८॥

यागधारणया कान्धिदासननधारणान्वितैः ।

तपामन्त्रापर्यः कान्धिरुपसगान् विनिर्दहन् ॥३९॥

कान्धिममानुष्यानन नामसङ्कीर्तनादिभि ।

यागधरानुपया या हन्यादशुभदाम्पठनैः ॥४०॥

कनिष्ठदहमिमंधारा मुक्ल्यन् वयसि स्मिरम् ।

विधाय विविधापारैरथ युञ्जन्ति सिद्धय ॥४१॥

नहि तन् क्लृप्तास्त्यं तदापासा क्षपार्थक ।

अन्तरापाञ्छीरस्य फलस्त्वय वनश्चतः ॥४२॥

यामं निषरता नित्यं कस्यभन् क्लृप्तामिषान् ।

वष्पूरुष्यामन्त्रिमान् यागधाम्मुन्य मत्तरः ॥४३॥

यागगयामिमां यागा रिषरन् मदपाभय ।

नान्तरापरिहृत्य नि ष्टुहः मयुगानुभूः ॥४४॥ ४ ॥ ४४ ॥

उदवजी ! यदि यागसाधना पूर्ण होनेके पहले ही किसी सम्पन्न शरीर रोगदि उपद्रवोंसे पीड़ित हो, तो उसे इन उपायोंपर आश्रय लेना चाहिये ॥ ३८ ॥ ग्रन्थ ठंडक आदिको चन्द्रमा-सूर्य आदिकी धारणके द्वारा वात आदि रोगोंको वायुधारणपुष्क आसनों द्वारा और ग्रह-संपादित विप्रोंको तपस्या, मन्त्र एवं आंगविक द्वारा नष्ट कर डालना चाहिये ॥ ३९ ॥ यम-शोध आदि विप्रोंको मेरे चिन्तन और नाम-स्मरण आदिक द्वारा नष्ट करना चाहिये । तथा पतनपरी और स जनेले दग्ध-मद आदि विप्रोंको धीरे-धीरे म्हापुरुषोंकी सेवाके द्वारा दूर कर देना चाहिये ॥ ४० ॥ यज्ञ-ज्येष्ठ मन्त्रकी विविध उपयोक्त द्वारा इस शरीरको सुदृढ़ और युष्मत्स्थामें स्थिर करके फिर अग्निमा आदि सिद्धियोंके उभय यागसन्धन करते हैं, परन्तु मुदिमान् पुरा ऐसे विचारपर स्मर्पण नहीं करते, क्योंकि वह तो एक व्यर्थ प्रयास है । वृद्धमें जो दूर पत्थके स्थान पर शरीरका नाश हो अत्यन्तही है ॥ ४१ ४२ ॥ यदि यज्ञादित् बहुत निरन्तर निरन्तर और अद्वैतक यागसाधना करा रहनेपर शरीर सुदृढ़ भी हो जाय, तथा भी मुश्किल पुरातन अग्नी छान्ता धर्मपर उन्मोही स्मरण नहीं कर लेना चाहिये । जो स्वर्ग मर्ग प्राप्ति के उभे ही मन्त्र देना चाहिये ॥ ४३ ॥ जो छान्ता भी जाग्रत तेजस्व भवे शत बली हई यज्ञ-गोष्ठ्यामं संयत्न रह-व द, उसे वह भी निरन्तर विप्र नहीं मर्ग । उसी शरीर यज्ञादित् मन्त्र ही दत्त है और यह अज्ञान-जि अनुभूति मन्त्र ही दत्त

॥ १ ॥ अथ यागः ॥ यागः कस्यभन् क्लृप्तामिषान्

॥ ३८ ॥

अथ यागः ॥ यागः कस्यभन् क्लृप्तामिषान्

यागः कस्यभन् क्लृप्तामिषान्

॥ ३८ ॥

॥ ३८ ॥

॥ ३८ ॥

॥ ३८ ॥

॥ ३८ ॥

युष्मत्स्थामें स्थिर करके फिर अग्निमा आदि सिद्धियोंके

॥ ३८ ॥

योऽन्तर्हस्तिस्तनुभृतामश्रुमविधुन्व

भाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं ध्यानक्ति ॥ ६ ॥

भीतुक उवाच

इत्युद्वेनात्मनुरक्तचेतसा

पृष्टो जगत्कीडनक स्वशक्तिभिः ।

गृहीतमूर्तिप्रथ

ईश्वरभरो

जगाद सप्रममनोहरस्त्रिभिः ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

इन्व ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान् ।

याम्प्रद्वयाऽऽचरन् मत्स्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥

कृपां सखाणि कर्माणि मदर्थं धनकैः सरन् ।

मय्यर्पितमनधिया मद्भर्तात्मनोरतिः ॥ ९ ॥

दद्यान् पुष्पानाभयेत मङ्गलैः साधुभिः श्रितान् ।

देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥ १० ॥

पृथक् मय्यण वा मयं पर्यात्रामहोत्सवान् ।

स्मरयद् गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥ ११ ॥

मामव सर्पभूतपु धरिन्तरपाशृतम् ।

इधतारमनि चारमान यथा रत्नमलाश्रयः ॥ १२ ॥

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावन महाधुते ।

सभाजयन् मयमाना ध्यानं कवचमाभितः ॥ १३ ॥

मात्रेण पुररुस स्तन ममण्यऽहं स्फुलिङ्गक ।

अहूर धूरक पर समरक् पण्डिता मतः ॥ १४ ॥

ज्ज्ञानीके समान छंदी आयु पाकर भी आपके उत्कर्षोंका कदम नहीं छुका सकते । इसीसे वे आपके उत्कर्षोंका स्मरण करके क्षण-क्षण अविकाधिक आनन्दका अनुभव करते रहते हैं ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! मात्स्य श्री-कृष्ण ज्ञाति ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं । वे ही सत्य-रव आदि गुणोंके द्वारा ज्ञाता, किन्तु और इन्द्रका रूप धारण करके जगत्की उत्पत्ति-स्थिति आदिके क्षेत्र क्षेत्र करते हैं । जब उद्वेगजीने अनुरागभरे चित्तसे उनसे यह प्रश्न किया, तब उन्होंने मन्द-मन्द मुसकराकर बड़े प्रसन्न कहना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच—प्रिय उद्वेग ! अब मैं तुम्हें अपने उन महत्त्वमय भागवतचर्मोंका उपदेश करता हूँ, जिनका अद्यावर्तक आचरण करके मृत्यु संसाररूप दुर्जय मृत्युको जनापास ही जीत लेता है ॥ ८ ॥ उद्वेगजी ! मेरे भक्तका चाहिये कि अपने सब कर्म मेरे लिये ही करे और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास करायें । कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जयेंगे । उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्ममें रम जायेंगे ॥ ९ ॥ मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानोंमें निवास करते हों, उन्हींमें रहे और देवता, असुर अपना मनुष्योंमें जो मेरे कर्म भक्त हों, उनके आचरणोंका अनुसरण करे ॥ १० ॥ पर्यंके अक्सरोंपर सबके सब मिश्रित भय अकेल ही नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजचित्त दृष्ट-श्रव्यसे मेरी यज्ञ आदिके महोत्सव करे ॥ ११ ॥ पुद्गल-भरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आचरण-रूप मुझ परमात्मनसे ही समस्त प्राणियों और अपने हृदयमें स्थित दारे ॥ १२ ॥ निर्वन्धुति उद्वेगजी ! जो सधक संतुष्ट हूँ ज्ञानरहितका आश्रय सदा सर्वत्र प्राणियों और पदार्थोंमें भगवत् दर्शन करता है और उन्हें भगवद् रूप मानकर स्मरण करता है तथा ममता और आण्डान, चार और साधनभक्त, मृत्यु और चिनगी तथा शत्रु और मूर्खोंमें सम्यग्दर्शन प्राप्त है, उसे ही

नरेष्वभीष्टान् मङ्गाव पुंसो भावयतोऽधिरात् ।
 स्पर्धाद्व्यातिरस्काराः साहङ्गारा नियन्ति हि ॥१५॥
 विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दशंभीषां च दैक्षीम् ।
 प्रणमेद् दण्डवद् भूमाशमचाण्डालगोस्तरम् ॥१६॥
 यावत् सर्वेषु भूतेषु मङ्गावो नोपजायते ।
 तावद्वसुगसीत बाह्मनःकायवृत्तिभिः ॥१७॥
 सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्मनीपया ।
 परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥१८॥
 अयं हि सर्वकल्पानां सग्रीवीनो मतो मम ।
 मङ्गावः सर्वभूतेषु मनोवाकायवृत्तिभिः ॥१९॥
 न ह्यज्ञोपक्रमं ज्वंसो मर्द्मस्पोदवाण्वपि ।
 मया स्वयंसितः सम्पद्भिर्निर्गुणत्वाद्नाद्विप ॥२०॥
 यो वा मयि परधर्मं कल्प्यते निष्कलाय चत् ।
 तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सप्तम ॥२१॥
 एषा पुद्भिर्गता पुद्भिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
 यत् सत्यमनृतेनैव मर्त्येनाप्रोति मामृतम् ॥२२॥
 एष तेऽभिहितः कुरुता ब्रह्मवादस्य संग्रहः ।

सन्ध्या द्वानी समग्रता चाह्वये ॥ १३ १४ ॥ जब निरन्तर
 सभी नर-नारिषेमें मेरी ही भावना की जाती है, तब
 थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्वर्धा (शोक),
 ईर्ष्या, तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते
 हैं ॥ १५ ॥ अपने ही भोग यदि हँसी करें तो फलने
 दें, उनकी परवा न करें, मैं अन्ध हूँ, वह बुरा है'
 ऐसी देहदृष्टिको और लोक-लज्जको छोड़ दे और कुत्ते,
 चाण्डाल, गौ एवं गवेषको भी पृथ्वीपर गिरकर साक्षात्
 दण्डवत् प्रणाम करें ॥ १६ ॥ बक्तक समस्त प्राणियोंमें
 मेरी भावना—भगवद्-भावना न होने लगे, तत्काल इस
 प्रकारसे मन, शरीर और शरीरके सभी संकल्पों और
 कर्मोंद्वारा मेरी उपसना करता रहे ॥ १७ ॥ उद्वबन्नी । जब
 इस प्रकार सर्वत्र आत्मसुखि—आत्मसुखि अन्त्यास
 किया जाता है, तब थोड़े ही दिनोंमें उसे ज्ञान होकर
 सब कुछ ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है । ऐसी दृष्टि हो
 जानेपर सारे संशय-सन्देह अपने-आप निवृत्त हो जाते
 हैं और वह सब कहीं मेरा साक्षात्कार फलक संसारदृष्टिसे
 उपलब्ध हो जाता है ॥ १८ ॥ मेरी प्राप्तिके जितने
 साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे भेद साधन यही सम्प्रदाय
 हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, शरीर और
 शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय ॥ १९ ॥
 उद्वबन्नी । यही मेरा अपना भागवतधर्म है; इसको एक
 बार आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी प्रकारकी विच-
 लतासे इसमें रसीक भी अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि
 यह कर्म निष्पन्न है और स्वयं मेने ही इसे निर्गुण
 होनेके कारण सर्वोत्तम निधय किया है ॥ २० ॥
 भागवतधर्ममें किसी प्रकारकी प्रुष्टि पड़नी तो दूर रही—
 यदि इस धर्मका साधक मय-शोक आदिके अन्तरपर
 होनेवाली भावना और रोने-फिटने, भगन-वैसा निरवक
 धर्म भी निष्कलमन्त्रसे मुक्त समर्पित कर दे तो वे भी
 यही प्रसन्नताका कारण धम बन जाते हैं ॥ २१ ॥
 भिन्नभिन्नके विवेक और चतुर्दशी चतुर्दशी पराकाष्ठा
 रखने हैं कि वे इस किनारी और अक्षय शरीरके द्वारा
 मुझ अभिनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें ॥ २२ ॥
 उद्वबन्नी ! यह सम्पूर्ण ब्रह्मविषयक रहस्य मेने
 संक्षेप और विस्तारसे तुम्हें सुना दिया । इस रहस्यको

समासम्पासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥२३॥

अभीष्टमस्तु मेदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।

एतद् विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥२४॥

सुविबिक्तं तब प्रभं मयैतदपि भारयेत् ।

सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२५॥

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदधात् सुपुष्कलम् ।

तस्याहं ब्रह्मदामस्य ददाम्यात्मानमारमना ॥२६॥

य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुद्धि ।

स पूयेताहरहर्मा ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥२७॥

य एतच्छ्रद्धया नित्यमच्यवः शृणुयाच्चरः ।

मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते ॥२८॥

अप्युदय त्वया ब्रह्म सखे संभवधारितम् ।

अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥२९॥

नैतत्त्वया दाम्भिकस्य नास्तिकस्य क्षत्राय च ।

अशुभूपोरभक्ताय दुर्बिनीसाय दीयताम् ॥३०॥

एतैर्दपैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च ।

साधवे शुचयेभ्यश्च भक्तिः स्याच्छूद्रयोपिताम् ॥३१॥

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्धृतिभ्यमवशिष्यते ।

पीत्वा पीयूषममृतं पातक्यं नावशिष्यते ॥३२॥

ज्ञान कर्मणि योग च वातायां दण्डधारण ।

यावानर्था नृणां तावतास्तास्तदहं चतुर्विधः ॥३३॥

सम्माना मनुष्योक्ते तो कौन कहे, देवताओंके लिये भी

अवश्य कठिन है ॥ २३ ॥ मेने जिस सुस्पष्ट और

युक्तियुक्त ज्ञानका वर्णन कर-नार किया है, उसके कर्मको

जो समझ लेता है, उसके हृदयकी संशय-प्रतिक्रिया छिप

भिस हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है ॥ २४ ॥

मेने तुम्हारे प्रश्नका मञ्जीमौति खुल्ला कर दिया, जो

पुरुष हमारे प्रफोलेरको विचारपूर्वक धारण करेगा, वह

वेदोंके भी परम रहस्य सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर

लेगा ॥ २५ ॥ जो पुरुष मेरे मर्जोंको इसे मञ्जीमौति

स्पष्ट करके समझायेगा, उस ज्ञानव्रताको मैं प्रसन्न करने

अपना सकलफल दे दारूँगा, उसे बाल्यमान कर

दूँगा ॥ २६ ॥ उद्भवही ! यह तुम्हारा और मेरा संकट

स्वयं तो परम पवित्र है ही, दूसरोंको भी पवित्र करने-

वाला है । जो प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और दूसरोंको

सुनायेगा, वह इस ज्ञानदीपके द्वारा दूसरोंको मेरा दर्शन

करानेके कारण पवित्र हो जायगा ॥ २७ ॥ जो कोई

एकाम चित्तसे इसे ब्रह्मापूर्वक नित्य सुनेगा, उसे मेरी

परामर्श प्राप्त होगी और वह कर्मफलसे मुक्त हो

जायगा ॥ २८ ॥ प्रिय सखे ! तुमने मञ्जीमौति ब्रह्मका

स्वरूप समझ लिया ॥ ! और तुम्हारे चित्तका नेह

एवं शोक तो दूर हो गया न ? ॥ २९ ॥ तुम इसे

दाम्भिक, नास्तिक, शठ, वधवाधु, मच्छिनीन और उद्वत

पुरुषको कभी मत देना ॥ ३० ॥ जो इन दोषोंसे रहित

हो, ब्रह्मणमक्त हो, प्रेमी हो, साधुत्वमान हो और

जिसका चरित्र पवित्र हो, उसीको यह प्रसन्न सुनना

चाहिये । यदि शूद्र और स्त्री भी मेरे प्रति प्रेम-भक्ति

रखते हों, तो उन्हें भी इसका उपदेश करना चाहिये ॥ ३१ ॥

जैसे दिव्य अप्रकृतान कर केनेपर कुछ भी पीना श्रेय नहीं

रहता, वैसे ही यह ज्ञान केनेपर जिज्ञासुके लिये और

कुछ भी जानना श्रेय नहीं रहता ॥ ३२ ॥ प्यारे उद्भव !

मनुष्योंका ज्ञान, कर्म, योग, वागिम्य और राजदण्डारिसे

प्रमत्त मोक्ष, धर्म, प्रेम और अप्रकृत फल प्राप्त होते

हैं; परन्तु तुम्हारे जैसे अनन्य मर्जोंके लिये वह चारों

मर्त्यो यदा त्वक्तसमस्तकर्मा
निषदितात्मा विधिधीर्पितो मे ।

तदामृतत्व प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥३४॥

श्रीगुरु उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमस्तोकवचो निष्कम्ब ।
वद्वाञ्छलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदेऽभ्युपरिस्तुतायः ॥३५॥
विष्टम्य चित् प्रणयावधूर्ण
वैर्येण राजन् पादु मन्थमान ।
कृताञ्छलिः प्राह यदुग्रवीरं
शीर्ष्णां स्पृशंस्तद्वरपारविन्दम् ॥३६॥

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहम न्धकारो
य आश्रितो म तव संनिधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगम्य
शीर्षं तमा भी प्रभवन्त्यजाय ॥३७॥
प्रत्यर्पितो म भवतालुक्कम्पिना
भूत्याय विज्ञानमय प्रदीपः ।
हिता कृतज्ञस्तव पावमूर्ल
काऽन्यत् समीपाच्छरणं त्वदीयम् ॥३८॥
शुक्लाय म सुहृदः स्नेहपाशो
दाशाहङ्गुष्प्यन्धकमात्त्वतुषु ।
प्रसारितः सृष्टिविहृदये त्वया
समायया आत्मसुबोधवतिना ॥३९॥
नमोऽस्तु ते महापाणिन् प्रपद्यमनुशाधि माम् ।
यथा त्वधरणाग्भात्र रति स्यादनपायिनी ॥४०॥

प्रभवरका फल केवल में ही हूँ ॥ ३३ ॥ जिस समय
मनुष्य समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझ आत्मसमर्पण
कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो
जाता है और मैं उसे उसके जीवन्मते सुखाकर अमृतस्वरूप
मोक्षकी प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा
स्वरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥

श्रीगुरुदेवजी कहत हैं—परिहित 'अव उद्धवजी
योगमार्गका पूरा-पूरा उपदेश प्राप्त कर चुके थे । भगवान्
श्रीकृष्णकी बात सुनकर उनकी ओसमें ओस उमड़
आये । प्रेमीकी वादसे गल रूँच गया, चुपचाप हाव जोड़े
रह गये और बाणीसे कुछ बोला न गया ॥ ३५ ॥
उनका चित्त प्रमावेशसे विह्वल हो रहा था, उन्होंने
वैर्यपूर्वक उसे रोक और अपनेको अत्यन्त सौम्यवृत्त्य
अनुभव करते हुए सिरसे यदुर्गशरिरोमणि म्भावान्
श्रीकृष्णके चरणोंको स्पर्श किया तथा हाव जाइकर
उनसे यह प्रार्थना की ॥ ३६ ॥

उद्धवजीने कहा—भगो ! आप माया और मत्सा
वाहिक भी मूल कारण हैं । मैं मोहके मग्न अन्धकारमें
मटक रहा था । आपके सस्पर्शसे यह सदाके लिये माग गया ।
मत्सा, जो अक्षिक पास पहुँच गया उसके सामने क्या
धीत, अन्धकार और उसके कारण होनेवाला भय टहर
सकते हैं ? ॥ ३७ ॥ भगवन् ! आपकी मञ्जिनी मय्यन
मेरा ज्ञानदीपक दीन लिया था, परन्तु आपन कृपा करके
वह फिर अपन सेवकको लीज लिये । आपने मर ऊपर
मग्न अनुमदकी क्या की है । ऐसा क्यों होगा, जो
आपके इस कृपा-प्रसादका अनुभव करके भी आपके
चरणकमलोंकी धरण झेक दे और किसी दूसरेका स्मरण
ल ? ॥ ३८ ॥ आपने अपनी मय्यसे सृष्टिविहृदिके लिये
दाशाह, शृणि, अन्धक और सत्पतवन्दी यादवोंके साथ
मुझ सुहृद स्नेहपाशसे बाँध लिया था । आज आपने
आत्मबोधकी तीक्ष्ण तत्त्वज्ञानसे उस कथनका अनायास
ही कट बाध ॥ ३९ ॥ महापाणिधर ! मेरा आपका
ममस्कार है । जब आप कृपा करके मुझ धरणमातका
एसी आशा दीजिये, जिससे आपके चरणकमलोंमें मेरी
अनन्य भक्ति बनी रह ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छाद्भव मयाऽऽदिष्टो हृदयाख्य ममाधमम् ।

तत्र मत्पादपीथोदि स्नानोपस्पर्शनः श्लुचि ॥४१॥

ईश्यालकनन्दाबा विपृताशेषकल्पम् ।

वसाना वल्कलान्यङ्ग वन्मधुक् सुसनिःस्पृहः ॥४२॥

तिसिद्धुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशील संपतेन्द्रियः ।

शान्त समाहितधिया ज्ञानविज्ञानस्तंयुत ॥४३॥

मयाऽनुशिक्षित सच विविक्तमनुभावयन् ।

मम्यावेशितवाक्चित्तो मद्दर्शनिरतो भव ।

अतिव्रज्य गतीस्तिष्ठो मामेप्ससि तव परम् ॥४४॥

धीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमधसोद्भव

प्रदक्षिणं त परिसृत्य पादयोः ।

शिरो निधायाधुक्लाभिराव्रधी

नृपिच्छदद्वन्द्वपराऽप्यपक्रम ॥४५॥

सुदुस्तपजस्नेहवियोगकातरौ

न शक्नुवस्त परिहातुमातुरः ।

कृच्छं ययौ मृपनि भवपादुक

विभ्रममस्तृत्य ययौ पुन पुन ॥४६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उदधनी । अब तुम मेरी आज्ञासे बदरीयनमें चले जाओ । वह मेरा ही वाधन है । वहाँ मेरे चरणकमलोंके धोवन गङ्गाजलसे जान पानके द्वारा सेवन करके तुम पवित्र हो जाओगे ॥ ४१ ॥ अल्पकनन्दाके दर्शनमात्रसे तुम्हारे सारे पाप-तप नष्ट हो जायेंगे । प्रिय उदध । तुम वहाँ वृक्षोंकी झलक पतना, कनके कन्द-मूष-फल खाना और किसी मोगकी अपेक्षा न रखकर निःस्पृह-हृत्तसे अपने-आपमें मग्न रहना ॥ ४२ ॥ सर्दी-गरमी, सुख-दुःख—बो कुछ वा पड़े, उसे सम रहकर रहना । समाव सौम्य रहना, इन्द्रियोंको बचमें रखना । चित्त शान्त रहे । बुद्धि समर्पित रहे और तुम स्वयं मेरे स्वरूपके ज्ञान और अनुभवमें डूबे रहना ॥ ४३ ॥ मैंने तुम्हें जो कुछ शिक्षा दी है, उसका एकान्तमें विचारपूर्वक अनुभव करते रहना । अपनी बाणी और चित्त सुधमें ही लगाये रहना और मेरे कलत्रसे हुए भगवत्प्रवर्तमें प्रेमसे रम जाना । अन्तमें तुम त्रिगुण और उनसे सम्बन्ध रहनेवाली गतिमेंको पार करके उनसे परे मेरे परमस्वरूपमें मिल जाओगे ॥ ४४ ॥

धीशुक उदधनी कहते हैं—परिश्रित ! माकन् श्रीकृष्ण-के स्वरूपका ज्ञान सुखरके मेदभ्रमको छिन्न-भिन्न कर देता है । जब उन्होंने स्वयं उदधनीको ऐसा उपदेश किया तो उन्होंने उनके परिक्रम की और उनके चरणोंपर स्तिर रख दिया । इसमें सन्देह नहीं कि उदधनी संयोग वियोगसे जानेवाले सुख-दुःखके जोड़ेसे परे थे, क्योंकि वे भगवान्‌के निर्द्वन्द्व चरणोंकी शरण ले चुके थे; फिर भी वहाँसे चले सम्यं उनका चित्त प्रेमावेशसे भर गया । उन्होंने अपने नेत्रोंकी बरती हुई अधुभारासे माकन्‌के चरणकमलोंको मिंगो दिया ॥ ४५ ॥ परिश्रित ! भगवान्‌क प्रति प्रेम करके उसका त्याग करना सम्भव नहीं है । उनकी वियोगपरी कल्पनासे उदधनी कलत्र हो गये, उनका त्याग करनेमें समर्थ न हुए । घर-घर बिहल होकर मृष्टत होने लगे । कुछ समयके बाद उन्होंने भगवान्‌ धीकृष्णके चरणोंकी पादुकाएँ अन्त स्तिर पर रख लीं और बार-बार भगवान्‌ चरणोंमें प्रणाम करके

ततस्तमन्तर्हृदि संनिवश्य
गतो महाभागवतो निशालाम् ।
यथोपदिष्टा जगदकम्बधुना
तप समाख्या हररगाद् गतिम् ॥४७॥

य एतदानन्दसमुद्रसम्भूत
ज्ञानामृत भागवतस्य भाषितम् ।
कृष्णन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यत ॥४८॥

भवभयमपहन्तु ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकुटुपजहं सूक्तवद् वेदसारम् ।
अमृतमुदघितभाषाययद् भृत्यवगात्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽसि ॥४९॥

यहसि प्रस्थान किया ॥ ४६ ॥ भगवान् के परमप्री भक्त उद्धवजी हृदयमें उनकी दिव्य छवि धारण किये करिविषयम पहुँचे और यहाँ उन्होंने तपामय जीवन व्यतीत करके जगत् के एवमय द्वितीय भगवान् श्रीकृष्णक उपदेशानुसार उनकी स्वरूपमूल परमाति प्राप्त की ॥ ४७ ॥ भगवान् शहर आदि योगेश्वर भी सबिज्ञानदस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णक चरणोंकी सेवा किया करते हैं । उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे अपने परमप्री भक्त उद्धवक लिये इस ज्ञानामृतक वितरण किया । यह ज्ञानामृत आनन्दव्यासागरका सार है । जो शब्दोंके साथ इसका सेवन करता है, वह तो मुक्त हो ही जाता है, उसके सङ्गसे सारा जगत् मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥ परीक्षित । इसे और विभिन्न पुष्पोंसे उनका माल-सार मधु संप्रद क लेता है, वैसे ही स्वयं बंदोंका प्रकाशित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णन भक्तोंको संसारसे मुक्त करनेके लिये यह ज्ञान और विज्ञान का सार निकाल्य है । उन्होंने जरा-यागादि मर्त्यक निवृत्तिक लिये खीरसमुद्रसे अमृत भी निकाल्य था तथा इन्हें क्रमशः अपन निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी भक्तोंका विव्याप । वे ही पुरुषाक्षय भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत् के मूल कारण हैं । मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्यां संहितायामेकदशस्कन्ध

एकानविंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

यदुक्तकथं सहाय

गजोवाप

ततो महाभागवत उद्धव निगतिं वनम् ।
द्वारवत्यां किमकराद् भगवान् भृत्यभावन ॥ १ ॥
प्रदक्ष्णापापमसृष्ट मङ्गल यावत्प्रपन्न ।
प्रपत्नीं सवनेप्राणां तर्तुं स कथमन्यजत् ॥ २ ॥
प्रत्याकृष्टु नयनमबला यत्र लग्नं न श्रेष्ठः
कणाविष्ट न मरति ततो यन् सतामन्मलप्रम् ।

पञ्चा परीक्षितन पूछ—भगवन् ! जब महाभागवत उद्धवजी करिवनका बल गये, तब भूतभावन भगवान् श्रीकृष्णने शरकरमें क्या स्वीय रकी ? ॥ १ ॥ प्रमा ! यदुक्ताशिरामणि भगवान् श्रीकृष्णन अपने कुटुंबके महाप्रप-प्रसन्न होनपर सबक नेग्रदि इन्द्रियोंक परम प्रिय अपन पिण्य श्रीविप्रेक्षकी ध्याकाका सुकरण कैसे किया ? ॥ २ ॥ भगवन् ! जब श्रियोंक नेत्र उनक श्रीविप्रेक्षमें ध्या जात थे, तब वे उन्हें यहाँसे हटानमें असमय हा जाती थीं । जब सत पुरुष उनकी रूपमधुरीय वजन सुनते हैं, तब वह श्रीविप्रेक्ष कानोंक रास्ते प्रवेश करके उनक चित्तमें गह-सा जाता है, यहाँसे हटना नहीं जानता । उसकी

यच्छ्रीर्षाणां जनपति रति किं नु मान कवीनां

दृष्टा जिष्ण्वायुधि रथगत यच्च तत्साम्यभीयु ॥ ३ ॥

अथैकशत

दिवि भुव्यन्तरि च महात्पातान् समुत्थितान् ।

दृष्टाऽऽसीनान् सुधर्माणां कृष्ण ग्राहयद्निदम् ॥ ४ ॥

एत धारा महात्पाता द्वावत्या यमकेतवः ।

सुहृत्समपि न स्वेयमत्र ना यदुपगवाः ॥ ५ ॥

स्त्रिया बालाश्च वृद्धाश्च ब्रह्मादारं व्रजन्तिवतः ।

वयं प्रभामं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती ॥ ६ ॥

तत्राभिमिष्य गुच्य उपोष्य सुसमाहिता ।

दन्ता पूजयिष्याम खपनालपनाईर्ष ॥ ७ ॥

ब्राह्मणास्तु महाभागान् कृतव्यस्त्ययना वयम् ।

गाभूरिष्यवामाभिर्गजाम्परथवामभि ॥ ८ ॥

रिधिरप द्रष्टव्य मद्राजयनमुत्तमम् ।

दशदिग्गतां पूजा मृत्यु परमा भव ॥ ९ ॥

इति मेरे समाकृत्य यदुद्वेग मधुद्विषः ।

नपति नाभिरुताय प्रभामं प्रययू रथ ॥ १० ॥

गन्धिन भगरता दिष्टं यदुद्वेग यादवा ।

पङ्क परमया नस्या गरभसारवृद्धिम् ॥ ११ ॥

शोभा कवियोंको काव्यरचनामें अनुपम रग भर देती और उनका सम्मान बढ़ा देती है, इसके सम्बन्धमें कहना ही क्या है। महाभास्व-युद्धके समय जब वे दादा अर्जुनके रथपर बैठे हुए थे, उस समय योद्धाओंने उसे देखते-देखते शरीर-त्याग किया, साकूप्य-मुक्ति मिल गयी। उन्होंने अपना ऐसा अथीविग्रह किस्त प्रकार अन्तर्धान किया ? ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णजी कहते हैं—परीक्षित ! जब मैं श्रीकृष्णने देखा कि आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष बड़े-बड़े उत्पात—अशुक्ल हो रहे हैं, तब उन सुधर्मां समामें उपस्थित सभी यदुवशिष्योंसे यह बक्री—॥ ४ ॥ भेष्य यदुवशिष्ये । यह देखा, आकाशमें बड़े-मपट्टर उत्पात होन लगे हैं। ये साक्षात् कर्मजन्मजाके सम्बन्ध हमारे मनुज अनिष्टके सूचक हैं अब हमें यहाँ बक्री-दो-बक्री भी नहीं द्यावा दिये ॥ ५ ॥ स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े यहाँसे संजब क्षेत्रमें चले जायें और हमलोग प्रमासक्षेत्रमें चले । अब सब जानत हैं कि वहाँ सरस्वती पश्चिमी ओर बह-समुद्रमें जा मिली हैं ॥ ६ ॥ यहाँ हम खान पर पत्रि होगे, उपवास करेंगे और एकप्रचित्तसे कथं चन्दन आदि समप्रियोंसे देवताओंकी पूजा करेंगे ॥ ७ ॥ यहाँ स्वस्तिवाचनके बाद हमारा भूमि, साना, यत्र, हापी, पाङ्क, रथ और पर जाति शाय नष्टमय ब्राह्मणोंका स्तुत्य करेंगे ॥ ८ ॥ दशदिशि स प्रत्येक अमङ्गलनाश करनेवाले और परम मङ्गल जननी हैं। अथ यदुवशिष्य ! देवता, ब्रह्म और तीनों की पूजा ही प्राणियोंका उद्धार परम धर्म है ॥ ९ ॥

परीक्षित ! सभी इन यदुवशिष्योंन भायन् श्रीकृष्ण यह जान चुनकर 'तपस्तु' कहकर गारा अनुत्ते न कि और तुलना नाशोंसे मनुष्य पर परक स्तोत्र प्रत्येक धर्मसे द्यावती ॥ १० ॥ यहाँ पङ्क-वस्त्र दानेन यदुवशिष्यमणि भगवन् आह्वयक आ अनुपम बक्री भव और न के सन्ति अति पत और न के वर वर

तत्तस्मिन् महापानं पपुर्मरियकं मधु ।
 दिष्टविप्रशितधियो यद्वद्रवैर्ब्रश्यते मति ॥१२॥
 महापानाभिमचानां चोराणां यत्तत्तत्तत्तत् ।
 कृष्णमायाविमृदानां संवर्षः सुमहानभूत् ॥१३॥
 युयुधु क्राधसंरम्भा वेलायामासतापिनः ।
 धनुर्भिरसिभिर्मरुतैर्गदाभिस्तोमरार्तिभिः ॥१४॥

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभि
 स्तरोपूगाभिर्महिषैर्नरैरपि ।

मिथ समेत्याश्ववैः सुदुर्मदा
 न्यहश्चरैर्दक्षिणिव द्विपा बने ॥१५॥

प्रघुञ्जसाम्नौ युधि रुद्रमत्सरा-
 बभ्रूभोजावनिरुद्रसात्यकी ।

सुभद्रसङ्ग्रामजितौ सुदारुणौ
 गदौ सुमित्रासुरधौ समीपतुः ॥१६॥

अन्ये च ये वै निष्ठोत्सुकादयः
 सहस्रजिच्छवजिद्रातुमुखाः ।

अन्योन्यमासाद्य मदाधकारिता
 जन्तुर्मुकुन्देन विमोहिता सृष्टम् ॥१७॥

दाशहृष्यन्धकभोजसात्वता
 मध्यबुदा मायुरधरसेनाः ।

विसर्जनाः कुङ्गराः कुन्तपम
 मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ॥१८॥

पुत्रा अपुष्पान् पितृभिर्भ्रातृभिश्च
 स्वस्तीयदोद्विष्टपितृष्ममातुलैः ।

मित्राणि मित्रैः सहदा सहद्वि
 श्वादीस्त्वहम्भ्रातय एव मृदाः ॥१९॥

धरपु धायमाणेषु गन्धमानेषु धन्यसु ।
 धरपु धीयमाणेषु हृष्टिभिर्जररक्षाः ॥२०॥

मज्जुष्य किये ॥ ११ ॥ यह सब ता उन्होंने किया;
 परन्तु देखन उनकी बुद्धि हर जी और वे उस मरेयक नामक
 मरिछक पान करने लगे, जिसके नशेसे बुद्धि भ्रष्ट हो
 जाती है। यह पीनेमें तो अल्प मीठी लगती है, परन्तु
 परिणाममें सर्कनाश करनेवाली है ॥ १२ ॥ उस तीव्र
 मरिछक पानसे सन्धकेसब उन्मत्त हो गये और वे बगड़ी
 भीर एक-दूसरेसे कड़ने-झगड़ने लगे। सब दूध्रे तो
 श्रीकृष्णकी मायासे वे मूढ़ हो रहे थे ॥ १३ ॥ उस समय
 वे क्रोधसे भरकर एक-दूसरेपर आक्रमण करने लगे और
 धनुष-बाण, तलवार, माले, गदा, तोमर और शक्ति आदि
 अस्त्र-शस्त्रोंसे एक-दूसरेपर ही एक-दूसरेसे भिड़
 गये ॥ १४ ॥ मत्स्यके यदुर्बशी रथों, हाथियों, घोड़ों,
 गधों, ऊँटों, कबूतों, बैलों, भैरों और मनुष्योंमें भी सवार
 होकर एक-दूसरेको बाणोंसे घाव करने लगे—मनो-
 बन्धी हाथी एक-दूसरेपर दौलोंसे चोट कर रहे थे।
 सबकी सवारियोंपर अस्त्रों से चढ़ा रही थी, पैदल सैनिक
 भी आपसमें लड़ रहे थे ॥ १५ ॥ प्रघुञ्ज सन्धसे,
 अमर भोजसे, अनिरुद्र सन्धकिते, सुम्भ संभामजितसे,
 मगधान् श्रीकृष्णके भइ गद उठी नामक उनके पुत्रसे
 और सुमित्रासुरसे युद्ध करने लगे। ये सभी बड़े मयङ्कर
 योद्धा थे और क्रोधमें भरकर एक-दूसरेका नष्ट करनेपर तृप्त
 गये थे ॥ १६ ॥ इनके अनिरुद्ध निष्ठ, उत्सुक,
 सहस्रजित, श्वजित और मानु आदि स्रष्ट भी एक-
 दूसरेसे गुँथ गये। मगधान् श्रीकृष्णकी मयाने ता इन्हें
 अल्पत योगित कर ही रख्य था, इधर मरिछके नशेने
 भी इन्हें अन्ध बना दिया था ॥ १७ ॥ दाशहर्ष, वृष्णि,
 अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अस्तु, मायुर, शरसेन,
 विसर्जन, कुङ्ग और कुन्ति आदि वंशोंके लोग सौहार्द और
 प्रेमसे मुक्त हो आपसमें मार-फट करने लगे ॥ १८ ॥
 पुत्रावकाश पुत्र पितृका, भइ भाईका, मानवा नामका,
 नास्ती नानाका, मित्र मित्रका, सुहृद् सुहृद्का, चाचा मत्स्यके-
 का तथा एक गोत्रवाले आपसमें एक-दूसरेका खून करने
 लगे ॥ १९ ॥ अन्तमें जब उनके सब बाण समाप्त हो
 गये, धनुष टूट गये और शस्त्र नष्ट-भंग हो गये तब
 उन्होंने अपने हाथोंसे समुद्रतटपर लगी हुई एराव नामकी
 घास उखाड़ी शुरू की। यह घास घास थी, या अश्वियों-
 के शपके कारण उत्पन्न हुए अहमय मनुष्योंके चूरेसे पैदा

तावन्नक्ष्त्रा अभवन् परिषा मुष्टिना मृताः ।

बभ्रुर्द्विपस्तै कृष्णेन धार्यमाणास्तु तं च ते ॥२१॥

प्रत्यनीकं मन्यमाना धलमर्धं च माहिता ।

इदं कृतधियो राज्ञश्चापञ्चा आतसायिन ॥२२॥

अथ तावपि सङ्कटाधुपम्य कुरुनन्दन ।

एरकासुष्टिपरिवौ चरन्तौ जगत्पुत्रि ॥२३॥

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् ।

स्वधाक्रोधः क्षयनित्ये वैणवोऽमिषधावनम् ॥२४॥

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केवलः ।

अवतारितो भूवा भार इति मेनेज्वलेपितः ॥२५॥

रामः समुद्रवेलायां योगमासाय पौरुषम् ।

तत्पात्रलोकं मातुष्यं संबोच्यात्मानमात्मनि ॥२६॥

रामनिर्णामालोक्य भगवान् देवकीसुतः ।

निपसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥२७॥

विभ्रजत्सुर्जं रूपं ब्राजिष्णु प्रथमा मया ।

दिशो विविमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः ॥२८॥

धीयत्साङ्गं घनश्यामं तप्तहाटकवर्धसम् ।

कीदोषाम्बरपुग्मेन परिषीतं सुमङ्गलम् ॥२९॥

सुन्दरमितवक्रपार्श्वं नीलकुन्तलमण्डितम् ।

हुई थी ॥ २० ॥ हे राजन् ! उनके हाथोंमें आते हैं यह बास वज्रके समान कटोर सुन्नरोंके रूपमें परिष्कृत हो गयी । अब वे रोपमें भरकर उसी घातके द्वारा अपने निपक्षियोंपर प्रहार करने लगे । भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें मना किया, तो उन्होंने उनको और कलामन्त्रीने भी अपना शत्रु समझ लिया । उन वातावरणियोंकी सुखि ऐसी मूढ़ हो रही थी कि वे उन्हें मारनेके लिये उनकी ओर दौड़ पड़े ॥ २१-२२ ॥ कुरुनन्दन ! अब भगवान् श्रीकृष्ण और कलामन्त्री भी क्रोधमें भरकर पुनर्मूर्तिमें एकर-उबर बिचरने और मुझी-की-मुझी एरका बास उखर-उखरकर उन्हें मारने लगे । एरका घातकी मुझी ही सुन्नरके समान चोट करती थी ॥ २३ ॥ जैसे बौंसोंकी एरासे उत्पन्न होकर दावामळ बौंसोंकी ही मत्स कर देता है, वैसे ही ब्रह्मशापसे प्रसूत और भगवान् श्रीकृष्णकी मायासे माहित यदुबलियोंके स्पर्शमूळक क्रोधने उनका ध्वंस कर दिया ॥ २४ ॥ अब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि समस्त यदुबलियोंका संहार हो चुका, तब उन्होंने यह सोचकर सन्तोषकी साँस ली कि पृथ्वीका वन-कुल भार भी उतर गया ॥ २५ ॥

परिचित । कलामन्त्रीने समुद्रतटपर बैठकर एरका-बिचसे परमात्मचिन्तन करते हुए अपने आत्मार्थे वाक्-सकृपमें ही स्थिर कर लिया और म्लुच्छद्वीर कोष दिया ॥ २६ ॥ अब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरे बने माई कलामन्त्री परमस्वयं क्षीन हो गये, तब वे एक पीछके पेड़के तले जाकर चुपचाप धरतीपर ही बैठ गये ॥ २७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपनी अङ्गकान्तिसे दशोपममान चतुर्भुज रूप धारण कर रक्ख बा और घूम-से रहित अग्निके समान शिखरोंमें अन्धकारहित—प्रकाशमय बना रहे थे ॥ २८ ॥ वर्षावर्षीन मेरुके समान साँकले शरीरसे तपे हुए सानेके समान श्मोति निकल रही थी । वन स्वच्छर श्रीवत्सका विह शोभायमान था । वे रेशमी पीताम्बरकी धाती और वैद्य ही दुपडा धारण लिये हुए थे । बड़ा ही मङ्गलमय रूप था ॥ २९ ॥ मुख-कमण्डल सुन्दर मुसमल और कण्ठोपर नीली-नीली आलके बनी ही मुहावनी लगती थी । पन्तलक समन

पुण्डरीकाभिरामार्धं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३०॥

कटिचन्द्रमसचन्द्रकिरीटकटकाङ्गदै ।

इतन्पुण्ड्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥३१॥

वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजापुष्पैः ।

कृत्वोरौ दक्षिण पादमासीन पङ्कजाकृणम् ॥३२॥

मसलावशेषायः त्वण्डकृतेषु लुम्भको जरा ।

मृगास्याकारं तच्चरणं विध्याच्च मृगाशङ्कया ॥३३॥

चतुर्भुजं तं पुरुषं हृष्टं स कृतकिलिप ।

भीतं पपात धिरसा पादयोरसुरक्षिपः ॥३४॥

अवान्ता कृतमिदं पापनं मधुसूदन ।

धन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमस्त्राक मेऽनघ ॥३५॥

यस्यालुस्मरणं नृगामघ्नान्त्वान्तनाशनम् ।

वदन्ति तस्य तं विष्णो मयासाधु कृतं प्रभा ॥३६॥

तन्माऽऽशु जहि बंधुण्ड पाप्मानं मृगलुम्भकम् ।

यथा पुनरहं त्वेव न कुर्या मदतिक्रमम् ॥३७॥

यस्यात्मपागरचित्तं न विदुर्धिरिषा

रुद्रादयाऽस्य तनया पतयोरगिरां य ।

त्वन्मापया पिहितदृष्टय एतदञ्जः

किं तस्य तं वयममद्रुतया गृणीम ॥३८॥

श्रीभगवानुवाच

मा मेऽत्रे न्यमुत्तिष्ठ काम एष कृता हि य ।

सुन्दर-सुन्दर एष सुकुमार नेत्र ये । कान्तेमि मकरकुण्डल
कुण्डल द्विअमिच्छ रहे थे ॥ ३० ॥ कमरमें कटक्की, कटिपर
यक्षोपवीत, माथेपर मुकुट, कलाश्रयोमि कंगन, बौद्धिमि
वामबंद, वक्ष स्पन्दपर हार, चरणोमि नूपुर, अंगुष्ठियोमि
अंगुष्ठियो और गलेमि कौस्तुभमणि शोभायमान हो रही
थी ॥ ३१ ॥ छुटनोतक कामाख्य लटकरी हूई थी । शङ्ख,
चक्र, गदा आदि आयुध मूर्तिमान् होकर प्रभुकी सेवा
कर रहे थे । उस समय भगवान् अपनी दाहिनी बाँवपर
बायाँ चरण रखकर बैठे हुए थे । लज्ज-व्यन तल्ला रक्त
कमलके समान चमक रहा था ॥ ३२ ॥

परीक्षित् ! जरा नामका एक वहेष्टिया था । उसने
मसलके कचे हुए टुकड़ेसे अपने बाणकी गोँसी बना ली
थी । उसे दूरीसे भगवान्का लज्ज-व्यन तल्ला हरिनक
मुखके समान जान पड़ा । उसने उसे सचमुच हरिन
समनकर अपने उसी बाणसे बीच दिया ॥ ३३ ॥ जब
वह पस आया, तब उसने देखा कि 'अरे ! ये तो चतुर्भुज
पुरुष हैं ।' अब ताँ वह अपनाच कर चुका था, इसलिये
डरक मारे कौपने लगा और देवदत्तन भगवान् श्रेष्ठपुण्यके
चरणोंपर स्त्रि रखकर धरतीपर गिर पड़ा ॥ ३४ ॥ उसने
कहा—'ह मधुसूदन ! मैंने अनजानमें यह पाप किया है ।
सचमुच मैं बहुत बड़ा पापी हूँ, परन्तु आप परमेश्वरी
और निर्बिकर हैं । आप क्या करके मेरा अपराध क्षमा
करिये ॥ ३५ ॥ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् प्रभो ! महात्म-
त्यम कहा करते हैं कि आपका स्मरणमात्रसे मनुष्यको
अज्ञानत्वचकर नष्ट हो जाता है । वह खंदाफी बात है
कि मैं स्वयं आपका ही अनिष्ट कर दिया ॥ ३६ ॥
वैशुमत्याय ! मैं निरपराध हरिगोत्रो नारनक्षत्र महापायी
हूँ । आप मुझ अर्ध-अर्ध मार डालिये, क्योंकि मैं जानेकर
मैं फिर कभी आप-जैसे महापुरुषको ऐसा अपराध न करूँगा
॥ ३७ ॥ भगवान् ! सभूत विषाओके पारदर्शी ब्रह्मदा
और उनके पुत्र हूँ जाति भी आपकी योग्यपक्षक कित्तस
नहीं समझ पाते, क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी नापासे
अज्ञ है । एसी अवस्थामें हमारे जैसे पापयानि अंग
उसके विषयमें कह ही क्या सकते हैं ! ॥ ३८ ॥

भगवान् धीकृष्णन कहा—'ह जरा ! तू उर मत,
उठ-उठ । यह ता तूने मेरे मनका काम किया है । जा,

याहि स्व मदनुव्रतः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥३९॥

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छासुरीरिणा ।

त्रिः परिक्रम्य च नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥४०॥

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छमभिगम्य ताम् ।

वार्युं तुलसिक्रमोदमाघ्रत्याभिमुत्त ययौ ॥४१॥

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्हतं

सम्पत्तमूले कृतकेतनं पतिम् ।

स्नेहप्लुतात्मा निपपत्त पद्मयो

रथारवप्लुत्य सबाष्पलाचनः ॥४२॥

अपश्यत्स्त्वचरामान्मुजं प्रभो

दृष्टिः प्रणष्टा तमसि प्रविष्टा ।

दिशो न जाने न लभे च क्षान्तिं

यथा निशामासुहृपे प्रणष्टे ॥४३॥

इति ब्रवति सते वै रथो गरुडलाञ्छनः ।

खमुत्पपात राजेन्द्र सम्पञ्चज उदीक्षतः ॥४४॥

तमन्वगच्छन् दिव्यानि त्रिण्युग्रहरणानि च ।

तेनाविधिसितवत्तमानं स्रतमाह जनार्दनः ॥४५॥

गच्छ द्वावर्ती स्रतं धात्रीनां निधनं मिथं ।

संक्रपणस्य निपाणं कन्युभ्यो ब्रूहि महेश्वरम् ॥४६॥

द्वावर्क्यां च न स्पर्धे भवद्विभवं खन्युभि ।

मया त्यक्तां यदुपूरीं समुद्रं प्रावयिष्यति ॥४७॥

स्वं स्वं पत्निर्दं मयं आदाय पितरौ च नः ।

अर्जुनेनाविता सन इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥४८॥

मेरी आकांसे व उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्रती
नके-बन्ध पुण्यपन्नोको होती है ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्णदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! भगवान् श्री-
कृष्ण तो अपनी इच्छासे शरीर वारण करते हैं । अब
उन्होंने जरा व्याधका यह आदेश दिया, तब उसने उसी
तीन बार परिक्रमा की, नमस्कार किया और विमान
सवार होकर स्वर्गको चला गया ॥ ४० ॥

भगवान् श्रीकृष्णका सारथि दारुक उनके खलत्र
पता लगाता हुआ उनके द्वारा धारण की हुई तुलसीकी गन्ध-
से युक्त वार्यु सूँघकर और उससे उनके होनेके स्थानका
अनुमान लगाकर सामनेकी ओर गया ॥ ४१ ॥ दारुकने
वहाँ जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण पीपलके इष्टके
नीचे आसून लगाये बैठे हैं । अस्त्र तेजबाले असुव
मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें संलग्न हैं । उन्हें देखकर
दारुकके हृदयमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी । नेत्रोंसे आँसुओंकी
धारा बहने लगी । वह रथसे कूदकर भगवान्के चरणोंपर
गिर पड़ा ॥ ४२ ॥ उसने भगवान्से प्रार्थना की—प्रभो !
एत्रिके समय अम्बुजके अस्त हो जानेपर राह चकनेबलेकी
जैसी दशा हो जाती है, आपके चरणकमलोंका दर्शन न
पाकर मेरी भी वैसी ही दशा हो गयी है । मेरी दृष्टि नष्ट
हो गयी है, चारों ओर अँधारा छ गया । अब न तो मुझे
दिशाओंका ज्ञान है और न मेरे हृदयमें शक्ति ही
है ॥ ४३ ॥ परीक्षित ! अभी दारुक इस प्रकार कह ही
रहा था कि उसके सामने ही भगवान्का गरुडचक्र ख
पड़कर और घोड़ोंके साथ आकाशमें उड़ गया ॥ ४४ ॥
उसके पीछे-पीछे भगवान्के दिव्य असुव भी चले गये ।
यह सब देखकर दारुकके आश्चर्यकी सीमा न रही । तब
भगवान्ने उससे कहा—॥ ४५ ॥ 'दारुक ! अब तुम द्वारका
जले जाओ और वहाँ यदुवंशियोंके परस्परिक संहार में
काम्यमवीकी परम गति और मेरे साथमात्मनसी प्राप्त
करो ॥ ४६ ॥ उनसे कहना कि 'अब तुम दोनों अपने
परिवारधर्मोंके साथ द्वारकामें नहीं रहना चाहिये । मेरे न
रहनपर समुद्र उस नगरीका डूबा दगा ॥ ४७ ॥ तब क्या
अग्नी-अग्नी धन-सम्पत्ति, पुत्र-पुत्र और मर-मृत-नितारा
लेकर अर्जुनके सन्निधमें इन्द्रप्रस्थ चल जाय ॥ ४८ ॥

य तु मदर्ममाप्साय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।

नन्मायातत्त्वनामेतां विद्यायापशमं प्रज ॥४९॥

इत्युक्तं परिकल्प्य नमस्कृत्य पुनः पुन ।

उत्पादौ श्रीष्णुपाधाय दुर्मनाः त्रयसौ पुरीम् ॥५०॥

दासक । तूम मेरे द्वारा उपदिष्ट मागतधर्मका
आश्रय हो और ज्ञाननिष्ठ होकर सबकी उपेक्षा कर दो
तथा इस दृष्टिको मरी मायाकी रचना समझकर शान्त
हो जाओ ॥४९॥ भगवान् कह यह आदेश पाकर दासकने
उनकी परिकल्पना की और उनके चरणकमल अपने सिरपर
रखकर बारंबार प्रणाम किया । तदनन्तर वह उदास
मनसे शरद्वक्त्र त्रिय चंड पदा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्हस्या संहितायामेकत्रिंशत्स्थाने

त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

श्रीभगवान् कथयति स्वधामगमनम्

श्रीकृष्ण उवाच

अथ तद्भागवतं ब्रह्मा भवान्वाच स मे भव ।

महान्द्रष्टृत्वा दत्वा मुनयः सप्रजेश्वरा ॥ १ ॥

पितरः सिद्धन्तश्च विद्याधरमहारागाः ।

चारणा बधिरधांसि क्षिप्रारम्भरमो द्विजा ॥ २ ॥

द्रष्टुं क्षमा भगवता नियोगं परमात्सुरा ।

गायन्तश्च गुणन्तश्च शारः कृमाणि जन्म च ॥ ३ ॥

रश्मिः पुष्पवपाणि विमानावलिभिर्नभः ।

कुण्डलं सङ्कुलं राजन् भक्त्या परमया युवा ॥ ४ ॥

भगवान् विनामहं शस्त्रं विभूता सात्मना विभुः ।

धं पाशानि चात्मानं पद्मं च न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

नाकाभिरामां मयन्तु धारणाप्यानमज्जन्तम् ।

पादपतनयाऽऽध्याप्यादग्नां धामाविगन्तुमर्हन् ॥ ६ ॥

दिति दम्भुभवा ननु पतु गुपयमधत्तान् ।

मत्स्यधमा धृतिभूमः क्षिति धायातु तययु ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णजी कहते हैं—परिचित । दासक कहे
जानेपर ब्रह्माजी, शिव-गणेश, इन्द्रादि देवताएँ, मरीचि
आदि प्रजापति, बृह-बड़ अग्नि-मुनि, पितर-सिद्ध, गन्धर्व
विषाधर, नाग-चारण, यक्ष-राक्षस, किलर-अप्सरारणें तथा
गुरुज्योतिष विभिन्न पक्षी अथवा मत्स्य आदि अलग-अलग
श्रीकृष्णक परम-शम-सम्मानकर स्तनक त्रिय बरी
दृष्टुं-देखनेसे बहो जाते । वे सभी भगवान् श्रीकृष्णक जम
और अय-अपेक्षा गन अपना बगन कर रह थे । उनको
विमानसे सारा आकाश भर-या गया था । वे बरी भक्तिसे
भगवान्पर पुणोंकी पदा कर रह थे ॥ १-४ ॥ मत्स्य-मत्स्य
भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजी और जने विभूति-सम्मान
दत्त-प्राप्तोंके दम्भुभवा जने अलम्बन स्तनके श्वित किया
और पतनक सम्मानने बंद कर दिया ॥ ५ ॥ मत्स्य-मत्स्य
श्रीविभूत उपासकोंके ध्वज और धारणाकर मत्स्य अप्पर
और सम्मान अर्पणके दिन परम रमणीय आश्रय दे,
इसमें उन्होंने (पाशियोंके सम्मान) अग्नि-वना-सम्मान
योग-धरणाकर तथा उसका जयकर बहो सत्तमी जने
रक्षित कर गए ॥ ६ ॥ मत्स्य सम्मानने नगर पतन
था और अय-मत्स्य पुणोंकी पदा दान था । परिचित !
भगवान् श्रीकृष्णक उपासकोंके इस आशसे रूप, रंग, धेनु,

देवादयो ब्रह्मसूत्र्या न विद्यन्तं स्वधामनि ।

अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुर्मातिविमिताः ॥ ८ ॥

सौदामन्या यथाऽऽकाशे यन्त्या हित्वा भ्रमणमलम् ।

गतिर्न लब्धते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य देवते ॥ ९ ॥

ब्रह्मरुद्रादपस्ते तु दृष्टा योगगतिं हरेः ।

विस्मितास्त्यां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा ॥ १० ॥

राजन् परस्य तनुमुत्तननाम्बयेहा

मात्वा विबुधमनमवेहि यथा भटस्य ।

सृष्टाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते

संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आत्मे ॥ ११ ॥

मर्त्येन यो गुरुमुचं यमलोकीतं

त्वां चानयच्छरणदः परमाद्भुतम् ।

त्रिग्वेऽन्तकान्तकमपीक्षमसावनीश

किं म्वावने स्वरनयन्मृगपुंसदेहम् ॥ १२ ॥

तथाप्यद्वयमितिसम्भवाप्यय

ध्वनन्यहेतुर्पदद्वयशक्तिभृक् ।

नच्छत् प्रणतं यपुरग्र शपितं

मर्त्येन किं मय्यगतिं प्रदद्यन् ॥ १३ ॥

य एतां प्रातरुत्थाप कृष्णस्य पदवीं पराम् ।

कीर्ति और श्रीदेवी की कही गयी ॥ ७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी गति मन और वाणीके परे है, तभी तो जब भगवान् अपने घाममें प्रवेश करने लगे, तब श्लाघा देवता भी उन्हें न देख सके । इस घटनासे उन्हें बड़ा ॥ विस्मय हुआ ॥ ८ ॥ जैसे बिजली मेकमण्डलमें छेदकर जब आकाशमें प्रवेश करती है, तब मनुष्य उसकी बाछ नहीं देख पाते, वैसे ॥ यद्ये-कहे देवता भी श्रीकृष्णकी गतिके सम्बन्धमें कुछ न जान सके ॥ ९ ॥ ब्रह्मन्वी और भगवान् शङ्कर आदि देवता भगवान्की यह परमयोगिनी गति देखकर बड़े विस्मयके साथ उसकी प्रशंसा करते अपने-अपने क्षेत्रमें चले गये ॥ १० ॥

परीक्षित ! जैसे गट अनेकमें प्रकरक लौंग बनाता है, परन्तु रहता है उन सबसे निर्दोष, वैसे ही भगवान् मनुष्योंके समान जन्म लेता, बीमार करता और फिर उसे संभरण कर लेता उनकी मङ्गलक विमलसमाधि है—अनियमक है । वे स्वयं ही इस जगत्की सृष्टि करके इसमें प्रवेश करने विश्वास करते हैं और अन्तमें संसार-बीज करने अपने अनन्त महिमात्म्य स्वस्वयं ही स्थित हो जाते हैं ॥ ११ ॥ सान्दीपनि गुरुका पुत्र यमुपुरी चला गया था, परन्तु उसे वे मनुष्य-शरीरके साथ छोड़ा जये । तुम्हारा ही शरीर मन्त्रसे जब पुत्र था, परन्तु उन्होंने इसे जीवित कर लिया । वास्तवमें उनकी शरणार्थकस्तुष्ट्या ऐसी ही है । और तो क्या कहूँ, उन्होंने कालोंके महाकाज भगवान् शङ्करकी भी युद्धमें जीत लिया और अत्यन्त अपराधी—अपने शरीरका ही प्रहार करनेवाले व्याधको भी सदैव स्वर्ग भेज दिया । श्रिय परीक्षित ! ऐसी विनिर्म कथा वे अपने शरीरको सदाक जिये यहाँ नहीं रख सकते थे ! अपराध ही रख सकते थे ॥ १२ ॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्की स्थिति, उत्पत्ति और संश्रय निरोध कारण हैं और सम्पूर्ण शक्तियोंके धारण करनेवाले हैं तथापि उन्होंने अपने शरीरको इस संसारमें बन्ध रखनेकी इच्छा नहीं की । इससे उन्होंने यह दिखाना कि इस मनुष्य-शरीरसे मुझ क्या प्रयोजन है ! आश्वमेध पुरुषोंके जिये यही आर्त्त है कि वे शरीर रखनेकी चाछ न करें ॥ १३ ॥ जो पुरुष प्राप्त करत उत्तर भगवान् श्रीकृष्णक परमप्राप्तमन्त्र ही इस कथानुसार एवमथा और अधिक

इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यवेचयत् ॥२५॥

धृत्वा सुहृदर्थं राजभर्तुनाथे पितामहाः ।

त्वां तु वंशधरं कृत्वा अग्र्यः सर्वे महापथम् ॥२६॥

च एतव् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि अन्म च ।

कीर्तयेन्मृदया मत्स्यः सवंपापैः प्रमुच्यते ॥२७॥

इत्थं हरर्मगवतो रुचिरावतार

वीर्याणि बालचरितानि च श्रुतमानि ।

अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो

भक्तिं परां परमहसगतौ लभेत् ॥२८॥

वहाँ सवको गणमोम्य बसाकर अनिरुद्धके पुत्र बन्ना
राज्याभिषेक कर दिया ॥ २५ ॥ राजन् ! तुम्हारे दश
युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको धर्तुनसे ही यह बात कहस हरे
कि यदुर्वशियोंका संहार हा गया है । तब उन्होंने अपने
वंशधर तुम्हें राज्यपदपर अभिषिक्त करके हिमाञ्चकी
वीर्याव्रत की ॥ २६ ॥ मेने तुम्हें वेणुताजोंके भी आराध्यवेश
मगवान् श्रीकृष्णकी जन्मखील्य और कर्मजील्य सुनायी ।
जो मनुष्य अज्ञाके साथ इसका कीर्तन करत है, वह समस्त
पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! जो मनुष्य
इस प्रकार भक्तभगवत्पूरी निष्किल्ब सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीकृष्ण-
चन्द्रके अक्षर-सम्बन्धी रुचिर पराक्रम और इस
श्रीमद्भागवत महापुराणमें तथा दूसरे पुराणोंमें वर्णित
परमानन्दमयी कळखील्य, कैशोरलील्य आदिकी संकीर्तन
करता है, वह परमहस मुनीन्द्रोंके अस्तिम प्राप्तस्य श्रीकृष्णके
चरणोंमें पराभक्ति प्राप्त करत है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्याम्नादशस्तब्रह्मणां परमार्था
संहितायामेकदशस्कन्धे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

॥ इत्येकादशः स्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ नमः ॥



श्रीराधाकृष्णाय नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वादशः स्कन्धः



सगुणो निर्गुणो भावः शून्याऽन्यात्मकस्तथा ।
लीलाविलसो यस्यैव स वन्द्य बालवत्सपम् ॥

मार्कण्डेयपर छद्मरज्जि की कथा



अगमान नदुर भीषापनीजी तथा भपन गणोंक साथ पघार ।

[४४ ५९]

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वाविंशः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

कलिपुत्रके राजवशोंका वर्णन

राजोवाच

स्वभामालुगते कृष्णे बहुवंशविधूपमे ।

कस्तु वंशोऽभवत् पूज्यामेतदावक्ष्य मे मुने ॥ १ ॥

भीष्मक उवाच

मोऽन्त्यः पुरश्चयो नाम भाष्यो बार्हद्रथो नृपः ।

तस्मात्सवस्तु क्षनको हत्वा स्वाभिनमात्मजम् ॥ २ ॥

प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत् पाण्डकः सुतः ।

विद्यालयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥ ३ ॥

नन्दिबर्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे ।

अष्टत्रिंशोचरश्चतुर्भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः ॥ ४ ॥

शिष्टानागस्ततो भाष्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ।

धेमधमा तस्तु सुत धेम्बुध्र धेमधर्मजः ॥ ५ ॥

विधिसारः सुतस्तस्याज्जातश्चतुर्भविष्यति ।

दर्भकस्तत्सुतो मोषी दर्भकस्याज्येयः स्मृतः ॥ ६ ॥

नन्दिबर्धन आजेयो महानन्दि सुतस्ततः ।

शिष्टानागा दशैवंते पट्टपुचरश्चतस्रम् ॥ ७ ॥

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुमेष्ट कलौ नृपाः ।

महानन्दिस्तुतो राजन् श्रुद्भीगर्भोऽनृपो बली ॥ ८ ॥

महापथपतिः क्रमिभन्दः क्षत्रविनाशकृत् ।

राजा परीक्षित्ने पूज्य—भाष्यम् । यदुक्तादितोमणि

मगवान् श्रीकृष्ण जब अपने परमजन्म पञ्चर गये, तब पृथ्वीपर विस्त बंशका राज्य हुआ । तब जब विस्तका राज्य होगा ? आप कृपा करके मुझे यह बात कहे ॥ १ ॥

भीष्मकदेवजीने कहा—श्रिय परीक्षित् ! मैंने तुम्हें नवें स्कन्धमें यह बात बतलवाई थी कि बरातचके पिता शृहरूपके वंशमें अन्तिम राजा होगा पुरश्चय अथवा रिपुक्षय । उसके मन्त्रीका नाम होगा क्षनक । वह अपने खासीको मार डालेगा और अपने पुत्र प्रद्योतको राज-सिंहासनपर अमियिक करेगा । प्रद्योतका पुत्र होगा पाण्डक, पाण्डकका विद्यालयूप, विद्यालयूपका राजक और राजकका पुत्र होगा नन्दिबर्धन । प्रद्योतवंशमें यही पाँच नरपति होंगे । इनकी सभा होगी 'प्रद्योतना' । ये एक सौ अक्षतीस वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ २-४ ॥

इसके पश्चात् शिष्टानाग नामका राजा होगा । शिष्टानागका ककवर्ण, उसका क्षनकर्ण और क्षेमधर्माका पुत्र होगा धेम्बुध्र ॥ ५ ॥ धेम्बुध्रका विधिसार, उसका बन्नात शत्रु, फिर दर्भक और दर्भकका पुत्र अजय होगा ॥ ६ ॥ अजयसे नन्दिबर्धन और उससे म्हामन्दिका जन्म होगा । शिष्टानाग-वंशमें ये दस राजा होंगे । ये सब मित्रकर कथियुगमें तीन सौ साठ वर्षतक पृथ्वीपर राज्य करेंगे । श्रिय परीक्षित् ! म्हामन्दिकी शत्रु पत्नीके गर्भसे मन्द नामका पुत्र होगा । वह बड़ा बज्जान् होगा । म्हामन्दि 'म्हापथ' नामक निधिका अधिपति होगा । इसीछिये धेग उसे 'म्हापथ' भी कहेंगे । वह सत्रिय राजाओंके विनाश-

ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिका ॥ ९ ॥

स एकच्छत्रा पृथिवीमनुल्लङ्घितश्चासनः ।
आसिष्यति महापद्मा द्वितीय इव भार्गवः ॥ १० ॥

तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमान्यप्रभुत्वाः सुताः ।

य इमां भोक्ष्यन्ति मही राजानः सा सर्वसमाः ॥ ११ ॥

नव नन्दान् द्विजः कथित् प्रपन्नामुदरिष्यति ।

तेषामभावे जगती मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥ १२ ॥

स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिवेक्ष्यति ।

तत्सुता वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ॥ १३ ॥

सुयश भविता तस्य सङ्गः सुयशः सुतः ।

शालिग्रहस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति ॥ १४ ॥

शतधन्वा ततस्तस्य भविता तव वृहद्रथः ।

मौर्या श्वेते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छोचरम् ॥ १५ ॥

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्भवः ।

इत्या वृहद्रथं मौर्यं तस्य सेनापतिः कलौ ।

पुष्यमित्रस्तु शुक्राहः स्वयं राज्यं करिष्यति ।

अग्निमित्रस्ततस्तसात् सुज्येष्ठोऽप्यै भविष्यति ॥ १६ ॥

वसुमित्रा भद्रकम् पुडिन्दा भविता तव ।

ततो घोष तुवस्तस्मात् वज्रमित्रो भविष्यति ॥ १७ ॥

तता भागवतस्तस्माद् देवभूतिरिति धृतः ।

शुक्रा दशत भोक्ष्यन्ति मूर्ध्नि वर्षशताधिकम् ॥ १८ ॥

तव कर्मानियं भूमिर्मासस्त्यज्यगुणान् नृप ।

पुनर्हत्वा देवभूतिं कृष्णाऽमात्यस्तु कामिनम् ॥ १९ ॥

स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवा महामतिः ।

तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः ।

का कारण बनेगा । तभीसे राजाजग प्राय शत्रु और
अधार्मिक हो जायेंगे ॥ ७-९ ॥

महापद्म पृथ्वीका एकच्छत्र शासक होगा । उसके
शासनका उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकेगा । अग्निप्रेत
विनाशमें हेतु होनेकी दृष्टिसे तो उसे दूरा परधुरम ही
सम्माना चाहिये ॥ १० ॥ उसके सुमान्य आदि आठ
पुत्र होंगे । वे सभी राजा होंगे और सौ वर्तक इस
पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ ११ ॥ कौटिल्य, वात्स्ययन
तथा चाणक्यके नामसे प्रसिद्ध एक कृष्ण विद्विष्यस्त
नन्द और उनके सुमान्य आदि आठ पुत्रोंका नाश कर
आलेगा । उनका नाश हो जानेपर कश्मिगुर्मे मौर्यकी
नरपति पृथ्वीका राज्य करेंगे ॥ १२ ॥ वही आसग पण्डे-
पण्ड चन्द्रगुप्त मौर्यको राजाके पदपर अभिरुद्ध करेगा ।
चन्द्रगुप्तका पुत्र होगा वारिसार और वारिसरका अशोक-
वर्धन ॥ १३ ॥ अशोकवर्धनका पुत्र होगा सुयश । सुयश-
का सङ्गत, सङ्गतका शालिग्रह और शालिग्रहका
सोमशर्मा ॥ १४ ॥ सोमशर्माका शतधन्वा और शतधन्वा-
का पुत्र वृहद्रथ होगा । वृहद्रथभिनृपण परीक्षित ।
मौर्यवंशके ये दस नरपति कश्मिगुर्मे एक ही सैन्य
वर्तक पृथ्वीका उपभोग करेंगे । वृहद्रथका सेनापति
होगा पुष्यमित्र शुक्राह । वह अपने सामीको मरकर स्वयं
राजा बन बैठेगा । पुष्यमित्रका अग्निमित्र और अग्नि-
मित्रका सुज्येष्ठ होगा ॥ १५ ॥ सुज्येष्ठका वसुमित्र,
वसुमित्रका मद्रक और मद्रकका पुण्डिक, पुण्डिकका
घोष और घोषका पुत्र होगा वज्रमित्र ॥ १६ ॥ वज्र-
मित्रका भागवत और भागवतका पुत्र होगा देवभूति ।
शुक्रवंशके ये दस नरपति एक ही शत्रु वर्तक पृथ्वीका
प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

परीक्षित । शुक्रवंशी नरपतियोंका राज्यतुल्य सम्पत्ति
हानेपर यह पृथ्वी कश्मिगुर्मी नरपतियोंके हाथमें चली
जायगी । कश्मिगुर्मी नरपति अपने पूर्वजों राजाओंकी
अपेक्षा कम गुणवाले होंगे । शुक्रवंशका अन्तिम नरपति
देवभूति यका ही राज्य होगा । उसे उसका मंत्री
पण्डवशी वसुदेव मार आया और अपने मुदिबसे
स्वयं राज्य करेगा । वसुदेवका पुत्र होगा भूमित्र, भूमित्रका

१ शत्रुपिच्छुतः । २ सुत । ३ उपभोगिता ताः । ४ निः कुरुकुलः । ५ महीयति । ६ खता ना ।

● मोरोधी संपदा चन्द्रगुप्तको मिश्रकर मो दी जाती है । विष्णुपुराणानिमें चन्द्रगुप्तसे चौदहें वंशपर नामके एक और
मौर्यवंशी राजा का उल्लेख मिलता है । उसीका मद्रक यही दस सत्तवा समझनी चाहिये ।

नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विभूतः ॥२०॥

काम्यायना इमे भूमिं चत्वारिंशत् पञ्च च ।

शतानि त्रीणि भोक्षन्ति वर्षाणां च कलौ युगे ॥२१॥

इत्या काम्य सुशर्माण तत्सृज्यो वृषलो बली ।

गां भोक्ष्यत्यधज्जातीयं कंचित्कालमसत्तम ॥२२॥

कृष्णनामाथ तद्वज्रात्ता भविता पृथिवीपतिः ।

भीक्षान्तकर्मस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः ॥२३॥

लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माद्विषिलका नृपः ।

मेघस्वातिविषिलकावदमानस्तु तस्य च ॥२४॥

अनिष्टकमां हालेयस्तलकस्तस्य चारमजः ।

पुरीपभीस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः ॥२५॥

चकारो बह्वो यत्र शिवस्वातिरिन्दमः ।

तस्यापि गोमतीपुत्रः पुरीमान् भविता तवः ॥२६॥

मेदःशिराः शिवस्कन्दो यश्चभीस्तस्तु ततः ।

विजयस्तस्तुतो भाव्यभन्त्रविंशः सलोमधिः ॥२७॥

एते त्रिंशन्नुपतयभस्वार्थम्यशतानि च ।

पद्मजाश्च पृथिवीं भोक्षन्ति कुरुनन्दन ॥२८॥

सप्तमीरा आवसृज्य दश गदभिरो नृपाः ।

कङ्काः पादश्च भूपाला भविष्यन्त्यतिलोहपा ॥२९॥

तताऽष्टौ यवना भाव्याभतुर्दश तुरुष्ककाः ।

भूया दश गुरुण्डाश्च मौना एकादश क्षितिम् ॥३०॥

एत भाक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च ।

नवाधिकां च नवति मौना एकादश क्षितिम् ॥३१॥

भाक्ष्यन्त्यभ्युद्यतान्मङ्गत्रीणि तैः संस्थिते ततः ।

किलिकिलायां नृपतया भूतनन्दाऽथ बहिरि ॥३२॥

शिथुर्नन्दियश्च उद्धाता यशोनन्दिः प्रवीरकः ।

इत्येत नै वपशत भविष्यन्त्यधिकानि पट ॥३३॥

नारायण और नारायणका सुशर्मा । सुशर्मा बड़ा

यशस्वी होगा ॥ १९ २० ॥ कर्मवशक ये चार नरपति

काम्यायन कङ्कालयेंगे और कलिगुमें तीन सौ पैंतालीस

वर्षतक पृथ्वीका उपभाग करेंगे ॥ २१ ॥ प्रिय परीक्षित !

कर्मवशी सुशर्माका एक शत्रु सेवक होगा—बड़ी । वह

अन्धनास्तिका एक बड़ा दुष्ट होगा । वह सुशर्माको मार

कर कुछ समयतक सय पृथ्वीका राज्य करेगा ॥ २२ ॥

इसके बाद उसका भाई कृष्ण राजा होगा । कृष्णका पुत्र

श्रीक्षान्तकर्म और उसका पौत्रमास होगा ॥ २३ ॥

पौर्णमासका लम्बोदर और लम्बोदरका पुत्र विमिलक

होगा । विमिलकका मेघस्वाति, मेघस्वातिका अत्मान,

अत्मानका अनिष्टकर्मा, अनिष्टकर्माका हालेय, हालेयका

तलक, तलकका पुरीपभीर और पुरीपभीरका पुत्र होगा

राजा सुनन्दन ॥ २४ २५ ॥ परीक्षित ! सुनन्दनका

पुत्र होगा चक्रेर, चक्रेरके बाठ पुत्र होंगे, जो सभी

बड़ा कष्टकरेंगे । इनमें सबसे छोटेका नाम होगा शिवस्वाति ।

वह बड़ा वीर होगा और शत्रुओंका दमन करेगा । शिवस्वाति-

का गोमतीपुत्र और उसका पुत्र होगा पुरीमान् ॥ २६ ॥

पुरीमान्का मेद शिरा, मेद शिराका शिवस्कन्द, शिव-

स्कन्दका यक्ष्मी, यक्ष्मीका विजय और विजयके दो पुत्र

होंगे—चन्द्रविंश और व्योमवि ॥ २७ ॥ परीक्षित ! य

तीस राजा चार सौ छप्पन वर्षतक पृथ्वीका राज्य

करेंगे ॥ २८ ॥

परीक्षित ! इसके पचास कवचुति-नगरीके सात

आधीर, दस गर्दभी और सोलह कङ्क पृथ्वीका राज्य

करेंगे । ये सब-सब बड़े व्योमि होंगे ॥ २९ ॥ इनके

बाद आठ यवन और चौदह तुर्क राज्य करेंगे । इसके

बाद दस गुरुण्ड और ग्यारह मौन नरपति होंगे ॥ ३० ॥

मौनोंक अतिरिक्त ये सब एक हजार लिम्पानवे वर्षतक

पृथ्वीका उपभाग करेंगे । तथा ग्यारह मौन नरपति तीन

सौ वर्षतक पृथ्वीका शासन करेंगे । जब उनका राज्य

काय समाप्त हो जायगा, तब किञ्चिद्विना नामकी नगरीमें

भूतनन्द नामका राजा होगा । भूतनन्दका बहिरि,

बहिरिका भाई शिथुनन्दि तथा यशोनन्दि और प्रवीरक—

तेषां प्रयोदश सुता भवितारथ बाहिकाः ।

पुण्यमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च ॥३४॥

एककाला इमे भूपाः सप्तान्त्राः सप्त कोसलाः ।

विदूरपत्नयो भाभ्या निपभास्तत एव हि ॥३५॥

मागधानां तु भविता विंशस्फुलिः पुरश्चयः ।

करिष्यत्यपरो वर्षान् पुलिन्यद्वयमद्रक्षान् ॥३६॥

प्रजाभाप्रद्यभूयिष्ठाः आपयिष्यति दुर्मतिः ।

वीरवान् चतुष्टयाथ पद्मवत्सं स वै पुरि ।

मनुमङ्गामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥३७॥

सौराष्ट्रावन्त्याभीराथ क्षूरा अर्बुदमासवाः ।

ब्राह्मा द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राजा धनाधिपाः ॥३८॥

सिन्धोस्तटं चन्द्रमायां कौन्ती काश्मीरमण्डलम् ।

भोक्ष्यन्ति शूद्रा ब्राह्मणा स्लेष्मभावाप्रद्यवर्षसः ॥३९॥

तुल्यकाला इमे राजन् स्लेष्मप्राजाश्च भूसुतः ।

पतेऽभर्मानृतपराः फस्तुदास्तीग्रमन्यवः ॥४०॥

स्त्रीबालगाद्विजसाथ परदारभनादृताः ।

उद्विस्तास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकामुषः ॥४१॥

असंस्कृताः क्रियाहीनारजसा तमसाऽऽवृताः ।

ये एक सौ छ वर्षतक राज्य करेंगे ॥३१-३३॥ इनके तेरह पुत्र होंगे और वे सब-के-सब बाहिक कहल्येंगे । उनके पश्चात् पुण्यमित्र नामक क्षत्रिय और उसके पुत्र दुर्मित्रक राज्य होगा ॥ ३४ ॥ परीक्षित । बाहिककरी नरपति एक साथ ही विभिन्न प्रदेशोंमें राज्य करेंगे । उनमें सात अन्य देशोंके तथा सात ही कोसलदेशके अधिपति होंगे, कुछ विदूर भूमिके शसक और कुछ निपथ देशके स्वामी होंगे ॥ ३५ ॥

इनके बाद मगध देशका राजा होगा विश्वसुर्जित । यह पूर्वोक्त पुरुषोंके अतिरिक्त द्वितीय पुरुषवत्तज्जयेगा । यह ब्राह्मणादि तथा कर्णोंको पुच्छिद, यदु और मद्र आदि स्लेष्मप्राय जातियोंके कर्णों परितप्त कर देगा ॥ ३६ ॥ इसकी कुत्ति इतनी दुष्ट होगी कि यह मगध, क्षत्रिय और वैश्योंका नाश करके शूद्रप्राय जनताकी रक्षा करेगा । यह अपने सब-हीसे क्षत्रियोंको उन्मूल्य देगा और पण्डितों पुरीष राजधानी काकर हरिद्वारसे लेकर प्रयागपर्यन्त सुरक्षित पूर्णिक राज्य करेगा ॥ ३७ ॥ परीक्षित । ज्यों-ज्यों धार कश्चियुग आता जमगा त्यों-त्यों सौराष्ट्र, वाक्पती, आभीर, क्षूरा, अर्बुद और मगध देशके ब्राह्मण-गण संस्काररूप्य हो जायेंगे तथा राजाओं की शूद्ररूप्य हो जायेंगे ॥ ३८ ॥ सिन्धुतट, चन्द्रभागाक तटकर्षी प्रदेश, कौन्तीपुरी और काश्मीरमण्डलपर प्राय शूद्रोंका, संस्कार एवं मगधदेशसे हीन नामगमनके विज्योक्त और स्लेष्मोक्त राज्य होगा ॥ ३९ ॥

परीक्षित । ये सब-के-सब राजा वाचन-निवारण स्लेष्मप्राय होंगे । ये सब एक ही समय भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें राज्य करेंगे । ये सब-के-सब परले सिरेके बड़े कर्णार्थक और सत्य दान करनेवाले होंगे । छेटी-छेटी बर्तोंको लेकर ही ये कोचके गारे व्यामन्य हो जायेंगे ॥ ४० ॥ ये दुष्ट भोग क्षी, बर्षों, ग्रीवों, शाल्मोंको मारनेमें भी नहीं हिचकेंगे । इसेवी की और भन हथिया लेनेके लिये ये सर्वथा उत्सुक रहेंगे । म तो एवं करते देर लगेगी और म तो करते । क्षणमें बड़ तो क्षणमें बड़ । इनकी शक्ति और बाधु बोधी होगी ॥ ४१ ॥ इनमें परमपण्डित संस्कार नहीं होंगे । ये अपने कर्म्य कर्मका पात्र

वमास्ते भयपिप्पन्ति स्लेष्ठा राजपरुषिण ॥४१॥ नहीं करेंगे । रजोगुण और तमोगुणसे भये बने रहेंगे । राजाके वेपमें वे स्लेष्ठ ही होंगे । वे घृष्ट-व्हाटकर अपनी प्रजाका खून बूसेंगे ॥४२॥ जब ऐसे लोगोंका शासन होगा, तो देशकी प्रजामें भी वेसे ही समाप्त आचरण और मापणकी वृद्धि हो जायगी । राजाजोग तो उनका शोषण करेंगे ही, वे व्यापसमें भी एक दूसरेको उत्पीड़ित करेंगे और अन्ततः सब-के-सब नष्ट हो जायेंगे ॥ ४३ ॥

अन्योन्यतो राजभिश्च ध्वय यासन्ति पीडिताः ॥४३॥

इति श्रीमद्भागस्ते महापुरुषे परमहत्त्वं संहितायां द्वादशस्कन्धे

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

कजियुगके धर्म

भीमक उवाच

नवधातुदिनं धर्मं सत्यं शौचं धर्मा दया ।

क्रासनं वतिना राजन् न ह्यपत्यापुर्बुधं स्मृतिः ॥ १ ॥

वित्तमय कजौ नृणां वन्माधारगुणादयः ।

धर्मेन्यायस्यधर्म्याणां कारणं वित्तमय इति ॥ २ ॥

राज्यापऽभिरुचिर्हेतुमोयव व्यावहारिक ।

ग्रीवपुस्तकं हि रतिविप्रस्य यत्प्रमथ इति ॥ ३ ॥

तिष्ठन्मनाधर्म्यागान्या पापनिष्कारणम् ।

भीमकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! समय बड़ा कठिन है, ज्यों ज्यों घोर कजियुग आता जायगा, त्यों-त्यों उधरोत्तर धर्म, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया, आयु, वर और स्मरणशक्तिकर व्यप होता जायगा ॥ १ ॥ कजियुगमें जिसके पास धन हाथ, उसीका लोग कुर्बान, सराफारी और सवगुणी मानेंगे । जिसके हाथमें शक्ति होगी वही धन और व्यापकी व्यवस्था करने अनुकूल कर सकगा ॥ २ ॥ विवाह-सम्बन्धक ज्ये पुत्र-पौत्र-पोस्त आदिकी परब-निरस नहीं रहेगा, पुत्र-पुत्रीकी पारस्परिक इच्छासे ही सम्बन्ध हो जायगा । व्यवहारकी निपुणता सचाई और इमानदारीमें नहीं गहरी; जातिना छत्र-याद कर सकगा, यह उनका ही व्यवहार बुझा माना जायगा । श्री और पुरुषों भ्रष्टारा आधर उनका शीघ्र-संसर्ग न होकर कब-कब निर्भीक ही रहगा । राजाकी प्रधान उसका गुण-विकास नहीं पड़ागितसे हुआ करेगा ॥ ३ ॥ यथ, पण्ड-रसगन्ध आदि ही मन्त्रकारी, संन्यासी आदि आधर्मीयों की धन हाथ और पण्ड-रसगन्ध विद्वत्-स्वरूप पराका है परम दूसरे आधर्मे प्रातः सत्य हाथ । जा पूम-न-पा-न-पन-रतनमें अमन्त्र हाथ, ज्ये

अपुनान्यायदौर्लभ्य पाण्डित्ये चापलं वचः ॥ ४ ॥

अनाद्यतैवासाधुस्य साधुस्य दम्भ एव तु ।

स्त्रीकार एव चोद्वाह्ये स्नानमव प्रसाधनम् ॥ ५ ॥

दूरे वार्ययन तीर्थं लाब्य केद्वधारणम् ।

उदरभरता स्वार्थः सत्यस्य भार्ष्ट्यमेव हि ॥ ६ ॥

राक्ष्यं कुटुम्बभरणं यद्योऽर्थे धर्मसेवनम् ।

एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिरास्त्रीर्णे क्षितिमन्वहे ॥ ७ ॥

प्रजाविद्वद्भ्रष्टाणां यो बली भविता नृपः ।

प्रजा हि लुब्धे राक्षन्वैर्निर्धुर्बैर्दस्युधर्मभिः ॥ ८ ॥

आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ।

शाकमूलाभिपक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ॥ ९ ॥

अनाहृण्या विनह्यन्ति दुर्मिक्षकरपीडिताः ।

शोषवातातपप्राहृद्भिर्मैरन्योन्मत्तः प्रजाः ॥ १० ॥

सुपुद्ग्यां व्याधिभिश्चैव संतप्यन्ते च चिन्तया ।

कदाछनोंसे ठीक-ठीक न्याय न मिल सकेगा । जो बे-
चाछ्ये गितना धाव्यक होग, उसे उतना ही ब-
पड़ित माना जायगा ॥ ४ ॥ असाधुताकी—गरीब
होनेकी एक ही पहचान रहेगी—गरीब होना । जो
कितना अधिक दम्भ-पाखण्ड कर सकेगा, उसे उतना
ही बड़ा साधु समझा जायगा । विवाहके लिये एक-दूसरेकी
स्वीकृति ही पर्याप्त होगी, शास्त्रीय विनि-विधानकी—
संस्कार आदिकी कोई आवश्यकता न समझी कम्पी ।
जल आदि सँभारकर कान्हे-ज्जेसे लैस हो बना ही
स्नान समझा जायगा ॥ ५ ॥ जोग दूरेके ताकतके तीर्थ
मानेंगे और निकटके तीर्थ गङ्गा-गोमती, गता पितृ
आदिकी उपेक्षा करेंगे । सिरपर बड़े-बड़े कपड़ें—कटु
रखना ही शारीरिक सौन्दर्यके चिह्न समझा जायगा
और भीककर सबसे बड़ा पुरुषार्थ होगा—अपना पेट
भर लेना । जो कितनी ब्रिद्धीसे बात कर सकेगा, उसे
उतना ही सच्चा समझा जायगा ॥ ६ ॥ योग्य-वस्तुओंका
सबसे बड़ा लक्षण यह होगा कि मनुष्य अपने कुटुम्बके
फसल कर ले । धर्मके लेखन यद्यपि लिये लिया जायगा ।
इस प्रकार जब सारी पृथ्वीपर दुष्टोंका कोलाहल हो
जायगा, तब राजा होनेका कोई नियम न रहेगा, भ्रष्टा,
क्षत्रिय, वैश्य कपटा शूद्रोंमें जो कमी होग, कमी राज
का बैठेगा । उस समयके नीच राजा कल्पत निर्दय
एवं क्रूर होंगे, जेमी तो इतने होंगे कि उनमें और
छुटेमें कोई अन्तर न किया जा सकेगा । वे प्रजाकी
दुर्जी एवं पत्नियोंके लोभ लेंगे । उनसे बरकर प्रजा
प्राणों और जंगलोंमें भाग जायगी । उस समय प्रजा
तरु-तरुके शाक, कन्द-मूक, मंस, मधु, फल-द्वज और
बीज-गुठकी आदि सब-सामान अपना पेट भरेगी ॥ ७-९ ॥
कमी कर्मा न होगी—सूख पक जायगा; तो लाथी कर
पर-कर लगाये जायेंगे । कमी कमाके लिये सर्वां पड़ेगी तो
कमी पाव्य पड़ेगा, कमी औषधी चरेगी, कमी गरमी
पड़ेगी, तो कमी वाक आ जायगी । इन उच्छ्रान्तोंसे तथा
आपतके संघर्षसे प्रजा कल्पत पीड़ित होगी, नष्ट हो
जायगी ॥ १० ॥ जोग मूख-ज्यस्त तथा माना प्रकारकी
चिन्ताओंसे दुखी रहेंगे । रोगोंसे तो उन्हें छुटपन्ना ही

देवापिः अतनोभ्रंता मरुश्चेत्साकुर्षणश्च ।

कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥३७॥

ताविहैत्य कलेरन्ते वायुदेबालुक्षिषितौ ।

वर्णाभ्रमयुतं धर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥३८॥

कृतं व्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्गुणम् ।

अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥३९॥

राजन्नेत मया प्रोक्ता नरदवास्तथापरे ।

भूर्मां ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः ॥४०॥

कृमिविद्धमससंघान्ते राजनान्नोऽपि यत्नः च ।

भूतघ्नकृत्कृते स्तार्थं किं वेद निरयो यतः ॥४१॥

कथं सेयमस्तथा भूः पूर्वमे पुरुषैर्पृता ।

मत्पुत्रस्य च पात्रस्य मत्पूवा वंद्यस्य वा ॥४२॥

तेवाऽवन्नमयकायगृहीत्वाऽऽमृतया बुधा ।

मही ममतया चाभी हित्वा तेऽदर्शनं गताः ॥४३॥

य य भूपतयारात्रं भुञ्जन्ति भुवमाजसा ।

काठनते कृताः सर्वे कथामात्राः कथामु च ॥४४॥

भीष्मप्रितामहके प्रिता राजा कान्तनुके भार्य देवपि और
इत्यकुर्मन्त्री मरु इस समय कलापग्राममें स्थित हैं । वे
बहुत बड़े योगबलसे युक्त हैं ॥ ३७ ॥ कलिभुगके कल-
में कल्किभगवान्स्त्री आकासे वे फिर यहाँ आवेंगे और
जलसे भी मीठी ही कर्णाभ्रमर्कका विस्तार करेंगे ॥ ३८ ॥
सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलिभुग—ये ही चार युग
हैं, ये पूर्वोक्त क्रमके अनुसार अपने-अपने समयमें पृथ्वीके
प्राणियोंपर अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं ॥ ३९ ॥
परीक्षित ! मैंने तुमसे जिन राजाओंका कर्तव्य किया है,
वे सब और उनके अतिरिक्त दूसरे राजा भी इस पृथ्वीके
'मेरी-मेरी' कहते रहे, परन्तु अन्तमें मरकर धूलमें मिल
गये ॥ ४० ॥ इस शरीरको मले ही कोई राजा कह ले
परन्तु अन्तमें यह कृमि, विषा कृपा उसके रूपमें ही
परिणत होगा, उस ही होकर रहेगा । इसी शरीरके च
इसके सम्बन्धियोंके लिये जो किसी भी प्राणीको सताता
है, वह न तो अपना स्वार्थ जानता है और न उसे पर-
स्वार्थ । क्योंकि प्राणियोंको सताना तो नरकका द्वार
है ॥ ४१ ॥ वे लोग यही सोचा करते हैं कि मेरे
दादा-परदादा इस अखण्ड मूकमूर्खका शसन करते थे,
अब यह मेरे अधीन किस प्रकार रह और मेरे बाद मेरे
बेटे-पोते, मेरे ब्राह्मण किस प्रकार इसका उपासना
करें ॥ ४२ ॥ वे मूर्ख इस जाग, पानी और मिट्टीके
शरीरको अपना कृपा मान बैठते हैं और बड़ अभिमान
के साथ बोलें कि मैंने ही कि यह पृथ्वी मेरी है । अन्तमें
वे शरीर और पृथ्वी दोनोंको छोड़कर स्वयं ही अदृश्य
हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ प्रिय परीक्षित ! जो-जो नरपति
बड़ उत्साह और बज्र-पीड़नसे इस पृथ्वीक उपासनामें
लगे रहे, उन सबको यज्ञमें अपने निराला गार्भ में भर
लिया । अब यज्ञ इन्द्रियासमें उनकी पहचानी ही हो
रह गयी है ॥ ४४ ॥

इति भीमश्रावणे महापुण्ये पारमहंस्यं सदित्यया द्वादशस्कन्धे द्वितीयाऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

रजस्य, युगधर्म और कलियुगके दोषोंसे बचनेका उपाय—नामसंघर्षन

श्रीगुरु उवाच

श्रीशुकनेवञ्जी कहते हैं—परीक्षित । जब पृथ्वी

इष्टाऽऽत्मनि चये' व्यग्रान् नृपान् हसति सूरियम् ।

अहो मा विजिघीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ॥ १ ॥

कम एव नरन्द्राणां माघः स्याद् विदुषामपि ।

येन फेनापने पिबेद् येऽतिविभ्रमिता नृपा ॥ २ ॥

पूर्वं निजिस्व पद्भर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः ।

तवः सचिवपौराः सक्तीन्द्रानस कष्टकान् ॥ ३ ॥

एवं क्रमण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेतल्लाभ ।

इत्याद्याबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकऽन्तकम् ॥ ४ ॥

समुद्रावरणां क्षिप्त्वा मां विशन्त्यग्निमोजसा ।

किमदात्मजयस्यैव मुक्तिरास्यस्ये फलम् ॥ ५ ॥

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताय शुकुग्रह ।

गता यथागतं युद्धं तां अप्यन्त्ययुद्धम् ॥ ६ ॥

देखती है कि रज्ज्यायोग मुझपर विजय प्राप्त करनेके लिये उतारके हां रहें हैं, तब यह हँसने लगती है और कहती है—“मित्रने आश्चर्यकी बात है कि ये रज्ज्यायोग, जो मय मौतके खिडीने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं ॥ १ ॥ राजाओंसे यह बात छिपी नहीं है कि वे एक-न-एक दिन मर जायेंगे, फिर भी वे व्यर्थमें ही मुझे जीतनेकी कामना करते हैं । सचमुच इस कामनासे अंधे होनेके कारण ही वे पानीके बुलबुलेके समान क्षणभङ्गुर शरीरपर विश्वास कर बैठते हैं और धोखे खाते हैं ॥ २ ॥ वे सोचते हैं कि ‘हम पहले मनके सहित अपनी पौधों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करेंगे—अपने भीतरी शत्रुओंको वशमें करेंगे, क्योंकि इनको जीते बिना कबही शत्रुओंको जीतना कठिन है । उसके बाद अपने शत्रुके मन्त्रियों, अम्हण्यों, नागरिकों, नेतृओं और समस्त सेनाको भी वशमें कर लेंगे । जो भी हमारे विजय-मार्गमें कड़े बाधे, उसे हम अवश्य जीत लेंगे ॥ ३ ॥ इस प्रकार धीरे-धीरे क्रमसे सारी पृथ्वी हमारे अधीन हो जायगी और फिर तो समुद्र ही हमारे राज्यकी खर्बक काम करेगा ।’ इस प्रकार वे अपने मनमें अनेकों आशाएँ बाँध लेते हैं और उन्हें यह बात किन्तु नही सूझती कि उनका शरीर काल सखर है ॥ ४ ॥ यथार्थ नही, जब एक द्वीप उनके कदमों हो जाता है, तब वे दूसरे द्वीपपर विजय करनेके लिये बड़ी शक्ति और उत्साहक साथ समुद्रयात्रा करते हैं । अपने मनको, इन्द्रियोंका वशमें करके योग मुक्ति प्राप्त करते हैं, परन्तु ये धोखा उनको वशमें करके मां पाँच-सा भूभाग ही प्राप्त करते हैं । इतने परिश्रम और अश्रमसंयमक यह विजिता मुष्ट फल है ।” ॥ ५ ॥ परीक्षित । पृथ्वी कहती है कि “यह बड़ मनु और उनका वीर पुत्र मुझ ओं-अं-र्यों छोड़कर नहींसे आये थे, वहाँ खड़ी हथ लीट गय, मुझ अपने माँ न ले जा सक । अब य मूख राजा मुझ युद्धमें

अभ्यमाश्रुगमारुह्य देवदत्तं प्रयत्नयति ।

असिनासाधुदमनमप्यैश्वर्यगुणान्वितः ॥१९॥

विचरन्नाश्रुना क्षोब्धो ह्येनाप्रतिमप्लुतिः ।

नृपतिश्चन्द्रो दस्युन् कोटिद्वो निहनिष्यति ॥२०॥

अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विषयानि वै ।

वासुदेवाङ्गरागातिपुष्पगन्धानिलसृष्टासु ।

पौरजानपदानां वै हतेष्वलिखदस्युषु ॥२१॥

तेषां प्रजाविसर्गश्च न्यविष्टः सम्भविष्यति ।

वासुदेवे भवति सशमूर्ता हरि स्थिते ॥२२॥

यदावतीर्णो भगवान् कस्मिन्धर्मपतिर्हरिः ।

कृत भविष्यति तदा प्रजासृष्टिश्च सात्त्विकी ॥२३॥

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिस्रश्चरस्वरी ।

एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति सत् कृतम् ॥२४॥

येऽतीतावर्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवः ।

ते स तद्देशतः प्रोक्ता वक्ष्यायाः सोमधूर्ययोः ॥२५॥

आरभ्य भवतो जन्म साकम्बन्दाभिषेचनम् ।

एतद् वर्षसहस्रं तु दत्तं पञ्चदशोत्तरम् ॥२६॥

सप्तर्षीणां तु यां पूर्वा दृश्यते उदितौ दिशि ।

तयोस्तु मध्ये नक्षत्र द्दपत यत् सप्तं निश्चि ॥२७॥

अक्षरं प्रहण करेगे ॥१८॥ श्रीमद्भागवत ही कृत्सिद्धि-
के और समस्त सद्गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं ।

समस्त चराचर जगत्के ये ही रक्षक वार स्वामी हैं ।

ये देवदत्त नामक शीघ्रगामी घोड़ेपर सवार होकर दुष्टोंके

सम्पत्तियोंके घाट उतारकर धीक करेगे ॥ १९ ॥ उनके

रोम-रोमसे अतुलनीय तेजस्वी किरणें छिंटकरी होंगी ।

ये अपने शीघ्रगामी घोड़ेसे पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करेगे

और राजाके वेपने छिन्नकर रहनेवाले कोटि-कोटि दस्युओं-

का संहार करेगे ॥ २० ॥

प्रिय परीक्षित ! जब सब दस्युओंका संहार हो

जुकेगा, तब नगरकी और देशकी सारी प्रजाका हृदय

पवित्रतासे भर जायगा, क्योंकि भगवान् कस्मिन्धर्मपतिमें

जो हुए अङ्गरागात स्पर्श पाकर व्यपन्न पवित्र हुईं वसु

जनाका स्पर्श करेगी और इस प्रकार ये भगवान्के

श्रीविष्णुकी दिव्य शक्त प्राप्त कर सकेंगे ॥ २१ ॥

उनके पवित्र हृदयमें सत्कर्मोंमें भगवान् वासुदेव निवासमान

होंगे और फिर उनकी सन्तान पृथ्वीकी भाँति सृष्ट

और कल्याण होने लगेंगी ॥ २२ ॥ प्रजाके न्यून-मनो-

हारी हरि ही धर्मके रक्षक और स्वामी हैं । ये ही

भगवान् जब कस्मिन्धर्म के रूपमें अक्षरं प्रहण करेंगे, उसी

समय सत्ययुगका प्रारम्भ हो जायगा और प्रजाकी

सन्तान-समस्या स्वयं ही सत्ययुगसे युक्त हो

जायगी ॥ २३ ॥ जिस समय चन्द्रमा, सूर्य और बृह-

स्पति एक ही समय एक ही सप्त पुण्य नक्षत्रके प्रथम

पक्षमें प्रवेश करते हैं, एक राशिपर आते हैं, उसी समय

सत्ययुगका प्रारम्भ होता है ॥ २४ ॥

परीक्षित ! चन्द्रवर्षमें और सूर्यवर्षमें जितने राजा

हो गये हैं या होंगे उन सबका दिने मंथनसे कर्णन कर

दिया ॥ २५ ॥ तुम्हारे जन्मसे तब तक राजा नन्दके

अभियंजनात् एक हजार, एक सौ पंद्रह हजार समय

लगेगा ॥ २६ ॥ जिस समय आकाशमें सूर्यविषेण

उदय होता है, उस समय पहले उनमेंसे दो ही तारे

पिखयी पड़ते हैं । उनके बीचमें दक्षिणोत्तर रेखात

समभागमें अश्विनी आदि नक्षत्रोंमेंसे एक नक्षत्र दिखेगी

तर्नेत ऋषयो युक्तास्तिष्ठत्यब्दश्चत नृणाम् ।

ते त्वदीये दिवा काले भद्रुना चाभिता मघाः ॥२८॥

विष्णोर्मगवतो भानुः कृष्णास्योऽसौ दिनं गत ।

तदा विश्वत् कलिलोऽप्ययं यद् रमते जनः ॥२९॥

यावत् स पादपधाम्यां स्पृशन्नास्ते रमावसिः ।

तावत् कलिवै पृथिवी पराक्रान्तुं न चाशकत् ॥३०॥

यदा देवर्षयः सप्त मघासु विहरन्ति हि ।

तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशान्धस्ततात्मकः ॥३१॥

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः ।

तदा नन्दात् प्रमृन्येप कलिर्बुद्धिं गमिष्यति ॥३२॥

यस्मिन् कृष्णा दिव यावत्सन्निभेव तदाहनि ।

प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ॥३३॥

दिष्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम् ।

भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम् ॥३४॥

इत्येव मानवो वशा यथा संख्यायते भुवि ।

तथा विदुश्च विभाषां तास्ता ज्ञेया युगे युगे ॥३५॥

एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महारमनाम् ।

कथामात्रावशिष्टानां कीर्तिरेव स्थिता भुवि ॥३६॥

पश्चात् ॥ २७ ॥ उस नक्षत्रके साथ सप्तर्षिगण मनुष्योंकी गणनासे सी कर्तक रहते हैं । वे तुम्हारे जन्मके समय और इस समय भी मघा नक्षत्रपर स्थित हैं ॥ २८ ॥

अयं सन्ध्यापक सर्वशक्तिमान् भगवान् ही शुद्ध सत्त्वमय विष्णुके साथ श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए थे । वे जिस समय अपनी छीव्य संवरण करके परमधामको पधार गये, उसी समय कलियुगने संसारमें प्रवेश किया । उसीके कारण मनुष्योंकी मति-गति पापकी ओर झुक गयी ॥ २९ ॥ जन्मतक अग्नीपति भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमलोंसे पृथ्वीका स्पर्श करते रहे, तत्काल कलियुग पृथ्वीपर अपना पैर न जमा सका ॥ ३० ॥ परीक्षित ! जिस समय सप्तर्षि मघा-नक्षत्रपर विचरण करते रहते हैं, उसी समय कलियुगका प्रारम्भ होता है । कलियुगकी शुरु देवताओंकी वर्णगणनासे बारह सौ वर्षोंकी अवधि मनुष्योंकी गणनाके अनुसार चार अक्ष, क्तोत्त हजार वर्षकी है ॥ ३१ ॥ जिस समय सप्तर्षि मघासे चक्कर पूर्वाषाढा-नक्षत्रमें जा चुके होंगे, उस समय राजा नन्दका राज्य रहेगा । तभीसे कलियुगकी बुद्धि शुरू होगी ॥ ३२ ॥ पुरातत्ववेत्ता ऐतिहासिक विद्वानोंका कहना है कि जिस दिन भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम-धामको प्रयाण किया, उसी दिन, उसी समय कलियुगका प्रारम्भ हो गया ॥ ३३ ॥ परीक्षित ! जब देवताओंकी वर्णगणनाके अनुसार एक हजार वर्ष बीत चुकेंगे, तब कलियुगके अन्तिम दिनमें फिरसे कल्किनामक व्यक्ति कासे मनुष्योंके मनमें सत्त्विकताका सञ्चार होगा, योग अपने वास्तविक स्वरूपको जान सकेंगे और तभीसे सत्ययुगका प्रारम्भ भी होगा ॥ ३४ ॥

परीक्षित ! मैंने तो तुमसे कृत्य मनुष्यवश, सा भी संक्षरसे वणन किया है । जैसे मनुष्यवश गणना होती है, वैसे ही प्रत्येक युगमें प्रकट, वेद और श्रुतियों भी वर्णपरम्परा सम्पन्नी चाक्षिणे ॥ ३५ ॥ राजन् ! जिन पुरुषों और मन्त्रियोंका वणन मैंने तुमसे किया है, अब कल्कि नामसे ही उनकी पहचान होती है । अब वे नहीं हैं, कलियुग उनकी कथा रह गयी है । अब उनकी कीर्ति ही पृथ्वीपर जहाँ-तहाँ सुनना मिटती है ॥ ३६ ॥

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृभ्यां चापि विग्रहः ।
 आयते क्षसतां राज्ये ममतावद्वेषेतसाम् ॥ ७ ॥
 ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मृदेति वादिनः ।
 स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति मिथो ते मत्कृते नृपाः ॥ ८ ॥
 पृथुः पुरुषना गार्धिर्नृपो भरतोऽर्जुनः ।
 मान्धाता सगरो रामः स्वर्धाज्ञो धुन्धुवा रघु ॥ ९ ॥
 तृणबिन्दुर्ययातिश्च क्षर्षातिः क्षतनुर्ययः ।
 मगीरथः कुवलयाश्वः कङ्कत्सो नैषधो नृगः ॥ १० ॥
 हिरण्यकक्षिपुर्वृत्रा रावणो लाकरावणः ।
 नमुषिः क्षम्वरो भौमो हिरण्याद्योऽथ तारकः ॥ ११ ॥
 अन्ये च बहवो दैत्या राक्षानो मे महेक्षराः ।
 सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वक्षितोऽक्षिताः ॥ १२ ॥
 ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोष्णैर्मत्सर्धमिजः ।
 कथावशेषाः कालेन शक्यतार्थाः कृताविभो ॥ १३ ॥
 कथा इमास्ते कथिता महीयसां
 विताय लाकेषु यशः परेषुषाम् ।
 विज्ञानवैराग्यविविधया विभो
 वचाविभूतीर्न ह पारमार्थ्यम् ॥ १४ ॥
 यस्तूतमश्नोऽगुणानुवाद
 मंगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्न ।
 यमव नित्यं शृणुयादमीक्ष्ण
 कृष्णऽमलां भक्तिमयीप्समान ॥ १५ ॥

राजीवराज

कथावाचन भगवन् कृतार्थान् कर्मा जनाः ।

जीतकर वरमें करना चाहते हैं ॥ ६ ॥ जिनके लिये
 यह बात इतमूल हो गयी है कि यह पृथ्वी मेरी है, उन
 दुष्टोंके राज्यमें मेरे लिये पिता-पुत्र और भाई-भाई में
 आपसमें छद्म बैठते हैं ॥ ७ ॥ वे परस्पर इस प्रकार
 कहते हैं कि 'ओ मूढ़ ! यह सारी पृथ्वी मेरी
 ही है, तेरी नहीं', इस प्रकार रावणाज एक-
 दूसरेको कहते-सुनते हैं, एक-दूसरेसे स्पर्धा करते
 हैं, मर लिये एक-दूसरेको मारते हैं और स्वयं मर
 मिटते हैं ॥ ८ ॥ पृथु, पुरुषवा, ययि, नहुष,
 भरत, सहजबाहु, अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, स्वर्धा,
 धुन्धुमार, रघु, तृणबिन्दु, ययाति, क्षर्षाति, क्षतनु, गय,
 मगीरथ, कुकल्याण, ककुत्स्थ, नक्ष, वृग, हिरण्यकक्षिपु,
 वृत्रासुर, क्षेत्रज्ञोही रावण, नमुचि, क्षम्वर, भौमसुर,
 हिरण्याक्ष और तारकासुर तथा और बहुत-से दैत्य एवं
 शक्तिशाली नरपति हो गये । ये सब लोग सब कुछ
 समझते थे, शूर थे, समीने निमित्तकर्ममें दूसरोंको हारा
 दिया किन्तु दूसरे लोग इन्हें न जीत सके, परन्तु सब-
 कसब धुसुके घास बन गये । राजन् ! उन्होंने अपने
 पूरे अन्त करणसे मुझसे ममता की और समझा कि यह
 पृथ्वी मेरी है । परन्तु विकलाल कहने उनको स्वयं
 पूरी न होने दी । जब उनके कल-पीछण और शरीर
 आदिकर कुछ पत्र ही नहीं है । केवल उनकी बड़ानी-
 मात्र शेष रह गयी है ॥ ९ १३ ॥

परीक्षित । संसारमें बहुत-से मूढ़ान् पुरुष हो गये हैं,
 जो सम्पूर्ण लोकमें अपने प्रधान विचार करके यहाँसे
 चल बसे । उनकी ये कथाएँ तुम्हें ज्ञान और वैराग्य
 उपदेश करनेके लिये कही गयी हैं । इन्हें कृष्ण
 वैभवमात्र न समझा, इनमें परमार्थ-तत्त्व भरा हुआ है ॥ १४ ॥
 भगवान् धीकृष्णकर गुणानुवाद समस्त भक्तजनोंका नाश
 करनेवाला है, बड़-बड़ महात्मा उसीकर गान करते रहते
 हैं । जो भगवान् धीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रणमनी
 भक्तिकी वात्सा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवन्क
 दिव्य गुणानुवाद ही श्रवण करते रहना
 चाहिए ॥ १५ ॥

राजा परीक्षित्वा पृथ्वी-भगवन् । मुस तां पतिपुग
 मं गति-गति तां दी निगमयी एव ह । उम सम

विभिमिष्यन्तुपचिर्वास्तन्म ब्रूहि यथा घृणे ॥१६॥

युगानि युगधर्माश्च मान प्रलयकल्पयो ।

कालस्मेश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः ॥१७॥

भीमक उवाच

कृते प्रवर्तते धर्ममतुष्याचजनैर्धृत ।

सस्यं दया तथा दानमिति पादा विभोर्नृप ॥१८॥

संतुष्टा करुणा मैत्रा शता दान्तास्तितिक्ष्व ।

अतमारामाः समृद्धाः प्रायश भ्रमणाजनाः ॥१९॥

श्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांश्चो दीयते शनैः ।

अधर्मपादैरनृतहिंसासंतोषविग्रहैः ॥२०॥

तदा क्रियातपानिष्ठा नातिहिंसा न लम्पटाः ।

श्रेयमिच्छास्त्रयीबुद्धा वणा मृदाचरा नृप ॥२१॥

तपस्मत्यदयादानपञ्च हसति द्रापर ।

हिंसातुष्टपनृनृपैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥२२॥

यशस्विना महाशाला स्वाध्यायाभ्यसन रता ।

आद्या कुटुम्बिना इष्टा वणा ध्वजिवाचरा ॥२३॥

कृता तु धर्महन्ता तुर्याऽधर्महेतुभिः ।

१ ध्याते भवे । २ युष्माकम् । ३ वा । ४ लम्बाः ।

योग किस उपायसे उन दोषोंका नाश करेंगे । इसके अतिरिक्त युगोंका स्वरूप, उनके वर्म, कल्पकी स्थिति और प्रलयकालके मान एवं सप्तभ्यापक सप्तशक्तिमान् भगवान्क कालरूपका भी यथायद् वर्णन कीजिये ॥ १६ १७ ॥

भीमकन्वजी कहते हैं—परीक्षित ! सत्ययुगमें धर्म के चार चरण होते हैं। वे चरण हैं—सत्य, दया, तप और दान । उस समयके लोग पूरी निष्ठाके साथ अपने-अपने धर्मका पावन करते हैं । धर्म स्वयं भगवान्का स्वरूप है ॥ १८ ॥ सत्ययुगक लोग बड़े सन्तोसी और दयालु होते हैं । वे सबसे मित्रताका व्यवहार करते और शान्त रहते हैं । इन्द्रियों और मन उनके वशमें रहते हैं और सुख-दुःख आदि शोषोंसे वे सम्मानभावसे सहन करते हैं । अधिकंश लोग तां सम्प्रदायी और अस्मराम होते हैं और नाफी तांग स्वरूपस्थितिक उये अम्यासमें तत्पर रहते हैं ॥ १९ ॥ परीक्षित ! धर्मके सम्मान अधर्मके भी चार चरण हैं—असत्य, हिंसा, असन्तोष और कपट । श्रेतायुगमें इनके प्रमयसे धीरे धीरे धर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्पाश क्षीण हो जाता है ॥ २० ॥ राजन् ! उस समय वगमि शास्त्रगोत्र प्रबानता अधुन्य रहती है । लोगोंमें अत्यन्त हिंसा और लम्पटताका वभाव रहता है । सभी लोग पतनगण्ड और तपस्यामें निष्ठ रहने हैं और अर्प, धर्म एवं धर्म-रूप त्रिकाका सेवन करते हैं । अधिकंश लोग पतनप्रतिपादक चर्कोंक पारदर्शी विशान् होते हैं ॥ २१ ॥ द्रापर युगमें हिंसा, असन्तोष, लुठ और द्वेष—अधर्मके इन चरणोंकी वृद्धि हो जाती है एवं इनके कारण धर्मके चारों चरण—सत्या, सत्य, दया और दान अपे-आच क्षीण हो जाते हैं ॥ २२ ॥ उस समयक लोग बड़े यशस्वी कमलगण्डी और बर्णोंक अध्वयन-अध्वयनमें बड़े तत्पर होते हैं । लोगोंक कुटुम्ब बढ-बढ हात हैं, प्रायश ज्ञानात्मा एवं मुग्ध होते हैं । उस समय वगमि श्रमि और शास्त्रगोत्र प्रबान् रहती है ॥ २३ ॥ कथियुगमें तो अधर्मक चारों चरण अत्यन्त बढ जाते हैं । उनक कारण धर्मके चारों चरण क्षीण होने लगते

देवापिः श्रुतनोर्गता मरुश्चेत्स्वाकुर्वन्ममः ।

कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥३७॥

रात्रिदैत्य कलेरन्ते नासुदेवाजुर्ध्वितौ ।

वर्णाभ्रमयुषं भर्मे पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥३८॥

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।

अनेन क्रमयोगेन श्रुति प्राणिषु वर्तते ॥३९॥

राजन्तेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे ।

भूमौ ममत्व कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः ॥४०॥

कुमिविबुधसंज्ञान्ते रौमनाम्नोऽपियस्य च ।

भूवृक्षश्च तत्कृते स्वार्य किं वेद निरयो यतः ॥४१॥

कथं सेवमस्तथा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्हता ।

मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पुत्रा वंशजस्य वा ॥४२॥

तेजोऽवन्नमय क्लृपं गृहीत्वाऽऽरमतयाधुधाः ।

महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः ॥४३॥

ये ये भूपतयो राक्षन् भुञ्जन्ति भुवमोअसा ।

कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथास्तु च ॥४४॥

भीष्मपितृमहके पितृ राजा शन्तनुके माई देवगि और
इक्ष्वाकुवंशी मरु इस समय कल्पकर्ममें लित हैं । वे
बहुत बड़े योगबलसे युक्त हैं ॥ ३७ ॥ कलियुगके अन्त-
में कल्किमगवान्की आजासे वे फिर यहाँ जायेंगे और
पहलेकी भाँति ही वर्णाभ्रमयमक विस्तार करेंगे ॥ ३८ ॥
सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये ही चार युग
हैं; ये पूर्वोक्त क्रमके अनुसार अपने-अपने समयमें पृथ्वीके
प्राणियोंपर अपना प्रभाव दिखाते जाते हैं ॥ ३९ ॥
परीक्षित ! मैंने तुमसे जिन राजाओंका वर्णन किया है,
वे सब और उनके अतिरिक्त दूसरे राजा भी इस पृथ्वीमें
मेरी-मेरी कहते रहे, परन्तु अन्तमें मरकर भूमें मिल
गये ॥ ४० ॥ इस शरीरको मझे ही कोई राजा कह सके
परन्तु अन्तमें यह कविता, विद्वत् अपना उसके रूपमें ही
परिणत होगा, राज्य ही होकर रहेगा । इसी शरीरके य
इसके सम्बन्धियोंके लिये जो किसी भी प्राणीको सताता
है, वह न तो अपना स्वार्य जानता है और न तो प्र-
मार्थ । क्योंकि प्राणियोंको सताना तो नरकका द्वार
है ॥ ४१ ॥ वे लोग यही सोचा करते हैं कि मेरे
वाला-परवादा इस अलम्ब मूढमूढका शासन करते वे,
अब यह मेरे अधीन किस प्रकार रहे और मेरे काम मेरे
केटे-पोते, मेरे बहज किस प्रकार इसका उपयोग
करें ॥ ४२ ॥ वे मूर्ख इस जग, पानी और मिट्टीके
शरीरको अपना आप मान बैठते हैं और बड़े अस्मिन्
के साथ बीग बैठते हैं कि यह पृथ्वी मेरी है । अन्तमें
वे शरीर और पृथ्वी दोनोंको छोड़कर स्वयं ही अदृश्य
हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ प्रिय परीक्षित ! जो-जो नरपति
बड़े उस्ताह और कष्ट-पीड़नसे इस पृथ्वीके उपयोगमें
लगे रहे, उन सबको कलने अपने विचारात् गायमें कर
दिया । अब केवल इतिहासमें उनकी कहानी ही सेन
रह गयी है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमर्श्या संहितायां ब्रह्मसूक्त्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

राज्य, युगधर्म और कछियुगके दोषोंसे बचनेका उपाय—मामसङ्कीर्तन

भीतुक उपाय

एष्टाऽऽत्मनि ख्ये' व्यग्रान् नृपान् इससि भूरियम् ।

अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः । १ ॥

काम एव नरे द्राणां मांष खाद्य विदुषामपि ।

येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविभ्रमिता नृपाः ॥ २ ॥

पूर्वं निर्व्रित्य पद्वर्गं जेष्यामां राजमन्त्रिणः ।

ततः सचिवपौरासकरीन्द्रानस कष्टकान् ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेकलायम् ।

इत्याशावद्ब्रह्मयान पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् ॥ ४ ॥

समुद्रावरणां जित्वा मां विश्वन्त्यब्धिमोक्षसा ।

क्रियदात्मजस्यैतन्मुक्तिरारमब्धये फलम् ॥ ५ ॥

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताम् कुरुग्रह ।

गता यथागतं युद्धं तां मां जेष्यन्त्यमुदयः ॥ ६ ॥

भीतुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् । जब पृथ्वी देखती है कि राजाओंका मुझपर नियम प्राप्त करनेके लिये उतावले हो रहे हैं, तब वह हँसने लगती है और कहती है—“कितने आश्चर्यकी बात है कि ये राजाओंका, जो स्वयं मौतके खिलाई हैं, मुझे जीतना चाहते हैं ॥ १ ॥ राजाओंसे यह बात छिपी नहीं है कि वे एक-एक दिन मर जायेंगे, फिर भी वे भयमें ही मुझे जीतनेकी कामना करते हैं । सचमुच इस कामनासे भये होनेका प्रकरण ही वे पानीके बुलबुलेके समान क्षणभङ्गुर शरीरपर विचार कर बैठते हैं और बोझ खते हैं ॥ २ ॥ वे सोचते हैं कि हम पहले मनके संहित अपनी पौँवों इन्द्रियोंपर विषय प्राप्त करेंगे—अपने भीतरी शत्रुओंको यशमें करेंगे, क्योंकि इनको जीते बिना बाहरी शत्रुओं-पुत्र जीतना कठिन है । उसका बाद अपने शत्रुके मन्त्रियों, जमायों, नगरिकों, नेताओं और समस्त सेनाको भी यशमें कर लेंगे । जो भी हमारे विषय-मार्गमें कट्टे चड़ेगा, उसे हम अवश्य जीत लेंगे ॥ ३ ॥ इस प्रकार धीरे-धीरे क्रमसे सारी पृथ्वी हमारे अधीन हो जायगी और फिर ता स्मृत्त ही हमारे राज्यकी खाईका काम करेगा । इस प्रकार वे अपने मनमें अनेकों अशार्पे बाँध लेते हैं और उन्हें यह बात किफ़तु नही सूझती कि उनके लिए कष्ट सवार है ॥ ४ ॥ यथार्थ नहीं, जब एक द्वीप उनके कथमें हो जाता है, तब वे दूसरे द्वीपपर विजय करनेके लिये बाँधी शक्ति और उत्साहका साथ समुद्रयात्रा करते हैं । अपने मनका, इन्द्रियोंकी कथमें करके खग मुक्ति प्राप्त करते हैं, परन्तु ये खग उनके कथमें करके मां बोझ-सा भूभाग ही प्राप्त करते हैं । इतने परिश्रम और आत्मसंयमका यह कितना फल है !” ॥ ५ ॥ परीक्षित् । पृथ्वी कहती है कि “भङ्ग-वद् मनु और उनके वीर पुत्र मुझे ज्यों-ज्यों-ज्यों छोड़कर जाँचि जायेंगे, वहीं खाली हाथ छूट गया, मुझ अपने मांष न ले ना सक । अब ये मूल राजा मुझ युद्धमें

मत्कुते पितृपुत्राणां भ्रातृणां चापि विग्रहः ।
 ज्ञापते असतां राज्ये ममतामद्वेषेयसाम् ॥ ७ ॥
 ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मृदेति वादिनः ।
 स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति भ्रियते मत्कुते नृपाः ॥ ८ ॥
 पृथुः पुरुषा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः ।
 मान्धाता सगरा रामः खट्वाङ्गो धुन्धुवा रघुः ॥ ९ ॥
 तृणक्षिन् दुर्वयातिष्ठ क्षर्वातिः सतनुर्गय ।
 मगीरयः कुबलयाश्वः कङ्कत्सो नैषधो नृगः ॥ १० ॥
 हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लाङ्करावणः ।
 नमुचिः शम्भरो मौमा हिरण्माख्योऽथ तारकः ॥ ११ ॥
 अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेष्मराः ।
 सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥ १२ ॥
 ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः ।
 कथावशेषाः कालेन सकृदार्था कृता विभो ॥ १३ ॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
 विताय लोकेषु यश्च परेषुषाम् ।
 विज्ञानवैराग्यविविधया विभो
 वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥ १४ ॥
 यस्तु तमसोऽक्षुण्णानुवादः
 मंगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्न ।
 यमन नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
 कृष्णऽमर्ता भक्तिमयाप्समानः ॥ १५ ॥

राजावत

कनापायन भगवन कलदीपान् कृता जना ।

१ निर्दिष्ट नृपाः २ महेष्मराः ।

जीतकर वशमें करना चाहते हैं ॥ ६ ॥ भिनके कितने
 यह बात इतनी ही गयी है कि यह पृथ्वी मेरी है, उन
 दुष्टोंके राज्यमें मेरे लिये कितना पुत्र और माई-भाई भी
 आपसमें लड़ बैठते हैं ॥ ७ ॥ वे परस्पर इस प्रकार
 कहते हैं कि 'ओ मूढ़ ! यह सारी पृथ्वी मेरी
 ही है, तेरी नहीं', इस प्रकार राजाओं एक-
 दूसरेको कहते-सुनते हैं, एक-दूसरेसे सदा करते
 हैं, मेरे लिये एक-दूसरेको मारते हैं और स्वयं मर
 भिडते हैं ॥ ८ ॥ पृथु, पुरुष, गाधि, नहुष,
 भरत, सङ्कषाङ्ग, अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग,
 धुन्धुमार, रघु, तृणक्षिन्, ययाति, शर्वाति, शतनु, गय,
 मगीरय, कुबल्याश्व, कङ्कत्स, नल, दृग, हिरण्यकशिपु,
 वृत्रासुर, अक्षोही रावण, नमुचि, शम्बर, मौमसुर,
 हिरण्माख्य और तारकासुर तथा और बहुत-से दैत्य एवं
 शक्तिशाली नरपति हो गये । ये सब लोग सब कुछ
 समझते थे, शूर थे, समीने दिग्विजयमें दूसरोंको हरा
 दिया किन्तु दूसरे लोग इन्हें न जीत सके, परन्तु स्व-
 के-सब मृत्युके प्राप्त बन गये । राजन् ! उन्होंने अपने
 पूरे अन्त करणसे मुझसे ममता की और समझा कि 'यह
 पृथ्वी मेरी है' । परन्तु विकराल कालने उनकी धरती
 पूरी न होने दी । अब उनके कब-कौन और शरीर
 अधिक कुछ पत्र ही नहीं है । कल उनकी कलनी
 मात्र शेष रह गयी है ॥ ९, १० ॥

परीक्षित । संसारमें बहुत-से मन्त्रान् पुरुष हो गये हैं,
 जो सम्पूर्ण लोकमें अपने यशस्व विस्तार करने लगे
 कल गये । उनकी ये कथाएँ तुम्हें जान और बेगमन
 उपदेश करनेके लिये कही गयी हैं । इन्हें अभीरा
 बेभवात्र न समझो इनमें परमार्थ-तत्त्व भरा हुआ है ॥ १४ ॥
 भगवान् धीकृष्णक गुणानुवाद समस्त अमङ्गल-नाम
 करनेवाला है, बड़-बड़ मन्त्रादि उसीका गान करते रहते
 हैं । जो भगवान् धीकृष्णके शरणमें अनन्य प्रमत्त
 भक्तिसे आश्रय रक्खा हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्
 दिव्य गुणानुवाद ही ध्वनि पतते रहना
 चाहिए ॥ १५ ॥

राजा परीक्षित पृथु—भगवन् ! मुझे तो पर्याप्तगुण-
 में गाधि-गाधि दाग ही दिव्य-ययी २ रह है । उस संग

निधमिष्यन्त्युपचितास्तन्म ब्रूहि यथा श्रुने ॥१६॥

युगानि युगधर्माश्च मानं प्रलयकल्पयोः ।

कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मन ॥१७॥

मीमांसक उवाच

कृतं प्रवर्तते धर्मभक्त्युपाचरणैर्धृत ।

सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥१८॥

सतुष्टा करुणा मैत्र्याः शान्ता दान्तास्तितिक्षयाः ।

अहमाराभा समदश प्रायशः भ्रमणाजनाः ॥१९॥

प्रेतायां धर्मपादानां तुयाशा हीयते शनैः ।

अधर्मपादैरनृतहिंसासतोपविग्रहैः ॥२०॥

तदा क्रियावपानिष्ठा नातिहिंसा न लम्पटा ।

त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वणा ब्रह्माक्षरा नृप ॥२१॥

तपस्सत्यदयादानपञ्च हसति श्रावर ।

हिंसातुष्टपनृतद्वेषधर्मस्याधर्मतुष्टयं ॥२२॥

यशस्विनो महाशाला स्वाध्यायाभ्यसन रता ।

मात्रा कुटुम्बिना हृष्टा वणा घृष्टश्रीवाक्षरा ॥२३॥

कृता तु धर्महन्ता तुयाशाऽधर्महेतुभिः ।

१. पातो धी २. मुमुक्षुना ३. ला ४. लम्पटा ।

योग विस्त उपायसे उन दोषोंका नाश करेंगे । इसके अतिरिक्त युगोंका स्वरूप, उनके धर्म, कल्पकी स्थिति और प्रत्यक्षब्रह्मके मान एवं सर्वव्यापक सर्व शक्तिमान् महाबान्क कल्पव्यापक भी यथावत् बगन कीजिये ॥ १६ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! सत्ययुगमें धर्म के चार चरण होते हैं, वे चरण हैं—सत्य, दया, तप और दान । उस समयके लोग पूरी निष्ठके साथ अपने-अपने धर्मका पाठन करते हैं । धर्म काय महाबान्का स्वरूप है ॥ १८ ॥ सत्ययुगके लोग बड़े सन्तोषी और दयालु होते हैं । वे सबसे मित्रताका व्यवहार करते और शान्त रहते हैं । इन्द्रियों और मन उनके बशमें रहते हैं और सुख-दुःख आदि दुःखोंको वे समानभावसे सहन करते हैं । अधिकशः लोग तो समदर्शी और अहंकारमय होते हैं और बाकी लोग स्वरूपस्वित्तिके लिये अम्यासमें तत्पर रहते हैं ॥ १९ ॥ परीक्षित ! धर्मके समान अधर्मके भी चार चरण हैं—असत्य, हिंसा, असन्तुष्ट और कपट । प्रेतायुगमें इनके प्रभावसे धीरे धीरे धर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्धाश क्षीण हो जाता है ॥ २० ॥ राजन् ! उस समय वणामें ब्राह्मणों की प्रधानता अभ्युन्न रहती है । लोगोंमें अत्यन्त हिंसा और लम्पटताका अभाव रहता है । सभी लोग वनमण्ड और तपस्यामें निष्ठ रहते हैं और धर्म, धन एवं कर्म-रूप त्रिकर्माका सेवन करते हैं । अधिकशः लोग कर्मप्रतिपादक बनोंके फलार्थी विद्वान् होते हैं ॥ २१ ॥ शाक्य युगमें हिंसा, असन्तुष्ट, घृष्ट और द्वेष—अधर्मके इन चरणोंकी वृद्धि हो जाती है एवं इनके कारण धर्मके चारों चरण—सत्य, दया और दान अचे-आचे क्षीण हो जाते हैं ॥ २२ ॥ उस समयके लोग बड़े पामारी कर्ममण्ड और बनोंके अभ्ययन अप्ययनमें यत्न करते हैं । लोगोंके पुत्र-पुत्र वृद्ध होते हैं, प्रायः लोग पनायक एवं मुर्ख होते हैं । उस समय कर्ममें उग्रिय और ब्राह्मणोंकी प्रगति रहती है ॥ २३ ॥ धर्मयुगमें तो अल्पक चारों चरण अत्यन्त बढ़ जाते हैं । उनके कारण धर्मके चारों चरण शीघ्र होने लगते हैं ।

एभमानैः धीयमाणो हन्ते सोऽपि पिबेन्न हस्यति ॥२४॥

तस्मिँस्त्वग्भादुराचारा निर्दयाः शृङ्खलैरिभः ।

दुर्मगा मूरितर्पाश्च शूत्रैदाशोचराः प्रजाः ॥२५॥

सत्त्वं रजस्तम इति हस्यन्ते पुरुषे गुणाः ।

कालसंशोदितास्ते वै परिवर्त्यन्त आत्मनि ॥२६॥

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनो बुद्धीन्द्रियाणि च ।

तदा कृतयुगं विद्यान्ज्जाने तपसि यवृ रुचिः ॥२७॥

यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्मवति देहिनाम् ।

तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति ज्ञानी हि बुद्धिमन् ॥२८॥

यदा लोभस्तद्वर्ततोपो मानो दम्भोऽव मत्सरः ।

कमणां चापि काम्यानां द्वापरं तवृ रजस्तमः ॥२९॥

यदा मामानृत्य तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम् ।

श्लाघो मोहा भय दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः ॥३०॥

यस्मात् शुद्धदृष्ट्या मर्यां शुद्धभाष्या महाक्षणाः ।

कापिना विचहीना बह्वैरिण्यबलियाऽसतीः ॥३१॥

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पातञ्जलद्विषाः ।

हैं और उनका चतुर्धा ही बच रहता है । अन्तमें तो

उस चतुर्धाका भी खप हो जात है ॥ २४ ॥ कश्चि-

युगमें जेग लोभी, दुष्टाक्षी और कठोरद्वय होते हैं ।

वे झूठमूठ एक-दूसरेसे वैर भोज ले लेते हैं, एवं लज्ज-

तृष्णाकी तरङ्गमें बहते रहते हैं । उस समयके अन्तमें

जोगमें शूद्र, केसट आदिकी ही प्रधानता रहती है ॥ २५ ॥

सभी प्राणियोंमें तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रज

और तम । कावकी प्रेरणासे सम्प-सम्पन्न शरीर, प्राण

और मनमें उनका हास और किसस भी बुरा करत

है ॥ २६ ॥ जिस समय मन, बुद्धि और इन्द्रिय

सत्त्वगुणमें स्थित होकर अपना-अपना काम करने लगती

हैं, उस समय सत्त्वयुग सम्माना चाहिये । सत्त्वयुगकी

प्रधानताके समय मनुष्य ज्ञान और तत्त्वसे अधिक प्रेम

करने लगता है ॥ २७ ॥ जिस समय मनुष्योंकी प्रवृत्ति और

रुचि धर्म, धर्म और जैविक-पारजैविक सुख-मोहोंकी ओर

होती है तथा शरीर, मन एवं इन्द्रियों रजोगुणमें स्थित होकर

काम करने लगती हैं—बुद्धिमन् परिधिद । सम्माना चाहिये

कि उस समय त्रेतायुग अपना काम कर रहा है ॥ २८ ॥

जिस समय जेग, असन्तोष, अभिमान, दम्भ और मत्सर

आदि दोषोंका खेळ-खेळ हो और मनुष्य बड़े ऊँचा

तथा रुचिके साथ सकाम कर्मोंमें लगना चाहे, उस समय

द्वापयुग सम्माना चाहिये । अवश्य ही रजोगुण और

तमोगुणकी मिश्रित प्रधानताका नाम ही द्वापयुग है ॥ २९ ॥

जिस समय झूठ-कसट, तन्द्रा-निद्रा, हिंसा-विषाद, शोक-

मोह भय और लीनताकी प्रधानता हो उसे तमोगुण

प्रधान कश्चियुग सम्माना चाहिये ॥ ३० ॥ जब कश्चियुगका

राज्य होता है, तब जोगोंकी वृद्धि कुछ हो जाती है,

अभिकांक्षा जेग होते तो हैं अल्पत निर्धन, परम खते

हैं बहुत अधिक । उनका माम्य तो होता है बहुत ही

मन्द और चित्तमें कम्पनार्थ होती हैं बहुत बड़ी-बड़ी ।

राज्ञानम प्रज्ञाभयाः क्षिभोदरपरा द्विजा ॥३२॥

अग्रता वटवोऽश्वोवा भिक्षवश्च कुटुम्बिन ।

तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनाऽत्यर्थलोभुषाः ॥३३॥

हस्तक्षया महाहारा भूर्यपत्या गतद्वियः ।

क्षमत्कटुकभाषिण्यभौर्यमायोरुसाहसा ॥३४॥

पजयिष्यन्ति वै क्षुद्रा किरादाः कूटकारिणः ।

अनापद्यपि मंसन्त वाता साधुजुगुप्सिणाम् ॥३५॥

पतिस्पर्हयन्ति निर्द्रव्य भूत्या अप्यभितामम् ।

भृत्य विपन्नपतयः क्षील गाढापयस्विनी ॥३६॥

पितृभ्रातृमुह्यद्वासीन् द्वित्वा साग्वमोहदा ।

ननाटपाठमंवादा दीना मृणा कलीनरा ॥३७॥

क्षुद्रा प्रतिप्रक्षीप्यन्ति तपावपावत्राविन ।

धम वक्ष्यन्त्यधमदा अधिरुद्राधमासनम् ॥३८॥

जग प्रजापति सारी कम्पाइ हृदयकर उन्हें घूसने लगते हैं । शास्त्रनामधारी जीव पेट भरने और जननन्द्रियको वृत्त करनेमें ही लग जाते हैं ॥ ३२ ॥ प्रज्ञाचारी लोग क्लेशचर्य मनसे रहित और अपवित्र रहने लगते हैं । गृहस्थ दूसरोंको मित्र देनेके बदल स्वयं भीख माँगने लगते हैं, वानप्रस्थी गाँवोंमें बसने लगते हैं और सन्यासी घनक अत्यन्त धर्म—वर्षादिपत्र हाँ जगत हैं ॥ ३३ ॥ किर्योकर धाकर तो छोटे हाँ जाता है, पर भूल बड़ जाती है । उन्हें सन्तान बहुत अधिक होती है और वे अपनी पुत्र-सर्पादाका उल्लङ्घन करके लज्ज-हया—बो उनका भूषण है—छोड़ बैठती हैं । वे सदा-सुखदा कइवी जगत कहती रहती हैं और चोरी तथा कान्में बड़ी निपुण हो जाती हैं । उनमें साहस भी बहुत बढ़ जाता है ॥ ३४ ॥ व्यापारियोंके हृदय अत्यन्त क्षुद्र हो जाते हैं । वे कौड़ी-कौड़ीसे जिये रहते और छाम-छामक छिप धोखाधड़ी करने लगते हैं । और तो क्या—अपतिक्षम न होनेपर तथा धनी होनेपर भी वे निजधेणीक व्यापारोंकर, बिनबरी सपुत्र निन्दा करत हैं, ठीक समझने और अपनाने लगत हैं ॥ ३५ ॥ स्वामी चाह सकीष्ट ही क्यों न हों—अब सेवकयोग देखते हैं कि इसक पास धन-नौकर नहीं रही, तब उसे छाड़कर भाग जाते हैं । सबक चाह मित्रता ही पुराना क्यों न हो—परन्तु जब यह मित्री विपत्तिमें पड़ जाता है, तब स्वामी उसे छाड़ दत है । और तो क्या अय गिरें बकल हाँ जाती हैं—दूध दवा बँ कर दती हैं, तब अग उनका भी परिष्कार कर दत है ॥ ३६ ॥

विय परीजिह्व । कठिणक मनुष्य बड़ ही क्रूर हो जात हैं व अन्नी कर्मसत्ताकर वृत्त करनेक विय ही मित्रिमे प्रम करत हैं । वे विस्मयसत्ताक बदीनूल हाकर तन तीन हाँ जात हैं कि माता-पितृ, भाइ-भ्रातृ और मित्रों भी छाड़कर स्वयं अपनी सारी और साम्रसहा संग्रह लभ लगत हैं ॥ ३७ ॥ यह तान्त्रियोग पर जलकर अन्ना पर मगन और गान लगत लगत हैं । किन्हे धमर रसीभर न घान नहीं है, व उन्हें मित्रसन्तान मित्रमन्त्र हाकर धनर उपादा करत लगत हैं ॥ ३८ ॥

निस्पृहमिदमन्तसो दुर्भिक्षकरकर्षिताः ।

निरन्ते मृतले राक्षसानाहुतिभयातुराः ॥३९॥

पासाऽभयानक्षयनव्यवायस्त्रानमृषभैः ।

हीनाः पित्राचसंदर्शा भविष्यति कलौ प्रजाः ॥४०॥

कलौ अक्रियिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः ।

त्यक्ष्यन्ति च प्रियान् प्राधान् हनिष्यन्ति स्वकानपि ४१

न रक्षिष्यन्ति मनुष्याः स्वविरौ पितरावपि ।

पुत्रान् सर्वोर्ध्वकुलान् बुद्धाः क्षिप्तोदरभराः ॥४२॥

कलौ न रामश्चमतां परं गुरुं

त्रिकाकनाधानतपादपङ्कजम् ।

प्रायेण मर्त्या भगवन्तमप्युतं

मरुपन्ति पासप्लविभिक्षेतसः ॥४३॥

यन्मामघेयं प्रियमाण आतुरः

पतन्स्वत्तन् वा विषञ्चो गुणन् पुमान् ।

१ रि । १ भाष्ये च कुलार्थं बुद्धा ।

प्रिय परीक्षित ! कश्चिद्युगकी प्रजा सुख पानेके कारण अल्पत
मयमीत और आतुर हो जाती है । एक तो दुर्मित्र और
दूसरे शासकोंकी कर-बुद्धि । प्रजाके शरीरमें केवल
अस्थिपङ्कज और मनमें केवल उद्वेग शेष रह जाता है ।
प्राण-रक्षाके लिये रोटीका टुकड़ा मिठना भी कठिन हो
जाता है ॥ ३९ ॥ कश्चिद्युगमें प्रजा शरीर उबनेके लिये
कच्चा और पेटकी आग शक्त कन्नके लिये रोटी, पीनेके
लिये पानी और सोनेके लिये दो हाथ जमीनसे भी बञ्चित
हो जाती है । उसे दाम्पत्य-जीवन, स्नान और आनन्द
पहननेसकती छुपिधा नहीं रहती । ओगोंकी आहूति,
प्रकृति और चेष्टाएँ मित्रार्थोंकी-सी हो जाती हैं ॥४०॥
कश्चिद्युगमें ओग, अक्रिय धनकी तो बात ही न्या, कुछ
पौर्वियोंके छिय आपसमें बैर-विरोध करने लगाते और
बहुत दिनोंके सम्भाव तथा मित्रताको तिरछा छि दे देते
हैं । इतना ही नहीं, वे दम्भी-दम्भीके लिये अपने सगे-
सम्बन्धियोंतककी हत्या कर बैठते और अपने प्रिय प्राणोंसे
भी हाथ जो बैठते हैं ॥ ४१ ॥ परीक्षित ! कश्चिद्युगके
शुद्ध प्राणी केवल कामवासनाकी पूर्ति और पेट भरनेकी
धुनमें ही लगे रहते हैं । पुत्र अपने बड़े मा-बापकी भी
रक्षा—प्राण-पोषण नहीं करते, उनकी उपेक्षा कर
देते हैं और पिता अपने निपुण-से निपुण, सब कर्मोंमें
योग्य पुत्रोंकी भी परवा नहीं करते, उन्हें बर्बाद कर
देते हैं ॥४२॥ परीक्षित ! भीममान् ही कत्तार आदिके
परम पिता और परम गुरु हैं । इन्द्र आदि त्रिभिन्न
विपत्ति उनके चरणकमलोंमें अपना सिर छुकाकर सर्वज्ञ
समर्पण करते रहते हैं । उनका ऐश्वर्य अनन्त है और
वे एकतरफ अपने स्वकारमें स्थित हैं । परन्तु कश्चिद्युगमें
ओगोमें इतनी गृह्यता फैल जाती है, पारिवर्षिकोंके कारण
ओगोंका चित इतना मटक जाता है कि प्राय ओग अपने
कर्म और ग्यनार्थोंके द्वारा भगवान्की पूजासे भी विमुख
हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी
स्थितिमें अथवा गिरते या फिटकते समय निरा होकर
भी यदि भगवान्के किसी एक नामका उच्चारण कर ले,
तो उसके सारे कर्मकल्मष क्षिप्त-विप्त हो जाते हैं और

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं ब्रजेत् ॥५१॥

कृते यद् व्यापतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मत्स्यैः ।

द्वापरे परिधयायां कलौ तद्वरिषीर्त्तनात् ॥५२॥

श्रीकृष्णका सङ्कीर्तन करनेमात्रसे ही सारी वासुधैवी
छूट जाती हैं और परमसत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है ॥५१॥
सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े
यज्ञोंके द्वारा उनकी वाराधना करनेसे और द्वापरमें त्रिभि-
र्पूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कस्मिन्‌मुमें
केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता
है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशास्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्योऽध्यायः

चार प्रकारके प्रलय

श्रीशुक उवाच

क्रावस्ते परमाप्त्वादिर्द्विपराधीनवर्धिर्यप ।

कथितो युगमार्गं च शृणु कल्पलयावपि ॥ १ ॥

चतुर्युगसहस्रं चैव ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।

स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्वर्षं विद्यापते ॥ २ ॥

तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ।

त्रया लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥ ३ ॥

एष नैमिषिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।

शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मवस्तु कृत्स्नं चात्मभूः ॥४॥

दिपराधे स्वतिकावन्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।

तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥ ५ ॥

एष प्राकृतिका राजन् प्रलयो यत्र लीयते ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—(सीसरे स्कन्ध-
में) परमाणुसे लेकर द्विपराधर्पन्त कावका सरूप और
एक-एक युग चित्रने-चित्रने क्योंकि होता है, यह मैं तुम्हें
बतला चुका हूँ । अब तुम कल्पकी स्थिति और उसके
प्रत्यक्ष वर्णन भी सुनो ॥ १ ॥ राजन् ! एक हजार
चतुर्युगीका ब्रह्मका एक दिन होता है । ब्रह्मके इस दिनकी
ही कल्प भी कहते हैं । एक कल्पमें चौदह स्रु होते
हैं ॥ २ ॥ कल्पके अन्तमें उत्तने ही समस्तक प्रलय
भी रहता है । प्रलयके ही ब्रह्मकी रात भी कहते हैं ।
उस समय ये तीनों लोक खीन हो जाते हैं, उनका
प्रलय हो जाता है ॥ ३ ॥ इसका नाम नैमिषिक प्रलय
है । इस प्रलयके अन्तरपर सारे विश्वको अपने अंश
समेष्टकर—खीन कर ब्रह्मा और उपर्याध सेवार्थ
मगवान् नारायण भी शयन कर जाते हैं ॥ ४ ॥ इस
प्रकार रातके बाद दिन और दिनके बाद रात होते-होते
जब ब्रह्माजीकी अपने मामसे सी बर्षकी और मनुष्योंकी
रक्षिमें दो परार्धकी आयु समष्ट हो जाती है, तब ब्रह्मणः
अङ्गद्वार और पञ्चसमाश्रय—ये सप्तों प्रकृतियों अपने
कारण मूल प्रकृतिमें खीन हो जाती हैं ॥ ५ ॥ राजन्
इसीका नाम प्राकृतिक प्रलय है । इस प्रलयमें प्रत्यक्ष
कारण उपस्थित होनेपर पञ्चभूतोंक मिश्रणसे बना हुआ

प्राण्यक्षोद्यस्तु संघातो विघात उपसादिते ॥ ६ ॥

पर्वन्मः शतवर्षाणि मूमौ राजन् न वर्षति ।

तदा निरक्षेद्यन्त्योन्मं भक्षमाणाः क्षुधादिताः ॥ ७ ॥

धर्मं यासन्ति क्षनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः ।

सामुद्रं देहिकं भीमं रसं सार्वर्तको रविः ॥ ८ ॥

ग्निमिः पिबते चोरेः सर्वं नैव विमुञ्चति ।

तवः सार्वर्तको वह्निः संकर्षणमुत्थोत्थितः ॥ ९ ॥

दहत्यनिलवेगोरथः शून्यान् भूविषयानथ ।

उपर्यधः समन्ताच्च दिश्वभिर्वह्निर्धर्मयोः ॥ १० ॥

दहमानं विमात्सव्यं दग्धगोमयपिम्बवत् ।

तवः प्रचण्डपवनो वपाशामधिक श्रुतम् ॥ ११ ॥

परः सार्वर्तको वाति धूमं स्व रजसाऽऽवृणुम् ।

ततो मेघकुलान्यहं चित्रवर्णान्यनेकशः ॥ १२ ॥

श्रुतं वपाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ।

तव एकादकं विश्वं भ्रष्टाण्डविषयान्तरम् ॥ १३ ॥

तदा मूर्ध्निगन्धुष्यं प्रसन्त्याप उदग्रवे ।

प्रस्रगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥ १४ ॥

अपौ रसमधो तेजसा लीयन्तेऽथ नीरसाः ।

प्रसते तेजसा रूपं वायुस्तद्विहृतं तदा ॥ १५ ॥

ठीयते धानिले तेजोवाया संप्रसते गुणम् ।

प्राण्यक्षोद्यस्तु संघातो विघात उपसादिते ॥ ६ ॥
जाता है, पुष्प-मिष्ट जाता है ॥ ६ ॥ परीक्षित ।
प्रलयका समय आनेपर सौ वर्षतक मेघ पृथ्वीपर वर्षा
नहीं करते । किसीको भस्म नहीं मिलता । उस समय
प्रजा मूस-म्याससे व्याकुल होकर एक-दूसरेको खाने लगती
है ॥ ७ ॥ इस प्रकार कालके उपद्रवसे पीड़ित होकर
धीरे-धीरे सारी प्रजा क्षीण हो जाती है । प्रलयका क्षीन
सार्वर्तक सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समुद्र, प्राणियोंके
शरीर और पृथ्वीपर सारा रस खींच-खींचकर सोख जाते
हैं और फिर उन्हें सदृश ही भोजित पृथ्वीपर बरसते नहीं ।
उस समय सङ्कर्षणमग्नान्तेके मुहूर्ते प्रलयका क्षीन सार्वर्तक
अग्नि प्रकट होती है ॥ ८ ९ ॥ वायुके वेगसे वह और
भी बढ़ जाती है और तब-अतएव आदि सत्तों नीचेके
जोड़ोंको भस्म कर देती है । क्योंकि प्राणी तो पहले ही
मर चुके होते हैं । नीचेसे आगही करारी छप्टें और
ऊपरसे सूर्यकी प्रचण्ड गर्मी । उस समय ऊपर-नीचे,
बारों और यह बरषाण्ड जलने लगता है और ऐसा जान
पड़ता है, माना गोबरका उपलब्ध जलकर अंगरेके रूपमें
दहक रहा हो । इसके बाद प्रलयका क्षीन अत्यंत प्रचण्ड
सार्वर्तक वायु सैकड़ों वर्षोंतक चली रहती है । उस
समयका आकाश धूरें और धूलसे तो भरा ही रहता है,
उसके बाद अस्मियों रंग-विरंगे दहक आकाशमें मँडराने
लागे हैं और वही मयङ्कुरतके साथ गरब-गरजकर सैकड़ों
वर्षोंतक वर्षा करते रहते हैं । उस समय भ्रष्टाण्डके
भीतरका सारा संसार एक समुद्र हो जाता है, सब कुछ
जलमय हो जाता है ॥ १० ११ ॥

इस प्रकार जब जल-प्रलय हो जाता है, तब सब पृथ्वीके
विशेष गुण गन्धको प्रस्र होता है—अपनमें छीन कर
लेता है । गन्ध गुणक जड़में छीन हो जानपर पृथ्वीका
प्रलय हो जाता है, वह जड़में पुनः-मिश्रकर जड़रूप बन
जाती है ॥ ११ ॥ राजन् । इसके बाद जड़क गुण रसको
तेजसत्त्व प्रस्र लेता है और जड़ नीरस होकर तड़में
सम जाता है । तदनन्तर वायु तेजके गुण रूपको प्रस्र
लेता है और तेज रूपरहित होकर वायुमें छीन हो जाता
है । जब आकाश वायुके गुण रसराश अत्यन्त मिश्र
होता है और वायु स्वर्णहीन होकर आकाशमें गन्त हो

स वै विद्यति त्वं राजंस्तव नमसो गुणम् ॥१६॥

अम्बं प्रसवि भूतादिर्नमस्तमनु लीयते ।

तैत्तिरीयैर्निद्रयाप्यज्ञ देवान् वैकारिको गुणैः ॥१७॥

महान् प्रसत्पहंकार गुणाः सत्त्वादयश्च तम् ।

प्रसवेऽभ्याकृतं राजन् गुणान् कालेन चोदितम् ॥१८॥

न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः ।

बनाघनन्तमभ्यक्तं नित्य कारणमभ्यवयवम् ॥१९॥

न यत्र वाचो न मनो न सर्वं

तमो रबो वा महदादयोऽमी ।

न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा

न संनिवेशः सत्त्व लोककल्पः ॥२०॥

न स्वप्नजाग्रन् च तत् सुषुप्तं

न त्वं बलं भूरनिर्लोऽपिरर्कः ।

संसुप्तश्चैतन्यवदप्रसक्त्यै

त-मूलमूर्तं पदमामनन्ति ॥२१॥

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाभ्यक्तयोर्यदा ।

शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविह्वलाः ॥२२॥

बुद्धीन्द्रियार्थरूपण ध्यानं भाति तदाभयम् ।

इत्यतश्चाप्यतिरक्ताभ्यामाघन्तवदवस्तु यत् ॥२३॥

जाता है । इसके बाद तामस अहङ्कार अन्तरात्मे गुण

शब्दको प्रस जेता है और अक्षरशब्द शब्दहीन होकर

तामस अहङ्कारमें छिन्न हो जाता है । इसी प्रकार तैत्तिरीय

अहङ्कार इन्द्रियोंको और वैकारिक (सार्विक) अहङ्कार

इन्द्रियाभिधान-देवता और इन्द्रियवृत्तियोंको अपनेमें छिन्न

कर जेता है ॥ १५ १७ ॥ तत्पश्चात् महत्तत्त्व अहङ्कारको

और सत्त्व आदि गुण महत्तत्त्वको मस्त लेते हैं । परिश्रित !

यह सब कालकी महिमा है । उसीकी प्रेरणासे अन्यत्र

प्रकृति गुणोंको मस्त लेती है और तब केवल प्रकृति-ही-

प्रकृति छेद रह जाती है ॥ १८ ॥ कभी बराबर जगत्

मूल कारण है । वह अन्यत्र, अनादि, अनन्त, नित्य

और अविनाशी है । जब वह अपने कर्योंको छिन्न

करके प्रलयके समय साम्यवस्थाको प्राप्त हो जाती है ।

तब उसके अवयव कर्म, मास, दिन-रात, क्षण आदिके

कारण उसमें परिणाम, क्षय, वृद्धि आदि किसी प्रकारके

विकार नहीं होते ॥ १९ ॥ उस समय प्रकृतिमें स्पृष्ट

अथवा सूक्ष्मरूपसे ज्ञानी, मन, सत्त्वगुण, रजोगुण,

तमोगुण, महत्तत्त्व आदि विकार, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय

और उनके देवता आदि कुछ नहीं रहते । सृष्टिके समय

रहनेवाले ओकोंकी वस्त्रपना और उनकी स्थिति भी नहीं

रहती ॥ २० ॥ उस समय स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति—

ये तीन अवस्थाएँ नहीं रहती । वाक्तरा, जल, पृथ्वी,

वायु, अग्नि और सूर्य भी नहीं रहते । सब कुछ सोये

हुएके समान शून्य-सा रहता है । उस अवस्थाका तत्त्व

द्वारा अनुमान करना भी असम्भव है । उस अवस्थाको ही

जगत्पक्ष मूलमूर्त तत्त्व कहते हैं ॥ २१ ॥ इसी अवस्थाका

नाम 'प्राकृत प्रकृष्य' है । उस समय पुरुष और प्रकृति

दोनोंकी शक्तियों का उनके प्रभावसे क्षीण हो जाती है और

विश्व होकर अपने मूलस्वरूपमें छिन्न हो जाती है ॥ २२ ॥

परिश्रित ! (अब आत्यस्तिक प्रकृष्य वर्णार्थ मोक्षपक्ष

स्वरूप यतः प्रकृष्य जाता है ।) बुद्धि, इन्द्रिय और उनके

विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान, ज्ञानस्वरूप वस्तु ही

भासित हो रही है । उन सबका तो आदि भी है और

अन्त भी । इसीमें वे सब समय नहीं हैं । वे दस्य हैं

और अपने अधिष्ठानसे भिन्न उनकी सत्ता भी नहीं है ।

इसमें वे सत्ता मिथ्या—मायामात्र हैं ॥ २३ ॥

दीपश्चक्षुष रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत् ।

एवं भीः स्वानि मात्राश्च न स्युरन्यत्रमाद्यत ॥२४॥

बुद्धेर्बाधरण स्वप्नः सुषुप्तिरिति बोध्यते ।

मायामात्रमिदं रात्रिं नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥२५॥

यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च ।

अप्रमीदं तथा विश्वमवयवमुदयाप्ययात् ॥२६॥

सत्त्वं अवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह ।

विनार्येन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्गं तत्तवः ॥२७॥

यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स अयः ।

अन्यान्यापान्नायात् सर्वमाद्यन्तवद्वस्तु यत् ॥२८॥

विकारः स्थायमानाऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।

जैसे दीपक, नेत्र और रूप—ये तीनों सेकसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय और इनके विषय सम्प्रसारण भी अपने अविघटनस्वरूप अक्षरसे भिन्न नहीं हैं—यद्यपि वह इनसे सर्वथा भिन्न है, (जैसे रज्जुरूप अविघटनमें अव्यक्त सर्प अपने अविघटनसे पृथक् नहीं है, परन्तु अव्यक्त सर्पसे अविघटनका कोई सम्बन्ध नहीं है) ॥२४॥ परीक्षित ! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही हैं । अतः इनके कारण अन्तरात्मानमें जो विद्य, तैजस और प्राणरूप मानसकी प्रतीति होती है वह केवल मायमात्र है । बुद्धिग्रस्त मानसका एकत्र सत्य आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ २५ ॥ यह विषय उपरि और प्रथमसे प्रकट है, इसलिये अनेक अवयवोंका समूह अवयवी है । अतः यह कभी अक्षरमें होता है और कभी नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें मेघमात्र कभी होती है और कभी नहीं होती ॥ २६ ॥ परीक्षित ! जगत्के व्यवहारमें जितने भी अवयवी पदार्थ होते हैं, उनके न होनेपर भी उनके भिन्न-भिन्न अवयव स्वयं माने जाते हैं । क्योंकि ये उनके कारण हैं । जैसे अक्षररूप अवयवीके न होनेपर भी उसके कारणरूप सत्त्व अस्तित्व माना ही जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप जगत्के अवयवोंमें भी इस जगत्के कारणरूप अवयवकी स्थिति हो सकती है ॥ २७ ॥ परन्तु अक्षरमें यह कार्य-कारणभाव भी वास्तविक नहीं है । क्योंकि देखो, पट्रण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु । इस प्रकारका जो भेद लिखी वस्तु है, यह केवल अम ही है । इसका हेतु यह है कि सामान्य और विशेष भाव आपेक्षिक हैं, अप्योन्यायिक हैं । विशेषके बिना सामान्य और सामान्यके बिना विशेषकी स्थिति नहीं हो सकती । पदय और कारणभावका आदि आदि अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिये भी वह स्थायित्व भेदभावके समान सदा अवस्तु है ॥२८॥ इसमें सम्येह नहीं कि यह प्रत्यक्ष विचार स्वाधिक विचारक समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अविघटन अक्षररूप आप्यसे भिन्न नहीं है । कार्य काहे भी तो आप्यसे भिन्न रूपमें अनुयाय भी इसका निरूपण नहीं कर सकता । यदि आत्मासे

न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्वाच्छेषित्तम आत्मवत् २९

नहि सरस्व नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते ।

नानात्वं छिद्रयोर्द्वन्द्वयोस्तिपोर्वातयोरिव ॥३०॥

यथा हिरण्यं बहुधा संमीयते

नृभिः क्रियाभिर्घ्न्यहारवर्त्मसु ।

एव वचोभिर्मगवानभोधवो

व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्वनैः ॥३१॥

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो

द्यर्कश्चभूतस्य च चक्षुःपक्ष्मः ।

एवं त्वहं प्रस्यगुणस्तदीक्षितो

अस्माद्वक्षसात्मन आत्मबन्धनः ॥३२॥

यथा यदार्कप्रभवो विदीर्यते

चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।

यथा द्यौर्द्वार उपाधिरात्मनो

जिह्वासया नश्यति तर्धनुसरेत् ॥३३॥

यदैवमेतेन विवेकहेतिना

मायामयाईकरणात्मबन्धनम् ।

छिन्नाम्पुवात्मानुभवोऽवशिष्टे

तमादुरात्मन्तिकमङ्ग सम्प्लवम् ॥३४॥

निर्यदा सर्वभूतानां अद्यादीनां परंशप ।

उत्पत्तिप्रतयावेकं दृष्टमग्राः सम्प्रचक्षत ॥३५॥

पृथक् इसकी सत्ता मानी भी जाय तो यह भी चिद्रूप कल्पके समान स्वयंप्रकाश होगा, और ऐसी स्थितिमें वह कल्पकी भाँति ही एकरूप सिद्ध होगा ॥ २९ ॥ परन्तु इतना तो सर्वथा निश्चित है कि परमार्थ-सत्य वस्तुमें नानात्व नहीं है । यदि कोई व्यक्ती परमार्थ-सत्य वस्तुमें नानात्व स्वीकार करता है, तो उसका वह ममाना वैसा ही है, जैसा म्हाप्रकाश और घटकासक, व्याकरास्मित सूर्य और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका तथा बाह्य वस्तु और आन्तर वस्तुका मेद मानना ॥ ३० ॥

जैसे व्यवहारमें मनुष्य एक ही सोनेके बनेको रूपोंमें गङ्गा-गङ्गाकर तैयार कर लेते हैं और वह फल, कुण्डल, कड़ा आदि अनेकों रूपोंमें प्रियता है; इसी प्रकार व्यवहारमें निपुण विद्वान् जैविक और वैदिक वाणीके द्वारा इन्द्रियप्राप्ति आत्मस्वरूप मागन्तु भी अनेकों रूपोंमें वर्णन करते हैं ॥ ३१ ॥ देखो न, बादल सूर्यसे उत्पन्न होता है और सूर्य ही प्रकाशित । तिर भी वह सूर्यके ही अंश नेत्रोंके लिये सूर्यका दर्शन होनेमें बाधक बन बैठता है । इसी प्रकार अहङ्कार भी ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता, ब्रह्मसे ही प्रकाशित होता और ब्रह्मके अंश जीवके लिये ब्रह्मस्वरूपके सप्रत्यक्षमें बाधक बन बैठता है ॥ ३२ ॥ जब सूर्यसे प्रकाश होनेक्रम बदल क्तिर-क्तिर हो जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूप सूर्यका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं । ठीक वैसे ही, जब जीवके हृदयमें जिज्ञासा आती है, तब कल्पकी उपाधि अहङ्कार नष्ट हो जाता है और उसे अपने स्वरूपका सप्रत्यक्ष हो जाता है ॥ ३३ ॥ प्रिय प्रीतिप्रिय ! जब जीव विवेकके शङ्कसे मायामय अहङ्कारका बन्धन पाट देता है, तब यह अपने एकरस आत्मस्वरूपके साक्षात्कारमें स्थित हो जाता है । आत्माही यह मायामुक्त पादाधिक स्थिति ही आत्मन्तिक प्रकृत्य कहली जाती है ॥ ३४ ॥

हे शत्रुघ्न ! तत्त्वदर्शी लोग कहते हैं कि ब्रह्मसे सेवत्र तिनकेतक जितने प्राणी या पदार्थ हैं, सभी इत समय पैरा होते और मरते रहते हैं । अर्थात् नियरूपसे उत्पत्ति और प्रकृत्य होता ही रहता है ॥ ३५ ॥

कालस्रोतोऽवेनाशु हियमाणस्य नित्यदा ।

परिणामिनामवस्वास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥३६॥

अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना ।

अवसा नैव दृश्यन्ते विपति ज्योतिषामिव ॥३७॥

नित्यो नैमिषिकश्चैव तथा प्राकृतिको लवः ।

मात्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥३८॥

एताः कुरुभ्यः अगद्विधाः

नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।

छीलाकथास्ते कथिताः समासतः

कास्तर्प्येन नाजोऽप्यभिधातुमीदृशः ॥३९॥

संसारसिन्धुमतिदुस्तरद्विचिरीषो-

नर्तन्यः पुत्रो भयवतः पुरुषोचमस्य ।

छीलाकथारसनपेक्षणमन्तरेण

पुंसो भवेद् विविधदुःखदशार्दितस्व ॥४०॥

पुराणसंहितामेतामृपिर्नारायणोऽभ्यय ।

नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः ॥४१॥

स वै मह्यं महाराज भगवान् सादरायण ।

इमां भागवतीं प्रीय संहितां यदसम्मिताम् ॥४२॥

एतां वक्ष्यत्यसौ ह्यहं श्रुतिभ्यो नैमिषालये ।

दीर्घसत्रे कुरुभ्यः सम्पृष्टः क्षीनकादिभिः ॥४३॥

संसारके परिणामी पदार्थ नदी-प्रवाह और दीप-मिच्छा आदि क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। उनकी बदलती हुई अवस्थाओं को देखकर यह निश्चय होता है कि देह आदि भी कर्मरूप सोतेके वेगमें बहते-बदलते जा रहे हैं। इसीमें क्षण-क्षणमें उनकी उत्पत्ति और प्रलय हो रहा है ॥ ३६ ॥ जैसे आकाशमें तारे हर समय चलते ही रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्टरूपसे नहीं दिखती पड़ती, वैसे ही भगवान्‌के स्वरूपभूत अनादि-अनन्त कालके कारण प्राणियोंकी प्रतिक्षण होनेवाली उत्पत्ति और प्रलयका भी पता नहीं चलता ॥ ३७ ॥ परीक्षित ! मैंने तुमसे चार प्रकारके प्रलयका वर्णन किया, उनके नाम हैं—नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृतिक प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय। आद्यकालमें कालकी सूक्ष्म गति ऐसी ही है ॥ ३८ ॥

हे कुरुभ्ये ! विश्व-विधत्ता भगवान् नारायण ही समस्त प्राणियों और शक्तियोंके आत्म्य हैं। जो कुछ मैंने संक्षेपसे कहा है, वह सब उनकी ही आज्ञा-कमा है। भगवान्‌की आज्ञा-शक्ति पूर्ण काल तो स्वयं ब्रह्मजी भी नहीं कर सकते ॥ ३९ ॥ जो जोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं अपना जो जोग अपनेमें प्रकरके बुद्ध-दावानामसे दम्ब हो रहे हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्‌की आज्ञा-कमारूप उसके सेवनके अतिरिक्त और कोई साधन, कोई नीति नहीं है। ये केवल छीला-रसायनका सेवन करके ही अपना मोक्षार्थ सिद्ध कर सकते हैं ॥ ४० ॥ जो कुछ मैंने तुम्हें सुनाया है, यही श्रीमद्भागवतपुराण है। इसे सनत्कृत श्रुति नर-नारायणने पहला देवर्षि नारदको सुनाया था और उन्होंने मेरे पिता महर्षि कृष्णद्वैपायनको ॥ ४१ ॥ महाराज ! उनकी यन्त्रीबन्धनकारी भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने प्रसन्न होकर मुझे इस वेदश्रुत्य श्रीभागवतसंहिताका उपदेश किया ॥ ४२ ॥ कुरुभ्ये ! आगे कथ्यकर जब शौनकादि श्रुति नमिगारण क्षेत्रमें बहुत बड़ा सत्र करेंगे, तब उनके प्रसन्न करनेपर पीरुगिरि वल्लभ श्रीमन्‌जी उन जोगियोंका इस संहिताका ध्यान करायेंगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्ये संहितायां द्वापरस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यप्रसंगो यावदीयते ।

तयो दीपस्य दीपत्वमेव देहकृतो भवः ।

रत्नस्त्वत्तमोद्गुण्या जायतेऽथ विनश्यति ॥ ७ ॥

न वशात्मा स्वयन्योतिर्यो व्यक्ताभ्यक्तयोः परः ।

आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्तवः ॥ ८ ॥

एवमात्मानमात्मसमात्मनैवामृता प्रभो ।

पुद्गलानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥ ९ ॥

बोदितो विप्रवाक्येन न त्वां भक्षयति तद्युक्तः ।

मृत्यवो नोपभक्षयन्ति मृत्युनां मृत्युमीश्वरम् ॥ १० ॥

अहं ब्रह्म पर धाम ब्रह्मा परमं पदम् ।

एवं समीक्षमात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥ ११ ॥

ददन्तं तद्युक्तं पादे लज्जिह्वानं विपाननैः ।

न द्रक्ष्यसि क्षीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥ १२ ॥

पृथक् कथितं सात यथाऽऽत्मा पृष्टवान् नृप ।

हरेर्विधात्मनधर्षा किं भूयः भातुमिच्छसि ॥ १३ ॥

हे ॥ ६ ॥ जबतक सेक, तैउ रखनेकर पात्र, कही और आगकर संयोग रहता है, तभीतक दीपकमें दीपकपना है; वैसे ही उनके ही समान जबतक आत्माका कर्म, मन, शरीर और इनमें रखनेवाले चैतन्यात्मासक साथ सम्बन्ध रहता है तभीतक उसे जन्म-मृत्युके चक्र संसारमें भटकना पड़ता है और रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणकी वृत्तियोंसे उसे उत्पन्न, स्थित एवं विनष्ट होना पड़ता है ॥ ७ ॥ परन्तु जैसे दीपकके धुल जानेसे तत्त्वरूप तेजकर किनाश नहीं होता, वैसे ही संसारका नाश होनेपर भी स्वप्नप्रकाश आत्माका नाश नहीं होता । क्योंकि वह स्वयं और कारण, व्यक्त और अव्यक्त सबसे परे है, वह आकाशके समान सबका आधार है, नित्य और निश्चय है, वह अनन्त है । सचमुच आत्माकी उपाय आत्मा ही है ॥ ८ ॥

हं एतन् । तुम अपनी विशुद्ध एवं विकेकती बुद्धिको परमात्माके चिन्तनसे भरपूर कर लो और स्वयं ही अपने अन्तरमें स्थित परमात्माका साक्षात्कार करो ॥ ९ ॥ देखो, तुम मृत्युजोकी भी मृत्यु हो । तुम स्वयं ईश्वर हो । ब्राह्मणके शरीरसे परित तक्षक तुम्हें भस्म न कर सकेगा । वही, तक्षककी तो शक्त ही क्या, स्वयं मृत्यु और मृत्युजोका समूह भी तुम्हारे पासतक न पटक सकेंगे ॥ १० ॥ तुम इस प्रकार अनुसन्धान—चिन्तन करो कि मैं ही सर्वधिष्ठान परम हूँ । सर्वधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ । इस प्रकार तुम अपने-आपको अपने वास्तविक एकरस अन्तः ब्रह्मण्ड स्वरूपमें स्थित कर लो ॥ ११ ॥ उस समय अपनी विरोधी जीभ छत्रजाता हुआ, अपने हीद्वेक पाने चाटता हुआ तक्षक आप जीत अपने विगहन मुँहसे तुम्हारे पैरोंमें बस दे—कड़ परना नहीं । तुम अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होकर इस शरीरका—और तो क्या, सारे विश्वको भी जनेसे पृथक् न दोगे ॥ १२ ॥ आत्मसत्त्वा क्या परीक्षित । तुमने विज्ञान भगवन्की धीत्रके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर देने दे दिया, अब और क्या सुनना चाहते हो ॥ १३ ॥

इति धर्मप्रज्ञास्ते स्यात्पुण्ये पारमार्थ्यं संहितायां द्वाविंशत्तमं महापदम्

नाम अनेकम् ॥ ५ ॥

अथ पष्ठोऽध्याय

परीक्षितकी परमगति अनमोक्षयका सर्वसत्र और वेदोंके शास्त्रानेव

सूत उवाच

एतन्निश्चय्य मुनिनाभिहितं परीक्षित्

भ्यासात्मजेन निखिलसमृद्ध्या समेन ।

तत्पादमूलमुपसृत्वा नतेन मूर्त्ता

बद्धाञ्जलिस्तमिवमाह स विष्णुराजः ॥ १ ॥

राजोवाच

सिद्धोऽस्मत्पुत्रीतोऽसि भवता कुरुष्वारमना ।

भाविता यच्च मे साक्षादनादिनिधना हरिः ॥ २ ॥

नास्पृष्टुर्तेमहं मन्ये महतामप्युवाचभनाम् ।

अश्रेष्ठ तापतप्लेष्ठ भूतेषु यदनुग्रहः ॥ ३ ॥

पुराणसंहितामेतामभौष्म भवतो वयम् ।

यस्यां सख्यतमस्माको भगवाननुवर्ष्यते ॥ ४ ॥

भगवत्तक्षकादिभ्यामुत्पुम्भान विमेष्यहम् ।

प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभय दर्शितं स्वया ॥ ५ ॥

अनुजानीहि मां ब्रह्मन् बार्चयच्छाम्यधोक्षज ।

मुक्तकामाश्रयं चेतः प्रवक्ष्य विसृजाम्यहम् ॥ ६ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—श्रीनकादि श्रमियो । मन्त्र-
मन्दन श्रीशुकदेव मुनि सम्पन्न धराधर जगत्को कभी
वाक्यके रूपमें अनुभव करते हैं और भगवान् के उनके
प्रति सम्पत्ति रखते हैं । भगवान् के शरणगत एवं उनके
द्वारा सुरक्षित राजर्षि परीक्षितने उनका सम्पूर्ण उपदेश
बड़े ध्यानसे श्रवण किया । अब वे स्थिर हृत्कनक उनके
चरणोंके तनिक और पास खिसक जाये तब कबल
बौधक उनसे यह प्रार्थना करने लगे ॥ १ ॥

राजा परीक्षितने कहा—मयात् । आप कल्पके
मूर्तिमान् स्वरूप हैं । आपने मुझपर परम कृपा करके
धनादि-अनन्त, एकस्र, सुख ममान् श्रीहरिके स्वरूप
और श्रेष्ठार्थोंका वर्णन किया है । जब मैं आपकी कृपासे
परम अनुगृहीत और कृतज्ञ हो गया हूँ ॥ २ ॥
संस्कारके प्राणी अपने स्वार्थ और परमार्थके ज्ञानसे दूरे
हैं और विभिन्न प्रयत्नके बुद्धोंके दाकनसे दूरे हो
रहे हैं । उनके ऊपर भगवन् महाशक्ति का अनुभव
होना कोई नयी, कटना अपना आकर्षण बत नहीं है ।
यह तो उनके लिये सामान्य ही है ॥ ३ ॥ मैं
और मेरे सब और बहूतसे जोगोंने आपके मुखरन्ध्रसे
इस श्रीमद्भागवत महापुराणका श्रवण किया है । इस पुरुषमें
पद-पदपर भगवान् श्रीहरिके उस स्वरूप और उन श्रेष्ठार्थों-
का वर्णन हुआ है, जिसका गानने बड़े-बड़े वाक्पटु
पुरुष रमते रहते हैं ॥ ४ ॥ मयात् । आपने मुझे
अभयपदका, तब और आत्मार्थ एकत्रका साक्षात्कार
करा दिया है । अब मैं परम शान्तिस्वरूप ब्रह्ममें स्थित
हूँ । अब मुझे तक्षक आदि विद्वान् भी धृष्टके निमित्तसे
अपना दक्ष-भेदक धृष्टके भी भय नहीं है । मैं अभय
हो गया हूँ ॥ ५ ॥ मयात् । अब आप मुझे आशा
दीजिये कि मैं अपनी कणी बँद कर लूँ, मौन हो जाऊँ
और साथ ही कर्मनाशके संस्कारसे भी रहित पिण्डके
इन्द्रियातीत परमात्माके स्वरूपमें स्थित करके अपने

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिमुषा ।

भवता दर्शितं धेर्म परं भगवतः पदम् ॥ ७ ॥

सूत उवाच

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् वादराषभिः ।

अगाम भिक्षुभिः साफं नरदेवेन पूजित ॥ ८ ॥

परीक्षितपि राजपिरातमन्यात्मानमारमना ।

समाधाय परं दृग्वाचस्पन्दासुर्यथा ततः ॥ ९ ॥

प्राक्कूले बहिष्पासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः ।

ब्रह्ममूला महायोगी निस्पृहश्चिन्तनमध्वयः ॥ १० ॥

तक्षकः प्रहितो विप्राः कृद्धेन द्विजसुनुना ।

इत्युक्तो नृप गच्छन् दर्शय पथि कश्यपम् ॥ ११ ॥

तं तर्पयित्वा ब्रजिगैर्निवस्य विपहारिणम् ।

द्विजस्यप्रतिच्छन्नः कामरूपाऽव्यञ्जनूपम् ॥ १२ ॥

ब्रह्ममृतस्य राजपेदेहाऽहिगरलाग्निना ।

बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १३ ॥

हाहाकारो महानासीदु भुवि खे दिक्षु सर्वतः ।

पिप्पिता अभवन् सर्वे दवासुरनरादयः ॥ १४ ॥

प्राणोक्त्वा त्याग कर दू ॥ ६ ॥ आपके द्वारा उपदेश किये हुए ज्ञान और विज्ञानमें परिनिष्ठित हो जानेसे मेरा अज्ञान सर्वदाके लिये नष्ट हो गया । आपने मगवान् के परम कल्याणमय स्वरूपका मुझे साक्षात्कार करा दिया है ॥ ७ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषिये । राजा परीक्षितने मगवान् श्रीबृहकदेवजीसे इस प्रकार कहकर बड़ा प्रेमसे उनकी पूजा की । अब वे परीक्षितसे विद्या क्षेत्र सम्बन्धित व्यापी महाकाव्यों, भिक्षुओंके साथ वहाँसे चले गये ॥ ८ ॥ राजर्षि परीक्षितने भी किता किस्ती बाबा सहायताके स्वयं ही अपने अन्तररत्नको परमरूपके चिन्तनमें सम्प्रेषित किया और व्यन्तमन हो गये । उस समय उनका आस-प्रवास भी नहीं चखता था, ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बृहका दूँठ हो ॥ ९ ॥ उन्होंने गङ्गाजीके तटपर कुशेको इस प्रकार स्थिर रख दिया, जिसमें उनका अभ्यस्य पूर्वकी ओर हो और उनपर स्वयं उत्तर मुँह होकर बैठे हुए थे । उनकी आसक्ति और संशय तो पहले ही मिट चुके थे । अब वे ब्रह्म और आत्मकी एकताका महायोगमें स्थित होकर ब्रह्म-रूप हो गये ॥ १० ॥

शौनकादि ऋषिये । मुनिकुमार श्रुतीने श्रोतित होकर परीक्षितको शाप दे दिया था । अब उनका मेजा हुआ तक्षक सर्प राजा परीक्षितको बसनेके लिये उनके पास चला । रास्तेमें उसने कश्यप नामके एक ब्राह्मणको देखा ॥ ११ ॥ कश्यप ब्राह्मण सर्पविपकी चिकित्सा करनेमें बड़ा निपुण थे । तक्षकने बहुत-सा क्लेश कश्यपको वहाँसे छेड़ा दिया, उन्हें राजाके पास न आने दिया । और स्वयं ब्राह्मणके रूपमें छिपकर, क्योंकि वह इच्छानुसार रूप धारण कर सकता था, राजा परीक्षितके पास गया और उन्हें बस दिया ॥ १२ ॥ राजर्षि परीक्षित तक्षकके बसनेके पहले ही ब्रह्ममें स्थित हो चुके थे । अब तक्षकके निपकी वामसे उसका शरीर उसके सामने ही जलकर भस्म हो गया ॥ १३ ॥ धूँधी, आकाश और सब दिशयोंमें बड़ा जोरसे हाय-हाय की आवाज होने लगी । दक्षता, असुर, मनुष्य आदि सब-कुछ परीक्षितकी यह परम गति देखकर

देवदुन्दुभयो नेदुर्गर्भर्नाप्सरसो जयुः ।

वधुः पुष्पवर्पाणि विधुधाः साधुवादिन ॥१५॥

जनमेजयः स्वपितरं भुत्वा तद्यकभक्षितम् ।

यथा जुहाव संक्रुद्धो नागान् सत्रे सह द्विजैः ॥१६॥

सर्पसत्रे समिद्भाग्नौ दहमानान् महोरगान् ।

दष्टेन्द्रं भयसंविग्नस्तथकः क्षरण ययौ ॥१७॥

अपर्ष्यन्तथकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान् ।

उवाच तथकः कसान्न दह्यतोरगाधमः ॥१८॥

तं गापायति राजेन्द्र थकः क्षरणमागतम् ।

तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नामनौ पतस्यसौ ॥१९॥

पारीक्षित इति भुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः ।

सहेन्द्रस्तथको विप्रा नागनौ किमिति पात्सते ॥२०॥

तन्मुखाऽऽजुहुधुर्विप्राः सहेन्द्रं तथक मखे ।

तथकाष्ट पतस्वेह सहेन्द्रण मरुत्वता ॥२१॥

इति ब्रह्मादिताथपैः आनादिन्द्रः प्रचाश्रितः ।

बभूव सम्भ्रान्तमतिः सविमान सतथकः ॥२२॥

तं पतन्तं विमानेन सहतथकमम्भरात् ।

विलोक्यभ्रिस्तः प्राह राजान् तं बृहस्पतिः ॥२३॥

नैव त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हसि सर्पराट् ।

अनेन पीतममृतमथ वा अन्नरामरः ॥२४॥

विस्मित हो गये ॥ १४ ॥ देवताओंकी बुन्दुभियो अपने आप बन उठीं । गर्भ और अप्सरों गान करने लगीं । देवताओं 'साधु-साधु' के मारे छाकर पुष्पोंकी वर्ष करने लगे ॥ १५ ॥

अब जनमेजयने सुना कि तथकने मेरे मित्रजीके इस छिपा है, तो उसे क्या क्रोध हुआ । अब वह ब्रह्मणों-के साथ विधिवरूपके सर्पोंके अग्निकुण्डमें दहन करने लगा ॥ १६ ॥ तथकने देखा कि जनमेजयके सर्प-सत्रकी प्रवृत्ति अग्निमें बड़े-बड़े महासर्प मस होते जा रहे हैं, तब वह अत्यन्त भयभीत होकर देवराज इन्द्रकी धरणमें गया ॥ १७ ॥ बहुत सर्पोंके मस होनेपर भी तथक न आया, यह देखकर परीक्षितराज राजा जनमेजयने ब्रह्मणोंसे कहा कि 'ब्रह्मणो ! अन्तक सर्पोंके तथक क्यों नहीं मस हो रहा है ?' ॥ १८ ॥ ब्रह्मणोंने कहा—'प्राजेन्द्र ! तथक इस समय इन्द्रकी धरणमें पक गया है और वे उसकी रक्षा कर रहे हैं । उन्होंने ही तथकको खमिल कर दिया है, इसीसे वह अग्नि-कुण्डमें गिरकर मस नहीं हो रहा है' ॥ १९ ॥ परीक्षित मन्द जनमेजय बड़े ही मुदिमान् और धीर थे । उन्होंने ब्रह्मणोंकी बात सुनकर ब्रह्मणोंसे कहा कि 'ब्रह्मणो ! आपलोग इन्द्रके साथ तथकको क्यों नहीं अग्निमें गिरा देते ?' ॥ २० ॥ जनमेजयकी बात सुनकर ब्रह्मणोंने उस यज्ञमें इन्द्रके साथ तथकको अग्निकुण्डमें बांधकर फिन्स । उन्होंने कहा—'रे तथक ! तू मन्त्रोंके सह चर इन्द्रके साथ इस अग्निकुण्डमें शीघ्र जा प' ॥ २१ ॥ अब ब्रह्मणोंने इस प्रकार आकर्षणप्रकार पाठ किया, तब तो इन्द्र अपने स्थान—सर्गलोकमें विवक्षित हो गये । मित्रमपर बैठे हुए इन्द्र तथकके साथ ही बहुत धनवा गये और उनका विमान भी चक्र कर देने लगा ॥ २२ ॥ अक्षिरानन्दन बृहस्पतिजीने देखा कि आकाशसे देवराज इन्द्र विमान और तथकके साथ ही अग्निकुण्डमें गिर रहे हैं, तब उन्होंने राजा जनमेजयसे कहा—' २३ ॥ 'नरेन्द्र ! सर्पराज तथकको मर दहना आपके योग्य काम नहीं है । यह अमृत पी चुका है । इसलिये वह जबर और धमर है ॥ २४ ॥

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिं स्वेनैव कर्मणा ।

राजन्ततोऽन्या नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ॥२५॥

सर्वचौराग्निविधुदम्यः धुचृद्व्याध्यादिभिर्नृप ।

पञ्चात्मयुच्छते सन्तुर्मुञ्च आरम्भकर्म तत् ॥२६॥

तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्तीयेताभिचारिकम् ।

सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्ट हि युज्यते ॥२७॥

तुत उवाच

इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानसम् नयः ।

सत्रावुपरत पूजयामास वाक्पतिम् ॥२८॥

॥ विष्णोर्महाभाषावाचयामास लक्ष्मण । यथा ।

दन्तपत्न्यैवात्ममृता मृतेषु गुणवृत्तिभिः ॥२९॥

न यत्र दग्भीत्यभया विराजिता

मायाऽऽमवाद्ऽक्षकुदात्मवादिभिः ।

न यद्विवादो निषिधस्तदाभयो

मनस्य संकल्पविकल्पवृत्ति यत् ॥३०॥

१५।

राजन् । जगत्के प्राणी अपन-अपने कर्मके अनुसार ही जीवन, मरण और मरणोत्तर गति प्राप्त करते हैं । कर्मके धर्ति-रिक्त और कोई भी किसीको सुख दुःख नहीं दे सकता ॥ २५ ॥ जनमेजय । मैं तो बहुत-से जोगेश्वरी युष्य सौँ, भोर, आग, विज्झी आदिसे तथा भूख, प्यास, रोग आदि निमित्तोंसे होती है, परंतु यह तो कहन्की बात है । वास्तवमें तो सभी प्राणी अपने प्रारम्भ-कर्मका ही उपयोग करते हैं ॥ २६ ॥ राजन् । तुमने बहुत-से निरपराध सर्पोंको जख्म दिया है । इस धर्मिचार-यज्ञका फल केवल प्राणियोंकी हिंसा ही है । इसलिये इसे बंद कर देना चाहिये । क्योंकि जगत्के सभी प्राणी अपने-अपने प्रारम्भकर्मका ही भोग कर रहे हैं ॥ २७ ॥

भीसुतजी कहते हैं—शौनकादि श्रुतियो । महर्षि बृहस्पतिजीकी बातका सम्मान करके जनमेजयने कहा कि 'आपकी आज्ञा विरोधार्थ है ।' उन्होंने सर्व-सत्र बंद कर दिया और देवगुरु बृहस्पतिजीकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ २८ ॥ श्रुतिगण । (जिससे विद्वान् ब्राह्मणको भी श्लेष आया, राजाका शपथ हुआ, युष्य हुई, फिर जनमेजयको काय आया, सर्प मारे गये) यह बड़ी भगवान् विष्णुकी आज्ञामात्र है । यह अनिर्वचनीय है, इसीसे भगवान् के स्वरूपभूत जीव कांचदि गुण-वृत्तियोंके द्वारा शरीरमें मोहित हो जाते हैं, एक दूसरेका नृस्य दते और भागते हैं और अपने प्रकृतसे इसको निवृत्त नहीं कर सकते ॥ २९ ॥ (विष्णुभगवान् के स्वरूपका निश्चय करके उनका भजन करनेसे ही ममत्तासे निवृत्ति होती है, इसलिये उनका स्वरूपका निरूपण सुनो—) यह दम्भी है, पण्डी है—इत्यादिक बुद्धिमें भर-भर जो दम्भ-सम्पत्ति स्वरूप होता है, वही माया है । जब आत्म-वादी पुरुष आत्मवर्णा करने लगते हैं, तब वह परमात्माका स्वरूपमें निर्भय रूपसे प्रकटित नहीं होती, किन्तु भय-भीत होकर अपना यह आत्मा धर्म न करनी बुद्धि ही किसी प्रकार रखती है । इस रूपमें उसका प्रतिपादन किया गया है । मायाका अभित नाना प्रकारका विज्ञान मनवाद भी परमात्माका स्वरूपमें नहीं है, क्योंकि ये विशेषविशेषक हैं और परमात्मा निर्विशेषक है । केवल बाद-विवादपर्यंत ता बात ही स्या, अग्र-परमेश्वर

विषयोंक सम्बन्धमें सहज-विकल्प करनेवाला मन ही

न यत्र सुखं सुखतोभयोः परं

श्रेयस्य जीवस्त्रिभिरनितस्त्वहम् ।

वदेत्तुत्तादित्वाप्यभाषकं

निपिष्य चोर्मोन् विरमेत् स्वयं मुनिः ॥३१॥

परं पद वैष्णवमामनन्ति तद्

यमेति नेतीत्येतदुत्तिसुखम् ।

विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसोऽहम्

हृदोपगुप्तवसित समाहितैः ॥३२॥

त एतदधिगच्छन्ति विष्ण्वार्यत् परमं पदम् ।

अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगोहजम् ॥३३॥

अतिवादांस्तिविधेस्त नावमपेक्ष कथन ।

न चैवं देहमाधित्यं वरं कुर्वीत फलधिन् ॥३४॥

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।

यत्पादाम्बुदहम्भानात् सहितामप्यगामिमाम् ॥३५॥

ज्ञानक उपाय

पेलादिभिष्वागमिभ्यैर्वेदाचार्यैर्हृत्माभिः ।

शास्त्र हो जाता है ॥ ३० ॥ कर्म, उसके सम्पादनकी सामग्री और उनके द्वारा साध्यकर्म—इन तीनोंसे बनित वह आध्यात्मिक जीव—यह सब जिसमें नहीं हैं, वह अम-सरूप परमात्म्य न तो कभी किसीका द्वारा अधिष्ठ होत है और न तो किसीका किरोखी ही है । जो पुरुष उस परमपदके स्वरूपका विचार करता है वह मनकी मय-मयी जड़ों, वहङ्कार आदिक बाध करने लगे अपने आत्मस्वरूपमें विहार करने लगता है ॥ ३१ ॥ जो मुमुक्षु एवं विचारशील पुरुष परमपदके अनितरिक्त वस्तुका परिष्ठाग करते हुए जेस्ति-नेस्ति के द्वारा उसका निषेध करके ऐसी वस्तु प्राप्त करते हैं, जिसका कभी निषेध नहीं हो सकता और न तो कभी त्याग ही, वही निष्ठु मग्नान्तर परम पद है, यह बात सभी ज्ञानियों और मुनियों एक मतसे स्वीकार करती हैं । अपने विसर्गो एकत्र करनेवाले पुरुष अन्त करणकी अनुविवेको, आत्म-भावनाओंको सदा-सर्वदाके लिये स्थिर करके प्रेमभावसे परिपूर्ण हृदयके द्वारा उसी परम पदका अभिज्ञान करते हैं और उसीमें समा जाते हैं ॥ ३२ ॥ निष्ठु भावका यही वास्तविक स्वरूप है, यही उनका परम पद है । इसकी प्राप्ति ऊँही जोगोंको होती है, जिनके अन्त करणमें क्षीरक प्रसिद्ध अहंभाव नहीं है और न तो इसके सम्बन्धी गूढ़ आदि प्राणोंमें मग्नता ही । सचपुत्र जगत्की वस्तुओंमें मैत्र और मेरेपनका आरोप बहुत बड़ी दुर्जनता है ॥ ३३ ॥ शौनकाजी । जिसे इस परम-पदकी प्राप्ति अभीष्ट है, उसे आज्ञाये कि वह दूसरोंकी कद्रु कणी सङ्ग कर ले और बरमेने किसीका अमनन न करे । इस क्षणभङ्गुर शरीरमें अहंता-मग्नता करके किसी भी प्राणीस कभी वैर न करे ॥ ३४ ॥ कृष्णान् भीष्मजाने ज्ञान अनन्त है । ऊँहीके चरणयन्त्रोंके प्यानसे मैने इस श्रीमद्भागवत महापुराणका अध्ययन किया है । मैं अब ऊँहीस नमस्कार करके यह पुराण सम्मत करता हूँ ॥ ३५ ॥

शौनकाजीम वृण्व—साधुशिरोमणि सुतजी । १०
प्रासजीके शिष्य पैठ आदि महर्षि बड़े महत्त्व और

वेदाश्च कतिधा म्यस्ता एतत् सौम्याभिचेदिनः॥३६॥

सूत उवाच

समाहितारमनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।

इषाकाद्यादभूमादो हृत्तिरोभाद् विभाभ्यसे ॥३७॥

यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः ।

द्रव्यक्रियाकारकास्यं भूत्वा यान्त्स्यपुनर्मवम् ॥३८॥

ततोऽभूत्त्रिदशोद्धारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराद् ।

पचष्टिर्ज्ञं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥३९॥

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तयोत्रे च शून्यवक् ।

येन पाग् व्यन्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥४०॥

स्वधाम्नो ब्रह्मण साध्याद् वाचकः परमात्मनः ।

स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदधीञ् सनातनम् ॥४१॥

तस्य द्वांसंख्यो वर्णा अकाराया भृगूद्वह ।

वेदोंकि आचार्य ये । उन लोगोंने कितने प्रकारसे वेदोंका विभाजन किया, यह बात आप कृपा करके हमें सुनाइये ॥ ३६ ॥

सूतजीने कहा—ब्रह्मन् । जिस समय परमेष्ठी ब्रह्मानी पूर्वसृष्टिकर ज्ञान संपादन करनेके लिये एकप्रचित्त हुए, उस समय उनके हृदयाकाशसे कण्ठ-तालु आदि स्थानोंके सङ्घर्षसे रहित एक अश्रुत विच्छेदन अनाहत नाद प्रकट हुआ । अब जीव अपनी मनोवृत्तियोंको रोक लेता है, तब उसे भी उस अनाहत नादका अनुभव होता है ॥ ३७ ॥ शौनकाजी ! बड़े-बड़े योगी उसी अनाहत नादकी उपासना करते हैं और उसके प्रभावसे अन्तःकरणके द्रव्य (अविभूत), क्रिया (अप्यात्म) और फलक (अविदैव) रूप मन्त्रों नष्ट करके वह परमात्मीरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं, जिसमें जन्म-मृत्युकर्म ससारचक्र नहीं है ॥ ३८ ॥ उसी अनाहत नादसे आकार, आकार और माकाररूप तीन मायाओंसे युक्त अकार प्रकट हुआ । इस अकारकी शक्तिसे ही प्रकृति अन्त्यसे व्यक्तरूपमें परिणत होती है । अकार स्वयं भी अव्यक्त एवं अनादि है और परमव्यक्तरूप ज्ञानके कारण स्वयंस्फुरण भी है । जिस परम वस्तुको भाषान् ब्रह्म अथवा परमात्म्यके नामसे कहा जाता है, उसके स्वरूपका बोध भी अकारक द्वारा होता है ॥ ३९ ॥ जब अन्तेन्दियकी शक्ति स्थिर हो जाती है, तब भी इस अकारको—समस्त अर्थोंको प्रकाशित करनेवाले स्फोट तत्त्वको जो सुनता है और सुपुष्टि एवं समाधि-अवस्थाओंमें सबक ब्रह्मको भी जानता है, वही परमात्म्यका विबुध स्वरूप है । वही अकार परमात्म्यसे हृदयाकाशमें प्रकट होकर वेदरूप ऋषीको अभिव्यक्त करता है ॥ ४० ॥ अकार करने व्याप्य परमात्म्य परब्रह्मका साक्षात् शब्दक है । और अकार ही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदोंका सनातन बीज है ॥ ४१ ॥

शौनकाजी ! अकारके तीन वर्ण हैं—‘अ’, ‘उ’ और ‘ए’ । य ही तीनों वर्ण सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों, अक्षर, पञ्च, साध—इन तीन नामों; मू,

न यत्र सन्तः—

१३४

अर्जुने वैद्यस्यो भगवा युष्मन्मार्गविरुद्धः ॥४२॥

ततोऽधरसमाज्ञावधुः प्रयत्नतः ।

अन्तालोमकारस्पर्शस्त्वदीर्घविलम्बयम् ॥४३॥

तेनासी चतुरो वेदाभ्युत्थिर्बर्बनैर्विभुः ।

सम्पादयिष्यन् सोढारंभातुहोत्रिविधया ॥४४॥

पुत्रान्वापयन्वीक्षु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान् ।

ते तु धर्मोपदेहारः कृपुप्रभ्यः समादिषन् ॥४५॥

ते परस्परया प्राप्तास्तपश्चिन्मूर्धस्तयैः ।

चतुर्युगेष्वध म्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥४६॥

धीणापुपः क्षीयसत्त्वान् दुर्मेधान् वीर्य कालव ।

वेदान् ब्रह्मपया म्यस्यन् हृदिम्याभ्युत्थादिताः ॥४७॥

अस्मिन्मन्त्रे भगवोऽस्माकमभिवन्द्यः ।

ब्रह्मशास्त्रलोकापलायिताः धर्मगुप्तय ॥४८॥

पराधराद् सत्यवत्यामर्शाश्चकलया विभुः ।

अतीर्णो महाभाग वेदं चाक्रे चतुर्विधम् ॥४९॥

श्रग्वर्षयनुष्ठाप्तां राक्षीनुदस्य वर्गश ।

पतम्भः सद्विद्यायक मन्त्र्यर्मणिगणा इव ॥५०॥

तागां स चतुरः त्रिष्पानुपाहूय महामतिः ।

एकैकं सद्विदां ब्रह्मन्नककस्मं दशै विभुः ॥५१॥

वेदाय महितामायां बह्वृचाध्यासुवाच ह ।

सर्वज्ञः

एन तीन अर्थों और ज्ञात, स्वप्न,

एन तीन वृत्तियोंके रूपमें तीन-तीनकी संख्या-

कते अर्थोंके धारण करते हैं ॥ ४२ ॥ इसके बाद

सर्वात्मिन् ब्रह्माजीने उक्तरसे ही अन्त स्व (य, र,

क, व), उष्म (छ, प, स, ह), स्वर (अ, इ, ए, औ, ऊ, ए, ओ, ए, औ, ए, औ) तत्त्व इत्य और

दीर्घ आदि षष्ठ्योंसे युक्त अधर-समाज्ञाय अर्थात् कर्म-

मात्मकी रचना की ॥ ४३ ॥ उसी कर्ममात्राद्वारा उन्होंने

अपने चार मुखोंसे होत्र, अश्वसु, उद्रात्ता और ब्रह्म—

इन चार शक्तियोंके कर्म करनेके लिये उक्तर और

षष्ठ्यवृत्तियोंके सञ्चित चार वेद प्रकट किये और अपने

पुत्र ब्रह्मर्षि मरीचि आदिको वेदाध्ययनमें कुशल देखकर

उन्हें वेदोंकी शिक्षा दी । वे सभी जब धर्मका उपदेश

करनेमें निपुण हो गये, तब उन्होंने अपने पुत्रोंके उनका

अध्ययन कराया ॥ ४४ ॥ तदनन्तर, उन्हीं अर्थोंके

नैष्ठिक ब्रह्मचारी शिष्य-महर्षियोंके द्वारा चारों युगोंमें

सम्प्रदायके रूपमें वेदोंकी रक्षा होती रही । इसलिये

अन्तमें महर्षियोंने उनका विभाजन भी किया ॥ ४५ ॥

जब ब्रह्मचारी शिष्योंने देखा कि समयक फलसे लोगों-

की आयु, शक्ति और बुद्धि क्षीण हो गयी है, तब उन्होंने

अपने हृदय-देशमें विराजमान परममाकी प्रज्ञासे वेदोंके

अनेकों विभाग कर दिये ॥ ४६ ॥

शौनकाजी । इस वैश्वत मन्त्रतरंग भी ब्रह्म-शास्त्र

का जो देवताओंकी प्रार्थनासे अस्ति विद्यत जीवन-मन्त्र

भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये महर्षि पराशरद्वारा उच्यतेकी

गर्भसे अपने अर्धश-अर्धशक्य व्यसुके रूपमें अक्षर

प्रण किया है । परम भाग्यवान् शौनकाजी । उन्होंने

ही वर्तमान युगमें वेदक चार विभाग किये हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

जैसे मणियोंक समूहमेंसे विभिन्न जिनकी मणियाँ छिंटकर

अग्न-अग्न पर गी जाती हैं, वैसे ही महर्षि भगवन्

व्यसुदनेने मन्त्रसमुदायमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकृत्यों क अनुष्ठा

मन्त्रोंका संग्रह करके उनसे श्रग्व, यजु, साम और

अथर्व-ये चार मन्त्रोंकी रचना और अपने चार दिग्गोत्रों

युग्यर-प्रायशः एक-एक संविदाकी शिक्षा दी ॥ ५०-५१ ॥

उन्होंने बह्वृचा नामकी पवित्र श्रुत्संहिता के

वैशम्पायनसंज्ञाय निगदोत्थं यजुर्गणम् ॥५२॥
 सोमनां वैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
 अथर्वाङ्गिरसी नाम स्वशिष्याय सुमन्तये ॥५३॥
 पैलः स्वसंहितामूषे इन्द्रप्रमितये मुनिः ।
 बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्य संहितां स्वकाम् ॥५४॥
 चतुर्धा व्यस्य बोधाय याज्ञवल्क्याय भार्गव ।
 पराशरायामित्रे इन्द्रप्रमितात्मवान् ॥५५॥
 अप्यापयत् संहितां स्वां माण्डूक्यमुपि कविम् ।
 तस्य शिष्यो दंडमित्र सौभर्षादिभ्य ऊचिषान् ॥५६॥
 शाकल्यस्तत्सुत स्वां तु पञ्चभा व्यस्य संहिताम् ।
 वात्स्यमुद्रलङ्घालीयगोतल्पशिषिरेष्वभात् ॥५७॥
 जातूकर्ण्यं तच्छिष्यः सनिरुकां स्वसंहिताम् ।
 फलाकूपैत्रवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥५८॥
 बाष्कलिः प्रतिशालाम्बोवालसिन्ध्याख्यसंहिताम् ।
 चक्र बीलायनिर्मल्यः कासारश्चैव तां दधुः ॥५९॥
 बह्वृचाः संहिता श्वेता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्भुवाः ।
 भुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६०॥
 वैशम्पायनशिष्या वै चरकाप्यर्षयोऽभवन् ।
 यन्वेतर्ह्यहत्याहः क्षपण स्वगुरोर्वतम् ॥६१॥
 पाण्डवस्यैव तच्छिष्य आहाहा भगवन् कियत् ।
 चरितेनास्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुर्जरम् ॥६२॥

‘निगद’ नामकी दूसरी कृष्ट संहिता वैशम्पायनकी, साम-
 द्युतियोंकी ‘छन्दोगसंहिता’ वैमिनिकी और अपने शिष्य
 सुमन्तुकी ‘अथर्वाङ्गिरस-संहिता’ का अध्यायन
 कराया ॥ ५२-५३ ॥ शौनकजी । पैल मुनिने अपनी
 संहिताके दो विभाग करके एकत्र अध्ययन इन्द्रप्रमितिकी
 और दूसरेका आणकठको कराया । बाष्कलने भी अपनी
 शास्त्रके चार विभाग करके उन्हें अष्टा-अष्टा अपने
 शिष्य बोध, याज्ञवल्क्य, पराशर और अग्निमित्रको पढ़ाया ।
 परमसंयमी इन्द्रप्रमितिने प्रतिमहाशयी मण्डूक्य ऋषिकी
 अपनी संहिताका अध्ययन कराया । माण्डूक्यक शिष्य
 थे—दंडमित्र । उन्होंने सौमरि आदि ऋषियोंको वेदोंका
 अध्ययन कराया ॥ ५४-५६ ॥ माण्डूक्यके पुत्रका नाम
 था शक्रकर्म । उन्होंने अपनी संहिताका पाँच विभाग करके उन्हें
 वात्स्य, मुद्रल, दण्डीय, गोस्वय और शिशिर नामक
 शिष्योंको पढ़ाया ॥ ५७ ॥ शाकल्यक एक और शिष्य
 थे—जातूकर्ण्य मुनि । उन्होंने अपनी संहिताके तीन
 विभाग करके तत्सम्बन्धी निरुक्तके साथ अपने शिष्य
 कलक, पैल, वैताल और विरजको पढ़ाया ॥ ५८ ॥
 बाष्कलके पुत्र बाष्कलिने सब शास्त्रजोसे एक ‘बाष्कल्य’
 नामकी शास्त्र रची । उसे बाण्यनि, भूम्य एव कसारने
 ग्रहण किया ॥ ५९ ॥ इन ब्रह्मर्षियोंने पूर्वोक्त सम्प्रदायके
 अनुसार ऋग्वेदसम्बन्धी बह्वृच शास्त्रजोको वारण किया ।
 जो मनुष्य यह केनोंके विम्वनका इतिहास श्रवण करता
 है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ६० ॥

शौनकजी । वैशम्पायनक कुछ शिष्योंका नाम था
 चरकाप्ययु । इन त्रेणोंन अपने गुरुदेवक ब्रह्महत्या-जनित
 पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये एक ऋक् अनुष्ठान
 किया । इसीलिये इनका नाम ‘चरकाप्ययु’ पड़ा ॥ ६१ ॥
 वैशम्पायनके एक शिष्य पाण्डवस्य मुनि भी थे । उन्होंने
 अपने गुरुदेवसे कहा—‘अहो म्याम् । ये चरकाप्ययु
 ग्राहण तो बहुत ही खोबी शक्ति रखते हैं । इनके अ-
 पाजसे काम ही किन्तना है । मैं आपके प्रायश्चित्तके
 लिये बहुत ही कठिन तपस्या करूँगा ॥ ६२ ॥

१ माकर्म । २ चामनि वैमिनः आ । ३ प्रम । ४ प्रमति । ५ गौत्रसमाधीय पाणिने पिशिशेऽन्यभात् ।

इत्युक्तो गुरुरप्याह कृपितो बाहलं स्वया ।

विप्रावमन्त्रा क्षिप्येय मध्वीतं त्यजायित्ति ॥६३॥

देवरावमुतः सोऽपिच्छर्दित्वा यजुषां गणम् ।

ततो गंतोऽथ घ्नन्पो ददृशुस्तान् यजुर्गणान् ॥६४॥

यजूपि विचिरा भूत्वा तच्छोलुपतयाऽऽवदुः ।

तैत्तिरीया इति यजुःशास्त्रा भासन् सुपेक्षलाः ॥६५॥

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दोऽस्त्रिभिर्गवेषयन् ।

गुरोर्विद्यमानानि ह्यपतस्त्रैऽर्कमीश्वरम् ॥६६॥

याज्ञवल्क्य उवाच

अन्नमो भगवते आदित्वावास्त्रिभृगतामात्म-
स्वरूपेण कालस्वरूपेण चतुर्भिर्धभूतनिकायानां
ब्रह्मादित्यम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश
इषोपादिनाम्बवधीयमानो भवानेक एव श्यमल्य
निमेषात्पवोपचितसंबन्तरगणेनापाभादानविसर्मा-
म्यामिमां लोकपात्रामनुब्रूहि ॥६७॥

यंदु ह वाच विजुर्भयं सचितरदस्तपस्वनुसव
नमहरहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामस्त्रिभुरित
इमिनवीभावभर्जन भगवतः समभिधीमहि तपन-
मण्डलम् ॥६८॥

याज्ञवल्क्य मुनिजी यह बात सुनकर वैशम्पयन मुनिजी को
आ गया । उन्होंने कहा—'वस-वस, पुत्र खो । तुम्हारे
जैसे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले शिष्यकी मुठे कोई
आवश्यकता नहीं है । देखो, अन्ततः तुमने मुझे जो
पुत्र अश्वपत्न विरक्त है, उसका शीघ्र-से-शीघ्र त्याग कर
दो और यहाँसे चले जाओ ॥ ६३ ॥ याज्ञवल्क्यजी देव-
रावतके पुत्र थे । उन्होंने गुरुजीकी आज्ञा पाते ही उनके
पक्षों पर यजुर्वेदका वमन कर दिया और वे चले
चले गये । जब मुनियोंने देखा कि याज्ञवल्क्यने तो
यजुर्वेदका वमन कर दिया, तब उनके चित्तमें इस बातके
छिये बड़ा अजब हुआ कि इमंजोग किसी प्रकार इसके
प्रहण कर लें । परन्तु ब्राह्मण होकर उगले हुए मन्त्रोंको
प्रहण करना अनुचित है, ऐसा सोचकर वे तीव्र बन
गये और उस संक्षिप्तको चुग लिया । इसीसे यजुर्वेदकी
बहु परम रमणीय शास्त्र 'तैत्तिरीया' के नामसे प्रसिद्ध
हुई ॥ ६४ ६५ ॥ शौनकाजी । अब याज्ञवल्क्यने तोषा
कि मैं ऐसी श्रुतियों प्राप्त करूँ, जो मेरे गुरुजीके पास
भी न हों । इसके छिये वे सूर्यमण्डलका उपस्थान करने
लगे ॥ ६६ ॥

याज्ञवल्क्यजी इस प्रकार उपस्थान करते हैं—मैं
अन्तरस्वरूप म्भावात् सूर्यको मन्त्रस्वरूप करता हूँ । आप
सम्पूर्ण जगत्के आत्मन् और कर्तृस्वरूप हैं । आपसे
लेकर तृणपर्यन्त जितने भी जगत्पुत्र, अण्डज, स्फेदज और
तद्विज—चार प्रकारके प्राणी हैं उन सबके हृदयदेशमें
और कहर आकराके समान व्याप्त रहकर भी आप
उपाधिके धर्मोंसे अस्सक्त रहनेवाले अद्वितीय भगवान् ही
हैं । आप ही क्षण, क्षण, निमेष अदि कल्पनोंसे सञ्चित
संस्कारोंके द्वारा एवं जन्मके आकर्षण-विकर्षण—आदान
प्रदानके द्वारा समस्त लोकोंकी जीवनयात्रा चलाते
हैं ॥ ६७ ॥ प्रभो ! आप समस्त देवताधर्मों में श्रेष्ठ हैं ।
जो लोग प्रतिदिन तीनों समय वेद-विहिते आपकी उपासन
करते हैं, उनके सारे पाप और दुःखोंके बीजोंको आ-
मस कर लेते हैं । सूर्यदेव । आप सारी सृष्टिके मू-
लकारण एवं समस्त ऐश्वर्यके स्वामी हैं । इसलिये ह
आपके इस तेजोमय मण्डलका पूरी पराक्रमाके सा-

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिर्केतनानां
मनश्चिद्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मा तथार्थमी
प्रचोदयति ॥ ६९ ॥

य एवेमं लोकमतिक्रमलवदना भकारसंज्ञा
अगरप्रहर्गिजित मृतकमिव विषेतनमघलोभमाजु
कम्पया परमकादम्बिक ईश्वर्येवोत्थाप्या हरहरनुसधनं
भेयसि स्वधर्मास्मात्मावस्थाने प्रवर्तयत्वधनिपति
रिषसाधूनां भयसुदीरयन्तदिति ॥ ७० ॥

परित आद्यापालैस्तत्र तत्र कमलकाञ्चाञ्जलिभि
रुपहृताईमः ॥ ७१ ॥

अथ इ भगवत्तव चरन्तलिनपुगलं त्रिभुवन
गुरुमिर्वन्दितमहमयातयामयसुः काम उपसरा
मीति ॥ ७२ ॥

सूत उवाच

एवं स्तुत स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः ।

यज्जूपयातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः ॥ ७३ ॥

बजुर्भिरकरोन्धाला दक्षपञ्च शतैर्विभुः ।

अगुरुवाचसन्वत्ताः काञ्चमाप्यदिनादयः ॥ ७४ ॥

जैमिनिः सामगस्यासीत् मुमन्तुस्तनयो मुनिः ।

मुन्यास्तु तस्तुतस्ताभ्यामकैकां प्राह संहिताम् ॥ ७५ ॥

मुकुमा चापि तस्मिन्पथः सामवेदतगमहान् ।

१ पठेत् २ मिथिभ ३ ३. १

७५ ७८ ७९—इन तीनों वाक्योंका अन्वयः भगवन्मन्त्रक 'तस्मिन्निशेयम्', 'मन्त्रे देवस्य धीमहि' और 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—इन तीन वाक्योंकी व्याख्या करते हुए भगवान् मुनियों को स्तुति की गयी है ।

अथ य ११८—

प्यान करते हैं ॥ ६८ ॥ आप सबके आत्मा और
अन्तर्यामी हैं । जगत्में जितने चराचर प्राणी हैं, सब
आपके ही आश्रित हैं । आप ही उनके अचेतन मन,
इन्द्रिय और प्राणोंके प्रेरक हैं ॥ ६९ ॥ यह ध्येक
प्रतिदिन अन्धकाररूप अज्ञानरक्त विकलाङ्ग मुझे पकड़
अचेत और मुर्दा-सा हो जाता है । आप परम कल्याण-
स्वरूप हैं, इसलिये कृपा करके अपनी दृष्टिमात्रसे ही
इसे सचेत कर देते हैं और परम कल्याणके साधन समय-
समयके धर्मानुष्ठानोंमें लगाकर आत्म्यभिमुख करते हैं । जैसे
राजा दुष्टोंको मर्मापीत करता हुआ अपने राज्यमें विकरण
करता है, वैसे ही आप चार-चार आदि दुष्टोंको मर्मापीत करते
हुए निचरते रहते हैं ॥ ७० ॥ वारों ओर सभी दिक्पक्ष स्थान-
स्थानपर अपनी कर्मश्रेणी कक्षीके समान अङ्गुलियोंसे
आपकी उपहार समर्पित करते हैं ॥ ७१ ॥ भगवन् !
आपके दोनों चरणकमल तीनों ध्येयोंके गुरु-सदृश महा-
नुमावोंसे भी वन्दित हैं । मने आपके युगल चरणकमलोंकी
इसलिये वरण की है कि मुझ ऐसे यजुर्वेदकी प्राप्ति हो,
जा अवतक किसीको न मिला हो ॥ ७२ ॥

सूतजी कहते हैं—चीनकादि श्रुतियो ! जब
पाण्डवकन्य मुनिने भगवान् सूर्यकी इस प्रकार स्तुति की,
तब वे प्रसन्न होकर उनके समने अवयकपसे प्रपट
हुए और उन्हें यजुर्वेदक उन मन्त्रोंका उपदेश किया, जा
अवतक किसीको प्राप्त न हुए थे ॥ ७३ ॥ इसका वाच्य
पाण्डवकन्य मुनिने यजुर्वेदक असंख्य मन्त्रोंसे उसकी
पंद्रह शास्त्रांशोंकी रचना की । बड़ा बान्धनमय शास्त्रके
नामसे प्रसिद्ध हैं । उन्हें कल्प, माध्यन्दिन आदि श्रुतियोंने
महण किया ॥ ७४ ॥

यह बात मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जैमिनि श्री
कृष्णहोपायनने जैमिनि मुनिको सामसंहिताका अध्ययन
कराया । उनके पुत्र य मुमन्तु मुनि और पौत्र य सुगहान् ।
जैमिनि मुनिने जपन पुत्र और पौत्रका एक-एक संहिता
पढ़ायी ॥ ७५ ॥ जैमिनि मुनिक एक दिव्यका नाम था
सुसर्मा । वह एक महान् पुरुष था । जैसे एक शूद्रम

सहस्रसंहितामेवं चक्रे साम्नां ततो द्विजः ॥७६॥
 हिरण्यनामः कौसस्यः पौष्पक्षिण सुकर्मजः ।
 क्षिप्नो अगृह्णान्य आबन्त्यो मल्लविचमः ॥७७॥
 उदीप्याः सामगाः क्षिप्वा आसन् पञ्चशतानि वै ।
 पौष्पक्ष्यत्वन्त्ययोऽपि तांश्च प्राप्यान् प्रचक्षते ॥७८॥
 लौगाक्षिर्माङ्गकिः कुस्यः कुसीदः कुक्षिरेव च ।
 पौष्पक्षि क्षिप्वा अगृह्णुः संहितास्ते श्वतं शतम् ॥७९॥
 कुतो हिरण्यनामस्य चतुर्विंशतिसंहिताः ।
 क्षिप्य ऊचे स्वक्षिप्येभ्यः श्रेया आबन्त्य आत्मवान् ८० ॥

बहुत-सी बाखियाँ होती हैं, वैसे ही सुकर्मणि सामनेकी एक हज्जार संहितारें बना दीं ॥७६॥ सुकर्मके शिष्य कोसलदेशनिवासी हिरण्यनाम, पौष्पक्षि और मल्लविचमोंने श्रेष्ठ आत्मस्थने उन शस्त्रार्थको प्रह्ण किया ॥ ७७ ॥ पौष्पक्षि और आत्मस्थके पाँच सौ शिष्य थे । वे उस दिशाके निवासी होनेके कारण वीदीप्य सामवेदी कहलते थे । उन्होंनेको प्राप्य सामवेदी भी कहते हैं । उन्होंने एक-एक संहिताएँ अध्ययन किया ॥ ७८ ॥ पौष्पक्षिके और भी शिष्य थे—लौगाक्षि, माङ्गकि, कुस्य, कुसीद और कुक्षि । इसमेंसे प्रत्येकने सौ-सौ संहिताओंका अध्ययन किया ७९ ॥ हिरण्यनामका शिष्य च—कुत । उसने अपने शिष्योंको चौबीस संहितारें पायीं । वेच संहितारें परम संपत्ती आत्मस्थने अपने शिष्योंको दीं । इस प्रकार सामवेदका निस्तार हुआ ॥ ८० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यं संहितायां द्वादशस्कन्धे वेदशास्त्र-
 प्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथर्ववेदकी शास्त्रारें और पुराणोंके उद्गम

सूत उवाच

अथर्ववित् सुमन्तुश्च क्षिप्पमभ्यापयत् स्वकाम् ।
 संहितां सोऽपि पथ्याम वेददर्शसि चाक्तवान् ॥ १ ॥
 शौक्यापनिर्ब्रह्मवसिर्मोदोपः पिप्पलायनिः ।
 वेददर्शस्य क्षिप्वास्ते पथ्यक्षिप्मानथो मृगु ॥ २ ॥
 कुसुदः शुनको ब्रह्मन् नाजलिध्याप्यथर्ववित् ।
 पञ्चुः क्षिप्योऽथाक्षिरसः सै भवायन एव च ।
 अभीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथापरे ॥ ३ ॥
 नखप्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाक्षिरसादयः ।
 एते आथर्ववाचायाः मृगु पौराणिकान् मुने ॥ ४ ॥

भीसुअजी कहते हैं—शौनकादि ऋषिगो । मैं कह चुका हूँ कि अथर्ववेदके ज्ञाता सुमन्तु मुनि थे । उन्होंने अपनी संहिता अपने प्रिय शिष्य कश्यपको पढ़ायी । कश्यपने उस संहिताके दो भाग करके पथ्य और वेददर्शको उसका अध्ययन करवाया ॥ १ ॥ वेददर्शके चार शिष्य हुए—शौक्यापनि, ब्रह्मवसि, मोदोप और पिप्पलायनि । अब पथ्यके शिष्योंके नाम सुनो ॥ २ ॥ शौनकाजी ! पथ्यके तीन शिष्य थे—कुसुद, शुनक और अथर्ववेदाचार्य । अक्षिरा-ग्रेयोत्पन्न शुनकके दो शिष्य थे—पञ्चु और सैभवायन । उन लोगोंने दो संहिताओंका अध्ययन किया । अथर्ववेदके आचार्योंने इनके अतिरिक्त सैभवायनादिके शिष्य सप्तम्य आदि तथा नक्षत्रकल्प, शान्ति, कश्यप आक्षिरस आदि कई विद्वान् और भी हुए । अब मैं तुम्हें पौराणिकोंके सम्प्रभुओंने सुनाया हूँ ॥ ३ ४ ॥

प्रथ्याहणि कश्यपस्य सावर्णिः कृतवर्णः ।
वैश्वम्पायनहारीतौ पद् वै पौराणिका इमे ॥ ५ ॥
अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितृर्मुखात् ।
मकैक्षमहमेतेषां शिष्य सर्वाः समध्यगाम् ॥ ६ ॥
कश्यपोऽहं च सत्पर्णा रामशिष्योऽकृतवर्णः ।
अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूलसंहिता ॥ ७ ॥
पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
शृण्व्य बुद्धिमात्रिभ्य वेदस्याद्यानुसारतः ॥ ८ ॥
सर्गोऽस्माथ विसर्गश्च पूर्य रक्षान्तराणि च ।
वसो वंशानुचरितं संस्मा हेतुरपाधयः ॥ ९ ॥
दशभिर्लघुनैर्मुक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ॥ १० ॥
अप्याकृतगुणसाभा महतस्त्रिदशोऽहमः ।
भूतमात्रन्त्रियाधानां सम्भवः सर्गोऽप्यतः ॥ ११ ॥
पुराणानुपदीयानामनर्षा वासनामयः ।
विसर्गोऽप्यंशमाशाराजीवाद्भीतिं चराचरम् ॥ १२ ॥
शक्तिभूतानि भूतानां पञ्चागमचराणि च ।

हीनकनी ! पुराणोंके ३ आचार्य प्रसिद्ध हैं—
प्रथ्याहणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतवर्ण, वैश्वम्पायन और
हारीत ॥५॥ इन व्योमने मेरे पिताजीसे एक-एक पुराण-
संहिता पढ़ी थी और मेरे पिताजीने स्वयं भाष्यन् व्याससे
उन संहिताओंका अध्ययन किया था । मैंने उन छहों
आचार्योंसे सभी संहिताओंका अध्ययन किया था ॥ ६ ॥
उन छ संहिताओंके अतिरिक्त और भी चार मूल संहिताएँ
थीं । उन्हें भी कश्यप, सावर्णि, परशुरामजीके शिष्य
अकृतवर्ण और उन सबके साथ मैंने व्यासजीके शिष्य
भीरोम्बर्यजीसे, जो मेरे पिता थे, अध्ययन किया
था ॥ ७ ॥

हीनकनी ! महर्षियोंने वेद और शास्त्रोंके अनुसार
पुराणोंके लक्षण कथ्यये हैं । अब हम सब होकर
सावर्णजीसे उनका वर्णन सुनो ॥ ८ ॥ शौलकजी !
पुराणोंके पारदर्शी विद्वान् बतलाते हैं कि पुराणोंके
दस लक्षण हैं—विश्व-सर्ग, विसर्ग, इति, रथा,
मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्मा (प्रथम), इतु
(अती) और अगम्य । कोई-कोई आचार्य पुराणों-
के पाँच ही लक्षण मानते हैं । दोनों ही बातें ठीक हैं,
क्योंकि महापुराणोंमें दस लक्षण होते हैं और छोटे
पुराणोंमें पाँच । विस्तार करके दस कथ्यते हैं और संक्षेप
करके पाँच ॥ ९ १० ॥ (अब इनके लक्षण सुनो)
जब मृत प्रकृतिमें छैन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत्त्व-
की उत्पत्ति होती है । महत्त्वसे तमस, रास और
वैश्वरिक (सात्विक)—तीन प्रकारके ब्रह्मज्ञान बनते
हैं । त्रिविध ब्रह्मज्ञानसे ही पञ्चवामना, इन्द्रिय और
विश्वोंकी उत्पत्ति होती है । इसी उत्पत्ति-क्रमका नाम
'सर्ग' है ॥ ११ ॥ परमेस्वरका अनुमते सृष्टि
सामान्य प्राणि-पक्षि-पशु-मनुष्य आदि प्राणियोंके अस्तित्व
अप्य और पुरी वासनाओंकी प्रकृतिकसे जो वह पञ्च-
पर 'गीत'मर् जीवोंकी उत्पत्ति मृत्ति परत है, पञ्च-
वासे दूसरे शब्दोंके समान, रक्षार्थ विष्णु कहते
हैं ॥ १२ ॥ पर प्राणियोंकी अचर-गताप हति अर्थात्
जीवन-निर्वाहका सामग्री है । पर प्राणियोंके दूर प्राणि-

कृता स्वेन नृणां तत्र कामाद्योदनयापि वा ॥१३॥

रक्षाभ्युतावतारेण विश्वस्तानु युगे युगे ।

विश्वार्थार्थविदेवेषु ह्यन्वन्ते यैस्त्वयीद्विषः ॥१४॥

मन्वन्तर मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः ।

अपयोंऽश्वावतारश्च हरे पद्मविधुच्यते ॥१५॥

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वक्षस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराय ये ॥१६॥

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।

संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धासंस्मृतः ॥१७॥

हेतुर्जीवोऽस्य सगोदिरविद्याकर्मकारकः ।

यं चानुशयिन प्रादुरव्याकृतमृतापरे ॥१८॥

भ्यनिरकान्वया यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।

मायामपपु तद् मन्त्र जीववृत्तिष्ववशय ॥१९॥

पदार्थेषु यथा द्रव्यं स मायं रूपनामयु ।

मी । इनमेंसे मनुष्योंने कुछ तो सामान्य कर्मनामे अनुसार निश्चित कर ली है और कुछने शास्त्रके अन्तर्गत ॥ १३ ॥ मगधान् युग-युगमें पञ्च-मयी, मनुष्य, ऋषि, देवता आदिके रूपमें अवतार ग्रहण करके अनेकों क्रीडार्यों करते हैं । इन्हीं अवतारोंमें वे केशवमके विरोधियों-का संहार भी करते हैं । उनकी यह अवतार-क्रीडा विष्णु की रक्षाके लिये ही होती है, इसीलिये उसका नाम 'पक्षा' है ॥ १४ ॥ मनु, देवता, मनुपुत्र, ह्य, सप्तर्षि और भगवान् के अंशावतार—इन्हीं छः वर्तोंकी विशेषता-से युक्त सम्प्रपञ्चे 'मन्वन्तर' कहते हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्मजी-से जितने रागादियों की सृष्टि हुई है, उनकी मृत, भविष्य और वर्तमानकालीन सन्तानपरम्पराको 'वंश' कहते हैं । उन रागादियोंके तथा उनके वंशजोंके चरित्रका नाम 'वंश-चरित' है ॥ १६ ॥ इस विश्वकालप्रमाण सम्प्रपञ्चे ही प्रकट हो जाता है । उसके चार भेद हैं—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक । तत्त्वज्ञानमें इन्हींको 'संस्था' कहा है ॥ १७ ॥ पुराणोंके अन्तर्में 'हेतु' नामसे जिसका व्यवहार होता है, वह जीव ही है । क्योंकि वास्तवमें वही सर्ग-निर्गम आदिका हेतु है और अविद्यावशा अनेकों प्रकारके कर्मकर्मणमें उलझ गया है । जो भोग उसे चैतन्यप्राप्तनकी दृष्टिसे देखते हैं, वे उसे अनुशयी अर्थात् प्रकृतिमें क्षय करनेका प्रयत्न करते हैं और जो उपाधिकी दृष्टिसे कहते हैं, वे उसे अमरकृत अर्थात् प्रकृतिरूप कहते हैं ॥ १८ ॥ जीवकी दृष्टियोंके तीन विभाग हैं—जामय, क्षम और सुषुप्ति । जो इन अवस्थाओंमें इनके अभिप्रेती विषय, तेजस और प्राज्ञके भयामय रूपोंमें प्रतीत होता है और इन अवस्थाओंसे परे सूरियतनके रूपमें भी उचित होता है, वही ब्रह्म है । उसीको यहाँ 'अब्रह्म' शब्दसे कहा गया है ॥ १९ ॥ नामविशेष और स्वरूपविशेषसे युक्त पदार्थोंपर विचार करें, तो वे सत्तामात्र बस्तुके रूपमें सिद्ध होते हैं । उनकी विशेषताएँ सुप्त हो जाती हैं । असंभवे वह सत्ता ही उन विशेषताओंके रूपमें प्रतीत भी हो रही है और उनसे दृष्टम् भी है । टीक इसी व्यापसे गरीर और विषय-वस्तु की उदात्तता के लिये मनुष्य और मनुष्य-पर्यन्त जितनी

बीजादिप्रवृत्तान्तासु मयस्यासु युतापुत्रम् ॥२॥

विरमेव यदा चित्तं हित्वा पृथिव्यं स्वयम् ।

योगिन वा तदाऽऽत्मानं वेदेहाया निवर्षते ॥२१॥

एवंलक्ष्मणलक्ष्मणाणि पुराणानि पुराविदः ।

मुनयाऽष्टादश प्राहुः सुखकानि महान्ति च ॥२२॥

प्राज्ञं पार्थ वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् ।

नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कन्दसञ्चितम् ॥२३॥

भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।

वाराहमात्स्यं कौमवं ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिपदं ॥२४॥

ब्रह्मसिद्धं समाख्यातं छात्राग्रजयनं सुतेः ।

द्विष्यद्विष्यप्रद्विष्याणां ब्रह्मतत्त्वाविबर्धनम् ॥२५॥

भी विशेष अवस्थार्थ है, उनके रूपमें परम सत्यस्वरूप ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है और यह उनसे सबका प्रपञ्च भी है । यही वाक्य-भेदसे अविष्टान और साक्षीक रूपमें ब्रह्म ही पुराणोक्त आश्रयस्तत्त्व है ॥ २० ॥ अब चित्त स्वयं आत्मविचार अथवा योगाभ्यासक द्वारा सत्त्वगुण रसांगुण-तमांगुणसम्बन्धी व्यापहारिक वृत्तियों और ज्ञातृ-स्वप्न आदि स्वाभाविक वृत्तियोंका त्याग करके उपराम हो जाता है, तब इष्टतत्त्वचित्तमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों-क द्वारा आत्मज्ञानका उदय होता है । उस समय आत्म-वेत्ता पुरुष अविषाजनिता कर्म-वासना और कमप्रवृत्तिसे निवृत्त हो जाता है ॥ २१ ॥

शौनकादि ऋषियो ! पुरातत्त्ववेत्ता ऐतिहासिक विद्वानोंने इन्हीं लक्ष्मणों द्वारा पुराणोंकी यह पहचान कर ली है । ऐसे लक्ष्मणोंसे युक्त छन्दो-युक्त अष्टादश पुराण हैं ॥ २२ ॥ उनके नाम ये हैं—महापुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, विष्णुपुराण, गरुडपुराण, नारद पुराण, भागवतपुराण, अम्बिकपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्य-पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मार्कण्डेयपुराण, कामनपुराण, ब्राह्मपुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण और ब्रह्माण्डपुराण यह अष्टादश हैं ॥ २३ २४ ॥ शौनकाजी ! मत्स्यजीकी द्विष्य-परम्पराने जिस प्रकार वेदसंहिता और पुराण-संहिताओंका अध्ययन-अभ्यासन, विभाजन आदि निम्न यह रीति तुम्हें सुना लिये । यह प्रसङ्ग सुनने और पढ़नेकाओंक प्रसन्नकारी अभिवृद्धि करता है ॥ २५ ॥

इति धामद्वागवत महापुराणे वारहस्येयं महितायां पञ्चमस्कन्धे

सत्सङ्ख्या ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

भारतवर्षकीकी लगभग और पर प्राणि

१९८ उवाच

मानवजीवन रण-मयभूमिमानव मृती' जात
आपुन्य हो । मनुष्य जन्म व प्रत्येक मिला है ।
या पापकारक जन्म प्रत्येक मृत्-प्रकार है,

युव जार चिरं माया बंद ना बदतां वर ।

१ ८८१-८८२ १२ अथ व ८८१-८८२ ।

बन्धयर्कगुरुविप्रात्मस्वर्धयन् संध्यमोर्हरिम् ॥ ९ ॥

सायं प्रातः स गुरवे मैत्र्यमाहृत्य वाग्ययः ।

पुष्टजे गुर्ननुज्ञातः सकृन्नो चेदुपोषितः ॥ १० ॥

एवं तपस्त्राध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम् ।

अत्राभयन् इयीकष्टं क्षिण्ये मृत्यु सुदुर्जयम् ॥ ११ ॥

ब्रह्मा सुगुर्भो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च येऽपरे ।

नृदेवपितृमूतानि तेनासन्नसिखिभिराः ॥ १२ ॥

इत्थं बृहद्भुवस्तपस्त्राध्यायसंभयैः ।

दम्भाबधोऽर्चं योगी ज्वलत्कलेषान्तरात्मना ॥ १३ ॥

तस्यैवं युञ्जतमिष महापोगेन योगिनः ।

भ्यवीषाय महान् कालो मन्वन्तरपञ्चमकः ॥ १४ ॥

एतत् पुरंदरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन् किलान्तरे ।

तपोविशुद्धितो ब्रह्मभारेमे तद्विधातवम् ॥ १५ ॥

गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिडी ।

मृनये प्रपयामास रत्नसौकमयी तथा ॥ १६ ॥

ते वै तदाभर्म जग्मुर्हिमाव्रेः पाद्व उत्तरैः ।

पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राक्ष्या चक्षिला विभो ॥ १७ ॥

तदाभमपद पुष्पं पुष्पमुमलवाञ्छितम् ।

पुष्पद्विबद्धलाक्षीण पुष्पापलजलाक्षयम् ॥ १८ ॥

सत्कार, मानस-दूना और 'मै' परमात्माका स्वरूप ही हैं। इस प्रकारकी भावना आदिके द्वारा भावानुकी आपाधना करते ॥ ९ ॥ सायं-प्रातः भिक्षा द्यकर गुरुदेवके चरणोंमें निवेदन कर बैठे और मौन हो जाते । गुरुजीकी आज्ञा होती तो एक बार खा लेते, अन्यथा तप-व्रत कर जाते ॥ १० ॥ मार्कण्डेयजीने इस प्रकार तपस्य और स्वाध्यायमें तत्पर रहकर करोड़ों वर्षोंतक भगवानुकी आराधना की और इस प्रकार उस मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर ली, जिसको जीतना बड़े-बड़े योगियोंके लिये भी कठिन है ॥ ११ ॥ मार्कण्डेयजीकी मृत्यु-विजयको देखकर ब्रह्मा, भृगु, शङ्कर, दक्ष प्रजापति, ब्रह्मानीके अन्यपुत्र तथा मनुष्य, देवता, पितर एवं अन्य सभी प्राणी अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ १२ ॥ आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतवारी एवं योगी मार्कण्डेयजी इस प्रकार तपस्य, स्वाध्याय और संयम आदिके द्वारा अविद्या आदि सारे क्लेशोंको मिटकर शुद्ध अन्तःकरणसे इन्द्रिया-तीत परमसत्यका ध्यान करने लगे ॥ १३ ॥ योगी मार्कण्डेयजी मन्वायोगके द्वारा अपना चित्त भगवानुके स्वरूपमें ओढ़ते रहे । इस प्रकार साधन करते-करते बहुत समय—छ मन्वन्तर भूत हो गये ॥ १४ ॥ ब्रह्मन् । इस सातवें मन्वन्तरमें जब इन्द्रको इस अवकाश प्राप्त हुआ, तब तो वे उनकी तपस्यसे शक्ति और मजबूत हो गये । इसलिये उन्होंने उनकी तपस्यामें विघ्न डालना आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

शौनकाजी । इन्द्रने मार्कण्डेयजीकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये उनके आश्रमपर गन्धर्व, अप्सरएँ, काम, मलय, मज्जानिख, छेम और मदकने मेला ॥ १६ ॥ भगवन् । वे सब उनकी आज्ञाक अनुसार उनके आश्रमपर गये । मार्कण्डेयजीका आश्रम हिमालयके उत्तरकी ओर है । यहाँ पुष्पभद्रा नामकी नदी बहती है और उसके पास ही चित्रा नामकी एक नद्य है ॥ १७ ॥ शौनकाजी । मार्कण्डेयजीका आश्रम वहाँ ही पवित्र है । चारों ओर हरे-भरे पवित्र वृक्षोंकी पक्षियों हैं, उनपर वृत्तएँ बहलहाती रहती हैं । इन्द्रके मृत्युमें स्थान-

मत्तममरसंगीत मत्तममरसंगीतम् ।

। मत्तममर पुन्यममर मत्तममर मत्तममर है और म
ही मत्तममर निर्मित ज से मर ज मत्तममर मत्तममर
मत्तममर है ॥ १८ ॥ मत्तममर और

मत्तममरसंगीत मत्तममरसंगीतम् ॥ १९ ॥

आनी मत्तममरसंगीत गुणममर मत्तममर मत्तममर
रह है तो मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
गुणममर मत्तममर है मत्तममर मत्तममर मत्तममर

पापु प्रविष्ट आदाय दिमनिस्तथाकारान् ।

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

सुमनाभि परिष्कृतावगायुचम्भपन् सरम् ॥ २० ॥

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

उद्यच्छन्निगायकः प्रवात्सवहानिभि ।

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

गायदुमलवज्राटैस्तयासीत् कुंभुमार ॥ २१ ॥

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

अन्वीयमाना गार्ग्यगीतवादिगृधक ।

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

अदयताच गापय म सीगृधपति सर ॥ २२ ॥

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

हुत्वाग्निं समुपामीन ददधुः शफकिंकराः ।

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

मीलिताय दुराधर्पं मूर्तिमन्तमिमानलम् ॥ २३ ॥

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

ननुतस्तस्य पुरतः स्त्रियाऽथो गायका जगुः ।

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

सुदक्षणीणापणवैर्वाद्यं चक्षुर्मनारमम् ॥ २४ ॥

मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर
मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर मत्तममर

संदधेऽस्त्रं स्वधनुषि काम पञ्चमुख तदा ।

मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रमृत्या व्यकम्पयन् ॥२५॥

क्रीडन्त्या पुञ्जिकस्थस्याः कन्दुकैः सतनगौरवात् ।

मृगमुद्विगमप्याया केशविस्रसितस्रज ॥२६॥

इतस्ततोऽब्रमवृष्टेऽलन्त्या अनुकन्दुकम् ।

बासुर्जहार तदासः स्रष्टुं त्रुटितमेतलम् ॥२७॥

विससर्ज तदा बाण मत्वा तं स्वजितं सरः ।

सर्वं तत्राभवन्मोघमनीश्वस्य यथोद्यमः ॥२८॥

त इत्थमप्युर्वन्तो मुनेस्तत्तजसा मुने ।

दद्यामाना निवधुतः प्रबोध्याहिमिवार्मकाः ॥२९॥

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महापुनिः ।

यस्मागादहमो भावं न तच्चित्रं मयात्सु हि ॥३०॥

एषा निस्तेजसं कामं सगर्णं भगवान् खराद् ।

ध्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विसर्पं समगात् परम् ॥३१॥

छो ॥ २४ ॥ शीनकजी ! अब कामदेवने अपने पुष्प-
निर्मित धनुषपर पञ्चमुख बाण चढ़ाया । उसके बाणके
पाँच मुख हैं—शोषण, दीपन, सम्मोहन, तापन और
उन्मादन । जिस समय वह निशाना लगानेकी तायमें
था, उस समय इन्द्रके सेवक वसन्त और ध्रुम
मार्कण्डेय मुनिका मन विचित्र करनेके लिये प्रयत्नशील
थे ॥ २५ ॥ उनके सामने ही पुञ्जिकस्थायी नामकी
सुन्दरी अक्सर गेंद खेल रही थी । स्त्रियोंके भारसे वार
बार उसकी कमर छचक जाया करती थी । सदा ही
उसकी चोटियोंमें गुँथे हुए सुन्दर-सुन्दर पुष्प और
माल्यार्थे बिखरकर धरतीपर गिरती जा रही थी ॥ २६ ॥
कभी-कभी वह तिरछी चितवनसे धर-उधर देख लिय
करती थी । उसके नेत्र कभी गेंदके साथ आकाशकी
ओर जाते, कभी धरतीकी ओर और कभी हृदयियोंकी
ओर । वह बड़े हाव-भावके साथ गेंदकी ओर दौड़ती
थी उसी समय उसकी करघनी टूट गयी और बाणने
उसकी हीनी-सी साड़ीको धरिरेसे अध्या कर दिया ॥ २७ ॥
कामदेवने अपना उपसुक्त ध्वंसर देखकर और वह
समझकर कि अब मार्कण्डेय मुनिको मैने जीत लिया,
उनके ऊपर अपना बाण छोड़ा । परन्तु उसकी एक न
कसी । मार्कण्डेय मुनिपर उसका सारा उधोग निष्फल
हो गया—ठीक वैसे ही, वैसे असमर्थ और अमाने
पुरुषोंके प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं ॥ २८ ॥ शीनकजी !
मार्कण्डेय मुनि अपरिमित तेजस्वी थे । काम, वसन्त
आदि जाये तो थे इसलिये कि उन्हें तपस्यासे भद्र पर
दे, परन्तु अब उनके तेजसे जजने छो और ठीक वसी
प्रकार भाग गये, जैसे छोटे-छोटे बच्चे सोते हुए सोंफके
अंगार पर भाग जाते हैं ॥ २९ ॥ शीनकजी ! इन्द्रके
सेवकोंने इस प्रकार मार्कण्डेयजीको पराजित करना
चाहा, परन्तु वे रसीमर भी विचित्र न हुए । इतना
ही नहीं उनके मनमें इस बातको लेकर तनिक भी
अहङ्कारका भाव न हुआ । सब है, महापुरुषोंके लिये
यह फीन-सी आश्चर्यकी बात है ॥ ३० ॥ जब देवराज
इन्द्रने देख कि कामदेव अपनी सेनाके साथ निस्तेज—
हृत्प्रम होकर छूट्य हैं और सुना कि ब्रह्मर्षि मार्कण्डेयजी
परम प्रमाणशायी हैं, तब उन्हें बड़ा ही आश्चर्य
हुआ ॥ ३१ ॥

यैवं युज्यतश्चित्तं तपस्स्वाध्यायसंयमै ।

तु प्रहायाधिरासीधरनारायणो हरिः ॥३२॥

तौ शुक्लकण्ठौ नवकञ्जलोचनौ

चतुर्भुजौ रौस्वयम्बुलाम्बरो ।

पवित्रपापी उपवीतकं विशुत्

कमण्डलुं दण्डमुजुं च वैणवम् ॥३३॥

पद्माक्षमालासुत अन्तुमाजर्ज

केदं च साक्षात्प एव रूपिणौ ।

तपतद्विद्वर्धर्मपिण्डकरोचिषा

प्रांशु दधानौ विबुधर्षभार्षितौ ॥३४॥

वै भगवतो रूप नरनारायणाक्षपी ।

स्थायादरणोच्चैर्ननामाङ्गम दण्डवत् ॥३५॥

तत्संदर्शनानन्दनिवृत्तात्मेन्द्रियाद्ययः ।

रामाधुरणाभा न सेह तावुदीक्षितम् ॥३६॥

धाप प्राञ्जलि प्रह्र औत्सुक्यादासिपभिव ।

॥ नम इतीशानौ यभाप गद्गदाधरोः ॥३७॥

रासनमादाय पादयारवनिज्य च ।

पानानुलेपन भूपमान्तरपूजयत् ॥३८॥

शौनकाजी ! मायगण्डेय मुनि तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा भगवान् ने बित व्यानेका प्रपन्न करते रहते थे । अब उनपर कृष्ण-प्रसादकी कर्पा करनेके लिये मुनिबन-नयन-मोक्षारी नरोत्तम नर और भगवान् नारायण प्रकट हुए ॥ ३२ ॥ उन दोनोंमें एकत्र शरीर गौरवर्ण था और दूसरेका रूपम् । दोनोंके ही नेत्र तुरंतके खिले हुए कम्बुके समान कोमल और विरल थे । चार चार मुझाएँ थीं । एक युगधर्म पहने हुए थे, तो दूसरे वृक्षकी छल । हथोंमें कुश लिये हुए थे और गलेमें तीन-तीन सुतके प्योतकीत शोभायमान थे । वे कमण्डलु और बौद्धिका स्त्रीका दण्ड प्रमाण किये हुए थे ॥ ३३ ॥ कमण्डलुकी माल और जीर्णोक्तो हटानेके लिये कबकी कूँची भी रखे हुए थे । कब, इन्द्र वादिके भी पूज्य भगवान् नर-नारायण कुछ ऊँचे कदके थे और केद धारण किये हुए थे । उनके शरीरसे धमधमी हुई विजयकी समान फीरे-पीले रंगकी कान्ति निकल रही थी । वे ऐसे माझम होते थे, मनो लयं तप ॥ मूर्तिमान् हो गया हो ॥ ३४ ॥ जब मायगण्डेय मुनिने देखा कि भगवान् के साक्षात् रूप नर-नारायण श्रुति पचारे हैं, तब वे बड़े आदरभावसे ठठकर खड़े हो गये और चरवीपर दण्डन वंदन साधक प्रणम किये ॥ ३५ ॥ भगवान् के दिव्य दर्शनसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उनका रोम-रोम, उनकी सारी इन्द्रियों एवं अन्तःकरण शान्तिके समुद्रमें गोत्र खाने लगे । शरीर पुनःकित हो गया । नेत्रोंमें आँध्र उमड़ आये, बिनके कारण वे उन्हें भर आँध्र देश भी न सकते ॥ ३६ ॥ तदनन्तर वे हाथ जाइकर ठठ खड़े हुए । उनका अङ्ग-अङ्ग भगवान् के सामने झुम जा रहा था । उनके हृदयमें उत्सुकता लो इतनी थी, मनो वे भगवान् का आङ्गिकन कर लेंगे । उनसे और कुछ तो बोल न गया, गद्गद कण्ठसे केवळ इतना ॥ पडा— धमस्वर ! नमस्वर ॥ ३७ ॥ इसके बाद उन्होंने दोनोंसे आसनपर बैठाया, बड़े प्रसंगे उनके चरण पसरे और अर्घ्य, धूप, धूप और माय आदिसे उनकी पूजा

सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी ।

पुनरानम्य पद्माभ्यां गरिष्ठाविदमप्रवीत् ॥३९॥

मार्कण्डेय उवाच

किं वक्ष्ये तव विभो यदुदीरितोऽसुः

संस्पन्दते तमलु बाह्वनश्चित्रयाणि ।

स्पन्दन्ति वै तनुभूतामजसर्वबोध

स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥४०॥

मूर्ती इमे भगवतो भगवन्निर्लोभ्या

धेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै ।

नाना विभर्षवितुमन्वतनूर्ध्वैर्

सृष्ट्वा पुनर्प्रससि सर्वमिषोर्णनाभि ॥४१॥

तस्यावितु स्त्रिचरोऽशितुरङ्गिभूतं

मत्स्यं न कर्मगुणकालरुज स्पृशन्ति ।

यद् वै स्तुवन्ति निनमन्ति यन्नन्त्यभीक्ष्णं

प्यापन्ति केन्दुदया मुनयस्तदाप्त्यै ॥४२॥

नान्यं तत्राङ्गुपुनयादपवर्गभूतं

धम जनस्य परितापिभ्य इह विद्यः ।

प्रदा विमयलमता द्विपराधधिष्ण्य

फलस्य त किमुत तन्कृतभौतिकानाम् ॥४३॥

करने लो ॥ ३८ ॥ भगवान् नर-नारायण सुखार्थक
आसनपर विराजमान थे और मार्कण्डेयनीपर कृपा-
प्रसादकी कर्पा कर रहे थे । पुनः मार्कण्डेय
मुनिने उन सर्वश्रेष्ठ मुनिकेवर्षा नर-नारायणके चरणोंमें
प्रणाम किया और यह स्तुति की ॥ ३९ ॥

मार्कण्डेय मुनिने कहा—भगवन् । मैं अस्पृष्ट जीव
मम, आपकी अनन्त महिमाका कैसे वर्णन करूँ ?
आपकी प्रेरणासे ही सम्पूर्ण प्राणियों—मनुष्य, शूद्र
तथा मेरे शरीरमें भी प्राणशक्तिको सञ्चार होता है और
फिर उसीके कारण वाणी, मन तथा इन्द्रियोंमें भी बोलने,
सोचने-विचारने और करने-ज्ञाननेकी शक्ति आती है ।
इस प्रकार सबके प्रत्येक और परम स्वतन्त्र होनेपर भी
आप अपना मजन करनेवाले भक्तोंके प्रमद-वन्दनमें बँधे
हुए हैं ॥ ४० ॥ प्रभो ! आपने कच्छ विश्वकी रक्षाके
लिये ही जैसे मत्स्य-मूक आदि अनेकों अवतार ग्रहण
किये हैं, वैसे ही आपने ये दोनों रूप भी त्रिलोकके
कल्याण, उसकी दुःख-निवृत्ति और विश्वके प्राणियोंको
मृत्युपर विजय प्राप्त करानेके लिये ग्रहण किया है ।
आप रक्षा तो करते ही हैं, मकड़ीके समान अपनेसे
ही इस विश्वको प्रफट करते हैं और फिर स्वयं अपनेमें
ही छिप भी कर लेते हैं ॥ ४१ ॥ आप चरणचक्र
पावन और नियमन करनेवाले हैं । मैं आपके चरण-
कमलमें प्रणाम करता हूँ । जो आपके चरणकमलोंकी
धरण ग्रहण कर लेते हैं, उन्हें कर्म, गुण और फलजनित
क्लेश स्पष्ट भी नहीं कर सकते । वन्दक ममज्ञ श्रुति-मुनि
आपकी प्राप्ति के लिये निरन्तर आपका स्तवन, वन्दन,
पूजन और प्यान किया करते हैं ॥ ४२ ॥ प्रभो !
जीवनक चारों ओर भय-ही-भयका बोधवाद्य है । आरोंच
तो यत ही क्या, आपके कालम्पसे स्वयं रक्षा भी
अत्यन्त भयभीत रहते हैं, क्योंकि उनकी अशु भी
सीमित—कच्छ दो परार्थकी है । फिर उनके कनाये
हुए मौलिक शरीरवाले प्राणियोंके सम्बन्धमें तो कहना
ही क्या है । परन्तु अक्सरमें आपका चरणकमलोंकी
धरण ग्रहण करनेके अनिरिक्त और कष्ट भी परम
बलवान् तथा सुख-शान्तिदायक उपाय हमारी समझमें नहीं
आता क्योंकि आप स्वयं ही मोक्षमय्यप दे ॥ ४३ ॥

तद् वै भजाम्युत्तमियस्तथ पादमूलं

द्वित्वदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य ।

तदाद्यप्यर्थममदन्त्यमभिघ्नमात्र

विन्देत त तर्हि सर्वमनीषितार्थम् ॥४४॥

सत्त्वं रजस्तम इतीश तेषात्मबन्धो

मायामया म्यितिलयोदयहृतवोऽस्य ।

लीलावृता यदपि सत्त्वमयी प्रज्ञान्त्यै

नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च यान्म्याम्॥४५॥

तस्मात्तवह भगवन्मथ तावकाना

गुह्यां तनुं स्यदपितां कुशला भजन्ति ।

यत् सत्यता पुरुषरूपमुद्भन्ति सत्त्वं

लास्य यताऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत्॥४६॥

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय धृम्ने

विश्याय विश्वगुरुष परद्वयार्थः ।

नारायणाय श्रयय न नरात्तमाय

इमाय मयनगिर निगमभराय ॥४७॥

यं वै न वदति साधक्यभ्रमदा

मन्त्रं मन्त्रागुणं दृष्ट्वापि त्वरयन् ।

नमोऽस्तुते नृपति मउपरमायु-

दापयशाविष्णुसहस्रनाम ५१म् ॥४८॥

भाषन् ! आप समस्त जीवोंके परम गुरु, सबसे श्रेष्ठ और सत्य ज्ञानस्वरूप हैं । इसीसे आत्मस्वरूपसे इन देवनाथों देह-गोह आदि निष्कल, असत्य, नाशक और प्रतीतिमात्र पदार्थोंको त्याग कर मैं आपके चरणमन्त्रोंकी ही शरण ग्रहण करता हूँ । कोई भी प्राणी यदि आपकी शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह उससे अपने सारे अभीष्ट पदार्थ प्राप्त कर लेता है ॥ ४४ ॥ जीवोंके परम सुख प्रभो ! यद्यपि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण आपकी ही मूर्ति हैं—इन्हींके द्वारा आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, उष आदि अनेकों मन्त्रमयी लीलाएँ करते हैं फिर भी आपकी सत्त्वगुणमयी मूर्ति ही जीवोंका शान्ति प्रदान करती है । रजोगुणी और तमोगुणी मूर्तियोंसे जीवोंका शान्ति नहीं मिल सकती । उनसे तो दुःख, मोह और मयकी वृद्धि ही होती है ॥ ४५ ॥ भाषन् ! इसीसे बुद्धिमान् पुरुष आपकी और आपके मन्त्रोंकी परम प्रिय एवं शुद्ध मूर्ति नर-नायकगणकी ही उपासना करते हैं । पाश्चात्यासिद्धात्मके अनुयायी विगुह सत्त्वगुण ही अपना भीविश्व मानते हैं । उसीसे उपासनासे आपके निष्काम वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है । उस धामकी यह निश्चयता है कि वह ध्येय होनेपर भी सबका भयभङ्ग और भोगयुक्त होनेपर भी आत्मानन्दसे परिपूर्ण है । वे रजोगुण और तमोगुणका आपकी मूर्ति स्वीकार नहीं करते ॥ ४६ ॥ भगवन् ! आप अन्तर्धाम, सर्वव्यापक, समस्त, जगद्गुरु, परमात्म्य और गुरुस्वरूप हैं । समस्त धीमति और शक्ति वाणी आपकी अपूर्व है । आप ही नन्मागके प्रवक्ता हैं । मैं आपके इस पुण्ड्र-स्वरूप नयनम नम्र और शरीर नागवर्ण भस्मरूप करता हूँ ॥ ४७ ॥ आप यद्यपि प्रत्यक्ष जीवोंके शिरोसे तथा उनका शिरधाम, प्राणमें तथा हृदयमें भी विद्यमान हैं ता भी आपकी मायसे जीवोंकी बुद्धि इतनी मद्धिम हो जाती है—उस जगत् है कि वह निष्कल और सत्य इन्द्रियोंक माय्य संसारात् ऊपर की ओरसे पवित्र हो जाय वह शिवा मार जगत्क गुरु तो आप ही हैं । सर्वज्ञ परम ज्ञाना दाता भी मैं जानता हूँ । मैं आपकी उपासना कर रहा हूँ । मैं आपकी उपासना कर रहा हूँ । मैं आपकी उपासना कर रहा हूँ ॥ ४८ ॥

यदर्थं निगम आत्मरहःप्रकाशं

युसन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्त ।

त सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं

वन्द महापुरुषमात्मनिगूढबोधम् ॥४९॥

प्रभो ! वेदमें आपका साक्षात्कार करानेवाला यह ज्ञान पूर्णरूपसे विद्यमान है, जो आपके स्वरूपका रहस्य प्रकट करता है । ब्रह्मा आदि बड़-बड़े प्रतिमाश्रयी मनीषी उसे प्राप्त करनेका यत्न करते रहनेपर भी मोहमें पड़ जाते हैं । आप भी ऐसे धीमाश्रयी हैं कि विभिन्न मतवाले आपके सम्बन्धमें जैसा सांचते-विचारते हैं, वैसा ही शीघ्र-स्वभाव और रूप ध्वंश करनेके आप उनका सामने प्रकट हो जाते हैं । वास्तवमें आप वेद आदि समस्त उपाधियोंमें छिपे हुए विद्वद् चिन्तनधन ही हैं । हे पुरुषोत्तम ! मैं आपकी कन्दना करता हूँ ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमहंस्योऽध्यायस्य ब्रह्मसूत्रस्य

अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

माकण्डेयजीका माया-बन्धन

सूत उवाच

संस्तुतो भगवान्निर्धनं मार्कण्डेयेन धीमता ।
नारायणो नरसत्त्व प्रीत आह सुगुह्यहम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

भो भो ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मासि सिद्ध आत्मसमाधिना ।
मयि भक्षयानपायिन्या तप स्वाध्यायसयमैः ॥ २ ॥
वयं ते परितुष्टा स्म त्वद्दृष्टद्वैतक्षयया ।
वर प्रसीच्छ भर्तृ त वरददादभीप्सितम् ॥ ३ ॥

श्रुतिप्रमाण

जित त दक्षदक्ष प्रथमातिहराभ्युत ।
वरेणैतावतालं ना यद् भवान् समदृश्यत ॥ ४ ॥
गृहीत्वाश्रयो यस्य भीष्मपातकप्रदशनम् ।
मनमा योगर्षकं स भवान् मःसुगोचर ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—जब ज्ञानसम्पन्न मार्कण्डेय मुनिने इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान् नर-नारायणने प्रसन्न होकर मार्कण्डेयजीसे कहा ॥ १ ॥

भगवान् नारायणने कहा—सम्मान्य ब्रह्मर्षिर्दितो-मणि ! तुम चित्तकी एकाग्रता, तपस्या, स्वाध्याय, सयम और मेरी अनन्य भक्तिसे सिद्ध हो गये हो ॥ २ ॥ तुम्हारे इस अनीक ब्रह्मचर्यव्रतकी निष्ठा देखकर हम तुम्हारे बहुत ही प्रसन्न हुए हैं । तुम्हारा कल्याण हो ! मैं समस्त कर देनेवाला हूँ । इसलिये तुम अपना अभीष्ट वर मुझसे माँग लो ॥ ३ ॥

माकण्डेय मुनिने कहा—दक्षदेव ! शरणागत भगवाणी अभ्युत ! आपकी जय हो ! जय हा ! हमारे लिये वस इतना ही वर पर्याप्त है कि आपन द्वारा परक अनन्य मनोहर स्वरूपका दर्शन कराया ॥ ४ ॥ ब्रह्मा शङ्कर आदि देवगण योग-साधनाके द्वारा एकत्र हुए मनसे ही अपना परम सुन्दर शरीरगन्तव्यका दर्शन प्राप्त करके कृताभ हो गये हैं । आज उन्होंने भगवान् नर-नेत्रोंक सामने प्रकट होकर मुझे धन्य बताया है ॥ ५ ॥

१ जय । २ वरदक्षिण लक्ष्मीप्रदम् । ३ सुखेन ।

अथाप्यमुजपत्राद्य पुण्यसोकस्त्रिसामणे ।

द्रुपे मायां यया लोकः सपालो वेद सञ्जिदाम् ॥ ६ ॥

सूत उवाच

इतीदितोऽर्चितं काममृषिणा भगवान् मुने ।

तथेति स ऋष्यन् प्रागाद् बर्षाभिमसीधरः ॥ ७ ॥

तमेव चिन्तयन्मर्षमृषि स्वाधम एव सः ।

कसमन्यर्कसोमाम्बुभूवात्पुविषदात्मसु ॥ ८ ॥

प्यायन् सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् ।

कचित् पूजां विसमर प्रेमप्रसरसम्पुत ॥ ९ ॥

तस्यैकदा मृगुंभेष्ट पुष्पभद्राकटे मुनेः ।

उपासीनस्य संभ्याचां भ्रष्टान् बाधुरभूमहान् ॥ १० ॥

तं चण्डक्षब्दं समुदीरयन्तं

घलाहक्य अन्वभवन् करात् ।

अक्षस्थविष्ठा मुमुदुन्तडिभिः

स्वनन्त उच्चैरभिवर्षभाराः ॥ ११ ॥

ततो व्यदक्षन्त क्षतुस्तमुद्राः

समन्ततः हमातलमाग्रसन्तः ।

समीरवगार्मिभिरुग्रनक्र

महाभयावतंगभीरुषां ॥ १२ ॥

अन्तवर्दिभ्रात्रितियुभिः स्त्रे

यवददाभारुतापितं जगत् ।

पवित्रकीर्तिं म्हातुमात्रोके शिरोमणि कम्बनयन ! फिर भी आपकी आज्ञाके अनुसार मैं आपसे वर माँगता हूँ । मैं आपकी वह मया देखना चाहता हूँ, बिस्से मोहित होकर सभी लोक और लोकपाल अद्वितीय वस्तु अपने अनेकों प्रकारके भेद-विभेद देखने जगते हूँ ॥ ६ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकाजी ! जब इस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने भगवान् नर-नारायणकी इच्छानुसार स्तुति-पूजा कर की एवं बरदान माँग लिया, तब उन्होंने मुसकराते हुए कहा—‘यही है, ऐसा ही होगा ।’ इसके बाद वे अपने आश्रम बदरीवनको चले गये ॥ ७ ॥ मार्कण्डेय मुनि अपने आश्रमपर ही रहकर निरन्तर इस बातका चिन्तन करते रहते कि मुझे मायाके दर्शन कब होंगे । वे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश एवं कन्त-करण्य—और तो स्वयं सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन करते हुए मानसिक वस्तुओंसे उनका पूजन करते रहते । कभी-कभी तो उनके हृदयमें प्रेम्मी ऐसी बस आ जाती कि वे उसके प्रभावमें डूबने-उतराने लगते, उन्हें इस कतकी भी याद न रहती कि कब कहाँ किस प्रकार भगवान्की पूजा करनी चाहिये ! ॥ ८ ॥

शौनकाजी ! एक दिनकी बात है, सम्प्रके समय पुष्पभद्रा नदीके तटपर मार्कण्डेय मुनि भगवान्की उपासनामें तन्मय हो रहे थे । मगन् । उसी समय एकएक बड़े जोरकी औंधी चबने लगी ॥ १० ॥ उस समय औंधीके कारण बड़ी मयङ्कर आवाज होने लगी और बड़े विकराळ बादल आकाशमें फैलाने लगे । विजली चमक-चमक कर कड़कने लगी और रक्के डुरेके समान जलकी मोटी-मोटी चारों पृष्ठीपर गिरने लगी ॥ ११ ॥ यही नहीं, मार्कण्डेय मुनिको ऐसा दिखने लगा कि चारों ओरसे चारों समुद्र समूची पृष्ठीको निगलते हुए उभड़े आ रहे हैं । औंधीके आगे समुद्रमें बड़ी-बड़ी छहरे उठ रही हैं, बड़े भयङ्कर भँवर पड़ रहे हैं और मयङ्कर ध्वनि यमन फाड़े बाज्ती है । स्थान-स्थानपर बड़े-बड़े मगर उछल रहे हैं ॥ १२ ॥ उस समय बाहर-भीतर चारों ओर अन्ध-ही-जल दीखता था । ऐसा जान पड़ता था कि उस बरगड़में पृष्ठी ही नहीं, सब भी डूबा जा रहा है; ऊपरसे बड़े वेगसे औंधी चढ़ रही है और विजली चमक रही है,

चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि-

जैलाप्लुतां हमां विमना समप्रसत् ॥१३॥

तस्यैवमुद्गीयत ऊर्मिभीषण

प्रभञ्जनाभूर्णितवर्माहर्षवः ।

आर्षमागो वर्षप्रिरम्बुदै

हमामप्यधात् द्वीपवर्पात्रिभि समम् ॥१४॥

सहमान्तरिधं सदिधं सभागर्ण

ब्रैलोक्ष्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम् ।

स एक एवैर्वरितो महामुनि-

र्बत्राम विक्षिप्य कटा जडान्कवत् ॥१५॥

मुचृदपरीतो मकरैस्तिमिज्जिलै-

रुपद्रुतो वीचिनभस्वता इतः ।

तमस्वपारे पतितो अमन् विशो

न वेद स्वं गां च परिभ्रमेवित ॥१६॥

कैचिद् गतो महावर्ते तरलैस्ताडित कश्चित् ।

यादोभिर्मैरुपत कापि स्वयमन्योन्यपातिभि ॥१७॥

कश्चिच्छाकं कश्चिन्मोहं कश्चिद् दुःस्वं सुख भयम् ।

कश्चिन्नुत्पुमवाप्नाति व्याध्यादिभिरुतादित ॥१८॥

अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च ।

प्यंतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन् विष्णुमायाहतात्मनः ॥१९॥

जिससे सम्पूर्ण जगत् संतप्त हो रहा है । जब माकण्डेय मुनिने देखा कि इस जल-प्रलयसे सारी पृथ्वी डूब गयी है, उद्विग्न, स्वेदज, क्षणजन और जरायुज—चारों प्रकारके प्राणी तथा स्वयं वे भी क्षयन्त व्याकुल हो रहे हैं, तब वे उदास हो गये और साप ही क्षयन्त भयभीत भी ॥ १३ ॥ उनके सामने ही प्रलयसमुद्रमें भयङ्कर लहरें उठ रही थीं, औंधीके वेगसे बहुराशि उछल रही थी और प्रलयकालीन बादल क्रस-क्रसकर समुद्रको और भी भरते जा रहे थे । उन्होंने देखा कि समुद्रने द्वीप, बर्ष और पर्वतोंके साथ सारी पृथ्वीको डूबा दिया ॥ १४ ॥ पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, ज्यातिर्मण्डल (ग्रह, नक्षत्र एवं तारोंका समूह) और दिशाओंके साथ तीनों लोक अन्त्ये डूब गये । वस, उस समय एकत्र मन्त्रामुनि मार्कण्डेय ही बच रहे थे । उस समय वे पागल और अचेक समझ जया फैलकर यहाँसे वहाँ और वहाँसे यहाँ भाग-भागकर अपने प्राण बचानेकी चेष्टा कर रहे थे ॥ १५ ॥ वे मूख-म्याससे व्याकुल हो रहे थे । किस्ती और बड़े-बड़े मगर तो किस्ती और बड़े-बड़े तिमिज्जिल मछल उनपर टूट पड़ते । किस्ती औरसे हवाका झोंका आता तो किस्ती औरसे लहरोंके पड़े उन्हें धायत कर देते । इस प्रकार इधर उधर भटकते-भटकते वे अपार अधानान्कषरमें पड़ गये—बेहोश हो गये और इतने पक गये कि उन्हें पृथ्वी और आकाशका भी ज्ञान न रहा ॥ १६ ॥ वे कभी बड़े मरी नैकरमें पड़ जाते, कभी तरल तरलैकी चोटसे चञ्चल हो उठते । जब कभी जलजन्तु आपसमें एक दूसरेपर व्याक्रमण करते, तब ये अधानक ही उनके शिकार बन जाते ॥ १७ ॥ कहीं शोकमग्न हो जाते, तो कहीं मोहमग्न । कभी दुःख-ही-दुःखके निमित्त आते, तो कभी तनिक सुख भी मिळ जाता । कभी भयभीत होते, कभी मर जाते, तो कभी तरल-तरलके रोग उन्हें सताने लगते ॥ १८ ॥ इस प्रकार मार्कण्डेय मुनि विष्णुमाघान्की मायाक वक्त्रमें मोहित हो रहे थे । उस प्रलयकालके समुद्रमें भटकते-भटकते उन्हें सैकड़ों-हजारों भी नहीं, लाखों-करोड़ों बर्ष बीत गये ॥ १९ ॥

निमृतोदस्यप्राप्त वातापाये मथार्णवम् ।

कूर्वस्व तपसः साध्यात् तसिद्धिं सिद्धिदो भवान् ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

नैवेष्टव्याश्चिपः क्वपि श्रद्धाविर्मोक्षमप्युत ।

भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽभ्यसे ॥ ६ ॥

अथापि संबदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ।

अथ हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥ ७ ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान् स सतां गति ।

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥ ८ ॥

सयारागमन साक्षात्प्राप्तोर्बगदात्मनोः ।

न वेद उद्धधीष्टिरात्मान विद्यमान च ॥ ९ ॥

भगवांस्तद्भिन्नाय गिरीशो योगमायया ।

आविश्वचक्रमुहाकारं वायुश्चिद्रूपिबेधरः ॥ १० ॥

आत्मन्यपि शिवं प्राप्त उडिस्त्रिभुवटाधरम् ।

अप्यं दधस्त्वं प्राप्नुम्यन्वमिव भास्करम् ॥ ११ ॥

शान्त हो जाती हैं और समुद्र घोर-गम्भीर हो जाता है, वेसे ही इस ब्राह्मणका शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण शान्त हो रहा है । समस्त सिद्धियोंके दाता आप ही हैं । इसलिये क्या करके आप इस ब्राह्मणकी तपस्यका प्रत्यक्ष फल दीजिये ॥ ४ ५ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—देखि ! ये श्रद्धाविं लोक अथवा परलोककी कोई भी वस्तु नहीं चाहते । और तो नम्र, इनके मनमें कभी मोक्षकी भी आकांक्षा नहीं होती । इसका कारण यह है कि घट-घटवासी अविनाशी महात्मनके चरणस्पर्शमें इन्हें परम भक्ति प्राप्त हो चुकी है ॥ ६ ॥ प्रिये ! यद्यपि इन्हें हमारी कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी मैं इनके साथ कतचित् कहूँगा, क्योंकि ये महात्मा पुरुष हैं । जीष्मात्रके लिये सबसे बड़ा लाभकी बात यही है कि संत पुरुषोंका समागम प्राप्त हो ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी । भगवान् शङ्कर समस्त विद्याओंके प्रवक्तक और सारे प्राणियोंके हृदयमें विराजमान कन्तर्यामी प्रभु हैं । जगत्क कितने भी संत हैं, उनके एकमात्र आश्रय और आदर्श भी वही हैं । महात्मी पार्श्वीसे इस प्रकार कहकर भगवान् शङ्कर भक्तगणेश मुनिके पास गये ॥ ८ ॥ उस समय मार्कण्डेय मुनिकी समस्त मनोवृत्तियाँ भावद्वात्मने तन्मय थी । उन्हें अपने शरीर और जगत्का किञ्चुल फल न था । इसलिये उस समय वे यह भी न जान सके कि मेरे सामने सारे विश्वके आत्मा कयं भगवान् गौरी-शङ्कर पकारे हुए हैं ॥ ९ ॥ शौनकजी । सर्वशक्तिमान् भगवान् कैवल्य-पतिसे यह बात छिपी न रही कि मार्कण्डेय मुनि इस समय किन्तु अवस्थामें हैं । इसलिये वेसे वायु व्यक्तशक्त स्थानमें अनायास ही प्रवेश कर जाती है, वेसे ही वे अपनी योगमयसे मार्कण्डेय मुनिके हृदयकाशमें प्रवेश कर गये ॥ १० ॥ मार्कण्डेय मुनिने देखा कि उनके हृदयमें तो भगवान् शङ्करके दर्शन हो रहे हैं । शङ्करजी के शिरपर त्रिशूलके समान चमकती जी पीछी-पीछी जटाएँ शोभायमान हो रही हैं । तीन नेत्र हैं और दस भुजाएँ । तन्म-रगाका शरीर उदयकाशीन सूर्यके

॥ कदाचिद् भ्रमस्तस्मिन् पृथिव्याः ककुद्दि द्विजः ।

न्यग्रोधपोतं दृष्ट्वा फलपल्लवशोभितम् ॥२०॥

प्रागुचरस्यां शाखायां तस्यापि दृष्ट्वा शिशुम् ।

शयानं पण्डितं प्रसन्नं प्रभया तम ॥२१॥

महामरकश्यामं भीमद्वन्द्वपङ्कजम् ।

कम्बुग्रीवं महास्त्रं सुनातं सुन्दरभुजम् ॥२२॥

श्वार्सजदलकभार्तं कम्बुभार्कणदाहिमम् ।

विदुमाधरभासेपच्छोगायितसुधासितम् ॥२३॥

पद्मगभारुणापाङ्गं हृष्यासावलोकनम् ।

श्वार्सजदलमिषिप्रनिम्ननाभिदलादरम् ॥२४॥

चात्रकुलिम्बां पाणिभ्यामुत्तरीय चरणाम्बुजम् ।

सुखनिधाय विप्रन्त्रा धय तं वाक्ष्य निमित्तः ॥२५॥

तदनुनादु वीतपरिभमा मुदा

प्राप्तुल्लङ्घ्यप्रविलाचनाम्बुज ।

प्रदृष्टरामानुतभावशङ्कित

प्रदुं पुरम् प्रमसार वात्सल्यम् ॥२६॥

शौनकजी ! मार्कण्डेय मुनि इसी प्रकार प्रत्येक जगत् में बहुत समय तक भ्रमर रहे । एक बार उन्होंने पृथ्वी के एक टीले पर एक छोटा-सा वरगदका पेड़ देखा । उसमें बड़े-बड़े फले और जाल-जाल फल शोभायमान हो रहे थे ॥२०॥ वरगदके पेड़ में ईशानकोण पर एक जाल थी, उसमें एक पक्षी दोना-सा बन गया था । उसी पर एक बड़ा ही सुन्दर नन्हा-सा शिशु लेटा हुआ था । उसके स्त्री से ऐसी उम्भक छटा छिटक रही थी, जिससे आस-पास के बड़े-बड़े बूढ़े हो रहे थे ॥२१॥ वह शिशु मरकतमणि-क समान सौंझा-सौंझा था । मुखकमल पर साफ सौन्दर्य छटा पड़ता था । गरदन शङ्ख के समान उन्नत-चक्रवाली थी । छाती चौड़ी थी । तोलेकी चौक के समान सुन्दर नासिका और मोहँ बड़ी मनोहर थी ॥२२॥ कभी कभी चुंबकली आँखों को छोड़कर लटक रही थी और बास कान से कभी-कभी झिल भी जाती थी । शङ्ख के समान शुभ्रदार कानों में बनार के अल-अल हल शोभायमान हो रहे थे । मूँके समान अल-अल होठों की कस्तुरि से उनकी सुघामयी श्वेत मुसकान कुछ अस्मि-मिश्रित हो गयी थी ॥ २३ ॥ नेत्रों की कोने कलश के भीतरी भाग के समान तलिक जाल-जाल थे । मुसकान और चितवन करक हृदय के पङ्क स्त्री थी । बड़ी गम्भीर नाभि थी । छोटी-सी तोंद पीपल के पत्ते के समान जान पड़ती और आस लेने के समय उत्तर पक्षी हुए बड़े तथा नाभि भी झिल जाया करती थी ॥ २४ ॥ नन्हें-नन्हें हाथों में बड़ी सुन्दर-सुन्दर अँगुलियाँ थी । वह शिशु अपने दोनों पत्रपत्रजैसे एक चरणमलका मुख में बाँधकर चूस रहा था । मार्कण्डेय मुनि यह दिव्य दृश्य देखकर आश्चर्य निमित्त हो गये ॥ २५ ॥

शौनकजी ! उस दिव्य शिशु को देखते ही मार्कण्डेय मुनि ने साथी पत्रपत्र जाती रही । आनन्द से उनके हृदय-कमल और मनःकमल खिल गये । शरीर पुत्रित हो गया । उस नन्हें-से शिशु को इस अतुल भय से दृष्टकर उसका मन में सख्-तरङ्गरी शङ्काएँ—पद्म पीन हेतु इत्यादि—आने लगीं और व उस शिशु से पक्षों शून्यक उड़े उसका स्पर्शन करके गये ॥ २६ ॥

वाचस्पिष्ठोष असितेन भार्गवः

सोऽन्तश्शरीरं मण्डको यथाविधत् ।

सत्राप्यदा न्यस्तमघट कृत्स्नशः

यथा पुरासुखादतीव विक्षितः ॥२७॥

स रोदसी भगवानद्रिसागरान्

द्रीपात् सवर्षान् कङ्कभः सुरासुरान् ।

वनानि वैश्वान् सरितः पुराकरान्

खेटान् ब्रह्मानामवर्षावृत्तयः ॥२८॥

महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ

कालं च नानासुगन्धपद्मवनम् ।

यत् किंचिदन्यद् भवनहारकारणं

ददर्श विश्वं सद्विषावभासितम् ॥२९॥

हिमालय पुष्पवर्हा च तां नदीं

निजाम्रम तत्र श्रुपीनपश्यत् ।

विश्व विपश्यन्स्त्वसिताच्छिञ्चावै

हृदिर्निरुक्ते न्यःतैल्लयम्भौ ॥३०॥

तस्मिन् पृथिव्याः कङ्कदि प्ररूढं

वटं च तत्पर्णपुटे श्रयानम् ।

तोकं च तत्प्रेमसुभासितेन

निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन ॥३१॥

यत् तं शालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां पिष्टितं हृदि ।

प्रभयाद्वितसङ्कितः परिष्वक्तमधोऽग्रम् ॥३२॥

प्राप्तं स भगवान् सखाद् योगाधीशो गुहाग्रयः ।

जमी मार्कण्डेयजी पहुँच भी न पाये थे कि उस शिशुके
शासके साथ उसके शरीरके भीतर उठी प्रकर पुस
गये, जैसे कोई मच्छर किसीके पेटमें चञ्च जाय । उस
शिशुके पेटमें जाकर उन्होंने सब-सब सबी सृष्टि
देखी, जैसी प्रज्यके पहले उन्होंने देखी थी । वे वह
सब विचित्र दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो गये । वे
योगेश्वर कुछ सोच-विचार भी न सके ॥ २७ ॥ उन्होंने
उस शिशुके उदरमें आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल,
पर्वत, समुद्र, द्वीप, बर्य, दिशारे, देवता, दैत्य, वन,
वैद्य, नर्तियो, नगर, खाने, निसानिके गौत्र, बाह्योकी
वस्त्रियाँ, आभय, कर्ण, उनके आचार-व्यवहार, पञ्चमहा
भूत, भूतोंसे बने हुए प्राणियोंके शरीर तथा पदार्थ,
अनेक युग और कल्पोंके भेदसे युक्त कष्ट आदि सब
कुछ देखा । केवल इतना ही नहीं, जिस देशों, वस्तुओं
और कालोंके द्वारा अगत्कृत व्यवहार सम्पन्न होता है,
वह सब कुछ वहाँ विद्यमान था । कालोंके कहे, यह
सम्पूर्ण विश्व न होनेपर भी वहाँ सत्यके सम्मन प्रतीत
होते देखा ॥ २८ २९ ॥ विपश्यन् पर्वत, सबी पुष्पमया
नदी, उसके छपर अपना आभय और वहाँ रहनेवाले
श्रवियोंके भी मार्कण्डेयजीने प्रपश्य ही देखा । इस
प्रकार सम्पूर्ण विश्वको देखते-देखते ही वे उस दिव्य
शिशुके शासके द्वारा ही बहार आ गये और फिर प्रत्य-
कालीन समुद्रमें गिर पड़े ॥ ३० ॥ जब फिर उन्होंने
देखा कि समुद्रके बीचमें पृथ्वीके टिलेपर सबी बगदक
पेड़ ज्यों-ज्यों-ज्यों विद्यमान है और उसके पत्तेके दोनेमें
सबी शिशु सोया हुआ है । उसके कर्णोंपर प्रेममयसे
परिपूर्ण मन्द-मन्द मुसकन है और अपनी प्रेमपूर्ण
चितवनसे वह मार्कण्डेयजीकी ओर देख रहा है ॥ ३१ ॥
जब मार्कण्डेय मुनि इन्द्रियातीत भगवान्को जो शिशुके
रूपमें ळीढा कर रहे थे और नेत्रोंके मार्गसे पहले ही
हृदयमें विराजमान हो चुके थे, आश्रित करनेके लिये
वहे धम और कठिनाईसे आगे बढ़े ॥ ३२ ॥ परन्तु शौनक-
जी । भगवान् केवल योगियोंके ही नहीं, स्वयं योगके
भी स्वामी और सबके हृदयमें छिपे रहनेवाले हैं । सभी
मार्कण्डेय मुनि उनके पास पहुँच भी न पाये थे कि वे

१ कानि भस्म । २ यत् । ३ तत्प्रकाशो । ४ हृदि विहितम् ।

अथ स च १. १२०—

अन्तर्द्वर्षेऽप्येः सद्यो ययेहानीशनिर्मिता ॥३३॥

तमन्वध वटो ब्रह्मन् सलिलं लोकसम्प्लवः ।

तिरोभायि क्षणादस्य स्नाधम पूर्ववत् स्थितः ॥३४॥

तुरंत अन्तर्धान हो गये—ठीक वैसे ही, वैसे कमरो और कमरपं पुरुषोंके परिभ्रमण पता नहीं चलता कि वह कुछ दिये बिना ही क्या हो गया ? ॥ ३३ ॥ शौनकाजी ! उस शिशुके अन्तर्धान होते ही वह बरगदका वृक्ष तब प्रलयकालीन दस्य एव जल भी तत्काल लीन हो गया और मार्कण्डेय मुनिने देखा कि मैं तो पहलेके समान ही अपने आश्रममें बैठा हुआ हूँ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यं संज्ञितस्य ब्राह्मणस्यैव मोया-
दर्शनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीको भगवान् शङ्करका वरदान

सूत उवाच

स एवमनुभूयेद नारायणविनिर्मितम् ।

वैभवं योगमायायास्तमेव धरणं ययौ ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच

प्रपन्नोऽस्मिन्मूर्ध्नि ते प्रपन्नाभवद् हर ।

यन्माययापि विषुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाक्षया ॥ २ ॥

सूत उवाच

तेमेव निमृतात्मानं श्रुपेण दिवि गर्भटन् ।

रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणैर्धृतः ॥ ३ ॥

अधोमा तमुर्षिं वीक्ष्य गिरिश समभाषत ।

पश्यमं भगवन् विप्रं निमृता मन्त्रियाक्षयम् ॥ ४ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि श्रुतिगो ! मार्कण्डेय मुनिने इस प्रकार नारायण-निर्मित योगसम्पन्न-वैभवं अनुभव किया । जब यह निश्चय करके कि इस मन्त्रके मुक्त होनेके लिये मयापति भगवान्की धरण ही एकमात्र उपाय है, उन्होंनेकी धरणमें स्थित हो गये ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजीने मन-ही-मन कहा—प्रभो ! आपकी मया वास्तवमें प्रतीक्षित होनेपर भी सत्य ज्ञानके सम्पन्न प्रकाशित होती है और बड़े-बड़े सिद्धान्त भी उसके क्षेत्रमें मोहित हो जाते हैं । आपके श्रीचरणकमल ही धरणशक्ति के सब प्रकारसे सम्पन्न करने हैं । इसलिये मैंने उन्होंनेकी धरण प्रवृत्ति की है ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—मार्कण्डेयजी इस प्रकार धरणशक्ति की भक्त्यामें तन्मय हो रहे थे । उसी समय भगवान् शङ्कर भागवती पार्वतीजीके साथ मन्दीरर सभा होकर आकाशमार्गसे निचरण करते हुए उभर आ निकले और मार्कण्डेयजीको उसी अवस्थामें देख । उनके साथ बहुत-से गण भी थे ॥ ३ ॥ जब भगवती पार्वतीने मार्कण्डेय मुनिको ध्यानकी अवस्थामें देखा तब उनका रूप वास्तव्य-लोहसे उमङ्ग लगी । उन्होंने शङ्करजीसे कहा—भगवान् ! तनिक इस आकाशमार्गसे उभर तो दिसिये । जैसे एकान्त शान्त हो जानेपर समुद्रकी लहरें और मनुष्यों

निमृतोदम्नपद्मात् वातापाये यथार्णवम् ।

कुर्वन्स तपसः साक्षात् ससिद्धिं सिद्धिदो भवान् ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

नैवेष्टव्यं त्वाश्विषः क्वपि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।

भक्तिं परां भगवति लम्भन्वान् पुरुषेऽव्यये ॥ ६ ॥

यथापि संबदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ।

यस्य हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥ ७ ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा तद्गुपेयाय भगवान् स सर्वां गतिः ।

ईशानः सवविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥ ८ ॥

तयारागमनं साधुस्त्रीश्वरोर्जगदात्मनोः ।

न वेद रुद्रभीषुचिरारमानं विश्वमेव च ॥ ९ ॥

भगवांस्तदभिधाय गिरीशो यागमायया ।

आविशच्चतुर्गुहाच्छ्रं चापुच्छिन्नमिवेश्वरः ॥ १० ॥

आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तद्वित्पिङ्गजटाधरम् ।

ऽयं दशभुजं प्राप्नुयान्तमिव भास्करम् ॥ ११ ॥

शान्त हो जाती हैं और समुद्र घीर-गम्भीर हो जाता है, वेसे ही इस ब्राह्मणका शरीर, इन्द्रिय और अन्त करण शक्त हो रहा है । समस्त सिद्धियोंके दाता आप ही हैं । इसलिये कृपा करके आप इस ब्राह्मणकी तपस्विक प्रशंसा फल दीजिये ॥ ४-५ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—देवि ! ये ब्रह्मर्षि लोक अपना परलोककी कोई भी वस्तु नहीं चाहते । और तो क्या, इनके मनमें कभी मोक्षकी भी आकांक्षा नहीं होती । इसका कारण यह है कि घट-घटवासी अविनाशी भगवान्के चरणमर्ममें इन्हें परम भक्ति प्राप्त हो चुकी है ॥ ६ ॥ प्रिये ! यद्यपि इन्हें हजारी कोई आश्चर्यकता नहीं है, फिर भी मैं इनके साथ बातचीत करूँगा, क्योंकि ये ग्यान्त्र पुरुष हैं । जीवमयप्रकृति लिये सबसे बड़े व्यक्तिकी बात यही है कि संत पुरुषोंका समागम प्राप्त हो ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकाजी ! भगवान् शङ्कर समस्त विचारोंके प्रवर्तक और सारे प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान अन्तर्धामी प्रभु हैं । जगत्के जितने भी संत हैं, उनके एकत्र अवश्य और अदृश भी बड़ी हैं । भगवती पार्वतीसे इस प्रकार कहकर भगवान् शङ्कर मार्कण्डेय मुनिके पास गये ॥ ८ ॥ उस समय मार्कण्डेय मुनिकी समस्त मनोवृत्तियाँ भगवान्के तन्मय थीं । उन्हें अपने शरीर और जगत्का त्रिस्तुल्य फल न था । इसलिये उस समय वे यह भी न जान सके कि मेरे सामने सारे विश्वके आत्मा कायं भगवान् गौरी-शङ्कर पधारे हुए हैं ॥ ९ ॥ शौनकाजी ! सर्वशक्तिमान् भगवान् कैअस-पतिसे यह बात छिपी न रही कि मार्कण्डेय मुनि इस समय किन्तु अवस्थामें हैं । इसलिये जैसे बापु अवशशकके स्थानमें अनायास ही प्रवेश कर जाती है, वेसे ही वे अपनी योगमयसे मार्कण्डेय मुनिके हृदयकाशमें प्रवेश कर गये ॥ १० ॥ मार्कण्डेय मुनिने दृष्ट कि उनके हृदयमें तो भगवान् शङ्करके दर्शन हो रहा है । शङ्करजी-के शिरपर त्रिशूलक समान चमकीली पीछी-पीछी जटाएँ दृग्गम्यमान हो रही हैं । तीन नेत्र हैं और दस मुँहारे । लम्ब-लम्बा शरीर उदयकाशीन सूर्यके

म्याप्रचर्माम्परधरं शूलसदृशज्जन्मभिः ।

वक्षमालाहमरुक्कपालासिधनु सह ॥१२॥

विभ्राप्य सहसा भारतं विचक्ष्य हृदि विस्मितः ।

किमिदं कृत एवेति समाचेर्निरतो मुनिः ॥१३॥

नेत्रे ठन्नीस्य दृष्ट्वा सगण सोमयाऽऽगतम् ।

कद्र त्रिंशोक्कैकगुहं ननाम छिरसा मुनिः ॥१४॥

तस्मै सपर्यां व्यदधात् सगणाय सहोमया ।

स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्रग्धूपशीपकैः ॥१५॥

आह चात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो ।

करवाम किमीश्वान केनेदं निर्हृतं जगत् ॥१६॥

नमः शिवाय श्रान्ताय सत्त्वाय प्रमुखाय च ।

रजोत्तुष्टेऽप्यभोगाय नमस्तुभ्य तमोजुषे ॥१७॥

सुत उवाच

एवं स्तुतः स भगवौनादिदेवः सतां गतिः ।

पैरिस्तुतः प्रसन्नात्मा प्रहर्षस्तमभाषत ॥१८॥

श्रीर्भागवातुवाच

वरं वृणीष्य नः कामं वरदेष्टा वर्षत्रयः ।

अमोघं दक्षन् येषां मर्त्यो यद् विन्दतेऽस्तुतम् ॥१९॥

सम्यन् तेजसी है ॥ ११ ॥ धरिपर बध्मकर भल
किये हुए हैं और हाथमें शूल, छत्र, गदा, हस्त, माला-
माला, हमरु, कपाल, तलवार और धनुष आदि हैं ॥ १२ ॥
मर्कण्डेय मुनि अपने हृदयमें अवलम्बित भावसे शङ्कर
का रूप देखकर विस्मित हो गये । 'क्या क्या है !
कहाँसे आया ?' इस प्रकारकी वृत्तियोंका उदय हो
जानेसे उन्होंने अपनी सम्पत्ति छोड़ दी ॥ १३ ॥ जब
उन्होंने आँखें खोली, तब देखा कि तीनों क्षेत्रोंके एक-
मात्र गुरु भागवान् शङ्कर श्रीपार्वतीजी तथा अपने गर्वके
सहस्र पक्षरे हुए हैं । उन्होंने उनके चरणोंमें माला
देकर प्रणाम किया ॥ १४ ॥ तदनन्तर मर्कण्डेय मुनिने
स्वागत, आसन, पादार्घ्य, गन्ध, पुष्पमाला, दूध और
दीप आदि उपचारोंसे भागवान् शङ्कर भागवती पार्वती
और उनके गणोंकी पूजा की ॥ १५ ॥ इसके पश्चात्
मर्कण्डेय मुनि उनसे कहने लगे—'सर्वव्यापक और
सर्वशक्तिमान् प्रभो ! आप अपनी आत्मबलभूति और
महिम्नासे ही पूर्णकाम हैं । आपकी शक्ति और सुखसे
ही सारे जगत्में सुख-खान्तिका निस्तार हो रहा है,
ऐसी अवस्थामें मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १६ ॥ मैं
आपके त्रिगुणस्तीत सदाशिव स्वरूपको और उत्कृष्टसे
युक्त शक्तस्वरूपको नमस्कार करता हूँ । मैं आपके
रजोगुणयुक्त सर्वप्रवर्तक स्वरूप एवं तमोगुणयुक्त जगत्
स्वरूपको नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

श्रीस्तुतजी कहते हैं—शौनकाजी ! जब मर्कण्डेय
मुनिने संतोंके परम आश्रय देवादिदेव भागवान् शङ्करकी
इस प्रकार स्तुति की, तब वे उनपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए
और बड़े प्रसन्नचित्तसे ईदृष्टे हुए कहने लगे ॥ १८ ॥
भगवान् शङ्करने कहा—मर्कण्डेयजी ! महान् विष्णु
तथा मैं—हम तीनों ही वरदास्तार्थिक सामी हैं । हम-
क्षेत्रोंका दर्शन करी धर्म नहीं जाता । हममेंसे ही
मरणशील मनुष्य भी अमृतकरी प्राप्ति कर लेता है ।
इसलिये पुण्यारी जो इच्छा हो, वही वर मुझसे माँग ले ॥ १९ ॥

१ तोमरे । २ किम्बेन्वैक । ३ प्राचीन प्रतिमें 'तल' 'सहोमया' इस श्लोकार्थके लानमें 'विष्णुस्मृतमध्याख्यान'
तपसा निष्कर्ममेव । देख पाठ है । इसके किता वर्तमान प्रतिमें जो २५ वीं संस्काराध्यायका दशमोऽंश "विष्णु तमम्भवादिभिः"
यह श्लोक है । इससे कहीं न पढ़कर यहाँ ही (विष्णुष्वा "मैः" इसके बाद) पढ़ा गया है । इसके पश्चात् पञ्चाग्राहण
'इत्यादि श्लोकोंका पाठ है । ४ वेद्यस्य निष्ठाया प्रभु । ५ जुषे च यो । ६ वान्महादेवः । ७ प्राचीन प्रतिमें 'पैरिस्तुतः'
"प्रसन्न" । 'इह श्लोकार्थके लानमें उवाच' 'पञ्चको देवदेवो महेश्वरः' । देख पाठ है । ८ श्रीमहादेव उवाच ।

ब्राह्मणाः साधवः धान्ता निस्तृणा भूतवत्सलाः ।

एकान्तभक्ता असासु निर्वेराः समदर्शिनः ॥२०॥

सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते ।

अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः ॥२१॥

न ते मय्यच्युतेऽत्र च भिद्रामभ्यपि चक्षते ।

नात्मनश्च जनस्यापि तव् शुभमान् वयमीमहि ॥२२॥

न ह्यम्भपानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोन्मिताः ।

ते पुनन्त्युरुक्तालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥२३॥

ब्राह्मणेभ्यो नमस्तामो येऽस्मदूर्पं प्रयीमयम् ।

निब्रह्मात्मसमाधानतपस्त्राप्तामसंयमै ॥२४॥

अवणाव् दर्शनाव् वापि महापातकिनोऽपि वः ।

शुष्यैरसन्त्यजामापि किमु सम्भाषणादिभिः ॥२५॥

सूत उवाच

इति चन्द्रललामस धर्मशुशोषभूषितम् ।

बभोऽमृतापनमृपिनात्प्यत् कर्णयोः पिबन् ॥२६॥

स चिरं गायवा विष्णोर्भामित कर्तितो मृगम् ।

ब्राह्मण समावसे ही परोपकारी, शान्तचित्त एवं अनासक्त होते हैं । वे मित्राधिके साथ वैरभाव नहीं रखते और समदर्शी होनेपर भी प्राणियोंका कष्ट देखकर उसके निवारणके लिये पूरे हृदयसे छुट जाते हैं । उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह होती है कि वे हमारे धनस्य प्रेमी एवं भक्त होते हैं ॥ २० ॥ सारे जेब और चेकगाछ ऐसे ब्राह्मणोंकी बन्दना, पूजा और उपासना किया करते हैं । केवल वे ही क्यों, मैं, भगवान् ब्रह्मा तथा स्वयं साक्षात् ईश्वर विष्णु भी उनकी सेवामें संलग्न रहते हैं ॥ २१ ॥ ऐसे शक्त ब्राह्मण मुझमें, विष्णुभगवान्में, ब्रह्ममें, अपनेमें और सब जीवोंमें अणुमात्र भी भेद नहीं देखते । सदा-सर्वदा, सर्वत्र और सर्वथा एकसं वास्तव्य ही दर्शन करते हैं । इसलिये हम तुम्हारे-जैसे ब्राह्मणोंकी स्तुति और सेवा करते हैं ॥ २२ ॥ मार्कण्डेयजी ! केवल अल्पसं तीर्थ ही तीर्थ नहीं होते तथा केवल जड़ मूर्तियाँ ही देवता नहीं होती । समस्त बड़े तीर्थ और देवता तो तुम्हारे-जैसे संत हैं, क्योंकि वे तीर्थ और देवता बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं, परन्तु तुम्होगे दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हो ॥ २३ ॥ हमलोग तो ब्राह्मणोंको ही नमस्कार करते हैं, क्योंकि वे चित्तकी एकाग्रता, तपस्व, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा हमारे बेदस्य शरीरको धारण करते हैं ॥ २४ ॥ मार्कण्डेयजी ! बड़े-बड़े ब्राह्मणी और अन्यत्र भी तुम्हारे जैसे ब्राह्मणोंके चरित्रधर्षण और दर्शनसे ही सुख हो जाते हैं, किन्तु वे तुमसेगोके सम्भाषण और स्त्रवसा आदिसे सुख हो जायें, इसमें तो पड़ना ही क्या है ॥ २५ ॥

भीस्तुती करते हैं—इतिवदन्ति श्रुतियो ! बन्धनपूर्ण भगवान् शङ्करजी एक-एक ब्रह्म बर्षके गुह्यतम रहस्यसे परिपूर्ण थी । उसके एक-एक अक्षरमें अप्रमत्त समुद्र भय नृणां यः । शब्दसद्व्य मुनि अपने पार्श्विक द्वारा श्री लम्प्यतके साथ उसका पान करते रहें, परन्तु उन्हें तृप्ति न हुई ॥ २६ ॥ वे विरहयुक्त विष्णुभगवान्की मयासे भटक चुक थे और बहुत पके हुए भी थे । भगवान् शिवजी कन्याणी शशीनाम अप्रमत्तान् करनेसे

कामो माहर्षे सर्वोऽयं भक्तिमास्त्वमभ्योक्षजे ।

आकल्पान्ताद् यशः पुण्यमजरामरता तथा ॥३६॥

ज्ञानं त्रैलोक्यिकं ब्रह्मविज्ञानं च विरक्तिमत् ।

ब्रह्मवर्षस्त्रिनो भूयान् पुराणाचार्यतास्तु ते ॥३७॥

सूत उवाच

एव वरान् स मुनये दक्षबाहोत्पद्य ईश्वरः ।

देव्यै तत्कर्म कथयन्नुभूत पुराणना ॥३८॥

सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तम ।

विवरत्पद्मनाम्पद्वा इरावत्कान्ततां गत ॥३९॥

अनुवर्तितमेतत् मार्कण्डेयस्य धीमताः ।

अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥४०॥

एतत् केचिद्विद्वांसो मायासंस्तुतिमात्मनः ।

अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते ॥४१॥

य एवमेतद् मृगुवर्यं वर्णितं

रथाङ्गपाणरनुभावभावितम् ।

सभावेत् सम्पुण्याद् तावुभी

तयान् कमीशयसस्तुतिर्भवेत् ॥४२॥

प्रेरणासे यह बात कही ॥ ३५ ॥ 'माहर्षे ! तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण हों । इन्द्रियातीत परमात्मने तुम्हारी अनन्य भक्ति सदा-सर्वदा बनी रहे । कल्पपर्यन्त तुम्हारा पवित्र यश फैले और तुम अजर एवं अमर हो जाओ ॥ ३६ ॥ ब्रह्मान् । तुम्हारा ब्रह्मतेज तो सर्वदा अमृष्य रहेगा ही । तुम्हें मृत, भविष्य और वर्तमानके समस्त विशेष ज्ञानोंका एक अधिष्ठानरूप ज्ञान और वैराग्यरूप स्वरूपस्मिृति की प्राप्ति हो जाय । तुम्हें पुराणका आचार्यत्व भी प्राप्त हो ॥ ३७ ॥

श्रीमत्पुत्री कहते हैं—शौनकाजी । इस प्रकार त्रिभुवन भगवान् शाङ्कर मार्कण्डेय मुनिको वर देकर भगवती पार्वतीसे मार्कण्डेय मुनिकी तपस्या और उनके प्रक्ष्य-सम्बन्धी अनुभवोंका वर्णन करते हुए कहाँसे चले गये ॥ ३८ ॥ सुगुप्तशशिरोमणि मार्कण्डेय मुनिको उनके महायोगका परम फल प्राप्त हो गया । वे भगवान्के अनन्यप्रेमी हो गये । अब भी वे भक्तिभावमयित हृदयसे पृथ्वीपर विचरण किया करते हैं ॥ ३९ ॥ परम ज्ञान-सम्पन्न मार्कण्डेय मुनिने मत्तान्की योगप्रयासे जिस अद्भुत वीर्यका अनुभव किया था, वह मेने आपआँकोंसे सुना दिया ॥ ४० ॥ शौनकाजी । यह जो मार्कण्डेयजीने अनेक कल्पोंका—सुखिप्रलयोंका अनुभव किया, वह भगवान्की प्रयास ही वैभव था, तात्कालिक था और उनकी जिये था, सर्वसाधारणके जिये नहीं । कोइ-काइ इस मायाकी रचनाको न जानकर क्तादिकालसे घर घर होनेवाले सुखि-प्रलय ही इसको भी कतयते हैं । (इसलिये आपको यह शाङ्का नहीं करनी चाहिये कि इसी कल्पके हमारे पूर्वज मार्कण्डेयजीकी आयु इतनी लंबी कैसे हो गयी ?) ॥ ४१ ॥ सुगुप्तशशिरोमणि । मेने आपको यह जो मार्कण्डेयचरित्र सुनाया है, वह भगवान् चक्रप्रणिक प्रमाण और मन्त्रिसे भरपूर है । जो इसका भवण एवं कीर्तन करते हैं, वे दोनों ही कम-यासनाओंका कारण प्राप्त होनेवाले आकाशमनके चक्षुसे सबदाक जिये हुए जाते हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण परमहंस्यं तंजितायां द्वादशस्कन्धे

दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

भगवान्के भक्त उपाङ्ग और आधुनिक रहस्य तथा विभिन्न सर्वगणोंका वर्णन

श्रीनक उवाच

अधेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुविधमम् ।

समस्ततत्राश्नन्ते भवन्तु भागवत तत्त्वनिवृत्ति ॥ १ ॥

तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्तथियः पतेः ।

अज्ञोपाङ्गायुधाकल्प कल्पयन्ति यथा च यैः ॥ २ ॥

तन्मो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं पुष्टसत्ताम् ।

येन क्रियानैपुणन मत्सो यावाद्मर्त्यताम् ॥ ३ ॥

सूत उवाच

नमस्कृत्य गुरुन् वक्ष्ये विमूर्तीवैष्णवीरपि ।

यैः प्रोक्ता ब्रह्मन्त्राम्यामाचार्यैः पञ्चजादिभिः ॥ ४ ॥

मायाधैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट् ।

निर्मिता दृश्यत यत्र सचित्के सुवनप्रयम् ॥ ५ ॥

एतद् वै तीक्ष्णं रूपं पादौघोऽक्षिरो नभः ।

नाभिः स्रष्टोऽश्विनी नासे वायु कर्णो दिशः प्रभो ॥ ६ ॥

प्रज्ञापतिः प्रजननमपाना मृत्पुत्रीद्वितुः ।

तद्वह्वा लाकपाला मनधन्त्रा भुवो यमः ॥ ७ ॥

लज्जातगोऽपरा लाभा दन्ता न्यायस्त्रा मया भ्रमः ।

रामाणि भूतहा मृत्ता मया पुरुषपर्वजाः ॥ ८ ॥

यावानय प' पुरुषा यावन्त्या सम्यया मितः ।

वावानमावपि महापुरुषा लाकर्सम्यया ॥ ९ ॥

श्रीनकजीने कहा— सूतजी ! आप भगवान्के परम

भक्त और बहुविध विरोधमय हैं । इससे एक समस्त

शास्त्रोंके सिद्धान्तके सम्बन्धमें आपसे एक विशेष प्रश्न

पूचना चाहते हैं, क्योंकि आप उसका मर्मज्ञ हैं ॥ १ ॥

इससे क्या विशेषज्ञता प्राप्त करना चाहते हैं

क्योंकि उसका कुल्लुत्तरार्थक दीय-दीय आचरण करनेसे

मरणपर्यं पुण्य अमल प्राप्त कर लेता है । अतः आप हमें

यह बतलाइये कि पाञ्चरात्रादि तन्त्रोंकी विधि जाननेके

लगे केवल श्रीकृष्णपति भगवान्की आराधना करते समय

चित्त-मिलन तर्जोसे उनके चरमादि अङ्ग, गरुडदि उपाङ्ग,

सुदर्शनादि आपुष और कौस्तुभादि आभूषणोंकी कल्पना

करते हैं । भगवान् आपका कल्याण करें ॥ २ ॥

श्रीसूतजीने कहा श्रीनकजी । अर्थात् आपकी,

वेदों और पाञ्चरात्रादि तन्त्र-ग्रन्थोंमें विष्णुभगवान्की

जिन विभूतियोंका वर्णन किया है, मैं श्रीकृष्णके चरणोंमें

नमस्कार करके आपसेहीसे यही सुनाता हूँ ॥ ४ ॥

भगवान्के जिस चेतनारिष्ठि विराट् रूपमें यह क्रिया

दिखायी देती है, वह प्रकृति, सूत्रात्म, मध्यस्थ, अहङ्कार

और पञ्चतन्त्र—इन सौ तत्त्वोंके समित म्याह इन्द्रिय

तथा पञ्चभूत—इन सोलह विकारोंसे बना हुआ है ॥ ५ ॥

यह भगवान्का ही पुरुषरूप है । पृथ्वी इसके चरण है,

सर्प मस्तक है, अन्तरिक्ष नाभि है, सूर्य नेत्र है, वायु

नासिका है और दिशों कर्ण हैं ॥ ६ ॥ प्रज्जगति मित्र

है, मृत्यु गुदा है, लोकपालाण मुञ्चर हैं, अश्वमेध

है और यमराज मर्दि हैं ॥ ७ ॥ पञ्च उग्ररा होठ

है, अश्वमेध होठ है, अश्वमेध की पौनी दन्तावरी

है, अश्वमेध है, इन्द्र रोम हैं और वायु ही निरुद्ध

पुरुषक सिरपर उगे हुए बाज हैं ॥ ८ ॥ शौनस्त्री । जिस

प्रकार यह व्यष्टि पुरुष जपन परिमाणसे सप्त विचर है

उसी प्रकार यह समष्टि पुरुष भी इस व्येकसंस्थितिक सप्त

कौस्तुभस्यपदेन स्वात्मन्योतिर्भिर्भर्त्यः ।

तत्प्रभान्यापिनी साधाद् धीवत्सहस्रा विभुः ॥१०॥

स्वभावां वनमालास्वां नानागुणमयीं दधत् ।

वासश्छन्दोमय पीतं ब्रह्मसूत्र त्रिशूखरम् ॥११॥

विमर्ति सांख्य योग च देशो मकरकुण्डले ।

मौलिं पद्ं पारमेष्ठ्यं सर्वलाकाशमकरम् ॥१२॥

प्रणपाकृतमनन्ताख्यमासन यदभिष्टितः ।

धर्मज्ञानादिभिर्व्युक्तं सस्य पद्ममिशोऽप्यस्य ॥१३॥

ओजस्तशोबलद्युवं द्युस्यैतस्य गदां दधन ।

अपां तस्य दरवर तजस्तस्यं मुदूर्ध्वनम् ॥१४॥

नभानिर्मं नभस्तुभमसि चर्म तमोमयम् ।

कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयपुथिम् ॥१५॥

इन्द्रियाणि शरानाहुराहूतीरस्य स्यन्दनम् ।

सन्मात्राण्यस्त्राभिर्व्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम् ॥१६॥

मण्डलं दंबयमनं दीक्षा संस्कार आरमनः ।

परिचया भगवत् आत्मनो दुरितक्षयः ॥१७॥

भगवान् भगवन्दार्थं लीलाकमलमुदहन् ।

धम यशस्य भगवांधामरम्यजनेऽभवत् ॥१८॥

आतपत्र तु वैकुण्ठं दिवा धामाकृताभयम् ।

त्रिशूखवेदः सुपणाख्या यज्ञ नहि पुरुषम् ॥१९॥

अनपापिनी भगवती भीः साधादात्मना हर ।

१ रिम् । २ कमलसूत्रम् । ३ सर्व तत्त्वं ।

अथ खं ३-१२१-

स्वयं भगवान् अवन्त्या हैं । वे कौस्तुभमणिक यद्वा ने जीव चैतन्यरूप आत्मप्रयोजितके ही धारण करते हैं और उसकी सख्यापिनी ब्रह्मज्ञो ही वक्ष स्यध्वर भीक्षु रूपसे ॥ १० ॥ वे अपनी सत्त्व, रज आदि गुणोंवाली मयाको ननमयक रूपसे, छन्दस्य पीताम्बरके रूपसे तथा अ-उ-म-इन तीन मन्त्रावाले प्रणवको यक्षोपवीतके रूपमें धारण करते हैं ॥ ११ ॥ देशप्रियं भगवान् सांख्य और योगरूप मन्त्रावृत कुम्भश्च तथा सब व्यक्तियोंके अभय करनेवाले ब्रह्मजक ही मुकुटके रूपमें धारण करते हैं ॥ १२ ॥ मूलाकृति ही उनकी छापहम्य है, जिसपर वे विराजमान रहते हैं और धर्मज्ञानादियुक्त सत्त्वगुण ही उनके नाभिकमण्डके रूपमें वर्णित हुआ है ॥ १३ ॥ वे मन, इन्द्रिय और शरीरसम्बन्धी शक्तियोंसे युक्त प्राणतत्त्वरूप कीमोदकी गदा, नक्षत्ररूप पाशवन्त्य शङ्ख और तेजस्तत्त्वरूप सुदर्शन-चक्रको धारण करते हैं ॥ १४ ॥ आकाशके समान निर्भेद आकाशतत्त्वरूप क्षत्रम्, तमोमय अज्ञानरूप शङ्ख, काष्ठरूप शार्ङ्गचतुष और कर्मज्ञ ही तरकस धारण किये हुए हैं ॥ १५ ॥ इन्द्रियों का ही भगवान्के बाणोंके रूपमें कहा गया है । क्रिय-शक्तियुक्त मन ही रथ है । तन्मात्राण्ये रथक बाहरी भाग हैं और वर अभय आदिक मुद्राओंसे उनकी करना, अम्यगल आदि रूपमें क्रियाशील्य प्रकट होती है ॥ १६ ॥ संपन्नहृद धयश्च अग्निमण्डल ही भगवान्की पूजाका स्थान है, अन्त करणका शुद्धि ही मन्त्रदीक्षा है और अपने सम्स्त पापोंका नष्ट कर देना ही भगवान्की पूजा है ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा । समग्र एवम्, धम, यश, ज्ञानी, ज्ञान और वराय—इन ३ पदार्थोंका नाम ही त्रि-शूख-वेद है, जिससे भगवान् अपने परब्रह्मज्यें धारण करते हैं । धम और यशका फलका चैव परं व्यक्त (पंखे) क रूपसे तथा अपने निर्मय धाम वसुमन्थका द्वयरूपसे धारण किये हुए हैं । तीनों वेदोंका ही नाम गुरु है । वे ही अन्तर्गामी परब्रह्ममात्रा ब्रह्म करते हैं ॥ १८ १९ ॥ आत्मस्वरूप भगवान्की उनसे कभी न विद्वदनेवाली अत्यन्तशक्ति का ही नाम छत्रम् है । भगवान्क पापोंक

विष्णुक्तेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्यदाभिपः ।

नन्दादयोऽष्टौ द्वाः स्वाभ्यवेऽणिमाद्या हरैर्गुणाः ॥२०॥

वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम् ।

अनिरुद्ध इति प्रह्वन् मूर्तिष्वृहोऽभिधीयते ॥२१॥

स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति पुचिभिः ।

अर्धेन्द्रियाश्चक्षानैर्मयवान् परिभाष्यते ॥२२॥

अज्ञापाज्ञायुधाह्वयैर्मगवास्तश्चतुष्टयम् ।

विभर्ति स चतुर्मूर्तिर्मगवान् हरिरीश्वरः ॥२३॥

द्विजश्चपभ ह यप प्रह्वयोनिः स्वयंरक्

स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैवत ।

सृजति हरति पातोत्माश्रयमानावृषाक्षा

विभृत इव निरुक्तस्तस्परैरारमलभ्यः ॥२४॥

धीठुष्ण ठुष्णसस्त बुष्ण्युपभावनिष्ठ-

प्राजन्पवशदहनानपवर्गवीर्य ।

गाविन्द गावनिताम्रजभुस्यगीत

वीर्यभयः भवणमङ्गल पाहि भृत्यान् ॥२५॥

मायक विश्वविभृत विष्णुक्तेन पाञ्चरात्रादि अगमका
हैं । भगवान् के स्वाभाविक गुण अणिम, महिम आदि
अवसिद्धियोंको ही मन्द-सुनन्दादि आठ द्वागपात्र करते
हैं ॥ २० ॥ शौनकजी ! स्वयं भगवान् ही वासुदेव,
संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार मूर्तियोंके
रूपमें अवस्थित हैं; इसलिये उनकी चतुर्मुखके रूपमें
कहा जाता है ॥ २१ ॥ वे ही ज्येष्ठ अवस्थाके अभिमानी
'विष्णु' बनकर शम्भु, एतर्दा आदि बाह्य विष्णुओंको प्रह्व
करते और वे ही स्वप्नावस्थाके अभिमानी धौल्य बनकर
अव्यय विष्णुओंके बिना ही मन-ही-मन अनेक विष्णुओंको
देखते और प्रह्वण करते हैं । वे ही सुषुप्ति-अवस्थाके
अभिमानी 'प्राज्ञ' बनकर विषय और मनके संस्कारोंसे
युक्त अज्ञानसे बच जाते हैं और वही सबके समक्ष
'तुरीय' रहकर समस्त ज्ञानोंके अधिष्ठान रहते हैं ॥ २२ ॥
इस प्रकार अज्ञ, उपज्ञ, व्यापक और आभूषणोंसे युक्त
तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चार
मूर्तियोंके रूपमें प्रकट सर्वव्यक्तिमान् भगवान् श्रीहरि ही
कमल चित्र, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीयरूपमें प्रकटित
होते हैं ॥ २३ ॥

शौनकजी ! वही सर्वस्वरूप भगवान् वेदोंके मूल
कारण हैं, वे स्वयंप्रकाश एवं अज्ञानी महिमसे परिपूर्ण
हैं । वे अपनी मय्यासे ब्रह्मा आदि रूपों एवं नामोंसे
इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहर सम्पन्न करते हैं ।
इन सब क्रमों और नामोंसे उनका ज्ञान बन्नी आहत
नहीं होता । यद्यपि शास्त्रमें भिन्नके समूल उनका
वर्णन हुआ है अथवा, परन्तु वे अपने मर्ककों अगम-
स्वरूपसे ही प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ सविशान्दरूप
धीठुष्ण ! आप अर्जुनके सख्य हैं । आपने यदुर्ग्रथि-
मणिके रूपमें अकतार प्रह्वण करके पृथ्वीके दाही भूपात्रोंको
भस्म कर दिया है । आपका पराक्रम सदा एकतर रहता
है । ब्रजकी गंध्याध्वर्य और आपके नारदाणि प्रमी
निरस्तर आपके पवित्र यशस्वर गान करते रहते हैं ।
गोविन्द ! आपके नाम, गुण और कीर्तिप्रभ भरण करनेसे
ही जीवका मङ्गल हो जाता है । इस सम आपके सेवक
हैं । आप कृप करके हमारी रक्षा करिये ॥ २५ ॥

य इदं कथं उत्थाय महापुरुषलक्षणम् ।

तस्मिन् प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेदं गुहाधयम् ॥२६॥

सौम्य उवाच

शुक्रो यदाह भगवान् विष्णुराजाय शृण्वते ।

सौरो गणो मासि मासि नाना वसति सप्तकः ॥२७॥

तेषां नामानि कर्माणि संयुक्तानामधीश्वरैः ।

मूहि न भद्रधानानां ध्यूहं सूर्यात्मनो हरेः ॥२८॥

सून उवाच

अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम् ।

निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकपु परिषर्षते ॥२९॥

एकएव हि लोकानां सूर्यं प्रारमाऽऽदिकृद्भरिः ।

सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुभोदित ॥३०॥

काला दग्ः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः ।

द्रव्यं फलमिति भस्मन् नवधाक्ताऽज्रया हरिः ॥३१॥

आदिपु द्वांशमु भगवान् कालरूपपृक् ।

आकृतन्त्राय चरति शृण्मादशभिर्भौ ॥३२॥

वाता कृतम्यता इतिधामुक्षी रथकृद्भुने ।

मृतम्यस्तुम्बुरिति मयूमास नयन्त्यमा ॥३३॥

१ नियु ।

पुरुषोत्तम भगवान्के सिद्धभूत यद्ग, उग्रह और
आयुष आदिके इस वर्णनका जो मनुष्य भगवान्में ही
चित्त लगाकर पवित्र होकर प्राप्त कर पाठ करेगा, उसे
सबके हृदयमें रहनेवाले ब्रह्ममन्त्र परम्पराका ज्ञान हो
आयगा ॥ २६ ॥

सौम्यजीने कहा—सूतजी! भगवान् धीशुकदेवजीने
श्रीमद्भागवत-कथा सुनाते समय रात्रि परीक्षितसे (पञ्चम
स्कन्धमें) कहा था कि शनि, गन्धर्व, नाग, अस्त्रा, यक्ष,
रक्षस और देवताओंका एक सौरगण होता है और
ये सार्वे प्रत्येक मन्त्रिणोंमें बदलते रहते हैं । ये बारह
गण अपने स्वामी द्वादश आदित्योंके साथ रहकर क्या
काम करते हैं और उनके अन्तर्गत व्यक्तियोंके नाम क्या
हैं : सूर्यके रूपमें श्री स्वयं भगवान् ही हैं । इसलिये
उनके विभागको हम वही धराके साथ सुनना चाहते
हैं, आप क्या कहकर कहिये ॥ २७-२८ ॥

श्रीसूतजीने कहा—समस्त प्राणियोंके आत्म्य भगवान्
विष्णु ही हैं । अनादि अविद्यासे अर्थात् उनके वास्तविक
स्वरूपके अज्ञानसे ही समस्त लोकोंके व्यवहार-भक्तिक
प्राकृत सूर्यमण्डलका निर्माण हुआ है । वही लोकमें
भ्रमण किया करता है ॥ २९ ॥ अस्तम्ये समस्त लोकोंके
आत्म्य एव आदिकर्षा एकमात्र भीहरि ही अन्तर्मायिकरूपसे
सूर्य बने हुए हैं । वे यद्यपि एक ही हैं, तथापि अग्नियोंने
उनका बहुत रूपमें वर्णन किया है । वे ही समस्त
वैदिक क्रियाओंके मूल हैं ॥ ३० ॥ सौम्यजी ! एक
भगवान् ही मायके द्वारा कण्ड, दश, यज्ञादि क्रिया,
कर्ता, कृषा आदि करण, यज्ञादि यर्म, वेदमन्त्र, श्रवण
आदि श्रव्य और फलमन्त्रसे नौ प्रकारके कहे जाते
हैं ॥ ३१ ॥ परात्मरूपधारी भगवान् सूर्य एतद्विषय व्यवहार
टीकटीक चक्रके अति वैशिष्ट्य कहते हैं मन्त्रिणोंमें आन
भिन्न-भिन्न बारह गणोंके साथ चकर लगाया करते
हैं ॥ ३२ ॥

सौम्यजी ! पञ्च नामक मूष, कृतम्य अस्त्रा,
हनि रक्षस, वसुधि सप्त रथरथ यक्ष, पुरुष आदि
और गुणरु कर्ष—य तीन मन्त्रोंके अन्तर्गत अन्य का

अर्यमा पुमहोऽधीजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्यली ।

नारदः कण्ठनीरय नयन्त्येते सा माधवम् ॥३४॥

मित्रोऽग्निः पौरुषेयोऽथ तथको मेनका हहाः ।

रथस्वन इति श्वेते शुक्रमास नयन्त्यमी ॥३५॥

वसिष्ठो वरुणो रम्भा सङ्गजन्मस्तथा दुहुः ।

शुक्रविप्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥३६॥

इन्द्रो विश्वावसुः शोषा एलापत्रस्तथाङ्गिराः ।

प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमास नयन्त्यमी ॥३७॥

विष्वक्तानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो मृगुः ।

अनुम्लोचा शङ्खपातो नभस्सार्व नयन्त्यमी ॥३८॥

पूषा धनञ्जयो वात सुपेजः सुरक्षिस्तथा ।

वृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥३९॥

ऋतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनविप्रथा ।

विश्व ऐरावतश्चैव तपस्यास्व नयन्त्यमी ॥४०॥

अपांहुः कश्यपस्तार्क्ष्यश्चतसेनस्तयोर्वशी ।

विपुच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥४१॥

भगः स्फुजोऽरिष्टनेमिरुर्ध्व आमुष्य पञ्चमः ।

कक्रोटकः पूर्वविधिः पुष्पमासं नयन्त्यमी ॥४२॥

त्वष्टा षष्ठीकवनयः कम्पलथ तिलोत्तमा ।

व्रंक्षापेतोऽथ ऋतविद् वृतराष्ट्र इषम्भराः ॥४३॥

विष्णुरश्मतरा रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् ।

विश्वामित्रो मत्स्यपत ऊर्ध्वमासं नयन्त्यमी ॥४४॥

सम्पन्न करते हैं ॥ ३३ ॥ अर्यमा स्य, पुञ्ज अग्नि, अपौजा यक्ष, प्रहेति राक्षस, पुञ्जिकस्यली अप्सरा, नारद गन्धर्व और कण्ठनीर सूर्य—ये वैश्वस्य मासके कार्यनिर्वाहक हैं ॥ ३४ ॥ मित्र सूर्य, अग्नि अग्नि, पौरुषेय राक्षस, तथको सर्प, मेनका अप्सरा, हहा गन्धर्व और रथस्वन यक्ष—ये ज्येष्ठ मासके कार्यनिर्वाहक हैं ॥ ३५ ॥ व्याघ्रसेन कश्यप नामक सूर्यके साथ वसिष्ठ अग्नि, रम्भा अप्सरा, शङ्ख नभ यक्ष, दुहु गन्धर्व, शुक्र नाम और विप्रस्वन राक्षस अपने-अपने कार्यका निर्वाह करते हैं ॥ ३६ ॥ भ्रमण मास इन्द्र नामक सूर्यका कार्यकाहक है । उनके साथ विश्वकश्यप गन्धर्व, शोषा यक्ष, एलापत्र नाग, अङ्गिरा अग्नि, प्रम्लोच अप्सरा एव वर्य नामक राक्षस अपने कार्यका सम्पन्न करते हैं ॥ ३७ ॥ माघपदके सूर्यका नाम है विक्त्वर । उनके साथ उग्रसेन गन्धर्व, व्याघ्र, राक्षस, आसारण यक्ष, मृगु अग्नि, अनुम्लोचा अप्सरा और शङ्खपात नाग रहते हैं ॥ ३८ ॥ शौनकाजी । माघ मासमें पूषा नामके सूर्य रहते हैं । उनके साथ धनञ्जय नाग, वात राक्षस, सुपेज गन्धर्व, सुरक्षि यक्ष, वृताची अप्सरा और गौतम अग्नि रहते हैं ॥ ३९ ॥ फल्गुन मासका कार्यकाहक पर्जन्य नामक सूर्यका है । उनके साथ ऋतु यक्ष, वर्य राक्षस, भरद्वाज अग्नि, सेनविप्र अप्सरा, विश्व गन्धर्व और ऐरावत सर्प रहते हैं ॥ ४० ॥ मार्गश्रैर्ष मासमें सूर्यका नाम होता है अंशु । उनके साथ कश्यप अग्नि, तार्क्ष्य यक्ष, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, विपुच्छत्रु राक्षस और महाशङ्ख नाग रहते हैं ॥ ४१ ॥ पौष मासमें भग नामक सूर्यके साथ रत्नन राक्षस, अरिष्टनेमि गन्धर्व, ऊर्ध्व यक्ष, ऋष्य अग्नि, पूर्वविधि अप्सरा और कक्रोटक नाग रहते हैं ॥ ४२ ॥ आश्विन मासमें त्वष्टा सूर्य, कम्पल अग्नि, कम्पल नाग, तिलोत्तमा अप्सरा, ऋष्यपेत राक्षस, ऋतविप्र यक्ष और वृतराष्ट्र गन्धर्वका कार्यकाहक है ॥ ४३ ॥ तथ कर्तिकमें विष्णु नामक सूर्यके साथ अश्मतर नाग, रम्भा अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्यजित् यक्ष, विश्वामित्र अग्नि और मत्स्यपत राक्षस अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं ॥ ४४ ॥

एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः ।
 सरतां सन्धयोर्नृणां हरन्त्यहो दिने दिने ॥४५॥
 द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ पद्भिरस्य वै ।
 चरन् समन्ताच्चतुरे परब्रह्म च सन्मतिम् ॥४६॥
 सामर्ग्यमुभित्तुक्लिन्नैर्धर्म्यः संस्तुषन्त्यमुम् ।
 गन्धर्वास्त प्रधापन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥४७॥
 उभयान्वि रथ नागा ग्रामण्यो रथयोवकाः ।
 चोदयन्ति रथ पृष्ठे नैर्ध्वता बलशालिनः ॥४८॥
 घण्टालिङ्ग्याः सहस्राणि पटिर्बर्धय्योऽमलाः ।
 पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम् ॥४९॥
 एषं घनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः ।
 कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्पदः ॥५०॥

शौनकाजी । ये सप्त सूर्यरूपं भगवान्की विभूतियाँ हैं । जो लोग इनका प्रतिदिन प्रातः काल और सायंकाल स्मरण करते हैं, उनके सारे पाप नाश हो जाते हैं ॥४५॥ ये सूर्यदेव अपने छ गणोंके साथ बाह्यो महींने सर्वत्र विचरते रहते हैं और इस ओर तथा परओरके विवेक-बुद्धिका विस्तार करते हैं ॥४६॥ सूर्यभगवान्के गणोंमें अग्निदेव तो सूर्यसम्बन्धी अग्नेय, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं और गन्धर्व उनके सुश्रवण गान करते रहते हैं । अप्सराएँ आगे-आगे नृत्य करती चली हैं ॥४७॥ नागागण रस्तीकी तरफ उनके रफके करते रहते हैं । यक्षगण रथका साज सजाते हैं और कल्याण राक्षस उसे पीछेसे ढकेलते हैं ॥४८॥ इनके सिवा बालिकिन्य नामके सप्त हजार निर्मलसम्पन्न मर्द्धि सूर्यकी ओर मुँह करके उनके आगे-आगे स्तुति-पाठ करते रहते हैं ॥४९॥ इस प्रकार क्नादि, अनन्त, अक्षय्य भगवान् श्रीहरि ही कल्प-कल्पमें अपने स्वरूपका विभाग करके लोकोंको पावन-योग्य करते रहते हैं ॥५०॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे पारमहंस्यां संक्षिप्तया द्वादशस्कन्धे
 आदित्यम्युहनिर्गम नामैकदशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

श्रीमद्भगवतकी संक्षिप्त विषय-सूची

सूत उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेषसे ।
 ब्रह्मणो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्ये सनातनान् ॥ १ ॥
 एतद्वचः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम् ।
 भवक्षिर्पदं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम् ॥ २ ॥
 अत्र संकीर्तितः साक्षात् सर्वपापहरो हरिः ।
 नारायणो हृषीकेशो भगवान् सात्वतां पतिः ॥ ३ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—भगवद्रूप भगवान् धर्मसे नमस्कार है । विद्यविधत्ता भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है । अब मैं ब्रह्मणोंको नमस्कार करके श्रीमद्भगवतोक्त सनातनधर्मोंका संक्षिप्त विवरण सुनाता हूँ ॥ १ ॥ शौनकाजी अगिये । आपजोगोंने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने भगवान् विष्णुका यह अद्भुत चरित्र सुनाया । यह सभी मनुष्योंके भवग करने योग्य है ॥२॥ इस श्रीमद्भगवत्पुराणमें सबपापपाहारी स्वयं भगवान् श्रीहरि का ही संकीर्तन हुआ है । वे ही सबके हृदयमें विराजमान, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी और प्रेमी महर्षोंके श्रीचरण

१ कि । २ प्राचीन प्रसिद्धिमें सूत उवाच यह अंश 'नमो भगवाय' - 'सनातनान्' इस स्वरूपका बाद है ।
 ३ अद्भुतते ।

अत्र प्रस परं गुप्तं जगतः प्रभावाप्ययम् ।

ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम् ॥ ४ ॥

भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यं च तदाभयम् ।

परीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च ॥ ५ ॥

प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रश्नात् परीक्षितः ।

शुक्लस्य श्रद्धार्पणस्य संवादश्च परीक्षितः ॥ ६ ॥

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाख्योः ।

ब्रह्मतारानुगीर्तं च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः ॥ ७ ॥

विदुरोद्भवसंवादः क्षुद्रमैत्रेययोस्ततः ।

पुराणसंहिताप्रभो महापुरुषसंस्थितिः ॥ ८ ॥

ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकश्च ये ।

ततां ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराग्यः पुरुषो यतः ॥ ९ ॥

कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पञ्चसमुद्भवः ।

युव उदरस्यऽन्धावेर्हिरेण्मास्रवधो यथा ॥ १० ॥

ऊर्ध्वतिर्यग्वाङ्मर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च ।

अर्धनारीनरसाथ यतः स्वायम्भुवो भवतुः ॥ ११ ॥

शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा ।

संतानो धर्मपत्नीनां कदमस्य प्रजापतेः ॥ १२ ॥

हैं ॥ ३ ॥ इस श्रीमद्भागवतपुराणमें परम रहस्यमय—
अत्यन्त गोपनीय अतत्त्वका वर्णन हुआ है । उस अर्थमें
ही इस अष्टावक्र उपनिषद्, स्थिति और प्रत्यक्षी प्रतीति
होती है । इस पुराणमें उसी परमत्त्वका अनुभवपूर्ण
ज्ञान और उसकी प्राप्ति के साधनोंका स्पष्ट निर्देश है ॥ ४ ॥

शौनकाजी ! इस महापुराणके प्रथम स्कन्धमें भक्ति-
योगका मध्वीमूर्ति निरूपण हुआ है और साथ ही भक्ति-
योगसे उत्पन्न एवं उसको स्थिर रखनेवाले वैराग्यका भी
वर्णन किया गया है । परीक्षितकी कथा और व्यास-नारद
संवादके प्रसङ्गसे नारदचरित्र भी कहा गया है ॥ ५ ॥
राजर्षि परीक्षित ब्रह्मण्यका शपथ हो जानेपर किन्तु प्रकट
गङ्गातटपर अनशन-मृत लेकर बैठ गये और अतिप्रसन्न
श्रीकृष्णदेवजीके साथ किन्तु प्रकट उनका संवाद प्रारम्भ
हुआ, यह कथा भी प्रथम स्कन्धमें ही है ॥ ६ ॥

योगधारणके द्वारा शरीरत्यागकी विधि, ब्रह्म और
नारदका संवाद, अक्षतारोंकी संक्षिप्त कथा तथा महात्मा
आदिके क्रमसे प्राकृतिक सृष्टिकी उत्पत्ति आदि विषयोंका
वर्णन द्वितीय स्कन्धमें हुआ है ॥ ७ ॥

तीसरे स्कन्धमें पहले-पहल विदुरजी और उद्वहजीके
और तदनन्तर विदुर तथा मन्त्रेयजीके सम्भाम और
संवादका प्रसङ्ग है । इसके पश्चात् पुराणसंहिताके विषयमें
प्रश्न है और फिर प्रत्यक्षअर्थमें परममय किन्तु प्रकट स्थित
रहते हैं, इसका निरूपण है ॥ ८ ॥ गुणोंके क्षोभसे
प्राकृतिक सृष्टि और महात्मा आदि सत्त प्रकृति-विक्रियों-
के द्वारा कार्य-सृष्टिका वर्णन है । इसके बाद ब्रह्माण्डकी
उत्पत्ति और उसमें विराट् पुरुषकी स्थितिका स्वरूप
समझाया गया है ॥ ९ ॥ तदनन्तर स्थूल और सूक्ष्म
पञ्चमय स्वरूप, ओक-गणकी उत्पत्ति, प्रलय-समुद्रसे
पृथ्वीका उद्वार करते समय बराहभागवतक द्वारा शिरण्याश्रय
कब देवता, पशु पक्षी और मनुष्योंकी सृष्टि एवं
रुद्रोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग है । इसके पश्चात् उस अर्द्ध
मारी-नरके स्वरूपका विवेचन है, जिससे सायम्भुव मनु
और श्रियोरी अत्यन्त उत्तम जाया प्रदनी शतसंज्ञक
जन्म हुआ था । कर्म प्रजापति का चरित्र, उनसे मुनि

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मन ।

देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च भीमता ॥१३॥

नन्वमद्यसमुत्पत्तिर्दध्मश्च विनाशनम् ।

ध्रुवस्य चरितं पद्मास्पृष्टोः प्राचीनवर्हिणः ॥१४॥

नारदस्य च संवादस्तु प्रेक्ष्यतं द्विजाः ।

नामेस्ततोऽनुचरितमुपभस्य भरतस्य ॥१५॥

द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम् ।

ज्योतिषकस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः ॥१६॥

दक्षत्रयं प्रवेताम्यस्तत्पुत्रीणां च सततिः ।

वसो देवासुरनरास्तिर्यङ्मनस्यगादयः ॥१७॥

स्वाप्स्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः ।

दत्त्यम्बरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः ॥१८॥

मन्वन्तरालुद्धतं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम् ।

मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयगिरादयः ॥१९॥

कौर्म धान्वातर मात्स्यं धामनं च जगत्पते ।

क्षीरादमधनं तद्वदमृतार्थं दिवौकसाम् ॥२०॥

दशसुरमहापुटं राजवशानुकीर्तनम् ।

इत्वाङ्गजन्म तद्वत्तुः सुषुप्तस्य महात्मनः ॥२१॥

इलापाख्यानमप्राक्तं वारापाख्यानमेव च ।

ध्रुववशानुक्रयनं शशादाया नृगादयः ॥२२॥

सौकृत्यं चाप श्यातेः ककुत्स्थस्य च भीमता ।

तद्वशादस्य च मांभातुः सौभरः सगरस्य च ॥२३॥

रामस्य कासलन्द्रस्य चरितं किन्निषाणवद्म् ।

निमरत्नपरित्यागा जनकानां च सम्भवः ॥२४॥

रामस्य भागवन्मस्य नि यत्ररुणं ध्रुव ।

मृतस्य सायवशस्य ययातुर्नहुवस्य च ॥२५॥

दाप्यन्तमरतस्यापि संतनाम्स्तनुस्य च ।

पत्तिर्योक्तं जन्म, पद्मास्पृष्टं भगवान् कपिलस्य भगवतः और फिर कपिलदेव तथा उनकी माता देवहूतिके संवादका प्रसङ्ग आता है ॥ १०-१३ ॥

जौये स्कन्धमें मरीचि आदि नौ प्रजापतिर्योक्तं उत्पत्ति, दक्षयज्ञका विष्णुस, राजर्षि ध्रुव एव पृथुका चरित्र तथा प्राचीनवर्हि और नारदजीके संवादका वर्णन है । पौचर्षे स्कन्धमें प्रियव्रतका उपाख्यान, नामि, श्रुगम और भरतके चरित्र, द्वीप, नर, समुद्र, पर्वत और नदियोंका वर्णन, ज्योतिषकके विस्तार एवं पाताळ तथा नरककी स्थितिका निरूपण हुआ है ॥ १४-१६ ॥

शौनकादि आर्यो । छठे स्कन्धमें ये विषय आये हैं—प्रवेताजौते दक्षकी उत्पत्ति, दक्ष-मुत्रिर्योकी सन्तान देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पर्वत और पक्षिर्योका जन्म-कर्म, दशसुरकी उत्पत्ति और उसकी परम मति । (जब सप्तमे स्कन्धके विषय बतलाये जाये हैं—) इस स्कन्धमें मुख्यतः दैत्यराज हिरण्यकशिपु और हिरण्यशुके जन्म-कर्म एवं दैत्यशिरोमणि महात्म्य प्रह्लादके उच्छेद चरित्रका निरूपण है ॥ १७-१८ ॥

आठवें स्कन्धमें मन्वन्तरोंकी कथा, गजेन्द्रयोद्धा, विमिश्र मन्वन्तरेमि हावेवाले जगदीश्वर भगवान् विष्णुके अवतार—कूर्म, मत्स्य, वाक्मन, जम्बवन्तरि, हयग्रीव आदि, अमृत-प्राप्ति-के लिये दन्तवज्रों और दंत्योश्च समुद्र-मन्थन और दशासुर संभ्रम आदि विषयोंका वर्णन है । नवें स्कन्धमें मुख्यतः राजवशोंका वर्णन है । इत्वाङ्गुके जन्म कर्म, वज्र-विस्तार, महात्म्य सुषुप्त, शत्रु एवं तारका उपाख्यान—इन सबका वर्णन किया गया है । ध्रुववशका वृत्तान्त, शशदा और नृगा आदि राजवशोंका वर्णन, सुकर्म्यका चरित्र तथा मि, सट्वाङ्ग, मांभाता, सौमरि, सगर, पुदिमान् ककुत्स्थ और कोसलन्द्र भगवान् समस्त स्वराज्यारी चरित्रका वर्णन भी इसी स्कन्धमें है । तदनन्तर विमिश्र दक्ष-यज्ञ और जनककी उत्पत्तिसका वर्णन है ॥ १९-२४ ॥ भृगुवशिरोमणि परब्रह्मजीका धर्मिण-प्रकार, कन्दर्वासी मरुपति पुष्करका, ययाति, नहुन, दृष्टवन्तमन्थन भरत, शतनु और उनके पुत्र भीष्म आदि की संक्षिप्त कथाएँ

लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः ॥४५॥

पठितः स्तुलितवार्तः क्षुब्धः वा विवशोऽधुवन् ।

हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥४६॥

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः

भुतानुभावो व्यसन हि पुंसाम् ।

प्रविश्य चित्तं विघ्नोत्पन्नेषु

यथा तमाऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥४७॥

मृगं गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा

न कथ्यते यद् भगवानभोक्ष्यः ।

तदेव सत्त्वं तदुद्देशं मङ्गलं

तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥४८॥

तदेव रम्यं रुचिरं नव नवं

तदेव श्रेष्ठं मनसो महोत्सवम् ।

तदेव श्लोकार्णवशापणं नृणां

यदुत्तमस्फोकयशोऽनुगीयत ॥४९॥

न तद् वचमिदं पदं हरर्यशो

जगत्प्रवित्रं प्रगुणीतं कर्हिचित् ।

तद् ध्यातृतीर्थं न तु हंससेवितं

यत्रान्युतस्तत्र हि साधयोऽमलाः ॥५०॥

सन्देह नहीं कि इस अवसरपर मेने हर तरहसे भगवान् की छीछ और उनके अवतार-चरित्रोंका ही कीर्तन किया है ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य शिरसे-पकटे, फिस्सले, दुःख भोगते अथवा छीकते सम्म विवशतासे भी ऊँचे स्तरसे बंध उठता है—‘हरये नम’, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ यदि देहा, कष्ट एवं बन्धुसे अपरिच्छिन्न भगवान् श्रीकृष्णके नाम, छीज, गुण आदिका सद्कीर्तन किया जाय अथवा उनके प्रभाव, महिमा आदि का अर्थण किया जाय तो वे स्वयं ही हृदयमें आ विरजते हैं और अर्थण तथा कीर्तन करनेवाले पुत्रके सारे दुःख मिट देते हैं—छीक बैठे ही, बैठे सूर्य अन्धकारको और औंधी आँखोंको सितर-स्फिर कर देती है ॥४७॥ जिस बाणीके द्वारा षट-षट्कसी अविनाशी भगवान् के नाम, छीज, गुण आदिका उच्चारण नहीं होता, वह बाली भगवत्पूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी अस्मन्तर है और उत्तमोत्तम विपर्ययक प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी अस्वकथा है । जो बाली और वचन भगवान् के गुणोंसे परिपूर्ण रहते हैं, वे ही परम पावन हैं, वे ही मङ्गलम्प हैं और वे ही परम रम्य हैं ॥ ४८ ॥ जिस वचनके द्वारा भगवान् के परम पवित्र यशस्व गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया ज्ञान प्रकटा ॥ उससे अनन्त कल्याणक मनको परमानन्दकी अनुमृति होती रहती है । मनुष्योंका सारा शोक, पाहे वह समुद्रके समान कंध और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सरल हो जिये सुल जाता है ॥ ४९ ॥ जिस बाणीसे—पाहे वह रस, माध, अजह्मर आदिसे युक्त ही क्यों न हो—जगत्प्रवित्र पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशस्व कभी गान नहीं होता, वह तो कौओंके जिये उच्छिष्ट केंद्रोंके स्थानक सम्म अल्पत अपवित्र है । मानससरोवरनिवाली इस अथवा मध्याधाममें बिहार करनेवाले भगवत्वरणर विन्यासित परमहंस भक्त उसका कभी सेवन नहीं करते । निमज्ज हरकाले साधुजन तो यही निश्चय करते हैं,

स वाग्विसर्गो जनतापसंश्रुषो

यश्चिन्प्रतिश्लोकमथद्वन्द्वस्यपि ।

नामान्यनन्तस्य यक्षोऽङ्गितानि च

चमृन्मन्ति गायन्ति गुणन्ति साधवः ॥५१॥

नैकर्म्यमप्यभ्युत्तभावनवर्जितं

न द्याभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।

इतः पुनः क्षयदमद्रमीश्वरे

न द्यार्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् ॥५२॥

यज्ञः भियामव परिश्रमः परो

नवांशमाचारतप भुतादिषु ।

अविस्मृति श्रीधरयादयश्चो

गुणानुवादभयगादिभिर्हरेः ॥५३॥

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः

क्षिणोत्पन्नद्राणि क्षम तनाति च ।

सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं

ज्ञानं च विज्ञानविरागमुक्तम् ॥५४॥

युम द्विजाउषा वत भूरिभागा

यच्छब्ददत्तमन्यलिङ्गात्मभूतम् ।

नारायणं दृढमदेयमीश्वर

भजसभाषा भजताविवेक्य ॥५५॥

अहं च संसारित आसमत्तश्च

धृतं पुरा मे परमर्पिवन्नात् ।

प्रायोपपक्षे नृपतेः परीक्षित

सदस्मयीणां महर्षां च शृण्वताम् ॥५६॥

अहो मगवान् रहते हैं ॥ ५० ॥ इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो व्याकरण आदि की दृष्टि से दुर्गुण शब्दों से युक्त भी है, परन्तु जिसके प्रत्येक श्लोकमें मगवान् के सुप्रशस्त चक नाम अनेक हुए हैं, वह वाणी लोगों के सारे पापों का नाश कर देती है, क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणी का ध्वज, गान और कीर्तन किया करते हैं ॥ ५१ ॥ वह निम्न ज्ञान भी, जो मोक्ष की प्राप्ति का साधन साधन है, यदि मगवान् की मक्ति से रहित हो तो उसकी उन्नती शोभा नहीं होती। फिर जो कम मगवान् को वर्णन नहीं किया गया है—वह चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो—सर्वदा कमलरूप, दुःख देनेवाला ही है, वह तो शोभन—वर्णीय हो ही कैसे सकता है ॥ ५२ ॥ वर्णाश्रम के अनुसार आचरण, तपस्या और धन्यपन आदिके लिये जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाना है उसका फल है—कलत्र यथा अपना कस्ती की प्राप्ति। परन्तु मगवान् के गुण, शीघ्र, नाम आदि का ध्वज, कीर्तन आदि तो उनके धीरगुणकर्मों की अविच्छिन्न स्मृति प्रदान करता है ॥ ५३ ॥ मगवान् धीरगुणक चरणकर्मों की अविच्छिन्न स्मृति सारे पाप-तप और अमृतलोकों को नष्ट कर देती और परम धनिकता विस्तार करती है। उसी के द्वारा अन्त करण शुद्ध हो जाता है, मगवान् की मक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्य से युक्त मगवान् के स्वरूप का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ शीतवादि श्रुतिषो। आपका वह भागवान् हैं। कम्य हैं, कम्य हैं। क्योंकि आपत्त्येक बड़े प्रेम से निरन्तर अपने हृदय में सर्वान्तर्यामी, सर्वोत्तम, सर्वशक्तिमान् आदि देव सबके आराध्यदेव एवं सब दूसरे आराध्यदेव से रहित नारायण मगवान् को स्मरित करके भजन करते रहते हैं ॥ ५५ ॥ जिस समय राजर्षि परीक्षित अनशन करके बड़े-बड़े श्रुतिगोत्रों की भरी सामने सबके सामने श्रीगुरुदेव की महाराजसे श्रीमद्भागवत की कथा सुन रहे थे, उस समय वही कथक मन में भी उठी परमार्थिके मुखसे इस आश्चर्यजनक ध्वज किया था। आपत्त्येकने उसका स्मरण कराकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया। मैं इसका लिये आपत्त्येकों का वक्षः श्रुणी ॥ ५६ ॥

यथातेज्यैष्ठपुत्रस्य यदोर्ध्वोऽनुकीर्तितः ॥२६॥
 यथावतीर्णो भगवान्कृष्णारूपो खगदीश्वरः ।
 वसुदेवगृहे बन्धु संतो वृद्धिश्च गोकुले ॥२७॥
 तस्य कर्माभ्यपाराभि कीर्तितान्पुत्रपुराणैः ।
 पूतनामुपयःपानं शुकटोष्माटनं विप्रोः ॥२८॥
 दृणावर्तस्य निष्पेपस्तथैव वक्रवत्सयोः ।
 वेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संशयः ॥२९॥
 गोपानां च परित्राण दाशान्तेः परिसंघतः ।
 दमन कालिबन्धाहर्माहर्नेन्दमोक्षजम् ॥३०॥
 व्रतचयां तु कपानां यत्र तुष्टोऽप्युद्यो व्रतैः ।
 प्रसादो यद्वपस्त्रीभ्यो विप्राणां चानुतापनम् ॥३१॥
 गोवर्धनोद्धारण च शक्रस्य सुरभेरथ ।
 यद्वाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः।क्रीडा च रात्रिषु ॥३२॥
 शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धर्धोऽरिष्टस्य कश्चिनः ।
 अक्रूराममनं पश्चात् प्रेक्षानं रामकृष्णयोः ॥३३॥
 व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं वतः ।
 गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां च यो वधः ॥३४॥
 मृतस्थानयनं स्रुताः पुनः सादीपनेगुराः ।
 मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यस्मिप्रयम् ।
 कृतमुदयरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विधाः ॥३५॥
 प्रारम्भममानीतसैन्यस्य यदुद्धा वधः ।

भी नवम स्कन्धमें ही हैं । उसके अन्तमें यमलिके बड़े
 जबके यदुका वंशविस्तार कहा गया ॥ २५-२६ ॥
 शौनकादि श्रुतियो । इसी यदुवंशमें भगवति भगवन्
 श्रीकृष्णने वक्तातार ग्रहण किया था । उन्होंने वनेक
 असुरोंका संहार किया । उनकी क्षीणों इतनी हैं कि
 कोई पार नहीं पा सकता । फिर भी दशम स्कन्धमें
 उनका कुछ कीर्तन किया गया है । वसुदेवकी पत्नी देवकीके
 गर्भसे उनका जन्म हुआ । गोकुलमें मन्दबान्धाके घर
 जाकर बड़े । पूतनाके प्राणोंको दूधके स्तन पी लिया ।
 बचपनमें ही छत्रके ऊपर उठ दिया ॥ २७-२८ ॥ दम्प-
 कर्त, वक्रवत्स एवं कस्तूरकाके पीस बाख । सपरिवर
 वेनुकासुर और प्रलम्बासुरको मार डाला ॥ २९ ॥
 दानवान्को घिरे गोपोंकी रक्षा की । कश्चिन्नागाका दमन
 किया । अन्तरसे मन्दबान्धाको छुड़ाया ॥ ३० ॥ इसके
 बाद गेहियोंने भगवन्को पतिव्रतसे प्रसन्न करनेके लिये
 कृत किया और भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर उन्हें
 अभिषिक्त कर दिया । भगवन्ने पद्मपत्नियोंपर कृपा की ।
 उनके पतियों—शक्रगोको वधा पश्चात्पण हुआ ॥ ३१ ॥
 गोवर्धनधारणकी क्षीण करनेपर इन्द्र और कर्मकेतुने
 आकर भगवन्का पक्षाभितेक किया । शरद् शत्रुकी
 रात्रियोंमें व्रजसुन्दरियोंके साथ उत्सवकीया की ॥ ३२ ॥
 दुष्ट शङ्खचूड, गरिष्ठ और केरुकीके वक्की क्षीण हुई ।
 अनन्तर अक्रूजी मथुरासे बुद्धामन आये और उनके
 साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा मथुरामजीने मथुराके लिये
 प्रस्थान किया ॥ ३३ ॥ उस प्रसंगपर व्रजसुन्दरियोंने
 जो विक्षय किया था, उसका वर्णन है । राम और
 स्वाम्ने मथुरामें जाकर बहोंकी सभाकट देखी और
 कुलस्थापीक हाथी, मुष्टिक, चाणूर एवं फंस आदिक
 संहार किया ॥ ३४ ॥ सम्पदीपनि गुरुक यहाँ निष्प-
 ष्यमन करके उनके मृत पुत्रको खीटा लाये । शौनकादि
 श्रुतियो । जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें निवस
 कर रहे थे, उस समय उन्होंने उदय और बज्रामकीक
 साथ यदुपत्तियोंका सब प्रकारसे द्वेष और हित
 किया ॥ ३५ ॥ जयसम्भ फड़ बार बड़ी-बड़ी सेनाएँ
 सेवक लाया और भगवान् उनका उद्धार करके पूर्वीर

घातनं बधने द्रस्य कृशस्यस्या निषेधनम् ॥३६॥
 आदान पारिजातस्य सुधर्माया सुरालयात् ।
 रुक्मिण्या हरण युद्धे प्रमथ्य द्रियतो हरेः ॥३७॥
 हरस्य जम्भर्ण युद्धे वाणस्य मृजकुन्तनम् ।
 प्राग्न्योतिपपतिं हत्वा कन्यानां हरण च यत् ॥३८॥
 चैद्यौध्मद्रुकशान्तानां दन्तबन्धस्य दुर्मतेः ।
 शम्भरो द्विविदः पीठो मुर पञ्चजनादयः ॥३९॥
 माहात्म्यं च बभस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम् ।
 भारावतरण भूमेर्निमिषीकृत्य पाण्डवान् ॥४०॥
 विप्रशपापवेष्टेन संहारः स्वकुलस्य च ।
 उद्वस्य च संवादो वासुदवस्य चान्हव ॥४१॥
 यत्रात्मविद्या साक्षिणा प्राक्ता धर्मविनिर्णयः ।
 तथा मर्त्यपरित्याग आत्मयोगालुभावतः ॥४२॥
 पुगलध्वजचिह्न कर्जो नृणामुपसृजः ।
 चतुर्विध प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा ॥४३॥
 देहस्यागम राजर्षेर्विष्णुरातस्य भीमतः ।
 आस्त्राप्रणयनमूपमार्कण्डेयस्य सत्कथा ।
 महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य अगदात्मनः ॥४४॥
 इति चाक द्विजपृष्ठा यत्पृष्ठाऽहमिहाणि च ।

मार इत्यत्र किया । काट्ययनको मुचुकुन्दसे मस वरा
 दिया । द्वारकपुरी बसाकर रातो-रात स्वस्व वहाँ पहुँचा
 दिया ॥ ३६ ॥ स्वामसे कन्यवृक्ष एवं सुधर्मा सभा ले
 आवे । भगवान्ने देखके-दख शत्रुओंको मुद्रमें पराजित
 करके रुक्मिणीका हरण किया ॥ ३७ ॥ कृष्णसुरके
 साथ युद्धके प्रसङ्गमें महादेवजीपर ऐसा वाण छोड़ा कि
 वे जैमाई लेने लगे और इस कृष्णसुरकी मुबार्र कट
 बाड़ी । प्राग्न्योतिपुरके स्वामी यौमसुरको मारकर
 सोलह हजार कन्यारें ग्रहण कीं ॥ ३८ ॥ शिशुगाल,
 पौण्ड्रक, शास्त्र, दुष्ट दन्तध्वज, शम्भरसुर, द्विकिद, पीठ,
 मुर, पञ्चजन आदि दैत्योंके वज्र-गौरवका वर्णन करके
 यह बात कतधर्षी गयी कि भगवान्ने उन्हें कैसे-कैसे
 मारा । भगवान्ने चकने कपरीको जज दिया और फिर
 उन्होंने भारतीय युद्धमें पाण्डवोंको निमित्त बनकर पृथ्वी-
 का बहुत बड़ा भार उतार दिया ॥ ३९ ४० ॥

शौनकादि श्रियो । म्पारह्वं स्वधर्मे इति वातका
 वर्णन हुआ है कि भगवान्ने आर्योंके शत्रुके भगवान्ने
 किस प्रकार युद्धरथ संहार किया । इस स्वधर्मे
 भगवान् श्रीकृष्ण और उद्वक्त्र संवाद बड़ा ही अद्भुत
 है ॥ ४१ ॥ उसमें सम्पूर्ण आत्मज्ञान और धर्म-निर्णयका
 निरूपण हुआ है और अन्तमें यह बात बतायी गयी
 है कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने आत्मयोगके प्रभावसे
 किस प्रकार मर्त्योपलब्ध परित्याग किया ॥ ४२ ॥ बारहवें
 स्वधर्मे विभिन्न युगोंके लक्षण और उनमें रहनेवाले
 लोगोंके व्यवहारका वर्णन किया गया है तथा यह भी
 बताया गया है कि कठिणमें मनुष्योंकी गति निर्णीत
 होती है । चार प्रकारके प्रलय और तीन प्रकारकी
 उत्पत्ति का वर्णन भी इसी स्वधर्मे है ॥ ४३ ॥ इसके
 बाद परम ज्ञानी राजर्षि परीक्षित्क शरीरत्यागकी बात कही
 गयी है । तदनन्तर बंदोंके शास्त्र-विमानका प्रसङ्ग
 आया है । मार्कण्डेयजीके सुदूर पथ, भगवान्क अद्भुत
 उपायोंका स्वरूप-रस और सबके अन्तमें विद्याका
 भगवान् सूचके गनीस वर्णन है ॥ ४४ ॥ शौनकादि
 श्रिया । आपत्तमें इस स्वधर्माक अन्तरपर मुझसे जा
 पुत्र ह्य या, उसका वर्णन मैं कर दिया । इसमें

लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः ॥४५॥

पवितः स्वलितवार्तः क्षुब्धा वा विषण्णो ध्रुवन् ।

हरये नम इत्युन्नेर्मुष्यते सर्वपातकात् ॥४६॥

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः

धृतानुभावो ब्रह्मसन् हि पुंसाम् ।

प्रविश्य चित्तं विधुनोत्पश्ये

यथा तमाऽर्कोऽग्निसिवातिवातः ॥४७॥

मृगं गिरस्ता ह्यसतीरसस्कथा

न कथ्यते यद् भगवानधोद्वज ।

तदेव सत्त्वं तदुद्देव भङ्गलं

तदेव पुष्पं भगवद्गुणोदयम् ॥४८॥

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं

तदेव क्षय मनसो महोत्सवम् ।

तदेव शोकार्णवश्चापणं नृणां

यदुत्तमस्त्राकपणोऽनुगीयते ॥४९॥

न तद् वषधिश्रपदं हरेर्यशो

अगस्त्यवित्रं प्रगृणीत फर्हिषित् ।

यद् ब्राह्मतीर्थं न तु हससेवितं

यत्राभ्युतस्तत्र हि साधनोऽमलाः ॥५०॥

सन्देह नहीं कि इस अवसरपर मने हर तरहसे भगवान् की छीज और उनके अवतार-परिचोष ॥ कीर्तन किया है ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते, अथवा छीकते समय विश्रुतासे भी ऊँचे स्तरसे केव उठता है—'हरये नम', यह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ यदि देश, काल एवं वस्तुसे अपरिचित भगवान् श्रीकृष्णके नाम, छीज, गुण आदिक सद्गुणों किता जाय अथवा उनके प्रभुत्व, महिमा आदि का भ्रमण किया जाय तो वे स्वयं ही हृदयमें आ गिरते हैं और यद्यप तब कीर्तन करनेवाले पुरुषके सारे दुःख मिट देते हैं—सीक जैसे ही, जैसे सूर्य अन्धकारको और औषी बादलोंको हितर-हितर कर देती है ॥ ४७ ॥ जिस बाणीके द्वारा षट-षट्बासी अविनाशी भगवान् के नाम, छीज, गुण आदिक उच्चारण नहीं होता, वह कभी भगवत्पूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—समझीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी असत्कथा है । जो कभी और कबन भगवान् के गुणोंसे परिपूर्ण रहते हैं, वे ही परम पावन हैं, वे ही मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं ॥ ४८ ॥ जिस कथनके द्वारा भगवान् के परम पवित्र यशका गान होता है, कही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रसिद्ध नया-नया ज्ञान पक्ता है । उससे अनन्त कालतक मनको परमनन्दकी अनुमृति होती रहती है । मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह स्मृति के समान ध्वंश और गहरा क्यों न हो, उस कथनके प्रत्यक्ष स्पर्शके छिये सूख जाता है ॥ ४९ ॥ जिस बाणीसे—चाहे वह रस, माध, आङ्गहार आदिसे युक्त ही क्यों न हो—जगत्को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशका कभी गान नहीं होता, वह तो कर्मोंके छिये उच्छिद्य फेंकनेके स्थानके संगीन अत्यन्त अपवित्र है । मनस्सुखमनिकाही इस अथवा अज्ञानममें बिहार करनेवाले भगवान् के किन्दाभित परमार्थ सत्य उसका कभी सेवन नहीं करते । निर्मल हृदयवाले सधुज्जम तो कभी निरास करते हैं ।

स वाग्विसर्गो जनतापघर्षुनो

यक्षि प्रविश्लोकमक्षयस्यपि ।

नामान्यनन्तस्य यक्षोऽङ्गुष्ठानि च

चमूयन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥५१॥

नैष्कर्म्यमप्यस्युतभाववर्जितं

न ह्योभयं ज्ञानमल निरञ्जनम् ।

हुतः पुनः क्षयदमद्रीभारे

न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुचमम् ॥५२॥

यज्ञः भिषामव परिधमः परो

वर्षावमाचारतपः श्रुतादिषु ।

अविस्मृतिः भीषरपादपथयो

गुणानुवादभवणादिभिर्हरेः ॥५३॥

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः

क्षिणोत्पमद्राणि शर्म तनाति च ।

सर्वस्य हृदि परमात्मभक्ति

ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥५४॥

युषं द्विवाग्वा उत भूरिभागा

यच्छब्ददारमन्यखिलात्मधूतम् ।

नारायणं दधमदेवभीष्ट

मजसभावा भजताविषय ॥५५॥

अहं च ससारित आरमतपः

हृत् पुरा मे परमर्पितव्रत ।

प्रायोपपक्षे रुपतेः परीक्षितः

सदस्मयीणां महतां च शृण्वताम् ॥५६॥

जहाँ मगवान् रहते हैं ॥ ५० ॥ इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो व्याकरण आदिकी दृष्टिसे दूषित शब्दोंसे युक्त भी है, परन्तु जिसके प्रायेक श्लोकमें मगवान्के सुपशसूचक नाम जैसे हुए हैं, वह बाणी जोगोंके सारे पापोंका नाश कर देती है, क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही बाणीका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं ॥ ५१ ॥ वह निमल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि मगवान्की भक्तिसे रहित हो तो उसकी वक्ती शोभा नहीं होती। फिर जो कर्म मगवान्को अर्पण नहीं किया गया है—वह चाहे कितना भी ऊँचा क्यों न हो—सर्वदा अमङ्गलरूप, दुःख देनेवाला ही है, वह तो शोभन—वर्णीय हो ही कैसे सकता है ॥ ५२ ॥ वर्णाश्रमके अनुकूल आचरण, तपस्या और अष्पपन आदिके किये जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है—केवल यश अर्थात् लक्ष्मीकी प्राप्ति। परन्तु मगवान्के गुण, क्रीडा, नाम आदिका श्रवण, कीर्तन आदि तो उनके श्रीचरणकर्मोंकी अविवक्षित स्मृति प्रदान करता है ॥ ५३ ॥ मगवान् श्रीकृष्णके चरणकर्मोंकी अविवक्षित स्मृति सारे फलदाय और अमङ्गलको नष्ट कर देती और परम हानिकार विनाश करती है। उसीके द्वारा अन्त करण छूट हो जाता है, मगवान्की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैरम्यसे युक्त मगवान्के सरूपकर ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ शौनकादि श्रुतियो! आपक्षेय वड़े मगवान् हैं। धन्य हैं, धन्य हैं। क्योंकि आपक्षेय वड़े प्रमत्त निरन्तर अपने हृदयमें सर्वकर्म्यामी, सर्वात्म्य, सर्वशक्तिमन् आदिद्वय सबके आराध्यदेव एवं सर्व दूसरे आराध्यदेवसे रहित नारायण मगवान्को स्थापित करके भजन करते रहते हैं ॥ ५५ ॥ जिस समय राजर्षि परीक्षित अनशन करके वड़े-बड़े श्रुतिगोपी भरी समाने सबके सामने श्रीशुकदेवजी महाराजसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुन रहे थे, उस समय वही वैदक मने भी उन्हीं परमर्षिके मुखसे इस आश्चर्यकर श्रवण किया था। आपक्षेयोंने उसका स्मरण करायकर मुण्डार वड़ा अनुग्रह किया। मैं इसके किये आपक्षेयोंका बड़ा श्रेणी हूँ ॥ ५६ ॥

एतद् कथितं विप्राः कथनीयोरुत्तमैः ।

माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वांशुभविनाशनम् ॥५७॥

य एवं श्रवयेन्नित्यं यामश्रुण्वमनन्यधीः ।

श्राद्धावाप्तुं योऽनुशृणुयात् पुनास्यात्मानमेव सः ॥५८॥

श्राद्धपात्रेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान् भवेत् ।

पठत्यनश्नन् प्रयतस्ततो भवत्यपातकी ॥५९॥

पुष्करे मधुराणां च द्वारवत्पां यतात्मवान् ।

उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मृच्यते भवात् ॥६०॥

देवता मुनयः सिद्धाः पितरा मनवो नृपाः ।

यच्छन्ति क्षमान् गृणत शृण्वतो यस्य कीर्तनात् ॥६१॥

श्वचो यजुषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते ।

मधुकुर्याः घृतकुर्याः पयः कुर्याच्च तत्फलम् ॥६२॥

पुराणसंहितामवामधीत्य प्रयता द्विजः ।

प्रोक्तं भगवता यच्च तत्पदं परमं ब्रजत् ॥६३॥

विप्राऽधीत्यानुयात् प्रज्ञां राज्ञ्यादधिमखलाम् ।

वैश्या निधिपतित्व च गृहं शुद्धयत् पातकात् ॥६४॥

कलिमलसंहतिकालनाऽखिलघ्ना

हरिरितराग्र न गीयत क्षीरिणम् ।

इह तु पुनमगमानश्वमूर्ति

परिपठिताऽनुपदं कथाप्रसङ्गे ॥६५॥

शौनकादि श्रुतिगो ! भगवान् वासुदेवकी एक-एक-सर्वदा भ्रमण-कीर्तन करनेयोग्य है । मैंने इस प्रसङ्गमें ऊर्हीकी महिमाका वर्णन किया है, जो सारे मनुष्य संस्कारोंको धो बहाती है ॥ ५७ ॥ जो मनुष्य एक-एक-दिनसे एक पहर अपना एक क्षण ही प्रतिदिन लक्ष कीर्तन करता है और जो घट्टाके साथ इसका भ्रमण करता है, वह अवश्य ही क्षीरसहित अपने अन्त-करणसे पवित्र बना लेता है ॥ ५८ ॥ जो पुष्प-श्रवणी कक्ष एक-एक-दिन इसका भ्रमण करता है, वह दीर्घ-उ हो जाता है और जो संयमपूर्वक निराहार रहकर एक करता है, उसके पहलेके पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं, पापकी प्रवृत्ति भी नष्ट हो जाती है ॥ ५९ ॥ जो मनुष्य श्रुतियों और अन्त-करणको अपने वस्त्रमें करके उप-सर्वक पुष्कर, मधुर अपना द्वारकामें इस पुराणसंहिताका पाठ करता है, वह सारे भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥ जो मनुष्य इसका भ्रमण या उच्चारण करता है, उसके कीर्तनसे देवता, मुनि, सिद्ध, पितर, मनु और नरपति समुद्यो होते हैं और उसकी वभिक्षापूर्वक पूर्ण करते हैं ॥ ६१ ॥ श्रग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके पाठसे शास्त्रगको मधुकुर्या, घृतकुर्या और पय कुर्या (गर्द, घी एवं घृचकी नदियों वर्षात् सब प्रकारकी सुख-समृद्धि) की प्राप्ति होती है । कभी फल भीमशङ्कावतके पाठसे भी मित्रता है ॥ ६२ ॥ जो द्विज संयमपूर्वक इस पुराण-संहिताका अध्ययन करता है, उसे उसी परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन जयं भागवतने किया है ॥ ६३ ॥ इसके अध्ययनसे शास्त्रगको श्रुतमग प्रज्ञा (तात्त्वज्ञानको प्राप्त करनेवाची बुद्धि) की प्राप्ति होती है और क्षत्रियको समुद्रपर्यन्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त होता है । वैश्य कुलेन्द्र पद प्राप्त करता है और शूद्र सारे कर्तव्य सुन्दर पा जाता है ॥ ६४ ॥

भगवान् ही सबके स्वामी हैं और समस्त-के-समस्त कल्पिमेंको पक्ष करनेवाले हैं । जो तो उनका वन्दन करनेके लिये बहुत-से पुराण हैं, परन्तु उनमें सर्वा और निरुत्तर भगवान् का वन्दन नहीं मित्रता । भीमशङ्कावत महापुराणमें ता प्रत्येक कथ-प्रसङ्गमें पद-पद-पर सबसक

तमहमजमनन्तमात्मसत्त्वं

अगदुदयम्यितिसयमात्मशक्तिम् ।

पुपतिभिरञ्जकशङ्कराद्यै

दुर्वसितस्तवमभ्युत नतोऽस्मि ॥६६॥

उपचितनवशक्तिभिः स आत्म

न्युपरचितस्त्रिरञ्जकमालयाय ।

भगवत उपलब्धमात्रधाम्ने

सुरश्चपभाय नमः सनातनाय ॥६७॥

सुसुखनिमृत्तचेतास्तदुभ्युदस्ता यभाषो

ऽप्यजितरुचिरलीलाकृतसारस्तदीयम् ।

अथनुत कृपया यस्तत्त्वदीप पुराण

समस्तितृप्तिनध्न म्यासद्यनु नतोऽस्मि ॥६८॥

भगवान्का ही वर्णन हुआ है ॥ ६५ ॥ वे कम-मृष्य
आदि विकारोंसे रहित, वेश-काञ्चिद्वृत्त परिच्छेदोंसे मुक्त
एवं स्वयं आत्मतत्त्व ही हैं । जगत्की उत्पत्ति-स्थिति
प्रलय करनेवाली शक्तियों भी उनकी स्वरूपभूत ही हैं,
मिम नहीं । महा, शङ्कर, इन्द्र आदि लोकपाल भी उनकी
सुति करना लेशमात्र भी नहीं जानते । उन्हीं एकस
सम्बिधानन्दस्वरूप परमात्मको में नमस्कार करता हूँ ॥ ६६ ॥
जिन्होंने अपने स्वरूपमें ही प्रकृति आदि नौ शक्तियोंका
सङ्कल्प करके इस चराचर जगत्की सृष्टि की है और
जो इसके अधिष्ठानरूपसे स्थित हैं तथा जिनका परम-
पद केवल अनुभूतिस्वरूप है, उन्हीं देवताओंके आराध्य-
द्व सनातन भगवान्के चरणोंमें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६७ ॥
श्रीशुक्लदेवजी महाराज अपने आत्मनन्दमें ॥ निमग्न
ये । इस अलङ्कार अद्वैत स्थितिसे उनकी भेदरहि सर्वा
निष्क हो चुकी थी । फिर भी मुरलीमनोहर व्यामसुन्दर
की मधुमयी, मङ्गलमयी, स्मोहाशिणी लीलाओंने उनकी
हृदयोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने
जगत्के प्राणियोंकर कृपा करके भावसत्त्वको प्रकाशित
करनेवाले इस महापुराणका विचार किया । मैं उन्हीं
सर्वपात्रकारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुक्लदेवजीके चरणोंमें
नमस्कार करता हूँ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहत्स्यां संक्षिप्तया द्वादशस्कन्धे द्वादश-

स्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

विभिन्न पुराणोंकी दमोक्त-संख्या और श्रीमद्भागवतकी महिमा

मृत उवाच

यं प्रदा वरुणन्तरुद्रमरुतः स्तुनन्ति दिव्यं स्तवै-

षेदे साततदक्रमपानिपदैर्गायन्ति य सामगाः ।

१ मृन्मिर्षिभर । २ प्राचीन प्रतिभे यं कदा

गय है । वर्तमान प्रतिभे यं उपायार्थं कदा है उक्त वाद । भगवत्

सम्बोध उक्त है ।

श्रीशुक्लजी कहते हैं—कदा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और
मरुतग दिव्य स्तुतिपोंके द्वारा जिनके गुण-गहनमें मं-
रहते हैं; साम-सद्गीतक मन्त्र श्रुति-मुनि अङ्ग, पन्, प्रम
एवं उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा विनया मान यत्रसे
रहते हैं, योगयोग प्यानके द्वारा निश्चय एवं स्तुतिन मनसे
विश्राम्यति ये शब्द (नं १ और २) परी नत पन्
॥ १ ॥ क वाद) उक्त रम्यो

ध्यानावस्थितवद्भवेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो

यस्मान्त्वं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ १ ॥

पृष्ठे आम्रपदमन्दमन्दरगिरिग्रावाप्रकम्भयना-

भिद्रालोः कमठाकृतेर्मगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः

यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् बेलानिमेनाम्भसां

पातापातमतन्द्रितं बलनिषेर्नाद्यापि विद्याम्यति ॥ २ ॥

पुराणसंस्कारसम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने ।

दान दानस्य माहात्म्य पाठादेश निबोधत ॥ ३ ॥

प्राज्ञं दश सहस्राणि पात्रं पञ्चोनपटि च ।

धीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति श्लोकम् ॥ ४ ॥

दशष्टौ श्रीभागवत नारदं पञ्चविंशतिः ।

मार्कण्डेयं नव बाह्यं च दशपञ्च चतुःशतम् ॥ ५ ॥

चतुर्दश भविष्यं स्मृताश्च पञ्चशतानि च ।

दशष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गमेकादशैव तु ॥ ६ ॥

चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम् ।

स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दशकोर्तितम् ॥ ७ ॥

कौर्मं सप्तदशकमार्तं मात्स्यं तच्च चतुर्दश ।

एकोनविंशस्तौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु ॥ ८ ॥

एवं पुराणसंदाह्यचतुर्दश उदाहृतः ।

उत्पाद्यदशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते ॥ ९ ॥

जिनका भावमय दर्शन प्राप्त करते रहते हैं, किन्तु अब सब करते रहनेपर भी देवता, दीव्य, मनुष्य—कोई भी जिनके वास्तविक स्वरूपको पूर्णतया न जान सका उन स्वयंप्रकाश परमात्माको नमस्कार है ॥ १ ॥ जिस समय भगवान् ने कच्छास्वरूप धारण किया था और उनकी पीठपर ब्रह्मा भारी मन्दराक्षत मण्डीकी तरह घूम रहा था, उस समय मन्दराक्षत्की बहानोंके नोकसे सुनकरनेके कारण भगवान् को तनिक मुस मिला । वे सो गये और आसकी गति तनिक बढ़ गयी । उस समय उस आस-वायुसे जो समुद्रके जलको धकका गया था, उम्कत संस्कार आन भी उसमें शेष है । आन भी समुद्र उसी आसवायुके बपेड़ोंके फलस्वरूप उत्तर-भटोंके रूपमें दिन रात चक्कर उतरता रहता है, उसे ककक विद्यमान न मिला । भगवान् की बाही परमप्रभुत्वसाक्षी आसनाय वापसोंकी रक्षा करे ॥ २ ॥

श्रीनकाजी । अब पुराणोंकी कला-कला श्लोक-संख्या, उनका जोड़, श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद विषय और उसका प्रयोजन भी सुनिये । इसके दानकी प्रशस्ति तथा दान और पाठ आदिकी महिमा भी आपके गमन कीजिये ॥ ३ ॥ महापुराणमें दस हजार श्लोक, परपुराणमें पचपन हजार, श्रीविष्णुपुराणमें तेईस हजार और शिव-पुराणकी श्लोकसंख्या चौबीस हजार है ॥ ४ ॥ श्रीमद्भागवतमें अठारह हजार, नारदपुराणमें पचीस हजार, मार्कण्डेयपुराणमें बीस हजार तथा अग्निपुराणमें पंद्रह हजार, चार सौ श्लोक हैं ॥ ५ ॥ भविष्यपुराणकी श्लोक-संख्या बीस हजार, पौष सौ है और कूर्मपुराणकी अठारह हजार और विष्णुपुराणमें ग्यारह हजार श्लोक हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्मपुराणमें चौबीस हजार, स्कन्दपुराणकी श्लोक-संख्या एकपासी हजार, एक सौ है और वामन-पुराणकी दस हजार ॥ ७ ॥ कूर्मपुराण सत्रह हजार श्लोकोंका और महाभारत बीस हजार श्लोकोंका है । गरुडपुराणमें बीस हजार श्लोक हैं और ब्रह्मण्डपुराणमें बारह हजार ॥ ८ ॥ इस प्रकार सब पुराणोंकी श्लोक-संख्या कुछ भिन्नकर बार आठ होती है । उनमें श्रीमद्भागवत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अठारह हजार श्लोकोंका है ॥ ९ ॥

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपकृजे ।
 खिगाय भवमीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम् ॥ १० ॥
 आदिमन्वावसानेषु वैराग्याख्यानसमुत्तम् ।
 हरिलोकाकृपाघातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥ ११ ॥
 सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकस्वरूपम् ।
 वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठ कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥ १२ ॥
 प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम् ।
 ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥
 रात्रन्ते तावदन्यानि पुराणानि सर्वा गण ।
 यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम् ॥ १४ ॥
 सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
 तद्ब्रह्मावृतवृत्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥ १५ ॥
 निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामप्युतो यथा ।
 वैष्णवानां यथा शम्भु पुराणानामिदं तथा ॥ १६ ॥
 क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी शत्रुघ्ना ।
 तथा पुराणघातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥ १७ ॥
 श्रीमद्भागवत पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
 यस्मिन् पारमहंसमकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
 तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
 सच्चिदानन्दविषयं विचारणपरो भक्त्या विमुच्येभरः ॥

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा

तद्वेषेण च नारदाय हनये कृप्याय तद्विषया ।

द्यौनवन्ती ! यहलेश्याह भगवान् विष्णुने अपने नामि-
 कमन्तर स्थित एवं संसारसे मयभीत ब्रह्मपर परम करुणा
 करके इस पुराणको प्रकाशित किया था ॥ १० ॥ इसके आदि,
 मध्य और अन्तमें वैराग्य उपरान्त करनेवाली बहुत-सी
 कथाएँ हैं । इस महापुराणमें जो भगवान् श्रीहरिकी
 छिन्न-कथाएँ हैं, वे तो अमृतस्वरूप हैं ही, उनके सेवनसे
 सत्पुरुष और देवताओंको बड़ा ही आनन्द मिळता
 है ॥ ११ ॥ आपयोग जानते हैं कि समस्त उपनिषदोंका
 सार है ब्रह्म और आत्मका एकत्वम् अद्वितीय सत्त्वत् ।
 वही श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय है । इसके निर्माणका
 प्रयोजन है एकमात्र कैवल्य-प्रेम ॥ १२ ॥

जो पुरुष भाद्रपद मासकी पूर्णिमाके दिन श्रीमद्भागवतको
 सोनेके सिंहासनपर रखकर उसका दान करता है, उसे
 परमप्राप्ति प्राप्त होती है ॥ १३ ॥ संतोंकी सभामें तभीतक
 दूसरे पुराणोंकी शोभा होती है, जबतक सबधर्म स्वयं
 श्रीमद्भागवत महापुराणके दर्शन नहीं होते ॥ १४ ॥
 यह श्रीमद्भागवत समस्त उपनिषदोंका सार है । जो इस
 रस-सुभाषा पान करके छक चुका है, वह किसी और
 पुराण-शब्दमें रस नहीं सकता ॥ १५ ॥ जैसे नदियोंमें
 गङ्गा, देवताओंमें विष्णु और देवताओंमें श्रीशङ्करजी सर्वश्रेष्ठ
 हैं, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत है ॥ १६ ॥ द्यौनकादि
 ऋषियों । जैसे सपूर्ण क्षत्रमें कदाही सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही
 पुराणोंमें श्रीमद्भागवतका स्थान सबसे ऊँचा है ॥ १७ ॥
 यह श्रीमद्भागवतपुराण सर्वथा निर्दोष है । भगवान् के
 धरे मध्य वैष्णव इससे बड़ा प्रेम करते हैं । इस पुराणमें
 जीकमुक्त फलमहसंकेत सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय एवं मयके लेशसे
 रहित ज्ञानका गान किया गया है । इस प्रणयों सबसे
 बड़ी निष्कलता यह है कि इसका नैष्यत्यं अर्थात् कर्मोंकी
 व्यत्ययितक निवृत्ति भी ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिसे युक्त है ।
 जो इसका धरण, पठन और मनन करने लगाता है, उसे
 भगवान् की भक्ति प्राप्त हो जाती है और वह मुक्त हो
 जाता है ॥ १८ ॥

यह श्रीमद्भागवत भगवत्तत्त्वज्ञानका एक श्रेष्ठ प्रकाशक
 है । इसकी तुल्यतामें और काही भी पुराण नहीं है । इसे
 यहलेश्याह स्वयं भगवान् नारायणने ब्रह्मजीके उद्ये
 प्रकट किया था । फिर उन्होंने ही महाजीके रूपसे देवर्षि
 नारदको उपदेश किया और नारदजीके रूपमें भगवान्

योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्भासाय कारुण्यवत्
 तच्छुद्धं विमलं विद्याकममृतसत्त्वपरं भीमहि ॥१९॥
 नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साखिने ।
 य इदं कृपया कस्मै व्याचक्षत् शृणुष्व ॥२०॥
 योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे ।
 तसारसर्पदण्डं यो विष्णुरात्ममृषुचत् ॥२१॥
 भव भवे यथा भक्तिः पादमास्तव आधते ।
 तथा कुरुष्व देवस्य नाथस्त्व नो यतः प्रभो ॥२२॥
 नामसकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
 प्रणामा दूःखद्वयमनस्त नमामि हरिं परम् ॥२३॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको । तदनन्तर उन्होंने ही व्यास-
 रूपसे योगीन्द्र शुकादेवजीको और श्रीशुकदेवजीके रूपसे
 व्यस्त करुणावश राजर्षि परीक्षितको उपदेश किया ।
 वे भगवान् परम शुद्ध एवं मायामग्नसे रहित हैं । शोक
 और मृत्यु उनके पाससक नहीं पटक सकते । हम सब
 उन्हीं परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका ध्यान करते हैं ॥१९॥
 हम उन सर्वस्रक्षी भगवान् वासुदेवको नमस्कार
 करते हैं, जिन्होंने कृपा करके मोक्षमिथ्या की भ्रमाजीको
 इस श्रीमद्भागवत महापुराणका उपदेश किया ॥ २० ॥
 साख ही हम उन योगिराज ब्रह्मस्वरूप श्रीशुकदेवजीको
 भी नमस्कार करते हैं, जिन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण
 सुनाकर संसार-सर्पसे उसे हुए राजर्षि परीक्षितको मुक्त
 किया ॥ २१ ॥ देवताओंके आराध्यदेव सर्वेश्वर ! आप
 ही हमारे एकमात्र स्वामी एवं सर्वस्व हैं । अन्ध आप ऐसी
 कृपा कीजिये कि बार बार जन्म ग्रहण करते रहनेवाले भी
 आपके चरणमर्ममें हमारी अविच्छन्न भक्ति बली रहे ॥२२॥
 जिन भगवान्के नामोंका सङ्कीर्तन सारे पापोंको सर्वथा
 नष्ट कर देता है और जिन भगवान्के चरणोंमें वात्सल्यमर्पण,
 उनके चरणोंमें प्रणति सर्वदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे
 शक्त कर देती है, उन्हीं परमवत्सलस्वरूप श्रीहरिको मैं
 नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैष्णविक्यामयदशसाहस्र्यां

प्रारम्भस्यां संहितायां द्वाविंशत्तमः

प्रपादशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इति द्वादश स्कन्धः समाप्तः

मम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः

एतन्मया यस्तु गोविन्द तुभ्यमा समर्पय ।

तन स्वर्गमिहमाह इति मया यथाभावीम् ॥

श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

—१२३४५६७—

अथ प्रथमोऽध्यायः

—३४५६७८९०—

परीक्षित् और वज्रनाभका समलग्नः शशिचन्द्रमुनिके मुखसे भगवान्की लीलाके रहस्य और
ब्रह्मभूमिके महत्त्वका वर्णन

व्यास उवाच

श्रीसच्चिदानन्दचतुर्वर्ण्ये

कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।

विश्वेन्द्रवत्साननिरोधहेतवे

तुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिष्ठम् ॥ १ ॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिय् ।

कथामुत्तरसत्त्वाद्ब्रह्मला श्रवणोऽब्रुवन् ॥ २ ॥

कपय उवाच

वज्रं भीमपुरे दधे स्वपौत्रं हस्तिनापुरे ।

अभिविष्य गते राक्षि सौ कथं किं च चक्रतुः ॥ ३ ॥

सूत उवाच

नारायण नमस्कृत्य नरं चैव नराधमम् ।

दर्शौ सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ ४ ॥

महापथं गत राक्षि परीक्षित् पृथिवीपतिः ।

मगाम मधुरां विप्रा वज्रनाभदिदृश्या ॥ ५ ॥

महर्षि व्यास कहते हैं—जिनका स्वरूप है सच्चिदानन्दचतुर्वर्ण्य, जो अपने सौन्दर्य और मधुर्यादि गुणोंसे सबका मन अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं और सदा-सर्वदा अनन्त सुखकी वर्षा करते रहते हैं, जिनकी ही शक्तिसे इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं—उन भगवान् भीकृष्णको हम भक्तिरसका वात्सादन करनेके लिये नित्य-निरन्तर प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

नैमिषारण्यक्षेत्रमें श्रीसूतजी स्वस्व-विषयसे अपने आसन-पर बैठे हुए थे । उस समय भगवान्की अमृतमयी मीठकथाके रसिक, उसके रसात्स्वदनमें अत्यन्त कुशल शौनकादि श्रुतिर्योंने सूतजीको प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया ॥ २ ॥

श्रुतिर्योंने पूछा—सूतजी ! धर्मराज युधिष्ठिर जब श्रीमधुरामण्डलमें अनिरुद्धनन्दन कज्ज और हस्तिनापुरमें अपने पौत्र परीक्षितका राज्याभिषेक करके हिमालयपर चले गये तब राजा वज्र और परीक्षितने कैसे-कैसे कौन-कौन-सा कर्म किया ? ॥ ३ ॥

श्रीसूतजीने कहा—भगवान् नारायण, नरोत्तम नर, देवी सरस्वती और महर्षि व्यासका नमस्कार करके छुट्टा बिछा होकर भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इतिहास-पुराणकय जयका उच्चारण करना चाहिये ॥ ४ ॥ शौनकादि श्रुतिर्योंने । जब धर्मराज युधिष्ठिर आदि पाण्डव-गण खगशीलक लिये हिमालय चले गये, तब सम्राट परीक्षित् एक दिन मधुरा गये । उनकी इस यात्राका उद्देश्य इतना ही था कि वहाँ चक्रवर्ति वज्रनामसे निरुद्ध

पितृव्यममर्तं ज्ञात्वा वज्रः प्रेमपरिप्लुतः ।

अभिगम्याभिवाद्याथ निनाय निखमन्दिरम् ॥ ६ ॥

परिष्वन्य स तं वीरः कृष्णैकगतमानसः ।

रोहिण्याद्या हरेः पत्नीर्वधन्दायतनागत ॥ ७ ॥

ताभिः सम्मानितोऽत्यर्थं परीक्षित् पृथिवीपतिः ।

विभ्रान्तः सुखमासीनो वज्रनाममुवाच ह ॥ ८ ॥

परीक्षितुवाच

तात त्वत्पितृभिर्नूनमस्तिपुत्रितामहाः ।

उवृधता भूरिदुःसौवादहं च परिरक्षितः ॥ ९ ॥

न पारयाम्यहं तात साधु कृत्योपक्रमतः ।

त्वाम्भक्तं प्रार्थयाम्यङ्गमुलं राज्ञ्येऽनुयुन्यताम् ॥ १० ॥

क्रोधसैन्यादिष्वपि चिन्ता तथादिदमनादिष्वपि ।

मनसापि न कुर्याते सुसेव्याः किन्तु भावतः ॥ ११ ॥

निवेद्य मयि कर्तव्यं सर्वाभिपरिर्वर्जितम् ।

धुवैतत् परमप्रीतो वज्रस्तं प्रत्युवाच ह ॥ १२ ॥

वज्रनाम उवाच

राजन्नुचितमेतत्ते मदस्मात् प्रभाषत ।

त्वत्पित्रोपकृतभाहं धनुर्विद्याप्रदानतः ॥ १३ ॥

तस्माभास्यापि न चिन्ता धात्रं ददमुपपुत्र ।

शुभ जायें ॥ ५ ॥ जब वज्रनामको यह समाचार भास्य
हुआ कि मेरे पिताद्वय परीक्षित् मुझसे मित्रनेके भिने
जा रहे हैं, तब उनका हृदय प्रेमसे भर गया । उन्होंने
मगरसे जागे बढ़कर तमकरी आशानी की, चरणोंमें प्रणम
किया और बड़े प्रेमसे उन्हें अपने गलेमें छे बांधे ॥ ६ ॥
वीर परीक्षित् मगवान् श्रीकृष्णके पास प्रेमी मन्त्र थे ।
उनका मन निरप-निरन्तर आनन्दमय श्रीकृष्णचरित्रोंमें ही
रमल रहता था । उन्होंने मगवान् श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाम-
का बड़े प्रेमसे आखिज्जन किया । इसके बाद अन्त-पुरमें
जाकर मगवान् श्रीकृष्णकी रोहिणी आदि पत्नियोंको नमस्कार
किया ॥ ७ ॥ रोहिणी आदि श्रीकृष्ण पत्नियोंने भी सन्नत
परीक्षित्कृत अत्यन्त सम्मान किया । वे विभ्रम करके
जब आरामसे बैठ गये, तब उन्होंने वज्रनामसे यह बात
कही ॥ ८ ॥

वज्र परीक्षित्ने कहा—हे तात । तुम्हारे पिता
वीर पितामहोंने मेरे पिता-पितामहको बड़े-बड़े सङ्घर्षोंसे
बचाया है । मेरी रक्षा भी उन्होंने ही की है ॥ ९ ॥
प्रिय वज्रनाम । यदि मैं उनके उपकारोंका बदला नुकरना
चाहूँ तो किसी प्रकार नहीं नुकर सकता । इसलिये मैं
तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम सुखपूर्वक अपने राज-
काजमें लगे रहो ॥ १० ॥ तुम्हें अपने खजानेकी,
सेनाकी तथा शत्रुबलोंके दबावे आदिकी तनिक भी चिन्ता
न करनी चाहिये । तुम्हारे लिये कोई कर्तव्य है तो केवल
एक ही, वह यह कि तुम्हें अपनी इन माताओंकी तब
प्रमत्त मन्त्रीमूर्ति सेव्य करते रहना चाहिये ॥ ११ ॥
यदि कभी तुम्हारे ऊपर कोई बाध-विपत्ति आये कष्ट
किसी कारणवश तुम्हारे हृदयमें व्यक्ति क्रोधमय अनुभव
हो, तो मुझसे बतकर निश्चिन्त हो जाना; मैं तुम्हारी
सारी चिन्ताएँ दूर कर दूँगा । सन्नत परीक्षित्की यह
बाल सुनकर वज्रनामको कभी प्रसन्नता हुई । उन्होंने
राजा परीक्षित्से कहा— ॥ १२ ॥

वज्रनामने कहा—महाराज । आप मुझसे जो कुछ
कह रहे हैं, वह सर्वथा आपके अनुकूल है । आपके
किन्तन भी मुझे धनुर्वेदकी शिक्षा देकर मेरा महान्
उपकार किया है ॥ १३ ॥ इसलिये मुझ किसी बातकी
तनिक भी चिन्ता नहीं है; क्योंकि उनकी हयासे मैं

किन्त्वेका परमा चिन्ता तत्र किञ्चिद्विचार्यताम् ॥१४॥

माधुरे त्वभिषिक्तोऽपि स्थितोऽहं निर्धने वने ।

क गता वै प्रजपत्न्या यत्र रत्नं प्ररोचते ॥१५॥

इत्युक्तो विष्णुरातस्तु नन्दादीनां पुरोहितम् ।

शाण्डिल्यमाश्रुद्वावाशु वज्रसंवेदनुचये ॥१६॥

अथोदञ्चं विहायाशु शाण्डिल्यः समुपागतः ।

पूजितो वज्रनामेन निपसादासनोचये ॥१७॥

उपोद्वारतं विष्णुरातमक्षराशु ततस्त्वसौ ।

उवाच परमप्रीतस्तापुभौ परिसान्त्वयन् ॥१८॥

शाण्डिल्य उवाच

मृशुतं दक्षविचौ मे रहस्यं ब्रजभूमिजम् ।

ब्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्वा व्यापनाह ब्रज उच्यते ॥१९॥

गुणास्तीतं परं ब्रह्म व्यापकं ब्रज उच्यते ।

सदानन्दं परं न्योतिर्वृक्षानां पदमव्ययम् ॥२०॥

तस्मिन् नन्दस्मजः कृष्णः सदानन्दोऽज्ञविग्रहः ।

आत्माराधनासकामः प्रेमाकैतनुभूयते ॥२१॥

आत्मा तु राधिक तस्य तयैव रमणादसौ ।

आत्माराधयता प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥२२॥

कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गापाय गोपिकाः ।

निरया सर्वे विहारया आसकामस्ततस्त्वयम् ॥२३॥

क्षत्रियोचित शूरीरतासे मन्त्रीमौलि सम्पन्न हूँ । मुझे केवल एक बातकी बहुत बड़ी चिन्ता है, आप उसके सम्यन्धमें कुछ विचार कीजिये ॥ १४ ॥ यद्यपि मैं मयुर-मण्डलके राज्यपर अभिषिक्त हूँ, तथापि मैं यहाँ निज-न कर्ममें ही रहता हूँ । इस बातका मुझे कुछ भी पता नहीं है कि यहाँकी प्रजा कहाँ चली गयी, क्योंकि राज्यका सुख तो सभी है, जब प्रजा रहे ॥ १५ ॥ अब ब्रजनाम्ने परीक्षितसे यह बात कही, तब उन्होंने कज्जाम्बर सन्देश मित्रानेके किये महर्षि शाण्डिल्यको बुलवाया । ये ही महर्षि शाण्डिल्य पहले नन्द आदि गोपोंके पुरोहित थे ॥ १६ ॥ परीक्षितका सन्देश पाते ही महर्षि शाण्डिल्य अपनी कुटी छोड़कर यहाँ आ पहुँचे । ब्रजनाम्ने विधिपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया और वे एक ऊँचे आसनपर विराजमान हुए ॥ १७ ॥ राजा परीक्षितने ब्रजनाम्बरि बात उन्हें कह सुनायी । इसके बाद महर्षि शाण्डिल्य बड़ी प्रसन्नतासे उनको सन्त्वना देते हुए कहने लगे—॥ १८ ॥

शाण्डिल्यजीने कहा—प्रिय परीक्षित और ब्रजनाम ! मैं तुमसेगोसे ब्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ । तुम दक्षविच होकर सुनो । 'ब्रज' शब्दका अर्थ है व्यपति । इस ब्रज-वचनके अनुसार व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'ब्रज' पड़ा है ॥ १९ ॥ सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे वर्तित जो परमा है, वही व्यापक है । इसलिये उसे 'ब्रज' कहते हैं । यह सदानन्दस्वरूप, परम अज्ञेतिर्यय और अविनाशी है । नीलमुक्त पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं ॥ २० ॥ इस परमास्वरूप ब्रजधाममें नन्दनन्दन मयाशु श्रीकृष्णका निवास है । उनका एक-एक अङ्ग सच्चिदानन्दस्वरूप है वे वास्तव्यरूप और आसकाम हैं । प्रेमासमें डूबे हुए सत्सिक्कन ही उनका अनुभव करते हैं ॥ २१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—राधिक; उनसे रमण करनेके कारण ही राहस्य-रसके मर्मज्ञ बानी पुरुष उन्हें 'आत्माराध' कहते हैं ॥ २२ ॥ 'काम' शब्दका अर्थ है कामना—अभिलाषा । ब्रजमें भगवान् श्रीकृष्णके वाञ्छित पदार्थ हैं—गौरों, मालबाज, गोपियों और उनके साथ स्वीत्य-विहार आदि, वे सब-के-सब यहाँ निष प्राप्त हैं । इसीसे श्रीकृष्णको 'आसकाम' कहा गया

तव कृष्णसलान्यत्र स्फुरन्तु मधुनुग्रहात् ॥४०॥

वज्र संसेवनतस्त उद्भवस्त्वां मिलिष्यति ।

ततो रहस्वमेतस्मात् प्राप्स्यसि त्वं समावृक्तः ॥४१॥

एवमुक्त्वा तु द्वाण्डिभ्यो गतः कृष्णमनुसरन् ।

विष्णुरातोऽथ वज्रं परं प्रीतिमवापतुः ॥४२॥

मगवान्की कीलाके जितने भी स्थल है, सकनी है
टीक-टीक पहचान हो जायेगी ॥ ४० ॥ वज्रनाम ! इस
वज्रभूमिका सेवन करते रहनेसे तुम्हें किसी दिन उद्भव
मिल जायेगा । फिर तो अपनी माताओंसहित तुम उन्हीं
इस भूमिका तथा मगवान्की कीलाका रहस्य भी जान
लोगे ॥ ४१ ॥

मुमिकर द्वाण्डिभ्यनी उन दोनोंको इस प्रकार सम्झ-
मुझाकर मगवान् कीलाका स्मरण करते हुए अपने
आत्मस्वर बने गये । उनकी बातें सुनकर राजा परीक्षित
और वज्रनाम दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४२ ॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकशीतिसाहस्रपां संहितायां द्वितीये देव्यष्टक्ये श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
शाण्डिल्योपदिष्टमन्त्रिमाहात्म्यवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

पशुना और श्रीकृष्णपक्षियोंका सवाह, कीर्तनोत्सवमें उद्भवकीका प्रकट होना

कथन उक्तः

द्वाण्डिभ्यो तौ समादिभ्य परावृत्ते स्वमाभमम् ।

किं कथं भक्तुस्तौ तु राजानौ स्रत उद्भवद ॥ १ ॥

सूत उवाच

तवस्तु विष्णुरातेन धणीमृश्या सहस्रशः ।

इन्द्रप्रम्यात् समानास्य मधुराम्यानमापिताः ॥ २ ॥

माधुरान् ब्राह्मणांस्तथ बानरांश्च पुरातनान् ।

विद्याय माननीयत्वं तेषु म्यापितवान् स्वराट् ॥ ३ ॥

वज्रस्तु तत्सहायेन द्वाण्डिभ्यस्याप्यनुग्रहात् ।

गाविन्दापगोपीनां लीलासानान्यनुक्रमात् ॥४॥

विद्यापानिधयाऽऽम्यास्य प्रामाणावाप्तयद्वाहन् ।

कुण्डकपादिपूर्तेन शिनादिम्यापनन च ॥ ५ ॥

अपिपयि पूषा—सूतजी ! जब वह कतखपये कि
परीक्षित और वज्रनामको इस प्रकार आदेश देकर जब
द्वाण्डिभ्य मुनि जाने आत्मस्वरों को छोड़ गये, तब उन दोनों
राजाओंने कैसे-कैसे और कौन-कौन-सा काम किया ॥१॥

सूतजी कहने लगे—तदनन्तर महाराज परीक्षितने
इन्द्रप्रम्य (दिन्धी) से हजारों बड़े-बड़े सेयोंको पुष्पाकर
मधुरामें खानेकी कहा दी ॥ २ ॥ इनके वतिरिक्त सम्राट्
परीक्षितने मधुराम्बुजके बाह्यमें तथा प्राचीन बानरोंको,
जो मगवान्के बड़े ही प्रेमी थे, पुष्पाकर और उन्हें आदरके
योग्य सम्झकर मधुरा-नगरीमें बसाया ॥ ३ ॥ इस प्रकार
राजा परीक्षितकी सहायता और महर्षि द्वाण्डिभ्यकी
दृष्टासे वज्रनामने कृष्ण उन सभी स्थानोंकी खोज की,
जहाँ मगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी गोप-गोपियोंके साथ
नाना प्रकारकी खेलें करते थे । खेलस्थानोंका टीक
टीक निश्चय हो जानेपर उन्होंने वहाँ-वहाँकी खेलके
अनुसार उस-उस स्थानका नाम-करण किया, मगवान्के
बीमाधिप्राहोंकी स्थापना की तथा उन-उन स्थानोंपर बनेको
गोब बसाये । स्थान-स्थानपर मगवान्के नामसे मुग्ध और
दुर्लभ सुखाये । पुष्प और बगीचे लगाये, शिव आदि

गोविन्दहरिदेवादिस्वरूपारोपणेन च ।

कृष्णैकमर्कं स्वे राज्ये ततान च मुमोक्ष ह ॥ ६ ॥

प्रजास्तु मुदितास्तस्य कृष्णकीर्तनतत्पराः ।

परमानन्दसम्पन्ना राज्यं तस्यैव तुष्टुवुः ॥ ७ ॥

एकदा कृष्णपत्न्यस्तु श्रीकृष्णविरहातुराः ।

कालिन्दी मुदितां वीक्ष्य पप्रच्छूर्गतमत्तराः ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णतत्त्व उचुः

यया वयं कृष्णपत्न्यस्तथा त्वमपि शोभने ।

वयं विरहदुःखार्तास्त्वं न कालिन्दि तव वद ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा सममाना सा कालिन्दी वाक्यमप्रवीत् ।

सापत्न्यं वीक्ष्य तच्चासां करुणापरमानसा ॥ १० ॥

कालिन्द्युवाच

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमारमास्ति रात्रिकः ।

तस्या दाक्षप्रभाक्षेण विरहोऽस्मान् न संसृशेत् ॥ ११ ॥

तस्या एवांशविलसता सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः ।

नित्यसम्भाग एवास्ति तस्या साम्प्रत्ययागत ॥ १२ ॥

स एव सा स रैवास्ति रंशी तत्प्रमरूपिका ।

देवताओंकी स्थापना की ॥ ४५ ॥ गोविन्ददेव, हरिदेव आदि नामोंसे भगवद्विग्रह स्थापित किये । इन सब शुभ कर्मोंके द्वारा वज्रनामने अपने राज्यमें सब ओर एकमात्र श्रीकृष्णमूर्तिप्रतिष्ठा प्रचार किये और वही ही आनन्दित हुए ॥ ६ ॥ उनके प्रनानमोंको भी बड़ा आनन्द था, वे सदा भगवान्‌के पधुर नाम तथा श्रीधर्मोंके कीर्तनमें संलग्न हो परमानन्दके समुद्रमें डूबे रहते थे और सदा ही वज्रनामके राज्यकी प्रशंसा किये करते थे ॥ ७ ॥

एक दिन भगवान् श्रीकृष्णकी विरह-वेदनासे व्याकुल सोच्छ्र हृत्कार रानियों अपने प्रियतम पतिदेवकी चतुर्पट्टरानी कालिन्दी (यमुनाजी) को आनन्दित देखकर सरहमावसे उनसे पूछने लगीं । उनके मनमें सौमित्रा-बाहका लेशमात्र भी नहीं था ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णकी रानियोंमें कहा—भक्ति कालिन्दी । जैसे हम सब श्रीकृष्णकी धर्मपत्नी हैं, वैसे ही तुम भी तो हो । हम तो उनकी विद्याप्रिमें लगी जा रही हैं, उनके वियोग-दुःखसे हमारा हृदय व्यथित हो रहा है, किन्तु तुम्हारी यह स्थिति नहीं है, तुम प्रसन्न हो । इसका क्या कारण है ? कल्याणी ! कुछ बताओ तो सही ॥ ९ ॥

उनका प्रसन्न सुनकर यमुनाजी हँस पड़ीं । आप ही यह सोचकर कि मेरे प्रियतमकी पत्नी होनेके कारण ये भी मेरी ही बहिनें हैं, विषम नहीं, उनका हृदय दयासे भरित हो उठे । वस्तु वे इस प्रकार कहने लगीं ॥ १० ॥

यमुनाजीने कहा—अपनी आत्माने ही रक्षा करनेके कारण भगवान् श्रीकृष्ण आश्रयमें हैं । और उनकी आश्रय हैं—श्रीराधाजी । मैं दासीकी मोस्ति राधाजीकी सेवा करती रहती हूँ; उनकी सेवाका ही यह प्रमाण है कि विरह हमारा स्पर्श नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी भित्ती भी रानियों हैं, सबकी-सब श्री-राधाके ही अंशका विस्तार हैं । भगवान् श्रीकृष्ण और राधा सदा एक दूसरेके सम्मुख हैं, उनका परस्पर नित्य-संयोग है, इसलिये राधाक स्वरूपमें अंशत विद्यमान जो श्रीकृष्णकी अन्य रानियों हैं, उनका भी भगवान्‌का नित्य-संयोग प्राप्त है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण ही राधा हैं और राधा ही श्रीकृष्ण हैं । उन दोनोंका प्रेम ही बंधी है ।

रहस्यं त्विदमेतस्य प्रकृतेः परमुच्यते ।

प्रकृत्या खेलतस्तस्य लीलान्यैरनुभूयते ॥२४॥

सर्गस्थित्यप्यया यत्र रञ्जःसञ्चतमोगुणैः ।

लीलैर्द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी ॥२५॥

वास्तवी तत्सर्ववेद्या जीवानां व्यावहारिकी ।

आद्यां विनाद्वितीया न द्वितीया नाद्यगा क्वचित् ॥२६॥

युगयोगोचरयं तु तल्लीला व्यावहारिकी ।

यत्र मूर्त्तयो लोका भुवि मापुरमण्डलम् ॥२७॥

अत्रैव ब्रजभूमिः सा यत्र तच्च सुगोपितम् ।

भासते प्रमपूर्णानां कदाचिदपि सर्वतः ॥२८॥

कदाचिद्वापारस्यान्ते रहोलीलाधिकारिणः ।

समवेता यदात्र स्युर्यवेदानीं तदा हरिः ॥२९॥

स्वैः सहावतरेत् स्वेष्टु समावेद्यार्थमीप्सिताः ।

तदा देवादयाऽप्यन्यऽवसरन्ति समन्ततः ॥३०॥

सर्वेषां बाष्पिष्ठं कृत्वा हरिरन्तर्हितोऽभवत् ।

तेनात्र त्रिविधा लोकाः स्थिताः पूर्वं न संशयः ॥३१॥

नित्यास्तस्मिन्प्रसङ्गैव द्वाद्यावधेति भेदतः ।

है ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्य-श्रील प्रकृतिसे परे है । वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलें लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी श्रेष्ठ अनुभव करते हैं ॥ २४ ॥ प्रकृतिके साथ हमेशा कीलामें ही रजोगण, सत्त्वगुण और तमोगुणके साथ स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है । इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्की मील्य दो प्रकारकी है— एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी ॥ २५ ॥ वास्तवी कीला सत्संवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके एक भक्तजन ही जानते हैं । जीवोंके सामने जो कील होती है, वह व्यावहारिकी कीला है । वास्तवी श्रेष्ठके बिना व्यावहारिकी कील नहीं हो सकती, परन्तु व्यावहारिकी कीलका वास्तविक कीलके गुणमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ तुम दोनों भगवान्की जिस श्रेष्ठता देख रहे हो, वह व्यावहारिकी कील है । यह पूर्ण और सर्ग आदि लोक इसी कीलके अन्तर्गत हैं । पृथ्वीपर यह मयुरमण्डल है ॥ २७ ॥ यही वह ब्रजभूमि है, जिसमें भगवान्की वह वास्तवी रहस्य-श्रील गुप्तस्वरूपे होती रहती है । वह कभी-कभी प्रेमपूर्ण हृदयवाले एक भक्तोंसे सब और दीखन लगती है ॥ २८ ॥ कभी अर्द्धसर्पे रूपके अन्तमें जब भगवान्की रहस्य-श्रीलके अधिकारी भक्तजन यहाँ एकत्र होते हैं, जैसा कि इस समय भी कुछ काल पहले हुए थे, उस समय भगवान् अपने अन्तर्गत प्रेमियोंके साथ अवतार लेते हैं । उनके अवतारका यह प्रयोजन होता है कि रहस्य-श्रीलके अधिकारी भक्तजन भी अन्तर्गत परिकरोंके साथ सम्मिलित होकर कीला-रसका आस्वादन कर सकें । इस प्रकार जब भगवान् अवतार प्रणय करते हैं, उस समय भगवान्के अभिमत प्रेमी देवता और भूति आदि भी सब और अवतार लेते हैं ॥ २९ ३० ॥

अभी-अभी जो अवतार हुआ था, उसमें भगवान् अपने सभी प्रेमियोंकी अस्मितापूर्ण पूर्ण करके सब अन्तर्गत हो चुके हैं । इससे यह निश्चय हुआ कि यहाँ पहले तीन प्रकारके भक्तजन उपस्थित थे, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३१ ॥ उन तीनोंमें प्रथम तो उनकी श्रेणी है, जो भगवान्के निष्प 'अन्तरङ्ग' पार्षद हैं—विनम्र भगवान्से कभी विभोग होता ही नहीं । दूसरे वे हैं, जो

दद्यादास्तेषु कृष्णेन दारिकां प्रापिताः पुरा ॥३२॥

पुनमासलमार्गेण स्वाधिकारपु चापिताः ।

तच्छिष्यं सदा कृष्णः प्रेमानन्दैकस्त्वपिणः ॥३३॥

विधाय स्वीयनित्येषु समावेशितवास्तदा ।

नित्याः सर्वेऽप्ययोग्येषु दर्शनभावात्तां गताः ॥३४॥

व्यावहारिकलीलास्वास्तत्र यस्माधिकारिण ।

पश्यन्त्यत्रागतास्तस्माभिर्जनैः समन्ततः ॥३५॥

तस्माच्चिन्ता न ते काया वज्रनाभ मदाज्ञया ।

वामपात्रं बहून् ग्रामान् समिद्विन् भविष्यति ॥३६॥

कृष्णलीलानुसारं कृत्वा नामानि मन्त ।

त्वया पात्रपता ग्रामान् संसेव्या भूरिय परा ॥३७॥

गायत्रेण दीपपूरं मथुरायां महानने ।

नन्निग्रामं शृङ्गलानां काया राज्यन्यतिस्त्वया ॥३८॥

नपत्रिद्राणि कृष्णान्कृष्णान् मस्यन्तम् ।

राज्यं प्रजा मुमन्मन्मन् च प्राप्ता भविष्यसि ॥३९॥

मण्डिदानन्दभूरा त्वया मन्वा प्रपन्नतः ।

एकमात्र भगवान्को पानकी इष्टा रखते हैं—उनकी अन्तरङ्ग-सील्यमें अपना प्रवेश चाहते हैं । तीसरी धेनीमें देवता आदि हैं । इनमेंसे जो देवता आदिके अंशसे अश्वतीर्ण हुए थे, उन्हें भगवान् न ब्रजभूमिसे हटाकर पहले ही हारका पहुँचा दिया ग ॥ ३२ ॥ फिर भगवान्ने ब्राह्मणक श्रापसे उत्पन्न मूसलको निमित्त बनाकर पदुपुच्छमें अश्वतीर्ण देवताओंको स्वर्गमें भेज दिया और पुन अपने-अपने अधिकारपर स्थापित कर दिया । तथा जिन्हें एकमात्र भगवान्को ही पानकी इष्ट थी, उन्हें प्रेमानन्द स्वरूप बनाकर श्रीकृष्णन सदाके लिये अपने नित्य अन्तरङ्ग पार्श्वमें सम्मिलित कर लिया । जो नित्य पायद हैं, वे यद्यपि यहाँ गुप्तकूपसे होनेवाली नित्यधीनमें सदा ही रहते हैं, परन्तु जो उनके दर्शनक अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये वे भी अदृश्य हो गये हैं ॥ ३३ ३४ ॥ जो लोग व्यावहारिक जीवामें स्थित हैं, वे नित्यलीलाका दर्शन पानके अधिकारी नहीं हैं, इसलिये यहाँ आनन्दोंको सब बार निबन बन—सूना-ही-सूना दिखायी देता है, क्योंकि वे वास्तविक गीर्गमें स्थित मज्जननोंको देख नहीं सकते ॥ ३५ ॥

इसलिये वज्रनाभ ! तुम्हें तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिये । तुम मेरी आज्ञासे यहाँ बहुत-से गाँव बसाओ, इससे निश्चय ही तुम्हारे मनोरथोंकी सिद्धि होगी ॥ ३६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने बहों बड़ी लीला की है, उसक अनुसार उस स्थानका नाम रखकर तुम अन्तर्गत गाँव बसाओ और इस प्रकार दिव्य ब्रजभूमिका भन्नाभिति सेवन करत रहो ॥ ३७ ॥ गायत्रि, गीर्गपुर (ईश) मयुर, महावन (गायुत्र), नन्निग्राम (नन्निगाँव) और शृङ्गलानु (गरसाना) आदिमें तुम्हें अपने लिये छत्रवती बनवानी चाहिये ॥ ३८ ॥ उन-उन स्थानोंमें रहकर भगवान्की लीलाक मन्त्र नगी, पवन, पाणी, सगर और मुण्ड तथा शुभ्र-यन आदिक सेवन करत रहना चाहिय । ऐसा करनेसे तुम्हारे राज्यमें प्रजा बहुत ही सन्पन्न होगी और तुम भी अत्यन्त प्रसन्न रहोगे ॥ ३९ ॥ यह सबभूमि मण्डिदानन्द १ है जो तुम्हें प्रयत्नरूपक इस भूमिसे सेवन करना चाहिये । मैं आसीन हूँ, यदि श्रासे

तन कृष्णस्यतान्यत्र स्फुरन्तु मदनुग्रहात् ॥४०॥

वज्र संसेवनादस्य उद्भवस्त्वां मिलिष्यति ।

ततो रहस्यमेतस्मात् प्राप्स्यसि त्वं समातृक ॥४१॥

एवमुक्त्वा तु शशिर्बल्यो गतः कृष्णमनुसारन् ।

विष्णुरातोऽथ वज्रश्च परं प्रीतिमवापतुः ॥४२॥

मगवान्की कील्यके जितने भी लछ हैं, उनकी दुने ठीक-ठीक पहचान हो जायेगी ॥ ४० ॥ वज्रनाम । इस वज्रभूमिका सेवन करते रहनेसे तुम्हें किसी दिन ठडकरी मिल जायेगी । फिर तो अपनी माताओंसहित तुम ऊहासे इस भूमिका तथा मगवान्की कील्यका रहस्य भी जान लगे ॥ ४१ ॥

मुनिवर शशिर्बल्यभी उन दोनोंको इस प्रकार सम्मान-भुक्ताकर मगवान् कील्यका स्मरण करते हुए अपने आश्रमपर लगे गये । उनकी बातें सुनकर राजा परीक्षित और वज्रनाम दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४२ ॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्रशो संहितायां द्वितीये दैव्यखण्डे भीमप्राग्वतसमाहृत्ये
शशिर्बल्यो गतः कृष्णमनुसारन् नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

यमुना और भीमप्राग्वतियोंका सहायः कीर्तनोत्सवमें वज्रकीका प्रकट होना

कथ्य ठपु।

शशिर्बल्ये तौ समादिश्य परावृत्ते स्वमाभमम् ।

किं कथं चक्रतुस्तौ तु राजानौ स्रजं तव वद ॥ १ ॥

सूत उवाच

तवस्तु विष्णुरातेन भ्रंशीमुख्या सहस्रशः ।

इन्द्रप्रम्यात् समानाप्स्य मयुराभ्यान्मापिताः ॥ २ ॥

माधुरान् प्राक्षार्जस्तत्र शनरांश्च पुरातनान् ।

विधाय माननीयत्वं तेषु म्यापितवान् स्वराट् ॥ ३ ॥

वज्रस्तु तत्सहायेन शशिर्बल्यस्याप्यनुग्रहात् ।

गान्दिगापगार्पितां लीलाभ्यानाप्यनुक्रमात् ॥४॥

विद्याप्राप्तिधयाऽऽभ्यास्य प्रामानावासायश्च वदन् ।

शृण्वद्वादिपतेन विद्यादिभ्यापनन च ॥ ५ ॥

शशिर्बल्ये पूछा—सूतजी ! अब यह कत्तहाये कि परीक्षित और वज्रनामको इस प्रकार आदेश देकर जब शशिर्बल्य मुनि जाने आश्रमको लौट गये, तब उन दोनों राजाओंने कैसे-कैसे और कौन-कौन-सा काम किया ॥ १ ॥

सूतजी कहने लगे—तदनन्तर महायज परीक्षितने इन्द्रप्रम (दिल्ली) से हजारों बड़-बड़ के श्रेष्ठोंको बुलवाकर मयुराये रहनेकी गइल थी ॥ २ ॥ इनके अतिरिक्त सचर परीक्षितने मयुराभ्यासके प्रासनों तथा प्राचीन बल्लोंको, जो भगवान्के बड़े ही प्रेमी थे, बुलवाये और उन्हें आदरके पांय समझकर मयुरा नगरीमें बसाया ॥ ३ ॥ इस प्रकार राजा परीक्षितकी सहायता और महर्षि शशिर्बल्यकी कृपासे वज्रनामने कमश उन सभी स्थानोंकी खोज की, जहाँ मगवान् भीष्मण अपने प्रेमी गोप-गोमित्रीके साथ नाना प्रकारकी लीलाएँ करते थे । कील्यस्थानोंका ठीक ठीक निश्चय हो जानेपर उन्होंने वहाँ-वहाँकी कील्यके अनुसार उध-उध स्थानका नाम-करण किया, मगवान्के लीलाविमर्शोंकी स्थापना की तथा उन-उन स्थानोंपर अपने-अपने गौर शताये । स्थान-स्थानपर मगवान्क नामसे कुछ और कुछें सुनवाये । कुछ और स्थानोंने मगवाये, शिवा आदि

गोविन्दहरिदेवादिस्वरूपारोपणेन च ।

कृष्णकर्मणि स्वे राज्ये सदान च सुमोद ह ॥ ६ ॥

प्रवास्तु मुदितस्तस्य कृष्णकीर्तनवत्पराः ।

परमानन्दसम्पन्ना राज्यं तस्यैव तुष्टुषुः ॥ ७ ॥

एकदा कृष्णपत्न्यस्तु श्रीकृष्णविरहातुराः ।

कालिन्दी मुदिता वीक्ष्य पद्मच्छूर्गावतमत्सराः ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णपत्न्य उचुः

यथा वयं कृष्णपत्न्यस्तथा त्वमपि शोभने ।

वयं विरहदुःखातास्त्वं न कालिन्दि सवृ वद ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा सयमाना सा कालिन्दी वाक्यमप्रवीत ।

सापत्न्यं वीक्ष्य तच्चास्तां कष्टमापरमानसा ॥ १० ॥

कालिन्दुवाच

आत्मारामस्य कृष्णस्य भुवमात्मास्ति राधिका ।

तस्मा दासप्रभावण विरहोऽस्मान् न सस्पृशेत् ॥ ११ ॥

तस्मा एवांशविस्तराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिका ।

नित्यसम्भाग एवास्ति तस्मा साम्मुख्ययोगत ॥ १२ ॥

स एव सा स र्ववास्ति पंथी तत्प्रमरुपिका ।

देवताओंकी स्थापना की ॥ ४-५ ॥ गोविन्ददेव, हरिदेव
आदि नामोंसे मगधदिग्ध स्थापित किये । इन सब काम
कर्मोंके द्वारा वज्रनाम्ने अपने राज्यमें सब ओर एकग्र
श्रीकृष्णमूर्तिकका प्रचार किया और बड़े ही आनन्दित
हूए ॥ ६ ॥ उनके प्रवाजनोंको भी बड़ा आनन्द था,
वे सदा भगवान्‌के मधुर नाम तथा लीलाओंके कीर्तनमें
लक्ष्म हो परमानन्दके समुद्रमें डूबे रहते थे और सदा ही
वज्रनामके राज्यकी प्रशंसा किया करते थे ॥ ७ ॥

एक दिन मगधान् श्रीकृष्णकी विरह-वेदनासे व्याकुल
सोझ हवार रानियों अपने प्रियतम पतिदेवकी चतुर्थ
पटरानी कालिन्दी (यमुनाजी) को आनन्दित देखकर
सरलभावसे उनसे पूछने लगीं । उनके मनमें सौम्या-
बाहका लेशमात्र भी नहीं था ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णकी रानियोंने कहा—वहिन कालिन्दी ।
जैसे हम सब श्रीकृष्णकी धर्मपत्नी हैं, वैसे ही तुम भी
तो हो । हम तो उनकी किशोरीमें बची जा रही हैं,
उनके विरोग-दुःखसे हमारा हृदय व्यथित हो रहा है,
किन्तु तुम्हारी यह स्थिति नहीं है, तुम प्रसन्न हो ।
इसका क्या कारण है ? कृष्णजी ! कुछ बताओ तो
सही ॥ ९ ॥

उनका प्रश्न सुनकर यमुनाजी हँस पड़ी । छाप ही
यह सोचकर कि मेरे प्रियतमकी पत्नी होनेके कारण ये
भी मेरी ही वहिन हैं, विरह गयीं, उनका हृदय दयासे
क्षुब्ध हो उठ्य । अतः वे इस प्रकार कहने लगीं ॥ १० ॥

यमुनाजीने कहा—अपनी आत्मामें ही रमण करनेके
कारण मगधान् श्रीकृष्ण आग्राम हैं । और उनकी आत्मा
है—श्रीराधाजी । मैं दासीकी भौति राधाजीकी सेवा करती
रहती हूँ, उनकी सेवाका ही यह प्रभाव है कि विरह
हमारा स्पर्श नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ मगधान्
श्रीकृष्णकी नितनी भी रानियों हैं, सब-सब श्री-
राधाके ही अंशका विस्तार हैं । मगधान् श्रीकृष्ण और
राधा सग एक दूसरेके सम्मुख हैं, उनका परस्पर नित्य
संयोग है, इसलिये राधाका लक्ष्मण अंश विपमान जा
श्रीकृष्णकी अन्य रानियों हैं, उनको भी भगवान्‌का नित्य
संयोग प्राप्त है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण ही राधा हैं और
राधा ही श्रीकृष्ण हैं । उन दोनोंका प्रेम ही पंथी है ।

श्रीकृष्णनखचन्द्रालिसङ्गावली स्मृता ॥१३॥

रूपान्तरमगृह्णन्ता तयोः सेवातिलालसा ।

रुक्मिण्यादिसमावेशो मयाग्रेव विलोकितः ॥१४॥

युष्माकमपि कृष्णन खिरहो नैव सर्वतः ।

किन्तु एवं न जानीय तस्माद् व्यङ्ग्यलतामिताः ॥१५॥

एवमेवात्र गोपीनामक्रूरावसरे पुरा ।

विरहाभास एवास्तीदुदयेन समाहितः ॥१६॥

तेनैव भवतीनां चेद् भवेदत्र समागमः ।

तर्हि नित्यं स्वकान्तेन विहारमपि लप्स्यथ ॥१७॥

सूत उवाच

एवमुक्तास्तु ताः पत्न्यः प्रसन्नां पुनस्तुवन् ।

उद्धवासोक्तेनात्मप्रेष्ठसङ्गमलालसा ॥१८॥

श्रीकृष्णपत्न्य उवाच

धन्यासि सखि कान्तेन यस्या नैवास्ति विध्युति ।

यतस्ते स्तार्धसंसिद्धिस्तथा दास्यो बभूविम ॥१९॥

परन्तुद्धवलाभे स्वादसस्तसर्वार्थसाधनम् ।

तथा वदस्व कालिन्दि सरलाभोऽपि यथा भवेत् ॥२०॥

सूत उवाच

एवमुक्ता तु कालिन्दी प्रयुवाचाथ तास्तथा ।

सरन्ती कृष्णचन्द्रस्य फलाः पादशरूपिणीः ॥२१॥

तथा राधाकी प्यारी सखी चन्द्रावली भी श्रीकृष्ण-वार्योके
नक्षत्राणी चन्द्रमाधोकी सेवामें व्यसक्त रहनेके कारण ही
‘चन्द्रावली’ नामसे कही जाती है ॥ १३ ॥ श्रीराध
और श्रीकृष्णकी सेवामें उसकी बड़ी लालसा, बड़ी लगन
है, इसीलिये वह कोई दूसरा स्वरूप धारण नहीं करती।
मैंने यहीं श्रीराधामें ही रुक्मिणी आदिको समावेश देखा
है ॥ १४ ॥ तुमजोगोंका भी सर्वशामें श्रीकृष्णके साथ
वियोग नहीं हुआ है, किन्तु तुम इस बातको इस रूपमें
जानती नहीं हो, इसीलिये इतनी व्याकुल हो रही हो ॥ १५ ॥
इसी प्रकार पहले भी जब जबूर श्रीकृष्णको तन्दर्शोके
मधुरामें ले आये थे, उस अवसरपर जो गोपियोंको श्रीकृष्णसे
विरहकी प्रतीति हुई थी, वह भी वास्तविक विरह नहीं,
केवल विरहका आभास था। इस बातको जबूरक ने
नहीं जानती थीं, क्योंकि उन्हें क्या कुछ था, फिर जब
उद्धवजीने आकर उनका समाधान किया, तब वे इस
बातको समझ सकीं ॥ १६ ॥ यदि तुम्हें भी उद्धवजीका
संस्पर्श प्राप्त हो जाय, तो तुम सब भी अपने प्रियतम
श्रीकृष्णके साथ नित्यविहारका सुख प्राप्त कर लेंगी ॥ १७ ॥

सूतजी कहते हैं—श्रुतिगण ! जब उन्होंने इस
प्रकार समझाया, तब श्रीकृष्णकी पत्नियाँ सदा प्रसन्न
रहनेवाली यमुनातीरे पुन बोल्यीं। उस समय उनके
हृदयमें इस बातकी बड़ी आलसा थी कि किसी उपायसे
उद्धवजीका दर्शन हो, जिससे हमें अपने प्रियतमके नित्य-
संयोगका सौभाग्य प्राप्त हो सके ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णपत्नियोंने कहा—सखी ! तुम्हारा ही
जीवन धन्य है, क्योंकि तुम्हें कभी भी अपने प्राणलाभके
वियोगका दुःख नहीं भोगना पड़ता। जिस श्रीराधिकामासीकी
हृदयसे तुम्हारे अमीष अर्चकी सिद्धि हुई है, उनकी अब हम-
लोग भी दासी हुईं ॥ १९ ॥ किन्तु तुम अभी कहा चुकी
हो कि उद्धवजीके मित्रमोर ही हमारे सभी मनोरथ पूर्ण
होंगे इसलिये काळिन्दी ! अब ऐसा कोई उपाय बताओ,
जिससे उद्धवजी भी दीर्घ ही मिल जायें ॥ २० ॥

सूतजी कहते हैं—श्रीकृष्णकी रानियोंने जब यमुना-
तीरे इस प्रकार कहा तब वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी
सोवह कथ्यओंका चिन्तन करती हुई उनसे कहने

साधनमूर्तिर्वदरी व्रजता कृष्णन मन्त्रिणे प्रोक्ता ।

तत्रास्ते स तु साध्याचक्षुनं ग्राह्यैस्तोक्तान् ॥२२॥

फलभूमिर्मर्षभूमिर्दत्ता तस्मै पुरैष सगृह्यम् ।

फलमिदं विरोहित सचदिहेदानीं स उद्धवोऽलक्ष्यः ॥२३॥

गोवर्धनगिरिनिफटे सत्सीत्यले तत्रजःकायः ।

तत्रस्याङ्गुरवल्लीरूपपास्ते स उद्धवो नूनम् ॥२४॥

आत्मात्सवरूपत्वं इतिपा तस्मै समर्पितं निषतम् ।

तस्मात्तत्र सित्वा कुसुमसर परिसर सवजाभिः ॥२५॥

वीणावेणुमृदङ्गैः धीर्वनकाभ्यादिसरससज्जीतैः ।

उत्सव आरम्भभ्या हरितलाकान् समानाभ्या ॥२६॥

तत्राद्रवावलाको भविता नियत महात्सवे विनिते ।

यौष्माकीणामभिमवसिद्धिं सविता स एष सवितानाम्
मृत उवाच

इति धृत्या प्रसभास्ताः कालिन्दीमभिवन्द्य तत् ।

कथयामासुरागत्य ब्रजं प्रति पराक्षितम् ॥२८॥

मयी ॥ २१ ॥ 'जब मगवान् भीकृष्ण अपने परमधामको
पवारन लगे, तब उन्होंने अपने मन्त्री उद्धवसे कहा—

'उद्धव ! साधना करनेकी भूमि है बदरिकाश्रम, अतः
अपनी साधना पूर्ण करनेके लिये तुम यहीं जाओ ।'
मगवान्की इस आज्ञाके अनुसार उद्धवजी इस समय
अपने साक्षात् स्वरूपसे बदरिकाश्रममें निराकृम्य हैं और
यहाँ जानेवाले विद्यासुखीकोई मगवान्क बताये हुए
ज्ञानका उपदेश करते रहते हैं ॥ २२ ॥ साधनकी
फलरूप भूमि है—ब्रजभूमि, इसे भी इसके रहस्योत्प्रेक्षित
मगवान्ने पहले ही उद्धवको दे दिया था । किन्तु वह
फलभूमि यहाँसे मगवान्क अवतर्जन होनेके साथ ही
स्थूल इष्टिसे परे जा चुकी है, इसलिये इस
समय यहाँ उद्धव प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पड़ते ॥ २३ ॥

सिद्धि भी एक स्थान है, जहाँ उद्धवजीका दर्शन हो सकता
है । गोवर्धन पर्वतके निकट मगवान्की नीलसहचरी
गोपियोंकी विहारस्थली है, यहाँकी वन्य, अङ्गुर और
केपोंके रूपमें अवश्य ही उद्धवजी यहाँ निवास करते
हैं । वन्योंके रूपमें उनके रहनेका यही उद्देश्य है कि
मगवान्की प्रियतमा गोपियोंकी चरमरज उनपर पड़ती
रहे ॥ २४ ॥ उद्धवजीके सम्बन्धमें एक निश्चित बात
यह भी है कि उन्हें मगवान्ने अपना उत्सव-संस्कार
प्रदान किया है । मगवान्का उत्सव उद्धवजीका धर्म है,
वे उससे अवकाश नहीं रह सकते, इसलिये अब तुम्हारा
ब्रजनाभको साथ लेकर यहाँ जाओ और कुसुमसरोंके पास
रहो ॥ २५ ॥ मगवान्कोई मृदङ्गी एकत्र करके वीणा,
वेणु और मृदङ्ग आदि बाजेके साथ मगवान्क नाम और
कीर्तनके कीर्तन, मगवत्सम्बन्धी कृष्ण कथाओंके ध्वज
तथा मगवद्रूपगानसे युक्त सरस संगीतोग्राह्य महान् उत्सव
आरम्भ करो ॥ २६ ॥ इस प्रकार जब उस महान् उत्सवका
विचार होगा, तब निश्चय है कि यहाँ उद्धवजीका दर्शन
मिलेगा । वे ही भवामीति तुम सब लोगोंके मनोरूप पूरा
करोगे ॥ २७ ॥

सुखभी कहत हैं—यमुनाजीकी वधव्ये ॥ बातें
सुनकर श्रीकृष्णजी रानिये बहुत प्रसन्न हुईं । उन्होंने
यमुनाजीको प्रणाम किया और यहाँसे छीजकर ब्रजनाम
तथा परीक्षितसे वे सारी बातें कह सुनायी ॥ २८ ॥

उद्यम उवाच

धन्योऽसि राजन् कृष्णैकभक्त्या पूर्णोऽसि नित्यदा ।

यस्त्वं निमग्नचित्तोऽसि कृष्णसङ्कीर्तनोत्सवे ॥ २ ॥

कृष्णपत्नीषु वज्रे च दिष्टया प्रीतिः प्रवर्तिता ।

तवोचितमिदं ताव कृष्णदत्ताङ्गवैभवं ॥ ३ ॥

द्वारकास्थेषु सर्वेषु धन्या एते न सशयः ।

येषां ब्रह्मनिष्ठासाय पार्यमादिष्टवान् प्रभुः ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णस्य मन्त्रधन्वो राधास्यप्रभयान्वित ।

तद्विहारवनं गोभिर्मण्डपान् रोचते सदा ॥ ५ ॥

कृष्णचन्द्र सदा पूर्णस्तस्य पौड्यं याः कलाः ।

चित्सहस्रप्रभाभिन्ना अत्रास्ते तत्स्वरूपता ॥ ६ ॥

एवं वज्रस्तु राजेन्द्र प्रपन्नभयभञ्जकः ।

श्रीकृष्णदक्षिणे पादे स्थानमेतस्य वर्तते ॥ ७ ॥

अवतारेऽत्र कृष्णेन योगमायातिभाविताः ।

तद्वलेनात्मविस्तृत्वा सीदन्त्येते न सशयः ॥ ८ ॥

श्रुते कृष्णप्रकाशं तु स्वात्मबोधो न कस्यचित् ।

तत्प्रकाशस्तु जीवानां मायया पिहितः सदा ॥ ९ ॥

यथाविज्ञे द्वापरान्ते स्वयमेव यदा हरिः ।

उत्सारयेद्भिजां मायां तत्प्रकाशं भवत्तदा ॥ १० ॥

उद्यमजीने कहा—राजन! तुम धन्य हो, एकमात्र श्रीकृष्णकी भक्तिसे ही पूर्ण हो। क्योंकि श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तन के मङ्गोत्सवमें तुम्हारा हृदय इस प्रकार निमग्न हो रहा है ॥ २ ॥ वज्रे सौभाग्यकी बात है कि श्रीकृष्णकी पत्नीयोंके प्रति तुम्हारी भक्ति और वज्रनाम्पर तुम्हारा प्रेम है। तात! तुम जो कुछ कर रहे हो सब तुम्हारे अनुरूप ही है। क्यों न हो, श्रीकृष्णने ही तुम्हें शरीर और वैभव प्रदान किया है, अतः तुम्हारा उनके प्रपौत्रपर प्रेम होना स्वाभाविक ही है ॥ ३ ॥ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समस्त द्वारकावासियोंमें ये लोग सबसे बड़कर धन्य हैं जिन्हें ब्रजमें निवास करानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको आज्ञा की थी ॥ ४ ॥ श्रीकृष्णका मन्त्रकी चन्द्रमा राधाके मुखकी प्रमारूप चौदहीसे युक्त हो उनकी लीलमूर्ति हृन्दासनको अपनी किरणोंसे सुशोभित करता हुआ यहाँ सदा प्रकाशमान रहता है ॥ ५ ॥ श्रीकृष्णचन्द्र नित्य परिपूर्ण हैं, प्राकृत चन्द्रमाकी भाँति उनमें वृद्धि और क्षयरूप विकार नहीं होते। उनकी जो सौख्य कलाएँ हैं, उनसे सबको चिन्मय किरणें निकलती रहती हैं, इससे उनके सबको भेद हो जाते हैं। इन सभी कलाओंसे युक्त, नित्य परिपूर्ण श्रीकृष्ण इस ब्रजभूमिमें सदा ही विद्यमान रहते हैं, इस भूमिमें और उनके स्वरूपमें कुछ अन्तर नहीं है ॥ ६ ॥ राजेन्द्र परीक्षित! इस प्रकार विचार करनेपर सभी ब्रजवासी भगवान् के अङ्गमें स्थित हैं। शरणागतोंका भय दूर करनेवाले जो वे वज्र हैं, इनका स्थान श्रीकृष्णके दाहिने चरणमें है ॥ ७ ॥ इस अवतारमें भगवान् श्रीकृष्णने इन सबको अपनी योगमायासे अभिभूत कर लिया है, उसीके प्रभावसे ये अपन स्वरूपको भूल गये हैं और इसी कारण सदा दुखी रहते हैं। यह बात निस्सन्देह ऐसी ही है ॥ ८ ॥ श्रीकृष्णका प्रकाश प्राप्त हुए बिना किसीको भी अपन स्वरूपका बोध नहीं हो सकता। जीवोंके अन्तःकरणमें जो श्रीकृष्णान्तरका प्रकाश है, उसपर सदा मायाका पर्दा पड़ा रहता है ॥ ९ ॥ अद्वाइसमें शरणके अन्तमें जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही सामने प्रकट होकर अपनी मायाका पर्दा उठा लेंगे, तब सम्यं जीवोंका उनका

स तु कालो व्यतिक्रान्तस्तेनेदमपर शृणु ।

अन्यदा तत्प्रकाशस्तु श्रीमद्भागवताद् भवेत् ॥११॥

श्रीमद्भागवत शास्त्र यत्र भागवतैर्यदा ।

स्वीर्यते भूयते चापि भीकृष्णस्तत्र निश्चितम् ॥१२॥

श्रीमद्भागवतं यत्र श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ।

तत्रापि भगवान् कृष्णावल्लबीभिर्विराजते ॥१३॥

भारते मानवं जन्म प्राप्य भागवत न ये ।

धृतं पापपराधीनैरात्मघातस्तु तैः कृतः ॥१४॥

श्रीमद्भागवत शास्त्रं नित्यं ये परिसेवितम् ।

पितुर्मातुश्च भाषायाः कुलपङ्क्तिं सुवारिता ॥१५॥

विद्याप्रकाशो विप्राणां राज्ञां शत्रुजयो विश्वाम् ।

धन स्वास्थ्यश्च गृहाणां श्रीमद्भागवताद् भवेत् ॥१६॥

यापितामररपां च सर्ववाञ्छितपूरणम् ।

अतो भागवत नित्यकान्सेवेत भागवान् ॥१७॥

अनकजन्ममसिद्ध श्रीमद्भागवतं लभेत् ।

प्रकाशो भगवद्भक्तकृद्वत्तत्र जायते ॥१८॥

मांस्यापनप्रसादात् श्रीमद्भागवत पुरा ।

यद्व्यातिदत्तान् म तनाहं कृष्णवल्लभः ॥१९॥

आग्न्याविर्कां य तनाकां विष्णुरात निशायताम् ।

घायत तम्प्रदायां यि यत्र भागवतधृत ॥२०॥

गृहस्थविराज

इथाभक्त यदा कृष्णा मायापुष्पकपशूक् ।

ममा विष्णुः प्रिभाषि रज मयनवागुर्णः ॥२१॥

प्रकाश प्राप्त होता है ॥ १० ॥ किन्तु अब वह समय

तो भीत गया, इसलिये उनके प्रकाशकी प्राप्ति के लिये

अब दूसरा उपाय बतलवाया जा रहा है, सुनो । अर्द्धांश

उपरके अतिरिक्त समयमें यदि कोई श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश

पाना चाहे, तो उसे वह श्रीमद्भागवतसे ही प्राप्त हो

सकता है ॥ ११ ॥ भगवान् के भक्त जहाँ अब कभी

श्रीमद्भागवत शास्त्रका स्मरण और ध्यान करते हैं, वहाँ

उस समय भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् रूपसे विद्यमान

रहते हैं ॥ १२ ॥ वहाँ श्रीमद्भागवत के एक पद या

श्लोकका ही पाठ होता है, वहाँ भी श्रीकृष्ण अपनी

प्रियतमा गोपियों के साथ विद्यमान रहते हैं ॥ १३ ॥ इस

पवित्र भारतवर्षमें मनुष्यका जन्म पाकर भी बिन कर्मों

पापके अधीन होकर श्रीमद्भागवत नहीं सुना, उन्होंने

मानो अपने ही हाथों अपनी हत्या कर ली ॥ १४ ॥

बिन बह्मणिगोने प्रतिदिन श्रीमद्भागवत श्रवणसे

किन्ना है, उन्होंने अपने पिता, माता और पत्नी—तीनोंके

ही कुक्क भलीभाँति उधार कर दिया ॥ १५ ॥ श्री-

मद्भागवत के साध्याय और ध्यानसे आसनोंको विष्णुका

प्रकाश (बोध) प्राप्त होता है, अत्रिय लोग शत्रुओंपर

विजय पाते हैं, वैश्योंको धन मिलता है और शूद्र सब—

नीरोग बने रहते हैं ॥ १६ ॥ शिष्यों तथा अन्यत्र आदि अन्य

लोगोंकी भी इच्छा श्रीमद्भागवतसे पूर्ण होती है; अतः जो

ऐसा मायवान् पुरुष है, जो श्रीमद्भागवतका नित्य श्री सेवन

न करेगा ॥ १७ ॥ ॥ अनेकों जन्मोंतक साधना करते

करते जब मनुष्य पूरा सिद्ध हो जाता है, तब उसे

श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति होती है । भगवन्तसे मायानुस

प्रकाश मिलता है, जिससे भगवद्भक्ति उत्पन्न होती

है ॥ १८ ॥ पूज्यलभे सांख्यपावनकी दृष्टिसे श्रीमद्भागवत

गृहस्थतिथीके मित्य और गृहस्थतिथीने मुक्त किया;

इसीसे मैं श्रीकृष्णका प्रियतम सखा हो सका हूँ ॥ १९ ॥

परीक्षित ! गृहस्थतिथीन मुझ एक आग्न्यादित्य भी

सुनाये भी, उसे तुम सुना । इस आग्न्यादित्यसे श्री

मद्भागवतधर्मक सम्प्रदायका धर्म भी जाना जा सकता

है ॥ २० ॥

गृहस्थतिथीन कहा था—जन्ती मयारो पुरुष

भारत करनकल भगवान् श्रीकृष्णने जब दृष्टि के लिये

धन्य किया, तब उनका स्थिति मे तीन पुरुष प्रकाश

प्राप्त होता है—

मोक्षार्थिन्यो विरक्तन्यो मुक्तिं पञ्चविधां तथा ॥३१॥

येऽपि मोक्षं न वाञ्छन्ति सन् कथं पालयाम्यहम् ।

आत्मानं च भिर्यं चापि पाठयामि कथं वद ॥३२॥

तस्मा अपि पुनः नापः श्रीभागवतमादिशत् ।

उवाच च पठस्वेन च सर्वार्थसिद्धये ॥३३॥

ततो विष्णु प्रसन्नात्मा परमार्थकपालने ।

समर्थोऽभूच्छ्रिया मासि मासि भागवतं स्मरन् ॥३४॥

यदा विष्णुः स्वयं वक्ता लक्ष्मीश्च भवणे रता ।

तदा भागवतभावो मासेनैव पुनः पुनः ॥३५॥

यदा लक्ष्मीः स्वयं वक्त्री विष्णुश्च भवणे रतः ।

मासद्वयं रसास्वादस्तदातीव सुष्ठो भवे ॥३६॥

अधिकारे स्थितो विष्णुर्लक्ष्मीर्निश्चिन्तमानसा ।

तेन भागवतस्वादस्तस्मा भूरि प्रकाशते ॥३७॥

अथ कुरोऽपि तं देवं संहाराधिकृतः पुरा ।

पुनस्तं प्रार्थयामास स्वसामर्थ्यविच्छेदये ॥३८॥

उवाच

नित्ये नैमिषिके चैव संहारे प्राकृते तथा ।

शक्तयो मम विघ्नन्ते देवदेव मम प्रभो ॥३९॥

आत्यन्तिके तु संहारे मम शक्तिर्न विपते ।

महद्बुद्धे त्वं ममैव तु तेन त्वां प्रार्थयाम्याहम् ॥४०॥

बृहस्पतिरुवाच

श्रीमद्भागवतं तस्मा अपि नारायणो ददौ ।

स तु ससेवनादस्य जिग्ये चापि तमोगुणम् ॥४१॥

ससारबन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, विरक्त हैं, उनके उनके इच्छानुसार पाँच प्रकारकी मुक्ति भी देकर रहूँगा ॥ ३१ ॥ परन्तु जो लोग मोक्ष भी नहीं चाहते, उनका पाठ मैं कैसे करूँगा—यह बात सम्झने लगी आती । इसके अतिरिक्त मैं अपनी तथा लक्ष्मीजीकी भी रक्षा कैसे कर सकूँगा इसका उपाय भी न बनाइये ॥ ३२ ॥

विष्णुजी यह प्रार्थना सुनकर आदिपुरुष श्रीकृष्णने उन्हें भी श्रीमद्भागवतका उपदेश किया और कहा—‘‘तुम अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये इस श्रीमद्भागवत-शास्त्रका सदा पाठ किया करो’’ ॥ ३३ ॥ उस उपदेशसे विष्णु-मगवान्का चित्त प्रसन्न हो गया और वे लक्ष्मीजीके साथ प्रत्येक मासमें श्रीमद्भागवतका चिन्तन करने लगे । इससे वे परमार्थका पालन और यथार्थरूपसे संसारकी रक्षा करनेमें समर्थ हुए ॥ ३४ ॥ जब मगवान् विष्णु स्वयं वक्ता होते हैं और लक्ष्मीजी प्रेमसे श्रवण करती हैं, उस समय प्रत्येक बार भागवतकथाका श्रवण एक मासमें ही सम्पन्न होता है ॥ ३५ ॥ विष्णु अब लक्ष्मीजी स्वयं वक्ता होती हैं और विष्णु श्रोता बनकर सुनते हैं, तब भागवत-कथाका रसास्वादन दो मास तक होता रहता है, उस समय कथा बड़ी सुन्दर, बहुत ही रुचिकर होती है ॥ ३६ ॥ इसका कारण यह है कि विष्णु तो अधिकाराका हैं, उन्हें जगत्के पाठनकी चिन्ता करनी पड़ती है; पर लक्ष्मीजी इन श्रोतासे क्लेश हैं, कता उनका हृदय निश्चित है । इसीसे लक्ष्मीजीके मुखसे भागवतकथाका रसास्वादन अधिक प्रकाशित होता है । इसके पश्चात् करने भी, जिन्हें मगवान्ने पहले संहार करनेमें लगाया था, अपनी सामर्थ्यकी दृष्टिके लिये उन परम्पुरुष मगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की ॥ ३७-३८ ॥

उपने कहा—‘‘मेरे प्रभु देवदेव । मुझमें नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत संहारकी शक्तियाँ तो हैं, पर व्यापत्तिक संहारकी शक्ति बिल्कुल नहीं है । यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात है । इसी कमीकी पूर्तिके लिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ ॥ ३९ ४० ॥

बृहस्पतिजी कहते हैं—इसकी प्रार्थना सुनकर नारायणने उन्हें भी श्रीमद्भागवतका ही उपदेश किया । सदाशिव करने एक कार्यमें एक पाठयकके प्रभुसे भागवतकथा-

कथा भागवती तेन सेविता धर्ममात्रतः ।

लये स्वात्मन्तिके तेनावाप दूर्तिकं सदाशिव ॥४२॥

उदय उवाच

श्रीभागवतमाहात्म्य इमामाख्यायिकां गुरोः ।

श्रुत्वा भागवतलब्ध्वा मुमुक्षुः प्रणम्य तम् ॥४३॥

ततस्तु वैष्णवीं रीतिं गृहीत्वा भासमात्रतः ।

श्रीमद्भागवतास्वादो मया सम्पद्विनिषेधितः ॥४४॥

तावत्तव बभूवै कृष्णस्य दयितः सत्त्वा ।

कृष्णोनाथ नियुक्तोऽहं ब्रजे स्वप्रेषसीगणे ॥४५॥

विरहार्चस्तु गोपीषु स्वयं नित्यविहारिणा ।

श्रीभागवतसन्दर्शो मन्मुखन प्रयोषितः ॥४६॥

तपधामति लब्ध्वा सा आसन् विरहवर्जिताः ।

नाम्नासिपं रहस्यं तवमत्कारस्तु लोकिवः ॥४७॥

स्वार्तं प्रार्थ्य कृष्णं च ब्रह्मघोषु गतेषु मे ।

श्रीमद्भागवत कृष्णस्तद्रहस्य स्वयं ददौ ॥४८॥

पुरतोऽञ्जलिभूय चक्षुरमपि तद् दृढम् ।

तेनात्र ब्रजवल्लीषु वसामि वदतीं गतः ॥४९॥

तस्मात्पारदकुण्डस्य तिष्ठामि स्वच्छया सदा ।

कृष्णप्रकाशो भक्तानां श्रीमद्भागवताद्भवत् ॥५०॥

तदपामपि क्षयार्थं धामद्भागवतं त्वहम् ।

प्रवक्ष्यामि सहायाऽत्र त्वयैवानुष्ठिता भवत् ॥५१॥

सूत उवाच

विष्णुरावस्तु श्रुत्वा तदुद्वं प्रगसाञ्जलीम् ।

का सेवन किया। इसके सेवनसे उन्होंने तमोगुणपर विजय पायी और आत्यन्तिक संहार (मोक्ष) की शक्ति भी प्राप्त कर ली ॥ ४१ ४२ ॥

उदयजी कहते हैं—श्रीमद्भागवतके माहात्म्यके सम्बन्ध में यह व्याख्यायिका मेने अपने गुरु श्रीवृहस्पतिजीसे सुनी और उनसे भागवतका उपदेश प्राप्त कर उनके चरणोंमें प्रणाम करके मैं बहुत ही आनन्दित हुआ ॥ ४३ ॥ तत्पश्चात् भगवान् विष्णुजी रीति स्वीकार करके मेने भी एक मसतक श्रीमद्भागवतका मन्त्रीमौलि रसास्वादन किया ॥ ४४ ॥ तत्पश्चात् मैं भी भगवान् श्रीकृष्णका प्रियतम सखा हो गया। इसके पश्चात् भगवान् ने मुझ ब्रजमें अपनी प्रियतमा गोपियोंकी सेवामें नियुक्त किया ॥ ४५ ॥ यद्यपि भगवान् अपने वीर्यपरिकरोंके साथ नित्य विहार करते रहते हैं, इसलिये गोपियोंका श्रीकृष्णसे कभी भी वियोग नहीं होना, तथापि जो भगवत्से विरह वेदनाका अनुभव कर रही थीं, उन गोपियोंके प्रति भगवान् ने मुझसे भगवत्का सन्देश कहा ॥ ४६ ॥ उस सन्देशको अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण कर गावियों तुरत ही विरह वेदनासे मुक्त हो गयीं। मैं भगवत्का इस रहस्यको तो नहीं समझ सका, किन्तु मेने उसका चमत्कार प्रत्यक्ष देखा ॥ ४७ ॥ इसके बहुत समयक बाद जब ब्रह्मादि दक्ता आपर भगवान् से अपने परमधाममें पधारनेकी प्रार्थना करके चले गये, उस समय पीपलक वृक्षकी बहक पास ब्रजन सामन खड़े हुए मुझे भगवान् श्रीमद्भागवत-विषय उस रहस्यका स्वयं ही उपदेश दिया और मेरी बुद्धिमें उसका दृढ़ निश्चय करा दिया। उसीक प्रभावसे मैं बदरिप्रभ्रममें रहकर भी यहाँ ब्रजकी लम्हाओं और नर्मोंमें निवास करता हूँ ॥ ४८ ४९ ॥ उसीक वरसे यहाँ नारदकुण्डपर सदा स्वेच्छानुसार विराजमान रहता हूँ। भगवान् के मर्कटोंका श्रीमद्भागवतक सेवनसे धारण-तत्परता प्रकाश प्राप्त हो सकता है ॥ ५० ॥ इस कारण यहाँ उपस्थित हुए इन सभी भक्तबनोंक कवयत्री सिद्धिक लिये मैं श्रीमद्भागवतका पाठ करूँगा, किन्तु इस कार्यमें तुम्हें भी सहायक करनी पड़ेगी ॥ ५१ ॥

सूतजी कहते हैं—यह सुनकर राजा परमेश्वर उदय-जीको प्रणाम करके उनसे आन ।

परीक्षितुवाच

हरिदास स्वया कार्ये श्रीभागवतकीर्तनम् ॥५२॥

आम्नाप्योऽहं यथा कर्मः सहायोऽत्र मया तथा ।

सूत उवाच

धृत्वैतद्दृढवा वाक्यमुवाच प्रीतमानसः ॥५३॥

उद्धव उवाच

भीकृष्णेन परित्यक्ते मृतले कलवान् कलिः ।

करिष्यति परं विघ्नं सत्कार्यं समुपस्थिते ॥५४॥

तस्माद् दिग्विजयं याहि कलिनिग्रहमाधर ।

अहं तु मासमात्रेण वैष्णवीं रीतिमास्थितः ॥५५॥

धीमन्नागवतास्त्राहं प्रचार्यं त्वत्सहायत ।

एतान् सम्प्रापयिष्यामि नित्यभास्त्रि मधुद्विपः ॥५६॥

सूत उवाच

धृत्वैवं तद्वचा राजा मुदितश्चिन्तयाऽऽतुरः ।

तदा विज्ञापयामास म्याभिप्रायं समुद्धवम् ॥५७॥

परीक्षितुवाच

फलं तु निग्रहाप्यामि तात त पचसि स्थित ।

धीभागवतसम्प्राप्तिं कथं मम भविष्यति ॥५८॥

अहं तु समनुग्राह्यस्तव पादतले ध्रियः ।

सूत उवाच

धृत्वैतद् वचनं भूयाऽप्युद्धवस्तमुवाच ह ॥५९॥

उद्धव उवाच

रात्रभिन्ना तु न रूपि नय काया कथञ्चन ।

नरैव भगवच्छास्य यथा मुग्धाभिस्मरिता ॥६०॥

परीक्षितने कहा—हरिदास उद्धवजी ! आप निश्चित होकर धीमन्नागवत-कथाका कीर्तन करें ॥५२॥ इस कार्यमें मुझे जिस प्रकारकी सहायता करनी आवश्यक हो उसके लिये जाइए ।

सूताजी कहते हैं—परीक्षितका यह वचन सुनकर उद्धवजी मन-हा मन बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥५३॥

उद्धवजीने कहा—राजन् ! मगवान् भीकृष्णने जबसे इस पृथ्वीतलका परित्यग कर दिया है, तबसे यहाँ अत्यन्त बकबान् कलियुगका प्रभुत्व हो गया है । जिस समय यह शुभ अनुष्ठान यहाँ आरम्भ हो जायगा, कल-कान् कलियुग अवश्य ही इसमें बहुत बड़ा बिगड़ालेगा ॥ ५४ ॥ इसलिये तूम दिग्विजयके लिये जाओ और कलियुगको जीतकर अपने बशमें करो । इस में तुम्हारी सहायतासे वैष्णवी रीतिकरा सहारा लेकर एक महीनेतक यहाँ धामनागवतकथाका रससादन कराऊँगा और इस प्रकार भागवतफलके रसका प्रसार करके इन सभी धार्ताओंको मगवान् मधुसूदनके नित्य गोमूकधाममें पहुँचाऊँगा ॥ ५५-५६ ॥

सूताजी कहते हैं—उद्धवजीकी बात सुनकर राजा परीक्षित पहले तो कलियुगपर विजय पानेके विचारसे बड़े ही प्रसन्न हुए; परन्तु पीछे यह सोचकर कि मुझे भागवत कथाके भवनसे बञ्चित रहना ही पड़ेगा, चिन्तासे व्याकुल हो उठे । उस समय उन्होंने उद्धवजीसे अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया ॥ ५७ ॥

राजा परीक्षितने कहा—हू तत ! आपकी आज्ञाक अनुसार तत्पर होकर मैं कलियुगकी तो अपश्य ही बनने बशमें करूँगा, मगर धीमन्नागवतकी प्राप्ति मुझे कैसे होगी ॥ ५८ ॥ मैं भी आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ, अतः मुझपर भी आपका अनुग्रह करना चाहिये ।

सूताजी कहते हैं—उनका इस वचनको सुनकर उद्धवजी पुन बोले ॥ ५९ ॥

उद्धवजीने कहा—राजन् ! तुम्हें तो किसी भी बातके लिये चिन्ता प्रसन्न या चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि हम भागवत-शास्त्र के प्रधान अधिकारी तो तुम्हारी

एतत्कालपर्यन्त प्राप्य भागवतभुक्तेः ।
 वार्तामपि न जानन्ति मनुष्याः कर्मसत्पराः ॥६१॥
 त्वत्प्रसादेन बह्वो मनुष्या भागताजिरं ।
 श्रीमद्भागवतप्राप्तौ सुखं प्राप्स्यन्ति शाश्वतम् ॥६२॥
 नन्दनन्दनरूपस्तु श्रीशुक्रो भगवानुपिः ।
 श्रीमद्भागवतं तुभ्यं भवविष्यत्संशयम् ॥६३॥
 तेन प्राप्स्यसि गर्वस्त्वं नित्यं धाम ब्रजेशितुः ।
 श्रीभागवतसंचारस्तथा भुवि भविष्यति ॥६४॥
 तस्मात्त्वं गच्छ राजेन्द्र कलितनिग्रहमाचर ।

सूत उवाच

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य गता राजा दिक्षां जये ॥६५॥
 वज्रस्तु निब्रान्धेषु प्रतिबाहुं विधाय च ।
 सर्वैव मातृभिः साकं तम्यौ भागवताश्रया ॥६६॥
 अध दृन्दावने मास गावर्धनममीपतः ।
 श्रीमद्भागवतास्त्रादस्तुद्वेन प्रवर्तितः ॥६७॥
 तस्मिन्मास्त्राद्यमाने तु सखिदानन्दरूपिणी ।
 प्रचक्राशे हरेर्लीला सर्वतः कृष्ण एव च ॥६८॥
 आत्मानं च तदन्तः स्वं सर्वेऽपि ददृशुस्तदा ।
 वज्रस्तु दक्षिण दृष्ट्वा कृष्णपादमरोह ॥६९॥
 स्वात्मानं कृष्णवधुषां मुक्तस्तद्वृष्णशभत ।
 ताश्च तं मातरः कृष्णे रामरात्रिप्रकाशिनि ॥७०॥
 चन्द्र कन्याप्रभारूपमात्मानं योष्य विस्मिता ।
 म्यप्रष्टुविरहभ्याभिविमुक्ताः श्वपद ययुः ॥७१॥
 यज्ज्य च तत्र त सर्वे नित्यलीलान्तरं गता ।
 व्यापहारिकलाकम्पः सयाऽर्जुनमागताः ॥७२॥

हो ॥ ६० ॥ ससारके मनुष्य नाना प्रकारके कर्ममें
 रचे-रचे हुए हैं, ये लोग आज तक प्रायः भागवत-श्रवणकी
 बात भी नहीं जानते ॥ ६१ ॥ तुम्हारे ही प्रसादसे
 इस भारतवर्षमें रहनेवाले अधिकतर मनुष्य श्रीमद्भागवत-
 कथाकी प्राप्ति होनेपर श्रद्धावत् सुख प्राप्त करेंगे ॥ ६२ ॥
 मूर्खों भगवान् श्रीशुक्रदेवकी साक्षात् नन्दनन्दन श्रीकृष्णके
 स्वरूप हैं, वे ही तुम्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायेंगे,
 इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है ॥ ६३ ॥ राजन् !
 उस कथाने ध्वनसे तुम ऋषेधर श्रीकृष्णक नित्यधामकी
 प्राप्त करोगे । इसके पश्चात् इस पृथ्वीपर श्रीमद्भागवतकथा-
 का प्रचार होगा ॥ ६४ ॥ अतः राजेन्द्र परीक्षित !
 तुम जाओ और कच्छियुगको जीतकर अपने वशमें करो ।

सूतजी कहते हैं—उदवनीक इस प्रकार कहनेपर
 राजा परीक्षित उनकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया
 और दिक्षिज्यके लिये चल गये ॥ ६५ ॥ इतर वज्रने
 भी अपने पुत्र प्रतिबाहुको अपनी राजधानी मथुराका
 राजा बना दिया और माताओंको साथ लेकर उनी स्थानपर,
 जहाँ उदवनीक प्रकट हुए थे, जाकर श्रीमद्भागवत सुननेकी
 इच्छासे रहने लगे ॥ ६६ ॥ तत्पश्चात् उदवनीके दृन्दावनमें
 गोवर्धनपर्वतके निजट पर मूर्खोंनेक श्रीमद्भागवतकथानेके
 रसकी धारा बहायी ॥ ६७ ॥ उस रसका आस्वादन
 करते समय प्रमी धाताओंकी दृष्टिमें सब और भगवान्की
 सखिदानन्दरूपी स्त्रीय प्रकाशित हो गयी और सब
 श्रीकृष्णचक्रका साक्षात्कार होने लगा ॥ ६८ ॥ उस
 समय सभी धोताओंने अपने-अपने भगवान्के रूपमें स्थित
 देख । वज्रनामने श्रीकृष्णके शशिने चरणकमलमें अपने-अपने
 स्थित देख और श्रीकृष्णक निरहस्यरूपसे मुक्त होकर उस
 स्थानपर अत्यन्त मुग्धभक्त होने लगे । वज्रनामकी व
 रोहिणी आदि माताएँ भी रासरी रत्ननाम प्रकाशित होने-
 वाले श्रीकृष्णका चन्द्रमाक विषयमें अनेक कथ्य और
 प्रभाक रूपमें स्थित देख बहुत ही विस्मित हुई तथा
 अपने प्रागण्यारेकी निरह-नन्दनसे छुटकारा पाकर उनका
 परमधाममें प्रविष्ट हो गयी ॥ ६९-७१ ॥ इनके अतिरिक्त
 भी जो धातागण वहाँ उपस्थित थे, वे भी भगवान्की
 नित्य अन्तरङ्गनाममें सम्मिश्रित होकर इस स्थान पर
 हारिक जगत्से लयान्त अन्तर्धान हो गये ॥ ७२ ॥

गोवर्धननिष्ठेषु गोषु वृन्दावनादिषु ।

नित्यं कृष्णेन मोदन्ते हस्यन्ते प्रेमतत्परैः ॥७३॥

सूत उवाच

अ एतां भगवत्प्राप्तिं शृणुयाच्चापि कीर्तयेत् ।

तस्य वै भगवत्प्राप्तिर्दुःस्वप्नानिभ आसते ॥७४॥

ये सभी सदा ही गोवर्धन-पर्वतके कुल और हाथियों, वृन्दावन-कम्पवन आदि वनोंमें तथा कहाँकी दिव्य गीर्वाँके बीचमें श्रीकृष्णके साथ विचरते हुए अनन्त आनन्दस्य अनुभव करते रहते हैं । जो लोग श्रीकृष्णके प्रेमें मग्न हैं, उन भावुक मक्तोंको उनके दर्शन भी होते हैं ॥७३॥

सूतजी कहते हैं—जो लोग इस मायाकाशिकी कस-को सुनेंगे और कहेंगे, उन्हें मगवान् मिला भाग्यी और उनके दुःखोंका सदाके डिये अन्त हो जायगा ॥ ७४ ॥

इति श्रीस्कन्धे महापुराण एकशीतिसाहस्रं संहितायां द्वितीये वैष्णवस्कन्धे पञ्चविंशोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतस्य स्वरूप प्रमाण श्रोता-वक्ताके वक्ष्य भवजविधि और माहात्म्य

कथय जयः

श्रीनकावि श्रुत्वापि न कदा—सूतजी । आपने हम-

साधु सत विरं जीव विरमेवं प्रस्थापि नः ।

श्रीभागवतमाहात्म्यमपूर्वं त्वन्मुखाच्छ्रुतम् ॥ १ ॥

तत्स्वरूपं प्रमाणं च विधिं च भवणे वद ।

तद्वक्तुर्लक्ष्यं सत श्रोतुं भाषि वदधुना ॥ २ ॥

सूत उवाच

श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भागवतः सदा ।

स्वरूपमकमवान्ति सन्निधानन्दलक्षणम् ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्माधुर्यप्रकाशकम् ।

समुन्मृज्मति यद्वाक्यं विद्धि भागवतं हि तत् ॥ ४ ॥

ज्ञानविज्ञानभक्तपङ्क्तनुष्टुभपरं वच ।

मायामदनदर्शं च विद्धि भागवतं च तत् ॥ ५ ॥

प्रमाणं तस्य का वेद अनन्तसाध्यात्मनः ।

जोगोंको बहुत अच्छी बात बतायी । आपकी आज्ञा के, आप चिरजीवी हो और चिरकायक हो इसी प्रकार उपदेश करते रहें । आप हमसे कहेंगे आपके मुँहसे श्रीमद्भागवतका कर्तव्य माहात्म्य सुना है ॥ १ ॥ सूतजी ! अब इस समय आप हमें यह बतायें कि श्रीमद्भागवत का स्वरूप क्या है ? उसका प्रमाण—उत्तरी स्नेहसंज्ञा किन्तनी है ? किन्तु विधिसे उसका भव्य करना चाहिये ! तथा श्रीमद्भागवतके वक्ता और श्रोतोंके क्या लक्षण हैं ? अभिप्राय यह कि उसके वक्ता और श्रोता कैसे होने चाहिये ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—श्रुतिगण ! श्रीमद्भागवत और भागवतका स्वरूप सदा एक ही है और वह है सन्निधानन्दमय ॥ ३ ॥ भागवान् श्रीकृष्णमें जिनकी स्थान लगी है, उन भावुक मक्तोंके हृदयमें जो भागवान्के माधुर्य भावको अभिगम्य करनेवाला, उनके दिव्य मधुर-रसका आस्वादन करनेवाला सौम्य वचन है, उसे श्रीमद्भागवत समझो ॥ ४ ॥ जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अङ्गभूत साधनपदपदको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाकाश मदन करनेमें समर्थ है, उसे भी तुम श्रीमद्भागवत समझो ॥ ५ ॥ श्रीमद्भागवत अमृत, अक्षररसकय है। इसका नियत प्रमाण भव्य,

गोवर्धननिष्ठोऽपु गोपु वृन्दावनादिपु ।

त्सिं कृष्णेन मोदन्ते दृश्यन्ते प्रेमतरुणैः ॥७३॥

सूत उवाच

य एतां भगवत्प्राप्तिं शृणुयाच्चापि कीर्तयेत् ।

तस्य वै भगवत्प्राप्तिर्दुःसहानिषा जायते ॥७४॥

ये सभी सदा ही गोवर्धन-पर्वतके कुक्ष और शिरियों, वृन्दावन-काम्यवन आदि वनोंमें तथा वहाँकी दिव्य गौक्षोंके बीचमें श्रीकृष्णके साथ बिचरते हुए अनन्त आनन्दको अनुभव करते रहते हैं । जो लोग श्रीकृष्णके प्रेम्में हैं, उन मायुक भक्तोंको उनके दर्शन मी होते हैं ॥७३॥

सूतजी कहते हैं—जो लोग इस भावस्थितिकी कम्बुको सुनेंगे और कहेंगे, उन्हें भगवान् मिल जायेंगे और उनके दुःखोंका सदाके लिये अन्त हो जायगा ॥ ७४ ॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकशीतिसाहस्रपां संहितायां द्वितीये वैष्णवस्कन्धे परीक्षितद्वयसंवादे
श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

अथ चतुर्योऽध्याय

श्रीमद्भागवतका स्वरूप प्रमाण श्रोता-वक्ताके लक्षण भवणविधि और माहात्म्य
कथन उचुः

साधु दत्त चिरं जीव चिरमयं प्रज्ञाधि नः ।

श्रीभागवतमाहात्म्यमपूर्वं त्वन्मुस्ताच्छ्रुतम् ॥ १ ॥

तत्स्वरूपं प्रमाणं च विधिं च भवणे वद ।

तद्वक्तुर्लक्षणं दत्त भोतुभाषि वदाधुना ॥ २ ॥

सूत उवाच

श्रीमद्भागवतसाध श्रीमद्भागवतः सदा ।

स्वरूपमकमवाम्नि सन्निदानन्दलक्षणम् ॥ ३ ॥

भीकृष्णासक्तभक्तानां सन्मार्घ्यप्रकाशकम् ।

समुज्ज्वलति यद्वाक्यविद्धि भागवतं हि तत् ॥ ४ ॥

ज्ञानविज्ञानभक्तगणैश्चतुष्टयपरं वर ।

मायामदनद्धं च विद्धि भागवतं च तत् ॥ ५ ॥

प्रमाणं तस्य च वद अन्तःसाधुरात्मनः ।

श्रीमदादि श्रवणियोंने कहा—सूतजी ! आपने हम-
ओंको बहूत अच्छी कत बताया । आपकी असु न्हे,
आप चिरजीवी हों और चिरकालत्व हमें इसी प्रकार
उपदेश करते रहे । भाव हमओंने आपके मुखसे
श्रीमद्भागवतका अर्धमाहात्म्य सुना है ॥ १ ॥ सूतजी !
अब इस समय आप हमें यह बताइये कि श्रीमद्भागवतका
स्वरूप क्या है ! उसका प्रमाण—उसकी श्रेष्ठतत्त्व
किन्ती है ! किस विधिसे उसका भजन करना चाहिये ! तथा
श्रीमद्भागवतके वक्ता और श्रोताके क्या लक्षण हैं ! अधिप
यह कि उसके वक्ता और श्रोता कैसे होने चाहिये ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—श्रवण ! श्रीमद्भागवत और
भगवान्का स्वरूप सदा एक ही है और यह है
सन्निदानन्दमय ॥ ३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णमें ब्रितकी
खान मयी है, उन मायुक भक्तोंके हृदयमें जो भगवान्के
मधुय भवका अभिन्यक्त करनेवाला, उनके दिव्य मधु-
रसका आस्वादन करनेवाला सर्वेश्वर बन्धन है, उसे
श्रीमद्भागवत समझा ॥ ४ ॥ जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान,
मक्ति एव इनके अङ्गभूत साधनचतुष्टयमें प्रथमस्थ
करनेवाला है तथा जो मायाका मदन करनेमें समर्थ है,
उसे भी तुम श्रीमद्भागवत समझा ॥ ५ ॥ श्रीमद्भागवत
अनन्त, अक्षररूपका है; इसका नियत प्रमाण भय,

<p>भोता श्रिग्धा भवे मीनो मीनः क्षीरनिधौ यथा ॥१५॥ यस्तु वनं रसिकाञ्छेत्तु न् विरौत्मस्यो वृको हि सः ।</p>	<p>निर्निमेष नयनोंसे देखता हुआ मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकलता और निरन्तर कनारसका ही आस्वादन करता रहता है, वह प्रेमी होता 'मीन' कहा गया है ॥ १५ ॥ (ये प्रवर अर्थात् उत्तम श्रोताओंके मेर बताये गये हैं, अब अवर यानी अधम श्रोता बताये जाते हैं ।) 'वृक' कहते हैं मड़ियेको । जैसे मेड़िया वनके भीतर घेणुकी मीठी आवाज सुननेमें लगे हुए मृगोंको डरानेवाली भयानक गजना करता है, वैसे ही जो मूख कथाश्रवणके समय रसिक श्रोताओंको उन्मत्त करता हुआ बीच-बीचमें जोर-जोरसे बोख उठता है, वह 'वृक' कहलगा है ॥ १६ ॥ हिमालयके शिखरपर एक भूरुग्ध जातिका पक्षी होता है । वह किसीके शिष्टाभेद वाक्य सुनकर बैठा ही खोना करता है, किन्तु स्वयं उससे अन्न नहीं उठता । इसी प्रकार जो उपदेशकी बात सुनकर उसे दूसरोंसे तो सिखाने पर स्वयं आचरणमें न लाये, ऐसे श्रोताको 'भूरुग्ध' कहते हैं ॥ १७ ॥ 'वृष' कहते हैं बैलने । उसके सामन मीठे-मीठे अमूर हो या कड़वी खमी, दोनोंसे वह एक-सा ही मानकर खाता है । उसी प्रकार जो सुनी हुई सभी बातें ग्रहण करता है, पर सार और असार वस्तुका विचार करनेमें उसकी बुद्धि अंगी—असमर्थ होती है, ऐसा श्रोता 'वृष' कहलाता है ॥ १८ ॥ जिस प्रकार ऊँट माधुर्यगुणसे पुच्छ अन्नको भी जोड़कर केवल नीमकी ही पत्ती खाता है, उसी प्रकार जो भावनाकी मधुर कथाको छोड़कर उसके विरहित संसारी बातोंमें रमता रहता है, उसे ऊँट कहते हैं ॥ १९ ॥ ये कुछ बोके-से मेर यहाँ बताये गये । इनके अतिरिक्त भी प्रवर-अवर दोनों प्रकारके श्रोताओंके अमर और 'गदहा' आदि बहुत से मेर हैं इन सब मेरोंको उन-उन श्रोताओंके सामयिक आचार-व्यवहारोंसे परखना चाहिये ॥ २० ॥ जो वृद्धके सम्मने उन्हें विनियत प्रणाम करके बैठे और अन्य संसारी श्रोताओंको छोड़कर केवल श्रीमद्भागवत की अलंकारोंको ही सुननेकी इच्छा रखे सम्मनेमें अत्यन्त कुशल हो, नम्र हो, हाथ जोड़ रहे, शिष्यभावसे उपदेश ग्रहण करे और भीतर अज्ञा तथा विश्वास रखे, इसके सिवा, जो कुछ सुने उसका बराबर चिन्तन करता रहे, जो बात सम्मनेमें न लाये पूछे और पत्रि माफसे रहे तथा श्रीकृष्णके मन्त्रोंपर सदा ही प्रेम रखता हो—ऐसे ही श्रोताको वरदा</p>
<p>यथा हिमवतः शृङ्गे भूरुग्धस्तस्यो निहङ्गमः ॥१७॥ सर्वं श्रुतमुपादत्तं सारासाराधपीर्षपः ।</p>	<p>यथा हिमवतः शृङ्गे भूरुग्धस्तस्यो निहङ्गमः ॥१७॥ सर्वं श्रुतमुपादत्तं सारासाराधपीर्षपः ।</p>
<p>स्त्रादुद्राधां स्वलिं चापि निर्विशेषं यथा वृषः ॥१८॥ स उद्रा मधुरं सुञ्जन् विपरीते रमेत यः ।</p>	<p>स्त्रादुद्राधां स्वलिं चापि निर्विशेषं यथा वृषः ॥१८॥ स उद्रा मधुरं सुञ्जन् विपरीते रमेत यः ।</p>
<p>यथा निम्बं चरत्युद्रा हित्वा भ्रमपि तद्वपुतम् ॥१९॥ अन्येऽपि बहवो मेदा द्वयोर्मुञ्जस्तरादयः ।</p>	<p>यथा निम्बं चरत्युद्रा हित्वा भ्रमपि तद्वपुतम् ॥१९॥ अन्येऽपि बहवो मेदा द्वयोर्मुञ्जस्तरादयः ।</p>
<p>विज्ञेयास्तपदाचारैस्तत्सप्रकृतिसम्भवैः ॥२०॥ यः स्थित्वाभिमुखः प्रणम्य विधिव</p>	<p>विज्ञेयास्तपदाचारैस्तत्सप्रकृतिसम्भवैः ॥२०॥ यः स्थित्वाभिमुखः प्रणम्य विधिव</p>
<p>व्यक्तान्मवादो हरे</p>	<p>व्यक्तान्मवादो हरे</p>
<p>लीलाः श्रातुमभीप्सतेऽविनिपुणो</p>	<p>लीलाः श्रातुमभीप्सतेऽविनिपुणो</p>
<p>नम्रोऽथ कृष्णाञ्जलिः ।</p>	<p>नम्रोऽथ कृष्णाञ्जलिः ।</p>
<p>शिष्यो विभक्तितोऽनुचिन्तनपरः</p>	<p>शिष्यो विभक्तितोऽनुचिन्तनपरः</p>
<p>प्रप्तेऽनुरक्तः शुचि-</p>	<p>प्रप्तेऽनुरक्तः शुचि-</p>
<p>निस्थं कृष्णजनप्रिया निगदितः</p>	<p>निस्थं कृष्णजनप्रिया निगदितः</p>
<p>भोता स वै वक्तृभिः ॥२१॥</p>	<p>भोता स वै वक्तृभिः ॥२१॥</p>

भगवन्मतिरनपेक्षः सुखदो दीनेषु सानुकम्पो यः ।

षड्धाषोभनचतुरो वक्ता संमानितो मुनिभिः ॥२२॥

अथ भाग्यमुखाने श्रीभागवतसेवने ।

विधिं शृणुत भो विप्रा येन स्यात् सुखसंतति ॥२३॥

राजस सात्त्विकं चापि तामसं निर्गुणं तथा ।

चतुर्विधं तु विज्ञेयं श्रीभागवतसेवनम् ॥२४॥

सप्तार्द्धं यज्ञवद् यत् स भ्रम सत्वरं मुदा ।

सेवितं राक्षसं तप्तं बहुपुष्पादिसोभनम् ॥२५॥

मासेन श्रुतुना वापि भवणं स्वादसंयुतम् ।

सात्त्विकं यदनायासं समस्तानन्दवर्धनम् ॥२६॥

वामसं यत्त वर्षेण सालसं भद्रया यतम् ।

विस्मृतिस्मृतिसंपुक्तं सेवनं तच्च सौख्यदम् ॥२७॥

वर्षमासदिनानां तु विमुच्य नियमाग्रहम् ।

सर्वदा प्रेममक्त्यैव सेवनं निर्गुणं मतम् ॥२८॥

पारीक्षितेऽपि संवादे निर्गुणं तत् प्रकीर्तितम् ।

तत्र सप्तदिनाभ्यान् तदाष्टुर्दिनसंख्यया ॥२९॥

अन्यत्र त्रिगुण चापि निर्गुणं यथेच्छया ।

यथा कथञ्चित् फलं चैव भगवन्पूतेः ॥३०॥

लोग उत्तम श्रोता कहते हैं ॥ २१ ॥ अथ बत्ताके अक्षण
कहा करते हैं । जिसका मन सदा भगवान्‌में लगा रहे,
जिसे किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न हो, जो सत्यका सुख
और दीनोपर दया करनेवाला हो तथा अपनेको सुखियोंसे
तपस्वका बोध करा देनेमें चतुर हो, उसी वक्ताका मुनिजग
भी सम्मान करते हैं ॥ २२ ॥

निप्राण ! अब मैं भारतवर्षकी भूमिपर श्रीमद्भागवत कथाका सेवन करनेके लिये जो आवश्यक विधि है, उसे बतलाता हूँ, आप सुनें । इस विधिके पाठनसे श्रोताकी सुख-परम्पराका विस्तार होता है ॥ २३ ॥ श्रीमद्भागवतका सेवन चार प्रकारका है—सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण ॥ २४ ॥ जिसमें यज्ञकी भाँति तैयारी की गयी हो, बहुत-सी पूजा-सामग्रियोंके कारण जो व्यक्त श्रमासम्पन्न दिखणी वरहा हो और बड़े ही परिश्रमसे बहुत उताव्रतके साथ सात दिनोंमें ही जिसकी समाप्ति की जाय, वह प्रसन्नायुक्त किन्ना हुआ श्रीमद्भागवतका सेवन 'राजस' है ॥ २५ ॥ एक या दो महीनमें धीरे-धीरे कथाके रसका आस्वादन करते हुए बिना परिश्रमके जो भक्षण होता है, वह पूर्ण आनन्दको बढ़ानेवाला 'सात्त्विक' सेवन कहल्यता है ॥ २६ ॥ तामस सेवन वह है जो कभी भूलसे डाँक लिया जाय और पाद आनपर फिर आरम्भ कर दिया जाय, इस प्रकार एक बरतका आख्य और अग्रहाके सब चलाया जाय । यह तामस सेवन भी न करनेकी अपेक्षा अच्छा और सुख ही देनेवाला है ॥ २७ ॥ जब वष, महीना और दिनोंके नियमका आप्रह छोड़कर सदा ही प्रम और भक्तिके साथ भक्षण किया जाय, तब वह सेवन 'निर्गुण' माना गया है ॥ २८ ॥ राजा पर्याप्ति और शुक्रदेवके सभादमें जो भागवतका सेवन हुआ था, वह निर्गुण बताया गया है । उसमें जो सात दिनोंकी बात आती है, वह राजाकी आयुक्त भवे हुए दिनोंकी संख्याक अनुसार है, सप्ताह-कथाका नियम करनेके लिये नहीं ॥ २९ ॥

भातर्प्यक अनिश्चित अन्य स्थानों में भी त्रिगुण (सात्त्विक, राजस और तामस) अपना निर्गुण स्वरूप अपनी इच्छा के अनुसार करना चाहिये। तत्पर्य यह कि जिस किसी प्रकार भी हो उसके भीषद्रागभक्तका स्वेन, उत्सव

ये श्रीकृष्णविहारैकभजनाखादलोलुपाः ।
 मुक्तावपि निराकाङ्क्षास्तेषां भागवतं धनम् ॥३१॥
 येऽपि संसारसंतापनिर्विण्णा मोक्षकाङ्क्षिणः ।
 तेषां भवोपधं चैतत् कलौ सेव्यं प्रयत्नतः ॥३२॥
 ये चापि विपयारामाः सांसारिकसुखसूहाः ।
 तेषां तु कर्ममार्गेण या सिद्धिः साधुना कलौ ॥३३॥
 सामर्थ्यधनविज्ञानाभावादत्यन्तदुर्लभा ।
 तस्माच्चैरपि संसेव्या श्रीमद्भागवती कथा ॥३४॥
 धनं पुत्रांस्तथा दारान् बह्वानादि यश्चो गृहान् ।
 असापत्न्यं च राज्यं च दद्याद् भागवती कथा ॥३५॥
 इह लोके वरान् मुक्त्वा भोगान् वै मनसेप्सितान् ।
 श्रीभागवतसंज्ञेन यात्यन्ते भीहरेः पदम् ॥३६॥
 यत्र भागवती वार्ता ये च तच्छ्रवणे रताः ।
 तेषां संसेवनं कुर्याद् देहेन च धनेन च ॥३७॥
 तदनुग्रहतोऽस्मादि श्रीभागवतसेवनम् ।
 श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं यच्चत् सर्वं धनसंश्रितम् ॥३८॥
 कृष्णार्थीति धनार्थीति भोक्ता वक्ता द्विधा मयः ।
 यथा वक्ता तथा भोक्ता तत्र सौख्यं विवर्धते ॥३९॥
 उभयार्थपरीत्ये तु रसाभासे फलज्युतिः ।
 किन्तु कृष्णार्थिनां सिद्धिर्विस्मयनापि आचते ॥४०॥
 धनार्थिनस्तु संसिद्धिर्विभिसम्पूर्णवाग्धात् ।

श्रवण करना ही चाहिये ॥ ३० ॥ जो केवल श्रीकृष्ण की
 जीव्यबोके ही श्रवण, कर्तन एवं रसास्वादनके लिये
 लालस्य रहते और मोक्षकी भी इच्छा नहीं रखते, उनका
 तो श्रीमद्भागवत ही धन है ॥ ३१ ॥ तथा जो संसारके
 दुःखोंसे घमराकर अपनी मुक्ति चाहते हैं, उनके लिये
 भी यही इस मन्त्रोगकी ओषधि है। अतः इस कठिनायमें
 इसका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये ॥ ३२ ॥ इसके
 अतिरिक्त जो लोग निषर्घमें ही रम्य करनेवाले हैं,
 सांसारिक सुखोंकी ही जिन्हें सदा चाह रहती है, उनके
 लिये भी अब इस कठिणगममें सूत्रमर्त्य, धन और विवि-
 विधामय ज्ञान न होनेके कारण कर्ममार्ग (यथादि) से
 भिन्नेवाली सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ हो गयी है। ऐसी दशामें
 उन्हें भी सब प्रकारसे अब इस महावतकथाका ही सेवन
 करना चाहिये ॥ ३३ ३४ ॥ यह श्रीमद्भागवतकी कथा
 धन, पुत्र, श्री, दासी-बोड़े आदि चाहन, या, मसन
 और निष्कामक राज्य भी दे सकती है ॥ ३५ ॥ सकल
 भावसे भागवतका सारा लेनेवाले मनुष्य इस संसारमें
 मनोवन्निष्ठ उत्तम भोगोंको भोगकर अन्तमें श्रीमद्भागवतके
 ही सङ्गसे श्रीहरिके परमवान्मने प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥
 जिनके यहाँ श्रीमद्भागवतकी कथा-मार्त होती हो
 तथा जो लोग उस कथाके श्रवणमें लगे रहते हों, उनकी
 सेवा और सहायता करने क्षीर और घनसे करनी
 चाहिये ॥ ३७ ॥ उनकी अनुग्रहसे उदायन करनेवाले
 पुरुषको भी भागवतसेवनका पुण्य प्राप्त होता है। कल्पना
 दो वस्तुबोकी होती है—श्रीकृष्णकी और जनकी।
 श्रीकृष्णके लिये जो कुछ भी बाह्य व्यय, यह सब धनके
 अन्तर्गत है, उसकी 'वन' संज्ञा है ॥ ३८ ॥ भोक्ता और
 वक्ता भी दो प्रकारके माने गये हैं, एक श्रीकृष्णको पढ़ने-
 वाके और दूसरे धनको। जिस वक्ता, जिस ही भोक्ता
 भी हो तो यहाँ कर्ममें रस मिलता है, अतः दुःखकी
 दृष्टि होती है ॥ ३९ ॥ यदि दोनों निरीत विचारके हों तो
 रसाभास हो जाता है, अतः फलकी दानि होती है।
 किन्तु जो श्रीकृष्णको चाहनेवाले वक्ता और भोक्ता हैं,
 उन्हें निष्कम होनेपर भी सिद्धि अवश्य मिलती है ॥ ४० ॥
 पर धनार्थीको तो तभी सिद्धि मिलती है, सब उनके
 अनुग्रहमय विधि-विधान पूरा उत्तर जाय। श्रीकृष्णकी

कृष्णार्थिनोऽगुणस्यापि प्रेमैव विधिरुतमः ॥४१॥
 आसमाप्ति सक्रमेन कर्तव्यो हि विधिः स्वयम् ।
 छातो नित्यक्रियां कृत्वा प्राश्य पादोदकं हरे ॥४२॥
 पुस्तकं च गुरुं चैव पूजयित्वापचारतः ।
 नृपाद् वा मृगुयाद् वापि भीमझागवत् सुदा ॥४३॥
 पयसा वा हविष्येण मौनं भोजनमाचरेत् ।
 ब्रह्मचर्यमघःसुप्तिं क्रोधलोभादिवर्जनम् ॥४४॥
 कथान्ते कीर्तनं नित्यं समाप्तौ जागरं चरेत् ।
 ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु दक्षिणाभिः प्रवोपयेत् ॥४५॥
 गुरवे वस्त्रभूषादि दत्त्वा गां च समर्पयेत् ।
 एवं कृते विधाने तु लभते वाञ्छितं फलम् ॥४६॥
 दारामारमुतान् रान्यं धनादि च यदीप्सितम् ।
 परं तु द्योभते नात्र सक्रामत्वं विदम्बनम् ॥४७॥
 कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रमानन्दफलप्रदम् ।
 भीमझागवत् शालं कलौ कीरेण भाषितम् ॥४८॥

चाह रखनेवाला सबथा गुणहीन हो और उसके विधिमें कुछ करी रह जाय तो भी, यदि उसके हृदयमें प्रेम है तो, वही उसके लिये सर्वोत्तम विधि है ॥ ४१ ॥ सक्रम पुरुषको कथाकी समाप्तिके पिनतक सव्य सजधानीके साथ सभी विधियोंपर पाठन करना चाहिये । (मागभक्तकालके श्रोता और बच्चा दोनोंके ही पाठन करने योग्य विधि यह है—प्रतिदिन प्रातः काल ज्ञान करके क्षुद्रा निष्कर्म भूत बर ले । फिर भगवान्का चरणामृत पीकर पूजाके सामागसे भीमझागवत्की पुस्तक और गुरुदेव (प्यस) का पूजन करे । इसके पश्चात् अत्यन्त प्रसन्नतत्पूर्वक भीमझागवत्की कथा सव्य कहे अपन सुने ॥ ४२ ४३ ॥ वृष या कीरका मौन भोजन करे । तिरय ब्रह्मचर्यका पाठन और भूमिपर शयन करे, क्रोध और श्रेम आदिको त्याग दे ॥ ४४ ॥ प्रतिदिन कथाके अन्तमें कीर्तन करे और कथासमाप्तिके दिन रात्रिमें जागरण करे । समाप्ति होनेपर ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें दक्षिणसे सन्तुष्ट करे ॥ ४५ ॥ कथावाचक गुरुको वस्त्र, धामूपण आदि देकर गौ भी अर्पण करे । इस प्रकार विधि-विधान पूरा करनेपर मनुष्यको भी, घर, पुत्र, राज्य और धन आदि जो-जो उसे अभीष्ट होता है, वह सब मनोकामिष्ट फल प्राप्त होता है । परन्तु सक्रमभाव बहुत बड़ी निबन्धना है, वह भीमझागवत्की कथामें श्रोता नहीं देता ॥ ४६ ४७ ॥ श्रीधुक्तदेवजीके मुखसे कहा हुआ यह भीमझागवत्प्रसन्न तो कल्पियुगमें साक्षात् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाला और नित्य प्रमानन्दफल प्रदान करनेवाला है ॥ ४८ ॥

इति श्रीवन्दे महापुराण एकशीतिसाहस्रशः संज्ञितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे भीमझागवत्माहात्म्ये
 भगवत्भोगुणवत्सल्युपवर्णनविधिरूपेण नाम चतुर्थाऽध्यायः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तम् ॥ भीमझागवत्माहात्म्यम् ॥

॥ हरिः ॐ नमः ॥



श्रीमद्भागवत-पाठके विभिन्न प्रयोगः

भागवत-महिमा

इकोकर्म इकोकर्म वा मित्रं आगच्छतं पठेत् ।
 वा पुमान् सोऽपि क्षताद्यमुष्णते किमुतास्त्रिभुवः ॥
 भाषा श्रोत्र या योपाई इकोकर्म भी नित्य जो मनुष्य
 पाठ करता है उसको भी मरारसे मुक्ति हो जाती है। फिर
 सम्पूर्ण पाठ करनेवालेकी तो बात ही क्या है।

पूजा बुद्धिमत्ता बुद्धिर्बद्ध भागवतमाचार्य ।
 नित्य पठेत् यथाशक्ति यतः क्वात् संघविरुद्धः ॥
 बुद्धिमत्ताकी बुद्धिमत्ता बरी है कि संसारमनसाय
 श्रीमद्भागवतका आचरपूर्वक यथाशक्ति पाठ करे ।
 अथच्छो नित्यपठने मासे कर्बेउपि बैक्या ।
 पाकम्ब निबन्दा भक्त्या श्रीमद्भागवतं पठेत् ॥
 बरि नित्य पाठ न कर सकता हो तो म्मीने या कर्बेने
 एक बार निबन्धपूर्वक भक्तिवशित भागवतका पाठ अवश्य
 करना चाहिये।

एकही वैष दण्डसु हृषीकेश स्वधेन वा ।
 पञ्चभिर्विकसैः पञ्चभिः समभिर्वा पठेत् पुमान् ॥
 हसाहेनाथ पद्येन म्मेवेन कृतकवि वा ।
 पठेत् भागवतं वस्तु मुक्तिं मुक्तिं स विन्दते ॥
 जो एक दिनमें पाठ न कर सकता हो वह जो, तीन
 पाँच छ दस दस पंद्रह, तीस या सठ दिनमें
 श्रीमद्भागवतका पाठ करे। इससे योग एवं मोक्ष दोनोंकी
 प्राप्ति होती है।

एवोऽप्युच्यते पञ्चः सप्तहो बहुसम्पत् ।
 श्रीबासुदेवप्रोक्तं पठतः पुंसः पञ्चरात्र ॥
 सर्वे पञ्चः सप्त उच्यते विज्ञेयो कश्चि कश्चन ।
 विज्ञेयोऽपि सकामार्ता काममाप्नुयेत्तदा ॥
 बहुतसे श्रुतिवेदिने सप्ताहपाठयन्त्रका भी उच्यत पञ्च माना
 है। केवल भगवान्की प्रीतिके लिये सम्पूर्ण पञ्च करावर हैं।
 कोई न्यूनाधिक नहीं हैं। कल पाठनेवालेके लिये पञ्चमेहो
 पाठबलमेव कहा गया है।

(१) निष्काम परावर्तन ममवत्प्रीत्यर्थ

पाठकर्ता प्राणाय १ या ५ परावर्ण-संख्या १०० या १०८

विशेष नियम-काननेश्वर फलदायक या इच्छित भोक्ता करे।

दिन	विश्रामसंख्य-संख्या	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१	४९
२	५	२३	६७

दिन	विश्रामसंख्य-संख्या	अध्याय	योग अध्याय
१	७	१५०	१७
४	९	२४०	४८
५	१	१९	१९
६	१	८९	७
७	१२	१३०	५२

(२) सप्ताहपारायण (एक दिनका)

निष्कामपरावर्तन ममवत्प्रीत्यर्थ

दिन	विश्रामसंख्य-संख्या	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१	४९
२	५	२३	६७
३	७	१५०	१७
४	९	२४०	४८
५	१	४९	४९
६	१	१०	४८
७	१२	१३०	५२

(३) सप्ताह पारायण (एक दिनका)

मोक्षप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामसंख्य-संख्या	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	४७
२	५	८	५४
३	८	७	५९
४	१	३	४४
५	१	५३	५
६	११	९	४९
७	१२	१३०	५९

(४) आत्म विषय दृष्ट कर्बने विमलदत्तके लिये

पाठकर्ता प्राणाय ९ पाठयण संख्या १७०

विशेष नियम-प्रतिदिन चतुर्थ स्कन्धके ठन्नीठने अर्थात्
 (पृथुविषय) का पाठ पाठके अग्रिम एव सम्पत्तिने
 करना चाहिये।

दिन	विश्रामसंख्य-संख्या	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१९	४८
२	५	१	५१
३	७	१	४९
४	९	२४०	५३
५	१	४९+	४९

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१	४१
७	१२	११	४४

(५) सप्ताहपाठ्यपथ (सप्त दिनका)

विभागसङ्ख्ये द्विजे

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	४
२	५	११	४१
३	७	१	३९
४	९	२४	५१
५	१	४१	४९
६	१	१	४१
७	१२	११	४४

(६) सप्ताहपाठ्यपथ (सप्त दिनका)

विभागसङ्ख्ये द्विजे

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१	७१
२	६	११	४१
३	९	७	५२
४	१	३४	५१
५	१	७१	३९
६	१	१	१७
७	१२	११	४४

(७) सप्ताहपाठ्यपथके प्रयोग (सप्त दिनके)

स्कन्धसङ्ख्ये निवृत्ति और सङ्कटप्राप्तके द्विजे

पाठकर्ता ब्राह्मण ४ पाठ्यपथ—सङ्ख्या १९६

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें १ स्कन्धकी वृत्तवृत्ति (अ १ स्मृ ११-४५) का पाठ पढ़ा जाय। पाठविधि—

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	१	२९
२	४	११	४४
३	६	११	४५
४	८	२४	३९
५	१	४१	७१
६	११	३१	७२
७	१२	११	११

(८) सप्ताह पाठ्यपथके द्विजे

पाठकर्ता ब्राह्मण ७, पाठ्यपथ—सङ्ख्या १४३

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें १ स्कन्धकी वृत्तवृत्ति (अ १ स्मृ ११-४५) का पाठ पढ़ा जाय। पाठविधि—

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	४१
२	५	११	४१
३	७	११	४१

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
४	१	२४	४८
५	१	१	१
६	११	३१	३१
७	१२	११	११

(९) अनुपपन्नके द्विजे

पाठकर्ता ब्राह्मण १, पाठ्यपथ—सङ्ख्या १९४

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें १ स्कन्धकी वृत्तवृत्ति (अ १ स्मृ ८) का पाठ पढ़ा जाय। पाठविधि—

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	४८
२	५	१५	६
३	७	१५	४५
४	१	११	६
५	१	८४	७२
६	११	३१	३७
७	१२	११	११

(१०) उपपन्नके द्विजे

पाठकर्ता ब्राह्मण १, पाठ्यपथ—सङ्ख्या १५७

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें १ स्कन्धकी वृत्तवृत्ति (अ १ स्मृ ८) का पाठ पढ़ा जाय। पाठविधि—

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	२	४९
२	५	६	५
३	६	११	३९
४	९	२	५९
५	१	१५	३९
६	१	८५	५
७	१२	११	४९

(११) उपपन्न और उपपन्नके द्विजे

पाठकर्ता ब्राह्मण ५, पाठ्यपथ—सङ्ख्या १४५

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें १ स्कन्धकी वृत्तवृत्ति (अ १ स्मृ ८) का पाठ पढ़ा जाय। पाठविधि—

दिन	विभागसङ्ख्य—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	२४	५१
२	५	१	४१
३	७	८	५
४	१	४	५९
५	१	५५	५१
६	११	३	४१
७	१२	११	१८

(१२) निष्पन्न के द्विजे

पाठकर्ता ब्राह्मण १०, पाठ्यपथ—सङ्ख्या १९८

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें १ स्कन्धकी वृत्तवृत्ति (अ १ स्मृ ८) का पाठ पढ़ा जाय। पाठविधि—

चतुर्थ स्कन्धकी प्रकृत्य (अ ९) का पाठ करे ।

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	१	११	६१
३	९	७	५२
४	१	१४	५१
५	१	७१	३९
६	१	९	१७
७	१२	११	४४

(१३) पञ्चाहपारायण (एक दिनका)

हरिमप्रति

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१२	११	३३५

(१४) द्वाहपारायण (दो दिनका)

परमकि-प्रतिष्ठिते दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	९	११	१९
२	१२	११	१४५

(१५) द्वाहपारायण (दो दिनका)

बोम-प्रतिष्ठिते दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	७	१५	१५१
२	१२	११	१८२

(१६) द्वाहपारायण (दो दिनका)

विठ्ठलप्रतिष्ठिते दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	८	१३	१३९
२	१२	११	१३६

(१७) द्वाहपारायण (तीन दिनका)

मोक्ष-प्रतिष्ठिते दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	५	८	११
२	१	१२	११२
३	१२	११	१२२

(१८) द्वाहपारायण (तीन दिनका)

परम-प्रति संसार-कर्म-मुक्ति दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	७	१५	१५१
२	१	९	१३८
३	१२	११	४४

(१९) चतुरहपारायण (चार दिनका)

स्वर्ग-विश्रायण दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१८	८
२	१	१९	५८
३	१	५१	११४
४	१२	११	८३

(२०) चतुरहपारायण (चार दिनका)

सब प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धि दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१८	८
२	८	७	८
३	१	५२	९१
४	१२	११	८२

(२१) चतुरहपारायण (चार दिनका)

पापनाशक दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	२१	८८
२	८	१९	८४
३	१	५१	८२
४	१२	११	८१

(२२) चतुरहपारायण (चार दिनका)

सर्वभोग्य-प्रतिष्ठिते दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१९	८१
२	८	१४	८६
३	१	५१	८५
४	१२	११	८३

(२३) पञ्चाहपारायण (पाँच दिनका)

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	४	११
२	१	१५	१८
३	९	२१	१४
४	१	१४	१७
५	१२	११	७०

(२४) पञ्चाहपारायण (पाँच दिनका)

सर्वकामना-प्रतिष्ठिते दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	७	१९
२	१	१९	१९
३	९	२४	१३
४	१	१९	१९
५	१२	११	१५

(२५) पञ्चाहपारायण (छः दिनका)

वन-प्रतिष्ठिते दिने

दिन	विभागसङ्ख-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	१	११	६१
३	९	७	५२
४	१	१४	५१
५	१	९	३९
६	१२	११	४४

(२६) पञ्चाहपारायण (छः दिनका)

वन्द्यमान इत्यादि अर्थ-सन्तिके दिने

पाठकर्ता ब्राह्मण ४ पाठ्यपण-संख्या १४४				दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय				
१	३	३२	३२	५	१	१०	४९
२	५	१४	४६	६	१	५६	४६
३	८	२४	५०	७	११	९	४३
४	१	४९ +	७३	८	१२	१३०	३५
५	११	२९	७	(३१) नवाहपाठ्यपण (नौ दिनका)			
६	१२	१३	१५	सुप्राप्रसिद्धि दिने			

(२७) अष्टाहपाठ्यपण (आठ दिनका)
रिपिप्रता नष्ट करनेके दिने

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१५	४४
२	४	२१	३९
३	६	७	४६
४	८	२३	४८
५	१	२३	५
६	१	५१	२८
७	११	३	४६
८	१२	१३	४१

(२८) अष्टाहपाठ्यपण (आठ दिनका)
रेफ्त कुराव फलके दिने

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१०	४९
२	५	३	५०
३	६	१९	३९
४	९	२	५९
५	१	३५	३९
६	१	८५	५०
७	११	३	११
८	१२	१३	३८

(२९) अष्टाहपाठ्यपण (आठ दिनका)
मन्त्रिनुक्त पत्रके दिने

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१८	३८
२	४	१६	४
३	६	१	४२
४	८	१	४३
५	१	१	३९
६	१	४२	४१
७	१	९०	४८
८	१२	१३	४४

(३०) अष्टाहपाठ्यपण (आठ दिनका)
अन्तर्मुक्त पत्रके दिने

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	८	३७
२	५	८	३३
३	६	१४	४७
४	८	९	४५

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
५	१	१०	४९
६	१	५६	४६
७	११	९	४३
८	१२	१३०	३५

(३१) नवाहपाठ्यपण (नौ दिनका)
सुप्राप्रसिद्धि दिने

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१	३९
२	४	२	२५
३	५	२	४०
४	७	१२	३७
५	९	८	३५
६	१	२	३६
७	१	६	४
८	११	८	३८
९	१२	१३	३६

(३२) नवाहपाठ्यपण (नौ दिनका)
सुप्राप्रसिद्धि दिने

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	३	३५
२	४	११	३८
३	५	१६	३६
४	७	११	४०
५	९	३	३४
६	१०	२१	३९
७	१	५८	३७
८	११	९	४१
९	१२	१३	३५

(३३) अष्टाहपाठ्यपण (दश दिनका)
ज्ञानप्रसिद्धि दिने

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	३	३५
२	४	७	३४
३	५	९	३३
४	६	१९	३६
५	८	२४	३९
६	१	११	३५
७	१	४५	३४
८	१	७९	३८
९	११	२३	३४
१०	१२	१३	२१

(३४) अष्टाहपाठ्यपण

दिन	विधामसक-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	३	३	३५
२	४	७	३४
३	५	९	३३

दिन	विश्रामस्तक-रकम	अभ्यास	योग अभ्यास	दिन	विश्रामस्तक-रकम	अभ्यास	योग अभ्यास
४	६	१९	२५	८	१	१५	२५
५	८	२४	३२	९	१	१९	२४
६	१	११	३५	१०	१	७	११
७	१	४५	३४	११	११	१४	३४
८	१	७९	३४	१२	१२	१	१८
९	११	२१	३४	१३	१२	१३	११
१०	१२	१३	२१				

(३५) पञ्चदशाहपारायण (ग्यारह दिनका)

मनोव्रतमन्त्री सिद्धि के दिने

दिन	विश्रामस्तक-रकम	अभ्यास	योग अभ्यास
१	१	१८	१८
२	३	२२	२५
३	४	२१	२५
४	५	२१	२६
५	७	८	३२
६	९	३	३४
७	१	११	३२
८	१	४८	३७
९	१	८१	३३
१०	११	२३	३२
११	१२	१३	२६

(३६) द्वादशाहपारायण (बारह दिनका)

कृष्णिके दिने

दिन	विश्रामस्तक-रकम	अभ्यास	योग अभ्यास
१	२	३	२२
२	३	२२	२५
३	४	१३	२७
४	५	९	२४
५	६	१८	३५
६	८	१७	३३
७	९	२१	३८
८	१	२३	२६
९	१	४८	२५
१०	१	८	३२
११	११	२५	३५
१२	१२	१३	२६

(३७) त्रयोदशाहपारायण (तेरह दिनका)

शुक्लिके दिने

दिन	विश्रामस्तक-रकम	अभ्यास	योग अभ्यास
१	२	२	२१
२	३	२	२८
३	४	१३	२६
४	५	५	२३
५	६	१३	३४
६	८	११	३२
७	९	१८	२७

(३८) चतुर्विंशाहपारायण (चौदह दिनका)

सप्त प्रहारी अष्टमि-शुक्लिके दिने

दिन	विश्रामस्तक-रकम	अभ्यास	योग अभ्यास
१	२	६	२५
२	३	२	२४
३	४	१२	२५
४	५	५	२४
५	६	२	२३
६	७	९	२६
७	८	१८	२४
८	९	१६	२२
९	१	१८	२६
१०	१	४१	२३
११	१	३७	२६
१२	११	२	२५
१३	११	२३	२१
१४	१२	१३	२१

(३९) पञ्चपारायण (पंद्रह दिनका)

पञ्चः मास और श्राद्धपारायण प्रतिष्ठा विहित है प्रारम्भ किया जाना—यह नियम नहीं है। केवल दिन-संख्या नियम है।

दिन	विश्रामस्तक-रकम	अभ्यास	योग अभ्यास
१	२	४	२१
२	३	१५	२५
३	४	२२	३६
४	५	१६	२५
५	६	१३	२३
६	८	९	२३
७	८	२४	२२
८	९	२३	२३
९	१	२४	२५
१०	१	४८	२४
११	१	३८	२०
१२	११	६	७
१३	१२	५	१
१४	१२	१३	८

(४०) षड्विंशाहपारायण (पंद्रह दिनका)

सप्त प्रहारी अष्टमि-शुक्लिके दिने

दिन	विधामसक-रकन	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विधामसक-रकन	अध्याय	योग अध्याय
१		२	२१	१	१	७	२४
२		३	२३	११	१	२७	२
३		४	२२	१२	१०	४	१३
४		४	२३	१३	१	३८	२८
५		५	२२	१४	१	८६	१८
६		६	२३	१५	११	१७	२१
७		८	२४	१६	१२	२	१६
८		९	२५	१७	१२	१३ *	११
९		१	२२	(४३) अष्टावशाहपारायण (अठम दिवस)			
१०		१	२२	अमृतवृष्टिके द्विजे			
११		१	२३	दिन	विधामसक-रकन	अध्याय	योग अध्याय
१२		१	२३	१	१	१६	१६
१३		११	२२	२	३	८	२३
१४		११	२३	३	३	२१	१३
१५		११	२१	४	४	८	२

(४१) पौनडाहपारायण (सोम दिवस)

अमृतवृष्टिके द्विजे

दिन	विधामसक-रकन	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८
२	३	१३	२४
३	३	२१	२६
४	४	११	२३
५	५	५	१७
६	६	५	२३
७	७	८	२२
८	८	१८	२५
९	९	१४	२
१०	१	१७	२७
११	१	३८	२१
१२	१	५२	१४
१३	१	८१	२९
१४	११	१	१९
१५	१२	१	२२
१६	१२	१३ *	११

(४२) सप्तवशाहपारायण (सप्त दिवस)

अमृतवृष्टिके द्विजे

दिन	विधामसक-रकन	अध्याय	योग अध्याय
१	२	४	२३
२	३	११	१७
३	३	२६	१५
४	४	१५	२२
५	४	३१ *	१६
६	५	२५	२५
७	७	१	२१
८	८	१	२४
९	९	५	१९

(४४) ऊनविंशत्यहपारायण (उन्नीस दिवस)

त्रिकमप्रारणिके द्विजे

दिन	विधामसक-रकन	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१५	१५
२	३	५	१९
३	३	१७	१३
४	४	४	२
५	४	२३	१९
६	५	६	१४
७	५	२६ *	२
८	६	११	१३
९	७	१३	१९
१०	८	१६	१८
११	९	१३	२१
१२	१	८	११
१३	१	२५	१७
१४	१	४६	२१

दिन	विभागसङ्ख्या-रकम	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विभागसङ्ख्या-रकम	अध्याय	योग अध्याय
१५	१	३४	१८	१७	१	७१	२४
१६	१	७७	१३	१८	११	९	२१
१७	११	१	९३	१९	११	९७	२५
१८	११	९८	१८	२	१२	३	७
१९	१२	१३ ७	१६	२१	१२	१३ ७	१

(४५) विद्याहाराखण्ड (बीस दिनका)
इतिमिके क्रमे

(४७) व्याख्यानहाराखण्ड (बारह दिनका)
इतिमिके क्रमे

दिन	विभागसङ्ख्या-रकम	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विभागसङ्ख्या-रकम	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१३	१३	१	१	११	११
२	३	३	१९	२	२	९	१७
३	३	१४	११	३	३	९	१
४	३	३२	१८	४	३	२५	१६
५	४	११	१२	५	४	१	१८
६	५	१	२१	६	४	१८	८
७	५	१८	१७	७	५	३	१६
८	६	१२	२०	८	५	१६	१३
९	७	८	१५	९	६	९	१९
१०	८	१५	२२	१०	७	४	१४
११	९	७	१६	११	८	१	२१
१२	९	१६	१	१२	८	२२	१२
१३	१	१६	२४	१३	९	१८	२
१४	१	३	१४	१४	१	१	७
१५	१	४	१	१५	१	२४	२३
१६	१	६३	२३	१६	१	३३	९
१७	१	८८	२५	१७	१	५४	२१
१८	११	३	८	१८	१	७८	२४
१९	१२	२	२७	१९	११	८	२
२०	१२	१३ ७	११	२०	११	१७	९
				२१	१२	२	१६
				२२	१२	१३ ७	११

(४६) एकविंशत्यहाराखण्ड (इक्कीस दिनका)
इति प्रकारके उपसर्गोकी सन्तिके क्रमे

(४८) त्रयोविंशत्यहाराखण्ड (तेईस दिनका)
इतिमिके क्रमे

दिन	विभागसङ्ख्या-रकम	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विभागसङ्ख्या-रकम	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१२	१२	१	१	१	१
२	३	१	१८	२	२	७	१६
३	३	११	१	३	३	५	८
४	३	२८	१७	४	३	२	१५
५	४	३	११	५	३	२९	९
६	४	२६	२	६	४	१४	१८
७	५	११	१६	७	४	२८	१४
८	६	४	१९	८	५	१४	१७
९	६	१८	१४	९	५	२५	११
१०	८	९	२१	१०	६	१८	१७
११	८	२	१५	११	७	१२	१३
१२	९	४	८	१२	७	१२	१३
१३	१	१३	२३	१३	८	३	९
१४	१	१६	२३	१४	८	३	९
१५	१	५५	२९	१५	९	१	२१
१६	१	५७	२९	१६	९	१	२१

दिन	विभागसङ्ख्या-रङ्ग	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विभागसङ्ख्या-रङ्ग	अध्याय	योग अध्याय
१४	१	१४	११	८	५	११	१७
१५	१	२१	७	९	५	२	९
१६	१	१७	२	१	६	२	८
१७	१	३९	२२	११	६	२३	११
१८	१	५९	१९	१२	७	१३	१९
१९	१	८१	२३	१३	८	९	११
२	१	८९	८	१४	८	१८	९
२१	११	९	१	१५	९	९	१५
२२	११	२४	१५	१६	९	१६	७
२३	१२	१३	२	१७	१	४	१२

(४९) पञ्चविंशत्यहपारायण (पञ्चीस दिनका)

सप्तप्रश्नकी प्रतिके द्विजे

दिन	विभागसङ्ख्या-रङ्ग	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	११
२	१	९	१७
३	३	१८	१९
४	३	३२	१४
५	४	८	९
६	४	१५	७
७	४	२६	११
८	५	१३	१८
९	६	८	२१
१०	७	८	१९
११	८	३	१
१२	८	२३	२
१३	९	७	८
१४	१	५	२२
१५	१	१३	८
१६	१	२३	१
१७	१	३९	१६
१८	१	५९	२
१९	१	७९	१७
२०	१	८४	८
२१	११	८	२४
२२	११	२	१२
२३	१२	४	१५
२४	१२	१३	९

(५०) पञ्चविंशत्यहपारायण (पञ्चीस दिनका)

सप्त प्रश्नकी सप्तमकी सप्तिके द्विजे

दिन	विभागसङ्ख्या-रङ्ग	अध्याय	योग अध्याय
१	१	८	८
२	१	१९	११
३	३	४	१४
४	३	११	७
५	३	२४	१३
६	४	१	१९
७	४	२५	१५

(५१) पञ्चविंशत्यहपारायण (सप्तमीस दिनका)

विष्टेयके सप्तमके द्विजे

दिन	विभागसङ्ख्या-रङ्ग	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१५	१५
२	२	७	११
३	३	१३	१६
४	४	२५	१२
५	५	३२	७
६	४	१२	१३
७	५	१	९
८	५	१२	११
९	५	२५	१६
१०	६	९	१०
११	७	४	१४
१२	७	१३	९
१३	८	११	१३
१४	८	२९	११
१५	९	१६	१८
१६	१	७	२५
१७	१	१९	१२
१८	१	३५	१६
१९	१	५९	११
२०	१	७२	१३
२१	१	८४	१२
२२	११	१	१६
२३	११	२१	११
२४	१२	२	१२
२५	१२	१३	११

(५८) सप्तविंशत्यहपाठयण (सप्तविंश दिनका)

सबसे पक्षीमन्त्रकी प्राप्ति के दिने

दिन	विधामन्त्र-रूप	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विधामन्त्र-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८	१५	१	४	१९
२	२	९	१	१६	१	१३	१
३	३	१३	१४	१७	१	१	११
४	३	२	७	१८	१	१५	१४
५	३	३३ *	३३	१९	१	३२	३७
६	४	१३	१३	२०	१	४३	२४
७	४	२८	१२	२१	१	५४	८
८	५	१२	१५	२२	१०	३५	११
९	५	२३	११	२३	१	८५	१
१०	६	३	९	२४	११	८	११
११	६	१०	११	२५	११	१५	७
१२	७	८	१	२६	११	२७	१९
१३	८	५	१२	२७	१२	४	८
१४	८	२२	१७	२८	१२	१३ *	१

(५९) अष्टविंशत्यहपाठयण (अष्टविंश दिनका)

निष्ठाप्राप्ति के दिने

दिन	विधामन्त्र-रूप	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विधामन्त्र-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१५	९	८	१	१	१	१	५
१६	९	२४ *	१३	२	१	१३	११
१७	१	९	९	३	१	१ *	११
१८	१	२२	१३	४	१	१२	११
१९	१	३८	१३	५	१	२३	११
२०	१	४३	८	६	१	३	७
२१	१	३५	१९	७	१	४	११
२२	१	८	१५	८	४	२२	१४
२३	१	९ *	१	९	५	१	१
२४	११	८	८	१०	५	१२	११
२५	११	२३	१५	११	५	१८	१
२६	१२	२	१	१२	६	३	१४
२७	१२	१३ *	११	१३	६	१८	१२

(६०) अष्टविंशत्यहपाठयण (अष्टविंश दिनका)

निष्ठाप्राप्ति के दिने

दिन	विधामन्त्र-रूप	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विधामन्त्र-रूप	अध्याय	योग अध्याय
१	१	७	७	१५	८	८	१३
२	१	१८	११	१६	८	१७	९
३	३	१	१३	१७	९	५	१२
४	३	१५	१४	१८	९	१३	११
५	३	२३	८	१९	१	४	१३
६	४	३	१३	२०	१	२८	१३
७	४	१८	१५	२१	१	४४	१६
८	४	२४	६	२२	१	५३	१२
९	५	३	१३	२३	१	६३	१
१०	५	१३	७	२४	१०	७७	११
११	५	१३	१	२५	११	१	१४
१२	६	१३	११	२६	११	१४	१३
१३	७	१३	१३	२७	११	१	१३
१४	८	१३	१५	२८	१२	१३ *	१४

(५५) मासपारायण (महीनेमरम्भ)				दिन	विधामरम्भ-स्कन्ध	अध्याय	भाग अध्याय
दिन	विधामरम्भ-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय				
१	१	११	११	११	८	२१	१
२	१	११	८	१२	६	६	११
३	२	१	१	१३	६	१८	१२
४	३	१२	१२	१४	७	१	११
५	३	२४	१२	१५	८	८	१३
६	३	३३	१	१६	८	१७	१
७	४	१२	१२	१७	९	५	१२
८	४	२३	११	१८	९	१६	११
९	४	२३	११	१९	१	३	११
१०	४	२३	११	२०	१	१५	१०
११	५	१६	१६	२१	१	२८	१३
१२	५	१२	१२	२२	१	४६	१३
१३	७	५	१२	२३	१	५५	१२
१४	७	१५	१०	२४	१०	८१	११
१५	८	१२	१२	२५	११	१	१०
१६	८	२८	१२	२६	११	१४	१३
१७	९	१३	१३	२७	११	२८	१४
१८	९	२४	११	२८	१२	७	१
१९	१	११	११	२९	१२	१३	१
२०	१	२१	१				

(३) मासपारायण (महीनेमरम्भ)

समस्त अमृतमर्षी सिद्धि क्रिय

दिन	विधामरम्भ-स्कन्ध	अध्याय	भाग अध्याय
१	१	११	११
२	१	२	१
३	३	२	१
४	३	१२	१
५	३	२३	११
६	४	९	११
७	४	२	१
८	४	२१	१२
९	५	१	१

(५६) मासपारायण (महीनेमरम्भ)

शुद्धि

दिन	विधामरम्भ-स्कन्ध	अध्याय	भाग अध्याय
१	१	५	५
२	१	१६	११
३	२	९	१२
४	३	१	११
५	३	२३	१३
६	४	१	११
७	४	८	७
८	४	२१	१४
९	५	१	१
१०	५	१२	११

दिन	विभामल्ल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विभामल्ल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२४	१	६५	११	३५	१	५	५
२५	१	७८	१३	३६	१	१२	५
२६	१	८७	०	३७	०	१७	७
२७	११	९	१२	३८	१	२४	७
२८	११	२१	१२	३	१	६	३
२९	१२	२	१२	४	१	११	५
३	१२	१३	११	४१	१	१७	१

(५८) अनुपाशयम् (दो महीनेका)

दिन	विभामल्ल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय	दिन	विभामल्ल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	६	६	६६	१	३३	६
२	१	११	५	४१	१	३८	५
३	१	१५	४	४६	१	४४	६
४	१	१९	४	४७	१	४९	५
५	२	६	६	४८	१	५५	६
६	२	१०	४	४९	१	६१	६
७	३	६	६	५	१	६८	७
८	३	११	५	५१	१	७५	७
९	३	१६	५	५२	१	८१	६
१०	३	२	४	५३	१	८८	७
११	३	२४	४	५४	११	५	७
१२	३	२८	४	५५	११	११	६
१३	३	३३	५	६	११	१८	७
१४	४	७	७	५७	११	२३	५
१५	४	१२	५	५८	११	२९	६
१६	४	१८	६	५९	१२	५	७
१७	४	२३	७	६	१२	१३	८
१८	५	६	६	६	१	८	१६
१९	५	११	५	७	१	८	२१
२०	५	१५	४	८	१	८	२६
२१	५	२०	५	९	१	८	३१
२२	५	२५	५	१०	१	८	३६
२३	५	३०	५	११	१	८	४१
२४	५	३५	५	१२	१	८	४६
२५	५	४०	५	१३	१	८	५१
२६	५	४५	५	१४	१	८	५६
२७	५	५०	५	१५	१	८	६१
२८	५	५५	५	१६	१	८	६६
२९	५	६०	५	१७	१	८	७१
३०	५	६५	५	१८	१	८	७६
३१	५	७०	५	१९	१	८	८१
३२	५	७५	५	२०	१	८	८६
३३	५	८०	५	२१	१	८	९१
३४	५	८५	५	२२	१	८	९६
३५	५	९०	५	२३	१	८	१०१

येना मना जाता है कि निम्नलिखित स्कन्धोंके निम्न
लिखित अध्यायोंपर विधाम नहीं करना चाहिये । ऐव्य
करनेवालोंके प्रयाग किस्म नहीं होंगे ।

स्कन्ध

अध्याय

१	८	१	११	१६
२	८	१	१८	२१
३	८	१	२८	३१
४	८	१	३८	४१
५	८	१	४८	५१
६	८	१	५८	६१
७	८	१	६८	७१
८	८	१	७८	८१
९	८	१	८८	९१
१०	८	१	९८	१०१
११	८	१	१०८	१११
१२	८	१	११८	१२१
१३	८	१	१२८	१३१
१४	८	१	१३८	१४१
१५	८	१	१४८	१५१
१६	८	१	१५८	१६१
१७	८	१	१६८	१७१
१८	८	१	१७८	१८१
१९	८	१	१८८	१९१
२०	८	१	१९८	२०१
२१	८	१	२०८	२११
२२	८	१	२१८	२२१
२३	८	१	२२८	२३१
२४	८	१	२३८	२४१
२५	८	१	२४८	२५१
२६	८	१	२५८	२६१
२७	८	१	२६८	२७१
२८	८	१	२७८	२८१
२९	८	१	२८८	२९१
३०	८	१	२९८	३०१
३१	८	१	३०८	३११
३२	८	१	३१८	३२१
३३	८	१	३२८	३३१
३४	८	१	३३८	३४१
३५	८	१	३४८	३५१
३६	८	१	३५८	३६१
३७	८	१	३६८	३७१
३८	८	१	३७८	३८१
३९	८	१	३८८	३९१
४०	८	१	३९८	४०१
४१	८	१	४०८	४११
४२	८	१	४१८	४२१
४३	८	१	४२८	४३१
४४	८	१	४३८	४४१
४५	८	१	४४८	४५१
४६	८	१	४५८	४६१
४७	८	१	४६८	४७१
४८	८	१	४७८	४८१
४९	८	१	४८८	४९१
५०	८	१	४९८	५०१
५१	८	१	५०८	५११
५२	८	१	५१८	५२१
५३	८	१	५२८	५३१
५४	८	१	५३८	५४१
५५	८	१	५४८	५५१
५६	८	१	५५८	५६१
५७	८	१	५६८	५७१
५८	८	१	५७८	५८१
५९	८	१	५८८	५९१
६०	८	१	५९८	६०१
६१	८	१	६०८	६११
६२	८	१	६१८	६२१
६३	८	१	६२८	६३१
६४	८	१	६३८	६४१
६५	८	१	६४८	६५१
६६	८	१	६५८	६६१
६७	८	१	६६८	६७१
६८	८	१	६७८	६८१
६९	८	१	६८८	६९१
७०	८	१	६९८	७०१
७१	८	१	७०८	७११
७२	८	१	७१८	७२१
७३	८	१	७२८	७३१
७४	८	१	७३८	७४१
७५	८	१	७४८	७५१
७६	८	१	७५८	७६१
७७	८	१	७६८	७७१
७८	८	१	७७८	७८१
७९	८	१	७८८	७९१
८०	८	१	७९८	८०१
८१	८	१	८०८	८११
८२	८	१	८१८	८२१
८३	८	१	८२८	८३१
८४	८	१	८३८	८४१
८५	८	१	८४८	८५१
८६	८	१	८५८	८६१
८७	८	१	८६८	८७१
८८	८	१	८७८	८८१
८९	८	१	८८८	८९१
९०	८	१	८९८	९०१
९१	८	१	९०८	९११
९२	८	१	९१८	९२१
९३	८	१	९२८	९३१
९४	८	१	९३८	९४१
९५	८	१	९४८	९५१
९६	८	१	९५८	९६१
९७	८	१	९६८	९७१
९८	८	१	९७८	९८१
९९	८	१	९८८	९९१
१००	८	१	९९८	१००१

